OSHO

अष्टावक्र महागीता

युग बीते पर सत्य न बीता
सब हारा पर सत्य न हारा

ओशो

प्रवचन-क्रम

1. सत्य का शुद्धतम वक्तव्य 2
2. समाधि का सूत्र: विश्राम 21
3. जैसी मति वैसी गति 43
4. कर्म, विचार, भाव--और साक्षी 64
5. साधना नहीं -- निष्ठा, श्रद्धा 84
6. जागो और भोगो 101
7. जागरण महामंत्र है 124
8. नियंता नहीं -- साक्षी बनो 144
9. मेरा मुझको नमस्कार 164
10. हरि ओम् तत्सत् 181
11. दुख का मूल द्वैत है 199
12. प्रभु प्रसाद -- परिपूर्ण प्रयत्न से 222
13. जब जागो तभी सवेरा 241
14. उद्देश्य -- उसे जो भावे 259
15. जीवन की एकमात्र दीनता: वासना 279

पहला प्रवचन

सत्य का शुद्धतम वक्तव्य

जनक उवाच।

कथं ज्ञानमवाप्नोति कथं मुक्तिर्भविष्यति।
वैराग्यं च कथं प्राप्तमेतद् ब्रूहि मम प्रभो।। १।।

अष्टावक्र उवाच।

मुक्तिमिच्छसि चेत्तात विषयान् विषवत्त्यज।
क्षमार्जवदयातोषसत्यं पीयूषवद् भज।। २।।
न पृथ्वी न जलं नाग्निर्न वायुद्यौर्न वा भवान्।
एषां साक्षिणमात्मानं चिद्रूपं विद्धि मुक्तये।। ३।।
यदि देहं पृथक्कृत्य चिति विश्राम्य तिष्ठसि।
अधुनैव सुखी शांतः बंधमुक्तो भविष्यसि।। ४।।
न त्वं विप्रादिको वर्णो नाश्रमी नाक्षगोचरः।
असंगोऽसि निराकारो विश्वसाक्षी सुखी भव।। ५।।
धर्माऽधर्मौ सुखं दुःखं मानसानि न ते विभो।
न कर्ताऽसि न भोक्ताऽसि मुक्त एवासि सर्वदा।। ६।।

एक अनूठी यात्रा पर हम निकलते हैं।

मनुष्य-जाति के पास बहुत शास्त्र हैं, पर अष्टावक्र-गीता जैसा शास्त्र नहीं। वेद फीके हैं। उपनिषद बहुत धीमी आवाज में बोलते हैं। गीता में भी ऐसा गौरव नहीं; जैसा अष्टावक्र की संहिता में है। कुछ बात ही अनूठी है!

सबसे बड़ी बात तो यह है कि न समाज, न राजनीति, न जीवन की किसी और व्यवस्था का कोई प्रभाव अष्टावक्र के वचनों पर है। इतना शुद्ध भावातीत वक्तव्य, समय और काल से अतीत, दूसरा नहीं है। शायद इसीलिए अष्टावक्र की गीता, अष्टावक्र की संहिता का बहुत प्रभाव नहीं पड़ा।

कृष्ण की गीता का बहुत प्रभाव पड़ा। पहला कारण: कृष्ण की गीता समन्वय है। सत्य की उतनी चिंता नहीं है जितनी समन्वय की चिंता है। समन्वय का आग्रह इतना गहरा है कि अगर सत्य थोड़ा खो भी जाये तो कृष्ण राजी हैं।

कृष्ण की गीता खिचड़ी जैसी है; इसलिए सभी को भाती है, क्योंकि सभी का कुछ न कुछ उसमें मौजूद है। ऐसा कोई संप्रदाय खोजना मुश्किल है जो गीता में अपनी वाणी न खोज ले। ऐसा कोई व्यक्ति खोजना मुश्किल है जो गीता में अपने लिए कोई सहारा न खोज ले। इन सबके लिए अष्टावक्र की गीता बड़ी कठिन होगी।

अष्टावक्र समन्वयवादी नहीं हैं--सत्यवादी हैं। सत्य जैसा है वैसा कहा है--बिना किसी लाग-लपेट के। सुनने वाले की चिंता नहीं है। सुनने वाला समझेगा, नहीं समझेगा, इसकी भी चिंता नहीं है। सत्य का ऐसा शुद्धतम वक्तव्य न पहले कहीं हुआ, न फिर बाद में कभी हो सका।

कृष्ण की गीता लोगों को प्रिय है, क्योंकि अपना अर्थ निकाल लेना बहुत सुगम है। कृष्ण की गीता काव्यात्मक है: दो और दो पांच भी हो सकते हैं, दो और दो तीन भी हो सकते हैं। अष्टावक्र के साथ कोई खेल संभव नहीं। वहां दो और दो चार ही होते हैं।

अष्टावक्र का वक्तव्य शुद्ध गणित का वक्तव्य है। वहां काव्य को जरा भी जगह नहीं है। वहां कविता के लिए जरा-सी भी छूट नहीं है। जैसा है वैसा कहा है। किसी तरह का समझौता नहीं है।

कृष्ण की गीता पढ़ो तो भक्त अपना अर्थ निकाल लेता है, क्योंकि कृष्ण ने भक्ति की भी बात की है; कर्मयोगी अपना अर्थ निकाल लेता है, क्योंकि कृष्ण ने कर्मयोग की भी बात की है; ज्ञानी अपना अर्थ निकाल लेता है, क्योंकि कृष्ण ने ज्ञान की भी बात की है। कृष्ण कहीं भक्ति को सर्वश्रेष्ठ कहते हैं, कहीं ज्ञान को सर्वश्रेष्ठ कहते हैं, कहीं कर्म को सर्वश्रेष्ठ कहते हैं।

कृष्ण का वक्तव्य बहुत राजनैतिक है। वे राजनेता थे--कुशल राजनेता थे! सिर्फ राजनेता थे, इतना ही कहना उचित नहीं--कुटिल राजनीतिज्ञ थे, डिप्लोमैट थे। उनके वक्तव्य में बहुत-सी बातों का ध्यान रखा गया है। इसलिए सभी को गीता भा जाती है। इसलिए तो गीता पर हजारों टीकाएं हैं; अष्टावक्र पर कोई चिंता नहीं करता। क्योंकि अष्टावक्र के साथ राजी होना हो तो तुम्हें अपने को छोड़ना पड़ेगा। बेशर्त! तुम अपने को न ले जा सकोगे। तुम पीछे रहोगे तो ही जा सकोगे। कृष्ण के साथ तुम अपने को ले जा सकते हो। कृष्ण के साथ तुम्हें बदलने की कोई भी जरूरत नहीं है। कृष्ण के साथ तुम मौजूं पड़ सकते हो।

इसलिए सभी सांप्रदायिकों ने कृष्ण की गीता पर टीकाएं लिखीं--शंकर ने, रामानुज ने, निम्बार्क ने, वल्लभ ने, सबने। सबने अपने अर्थ निकाल लिए। कृष्ण ने कुछ ऐसी बात कही है जो बहु-अर्थी है। इसलिए मैं कहता हूं, काव्यात्मक है। कविता में से मनचाहे अर्थ निकल सकते हैं।

कृष्ण का वक्तव्य ऐसा है जैसे वर्षा में बादल घिरते हैं: जो चाहो देख लो। कोई देखता है हाथी की सूंड़; कोई चाहे गणेश जी को देख ले। किसी को कुछ भी नहीं दिखाई पड़ता--वह कहता है, कहां की फिजूल बातें कर रहे हो? बादल हैं! धुआं--इसमें कैसी आकृतियां देख रहे हो?

पश्चिम में वैज्ञानिक मन के परीक्षण के लिए स्याही के धब्बे ब्लाटिंग पेपर पर डाल देते हैं और व्यक्ति को कहते हैं, देखो, इसमें क्या दिखायी पड़ता है? व्यक्ति गौर से देखता है; उसे कुछ न कुछ दिखाई पड़ता है। वहां कुछ भी नहीं है, सिर्फ ब्लाटिंग पेपर पर स्याही के धब्बे हैं--बेतरतीब फेंके गये, सोच-विचार कर भी फेंके नहीं गये हैं, ऐसे ही बोतल उंडेल दी है। लेकिन देखने वाला कुछ न कुछ खोज लेता है। जो देखने वाला खोजता है वह उसके मन में है; वह आरोपित कर लेता है।

तुमने भी देखा होगा: दीवाल पर वर्षा का पानी पड़ता है, लकीरें खिंच जाती हैं। कभी आदमी की शक्ल दिखायी पड़ती है, कभी घोड़े की शक्ल दिखायी पड़ती है। तुम जो देखना चाहते हो, आरोपित कर लेते हो।

रात के अंधेरे में कपड़ा टंगा है--भूत-प्रेत दिखायी पड़ जाते हैं।

कृष्ण की गीता ऐसी ही है--जो तुम्हारे मन में है, दिखायी पड़ जायेगा। तो शंकर ज्ञान देख लेते हैं, रामानुज भक्ति देख लेते हैं, तिलक कर्म देख लेते हैं--और सब अपने घर प्रसन्नचित्त लौट आते हैं कि ठीक, कृष्ण वही कहते हैं जो हमारी मान्यता है।

इमर्सन ने लिखा है कि एक बार एक पड़ोसी प्लेटो की किताबें उनसे मांग कर ले गया। अब प्लेटो दो हजार साल पहले हुआ--और दुनिया के थोड़े-से अनूठे विचारकों में से एक। कुछ दिनों बाद इमर्सन ने कहा, किताबें पढ़ ली हों तो वापस कर दें। वह पड़ोसी लौटा गया। इमर्सन ने पूछा, कैसी लगीं? उस आदमी ने कहा कि ठीक। इस आदमी, प्लेटो के विचार मुझसे मिलते-जुलते हैं। कई दफे तो मुझे ऐसा लगा कि इस आदमी को मेरे विचारों का पता कैसे चल गया! प्लेटो दो हजार साल पहले हुआ है; इसको शक हो रहा है कि इसने कहीं मेरे विचार तो नहीं चुरा लिए!

कृष्ण में ऐसा शक बहुत बार होता है। इसलिए कृष्ण पर, सदियां बीत गईं, टीकाएं चलती जाती हैं। हर सदी अपना अर्थ खोज लेती है; हर व्यक्ति अपना अर्थ खोज लेता है। कृष्ण की गीता स्याही के धब्बों जैसी है। एक कुशल राजनीतिज्ञ का वक्तव्य है।

अष्टावक्र की गीता में तुम कोई अर्थ न खोज पाओगे। तुम अपने को छोड़ कर चलोगे तो ही अष्टावक्र की गीता स्पष्ट होगी।

अष्टावक्र का सुस्पष्ट संदेश है। उसमें जरा भी तुम अपनी व्याख्या न डाल सकोगे। इसलिए लोगों ने टीकाएं नहीं लिखीं। टीका लिखने की जगह नहीं है; तोड़ने-मरोड़ने का उपाय नहीं है; तुम्हारे मन के लिए सुविधा नहीं है कि तुम कुछ डाल दो। अष्टावक्र ने इस तरह से वक्तव्य दिया है कि सदियां बीत गईं, उस वक्तव्य में कोई कुछ जोड़ नहीं पाया, घटा नहीं पाया। बहुत कठिन है ऐसा वक्तव्य देना। शब्द के साथ ऐसी कुशलता बड़ी कठिन है।

इसलिए मैं कहता हूं, एक अनूठी यात्रा तुम शुरू कर रहे हो।

अष्टावक्र में राजनीतिज्ञों की कोई उत्सुकता नहीं है--न तिलक की, न अरविंद की, न गांधी की, न विनोबा की, किसी की कोई उत्सुकता नहीं है। क्योंकि तुम अपना खेल न खेल पाओगे। तिलक को उकसाना है देश-भक्ति, उठाना है कर्म का ज्वार--कृष्ण की गीता सहयोगी बन जाती है।

कृष्ण हर किसी को कंधा देने को तैयार हैं। कोई भी चला लो गोली उनके कंधे पर रख कर, वे राजी हैं। कंधा उनका, पीछे छिपने की तुम्हें सुविधा है, और उनके पीछे से गोली चलाओ तो गोली भी बहुमूल्य मालूम पड़ती है।

अष्टावक्र किसी को कंधे पर हाथ भी नहीं रखने देते। इसलिए गांधी की कोई उत्सुकता नहीं है; तिलक की कोई उत्सुकता नहीं है; अरविंद, विनोबा को कुछ लेना-देना नहीं है। क्योंकि तुम कुछ थोप न सकोगे। राजनीति की सुविधा नहीं है। अष्टावक्र राजनीतिक पुरुष नहीं हैं।

यह पहली बात खयाल में रख लेनी जरूरी है। ऐसा सुस्पष्ट, खुले आकाश जैसा वक्तव्य, जिसमें बादल हैं ही नहीं, तुम कोई आकृति देख न पाओगे। आकृति छोड़ोगे सब, बनोगे निराकर, अरूप के साथ जोड़ोगे संबंध तो अष्टावक्र समझ में आयेंगे। अष्टावक्र को समझना चाहो तो ध्यान की गहराई में उतरना होगा, कोई व्याख्या से काम होने वाला नहीं है।

और ध्यान के लिए भी अष्टावक्र नहीं कहते कि तुम बैठ कर राम-राम जपो। अष्टावक्र कहते हैं: तुम कुछ भी करो, वह ध्यान न होगा। कर्ता जहां है वहां ध्यान कैसा? जब तक करना है तब तक भ्रांति है। जब तक करने वाला मौजूद है तब तक अहंकार मौजूद है।

अष्टावक्र कहते हैं: साक्षी हो जाना है ध्यान--जहां कर्ता छूट जाता है, तुम सिर्फ देखने वाले रह जाते हो, द्रष्टा-मात्र! द्रष्टा-मात्र हो जाने में ही दर्शन है। द्रष्टा-मात्र हो जाने में ही ध्यान है। द्रष्टा-मात्र हो जाने में ही ज्ञान है।

इसके पहले कि हम सूत्र में उतरें, अष्टावक्र के संबंध में कुछ बातें समझ लेनी जरूरी हैं। ज्यादा पता नहीं है, क्योंकि न तो वे सामाजिक पुरुष थे, न राजनीतिक, तो इतिहास में कोई उल्लेख नहीं है। बस थोड़ी-सी घटनाएं ज्ञात हैं--वे भी बड़ी अजीब, भरोसा करने योग्य नहीं; लेकिन समझोगे तो बड़े गहरे अर्थ खुलेंगे।

पहली घटना--अष्टावक्र पैदा हुए उसके पहले की; पीछे का तो कुछ पता नहीं है--गर्भ की घटना। पिता--बड़े पंडित। अष्टावक्र--मां के गर्भ में। पिता रोज वेद का पाठ करते हैं और अष्टावक्र गर्भ में सुनते हैं। एक दिन अचानक गर्भ से आवाज आती है कि रुको भी! यह सब बकवास है। ज्ञान इसमें कुछ भी नहीं--बस शब्दों का संग्रह है। शास्त्र में ज्ञान कहां? ज्ञान स्वयं में है। शब्द में सत्य कहां? सत्य स्वयं में है।

पिता स्वभावतः नाराज हुए। एक तो पिता, फिर पंडित! और गर्भ में छिपा हुआ बेटा इस तरह की बात कहे! अभी पैदा भी नहीं हुआ! क्रोध में आ गए, आगबबूला हो गए। पिता का अहंकार चोट खा गया। फिर पंडित का अहंकार! बड़े पंडित थे, बड़े विवादी थे, शास्त्रार्थी थे। क्रोध में अभिशाप दे दिया कि जब पैदा होगा तो आठ अंगों से टेढ़ा होगा। इसलिए नाम--अष्टावक्र। आठ जगह से कुबड़े पैदा हुए। आठ जगह से ऊंट की भांति, इरछे-तिरछे! पिता ने क्रोध में शरीर को विक्षत कर दिया।

ऐसी और भी कथाएं हैं।

कहते हैं, बुद्ध जब पैदा हुए तो खड़े-खड़े पैदा हुए। मां खड़ी थी वृक्ष के तले। खड़े-खड़े...मां खड़ी थी...खड़े-खड़े पैदा हुए। जमीन पर गिरे नहीं कि चले, सात कदम चले। आठवें कदम पर रुक कर चार आर्य-सत्यों की घोषणा की, कि जीवन दुख है--अभी सात कदम ही चले हैं पृथ्वी पर--कि जीवन दुख है; कि दुख से मुक्त होने की संभावना है; कि दुख-मुक्ति का उपाय है; कि दुख-मुक्ति की अवस्था है, निर्वाण की अवस्था है।

लाओत्सु के संबंध में कथा है कि लाओत्सु बूढ़े पैदा हुए, अस्सी वर्ष के पैदा हुए; अस्सी वर्ष तक गर्भ में ही रहे। कुछ करने की चाह ही न थी तो गर्भ से निकलने की चाह भी न हुई। कोई वासना ही न थी तो संसार में आने की भी वासना न हुई। जब पैदा हुए तो सफेद बाल थे; अस्सी वर्ष के बूढ़े थे।

जरथुस्त्र के संबंध में कथा है कि जब जरथुस्त्र पैदा हुए तो पैदा होते से ही खिलखिला कर हंसे।

मगर इन सबको मात कर दिया अष्टावक्र ने। ये तो पैदा होने के बाद की बातें हैं। अष्टावक्र ने अपना पूरा वक्तव्य दे दिया पैदा होने के पहले।

ये कथाएं महत्वपूर्ण हैं। इन कथाओं में इन व्यक्तियों के जीवन की सारी सार-संपदा है, निचोड़ है। बुद्ध ने जो जीवन भर में कहा उसका निचोड़...बुद्ध ने आष्टांगिक मार्ग का उपदेश दिया...तो सात कदम चले, आठवें पर रुक गये। आठ अंग हैं कुल। पहुंचने की अंतिम अवस्था है सम्यक समाधि। उस समाधि की अवस्था में ही पता चलता है जीवन के पूरे सत्य का। उन चार आर्य-सत्यों की घोषणा कर दी।

लाओत्सु बूढा पैदा हुआ। लोगों को अस्सी साल लगते हैं, तब भी ऐसी समझ नहीं आ पाती। बूढ़े हो कर भी लोग बुद्धिमान कहां हो पाते हैं! बूढा होना और बुद्धिमान होना पर्यायवाची तो नहीं। बाल तो धूप में भी पकाये जा सकते हैं।

लाओत्सु की कथा इतना ही कहती है कि अगर जीवन में त्वरा हो, तीव्रता हो तो जो अस्सी साल में घटता है वह एक क्षण में घट सकता है। प्रज्ञा की तीव्रता हो तो एक क्षण में घट सकता है। बुद्धि मलिन हो तो अस्सी साल में भी कहां घटता है!

जरथुस्त्र जन्म के साथ ही हंसे। जरथुस्त्र का धर्म अकेला धर्म है दुनिया में जिसको "हंसता हुआ धर्म" कह सकते हैं। अतिपार्थिव, पृथ्वी का धर्म है! इसलिए तो पारसी दूसरे धार्मिकों को धार्मिक नहीं मालूम होते। नाचते-गाते, प्रसन्न! जरथुस्त्र का धर्म हंसता हुआ धर्म है; जीवन के स्वीकार का धर्म है; निषेध नहीं है, त्याग नहीं है। तुमने कोई पारसी साधु देखा--नंग-धड़ंग खड़ा हो जाये, छोड़ दे, धूप में खड़ा हो जाये, धूनी रमा कर बैठ जाये? नहीं, पारसी-धर्म में जीवन को सताने, कष्ट देने की कोई व्यवस्था नहीं है। जरथुस्त्र का सारा संदेश यही है कि जब हंसते हुए परमात्मा को पाया जा सकता है तो रोते हुए क्यों पाना? जब नाचते हुए पहुंच सकते हैं उस मंदिर तक तो नाहक कांटे क्यों बोने? जब फूलों के साथ जाना हो सकता है तो यह दुखवाद क्यों? इसलिए ठीक है, प्रतीक ठीक है कि जरथुस्त्र पैदा होते ही हंसे।

इन कथाओं में इतिहास मत खोजना। ऐसा हुआ है--ऐसा नहीं है। लेकिन इन कथाओं में एक बड़ा गहरा अर्थ है।

तुम्हारे पास एक बीज पड़ा है। जब तुम बीज को देखते हो तो इससे पैदा होने वाले फूल की कोई भी तो खबर नहीं मिलती। यह क्या हो सकता है, इसकी भनक भी तो नहीं आती। यह कमल बनेगा, खिलेगा, जल में रहेगा और जल से अछूता रहेगा, सूरज की किरणों पर नाचेगा और सूरज भीर् ईष्यालु होगा--इसके सौंदर्य से, इसकी कोमलता से, इसकी अपूर्व गरिमा, इसके प्रसाद से; इसकी सुगंध आकाश में उड़ेगी--यह बीज को देख कर तो पता भी नहीं चलता। बीज को तो देख कर इसकी कोई कल्पना भी नहीं कर सकता, अनुमान भी नहीं कर सकता। लेकिन एक दिन यह घटता है।

तो दो तरह से हम सोच सकते हैं। या तो हम बीज को पकड़ लें जोर से और हम कहें, जो बीज में दिखाई नहीं पड़ा वह कमल में भी घट नहीं सकता। यह भ्रम है। यह धोखा है। यह झूठ है।

जिनको हम तर्कनिष्ठ कहते हैं, संदेहशील कहते हैं, उनका यही आधार है। वे कहते हैं, जो बीज में नहीं दिखायी पड़ा वह फूल में हो नहीं सकता; कहीं भ्रांति हो रही है।

इसलिए संदेहशील व्यक्ति बुद्ध को मान नहीं पाता; महावीर को स्वीकार नहीं कर पाता; जीसस को अंगीकार नहीं कर पाता। क्योंकि वे कहते हैं, हमने जाना इनको।

जीसस अपने गांव में आये, बड़े हैरान हुए: गांव के लोगों ने कोई चिंता ही न की। जीसस का वक्तव्य है कि पैगंबर की अपने गांव में पूजा नहीं होती। कारण क्या रहा होगा? क्यों नहीं होती गांव में पूजा पैगंबर की? गांव के लोगों ने बचपन से देखा: बढ़ई जोसेफ का लड़का है! लकड़ियां ढोते देखा, रिंदा चलाते देखा, लकड़ियां चीरते देखा, पसीने से लथपथ देखा, सड़कों पर खेलते देखा, झगड़ते देखा। गांव के लोग इसे बचपन से जानते हैं--बीज की तरह देखा। आज अचानक यह हो कैसे सकता है कि यह परमात्मा का पुत्र हो गया!

नहीं, जिसने बीज को देखा है, वह फूल को मान नहीं पाता। वह कहता है, जरूर धोखा होगा, बेईमानी होगी। यह आदमी पाखंडी है।

बुद्ध अपने घर वापस लौटे, तो पिता...सारी दुनिया को जो दिखाई पड़ रहा था वह पिता को दिखायी नहीं पड़ा! सारी दुनिया अनुभव कर रही थी एक प्रकाश, दूर-दूर तक खबरें जा रही थीं, दूर देशों से लोग आने शुरू हो गये थे; लेकिन जब बुद्ध वापस घर आये बारह साल बाद, तो पिता ने कहा: मैं तुझे अभी भी क्षमा कर सकता हूं यद्यपि तूने काम तो बुरा किया है, सताया तो तूने हमें, अपराध तो तूने किया है; लेकिन मेरे पास पिता का हृदय है। मैं माफ कर दूंगा। द्वार तेरे लिए खुले हैं। मगर फेंक यह भिक्षा का पात्र! हटा यह भिक्षु का वेश! यह सब नहीं चलेगा। तू वापस लौट आ। यह राज्य तेरा है। मैं बूढ़ा हो गया, इसको कौन सम्हालेगा? हो गया बचपना बहुत, अब बंद करो यह सब खेल!

बुद्ध ने कहा: कृपा कर मुझे देखें तो! जो गया था वह वापिस नहीं आया है। यह कोई और ही आया है। जो आपके घर पैदा हुआ था वही वापिस नहीं आया है। यह कोई और ही आया है। बीज फूल हो कर आया है। गौर से तो देखो।

पिता ने कहा, तू मुझे सिखाने चला है? पहले दिन से, जब तू पैदा हुआ था, तबसे तुझे जानता हूं। किसी और को धोखा देना। किसी और को समझा लेना, भ्रम में डाल देना। मुझे तू भ्रम में न डाल पायेगा। मैं फिर कहता हूं। मैं तुझे भलीभांति जानता हूं। मुझे कुछ सिखाने की चेष्टा मत कर। क्षमा करने को मैं राजी हूं।

बुद्ध ने कहा: आप, और मुझे जानते हैं! मैं तो स्वयं को भी नहीं जानता था। अभी-अभी किरणें उतरी हैं और स्वयं को जाना हूं। क्षमा करें! लेकिन यह मुझे कहना ही पड़ेगा कि जिसको आपने देखा, वह मैं नहीं हूं। और जहां तक आपने देखा, वह मैं नहीं हूं। बाहर-बाहर आपने देखा, भीतर आपने कहां देखा? मैं आपसे पैदा हुआ हूं, लेकिन आपने मुझे निर्मित नहीं किया। मैं आपसे आया हूं, जैसे एक रास्ते से कोई राहगीर आता है; लेकिन रास्ता और राहगीर का क्या लेना-देना? कल रास्ता कहने लगे कि मैं तुझे पहचानता हूं, तू मेरे से ही तो होकर आया है--ऐसे ही आप कह रहे हैं। आपके पहले भी मैं था। जन्मों-जन्मों से मेरी यात्रा चल रही है। आपसे गुजरा जरूर हूं, ऐसा मैं औरों से भी गुजरा हूं। और भी मेरे पिता थे, और भी मेरी माताएं थीं। लेकिन मेरा होना बड़ा अलग-थलग है।

कठिन है बहुत, अति कठिन है! अगर बीज देखा तो फूल पर भरोसा नहीं आता।

एक तो ढंग है अश्रद्धालु का, तर्कवादी का, संदेहशील का, कि वह कहता है कि बीज को हम पहचानते हैं, तो फूल हो नहीं सकता। हम कीचड़ को जानते हैं, उस कीचड़ से कमल हो कैसे सकता है? सब गलत! सपना होगा। भ्रांति होगी। किसी मोह-जाल में पड़ गये होओगे। किसी ने धोखा दे दिया। कोई जादू, कोई तिलिस्म...। एक तो यह रास्ता है।

एक रास्ता है श्रद्धालु का--प्रेमी का, भक्त का, सहानुभूति से भरे हृदय का--वह फूल को देखता है और फूल से पीछे की तरफ यात्रा करता है। वह कहता है, जब फूल में ऐसी सुगंध हुई, जब फूल में ऐसी विभा प्र्गट हुई, जब फूल में ऐसी प्रतिभा, जब फूल में ऐसा कुंआरापन दिखा, तो जरूर बीज में भी रहा होगा। क्योंकि जो फूल में हुआ है वह बीज में न हो, तो हो ही नहीं सकता।

ये सारी कथाएं घटी हैं, ऐसा नहीं। जिन्होंने अष्टावक्र के फूल को देखा, उनको यह खयाल में आया कि जो आज हुआ है वह कल भी रहा होगा--छिपा था, अवगुंठित था, परदे में पड़ा था। जो आज है, अंत में है, वह प्रथम भी रहा होगा। जो मृत्यु के क्षण में दिखायी पड़ रहा है, वह जन्म के क्षण में भी मौजूद रहा होगा; अन्यथा पैदा कैसे होता!

तो एक तो ढंग है फूल से पीछे की तरफ देखना, और एक है बीज से आगे की तरफ देखना। गौर से देखो तो दोनों में सार-सूत्र एक ही है, दोनों की आधारभित्ति एक ही है; लेकिन कितना जमीन- आसमान का अंतर हो जाता है! जो बीज वाला है, वह भी यह कह रहा है कि जो बीज में नहीं है वह फूल में कैसे हो सकता है! यह उसका तर्क है। फूल वाला भी यही कह रहा है। वह कह रहा है, जो फूल में है वह बीज में भी होना ही चाहिए। दोनों का तर्क तो एक है। लेकिन दोनों के देखने के ढंग अलग हैं। बड़ी अड़चन है!

मुझसे कोई पूछता था कि आपके साथ बचपन में बहुत लोग पढ़े होंगे--स्कूल में, कालेज में--वे दिखायी नहीं पड़ते! वे कैसे दिखायी पड़ सकते हैं! उनको बड़ी अड़चन है। वे भरोसा नहीं कर सकते। अति कठिन है उन्हें।

कल ही मेरे पास रायपुर से किसी ने एक अखबार भेजा। श्री हरिशंकर परसाई ने एक लेख मेरे खिलाफ लिखा है। वे मुझे जानते हैं, कालेज के दिनों से जानते हैं। हिंदी के मूर्धन्य व्यंग्यलेखक हैं। मेरे मन में उनकी कृतियों का आदर है। लेख में उन्होंने लिखा है कि जबलपुर की हवा में कुछ खराबी है। यहां धोखेबाज और धूर्त ही पैदा होते हैं--जैसे रजनीश, महेश योगी, मूंदड़ा। तीन नाम उन्होंने गिनाए। धन्यवाद उनका, कम से कम मेरा नाम नंबर एक तो गिनाया। इतनी याद तो रखी! एकदम बिसार नहीं दिया। बिलकुल भूल गये हों, ऐसा नहीं है।

लेकिन अड़चन स्वाभाविक है, सीधी-साफ है। मैं उनकी बात समझ सकता हूं। यह असंभव है--बीज को देखा तो फूल में भरोसा! फिर जिन्होंने फूल को देखा, उन्हें बीज में भरोसा मुश्किल हो जाता है। तो सभी महापुरुषों की जीवन-कथाएं दो ढंग से लिखी जाती हैं। जो उनके विपरीत हैं, वे बचपन से यात्रा शुरू करते हैं; जो उनके पक्ष में हैं, वे अंत से यात्रा शुरू करते हैं और बचपन की तरफ जाते हैं। दोनों एक अर्थ में सही हैं। लेकिन जो बचपन से यात्रा करके अंत की तरफ जाते हैं, वे वंचित रह जाते हैं। उनका सही होना उनके लिए आत्मघाती है, जो अंत से यात्रा करते हैं और पीछे की तरफ जाते हैं, वे धन्यभागी हैं। क्योंकि बहुत कुछ उन्हें अनायास मिल जाता है, जो कि पहले तर्कवादियों को नहीं मिल पाता।

अब न केवल मैं गलत मालूम होता हूं, मेरे कारण जबलपुर तक की हवा उनको गलत मालूम होती है: कुछ भूल हवा-पानी में होनी चाहिए! यद्यपि मैं उनको कहना चाहूंगा, जबलपुर को कोई हक नहीं है मेरे संबंध में हवा-पानी को अच्छा या खराब तय करने का। जबलपुर से मेरा कोई बहुत नाता नहीं है। थोड़े दिन वहां था। महेश योगी भी थोड़े दिन वहां थे। उनका भी कोई नाता नहीं है। हम दोनों का नाता किसी और जगह से है। उस जगह के लोग इतने सोए हैं कि उन्हें अभी खबर ही नहीं है। महेश योगी और मेरा जन्म पास ही पास हुआ। दोनों गाडरवाड़ा के आस-पास पैदा हुए। उनका जन्म चीचली में हुआ, मेरा जन्म कुछवाड़े में हुआ। अगर हवा-पानी खराब है तो वहां का होगा। इसका दुख गाडरवाड़ा को होना चाहिए--कभी होगा। या सुख...। जबलपुर को इसमें बीच में आना नहीं चाहिए।

लेकिन मन कैसे तर्क रचता है!

अब जो अष्टावक्र की कथा को देखेगा, वह सुनते से ही कह देगा: "गलत! असंभव!" यह तो कथा जिन्होंने लिखी है उनको भी पता है कि कहीं कोई गर्भ से बोलता है! वे तो केवल इतना कह रहे हैं कि जो आखिर में प्रगट

हुआ वह गर्भ में मौजूद रहा होगा; जो वाणी आखिर में खिली वह किसी न किसी गहरे तल पर गर्भ में भी मौजूद रही होगी, अन्यथा खिलती कहां से, आती कहां से? शून्य से थोड़े ही कुछ आता है! हर चीज के पीछे कारण है। नहीं देख पाये हों हम, लेकिन था तो मौजूद।

ये सारी कथाएं इसी का सूचन देती हैं।

अष्टावक्र के संबंध में दूसरी बात जो ज्ञात है, वह है जब वे बारह वर्ष के थे। बस दो ही बातें ज्ञात हैं। तीसरी उनकी अष्टावक्र-गीता है; या कुछ लोग कहते हैं "अष्टावक्र-संहिता"। जब वे बारह वर्ष के थे तो एक बड़ा विशाल शास्त्रार्थ जनक ने रचा। जनक सम्राट थे और उन्होंने सारे देश के पंडितों को निमंत्रण दिया। और उन्होंने एक हजार गायें राजमहल के द्वार पर खड़ी कर दीं और उन गायों के सींगों पर सोना मढ़ दिया और हीरे-जवाहरात लटका दिये, और कहा, "जो भी विजेता होगा वह इन गायों को हांक कर ले जाये।"

बड़ा विवाद हुआ! अष्टावक्र के पिता भी उस विवाद में गये। खबर आई सांझ होते-होते कि पिता हार रहे हैं। सबसे तो जीत चुके थे, वंदिन नाम के एक पंडित से हारे जा रहे हैं। यह खबर सुन कर अष्टावक्र भी राजमहल पहुंच गया। सभा सजी थी। विवाद अपनी आखिरी चरम अवस्था में था। निर्णायक घड़ी करीब आती थी। पिता के हारने की स्थिति बिलकुल पूरी तय हो चुकी थी। अब हारे तब हारे की अवस्था थी।

अष्टावक्र दरबार में भीतर चला गया। पंडितों ने उसे देखा। महापंडित इकट्ठे थे! उसका आठ अंगों से टेढ़ा-मेढ़ा शरीर! वह चलता तो भी देख कर लोगों को हंसी आती। उसका चलना भी बड़ा हास्यास्पद था। सारी सभा हंसने लगी। अष्टावक्र भी खिलखिला कर हंसा। जनक ने पूछा: "और सब हंसते हैं, वह तो मैं समझ गया क्यों हंसते हैं; लेकिन बेटे, तू क्यों हंसा?"

अष्टावक्र ने कहा: "मैं इसलिए हंस रहा हूं कि इन चमारों की सभा में सत्य का निर्णय हो रहा है!"

बड़ा...आदमी अनूठा रहा होगा! "ये चमार यहां क्या कर रहे हैं?"

सन्नाटा छा गया!...चमार! सम्राट ने पूछा: "तेरा मतलब?" उसने कहा: "सीधी-सी बात है। इनको चमड़ी ही दिखायी पड़ती है, मैं नहीं दिखायी पड़ता। मुझसे सीधा-सादा आदमी खोजना मुश्किल है, वह तो इनको दिखायी ही नहीं पड़ता; इनको आड़ा-टेढ़ा शरीर दिखायी पड़ता है। ये चमार हैं! ये चमड़ी के पारखी हैं। राजन, मंदिर के टेढ़े होने से कहीं आकाश टेढ़ा होता है? घड़े के फूटे होने से कहीं आकाश फूटता है? आकाश तो निर्विकार है। मेरा शरीर टेढ़ा-मेढ़ा है, लेकिन मैं तो नहीं। यह जो भीतर बसा है इसकी तरफ तो देखो! इससे तुम सीधा-सादा और कुछ खोज न सकोगे।"

यह बड़ी चौंकाने वाली घोषणा थी, सन्नाटा छा गया होगा। जनक प्रभावित हुआ, झटका खाया। निश्चित ही कहां चमारों की भीड़ इकट्ठी करके बैठा है! खुद पर भी पश्चात्ताप हुआ, अपराध लगा कि मैं भी हंसा। उस दिन तो कुछ न कहते बना, लेकिन दूसरे दिन सुबह जब सम्राट घूमने निकला था तो राह पर अष्टावक्र दिखायी पड़ा। उतरा घोड़े से, पैरों में गिर पड़ा। सबके सामने तो हिम्मत न जुटा पाया, एक दिन पहले। एक दिन पहले तो कहा था, "बेटे, तू क्यों हंसता है?" बारह साल का लड़का था। उम्र तौली थी। आज उम्र नहीं तौली। आज घोड़े से उतर गया, पैर पर गिर पड़ा--साष्टांग दंडवत! और कहा: पधारें राजमहल, मेरी जिज्ञासाओं का समाधान करें! हे प्रभु, आयें मेरे घर! बात मेरी समझ में आ गई है! रात भर मैं सो न सका। ठीक ही कहा: शरीर को ही जो पहचानते हैं उनकी पहचान गहरी कहां! आत्मा के संबंध में विवाद कर रहे हैं, और अभी भी शरीर में रस और विरस पैदा होता है, घृणा, आकर्षण पैदा होता है! मर्त्य को देख रहे हैं, अमृत की चर्चा करते हैं! धन्यभाग मेरे कि आप आये और मुझे चौंकाया! मेरी नींद तोड़ दी! अब पधारो!

राजमहल में उसने बड़ी सजावट कर रखी थी। स्वर्ण-सिंहासन पर बिठाया था इस बारह साल के अष्टावक्र को और उससे जिज्ञासा की। पहला सूत्र जनक की जिज्ञासा है। जनक ने पूछा है, अष्टावक्र ने समझाया है।

इससे ज्यादा अष्टावक्र के संबंध में और कुछ पता नहीं है--और कुछ पता होने की जरूरत भी नहीं है। काफी है, इतना बहुत है। हीरे बहुत होते भी नहीं, कंकड़-पत्थर ही बहुत होते हैं। हीरा एक भी काफी होता है। ये दो छोटी-सी घटनाएं हैं।

एक तो जन्म के पहले की: गर्भ से आवाज और घोषणा कि "क्या पागलपन में पड़े हो? शास्त्र में उलझे हो, शब्द में उलझे हो? जागो! यह ज्ञान नहीं है, यह सब उधार है। यह सब बुद्धि का ही जाल है, अनुभव नहीं है। इसमें रंचमात्र भी सार नहीं है। कब तक अपने को भरमाये रखोगे?"

और दूसरी घटना: राजमहल में हंसना पंडितों का और कहना अष्टावक्र का, कि जीवन में देखने की दो दृष्टियां हैं--एक आत्म-दृष्टि, एक चर्म-दृष्टि। चमार चमड़ी को देखता है। प्रज्ञावान आत्मा को देखता है।

तुमने गौर किया? चमार तुम्हारे चेहरे की तरफ देखता ही नहीं, वह जूते को ही देखता है। असल में चमार जूते को देख कर सब पहचान लेता है तुम्हारे संबंध में कि आर्थिक हालत कैसी है; सफलता मिल रही है कि विफलता मिल रही है; भाग्य कैसा चल रहा है। वह सब जूते में लिखा है। जूते की सिलवटें कह देती हैं। जूते की दशा कह देती है। जूते में तुम्हारी आत्मकथा लिखी है। चमार पढ़ लेता है। जूते में चमक, जूते का ताजा और नया होना, चमार तुमसे प्रसन्नता से मिलता है। जूता ही उसके लिए तुम्हारी आत्मा का सबूत है।

दर्जी कपड़े देखता है। तुम्हारा कोट-कपड़ा देख कर समझ लेता है, हालत कैसी है।

सबकी अपनी बंधी हुई दृष्टियां हैं।

सिर्फ आत्मवान ही आत्मा को देखता है। उसकी कोई दृष्टि नहीं है। उसके पास दर्शन है।

एक छोटी घटना और--जो अष्टावक्र के जीवन से संबंधित नहीं, रामकृष्ण और विवेकानंद के जीवन से संबंधित है, लेकिन अष्टावक्र से उसका जोड़ है--फिर हम सूत्रों में प्रवेश करें।

विवेकानंद रामकृष्ण के पास आये, तब उनका नाम "नरेंद्रनाथ" था। "विवेकानंद" तो बाद में रामकृष्ण ने उनको पुकारा। जब आये रामकृष्ण के पास तो अति विवादी थे, नास्तिक थे, तर्कवादी थे। हर चीज के लिए प्रमाण चाहते थे।

कुछ चीजें हैं जिनके लिए कोई प्रमाण नहीं--मजबूरी है। परमात्मा के लिए कोई प्रमाण नहीं है; है और प्रमाण नहीं है। प्रेम के लिए कोई प्रमाण नहीं है; है और प्रमाण नहीं है। सौंदर्य के लिए कोई प्रमाण नहीं है; है और प्रमाण नहीं है।

अगर मैं कहूं, देखो ये खजूरिना के वृक्ष कैसे सुंदर हैं, और तुम कहो, "हमें तो कोई सौंदर्य दिखायी नहीं पड़ता। वृक्ष जैसे वृक्ष हैं। सिद्ध करें।" मुश्किल हो जायेगी। कैसे सिद्ध करें कि सुंदर हैं! सुंदर होने के लिए सौंदर्य की परख चाहिए--और तो कोई उपाय नहीं। आंख चाहिए--और तो कोई उपाय नहीं।

कहते हैं, मजनू ने कहा कि लैला को जानना हो तो मजनू की आंख चाहिए। ठीक कहा। लैला को देखने का और कोई उपाय ही नहीं।

मजनू को बुलाया था उसके गांव के राजा ने और कहा था: तू पागल है! मैं तेरी लैला को जानता हूं, साधारण-सी लड़की है, काली-कलूटी, कुछ खास नहीं। तुझ पर मुझे दया आती है। ये मेरे राजमहल की बारह लड़कियां खड़ी हैं, ये इस देश की सुंदरतम स्त्रियां हैं, इनमें से तू कोई भी चुन ले। यह तुझे रोते देख कर मेरा भी प्राण रोता है।

उसने देखा और उसने कहा: इनमें तो लैला कोई भी नहीं। ये लैला के मुकाबले तो दूर, उसके चरण की धूल भी नहीं।

सम्राट कहने लगा: मजनू, तू पागल है।

मजनू ने कहा: यह हो सकता है। लेकिन एक बात आपसे कहना चाहता हूं--लैला को देखना हो तो मजनू की आंख चाहिए।

ठीक कहा मजनू ने।

अगर वृक्षों के सौंदर्य को देखना हो तो कला की आंख चाहिए--और कोई प्रमाण नहीं है। अगर किसी के प्रेम को पहचानना हो तो प्रेमी का हृदय चाहिए--और कोई प्रमाण नहीं है। और परमात्मा तो इस जगत के सारे सौंदर्य और सारे प्रेम और सारे सत्य का इकट्ठा नाम है। उसके लिए तो ऐसा निर्विकार चित्त चाहिए, ऐसा साक्षी-भाव चाहिए, जहां कोई शब्द न रह जाये, कोई विचार न रह जाये, कोई तरंग न उठे। वहां कोई धूल न रह जाये मन की और चित्त का दर्पण परिपूर्ण शुद्ध हो! प्रमाण कहां?

रामकृष्ण से विवेकानंद ने कहा: प्रमाण चाहिए। है परमात्मा तो प्रमाण दें।

और विवेकानंद को देखा रामकृष्ण ने। बड़ी थी संभावनाएं इस युवक की। बड़ी थी यात्रा इसके भविष्य की। बहुत कुछ होने को पड़ा था इसके भीतर। बड़ा खजाना था, उससे यह अपरिचित है। रामकृष्ण ने देखा, इस युवक के पिछले जन्मों में झांका। यह बड़ी संपदा, बड़े पुण्य की संपदा ले कर आ रहा है। यह ऐसे ही तर्क में दबा न रह जाये। कराह उठा होगा पीड़ा और करुणा से रामकृष्ण का हृदय। उन्होंने कहा, "छोड़, प्रमाण वगैरह बाद में सोच लेंगे। मैं जरा बूढ़ा हुआ, मुझे पढ़ने में अड़चन होती है। तू अभी जवान, तेरी आंख अभी तेज--यह किताब पड़ी है, इसे तू पढ़।" वह थी अष्टावक्र-गीता। "जरा मुझे सुना दे।"

कहते हैं, विवेकानंद को इसमें तो कुछ अड़चन न मालूम पड़ी, यह आदमी कुछ ऐसी तो कोई खास बात नहीं मांग रहा है! दो-चार सूत्र पढ़े और एक घबड़ाहट, और रोआं-रोआं कंपने लगा! और विवेकानंद ने कहा, मुझसे नहीं पढ़ा जाता। रामकृष्ण ने कहा: पढ़ भी! इसमें हर्ज क्या है? तेरा क्या बिगाड़ लेगी यह किताब? तू जवान है अभी। तेरी आंख अभी ताजी हैं। और मैं बूढ़ा हुआ, मुझे पढ़ने में दिक्कत होती है। और यह किताब मुझे पढ़नी है तो तू पढ़ कर सुना दे।

कहते हैं उस किताब को सुनाते-सुनाते ही विवेकानंद डूब गये। रामकृष्ण ने देखा इस व्यक्ति के भीतर बड़ी संभावना है, बड़ी शुद्ध संभावना है; जैसी एक बोधिसत्व की होती है जो कभी न कभी बुद्ध होना जिसका निर्णीत है; आज नहीं कल, भटके कितना ही, बुद्धत्व जिसके पास चला आ रहा है।

क्यों अष्टावक्र की गीता रामकृष्ण ने कही कि तू पढ़ कर मुझे सुना दे? क्योंकि इससे ज्यादा शुद्धतम वक्तव्य और कोई नहीं। ये शब्द भी अगर तुम्हारे भीतर पहुंच जायें तो तुम्हारी सोयी हुई आत्मा को जगाने लगेंगे। ये शब्द तुम्हें तरंगायित करेंगे। ये शब्द तुम्हें आह्लादित करेंगे। ये शब्द तुम्हें झकझोरेंगे। इन शब्दों के साथ क्रांति घटित हो सकती है।

अष्टावक्र की गीता को मैंने यूं ही नहीं चुना है। और जल्दी नहीं चुना--बहुत देर करके चुना है, सोच-विचार कर। दिन थे, जब मैं कृष्ण की गीता पर बोला, क्योंकि भीड़-भाड़ मेरे पास थी। भीड़- भाड़ के लिए अष्टावक्र-गीता का कोई अर्थ न था। बड़ी चेष्टा करके भीड़-भाड़ से छुटकारा पाया है। अब तो थोड़े-से विवेकानंद यहां हैं। अब तो उनसे बात करनी है, जिनकी बड़ी संभावना है। उन थोड़े से लोगों के साथ मेहनत करनी है, जिनके साथ मेहनत का परिणाम हो सकता है। अब हीरे तराशने हैं, कंकड़-पत्थरों पर यह छैनी खराब नहीं करनी। इसलिए चुनी है अष्टावक्र की गीता। तुम तैयार हुए हो, इसलिए चुनी है।

पहला सूत्र:

जनक ने कहा, "हे प्रभो, पुरुष ज्ञान को कैसे प्राप्त होता है। और मुक्ति कैसे होगी और वैराग्य कैसे प्राप्त होगा? यह मुझे कहिए! एतत मम ब्रूहि प्रभो! मुझे समझायें प्रभो!"

बारह साल के लड़के से सम्राट जनक का कहना है: "हे प्रभु! भगवान! मुझे समझायें! एतत मम ब्रूहि! मुझ नासमझ को कुछ समझ दें! मुझ अज्ञानी को जगायें!"

तीन प्रश्न पूछे हैं--

"कथं ज्ञानम्! कैसे होगा ज्ञान!"

साधारणतः तो हम सोचेंगे कि "यह भी कोई पूछने की बात है? किताबों में भरा पड़ा है।" जनक भी जानता था। जो किताबों में भरा पड़ा है, वह ज्ञान नहीं; वह केवल ज्ञान की धूल है, राख है! ज्ञान की ज्योति जब

जलती है तो पीछे राख छूट जाती है। राख इकट्ठी होती चली जाती है, शास्त्र बन जाती है। वेद राख हैं--कभी जलते हुए अंगारे थे। ऋषियों ने उन्हें अपनी आत्मा में जलाया था। फिर राख रह गये। फिर राख संयोजित की जाती है, संगृहीत की जाती है, सुव्यवस्थित की जाती है। जैसे जब आदमी मर जाता है तो हम उसकी राख इकट्ठी कर लेते हैं--उसको फूल कहते हैं। बड़े मजेदार लोग हैं! जिंदगी में जिसको फूल नहीं कहा, उसकी हड्डियां-वड्डियां इकट्ठी कर लाते हैं--कहते हैं, "फूल संजो लाये"! फिर सम्हाल कर रखते हैं, मंजूषा बनाते हैं। जिसको जिंदगी में कभी फूल का आदर नहीं दिया, जिसको जिंदगी में कभी फूल की तरह देखा नहीं, जब मर जाता है--आदमी पागल है--तब उसकी हड्डी को, राख को फूल कहते हैं!

ऐसे ही जब कोई बुद्ध जीवित होता है, तब तुम सुनते नहीं। जब कोई महावीर तुम्हारे बीच से गुजरता है, तब तुम नाराज होते हो। लगता है, यह आदमी तुम्हारे सपने तोड़ रहा है, या तुम्हारी नींद में दखल डाल रहा है। "यह कोई जगाने का वक्त है? अभी-अभी तो सपना आना शुरू हुआ था; अभी-अभी तो जरा जीतना शुरू किया था जिंदगी में; अभी-अभी तो दांव ठीक लगने लगे थे, तीर ठीक-ठीक जगह पड़ने लगा था--और ये सज्जन आ गये! ये कहते हैं, सब असार है! अभी-अभी तो चुनाव जीते थे, पद पर पहुंचने का रास्ता बना था--और ये महापुरुष आ गये! ये कहते हैं, यह सब सपना है, इसमें कुछ सार नहीं; मौत आयेगी, सब छीन लेगी! और छोड़ो भी, जब मौत आयेगी तब देखेंगे; बीच में तो इस तरह की बातें मत उठाओ!"

लेकिन जब महावीर मर जाते, बुद्ध मर जाते, तब उनकी राख को हम इकट्ठी कर लेते हैं। फिर हम धम्मपद बनाते हैं, वेद बनाते हैं। फिर हम पूजा के फूल चढ़ाते हैं।

जनक भी जानता था कि शास्त्रों में सूचनाएं भरी पड़ी हैं। लेकिन उसने पूछा, "कथं ज्ञानम्? कैसे होगा ज्ञान?" क्योंकि कितना ही जान लो, ज्ञान तो होता ही नहीं। जानते जाओ, जानते जाओ, शास्त्र कंठस्थ कर लो, तोते बन जाओ, एक-एक सूत्र याद हो जाये, पूरे वेद स्मृति में छप जायें--फिर भी ज्ञान तो होता नहीं।

"कथं ज्ञानम्? कैसे होगा ज्ञान? कथं मुक्ति? मुक्ति कैसे होगी?"

क्योंकि जिसको तुम ज्ञान कहते हो, वह तो बांध लेता उलटे, मुक्त कहां करता? ज्ञान तो वही है जो मुक्त करे। जीसस ने कहा है, सत्य वही है जो मुक्त करे। ज्ञान तो वही है जो मुक्त करे--यह ज्ञान की कसौटी है। पंडित मुक्त तो दिखाई नहीं पड़ता, बंधा दिखाई पड़ता है। मुक्ति की बातें करता है, मुक्त दिखाई नहीं पड़ता; हजार बंधनों में बंधा हुआ मालूम पड़ता है।

तुमने कभी गौर किया, तुम्हारे तथाकथित संत तुमसे भी ज्यादा बंधे हुए मालूम पड़ते हैं! तुम शायद थोड़े-बहुत मुक्त भी हो, तुम्हारे संत तुमसे भी ज्यादा बंधे हैं। लकीर के फकीर हैं; न उठ सकते स्वतंत्रता से, न बैठ सकते स्वतंत्रता से, न जी सकते स्वतंत्रता से।

कुछ दिनों पहले कुछ जैन साध्वियों की मेरे पास खबर आई कि वे मिलना चाहती हैं, मगर श्रावक आने नहीं देते। यह भी बड़े मजे की बात हुई! साधु का अर्थ होता है, जिसने फिक्र छोड़ी समाज की; जो चल पड़ा अरण्य की यात्रा पर; जिसने कहा, अब न तुम्हारे आदर की मुझे जरूरत है न सम्मान की। लेकिन साधु-साध्वी कहते हैं, "श्रावक आने नहीं देते! वे कहते हैं, वहां भूल कर मत जाना। वहां गये तो यह दरवाजा बंद!" यह कोई साधुता हुई? यह तो परतंत्रता हुई, गुलामी हुई। यह तो बड़ी उलटी बात हुई। यह तो ऐसा हुआ कि साधु श्रावक को बदले, उसकी जगह श्रावक साधु को बदल रहा है।

एक मित्र ने आ कर मुझे कहा कि एक जैन साध्वी आपकी किताबें पढ़ती है, लेकिन चोरी से; टेप भी सुनना चाहती है, लेकिन चोरी से। और अगर कभी किसी के सामने आपका नाम भी ले दो तो वह इस तरह हो जाती है जैसे उसने कभी आपका नाम सुना ही नहीं।

यह मुक्ति हुई?

जनक ने पूछा, "कथं मुक्ति? कैसे होती मुक्ति? क्या है मुक्ति? उस ज्ञान को मुझे समझायें, जो मुक्त कर देता है।"

स्वतंत्रता मनुष्य की सबसे महत्वपूर्ण आकांक्षा है। सब पा लो, लेकिन गुलामी अगर रही तो छिदती है। सब मिल जाये, स्वतंत्रता न मिले तो कुछ भी नहीं मिला। मनुष्य चाहता है खुला आकाश। कोई सीमा न हो! वह मनुष्य की अंतरतम, निगूढ़तम आकांक्षा है, जहां कोई सीमा न हो, कोई बाधा न हो। इसी को परमात्मा होने की आकांक्षा कहो, मोक्ष की आकांक्षा कहो।

हमने ठीक शब्द चुना है "मोक्ष"; दुनिया की किसी भाषा में ऐसा प्यारा शब्द नहीं है। स्वर्ग, फिरदौस--इस तरह के शब्द हैं, लेकिन उन शब्दों में मोक्ष की कोई धुन नहीं है। मोक्ष का संगीत ही अनूठा है। उसका अर्थ ही केवल इतना है: ऐसी परम स्वतंत्रता जिस पर कोई बाधा नहीं है; स्वतंत्रता इतनी शुद्ध कि जिस पर कोई सीमा नहीं है।

पूछा जनक ने, "कैसे होगी मुक्ति और कैसे होगा वैराग्य? हे प्रभु, मुझे समझा कर कहिए!"

अष्टावक्र ने गौर से देखा होगा जनक की तरफ; क्योंकि गुरु के लिए वही पहला काम है कि जब कोई जिज्ञासा करे तो वह गौर से देखे: "जिज्ञासा किस स्रोत से आती है? पूछने वाले ने क्यों पूछा है?" उत्तर तो तभी सार्थक हो सकता है जब प्रश्न क्यों किया गया है, वह समझ में आ जाये, वह साफ हो जाए।

ध्यान रखना, सदज्ञान को उपलब्ध व्यक्ति, सदगुरु तुम्हारे प्रश्न का उत्तर नहीं देता--तुम्हें उत्तर देता है! तुम क्या पूछते हो, इसकी फिक्र कम है; तुमने क्यों पूछा है, तुम्हारे पूछने के पीछे अंतरचेतन में छिपा हुआ जाल क्या है, तुम्हारे प्रश्नों की आड़ में वस्तुतः कौन-सी आकांक्षा छिपी है...!

दुनिया में चार तरह के लोग हैं--ज्ञानी, मुमुक्षु, अज्ञानी, मूढ़। और दुनिया में चार ही तरह की जिज्ञासाएं होती हैं। ज्ञानी की जिज्ञासा तो निःशब्द होती है। कहना चाहिए, ज्ञानी की जिज्ञासा तो जिज्ञासा होती ही नहीं--जान लिया, जानने को कुछ बचा नहीं; पहुंच गये, चित्त निर्मल हुआ, शांत हुआ, घर लौट आये, विश्राम में आ गये! तो ज्ञानी की जिज्ञासा तो जिज्ञासा जैसी होती ही नहीं। इसका यह अर्थ नहीं कि ज्ञानी सीखने को तैयार नहीं होता। ज्ञानी तो सरल, छोटे बच्चे की भांति हो जाता है--सदा तत्पर सीखने को।

जितना ज्यादा तुम सीख लेते हो, उतनी ही सीखने की तत्परता बढ़ जाती है। जितने तुम सरल और निष्कपट होते चले जाते हो, उतने ही सीखने के लिए तुम खुल जाते हो। आयें हवाएं, तुम्हारे द्वार खुले पाती हैं। आये सूरज, तुम्हारे द्वार पर दस्तक नहीं देनी पड़ती। आये परमात्मा, तुम्हें सदा तत्पर पाता है।

ज्ञानी ज्ञान को संगृहीत नहीं करता; ज्ञानी सिर्फ ज्ञान की क्षमता को उपलब्ध होता है। इस बात को ठीक से समझ लेना, क्योंकि पीछे यह काम पड़ेगी। ज्ञानी का केवल इतना ही अर्थ है कि जो जानने के लिए बिलकुल खुला है; जिसका कोई पक्षपात नहीं; जानने के लिए जिसके पास कोई परदा नहीं; जिसके पास जानने के लिए कोई पूर्व-नियोजित योजना, ढांचा नहीं। ज्ञानी का अर्थ है ध्यानी--जो ध्यानपूर्ण है।

तो देखा होगा अष्टावक्र ने गौर से, जनक में झांक कर: यह व्यक्ति ज्ञानी तो नहीं है। यह ध्यान को तो उपलब्ध नहीं हुआ है। अन्यथा इसकी जिज्ञासा मौन होती; उसमें शब्द न होते।

बुद्ध के जीवन में उल्लेख है--एक फकीर मिलने आया। एक साधु मिलने आया। एक परिव्राजक, घुमक्कड़। उसने आकर बुद्ध से कहा: "पूछने योग्य शब्द मेरे पास नहीं। क्या पूछना चाहता हूं, उसे शब्दों में बांधने की मेरे पास कोई कुशलता नहीं। आप तो जानते ही हैं, समझ लें। जो मेरे योग्य हो, कह दें।"

यह ज्ञानी की जिज्ञासा है।

बुद्ध चुप बैठे रहे, उन्होंने कुछ भी न कहा। घड़ी भर बाद, जैसे कुछ घटा! वह जो आदमी चुपचाप बैठा बुद्ध की तरफ देखता रहा था, उसकी आंख से आंसुओं की धार लग गई, चरणों में झुका, नमस्कार किया और कहा, "धन्यवाद! खूब धन्यभागी हूं! जो लेने आया था, आपने दिया।" वह उठकर चला भी गया। उसके चेहरे पर अपूर्व आभा थी। वह नाचता हुआ गया।

बुद्ध के आसपास के शिष्य बड़े हैरान हुए। आनंद ने पूछा: "भंते! भगवान! पहेली हो गई। पहले तो यह आदमी कहता है कि मुझे पता नहीं कैसे पूछूं; पता नहीं किन शब्दों में पूछूं; यह भी पता नहीं क्या पूछने आया हूं; फिर आप तो जानते ही हैं सब; देख लें मुझे; जो मेरे लिए जरूरी हो, कह दें। पहले तो यह आदमी ही जरा पहेली था...यह कोई ढंग हुआ पूछने का! और जब तुम्हें यही पता नहीं कि क्या पूछना है तो पूछना ही क्यों? पूछना क्या? खूब रही! फिर यहीं बात खत्म न हुई; आप चुप बैठे सो चुप बैठे रहे! आपको ऐसा कभी मौन देखा नहीं; कोई पूछता है तो आप उत्तर देते हैं। कभी-कभी तो ऐसा होता है कि कोई नहीं भी पूछता तो भी आप उत्तर देते हैं। आपकी करुणा सदा बहती रहती है। क्या हुआ अचानक कि आप चुप रह गये और आंख बंद हो गई? और फिर क्या रहस्यमय घटा कि वह आदमी रूपांतरित होने लगा। हमने उसे बदलते देखा। हमने उसे किसी और ही रंग में डूबते देखा। उसमें मस्ती आते देखी। वह नाचते हुए गया है--आंसुओं से भरा हुआ, गदगद, आह्लादित! वह चरणों में झुका। उसकी सुगंध हमें भी छुई। यह हुआ क्या? आप कुछ बोले नहीं, उसने सुना कैसे? और हम तो इतने दिनों से, वर्षों से आपके पास हैं, हम पर आपकी कृपा कम है क्या? यह प्रसाद, जो उसे दिया, हमें क्यों नहीं मिलता?"

लेकिन ध्यान रहे, उतना ही मिलता है जितना तुम ले सकते हो।

बुद्ध ने कहा, "सुनो। घोड़े...।" आनंद से घोड़े की बात की, क्योंकि आनंद क्षत्रिय था, बुद्ध का चचेरा भाई था और बचपन से ही घोड़े का बड़ा शौक था उसे, घुड़सवार था। प्रसिद्ध घुड़सवार था, प्रतियोगी था बड़ा! उन्होंने कहा, "सुन आनंद!" बुद्ध ने कहा: "घोड़े चार प्रकार के होते हैं। एक तो मारो भी तो भी टस से मस नहीं होते। रद्दी से रद्दी घोड़े! जितना मारो उतना ही हठयोगी हो जाते हैं, बिलकुल हठ बांध कर खड़े हो जाते हैं। तुम मारो तो वे जिद्द बना लेते हैं कि देखें कौन जीतता है! फिर दूसरे तरह के घोड़े होते हैं: मारो तो चलते हैं, न मारो तो नहीं चलते। कम से कम पहले से बेहतर। फिर तीसरे तरह के घोड़े होते हैं: कोड़ा फटकारो, मारना जरूरी नहीं। सिर्फ कोड़ा फटकारो, आवाज काफी है। और भी कुलीन होते हैं--दूसरे से भी बेहतर। फिर आनंद, तुझे जरूर पता होगा ऐसे भी घोड़े होते हैं कि कोड़े की छाया देख कर भागते हैं, फटकारना भी नहीं पड़ता। यह ऐसा ही घोड़ा था। छाया काफी है।"

अष्टावक्र ने देखा होगा गौर से।

जब तुम आ कर मुझसे कुछ पूछते हो तो तुम्हारे प्रश्न से ज्यादा महत्वपूर्ण सवाल तुम हो। कभी-कभी तुम्हें भी ऐसा लगता होगा कि तुमने जो नहीं पूछा था, वह मैंने उत्तर दिया है। और कभी-कभी तुम्हें ऐसा भी लगता होगा कि शायद मैं टाल गया तुम्हारे प्रश्न को, बचाव कर गया, कुछ और उत्तर दे गया हूं। लेकिन सदा तुम्हारी भीतरी जरूरत ज्यादा महत्वपूर्ण है; तुम क्या पूछते हो, यह उतना महत्वपूर्ण नहीं। क्योंकि तुम्हें खुद ही ठीक पता नहीं, तुम क्या पूछते हो, क्यों पूछते हो। उत्तर वही दिया जाता है, जिसकी तुम्हें जरूरत है। तुम्हारे पूछने से कुछ तय नहीं होता।

देखा होगा अष्टावक्र ने: ज्ञानी तो नहीं है जनक। अज्ञानी है फिर क्या? अज्ञानी भी नहीं है। क्योंकि अज्ञानी तो अकड़ीला, अकड़ से भरा होता है। अज्ञानी तो झुकना जानता ही नहीं। यह तो मुझे बारह साल की उम्र के लड़के के पैरों में झुक गया, साष्टांग दंडवत की। यह अज्ञानी के लिए असंभव है। अज्ञानी तो समझता है कि मैं जानता ही हूं, मुझे कौन समझायेगा! अज्ञानी अगर कभी पूछता भी है तो तुम्हें गलत सिद्ध करने को

पूछता है। क्योंकि अज्ञानी तो यह मान कर ही चलता है कि पता तो मुझे है ही; देखें इनको भी पता है या नहीं! अज्ञानी परीक्षा के लिए पूछता है। नहीं, इसकी आंखें, जनक की तो बड़ी निर्मल हैं। मुझ बारह साल के अनजान-अपरिचित लड़के को सम्राट होते हुए भी इसने कहा, "एतत मम बूरहि प्रभो! हे प्रभु, मुझे समझा कर कहें!" नहीं, यह विनयशील है, अज्ञानी तो नहीं है। मूढ़ है क्या फिर? मूढ़ तो पूछते ही नहीं। मूढ़ों को तो पता ही नहीं है कि जीवन में कोई समस्या है।

मूढ़ और बुद्धपुरुषों में एक समानता है। बुद्धपुरुषों के लिए कोई समस्या नहीं रही; मूढ़ों के लिए अभी समस्या उठी ही नहीं। बुद्धपुरुष समस्या के पार हो गये: मूढ़ अभी समस्या के बाहर हैं। मूढ़ तो इतना मूर्च्छित है कि उसे कहां सवाल? "कथं ज्ञानम्"--मूढ़ पूछेगा? "कथं मुक्ति"--मूढ़ पूछेगा? "कैसे होगा वैराग्य"--मूढ़ पूछेगा? असंभव!

मूढ़ अगर पूछेगा भी तो पूछता है, राग में सफलता कैसे मिलेगी? मूढ़ अगर पूछता भी है तो पूछता है, संसार में और थोड़े ज्यादा दिन कैसे रहना हो जाये? मुक्ति...! नहीं, मूढ़ पूछता है बंधन सोने के कैसे बनें? बंधन में हीरे-जवाहरात कैसे जड़ें? मूढ़ पूछता भी है तो ऐसी बातें पूछता है। ज्ञान! मूढ़ तो मानता ही नहीं कि ज्ञान हो सकता है। वह तो संभावना को ही स्वीकार नहीं करता। वह तो कहता है, कैसा ज्ञान? मूढ़ तो पशुवत जीता है।

नहीं, यह जनक मूढ़ भी नहीं है--मुमुक्षु है।

"मुमुक्षु" शब्द समझना जरूरी है। मोक्ष की आकांक्षा--मुमुक्षा! अभी मोक्ष के पास नहीं पहुंचा, ज्ञानी नहीं है; मोक्ष के प्रति पीठ करके नहीं खड़ा, मूढ़ नहीं है; मोक्ष के संबंध में कोई धारणाएं पकड़ कर नहीं बैठा, आज्ञानी भी नहीं है--मुमुक्षु है। मुमुक्षु का अर्थ है, सरल है इसकी जिज्ञासा; न मूढ़ता से अपवित्र हो रही है, न अज्ञानपूर्ण धारणाओं से विकृत हो रही है। शुद्ध है इसकी जिज्ञासा। सरल चित्त से पूछा है।

अष्टावक्र ने कहा, "हे प्रिय, यदि तू मुक्ति को चाहता है तो विषयों को विष के समान छोड़ दे और क्षमा, आर्जव, दया, संतोष और सत्य को अमृत के समान सेवन कर।"

मुक्तिमिच्छसि चेत्तात विषयान् विषवत्त्यज।

शब्द "विषय" बड़ा बहुमूल्य है--वह विष से ही बना है। विष का अर्थ होता है, जिसे खाने से आदमी मर जाये। विषय का अर्थ होता है, जिसे खाने से हम बार-बार मरते हैं। बार-बार भोग, बार-बार भोजन, बार-बार महत्वाकांक्षा, र्ा, क्रोध, जलन--बार-बार इन्हीं को खा-खा कर तो हम मरे हैं! बार-बार इन्हीं के कारण तो मरे हैं! अब तक हमने जीवन में जीवन कहां जाना, मरने को ही जाना है। अब तक हमारा जीवन जीवन की प्रज्वलित ज्योति कहां, मृत्यु का ही धुआं है। जन्म से ले कर मृत्यु तक हम मरते ही तो हैं धीरे-धीरे, जीते कहां? रोज-रोज मरते हैं! जिसको हम जीवन कहते हैं, वह एक सतत मरने की प्रक्रिया है। अभी हमें जीवन का तो पता ही नहीं, तो हम जीयेंगे कैसे? यह शरीर तो रोज क्षीण होता चला जाता है। यह बल तो रोज खोता चला जाता है। ये भोग और विषय तो रोज हमें चूसते चले जाते हैं, जराजीर्ण करते चले जाते हैं। ये विषय और कामनाएं तो छेदों की तरह हैं; इनसे हमारी ऊर्जा और आत्मा रोज बहती चली जाती है। आखिर में घड़ा खाली हो जाता है, उसको हम मृत्यु कहते हैं।

तुमने कभी देखा, अगर छिद्र वाले घड़े को कुएं में डालो तो जब तक घड़ा पानी में डूबा होता है, भरा मालूम पड़ता है; उठाओ, पानी के ऊपर खींचो रस्सी, बस खाली होना शुरू हुआ! जोर का शोरगुल होता है। उसी को तुम जीवन कहते हो? जलधारें गिरने लगती हैं, उसी को तुम जीवन कहते हो? और घड़ा जैसे-जैसे पास आता हाथ के, खाली होता चला जाता है। जब हाथ में आता है, तो खाली घड़ा! जल की एक बूंद भी नहीं! ऐसा ही हमारा जीवन है।

बच्चा पैदा नहीं हुआ, भरा मालूम होता है; पैदा हुआ कि खाली होना शुरू हुआ। जन्म का पहला दिन मृत्यु का पहला दिन है। खाली होने लगा। एक दिन मरा, दो दिन मरा, तीन दिन मरा! जिनको तुम "जन्म-दिन" कहते हो, अच्छा हो, "मृत्यु-दिन" कहो तो ज्यादा सत्यतर होगा। एक साल मर जाते हो, उसको कहते हो, चलो एक जन्म-दिन आ गया! पचास साल मर गये, कहते हो, "पचास साल जी लिये, स्वर्ण-जयंती मनाएं!" पचास साल मरे। मौत करीब आ रही है, जीवन दूर जा रहा है। घड़ा खाली हो रहा है! जो दूर जा रहा है, उसके आधार पर तुम जीवन को सोचते हो या जो पास आ रहा है उसके आधार पर? यह कैसा उलटा गणित! हम रोज मर रहे हैं। मौत करीब सरकती आती है।

अष्टावक्र कहते हैं: विषय हैं विषवत, क्योंकि उन्हें खा-खा कर हम सिर्फ मरते हैं; उनसे कभी जीवन तो मिलता नहीं।

"यदि तू मुक्ति चाहता है, हे तात, हे प्रिय, तो विषयों को विष के समान छोड़ दे, और क्षमा, आर्जव, दया, संतोष और सत्य को अमृत के समान सेवन कर।"

अमृत का अर्थ होता है, जिससे जीवन मिले; जिससे अमरत्व मिले; जिससे उसका पता चले जो फिर कभी नहीं मरेगा।

तो क्षमा!

क्रोध विष है; क्षमा अमृत है।

आर्जव!

कुटिलता विष है; सीधा-सरलपन, आर्जव अमृत है।

दया!

कठोरता, क्रूरता विष है; दया, करुणा अमृत है।

संतोष!

असंतोष का कीड़ा खाए चला जाता है। असंतोष का कीड़ा हृदय में कैंसर की तरह है; फैलता चला जाता है; विष को फैलाए चले जाता है।

संतोष--जो है उससे तृप्ति; जो नहीं है उसकी आकांक्षा नहीं। जो है वह काफी से ज्यादा है। वह है ही काफी से ज्यादा। आंख खोलो, जरा देखो!

संतोष कोई थोपना नहीं है ऊपर जीवन के। जरा गौर से देखो, तुम्हें जो मिला है वह तुम्हारी जरूरत से सदा ज्यादा है! तुम्हें जो चाहिए वह मिलता ही रहा है। तुमने जो चाहा है, वह सदा मिल गया है। तुमने दुख चाहा है तो दुख मिल गया है। तुमने सुख चाहा है तो सुख मिल गया है। तुमने गलत चाहा तो गलत मिल गया है। तुम्हारी चाह ने तुम्हारे जीवन को रचा है। चाह बीज है; फिर जीवन उसकी फसल है। जन्मों-जन्मों में जो तुम चाहते रहे हो वही तुम्हें मिलता रहा है। कई बार तुम सोचते हो हम कुछ और चाह रहे हैं, जब मिलता है तो कुछ और मिलता है--तो तुम्हारे चाहने में भूल नहीं हुई है; सिर्फ तुमने चाहने के लिए गलत शब्द चुन लिया था। जैसे--तुम चाहते हो सफलता, मिलती है विफलता। तुम कहते हो, विफलता मिल रही है; चाही तो सफलता थी।

लेकिन जिसने सफलता चाही उसने विफलता को स्वीकार कर ही लिया; वह विफलता से भीतर डर ही गया है। विफलता के कारण ही तो सफलता चाह रहा है। और जब-जब सफलता चाहेगा तबत्तब विफलता का खयाल आयेगा। विफलता का खयाल भी मजबूत होता चला जायेगा। सफलता तो कभी मिलेगी; लेकिन रास्ते पर यात्रा तो विफलता-विफलता में ही बीतेगी। विफलता का भाव संगृहीभूत होगा। वह इतना संगृहीभूत हो जायेगा कि वही एक दिन प्रगट हो जायेगा। तब तुम कहते हो कि हमने तो सफलता चाही थी। लेकिन सफलता के चाहने में तुमने विफलता को चाह लिया।

लाओत्सु ने कहा है: सफलता चाही, विफलता मिलेगी। अगर सचमुच सफलता चाहिए हो, सफलता चाहना ही मत; फिर तुम्हें कोई विफल नहीं कर सकता।

तुम कहते हो: हमने सम्मान चाहा था, अपमान मिल रहा है। सम्मान चाहता ही वही व्यक्ति है, जिसका अपने प्रति कोई सम्मान नहीं। वही तो दूसरों से सम्मान चाहता है। अपने प्रति जिसका अपमान है वही तो दूसरों से अपने अपमान को भर लेना चाहता है, ढांक लेना चाहता है। सम्मान की आकांक्षा इस बात की खबर है कि तुम अपने भीतर अपमानित अनुभव कर रहे हो; तुम्हें अनुभव हो रहा है कि मैं कुछ भी नहीं हूं, दूसरे मुझे कुछ बना दें, सिंहासन पर बिठा दें, पताकाएं फहरा दें, झंडे उठा लें मेरे नाम के--दूसरे कुछ कर दें!

तुम भिखमंगे हो! तुमने अपना अपमान तो खुद कर लिया जब तुमने सम्मान चाहा। और यह अपमान गहन होता जायेगा।

लाओत्सु कहता है, मेरा कोई अपमान नहीं कर सकता, क्योंकि मैं सम्मान चाहता ही नहीं। यह सम्मान को पा लेना है। लाओत्सु कहता है, मुझे कोई हरा नहीं सकता, क्योंकि जीत की हमने बात ही छोड़ दी। अब हराओगे कैसे! तुम उसी को हरा सकते हो जो जीतना चाहता है अब यह जरा उलझा हुआ हिसाब है।

इस दुनिया में सम्मान उन्हें मिलता है जिन्होंने सम्मान नहीं चाहा। सफलता उन्हें मिलती है जिन्होंने सफलता नहीं चाही। क्योंकि जिन्होंने सफलता नहीं चाही उन्होंने तो स्वीकार ही कर लिया कि सफल तो हम हैं ही, अब और चाहना क्या है? सम्मान तो हमारे भीतर आत्मा का है ही; अब और चाहना क्या है? परमात्मा ने सम्मान दे दिया तुम्हें पैदा करके; अब और किसका सम्मान चाहते हो? परमात्मा ने तुम्हें काफी गौरव दे दिया! जीवन दिया! यह सौभाग्य दिया कि आंख खोलो, देखो हरे वृक्षों को, फूलों को, पक्षियों को! कान दिए--सुनो संगीत को, जलप्रपात के मरमर को! बोध दिया कि बुद्ध हो सको! अब और क्या चाहते हो? सम्मानित तो तुम हो गये! परमात्मा ने तुम्हें प्रमाण-पत्र दिया। तुम भिखारी की तरह किनसे प्रमाण-पत्र मांग रहे हो? उनसे, जो तुमसे प्रमाण-पत्र मांग रहे हैं?

यह बड़ा मजेदार मामला है: दो भिखारी एक-दूसरे के सामने खड़े भीख मांग रहे हैं! यह भीख मिलेगी कैसे? दोनों भिखारी हैं। तुम किससे सम्मान मांग रहे हो? किसके सामने खड़े हो? यह अपमान कर रहे हो तुम अपना। और यही अपमान गहन होता जायेगा।

संतोष का अर्थ होता है: देखो, जो तुम्हारे पास है। देखो जरा आंख खोल कर, जो तुम्हें मिला ही है।

यह अष्टावक्र की बड़ी बहुमूल्य कुंजी है। यह धीरे-धीरे तुम्हें साफ होगी। अष्टावक्र की दृष्टि बड़ी क्रांतिकारी है, बड़ी अनूठी है, जड़-मूल से क्रांति की है।

"संतोष और सत्य को अमृत के समान सेवन कर।"

क्योंकि असत्य के साथ जो जीयेगा वह असत्य होता चला जायेगा। जो असत्य को बोलेगा, असत्य को जीयेगा, स्वभावतः असत्य से घिरता चला जायेगा। उसके जीवन से संबंध विच्छिन्न हो जाएंगे, जड़ें टूट जाएंगी।

परमात्मा में जड़ें चाहते हो तो सत्य के द्वारा ही वे जड़ें हो सकती हैं। प्रामाणिकता और सत्य के द्वारा ही तुम परमात्मा से जुड़ सकते हो। परमात्मा से टूटना है तो असत्य का धुआं पैदा करो, असत्य के बादल अपने पास बनाओ। जितने तुम असत्य होते चले जाओगे उतने परमात्मा से दूर होते चले जाओगे।

"तू न पृथ्वी है, न जल है, न वायु है, न आकाश है। मुक्ति के लिए आत्मा को, अपने को इन सबका साक्षी चैतन्य जान।"

सीधी-सीधी बातें हैं; भूमिका भी नहीं है। अभी दो वचन नहीं बोले अष्टावक्र ने कि ध्यान आ गया, कि समाधि की बात आ गई। जानने वाले के पास समाधि के अतिरिक्त और कुछ जताने को है भी नहीं। वह दो वचन भी बोले, क्योंकि एकदम से अगर समाधि की बात होगी तो शायद तुम चौंक ही जाओगे, समझ ही न पाओगे। मगर दो वचन--और सीधी समाधि की बात आ गई!

अष्टावक्र सात कदम भी नहीं चलते; बुद्ध तो सात कदम चले, आठवें कदम पर समाधि है। अष्टावक्र तो पहला कदम ही समाधि का उठाते हैं।

"तू न पृथ्वी है, न जल, न वायु, न आकाश"--ऐसी प्रतीति में अपने को थिर कर। "मुक्ति के लिए आत्मा को, अपने को इन सबका साक्षी चैतन्य जान।"

"साक्षी" सूत्र है। इससे महत्वपूर्ण सूत्र और कोई भी नहीं। देखने वाले बनो! जो हो रहा है उसे होने दो; उसमें बाधा डालने की जरूरत नहीं। यह देह तो जल है, मिट्टी है, अग्नि है, आकाश है। तुम इसके भीतर तो वह दीये हो जिसमें ये सब जल, अग्नि, मिट्टी, आकाश, वायु प्रकाशित हो रहे हैं। तुम द्रष्टा हो। इस बात को गहन करो।

साक्षिणां चिद्रूपं आत्मानं विद्दि...

यह इस जगत में सर्वाधिक बहुमूल्य सूत्र है। साक्षी बनो! इसी से होगा ज्ञान! इसी से होगा वैराग्य! इसी से होगी मुक्ति!

प्रश्न तीन थे, उत्तर एक है।

"यदि तू देह को अपने से अलग कर और चैतन्य में विश्राम कर स्थित है तो तू अभी ही सुखी, शांत और बंध-मुक्त हो जायेगा।"

इसलिए मैं कहता हूं, यह जड़-मूल से क्रांति है। पतंजलि इतनी हिम्मत से नहीं कहते कि "अभी ही।" पतंजलि कहते हैं, "करो अभ्यास--यम, नियम; साधो--प्राणायाम, प्रत्याहार, आसन; शुद्ध करो। जन्म-जन्म लगेंगे, तब सिद्धि है।"

महावीर कहते हैं, "पंच महाव्रत! और तब जन्म-जन्म लगेंगे, तब होगी निर्जरा; तब कटेगा जाल कर्मों का।"

सुनो अष्टावक्र को:

यदि देहं पृथक्कृत्य चिति विश्राम्य तिष्ठसि।
अधुनैव सुखी शांतः बंधमुक्तो भविष्यसि।।

"अधुनैव!" अभी, यहीं, इसी क्षण! "यदि तू देह को अपने से अलग कर और चैतन्य में विश्राम कर स्थित है...!" अगर तूने एक बात देखनी शुरू कर दी कि यह देह मैं नहीं हूं; मैं कर्ता और भोक्ता नहीं हूं; यह जो देखने वाला मेरे भीतर छिपा है जो सब देखता है--बचपन था कभी तो बचपन देखा, फिर जवानी आयी तो जवानी देखी, फिर बुढ़ापा आया तो बुढ़ापा देखा; बचपन नहीं रहा तो मैं बचपन तो नहीं हो सकता--आया और गया; मैं तो हूं! जवानी नहीं रही तो मैं जवानी तो नहीं हो सकता-- आई और गई; मैं तो हूं! बुढ़ापा आया, जा रहा है, तो मैं बुढ़ापा नहीं हो सकता। क्योंकि जो आता है जाता है, वह मैं कैसे हो सकता हूं! मैं तो सदा हूं। जिस पर बचपन आया, जिस पर जवानी आई, जिस पर बुढ़ापा आया, जिस पर हजार चीजें आईं और गईं--मैं वही शाश्वत हूं।

स्टेशनों की तरह बदलती रहती है बचपन, जवानी, बुढ़ापा, जन्म--यात्री चलता जाता। तुम स्टेशन के साथ अपने को एक तो नहीं समझ लेते! पूना की स्टेशन पर तुम ऐसा तो नहीं समझ लेते कि मैं पूना हूं! फिर पहुंचे मनमाड़ तो ऐसा तो नहीं समझ लेते कि मैं मनमाड़ हूं! तुम जानते हो कि पूना आया, गया; मनमाड़ आया, गया--तुम तो यात्री हो! तुम तो द्रष्टा हो--जिसने पूना देखा, पूना आया; जिसने मनमाड़ देखा, मनमाड़ आया! तुम तो देखने वाले हो!

तो पहली बात: जो हो रहा है उसमें से देखने वाले को अलग कर लो!

"देह को अपने से अलग कर और चैतन्य में विश्राम...।"

और करने योग्य कुछ भी नहीं है। जैसे लाओत्सु का सूत्र है--समर्पण, वैसे अष्टावक्र का सूत्र है--विश्राम, रेस्ट। करने को कुछ भी नहीं है।

मेरे पास लोग आते हैं, वे कहते हैं, ध्यान कैसे करें? वे प्रश्न ही गलत पूछ रहे हैं। गलत पूछते हैं तो मैं उनको कहता हूं, करो। अब क्या करोगे! तो उनको बता देता हूं कि करो, कुछ न कुछ तो करना ही पड़ेगा--अभी तुम्हें करने की खुजलाहट है तो उसे तो पूरा करना होगा। खुजली है तो क्या करोगे! बिना खुजाए नहीं बनता। लेकिन धीरे-धीरे उनको करवा-करवा कर थका डालता हूं। फिर वे कहते हैं कि अब इससे छुटकारा दिलवाओ! अब कब तक यह करते रहें? मैं कहता हूं, मैं तो पहले ही राजी था; लेकिन तुम्हें समझने में जरा देर लगी। अब विश्राम करो!

ध्यान का आत्यंतिक अर्थ विश्राम है।

चिति विश्राम्य तिष्ठसि

--जो विश्राम में ठहरा देता अपनी चेतना को; जो होने मात्र में ठहर जाता...!

कुछ करने को नहीं है। क्योंकि जिसे तुम खोज रहे हो, वह मिला ही हुआ है। क्योंकि जिसे तुम खोज रहे हो, उसे कभी खोया ही नहीं। उसे खोया नहीं जा सकता। वही तुम्हारा स्वभाव है। अयमात्मा ब्रह्म! तुम ब्रह्म हो! अनलहक! तुम सत्य हो! कहां खोजते हो? कहां भागे चले जाते हो? अपने को ही खोजने कहां भागे चले जाते हो? रुको, ठहरो! परमात्मा दौड़ने से नहीं मिलता, क्योंकि परमात्मा दौड़ने वाले में छिपा है। परमात्मा कुछ करने से नहीं मिलता, क्योंकि परमात्मा करने वाले में छिपा है। परमात्मा के होने के लिए कुछ करने की जरूरत ही नहीं है--तुम हो ही!

इसलिए अष्टावक्र कहते हैं: चिति विश्राम्य! विश्राम करो! ढीला छोड़ो अपने को! यह तनाव छोड़ो! कहां जाते? कहीं जाने को नहीं, कहीं पहुंचने को नहीं है।

और चैतन्य में विश्राम...तो तू अभी ही, इसी क्षण, अधुनैव, सुखी, शांत और बंध-मुक्त हो जायेगा।

अनूठा है वचन! नहीं कोई और शास्त्र इसका मुकाबला करता है।

"तू ब्राह्मण आदि वर्ण नहीं है और न तू कोई आश्रम वाला है और न आंख आदि इंद्रियों का विषय है। असंग और निराकार तू सबका, विश्व का साक्षी है। ऐसा जानकर सुखी हो।"

अब ब्राह्मण कैसे टीका लिखें!

"तू ब्राह्मण आदि वर्ण नहीं है...।"

अब हिंदू इस शास्त्र को कैसे सिर पर उठायें! क्योंकि उनका तो सारा धर्म वर्ण और आश्रम पर खड़ा है। और यह तो पहले से ही अष्टावक्र जड़ काटने लगे। वे कहते हैं, तू कोई ब्राह्मण नहीं है, न कोई शूद्र है, न कोई क्षत्रिय है। यह सब बकवास है! ये सब ऊपर के आरोपण हैं। यह सब राजनीति और समाज का खेल है। तू तो सिर्फ ब्रह्म है; ब्राह्मण नहीं, क्षत्रिय नहीं, शूद्र नहीं!

"तू ब्राह्मण आदि वर्ण नहीं और न तू कोई आश्रम वाला है।"

और न तो यह है कि तू कोई ब्रह्मचर्य-आश्रम में है कि गृहस्थ-आश्रम में है, कि वानप्रस्थ कि संन्यस्त, कोई आश्रम वाला नहीं है। तू तो इस सारे स्थानों के भीतर से गुजरने वाला द्रष्टा, साक्षी है।

अष्टावक्र की गीता, हिंदू दावा नहीं कर सकते, हमारी है। अष्टावक्र की गीता सबकी है। अगर अष्टावक्र के समय में मुसलमान होते, हिंदू होते, ईसाई होते, तो उन्होंने कहा होता, "न तू हिंदू है, न तू ईसाई है, न तू मुसलमान है।" अब ऐसे अष्टावक्र को...कौन मंदिर बनाये इसके लिए! कौन इसके शास्त्र को सिर पर उठाये! कौन दावेदार बने! क्योंकि ये सभी का निषेध कर रहे हैं। मगर यह सत्य की सीधी घोषणा है।

"असंग और निराकार तू सबका, विश्व का साक्षी है--ऐसा जान कर सुखी हो!"

अष्टावक्र यह नहीं कहते कि ऐसा तुम जानोगे तो फिर सुखी होओगे। वचन को ठीक से सुनना। अष्टावक्र कहते हैं, ऐसा जान कर सुखी हो!

न त्वं विप्रादिको वर्णो नाश्रमी नाक्षगोचरः।
असंगोऽसि निराकारो विश्वसाक्षी सुखी भव।।

सुखी भव! अभी हो सुखी!

जनक पूछते हैं, "कैसे सुख होगा? कैसे बंधन-मुक्ति होगी? कैसे ज्ञान होगा?"

अष्टावक्र कहते हैं, अभी हो सकता है। क्षणमात्र की भी देर करने की कोई जरूरत नहीं है। इसे कल पर छोड़ने का कोई कारण नहीं, स्थगित करने की कोई जरूरत नहीं। यह घटना भविष्य में नहीं घटती; या तो घटती है अभी या कभी नहीं घटती। जब घटती है तब अभी घटती है। क्योंकि "अभी" के अतिरिक्त कोई समय ही नहीं है। भविष्य कहां है? जब आता है तब अभी की तरह आता है।

तो जो भी ज्ञान को उत्पन्न हुए हैं--"अभी" उत्पन्न हुए हैं। कभी पर मत छोड़ना--वह मन की चालाकी है। मन कहता है, इतने जल्दी कैसे हो सकता है; तैयारी तो कर लें!

मेरे पास लोग आते हैं। वे कहते हैं, "संन्यास लेना है...लेंगे कभी।" "कभी!" कभी न लोगे! कभी पर टाला तो सदा के लिए टाला। कभी आता ही नहीं। लेना हो तो अभी। अभी के अतिरिक्त कोई समय ही नहीं है। अभी है जीवन। अभी है मुक्ति। अभी है अज्ञान, अभी है ज्ञान। अभी है निद्रा, अभी हो सकता जागरण। कभी क्यों? कठिन होता है मन को, क्योंकि मन कहता है तैयारी तो करने दो! मन कहता है, "कोई भी काम तैयारी के बिना कैसे घटता है? आदमी को विश्वविद्यालय से प्रमाण-पत्र लेना है तो वर्षों लगते हैं। डाक्टरेट करनी है तो बीस-पचीस साल लग जाते हैं, मेहनत करते-करते, फिर आदमी जाकर डाक्टर हो पाता है। अभी कैसे हो सकते हैं?"

अष्टावक्र भी जानते हैं: दुकान करनी हो तो अभी थोड़े खुल जायेगी! इकट्ठा करना पड़े, आयोजन करना पड़े, सामान लाना पड़े, दुकान बनानी पड़े, ग्राहक खोजने पड़ें, विज्ञापन भेजना पड़े--वर्षों लगते हैं! इस जगत में कोई भी चीज "अभी" तो घटती नहीं; क्रम से घटती है। ठीक है। अष्टावक्र भी जानते हैं, मैं भी जानता हूं। लेकिन एक घटना यहां ऐसी है जो अभी घटती है--वह परमात्मा है। वह तुम्हारी दुकान नहीं है, न तुम्हारा परीक्षालय है, न तुम्हारा विश्वविद्यालय है। परमात्मा क्रम से नहीं घटता। परमात्मा घट ही चुका है। आंख भर खोलने की बात है--सूरज निकल ही चुका है। सूरज तुम्हारी आंख के लिए नहीं रुका है कि तुम जब आंख खोलोगे, तब निकलेगा। सूरज निकल ही चुका है। प्रकाश सब तरफ भरा ही है। अहर्निश गूंज रहा है उसका नाद! ओंकार की ध्वनि सब तरफ गूंज रही है! सतत अनाहत चारों तरफ गूंज रहा है! खोलो कान! खोलो आंख!

आंख खोलने में कितना समय लगता है? उतना समय भी परमात्मा को पाने में नहीं लगता। पल तो लगता है पलक के झपने में। पल का अर्थ होता है, जितना समय पलक को झपने में लगता, उतना पल। मगर परमात्मा को पाने में पल भी नहीं लगता।

विश्वसाक्षी, असंगोऽसि निराकारो। सुखी भव!

अभी हो सुखी! उधार नहीं है अष्टावक्र का धर्म--नगद, कैश...।

"हे व्यापक, धर्म और अधर्म, सुख और दुख मन के हैं; तेरे लिए नहीं हैं। तू न कर्ता है न भोक्ता है। तू तो सर्वदा मुक्त ही है।"

मुक्ति हमारा स्वभाव है। ज्ञान हमारा स्वभाव है। परमात्मा हमारा होने का ढंग है; हमारा केंद्र है; हमारे जीवन की सुवास है; हमारा होना है।

धर्माऽधर्मौ सुखं दुःखं मानसानि न तो विभो।

अष्टावक्र कहते हैं, "हे व्यापक, हे विभावान, हे विभूतिसंपन्न! धर्म और अधर्म, सुख और दुख मन के हैं।" ये सब मन की ही तरंगें हैं। बुरा किया, अच्छा किया, पाप किया, पुण्य किया, मंदिर बनाया, दान दिया--सब मन के हैं।

न कर्ताऽसि न भोक्ताऽसि मुक्त एवासि सर्वदा।

"तू तो सदा मुक्त है। तू तो सर्वदा मुक्त है।"

मुक्ति कोई घटना नहीं है जो हमें घटानी है। मुक्ति घट चुकी है हमारे होने में! मुक्ति से बना है यह अस्तित्व। इसका रोआं-रोआं, रंच-रंच मुक्ति से निर्मित है। मुक्ति है धातु, जिससे बना है सारा अस्तित्व। स्वतंत्रता स्वभाव है। यह उदघोषणा, बस समझी कि क्रांति घट जाती है। समझने के अतिरिक्त कुछ करना नहीं है। यह बात खयाल में उतर जाये, तुम सुन लो इसे मन भर कर, बस!

तो आज इतना ही कहना चाहूंगा: अष्टावक्र को समझने की चेष्टा भर करना। अष्टावक्र में "करने" का कोई इंतजाम नहीं है। इसलिए तुम यह मत सोचना कि अब कोई तरकीब निकलेगी जो हम करेंगे। अष्टावक्र कुछ करने को कहते ही नहीं। तुम विश्राम से सुन लो। करने से कुछ होने ही वाला नहीं है। इसलिए तुम कापी वगैरह, नोटबुक ले कर मत आना कि लिख लेंगे, कुछ आयेगा सूत्र तो नोट कर लेंगे, करके देख लेंगे। करने का यहां कुछ काम ही नहीं है। इसलिए तुम भविष्य की फिक्र छोड़ कर सुनना। तुम सिर्फ सुन लेना। तुम सिर्फ मेरे पास बैठ कर शांत भाव से सुन लेना, विश्राम में सुन लेना। सुनते-सुनते तुम मुक्त हो जा सकते हो।

इसलिए महावीर ने कहा है कि श्रावक मुक्त हो सकता है--सिर्फ सुनते-सुनते! श्रावक का अर्थ होता है जो सुनते-सुनते मुक्त हो जाये। साधु का तो अर्थ ही इतना है कि जो सुन-सुन कर मुक्त न हो सका, थोड़ा कमजोर बुद्धि का है। कुछ करना पड़ा। सिर्फ कोड़े की छाया काफी न थी। घोड़ा जरा कुजात है। कोड़ा फटकारा, तब थोड़ा चला; या मारा तो थोड़ा चला।

छाया काफी है। तुम सुन लेना, कोड़े की छाया दिखाई पड़ जायेगी।

तो अष्टावक्र के साथ एक बात स्मरण रखना: कुछ करने को नहीं है। इसलिए तुम आनंद-भाव से सुन सकते हो। इसमें से कुछ निकालना नहीं है कि फिर करके देखेंगे। जो घटेगा वह सुनने में घटेगा। सम्यक श्रवण सूत्र है।

अधुनैव सुखी शांतः बंधमुक्तो भविष्यसि।

अभी हो जा मुक्त! इसी क्षण हो जा मुक्त! कोई रोक नहीं रहा। कोई बाधा नहीं है। हिलने की भी जरूरत नहीं है। जहां है, वहीं हो जा मुक्त। क्योंकि मुक्त तू है ही। जाग और हो जा मुक्त!

असंगोऽसि निराकारो विश्वसाक्षी सुखी भव।

हो जा सुखी! एक पल की भी देर करने की कोई जरूरत नहीं है। छलांग है, क्वांटम छलांग! सीढ़ियां नहीं हैं अष्टावक्र में। क्रमिक विकास नहीं है; सडन, इसी क्षण हो सकता है!

हरि ॐ तत्सत्!

दूसरा प्रवचन

समाधि का सूत्रः विश्राम

पहला प्रश्नः कल प्रवचन सुनते समय ऐसा लगा कि मैं इस पृथ्वी पर नहीं हूं, वरन मुक्त और असीम आकाश में एक ज्योति-कण हूं। प्रवचन के बाद भी हलकेपन का, खालीपन का अनुभव होता रहा; उसी आकाश में भ्रमण करते रहने का जी होता रहा। ज्ञान, कर्म, भक्ति मैं नहीं जानता; लेकिन अकेला होने पर इस स्थिति में डूबे रहने का जी होता है। लेकिन कभी-कभी यह भाव भी उठता है कि कहीं यह मेरा पागलपन तो नहीं है, कहीं यह मेरे अहंकार का ही दूसरा खेल तो नहीं है! कृपापूर्वक मेरा मार्ग-दर्शन करें!

इस पृथ्वी पर हम हैं, पर इस पृथ्वी पर वस्तुतः हम न हो सकते हैं और न हम हैं। प्रतीत होता है, पृथ्वी पर हम अजनबी हैं। देह में घर किया है, लेकिन देह हमारा घर नहीं। जैसे कोई परदेस में बस जाये और भूल ही जाये स्वदेश को, फिर अचानक राह पर किसी दिन बाजार में कोई मिल जाये जो घर की याद दिला दे, जो अपनी भाषा में बोले--तो एक क्षण को परदेस मिट जायेगा, स्वदेश प्रगट हो जायेगा।

शास्त्र का यही मूल्य है। शास्ताओं के वचनों का यही अर्थ है। उनकी सुनकर क्षण भर को हम यहां नहीं रह जाते; वहां हो जाते हैं जहां हमें होना चाहिए। उनके संगीत में बहकर, जो चारों तरफ घेरे है वह दूर हो जाता है; और जो बहुत दूर है, पास आ जाता है।

अष्टावक्र के वचन बहुत अनूठे हैं। सुनोगे तो ऐसा बार-बार होगा। बार-बार लगेगा, पृथ्वी पर नहीं हो, आकाश के हो गये; क्योंकि वे वचन आकाश के हैं। वे वचन स्वदेश से आए हैं। उस स्रोत से आए हैं, जहां से हम सबका आना हुआ है; और जहां हमें जाना चाहिए, और जहां जाए बिना हम कभी चैन को उपलब्ध न हो सकेंगे।

जहां हम हैं--सराय है, घर नहीं। कितना ही मानकर बैठ जायें कि घर है, फिर भी सराय सराय बनी रहती है। समझा लें, बुझा लें, भुला लें--भेद नहीं पड़ता; कांटा चुभता ही रहता है; याद आती ही रहती है। और कभी जब ऐसे किसी सत्य के साथ मुलाकात हो जाये, जो खींच ले, जो चुंबक की तरह किसी और दूसरी दुनिया का दर्शन करा दे तो लगेगा कि हम पृथ्वी के हिस्से नहीं रहे।

ठीक लगा।

"कल प्रवचन सुनते समय ऐसा लगा कि मैं इस पृथ्वी पर नहीं हूं।"

इस पृथ्वी पर कोई भी नहीं है। इस पृथ्वी पर हम मालूम होते हैं, प्रतीति होती है, सत्यतः हम आकाश में हैं। हमारा स्वभाव आकाश का है।

आत्मा यानी भीतर का आकाश। शरीर यानी पृथ्वी। शरीर बना है पृथ्वी से। तुम बने हो आकाश से। तुम्हारे भीतर दोनों का मिलन हुआ है।

तुम क्षितिज हो, जहां पृथ्वी आकाश से मिलती हुई मालूम पड़ती है; लेकिन मिलती थोड़े ही है कभी! दूर क्षितिज मालूम पड़ता है--मिल रहा आकाश पृथ्वी से। चल पड़ो; लगता है ऐसे घड़ी दो घड़ी में पहुंच जायेंगे। चलते रहो जन्मों-जन्मों तक, कभी भी उस जगह न पहुंचोगे जहां आकाश पृथ्वी से मिलता है। बस मालूम होता; सदा मालूम होता मिल रहा--थोड़ी दूर आगे, बस थोड़ी दूर आगे!

क्षितिज कहीं है नहीं--सिर्फ दिखाई पड़ता है। जैसे बाहर क्षितिज है वैसे ही हमारी अवस्था है। यहां भीतर भी मिलन कभी हुआ नहीं। आत्मा कैसे मिले शरीर से! मर्त्य का अमृत से मिलन कैसे हो! दूध पानी में मिल जाता है--दोनों पृथ्वी के हैं। आत्मा शरीर से कैसे मिले--दोनों का गुणधर्म भिन्न है! कितने ही पास हों, मिलन

असंभव है। सनातन से पास हों तो भी मिलन असंभव है। मिलन हो नहीं सकता; सिर्फ हमारी प्रतीति है, हमारी धारणा है। क्षितिज हमारी धारणा है। हमने मान रखा है, इसलिए है।

अष्टावक्र के वचनों को अगर जाने दोगे हृदय के भीतर तीर की तरह तो वे तुम्हारी याद को जगायेंगे; तुम्हारी भूली-बिसरी स्मृति को उठायेंगे; क्षण भर को आकाश जैसे खुल जायेगा, बादल कट जायेंगे; सूरज की किरणों से भर जायेगा प्राण।

कठिनाई होगी; क्योंकि हमारे सारे जीवन के विपरीत होगा यह अनुभव। इससे बेचैनी होगी। और ये जो घटाएं छट गई हैं, ये तुम्हारे कारण नहीं छटी हैं; ये तो किसी शास्ता के वचनों का परिणाम हैं। फिर घटाएं घिर जायेंगी। तुम घर पहुंचते-पहुंचते फिर घटाओं को घेर लोगे। तुम अपनी आदत से इतनी जल्दी बाज थोड़े आओगे--फिर घटाएं घिर जायेंगी, तब और बेचैनी होगी कि जो दिखाई पड़ा था, वह सपना तो नहीं था; जो दिखाई पड़ा था, कहीं कल्पना तो नहीं थी, कहीं अहंकार का, मन का खेल तो न था, कहीं ऐसा तो न हुआ कि हम किसी पागलपन में पड़ गये थे!

स्वभावतः तुम्हारी आदतों का वजन बहुत पुराना है। अंधेरा बड?ा प्राचीन है। यद्यपि है नहीं--पर है बहुत प्राचीन। सूरज की किरण कभी फूटती है तो बड़ी नयी है--अत्यंत नयी है, सद्यःस्नात! क्षण भर को दिखाई पड़ती है, फिर तुम अपने अंधेरे में खो जाते हो। तुम्हारे अंधेरे का बड़ा लंबा इतिहास है। जब तुम दोनों को तौलोगे तो शक किरण पर पैदा होगा, अंधेरे पर पैदा नहीं होगा। होना चाहिए अंधेरे पर--होता है किरण पर; क्योंकि किरण है नयी और अंधेरा है पुराना। अंधेरा है परंपरा जैसा-- सदियों-सदियों की धारा है। किरण है अभी-अभी फूटी--ताजी, नयी, इतनी नयी कि भरोसा कैसे करें!

"...लगा कि मैं इस पृथ्वी पर नहीं हूं।"

इस पृथ्वी पर कोई भी नहीं है। इस पृथ्वी पर हम हो नहीं सकते। मान्यता है हमारी, धारणा है हमारी, लगता है--सत्य नहीं है।

"...और मुझे, असीम आकाश में एक ज्योति-कण हूं, ऐसा प्रतीत हुआ।"

यह शुरुआत है: "असीम आकाश में एक ज्योति-कण हूं।" जल्दी ही लगेगा कि असीम आकाश हूं। यह प्रारंभ है।

तो असीम आकाश में भी अभी हम पूरी तरह लीन नहीं हो पाते। अगर लगता भी है कभी, कभी वह उड़ान भी आ जाती है, वह तूफान भी आ जाता है, हवाएं हमें ले भी जाती हैं--तो भी हम अपने को अलग ही बचा लेते हैं। "ज्योति कण!" न रहे अंधेरे, हो गये ज्योति-कण; लेकिन आकाश से अभी भी भेद रहा, फर्क रहा, फासला रहा। घटना तो पूरी उस दिन घटेगी, जिस दिन तुम आकाश ही हो जाओगे--ज्योति-कण भी भिन्न है--जिस दिन तुम अभिन्न हो जाओगे; जिस दिन लगेगा मैं शून्याकाश हूं।

ऐसा तो कहते हैं भाषा में कि मैं शून्य आकाश हूं। जब तक "मैं" है, तब तक यह कैसे हो सकेगा? मैं है तो आकाश अलग रहेगा। जब ऐसा प्रतीत होगा कि शून्याकाश है, तब मैं तो नहीं रहूंगा। शून्याकाश ही रहेगा। कहते हैं: अहं ब्रह्मास्मि--मैं ब्रह्म हूं। लेकिन जब ब्रह्म होगा तब मैं कैसे रहेगा? ब्रह्म ही रहेगा, मैं नहीं रहूंगा। पर कहने में और कोई उपाय नहीं।

भाषा तो सोए हुए लोगों की है। भाषा तो उनकी है जो परदेस में बस गए और जिन्होंने परदेस को स्वदेश मान लिया है। मौन ही ज्ञानियों का है; भाषा तो अज्ञानियों की है।

तो जैसे ही कुछ कहो, कहते ही सत्य असत्य हो जाता है। "अहं ब्रह्मास्मि! मैं ब्रह्म हूं। मैं आकाश हूं।"--कहते ही असत्य हो गया।...आकाश ही है!

लेकिन यह भी कहना "आकाश ही है" पूरा सत्य नहीं है, क्योंकि "ही" बताता है कि कुछ और भी होगा, अन्यथा "ही" पर जोर क्यों है? "आकाश है", इतने कहने में भी अड़चन है, क्योंकि जो है वह "नहीं" हो सकता है।

हम कहते हैं, मकान है; कभी मकान नहीं हो जाता है, गिर जाता है, खंडहर हो जाता है। हम कहते हैं, आदमी है; कभी आदमी मर जाता है। आकाश इस तरह तो नहीं है कि कभी है और कभी नहीं है। आकाश तो सदा है।

तो आकाश है, ऐसा कहना पुनरुक्ति है। आकाश का स्वभाव ही होना है, इसलिए "है" को क्या दोहराना? "है" कहना तो उन चीजों के लिए ठीक है जो कभी "नहीं" भी हो जाती हैं। मनुष्य है। एक दिन नहीं था, आज है, कल फिर नहीं हो जायेगा। हमारी "है" तो दो "नहीं" के बीच में है। आकाश की "है" कल भी है आज भी है, कल भी है। दो "है" के बीच में "है" का क्या अर्थ? दो "नहीं" के बीच में "है" का अर्थ होता है।

आकाश है, यह भी पुनरुक्ति है। कहें आकाश। लेकिन "आकाश" जब कहते हैं, शब्द जब बनाते हैं, तभी भूल हो जाती है। आकाश कहने का अर्थ ही हुआ कि कुछ और भी है जो आकाश से अन्यथा है, भिन्न है। अन्यथा शब्द की क्या जरूरत है? अगर एक ही है तब तो एक कहने का भी कोई प्रयोजन नहीं। एक तो तभी सार्थक है जब दो हो, तीन हो, चार हो, संख्या हो। "आकाश" भी क्या कहना?

इसलिए ज्ञान तो मौन है। परम ज्ञान को शब्दों तक लाना असंभव है।

लेकिन हम धन्यभागी हैं कि अष्टावक्र जैसे किन्हीं पुरुषों ने अथक, असंभव चेष्टा की है। जहां तक संभव हो सकता था, सत्य की सुगंध को शब्द तक लाने का प्रयास किया है।

और इतना खयाल रखना कि अष्टावक्र जैसी सफल चेतना बहुत कम है। बहुतों ने प्रयास किया है सत्य को शब्द तक लाने का--सभी हारे हैं। हारना सुनिश्चित है। मगर अगर हारे हुओं में भी देखना हो, तो अष्टावक्र सबसे कम हारे हैं; सबसे ज्यादा जीते हैं। सुनोगे ठीक से तो घर की याद आयेगी।

शुभ है कि लगा ज्योति-कण हूं। तैयारी रखना खोने की। किसी दिन लगेगा ज्योति-कण भी खो गया, आकाश ही बचा। तब पूरा मतवालापन छायेगा। तब डूबोगे सत्य की शराब में। तब नाचोगे। तब अमृत की पूरी झलक मिलेगी।

"...प्रवचन के बाद भी हलकेपन, खालीपन का अनुभव होता रहा। उसी आकाश में भ्रमण करने का जी होता रहा।"

यहां थोड़ी भूल हो जाती है। जब भी हमें कुछ सुखद अनुभव होता है, तो हम चाहते हैं फिर-फिर हो। मनुष्य का मन है बड़ा कमजोर--आकांक्षा से भर जाता है, लोभ से भर जाता है, प्रलोभन पैदा होता है। जो भी सुखद है उसे दोहराने का मन होता है। लेकिन एक बात खयाल रखना, दोहराने में ही भूल हो जाती है। जैसे ही तुमने चाहा फिर से हो, कभी न होगा। क्योंकि जब पहली दफे हुआ था तो तुम्हारे चाहने से न हुआ था--हो गया था; घटा था; तुम्हारा कृत्य न था।

यही तो अष्टावक्र का पूरा जोर है: सत्य घटता है; कृत्य नहीं है, घटना है। सुनते-सुनते हुआ था, तुम कर क्या रहे थे? सुनने का अर्थ ही होता है कि तुम कुछ भी न कर रहे थे; तुम शून्य-भाव से बैठे थे; तुम मौन थे, तुम सजग थे; तुम जागे हुए थे, सोए नहीं थे। ठीक! लेकिन तुम कर क्या रहे थे? तुम केवल ग्राहक थे। तुम्हारी चित्त की दशा दर्पण की तरह थी: जो आ जाये, झलक जाये; जो कहा जाये, सुन लिया जाये। तुम कुछ उसमें जोड़ न रहे थे। अगर तुम जोड़ रहे होते, तो जो घटी है बात वह कभी न घटती। तुम व्याख्या भी न कर रहे थे। भीतर बैठे-बैठे तुम यह न कह रहे थे कि हां, ठीक है गलत है, मुझसे मेल खाता नहीं मेल खाता, शास्त्र में ऐसा कहा है कि नहीं कहा है। तुम तर्क न कर रहे थे। अगर तुम तर्क कर रहे थे तो यह घटना न घटती।

जिन्होंने पूछा है, स्वामी ओमप्रकाश सरस्वती ने, उन्हें मैं जानता हूं। तर्क से उनका चित्त बड़ा दूर है; संदेह-विवाद से बहुत दूर है। जा चुके वे दिन! कभी किया होगा तर्क, कभी किया होगा संदेह। जीवन के अनुभव से पक गये हैं। अब नहीं वह बचपना मन में रहा। इसीलिए घटना घट सकी। सुन रहे थे, कुछ कर न रहे थे, बैठे थे--बैठे-बैठे हो गया।

तो जब पहली दफा तुम्हारे बिना किये हुआ, तो दूसरी दफा अगर तुमने चाहा कि हो जाये तो बाधा पड़ जायेगी। चाह तो उसके होने का कारण थी ही नहीं। इसलिए जब ऐसी अभूतपूर्व घटनाएं घटें तो चाहना मत: जब घटें, आनंद-भाव वे स्वीकार कर लेना; जब न घटें तो शिकायत मत करना, मांगना मत। मांगे कि चूके। मांग में जबरदस्ती है, आग्रह है: "घटना चाहिए! एक दफा घट गया तो अब क्यों नहीं घटता है?"

ऐसा रोज होता है। जब यहां लोग ध्यान करने आते हैं, शुरू-शुरू में ताजे और नये होते हैं; कोई अनुभव नहीं होता, तो घट जाता है। यह बड़ी हैरानी की बात है। इसे तुम समझना। अष्टावक्र को समझने में इससे सहायता मिलेगी। यह मेरे रोज का अनुभव है: जब लोग नयेत्ताजे आते हैं और ध्यान का उन्हें कोई अनुभव नहीं होता तो घट जाता है। घट जाता है तो आह्लाद से भर जाते हैं, मगर वहीं गड़बड़ हो जाती है। फिर मांग शुरू होती है: आज जो हुआ कल हो; न केवल हो, बल्कि और ज्यादा हो। फिर नहीं घटता। फिर वे मेरे पास आ कर रोते हैं। वे कहते हैं, "हुआ क्या? कहीं भूल हो गई? पहले घटा, अब नहीं घट रहा है!" भूल यही हो गई कि पहले जब घटा तो तुमने मांगा न था; अब तुम मांग रहे हो। अब तुम्हारा मन निर्दोष न रहा, मांग ने दूषित किया। अब तुम सरल न रहे, अब तुम खुले न रहे; मांग ने द्वार-दरवाजे बंद किये। आकांक्षा जग गई; आकांक्षा ने सब विकृत कर दिया। वासना खड़ी हो गई, लोभ पैदा हो गया।

ऐसा रोज होता है। जो लोग बहुत दिन से ध्यान कर रहे हैं, बहुत तरह की प्रक्रियाएं कर रहे हैं, उन्हें ध्यान बड़ी मुश्किल से लगता है। उनका अनुभव बाधा बनता है। कभी-कभी कोई चला आता है, ऐसे ही, तरंगों में बहता हुआ। कोई मित्र आता था--उसने कभी सोचा भी नहीं ध्यान का--कोई मित्र आता था, उसने सोचा चलो चले चलें, देखें क्या है। कुतूहलवश चला आया था, कोई वासना न थी, कोई अध्यात्म की खोज भी न थी, कोई चेष्टा भी न थी, ऐसे ही चला आया था--औरों को ध्यान करते देख तरंग आ गई, सम्मिलित हो गया--घट गया! चौंका आदमी: "मैं तो आया ही नहीं था ध्यान करने और ध्यान हो गया!" बस फिर अड़चन। अब दुबारा जब आता है तो आकांक्षा है, मन में रस है; फिर से हो। लोभ है, पुनरुक्ति का भाव है! मन आ गया। मन ने सब खेल खराब कर दिया।

जहां मन नहीं है, वहां घटता है।

ध्यान रखना, मन पुनरुक्ति की वासना है। जो हुआ सुखद, फिर से हो; जो हुआ दुखद, फिर कभी न हो--यही तो मन है। मन चुनाव करता है: यह हो और यह न हो; ऐसा बार-बार हो और ऐसा अब कभी न हो। यही तो मन है।

जब तुम जीवन के साथ बहने लगते हो--जो हो ठीक, जो न हो ठीक; दुख आये तो स्वीकार; दुख आये तो विरोध नहीं, सुख आये तो स्वीकार; सुख आये तो उन्माद नहीं। जब सुख और दुख में कोई सम होने लगता है, समता आने लगती है; जब सुख और दुख धीरे-धीरे एक ही जैसे मालूम होने लगते हैं, क्योंकि कोई चुनाव न रहा, अपने हाथ की कोई बात न रही, जो होता है होता है; हम देखते रहते हैं--इसको अष्टावक्र कहते हैं साक्षी-भाव। और वे कहते हैं, साक्षी-भाव सधा तो सब सधा: साक्षी-भाव साक्षी को जगाता है भीतर, बाहर समता ले आता है। समत्व साक्षी-भाव की छाया है।

या तुम समत्व में उपलब्ध हो जाओ तो साक्षी-भाव चला आता है। वे दोनों साथ-साथ चलते हैं। वे एक ही घटना के दो पैर या दो पंख हैं।

"...उसी आकाश में भ्रमण करने का जी होता रहता है।"

इससे सावधान होना। मन को मौका मत देना कि ध्यान की घड़ियों को खराब करे। इसी मन ने तो संसार खराब किया। इसी ने तो जीवन के सारे संबंध विकृत किये। इसी मन ने तो सारे जीवन को रेगिस्तान जैसा रूखा कर दिया; जहां बहुत फूल खिल सकते थे, वहां सिर्फ कांटे हाथ में रह गये। अब इस मन को अंतर्यात्रा पर साथ मत लाओ। इसे नमस्कार करो। इसे विदा दो। प्रेम से सही, पर इसे विदा दो। इससे कहो: बहुत हो गया, अब हम न मांगेंगे। अब जो होगा, हम जागेंगे। हम देखेंगे।

जैसे ही तुमने मांगा, फिर तुम साक्षी नहीं रह सकते, तुम भोक्ता हो गये। ध्यान के भी भोक्ता हो गये तो ध्यान गया। भोक्ता का अर्थ यह है कि तुमने कहा: इसमें मुझे रस आया, इससे मुझे सुख मिला।

"...ज्ञान, कर्म, भक्ति मैं नहीं जानता; लेकिन अकेला होने पर इसी स्थिति में डूबे रहने का जी होता है।"

छोड़ो इस जी को--और तुम डूबोगे इसी स्थिति में। अकेले ही नहीं, भीड़ में भी रहोगे, तो डूबोगे। बाजार में भी रहोगे तो भी डूबोगे। इस स्थिति का कोई संबंध अकेले और भीड़ से नहीं है, मंदिर और बाजार से नहीं है, एकांत, समूह से नहीं है--इस स्थिति का संबंध तुम्हारे चित्त के शांत होने से है, सम होने से है। जहां भी शांति, समता होगी, यह घटना घटेगी। लेकिन तुम इसको मांगो मत, अन्यथा यही अशांति बन जायेगी, यही तनाव बन जायेगी।

अष्टावक्र कहते: "अभी और यहीं!"

मांग तो सदा कल के लिए होती है। मांग तो "अभी और यहीं" नहीं हो सकती। मांग का स्वभाव वर्तमान में नहीं ठहरता। मांग का अर्थ ही है: हो, कल हो, घड़ी भर बाद हो, क्षण भर बाद हो--हो।

मांग अभी तो नहीं हो सकती, मांग के लिए तो समय चाहिए। थोड़ा ही सही, पर समय चाहिए। और भविष्य है नहीं। जो नहीं है उसी का नाम भविष्य है। जो है उसका नाम वर्तमान है। वर्तमान और मांग का कोई संबंध नहीं होता। जब तुम वर्तमान में होओगे तो पाओगे कोई मांग नहीं है। और तब घटेगी यह घटना। जब इसे घटाने का जी न रहेगा, तब यह खूब घटेगी।

इस पहेली को ठीक से समझ लो। इस पहेली का एक-एक कोना पहचान लो। जिस दिन तुम कुछ भी न मांगोगे, उस दिन सब घटेगा। जिस तुम परमात्मा के पीछे दीवाने हो कर न दौड़ोगे, वह तुम्हारे पीछे चला आयेगा। जिस दिन तुम ध्यान के लिए आतुरता न दिखाओगे, तुम्हारे भीतर कोई तनाव न होगा, उस दिन ध्यान ही ध्यान से भर जाओगे।

ध्यान कहीं बाहर से थोड़े ही आता है। जब तुम तनाव में नहीं हो तो तुम्हारे भीतर शेष रह जाता, उसका नाम ध्यान है।

जब तुम्हारे भीतर वासना नहीं है तो जो शेष रह जाता, उसका नाम ध्यान है।

झील है। तरंगें उठ रही हैं। हवा के झकोरे! झील की पूरी छाती तूफान से भर गई है। आंधी है। सब उथल-पुथल हो रही है। आकाश में चांद है पूरा, लेकिन प्रतिबिंब नहीं बनता; क्योंकि झील कंप रही है, दर्पण कैसे बने? चांद का प्रतिबिंब बनता है, टूट-टूट जाता है हजार-हजार टुकड़ों में; चांदी फैल जाती है पूरी झील पर, लेकिन चांद कर प्रतिबिंब नहीं बनता है। झील शांत हो गई। लहरें कहीं चली गईं? लहरें कहीं से आई थीं? लहरें झील की थीं। फिर सो गईं; झील में वापस उतर गईं। झील अपनी थिर अवस्था में आ गई। वह जो चांदी की तरह फैल गया चांद था झील की छाती पर, सिकुड़ आया एक जगह, ठीक प्रतिबिंब बनने लगा।

जैसे ही तुम्हारे मन की झील पर तरंगें नहीं होतीं--तरंग यानी वासना, तरंग यानी मांग, तरंग यानी ऐसा हो और ऐसा न हो--जब कोई तरंग मन की झील पर नहीं होती तो सत्य जैसा है वैसा ही प्रतिबिंबित होता है। तो जो बनता है चांद तुम्हारे भीतर, उसके सौंदर्य का क्या कहना! उसके रस का क्या कहना! रसधार बरसती! मिलन होता! फिर सुहागरात ही सुहागरात है!

लेकिन तुमने मांगा कि चूक हो जायेगी।

और मैं समझता हूं, मांग बिलकुल स्वाभाविक मालूम होती है। बड़ी अड़चन है। इतना सुख मिलता है ऐसी घड़ियों में कि कैसे बचें न मांगने से! मानवीय है। मैं यह नहीं कहता कि तुमने कुछ बड़ी अमानवीय भूल की। बिलकुल मानवीय भूल है। कभी जब क्षण भर को झरोखा खुल जाता है और आकाश बहता है तुममें, कभी क्षण भर को जब अंधेरा टूटता है और किरणें उतरती हैं तो असंभव है, करीब-करीब असंभव है कि इसे न मांगो।

लेकिन यह "असंभव" सीखना पड़ेगा। आज सीखो, कल सीखो, परसों सीखो, मगर सीखना पड़ेगा। जितनी जल्दी सीखो उतना उचित। अभी तैयार हो जाओ तो अभी घटना घटने को देर नहीं है। जरा भी क्षण भर की प्रतीक्षा करने की जरूरत नहीं है।

"...इसी स्थिति में डूबे रहने का जी होता है।"

यह स्थिति घटेगी। इसका तुम्हारे चित्त से कुछ लेना-देना नहीं है। इसलिए तुम अपने चित्त को पीछे छोड़ो। वह जब बीच-बीच में आये तब उसे बार-बार कह दो कि क्षमा करो, बहुत हुआ, काफी हुआ! संसार खराब किया, अब परमात्मा तो खराब मत करो! जीवन के सारे सुख विकृत कर डाले; अब ये अंतरतम के सुख आ रहे हैं, इन्हें तो विकृत मत करो!

सजग रह कर मन को नमस्कार कर लो, विदा दे दो। धीरे-धीरे, धीरे-धीरे ऐसी घड़ियां आने लगेंगी--तुम्हारे अनुभव से ही आयेंगी--जब मन नहीं होगा, तत्क्षण फिर वही झरोखा खुलता है; फिर बहती रसधार; फिर उतरता प्रकाश; फिर तुम आलोकित; फिर तुम मगन; फिर तुम अमृत में डूबे! जब ऐसा बार-बार होगा तो बात साफ हो जायेगी; तो फिर मन से तुम अपने को दूर रखने में कुशल हो जाओगे।

जब घटे, तब घट जाने देना; जब न घटे तब शांति से प्रतीक्षा करते रहना--आयेगा। जो एक बार आया है, बार-बार आयेगा। तुम भर मत मांगना। तुम भर बीच में मत आना। तुम भर बाधा मत देना।

"...लेकिन कभी-कभी यह भाव भी उठता है कि कहीं यह मेरा पागलपन तो नहीं है!"

बुद्धि ऐसे भाव भी उठायेगी। क्योंकि बुद्धि यह मान ही नहीं सकती कि आनंद हो सकता है। बुद्धि दुख से बिलकुल राजी है। बुद्धि ने दुख को पूरी तरह स्वीकार किया है, क्योंकि बुद्धि दुख की जन्मदात्री है। अपनी ही संतान को कौन स्वीकार नहीं करेगा! तो बुद्धि मानती है: दुख है तो बिलकुल ठीक है। लेकिन महासुख!--जरूर कहीं कोई गड़बड़ हो गई है। ऐसा कहीं होता है? कोई कल्पना हो गई, कोई सपना देखा, किसी दिवा-स्वप्न में खो गये, किसी सम्मोहन में उतर गये? जरूर कहीं कुछ पागलपन हो गया है।

बुद्धि ऐसे बार-बार कहेगी। इसे सुनना मत। इस पर ध्यान मत देना। अगर इस पर ध्यान दिया तो वे घटनाएं बंद हो जायेंगी, वे द्वार-झरोखे फिर कभी न खुलेंगे।

एक बात खयाल में रखना: आनंद सत्य की परिभाषा है। जहां से आनंद मिले, वहीं सत्य है। इसलिए तो हमने परमात्मा को "सच्चिदानंद" कहा है। आनंद उसकी आखिरी परिभाषा है। सत्य से भी ऊपर, चित से भी ऊपर, आनंद को रखा है, "सच्चिदानंद" कहा है। सत्य एक सीढ़ी नीचे, चित एक सीढ़ी नीचे--आनंद परम है।

जहां से आनंद बहे, जहां से आनंद मिले--फिर तुम चिंता मत करना, सत्य के करीब हो। जैसे कोई बगीचे के करीब आता है तो हवाएं ठंडी हो जाती हैं, पक्षियों के गीत सुनाई पड़ने लगते हैं, शीतलता अनुभव होने लगती है--तब बगीचा दिखाई भी न पड़े तो भी अनुभव में आने लगता है कि राह ठीक है, बगीचे की तरफ पहुंच रहे हैं। ऐसे ही, जैसे ही तुम सत्य की तरफ पहुंचने लगते हो, आनंद झरता है, शीतल होने लगता मन, संतुलन आने लगता, सहिष्णुता बढ़ती है, सुख बढ़ता है! एक उमंग घेरे रहती है--अकारण! कोई कारण भी दिखाई नहीं पड़ता। न कोई लाटरी मिली है। न कोई धंधे में बड़ा लाभ हुआ है। न कोई बड़ा पद मिला है। ऐसा भी हो सकता था: पद था, वह भी गया; हाथ में जो था वह भी खो गया; धंधा भी डूब गया--लेकिन अकारण एक उमंग है कि भीतर कोई नाचे जा रहा है, कि रुकता ही नहीं! तो बुद्धि कहेगी: कहीं पागल तो नहीं हो गये हो? ये तो पागलों के लक्षण हैं।

यही बड़ी अजीब दुनिया है: यहां सिर्फ पागल ही प्रसन्न दिखाई पड़ते हैं! इसलिए बुद्धि कहती है, पागल हो गये होओगे, क्योंकि यहां पागलों के सिवा किसी को प्रसन्न देखा है? यहां हजार कारण होते हैं, तब भी आदमी प्रसन्न नहीं होता। बड़ा महल हो, धन हो, संपत्ति हो, सुख-सुविधा हो, तब भी आदमी प्रसन्न नहीं होता। यह दुनिया दुखी लोगों की दुनिया है। मगर दुखी लोगों की भीड़ है। यहां अगर तुम हंसने लगो अकारण तो लोग कहेंगे पागल हो गये हो! अगर तुम कहो कि हंसी आ रही है, कोई कारण नहीं है, फैली जा रही है, भीतर से उठ रही है, लहर आ रही है--लोग कहेंगे, बस, दिमाग खराब हो गया! यहां तुम शक्ल बना कर चलो, उदास रहो, तुम्हारी शक्ल देख कर भूत-प्रेत भी डरें, तो बिलकुल ठीक हो; तो कोई अड़चन नहीं है; तो सब ठीक चल रहा है; तुम आदमी जैसे आदमी हो; जैसा आदमी होना चाहिए वैसे आदमी हो। लेकिन तुम मुस्कुराने लगो, तुम हंसने लगो, तुम गीत गुनगुनाने लगो, तुम राह के किनारे खड़े हो कर नाचने लगो--बस, तुम पागल हो गये!

परमात्मा को हमने इस भांति इनकार किया है कि अगर परमात्मा आये तो हम उसे पागलखाने में बंद कर देंगे। शायद इसी कारण नहीं आता, आने से डरता है।

तुम जरा सोचो, कृष्ण अगर मिल जायें चौराहे पर बांसुरी बजाते, मोर-मुकुट बांधे, पीतांबर डाले, गोपियां नाचती हों--क्या करोगे? तत्क्षण पुलिस-थाने जाओगे कि कुछ गड़बड़ है! यह क्या हो रहा है? जो नहीं होना चाहिए वह हो रहा है--तुम इस आदमी को जेलखाने में डालोगे।

आनंद निष्कासित कर दिया गया है! हमने आनंद को जीवन के बाहर कर दिया है। हम दुख को छाती से लगा कर बैठे हैं। यहां दुखी आदमी बुद्धिमान मालूम होता है; यहां आनंदित आदमी पागल मालूम होता है। सारी सरणी उलटी है।

तो स्वाभाविक है। जीवन भर जिसको तुमने बुद्धिमानी समझा है, आज अचानक अगर खोने लगेगी, खिसकने लगेगी, अगर आज अचानक नींव उखड़ने लगेगी तुम्हारी तथाकथित बुद्धिमानी की, और अचानक झांकने लगेगी प्रसन्नता--"अकारण" खयाल रखना! पागलपन का मतलब यह होता है: अकारण प्रसन्न! कारण भी नहीं है कुछ। बैठे हैं अकेले और मुस्कुराहट आ रही है। बस, पागल हो गये! क्योंकि ऐसा तो हमने सिर्फ पागलों को ही देखा है।

ध्यान रखना: पागलों में और परमहंसों में थोड़ा-सा संबंध है। पागल भी हंसते हैं, प्रसन्न होते हैं, क्योंकि बुद्धि गंवा दी। परमहंस भी हंसते हैं, प्रसन्न होते हैं, क्योंकि बुद्धि के पार आ गये। दोनों--पागल बुद्धि से नीचे गिर जाता है, इसलिए हंस लेता है; परमहंस बुद्धि के पार चला जाता है, इसलिए हंसता है--दोनों में थोड़ी समानता है।

पागल और परमहंस में एक बात समान है कि दोनों ने बुद्धि गंवाई। एक ने होशपूर्वक गंवाई है, एक ने बेहोशी में गंवाई है--इसलिए फर्क बहुत है। जमीन-आसमान जितना फर्क है। लेकिन फिर भी एक समानता है। इसलिए कभी-कभी तुम्हें पागल में परमहंस दिखाई पड़ेगा और कभी-कभी परमहंस में पागल। तो भूल-चूक हो जाती है।

पश्चिम के पागलखानों में ऐसे बहुत-से लोग बंद हैं जो पागल नहीं हैं। अभी वहां बड़ी क्रांति चलती है इसके संबंध में। कुछ मनोवैज्ञानिक, विशेषकर आर. डी. लैंग और उनके साथी, एक बड़ा आंदोलन चलाते हैं कि बहुत-से पागल पागलखानों में बंद हैं जो पागल नहीं हैं। अगर वे पूरब में पैदा होते तो परमहंसों की तरह उनका आदर-सम्मान होता है। आर. डी. लैंग को पता नहीं है, इससे उलटी घटना पूरब में घट चुकी है: यहां कई पागल हैं जो परमहंस समझे जाते हैं। मगर आदमी आदमी है। यहां पूरब में कई पागल परमहंस समझ लिये गये हैं। मगर भूल-चूक होती है, क्योंकि दोनों की सीमाएं एक-दूसरे पर पड़ जाती हैं। तो यह शक स्वाभाविक है।

एक ही बात खयाल रखना इसमें: आनंद बढ़ रहा हो, घबड़ाना मत। मगर आनंद पागलपन के कारण भी बढ़ सकता है। तो सुरक्षा की कसौटी क्या है? सुरक्षा की कसौटी यह है: तुम्हारा आनंद बढ़ रहा हो और तुम्हारे कारण किसी का दुख न बढ़ रहा हो तो बेफिक्री से जाना। तुम्हारा आनंद किसी की हिंसा, किसी पर आक्रमण,

किसी को दुख देने पर निर्भर न हो, तो फिर पागलपन से डरने की कोई वजह नहीं है। अगर पागल भी हो रहे हो तो यह पागलपन बिलकुल शुभ है, ठीक है। फिर बेझिझक इसमें प्रवेश कर जाना।

डरने का कारण तो तभी है जब तुम किसी को नुकसान पहुंचाने लगो। तुम्हारे नाच से किसी को कोई बाधा नहीं है, लेकिन कोई सो रहा है और तुम उसकी छाती पर जा कर ढोल बजा कर नाचने लगो। तुम नाचो, इससे कुछ अड़चन नहीं है। तुम गुनगुनाओ राम का नाम, यह ठीक है। लेकिन माइक लगा कर आधी रात में और तुम अखंड कीर्तन शुरू कर दो, तो तुम पागल हो। हालांकि कोई तुमको पागल नहीं कह सकता, क्योंकि तुम राम-धुन कर रहे हो। ऐसे कई पागल कर रहे हैं। वे कहते हैं, अखंड कीर्तन कर रहे हैं, चौबीस घंटे की कथा की है। सोओ न सोओ, तुम्हारी मर्जी! अगर तुम बाधा डालो तो अधार्मिक हो।

इतना ही खयाल रखना: तुम्हारा आनंद हिंसात्मक न हो। बस यह पर्याप्त है। तुम्हारा आनंद तुम्हारा निजी हो। इसके कारण किसी के जीवन में कोई बाधा न पड़े, कोई पत्थर न पड़े। तुम्हारा फूल खिले, लेकिन तुम्हारे फूल के खिलने के कारण किसी को कांटे न चुभें। इतना ही भर खयाल रहे तो तुम ठीक दिशा में जा रहे हो।

जहां तुम्हें लगे कि अब दूसरों को बाधा होने लगी, वहां थोड़े सावधान होना! वहां परमहंस की तरफ न जा कर तुमने पागलपन का रास्ता पकड़ लिया।

"ओमप्रकाश" से किसी को कोई दुख नहीं है। बेझिझक, बेधड़क जा सकते हो। कल मैं एक गीत पढ़ रहा था:

जो कुछ सुंदर था, प्रेय, काम्य
जो अच्छा, मंजा, नया था, सत्य-सार
मैं बीन-बीन कर लाया
नैवेद्य चढ़ाया
पर यह क्या हुआ?
सब पड़ा-पड़ा कुम्हलाया
सूख गया, मुर्झाया
कुछ भी तो उसने हाथ बढ़ा कर नहीं लिया!
यूं कहीं तो था लिखा
पर मैंने जो दिया, जो पाया,
जो पिया, जो गिराया,
जो ढाला, जो छलकाया,
जो निथारा, जो छाना
जो उतारा, जो चढ़ाया,
जो जोड़ा, जो तोड़ा, जो छोड़ा
सबका जो कुछ हिसाब रहा,
मैंने देखा कि उसी यज्ञ-ज्वाला में गिर गया
और उसी क्षण मुझे लगा कि
अरे मैं तिर गया!
ठीक है, मेरा सिर फिर गया।
तिरता है आदमी--सिर के फिरने से।

परमात्मा को तुम चढ़ाओ चुन-चुन कर चीजें, अच्छी-अच्छी चीजें--उससे कुछ न होगा, जब तक कि सिर न चढ़े। सुनो फिर:

जो कुछ सुंदर था, प्रेय, काम्य
जो अच्छा, मंजा, नया था, सत्य-सार
मैं बीन-बीन कर लाया
नैवेद्य चढ़ाया
पर यह क्या हुआ?
सब पड़ा-पड़ा कुम्हलाया
सूख गया, मुर्झाया
कुछ भी तो उसने हाथ बढ़ा कर नहीं लिया!

तुम ले आओ सुंदरतम को खोज कर, बहुमूल्य को खोज कर, चढ़ाओ कोहिनूर--कुम्हलायेंगे! तोड़ो फूल कमल के, गुलाब के, चढ़ाओ--कुम्हलायेंगे! एक ही चीज वहां स्वीकार है--वह तुम्हारा सिर; वह तुम्हारा अहंकार; वह तुम्हारी बुद्धि; वह तुम्हारा मन। अलग-अलग नाम हैं; बात एक ही है। वहां चढ़ाओ अपने को।

और उसी क्षण मुझे लगा कि
अरे मैं तिर गया!
ठीक है, मेरा सिर फिर गया!

लोग तो यही कहेंगे, ओमप्रकाश, कि सिर फिर गया! कहने दो लोगों को। लोगों के कहने से कोई चिंता नहीं है। जब लोग तुमसे कहते हैं, सिर फिर गया, तो वे इतना ही कर रहे हैं कि अपने सिर की रक्षा कर रहे हैं, और कुछ नहीं। जब लोग तुमसे कहते हैं तुम्हारा सिर फिर गया, तो वे यह कह रहे हैं कि "बचाओ हमें, इधर इस तरफ मत आओ! हमें मत सुनाओ ये गीत! मत यह हंसी हमारे द्वार लाओ! मत दिखाओ हमें ये आंखें मदमस्त! ये खबरें मत कहो हमसे!" घबड़ाहट है उनकी! भीतर उनके भी यही राग है। भीतर उनके भी ऐसी ही वीणा पड़ी है, जो प्रतीक्षा करती है जन्मों-जन्मों से कि कोई छेड़ दे! मगर डर है, घबड़ाहट है। बहुत कुछ उन्होंने झूठे जगत में बनाया है, बसाया है--कहीं उखड़ न जाये!

मैं इलाहाबाद में था। एक मित्र मेरे सामने ही बैठ कर मुझे सुन रहे थे। लाखों लोगों ने मुझे मेरे सामने बैठ कर सुना है; बहुत कम ऐसे लोग हैं, जिन्होंने इतने भाव से सुना हो जैसा भाव से वे सुन रहे थे। उनकी आंखों से आंसुओं की धार बह रही थी। अचानक बीच में उठे, सभा-भवन छोड़ कर चले गये! मैं थोड़ा चौंका: यह क्या हुआ? पूछताछ की। संयोजक को कहा।

वे बड़े प्रसिद्ध व्यक्ति थे, मैं तो जानता नहीं था। साहित्यकार थे, कवि थे, लेखक थे। संयोजक ने उनके घर जा कर पूछा।

उन्होंने कहा: "बाबा माफ करो! मैं घबड़ा गया। बीस मिनट के बाद मैंने कहा, अब यहां से भाग जाना उचित है। अगर थोड़ी देर और रहा तो कुछ से कुछ हो जायेगा। इस आदमी का तो सिर फिरा है, मेरा फिरा देगा। आऊंगा; अभी नहीं। जरूर आऊंगा, पर थोड़ा समय दो। और दो रात से मैं सो नहीं सका हूं। और बातें मेरे मन में गूंज रही हैं। नहीं, अभी मेरे पास बहुत काम करने को पड़े हैं। अभी बच्चे हैं छोटे। अभी घर-गृहस्थी सम्हालनी है। जरूर आऊंगा, तुम जाओ! उनसे कहना जरूर आऊंगा; लेकिन अभी नहीं।"

जब कोई तुमसे कहता है, तुम्हारा सिर फिर गया, वह सिर्फ अपनी आत्मरक्षा कर रहा है। वह यह कह रहा है कि ऐसा मान कर कि तुम्हारा सिर फिर गया है, मैं अपने आकर्षण को रोकता हूं। उसके भीतर भी अदम्य आकांक्षा है।

कौन है ऐसा जो परमात्मा को खोजने नहीं चला है! कौन है ऐसा जो आनंद का प्यासा नहीं है! कौन है ऐसा जिसे सत्य की अभीप्सा नहीं है! ऐसा कभी कोई हुआ ही नहीं है। जिनको तुम नास्तिक कहते हो वे वे ही लोग हैं, जो घबड़ा गये हैं; वे वे ही लोग हैं जो कहते हैं, नहीं, कोई परमात्मा नहीं है। क्योंकि परमात्मा को इनकार न करें तो खोज पर जाना होगा।

मेरा अपना अनुभव यह है कि नास्तिक के भीतर तथाकथित आस्तिकों से सत्य की खोज की ज्यादा गहरी आकांक्षा होती है। वह मंदिर जाने से डरता है; तुम डरते ही नहीं। तुम डरते नहीं, क्योंकि तुम्हारे भीतर कोई ऐसी प्रबल आकांक्षा नहीं कि तुम पगला जाओगे। तुम मंदिर हो आते हो, जैसे तुम दुकान चले जाते हो। तुम मंदिर के बाहर-भीतर हो लेते हो, तुम पर कुछ असर नहीं होता।

नास्तिक वैसा व्यक्ति है जो जानता है, अगर मंदिर गया तो वापस न लौट सकेगा; गया तो वैसा का वैसा वापस न लौट सकेगा। तो एक ही उपाय है: वह कहता है, "ईश्वर नहीं है! धर्म सब पाखंड है!" वह अपने को बचा रहा है, समझा रहा है कि ईश्वर है ही नहीं, तो मंदिर जाना क्यों? ईश्वर है ही नहीं तो क्यों उलझन में पड़ना? क्यों ध्यान, क्यों प्रार्थना?

मेरे देखे, नास्तिक के भीतर आत्मरक्षा चल रही है। मैंने अब तक कोई नास्तिक नहीं देखा, जो वस्तुतः नास्तिक हो। आदमी नास्तिक हो कैसे सकता है? नास्तिक का तो अर्थ हुआ कि कोई आदमी "नहीं" के भीतर रहने का प्रयास कर रहा है। "नहीं" के भीतर कोई रह कैसे सकता है? नास्तिकता में कोई जी कैसे सकता है? जीने के लिए "हां" चाहिए। "नहीं" में कहीं फूल खिलते हैं? "हां" चाहिए! स्वीकार चाहिए!

जीवन में जितना स्वीकार होता है, उतने ही फूल खिलते हैं; लेकिन सीमा के बाहर फूल न खिल जायें, इससे भय होता है। कहीं फूल इतने न खिल जायें कि मैं उन्हें सम्हाल न पाऊं...!

कल रात एक युवक ने मुझे कहा कि अब मुझे बचाएं, यह जरूरत से ज्यादा हुई जा रही है बात। मैं इतना प्रसन्न हूं कि लगता है मैं टूट जाऊंगा! इतना आनंद है कि लगता है मैं सम्हाल न पाऊंगा। यह मेरा हृदय का पात्र छोटा है। मुझे बचाएं! मैं इसके ऊपर से बहा जा रहा हूं। ये मेरी सीमाएं सब टूटी जा रही हैं। और मुझे डर है कि अगर मैं इसके साथ बह गया तो फिर लौट न पाऊंगा।

नियंत्रण कहीं खो न जाये--यह भय है। अहंकार दुख के साथ भलीभांति जी लेता है, क्योंकि दुख में नियंत्रण नहीं खोता। कितने ही तुम रोओ दुख में, तुम अपने मालिक रहते हो। नियंत्रण खोता है आनंद में, सीमा टूटती है आनंद में। दुख में कभी कोई सीमा नहीं टूटती। नरक में भी सीमा नहीं टूटती। तुम नरक में भी पड़े रहो तो भी तुम अपने भीतर मजबूत रहते हो। सीमा टूटती है स्वर्ग में। वहां नियंत्रण खो जाता है। जहां नियंत्रण खोता है, वहां अहंकार खो जाता है। जहां नियंत्रण खोता है, वहां बुद्धि की पकड़ खो जाती है, तर्क का जाल खो जाता है।

वही हो रहा है। घबड़ाना मत! तिरने का क्षण करीब आ रहा है। लेकिन सिर फिरे बिना कोई कभी तिरा नहीं है।

एक धुन की तलाश है मुझे
जो ओठों पर नहीं
शिराओं में मचलती है
लावे-सी दहकती है--
पिघलने के लिए
एक आग की तलाश है मुझे
कि रोम-रोम सीझ उठे
और मैं तारत्तार हो जाऊं!
कोई मुझे जाली-जाली बुन दे
कि मैं पारदर्शी हो जाऊं!
एक खुशबू की तलाश है मुझे
कि भारहीन हो, हवा में तैर सकूं
हलकी बारिश की महीन बौछारों में कांप सकूं
गहराती सांझ के स्लेटी आसमान पर
चमकना चाहता हूं कुछ देर,

एक शोख रंग की तलाश है मुझे!

ओमप्रकाश! वही शोख रंग मैंने तुम्हें दे दिया है। ये गैरिक वस्त्र वही शोख रंग हैं। बहो! सीमाएं छोड़ कर बहो! बुद्धि के पार बहो! जाने दो नियंत्रण! नियंत्रण का अर्थ है: कर्ता! छोड़ो नियंत्रण! कर्ता अगर कोई है तो एक परमात्मा है। तुम परमात्मा से होड़ न करो, उससे प्रतिस्पर्धा न लो; उसके साथ संघर्ष मत करो। करो समर्पण। बहो उसकी धार के साथ। तिरोगे। जो डूब जाते हैं, वही तिरते हैं। जो तिरने की चेष्टा करते हैं डूब जाते हैं।

दूसरा प्रश्न: सदा से खोजियों का यह अवलोकन रहा है कि परमात्म-उपलब्धि अत्यंत दुःसाध्य घटना है। लेकिन आप जैसे बुद्धपुरुष सदा से इस बात पर जोर देते रहे हैं कि परमात्मा अभी और यहीं घट सकता है। क्या बार-बार यह कहना एक चुनौती और एक प्रयास करने की एक विधि है, एक उपाय है?

सत्य है यही; न तो विधि है और न उपाय है। तुम्हारा ऐसा पूछना बचने की विधि और उपाय है। यह बात हमारा मन स्वीकार करने को राजी नहीं होता कि परमात्मा अभी और यहीं मिल सकता है। क्यों नहीं राजी होता? इसलिए राजी नहीं होता कि अगर अभी और यहीं मिल सकता है, तो फिर हमें मिल नहीं रहा तो इसका कारण क्या होगा? फिर इसकी व्याख्या कैसे करें? अगर अभी और यहीं मिल सकता है, तो मिल क्यों नहीं रहा? बेचैनी खड़ी हो जाती है। अभी और यहीं मिल सकता है, मिल तो नहीं रहा! तो इसे समझायें कैसे? यह तो बड़ी अड़चन की बात हो गई। इस अड़चन को सुलझाने के लिए तुम कहते हो: मिल तो सकता है, लेकिन पात्रता चाहिए!

बुद्धि रास्ते निकालती है। जहां उलझन खड़ी हो जाती है, उसे सुलझाती है: "रास्ता खोजना पड़ेगा, पात्रता खोजनी पड़ेगी, शुद्ध होना पड़ेगा--तब मिलेगा। और अगर अष्टावक्र कहते हैं अभी और यहीं मिल सकता है, तो जरूर इसमें कुछ कारण है। वे इसलिए कहते हैं ताकि तुम तीव्रता से प्रयास में लग जाओ! लेकिन लगना प्रयास में ही पड़ेगा।"

मन बड़ा होशियार है!

अष्टावक्र की बात बिलकुल सीधी-साफ है: परमात्मा अभी और यहीं मिल सकता है, क्योंकि परमात्मा कोई उपलब्धि नहीं है। परमात्मा तुम्हारा स्वभाव है। सारा जोर सीधा है। तुम परमात्मा हो; मिल सकने की बात ही गलत है। जब हम कहते हैं अभी और यहीं मिल सकता है तो इसका अर्थ इतना ही हुआ कि मिला ही हुआ है; जरा आंख खोलो और देखो! मिल सकने की भाषा ठीक नहीं है। मिल सकने में तो ऐसा लगता है कि तुम अलग हो और परमात्मा अलग है; तुम खोजने वाले हो, वह खोज का लक्ष्य है; तुम यात्री हो, वह मंजिल है। नहीं, अभी और यहीं मिल सकता है का इतना ही अर्थ है कि तुम वही हो जिसे तुम खोज रहे हो। जरा अपने को पहचानो! आंख खोलो और देखो! या आंख बंद करो और देखो--मगर देखो! थोड़ी दृष्टि की बात है, पात्रता की नहीं।

पात्रता का तो अर्थ हुआ कि परमात्मा भी सौदा है। जैसे तुम बाजार में जाते हो तो कोई चीज हजार रुपये की है, कोई लाख रुपये की है, कोई दस लाख रुपये की है--हर चीज का मूल्य है। तो पात्रता का तो अर्थ हुआ कि परमात्मा का भी मूल्य है; जो पात्रता अर्जित करेगा, मूल्य चुकायेगा, उसे मिलेगा। तुम परमात्मा को भी बाजार में एक वस्तु बना लेना चाहते हो। त्याग करोगे, तपश्चर्या करोगे, तो मिलेगा! मूल्य चुकाओगे तो मिलेगा! मुफ्त कहीं मिलता है! तुम परमात्मा को खींच कर दुकान पर रख देते हो; डब्बे में बंद कर देते हो, दाम लिख देते हो। तुम कहते हो: इतने उपवास करो; इतना ध्यान करो; इतनी तपश्चर्या करो; धूप में तपो; सर्दी, आतप सहो--तब मिलेगा!

कभी इस पर तुमने सोचा कि यह तुम क्या कह रहे हो? तुम यह कह रहे हो कि तुम्हारे कुछ करने से परमात्मा के मिलने का संबंध हो सकता है। तुम जो करोगे, वह तुम्हारा किया ही होगा। तुम्हारा किया तुमसे बड़ा नहीं हो सकता। तुम्हारी तपश्चर्या तुम्हारी ही होगी। तुम जैसी ही दीन, तुम जैसी ही मलिन। तुम्हारी तपश्चर्या तुमसे बड़ी नहीं हो सकती। और तपश्चर्या से जो मिलेगा उसकी भी सीमा होगी; क्योंकि सीमित से सीमित ही मिल सकता है, असीम नहीं। तपश्चर्या से जो मिलेगा वह तुम्हारे ही मन की कोई धारणा होगी, परमात्मा नहीं।

अष्टावक्र कह रहे हैं कि परमात्मा तो है ही। वही तुम्हारे भीतर धड़क रहा है। वही तुम्हारे भीतर श्वास ले रहा है। वही जन्मा है। वही विदा होगा। वही अनंत काल से, अनंत-अनंत रूपों में प्रगट हो रहा है। कहीं वृक्ष है, कहीं पक्षी है, कहीं मनुष्य है।

परमात्मा है! उसके अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। इस सत्य की प्रत्यभिज्ञा, इस सत्य का स्मरण...।

मैंने सुना है, एक सम्राट अपने बेटे पर नाराज हो गया, उसे देश-निकाला दे दिया। सम्राट का बेटा था, कुछ और तो करना जानता नहीं था, क्योंकि सम्राट के बेटे ने कभी कुछ किया न था, भीख ही मांग सकता था। जब कोई सम्राट सम्राट न रह जाये तो भिखमंगे के सिवा और कोई उपाय नहीं बचता।

भीख मांगने लगा। बीस वर्ष बीत गये। भूल ही गया। अब बीस वर्ष कोई भीख मांगे तो याद रखना कि मैं सम्राट हूं, असंभव, कष्टपूर्ण होगा; भीख मांगने में कठिनाई पड़ेगी; यही उचित है कि भूल ही जाओ। वह भूल ही गया था, अन्यथा भीख कैसे मांगे! सम्राट, और भीख मांगे! द्वार-द्वार, दरवाजे-दरवाजे भिक्षापात्र ले कर खड़ा हो! होटल में, रेस्तरां के सामने भीख मांगे! जूठन मांगे! सम्राट! सम्राट को भुला ही देना पड़ा, विस्मृत ही कर देना पड़ा। वह बात ही गई। वह जैसे अध्याय समाप्त हुआ। वह जैसे कि कहीं कोई सपना देखा होगा, कि कोई कहानी पढ़ी होगी, कि फिल्म देखी होगी, अपने से क्या लेना-देना!

बीस साल बाद जब सम्राट बूढ़ा हो गया, उसका बाप, तो वह घबड़ाया: एक ही बेटा था! वही मालिक था। उसने अपने वजीरों को कहा: उसे खोजो और जहां भी हो उसे ले आओ। कहना, बाप ने क्षमा किया। अब क्षमा और न क्षमा का कोई अर्थ नहीं, मैं मर रहा हूं। अब यह राज्य कौन सम्हालेगा? यह औरों के हाथ में जाये इससे बेहतर है मेरे खून के हाथ में जाये। बुरा-भला जैसा भी है, उसे ले आओ!

जब वजीर पहुंचे तो वह एक होटल के सामने पैसे-पैसे मांग रहा था--टूटा-सा पात्र लिये। नंगा था। पैरों में जूते नहीं थे। भरी दुपहरी थी। गर्मी के दिन थे। लू बहती थी। पैर जल रहे थे। और वह मांग रहा था कि मुझे जूते खरीदने हैं, इसलिए कुछ पैसे मिल जायें। कुछ पैसे उसके पात्र में पड़े थे।

रथ आ कर रुका। वजीर नीचे उतरा। वजीर ने गिर कर उसके चरण छुए--होने वाला सम्राट था! जैसे ही वजीर ने उसके चरण छुए, एक क्षण में घटना घट गई--बीस साल जिसकी याद न आई थी कि मैं सम्राट हूं! फिर ऐसा थोड़े ही लगा रहा कि वह बैठा, उसने सोचा और विचारा और तपश्चर्या की और ध्यान किया कि याद करूं--न, एक क्षण में, पल में, पल भी न लगा, एक क्षण में रूपांतरण हो गया! यह आदमी और हो गया! अभी भिखारी था दीन-हीन; नग्न अब भी था; अब भी पैर में जूते न थे--लेकिन हाथ से उसका पात्र उसने फेंक दिया और वजीरों से कहा कि जाओ और मेरे स्नान की व्यवस्था करो, ठीक वस्त्र जुटाओ! वह जा कर रथ पर बैठ गया। उसकी महिमा देखने जैसी थी। अभी भी वही का वही था, लेकिन उसके चेहरे पर अब एक गरिमा थी; आंखों में एक दीप्ति थी; चारों तरफ एक आभामंडल था! सम्राट था! याद आ गई। बाप ने बुलावा भेज दिया।

ठीक ऐसा ही है।

अष्टावक्र जब कहते कि अभी और यहीं तो वे यही कहते हैं: कितने चलो, बीस साल नहीं बीस जन्म सही, देश-निकाले पर रहे, भीख मांगी बहुत, भूल गये बिलकुल, याद को बिलकुल सुला दिया--सुलाना ही पड़ा; न

सुलाते तो भीख मांगनी मुश्किल हो जाती; द्वार-द्वार दरवाजे-दरवाजे भिक्षापात्र ले कर घूमे...। अष्टावक्र यह कह रहे हैं: आ गया बुलावा! जागो! भिखमंगे तुम नहीं हो! सम्राट के बेटे हो!

अगर कोई ठीक से सुन लेगा, तो घटना सुनने में ही घट जायेगी। यही अष्टावक्र-गीता का महात्म्य है, महिमा है। कोई आग्रह नहीं है कि कुछ करो। सिर्फ सुन लो, सिर्फ सत्य को पहुंचने दो तुम्हारे हृदय तक, बाधा मत बनो, ग्राहक रहो, सिर्फ सुन लो, पहुंच जाये यह तीर तुम्हारे हृदय में, इसकी चोट--बस पर्याप्त है! जन्मों-जन्मों की विस्मृति टूट जायेगी, स्मरण लौट आयेगा। तुम परमात्मा हो। इसलिए वे कहते हैं: अभी और यहीं!

अब तुम तरकीबें मत खोजो। तुम कहते हो, शायद यह विधि होगी, उपाय होगा कि लोगों की त्वरा बढ़े, तीव्रता बढ़े।

"स्वामी योग चिन्मय" ने पूछा है। चिन्मय के पास, चिन्मय की बुद्धि में "चेष्टा", "प्रयास", "तप" जरूरत से ज्यादा है--साधारण योगी की जो पकड़ होती है वैसी पकड़ है।

ये अष्टावक्र के वचन साधारण योगी के लिए नहीं हैं; असाधारण, प्रज्ञावान...जो सुन कर ही जाग जाये। चिन्मय थोड़े हठयोगी हैं। काफी पिटाई हो तो थोड़े-बहुत चलेंगे। कोड़े को देख कर, उसकी छाया को देख कर नहीं चल सकते।

हंसना मत, क्योंकि चिन्मय जैसे ही अधिक लोग हैं। हंस कर तुम यह मत सोचना कि तुमने हंस लिया तो तुम चिन्मय से भिन्न हो कि देखो तुम तो हंसे। चिन्मय ने कम से कम हिम्मत करके पूछा, तुमने पूछा नहीं--बस इतना ही फर्क है। हो तुम भी वही। यह अष्टावक्र की गीता पूरी हो जायेगी और अगर तुम परमात्मा न हो गये तो समझ लेना कि वहीं हो, कोई फर्क नहीं है। अगर इस सुनने-सुनने में तुम जाग जाओ और परमात्मा हो जाओ तो ही कोड़े की छाया ने काम किया।

"सदा से खोजियों का यह अवलोकन रहा है कि परमात्म-उपलब्धि अत्यंत दुःसाध्य घटना है।"

खोजी शुरू से ही भ्रांत है। खोजी का अर्थ ही यह है कि वह मान लिया है कि परमात्मा को खोजना है, कि परमात्मा को खो दिया है। उसने एक बात तो मान ही ली कि खो दिया परमात्मा को। यह भी कोई बात हुई कि खो दिया परमात्मा को? परमात्मा को खो कैसे सकते हो?

मेरे पास लोग आते हैं। वे कहते हैं, परमात्मा को खोजना है! मैं कहता हूं, "चलो ठीक! खोजो! लेकिन खोया कहां? कब खोया?" वे कहते हैं, "इसका तो कुछ पता नहीं है।" पहले इसका तो तुम ठीक से पता कर लो, कहीं ऐसा न हो कि खोया ही न हो!

कभी-कभी ऐसा हो जाता है कि चश्मा नाक पर चढ़ा है और उसी चश्मे से देख कर चश्मा खोज रहे हैं। कहीं ऐसा न हो कि परमात्मा नाक पर चढ़ा हो और तुम उसी परमात्मा से खोज रहे हो! ऐसा ही है। खोजी बुनियादी रूप से भ्रांत है। उसने एक बात तो मान ही ली कि परमात्मा खो दिया है; या परमात्मा को अब तक खोजा नहीं, पाया नहीं; वह कहीं दूर है, उसे खोजना है।

खोज से कभी परमात्मा नहीं मिलता। खोज-खोज कर तो इतना ही पता चलता है: खोजने में कुछ भी नहीं है। एक दिन खोजते-खोजते खोज ही गिर जाती है; खोज के गिरते ही परमात्मा मिलता है।

बुद्ध ने छह वर्ष तक खोजा। खूब खोजा! उन से बड़ा खोजी और कहां खोजोगे? जहां-जहां खबर मिली कि कोई ज्ञान को उपलब्ध है, वहां-वहां गये। सभी चरणों में सिर रखा। जो गुरुओं ने कहा वही किया। गुरु भी थक गये उनसे। क्योंकि गुरु उन शिष्यों से कभी नहीं थकते जो आज्ञा का उल्लंघन करते हैं। उनसे कभी नहीं थकते! क्योंकि उनके पास सदा कहने को है कि तुम आज्ञा मान ही नहीं रहे, इसलिए कुछ नहीं घट रहा है, हम क्या करें? गुरु को बड़ी सुविधा है, अगर तुम गुरु की न मानो। वह सदा कह सकता है कि तुमने माना ही नहीं, मानते तो घट जाता। मगर बुद्ध के साथ गुरु मुश्किल में पड़ गये। जो गुरुओं ने कहा, बुद्ध ने वही किया। उन्होंने एक सेर कहा तो बुद्ध ने सवा सेर किया। गुरु ने आखिर उनसे हाथ जोड़ लिये कि तू भई कहीं और जा; जो हम बता

सकते थे बता दिया। बुद्ध ने कहा, इससे तो कुछ घट नहीं रहा है। उन्होंने कहा, इससे ज्यादा हमें भी नहीं घटा है; तेरे से क्या छिपाना। तू कहीं और जा!

इतने प्रामाणिक व्यक्ति के सामने गुरु भी धोखा न दे पाए। सब तरफ खोज कर बुद्ध ने आखिर पाया कि नहीं, खोजने से मिलता ही नहीं। संसार तो व्यर्थ था ही, अध्यात्म भी व्यर्थ हुआ। भोग तो व्यर्थ हो ही चुका था, जिस दिन महल छोड़ा उस दिन व्यर्थ हो चुका था, इसलिए छोड़ा; योग भी व्यर्थ हुआ। न भोग में कुछ है, न योग में कुछ है--अब क्या करें? अब तो करने को ही कुछ न बचा। अब तो कर्ता होने के लिए कोई सुविधा न रही।

इस सूत्र को ठीक से समझना। न भोग बचा न योग बचा, न संसार बचा न स्वर्ग बचा--तो अब कर्ता होने के लिए जगह ही न बची। कुछ करने को बचे तो कर्ता बच सकता है। कुछ करने को न बचा। उसी रात घटना घटी। उस सांझ बोधि-वृक्ष के नीचे वे बैठे तो करने को कुछ भी न था। बड़ी हैरानी में पड़े। संसार छोड़ दिया था तो योग पकड़ लिया था। भोग छोड़ दिया था तो अध्यात्म पकड़ लिया था। कुछ तो करने को था! तो मन उलझा था। अब मन को कोई जगह न बची। मन का पक्षी तड़फड़ाने लगा: कोई जगह नहीं! मन के लिए जगह चाहिए। अहंकार के लिए कर्ता का रस चाहिए, कर्तव्य चाहिए। कुछ करने को हो तो अहंकार बचे। कुछ था ही नहीं करने को।

जरा थोड़ा सोचो! एक गहन उदासीनता, जिसको अष्टावक्र वैराग्य कहते हैं, वह उदय हुआ।

योगी विरागी नहीं है, क्योंकि योगी नये भोग खोज रहा है। योगी आध्यात्मिक भोग खोज रहा है, विरागी नहीं है। अभी भोग की आकांक्षा है। संसार में नहीं मिला तो परमात्मा में खोज रहा है; लेकिन खोज जारी है। यहां नहीं मिला तो वहां खोज रहा है; बाहर नहीं मिला तो भीतर खोज रहा है--लेकिन खोज जारी है।

भोगी विरागी नहीं है; योगी भी विरागी नहीं है। हां, उनकी खोज राग की अलग-अलग है। एक बाहर की तरफ जाता है, एक भीतर की तरफ जाता है; लेकिन जाते दोनों हैं।

उस रात बुद्ध को जाने को कुछ न बचा--न बाहर न भीतर। उस रात की तुम जरा कल्पना करो! उस रात को जरा जगाओ और सोचो कि कैसी वह रात रही होगी! उस दिन पहली दफा विश्राम उपलब्ध हुआ, जिसको अष्टावक्र कहते हैं: जो चित्त में विश्राम को उपलब्ध हो जाये तो सत्य उपलब्ध हो जाता है। उस दिन विश्राम उपलब्ध हुआ।

जब तक कुछ करने को शेष है तब तक श्रम जारी रहता है। जब तक कुछ करने को शेष है, तनाव जारी रहता है। अब तनाव करके भी क्या करना? शरीर भी ढीला छूट गया, मन भी ढीला छूट गया। वे उस वृक्ष के नीचे पड़ गये और सो गये। सुबह जब उनकी आंख खुली तो ऐसी खुली जैसी सबकी खुलनी चाहिए। सुबह जब आंख खुली तो पहली दफा खुली। सदियों-सदियों से बंद थी, वह आंख खुली। सुबह जब आंख खुली तो भोर का आखिरी तारा डूबता था। उस भोर के आखिरी तारे को उन्होंने डूबते हुए देखा। इधर बाहर भोर का आखिरी तारा डूब गया, उधर भीतर भी मन की आखिरी रेखा विसर्जित हो गई। कुछ भी न था। भीतर कोई भी न बचा। सन्नाटा था, शून्य था, विराट शून्य था, आकाश था।

कहते हैं, बुद्ध सात दिन वैसे ही बैठे रहे--मूर्तिवत; हिले नहीं, डुले नहीं। कहते हैं, देवता घबड़ा गये। आकाश से देवता उतरे। ब्रह्मा उतरे। चरणों में पड़े और कहा: आप कुछ बोलें! ऐसी घटना सदियों में घटती है, बड़ी मुश्किल से घटती है। आप कुछ कहें, हम आतुर हैं सुनने को कि क्या हुआ है!

हिंदू बहुत नाराज हैं इस बात से कि बौद्ध कथाओं में ब्रह्मा को उतार कर, और बुद्ध के चरणों में गिरा दिया। लेकिन कथा बिलकुल ठीक है। क्योंकि देवता भला स्वर्ग में हों, आकांक्षा के बाहर थोड़े ही हैं! आज एक घटना घटी है कि एक व्यक्ति आकांक्षा के बाहर चला गया है।

तो बुद्ध के ऊपर कोई भी नहीं है। बुद्धत्व आखिरी बात है। देवता भी नीचे हैं; अभी उनकी भी स्वर्ग की, भोग की आकांक्षा है।

इसलिए तो कथाएं हैं कि इंद्र का आसन डोलने लगता है जब भी लगता है कि कोई प्रतियोगी आ रहा, कोई ऋषि-मुनि तपश्चर्या में गहरा उतर रहा है--इंद्र घबड़ाता; आसन कंपने लगता! यह तो आसन इंद्र का क्या हुआ, दिल्ली का हुआ! इंद्र का कहो कि इंदिरा का कहो--एक ही बात है! इसमें कुछ बहुत फर्क न हुआ। यह तो कोई आने लगा! तो प्रतिस्पर्धा, घबड़ाहट, बेचैनी!

बुद्ध ना-कुछ करके उपलब्ध हुए। जो बुद्ध के जीवन में घटा; वही अष्टावक्र के जीवन में घटा होगा। कोई कथा हमारे पास नहीं है; किसी ने लिखी नहीं है। लेकिन निश्चित घटा होगा। क्योंकि अष्टावक्र जो कह रहे हैं, वह इतना ही कह रहे हैं कि तुम दौड़ चुके खूब, अब रुको! दौड़ कर नहीं मिलता परमात्मा, रुक कर मिलता है। खोज चुके खूब, अब खोज छोड़ो। खोज कर नहीं मिलता सत्य; क्योंकि सत्य खोजी में छिपा है, खोजने वाले में छिपा है। कहां भागते फिरते हो?

कस्तूरी कुंडल बसै! लेकिन जब कस्तूरी का नाफा फूटता है तो मृग पागल हो जाता है, कस्तूरी-मृग पागल हो जाता है। भागता है। इधर भागता, उधर भागता, खोजता है: "कहां से आती है यह गंध? कौन खींचे ले आता है इस सुवास को? कहां से आती है?" क्योंकि उसने जब भी गंध आती देखी तो कहीं बाहर से आती देखी। कभी फूल की गंध थी, कभी कोई और गंध थी; लेकिन सदा बाहर से आती थी। आज जब गंध भीतर से आ रही है, तब भी वह सोचता है बाहर से ही आती होगी। भागता है। और कस्तूरी उसके ही कुंडल में बसी है। कस्तूरी कुंडल बसै!

परमात्मा तुम्हारे भीतर बसा है। तुम जब तक बाहर खोजते रहोगे--योग में, भोग में--व्यर्थ!

साधारण योगी भोग के बाहर ले जाता है; अष्टावक्र योग और भोग दोनों के बाहर ले जाते हैं--योगातीत, भोगातीत! इसलिए तुम पाओगे: सांसारिक का अहंकार होता है। तुमने योगी का अहंकार देखा या नहीं? सांसारिक का क्रोध होता है; तुमने दुर्वासाओं का क्रोध देखा या नहीं? सांसारिक आदमी दंभ से अकड़ कर चलता है, पताकाएं ले कर चलता है; तुमने योगियों की पताकाएं, हाथी-घोड़े देखे या नहीं? साधारण आदमी घोषणा करता है: इतना धन है मेरे पास, इतना पद है मेरे पास! तुमने योगियों को देखा घोषणा करते या नहीं कि इतनी सिद्धि है, इतनी रिद्धि है! लेकिन ये सारी बातें वही की वही हैं; कोई फर्क नहीं हुआ।

जब तक योग योगातीत न हो जाये, जब तक व्यक्ति "मैं कर्ता हूं", इस भाव से समग्रतया मुक्त न हो जाये, तब तक कुछ भी नहीं हुआ। तब तक तुमने सिर्फ रंग बदले। तब तक तुम गिरगिट हो: जैसा देखा वैसा रंग बदल लिया। लेकिन तुम नहीं बदले, रंग ही बदला।

"सदा से खोजियों का यह अवलोकन रहा है कि परमात्म-उपलब्धि अत्यंत दुःसाध्य घटना है।"

यह बात एक अर्थ में सच है। अगर तुम बहुत दौड़ कर ही आना चाहते हो तो कोई क्या करे? अगर तुम अपने कान को उलटे तरफ से पकड़ना चाहते हो, मजे से पकड़ो। निश्चित ही तुम जब उलटी तरफ से कान को पकड़ोगे तो तुमको लगेगा: कान को पकड़ना बहुत दुःसाध्य घटना है। यह तुम्हारे कारण; यह कान के कारण नहीं। अब अगर तुम सिर के बल खड़े हो कर चलने की कोशिश करो और दस-पांच कदम चलना भी बहुत कठिन हो जाये और तुम कहो कि चलना बहुत दुःसाध्य घटना है, तो तुम गलत भी नहीं कह रहे; तुम ठीक ही कह रहे हो। लेकिन सिर के बल तुम खड़े हो। जो पैर के बल चल रहे हैं, उनके लिए चलने में कोई दुःसाध्य घटना नहीं है। अब तुम उपवास करो, आग में तपाओ, धूनी रमाओ, नाहक शरीर को कष्ट दो, सताओ, हजार तरह के पागलपन करो-- और फिर तुम कहो कि परमात्मा को पाना बड़ी दुःसाध्य घटना है, तो ठीक ही कह रहे हो।

जहां तुम सहज पहुंच सकते थे, वहां तुम असहज हो कर पहुंच रहे हो तो दुःसाध्य मालूम होता है। तुम्हारे पहुंचने में भूल हो रही है।

लेकिन असाध्य को आदमी क्यों चुनता है? यह भी समझ लेना चाहिए। सिर के बल चलने का मजा क्या है, जब कि तुम्हारे पास पैर हैं? सिर के बल चलने का एक मजा है, और वह मजा यह है...मजा है अहंकार का मजा!

मुल्ला नसरुद्दीन एक झील में मछलियां मार रहा था। घड़ी दो घड़ी मैं देखता रहा, देखता रहा: उसकी मछलियां पकड़ में कुछ आती नहीं; झील में मछलियां हैं भी नहीं, ऐसा मालूम होता है। मैंने उससे पूछा: "नसरुद्दीन! इस झील में मछलियां मालूम नहीं होतीं, तुम कब तक बैठे रहोगे? वह पास ही दूसरी झील है, वहां क्यों नहीं मछलियां मारते? यहां कोई दूसरा मछुआ दिखाई भी नहीं पड़ता; वहीं सब मछुए हैं।"

नसरुद्दीन ने कहा: "वहां मारने से सार ही क्या! अरे वहां इतनी मछलियां हैं कि मछलियों को तैरने के लिए जगह भी नहीं है। वहां मारी तो क्या मारी! यहां मछली मारो तो कोई बात।"

असाध्य में भी आकर्षण है। जितना असाध्य काम हो उतना अहंकार मजबूत होता है। यहां मछली मारो तो कुछ है। जो सभी कर रहे हैं, वही तुमने किया तो क्या सार है? सभी पैर के बल चल रहे हैं, तुम भी चले, तो क्या मजा? सिर के बल चलो!

मेरे देखे, परमात्मा से कोई संबंध नहीं है कठिनाइयों का; कठिनाइयों का संबंध अहंकार से है। अहंकार कठिन को करने में मजा लेता है। क्योंकि सरल तो सभी करते, उसमें क्या सार है? अगर तुम किसी से कहो कि हम पैर के बल चलते हैं तो लोग कहेंगे, "तुम्हारा दिमाग खराब हो गया है? सभी चलते हैं।" लेकिन अगर तुम सिर के बल चलो तो अखबारों में नाम छपेगा; तो लोग तुम्हारे पास आने लगेंगे; लोग तुम्हारे चरणों में सिर झुकायेंगे कि तुम्हें कोई सिद्धि मिल गई है कि तुम सिर के बल चलते हो।

अहंकार की पूजा तभी हो सकती है जब तुम कुछ असाध्य करो।

जैसे हिलेरी चढ़ गया एवरेस्ट पर, तो सारी दुनिया में खबर हुई। अब तुम जाओ और पूना की छोटी-मोटी पहाड़ी पर चढ़ कर खड़े हो जाओ, और झंडा लगाने लगो और तुम कहो कि "कोई अखबार वाला भी नहीं आ रहा है, कोई फोटोग्राफर भी नहीं आ रहा है--मामला क्या है? आखिर यह भेदभाव क्यों हो रहा है? हिलेरी के साथ इतना शोरगुल मचाया--इतिहास में नाम अमर रहेगा सदा के लिए! और हमारा कुछ भी नहीं हो रहा। हम भी वही कर रहे हैं; उसने भी झंडा ही गाड़ा।"

लेकिन एवरेस्ट पर चढ़ना कठिन है। पचास-साठ साल से लोग चढ़ने की कोशिश कर रहे थे, तब एक आदमी चढ़ पाया, इसलिए। धीरे-धीरे वहां रास्ता बन जायेगा, बस जाने लगेगी, कभी न कभी जायेगी, सदा इतनी देर तक एवरेस्ट अपने को बचा नहीं सकता आदमी से। जब एक आदमी पहुंच गया तो सिलसिला शुरू हो गया।

अभी कुछ देर पहले औरतें भी पहुंच गईं। जब औरतें भी पहुंच गईं तो अब और पहुंचने को क्या बाकी रहा! अब सब धीरे-धीरे पहुंच रहे हैं। थोड़े दिन में वहां होटलें और बसें और सब पहुंच जायेंगी। फिर तुम फिर जा कर फिर झंडा गाड़ना, जब बस वगैरह सब चलने लगे वहां--तुम कहोगे: यह वही जगह है जहां हिलेरी ने झंडा गाड़ा, बड़ा भेदभाव हो रहा है, बड़ा पक्षपात हो रहा है!

कठिन में अहंकार को मजा है। आदमी कई चीजों को कठिन कर लेता है ताकि अहंकार को भरने में रस आ सके। हम बहुत-सी चीजों को कठिन कर लेते हैं। जितनी कठिन कर लेते हैं, उतना ही रस आने लगता है। कठिनाई परमात्मा को पाने में नहीं है; कठिनाई अहंकार का रस है।

तो तुम जो कहते हो कि "सदा से खोजियों का यह अवलोकन रहा है कि परमात्म-उपलब्धि अत्यंत दुःसाध्य घटना है", यह ठीक है। वे जो खोजी हैं, अहंकारी हैं। और परमात्मा को खोजियों ने कब पाया? जब खोज छूट गई, तब पाया। खोज छूटने पर ही मिलता है परमात्मा। जब तुम कहीं भी नहीं जा रहे, सिर्फ बैठे हो--विश्राम में, परम विराम में; यात्रा शून्य जहां हो जाती है!

साधारणतः लोग सोचते हैं कि परमात्मा को पा लेंगे तो फिर यात्रा नहीं होगी। बात बिलकुल उलटी है: यात्रा अगर तुम अभी छोड़ दो तो अभी परमात्मा मिल जाये। लोग सोचते हैं: मंजिल मिल जायेगी तो फिर हम विश्राम करेंगे। हालत उलटी है: तुम विश्राम करो तो मंजिल मिल जाये।

विश्राम, ध्यान और समाधि का सूत्र है; श्रम, अहंकार का सूत्र है।

इसलिए तुम पाओगे कि जितना जिस धर्म के भीतर श्रम की व्यवस्था है साधु के लिए, उतना ही अहंकारी साधु होगा। जैनियों का साधु जितना अहंकारी है उतना हिंदुओं का नहीं। क्योंकि जैन साधु कहेगा: "हिंदू साधु, इसमें रखा ही क्या है, कोई भी हो जाये!" जैन साधु! कठिन मामला है। एक बार भोजन! अनेक-अनेक उपवास! सब तरह की कठिनाइयां!

फिर जैनों में भी दिगंबरों और श्वेतांबरों के साधु हैं। दिगंबर साधु कहते हैं: "श्वेतांबरों में क्या रखा है? कपड़े पहने बैठे हैं! साधु तो दिगंबर का है!" इसलिए दिगंबर साधु में तुम जैसे अहंकार को चमकता हुआ पाओगे, कहीं भी न पाओगे। देह तो सूखी होगी, हड्डी-हड्डी होगी--क्योंकि बहुत उपवास, नग्न रहना, धूपत्ताप सहना--लेकिन अहंकार बड़ा प्रज्वलित होगा। अकड़ उसकी वैसी है जैसी हिलेरी की।

हिंदुस्तान में मुश्किल से बीस दिगंबर मुनि हैं; श्वेतांबर मुनि तो पांच-सात हजार हैं। हिंदुओं के तो संन्यासी पचास लाख हैं। और अगर मेरी चले तो सारी दुनिया को संन्यासी कर दूं। इसलिए मेरे संन्यासी होने में तो अहंकार हो ही नहीं सकता। क्योंकि कोई मैं कह ही नहीं रहा हूं कि तुम ऐसा करो, वैसा करो। एक बहुत ही सरल मामला है: तुम गेरुए कपड़े पहन लो, संन्यासी हो गये!

संन्यास सरल हो तो अहंकार को मजा कहां?

मेरे पास लोग आते हैं। वे कहते हैं कि संन्यास आप देते हैं तो इसके लिए कोई विशेष आयोजन करना चाहिए। विशेष आयोजन संन्यास के लिए! वे ठीक कहते हैं, क्योंकि ऐसा होता है: अगर जैन दीक्षा होती है तो देखा, कैसा घोड़ा, बैंडबाजा इत्यादि बजता है और सब मजा आता है और लगता है कोई बड़ी घटना घट रही है; कोई सिंहासन पर चढ़ाया जा रहा है! संन्यास भी सिंहासन जैसा हो गया! लोग जय-जयकार करते हैं कि कोई बड़ी घटना घट रही है। और मैं संन्यास ऐसा चुपचाप दे देता हूं, किसी को पता ही नहीं चलता--पोस्ट से भी दे देता हूं। मुझे भी पता नहीं चलता कौन सज्जन हैं, उनको भी पता नहीं चलता। ठीक है!

मेरे देखे, संन्यास सरल होना चाहिए। मेरे देखे परमात्मा विश्राम में मिलता है; अहंकार में नहीं। कृत्य नहीं है, खोज नहीं है। परमात्मा मिला ही हुआ है--तुम जरा हलके हो जाओ; तुम जरा शांत हो जाओ; तुम जरा रुको। अचानक तुम पाओगे वह सदा से था!

आखिरी प्रश्न: हमारे शरीर में कोई बीस अरब कोशिकाएं हैं और शरीर में प्रतिक्षण रासायनिक प्रतिक्रिया होती रहती है। आप या अष्टावक्र जब कहते हैं कि द्रष्टा बनो, तब यह बात आप किससे कहते हैं?

यह कौन है जो कह रहा है कि शरीर में बीस अरब कोशिकाएं हैं? निश्चित ही कोशिकाएं नहीं कह रही हैं। एक कोशिका बाकी कोशिकाओं का हिसाब भी नहीं लगा सकती। ये बीस अरब कोशिकाएं हैं शरीर में, अरबों-खरबों सेल हैं शरीर में--यह कौन कह रहा है? यह किसने पूछा? यह किसको पता चला? जरूर तुम्हारे भीतर कोशिकाओं से भिन्न कोई है, जो गिनती कर लेता है कि बीस अरब कोशिकाएं हैं।

"हमारे शरीर में कोई बीस अरब कोशिकाएं हैं और शरीर में प्रतिक्षण रासायनिक प्रतिक्रिया होती रहती है। आप या अष्टावक्र जब कहते हैं कि द्रष्टा बनो, तब यह बात आप किससे कहते हैं?"

उसी से जो कह रहा है कि बीस अरब कोशिकाएं हैं।

"यदि मस्तिष्क की कोशिकाओं से कहते हैं तो बात व्यर्थ है; क्योंकि बुद्धि नश्वर है।"

नहीं, हम कह भी नहीं रहे मस्तिष्क की कोशिकाओं से। हम तुमसे कह रहे हैं। अष्टावक्र भी तुमसे बोल रहे हैं। अष्टावक्र इतने बुद्धू नहीं कि तुम्हारे मस्तिष्क की कोशिकाओं से बोल रहे हों। तुमसे बोल रहे हैं! तुम्हारा होना तुम्हारी कोशिकाओं के पार है। तुम कोशिकाओं का उपयोग कर रहे हो, सच है। जैसे एक कार में बैठा हुआ ड्राइवर कार चला रहा है, दौड़ा जा रहा है कार की गति से दौड़ा जा रहा है, सौ मील प्रति घंटे चला जा रहा है; लेकिन फिर भी वह जो ड्राइवर भीतर है, वह कार नहीं है। और अगर एक सिपाही सीटी बजाये कि रुको और वह पूछे कि "किससे कह रहे हैं?--कार के इंजिन से?" क्योंकि चल तो इंजिन रहा है। "किससे कह रहे हैं?--पेट्रोल से?" क्योंकि चला तो पेट्रोल रहा है। "किससे कह रहे हैं?--पहियों से?" क्योंकि दौड़ तो पहिये रहे हैं। तो क्या कहेगा पुलिस का सिपाही? वही मैं तुमसे कहता हूं कि सीटी तुम्हारे लिए बजा रहे हैं।

"यदि आप आत्मा को जगा रहे हैं तो भी बात व्यर्थ है, क्योंकि आत्मा तो जागी ही हुई है। उसको जगाना और पहचानो कहना तो बेवकूफी है।"

बिलकुल ठीक बात है। आत्मा तो जागी ही हुई रही है; उसको जगाने का कोई उपाय नहीं है। और हम उसको जगा भी नहीं रहे।

मामला कुछ ऐसा है कि तुम बने हुए पड़े हो, जागे हुए पड़े हो और आंखें बंद किये। सोये को जगाना तो बहुत आसान है; हिलाओ-डुलाओ, पानी छिड़को--जागेगा। जागा हुआ अगर कोई आदमी पड़ा हो, आंखें बंद करके, ढोंग करता हो सोने का--इसको कैसे जगाओ? छिड़को पानी, कोई फर्क नहीं पड़ता। हिलाओ-डुलाओ, वह हिल-डुल कर फिर करवट ले कर सो जाता है। पुकारो नाम, सुन लेता है, बोलता नहीं। ऐसी तुम्हारी हालत है।

जागे हुए को जगाना, कोई अर्थ नहीं रखता; लेकिन जागा हुआ सोने का बहाना कर रहा है। इसलिए जगाने की जरूरत है।

सोये हुए को जगा नहीं रहे हैं, क्योंकि आत्मा सो नहीं सकती। जो सोया है वह शरीर है। जो शरीर है उसे जगाया नहीं जा सकता और जो आत्मा जागी हुई है, उसे जगाने का कोई अर्थ नहीं है। बिलकुल ठीक कहते हो। बड़े ज्ञान की बात कर रहे हो; मगर उधार होगी, क्योंकि खुद की समझ से आई होती तो पूछते ही नहीं। अष्टावक्र या मैं उसको जगा रहे हैं जो जागा हुआ है और भूल गया कि हम जागे हुए हैं; जो जागा हुआ है और सोने के बहाने में पड़ गया है, सोने का खेल खेल रहा है। इसलिए तो कठिनाई है जगाने में, बड़ी कठिनाई है।

"आप लोगों को भ्रम में तो नहीं डाल रहे हैं?"

तुम सोचते हो लोग भ्रम में हैं नहीं? अगर लोग भ्रम में नहीं हैं तो निश्चित ही मैं भ्रम में डाल रहा हूं। मगर, अगर लोग भ्रम में नहीं हैं तो भ्रम में डाले कैसे जा सकेंगे? इतने बुद्धपुरुष भ्रम में डाले जा सकते हैं? और अगर लोग भ्रम में हैं तो मैं जो कर रहा हूं वह भ्रम के बाहर लाने की चेष्टा है। जो भी तुम हो, उससे उलटा मैं कर रहा हूं। अगर तुम सोचते हो तुम भ्रम में हो, तो यह चेष्टा है जगाने की। अगर तुम सोचते हो तुम जागे हुए हो तो यह चेष्टा तुम्हें भ्रम में डालने की। लेकिन अगर तुम जागे हुए हो तो कौन तुम्हें भ्रम में डाल देगा?

खयाल रखना, तुम्हारे अतिरिक्त तुम्हें भ्रम में कोई भी नहीं डाल सकता, और तुम्हारे अतिरिक्त तुम्हें कोई जगा भी नहीं सकता। जगाने की चेष्टा कोई कर सकता है; लेकिन जब तक तुम सहयोग न करोगे, तुम जागोगे नहीं। क्योंकि यह नींद थोड़े ही है कि कोई तोड़ दे; तुम बने हुए पड़े हो!

तुम्हारा सहयोग जरूरी है। सहयोग का अर्थ ही शिष्यत्व है। सहयोग का अर्थ ही है कि कोई जगाने वाले के पास तुम जाते हो, तुम कहते हो: मेरी पुरानी आदत हो गई है अपने को धोखा देने की, जरा मुझे साथ दें, जरा मुझे सहारा दें कि इस आदत के बाहर निकाल लें।

एक युवती मेरे पास आई और उसने कहा कि उसे कुछ मादक द्रव्य लेने की आदत हो गई है; बाहर आना चाहती है। बड़ी आकांक्षा है बाहर निकल आने की। बड़ी आतुर है कि किस तरह बाहर निकल आये। लेकिन वह

जो आदत पड़ गई है मादक द्रव्यों की वह इतनी गहरी हो गई है, वह शरीर की कोशिकाओं में पहुंच गई है। अगर न ले मादक द्रव्य तो ऐसी पीड़ा और बेचैनी सारे शरीर में होती है कि न तो सो सकती, न उठ सकती, न बैठ सकती, तो लेना ही पड़ता है। और लेती है तो पीड़ा होती है मन को कि यह क्या जाल हो गया! अब वह मेरे पास आई कि मुझे बाहर निकाल लें, आपके हाथ का सहारा चाहिए! बस ऐसी ही अवस्था है।

जन्मों-जन्मों तक सोने के अभ्यास को तुमने बहुत गहरा कर लिया है। जागे हुए को सोने के भ्रम में डाल दिया है। सम्राट को भिखारी मान लिया है। लेकिन इतने जन्मों तक माना है कि आज अपने ही अभ्यास के कारण...। सिर्फ सुन लेने से कुछ नहीं होता। तुम मेरी बात सुन ले सकते हो, उससे कुछ भी न होगा--जब तक कि तुम उसे गुनो न; जब तक कि तुम राजी न हो जाओ। तुम्हारे अतिरिक्त तुम्हें कोई जगा न सकेगा। नहीं तो एक बुद्धपुरुष काफी था; शोरगुल मचा कर सबको जगा देता; ढोल-ढमास पीट देता और सबको जगा देता।

इधर सौ आदमी सो रहे हों तो एक आदमी जगाने के लिए काफी है। वस्तुतः आदमी की भी जरूरत नहीं है, अलार्म घड़ी भी जगा देती है। एक आदमी आ जाये और ढोल पीट दे, सब उठ जाएंगे; घंटा बजा दे, सब उठ जाएंगे। लेकिन यह क्यों नहीं हो सका कि बुद्ध हुए, महावीर हुए, अष्टावक्र हुए, कृष्ण हुए, क्राइस्ट हुए, जरथुस्त्र, लाओत्सु--इन लोगों ने ऐसा क्यों न किया कि जोर से घंटा बजा देते, सारी पृथ्वी जाग जाती? घंटा खूब बजाया, मगर कोई सो रहा हो तो जागे; यहां बने हुए लोग पड़े हैं! वे आंखें बंद किये पड़े हैं। वे सुन लेते हैं घंटे को। वे कहते हैं: बजाते रहो, देखें कौन हमको जगाता है!

जब तुम जागना चाहोगे तो जागोगे। भ्रम में मैं तुम्हें डाल नहीं सकता। भ्रम में तो तुम हो; अब और भ्रम में तुम्हें क्या डाला जा सकता है? तुम्हें और भी भटकाया जा सकता है तुम सोचते हो? तुम सोचते हो और कुछ भटकने को बचा है? इससे नीचे तुम और गिर सकते हो, गिरने की कोई और जगह है? लोभ जितना तुम्हारे भीतर है, इससे थोड़ा इंच भर और ज्यादा हो सकता है? क्रोध तुम्हारे भीतर है, इससे थोड़ा और ज्यादा हो सकता है, एक रत्ती-माशा? वासना ने जैसा तुम्हें घेरा है, और वासना बढ़ सकती है? तुम आखिरी जगह खड़े हो। जो प्रथम होना चाहिए वह आखिर में खड़ा है। जो सम्राट होना चाहिए वह भिखमंगा हो कर खड़ा है। इससे पीछे अब तुम जा भी नहीं सकते। इसके पार गिरने का उपाय भी नहीं है।

तुम्हें भ्रम में डालने की कोई सुविधा नहीं है। कोई डालना भी चाहे तो डाल नहीं सकता। हां, कोई इतना ही कर सकता है ज्यादा से ज्यादा: तुम्हारे भ्रम बदल दे; एक भ्रम से तुम ऊब जाओ तो दूसरा भ्रम दे दे। यही साधु-संन्यासी करते रहते हैं। संसार का भ्रम उखड़ने लगा, ऊब पैदा होने लगी, खूब जी लिए, अब कुछ सार नहीं, देख लिया--तो अध्यात्म का भ्रम पैदा करते हैं। कहते हैं कि "चलो अब स्वर्ग का मजा लो! थोड़ा पुण्य करो; त्याग, तपश्चर्या करो; स्वर्ग में अप्सराएं भोगो! यहां बहुत भोग लीं, कुछ पाया नहीं। यहां चुल्लू-चुल्लू शराब पीते रहे; वहां बहिश्त में, फिरदौस में झरने बह रहे हैं शराब के, डुबकियां लगाना! यहां क्या रखा है? स्वर्ग में स्वर्ण के महल हैं; हीरे-जवाहरातों के वृक्ष हैं--वहां मजा लो! कल्पवृक्ष हैं, उनके नीचे बैठो! यहां तो रोना-धोना खूब कर लिया!" लेकिन यह नया भ्रम है।

मैं तुम्हें कोई नया भ्रम नहीं दे रहा। मैं तुमसे सिर्फ इतना कह रहा हूं: काफी भ्रम देख लिए, अब थोड़ा जागो!

साक्षी-भाव कैसे भ्रम हो सकता है, थोड़ा सोचो। सिर्फ साक्षी होने को कह रहा हूं: जो भी है, उसे देखने को कह रहा हूं। कुछ करने को कहता तो भ्रम पैदा होता। तुमसे कहता कि यह छोड़ कर यह करो तो भ्रम पैदा होता। तुमसे सिर्फ इतना ही कह रहा हूं: जो भी कर रहे हो, जहां भी हो, भोगी हो योगी हो, जो भी हो, हिंदू हो मुसलमान हो, मस्जिद में हो, मंदिर में हो, जहां भी हो--जागो! जाग कर देखो। जागने में कैसे भ्रम हो सकता

है? जागे हुए आदमी को भ्रम की कोई संभावना नहीं रह जाती। नींद में सपने होते हैं; जागने में कैसे सपना हो सकता है?

"और यदि लोग सुख-दुख में प्रतिक्रिया करना छोड़ दें तो वे पशु या पेड़-पौधे जैसे तो नहीं हो जायेंगे?"

पहली तो बात, तुमसे किसने कहा कि पशु और पेड़-पौधे तुमसे खराब हालत में हैं? तुमने ही मान लिया, पेड़-पौधों से भी तो पूछो! पशुओं से भी तो पूछो! थोड़ा पशुओं की आंख में भी तो झांक कर देखो!

यह भी आदमी का अहंकार है कि वह सोचता है कि वह पशुओं से ऊपर है। और पशुओं की इसमें कोई गवाही भी नहीं ली गई है, यह भी बड़े मजे की बात है। एकतरफा निर्णय कर लिया है। अपने-आप ही निर्णय कर लिया है।

अगर पशुओं में भी इस तरह की किताबें लिखी जाती होंगी, शास्त्र रचे जाते होंगे, तो उनमें भी लिखा होगा कि आदमी बहुत गया-बीता जानवर है।

मैंने तो सुना है कि बंदर एक-दूसरे से कहते हैं कि आदमी पतित बंदर है। डार्विन कहता है कि आदमी बंदर का विकास है, लेकिन डार्विन कौन-सी कसौटी है? बंदरों से भी तो पूछो! दोनों ही पार्टियों से भी तो पूछ लेना चाहिए। बंदर कहते हैं, आदमी पतित है। और उनकी बात समझ में आती है। बंदर वृक्षों पर हैं और तुम जमीन पर हो--पतित हो ही! बंदर ऊपर हैं, तुम नीचे हो। किसी बंदर से टक्कर ले कर तो देखो, तो शक्ति बढ़ी कि खोई? जरा एक वृक्ष से दूसरे वृक्ष पर छलांग ले कर तो देखो, हड्डी-पसली टूट जायेंगी! तो कला आई कि गई? वह तुमसे किसने कह दिया? कि खुद ही मान लिया?

यह बड़े मजे की बात है। आदमी की बीमारियों में एक बीमारी है कि आदमी मानता है कि वह सबसे ऊपर है। फिर पुरुषों से पूछो तो वे मानते हैं, वे स्त्रियों से ऊपर हैं। स्त्रियों से बिना ही पूछे! स्त्रियों की इसमें कोई गवाही नहीं ली गई। इस पर कोई वोट नहीं हुआ कभी। क्योंकि पुरुषों ने शास्त्र लिखे, जो मन में था लिख लिया। और स्त्रियों को तो पढ़ने पर भी रोक लगा रखी थी कि कहीं वे पढ़ भी लें तो बाधा डालेंगी। क्योंकि जो पंडित लिख रहा था, उसकी पत्नी ही उसको कष्ट में डाल देती, अगर पढ़ना आता होता। तो पढ़ने पर बाधा लगा दी कि वेद पढ़ नहीं सकतीं स्त्रियां, यह नहीं कर सकतीं...। हद कर दी पुरुषों ने: स्त्रियां मोक्ष भी नहीं जा सकतीं! मोक्ष जाने के पहले उनको पुरुष होना पड़ेगा, पुरुष पर्याय में आना पड़ेगा।

फिर पुरुषों में भी पूछो। गोरा समझता है कि वह ऊंचा है काले से। काले से भी तो पूछो!

मैंने सुना है कि अफ्रीका के एक जंगल में एक अंग्रेज शिकार के लिए गया और उसने अपने साथ एक नीग्रो को गाइड की तरह लिया। जंगल में दोनों भटक गये। और देखा कि कोई सौ आदमियों का, भाले लिए हुए जंगलियों का एक नीग्रो दस्ता चला आ रहा है। वह अंग्रेज बहुत घबड़ाया। उसने अपने गाइड से, नीग्रो से कहा कि हम लोगों की जान खतरे में है। उसने कहा, "हम लोगों की! तुम मुझे छोड़ो, तुम अपनी सोचो। मेरी क्यों खतरे में होगी?"

सफेद आदमी सोचता है, वह श्रेष्ठ है; काला सोचता है, वह श्रेष्ठ है।

चीनियों से पूछो। चीनियों की किताबों में लिखा है कि अंग्रेज बंदर हैं। आदमी में भी गिनती नहीं करते वे उनकी।

सारी दुनिया में यह रोग है। आदमी का यह रोग बड़ा गहरा है। वह बिना ही दूसरी पार्टी के पूछे निर्णय करता चला जाता है। ये सब अहंकार के खेल हैं। अगर तुम थोड़े अहंकार को छोड़ कर देखोगे, तो तुम पाओगे परमात्मा के ही सब रूप हैं--जानवर भी, पशु-पक्षी भी, पौधे भी, मनुष्य भी। परमात्मा ने कहीं चाहा है हरा हो जाना तो हरा है; कहीं चाहा है पक्षियों के गीत से प्रगट होना तो वैसा हो रहा है; कहीं चाहा है आदमी होना तो आदमी हो गया है। इनमें कोई तारतम्यता नहीं है, हायरेरकी नहीं है, कोई ऊपर-नीचे नहीं है। ये सब एक साथ

परमात्मा की अनंत लहरें हैं। छोटी लहर में भी वही, बड़ी लहर में भी वही; सफेद लहर में भी वही, काली लहर में भी वही। घास में भी वही, आकाश छूते हुए वृक्षों में भी वही।

आध्यात्मिक दृष्टि तो यह कहती है कि इसी क्षण जो भी है वही परमात्मा है। फिर परमात्मा में कोई आगे-पीछे कैसे हो सकता है? यह तो बड़ा मुश्किल हो जायेगा। यह तो परमात्मा में भी कुछ नीचे, कुछ ऊपर करना कठिन हो जायेगा। एक ही है! साक्षी-भाव से देखोगे तो पाओगे सब एक है।

इसलिए पहले तो यह पूछो ही मत कि "यदि लोग सुख-दुख में प्रतिक्रिया करना छोड़ दें तो वे पशु या पौधे जैसे तो नहीं हो जायेंगे?" हो जायेंगे तो कुछ हर्जा नहीं होगा। हिटलर अगर पशु हो जाये, पौधा हो जाये तो कोई हर्जा है? हां, दुनिया में करोड़ों लोग मरने से बच जायेंगे, और तो कुछ हर्जा नहीं हो जायेगा। नादिरशाह अगर शेर होता तो कोई हर्जा होता? दस-पांच आदमियों को मार कर तृप्त हो जाता। भोजन के लिए ही मारता; ऐसे अकारण लाशों से तो नहीं भर देता दुनिया को। इतना तो पक्का है कि पशुओं ने अभी तक एटम बम जैसी कोई चीज नहीं खोजी; नाखून से काम लेते हैं, बड़े पुराने ढंग से काम चलता है। भोजन के लिए मारते हैं।

आदमी अकेला जानवर है जो बिना भोजन की इच्छा के भी मारता है। आदमी जाता है जंगल में शिकार करने; पशुओं-पक्षियों को मारता है और कहता है, आखेट के लिए आये, खेल के लिए आये! और अगर सिंह उस पर हमला कर दे, तो वह आखेट नहीं है! फिर नहीं कहता कि सिंह खेल कर रहा है--करने दो, आखेट हो रही है।

खेल के लिए मारते हो? कोई पशु नहीं मारता खेल के लिए।

और एक और बड़े मजे की बात है कि कोई पशु अपने वर्ग में नहीं मारता। कोई सिंह किसी दूसरे सिंह को मारता नहीं। कोई बंदर किसी दूसरे बंदर की हत्या नहीं करता। सिर्फ आदमी अकेला जानवर है जो आदमियों को मारता है। चींटी चींटी को नहीं मारती। हाथी हाथी को नहीं मारता। कुत्ता कुत्ते को नहीं मारता। लड़-झगड़ लें, मारने वगैरह की बात नहीं करते, हत्या नहीं करते। आदमी अकेला जानवर है जो एक-दूसरे की हत्या करता है।

आदमी में ऐसा है क्या जिसके लिए तुम इतने परेशान हो रहे हो? खो भी जायेगा तो क्या खो जायेगा? पेड़-पौधे बहुत सुंदर हैं। पशु बड़े निर्दोष हैं। मगर मैं यह नहीं कह रहा कि तुम पेड़-पौधे या पशु हो जाओ। मैं सिर्फ यह कह रहा हूं कि अहंकार छोड़ो।

और दूसरी बात यह मैंने कहा भी नहीं कि सुख और दुख में प्रतिक्रिया करना छोड़ दें। यह अष्टावक्र ने भी कहा नहीं। सुख-दुख में समता रखने का अर्थ सुख-दुख में प्रतिक्रिया करना छोड़ देना नहीं है। सुख-दुख में समता रखने का अर्थ केवल इतना ही है कि "मैं साक्षी रहूंगा; दुख होगा तो दुख को देखूंगा, सुख होगा तो सुख को देखूंगा।" इसका यह अर्थ थोड़े ही है कि जब तुम बुद्ध को कांटे चुभाओगे तो उनको दुख नहीं होता। बुद्ध को कांटे चुभाओगे तो तुमसे ज्यादा दुख होता है; क्योंकि बुद्ध तुमसे ज्यादा संवेदनशील हैं; तुम तो पथरीले हो, बुद्ध तो कोमल कमल की तरह हैं! तुम जब बुद्ध को कांटे चुभाओगे तो बुद्ध को पीड़ा तुमसे ज्यादा होती है; लेकिन पीड़ा हो रही है शरीर में, बुद्ध ऐसा जान कर दूर खड़े रहते हैं। देखते हैं, पीड़ा हो रही है; जानते हैं, पीड़ा हो रही है--फिर भी अपना तादात्म्य पीड़ा से नहीं करते। जानते हैं: मैं जानने वाला हूं, ज्ञाता-स्वरूप हूं।

प्रतिक्रिया छोड़ने को नहीं कह रहे हैं। यह नहीं कह रहे हैं कि घर में आग लग जाये तो तुम बैठे रहना तो तुम बुद्ध हो गये, भागना मत बाहर! भागते समय भी जानना कि घर जल रहा है, वह मैं नहीं जल रहा। और अगर शरीर भी जल रहा हो तो जानना कि शरीर जल रहा है, मैं नहीं जल रहा। इसका यह मतलब नहीं कि शरीर को जलने देना। शरीर को बाहर निकाल लाना। शरीर को कष्ट देने के लिए नहीं कह रहे हैं।

प्रतिक्रिया-शून्य करने का तो अर्थ हुआ कि तुम पत्थर हो गये, जड़ हो गये। तो बुद्ध पत्थर नहीं हैं। बुद्ध से बड़ा करुणावान कहां पाया तुमने? अष्टावक्र पत्थर नहीं हो गये होंगे। प्रेम की धारा बही। तो जिनसे प्रेम का झरना बहा, उनकी संवेदनशीलता बढ़ गई होगी, घट नहीं गई होगी। उनके पास महाकरुणा उतरी।

लेकिन तुम गलत व्याख्या कर ले सकते हो।

और जिन्होंने पूछा है, थोड़े शास्त्रीय बुद्धि के मालूम होते हैं; थोड़ा बुद्धि में कचरा ज्यादा है। कुछ पढ़ लिया, सुन लिया, इकट्ठा कर लिया--वह काफी चक्कर मार रहा है! वह सुनने नहीं देता, वह देखने भी नहीं देता। वह चीजों को विकृत करता चला जाता है।

राही रुके हुए सब
भीतर का पानी अधहंसा
बाहर जमी बरफ है
एक तरफ छाती तक दल-दल अगम
बाढ़ का दरिया एक तरफ है।
मनमानी बह रही हवाएं
जंगल झुके हुए सब
राही रुके हुए सब।
बंद द्वार, अधखुली खिड़कियां
झांक रहीं कुछ आंखें
सूरज के मुंह पर संध्या की
काली अनगिन तीर सरीखी-सी
चुभती हुई सलाखें
अपने चेहरे के पीछे चुप
सहमे लुके हुए सब
राही रुके हुए सब!
अपने चेहरे के पीछे चुप
सहमे लुके हुए सब
राही रुके हुए सब!

ये जो चेहरे हैं, मुखौटे हैं--बुद्धिमानी के, पांडित्य के, शास्त्रीयता के--इनके पीछे कब तक छुपे रहोगे? ये जो विचारों की परतें हैं, इनके पीछे कब तक छुपे रहोगे? इन्हें हटाओ! भीतर के शुद्ध चैतन्य को जगाओ।

द्रष्टा की तरह देखो, विचारक की तरह नहीं। विचारक का तो अर्थ हुआ मन की क्रिया शुरू हो गई।

तो अगर अष्टावक्र को समझना हो तो चैतन्य, शुद्ध चैतन्य की तरह ही समझ पाओगे। अगर तुम सोच-विचार में पड़े तो अष्टावक्र को तुम नहीं समझ पाओगे, चूक जाओगे।

अष्टावक्र कोई दार्शनिक नहीं हैं, और अष्टावक्र कोई विचारक नहीं हैं। अष्टावक्र तो एक संदेशवाहक हैं--चैतन्य के, साक्षी के। शुद्ध साक्षी! सिर्फ देखो! दुख हो दुख को देखो, सुख हो सुख को देखो! दुख के साथ यह मत कहो कि मैं दुख हो गया; सुख के साथ यह मत कहो कि मैं सुख हो गया। दोनों को आने दो, जाने दो। रात आये तो रात देखो, दिन आये तो दिन देखो। रात में मत कहो कि मैं रात हो गया। दिन में मत कहो कि मैं दिन हो गया। रहो अलग-थलग, पार, अतीत, ऊपर, दूर! एक ही बात के साथ तादात्म्य रहे कि मैं द्रष्टा हूं, साक्षी हूं।

हरि ॐ तत्सत्!

तीसरा प्रवचन

जैसी मति वैसी गति

अष्टावक्र उवाच।

एको द्रष्टाऽसि सर्वस्य मुक्तप्रायोऽसि सर्वदा।
अयमेव हि ते बंधो द्रष्टारं पश्यसीतरम्।। ७।।
अहं कर्तेत्यहंमानमहाकृष्णहि दंशितः।
नाहं कर्त्तेति विश्वासामृतं पीत्वा सुखी भव।। ८।।
एको विशुद्धबोधोऽहमिति निश्चयवह्निना।
प्रज्वाल्याज्ञानगहनं वीतशोकः सुखी भव।। ९।।
यत्र विश्वमिदं भाति कल्पितं रज्जुसर्पवत्।
आनंदपरमानंदः स बोधस्त्वं सुखं चर।। १०।।
मुक्ताभिमानी मुक्तो हि बद्धो बद्धाभिमान्यपि।
किंवदंतीह सत्येयं या मतिः स गतिर्भवेत।। ११।।
आत्मा साक्षी विभुः पूर्ण एको मुक्तश्चिद् क्रियः।
असंगो निस्पृहः शांतो भ्रमात संसारवानिव।। १२।।
कूटस्थं बोधमद्वैतमात्मानं परिभावय।
आभासोऽहं भ्रमं मुक्त्वा भावं बाह्यमथांतरम्।। १३।।

पहला सूत्रः

"अष्टावक्र ने कहा, तू सबका एक द्रष्टा है और सदा सचमुच मुक्त है। तेरा बंधन तो यही है कि तू अपने को छोड़ दूसरे को द्रष्टा देखता है।"

यह सूत्र अत्यंत बहुमूल्य है। एक-एक शब्द इसका ठीक से समझें!

"तू सबका एक द्रष्टा है। एको द्रष्टाऽसि सर्वस्य! और सदा सचमुच मुक्त है।"

साधारणतः हमें अपने जीवन का बोध दूसरों की आंखों से मिलता है। हम दूसरों की आंखों का दर्पण की तरह उपयोग करते हैं। इसलिए हम द्रष्टा को भूल जाते हैं, और दृश्य बन जाते हैं। स्वाभाविक भी है।

छोटा बच्चा पैदा हुआ। उसे अभी अपना कोई पता नहीं। वह दूसरों की आंखों में झांककर ही देखेगा कि मैं कौन हूं।

अपना चेहरा तो दिखायी पड़ता नहीं; दर्पण खोजना होगा। जब तुम दर्पण में अपने को देखते हो तो तुम दृश्य हो गये, द्रष्टा न रहे। तुम्हारी अपने से पहचान ही कितनी है? उतनी जितना दर्पण ने कहा।

मां कहती है बेटा सुंदर है, तो बेटा अपने को सुंदर मानता है। शिक्षक कहते हैं स्कूल में, बुद्धिमान हो, तो व्यक्ति अपने को बुद्धिमान मानता है। कोई अपमान कर देता है, कोई निंदा कर देता है, तो निंदा का स्वर भीतर समा जाता है। इसलिए तो हमें अपना बोध बड़ा भ्रामक मालूम होता है, क्योंकि अनेक स्वरों से मिलकर बना है; विरोधी स्वरों से मिलकर बना है। किसी ने कहा सुंदर हो; और किसी ने कहा, "तुम, और सुंदर! शक्ल तो देखो आईने में!" दोनों स्वर भीतर चले गये, द्वंद्व पैदा हो गया। किसी ने कहा, बड़े बुद्धिमान हो; और किसी ने कहा, तुम जैसा बुद्धू आदमी नहीं देखा--दोनों स्वर भीतर चले गये, दोनों भीतर जुड़ गये। बड़ी बेचैनी पैदा हो गयी, बड़ा द्वंद्व पैदा हो गया।

इसीलिए तो तुम निश्चित नहीं हो कि तुम कौन हो। इतनी भीड़ तुमने इकट्ठी कर ली है मतों की! इतने दर्पणों में झांका है, और सभी दर्पणों ने अलग-अलग खबर दी! दर्पण तुम्हारे संबंध में थोड़े ही खबर देते हैं, दर्पण अपने संबंध में खबर देते हैं।

तुमने दर्पण देखे होंगे, जिनमें तुम लंबे हो जाते हो; दर्पण देखे होंगे, जिनमें तुम मोटे हो जाते। दर्पण देखे होंगे, जिनमें तुम अति सुंदर दिखने लगते। दर्पण देखे होंगे, जिनमें तुम अति कुरूप हो जाते, अष्टावक्र हो जाते।

दर्पण में जो झलक मिलती है वह तुम्हारी नहीं है, दर्पण के अपने स्वभाव की है। विरोधी बातें इकट्ठी होती चली जाती हैं। इन्हीं विरोधी बातों के संग्रह का नाम तुम समझ लेते हो, मैं हूं! इसलिए तुम सदा कंपते रहते हो, डरते रहते हो।

लोकमत का कितना भय होता है! कहीं लोग बुरा न सोचें। कहीं लोग ऐसा न समझ लें कि मैं मूढ़ हूं! कहीं ऐसा न समझ लें कि मैं असाधु हूं! लोग कहीं ऐसा न समझ लें; क्योंकि लोगों के द्वारा ही हमने अपनी आत्मा निर्मित की है।

गुरजिएफ अपने शिष्यों से कहता था: अगर तुम्हें आत्मा को जानना हो तो तुम्हें लोगों को छोड़ना होगा। ठीक कहता था। सदियों से यही सदगुरुओं ने कहा है। अगर तुम्हें स्वयं को पहचानना हो तो तुम्हें दूसरों की आंखों में देखना बंद कर देना होगा।

मेरे देखे, बहुत-से खोजी, सत्य के अन्वेषक समाज को छोड़ कर चले गये--उसका कारण यह नहीं था कि समाज में रह कर सत्य को पाना असंभव है; उसका कारण इतना ही था कि समाज में रह कर स्वयं की ठीक-ठीक छवि जाननी बहुत कठिन है। यहां लोग खबर दिये ही चले जाते हैं कि तुम कौन हो। तुम पूछो न पूछो, सब तरफ से झलकें आती ही रहती हैं कि तुम कौन हो। और हम धीरे-धीरे इन्हीं झलकों के लिए जीने लगते हैं।

मैंने सुना, एक राजनेता मरा। उसकी पत्नी दो वर्ष पहले मर गयी थी। जैसे ही राजनेता मरा, उसकी पत्नी ने उस दूसरे लोक के द्वार पर उसका स्वागत किया। लेकिन राजनेता ने कहा: अभी मैं भीतर न आऊंगा। जरा मुझे मेरी अर्थी के साथ राजघाट तक हो आने दो।

पत्नी ने कहा: अब क्या सार है? वहां तो देह पड़ी रह गयी, मिट्टी है।

उसने कहा: मिट्टी नहीं; इतना तो देख लेने दो, कितने लोग विदा करने आये!

राजनेता और उसकी पत्नी भी अर्थी के साथ-साथ--किसी को तो दिखाई न पड़ते थे, पर उनको अर्थी दिखाई पड़ती थी--चले...। बड़ी भीड़ थी! अखबारनवीस थे, फोटोग्राफर थे। झंडे झुकाए गये थे। फूल सजाये गये थे। मिलिट्री के ट्रक पर अर्थी रखी थी। बड़ा सम्मान दिया जा रहा था। तोपें आगे-पीछे थीं। सैनिक चल रहे थे। गदगद हो उठा राजनेता।

पत्नी ने कहा, इतने प्रसन्न क्या हो रहे हो?

उसने कहा, अगर मुझे पता होता कि मरने पर इतनी भीड़ आयेगी तो मैं पहले कभी का मर गया होता। तो हम पहले ही न मर गये होते, इतने दिन क्यों राह देखते! इतनी भीड़ मरने पर आये इसी के लिए तो जीये!

भीड़ के लिए लोग जीते हैं, भीड़ के लिए लोग मरते हैं।

दूसरे क्या कहते हैं, यह इतना मूल्यवान हो गया है कि तुम पूछते ही नहीं कि तुम कौन हो। दूसरे क्या कहते हैं, उन्हीं की कतरन छांट-छांटकर इकट्ठी अपनी तस्वीर बना लेते हो। वह तस्वीर बड़ी डांवांडोल रहती है, क्योंकि लोगों के मन बदलते रहते हैं। और फिर लोगों के मन ही नहीं बदलते रहते, लोगों के कारण भी बदलते रहते हैं।

कोई आकर तुमसे कह गया कि आप बड़े साधु-पुरुष हैं, उसका कुछ कारण है--खुशामद कर गया। साधु-पुरुष तुम्हें मानता कौन है! अपने को छोड़कर इस संसार में कोई किसी को साधु-पुरुष नहीं मानता।

तुम अपनी ही सोचो न! तुम अपने को छोड़कर किसको साधु-पुरुष मानते हो? कभी-कभी कहना पड़ता है। जरूरतें हैं, जिंदगी है, अड़चनें हैं--झूठे को सच्चा कहना पड़ता है; दुर्जन को सज्जन कहना पड़ता है; कुरूप को

सुंदर की तरह प्रशंसा करनी पड़ती है, स्तुति करनी पड़ती है, खुशामद करनी पड़ती है। खुशामद इसीलिए तो इतनी बहुमूल्य है।

खुशामद के चक्कर में लोग क्यों आ जाते हैं? मूढ़ से मूढ़ आदमी से भी कहो कि तुम महाबुद्धिमान हो तो वह भी इनकार नहीं करता, क्योंकि उसको अपना तो कुछ पता नहीं है; तुम जो कहते हो वही सुनता है; तुम जो कहते हो वही हो जाता है।

तो उनके कारण बदल जाते हैं। कोई कहता है, सुंदर हो; कोई कहता है, असुंदर हो; कोई कहता है, भले हो; कोई कहता है, बुरे हो--यह सब इकट्ठा होता चला जाता है। और इन विपरीत मतों के आधार पर तुम अपनी आत्मा का निर्माण कर लेते हो। तुम ऐसी बैलगाड़ी पर सवार हो जिसमें सब तरफ बैल जुते हैं; जो सब दिशाओं में एक साथ जा रही है: तुम्हारे अस्थिपंजर ढीले हुए जा रहे हैं। तुम सिर्फ घसिटते हो, कहीं पहुंचते नहीं--पहुंच सकते नहीं!

पहला सूत्र है आज का: "तू सबका एक द्रष्टा है। और तू सदा सचमुच मुक्त है।"

व्यक्ति दृश्य नहीं है, द्रष्टा है।

दुनिया में तीन तरह के व्यक्ति हैं; वे, जो दृश्य बन गये--वे सबसे ज्यादा अंधेरे में हैं; दूसरे वे, जो दर्शक बन गये--वे पहले से थोड़े ठीक हैं, लेकिन कुछ बहुत ज्यादा अंतर नहीं है; तीसरे वे, जो द्रष्टा बन गए। तीनों को अलग-अलग समझ लेना जरूरी है।

जब तुम दृश्य बन जाते हो तो तुम वस्तु हो गये, तुमने आत्मा खो दी। इसलिए राजनेता में आत्मा को पाना मुश्किल है; अभिनेता में आत्मा को पाना मुश्किल है। वह दृश्य बन गया है। वह दृश्य बनने के लिए ही जीता है। उसकी सारी कोशिश यह है कि मैं लोगों को भला कैसे लगूं, सुंदर कैसे लगूं, श्रेष्ठ कैसे लगूं? श्रेष्ठ होने की चेष्टा नहीं है, श्रेष्ठ लगने की चेष्टा है। कैसे श्रेष्ठ दिखायी पड़ूं!

तो जो दृश्य बन रहा है, वह पाखंडी हो जाता है। वह ऊपर से मुखौटे ओढ़ लेता है, ऊपर से सब आयोजन कर लेता है--भीतर सड़ता जाता है।

फिर दूसरे वे लोग हैं, जो दर्शक बन गए। उनकी बड़ी भीड़ है। स्वभावतः पहले तरह के लोगों के लिए दूसरे तरह के लोगों की जरूरत है; नहीं तो दृश्य बनेंगे लोग कैसे? कोई राजनेता बन जाता है, फिर ताली बजाने वाली भीड़ मिल जाती है। तो दोनों में बड़ा मेल बैठ जाता है। नेता हो तो अनुयायी भी चाहिए। कोई नाच रहा हो तो दर्शक भी चाहिए। कोई गीत गा रहा हो तो सुनने वाले भी चाहिए।

तो कोई दृश्य बनने में लगा है, कुछ दर्शक बनकर रह गये हैं। दर्शकों की बड़ी भीड़ है।

पश्चिम के मनोवैज्ञानिक बड़े चिंतित हैं, क्योंकि लोग बिलकुल ही दर्शक होकर रह गए हैं। फिल्म देख आते हैं, रेडिओ खोल लेते हैं, टेलिविजन के सामने बैठ जाते हैं घंटों! अमरीका में करीब-करीब औसत आदमी छह घंटे रोज टेलिविजन देख रहा है। फुटबाल का मैच हो, देख आते हैं। कुश्ती हो रही हो तो देख आते हैं। क्रिकेट हो तो देख आते हैं। ओलंपिक हो तो देख आते हैं। बस सिर्फ देखने वाले रह गए हैं। खड़े हैं दर्शक की तरह राह के किनारे राहगीर। जीवन का जुलूस निकल रहा है, तुम देख रहे हो।

कुछ हैं जो जीवन के जुलूस में सम्मिलित हो गये हैं; वह जरा कठिन धंधा है; वहां बड़ी प्रतियोगिता है। जुलूस में सम्मिलित होना जरा मुश्किल है। बड़े संघर्ष और बड़े आक्रमण की जरूरत है। लेकिन जुलूस को देखने वालों की भी जरूरत है। वे किनारे खड़े देख रहे हैं। अगर वे न हों तो जुलूस भी विदा हो जाये।

तुम थोड़ा सोचो, अगर अनुयायी न चलें पीछे तो नेताओं का क्या हो! अकेले--"झंडा ऊंचा रहे हमारा"--बड़े बुद्धू मालूम पड़ें! बड़े पागल मालूम पड़ें! राह-किनारे लोग चाहिए, भीड़ चाहिए। तो पागलपन भी ठीक मालूम पड़ता है।

तुम थोड़ा सोचो, कोई देखने न आये और क्रिकेट का मैच होता रहे--मैच के प्राण निकल गए! मैच के प्राण मैच में थोड़े ही हैं: देखने जो लाखों लोग इकट्ठे होते हैं, उनमें हैं।

और आदमी अदभुत है! आदमी तो घुड़दौड़ देखने भी जाते हैं। यह पूरा कोरेगांव पार्क घुड़दौड़ देखने वालों की बस्ती है। यह बड़ी हैरानी की बात है: आदमी को दौड़ाओ कोई घोड़ा देखने नहीं आता! घोड़े दौड़ते हैं, आदमी देखने जाते हैं। यह घोड़ों से भी गयी-बीती स्थिति हो गई।

देखते ही देखते जिंदगी बीत जाती है। दर्शक...!

प्रेम करते नहीं तुम; फिल्म में प्रेम चलता है, वह देखते हो। नाचते नहीं तुम; कोई नाचता है, तुम देखते हो। गीत तुम नहीं गुनगुनाते; कोई गुनगुनाता है, तुम सुनते हो। तुम्हारा जीवन अगर नपुंसक हो जाये, अगर उसमें से सब जीवन ऊर्जा खो जाये तो आश्चर्य क्या? तुम्हारे जीवन में कोई गति नहीं है, कोई ऊर्जा का प्रवाह नहीं है। तुम मुर्दे की भांति बैठे हो। बस तुम्हारा कुल काम इतना है कि देखते रहो; कोई दिखाता रहे, तुम देखते रहो।

ये दो ही की बड़ी संख्या है दुनिया में। दोनों एक-दूसरे से बंधे हैं।

मनोवैज्ञानिक कहते हैं, दुनिया में हर बीमारी के दो पहलू होते हैं। दुनिया में कुछ लोग हैं, जिनको मनोवैज्ञानिक कहते हैं: मैसोचिस्ट; स्व-दुखवादी! वे अपने को सताते हैं। और दुनिया में दूसरा एक वर्ग है, जिसको मनोवैज्ञानिक कहते हैं: सैडिस्ट; पर-दुखवादी। वे दूसरे को सताते हैं। दोनों की जरूरत है। इसलिए दोनों जब मिल जाते हैं तो बड़ा राग-रंग चलता है।

मनोवैज्ञानिक कहते हैं कि अगर पति दूसरों को सताने वाला हो और स्त्री खुद को सताने वाली हो तो इससे बढ़िया जोड़ा और दूसरा नहीं होता। स्त्री अपने को सताने में मजा लेती है; पति दूसरे को सताने में मजा लेता है--राम मिलायी जोड़ी, कोई अंधा कोई कोढ़ी! मिल गये, बिलकुल मिल गये, बिलकुल ठीक बैठ गये!

हर बीमारी के दो पहलू होते हैं। दृश्य और दर्शक एक ही बीमारी के दो पहलू हैं। स्त्रियां आमतौर से दृश्य बनना पसंद करती हैं; पुरुष आमतौर से दर्शक बनना पसंद करते हैं। मनोवैज्ञानिकों की भाषा में स्त्रियों को वे कहते हैं: एग्जीबीशनिस्ट; नुमाइशी। उनका सारा रस नुमाइश बनने में है।

मुल्ला नसरुद्दीन मक्खियां मार रहा था। बहुत मक्खियां हो गयी थीं तो पत्नी ने कहा, इनको हटाओ। आईने के पास मक्खियां मार रहा था; बोला कि एक जोड़ा, दो मादाएं बैठी हैं। पत्नी ने कहा, हद हो गई! तुमने पता कैसे चलाया कि नर हैं कि मादा हैं?

उसने कहा, घंटे भर से आईने पर बैठी हैं--मादाएं होनी चाहिए। नर को आईने के पास क्या करना?

स्त्रियां आईने से छूट ही नहीं पातीं। आईना मिल जाये तो चुंबक की तरह खींच लेता है। सारी जिंदगी आईने के सामने बीत रही है--कपड़ों में, वस्त्रों में, सजावट में, शृंगार में! और बड़ी हैरानी की बात है, इतनी सज-धजकर निकलती हैं, फिर कोई धक्का दे तो नाराज होती हैं! कोई धक्का न दे तो भी दुखी होंगी, क्योंकि धक्का देने के लिए इतना सज-धजने का इंतजाम था; नहीं तो प्रयोजन क्या था? पति के सामने स्त्रियां नहीं सजतीं। पति के सामने तो वे भैरवी बनी बैठी हैं। क्योंकि वहां धक्का- मुक्का समाप्त हो चुका है। लेकिन घर के बाहर जाएं, तब बड़ी तैयारी करती हैं। वहां दर्शक मिलेंगे। वहां दृश्य बनना है।

मनुष्य को, पुरुष को मनोवैज्ञानिक कहते हैं: वोयूर। उसकी सारी नजर देखने में है। उसका सारा रस देखने में है।

स्त्रियों को देखने में रस नहीं है, दिखाने में रस है। इसलिए तो स्त्री-पुरुषों का जोड़ा बैठ जाता है। बीमारी के दो पहलू बिलकुल एक साथ बैठ जाते हैं। और ये दोनों ही अवस्थाएं रुग्ण हैं।

अष्टावक्र कहते हैं: मनुष्य का स्वभाव द्रष्टा का है। न तो दृश्य बनना है और न दर्शक।

अब कभी तुम यह भूल मत कर लेना...। कई बार मैंने देखा है, कुछ लोग यह भूल कर लेते हैं, वे समझते हैं दर्शक हो गए तो द्रष्टा हो गये। इन दोनों शब्दों में बड़ा बुनियादी फर्क है। भाषा-कोश में शायद फर्क न हो--वहां दर्शक और द्रष्टा का एक ही अर्थ होगा; लेकिन जीवन के कोश में बड़ा फर्क है।

दर्शक का अर्थ है: दृष्टि दूसरे पर है। और द्रष्टा का अर्थ है: दृष्टि अपने पर है। दृष्टि देखने वाले पर है, तो द्रष्टा। और दृष्टि दृश्य पर है, तो दर्शक। बड़ा क्रांतिकारी भेद है, बड़ा बुनियादी भेद है! जब तुम्हारी नजर दृश्य पर अटक जाती है और तुम अपने को भूल जाते हो तो दर्शक। जब तुम्हारी दृष्टि से सब दृश्य विदा हो जाते हैं; तुम ही तुम रह जाते हो; जागरण-मात्र रह जाता है; होश-मात्र रह जाता है--तो द्रष्टा।

तो दर्शक तो तुम तब हो जब तुम बिलकुल विस्मृत हो गए; तुम अपने को भूल ही गए; नजर लग गयी वहां। सिनेमा-हाल में बैठे हो: तीन घंटे के लिए अपने को भूल जाते हो, याद ही नहीं रहती कि तुम कौन हो। दुख-सुख, चिंताएं सब भूल जाती हैं। इसीलिए तो भीड़ वहां पहुंचती है। जिंदगी में बड़ा दुख है, चिंता है, परेशानी है--कहीं चाहिए भूलने का उपाय! लोग बिलकुल एकाग्र चित्त हो जाते हैं। बस ध्यान उनका लगता ही फिल्म में है। वहां देखते हैं...पर्दे पर कुछ भी नहीं है, छायाएं डोल रही हैं; मगर लोग बिलकुल एकाग्र चित्त हैं। बीमारी भूल जाती, चिंता भूल जाती, बुढ़ापा भूल जाता, मौत भी आती हो तो भूल जाती है--लेकिन द्रष्टा नहीं हो गए हो तुम फिल्म में बैठकर; दर्शक हो गए; भूल ही गए अपने को; स्मरण ही न रहा कि मैं कौन हूं। यह जो देखने की ऊर्जा है भीतर, इसकी तो स्मृति ही खो गयी; बस सामने दृश्य है, उसी पर अटक गए, उसी में सब भांति डूब गए।

दर्शक होना एक तरह का आत्म-विस्मरण है। और द्रष्टा होने का अर्थ है: सब दृश्य विदा हो गए, पर्दा खाली हो गया; अब कोई फिल्म नहीं चलती वहां; न कोई विचार रहे, न कोई शब्द रहे; पर्दा बिलकुल शून्य हो गया--कोरा और शुभ्र, सफेद! देखने को कुछ भी न बचा; सिर्फ देखने वाला बचा। और अब देखने वाले में डुबकी लगी, तो द्रष्टा!

दृश्य और दर्शक, मनुष्यता इनमें बंटी है। कभी-कभी कोई द्रष्टा होता है--कोई अष्टावक्र, कोई कृष्ण, कोई महावीर, कोई बुद्ध। कभी-कभी कोई जागता और द्रष्टा होता है।

"तू सबका एक द्रष्टा है।"

और इस सूत्र की खूबियां ये हैं कि जैसे ही तुम द्रष्टा हुए, तुम्हें पता चलता है: द्रष्टा तो एक ही है संसार में, बहुत नहीं हैं। दृश्य बहुत हैं, दर्शक बहुत हैं। अनेकता का अस्तित्व ही दृश्य और दर्शक के बीच है। वह झूठ का जाल है। द्रष्टा तो एक ही है।

ऐसा समझो कि चांद निकला, पूर्णिमा का चांद निकला। नदी-पोखर में, तालाब-सरोवर में, सागर में, सरिताओं में, सब जगह प्रतिबिंब बने। अगर तुम पृथ्वी पर घूमो और सारे प्रतिबिंबों का अंकन करो तो करोड़ों, अरबों, खरबों प्रतिबिंब मिलेंगे--लेकिन चांद एक है; प्रतिबिंब अनेक हैं। द्रष्टा एक है; दृश्य अनेक हैं, दर्शक अनेक हैं। वे सिर्फ प्रतिबिंब हैं, वे छायाएं हैं।

तो जैसे ही कोई व्यक्ति दृश्य और दर्शक से मुक्त होता है--न तो दिखाने की इच्छा रही कि कोई देखे, न देखने की इच्छा रही; देखने और दिखाने का जाल छूटा; वह रस न रहा--तो वैराग्य। अब कोई इच्छा नहीं होती कि कोई देखे और कहे कि सुंदर हो, सज्जन हो, संत हो, साधु हो। अगर इतनी भी इच्छा भीतर रह गयी कि लोग तुम्हें साधु समझें तो अभी तुम पुराने जाल में पड़े हो। अगर इतनी भी आकांक्षा रह गयी मन में कि लोग तुम्हें संत पुरुष समझें तो तुम अभी पुराने जाल में पड़े हो; अभी संसार नहीं छूटा। संसार ने नया रूप लिया, नया ढंग पकड़ा; लेकिन यात्रा पुरानी ही जारी है; सातत्य पुराना ही जारी है।

क्या करोगे देखकर? खूब देखा, क्या पाया? क्या करोगे दिखाकर? कौन है यहां, जिसको दिखाकर कुछ मिलेगा?

इन दोनों से पार हट कर, द्वंद्व से हट कर जो द्रष्टा में डूबता है, तो पाता है कि एक ही है। यह पूर्णिमा का चांद तो एक ही है। यह सरोवरों, पोखरों, तालाबों, सागरों में अलग-अलग दिखायी पड़ता था; अलग-अलग दर्पण थे, इसलिए दिखायी पड़ता था।

मैंने सुना है, एक राजमहल था। सम्राट ने महल बनाया था सिर्फ दर्पणों से। दर्पण ही दर्पण थे अंदर। कांच-महल था। एक कुत्ता, सम्राट का खुद का कुत्ता, रात बंद हो गया, भूल से अंदर रह गया। उस कुत्ते की अवस्था तुम समझ सकते हो क्या हुई होगी। वही आदमी की अवस्था है। उसने चारों तरफ देखा, कुत्ते ही कुत्ते थे! हर दर्पण में कुत्ता था। वह घबड़ा गया। वह भौंका।

जब आदमी भयभीत होता है तो दूसरे को भयभीत करना चाहता है। शायद दूसरा भयभीत हो जाये तो अपना भय कम हो जाये।

वह भौंका, लेकिन स्वभावतः वहां तो दर्पण ही थे; दर्पण-दर्पण से कुत्ते भौंके। आवाज उसी पर लौट आयी; अपनी ही प्रतिध्वनि थी। वह रात भर भौंकता रहा और भागता और दर्पणों से जूझता, लहूलुहान हो गया। वहां कोई भी न था, अकेला था। सुबह मरा हुआ पाया गया। सारे भवन में खून के चिह्न थे। उसकी कथा आदमी की कथा है।

यहां दूसरा नहीं है। यहां अन्य है ही नहीं। जो है, अनन्य है। यहां एक है। लेकिन उस एक को जब तक तुम भीतर से न पकड़ लोगे, खयाल में न आयेगा।

"तू सबका एक द्रष्टा है, और सदा सचमुच मुक्त है।"

अष्टावक्र कहते हैं: सचमुच मुक्त है। इसे कल्पना मत समझना।

आदमी बहुत अदभुत है! आदमी सोचता है कि संसार तो सत्य है और ये सत्य की बातें सब कल्पना हैं। दुख तो सत्य मानता है; सुख की कोई किरण उतरे तो मानता है कोई सपना है, कोई धोखा है।

मेरे पास लोग आते हैं। वे कहते हैं, बड़ा आनंद मालूम हो रहा है; शक होता है यह कहीं भ्रम तो नहीं! दुख में इतने जन्मों-जन्मों तक रहे हैं कि भरोसा ही खो गया कि आनंद हो भी सकता है। आनंद असंभव मालूम होने लगा है। रोने का अभ्यास ऐसा हो गया है, दुख का ऐसा अभ्यास हो गया है, कांटों से ऐसी पहचान हो गयी है कि फूल अगर दिखायी भी पड़े तो भरोसा नहीं आता; लगता है सपना है, आकाश-कुसुम है; होगा नहीं, हो नहीं सकता!

इसलिए अष्टावक्र कहते हैं, सचमुच मुक्त है! व्यक्ति बंधा नहीं है। बंधन असंभव है; क्योंकि केवल परमात्मा है, केवल एक है। न तो बांधने को कुछ है, न बंधने को कुछ है।

"तू सदा सचमुच मुक्त है!"

इसलिए अष्टावक्र जैसे व्यक्ति कहते हैं कि इसी क्षण चाहे तो मुक्त हो सकता है--क्योंकि मुक्त है ही। मुक्ति में कोई बाधा नहीं है। बंधन कभी पड़ा नहीं; बंधन केवल माना हुआ है।

"तेरा बंधन तो यही है कि तू अपने को छोड़, दूसरे को द्रष्टा देखता है।"

एको द्रष्टाऽसि सर्वस्य मुक्तप्रायोऽसि सर्वदा।
अयमेव हि ते बंधो द्रष्टारं पश्यसीतरम्।।

एक ही बंधन है कि तू अपने को छोड़ दूसरे को द्रष्टा देखता है। और एक ही मुक्ति है कि तू अपने को द्रष्टा जान ले। तो इस प्रयोग को थोड़ा करना शुरू करें।

देखते हैं...। वृक्ष के पास बैठे हैं, वृक्ष दिखायी पड़ रहा है, तो धीरे-धीरे वृक्ष को देखते-देखते, उसको देखना शुरू करें जो वृक्ष को देख रहा है। जरा से हेर-फेर की बात है। साधारणतः चेतना का तीर वृक्ष की तरफ जा रहा है। इस तीर को दोनों तरफ जाने दें। इसका फल दोनों तरफ कर लें--वृक्ष को भी देखें और साथ ही चेष्टा

करें उसको भी देखने की, जो देख रहा है। देखने वाले को न भूलें। देखने वाले को पकड़-पकड़ लें। बार-बार भूलेगा--पुरानी आदत है; जन्मों की आदत है। भूलेगा, लेकिन बार-बार देखने वाले को पकड़ लें। जैसे-जैसे देखने वाला पकड़ में आने लगेगा, कभी-कभी क्षण भर को ही आयेगा; लेकिन क्षण भर को ही पायेंगे कि एक अपूर्व शांति का उदय हुआ! एक आशीष बरसा!! एक सौभाग्य की किरण उतरी!!! एक क्षण को भी अगर ऐसा होगा तो एक क्षण को भी मुक्ति का आनंद मिलेगा। और वह आनंद तुम्हारे जीवन के स्वाद को और जीवन की धारा को बदल देगा। शब्द नहीं बदलेंगे तुम्हारे जीवन की धारा को, शास्त्र नहीं बदलेंगे--अनुभव बदलेगा, स्वाद बदलेगा!

यहां मुझे सुन रहे हैं--दो तरह से सुना जा सकता है। सुनते वक्त मैं जो बोल रहा हूं, अगर उस पर ही ध्यान रहे और तुम अपने को भूल जाओ तो फिर तुम द्रष्टा न रहे, श्रोता न रहे, श्रावक न रहे। तुम्हारा ध्यान मुझ पर अटक गया, तो तुम दर्शक हो गए। आंख से ही दर्शक नहीं हुआ जाता, कान से भी दर्शक हुआ जाता है। जब भी ध्यान आब्जेक्ट पर, विषय पर अटक जाये तो तुम दर्शक हो गये।

सुनते वक्त, सुनो मुझे; साथ में उसको भी देखते रहो, पकड़ते रहो, टटोलते रहो--जो सुन रहा है। निश्चित ही तुम सुन रहे हो, मैं बोल रहा हूं: बोलने वाले पर ही नजर न रहे, सुनने वाले को भी पकड़ते रहो, बीच-बीच में उसका खयाल लेते रहो। धीरे-धीरे तुम पाओगे कि जिस घड़ी में तुमने सुनने वाले को पकड़ा, उसी घड़ी में तुमने मुझे सुना; शेष सब व्यर्थ गया। जब तुम सुनने वाले को पकड़ कर सुनोगे तब जो मैं कह रहा हूं वही तुम्हें सुनायी पड़ेगा। और अगर तुमने सुनने वाले को नहीं पकड़ा है तो तुम न मालूम क्या-क्या सुन लोगे, जो न तो मैंने कहा, न अष्टावक्र ने कहा। तब तुम्हारा मन बहुत से जाल बुन लेगा।

तुम बेहोश हो! बेहोशी में तुम कैसे होश की बातें समझ सकते हो? ये बातें होश की हैं। ये बातें किसी और दुनिया की हैं। तुमने अगर नींद में सुना तो तुम इन बातों के आसपास अपने सपने गूंथ लोगे। तुम इन बातों का रंग खराब कर दोगे। तुम इनको पोत लोगे। तुम अपने ढंग से इनका अर्थ निकाल लोगे। तुम इनकी व्याख्या कर लोगे, तुम्हारी व्याख्या में ही ये अदभुत वचन मुर्दा हो जाएंगे। तुम्हारे हाथ लाश लगेगी अष्टावक्र की; जीवित अष्टावक्र से तुम चूक जाओगे। क्योंकि जीवित अष्टावक्र को पकड़ने के लिए तो तुम्हें अपने द्रष्टा को पकड़ना होगा--वहां है जीवित अष्टावक्र।

इसे खयाल में लो।

सुनते हो मुझे, सुनते-सुनते उसको भी सुनने लगो जो सुन रहा है। तीर दोहरा हो जाये: मेरी तरफ और तुम्हारी तरफ भी हो। अगर मैं भूल जाऊं तो कोई हर्जा नहीं, लेकिन तुम नहीं भूलने चाहिए। और एक ऐसी घड़ी आती है, जब न तो तुम रह जाते हो, न मैं रह जाता हूं। एक ऐसी परम शांति की घड़ी आती है, जब दो नहीं रह जाते, एक ही बचता है; तुम ही बोल रहे हो, तुम ही सुन रहे हो; तुम ही देख रहे हो, तुम ही दिखायी पड़ रहे हो। उस घड़ी के लिए ही इशारा अष्टावक्र कर रहे हैं कि वह एक है द्रष्टा, और सदा सचमुच मुक्त है!

बंधन स्वप्न जैसा है।

आज रात तुम पूना में सोओगे, लेकिन नींद में तुम कलकत्ते में हो सकते हो, दिल्ली में हो सकते हो, काठमांडू में हो सकते हो, कहीं भी हो सकते हो। सुबह जागकर फिर तुम अपने को पूना में पाओगे। सपने में अगर काठमांडू चले गये, तो लौटने के लिए कोई हवाई जहाज से यात्रा नहीं करनी पड़ेगी, न ट्रेरन पकड़नी पड़ेगी, न पैदल यात्रा करनी पड़ेगी। यात्रा करनी ही नहीं पड़ेगी। सुबह आंख खुलेगी और तुम पाओगे कि पूना में हो। सुबह तुम पाओगे, तुम कहीं गये ही नहीं। सपने में गये थे। सपने में जाना कोई जाना है?

"बंधन तो एक ही है तेरा कि तू अपने को छोड़, दूसरे को द्रष्टा देखता है।"

एक ही बंधन है कि हमें अपना होश नहीं, अपने द्रष्टा का होश नहीं।

एक तो यह अर्थ है इस सूत्र का। एक और भी अर्थ है, वह भी खयाल में ले लेना चाहिए।

साधारणतः अष्टावक्र के ऊपर जिन्होंने भी कुछ लिखा है, उन्होंने दूसरा ही अर्थ किया है। इसलिए वह दूसरा अर्थ भी समझ लेना जरूरी है। वह दूसरा अर्थ भी ठीक है। दोनों अर्थ साथ-साथ ठीक हैं।

"तेरा बंधन तो यही है कि तू अपने को छोड़, दूसरे को द्रष्टा देखता है।"

तुम मुझे सुन रहे हो, तुम सोचते हो: कान सुन रहा है। तुम मुझे देख रहे हो, तुम सोचते हो: आंख देख रही है। आंख क्या देखेगी? आंख को द्रष्टा समझ रहे हो तो भूल हो गयी। देखने वाला तो आंख के पीछे है। सुनने वाला तो कान के पीछे है। तुम मेरे हाथ को छुओ, तो तुम सोचोगे: तुम्हारे हाथ ने मेरे हाथ को छुआ। गलती हो रही है। छूने वाला तो हाथ के भीतर छिपा है, हाथ क्या छुएगा? कल मर जाओगे, लाश पड़ी रह जायेगी; लोग हाथ पकड़े बैठे रहेंगे, कुछ भी न छुएगा। लाश पड़ी रह जायेगी, आंख खुली पड़ी रहेगी, सब दिखायी पड़ेगा और कुछ भी दिखायी न पड़ेगा। लाश पड़ी रह जायेगी, संगीत होगा, बैंड-बाजे बजेंगे, कान पर चोट भी लगेगी, झंकार भी आयेगी; लेकिन कुछ भी सुनायी न पड़ेगा। जिसे सुनायी पड़ता था, जिसे दिखायी पड़ता था, जिसे स्पर्श होता था, स्वाद होता था--वह जा चुका।

इंद्रियां नहीं अनुभव लातीं; इंद्रियों के पीछे छिपा हुआ कोई...।

तो दूसरा अर्थ इस सूत्र का है कि तुम अपने को ही द्रष्टा जानना, शरीर को मत जान लेना; आंख को, कान को, इंद्रियों को मत जान लेना। भीतर की चेतना को ही द्रष्टा जानना।

"मैं कर्ता हूं", ऐसे अहंकार-रूपी अत्यंत काले सर्प से दंशित हुआ तू, "मैं कर्ता नहीं हूं", ऐसे विश्वास-रूपी अमृत को पीकर सुखी हो।"

"अहं कर्ता इति--मैं कर्ता हूं, ऐसे अहंकार-रूपी अत्यंत काले सर्प से दंशित हुआ तू...।"

हमारी मान्यता ही सब कुछ है। हम मान्यता के सपने में पड़े हैं। हम अपने को जो मान लेते हैं, वही हो जाते हैं। यह बड़ी विचार की बात है। यह पूरब के अनुभव का सार-निचोड़ है। हमने जो मान लिया है अपने को, वही हम हो जाते हैं।

तुमने अगर कभी किसी सम्मोहनविद को, हिप्नोटिस्ट को प्रयोग करते देखा हो, तो तुम चौंके होओगे। अगर वह किसी व्यक्ति को सम्मोहित करके कह देता है, पुरुष को, कि तुम स्त्री हो और फिर कहता है, उठो चलो, तो वह आदमी स्त्री की तरह चलने लगता है। बहुत कठिन है स्त्री की तरह चलना। उसके लिए खास तरह का शरीर का ढांचा चाहिए। स्त्री की तरह चलने के लिए गर्भ की खाली जगह चाहिए पेट में, अन्यथा कोई स्त्री की तरह चल नहीं सकता। या बहुत अभ्यास करे तो चल सकता है। लेकिन कोई सम्मोहनविद किसी को सुला देता है बेहोशी में और कहता है, "उठो, तुम स्त्री हो, पुरुष नहीं, चलो!" वह स्त्री की तरह चलने लगता है।

वह उसे प्याज पकड़ा देता है और कहता है, "यह सेब है, नाश्ता कर लो", वह प्याज का नाश्ता कर लेता है। और उससे पूछो कैसा स्वाद, वह कहता है बड़ा स्वादिष्ट! उसे पता भी नहीं चलता कि यह प्याज है। उसे बास भी नहीं आती।

सम्मोहनविदों ने अनुभव किया है और अब तो यह वैज्ञानिक तथ्य है, इस पर बहुत प्रयोग हुए हैं: सम्मोहन में मूर्च्छित व्यक्ति के हाथ में उठाकर एक साधारण कंकड़ रख दो और कह दो अंगारा रख दिया है, वह झटककर फेंक देता है, चीख मारता है कि जल गया! इतने तक भी बात होती तो ठीक था, लेकिन हाथ पर फफोला आ जाता है!

तुमने खबर सुनी होगी लोगों की कि जो आग पर चल लेते हैं! वह भी सम्मोहन की गहरी अवस्था है। अगर तुमने ऐसा मान लिया कि नहीं जलूंगा तो आग भी नहीं जलाती। मानने की बात है। अगर जरा भी संदेह रहा तो मुश्किल हो जायेगी, तो जल जाओगे।

ऐसा बहुत बार हुआ है कि कुछ लोग सिर्फ हिम्मत करके चले गये, कि जब इतने लोग चल रहे हैं तो हम भी चल लेंगे; लेकिन भीतर संदेह का कीड़ा था, वे जल गये।

आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी में इस पर प्रयोग किया गया। लंका से कुछ बौद्ध भिक्षु बुलाये गये थे--चलने के लिए। वे बुद्ध-पूर्णिमा को हर वर्ष बुद्ध की स्मृति में आग पर चलते हैं। वह बात बिलकुल ठीक है। बुद्ध की स्मृति में आग पर चलना चाहिए, क्योंकि बुद्ध की कुल स्मृति इतनी है कि तुम देह नहीं हो। तो जब हम देह ही नहीं हैं तो आग हमें कैसे जलायेगी?

कृष्ण ने गीता में कहा है: न आग तुझे जला सकती है, न शस्त्र तुझे छेद सकते हैं। नैनं छिन्दंति शस्त्राणि, नैनं दहति पावकः। नहीं आग तुझे जलाएगी, नहीं शस्त्र तुझे छेद सकते हैं।

तो बुद्ध-पूर्णिमा के दिन श्रीलंका में बौद्ध भिक्षु आग पर चलते हैं। उन्हें निमंत्रित किया गया। वे आक्सफोर्ड में भी चले। जब वे आक्सफोर्ड में चल रहे थे तो एक भिक्षु जल गया। कोई बीस भिक्षु चले, एक भिक्षु जल गया। खोज-बीन की गयी कि बात क्या हुई! वह भिक्षु सिर्फ इंग्लैंड देखने आया था। उसे कोई भरोसा नहीं था कि वह चल पायेगा। उसकी मर्जी कुछ और थी। वह तो सिर्फ यात्रा करने आया था। उसकी तो आकांक्षा इतनी ही थी कि इंग्लैंड देख लेंगे। और उसने सोचा कि ये जब उन्नीस लोग नहीं जलते तो मैं क्यों जलूंगा! मगर भीतर संदेह का कीड़ा था, वह जल गया।

और वहीं उसी रात दूसरी घटना घटी कि एक प्रोफेसर, आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी का प्रोफेसर जिसने कभी यह घटना न देखी थी न सुनी थी, वह सिर्फ बैठकर देख रहा था; उसे देखकर इतना भरोसा आ गया कि वह उठा और चलने लगा और चल गया। न तो वह बौद्ध था, न धार्मिक था। उसे तो कुछ पता ही नहीं था। उसे तो सिर्फ इतने लोगों का चलना देखकर यह लगा, यह भाव इतनी गहनता से उठा, यह श्रद्धा इतनी सघन हो गयी कि वह उठा एक गहन आनंद-भाव में और नाचने लगा आग पर! भिक्षु भी चौंके, क्योंकि भिक्षुओं को तो यह खयाल था कि बुद्ध भगवान उन्हें बचा रहे हैं। यह आदमी तो कोई बौद्ध नहीं है, यह तो अंग्रेज था और धार्मिक भी नहीं था। चर्च भी नहीं जाता था, तो क्राइस्ट भी इसकी फिक्र नहीं करेंगे। बुद्ध से तो कुछ लेना-देना है नहीं। इसका तो कोई भी मालिक नहीं था। सिर्फ श्रद्धा!

हम जो मानते हैं गहन श्रद्धा में, वही हो जाता है।

"मैं कर्ता हूं, ऐसे अहंकार-रूपी अत्यंत काले सर्प से दंशित हुआ तू, मैं कर्ता नहीं हूं, ऐसे विश्वास-रूपी अमृत को पी कर सुखी हो।"

यह वचन खयाल रखना, बार-बार अष्टावक्र कहते हैं: सुखी हो। वह कहते हैं, इसी क्षण घट सकती है बात।

अहं कर्ता इति--मैं कर्ता हूं, ऐसी हमारी धारणा है। उस धारणा के अनुसार हमारा अहंकार निर्मित होता है। कर्ता यानी अस्मिता। मैं कर्ता हूं, उसी से हमारा अहंकार निर्मित होता है। इसलिए जितना बड़ा कर्ता हो उतना बड़ा अहंकार होता है। तुमने अगर कुछ खास नहीं किया तो तुम क्या अहंकार रखोगे? तुमने एक बड़ा मकान बनाया, उतना ही बड़ा तुम्हारा अहंकार हो जाता है। तुमने एक बड़ा साम्राज्य रचाया, तो उतनी ही सीमा तुम्हारे अहंकार की हो जाती है।

इसीलिए तो दुनिया को जीतने के लिए पागल लोग निकलते हैं। दुनिया को जीतने थोड़े ही निकलते हैं! दुनिया किसने कब जीती? लोग आते हैं, चले जाते हैं--दुनिया को कौन जीत पाता है! लेकिन दुनिया को जीतने निकलते हैं--घोषणा करने कि मेरा अहंकार इतना विराट है कि सारी दुनिया को छोटा कर दूंगा, घेर लूंगा, सीमा बना दूंगा; मैं ही परिभाषा बनूंगा सारे जगत की! सिकंदर और नेपोलियन और तैमूर और नादिर और सारे पागल दुनिया को घेरने चलते हैं। यह दुनिया को घेरने के लिए जो आकांक्षा है, यह अहंकार की आकांक्षा है।

किसी को तुमने देखा? मंत्री हो गया या मुख्यमंत्री हो गया, तब उसकी चाल देखी! फिर पद पर नहीं रहा, तब उसको देखा! ऐसी खराब हालत हो जाती है पद से उतरकर! आदमी वही है, बल खो जाता है। वह जो अहंकार का विष था, जो गति दे रहा था, नशा दे रहा था, वह चाल में जो मस्ती आ गयी थी, सिर ऊंचा उठ गया था, रीढ़ सीधी हो गयी थी--वह सब खो जाता है। क्या हो गया? एक क्षण पहले इतना बल मालूम होता था, एक क्षण बाद ऐसा निर्बल हो गया!

राजनीतिज्ञ पदों से उतरकर ज्यादा दिन जिंदा नहीं रहते। राजनीतिज्ञ जब तक जीतते हैं तब तक बलशाली रहते हैं; जैसे ही हारने लगते हैं, वैसे ही बल खो जाता है।

मनोवैज्ञानिक कहते हैं कि लोग रिटायर होकर जल्दी मर जाते हैं। दस साल का फर्क पड़ता है, थोड़ा-बहुत फर्क नहीं। जो आदमी अस्सी साल जीता है, वह जब साठ साल में रिटायर हो जाता है तो सत्तर में मर जाता है। वह आदमी अस्सी साल जी सकता था, कोई और कारण न था मरने का; लेकिन मरने का एक कारण मिल गया कि जब तुम कलेक्टर थे, कमिश्नर थे, पुलिस-इंस्पेक्टर थे, या कांस्टेबल ही सही, स्कूल के मास्टर ही सही...। स्कूल के मास्टर की भी अकड़ होती है। उसकी भी एक दुनिया होती है। तीस-चालीस लड़कों पर तो रोब बांधे ही रखता है। उनको तो दबाये ही रखता है। वहां तो सम्राट ही होता है।

कहते हैं, जब औरंगजेब ने अपने बाप को कारागृह में बंद कर दिया, तो उसके बाप ने कहा कि मुझे यहां मन नहीं लगता। तू एक काम कर, तीस-चालीस छोटे-छोटे लड़के भेज दे, तो मैं एक मदरसा खोल दूं।

कहते हैं कि औरगंजेब ने कहा कि बाप जेल में तो पड़ गया है, लेकिन पुरानी सम्राट होने की अकड़ नहीं जाती। तो तीस-चालीस लड़कों पर ही अब मालकियत करेगा। उसने इंतजाम कर दिया।

छोटा-छोटा स्कूल का मास्टर भी तीस-चालीस लड़कों की दुनिया में तो राजा है। बड़े से बड़े राजा को भी इतना बल कहां होता है! कहो उठो, तो उठते हैं लोग; कहो बैठो तो बैठते हैं लोग। सब उसके हाथ में है। स्कूल का मास्टर ही सही, कलेक्टर हो, डिप्टी कलेक्टर हो, मिनिस्टर हो, कोई भी हो, जैसे ही रिटायर होता है वैसे ही बल खो जाता है; अब कोई रास्ते पर नमस्कार नहीं करता। अब कहीं भी कोई उसकी सार्थकता नहीं मालूम होती; वह फिजूल मालूम पड़ता है, जैसे कूड़े के ढेर पर फेंक दिया गया, या कबाड़खाने में डाल दिया गया। अब उसकी कहीं कोई जरूरत नहीं; जहां भी जाता है, लोग उसको सहते हैं; मगर उनके भाव से पता चलता है कि "अब जाओ भी क्षमा करो, अब यहां किसलिए चले आए? अब दूसरे काम करने दो!" वे ही लोग जो उसकी खुशामद करते थे, रास्ते से कन्नी काट जाते हैं। वे ही लोग जो उसके पैर दाबते थे, अब दिखायी नहीं पड़ते। अचानक उसके अहंकार का गुब्बारा सिकुड़ जाता है; जैसे गुब्बारा फूट गया, हवा निकलने लगी, पंचर हो गया! सिकुड़ने लगता है। जीने में कोई अर्थ नहीं मालूम होता। मरने की आकांक्षा पैदा होने लगती है। वह सोचने लगता है, अब मर ही जाऊं, क्योंकि अब क्या सार है!

रिटायर होकर लोग जल्दी मर जाते हैं। क्योंकि उनके जीवन का सारा बल तो उनके साम्राज्यों में था। कोई हेड क्लर्क था तो दस-पांच क्लर्कों को ही सता रहा था। इससे कोई फर्क नहीं पड़ता कि तुम कौन हो--तुम चपरासी सही, मगर चपरासी की भी अकड़ होती है! जब जाओ दफ्तर में अंदर तो चपरासी को देखो, स्टूल पर ही बैठा है बाहर, लेकिन उसकी अकड़ देखो! वह कहता है, ठहरो!

मुल्ला नसरुद्दीन कांस्टेबल का काम करता था। एक महिला को तेजी से कार चलाते हुए पकड़ लिया। जल्दी से निकाली नोट-बुक, लिखने लगा। महिला ने कहा, "सुनो! बेकार लिखा-पढ़ी मत करो। मेयर मुझे जानते हैं।" मगर वह लिखता ही रहा। महिला ने कहा कि "सुनते हो कि नहीं, चीफ मिनिस्टर भी मुझे जानते हैं!" मगर वह लिखता ही रहा। आखिर महिला ने आखिरी दांव मारा, उसने कहा, "सुनते हो कि नहीं? इंदिरा गांधी भी मुझे जानती हैं!"

मुल्ला ने कहा, "बकवास बंद करो! मुल्ला नसरुद्दीन तुम्हें जानता है?"

उस महिला ने कहा, "कौन मुल्ला नसरुद्दीन? मतलब?"

उसने कहा, "मेरा नाम मुल्ला नसरुद्दीन है। अगर मैं जानता हूं तो कुछ हो सकता है, बाकी कोई भी जानता रहे, भगवान भी तुम्हें जानता हो, यह रिपोर्ट लिखी जायेगी, यह मुकदमा चलेगा।"

हर आदमी की अपनी अकड़ है! कांस्टेबल की भी अपनी अकड़ है; उसकी भी अपनी दुनिया है, अपना राज्य है; उसके भीतर फंसे कि वह सतायेगा।

अहंकार जीता है उस सीमा पर, जो तुम कर सकते हो। इसलिए तुम देखना, अहंकारी आदमी "हां" कहने में बड़ी मजबूरी अनुभव करता है।

तुम अपने में ही निरीक्षण करना। यह मैं कोई दूसरों को जांचने के लिए तुम्हें मापदंड नहीं दे रहा हूं, तुम अपना ही आत्मविश्लेषण करना। "नहीं" कहने में मजा आता है, क्योंकि "नहीं" कहने में बल मालूम पड़ता है। बेटा पूछता है मां से कि जरा बाहर खेल आऊं, वह कहती है कि नहीं! नहीं! अभी बाहर खेलने में कोई हर्जा भी नहीं है। बाहर नहीं खेलेगा बेटा तो कहां खेलेगा। और मां भी जानती है कि जायेगा ही वह; थोड़ा शोरगुल मचायेगा, वह भी अपना बल दिखलायेगा। बलों की टक्कर होगी। थोड़ी राजनीति चलेगी। वह चीख-पुकार मचायेगा, बर्तन पटकेगा, तब वह कहेगी, "अच्छा जा, बाहर खेल!" लेकिन वह जब कहेगी, "जा, बाहर खेल", तब ठीक है; तब उसकी आज्ञा से जा रहा है!

मुल्ला नसरुद्दीन का बेटा बहुत ऊधम कर रहा था। वह उससे बार-बार कर रहा था, "शांत होकर बैठ! देख मेरी आज्ञा मान, शांत होकर बैठ!" मगर वह सुन नहीं रहा था। कौन बेटा सुनता है! आखिर भन्ना कर मुल्ला नसरुद्दीन ने कहा, "अच्छा अब कर जितना ऊधम करना है। अब देखूं, कैसे मेरी आज्ञा का उल्लंघन करता है! अब मेरी आज्ञा है, कर जितना ऊधम करना है। अब देखें कैसे मेरी आज्ञा का उल्लंघन करता है।"

"नहीं" जल्दी आती है; जबान पर रखी है।

तुम जरा गौर करना। सौ में नब्बे मौकों पर जहां "नहीं" कहने की कोई भी जरूरत न थी, वहां भी तुम "नहीं" कहते हो। "नहीं" कहने का मौका तुम चूकते नहीं। "नहीं" कहने का मौका मिले तो झपटकर लेते हो। "हां" कहने में बड़ी मजबूरी लगती है। "हां" कहने में बड़ी दयनीयता मालूम होती है। "हां" कहने का मतलब होता है: तुम्हारा कोई बल नहीं।

इसलिए जो बहुत अहंकारी हैं वे नास्तिक हो जाते हैं। नास्तिक का मतलब, उन्होंने आखिरी "नहीं" कह दी। उन्होंने कह दिया, ईश्वर भी नहीं; और की तो बात छोड़ो।

नास्तिक का अर्थ है कि उसने आखिरी, अल्टीमेट, परम इनकार कर दिया। आस्तिक का अर्थ है: उसने परम स्वीकार कर लिया, उसने "हां" कह दिया, ईश्वर है। ईश्वर को "हां" कहने का मतलब है: मैं न रहा। ईश्वर को "ना" कहने का मतलब है, बस मैं ही रहा: अब मेरे ऊपर कोई भी नहीं; मेरे पार कोई भी नहीं; मेरी सीमा बांधने वाला कोई भी नहीं।

हमारा कर्तव्य हमारे अहंकार को भरता है। इसलिए अष्टावक्र के इस सूत्र को खयाल करना: "मैं कर्ता हूं--अहं कर्ता इति--ऐसे अहंकार-रूपी अत्यंत काले सर्प से दंशित हुआ तू व्यर्थ ही पीड़ित और परेशान हो रहा है।"

यह पीड़ा कोई बाहर से नहीं आती। यह दुख जो हम झेलते हैं, अपना निर्मित किया हुआ है। जितना बड़ा अहंकार उतनी पीड़ा होगी। अहंकार घाव है। जरा-सी हवा का झोंका भी दर्द दे जाता है।

निरहंकारी व्यक्ति को दुखी करना असंभव है। अहंकारी व्यक्ति को सुखी करना असंभव है। अहंकारी व्यक्ति ने तय ही कर लिया है कि अब सुखी नहीं होना है। क्योंकि सुख आता है "हां"-भाव से, स्वीकार-भाव से। सुख आता है यह बात जानने से कि मैं क्या हूं? एक बूंद हूं सागर में! सागर की एक बूंद हूं! सागर ही है, मेरा होना क्या है?

जिस व्यक्ति को अपने न होने की प्रतीति सघन होने लगती है, उतने ही सुख के अंबार उस पर बरसने लगते हैं। जो मिटा, वह भर दिया जाता है। जिसने अकड़ दिखायी, वह मिट जाता है।

"...मैं कर्ता नहीं हूं, ऐसे विश्वास-रूपी अमृत को पी कर तू सुखी हो।"

"मैं कर्ता नहीं हूं", ऐसे भाव को अष्टावक्र अमृत कहते हैं। "अहं न कर्ता इति"--यही अमृत है।

इसका एक अर्थ और भी समझ लेना चाहिए। सिर्फ अहंकार मरता है, तुम कभी नहीं मरते। इसलिए अहंकार मृत्यु है, विष है। जिस दिन तुमने जान लिया कि अहंकार है ही नहीं, बस मेरे भीतर परमात्मा ही है, उसका ही एक फैलाव, उसकी ही एक किरण, उसकी ही एक बूंद--फिर तुम्हारी कोई मृत्यु नहीं; फिर तुम अमृत हो।

परमात्मा के साथ तुम अमृत हो; अपने साथ तुम मरणधर्मा हो। अपने साथ तुम अकेले हो, संसार के विपरीत हो, अस्तित्व के विपरीत हो--तुम असंभव युद्ध में लगे हो, जिसमें हार सुनिश्चित है। परमात्मा के साथ सब तुम्हारे साथ है: जिसमें हार असंभव, जीत सुनिश्चित है। सबको साथ लेकर चल पड़ो। जहां सहयोग से घट सकता हो, वहां संघर्ष क्यों करते हो? जहां झुक कर मिल सकता हो, वहां लड़ कर लेने की चेष्टा क्यों करते हो? जहां सरलता से, विनम्रता से मिल जाता हो, वहां तुम व्यर्थ ही ऊधम क्यों मचाते हो, व्यर्थ का उत्पात क्यों करते हो?

"मैं कर्ता नहीं हूं, ऐसे विश्वास-रूपी अमृत को पी कर सुखी हो।"

जनक ने पूछा है: कैसे हम सुखी हों? कैसे सुख हो? कैसे मुक्ति मिले?

कोई विधि नहीं बता रहे हैं अष्टावक्र। वे यह नहीं कह रहे हैं कि साधो इस तरह। वे कहते हैं, देखो इस तरह। दृष्टि ऐसी हो, बस! यह सारा दृष्टि का ही उपद्रव है। दुखी हो तो गलत दृष्टि आधार है। सुखी होना है तो ठीक दृष्टि...।

"...विश्वास-रूपी अमृत को पी कर सुखी हो।"

इसमें विश्वास की भी परिभाषा समझने जैसी है। अविश्वास का अर्थ होता है: तुम अपने को समग्र के साथ एक नहीं मानते। उसी से संदेह उठता है। अगर तुम समग्र के साथ अपने को एक मानते हो तो कैसा अविश्वास! जहां ले जाएगा अस्तित्व, वहीं शुभ है। न हम अपनी मर्जी आये, न अपनी मर्जी जाते हैं। न तो हमें जन्म का कोई पता है--क्यों जन्मे? न हमें मृत्यु का कोई पता है--क्यों मरेंगे? न हमसे किसी ने पूछा जन्म के पहले कि "जन्मना चाहते हो?" न कोई हमसे मरने के पहले पूछेगा कि "मरोगे, मरने की इच्छा है?" सब यहां हो रहा है। हमसे कौन पूछता है? हम व्यर्थ ही बीच में क्यों अपने को लाएं?

जिससे जीवन निकला है, उसी में हम विसर्जित होंगे। और जिसने जीवन दिया है, उस पर अविश्वास कैसा? जहां से इस सुंदर जीवन का आविर्भाव हुआ है, उस स्रोत पर अविश्वास कैसा? जहां से ये फूल खिले हैं, जहां ये कमल खिले हैं, जहां ये चांदत्तारे हैं, जहां ये मनुष्य हैं, पशु-पक्षी हैं, जहां इतना गीत है, जहां इतना संगीत है, जहां इतना प्रेम है--उस पर अविश्वास क्यों?

विश्वास का अर्थ है: हम अपने को विजातीय नहीं मानते, परदेसी नहीं मानते; हम अपने को इस अस्तित्व के साथ एक मानते हैं। इस एक की उदघोषणा के होते ही जीवन में सुख की वर्षा हो जाती है।

"...ऐसे विश्वास-रूपी अमृत को पी कर सुखी हो।"

विश्वासामृतं पीत्वा सुखी भव।

अभी हो जा सुखी! पीत्वा सुखी भव! इसी क्षण हो जा सुखी!

"मैं एक विशुद्ध बोध हूं, ऐसी निश्चय-रूपी अग्नि से अज्ञान-रूपी वन को जला कर तू वीतशोक हुआ सुखी हो।"

अभी हो जा दुख के पार!

एक छोटी-सी बात को जान लेने से दुख विसर्जित हो जाता है कि मैं विशुद्ध बोध हूं, कि मैं मात्र साक्षी-भाव हूं, कि मैं केवल द्रष्टा हूं।

अहंकार का रोग एकमात्र रोग है।

मैंने सुना है, दिल्ली के एक कवि-सम्मेलन में मुल्ला नसरुद्दीन भी सम्मिलित हुआ। जब कवि- सम्मेलन समाप्त हुआ और संयोजक पारिश्रमिक बांटने लगे तो वह तृप्त न हुआ। पारिश्रमिक जितना वह सोचता था उतना उसे मिला नहीं। वह बड़ा नाराज हुआ। उसने कहा, "जानते हो, मैं कौन हूं? मैं पूना का कालीदास हूं!" संयोजक भी छंटे लोग रहे होंगे। उन्होंने कहा, "ठीक है, लेकिन यह तो बताइये पूना के किस मोहल्ले के कालीदास हैं?"

मोहल्ले-मोहल्ले में कालीदास हैं, मोहल्ले-मोहल्ले में टैगोर हैं। हर आदमी यही सोचता है कि अनूठी, अद्वितीय प्रतिभा है उसकी!

अरब में कहावत है कि परमात्मा जब किसी आदमी को बनाता है तो उसके कान में कह देता है, तुमसे बेहतर आदमी कभी बनाया ही नहीं। और यह सभी से कहता है। यह मजाक बड़ी गहरी है। और हर आदमी मन में यही खयाल लिए जीता है कि मुझसे बेहतर आदमी कोई बनाया ही नहीं। मैं सर्वोत्कृष्ट कृति हूं। कोई माने न माने, तो वह उसकी नासमझी है। ऐसे मैं सर्वोत्कृष्ट कृति हूं!

इस दंभ में जीता आदमी बड़े दुख पाता है। क्योंकि इस दंभ के कारण वह बड़ी अपेक्षाएं करता है जो कभी पूरी नहीं होंगी। उसकी अपेक्षाएं अनंत हैं; जीवन बहुत छोटा है। जिसने भी अपेक्षा बांधी वह दुखी होगा।

इस जीवन को एक और ढंग से भी जीने की कला है--अपेक्षा-शून्य; बिना कुछ मांगे; जो मिल जाये, उसके प्रति धन्यवाद से भरे हुए; कृतज्ञ-भाव से! वही आस्तिक की प्रक्रिया है।

जो तुम्हें मिला है वह इतना है! मगर तुम उसे देखो तब न!

मैंने सुना है, एक आदमी मरने जा रहा था। जिस नदी के किनारे वह मरने गया, एक सूफी फकीर बैठा हुआ था। उसने कहा, "क्या कर रहे हो?" वह कूदने को ही था, उसने कहा: "अब रोको मत, बहुत हो गया! जिंदगी में कुछ भी नहीं, सब बेकार है! जो चाहा, नहीं मिला। जो नहीं चाहा, वही मिला। परमात्मा मेरे खिलाफ है। तो मैं भी क्यों स्वीकार करूं यह जीवन?"

उस फकीर ने कहा, "ऐसा करो, एक दिन के लिए रुक जाओ, फिर मर जाना। इतनी जल्दी क्या? तुम कहते हो, तुम्हारे पास कुछ भी नहीं?"

उसने कहा, "कुछ भी नहीं! कुछ होता तो मरने क्यों आता?"

उस फकीर ने कहा, "तुम मेरे साथ आओ। इस गांव का राजा मेरा मित्र है।"

फकीर उसे ले गया। उसने सम्राट के कान में कुछ कहा। सम्राट ने कहा, "एक लाख रुपये दूंगा।" उस आदमी ने इतना ही सुना; फकीर ने क्या कहा कान में, वह नहीं सुना। सम्राट ने कहा, "एक लाख रुपये दूंगा।" फकीर आया और उस आदमी के कान में बोला कि सम्राट तुम्हारी दोनों आंखें एक लाख रुपये में खरीदने को तैयार है। बेचते हो?

उसने कहा, "क्या मतलब? आंख, और बेच दूं! लाख रुपये में! दस लाख दे तो भी नहीं देने वाला।"

तो वह सम्राट के पास फिर गया। उसने कहा, "अच्छा ग्यारह लाख देंगे।"

उस आदमी ने कहा, "छोड़ो भी, यह धंधा करना ही नहीं। आंख बेचेंगे क्यों?"

फकीर ने कहा, "कान बेचोगे? नाक बेचोगे? यह सम्राट हर चीज खरीदने को तैयार है। और जो दाम मांगो देने को तैयार है।"

उसने कहा, "नहीं, यह धंधा हमें करना ही नहीं, बेचेंगे क्यों?"

उस फकीर ने कहा, "जरा देख, आंख तू ग्यारह लाख में भी बेचने को तैयार नहीं, और रात तू मरने जा रहा था और कह रहा था कि मेरे पास कुछ भी नहीं है!"

जो मिला है वह हमें दिखायी नहीं पड़ता। जरा इन आंखों का तो खयाल करो, यह कैसा चमत्कार है! आंख चमड़ी से बनी है, चमड़ी का ही अंग है; लेकिन आंख देख पाती है, कैसी पारदर्शी है! असंभव संभव हुआ है। ये कान सुन पाते संगीत को, पक्षियों के कलरव को, हवाओं के मरमर को, सागर के शोर को! ये कान सिर्फ चमड़ी और हड्डी से बने हैं, यह चमत्कार तो देखो!

तुम हो, यह इतना बड़ा चमत्कार है कि इससे बड़ा और कोई चमत्कार क्या तुम सोच सकते हो। इस हड्डी, मांस-मज्जा की देह में चैतन्य का दीया जल रहा है, जरा इस चैतन्य के दीये का मूल्य तो आंको!

नहीं, लेकिन तुम्हारी इस पर कोई दृष्टि नहीं! तुम कहते हो, हमें सौ रुपये की नौकरी मिलनी चाहिए थी, नब्बे रुपये की मिली--मरेंगे, आत्महत्या कर लेंगे! कि होना चाहिए था मिनिस्टर, केवल डिप्टी मिनिस्टर हो पाये--नहीं जीयेंगे! कि मकान बड़ा चाहिए था, छोटा मिला--अब कोई सार रहने का नहीं है! कि दिवाला निकल गया, कि बैंक में खाता खाली हो गया--अब जीने में सार क्या है! कि एक स्त्री चाही थी, वह न मिली; कि एक पुरुष चाहा था, वह न मिला--बस अब मरेंगे!

जितना तुम चाहोगे उतना ही तुम्हारे जीवन में दुख होगा। जितना तुम देखोगे कि बिना चाहे कितना मिला है! अपूर्व तुम्हारे ऊपर बरसा है! अकारण! तुमने कमाया क्या है? क्या थी कमाई तुम्हारी, जिसके कारण तुम्हें जीवन मिले? क्या है तुम्हारा अर्जन, जिसके कारण क्षण भर तुम सूरज की किरणों में नाचो, चांदत्तारों से बात करो? क्या है कारण? क्या है तुम्हारा बल? क्या है प्रमाण तुम्हारे बल का, कि हवाएं तुम्हें छुएं और तुम गुनगुनाओ, आनंदमग्न हो, कि ध्यान संभव हो सके? इसके लिए तुमने क्या किया है? यहां सब तुम्हें मिला है--प्रसादरूप! फिर भी तुम परेशान हो। फिर भी तुम कहे चले जाते हो। फिर भी तुम उदास हो। जरूर अहंकार का रोग खाये चला जा रहा है। वही सबको पकड़े हुए है।

मैंने सुना है, एक परिवार के सभी सदस्य फिल्मों में काम करते थे। एक बार परिवार का मुखिया अपने पारिवारिक डाक्टर के पास आया और बोला, "डाक्टर साहब, मेरे बेटे को छूत की बीमारी है--स्कारलेट फीवर। और वह मानता है कि उसने घर की नौकरानी को चूमा है।"

"आप घबड़ाइये नहीं," डाक्टर ने सलाह दी, "जवानी में खून जोश मारता ही है।"

"आप समझे नहीं डाक्टर," वह आदमी बोला और थोड़ा बेचैन होकर, "सच बात यह है कि उसके बाद मैं भी उस लड़की को चूम चुका हूं।"

"तब तो मामला कुछ गड़बड़ नजर आता है," डाक्टर ने स्वीकार किया।

"अभी क्या गड़बड़ है, डाक्टर साहब! उसके बाद मैं अपनी पत्नी को भी दो बार चूम चुका हूं।"

इतना सुनते ही डाक्टर अपनी कुर्सी से उछलकर चिल्लाया, "तब तो मारे गए! तब तो यह वाहियात बीमारी मुझे भी लग चुकी होगी!"

वे उनकी पत्नी को चूम चुके हैं। ऐसे बीमारी फैलती चली जाती है!

अहंकार छूत की बीमारी है।

जब बच्चा पैदा होता है तो कोई अहंकार नहीं होता; बिलकुल निरहंकार, निर्दोष होता है; खुली किताब होता है; कुछ भी लिखावट नहीं होती; खाली किताब होता है! फिर धीरे-धीरे अक्षर लिखे जाते हैं। फिर धीरे-धीरे अहंकार निर्मित किया जाता है। मां-बाप, परिवार, समाज, स्कूल, विश्वविद्यालय, फिर उसके अहंकार को मजबूत करते चले जाते हैं। यह सारी प्रक्रिया हमारे शिक्षण की और संस्कार की, सभ्यता और संस्कृति की, बस एक बीमारी को पैदा करती है--अहंकार को जन्माती है। यह अहंकार फिर जीवन भर हमारे पीछे प्रेत की तरह लगा रहता है।

अगर तुम धर्म का ठीक अर्थ समझना चाहो तो इतना ही है: समाज, संस्कृति, सभ्यता तुम्हें जो बीमारी दे देते हैं, धर्म उस बीमारी की औषधि है, और कुछ भी नहीं। धर्म समाज-विरोधी है, सभ्यता- विरोधी है, संस्कृति-विरोधी है। धर्म बगावत है। धर्म क्रांति है।

धर्म की क्रांति का कुल अर्थ इतना ही है कि तुम्हें जो दे दिया है दूसरों ने उसे किस भांति तुम्हें सिखाया जाये कि तुम उसे छोड़ दो। उसे पकड़ कर मत चलो--वही तुम्हारी पीड़ा है; वही तुम्हारा नर्क है। अहंकार के अतिरिक्त जीवन में और कोई बोझ नहीं है। अहंकार के अतिरिक्त जीवन में और कोई बंधन जंजीर नहीं है।

"मैं एक विशुद्ध बोध हूं, ऐसी निश्चय रूपी अग्नि से अज्ञान-रूपी वन को जला कर तू वीतशोक हो, सुखी हो!"

अहंकार का अर्थ है: अपने चैतन्य को किसी और चीज से जोड़ लेना।

एक आदमी कहता है कि मैं बुद्धिमान हूं, तो उसने बुद्धिमानी से अपने अहंकार को जोड़ लिया; तो उसकी चेतना अशुद्ध हो गयी।

तुमने देखा, दूध में कोई पानी मिला देता है तो हम कहते हैं, दूध अशुद्ध हो गया। लेकिन अगर पानी मिलाने वाला कहे कि हमने बिलकुल शुद्ध पानी मिलाया है, फिर? तब भी तुम कहोगे, अशुद्ध हो गया। शुद्ध पानी मिलाओ या अशुद्ध, यह थोड़े ही सवाल है--पानी मिलाया! इससे कोई फर्क नहीं पड़ता कि तुमने शुद्ध पानी मिलाया, तो भी दूध तो अशुद्ध हो गया! और अगर गौर करो तो दूध ही अशुद्ध नहीं हुआ, पानी भी अशुद्ध हो गया। पानी और दूध दोनों शुद्ध थे अलग-अलग, मिलकर अशुद्ध हो गये।

विपरीत और विजातीय और अन्य से मिलकर उपद्रव होता है। चैतन्य जैसे ही अपने से भिन्न से मिल जाता है। तुमने कहा, मैं बुद्धिमान...। बुद्धि यंत्र है; उसका उपयोग करो। बुद्धिमान मत बनो। यही बुद्धिमानी है--बुद्धिमान मत बनो! तुमने कहा, मैं बुद्धिमान--उपद्रव शुरू हुआ! दूध पानी से मिल गया। फिर तुम्हारी बुद्धि कितनी ही शुद्ध हो, इससे कोई फर्क नहीं पड़ता। तुमने कहा, मैं चरित्रवान--दूध पानी से मिल गया। अब तुम्हारा चरित्र कितना ही शुद्ध हो, इससे कुछ फर्क नहीं पड़ता। दुश्चरित्र और सच्चरित्र दोनों के अहंकार होते हैं।

मैंने सुना है, एक पुरानी कहानी कि जार के जमाने में, रूस में, साइबेरिया में तीन कैदी बंद थे। और तीनों में सदा विवाद हुआ करता था कि कौन बड़ा अपराधी है। और तीनों में सदा विवाद हुआ करता था कि कौन ज्यादा दिन से जेल भोग रहा है। जेल में अक्सर यह होता है। लोग वहां भी बढ़ा-चढ़ा कर बताते हैं। ऐसा नहीं कि तुम अपना बैंक-बैलेंस बढ़ा-चढ़ा कर बताते हो और मेहमान आ जाते हैं तो घर में पड़ोस से फर्नीचर मांगकर और गलीचे बिछा देते हो। तुम्हीं धोखा देते हो, ऐसा नहीं है। ऐसा नहीं है कि तुम्हीं दूसरों को देखकर खूब जोर-जोर से हरे राम, हरे राम करने लगते हो, कि कोई आ जाये तो प्रार्थना लंबी हो जाती है, पूजा की घंटियां जोर से बजने लगती हैं; कोई न आये, जल्दी निपटा लेते हो। ऐसा तुम ही करते हो, ऐसा नहीं है। मेहमान घर में हों तो तुम मंदिर चले जाते हो, क्योंकि मेहमानों पर धार्मिक होने का प्रभाव डालना है। कैदी भी कारागृह में इसी तरह करते हैं।

उन तीन कैदियों में विवाद होता था। एक दिन पहले कैदी ने कहा, "मैं जब जेल में आया था, जब मुझे साइबेरिया की जेल में डाला गया, तब मोटर गाड़ी नहीं चलती थी।"

दूसरे ने कहा, "इसमें क्या रखा है? अरे, मैं जब डाला गया तब बैलगाड़ी तक नहीं चलती थी।"

तीसरे ने कहा, "बैलगाड़ी! बैलगाड़ी क्या होती है?"

वे यह सिद्ध करने की कोशिश कर रहे हैं कि कौन कितने प्राचीन समय से इस जेल में पड़ा हुआ है। इसमें भी अहंकार है।

मैंने सुना है, एक जेल में एक नया अपराधी आया। जिस कोठरी में उस भेजा गया था, उसे कोठरी में एक दादा पहले से ही जमे थे। उस दादा ने पूछा कि कितने दिन रहेगा? उसने कहा कि यही कोई बीस साल की सजा

हुई है। उसने कहा, "तू दरवाजे पर ही रह! तुझे जल्दी निकलना पड़ेगा। तू दरवाजे के पास ही अपना बिस्तरा लगा ले।"

अपराधी का भी अहंकार है। बुरे के साथ भी आदमी अपने अहंकार को भरता है, भले के साथ भी भरता है! लेकिन दोनों स्थितियों में चैतन्य अशुद्ध हो जाता है।

अष्टावक्र कहते हैं, "मैं एक विशुद्ध बोध हूं।" न तो मैं बुद्धिमान हूं, न मैं चरित्रवान हूं न मैं चरित्रहीन हूं, न मैं सुंदर हूं न मैं असुंदर हूं, न मैं जवान हूं न मैं बूढ़ा हूं, न गोरा न काला, न हिंदू न मुसलमान, न ब्राह्मण न शूद्र--मेरा कोई तादात्म्य नहीं है। मैं इन सबको देखने वाला हूं।

जैसे तुमने दीया जलाया अपने घर में, तो दीये की रोशनी टेबिल पर भी पड़ती है, कुर्सी पर भी पड़ती है, दीवाल पर भी पड़ती है, दीवाल-घड़ी पर भी पड़ती है, फर्नीचर पर, अलमारी पर, कालीन पर, फर्श पर, छप्पर पर--सब पर पड़ती है। तुम बैठे, तुम पर भी पड़ती है। लेकिन ज्योति न तो दीवाल है, न छप्पर है, न फर्श है, न टेबिल है, न कुर्सी है। सब रोशन है उस रोशनी में; लेकिन रोशनी अलग है।

शुद्ध चैतन्य तुम्हारी रोशनी है, तुम्हारा बोध है। वह बोध तुम्हारी बुद्धि पर भी पड़ता, तुम्हारी देह पर भी पड़ता, तुम्हारे कृत्य पर भी पड़ता; लेकिन तुम उनमें से कोई भी नहीं हो।

जब तक तुम अपने को किसी से जोड़कर जानोगे, तब तक अहंकार पैदा होगा। अहंकार है: चेतना का किसी अन्य वस्तु से तादात्म्य। जैसे ही तुमने सारे तादात्म्य छोड़ दिये--तुमने कहा, मैं तो बस शुद्ध बोध हूं, मैं तो शुद्ध बोध हूं, शुद्ध बुद्ध हूं--वैसे ही तुम घर लौटने लगे; मुक्ति का क्षण करीब आने लगा।

अष्टावक्र कहते हैं, "विशुद्ध बोध हूं, ऐसी धारणा...।"

अहं एका विशुद्ध बोधः इति।

"ऐसे निश्चय-रूपी अग्नि से...।"

यह क्या है निश्चय-रूपी बात? सुनकर यह निश्चय न होगा। केवल बुद्धि से समझकर यह निश्चय न होगा। ऐसा तो बहुत बार तुमने समझ लिया है, फिर-फिर भूल जाते हो। अनुभव से यह निश्चय होगा। थोड़े प्रयोग करोगे तो निश्चय होगा। प्रतीति होगी तो निश्चय होगा। और निश्चय होगा तो क्रांति घटित होगी।

"...अज्ञान-रूपी वन को जला कर तू वीतशोक हुआ सुख को प्राप्त हो, सुखी हो।"

"जिसमें यह कल्पित संसार रस्सी में सांप जैसा भासता है, तू वही आनंद परमानंद बोध है। अतएव तू सुखपूर्वक विचर।"

यहां दुख का कोई कारण ही नहीं है। तुम नाहक एक दुख-स्वप्न में दबे और परेशान हुए जा रहे हो।

दुख-स्वप्न तुमने देखा? अपने ही हाथ छाती पर रखकर आदमी सो जाता है, हाथ के वजन से रात नींद में लगता है कि छाती पर कोई भूत-प्रेत चढ़ा है! अपने ही हाथ रखे हैं छाती पर, उनका ही वजन पड़ रहा है; लेकिन निद्रा में वही वजन भ्रांति बन जाता है। या अपना ही तकिया रख लिया अपनी छाती पर, लगता है पहाड़ गिर गया! चीखता है, चिल्लाता है। चीख भी नहीं निकलती। हाथ-पैर हिलाना चाहता है। हाथ-पैर भी नहीं हिलते--ऐसी घबड़ाहट बैठ जाती है। फिर जब नींद भी टूट जाती है तो भी पाता है पसीना-पसीना है। नींद भी टूट जाती है, जाग भी जाता है, समझ भी लेता है--कोई दुश्मन नहीं, कोई पहाड़ नहीं गिरा, अपना ही तकिया अपनी छाती पर रख लिया, कि अपने ही हाथ अपनी छाती पर रख लिए थे--तो भी सांस धक-धक चल रही है; जैसे मीलों दौड़कर आया हो। सपना टूट गया, फिर भी अभी तक परिणाम जारी है।

जिनको हम यह संसार के दुख कह रहे हैं, वे हमारे ही बोध की भ्रांतियां हैं।

"जिसमें यह कल्पित संसार रस्सी में सांप जैसा भासता है...।"

तुमने देखा कभी, रस्सी पड़ी हो रास्ते पर अंधेरे में, बस सांप का खयाल आ जाता है! खयाल आ गया तो रस्सी पर सांप आरोपित हो गया। भागे! चीख-पुकार मचा दी! हो सकता है दौड़ने में गिर पड़ो, हाथ-पैर तोड़ लो, तब बाद में पता चले कि सिर्फ रस्सी थी, नाहक दौड़े! लेकिन फिर क्या होता है? हाथ-पैर तोड़ चुके!

लेकिन अगर तुम्हारे पास थोड़ा-सा भी बोध का दीया हो, प्रकाश हो थोड़ा, तो अंधेरी से अधेरी रात में भी तुम बोध के दीये से देख पाओगे कि रस्सी रस्सी है, सर्प नहीं है। इस बोध में ही आनंद और परमानंद का जन्म होता है।

"...अतएव तू सुखपूर्वक विचर!"

तेरे पास सूत्र है। तेरे पास ज्योति है। ज्योति को तूने नाहक के परदों में ढांका। परदे हटा। घूंघट के पट खोल! विचार के, वासना के, अपेक्षा के, कल्पनाओं के, सपनों के परदे हटाओ। वे ही हैं घूंघट। घूंघट को हटाओ। खुली आंख से देखो।

लोग बुर्के ओढ़े बैठे हैं। उन बुर्कों के कारण कुछ दिखायी नहीं पड़ता। धक्के खा रहे हैं, गड्ढों में गिर रहे हैं।

"...वही आनंद परमानंद बोध है। अतएव तू सुखपूर्वक विचर।"

यत्र विश्वमिदं भाति कल्पितं रज्जुसर्पवत्।
आनंद परमानंदः स बोधस्त्वं सुखं चर।।
आनंद परमानंदः स बोधस्त्वं सुखं चर।

इस थोड़े-से बोध को समझ लो, पकड़ लो, पहचान लो--फिर विचरण करो सुख में। यह अस्तित्व परम आनंद है। इस अस्तित्व ने दुख जाना नहीं। दुख तुम्हारा निर्मित किया हुआ है।

कठिन है समझना यह बात, क्योंकि हम इतने दुख में जी रहे हैं, हम कैसे मानें कि दुख नहीं है। वह जो रस्सी को देखकर भाग गया है, वह भी नहीं मानता की सर्प नहीं है। वह जो हाथ रखकर छाती पर पड़ा है और सोचता है पहाड़ गिर गया, वह भी उस क्षण में तो नहीं मान सकता कि पहाड़ नहीं गिर गया है। वैसी ही हमारी दशा है।

क्या करें?

थोड़े दृश्य से द्रष्टा की तरफ चलें! देखें सब, लेकिन देखने वाले को न भूलें। सुनें सब, सुनने वाले को न भूलें। करें सब, लेकिन स्मरण रखें कि कर्ता नहीं हैं।

बुद्ध कहते थे: चलो राह पर और स्मरण रखो कि भीतर कोई चल नहीं रहा है। भीतर सब अचल है।
ऐसा ही है भी।

गाड़ी के चाक को चलते देखा है? कील तो ठहरी रहती है, चाक चलता जाता है। ऐसे ही जीवन का चाक चलता है, कील तो ठहरी हुई है। कील हो तुम।

"मुक्ति का अभिमानी मुक्त है और बद्ध का अभिमानी बद्ध है। क्योंकि इस संसार में यह लोकोक्ति सच है कि जैसी मति वैसी गति।"

यह सूत्र मूल्यवान है।

"मुक्ति का अभिमानी मुक्त है।"

जिसने जान लिया कि मैं मुक्त हूं वह मुक्त है। मुक्ति के लिए कुछ और करना नहीं; इतना जानना ही है कि मैं मुक्त हूं! तुम्हारे करने से मुक्ति न आयेगी, तुम्हारे जानने से मुक्ति आयेगी। मुक्ति कृत्य का परिणाम नहीं, ज्ञान का फल है।

"मुक्ति का अभिमानी मुक्त है, और बद्ध का अभिमानी बद्ध है।"

जो सोचता है मैं बंधा हूं, वह बंधा है। जो सोचता है मैं मुक्त हूं, वह मुक्त है।

तुम जरा करके भी देखो! एक चौबीस घंटे ऐसा सोचकर देखो कि चलो चौबीस घंटे यही सही: मुक्त हूं! चौबीस घंटे मुक्त रहकर देख लो। तुम बड़े चकित होओगे, तुम्हें खुद ही भरोसा न आयेगा। कि अगर तुम सोच

लो मुक्त हो तो कोई नहीं बांधने वाला है। तो तुम मुक्त हो। तुम सोच लो कि बंधा हूं तो हर चीज बांधने वाली है।

मेरे एक मित्र थे, मेरे साथ प्रोफेसर थे। होली के दिन थे, भांग पी ली। रास्ते पर शोरगुल मचा दिया। हुल्लड़ कर दी। बड़े सीधे आदमी थे। सीधे आदमी के साथ खतरा है। उसके भीतर काफी दबा पड़ा रहता है। उपद्रवी नहीं थे। नाम भी उनका भोलाराम था। भोले-भाले आदमी थे। भोले-भाले आदमी के साथ एक खतरा है: भांग वगैरह से बचना चाहिए। क्योंकि वह भोला-भालापन जो ऊपर-ऊपर है, भांग ने तो डुबा दिया, भीतर जो दबा पड़ा था, जिंदगी भर में जो नहीं किया था, वह सब निकल आया। वे सड़क पर गये, शोरगुल मचाया, उपद्रव कर दिया, किसी स्त्री के साथ छेड़-छाड़ कर दी। पकड़ लिए गए। थाने में बंद कर दिये गये। अंग्रेजी के प्रोफेसर थे।

रात कोई दो बजे आदमी मेरे पास आया और उसने कहा कि आपके मित्र पकड़ गये हैं और उन्होंने खबर भेजी है कि निकालो; सुबह के पहले निकालो, नहीं तो मुश्किल हो जायेगी! बामुश्किल उनको निकाल पाये सुबह होते-होते। निकाल तो लाये, लेकिन वे ऐसे घबड़ा गये--सीधे-साधे आदमी थे--वे ऐसे घबड़ा गये कि बस मुश्किल खड़ी हो गयी। तीन महीने उन्होंने ऐसा कष्ट भोगा...सड़क से पुलिस वाला निकले कि वे छिप जाएं, कि वह आ रहा है पकड़ने! मेरे साथ एक ही कमरे में रहते थे। रात पुलिस वाला सीटी बजाये, वे बिस्तर के नीचे हो जाएं। मैं कहूं, "तुम कर क्या रहे हो?"

"आ रहे हैं वे लोग!"

फिर तो हालत ऐसी बिगड़ गयी कि वे न मुझे सोने दें न खुद सोयें। वे कहें कि जगो, सुना तुमने? वे लोग...! हवा में खबर है, आवाज आ रही है। रेडियो पर वे लोग यहां-वहां से खबर भेज रहे हैं कि भोलाराम कहां है!

मैंने कहा, "भोलाराम, तुम सो जाओ!"

"अरे, सो कैसे जाएं, जीवन खतरे में है। वे पकड़ेंगे! फाइल है मेरे खिलाफ।"

आखिर मैं इतना परेशान हो गया कि कोई रास्ता न देखकर...। कालेज भी जाना उन्होंने बंद कर दिया, छुट्टी लेकर घर बैठ गये। वह चौबीस घंटे एक ही रंग चलने लगा, जिसको मनोवैज्ञानिक पैरानायड कहते हैं, वे पैरानायड हो गये--अपने भय से ही रचना करने लगे। भले आदमी थे, कभी सोचा भी नहीं था मैंने। लेकिन एक अनुभव हुआ कि आदमी क्या-क्या कल्पना नहीं कर ले सकता है! "दीवालों के", वे कहें, "कान हैं। सब तरफ लोग सुन रहे हैं।" कोई भी रास्ते पर चल रहा है तो वह उन्हीं को देखता हुआ चल रहा है। कोई किनारे पर खड़े हो कर हंस रहा है तो वह भोलाराम को देख कर हंस रहा है। कोई बात कर रहा है तो वह उनके खिलाफ षडयंत्र रच रहा है। सारी दुनिया उनके खिलाफ है।

फिर कोई उपाय न देख कर मुझे एक ही रास्ता दिखायी पड़ा। एक परिचित मित्र थे, इंस्पेक्टर थे। उनको समझाया कि तुम आ जाओ एक दिन फाइल ले कर।

"उन्होंने कहा, फाइल हो तो हम ले आयें। न कोई फाइल है, न कुछ हिसाब है। इस आदमी ने कभी कुछ किया ही नहीं; सिर्फ एक दफा भंग पी, थोड़ा ऊधम मचाया, खतम हो गयी बात। अब इसमें कोई इतना शोरगुल नहीं।"

"कोई भी फाइल ले लाओ। कागज कोरे रखकर आ जाना। मगर फाइल बड़ी होनी चाहिए, क्योंकि वे कहते हैं कि फाइल बड़ी है। और भोलाराम का नाम लिखी होनी चाहिए। और तुम चिंता मत करना, दो-चार हाथ इनको रसीद कर देना और बांध भी देना हथकड़ी इनके हाथ में और जब तक मैं तुमको दस हजार रुपया रिश्वत न दूं, इनको छोड़ने के लिए राजी मत होना। तब ही शायद ये छूटें।"

लाना पड़ा। उन्होंने दो-चार हाथ उनको लगाये। जब उनको हाथ लगाए, तब वे बड़े प्रसन्न हुए। वे कहने लगे मुझसे, "अब देखो! जो मैं कहता था, अब हुआ कि नहीं? यह रही फाइल। बड़े-बड़े अक्षरों में भोलाराम लिखा है। अब बोलो, वे सब समझदारी की बातें कहां गयीं? अब यह हो रहा है: चले भोलाराम! हथकड़ी भी डाल दी!"

मगर एक तरह से वे प्रसन्न थे; एक तरह से दुखी थे, रो रहे थे; मगर एक तरह से प्रसन्न थे कि उनकी धारणा सही सिद्ध हुई। आदमी ऐसा पागल है! तुम्हारे दुख की धारणा भी सही सिद्ध हो तो तुम्हारे अहंकार को तृप्ति मिलती है कि देखो, मैं सही सिद्ध हुआ!

उनका पूरा भाव यह था कि सब को गलत सिद्ध कर दिया, सब समझाने वाले, कोई सही सिद्ध नहीं हुआ, आखिर मैं ही सही सिद्ध हुआ।

बामुश्किल समझाया-बुझाया इंस्पेक्टर को। उसको कह रखा था, जल्दी मत मान जाना; नहीं तो वे फिर सोचेंगे कि कोई जालसाजी है। उसने कहा, "यह हो ही नहीं सकता। इनको तो आजन्म सजा होगी।" बस वह जब इस तरह की बातें कहे, वे मेरी तरफ देखें कि कहो!

बहुत मुश्किल से समझा-बुझा कर, हाथ पैर जोड़ कर नोट की गड्डियां उनको दीं, फाइल जलायी सामने। उस दिन से भोलाराम मुक्त हो गये, ठीक हो गये! सब खतम हो गया मामला!

करीब-करीब ऐसी अवस्था है।

"मुक्ति का अभिमानी मुक्त है और बद्ध का अभिमानी बद्ध। क्योंकि इस संसार में यह लोकोक्ति सच है कि जैसी मति वैसी गति।"

तुम जैसा सोचते हो वैसा ही हो गया है। तुम्हारे सोचने ने तुम्हारा संसार निर्मित कर दिया है। सोच को बदलो। जागो! और ढंग से देखो।

सब यही रहेगा; सिर्फ तुम्हारे देखने, सोचने, जानने के ढंग बदल जायेंगे--और सब बदल जायेगा।

मुक्ताभिमानी मुक्तो हि बद्धो बद्धाभिमान्यपि।
किंवदंतीह सत्येयं या मतिः स गतिर्भवेत।।
या मतिः स गतिर्भवेत!

जैसा सोचो, जैसी मति वैसी गति हो जाती है।

"आत्मा साक्षी है, व्यापक है, पूर्ण है, एक है, मुक्त है, चेतन है, क्रिया-रहित है, असंग है, निस्पृह है, शांत है। वह भ्रम के कारण संसार जैसा भासता है।"

साक्षी, व्यापक, पूर्ण--सुनो इस शब्द को!

अष्टावक्र कहते हैं, तुम पूर्ण हो! पूर्ण होना नहीं है। तुममें कुछ भी जोड़ा नहीं जा सकता। तुम जैसे हो, परिपूर्ण हो। तुममें कुछ विकास नहीं करना है। तुम्हें कुछ सोपान नहीं चढ़ने हैं। तुम्हारे आगे कुछ भी नहीं है। तुम पूर्ण हो, तुम परमात्मा हो, व्यापक हो, साक्षी हो, एक हो, मुक्त हो, चेतन हो, क्रिया-रहित हो, असंग हो। किसी ने तुम्हें बांधा नहीं, कोई संग-साथी नहीं है। अकेले हो! परम एकांत में हो! निस्पृह हो!

ऐसा होना नहीं है। यही फर्क है अष्टावक्र के संदेश का। अगर तुम महावीर को सुनो तो महावीर कहते हैं, ऐसा होना है। अष्टावक्र कहते हैं, ऐसे तुम हो!

यह बड़ा फर्क है। यह छोटा फर्क नहीं है। महावीर कहते हैं: असंग होना है, निस्पृह होना है, पूर्ण होना है, व्यापक होना है, साक्षी होना है। अष्टावक्र कहते हैं: तुम ऐसे हो; बस जागना है! ऐसा आंख खोलकर देखना है।

अष्टावक्र का योग बड़ा सहजयोग है।

साधो सहज समाधि भली!

"मैं आभास-रूप अहंकारी जीव हूं, ऐसे भ्रम को और बाहर-भीतर के भाव को छोड़ कर तू कूटस्थ बोध-रूप अद्वैत आत्मा का विचार कर।"

"अहं आभासः इति--मैं आभास-रूप अहंकारी जीव हूं!"

यह तुमने जो अब तक मान रखा है, यह सिर्फ आभास है। यह तुमने जो मान रखा है, यह तुम्हारी मान्यता है, मति है। यद्यपि तुम्हारे आसपास भी ऐसा ही मानने वाले लोग हैं, इसलिए तुम्हारी मति को बल भी मिलता है। आखिर आदमी अपनी मति उधार लेता है। तुम दूसरों से सीखते हो। आदमी अनुकरण करता है। यहां सभी दुखी हैं, तुम भी दुखी हो गये हो।

जापान में एक अदभुत संत हुआ: "होतेई"। जैसे ही वह ज्ञान को उपलब्ध हुआ, या कहना चाहिए जैसे ही वह जागा, वह हंसने लगा। फिर वह जीवन भर हंसता ही रहा। वह गांव-गांव जाता। होतेई को जापान में लोग "हंसता हुआ बुद्ध" कहते हैं। वह बीच बाजार में खड़ा हो जाता और हंसने लगता। फिर तो उसका नाम दूर-दूर तक फैल गया। लोग उसकी प्रतीक्षा करते कि होतेई कब आएगा। उसका कोई और उपदेश न था, वह बस बीच बाजार में खड़े हो कर हंसता, धीरे-धीरे भीड़ इकट्ठी हो जाती, और लोग भी हंसने लगते।

होतेई से लोग पूछते, "आप कुछ और कहो।" वह कहता, "और क्या कहें? नाहक रो रहे हो, कोई हंसने वाला चाहिए जो तुम्हें हंसा दे! इतनी ही खबर लाता हूं कि हंस लो। कोई कमी नहीं है! दिल खोल कर हंसो। सारा अस्तित्व हंस रहा है, तुम नाहक रो रहे हो! तुम्हारा रोना बिलकुल निजी, प्राईवेट है। पूरा अस्तित्व हंस रहा है। चांदत्तारे, फूल-पक्षी सब हंस रहे हैं; तुम नाहक रो रहे हो। खोलो आंख, हंस लो! मेरा कोई और संदेश नहीं है।"

वह हंसता, एक गांव से दूसरे गांव घूमता रहता। कहते हैं उसने पूरे जापान को हंसाया! और उसके पास लोगों को धीरे-धीरे, धीरे-धीरे, हंसते-हंसते झलकें मिलतीं। वह उसका ध्यान था, वही उसकी समाधि थी। लोग हंसते-हंसते धीरे-धीरे अनुभव करते कि हम हंस सकते हैं, हम प्रसन्न हो सकते हैं! अकारण!

कारण की खोज ही गलत है। तुम जब तक कारण खोजोगे कि जब कारण होगा तब हंसेंगे तो तुम कभी हंसोगे ही नहीं। तुमने अगर सोचा कि कारण होगा तब सुखी होंगे, तो तुम कभी सुखी न होओगे। कारण खोजने वाला और-और दुखी होता जाता है। कारण दुख के हैं। सुख स्वभाव है। कारण को निर्मित करना पड़ता है। दुख को भी निर्मित करना पड़ता है। सुख है। सुख मौजूद है। सुख को प्रगट करो। यही अष्टावक्र का बार-बार कहना है।

"बोधस्त्वं सुखं चर!"

"वीतशोकः सुखी भव!"

"विश्वासामृतं पीत्वा सुखी भव!"

पी ले अमृत, हो जा सुखी!

मनुष्य पूर्ण है, एक है, मुक्त है। सिर्फ आभास बाधा डाल रहा है।

"मैं आभास-रूप अहंकारी जीव हूं, ऐसे भ्रम को और बाहर-भीतर के भाव को छोड़ कर तू कूटस्थ बोध-रूप अद्वैत आत्मा का विचार कर।"

अहं आभासः इति बाह्यं अंतरम् मुक्त्वा

"बाहर और भीतर के भाव से मुक्त हो जा।"

आत्मा न तो बाहर है और न भीतर। बाहर और भीतर भी सब मन के ही भेद हैं। आत्मा तो बाहर भी है, भीतर भी है। आत्मा में सब बाहर-भीतर है। आत्मा ही है। बाहर-भीतर के सब भाव को छोड़ कर तू कूटस्थ बोध-रूप अद्वैत आत्मा का विचार कर।

यह अनुवाद ठीक नहीं है। मूल सूत्र है:

बाह्यं अंतरम् भावं मुक्त्वा!

--मुक्त होकर अंतर-बाहर से।

त्वं कूटस्थ बोधमद्वैतमात्मानं परिभावय।

--परिभाव कर!

विचार कर, यह ठीक नहीं है। "परिभाव कर" कि तू कूटस्थ आत्मा है। ऐसा बोध कर, ऐसा भाव। भाव! ऐसी भावना में जग। विचार तो फिर बुद्धि की बात हो जाती है। विचार तो फिर ऊपर-ऊपर की बात हो जाती है। सिर से नहीं होगा, यह हृदय से होगा। यह भाव प्रेम जैसा होगा, गणित जैसा नहीं। यह तर्क जैसा नहीं होगा, गीत जैसा होगा--जिसकी गुनगुनाहट डूबती चली जाती है गहराई तक और प्राणों के अंतरतम को छू लेती है, स्पंदित कर देती है।

परिभाव कर कि मैं कूटस्थ आत्मा हूं। यह घूमता हुआ चाक नहीं, बीच की कील हूं। कील यानी कूटस्थ।

तुम जब तक सोचते हो पृथ्वी पर हो, पृथ्वी पर हो। जिस क्षण तुमने तैयारी दिखायी, जिस क्षण तुमने हिम्मत की, उसी क्षण आकाश में उड़ना शुरू हो सकता है।

दल के दल तैर रहे मेघ मगन भू पर
उड़ता जाता हूं मैं मेघों के ऊपर!
एक अजब लोक खुला है मेरे आगे
कोई सपना विराट सोये में जागे
कहां उड़ जाता है समय-सिंधु घर-घर!
गाड़ी जो अंधी घाटी में बर्फीली
ऊर्मिल धाराओं में मछली चमकीली
धंसता जाता हूं फेनिल तम के भीतर!
कोसों तक लाल परिधि सूरज को घेरे
छलक रहा इंद्रधनुष पंखों पर मेरे
यहां-वहां फूट रहे रंगों के निर्झर!
ठहरी-सी नदी कहीं उड़ते-से पुल हैं
धाराओं पर धाराएं आकुल-व्याकुल हैं
गल-गल कर बहे जा रहे नभ में भूधर!
गांवों पर गांव धवल जंगल कासों के
उगते ये तरु अनंत किसकी सांसों के!
एक दूसरी धरती बना हुआ है अंबर
दल के दल तैर रहे मेघ मगन भू पर!
उड़ता जाता हूं मैं मेघों के ऊपर!
एक अजब लोक खुला है मेरे आगे!
कोई सपना विराट सोये में जागे!

जागो! सपना खूब देखा, अब जागो! बस जागना कुंजी है। कुछ और करना नहीं--न कोई साधना, न कोई योग, न आसन--बस जागना!

हरि ॐ तत्सत्!

चौथा प्रवचन

कर्म, विचार, भाव--और साक्षी

पहला प्रश्न: ध्यान और साक्षित्व में क्या संबंध है? उनसे चित्तवृत्तियां और अहंकार किस प्रकार विसर्जित होता है? पूर्ण निरहंकार को उपलब्ध हुए बिना क्या समर्पण संभव है? गैरिक वस्त्र और माला, ध्यान और साक्षी- साधना में कहां तक सहयोगी हैं? और कृपया यह भी समझाएं कि साक्षित्व, जागरूकता और सम्यक स्मृति में क्या अंतर है?

मनुष्य के जीवन को हम चार हिस्सों में बांट सकते हैं। सबसे पहली परिधि तो कर्म की है। करने का जगत है सबसे बाहर। थोड़े भीतर चलें तो फिर विचार का जगत है। और थोड़े भीतर चलें तो फिर भाव का जगत है, भक्ति का, प्रेम का। और थोड़े भीतर चलें, केंद्र पर पहुंचें, तो साक्षी का।

साक्षी हमारा स्वभाव है, क्योंकि उसके पार जाने का कोई उपाय नहीं--कभी कोई नहीं गया; कभी कोई जा भी नहीं सकता। साक्षी का साक्षी होना असंभव है। साक्षी तो बस साक्षी है। उससे पीछे नहीं हटा जा सकता। वहां हमारी बुनियाद आ गयी। साक्षी की बुनियाद पर यह हमारा भवन है--भाव का, विचार का, कर्म का।

इसलिए तीन योग हैं: कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग। वे तीनों ही ध्यान की पद्धतियां हैं। उन तीनों से ही साक्षी पर पहुंचने की चेष्टा होती है। कर्मयोग का अर्थ है: कर्म + ध्यान। सीधे कर्म से साक्षी पर जाने की जो चेष्टा है, वही कर्मयोग है।

तो ध्यान पद्धति हुई, और साक्षी-भाव लक्ष्य हुआ।

पूछा है, "ध्यान और साक्षित्व में क्या संबंध है?"

ध्यान मार्ग हुआ, साक्षित्व मंजिल हुई। ध्यान की परिपूर्णता है साक्षित्व। और साक्षी-भाव का प्रारंभ है ध्यान।

तो जो कर्म के ऊपर ध्यान को आरोपित करेगा, जो कर्म के जगत में ध्यान को जोड़ेगा--कर्म + ध्यान--वह कर्मयोगी है।

फिर ज्ञानयोगी है, वह विचार के ऊपर ध्यान को आरोपित करता है। वह विचार के जगत में ध्यान को जोड़ता है। वह ध्यानपूर्वक विचार करने लगता है। एक नयी प्रक्रिया जोड़ देता है कि जो भी करेगा होशपूर्वक करेगा।

जब "विचार + ध्यान" की स्थिति बनती है तो फिर साक्षी की तरफ यात्रा शुरू हुई।

ध्यान है दिशा-परिवर्तन। जिस चीज के साथ भी ध्यान जोड़ दोगे वही चीज साक्षी की तरफ ले जाने का वाहन बन जाएगी।

फिर, तीसरा मार्ग है भक्तियोग--भाव के साथ ध्यान का जोड़; भाव के साथ ध्यान का गठबंधन; भाव के साथ ध्यान की भांवर! तो भाव के साथ ध्यानपूर्ण हो जाओ।

इन तीन मार्गों से व्यक्ति साक्षी की तरफ आ सकता है। लेकिन लाने वाली विधि ध्यान है। मौलिक बात ध्यान है।

जैसे कोई वैद्य तुम्हें औषधि दे और कहे, शहद में मिलाकर ले लेना; और तुम कहो, शहद मैं लेता नहीं, मैं जैन-धर्म का पालन करता हूं--तो वह कहे, दूध में मिलाकर ले लेना; और तुम कहो, दूध मैं ले नहीं सकता, क्योंकि दूध तो रक्त का ही हिस्सा है; मैं क्रेकर ईसाई हूं, मैं दूध नहीं पी सकता, दूध तो मांसाहार है। तो वैद्य कहे

पानी में मिलाकर ले लेना। लेकिन औषधि एक ही है--मधु, दूध या जल, कोई फर्क नहीं पड़ता, वह तो सिर्फ औषधि को गटकने के उपाय हैं, गले से उतर जाये, औषधि अकेली न उतरेगी।

ध्यान औषधि है।

तीन तरह के लोग हैं जगत में। कुछ लोग हैं जो बिना कर्म के जी नहीं सकते; उनके सारे जीवन का प्रवाह कर्मठता का है। खाली बैठाओ, बैठ न सकेंगे, कुछ न कुछ करेंगे। ऊर्जा है, बहती हुई ऊर्जा है--कुछ हर्ज नहीं।

तो सदगुरु कहते हैं कि फिर तुम कर्म के साथ ही ध्यान की औषधि को गटक लो। चलो यही सही। तुमसे कर्म छोड़ते नहीं बनता; ध्यान तो जोड़ सकते हो कर्म में। तुम कहते हो, "कर्म छोड़कर तो मैं क्षण भर नहीं बैठ सकता। बैठ मैं सकता ही नहीं। बैठना मेरे बस में नहीं, मेरा स्वभाव नहीं।"

मनोवैज्ञानिक जिनको एक्स्ट्रोवर्ट कहते हैं--बहिर्मुखी--सदा संलग्न हैं, कुछ न कुछ काम चाहिए; जब तक थककर गिर न जायें, सो न जायें, तब तक कर्म को छोड़ना उन्हें संभव नहीं। कर्म उन्हें स्वाभाविक है।

तो सदगुरु कहते हैं, ठीक है, कर्म पर ही सवारी कर लो, इसी का घोड़ा बना लो! इसी में मिला लो औषधि को और गटक जाओ। असली सवाल औषधि का है। तुम ध्यानपूर्वक कर्म करने लगो। जो भी करो, मूर्च्छा में मत करो, होशपूर्वक करो। करते समय जागे रहो।

फिर कुछ हैं, जो कहते हैं कर्म का तो हम पर कोई प्रभाव नहीं; लेकिन विचार की बड़ी तरंगें उठती हैं। विचारक हैं। कर्म में उन्हें कोई रस नहीं। बाहर में उन्हें कोई उत्सुकता नहीं; मगर भीतर बड़ी तरंगें उठती हैं, बड़ा कोलाहल है। और भीतर वह क्षण भर को निर्विचार नहीं हो पाते। वे कहते हैं कि हम बैठें शांत होकर तो और विचार आते हैं। इतने वैसे नहीं आते जितने शांत होकर बैठकर आते हैं। पूजा, प्रार्थना, ध्यान का नाम ही लेते हैं कि बस विचारों का बड़ा आक्रमण, सेनाओं पर सेनाएं चली आती हैं, डुबा लेती हैं, क्या करें? तो सदगुरु कहते हैं, तुम विचार में ही मिलाकर ध्यान को पी जाओ। विचार को रोको मत; विचार आए तो उसे देखो। उसमें खोओ मत; थोड़े दूर खड़े रहो, थोड़े फासले पर। शांत भाव से देखते हुए विचार को ही धीरे-धीरे तुम साक्षी-भाव को उपलब्ध हो जाओगे। विचार से ही ध्यान को जोड़ दो।

फिर कुछ हैं, वे कहते हैं: न हमें विचार की कोई झंझट है, न हमें कर्म की कोई झंझट है; भाव का उद्रेक होता है, आंसू बहते हैं, हृदय गदगद हो आता है, डुबकी लग जाती है--प्रेम में, स्नेह में, श्रद्धा में, भक्ति में। सदगुरु कहते हैं, इसी को औषधि बना लो; इसी में ध्यान को जोड़ दो। आंसू तो बहें--ध्यानपूर्वक बहें। रोमांच तो हो, लेकिन ध्यानपूर्वक हो। लेकिन सार-सूत्र ध्यान है।

ये जो भक्ति, कर्म और ज्ञान के भेद हैं, ये औषधि के भेद नहीं हैं। औषधि तो एक ही है। और यहीं तुम्हें अष्टावक्र को समझना होगा।

अष्टावक्र कहते हैं, सीधे ही छलांग लगा जाओ। औषधि सीधी ही गटकी जा सकती है। वे कहते हैं, इन साधनों की भी जरूरत नहीं है।

इसलिए अष्टावक्र न तो ज्ञानयोगी हैं, न भक्तियोगी, न कर्मयोगी। वे कहते हैं, सीधे ही साक्षी में उतर जाओ; इन बहानों की कोई जरूरत नहीं है। यह औषधि सीधी ही गटकी जा सकती है। छोड़ो बहाने, वाहन छोड़ो; सीधे ही दौड़ सकते हो, साक्षी सीधे ही हो सकते हो।

इसलिए जहां तक अष्टावक्र का संबंध है, साक्षी और ध्यान में कोई फर्क नहीं; लेकिन जहां तक और पद्धतियों का संबंध है, साक्षी और ध्यान में फर्क है। ध्यान है विधि, साक्षी है मंजिल।

अष्टावक्र के लिए तो मार्ग और मंजिल एक हैं। इसलिए तो वे कहते हैं, अभी हो जाओ आनंदित। जिसकी मंजिल और मार्ग अलग हैं, वह कभी नहीं कह सकता, अभी हो जाओ। वह कहेगा, चलो, लंबी यात्रा है; चढ़ो, तब पहुंचोगे पहाड़ पर। अष्टावक्र कहते हैं, आंख खोलो--पहाड़ पर बैठे हो। कहां जाना, कैसा जाना?

इसलिए अष्टावक्र के सूत्र तो अति क्रांतिकारी हैं। न तो ज्ञान, न भक्ति, न कर्म, तीनों ही इस ऊंचाई पर नहीं पहुंचते हैं; शुद्ध साक्षी की बात है। ऐसा समझो कि दवाई गटकनी तक नहीं है; समझ लेना काफी है। बोध मात्र काफी है। सहारे की कोई जरूरत ही नहीं है। तुम वहां हो ही। लेकिन ऐसा होता है कि कुछ लोग असमर्थ हैं इस बात को मानने में।

एक सूफी कहानी है। एक फकीर सत्य को खोजने निकला। अपने ही गांव के बाहर, जो पहला ही संत उसे मिला, एक वृक्ष के नीचे बैठे, उससे उसने पूछा कि मैं सदगुरु को खोजने निकला हूं, आप बताएंगे कि सदगुरु के लक्षण क्या हैं? उस फकीर ने लक्षण बता दिये। लक्षण बड़े सरल थे। उसने कहा, ऐसे-ऐसे वृक्ष के नीचे बैठा मिले, इस-इस आसन में बैठा हो, ऐसी-ऐसी मुद्रा हो--बस समझ लेना कि यही सदगुरु है।

चला खोजने साधक। कहते हैं तीस साल बीत गये, सारी पृथ्वी पर चक्कर मार चुका। बहुत जगह गया, लेकिन सदगुरु न मिला। बहुत मिले, मगर कोई सदगुरु न था। थका-मांदा अपने गांव वापिस लौटा। लौट रहा था तो हैरान हो गया, भरोसा न आया। वह बूढ़ा बैठा था उसी वृक्ष के नीचे। अब उसको दिखायी पड़ा कि यह तो वृक्ष वही है जो इस बूढ़े ने कहा था, "ऐसे-ऐसे वृक्ष के नीचे बैठा हो।" और यह आसन भी वही लगाये है, लेकिन यह आसन वह तीस साल पहले भी लगाये था। क्या मैं अंधा था? इसके चेहरे पर भाव भी वही, मुद्रा भी वही।

वह उसके चरणों में गिर पड़ा। कहा कि आपने पहले ही मुझे क्यों न कहा? तीस साल मुझे भटकाया क्यों? यह क्यों न कहा कि मैं ही सदगुरु हूं?

उस बूढ़े ने कहा, मैंने तो कहा था, लेकिन तुम तब सुनने को तैयार न थे। तुम बिना भटके घर भी नहीं आ सकते। अपने घर आने के लिए भी तुम्हें हजार घरों पर दस्तक मारनी पड़ेगी, तभी तुम आओगे। कह तो दिया था मैंने, सब बता दिया था कि ऐसे-ऐसे वृक्ष के नीचे, यही वृक्ष की व्याख्या कर रहा था, यही मुद्रा में बैठा था; लेकिन तुम भागे-भागे थे, तुम ठीक से सुन न सके; तुम जल्दी में थे। तुम कहीं खोजने जा रहे थे। खोज बड़ी महत्वपूर्ण थी, सत्य महत्वपूर्ण नहीं था तुम्हें। लेकिन आ गये तुम! मैं थका जा रहा था तुम्हारे लिए बैठा-बैठा इसी मुद्रा में! तीस साल तुम तो भटक रहे थे, मेरी तो सोचो, इसी झाड़ के नीचे बैठा कि किसी दिन तुम आओगे तो कहीं ऐसा न हो कि तब तक मैं विदा हो जाऊं! तुम्हारे लिए रुका था, आ गये तुम! तीस साल तुम्हें भटकना पड़ा--अपने कारण। सदगुरु मौजूद था।

बहुत बार जीवन में ऐसा होता है, जो पास है वह दिखायी नहीं पड़ता; जो दूर है वह आकर्षक मालूम होता है। दूर के ढोल सुहावने मालूम होते हैं। दूर खींचते हैं सपने हमें।

अष्टावक्र कहते हैं कि तुम ही हो वही जिसकी तुम खोज कर रहे हो। और अभी और यहीं तुम वही हो।

कृष्णमूर्ति जो कह रहे हैं लोगों से वह शुद्ध अष्टावक्र का संदेश है। न अष्टावक्र को किसी ने समझा, न कृष्णमूर्ति को कोई समझता है। और तथाकथित साधु-संन्यासी तो बहुत नाराज होते हैं, क्योंकि कृष्णमूर्ति कहते हैं, ध्यान की कोई जरूरत नहीं। बिलकुल ठीक कहते हैं। न भक्ति की कोई जरूरत है, न कर्म की कोई जरूरत है, न ज्ञान की कोई जरूरत है। साधारण साधु-संत बड़े विचलित हो जाते हैं कि कुछ भी जरूरत नहीं! भटका दोगे लोगों को!

भटका ये साधु-संत रहे हैं। कृष्णमूर्ति तो सीधा अष्टावक्र का संदेश ही दे रहे हैं। वे इतना ही कह रहे हैं कि कुछ जरूरत नहीं, क्योंकि जरूरत तो तब होती है जब तुमने खोया होता है। जरा झटकारो धूल, उठो! ठंडे पानी के छींटे आंख पर मार लो, और क्या करना है!

तो अष्टावक्र के दर्शन में तो साक्षी और ध्यान एक ही है, क्योंकि मंजिल और मार्ग एक ही है। लेकिन और सभी मार्गों और प्रणालियों में ध्यान विधि है, साक्षी उसका अंतिम फल है।

"उनसे चित्त-वृत्तियां और अहंकार किस प्रकार विसर्जित होते हैं?"

साक्षी-भाव से चित्त-वृत्तियां और अहंकार विसर्जित नहीं होते; साक्षी-भाव में पता चलता है कि वे कभी थे ही नहीं। विसर्जित तो तब हों जब रहे हों।

तुम ऐसा समझो कि तुम एक अंधेरे कमरे में बैठे हो, समझ रहे हो कि भूत है। तुम्हारा ही कुर्ता टंगा है; मगर भय में और घबड़ाहट में और कल्पना के जाल में तुमने उसमें हाथ भी जोड़ लिए, पैर भी जोड़ लिए, वह खड़ा तुम्हें डरा रहा है! अब कोई कहे कि दीया जला लो तो तुम पूछोगे, दीये के जलने से भूत कैसे दूर होता है? लेकिन दीये के जलने से भूत दूर हो जाता है, क्योंकि भूत है नहीं। होता तब तो दीये के जलने से दूर नहीं होता। दीये के जलने से भूत के दूर होने का क्या लेना-देना? अगर भूत होता ही तो दीये के जलने से दूर न होता। नहीं है; आभास होता है, इसलिए दूर भी हो जाता है।

तुम हजारों ऐसी बीमारियों से पीड़ित रहते हो जो नहीं हैं। इसलिए किसी साधु-संत की राख भी काम कर जाती है। इसलिए नहीं कि तुम्हारी बीमारी का राख से दूर होने का कोई संबंध है। पागल हुए हो? राख से कहीं बीमारियां दूर हुई हैं? नहीं तो सब औषधि-शास्त्र व्यर्थ हो जायें। राख से बीमारी दूर नहीं होती; सिर्फ बीमारी थी, यह खयाल दूर होता है।

मैंने सुना है एक वैद्य के संबंध में। खुद उन्होंने मुझसे कहा। एक आदिवासी क्षेत्र में बस्तर के पास वह रहते हैं। तो बस्तर से दूर देहात से एक आदिवासी आया। वे एक गांव में गये हुए थे-- आदिवासियों का गांव था। वह बीमार था। तो वैद्य के पास लिखने को भी कोई उपाय न था, गांव में न तो फाउंटेन पेन था, न कलम थी, न कागज था। तो पास में पड़े हुए एक खपड़े पर पत्थर के एक टुकड़े से उन्होंने औषधि का नाम लिख दिया और कहा कि बस इसको तू एक महीने भर घोंटकर दूध में मिलाकर पी लेना, सब ठीक हो जायेगा। वह आदमी महीने भर बाद आया, बिलकुल ठीक होकर--स्वस्थ, चंगा! वैद्य ने कहा, दवा काम कर गयी? उसने कहा, गजब की काम कर गयी। अब फिर एक और खपड़े पर लिखकर दे दें।

उन्होंने कहा, तेरा मतलब?

उसने कहा, खपड़ा तो खतम हो गया , घोलकर पी गये! मगर गजब की दवा थी!

अब वह ठीक भी होकर आ गया है! अब वैद्य भी कुछ कहे तो ठीक नहीं। अब कुछ कहना उचित ही नहीं। वे मुझसे कहने लगे, फिर मैंने कुछ नहीं कहा कि जब ठीक ही हो गया, तो जो ठीक कर दे वह दवा। अब इसको और भटकाने में क्या सार है--यह कहना कि पागल, हमने दवा का नाम लिखा था, वह तो तूने खरीदी नहीं! वह प्रिसक्रिप्शन को ही पी गये। मगर काम कर गयी बात। बीमारी झूठी रही होगी। मनोकल्पित रही होगी।

मनोवैज्ञानिक कहते हैं, हमारी सौ में से नब्बे बीमारियां मनोकल्पित हैं। और जैसे-जैसे समझ बढ़ती है, ऐसी संभावना है कि निन्यानबे प्रतिशत मनोकल्पित हो सकती हैं। और एक दिन ऐसी भी घटना घट सकती है कि सौ प्रतिशत बीमारियां मनोकल्पित हों।

इसलिए तो दुनिया में इतने चिकित्सा-शास्त्र काम करते हैं। एलोपैथी लो, उससे भी मरीज ठीक हो जाता है; आयुर्वेदिक लो, उससे भी ठीक हो जाता है; होमियोपैथी, उससे भी ठीक हो जाता है; यूनानी, उससे भी ठीक हो जाता है; नेचरोपैथी से भी ठीक हो जाता है; और गंडेत्ताबीज भी काम करते हैं।

आश्चर्यजनक है, अगर बीमारी वस्तुतः है तो फिर बीमारी को दूर करने का एक विशिष्ट उपाय ही हो सकता है, सब उपाय काम नहीं करेंगे। बीमारी है नहीं। तुम्हें जिस पर भरोसा है, किसी को एलोपैथी पर भरोसा है, काम हो जाता है। बीमारी से ज्यादा डाक्टर का नाम काम करता है।

तुमने कभी खयाल किया, जब भी तुम बड़े डाक्टर को दिखाकर लौटते हो, जेब खाली करके, काफी फीस देकर, आधे तो तुम वैसे ही ठीक हो जाते हो। अगर वही डाक्टर मुफ्त प्रिसक्रिप्शन लिख दे तो तुम्हें असर न होगा। डाक्टर की दवा कम काम करती है, चुकायी गयी फीस ज्यादा काम करती है। एक दफा खयाल आ जाये कि डाक्टर बहुत बड़ा, सबसे बड़ा डाक्टर, बस काफी है।

तुम पूछते हो, "अहंकार और चित्त-वृत्तियां साक्षी-भाव में कैसे विसर्जित होती हैं?"

विसर्जित नहीं होती हैं। होतीं, तो विसर्जित होतीं। साक्षी-भाव में पता चलता है कि अरे पागल, नाहक भटकता था! अपने ही कल्पना के मृगजाल बिछाए, मृगतृष्णाएं बनायीं--सब कल्पना थी। विसर्जित नहीं होती हैं; साक्षी में जागकर पता चलता है, थीं ही नहीं।

"पूर्ण निरहंकार को उपलब्ध हुए बिना क्या समर्पण संभव है?"

यह महत्वपूर्ण प्रश्न है। पूछने वाला कह रहा है, "पूर्ण निरहंकार को उपलब्ध हुए बिना क्या समर्पण संभव है?" लेकिन पूछने वाले का मन शायद अनजाने में चालाकी कर गया है। निरहंकार में तो पूर्ण जोड़ा है, समर्पण में पूर्ण नहीं जोड़ा। पूर्ण निरहंकार के बिना पूर्ण समर्पण संभव नहीं है। जितना अहंकार छोड़ोगे उतना ही समर्पण संभव है। पचास प्रतिशत अहंकार छोड़ोगे तो पचास प्रतिशत समर्पण संभव है। अहंकार का छोड़ना और समर्पण दो बातें थोड़े ही हैं; एक ही बात को कहने के दो ढंग हैं।

तो तुम कहो कि पूर्ण अहंकार को छोड़े बिना तो समर्पण संभव नहीं है--पूर्ण समर्पण संभव नहीं है। धोखा मत दे लेना अपने को। तो सोचो कि समर्पण की क्या जरूरत है, जब पूर्ण अहंकार छूटेगा...! और वह तो कब छूटेगा, कैसे छूटेगा?

जितना अहंकार छूटेगा, उतना समर्पण संभव है। अब पूर्ण की प्रतीक्षा मत करो; जितना बने उतना करो। उतना कर लोगे तो और आगे कदम उठाने की सुविधा हो जायेगी।

जैसे कोई आदमी अंधेरी रात में यात्रा पर जाता है, हाथ में उसके छोटी-सी कंदील है, चार कदम तक रोशनी पड़ती है। वह आदमी कहे कि इससे तो दस मील की यात्रा कैसे हो सकती है? चार कदम तक रोशनी पड़ती है, दस मील तक अंधेरा है--भटक जायेंगे! तो हम उससे कहेंगे, तुम घबड़ाओ मत, चार कदम चलो। जब तुम चार कदम चल चुके होओगे, रोशनी चार कदम आगे बढ़ने लगेगी। कोई दस मील तक रोशनी की थोड़े ही जरूरत है, तब तुम चलोगे। चार कदम काफी हैं। तो जितना अहंकार...रत्ती भर छूटता है, रत्ती भर छोड़ो। रत्ती भर छोड़ने पर फिर रत्ती भर छोड़ने की संभावना आ जायेगी। चार कदम चले, फिर चार कदम तक रोशनी पड़ने लगी।

ऐसी तरकीब खोजकर मत बैठ जाना कि जब पूर्ण अहंकार छूटेगा तब समर्पण करेंगे। फिर तुम कभी न करोगे। तुमने बड़ी कुशलता से बचाव कर लिया। उतना ही समर्पण होगा--यह बात सच है--जितना अहंकार छूटेगा। तो जितना छूटता हो उतना तो कर लो। जितना कमा सको समर्पण, उतना तो कमा लो। शायद उसका स्वाद तुम्हें और तैयार कर दे; उसका आनंद, अहोभाव तुम्हें और हिम्मत दे दे! हिम्मत स्वाद से आती है।

कोई आदमी कहे कि जब तक हम पूरा तैरना न सीख लेंगे तब तक पानी में न उतरेंगे--ठीक कह रहा है; गणित की बात कह रहा है; तर्क की बात कह रहा है। ऐसे बिना सीखे पानी में उतर गये और खा गये डुबकी--ऐसी झंझट न करेंगे! पहले तैरना सीख लेंगे पूरा, फिर उतरेंगे! लेकिन पूरा सीखोगे कहां? गद्दी पर? पूरा तैरना सीखोगे कहां? पानी में तो उतरना ही पड़ेगा। मगर तुमसे कोई नहीं कह रहा है कि तुम सागर में उतर जाओ। किनारे पर उतरो, गले-गले तक उतरो, जहां तक हिम्मत हो वहां तक उतरो। वहां तैरना सीखो। धीरे-धीरे हिम्मत बढ़ेगी। दो-दो हाथ आगे बढ़ोगे--सागर की पूरी गहराई भी फिर तैरी जा सकती है। तैरना आ जाये एक बार! और तैरना आने के लिए उतरना तो पड़ेगा ही। किनारे पर ही उतरो, मैं नहीं कह रहा हूं कि तुम सीधे किसी पहाड़ से और किसी गहरी नदी में उतरो, छलांग लगा लो। किनारे पर ही उतरो। जल के साथ थोड़ी दोस्ती बनाओ। जल को जरा पहचानो। हाथ-पैर तड़फड़ाओ।

तैरना है क्या? कुशलतापूर्वक हाथ-पैर तड़फड़ाना है। तड़फड़ाना सभी को आता है। किसी आदमी को, जो कभी नहीं तैरा उसे भी पानी में फेंक दो तो वह भी तड़फड़ाता है। उसमें और तैरनेवाले में फर्क थोड़ी-सी कुशलता का है, क्रिया का कोई फर्क नहीं है। हाथ-पैर वह भी फेंक रहा है; लेकिन उसका पानी पर भरोसा नहीं

है, अपने पर भरोसा नहीं है। वह डर रहा है कि कहीं डूब न जाऊं। वह डर ही उसे डुबा देगा। जल ने थोड़े ही किसी को कभी डुबाया है।

तुमने देखा मुर्दे ऊपर तैर जाते हैं, मुर्दे पानी पर तैरने लगते हैं! पूछो मुर्दों से, तुम्हें क्या तरकीब आती है? जिंदा थे, डूब गये। मुर्दा होकर तैर रहे हो! मुर्दा डरता नहीं, अब नदी कैसे डुबाए? पानी का स्वभाव डुबाना नहीं है; पानी उठाता है। इसीलिए तो पानी में वजन कम हो जाता है। तुम पानी में अपने से वजनी आदमी को उठा ले सकते हो। बड़ी चट्टान उठा ले सकते हो, पानी में। पानी में चीजों का वजन कम हो जाता है। जैसे जमीन का गुरुत्वाकर्षण है; जमीन नीचे खींचती है, पानी ऊपर उछालता है। पानी का उछालना स्वभाव है। अगर डूबते हो तो तुम अपने ही कारण डूबते हो; पानी ने कभी किसी को नहीं डुबाया। भूलकर भी पानी को दोष मत देना। पानी ने अब तक किसी को नहीं डुबाया।

तुम वैज्ञानिक से पूछ लो; वह भी कहता है यह चमत्कार है कि आदमी डूब कैसे जाते हैं, क्योंकि पानी तो उबारता है। तुम्हारी घबड़ाहट में डूब जाते हो। चीख-पुकार मचा देते हो, मुंह खोल देते हो, पानी पी जाते हो, भीतर वजन हो जाता है--डुबकी खा जाते हो। मरते तुम अपने कारण हो।

तैरने वाला इतना ही सीख लेता है कि अरे, पानी तो उठाता है! उसकी श्रद्धा पानी पर बढ़ जाती है। वह समझ लेता है कि पानी तो वजन कम कर देता है। जितने वजनी हम जमीन पर थे उससे बहुत कम वजनी पानी में रह जाते हैं।

तुमने देखा होगा, कभी तुम बालटी कुएं में डालते हो; जब बालटी भर जाती है और पानी में डूबी होती है तो कोई वजन नहीं होता। खींचो पानी के ऊपर और वजन शुरू हुआ। पानी तो निर्भार करता है, डुबाएगा कैसे? सीखने वाला धीरे-धीरे इस बात को पहचान लेता है। श्रद्धा का जन्म होता है। पानी पर भरोसा आ जाता है कि यह दुश्मन नहीं है, मित्र है। यह डुबाता ही नहीं।

फिर तो कुशल तैराक बिना हाथ-पैर फैलाए, बिना हाथ-पैर चलाए, पड़ा रहता है जल पर-- कमलवत। यह वही आदमी है जैसे तुम हो, कोई फर्क नहीं है; सिर्फ इसमें श्रद्धा का जन्म हुआ! और इसे अपने पर भरोसा आ गया, जल पर भरोसा आ गया--दोनों की मित्रता सध गयी।

ठीक ऐसा ही समर्पण में घटता है। समर्पण में डर यही है कि कहीं हम डूब न जायें, तो किनारे पर उतरो। तुमसे कोई सौ डिग्री समर्पण करने को कह भी नहीं रहा है--एक डिग्री सही। उतर-उतरकर पहचान आएगी, स्वाद बढ़ेगा, रस जगेगा, प्राण पुलकित होंगे, तुम चकित होओगे कि कितना गंवाया अहंकार के साथ! जरा-से समर्पण से कितना पाया! नये द्वार खुले, प्रकाश-द्वार! नयी हवाएं बहीं प्राणों में। नयी पुलक, नयी उमंग! सब ताजात्ताजा है! तुम पहली दफे जीवन को देखोगे। तुम्हें पहली दफा आंखों से धुंध हटेगी; प्रभु का रूप थोड़ा-थोड़ा प्रगट होना शुरू होगा। इधर समर्पण, उधर प्रभु पास आया। क्योंकि इधर तुम मिटना शुरू हुए, उधर प्रभु प्रगट होना शुरू हुआ।

प्रभु दूर थोड़े ही है; तुम्हारे वजनी अहंकार के कारण तुम्हें दिखायी नहीं पड़ता। तुम्हारी आंखें अहंकार से भरी हैं; इसलिए दिखायी नहीं पड़ता। खाली आंखें देखने में समर्थ हो जाती हैं। फिर धीरे-धीरे हिम्मत बढ़ती जाती है--श्रद्धा, आत्म-विश्वास। तुम और-और समर्पण करते हो। एक दिन तुम पूरी छलांग ले लेते हो। एक दिन तुम कहते हो, अब बस बहुत हो गया। अपने को बचाने में ही अपने को गंवाया अब तक, एक दिन समझ में आ जाती है बात; अब डुबा देंगे और डुबाकर बचा लेंगे!

धन्य हैं वे जो डूबने को राजी हैं क्योंकि उनको फिर कोई डुबा नहीं सकता। अभागे हैं वे जो बच रहे हैं, क्योंकि वे डूबे ही हुए हैं; उनकी नाव आज नहीं कल टकराकर डूब जायेगी।

फिर अहंकार और समर्पण की बात में एक बात और खयाल कर लेनी जरूरी है। मन बड़ा चालाक है। वह तरकीबें खोजता है। मन कहता है, "तो पहले कौन? अहंकार का छोड़ना पहले कि समर्पण पहले? पहले समर्पण करें तो अहंकार छूटेगा, कि अहंकार छोड़ें तो समर्पण होगा?"

तुम इस तरह की बातें, बाजार जाते हो अंडा खरीदने, तब तुम नहीं पूछते कि पहले कौन, अंडा कि मुर्गी? अगर तुम यह पूछो तो तुम अंडा खरीदकर कभी घर न आ सकोगे। तुम बस खरीदकर चले आते हो, पूछते नहीं कि पहले कौन, पहले पक्का तो कर लें कि अंडा पहले कि मुर्गी पहले? अंडा या मुर्गी?

बहुत लोगों ने विवाद किये हैं। अंडा-मुर्गी का प्रश्न बड़ा प्राचीन है। पहले कौन आता है? बड़ा कठिन है उत्तर खोज पाना। क्योंकि जैसे ही तुम कहो, अंडा पहले आता है, कठिनाई शुरू हो जाती है, क्योंकि अंडा आया होगा मुर्गी से--तो मुर्गी पहले आ गयी। जैसे ही कहो, मुर्गी आती पहले, वैसे ही मुश्किल फिर खड़ी हो जाती है, क्योंकि मुर्गी आयेगी कैसे बिना अंडे के? यह तो एक वर्तुलाकार चक्कर है।

प्रश्न भूल-भरा है। प्र्श्न भूल-भरा इसलिए है कि मुर्गी और अंडा दो नहीं हैं। मुर्गी और अंडा एक ही चीज की दो अवस्थाएं हैं। आगे-पीछे रखने में, दो कर लेने में तुम प्रश्न को उठा रहे हो। मुर्गी अंडे का एक रूप है--पूरा प्रगट रूप; अंडा मुर्गी का एक रूप है--अप्रगट रूप। जैसे बीज और वृक्ष। ऐसा ही निरहंकार और समर्पण है। कौन पहले--इस विवाद में पड़कर समय मत गंवाना। अगर मुर्गी ले आए तो अंडा भी ले आए। अगर अंडा ले आए तो मुर्गी भी ले आए। एक आ गया तो दूसरा आ ही गया। कहीं से भी शुरू करो। अगर अहंकार छोड़ सकते हो, अहंकार छोड़ने से शुरू करो। अगर अहंकार नहीं छोड़ सकते तो समर्पण करने से शुरू करो। समर्पण किया तो अहंकार छूटा। पूर्ण छूटा, ऐसा मैं कह नहीं रहा हूं। जितना समर्पण किया, उतना छूटा! अगर समर्पण करना मुश्किल मालूम पड़ता है तो अहंकार छोड़ो। जितना छूटेगा अहंकार, उतना समर्पण हो जायेगा।

दुनिया में दो तरह के धर्म हैं। एक हैं निरहंकारिता के धर्म, और एक हैं समर्पण के धर्म। एक हैं मुर्गी पर जोर देने वाले धर्म, एक हैं अंडे पर जोर देने वाले धर्म। दोनों सही हैं, क्योंकि एक आ गया तो दूसरा अपने-आप आ जाता है। जैसे महावीर का धर्म है--जैन धर्म; बुद्ध का धर्म है--बौद्ध धर्म; उनमें समर्पण के लिए कोई जगह नहीं है, सिर्फ अहंकार छोड़ो। समर्पण करोगे कहां? कोई परमात्मा नहीं है, जिसके सामने समर्पण हो सके। महावीर कहते हैं: अशरण! शरण जाने की कोई जगह ही नहीं है। किसकी शरण जाओगे? अशरण में हो जाओ, लेकिन अहंकार छोड़ो।

हिंदू हैं, मुसलमान हैं, ईसाई हैं--वे धर्म समर्पण के धर्म हैं। वे अहंकार छोड़ने की इतनी बात नहीं कहते; वे कहते हैं, परमात्मा पर समर्पण करो। कोई चरण खोज लो--कोई चरण, जहां तुम अपने सिर को झुका सको! अहंकार अपने से चला जायेगा।

दोनों सही हैं, क्योंकि दोनों घटनाएं एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। तुम सिक्के का सीधा हिस्सा घर ले आओ कि उलटा हिस्सा घर ले आओ, इससे क्या फर्क पड़ता है, सिक्का घर आ जाएगा! दोनों ही एक सिक्के के पहलू हैं। पर कहीं से शुरू करना पड़ेगा। बैठकर सिर्फ गणित मत बिठाते रहना।

"गैरिक वस्त्र और माला, ध्यान और साक्षी-साधना में कहां तक सहयोगी हैं?

चाहो तो हर चीज सहयोगी है। चाहो तो छोटी-छोटी चीजों से रास्ता बना ले सकते हो।

कहते हैं, राम ने जब पुल बनाया लंका को जोड़ने को, जब सागर-सेतु बनाया तो छोटी-छोटी गिलहरियां रेत के कण और कंकड़ ले आयीं। उनका भी हाथ हुआ। उन्होंने भी सेतु को बनने में सहायता दी। बड़ी-बड़ी चट्टानें लाने वाले लोग भी थे। छोटी-छोटी गिलहरियां भी थीं; जो उनसे बन सका, उन्होंने किया।

कपड़े के बदल लेने से बहुत आशा मत करना, क्योंकि कपड़े के बदल लेने से अगर सब बदलता होता तो बात बड़ी आसान हो जाती। माला के गले में डाल लेने से ही मत समझ लेना कि बहुत कुछ हो जायेगा, क्रांति

घट जाएगी। इतनी सस्ती क्रांति नहीं है। लेकिन इससे यह भी मत सोच लेना कि यह गिलहरी का उपाय है, इससे क्या होगा? राम ने गिलहरियों को भी धन्यवाद दिया।

ये छोटे-छोटे उपाय भी कारगर हैं। कारगर इस तरह हैं--अचानक तुम अपने गांव वापिस जाओगे गैरिक वस्त्रों में, सारा गांव चौंककर तुम्हें देखेगा। तुम उस गांव में फिर ठीक उसी तरह से न बैठ पाओगे जिस तरह से पहले बैठते थे। तुम उस गांव में उसी तरह से छिप न जाओगे जैसे पहले छिप जाते थे। तुम उस गांव में एक पृथकता लेकर आ गये। हर एक पूछेगा, क्या हुआ है? हर एक तुम्हें याद दिलाएगा कि कुछ हुआ है। हर एक तुमसे प्रश्न करेगा। हर एक तुम्हारी स्मृति को जगायेगा। हर एक तुम्हें मौका देगा पुनः पुनः स्मरण का, साक्षी बनने का।

एक मित्र ने संन्यास लिया। संन्यास लेते वक्त वे रोने लगे। सरल व्यक्ति! और कहा कि बस एक अड़चन है, मुझे शराब पीने की आदत है और आप जरूर कहेंगे कि छोड़ो। मैंने कहा, मैं किसी को कुछ छोड़ने को कहता ही नहीं। पीते हो--ध्यानपूर्वक पीयो!

उन्होंने कहा, क्या मतलब? संन्यासी होकर भी मैं शराब पीऊं?

"तुम्हारी मर्जी! संन्यास मैंने दे दिया, अब तुम समझो।"

वे कोई महीने भर बाद आए। कहने लगे, आपने चालबाजी की। शराब-घर में खड़ा था, एक आदमी आकर मेरे पैर पड़ लिया। कहा, "स्वामी जी कहां से आये?" मैं भागा वहां से--मैंने कहा कि ये स्वामी जी और शराब-घर में!

वह आदमी कहने लगा, आपने चालबाजी की। अब शराब-घर की तरफ जाने में डरता हूं कि कोई पैर वगैरह छू ले या कोई नमस्कार वगैरह कर ले। आज पंद्रह दिन से नहीं गया हूं।

एक स्मृति बनी! एक याददाश्त जगी!

तुम इन गैरिक वस्त्रों में उसी भांति क्रोध न कर पाओगे जैसा कल तक करते रहे थे। कोई चीज चोट करेगी। कोई चीज कहेगी, अब तो छोड़ो! अब ये गैरिक वस्त्रों में बड़ा बेहूदा लगता है।

मैं तुम्हारे लिए गैरिक वस्त्र देकर सिर्फ थोड़ी अड़चन पैदा कर रहा हूं, और कुछ भी नहीं। तुम अगर चोर हो तो उसी आसानी से चोर न रह सकोगे। तुम अगर धन के पागल हो, दीवाने हो, लोभी हो, तो तुम्हारे लोभ में वही बल न रह जायेगा। तुम अगर राजनीति में दौड़ रहे हो, पद की प्रतिष्ठा में लगे थे, अचानक तुम पाओगे कुछ सार नहीं!

ये छोटे-से वस्त्र बड़े प्रतीकात्मक हो जायेंगे। अपने-आप में इनका मूल्य नहीं है, लेकिन इनके साथ जुड़ जाने में तुम धीरे-धीरे पाओगे, बात तो बड़ी छोटी थी, बीज तो बड़ा छोटा था, धीरे-धीरे बड़ा हो गया। धीरे-धीरे उसने सब बदल डाला। तुम्हारे कृत्य बदलेंगे, तुम्हारी आदतें बदलेंगी, तुम्हारे उठने-बैठने का ढंग बदलेगा। तुम्हारे जीवन में एक नया प्रसाद...। लोगों की अपेक्षाएं तुम्हारे प्रति बदलेंगी। लोगों की आंखें तुम्हारे प्रति बदलेंगी।

नाम का परिवर्तन--पुराने नाम से संबंध-विच्छेद हो जायेगा। वस्त्र का परिवर्तन--पुरानी तुम्हारी रूपरेखा से मुक्ति हो जायेगी। यह गले में तुम्हारी माला तुम्हें मेरी याद दिलाती रहेगी। यह मेरे और तुम्हारे बीच एक सेतु बन जायेगी। तुम मुझे भूल न पाओगे इतनी आसानी से। और लोग तुम्हें पृथक करने लगेंगे। और उनका पृथक करना तुम्हारे लिए साक्षी होने में बड़ा सहयोगी हो जायेगा।

लेकिन मैं यह नहीं कह रहा हूं कि इतना कर लेने से सब हो जायेगा, कि बस पहन लिए वस्त्र और माला डाल ली--समझा कि खतम! यात्रा पूरी! तुम पर निर्भर है। ये संकेत जैसे हैं। जैसे मील के किनारे पत्थर लगा होता है, लिखा रहता है कि बारह मील, पचास मील, सौ मील दिल्ली। उस पत्थर से कुछ बड़ा मतलब नहीं है। पत्थर हो या न हो, दिल्ली सौ मील है तो सौ मील है। लेकिन पत्थर पर लिखी हुई लकीर, तीर का चिह्न राही को हलका करता है। वह कहता है, चलो सौ मील ही बचा, पच्चीस मील बचा, पचास मील बचा।

स्विटजरलैंड में मील के पत्थर की जगह मिनिटों के पत्थर हैं। अगर गाड़ी तुम्हारी रुक जाए कहीं किसी पहाड़ी जगह पर तो तुम चकित होकर देखोगे कि बाहर खंभे पर पिछली स्टेशन कितनी दूर है--तीस मिनिट दूर; अगली स्टेशन कितनी दूर--पंद्रह मिनिट दूर! बड़ा महत्वपूर्ण प्रतीक है।

तो अगर स्विस लोग अच्छी घड़ियां बनाने में कुशल हैं तो कुछ आश्चर्य नहीं। समय का उनका बोध बड़ा प्रगाढ़ है। मील नहीं लिखते, समय लिखते हैं। पंद्रह मिनिट दूर! खबर मिलती है कि समय का बोध प्रगाढ़ है इस जाति का।

तुम गैरिक वस्त्र पहने हो, कुछ खबर मिलती है तुम्हारे बाबत। हर चीज खबर देती है। कैसे तुम बैठते हो, कैसे तुम उठते हो, कैसे तुम देखते हो--हर चीज खबर देती है।

सैनिकों को हम ढीले वस्त्र नहीं पहनाते; दुनिया में कोई जाति नहीं पहनाती--पहनाएगी तो हार खाएगी। सैनिक को ढीले वस्त्र पहनाना खतरनाक सिद्ध हो सकता है। सैनिक को हम चुस्त वस्त्र पहनाते हैं--इतने चुस्त वस्त्र, जिनमें वह हमेशा अड़चन अनुभव करता है। और इच्छा होती है कि कब वह इनके बाहर कूद कर निकल जाये। चुस्त वस्त्र झगड़ालू आदत पैदा करते हैं। चुस्त वस्त्र में बैठा आदमी लड़ने को तत्पर रहता है। ढीले वस्त्र का आदमी थोड़ा विश्राम में होता है। सिर्फ सम्राट ढीले वस्त्र पहनते थे, या संन्यासी, या फकीर।

तुमने कभी देखा कि ढीले वस्त्र पहनकर अगर तुम सीढ़ियां चढ़ो तो तुम एक-एक सीढ़ी चढ़ोगे; चुस्त वस्त्र पहनकर चढ़ो, दो-दो एक साथ चढ़ जाओगे। चुस्त वस्त्र पहने हो तो तुम क्रोध से भरे हो; कोई जरा-सी बात कहेगा और बेचैनी खड़ी हो जायेगी। ढीले वस्त्र पहने हो, तुम थोड़े विश्राम में रहोगे।

छोटी-छोटी चीजें फर्क लाती हैं। जीवन छोटी-छोटी चीजों से बनता है। गिलहरियों के द्वारा लाए गए छोटे-छोटे कंकड़-पत्थर जीवन के सेतु को निर्मित करते हैं। क्या तुम खाते हो, क्या तुम पहनते हो, कैसे उठते-बैठते हो, सबका अंतिम परिणाम है। सबका जोड़ हो तुम।

अब एक आदमी चला जा रहा है--चमकीले, भड़कीले, रंगीले वस्त्र पहने--तो कुछ खबर देता है। एक स्त्री चली जा रही है--बेहूदे, अश्लील, शरीर को उभारने वाले वस्त्र पहने--कुछ खबर देती है। एक आदमी ने सीधे-सादे वस्त्र पहने हैं, ढीले, विश्राम से भरे--कुछ खबर मिलती है उस आदमी के संबंध में।

मनोवैज्ञानिक कहते हैं, अगर तुम एक आदमी को आधा घंटा तक चुपचाप देखते रहो--कैसे वस्त्र पहने है, कैसा उठता, कैसा बैठता, कैसा देखता--तो तुम उस आदमी के संबंध में इतनी बातें जान लोगे कि तुम भरोसा न कर सकोगे।

हमारी हर गतिविधि, हर भाव-भंगिमा "हमारी" है। भाव-भंगिमा के बदलने से हम बदलते हैं, हमारे बदलने से भाव-भंगिमा बदलती है।

तो यह तो केवल प्रतीक है। ये तुम्हें साथ देंगे। ये तुम्हारे लिए इशारे बने रहेंगे। ये तुम्हें जागरूक रखने के लिए थोड़ा-सा सहारा हैं।

"और कृपया यह भी समझाएं कि साक्षित्व, जागरूकता और सम्यक स्मृति में क्या अंतर है?"

कोई भी अंतर नहीं है। वे सब पर्यायवाची शब्द हैं। अलग-अलग परंपराओं ने उनका उपयोग किया है। जागरूकता कृष्णमूर्ति उपयोग करते हैं। सम्यक स्मृति, माइंडफुलनेस बुद्ध ने उपयोग किया है। साक्षित्व अष्टावक्र ने, उपनिषदों ने, गीता ने उपयोग किया है। सिर्फ भेद अलग-अलग परंपराओं का है। लेकिन उनके पीछे जिसकी तरफ इशारा है वह एक ही है।

दूसरा प्रश्न: आपके महागीता पर हुए पहले प्रवचन के समय अनेक लोग आंसू बहाकर रो रहे थे। उसका क्या मतलब है? क्या रोने वाले कमजोर मन के लोग हैं या आपकी वाणी का यह प्रभाव है? कृपया इस पर थोड़ा प्रकाश डालें!

एक बात पक्की है कि पूछने वाले कठोर मन के आदमी हैं। आंसुओं में उन्हें सिर्फ कमजोरी दिखायी पड़ी। एक बात पक्की है पूछने वाले व्यक्ति के आंख के आंसू सूख गये हैं, आंखें बंजर हो गयी हैं, मरुस्थल जैसी; उनमें फूल नहीं खिलते। आंसू तो आंख के फूल हैं। पूछने वाले का भाव मर गया है। पूछने वाले का हृदय अवरुद्ध हो गया है। पूछने वाला सिर्फ बुद्धि से जी रहा होगा; उसने भाव की तिलांजलि दे दी। सोच-विचार से जी रहा होगा। प्रेम और करुणा और जीवन की तरफ जो लगाव की, चाहत की, आनंद की संभावना है--उसे इनकार कर दिया होगा। कोई रसधार नहीं बहती होगी। सूखा-साखा मरुस्थल जैसा मन हो गया होगा। इसीलिए पहली बात यह खयाल में आयी कि जो लोग रोते हैं, कमजोर मन के होंगे।

किसने कहा तुम्हें कि रोना कमजोरी का लक्षण है? मीरा खूब रोयी है! चैतन्य की आंखों से झर-झर आंसू बहे! नहीं, कमजोरी के लक्षण नहीं हैं--भाव के लक्षण हैं; भाव की शक्ति के लक्षण हैं। और ध्यान रखना, भाव विचार से गहरी बात है।

मैंने कहा: पहले कर्म की रेखा, फिर विचार की रेखा, फिर भाव की रेखा, फिर साक्षी का केंद्र। भाव साक्षी के निकटतम है। भक्ति भगवान के निकटतम है। कर्म बहुत दूर है। वहां से यात्रा बड़ी लंबी है। विचार भी काफी दूर है। वहां से भी यात्रा काफी लंबी है। भक्ति बिलकुल पास है।

खयाल रखना, आंसू जरूरी रूप से दुख के कारण नहीं होते। हालांकि लोग एक ही तरह के आंसुओं से परिचित हैं जो दुख के होते हैं। करुणा में भी आंसू बहते हैं। आनंद में भी आंसू बहते हैं। अहोभाव में भी आंसू बहते हैं। कृतज्ञता में भी आंसू बहते हैं। आंसू तो सिर्फ प्रतीक हैं कि कोई ऐसी घटना भीतर घट रही है जिसको सम्हालना मुश्किल है--दुख या सुख; कोई ऐसी घटना भीतर घट रही है जो इतनी ज्यादा है कि ऊपर से बहने लगी। फिर वह दुख हो, इतना ज्यादा दुख हो कि भीतर सम्हालना मुश्किल हो जाये तो आंसुओं से बहेगा। आंसू निकास हैं। या आनंद घना हो जाये तो आनंद भी आंसुओं से बहेगा। आंसू निकास हैं।

आंसू जरूरी रूप से दुख या सुख से जुड़े नहीं हैं--अतिरेक से जुड़े हैं। जिस चीज का भी अतिरेक हो जायेगा, आंसू उसी को लेकर बहने लगेंगे।

तो जो रोये, उनके भीतर कुछ अतिरेक हुआ होगा; उनके हृदय पर कोई चोट पड़ी होगी; उन्होंने कोई मर्मर सुना होगा अज्ञात का; दूर अज्ञात की किरण ने उनके हृदय को स्पर्श किया होगा; उनके अंधेरे में कुछ उतरा होगा; कोई तीर उनके हृदय को पीड़ा और आह्लाद से भर गया--रोक न पाये वे अपने आंसू।

मेरे बोलने के प्रभाव से इसका कोई संबंध नहीं, क्योंकि तुम भी सुन रहे थे। अगर मेरे बोलने का ही प्रभाव होता तो तुम भी रोये होते, सभी रोये होते। नहीं! मेरे बोलने से ज्यादा सुनने वाले की हार्दिकता का संबंध है। जो रो सकते थे वे रोए।

और रोना बड़ी शक्ति है। एक बहुत अनूठी दिशा को मनुष्य-जाति ने खो दिया है--विशेषकर मनुष्यों ने खो दिया है, पुरुषों ने; स्त्रियों ने थोड़ा बचा रखा है, स्त्रियां धन्यभागी हैं। मनुष्य की आंख में, पुरुष हो कि स्त्री, एक-सी ही आंसुओं की ग्रंथियां हैं। प्रकृति ने आंसुओं की ग्रंथियां बराबर बनायी हैं। इसलिए प्रकृति का तो निर्देश स्पष्ट है कि दोनों की आंखें रोने के लिए बनी हैं। लेकिन पुरुष के अहंकार ने धीरे-धीरे अपने को नियंत्रण में कर लिया है। धीरे-धीरे पुरुष सोचने लगा है कि रोना स्त्रैण है; सिर्फ स्त्रियां रोती हैं। इस कारण पुरुष ने बहुत कुछ खोया है--भक्ति खोयी, भाव खोया। इस कारण पुरुष ने आनंद खोया, अहोभाव खोया। इस कारण पुरुष ने दुख की भी महिमा खोयी; क्योंकि दुख भी निखारता है, साफ करता है। इस कारण पुरुष के जीवन में एक बड़ी दुर्घटना घटी है।

तुम चकित होओगे, दुनिया में स्त्रियों की बजाय दुगुने पुरुष पागल होते हैं! और यह संख्या बहुत बढ़ जाये, अगर युद्ध बंद हो जायें; क्योंकि युद्ध में पुरुषों का पागलपन काफी निकल जाता है, बड़ी मात्रा में निकल जाता है। अगर युद्ध बिलकुल बंद हो जाएं सौ साल के लिए, तो डर है कि पुरुषों में से नब्बे प्रतिशत पुरुष पागल हो जायेंगे।

पुरुष स्त्रियों से ज्यादा आत्मघात करते हैं--दो गुना। आमतौर से तुम्हारी धारणा और होगी। तुम सोचते होओगे, स्त्रियां ज्यादा आत्मघात करती हैं। बातें करती हैं स्त्रियां, करतीं नहीं आत्मघात। ऐसे गोली वगैरह खाकर लेट जाती हैं, मगर गोली भी हिसाब से खाती हैं। तो स्त्रियां प्रयास ज्यादा करती हैं आत्मघात का, लेकिन सफल नहीं होतीं। उस प्रयास में भी हिसाब होता है। वस्तुतः स्त्रियां आत्मघात करना नहीं चाहतीं--आत्मघात तो उनका केवल निवेदन है शिकायत का। वे यह कह रही हैं कि ऐसा जीवन जीने योग्य नहीं; कुछ और जीवन चाहिए था। वे तो सिर्फ तुम्हें खबर दे रही हैं कि तुम इतने वज्र-हृदय हो गये हो कि जब तक हम मरने को तैयार न हों शायद तुम हमारी तरफ ध्यान ही न दोगे। वे सिर्फ तुम्हारा ध्यान आकर्षित कर रही हैं।

यह बड़ी अशोभन बात है कि ध्यान आकर्षित करने के लिए मरने का उपाय करना पड़ता है। आदमी जरूर खूब कठोर हो गया होगा, पथरीला हो गया होगा।

स्त्रियां मरना नहीं चाहतीं, जीना चाहती हैं। जीने के मार्ग पर जब इतनी अड़चन पाती हैं--कोई सुनने वाला नहीं, कोई ध्यान देने वाला नहीं--तब सिर्फ तुम ध्यान दे सको, इसलिए मरने का उपाय करती हैं।

लेकिन पुरुष जब आत्महत्या करते हैं तो सफल हो जाते हैं। पुरुष पागलपन में आत्महत्या करते हैं। ज्यादा पुरुष मानसिक रूप से रुग्ण होते हैं। कारण क्या होगा? बहुत कारण हैं। मगर एक कारण उनमें आंसू भी हैं। मनोवैज्ञानिक कहते हैं, पुरुषों को फिर से रोना सीखना होगा। यह बल नहीं है, जिसको तुम बल कह रहे हो--यह बड़ी कठोरता है। बल इतना कठोर नहीं होता; बल तो कोमल का है।

तुमने देखा पहाड़ से झरना गिरता है, जलप्रपात गिरता है--कोमल जल! चट्टानें बड़ी सख्त! चट्टानें जरूर सोचती होंगी, हम मजबूत हैं, यह जलधार कमजोर है। लेकिन अंततः जलधार जीत जाती है; चट्टान रेत होकर बह जाती है।

परमात्मा कोमल के साथ है। निर्बल के बल राम!

एक फूल खिला है। पास में पड़ी है एक चट्टान। चट्टान जरूर दिखती है मजबूत; फूल कमजोर। लेकिन तुमने कभी फूल की शक्ति देखी--जीवन की शक्ति! कौन चट्टान को सिर झुकाता है। तुम पत्थर को लेकर तो भगवान के चरणों में चढ़ाने नहीं जाते। तुम चट्टान, सोचकर कि बड़ी मजबूत है, चलो अपनी प्रेयसी को भेंट कर दें, ऐसा तो नहीं करते। फूल तोड़कर ले जाते हो। फूल का बल है! फूल की गरिमा है! उसकी कोमलता उसका बल है। उसका खिलाव उसका बल है। उसका संगीत, उसकी सुगंध उसका बल है। उसकी निर्बलता में उसका बल है। सुबह खिला है, सांझ मुरझा जायेगा--यही उसका बल है। लेकिन खिला है। चट्टान कभी नहीं खिलती--बस है। चट्टान मुर्दा है। फूल जीवंत है; मरेगा, क्योंकि जीया है। चट्टान कभी नहीं मरती, क्योंकि मरी ही है।

कोमल बनो! आंसुओं को फिर से पुकारो! तुम्हारी आंखों को गीत और कविता से भरने दो। अन्यथा तुम वंचित रहोगे बहुत-सी बातों से। फिर तुम्हारा परमात्मा भी एक तर्कजाल रहेगा, हृदय की अनुभूति नहीं; एक सिद्धांत-मात्र रहेगा, एक सत्य का स्वाद और सत्य की प्रतीति नहीं।

जो आंसू बहाकर रोये, वे सौभाग्यशाली हैं, वे बलशाली हैं। उन्होंने फिक्र न की कि तुम क्या कहोगे। उनको भी फिक्र तो लगती है कि लोग क्या कहेंगे। जब कोई आदमी जार-जार रोने लगता है तो उसे भी फिक्र लगती है कि लोग क्या कहेंगे। बल चाहिए रोने को कि फिक्र छोड़े कि लोग क्या कहेंगे। कहने दो। होंगे बदनाम तो हो लेने दो! हमको जी खोलकर रो लेने दो!

जब कोई आदमी रोता है, छोटे बच्चे की तरह बिसूरता है, तो थोड़ा सोचो उसका बल! तुम सबकी फिक्र नहीं की उसने। उसने यह फिक्र नहीं की कि लोग क्या कहेंगे कि मैं यूनिवर्सिटी में प्रोफेसर हूं और रो रहा हूं, कोई विद्यार्थी देख ले! कि मैं इतना बड़ा दुकानदार और रो रहा हूं, कोई ग्राहक देख ले! कि मैं इतना बलशाली पति और रो रहा हूं, और पत्नी पास बैठी है, घर जाकर झंझट खड़ी होगी। कि मैं बाप हूं और रो रहा हूं, और बेटा देख ले! छोटे बच्चे देख लें! सम्हाल लो अपने को।

अहंकार सम्हाले रखता है। यह निरहंकार रोया। अहंकार अपने को सदा नियंत्रण में रखता है। निरहंकार बहता है; उसमें बहाव है।

जे सुलगे ते बुझि गये, बुझे ते सुलगे नाहिं।

रहिमन दाहे प्रेम के, बुझि बुझि के सुलगाहिं।।

अंगारे जलते हैं--जे सुलगे ते बुझि गये--लेकिन एक घड़ी आती है, बुझ जाते हैं, फिर तुम दुबारा उन्हें नहीं जला सकते। राख को किसी ने कभी दुबारा अंगारा बनाने में सफलता पायी?

जे सुलगे ते बुझि गये, बुझे ते सुलगे नाहिं।

फिर एक दफे बुझकर वे कभी नहीं सुलगते। रहिमन दाहे प्रेम के--लेकिन जिनके हृदय में प्रेम का तीर लगा, उनका क्या कहना रहीम!

रहिमन दाहे प्रेम के, बुझि-बुझि के सुलगाहिं।

बार-बार जलते हैं! बार-बार बुझते हैं! फिर-फिर सुलग जाते हैं।

प्रेम की अग्नि शाश्वत है, सनातन है।

जिन्होंने मुझे प्रेम से सुना, वे रो पायेंगे। जिन्होंने मुझे सिर्फ बुद्धि से सुना वे कुछ निष्कर्ष, ज्ञान लेकर जायेंगे। वे राख लेकर जायेंगे--प्रेम का अंगारा नहीं। वे ऐसी राख लेकर जायेंगे जो फिर कभी नहीं सुलगेगी। याद रखना! वह बुझ गयी! वह तो मैंने तुमसे जब कही तब ही बुझ गयी। अगर तुमने बुद्धि में ली तो राख, अगर तुमने हृदय में ले ली तो अंगारा।

इसलिए प्रेम का अंगारा जिनके भीतर पैदा हो जायेगा, वह तो फिर जलेगा, फिर बुझेगा, फिर जलेगा। वह तो तुम्हें खूब तड़फायेगा। वह तो तुम्हें निखारेगा। वह तो तुम्हारे जीवन में सारा रूपांतरण ले आयेगा। दिल खोलकर अगर तुम रो सके तो अंगारा हृदय में पहुंच गया, इसकी खबर थी। अगर न रो सके तो बुद्धि तक पहुंचा। थोड़ी राख इकट्ठी हो जायेगी। तुम थोड़े जानकार हो जाओगे। तुम दूसरों को समझाने में थोड़े कुशल हो जाओगे। वाद-विवाद, तर्क करने में तुम थोड़े निपुण हो जाओगे। बाकी मूल बात चूक गयी। जहां से अंगारा ला सकते थे, वहां से सिर्फ राख लेकर लौट आये। फिर तुम उस राख को चाहे विभूति कहो, कुछ फर्क नहीं पड़ता। राख राख है।

लगी आग, उठे दर्द के राग दिल से
तेरे गम में आतशबयां हो गये हम।
खिरद की बदौलत रहे रास्ते में
गुबारे-पसे-कारवां हो गये हम।

लगी आग, उठे दर्द के राग दिल से--वे आंसू आग लग जाने के आंसू थे।

जब किसी को रोते देखो, उसके पास बैठ जाना! वह घड़ी सत्संग की है, वह घड़ी छोड़ने जैसी नहीं। तुम नहीं रो पा रहे तो कम से कम रोते हुए व्यक्ति के पास बैठ जाना। उसका हाथ हाथ में ले लेना, शायद बीमारी तुम्हें भी लग जाये।

लगी आग, उठे दर्द के राग दिल से

आग लग जाये! ये गैरिक वस्त्र आग के प्रतीक हैं--ये प्रेम की आग के प्रतीक हैं।

तेरे गम में आतशबयां हो गये हम।

और जब तुम्हारे भीतर हृदय में पीड़ा उठेगी, विरह का भाव उठेगा, तुम्हारी श्वास-श्वास में जब अग्नि प्रगट होने लगेगी, आतशबयां...!

तेरे गम में आतशबयां हो गए हम।
खिरद की बदौलत रहे रास्ते में,
बुद्धि की बदौलत तो रास्ते में भटकते रहे!
खिरद की बदौलत रहे रास्ते में

गुबारे-पसे-कारवां हो गये हम।

और बुद्धि के कारण धीरे-धीरे हमारी हालत ऐसी हो गयी, जैसे कारवां गुजरता है, उसके पीछे धूल उड़ती रहती है। हम धूल हो गए।

धूल के अतिरिक्त बुद्धि के हाथ में कभी कुछ लगा नहीं है।

खिरद की बदौलत रहे रास्ते में,

गुबारे-पसे-कारवां हो गये हम।

जो दिल अपना रोशन हुआ कृष्णमोहन

हदें मिट गयीं बेकरां हो गए हम।

जो दिल अपना रोशन हुआ कृष्णमोहन--अगर प्रेम में पड़ जाये चोट, हृदय पर लग जाये चोट, खिल जाये वहां आग का अंगारा...

जो दिल अपना रोशन हुआ कृष्णमोहन

हदें मिट गयीं बेकरां हो गए हम।

उस घड़ी फिर सीमाएं टूट जाती हैं--असीम हो जाते हैं। आंसू असीम की तरफ तुम्हारा पहला कदम है। आंसू इस बात की खबर है कि तुम पिघले, तुम्हारी सख्त सीमाएं थोड़ी पिघलीं, तुम थोड़े नरम हुए, तुम थोड़े गरम हुए, तुमने ठंडी बुद्धि थोड़ी छोड़ी, थोड़ी आग जली, थोड़ा ताप पैदा हुआ! ये आंसू ठंडे नहीं हैं। ये आंसू बड़े गर्म हैं। और ये आंसू तुम्हारे पिघलने की खबर लाते हैं। जैसे बरफ पिघलती है, ऐसे जब तुम्हारे भीतर की अस्मिता पिघलने लगती है तो आंसू बहते हैं।

कतीले-हवस थे तो आतशनफस थे

मुहब्बत हुई, बेजुबां हो गये हम।

जब बुद्धि से भरे थे, वासनाओं से भरे थे, विचारों से भरे थे तो लाख बातें कीं, जबान बड़ी तेज थी...!

कतीले-हवस थे तो आतशनफस थे

मुहब्बत हुई, बेजुबां हो गये हम।

वे आंसू बेजुबान अवस्था की सूचनाएं हैं। जब कुछ ऐसी घटना घटती है कि कहने का उपाय नहीं रह जाता तो न रोओ तो क्या करो? जब जबान कहने में असमर्थ हो जाये तो आंखें आंसुओं से कहती हैं। जब बुद्धि कहने में असमर्थ हो जाये तो कोई नाचकर कहता है। मीरा नाची। कुछ ऐसा हुआ कि कहने को शब्द ने मिले। पद घुंघरू बांध मीरा नाची रे! रोई! जार-जार रोयी! कुछ ऐसा हो गया कि शब्दों में कहना संभव न रहा, शब्द बड़े संकीर्ण मालूम हुए। आंसू ही कह सकते थे--आंसुओं से ही कहा।

नहीं, इस तरह के भाव मन में मत लेना कि वे लोग कमजोर हैं। वे लोग शक्तिशाली हैं। उनकी शक्ति कोमलता की है। उनकी शक्ति संघर्ष की और हिंसा की नहीं है, उनकी शक्ति हार्दिकता की है। क्योंकि अगर तुमने सोचा कि ये लोग कमजोर हैं तो फिर तुम कभी भी न रोओगे। इसलिए तुमसे बार-बार जोर देकर कह रहा हूं, उनको कमजोर मत समझना। उनसेर् ईष्या करो। बार-बार सोचो कि क्या हुआ कि मैं नहीं रो पा रहा हूं।

भाव से भरा व्यक्ति स्वयं के केंद्र के सर्वाधिक निकट है। और जितना ही भाव से भरा व्यक्ति स्वयं के निकट होता है उतनी ही ज्यादा पीड़ा को अनुभव करता है। तुम जितने घर से ज्यादा दूर हो उतने ही घर को भूलने की सुगमता है; जैसे-जैसे घर करीब आने लगता है वैसे-वैसे घर की याद भी आने लगती है। तुम परमात्मा को भूलकर बैठे हो। परमात्मा शब्द तुम्हारे कानों में पड़ता है, लेकिन कोई हलचल नहीं होती है। सुन लेते हो, एक शब्द मात्र है।

परमात्मा शब्द मात्र नहीं है। उसे सुन लेने भर की बात नहीं है। जिसके भीतर कुछ थोड़ी-सी अभी भी जीवन की आग है उसे "परमात्मा" झकझोर देगा--शब्द मात्र झकझोर देगा।

चाहते हो अगर मुझे दिल से

फिर भला किसलिए रुलाते हो?

भक्त सदा परमात्मा से कहते रहे हैं:

चाहते हो अगर मुझे दिल से
फिर भला किसलिए रुलाते हो?
रोशनी के घने अंधेरों में
क्यों नज़र से नज़र चुराते हो?
पास आये न पास आकर भी
पास मुझको नहीं बुलाते हो?
किसलिए आसपास रहते हो?
किसलिए आसपास आते हो?
अगर तुमने मुझे ठीक से सुना तो तुम्हें परमात्मा बहुत बार, बहुत पास मालूम पड़ेगा।
किसलिए आसपास रहते हो?
किसलिए आसपास आते हो?
पास आये न पास आकर भी
पास मुझको नहीं बुलाते हो?
चाहते हो अगर मुझे दिल से
फिर भला किसलिए रुलाते हो?
रोशनी के घने अंधेरों में
क्यों नज़र से नज़र चुराते हो?

जो व्यक्ति भाव में उतर रहा है वह बिलकुल इतने करीब है परमात्मा के कि परमात्मा की आंच उसे अनुभव होने लगती है; नजर में नजर पड़ने लगती है; सीमाएं एक-दूसरे के ऊपर उतरने लगती हैं; एक-दूसरे की सीमा में अतिक्रमण होने लगता है।

यहां जो कहा जा रहा है, वह सिर्फ कहने को नहीं है; वह तुम्हें रूपांतरित करने को है। वह सिर्फ बात की बात नहीं है, वह तुम्हें संपूर्ण रूप से, जड़-मूल से बदल देने की बात है।

तीसरा प्रश्न: धर्म + धारणा या धारणा + धर्म से संस्कृति का निर्माण होता है। और संस्कृति से समाज और उसकी परंपराएं बनती हैं। पूज्यपाद ने बताया कि धर्म सबके खिलाफ है। अगर धर्म सभी के विरोध में रहेगा तो किसी प्रकार की अराजकता होना असंभव है क्या? हमें समझाने की कृपा करें!

धर्म से जो तुम अर्थ समझ रहे हो धारणा का, वैसा अर्थ नहीं है। धारणा, कनसेप्ट धर्म नहीं है। धर्म शब्द बना है जिस धातु से, उसका अर्थ है: जिसने सबको धारण किया है; जो सबका धारक है; जिसने सबको धारा है। धारणा नहीं--जिसने सबको धारण किया है।

यह जो विराट, ये जो चांदत्तारे, यह जो सूरज, ये जो वृक्ष और पक्षी और मनुष्य, और अनंत- अनंत तक फैला हुआ अस्तित्व है--इसको जो धारे हुए है, वही धर्म है।

धर्म का कोई संबंध धारणा से नहीं है। तुम्हारी धारणा हिंदू की है, किसी की मुसलमान की है, किसी की ईसाई की है--इससे धर्म का कोई संबंध नहीं। ये धारणाएं हैं, ये बुद्धि की धारणाएं हैं। धर्म तो उस मौलिक सत्य का नाम है, जिसने सबको सम्हाला है; जिसके बिना सब बिखर जायेगा; जो सबको जोड़े हुए है; जो सबकी समग्रता है; जो सबका सेतु है--वही!

जैसे हम फूल की माला बनाते हैं। ऐसे फूल का ढेर लगा हो और फूल की माला रखी हो--फर्क क्या है? ढेर अराजक है। उसमें कोई एक फूल का दूसरे फूल से संबंध नहीं है, सब फूल असंबंधित हैं। माला में एक धागा पिरोया। वह धागा दिखायी नहीं पड़ता; वह फूलों में छिपा है। लेकिन एक फूल दूसरे फूल से जुड़ गया।

इस सारे अस्तित्व में जो धागे की तरह पिरोया हुआ है, उसका नाम धर्म है। जो हमें वृक्षों से जोड़े है, चांदत्तारों से जोड़े है, जो कंकड़-पत्थरों को सूरज से जोड़े है, जो सबको जोड़े है, जो सबका जोड़ है--वही धर्म है।

धर्म से संस्कृति का निर्माण नहीं होता। संस्कृति तो संस्कार से बनती है। धर्म तो तब पता चलता है जब हम सारे संस्कारों का त्याग कर देते हैं।

संन्यास का अर्थ है: संस्कार-त्याग।

हिंदू की संस्कृति अलग है, मुसलमान की संस्कृति अलग है, बौद्ध की संस्कृति अलग है, जैन की संस्कृति अलग है। दुनिया में हजारों संस्कृतियां हैं, क्योंकि हजारों ढंग के संस्कार हैं। कोई पूरब की तरफ बैठकर प्रार्थना करता है, कोई पश्चिम की तरफ मुंह करके प्रार्थना करता है--यह संस्कार है। कोई ऐसे कपड़े पहनता, कोई वैसे कपड़े पहनता; कोई इस तरह का खाना खाता, कोई उस तरह का खाना खाता--ये सब संस्कार हैं।

दुनिया में संस्कृतियां तो रहेंगी--रहनी चाहिए। क्योंकि जितनी विविधता हो उतनी दुनिया सुंदर है। मैं नहीं चाहूंगा कि दुनिया में बस एक संस्कृति हो--बड़ी बेहूदी, बेरौनक, उबाने वाली होगी। दुनिया में हिंदुओं की संस्कृति होनी चाहिए, मुसलमानों की, ईसाइयों की, बौद्धों की, जैनों की, चीनियों की, रूसियों की--हजारों संस्कृतियां होनी चाहिए। क्योंकि वैविध्य जीवन को सुंदर बनाता है। बगीचे में बहुत तरह के फूल होने चाहिए। एक ही तरह के फूल बगीचे को ऊब से भर देंगे।

संस्कृतियां तो अनेक होनी चाहिए--अनेक हैं, अनेक रहेंगी। लेकिन धर्म एक होना चाहिए, क्योंकि धर्म एक है। और कोई उपाय नहीं है।

तो मैं हिंदू को संस्कृति कहता हूं, मुसलमान को संस्कृति कहता हूं; धर्म नहीं कहता। ठीक है। संस्कृतियां तो सुंदर हैं। बनाओ अलग ढंग की मस्जिद, अलग ढंग के मंदिर। मंदिर सुंदर हैं, मस्जिदें सुंदर हैं। मैं नहीं चाहूंगा कि दुनिया में सिर्फ मंदिर रह जायें और मस्जिदें मिट जायें--बड़ा सौंदर्य कम हो जायेगा। मैं नहीं चाहूंगा कि दुनिया में संस्कृत ही रह जाये, अरबी मिट जाये--बड़ा सौंदर्य कम हो जायेगा। मैं नहीं चाहूंगा कि दुनिया में सिर्फ कुरान रह जाये, वेद मिट जायें, गीता-उपनिषद मिट जायें--दुनिया बड़ी गरीब हो जायेगी।

कुरान सुंदर है; साहित्य की अनूठी कृति है, काव्य की बड़ी गहन ऊंचाई है--लेकिन धर्म से कुछ लेना-देना नहीं। वेद प्रिय हैं; अनूठे उदघोष हैं; पृथ्वी की आकांक्षाएं हैं आकाश को छू लेने की। उपनिषद अति मधुर हैं। उनसे ज्यादा मधुर वक्तव्य कभी भी नहीं दिए गये। वे नहीं खोने चाहिए। वे सब रहने चाहिए--पर संस्कृति की तरह।

धर्म तो एक है। धर्म तो वह है जिसने हम सबको धारण किया--हिंदू को भी, मुसलमान को भी, ईसाई को भी। धर्म तो वह है जिसने पशुओं को, मनुष्यों को, पौधों को, सबको धारण किया है; जो पौधों में हरे धार की तरह बह रहा है; जो मनुष्यों में रक्त की धार की तरह बह रहा है; जो तुम्हारे भीतर श्वास की तरह चल रहा है; जो तुम्हारे भीतर साक्षी की तरह मौजूद है। धर्म ने तो सबको धारण किया है।

इसलिए धर्म को संस्कृति का पर्याय मत समझना। धर्म से संस्कृति का कोई लेना-देना नहीं। इसलिए तो रूस की संस्कृति हो सकती है; वहां कोई धर्म नहीं है। चीन की संस्कृति है; वहां अब कोई धर्म नहीं है। नास्तिक की संस्कृति हो सकती है, आस्तिक की हो सकती है। धर्म से संस्कृति का कोई लेना-देना नहीं है। धर्म तो तुम्हारे रहने-सहने से कुछ वास्ता नहीं रखता, धर्म तो तुम्हारे होने से वास्ता रखता है। धर्म तो तुम्हारा शुद्ध स्वरूप है, स्वभाव है। संस्कृति तो तुम्हारे बाहर के आवरण में, आचरण में, व्यवहार में, इन सब चीजों से संबंध रखती है--कैसे उठना, कैसे बोलना, क्या कहना, क्या नहीं कहना...।

धर्म से कोई परंपरा नहीं बनती। धर्म परंपरा नहीं है। धर्म तो सनातन, शाश्वत सत्य है। परंपराएं तो आदमी बनाता है--धर्म तो है। परंपराएं आदमी से निर्मित हैं; आदमी के द्वारा बनायी गयी हैं। धर्म, आदमी से पूर्व है। धर्म के द्वारा आदमी बनाया गया है। इस फर्क को खयाल में ले लेना।

इसलिए परंपरा को भूल कर भी धर्म मत समझना और धार्मिक व्यक्ति कभी पारंपरिक नहीं होता, ट्रेडीशनल नहीं होता। इसलिए तो जीसस को सूली देनी पड़ी, मंसूर को मार डालना पड़ा, सुकरात को जहर देना पड़ा--क्योंकि धार्मिक व्यक्ति कभी भी परंपरागत नहीं होता। धार्मिक व्यक्ति तो एक महाक्रांति है। वह तो बार-बार सनातन और शाश्वत का उदघोष है। जब भी सनातन और शाश्वत का कोई उदघोष करता है तो परंपरा से बंधे, लकीर के फकीर बहुत घबड़ा जाते हैं। उनको बहुत बेचैनी होने लगती है। वे कहते हैं, इससे तो अराजकता हो जाएगी।

अराजकता अभी है। जिसको तुम कहते हो व्यवस्था, राजकता, वह क्या खाक व्यवस्था है? सारा जीवन कलह से भरा है। सारा जीवन न-मालूम कितने अपराधों से भरा है। और सारा जीवन दुख से भरा है। फिर भी तुम घबड़ाते हो, अराजकता हो जाएगी।

तुम्हारे जीवन में क्या है सिवाय नर्क के? कौन-से सुख की सुरभि है? कौन-से आनंद के फूल खिलते हैं? कौन-सी बांसुरी बजती है तुम्हारे जीवन में? राख ही राख का ढेर है! फिर भी कहते हो, अराजकता हो जायेगी!

धार्मिक व्यक्ति विद्रोही तो होता है, अराजक नहीं। इसे समझना।

धार्मिक व्यक्ति ही वस्तुतः राजक व्यक्ति होता है, क्योंकि उसने संबंध जोड़ लिया अनंत से। उसने जीवन के परम मूल से संबंध जोड़ लिया, अराजक तो वह कैसे होगा? हां, तुमसे संबंध टूट गया, तुम्हारे ढांचे, व्यवस्था से वह थोड़ा बाहर हो गया। उसने परम से नाता जोड़ लिया। उसने उधार से नाता तोड़ दिया, उसने नगद से नाता जोड़ लिया। उसने बासे से नाता तोड़ दिया, उसने ताजे से, नित-नूतन से, नित-नवीन से नाता जोड़ लिया।

तुम्हारी संस्कृति और सभ्यता तो प्लास्टिक के फूलों जैसी है। धार्मिक व्यक्ति का जीवन वास्तविक फूलों जैसा है। प्लास्टिक के फूल फूल जैसे दिखाई पड़ते हैं, वस्तुतः फूल नहीं हैं; मालूम होते हैं; बस दूर से दिखायी पड़ते हैं; धोखा हैं।

तुम अगर इसलिए सत्य बोलते हो क्योंकि तुम्हें संस्कार डाल दिया गया है सत्य बोलने का, तो तुम्हारा सत्य दो कौड़ी का है। तुम अगर इसलिए मांसाहार नहीं करते क्योंकि तुम जैन घर में पैदा हुए और संस्कार डाल दिया गया कि मांसाहार पाप है, इतना लंबा संस्कार डाला गया कि आज मांस को देखकर ही तुम्हें मतली आने लगती है, तो तुम यह मत सोचना कि तुम धार्मिक हो गए। यह केवल संस्कार है। यह व्यक्ति जो जैन घर में पैदा हुआ है और मांसाहार से घबड़ाता है, इसे देखकर मतली आती है, देखने की तो बात, "मांसाहार" शब्द से इसे घबड़ाहट होती है, मांसाहार से मिलती-जुलती कोई चीज देख ले तो इसको मतली आ जाती है, टमाटर देखकर यह घबड़ाता है--यह सिर्फ संस्कार है। अगर यह व्यक्ति किसी मांसाहारी घर में पैदा हुआ होता तो बराबर मांसाहार करता; क्योंकि वहां मांसाहार का संस्कार होता, यहां मांसाहार का संस्कार नहीं है।

संस्कार, कंडीशनिंग तो तुम्हारा बंधन है। मैं तुमसे यह नहीं कह रहा कि मांसाहार करने लगो। मैं तुमसे कह रहा हूं, तुम्हारे भीतर वैसा आविर्भाव हो चैतन्य का, जैसा महावीर के भीतर हुआ! वह संस्कार नहीं था। वह उनका अपना अनुभव था कि किसी को दुख देना अंततः अपने को ही दुख देना है; क्योंकि हम सब एक हैं, जुड़े हैं। यह ऐसे ही है जैसे कोई अपने ही गाल पर चांटा मार ले! देर-अबेर जो हमने दूसरे के साथ किया है, वह हम पर ही लौट आयेगा। महावीर को यह प्रतीति इतनी गहरी हो गयी, यह बोध इतना साकार हो गया कि उन्होंने दूसरे को दुख देना बंद कर दिया। मांसाहार छूटा, इसलिए नहीं कि बचपन से उन्हें सिखाया गया कि मांसाहार पाप है; मांसाहार छूटा उनके साक्षी-भाव में। यह धर्म है।

तुम अगर जैन घर में पैदा हुए और मांसाहार नहीं करते, यह सिर्फ संस्कार है। यह प्लास्टिक का फूल है, असली फूल नहीं। यह जैन को तुम भेज दो अमरीका, यह दो-चार साल में मांसाहार करने लगता है। चारों तरफ मांसाहार देखता है, पहले घबड़ाता है, पहले नाक-भौं सिकोड़ता है, फिर धीरे-धीरे अभ्यस्त होता चला जाता है। फिर उसी टेबल पर दूसरों को मांसाहार करते-करते देखकर धीरे-धीरे इसकी नाक, इसके नासारंध्र मांस की गंध से राजी होने लगते हैं। फिर दूसरी संस्कृति का प्रभाव! वहां हरेक व्यक्ति का कहना कि बिना मांसाहार के कमजोर हो जाओगे। देखो ओलंपिक में तुम्हारी क्या गति होती है बिना मांसाहार के! एक स्वर्णपदक भी नहीं ला पाते। स्वर्णपदक तो दूर, तांबे का पदक भी नहीं मिलता। तुम अपनी हालत तो देखो! हजार साल तक गुलाम रहे, बल क्या है तुममें? तुम्हारी औसत उम्र कितनी है? कितनी हजारों बीमारियां तुम्हें पकड़े हुए हैं!

निश्चित ही मांसाहारी मुल्कों की उम्र अस्सी साल के ऊपर पहुंच गयी है--औसत उम्र, अस्सी- पचासी। जल्दी ही सौ साल औसत उम्र हो जायेगी। यहां तीस-पैंतीस के आसपास हम अटके हुए हैं।

कितनी नोबल प्राइज तुम्हें मिलती हैं? अगर शुद्ध शाकाहार बुद्धि को शुद्ध करता है तो सब नोबल प्राइज तुम्हीं को मिल जानी चाहिए थीं। बुद्धि तो कुछ बढ़ती विकसित होती दिखती नहीं। और जिन रवींद्रनाथ को मिली भी नोबल-प्राइज वे शाकाहारी नहीं हैं, खयाल रखना! एकाध जैन को नोबल प्राइज मिली? क्या, मामला क्या है? तुम दो हजार साल से शाकाहारी हो, दो हजार साल में तुम्हारी बुद्धि अभी तक शुद्ध नहीं हो पायी?

तो मांसाहारी के पास दलीलें हैं। वह कहता है, "तुम्हारी बुद्धि कमजोर हो जाती है, क्योंकि ठीक-ठीक प्रोटीन, ठीक-ठीक विटामिन, ठीक-ठीक शक्ति तुम्हें नहीं मिलती। तुम्हारी देह कमजोर हो जाती है। तुम्हारी उम्र कम हो जाती है। तुम्हारा बल कम हो जाता है।"

अमरीका में तुम रोज देखते हो, खबरें सुनते हो अखबार में कि किसी नब्बे साल के आदमी ने शादी की! तुम हैरान होते हो। तुम कहते हो, यह मामला क्या पागलपन का है! लेकिन नब्बे साल का आदमी भी शादी कर लेता है, क्योंकि अभी भी कामवासना में समर्थ है। यह बल का सबूत है। नब्बे साल के आदमी का भी बच्चा पैदा हो जाता है। यह बल का सबूत है।

तो जैसे ही कोई जाकर पश्चिम की संस्कृति में रहता है, वहां ये सब दलीलें सुनता है और प्रमाण देखता है और उनकी विराट संस्कृति का वैभव देखता है। धीरे-धीरे भूल जाता है...।

महावीर को अगर पश्चिम जाना पड़ता तो वह मांसाहार नहीं करते। वह फूल स्वाभाविक था। वे कहते, ठीक! दो-चार-दस साल कम जीयेंगे, इससे हर्ज क्या! ज्यादा जीने का फायदा क्या है? ज्यादा जीकर तुम करोगे क्या? और थोड़े जानवरों को खा जाओगे, और क्या करोगे! महावीर से अगर किसी ने कहा होता तो वे कहते, जरा लौटकर तो देखो, अगर तुम सौ साल जीये और तुमने जितने जानवर, पशु-पक्षी खाये, उनकी जरा तुम कतार रखकर तो देखो! एक मरघट पूरा का पूरा तुम खा गये! एक पूरी बस्ती की बस्ती तुम खा गये! हड्डियों के ढेर तुमने लगा दिये अपने चारों तरफ! एक आदमी जिंदगी में जितना मांसाहार करता है--हजारों-लाखों पशु-पक्षियों का ढेर लग जायेगा! अगर जरा तुम सोचो कि इतना तुम...इतने प्राण तुमने मिटाये! किसलिए? सिर्फ जीने के लिए? और जीना किसलिए? और पशुओं को मिटाने के लिए?

अगर महावीर से कोई यह कहेगा कि तुम निर्बल हो जाते हो, तो वे कहते, "बल का हम करेंगे क्या? किसी की हिंसा करनी है? किसी को मारना है? कोई युद्ध लड़ना है?" अगर महावीर को कोई कहता कि देखो तुम एक हजार साल गुलाम रहे, तो महावीर कहते हैं: दो स्थितियां हैं, या तो मालिक बनो किसी के या गुलाम। महावीर कहेंगे, मालिक बनने से गुलाम बनना बेहतर--कम से कम तुमने किसी को सताया तो नहीं, सताए गये! बेईमान बनने से बेईमानी झेल लेना बेहतर--कम से कम तुमने किसी के साथ बेईमानी तो न की। चोर बनने से चोरी का शिकार बन जाना बेहतर।

अगर महावीर को कोई कहता कि देखो तुम्हें नोबल प्राइज नहीं मिलती, वे कहते: नोबल प्राइज का करेंगे क्या? ये खेल-खिलौने हैं, बच्चों के खेलने-कूदने के लिए अच्छे हैं। इनका करेंगे क्या? हम कुछ और ही पुरस्कार पाने चले हैं। वह पुरस्कार सिर्फ परमात्मा से मिलता है, और किसी से भी नहीं मिलता। वह पुरस्कार साक्षी के आनंद का है। वह सच्चिदानंद का है! नोबल प्राइज तुम अपनी सम्हालो। तुम बच्चों को दो, खेलने दो। ये खिलौने हैं।

इस संसार का कोई पुरस्कार उस पुरस्कार का मुकाबला नहीं करता जो भीतर के आनंद का है। शरीर जाये, उम्र जाये, धन जाये, सब जाये--भीतर का रस बच जाये बस, सब बच गया! जिसने भीतर का खोया, सब खोया। जिसने भीतर का बचा लिया, सब बचा लिया।

लेकिन जैन साधारणतः जाता है, वह भ्रष्ट होकर आ जाता है। कारण? वह भ्रष्ट था ही! भ्रष्ट होकर आ गया, ऐसा नहीं--कागजी फूल था, झूठी बात थी, संस्कार था।

संस्कृति और धर्म में अंतर समझ लेना। धर्म तुम्हारा स्वानुभव है, और संस्कृति दूसरों के द्वारा सिखायी गयी बातें हैं। लाख कोई कितनी ही व्यवस्था से सिखा दे, दूसरे की सिखायी बात तुम्हें मुक्त नहीं करती, बंधन में डालती है।

तो जब मैं कहता हूं धर्म बगावत है, विद्रोह है, तो मेरा अर्थ है--बगावत परंपरा से, बगावत संस्कार से, बगावत आध्यात्मिक गुलामी से।

लेकिन धार्मिक व्यक्ति अराजक नहीं हो जाता। धार्मिक व्यक्ति अगर अराजक हो जाता है तो इस संसार में फिर कौन लाएगा अनुशासन? धार्मिक व्यक्ति तो परम अनुशासनबद्ध हो जाता है। लेकिन उसका अनुशासन दूसरे ढंग का है। वह भीतर से बाहर की तरफ आता है। वह किसी के द्वारा आरोपित नहीं है। वह स्वस्फूर्त है। वह ऐसा है जैसे झरना फूटता है भीतर की ऊर्जा से। वह ऐसा है जैसे नदी बहती है जल की ऊर्जा से; कोई धक्के नहीं दे रहा है।

तुम ऐसे हो जैसे गले में किसी ने रस्सी बांधी और घसीटे जा रहे हो, और पीछे से कोई कोड़े मार रहा है तो चलना पड़ रहा है।

संस्कार से जीने वाला आदमी जबरदस्ती घसीटा जा रहा है, बे-मन से घसीटा जा रहा है। धार्मिक व्यक्ति नाचता हुआ जाता है। वह मृत्यु की तरफ भी जाता है तो नाचता हुआ जाता है। तुम जीवन में भी घसीटे जा रहे हो। तुम हमेशा अनुभव करते रहते हो, जबरदस्ती हो रही है। तुम हमेशा अनुभव करते रहते हो, कुछ चूक रहे हैं; दूसरे मजा ले रहे हैं, दूसरे मजा भोग रहे हैं।

मेरे पास लोग आते हैं। वे कहते हैं: हम साधु-संत, सीधे-सादे आदमी हैं। बड़ा अन्याय हो रहा है दुनिया में! बेईमान मजा लूट रहे हैं। चोर-बदमाश मजा लूट रहे हैं।

मैं उनसे कहता हूं कि तुम्हें यह खयाल ही उठता है कि वे मजा लूट रहे हैं, यह बात बताती है कि तुम साधु भी नहीं, संत भी नहीं, सरल भी नहीं। तुम हो तो उन्हीं जैसे लोग, सिर्फ तुम्हारी हिम्मत कमजोर है। चाहते तो तुम भी उन्हीं जैसा मजा हो, लेकिन उस मजे के लिए जो कीमत चुकानी पड़ती है वह चुकाने में तुम डरते हो। हो तो तुम भी चोर, लेकिन चोरी करने के लिए हिम्मत चाहिए, वह हिम्मत तुम्हारी खो गयी है। चाहते तो तुम भी हो कि बेईमानी करके धन का अंबार लगा लें, लेकिन बेईमानी करने में कहीं फंस न जाएं, पकड़े न जाएं, इसलिए तुम रुके हो। अगर तुम्हें पक्का आश्वासन दे दिया जाये कि कोई तुम्हें पकड़ेगा नहीं, कोई तुम्हें पकड़ने वाला नहीं है, कोई पकड़ने का डर नहीं है--तुम तत्क्षण चोर हो जाओगे।

धार्मिक व्यक्ति तो दया खाता है उन पर जो बेईमानी कर रहे हैं। क्योंकि वह कहता है: ये बेचारे कैसे परम आनंद से वंचित हो रहे हैं! जो हमें मिल रहा है, वह इन्हें नहीं मिल रहा!

धार्मिक व्यक्तिर् ईष्या नहीं करता अधार्मिक से--दया खाता है। मन ही मन में रोता है कि इन बेचारों का सिर्फ चांदी-सोने के ठीकरे ही जुटाने में सब खो जायेगा। ये मिट्टी के, रेत के घर बना-बनाकर समाप्त हो जाएंगे। जहां अमृत का अनुभव हो सकता था, वहां ये व्यर्थ में ही भटक जायेंगे। उसे दया आती है।र् ईष्या का तो सवाल ही नहीं, क्योंकि उसके पास कुछ विराटतर है। और उसी विराट के कारण उसके जीवन में एक अनुशासन होता है। उस अनुशासन के ऊपर कोई अनुशासन नहीं है।

धार्मिक व्यक्ति विद्रोही है, लेकिन अनुशासनहीन नहीं है। उसका अनुशासन आत्मिक है, आंतरिक है। आत्मानुशासन है उसका अनुशासन।

और जिसको तुम राजकता कहते हो, जिसको तुम व्यवस्था कहते हो, इस व्यवस्था ने दिया क्या है? युद्ध दिये, हिंसा दी, पाप दिये, घृणा दी, वैमनस्य दिया। दिया क्या है?

एक धरती जली है घनों के लिए
प्यार पैदा हुआ तड़पनों के लिए
मित्र मांगे अगर प्राण तो गम नहीं
प्राण हमने दिये दुश्मनों के लिए।
पापियों ने तो हमको बचाया सदा
पाप हमने किए सज्जनों के लिए।
प्रश्न जब भी मिले, सब मुखौटे लगा
उम्र हमको मिली उलझनों के लिए।
भीड़ सपनों की हमने उगायी सदा
बंजरों के नगर निर्जनों के लिए।
किन लुटेरों की दुनिया में हम आ गए
हाथ कटते यहां कंगनों के लिए।
जिंदगी ने निचोड़ा है इतना हमें
बेच डाले नयन दर्शनों के लिए।

यहां है क्या? आंखें तक बिक गयी हैं--इस आशा में कि कभी दर्शन होंगे! आत्मा तक बिक गयी है--इस आशा में कि कभी परमात्मा मिलेगा! यहां पाया क्या है? यहां व्यवस्था है कहां? इससे ज्यादा और अव्यवस्था क्या होगी? सब तरफ घृणा है, सब तरफ वैमनस्य है, सब तरफ गलाघोंट प्रतियोगिता है, सब तरफर् ईष्या है, जलन है। कोई किसी का मित्र नहीं; सब शत्रु ही शत्रु मालूम होते हैं। यहां मिलता तो कुछ भी नहीं, किस बात को तुम व्यवस्था कहते हो?

व्यवस्था तो तभी हो सकती है, जब जीवन में आनंद हो। आनंद एक व्यवस्था लाता है। आनंद के पीछे छाया की तरह आती है व्यवस्था।

स्मरण रखना, दुखी आदमी अराजक होता है। सुखी आदमी अराजक नहीं हो सकता। दुखी आदमी अराजक हो ही जाता है, उसे मिला क्या है? तो वह तोड़ने-फोड़ने में उत्सुक हो जाता है। जिसके जीवन में कुछ भी नहीं मिला, वह नाराजगी में तोड़ने-फोड़ने लगता है। जिसके जीवन में कुछ मिला है, वह इतना धन्यभागी होता है जीवन के प्रति कि तोड़ेगा-फोड़ेगा कैसे?

इस व्यवस्था को, इस धोखे की व्यवस्था को तुम व्यवस्था मत समझ लेना। यह राजनीतिज्ञों की चालबाजी है। और जिन्हें तुम समझते हो कि वे तुम्हारे नेता हैं, जिन्हें तुम समझते हो तुम्हारे राहबर हैं, वे राहजन हैं! वही तुम्हें लूटते हैं।

चलो अब किसी और के सहारे लोगो
बड़े खुदगर्ज हो गए थे किनारे लोगो।
अब तो किनारे का भी सहारा रखना ठीक नहीं मालूम पड़ता।
चलो अब किसी और के सहारे लोगो

बड़े खुदगर्ज हो गये थे किनारे लोगो।
सहारा समझ कर खड़े हो साये में जिनके
ढह पड़ेंगी अचानक वे दीवारें लोगो।
जरूर कुछ करिश्मा हुआ है आज
खंडहर से ही आ रही हैं झंकारें लोगो।
उम्मीद की हदें टूटीं तो ताज्जुब नहीं
म्यान से बाहर हैं तलवारें लोगो।
क्या गुजरेगी सफीने पे, खबर नहीं
अंधड़ से मिल गयी हैं पतवारें लोगो।
क्या गुजरेगी सफीने पे खबर नहीं
अंधड़ से मिल गयी हैं पतवारें लोगो।
हजारों बेबस आहें दफन हैं यहां
महज पत्थरों के ढेर नहीं हैं ये मजारें लोगो।

यहां अंधड़ से मिल गयी हैं पतवारें! यहां जिन्हें तुम समझते हो तुम्हारे सहारे हैं, वे तुम्हारे शोषक हैं। और जिन्हें तुम समझते हो कि व्यवस्थापक हैं, वे केवल तुम्हारी छाती पर सवार हैं।

तुमने कभी खयाल किया, जो भी आदमी पद पर होता है वह व्यवस्था की बात करने लगता है! और जो आदमी पद के बाहर होता है राजनीति में, वह बगावत की बात करने लगता है। पद के बाहर होते ही से बगावत की बात! तब सब गलत है, सब बदला जाना चाहिए। और पद पर होते से ही व्यवस्था की बात! सब ठीक है; बदलाहट खतरनाक है; अनुशासन-पर्व की जरूरत है।

यह सारी दुनिया में सदा से ऐसा होता रहा है। राजनीतिज्ञ को सिर्फ पद का मोह है; न व्यवस्था से मतलब है, न अव्यवस्था से। हां, जब वह व्यवस्था का मालिक नहीं होता, जब खुद के हाथ में ताकत नहीं होती, तब वह कहता है, सब गलत है। तब क्रांति की जरूरत है। और जैसे ही वह पद पर आता है, फिर क्रांति की बिलकुल जरूरत नहीं। क्योंकि क्रांति का काम पूरा हो गया। वह काम इतना था--उसको पद पर लाना--वह काम पूरा हो गया। फिर जो क्रांति की बात करे, वह दुश्मन है।

और वह जो क्रांति की बात कर रहा है, उसको भी क्रांति से कुछ लेना-देना नहीं है। यह बड़ी अदभुत घटना है--दुनिया में रोज घटती है, फिर भी आदमी सम्हलता नहीं।

सब क्रांतिकारी क्रांति-विरोधी हो जाते हैं--पद पर पहुंचते ही। और सब पदच्युत राजनीतिज्ञ क्रांतिकारी हो जाते हैं--पद से उतरते ही। पद में भी बड़ा जादू है। कुर्सी पर बैठे कि व्यवस्था। क्योंकि अब व्यवस्था तुम्हारे हित में है। कुर्सी से उतरे, क्रांति! अब क्रांति तुम्हारे हित में है।

धार्मिक व्यक्ति को न तो व्यवस्था से मतलब है, न क्रांति से। धार्मिक व्यक्ति को आत्मानुशासन से मतलब है। धार्मिक व्यक्ति चाहता है--बाहर के सहारे बहुत खोज लिए, कोई व्यवस्था न आ सकी दुनिया में--अब जागो! अपना सहारा खोजो! अपनी ज्योति जलाओ! बाहर के दीयों के सहारे बहुत चले और भटके--सिर्फ भटके; खाई-खंडहरों में गिरे, लहूलुहान हुए। अब अपनी ज्योति जलाओ और अपने सहारे चलो! नहीं कोई बाहर तुम्हें व्यवस्था दे सकता है। अपनी व्यवस्था तुम स्वयं दो। तुम्हारा जीवन तुम्हारे भीतर के अनुशासन से भरे!

हरि ॐ तत्सत्!

पांचवां प्रवचन

साधना नहीं -- निष्ठा, श्रद्धा

अष्टावक्र उवाच।

देहाभिमानपाशेन चिरं बद्धोऽसि पुत्रक।
बोधोऽहं ज्ञानखंगेन तन्निष्कृत्य सुखी भव।। १४।।
निःसंगो निष्क्रियोऽसि त्वं स्वप्रकाशो निरंजनः।
अयमेव हि ते बंधः समाधिमनुतिष्ठसि।। १५।।
त्वया व्याप्तमिदं विश्वं त्वयि प्रोतं यथार्थतः।
शुद्धबुद्ध स्वरूपस्त्वं मागमः क्षुद्रचित्तताम्।। १६।।
निरपेक्षो निर्विकारो निर्भरः शीतलाशयः।
अगाध बुद्धिरक्षुब्धो भव चिन्मात्रवासनः।। १७।।
साकारमनृतं विद्धि निराकारं तु निश्चलम्।
एतत्तत्त्वोपदेशेन न पुनर्भवसंभवः।। १८।।
यथैवादर्शमध्यस्थे रूपेन्तः परितस्तुसः।
यथैवास्मिन् शरीरेऽन्तः परितः परमेश्वरः।। १९।।
एकं सर्वगतं व्योम बहिरंतर्यथा घटे।
नित्यं निरंतरं ब्रह्म सर्व भूतगणे तथा।। २०।।

पहला सूत्र:

अष्टावक्र ने कहा, "हे पुत्र! तू बहुत काल से देहाभिमान के पाश में बंधा हुआ है। उस पाश को मैं बोध हूं, इस ज्ञान की तलवार से काट कर तू सुखी हो!"

अष्टावक्र की दृष्टि में--और वही शुद्धतम दृष्टि है, आत्यंतिक दृष्टि है--बंधन केवल मान्यता का है। बंधन वास्तविक नहीं है।

रामकृष्ण के जीवन में ऐसा उल्लेख है कि जीवन भर तो उन्होंने मां काली की पूजा-अर्चना की, लेकिन अंततः अंततः उन्हें लगने लगा कि यह तो द्वैत ही है; अभी एक का अनुभव नहीं हुआ। प्रीतिकर है, सुखद है; लेकिन अभी दो तो दो ही बने हैं। कोई स्त्री को प्रेम करता, कोई धन को प्रेम करता, कोई पद को, उन्होंने मां काली को प्रेम किया--लेकिन प्रेम अभी भी दो में बंटा है; अभी परम अद्वैत नहीं घटा। पीड़ा होने लगी। तो वे प्रतीक्षा करने लगे कि कोई अद्वैतवादी, कोई वेदांती, कोई ऐसा व्यक्ति आ जाये जिससे राह मिल सके।

एक परमहंस, "तोतापुरी" गुजरते थे, रामकृष्ण ने उन्हें रोक लिया और कहा, मुझे एक के दर्शन करा दें। तोतापुरी ने कहा, यह कौन-सी कठिन बात है? दो मानते हो, इसलिए दो हैं। मान्यता छोड़ दो!

पर रामकृष्ण ने कहा, मान्यता छोड़नी बड़ी कठिन है। जन्म भर उसे साधा। आंख बंद करता हूं, काली की प्रतिमा खड़ी हो जाती है। रस में डूब जाता हूं। भूल ही जाता हूं कि एक होना है। आंख बंद करते ही दो हो जाता हूं। ध्यान करने की चेष्टा करता हूं, द्वैत हो जाता है। मुझे उबारो!

तो तोतापुरी ने कहा, ऐसा करो जब काली की प्रतिमा बने तो उठाना एक तलवार और दो टुकड़े कर देना। रामकृष्ण ने कहा, तलवार वहां कहां से लाऊंगा?

तो जो तोतापुरी ने कहा, वही अष्टावक्र का वचन है। तोतापुरी ने कहा, यह काली की प्रतिमा कहां से ले आये हो? वहीं से तलवार भी ले आना। यह भी कल्पना है। इसे भी कल्पना से सजाया- संवारा है। जीवन भर

साधा है। जीवन भर पुनरुक्त किया है, तो प्रगाढ़ हो गई है। यह कल्पना ही है। सभी को आंख बंद करके काली तो नहीं आती।

ईसाई आंख बंद करता है, वर्षों की चेष्टा के बाद, तो क्राइस्ट आते हैं। कृष्ण का भक्त आंख बंद करता है तो कृष्ण आते हैं। बुद्ध का भक्त आंख बंद करता है तो बुद्ध आते हैं। महावीर का भक्त आंख बंद करता है तो महावीर आते हैं। जैन को तो क्राइस्ट नहीं आते। क्रिश्चियन को तो महावीर नहीं आते। जो तुम कल्पना साधते हो वही आ जाती है।

रामकृष्ण ने काली को साधा है तो कल्पना प्रगाढ़ हो गई है। बार-बार पुनरुक्ति से, निरंतर-निरंतर स्मरण से कल्पना इतनी यथार्थ हो गई है कि अब लगता है काली सामने खड़ी है। कोई वहां खड़ा नहीं। चैतन्य अकेला है। यहां कोई दूजा नहीं है, दूसरा नहीं है।

तुम आंख करो बंद--तोतापुरी ने कहा--उठाओ तलवार और तोड़ दो।

रामकृष्ण आंख बंद करते, लेकिन आंख बंद करते ही हिम्मत खो जाती: तलवार उठायें, काली को तोड़ने को! भक्त भगवान को काटने को तलवार उठाये, यह बड़ी कठिन बात है!

संसार छोड़ना बड़ा सरल है। संसार में पकड़ने योग्य ही क्या है? लेकिन जब मन की किसी गहन कल्पना को खड़ाकर लिया हो, मन का कोई काव्य जब निर्मित हो गया हो, मन का स्वप्न जब साकार हो गया हो, तो छोड़ना बड़ा कठिन है। संसार तो दुख-स्वप्न जैसा है। भक्ति के स्वप्न, भाव के स्वप्न दुख-स्वप्न नहीं हैं, बड़े सुखद स्वप्न हैं। उन्हें छोड़ें कैसे, तोड़ें कैसे?

आंख से आंसू बहने लगते। गदगद हो जाते। शरीर कंपने लगता। मगर वह तलवार न उठती। तलवार की याद ही भूल जाती। आखिर तोतापुरी ने कहा, बहुत हो गया कई दिन बैठकर। ऐसे न चलेगा। या तो तुम करो या मैं जाता हूं। मेरा समय खराब मत करो। यह खेल बहुत हो गया।

तोतापुरी उस दिन एक कांच का टुकड़ा ले आया। और उसने कहा कि जब तुम मगन होने लगोगे, तब मैं तुम्हारे माथे को कांच के टुकड़े से काट दूंगा। जब मैं यहां तुम्हारा माथा काटूं तो भीतर एक दफा हिम्मत करके उठा लेना तलवार और कर देना दो टुकड़े। बस यह आखिरी है, फिर मैं न रुकूंगा।

तोतापुरी की धमकी जाने की, और फिर वैसा गुरु खोजना मुश्किल होता! तोतापुरी अष्टावक्र जैसा आदमी रहा होगा। जब रामकृष्ण आंख बंद किये, काली की प्रतिमा उभरी और वे मगन होने को ही थे, आंख से आंसू बहने को ही थे, उद्रेक हो रहा था, उमंग आ रही थी, रोमांच होने को ही था, कि तोतापुरी ने लिया माथे पर जहां आज्ञा-चक्र है, वहां लेकर ऊपर से नीचे तक कांच के टुकड़े से माथा काट दिया। खून की धार बह गई। हिम्मत उस वक्त भीतर रामकृष्ण ने भी जुटा ली। उठा ली तलवार, दो टुकड़े कर दिये काली के। काली वहां गिरी कि अद्वैत हो गया, कि लहर खो गई सागर में, कि सरिता उतर गई सागर में। फिर तो कहते हैं, छह दिन उस परम शून्य में डूबे रहे। न भूख रही न प्यास; न बाहर की सुध रही न बुध, सब भूल गये। और जब छह दिन के बाद आंख खोली तो जो पहला वचन कहा वह यही--आखिरी बाधा गिर गई! द लास्ट बैरियर हैज़ फालन।

यह पहला सूत्र कहता है: हे पुत्र! तू बहुत काल से देहाभिमान के पाश में बंधा हुआ, उस पाश को ही अपना अस्तित्व मानने लगा है।

मैं देह हूं! मैं देह हूं!! मैं देह हूं!!!--ऐसा जन्मों-जन्मों तक दोहराया है; दोहराने के कारण हम देह हो गये हैं। देह हम हैं नहीं; यह हमारा अभ्यास है। यह हमारा अभ्यास है, यह हमारा आत्म- सम्मोहन है। हमने इतनी प्रगाढ़ता से माना है कि हम हो गये हैं।

रामकृष्ण के जीवन में एक और उल्लेख है। उन्होंने सभी धर्मों की साधनाएं की हैं। वे अकेले व्यक्ति थे मनुष्य-जाति के इतिहास में जिन्होंने सभी धर्मों के मार्ग से सत्य तक जाने की चेष्टा की। साधारणतः व्यक्ति पहुंच जाता है एक मार्ग से; फिर कौन फिक्र करता है दूसरे मार्गों की! तुम पहाड़ की चोटी पर पहुंच गये; फिर दूसरी पगडंडियां भी लाती हैं या नहीं लाती हैं, कौन फिक्र करता है-- पहुंच ही गये। जो पगडंडी ले आई, ले आई;

बाकी लाती हों न लाती हों, प्रयोजन किसे है! लेकिन रामकृष्ण बार-बार पहाड़ की चोटी पर पहुंचे, फिर-फिर नीचे उतर आये। फिर दूसरे मार्ग से चढ़े। फिर तीसरे मार्ग से चढ़े। वे पहले व्यक्ति हैं, जिन्होंने सभी धर्मों की साधना की और सभी धर्मों से उसी शिखर को पा लिया।

समन्वय की बात बहुतों ने की थी--रामकृष्ण ने पहली दफा समन्वय का विज्ञान निर्मित किया। बहुत लोगों ने कहा था, सभी धर्म सच हैं; लेकिन वह बात की बात थी--रामकृष्ण ने उसे तथ्य बनाया; उसे अनुभव का बल दिया; अपने जीवन से प्रमाणित किया। जब वे इस्लाम की साधना करते थे तो वे ठीक मुसलमान फकीर हो गये। वे भूल गये राम-कृष्ण, "अल्लाहू-अल्लाहू" की आवाज लगाने लगे; कुरान की आयतें सुनने लगे। एक मस्जिद के द्वार पर ही पड़े रहते थे। मंदिर के पास से निकल जाते, आंख भी न उठाते, नमस्कार तो दूर रही। भूल गये काली को।

बंगाल में एक संप्रदाय है: सखी-संप्रदाय। जब रामकृष्ण सखी-संप्रदाय की साधना करते... सखी-संप्रदाय की मान्यता है कि परमेश्वर ही पुरुष है, बाकी सब स्त्रियां; परमेश्वर कृष्ण है, बाकी सब उसकी सखियां हैं। तो सखी-संप्रदाय का पुरुष भी अपने को स्त्री ही मान कर चलता है। लेकिन जो घटना रामकृष्ण के जीवन में घटी वह किसी सखी-संप्रदाय की मान्यता वाले व्यक्ति को कभी नहीं घटी थी। पुरुष मान ले अपने को ऊपर-ऊपर से स्त्री हूं, भीतर तो पुरुष ही बना रहता है, जानता तो है कि मैं पुरुष ही हूं। तो सखी-संप्रदाय के लोग कृष्ण की मूर्ति को लेकर रात बिस्तर पर सो जाते। वही पति हैं। लेकिन इससे क्या फर्क पड़ता है?

लेकिन जब रामकृष्ण ने साधना की तो अभूतपूर्व घटना घटी। बड़े-बड़े वैज्ञानिकों को भी चकित कर दे, ऐसी घटना घटी। छह महीने तक उन्होंने सखी-संप्रदाय की साधना की। तीन महीने के बाद उनके स्तन उभर आये; उनकी आवाज बदल गई; वे स्त्रियों जैसे चलने लगे, स्त्रियों जैसी उनकी मधुर वाणी हो गई। स्तन उभर आये, स्त्रियों जैसे स्तन हो गये! शरीर का पुरुष-ढांचा बदलने लगा।

मगर इतना भी संभव है, क्योंकि स्तन होते तो पुरुष को भी हैं; अविकसित होते हैं। स्त्री के विकसित होते हैं। तो हो सकता है, अविकसित स्तन विकसित हो गये हों। बीज तो है ही। यहां तक कोई बहुत बड़ी घटना नहीं घटी। बहुत पुरुषों के स्तन बढ़ जाते हैं। यह कोई बहुत आश्चर्यजनक बात नहीं। लेकिन छह महीने पूरे होते-होते उनको मासिक-धर्म शुरू हो गया। तब चमत्कार की बात थी! मासिक-धर्म का शुरू हो जाना तो शरीर के पूरे शास्त्र के प्रतिकूल है। ऐसा तो कभी किसी पुरुष को न हुआ था।

यह छह महीने में क्या हुआ? एक मान्यता कि मैं स्त्री हूं--यह मान्यता इतनी प्रगाढ़ता से की गई, यह भाव इतने गहरे तक गुंजाया गया, यह रोएं-रोएं में, कण-कण में शरीर के गूंजने लगा कि मैं स्त्री हूं! इसका विपरीत भाव न रहा। पुरुष की बात ही भूल गई। तो घटना घट गई।

अष्टावक्र कह रहे हैं: हम देह नहीं हैं; हमने माना तो हम देह हो गये हैं। हमने जो मान लिया, हम वही हो गये हैं। संसार हमारी मान्यता है। और मान्यता छोड़ दी तो हम तत्क्षण रूपांतरित हो सकते हैं। छोड़ने के लिए किसी यथार्थ को बदलना नहीं है; सिर्फ एक धारणा को छोड़ देना है। हम वस्तुतः अगर शरीर होते तो बदलाहट बड़ी मुश्किल थी। हम वस्तुतः शरीर नहीं हैं। हम वस्तुतः तो शरीर के भीतर छिपा जो चैतन्य है, वही हैं--वह जो साक्षी, द्रष्टा है।

देहाभिमानपाशेन चिरं बद्धोऽसि पुत्रक।
बोधोऽहं ज्ञानखंगेन तन्निष्कृत्य सुखी भव।।

उठा बोध की तलवार! "मैं बोध-रूप हूं"--उठा ऐसे भाव की तलवार और काट डाल इस धारणा को कि मैं देह हूं! फिर तू सुखी है।

सारे दुख देह के हैं। जन्म है, बीमारी है, बुढ़ापा है, मृत्यु है--सभी देह के हैं। देह के साथ तादात्म्य है तो देह की सारी पीड़ाओं के साथ भी तादात्म्य है। जब देह जराजीर्ण होती है तो हम सोचते हैं, मैं जराजीर्ण हो

गया। जब देह बीमार होती है तो हम सोचते हैं, मैं बीमार हो गया। जब देह मरण के निकट पहुंचती है तो हम घबड़ाते हैं कि मैं मरा। मान्यता--सिर्फ मान्यता!

मैंने सुना है, मुल्ला नसरुद्दीन एक रात सोया अपनी पत्नी के साथ। तब तक उसे कोई बेटा-बेटी न हुए थे। और पत्नी को बड़ी आतुरता थी कि कोई बच्चा हो जाये। सोने ही जा रहे थे कि पत्नी ने कहा कि सुनो तो, अगर हमारे घर बेटा हो जाये तो सुलायेंगे कहां? क्योंकि एक ही बिस्तर है।

तो मुल्ला थोड़ा किनारे सरक गया। उसने कहा कि हम बीच में सुला लेंगे। और पत्नी ने कहा कि अगर दूसरा और हो जाए? तो मुल्ला थोड़ा और सरक गया, उसने कहा उसको भी यहीं सुला लेंगे। कंजूस आदमी! पत्नी ने कहा, अगर तीसरा हो जाये? तो मुल्ला और सरका और कहने ही जा रहा था कि यहां सुला लेंगे कि धड़ाम से नीचे गिरा। उसकी टांग टूट गई। पड़ोस के लोग इकट्ठे हो गये शोरगुल सुनकर। वह चिल्लाया, रोने लगा। पड़ोस के लोगों ने पूछा, क्या हुआ? उसने कहा, जो बेटा अभी हुआ ही नहीं उसने टांग तोड़ दी। और जब मिथ्या बेटा इतना नुकसान कर सकता है तो सच्चे बेटे का क्या कहना! क्षमा मांगता हूं, बेटा-वेटा चाहिए ही नहीं। इतना अनुभव बहुत है।

कभी-कभी, कभी-कभी क्या, अक्सर हम ऐसे ही जीते हैं--मान लेते हैं, फिर मान कर चलने लगते हैं। मान कर चलने लगते हैं तो जीवन में वास्तविक परिणाम होने लगते हैं, मान्यता चाहे झूठी हो। बेटे वहां थे नहीं, लेकिन टांग असली टूट गई। झूठ का भी परिणाम सच हो सकता है। अगर झूठ भी प्रगाढ़ता से मान लिया जाये तो उसके परिणाम यथार्थ में घटित होने लगते हैं।

मनस्विद कहते हैं कि इस जगत में जितनी भिन्नताएं दिखाई पड़ती हैं, ये भिन्नताएं यथार्थ की कम हैं, मान्यता की ज्यादा हैं।

एक मनोवैज्ञानिक हारवर्ड विश्वविद्यालय में प्रयोग कर रहा था। वह एक बड़ी बोतल ठीक से बंद की हुई, सब तरह से पैक की हुई लेकर कमरे में आया, अपनी क्लास में। कोई पचास विद्यार्थी हैं। उसने वह बोतल टेबल पर रखी और उसने विद्यार्थियों को कहा कि इस बोतल में अमोनिया गैस है। मैं एक प्रयोग करना चाहता हूं कि अमोनिया गैस का जैसे ही मैं ढक्कन खोलूंगा तो उस गैस की सुगंध कितना समय लेती है पहुंचने में लोगों तक। तो जिसके पास पहुंचने लगे सुगंध वह हाथ ऊपर ऊठा दे। जैसे ही सुगंध का उसे पता चले, हाथ ऊपर उठा दे। तो मैं जानना चाहता हूं कि कितने सेकेंड लगते हैं कमरे की आखिरी पंक्ति तक पहुंचने में।

विद्यार्थी सजग होकर बैठ गये। उसने बोतल खोली। बोतल खोलते ही उसने जल्दी से अपनी नाक पर रुमाल रख लिया। अमोनिया गैस! पीछे हटकर खड़ा हो गया। दो सेकेंड नहीं बीते होंगे कि पहली पंक्ति में एक आदमी ने हाथ उठाया, फिर दूसरे ने, फिर तीसरे ने; फिर दूसरी पंक्ति में हाथ उठे, फिर तीसरी पंक्ति में। पंद्रह सेकेंड में पूरी क्लास में अमोनिया गैस पहुंच गई। और अमोनिया गैस उस बोतल में थी ही नहीं; वह खाली बोतल थी।

धारणा--तो परिणाम हो जाता है। मान लिया तो हो गया! जब उसने कहा, अमोनिया गैस इसमें है ही नहीं, तब भी विद्यार्थियों ने कहा कि हो या न हो, हमें गंध आई। गंध मान्यता की आई। गंध जैसे भीतर से ही आई, बाहर तो कुछ था ही नहीं। सोचा तो आई।

मैंने सुना है, एक अस्पताल में एक आदमी बीमार है। एक नर्स उसके लिए रस लेकर आई-- संतरे का रस। उस रस लाने वाली नर्स के पहले ही दूसरी नर्स उसे एक बोतल दे गई थी कि इसमें अपनी पेशाब भरकर रख दो--परीक्षण के लिए। वह थोड़ा मजाकिया आदमी था। उसने उस बोतल में संतरे का रस डाल कर रख दिया। जब वह नर्स लेने आई बोतल तो वह जरा चौंकी, क्योंकि यह रंग कुछ अजीब-सा था। तो उस आदमी ने कहा, तुम्हें भी हैरानी होती है, रंग कुछ अजीब-सा है। चलो मैं इसे एक दफा और शरीर में से गुजार देता हूं, रंग ठीक हो जायेगा--वह उठाकर बोतल और पी गया। कहते हैं, वह नर्स बेहोश होकर गिर पड़ी। क्योंकि उसने तो यही सोचा कि यह आदमी पेशाब पीये जा रहा है! फिर से कहता है कि एक दफा और निकाल देते हैं शरीर से तो रंग

सुधर जायेगा, ढंग का हो जायेगा। यह आदमी कैसा है! लेकिन वहां केवल संतरे का रस था। अगर पता हो कि संतरे का ही रस है तो कोई बेहोश न हो जायेगा; लेकिन यह बेहोशी वास्तविक है। यह मान्यता की है।

तुम जीवन में चारों तरफ ऐसी हजारों घटनाएं खोज ले सकते हो, जब मान्यता काम कर जाती है, मान्यता वास्तविक हो जाती है।

मैं शरीर हूं, यह जन्मों-जन्मों से मानी हुई बात है; मान ली तो हम शरीर हो गये। मान ली तो हम क्षुद्र हो गये। मान ली तो हम सीमित हो गये।

अष्टावक्र का मौलिक आधार यही है कि यह आत्म-सम्मोहन है, आटो-हिप्नोसिस है। तुम शरीर हो नहीं गये हो, तुम शरीर हो नहीं सकते हो। इसका कोई उपाय ही नहीं है। जो तुम नहीं हो, वह कैसे हो सकते हो? जो तुम हो, तुम अभी भी वही हो। सिर्फ झूठी मान्यता को काट डालना है।

"उस पाश को, मैं बोध हूं, इस ज्ञान की तलवार से काटकर तू अभी सुखी हो जा।"

ज्ञानखंगेन तत् निष्कृत्य त्वं सुखी भव!

अभी सुख को जगा ले, क्योंकि सारे दुख हमारे उस मान्यता के पिछलग्गू हैं कि हम देह हैं।

बुद्ध भी मरते हैं, लेकिन मृत्यु की कोई पीड़ा नहीं है। रामकृष्ण भी मरते हैं, लेकिन मृत्यु की कोई पीड़ा नहीं है। रमण भी मरते हैं, लेकिन मृत्यु की कोई पीड़ा नहीं है।

रमण जब मरे तो उन्हें कैंसर था। चिकित्सक बहुत चकित थे। बड़ी कठिन बीमारी थी। बड़ी पीड़ादायी बीमारी थी। लेकिन रमण वैसे ही थे जैसे थे; जैसे बीमारी ने कोई भेद ही नहीं लाया; कहीं कोई अंतर ही नहीं पड़ा। चिकित्सक परेशान थे कि यह असंभव है। यह हो कैसे सकता है! मौत द्वार पर खड़ी है और आदमी अविचलित है। चिकित्सकों की बेचैनी हम समझ सकते हैं। इतनी पीड़ा हो रही है और आदमी अविचलित है, निस्तरंग है! उनकी बेचैनी, उनका तर्क हम समझ सकते हैं; क्योंकि शरीर ही हमारे लिए सब कुछ मालूम होता है। जिसको पता चल गया कि मैं शरीर नहीं हूं...मौत आ रही है लेकिन शरीर को आ रही है। और पीड़ा हो रही है, वह भी शरीर में हो रही है। एक नये चैतन्य का आविर्भाव हुआ है जो दूर खड़े होकर देख रहा है। और दूरी शरीर की और चेतना की इतनी है जैसे जमीन और आसमान की दूरी। इससे बड़ी कोई दूरी नहीं है। तुम्हारे भीतर दुनिया में अस्तित्व की सबसे दूर की चीजें मिल रही हैं। तुम क्षितिज हो, जहां जमीन और आसमान मिल रहे हैं।

जायते, अस्ति, वर्द्धते, विपरिणमते, अपक्षीयते, विनश्यति।

"जो उत्पन्न होता है, स्थित है, बढ़ता है, बदलता है, क्षीण होता है और नाश हो जाता है, वह तू नहीं है।"

जो इन सबको देखता है...बचपन देखा तुमने; फिर बचपन को जाते भी देखा! अगर तुम बचपन ही होते तो आज याद भी कौन करता कि बचपन था? तुम बचपन के साथ ही चले गये होते। जवानी देखी। जवानी आते देखी, जाते देखी। अगर तुम जवानी ही होते तो आज कौन याद करता? तुम जवानी के साथ ही चले गये होते। तुमने जवानी आते देखी, जाते देखी--स्वभावतः तुम जवानी से भिन्न हो।

इतनी सीधी-सी बात है, इतनी साफ-सुथरी बात है! तुमने पीड़ा देखी, दर्द उठते देखा, दर्द के बादल घिरते देखे अपने चारों तरफ--फिर पीड़ा को जाते भी देखा; दर्द को विसर्जित होते देखा। तुमने दुख देखा, सुख देखा। कांटा चुभा--पीड़ा देखी। कांटा निकला--निष्पीड़ा हुए, वह भी देखा। तुम देखने वाले हो। तुम पार खड़े हो। तुम अछूते हो। कोई भी घटना तुम्हें छू नहीं पाती। तुम जल में कमलवत हो।

"तू असंग है, क्रियाशून्य है, स्वयं-प्रकाश है और निर्दोष है। तेरा बंधन यही है कि तू समाधि का अनुष्ठान करता है।"

यह अदभुत क्रांतिकारी वचन है। ऐसा क्रांतिकारी वचन दुनिया के किसी शास्त्र में खोजना असंभव है। इसका पूरा अर्थ समझोगे तो गहन अहोभाव पैदा होगा।

पतंजलि ने कहा है, चित्त-वृत्ति का निरोध योग है। यह योग की मान्य धारणा है कि जब तक चित्त-वृत्तियों का निरोध न हो जाये तब तक व्यक्ति स्वयं को नहीं जान पाता। जब चित्त की सारी वृत्तियां शांत हो जाती हैं तो व्यक्ति अपने को जान पाता है।

अष्टावक्र पतंजलि के सूत्र के विरोध में कह रहे हैं।

अष्टावक्र कह रहे हैं, "तू असंग है, क्रिया-शून्य है, स्वयं-प्रकाश है और निर्दोष है। तेरा बंधन यही है कि तू समाधि का अनुष्ठान करता है।"

समाधि का अनुष्ठान हो ही नहीं सकता। समाधि का आयोजन हो ही नहीं सकता, क्योंकि समाधि तेरा स्वभाव है। चित्त-वृति तो जड़ स्थितियां हैं। चित्त-वृत्तियों का निरोध तो ऐसे ही है जैसे किसी आदमी के घर में अंधेरा भरा हो, वह अंधेरे से लड़ने लगे।

इसे थोड़ा समझना! ले आये तलवारें, भाले, लट्ठ और लड़ने लगे अंधेरे से; बुला लिया जवानों को, मजबूत आदमियों को, धक्के देने लगे अंधेरे को--क्या वह जीतेगा कभी? यद्यपि यह परिभाषा सही है कि अंधेरे का न हो जाना प्रकाश है। लेकिन इस परिभाषा में थोड?ा समझ लेना, अंधेरे का न हो जाना प्रकाश है यह सच है; चित्त-वृत्तियों का शून्य हो जाना योग है यह सच है; लेकिन बात को उलटी तरफ से मत पकड़ लेना। अंधेरे का न हो जाना प्रकाश है, इसलिए अंधेरे को न करने में मत लग जाना। वस्तुतः स्थिति दूसरी तरफ से है। प्रकाश का हो जाना अंधेरे का न हो जाना है। तुम प्रकाश जला लेना, अंधेरा अपने-आप चला जायेगा। अंधेरा है ही नहीं। अंधेरा केवल अभाव है। पतंजलि कहते हैं, चित्त-वृत्तियों को शांत करो तो तुम आत्मा को जान लोगे। अष्टावक्र कहते हैं, आत्मा को जान लो, चित्त-वृत्तियां शांत हो जायेंगी। आत्मा को जाने बिना तुम चित्त-वृत्तियों को शांत कर भी न सकोगे। आत्मा को न जानने के कारण ही तो चित्त-वृत्तियां उठ रही हैं। समझा अपने को कि मैं शरीर हूं तो शरीर की वासनाएं उठती हैं। समझा अपने को कि मैं मन हूं तो मन की वासनाएं उठती हैं। जिसके साथ तुम जुड़ जाते हो उसी की वासनाएं तुममें प्रतिछायित होती हैं, प्रतिबिंबित होती हैं। तुम जिसके पास बैठ जाते हो, उसी का रंग तुम पर चढ़ जाता है।

जैसे स्फटिक मणि को कोई रंगीन पत्थर के पास रख दे, तो रंगीन पत्थर का रंग मणि पर झलकने लगता है। लाल पत्थर के पास रख दो, मणि लाल मालूम होने लगती है। नीले पत्थर के पास रख दो, मणि नीली मालूम होने लगती है। यह सान्निध्य-दोष है। मणि नीली हो नहीं जाती, सिर्फ प्रतीत होती है।

अंधेरा केवल प्रतीत होता है, है नहीं। प्रकाश के न होने का नाम अंधेरा है। अंधेरे की अपनी कोई सत्ता नहीं, अपना कोई वास्तविक अस्तित्व नहीं। तो तुम अंधेरे से मत लड़ने लगना।

योग और अष्टावक्र की दृष्टि बड़ी विपरीत है। इसलिए मैंने कहा, अगर अष्टावक्र को समझना हो तो कृष्णमूर्ति को समझने की कोशिश करना। कृष्णमूर्ति अष्टावक्र का आधुनिक संस्करण हैं। ठीक आधुनिक भाषा में, आज की भाषा में कृष्णमूर्ति जो कह रहे हैं, वह शुद्ध अष्टावक्र का सार है। कृष्णमूर्ति के मानने वाले ऐसा सोचते हैं कि कृष्णमूर्ति कोई नयी बात कह रहे हैं। नयी बात कहने को है ही नहीं। जो भी कहा जा सकता है, कहा जा चुका है। जितने जीवन के पहलू हो सकते हैं, सब छाने जा चुके हैं। अनंत काल से आदमी खोज कर रहा है। इस सूरज के नीचे नया कहने को कुछ है ही नहीं। केवल भाषा बदलती है, आवरण बदलते हैं, वस्त्र बदलते हैं! समय के अनुसार नयी धारणाओं का प्रयोग बदलता है। लेकिन जो कहा जा रहा है, वह ठीक वही है।

अष्टावक्र की भाषा अति प्राचीन है। कृष्णमूर्ति की भाषा अति नवीन है। लेकिन जो थोड़ा भी समझ सकता है, उसे दिखाई पड़ जायेगा कि बात तो वही है।

कृष्णमूर्ति कहते हैं, योग की कोई जरूरत नहीं, ध्यान की कोई जरूरत नहीं, जपत्तप की कोई जरूरत नहीं। ये सब अनुष्ठान हैं। अनुष्ठान उसके लिए करना होता है, जो हमारा स्वभाव नहीं है, स्वभाव को पाने के लिए क्या अनुष्ठान करना है? सब अनुष्ठान छोड़ कर अपने में झांक लो, स्वभाव प्रगट हो जायेगा।

"तू असंग है, क्रिया-शून्य है, स्वयं-प्रकाश और निर्दोष है!" --यह घोषणा तो देखो!

अष्टावक्र कहते हैं, तू निर्दोष है, इसलिए तू भूलकर भी यह मत समझना कि मैं पापी हूं। लाख तुम्हारे साधु-संत कहे चले जायें कि तुम पापी हो, पाप का प्रक्षालन करो, पश्चात्ताप करो, बुरे कर्म किये हैं उनको छुड़ाओ--अष्टावक्र का वचन ध्यान में रखना: तू क्रिया-शून्य है, इसलिए कर्म तो तू करेगा कैसे?

अष्टावक्र कहते हैं: जीवन में छह लहरें हैं, षट ऊर्मियां। भूख-प्यास, शोक-मोह, जन्म-मरण ये छह तरंगें हैं। भूख-प्यास शरीर की तरंगें हैं। अगर शरीर न हो तो न तो भूख होगी न प्यास होगी। ये शरीर की जरूरतें हैं। जब शरीर स्वस्थ होता है तो ज्यादा भूख लगती है, जब शरीर बीमार होता है तो ज्यादा भूख नहीं लगती। अगर शरीर को धूप में खड़ा करोगे, ज्यादा प्यास लगेगी क्योंकि पसीना उड़ जायेगा। गरमी में ज्यादा प्यास लगेगी, सर्दियों में कम प्यास लगेगी। ये शरीर की जरूरतें हैं, ये शरीर की तरंगें हैं। भूख-प्यास--शरीर की। शोक-मोह--मन की।

कोई छूट जाता है तो दुख होता, क्योंकि मन पकड़ लेता है, राग बना लेता है। कोई मिल जाता, प्रियजन, तो सुख होता। कोई प्रियजन छूट जाता तो दुख होता। कोई अप्रियजन मिल जाता है तो दुख होता है; अप्रियजन छूट जाता है तो सुख होता है। लेकिन ये मन के खेल हैं; आसक्ति और विरक्ति के खेल हैं; आकर्षण और विकर्षण के खेल हैं। जिस आदमी के भीतर मन न रहा, उसके भीतर फिर कोई शोक नहीं, कोई मोह नहीं। ये तरंगें मन की हैं।

और जन्म-मरण...जन्म-मरण तरंगें प्राण की हैं। जन्म होता श्वास के साथ; मृत्यु होती श्वास के विदा होने के साथ। इसलिए जैसे ही बच्चा पैदा होता है, डाक्टर फिक्र करता है कि बच्चा जल्दी श्वास ले, रोये। रोने का अर्थ केवल इतना ही है कि रोयेगा तो श्वास ले लेगा। रोने के झटके में श्वास का द्वार खुल जायेगा। रोने के झटके में बंद फेफड़ा काम करने लगेगा। अगर बच्चा नहीं रोता कुछ सेकेंड के भीतर तो डाक्टर उसे उलटा लटका कर उस पर चोट करता है, बच्चे के ऊपर, ताकि धक्के में श्वास चल पड़े। श्वास जन्म है। श्वास यानी प्राण की प्रक्रिया। जब आदमी मरता है तो श्वास समाप्त हो जाती है। प्राण की प्रक्रिया बंद हो गई। प्रतिपल यही हो रहा है। श्वास भीतर आती है तो जीवन भीतर आता है। श्वास बाहर जाती है तो जीवन बाहर जाता है।

प्रतिपल जन्म और मृत्यु घट रही है। हर आती श्वास जीवन है। हर जाती श्वास मौत है। तो मौत और जन्म तो प्रतिपल घट रहे हैं। ये प्राण की तरंगें हैं।

अष्टावक्र कहते हैं, ये षट ऊर्मियां हैं; तुम इन छहों के पार हो, इनके द्रष्टा हो।

इसलिए बुद्ध ने तो श्वास पर ही सारी की सारी अपनी साधना की व्यवस्था खड़ी की। बुद्ध ने कहा, एक ही काम पर्याप्त है कि तुम आती-जाती श्वास को देखते रहो। क्या होगा आती-जाती श्वास को देखने से? धीरे-धीरे अगर तुम जाती श्वास को देखो कि श्वास बाहर गई, आती श्वास को देखो श्वास भीतर आई, तो बीच में तुम थोड़े समय ऐसे भी पाओगे जब श्वास थिर हो जाती है; न तो बाहर जाती न भीतर आती। हर आती-जाती श्वास के बीच में क्षण भर को अंतराल है--जब श्वास न चलती, न हिलती, न डुलती। बाहर जाती, फिर क्षण भर को रुकती, फिर भीतर आती। भीतर आती, फिर क्षण भर को रुकती, फिर बाहर जाती। तो अंतराल तुम्हें दिखाई पड़ने लगेंगे। उन्हीं अंतराल में तुम पाओगे कि तुम हो; श्वास का आना-जाना तो प्राण का खेल है। और अगर तुम श्वास को देखने में समर्थ हो गये तो वह जो देखने वाला है वह श्वास से पृथक हो गया। वह श्वास से अलग हो गया।

शरीर हमारी बाहर की परिधि है; मन उसके भीतर की परिधि है; प्राण उसके और भी भीतर की परिधि है। तो ऐसा भी हो सकता है, शरीर अपंग हो जाये, टूट-फूट जाये तो भी आदमी जीता है। मन खंडित हो जाये, विक्षिप्त हो जाये, जड़ हो जाये, तो भी आदमी जीता है। लेकिन बिना श्वास के आदमी नहीं जीता। मस्तिष्क भी निकाल लो आदमी का पूरा का पूरा, तो भी आदमी जीये चला जाता है। पड़ा रहेगा, मगर जीवन रहेगा। शरीर के अंग-अंग काट डालो, बस श्वास भर चलती रहे, तो आदमी जीता रहेगा। श्वास बंद हो जाये तो सब मौजूद हो तो भी आदमी मर गया। ये छह तरंगें हैं और इन छह के पार द्रष्टा है।

"तू असंग है।"

कोई तेरा संगी-साथी नहीं। शरीर भी तेरा संगी-साथी नहीं, श्वास भी तेरी संगी-साथी नहीं, मन के विचार भी तेरे संगी-साथी नहीं। तू असंग है। भीतर भी कोई साथी नहीं, बाहर की तो बात ही क्या! पति-पत्नी, परिवार, मित्र, प्रियजन कोई साथी नहीं। साथ होंगे, संगी कोई भी नहीं। साथ होना केवल बाह्य घटना है। भीतर से किसी से कोई जोड़ बनता नहीं।

"तू असंग, क्रिया-शून्य है।"

इसलिए कर्म के जाल की तो बात ही मत उठाओ। अगर अष्टावक्र से तुम यह पूछोगे कि आप कहते हो अभी-अभी हो सकती है मुक्ति, तो कर्मों का क्या होगा? जन्म-जन्म तक पाप किये, उनका क्या होगा? उनसे छुटकारा कैसे होगा? अष्टावक्र कहते हैं, तुमने कभी किये ही नहीं। भूख के कारण शरीर ने किया होगा कुछ। प्राण के कारण प्राण ने किया होगा कुछ। मन के कारण मन ने किया होगा कुछ। तुमने कभी कुछ नहीं किया। तुम सदा से असंग हो; अकर्म में हो। कर्म तुमसे कभी हुआ नहीं; तुम सारे कर्मों के द्रष्टा हो। इसलिए इसी क्षण मुक्ति हो सकती है।

खयाल करना, अगर कर्मों के सारे जाल को हमें तोड़ना पड़े तो शायद मुक्ति कभी भी न हो सकेगी। असंभव है। अनंत काल में हमने कितने कर्म किये, उनका कुछ लेखा-जोखा करो। अगर उन सब कर्मों से छूटना पड़े तो उन कर्मों से छूटने में अनंत काल लगेगा। और यह जो अनंत काल छूटने में लगेगा, इसमें भी तुम बैठे थोड़े ही रहोगे, कुछ तो करोगे। तो कर्म तो फिर होते चले जायेंगे। तो यह शृंखला तो अंतहीन हो जायेगी। इस शृंखला की तो कभी कोई समाप्ति आने वाली नहीं; इसमें से कोई निष्कर्ष आने वाला नहीं।

अष्टावक्र कहते हैं, अगर कर्मों से मुक्त होना पड़े, फिर मुक्ति होती हो, तो मुक्ति कभी होगी ही नहीं। लेकिन मुक्ति होती है। मुक्ति का होना इस बात का सबूत है कि आत्मा ने कर्म कभी किये ही नहीं। न तो तुम पापी हो न तुम पुण्यात्मा हो; न तुम साधु हो न तुम असाधु हो। न तो कहीं कोई नर्क है और न कहीं कोई स्वर्ग है। तुमने कभी कुछ किया नहीं; तुमने सिर्फ सपने देखे हैं; तुमने सिर्फ सोचा है। तुम भीतर सोये रहे, शरीर करता रहा। जिन शरीरों ने कर्म किये थे, वे जा चुके। उनका फल तुम्हारे लिए कैसा। तुम तो भीतर सोये रहे, मन ने कर्म किये। जिस मन ने किये वह प्रतिपल जा रहा है।

मैंने सुना है, एक भूतपूर्व महाराजा ने देखा कि ड्राइंग-रूम गंदा है। तो नौकर झनकू को डांटा। कहा, बैठक में मकड़ी के जाले लगे हैं। तुम दिन भर क्या करते हो?

झनकू ने कहा, हुजूर! जाला कौनो मकड़ी लगाई होई। हम तो अपन कोठरिया में औंघात रहे!

तुम तो औंघाते रहे भीतर, जाला कौनो मकड़ी लगाई होई। शरीर ने जाले बुने, मन ने जाले बुने, प्राण ने जाले बुने--तुम तो सोये रहे। जागो! जागते ही तुम पाओगे तुमने तो कभी कुछ किया नहीं। तुम तो करना भी चाहो तो कुछ कर नहीं सकते। अकर्म तुम्हारा स्वभाव है। अकर्ता तुम्हारी स्वाभाविक दशा है।

"तू असंग, क्रिया-शून्य, स्वयं-प्रकाश और निर्दोष है।"

यह सुनी घोषणा? तू निर्दोष है! तो जो कुछ तुम्हें सिखाया हो पंडितों ने, पुरोहितों ने--फेंको! तुम निर्दोष हो। उनकी सिखावन ने बड़े खतरे किये हैं; तुम्हें पापी बना दिया। तुम्हें हजार तरह की बातें सिखा दीं कि तुम ऐसे बुरे हो। तुम में दीनता भर दी और अपराध का भाव भर दिया। तुम निर्दोष हो, निरपराधी हो।

"तेरा बंधन यही है कि तू समाधि का अनुष्ठान करता है।"

इस वचन की क्रांति तो देखो! तेरा बंधन यही है कि तू समाधि का अनुष्ठान करता है--कि तू आयोजन करता है कि समाधि कैसे फले, फूल कैसे लगें ध्यान के, मुक्ति कैसे हो? अनुष्ठान!

ते बंधः हि समाधिम् अनुतिष्ठसि!

यही तेरा बंधन है। उठा तलवार बोध की और काट दे!

तो यहां तुम्हें साफ हो जायेंगी दो बातें कि योग का एक मार्ग है और बोध का बिलकुल दूसरा मार्ग है। बोध के मार्ग का प्राचीन नाम है सांख्य। सांख्य का अर्थ होता है: बोध। योग का अर्थ होता है: साधन। सांख्य का अर्थ होता है: सिर्फ जागना है बस, कुछ करना नहीं है। योग का अर्थ होता है: बहुत कुछ करना है, तब जागरण घटेगा। योग में साधन हैं; सांख्य में सिर्फ साध्य है। मार्ग नहीं है, केवल मंजिल है। क्योंकि मंजिल से तुम कभी गये ही नहीं कहीं और, तुम अपने भीतर के मंदिर में ही बैठे हो। आना नहीं है वापिस; इतना ही जानना है कि कभी गये ही नहीं।

निःसंगो निष्क्रियोऽसि त्वं स्वप्रकाशो निरंजनः।

अयमेव हि ते बंधः समाधिमनुतिष्ठसि।

बस इतना ही बंधन है कि तुम मोक्ष खोज रहे हो। मोक्ष की खोज से नये बंधन निर्मित होते हैं।

एक आदमी संसार में बंधा है, फिर घबड़ा जाता है तो मोक्ष खोजने लगता है--तो इधर से घर-द्वार छोड़ता है, परिवार छोड़ता है, धन-दुकान छोड़ता है, फिर नये बंधनों में बंध जाता है--साधु हो गया। अब ऐसे उठो, ऐसे बैठो, ऐसे खाओ, ऐसे पीयो--अब नये बंधन अपने चारों तरफ रच लेता है।

तुमने देखा, साधुओं की हालत कैदियों जैसी है! साधु मुक्त नहीं है। क्योंकि साधु सोच रहा है, मुक्ति के लिए पहले तो बंधन करने पड़ेंगे। यह भी खूब मजे की बात है! मुक्ति के लिए पहले बंधन मानने पड़ेंगे। मुक्त होने के लिए कोई बंधन नहीं चाहिए।

कृष्णमूर्ति की एक किताब है: द फर्स्ट एंड द लास्ट फ्रीडम--पहली और अंतिम मुक्ति। वह अष्टावक्र का आधुनिकतम वक्तव्य है।

अगर मुक्त होना है तो पहले ही चरण पर मुक्त हो जाओ। यह मत सोचो कि अंत में मुक्त होएंगे। पहले चरण पर ही मुक्त होना है; दूसरे चरण पर नहीं। क्योंकि अगर पहले ही चरण पर सोचा कि तैयारी करेंगे मुक्त होने की, तो उसी तैयारी में नये बंधन निर्मित हो जायेंगे। फिर उन नये बंधनों से छूटने के लिए फिर तैयारी करनी पड़ेगी। उस तैयारी में फिर नये बंधन निर्मित हो जायेंगे। तो तुम एक से छूटोगे, दूसरे से बंधोगे। कुएं से बचोगे, खाई में गिरोगे।

तो तुम देखो, गृहस्थ बंधा है और संन्यस्त बंधे हैं! दोनों के बंधन अलग-अलग हैं। मगर फर्क कुछ नहीं है। ऐसा लगता है कि मौलिक मूर्च्छा जब तक नहीं टूटती, तुम जो भी करोगे बंधन होगा।

मैंने सुना है कि एक आदमी की स्त्री भाग गयी, तो उसे खोजने निकला। खोजते-खोजते जंगल में पहुंच गया। वहां एक साधु एक वृक्ष के नीचे बैठा था। उसने पूछा कि मेरी स्त्री को तो जाते नहीं देखा? घर से भाग गई है। बड़ा बेचैन हूं।

तो उस साधु ने पूछा, तेरी स्त्री का नाम क्या है? उसने कहा, "मेरी स्त्री का नाम, फजीती।" साधु ने कहा, "फजीती! तुमने भी खूब नाम रखा। ऐसे तो सभी स्त्रियां फजीती होती हैं, बाकी तूने नाम भी खूब चुनकर रखा। तेरा नाम क्या है?" साधु उत्सुक हुआ कि यह तो नाम में बड़ा होशियार है। उसने कहा, "मेरा नाम बेवकूफ।" वह

साधु हंसने लगा। उसने कहा, तू खोज-बीन छोड़। तू तो जहां बैठ जायेगा, फजीतियां वहीं आ जायेंगी। कोई कहीं तुझे जाने की जरूरत नहीं। तेरा बेवकूफ होना काफी है। फजीतियां तुझे खुद खोज लेंगी।

संसार को छोड़ कर आदमी भाग जाता है तो संसार छोड़ने से उसकी मंदबुद्धिता तो नहीं मिटती, उसकी मूढ़ता तो नहीं मिटती। मूर्च्छा तो नहीं मिटती; वह उस मूर्च्छा को लेकर मंदिर में बैठ जाता है, नये बंधन बना लेता है। वह मूर्च्छा नये जाले बुन देती है। पहले संसार में बंधा था, अब वह संन्यास में बंध जाता है; लेकिन बिना बंधे नहीं रह सकता।

मुक्ति है प्रथम चरण पर। उसके लिए कोई आयोजन नहीं। आयोजन का मतलब हुआ कि अब आयोजन में बंधे। इंतजाम किया तो इंतजाम में बंधे। फिर इससे छूटना पड़ेगा। तो यह कहां तक चलेगा? यह तो अंतहीन हो जायेगा।

सुना है मैंने, एक आदमी डरता था मरघट से निकलने से। और मरघट के पार उसका घर था। तो रोज निकलना पड़ता है। इतना डरता था कि रात घर से नहीं निकलता था, सांझ घर लौट आता था तो कंपता हुआ आता था। आखिर एक साधु को दया आ गई। उसने कहा कि तू यह फिक्र छोड़। यह ताबीज ले। यह ताबीज सदा बांधकर रख, फिर कोई भूत-प्रेत तेरे ऊपर कोई परिणाम न ला सकेगा।

परिणाम हुआ। ताबीज बांधते से ही भूत-प्रेत का डर मिट गया। लेकिन अब एक नया डर पकड़ा कि ताबीज कहीं खो न जाये। स्वाभाविक, जिस ताबीज ने भूत-प्रेतों से बचा दिया, अब वह आधी रात को भी निकल जाता मरघट से, कोई डर नहीं। भूत-प्रेत तो कभी भी वहां नहीं थे। अपना ही डर था। ताबीज ने डर से तो छुड़वा दिया, लेकिन नया डर पकड़ गया कि यह ताबीज कहीं खो न जाये। तो वह स्नान-गृह में भी जाता तो ताबीज लेकर ही जाता; बार-बार ताबीज को टटोल कर देख लेता। अब वह इतना भयभीत रहने लगा कि रात सोए तो डरे कि कोई ताबीज न खोल ले, कोई ताबीज चुरा न ले जाये; क्योंकि ताबीज उसकी जिंदगी हो गई। डर अपनी जगह कायम रहा--भूत का न रहा तो ताबीज का हो गया। अब अगर कोई इसको ताबीज की जगह कुछ और दे दे तो क्या फर्क पड़ने वाला है। इस आदमी की भयभीत दशा तो नहीं बदलती। भूत का थोड़ी प्रश्न है, भय का प्रश्न है।

तो तुम भय को एक जगह से दूसरी जगह हटा सकते हो। बहुत-से लोग इसी तरह का वालीबाल का खेल खेलते रहते हैं; गेंद इधर से उधर फेंकी, उधर से इधर आई, बस फेंकते रहते हैं, खेलते रहते हैं। और इस बीच जिंदगी गुजरती चली जाती है।

अष्टावक्र कहते हैं, समाधि का अनुष्ठान ही बंधन का कारण है। अगर तुझे मुक्त होना है तो मुक्त होने की घोषणा कर, आयोजन नहीं।

इसलिए मैं कहता हूं, इस वचन की क्रांति को देखो! यह वचन अनूठा है! यह बेजोड़ है!

अष्टावक्र कहते हैं, अभी और यहीं घोषणा करो मुक्त होने की! तैयारी मत करो। यह मत कहो कि पहले तैयार होंगे, फिर। क्योंकि फिर तैयारी बांध लेगी। फिर तैयारी को कैसे छोड़ोगे?

एक रोग से छूटते हैं, दूसरा रोग पकड़ जाता है। यह तो कंधे बदलना हुआ।

तुमने देखा, लोग मरघट ले जाते हैं लाश को, तो कंधे बदल लेते हैं; एक कंधे पर रखे-रखे थक गये तो दूसरे कंधे पर रख ली। थोड़ी देर राहत मिलती है। फिर दूसरा कंधा दुखने लगता है तो फिर बदल लेते हैं। ऐसे तो तुम जन्मों-जन्मों से कर रहे हो। बस यह सिर्फ राहत मिलती है। इससे परम विश्राम नहीं मिलता।

छोड़ो मुर्दों को ढोना। घोषणा करो! अगर तुम चाहो तो एक क्षण में, क्षण के एक अंश में घोषणा हो सकती है।

मुझसे लोग पूछते हैं कि आप हर किसी को संन्यास दे देते हैं। मैं कहता हूं कि हर कोई हकदार है; सिर्फ घोषणा करने की बात है। कुछ और करना थोड़े ही है; सिर्फ घोषणा करनी है। इस घोषणा को अपने हृदय में

विराजमान करना है कि मैं संन्यस्त हूं, तो तुम संन्यस्त हो गये; कि मैं मुक्त हूं, तो तुम मुक्त हो गये। तुम्हारी घोषणा तुम्हारा जीवन है।

घोषणा करने की हिम्मत करो। क्या छोटी-मोटी घोषणाएं करनी? घोषणा करो: अहं ब्रह्मास्मि! मैं ब्रह्म हूं!--तुम ब्रह्म हो गये।

आगे के सूत्र में अष्टावक्र कहते हैं, "यह संसार तुझसे व्याप्त है, तुझी में पिरोया है। तू यथार्थतः शुद्ध चैतन्य स्वरूप है, अतः क्षुद्र चित्त को मत प्राप्त हो।"

क्या छोटी-छोटी बातों से जुड़ता है? कभी जोड़ लेता--यह मकान मेरा, यह देह मेरी, यह धन मेरा, यह दुकान मेरी! क्या क्षुद्र बातों से मन को जोड़ रहा है?

त्वया व्याप्तमिदं विश्वं त्वयि प्रोतं यथार्थतः।

तुझसे ही सारा सत्य ओत-प्रोत है! तुझसे ही सारा ब्रह्म व्याप्त है!

शुद्धबुद्ध स्वरूपस्त्वं मागमः क्षुद्रचित्तताम्।।

क्यों छोटी-छोटी बातों की घोषणा करता है? बड़ी घोषणा कर! एक घोषणा कर: "शुद्ध चैतन्य स्वरूप हूं! शुद्ध-बुद्ध स्वरूप हूं!" क्षुद्र चित्त को मत प्राप्त हो!

हमने बड़ी छोटी-छोटी घोषणाएं की हैं। जो हम घोषणा करते हैं वही हम हो जाते हैं।

इस दृष्टि से भारत का अनुदान जगत को बड़ा अनूठा है। क्योंकि भारत ने जगत में सबसे बड़ी घोषणाएं की हैं। मंसूर ने मुसलमानों की दुनिया में घोषणा की, "अनलहक! मैं सत्य हूं," उन्होंने मार डाला। उन्होंने कहा यह आदमी जरूरत से बड़ी घोषणा कर रहा है। "मैं सत्य हूं!"--यह तो केवल परमात्मा कह सकता है, आदमी कैसे कहेगा!

लेकिन हमने अष्टावक्र को मार नहीं डाला, न हमने उपनिषद के ऋषियों को मार डाला, जिन्होंने कहा, अहं ब्रह्मास्मि! क्योंकि हमने एक बात समझी कि आदमी जैसी घोषणा करता है वैसा ही हो जाता है। तो फिर छोटी क्या घोषणा करनी! जब तुम्हारी घोषणा पर ही तुम्हारे जीवन का विस्तार निर्भर है तो परम विस्तार की घोषणा करो, विराट की घोषणा करो, विभु की, प्रभु की घोषणा करो। इससे छोटी पर क्यों राजी होना? इतनी कंजूसी क्या? घोषणा में ही कंजूसी कर जाते हो। फिर कंजूसी कर जाते हो तो वैसे ही हो जाते हो।

क्षुद्र मानोगे तो क्षुद्र हो जाओगे; विराट मानोगे तो विराट हो जाओगे। तुम्हारी मान्यता तुम्हारा जीवन है। तुम्हारी मान्यता तुम्हारे जीवन की शैली है।

"तू निरपेक्ष (अपेक्षा-रहित) है, निर्विकार है, स्वनिर्भर (चिदघन-रूप) है, शांति और मुक्ति का स्थान है, अगाध बुद्धिरूप है, क्षोभ-शून्य है। अतः चैतन्यमात्र में निष्ठावाला हो।"

एक निष्ठा पर्याप्त है। साधना नहीं--निष्ठा। साधना नहीं--श्रद्धा। इतनी निष्ठा पर्याप्त है कि मैं चैतन्यमात्र हूं। इस जगत में यह सबसे बड़ा जादू है।

मनस्विद कहते हैं कि अगर किसी व्यक्ति को बार-बार कहो कि तुम बुद्धिहीन हो, वह बुद्धिहीन हो जाता है। जितने लोग दुनिया में बुद्धिहीन दिखाई पड़ते हैं, ये सब बुद्धिहीन नहीं हैं। ये हैं तो परमात्मा। इनको बुद्धिहीन जतला दिया गया है, बतला दिया गया है। इतने लोगों ने इनको दोहरा दिया है और इन्होंने भी इतनी बार दोहरा लिया है कि बुद्धू हो गये हैं! जो बुद्ध हो सकते थे, वे बुद्धू होकर रह गये हैं।

मनस्विद कहते हैं, किसी आदमी को तुम राह पर मिलो--वह भला-चंगा है--तुम देखते ही उससे कहो, "अरे तुम्हें क्या हो गया? चेहरा पीला है! बुखार है! देखें हाथ! बीमार हो! तुम्हारे पैर कंपते से मालूम पड़ते हैं।"

पहले तो वह इनकार करेगा--क्योंकि सोचा भी नहीं था क्षण भर पहले तक--वह कहेगा, "नहीं-नहीं! मैं बिलकुल ठीक हूं। आप कैसी बातें कर रहे हैं?"

"ठीक है, आपकी मर्जी!"

फिर थोड़ी देर बाद दूसरा आदमी उसको मिले और कहे, "अरे! चेहरा पीला पड़ गया है, क्या मामला है?" अब वह इतनी हिम्मत से न कह सकेगा कि मैं बिलकुल ठीक हूं। वह कहेगा, हां कुछ तबीयत खराब है। वह राजी होने लगा। हिम्मत उसकी खिसकने लगी।

फिर तीसरा आदमी मिले और कहे कि अरे...! अब तो वह घर ही लौट जायेगा कि तबीयत मेरी ज्यादा खराब है। अब बाजार जाने से कुछ सार नहीं।

तुमने कहानी सुनी कि एक ब्राह्मण एक बकरी को खरीद कर लाता था। तीन-चार लफंगों ने उसे देखा और उन्होंने सोचा कि इसकी बकरी तो छीनी जा सकती है। लेकिन ब्राह्मण मजबूत था और छीनना आसान मामला न था। तो उन्होंने सोचा कि थोड़ी कूटनीति करो।

एक उसे मिला राह के किनारे और कहा कि गजब, यह कुत्ता कितने में खरीद लाये! उस आदमी ने, ब्राह्मण ने कहा, "कुत्ता! तू अंधा तो नहीं है? पागल कहीं के! बकरी है! बाजार से खरीद कर ला रहा हूं। पचास रुपये खर्च किये हैं।"

उसने कहा, "तुम्हारी मर्जी, लेकिन तुम जानो। ब्राह्मण होकर कुत्ते को कंधे पर लिये हो! भई, मुझको तो कुत्ता दिखाई पड़ता है। हो सकता है मेरी गलती हो।"

ब्राह्मण चला सोचता हुआ कि यह आदमी भी कैसा है! मगर उसने एक बार टटोल कर बकरी के पैर देखे। उसने कहा, बकरी ही है। दूसरे किनारे पर राह के दूसरा उन्हीं का सगा साथी खड़ा था। उसने कहा कि कुत्ता तो गजब का खरीदा! अब ब्राह्मण इतनी हिम्मत से न कह सका कि कुत्ता नहीं है; हो न हो कुत्ता ही हो! दो आदमी गलत नहीं हो सकते। फिर भी उसने कहा कि नहीं-नहीं, कुत्ता नहीं है। लेकिन अब कमजोर था। कह तो रहा था, लेकिन भीतर की नींव हिल गई थी। उसने कहा कि नहीं-नहीं, बकरी है। उसने कहा कि बकरी है? इसको बकरी कहते हैं? तो फिर परिभाषा बदलनी पड़ेगी ब्राह्मण देवता! अगर इसको बकरी कहते हैं तो फिर कुत्ता किसको कहेंगे? वैसे आपकी मर्जी। आप पंडित आदमी हैं, हो सकता है बदल दें। नाम की तो बात है। चाहे कुत्ता कहो, चाहे बकरी कहो--रहेगा तो कुत्ता ही। कहने से कुछ नहीं होता।

वह आदमी तो चला गया, ब्राह्मण ने बकरी उतार कर नीचे रख कर देखी, बिलकुल बकरी है! बिलकुल बकरी जैसी बकरी है। आंखें मींड़ीं। रास्ते के किनारे लगे नल से पानी से आंखें धोईं। क्योंकि अपना पड़ोस करीब आता जाता और लोग देख लें कि ब्राह्मण कुत्ता सिर पर लिये है तो पूजा और पांडित्य को धक्का लगेगा! पूजा करवाते हैं, लोग न करवायेंगे; लोग पागल समझेंगे। मगर फिर देख-दाख कर उसने सब तरह से कि बकरी है; लेकिन इन दो आदमियों को क्या हुआ!

फिर रखकर चला, लेकिन अब जरा डरता हुआ चला कि फिर कोई और न देख ले। वह तीसरा उनका साथी खड़ा था। उसने कहा कि कुत्ता तो गजब का है। कहां से लाये? हम भी बड़े दिन से कुत्ता चाहते हैं।

उसने कहा, बाबा तू ही ले ले! अगर कुत्ता चाहते हो तुम्हीं ले लो। यह कुत्ता ही है। एक मित्र ने दे दिया है, इससे छुटकारा करो मेरा।

वह भागा वहां से घर की तरफ कि किसी को पता न चल जाये कि कुत्ता इसने लिया है।

आदमी ऐसे ही जी रहा है। तुमने जो मान रखा है वह तुम हो गये हो। और तुम्हारे चारों तरफ बहुत लफंगे हैं; जो तुम्हें बहुत-सी बातें मनवा रहे हैं। उनके अपने प्रयोजन हैं। पुरोहित समझाना चाहता है कि तुम पापी हो; क्योंकि तुम पापी नहीं हो तो पूजा कैसे चलेगी? उसका हित इसमें है कि बकरी कुत्ता मालूम पड़े।

पंडित है, अगर तुम अज्ञानी नहीं हो तो उसके पांडित्य का क्या होगा? उसकी दुकान कैसे चलेगी? धर्मगुरु है, वह अगर तुम्हें समझा दे कि तुम अकर्ता हो, कर्म-शून्य हो, तुमने कभी पाप किया ही नहीं--तो उसकी जरूरत क्या है?

यह तो ऐसा हुआ कि डाक्टर के पास तुम जाओ। और वह समझा दे कि बीमार तुम हो ही नहीं, बीमार तुम कभी हुए ही नहीं, बीमार तुम हो ही नहीं सकते, स्वास्थ्य तुम्हारा स्वभाव है--तो यह डाक्टर आत्महत्या

कर रहा है अपनी। इसकी दुकान का क्या होगा? तुम डाक्टर के पास जाओ भले-चंगे, जब तुम्हें कोई बीमारी नहीं है तब जाओ, तब भी तुम पाओगे कि वह बीमारी खोज लेगा। तुम जा कर देखो! बिलकुल भले-चंगे हो, तुम्हें कोई बीमारी नहीं है। जाकर, जरा चले जाओ, डाक्टर से कहना कि कुछ जांच-पड़ताल करवानी है। ऐसा डाक्टर खोजना बहुत मुश्किल है जो कह दे कि तुम बीमार नहीं हो।

मुल्ला नसरुद्दीन का बेटा डाक्टर हुआ। तो मैंने उससे पूछा कि कैसी चल रही है? उसने कहा कि काफी अच्छी चल रही है। मैंने कहा कि तुम कैसे समझे कि काफी अच्छी चल रही है। उसने कहा, इतनी अच्छी चल रही है कि कई दफे तो वह बीमारों को कह देता है कि तुम बीमार ही नहीं हो। यह तो बड़ा ही डाक्टर कह सकता है जिसकी खूब चल रही हो। चल रही ऐसी हो कि अब उसे उपद्रव ज्यादा लेना ही नहीं है, फुर्सत नहीं है। तो उसने कहा, इससे मैं सोचता हूं कि बिलकुल ठीक चल रही है। कई दफा आदमियों को कह देता है कि नहीं, तुम्हें कोई बीमारी नहीं है।

दुकानें हैं; उनके अपने हित हैं। तुम्हारे ऊपर हजारों दुकानें चल रही हैं--पंडित की है, पुरोहित की है, धर्मगुरु की है। तुम्हारा पापी होना जरूरी है। तुमने बुरे कर्म किये हों, यह आवश्यक है; नहीं तो तुम्हारा बुरे कर्मों से छुटकारा दिलाने वालों का क्या होगा? मसीहाओं का क्या होगा, जो आते हैं तुम्हारी मुक्ति के लिए?

अगर अष्टावक्र सही हैं तो सब मसीहा व्यर्थ हैं। फिर तुम्हारे छुटकारे की कोई जरूरत नहीं; तुम छूटे ही हुए हो। तुम मुक्त ही हो! अष्टावक्र की जैसे कोई भी दुकान नहीं है। जैसे अष्टावक्र तुम्हारे साथ कोई धंधा नहीं करना चाहते। सीधी-सीधी बात कह देते हैं, दो टूक सत्य कह देते हैं।

"तू निरपेक्ष (अपेक्षा-रहित), निर्विकार, स्वनिर्भर (चिदघन-रूप), शांति और मुक्ति है तू। अगाध बुद्धिरूप, क्षोभ-शून्य है तू। अतः चैतन्यमात्र में निष्ठा वाला हो।"

एक ही निष्ठा होनी चाहिए कि मैं साक्षी-रूप हूं, बस पर्याप्त है। ऐसा निष्ठावान व्यक्ति धार्मिक है। और किसी निष्ठा की कोई जरूरत नहीं। न तो परमात्मा में निष्ठा की जरूरत है, न स्वर्ग-नर्क में निष्ठा की जरूरत है, न कर्म के सिद्धांत में निष्ठा की जरूरत है। एक निष्ठा पर्याप्त है। और वह निष्ठा है कि मैं साक्षी, निर्विकार। और तुम जैसे ही निष्ठा करोगे, तुम पाओगे तुम निर्विकार होने लगे।

एक मनोवैज्ञानिक ने प्रयोग किया। एक कक्षा को दो हिस्सों में बांट दिया। आधे लड़के एक तरफ, आधे दूसरी तरफ--अलग-अलग कमरों में। फिर पहले हिस्से को जाकर कहा कि यह गणित बहुत कठिन है; तुममें से कोई भी हल न कर पायेगा। एक गणित लिखा बोर्ड पर और कहा, यह इतना कठिन है कि तुम्हारी तो सामर्थ्य ही नहीं, तुमसे आगे की कक्षा के विद्यार्थी भी इसको हल नहीं कर सकते। लेकिन हम एक प्रयोग कर रहे हैं। हम जानना चाहते हैं, क्या तुममें से कोई इसको हल करने के थोड़े-बहुत भी करीब आ सकता है? थोड़ी-बहुत विधि, दो-चार कदम भी ठीक उठा सकता है? यह असंभव है! उसने यह बार-बार दोहराया कि यह असंभव है। फिर भी तुम चेष्टा करो।

दूसरे कमरे में गया। उसी वर्ग के आधे लड़के। वही बोर्ड पर उसने गणित लिखा और कहा कि यह प्रश्न इतना सरल है कि यह असंभव है कि तुममें से कोई इसे हल न कर पाये। तुमसे नीची कक्षाओं के लड़कों ने हल कर लिया है। तो इसलिए नहीं दे रहे हैं कि यह तुम्हारी कोई परीक्षा करनी है, तुम तो हल कर ही लोगे, यह इतना सरल है। सिर्फ हम यह जानना चाहते हैं कि क्या एकाध विद्यार्थी ऐसा भी है तुम्हारी कक्षा में जो इसमें भी भूल-चूक कर जाये।

सवाल वही, कक्षा वही। बड़े अंतर आये परिणाम में। पहले वर्ग में पंद्रह लड़कों में से केवल तीन लड़के हल कर पाये। दूसरे वर्ग में पंद्रह में से बारह ने हल किया, केवल तीन हल न कर पाये। इतना बड़ा अंतर! सवाल वही। उस सवाल के साथ जो भाव दिया गया, वह परिणामकारी हुआ।

अष्टावक्र तुमसे नहीं कहते कि धर्म दुःसाध्य है। अष्टावक्र कहते हैं, बड़ा सरल है। जो दुःसाध्य कहते हैं, वे दुःसाध्य बना देते हैं। जो कहते हैं, बड़ा असंभव है, खड्ग की धार, वे तुम्हें घबड़ा देते हैं। जो कहते हैं, यह तो हिमालय पर चढ़ने जैसा है, इसमें तो विरले चढ़ पाते हैं--तुम छोड़ ही देते फिक्र कि "विरले तो हम हैं नहीं, यह अपने बस की बात नहीं; तो चढ़ें विरले, हम इस झंझट में न पड़ेंगे। हम स्वागत करते हैं विरलों का, जाएं! मगर हम सीधे-सादे आदमी, हमें तो इसी घाटी में रहने दो!"

अष्टावक्र कहते हैं, यह बड़ा सरल है। यह इतना सरल है कि तुम्हें कुछ करने की भी जरूरत नहीं, सिर्फ जागकर देखना पर्याप्त है।

यह मनुष्य की मेधा की अंतिम घोषणा है। यह मनुष्य की अंतिम संभावनाओं के प्रति मनुष्य को सजग करना है। धर्म मनुष्य की प्रतिभा का आखिरी चमत्कार है। अगर तुलना करनी हो तो राजनीति मनुष्य की प्रतिभा का निकृष्टतम रूप है और धर्म मनुष्य की प्रतिभा का श्रेष्ठतम रूप है।

ऐसा हुआ, एक राजनेता सख्त बीमारी से उठा। तो डाक्टर ने सलाह दी: दो-तीन महीने तक आप कोई भी दिमागी काम न करें। राजनेता ने पूछा, "डाक्टर साहब! यदि थोड़ी राजनीति इत्यादि करूं तो कोई आपत्ति है?" डाक्टर ने कहा, "नहीं, बिलकुल नहीं, राजनीति आप जितनी चाहें करें, बस दिमागी काम बिलकुल न करें।"

राजनीति में दिमागी काम है भी नहीं। राजनीति में तो हिंसा है, प्रतिभा नहीं; छीन-झपट है, संघर्ष है, शांति नहीं; चैन नहीं, बेचैनी है; महत्वाकांक्षा है,र् ईष्या है, आक्रमण है; आत्मा नहीं।

धर्म अनाक्रमण है, अहिंसा है, प्रतियोगिता-मुक्ति है; संघर्ष नहीं, समर्पण है। किसी से छीनना नहीं है; अपना जो है, उसकी घोषणा करनी है। अपना ही इतना काफी है कि किसी से छीनना क्या है? छीनते तो वे ही हैं जिन्हें अपना पता नहीं। टुकड़े-टुकड़े के लिए लड़ते हैं, और परमात्मा भीतर विराजमान है! टुकड़े-टुकड़े के लिए मरते हैं, और परम विस्तार भीतर मौजूद है! सागर मौजूद है, बूंदों के लिए तरसते हैं!

जिन्हें अपना पता नहीं है, वे ही राजनीति में होते हैं। और जब मैं राजनीति कहता हूं तो मेरा मतलब इतना ही नहीं कि वे लोग जो राजनीतिक पार्टियों में हैं। राजनीति से मेरा मतलब है: वे सभी लोग जो किसी तरह के संघर्ष में हैं। वह धन का संघर्ष हो तो धन की राजनीति। पद का संघर्ष हो तो पद की राजनीति। त्याग का संघर्ष हो तो त्याग की राजनीति।

त्यागियों में बड़ा संघर्ष होता है कि कोई दूसरा त्यागी हाथ न मार ले। ओलंपिक चलता रहता है त्यागियों का कि कोई महात्मा बड़ा न हो जाये! तो एक महात्मा दूसरे महात्मा को हराने में लगा है। वह तो अगर कभी भारत में ओलंपिक हो तो उसमें महात्माओं की भी प्रतियोगिता होनी चाहिए।

लेकिन जहां भी प्रतियोगिता है वहीं राजनीति है। राजनीति का मूल स्वर है कि मेरे पास नहीं है और दूसरों के पास है; छीन कर ही मेरे पास हो सकेगा। लेकिन जो तुम दूसरे से छीनते हो, वह तुम्हारा कब होगा, कैसे होगा? छीना हुआ तुम्हारा कैसे होगा? जो छीना गया है, वह छीना जायेगा। आज नहीं कल, तुमसे कोई दूसरा छीन लेगा। और अगर कोई भी न छीन पाया तो मौत तो निश्चित छीन लेगी। तुम्हारा तो सिर्फ वही है जो किसी से बिना छीने तुम्हारा है, तो फिर मौत भी न छीन पायेगी। तुम्हारा तो वही है जो जन्म के पहले तुम्हारा था, मौत के बाद भी तुम्हारा होगा।

उस एक की खोज करो। और उस एक की खोज के लिए साधन तक की जरूरत नहीं है-- अष्टावक्र कहते हैं--सिर्फ सजगता, सिर्फ साक्षी-भाव।

जीवन में तुम्हें बहुत बार लगता भी है कि व्यर्थ दौड़े चले जा रहे हैं; लेकिन रुकें कैसे! ऐसा नहीं है कि तुम्हें नहीं लगता कि यह व्यर्थ दौड़-धूप है। तुम्हें भी लगता है लेकिन रुकें कैसे! फिर दौड़-धूप का अभ्यास प्राचीन है। रुकना भूल ही गये हैं। पैरों की आदत दौड़ने की हो गई है। मन की आदत दौड़ने की हो गई है। अभ्यास ऐसा हो गया है कि बैठ नहीं सकते। बैठने का अभ्यास खो गया है।

आ गयी थी शिकायत लबों पे मगर
किससे कहते तो क्या, कहना बेकार था

चल पड़े दर्द पी कर तो चलते रहे
हार कर बैठ जाने से इनकार था।

और फिर लोग सोचते हैं कि ऐसे बैठ गये तो हार जायेंगे; बैठ गये तो लोग समझेंगे हार गये; बैठ गये तो लोग समझेंगे, अरे पलायनवादी! भगोड़े! बैठ गये तो जो भीड़ जा रही है हजारों की, वह निंदा से देखेगी।...तो लोग चलते रहते हैं।

शिकायत बहुत बार आ जाती है मन में कि यह सब व्यर्थ मालूम होता है, लेकिन किससे कहो! कौन समझेगा! यहां सभी तुम्हारे जैसे हैं। कोई किसी से कहता नहीं। अपने-अपने घाव छिपाए लोग चलते रहते हैं।

आ गयी थी शिकायत लबों पे मगर
किससे कहते तो क्या, कहना बेकार था

कोई अष्टावक्र मिले, कोई बुद्ध मिले तो कहने का कोई सार है। किससे कहना यहां!

चल पड़े दर्द पी कर तो चलते रहे
दर्द पी-पीकर लोग चलते रहते हैं।
हार कर बैठ जाने से इनकार था।

और यह अहंकार की धारणा हो जाती है कि हारकर बैठने का मतलब तो गये, डूब गए, मर गये। चलते रहो, कुछ न कुछ करते रहो! कुछ न कुछ पाने की चेष्टा में लगे रहो! नहीं तो खो जाओगे।

और मिलता उन्हें है जो बैठ जाते हैं। मिलता उन्हें है जो रुक जाते हैं। परमात्मा भागने से नहीं मिलता, रुकने से मिलता है। इसलिए अष्टावक्र कहते हैं, परम विश्रांति में मिलता है।

कभी थोड़ा बैठो! कभी घड़ी भर खोजकर, सिर्फ बैठो, कुछ मत करो!

झेन फकीरों में एक प्रक्रिया है: झाझेन। झाझेन का मतलब होता है: बस बैठो और कुछ मत करो। बड़ी गहरी ध्यान की प्रक्रिया है। प्रक्रिया कहनी ठीक ही नहीं; क्योंकि प्रक्रिया तो कुछ भी नहीं, बस बैठो, कुछ भी न करो। जैसे अष्टावक्र जो कह रहे हैं, वही झेन कह रहा है: बैठ जाओ! कुछ देर सिर्फ बैठो विश्राम में। कुछ देर सब ऊहापोह छोड़ो! कुछ देर सब महत्वाकांक्षा छोड़ो। मन की दौड़-धूप, आपाधापी छोड़ो! थोड़ी देर सिर्फ बैठे रहो, डूबे रहो अपने में!

धीरे-धीरे तुम्हारे भीतर एक प्रकाश फैलना शुरू होगा। शुरू में शायद न दिखाई पड़े। ऐसे ही जैसे तुम भरी दोपहरी में घर लौटते हो तो घर के भीतर अंधेरा मालूम होता है; आंखें धूप की आदी हो गयी हैं। थोड़ी देर बैठते हो, आंखें राजी हो जाती हैं तो फिर प्रकाश मालूम होने लगता है। धीरे-धीरे कमरे में प्रकाश हो जाता है।

ऐसा ही भीतर है। बाहर-बाहर चले जन्मों तक, तो भीतर अंधेरा मालूम होता है। पहली दफा जाओगे तो कुछ भी न सूझेगा...अंधेरा ही अंधेरा! घबड़ाना मत! बैठो! थोड़ा आंख को राजी होने दो भीतर के लिए। ये आंख की पुतलियां धूप के लिए आदी हो गई हैं।

तुमने खयाल किया, धूप में जब तुम जाते हो तो आंख की पुतलियां छोटी हो जाती हैं। धूप के बाद एकदम आईने में देखना तो तुम्हें पुतली बहुत छोटी मालूम पड़ेगी, क्योंकि उतनी धूप को भीतर नहीं ले जाया जा सकता, वह जरूरत से ज्यादा है, तो पुतली सिकुड़ जाती है। वह आटोमैटिक है, स्वचालित सिकुड़न है। फिर जब तुम अंधेरे में आते हो तो पुतली को फैलना पड़ता है, पुतली बड़ी हो जाती है। अंधेरे में थोड़ी देर बैठने के बाद फिर आईने में देखना तो पाओगे पुतली बड़ी हो गई।

और जो इस बाहर की आंख का ढंग है, वही भीतर की तीसरी आंख का भी ढंग है। बाहर देखने के लिए पुतली छोटी चाहिए। भीतर देखने के लिए पुतली बड़ी चाहिए। तो अभ्यास हो गया है पुराना। उस अभ्यास को मिटाने के लिए कुछ नया अभ्यास नहीं करना है। बस बैठ रहो!

लोग पूछते हैं, "बैठकर क्या करें? चलो कुछ राम-नाम दे दो, कोई मंत्र दे दो; उसी को दोहराते रहेंगे। मगर कुछ दे दो कुछ करने को!" लोग कहते हैं, आलंबन चाहिए, सहारा चाहिए।

अनुष्ठान किया कि बंधन शुरू हुआ सिर्फ बैठो! बैठने का भी मतलब यह नहीं कि बैठो ही; खड़े भी रह सकते हो, लेट भी सकते हो। बैठने से मतलब इतना ही है: कुछ न करो, थोड़ी देर चौबीस घंटे में अकर्ता हो जाओ! अकर्मण्य हो जाओ! खाली रह जाओ! होने दो जो हो रहा है। संसार बह रहा है, बहने दो; चल रहा है, चलने दो। आवाज आती है आने दो। रेल निकले, हवाई जहाज चले, शोरगुल हो--होने दो, तुम बैठे रहो। एकाग्रता नहीं--तुम सिर्फ बैठे रहो। समाधि धीरे-धीरे तुम्हारे भीतर सघन होने लगेगी। तुम अचानक समझ पाओगे अष्टावक्र का अर्थ क्या है--अनुष्ठान-रहित होने का अर्थ क्या है?

"साकार को मिथ्या जान, निराकार को निश्चल-नित्य जान इस यथार्थ (तत्व) उपदेश से पुनः संसार में उत्पत्ति नहीं होती।"

जिसको बुद्ध ने कहा है, अनागामिन--ऐसा व्यक्ति जब मरता है तो फिर वापिस नहीं आता। क्योंकि वापिस तो हम अपनी आकांक्षा के कारण आते हैं, राजनीति के कारण आते हैं। वापिस तो हम वासना के कारण आते हैं। जो यह जानकर मरता है कि मैं सिर्फ जानने वाला हूं, उसका फिर कोई आगमन नहीं होता। वह इस व्यर्थ के चक्कर से छूट जाता है--आवागमन से।

"साकार को मिथ्या जान!"

साकारमनृतं विद्धि निराकारं निश्चलम् विद्धि।

"निराकार को निश्चल-नित्य जान।"

जो हमारे भीतर आकार है, वही भ्रांत है। जो हमारे भीतर निराकार है, वही सत्य है।

देखा कभी पानी में भंवर पड़ती है! भंवर क्या है? पानी में ही उठी एक लहर है, फिर शांत हो जाती है, तो भंवर कहां खो जाती है? भंवर थी ही नहीं; पानी में ही एक तरंग थी; पानी में ही एक रूप उठा था। ऐसे ही हम परमात्मा में उठी एक तरंग हैं। तरंग खो जाती, कुछ भी पीछे छूटता नहीं। राख भी नहीं छूटती। निशान भी नहीं छूटता। जैसे पानी पर तुम कुछ लिखो, लिखते ही मिट जाता है--ऐसे ही जीवन की सारी आकार की स्थितियां तरंगें मात्र हैं।

"जिस तरह दर्पण अपने में प्रतिबिंबित रूप के भीतर और बाहर स्थित है, उसी तरह परमात्मा इस शरीर के भीतर और बाहर स्थित है।"

तुमने देखा दर्पण के सामने तुम खड़े होते हो, प्रतिबिंब बनता है! बनता है कुछ दर्पण में? प्रतिबिंब बनता है, यानी कुछ भी नहीं बनता। तुम हट गये, प्रतिबिंब हट जाता है। दर्पण जैसा था वैसा ही है। जैसे का तैसा। तुम्हारे सामने होने से दर्पण में प्रतिबिंब बना था, हट जाने से हट गया; लेकिन दर्पण में न तो कुछ बना और न कुछ हटा, दर्पण अपने स्वभाव में रहा।

यह सूत्र कहता है अष्टावक्र का, कि जैसे दर्पण के सामने खड़े हों, दर्पण में प्रतिबिंब बनता है; लेकिन प्रतिबिंब वस्तुतः बनता है क्या? बना हुआ प्रतीत होता है। प्रतिबिंब से धोखा मत खा जाना। बहुत लोग धोखा खाते हैं प्रतिबिंब से।

और यह सूत्र कहता है कि प्रतिबिंब के चारों तरफ दर्पण हैं--बाहर-भीतर; प्रतिबिंब में दर्पण ही दर्पण हैं, और कुछ भी नहीं है। ऐसा ही, उसी तरह परमात्मा इस शरीर के भीतर और बाहर स्थित है। परमात्मा भीतर, परमात्मा बाहर, परमात्मा ऊपर, परमात्मा नीचे, परमात्मा पश्चिम, परमात्मा पूरब, परमात्मा दक्षिण, परमात्मा उत्तर--सब तरफ वही एक है। उस विराट के सागर में उठी हम छोटी भंवरें, छोटी तरंगें हैं।

अपने को तरंग मानकर मत उलझ जाना। अपने को सागर ही मानना। बस इतनी ही मान्यता का भेद है--बंधन और मुक्ति में। जिसने अपने को तरंग समझा, वह बंध गया; जिसने अपने को सागर समझा, वह मुक्त हो गया।

"जिस तरह सर्वव्यापी एक आकाश घट के बाहर और भीतर स्थित है, उसी तरह नित्य और निरंतर ब्रह्म सब भूतों में स्थित है।"

"जिस तरह सर्वव्यापी एक आकाश घट के बाहर और भीतर...।"

घड़ा रखा है। घड़े के भीतर भी वही आकाश है, घड़े के बाहर भी वही आकाश है। तुम घड़े को फोड़ दो तो आकाश नहीं फूटता। तुम घड़े को बना लो तो आकाश बिगड़ता नहीं। घड़ा तिरछा हो, गोल हो, कैसा ही आकार हो, इससे आकाश पर कोई आकार नहीं चढ़ता।

हम सब मिट्टी के भांडे हैं; मिट्टी के घड़े! बाहर भी वही है, भीतर भी वही है। इस मिट्टी की पतली-सी दीवार को तुम बहुत ज्यादा मूल्य मत दे देना। यह मिट्टी की पतली-सी दीवाल तुम्हें एक घड़ा बना रही है। इससे बहुत जकड़ मत जाना। अगर तुमने ऐसा मान लिया कि यह मिट्टी की दीवाल ही मैं हूं, तो फिर तुम बार-बार घड़े बनते रहोगे, क्योंकि तुम्हारी मान्यता तुम्हें वापिस खींच लायेगी। कोई और तुम्हें संसार में नहीं लाता है; तुम्हारे घड़े होने की धारणा ही तुम्हें वापिस ले आती है। एक बार तुम जान लो कि तुम घड़े के भीतर का शून्य हो...।

लाओत्सु के वचन अर्थपूर्ण हैं। लाओत्सु कहता है: घड़े की दीवाल का क्या मूल्य है? असली मूल्य तो घड़े के भीतर के शून्य का होता है। पानी भरोगे तो शून्य में भरेगा, दीवाल में थोड़े ही! मकान बनाते हो तुम, तो तुम दीवाल को मकान कहते हो? तो गलती है। दीवाल के भीतर जो खाली जगह है, वही मकान है। रहते तो उसमें हो, दीवाल में थोड़े ही रहते हो! दीवाल तो केवल एक सीमा है। असली में रहते तो हम आकाश में ही हैं। हैं तो हम सब दिगंबर ही। भीतर के आकाश में रहो कि बाहर के आकाश में, दीवाल के कारण कोई फर्क थोड़े ही पड़ता है? दीवाल तो आज है, कल गिर जायेगी? आकाश सदा है।

तो तुम भूल से घर को अगर दीवाल समझ लेते हो और घड़े को अगर मिट्टी की पर्त समझ लेते हो और अपने को अगर देह समझ लेते हो, तो बस यही बंधन है। जरा-सी गलती, पढ़ने में जीवन के शास्त्र को--और सब गलत हो जाता है। बड़ी छोटी-सी भूल है!

मुल्ला नसरुद्दीन एक बार अपने विचारों में डूबा बस में चढ़ गया और सीट पर बैठकर सिगरेट पीने लगा।

"साफ-साफ तो लिखा है कि बस में धूम्रपान वर्जित है, क्या आपने पढ़ा नहीं? क्या आपको पढ़ना नहीं आता", कंडक्टर ने क्रोधपूर्वक उससे कहा।

"पढ़ तो लिया, लेकिन लिखने को तो बस में बहुत कुछ लिखा है। मैं किस-किस की बात का पालन करूं?" नसरुद्दीन बोला। "यही देखो! यहां लिखा है, हमेशा हैंडलूम की साड़ियां पहनो!"

जरा-सा ऐसी भूलों से सावधान होना जरूरी है। शरीर बहुत करीब है, इसलिए शरीर की भाषा पढ़ लेनी बहुत आसान है। और शरीर इतना करीब है कि उसकी छाया भीतर के दर्पण पर पड़ती है, प्रतिबिंब बनता है। लेकिन तुम शरीर में हो, शरीर नहीं। शरीर तुम्हारा है, तुम शरीर के नहीं। शरीर तुम्हारा साधन है; तुम साध्य हो। शरीर का उपयोग करो; मालकियत मत खो दो! शरीर के भीतर रहते हुए भी शरीर के पार रहो--जल में कमलवत!

हरि ॐ तत्सत्!

छठवां प्रवचन

जागो और भोगो

पहला प्रश्न: वेदांत तथा अष्टावक्र-गीता जैसे ग्रंथों द्वारा स्वाध्याय करके यह जाना कि जो पाने योग्य है वह पाया हुआ ही है! उसके लिए प्रयास करना भटकन है। इस निष्ठा को गहन भी किया, तो भी आत्मज्ञान क्यों नहीं हुआ? कृपया मार्गदर्शन करें।

शास्त्र से जो समझ में आया वह तुम्हें समझ में आया, ऐसा नहीं है। शब्द से जो समझ में आया, वह तुम्हारी प्रतीति हो गई, ऐसा नहीं है। अष्टावक्र को सुनकर बहुतों को ऐसा लगेगा कि अरे, तो सब पाया ही हुआ है! लेकिन इससे मिल न जायेगा।

अष्टावक्र को सुनकर ही लगने से मिलने का क्या संबंध हो सकता है? यह प्रतीति तुम्हारी हो कि मिला ही हुआ है। यह अहसास तुम्हें हो, यह अनुभूति तुम्हारी हो; यह बौद्धिक निष्कर्ष न हो।

बुद्धि तो बड़ी जल्दी राजी हो जाती है। इससे सरल बात और क्या होगी कि मिला ही हुआ है। चलो, झंझट मिटी! अब कुछ खोजने की जरूरत नहीं, ध्यान की जरूरत नहीं; पूजा-प्रार्थना की जरूरत नहीं--मिला ही हुआ है!

बुद्धि इससे राजी हो जाती है--इसलिए नहीं कि बुद्धि समझ गई; बुद्धि राजी हो जाती है, क्योंकि मार्ग की अड़चन भी छूटी, साधन का श्रम भी छूटा, उपाय करने की जरूरत भी छूटी। फिर तुम चारों तरफ देखने लगते हो कि अरे, अभी तक मिला नहीं।

अगर बुद्धि को ही समझने से मिलता था तो फिर अध्यात्म के विश्वविद्यालय हो सकते थे। अध्यात्म का कोई विश्वविद्यालय नहीं है। शास्त्र से न मिलेगा, स्वयं की स्वस्फूर्त प्रज्ञा से मिलेगा।

अष्टावक्र को सुनो, लेकिन जल्दी मत करना मानने की। तुम्हारा लोभ जल्दी करवा देगा। तुम्हारा लोभ कहेगा, यह तो बड़ी सुलभ बात है; यह खजाना मिला ही हुआ है। तो चलो पाने का भी उपद्रव मिटा, अब कहीं जाना भी नहीं, अब कुछ करना भी नहीं।

यही तो तुम सदा से चाहते थे कि बिना किये मिल जाये। लेकिन ध्यान रखना इस सबके पीछे पाने की आकांक्षा बनी ही हुई है: बिना किये मिल जाये! पहले सोचते थे करके मिलेगा, अब सोचते हो बिना किये मिल जाये। पाने की आकांक्षा बनी हुई है। इसलिए तो प्रश्न उठता है कि अभी तक आत्मज्ञान क्यों नहीं हुआ?

जिसको समझ में आ गई बात--भाड़ में जाये आत्मज्ञान, करना क्या है? अगर अष्टावक्र को समझ गये तो दूसरा प्रश्न उठ ही नहीं सकता। आत्मज्ञान नहीं मिला, तो इसका अर्थ हुआ कि अष्टावक्र को मानने के साथ-साथ आंख के कोने से देख रहे थे, अभी तक मिला कि नहीं मिला? नजर अभी भी मिलने पर लगी थी।

मेरे पास लोग आते हैं। उनको मैं कहता हूं कि ध्यान तब तक न गहरा होगा, जब तक तुम कुछ मांग जारी रखोगे। जब तक तुम सोचोगे कुछ मिले--आनंद मिले, परमात्मा मिले, आत्मा मिले--तब तक ध्यान गहरा न होगा; क्योंकि यह लोभ की वृत्ति है, जो मिलने की बात सोच रही है; यह महत्वाकांक्षा है, यह राजनीति है, अभी धर्म नहीं हुआ। तो वे कहते हैं, "अच्छा! तो अब बिना सोचे बैठेंगे, फिर तो मिलेगा न?"

अंतर जरा भी नहीं पड़ा। वे इसके लिए भी राजी हैं कि न सोचेंगे, चलो आप कहते हो मिलने के लिए यही उपाय है, तो न सोचेंगे; लेकिन फिर मिलेगा न?

तुम लोभ से छूट नहीं पाते। अष्टावक्र को सुनकर बड़े जल्दी, बहुत लोग मान लेंगे कि चलो, मिल गया। इतनी जल्दी अगर मिलता होता! और ऐसा नहीं है कि कोई बाधा है मिलने में। बाधा है तो तुम्हारी कामना की नासमझी ही। है तो बिलकुल पास।

ठीक अष्टावक्र कहते हैं, मिला ही हुआ है। लेकिन "यह मिला हुआ ही है" तब समझ में आयेगा, जब पाने की सारी आकांक्षा विसर्जित हो जायेगी। तब तुम्हारी समग्रता से तुम जानोगे कि मिला हुआ है। अभी तो बुद्धि का खिलवाड़ हो जाता है।

अष्टावक्र जैसे महर्षि कहते हैं तो ठीक ही कहते होंगे। तुम जल्दी कर लेते हो मानने की। तुम्हारी श्रद्धा बड़ी नपुंसक है। तुम संदेह भी नहीं करते, तुम जल्दी मान लेते हो। शास्त्र के वचन पर इस देश में तो संदेह करने की आदत ही खो गई है; शास्त्र कहते हैं तो ठीक ही कहते होंगे।

मुल्ला नसरुद्दीन एक दिन आया, तो एक बड़ी खूबसूरत छतरी लिए हुए था। मैंने पूछा, कहां मिल गई? इतनी खूबसूरत छतरी यहां तो बनती नहीं!

उसने कहा, बहन ने भेंट भेजी है।

मैंने कहा, नसरुद्दीन! तुम तो सदा कहते रहे कि तुम्हारी कोई बहन नहीं!

वह कहने लगा, यह बात तो सच है।

तो फिर मैंने कहा, यह बहन ने भेंट भेजी?

उसने कहा, अब आप न मानो तो इसकी डंडी पर लिखा हुआ है: बहन की ओर से भाई को भेंट। एक होटल से निकलने लगा, यह छतरी पर लिखा था, मैंने सोचा अब हो न हो, बहन हो ही। जब लिखा हुआ है तो मानना ही पड़ता है। और फिर ऐसे कोई फुफेरी, ममेरी, कोई चचेरी बहन शायद हो भी। और फिर अध्यात्मवादी तो सदा से कहते हैं कि अपनी पत्नी को छोड़कर सभी को माता-बहन समझो।

लिखी हुई बात पर--और फिर शास्त्र में लिखी हो! छपी बात पर बड़ी जल्दी श्रद्धा आती है। कुछ बात कहो किसी से, वह कहता है, कहां लिखी है? लिखा हुआ बता दो तो वह राजी हो जाता है। जैसे लिखे होने में कोई बल है। कितनी पुरानी? तो लोग राजी हो जाते हैं। जैसे सत्य का पुराना होने से कोई संबंध है! किसने कही? अष्टावक्र ने कही? बुद्ध ने कही? महावीर ने कही?--तो फिर ठीक ही कही।

तुम थोड़ा भी तो अपनी तरफ से, थोड़ा भी, इंच भर भी जागने का प्रयास नहीं करते। किसी ने कह दी, तुमने मान ली--और फिर ऐसी सरल बात कि बिना कुछ किए मिल जाए।

कृष्णमूर्ति को मानने वाले चालीस वर्षों से सुन रहे हैं--करीब-करीब वे ही के वे लोग। मिला कुछ भी नहीं है। मेरे पास कभी-कभी उनमें से कोई आता है तो कहता है कि हमें पता है कि सब मिला ही हुआ है, मगर मिलता क्यों नहीं? हम कृष्णमूर्ति को सुनते हैं, बात समझ में आती है कि सब मिला ही हुआ है।

ये लोभीजन हैं। ये चाहते ही थे पहले से कि कोई श्रम न करना पड़े, मुफ्त मिल जाये। इन्होंने कृष्णमूर्ति को नहीं सुना, न अष्टावक्र को समझा है, इन्होंने अपने लोभ को सुना है। इन्होंने अपने लोभ के माध्यम से सुना है। फिर इन्होंने अपने हिसाब से व्याख्या कर ली!

किसी मित्र ने पूछा है कि अब ध्यान करना बड़ा बेहूदा लगता है। पांच-पांच ध्यान--और अष्टावक्र पर चल रही प्रवचनमाला--बड़ा बेहूदा लगता है!

ध्यान छोड़ने में कितनी सुगमता है--करने में कठिनता है! अष्टावक्र को भी जो मिला, वह कुछ करके मिला, ऐसा नहीं; लेकिन बिना कुछ किए मिला, ऐसा भी नहीं।

अब इसे तुम समझना। यह थोड़ा जटिल मामला है।

मैंने तुमसे कहा, बुद्ध को मिला जब उन्होंने सब करना छोड़ दिया; लेकिन पहले सब किया। छह वर्ष तक अथक श्रम किया, सब दांव पर लगा दिया। उस दांव पर लगाने से ही यह अनुभव आया कि करने से कुछ नहीं मिलता। अष्टावक्र को पढ़ने से थोड़े ही, नहीं तो अष्टावक्र की गीता बुद्ध के समय में उपलब्ध थी। उन्होंने पढ़ ली

होती, छह साल मेहनत करने की जरूरत न थी। छह साल अथक श्रम किया और श्रम कर-करके जाना कि श्रम से तो नहीं मिलता। रत्ती भर रेखा भी न बची भीतर कि श्रम करने से मिल सकता है। ऐसी कोई वासना भी न बची भीतर। करके देख लिया, नहीं मिलता। यह इतना प्रगाढ़ हो गया कि एक दिन इसी प्रगाढ़ता में करना छूट गया, तभी मिल गया।

तो मैं तुमसे यह कहना चाहता हूं कि न करने की अवस्था आयेगी, जब तुम सब कर चुके होओगे। जल्दबाजी मत करना; अन्यथा थोड़ा-बहुत ध्यान कर रहे हो, वह भी छूट जायेगा; थोड़ी बहुत पूजा-प्रार्थना में लगे हो, वह भी छूट जायेगी। अष्टावक्र तो दूर रहे, तुम जो हो थोड़े-बहुत, चल रहे थे किसी यात्रा पर, वह भी बंद हो जायेगा।

इसके पहले कि कोई रुके, समग्र रूप से दौड़ लेना जरूरी है। तो ही दौड़ने से नहीं मिलता, यह बोध प्रगाढ़ होता है। छूटता है एक दिन श्रम, लेकिन केवल बुद्धि के समझने से नहीं--तुम्हारा रोआं-रोआं, तुम्हारा कण-कण समझ लेता है कि व्यर्थ है, उसी घड़ी मिल जाता है।

ठीक कहते हैं अष्टावक्र कि अनुष्ठान बंधन है। लेकिन जो अनुष्ठान करेगा, उसको ही पता चलेगा।

मैं तुमसे कह रहा हूं, क्योंकि अनुष्ठान किया और पाया कि बंधन है। मैं तुमसे कह रहा हूं, क्योंकि साधन किये और पाया कि कोई साधन साध्य तक नहीं पहुंचते। ध्यान कर करके पाया कि कोई ध्यान समाधि तक नहीं लाता। लेकिन जब ऐसा करके तुम पाते हो कि कोई ध्यान समाधि तक नहीं लाता, ऐसी तुम्हारी गहन होती अनुभूति, एक दिन उस जगह आ जाती, सौ डिग्री पर उबलती, तुम सब दांव पर लगा देते हो, कुछ बचाते नहीं, अपने को पूरा झोंक देते हो आग में, श्रम परिपूर्ण हो जाता है, तपश्चर्या पूरी हो जाती है, साधन पूरा हो जाता है; अब तुमसे कोई अस्तित्व यह मांग नहीं कर सकता कि तुमने कुछ भी बचाया था; सब लगा दिया--उस दिन, उस प्रगाढ़ता में, उस प्रज्वलित चित्त की दशा में अचानक सब भस्मीभूत हो जाता है। सब साधन, सब अनुष्ठान, सब ध्यान, सब तप-त्याग --अचानक तुम जागकर पाते हो कि अरे, यह तो मिला ही था जिसे मैं खोज रहा था!

लेकिन यह अष्टावक्र को पढ़ने से हो जाता होता तो बात बड़ी सुगम थी। अष्टावक्र को पढ़ना क्या कठिन है? सूत्र तो बड़े सीधे-साफ हैं।

ध्यान रखना, सीधी-सरल बातें समझना इस जगत में सबसे कठिन है। और कठिनाई तुम्हारे भीतर से आती है। तुम चाहते ही थे कि कुछ न करना पड़े। ध्यान बामुश्किल लोग करने को राजी होते हैं। अब यह कसौटी है--अष्टावक्र की गीता। अष्टावक्र को सुनकर भी जो ध्यान करते रहेंगे, वे ही समझे। जो अष्टावक्र को सुनकर ध्यान छोड़ देंगे, अष्टावक्र को तो समझे ही नहीं, ध्यान भी गया।

अनुष्ठान करके ही पता चलेगा: अनुष्ठान बंधन है। यह तो आखिरी दशा है अनुष्ठान करने की। इससे तुम जल्दबाजी मत कर लेना।

"वेदांत और अष्टावक्र जैसे ग्रंथों द्वारा स्वाध्याय करके यह जाना...।"

स्वाध्याय करके किसी ने कहीं जाना? पठन-पाठन करके किसी ने जाना? शास्त्र, शब्दों को सीख लेने से किसी ने जाना? यह जानना नहीं है, यह जानकारी है। "जानकारी हुई" कहो, कि जो पाने योग्य है पाया ही हुआ है। अगर जान ही लिया तो बात खत्म हो गई। सूचना मिली, गुदगुदी उठी, लोभ में अंकुर हुआ! लोभ ने कहा, अरे! हम नाहक मेहनत करते थे; ये अष्टावक्र कहते हैं, बिना ही किए, तो चलो बिना ही किए बैठ जाएं। तो तुम बिना ही किये बैठ गये। थोड़ी ही देर में तुम देखने लगे: "अभी तक घटी नहीं घटना; देर लग रही है, बात क्या है? और अष्टावक्र कहते हैं, अभी!" तुम घड़ी पर नजर लगाये बैठे हो कि "पांच सेकेंड निकल गये, पांच मिनिट निकल गये, यह घंटा भी बीता जा रहा है--और अष्टावक्र कहते हैं, तत्क्षण! इसी वक्त! एक क्षण के भी विदा होने की जरूरत नहीं!" फिर तुम कहने लगे, झूठ ही कहते होंगे। श्रद्धा टूट गई।

जाना नहीं--जानकारी हुई। जानकारी और जानने के फर्क को सदा याद रखना। जानकारी अर्थात उधार। किसी और ने जाना, उससे सुन कर तुम्हें जानकारी हुई। इन्फार्मेशन--जानकारी। जानना तो अनुभव है। तुम्हारे अतिरिक्त कोई तुम्हारे लिए जान नहीं सकता। यह उधार नहीं हो सकता। मैं जान लूं, इससे तुम्हारे जानने की थोड़े ही घटना घटेगी। मेरा जानना मेरा होगा, तुम्हारा जानना तुम्हारा होगा। हां, अगर मेरे शब्दों को तुमने संग्रह कर लिया तो वह जानकारी है। जानकारी से आदमी पंडित बनता है, प्रज्ञावान नहीं। ज्ञान का बोझ इकट्ठा हो जाता है, ज्ञान की मुक्ति नहीं। शब्दों का जाल खड़ा हो जाता है, सत्य का सौंदर्य नहीं। शब्द और घेर लेते हैं, और बांध लेते हैं। इसलिए तुम पंडित को बड़ा बंधा हुआ पाओगे। खुला आकाश कहां?

"यह जाना कि जो पाने योग्य है वह पाया ही हुआ है।" अगर जान ही लिया, तो अब क्या पूछने को बचा?

"उसके लिये प्रयास भटकन है।" अगर यह जान ही लिया, तो अब और क्या पूछने को बचा?

"इस निष्ठा को गहन भी किया।" यह निष्ठा या तो होती है या नहीं होती; इसे गहन करने का उपाय नहीं है। गहन कैसे करोगे? निष्ठा होती है तो होती है, नहीं होती तो नहीं होती--गहन कैसे करोगे? क्या उपाय है निष्ठा को गहन करने का? संदेह को दबाओगे? संदेह की छाती पर बैठ जाओगे? क्या करोगे? संदेह को झुठलाओगे? मन में प्रश्न उठेंगे, नहीं सुनोगे? भीतर संदेह का कीड़ा काटेगा, और कहेगा कि सुनो भी, कहीं बिना किये कुछ मिला है? बैठे-बैठे कहीं कुछ हुआ है? कुछ करने से होता है, खाली बैठने से कहीं होता है? मुफ्त कहीं कुछ मिलता है? किन बातों में पड़े हो? किस भ्रांति में भटके हो? उठो, चलो, दौड़ो, अन्यथा जीवन निकल जायेगा, जीवन निकला ही जा रहा है! ऐसे बैठे-बैठे मूढ़ की भांति समय मत गंवाओ।

ये संदेह उठेंगे, इनका क्या करोगे? इनको दबा लोगे? इनको झुठला दोगे? कहोगे कि नहीं सुनना चाहता? इनको अचेतन में फेंक दोगे? तलघरे में छिपा दोगे भीतर? इनके सामने आंख करके न देखोगे? क्या करोगे निष्ठा गहन करने में? ऐसा ही कुछ करोगे। किसी तरह का दमन करोगे। यह निष्ठा झूठी होगी। इसके नीचे अविश्वास सुलगता होगा। यह निष्ठा ऊपर-ऊपर होगी। इसकी झीनी चादर होगी ऊपर; भीतर अविश्वास के, संदेह के अंगारे होंगे, वह जल्दी ही इस निष्ठा को जला डालेंगे। यह निष्ठा किसी भी काम की नहीं है, इसको तुम गहरा नहीं कर सकते। निष्ठा होती है, तो होती है।

ऐसा समझो कि कोई आदमी एक वर्तुल खींचे, आधा वर्तुल खींचे, तो क्या तुम उसे वर्तुल कहोगे? आधे वर्तुल को वर्तुल कहा जा सकता है? चाप कहते हैं, वर्तुल नहीं। वर्तुल तो तभी कहते हैं, जब पूरा होता है। अधूरे वर्तुल का नाम वर्तुल नहीं है।

अधूरी श्रद्धा का नाम श्रद्धा नहीं है, क्योंकि अधूरी श्रद्धा का अर्थ हुआ कि अधूरा अभी अविश्वास भी खड़ा है। वह जो आधी जगह खाली है, वहां कौन होगा? वहां संदेह होगा। संदेह के साथ श्रद्धा चल ही नहीं सकती। यह तो ऐसा हुआ कि एक पैर पूरब जा रहा है, एक पैर पश्चिम जा रहा है--तुम कहीं पहुंचोगे नहीं। यह तो ऐसा हुआ कि तुम दो नावों पर सवार हो, एक इस किनारे को आ रही, एक उस किनारे को जा रही है--तुम पहुंचोगे कहां?

संदेह की यात्रा अलग, श्रद्धा की यात्रा अलग। तुम दो नावों पर सवार हो। अधूरी श्रद्धा का क्या अर्थ? अधूरी निष्ठा का क्या अर्थ? कि आधा अविश्वास, आधा संदेह भी मौजूद है! श्रद्धा होती तो पूरी, नहीं होती तो नहीं होती।

और एक और मजे की बात ध्यान रखना, इस जगत में जब भी श्रेष्ठ को निकृष्ट से मिलाओगे, तो निकृष्ट कुछ भी नहीं खोता, श्रेष्ठ का कुछ खो जाता है। जब भी तुम श्रेष्ठ के साथ निकृष्ट को मिलाओगे, तो निकृष्ट की कोई हानि नहीं होती, श्रेष्ठ की हानि हो जाती है।

शुद्ध पकवान, भोजन तैयार है, तुम जरा-सी मुट्ठी भर गंदगी लाकर डाल दो। तुम कहोगे, यह पकवान का तो ढेर लगा है मनों, इसमें मुट्ठी भर गंदगी से क्या होता है? तो मुट्ठी भर गंदगी उस पूरे शुद्ध भोजन को नष्ट कर देगी। वह पूरा शुद्ध भोजन भी उस मुट्ठी भर गंदगी को नष्ट न कर पायेगा।

तुम एक फूल पर पत्थर फेंक दो, तो पत्थर का कुछ न बिगड़ेगा, फूल समाप्त हो जायेगा। पत्थर जड़ है, निकृष्ट है। फूल महिमावान है। फूल आकाश का है, पत्थर पृथ्वी का है। फूल काव्य है जीवन का। पत्थर और फूल की टक्कर होगी, तो फूल का सब बिगड़ जायेगा, पत्थर का कुछ भी न बिगड़ेगा।

एक बूंद जहर पर्याप्त है।

तो ध्यान रखना, संदेह निकृष्ट है। श्रद्धा के फूल के साथ अगर संदेह का पत्थर भी पड़ा है तो फूल दबेगा और मर जायेगा, हत्या हो जायेगी फूल की।

तुम यह मत सोचना कि श्रद्धा, पत्थर को बदल लेगी। पत्थर फूल को नष्ट कर देगा।

निष्ठा या तो होती है या नहीं होती। इसमें दो मत नहीं हैं। होती है, तो सारे जीवन को घेर लेती है, रोएं-रोएं को व्याप्त कर लेती है। निष्ठा व्यापक है फिर। पर ऐसी निष्ठा शास्त्र से नहीं मिलती है, न मिल सकती है। ऐसी निष्ठा जीवंत अनुभव से मिलती है। जीवन के शास्त्र को पढ़ोगे तो मिलेगी, अष्टावक्र को पढ़ने से नहीं।

अष्टावक्र को समझ लो। उस समझ को ज्ञान मत समझ लेना। अष्टावक्र को समझकर, अपने भीतर सम्हाल कर, एक कोने में रख दो। एक कसौटी मिली। ज्ञान नहीं मिला, एक कसौटी मिली। अब जब तुम्हें ज्ञान मिलेगा, तब अष्टावक्र की कसौटी पर उसे कसने में तुम्हें सुविधा हो जायेगी।

कसौटी सोना नहीं है। तुम जाते हो एक सुनार के पास, देखते हो रखा है काला पत्थर कसौटी का। वह काला पत्थर सोना नहीं है। जब सोना मिलता है तो सुनार उस काले पत्थर पर घिसकर देख लेता है कि सोना सोना है या नहीं है?

अष्टावक्र की बात को समझकर, कसौटी की तरह सम्हाल कर रख लो, गांठ बांध लो, जब तुम्हारे जीवन का अनुभव आयेगा, तो कस लेना। अष्टावक्र की कसौटी उस वक्त काम आयेगी। तुम जान पाओगे कि जो हुआ है, वह क्या हुआ? तुम्हारे पास समझने को भाषा होगी। तुम्हारे पास समझने को उपाय होगा। अष्टावक्र तुम्हारे गवाह होंगे।

मैं शास्त्रों को इसी अर्थ में लेता हूं। शास्त्र गवाह हैं। अनजाना है मार्ग सत्य का। उस अनजाने मार्ग पर तुम्हें कुछ गवाहियां चाहिए। तुम जब पहली दफा स्वयं सत्य के सामने आओगे, सत्य इतना विराट होगा कि तुम कंपोगे, समझ न पाओगे। तुम जड़-मूल से कंप जाओगे। बहुत डर है कि तुम पागल हो जाओ।

थोड़ा सोचो तो, कि एक आदमी जो जन्मों-जन्मों से किसी खजाने को खोज रहा था, एक दिन अचानक पाए कि खजाना वहीं गड़ा है जहां वह खड़ा है--वह पागल नहीं हो जाएगा? यह जन्मों- जन्मों की खोज व्यर्थ गई। और खजाना यहीं गड़ा था जहां मैं खड़ा हूं।

तुम थोड़ा सोचो! उस आदमी पर यह आघात बड़ा हो जाएगा। "तो इतने दिन मैं व्यर्थ जीया! तो यह सारा अनंत काल तक जीना एक निरर्थक चेष्टा थी, एक दुख-स्वप्न था! जिसे मैं खोज रहा था, वह भीतर पड़ा था!" क्या ऐसी चोट में, संघात में आदमी पागल न हो जाएगा? उस वक्त अष्टावक्र की मधुर वाणी शीतल करेगी। उस वक्त वेदांत, बुद्ध के वचन, उपनिषद, बाइबिल, कुरान तुम्हारे साक्षी होकर खड़े हो जाएंगे। उनकी उपस्थिति में जो नया तुम्हें घट रहा है, तुम उसे समझने में सफल हो पाओगे; अन्यथा अकेले में बड़ी मुश्किल हो जाएगी।

शास्त्रों पर मैं बोल रहा हूं--इसलिए नहीं कि शास्त्रों को सुनकर तुम ज्ञानी हो जाओगे; इसलिए बोल रहा हूं कि ध्यान के मार्ग पर चले हो, आज नहीं कल घटना घटेगी, घटनी ही चाहिए। जब घटना घटे तो ऐसा न हो कि सोना सामने हो और तुम समझ भी न पाओ। कसौटी तुम्हें दे रहा हूं। इन कसौटियों पर कस लेना।

अष्टावक्र शुद्धतम कसौटी हैं। अष्टावक्र पर निष्ठा नहीं करनी है; अष्टावक्र की कसौटी का उपयोग करना है स्वयं के अनुभव पर। अष्टावक्र को गवाही बनाना है।

जीसस ने कहा है अपने शिष्यों से कि जब तुम पहुंचोगे, मैं तुम्हारा गवाह रहूंगा। शिष्य तो फिर भी गलत समझे। शिष्य तो समझे कि हम जब मरेंगे और परमात्मा के स्वर्ग में पहुंचेंगे तो जीसस हमारी गवाही देंगे कि ये मेरे शिष्य हैं, इन्हें भीतर आने दो; ये अपने वाले हैं, ईसाई हैं। इनके साथ थोड़ी विशेष अनुकंपा करो। इन पर प्रसाद ज्यादा हो!

लेकिन जीसस का मतलब बहुत और था। जीसस ने कहा कि जब तुम पहुंचोगे, मैं तुम्हारी गवाही होऊंगा--इसका यह मतलब नहीं कि जीसस वहां खड़े होंगे। लेकिन जीसस ने जो कहा है, वह कसौटी की तरह पड़ा रहेगा। जब तुम्हारा अनुभव होगा, झट तुम उसे कस लोगे और गुत्थी सुलझ जाएगी। अन्यथा, असत्य में भटके हो इतने दिन तक कि तुम्हारी आंखें असत्य की आदी हो गई हैं। सत्य का आघात कहीं तुम्हें तोड़ न दे, विक्षिप्त न कर दे।

इसे याद रखना, सत्य के बहुत खोजी पागल हो गए हैं। सत्य के बहुत खोजी ठीक उस दशा के करीब, जब परमहंस होने को होते हैं, तभी पागल हो जाते हैं, विक्षिप्त हो जाते हैं। क्योंकि घटना इतनी बड़ी है, अविश्वसनीय है, भरोसे-योग्य नहीं है; जैसे पूरा आकाश टूट पड़े तुम पर; छोटा तुम्हारा पात्र है और विराट तुम्हारे पात्र पर बरस जाए! तुम अस्तव्यस्त हो जाओगे। तुम सम्हाल न पाओगे। जैसे सूरज एकदम सामने आ जाए और तुम्हारी आंखें झकपका जाएं, धुंधलका हो जाए! सूरज सामने हो और अंधेरा हो जाए, क्योंकि तुम्हारी आंखें बंद हो जाएं। उस घड़ी अष्टावक्र के वचन तुम्हें सूरज को समझने में उपयोगी हो जाएंगे। उस समय तुम्हारे अचेतन में पड़ी अष्टावक्र की वाणी तत्क्षण मुखर हो जाएगी। गूंजने लगेंगे उपनिषद के वचन, गूंजने लगेगी गीता, गूंजने लगेगा कुरान, उठने लगेंगी आयतें! उनकी गंध तुम्हें आश्वस्त करेगी कि तुम घर आ गए हो, घबड़ाने की कोई बात नहीं। यह विराट हो तुम!

अष्टावक्र कहते हैं: तू व्यापक है! तू विराट है। तू विभु है। तू कर्म-शून्य! तू शुद्ध-बुद्ध। तू सिर्फ ब्रह्मस्वरूप है!

ये वचन उस क्षण व्याख्या बनेंगे। इन पर निष्ठा करने मात्र से, इनको पकड़ लेने मात्र से तुम कहीं भी पहुंचोगे नहीं। और लोभ तुम्हारा भीतर खड़ा है कि आत्मज्ञान हुआ नहीं।

वासना को बांधने को
तूमड़ी जो स्वरतार बिछाती है।
आह! उसी में कैसी एकांत-निबिड़
वासना थरथराती है!
सुनो फिर--
वासना को बांधने को
तूमड़ी जो स्वरतार बिछाती है।
आह! उसी में कैसी एकांत-निबिड़
वासना थरथराती है!
तभी तो सांप की कुंडली हिलती नहीं,
फन डोलता है।

तुम वासना से मुक्त भी होना चाहते हो, तो भी तुम वासना का ही जाल बिछाते हो। तुम परम शुद्ध-बुद्ध होना चाहते हो, तो भी लोभ के माध्यम से ही, तो भी वासना ही थरथराती है।

आह! उसी में कैसी एकांत-निबिड़
वासना थरथराती है।

वासना को बांधने को
तूमड़ी जो स्वरतार बिछाती है।

तुम परमात्मा को पाने चलते हो, लेकिन तुम्हारे पाने का ढंग वही है जो धन पाने वाले का होता है। तुम परमात्मा को पाने चलते हो, लेकिन तुम्हारी वासना, कामना वही है--जो पदार्थ को पाने वाले की होती है। संसार को पाने वाले की जो दीवानगी होती है, वही दीवानगी तुम्हारी है।

वासना विषय बदल लेती है, वासना नहीं बदलती।

सुनकर अष्टावक्र को तुम्हारी वासना कहती है: "अरे, यह तो बड़ा शुभ हुआ! हमें पता ही न था कि जिसे हम खोज रहे हैं वह मिला ही हुआ है। तो अब बस बैठ जाएं।" फिर तुम प्रतीक्षा करते हो: अब मिले, अब मिले, अब मिले! कैसी वासना थरथराती है! अब मिले! तो तुम समझे ही नहीं।

फिर से सुनो अष्टावक्र को। अष्टावक्र कहते हैं: मिला ही हुआ है। लेकिन इसे तुम कैसे सुनोगे? कैसे समझोगे? तुम्हारी वासना तो थरथरा रही है।

जब तक तुम अपनी वासना में दौड़ न लो, दौड़-दौड़कर वासना की व्यर्थता देख न लो, दौड़ो और गिरो और लहूलुहान न हो जाओ, हाथ-पैर न तोड़ लो--तब तक तुम नहीं समझ पाओगे। वासना के अनुभव से जब वासना व्यर्थ हो जाती है, थककर गिर जाती है और टूट जाती है--उस निर्वासना के क्षण में तुम समझ पाओगे, कि जिसे तुम खोजते हो वह मिला ही हुआ है।

अन्यथा, तुम तोते हो जाओगे। इससे कोई फर्क नहीं पड़ता कि तुम हिंदू तोते हो कि मुसलमान कि ईसाई कि जैन कि बौद्ध, इससे कुछ फर्क नहीं पड़ता--तोते यानी तोते। तोते को तुम चाहो तो बाइबिल रटा दो, और तोते को तुम चाहो तो गीता रटा दो। तोता तोता है; वह रटकर दोहराने लगेगा।

मंदिर के भीतर वे सब धुले-पुंछे
उघड़े, अवलिप्त, खुले गले से,
मुखर स्वरों में, अति प्रगल्भ
गाते जाते थे राम-नाम।
भीतर सब गूंगे, बहरे, अर्थहीन
जलपक, निर्बोध, अयाने, नाटे,
पर बाहर,
जितने बच्चे, उतने ही बड़बोले!
मंदिरों में देखो!
मंदिर के भीतर वे सब धुले-पुंछे,
उघड़े, अवलिप्त...!

कैसे लोग निर्दोष मालूम पड़ते हैं मंदिर में। उन्हीं शक्लों को बाजार में देखो, उन्हीं को मंदिर में देखो। मंदिर में उनका आवरण भिन्न मालूम होता है।

खुले गले से, मुखर स्वरों में
अति प्रगल्भ, गाते जाते थे राम-नाम।

देखा तुमने माला लिए, किसी को राम-नाम जपते? राम चदरिया ओढ़े, चंदन-तिलक लगाए-- कैसी शुभ्र लगती है प्रतिमा! इन्हीं सज्जन को बाजार में देखो, भीड़-भाड़ में देखो, पहचान भी न पाओगे। लोगों के चेहरे अलग-अलग हैं; बाजार में एक चेहरा ओढ़ लेते हैं, मंदिर में एक चेहरा ओढ़ लेते हैं।

अति प्रगल्भ, गाते जाते थे राम-नाम
भीतर सब गूंगे, बहरे, अर्थहीन

जलपक, निर्बोध, अयाने, नाटे,

पर बाहर,

जितने बच्चे उतने ही बड़बोले!

जानकारी तुम्हें तोता बना सकती है, बड़बोला बना सकती है। जानकारी तुम्हें धार्मिक होने की भ्रांति दे सकती है, धोखा दे सकती है। लेकिन ज्ञान उसे मत मान लेना। और जानकारी के आधार पर तुम जो निष्ठा सम्हालोगे, वह निष्ठा संदेह के ऊपर बैठी होगी, संदेह के कंधे पर सवार होगी। वह निष्ठा कहीं सत्य के द्वार तक ले जाने वाली नहीं है। उस निष्ठा पर बहुत भरोसा मत करना। वह निष्ठा दो कौड़ी की है।

निष्ठा आनी चाहिए स्वानुभव से। निष्ठा आनी चाहिए शुद्ध निर्विकार स्वयं की ध्यान-अवस्था से।

दूसरा प्रश्न: कल संध्या घूम रहा था कि अचानक आपका कल सुबह का पूरा प्रवचन मेरे रोम-रोम में गूंजने लगा। दर्शक होकर दृश्यों की छवि निहार रहा था कि कहीं से द्रष्टा की याद आ गई। द्रष्टा का खेल भी जरा देर चला, लेकिन इसी बीच मेरे पैर लड़खड़ाने लगे और गिरने से बचने के लिए मैं सड़क के किनारे बैठ गया। और तभी न दृश्य रहा न दर्शक रहा और न द्रष्टा ही रहा। सब कुछ समाप्त हो गया और फिर भी कुछ था। कभी अंधेरा, कभी प्रकाश की आंख-मिचौनी चलती रही। लेकिन तभी से बेचैनी भी बढ़ गई और समझ में नहीं आया कि यह सब क्या है!

यही मैं तुमसे कह रहा हूं।

अगर सत्य की थोड़ी-सी झलक भी तुम्हारे पास आएगी तो तुम बेचैन हो जाओगे; तुम समझ न पाओगे यह क्या है। न समझ पाए कि क्या है, तो गहन अशांति पकड़ लेगी, विक्षिप्तता भी पकड़ सकती है। इसलिए बोलता हूं इन शास्त्रों पर। इसलिए रोज तुम्हें समझाए जाता हूं कि कहीं तुम्हारे अचेतन में जानकारी पड़ी रहे और जब घटनाएं घटें तो तुम उनकी ठीक- ठीक व्याख्या कर लो, सुलझा लो। अन्यथा तुम सुलझाओगे कैसे?--तुम्हारे पास भाषा न होगी; शब्द न होंगे; समझने का कोई उपाय न होगा; मापदंड न होगा। तराजू न होगा, तुम तौलोगे कैसे? कसौटी न होगी, तुम परखोगे कैसे?

पूछा है: "मेरे रोम-रोम में प्रवचन गूंजने लगा। दर्शक होकर दृश्यों की छवि निहार रहा था, कहीं से द्रष्टा की याद आ गई। द्रष्टा का खेल भी जरा देर चला, लेकिन इसी बीच मेरे पैर लड़खड़ाने लगे और गिरने से बचने के लिए मैं सड़क के किनारे बैठ गया।"

निश्चित ही ऐसा ही होता है। जब पहली दफा तुम्हें द्रष्टा का थोड़ा-सा बोध होगा, तुम लड़खड़ा जाओगे; तुम्हारी पूरी जिंदगी लड़खड़ा जाएगी। क्योंकि तुम्हारी पूरी जिंदगी ही द्रष्टा के बिना खड़ी है। यह नई घटना सब अस्तव्यस्त कर देगी। जैसे अंधे आदमी की अचानक आंख खुल जाए, थोड़ा सोचो, वह चल पाएगा रास्ते पर? वह लड़खड़ा जाएगा। चालीस साल, पचास साल से अंधा था, लकड़ी के सहारे टटोल-टटोलकर चलता था। अंधेरे में चलने की धीरे-धीरे क्षमता आ गई थी अंधेपन के साथ ही। कुशल हो गया था। आवाजें समझ लेता था। रास्तों के मोड़ पहचान में आ गए थे। कान के द्वारा आंख का काम लेना सीख गया था। पचास साल से सब ठीक व्यवस्थित हो गया था।

एक जिंदगी है अंधे की--तुम उसकी कल्पना भी नहीं कर सकते--प्रकाश-विहीन, रंग-विहीन, रूप-विहीन, आकार-विहीन; सिर्फ ध्वनि के माध्यम पर टिकी। उसकी एक ही भाषा है: ध्वनि। तो उसी के आधार पर उसने अपना सारा जीवन संरचित कर लिया था। आज अचानक सुबह वह जा रहा है बाजार, उसकी अचानक आंख खुल जाए, थोड़ा सोचो क्या होगा? उसका सारा संसार झकपका कर गिर पड़ेगा। उसकी ध्वनि का सारा लोक एकदम अस्तव्यस्त हो जाएगा। यह घटना इतनी बड़ी होगी--आंख का खुलना, लोगों के चेहरे दिखाई पड़ने, रंग दिखाई पड़ने, सूरज की किरणें, धूप-छांव, यह भीड़-भाड़, इतने लोग, बसें, कारें, साईकिलें--वह एकदम घबड़ा

जाएगा। यह इतना बड़ा आघात होगा उसके ऊपर कि उसकी छोटी-सी दुनिया जो ध्वनि के सहारे बनी थी, वह कहीं दब जाएगी, पिछड़ जाएगी, मर जाएगी, कुचल जाएगी! वह वहीं थरथराकर बैठ जाएगा, लड़खड़ाकर गिर पड़ेगा; शायद घर न आ सके, या बेहोश हो जाए।

और यह उदाहरण कुछ भी नहीं है। जब तुम्हारे जीवन में द्रष्टा का प्रवेश होगा, एक किरण भी द्रष्टा की आएगी, तो यह उदाहरण कुछ भी नहीं है--वह घटना और भी बड़ी है। भीतर की आंख खुल रही है। तुमने उस भीतर की आंख के बिना ही अपना एक संसार रच लिया है। अचानक वह भीतर की आंख खुलते ही तुम्हारे सारे संसार को गलत कर देगी। तुम चौंककर अवाक रह जाओगे।

जिसने पूछा है, ठीक ही पूछा है और अनुभव से पूछा है। इसे खयाल करना।

प्रश्न दो तरह के होते हैं। एक तो सैद्धांतिक होते हैं। उनका कोई बड़ा मूल्य नहीं होता। यह प्रश्न अनुभव का है। अनुभव से न हुआ होता तो यह प्रश्न बन ही नहीं सकता था। ये पैर लड़खड़ाए न होते तो यह प्रश्न बन नहीं सकता था। यह प्रश्न सीधे अनुभव का है।

"कहीं से द्रष्टा की याद आ गई।"

गूंज रहे होंगे अष्टावक्र के वचन। जो मैंने कहा था सुबह, उसकी गूंज बाकी रह गई होगी, उसकी सुगंध तुम्हारे भीतर उठ रही होगी, उसकी थोड़ी-सी लकीरें कहीं उलझी रह गई होंगी।

"आ गई कहीं से द्रष्टा की याद! द्रष्टा का खेल थोड़ी देर चला।"

शायद क्षण भर ही चला हो। वह क्षण भी बहुत लंबा मालूम होता है जब खेल द्रष्टा का चलता है, क्योंकि द्रष्टा समयातीत है। यहां घड़ी में क्षण बीतता है, वहां द्रष्टा होने में ऐसा लग सकता है कि सदियां बीत गईं। यह घड़ी वहां काम नहीं आती। यह घड़ी भीतर की आंख के लिए नहीं बनी है।

"थोड़ी देर खेल चला, लेकिन इसी बीच मेरे पैर लड़खड़ाने लगे, जिनसे बचने के लिए मैं सड़क के किनारे बैठ गया।"

यह लड़खड़ाहट बताती है कि घटना घटी। प्रश्न पूछने वाले ने सुनकर प्रश्न नहीं पूछा है, पढ़कर प्रश्न नहीं पूछा है--कुछ घटा।

"और तभी न दृश्य रहा, न दर्शक रहा, न द्रष्टा रहा।" उस लड़खड़ाहट में सब बिखर गया, सब खो गया।

ऐसी घड़ी में ही कभी विक्षिप्तता आ सकती है, अगर धीरे-धीरे अभ्यास न हो। अगर रत्ती-रत्ती हम इसको आत्मसात न करते चलें और यह एकदम से फूट पड़े, तो विस्फोट हो सकता है।

"सब कुछ समाप्त हो गया और फिर भी कुछ था।"

निश्चित कुछ था। वस्तुतः पहली दफा सब कुछ था। तुम्हारा सब कुछ समाप्त हो गया। तुमने जो बना ली थी अपनी छोटी-सी घासफूस की कुटिया--वह गिर गई। आकाश था, चांदत्तारे थे। परमात्मा ही बचा! तुमने जो बना ली थी सीमाएं, रेखाएं--वे खो गईं। निरभ्र आकाश बचा! तुमने जो छोटे-से में रहने का अभ्यास कर लिया था, वह लड़खड़ा गया। उसी लड़खड़ाहट में तुम भी घबड़ाकर सड़क के किनारे बैठ गए।

निश्चित कुछ था। लेकिन जिसको यह अनुभव हुआ, अवाक कर गया। वह पकड़ नहीं पाया, क्या था, कौन था!

तुम्हें खयाल है? कभी-कभी ऐसा होता है, सुबह अचानक कोई तुम्हें जगा दे जब तुम गहरी नींद में सोए थे--पांच बजे हों, तुम गहरी नींद में थे, रात की सबसे गहरी घड़ी थी--कोई अचानक जगा दे, कोई शोरगुल हो जाए, रास्ते पर कोई बम फूट जाए, कोई कार टकरा जाए द्वार पर, कोई शोरगुल हो जाए--तुम अचानक से जाग जाओ। अचानक! नींद से एकदम होश में आ जाओ। नींद की गहराई से तीर की तरह आ जाओ।

साधारणतः हम जब आते हैं नींद की गहराई से तो धीरे-धीरे आते हैं। पहले गहरी नींद छूटती है, फिर धीरे-धीरे सपने तैरना शुरू होते हैं। फिर सपनों में हम थोड़ी देर रहते हैं। इसलिए तुम्हें सुबह के सपने याद रहते

हैं रात के सपने तुम्हें याद नहीं रहते। क्योंकि सुबह के सपने बहुत हलके होते हैं, और नींद और जागरण के ठीक मध्य में होते हैं। फिर धीरे-धीरे सपने हटते हैं। फिर अधूरी-अधूरी टूटी-सी नींद होती है। फिर धूप-छांव की आंख-मिचौनी चलती है थोड़ी देर, क्षण भर को लगता है जागे, क्षण भर को फिर नींद में हो जाते हैं, करवट बदल लेते हैं, करवट बदलते तब लगता है जागे हैं; बीच में आवाज भी सुनाई दे जाती है कि पत्नी चाय बनाने लगी, कि बर्तन गिर गया, कि दूध वाला आ गया, कि राह से कोई गुजर रहा, कि नौकरानी ने दस्तक दी, कि बच्चे स्कूल जाने की तैयारी करने लगे। फिर करवट लेकर फिर तुम एक गहराई में डुबकी लगा जाते हो। ऐसा धीरे-धीरे, धीरे-धीरे सतह पर आते हो। फिर तुम आंख खोलते हो।

लेकिन अगर कभी कोई अचानक घटना घट जाए तो तुम तीर की तरह गहराई से सीधे जागरण में आ जाते हो। आंख खोलकर तुम्हें लगेगा अचानक, तुम कहां हो, कौन हो? एक क्षण को कुछ समझ में न आएगा।

ऐसा तुम सबको हुआ होगा कभी किसी घड़ी में: "कौन हूं? नाम-पता भी याद नहीं आता। कहां हूं? यह भी समझ में नहीं आता। जैसे किसी अजनबी दुनिया में अचानक आ गए हों! यह क्षण भर ही रहती है बात, फिर तुम सम्हल जाते हो। क्योंकि यह धक्का कोई बहुत बड़ा धक्का नहीं है। और फिर इसके तुम अभ्यासी हो। रोज ही यह होता है। रोज सुबह तुम उठते हो, सपने की दुनिया से वापिस जागृति की दुनिया में लौटते हो। यह अभ्यास पुराना है, फिर भी कभी-कभी अचानक हो जाए तो चौंका जाता है, घबड़ा जाता है।

असली जागरण जब घटता है तो तुम बिलकुल ही अवाक रह जाओगे। तुम्हें कुछ समझ में न आएगा, क्या हो रहा है? सब सन्नाटा और शून्य हो जाएगा।

लेकिन ठीक हुआ।

"न द्रष्टा रहा, न दर्शक, न दृश्य। सब कुछ समाप्त हो गया। फिर भी कुछ था।"

इस कुछ की ही तुम व्याख्या कर सको, इसीलिए इतने शास्त्रों पर मैं बोल रहा हूं। इस कुछ की ही तुम व्याख्या करने में समर्थ हो जाओ; इस कुछ को तुम अर्थ दे सको; इस कुछ की तुम प्रत्यभिज्ञा कर सको, परिभाषा कर सको, नहीं तो यह कुछ तुम्हें डुबा लेगा। तुम बाढ़ में बह जाओगे। तुम्हारे पास खड़े होने की कोई जगह रहे, इसीलिए इतनी बातें कह रहा हूं।

"सब कुछ समाप्त हो गया, फिर भी कुछ था। कभी अंधेरा, कभी प्रकाश की आंख-मिचौनी चलती रही। लेकिन तभी से बेचैनी बढ़ गई है। और समझ में नहीं आता कि यह सब क्या था।"

जो मैं कहता हूं, उसे सम्हाले जाओ। उसकी मंजूषा बनाओ। उसे ज्ञान मत समझना, जानकारी ही समझना। समझपूर्वक उसकी मंजूषा बनाओ। फिर धीरे-धीरे तुम पाओगे, जब-जब अनुभव घटेगा, जो अनुभव घटेगा, उस अनुभव को सुस्पष्ट, सुविश्लिष्ट कर देने वाले मेरे शब्द तुम्हारे अचेतन से उठकर खड़े हो जाएंगे। मैं तुम्हारा साक्षी बन जाऊंगा। मैं तुम्हारा गवाह हूं।

लेकिन अगर सुनते वक्त तुम मेरे साथ विवाद कर रहे हो तो फिर मैं तुम्हारा गवाह न बन सकूंगा। अगर सुनते वक्त तुम मुझसे किसी तरह का आंतरिक संघर्ष कर रहे हो, तर्क कर रहे हो; अगर सुनते वक्त तुम मुझे सहानुभूति, प्रेम से नहीं सुन रहे हो, विवाद कर रहे हो--तो मैं तुम्हारा गवाह न बन सकूंगा। क्योंकि फिर तुम जो अपनी मंजूषा में रखोगे, वह मेरा नहीं होगा, तुम्हारा ही होगा।

कल रात आस्ट्रेलिया से आए एक मनोवैज्ञानिक ने संन्यास लिया। उस मनोवैज्ञानिक को मैंने कहा कि तुम संन्यास न लो, तो भी तुम्हारा स्वागत है। लेकिन तब तुम मेरे अतिथि न रहोगे। स्वागत तो तुम्हारा है। अगर तुम संन्यास ले लो तो भी स्वागत तुम्हारा है, पर तुम मेरे अतिथि भी हो गए।

मुझसे लोग पूछते हैं कि "अगर हम संन्यास न लें तो क्या आपका प्रेम हम पर कम रहेगा?" मेरा प्रेम तुम पर पूरा रहेगा। स्वागत है। लेकिन संन्यास लेते ही तुम अतिथि भी हो गए।

और बड़ा फर्क है। बिना संन्यास लिए तुम सुन रहे हो दूरी से; संन्यास लेकर तुम पास आ गए। बिना संन्यास लिए तुम सुन रहे हो, अपनी बुद्धि से विश्लेषण कर रहे हो, तुम छांट रहे हो मैं जो कह रहा हूं। उसमें जो तुम्हें मन-भाता है, वह रख लेते हो; जो मन नहीं भाता, वह छोड़ देते हो। और संभावना इसकी है कि जो तुम्हें मन नहीं भाता है वही काम पड़ने वाला है। क्योंकि तुम्हें जो मन-भाता है, वह तुम्हें बदल नहीं सकता। तुम्हें मन-भाता है, उसका अर्थ है तुम्हारे अतीत से मेल खाता है। जो तुम्हारे अतीत से मेल नहीं खाता, वही तुम्हारे भीतर क्रांति की किरण बनेगा। जो तुमसे मेल नहीं खाता वही तुम्हें रूपांतरित करेगा। जो तुमसे बिलकुल मेल खा जाता है, वह तुम्हें मजबूत करेगा, रूपांतरित नहीं करेगा। तो तुम चुन रहे हो। तुम सोचते हो तुम बुद्धिमान हो।

बुद्धिमान कभी-कभी बड़ी नासमझियां करते हैं। वे चुन रहे हैं बैठे। वे चुनते रहते हैं। अपने मतलब का जो है, वह सम्हाल लेंगे; जो अपने मतलब का नहीं, उससे हमें क्या लेना-देना!

लेकिन मैं तुमसे फिर कहता हूं: जो तुम्हें लगता है तुम्हारे मतलब का नहीं है, वही किसी दिन तुम्हारे काम पड़ेगा। आज तुम्हारे पास उसको समझने का भी कोई उपाय नहीं है, क्योंकि तुम्हारे पास उसका कोई अनुभव नहीं है। लेकिन फिर भी मैं कहता हूं, सम्हाल कर रख लो। किसी दिन अनुभव जब आएगा, तो अचानक तुम्हारे अचेतन से उठेगी बात और हल कर जाएगी। तब तुम अवाक न रहोगे। तब तुम्हारा विस्मय तुम्हें तोड़ नहीं देगा। और तब तुम घबड़ा न जाओगे और बेचैनी न होगी।

ऊपर ही ऊपर,
जो हवा ने गाया
देवदारू ने दोहराया
जो हिम-चोटियों पर झलका
जो सांझ के आकाश से छलका
वह किसने पाया?
जिसने आयत करने की आकांक्षा का हाथ बढ़ाया?
आह, वह तो मेरे
दे दिए गए हृदय में उतरा
मेरे स्वीकारे आंसू में ढलका
वह अनजाना, अनपहचाना ही आया
वह इन सबके और मेरे माध्यम से
अपने में, अपने को लाया
अपने में समाया
अकेला वह तेजोमय है जहां
दीठ बेबस झुक जाती है
वाणी तो क्या, सन्नाटे तक की गूंज
वहां चुक जाती है।

सुनो मुझे--गहन आंसुओं से! सुनो मुझे--हृदय से! सुनो मुझे--प्रेम से! बुद्धि से नहीं, तर्क से नहीं। वही श्रद्धा और निष्ठा का अर्थ है।

ऊपर ही ऊपर,
जो हवा ने गाया
जो देवदारू ने दोहराया
जो हिम-चोटियों पर झलका
जो सांझ के आकाश से छलका
वह किसने पाया?

क्या उसने, जिसने

आयत करने की आकांक्षा का हाथ बढ़ाया?

नहीं! जहां आकांक्षा का हाथ बढ़ा, वहां तो हाथ बड़ा छोटा हो गया। आकांक्षा के हाथ में तो भिक्षा ही समाती है, साम्राज्य नहीं समाते। साम्राज्य समाने के लिए तो प्रेम से खुला हुआ हृदय चाहिए; भिक्षा का, वासना का पात्र नहीं।

वह किसने पाया?

जिसने आयत करने की आकांक्षा का हाथ बढ़ाया?

तो तुम मुझे यहां ऐसे सुन सकते हो कि चलो, जो अपने मतलब का हो उसे उठा लें, अपनी झोली में सम्हाल लें। तो तुम आकांक्षा के हाथ से मेरे पास आ रहे हो। आकांक्षा तो भिक्षु है। तो तुम कुछ थोड़ा-बहुत ले जाओगे, लेकिन तुम जो ले जाओगे वे टेबल से गिरे रोटी के टुकड़े इत्यादि थे। तुम अतिथि न हो पाए। संन्यास तुम्हें अतिथि बना देता है।

आह, वह तो मेरे दे दिए गए
हृदय में उतरा!
आह, वह तो मेरे दे दिए गए
हृदय में उतरा।
मेरे स्वीकारे आंसू में ढलका
वह अनजाना-अनपहचाना ही आया
वह इन सबके और मेरे माध्यम से
अपने में, अपने को लाया
अपने में समाया
अकेला वह तेजोमय है जहां
दीठ बेबस झुक जाती है।
वहां आंख तो झुक जाती है।
वाणी तो क्या, सन्नाटे तक की गूंज
वहां चुक जाती है।

उसके लिए तैयारी करो। उसके लिए हृदय को प्रेम से भरो। उसके लिए सहानुभूति से सुनना सीखो। और मैं तुमसे जो कह रहा हूं, उसे मंजूषा में संजोओ। तो फिर बेचैनी न होगी। फिर वह उतरे अपरिचित, अनजान--तुम उसे समझ पाओगे। तुम उसके गूढ़ स्वर को समझ पाओगे। तुम उसके सन्नाटे में डूबोगे नहीं, घबड़ाओगे नहीं--मुक्त हो जाओगे। अन्यथा, वह मौत जैसा लगेगा। परमात्मा अगर बिना समझे हुए आ जाए, तुम्हारे पास अगर समझने का कोई भी उपाय न हो, तो मौत जैसा लगेगा कि मरे! अगर तुम्हारे पास समझने का थोड़ा उपाय हो, थोड़ी तैयारी हो, तुमने सदगुरुओं से कुछ सीखा हो, सत्संग किया हो--तो परमात्मा मोक्ष है, अन्यथा मृत्यु जैसा मालूम पड़ता है। और एक बार तुम घबड़ा गए तो तुम उस तरफ जाना बंद कर दोगे। एक बार तुम बहुत भयभीत हो गए, तो तुम्हारा रोआं-रोआं डरने लगेगा। तुम और सब जगह जाओगे, वहां न जाओगे जहां ऐसा भय है; जहां हाथ-पैर लड़खड?ा जाएं; जहां राह के किनारे बैठ जाना पड़े; जहां सब धूमिल हो जाए, सब खोता मालूम पड़े; कुछ अज्ञात, अनजाना शेष रहे और घबड़ाए और बेचैनी दे--फिर तुम वहां न जाओगे।

रवींद्रनाथ का गीत है कि मैं परमात्मा को खोजता था अनेक जन्मों से। बहुत खोजा, मिला नहीं। कभी-कभी दूर, बहुत दूर चांदत्तारों पर उसकी झलक दिखाई पड़ जाती थी। आशा बंधी रही, खोजता रहा। फिर एक दिन संयोग और सौभाग्य कि उसके द्वार पर पहुंच गया। तख्ती लगी थी--यही रहा घर भगवान का! चढ़ गया सीढ़ियां एक छलांग में, जन्मों-जन्मों की यात्रा पूरी हुई थी। अहोभाग्य! हाथ में सांकल लेकर बजाने को ही था

कि तब एक भय पकड़ा कि अगर वह मिल गया, तो फिर? फिर मैं क्या करूंगा? अब तक परमात्मा को खोजना ही तो मेरा कुल कृत्य था। अब तक इसी सहारे जीया। यही थी मेरी जीवन-यात्रा। तो परमात्मा अगर मिल गया तो वह तो मृत्यु हो जाएगी। फिर मेरे जीवन का क्या? फिर मेरी यात्रा कहां? फिर कहां जाना है, किसको पाना है, क्या खोजना है? फिर तो कुछ भी न बचेगा। तो बहुत घबड़ा गया। छोड़ दी सांकल आहिस्ता से, कि कहीं आवाज न हो जाए, कहीं वह द्वार खोल ही न दे! जूते हाथ में ले लिए। भागा...तो तब से भाग रहा हूं।

अब भी खोजता हूं--रवींद्रनाथ ने लिखा है उस गीत में--अब भी खोजता हूं परमात्मा को; हालांकि मुझे पता है उसका घर कहां है। उस जगह को भर छोड़ कर सब जगह खोजता हूं; क्योंकि खोजना ही जीवन है। उस जगह भर जाने से बचता हूं। उस घर की तरफ भर नहीं जाता। वहां से किनारा काट लेता हूं। और सब जगह पूछता फिरता हूं, परमात्मा कहां है? और मुझे पता है कि परमात्मा कहां है।

मेरे देखे, बहुत लोग अनंत जन्मों की यात्रा में कई बार उस घर के करीब पहुंच गए हैं, लेकिन घबड़ा गए हैं। ऐसे घबड़ा गए कि सब भूल गया, वह घबड़ाहट नहीं भूली है अभी तक! इसीलिए लोग ध्यान करने को आसानी से उत्सुक नहीं होते। ध्यान वगैरह की बात से ही लोग डरते हैं, बचते हैं। परमात्मा शब्द का औपचारिक उपयोग कर लेते हैं, लेकिन परमात्मा को कभी जीवन की गहरी खोज नहीं बनने देते। मंदिर-मस्जिद हो आते हैं--सामाजिक औपचारिकता है, लोकाचार। जाना चाहिए, इसीलिए चले जाते हैं। लेकिन कभी मंदिर को, मस्जिद को हृदय में नहीं बसने देते। उतना खतरा मोल नहीं लेते। दूर-दूर रखते हैं परमात्मा को। उसका कारण होगा। कहीं किसी गहन अनुभव में, कहीं छिपी किसी गहरी स्मृति में कोई भय का अनुभव छिपा है। कभी लड़खड़ा गए होंगे उसके घर के पास।

अब जिन मित्र को यह अनुभव हुआ है, अगर वे ठीक से न समझें तो घबड़ाने लगेंगे। अब रास्ते पर ऐसा घबड़ा कर बैठ जाना, हाथ-पैर कंप जाना, हृदय का जोर से धड़कने लगना, श्वास का बेतहाशा चलने लगना, कुछ से कुछ हो जाए--ऐसे ध्यान से दूर ही रहना अच्छा! यह तो झंझट की बात है। फिर लौट आए तो ठीक; अगर न लौट पाए तो? अगर ऐसे ही बैठे रह जाएं रास्ते के किनारे तो लोग पागल समझ लेंगे। घड़ी-दो-घड़ी तो ठीक, फिर पुलिस आ जाएगी। फिर पास-पड़ोस के लोग कहेंगे कि अब इनको उठाओ, अस्पताल भेजो, क्या हो गया? चिकित्सक इंजेक्शन देने लगेंगे कि इनका होश खो गया, कि मस्तिष्क खराब हो गया?

मेरे एक मित्र ने लिखा है--संन्यासी हैं--कि यहां से गए तो नाचते हुए, आनंदित होकर गए। घर के लोगों ने कभी उन्हें नाचते और आनंदित तो देखा नहीं था। जब वे घर नाचते, आनंदित पहुंचे तो लोगों ने समझा पागल हो गए। घर के लोगों ने एकदम दौड़कर उन्हें पकड़ लिया कि बैठो, क्या हो गया तुमको? "अरे," उन्होंने कहा, "मुझे कुछ हुआ नहीं। मैं बड़ा प्रसन्न हूं, बड़ा आनंद में हूं।" वे जितने ज्ञान की बातें करें, घर के लोग उतने संदिग्ध हुए कि गड़बड़ हो गई। वे उन्हें घर से न निकलने दें। जबरदस्ती उनको अस्पताल में भरती करवा दिया। उनका पत्र आया है कि मैं पड़ा हंस रहा हूं यहां अस्पताल में। यह खूब मजा है! मैं दुखी था, मुझे कोई अस्पताल न लाया। अब मैं प्रसन्न हूं तो लोग मुझे अस्पताल ले आए हैं। मैं देख रहा हूं खेल। मगर वे समझते हैं कि मैं पागल हूं। और जितना वे मुझे समझते हैं कि पागल हूं, उतनी मुझे हंसी आती है। जितनी मुझे हंसी आती है, वे समझते हैं कि बिलकुल गए काम से!

ठीक हुआ जो पूछ लिया। घबड़ाना मत। यह अनुभव धीरे-धीरे शांत हो जाएगा। साक्षी-भाव रखना। ऐसा स्वाभाविक है।

तीसरा प्रश्न: हम ईश्वर-अंश हैं और अविनाशी भी। कृपया बताएं कि यह अंश मूल से कब, क्यों और कैसे बिछुड़ा? और अंश का मूल से पुनर्मिलन, कभी न बिछुड़ने वाला मिलना संभव है या नहीं? यदि संभव है तो अंश को मूल में मिला देने की कृपा करें कि बार-बार इस कोलाहाल में आकर भयभीत न होना पड़े।

देखें फर्क! अभी एक प्रश्न था--वह अनुभव का था। यह प्रश्न शास्त्रीय है: "हम ईश्वर-अंश हैं और अविनाशी भी!"

यह तुम्हें पता है? सुन लिया, पढ़ लिया--और अहंकार को तृप्ति देता है--मान भी लिया। इससे बड़ी अहंकार को तृप्ति देने वाली और क्या बात हो सकती है कि हम ईश्वर-अंश हैं? ईश्वर हैं, ब्रह्म हैं, अविनाशी हैं! यही तो तुम चाहते हो। यही तो अहंकार की खोज है। यही तो तुम्हारी गहरी से गहरी आकांक्षा है कि अविनाशी हो जाओ, ईश्वर-अंश हो जाओ, ब्रह्मस्वरूप हो जाओ, सारे जगत के मालिक हो जाओ!

"हम ईश्वर-अंश हैं और अविनाशी भी।"

ऐसा तुम्हें पता है? अगर तुम्हें पता है तो प्रश्न की कोई जरूरत नहीं। अगर तुम्हें पता नहीं है तो यह बात लिखना ही व्यर्थ है, फिर प्रश्न ही लिखना काफी है।

"कृपया बताएं कि यह अंश मूल से कब, क्यों और कैसे बिछुड़ा?"

ये पांडित्य के प्रश्न हैं। कब?--समय, तारीख, तिथि चाहिए। क्या करोगे? अगर मैं तिथि भी बता दूं, उससे क्या अंतर पड़ेगा? संवत बता दूं, समय बता दूं कि ठीक सुबह छह बजे फलां-फलां दिन--उससे क्या फर्क पड़ेगा? उससे तुम्हारे जीवन में क्या क्रांति होगी, तुम्हें क्या मिलेगा?

"कब, क्यों और कैसे बिछुड़ा?"

अगर तुम्हें पता है कि तुम ईश्वर-अंश हो तो तुम्हें पता होगा कि बिछुड़ा कभी भी नहीं। तुमने बिछुड़ने का सपना देखा। बिछुड़ा कभी भी नहीं, क्योंकि अंश बिछुड़ कैसे सकता है? अंश तो अंशी के साथ ही होता है। तुम्हें याद भूल गई हो; बिछुड़न नहीं हो सकती, विस्मृति हो सकती है। बिछुड़ने का तो उपाय ही नहीं है। हम जो हैं, वही हैं। चाहे हम भूल जाएं, विस्मरण कर दें, चाहे हम याद कर लें--सारा भेद विस्मृति और स्मृति का है।

"मूल से कब, क्यों और कैसे बिछुड़ा?"

बिछुड़ा होता तो हम बता देते कि कब, क्यों और कैसे बिछुड़ा। बिछुड़ा नहीं। रात तुम सोए, तुमने सपना देखा कि सपने में तुम घोड़े हो गए। अब सुबह तुम पूछो कि हम घोड़े क्यों, कैसे, कब हुए--बहुत मुश्किल की बात है। "क्यों घोड़े हुए?" हुए ही नहीं, पहली तो बात। हो गए होते तो पूछने वाला बचता? घोड़े तो नहीं पूछते। तुम कभी हुए नहीं; सिर्फ सपना देखा। सुबह जागकर तुमने पाया कि अरे, खूब सपना देखा! जब तुम सपना देख रहे थे तब भी तुम घोड़े नहीं थे, याद रखना। हालांकि तुम बिलकुल ही लिप्त हो गए थे इस भाव में कि घोड़ा हो गया। यही तो अष्टावक्र की मूल धारणा है।

अष्टावक्र कहते हैं: जिस बात से भी तुम अपने मैं-भाव को जोड़ लोगे, वही हो जाओगे। देहाभिमान--तो देह हो गए। कहा "मैं देह हूं", तो देह हो गए। ब्रह्माभिमान--कहा कि मैं ब्रह्म हूं, तो ब्रह्म हो गए। तुम जिससे अपने मैं को जोड़ लेते हो, वही हो जाते हो। सपने में तुमने घोड़े से जोड़ लिया, तुम घोड़े हो गए। अभी तुमने शरीर से जोड़ लिया तो तुम आदमी हो गए। लेकिन तुम हुए कभी भी नहीं हो। हो तो तुम वही, जो तुम हो। जस-केत्तस! वैसे के वैसे! तुम्हारे स्वभाव में तो कहीं कोई अंतर नहीं पड़ा है।

इसलिए इस तरह के प्रश्न अर्थहीन हैं। और इस तरह के प्रश्न पूछने में समय मत गंवाओ। और इस तरह के प्रश्नों के जो उत्तर देते हैं, वे तुमसे भी ज्यादा नासमझ हैं।

झेन फकीर बोकोजू के जीवन में उल्लेख है: एक दिन सुबह उठा और उठकर उसने अपने प्रधान शिष्य को बुलाया और कहा कि सुनो, मैंने रात एक सपना देखा। उसकी तुम व्याख्या कर सकोगे?

उस शिष्य ने कहा कि रुकें। मैं थोड़ा पानी ले आऊं, आप हाथ-मुंह पहले धो लें।

वह मटकी में पानी भर लाया और गुरु का उसने हाथ-मुंह धुलवा दिया। वह हाथ-मुंह धुला रहा था, तभी दूसरा शिष्य पास से गुजरता था। गुरु ने कहा, सुनो! मैंने रात एक सपना देखा। तुम उसकी व्याख्या करोगे?

उसने कहा कि ठहरो, एक कप चाय ले लेना आपके लिए अच्छा रहेगा। वह एक कप चाय ले आया। गुरु खूब हंसने लगा। उसने कहा कि अगर तुमने व्याख्या की होती मेरे सपने की, तो मारकर बाहर निकाल देता।

सपने की क्या व्याख्या? अब देख भी लिया, जाग भी गए, अब छोड़ो पंचायत!

शिष्यों ने बिलकुल ठीक उत्तर दिए। वह कसौटी थी। वह परीक्षा थी उनकी। वह परीक्षा का क्षण आ गया था। एक शिष्य पानी ले आया कि आप हाथ-मुंह धो लें। सपना गया, अब मामला खत्म करें! अब और व्याख्या क्या करनी? सपना सपना था, बात खत्म हो गई; व्याख्या क्या करनी? व्याख्या सत्य की होती है, सपनों की थोड़े ही। झूठ की क्या व्याख्या हो सकती है? जो हुआ ही नहीं, उसकी क्या व्याख्या हो सकती है? इतना काफी है कि जान लिया सपना था, अब हाथ-मुंह धो लें। अब बाहर आ ही जाएं, जब आ ही गए।

दूसरे युवक ने भी ठीक किया कि चाय ले आया, कि हाथ-मुंह तो धुल गया लेकिन लगता है थोड़ी नींद बाकी है, आप ठीक से चाय पी लें, बिलकुल जाग जाएं।

यही मैं तुमसे कहता हूं: हाथ-मुंह धो लो, चाय पी लो! तुम कभी अलग हुए नहीं। अलग होने का कोई उपाय नहीं है।

फिर पूछते हैं: "अंश का मूल से पुनर्मिलन, कभी न बिछुड़ने वाला मिलन संभव है या नहीं?"

जब तुम बिछुड़े ही नहीं तो मिलन की बात ही बकवास है। इसीलिए तो अष्टावक्र कहते हैं कि मुक्ति का अनुष्ठान मुक्ति का बंधन है। वे क्या कह रहे हैं? वे यह कह रहे हैं कि जिससे तुम कभी अलग ही नहीं हुए, उससे मिलने की योजना? तो हद हो गई पागलपन की! तो यह योजना ही तुम्हें मिलने न देगी।

थोड़ा सोचो! अगर तुम अपने घर के बाहर कभी गए ही नहीं, तो घर लौटने की चेष्टा तुम्हें जागने न देगी।

एक शराबी रात घर लौटा। ज्यादा पी गया। दरवाजे पर टटोलकर तो देखा, लेकिन समझ में न आया कि अपना मकान है। उसकी मां ने दरवाजा खोला, तो उसने कहा, हे बूढ़ी मां! मुझे मेरे घर का पता बता दें।

वह बूढ़ी कहने लगी, तू मेरा बेटा है, मैं तेरी मां हूं, पागल! यह तेरा घर है।

उसने कहा कि मुझे भरमाओ मत। मुझे भटकाओ मत। इतना मुझे पक्का है कि घर यहीं कहीं है, लेकिन कहां है?

मोहल्ले के लोग इकट्ठे हो गए। लोग समझाने लगे। अब शराबी को समझाने की जरूरत नहीं होती। शराबी को जो समझाएं वह भी शराब पीए है। वे समझाने लगे कि यही तेरा घर है। सिद्ध करने लगे, प्रमाण जुटाने लगे कि देख, यह देख। वे इतनी बात समझ ही नहीं रहे कि वह आदमी शराब पीए है, कहां प्रमाण! उसे न-मालूम क्या-क्या दिखाई पड़ रहा है, जिसकी तुम सोच भी नहीं कर सकते। जो तुम्हें दिखाई पड़ रहा है उसे दिखाई पड़ ही नहीं रहा है। वह किसी दूसरे लोक में है। वह अपनी मां को नहीं पहचान रहा है, क्या खाक अपने घर को पहचानेगा! वह अपने को नहीं पहचान रहा है, वह क्या किसी और को पहचानेगा!

उसके पीछे एक दूसरा शराबी आया। वह अपनी बैलगाड़ी जोते चला आ रहा था। तो उसने कहा कि तू मेरी बैलगाड़ी में बैठ, मैं तुझे पहुंचा दूंगा तेरे घर।

उसने कहा कि यह आदमी ठीक मालूम होता है। सदगुरु मिल गये! ये सब तो नासमझ थे। हम पूछते हैं, हमारा घर कहां है, बस वे एक ही रट लगाए हुए हैं कि यही तेरा घर है! हम क्या अंधे हैं? यह आदमी सदगुरु है!

तुम ध्यान रखना। तुम गलत प्रश्न पूछोगे, तुम गलत गुरुओं के जाल में पड़ जाओगे। एक बार तुमने गलत प्रश्न पूछा तो कोई न कोई गलत उत्तर देने वाला मिल ही जाएगा। यह जीवन का नियम है। पूछो कि उत्तर देना वाला तैयार है। सच तो यह है कि तुम न पूछो तो उत्तर देने वाले तैयार हैं। वे तुम्हें खोज ही रहे हैं। इस तरह के प्रश्न पूछकर तुम केवल उलझनों में अपने को डालने का आयोजन करते हो।

"क्या पुनर्मिलन संभव है?"

बिछुड़न हुई ही नहीं, विदा कभी ली ही नहीं--पुनर्मिलन की बात ही क्या करनी?

और फिर पूछते हैं कि "क्या न बिछुड़ने वाला मिलन संभव है?" कहीं ऐसा न हो कि मिलन हो और फिर बिछुड़ जाएं!

ये सारी बातें सार्थक मालूम पड़ती हैं, क्योंकि हमें याद ही नहीं कि हम कौन हैं?

परमात्मा अगर भिन्न हो तो ये बातें सब सच हैं। परमात्मा तुम्हारा स्वभाव है। स्वभाव को भूल सकते हैं हम। यह भी हमारे स्वभाव में है कि हम स्वभाव को भूल सकते हैं।

एक मित्र ने पूछा है कि अगर आत्मा शुद्ध-बुद्ध है और आत्मा अगर मुक्त है और आत्मा अगर असीम ऊर्जा है, परम स्वतंत्रता है--तो फिर वासना का जन्म कैसे हुआ?

यह भी आत्मा की स्वतंत्रता है कि अगर वासना करना चाहे तो कर सकती है। अगर आत्मा वासना न कर सके तो परतंत्र हो जाएगी। थोड़ा सोचो!

संसार तुम्हारी स्वतंत्रता है; तुमने चाहा तो हो गया। तुम्हारी चाह मुक्त है। तुम चाहो तो अभी न हो जाए। तुम चाहो तो अभी फिर हो जाए।

तो मैं तुमसे यह नहीं कह सकता कि न बिछुड़ने वाला मिलन कैसे होगा। बिछुड़न तो कभी हुई नहीं है, लेकिन आत्मा की यह परम स्वतंत्रता है कि वह जब चाहे जिस चीज को भूल जाए, और जिस चीज को चाहे याद कर ले। अगर आत्मा की यह संभावना न हो तो आत्मा सीमित हो जाएगी; उसकी मुक्ति बंधित हो जाएगी; उस पर आरोपण हो जाएगा, उपाधि हो जाएगी।

पश्चिम में एक विचारक हुआ: दिदरो। उसने सिद्ध किया है कि ईश्वर पूर्ण शक्तिमान नहीं है, सर्व शक्तिमान नहीं है। उसने तर्क जो दिए हैं, वे ऐसे हैं कि लगेगा कि बात ठीक कह रहा है। जैसे वह कहता है, "क्या ईश्वर दो और दो के जोड़ से पांच बना सकता है?" यह अपने को भी अड़चन मालूम होती है कि दो और दो से पांच ईश्वर भी कैसे बनाएगा? तो फिर सर्वशक्तिवान कैसा? दो और दो चार ही होंगे। "क्या ईश्वर एक त्रिकोण में चार कोण बना सकता है?" कैसे बनाएगा? चार कोण बनाएगा तो वह त्रिकोण नहीं रहा। त्रिकोण रहेगा तो चार कोण बन नहीं सकते उसमें। "तो सीमित हो गया ईश्वर।"

ईसाइयों की जो ईश्वर के बाबत धारणा है, उसको तो दिदरो ने झकझोर दिया। लेकिन अगर दिदरो को भारतीयों की धारणा पता होती तो मुश्किल में पड़ जाता। वे कहते कि यही तो सारा उपद्रव है कि ईश्वर की स्वतंत्रता ऐसी है कि दो और दो पांच बना देता है, दो और दो तीन बना देता है। इसी को तो हम माया कहते हैं, जिसमें दो और दो पांच हो जाते हैं, दो और दो तीन हो जाते हैं। जब दो और दो चार हो गए, माया के बाहर हो गए।

यहां त्रिकोण चतुर्भुज जैसे बैठे हैं। यहां बड़ा धोखा चल रहा है। यहां कोई कुछ समझे है, कोई कुछ समझे है। जो जैसा है, वैसे भर का पता नहीं रहा । दो और दो चार नहीं रहे, एक बात पक्की है; और सब हो गया है। इसको ही हम माया कहते हैं।

माया को हमने परमात्मा की शक्ति कहा है। तुमने कभी सोचा है, इसका क्या अर्थ होता है? माया को हमने परमात्मा की शक्ति कहा है! इसका अर्थ हुआ कि अगर परमात्मा चाहे तो अपने को भ्रम देने की भी शक्ति उसमें है; नहीं तो सीमित हो जाएगा। वह परमात्मा भी क्या परमात्मा जो सपना न देख सके? तो उतनी सीमा हो जाएगी कि सपना देखने में असमर्थ है।

नहीं, परमात्मा सपना देख सकता है। तुम सपना देख रहे हो। तुम परमात्मा हो, जो सपना देख रहा है। जाग सकते हो, सपना देख सकते हो--और यह क्षमता तुम्हारी है। इसलिए तुम जब चाहो तब सपना देख सकते

हो, और तुम तब चाहो तब जाग सकते हो। यह तुम्हारी मर्जी है कि तुम अगर जागे ही रहना चाहो तो तुम जागे ही रहोगे; तुम अगर सपने में ही रहना चाहो तो तुम सपना देखते रहोगे।

मनुष्य की स्वतंत्रता अबाध है। आत्मा की शक्ति अबाध है। सत्य और स्वप्न--आत्मा की दो धाराएं हैं। उन दो धाराओं में सब समाविष्ट है।

तुम पूछते हो कि क्या पुनर्मिलन संभव है?

पहले तो "पुनर्मिलन" कहो मत। पुनर्स्मरण कहो, तो तुमने ठीक शब्द उपयोग किया।

फिर तुम पूछते हो कि "क्या न बिछुड़ने वाला...?"

उसकी गारंटी मैं नहीं दे सकता। क्योंकि वह तुम्हारे ऊपर निर्भर है, तुम्हारी मर्जी। तुम अगर उसे छोड़ना चाहो, भूलना चाहो, तो तुम्हें कोई भी रोक नहीं सकता।

तुम उसे याद करना चाहो तो तुम्हें कोई रोक नहीं सकता। और इससे तुम परेशान मत होना। इससे तो तुम अहोभाव मानना कि तुम्हारी स्वतंत्रता कितनी है, कि तुम परमात्मा तक को भूलना चाहो तो कोई बाधा नहीं है। परमात्मा जरा भी अड़चन तुम्हें देता नहीं। तुम अगर उसके विपरीत जाना चाहो तो भी कोई बाधा नहीं। वह तब भी तुम्हारे साथ है। तुम तब विपरीत जाना चाहते हो, तब भी तुम्हें शक्ति दिए चला जाता है।

सूफी फकीर हसन ने लिखा है कि मैंने एक रात परमात्मा से पूछा, कि इस गांव में सबसे श्रेष्ठ धर्मात्मा पुरुष कौन है? तो परमात्मा ने मुझे कहा कि वही जो तेरे पड़ोस में रहता है।

उस पर तो कभी हसन ने खयाल ही न दिया था। वह तो बड़ा सीधा-सादा आदमी था। सीधे-सादे आदमियों को कोई खयाल देता है! खयाल तो उपद्रवियों पर जाता है। सीधा-सादा आदमी था, चुपचाप रहता था, साधारण आदमी था, अपनी मस्ती में था--न किसी से लेना न देना। किसी ने खयाल ही न दिया था। हसन ने कहा, यह आदमी सबसे बड़ा पुण्यात्मा!

दूसरे दिन सुबह गौर से देखा तो लगा कि बड़ी प्रभा है इस आदमी की! दूसरी रात उसने फिर परमात्मा से कहा कि अब एक प्रश्न और। यह तो अच्छा हुआ, आपने बता दिया। पूजा करूंगा इस पुरुष की। नमन करूंगा इसे। यह मेरा गुरु हुआ। अब एक बात और बता, इस गांव में सबसे बुरा कौन आदमी है जिससे मैं बचूं?

परमात्मा ने कहा, वही तेरा पड़ोसी।

उसने कहा, यह जरा उलझन की बात है।

तो परमात्मा ने कहा, मैं क्या करूं? कल रात वह अच्छे भाव में था, आज बुरे भाव में। मैं कुछ कर सकता नहीं। कल सुबह मैं कह नहीं सकता कि क्या हालत होगी। वह फिर अच्छे भाव में आ सकता है।

आत्मा परम स्वतंत्र है। उस पर कोई बंधन नहीं है। इस परम स्वतंत्रता को ही हम मोक्ष कहते हैं। मोक्ष में यह बात समाविष्ट है कि तुम चाहो भूलना तो तुम्हें कोई रोक नहीं सकता। वह मोक्ष भी क्या मोक्ष होगा, जिसके तुम बाहर निकलना चाहो और निकल न सको?

मैंने सुना है कि एक ईसाई पादरी मरा। स्वर्ग पहुंचा, तो वह बड़ा हैरान हुआ। कई लोग उसने देखे कि जंजीरों में, बेड़ियों में बंधे पड़े हैं। उसने कहा, यह मामला क्या है? स्वर्ग में और जंजीरें-बेड़ियां!

उन्होंने कहा, ये वापिस--ये अमरीकन हैं--वापिस अमरीका जाना चाहते हैं। ये कहते हैं, वहीं ज्यादा मजा था। इनको हथकड़ियां डालनी पड़ी हैं, क्योंकि यह तो स्वर्ग की तौहीन हो जाएगी। ये कहते हैं, "स्वर्ग में हमें रहना नहीं; हमें वापिस अमरीका जाना है। वहां ज्यादा मजा था। इन अप्सराओं से बेहतर स्त्रियां वहां थीं। शराब! इससे बेहतर शराब वहां थी। मकान! इससे ऊंचे मकान वहां थे। यह भी तुम कहां के पुराने जमाने के मकानों को लेकर बैठे हो?"

अब स्वर्ग के मकान हैं, दकियानूसी हैं; समय के बिलकुल बाहर पड़ गए हैं। उनके इंजीनियर, उनके आर्किटेक्ट...दस-पच्चीस हजार साल पहले बनाए थे, वह चल रहा है।

"वे कहते हैं, हमें अमरीका जाना है। तो इनको हमें बांध कर रखना पड़ा है। अगर ये भाग जाएं और अमरीका पहुंच जाएं, तो स्वर्ग की बड़ी तौहीन होगी। फिर स्वर्ग कोई आना कैसे चाहेगा?"

लेकिन स्वर्ग क्या रहा अगर वहां हथकड़ियां डली हों? इससे तो फिर नरक बेहतर; कम से कम हथकड़ियां तो नहीं हैं। एक बात ध्यान रखना, स्वतंत्रता यानी स्वर्ग। मुक्ति यानी मोक्ष। तुम अपनी स्वतंत्रता से जहां हो, वहीं मुक्ति है। और यह अंतिम घटना है। यह अंतिम बेशर्त बात है। इसके ऊपर कोई शर्त नहीं है।

तो अगर किसी मुक्त आत्मा की मर्जी हो जाए कि फिर वापिस लौटना है संसार में, तो कोई रोक सकता नहीं। लौटती नहीं मुक्त आत्माएं, यह दूसरी बात है। लेकिन अगर कोई मुक्त आत्मा लौटना ही चाहे तो कोई रोक सकता नहीं। क्योंकि कौन रोकेगा? और अगर कोई रोक ले तो मुक्त आत्मा मुक्त कहां रही?

तुम निकलने लगे स्वर्ग के दरवाजे से। उन्होंने कहा, "रुको! बाहर न जाने देंगे। यह स्वर्ग है, कहां जा रहे हो?"--यह स्वर्ग इसी क्षण समाप्त हो गया।

मैं तुमसे यह नहीं कह रहा हूं कि मुक्त आत्माएं लौटती हैं। मैं यह कहता हूं कि लौटना चाहें तो कोई रोक नहीं सकता। इसलिए मैं तुम्हें गारंटी नहीं दे सकता। तुम अगर लौटना चाहो तो मैं क्या करूंगा? तुम अगर परमात्मा को भूलना चाहो तो मैं क्या करूंगा? मैं सिर्फ तुम्हारी पूर्ण मुक्ति की घोषणा करता हूं।

"यदि संभव हो तो अंश को मूल से मिला देने की कृपा करें!"

बहुत सस्ते में तुम्हारा इरादा है। तुम यह कह रहे हो कि तुम तो मिलना नहीं चाहते, कोई मिला देने की कृपा करे। यह कैसे होगा? अगर तुम मिलना चाहते हो तो ही मिलना हो सकता है। यह तुम्हारी ही चाहत, यह तुम्हारा ही संकल्प, तुम्हारी ही आकांक्षा होगी, अभीप्सा होगी--तो...। कोई और तुम्हें नहीं मिला सकेगा। जबर्दस्ती मोक्ष में ले जाने का कोई उपाय नहीं है--न बाहर न भीतर। तुम अपनी मर्जी से जाते हो।

और अगर मैं किसी तरह मिला भी दूं तो तुम फिर छूट जाओगे। क्योंकि वह बाहर से लाई हुई घटना तुम्हारी आत्मा का संबंध न बन पाएगी। वह जबर्दस्ती होगी। यह हो नहीं सकता। अन्यथा एक ही बुद्धपुरुष सारी दुनिया को मुक्त कर देता। एक बुद्धपुरुष काफी था। वह सबको मुक्त कर देता, सबको मिला देता। कोई बुद्धपुरुषों की करुणा में कमी है? नहीं, उनकी करुणा में कोई कमी नहीं। लेकिन तुम्हारी मर्जी के खिलाफ कुछ भी नहीं हो सकता। और तुम्हारी मर्जी हो तो अभी हो सकता है, इसी क्षण हो सकता है। सुखी भव! अभी हो जाओ!

और यह दूसरे से आकांक्षा रखना कि कोई तुम्हें मिला दे परमात्मा से, यही संसार में लौटने का उपाय है। दूसरे की आकांक्षा ही संसार में लौटने का उपाय है। कोई दूसरा सुख दे, कोई दूसरा प्रेम दे, कोई दूसरा आदर दे--वही पुरानी आदत अब कहती है, कोई दूसरा मुक्त करवा दे, परमात्मा से मिला दे--मगर दूसरा!

तुम कब तक कमजोर, निर्बल, नपुंसक बने रहोगे? कब तुम जागोगे अपने बल के प्रति? कब तुम अपने वीर्य की घोषणा करोगे? कब तुम अपने पैरों पर खड़े होओगे? कभी पत्नी के कंधे पर झुके रहे, कभी सत्ताधिकारियों के कंधे पर झुके रहे, कभी नेताओं के कंधों पर झुके रहे।

मैंने सुना है, दिल्ली के पास कुछ मजदूर सड़क पर काम करने भेजे गए। वे वहां पहुंच तो गए, लेकिन पहुंच कर पता चला कि अपने फावड़े भूल आए, कुदालियां-फावड़े नहीं लाए। उन्होंने वहां से फोन किया इंजीनियर को, कि कुदाली-फावड़े हम भूल आए हैं, तत्काल भेजो।

उन्होंने कहा, भेजते हैं, तब तक तुम एक-दूसरे के कंधे पर झुके रहो।

मजदूर करते ही यही काम हैं। कुदाली-फावड़ा लेकर उस पर झुककर खड़े रहते हैं--विश्राम का सहारा। उस इंजीनियर ने कहा, मैं भेजता हूं जितनी जल्दी हो सके; तब तक तुम ऐसा करो, एक-दूसरे के कंधे पर झुके रहो।

हम झुके हैं--कंधे बदल लेते हैं। फिर इन सबसे छुटकारा हुआ तो गुरु का कंधा, कि अब कोई गुरु लगा दे पार, कि चलो तुम्हीं तारणत्तरण, तुम्हीं पार लगा दो!

तुम अपनी घोषणा, अपने स्वत्व की घोषणा कब करोगे? तुम्हारी स्वत्व की घोषणा में ही तुम्हारे स्वभाव की संभावना है--फूलने की, खिलने की। यह कब तक तुम शरण गहोगे? कब तक तुम भिखारी रहने की जिद बांधे बैठे हो? परमात्मा भी भिक्षा में मिल जाए! जागो इस तंद्रा से!

"ऐसी कृपा करें कि बार-बार इस कोलाहल में आकर भयभीत न होना पड़े।"

इस कोलाहल में तुम आना चाहते हो, इसलिए आते हो। और मजा यह है कि तुमको अगर एकांत में रखा जाए तो तुम भयभीत वहां भी हो जाओगे। कौन तुम्हें रोक रहा है? भाग जाओ हिमालय, बैठ जाओ एकांत में। वहां एकांत का डर लगेगा, भाग आओगे कोलाहल में वापिस। कोलाहल में हम इसलिए रह रहे हैं कि एकांत में डर लगता है, अकेले रह नहीं सकते। भीड़ में बुरा लगता है। बड़ा मुश्किल है मामला। न अकेले रह सकते, न भीड़ में रह सकते।

तुमने कभी देखा, जब तुम अकेले छूट जाते हो तो क्या होता है। अंधेरी रात में अकेले हो जंगल में, क्या होता है? आनंद आता है?

कोलाहल में ज्यादा बेहतर लगता है। कोई मिल जाए, कोई बातचीत हो जाए! अकेले में तुम बहुत घबड़ाने लगते हो कि मरे। अकेले में तो मौत लगती है।

परमात्मा में डूबोगे तो बिलकुल अकेले रह जाओगे, क्योंकि दो परमात्मा नहीं हैं दुनिया में--एक परमात्मा है। डूबे कि अकेले हुए। परमात्मा में डूबे कि तुम तुम न रहे, परमात्मा परमात्मा न रहा--बस एक ही बचा। इसलिए तो ध्यान की तैयारी करनी पड़ती है, ताकि तुम एकांत का थोड़ा रस लेने लगो। इसके पहले कि परम एकांत में उतरो, एकांत में थोड़ा आनंद आने लगे, धुन बजने लगे, गीत गूंजने लगे। एकांत में रस आने लगे तो फिर तुम परम एकांत में उतर सकोगे। यह अभ्यास है परमात्मा को झेलने का।

अगर तुम मुझसे पूछो तो मैं कहूंगा कि ध्यान परमात्मा को पाने की प्रक्रिया नहीं। परमात्मा तो बिना ध्यान के भी पाया जा सकता है। ध्यान परमात्मा को झेलने का अभ्यास। ध्यान पात्रता देता है कि तुम झेल सको। परम एकांत उतरेगा तो फिर तुम बिलकुल अकेले रह जाओगे। फिर न रेडियो, न टेलीविजन, न अखबार, न मित्र, न क्लब, न सभा-समाज--कुछ भी नहीं; बिलकुल अकेले रह जाओगे। उस अकेले की तैयारी है।

मैं तो तैयार हूं, तुम्हें कोलाहल के बाहर ले चलूं; लेकिन तुम तैयार हो? तुम अकेले में भी बैठते हो तो तुम्हारे सिर में कोलाहल चलाने लगते हो। जिन मित्रों को घर छोड़ आए हो, उनसे सिर में बात करने लगते हो। जिस पत्नी को घर छोड़ आए, उससे सिर में बात करने लगते हो। सारी भीड़ फिर इकट्ठी कर लेते हो। कल्पना का जाल बुनने लगते हो। अकेले तुम रह ही नहीं सकते। इसलिए तो तुम बार-बार लौट आते हो।

संसार में तुम अकारण नहीं लौट रहे हो। संसार में तुम अपने ही कारण लौट रहे हो। यह कोलाहल तुमने चाहा है, इसलिए तुम्हें मिला है।

आदमी की हयात कुछ भी नहीं
बात यह है कि बात कुछ भी नहीं।
आदमी की हयात कुछ भी नहीं

आदमी की जिंदगी कोई जिंदगी थोड़ी है। जिंदगी तो परमात्मा की है।

बात यह है कि बात कुछ भी नहीं।
आदमी तो बेबात की बात है।

वह कल मुल्ला नसरुद्दीन जो गिर पड़ा था बिस्तर से--बेबात की बात है। लड़का हुआ नहीं था, उसके लिए जगह बना रहे थे। उसमें गिरे, टांग टूट गई।

एक अदालत में मुकदमा था। दो आदमियों ने एक-दूसरे का सिर खोल दिया। मजिस्ट्रेट ने पूछा, मामला क्या है? वे दोनों बड़े सकुचाए। उन्होंने कहा, मामला क्या बताएं! मामला बताने में बड़ा संकोच होता है। आप तो जो सजा देना हो दे दो।

उसने कहा, फिर मामला भी तो पता चले। सजा किस को दे दें?

तो वे दोनों एक-दूसरे की तरफ देखें कि तुम्हीं कह दो। फिर मजबूरी में जब मजिस्ट्रेट नाराज होने लगा कि कहते हो या नहीं, तो फिर उन्होंने बताया कि मामला ऐसा है, हम दोनों मित्र हैं। बैठे थे नदी के किनारे रेत पर। यह मित्र कहने लगा कि मैं एक भैंस खरीद रहा हूं। मैंने कहा, भैंस मत खरीदो, क्योंकि मैं एक खेत खरीद रहा हूं; और तुम्हारी भैंस खेत में घुस जाए तो अपनी जिंदगी भर की दोस्ती खराब हो जाए।

इसने कहा: जा, जा! तेरे खेत के खरीदने से हम अपनी भैंस न खरीदें? तू खेत मत खरीद! और फिर भैंस तो भैंस है--यह कहने लगा--अब घुस ही गई तो घुस ही गई। अब कोई भैंस के पीछे हम दिन भर थोड़े ही खड़े रहेंगे। और ऐसी दोस्ती क्या मूल्य की कि हमारी भैंस तुम्हारे खेत में घुस जाए और इससे ही तुम्हें अड़चन हो जाए।

तो मैं भी रोब में आ गया और मैंने कहा, तो अच्छा खरीद लिया खेत, तू दिखा खरीद कर भैंस। तो मैंने ऐसा जमीन पर रेत पर, लकड़ी से खेत बना दिया कि यह रहा खेत और इस मूरख ने एक दूसरी लकड़ी से भैंस घुसा दी। झगड़ा हो गया, मारपीट हो गई! अब आपसे क्या कहें! आप सजा दे दो। कहने में संकोच होता है।

आदमी की हयात कुछ भी नहीं
बात यह है कि बात कुछ भी नहीं।
तूने सब कुछ दिया है इन्सां को
फिर भी इन्सां की जात कुछ भी नहीं।
इस्तिराबे-दिलो-जिगर के सिवा
शौक की वारिदात कुछ भी नहीं।
हुस्न की कायनात सब कुछ है
इश्क की कायनात कुछ भी नहीं।
आदमी पैरहन बदलता है।
यह हयातो-मयात कुछ भी नहीं।
आदमी सिर्फ कपड़े बदलता है। न तो जिंदगी कुछ है, न मौत कुछ है।
आदमी पैरहन बदलता है।
यह हयातो-मयात कुछ भी नहीं।
आदमी की हयात कुछ भी नहीं
बात यह है कि बात कुछ भी नहीं।

इतना तुम्हें समझ में आ जाए कि तुम बेबात की बात हो, कि तुम्हें सब समझ में आ गया।

आखिरी प्रश्न: कब से आपको पूछना चाहती हूं। कृपया आप ही बताएं कि क्या पूछूं? मेरे प्रणाम स्वीकार करें!

पूछा है "दुलारी" ने। निश्चित यह बात है। वर्षों से मैं उसे जानता हूं। उसने कभी कुछ पूछा नहीं। बहुत थोड़े लोग हैं जिन्होंने कभी कुछ न पूछा हो। यह पहली दफे उसने पूछा, यह भी कुछ पूछा नहीं है:

"कब से आपसे पूछना चाहती हूं। कृपया आप ही बताएं कि क्या पूछूं?"

जीवन का वास्तविक प्रश्न ऐसा है कि पूछा नहीं जा सकता। जो प्रश्न तुम पूछ सकते हो, वह पूछने योग्य नहीं। जो तुम नहीं पूछ सकते, वही पूछने योग्य है। जीवन का वास्तविक प्रश्न शब्दों में बांधा नहीं जा सकता।

जीवन का प्रश्न तो केवल सूनी आंखों से, जिज्ञासा-भरी आंखों से निवेदित किया जा सकता है। जीवन का प्रश्न तो अस्तित्वगत है; तुम्हारी पूरी भाव-दशा से प्रगट होता है।

दुलारी को मैं जानता हूं। उसने कभी पूछा नहीं, लेकिन उसका प्रश्न मैंने सुना है। उसका प्रश्न उसका भी नहीं है, क्योंकि जो तुम पूछते हो वह तुम्हारा होता है। जो तुम पूछ ही नहीं सकते, वह सबका है।

हम सबके भीतर एक ही प्रश्न है। और वह प्रश्न है कि यह सब हो रहा है, यह सब चल रहा है और फिर भी कुछ सार मालूम नहीं होता! यह दौड़-धूप, यह आपा-धापी--फिर भी कुछ अर्थ दिखाई नहीं पड़ता। इतना पाना, खोना--फिर भी न कुछ मिलता मालूम पड़ता है, न कुछ खोता मालूम पड़ता है। जन्म-जन्म बड़ी यात्रा, मंजिल कहीं दिखाई नहीं पड़ती। हम हैं--क्यों हैं? यह हमारा होना क्या है? हम कहां जा रहे हैं और क्या हो रहा है? हमारा अर्थ क्या है? इस संगीत का प्रयोजन क्या है?

सभी के भीतर दबा पड़ा हुआ है अस्तित्व का प्रश्न, कि अस्तित्व का अर्थ क्या है? और इसके लिए कोई शब्दों में उत्तर भी नहीं है। जो प्रश्न ही शब्दों में नहीं बनता, उसका उत्तर भी शब्दों में नहीं हो सकता।

यह जो भीतर है हमारे--कहो साक्षी, द्रष्टा, जीवन की धारा, चैतन्य, जो भी नाम चाहो; ऐसे तो अनाम है, तुम जो भी नाम देना चाहो दो--परमात्मा, मोक्ष, निर्वाण, आत्मा, अनात्मा, जो तुम कहना चाहो--पूर्ण, शून्य, जो भी यह भीतर है अनाम--इसमें डूबो! इसमें डूबने से ही प्रश्न धीरे-धीरे विसर्जित हो जाएगा। उत्तर मिलेगा, ऐसा मैं नहीं कह रहा हूं; सिर्फ प्रश्न विसर्जित हो जाएगा। और प्रश्न के विसर्जित हो जाने पर तुम्हारी जो चैतन्य की दशा होती है वही उत्तर है। उत्तर मिलेगा, ऐसा मैं नहीं कह रहा। निष्प्रश्न जब तुम हो जाते हो तो जीवन में आनंद है, मंगल है, शुभाशीष बरसता है। तुम नाचते हो, तुम गुनगुनाते हो। समाधि फलती है। फिर तुम कुछ पूछते नहीं। फिर कुछ पूछने को है ही नहीं। फिर जीवन एक प्रश्न की तरह मालूम नहीं होता; फिर जीवन एक रहस्य है। समस्या नहीं, जिसका समाधान करना है; एक रहस्य है, जिसे जीना है, जिसे नाचना है, जिसे गाना है; एक रहस्य, जिसका उत्सव मनाना है।

भीतर उतरो। शरीर के पार, मन के पार, भाव के पार--भीतर उतरो!

जान सके न जीवन भर हम
ममता कैसी, प्यार कहां
और पुष्प कहां पर महका करता?
जान सके न जीवन भर हम
ममता कैसी, प्यार कहां
और पुष्प कहां पर महका करता?

गंध तो आती मालूम होती है--कहां से आती है? जीवन है, इसकी छाया तो पड़ती है; पर इसका मूल कहां है? प्रतिबिंब तो झलकता है, लेकिन मूल कहां? प्रतिध्वनि तो गूंजती है पहाड़ों पर, लेकिन मूल ध्वनि कहां है?

जान सके न जीवन भर हम
ममता कैसी, प्यार कहां
और पुष्प कहां पर महका करता?
मिली दुलारी आहों की
और हास मिला है शूलों का
जान सके न जीवन भर हम
सौरभ कैसा, पराग कहां

और मेघ कहां पर बरसा करता?

पर मेघ बरस रहा है--तुम्हारे ही गहनतम अंतस्तल में। फूल महक रहा है--तुम्हारे ही गहन अंतस्तल में। कस्तूरी कुंडल बसै! यह जो महक तुम्हें घेर रही है और प्रश्न बन गई है--कहां से आती है? यह महक तुम्हारी है; यह किसी और की नहीं। इसे अगर तुमने बाहर देखा तो मृग-मरीचिका बनती है; माया का जाल फैलता है; जन्मों-जन्मों की यात्रा चलती है। जिस दिन तुमने इसे भीतर झांक कर देखा, उसी दिन मंदिर के द्वार खुल गए। उसी दिन पहुंच गए अपने सुरभि के केंद्र पर। वहीं है प्रेम, वहीं है प्रभु!

मन उलझाए रखता है बाहर। मन कहता है: चलेंगे भीतर, लेकिन अभी थोड़ी देर और।

किसी कामना के सहारे
नदी के किनारे
बड़ी देर से
मौन धारे खड़ा हूं अकेला।
सुहानी है गोधूलि-बेला
लगा है उमंगों का मेला।
यह गोधूलि-बेला का हलका धुंधलका
मेरी सोच पर छा रहा है।
मैं यह सोचता हूं,
मेरी सोच की शाम भी हो चली है।
बड़ी बेकली है।
मगर जिंदगी में
निराशा में भी एक आशा पली है
मचल ले अभी कुछ देर और ऐ दिल!
सुहाने धुंधलके से हंस कर गले मिल
अभी रात आने में काफी समय है!

मन समझाए चला जाता है; थोड़ी देर और, थोड़ी देर और--भुला लो अपने को सपनों में; थोड़ी देर और दौड़ लो मृग-मरीचिकाओं के पीछे। बड़े सुंदर सपने हैं! और फिर अभी मौत आने में तो बहुत देर है।

इसलिए तो लोग सोचते हैं, संन्यास लेंगे, प्रार्थना करेंगे, ध्यान करेंगे--बुढ़ापे में, जब मृत्यु द्वार पर आकर खड़ी हो जाएगी। जब एक पैर उतर चुकेगा कब्र में तब हम एक पैर ध्यान के लिए उठाएंगे।

मचल ले अभी कुछ देर और ऐ दिल!
सुहाने धुंधलके से हंस कर गले मिल
अभी रात आने में काफी समय है।

ऐसे हम टाले चले जाते हैं। रात आती चली जाती है। काफी समय नहीं है, रात आ ही गई है। बहुत बार हमने ऐसे ही जन्म और जीवन गंवाया, मौत की हम प्रतीक्षा करते रहे--मौत आ गई, ध्यान आने के पहले। एक जीवन फिर खराब गया। एक अवसर फिर व्यर्थ हुआ। अब इस बार ऐसा न हो। अब टालो मत! यह गंध तुम्हारी अपनी है। यह जीवन तुम्हारे भीतर ही छिपा है। घूंघट भीतर के ही उठाने हैं।

प्रश्न कहीं बाहर पूछने का नहीं है। उत्तर कहीं से बाहर से आने को नहीं है। जहां से प्रश्न उठ रहा है भीतर, वहीं उतर चलो। प्रश्न भी साफ नहीं है, फिक्र मत करो। जहां यह गैर-साफ धुंधलका है प्रश्न का, वहीं उतरो। उसी संध्या से भरी रोशनी में, धुंधलके में धीरे-धीरे भीतर उतरो। जहां से प्रश्न आ रहा है, उसी की खोज करो। प्रश्न की बहुत फिक्र मत करो कि प्रश्न क्या है--इतनी ही फिक्र करो कि कहां से आ रहा है? अपने ही भीतर उस तल को खोजो, उस गहरे तल को, जहां से प्रश्न का बीज उमगा है, जहां से प्रश्न के पत्ते उठे हैं। वहीं जड़ है और वहीं तुम उत्तर पाओगे।

उत्तर का अर्थ यह नहीं कि तुम्हें कोई बंधा-बंधाया उत्तर, निष्कर्ष वहां मिल जाएगा। उत्तर का अर्थ: वहां तुम्हें जीवन का अहोभाव अनुभव होगा। वहां जीवन एक समस्या नहीं रह जाता, उत्सव बन जाता है।

एक चिकना मौन
जिसमें मुखर, तपती वासनाएं
दाहक होतीं, लीन होती हैं।
उसी में रवहीन तेरा गूंजता है छंद
ऋत विज्ञप्त होता है!
एक चिकना मौन
जिसमें मुखर, तपती वासनाएं
दाहक होतीं, लीन होती हैं।

नहीं, भीतर एक मौन, एक शांति, जिसमें सारी वासनाओं का ताप धीरे-धीरे खो जाता और शांत हो जाता है। उसी में रवहीन तेरा गूंजता है छंद--फिर कोई स्वर सुनाई नहीं देते, सिर्फ छंद गूंजता है--शब्दहीन, स्वरहीन छंद। शुद्ध छंद गूंजता है।

उसी में रवहीन तेरा गूंजता है छंद
ऋत विज्ञप्त होता है!

वहीं जीवन का सत्य प्रगट होता है--ऋत विज्ञप्त होता है।

एक काले घोल की-सी रात
जिसमें रूप, प्रतिमा, मूर्तियां
सब पिघल जातीं, ओट पातीं
एक स्वप्नातीत रूपातीत पुनीत गहरी नींद की
उसी में से तू बढ़ा कर हाथ
सहसा खींच लेता है, गले मिलता है!

छिपा है परमात्मा तुम्हारे ही भीतर। उतरो थोड़ा। छोड़ो मूर्तियों को, विचारों को, प्रतिमाओं को, धारणाओं को--मन के बुलबुले! थोड़े गहरे उतरो! जहां लहरें नहीं, जहां शब्द नहीं--जहां मौन है। जहां परम मौन मुखर है! जहां केवल मौन ही गूंजता है!

उसी में रवहीन तेरा गूंजता है छंद
ऋत विज्ञप्त होता है।
उतरो वहां!
उसी में से तू बढ़ा कर हाथ
सहसा खींच लेता है, गले मिलता है।
वहीं है मिलन!

तुम जिसे खोजते हो, तुम्हारे भीतर छिपा है। तुम जिस प्रश्न की तलाश कर रहे हो, उसका उत्तर तुम्हारे भीतर छिपा है। जागो! इसी क्षण भोगो उसे! अष्टावक्र के सारे सूत्र एक ही खबर देते हैं: पाना नहीं है उसे, पाया ही हुआ है। जागो और भोगो!

हरि ॐ तत्सत्!

सातवां प्रवचन

जागरण महामंत्र है

जनक उवाच।

अहो निरंजनः शांतो बोधोऽहं प्रकृतेः परः।
एतावंतमहं कालं मोहेनैव विडंबितः।। २१।।
यथा प्रकाशाम्येको देहमेनं तथा जगत्।
अतो मम जगत्सर्वमथवा न च किंचन।। २२।।
सशरीरमहो विश्वं परित्यज्य मयाऽऽधुना!
कुतश्चित् कौशलादेव परमात्मा विलोक्यते।। २३।।
यथा न तोयतो भिन्नस्तरंगाः फेनबुद्बुदाः।
आत्मनो न तथा भिन्नं विश्वमात्मविनिर्गतम्।। २४।।
तंतुमात्रो भवेदेव पटो यद्वद्विचारतः।
आत्मतन्मात्रमेवेदं तद्वद्विश्वं विचारितम्।। २५।।
यथैवेक्षुरसे क्लृप्ता तेन व्याप्तैव शर्करा।
तथा विश्वं मयि क्लृप्तं मया व्याप्तं निरंतरम्।। २६।।
आत्माऽज्ञानाज्जगद्भाति आत्मज्ञानान्नभासते
रज्ज्वज्ञानादहिर्भाति तज्ज्ञानाद्भासते न हि।। २७।।

अंधेरे में जैसे अनायास किरण उतरे, या जैसे अंधे को अचानक आंखें मिल जाएं--ऐसा ही जनक को हुआ। जो नहीं देखा था कभी, वह दिखाई पड़ा। जो नहीं सुना था कभी, वह सुनाई पड़ा। हृदय एक नई तरंग, एक नई उमंग से भर गया। प्राणों ने एक नया दर्शन किया। निश्चित ही जनक सुपात्र थे!

वर्षा होती है, पहाड़ों पर होती है, पहाड़ खाली रह जाते हैं; क्योंकि पहले से ही भरे हैं। झीलों में होती है, खाली झीलें भर जाती हैं।

जो खाली है, वही सुपात्र है; जो भरा है, अपात्र है।

अहंकार आदमी को पत्थर जैसा बना देता है। निरहंकार आदमी को शून्यता देता है।

जनक शून्य पात्र रहे होंगे। तत्क्षण अहोभाव पैदा हुआ। सुनते ही जागे। पुकारा नहीं था कि पुकार पहुंच गई। कोड़े की छाया काफी मालूम हुई; कोड़ा फटकारने की जरूरत न पड़ी; मारने का सवाल ही न था।

अष्टावक्र भी भाग्यशाली हैं कि जनक जैसा सुपात्र सुनने को मिला। मनुष्य-जाति के इतिहास में जितने सदगुरु हुए, उनमें अष्टावक्र जैसा सौभाग्यशाली सदगुरु दूसरा नहीं; क्योंकि जनक जैसा शिष्य पाना अति दुर्लभ है--जो जरा से इशारे से जाग जाए; जैसे तैयार ही था; जैसे बस हवा का जरा-सा झकोरा काफी था और नींद टूट जाएगी। नींद गहरी न थी। किन्हीं सपनों में दबा न था। उठा-उठी की ही हालत थी। ब्रह्ममुहूर्त आ ही गया था। सुबह होने को थी।

बौद्ध जातकों में कथा है कि बुद्ध जब ज्ञान को उपलब्ध हुए तो सात दिन चुप रह गए; क्योंकि सोचा बुद्ध ने: जो मेरी बात समझेंगे, वे मेरे बिना समझाए भी समझ ही लेंगे; जो मेरी बात नहीं समझेंगे, वे मेरे समझाए-समझाए भी नहीं समझेंगे। तो फायदा क्या? क्यों बोलूं? क्यों व्यर्थ श्रम करूं? जो तैयार हैं जागने को, उन्हें कोई भी कारण जगाने का बन जाएगा; उन्हें पुकारने और चिल्लाने की जरूरत नहीं। कोई पक्षी गुनगुनाएगा गीत, हवा का झोंका वृक्षों से गुजरेगा, उतना काफी होगा!

और ऐसा हुआ है।

लाओत्सु बैठा था एक वृक्ष के नीचे, एक सूखा पत्ता वृक्ष से गिरा, और उस सूखे पत्ते को वृक्ष से गिरते देख कर वह परम बोध को उपलब्ध हो गया। सूखा पत्ता गुरु हो गया। बस देख लिया सब! देख लिया उस सूखे पत्ते में--अपना जन्म, अपना मरण! उस सूखे पत्ते की मौत में सब मर गया। आज नहीं कल मैं भी सूखे पत्ते की तरह गिर जाऊंगा--बात पूरी हो गई।

खुद बुद्ध को ऐसा ही हुआ था। राह पर देख कर एक बीमार बूढ़े आदमी को वे चौंक गए। मुर्दे की लाश को देख कर उन्होंने पूछा, इसे क्या हुआ?

सारथी ने कहा, यही आपको भी, सभी को होगा। एक दिन मौत आएगी ही।

फिर बुद्ध ने कहा, लौटा लो रथ घर की ओर वापिस। अब कहीं जाने को न रहा। जब मौत आ रही है, जीवन व्यर्थ हो गया!

तुमने भी राह से निकलती लाशें देखी हैं। तुम भी राह के किनारे खड़े हो कर क्षण भर को सहानुभूति प्रगट किए हो। तुम कहते हो, बहुत बुरा हुआ, बेचारा मर गया! अभी तो जवान था। अभी तो घर-गृहस्थी कच्ची थी। बुरा हुआ!

तुमने दया की है जो मर गया उस पर। तुम्हें जरा भी दया अपने पर नहीं आई कि उस मरने वाले में तुम्हारे मरने की खबर आ गई, कि जैसे आज यह अर्थी पर बंधा जा रहा है; कल, कल नहीं परसों तुम भी बंधे चले जाओगे। जैसे आज तुम राह के किनारे खड़े हो कर इस पर सहानुभूति प्रगट कर रहे हो, दूसरे लोग राह के किनारे खड़े हो कर सहानुभूति प्रगट करेंगे। अवश तुम इतने होओगे कि धन्यवाद भी न दे सकोगे। यह जो लाश जा रही है, यह तुम्हारी है।

देखने वाला हो, आंख हो, गहरी हो, प्रगाढ़ चैतन्य हो, तो बस एक आदमी मरा कि सारी मनुष्यता मर गई, कि जीवन व्यर्थ हो गया!

बुद्ध चले गए थे छोड़ कर।

तो जब उन्हें बोध हुआ, तो उन्होंने सोचा कि जिसको जागना है वह बिना किसी के जगाए भी जग जाता है। उसे कोई भी बहाना काफी हो जाता है।

कहते हैं, एक झेन साधिका कुएं से पानी भर कर लौटती थी कि बांस टूट गया, घड़े नीचे गिर गए। पूर्णिमा की रात थी, घड़ों में चांद का प्रतिबिंब बन रहा था। कांवर को लिए, घड़ों को लटकाए वह लौटती थी आश्रम की तरफ, देखती घड़ों के जल में चांद के प्रतिबिंब को बनते। घड़े गिरे। चौंक कर खड़ी हो गई। घड़ा गिरा, जल बहा--चांद भी बह गया! कहते हैं, बस बोध को उत्पन्न हो गई। सम्यक समाधि लग गई। नाचती हुई लौटी; दिखाई पड़ गया कि यह जगत प्रतिबिंब से ज्यादा नहीं है। यहां जो हम बनाए चले जा रहे हैं, यह कभी भी टूट जाएगा। ये सब चांद खो जाएंगे। ये सब सुंदर कविताएं खो जाएंगी। ये मनमोहिनी सूरतें सब खो जाएंगी। ये सब पानी में बने प्रतिबिंब हैं। ऐसा दिख गया, बात खतम हो गई।

तो बुद्ध ने सोचा, क्या सार है? किससे कहूंगा? जिसे जागना है, वह मेरे बिना भी देर-अबेर जाग ही जाएगा, थोड़े-बहुत समय का अंतर पड़ेगा। और जिसे जागना नहीं है, चीखो-चिल्लाओ, वह करवट ले कर सो जाता है। आंख भी खोलता है तो नाराजगी से देखता है कि क्यों नींद खराब कर रहे हो? तुम्हें कोई और काम नहीं? सोयों को सोने नहीं देते! शांति से नींद चल रही थी, तुम जगाने आ गए!

तुम खुद ही किसी को कह दो कि सुबह मुझे जगा देना, जब वह जगाता है तो नाराजगी आती है। कहा तुम्हीं ने था कि ट्रेन पकड़नी है, सुबह जरा जल्दी चार बजे उठा देना। जगाता है तो मारने की तबीयत होती है।

इमेनुएल कांट, बड़ा विचारक हुआ जर्मनी में। वह रोज तीन बजे रात उठता था। घड़ी के हिसाब से चलता था, घड़ी के कांटे के हिसाब से चलता था। कहते हैं, जब वह यूनिवर्सिटी जाता था पढ़ाने तो घरों में लोग अपनी घड़ियां मिला लेते थे। क्योंकि वह नियम से, वर्षों से, तीस वर्ष निरंतर ठीक मिनिट-मिनिट सेकेंड-सेकेंड

के हिसाब से निकला था। लेकिन कभी बहुत सर्दी होती तो अपने नौकर को कह देता कि कुछ भी हो जाए, तीन बजे उठाना। अगर मैं मारूं-पीटूं भी तो तू फिकर मत करना तू भी मारना-पीटना, मगर उठाना! उसके घर नौकर न टिकते थे, क्योंकि यह बड़ी झंझट की बात थी। तीन बजे उठाएं तो वह बहुत नाराज होता था, न उठाएं तो सुबह जागकर नाराज होता था। और ऐसा नहीं था कि नाराज ही होता था, मारपीट होती। वह भी मारता। नौकर को भी कह रखा था, तू फिक्र मत करना, उठना तो तीन बजे है ही। घसीटना, उठाना, लेकिन तीन बजे उठा कर खड़ा कर देना! तू चिंता ही मत करना कि मैं क्या कर रहा हूं। उस वक्त मैं क्या कहता हूं, वह मत सुनना; क्योंकि उस वक्त मैं नींद में होता हूं। उस समय जो मैं कहता हूं वह सुनने की जरूरत नहीं।

तो ऐसे लोग भी हैं!

बुद्ध ने सोचा, क्या सार है? जिसे सोना है, वह मेरी चिल्लाहट पर भी सोता रहेगा। जिसे जागना है वह मेरे बिना बुलाए भी जाग ही जाएगा।

सात दिन वह बैठे रहे चुप। फिर देवताओं ने उनसे प्रार्थना की कि आप यह क्या कर रहे हैं? कभी-कभी कोई बुद्धत्व को उपलब्ध होता है, भू तरसती है, प्यासे लोग तरसते हैं, कि मेघ बना है अब तो बरसेगा। आप चुप हैं, बरसें! फूल खिला है, गंध को बहने दें! यह रसधार बहे! अनेक प्यासे हैं जन्मों-जन्मों से। और आपका तर्क हमने सुन लिया। हम आपके मन को देख रहे हैं सात दिन से निरंतर। आप कहते हैं: कुछ हैं जो मेरे बिना बुलाए जग जाएंगे; और कुछ हैं जो मेरे बुलाए-बुलाए न जगेंगे। इसलिए आप चुप हैं? हम सोच-समझ कर आए हैं। कुछ ऐसे भी हैं जो दोनों के बीच में खड़े हैं! उनको आप इनकार न कर सकेंगे। अगर कोई जगाएगा तो जग जाएंगे। अगर कोई न जगाएगा तो जन्मों-जन्मों तक सोए रह जाएंगे। उन कुछ का खयाल करें। आप जो कहते हैं, वे होंगे निन्यानबे प्रतिशत; पर एक प्रतिशत उनका भी तो खयाल करें जो ठीक सीमा पर खड़े हैं--कोई जगा देगा तो जग जाएंगे, और कोई न जगाएगा तो सोए रह जाएंगे।

बुद्ध को इसका उत्तर न सूझा, इसलिए बोलना पड़ा। देवताओं ने उन्हें राजी कर लिया। उन्होंने बात बेच दी।

बुद्ध का खयाल तो ठीक ही था। देवताओं का खयाल भी ठीक था।

तो तीन तरह के श्रोता हुए। एक जो जगाए-जगाए न जगेंगे। दुनिया में अधिक भीड़ उन्हीं लोगों की है। सुनते हैं, फिर भी नहीं सुनते। देखते हैं, फिर भी नहीं देखते। समझ में आ जाता है, फिर भी अपने को समझा-बुझा लेते हैं, समझ को लीपपोत देते हैं। समझ में आ जाता है तो भी नासमझी को सम्हाले रखते हैं। नासमझी के साथ उनका बड़ा गहरा स्वार्थ बन गया है। पुराना परिचय छोड़ने में डर लगता है।

फिर दूसरे तरह के श्रोता हैं, जो बीच में हैं। कोई थोड़ा श्रम करे--कोई बुद्ध, कोई अष्टावक्र, कोई कृष्ण--तो जग जाएंगे। अर्जुन ऐसे ही श्रोता थे। कृष्ण को मेहनत करनी पड़ी। कृष्ण को लंबी मेहनत करनी पड़ी। उसी लंबी मेहनत से गीता निर्मित हुई। अंत-अंत में जा कर अर्जुन को लगता है कि मेरे भ्रम दूर हुए, मेरे संशय गिरे, मैं तुम्हारी शरण आता हूं, मुझे दिखाई पड़ गया! लेकिन बड़ी जद्दोजहद हुई, बड़ा संघर्ष चला।

फिर और भी श्रेष्ठ श्रोता हैं--जनक की तरह, जिनसे कहा नहीं कि उन्होंने सुन लिया। इधर अष्टावक्र ने कहा होगा कि उधर जनक को दिखाई पड़ने लगा।

आज के सूत्र जनक के वचन हैं। इतनी जल्दी, इतनी शीघ्रता से जनक को दिखाई पड़ गया कि अष्टावक्र जो कह रहे हैं, बिलकुल ठीक कह रहे हैं; चोट पड़ गई।

तो मैंने कहा, वर्षा होती है, कभी ऐसी जमीन पर हो जाती है जो पथरीली है; तो वर्षा तो हो जाती है, लेकिन अंकुर नहीं फूटते। फिर कभी ऐसी जमीन पर होती है जो थोड़ी-बहुत कंकरीली है, अंकुर फूटते हैं; जितने फूटने थे, उतने नहीं फूटते। फिर कभी ऐसी जमीन पर होती है, जो बिलकुल तैयार थी, जो उपजाऊ है, जिसमें कंकड़-पत्थर नहीं हैं। बड़ी फसल होती है!

जनक ऐसी ही भूमि हैं। इशारा काफी हो गया।

जनक की यह स्थिति समझने के लिए समझनेऱ्योग्य है, क्योंकि तुम भी इन तीन में से कहीं होओगे। और यह तुम पर निर्भर है कि तुम इन तीन में से कहां होने की जिद करते हो। तुम साधारण जन हो सकते हो, जिसने जिद कर रखी है कि सुनेगा नहीं; जिसने सत्य के खिलाफ लड़ने की कसम खा ली है; जो सुनेगा तो कुछ और सुन लेगा, सुनते ही व्याख्या कर लेगा, सुनते ही अपने को उसकी सुनी हुई बात के ऊपर डाल देगा, रंग लेगा, विकृत कर लेगा, कुछ का कुछ सुन लेगा।

तुम वही नहीं सुनते, जो कहा जाता है। तुम वही सुन लेते हो, जो तुम सुनना चाहते हो।

मैंने सुना है कि एक दिन मुल्ला नसरुद्दीन की पत्नी गुस्से से भरी हुई घर आई और उसने मुल्ला से कहा कि भिखारी भी बड़े धोखेबाज होते हैं।

"क्यों क्या हो गया?" नसरुद्दीन ने पूछा।

"अजी एक भिखारी की गर्दन में तख्ती लगी थी, जिस पर लिखा था: जन्म से अंधा। मैंने दया करके पर्स में से दस पैसे निकाल कर उसके दान-पात्र में डाल लिए। तो जानते हो कहने लगा, हे सुंदरी, भगवान तुम्हें खुश रखे। अब तुम्हीं बताओ कि उसे कैसे मालूम हुआ कि मैं सुंदरी हूं?"

मुल्ला खिलखिला कर हंसने लगा और कहने लगा, तब तो वह वास्तव में अंधा है और जन्म से अंधा है।

तो मुल्ला कहने लगा, मैं ही एक अंधा नहीं हूं, एक और अंधा भी है। अन्यथा पता ही कैसे चलता उसे कि तू सुंदरी है, अगर आंख होती?

पत्नी कुछ कह रही है, मुल्ला कुछ सुन रहा है। मुल्ला वही सुन रहा है जो सुनना चाहता है।

खयाल करना, चौबीस घंटे यह घटना घट रही है। तुम वही सुन लेते हो, जो तुम सुनना चाहते हो; यद्यपि तुम सोचते भी नहीं इस पर कि जो मैंने सुना वह मेरा है या कहा गया था?

मुल्ला एक जगह काम करता था। मालिक ने उससे कहा कि तुम अच्छी तरह काम नहीं करते, नसरुद्दीन! मजबूरन अब मुझे दूसरा नौकर रखना पड़ेगा।

नसरुद्दीन ने कहा, अवश्य रखिए हुजूर, यहां काम ही दो आदमियों का है।

मालिक कह रहा है कि तुमसे अब छुटकारा पाना है, दूसरा आदमी रखना है। मुल्ला कह रहा है, यहां काम ही दो आदमियों का है, जरूर रखिए!

पीछे खड़े हो कर जो तुम सुनते हो उस पर एक बार पुनर्विचार करना: यही कहा गया था? अगर व्यक्ति ठीक-ठीक सुनने में समर्थ हो जाए तो नंबर दो का श्रोता हो जाता है, नंबर तीन से ऊपर उठ आता है। नंबर तीन का श्रोता अपनी मिलाता है। नंबर तीन का श्रोता अपने को ही सुनता है, अपनी प्रतिध्वनियों को सुनता है। उसकी दृष्टि साफ-सुथरी नहीं है। वह सब विकृत कर लेता है।

नबंर दो का श्रोता वही सुनता है जो कहा जा रहा है। नंबर दो के श्रोता को थोड़ी देर तो लगेगी; क्योंकि सुन लेने पर भी--जो कहा गया है वह सुन लेने पर भी--उसे करने के लिए साहस की जरूरत होगी। मगर सुन लिया तो साहस भी आ जाएगा। क्योंकि सत्य को सुन लेने के बाद ज्यादा देर तक असत्य में रहना असंभव है। जब एक बार देख लिया कि सत्य क्या है तो फिर पुरानी आदत कितनी ही पुरानी क्यों न हो, उसे छोड़ना ही पड़ेगा। जब पता ही चल गया कि दो और दो चार होते हैं तो कितना ही पुराना अभ्यास हो दो और दो पांच मानने का, उसे छोड़ना ही पड़ेगा। जब एक बार दिखाई पड़ गया कि दरवाजा कहां है तो फिर दीवाल से निकलना असंभव हो जाएगा। फिर दीवाल से सिर टकराना असंभव हो जाएगा। सत्य समझ में आ जाए तो देर-अबेर इतना साहस भी आ जाता है कि आदमी छलांग ले, अपने को रूपांतरित कर दे।

फिर नंबर एक के श्रोता हैं। अगर तुममें समझ और साहस दोनों हों तो तुम नंबर एक के श्रोता हो जाओगे। नंबर एक के श्रोता का अर्थ है कि समझ और साहस युगपत घटित होते हैं--इधर समझ, उधर साहस;

समझ और साहस में अंतराल नहीं होता। ऐसा नहीं कि आज समझता है और कल साहस; इस जन्म में समझता है और अगले जन्म में साहस। यहां समझता है और यहीं साहस। इसी क्षण समझता है और इसी क्षण साहस। तब आकस्मिक घटना घटती है। तब सूर्योदय अचानक हो जाता है।

जनक पहली कोटि के श्रोता हैं।

इस संबंध में एक बात और खयाल रख लेनी चाहिए। जनक सम्राट हैं। उनके पास सब है। जितना चाहिए उससे ज्यादा है। भोग भोगा है। जो व्यक्ति भोग को ठीक से भोग लेता है उसके जीवन में योग की क्रांति घटनी आसान हो जाती है। क्योंकि जीवन का अनुभव ही उसे कह देता है कि जिसे मैं जीवन जानता हूं वह तो व्यर्थ है। आधा काम तो जीवन ही कर देता है कि जिसे मैं जीवन जानता हूं वह व्यर्थ है। उसके मन में प्रश्न उठने लगते हैं कि फिर और जीवन कहां? फिर दूसरा जीवन कहां? फिर सत्य का जीवन कहां? लेकिन जिस व्यक्ति के जीवन में भोग नहीं है और सिर्फ भोग की आकांक्षा है; मिला नहीं है कुछ, सिर्फ मिलने की आकांक्षा है--उसे बड़ी कठिनाई होती है। इसलिए तुम चकित मत होना अगर भारत के सारे तीर्थंकर, सारे महाद्रष्टा--जैनों के हों, बौद्धों के हों, हिंदुओं के हों--अगर सभी राजपुत्र थे तो आश्चर्यचकित मत होना। अकारण नहीं। इससे केवल इतनी ही सूचना मिलती है कि भोग के द्वारा ही आदमी भोग से मुक्त होता है। सम्राट को एक बात तो दिखाई पड़ जाती है कि धन में कुछ भी नहीं है, क्योंकि धन का अंबार लगा है और भीतर शून्य है, खालीपन है। सुंदर स्त्रियों का ढेर लगा है, और भीतर कुछ भी नहीं है। सुंदर महल हैं, और भीतर सन्नाटा है, रेगिस्तान है। जब सब होता है तो स्पष्ट दिखाई पड़ने लगता है कि कुछ भी नहीं है। जब कुछ भी नहीं होता तो आदमी आशा के सहारे जीता है।

आशा से छूटना बहुत मुश्किल है। क्योंकि आशा को परखने का कोई उपाय नहीं है। गरीब आदमी सोचता है, कल धन मिलेगा तो सुख से जीऊंगा। अमीर आदमी को धन मिल चुका है, अब आशा का कोई उपाय नहीं। इसीलिए जब भी कोई समाज संपन्न होता है तो धार्मिक होता है। तुम आश्चर्यचकित मत होना, अगर अमरीका में धर्म की हवा जोर से फैलनी शुरू हुई है। यह सदा से हुआ है। जब भारत संपन्न था--अष्टावक्र के दिनों में संपन्न रहा होगा, बुद्ध के दिनों में संपन्न था, महावीर के दिनों में संपन्न था--जब भारत अपनी संपन्नता के शिखर पर था तब योग ने बड़ी ऊंचाइयां लीं, तब अध्यात्म ने आखिरी उड़ान भरी। क्योंकि तब लोगों को दिखाई पड़ा कि कुछ भी सार नहीं; सब मिल जाए तो भी कुछ सार नहीं। दीन-दरिद्र होता है देश, तब बहुत कठिन होता है।

मैं यह नहीं कहता हूं कि गरीब आदमी मुक्त नहीं हो सकता। गरीब आदमी मुक्त हो सकता है। गरीब आदमी धार्मिक हो सकता है। लेकिन गरीब समाज धार्मिक नहीं हो सकता। व्यक्ति तो अपवाद हो सकते हैं। उसके लिए बड़ी प्रगाढ़ता चाहिए।

थोड़ा तुम सोचो। धन हो तो देख लेना कि धन व्यर्थ है, बहुत आसान है; धन न हो तो देख लेना कि धन व्यर्थ है, जरा कठिन है--अति कठिन है। जो नहीं है उसकी व्यर्थता कैसे परखो? तुम्हारे हाथ में सोना हो तो परख सकते हो कि सही है कि खोटा है। हाथ में सोना न हो, केवल सपने में हो, सपने का सोना कसने को तो कोई कसौटी बनी नहीं। वास्तविक सोना हो तो कसा जा सकता है।

गरीब आदमी का धर्म वास्तविक धर्म नहीं होता। इसलिए गरीब आदमी जब मंदिर जाता है तो धन मांगता है, पद मांगता है, नौकरी मांगता है। बीमारी है तो बीमारी कैसे ठीक हो जाए, यह मांगता है। बेटे को नौकरी नहीं लगती तो नौकरी कैसे लग जाए, यह मांगता है। मंदिर भी एंप्लायमेंट एक्सचेंज रह जाता है। मंदिर में भी प्रेम की और प्रार्थना की सुगंध नहीं उठती। अस्पताल जाना था, मंदिर आ गया है। नौकरी दिलाने वाले दफ्तर जाना था, मंदिर आ गया है।

गरीब आदमी मंदिर में भी वही मांगता रहता है जो संसार में उसे नहीं मिल रहा है। जिसका अभाव संसार में है, हम वही मांगते हैं।

लेकिन, अगर तुम्हारे जीवन में सब हो या तुममें इतनी प्रतिभा हो, या तुममें इतनी मेधा हो कि तुम केवल विचार करके जाग सको और देख सको कि सब होगा तो भी क्या होगा? दूसरों के पास धन है, उन्हें क्या

हुआ है? स्वयं के पास न भी हो तो फिर प्रतिभा चाहिए कि तुम देख सको: जो महलों में रह रहे हैं, उन्हें क्या हुआ है? उनकी आंखों में तरंगें हैं आनंद की? उनके पैरों में नृत्य है? उनके आसपास गंध है परमात्मा की? जब उनको नहीं हुआ तो तुम्हें कैसे हो जाएगा? लेकिन यह थोड़ा कठिन है।

अधिक लोग तो ऐसे हैं कि उनके पास खुद ही धन होता है तो नहीं दिखाई पड़ता है कि धन व्यर्थ है--तो फिर यह सोचना कि जब धन न होगा तब दिखाई पड़ जाएगा...। पड़ सकता है, संभावना तो है, पर बड़ी दूर की संभावना है। बुद्ध के लिए आसान रहा होगा जाग जाना। जनक के लिए आसान रहा होगा जाग जाना। अर्जुन के लिए भी आसान रहा होगा जाग जाना। कबीर के लिए बड़ा कठिन रहा होगा। दादू के लिए, सहजो के लिए बड़ा कठिन रहा होगा। क्राइस्ट के लिए, मुहम्मद के लिए बड़ा कठिन रहा होगा। क्योंकि इनके पास नहीं था--और जागे!

जीवन में, जो हमारे पास नहीं है, उसकी कामना हमें घेरती है; उसकी कामना हमें पकड़े रहती है। कल रात मैं एक गीत पढ़ता था:

मैं चाहता हूं, इसलिए एक जन्म और लेना
कि मुझको उसमें शायद मिल जाए ऐसी हमदम
कि जिसको आता हो प्यार देना।
जो सुबह उठ कर मेरी तरफ मुस्कुरा के देखे
दिलोजिगर में समा के देखे
जो दोपहर को बहुत-से कामों के दरमियां
हो उदास मुझ बिन
गुजार दे इंतजार में दिन
जो शाम को यूं करे स्वागत
तमाम चाहत तमाम राहत से राम कर ले
जन्म मरण से रिहाई दे कर
मुझे रहीने-दवाम कर ले!
एक ऐसी हमदम की आरजू है
जो मेरे सुख को
वफा की ज्योति का संग दे दे
मेरे दुख को भी
अपने गर्म आंसुओं के मोतियों का रंग दे दे
जो घर में इफ्लास का समय हो, न तिलमिलाए
सफर कठिन हो तो उसके माथे पे बल न आए
एक ऐसी हमदम मिलेगी अगले जन्म में शायद
कि जिसको आता हो प्यार देना
मैं चाहता हूं इसलिए एक जन्म और लेना।

जो नहीं मिला है--किसी को प्रेयसी नहीं मिली है, किसी को धन नहीं मिला है, किसी को पद नहीं मिला है, किसी को प्रतिष्ठा नहीं मिली है--तो हम और एक जन्म लेना चाहते हैं। अनंत जन्म हम ले चुके हैं, लेकिन कुछ न कुछ कमी रह जाती है, कुछ न कुछ खाली रह जाता है, कुछ न कुछ ओछा रह जाता है--उसके लिए अगला जन्म, और अगला जन्म।

वासनाओं का कोई अंत नहीं है। जरूरतें बहुत थोड़ी हैं, कामनाओं की कोई सीमा नहीं है। उन्हीं कामनाओं के सहारे आदमी जीता चला जाता है।

ध्यान रखना, धन नहीं बांधता, धन की आकांक्षा बांधती है; पद नहीं बांधता, पद की आकांक्षा बांधती है। प्रतिष्ठा नहीं बांधती, प्रतिष्ठा की आकांक्षा बांधती है।

जनक के पास सब था। देख लिया सब। तैयार ही खड़े थे जैसे, कि कोई जरा-सा इशारा कर दे, जाग जाएं। सब सपने व्यर्थ हो चुके थे। नींद टूटी-टूटी होने को थी।

इसीलिए मैं कहता हूं, अष्टावक्र को परम शिष्य मिला।

जनक ने कहा: "मैं निर्दोष हूं, शांत हूं, बोध हूं, प्रकृति से परे हूं! आश्चर्य! अहो! कि मैं इतने काल तक मोह के द्वारा बस ठगा गया हूं!"

उतरने लगी किरण। अहो निरंजनः। आश्चर्य!

सुना अष्टावक्र को कि तू निरंजन है, निर्दोष है, सुनते ही पहुंच गई किरण प्राणों की आखिरी गहराई तक; जैसे सूई चुभ जाए सीधी।

अहो निरंजनः शांतो बोधोऽहं प्रकृतेः परः।

आश्चर्य, क्या कहते हैं आप? मैं निर्दोष हूं! शांत हूं! बोध हूं! प्रकृति से परे हूं! आश्चर्य कि इतने काल तक मैं मोह के द्वारा बस ठगा गया हूं।

एतावंतमहं कालं मोहेनैव विडंबितः।

चौंक गए जनक। जो सुना, वह कभी सुना नहीं था। अष्टावक्र में जो देखा, वह कभी देखा नहीं था। न कानों सुना, न आंखों देखा--ऐसा अपूर्व प्रगट हुआ। अष्टावक्र ज्योतिर्मय हो उठे! उनकी आभा, उनकी आभा के मंडल में जनक चकित हो गए: "अहो, बोध हुआ कि मैं निरंजन हूं!" एकदम भरोसा नहीं आता, विश्वास नहीं आता।

सत्य इतना अविश्वसनीय है, क्योंकि हमने असत्य पर इतने लंबे जन्मों तक विश्वास किया है। सोचो, अंधे की अचानक आंख खुल जाए तो क्या अंधा विश्वास कर सकेगा कि प्रकाश है, रंग हैं, ये हजार-हजार रंग, ये इंद्रधनुष, ये फूल, ये वृक्ष, ये चांदत्तारे? एकदम से अंधे की आंख खुल जाए तो वह कहेगा, अहो, आश्चर्य है! मैं तो सोच भी न सकता था कि यह है। और यह है। और मैंने तो इसका कभी सपना भी न देखा था।

प्रकाश तो दूर, अंधे आदमी को अंधेरे का भी पता नहीं होता। तुम साधारणतः सोचते होओगे कि अंधा आदमी अंधेरे में रहता है, तो तुम गलत सोचते हो। अंधेरा देखने के लिए भी आंख चाहिए। तुम आंख बंद करते हो तो तुम्हें अंधेरा दिखाई पड़ता है, क्योंकि आंख खोल कर तुम प्रकाश को जानते हो। लेकिन जिसकी कभी आंख ही नहीं खुली, वह अंधेरा भी नहीं जानता; प्रकाश तो दूर, अंधेरे से भी पहचान नहीं है। कोई उपाय नहीं अंधे के पास कि सपना देख सके इंद्रधनुषों का। लेकिन जब आंख खोल कर देखेगा, तो यह सारा जगत अविश्वसनीय मालूम होगा, भरोसा न आएगा।

जनक को भी एक धक्का लगा है, एक चौंक पैदा हुई! अचंभे से भर गए हैं! कहने लगे, "अहो, मैं निर्दोष!"

सदा से अपने को दोषी जाना और सदा से धर्मगुरुओं ने यही कहा कि तुम पापी हो! और सदा से पंडित-पुरोहितों ने यही समझाया कि धोओ अपने कर्मों के पाप। किसी ने भी यह न कहा कि तुम निर्दोष हो, कि तुम्हारी निर्दोषता ऐसी है कि उसके खंडित होने का कोई उपाय नहीं, कि तुम लाख पाप करो तो भी पापी तुम नहीं हो सकते हो।

तुम्हारे सब किए गए पाप, देखे गए सपने हैं--जागते ही खो जाते हैं। न पुण्य तुम्हारा है, न पाप तुम्हारा है; क्योंकि कर्म तुम्हारा नहीं, कृत्य तुम्हारे नहीं; क्योंकि कर्ता तुम नहीं हो--तुम केवल द्रष्टा, साक्षी हो।

"मैं निर्दोष हूं!" चौंक कर जनक ने कहा: "मैं शांत हूं!" क्योंकि जानी तो है केवल अशांति।

तुमने कभी शांति जानी है? साधारणतः तुम कहते हो कि हां। लेकिन बहुत गौर करोगे तो तुम पाओगे: जिसे तुम शांति कहते हो वह केवल दो अशांतियों के बीच का थोड़ा-सा समय है। अंग्रेजी में शब्द है "कोल्ड वार"। वह शब्द बड़ा अच्छा है: ठंडा युद्ध। दो युद्धों के बीच में ठंडा युद्ध चलता है। दो गर्म युद्ध, बीच में ठंडा युद्ध, मगर युद्ध तो जारी रहता है। पहला महायुद्ध खतम हुआ, दूसरा महायुद्ध शुरू हुआ। कई वर्ष बीते, कोई

बीस वर्ष बीते; लेकिन वे बीस वर्ष ठंडे युद्ध के थे। लड़ाई तो जारी रहती है, युद्ध की तैयारी जारी रहती है। हां, लड़ाई अब प्रगट नहीं होती; भीतर-भीतर होती है; अंडरग्राउंड होती है; जमीन के भीतर दबी होती है।

अभी ठंडा युद्ध चल रहा है दुनिया में, लड़ाई की तैयारियां चल रही हैं। सैनिक कवायदें कर रहे हैं। बम बनाए जा रहे हैं। बंदूकों पर पॉलिश चढ़ाया जा रहा है। तलवारों पर धार रखी जा रही है। यह ठंडी लड़ाई है। युद्ध जारी है। यह किसी भी दिन भड़केगा। किसी भी दिन युद्ध खड़ा हो जाएगा।

जिसको तुम शांति कहते हो, वह ठंडी अशांति है। कभी उत्तप्त हो जाते हो तो गर्म अशांति। दो गर्म अशांतियों के बीच में जो थोड़े-से समय बीतते हैं, जिनको तुम शांति के कहते हो, वह शांति के नहीं हैं; वह केवल ठंडी अशांति के हैं। पारा बहुत ऊपर नहीं चढ़ा है, ताप बहुत ज्यादा नहीं है-- सम्हाल पाते हो, इतना है। लेकिन शांति तुमने जानी नहीं। दो अशांतियों के बीच में कहीं शांति हो सकती है? और दो युद्धों के बीच में कहीं शांति हो सकती है?

शांति जिसने जानी है, उसकी अशांति सदा के लिए समाप्त हो जाती है। तुमने शांति जानी नहीं, शब्द सुना है। अशांति तुम्हारा अनुभव है; शांति तुम्हारी आकांक्षा है, आशा है।

तो जनक कहने लगे, "मैं शांत हूं, बोध हूं!" क्योंकि जाना तो सिर्फ मूर्च्छा को है। तुम इतने काम कर रहे हो, वे सब मूर्च्छित हैं। तुम्हें अगर कोई ठीक-ठीक पूछे तो तुम एक बात का भी उत्तर न दे पाओगे। कोई पूछे कि इस स्त्री के प्रेम में क्यों पड़ गए, तो तुम कहोगे: पता नहीं, पड़ गए, ऐसा हो गया। यह कोई उत्तर हुआ? प्रेम जैसी बात के लिए यह उत्तर हुआ कि हो गया! बस घटना घट गई! पहली दृष्टि में ही प्रेम हो गया! देखते ही प्रेम हो गया! तुम्हें पता है, यह प्रेम तुम्हारे भीतर कहां से उठा? कैसे आया? कुछ भी पता नहीं है। फिर इस प्रेम से तुम चाहते हो कि जीवन में सुख आए। इस प्रेम का ही तुम्हें पता नहीं, कहां से आता है? किस अचेतन के तल से उठता है? कहां इसका बीज है? कहां से अंकुरित होता है? फिर तुम कहते हो इस प्रेम से जीवन में सुख मिले! सुख नहीं मिलता; दुख मिलता है, कलह मिलती है, वैमनस्य मिलता है,र् ईष्या, जलन मिलती है। तो तुम तड़पते हो। तुम कहते हो, यह क्या हुआ? यह प्रेम सब धोखा निकला!

पहले ही से मूर्च्छा थी।

तुम दौड़े जा रहे हो--धन कमाना है! तुमसे कोई पूछे, किसलिए? शायद तुम कुछ छोटे-मोटे उत्तर दे सको। तुम कहो कि बिना धन के कैसे जीएंगे? लेकिन ऐसे लोग हैं, जिनके पास जीने के लिए काफी है, वे भी दौड़े जा रहे हैं। और तुम भी पक्का मानना, जिस दिन इतना कमा लोगे कि रुक सकते हो, फिर भी रुक न सकोगे। फिर भी तुम दौड़े जाओगे।

एंड्रू कार्नेगी मरा तो दस अरब रुपये छोड़कर मरा; लेकिन मरते वक्त भी कमा रहा था। मरने के दो दिन पहले उसके सेक्रेटरी ने पूछा कि "आप तो तृप्त होंगे? दस अरब रुपये!" उसने कहा, "तृप्त! मैं बहुत अशांति में मर रहा हूं, क्योंकि मेरी योजना सौ अरब रुपये कमाने की थी।"

अब जिसकी सौ अरब रुपए कमाने की योजना थी, दस अरब--नब्बे अरब का घाटा है। उसका घाटा तो देखो! तुम दस अरब देख रहे हो। दस अरब तो दस पैसे हो गये। दस अरब का कोई मूल्य ही न रहा।

न तो खा सकते हो दस अरब रुपयों को, न पी सकते हो। कोई उनका उपयोग नहीं है। मगर एक दफा दौड़ शुरू हो जाती है तो चलती जाती है।

तुम पूछो अपने से, किसलिए दौड़ रहे हो? तुम्हारे पास उत्तर नहीं। मूर्च्छा है! पता नहीं क्यों दौड़ रहे हैं! पता नहीं कहां जा रहे हैं, किसलिए जा रहे हैं! न जाएं तो क्या करें? रुकें तो कैसे रुकें? रुकें तो किसलिए रुकें? उसका भी कुछ पता नहीं है।

आदमी ऐसे चल रहा है जैसे नशे में चल रहा हो। हमारे जीवन के छोर हमारे हाथ में नहीं हैं। हम बोधहीन हैं।

गुरजिएफ कहता था: हम करीब-करीब नींद में चल रहे हैं। आंख खुली हैं, माना; मगर नींद नहीं टूटी है। आंखें नींद से भरी हैं। कुछ होता है, कुछ करते रहते हैं, कुछ चलता जाता है। क्यों? "क्यों" पूछने से हम डरते हैं, क्योंकि उत्तर तो नहीं है। ऐसे प्रश्न उठाने से बेचैनी आती है।

जनक ने कहा: "मैं बोध हूं। अहो निरंजनः शांतो बोधोऽहं। और इतना ही नहीं, आप कहते हैं: प्रकृति से परे हो! प्रकृतेः परः! शरीर नहीं हो, मन नहीं हो। यह जो दिखाई पड़ता है, यह नहीं हो। यह जो दृश्य है, यह नहीं हो। द्रष्टा हो। सदा पार हो। प्रकृति के पार, सदा अतिक्रमण करने वाले हो।"

इसे समझना। यह अष्टावक्र का मौलिक उपाय है, मौलिक विधि है--अगर विधि कह सकें--प्रकृति के पार हो जाना! जो भी दिखाई पड़ता है, वह मैं नहीं हूं। जो भी अनुभव में आता है, वह मैं नहीं हूं। क्योंकि जो भी मुझे दिखाई पड़ता है, मैं उससे पार हो गया; मैं देखने वाला हूं। दिखाई पड़ने वाला मैं नहीं हूं। जो भी मेरे अनुभव में आ गया है, मैं उसके पार हो गया; क्योंकि मैं अनुभव का द्रष्टा हूं, अनुभव कैसे हो सकता हूं? तो न मैं देह हूं, न मन हूं, न भाव हूं; न हिंदू, न मुसलमान, न ईसाई, न ब्राह्मण, न शूद्र; न बच्चा, न जवान, न बूढ़ा; न सुंदर, न असुंदर; न बुद्धिमान, न बुद्धू--मैं कोई भी नहीं हूं। सारी प्रकृति के परे हूं!

यह किरण उतरी जनक के हृदय में। आश्चर्य से भर गई, चकित कर गई, चौंका गई। आंखें खुलीं पहली दफा।

"आश्चर्य कि मैं इतने काल तक मोह के द्वारा बस ठगा गया हूं!"

कि अब तक जो भी मैंने बसाया था, जो भी मैंने चाहा था, जो भी सुंदर सपने मैंने देखे, वह सब मोह-निद्रा थी! वे सब सपने ही थे! नींद में उठे हुए खयाल थे, उनका कोई भी अस्तित्व नहीं है!

अहो अहं एतावंतमहं कालं मोहेनैव विडंबितः।

आप मुझे चौंकाते हैं! आपने मुझे हिला दिया। तो ये गिर गए सारे भवन जो मैंने बनाए थे! और ये सारे साम्राज्य जो मैंने फैलाए थे, सब मोह की विडंबना थी!

समझने की कोशिश करना। अगर तुम भी सुनोगे तो ऐसा ही होगा। अगर तुम भी सुन सकोगे तो ठीक ऐसा ही होगा। तुम्हारा किया-कराया सब व्यर्थ हो जाएगा। पाया नहीं पाया, सब व्यर्थ हो जाएगा।

मुल्ला नसरुद्दीन एक रात नींद में बड़बड़ा रहा था। आंख खोल कर अपनी पत्नी से बोला, जल्दी चश्मा ला!

पत्नी ने कहा, चश्मा क्या करोगे आधी रात में बिस्तर पर?

उसने कहा, देर मत कर, जल्दी चश्मा ला। एक सुंदर स्त्री दिखाई पड़ रही है, सपने में! तो ठीक से देखना चाहता हूं चश्मा लगा कर। थोड़ा धुंधला-धुंधला है सपना।

सपने को भी तुम सत्य बनाने की चेष्टा में लगे रहते हो: किसी तरह सपना सत्य हो जाए! तुम चाहते नहीं कि कोई तुम्हारे सपने को सपना कहे, तुम नाराज होते हो। संतों को हमने ऐसे ही थोड़ी जहर दिया, ऐसे ही थोड़ी पत्थर मारे। उन्होंने हमें खूब नाराज किया। हम सपना देखते थे, वे हमें हिलाने लगे। हम गहरी नींद में थे, वे हमें जगाने लगे। हमसे बिना पूछे हमारी नींद तोड़ने लगे, अलार्म बजाने लगे। नाराजगी स्वाभाविक थी।

लेकिन अगर सुनोगे तो तुम कृतज्ञ हो जाओगे, तुम सदा के लिए कृतज्ञता का अनुभव करोगे।

खयाल करो, कृष्ण की गीता में, जब कृष्ण बोलते हैं तो अर्जुन प्रश्न उठाता है। अष्टावक्र की गीता में अष्टावक्र बोले, जनक ने कोई प्रश्न नहीं उठाया। जनक ने सिर्फ अहोभाव प्रगट किया। जनक ने सिर्फ स्वीकृति दी। जनक ने सिर्फ इतना कहा कि चौंका दिया प्रभु मुझे, जगा दिया मुझे! पूछने को कुछ नहीं है। जनक को प्रतीति होने लगी कि मैं निर्दोष हूं कि मैं शांत हूं कि मैं बोध हूं, प्रकृति से परे हूं।

यह हमें कठिन लगता है, इतनी जल्दी हो गया! हमें लगता है, थोड़ा समय लगना चाहिए। हमें बड़ी हैरानी होती है: इतनी शीघ्रता से, इतनी त्वरा से घटना घटी!

झेन फकीरों के जीवन में बहुत-से उल्लेख हैं। अब झेन पर किताबें पूर्व में, पश्चिम में सब तरफ फैलनी शुरू हुई हैं, तो लोग पढ़ कर बड़े हैरान होते हैं। क्योंकि उनमें ऐसे हजारों उल्लेख हैं जब कि बस क्षण भर में फकीर जाग गया और बोध को उपलब्ध हो गया। हमें भरोसा नहीं आता, क्योंकि हम तो बड़े उपाय करते हैं, फिर भी बोध को उपलब्ध नहीं होते; श्रम करते हैं, फिर भी ध्यान नहीं लगता; जप करने बैठते हैं, तप करने बैठते हैं, मन उचाट रहता है। और यह जनक एक क्षण में जाग ही गए!

कभी-कभी ऐसा होता है। तुम्हारी पात्रता पर निर्भर है। तुम्हारी पात्रता में जितनी कमी होगी उतनी देर लग जाएगी। देरी घटना के कारण नहीं है। घटना तो अभी घट सकती है; जैसा बार-बार अष्टावक्र कहते हैं, "सुखी भव! अभी हो जा सुखी! मुक्त हो! अभी हो जा मुक्त! इसी क्षण!"

घटना तो अभी घटती है, देर लगती है हमारी पात्रता के कारण। हमारी पात्रता ही नहीं है। तो जो समय लगता है वह बीच में जो पत्थर पड़े हैं, उन्हें हटाने में लगता है। झरना तो अभी फूट सकता है, झरना तो तैयार है, झरना तो तरंगित है, झरना तो प्रतीक्षा कर रहा है कि हटाओ पत्थर, मैं दौड़ पड़ूं सागर की तरफ! लेकिन कितने पत्थर बीच में पड़े हैं, और कितनी बड़ी चट्टानें पड़ी हैं--इस पर निर्भर करेगा। झरने के निकलने में देर नहीं है--झरने की राह खुली है, बंद तो नहीं है। कहीं से झरना अभी फूट जाएगा, कहीं थोड़ा खोदना पड़ेगा। कहीं बड़ी चट्टान हो सकती है, डॉयनामाइट लगाना पड़े। पर तीनों ही स्थितियों में, चाहे अभी झरना फूटे, चाहे घड़ी भर बाद फूटे, चाहे जन्मों बाद फूटे--झरना तो सदा मौजूद था। बाधा झरने के फूटने में न थी, बाधा झरने के प्रगट होने के बीच पड़े पत्थर के कारण थी। जनक की चेतना पर कोई भी पत्थर न रहा होगा--अहोभाव प्रगट हो गया, कृतज्ञता का ज्ञापन हो गया! नाच उठे! मगन हो गए!

"जैसे इस देह को मैं अकेला ही प्रकाशित करता हूं," जनक ने कहा, "वैसे ही संसार को भी प्रकाशित करता हूं। इसलिए तो मेरा संपूर्ण संसार है अथवा मेरा कुछ भी नहीं।"

यह आस्तिकता है। अर्जुन तो नास्तिक है। अर्जुन तो इंकार करता है। अर्जुन तो बार-बार सवाल उठाता है। अर्जुन तो हजार संदेह करता है। अर्जुन तो इस तरफ से पूछता है, उस तरफ से पूछता है। जनक ने कुछ पूछा ही नहीं।

इसलिए मैंने इस गीता को महागीता कहा है। अर्जुन की नास्तिकता अंत में मिटती है, वह घर आता है। जनक में नास्तिकता है ही नहीं। वे जैसे घर के द्वार पर ही खड़े थे और किसी ने झकझोर दिया और कहा कि जनक, तुम घर पर ही खड़े हो, कहीं जाना नहीं। और वे कहने लगे, "अहो! जैसे इस देह को मैं अकेला ही प्रकाशित करता हूं, वैसे ही संसार को भी प्रकाशित करता हूं।"

अष्टावक्र ने कहा कि तुम्हारा वह जो आत्यंतिक साक्षी-भाव रूप है, वह तुम्हारा ही नहीं है, वह तुम्हारा ही केंद्र नहीं है, वह समस्त सृष्टि का केंद्र है। ऊपर-ऊपर हम अलग-अलग, भीतर हम बिलकुल एक हैं। बाहर-बाहर हम अलग-अलग; जैसे-जैसे भीतर चले, हम एक हैं। जैसे लहरें अलग-अलग हैं सागर की छाती पर, लेकिन सागर के गहनतम में तो सारी लहरें एक हैं। ऊपर एक लहर छोटी, एक लहर बड़ी; एक लहर सुंदर, एक लहर कुरूप; एक लहर गंदी, एक लहर स्वच्छ-- ऊपर बड़े भेद हैं। लेकिन सागर में सब जुड़ी हैं। जिसको केंद्र का स्मरण आया, उसका व्यक्तित्व गया; फिर वह व्यक्ति नहीं रह जाता।

तो जनक कहते हैं, जैसे इस देह को मैं अकेला प्रकाशित करता हूं, वैसे ही सारे संसार को भी प्रकाशित करता हूं। क्या कह रहे हैं आप? भरोसा नहीं आता!

कल एक युवक ने रात्रि मुझे आ कर कहा कि जो हुआ है ध्यान में, उस पर भरोसा नहीं आता। ठीक! जब कुछ होता है तो ऐसा ही होता है, भरोसा नहीं आता। हमारा भरोसा ही छोटी चीजों पर है, क्षुद्र पर है। जब विराट घटता है तो भरोसा आएगा कैसे?

जब परमात्मा तुम्हारे सामने खड़ा होगा तो तुम आश्चर्यचकित और अवाक रह जाओगे।

पश्चिम में एक बहुत बड़ा संत हुआ: तरतूलियन। उसका वचन है--किसी ने पूछा कि तरतूलियन, ईश्वर के लिए कोई प्रमाण है? उसने कहा, एक ही प्रमाण है: ईश्वर है, क्योंकि वह भरोसे-योग्य नहीं है। ईश्वर है, क्योंकि उस पर विश्वास नहीं आता। ईश्वर है, क्योंकि वह असंभव है।

यह बड़ी अनूठी बात तरतूलियन ने कही: ईश्वर है, क्योंकि असंभव है! संभव तो संसार है, ईश्वर असंभव है। संभव तो क्षुद्र है, विराट तो असंभव है। लेकिन असंभव भी घटता है, तरतूलियन बोला। तुम राजी हो जाओ असंभव को, तो असंभव भी घटता है। जब घटता है तो बिलकुल भरोसा नहीं आता। तुम्हारी सारी जड़ें उखड़ जाती हैं, भरोसा कहां आएगा? तुम मिट जाते हो जब घटता है, तो भरोसा किसको आएगा। तुम बिखर जाते हो जब घटता है।

तुम अब तक अंधेरे जैसे हो। जब उसका सूरज निकलेगा तो तुम विसर्जित हो जाओगे।

जनक कहने लगे, "इसलिए तो या तो संपूर्ण संसार मेरा है या मेरा कुछ भी नहीं है।"

ये दो ही बातें संभव हैं। इसके बीच में कोई भी दृष्टि हो तो भ्रांत है। या तो संपूर्ण संसार मेरा है, क्योंकि मैं परमात्मा का हिस्सा हूं; चूंकि मैं परमात्मा हूं; चूंकि मैं सारे संसार का केंद्र हूं; चूंकि मेरा साक्षी सारे संसार का साक्षी है। तो या तो सारा संसार मेरा है--एक संभावना; या फिर मेरा कुछ भी नहीं है, क्योंकि मैं हूं ही कहां! साक्षी में मैं तो नहीं बचता, सिर्फ साक्षी-भाव बचता है। वहां दावेदार तो बचता नहीं, कौन दावा करेगा कि सब मेरा है?

तो जनक कहते हैं, दो संभावनाएं हैं। ये दो अभिव्यक्तियां हैं धर्म की--या तो पूर्ण या शून्य। कृष्ण ने चुना पूर्ण। उपनिषदों ने चुना पूर्ण। उस पूर्ण से ही सब निकलता, फिर भी पीछे पूर्ण शेष रह जाता है। उस पूर्ण में ही सब लीन होता, फिर भी पूर्ण न घटता न बढ़ता।

उपनिषदों ने, कृष्ण ने, हिंदुओं ने, सूफियों ने चुना पूर्ण। बुद्ध ने चुना शून्य। यह जो जनक ने वचन कहा कि इसलिए या तो सब मेरा है, मैं पूर्ण हूं, पूर्ण परात्पर ब्रह्म हूं; और या फिर कुछ भी मेरा नहीं, मैं परम शून्य हूं! ये दोनों बातें ही सच हैं।

बुद्ध का वक्तव्य अधूरा है। कृष्ण का वक्तव्य भी अधूरा है। जनक के इस वक्तव्य में पूरी बात हो जाती है। जनक कहते हैं, दोनों बातें कही जा सकती हैं। क्यों? क्योंकि अगर मैं ही सारे जगत का केंद्र हूं तो सारा जगत मेरा। लेकिन जब मैं सारे जगत का केंद्र होता हूं तो मैं मैं ही नहीं होता; मेरा मैं-पन तो बहुत पीछे छूट जाता है; धूल की तरह उड़ता रह जाता है पीछे। यात्री आगे निकल जाता, धूल पड़ी रह जाती है। तो फिर मेरा क्या? या फिर मेरा कुछ भी नहीं है।

अतः मम सर्वम् जगत्...

--या तो सब जगत मेरा है।

अथवा मम किंचन न,

--या फिर मेरा कुछ भी नहीं।

"आश्चर्य है कि शरीर सहित विश्व को त्याग कर किसी कुशलता से ही अर्थात उपदेश से ही अब मैं परमात्मा को देखता हूं।"

अहो सशरीरम् विश्वं परित्यज्य...।

आश्चर्य है कि मेरा शरीर गया, शरीर के साथ सारा जगत गया! त्याग घट गया!

त्याग किया नहीं जाता। त्याग तो बोध की एक दशा है। त्याग कृत्य नहीं है। अगर कोई कहे, मैंने त्याग किया, तो त्याग हुआ ही नहीं। उसने त्याग में भी भोग को बना लिया। अगर कोई कहे, मैं त्यागी हूं, तो उसे त्याग का कोई भी पता नहीं। क्योंकि जब तक "मैं" है, तब तक त्याग कैसा?

त्याग का अर्थ छोड़ना नहीं है। त्याग का अर्थ जाग कर देखना है कि मेरा कुछ है ही नहीं, छोडूं कैसे? छोडूं क्या? पकड़ा हो तो छोडूं। हो तो छोडूं।

तुम सुबह उठ कर यह तो नहीं कहते कि चलो अब सपने का त्याग करें। तुम यह तो नहीं कहते सुबह उठ कर कि रात सपने में सम्राट बन गया था, बड़े स्वर्ण-महल थे, रत्न-जटित आभूषण थे, बड़े दूर-दूर तक मेरा राज्य था, सुंदर पुत्र थे, पत्नी थी--सुबह उठ कर तुम यह तो नहीं कहते कि चलो अब सब छोड़ता हूं। कहो तो तुम पागल मालूम पड़ोगे। अगर तुम सुबह उठ कर गांव में ढिंढोरा पीटने लगो कि मैंने सब त्याग कर दिया है--राज्य का, धन का, वैभव का, पत्नी-बच्चे, सब छोड़ दिए--लोग चौंकेंगे। वे कहेंगे, "कौन-सा राज्य? हमें तो पता ही नहीं कि तुम्हारे पास कोई राज्य भी था।" तुम कहोगे, रात सपने में! तो लोग हंसेंगे कि तुम पागल हो गए हो। सपने का राज्य छोड़ा तो नहीं जा सकता।

इसलिए परमज्ञान का सूत्र यही है कि जब तुम्हें दिखाई पड़ता है कि यह संसार कुछ भी नहीं है, तो छोड़ने की क्या बात है? लेकिन लोग हैं जो हिसाब रखते हैं कि कितना छोड़ा।

एक मित्र मुझे मिलने आए थे। उनकी पत्नी भी साथ थी। मित्र का नाम है बड़े दानियों में। तो मित्र की पत्नी कहने लगी कि शायद आपको मेरे पति से परिचय नहीं, ये बड़े दानी हैं! कोई लाख रुपया दान कर दिया!

पति ने जल्दी से पत्नी के हाथ पर हाथ रखा कि लाख नहीं, एक लाख दस हजार!

यह दान न हुआ, यह हिसाब हुआ। यह सौदा हुआ। यह कौड़ी-कौड़ी का हिसाब चल रहा है। अगर कहीं इनको परमात्मा मिल गया तो उसकी गर्दन पकड़ लेंगे, कि एक लाख दस हजार दिया था, बदले में क्या देते हो बोलो? दिया भी इसीलिए है कि शास्त्र कहते हैं कि यहां एक दो, वहां करोड़ गुना मिलता है। ऐसा धंधा कौन छोड़ेगा! करोड़ गुना! सुना है ब्याज? कोई धंधा देखा? जुआरी भी इतने बड़े जुआरी नहीं। करोड़ गुना तो वहां भी नहीं मिलता है। यह तो जुआरीपन हुआ। इस आशा में छोड़ा है कि लाख छोड़ेंगे तो करोड़ गुना मिलेगा। यह लोभ का ही विस्तार हुआ।

और लाख का हिसाब? तो रुपए का मूल्य अभी समाप्त नहीं हुआ है! पहले तिजोड़ी में रुपये रखते थे; अब तिजोड़ी में रुपये की जगह, क्या-क्या त्याग किया है, उसका हिसाब रख लिया है। मगर सपना टूटा नहीं।

चीन में एक बड़ी प्राचीन कथा है कि एक सम्राट का एक ही बेटा था। वह बेटा मरण-शय्या पर पड़ा था। चिकित्सकों ने कह दिया हार कर कि हम कुछ कर न सकेंगे; बचेगा नहीं, बचना असंभव है। बीमारी ऐसी थी कि कोई इलाज नहीं था। दिन दो दिन की बात थी, कभी भी मर जाएगा। तो बाप रात भर जाग कर बैठा रहा। विदा देने की बात ही थी। आंख से आंसू बहते रहे, बैठा रहा। कोई तीन बजे करीब रात को झपकी लग गई बाप को बैठे-बैठे ही। झपकी लगी तो एक सपना देखा कि एक बहुत बड़ा साम्राज्य है, जिसका वह मालिक है। उसके बारह बेटे हैं--बड़े सुंदर, युवा, कुशल, बुद्धिमान, महारथी, योद्धा! उन जैसा कोई व्यक्ति नहीं संसार में। खूब धन का अंबार है! कोई सीमा नहीं! वह चक्रवर्ती है। सारे जगत पर उसका साम्राज्य है! ऐसा सपना देखता था, तभी बेटा मर गया। पत्नी दहाड़ मार कर रो उठी। उसकी आंख खुली। चौंका एकदम। किंकर्तव्यविमूढ़ हो गया। क्योंकि अभी-अभी एक दूसरा राज्य था, बारह बेटे थे, बड़ा धन था--वह सब चला गया; और इधर यह बेटा मर गया! लेकिन वह ठगा-सा रह गया। उसकी पत्नी ने समझा कि कहीं दिमाग तो खराब नहीं हो गया, क्योंकि बेटे से उसका बड़ा लगाव था। एक आंसू नहीं आ रहा आंख में। बेटा जिंदा था तो रोता था उसके लिए, अब बेटा मर गया तो रो नहीं रहा बाप। पत्नी ने उसे हिलाया और कहा, तुम्हें कुछ हो तो नहीं गया? रोते क्यों नहीं?

उसने कहा, "किस-किस के लिए रोओ? बारह अभी थे, वे मर गए। बड़ा साम्राज्य था, वह चला गया। उनके लिए रोऊं कि इसके लिए रोऊं? अब मैं सोच रहा हूं कि किस-किस के लिए रोऊं। जैसे बारह गए, वैसे तेरह गए।"

बात समाप्त हो गई, उसने कहा। वह भी एक सपना था, यह भी एक सपना है। क्योंकि जब उस सपने को देख रहा था तो इस बेटे को बिलकुल भूल गया था। ये राज्य, तू सब भूल गए थे। अब वह सपना टूट गया तो तुम याद आ गए हो। आज रात फिर सो जाऊंगा, फिर तुम भूल जाओगे। तो जो आता-जाता है, अभी है अभी नहीं, अब दोनों ही गए। अब मैं सपने से जागा। अब किसी सपने में न रमूंगा। हो गया बहुत, समय आ गया। फल पक गया, गिरने का वक्त है!

जनक कहते हैं, "आश्चर्य कि शरीर सहित विश्व को त्याग कर...।"

त्याग घट गया! अभी इंच भर भी हिले नहीं; जहां हैं वहीं हैं, उसी राजमहल में। जहां अष्टावक्र को ले आए थे निमंत्रण दे कर, बिठाया था सिंहासन पर--वहीं बैठे हैं अष्टावक्र के सामने। कहीं कुछ गए नहीं, राज्य चल रहा है, धन-वैभव है, द्वार पर द्वारपाल खड़े हैं, नौकर-सेवक पंखा झलते होंगे। सब कुछ ठीक वैसा का वैसा है, तिजोड़ी अपनी जगह है। धन अपनी जगह है। लेकिन जनक कहते हैं, "आश्चर्य, त्याग घट गया!"

त्याग अंतर का है। त्याग भीतर का है। त्याग बोध का है।

"आश्चर्य कि इस शरीर सहित विश्व को त्याग कर किस कुशलता से...।"

और किस कुशलता से यह बात घट गई कि पत्ता न हिला और क्रांति हो गई; कि जरा-सा घाव न बना और सर्जरी पूरी हो गई! किस कुशलता से! कैसा तुम्हारा उपदेश! अब मैं परमात्मा को देखता हूं, संसार दिखाई ही नहीं पड़ रहा है। सारी दृष्टि रूपांतरित हो गई।

यह अत्यंत मूल्यवान सूत्र है: तुम जहां हो वहीं रहते, तुम जैसे हो वैसे ही रहते--क्रांति घट सकती है। कोई हिमालय भाग जाने की जरूरत नहीं है। संन्यास पलायन नहीं है, भगोड़ापन नहीं है। पत्नी है, बच्चे हैं, घर-द्वार है--सब वैसा ही रहेगा। किसी को कानों-कान खबर भी न होगी--और क्रांति घट जाएगी। यह भीतर की बात है। तुम्हीं चकित हो जाओगे कि यह हुआ क्या? अब पत्नी अपनी नहीं मालूम होगी, अब बेटा अपना नहीं मालूम होगा, मकान अपना नहीं मालूम होगा। अब भी तुम रहोगे, अब अतिथि की तरह रहोगे। सराय हो गई; घर वही है। सब वही है। करोगे काम; उठोगे, बैठोगे; दुकान-दफ्तर जाओगे; श्रम करोगे--पर अब कोई चिंता नहीं पकड़ती। एक बार यह बात दिखाई पड़ जाए कि यहां सब खेल है, बड़ा नाटक है, तो क्रांति घट जाती है।

मुझसे एक अभिनेता पूछते थे कि कहें कि मैं अभिनय में और कैसे कुशल हो जाऊं? तो मैंने कहा: एक ही सूत्र है। जो लोग जीवन में कुशल होना चाहते हों तो उनके लिए सूत्र है कि जीवन को अभिनय समझें। और जो लोग अभिनय में कुशल होना चाहते हैं, उनके लिए सूत्र है कि अभिनय को जीवन समझें। और तो कोई सूत्र नहीं है। अगर अभिनेता अभिनय को जीवन समझ ले तो कुशल हो जाता है। तब नाटक को वह असली मान लेता है।

तुम उसी अभिनेता से प्रभावित होओगे जिसके लिए कुशलता इतनी गहरी हो गई है कि वह झूठ को सच मान लेता है। अगर अभिनेता झूठ को सच न मान पाए तो अभिनय में कुशल नहीं हो सकता। तो वह बाहर-बाहर रहेगा, भीतर न हो पाएगा। तो खड़ा-खड़ा, दूर-दूर कर लेगा काम; लेकिन तुम पाओगे, उसके प्राण उसमें रमे नहीं। गए नहीं भीतर।

अभिनेता बिलकुल भूल जाता है अभिनय में। जब कोई राम का अभिनय करता है तो वह बिलकुल भूल जाता है, वह राम हो जाता है। जब उसकी सीता चुराई जाती है तो वह ऐसा नहीं सोचता कि अपना क्या लेना-देना है; अभी घड़ी भर बाद सब खेल खतम, अपने घर चले जाएंगे, क्यों नाहक रोओ! क्यों पूछो वृक्षों से कि मेरी सीता कहां है? क्यों चीखो-चिल्लाओ? क्या सार है? अपनी कोई सीता है कि कुछ...? और सीता वहां है भी नहीं, कोई दूसरा आदमी सीता बना है। कुछ लेना-देना नहीं है। अगर वह अभिनय में खोए न, तो अभिनय-कुशल नहीं हो पाता। अभिनय की कुशलता यही है कि वह अभिनय को जीवन मान लेता है, वह बिलकुल यथार्थ मान लेता है। उसकी ही सीता खो गई है। वे आंसू झूठ नहीं हैं। वे आंसू सच हैं। वह ऐसे ही रोता है जैसे उसकी प्रेयसी खो गई हो। वह ऐसे ही लड़ता है। अभिनय को सच कर लेता है।

जीवन में अगर कुशलता लानी हो तो जीवन को अभिनय समझ लेना। यह भी नाटक है। देर-अबेर पर्दा उठेगा। देर-अबेर सब विदा हो जाएंगे। मंच बड़ी है माना; पर मंच ही है, कितनी ही बड़ी हो। यहां घर मत बनाना। यहां सराय में ही ठहरना। यह प्रतीक्षालय है। यह क्यू लगा है। मौत आती-जाती, लोग विदा होते चले जाते। तुम्हें विदा हो जाना है। यहां जड़ें जमा कर खड़े हो जाने की कोई जरूरत नहीं, अन्यथा उतना ही दुख होगा।

तो जो व्यक्ति इस संसार में जड़ें नहीं जमाता, वही व्यक्ति संन्यासी। जो यहां जम कर खड़ा नहीं हो जाता, जिसका पैर अंगद का पैर नहीं है, वही संन्यासी है। जो तत्पर है सदा जाने को...। इस जगत में वही व्यक्ति संन्यासी है जो बंजारा है, खानाबदोश है।

शब्द "खानाबदोश" बहुत अच्छा है। इसका अर्थ होता है: जिसका घर अपने कंधे पर है। खाना अर्थात घर, बदोश यानी कंधे पर--जिसका घर अपने कंधे पर है। जो खानाबदोश है, वही संन्यासी है। तंबू लगा लेना ज्यादा से ज्यादा, घर मत बनाना यहां। तंबू, कि कभी भी उखाड़ लो, क्षण भर भी देर न लगे। सराय!

कहते हैं, सूफी फकीर हुआ इब्राहीम। पहले वह बल्ख का सम्राट था। एक रात उसने देखा कि सोया अपने महल में, कोई छप्पर पर चल रहा है। उसने पूछा, "कौन बदतमीज आधी रात को छप्पर पर चल रहा है? कौन है तू?"

उसने कहा, बदतमीज नहीं हूं, मेरा ऊंट खो गया है। उसे खोज रहा हूं।

इब्राहीम को भी हंसी आ गई। उसने कहा, पागल! तू पागल है! ऊंट कहीं छप्परों पर मिलते हैं अगर खो जाएं? यह भी तो सोच कि ऊंट छप्पर पर पहुंचेगा कैसे?

ऊपर से आवाज आई: इसके पहले कि दूसरों को बदतमीज और पागल कह, अपने बाबत सोच। धन में, वैभव में, सुरा-संगीत में सुख मिलता है? अगर धन में, वैभव में, सुरा-संगीत में सुख मिल सकता है तो ऊंट भी छप्परों पर मिल सकते हैं।

इब्राहीम चौंका। आधी रात थी, वह उठा, भागा। उसने आदमी दौड़ाए कि पकड़ो इस आदमी को, यह कुछ जानकार आदमी मालूम होता है। लेकिन तब तक वह आदमी निकल गया। इब्राहीम ने आदमी छुड़वा रखे राजधानी में कि पता लगाओ कौन आदमी था। कोई पहुंचा हुआ फकीर मालूम होता है। क्या बात कही? किस प्रयोजन से कही है?

लेकिन रात भर इब्राहीम फिर सो न सका। दूसरे दिन सुबह जब वह दरबार में बैठा था, तो वह उदास था, मलिनचित्त था, क्योंकि बात तो उसको चोट कर गई। जनक जैसा आदमी रहा होगा। चोट कर गई कि बात तो ठीक ही कहता है। अगर यह आदमी पागल है तो मैं कौन-सा बुद्धिमान हूं? किसको मिला है सुख संसार में? यहीं तो मैं भी खोज रहा हूं। सुख संसार में मिलता नहीं और अगर मिल सकता है तो फिर ऊंट भी मिल सकता है। फिर असंभव घटता है। फिर कोई अड़चन नहीं है। पर यह आदमी कौन है? कैसे पहुंच गया छप्पर पर? फिर कैसे भाग गया, कहां गया?

वह चिंता में बैठा है। बैठा है दरबार में। दरबार चल रहा है, काम की बातें चल रही हैं, लेकिन आज उसका मन यहां नहीं। मन कहीं उड़ गया। मन-पक्षी किसी दूसरे लोक में जा चुका है। जैसे त्याग घट गया! एक छोटी-सी बात, जैसे खुद अष्टावक्र छप्पर पर चढ़ कर बोल गए।

तभी उसने देखा कि दरवाजे पर कुछ झंझट चल रही है। एक आदमी भीतर आना चाहता है और दरबार से कह रहा है कि मैं इस सराय में रुकना चाहता हूं। और दरबान कह रहा है कि "पागल हो, यह सराय नहीं है, सम्राट का महल है! सराय बस्ती में बहुत हैं, जाओ वहां ठहरो।" पर वह आदमी कह रहा है, मैं यहीं ठहरूंगा। मैं पहले भी यहां ठहरता रहा हूं और यह सराय ही है। तुम किसी और को बनाना। तुम किसी और को चराना।

अचानक उसकी आवाज सुन कर इब्राहीम को लगा कि यह आवाज वही है और यह फिर वही आदमी है। उसने कहा, उसे भीतर लाओ, उसे हटाओ मत।

वह भीतर लाया गया। इब्राहीम ने पूछा कि तुम क्या कह रहे हो? यह किस तरह की जिद कर रहे हो? यह मेरा महल है। इसको तुम सराय कहते हो? यह अपमान है!

उसने कहा, अपमान हो या सम्मान हो, एक बात पूछता हूं कि मैं पहले भी यहां आया था, लेकिन तब इस सिंहासन पर कोई और बैठा था।

इब्राहीम ने कहा, वे मेरे पिताश्री थे, मेरे पिता थे।

और उस फकीर ने कहा, इसके भी पहले मैं आया था, तब कोई दूसरा ही आदमी बैठा था।

तो उसने कहा, वे मेरे पिता के पिता थे।

तो उसने कहा, इसलिए तो मैं इसको सराय कहता हूं। यहां लोग बैठते हैं, चले जाते हैं, आते हैं चले जाते हैं। तुम कितनी देर बैठोगे? मैं फिर आऊंगा, फिर कोई दूसरा बैठा हुआ मिलेगा। इसलिए तो सराय कहता हूं। यह घर नहीं है। घर तो वह है जहां बस गए तो बस गए; जहां से कोई हटा न सके, जहां से हटना संभव ही नहीं।

इब्राहीम, कहते हैं, सिंहासन से उतर गया और उसने उस फकीर से कहा कि प्रणाम करता हूं। यह सराय है। आप यहां रुकें, मैं जाता हूं। क्योंकि अब सराय में रुकने से क्या सार है?

इब्राहीम ने महल छोड़ दिया। पात्र रहा होगा, सुपात्र रहा होगा।

जनक कहते हैं कि एक क्षण में मुझे दिखाई पड़ गया कि शरीर-सहित विश्व को त्याग कर, मैं संन्यस्त हो गया हूं। यह किस कुशलता से कर दिया! यह कैसा उपदेश दिया! यह कैसी कुशलता आपकी! यह कैसी कला आपकी!

अहो शरीरम् विश्वम् परित्यज्य, कुतश्चित् कौशलात्।

--कैसी कुशलता! कैसे गुरु से मिलना हो गया!

एव मया मधुना परमात्मा विलोक्यते।

--अब मुझे सिर्फ परमात्मा दिखाई पड़ रहा है। मुझे कुछ और दिखाई नहीं पड़ता। अब यह सब परमात्मा का ही रूप मालूम होता है, उसकी ही तरंगें हैं।

"जैसे जल से तरंग, फेन और बुलबुला भिन्न नहीं, वैसे ही आत्म-विशिष्ट विश्व आत्मा से भिन्न नहीं।"

यथा न तोयतो भिन्नस्तरंगाः फेन बुद्बुदाः।
आत्मनो न तथा भिन्नं विश्वमात्मविनिर्गतम्।।

जैसे पानी में लहरें उठती हैं, बुदबुदे उठते हैं, फेन उठता। और जल से अलग नहीं। उठता उसी में है, उसी में खो जाता है। ऐसा ही परमात्मा से भिन्न यहां कुछ भी नहीं है। सब उसके बुदबुदे। सब उसका फेन। सब उसकी तरंगें। उसी में उठते, उसी में लीन हो जाते।

यथा तोयतः तरंगः फेन बुद्बुदाः भिन्नाः न।

ऐसे ही हम हैं। ऐसा मुझे दिखाई पड़ने लगा, प्रभु!

जनक कहने लगे अष्टावक्र से कि ऐसा मैं देख रहा हूं प्रत्यक्ष। यह कोई दार्शनिक का वक्तव्य नहीं है। यह एक अनुभव, गहन अनुभव से उठा हुआ वक्तव्य है कि ऐसा मैं देख रहा हूं।

तुम भी देखो! यह सिर्फ जरा-सी दृष्टि के फर्क की बात है; जिसको पश्चिम में गैस्टॉल्ट कहते हैं, गैस्टॉल्ट की बात है। गैस्टॉल्ट शब्द बड़ा महत्वपूर्ण है। तुमने कभी देखा होगा बच्चों की किताबों में तस्वीरें बनी होती हैं। एक तस्वीर ऐसी होती है कि उसमें अगर गौर से देखो तो कभी बुढ़िया दिखाई पड़ती है, कभी जवान औरत दिखाई पड़ती है। अगर तुम देखते रहो तो बदलाहट होने लगती है। कभी फिर बुढ़िया दिखाई पड़ती है, कभी फिर जवान औरत दिखाई पड़ने लगती है। वही लकीरें दोनों को बनाती हैं। लेकिन एक बात--तुम हैरान हो जाओगे,

वह तुमने शायद खयाल न की हो--दोनों को तुम साथ-साथ न देख सकोगे, हालांकि तुमने दोनों देख लीं। उसी चित्र में तुमने बुढ़िया देख ली, उसी चित्र में तुमने जवान औरत देख ली। अब तुमको पता है कि दोनों उस चित्र में हैं। फिर भी तुम दोनों को साथ-साथ न देख पाओगे। जब तुम जवान को देखोगे, बुढ़िया खो जाएगी। जब तुम बुढ़िया को देखोगे, जवान खो जाएगी। क्योंकि वही लकीरें दोनों के काम आ रही हैं। इसको जर्मन भाषा में गैस्टॉल्ट कहते हैं।

गैस्टॉल्ट का मतलब होता है: देखने के एक ढंग से चीज एक तरह की दिखाई पड़ती है; दूसरे ढंग से दूसरे तरह की दिखाई पड?ती है। चीज तो वही है, लेकिन तुम्हारा देखने का ढंग सारा अर्थ बदल देता है।

संसार तो यही है। अज्ञानी भी देखता है इसको तो अनंत वस्तुएं दिखाई पड़ती हैं। एक गैस्टॉल्ट, एक ढंग हुआ। फिर ज्ञानी देखता इसी को तो अनंत खो जाता; अनेक-अनेक रूप खो जाते। फिर एक विराट दिखाई पड़ता।

जनक कहने लगे: एव मया अधुना परमात्मा विलोक्यते--एक परमात्मा दिखाई पड़ने लगा!

ये हरे वृक्ष उसी की हरियाली है। इन फूलों में वही रंगीन हो कर खिला। फूलों की गंध में वही हवा के साथ खिलवाड़ कर रहा है। आकाश में घिरे मेघों में वही घिरा है। तुम्हारे भीतर वही सोया है। बुद्ध और अष्टावक्र के भीतर वही जागा है। पत्थर में वही सघनीभूत पड़ा है गहन तंद्रा में। मनुष्य में वही थोड़ा चौंका है। थोड़ा जागरण शुरू हुआ है। लेकिन है वही! उसी के सब रूप हैं। कहीं उलटा खड़ा है, कहीं सीधा खड़ा है। वृक्ष आदमी के हिसाब से उलटे खड़े हैं।

कुछ दिन पहले मैं वनस्पति-शास्त्र की एक किताब पढ़ रहा था। तो चकित हुआ। बात ठीक मालूम पड़ी। उस वैज्ञानिक ने लिखा है कि वृक्षों का सिर जमीन में गड़ा है। क्योंकि वृक्ष जमीन में से भोजन करते हैं तो मुंह उनका जमीन में है। जमीन में ही से वे भोजन करते, पानी लेते, तो उनका मुंह जमीन में है, और पैर आकाश में खड़े हैं--शीर्षासन कर रहे हैं वृक्ष। बड़े प्राचीन योगी मालूम होते हैं।

उस वैज्ञानिक ने सिद्ध करने की कोशिश की है कि धीरे-धीरे हम पूरे मनुष्य के विकास को इसी आधार पर समझ सकते हैं। फिर केंचुए हैं, मछलियां हैं--वे समतल हैं। वह समानांतर जमीन के हैं। उनकी पूंछ और उनका मुंह एक सीधी रेखा में जमीन के साथ समानांतर रेखा बनाता है। वह वृक्ष से थोड़ा रूपांतर हुआ। फिर कुत्ते हैं, बिल्लियां हैं, शेर हैं, चीते हैं--इनका सिर थोड़ा उठा हुआ है। समानांतर से थोड़ी बदलाहट हुई, सिर थोड़ा ऊपर उठा। कोण बदला। फिर बंदर हैं वे बैठ सकते हैं, वे करीब-करीब जमीन से नब्बे का कोण बनाने लगे, लेकिन खड़े नहीं हो सकते। वे बैठे हुए आदमी हैं। वृक्ष शीर्षासन करते हुए आदमी हैं। फिर आदमी है, वह सीधा खड़ा हो गया, नब्बे का कोण बनाता। वृक्ष से ठीक उलटा हो गया है। सिर ऊपर हो गया, पैर नीचे हो गए हैं।

बात मुझे प्रीतिकर लगी। सभी एक का ही खेल है। कहीं उलटा खड़ा, कहीं सीधा खड़ा, कहीं लेटा, कहीं सोया, कहीं जागा; कहीं दुख में डूबा, कहीं सुख में; कहीं अशांत, कहीं शांत--मगर तरंगें सब एक की हैं।

यथा तोयतः तरंगाः फेन बुद्बुदाः भिन्नाः न।

--जैसे जल से तरंग, फेन, बुदबुदा भिन्न नहीं, वैसे ही आत्मा से कुछ भी भिन्न नहीं है। सब अभिन्न है।

इसे तुम देखो, सुनो मत! यह गैस्टॉल्ट के परिवर्तन की बात है। इसमें एक झलक में दिखाई पड़ सकता है। एक झलक! गौर से देखो, तो धीरे से तुम पाओगे कि सब एक में तिरोहित हो गया, और खो गया। एक विराट सागर लहरें मार रहा है। यह ज्यादा देर न टिकेगा, क्योंकि इसको टिकाने के लिए तुम्हारी क्षमता विकसित होनी चाहिए। लेकिन यह क्षण भर को भी दिखाई पड़े कि एक विराट लहरें मार रहा है, हम सब उसी की तरंगें हैं; एक ही सूरज प्रकाशित है, हम सब उसी की किरणें हैं; यहां एक ही संगीत बज रहा है, हम सब उसी के स्वर हैं--तो जीवन में क्रांति घट जाएगी। वह एक क्षण धीरे-धीरे तुम्हारा शाश्वत स्वरूप बन जाएगा।

इसे तुम चाहो तो पकड़ लो, चाहो तो चूक जाओ। जनक ने पकड़ लिया।

रात मैं जागा
अंधकार की सिरकी के पीछे से मुझे लगा
मैं सहसा सुन पाया सन्नाटे की कनबतियां
धीमी रहस्य-सुरीली, परम गीत में
और गीत वह मुझसे बोला
दुर्निवार! अरे तुम अभी तक नहीं जागे?
और यह मुक्त स्रोत-सा
सभी ओर बह चला उजाला
अरे, अभागे कितनी बार भरा
अनदेखे, छलक-छलक बह गया तुम्हारा प्याला!

तुम पहली दफे नहीं सुन रहे हो इन वचनों को; बहुत बार सुन चुके हो। तुम अति प्राचीन हो। हो सकता है, अष्टावक्र से भी तुमने सुना हो। तुम में से कुछ ने तो निश्चित सुना होगा। कुछ ने बुद्ध से सुना हो, कुछ ने कृष्ण से, कुछ ने क्राइस्ट से, कुछ ने मुहम्मद से, किसी ने लाओत्सु से, जरथुस्त्र से। पृथ्वी पर इतने अनंत पुरुष हुए हैं, उन सबको तुम पार करके आते गए हो। इतने दीये जले हैं, असंभव है कि किसी दीये की रोशनी तुम्हारी आंखों में न पड़ी हो। तुम्हारा प्याला बहुत बार भरा गया है।

अरे अभागे! कितनी बार भरा
अनदेखे, छलक-छलक बह गया तुम्हारा प्याला!
तुम्हारा प्याला भर भी दिया जाता है तो भी खाली रह जाता है। तुम उसे संभाल नहीं पाते।
और गीत वह मुझसे बोला
दुर्निवार! अरे, तुम अभी तक नहीं जागे?
और यह मुक्त स्रोत-सा
सभी ओर बह चला उजाला।

सुबह होने लगी। और बहुत बार सुबह हुई है, और बहुत बार सूरज निकला, पर तुम हो कि अपने अंधेरे को पकड़े बैठे हो। यह अभागापन तुम छोड़ोगे तो छूटेगा।

जनक कहने लगे, एक ही दिखाई पड़ता है। मैं उसी एक में लीन हो गया हूं। वह एक मुझमें लीन हो गया है।

वेद यह कहते हैं
जो इन्सां त्यागी, यानी संन्यासी है
वेदों से भी है बलातर
उसकी जगमग जग से बढ़कर
वह बसता है जगदीश्वर में
उसमें बसता है जगदीश्वर!
वेद यह कहते हैं
जो इन्सां त्यागी, यानी संन्यासी है
वेदों से भी है बलातर
--वेदों से भी श्रेष्ठ है। क्योंकि:
उसमें बसता है जगदीश्वर
वह बसता है जगदीश्वर में!

उस घड़ी जनक की चेतना अलग न रही, एक होने लगी। चौंक गए हैं स्वयं।

"जैसे विचार करने से वस्त्र तंतुमात्र ही होता है, वैसे ही विचार करने से यह संसार आत्म-सत्ता मात्र ही है।"

जाग कर देखने से, विवेक करने से, बोधपूर्वक देखने से...। जैसे गौर से तुम वस्त्र को देखो तो पाओगे क्या? तंतुओं का जाल ही पाओगे। एक धागा आड़ा, एक धागा सीधा--ऐसे ही रख-रख कर वस्त्र बन जाता है। तंतुओं का जाल है वस्त्र। फिर भी देखो मजा, तंतुओं को पहन न सकोगे, वस्त्र को पहन लेते हो! अगर धागे का ढेर रख दिया जाए तो उसे पहन न सकोगे। यद्यपि वस्त्र भी धागे का ढेर ही है, सिर्फ आयोजन का अंतर है; आड़ा-तिरछा, धागे की बुनावट है, तो वस्त्र बन गया। तो वस्त्र से तुम ढांक लेते हो अपने को। लेकिन इससे क्या फर्क पड़ा? धागे ही रहे। कैसे तुमने रखे, इससे क्या फर्क पड़ता है?

जनक कह रहे हैं कि परमात्मा कहीं हरा हो कर वृक्ष है, कहीं लाल सुर्ख हो कर गुलाब का फूल है; कहीं जल है, कहीं पहाड़-पर्वत है; कहीं चांदत्तारा है। ये सब उसी के चैतन्य की अलग-अलग संघटनाएं हैं। जैसे वस्त्र को धागे से बुना जाता, फिर उससे ही तुम अनेक तरह के वस्त्र बुन लेते हो: गर्मी में पहनने के लिए झीने-पतले; सर्दी में पहनने के लिए मोटे। फिर उससे ही तुम सुंदर-असुंदर, गरीब के अमीर के, सब तरह के वस्त्र बुन लेते हो। उससे ही तुम हजार-हजार रूप के निर्माण कर लेते हो।

वैज्ञानिक कहते हैं कि सारा अस्तित्व एक ही ऊर्जा से बना है। उनका नाम है ऊर्जा के लिए "विद्युत"। नाम से क्या फर्क पड़ता है? लेकिन एक बात से वैज्ञानिक राजी हैं कि सारा अस्तित्व एक ही चीज से बना है। उसी एक चीज के अलग-अलग ढांचे हैं। जैसे सोने के बहुत-से आभूषण, सभी सोने के बने हैं--गला दो तो सोना बचे। आकार बड़े भिन्न, लेकिन आकार जिस पर खड़ा है वह अभिन्न।

यद्वत् पटः तंतुमात्रं

--जैसे वस्त्र केवल तंतुमात्र हैं।

इदं विवम् आत्मतन्मात्रम्

--ऐसा ही यह सारा अस्तित्व भी आत्मा-रूपी तत्व से बुना गया है।

और निश्चित ही विद्युत कहने से आत्मा कहना बेहतर है। क्योंकि विद्युत जड़ है। और विद्युत से चैतन्य के उत्पन्न होने की कोई संभावना नहीं है। और अगर विद्युत से चैतन्य होने की संभावना है तो फिर विद्युत को विद्युत कहना व्यर्थ है। क्योंकि जो पैदा हो सकता है, वह छिपा होना चाहिए। चैतन्य दिखाई पड़ रहा है। चैतन्य प्रगट हुआ है। तो जो प्रगट हुआ है वह मूल में भी होना ही चाहिए, अन्यथा प्रगट कैसे होगा? तुमने आम का बीज बोया, आम का वृक्ष प्रगट हुआ; उसमें आम लग गए। तुमने नीम का बीज बोया, नीम प्रगट हुई; उसमें निमोलियां लग गईं।

जो बीज में है, वही प्रगट होता है, वही लगता है। इतना चैतन्य दिखाई पड़ता है दुनिया में, इतनी चेतना दिखाई पड़ती है, विभिन्न चेतना के रूप दिखाई पड़ते हैं--तो जो मूल संघट है इस अस्तित्व का, उसमें चैतन्य छुपा होना चाहिए। इसलिए विद्युत कहना उचित नहीं, आत्मा कहना ज्यादा उचित है। आत्म-विद्युत कहो, मगर चैतन्य को वहां डालना ही होगा। जो दिखाई पड़ने लगा है, वह आया है तो मूल में छिपा रहा होगा।

"जैसे विचार करने से वस्त्र तंतुमात्र ही होता है, वैसे ही विचार करने से यह संसार आत्म-मात्र है।"

"जैसे ईख के रस से बनी हुई शक्कर ईख के रस से व्याप्त है, वैसे ही मुझसे बना हुआ संसार मुझसे भी व्याप्त है।"

जैसे तुमने ईख से शक्कर निकाल ली तो शक्कर में ईख का रस व्याप्त है, ऐसे ही चैतन्य में परमात्मा व्याप्त है, मुझमें परमात्मा व्याप्त है, तुममें परमात्मा व्याप्त है, और तुम परमात्मा में व्याप्त हो।

"आत्मा के अज्ञान से संसार भासता है...!"

इसे समझना। यह बहुत महत्वपूर्ण है।

"आत्मा के अज्ञान से संसार भासता है और आत्मा के ज्ञान से नहीं भासता...।"

गैस्टॉल्ट बदल जाता है, देखने का ढंग बदल जाता है।

"...जैसे कि रस्सी के अज्ञान से सांप भासता है और उसके ज्ञान से वह नहीं भासता है।"

रात के अंधेरे में देख ली रस्सी, घबड़ा गए, समझा कि सांप है। भागने लगे, लकड़ियां ले कर मारने लगे। फिर कोई दीया ले आया, तो लकड़ियां हाथ से गिर जाएंगी, भय विसर्जित हो जाएगा। प्रकाश में दिखाई पड़ गया: सांप नहीं है, रस्सी है। रस्सी को रस्सी की तरह न देख पाने के कारण सांप था। सांप था नहीं--सिर्फ आभास था।

आत्मा को आत्मा की तरह न देख पाने के कारण संसार है। जिसने स्वयं को जाना, उसका संसार मिट गया। इसका यह अर्थ नहीं कि द्वार-दरवाजे, दीवाल, पहाड़-पत्थर खो जाएंगे। न, ये सब होंगे; लेकिन ये सब एक में ही लीन हो जाएंगे। ये एक की ही विभिन्न तरंगें होंगी, फेन, बुदबुदे!

जिसने स्वयं को जाना, उसका संसार समाप्त हुआ। और जिसने स्वयं को नहीं जाना, उसका संसार कभी समाप्त नहीं होता। संसार छोड़ने से तुम स्वयं को न जान सकोगे। लेकिन स्वयं को जान लो तो संसार छूट गया।

त्याग की दो धाराएं हैं। एक धारा है जो कहती है कि संसार को छोड़ो तो तुम स्वयं को जान सकोगे। दूसरी धारा है, जो कहती है: स्वयं को जान लो, संसार छूटा ही है। पहली धारा भ्रांत है। संसार को छोड़ने से नहीं तुम स्वयं को जान सकोगे। क्योंकि संसार के छोड़ने में भी संसार के होने का भ्रम बना रहता है।

समझो थोड़ा। रस्सी पड़ी है, सांप दिखाई पड़ा। कोई तुमसे मिलता है, वह कहता है: तुम सांप का भाव छोड़ दो तो तुम्हें रस्सी दिखाई पड़ जाएगी। तुम कहोगे: "सांप का भाव छोड़ कैसे दें? सांप दिखाई पड़ रहा है, रस्सी तो दिखाई पड़ती नहीं।" तो तुम अगर हिम्मत करके, राम-राम जप कर किसी तरह अकड़ कर खड़े हो जाओ कि चलो नहीं सांप है, रस्सी है, रस्सी है, रस्सी है, तो भी तुम्हारे भीतर तो तुम जानोगे सांप ही है, किसको झुठला रहे हो? पास मत चले जाना, कोई झंझट न हो जाए! भागते तो तुम चले ही जाओगे। तुम कहोगे, रस्सी है। माना कि रस्सी है, मगर पास क्यों जाएं?

अब जो आदमी संसार छोड़ कर भागता है--वह कहता है, संसार माया है, फिर भी भागता है। थोड़ा उससे पूछो कि अगर माया है तो भाग क्यों रहे हो? अगर है ही नहीं तो भाग कहां रहे हो? किसको छोड़ कर जा रहे हो? वह कहता है, धन तो मिट्टी है। तो फिर धन से इतने घबड़ाए क्यों हो? फिर इतने भयभीत क्यों हो रहे हो? अगर धन मिट्टी है तो मिट्टी से तो तुम भयभीत नहीं होते! तो धन से क्यों भयभीत हो रहे हो? मिट्टी है, अगर दिखाई ही पड़ गया, तो बात ठीक है; धन पड़ा रहे तो ठीक, न पड़ा रहे तो ठीक। कभी मिट्टी की जरूरत होती है तो आदमी मिट्टी का भी उपयोग करता है; धन की जरूरत हुई, धन का उपयोग कर लेता है। लेकिन अब यह सब स्वप्नवत है, खेल जैसा है।

दूसरी धारा ज्यादा गहरी और सत्य के करीब है कि तुम दीया जलाओ और रस्सी को रस्सी की भांति देख लो, तो संसार गया, सांप गया।

"आत्मा के अज्ञान से संसार भासता है और आत्मा के ज्ञान से नहीं भासता है।"

आत्मा को देख लो, संसार नहीं दिखाई पड़ता। संसार को देखो, आत्मा नहीं दिखाई पड़ती। दो में से एक ही दिखाई पड़ता है, दोनों साथ-साथ दिखाई नहीं पड़ते। अगर तुम्हें संसार दिखाई पड़ रहा है तो आत्मा दिखाई नहीं पड़ेगी। आत्मा दिखाई पड़ने लगे, संसार दिखाई नहीं पड़ेगा। इन दोनों को साथ-साथ देखने का कोई भी उपाय नहीं है।

यह तो ऐसे ही है कि जैसे तुम कमरे में बैठे हो, अंधेरा अंधेरा दिखाई पड़ रहा है। फिर तुम रोशनी ले आओ कि जरा अंधेरे को गौर से देखें, रोशनी में देखें तो और साफ दिखाई पड़ेगा। फिर कुछ भी दिखाई न पड़ेगा। रोशनी ले आए तो अंधेरा दिखाई ही न पड़ेगा। अगर अंधेरा देखना हो तो रोशनी भूल कर मत लाना। अगर अंधेरा न देखना हो तो रोशनी लाना। क्योंकि अंधेरा और रोशनी साथ-साथ दिखाई नहीं पड़ सकते। क्यों

नहीं दिखाई पड़ते साथ-साथ? क्योंकि अंधेरा रोशनी का अभाव है। जब रोशनी का भाव हो जाता है तो अभाव साथ-साथ कैसे होगा?

संसार आत्मज्ञान का अभाव है। जब आत्मज्ञान का उदय होगा तो संसार गया। सब जहां का तहां रहता है और फिर भी कुछ वैसा का वैसा नहीं रह जाता। सब जहां का तहां--और सब रूपांतरित हो जाता है।

मुझसे लोग पूछते हैं कि आप संन्यास देते हैं, लेकिन लोगों को कहते नहीं कि घर छोड़ें, पत्नी छोड़ें, बच्चे छोड़ें। मैं कहता हूं कि मैं उनको यह नहीं कहता कि छोड़ें; मैं उनको इतना ही कहता कि आत्मवत हों, आत्मवान हों, ताकि दिखाई पड़ने लगे कि जो है वह है। जो है, उसे छोड़ा नहीं जा सकता। जो नहीं है, उसे छोड़ने की कोई जरूरत नहीं है।

हम जो देखना चाहें देख लेते हैं।

अदालत में एक मुकदमा था। मजिस्ट्रेट ने पूछा, मुल्ला नसरुद्दीन को, इन एक जैसी सैकड़ों भैंसों में से, तुमने अपनी ही भैंस को किस तरह पहचान लिया?

नसरुद्दीन बोला, यह कौन-सी बड़ी बात है मालिक! आपकी कचहरी में काले कोट पहने सैकड़ों वकील खड़े हैं, फिर भी मैं अपने वकील को पहचान ही रहा हूं कि नहीं?

कहने लगा, जिसको हम पहचानना चाहते हैं, पहचान ही लेते हैं। अपनी भैंस भी पहचान लेता है आदमी; क्योंकि एक ही जैसी भैंसें हैं--वकीलों जैसी!

जो हम जानना चाहते हैं, उसे हम जान ही लेते हैं। जो हम पहचानना चाहते हैं उसे हम पहचान ही लेते हैं। हमारा अभिप्राय ही हमारे जीवन की सार्थकता बन जाता है। इस संसार से जागना हो तो संसार से जूझना मत। इस संसार से जागना हो तो सिर्फ भीतर जागने की कोशिश करना।

मुल्ला नसरुद्दीन और उसकी पत्नी अपनी गोद में एक खेलते हुए बच्चे को ले कर नृत्य का एक कार्यक्रम देखने गए। दरबान ने उन्हें चेतावनी दी कि नसरुद्दीन, यदि नृत्य के दौरान बच्चा रोया तो तुम्हें हाल से उठ जाना पड़ेगा। और यदि चाहोगे तो तुम्हारी टिकटों के दाम भी हम लौटा देंगे, मगर फिर बैठने न देंगे, तो खयाल रखना। लगभग आधा कार्यक्रम पूरा हो जाने के बाद नसरुद्दीन ने पत्नी से पूछा, नृत्य कैसा लग रहा है?

एकदम बेकार है! श्रीमती ने उत्तर दिया।

तो उसने कहा, फिर देर क्या कर रही हो, काटो एक चुटकी बेबी को।

जब तुम संसार को बिलकुल बेकार जान लो तो देर मत करना। काटना एक चुटकी। भीतर झकझोरना अपने को, जगाना अपने को। अपनी जाग से सब हो जाता है। जागरण महामंत्र है-- एकमात्र मंत्र!

हरि ॐ तत्सत्!

आठवां प्रवचन

नियंता नहीं -- साक्षी बनो

पहला प्रश्न: मुझे लगता है कि मेरा शरीर एक पिंजड़े या बोतल जैसा है, जिसमें एक बड़ा शक्तिशाली सिंह कैद है, और वह जन्मों- जन्मों से सोया हुआ था, लेकिन आपके छेड़ने से वह जाग गया है। वह भूखा है और पिंजरे से मुक्त होने के लिए बड़ा बेचैन है। दिन में अनेक बार वह बौखला कर हुंकार मारता, गर्जन करता, और ऊपर की ओर उछलता है। उसकी हुंकार, गर्जन, और ऊपर की ओर उछलने के धक्के से मेरा रोआं-रोआं कंप जाता है, और माथे व सिर का ऊपरी हिस्सा ऊर्जा से फटने लगता है। इसके बाद मैं एक अजीब नशे व मस्ती में डूब जाता हूं। फिर वह सिंह जरा शांत होकर कसमसाता, चहलकदमी करता व गुर्राता रहता है। और फिर कीर्तन में या आपके स्मरण से वह मस्त हो कर नाचता भी है! अनुकंपा करके समझायें कि यह क्या हो रहा है?

पूछा है "योग चिन्मय" ने।

शुभ हो रहा है! जैसा होना चाहिए, वैसा हो रहा है। इससे भयभीत मत होना। इसे होने देना। इसके साथ सहयोग करना। एक अनूठी प्रक्रिया शुरू हुई है, जिसका अंतिम परिणाम मुक्ति है।

हम निश्चित ही शरीर में कैद हैं। सिंह पिंजड़े में बंद है! बहुत समय से बंद है, इसलिए सिंह भूल ही गया है अपनी गर्जना को। बहुत समय से बंद है, और सिंह सोचने लगा है कि यह पिंजड़ा ही उसका घर है। इतना ही नहीं, सोचने लगा है कि मैं पिंजड़ा ही हूं। देहोऽहम्! मैं शरीर ही हूं!

चोट करनी है! उसी के लिए तुम मेरे पास हो कि मैं चोट करूं और तुम जगो।

ये वचन जो मैं तुमसे बोल रहा हूं, सिर्फ वचन नहीं हैं; इन्हें तीर समझना; ये छेदेंगे तुम्हें। कभी तुम नारज भी हो जाओगे मुझ पर, क्योंकि सब शांत चल रहा था, सुविधापूर्ण था, और बेचैनी खड़ी हो गई। लेकिन जागने का और कोई उपाय नहीं; पीड़ा से गुजरना होगा।

जब भीतर की ऊर्जा उठेगी, तो शरीर राजी नहीं होता उसे झेलने को; शरीर उसे झेलने को बना नहीं है। शरीर की सामर्थ्य बड़ी छोटी है; ऊर्जा विराट है। जैसे कोई किसी छोटे आंगन में पूरे आकाश को बंद करना चाहे।

तो जब ऊर्जा जगेगी, तो शरीर में कई उत्पात शुरू होंगे। सिर फटेगा। कभी-कभी तो ऐसा होता है कि पूर्ण ज्ञान के बाद भी शरीर में उत्पात जारी रहते हैं। ज्ञान की घटना के पहले तो बिलकुल स्वाभाविक हैं, क्योंकि शरीर राजी नहीं है। जैसे जिस बिजली के तार में सौ कैंडल की बिजली दौड़ाने की क्षमता हो, उसमें हजार कैंडल की बिजली दौड़ा दो, तो तार झनझना जायेगा, जल उठेगा! ऐसे ही जब तुम्हारे भीतर ऊर्जा जगेगी--जो सोयी पड़ी थी--प्रगट होगी, तो तुम्हारा शरीर उसके लिए राजी नहीं है। शरीर तुम्हारा भिखमंगा होने के लिए राजी है, सम्राट होने को राजी नहीं है। शरीर की सीमा है, तुम्हारी कोई सीमा नहीं है। झकझोरे लगेंगे, आंधियां उठेंगी। ज्ञान की घटना के पहले, समाधि के पहले तो ये झकझोरे बिलकुल स्वाभाविक हैं। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि समाधि भी घट जाती है, और झकझोरे जारी रहते हैं, आंधी जारी रहती है; क्योंकि शरीर राजी नहीं हो पाता।

कृष्णमूर्ति के मामले में ऐसा ही हुआ है। चालीस साल से, परमज्ञान की उपलब्धि के बाद भी प्रक्रिया जारी है, शरीर झटके झेल नहीं पाता। कृष्णमूर्ति आधी रात में चिल्ला कर, चीख कर, उठ आते हैं; गुर्राने लगते

हैं--वस्तुतः गुर्राने लगते हैं। और सिर में चालीस साल से दर्द बना हुआ है, जो जाता नहीं; आता है, जाता है, लेकिन पूरी तरह जाता नहीं। दर्द कभी इतना प्रगाढ़ हो जाता है कि सिर फटने लगता है।

कृष्णमूर्ति के पिछले चालीस वर्ष शरीर की दृष्टि से बड़े कष्ट के रहे। ऐसा कभी-कभी होता है। अक्सर तो समाधि के साथ-साथ शरीर राजी हो जाता है। लेकिन कृष्णमूर्ति के साथ इसलिए नहीं हो पाया शांत, क्योंकि समाधि के लिए बड़ी चेष्टा की गई। थियोसाफी के जिन विचारकों ने कृष्णमूर्ति को बड़ा किया, उन्होंने बड़ा प्रयास किया, समाधि को लाने के लिए बड़ी अथक चेष्टा की। उनकी आकांक्षा थी कि एक जगतगुरु को वे पैदा करें; जगत को जरूरत है--कोई बुद्धावतार पैदा हो।

कृष्णमूर्ति ने अगर अपनी ही चेष्टा से काम किया होता तो शायद उन्हें एकाध-दो जन्म और लग जाते। लेकिन तब यह अड़चन न होती। त्वरा के साथ काम किया गया; जो दो जन्मों में होना चाहिए था, वह शीघ्रता से घट गया। घट तो गया, लेकिन शरीर राजी नहीं हो पाया। आकस्मिक घट गया; शरीर तैयार न था, और घट गया। तो चालीस वर्ष शारीरिक पीड़ा के रहे। आज भी कृष्णमूर्ति रात गुर्राते हैं, नींद से उठ-उठ आते हैं। ऊर्जा सोने नहीं देती। चीखते हैं!

यह थोड़ी हैरानी की बात मालूम होगी कि परमज्ञान को उपलब्ध व्यक्ति रात को चीखे! लेकिन पूरा गणित साफ है। जिस घटना को घटने में दो जन्म कम से कम लगते, वह बड़ी शीघ्रता से घटा ली गई। उसके लिए शरीर तैयार नहीं हो पाया था, इसलिए प्रक्रिया अभी भी जारी है। घटना घट गई, और तैयारी जारी है। घर पहुंच गये, और शरीर पीछे रह गया है। वह अभी भी घिसट रहा है। आत्मा घर पहुंच गई, शरीर घर नहीं पहुंचा है। वह जो घिसटन है, वह जारी है; उससे दर्द है, पीड़ा है।

तो इससे घबड़ाना मत। ये समाधि के आने की पहली खबरें हैं। ये समाधि के पहले चरण हैं। इन्हें सौभाग्य मानना, इनसे राजी हो जाना। इन्हें सौभाग्य मान कर राजी हो जाओगे तो शीघ्र ये धीरे-धीरे शांत हो जायेंगे। और जैसे-जैसे शरीर इनके लिए राजी होने लगेगा, सहयोग करने लगेगा, वैसे-वैसे शरीर की पात्रता और क्षमता बढ़ जायेगी।

उस असीम को पुकारा है, तो असीम बनना होगा। उस विराट को चुनौती दी है, तो विराट बनना होगा।

पुरानी बाइबिल में बड़ी अनूठी कथा है--जैकब की। जैकब ईश्वर की खोज करने में लगा है। उसने अपनी सारी संपत्ति बेच दी; अपने सारे प्रियजनों, अपनी पत्नी, अपने बच्चे, अपने नौकर, सबको अपने से दूर भेज दिया। वह एकांत नदी तट पर ईश्वर की प्रतीक्षा कर रहा है। ईश्वर का आगमन हुआ।

लेकिन घटना बड़ी अदभुत है, कि जैकब ईश्वर से कुश्ती करने लगा! अब ईश्वर से कोई कुश्ती करता है! लेकिन जैकब ईश्वर से उलझने लगा। कहते हैं, रात भर दोनों लड़ते रहे। सुबह होते-होते, भोर होते-होते, जैकब हार पाया। जब ईश्वर जाने लगे, तो जैकब ने ईश्वर के पैर पकड़ लिए और कहा, "अब मुझे आशीर्वाद तो दे दो!" ईश्वर ने कहा, "तेरा नाम क्या है?" तो जैकब ने अपना नाम बताया, कहा, "मेरा नाम जैकब है।" ईश्वर ने कहा, "आज से तू इजरायल हुआ"--जिस नाम से यहूदी जाने जाते हैं--"आज से तू इजरायल। अब तू जैकब न रहा; जैकब मर गया।" जैसे मैं तुम्हारा नाम बदल देता हूं, जब संन्यास देता हूं। पुराना गया!

ईश्वर ने जैकब को कहा, "जैकब मर गया; अब से तू इजरायल है।"

यह कहानी पुरानी बाइबिल में है। ऐसी कहानी कहीं भी नहीं कि कोई आदमी ईश्वर से लड़ा हो। लेकिन इस कहानी में बड़ी सचाई है। जब वह परम-ऊर्जा उतरती है तो करीब-करीब जो घटना घटती है वह लड़ाई जैसी ही है। और जब वह परम घटना घट जाती है और तुम ईश्वर से हार जाते हो और तुम्हारा शरीर पस्त हो जाता है और तुम हार स्वीकार कर लेते हो--तो तुम्हारी परम-दीक्षा हुई! उसी घड़ी ईश्वर का आशीर्वाद बरसता है। तब तुम नये हुए। तभी तुमने पहली बार अमृत का स्वाद चखा।

तो "योग चिन्मय" करीब-करीब वहां हैं, जहां जैकब रहा होगा। रात कितनी बड़ी होगी, कहना कठिन है। संघर्ष कितना होगा, कहना कठिन है। कोई भविष्यवाणी नहीं की जा सकती। लेकिन शुभ है संघर्ष।

इस ऊर्जा को सहारा देना। यह जो सिंह भीतर मुक्त होना चाहता है, यही तुम हो। यह जो ऊर्जा उठना चाहती है सिर की तरफ, काम-केंद्र से सहस्रार की तरफ जाना चाहती है, राह बनाना चाहती है--यही तुम हो। यह जन्मों-जन्मों से कुंडली मार कर पड़ी थी; अब यह फन उठाना शुरू कर रही है। सौभाग्यशाली हो, धन्यभागी हो! इसी से परम आशीर्वाद के करीब आओगे! तुम्हारा वास्तविक रूपांतरण होगा!

कृष्णमूर्ति ने अपनी नोटबुक में लिखा है, कि जब भी यह सिर फटता है और रात मैं सो नहीं पाता और चीख-पुकार उठती है, और कोई मेरे भीतर गुर्राता है--उसके बाद ही बड़े अनूठे अनुभव घटते हैं। उसके बाद ही बड़ी शांति उतरती है। चारों तरफ वरदान की वर्षा होती है। सब तरफ कमल ही कमल खिल जाते हैं।

ठीक वैसा ही "चिन्मय" को होना शुरू हुआ, अच्छा है।

"इसके बाद मैं एक अजीब नशे और मस्ती में डूब जाता हूं।"

क्योंकि जब ऊर्जा अपना संघर्ष करके ऊपर उठेगी और शरीर थोड़ा-सा राजी होगा, तो एक नई मस्ती आयेगी: विकास हुआ! तुम थोड़े ऊपर उठे। तुमने थोड़ा अतिक्रमण किया। तुम कारागृह के थोड़े-से बाहर हुए, स्वतंत्र आकाश मिला! तुम प्रफुल्लित होओगे। तुम नाचोगे, तुम मगन हो कर नाचोगे!

"फिर वह सिंह शांत होकर कसमसाता, चहलकदमी करता, गुर्राता रहता है, और कीर्तन में या आपके स्मरण से मस्त होकर नाचता भी है।"

वह सिंह नाचना ही चाहता है; शरीर में जगह नहीं है नाचने लायक। नाचने को स्थान तो चाहिये; शरीर में स्थान कहां है? शरीर के बाहर ही नृत्य हो सकता है। इसलिये अगर तुम ठीक से नाचोगे, तो तुम पाओगे कि तुम शरीर नहीं रहे। नाच की आखिरी गरिमा में, आखिरी ऊंचाई पर, तुम शरीर के बाहर हो जाते हो। शरीर फिरकता रहता, थिरकता रहता; लेकिन तुम बाहर होते हो, तुम भीतर नहीं होते।

इसलिए तो मैं ध्यान की प्रक्रियाओं में नृत्य को अनिवार्य रूप से जोड़ दिया हूं; क्योंकि नृत्य से अदभुत ध्यान के लिए और कोई प्रक्रिया नहीं है। अगर तुम भरपूर नाच लो, अगर तुम समग्ररूप से नाच लो, तो उस नाच में तुम्हारी आत्मा शरीर के बाहर हो जाएगी। शरीर थिरकता रहेगा, लेकिन तुम अनुभव करोगे कि तुम शरीर के बाहर हो। और तब तुम्हारा असली नृत्य शुरू होगा: यहां शरीर नीचे नाचता रहेगा, तुम वहां ऊपर नाचोगे। शरीर पृथ्वी पर, तुम आकाश पर! शरीर पार्थिव में, तुम अपार्थिव में! शरीर जड़ नृत्य करेगा, तुम चैतन्य का नृत्य करोगे। तुम नटराज हो जाओगे।

पूछा है, "समझायें यह क्या हो रहा है?"

अनूठा हो रहा है! अदभुत हो रहा है! अपूर्व हो रहा है! समझाने योग्य नहीं है, जो हो रहा है: अनुभव करने योग्य है। जो भी मैं कहूंगा, उससे कुछ समझ में नहीं आयेगा; उससे इतना ही हो सकता है कि तुम ज्यादा सरलता से इसे स्वीकार करने में समर्थ हो जाओ। इससे राजी हो जाओ। इसे दबाना मत!

स्वाभाविक मन होता है दबाने का, कि यह क्या पागलपन है कि मैं सिंह की तरह गुर्रा रहा हूं! यह गर्जना कैसी! लोग पागल समझेंगे! तो स्वाभाविक मन होता है कि दबा लो इसे, छिपा लो इसे! मत किसी को पता चलने दो! कोई क्या कहेगा!

फिक्र मत करना! कौन क्या कहता है, इसकी फिक्र मत करना। लोग पागल कहें तो पागल हो जाना! पागल हुए बिना कभी कोई परमहंस हुआ है? तुम तो अपने भीतर पर ध्यान देना। अगर इससे आनंद आ रहा है, मस्ती आ रही है, सुरा बरस रही है, तो तुम फिक्र मत करना। इस संसार के पास कुछ भी नहीं है! इतना मूल्यवान तुम्हें देने को। इसलिए इस संसार से कोई सौदा मत करना। इंच भर भी आत्मा मत बेचना, अगर पूरे जगत का साम्राज्य भी बदले में मिलता हो।

जीसस ने कहा है, पूरा जगत भी मिल जाये, और आत्मा खो जाये, तो क्या सार? आत्मा बच जाये, और सारा जगत भी खो जाये, तो भी सार ही सार है।

हिम्मत रखना! साहस रखना! भरोसे से, श्रद्धा से बढ़े जाना! जल्दी ही धीरे-धीरे करके शरीर राजी हो जायेगा। तब गर्जना भी खो जायेगी; तब नृत्य ही रह जायेगा। तब सिंह तड़फेगा नहीं, क्योंकि सिंह को रास्ता मिल जायेगा; जब जाना चाहे बाहर चला जाये, जब आना चाहे तब भीतर आ जाये। तब यह देह कारागृह नहीं रह जाती, तब यह देह विश्राम का स्थल हो जाती है। तुम जब आना हो भीतर आ जाओ, जब तुम जाना हो बाहर चले जाओ।

जब तुम इतनी सरलता से बाहर-भीतर आ सकते हो, जैसे अपने घर में आते-जाते हो--सर्दी है, शीत लग रही, तो तुम बाहर चले जाते हो, धूप में बैठ जाते हो। फिर धूप बढ़ गई, सूरज चढ़ आया, गरमी होने लगी, पसीना बहने लगा--तुम उठ कर भीतर चले आते हो। जैसे तुम अपने घर में बाहर-भीतर आते हो, तो घर कारागृह नहीं है--ऐसा अगर तुम कारागृह में बैठे हो, तो इतनी सुविधा नहीं है कि जब तुम्हारा दिल हो बाहर आ जाओ, जब तुम्हारा दिल हो भीतर आ जाओ। कारागृह में तुम बंदी हो, घर में तुम मालिक हो। जैसे-जैसे तुम्हारा सिंह नाच सकेगा बाहर, उड़ सकेगा आकाश में, चांदत्तारों के साथ खेल सकेगा--फिर कोई बात नहीं। फिर शरीर से कोई झगड़ा नहीं है; फिर शरीर विश्राम का स्थल है। जब थक जायेगा, तुम भीतर लौट कर विश्राम भी करोगे। फिर शरीर से कोई दुश्मनी भी नहीं है। शरीर फिर मंदिर है।

दूसरा प्रश्न: कल आपने कहा कि आप तो सदा हमारे साथ हैं, लेकिन हमारे संन्यास लेने से हम भी आपके साथ हो लेते हैं। मुझे तो ऐसा कोई क्षण स्मरण नहीं आता, जब मैंने संन्यास लिया हो: कब लिया, कहां लिया! आपने ही दिया था। मैं आप तक पहुंचा कहां हूं अभी! मुझे तब कुछ पता न था संन्यास का, और न आज ही है। तो कैसे होऊं संन्यस्त, प्रभु? कैसे आऊं मैं आप तक? मेरी उतनी पात्रता कहां! मेरी उतनी श्रद्धा व समर्पण कहां!

ऐसा भी बहुत बार हुआ है कि मैंने संन्यास उनको भी दिया है, जिन्हें संन्यास का कोई भी पता नहीं। उन्हें भी संन्यास दिया है, जो संन्यास लेने आये नहीं थे। उन्हें भी संन्यास दिया है, जिन्होंने कभी स्वप्न में भी संन्यास के लिए नहीं सोचा था। क्योंकि तुम्हारे मन को ही मैं नहीं देखता, तुम्हारे मन के अचेतन में दबी हुई बहुत-सी बातों को देखता हूं।

कल रात्रि ही एक युवती आई। उससे मैंने पूछा भी नहीं। उससे मैंने कहा, "आंख बंद कर और संन्यास ले।" उससे मैंने पूछा भी नहीं कि तू संन्यास चाहती है? उसने आंख बंद कर ली, और संन्यास स्वीकार कर लिया। अन्यथा आदमी चौंकता है। आदमी सोचता है! संन्यास लेना है तो महीनों सोचते हैं कुछ लोग, वर्षों सोचते हैं। कुछ तो सोचते-सोचते मर गये और नहीं ले पाये। उसने चुपचाप स्वीकार कर लिया। उसे चेतन रूप से कुछ भी पता नहीं है।

लेकिन हम नये थोड़े ही हैं--हम अति प्राचीन हैं! वह युवती बहुत जन्मों से खोजती रही है। ध्यान की उसके पास संपदा है। उस संपदा को देख कर ही मैंने कहा कि तू डूब, आंख बंद कर! उससे मैंने कहा, तुझसे मैं पूछूंगा नहीं कि तुझे संन्यास लेना या नहीं। पूछने की कोई जरूरत नहीं है।

ऐसा ही मैंने "दयाल" को भी संन्यास दिया था। दयाल का यह प्रश्न है। दयाल से पूछा नहीं है, दयाल को पता भी नहीं है।

तुम्हें अपना ही पता कहां है! तुम कहां से आते हो, पता नहीं। क्या-क्या संचित संपदा लाते हो, पता नहीं। क्या-क्या तुमने किया है अनेक-अनेक जन्मों में, उसका तुम्हें पता नहीं। क्या-क्या तुमने खोज लिया था, क्या-क्या अधूरा रह गया है, उसका तुम्हें कुछ पता नहीं। हर बार मौत आती है, और तुमने जो किया था, सब चौपट

कर जाती है। तुममें से बहुत ऐसे हैं, जो बहुत बार संन्यस्त हो चुके हैं--हर बार मौत आ कर चौपट कर गई। और तुम्हारी इतनी स्मृति नहीं है कि तुम याद कर लो।

ऐसा ही समझो कि तुम एक काम कर रहे थे, तुम एक चित्र बना रहे थे, अधूरा बना पाये थे कि मौत आ गई। बस मौत आ गई कि तुम भूल गए। फिर तुम जन्मे। फिर अगर तुम्हें वह अधूरे चित्र की सूचना भी मिल जाये, वह अधूरा चित्र भी तुम्हारे सामने ला कर रख दिया जाये, तो भी तुम्हें याद नहीं आता; क्योंकि तुमने तो सोचा ही नहीं इस जन्म में, कि मैं और चित्रकार! और अगर मैं तुमसे कहूं कि इसे पूरा कर लो, यह अधूरा पड़ा है; तुमने बड़ी आकांक्षा से बनाया था; तुमने बड़ी गहन अभीप्सा से रचा था--अब इसे पूरा कर लो, मौत बीच में आ गई थी, अधूरा छूट गया था। तुम कहोगे, "मुझे तो कुछ पता नहीं, आप पकड़ा देते हैं तूलिका तो ठीक है; लेकिन मुझे तूलिका पकड़ना भी नहीं आता है। आप रख देते हैं ये रंग, तो ठीक है रंग दूंगा; लेकिन मुझे कुछ पता नहीं कि चित्र कैसे बनाये जाते हैं।" फिर भी मैं तुमसे कहता हूं कि शुरू करो, शुरू करने से ही याद आ जायेगी। चलो, पकड़ो तूलिका हाथ में, याद आ जाये शायद!

ऐसा हुआ, दूसरे महायुद्ध में, एक सैनिक गिरा चोट खा कर, उसकी स्मृति खो गई गिरते ही। सिर पर चोट लगी, स्मृति के तंतु अस्तव्यस्त हो गये, वह भूल गया। वह भूल गया--अपना नाम भी! वह भूल गया मैं कौन हूं! और युद्ध के मैदान से जब वह लाया गया तो वह बेहोश था; कहीं उसका तगमा भी गिर गया, उसका नंबर भी गिर गया। बड़ी कठिनाई खड़ी हो गई। जब वह होश में आया तो न उसे अपना नंबर पता है, न अपना नाम पता है, न अपना ओहदा पता है। मनोवैज्ञानिकों ने बड़ी चेष्टा की खोज-बीन करने की; सब तरह के उपाय किये, कुछ पता न चले। वह आदमी बिलकुल कोरा हो गया; जैसे अचानक उसकी स्मृतियों से सारा संबंध टूट गया। फिर किसी ने सुझाव दिया कि अब एक ही उपाय है कि इसे इंग्लैंड में घुमाया जाये। वह इंग्लैंड की सेना का आदमी था। इसे इंग्लैंड में घुमाया जाए, शायद अपने गांव के पास पहुंच कर इसे याद आ जाये।

तो उसे इंग्लैंड में घुमाया गया ट्रेन पर बिठा कर; दो आदमी उसे ले कर चले। हर स्टेशन पर गाड़ी रुकती, वह उसे नीचे उतारते। वह देखता खड़े हो कर! वह थक गए। इंग्लैंड छोटा मुल्क है, इसलिए बहुत अड़चन न थी, सब जगह घुमा दिया। और अंततः एक छोटे-से स्टेशन पर, जहां गाड़ी रुकती भी नहीं थी, लेकिन किसी कारणवश रुक गई, वह आदमी नीचे उतरा, उसने स्टेशन पर लगी तख्ती देखी, उसने कहा, "अरे, यह रहा मेरा गांव!" वह दौड़ने लगा। वह पीछे भूल ही गया कि मेरे साथ दो आदमी हैं। वे दो आदमी उसके पीछे भागने लगे। वह स्टेशन से निकल कर गांव में दौड़ा। सब याद आ गया! गली-कूचे याद आ गये। उसने किसी से पूछा भी नहीं। गली-कूचों को पार करके वह अपने घर के सामने पहुंच गया। उसने कहा, "अरे! यह रहा मेरा घर, यह रहा मेरा नाम! यह मेरी तख्ती भी लगी है!" उसे सब याद आ गई। बस एक चोट पड़ी कि फिर उसे सारी याद आ गई। विस्मृति खो गई, स्मृति का तंतु फिर जुड़ गया।

तो कभी-कभी मैं, जैसे "दयाल" को संन्यास दिया, इसी आशा में कि घुमाऊंगा गेरुए वस्त्रों में, शायद याद आ जाये कि तुम पहले भी गेरुए वस्त्रों में घूमे हो! कि कहूंगा: नाचो! शायद नाचते-नाचते किसी दिन उस मनोअवस्था में पहुंच जाओ, जहां तुम्हें अतीत जन्मों के नृत्य याद आ जायें। कहूंगा: ध्यान करो! ध्यान करते-करते शायद अचेतन का कोई द्वार खुल जाये, स्मृतियों का बहाव आ जाये!

इसीलिए तो बोले चला जाता हूं--कभी गीता पर, कभी अष्टावक्र पर, कभी जरथुस्त्र पर, कभी बुद्ध पर, कभी जीसस पर, कभी कृष्ण पर! न-मालूम कौन-सा शब्द तुम्हारे भीतर गूंज बना दे; न-मालूम कौन-सा शब्द तुम्हारे भीतर कुंजी बन जाये; न-मालूम कौन-सा शब्द तुम्हें जगा दे तुम्हारी नींद से! सब उपाय किये चला जाता हूं। कोशिश सिर्फ इतनी है, कि किसी तरह मृत्युओं ने जो बीच-बीच में आ कर तोड़ दिया है और तुम्हारा जीवन अस्तव्यस्त हो गया है, उसमें एक सिलसिला पैदा हो जाये, उसमें एकतानता आ जाये, एकरसता आ

जाए। बस एकरसता आते ही तुम्हारी नियति करीब आने लगेगी। तुमने घर तो बहुत बार बनाया, अधूरा-अधूरा छूट गया।

इसलिए "दयाल" ठीक ही कहता है कि मुझे तो ऐसा कोई क्षण स्मरण नहीं आता जब मैंने संन्यास लिया हो। उसने लिया भी नहीं, मैंने दिया है।

"कब लिया, कहां लिया! आपने ही दिया था। मैं आप तक पहुंचा कहां हूं अभी!"

मुझ तक तो तुम तभी पहुंचोगे, जब तुम तुम तक पहुंच जाओगे। मुझ तक पहुंचने का और कोई उपाय भी नहीं। अपने तक पहुंच जाओ कि मुझ तक पहुंच गये। स्वयं को जान लो, तो मुझे जान लिया। मेरे पास आने के लिए बाहर की कोई यात्रा नहीं करनी है--अंतरतम, और अंतरतम में उतर जाना है।

"न मुझे तब कुछ पता था संन्यास का और न आज ही पता है।"

होगा, शीघ्र ही पता होगा। न तब पता था, न आज पता है--यह सच है। लेकिन यह मनोदशा अच्छी है कि तुम सोचते हो, जानते हो कि तुम्हें पता नहीं। दुर्भाग्य तो उनका है जिनको पता नहीं, और सोचते हैं कि पता है। तुम तो ठीक स्थिति में हो। यही तो निर्दोष चित्त की बात है कि मुझे पता नहीं है! तो तुम खाली हो, तो तुम्हें भरा जा सकता है। कुछ हैं जिन्हें कुछ भी पता नहीं है--और बहुत है उनकी संख्या--लेकिन सोचते हैं उन्हें पता है। इसी भ्रांति के कारण, पता हो सकता है, उससे भी वंचित रह जाते हैं।

ज्ञान रोक लेता है, ज्ञान तक जाने से। अगर तुम्हें पता है कि मैं अज्ञानी हूं, तो तुम ठीक दिशा में हो। ऐसी निर्दोषचित्तता में ही ज्ञान की परम घटना घटती है। यह जानना कि मैं नहीं जानता हूं, जानने की तरफ पहला कदम है।,

"मेरी पात्रता कहां! मेरी उतनी श्रद्धा और समर्पण कहां!"

यह पात्र व्यक्ति के हृदय में ही भाव उठता है कि मेरी पात्रता कहां! अपात्र तो समझते हैं, हम जैसा सुपात्र कहां! यह विनम्र भाव ही तो पात्रता है कि मेरी पात्रता कहां, कि मेरा समर्पण कहां, कि मेरी श्रद्धा कहां! यही तो श्रद्धा की सूचना है। बीज मौजूद हैं, बस समय की प्रतीक्षा है: ठीक अनुकूल समय पर, ठीक अनुकूल ऋतु में, अंकुरण होगा, क्रांति घटेगी।

और यह यात्रा तो अनूठी यात्रा है। यह यात्रा तो अपरिचित, अज्ञेय की यात्रा है।

मुसलसल खामोशी की ये पर्दापोशी,
अबस है कि अब राजदां हो गये हम।
सुकूं खो दिया हमने तेरे जुनूं में,
तेरे गम में शोला-बजां हो गये हम।
हुए इस तरह खम जमानों के हाथों,
कभी तीर थे, अब कमां हो गये हम।
न रहबर न कोई रफीके-सफर है,
ये किस रास्ते पर रवां हो गये हम।
हमें बेखुदी में बड़ा लुत्फ आया,
कि गुम हो के मंजिलनिशां हो गये हम।

यह मंजिल ऐसी है कि खो कर मिलती है। तुम जब तक हो, तब तक नहीं मिलेगी; तुम खोये कि मिलेगी।

हमें बेखुदी में बड़ा लुत्फ आया,

जहां तुम नहीं, जहां तुम्हारा अहंकार गया, जहां बेखुदी आई...।

हमें बेखुदी में बड़ा लुत्फ आया,

कि गुम हो के मंजिलनिशां हो गये हम।

कि खो कर और पहुंच गये! यह रास्ता मिटने का रास्ता है।

तो अगर तुम्हें लगता है, "मेरी समर्पण की पात्रता कहां?" तो मिटना शुरू हो गये, बेखुदी आने लगी। अगर तुम्हें लगता है कि "मेरी श्रद्धा कहां?" तो बेखुदी आने लगी, तुम मिटने लगे।

संन्यास यही है कि तुम मिट जाओ, ताकि परमात्मा हो सके।

न रहबर, न कोई रफीके-सफर है!

यह तो बड़ी अकेले की यात्रा है।

न रहबर, न कोई रफीके-सफर है!

न कोई साथी है, न कोई मार्गदर्शक है। अंततः तो गुरु भी छूट जाता है, क्योंकि वहां इतनी जगह भी कहां! प्रेम-गली अति सांकरी, तामें दो न समायें! वहां इतनी जगह कहां कि तीन बन सकें! दो भी नहीं बनते। तो शिष्य हो, गुरु हो, परमात्मा हो, तब तो तीन हो गए! वहां तो दो भी नहीं बनते। तो वहां गुरु भी छूट जाता है। वहां तुम भी छूट जाते; वहां परमात्मा ही बचता है।

न रहबर, न कोई रफीके-सफर है

ये किस रास्ते पर रवां हो गये हम।

संन्यास तो बड़ी अनजानी यात्रा है; बड़ी हिम्मत, बड़े साहस की यात्रा है! जो अनजान में उतरने का जोखिम ले सकते हैं--उनकी। यह होशियारों, हिसाब लगाने वालों का काम नहीं। यह कोई गणित नहीं है। यह तो प्रेम की छलांग है।

तीसरा प्रश्न: आपने कहा कि "तू अभी, यहीं, इसी क्षण मुक्त है"; लेकिन मैं इस "मैं" से कैसे मुक्त होऊं?

कैसे पूछा कि चूक गये; फिर समझे नहीं। यही तो अष्टावक्र का पूरा उपदेश है: अनुष्ठान...। "कैसे" यानी अनुष्ठान; "कैसे" यानी किस विधि से; विधि-विधान। "कैसे" पूछा कि चूक गये, फिर अष्टावक्र समझ में नहीं आयेंगे। फिर तुम पतंजलि के दरवाजे पर खटखटाओ, फिर वे बतायेंगे: "कैसे"। अगर "कैसे" में बहुत जिद है, तो पतंजलि तुम्हारे लिए मार्ग होंगे। वे तुम्हें बहुत-सा बतायेंगे कि करो यम, नियम, संयम, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि। वे इतना फैलायेंगे कि तुम भी कहोगे: महाराज, थोड़ा कम! कोई सरल तरकीब बता दें; यह तो बहुत बड़ा हो गया, इसमें तो जन्मों लग जायेंगे।

अधिक योगी तो यम ही साधते रहते हैं; नियम तक भी नहीं पहुंच पाते। अधिक योगी तो आसन ही साधते-साधते मर जाते हैं--कहां धारणा, कहां ध्यान! आसन ही इतने हैं; और आसन की ही साधना पूरी हो जाये तो कठिन मालूम होती है। बहुत खोज करने वाले ज्यादा-से-ज्यादा धारणा तक पहुंच पाते हैं। और घटना तो समाधि में घटेगी। और समाधि को भी पतंजलि दो में बांट देते हैं: सविकल्प समाधि; निर्विकल्प समाधि। वे बांटते चले जाते हैं, सीढ़ियां बनाते चले जाते हैं। वे जमीन से ले कर आकाश तक सीढ़ियां लगा देते हैं।

अगर तुम्हें "कैसे" में रुचि है--अनुष्ठान में--तो फिर तुम पतंजलि से पूछो। हालांकि आखिर में पतंजलि भी कहते हैं कि अब सब छोड़ो, बहुत हो गया "करना"। मगर कुछ लोग हैं जो बिना किये नहीं छोड़ सकते, तो करना पड़ेगा।

ऐसा ही समझो कि छोटा बच्चा है घर में, शोरगुल मचाता है, ऊधम करता है; तुम कहते हो, "बैठ शांत", तो वह बैठ भी जाता है तो भी उबलता है। हाथ-पैर उसके कंप रहे हैं, सिर हिला रहा है--वह कुछ करना चाहता है, उसके पास ऊर्जा है। यह कोई ढंग नहीं है उसको बिठाने का। इसमें तो खतरा है। इसमें तो विस्फोट होगा। इसमें तो वह कुछ न कुछ करेगा। बेहतर तो यह है कि उससे कहो कि जा, दौड़ कर जरा घर के सात चक्कर लगा

आ। फिर वह खुद ही हांफते हुए आ कर शांत बैठ जायेगा। फिर तुम्हें कहना न पड़ेगा, शांत हो जा। उसी कुर्सी पर शांत हो कर बैठ जायेगा, जिस पर पहले शांत नहीं बैठ पाता था।

पतंजलि उनके लिए हैं, जो सीधे शांत नहीं हो सकते। वे कहते हैं, सात चक्कर लगा आओ। दौड़-धूप कर लो काफी। शरीर को आड़ा-तिरछा करो, शीर्षासन करो, ऐसा करो, वैसा करो। कर-करके आखिर एक दिन तुम पूछते हो कि महाराज, अब करने से थक गये! वे कहते हैं, यह अगर तुम पहले ही कह देते, तो हम भी बचते, तुम भी बचते; अब तुम शांत हो कर बैठ जाओ!

आदमी करना चाहता है। क्योंकि बिना किए तुम्हारे तर्क में ही नहीं बैठता कि बिना किये कुछ हो सकता है! अष्टावक्र तुम्हारे तर्क के बाहर हैं। अष्टावक्र तो कहते हैं, तुम मुक्त हो! तुम फिर गलत समझे। तुम कहते हो, "तू अभी मुक्त, यहीं मुक्त"; लेकिन मैं इस "मैं" से कैसे मुक्त होऊं?"

अष्टावक्र यह कहते हैं कि यह "कैसे" की बात ही तब है, जब कोई मान ले कि मैं अमुक्त हूं। तो तुमने एक बात तो मान ही ली पहले ही कि मैं बंधन में हूं, अब कैसे मुक्त होऊं? अष्टावक्र कहते हैं: बंधन नहीं है--भ्रांति है बंधन की। तुम फिर कहोगे, इस भ्रांति से कैसे मुक्त होएं? तो भी तुम्हें समझ में न आया, क्योंकि भ्रांति का अर्थ ही होता है कि नहीं है, मुक्त क्या होना है? देखते ही, जागते ही--मुक्त हो।

अगर तरकीबों में पड़े, तो बड़ी मुश्किल में पड़ोगे।

हर तरकीब खोटी पड़ गई,

आखिर जिंदगी छोटी पड़ गई।

ऐसे अगर तरकीबों में पड़े तो तुम पाओगे कि एक जिंदगी क्या, अनेक जिंदगियां छोटी हैं। तरकीबें बहुत हैं। कितने-कितने जन्मों से तो तरकीबें साधते रहे! करने पर तुम्हारा भरोसा है, क्योंकि करने से अहंकार भरता है।

अष्टावक्र कह रहे हैं, कुछ करो मत। करने वाला परमात्मा है। जो हो रहा है, हो रहा है; तुम उसमें सम्मिलित हो जाओ। तुम इतना भी मत पूछो कि इस "मैं" से कैसे मुक्त होऊं? अगर यह "मैं" हो रहा है तो होने दो; तुम हो कौन, जो इससे मुक्त होने की चेष्टा करो? तुम इसे भी स्वीकार कर लेते हो कि ठीक है, अगर यह हो रहा है, तो यही हो रहा है। तुमने तो बनाया नहीं। याद है, तुमने कब बनाया इसे? तुमने तो ढाला नहीं। तुम तो इसे लाये नहीं। तो जिसे तुम नहीं लाये, उससे तुम छूट कैसे सकोगे? जो तुमने ढाला नहीं, उसे तुम मिटाओगे कैसे? तुम कहते हो, क्या कर सकते हैं? दो आंखें मिलीं, एक नाक मिली, ऐसा यह अहंकार भी मिला। यह सब मिला है। अपने हाथ में कुछ भी नहीं। तो जो है ठीक है। "मैं" भी सही, यह भी ठीक है।

इसमें रंचमात्र भी शिकायत न रखो। उस बे-शिकायत की भाव-दशा में, उस परम स्वीकार में, तुम अचानक पाओगे: गया "मैं"! क्योंकि "मैं" बनता ही कर्ता से है। जब तुम कुछ करते हो, तो "मैं" बनता है।

अब तुम एक नई बात पूछ रहे हो, कि "मैं" को कैसे मिटाऊं? तो यह मिटाने वाला "मैं" बन जायेगा, कहीं बच न पाओगे तुम। इसलिए तो विनम्र आदमी का भी अहंकार होता है--और कभी- कभी अहंकारी आदमी से ज्यादा बड़ा होता है।

तुमने देखा विनम्र आदमी का अहंकार! वह कहता है, मैं आपके पैर की धूल! मगर उसकी आंख में देखना, वह क्या कह रहा है! अगर तुम कहो कि आप बिलकुल ठीक कह रहे हैं, हमको तो पहले ही से पता था कि आप पैर की धूल हैं, तो वह झगड़ने को खड़ा हो जायेगा। वह यह कह नहीं रहा है कि आप भी इसको मान लो। वह तो यह कह रहा है कि आप कहो कि आप जैसा विनम्र आदमी... दर्शन हो गये बड़ी कृपा! वह यह कह रहा है कि आप खंडन करो कि "आप, और पैर की धूल? आप तो स्वर्ण-शिखर हैं! आप तो मंदिर के कलश हैं!" जैसे-जैसे तुम कहोगे ऊंचा, वह कहेगा कि नहीं, मैं बिलकुल पैर की धूल हूं। लेकिन जब कोई कहे कि मैं पैर की धूल हूं, तुम

अगर स्वीकार कर लो कि आप बिलकुल ठीक कह रहे हैं, सभी ऐसा मानते हैं कि आप बिलकुल पैर की धूल हैं, तो वह आदमी फिर तुम्हारी तरफ कभी देखेगा भी नहीं। वह विनम्रता नहीं थी--वह नया अहंकार का रंग था; अहंकार ने नये वस्त्र ओढ़े थे, विनम्रता के वस्त्र ओढ़े थे।

तो तुम अगर "मैं" से छूटने की कोशिश किये, तो यह जो छूटने वाला है, यह एक नये "मैं" को निर्मित कर लेगा। आदमी पैरहन बदलता है! कपड़े बदल लिये, मगर तुम तो वही रहोगे।

अष्टावक्र की बात समझने की कोशिश करो; जल्दी मत करो कि क्या करें, कैसे अहंकार से छुटकारा हो? करने की जल्दी मत करो; थोड़ा समझने के लिए विश्राम लो। अष्टावक्र यह कह रहे हैं कि "मैं" बनता कैसे है, यह समझ लो--करने से बनता है, चेष्टा से बनता है, यत्न से बनता है, सफलता से बनता है। तो तुम जहां भी यत्न करोगे, वहीं बन जायेगा।

तो फिर एक बात साफ हो गई कि अगर अहंकार से मुक्त होना है तो यत्न मत करो, चेष्टा मत करो। जो है, उसे वैसा ही स्वीकार कर लो। उसी स्वीकार में तुम पाओगे: अहंकार ऐसे मिट गया, जैसे कभी था ही नहीं। क्योंकि उसको जो ऊर्जा देने वाला तत्व था, वह खिसक गया; बुनियाद गिर गई, अब भवन ज्यादा देर न खड़ा रहेगा।

और अगर कर्ता का भाव गिर जाये, तो जीवन की सारी बीमारियां गिर जाती हैं; अन्यथा जीवन में बड़े जाल हैं। धन की दौड़ भी कर्ता की दौड़ है। पद की दौड़ भी कर्ता की दौड़ है। प्रतिष्ठा की दौड़ भी कर्ता की दौड़ है। तुम दुनिया को कुछ करके दिखाना चाहते हो।

मेरे पास कई लोग आ जाते हैं, वे कहते हैं कि ऐसा कुछ मार्ग दें कि दुनिया में कुछ करके दिखा जायें। क्या करके दिखाना चाहते हो? कि नहीं, वे कहते हैं कि "नाम रह जाये। हम तो चले जायेंगे, लेकिन नाम रह जाए!" नाम रहने से क्या प्रयोजन? तुम्हारे नाम में और किसी की कोई उत्सुकता नहीं है, सिवाय तुम्हारे। जब तुम्हीं चले गये, कौन फिक्र करता है! जब तुम्हीं न बचोगे, तो तुम्हारा नाम क्या खाक बचेगा? तुम न बचे, जीवंत, तो नाम तो केवल तख्ती थी, वह क्या खाक बचेगा? कौन फिक्र करता है तुम्हारे नाम की? और नाम बच भी गया तो क्या सार है? किन्हीं किताबों में दबा पड़ा रहेगा, तड़फेगा वहां! सिकंदर का नाम है, नेपोलियन का नाम है--क्या सार है?

नहीं, लेकिन हमें बचपन से ये रोग सिखाये गये हैं। बचपन से यह कहा गया है: "कुछ करके मरना, बिना करे मत मर जाना! अच्छा हो तो अच्छा, नहीं तो बुरा करके मरना, लेकिन नाम छोड़ जाना।" लोग कहते हैं, "बदनाम हुए तो क्या, कुछ नाम तो होगा ही। अगर ठीक रास्ता न मिले, तो उलटे रास्ते से कुछ करना, लेकिन नाम छोड़ कर जाना!" लोग ऐसे दीवाने हैं कि पहाड़ जाते हैं, तो पत्थर पर नाम खोद आते हैं। पुराना किला देखने जाते हैं, तो दीवालों पर नाम लिख आते हैं। और जो आदमी नाम लिख रहा है, वह यह भी नहीं देखता कि दूसरे नाम पोंछ कर लिख रहा है। तुम्हारा नाम कोई दूसरा पोंछ कर लिख जायेगा। तुम दूसरे का पोंछ कर लिख रहे हो। दूसरों के लिखे हैं, उनके ऊपर तुम अपना लिख रहे हो--और मोटे अक्षरों में; कोई और आ कर उससे मोटे अक्षरों में लिख जायेगा। किस पागलपन में पड़े हो?

अलबेले अरमानों ने सपनों के बुने हैं जाल कई।
एक चमक ले कर उठे हैं, जज्बाते-पामाल कई।
रूप की मस्ती,प्यार का नशा,नाम की अजमत,जर का गुरूर
धरती पर इन्सां के लिए हैं, फैले मायाजाल कई।
अपनी-अपनी किस्मत है, और अपनी-अपनी फितरत है,
खुशियों से पामाल कई हैं, गम से मालामाल कई।

इंसानों का काल पड़ा है, वक्त कड़ा है दुनिया पर,

ऐसे कड़े कब वक्त पड़े थे, यूं तो पड़े हैं काल कई।

दिल की दौलत कम मिलती है, दौलत तो मिलती है बहुत,

दिल उनके मुफलिस थे हमने देखे अहलेमाल कई।

कितने मंजर पिनहां हैं, मदहोशी की गहराई में,

होश का आलम एक मगर, मदहोशी के पाताल कई।

कितने मंजर पिनहां हैं मदहोशी की गहराई में! यह जो हमारी मूर्च्छा है, इसमें कितने दृश्य छिपे हैं--दृश्य के बाद दृश्य; परदे के पीछे परदे; कहानियों के पीछे कहानियां! यह जो हमारी मूर्च्छा है, इसमें कितने पाताल छिपे हैं--धन के, पद के, प्रतिष्ठा के, सपनों के! जाल बिछे हैं!

कितने मंजर पिनहां हैं मदहोशी की गहराई में,

होश का आलम एक मगर, मदहोशी के पाताल कई।

लेकिन जो होश में आ गया है, उसका आलम एक है, उसका स्वभाव एक है, उसका स्वरूप एक है, उसका स्वाद एक है!

बुद्ध ने कहा है: "जैसे चखो सागर को कहीं भी तो खारा है, ऐसा ही तुम मुझे चखो तो मैं सभी जगह से होशपूर्ण हूं। मेरा एक ही स्वाद है--होश।"

वही स्वाद अष्टावक्र का है। कर्ता नहीं, भोक्ता नहीं--साक्षी!

तो यह तो पूछो ही मत: कैसे! क्योंकि "कैसे" में तो कर्ता आ गया, भोक्ता आ गया--तो तुम चूक गये; अष्टावक्र की बात चूक गये। अष्टावक्र इतना ही कहते हैं: जो भी है, उसे देखो; साक्षी बनो। बस देखो! अहंकार है तो अहंकार को देखो; करने का क्या है? सिर्फ देखो--और देखने से क्रांति घटित होती है।

तुम समझे बात? बात थोड़ी जटिल है, लेकिन जटिल इतनी नहीं कि समझ में न आये। बात सीधी-साफ भी है। अष्टावक्र कह रहे हैं कि तुम सिर्फ देखो, तो देखने में कर्ता तो रह नहीं जाता, मात्र साक्षी रह जाते हो। कर्ता हटा कि कर्ता से जिन-जिन चीजों को रस मिलता था, बल मिलता था, वे सब गिर जायेंगी। बिना कर्ता के धन की दौड़ कहां? पद की दौड़ कहां? बिना कर्ता के अहंकार कहां? वे सब अपने-आप गिरने लगेंगे।

एक बात साध लो--साक्षी; शेष कुछ भी करने को नहीं है। शेष सब अपने से हो जायेगा। शेष सदा होता ही रहा है। तुम नाहक ही बीच-बीच में खड़े हो जाते हो।

मैंने सुना है, एक हाथी एक पुल पर से गुजरता था। हाथी का वजन--पुल कंपने लगा! एक मक्खी उसकी सूंड़ पर बैठी थी। जब दोनों उस पार हो गये, तो मक्खी ने कहा, "बेटा! हमने पुल को बिलकुल हिला दिया।" हाथी ने कहा, "देवी! मुझे तेरा पता ही न था, जब तक तू बोली न थी कि तू भी है।"

यह तुम जो सोच रहे हो तुमने पुल को हिला दिया, यह तुम नहीं हो--यह जीवन-ऊर्जा है। तुम तो मक्खी की तरह हो, जो जीवन-ऊर्जा पर बैठे कहते हो, "बेटा, देखो कैसा हिला दिया!"

यह अहंकार तो सिर्फ तुम्हारे ऊपर बैठा है। तुम्हारी जो अनंत ऊर्जा है, उससे सब कुछ हो रहा है। वह परमात्मा की ऊर्जा है; उसमें तुम्हारा कुछ लेना-देना नहीं है। वही तुममें श्वास लेता, वही तुममें जागता, वही तुममें सोता; तुम बीच में ही अकड़ ले लेते हो। इतना जरूर है कि तुम जब अकड़ लेते हो तो वह बाधा नहीं डालता।

हाथी ने तो कम-से-कम बाधा डाली। हाथी ने कहा कि देवी, मुझे पता ही न था कि तू भी मेरे ऊपर बैठी है। इतना तो कम-से-कम हाथी ने कहा; परमात्मा इतना भी नहीं कहता। परमात्मा परम मौन है।

तुम अकड़ते हो तो अकड़ लेने देता है। तुम उसके कृत्य पर अपना दावा करते हो तो कर लेने देता है। जो तुमने किया ही नहीं है, उसको भी तुम कहते हो मैं कर रहा हूं, तो भी वह बीच में आ कर नहीं कहता कि नहीं, तुम नहीं, मैं कर रहा हूं! क्योंकि उसके पास तो कोई "मैं" है नहीं, तो कैसे तुमसे कहे कि मैं कर रहा हूं? इसलिए तुम्हारी भ्रांति चलती जाती है।

लेकिन गौर से देखो, थोड़ा आंख खोल कर देखो: तुम्हारे किये थोड़े ही कुछ हो रहा है; सब अपने से हो रहा है!

यही नियति का अपूर्व सिद्धांत है, भाग्य का अपूर्व सिद्धांत है कि सब अपने से हो रहा है। गलत लोगों ने उसके गलत अर्थ ले लिये, गलत लोगों की भूल। अन्यथा भाग्य का इतना ही अर्थ है कि भाग्य के सिद्धांत को अगर तुम ठीक से समझ लो, तो तुम साक्षी रह जाओगे, और कुछ करने को नहीं है फिर। लेकिन भाग्य से लोग साक्षी तो न बने, अकर्मण्य बन गये; अकर्ता तो न बने, अकर्मण्य बन गये।

अकर्ता और अकर्मण्य में भेद है। अकर्मण्य तो काहिल है, सुस्त है, मुर्दा है। अकर्ता ऊर्जा से भरा है--सिर्फ इतना नहीं कहता कि मैं कर रहा हूं। परमात्मा कर रहा है! मैं तो सिर्फ देख रहा हूं। यह लीला हो रही है, मैं देख रहा हूं।

आदमी बहुत बेईमान है; सुंदरतम सत्यों का भी बड़ा कुरूपतम उपयोग करता है। भाग्य बड़ा सुंदर सत्य है। उसका केवल इतना ही अर्थ है कि सब हो रहा है; तुम्हारे किये कुछ नहीं हो रहा है। सब नियत है। जो होना है, होगा। जो होना है, होता है। जो हुआ है, होना था। तुम किनारे बैठ कर शांति से देख सकते हो लीला, कोई तुम्हें बीच में उछल-कूद करने की जरूरत नहीं है। तुम्हारे आगे-पीछे दौड़ने से कुछ भी फर्क नहीं पड़ रहा है; जो होना है, वही हो रहा है। जो होना है, वही होगा। फिर तुम साक्षी हो जाते हो।

साक्षी की तरफ ले जाने के लिए भाग्य का ढांचा खोजा गया था। लोग साक्षी की तरफ तो नहीं गये; लोग अकर्मण्य हो कर बैठ गये। उन्होंने कहा, जब जो होना है, होना है, तो फिर ठीक; फिर हम करें ही क्यों? अभी भी धारणा यही रही कि हमारे करने का कोई बल है, हम करें ही क्यों? पहले कहते थे, हम करके दिखायेंगे; अब कहते हैं, करने में सार क्या! मगर कर्ता का भाव न गया; वह अपनी जगह खड़ा हुआ है।

अष्टावक्र को अगर तुम समझो, तो कोई विधि नहीं है, कोई अनुष्ठान नहीं है। अष्टावक्र कहते हैं: अनुष्ठान ही बंधन है; विधि ही बंधन है; करना ही बंधन है।

चौथा प्रश्न: आपकी अनुकंपा से आकाश देख पाता हूं; प्रकाश के अनुभव भी होते हैं, और भीतर के बहाव के साथ भी एक हो पाता हूं। लेकिन जब कामवासना पकड़ती है, तब उसमें भी उतना ही डूबना चाहता हूं, जितना ध्यान में। कृपया बतायें, यह मेरी कैसी स्थिति है?

पहली बात: कामवासना के भी साक्षी बनो। उसके भी नियंता मत बनो। उसको भी जबर्दस्ती नियंत्रण में लाने की चेष्टा मत करो, उसके भी साक्षी रहो। जैसे और सब चीजों के साक्षी हो वैसे ही कामवासना के भी साक्षी रहो।

कठिन है, क्योंकि सदियों से तुम्हें सिखाया गया कि कामवासना पाप है। उस पाप की धारणा मन में बैठी है।

इस जगत में पाप है ही नहीं--बस परमात्मा है। यह धारणा छोड़ो। इस जगत में एक ही है रूप समाया सब में--वह परमात्मा है। क्षुद्र से क्षुद्र में वही, विराट से विराट में वही! निम्न में वही, श्रेष्ठ में वही! कामवासना में भी वही है, और समाधि में भी वही है। यहां पाप कुछ है ही नहीं।

इसका यह अर्थ नहीं कि मैं यह कह रहा हूं कि तुम कामवासना में ही अटके रह जाओ। मैं सिर्फ इतना कह रहा हूं: उसे भी तुम परमात्मा का ही एक रूप समझो। और भी रूप हैं। शायद कामवासना पहली सीढ़ी है उसके रूप की। थोड़ा-सा स्वाद समाधि का कामवासना में फलित होता है, इसलिए इतना रस है। जब और बड़ी समाधि घटने लगेगी, तो वह रस अपने से खो जायेगा।

जिन मित्र ने पूछा है कि "ध्यान में लीन होता हूं, भीतर के बहाव के साथ एक हो पाता हूं, कामवासना पकड़ती है, तब उसमें भी उतना ही डूबना चाहता हूं।" डूबो! रोकने की कोई जरूरत नहीं है। बस डूबते-डूबते साक्षी बने रहना। देखते रहना कि डुबकी लग रही है। देखते रहना कि कामवासना ने घेरा। असल में "कामवासना" शब्द ही निंदा ले आता है मन में। ऐसा कहना: परमात्मा के एक ढंग ने घेरा; यह परमात्मा की ऊर्जा ने घेरा; यह परमात्मा की प्रकृति ने घेरा; परमात्मा की माया ने घेरा! लेकिन कामवासना शब्द का उपयोग करते ही--पुराने सहयोग, संबंध शब्द के साथ गलत हैं--ऐसा लगता है पाप हुआ; साक्षी रहना मुश्किल हो जाता है--या तो मूर्च्छित हो जाओ और या नियंता हो जाओ। साक्षी होना न तो मूर्च्छित होना है और न नियंता होना है--दोनों के मध्य में खड़ा होना है। एक तरफ गिरो, कुंआ; एक तरफ गिरो, खाई--बीच में रह जाओ, तो सधे, तो समाधि।

ये दोनों आसान हैं। कामवासना में मूर्च्छित हो जाना बिलकुल आसान है; बिलकुल भूल जाना कि क्या हो रहा है, नशे में हो जाना आसान है। कामवासना को नियंत्रण कर लेना, जबर्दस्ती रोक लेना, सम्हाल लेना, वह भी आसान है। मगर दोनों में ही तुम चूक रहे हो। व्यभिचारी भी चूक रहा है, ब्रह्मचारी भी चूक रहा है। वास्तविक ब्रह्मचर्य तो तब घटित होता है, जब तुम दोनों के मध्य में खड़े हो, जब तुम सिर्फ देख रहे हो। तब तुम पाओगे कि कामवासना भी शरीर में ही उठी और शरीर में ही गूंजी; मन में थोड़ी छाया पड़ी, और विदा हो गई। तुम तो दूर खड़े रहे! तुममें कैसी कामवासना! तुममें वासना हो ही कैसे सकती है? तुम तो द्रष्टा-मात्र हो।

और अक्सर ऐसा होगा कि जब ध्यान ठीक लगने लगेगा, तो कामवासना जोर पकड़ेगी। यह तुम समझ लो, क्योंकि अधिक लोगों को ऐसा होगा। ध्यान जब ठीक लगने लगेगा, तो तुम्हारे जीवन में एक विश्राम आयेगा, तनाव कम होगा। तो जन्मों-जन्मों से तुमने जो जबर्दस्ती की थी, कामवासना के साथ जो दमन किया था, वह हटेगा। तो दबी-दबाई वासना तेज ज्वाला की तरह उठेगी। इसलिए ध्यान के साथ अगर कामवासना उठे, तो घबड़ाना मत, यह ठीक लक्षण है कि ध्यान ठीक जा रहा है; ध्यान काम कर रहा है; ध्यान तुम्हारे तनाव हटा रहा है, नियंत्रण हटा रहा है, तुम्हारा दमन हटा रहा है; ध्यान तुम्हें सहज प्रकृति की तरफ ला रहा है।

पहले ध्यान तुम्हें प्रकृतिस्थ करेगा और फिर परमात्मा तक ले जायेगा। क्योंकि जो अभी नैसर्गिक नहीं है, उसका स्वाभाविक होना असंभव है। जो अभी प्रकृति के साथ भी नहीं है, वह परमात्मा के साथ नहीं हो सकता। तो ध्यान पहले तुम्हें प्रकृति के साथ ले जाएगा, फिर तुम्हें परमात्मा के साथ ले जाएगा। प्रकृति, परमात्मा का बाह्य आवरण है। अगर उससे भी तुम्हारा मेल नहीं है, तो अंतरतम के परमात्मा से कैसे मेल होगा? प्रकृति तो परमात्मा के मंदिर की सीढ़ियां हैं। अगर तुम सीढ़ियां ही न चढ़े, तो मंदिर के अंतर्गृह में कैसे प्रवेश होगा?

अगर तुम मेरी बात समझ पाओ, तो अब और दमन मत करो! अब चुपचाप उसे भी स्वीकार कर लो। परमात्मा जो दृश्य दिखाता है, शुभ ही होगा। परमात्मा दिखाता है, तो शुभ ही होगा। तुम नियंत्रण मत करो, और न तुम निर्णायक बनो, और न तुम पीछे से खड़े होकर यह कहो कि यह ठीक और यह गलत; मैं ऐसा करना चाहता और ऐसा नहीं करना चाहता। तुम सिर्फ देखो!

उम्र ढलती जा रही है,

शमा-ए-अरमां भी पिघलती जा रही है,

रफ्त-रफ्ता आग बुझती जा रही है,

शौक रमते जा रहे हैं,

सैल थमते जा रहे हैं,

राग थमता जा रहा है,

खामोशी का रंग जमता जा रहा है,

आग बुझती जा रही है।

ठीक हो रहा है। लेकिन इसके पहले कि आग बुझे, आखिरी लपट उठेगी। तुम चिकित्सकों से पूछो, मरने के पहले आदमी थोड़ी देर को बिलकुल स्वस्थ हो जाता है; सब बीमारियां खो जाती हैं। जो मुर्दे की तरह बिस्तर पर पड़ा था, उठ कर बैठ जाता है, आंख खोल देता है, ताजा मालूम पड़ता है। मरने के थोड़ी देर पहले सब बीमारियां खो जाती हैं, क्योंकि जीवन आखिरी छलांग लेता है, ऊर्जा जीवन की फिर से उठती है।

तुमने देखा, दीया बुझने के पहले आखिरी भभक से जलता है! इसके पहले कि आखिरी तेल चुक जाये, आखिरी बूंद तेल की पी कर भभक उठता है। वह आखिरी भभक है। सुबह होने के पहले रात देखा, कैसी अंधेरी हो जाती है! वह आखिरी भभक है।

ऐसे ही ध्यान में भी जब तुम गहरे उतरोगे, तो तुम पाओगो, आग जब बुझने के करीब आने लगती है, तो आखिरी भभक...। काम-ऊर्जा भी उठेगी।

उम्र ढलती जा रही है

शमा-ए-अरमां भी पिघलती जा रही है

--कामना का दीया पिघल रहा है, उम्र ढल रही है।

रफ्ता-रफ्ता आग बुझती जा रही है।

शौक रमते जा रहे हैं,

सैल थमते जा रहे हैं,

--प्रवाह रुक रहा है जीवन का।

राग थमता जा रहा है,

खामोशी का रंग जमता जा रहा है।

--ध्यान का रंग जम रहा है, मौन का रंग जम रहा है।

खामोशी का रंग जमता जा रहा है।

आग बुझती जा रही है।

इसमें किसी भी घड़ी भभक उठेगी। ऐसी भभक ही उठ रही है। उसे देख लो। उसे दबा मत देना, अन्यथा फिर तुम्हारे भीतर सरक जायेगी। छुटकारा होने के करीब है, तुम उसे दबा मत लेना; अन्यथा फिर बंधन शुरू हो जायगा। जो दबाया गया है, वह फिर-फिर निकलेगा। जिसके साथ तुमने जबर्दस्ती की है, वह फिर-फिर आयेगा। जाने ही दो, निकल ही जाने दो, बह जाने दो। होने दो भभक कितनी ही बड़ी, तुम शांत भाव से देखते रहो। तुम्हारे ध्यान में कुछ बाधा नहीं पड़ती इससे। तुम साक्षी बने रहो!

पांचवां प्रश्न: आपने कहा कि किसी भी बंधन में मत पड़ो, शांत और सुखी हो जाओ। तो क्या संन्यास भी एक बंधन नहीं है? और क्या विधि, उपाय व प्रक्रिया भी बंधन नहीं हैं? कृपया समझाएं!

अगर बात समझ में आ गई तो पूछो ही मत। अगर पूछते हो तो बात समझ में आई नहीं। अगर बात समझ में आ गई मेरी कि किसी बंधन में मत पड़ो, शांत और सुखी हो जाओ, तो समझते से ही तुम सुखी और शांत हो जाओगे; फिर यह प्रश्न कहां? सुखी और शांत आदमी प्रश्न पूछता है? सब प्रश्न अशांति से उठते, दुख से उठते, पीड़ा से उठते।

अगर तुम अभी भी प्रश्न पूछ रहे हो, तो तुम शांत अभी भी हुए नहीं; संन्यास की जरूरत पड़ेगी। अगर शांत तुम हो जाओ, तो क्या जरूरत संन्यास की? संन्यास हो गया!

लेकिन अपने को धोखा मत दे लेना! संन्यास लेने की हिम्मत न हो, अष्टावक्र का सहारा मत ले लेना। हां, अगर शांत हो गए हो तो कोई संन्यास की जरूरत नहीं है। शांति की खोज में ही तो आदमी संन्यास लेता है।

अगर तुम सुखी हो गए, समझते ही सुखी हो गये, अगर जनक जैसे पात्र हो, तो बात खतम हो गई। मगर तब यह प्रश्न न उठता। जनक ने प्रश्न नहीं पूछा; जनक ने कहा, "अहो प्रभु! तो मैं मुक्त हूं? आश्चर्य कि अब तक कैसे माया-मोह में पड़ा रहा!"

तुम अगर जनक जैसे पात्र होते, तो तुम कहते, "धन्य! तो मैं मुक्त हूं! तो अब तक कैसे माया-मोह में पड़ा रहा!" तुम यह प्रश्न पूछते ही नहीं।

मामला ऐसा है कि संन्यास लेने की कामना मन में है, हिम्मत नहीं है। अष्टावक्र को सुन कर तुमने सोचा, यह अच्छा हुआ कि संन्यास में बंधन है, कोई पड़ने की जरूरत नहीं! और दूसरे बंधन छोड़ोगे कि सिर्फ संन्यास का ही बंधन छोड़ोगे? और संन्यासी तुम अभी हो ही नहीं, तो उसे छोड़ने का कोई उपाय नहीं है, जो तुम्हारे पास ही नहीं है। और बंधन क्या-क्या छोड़ोगे? पत्नी छोड़ोगे? घर छोड़ोगे? धन छोड़ोगे? पद छोड़ोगे? मन छोड़ोगे? कर्ता छोड़ोगे? अहंकार-भाव छोड़ोगे? और क्या-क्या छोड़ोगे जो तुम्हारे पास है? निश्चित जो तुम्हारे पास है वही तुम छोड़ सकते हो। यह तो संन्यासियों को पूछने दो, जो संन्यासी हो गये हैं। तुम तो अभी संन्यासी हुए नहीं। यह तो संन्यासी पूछे कि क्या अब छोड़ दें संन्यास, तो समझ में आता है। उसके पास संन्यास है; तुम्हारे पास है ही नहीं। जो तुम्हारे पास नहीं, उसे तुम छोड़ोगे कैसे? जो तुम्हारे पास है, वही पूछो। गृहस्थी छोड़ दें, यह पूछो।

अष्टावक्र की पूरी बात सुन कर तुमको इतना ही समझ में आया कि संन्यास बंधन है! और कोई चीज बंधन है?

आदमी चालाक है। मन बेईमान है। मन बड़े हिसाब में रहता है। वह देखता है, अपने मतलब की बात निकाल लो कि चलो यह तो बहुत ही अच्छा हुआ, झंझट से बचे! डरे-डरे लेने की सोच रहे थे, ये अष्टावक्र अच्छे मिल गये रास्ते पर; इन्होंने खूब समझा दिया, ठीक समझा दिया, अब कभी भूल कर संन्यास न लेंगे!

अष्टावक्र से कुछ और सीखोगे?

लोग मेरे पास आ जाते हैं। वे कहते हैं, "अब ध्यान छोड़ दें? क्योंकि अष्टावक्र कहते हैं, ध्यान में बंधन है।" धन छोड़ोगे? पद छोड़ोगे? सिर्फ ध्यान...! और ध्यान अभी लगा ही नहीं; छोड़ोगे खाक? ध्यान होता और तुम कहते छोड़ दें, तो मैं कहता, छोड़ दो! मगर जिसका ध्यान लग गया, वह कहेगा ही नहीं छोड़ने की बात; वह छोड़ने-पकड़ने के बाहर गया। वह अष्टावक्र को समझ लेगा, आनंदित होगा, गदगद होगा। वह कहेगा, ठीक, बिलकुल बात यही तो है। ध्यान में ध्यान ही तो छूटता है। संन्यास में बंधन ही तो छूटते हैं। संन्यास कोई बंधन नहीं है। यह तो केवल और सारे बंधनों को छोड़ने का एक उपाय है। अंततः तो यह भी छूट जायेगा।

ऐसा ही समझो कि पैर में कांटा लगा, तो तुम दूसरा कांटा उठा कर पहले कांटे को निकाल लेते हो। दूसरा कांटा भी कांटा है; लेकिन पहले कांटे को निकालने के काम आ जाता है। फिर तो तुम दोनों को फेंक देते हो। फिर दूसरे कांटे को संभाल कर थोड़े ही रखते, कि इसने बड़ी कृपा की कि पहले कांटे को निकाल दिया! फिर ऐसा थोड़े ही करते कि अब पहला कांटा जहां लगा था, वहां दूसरा लगा लो, यह बड़ा प्रिय है!

संन्यास तो कांटा है। संसार का कांटा लगा है, उसे निकालने का एक उपाय है। अगर तुम बिना कांटे के निकाल सको, तो बड़ा शुभ। अष्टावक्र की बात समझ में आ जाये, तो इससे शुभ और क्या हो सकता है! फिर किसी संन्यास की कोई जरूरत नहीं है। लेकिन जरा सोच लेना, कहीं यह बेईमानी न हो! अगर बेईमानी हो, तो हिम्मत करो और संन्यास में उतरो। कभी ऐसी घड़ी आयेगी, जब संन्यास को भी छोड़ने के तुम योग्य हो जाओगे।

लेकिन छोड़ना क्या है? जब समझ आती है, तो छोड़ने को कुछ भी नहीं--सब छूट जाता है। यही तो जनक ने कहा कि प्रभु, यह शरीर भी छूट गया! अभी जनक शरीर में हैं, शरीर छूट नहीं गया; लेकिन जनक कहते हैं, यह शरीर भी छूट गया! यह सारा संसार भी छूट गया! यह सब छूट गया! मैं बिलकुल अलिप्त, भावातीत हो गया! कैसी कुशलता आपके उपदेश की! यह कैसी कला! कुछ भी हुआ नहीं, न महल छूटा, न संसार छूटा, न शरीर छूटा--और सब छूट गया!

जिस दिन तुम समझोगे तो फिर कुछ छोड़ने को नहीं है--न संसार और न संन्यास! छोड़ने की बात ही उस आदमी की है, जो सोचता है कुछ पकड़ने को है।

त्याग भी भोग की छाया है। त्यागी भी भोगी का ही शीर्षासन करता हुआ रूप है। जब भोग जाता है, त्याग भी जाता है। वे दोनों साथ रहते हैं, साथ जाते हैं। इसलिए तो तुम देखते हो, भोगियों को त्यागियों के पैर पड़ते! वे साथ-साथ हैं। आधा काम त्यागी कर रहे, आधा भोगी कर रहे--दोनों एक-दूसरे के साथ जुड़े हैं। न भोगी जी सकते त्यागी के बिना, न त्यागी जी सकते भोगी के बिना। तुमने देखा यह षडयंत्र!

एक आदमी मेरे पास आया, कहा कि ध्यान सीखना है। वे संन्यासी थे--पुराने ढब के संन्यासी! तो मैंने कहा कि ठीक है, कल सुबह ध्यान में आ जाओ। उन्होंने कहा, वह तो जरा मुश्किल है। मैंने कहा, "क्यों, इसमें क्या मुश्किल है?" उन्होंने कहा कि मुश्किल यह है कि ये मेरे साथ जो हैं, जब तक ये मेरे साथ न आएं, मैं नहीं आ सकता; क्योंकि पैसा ये रखते हैं, पैसा मैं नहीं छूता। इनको सुबह कहीं और जाना है, तो मैं कल सुबह तो न आ सकूंगा।

यह भी खूब मजा हुआ! पैसे की जरूरत तो तुम्हें है ही, फिर तुम अपनी जेब में रखो कि दूसरे की जेब में, इससे क्या फर्क पड़ता है? और यह तो और बंधन हो गया। इससे तो वे ही ठीक जो अपनी जेब में रखते हैं; कम-से-कम जहां जाना है, जा तो सकते हैं! अब यह एक अजीब मामला हो गया कि यह आदमी जब तक साथ न हो, तब तक तुम आ नहीं सकते, क्योंकि टैक्सी में पैसे देने पड़ेंगे--पैसा हम छूते नहीं हैं! तो तुम अपना पाप इस आदमी से करवा रहे हो? अपना पाप खुद करो। यह बड़े मजे की बात है कि टैक्सी में तुम बैठोगे, नरक यह जायेगा! इस पर कुछ दया करो। यह भोगी-योगी का खूब जोड़ है!

तुम्हारे सारे त्यागी भोगियों से बंधे जी रहे हैं। और तुम्हारा भोगी भी त्यागियों से बंधा जी रहा है, क्योंकि वह त्यागी के चरण छू कर सोचता है, "आज त्यागी नहीं तो कम-से-कम त्यागी के चरण तो छूता हूं, चलो कुछ तो तृप्ति, कुछ तो किया! आज नहीं कल, मैं भी त्यागी हो जाऊंगा। लेकिन अभी त्यागी की पूजा-अर्चना तो करता हूं!"

जैन कहते हैं, कहां जा रहे हो?--साधु जी की सेवा करने जा रहे हैं! सेवा करके सोचते हैं कि चलो, कुछ तो लाभ-अर्जन कर रहे हैं। उधर साधु बैठे हैं, वे राह देख रहे हैं, कि भोगी जी कब आयें! इधर भोगी जी हैं, वे देखते हैं कि साधु जी कब गांव में पधारें! तो भोगी जी और साधु जी, दोनों एक ही सिक्के के पहलू हैं।

तुम जरा सोचो, अगर भोगी साधुओं के पास जाना बंद कर दें, कितने साधु वहां बैठे रहेंगे! वे सब भाग खड़े होंगे। कौन इंतजाम करेगा, कौन व्यवस्था करेगा! वे सब जा चुके होंगे। लेकिन भोगी साधु को सम्हालता है; साधु भोगी को सम्हाले रखता है। यह पारस्परिक है।

वास्तविक ज्ञानी न तो त्यागी होता, न भोगी होता। वह इतना ही जान लेता है कि मैं सिर्फ साक्षी हूं। अब पैसे दूसरे की जेब में रखो कि अपनी जेब में रखो, क्या फर्क पड़ता है? वह साक्षी है। हो, तो साक्षी है; न हो, तो साक्षी है। गरीब हो, तो साक्षी है; अमीर हो, तो साक्षी है। साक्षी में थोड़े ही गरीबी-अमीरी से फर्क पड़ता है! क्या तुम सोचते हो भिखमंगा साक्षी होगा तो उसका साक्षीपन थोड़ा कम होगा, और सम्राट साक्षी होगा तो उसका साक्षीपन थोड़ा ज्यादा होगा? साक्षीपन कहीं कम-ज्यादा होता है? गरीब हो कि अमीर, स्वस्थ हो कि अस्वस्थ, पढ़ा-लिखा हो कि बेपढ़ा-लिखा, सुंदर हो कि कुरूप, ख्यातिनाम हो कि बदनाम--इससे कोई फर्क नहीं पड़ता। साक्षी कुछ ऐसी संपदा है, जो सभी के भीतर बराबर है, उसमें कुछ कम-ज्यादा नहीं होता।

हर स्थिति के हम साक्षी हो सकते हैं--सफलता के, विफलता के; सम्मान के, अपमान के।

साक्षी बनो, इतना ही अष्टावक्र का कहना है। लेकिन अगर पाओ कि कठिन है साक्षी बनना और अभी तो विधि का उपयोग करना होगा, तो विधि का उपयोग करो, घबड़ाओ मत। विधि का उपयोग कर-करके तुम इस योग्य बनोगे कि विधि के भी साक्षी हो जाओगे। इसलिए तो मैं कहता हूं, ध्यान करो, कोई फिक्र नहीं। क्योंकि मैं जानता हूं, ध्यान न करने से तुम्हें साक्षी-भाव नहीं आने वाला, ध्यान न करने से केवल तुम्हारे विचार चलेंगे। तो विकल्प "ध्यान और साक्षी" में थोड़े ही है; विकल्प "विचार और ध्यान" में है।

समझे मेरी बात? तुम जब नहीं ध्यान करोगे--सुन लिया अष्टावक्र को--अष्टावक्र ने कहा ध्यान इत्यादि सब बंधन है--और बिलकुल ठीक कहा, सौ प्रतिशत ठीक कहा--तो तुमने ध्यान छोड़ दिया तो तुम क्या करोगे? साक्षी हो जाओगे उस समय? तुम वही कूड़ा-कर्कट विचार दोहराओगे। तो यह तो बड़े मजे की बात हुई। यह तो अष्टावक्र के कारण तुम और भी संसार में गिरे। यह तो सीढ़ी, जिससे चढ़ना था, तुमने नर्क में उतरने के लिए लगा ली। सीढ़ी वही है।

मैं तुमसे कहता हूं, ध्यान करो। क्योंकि अभी तुम्हारे सामने विकल्प ध्यान और विचार, इसका है; अभी साक्षी का तो तुम्हारे सामने विकल्प नहीं है। हां, जब ध्यान कर-करके विचार समाप्त हो जायेगा, तब एक नया विकल्प आयेगा, कि अब चुनना है: साक्षी या ध्यान? तब साक्षी चुनना, और ध्यान को भी छोड़ देना।

अभी अगर तुमने तय किया कि संन्यास नहीं लेना है, तो तुम संसारी रहोगे। अभी विकल्प संन्यास और संसार में है। अभी मैं कहता हूं: लो संन्यास! फिर एक दिन ऐसी घड़ी आयेगी कि विकल्प संसार और संन्यास का नहीं रह जाएगा। संसार तो गया, संन्यास रह गया। तब परम संन्यास और संन्यास का विकल्प होगा। तब मैं तुमसे कहूंगा: जाने दो संन्यास! अब डूबो परम संन्यास में।

हां, अगर तुम क्षण भर में जनक जैसे जा सकते हो, तो मैं बाधा देने वाला नहीं! तुम सुखी हो जाओ! सुखी भव! न हो पाओ, तो इसमें कोई और निर्णय करेगा नहीं, तुम्हीं निर्णय करना कि अगर सुखी नहीं हो पा रहे, तो फिर कुछ करना जरूरी है।

सत्य भी तुम असत्य कर ले सकते हो, और फूल भी तुम्हारे लिए कांटे बन सकते हैं--तुम पर निर्भर है।

उजियारे में नैन मूंद कर भाग नहीं
मेरे भोले मन!

डगरें सब अनजानी हैं,
पथ में मिलते शूल-शिला
भीनी-भीनी गंध देख कर,
सुमनों का विश्वास न कर!

तुम जरा खयाल करना, जाग कर कदम उठाना! क्योंकि तुम जो कदम उठाओगे, वह कहीं भीनी-भीनी गंध को देख कर ही मत उठा लेना।

पथ में मिलते शूल-शिला
भीनी-भीनी गंध देख कर
सुमनों का विश्वास न कर।

वह जो तुम्हें भीनी गंध मिलती है, खयाल कर लेना, वह कहीं तुम्हारी आरोपित ही न हो! वह कहीं तुम्हारा लोभ ही न हो! वह तुम्हारा कहीं भय ही न हो! वह कहीं तुम्हारी कमजोरी ही न हो, जो तुम आरोपित कर लेते हो। और उस भीनी गंध में तुम भटक मत जाना।

बड़ा सुगम है कुछ न करना, सुन कर ऐसा लगता है। लेकिन जब करने चलोगे "कुछ न करना", तो इससे ज्यादा कठिन और कोई बात नहीं। सुन कर तो साक्षी की बात कितनी सरल लगती है कि कुछ नहीं करना, सिर्फ देखना है; जब करने चलोगे तब पाओगे, अरे, यह तो बड़ी दुस्तर है!

ऐसा करना कि अपनी घड़ी को ले कर बैठ जाना। सेकेंड का कांटा एक मिनिट में चक्कर लगा लेता है। तुम उस सेकेंड के कांटे पर नजर रखना और कोशिश करना, कि मैं साक्षी हूं इस सेकेंड के कांटे का, और साक्षी रहूंगा। तुम पाओगे दो चार सेकेंड चले--गया साक्षी! कोई दूसरा विचार आ गया! भूल ही गये! फिर झटका लगेगा कि अरे, यह कांटा तो आगे सरक गया! फिर दो-चार सेकेंड साक्षी रहे, फिर भूल गये। एक मिनिट पूरे होने में तुम दो-चार-दस डुबकियां खाओगे। एक मिनिट भी साक्षी नहीं रह सकते हो! तो अभी साक्षी का तो सवाल ही नहीं है। अभी तो तुम विचार और ध्यान में चुनो; फिर धीरे-धीरे ध्यान और साक्षी में चुनाव करना संभव हो जायेगा।

संन्यास का पूछते हो तो संन्यास तो सिर्फ मेरे साथ होने की एक भावभंगिमा है। यह बंधन नहीं है। तुम मुझसे बंध नहीं रहे हो। मैं तुम्हें कोई अनुशासन नहीं दे रहा हूं, कोई मर्यादा नहीं दे रहा हूं। मैं तुमसे कह नहीं रहा--कब उठो; क्या खाओ, क्या पीयो; क्या करो, क्या न करो। मैं तुमसे इतना ही कह रहा हूं कि साक्षी रहो। मैं तुमसे इतना ही कह रहा हूं कि मेरा हाथ मौजूद है, मेरे हाथ में हाथ गहो; शायद दो कदम मेरे साथ चल लो, तो मेरी बीमारी तुम्हें भी लग जाये। संक्रामक है यह बीमारी। बुद्ध के साथ थोड़ी देर चल लो, तो तुम उनके रंग में थोड़े रंग जाओगे; एकदम बच नहीं सकते। थोड़ी गंध उनकी तुममें से भी आने लगेगी। बगीचे से ही अगर गुजर जाओ, तो तुम्हारे कपड़ों में भी फूलों की गंध आ जाती है--फूल छुए भी नहीं, तो भी!

संन्यास तो मेरे साथ चलने की थोड़ी हिम्मत है, थोड़ी भावभंगिमा है। यह तो मेरे प्रेम में पड़ना है। इस प्रेम की पूरी प्रक्रिया यही है कि तुम्हें मुक्त करने के लिए मैं आयोजन कर रहा हूं। तुम मेरे साथ चलो तो मुक्ति की गंध तुम्हें देना चाहता हूं।

सांस का पुतला हूं मैं
जरा से बंधा हूं,
और मरण को दे दिया गया हूं
पर एक जो प्यार है न,
उसी के द्वारा,
जीवन-मुक्त मैं किया गया हूं!
काल की दुर्वह गदा को
एक कौतुक-भरा बाल क्षण तौलता है।
हो क्या तुम?

सांस का पुतला हूं मैं
जरा से बंधा हूं,
और मरण को दे दिया गया हूं!

जन्म और मृत्यु, बस यही तो हो तुम। सांस आई और गई; इसके बीच की थोड़ी-सी कथा है, थोड़ा-सा नाटक है। इसमें अगर कुछ भी है, जो तुम्हें पार ले जा सकता है मृत्यु के और जन्म के...

पर एक जो प्यार है न,
उसी के द्वारा,
जीवन-मुक्त मैं किया गया हूं!

अगर जन्म और मरण के बीच प्यार घट जाये...।

संन्यास तो मेरे साथ प्रेम में पड़ना है; इससे ज्यादा कुछ भी नहीं। बस इतना ही, इतनी ही परिभाषा। अगर तुम मेरे साथ प्रेम में हो और थोड़ी दूर चलने को राजी हो, तो वह थोड़ी दूर चलना, तुम्हें बहुत दूर ले जाने वाला सिद्ध होगा।

और बाकी तो सब ऊपर की बातें हैं, कि तुमने कपड़े बदल लिये, कि माला डाल ली। वह तो केवल तुम्हें साहस जगे और तुम्हें आत्म-स्मरण रहे, इसलिए। वह तो केवल बाहर की शुरुआत है; फिर भीतर बहुत कुछ घटता है। तुम जिनको देख रहे हो गैरिक वस्त्रों में रंगे हुए उनके सिर्फ गैरिक वस्त्र ही मत देखना, थोड़ा उनके हृदय में झांकना--तो तुम वहां पाओगे प्रेम की एक नई धारा का आविर्भाव हो रहा है।

पर एक जो प्यार है न,
उसी के द्वारा
जीवन-मुक्त मैं किया गया हूं!

मुझे गिरने दो तुम्हारे ऊपर! अभी तुम अगर पाषाण भी हो तो फिक्र मत करो: यह जलधार तुम्हारे पाषाण को काट डालेगी।

किरण जब मुझ पर झरी,
मैंने कहा--
"मैं वज्र कठोर हूं,
पत्थर सनातन!"
किरण बोली--"भला ऐसा?
तुम्हीं को खोजती थी मैं
तुम्हीं से मंदिर गढ़ूंगी
तुम्हारे अंतःकरण से तेज की प्रतिमा उकेरूंगी।"
स्तब्ध मुझको, किरण ने अनुराग से दुलरा लिया।
किरण जब मुझ पर झरी
मैंने कहा--
"मैं वज्र कठोर हूं,
पत्थर सनातन!"

तुम भी यही मुझसे कहते हो कि नहीं, आप हमें बदल न पायेंगे, कि हम पत्थर हैं, बहुत प्राचीन, कि न बदलने की हमने कसम खा ली है। लेकिन मैं तुमसे कहता हूं:

किरण बोली--"भला ऐसा?
तुम्हीं को खोजती थी मैं
तुम्हीं से मंदिर गढ़ूंगी,
तुम्हारे अंतःकरण से तेज की प्रतिमा उकेरूंगी।"

स्तब्ध मुझको किरण ने अनुराग से दुलरा लिया।

ये गैरिक वस्त्र तो केवल मेरे प्रेम की सूचना हैं--तुम्हारे प्रेम की मेरी तरफ; मेरे प्रेम की तुम्हारी तरफ। यह तो एक गठबंधन है।

आखिरी प्रश्न: हे प्रिय, प्यारे!

प्रणाम ले लो,
इन आंसुओं को मुकाम दे दो,
तुमने तो भर दी है झोली,
फिर भी मैं कोरी की कोरी।
हे प्रिय प्यारे!
मीत हमारे!
शीश श्रीफल चरण तुम्हारे!

जया ने पूछा है।

जया मेरे करीब है बहुत वर्षों से। ठीक मीरा जैसा हृदय है उसके पास; वैसा ही गीत है दबा उसके हृदय में; वैसा ही नृत्य है उसके हृदय में दबा। जब प्रगट होगा, जब वह अपनी महिमा में प्रगट होगी, तो एक दूसरी मीरा प्रगट होगी। ठीक समय की प्रतीक्षा है; कभी भी किरण उतरेगी और अंधकार कटेगा। और हिम्मतवर है--इसलिए भविष्यवाणी की जा सकती है कि होगा।

किंतु नहीं क्या यही धुंध है सदावर्त
जिसमें नीरंध्र तुम्हारी करुणा
बंटती रहती है दिन-ऱ्याम
कभी झांक जाने वाली छाया ही
अंतिम भाषा, संभव नाम
करुणाधाम
बीजमंत्र यह
सारसूत्र यह
गहराई का एक यही परिमाण
हमारा यही प्रणाम
धुंध ढंकी,
कितनी गहरी वापिका तुम्हारी,
लघु अंजुली हमारी!

प्रभु के सामने तो हमारे हाथ सदा छोटे ही पड़ जाते हैं! हमारी अंजुली छोटी है!

धुंध ढंकी
कितनी गहरी वापिका तुम्हारी,
लघु अंजुली हमारी!

जिनके हृदय में भी प्रेम है, उन्हें सदा ही लगेगा हमारी अंजुली बड़ी छोटी है।

पूछा है जया ने--

"हे प्रिय प्यारे, प्रणाम ले लो
इन आंसुओं को मुकाम दे दो
तुमने तो भर दी है झोली
फिर भी मैं कोरी की कोरी।"

यह कुछ ऐसा भराव है, कि इसमें आदमी और-और शून्य होता चला जाता है। यह शून्य का ही भराव है। यह शून्य से ही भराव है। तुम्हें कोरे करने का ही मेरा प्रयास है। अगर तुम कोरे हो गये तो मैं सफल हो गया। अगर तुम भरे रह गये तो मैं असफल हो गया। तुम जब बिलकुल कोरे हो जाओगे और तुम्हारे भीतर कुछ भी न रह जायेगा--कोई रेखा, कोई शब्द, कोई कूड़ा-कचरा--तुम्हारी उस शून्यता में ही परमात्मा प्रगट होगा।

जया से कहूंगा:

जा, आत्मा जा

कन्या वधु का,

उसकी अनुगा

वह महाशून्य ही अब तेरा पथ

वह महाशून्य ही अब तेरा पथ

लक्ष्य अन्य जल पालक

पति आलोक धर्म

तुझको वह एकमात्र सरसायेगा

ओ आत्मा री!

तू गई वरी

ओ संपृक्ता

ओ परिणीता,

महाशून्य के साथ भांवरें तेरी रची गईं।

महाशून्य के साथ भांवरें तेरी रची गईं! यह रिक्त होना, यह कोरा होते जाना--महाशून्य के साथ भांवरों का रच जाना है। नाचते, उस शून्य के महाभाव को प्रगट करते, गुनगुनाते, मस्त, खोते जाना है!

होते जाने का एक ही उपाय है--खोते जाना है। यहां तुम पूरे शून्य हुए कि वहां परमात्मा पूरी तरह उतरा। तुम ही बाधा हो। इसलिए घबड़ाओ मत! कोरे हो गये, तो सब हो गया।

महाराष्ट्र में कथा है कि एकनाथ ने निवृत्तिनाथ को पत्र लिखा--कोरा कागज! कुछ लिखा नहीं। निवृत्तिनाथ ने बड़े गौर से पढ़ा--कोरा कागज! पढ़ने को वहां कुछ था भी नहीं। खूब-खूब पढ़ा! बार-बार पढ़ा! फिर-फिर पढ़ा! पास मुक्ताबाई बैठी थी, फिर उसे दिया, फिर उसने पढ़ा। उसके तो आंसू बहने लगे! वह तो गदगद हो गई! और लोग मौजूद थे, वे कहने लगे, यह बड़ा पागलपन हुआ! पहले तो एकनाथ पागल कि कोरा कागज भेजा। चिट्ठी, कुछ लिखा तो हो! फिर वह निवृत्तिनाथ पागल, कि पढ़ रहा है; एक बार ही नहीं, बार-बार पढ़ रहा है। फिर हद मजा कि यह मुक्ताबाई, ये गदगद हो कर आंसू बहने लगे!

सब शास्त्र कोरे कागज हैं! और अगर कोरा कागज पढ़ना आ जाये, तो सब शास्त्र पढ़ने आ गये--वेद, कुरान, गुरुग्रंथ, गीता, उपनिषद, बाइबिल, धम्मपद। जिसने कोरा कागज पढ़ लिया, सब आ गया!

तुम कोरे कागज जैसे हो जाओ, इसी चेष्टा में संलग्न हूं। तुम्हें मिटाने में लगा हूं, क्योंकि तुम ही बाधा हो।

अरी ओ आत्मा री,

कन्या भोली क्वांरी

महाशून्य के साथ भांवरें तेरी रची गईं।

हरि ॐ तत्सत्!

नौवां प्रवचन

मेरा मुझको नमस्कार

जनक उवाच।

प्रकाशो में निजं रूपं नातिरिक्तोऽस्म्यहं ततः।
यदा प्रकाशते विश्वं तदाऽऽहंभास एव हि।। 28।।
अहो विकल्पितं विश्वमज्ञानान्मयि भासते।
रूप्यं शुक्तौ फणी रज्जौ वारि सूर्यकरे यथा।। 29।।
मत्तो विनिर्गतं विश्वं मय्येव लयमेष्यति।
मृदि कुम्भो जले वीचिः कनके कटकं यथा।। 30।।
अहो अहं नमो मह्यं विनाशो यस्य नास्ति में।
ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तं जगन्नाशेऽपि तिष्ठतः।। 31।।
अहो अहं नमो मह्यमेकोऽहं देहवानपि।
क्वचिन्नगन्ता नागन्ता व्याप्त विश्वम्वास्थितः।। 32।।
अहो अहं नमो मह्यं दक्षो नास्तीह मत्समः।
असंस्पृश्य शरीरेण येन विश्वं चिरं धृतम्।। 33।।
अहो अहं नमो मह्यं यस्य मे नास्ति किंचन।
अथवा यस्य में सर्वं यब्दाङ्मनसगोचरम्।। 34।।

धर्म अनुभूति है, विचार नहीं। विचार धर्म की छाया भी नहीं बन पाता। और जो विचार में ही उलझ जाते हैं, वे धर्म से सदा के लिए दूर रह जाते हैं। विचारक जितना धर्म से दूर होता है उतना कोई और नहीं!

जैसे प्रेम एक अनुभव है, ऐसे ही परमात्मा भी एक अनुभव है। और अनुभव करना हो, तो समग्रता से ही संभव है।

विचार की प्रक्रिया मनुष्य का छोटा-सा अंश है--और अंश भी बहुत सतही, बहुत गहरा नहीं। अंश भी अंतस्तल का नहीं; केंद्र का नहीं, परिधि का; न हो तो भी आदमी जी सकता है। और अब तो विचार करने वाले यंत्र निर्मित हुए हैं, उन्होंने तो बात बहुत साफ कर दी कि विचार तो यंत्र भी कर सकता है; मनुष्य की कुछ गरिमा नहीं!

अरिस्टोटल या उस जैसे विचारकों ने मनुष्य को विचारवान प्राणी कहा है। अब उस परिभाषा को बदल देना चाहिए, क्योंकि अब तो कंप्यूटर विचार कर लेता है--और मनुष्य से ज्यादा दक्षता से, ज्यादा निपुणता से; मनुष्य से तो भूल भी होती है, कंप्यूटर से भूल की संभावना नहीं।

मनुष्य की गरिमा उसके विचार में नहीं है। मनुष्य की गरिमा उसके अनुभव में है।

जैसे तुम स्वाद लेते हो किसी वस्तु का, तो स्वाद केवल विचार नहीं है। घटा! तुम्हारे रोएं-रोएं में घटा। तुम स्वाद से मगन हुए।

जैसे तुम शराब पी लेते हो, तो पीने का परिणाम तुम्हारे विचार में ही नहीं होता, तुम्हारे हाथ-पैर भी डांवांडोल होने लगते हैं। शराबी को चलते देखा? शराब रोएं-रोएं तक पहुंच गयी! चाल में भी झलकती है, आंख में भी झलकती है, उसके उठने-बैठने में भी झलकती है, उसके विचार में भी झलकती है; लेकिन उसके समग्र को घेर लेती है।

धर्म तो शराब जैसा है--जो पीयेगा, वही जानेगा; जो पी कर मस्त होगा, वही अनुभव करेगा।

जनक के ये वचन उसी मदिरा के क्षण में कहे गये हैं। इन्हें अगर तुम बिना स्वाद के समझोगे, तो भूल हो जाने की संभावना है। तब इनका अर्थ तुम्हें कुछ और ही मालूम पड़ेगा। तब इनमें तुम ऐसे अर्थ जोड़ लोगे जो तुम्हारे हैं।

जैसे कि कृष्ण कहते हैं गीता में: सर्व धर्मान परित्यज्य, मामेकं शरणं व्रज। --सब छोड़-छाड़ अर्जुन, तू मेरी शरण आ!

जब तुम पढ़ोगे तो ऐसा लगेगा यह घोषणा तो बड़े अहंकार की हो गयी; "सब छोड़-छाड़, मेरी शरण में आ! मेरी शरण में!"

तो इस "मेरे" का जो अर्थ तुम करोगे, वह तुम्हारा होगा, कृष्ण का नहीं होगा। कृष्ण में तो कोई "मैं" बचा नहीं है। यह तो सिर्फ कहने की बात है। यह तो प्रतीक की बात है। तुमने प्रतीक को बहुत ज्यादा समझ रखा है। तुम्हारी भ्रांति के कारण प्रतीक तुम्हें सत्य हो गया है। कृष्ण के लिए केवल व्यवहारिक है, पारमार्थिक नहीं।

तुमने देखा, अगर कोई आदमी राष्ट्रीय झंडे पर थूक दे, तो मार-काट हो जाये, झगड़ा हो जाये, युद्ध हो जाये: "राष्ट्रीय झंडे पर थूक दिया!" लेकिन तुमने कभी सोचा कि राष्ट्रीय झंडा राष्ट्र का प्रतीक है, और राष्ट्र पर तुम रोज थूकते हो, कोई झगड़ा खड़ा नहीं करता! पृथ्वी पर तुम थूक दो, कोई झगड़ा खड़ा नहीं होता। जब भी तुम थूक रहे हो, तुम राष्ट्र पर ही थूक रहे हो--कहीं भी थूको। राष्ट्र पर थूकने से कोई झगड़ा खड़ा नहीं होता। राष्ट्र का जो प्रतीक है, संकेत-मात्र, ऐसे तो कपड़े का टुकड़ा है--लेकिन उस पर अगर कोई थूक दे तो युद्ध भी हो सकते हैं।

मनुष्य प्रतीकों को बहुत मूल्य दे देता है--इतना मूल्य, जितना उनमें नहीं है। मनुष्य अपने अंधेपन में प्रतीकों में जीने लगता है।

कृष्ण जब "मैं" शब्द का प्रयोग करते हैं, तो केवल व्यावहारिक है; बोलना है, इसलिए करते हैं; कहना है, इसलिए करते हैं। लेकिन कहने और बोलने के बाद वहां कोई "मैं" नहीं है। अगर तुम आंख में आंख डाल कर कृष्ण की देखोगे तो वहां तुम किसी "मैं" को न पाओगे। वहां परम सन्नाटा है, शून्य है। वहां मैं विसर्जित हुआ है। इसलिए तो इतनी सरलता से कृष्ण कह पाते हैं कि आ, मेरी शरण आ जा! जब वे कहते हैं कि आ, मेरी शरण आ जा, तो हमें लगेगा बड़े अहंकार की घोषणा हो गयी। क्योंकि हम "मैं" का जो अर्थ जानते हैं वही अर्थ तो करेंगे।

जनक के ये वचन तो तुम्हें और भी चकित कर देंगे। ऐसे वचन पृथ्वी पर दूसरे हैं ही नहीं। कृष्ण ने तो कम-से-कम कहा था, "आ, मेरी शरण आ"; जनक के ये वचन तो कुछ ऐसे हैं कि तुम भरोसा न करोगे।

इन वचनों में जनक कहते हैं कि "अहो! अहो, मेरा स्वभाव! अहो, मेरा प्रकाश! आश्चर्य! यह मैं कौन हूं! मैं अपनी ही शरण जाता हूं! नमस्कार मुझे!" यह तुम हैरान हो जाओगे।

इन वचनों में जनक अपने को नमस्कार करते हैं। यहां तो दूसरा भी नहीं बचा। बार-बार कहते हैं, "मैं आश्चर्यमय हूं! मुझको नमस्कार है!"

अहो अहं नमो मह्मं विनाशो यस्य नास्ति मे।

मैं इतने आश्चर्य से भर गया हूं, मैं स्वयं आश्चर्य हूं। मैं अपने को नमस्कार करता हूं। क्योंकि सभी नष्ट हो जायेगा, तब भी मैं बचूंगा। ब्रह्मा से ले कर कण तक सब नष्ट हो जायेगा, फिर भी मैं बचूंगा। मुझे नमस्कार है! मुझ जैसा दक्ष कौन! संसार में हूं--और अलिप्त! जल में कमलवत! मुझे नमस्कार है!

मनुष्य-जाति ने ऐसी उदघोषणा कभी सुनी नहीं: "अपने को ही नमस्कार!" तुम कहोगे, यह तो अहंकार की हद हो गयी। दूसरे से कहते, तब भी ठीक था, यह अपने ही पैर छू लेना... !

ऐसा उल्लेख है रामकृष्ण के जीवन में कि एक चित्रकार ने रामकृष्ण का चित्र उतारा। वह जब चित्र लेकर आया, तो रामकृष्ण के भक्त बड़े संकोच में पड़ गये; क्योंकि रामकृष्ण उस चित्र को देख-देख कर उसके चरण

छूने लगे। वह उन्हीं का चित्र था। उसे सिर से लगाने लगे। किसी भक्त ने कहा, परमहंसदेव, आप पागल तो नहीं हो गए हैं? यह चित्र आपका है।

रामकृष्ण ने कहा, खूब याद दिलायी, मुझे तो चित्र समाधि का दिखा। जब मैं समाधि की अवस्था में रहा होऊंगा, तब उतारा गया। खूब याद दिलायी, अन्यथा लोग मुझे पागल कहते। मैं तो समाधि को नमस्कार करने लगा। यह चित्र समाधि का है, मेरा नहीं।

लेकिन जिन्होंने देखा था, उन्होंने तो यही समझा होगा न कि हुआ पागल आदमी। अपने ही चित्र के पैर छूने लगा! अपने चित्र को सिर से लगाने लगा! अब और क्या पागलपन होगा? अहंकार की यह तो आखिरी बात हो गयी, इसके आगे तो अहंकार का कोई शिखर नहीं हो सकता।

जनक इन वचनों में मस्ती में बोल रहे हैं। एक स्वाद उत्पन्न हुआ है! मगन हो गये हैं! नाच सकते होते मीरा जैसे, तो नाचे होते। गा सकते होते चैतन्य जैसे, तो गाते। बांसुरी बजा सकते कृष्ण जैसी, तो बांसुरी बजाते।

हर व्यक्ति की अलग-अलग संभावना है अभिव्यक्ति की। जनक सम्राट थे, सुसंस्कृत पुरुष थे, सुशिक्षित पुरुष थे, प्रतिभावान थे, नवनीत थे प्रतिभा के--तो उन्होंने जो वचन कहे वे मनुष्य-जाति के इतिहास में स्वर्ण-अक्षरों में लिखे जाने योग्य हैं। इन वचनों को समझने के लिए तुम अपने अर्थ बीच से हटा देना।

करना है हमें कुछ दिनसंसार का नजारा
इंसान का जीवन तोदर्शन का झरोखा है
ये अक्ल भी क्या शै है
जिसने दिले-रंगीं कोहर काम से रोका है
हर बात पे टोका है
आरास्ता ए मानी
तखईल है शायर की
लफ्जों में उलझ जाना
फन काफिया-गो का है
ये अक्ल भी क्या शै है
जिसने दिले-रंगीं को
हर काम से रोका है,
हर बात पे टोका है!

जब भी हृदय में कोई तरंग उठती है, तो बुद्धि तत्क्षण रोकती है। जब भी कोई भाव गहन होता है, बुद्धि तत्क्षण दखलंदाजी करती है।

ये अक्ल भी क्या शै हैजिसने दिले-रंगीं कोहर काम से रोका है, हर बात पे टोका है!

तुम इस अक्ल को थोड़ा किनारे रख देना--थोड़ी देर को ही सही, क्षण भर को ही सही। उन क्षणों में ही बादल हट जाएंगे, सूरज का दर्शन होगा। अगर इस अक्ल को तुम हटा कर न रख पाओ, तो यह टोकती ही चली जाती है। टोकना इसकी आदत है। टोकना इसका स्वभाव है। दखलंदाजी इसका रस है।

और धर्म का संबंध है हृदय से, वह तरंग खराब हो जायेगी। उस तरंग पर बुद्धि का रंग चढ़ जायेगा, और बात खो जायेगी। तुम कुछ का कुछ समझ लोगे।

आरास्ता ए मानी,
तखईल है शायर की!

जो वास्तविक कवि है, मनीषी है, ऋषि है, वह तो अर्थ पर ध्यान देता है।

आरास्ता ए मानी,
तखईल है शायर की!

उसकी कल्पना में तो अर्थ के फूल खिलते हैं, अर्थ की सुगंध उठती है।

लफ्जों में उलझ जाना फन काफिया-गो का है।

लेकिन जो तुकबंद है, काफिया-गो, वह शब्दों में ही उलझ जाता है। वह कवि नहीं है। तुकबंद तो शब्दों के साथ शब्दों को मिलाए चला जाता है। तुकबंद को अर्थ का कोई प्रयोजन नहीं होता; शब्द से शब्द मेल खा जाएं, बस काफी है।

बुद्धि तुकबंद है, काफिया-गो है। अर्थ का रहस्य, अर्थ का राज, तो हृदय में छिपा है। तो बुद्धि को हटा कर सुनना, तो ही तुम सुन पाओगे।

मैंने सुना है, मुल्ला नसरुद्दीन एक कपड़े वाले की दुकान पर गये, और एक कपड़े की ओर इशारा करके पूछने लगे, भाई, इस कपड़े का क्या भाव है?

दुकानदार बोला, मुल्ला, पांच रुपये मीटर!

मुल्ला ने कहा, साढ़े चार रुपये में देना है?

दुकानदार बोला, बड़े मियां, साढ़े चार में तो घर में पड़ता है।

तो मुल्ला ने कहा, ठीक, फिर ठीक। तो ठीक है, घर से ही ले लेंगे।

आदमी अपना अर्थ डाले चला जाता है।

एक रोगी ने एक दांत के डाक्टर से पूछा, कि क्या आप बिना कष्ट के दांत निकाल सकते हैं?

डाक्टर ने कहा, हमेशा नहीं। अभी कल की ही बात है। एक व्यक्ति का दांत मरोड़ कर निकालते समय मेरी कलाई उतर गयी!

डाक्टर का दर्द अपना है। दांत निकलवाने जो आया है, उसकी फिक्र दूसरी है; उसका दर्द अपना है।

मुल्ला नसरुद्दीन को एक जगह नौकरी पर रखा गया। मालिक ने कहा, जब तुम्हें नौकरी पर रखा गया था, तब तुमने कहा था कि तुम कभी थकते नहीं, और अभी-अभी तुम मेज पर टांग पसार कर सो रहे थे।

मुल्ला ने कहा, मालिक, मेरे न थकने का यही तो राज है।

हम अपने अर्थ डाले चले जाते हैं। और जब तक हम अपने अर्थ डालने बंद न करें, तब तक शास्त्रों के अर्थ प्रगट नहीं होते! शास्त्र को पढ़ने के लिए एक विशेष कला चाहिए, शास्त्र को पढ़ने के लिए धारणा-रहित, धारणा-शून्य चित्त चाहिए। शास्त्र को पढ़ने के लिए व्याख्या करने की जल्दी नहीं; श्रवण का, स्वाद का, संतोष-पूर्वक, धैर्यपूर्वक आस्वादन करने की क्षमता चाहिए।

सुनो इन सूत्रों को--

"प्रकाश मेरा स्वरूप है। मैं उससे अलग नहीं हूं जब संसार प्रकाशित होता है, तब वह मेरे प्रकाश से ही प्रकाशित होता है।"

प्रकाशो मे निजं रूपं नातिरिक्तोऽस्म्यहं ततः।

यह सारा जगत मेरे ही प्रकाश से प्रकाशित है, कहते हैं जनक।

निश्चित ही यह प्रकाश "मैं" का प्रकाश नहीं हो सकता, जिसकी जनक बात कर रहे हैं। यह प्रकाश तो "मैं-शून्यता" का ही प्रकाश हो सकता है। इसलिए भाषा पर मत जाना, काफिया-गो मत बनना, बुद्धि की दखलंदाजी मत करना। सीधा-सादा अर्थ है, इसे इरछा-तिरछा मत कर लेना।

"प्रकाश मेरा स्वरूप है।"

कहने को तो ऐसा ही कहना पड़ेगा, क्योंकि भाषा तो अज्ञानियों की है। ज्ञानियों की तो कोई भाषा नहीं। इसलिए कभी अगर दो ज्ञानी मिल जायें तो चुप रह जाते हैं, बोलें भी क्या? न तो भाषा है कुछ, न बोलने को है कुछ। न विषय है बोलने के लिए कुछ, न जिस भाषा में बोल सकें वह है।

कहते हैं, फरीद और कबीर का मिलना हुआ था, दो दिन चुप बैठे रहे। एक दूसरे का हाथ हाथ में ले लेते, गले भी लग जाते, आंसुओं की धार भी बहती, खूब मगन होकर डोलने भी लगते!

शिष्य तो घबड़ा गये। शिष्यों की बड़ी आकांक्षा थी कि दोनों बोलेंगे, तो हम पर वर्षा हो जायेगी। कुछ कहेंगे, तो हम सुन लेंगे। एक शब्द भी पकड़ लेंगे तो सार्थक हो जायेगा जीवन।

लेकिन बोले ही नहीं। दो दिन बीत गए। वे दो दिन बड़े लंबे हो गये। शिष्य प्रतीक्षा कर रहे हैं, और कबीर और फरीद चुप बैठे हैं। अंततः जब विदा हो गये, कबीर विदा कर आये फरीद को, तो फरीद के शिष्यों ने पूछा, क्या हुआ? बोले नहीं आप? ऐसे तो आप सदा बोलते हैं। हम कुछ भी पूछते हैं तो बोलते हैं। और हम इसी आशा में तो आपको मिलाए कबीर से कि कुछ आप दोनों के बीच होगी बात, कुछ रस बहेगा, तो हम अभागे भी थोड़ा-बहुत उसमें से पी लेंगे। दोनों किनारों को पास कर दिया था--गंगा बहेगी, हम भी स्नान कर लेंगे; लेकिन गंगा बही ही नहीं। मामला क्या हुआ?

फरीद ने कहा, कबीर और मेरे बीच बोलने को कुछ न था, न बोलने की कोई भाषा थी। न पूछने को कुछ था, न कहने को कुछ था। था बहुत कुछ, धारा बही भी, गंगा बही भी; लेकिन शब्द की न थी, मौन की थी।

यही कबीर से उनके शिष्यों ने पूछा कि क्या हुआ? आप चुप क्यों हो गये? आप तो ऐसे हो गये जैसे सदा से गूंगे हों!

कबीर ने कहा, पागलो! अगर फरीद के सामने बोलता, तो अज्ञानी सिद्ध होता। जो बोलता वही अज्ञानी सिद्ध होता। न बोले ही जहां काम चलता हो, वहां बोलने की बात ही कहां? जहां सूई से काम चलता हो वहां तलवार पागल उठाते हैं। यहां बिना बोले चल गया। खूब धारा बही! देखा नहीं, कैसे आंसू बहे, कैसी मस्ती रही!

शब्द की कोई जरूरत नहीं दो ज्ञानियों के बीच। दो अज्ञानियों के बीच शब्द ही शब्द होते हैं, अर्थ बिल्कुल नहीं होता। दो ज्ञानियों के बीच अर्थ ही अर्थ होता है, शब्द बिल्कुल नहीं होते। अज्ञानी और ज्ञानी के बीच शब्द भी होते हैं, अर्थ भी होते हैं। संभाषण के लिए एक ज्ञानी चाहिए, एक अज्ञानी चाहिए।

दो अज्ञानी हों तो विवाद होता है। संभाषण तो हो नहीं सकता, संवाद हो नहीं सकता; सिर- फुटौवल हो सकती है। दो ज्ञानी हों, शब्द से संवाद नहीं होता, किसी और गहन लोक में केंद्रों का मिलन होता है। सम्मिलन हो जाता है, संवाद की जरूरत क्या? बिन कहे बात पहुंच जाती है, बिन बताये दर्शन हो जाता है। एक अज्ञानी और एक ज्ञानी के बीच संवाद की संभावना है। ज्ञानी बोलने को राजी हो, अज्ञानी सुनने को राजी हो, तो संवाद हो सकता है।

शास्त्रों के वचन एक अर्थ में सदा विरोधाभासी हैं; पैराडाक्सिकल हैं। क्योंकि शास्त्र जो कहते हैं, वह कहा नहीं जा सकता, और जो नहीं कहा जा सकता, उसको कहने की चेष्टा करते हैं। अनुकंपा है कि किन्हीं बुद्धपुरुषों ने कहने की चेष्टा की है--उसको--जो नहीं कहा जा सकता। आंखें हमारी उठाने की आकांक्षा की है उस तरफ, जहां हम आंखें उठाना भूल ही गये। हमें आकाश के थोड़े दर्शन कराये। हम तो जमीन पर सरकते, रेंगते, हमने सिर उठाना बंद कर दिया है।

कहते हैं, मंसूर को जब फांसी लगी, और जब वह सूली पर लटका हुआ हंसने लगा। तो कोई एक लाख लोगों की भीड़ थी, उनमें से किसी ने पूछा, मंसूर, तुम हंस क्यों रहे हो?

मंसूर ने कहा, मैं इसलिए हंस रहा हूं कि चलो यह अच्छा ही हुआ कि फांसी लगी, तुमने कम से कम थोड़ा आंख तो ऊपर उठाकर देखा!

सूली पर लटका था तो लोगों को सिर ऊपर करके देखना पड़ रहा था। तो मंसूर ने कहा, तुमने कम से कम--चलो इस बहाने सही--थोड़ा आकाश की तरफ तो आंखें उठाईं। इसलिए प्रसन्न हूं कि यह सूली ठीक ही हुई। शायद मुझे देखते-देखते तुम्हें वह दिख जाये, जो मेरे भीतर छिपा है। शायद इस मृत्यु की घड़ी में, मृत्यु के

आघात में, तुम्हारे विचार की प्रक्रिया बंद हो जाये, और क्षण भर को आकाश खुल जाये! और तुम्हें उसके दर्शन हो जायें, जो मैं हूं!

प्रकाशो मे निजं रूपं

--प्रकाश मेरा स्वरूप है।

नातिरिक्तोऽस्म्यहं ततः

--मैं उससे अलग नहीं, प्रकाश से अलग नहीं।

यह जो प्रकाश का अंतःस्रोत है, यह तभी उपलब्ध होता है, जब "मैं" चला जाता है। लेकिन कहो, तो कैसे कहो? जब कहना होता है तो "मैं" को फिर ले आना होता है।

"जब संसार प्रकाशित होता है, तब वह मेरे प्रकाश से ही प्रकाशित होता है।"

निश्चित ही जनक यहां जनक नाम के व्यक्ति के संबंध में नहीं बोल रहे हैं। व्यक्ति तो खो गया, व्यक्ति की लहर तो गई--यह तो सागर बचा! यह सागर हम सबका है। यह घोषणा जनक की, उनके ही संबंध में नहीं, तुम्हारे संबंध में भी है; जो कभी हुए, उनके संबंध में; जो कभी होंगे, उनके संबंध में! यह समस्त अस्तित्व के संबंध में घोषणा है।

तुम जरा मिटना सीखो, तो इसका स्वाद लगने लगे। और स्वाद लगेगा, तो ऐसी घोषणाएं तुमसे भी उठेंगी। इन्हें रोकना मुश्किल है।

मंसूर को पता था कि अगर उसने इस तरह की बात कहीः "अनलहक", "अहं ब्रह्मास्मि", कि "मैं ही परमात्मा हूं," तो सूली लगेगी; मुसलमानों की भीड़ उसे बर्दाश्त न कर सकेगी; अंधों की भीड़ उसे देख न पायेगी। फिर भी उसने घोषणा की। उसके मित्रों ने उसे कहा भी ऐसी घोषणा न करो, ऐसी घोषणा खतरनाक होगी। मंसूर भी जानता है कि ऐसी घोषणा खतरनाक हो सकती है, लेकिन यह घोषणा रुक न सकी। जब फूल खिलता है तो सुगंध बिखरेगी ही। जब दीया जलेगा तो प्रकाश फैलेगा ही। फिर जो हो, हो।

रहीम का एक वचन हैः

खैर, खून, खांसी, खुशी, वैर, प्रीत, मधुपान,

रहिमन दाबे न दबे, जानत सकल जहान।

कुछ बातें हैं, जो दबाये नहीं दबतीं। साधारण मदिरा पी लो, तो कैसे दबाओगे? अक्सर ऐसा होता है कि शराब पीने वाला जितना दबाने की कोशिश करता है उतना ही प्रगट होता है। ख्याल किया तुमने? शराबी बड़ी चेष्टा करता है कि किसी को पता न चले! सम्हल कर बोलता है। उसी में पता चलता है। सम्हल कर चलता है, उसी में डांवांडोल हो जाता है। होशियारी दिखाना चाहता है कि किसी को पता न चले।

मुल्ला नसरुद्दीन एक रात पी कर घर लौटा। तो बहुत विचार करके लौटा कि आज पत्नी को पता न चलने देगा। क्या करना चाहिए? सोचा कि चल कर कुरान पढ़ूं। कभी सुना कि शराबी और कुरान पढ़ता हो! जब कुरान पढ़ूंगा तो साफ हो जायेगा कि शराब पी कर नहीं आया हूं। कभी शराबियों ने कुरान पढ़े!

घर पहुंचा, प्रकाश जला कर बैठ गया, कुरान पढ़ने लगा। आखिर पत्नी आई, और उसने उसे झकझोरा और कहा कि बंद करो यह बकवास! यह सूटकेस खोले किसलिए बैठे हो?

कुरान शराबी खोजे कैसे? सूटकेस मिल गया उनको, उसे खोल कर पढ़ रहे थे!

ऐसे छिपाना संभव नहीं है। और जब साधारण मदिरा नहीं छिपती तो प्रभु-मदिरा कैसे छिपेगी? आंखों से मस्ती झलकने लगती है। आंखें मदहोश हो जाती हैं। वचनों में किसी और लोक का रंग छा जाता है। वचन सतरंगे हो जाते हैं। वचनों में इंद्रधनुष फैल जाते हैं। साधारण गद्य भी बोलो तो पद्य हो जाता है। बात करो तो गीत जैसी मालूम होने लगती है। चलो तो नृत्य जैसा लगता है। नहीं, छिपता नहीं!

खैर, खून, खांसी, खुशी, वैर, प्रीत, मधुपान,

रहिमन दाबे न दबे, जानत सकल जहान।

उदघोषणा होकर रहती है।

सत्य स्वभावतः उदघोषक है। जैसे ही सत्य की घटना भीतर घटती, तुम्हारे अनजाने उदघोषणा होने लगती है।

जनक ने ये शब्द सोच-सोच कर नहीं कहे हैं; सोच-सोच कर कहते तो संकोच खा जाते। अभी-अभी अष्टावक्र को लाये हैं, अभी-अभी अष्टावक्र ने थोड़ी-सी बातें कही हैं--और जनक को घटना घट गई! संकोच करते, अगर बुद्धि से हिसाब लगाते, कहते, "क्या सोचेंगे अष्टावक्र कि मैं अज्ञानी, और ऐसी बातें कह रहा हूं! ये तो परम ज्ञानियों के योग्य हैं। इतने जल्दी कहीं घटना घटती है! अभी सुना और घट गई, ऐसा कहीं हुआ है! समय लगता है, जनम-जनम लगते हैं, बड़ी दूभर यात्रा है; खड्ग की धार पर चलना होता है।" सब बातें याद आई होतीं, और सोच कर कहा होता कि इतने दूर तक ऐसी घोषणा मत करो।

लेकिन यह घोषणा अपने से हो रही है, यह मैं तुम्हें याद दिलाना चाहता हूं। जनक कह रहे हैं, ऐसा कहना ठीक नहीं; जनक से कहा जा रहा है, ऐसा कहना ठीक है।

"आश्चर्य है कि कल्पित संसार अज्ञान से मुझमें ऐसा भासता है, जैसे सीपी में चांदी, रस्सी में सांप, सूर्य की किरणों में जल भासता है।"

अहो विकल्पितं विश्वमज्ञानान्मयि भासते।

रूप्यं शुक्तौ फणी रज्जौ वारि सूर्यकरे यथा।।

जैसे सीपी में चांदी का भ्रम हो जाता, रस्सी में कभी अंधेरे में सांप की भ्रांति हो जाती है और मरुस्थल में सूर्य की किरणों के कारण कभी-कभी मरूद्यान का भ्रम हो जाता है, मृग-मरीचिका पैदा हो जाती है।

आश्चर्य है! यह घटना इतनी आकस्मिक घटी है, यह घटना इतनी तीव्रता से घटी है, यह जनक को बोध इतना त्वरित हुआ है कि जनक सम्हल नहीं पाये! आश्चर्य से भरे हैं। जैसे एक छोटा-सा बच्चा परियों के लोक में आ गया हो, और हर चीज लुभावनी हो, और हर चीज भरोसे के बाहर हो।

तरतूलियन ने कहा हैः जब तक परमात्मा का दर्शन नहीं हुआ, तब तक अविश्वास रहता है; और जब परमात्मा का दर्शन हो जाता है, तब भी अविश्वास रहता है।

उसके शिष्यों ने पूछाः हम समझे नहीं। हमने तो सुना है कि जब परमात्मा का दर्शन हो जाता है, तो विश्वास आ जाता है।

तरतूलियन ने कहाः जब तक दर्शन नहीं हुआ, अविश्वास रहता है कि परमात्मा हो कैसे सकता है? असंभव! अनुभव के बिना कैसे विश्वास! और जब परमात्मा का अनुभव होता है, तो भरोसा नहीं आता कि इतना आनंद हो सकता है! इतना प्रकाश! इतना अमृत! तब भी असंभव लगता है। जब तक नहीं हुआ, तब तक असंभव लगता है; जब हो जाता है, तब और भी असंभव लगता है।

ठीक उसी दशा में हैं जनक।

आश्चर्य! सिर्फ कल्पित है सब कुछ। मैं ही केवल सत्य हूं, साक्षी-मात्र सत्य है और सब भासमान, और सब माया!

"मुझसे उत्पन्न हुआ यह संसार मुझमें वैसे ही लय को प्राप्त होगा, जैसे मिट्टी में घड़ा, जल में लहर, सोने में आभूषण लय होते हैं।"

फर्क देख रहे हैं? जनक का मनुष्य-रूप खो रहा है, परमात्म-रूप प्रगट हो रहा है।

स्वामी रामतीर्थ अमरीका गये। वे मस्त आदमी थे। किसी ने पूछा, दुनिया को किसने बनाया? वे मस्ती में होंगे, समाधि का क्षण होगा--कहा, "मैंने!" अमरीका में ऐसी बात, कोई भरोसा नहीं करेगा। चलती है, भारत में

चलती है। इस तरह के वक्तव्य भी चल जाते हैं। बड़ी सनसनी फैल गई--लोगों ने पूछा, "आप होश में तो हैं? चांद-तारे आपने बनाये?" कहा--"मैंने बनाये, मैंने ही चलाये, तब से चल रहे हैं।"

इस वक्तव्य को समझना कठिन है। और अगर उनके अमरीकी श्रोता न समझ सके, तो आश्चर्य नहीं करना चाहिए। स्वाभाविक है। यह वक्तव्य राम का नहीं है; या अगर है, तो असली राम का है--रामतीर्थ का तो नहीं है। इस घड़ी में रामतीर्थ लहर की तरह नहीं बोल रहे हैं, सागर की तरह बोल रहे हैं; सनातन, शाश्वत की तरह बोल रहे हैं, सामयिक की तरह नहीं बोल रहे; शरीर और मन में सीमित-परिभाषित मनुष्य की तरह नहीं बोल रहे--शरीर और मन के पार, अपरिभाषित, अज्ञेय की भांति बोल रहे हैं। राम से राम ही बोले, रामतीर्थ नहीं। यह उदघोषणा परमात्मा की है!

मगर बड़ा कठिन है, बड़ा मुश्किल है तय करना।

फिर राम भारत लौटे... तो गंगोत्री की यात्रा पर जाते थे। गंगा में स्नान कर रहे थे। छलांग लगा दी पहाड़ से। लिख गए एक छोटा-सा पत्र, रख गये कि "अब राम जाता है अपने असली स्वरूप से मिलने। पुकार आ गई है; अब इस देह में न रह सकूंगा। विराट ने बुलाया!"

अखबारों ने खबर छापी की आत्महत्या कर ली। ठीक है, अखबार भी ठीक कहते हैं। नदी में कूद गये, आत्महत्या हो गई। राम से पूछे कोई, तो राम कहेंगे, "तुम आत्महत्या किये बैठे हो, मुझको कहते हो मैंने आत्महत्या कर ली? मैंने तो सिर्फ सीमा तोड़ कर विराट के साथ संबंध जोड़ लिया। मैंने तो बाधा हटा दी बीच से। मैं मरा थोड़ी। मरा-मरा था, अब जीवंत हुआ, अब विराट के साथ जुड़ा। वह जो छोटी-सी जीवन की धार थी, अब सागर बनी। मैंने सीमा छोड़ी, आत्मा थोड़ी! आत्मा तो मैंने अब पाई, सीमा छोड़ कर पाई।"

इसलिए इसे सदा याद रखना जरूरी है, कि जब कभी तुम्हारे भीतर समाधि सघन होती है, जब समाधि के मेघ तुम्हारे भीतर घिरते हैं, तो जो वर्षा होती है, वह तुम्हारे अहंकार, अस्मिता की नहीं है। वह वर्षा तुमसे पार से आती है, तुमसे अतीत है।

इस घड़ी में जनक का व्यक्तित्व तो जा रहा है।

"मुझसे उत्पन्न हुआ यह संसार मुझमें वैसे ही लय को प्राप्त होगा, जैसे मिट्टी में घड़ा, जल में लहर, सोने में आभूषण लय होते हैं।"

न था कुछ तो खुदा था, कुछ न होता तो खुदा होता। डुबोया मुझको होने नेन होता मैं तो क्या होता?

डुबोया मुझको होने ने! हम कहेंगे रामतीर्थ ने आत्महत्या कर ली। रामतीर्थ कहेंगे, डुबोया मुझको होने ने! यह तो डूब कर गंगा में मैं पहली दफे हुआ। जब तक था, तब तक डूबा था।

न था कुछ तो खुदा था, कुछ न होता तो खुदा होता। डुबोया मुझको होने नेन होता मैं तो क्या होता?

खुदा होते! परमात्मा होते!

यह जो होने की सीमा है, इस सीमा को जब वस्त्र की भांति कोई उतारकर रख देता है, तो सत्य के दर्शन होते हैं। जैसे सांप अपनी केंचुली से निकल जाता है सरक कर, ऐसी ही घटना जनक को घटी। अष्टावक्र ने कैटेलिटिक की तरह काम किया होगा।

वैज्ञानिक कैटेलिटिक एजेंट की बात करते हैं। वे कहते हैं कि कुछ तत्व किन्हीं घटनाओं में सक्रिय रूप से भाग नहीं लेते, लेकिन उनकी मौजूदगी के बिना घटना नहीं घटती।

तुमने देखा, वर्षा में बिजली चमकती है! वैज्ञानिक कहते हैं कि आक्सीजन और हाइड्रोजन के मिलने से पानी बनता है, लेकिन हाइड्रोजन और आक्सीजन का मिलन तभी होता है जब बिजली मौजूद हो। अगर बिजली मौजूद न हो तो मिलन नहीं होता। यद्यपि बिजली कोई भी हिस्सा नहीं लेती, हाइड्रोजन और आक्सीजन के मिलने में बिजली कोई भी हाथ नहीं बटाती--सिर्फ मौजूदगी... ! इस तरह की मौजूदगी को वैज्ञानिकों ने नाम दिया है: कैटेलिटिक एजेंट।

गुरु कैटेलिटिक एजेंट है। वह कुछ करता नहीं, पर उसकी बिना मौजूदगी के कुछ होता भी नहीं। उसकी मौजूदगी में कुछ हो जाता है। यद्यपि करता वह कुछ भी नहीं, लेकिन सिर्फ उसकी मौजूदगी! इसे समझना। सिर्फ उसकी ऊर्जा तुम्हें घेरे रहती है। उस ऊर्जा के घिराव में तुममें बल उत्पन्न हो जाता है--बल तुम्हारा है। गीत फूटने लगते हैं--गीत तुम्हारे हैं। घोषणाएं घटने लगती हैं--घोषणाएं तुम्हारी हैं! लेकिन गुरु की मौजूदगी के बिना शायद घटतीं भी नहीं।

अष्टावक्र की मौजूदगी ने कैटेलिटिक एजेंट का काम किया। देखकर उस सौम्य, शांत, परम अवस्था को, जनक को अपना भूला घर याद आ गया होगा, झांक कर उन आंखों में, देखकर अपरंपार विस्तार, अपनी भूली-बिसरी संभावना स्मरण में आ गई होगी। सुनकर अष्टावक्र के वचन--सत्य में पगे, अनुभव में पगे--स्वाद जग गया होगा।

कहते हैं, एक व्यक्ति ने सिंह पाल रखा था। छोटा-सा बच्चा था, आंखें भी न खुली थीं--तब उसे घर ले आया था। उस सिंह ने कभी मांसाहार न किया था, खून का उसे कोई स्वाद भी न था। वह शाकाहारी सिंह था। शाक-सब्जी खाता, रोटी खाता। उसे पता ही न था। पता का कोई कारण भी न था। लेकिन एक दिन यह आदमी बैठा था अपनी कुरसी पर, इसके पैर में चोट लगी थी, और खून थोड़ा-सा झलका था। सिंह भी पास में बैठा था। बैठे-बैठे उसने जीभ से वह खून चाट लिया। बस! एक क्षण में रूपांतरण हो गया। सिंह गुर्राया। उस गुर्राहट में हिंसा थी। अभी तक वह जैनी था, अचानक सिंह हो गया। अभी तक शाकाहारी था। तो शुद्ध साक-सब्जी खाकर जैसी आवाज निकल सकती थी, निकलती थी। हालांकि अभी कोई मांसाहार कर नहीं लिया था, जरा-सा खून चखा था; लेकिन याद आ गई। रोएं-रोएं में सोई हुई सिंह की विस्मृत क्षमता जाग गई! कोई जग उठा! किसी ने अंगड़ाई ले ली! जो सोया था उसने आंख खोली। वह गुर्रा कर उठ खड़ा हुआ। फिर उसने हमले शुरू कर दिये। फिर उसे घर में रखना मुश्किल हो गया। फिर उसे जंगल में छोड़ देना पड़ा। इतने दिन तक वह सोया-सोया था, आज पहली दफा उसे याद आई कि मैं कौन हूं!

अष्टावक्र की छाया में जनक को याद आई कि मैं कौन हूं। और ये वचन, अगर जनक ने सोच कर कहे होते तो कह ही न सकते थे, संकोच पकड़ लेता। यह कोई आसान है कहना?

"मुझसे उत्पन्न हुआ यह संसार मुझमें वैसे ही लय को प्राप्त होगा, जैसे मिट्टी में घड़ा, जल में लहर, और सोने में आभूषण लय होते हैं।"

अष्टावक्र की छाया, अष्टावक्र की मौजूदगी, जगा गई। सोया था जो जन्मों-जन्मों से सिंह, गर्जना करने लगा! अपने स्वरूप की याद आ गई, आत्म-स्मृति हुई! यही तो सत्संग का अर्थ है।

सत्संग को पूरब में बहुत मूल्य दिया गया है, पश्चिम की भाषाओं में सत्संग के लिए कोई ठीक-ठीक शब्द ही नहीं है। क्योंकि सत्संग का कोई मूल्य पश्चिम में समझा नहीं गया।

सत्संग का अर्थ इतना ही हैः जिसने जान लिया हो, उसके पास बैठकर स्वाद संक्रामक हो जाता है। जिसने जान लिया हो, उसकी तरंगों में डूबकर, तुम्हारे भीतर की सोई हुई विस्मृत तरंगें सक्रिय होने लगती हैं, कंपन आने लगता है। सत्संग का इतना ही अर्थ है कि जो तुमसे आगे जा चुका हो, उसे जाया हुआ देखकर तुम्हारे भीतर चुनौती उठती हैः तुम्हें भी जाना है। रुकना फिर मुश्किल हो जाता है।

सत्संग का अर्थ गुरु के वचन सुनने से उतना नहीं, जितनी गुरु की मौजूदगी पीने से है, जितना गुरु को अपने भीतर आने देने, जितना गुरु के साथ एक लय में बद्ध हो जाने से है।

गुरु एक विशिष्ट तरंग में जी रहा है। तुम जब गुरु के पास होते हो, तब उसकी तरंगें, तुम्हारे भीतर भी वैसी ही तरंगों को पैदा करती हैं। तुम भी थोड़ी देर को ही सही, किसी और लोक में प्रवेश कर जाते हो, गेस्टाल्ट बदलता है। तुम्हारे देखने का ढांचा बदलता है। थोड़ी देर को तुम गुरु की आंखों से देखने लगते हो, गुरु के कान से सुनने लगते हो।

मैं तुमसे यह कहना चाहता हूं कि जब जनक ने ये वचन बोले, तो ये वचन भी अष्टावक्र के ही वचन हैं। कहते तो हैं--"जनक उवाच", लेकिन मैं तुम्हें याद दिलाना चाहता हूं यह "अष्टावक्र उवाच" ही है। वह जो अष्टावक्र ने कहा था, और वह जो अष्टावक्र की मौजूदगी थी, वही इतनी सघन हो गई है कि जनक तो गए, जनक तो बह गए बाढ़ में, उनका तो कोई पता-ठिकाना नहीं है, वह घर तो गिर गया। यह तो कोई और ही बोलने लगा!

"मुझसे उत्पन्न हुआ यह संसार, मुझमें वैसे ही लय को प्राप्त होगा, जैसे मिट्टी में घड़ा, जल में लहर, सोने में आभूषण लय होते हैं।"

मैं वो गुम-गुस्ता मुसाफिर हूं, कि आप अपनी मंजिल हूंमुझे हस्ती से क्या हासिल, मैं खुद हस्ती का हासिल हूं।

वो गुम-गुस्ता मुसाफिर हूं--मैं एक ऐसा भटका यात्री हूं, भूला-भटका यात्री, बटोही। कि आप अपनी मंजिल हूं--कि मुझे पता नहीं, लेकिन हूं मैं अपनी मंजिल।

मंजिल कहीं बाहर नहीं है। भटका हूं इसलिए कि भीतर झांक कर नहीं देखा है; अन्यथा भटकने का कोई कारण नहीं है। भटका हूं इसलिए कि आंख बंद करके नहीं देखा है। भटका हूं इसलिए कि अपने को पहचानने की कोई कोशिश नहीं की। और वहां खोज रहा हूं मंजिल, जहां मंजिल हो नहीं सकती।

वो गुम-गुस्ता मुसाफिर हूं, कि आप अपनी मंजिल हूं।

यही तो भटकाव का कारण है, कि मंजिल भीतर है, हम बाहर खोज रहे हैं। रोशनी भीतर जल रही है। प्रकाश बाहर पड़ रहा है। बाहर प्रकाश को पड़ते देखकर हम दौड़े जा रहे हैं कि प्रकाश का स्रोत भी बाहर ही होगा। बाहर जो प्रकाश पड़ रहा है वह हमारा है। बाहर से जो गंध आ रही है, वह हमारी दी हुई गंध है; वह प्रतिफलन है, प्रतिध्वनि है। हम उस प्रतिध्वनि के पीछे भाग रहे हैं।

यूनानी कथा है नार्सीसस की। एक युवक--बहुत सुंदर! बड़ी मुश्किल में पड़ गया है। वह बैठा है एक झील के किनारे--शांत, सुंदर झील; तरंग भी नहीं! उसमें अपनी छाया देखी। वह मोहित हो गया अपनी छाया पर। वह अपनी छाया से प्रेम करने लगा। वह इतना पागल हो गया कि वहां से हटे ही न। उसे भूख-प्यास भूल गई। वह मजनू हो गया, और अपनी ही छाया को लैला समझ लिया। छाया सुंदर थी, बार-बार वह झील में उतरे उसे पकड़ने को; लेकिन जब उतरे तो झील कंप जाये, लहरें उठ आयें, छाया खो जाये। फिर किनारे पर बैठ जाये। जब झील शांत हो तब फिर दिखाई पड़े। कहते हैं, वह पागल हो गया। ऐसे ही वह मर गया।

तुमने नार्सीसस नाम का पौधा देखा होगा। पश्चिमी पौधा है। वह नदी के किनारे होता है, नार्सीसस की याद में ही उसको नाम दिया गया। वह नदी के किनारे ही होता है, और झांककर अपनी छाया, अपने फूलों को पानी में देखता रहता है।

लेकिन हर आदमी नार्सीसस है। जिसे हम खोज रहे वह भीतर है। जहां हम खोज रहे, वहां केवल प्रतिबिंब है, वहां केवल प्रतिध्वनियां हैं। निश्चित ही प्रतिध्वनियों को खोजने का कोई उपाय नहीं, जब तक हम मूलस्रोत की तरफ न आयें।

मैं वो गुम-गुस्ता मुसाफिर हूं, कि आप अपनी मंजिल हूंमुझे हस्ती से क्या हासिल...

--जीवन से मुझे क्या लेना देना है?

मैं खुद हस्ती का हासिल हूं।

--मैं खुद जीवन का निष्कर्ष हूं।

जीवन से मुझे कुछ लेना-देना नहीं है। जीवन के माध्यम से मुझे कुछ अर्थ नहीं खोजना है--मैं खुद जीवन का अर्थ हूं; मैं खुद जीवन की निष्पत्ति हूं, निष्कर्ष हूं; उसका आखिरी फूल हूं, अंतिम चरण हूं, उच्चतम शिखर हूं।

लेकिन जो व्यक्ति जीवन में अर्थ खोज रहा है, वह निरंतर अर्थहीनता को अनुभव करता है। यही तो हुआ आधुनिक युग में: अर्थ खो गया है! लोग कहते हैं, जीवन में अर्थ कहां? ऐसी दुर्घटना पहले कभी न घटी थी। ऐसा नहीं कि पहले बुद्धिमान आदमी न थे--बहुत बुद्धिमान लोग हुए हैं, उनके साथ तुलना भी करनी कठिन है। बुद्ध भी हुए हैं; जरथुस्त्र भी हुए हैं; लाओत्सु भी हुए हैं; अष्टावक्र भी हुए हैं। बुद्धि के और क्या शिखर हो सकते हैं? इससे बड़ी और क्या मेधा होगी? लेकिन कभी किसी ने नहीं कहा कि जीवन में अर्थ नहीं है।

आधुनिक युग के जो बुद्धिमान लोग हैं--सार्त्र हों, कामू हों, काफका हों--वे सब कहते हैं कि जीवन में कोई अर्थ नहीं है; अर्थहीन, वितण्डा, मूर्ख के द्वारा कही गई कथा--ए टेल टोल्ड बाइ एन ईडियट! एक मूर्ख के द्वारा कहा गया अर्थहीन वक्तव्य! अनर्गल प्रलाप! "ए टेल टोल्ड बाइ एन ईडियट फुल आफ फ्यूरी एंड न्वाएज सिग्नीफाइंग नथिंग!" नहीं कुछ अर्थ, नहीं कुछ मूल्य, व्यर्थ की बकवास है--ऐसा है जीवन!

क्या हुआ? जीवन अचानक अर्थहीन क्यों मालूम होने लगा? कहीं ऐसा तो नहीं कि अर्थ हम गलत दिशा में खोज रहे हैं? क्योंकि कृष्ण तो कहते हैं, जीवन महासार्थक है। क्योंकि कृष्ण तो कहते हैं कि जीवन तो परम अर्थ और विभा से भरा हुआ है। और बुद्ध तो कहते हैं, परम शांति, परम आनंद, जीवन में छिपा है। अष्टावक्र तो कहते हैं, जीवन स्वयं परमात्मा है। कहीं भूल हो रही है, कहीं चूक हो रही है। हम कहीं गलत दिशा में खोज रहे हैं।

मुझे हस्ती से क्या हासिल, मैं खुद हस्ती का हासिल हूं।

जब हम बाहर खोजते हैं, जीवन अर्थहीन मालूम होता है। जब हम भीतर खोजते हैं, जीवन अर्थपूर्ण मालूम होता है, क्योंकि हम ही जीवन के अर्थ हैं।

"मैं आश्चर्यमय हूं! मुझको नमस्कार है। ब्रह्मा से लेकर तृण पर्यंत जगत के नाश होने पर भी मेरा नाश नहीं। मैं नित्य हूं।"

ऐसा अदभुत वचन न तो पहले कभी कहा गया, न फिर पीछे कभी कहा गया। इस वचन की अदभुतता देखते हो: मुझको नमस्कार है! निश्चित ही यह जनक का वक्तव्य नहीं है। यह परम घटना घट गई, उस घटना का ही वक्तव्य है। यह समाधिस्थ स्वर है। यह संगीत समाधि का है!

अहो अहं नमो मह्यं विनाशो यस्य नास्ति मे।

सब मिटेगा, मैं नहीं मिटूंगा! सब जन्मता है, मरता है--मैं न जन्मता हूं, न मरता हूं! आश्चर्यमय हूं! मैं स्वयं आश्चर्य हूं! मुझे मेरा नमस्कार! छोटे से छोटे तृण से लेकर ब्रह्मा तक बनते हैं और मिटते हैं; उनका समय आता और जाता। वे सब समय में घटी हुई घटनाएं हैं, तरंगें हैं। मैं साक्षी हूं! मैं उन्हें बनते और मिटते देखता हूं। वे मेरी ही आंखों के सामने चल रहे अभिनय, खेल और नाटक हैं। मेरी ही आंखों के प्रकाश में वे प्रकाशित होते और लीन हो जाते हैं।

ब्रह्मा भी! जिनकी तुम मंदिरों में पूजा करते हो--ब्रह्मा, विष्णु, महेश--वे आते हैं और जाते हैं। सिर्फ एक तत्व इस जगत में न आता न जाता--वह तुम्हीं हो। तुम से मुक्त--तुम्हीं! और जब तुम से मुक्त हो, तब तुम पाओगे कि चरणों में अपने ही झुक गये! तब तुम पाओगे, भीतर विराजमान है परम प्रभु! तब तुम पाओगे, जिसे तुम खोजते थे, वह तुम्हारे भीतर सदा से मौजूद प्रतीक्षा करता था! मैं आश्चर्यमय हूं! मुझको नमस्कार है।

"मैं आश्चर्यमय हूं। मैं देहधारी होता हुआ भी अद्वैत हूं।"

दो दिखाई पड़ता हूं, फिर भी अद्वैत हूं। वह दो दिखाई पड़ना सिर्फ ऊपर-ऊपर है। जैसे एक वृक्ष में बहुत-सी शाखाएं दिखाई प.ड़ती हैं। अगर तुम शाखायें गिनो, तो अनेक हैं; अगर तुम वृक्ष के नीचे उतरने लगो तो पीड़ में आकर एक हो जाती हैं। ऐसे ही ये जो अनेक-रूप दिखता है संसार, वह भी अपने मूल में आकर एक हो जाता है। यह एक का ही फैलाव है।

"मैं आश्चर्यमय हूं। मुझको नमस्कार है। मैं देहधारी होता हुआ भी अद्वैत हूं। न कहीं जाता हूं, न कहीं आता हूं, और संसार को घेर कर स्थित हूं।"

सुनो! जनक कह रहे हैं कि संसार को घेर कर स्थित हूं, संसार को मैंने घेरा है! मैं संसार की परिभाषा हूं! मैं असीम हूं! संसार मेरे भीतर है!

साधारणतः हम देखते हैं, हम संसार के भीतर हैं। यह तो अपूर्व क्रांति हुई। यह तो गेस्टाल्ट पूरा बदला। जनक कहते हैं, संसार मेरे भीतर है! जैसे आकाश में बादल उठते हैं, और खो जाते हैं, ऐसे ही युग मुझमें आते और विलीन हो जाते हैं। मैं निराकार, साक्षी-रूप, द्रष्टा-मात्र, सब को घेर कर खड़ा हूं!

इसे तुम समझो। बच्चे थे तुम कभी, तब एक आकार घिरा था तुम्हारे आकाश में--बचपन का। फिर तुम जवान हो गए, वह रूप खो गया। फिर दूसरा बादल घिरा। नया आकार तुमने लिया, तुम जवान हो गए! बच्चे थे, तब तुम्हें कामवासना का कोई भी पता न था। कोई समझाता तो भी तुम समझ न पाते। फिर तुम जवान हुए, नई वासना उठी, वासना ने नये वस्त्र पहने, नया रंग खिला, तुम्हारे जीवन ने नया ढांचा पकड़ा। फिर तुम बूढ़े होने लगे। जवानी भी गई! जवानी का शोरगुल भी गया! वह वासना भी बह गई! अब तुम्हें हैरानी होती है कि कैसे तुम उन वासनाओं में उतर सके! अब तुम चकित होकर सोचते हो कि मैं ऐसा मूढ़ था, कि मैं ऐसा अज्ञानी था!

हर बूढ़े को एक न एक दिन, अगर वह सच में जीवन को जरा भी देखने में सफल हो पाया है--तो यह बात आश्चर्य से भरती है, कि मैं कैसी-कैसी चीजों के पीछे भागा--धन, पद, मोह, स्त्री-पुरुष, कैसी-कैसी चीजों के पीछे भागा! क्या-क्या खोजता फिरा! मैं खुद खोजता फिरा! भरोसा नहीं आता कि मैं और ऐसे सपने में हो सकता था!

अरब में एक कहावत है कि अगर जवान आदमी रो न सके तो जवान नहीं; और अगर बूढ़ा आदमी हंस न सके तो बूढ़ा नहीं। जवान आदमी अगर रो न सके, तो जवान नहीं; क्योंकि जो रो नहीं सकता, जो अभी आंसू नहीं बहा सकता, उसका भाव कुंठित है, उसके जीवन में तरंग नहीं है, मौज नहीं है। जो पीड़ित नहीं हो सकता, वह जवान नहीं है, पथरीला है; उसका हृदय खिला नहीं, अनखिला रह गया है। और बूढ़ा, जो हंस न सके--पूरे जीवन पर और अपने पर, कि कैसी मूढ़ता है! कैसा मजाक है! --तो बूढ़ा नहीं। बूढ़ा वही है, जो हंस सके सारी मूढ़ता पर, अपनी और सबकी, और कहे खूब मजाक चल रहा है! लोग पागल हुए भागे जा रहे हैं--उन चीजों के पीछे, जिनका कोई भी मूल्य नहीं। उसे अब दिखाई पड़ता है, कोई भी मूल्य नहीं है!

कभी तुम जवान, कभी तुम बूढ़े! कभी बादल एक रूप लेता, कभी दूसरा, कभी तीसरा! लेकिन तुमने ख्याल किया कि भीतर तुम एक ही हो? जिसने देखा था बचपन, उसी ने जवानी देखी। जिसने देखी जवानी, उसी ने बुढ़ापा देखा। तुम द्रष्टा हो! वह जो देखने वाला पीछे खड़ा है, वह वही का वही है। रात तुम सोते हो, तब तुम्हारा द्रष्टा सपने देखता है। जब सपने भी नहीं रह जाते, सिर्फ गहरी तंद्रा होती है, सुषुप्ति होती है--तब तुम्हारा द्रष्टा सुषुप्ति देखता है कि खूब गहरी नींद... ! इसीलिए तो सुबह उठकर तुम कभी कहते हो कि रात खूब गहरी नींद लगी। किसने देखी! अगर तुम पूरे के पूरे सो गए थे, और तुम्हारे भीतर कोई देखने वाला न बचा था, तो किसने देखी? किसने जानी? किसको यह खबर मिली? कौन यह कह रहा है? सुबह उठकर कौन कहता है कि रात मैं गहरी नींद सोया? अगर तुम सो ही गये थे तो जानने वाला कौन था? जरूर तुम्हारे भीतर कोई जागता रहा, कोई एक कोने में दीया जलता रहा, और देखता रहा कि गहरी नींद, बड़ी विश्रांतिमयी, बड़ी आह्लादकारी, बड़ी शांत, स्वप्न की भी कोई तरंग नहीं, कोई तनाव नहीं, कोई विचार नहीं! कोई देखता रहा है। सुबह उसी देखने वाले ने कहा है कि रात बड़ी गहरी नींद रही। रात सपने भरे रहे तो सुबह तुम कहते हो, रात

सपनों में गई, न मालूम कैसे-कैसे दुख-स्वप्न देखे! जरूर, देखने वाला सपनों में खो नहीं गया था। जरूर देखने वाला सपना हो नहीं गया था। देखने वाला अलग ही खड़ा रहा!

फिर दिन में तुम खुली आंख की दुनिया देखते हो। दुकान पर तुम दुकानदार हो, मित्र के साथ तुम मित्र हो, शत्रु के साथ तुम शत्रु हो। घर आते हो--पत्नी के साथ पति हो, बेटे के साथ पिता हो, पिता के साथ बेटे हो। फिर हजार-हजार रूप... ! यह भी तुम देखते हो। लेकिन तुम इन सबके पार देखने वाले हो। कभी सफलता देखते हो कभी विफलता, कभी बीमारी कभी स्वास्थ्य, कभी सौभाग्य के दिन कभी दुर्भाग्य के दिन; लेकिन एक बात तय है, कि ये सब आते और जाते; तुम न आते, तुम न जाते।

"मैं आश्चर्यमय हूं। मुझको नमस्कार है। मैं देहधारी होता हुआ अद्वैत! न कहीं जाता न कहीं आता... ।"

न क्वचित गंता, न क्वचित आगंता

न जाता न आता। बस हूं। यह होना मात्र ही स्वरूप है।

"... और संसार को घेर कर स्थित हूं।"

और संसार को मैंने घेरा! यही तो तुम्हारा संसार है। यह संसार तुम्हारे भीतर है, तुम इस संसार के भीतर नहीं। तुम इसके मालिक हो, तुम इसके गुलाम नहीं। तुम जिस क्षण चाहो, पंख फैला दो और उड़ जाओ! अगर तुम इसके भीतर हो तो अपनी मर्जी से हो, किसी की जबर्दस्ती से नहीं।

इतना तुम्हें ख्याल रहे, फिर कुछ अड़चन नहीं है। फिर अगर तुम बंधन में पड़े हो अपनी मर्जी से, तो बंधन भी बंधन नहीं है। फिर तुम्हारी जो मर्जी, फिर तुम्हें जो करना हो करो। लेकिन एक बात भर मत भूलना कि तुम कर्ता नहीं हो, कर्ता फिर एक रूप है; भोक्ता नहीं हो, भोक्ता एक रूप है। तुम साक्षी हो! वही तुम्हारी शाश्वतता है।

पूरब में, हमारा सबसे बड़ा खोज का जो लक्ष्य रहा है, वह उसे खोज लेना है, जो समयातीत है, कालातीत है। जो समय की धारा में बनता-बिगड़ता है, वह प्रतिबिंब है। जो समय के पार खड़ा है-- साक्षीवत-- वही सत्य है।

"मैं आश्चर्यमय हूं। मुझको नमस्कार है। मेरे समान निपुण कोई नहीं!"

सुनते हो? जनक कहते हैं, मेरे समान निपुण कोई भी नहीं!

"क्योंकि शरीर से स्पर्श किये बिना ही, मैं इस विश्व को सदा-सदा धारण किये रहा हूं।"

यही तो कला, कुशलता!

अहो अहं नमो मह्यं दक्षो नास्तीह मत्समः।

"मुझ जैसा कौन दक्ष, मुझ जैसा कौन कुशल! छुआ भी नहीं शरीर को!"

कभी नहीं छुआ है। छूने का कोई उपाय नहीं, क्योंकि तुम्हारा स्वभाव और शरीर का स्वभाव इतना भिन्न है कि छूना हो नहीं सकता, छूने की घटना घट नहीं सकती। तुम सिर्फ साक्षी हो! तुम सिर्फ देख ही सकते हो। शरीर दृश्य है; वह सिर्फ दिखाई पड़ सकता है। तुम्हारा और शरीर का मिलना हो नहीं सकता। तुम शरीर में खड़े रहो, शरीर तुम में खड़ा रहे--लेकिन अस्पर्शित, जैसे अनंत दूरी पर! दोनों का स्वभाव इतना भिन्न है कि तुम मिला न सकोगे।

तुम दूध में पानी मिला सकते हो, लेकिन पानी को तेल में न मिला सकोगे; उनका स्वभाव अलग है। दूध में पानी मिल जाता है, क्योंकि दूध पहले से ही पानी है, नब्बे प्रतिशत से भी ज्यादा पानी है। इसलिए दूध में पानी मिल जाता है। लेकिन तेल में तुम पानी न मिला सकोगे; वे मिलेंगे ही नहीं; वे मिल ही नहीं सकते; उनका स्वभाव अलग है।

फिर भी ध्यान रखना, शायद वैज्ञानिक कोई विधि निकाल लें तेल और पानी को मिलाने की; क्योंकि कितना ही स्वभाव भिन्न हो, दोनों ही पदार्थ हैं। लेकिन चेतना और जड़ को मिलाने का कोई उपाय नहीं;

क्योंकि जड़ पदार्थ है, और चेतना पदार्थ नहीं है। दृश्य और द्रष्टा को मिलाने का कोई उपाय नहीं। द्रष्टा, द्रष्टा रहेगा; दृश्य, दृश्य रहेगा।

इसलिए जनक कहते हैं कि आश्चर्य से भर गया हूं मैं। आश्चर्य ही हो गया हूं! कैसी मेरी निपुणता कि इतने-इतने कर्म किये, और फिर भी अलिप्त हूं! इतना-इतना भोगा, फिर भी भोग की कोई भी रेखा मुझ पर नहीं पड़ी है!

जैसे पानी पर तुम लिखते रहो, लिखते रहो और कुछ लिखा नहीं जाता--ऐसे ही तुम साक्षी के साथ कर्म करते रहो, भोग करते रहो, कुछ लिखा नहीं जाता, सब पानी की लकीरों की भांति मिट जाता है! तुम लिख नहीं पाये, और मिट जाता है।

"मेरे समान निपुण कोई नहीं, क्योंकि शरीर से स्पर्श किये बिना ही मैं इस विश्व को सदा-सर्वदा धारण किये हूं।"

दिल में वो तेरे है मकींदिल से तेरे अलग नहीं, तुझसे जुदा वो लाख होतू न उसे जुदा समझ।

हम लाख समझें अपने को कि शरीर से जुड़े हैं, हम जुड़ नहीं सकते। और हम लाख समझें अपने को कि हम परमात्मा से अलग हैं, हम अलग नहीं हो सकते। और ये दोनों बातें एक साथ समझ में आती हैं, जब भी समझ में आती हैं। जब तक तुम सोचते हो कि तुम शरीर से जुड़ सकते हो, तब तक इसका एक दूसरा पहलू भी है कि तुम सोचोगे तुम परमात्मा से टूट गए। जिस दिन तुम जानोगे परमात्मा से जुड़े हो, उस दिन तुम जानोगेः अरे! आश्चर्यों का आश्चर्य कि मैं शरीर से कभी भी जुड़ा न था!

दिल में वो तेरे है मकीं, दिल से तेरे अलग नहीं।

--वह परम सत्य तेरे दिल में बसा है।

दिल में वो तेरे है मकीं,

--उसने वहीं मकान बनाया है।

दिल से तेरे अलग नहीं। तुझसे जुदा वो लाख हो, तू न उसे जुदा समझ।

भला कितना ही तुझे प्रतीत होता रहे कि जुदा है, जुदा है, तो जुदा मत समझना, क्योंकि जुदा होने का कोई उपाय नहीं। परमात्मा से अलग होने की कोई व्यवस्था नहीं है और संसार के साथ एक होने का कोई उपाय नहीं है। यद्यपि जो नहीं हो सकता, उसी को करने में हम जन्मों-जन्मों से लगे रहे। जिस दिन तुम भी जागोगे--और निश्चित किसी दिन जागोगे; क्योंकि जो सोया है, वह कब तक सोयेगा? क्योंकि जो सोया है, जागना उसका स्वभाव है--तभी तो सो गया है। जो सोया है, सोने में ही खबर दे रहा है कि जाग भी सकता है, जागना उसकी संभावना है। जो जाग नहीं सकता, वह सोयेगा कैसे? जो जाग सकता है, वही सो सकता है।

किसी न किसी दिन तुम जागोगे। जब जागोगे, तब तुम्हें भी लगेगाः

"मेरे समान निपुण कोई भी नहीं! शरीर से स्पर्श किये बिना मैं इस विश्व को सदा-सदा धारण किये हुए हूं।"

और मैं ही इस विश्व को धारण किये हूं, कोई और इसे नहीं सम्हाले है। छुआ भी नहीं है इसे, और मैं सम्हाले हूं।

झेन फकीर कहते हैं कि गुजरना नदी से, लेकिन ध्यान रखना, पानी तुम्हें छूने न पाये। वे इसी बात की खबर दे रहे हैं कि अगर तुम्हें समझ आ जाये साक्षी की, तो तुम गुजर जाओगे नदी से। पानी शरीर को छुएगा, तुम्हें नहीं छू सकेगा। तुम साक्षी ही बने रहोगे।

इस संसार में साक्षी बनना सीखो। थोड़ा-थोड़ा कोशिश करो। राह पर चलते कभी इस भांति चलो कि तुम नहीं चल रहे, सिर्फ शरीर चल रहा है। तुम तो वही हो--न क्वचित गंता, न क्वचित आगंता--न कभी जाता

कहीं, न कभी आता कहीं। राह पर अपने को चलता हुआ देखो और तुम द्रष्टा बनो। भोजन की टेबल पर भोजन करते हुए देखो अपने को कि शरीर भोजन कर रहा है, हाथ कौर बनाता, मुंह तक लाता, तुम चुपचाप खड़े-खड़े देखते रहो! प्रेम करते हुए देखो अपने को, क्रोध करते हुए देखो अपने को। सुख में देखो, दुख में देखो। धीरे-धीरे साक्षी को सम्हालते जाओ। एक दिन तुम्हारे भीतर भी उदघोष होगा, परम वर्षा होगी, अमृत झरेगा! तुम्हारा हक है, स्वरूप-सिद्ध अधिकार है! तुम जिस दिन चाहो, उस दिन उसकी घोषणा कर सकते हो।

"मैं आश्चर्यमय हूं। मुझको नमस्कार है। मेरा कुछ भी नहीं है, अथवा मेरा सब कुछ है--जो वाणी और मन का विषय है।"

कहते हैं जनक कि एक अर्थ में मेरा कुछ भी नहीं है, क्योंकि मैं ही नहीं हूं। मैं ही नहीं बचा, तो मेरा कैसा? तो एक अर्थ में मेरा कुछ भी नहीं है, और एक अर्थ में सभी कुछ मेरा है। क्योंकि जैसे ही मैं नहीं बचा, परमात्मा बचता है--और उसी का सब कुछ है। यह विरोधाभासी घटना घटती है, जब तुम्हें लगता है मेरा कुछ भी नहीं और सब कुछ मेरा है।

अहो अहं नमो मह्मं यस्य मे नास्ति किंचन।
अथवा यस्य में सर्वं यब्दाङमनसगोचरम्।।

जो भी दिखाई पड़ता है आंख से, इंद्रियों से अनुभव में आता है, कुछ भी मेरा नहीं है, क्योंकि मैं द्रष्टा हूं। लेकिन जैसे ही मैं द्रष्टा हुआ, वैसे ही पता चलता है, सभी कुछ मेरा है, क्योंकि मैं इस सारे अस्तित्व का केंद्र हूं।

द्रष्टा तुम्हारा व्यक्तिगत रूप नहीं है। द्रष्टा तुम्हारा समष्टिगत रूप है। भोक्ता की तरह हम अलग-अलग हैं, कर्ता की तरह हम अलग-अलग हैं--द्रष्टा की तरह हम सब एक हैं। मेरा द्रष्टा और तुम्हारा द्रष्टा अलग-अलग नहीं। मेरा द्रष्टा और तुम्हारा द्रष्टा एक ही है। तुम्हारा द्रष्टा और अष्टावक्र का द्रष्टा अलग-अलग नहीं। तुम्हारा और अष्टावक्र का द्रष्टा एक ही है। तुम्हारा द्रष्टा और बुद्ध का द्रष्टा अलग-अलग नहीं।

तो जिस दिन तुम द्रष्टा बने उस दिन तुम बुद्ध बने, अष्टावक्र बने, कृष्ण बने, सब बने। जिस दिन तुम द्रष्टा बने, उस दिन तुम विश्व का केंद्र बने। इधर मिटे, उधर पूरे हुए। खोया यह छोटा-सा मैं, यह बूंद छोटी-सी--और पाया सागर अनंत का!

ये सूत्र आत्म-पूजा के सूत्र हैं। ये सूत्र कह रहे हैं कि तुम्हीं हो भक्त, तुम्हीं हो भगवान। ये सूत्र कह रहे हैं, तुम्हीं हो आराध्य, तुम्हीं हो आराधक। ये सूत्र कह रहे हैं कि तुम्हारे भीतर दोनों मौजूद हैं; मिलन हो जाने दो दोनों का! ये सूत्र बड़ी अनूठी बात कह रहे हैं, झुक जाओ अपने ही चरणों में; मिट जाओ अपने ही भीतर; डूब जाओ अपने ही भीतर! तुम्हारा भक्त और तुम्हारा भगवान तुम्हारे भीतर है। हो जाने दो मिलन वहां, हो जाने दो सम्मिलन, वहीं घटेगी क्रांति जब भीतर तुम्हारा भक्त और भगवान मिल कर एक हो जायेगा। न भगवान बचेगा न भक्त; कोई बचेगा--अरूप, निर्गुण, सीमातीत, कालातीत, समयातीत, क्षेत्रातीत! द्वैत नहीं बचेगा, अद्वैत बचेगा!

इन अद्वैत के क्षणों की जो पहली झलकें हैं, उन्हीं को हम ध्यान कहते हैं। इसी अद्वैत की झलकें जब थिर होने लगती हैं तो हम सविकल्प समाधि कहते हैं। और जब इस अद्वैत की झलक शाश्वत हो जाती है, ऐसी थिर हो जाती है कि फिर छूटने का उपाय नहीं रह जाता--तब इसी को हम निर्विकल्प समाधि कहते हैं।

यह दो तरह से घट सकता है। या तो मात्र बोधपूर्वक--जैसा जनक को घटा; सिर्फ समझ लेने मात्र से! पर बड़ी प्रज्ञा चाहिए, बड़ी प्रखरता चाहिए, बड़ी त्वरा चाहिए! बड़ी धार चाहिए तुम्हारे भीतर फिर चैतन्य की तो यह घटना तत्क्षण घट सकती है। अगर तुम पाओ, ऐसा घटता है, तो ठीक। अगर तुम पाओ ऐसा नहीं घटता, तो इन सूत्रों को बैठ कर दोहराते मत रहना, इन सूत्रों को दोहराने से न घटेगा। ये सूत्र ऐसे हैं कि अगर सुन कर घट गया, तो घट गया; चूक गए सुनते वक्त, तो फिर इनको तुम लाख दोहराओ, न घटेगा; क्योंकि पुनरुक्ति से नहीं घटने वाला है। पुनरुक्ति से तुम्हारे मस्तिष्क में धार नहीं आती, धार मरती है।

तो एक तो उपाय है कि इन सूत्रों को सुनते ही घट जाये। घट जाये तो घट जाये, तुम कुछ कर नहीं सकते उसमें; अगर न घटे, तो फिर तुम्हें धीरे-धीरे ध्यान, ध्यान से फिर सविकल्प समाधि, सविकल्प समाधि से फिर निर्विकल्प समाधि--उसकी यात्रा करनी पड़े। छलांग लग जाये तो ठीक, नहीं तो फिर सीढ़ियों से उतरना पड़े। छलांग लग जाये तो लग जाये। किसी को लग सकती है। सभी आश्चर्य संभव हैं, क्योंकि तुम आश्चर्यों के आश्चर्य हो!

इसलिए इसमें असंभव कुछ भी नहीं है। यहां मुझे सुनते-सुनते किसी को छलांग लग सकती है। अगर तुम बीच में न आओ; अगर तुम अपने को अलग रख दो, अगर तुम अपनी बुद्धि को उतार कर रख दो जैसे जूते और कपड़े उतार कर रख देते हो; अगर तुम शुद्ध, नग्न चैतन्य से मेरे सामने हो जाओ--तो यह छलांग लग सकती है। जैसी जनक को लगी, वैसी तुम्हें लग सकती है। लग जाये, ठीक; उपाय नहीं है इसमें फिर। तुम यह नहीं पूछ सकते कि हम कैसे इंतजाम करें इसके लगाने का? अगर इंतजाम पूछा तो यह नहीं लगती। फिर दूसरा उपाय है। फिर पतंजलि तुम्हारा मार्ग हैं, फिर महावीर, फिर बुद्ध। फिर अष्टावक्र तुम्हारे मार्ग नहीं हैं।

इसीलिए तो अष्टावक्र की गीता अंधेरे में पड़ी रही है। इतनी त्वरा, इतनी तीव्रता, इतनी मेधा, मुश्किल से मिलती है। जन्मों-जन्मों तक कोई निखार कर आया होता है, तो यह घटना घटती है। मगर घटती है! कभी सौ में एकाध को, मगर घटती है! ऐसे मनुष्य-जाति के इतिहास में बहुत-से उल्लेख हैं, जब कोई छोटी-मोटी घटना ने क्रांति कर दी।

मैंने सुना है, बंगाल में एक साधु हुए, अदालत में क्लर्क थे, हेड-क्लर्क थे। रिटायर हो गए। राजा बाबू नाम था। बंगाली थे, सो बाबू। साठ के ऊपर उम्र हो गई थी, एक दिन सुबह घूमने निकले थे। ब्रह्ममुहूर्त, सूरज अभी उगा नहीं। कोई स्त्री अपने घर में, दरवाजा बंद है, किसी को जगाती थी। होगी उसका बेटा, होगा उसका देवर--किसी को जगाती थी। कहती थी, "राजा बाबू उठो, बहुत देर हो गई!" राजा बाबू बाहर से निकल रहे थे अपनी छड़ी लिए, सुबह घूमने निकले थे। अचानक सुबह उस ब्रह्ममुहूर्त के क्षण में, सूरज अभी उगने-उगने को है, आकाश पर लाली फैली है, पक्षी गीत गुनगुनाने लगे, सारी प्रकृति जागरण से भरी--घट गई बात! स्त्री तो किसी और को जगाती थी, इन राजा बाबू से तो कुछ कहा ही न था। उसे तो पता भी न था कि ये राजा बाबू बाहर से निकल रहे हैं। ये तो अपने घूमने निकले थे, वह किसी को भीतर कहती थी कि "राजा बाबू उठो, सुबह हो गई, बहुत देर हो गई! अब उठो भी, कब तक सोये रहोगे?" सुनाई पड़ा--घट गई घटना। घर नहीं लौटे। चलते ही गए। जंगल पहुंच गए। घर के लोगों को पता चला। घर के लोग खोजने गए, मिले जंगल में। पूछा, "क्या हो गया?" हंसने लगे! कहा, "बस हो गया! राजा बाबू जग गए, अब जाओ!" उन्होंने कहा, "क्या मतलब? क्या कहते हैं आप?" उन्होंने कहा, "अब कहने-सुनने को कुछ भी नहीं। बहुत देर वैसे ही हो गई थी। बात समझ में आ गई। सुबह का वक्त था, सारी प्रकृति जाग रही थी--उसी जागरण में मैं भी जाग गया! कोई स्त्री कहती थीः उठो बहुत देर हो गई! पड़ गई चोट।"

अब स्त्री तो अष्टावक्र भी न थी, खुद भी जागी न थी! तो कभी-कभी ऐसा भी हुआ है, अगर तुम्हारी मेधा प्रगाढ़ हो, तुम्हारा फल पक गया हो, तो हवा का झोंका--या न चले हवा, तो भी कभी पका फल बिना झोंके के भी गिर जाता है। हो जाये तो हो जाये! लेकिन अगर न हो, तो निराश मत हो जाना, उदास मत हो जाना। अगर आकस्मिक न हो तो क्रमिक हो सकता है। आकस्मिक कभी-कभी होता है, अपवाद-स्वरूप है। इसलिए अष्टावक्र की गीता अपवाद-स्वरूप है। इसमें कोई विधि नहीं है। कोई मार्ग नहीं है।

जापान में झेन परंपरा के दो स्कूल हैं। दो परंपरायें हैं। एक परंपरा हैः सडन एनलाइटेनमेंट; तत्क्षण संबोधि। वे जो कह रहे हैं, वह वही जो अष्टावक्र कहते हैं। उनका गुरु कुछ नहीं सिखाता। आकर बैठ जाता है, कुछ मौज हुई तो बोल देता है। हो जाये, हो जाये।

ऐसे एक गुरु को एक सम्राट ने अपने महल में आमंत्रित किया। वह गुरु आया, वह मंच पर चढ़ा। सम्राट बड़ी उत्सुकता से प्रतीक्षा करता था; वह बैठा है शिष्य-भाव से। उस गुरु ने मंच पर बैठ कर थोड़ी देर इधर-उधर देखा, जोर से टेबिल पर मुक्के मारे, उठा और चला गया!

वह सम्राट चौंक कर रह गया कि यह क्या हुआ! उसने अपने वजीर से पूछा। वजीर ने कहा, "उन्हें मैं जानता हूं। इससे ज्यादा महत्वपूर्ण व्याख्यान उन्होंने कभी दिया ही नहीं। मगर समझे तो समझे, नहीं समझे तो नहीं समझे।"

सम्राट ने कहा, "यह व्याख्यान! ये टेबिल पर तीन दफे घूंसे मारना और चले जाना--बस हो गई बात?"

उस वजीर ने कहा कि वह जगाने की कोशिश करके चले गये। जगो तो जग जाओ। राजा बाबू उठो, सुबह हो गई। वह अलार्म बजा कर चल दिये!

उस वजीर ने कहा, "मैंने इन गुरु के और भी व्याख्यान सुने हैं, मगर इससे ज्यादा प्रगाढ़ और इससे ज्यादा सचेतन करने वाला व्याख्यान उन्होंने कभी दिया ही नहीं। मगर आप चिंतित न हों, क्योंकि मैंने बहुत सुने, मैं भी अभी जागा नहीं। आपने तो पहला ही व्याख्यान सुना है। सुनते रहें, हो जाये शायद!"

यह आकस्मिक घटना है, इसमें कार्य-कारण का कोई संबंध नहीं। अभूतपूर्व! जिससे तुम्हारे अतीत का कोई लेना-देना नहीं है--हो जाये तो हो जाये! यह कोई वैज्ञानिक घटना नहीं है कि सौ डिग्री तक पानी गर्म करेंगे तो भाप बनेगा। यह मामला कुछ ऐसा है कि कभी बिना गर्म किये भाप बन जाता है। इसकी वैज्ञानिक कोई व्याख्या नहीं है।

अष्टावक्र विज्ञान के बाहर हैं। अगर तुम्हारी बुद्धि वैज्ञानिक हो और तुम कहो, "ऐसे कैसे होगा? कुछ करेंगे तब होगा।" तो फिर तुम वैज्ञानिक बुद्धि से चलो। फिर तुम बुद्ध को पूछो तो आष्टांगिक योग है। फिर तुम पतंजलि को पूछो तो उनका भी योग है। फिर प्रक्रियाएं हैं। यह योग नहीं है; यह सांख्य का शुद्ध वक्तव्य है।

इसलिए अष्टावक्र बहुतों को जगा सके होंगे, ऐसा भी नहीं! कोई एकाध जनक जग गया होगा, बस! जनक जग गया, यह भी बहुत है; जरूरी न था। और तो कुछ खबर भी नहीं कि अष्टावक्र से कोई और भी जगा।

बुद्ध ने बहुतों को जगाया, पतंजलि अब भी जगाये चले जाते हैं। अष्टावक्र ने तो केवल एक व्यक्ति को जगाया। वह भी अष्टावक्र ने जगाया, कहना कठिन है। जनक जागने की क्षमता में थे, अष्टावक्र तो केवल निमित्त बन गए। कारण नहीं--निमित्त।

तो जो सडल एनलाइटेनमेंट, तत्क्षण बोधि-संबोधि के उपाय हैं, उनमें तो गुरु केवल निमित्त है। वह कोशिश करेगा--हो जाये, हो जाये। कोई विज्ञान नहीं है। न हो तो निराश मत होना। तुम्हें हो ही जायेगा, ऐसा गुरु मान कर भी नहीं चलता है। किसी को हो जायेगा! जिनको न हो जायेगा, उनमें कम से कम होने की प्यास जगेगी; वे विधि की तलाश करेंगे, उन्हें विधि से होगा।

नियम तो विधि से ही होने का है। बिना विधि के होना तो अपवाद-स्वरूप है; वह नियम के बाहर है।

तो यहां सुनना ध्यानपूर्वक! हो जाये, शुभ; न हो जाये तो निराश मत होना!

हरि ॐ तत्सत्!

दसवां प्रवचन

हरि ओम् तत्सत्

पहला प्रश्नः आपने कल बताया कि तत्क्षण संबोधि, सडन एनलाइटेनमेंट किसी भी कार्य- कारण के नियम से बंधा हुआ नहीं है; लेकिन यदि अस्तित्व में कुछ भी अकस्मात, दुर्घटना की तरह नहीं घटता, तो संबोधि जैसी महानतम घटना कैसे इस तरह घट सकती है?

अस्तित्व में कुछ भी अकारण नहीं घटता, यह सच है; लेकिन अस्तित्व स्वयं अकारण है। परमात्मा स्वयं अकारण है, उसका कोई कारण नहीं है। संबोधि यानी परमात्मा। संबोधि यानी अस्तित्व। फिर और सब घटता है, परमात्मा घटता नहीं..है। ऐसा कोई क्षण न था, जब नहीं था; ऐसा कोई क्षण नहीं होगा, जब नहीं होगा। और सब घटता है..आदमी घटता है, वृक्ष घटते हैं, पशु-पक्षी घटते हैं; परमात्मा घटता नहीं..परमात्मा है। संबोधि घटती नहीं। संबोधि घटना नहीं है; अन्यथा अकारण घटती, तो दुर्घटना हो जाती। संबोधि घटती नहीं है, संबोधि तुम्हारा स्वभाव है; संबोधि तुम हो। इसलिए तत्क्षण घट सकती है, और अकारण घट सकती है।

कहा है कि "संबोधि जैसी महानतम घटना कैसे इस तरह घट सकती है?"

महानतम है..इसीलिए। क्षुद्र तो सभी सकारण घटता है। अगर समाधि भी और ही वस्तुओं की तरह सकारण घटती होती, तो वह भी क्षुद्र और साधारण हो जाती। पानी को सौ डिग्री तक गर्म करो, भाप बन जाता है..ऐसी ही अगर समाधि भी होती कि सौ डिग्री तक तपश्चर्या करो और समाधि घट जाती है, तो विज्ञान की प्रयोगशाला में पकड़ ली जायेगी फिर तुम्हारी समाधि; फिर ज्यादा देर धर्म के बचने का कोई उपाय नहीं। क्योंकि जो भी सकारण घटता है, वह विज्ञान के हाथ के भीतर आ ही जायेगा; जिसका कारण है, वह विज्ञान की सीमा में घिर जायेगा।

संबोधि अकारण है। इसलिए धर्म, धर्म रहेगा; विज्ञान उसे कभी भी आच्छादित न कर सकेगा। जो भी सकारण घटता है, सब धीरे-धीरे वैज्ञानिक हो जायेगा; सिर्फ एक चीज रह जायेगी, जो कभी वैज्ञानिक न होगी, वह स्वयं अस्तित्व है। क्योंकि अस्तित्व अकारण है; बस है। विज्ञान के पास उसका कोई उत्तर नहीं। विराट, समग्र का कारण हो भी कैसे सकता है? क्योंकि जो भी है, सब उसमें समाहित है, उसके बाहर तो कुछ भी नहीं। . समाधि इसीलिए नहीं घटती, क्योंकि क्षुद्र नहीं है, विराट है।

तुमने पूछा है कि "संबोधि जैसी महानतम घटना...।"

महानतम इसीलिए है, उसके महान होने का और कोई कारण नहीं कि तुम्हारे क्षुद्र कार्य-कारण के नियम के बाहर है। इतना पुण्य करो और समाधि घटती हो; इतना दान दो और समाधि घटती हो; इतना त्याग करो और समाधि घटती हो..तो समाधि गणित के भीतर आ जायेगी, खाते-बही में आ जायेगी, महान न रह जायेगी। अकारण घटती है।

भक्त इसीलिए कहते हैं: प्रसाद-रूप घटती है। तुम्हारे घटाये नहीं घटती। बरसती है तुम पर..अनायास, भेंट-रूप, प्रसाद-रूप!

फिर श्रम और चेष्टा, जो हम करते हैं, उसका क्या परिणाम? अगर अष्टावक्र तुम्हें समझ में आ जाते हों, तब तो तुम व्यर्थ ही श्रम करते हो, तब तो तुम व्यर्थ ही अनुष्ठान करते हो। अनुष्ठान की कोई भी जरूरत नहीं; समझ पर्याप्त है। इतना समझ लेना कि परमात्मा तो है ही, और उसकी खोज छोड़ देना। इतना समझ लेना कि

जो हम हैं वह मूल से जुड़ा ही है इसलिए जोड़ने की चेष्टा और दौड़-धूप छोड़ देनी है..और मिलन घट जायेगा। मिलन घट जायेगा..मिलने के प्रयास से नहीं; मिलने के प्रयास को छोड़ देने से। मिलने के प्रयास से तो दूरी बढ़ रही है..जितनी तुम मिलन की आकांक्षा करते हो, उतना ही भेद बढ़ता जाता है। जितना तुम खोजने निकलते हो, उतने ही खोते चले जाते हो; क्योंकि जिसे तुम खोजने निकले हो, उसे खोजना ही नहीं है। जागकर देखना है; वह मौजूद है, वह द्वार पर खड़ा है; वह मंदिर के भीतर, तुम्हारे भीतर विराजमान है। एक क्षण को उसने तुम्हें छोड़ा नहीं, एक क्षण को जुदा हुआ नहीं। जो जुदा नहीं हुआ, जिससे कभी विदाई नहीं हुई, जिससे विदाई हो ही नहीं सकती, उसे तुम खोज-खोजकर खो रहे हो।

तो तुम्हारे अनुष्ठानों का एक ही परिणाम हो सकता है कि तुम थक जाओ, कि तुम्हारी सारी चेष्टा एक दिन ऐसी जगह आ जाये कि चेष्टा कर-करके ही तुम ऊब जाओ; तुम उस ऊब के क्षण में चेष्टा छोड़ दो, और तत्क्षण तुम्हें दिखाई पड़े: अरे! मैं भी कैसा पागल था!

कल मैं किसी की जीवनकथा पढ़ रहा था। उस व्यक्ति ने लिखा है कि वह एक अनजान नगर में यात्रा पर गया हुआ था और एक अनजान नगर में खो गया। वहां की भाषा उसे समझ में नहीं आती। तो वह बड़ा घबड़ा गया। और उस घबड़ाहट में उसे अपने होटल का नाम भी भूल गया, फोन नंबर भी भूल गया। तब तो उसकी घबड़ाहट और बढ़ गई कि अब मैं पूछूंगा कैसे? तो वह बड़ी उत्सुकता से देख रहा है रास्ते पर चलते-चलते कि कोई आदमी दिखाई पड़ जाये जो मेरी भाषा समझता हो। पूरब का कोई देश, सुदूर पूर्व का, और यह अमरीकन! यह देख रहा है कि कोई सफेद चमड़ी का आदमी दिख जाये, जो मेरी भाषा समझता हो, या किसी दुकान पर अंग्रेजी में नाम-पट्ट दिख जाये, तो मैं वहां जाकर पूछ लूं। वह इतनी आतुरता से देखता चल रहा है, और पसीने-पसीने है कि उसे सुनाई ही न पड़ा कि उसके पीछे पुलिस की एक गाड़ी लगी हुई है और बार-बार हार्न बजा रही है। क्योंकि उस पुलिस की गाड़ी को भी शक हो गया है कि यह आदमी भटक गया है। दो मिनिट के बाद उसे हार्न सुनाई पड़ा। चैंक कर वह खड़ा हो गया, पुलिस उतरी और उसने कहा, तुम होश में हो कि बेहोश हो? हम दो मिनिट से हार्न बजा रहे हैं, हमें शक हो गया है कि तुम भटक गये हो, खो गए हो, बैठो गाड़ी में!

उसने कहा, यह भी खूब रही! मैं खोज रहा था कि कोई बताने वाला मिल जाये, बताने वाले पीछे लगे थे। मगर मेरी खोज में मैं ऐसा तल्लीन था कि पीछे से कोई हार्न बजा रहा है, यह मुझे सुनाई ही न पड़ा। पीछे मैंने लौटकर ही न देखा।

जिसे तुम खोज रहे हो, वह तुम्हारे पीछे लगा है। निश्चित ही परमात्मा हार्न नहीं बजाता, जोर से चिल्लाता भी नहीं; क्योंकि जोर से चिल्लाना तुम्हारी स्वतंत्रता पर बाधा हो जायेगी। फुसफुसाता है, कान में गुपचुप कुछ कहता है। मगर तुम इतने व्यस्त हो, कहां उसकी फुसफुसाहट तुम्हें सुनाई पड़े! तुम इतने शोरगुल से भरे हो, तुम्हारे मन में इतना ऊहापोह चल रहा है, तुम खोज में इस तरह संलग्न हो...।

स्वामी रामतीर्थ ने कहा है, एक छोटी-सी कहानी कही कि एक प्रेमी दूर देश गया। वह लौटा नहीं वापिस। उसकी प्रेयसी राह देखती रही, देखती-देखती थक गई। वह पत्र लिखता है, बार-बार कहता है: अब आता हूं, तब आता हूं; इस महीने, अगले महीने। वर्ष पर वर्ष बीतने लगे, एक दिन वह प्रेयसी तो घबड़ा गई। प्रतीक्षा की भी एक सीमा होती है। उसने यात्रा की और वह परदेश के उस नगर पहुंच गई, जहां उसका प्रेमी है। पूछताछ करके उसके घर पहुंच गई। द्वार खुला है, सांझ का वक्त है, सूरज ढल गया है, वह द्वार पर खड़े होकर देखने लगी। बहुत दिन से अपने प्यारे को देखा नहीं। वह बैठा है सामने, मगर किसी गहरी तल्लीनता में डूबा है, कुछ लिख रहा है! वह इतना तल्लीन है कि प्रेयसी को भी लगा कि थोड़ी देर रुकूं, उसे बाधा न दूं, न मालूम किस विचार-तंतु में है...कौन-सी बात खो जाए। वह ऐसा भाव-विभोर है, उसकी आंखों से आंसू बह रहे हैं, और

वह कुछ लिख रहा है, और वह लिखता ही चला जाता है। घड़ी बीत गई, दो घड़ी बीत गई, तब उसने आंख उठा कर देखा, उसे भरोसा न आया, वह घबड़ा गया।

वह अपनी प्रेयसी को ही पत्र लिख रहा था। इसी को पत्र लिख रहा था, जो दो घड़ी से उसके सामने बैठी थी, और प्रतीक्षा कर रही थी कि तुम आंख उठाओ! उसे तो भरोसा न आया, वह तो समझा कि कोई धोखा हो गया, कोई भ्रम हो गया, शायद कोई आत्म-सम्मोहन! मैं इतना ज्यादा भावातिरेक में भरा हुआ इस प्रेयसी के संबंध में सोच रहा था, शायद इसीलिए एक सपने की तरह वह दिखाई पड़ रही है। कोई भ्रम तो नहीं...। उसने आंखें पोंछीं। वह प्रेयसी हंसने लगी। उसने कहा कि क्या सोचते हो? मुझे क्या भ्रम समझते हो?

वह कंप गया। उसने कहा, तू लेकिन आई कैसे और मैं तुझी को पत्र लिख रहा था। पागल, तूने रोका क्यों नहीं? तू सामने थी और मैं तुझी को पत्र लिख रहा था।

परमात्मा सामने है और हम उसी से प्रार्थना कर रहे हैं कि मिलो, हे प्रभु तुम कहां हो? आंखों से आंसू बह रहे हैं, लेकिन हमारी आंसुओं की दीवाल के कारण, जो सामने है, दिखाई नहीं पड़ रहा है। हम उसी को तलाश रहे हैं। तलाश के कारण ही हम उसे खो रहे हैं।

अष्टावक्र की बात तो बड़ी सीधी-साफ है। वे कहते हैं: बंद करो यह लिखा-पढ़ी! बंद करो अनुष्ठान!

समाधि घटती नहीं। हां, अगर समाधि भी एक घटना होती, तो फिर कार्य-कारण से घटती। कार्य-कारण से घटती तो बाजार की चीज हो जाती। समाधि अछूती और कुंआरी है; बाजार में बिकती नहीं।

तुमने कभी ख्याल किया, तुम्हारा बाजारू दिमाग परमात्मा को भी बाजार में रख लेता है! तुम सोचते हो कि इतना करेंगे तो परमात्मा मिल जाएगा, जैसे कोई सौदा है! पुण्य करेंगे तो परमात्मा मिल जाएगा। तुम्हारे तथाकथित साधु-संत भी तुमसे यही कहे चले जाते हैं: पुण्य करो, अगर परमात्मा को पाना है। जैसे परमात्मा को पाने के लिए कुछ करना पड़ेगा! जैसे परमात्मा बिना किये मिला हुआ नहीं है! जैसे परमात्मा को खरीदना है, मूल्य चुकाना पड़ेगा। इतने पुण्य करो, इतनी तपश्चर्या, इतना ध्यान, इतना मंत्र, जप, तप..तब मिलेगा! बाजार में रख लिया तुमने। बिकने वाली एक चीज बना दी। खरीददार खरीद लेंगे। जिनके पास है पुण्य, वे खरीद लेंगे। जिनके पास पुण्य नहीं है वे वंचित रह जायेंगे। पुण्य के सिक्के चाहिए; खनखनाओ पुण्य के सिक्के, तो मिलेगा।

अष्टावक्र कह रहे हैं: क्या पागलों जैसी बात कर रहे हो? पुण्य से मिलेगा परमात्मा? तब तो खरीददारी हो गई। पूजा से मिलेगा परमात्मा? तो तुमने तो खरीद लिया। प्रसाद कहां रहा? और जो कारण से मिलता है, वह कारण अगर खो जायेगा, तो फिर खो जायेगा। जो अगर कारण से मिलता हो, तो कारण के मिट जाने से फिर छूट जायेगा।

तुमने धन कमा लिया। तुमने खूब मेहनत की, तुमने खूब स्पर्धा की बाजार में..धन कमा लिया। लेकिन क्या तुम सोचते हो, धन कमाया हुआ टिकेगा? चोर इसे चुरा सकते हैं। चोर का मतलब है, जो तुमसे भी ज्यादा जीवन को दांव पर लगा देता है। दुकानदानर भी मेहनत करता है; लेकिन चोर अपने जीवन को भी दांव पर लगा देता है। वह कहता है, लो हम मरने-मारने को तैयार हैं, लेकिन लेकर जाये◌े◌ंगे। तो वह ले जाता है।

जो कारण से मिला है, वह तो छूट सकता है। परमात्मा अकारण मिलता है। लेकिन हमारा अहंकार मानता नहीं। हमारा अहंकार कहता है, अकारण मिलता है, तो इसका मतलब यह कि जिन्होंने कुछ भी नहीं किया, उनको भी मिल जायेगा? यह बात हमें बड़ी कष्टकर मालूम होती है कि जिन्होंने कुछ भी नहीं किया, उनको भी मिल जायेगा।

वहां सामने "अरूप" बैठे हंस रहे हैं। वे कल मुझसे कह रहे थे कि कुछ करने का मन नहीं होता। मैंने कहा, चलो न करने में डूबो। परमात्मा को पाने के लिए करने की जरूरत क्या है? कहो भी तो भरोसा नहीं आता। क्योंकि हमारा मन कहता है, बिना किये? बिना किये तो क्षुद्र चीजें नहीं मिलतीं.. मकान नहीं मिलता, कार

नहीं मिलती, दुकान नहीं मिलती, धन, पद, प्रतिष्ठा नहीं मिलती..परमात्मा मिल जायेगा बिना किये? भरोसा नहीं आता। करना तो पड़ेगा ही। कोई तरकीब होगी इसमें। इस "न करने" को भी करना पड़ेगा। इसलिए तो हम ऐसे-ऐसे शब्द बना लेते हैं..कर्म में अकर्म, अकर्म में कर्म..मगर हम कर्म को डाल ही देते हैं। "अकर्म में कर्म"..करेंगे इस भांति, मगर करेंगे जरूर! बिना किये कहीं मिलेगा?

मैं तुमसे कहता हूं, वही अष्टावक्र कह रहे हैं: मिला ही हुआ है। मिलने की भाषा ही गलत है। मिलने की भाषा में तो दूरी आ गई; जैसे छूट गया। छूट जाये तो तुम क्षण भर जी सकते हो? परमात्मा से छूट कर कैसे जीयोगे? परमात्मा से छूट कर तो तुम्हारी वही गति हो जायेगी जो मछली की सागर से छूट कर हो जाती है। फिर मछली तो सागर से छूट भी सकती है, क्योंकि सागर के अलावा कुछ और स्थान भी है, लेकिन तुम परमात्मा से कैसे छूटोगे..वही है, बस वही है, सब जगह वही है, सब जगह उसी में है; तुम छूटोगे कहां, तुम जाओगे कहां? किनारा है कोई परमात्मा का? सागर ही सागर है। उसके बाहर होने का उपाय नहीं है।

अष्टावक्र तुमसे कह रहे हैं कि तुम उससे कभी दूर गए ही नहीं हो, इसलिए घट सकता है अकारण। खोया ही न हो तो मिलना हो सकता है अकारण।

संबोधि कोई घटना नहीं है, स्वभाव है। लेकिन, ऐसा कहीं हो सकता है कि बिना किये प्रसाद बरस जाये?

हम बड़े दीन हो गए हैं। दीन हो गए हैं जीवन के अनुभव से। यहां तो कुछ भी नहीं मिलता बिना किये, तो हम बड़े दीन हो गए हैं। हम तो सोच भी नहीं सकते कि परमात्मा, और बिना किये मिल सकता है। हमारी दीनता सोच नहीं सकती।

हम दीन नहीं हैं। इसलिए तो जनक कहते हैं कि "अहो! मैं आश्चर्य हूं! मुझको मेरा नमस्कार! मुझको मेरा नमस्कार! इसका अर्थ हुआ कि भक्त और भगवान दोनों मेरे भीतर हैं। दो कहना भी ठीक नहीं, एक ही मेरे भीतर है, भूल से उसे मैं भक्त समझता हूं; जब भूल छूट जाती है तो उसे भगवान जान लेता हूं।

ऐसा ही समझो कि तुम्हारे कमरे में तुमने दो कुर्सियां ले जा कर रखीं; फिर और दो कुर्सियां ले जा कर रखीं, गलती से तुम ने जोड़ लीं पांच, मगर कमरे में तो चार ही हैं। तुम चाहे गलती से पांच जोड़ो चाहे छह, चाहे पचास जोड़ो, तुम्हारे गलत जोड़ने से कमरे में कुर्सियां पांच नहीं होतीं; कुर्सियां तो चार ही हैं, तुम चाहे तीन जोड़ो चाहे पांच जोड़ो। तुम्हारा तीन-पांच तुम जानो, कुर्सियों को इससे कोई फर्क नहीं पड़ता, कुर्सियां तो चार ही हैं।

यह तुम जो सोच रहे हो कि परमात्मा को खोजना है, यह तुम्हारा तीन-पांच है। परमात्मा तो मिला ही हुआ है; कुर्सियां तो चार ही हैं। जब भी गणित ठीक बैठ जायेगा, तुम कहोगे, अहो! पहले पांच कुर्सियां थीं, अब चार हो गईं..ऐसा तुम कहोगे? तुम कहोगे, बड़ी भूल हो रही थी, कुर्सियां तो सदा से चार थीं, मैंने पांच जोड़ ली थीं। भूल सिर्फ जोड़ने की थी।

भूल अस्तित्व में नहीं है..भूल केवल स्मरण में है। भूल अस्तित्व में नहीं है..भूल केवल तुम्हारे गणित में है। भूल ज्ञान में है।

इसलिए अष्टावक्र कहते हैं, कुछ करने का सवाल नहीं है। पांच कुर्सियों को चार करने के लिए एक कुर्सी बाहर नहीं ले जानी है; या तीन तुमने जोड़ी हैं, तो चार करने को एक बाहर से नहीं लानी है..कुर्सियां तो चार ही हैं। सिर्फ भूल है जोड़-तोड़ की। जोड़-तोड़ ठीक बिठा लेना है। तो जब जोड़ ठीक बैठ जायेगा, तब तुम क्या कहोगे कि अकारण तीन से कुर्सियां चार हो गईं, अकारण पांच से चार हो गईं? नहीं, तब तुम हंसोगे। तुम कहोगे, होने की तो बात ही नहीं, वे थीं ही; भूल सिर्फ हम सोचने की कर रहे थे; सिर्फ भूल मन की थी, अस्तित्व की नहीं थी।

भक्त तुम अपने को जानते हो..यह जोड़ की भूल। इसलिए तो जनक कह सके: अहो! मेरा मुझको नमस्कार! कैसा पागल मैं! कैसा आश्चर्य कि अपने ही माया-मोह में भटका रहा! जो सदा था उसे न जाना, और

जो कभी भी नहीं था, उसे जान लिया! रस्सी में सांप देखा! सीपी में चांदी देखी! किरणों के जाल से मरूद्यान के भ्रम में पड़ गया, जल देख लिया! जो नहीं था, देखा! जो था, वह इस माया में, झूठे भ्रम में छिप गया और दिखाई न पड़ा!

संबोधि महान घटना है, क्योंकि घटना ही नहीं है। संबोधि महान घटना है, क्योंकि कार्य-कारण के बाहर है। संबोधि घटी ही हुई है। तुम्हें जिस क्षण तैयारी आ जाये, तुम्हें जिस क्षण हिम्मत आ जाये, जिस क्षण तुम अपनी दीनता छोड़ने को तैयार हो जाओ, और जिस क्षण तुम अपना अहंकार छोड़ने को तैयार हो जाओ..उसी क्षण घट जायेगी। न तुम्हारे तप पर निर्भर है, न तुम्हारे जप पर निर्भर है। जप-तप में मत खोये रहना।

मैं एक घर में मेहमान हुआ एक बार। तो वह पूरा घर पुस्तकों से भरा था। मैंने पूछा कि बड़ा पुस्तकालय है? घर के मालिक ने कहा, बड़ा पुस्तकालय नहीं है; बस इन सब किताबों में राम-राम लिखा है। बस मैं जनम भर से यही कर रहा हूं पुस्तकें खरीदता हूं, राम-राम-राम-राम दिन भर लिखता रहता हूं। इतने करा.ेड बार लिख चुका हूं! इसका कितना पुण्य होगा, आप तो कुछ कहें।

इसका क्या पुण्य होगा? इसमें पाप भला हो! इतनी कापियां बच्चों के काम आ जातीं स्कूल में, तुमने खराब कर दीं..तुम पूछ रहे हो पुण्य? तुम्हारा दिमाग खराब है? यह राम राम लिखने से किताबों में...!

उनको बड़ा धक्का लगा, क्योंकि संत और भी उनके यहां आते रहते थे, वे कहते थे: बड़े पुण्यशाली हो! इतनी बार राम लिख लिया, इतनी बार माला जप ली, इतनी बार राम का स्मरण कर लिया..अरे एक बार करने से आदमी स्वर्ग पहुंच जाता है, तुमने इतना कर लिया! मुझसे नाराज हुए, तो फिर मुझे कभी दोबारा नहीं बुलाया..यह आदमी किस काम का, जो कहता है पाप हो गया? उनको बड़ा धक्का लगा। उन्होंने कहा: आप हमारे भाव को बड़ी चोट पहुंचाते हैं।

तुम्हारे भाव को चोट नहीं पहुंचाता; सिर्फ इतना ही कह रहा हूं कि यह क्या पागलपन है? राम-राम लिखने से क्या मतलब? जो लिख रहा है, उसको पहचानो, वह राम है; उसको कहां के काम में लगाए हुए हो, राम-राम लिखवा रहे हो! बोलो, राम को फंसा दो, बिठा दो कि लिखो, छोड़ो धनुष-बाण, पकड़ो कलम, लिखो राम-राम, यह कहां फिर रहे हो सीता की तलाश में और यह क्या कर रहे हो..तो पाप होगा कि पुण्य? और रामचंद्र जी अगर भले आदमी मान लें कि चलो ठीक है, अब यह आदमी पीछे पड़ा है, न लिखें तो बुरा न मान जाये, तो बैठ राम-राम लिख रहे हैं..तो उनका जीवन तुमने खराब किया।

तुम भी जब लिख रहे हो तो तुम राम से ही लिखवा रहे हो। यह कौन है जो लिख रहा है? इसे पहचानो। यह कौन है जो रटन लगाये हुए है राम-राम की? यह कहां उठ रही है रट? उसी गहराई में उतरो। अष्टावक्र कहते हैं, वहां तुम राम को पाओगे।

दूसरा प्रश्नः कल आपने कहा कि हृदय के भाव पर बुद्धि का अंकुश मत लगाओ। लेकिन मुझे तो भगवान श्री, आपके प्रवचन बहुत- बहुत तर्कपूर्ण लगते हैं। तो क्या तर्क की संतुष्टि से दिमाग की पुष्टि होती है? तो क्या मेरे लिए यह खतरा नहीं है कि तर्क-पोषित दिमाग, दिल पर हावी हो जाये और भावों की अनुभूति को दबा डाले? कृपाकर मुझे राह बताएं।

मैं जो बोल रहा हूं, वह निश्चित ही तर्कपूर्ण है; लेकिन सिर्फ तर्कपूर्ण ही नहीं है, थोड़ा ज्यादा भी है। तर्कपूर्ण बोलता हूं..तुम्हारे कारण; थोड़ा ज्यादा जो है..वह मेरे कारण। तर्कपूर्ण न बोलूंगा, तुम समझ न पाओगे। वह जो तर्कातीत है, वह न बोलूंगा, तो बोलूंगा ही नहीं; बोलने में सार क्या फिर?

तो जब मैं बोल रहा हूं तो मेरे बोलने में दो हैं, तुम हो और मैं हूं; सुनने वाला भी है और बोलने वाला भी है।

अगर मेरा बस चले, तब तो मैं तर्कातीत ही बोलूं, तर्क बिल्कुल छोड़ दूं; लेकिन तब तुम मुझे पागल समझोगे। तब तुम्हारी समझ में कुछ भी न आयेगा। तब तो तुम्हें लगेगा, यह तो तर्क-शून्य शोरगुल हो गया। तुम्हारी तर्क-सरणी में बैठ सके, इसलिए तर्कपूर्ण बोलता हूं। लेकिन अगर उतना ही तुम्हें समझ में आये, तो तुम बेकार आए और गए।

ऐसा समझो कि जैसे चम्मच में हम दवा भरते हैं और तुम्हारे मुंह में डाल देते हैं..चम्मच नहीं डाल देते। तर्क की चम्मच में जो तर्कातीत है, वह डाल रहा हूं। तुम चम्मच मत गटक जाना; नहीं तो और झंझट में पड़ जाओगे। चम्मच का उपयोग कर लो, लेकिन चम्मच में जो भरा है, उस रस को पीयो। तर्क की तो चम्मच है, तर्क का तो सहारा है; क्योंकि तुम अभी इतनी हिम्मत में नहीं हो कि तर्कातीत को सुन सको।

अगर तर्कातीत ही सुनना है तो पक्षियों के गीत सुन कर भी वही काम हो जायेगा जो अष्टावक्र की गीता सुनने से होता है! वे तर्कातीत हैं। हवाओं का वृक्षों से गुजरना, सरसराहट की आवाज; सूखे पत्तों का राह पर उड़ना, खड़खड़ाहट की आवाज; नदी की धारा में उठती आवाज; आकाश में मेघों का गर्जन..वह सब तर्कातीत है। अष्टावक्र बोल रहे आठों दिशाओं से, सब ओर से! मगर वहां तुम्हें कुछ समझ में न आयेगा। यह चिड़ियों की चहचहाहट, तुम कितनी देर सुन सकोगे? तुम कहोगे, हो गई बकवास; थोड़ा बहुत सुन लो, ठीक है..लेकिन इस चहचहाहट में कुछ अर्थ तो है ही नहीं! वह जो तर्कातीत है, वह तो चिड़ियों की चहचहाहट जैसा ही है; लेकिन तुम्हारे तक पहुंचाने के लिए सेतु बनाता हूं तर्क का।

अब अगर तुम सेतु को ही पकड़ लो और मंजिल को भूल जाओ, शब्द को ही पकड़ लो, और शब्द से जो पहुंचाया था वह भूल जाओ..तो तुम कंकड़-पत्थर बीन कर चले गए, जहां से हीरे- जवाहरात से झोली भर सकते थे।

मित्र ने पूछा है, "हृदय के भाव पर बुद्धि का अंकुश मत लगाओ, ऐसा आप कहते हैं।"

निश्चित। बुद्धि से समझो, लेकिन हृदय को मालिक रहने दो। बुद्धि को गुलाम बनाओ, हृदय को मालिक के सिंहासन पर विराजमान करो। नौकर बहुत दिन सिंहासन पर बैठ चुका है। बुद्धि के लिये तुम नहीं जीते हो; जीते तो हृदय के लिए हो। इसलिए तो बुद्धि से कभी भराव नहीं आता। कितने ही बड़े गणितज्ञ हो जाओ, उससे थोड़े ही हृदय को शांति मिलेगी! और कितने ही बड़े तर्कनिष्ठ विचारक हो जाओ, उससे थोड़े ही प्रफुल्लता जगेगी! और कितना ही दर्शन-शास्त्र इकट्ठा कर लो, उससे थोड़े ही समाधि बनेगी! हृदय मांगेगा प्रेम, हृदय मांगेगा प्रार्थना। हृदय की अंतिम मांग तो समाधि की रहेगी, कि लाओ समाधि, लाओ समाधि! बुद्धि ज्यादा से ज्यादा समाधि के संबंध में तर्कजाल ला सकती है, समाधि के संबंध में सिद्धांत ला सकती है; लेकिन सिद्धांतों से क्या होगा?

कोई भूखा बैठा है, तुम पाक-शास्त्र देते हो उसे कि इसमें सब लिखा है, पढ़ लो, मजा करो! वह पढ़ता भी है कि भूख लगी है, चलो शायद यही काम करे। बड़े-बड़े सुस्वादु भोजनों की चर्चा है..कैसे बनाओ, कैसे तैयार करो..मगर इससे क्या होगा? वह पूछता है कि पाक-शास्त्र से क्या होगा? भोजन चाहिए। भूखे को भोजन चाहिए। प्यासे को पानी चाहिए।

तुम प्यासे आदमी को लिख कर दे दो..उसको लगी है प्यास और तुम लिख कर दे दो "एच टू ओ"..यह पानी का सूत्र! वह आदमी कागज लेकर बैठा रहेगा, क्या होगा? ऐसे ही तो लोग राम-राम लिए बैठे हैं। सब मंत्र "एच टू ओ" जैसे हैं। निश्चित ही पानी आक्सीजन और हाइड्रोजन से मिल कर बनता है, लेकिन कागज पर "एच टू ओ" लिखने से प्यास नहीं बुझती।

तर्क से समझो, हृदय से पीयो। तर्क का सहारा ले लो, लेकिन बस सहारा ही समझना; उसी को सब कुछ मत मान लेना। मालिक हृदय को रहने दो। प्रेम और प्रार्थना में, पूजा और अर्चना में, ध्यान और समाधि में, बुद्धि बाधा न दे, इसका स्मरण रखना। सहयोगी जितनी बन सके, उतना शुभ है। इसलिए तो तर्क के सहारे तुमसे बोलता हूं, कि तुम्हारी बुद्धि को फुसला लूं, राजी कर लूं। तुम दो कदम राजी होकर हृदय की तरफ चले जाओ। वहां थोड़ा-सा भी स्वाद आ जायेगा, तो मगन हो जाओगे। फिर तुम खुद ही बुद्धि की चिंता छोड़ दोगे। स्वाद जब आ जाता है तो शब्दों की कौन फिक्र करता है!

"लेकिन मुझे तो भगवान श्री, आपके प्रवचन बहुत-बहुत तर्कपूर्ण लगते हैं।"

वे तर्कपूर्ण हैं। मेरी पूरी चेष्टा है कि तुम से जो कहूं वह तर्कपूर्ण हो, ताकि तुम राजी हो सको मेरे साथ चलने को। एक बार राजी हो गए, फिर तो गड्ढे में गए, फिर तो तुम्हारी पटरी उतार दूंगा! एक बार राजी भर हो जाओ, एक बार हाथ में हाथ आ जाये, फिर कोई चिंता नहीं है। एक दफे तुम्हारा हाथ हाथ में आ गया तो तुम ज्यादा देर हाथ के बाहर न रहोगे। पहुंचा पकड़ा, फिर कलाई पकड़ ली, फिर...आदमी गया!

तो तर्क से तो पहला संबंध बनाता हूं, क्योंकि वहां तुम जी रहे हो; वहीं से संबंध बन सकता है; वहां तुम हो। इसलिए मेरे पास नास्तिक भी आ जाते हैं; मुझसे नास्तिक भी राजी हो जाते हैं। मुझसे नास्तिक को कोई झगड़ा नहीं होता, क्योंकि मैं नास्तिक की भाषा बोलता हूं। मगर वह तो जाल है। वह भाषा तो जाल है। वह तो ऐसे ही है जैसे हम मछली पकड़ने जाते हैं, तो कांटे पर आटा लगा देते हैं। वह तो आटा है। अगर बचना हो तो आटे ही से बच जाना, क्योंकि आटा मुंह में लिया, तब पता चलेगा कि यह तो कांटा था।

तर्क तो आटा है, तर्कातीत कांटा है। तुम्हें फुसलाते हैं, कड़वी भी दवा पिलानी हो तो शक्कर की पर्त चढ़ाते हैं। छोटे-छोटे बच्चों जैसी हालत है आदमी की, वह शक्कर के रस में कड़वी दवा भी गटक जाता है। जहर भी पी सकते हो तुम। लेकिन अगर सीधा ही तुम्हारे सामने तर्कातीत को खड़ा कर दिया जाये तो तुम भाग खड़े होओगे। तुम कहोगे, "नहीं इस पर तो हमारी बुद्धि को भरोसा नहीं आता।"

तो मैं तुम्हारी बुद्धि को भरोसा लाना चाहता हूं। लेकिन अगर वहीं तुम रुक गए और तुमने सोचा कि आ गया बुद्धि को भरोसा, अब घर जायें..तो तुम चूक गए। तो तुमने ऐसा समझो कि दवा के ऊपर तो चढ़ी शक्कर थी, उसको तो उतार कर पी लिया और दवा को फेंक दिया।

"तर्क की संतुष्टि से क्या दिमाग की पुष्टि होती है?"

तुम पर निर्भर है। अगर सिर्फ तर्क ही तर्क को सुनोगे, तो दिमाग की पुष्टि होगी; लेकिन तर्कों के बीच में अगर तुमने अतर्क्य को भी थोड़ा-सा जाने दिया, बूंद-बूंद सही, तो वह बूंद तुम्हारे मस्तिष्क में, हृदय की क्रांति को उपस्थित कर देगी।

यह तुम पर निर्भर है। कुछ लोग हैं, जो सिर्फ तर्क ही तर्क को सुनते हैं; जो-जो तर्क के बाहर पड़ता है, उसे वे हटा देते हैं। फिर वे मेरे पास आये ही नहीं; आये या न आये, बराबर। वे जैसे आये थे, वैसे ही वापस गए..और मजबूत होकर गए। उन्होंने अपने-अपने हिसाब का चुन लिया, मतलब की बात चुन ली। जो उनके तर्क के साथ बैठती थी, वह चुन ली; जो नहीं बैठती थी, वह छोड़ दी। जो नहीं बैठती थी तुम्हारे तर्क के साथ, वही तुम्हारे भीतर क्रांति की चिनगारी बनती। जो तुम्हारे तर्क के साथ बैठती थी, वह तो तुम्हीं को मजबूत करेगी। तुम्हारी बीमारी, तुम्हारी चिंता, तुम्हारा संताप, और मजबूत हो जाएगा। तुम्हारा अहंकार और मजबूत हो जाएगा।

तो थोड़ी कुशलता बरतना। इसलिए तो जनक कहते हैं अष्टावक्र से: कैसी कुशलता! कि क्षण में दिखाई पड़ गया! कैसी मेरी दक्षता! कैसी मेरी निपुणता!! उस निपुणता को ध्यान में रखना, उस दक्षता को ध्यान में रखना। तुम पर निर्भर है।

यहां जो मैं बोल रहा हूं, बोलना मुझ पर निर्भर है, लेकिन सुनना तो तुम पर निर्भर है। बोलने के बाद तो फिर मैंने जो कहा, उस पर मेरी कोई मालकियत नहीं रह जाती। इधर बोला कि वह मेरे हाथ के बाहर हुआ। छूटा तीर! फिर तो तुम्हारे हाथ में है कि कहां लगेगा, कहां तुम लगने दोगे? लगने दोगे कि बच जाओगे? बुद्धि में लगने दोगे? ..तो तुम यहां से और भी पंडित होकर लौट जाओगे, और तर्क-कुशल हो जाओगे, विवाद में और प्रवीण हो जाओगे। मगर चूक गए तुम। हृदय में लगने देते तो तुम और आनंदित होते, तुम और अहोभाव से भरते; तो धन्यता का द्वार खुलता; तो प्रसाद की वर्षा की थोड़ी संभावना बढ़ती; तो अमृत की तरफ तुम थोड़े सरकते; दो कदम तुमने उठाये होते उस अंतिम पड़ाव की तरफ।

पंडित होकर मत लौट जाना। थोड़े प्रेमी होकर लौटना।

ढाई आखर प्रेम का, पढ़ै सो पंडित होय।

वे ढाई अक्षर जो प्रेम के हैं, वह मत भूलना।

तो सुनो मेरे तर्क को, राजी होओ मेरे तर्क से..पर साधन की भांति। साध्य यही है कि एक दिन तुम हिम्मत जुटा लोगे, और तर्कातीत में छलांग लगा दोगे। तर्क के माध्यम से तुम्हें वहां तक ले चलूंगा, जहां तक तुम्हारी बुद्धि जा सकती है; फिर सीमांत आयेगा, फिर सीमा आयेगी, फिर तुम्हारे ऊपर निर्भर होगा। सीमा पर खड़े होकर तुम देख लेना..अपना अतीत और अपना भविष्य। फिर तुम देख लेना..पीछे जिस बुद्धि में तुम चल कर आये हो, वह; और आगे जो संभावना खुलती है, वह। आगे की संभावना हृदय की है।

विचार से कभी कोई जीवन की संपदा को उपलब्ध नहीं हुआ ध्यान से, साक्षी-भाव से, प्रेम से, प्रार्थना से, भक्ति के रस से, कोई उपलब्ध हुआ है। फिर तुम्हारे हाथ में है, अगर तुम्हें बंजर रेगिस्तान रह जाना हो, तुम्हारी मर्जी, तुम मालिक हो अपने।

लेकिन एक बार तुम्हें मैं किनारे तक ले आऊं, जहां से तुम्हें सुंदर उपवन दिखाई पड़ने लगें, हरियालियां, घाटियां और वादियां, और पहाड़, हिम-शिखर! बस एक दफे तुम्हें दिखा देना है वहां तक लाकर, फिर तुम्हारी मौज! फिर लौटना तो लौट जाना। लेकिन तब तुम जानोगे कि अपने ही कारण लौटे हो। तब उत्तरदायित्व तुम्हारा है।

तो तुम्हारे तर्क को मैं वहां तक ले चलता हूं, जहां से तुम्हें पहली झलक मिल जाये स्वर्ण-शिखरों की; जहां से तुम्हें पहली दफा आकाश का थोड़ा-सा दर्शन हो जाये, फिर वह दर्शन तुम्हारा पीछा करेगा। फिर वह मंडरायेगा तुम्हारे भीतर। फिर वह पुकार बढ़ती चली जायेगी। फिर धीरे-धीरे जो बूंद-बूंद गिरा था, वह बड़ी धार की तरह गिरने लगेगा; तुम बच नहीं सकोगे। क्योंकि एक बार हृदय की थोड़ी-सी भी झलक मिल जाये तो फिर बुद्धि कूड़ा-कचरा है। जब तक झलक नहीं मिली, तब तक कूड़ा-कचरा ही हीरा-जवाहरात मालूम होता है।

"क्या मेरे लिए यह खतरा नहीं है कि तर्क-पोषित दिमाग दिल पर हावी हो जाये?"

खतरा है। जरा सजगता रखना। हम चाहें तो राह में पड़े हुए पत्थर को बाधा बना सकते हैं, और वहीं रुक जायें; और हम चाहें तो राह में पड़े पत्थर को सीढ़ी बना सकते हैं, उस पर चढ़ जायें और पार हो जायें। तुम पर निर्भर है कि तुम तर्क-पोषित मस्तिष्क को बाधा बनाओगे कि सीढ़ी बनाओगे। जिन्होंने सीढ़ी बनाई, वे महायात्रा पर निकल गए; जिन्होंने बाधा बना ली, वे डबरे बन कर रह गए।

नास्तिक एक डबरा है। आस्तिक सागर की तरफ दौड़ती हुई सरिता है। नास्तिक सड़ता है। जैसे ही पानी की धारा बहने से रुक जाती है, वैसे ही सड़ांध शुरू हो जाती है। पानी निर्मल होता है, जब बहता रहता है। लेकिन बहने के लिये तो सागर चाहिए; नहीं तो बहोगे क्यों? बहने के लिए परमात्मा चाहिए; नहीं तो बहोगे क्यों? कुछ है ही नहीं पाने को, कुछ है ही नहीं होने को..जो हो गया, बस वही काफी है...।

इसे ख्याल रखना, दुनिया में दो तरह के लोग हैं, दुनिया दो तरह के वर्गों में विभाजित है। एक वर्ग है, जो बाहर की चीजों से कभी संतुष्ट नहीं..यह मकान, तो दूसरा चाहिए; इतना धन, तो और धन चाहिए; यह स्त्री, तो और तरह की स्त्री चाहिए..जो बाहर की चीजों से कभी संतुष्ट नहीं, और भीतर, जिसके भीतर कोई असंतोष नहीं। भीतर, जिसके भीतर असंतोष उठता ही नहीं, बस बाहर ही बाहर असंतोष है। यह सांसारिक आदमी है। फिर एक और दूसरी तरह का आदमी है, जो बाहर जो भी है, उससे संतुष्ट है; लेकिन भीतर जो है, उससे संतुष्ट नहीं है। उसके भीतर एक ज्वाला है..एक दिव्य असंतोष। वह सतत प्रक्रिया में, सतत रूपांतरण में, सतत क्रांति में जीता है।

तर्क-निष्ठता तुम्हारी क्रांति में सहयोगी बने, तुम्हें रूपांतरित करे..इतना ख्याल रखना। जहां तर्क पत्थर बनने लगे और क्रांति में रुकावट डालने लगे, वहां तर्क को छोड़ना, क्रांति को मत छोड़ना। मैं कह सकता हूं, अंतिम निर्णय तुम्हारे हाथ में है।

अक्ल की सतह से कुछ और उभर जाना था,

इश्क को मंजिले-परस्ती से गुजर जाना था;

ये तो क्या कहिए, चला था मैं कहां से हमदम,

मुझको ये भी न था मालूम, किधर जाना था।

बुद्धि को कुछ भी पता नहीं है कि कहां जाना है! इसलिए बुद्धि कहीं जाती ही नहीं; घूमती रहती है कोल्हू के बैल की तरह। कोल्हू का बैल देखा? आंख पर पट्टी बंधी रहती, घूमता रहता है! आंख पर पट्टी बंधी होने से उसे लगता है कि चल रहे हैं, कहीं जा रहे हैं, कुछ हो रहा है।

तुमने देखा, तुम कैसे घूम रहे हो! वही सुबह, वही उठना, वही दिन का काम, वही सांझ, वही रात, वही सुबह फिर, फिर वही सांझ..यूं ही उम्र तमाम होती है, फिर सुबह होती है, फिर शाम होती है! एक कोल्हू के बैल की तरह तुम घूमते चले जाते हो।

ये तो क्या कहिए, चला था मैं कहां से हमदम,

मुझको ये भी न था मालूम, किधर जाना था।

अक्ल की सतह से कुछ और उभर जाना था,

इश्क को मंजिले-परस्ती से गुजर जाना था।

जब तुम बुद्धि की सतह से थोड़ा ऊपर उठते हो, तब आकाश में उठते हो, पृथ्वी छूटती है; सीमा छूटती है, असीम आता है; बंधन गिरते, मोक्ष की थोड़ी झलक मिलती।

इश्क को मंजिले-परस्ती से गुजर जाना था।

फिर एक ऐसी घड़ी भी आती है..पहले तो बुद्धि से तुम हृदय की तरफ आते हो..फिर एक ऐसी घड़ी आती है, हृदय से भी गहरे जाते हो।

इश्क को मंजिले-परस्ती से गुजर जाना था।

फिर प्रेम, प्रेम-पात्र से भी मुक्त हो जाता है। फिर भक्त, भगवान से भी मुक्त हो जाता है। फिर पूजक, पूजा से भी मुक्त हो जाता है।

तो पहले तो तर्क से चलना है प्रेम की तरफ और फिर प्रेम से चलना है शून्य की तरफ। उस महाशून्य में ही हमारा घर है।

बुद्धि में तुम हो, हृदय में तुम्हें होना है। इसलिए बुद्धि से मैं शुरू करता हूं, हृदय की तरफ तुम्हें ले चलता हूं। जो हृदय में पहुंच गए हैं, उनको वहां भी नहीं बैठने देता। उनको कहता हूं: चलो आगे, और आगे!

हर नये क्षण को पुराने की तरह

एक परिचित प्रीति गाने की तरह

वक्ष में भर, तार पर तार बोते चलो!
और बीती रागिनी रीते नहीं
इस तरह हर तार के होते चलो!

नये कदम अज्ञात में, अनजान में, अपरिचित में उठाना है! परिचित में ही मत अटके रह जाना।

बुद्धि का क्या अर्थ होता है, तुमने सोचा कभी? ..जो तुम जानते हो उसका जोड़। बुद्धि का क्या अर्थ होता है? ..इतना ही कि तुम्हारा अतीत का संग्रह। बुद्धि में वही तो संगृहीत है जो तुमने सुना, पढ़ा, जाना, अनुभव किया; जो हो चुका, वही तो संगृहीत है। जो अभी होने को है, उसका तो बुद्धि को कोई भी पता नहीं।

तो बुद्धि तो अतीत है..जा चुका, मृत! बुद्धि तो राख है! बुद्धि में ही अटक गए, तो तुम अतीत के ही रास्तों पर भटकते रहोगे; ज्ञात में ही चलते रहोगे। अज्ञात में गति है; ज्ञात में गति नहीं है, कोल्हू के बैल की तरह भ्रमण है।

हृदय का अर्थ है: अज्ञात, अनजान, अपरिचित, अभियान! पता नहीं क्या होगा? पक्का नहीं, क्योंकि जाना ही नहीं कभी तो पक्का कैसे होगा? नक्शा हाथ में नहीं, अज्ञात की यात्रा है। न मील के पत्थर हैं वहां, न राह पर खड़े पुलिस के सिपाही हैं मार्ग बताने को।

लेकिन जो आदमी अज्ञात की तरफ यात्रा करता है, वही परमात्मा की तरफ यात्रा करता है। परमात्मा इस जगत में सबसे ज्यादा अज्ञात घटना है..जिसे हम जान कर भी कभी जान नहीं पाते; जो सदा अनजाना ही रह जाता है; जानते जाओ, जानते जाओ, फिर भी अनजाना रह जाता है। जितना जानो, उतना ही लगता है, और जानने को शेष है। चुनौती बढ़ती ही जाती है। शिखर पर नये शिखर उभरते ही आते हैं। एक शिखर पर चढ़ते वक्त लगता है कि आ गई मंजिल; जब शिखर पर पहुंचते हैं, तो सिर्फ और बड़ा शिखर आगे दिखाई पड़ता है। एक द्वार से गुजरते हैं, नये द्वार सामने आ जाते हैं।

इसलिए तो हम परमात्मा को अनंत रहस्य कहते हैं। रहस्य का अर्थ है: जिसे हम जान भी लेंगे, फिर भी जान न पायेंगे। इसलिए तो हम कहते हैं, परमात्मा बुद्धि से कभी उपलब्ध नहीं होता। क्योंकि बुद्धि तो उसी को जान सकती है, जो जानने में चुक जाता है; परमात्मा चुकता नहीं।

तो तुम चुक मत जाना बुद्धि के साथ। तुम मुर्दा अतीत के साथ बंधे मत रह जाना। तुम किसी लाश से अपने को बांध लो, तो तुमको समझ में आयेगा कि बुद्धि की क्या हालत है। एक लाश से अपने शरीर को बांध लो, तो वह लाश तो मरी हुई है, उसकी वजह से तुम भी न चल पाओगे, उठ न पाओगे, बैठ न पाओगे; क्योंकि वह लाश सड़ रही है, गल रही है और वह बोझ बनी है। बुद्धि लाश है, हृदय नया अंकुर है..नव अंकुर जीवन के! और जाना तो है हृदय के भी पार।

हर नये क्षण को पुराने की तरहएक परिचित प्रीति गाने की तरहवक्ष में भर, तार पर तार बोते चलो! और बीती रागिनी रीते नहींइस तरह हर तार के होते चलो!

हर नये कदम के होते चलो। और हर आने वाली संभावनाओं के लिए वक्ष खुला रखो.. स्वागतम! हृदय तैयार रखो!

अनजान जब पुकारे तो सकुचाना मत। अपरिचित जब बुलाये तो ठिठकना मत। अज्ञेय जब द्वार पर दस्तक दे तो भयभीत मत होना, चल पड़ना। यही धार्मिक व्यक्ति का लक्षण है।

तीसरा प्रश्नः आपकी जय हो! मैं हजार जन्मों में भी इतना नहीं प्राप्त कर सकता था, जितना आपने अनायास मुझे दे दिया है। मुझे अपने शिष्य के रूप में स्वीकार करें!

लिया तुमने, तो शिष्य हो गये।

शिष्य का होना मेरी स्वीकृति पर निर्भर नहीं है; शिष्य का होना तुम्हारी स्वीकृति पर निर्भर है। शिष्य का अर्थ होता है: जो सीखने को तैयार है। शिष्य का अर्थ होता है: जो झुकने को, झोली भरने को राजी है। शिष्य का अर्थ होता है: विनम्रता से सुनने को, शांत भाव से मनन करने को, ध्यान करने को उत्सुक।

तुम शिष्य हो गए..अगर तुमने लिया, तो लेने में ही तुम शिष्य हो गए।

शिष्य का होना मेरी स्वीकृति पर निर्भर नहीं होता। मैं स्वीकार भी कर लूं और तुम अगर न लो, तो मैं क्या करूंगा? मैं स्वीकार न भी करूं और तुम लेते चले जाओ, तो मैं क्या करूंगा?

शिष्यत्व तुम्हारी स्वतंत्रता है। यह किसी का दान नहीं है। शिष्यत्व तुम्हारी गरिमा है। इसके लिए किसी प्रमाण-पत्र की जरूरत नहीं है। इसलिए तो एकलव्य जंगल में भी जाकर बैठ गया था। देखा! द्रोणाचार्य ने तो इनकार भी कर दिया था, फिर भी उसने फिक्र न की। गुरु ने तो इनकार ही कर दिया; लेकिन शिष्य, शिष्य बनने को राजी था, तो गुरु क्या कर सका? एक दिन गुरु ने पाया कि गुरु को हरा दिया शिष्य ने। एकलव्य तो मिट्टी की मूर्ति बनाकर बैठ गया, उसी के सामने अभ्यास करने लगा; उसी की आज्ञा मानने लगा; उसी के चरण छूने लगा।

जब द्रोण को खबर लगी कि एकलव्य बहुत निष्णात हो गया है तो वे देखने गए। चकित हो गए; चकित ही न हुए, घबड़ा भी गए। इतने घबड़ा गए, क्योंकि एकलव्य ने इस तरह साधा था कि अर्जुन फीका पड़ता था। द्रोण कोई बहुत बड़े गुरु न रहे होंगे; एकलव्य बहुत बड़ा शिष्य था। द्रोण तो साधारण गुरु रहे होंगे..अति साधारण! गुरु कहे जा सकें, ऐसे गुरु नहीं। कुशल होंगे, पारंगत होंगे, लेकिन गुरुत्व की बात नहीं थी कुछ भी। पहले तो इसलिए इनकार कर दिया कि वह शूद्र था। यह भी कोई गुरु की बात हुई? अभी भी गुरु को ब्राह्मण और शूद्र दिखाई पड़ते हैं! नहीं, दुकानदार रहे होंगे, बाजारी बुद्धि रही होगी। क्षत्रियों के गुरु, शूद्र को कैसे स्वीकार करें! समाज से बहुत घबड़ाये हुए रहे होंगे। समाज-पोषक, और समाज के नियंत्रण में रहे होंगे। क्षुद्र बुद्धि के रहे होंगे।

जिस दिन द्रोण ने एकलव्य को इनकार किया कि वह शूद्र था, उसी दिन द्रोण शूद्र हो गए। यह कोई बात हुई? लेकिन अदभुत था एकलव्य! गुरु के इनकार की भी फिक्र न की। उसने तो मान लिया था हृदय में गुरु..बात हो गई थी। गुरु के इनकार ने भी उसकी गुरु की प्रतिमा खंडित न की। अनूठा शिष्य रहा होगा।

और फिर बेईमानी की हद हो गईः एकलव्य को जब प्रतिष्ठा मिल गई और जब उसकी कुशलता का आविर्भाव हुआ, तो द्रोण कंप गए; क्योंकि वे चाहते थे, उनका शिष्य अर्जुन जगत में ख्यातिलब्ध हो। यह भी उनका ही शिष्य था, लेकिन उनकी अस्वीकृति से था; इसमें तो गुरु की बड़ी हार थी। गुरु जिसको सिखा-सिखा कर, प्राणपण लगाकर, सारी चेष्टा में संलग्न थे, वह भी फीका पड़ रहा था इस आदमी के सामने..जिसने सिर्फ मिट्टी की अनगढ़ प्रतिमा बना ली थी अपने ही हाथों से और उसी के सामने अभ्यास कर-करके कुशलता को उपलब्ध हुआ था। उससे अंगूठा मांग लिया।

बड़ी आश्चर्य की बात है: दीक्षा देने को तैयार न हुए थे, दक्षिणा लेने पहुंच गए! लेकिन अदभुत शिष्य रहा होगा एकलव्यः जिसने दीक्षा देने से इनकार कर दिया था, उसको उसने दक्षिणा देने से इनकार न किया। एकलव्य जैसा शिष्य ही शिष्य है। उसने तत्क्षण अपना अंगूठा काट कर दे दिया। दांये हाथ का अंगूठा मांगा था..चालबाजी थी, राजनीति थी कि अंगूठा कट जायेगा, तो एकलव्य की धनुर्विद्या व्यर्थ हो जायेगी।

ये द्रोण निश्चित ही दुष्ट प्रकृति के व्यक्ति रहे होंगे। गुरु तो दूर, इनको सज्जन कहना भी कठिन है। यह भी क्या चाल खेली और भोले-भाले शिष्य से खेली! और फिर भी हिंदू द्रोण को गुरु माने चले जाते हैं, गुरु कहे चले जाते हैं। सिर्फ ब्राह्मण होने से थोड़े ही कोई ब्राह्मण होता है?

ब्राह्मण था एकलव्य और द्रोण शूद्र थे। उनकी वृत्ति शूद्र की है। उस ब्राह्मण एकलव्य ने काट कर दे दिया अपना अंगूठा, जरा भी ना-नुच न की। यह भी न कहा कि यह क्या मांगते हैं आप? देते वक्त इनकार किया था। तुमसे मैंने कुछ सीखा भी नहीं है।

नहीं, लेकिन यह बात ही गलत थी। यह तो उसके मन में भी न उठी। उसने तो कहा, सीखा तुम्हीं से है। तुम्हारे इनकार करने से क्या फर्क पड़ता है? सीखा तो तुम्हीं से है! तुम इनकार करते रहे, फिर भी तुम्हीं से सीखा। देखो तुम्हारी प्रतिमा बनाये बैठा हूं, तो तुम्हारा ऋणी हूं। अंगूठा मांगते हो, अंगूठा तो क्या प्राण भी मांगो तो दे दूंगा। अंगूठा दे दिया।

शिष्य होना तुम पर निर्भर है। यह किसी की स्वीकृति-अस्वीकृति की बात नहीं। तो अगर तुम्हें लगता है कि खूब तुम्हें मिला, तो बात हो गई। इसी भाव में गहरे बने रहना। शिष्य का भाव कभी खोना मत, तो अपूर्व तुम्हारा विकास होगा; मिलता ही चला जायेगा। शिष्यत्व तो सीखने की कला है।

चौथा प्रश्नः सुना था कि शराब कड़वी होती है और सीने को जलाती है; पर आपकी शराब का स्वाद ही कुछ और है।

तो जिस शराब से तुम परिचित रहे, वह शराब न रही होगी; क्योंकि शराब न तो कड़वी होती और न सीने को जलाती। और जो सीने को जलाती है और कड़वी है, वह शराब का धोखा है, शराब नहीं। तो तुम्हें शराब का पहली दफे ही स्वाद आया।

अब झूठी शराब में मत उलझना। अब तुम पहली दफा मधुशाला में प्रविष्ट हुए। अब अपने हृदय को पात्र बनाना और जी भर कर पी लेना; क्योंकि इसी पीने से क्रांति होगी। यह शराब विस्मरण नहीं लायेगी; यह शराब स्मरण लायेगी। वह शराब भी क्या जो बेहोश बना दे? शराब तो वही, जो होश में ला दे। यह शराब तुम्हें जगायेगी। यह शराब तुम्हें उससे परिचित करायेगी, जो तुम्हारे भीतर छिपा बैठा है। यह शराब तुम्हें तुम बनायेगी।

बाहर से शायद तुम दूसरे लोगों को पियक्कड़ मालूम पड़ो..घबड़ाना मत! तुम्हारी मस्ती शायद बाहर के लोग गलत भी समझें, पागल समझें, बेहोश समझें..तुम फिक्र मत करना; कसौटी तुम्हारे भीतर है। अगर तुम्हारा होश बढ़ रहा हो तो दुनिया कुछ भी समझे, तुम फिक्र मत करना।

मजाज की कुछ पंक्तियां हैं..

मेरी बातों में मसीहाई है
लोग कहते हैं कि बीमार हूं मैं
खूब पहचान लो असरार हूं मैं
जिन्से-उल्फत का तलबगार हूूं मैं
इश्क ही इश्क है दुनिया मेरी
फितना-ए-अक्ल से बेजार हूं मैं
ऐब जो हाफिज-ओ-खय्याम में था
हां, कुछ उसका भी गुनहगार हूं मैं
जिंदगी क्या है गुनाहे-आदम
जिंदगी है तो गुनहगार हूं मैं
मेरी बातों में मसीहाई है,
लोग कहते हैं कि बीमार हूं मैं!

जीसस को भी लोग बीमार ही कहते थे, मसीहा तो बड़ी मुश्किल से कहा। सुकरात को भी लोग पागल ही कहते थे, तभी तो जहर दिया। मंसूर को लोगों ने बुद्धिमान थोड़े ही माना, अन्यथा फांसी लगाते? और अष्टावक्र

की कथा तो मैंने तुमसे कहीः खुद बाप ही इतने नाराज हो गए कि अभिशाप दे दिया, कि आठ अंगों से तिरछा हो जा।

जीसस तो तैंतीस साल जमीन पर रहे तब सूली लगी; सुकरात तो बूढ़ा होकर मरा, तब जहर दिया गया; महावीर और बुद्ध पर पत्थर फेंके गए, ठीक..लेकिन अष्टावक्र की तो पूछो: अभी जन्मा भी नहीं और अभिशाप मिला; अभी गर्भ में ही था कि जीवन विकृत कर दिया गया। और किसी दूसरे ने किया होता तो भी ठीक था, क्षमा-योग्य था..खुद अपने ही बाप ने कर दिया; जो जन्म देने जा रहा था वही नाराज हो गया।

ज्ञान की बात लोगों को जमती नहीं। ज्ञान की बात लोगों को कष्ट देती है। मस्ती में आया हुआ आदमी लोगों को बेचैनी से भरता है। तुम दुखी हो, किसी को कोई अड़चन नहीं, मजे से दुखी रहो। लोग कहते हैं: दिल खोल कर दुखी रहो, कोई हर्जा नहीं। बिल्कुल जैसा होना चाहिए वैसा हो रहा है! तुम हंसे कि लोग बेचैन हुए। हंसी स्वीकृत नहीं है। लोगों को शक होता है कि पागल हुए! कहीं होशियार आदमी हंसते हैं? कहीं समझदार आदमी हंसते देखे? कहीं बुद्धिमान आदमियों को नाचते देखा, गीत गुनगुनाते देखा? बुद्धिमान आदमी गंभीर होते, लंबे उनके चेहरे होते, उदास उनकी वृत्ति होती। उनको हम साधु-संत कहते, महात्मा कहते। जितना रुग्ण आदमी हो, उतना बड़ा महात्मा हो जाता है। मुर्दे की तरह कोई बैठ जाये, रुग्ण, दीन-हीन..लोग कहते हैं, कैसी तपश्चर्या! कैसा त्याग!!

एक गांव में मैं गया था। कुछ लोग एक महात्मा को ले आये मुझसे मिलाने। वे कहने लगे, ब.ड़े अदभुत हैं, भोजन तो कभी-कभार लेते हैं, सोते भी ज्यादा नहीं। बड़े शांत हैं। बोलते-करते भी ज्यादा नहीं। और तपश्चर्या का ऐसा प्रभाव कि चेहरा कुंदन जैसा निखर आया है, स्वर्ण जैसा!

जब वे लाये तो मैंने कहा, इस आदमी को क्यों तुम परेशान किये हो? यह बीमार है। यह चेहरा कुंदन जैसा नहीं है, यह केवल भूखा-प्यासा आदमी है..चेहरा पीला पड़ गया है; अनीमिया हो गया है। तुम महात्मा समझ रहे हो? और यह बोले क्या खाक! इसमें बोलने की शक्ति भी नहीं है। यह आदमी थोड़ा मूढ़ प्रवृत्ति का मालूम होता है। आंखों में कोई तेज नहीं है, कोई व्यक्तित्व नहीं है, कोई उमंग नहीं है। हो भी कैसे? न सोता है ठीक से, न खाता-पीता है ठीक से। और तुम इसकी पूजा कर रहे हो! बस इसको एक ही रस आ गया है कि यह जो काम कर रहा है, उससे इसे पूजा मिलती है। बस उसी पूजा की खातिर यह किये चला जा रहा है।

तुम जरा पूजा देना बंद करो। और तुम पाओगे तुम्हारे सौ में से निन्यानबे प्रतिशत महात्मा विदा हो गए, उसी रात विदा हो गए, तुम पूजा देना बंद करो। क्योंकि वे पूजा की खातिर सब तरह की नासमझियां कर रहे हैं; तुम जो करवाओ वही कर रहे हैं। तुम कहो, बाल लोंचो, तो वे बाल लोंच रहे हैं; केश-लुंच कर रहे हैं। तुम कहो, नंगे रहो, तो वे नंगे खड़े हैं। तुम कहो, भूखे रहो, तो वे भूखे हैं। एक बात भर तुम पूरी करो कि तुम सम्मान दो, उनके अहंकार को पुष्ट करो।

वास्तविक धर्म तो सदा हंसता हुआ है। वास्तविक धर्म तो सदा स्वस्थ है, प्रफुल्लित है, जीवन- स्वीकार का है। वास्तविक धर्म तो फूलों जैसा है, उदासी वहां नहीं है। उदासी को लोग शांति समझते हैं! उदासी शांति नहीं है। शांति तो बड़ी गुनगुनाती होती है। शांति तो बड़ी मगन होती है। शांति तो बड़ी शराबी है..पैर लड़खड़ाते हैं; एक मस्ती घेरे रहती है; चलते जमीन पर हैं, और जमीन पर नहीं चलते, आकाश में चलते हैं; जैसे पंख उग आते हैं; अब उड़े तब उड़े की हालत होती है।

ठीक हुआ, अगर मेरी शराब का स्वाद आ जाये, तो असली शराब का स्वाद आ गया, अब किसी और मधुशाला में जाने की जरूरत न पड़ेगी।

खूब पहचान लो असरार हूं मैं,
जिन्से-उल्फत का तलबगार हूं मैं।

बस एक ही प्यास रखो..जिन्से-उल्फत..प्रेम नाम की वस्तु की। बस एक ही मांग रखो.. प्रेम नाम की वस्तु!

जिन्से-उल्फत का तलबगार हूं मैं।

इश्क ही इश्क है दुनिया मेरी।

और तुम्हारी सारी दुनिया, और तुम्हारा सारा अस्तित्व प्रेममय हो जाये, बस काफी है।

फितना-ए-अक्ल से बेजार हूं मैं।

और बुद्धि के उपद्रव को छोड़ो, उतरो प्रेम की छाया में।

इश्क ही इश्क है दुनिया मेरी
फितना-ए-अक्ल से बेजार हूं मैं
ऐब जो हाफिज-ओ-खय्याम में था
हां, कुछ उसका भी गुनहगार हूं मैं

ऐब जो, जो बुराई हाफिज और खय्याम में थी, उमरखय्याम में...।

उमरखय्याम को समझा नहीं गया। उमरखय्याम के साथ बड़ी ज्यादती हुई है। एक दिन बंबई में मैं निकल रहा था एक जगह से, होटल पर लिखा हुआ था: "उमरखय्याम"। उमरखय्याम के साथ बड़ी ज्यादती हुई है। फिट्जराल्ड ने जब उमरखय्याम का अंग्रेजी में अनुवाद किया तो बड़ी भूल-चूक हो गई। फिट्जराल्ड समझ नहीं सका उमरखय्याम को। समझ भी नहीं सकता था, क्योंकि उमरखय्याम को समझने के लिए सूफियों की मस्ती चाहिए, सूफियों की समाधि चाहिए। उमरखय्याम एक सूफी संत है। थोड़े-से पहुंचे हुए महापुरुषों में एक, बुद्ध और अष्टावक्र और कृष्ण और जरथुस्त्र की कोटि का आदमी!

उसने जिस शराब की बात की है, वह परमात्मा की शराब है। उसने जिस हुस्न की चर्चा की है, वह परमात्मा का हुस्न है। लेकिन फिट्जराल्ड नहीं समझा। पश्चिमी बुद्धि का आदमी, उसने समझा: शराब यानी शराब। उसने अनुवाद कर दिया। फिट्जराल्ड का अनुवाद खूब प्रसिद्ध हुआ। अनुवाद बड़ा सुंदर है, काव्य बड़ा सुंदर है। फिट्जराल्ड निश्चित बड़ा कवि है। लेकिन वह समझ नहीं पाया। सूफियों की जो खूबी थी, वह खो गई कविता में से। और उमरखय्याम जाना गया फिट्जराल्ड के माध्यम से।

तो उमरखय्याम के संबंध में बड़ी भूल हो गई। उमरखय्याम ने शराब कभी पी ही नहीं, किसी मधुशाला में कभी गया नहीं; लेकिन उसने कोई एक शराब जरूर पी, जिसको पी लेने के बाद और सब शराबें फीकी पड़ जाती हैं। गया एक मधुशाला में, जिसको हम मंदिर कहें, जिसको हम प्रभु का मंदिर कहें।

ऐब जो हाफिज-ओ-खय्याम में था
हां, कुछ उसका भी गुनहगार हूं मैं।

"मजाज" खुद भी, जिनकी ये पंक्तियां हैं, उमरखय्याम को गलत समझा। वह भी यही समझा कि शराब यानी शराब। मजाज शराब पी-पी कर मरा। जिस शराब की तुम बात कर रहे हो कि जो हृदय को जलाती, और कड़वी और तिक्त होती है, मजाज उसी को पी-पीकर जवानी में मरा। बुरी तरह मरा! बड़ी बुरी मौत हुई!

मैं जिस शराब की बात कर रहा हूं, कहीं गलती से तुम कुछ और मत समझ लेना। जो भूल उमरखय्याम के साथ हुई वह मेरे साथ मत कर लेना। उसकी संभावना है।

मैं तुमसे कहता हूं: भोगो जीवन को साक्षी-भाव से। साक्षी-भाव को छोड़ देने का मन होता है; भोगने की बात पकड़ में आ जाती है। भोगो जीवन को; लेकिन अगर बिना साक्षी-भाव के भोगा तो भोगा ही नहीं। साक्षी-भाव से भोगा, तो ही भोगा। पीयो शराब लेकिन अगर होश खो गया तो पी ही नहीं शराब। अगर पी-पी कर होश बढ़ा तो ही पी। तो समाधि के अतिरिक्त कोई शराब नहीं है।

मेरे देखे, मनुष्य-जाति में तब तक शराब का असर रहेगा, जब तक समाधि का असर नहीं बढ़ता। जब तक असली शराब उपलब्ध नहीं है लोगों को, तब तक लोग नकली शराब पीते रहेंगे। नकली सिक्के तभी तक चलते

हैं, जब तक असली सिक्के उपलब्ध न हों। सारी दुनिया की सरकारें कोशिश करती हैं कि शराब बंद हो जाये, यह होगा नहीं। यह तो सदा से वे कोशिश कर रहे हैं। साधु-महात्मा सरकारों के पीछे पड़े रहते हैं कि शराबबंदी करो, अनशन कर देंगे, यह कर देंगे, वह कर देंगे, शराब बंद होनी चाहिए! लेकिन कोई शराब बंद कर नहीं पाया। अलग-अलग नामों से, अलग-अलग ढंगों से आदमी मादक द्रव्यों को खोजता रहा है।

मेरे देखे, सरकारों के बस के बाहर है कि शराब बंद हो सके। लेकिन अगर समाधि की शराब जरा फैलनी शुरू हो जाये, असली सिक्का उतर आये पृथ्वी पर, तो नकली बंद हो जाये। अगर हम मंदिरों को मधुशालाएं बना लें, और वहां मस्ती और गीत और आनंद और उत्सव होने लगें, और अगर हम जीवन को गलत धारणाओं से न जीयें, स्वस्थ धारणाओं से जीयें, और जीवन एक अहोभाग्य हो जाये..तो शराब अपने-आप खो जाएगी।

आदमी शराब पीता है दुख के कारण। दुख कम हो जाये, तो शराब कम हो जाये। आदमी शराब पीता है अपने को भुलाने के लिए; क्योंकि इतनी चिंताएं हैं, इतनी तकलीफें हैं, इतनी पीड़ा है..न भुलायें तो क्या करें? अगर चिंता, दुख, पीड़ा कम हो जाये तो आदमी की शराब कम हो जाये।

और एक अनूठी घटना मैंने घटते देखी, कई बार कुछ शराबियों ने आकर मुझसे संन्यास ले लिया। फंस गए भूल में। सोच कर यह आये कि यह आदमी तो कुछ मना करता ही नहीं है, कि पीओ कि न पीओ, कि खाओ, कि यह न खाओ, वह न खाओ, कोई हर्जा नहीं। वे बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने कहा कि आप की बात हमें बिल्कुल जंचती है, यह किसी ने बताई ही नहीं। लेकिन जैसे-जैसे ध्यान बढ़ा, जैसे-जैसे संन्यास का रंग छाया, वैसे-वैसे उनके पैर मधुशाला की तरफ जाने बंद होने लगे; दूसरी मधुशाला पुकारने लगी।

एक शराबी ने छह महीने ध्यान करने के बाद मुझे कहा कि पहले मैं शराब पीता था क्योंकि मैं दुखी था, तो दुख भूल जाता था; अब मैं था.ेड़ा सुखी हूं, शराब पीता हूं, तो सुख भूल जाता है। अब बड़ी मुश्किल हो गई। सुख तो कोई भुलाना नहीं चाहता। यह आपने क्या कर दिया?

मैंने कहा, अब तुम चुन लो।

वह कहने लगा कि अब शराब पी लेता हूं, तो ध्यान खराब हो जाता है; नहीं तो ध्यान की धीमी-धीमी धारा भीतर बहती रहती है, शीतल-शीतल, मंद-मंद बयार बहती रहती है। शराब पी लेता हूं तो दो-चार दिन के लिए ध्यान की धारा अस्तव्यस्त हो जाती है; फिर बामुश्किल सम्हाल पाता हूं। अब बड़ी मुश्किल हो गई है।

तो मैंने कहा, अब तुम चुन लो, तुम्हारे सामने है। ध्यान छोड़ना है, ध्यान छोड़ दो; शराब छोड़नी है, शराब छोड़ दो। दोनों साथ तो चलते नहीं; तुम्हें दोनों साथ चलाना हो, साथ चला लो।

उसने कहा, अब मुश्किल है। क्योंकि ध्यान से जो रसधार बह रही है, वह इतनी पावन है और वह मुझे ऐसी ऊंचाइयों पर ले जा रही है, जिनका मुझे कभी भरोसा न था कि मुझ जैसा पापी और कभी ऐसे अनुभव कर पायेगा! आपको छोड़ कर किसी दूसरे को तो मैं कहता ही नहीं; क्योंकि मैं दूसरों को कहता हूं तो वे समझते हैं कि शराबी है, ज्यादा पी गया होगा। वे कहते हैं: होश में आओ, होश की बातें करो। मैं भीतर के भाव की बात करता हूं, तो वे समझते हैं कि ज्यादा पी गया होगा। उन्हें भरोसा नहीं आता। मेरी पत्नी तक को भरोसा नहीं आता। वह कहती है कि बकवास बंद करो। तुम ये ज्ञान-वान की बातें नहीं, तुम ज्यादा पी गए हो। मैं कहता हूं, मैंने आज महीने भर से छुई नहीं है।

तो आप से ही कह सकता हूं, वह शराबी कहने लगा, आप ही समझेंगे। और अब छोड़ना मुश्किल है ध्यान।

जीवन को विधायक दृष्टि से लो। तुम सुखी होने लगो, तो जो चीजें तुमने दुख के कारण पकड़ रखी थीं, वे अपने-आप छूट जायेंगी। ध्यान आये तो शराब छूट जाती है। ध्यान आये तो मांसाहार छूट जाता है। ध्यान आये तो धीरे-धीरे काम-ऊर्जा ब्रह्मचर्य में रूपांतरित होने लगती है। बस ध्यान आये।

तो मैं ध्यान की शराब पीने को तुमसे कहता हूं; समाधि की मधुशाला में पियक्कड़ों की जमात में सम्मिलित हो जाने को कहता हूं।

सुख की यह घड़ी, एक तो जी लेने दो

चादर यह फटी स्वप्न की, सी लेने दो

ऐसी तो घटा, फिर न कभी छाएगी;

प्याला न सही, आंख से पी लेने दो।

इस सत्संग में तुम पीयो..प्याला न सही, आंख से! इस सत्संग में तुम पीयो, इस सत्संग से तुम मदहोश होकर लौटो। लेकिन यह जो मदहोशपन है, इसमें तुम्हारा होश न खोये। मस्ती हो, और भीतर होश का दीया जला हो।

ऐसी तो घटा, फिर न कभी छाएगी;

प्याला न सही, आंख से पी लेने दो।

पांचवां प्रश्नः क्या धारणा और स्व-सुझाव या आटो-सजेशन एक ही हैं? धारणा और स्वभाव या बोध में क्या भेद है? रामकृष्ण परमहंस की काली क्या सर्वथा धारणा की बात थी, या उनका अपना अस्तित्व है? विभूति या भगवान के साथ संवाद क्या संभव नहीं है?

धारणा और सुझाव, आटो-सजेशन, एक ही बात हैं। आटो-सजेशन वैज्ञानिक नाम है धारणा का दोनों में कोई भेद नहीं। और स्वभाव और धारणा बड़ी भिन्न बात है। स्वभाव तो वही है, जो सभी धारणाओं के छूट जाने पर प्रगट होता है। स्वभाव तो वही है, जब तुम्हारे मन से सभी विचार और सभी धारणाएं तिरोहित हो जाती हैं; तब उसका दर्शन होता है। स्वभाव की धारणा नहीं करनी होती।

एक संन्यासी मेरे घर मेहमान हुए। तो वे सुबह-सांझ बैठ कर बस एक ही धारणा करते..अहं ब्रह्मास्मि मैं ब्रह्म हूं, मैं देह नहीं; मैं मन नहीं; मैं ब्रह्म हूं..ऐसा दो-चार दिन मैंने उन्हें सुना। मैंने कहा कि अगर तुम हो, तो हो; यह बार-बार क्या दोहराते हो? अगर नहीं हो, तो बार-बार दोहराने से क्या होगा? भ्रांति हो सकती है। बार-बार पुनरुक्ति करने से "अहं ब्रह्मास्मि," ऐसा पुनरुक्ति करते रहो, करते रहो तो भ्रांति हो सकती है कि हो गए ब्रह्म; लेकिन यह भ्रांति स्वभाव का दर्शन नहीं है। अगर तुम्हें पता है कि तुम ब्रह्म हो, तो दोहरा क्या रहे हो? अगर कोई पुरुष रास्ते पर दोहराता चले कि मैं पुरुष हूं, मैं पुरुष हूं, तो सभी को शक हो जायेगा कि कुछ गड़बड़ है! लोग कहेंगे: रुको, कुछ गड़बड़ है! यह क्या दोहरा रहे हो? अगर हो तो बात खत्म हो गई। शक है तुम्हें कुछ?

अहं ब्रह्मास्मि, इसको दोहराना थोड़े ही है! यह तो एक बार का उदघोष है। यह तो बोध की एक बार उठी उदघोषणा है। बात खत्म हो गई। यह कोई मंत्र थोड़े ही है। मंत्र तो सुझाव ही है। मंत्र शब्द का अर्थ भी सुझाव होता है। इसलिए तो हम सलाह देने वाले को, सुझाव देने वाले को मंत्री कहते हैं। मंत्र यानी सुझाव, बार-बार दोहराना। बार-बार दोहराने से मन पर एक लकीर खिंचती जाती है। और उस लकीर के कारण हमें भ्रांतियां होने लगती हैं।

"रामकृष्ण को जो काली के दर्शन हुए, क्या सर्वथा धारणा की बात थी?"

सर्वथा धारणा की बात थी। न कहीं कोई काली है, न कहीं कोई पीली। सब मन की धारणा है। और सब धारणायें गिरनी चाहिए। इसलिए तो जब रामकृष्ण की काली की धारणा गिर गई तो उन्होंने कहा: अंतिम बाधा गिर गई। अपनी ही धारणा थी। और जब रामकृष्ण ने तलवार उठाकर अपनी काली की धारणा को काटा,

तो क्या तुम सोचते हो खून वगैरह निकला? कुछ नहीं निकला। धारणा भी झूठी थी, तलवार भी झूठी थी, झूठ से झूठ की टकराहट हुई, कुछ और हुआ नहीं।

"विभूति या भगवान के साथ संवाद क्या संभव नहीं है?"

नहीं! जो भी संवाद तुम करोगे, वह कल्पना होगी। क्योंकि जब तक तुम हो, तब तक भगवान नहीं; और जब भगवान है, तब तुम नहीं..संवाद कैसे होगा? संवाद के लिए तो दो चाहिए। तुम और भगवान साथ-साथ खड़े होओ, तो संवाद हो सकता है। जब तक तुम हो, तब तक कहां भगवान? और जब भगवान है, तब तुम कहां?

प्रेम-गली अति सांकरी तामें दो न समायें। उस गली में दो तो नहीं समाते, एक ही बचता है, संवाद कैसा? संवाद के लिए तो दो चाहिए, कम से कम दो तो चाहिए ही।

तो तुम जिससे बातें कर रहे हो, वह तुम्हारी ही कल्पना का जाल है, वह वास्तविक भगवत्ता नहीं। भगवत्ता जब घटती है तो संवाद नहीं होता; निनाद होता है, संवाद नहीं। एक, जिसको पूरब के मनीषियों ने अनाहत-नाद कहा है, वह होता है। एक गुनगुनाहट! पर एक में ही होती है वह गुनगुनाहट; कोई दूसरे से बातचीत नहीं हो रही है। वह ओंकार की ध्वनि का उठना है। लेकिन वह किसी दूसरे से बातचीत नहीं हो रही है; दूसरा तो कोई बचता नहीं।

कभी किसी भक्त ने भगवान का दर्शन नहीं किया। जब तक भगवान का दर्शन होता रहता है, तब तक भक्त भी मौजूद है; तब तक कल्पना का ही दर्शन है। इसलिए तो ईसाई जीसस से मिल लेता है, जैन महावीर से मिल लेता है, हिंदू राम से मिल लेता है। तुमने कभी हिंदू को जीसस से मिलते देखा? ..भूल-चूक से कहीं रास्ते पर जीसस मिल जायें..मिलते ही नहीं। जो अपनी धारणा में नहीं है, वह मिलेगा कैसे? तुमने कभी ईसाई को कहते देखा कि बैठे थे ध्यान करने और बुद्ध भगवान प्रगट हो गए? वे होते ही नहीं। वे होंगे कैसे? जिसका बीज धारणा में नहीं है, वह कल्पना में कैसे होगा? जो तुम्हारी धारणा है, उसी का कल्पना-विस्तार हो जाता है।

अष्टावक्र का सूत्र तो यही है कि तुम सब धारणाओं, सब मान्यताओं, सब कल्पनाओं, सब प्रक्षेपों से मुक्त हो जाओ, सब अनुष्ठान-मात्र से! अनुष्ठान-मात्र बंधन है। जब कोई भी नहीं बचता तुम्हारे भीतर..न भक्त, न भगवान..एक शून्य विराजमान होता है। उस शून्य में अहर्निश एक आनंद की वर्षा होती है। उस घड़ी कैसा संवाद, कैसा विवाद? नहीं, सब संवाद कल्पना के ही हैं।

कभी रात मुझे घेरती है
कभी मैं दिन को टेरता हूं
कभी एक प्रभा मुझे हेरती है
कभी मैं प्रकाश-कण बिखेरता हूं
कैसे पहचानूं कब प्राण-स्वर मुखर है,
कब मन बोलता है?

मैं तुमसे कहूंगा, पहचान सीधी है: जब भी कुछ बोले, मन ही बोलता है। जब भी कुछ दिखाई पड़े, मन ही दिखाई पड़ता है। जब कुछ भी दिखाई न पड़े, कुछ भी न बोले..तब जो बचा, वही अ-मन है, वही समाधि है। जब तक अनुभव हो, तब तक मन है।

इसलिए परमात्मा का अनुभव, ये शब्द ठीक नहीं; क्योंकि अनुभव-मात्र तो मन के होते हैं। अनुभव-मात्र तो द्वंद्व और द्वैत के होते हैं, द्वि के होते हैं। जब अद्वैत बचा, तो कैसा अनुभव? इसलिए "आध्यात्मिक अनुभव" यह शब्द ठीक नहीं है।

जहां सब अनुभव समाप्त हो जाते हैं, वहां अध्यात्म है। नहीं तो तुम खेल खेलते रह सकते हो। यह खेल धूप-छाया का खेल है।

जो तुम श्रद्धा नमन बनो तो
मैं सुरभित चंदन बन जाऊं
यदि तुम पावन प्रतिमा हो तो
मैं जीवन का अर्घ्य चढ़ाऊं
तुम तो छिपे सीप-मोती-से
मैं सागर का ज्वार बन गया
जो तुम स्वाति-बूंद बन बरसो
मैं सौ-सौ सावन पी जाऊं
अंजुरी भर सपनों की आशा
खोज रही जीवन-परिभाषा
जो तुम मंगल-दीप बनो तो
मैं जीवन की ज्योति जलाऊं
मौन साध आतुर अभिलाषा
खोल रही नैनों की भाषा
जो तुम चरण धरो धरणी पर
मैं मोतिन से हंस चुगाऊं
कस्तूरी मृग की सी छलना
झुला रही मायावी पलना
जो तुम मानस-दीप धरो तो
मैं सौ-सौ बंदन बन जाऊं!

पर यह सब कल्पना का खेल है। खेलना हो, खेलो। सुखद कल्पना का खेल है, बड़ा प्रतिकर, बड़ा रसभरा..पर है कल्पना का खेल! इसे सत्य मत मान लेना। सत्य तो वहां है जहां न मैं, न तू। सत्य तो वहां है जहां द्वि गई, द्वंद्व गया, द्वैत गया; बचा एक..एक ओंकार सतनाम।

आखिरी प्रश्नः ओश्ल्ला, कोटि-कोटि नमन! आबू की पावन पहाड़ी पर, आपके वरदहस्त की छाया में आने का सौभाग्य हुआ, तब से कितना खोया है, कितना पाया है, उसका हिसाब नहीं है। धन्य-धन्य हो गया है जीवन! प्रश्न बनता नहीं, जबर्दस्ती बना रहा हूं। आपके मुखारविंद से शिविर-समापन के दिन दो शब्द सुनने के लिए बेचैन हो रहा हूं, भिक्षा-पात्र में दो फूल डालने की अनुकंपा आज जरूर करें!

दो क्यों, तीन सही.
हरि ओम् तत्सत्!

ग्यारहवां प्रवचन

दुख का मूल द्वैत है

जनक उवाच।

ज्ञानं ज्ञेयं तथा ज्ञाता त्रितयं नास्ति वास्तवम्।
अज्ञानाद्भाति यत्रेदं सोऽहमस्मि निरंजनः।। ३५।।
द्वैतमूलमहो दुःखं नान्यत्तस्यास्ति भेषजम्।
दृश्यमेतन्मृषा सर्वमेकोऽहं चिद्रसोऽमलः।। ३६।।
बोधमात्रोऽहमज्ञानादुपाधिः कल्पितो मया।
एवं विमृश्यतो नित्य निर्विकल्पे स्थितिर्मम।। ३७।।
न मे बंधोऽस्ति मोक्षो वा भ्रांतिः शांता निराश्रया।
अहो मयि स्थितं विश्वं वस्तुतो न मयि स्थितम्।। ३८।।
सशरीरमिदं विश्वं न किंचिदिति निश्चितम्।
शुद्ध चिन्मात्र आत्मा च तत्कस्मिन् कल्पनाधुना।। ३९।।
शरीरं स्वर्गनरकौ बंधमोक्षौ भयं तथा।
कल्पनामात्रमेवैतत किं मे कार्यं चिदात्मनः।। ४०।।

जनक ने कहा: "ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञाता, ये तीनों यथार्थ नहीं हैं। जिसमें ये तीनों भासते हैं, मैं वही निरंजन हूं।"

ज्ञानं ज्ञेयं तथा ज्ञाता त्रितयं नास्ति वास्तवम्।

जो भी दिखाई पड़ रहा है, जिसे दिखाई पड़ रहा है, और इन दोनों के बीच जो संबंध है--ज्ञान का या दर्शन का--जनक कहते हैं, आज मैं जागा, और मैंने देखा, यह सब स्वप्न है। जो जागा है और जिसने इन तीनों को देखा, स्वप्न की भांति तिरोहित होते, वही केवल सत्य है।

तो तुम साक्षी को द्रष्टा मत समझ लेना। भाषाकोश में तो साक्षी का अर्थ द्रष्टा ही लिखा है; लेकिन साक्षी द्रष्टा से भी गहरा है। द्रष्टा में साक्षी की पहली झलक मिलती है। साक्षी में द्रष्टा का पूरा भाव, पूरा फूल खिलता है। द्रष्टा तो अभी भी बंटा है। द्रष्टा है तो दृश्य भी होगा। और दृश्य और द्रष्टा हैं, तो दोनों के बीच का संबंध, दर्शन, ज्ञान भी होगा। तो अभी तो खंड हैं।

जहां-जहां खंड हैं, वहां-वहां स्वप्न हैं; क्योंकि अस्तित्व अखंड है। जहां-जहां हम बांट लेते हैं, सीमायें बनाते हैं, वे सारी सीमायें व्यावहारिक हैं, पारमार्थिक नहीं।

अपने पड़ोसी के मकान से अलग करने को तुम एक रेखा खींच लेते, एक दीवाल खड़ी कर देते, बागुड़ लगा देते, लेकिन पृथ्वी बंटती नहीं। हिंदुस्तान पाकिस्तान को अलग करने के लिए तुम नक्शे पर सीमा खींच देते; लेकिन सीमा नक्शे पर ही होती है, पृथ्वी अखंड है।

तुम्हारे आंगन का आकाश और तुम्हारे पड़ोसी के आंगन का आकाश अलग-अलग नहीं है। तुम्हारे आंगन को बांटने वाली दीवाल आकाश को नहीं बांटती। जहां-जहां हमने बांटा है, वहां जरूरत है, इसलिए बांटा है। उपयोगिता है बांटने की, सत्य नहीं है बांटने में। सत्य तो अनबंटा है।

और जो गहरे से गहरा विभाजन है हमारे भीतर, वह है देखने वाले का, दिखाई पड़ने वाले का। जिस दिन यह विभाजन भी गिर जाता है, तो आखिरी राजनीति गिरी, आखिरी नक्शे गिरे, आखिरी सीमायें गिरीं।

तब जो शेष रह जाता है अखंड, उसे क्या कहें? वह द्रष्टा नहीं कहा जा सकता अब, क्योंकि दृश्य तो खो गया। दृश्य के बिना द्रष्टा कैसा? इस द्रष्टा को जो हो रहा है, वह दर्शन नहीं कहा जा सकता, क्योंकि दर्शन तो बिना दृश्य के न हो सकेगा। तो द्रष्टा, दर्शन और दृश्य तो एक साथ ही बंधे हैं; तीनों होंगे तो साथ होंगे, तीनों जायेंगे तो साथ जायेंगे।

तुमने देखा! कोई भी स्वप्न जाता है तो पूरा, होता है तो पूरा। तुम ऐसा नहीं कर सकते कि स्वप्न में से थोड़ा-सा हिस्सा बचा लूं, या कि कर सकते हो?

रात तुमने एक स्वप्न देखा कि तुम सम्राट हो गये, बड़ा सिंहासन है, राजमहल है, बड़ा फौज-फांटा है। सुबह जाग कर क्या तुम ऐसा कर सकते हो कि सपने में से कुछ बचा लो। तुम कहो, जाये सब, यह सिंहासन बचा लूं; जाये सब, कम से कम पत्नी तो बचा लूं; जाये सब, कम से कम अपना मुकुट तो बचा लूं। नहीं, या तो सपना पूरा रहता या पूरा जाता। अगर तुम जागे, तो यह संभव नहीं है कि तुम सपने का खंड बचा लो।

द्रष्टा, दृश्य, दर्शन, एक ही स्वप्न के तीन अंग हैं। जब पूरा स्वप्न गिरता है और जागरण होता है, तो जो शेष रह जाता है, उसे तो तुमने स्वप्न में जाना ही नहीं था, वह तो स्वप्न में सम्मिलित ही नहीं हुआ था; वह तो स्वप्न से पार ही था, सदा पार था। वह अतीत था। वह स्वप्न का अतिक्रमण किये था। स्वप्न में जिसे तुमने जाना था, वह सब खो जायेगा--समग्ररूपेण सब खो जायेगा!

इसलिए तुमने परमात्मा की जो भी धारणा बना रखी है, जब तुम्हें परमात्मा का अनुभव होगा, तो तुम चकित होओगे, तुम्हारी कोई धारणा काम न आयेगी; तुम्हारी सब धारणाएं खो जायेंगी। जो तुम जानोगे, उसे स्वप्न में सोये-सोये जानने का कोई उपाय नहीं; धारणा बनाने का भी कोई उपाय नहीं।

इसलिए तो कहते हैं, परमात्मा की तरफ जिसे जाना हो उसे सब धारणायें छोड़ देनी चाहिए। उसे सब सिद्धांत कचरे-घर में डाल देना चाहिए। उसे शब्दों को नमस्कार कर लेना चाहिए; विदा दे देनी चाहिए कि तुमने खूब काम किया संसार में, उपयोगी थे तुम, लेकिन पारमार्थिक नहीं हो।

इसे भी समझ लें सूत्र के भीतर प्रवेश करने के पहले।

व्यावहारिक सत्य पारमार्थिक सत्य नहीं है। व्यावहारिक सत्य की उपयोगिता है, वास्तविकता नहीं। पारमार्थिक सत्य की कोई उपयोगिता नहीं है, सिर्फ वास्तविकता है।

अगर तुम पूछो कि परमात्मा का उपयोग क्या है, तो कठिनाई हो जायेगी। क्या उपयोग हो सकता है परमात्मा का? क्या करोगे परमात्मा से? न तो पेट भरेगा, न प्यास बुझेगी। करोगे क्या परमात्मा का? कौन-से लोभ की तृप्ति होगी? कौन-सी वासना भरेगी? कौन-सी तृष्णा पूरी होगी? परमात्मा का कोई उपयोग नहीं। परमात्मा के कारण तुम महत्वपूर्ण न हो जाओगे। परमात्मा के कारण तुम शक्तिशाली न हो जाओगे। परमात्मा के कारण इस संसार में तुम्हारी प्रतिष्ठा न बढ़ जायेगी। परमात्मा का कोई भी तो उपयोग नहीं है। इसलिए तो जो लोग उपयोग के दीवाने हैं, वे परमात्मा की तरफ नहीं जाते। परमात्मा का आनंद है, उपयोग बिलकुल नहीं।

मेरे पास लोग आते हैं, वे पूछते हैं: "ध्यान करेंगे तो लाभ क्या होगा?" लाभ! तुम बात ही अजीब-सी कर रहे हो। तो तुम समझे ही नहीं, कि ध्यान तो वही करता है जिसने लाभ-लोभ छोड़ा; जिसके मन में अब लाभ व्यर्थ हुआ, जिसने बहुत लाभ करके देख लिये और पाया कि लाभ कुछ भी नहीं होता। धन मिल जाता है, निर्धनता नहीं कटती। पद मिल जाता है, दीनता नहीं मिटती। सम्मान- सत्कार मिल जाता है, भीतर सब खाली का खाली रह जाता है। नाम जगत भर में फैल जाता है, भीतर सिर्फ दुर्गंध उठती है, कोई सुगंध नहीं उठती है, कोई फूल नहीं खिलते। भीतर कांटे ही कांटे, पीड़ा और चुभन, संताप और असंतोष, चिंता ही चिंता घनी होती चली जाती है। भीतर तो चिता सज रही है, बाहर महल खड़े हो जाते हैं। बाहर जीवन का फैलाव बढ़ता जाता है, भीतर मौत रोज करीब आती चली जाती है।

जिसको यह दिखाई पड़ा कि लाभ में कुछ लाभ नहीं, वही ध्यान करता है। लेकिन कुछ लोग हैं, जो सोचते हैं शायद ध्यान में भी लाभ हो, तो चलो ध्यान करें। वे पूछते हैं: ध्यान में लाभ क्या? इससे क्या फायदा होगा? सुख-समृद्धि आयेगी? पद-प्रतिष्ठा मिलेगी? धन-वैभव मिलेगा? हार, जीत में परिणत हो जायेगी? यह जीवन का विषाद, यह जीवन की पराजय, यह जीवन में जो खाली-खालीपन है--यह बदलेगा? हम भरे-भरे हो जायेंगे?

वे प्रश्न ही गलत पूछते हैं। अभी उनका संसार चुका नहीं। वे जरा जल्दी आ गये। अभी फल पका नहीं। अभी मौसम नहीं आया। अभी उनके दिन नहीं आये।

ध्यान तो वही करता है, या ध्यान की तरफ वही चल सकता है, जिसे एक बात दिखाई पड़ गई कि इस संसार में मिलता तो बहुत कुछ और मिलता कुछ भी नहीं। सब मिल जाता है और सब खाली रह जाता है। जिसे यह विरोधाभास दिखाई पड़ गया, फिर वह यह न पूछेगा कि ध्यान में लाभ क्या है? क्योंकि लाभ होता है व्यावहारिक बातों में। ध्यान पारमार्थिक है।

आनंद है ध्यान में, लाभ बिलकुल नहीं। तुम ध्यान को तिजोड़ी में न रख सकोगे। ध्यान से बैंक-बैलेंस न बना सकोगे। ध्यान से सुरक्षा, सिक्योरिटी न बनेगी।

ध्यान तो तुम्हें छोड़ देगा अज्ञात में। ध्यान में तो तुम्हारी जो सुरक्षा थी वह भी चली जायेगी। ध्यान तो तुम्हें छोड़ देगा अपरिचित लोक में। उस अभियान पर भेज देगा, जहां तुम धीरे-धीरे गलोगे, पिघलोगे, बह जाओगे। ध्यान से लाभ कैसे होगा? ध्यान से तो हानि होगी--और हानि यह कि तुम न बचोगे। ध्यान तो मृत्यु है। लेकिन तब, जब तुम मर जाते हो--शरीर से ही नहीं, शरीर से तो तुम बहुत बार मरे हो; उस मरने से कोई मरता नहीं; वह मरना तो वस्त्र बदलने जैसा है। पुराने वस्त्रों की जगह नये वस्त्र मिल जाते हैं, बूढ़ा बच्चा हो कर आ जाता है। उस मरने से कोई कभी मरा नहीं। मरे तो हैं कुछ थोड़े-से लोग--कोई अष्टावक्र, कोई बुद्ध, कोई महावीर--वे मरे। उनकी मृत्यु पूरी है; फिर वे वापस नहीं लौटते।

ध्यान मृत्यु है। ध्यान में तुम तो मरोगे, तुम तो मिटोगे, तुम्हारी तो छाया भी न रह जायेगी। तुम्हारी तो छाया भी अपवित्र करती है। तुम तो रंचमात्र न बचोगे, तुम ही न बचोगे, तुम्हारे लाभ का कहां सवाल?

तुम स्वयं एक व्यावहारिक सत्य हो। तुम सिर्फ एक मान्यता हो, तुम हो नहीं। तुम सिर्फ एक धारणा हो, तुम्हारा कोई अस्तित्व नहीं है। तुम्हारी धारणा तो बिखर जायेगी। सब धारणायें बिखर जायेंगी तुम्हारे बिखरते ही। क्योंकि जब मालिक ही न रहा, तो जो सब साज-सामान इकट्ठा कर लिया था, वह सब बिखर जायेगा। जब संगीतज्ञ ही न रहा, तो वीणा क्या बजेगी? कहते हैं: "न रहा बांस न बजेगी बांसुरी।" तुम ही गये तो बांस ही गया, अब बांसुरी का कोई उपाय न रहा। तब जो शेष रह जायेगा, वही समाधि है--वह है पारमार्थिक!

पारमार्थिक का अर्थ है: जो है! परम आनंदमय! परम विभामय! बरसेगा आशीष, अमृत का अनुभव होगा; लेकिन लाभ! कुछ भी नहीं। व्यावहारिक अर्थों में कोई लाभ नहीं। उससे तुम किसी तरह की संपदा निर्मित न कर पाओगे।

वही व्यक्ति ध्यान की तरफ आना शुरू होता है, जिसे संसार स्वप्नवत हो गया; जो इस संसार में से अब कुछ भी नहीं बचाना चाहता; जो कहता है यह पूरा सपना है, जाये पूरा; अब तो मैं उसे जानना चाहता हूं जो सपना नहीं है।

ये सूत्र उसी खोजी के लिये हैं।

जनक ने कहा: "ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञाता, ये तीनों यथार्थ नहीं हैं। जिसमें ये तीनों भासते हैं, मैं वही निरंजन हूं।"

जिसके ऊपर यह सपना चलता संसार का...। रात तुम सोते हो, तुम सपना देखते हो। सपना सत्य नहीं है, लेकिन जिसके ऊपर सपने की तरंगें चलती हैं, वह तो निश्चित सच है। सपना जब खो जायेगा तब भी सुबह तुम

तो रहोगे। तुम कहोगे, रात सपना देखा, बड़ा झूठा सपना था। एक बात तय है, जो देखा, वह तो झूठ था, लेकिन जिसके ऊपर बहा, उसे तो झूठ नहीं कह सकते। अगर देखने वाला भी झूठ हो, तब तो सपना बन ही नहीं सकता। सपने के बनने के लिये भी कम से कम एक तो सत्य चाहिये--वह सत्य है तुम्हारा होना। और सुबह जाग कर जब तुम पाते हो कि सपना झूठा था, तो तुम जरा खयाल करना: जिसने सपने को देखा, और जो सपने में भरमाया, जो सपने का द्रष्टा बना था, वह भी झूठा था।

रात तुमने सपना देखा कि एक सांप, बड़ा सांप चला आ रहा है, फुफकारें मारता तुम्हारी ओर। जिसने देखा सपने में, वह कंप गया, वह घबड़ा गया। वह पसीने-पसीने हो भागने लगा। पहाड़-पर्वत पार करने लगा, और सांप पीछा कर रहा है। और तुम भागते हो, और उसकी फुफकार तुम्हें सुनाई पड़ रही है। वह जब तुम सुबह जागोगे, तो सांप तो झूठा हो गया। और जिसने सांप को देखा था, जो देख कर भागा था, जो भाग-भाग कर घबड़ाया, पसीने से लथपथ हो कर गिर पड़ा था--क्या वह सच था? वह भी झूठ हो गया। सपना भी झूठ हो गया, सपने का द्रष्टा भी झूठ हो गया। लेकिन फिर भी इन दोनों के पार कोई है, जिस पर दोनों घटे। नहीं तो सुबह याद कौन करेगा? यह किसको आती याद? यह कौन कहता सुबह कि सपना झूठ था?

खयाल रखना, दृष्य तो झूठ था ही; वह जो द्रष्टा था सपने में, वह भी झूठ था, क्योंकि वह झूठ के मोह में आ गया था। झूठ से जो प्रभावित हो जाये, वह भी झूठ। झूठ से जो आतंकित हो जाये, वह भी झूठ।

सत्य कहीं झूठ से प्रभावित हुआ है? झूठे से जो भयभीत हो जाये, वह भी झूठ। झूठ को जो मान ले कि सच है, वह भी झूठ। झूठ को मानने में ही हम झूठ हो जाते हैं। दोनों गये।

जैसे सुबह जागता कोई, ऐसे ही एक दिन अंतिम जागरण आता--ध्यान का, समाधि का, साक्षी का। उस दिन तुम पाते हो, सब झूठ था। तब तुम यह नहीं कहते कि पत्नी ही झूठ थी--पति भी झूठ था। तब तुम यह नहीं कहते कि धन झूठ था; वह जो धन को इकट्ठा कर रहा था, वह भी झूठ था। तब तुम यह नहीं कहते सिर्फ कि मेरे बाहर जो झूठ था वही झूठ था; तब तुम जानते हो कि तुम्हारे भीतर भी बहुत कुछ था, जो झूठ था। और जो अब बचा है, वह तो न तुम्हारे बाहर था और न भीतर था; वह तो बाहर-भीतर दोनों के पार था।

आत्मा भीतर नहीं है। बाहर शरीर दिखाई पड़ रहा है, भीतर मन है। आत्मा न बाहर है न भीतर है। आत्मा तो आकाश जैसी है। सब उसमें घट रहा।

यह जो सूत्र है: "जिसमें ये तीनों भासते हैं, मैं वही निरंजन हूं।"

और "निरंजन" कहते हैं जनक। निरंजन का अर्थ होता है: निर्दोष। ऐसी निर्दोषता जिसे खंडित करने का कोई उपाय नहीं। ऐसा क्वांरापन जो कभी व्यभिचारित नहीं होता।

निरंजन का अर्थ होता है: ऐसी पवित्रता, जिसके अपवित्र होने की कोई संभावना नहीं है, कोई उपाय ही नहीं है। जो अपवित्र हो जाये, वह निरंजन नहीं। जो सपने में दब जाये और सपने में खो जाये, वह निरंजन नहीं जो झूठ से आंदोलित हो जाये, वह निरंजन नहीं। जो झूठ से इतना प्रभावित हो जाये कि झूठ के पीछे दौड़ने लगे, वह निरंजन नहीं। निरंजन तो सदा पवित्र, शांत, आकाश जैसा निर्मल!

आकाश में देखा, कितने धूल के बवंडर उठते हैं, काले बादल छाते हैं; आते हैं, चले जाते हैं--आकाश का निरंजनपन शेष रहता है। न तो धूल के बादल आकाश को गंदा कर पाते, न काले बादल आकाश को गंदा कर पाते। सब कुछ होता रहता है, लेकिन आकाश की निर्दोषता शाश्वत है; उस पर कोई खंडन नहीं होता। ऐसी दशा को कहते हैं निरंजन।

फिर से दोहरा दूं: तुमने जो अब तक जाना है, उसमें से कुछ भी सच नहीं है। तुमने अब तक जो माना है, उसमें से कुछ भी सच नहीं है। तुम्हारा सब असत्य है, क्योंकि अभी तो तुम ही असत्य हो। असत्य असत्य का मेल होता है। सत्य असत्य का कोई मेल नहीं होता। उन्हें मिश्रित नहीं किया जा सकता।

अभी तक तुमने जो भी जाना है, वह सभी असत्य है। तुमने वेद पढ़े, कुरान पढ़ी, बाइबिल पढ़ी, गीता पढ़ी--तुमने जो पढ़ लिया, वह वहां लिखा नहीं। तुमने वही पढ़ लिया जो तुम अपनी अज्ञान की दशा में पढ़ सकते हो। तुमने बहुत-से संयम साधे, मगर तुम्हारे सब संयम झूठ को ही साधने में सहयोगी होते हैं। क्योंकि तुम ही अभी झूठ हो, तुम संयम कैसे साधोगे? तुम्हारा संयम भी एक सपना ही होगा। तुमने तप भी किये, दान भी दिये, तुमने उपवास भी किये, तुमने पूजा-प्रार्थना भी की, लेकिन सब व्यर्थ गई, सब पानी में बह गई। क्योंकि मौलिक बात, आधारभूत बात तुम्हें खयाल में नहीं आई।

कल मैं बच्चों का एक गीत पढ़ रहा था:

नदी घाट से बांझ लदे
चले शहर को पांच गधे
पहला बोला--मैं राजा!
कहा दूसरे ने--जा जा!
बोला तीसरा--बंद करो झगड़ा!
क्योंकि तीसरा था तगड़ा।
चौथे ने प्रस्ताव किया,
चालाकी से काम लिया,
लड़ने से पहले सुन लो,
मुझको निर्णायक चुन लो।
आया ताव पांचवें को,
शुरू किया: रेंको-रेंको।
खूब चली फिर दुलत्ती,
कुचल गई पत्ती-पत्ती।
मालिक आया तभी सधे,
बदले बिलकुल नहीं गधे।

मालिक को देख कर सध भी गये, शांत भी खड़े हो गये--बदले बिलकुल नहीं गधे! लेकिन कहीं मालिक को देख कर सध कर खड़े हो जाने से, सधे हो जाने से कहीं गधे बदले?

तो कुछ गधे हैं जो बाजार में तुम्हें मिलेंगे, कुछ गधे तुम्हें आश्रमों में मिलेंगे--सधे-बधे गधे, मगर बदले बिलकुल नहीं गधे। कोई धन के पीछे पागल है, कोई धन छोड़ने के पीछे पागल है--लेकिन धन का प्रभाव दोनों पर है। धन से छूट होती नहीं दिखती। धन छूट जाता है, तो भी धन से छूट होती नहीं दिखती। कोई स्त्रियों के पीछे दीवाना है, कोई स्त्रियों से घबड़ा कर भाग गया है। फर्क कहां? दिशा बदल गई, मूढ़ता नहीं बदली।

बदले बिलकुल नहीं गधे!

घबड़ाहट है कि कहीं स्त्री न छू जाये, कि कहीं स्त्री दिखाई न पड़ जाये! यह घबड़ाहट कैसी? अगर तुम्हें दिखाई पड़ गया कि सब सपना है, तो घबड़ाहट कैसी? सुबह जागकर अगर कोई कहे कि रात देखा कि सब सपना है--इस कमरे में सांप ही सांप थे, कि सिंह दहाड़ते थे, सब सपना है। लेकिन सुबह हम उससे कहें कि चलो कमरे के भीतर, वह कहे कि मैं नहीं जाता; सब सपना है, बाकी मैं जाता नहीं, क्यों जायें? अगर तुम्हें दिखाई पड़ गया कि सपना है, तो अब क्या घबड़ाहट? अब तो कमरे के भीतर आ जाओ। नहीं, वह कहता है, सब सपना है, सब समझ में आ गया, मगर जायें क्यों कमरे के भीतर? कमरे के भीतर हम नहीं जाएंगे, हमने कमरे का त्याग कर दिया है।

जनक जैसा ज्ञानी बहुत मुश्किल से मिलेगा। क्योंकि जनक ज्ञान को उपलब्ध हुए, और महल छोड़ा नहीं। यह परम ज्ञानी की दशा है। क्योंकि जब जान ही लिया, तो छोड़ने को कुछ न बचा। जनक ज्ञान को उपलब्ध हो गये, रत्ती भर भी बदलाहट न की। क्योंकि बदलाहट कहां करें? सपना तो गया। अब जो जैसा है, है।

अगर ज्ञान के बाद त्याग की चेष्टा चले, तो समझना ज्ञान अभी घटा नहीं। मूढ़ों के सिवाय त्याग कभी कोई करता ही नहीं। ज्ञानी क्यों त्याग करेगा? ज्ञानी का तो बोध-मात्र पर्याप्त है। उसे तो दिखाई पड़ गया कि यह सब मायाजाल है, बस ठीक है! वह उससे आंदोलित नहीं होता न पक्ष में, न विपक्ष में। उस पर इसकी छाया नहीं पड़ती--न तो आकर्षण की, न विकर्षण की।

ज्ञान को उपलब्ध व्यक्ति न तो रागी होता न विरागी। ज्ञान को उपलब्ध व्यक्ति न भोगी हो सकता, न रागी, न त्यागी। क्योंकि भोगी और योगी होने के लिये, भोगी और त्यागी होने के लिये, सपना चाहिये वही। दोनों का सपना एक है। दोनों की मान्यता एक है। एक कहता है धन में सब है, और एक कहता है धन मिट्टी है।

मैंने सुना है, महाराष्ट्र की एक प्राचीन कथा है: रांका और बांका पति-पत्नी थे। रांका पति था, बांका उसकी पत्नी का नाम था। थी भी वह बांकी औरत। रांका बड़ा त्यागी था। उसने सब छोड़ दिया था। वह भीख भी नहीं मांगता था। वह रोज जा कर जंगल से लकड़ी काट लाता और बेच देता, जो बचता, उससे भोजन कर लेता। सांझ अगर कुछ बच जाता, तो उसको बांट देता। रात फिर भिखमंगे हो कर सो जाते। सुबह फिर लकड़ी काटने चला जाता।

एक दिन ऐसा हुआ कि वह बीमार था और तीन दिन तक लकड़ी काटने न जा सका। तो तीन दिन घर में चूल्हा न जला। चौथे दिन कमजोर तो था, लेकिन जाना पड़ा। पत्नी भी साथ गई सहारा देने को। लकड़ियां काटीं। रांका अपने सिर पर लकड़ियों का गट्ठा लिये चलने लगा। पीछे-पीछे उसकी पत्नी चलने लगी। राह के किनारे अभी-अभी कोई घुड़सवार निकला है, घोड़े के पदचाप बने हैं, और धूल अभी तक उड़ रही है। और देखा उन्होंने कि किनारे एक अशर्फियों से भरी थैली पड़ी है, शायद घुड़सवार की गिर गई है। रांका आगे है। उसके मन में सोच उठा कि मैं तो हूं त्यागी, मैंने तो विजय पा ली, मेरे लिये तो धन मिट्टी है; मगर पत्नी तो पत्नी है, कहीं उसका मन न आ जाये, लोभ न आ जाये; कहीं सोचने न लगे रख लो, कभी दुर्दिन में काम आ जायेगी; अब तीन दिन भूखे रहना पड़ा, एक पैसा पास न था। ऐसा सोच कर उसने जल्दी से अशर्फियों से भरी थैली पास के एक गड्ढे में सरका कर उसके ऊपर मिट्टी डाल दी। वह मिट्टी डाल कर चुक ही रहा था कि पत्नी आ गई। उसने पूछा, क्या करते हो?

तो रांका ने कसम खाई थी झूठ कभी न बोलने की, बड़ी मुश्किल में पड़ गया। कहे, तो डर लगा कि यह पत्नी झंझट न करने लगे; और कहे कि रख लो, हर्ज क्या है, भाग्य ने दी है, भगवान ने दी है, रख लो--कहीं ऐसा न कहने लगे! स्त्री का भरोसा क्या! साधु-संन्यासी स्त्री से सदा डरे रहे। मगर झूठ भी न बोल सका, क्योंकि कसम खा ली थी। तो उसने मजबूरी में कहा कि सुन, मुझे क्षमा कर, और कोई और बात मत उठाना, सत्य कहे देता हूं: यहां थैली पड़ी थी, यह सोच कर कि तेरा लोभ न जग जाये, मैं तो खैर लोभ का त्याग कर चुका, मगर तेरा क्या भरोसा! स्त्री यानी स्त्री। स्त्री का कहीं मोक्ष होता है! जब तक वह पुरुष न हो जाये, तब तक मोक्ष नहीं कहते धर्मशास्त्र--सब धर्मशास्त्र पुरुषों ने लिखे हैं; वहां भी बड़ी राजनीति है--तो तू स्त्री है, कमजोर हृदय की है, रागात्मक तेरी प्रवृत्ति है। तू कहीं उलझ न जाये, इसलिए तेरे को ध्यान में रख कर मैंने ये अशर्फियां मिट्टी में ढक दी हैं और ऊपर से मिट्टी डाल रहा हूं।

रांका की बात सुन कर बांका खूब हंसने लगी। उसे नाम इसीलिए तो बांका मिला। वह कहने लगी, यह भी खूब रही! मिट्टी पर मिट्टी डालते तुम्हें शर्म नहीं आती? और जरूर तुम्हारे भीतर कहीं लोभ बाकी है। जो तुम मुझ में सोचते हो, वह तुम्हारे भीतर कहीं छिपा होगा। जो तुम मुझ पर आरोपित करते हो, वह कहीं तुम्हारे

भीतर दबा पड़ा होगा। तुम्हें अभी सोना, सोना दिखाई पड़ता है? तुम्हें अभी भी सोने और मिट्टी में फर्क मालूम होता है?

वह तो रोने लगी, वह तो कहने लगी कि मैं तो सोचती थी कि तुम त्यागी हो गये! यह क्या हुआ, अभी तक धोखा ही चला! तुम मिट्टी पर मिट्टी डाल रहे हो!

यह बांका समझती जनक का सूत्र। जनक परम ज्ञान को उपलब्ध हो गये और कुछ भी न छोड़ा!

भोग और त्याग दोनों ही अज्ञानी के हैं। वे एक ही सिक्के के दो पहलू हैं।

मेरे पास एक संन्यासी एक दफा मिलने आये। जो उनको साथ ले आये थे मेरे पास तक, उन्होंने कहा कि योगीजी बड़े महात्मा हैं, बड़े पहुंचे हुए हैं! रुपये-पैसे को हाथ भी नहीं लगाते! कोई रुपया-पैसा सामने कर दे, तो इधर मुंह फेर लेते हैं। और इसलिए तो मैं इनके साथ चलता हूं, क्योंकि टिकिट लेनी, टैक्सी का भाड़ा चुकाना, तो पैसे मैं रखता हूं।

मैंने पूछा, "तुम्हारा नाम क्या है?"

कहा, "भोगीलाल भाई।"

योगी-भोगी का खूब मेल मिला! "पैसे वस्तुतः किसके हैं?"

"मेरे तो नहीं है," भोगीलाल भाई ने कहा, "क्योंकि मुझे कौन देता है! देते तो लोग स्वामी जी को हैं, रखता मैं हूं। हैं तो स्वामी जी के, अगर सच पूछें तो; क्योंकि मैं कौन हूं, मेरी स्थिति क्या! मैं तो साधारण आदमी हूं। चढ़ाते उनको हैं, सम्हालता मैं हूं। बाकी वे छूते नहीं। वे खड़े योगी हैं।"

योगी और भोगी एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। जहां तुम योगीलाल भाई को पाओगे वहीं भोगीलाल भाई को भी पाओगे। उन दोनों का एक-दूसरे के बिना चल भी नहीं सकता। असंभव है, क्योंकि सिक्का कहीं एक पहलू का हुआ है? उसमें दोनों पहलू ही चाहिये।

वीतराग पुरुष तो वही है, जिसकी न तो पकड़ अब भोग की है और न योग की है। जिसने जान लिया कि सब सपना है, अब भागना कहां है? न भोगना है, न भागना है। अब तो जो हो उसे देखते रहना है। अब तो साक्षी-भाव में जीना है। ऐसा हो तो ठीक, वैसा हो तो ठीक। महल हो तो ठीक, झोपड़ी हो तो ठीक। कुछ हो तो ठीक, कुछ न हो तो ठीक।

वीतराग चित्त की दशा भोग और त्याग के पार की दशा है। क्योंकि भोग भी एक सपना है और त्याग भी एक सपना है। दोनों से जो जाग गया, वही साक्षी है।

लेकिन हमारे सोचने के ढंग होते हैं, हमारे सोचने की बंधी हुई व्यवस्थायें होती हैं। हमने जीवन भर धन को बहुत मूल्य दिया, फिर एक दिन हमें दिखाई पड़ा कि धन व्यर्थ है, तो भी हमारे जीवन भर का ढांचा इतनी आसानी से तो नहीं बदलता। तब हम विपरीत ढंग से धन को मूल्य देने लगते हैं। हम कहते हैं, धन व्यर्थ है, हम धन को देखेंगे भी नहीं। पुरानी आदत जारी रही।

मैंने सुना कि मुल्ला नसरुद्दीन एक बार नास्तिक हो गया! और मुसलमान साधारणतः नास्तिक होते नहीं, इतनी हिम्मत मुसलमान जुटा ही नहीं पाते। नास्तिक तो हो गया, लेकिन पुरानी आदत तो नहीं छूटी। मुझे मिलने आया तो मैंने पूछा कि मुल्ला, मैंने सुना, तुम नास्तिक हो गये! चलो अच्छा किया, कुछ तो हुए। अब तुम्हारा सिद्धांत क्या है?

उसने कहा, "मेरा सिद्धांत बिलकुल साफ है। मैंने टांग रखा है अपनी दीवाल पर कि कोई ईश्वर नहीं है, और पैगंबर मुहम्मद उसके पैगंबर हैं।"

कोई ईश्वर नहीं है, और मुहम्मद उसके पैगंबर हैं! वह पुरानी आदत कि एक ही अल्लाह, और एक ही पैगंबर मुहम्मद! उसमें से आधा तो बदला, उतनी तो हिम्मत जुटाई कि कोई ईश्वर नहीं है, लेकिन पुरानी आदत! अब ईश्वर नहीं है तो भी मुहम्मद तो पैगंबर हैं ही।

हमारी आदतें ऐसी ही चलती हैं। बड़ी सूक्ष्म हैं।

एक मित्र मुल्ला नसरुद्दीन को मिल गया होटल में। तो उसने कहा, यार, एक-एक पैग हो जाये तो कैसा रहे? मुल्ला ने कहा, नहीं भाई, शुक्रिया, बहुत-बहुत धन्यवाद! नहीं, इसलिए कि एक तो मेरे धर्म में शराब पीने की मनाही है। दूसरे जब मेरी पत्नी मरने को थी, तो मैंने उसके सामने कसम खा ली है कि कभी शराब न पीऊंगा। और तीसरे अभी-अभी मैं घर से पी कर चला आ रहा हूं।

आदमी बिना देखे, बिना द्रष्टा बने, कसमें खाता, व्रत ले लेता, त्याग कर देता, संकल्प बना लेता--उससे क्या होगा? उसके सोचने के ढंग तो नहीं बदलते। उसके सोचने की मौलिक प्रक्रिया तो नहीं बदलती। वह पुराने ही ढांचे में नये सिक्के ढालने लगता है; लेकिन नये सिक्कों पर मोहरें तो पुरानी ही होती हैं, हस्ताक्षर तो पुराने ही होते हैं।

तुम अगर ऐसे ऊपर-ऊपर बदलने में लगे रहे, तो कभी न बदलोगे; यह तुम बदलने का धोखा दे रहे हो। बदलाहट तो आमूल होती है, जड़मूल से होती है। बदलाहट तो एक झंझावात है, एक क्रांति है, जिसमें तुम्हारा सब उखड़ जाता; जिसमें तुम्हारे देखने, सोचने, विचारने की प्रक्रियाएं समाप्त हो जाती हैं। अभिनव का जन्म होता है। अतीत से तुम्हारा समस्त संबंध विच्छेद हो जाता है। उसमें से कुछ भी तुम बचा कर नहीं लाते--किसी भी बहाने से बचा कर नहीं लाते।

धन में रस था, तो तुम त्यागी बन सकते हो; लेकिन तुम्हारा रस धन में ही रहेगा। यह हो सकता है, फिर तुम लोगों को समझाओ कि बचो कामिनी-कांचन से! कामिनी-कांचन में बड़ा खतरा है! लेकिन तुम चर्चा कामिनी-कांचन की ही करोगे।

कभी-कभी शास्त्रों को देख कर बड़ी हैरानी होती है। ऋषि-मुनि निरंतर कामिनी-कांचन की बात करते रहते हैं--बचो कामिनी-कांचन से! ऐसा लगता है, अभी भी डरे हुए हैं, और शायद दूसरों को समझाने के बहाने अपने को समझा रहे हैं। यह बात ही क्या है? ठीक है, समझाने के लिये एकाध बार कह दी, तो ठीक है, मगर यह चौबीस घंटे का राग, कि बचो कामिनी-कांचन से। ऐसा लगता है, पीछे अचेतन में अभी भी कामिनी-कांचन काम कर रहे हैं। अभी भी डरे हुए हैं। अभी भी लगता है, भय है। अभी भी लगता है, अगर यह बात बार-बार न दोहराई, तो खतरा है कि कहीं फिर न पड़ जायें उसी जाल में। तो यह आत्म-सम्मोहन का प्रयोग कर रहे हैं, वे बार-बार दोहरा रहे हैं।

फ्रांस में सम्मोहक हुआ: इमाइल कुए। वह अपने शिष्यों को कहता था कि बस एक ही बात को रोज सुबह-शाम दोहराओ कि मैं रोज अच्छा हो रहा हूं, स्वस्थ हो रहा हूं--तुम हो जाओगे। ये सारे लोग इमाइल कुए के अनुयायी मालूम होते हैं। तुम दोहराते रहो कि कामिनी-कांचन पाप है, कामिनी-कांचन पाप है। लेकिन तुमने खयाल किया? तुम उसी चीज को पाप कहते हो, जिसमें तुम्हारा रस भी होता है। सच तो यह है कि अगर चीजें पाप न हों तो उनमें रस ही खो जाता है। जिस चीज को पाप बना दो, उसमें रस आने लगता है। कहो कि पाप है तो आकर्षण पैदा होता है। तुम छोटे से बच्चे को कहो कि वहां मत जाना--बस सारी दुनिया बेकार हुई, अब वहीं जाने में रस मालूम होता है।

ईसाई कथा है कि परमात्मा ने जब बनाया आदम और हव्वा को, तो उसने कहा कि देखो और सब फल तो खाना इस बगीचे के, सिर्फ यह जो बीच में एक वृक्ष लगा है, यह ज्ञान का वृक्ष है, इसका फल मत खाना। फिर मुश्किल हो गई। मुश्किल खुद परमात्मा ने पैदा करवा दी। इतना बड़ा विराट जंगल था, कि अगर आदम-हव्वा को खुद पर छोड़ दिया होता, तो शायद अभी तक भी वे खोज न पाये होते उस वृक्ष को। अनंत! मगर वह

परमात्मा का कहना, और तख्ती लगा देना कि यहां इस फल को मत खाना, बस वही बना उत्तेजना का कारण। फिर सारा बगीचा व्यर्थ हो गया। फिर रात सपना भी आदम और हव्वा यही देखते रहे होंगे कि कब, कैसे! आखिर परमात्मा ने मना क्यों किया? जरूर कुछ राज होगा। और तभी तो वह सांप उनको, शैतान उनको भटका सका। उसने कहा कि अरे पागलो! परमात्मा खुद इसका फल खाता है! तुम खाओगे, तुम भी परमात्मा जैसे हो जाओगे। इसलिए तो रोका-र्-ईष्यावश!

अब अगर दुबारा परमात्मा संसार बनाये तो उससे मैं कहना चाहूंगा कि अब की बार तुम यह कह देना कि इस सांप को मत खाना, बस। आदम-हव्वा सांप को खा जाते, अगर परमात्मा ने कहा होता कि सांप को मत खाना, और सब खाना! शैतान को खा जाते, अगर तख्ती लगा दी होती कि शैतान को छोड़ना, बाकी सब खा जाना। मगर वह तख्ती लगाई थी ज्ञान के वृक्ष पर।

निषेध आमंत्रण बन जाता है। निषेध बड़ा निमंत्रण बन जाता है। कहो, "नहीं"--और प्राणों में कोई छटपटाहट होती है कि करके रहो, देखो, जरूर कुछ होगा। कामिनी-कांचन को संतपुरुष निरंतर भजते हैं कि पाप, बचो, घबड़ाओ! तो सुनने वालों को लगता है कि जरूर कुछ राज होगा, जब महापुरुष इतनी ज्यादा चर्चा करते हैं!

मेरे देखे, अगर दुनिया में धन और काम की निंदा बंद हो जाये, तो धन और काम का जितना प्रभाव है, वह अति शून्य हो जाये, उसका कोई मूल्य न रह जाए। उपयोगिताएं हैं ये। न तो इनको इकट्ठा करने में कोई सार है और न इनको त्यागने में कोई सार है।

तुम जरा सोचो तो अगर जिस चीज को इकट्ठा करने से कुछ नहीं मिलता, उसको छोड़ने से कैसे मिल जायेगा? इकट्ठा करने से संसार नहीं मिलता और छोड़ने से परमात्मा मिल जाएगा? तो त्यागी तो भोगी से भी ज्यादा भ्रांत मालूम होता है। भोगी तो इतना ही कह रहा है कि अगर हम धन इकट्ठा कर लेंगे तो संसार मिल जायेगा। त्यागी इससे भी बड़े भ्रम में है--वह कह रहा है, धन अगर छोड़ देंगे तो परमात्मा मिल जायेगा। लेकिन लगता ऐसा है कि धन से ही सब मिलता है--चाहे संसार, चाहे परमात्मा!

जनक ने कुछ छोड़ा नहीं, और वे महात्याग को उपलब्ध हुए। इस क्रांति के सूत्र को समझो।

"अहो! दुख का मूल द्वैत है, उसकी औषधि कोई नहीं। यह सब दृश्य झूठ है, मैं एक अद्वैत शुद्ध चैतन्य-रस हूं।"

यह सूत्र महाक्रांतिकारी है।

"दुख का मूल द्वैत है।"

चीजों को खंडित करके देखना दुख का मूल है। मैं अलग हूं अस्तित्व से, ऐसा मानना दुख का मूल है। जैसे ही तुम मान लो, जान लो--"तुम अलग नहीं हो"--दुख विसर्जित हो जाता है।

अहंकार दुख है। अहंकार का अर्थ है: हम भिन्न हैं, हम अलग हैं। मैं अकेला हूं, और सारे संसार से मुझे लड़ना है। जीत मुझ पर निर्भर होगी, सारा संसार दुश्मन है। यह सारा अस्तित्व मेरे विरोध में है, मुझे मिटाने को तत्पर है।

तो बड़ी प्रतिस्पर्धा है, बड़ी प्रतियोगिता है। ऐसा व्यक्ति रोज-रोज दुख में पड़ता चला जायेगा। क्योंकि वह जिससे लड़ रहा है, उससे हम अलग नहीं हैं। यह तो ऐसे हुआ कि सागर की एक लहर सागर से लड़ने लगे। तो कष्ट में पड़ जायेगी, पागल हो जायेगी; जल्दी ही तुम उसे किसी मनोवैज्ञानिक के कोच पर लेटा हुआ पाओगे इलाज करवाते। जल्दी ही किसी पागलखाने में कैद पाओगे, अगर कोई लहर सागर से लड़ने लगे।

लहर सागर से कैसे लड़ेगी? लहर तो सागर ही है। सागर ही लहराया है लहर में। हम उस अरूप के रूप हैं। हम उस एक के भिन्न-भिन्न आकार हैं। हम उस अनंत की ही लहरें हैं, तरंगें हैं। हम में वही तरंगायित हुआ है।

वही तुम्हारे भीतर सुन रहा है, वही मेरे भीतर बोल रहा है। वही तुम्हारी आंखों से देख रहा है, वही तुम्हारे कानों से सुन रहा है। वही यहां बैठा है। वही बरस रहा बाहर, वही वृक्षों में हरा-भरा है। एक ही है!

जनक कहते हैं, जिसने दो माना, वह भ्रांति में पड़ा, वह दुख में पड़ा। क्योंकि दो मानते ही हिंसा शुरू हो जाती है, संघर्ष शुरू हो जाता है, लड़ाई शुरू हो जाती है। फिर विश्राम कहां!

जिसने एक जाना, फिर लड़ना किससे है? तुम्हारे शत्रु में भी वही है, और जब मौत आये तुम्हारे द्वार, तो मौत में भी वही आयेगा; उसके अतिरिक्त कोई है ही नहीं। तुम्हारी बीमारी में भी वही है, स्वास्थ्य में भी वही है। जवानी में, बुढ़ापे में भी वही है। सफलता और विफलता में भी वही है। अनेक-अनेक रूपों में वही आता--बस वही आता है, कोई और आने को नहीं है!

ऐसी जिसकी प्रतीति गहन हो जाये, फिर उसे दुख कहां?

द्वैतमूलमहो दुःखं नान्यत्तस्यास्ति भेषजम्।
दृश्यमेतन्मृषा सर्वं एकोऽहं चिद्रसोऽमलः।।

"दुख का मूल द्वैत, उसकी औषधि कोई नहीं।"

अमरीका के एक बहुत विचारशील व्यक्ति ने, फ्रेंकलिन जोन्स ने एक किताब लिखी है। किताब का नाम है: नो रेमेडी। औषधि कोई नहीं! इस सूत्र की व्याख्या है पूरी किताब। शायद इस सूत्र का फ्रेंकलिन जोन्स को कोई पता भी नहीं है। लेकिन बस इस एक छोटे-से सूत्र की व्याख्या है: औषधि कोई नहीं--तस्य भेषजम् अन्यत् अस्ति--बस! कोई औषधि नहीं।

इससे तुम थोड़े चौंकोगे भी, घबड़ाओगे भी। क्योंकि तुम बीमार हो और औषधि की तलाश कर रहे हो। तुम उलझे हो और कोई सुलझाव चाहते हो। तुम परेशानी में हो, तुम कोई हल खोज रहे हो। तुम्हारे पास बड़ी समस्याएं हैं, तुम समाधान की तलाश कर रहे हो। इसलिए तुम मेरे पास आ गये हो। और अष्टावक्र की इस गीता में जनक का उदघोष है कि औषधि कोई नहीं।

इसे समझना। यह बड़ा महत्वपूर्ण है। इससे महत्वपूर्ण कोई बात खोजनी मुश्किल है। और इसे तुमने समझ लिया तो औषधि मिल गई। औषधि कोई नहीं, यह समझ में आ गया, तो औषधि मिल गई।

जनक यह कह रहे हैं कि बीमारी झूठी है। अब झूठी बीमारी का कोई इलाज होता है? झूठी बीमारी का इलाज करोगे तो और मुश्किल में पड़ोगे। झूठी बीमारी के लिये अगर दवाइयां लेने लगोगे, तो बीमारी तो झूठ थी; लेकिन दवाइयां नयी बीमारियां पैदा कर देंगी। इसलिए पहले ठीक-ठीक निर्णय कर लेना जरूरी है कि बीमारी सच है या झूठ?

एक आदमी के संबंध में मैंने सुना, वह बड़ा परेशान था। उसे एक वहम हो गया कि रात उसने एक सपना देखा--वह मुंह खोल कर सोता था, बचपन से उसकी खराब आदत पड़ गई थी--रात उसने सपना देखा कि मुंह उसका खुला है, और एक सांप उसमें घुस गया। घबड़ाहट में नींद तो खुल गई, लेकिन जब उसकी नींद खुली, तब भी सपना ऐसा प्रगाढ़ था कि उसने बराबर सांप की पूंछ सरकते देखी--अंतिम पूंछ। वह चीखा भी, चिल्लाया भी, लेकिन तब तक वह कंठ के अंदर उतर गया। अब उसके बड़े इलाज किये गये, एक्सरे लिये गये, दवाइयां दी गयीं। डाक्टर कहें उससे कि कोई सांप नहीं है, क्योंकि एक्सरे में आता नहीं। वह कहे, हम तुम्हारी मानें कि अपनी? वह पेट में चलता है!

अब तुम थोड़ा सोचो उस आदमी को, अगर तुम भी ऐसा विचार करो तो चलने लगेगा। विचार की बड़ी क्षमता है। कल्पना की बड़ी शक्ति है। उसकी कल्पना प्रगाढ़ हो गई। वह बैठ न सके, पेट में दर्द हो; कहीं सांप यहां सरक रहा है, कहीं वहां सरक रहा है! और उसका जीवन बेचैनी से भर गया। वह रात सो न सके। काम-धाम सब बंद हो गया। चिकित्सकों के पास जाये, वे कहें कि सांप हो भीतर तो हम इलाज करें, कुछ है ही नहीं।

संयोग की बात, वह एक सम्मोहनविद के पास गया। उसने कहा कि सांप है। कौन कहता है नहीं है? कहने वाले गलत। एक्सरे गलत होगा। लेकिन सांप है।

उसकी बात सुनते ही वह आदमी आश्वस्त हुआ, उसने कहा कि गुरु मिले! आप की ही तलाश कर रहा था। मानते ही नहीं लोग। अब मैं मरा जा रहा हूं...।

और उसकी तकलीफ तो सच थी, चाहे सांप झूठ हो। इसे थोड़ा समझ लेना। उसकी तकलीफ तो सच थी, चाहे सांप झूठ हो। सांप झूठ हो या सच हो, इससे क्या फर्क पड़ता है? उसकी तकलीफ तो सच थी। वह दुबला हो गया, सूख कर हड्डी-हड्डी हो गया। उसकी एक ही घबड़ाहट, एक ही बेचैनी, कि इस सांप से कैसे छुटकारा होगा। सब अस्तव्यस्त उसका जीवन हो गया।

लेकिन उस सम्मोहनविद ने कहा, हम हल कर लेंगे। उसने इंतजाम किया। उसने उसकी संडास में एक सांप रखवा दिया। जब वह सुबह जाये मल-विसर्जन को, तो घर के लोगों को कहा कि सांप छोड़ देना। बस बाकी मैं निपटा लूंगा।

जब वह मल-विसर्जन को गया, तो सांप उसने सरकता देखा। नीचे देखा, तो भागा, खुश हो कर बाहर आया। उसने कहा कि देखो, लाओ तुम्हारे एक्सरे! वह डाक्टरों के पास गया, उसने कहा कि देखो, सांप था, निकल गया!

उसी दिन से वह ठीक हो गया।

"कोई औषधि नहीं" का अर्थ यह होता है कि बीमारी झूठ है। इस झूठ बीमारी को झूठ जान लेने में ही छुटकारा है। अगर बीमारी सच होती तो इलाज हो सकता था। अगर तुम परमात्मा से दूर हो गये होते तो मिलने की कोई व्यवस्था हो सकती थी। तुम दूर हुए नहीं, और तुम सोचते हो कि दूर हो गये। अगर तुमने अपनी आत्मा से संबंध छोड़ दिया होता तो कोई रास्ता बना लेते, कोई सेतु बनता, विज्ञान कोई उपाय खोज लेता कि फिर से कैसे जुड़ा जाये। लेकिन तुम कभी आत्मा से अलग हुए नहीं। तुम जुड़े हो। अगर मछली सागर के बाहर चली गई होती तो हम सागर में वापिस फेंक देते। मछली सागर में है--और चीख-पुकार मचा रही है और तड़प रही है और कहती है कि मुझे सागर में वापस भेजो। मैं तड़प रही हूं इस रेत पर, मेरे प्राण जल रहे हैं।

तो क्या करोगे? एक ही उपाय है कि हम मछली को जगायें कि सागर तेरे चारों तरफ है, तू कभी छूटी नहीं सागर से।

अगर तुम्हें यह बात खयाल में आ जाये, तो परमात्मा को पाने के जितने उपाय हैं, वे झूठी बीमारी को मिटाने की औषधियां हैं। इसलिए मैं कहता हूं, यह वचन महाक्रांतिकारी है। यह वचन यह कह रहा है कि तुम परमात्मा हो, तुम्हें होना नहीं है। तुम्हें उपाय नहीं करना है परमात्मा होने का। सब उपाय व्यर्थ हैं। और जितने तुम उपाय, अनुष्ठान करोगे, उतने ही तुम भटकते रहोगे।

अनुष्ठान बंधन है--इस सूत्र का ठीक-ठीक अर्थ होगा: योग में मत भटकना; उपाय में मत लगना। उपाय तुम्हें दूर ले जायेगा। क्योंकि तुम जिसे खोज रहे हो, उसे कभी खोया नहीं है। अभी मौजूद है। यहीं मौजूद है। इसी क्षण तुम परमात्मा हो। बेशर्त तुम परमात्मा हो! परमात्मा होना तुम्हारा स्वभाव है।

विवेकानंद कहा करते थे, एक सिंहनी गर्भवती थी। वह छलांग लगाती थी एक टीले पर से। छलांग के झटके में उसका बच्चा गर्भ से गिर गया, गर्भपात हो गया। वह तो छलांग लगा कर चली भी गई, लेकिन नीचे से भेड़ों का एक झुंड निकलता था, वह बच्चा भेड़ों में गिर गया। वह बच्चा बच गया। वह भेड़ों में बड़ा हुआ। वह भेड़ों जैसा ही रिरियाता, मिमियाता। वह भेड़ों के बीच ही सरक- सरक कर, घिसट-घिसट कर चलता। उसने भेड़-चाल सीख ली। और कोई उपाय भी न था, क्योंकि बच्चे तो अनुकरण से सीखते हैं। जिनको उसने अपने आस-पास देखा, उन्हीं से उसने अपने जीवन का अर्थ भी समझा, यही मैं हूं। और तो और, आदमी भी कुछ नहीं करता, वह तो सिंह-शावक था, वह तो क्या करता? उसने यही जाना कि मैं भेड़ हूं। अपने को तो सीधा देखने

का कोई उपाय नहीं था; दूसरों को देखता था अपने चारों तरफ वैसी ही उसकी मान्यता बन गई, कि मैं भेड़ हूं। वह भेड़ों जैसा डरता। और भेड़ें भी उससे राजी हो गईं; उन्हीं में बड़ा हुआ, तो भेड़ों ने कभी उसकी चिंता नहीं ली। भेड़ें भी उसे भेड़ ही मानतीं।

ऐसे वर्षों बीत गये। वह सिंह बहुत बड़ा हो गया, वह भेड़ों से बहुत ऊपर उठ गया। उसका बड़ा विराट शरीर, लेकिन फिर भी वह चलता भेड़ों के झुंड में। और जरा-सी घबड़ाहट की हालत होती, तो भेड़ें भागतीं, वह भी भागता। उसने कभी जाना ही नहीं कि वह सिंह है। था तो सिंह, लेकिन भूल गया। सिंह से "न होने" का तो कोई उपाय न था, लेकिन विस्मृति हो गई।

फिर एक दिन ऐसा हुआ कि एक बूढ़े सिंह ने हमला किया भेड़ों के उस झुंड पर। वह बूढ़ा सिंह तो चौंक गया, वह तो विश्वास ही न कर सका कि एक जवान सिंह, सुंदर, बलशाली, भेड़ों के बीच घसर-पसर भागा जा रहा है, और भेड़ें उससे घबड़ा नहीं रहीं। और इस बूढ़े सिंह को देखकर सब भागे, बेतहाशा भागे, रोते-चिल्लाते भागे। इस बूढ़े सिंह को भूख लगी थी, लेकिन भूख भूल गई। इसे तो यह चमत्कार समझ में न आया कि यह हो क्या रहा है? ऐसा तो कभी न सुना, न आंखों देखा। न कानों सुना, न आंखों देखा; यह हुआ क्या?

वह भागा। उसने भेड़ों की तो फिक्र छोड़ दी, वह सिंह को पकड़ने भागा। बामुश्किल पकड़ पाया: क्योंकि था तो वह भी सिंह; भागता तो सिंह की चाल से था, समझा अपने को भेड़ था। और यह बूढ़ा सिंह था, वह जवान सिंह था। बामुश्किल से पकड़ पाया। जब पकड़ लिया, तो वह रिरियाने लगा, मिमियाने लगा। सिंह ने कहा, अबे चुप! एक सीमा होती है किसी बात की। यह तू कर क्या रहा है? यह तू धोखा किसको दे रहा है?

वह तो घिसट कर भागने लगा। वह तो कहने लगा, क्षमा करो महाराज, मुझे जाने दो! लेकिन वह बूढ़ा सिंह माना नहीं, उसे घसीट कर ले गया नदी के किनारे। नदी के शांत जल में, उसने कहा, जरा झांक कर देख। दोनों ने झांका। उस युवा सिंह ने देखा कि मेरा चेहरा और इस बूढ़े सिंह का चेहरा तो बिलकुल एक जैसा है। बस एक क्षण में क्रांति घट गई। "कोई औषधि नहीं!" हुंकार निकाल गया, गर्जना निकल गई, पहाड़ कंप गये आसपास के! कुछ कहने की जरूरत न रही। कुछ उसे बूढ़े सिंह ने कहा भी नहीं--सदगुरु रहा होगा! दिखा दिया, दर्शन करा दिया। जैसे ही पानी में झलक देखी-- हम तो दोनों एक जैसे हैं--बात भूल गई। वह जो वर्षों तक भेड़ की धारणा थी, वह एक क्षण में टूट गई। उदघोषणा करनी न पड़ी, उदघोषणा हो गई। हुंकार निकल गया। क्रांति घट गई।

ऐसा ही ठीक अष्टावक्र और जनक के बीच हुआ। अष्टावक्र यानी बूढ़ा सिंह। जनक यानी जवान सिंह। पकड़े गये! अष्टावक्र के सत्संग में झलक दिखाई पड़ी। अष्टावक्र की घोषणा में अपने स्वभाव की पहचान हुई।

अब तुम पूछो कि अगर कोई सिंह भेड़ों में खो गया हो, तो उसे वापस सिंह बनाने की औषधि क्या है? औषधि कोई नहीं--नो रेमेडी! उसे कितने ही इंजेक्शन लगाओ, कितना ही वेटेनरी डाक्टर के पास ले जाओ, दवाइयां पिलवाओ--उससे कुछ लाभ न होगा। तुम्हारी दवाइयां, तुम्हारे इंजेक्शन, तुम्हारा वेटेनरी डाक्टर के पास ले जाना, उसे और कमजोर करता जायेगा। तुम्हारी दवाइयां और उसे भ्रांति से भर देंगी कि हूं तो मैं भेड़ ही, देखो इतने उपाय किये जा रहे हैं मुझे सिंह बनाने के, फिर भी कुछ हो नहीं रहा। मैं सिंह तो हो नहीं पा रहा हूं। और अगर मैं सिंह ही था, तो उपाय क्यों किये जाते? जरूर मैं भेड़ हूं, जबर्दस्ती ये लोग सिंह बनाने की चेष्टा कर रहे हैं।

फिर अगर समझा-बुझा कर किसी तरह, तुम इसको यह भी भरोसा दिलवा दो कि तू रट रोज, सुबह ध्यान कर बैठ कर कि मैं सिंह हूं, मैं सिंह हूं, ऐसा रोज रट--अहं ब्रह्मास्मि--धीरे-धीरे हो जायेगा। रोज दोहरा कि मैं सिंह होता जा रहा हूं। जैसा कुए कहता है कि रोज मैं स्वस्थ होता जा रहा हूं, सुंदर होता जा रहा हूं। ऐसा अगर यह सिंह वर्षों तक भी कहता रहे, और वर्षों कहने के बाद मान भी ले, तो भी क्या यह सिंह हो जायेगा? यह मान्यता ही रहेगी। यह विचार की पतली पर्त ही रहेगी। मगर उस बूढ़े सिंह ने ठीक किया। उसने इसे कुछ

मंत्र नहीं दिया, जपत्तप नहीं दिया। घसीट कर ले गया, एक स्थिति पैदा की, जिसमें इसे अपने स्वभाव की झलक मिल गई।

सदगुरु के सत्संग का इतना ही अर्थ होता है कि वह तुम्हें घसीट कर वहां ले जाये, जहां तुम उसके चेहरे और अपने चेहरे को मिला कर देख पाओ; जहां तुम उसके भीतर के अंतरतम को, अपने अंतरतम के साथ मिला कर देख पाओ। गर्जना हो जाती है, एक क्षण में हो जाती है।

सत्संग का अर्थ ही यही है कि किसी ऐसे व्यक्ति के पास बैठना, उठना, जिसे अपने स्वरूप का बोध हो गया है; शायद उसके पास बैठते-बैठते संक्रामक हो जाये बात; शायद उसकी मौजूदगी में, उसकी आंखों में, उसके इशारों में तुम्हारे भीतर सोया हुआ सिंह जाग जाये।

औषधि कोई भी नहीं, उपाय कोई भी नहीं, विधि कोई भी नहीं।

तस्य भेषजम् अन्यत् अस्ति।

न कोई औषधि है, क्योंकि यह सब दृश्य झूठ है। उस सिंह का भेड़ होना झूठ था। वह सारा दृश्य झूठ था। माना था, इसलिए सच मालूम हो रहा था। जिस क्षण जाना, उसी क्षण झूठ हो गया। वह स्वप्नवत था।

"मैं एक अद्वैत शुद्ध चैतन्य-रस हूं।"

सुनो इस शब्द को: "मैं एक अद्वैत शुद्ध चैतन्य-रस हूं।"

अहो द्वैतमूलम् यत् दुःखम्

--सभी दुख द्वैत से पैदा होते हैं।

तस्य भेषजम् अन्यत् अस्ति

--इस दुख से छुटकारे के लिए कोई औषधि नहीं है।

सतत् सर्वम् दृश्यम् मृषा

--क्योंकि सब झूठ है, सब स्वप्नवत है।

अहं एकः अमलः चिद्रसः

--मैं एक शुद्ध चैतन्य-रस हूं।

यह गर्जना तुम्हारे भीतर उठेगी। इसे तुम पुनरुक्त मत करना। तुम सिर्फ समझना। तुम सिर्फ आंख खोल कर देखना, कान खोल कर सुनना।

अष्टावक्र की गीता में कोई विधि नहीं है--यही उसकी महिमा है। उसमें कोई उपाय नहीं बताया है कि कैसे परमात्मा तक पहुंचो। उसमें तो इतना ही कहा है कि तुमने कभी परमात्मा को खोया नहीं। बस जागो! खोलो आंख, और पहचानो अपने स्वरूप को!

"मैं शुद्ध बोध हूं। मुझसे अज्ञान के कारण उपाधि की कल्पना की गई है। इस प्रकार नित्य विचार करते हुए मैं निर्विकल्प में स्थित हूं।"

जिस क्षण तुम्हें दिखाई पड़ना शुरू हो जायेगा कि स्थिति क्या है, उस क्षण तुम छोड़ोगे नहीं, कुछ त्यागने को न बचेगा, सारा स्वप्न खो जायेगा, तुम सिर्फ एक अहोभाव से भरे रह जाओगे। अगर तुमने सोच-विचार करके, तर्क से, चिंतन-मनन से अपने को राजी कर लिया कि नहीं, यह सब स्वप्न है--तो इससे कुछ हल न होगा। यह तुम्हारी बौद्धिक धारणा नहीं होनी चाहिए, यह तुम्हारा अस्तित्वगत अनुभव होना चाहिए।

मैंने सुना है, मुल्ला नसरुद्दीन से उसकी एक पड़ोसी महिला ने कहा, पांच वर्ष पूर्व मेरा पति आलू खरीदने गया था, परंतु आज तक लौटा नहीं, बताइये मैं क्या करूं? मुल्ला ने खूब सोचा, सिर मारा, आंखें बंद कीं, बड़ा ध्यान लगाया--फिर बोला: ऐसा है, मेरी सलाह मानिये, आप गोभी पका लीजिए। पांच साल हो गये, पति आलू लेने गया था, नहीं लौटा, जाने दीजिये; आप गोभी पका लें, या और कोई सब्जी पका लें।

महिला कुछ पूछ रही है, मुल्ला कुछ उत्तर दे रहा है।

तुम जब किसी से पूछते हो कि मैं दुखी हूं, क्या करूं? तो अष्टावक्र को छोड़ कर जो भी उत्तर दिये गये हैं, वे बस ऐसे हैं कि गोभी पका लीजिये। कोई न कोई उपाय बताया जाता है कि यह उपाय कर लो, इस उपाय से सब ठीक हो जायेगा। उपाय से भ्रांति कटती नहीं।

समझने की कोशिश करें। एक आदमी हिंसक है। वह सुनता है, हिंसा बुरी है, हिंसा पाप! उसके मन में भी भाव उठता है अहिंसक होने का। क्योंकि हिंसा पाप ही नहीं है, हिंसक को दुख भी देती है। जो दूसरे को दुख देना चाहता है, देने के पहले अपने को दुख दे लेता है। जो दूसरे को दुख देता है, वह देने के बाद भी उस दुख को भोगता रहता है। यह असंभव है कि दूसरे को हम दुख दें और खुद दुखी न हो जायें। जो हम देंगे, उसे हमें अपने हृदय में पालना पड़ेगा। और जो हमने दिया है, उसकी पश्चात्ताप की छाया हमें काटती रहेगी।

तो जो आदमी हिंसक है, वह धीरे-धीरे अनुभव कर लेता है कि हिंसा है तो बुरी, लेकिन करूं क्या? अहिंसक कैसे बनूं? वह पूछता है, अहिंसक कैसे बनूं? फिर उसे अहिंसक बनने की विधि बताने वाले लोग हैं। वह हिंसक आदमी उन विधियों का पालन भी करने लगता है, लेकिन उन विधियों के पालन करने से उसकी हिंसा थोड़े ही मिटती है! वह उन विधियों के पालन करने में ही हिंसक हो जाता है। वह दूसरों के साथ हिंसा बंद कर देता है, अपने साथ शुरू कर देता है। उसकी हिंसक वृत्ति कैसे जायेगी? कल तक वह दूसरों के साथ हिंसा कर रहा था, अब अपने साथ करता है।

मैंने सुना है, एक आदमी बहुत हिंसक था। उसने अपनी पत्नी को धक्का दे दिया, वह कुएं में गिर कर मर गई। उसे बड़ा दुख हुआ। किसी तरह अदालत से तो बच गया, सिद्ध न हो सका; लेकिन उसके प्राणों में बड़ा झंझावात हो गया। उसने कहा, अब बहुत हो गया। गांव में एक जैन मुनि आये थे, वह उनके पास गया। उसने कहा कि महाराज, मुझे मुक्त करो, आप जैन मुनि हैं और अहिंसक! और अहिंसा आपका परम धर्म! मैं हिंसक हूं। मुझे किसी तरह मुक्त करो।

मुनि ने कहा कि तुम मुनि-दीक्षा ले लो। उसने कहा, मैं अभी तैयार हूं, इसी वक्त!

हिंसक आदमी! क्रोधी आदमी कोई भी चीज शीघ्रता से कर लेता है। जो किसी की हत्या कर दे शीघ्रता से, वह अपनी भी हत्या कर ले शीघ्रता से, कुछ अड़चन नहीं है।

मुनि ने कहा, बहुत लोग आते हैं, लेकिन तुम जैसा संकल्पवान...! वह संकल्प नहीं था, वह तो सिर्फ हिंसक आदमी की वृत्ति है, वह क्षण में कर गुजरता है। फिर पछताता रहे चाहे जिंदगी भर, लेकिन उसकी मूर्च्छा इतनी प्रगाढ़ होती है कि वह कुछ भी करना चाहे तो क्षण में कर लेता है। और चुनौती दे दी। मुनि ने कहा कि तुम फिर मुनि हो जाओ। उसने कहा मैं अभी तैयार हूं। इधर मुनि सोच ही रहे थे कि कपड़े गिरा कर वह नग्न खड़ा हो गया। उसने कहा, कि दें दीक्षा।

मुनि ने कहा, बहुत देखे लोग, तुम बड़े तपस्वी हो! बड़े तुम्हारे पुण्यों का फल है।

वे मुनि हो गये! मुनि ने उनको नाम "शांतिनाथ" दे दिया। अब वे ऐसे अशांतिनाथ थे, मगर मुनि ने नाम शांतिनाथ दे दिया इसी आशा में कि चलो अब ये...। उनकी बड़ी ख्याति हो गई, क्योंकि उन्होंने सब मुनियों को प्रतियोगिता में पछाड़ दिया। कोई दो दिन का उपवास करे, तो वे चार दिन का करें। कोई चार घंटे सोये, तो वे दो घंटे सोयें। कोई छाया में बैठे तो वे धूप में खड़े रहें। पुराने हिंसक! हिंसा का सारा का सारा ढंग अपने पर ही लौटा लिया। हिंसा खुद पर लौटने लगी, आत्महिंसा हो गई। उन्होंने सब को मात कर दिया। वे तो धीरे-धीरे बड़े ख्यातिलब्ध हो गये। दिल्ली पहुंच गये। दूर-दूर से लोग उनके दर्शन करने को आने लगे।

एक पुराने मित्र उनके दर्शन करने को आये। उन्होंने सुना कि वे जो अशांतिनाथ थे, शांतिनाथ हो गये। चलो दर्शन कर आयें, क्रांति हुई! ऐसा मुश्किल है कि शांति हो जाये उनके जीवन में। वहां जा कर पहुंचे तो वे अकड़े बैठे थे। सब चला गया था, सब छोड़ दिया था--लेकिन अकड़! और सब छोड़ने की अकड़ और आंखों में

वही हिंसा थी और वही क्रोध था और वही आग जल रही थी! शरीर दुर्बल हो गया था, शरीर सूख गया था! खूब तपश्चर्या की थी, लेकिन भीतर की आग शुद्ध हो कर जल रही थी। देख तो लिया मित्र को, पहचान भी गये, लेकिन अब इतने महातपस्वी, एक साधारण आदमी को कैसे पहचानें! मित्र ने भी देख लिया, पहचान भी गया कि उन्होंने भी पहचान लिया है, लेकिन वे पहचान नहीं रहे हैं, इधर-उधर देखते, देखते ही नहीं उसकी तरफ।

आखिर उस मित्र ने पूछा कि महाराज! बड़ी दूर से दर्शन को आया हूं, आपका नाम क्या है? उन्होंने कहा, "शांतिनाथ! अखबार नहीं पढ़ते? रेडियो नहीं सुनते? टेलीविजन नहीं देखते? सारी दुनिया जानती है। कहां से आ रहे हो?"

उसने कहा, "महाराज गांव का गंवार हूं, कुछ ज्यादा जानता-करता नहीं, पढ़ा-लिखा भी ज्यादा नहीं हूं।"

फिर थोड़ी देर ऐसी और बात चलती रही, उस आदमी ने फिर पूछा कि महाराज, नाम भूल गया आपका! महाराज तो भनभना गये। कहा, कह दिया एक दफे कि शांतिनाथ, समझ में नहीं आया? बहरे हो?

वह आदमी बोला कि नहीं महाराज, जरा बुद्धि मेरी कमजोर है।

मगर शांतिनाथ का असली रूप प्रगट होने लगा। वह फिर थोड़ी देर बैठा रहा और उसने फिर पूछा कि महाराज, नाम भूल गया। तो वह जो उन्होंने पिच्छी रख छोड़ी थी--जैन मुनि रखते हैं पिच्छी--उठा कर उसके सिर पर दे मारी बोले, हजार दफे समझा दिया तू ऐसे नहीं समझेगा! शांतिनाथ...!

उसने कहा, "महाराज बिलकुल समझ गया, अब कभी नहीं भूलेगा। इतना ही हम जानना चाहते थे कि कुछ फर्क हुआ कि नहीं हुआ? आप बिलकुल वही हैं।"

फर्क इतना आसान नहीं। अगर ऊपर-ऊपर से विधि और व्यवस्थायें की जायें तो फर्क होता ही नहीं; दिखाई पड़ता है।

इसलिए मैं इस सूत्र को महाक्रांति का सूत्र कहता हूं। तुम औषधियों में मत पड़ना। जागो! जागने के उपाय करने की जरूरत नहीं है। जागने के उपाय करना, सोने की तरकीबें खोजना है। जागना है तो अभी और यहीं। या तो अभी या कभी नहीं। कल पर मत छोड़ो। विधि का तो मतलब यह होता है: कल पर छोड़ दिया, स्थगित कर दिया। सुन ली बात, ठीक है, अब साधेंगे; जन्म-जन्म लगते हैं, तब कहीं मिलता है।

यही तो तरकीब है।

जनक का वचन है: अहो! दुख का मूल द्वैत है! उसकी औषधि कोई नहीं। क्योंकि मूलतः तुम दो नहीं हुए हो, इसलिए औषधि की कोई जरूरत नहीं है। टूटे नहीं, इसलिए जोड़ने की कोई आवश्यकता नहीं है। तुम जुड़े ही हो। सिर्फ देखो, जागो, पहचानो। अलग हो कैसे सकते हो जीवन से? अस्तित्व से भिन्न हो कैसे सकते हो? श्वास-श्वास जुड़ी है।

तुम कभी देखते नहीं, जीवन का जोड़ कैसा रसपूर्ण है। रस बह रहा है सबके भीतर; एक-दूसरे में बदलता जा रहा है। जो श्वास अभी मेरे भीतर है, क्षण भर बाद तुम्हारे भीतर हो जाती है। फिर भी तुम नहीं देखते। क्षण भर पहले मैं कहता था, मेरी श्वास, क्षण भर बाद तुम्हारी हो गई। तो हम और तुम बहुत अलग नहीं हो सकते। क्षण भर पहले जो तुम्हारी श्वास थी, अब मेरी हो गई, तो हम और तुम बहुत अलग नहीं हो सकते। यह श्वास का धागा जोड़े हुए है। मैं अगर कहूं कि मैं तो अपनी ही श्वास से जीऊंगा, हर किसी की ऐसी बासी और उधार श्वास नहीं लूंगा--तो मर जाऊंगा। मैं कहूं कि न हम दूसरों के जूते पहनते न दूसरों के कपड़े, दूसरों की श्वास कैसे ले सकते हैं--तो यह सारी हवा दूसरों की श्वास है। यह हजारों नासापुटों में जा रही, आ रही। और ध्यान रखना, आदमियों की ही नहीं है इसमें सम्मिलित; पशु, पक्षी, गधे, घोड़े, सब; वृक्ष भी श्वास ले रहे, छोड़ रहे। हम सब जुड़े हैं। देखो तुम, प्राण का यह सागर, उसमें हम सब जुड़े हैं।

अभी नाशपाती का फल लगा, या आम लगा, या सेव लगा, वृक्ष पर लगा, इसे तुम खा जाओ--जो रसधार नाशपाती में बहती थी, चौबीस घंटे भर बाद तुम्हारा खून हो जायेगी, तुम्हारी हड्डी बनने लगेगी, तुम्हारी मज्जा हो जायेगी, तुम्हारा मस्तिष्क बन जायेगी। फिर एक दिन तुम मरोगे, फिर तुम खाद बन जाओगे; फिर कोई वृक्ष तुममें से रस ले लेगा, फिर फल बन जायेगा। तुम जब वृक्ष से एक नाशपाती को तोड़ कर ला रहे हो, तो ऐसा मत सोचना, सिर्फ नाशपाती है, तुम्हारे बाप-दादे उसमें हो सकते हैं। क्योंकि सभी जमीन में गिर जाते हैं, फिर जमीन में मिल जाते हैं, सब खाद बन जाते हैं, फिर फल बनते हैं। वृक्ष आदमियों में उतरते रहते हैं, आदमी वृक्षों में उतरते रहते हैं। एक वर्तुल है। एक वर्तुल घूम रहा है। जो चांदत्तारों में है वह तुम्हारे शरीर में आ जाता है; जो तुम्हारे शरीर में है, वह चांदत्तारों में चला जाता है।

हम सब जुड़े हैं। हम पृथक नहीं हैं। हम पृथक हो नहीं सकते। हम सब परस्पर निर्भर हैं। न तो कोई परतंत्र है और न कोई स्वतंत्र है। हमारे जीवन की स्थिति को ठीक नाम अगर देना हो तो वह है "परस्परत्तंत्रता"। इंटरडिपेंडेंस!

हम एक-दूसरे से जुड़े हैं। जैसे लहरें जुड़ी हैं, ऐसे हम जुड़े हैं। इस जोड़ के प्रति जागो!

"औषधि कोई भी नहीं है।"

और औषधियां बड़ी उलझन लाती हैं। कामवासना से थक गये, परेशान हो गये, तो ब्रह्मचर्य की औषधि मिल जाती है, कि चलो ब्रह्मचर्य साधो। फिर तुम ब्रह्मचर्य थोपने लगते हो। फिर जबर्दस्ती थोपा हुआ ब्रह्मचर्य और नई उलझनें लाता है। फिर तुम्हारा चित्त और भी काम-विकार से ग्रस्त हो जाता है। जिसे तुमने बाहर से रोक दिया, फिर वह भीतर चलने लगता है, घाव बन जाता है। इन घावों से सावधान रहना। ये घाव बना-बना कर ही तुम रुग्ण और बीमार हो गये हो।

जीवन को सहज स्वीकार करो। जीवन जैसा है, उससे अन्यथा होने की चेष्टा भी मत करो। जीवन जैसा है, ऐसा ही परमात्मा ने चाहा है। तुम इस चाह में अपने को विसर्जित कर दो। तुम कह दो: "तेरी मर्जी पूरी हो!" तुम अपनी मर्जी बीच में मत लाओ। तुम कहो: जो तू दिखायेगा, देखेंगे। जैसा तू चलायेगा, चलेंगे। जहां तू पहुंचायेगा, पहुंचेंगे। तू डुबायेगा मंझधार में, तो वही हमारा किनारा! पहुंचा देगा तो पहुंच जायेंगे; नहीं पहुंचायेगा, तो भी पहुंच गये--क्योंकि हम तेरे ऊपर छोड़ते हैं!

समर्पण की यह दशा, तुम्हें एकदम निर्भार कर जायेगी। इसको अष्टावक्र ने कहा है: चित्त की आंतरिक स्थिति में विश्राम! चैतन्य में विश्राम! फिर कहीं जाना नहीं, कुछ होना नहीं, कुछ बनना नहीं। ये सब अहंकार के ही खेल हैं। तुम कहते हो, यह बन कर रहूंगा...! किसी को सिकंदर बनना है, किसी को बुद्ध बनना है, किसी को महावीर बनना है--लेकिन बनने का पागलपन है! तुम हो ही, इससे बेहतर कुछ हो नहीं सकता। पूर्ण तुममें विराजमान है। तुम लाख उपाय करो, तो तुम पूर्ण से नीचे नहीं गिर सकते, क्योंकि पूर्ण तुम्हारा स्वभाव है। तुम कितने ही पाप करो, इससे कोई फर्क नहीं पड़ता; तुम्हारी पूर्णता अकलुषित रह जाती है। तुम निरंजन हो। तुम्हारे अशुद्ध होने का कोई उपाय नहीं है। इस सत्य में अपने को समर्पित कर देते ही, क्षण भर में क्रांति घटित हो जाती है।

"अहो! दुख का मूल द्वैत है। उसकी औषधि कोई नहीं। यह सब दृश्य झूठ है। मैं एक अद्वैत शुद्ध चैतन्य-रस हूं।"

उस रस को पहचानो। वही रस सब में बह रहा है--कहीं वृक्षों में हरा हो कर, कहीं पक्षियों में गुनगुनाहट हो कर! वही रस मुझसे बोल रहा है, वही रस तुम में सुनने चला आया है। हम उस एक ही महत रस की तरंगें हैं। फिर कहां जाना, फिर क्या होना? फिर न कोई भविष्य है, न कोई लक्ष्य; न जीवन में फिर कोई प्रयोजन है।

फिर जीवन तो एक महोत्सव है। यह प्रतिपल चल रहा नृत्य, इसमें सम्मिलित हो जाओ। इससे झगड़ो मत। इसमें व्यर्थ तनाव मत खड़े करो। छोड़ दो अपने को इस बहाव में--यह गंगा जा रही है सागर!

मैंने सुना है, एक सम्राट आता था, उसने राह में एक भिखारी को देखा चलते, गठरी रखे सिर पर। दया आ गई। कह दिया भिखारी को कि तू भी आ कर बैठ जा रथ में। कहां जाना है, उतार देंगे।

भिखारी पहले तो बहुत सकुचाया, सम्राट का रथ, स्वर्ण-रथ! लेकिन इंकार करना भी कठिन था; सम्राटों की बात इंकार नहीं की जाती। चढ़ गया रथ पर, सिकुड़ कर बैठ गया; लेकिन पोटली सिर पर रखे था, सो रखे ही रहा। सम्राट ने कहा, अरे पागल! अब पोटली तो नीचे रख दे। उसने कहा कि नहीं मालिक, मुझको बिठाया, यही क्या कम है! अब और पोटली का बोझ भी आपके रथ पर रखूं? नहीं, नहीं!

अब तुम जब खुद ही चढ़ बैठे हो रथ पर तो पोटली तुम सिर पर रखो कि नीचे रखो, क्या फर्क पड़ता है? वजन तो रथ पर ही है।

यह जो विराट का रथ चल रहा है, इसमें तुम नाहक ही पोटली सिर पर रखे बैठे हो। तुम कहते हो कि नहीं महाराज, आपने बिठा लिया, इतना ही बहुत! पोटली भी आप पर रखें--नहीं, नहीं।

लेकिन तुम हर क्षण परमात्मा में ही हो। सारा बोझ उसका है। तुम नाहक बीच में यह पोटली बांधे बैठे हो। यह पोटली है अहंकार की। यह पोटली है भ्रांति की। यह पोटली है द्वैत की, द्वंद्व की यह पोटली है संघर्ष की। इसे रखो, करो समर्पण, और बह चलो! बहाव धर्म है। समर्पण धर्म की संक्रांति है।

"मैं शुद्ध बोध हूं, मुझसे अज्ञान के कारण उपाधि की कल्पना की गई है। इस प्रकार नित्य विचार करते हुए मैं निर्विकल्प में स्थित हूं।"

संस्कृत में जो शब्द है "विमर्श", उसका ठीक अर्थ विचार नहीं होता।

अहम् बोध मात्रः।

मैं केवल बोध-मात्र हूं, होश-मात्र हूं, होश मेरा स्वभाव है। शेष सब स्वप्नवत है।

मया अज्ञानात् उपाधि कल्पितः।

और शेष सब मेरी कल्पना के कारण पैदा हुआ है।

एवम् नित्यम् विमर्श्यतः मम स्थिति निर्विकल्पे।

और मेरा विमर्श...।

"विमर्श" शब्द समझने जैसा है। अंग्रेजी में एक शब्द है "रिफ्लैक्शन", वह ठीक अर्थ है विमर्श का। विचार का तो अर्थ होता है, तुम्हें पता नहीं, और तुम सोचते हो। तुम कहते हो, हम विचार करते हैं। विमर्श का अर्थ होता है, जैसे दर्पण में प्रतिबिंब बनता है। दर्पण सोचता थोड़े ही है! जब तुम सामने आये, तो सोचता थोड़े ही है, कि देखें कौन है, आदमी है कि औरत? सुंदर है कि असुंदर? फिर वैसा ही रूप बता दें। न, दर्शन दर्पण में सिर्फ प्रगट होता है, तुम्हारी छवि बन जाती है। रिफ्लैक्शन, विमर्श!

जनक कहते हैं: इस प्रकार नित्य विमर्श करते हुए, इस प्रकार नित्य क्षण-क्षण इस शाश्वत एकता को देखते हुए, यह हृदय के दर्पण में बनते प्रतिबिंब को निहारते हुए, मैं निर्विकल्प चित्त-दशा में स्थित हूं। शुद्ध बोध हूं। जो हुआ, सब मेरी कल्पना से हुआ। जो हुआ, सब मेरी कल्पना का खेल है।

कल्पना मनुष्य की शक्ति है। पूरब के शास्त्र कहते हैं कि कल्पना परमात्मा की शक्ति है। कल्पना का ही दूसरा नाम माया। माया अर्थात परमात्मा ने कल्पना की है। परमात्मा की ही कल्पना का परिणाम है यह विराट विश्व। और आदमी जो कल्पना करता है, उसका परिणाम है हम सबकी छोटी-छोटी दुनियाएं। हर आदमी अपनी-अपनी दुनिया में रहता है--अपनी-अपनी दुनिया में बंद।

तुम ऐसा मत सोचना कि हम सब एक ही दुनिया में रहते हैं! जितने आदमी हैं यहां, उतनी दुनियाएं एक साथ। इसलिए तो दो आदमी मिलते हैं, तो टकराहट होती है। दो दुनियाएं टक्कर खाती हैं। कठिन हो जाता है।

अकेले-अकेले सब ठीक चलता है; दूसरे के साथ जुड़े कि अड़चन हुई। क्योंकि दो दुनियाएं, दो ढंग, दो विचार की शैलियां, एक-दूसरे के साथ संघर्ष करने लगती हैं। हमारी कल्पना ही हमारी दुनिया बन जाती है।

कल्पना की शक्ति बड़ी है। कल्पना का अर्थ है, जो हम सोचते हैं, वैसा होने लगता है। जो हम सोचते हैं, उसके परिणाम बनने लगते हैं; उसके चित्र उभरने लगते हैं।

ठीक कल्पना वैसी है जैसी स्वप्न की शक्ति है। रात कुछ भी तो नहीं होता, परदा भी नहीं होता। रात सपने में तुम्हीं अभिनेता होते हो, तुम्हीं दिग्दर्शक होते हो, तुम्हीं कथाकार, तुम्हीं मंच, तुम्हीं दर्शक--सभी कुछ तुम्हीं होते हो। फिर भी एक पूरा खेल बन जाता है। थोड़ा सोचो!

मैं एक महिला को देखने गया था, वह नौ महीने से बेहोश है, कोमा में है। और डाक्टर कहते हैं, वह कोई तीन-चार साल भी रह सकती है इस अवस्था में। उसका बेटा भी वहां मौजूद था। वह मुझसे पूछने लगा कि एक बात मुझे आपसे पूछनी है--मैं सभी से पूछता हूं, कोई उत्तर नहीं देता--अगर मेरी मां सपना देख रही हो तो नौ महीने तक उसको पता ही न चला होगा कि यह सपना है। बात तो उसने बड़ी गहरी पूछी। यह महिला जो नौ महीने से बेहोश है, वह बेटा पूछता है कि अगर यह सपना देख रही होगी, तो हम तो रोज सुबह उठ आते हैं तो पता चल जाता है कि अरे, सपना था; यह तो उठती नहीं। यह नौ महीने से सपना चल रहा होगा, तो देख ही रही होगी सपना और मान रही होगी कि सच है। नौ महीने में इसको एक क्षण भी खयाल नहीं आया होगा कि यह सपना है। बात तो ठीक है।

सच तो यह है कि जब हम आंख खोल लेते हैं, तब भी सपना बंद नहीं होता; सपना तो भीतर चलता ही जाता है। इसलिए कभी भी तुम आंख बंद करो, भीतर थोड़ा खोजो, तुम पाओगे कि सपना चल रहा है। दिवास्वप्न शुरू हो जाता है।

जैसे दिन को सूरज निकलता है, आकाश के तारे खो जाते हैं--क्या तुम सोचते हो कहीं चले जाते हैं? जाएंगे कहां? जहां हैं, वहीं हैं। सिर्फ दिन की रोशनी में ढंक जाते हैं। रात सूरज विदा हो जाता है, फिर तारे प्रगट होने लगते हैं। तारे तो वहीं के वहीं हैं, सिर्फ सूरज की रोशनी में ढंक जाते हैं; रोशनी खो जाती है, फिर प्रगट हो जाते हैं। ऐसे ही तुम्हारे सपने की धारा तो चल ही रही है। जब तुम आंख खोलते हो, तो दुनिया के काम-धाम में भूल जाते हो, भीतर धारा चलती रहती है; फिर आंख बंद की--कभी करके देख लो, आराम कुर्सी पर बैठ जाओ, आंख बंद कर लो--थोड़ी देर में तुम पाओगे: सपना चल रहा है, इलेक्शन लड़ रहे, जीत भी गये, प्रधानमंत्री हो गये। और इतना ही नहीं, प्रधानमंत्री हो कर जिन-जिन को तुम्हें मारना है उनका सफाया भी कर दिया; जिन-जिन को जेल भेजना है, उनको जेल भी भेज दिया; और जिन-जिन को तुम्हें मंत्री बनाना है, उनको मंत्री भी बना लिया। तभी पत्नी आ गई चाय ले कर कि यह चाय तैयार है, चौंक कर तुम बैठ गये, अपनी चाय पीने लगे। तब तुमको समझ में आया कि अरे, कहां खो गये थे! जागे-जागे भी सपने की धारा भीतर बह रही है।

तुमने शेखचिल्ली की कहानियां पढ़ी होंगी। वे सब तुम्हारी कहानियां हैं। वे आदमी की कहानियां हैं। हम सब शेखचिल्ली हैं, जब हम कल्पना में पड़े होते हैं। जब तक कल्पना पूरी समाप्त न हो जाये, तब तक शेखचिल्लीपन समाप्त नहीं होता।

ऐसा हुआ कि पंडित जवाहरलाल नेहरू एक पागलखाने गये, देखने। उस गांव में गये थे तो पागलखाना देखने गये। अब ऐसा अक्सर होता है, जब चर्चिल ताकत में था, तो इंग्लैंड के पागलखानों में कम से कम चार-पांच आदमी बंद थे जो अपने को चर्चिल मानते थे। ऐसा नेहरू के साथ भी था। जब नेहरू यहां जिंदा थे, तो हिंदुस्तान के पागलखानों में कोई दस-बारह आदमी थे, जो अपने को पंडित नेहरू मानते थे।

उस पागलखाने में भी एक आदमी था, जो बिलकुल ठीक हो गया था, उसी दिन विदा हो रहा था। तो पागलखाने के अधिकारियों ने कहा कि पंडित नेहरू आते हैं, उन्हीं के हाथ से इसको छुटकारा दिला देंगे। वह आदमी लाया गया। पंडित नेहरू ने पूछा कि कभी कोई ठीक भी होते हैं? उन्होंने कहा, आज ही एक आदमी

आपके हाथों से विदा करने को रोक रखा है। वह आदमी आया, पंडित नेहरू ने उसे फूल भेंट किये, और कहा कि स्वागत कि तुम ठीक हो गये। उस आदमी ने देखा पंडित नेहरू की तरफ, पूछा, "आपका नाम?"

उन्होंने कहा, मेरा नाम पंडित जवाहरलाल नेहरू है।

उसने कहा, घबड़ाओ मत अगर तीन साल रह गये यहां, तुम भी ठीक हो जाओगे। यही बीमारी मुझे भी थी। मगर इन डाक्टरों की कृपा, ठीक कर दिया।

वह आदमी, पंडित जवाहरलाल नेहरू अपने को समझता था।

तुम हंसते हो, लेकिन तुमने जो अपने को समझा है, वह इससे बहुत भिन्न नहीं है। वह जरा हिम्मतवर रहा होगा तो उसने अपने को पंडित जवाहरलाल नेहरू समझ लिया। तुम उतने हिम्मतवर नहीं हो, या किसी से कहते नहीं; मन में तो समझते ही हो। मगर हर आदमी कुछ अपने को समझ रहा है, कल्पना को पोषित कर रहा है। यह कल्पना का जाल गिर जाये तो धर्म का आविर्भाव होता है।

"मेरा बंध या मोक्ष नहीं है। आश्रय-रहित हो कर, भ्रांति शांत हो गई है। आश्चर्य है कि मुझमें स्थित हुआ जगत, वास्तव में मुझमें स्थित नहीं है।"

न मे बंधोऽस्ति मोक्षो वा भ्रांतिः शांता निराश्रया।
अहो मयि स्थितं विश्वं वस्तुतो न मयि स्थितम्।
मे बंधः वा मोक्षः न अस्ति
--मेरा बंध या मोक्ष नहीं है।

सुनो! कैसी अदभुत बात जनक कह रहे हैं: "न मेरा बंधन है, न मेरा मोक्ष है!"

तुमने यह तो सुना कि बंधन है संसार। छोड़ो बंधन! बंधन से मोक्ष की खोज करो। लेकिन सुना तुमने, जनक क्या कह रहे हैं? वे कह रहे हैं, न मेरा बंधन है, न मोक्ष!

ऐसी चित्तदशा का नाम ही मोक्ष है, जहां तुम्हें पता चलता है: न बंधन है न मोक्ष। बंधन भी कल्पित थे, तो मोक्ष भी कल्पित है।

कथा है जीसस के जीवन में कि वे एक गांव में आये, और उन्होंने एक वृक्ष के नीचे कुछ लोगों को बड़े उदास देखा, बड़े परेशान देखा, बड़े दीन, दुर्बल! उन्होंने पूछा, "तुम्हें क्या हुआ? तुम पर कौन-सी विपदा आ गई?" उन लोगों ने कहा, "विपदा हम पर बड़ी आई। हम लोग बहुत घबड़ा गये हैं, हमने बड़े पाप किये हैं। और हम नर्क से डर रहे हैं, हम थर-थर कांप रहे हैं।"

अब मुसलमानों का नर्क खतरनाक तो होने ही वाला है। अगर नर्क जाओ, तो हिंदुओं का चुनना, वहां थोड़ी अस्तव्यस्तता रहेगी, मुसलमानों का मत चुनना। अगर वहां कोई चुनाव हो तो भारतीयों का चुन लेना, जर्मन या इस तरह के लोगों का नर्क मत चुन लेना; क्योंकि वहां बड़ी चुस्ती है, वहां सब नियम की पाबंदी है। वहां रिश्वत भी नहीं चलेगी, कि जरा रिश्वत दे दी, और आग से जरा बच गये, कि जरा ठंडी आग में डलवा लिया अपने को। कुछ न चलेगा वहां। अब मुसलमानों का नर्क! वे तो ठीक से सतायेंगे; छोड़ेंगे नहीं। वे तो बड़े धार्मिक रूप से सतायेंगे।

उन्होंने कहा, हम बड़े घबड़ा गये हैं। पाप बहुत किये हैं, हम घबड़ा रहे हैं, हम कंप रहे हैं। और मरने का दिन करीब आ रहा है, दोजख में पड़ेंगे, नर्क में सड़ेंगे। तो हमें चैन नहीं है।

जीसस और आगे बढ़े, एक वृक्ष के नीचे उन्होंने और लोगों को बैठे देखा। वे बड़े आशा से भरे बैठे थे। लेकिन आशा में भी भय था। और उन्होंने बड़ी तपश्चर्या की थी, उपवास किये थे, धूप में शरीर को गलाया-सताया था, सूखे, हड्डियां हो गये थे। उन्होंने पूछा, "तुम्हें क्या हुआ? तुम पर कौन-सी विपदा पड़ी?"

उन्होंने कहा, हम स्वर्ग की तैयारी कर रहे हैं। नर्क का भय है तो हम स्वर्ग की तैयारी कर रहे हैं। हम पुण्य-अर्जन कर रहे हैं। मगर फिर भी डर लगता है, कहीं चूक तो न जायेंगे! सब दांव पर लगा दिया है, जीवन दांव पर लगा दिया है; लेकिन स्वर्ग ले कर रहेंगे, बहिश्त में पहुंच कर रहेंगे। मगर उसी चिंता में हम परेशान भी हैं, तनाव भी मन में बना है।

जीसस और आगे बढ़े। उन्होंने एक तीसरे वृक्ष के नीचे कुछ लोगों को बैठे देखा, जो बड़े मस्त थे। उनकी हालत बिलकुल अलग थी। न तो नर्क से घबड़ाये जैसे लोग वैसे भी न थे; स्वर्ग के लोभ से भरे लोग, वैसे भी न थे। वे बड़े मस्त थे। वे गीत गुनगुना रहे थे, नाच रहे थे, आनंद-मग्न थे। उन्होंने पूछा, "तुम्हें क्या हुआ? तुम बड़े खुश हो! तुम पर कोई विपत्ति नहीं आई?" उन्होंने कहा कि नहीं, क्योंकि हमने जान लिया कि न स्वर्ग है न नर्क है। सब मन का खेल है।

दुख-सुख दोनों ही मन की धारणायें हैं। दुख का आत्यंतिक रूप नर्क है; सुख का आत्यंतिक रूप स्वर्ग है। सुख-दुख दोनों मन में हैं, स्वर्ग-नर्क भी दोनों मन में हैं। ऐसा जो जान लेता है कि सभी द्वंद्व मन में हैं, वही मुक्त है।

इस मुक्ति की आखिरी घोषणा जनक करते हैं: मेरा बंध या मोक्ष नहीं है। बंधन भी झूठे हैं, तो मोक्ष कैसा? बंधन हैं ही नहीं, तो मोक्ष कैसा? दोनों असत्य हैं।

"आश्रय-रहित हो कर भ्रांति शांत हो गई है।"

अब मेरा कोई आश्रय नहीं है। अब मैं किसी आशा के सहारे नहीं जी रहा। और जब आशा नहीं है तो निराशा नहीं होती।

"आश्रय-रहित होकर भ्रांति शांत हो गई है। आश्चर्य है कि मुझमें स्थित हुआ जगत वास्तव में मुझमें स्थित नहीं है।"

यह आश्चर्य की बात है कि सारा जगत है, फिर भी मैं अकलुषित, फिर भी मैं निरंजन, फिर भी मैं पार हूं!

एक बौद्ध कथा है, दो भिक्षु एक नदी से पार होते थे कि बूढ़े भिक्षु ने देखा कि एक युवती नदी पार करना चाहती है, तो वह घबड़ा गया। नदी गहरी है, शायद युवती कहे कि मेरा हाथ सम्हाल लो। वह अनजान मालूम होती है। सुंदर युवती है! वह उसके पास से निकला, युवती ने कहा भी कि मुझे नदी के पार जाना है, क्या आप मुझे सहारा देंगे? उसने कहा, मुझे क्षमा करो, मैं भिक्षु हूं, स्त्री को मैं छूता नहीं! और उसके हाथ-पैर कंप गये और वह भागा तेजी से नदी पार कर गया।

बूढ़ा आदमी! बहुत दिन का दबाया हुआ काम, भीतर फुफकार मारने लगा वह; यह खयाल ही कि स्त्री का हाथ पकड़ ले, सपनों को जन्म देने लगा। वह तो नदी पार कर गया घबड़ाहट में। सोचा, भगवान को धन्यवाद दिया कि चलो बचे, एक झंझट आती थी, एक गड्ढे में गिरने से बचे! तब पीछे लौट कर देखा तो बड़ा हैरान हो गया। हैरान भी हुआ, थोड़ार् ईष्या से भी भरा, थोड़ी जलन भी पैदा हुई। वह जो युवा संन्यासी पीछे आ रहा था, वह लड़की को कंधे पर बिठा कर नदी पार करवा रहा है। कंधे पर बिठा कर! हाथ पकड़ना भी एक बात थी, स्पर्श भी वर्जित है, और मैं तो बूढ़ा हूं, और यह जवान है, और यह अभी नया-नया दीक्षित हुआ है! और यह क्या पाप हो रहा है?

फिर दो मील तक दोनों चलते रहे। आश्रम पहुंचने के पहले तक बूढ़ा फिर बोला नहीं, बहुत नाराज था, आगबबूला था। नाराजगी मेंर् ईष्या भी थी, नाराजगी में रस भी था, क्रोध भी था, अपने को ऊंचा और धार्मिक मानने की अस्मिता भी थी; और इसको निकृष्ट और अधार्मिक मानने का भाव भी था। सभी कुछ मिश्रित था। सीढ़ियां जब वे चढ़ने लगे आश्रम की, तब बूढ़े से न रहा गया; उसने कहा कि सुनो मुझे गुरु से जा कर कहना ही

पड़ेगा, क्योंकि यह तो नियम का उल्लंघन हुआ है। और तुम युवा हो, और तुमने स्त्री को कंधे पर बिठाया, स्त्री सुंदर भी थी!

उस युवा ने कहा, आप भी आश्चर्य की बात कर रहे हैं। मैं तो उस स्त्री को नदी के किनारे उतार भी आया, क्या आप उसे अब भी अपने कंधे पर लिये हुए हैं? अब भी! आप भूले नहीं? दो मील पीछे की बात, आप अभी खींचे लिये जा रहे हैं?

ध्यान रखना, यह संसार, है तुम्हारे पास, तुम में स्थित, तुम इसमें स्थित; मगर ऐसा भी जीने का ढंग है कि न तुम संसार को छुओ, न संसार तुम्हें छू पाये। तुम ऐसे गुजर जाओ, अस्पर्शित, क्वांरे के क्वांरे। यह कालख तुम्हें लगे न। ऐसे गुजरने का ढंग है--उस ढंग का नाम ही साक्षी है।

"शरीर सहित यह जगत कुछ नहीं है--अर्थात न सत है और न असत है और आत्मा शुद्ध चैतन्य-मात्र है। ऐसा निश्चय जान कर अब किस पर कल्पना को खड़ा करें?"

अब कहां अपनी कल्पना को रोपें? सब आश्रय गिर गये। न सुख की कोई कामना है, और न दुख का कोई भय है। न कुछ होना है, न कुछ बचना है। न कहीं जाना है, न कुछ बनना है। सब आश्रय गिर गये, अब कल्पना को कहां खड़ा करें?

कुछ लोग धन पर कल्पना को खड़ा किये हुए हैं--वह उनका आश्रय है। वे हमेशा धन ही गिनते रहते हैं। वे नींद में भी रुपये गिनते रहते हैं। रुपये की खनकार ही एकमात्र संगीत है, जिसे वे संगीत मानते हैं।

कुछ लोग हैं पद के दीवाने; वह बस उनकी कुर्सी ऊपर उठती जाये, इसकी ही फिक्र में लगे हैं। बड़ी से बड़ी कुर्सी पर बैठ जायें, चाहे फांसी क्यों न लगे बड़ी कुर्सी पर, कोई हर्जा नहीं, मगर कुर्सी बड़ी होनी चाहिए। वह उनका आश्रय है।

फिर कुछ लोग हैं, जो स्वर्ग की कामना कर रहे हैं, कि स्वर्ग में बैठेंगे, यहां क्या रखा है? यहां की कुर्सियां आज मिलती हैं, कल छिन जाती हैं, यहां बैठने में क्या सार है? बैठेंगे स्वर्ग में, वहां कल्पवृक्ष के नीचे बैठ कर भोगेंगे दिल खोल कर। फिर समय का कोई बंधन नहीं, सीमा नहीं है।

मगर ये सब आश्रय हैं मन के।

"ऐसा निश्चय जान कर अब किस पर कल्पना को खड़ा करें?"

"यह शरीर, स्वर्ग, नर्क, बंध, मोक्ष और भय भी कल्पनामात्र हैं। मुझे उनसे क्या करना है? मैं तो शुद्ध चैतन्य हूं।"

खूब जागरण की घटना घटी जनक को। अष्टावक्र की मौजूदगी में विमर्श पैदा हुआ। अष्टावक्र के दर्पण में जनक ने अपना चेहरा देखा, उसे आत्मस्मृति आई। अनूठी घटना घटी।

बड़ी मुश्किल से ऐसा होता है कि ऐसा गुरु और ऐसा शिष्य मिल जाये। शिष्य तो बहुत, गुरु बहुत; लेकिन ऐसा कभी-कभी घटता है, जबकि अष्टावक्र जैसा गुरु और जनक जैसा शिष्य मिल जाये। जब ऐसी घटना घटती है, ऐसे गुरु और शिष्य का मिलन होता है, तो सत्य का विस्फोट न होगा तो क्या होगा! ऐसे शुद्ध दर्पण के सामने, ऐसा सरल चित्त व्यक्ति, विनम्र भाव से झुका हुआ खड़ा हो गया, उसे दर्शन हो गये। हो गई सिंह-गर्जना। वह ऐसे बोलने लगा, जैसे कभी न बोला था। वह ऐसे बोलने लगा, जैसा अष्टावक्र बोलते थे; जैसे खुद तो खो गया और अष्टावक्र का ही गीत उसकी बांसुरी पर बजने लगा; जैसे अष्टावक्र ही उससे बोलने लगे।

शिष्य अगर मिटने को राजी हो तो गुरु उसके हृदय के गहरे कोने से बोलने लगता है। शिष्य अगर झुकने को राजी हो, तो गुरु बाहर नहीं रह जाता, गुरु तुम्हारे अंतरतम में प्रतिष्ठित हो जाता है।

ऐसा ही हुआ, ऐसी ही महत्वपूर्ण घटना घटी। विमर्श करो उस पर! ध्यान करो उस पर! ऐसी घटना तुम्हें भी घट सकती है--कोई कारण नहीं, कुछ कमी नहीं है; सिर्फ तुम्हारी कल्पना के जाल, और तुम्हारी विधियां,

और तुम्हारी औषधियों का अंबार, तुम्हें स्वस्थ नहीं होने दे रहा है। तुम स्वस्थ हो, ऐसा विमर्श करो। तुम परमात्मा हो, ऐसा विमर्श करो। जो होना था, हो ही चुका है। जो पाना था, मिला ही है। तुम अपने घर में बैठे हो, सिर्फ कल्पना के माध्यम से तुम दूर निकल गए हो। एक क्षण-मात्र में, क्षण के भी अंश-मात्र में वापसी हो सकती है।

मुल्ला नसरुद्दीन अपने डाक्टर के पास गया था। "डाक्टर साहब," कहने लगा वह, "अगर किसी दिन मैं यहां आ कर पतलून की जेब से इतने नोट निकालूं कि आपके पिछले सभी बिलों का भुगतान हो जाये, तो आप क्या मानेंगे? क्या समझेंगे?"

डाक्टर ने कहा, "यही कि तुम किसी दूसरे की पतलून पहने हुए हो।"

तुम्हें भरोसा नहीं आता। मैं कह भी रहा हूं, तो भी तुम सुनते हो, तुम कहते हो: हुआ होगा जनक को; मगर यह पतलून अपनी नहीं है। तुम तो जानते हो, अपनी पतलून में हाथ डालेंगे तो खाली है। हाथ ही तुमने नहीं डाला है। खाली का तुमने भरोसा कर लिया है, बिना खोजे।

तुम तो सदा यह देखते हो कि जहां भी आनंद है, वह किसी दूसरे के पास है; मेरे पास कहां? मुस्कुराहटें सब दूसरों की हैं; आंसू सिर्फ तुम्हारे हैं--ऐसी तुम्हारी धारणा हो गई है। दुख केवल तुम्हारे हैं, सुख सब पराये हैं। ये गीत घटते हैं किसी और को; तुम्हारे जीवन में तो सदा दुख ही दुख बरसता है। यह अमृत बरसता होगा कहीं किसी सौभाग्यशाली को। तुम्हें भरोसा नहीं आता!

मैं कहता हूं, यह पतलून तुम्हारी है, हाथ तो डालो! तुम कहते हो, "क्या सार बार-बार हाथ डालने से? वहां कुछ भी नहीं है।" तुमने कभी हाथ डाला ही नहीं; और कुछ भी नहीं है, इस भ्रांति में तुम पड़ गये हो। एक बार अपने भीतर झांको तो!

मुल्ला नसरुद्दीन के घर एक आदमी आया हुआ था। वह पूछने लगा नसरुद्दीन से, यदि कोई बाहरी व्यक्ति आ कर ऐसा जम जाये कि जाने का नाम न ले, तो आप क्या उपाय करते हैं?

बहुत देर से जमे हुए इस आदमी ने मुल्ला नसरुद्दीन से ऐसा पूछा।

"मैं तो कुछ नहीं कर पाता, किंतु मेरी पत्नी बड़ी चतुर है। ऐसे मौकों पर वह आकर, किसी न किसी बहाने मुझे अंदर बुला लेती है।" मुल्ला ने जवाब दिया।

वह आदमी दूसरा सवाल पूछने जा ही रहा था कि परदा उठा, और एक महिला अंदर आई, और बोली, आप भी गजब करते हैं! शर्मा जी के घर छह बजे चलना है और आप बैठ कर गप्पे लगा रहे हैं?

गुरु का कुल काम इतना है कि जो तुम नहीं कर पा रहे हो, वह तुम्हें चौंका दे, वह कह दे आ कर कि छह बजे शर्मा जी के घर चलना है, और तुम बैठ कर गप्पें लगा रहे हो!

गुरु तुम्हें कहीं ले जाता नहीं; सिर्फ जगाता है; सिर्फ याद दिलाता है कि छोड़ो ये गप्पें, समय और मत गंवाओ, ऐसे भी बहुत गंवा चुके हो।

अष्टावक्र की मौजूदगी में याद आ गई जनक को, कि हो गईं गप्पें सब व्यर्थ। ये सब गप्पें हैं कि कोई सम्राट कि कोई भिखारी। ये सब गप्पें हैं कि कोई धनिक कि कोई अमीर। ये सब गप्पें हैं कि कोई सफल कि कोई असफल। ये बस गप्पें हैं। ये सब कल्पनायें हैं। हम एक-दूसरे को सहारा दिये हैं, और इन कल्पनाओं में हम जीते चले जाते हैं। ये हमारे रचे हुए नाटक हैं, ये हमारे खेल हैं।

अगर किसी को सफल होना है, तो किसी को असफल होना पड़ेगा--इसलिए खेल में तो दोनों की जरूरत पड़ती है। अगर सभी सफल होना चाहें, तो खेल बंद हो जाता है। सभी असफल हो जायें, तो खेल बंद हो जाता है। तो हमने एक खेल रच लिया है, उसमें कोई असफल होता है, कोई सफल होता है; कोई बुद्धिमान, कोई बुद्धू। हमने एक खेल रच लिया है। एक कल्पना का जाल है। हमने एक बस्ती बसा ली है।

इतना ही तुमसे कहना चाहता हूं: खूब समय हो गया, अब उठो! दर्पण तुम्हारे सामने है, थोड़ा अपने चेहरे को देखो! तुम्हें पकड़ कर नदी के किनारे ले आया हूं, जरा झांको, और सिंह-गर्जना किसी भी क्षण हो सकती है!

हरि ॐ तत्सत्!

बारहवां प्रवचन

प्रभु प्रसाद -- परिपूर्ण प्रयत्न से

पहला प्रश्न: मेरे इस प्रश्न का उत्तर अवश्य दें, ऐसी प्रार्थना है। गुरु-दर्शन को कैसे आऊं? जब शिष्य गुरु के पास जाए तो कैसे जाए? गुरु के पास शिष्य किस तरह रहे, क्या-क्या करे और क्या-क्या न करे?

पुछा है "विष्णु चैतन्य" ने।

शिष्य का अर्थ होता है, जिसे सीखने की दुष्पूर आकांक्षा उत्पन्न हुई है; जिसके भीतर सीखने की प्यास जगी है। सीखने की प्यास साधारण नहीं होती; सिखाने का मन बड़ा साधारण है। सीखने की प्यास बड़ी असाधारण है।

गुरु तो कोई भी होना चाहता है, शिष्य होना दुर्लभ है। जो तुम नहीं जानते, वह भी तुम दावा करते हो जानने का, क्योंकि जानने के दावे में अहंकार की तृप्ति है। जिन बातों का तुम्हें कोई भी पता नहीं है, उनका भी तुम उत्तर देते हो; क्योंकि यह तुम कैसे मानो कि उत्तर, और तुम्हें पता नहीं! तुम ऐसी सलाहें देते हो, जिन्हें कोई माने तो गड्ढे में गिरेगा, क्योंकि तुम किसी अनुभव से सलाह नहीं दे रहे हो। तुम तो सलाह देने का मजा ले रहे हो।

देखा लोगों को, सलाह देने में कैसा मजा लेते हैं! फंस भर जाओ उनके चंगुल में, और हर कोई सलाह देने को उत्सुक है। वह तो अच्छा है कि लोग सलाह लेते नहीं। दुनिया में सबसे ज्यादा दी जानी वाली चीज सलाह है, और सबसे कम ली जाने वाली चीज भी सलाह है। कौन सुनता है? कौन लेता है? अच्छा है कि लोग लेते नहीं अन्यथा लोग पागल हो जायें। सलाह देने वाले इतने हैं, मार्गदर्शक इतने हैं!

सीखने की इच्छा अति दुर्लभ है। क्योंकि सीखने की इच्छा का अर्थ हुआ--यह स्वीकार कि मुझे मालूम नहीं; यह स्वीकार कि मैं अज्ञानी हूं; यह स्वीकार कि मैं समर्पित होने को तैयार हूं, कि मैं भिक्षा की झोली फैलाने को राजी हूं। बेशर्म भिक्षा की झोली फैलाने की हिम्मत से कोई शिष्य बनता है। लाग-लपेट, संकोच, शर्म, सब छोड़ कर कोई शिष्य बनता है।

शिष्य बनने का अर्थ है, कि मेरा सारा अतीत व्यर्थ था, गलत था--इसे मैं स्वीकार करता हूं।

कल एक इटालियन युवती ने संन्यास लिया, वह केवल भूली-भटकी दो-चार दिन के लिये यहां आ गई। घूमती रही पूरे देश में। गई बहुत आश्रमों में, बहुत सत्संगों में; भूली-भटकी, किसी ने बता दिया, तो यहां आ गई। आज ही उसे वापस लौटना है। वह कल बड़े हृदय से रोने लगी। और उसने कहा कि मुझे बड़ी अड़चन में डाल दिया। पूछा मैंने, क्या अड़चन है? उसने कहा, अड़चन यह है कि ये तीन दिन संकट के हो गये; न आती तो अच्छा था। क्योंकि इन तीन दिनों ने मुझे बता दिया कि अब तक जो मैं जानती थी, वह सब गलत है; और अब तक जो मैं सोचती थी ठीक है, वह बिलकुल ठीक नहीं। कुछ और ही ठीक है। अब तुमने मुझे मुश्किल में डाल दिया। और मुझे लौट कर आना पड़ेगा। अब मैं जा रही हूं--सिर्फ आने के लिये।

शिष्यत्व का जन्म हो गया!

जिस क्षण तुम्हें पता लगता है कि मेरा सारा अतीत व्यर्थ था, कूड़ा-कर्कट था...। बहुत कठिन है यह स्वीकार करना, क्योंकि अतीत यानी तुम्हारा अहंकार। जो तुमने अब तक किया, सोचा, समझा, उसी पर तो तुम्हारा अहंकार खड़ा है। वह ठीक था तो अहंकार खड़ा हो सकता है। वह सब गलत था...।

जिस क्षण तुम्हें दिखाई पड़ता है कि मेरा अतीत, सारा का सारा एक अंधेरी रात था, उस क्षण तुम शिष्य बनते हो।

यहां यह भी खयाल रख लेना: तुम यह मत सोचना कि हम शिष्य बन सकते हैं; क्योंकि अतीत में कुछ बातें गलत थीं, वह हम मानते हैं; कुछ बातें ठीक थीं, वह हम मानते हैं। ऐसा होता ही नहीं। या तो तुम गलत होते हो, या तुम ठीक होते हो। कुछ बातें ठीक और कुछ बातें गलत--ऐसा होता ही नहीं।

यह जो सत्य की खोज है, यहां समझौते नहीं चलते। सत्य कोई समझौता नहीं है। अगर तुम ठीक थे तो ठीक थे; अगर गलत थे तो गलत थे। यह भी अहंकार की तरकीब है कि अहंकार कहता है: हां, कुछ बातें हमारे जीवन में गलत रहीं, उनको ठीक कर लेंगे; ऐसे बाकी जीवन तो सब ठीक ही है।

तो तुम्हारे जीवन में क्रांति कभी न होगी, सुधार हो सकता है। और सुधार की आकांक्षा शिष्य की आकांक्षा नहीं है। शिष्य की आकांक्षा तो महाक्रांति के लिए है। शिष्य तो कहता है कि मैं अपने पूरे अतीत से स्वयं को विच्छिन्न कर लेना चाहता हूं; मैं चाहता हूं कि फिर से मेरी शुरुआत हो, मैं चाहता हूं कि फिर क ख ग से शुरुआत हो; मैं चाहता हूं कि फिर से मेरा जन्म हो। यही शिष्य की आकांक्षा है। एक जन्म हुआ था--मां से, पिता से; अब मैं चाहता हूं सदगुरु से जन्म हो। एक जन्म था शरीर का; अब मैं अपनी आत्मा का जन्म चाहता हूं।

बड़ी हिम्मत चाहिए! यहां तक भी तुम राजी हो जाते हो...। मेरे पास लोग आते हैं, वे कहते हैं, हां, हमारे जीवन में कुछ गलत बातें हैं, लेकिन सभी गलत नहीं हैं।

इसे तुम फिर से सोच लो। अगर तुम गलत हो, तो कुछ ठीक और कुछ गलत हो नहीं सकता; सभी गलत होगा। क्योंकि जो तुमसे निकला है, जो तुम्हारी मूर्च्छा से निकला है, वह संयोगवशात ठीक मालूम पड़े, ठीक हो नहीं सकता। तुमने भला दान दिया हो, मगर तुम्हारे दान में भी लोभ होगा, अगर तुम लोभी हो। तो तुम कहोगे, लोभ तो बुरा है; लेकिन मैंने एक मंदिर बनाया, एक मस्जिद बनायी, एक गुरुद्वारा बनाया--यह तो बुरा नहीं हो सकता! लेकिन मैं तुमसे कहता हूं: मंदिर बनाओ, मस्जिद बनाओ, गुरुद्वारा बनाओ, अगर तुम लोभी हो तो तुम्हारे मंदिर में भी लोभ ही होगा। होगा परलोक का लोभ, होगा स्वर्ग पाने का लोभ--मगर लोभ ही होगा। लोभी से दान नहीं हो सकता। लोभी दान भी करता है तो वहां, उस दूसरे किनारे पर हजार गुना पाने की आकांक्षा में करता है। यह भी कोई दान रहा? सौदा हो गया। दान का मतलब होता है: हम बेशर्त देते हैं। दान का मतलब होता है: देने में मजा है, इसलिए देते हैं। देने में मजा अभी और यहीं है, इसलिए देते हैं। दान का मतलब हुआ, आगे इससे कोई संबंध नहीं; आगे हम इसके संबंध में कोई प्रतिकार नहीं चाहते, कोई पुरस्कार नहीं चाहते हैं। देने में मजा आया, इसलिए दिया है। अब देने से कोई और फल मिलना चाहिए, तो फिर लोभ आ गया।

लोभ का मतलब होता है: फल की आकांक्षा, फलाकांक्षा। दान का अर्थ होता है: फलाकांक्षा- शून्य देना; देने का मजा, देने का आनंद।

तुमने किसी को दिया, और अगर धन्यवाद की भी आकांक्षा रखी तो दान भ्रष्ट हो गया। तुमने अगर लौट कर यह भी देखा कि इस आदमी ने शुक्रिया कहा या नहीं कहा, तुम सोचने लगे बाद में कि यह भी कैसे अपात्र को दे दिया कि उसने धन्यवाद भी न दिया...।

एक झेन फकीर के पास एक आदमी हजारों स्वर्ण-अशर्फियां ले कर आया। उसने बड़े जोर से अशर्फियों का थैला पटका। उनकी खनखनाहट पूरे मंदिर में गूंज गई। लोग ऐसे ही दान देते हैं--खनखनाहट की आवाज! उस फकीर ने जोर से कहा कि झोला धीमे से नहीं रख सकते? वह आदमी थोड़ा हैरान हुआ, क्योंकि वह करोड़पति था, उस गांव का सबसे धनपति था। और यह फकीर...! और वह देने आया है; धन्यवाद की तो बात दूर रही, यह उससे कहता है, झोला शांति से नहीं रख सकते? पर उसने कहा, आप सुनें महाराज! लाखों रुपये लाया हूं आपको भेंट करने! उसने कहा, ठीक!

मगर उसने धन्यवाद भी न दिया। वह धनपति जरा बेचैन होने लगा। उसने कहा, महाराज कुछ तो कहें।

उसने कहा, अब कुछ क्या कहना है? मुझको तुम धन्यवाद दो और जाओ।

वह धनपति बोला, यह जरा सीमा के बाहर की बात हो गई। धन्यवाद मैं आपको दूं और जाऊं--मतलब?

तो उसने कहा, दान स्वीकार कर लिया है, इसकी दक्षिणा न दोगे? तुम्हारा दान स्वीकार कर लिया, इसके लिए धन्यवाद न करोगे? तुम्हारा दान इंकार भी किया जा सकता था, फिर क्या करते? तो या तो धन्यवाद दो, या उठा लो झोला, जाओ अपने घर; फिर दुबारा इस तरफ मत आना।

दान का अर्थ ही यह होता है।

इसलिए तुमने देखा, हिंदू दान देते हैं, फिर दक्षिणा देते हैं! दक्षिणा का मतलब है धन्यवाद, कि आपने स्वीकार कर लिया। दान दक्षिणा के बिना अधूरा रह जाता है। लोभ से दिया गया दान तो दान नहीं, लोभ का ही विस्तार है।

तुम अगर गलत हो तो तुम जो करोगे, वह सब गलत होगा। तुम्हारा मंदिर जाना गलत, तुम्हारी पूजा गलत, तुम्हारी प्रार्थना गलत, तुमसे निकलेगी--सही हो कैसे सकती है? और अगर तुम सही हो, तो तुम जो करोगे, वह सही है। इसलिए तो कृष्ण अर्जुन से कह सके कि लड़, बस तू भीतर सही हो जा; तू भीतर परमात्मा से जुड़ जा; तू भीतर अनुभव कर ले कि मैं नहीं हूं, वही है; फिर तू काट, बेफिक्री से काट; फिर हिंसा में भी पाप नहीं है।

इसे तुम समझना। कृष्ण कह रहे हैं कि अगर तू परमात्मा को समर्पित हो कर हिंसा भी करता है, तो भी पाप नहीं है। और अगर--मैं तुमसे कह रहा हूं--लोभ की आकांक्षा से तुम दान भी करते हो तो पाप है। तुम्हारी प्रार्थना में अगर मांग है, तो पाप हो गया। तुम्हारी प्रार्थना अगर सिर्फ अहोभाव की अभिव्यक्ति है तो पुण्य हो गया।

पूछा है, "गुरु-दर्शन को कैसे आऊं? जब शिष्य गुरु के पास जाए तो कैसे जाए? गुरु के पास शिष्य किस तरह रहे, क्या-क्या करे, और क्या-क्या न करे?"

पहली बात, आंतरिक शिष्यता को जन्म दे। जो मैं कह रहा हूं, उसे सुन कर सीख लेना, उसका ज्ञान बना लेना, उससे स्मृति को परिपुष्ट कर लेना--शिष्यता नहीं है। विद्यार्थी हो तुम शिष्य नहीं। तो विद्यार्थी और शिष्य का भेद समझ लो। विद्यार्थी, विद्या का अर्जन करता; जो कहा जाता है, उसे संयोजित करके रखता, उसकी मंजूषा बनाता, उसको कंठस्थ करता, जानकारी इकट्ठी करता; उसकी बुद्धि ज्यादा संपन्न हो जाती; उसकी स्मृति ज्यादा भरी-पूरी हो जाती; वह हर प्रश्न के उत्तर भीतर इकट्ठे करता जाता। वह संग्राहक है। जैसे कोई धन इकट्ठा करता है, ऐसे वह ज्ञान इकट्ठा करता है। यह विद्यार्थी है।

शिष्य विद्यार्थी नहीं है। शिष्य आत्मार्थी है। शिष्य सत्यार्थी है। उसको इसकी कोई आकांक्षा नहीं है कि स्मृति बहुत पुष्ट हो जाये, जानकारी का बहुत अंबार लग जाये। नहीं, इससे उसे प्रयोजन नहीं। वह चाहता है, उसकी आत्मा प्रगट हो जाये। जानकारी रहे न रहे; कोरा हो जाऊं, फिक्र नहीं--मेरी आत्मा विकसित हो जाये।

अंग्रेजी में दो शब्द हैं: बीइंग और नॉलेज; आत्मा और ज्ञान। विद्यार्थी की आकांक्षा नॉलेज, ज्ञान की है। शिष्य की आकांक्षा बीइंग की, आत्मा की है--मैं और गहन हो जाऊं, और विराट हो जाऊं, और विस्तीर्ण हो जाऊं; मेरी सीमायें टूटें; मैं आकाश में उड़ूं, विराट और विभु में मेरा प्रवेश हो जाये। जान लूं परमात्मा के संबंध में तो विद्यार्थी--कैसे परमात्मा हो जाऊं; कैसे उसमें डूब जाऊं; कैसे उसमें पग जाऊं और खो जाऊं; कैसे यह मेरी छोटी-सी कल-कल करती सरिता उसके सागर में तिरोहित हो जाए?

तो विद्यार्थी तो कुछ लेने आता है, शिष्य कुछ खोने आता है। विद्यार्थी तो कूड़ा-कर्कट इकट्ठा करके, पोटली बांध कर चल देता है; शिष्य जाते वक्त पाएगा कि बचा ही नहीं। पोटली बांधनी तो दूर; जो आया था,

वह भी गया। खाली हो कर लौटेगा शिष्य, विद्यार्थी भर कर लौटेगा। विद्यार्थी दुनिया के बाजार में बेचने योग्य कुछ ले जायेगा, कमायेगा। शिष्य बिलकुल शून्य हो कर लौटेगा। शून्यता की तैयारी शिष्यतत्व है। बड़ी कठिन है।

रहीम का वचन है:

अब रहीम मुश्किल पड़ी, गाढ़े दोऊ काम।

सांचे तो जग नहीं, झूठे मिलें न राम।।

अब रहीम मुश्किल पड़ी--अब बड़ी झंझट में पड़े रहीम! गाढ़े दोऊ काम--अब तो दोनों काम मुश्किल हो गये। सांचे तो जग नहीं--अगर सत्य की खोज करो तो बाजार खोता है। अगर सत्य की खोज करो, तो संसार खोता है। सांचे तो जग नहीं, झूठे मिलें न राम--और अगर झूठ से चलो, तो परमात्मा की कोई उपलब्धि नहीं होती।

अब रहीम मुश्किल पड़ी...!

शिष्य ऐसी ही मुश्किल में पड़ जाता है।

अब रहीम मुश्किल पड़ी, गाढ़े दोऊ काम।

अगर अपने को खोता है तो परमात्मा मिलता है; लेकिन अपने को खोने में वह सब खो जाता है, जिसे हम संसार कहते हैं। अपने को खोता है तो सत्य मिलता है; लेकिन अपने को खोने में वह सब खो जाता है, जिसके कारण हम सत्य को खोजने निकले थे।

अब रहीम मुश्किल पड़ी...।

जब तुम पहली दफा सत्य की खोज करने निकलते हो तो इसीलिए कि सत्य भी तुम्हारी मुट्ठी में हो। जब तुम परमात्मा की खोज करने निकलते हो तो इसीलिए कि और सब तो पा लिया, अब परमात्मा को भी पा लें; यह चुनौती भी खाली न रह जाए।

सुना है मैंने, महावीर गुजरते थे एक गांव से। उस नगर का महाअधिपति, सम्राट उनके दर्शन को आया। प्रसेनजित उसका नाम था। उस सम्राट ने कहा, प्रभु! सब है मेरे पास, मगर इधर आपने एक अड़चन कर दी--ध्यान, ध्यान, ध्यान! इससे मन में एक बेचैनी रहती है। सब है मेरे पास, यह ध्यान भर की कमी अखरती है। इसके कारण ऐसा लगता है कि कुछ कम है। यह ध्यान मुझे चाहिए। और मैं इस ध्यान को पाने के लिए, जो भी आप मूल्य चुकाने को कहें, चुकाने को राजी हूं।

सुना होगा उसने गांव में, महावीर के आने से ध्यान की चर्चा होने लगी। वह जरा बेचैन हुआ होगा। उसके पास सब है--तिजोरी में सब बंद है; धन, पद, प्रतिष्ठा, सब बंद है। देखा होगा खाता- बही खोल कर, ध्यान नहीं है, यह क्या मामला है? लोग ध्यान की बात करने लगे, गांव में कुछ लोग ध्यानी भी होने लगे, कुछ लोग ध्यान की मस्ती में भी चलने लगे, कुछ लोगों की आंखों में ध्यान का नशा भी दिखाई पड़ने लगा--यह मामला क्या है? वह थोड़ा बेचैन हो गया। उसने महावीर से कहा, मैं सब कुछ करने को तैयार हूं! जो भी कीमत हो, चुका दूंगा।

महावीर थोड़ी मुश्किल में पड़े: इस पागल प्रसेनजित को क्या कहें? यह कोई कीमत चुकाने से मिलने वाली बात नहीं। थोड़े झिझके होंगे, इसको उत्तर क्या दें, क्योंकि कहीं यह अकारण दुखी न हो। यह बात ही मूढ़तापूर्ण पूछ रहा है, लेकिन सम्राट है। यह बात ही व्यर्थ पूछ रहा है। उनको थोड़ा झिझकता देख कर प्रसेनजित ने कहा, आप संकोच न करें, लाख अशर्फी, दो लाख अशर्फी, दस लाख अशर्फी--जितना कहें, मुंह मांगा देने को तैयार हूं, मगर यह बात अखरती है कि गांव में कुछ लोग ध्यान की बात करते हैं, मेरे पास ध्यान नहीं है।

महावीर को मजाक सूझी। उन्होंने कहा, ऐसा करो, तुम्हारे गांव में एक गरीब आदमी है, उसको ध्यान उपलब्ध हो गया है, तुम उसी से खरीद लो।

उसने कहा, यह आपने ठीक कहा। मैं अभी जाता हूं।

वह अपने रथ पर सवार हो कर गरीब के झोपड़े पर पहुंच गया, गरीब तो घबड़ा गया। वह गरीब आदमी बाहर आ कर चरणों में गिर पड़ा। सम्राट ने कहा, फिक्र मत कर। जो तेरी मांग हो, बोल, मुंहमांगा दाम देने को तैयार हूं। यह ध्यान क्या बला है? यह तू मुझे दे दे। और महावीर ने कहा कि तुझे मिल गया है।

उसने कहा कि मिल तो गया है और मैं देने को भी तैयार हूं; लेकिन आप लेने को तैयार नहीं। सम्राट ने कहा, पागल! होश की बातें कर रहा है? मैं जो भी मूल्य चुकाना हो, चुकाने को तैयार हूं। और तू कहता है, लेने को तैयार नहीं!

उसने कहा, इसलिए तो मैं कहता हूं आप लेने को तैयार नहीं। आप ध्यान को भी कोई संपदा समझ रहे हैं! यह कोई वस्तु है जो मैं दे दूं? जिसका हस्तांतरण कर दूं? इसके लिए तो तुम्हें रूपांतरित होना पड़ेगा। यह मूल्य से नहीं मिलेगी, इसके लिये तो तुम्हें पूरा आत्म-विसर्जन करना होगा। इसके लिए तो तुम जैसे हो वैसे न रहोगे; तुम्हारे भीतर एक नए चैतन्य, एक नई ऊर्जा का जन्म होगा तो मिलेगी। तुम मुझसे प्राण मांगो, मैं प्राण दे दूं; मगर ध्यान मत मांगो, क्योंकि ध्यान मैं कैसे दूं? प्राण मांगो, देने को तैयार हूं; अभी यहीं छुरा मारूं, मर जाऊं; तुम्हारे लिए सब निछावर कर दूं। तुम सम्राट हो, इस गांव के मालिक हो। मैं गरीब आदमी, सदा तुम्हारी सेवा में रहा हूं। प्राण ले लो, तो तैयार हूं; लेकिन ध्यान कैसे दूं?

प्राणों में छुरी भुंक जाए तो प्राण चले जाते हैं; ध्यान में छुरी भोंकने का भी उपाय नहीं। इसलिए तो कृष्ण कहते हैं, नैनं छिन्दंति शस्त्राणि! उसे शस्त्र भी नहीं छेद पाते। उसे आग भी नहीं जला पाती। उस अवस्था की खोज में जब तुम निकलते हो, शुरू में, तो तुम्हें ठीक-ठीक पता भी नहीं होता कि तुम क्या खोजने निकले हो? तुम तो उसको भी ऐसे ही खोजने निकलते हो, जैसे तुम और चीजों को खोजने निकलते हो। वह भी एक महत्वाकांक्षा होती है। वह तो धीरे-धीरे गुरु के सत्संग में तुम्हें अनुभव होगा कि यह तो महत्वाकांक्षा छोड़ने से मिलेगा। ध्यान, महत्वाकांक्षा का हिस्सा नहीं हो सकता। आते तुम किसी और कारण से हो, लेकिन आने के बाद धीरे-धीरे, धीरे-धीरे तुम्हें पता चलता है कि तुम्हारा आने का कारण ही गलत था।

अब रहीम मुश्किल पड़ी, गाढ़े दोऊ काम।

सांचे तो जग नहीं, झूठे मिलें न राम।।

शिष्य ऐसी दुविधा में पड़ जाता है। इधर पुकारता है गुरु, दूर शिखरों की पुकार, अनंत का आकर्षण, थोड़ी-थोड़ी झलकें भी मिलनी शुरू हो जाती हैं, थोड़ी-थोड़ी रस की बूंदें भी बरसने लगतीं, थोड़ी-थोड़ी बरखा भी होती--और उधर संसार, और जन्मों-जन्मों की वासनाओं का बल और जोर, पुकारती हुई कामवासना, पुकारता हुआ अहंकार, वे सब चीखते-पुकारते हैं कि कहां चले?

अब रहीम मुश्किल पड़ी, गाढ़े दोऊ काम।

और शिष्य बीच में झूल जाता है।

तो तुम मुझसे पूछते हो कि "गुरु-दर्शन को कैसे आऊं?"

गुरु-दर्शन को आने का एक ही अर्थ होता है: अपने को मिटाने की तैयारी। गुरु को देखना चर्म-चक्षुओं की बात नहीं। मेरे पास जब कोई शिष्य आता है, तब वह ऐसी आंखें ले कर आता है कि मैं उसे दिखाई पड़ता हूं। जब कोई विद्यार्थी आता है, तब वह दूसरे ढंग की आंखें ले कर आता है; उसे मैं दिखाई नहीं पड़ता। उसे भी दिखाई पड़ता हूं, लेकिन उसकी आंखों के अनुकूल। कोई मित्र आता है सहानुभूति से, प्रेम से समझने--उसे कुछ और दिखाई पड़ता हूं। कोई शत्रु आता है--विवाद लिए मन में, शास्त्रार्थ लिए मन में--उसे कुछ और दिखाई पड़ता हूं। तुम्हारी आंख पर निर्भर है।

अगर तुम शिष्य की भांति आना चाहते हो, तो शून्य की भांति आना सीखो। जब मेरे पास आओ तो अपने को बाहर ही छोड़ आना। अगर तुम अपने को ले कर मेरे पास आए, तो तुम ही तुमको दिखाई पड़ते रहोगे, तुम मुझे न देख पाओगे; मैं तुम्हारी ओट में पड़ जाऊंगा।

जब तुम अपने को रख कर आओगे बाहर, ऐसे आओगे जैसे एक शून्य आया, एक कोरे कागज की तरह आओगे, तब तुम मुझे देख पाओगे। तब उस संबंध की घटना घटेगी जिसको गुरु-शिष्य का संबंध कहें; तब एक सेतु निर्मित होता है।

प्रीतम छवि नैनन बसी, पर-छवि कहां समाए?

भरी सराय रहीम लखि, पथिक आप फिर जाए।

और जब तुम मुझसे भरने लगोगे...।

प्रीतम छवि नैनन बसी...।

शिष्य और गुरु का संबंध तो अथाह प्रेम का संबंध है; ज्ञान का संबंध नहीं, प्रेम का संबंध; बुद्धि का संबंध नहीं, हृदय का संबंध।

तुम्हारे विचार मुझसे मेल खाते हैं, उससे थोड़े ही तुम मेरे शिष्य हो जाओगे। तुमसे मेरे विचार मेल खाते हैं, इसलिए तुम मेरे साथ खड़े हो; कल अगर तुमसे मेरे विचार मेल न खाएं तो फिर? तुम मुझसे अलग हो जाओगे।

बहुत लोग मेरे पास आए हैं और बहुत लोग मेरे पास से चले गए हैं। आए थे, तो उन्हें लगा उनके विचार मेल खाते हैं। असल में वे मेरे साथ न थे; उन्हें लगा कि मैं उनके साथ हूं। मेरे विचार उनसे मेल खाते हैं; वे केंद्र रहे। मेरे विचारों ने उनकी पुष्टि की। वे बड़े प्रफुल्लित हुए। लेकिन जब उन्हें पता लगा कि मेरे सभी विचार उनसे मेल नहीं खाते, तब अड़चन शुरू हो गई। तब वे न रुक सके। तब वे हट गए। तब वे घबड़ा गए।

तुम्हारे विचार अगर मुझसे मेल खाते हैं, इसलिए तुम यहां हो, तो तुम ज्यादा से ज्यादा एक अनुयायी हो--शिष्य नहीं। शिष्य तो वही है, जो कहता है: छोड़ो विचार की बात। दिल से दिल मेल खाता है। विचार ऊपर-ऊपर की बातें हैं; दिल भीतर की बात है। आत्मा, आत्मा से मेल खाती है।

और शिष्य ऐसा नहीं सोचता कि गुरु से मेरे विचार का मेल बैठता है। शिष्य ऐसा सोचता है कि मैं गुरु के साथ मेल खाता हूं। किसी दिन मेल न खाए तो शिष्य अपने भीतर कारण खोजता है; उन कारणों को हटाता है ताकि फिर मेल खा जाए।

जो लोग सोचते हैं कि मैं उनसे मेल खाऊं, जिस दिन भी अड़चन होती है, मैं उनसे मेल नहीं खाता, वे मुझे छोड़ देते हैं। क्योंकि उनमें तो बदलने का कोई सवाल ही नहीं, वे तो ठीक हैं ही। सत्य तो उन्हें मालूम ही है; वे सिर्फ आए थे प्रमाण-पत्र खोजने। वे शायद मेरी परीक्षा को आए थे, या शायद मुझसे अपने सत्य को भरने आए थे। जो उनका सत्य है, और सत्यतर मालूम होने लगे, और एक गवाही मिल जाए, इसके लिए आए थे। लेकिन सत्य तो उनके पास है ही। जिस दिन मैं उनसे मेल नहीं खाता, उसी दिन उनकी राह अलग हो जाती है।

शिष्य का जोड़ कुछ ऐसा है कि फिर उसकी राह अलग नहीं होती।

प्रीतम छवि नैनन बसी, पर-छवि कहां समाए?

गुरु ऐसा छा जाता है भीतर, शिष्य गुरु के रंग में डूब जाता है, शिष्य गुरु के रंग में रंग जाता है। शिष्य बचता ही नहीं। गुरु ही उससे बोलने लगता है। गुरु ही उसमें नाचने लगता। गुरु ही उसमें गुनगुनाने लगता। धीरे-धीरे शिष्य तो खो ही जाता है। गुरु की ही एक प्रतिछवि निर्मित हो जाती है। एक और गुरु की प्रतिमा खड़ी हो गई।

भरी सराय रहीम लखि, पथिक आप फिर जाए।

और जब सराय भरी हो, तो पथिक वापिस लौट जाते हैं। जब तुम्हारा हृदय गुरु से भरा हो, तो बहुत-से पथिक वापिस लौट जाएंगे, जिनको तुमने लाख-लाख बार उपाय किया था हटाने का और न हटा पाए थे, क्योंकि सराय खाली थी। जिन्हें तुमने बहुत बार सोचा था, किस तरह छुटकारा हो क्रोध से, काम से, लोभ से कैसे छुटकारा हो--और नहीं हो पाता था। जब तुम भीतर भर जाते हो गुरु से, अचानक तुम पाते हो बहुत-सी बातें जो छूटती नहीं थीं, छूट गईं, बिना चेष्टा के छूट गईं, गिर गईं।

भरी सराय रहीम लखि, पथिक आप फिर जाए।

गुरु के पास होने का अर्थ है: मृत्यु के पास होना। मरने की तैयारी चाहिए।

अगर गुरु नाराज भी हो, तो भी शिष्य जानता है, गुरु नाराज तो नहीं हो सकता; ऐसा तो असंभव है; तो यह भी कोई उपाय होगा।

गुरजिएफ ऐसा करता था। अपने शिष्यों पर कभी इस तरह पागल हो कर नाराज हो जाता था--अकारण; कोई कारण भी समझ में नहीं आता था। बहुत-से लोग तो उससे हट जाते थे। लेकिन जो टिके रह गए, उनके जीवन में उसने बड़ी क्रांति ला दी। धीरे-धीरे समझे राज कि वह नाराज क्यों हो जाता है। वह नाराज हो कर सिर्फ तुम्हें एक मौका देता है कि देखो, अब मैं नाराज हूं; तुम नाराज गुरु के साथ रुक सकते हो? प्यारे-प्यारे के साथ तो रुकने में क्या कठिनाई है। कोई भी रुक जाए। मीठे-मीठे के साथ रुकने में तो क्या अड़चन है? कोई भी रुक जाए। गुरजिएफ कहता है, जब मैं कड़वा होता हूं, तब भी तुम मेरे साथ रुक सकते हो? अगर तुम मेरे कड़वेपन में भी मेरे साथ रुक सकते हो, तो ही रुके। और जो गुरु के कड़वेपन में साथ रुक गया, उस पर गुरु का अमृत बरस जाता है।

गुरु के पास होना एक सतत साधना है। इस जगत में बहुत साधनाओं के रूप हैं; लेकिन गुरु के पास होने से बड़ी कोई साधना नहीं है। इसलिए तो हमने सत्संग की बड़ी महिमा कही है। गुरु के पास होने की महिमा इतनी है जिसका कोई हिसाब नहीं।

शास्त्र तो मुर्दा है; तुम लाख पढ़ो, तुम अपने ही अर्थ निकाल लोगे। शास्त्र तो तुम्हें नहीं बदल सकता, तुम शास्त्र को जरूर बदल सकते हो, क्योंकि शास्त्र क्या करेगा? तुम जो अर्थ चाहोगे, वही अर्थ निकाल लोगे। तुम्हारा अर्थ तुम शास्त्र के ऊपर छाप दोगे, तुम्हारी व्याख्या शास्त्र पर सवार हो जाएगी। जीवित गुरु के ऊपर तुम अपनी व्याख्या नहीं थोप सकते। जीवित गुरु पारे की भांति होता है; तुमने मुट्ठी बांधी कि वह हटा वहां से। तुम्हारी मुट्ठी नहीं बंधने देता। तुम्हारी पकड़ में कभी आता भी नहीं। क्योंकि उसकी सारी चेष्टा यही है कि तुम्हारी पकड़ छूट जाए, पकड़ने की आदत छूट जाए। उसकी सारी चेष्टा यही है कि तुम्हारी मुट्ठी बंद न रहे, खुल जाए। उसकी सारी चेष्टा यही है कि तुम्हारे सब तनाव--पकड़ने के, आसक्ति के, राग के विसर्जित हो जाएं। तो वह आलंबन नहीं बनता तुम्हारी पकड़ के लिए। वह तुम्हारा आश्रय भी नहीं बनता; बार-बार वह हट जाता है। जैसे ही तुम उसे अपना आश्रय और सुरक्षा मानने लगते हो, अचानक वह हट जाता है, धड़ाम से तुम जमीन पर गिरते हो। वह तुमसे यह कहना चाहता है कि मैं तुम्हें तुम्हारे पैर पर खड़ा करना चाहता हूं, मैं तुम्हें बल देना चाहता हूं कि तुम अपने पैर पर खड़े हो जाओ।

तो गुरु नाराज भी हो तो शिष्य नहीं देखता कि गुरु नाराज है।

उसकी जफा, जफा नहीं,

उसको न तू जफा समझ।

गुरु की निर्दयता, उसकी कठोरता, कठोरता नहीं है।

उसकी जफा, जफा नहीं,

उसको न तू जफा समझ।

हुस्न-ए-जहां फरेब की,

यह भी कोई अदा समझ।

अगर प्रेम है तो यह भी गुरु के सौंदर्य का एक ढंग है।

ऐसा हुआ, नाम तुमने सुना होगा नंदलाल बोस का। भारत के बड़े चित्रकार! वे अवनींद्रनाथ ठाकुर के शिष्य थे। अवनींद्रनाथ ठाकुर रवींद्रनाथ के चाचा थे। महाचित्रकार थे अवनींद्रनाथ। एक दिन रवींद्रनाथ बैठे हैं अवनींद्रनाथ के साथ और नंदलाल आए--तब वे युवा थे--कृष्ण का एक चित्र बना कर लाए थे। रवींद्रनाथ ने अपने संस्मरणों में लिखा है कि कृष्ण का ऐसा सुंदर चित्र मैंने देखा ही नहीं। रवींद्रनाथ खुद महाकवि थे, खुद भी बड़े चित्रकार थे, इसलिए उनकी परख पर तो कोई संदेह करने का सवाल नहीं। उन्होंने लिखा है कि मैं मंत्रमुग्ध हो गया। लेकिन मैं बड़ा चौंका। अवनींद्रनाथ ने चित्र को एक नजर देखा और बाहर फेंक दिया--दरवाजे के बाहर! और नंदलाल से कहा कि इसको तुम दिखाने-योग्य समझते हो? तुम से अच्छे तो बंगाल के पटिए, जो कृष्णाष्टमी पर दो-दो पैसे के कृष्ण के चित्र बना कर बेचते हैं, वे बेहतर बना लेते हैं। जाओ, पटियों से सीखो।

यह तो बड़ी कठोर बात थी। यह तो बड़ी निर्दय बात थी। यह तो रवींद्रनाथ को भी लगा कि रोक दूं अपने चाचा को और कहूं कि यह जरा ज्यादती हो रही है, सीमा के बाहर हुआ जा रहा है मामला। मैंने ऐसा सुंदर चित्र नहीं देखा किसी का बनाया हुआ।

रवींद्रनाथ ने लिखा है, मैं तो यह भी कहने को तैयार था कि आपने भी कृष्ण के चित्र बनाए, मगर इसका मुकाबला नहीं है। अवनींद्रनाथ के चित्र भी फीके हैं, यह रवींद्रनाथ कहना चाहते थे। मगर गुरु-शिष्य के बीच बोलना तो उचित नहीं। वे जानें, उनका ढंग जाने। वे चुपचाप बैठे रहे, अपने को सम्हाल कर।

नंदलाल ने पैर छुए, बाहर चला गया। तीन साल तक नंदलाल का कोई पता न चला। अवनींद्रनाथ बड़ी चिंता से उसकी प्रतीक्षा करते, खबरें भी भेजीं, लोगों को भी कहा: कहां गया, क्या हुआ? रवींद्रनाथ अनेक बार उनसे कहे भी कि यह ज्यादती थी। आपने उसको बुरी तरह चोट पहुंचा दी, उसके हृदय को आघात पहुंचा दिया। अवनींद्रनाथ रोते नंदलाल के लिए कि वह गया कहां? तीन साल बाद नंदलाल लौटे। लौटे तो उनकी हालत बंगाल में जैसे गरीब चित्रकार होते हैं, पटिए, उन जैसी हो गई थी। वही पुराने तीन साल पहले के कपड़े थे, फटे-पुराने, पहचानना मुश्किल था। शक्ल बदल गई थी, काली हो गई थी। लेकिन वे फिर कुछ चित्र बना कर ले आए थे। और उन्होंने फिर पैर छुए और कहा, आपने ठीक कहा था। इन तीन वर्षों में इतना सीखने को मिला, पटियों के पास। क्योंकि जो ख्यातिनाम चित्रकार हैं, वे तो अपने अहंकार के कारण बनाने लगते हैं। जिनकी कोई ख्याति नहीं, उनके चित्रों में एक निर्दोषता, एक सहजता है--वह सीखने को मिली। आपने खूब मुझे भेज दिया! आपकी बड़ी कृपा, अनुकंपा!

रवींद्रनाथ ने अवनींद्रनाथ को पूछा कि क्या अब मैं पूछ सकता हूं, मामला क्या था? चित्र मुझे तो बहुत सुंदर लगा था।

अवनींद्रनाथ ने कहा, चित्र मुझे भी बहुत सुंदर लगा था। और आज मैं तुमसे सच कह देना चाहता हूं कि मैंने भी चित्र बनाए हैं, लेकिन उसका कोई मुकाबला नहीं। मगर फेंकना पड़ा, मजबूरी थी। क्योंकि नंदलाल से मुझे और भी बड़ी आशा थी। उस दिन अगर मैं कह देता कि ठीक, सुंदर--वहीं नंदलाल रुक जाता। जब गुरु ने कह दिया ठीक, सुंदर, हो गई बात--तो विकास अवरुद्ध हो जाता। अगर नंदलाल की प्रतिभा और बड़ी न होती तो मैंने उसे पुरस्कृत किया होता। लेकिन मैं जानता था, और भी छिपा पड़ा है, अभी इसे और खींचा जा सकता है, अभी इसमें से और बड़ा शिखर प्रगट हो सकता है।

उसकी जफा, जफा नहीं,
उसको न तू जफा समझ।
हुस्न-ए-जहां फरेब की,
यह भी कोई अदा समझ।

और यह पाठ धीरे-धीरे गुरु से सीखने के बाद, यही पाठ परमात्मा पर लागू हो जाता है। फिर परमात्मा दुख दे, तो भी...!

हुस्न-ए-जहां फरेब की,

यह भी कोई अदा समझ।

फिर परमात्मा पीड़ा दे तो यह भी निखार का कोई उपाय समझ। फिर परमात्मा मृत्यु दे तो यह भी नए जीवन की कोई शुरुआत समझ।

गुरु के पास जैसा घटे, उसे हंस-हंस कर स्वीकार कर लेने की कला शिष्यत्व है। बेमन से, उदास हो कर, जबर्दस्ती स्वीकार किया तो सारा मजा चला जाता है। स्वीकार होना चाहिए आनंदपूर्ण।

जीत अगर किस्मत में नहीं है, मात सही,

दिन जो नहीं तो, रात सही

हम से जहां तक मुमकिन हो,

यह मात ही हंसते-हंसते खा लें।

गाहे-गाहे अंधियारे में बिजली चमके,

गाहे-गाहे हंस लें, गा लें।

गुरु के पास कैसी ही अंधेरी रात हो, वह जो बिजली चमकती है कभी-कभी, उसको भी काफी समझना। अंधेरी रात में जब बिजली चमकती है, उसे सौभाग्य समझना। शायद बिजली चमकने के लिए अंधेरी रात चाहिए। दिन में तो बिजली चमकने का मजा नहीं। शायद गुलाब की झाड़ी पर फूलों के लिए कांटे चाहिए ही।

तो गुरु के पास बहुत-सी अंधेरी रातें होंगी, उनकी गणना मत करना; कभी-कभी बिजली चमक जाए, उसे हृदय में संजो कर रख लेना। बहुत कांटे गड़ेंगे, उनका हिसाब मत रखना; कभी-कभी फूल की गंध आ जाए तो नाच लेना, गुनगुना लेना गीत धन्यवाद का।

गाहे-गाहे अंधियारे में बिजली चमके,

गाहे-गाहे हंस लें, गा लें।

शिष्य का अर्थ है, जिसने किसी में परमात्मा को देखना शुरू किया। यह बड़ी असंभव बात है। इसलिए दूसरों को तो बड़ी कठिनाई होती है।

तुमने देखा, तुम अगर किसी स्त्री के प्रेम में पड़ गए, तो प्रेम में पड़ते ही वह स्त्री इस जगत की सबसे सुंदर स्त्री हो जाती है। फिर क्लियोपैत्रा फीकी, फिर मर्लिन मनरो फीकी, फिर सारी दुनिया की सुंदरतम स्त्रियां उसके मुकाबले कुछ भी नहीं। अतीत फीका, भविष्य फीका, बस एक स्त्री केंद्र हो जाती। तुम्हारा सौंदर्य उसके भीतर दिव्यता को उभार देता, प्रगट कर देता।

और यह केवल प्रेम की कल्पना नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति इतना ही सुंदर है--प्रेमी देख पाता, सभी देख नहीं पाते। जब किसी व्यक्ति के प्रति तुम्हारे मन में गुरु का भाव उदय होता है, तो तुम्हारे पास एक नई देखने की दृष्टि खुलती है। वह व्यक्ति तुम्हारे लिए परमात्मा हो गया। इसे तुम दूसरों के सामने सिद्ध न कर पाओगे, सिद्ध करना भी मत। यह कोई सिद्ध करने की बात भी नहीं है।

जैसे तुम प्रेमी से नहीं पूछते कि सिद्ध करो कि तुम्हारी जो प्रेयसी है, वही दुनिया की सबसे सुंदर स्त्री है, तुम इस तरह के वक्तव्य क्यों देते हो? तुम क्यों कहते हो कि यही स्त्री दुनिया की सबसे सुंदर स्त्री है? इसे सिद्ध करो, प्रमाण जुटाओ--वैज्ञानिक, तार्किक। तुम उससे नहीं कहते। तुम कहते हो, पागल है, प्रेम में पागल है।

शिष्य भी प्रेम में पागल है। और किसी स्त्री का या किसी पुरुष का सौंदर्य तो क्षणभंगुर है। शिष्य एक ऐसे प्रेम में पागल है जो क्षणभंगुर नहीं है; एक ऐसी अनुभूति से आंदोलित हुआ है, जो शाश्वत है, जो समय की धारा से प्रभावित नहीं होती। समय आता है, जाता है। एक ऐसी श्रद्धा का जन्म हुआ है शिष्य में, जो रूपांतरित नहीं

होती, जो थिर है। श्रद्धा, अगर है तो कभी पतित नहीं होती, और अगर पतित होती है तो इतना ही जानना कि थी ही नहीं; तुमने समझा था कि है, लेकिन थी नहीं; भ्रांत रही होगी, प्रतीति रही होगी, आभास रहा होगा।

किसी व्यक्ति में परमात्मा की प्रतीति होने लगे, यह बहुत असंभव घटना है, क्योंकि हमारा अहंकार बाधा डालता है। हमारा अहंकार यह तो मानने को राजी होता ही नहीं कि हमसे कोई श्रेष्ठतर हो सकता है। जैसे ही तुम यह जानने और मानने में उतरने लगते हो कि हमसे कोई श्रेष्ठतर है, हमसे कोई महानतर है, हमसे कोई विभु और प्रभु है, हमसे कोई ऊपर है--वैसे ही तुम्हारा अहंकार विसर्जित होने लगता है। और जिस दिन तुम्हारा अहंकार विसर्जित हो जाता है, एक दिन तुमने जिस परमात्मा को गुरु में देखा था, उसी परमात्मा को एक दिन तुम अपने में भी देख पाते हो। जिस घटना की शुरुआत गुरु पर हुई थी, उस घटना का अंत शिष्य पर होता है।

यह महानतम क्रांति है। इस क्रांति के लिए बड़ा संवेदनशील चित्त चाहिए।

"गुरु के पास कैसे आएं, किस ढंग से उठे-बैठें?"

संवेदनशील होओ! कोई अपने प्रेमी के पास कैसे जाता है? कैसे भावों के फूल सजा लेता भीतर! कैसे पवित्र हृदय को ले कर जाता है! पापी से पापी भी जब किसी के प्रेम में पड़ता है, तो उन क्षणों में पुण्यात्मा हो जाता है। हत्यारे से हत्यारा आदमी भी अपनी प्रेयसी की हत्या तो नहीं करता! चोर से चोर आदमी भी अपने बेटे के खीसे से तो पैसे नहीं चुरा लेता।

तुमने देखा प्रेम का क्रांतिकारी रूप? दुष्ट से दुष्ट आदमी के पास भी उसकी प्रेयसी तो रात निश्चिंत सो जाती है; यह तो फिक्र नहीं होती कि रात को कहीं उठ कर गला न काट दे, यह आदमी हत्यारा है! नहीं, जहां प्रेम है, वहां पवित्रतम की अभिव्यक्ति शुरू हो जाती है।

चोर भी आपस में एक-दूसरे को धोखा नहीं देते--मैत्री। डाकू एक-दूसरे के प्रति बड़े निष्ठावान होते हैं; दूकानदार इतने निष्ठावान नहीं होते। और डाकू अगर वचन दे दे तो पूरा करेगा, दूकानदार का कोई पक्का भरोसा नहीं।

बुरे से बुरा आदमी भी प्रेम की छाया में रूपांतरित हो जाता है, कुछ और का और हो जाता है।

तो गुरु के पास जब आओ, तो अति प्रेम, संवेदना, उत्फुल्लता, आनंद, रसमग्न आओ। उदास नहीं, रोते नहीं। अगर रोते हुए भी आओ तो तुम्हारे आंसुओं में आनंद हो, शिकायत नहीं।

डबडबाया है जो आंसू यह मेरी आंखों में,
इसको तेरे किसी एहसान की दरकार नहीं।
जो इबादत भी करे और शिकायत भी करे,
प्यार का है वह बहाना तो, मगर प्यार नहीं।
जो इबादत भी करे और शिकायत भी करे,
जहां इबादत है, वहां शिकायत कैसी?
जो इबादत भी करे और शिकायत भी करे,
प्यार का है वह बहाना तो, मगर प्यार नहीं।

गुरु के पास इबादत से भरे हुए आओ। गुरु के पास ऐसे आओ जैसे मुसलमान जब मस्जिद में जाता है; गुरु के पास ऐसे आओ जैसे हिंदू जब मंदिर में जाता है, कि सिक्ख गुरुद्वारे में जाता है। गुरु के पास ऐसे आओ, जैसे कि तुम साक्षात परमात्मा के पास जा रहे हो--उतने ही पवित्र प्रसूनों से भरे--तो क्रांति घटेगी! क्योंकि घटना तो तुम्हारे भाव से घटने वाली है। पत्थर की मूर्ति के साथ भी घट सकती है, अगर भाव गहन हो; और जीवित परमात्मा के साथ भी नहीं घटेगी, अगर भाव मौजूद न हो।

गुरु के पास होना सुखद ही सुखद नहीं है, यह मैं जानता हूं। क्योंकि बहुत कुछ तुम्हें तोड़ना पड़ता, तोड़ने में पीड़ा होती। तुम्हें मिटाना पड़ता, मिटाने में दर्द होता। तुम्हें निखारना पड़ता, तुम्हें जलाना पड़ता, आग से गुजारना पड़ता--ये सब सुखद स्थितियां नहीं हैं। लेकिन शिष्य एक परम आशा से भरा होता, कि यह विध्वंस निर्माण के मार्ग पर है; कि यह मिटाना बनाने की तैयारी है।

जैसे हम एक पुराने मकान को गिराते हैं तो भी हम प्रफुल्लित होते हैं, क्योंकि नए मकान को बनाने के लिए जगह तैयार कर रहे हैं। जब तुम पुराने मकान को गिराने लगते हो, तो तुम रोते थोड़े ही हो! तुम प्रसन्न होते हो कि चलो घड़ी आ गई है, नए बनाने की सुविधा हो गई। कोई दूसरा तुम्हारे मकान को आ कर तोड़ने लगे तो तुम प्रसन्न न होओगे, क्योंकि तुम तब सिर्फ विध्वंस ही देखोगे। दोनों हालतों में घटना तो एक ही है--मकान तोड़ा जा रहा है। बनने वाली बात तो भविष्य की है--बने न बने। कल आए न आए, कल सूरज निकले न निकले--किसको पता है? आज संभावना दिखती है, कल संभावना न रह जाए--किसको पता है? टूटने की बात तो दोनों में एक-सी है; लेकिन एक में तुम दुखी हो, एक में तुम प्रसन्न हो; एक में तुम्हारा हृदय उत्साह से भरा है, एक में तुम मुर्दे की तरह खड़े हो। सब निर्भर करता है इस बात पर कि विध्वंस सृजन के लिए हो रहा है या सिर्फ विध्वंस के लिए हो रहा है।

गुरु के पास बहुत कुछ टूटेगा; बहुत कुछ क्या, सब कुछ टूटेगा। तुम फिर से बिखेर कर बनाए जाओगे, तुम्हें खंड-खंड किया जाएगा, ताकि फिर से तुम्हारे संगीत को जमाया जा सके। तुम्हारी वीणा अस्तव्यस्त है, तार उल्टे-सीधे कसे हैं। इसलिए जहां संगीत पैदा होना चाहिए, वहां केवल संताप पैदा हो रहा है; जहां आनंद का जन्म हो, वहां सिर्फ नर्क निर्मित हो रहा है। तुम्हारी दशा अति विकृत है। सोने में बहुत मिट्टी मिल गई है, बहुत कूड़ा-कर्कट मिल गया है। जन्मों-जन्मों तक सोना मिट्टी, कूड़ा-कर्कट में पड़ा रहा है। आग से गुजारना पड़ेगा। आग में वही जल जाएगा, जो तुम नहीं हो; वही बचेगा, जो तुम हो--शुद्ध कुंदन, शुद्ध स्वर्ण हो कर तुम निकलोगे। लेकिन आग से गुजरना पीड़ा तो है ही।

जख्मे-जिगर जो मुंदमिल गम में नहीं हुआ, न हो
दर्द की इंतिहा को तू शौक की इब्तदा समझ।
घाव एकदम से न भरे, न भरे...।
जख्मे-जिगर जो मुंदमिल गम में नहीं हुआ, न हो
जख्म एकदम से न भरे, न भरे। घाव तत्क्षण भर भी नहीं सकता।
दर्द की इंतिहा को तू शौक की इब्तदा समझ।

और पीड़ा की चरम सीमा भी आ जाए, तो तू यह याद रखना कि पीड़ा की चरम सीमा प्रेम की शुरुआत है।

दर्द की इंतिहा को तू शौक की इब्तदा समझ।

साधारणतः हम सब सुख के आकांक्षी हैं, दुख से भयभीत, सुख के लिए आतुर। मिलता दुख ही है, आतुरता आतुरता ही रह जाती है, प्यास प्यास ही रह जाती है; तृप्ति होती कहां? सुख तो केवल उनको मिलता है जो दुख से गुजरने के लिए राजी हो जाते हैं। इस दुख से गुजरने का नाम ही तपश्चर्या है।

गुरु के पास होना, मैंने कहा, मृत्यु के पास होना है--तपश्चर्या है। तुम्हें निखारा जाएगा। तुम्हें उघाड़ा जाएगा। तुम्हें मिटाया जाएगा। तुम्हें पोंछा जाएगा। तुम्हारे भीतर छुपी हुई संभावनाओं को चेताया जाएगा, चुनौती दी जाएगी। श्रम होगा, तप होगा--तभी तुम उसे पा सकोगे, जिसे पाए बिना जीवन में कभी शांति नहीं। तभी तुम उसे पा सकोगे, जिसे पा कर फिर पाने की और कोई दौड़ नहीं रह जाती।

गुरु तुम्हें राह थोड़े ही दिखाता है सिर्फ। राह दिखाने की बात होती तो बड़ा सरल हो जाता मामला। इतना ही थोड़े ही है कि तुमसे कह दिया, ऐसा कर लो। वस्तुतः तो जो गुरु तुम्हें सिर्फ राह दिखाता रहे कि ऐसा

कर लो, वह बातचीत कर रहा है। गुरु तुम्हें करवाता है। राह दिखाता नहीं; राह पर धक्के देता है। राह पर चलाता भी है। तुम अपने से चल भी न पाओगे। तुम जड़ हो गए हो। पक्षाघात तुम्हारे अंगों में समा गया है। तुमसे लाख बार कहा गया है कि यह है राह, चलो। तुमने सुन भी लिया, तुमने समझ भी लिया--चले तुम कभी नहीं।

संत अगस्तीन ने कहा है कि जो मुझे करना चाहिए, वह मुझे मालूम है; लेकिन वह मैं करता नहीं। और जो मुझे नहीं करना चाहिए, वह भी मुझे मालूम है; लेकिन वही मैं करता हूं।

तुम्हें भी मालूम है, क्या ठीक है; अब राह क्या बतानी? ऐसा आदमी तुम पा सकते हो जिसको पता नहीं कि ठीक क्या है? सबको पता है। सबको पता है: सही क्या, गलत क्या? लेकिन इससे क्या होता है? राह बताने से क्या होता है? कोई चाहिए जो तुम्हें चलाए।

मंजिले-राहे-इश्क की उसको कोई खबर नहीं,

मंजिले-राहे-इश्क की उसको कोई खबर नहीं,

राह दिखाए जो तुझे, उसको न रहनुमा समझ।

वह जो ऐसा दूर खड़े हो कर राह बता दे, उसको रहनुमा मत समझ लेना। रहनुमा तो तुम्हारे साथ चलेगा, तुम्हारे आगे, तुम्हारे पीछे, तुम्हारे पूरब, तुम्हारे पश्चिम। रहनुमा तो तुम्हें घसीटेगा। रहनुमा तो तुम्हें धकाएगा। रहनुमा तो तुम्हें दौड़ाएगा। रहनुमा तो वहां तक आएगा, जहां तुम हो और वहां तक ले जाएगा, जहां तुम्हें होना चाहिए। रहनुमा तो ऐसा है जैसे कि कोई बाप अपने बेटे का हाथ पकड़ कर चलता हो।

मंजिले-राहे-इश्क की उसको कोई खबर नहीं,

राह दिखाए जो तुझे, उसको न रहनुमा समझ।

राह ही दिखाना होता तो मील के पत्थर पर लगे तीर के निशान बता देते हैं, आदमियों की जरूरत है? राह ही दिखाना हो तो शास्त्र दिखा देते हैं; शास्ता की जरूरत है? फिर शास्त्र और शास्ता में फर्क क्या रहेगा? फिर गीता और कृष्ण में फर्क क्या रहेगा, अगर राह ही दिखानी हो?

कृष्ण ने अर्जुन को राह ही थोड़े दिखाई। बड़ा संघर्ष किया। अर्जुन को खींच-खींच कर निकाला बाहर उसके अंधियारे से, जगाया उसकी नींद से, हिलाया-डुलाया। कई तरफ अर्जुन ने भागने की कोशिश की, सब तरफ से द्वार-दरवाजे बंद किए, भागने न दिया। खूब प्रश्न उठाए, खूब संदेह किए--उन सबकी तृप्ति की। अंततः ऐसी हालत में ला दिया, जहां सिवाय कृष्ण को मानने के और कृष्ण के साथ चलने के कोई उपाय न रहा।

क्षण होंगे निराशा के, क्षण होंगे दुख-पीड़ा के।

और "विष्णु चैतन्य" ऐसे ही क्षणों में से गुजर रहा है--डांवाडोल, दुविधा से भरा! मगर घबड़ाने की कोई बात नहीं, सभी को ऐसे ही गुजरना पड़ता है। स्वाभाविक है। इसमें विशेष कुछ भी नहीं। सभी डांवाडोल होते हैं। सभी पहले हजार तरह की चिंताओं में, शंकाओं में, संदेहों में भरते हैं। धीरे-धीरे, धीरे-धीरे निखार आता है।

यह दर्द विराट जिंदगी में होगा परिणत
है तुम्हें निराशा, फिर तुम पाओगे ताकत
उन अंगुलियों के आगे कर दो माथा नत
जिनके छू लेने भर से, फूल सितारे बन जाते हैं
ये मन के छाले,
ओ मेजों की कोरों पर
माथा रख कर रोने वाले,
हर एक दर्द को, नए अर्थ तक जाने दो।

हर एक दर्द को, नए अर्थ तक जाने दो!

दर्द, दर्द ही नहीं है--दर्द नए अर्थ की शुरुआत है। जैसे किसी स्त्री को बच्चा पैदा होता है तो बड़ी प्रसव की पीड़ा होती। वह प्रसव की पीड़ा से घबड़ा जाए...।

अभी दो-चार साल पहले इंग्लैंड में एक बहुत बड़ा मुकदमा चला। एक फार्मेसी ने, एक दवाइयों को बनाने वाले कारखाने ने एक दवा ईजाद की--शामक दवा, जो प्रसव की पीड़ा को दूर कर देती है। स्त्रियां उसे ले लें तो प्रसव की पीड़ा नहीं होती, बच्चा पैदा हो जाता है। लेकिन उसके बड़े घातक परिणाम हुए। बच्चे पैदा हुए--अपंग, अंधे, लंगड़े, लूले। सैकड़ों लोगों ने प्रयोग किया और अब सैकड़ों मुकदमे चल रहे हैं उस फार्मेसी पर, कि उन्होंने उनके बच्चों की हालत खराब कर दी। मां को तो पीड़ा नहीं हुई, लेकिन जिस जहर ने मां की पीड़ा छीन ली, उस जहर ने बच्चे को विकृत कर दिया।

वह जिसको हम प्रसव की पीड़ा कहते हैं, वह स्वाभाविक है, वह आवश्यक है, वह होनी ही चाहिए। उसको रोकना खतरनाक है।

जापान अकेला राष्ट्र है, जिसने कानून बनाया है कि प्रसव-पीड़ा को रोकने के लिए कोई दवा ईजाद नहीं की जा सकती। बड़ी समझदारी की बात है। सिर्फ अकेला राष्ट्र है सारी दुनिया में। क्योंकि प्रसव-पीड़ा बच्चे के जीवन की शुरुआत है। मां को ही पीड़ा होती है, ऐसा नहीं है; बच्चे को भी पीड़ा होती है। लेकिन उस पीड़ा से ही कुछ निर्मित होता है।

मैंने सुना है, एक किसान परमात्मा से बहुत परेशान हो गया। कभी ज्यादा वर्षा हो जाए, कभी ओले गिर जाएं, कभी पाला पड़ जाए, कभी वर्षा न हो, कभी धूप हो जाए, फसलें खराब होती चली जाएं, कभी बाढ़ आ जाए और कभी सूखा पड़ जाए। आखिर उसने कहा कि सुनो जी, तुम्हें कुछ किसानी की अक्ल नहीं, हमसे पूछो! परमात्मा कुछ मौज में रहा होगा उस दिन। उसने कहा, अच्छा, तुम्हारा क्या खयाल है? उसने कहा कि एक साल मुझे मौका दो, जैसा मैं चाहूं वैसा मौसम हो। देखो, कैसा दुनिया को सुख से भर दूं, धन-धान्य से भर दूं!

परमात्मा ने कहा, ठीक है, एक साल तेरी मर्जी होगी, मैं दूर रहूंगा। स्वभावतः किसान को जानकारी थी। काश, जानकारी ही सब कुछ होती! किसान ने जब धूप चाही तब धूप मिली, जब जल चाहा तब जल मिला, बूंद भर कम-ज्यादा नहीं, जितना चाहा उतना मिला। कभी धूप, कभी छाया, कभी जल--ऐसा किसान मांगता रहा और बड़ा प्रसन्न होता रहा; क्योंकि गेहूं की बालें आदमी के ऊपर उठने लगीं। ऐसी तो फसल कभी न हुई थी। कहने लगा, अब पता चलेगा परमात्मा को! न मालूम कितने जमाने से आदमियों को नाहक परेशान करते रहे। किसी भी किसान से पूछ लेते, हल हो जाता मामला। अब पता चलेगा।

गेहूं की बालें ऐसी हो गईं, जैसे बड़े-बड़े वृक्ष हों। खूब गेहूं लगे। किसान बड़ा प्रसन्न था। लेकिन जब फसल काटी, तो छाती पर हाथ रख कर बैठ गया। गेहूं भीतर थे ही नहीं, बालें ही बालें थीं। भीतर सब खाली था। वह तो चिल्लाया कि हे परमात्मा, यह क्या हुआ? परमात्मा ने कहा, अब तू ही सोच। क्योंकि संघर्ष का तो तूने कोई मौका ही न दिया। ओले तूने कभी मांगे ही नहीं। तूफान कभी तुमने उठने न दिया। आंधी कभी तूने चाही नहीं। तो आंधी, अंधड़, तूफान, गड़गड़ाहट बादलों की, बिजलियों की चमचमाहट...तो इनके प्राण संगृहीत न हो सके। ये बड़े तो हो गए, लेकिन पोचे हैं।

संघर्ष आदमी को केंद्र देता है। नहीं तो आदमी पोचा रह जाता है। इसलिए तो धनपतियों के बेटे पोचे मालूम होते हैं। जब धूप चाही धूप मिल गई, जब पानी चाहा पानी; न कोई अंधड़, न कोई तूफान। तुम धनपतियों के घर में कभी बहुत प्रतिभाशाली लोगों को पैदा होते न देखोगे--पोचे! गेहूं की बाल ही बाल होती है, गेहूं भीतर होता नहीं। थोड़ा संघर्ष चाहिए। थोड़ी चुनौती चाहिए।

जब तूफान हिलाते हैं और वृक्ष अपने बल से खड़ा रहता है, बड़े तूफानों को हरा कर खड़ा रहता है, आंधियां आती हैं, गिराती हैं और फिर गेहूं की बाल फिर-फिर खड़ी हो जाती है तो बल पैदा होता है। संघर्षण से ऊर्जा निर्मित होती है। अगर संघर्षण बिलकुल न हो, तो ऊर्जा सुप्त की सुप्त रह जाती है।

प्रसव-पीड़ा मां के लिए ही पीड़ा नहीं है, बेटे के लिए भी पीड़ा है। लेकिन पीड़ा से जीवन की शुरुआत है--और शुभ है। नहीं तो पोचा रह जाएगा बच्चा। उसमें बल न होगा। और अगर बिना पीड़ा के बच्चा हो जाएगा, तो मां के भीतर जो बच्चे के लिए प्रेम पैदा होना चाहिए, वह भी पैदा न होगा। क्योंकि जब हम किसी चीज को बहुत पीड़ा से पाते हैं, तो उसमें हमारा एक राग बनता है।

तुम सोचो, हिलेरी जब चढ़ कर पहुंचा हिमालय पर तो उसे जो मजा आया, वह तुम हेलिकॉप्टर से जा कर उतर जाओ, तो थोड़े ही आएगा। उसमें सार ही क्या है? हेलिकॉप्टर भी उतार दे सकता है, क्या अड़चन है? मगर तब, तब बात खो गई। तुमने श्रम न किया, तुमने पीड़ा न उठाई, तो तुम पुरस्कार कैसे पाओगे?

यही गणित बहुत-से लोगों के जीवन को खराब किए है। मंजिल से भी ज्यादा मूल्यवान मार्ग है। अगर तुम मंजिल पर तत्क्षण पहुंचा दिए जाओ तो आनंद न घटेगा। वह मार्ग का संघर्षण, वे मार्ग की पीड़ाएं, वे इंतजारी के दिन, वे प्रतीक्षा की रातें, वे आंसू, वह सब सम्मिलित है--तब कहीं अंततः आनंद घटता है।

हर एक दर्द को, नए अर्थ तक जाने दो!

तो विष्णु चैतन्य! दर्द है, मुझे पता है। आने में भी तुम मेरे पास डरते हो, वह भी मुझे पता है। घबड़ाओ मत, आओ! अपने को बाहर छोड़ कर आओ। बैठो मेरे पास एक शून्य, कोरी किताब की तरह, ताकि मैं कुछ लिख सकूं तुम पर। लिखे-लिखाए मत आओ, गुदे-गुदाए मत आओ; अन्यथा मैं क्या लिखूंगा? तुम मुझे लिखने का थोड़ा मौका दो। खाली आओ ताकि मैं तुममें उंडेलूं अपने को और भर दूं तुम्हें। शास्त्रों से भरे मत आओ। शास्त्र तो मैं तुम्हारे भीतर पैदा करने को तैयार हूं। तुम्हें शास्त्र ले कर आने की जरूरत नहीं। तुम सिद्धांतों और तर्कों के जाल में मत पड़ो।

तुम आओ चुप, तुम आओ हृदयपूर्वक, भाव से भरे। मुझे एक मौका दो, ताकि तुम्हें निखारूं, तुम्हारी प्रतिमा गढ़ूं।

दूसरा प्रश्न: मैं तो लाख यतन कर हारयो,
अरे हां, रामरतन धन पायो।

पुछा है "अजित सरस्वती" ने।

ऐसा ही है। आदमी का यत्न कुछ काम नहीं आता। अंततः तो प्रभु-कृपा ही काम आती है। मगर प्रभु-कृपा उन्हें मिलती है जो यत्न करते हैं। अब जरा झंझट हुई, विरोधाभास हुआ।

समझने की कोशिश करना। प्रभु तो उन्हें ही मिलता है जो प्रभु-कृपा को उपलब्ध होते हैं। लेकिन प्रभु-कृपा को वे ही उपलब्ध होते हैं, जो अथक प्रयत्न करते हैं। प्रयत्न से प्रभु नहीं मिलता, लेकिन प्रभु-कृपा प्रयत्न से मिलती है। फिर प्रभु-कृपा से प्रभु मिलता है।

तो दुनिया में दो तरह के लोग हैं। एक तो हैं वे, जो कहते हैं हम अपने प्रयत्न से ही पा कर रहेंगे, हम तुझसे प्रसाद नहीं मांगते--ये बड़े अहंकारी लोग हैं। ये कहते हैं, हम तो खुद ही पा कर रहेंगे, हम मांगेंगे नहीं। हम मांगने वालों में नहीं। हम भिखमंगे नहीं हैं। हम तो छीन-झपट कर लेंगे। ये तो ईश्वर पर आक्रमण करने वाले लोग हैं। ये तो बैंड-बाजा ले कर और मशालें ले कर और हमला करते हैं। ये तो छुरे-भाले ले कर ईश्वर पर जाते हैं। ये तो आक्रमक हैं। इनको प्रभु कभी नहीं मिलता। और जब इनको नहीं मिलता, तो ये कहते हैं: प्रभु है नहीं; होता तो मिलना चाहिए था। यही तो विज्ञान की चेष्टा है।

विज्ञान आक्रमक है, बलात्कारी है; जबर्दस्ती जीवन के रहस्य को खोल देना चाहता है। जैसे कोई किसी फूल की कली को जबर्दस्ती खोल दे; सब खो जाता है उस जबर्दस्ती खोलने में; फूल का सौंदर्य ही नष्ट हो जाता है।

यह जीवन का रहस्य जब अपने से खुलता है--जब तुम प्रतीक्षा करते हो मौन, प्रार्थना करते हो, शांत-भाव से बैठते हो, और प्रभु को एक मौका देते हो कि खुले! तुम जल्दबाजी नहीं करते, तुम आग्रह नहीं करते। तुम कहते नहीं कि बहुत देर हो गई, मैं कितना यत्न कर चुका, अब खुलो! तुम कोई शर्त नहीं बांधते, तुम कोई सौदा नहीं करते। तुम कहते हो, जब तुम्हारी मर्जी हो, खुलना--मैं राजी हूं, मैं तैयार हूं! तुम मुझे पाओगे मौजूद। इस जन्म में तो इस जन्म में; अगले जन्म में तो अगले जन्म में; जल्दी मुझे कुछ नहीं है।

तो एक तो वे लोग हैं, जो आक्रमण करते हैं, वे तो कभी नहीं पाते। फिर दूसरी ओर अति पर दूसरे लोग हैं, वे कहते हैं: जब प्रयत्न से मिलता ही नहीं तो क्या करना; जब मिलेगा मिल जाएगा। वे कुछ करते ही नहीं। वे खाली बैठे रहते हैं। वे प्रतीक्षा तक नहीं करते। वे कहते हैं: जब करने से कुछ होता ही नहीं, भाग्य का मामला है, जब होना होगा, होगा; जब उसकी कृपा होगी, होगी। उसकी बिना आज्ञा के तो पत्ता भी नहीं हिलता, वे कहते हैं।

ये दोनों ही नासमझ हैं। एक से अति सक्रियता पैदा होती है, जो कि रुग्ण और बुखार हो जाती है और विक्षिप्तता हो जाती है; और एक से अति अकर्मण्यता पैदा होती है, जिससे सुस्ती और आलस्य और तमस घिर जाता है। दोनों के मध्य में मार्ग है। प्रयत्न भी करना होगा और प्रसाद भी मांगना होगा।

"मैं तो लाख यतन कर हारयो।"

मगर जल्दी मत हार जाना, लाख यतन कर हारना। कुछ लोग ऐसे हैं कि यतन तो करते नहीं, बैठे हैं; तो हारे ही नहीं। लाख यतन कर लेना। जो तुम कर सको, पूरा कर लेना। मगर अगर तुम्हारे करने से न मिले तो घबड़ा कर यह मत कहने लगना कि है ही नहीं। वहीं तो ठीक मौका आ रहा था, जब मिलने की घड़ी आ रही थी, उससे चूक मत जाना। जब तुम सब प्रयत्न कर चुको और हार जाओ...हारे को हरिनाम! फिर तुम हरिनाम लेना। उस परम हार में परम विजय फलित होगी।

"मैं तो लाख यतन कर हारयो,

अरे हां, रामरतन धन पायो।"

बस तुम हारे कि रामरतन धन मिला। इधर हारे, उधर मिला। क्योंकि इधर तुम हारे कि तुम मिटे। तुम मिटे कि परमात्मा बरसा। तुम्हारी मिटने की ही देर थी। लेकिन बिना यत्न किए तुम मिट न सकोगे।

यह विरोधाभासी लगता है। इसलिए मेरे वक्तव्य विरोधाभासी लगते हैं, पैराडॉक्सिकल लगते हैं। ऐसा ही समझो कि कोई आदमी मेरे पास आता है, वह कहता है: "रात मुझे नींद नहीं आती, अनिद्रा से परेशान हूं। दवाइयां भी काम नहीं देतीं, अब मैं क्या करूं?" उसको मैं क्या कहता हूं? उसको मैं कहता हूं, तुम ऐसा करो कि शाम को एक पांच-छह मील का चक्कर लगाओ। वह कहता है, आप क्या कह रहे हैं? ऐसे ही तो नींद नहीं आती, और चार-पांच मील का चक्कर लगाऊंगा, तो फिर तो रात भर नींद न आएगी।

मैं उसे कहता हूं, तुम फिक्र मत करो; तुम चार-पांच मील का चक्कर लगाओ। नींद के लिए जो सबसे जरूरी बात है, वह है हार जाना, थक जाना।

आज बहुत-से लोग अनिद्रा से पीड़ित हैं--पूरब में कम, पश्चिम में बहुत ज्यादा। लेकिन जल्दी ही पूरब में भी हो जाएंगे, क्योंकि पूरब में भी विज्ञान फैलेगा, सुख-संपत्ति बढ़ेगी, दारिद्रय कम होगा, काम कम होगा। पश्चिम में छह दिन का सप्ताह था, फिर पांच दिन का हो गया, अब चार दिन के होने की नौबत है। काम मशीन करने लगी है, आदमी के हाथ से काम सब जाने लगा है। जब काम बिलकुल न बचे तो विश्राम की जरूरत ही

पैदा नहीं होती। विश्राम की जरूरत तो तभी पैदा होती है, जब अथक श्रम किया गया हो। तो फिर विश्राम की जरूरत पैदा होती है।

विश्राम एक जरूरत है। तुम खा-पी कर बैठे हो चुपचाप, कुछ करते-वरते नहीं, तो भूख कैसे लगेगी? अब तुम पाचक दवाइयां ले रहे हो, फिर ऐपेटाईजर ले रहे हो कि भूख लग जाए किसी तरह--और असली बात कर ही नहीं रहे कि तुम वैसे ही बैठे हो, कुछ हिलो-डुलो, चलो-फिरो, भोजन पचे। शरीर में श्रम हो तो भूख लगे, श्रम हो तो विश्राम की जरूरत पैदा होती है। जो आदमी दिन भर श्रम करता है, रात मजे से सो जाता है।

सम्राटों को भरोसा ही नहीं आता, जब वे भिखमंगों को सड़क पर सोया देखते हैं; यह बड़ा चमत्कार मालूम होता है। क्योंकि वे अपने सुंदरतम गद्दों में, वातानुकूलित स्थानों में, सब तरह की सुख-सुविधा के बीच भी रात भर करवटें बदलते हैं। और एक सज्जन हैं कि वे सड़क के किनारे पड़े हैं; न कोई तकिया है न कोई बिस्तर है, झाड़ के नीचे पड़े हैं, झाड़ की जड़ को ही उन्होंने अपना तकिया बना लिया है, और ऐसे सो रहे हैं, घुर्रा रहे हैं! भर-दुपहरी में पूरा रास्ता चल रहा है और तुम्हें राह के किनारे भिखमंगे सोए मिल जाएंगे। स्टेशन पर पोर्टर सोया हुआ मिल जाएगा। ट्रेनें आ रही हैं, जा रही हैं और वह मजे से प्लेटफार्म पर सोया हुआ है।

तो कुछ हैं कि सारी सुविधा जुटा ली है और नींद नहीं आती। उनको लगता है बड़ा अजीब-सा मामला है। कुछ भी अजीब नहीं; जीवन का गणित समझ में नहीं आया।

विश्राम के लिए श्रम चाहिए। जीत के लिए हार चाहिए। प्रसाद के लिए प्रयत्न चाहिए। तो तुम अपनी तरफ से, तो जब लाख यतन कर लोगे, तभी वह घड़ी आती है जहां तुम कहते हो: "अब मेरे किए कुछ भी नहीं होता प्रभु! अब मैं जो कर सकता था, कर चुका।" लेकिन तुम हकदार तभी हो, जब तुम कह सको कि "जो मैं कर सकता था, कर चुका, मैंने कुछ उठा न छोड़ा। ऐसी कोई बात मैंने नहीं छोड़ी है जो मैं कर सकता था, और मैंने न की हो। अब मेरे किए नहीं होता, अब तुम सम्हालो।" तो तत्क्षण सम्हाल लिए जाते हो।

"अरे हां, रामरतन धन पायो।"

ऐसी घटना घटती है--

रहे-शौक से अब हटा चाहता हूं,

कशिश हुस्न की देखना चाहता हूं।

--अब मैं इश्क के मार्ग से हटना चाहता हूं और देखना चाहता हूं कि सौंदर्य का आकर्षण कितना है?

रहे-शौक से अब हटा चाहता हूं,

--अब मैं प्रेम के मार्ग से हटता हूं।

कशिश हुस्न की देखना चाहता हूं।

--अब मैं देखना चाहता हूं कि परमात्मा का आकर्षण कितना है? मैं हटूं और तुम खींचो! अब तक मैं खिंचता था, तुम्हारा पता न चलता था। अभी तक मैं दौड़ता था और तुम मिलते न थे, अब मैं रुकता हूं।

रहे-शौक से अब हटा चाहता हूं,

कशिश हुस्न की देखना चाहता हूं।

अब तुम्हीं पर छोड़ता हूं। अब देखें। अब तुम मुझे ढूंढो। मैंने बहुत ढूंढा। सब मैंने उपाय कर लिए। अब तुम मुझे ढूंढो!

"अरे हां, रामरतन धन पायो।"

और जिस दिन तुम हार कर बैठ जाते हो, अचानक तुम पाते हो वह सामने खड़ा है। वह सदा से खड़ा था। तुम अपने खोजने की धुन में लगे थे। तुम्हारी धुन इतनी ज्यादा थी कि उसे देख न पाते थे। तुम्हारी धुन के कारण ही अवरोध पड़ रहा था।

इसलिए तो अष्टावक्र कहते हैं, अनुष्ठान बाधा है। लेकिन इससे तुम यह मत समझ लेना कि अनुष्ठान करना नहीं है। अनुष्ठान तो करना ही होगा, लाख जतन तो करने ही होंगे। जब तुम लाख जतन करके हार जाते हो, तो उसका एक जतन पर्याप्त हो जाता है उसकी तरफ से। मगर तुमने अर्जित कर लिया, तुम प्रसाद के योग्य हुए। तुम मुफ्त में नहीं पाते परमात्मा को, तुमने अपने जीवन को समर्पित किया। तुमने सब तरह से अपने जीवन को यज्ञ बनाया।

जब कपोल गुलाब पर शिशु प्रात के
सूखते नक्षत्र जल के बिंदु से
रश्मियों की कनक-धारा में नहा
मुकुल हंसते मोतियों का अर्ध्य दे

विहग शावक से जिस दिन मूक
पड़े थे स्वप्न नीड़ में प्राण
अपरिचित थी विस्मृत की रात
नहीं देखा था स्वर्ण विहान
रश्मि बन तुम आए चुपचाप
सिखाने अपने मधुमय गान
अचानक दीं वे पलकें खोल
हृदय में बेध व्यथा का बाण
हुए फिर पल में अंतरधान!

ऐसा बहुत बार होगा। तुम्हारे प्रयत्नों से तुम हारोगे। क्षण भर को हार कर तुम बैठोगे। अचानक किरण उतरेगी। अचानक नहा जाओगे उस किरण में। अचानक गीत तुम्हें घेर लेगा। अचानक तुम पाओगे किसी और लोक में पहुंच गए। अचानक तुम पाओगे, लग गए पंख, उड़ने लगे आकाश में;

पृथ्वी के न रहे, आकाश के हो गए। फिर वापिस, फिर पाओगे वहीं के वहीं।

रश्मि बन तुम आए चुपचाप
सिखाने अपने मधुमय गान
अचानक दीं वे पलकें खोल
हृदय में बेध व्यथा का बाण
हुए फिर पल में अंतरधान।
नींद में सपना बन अज्ञात
गुदगुदा जाते हो जब प्राण
ज्ञात होता हंसने का मर्म,
तभी तो पाती हूं यह जान:
प्रथम छू कर किरणों की छांह
मुस्कुरातीं कलियां क्यों प्रात?
समीरण का छू कर चल छोर
लौटते क्यों हंस-हंस कर पात?

एक बार तुम्हें प्रभु का संस्पर्श हो जाए, तो तुम भी समझ पाओगे कि:

नींद में सपना बन अज्ञात
गुदगुदा जाते हो जब प्राण
ज्ञात होता हंसने का मर्म,
तभी तो पाती हूं यह जान:
प्रथम छू कर किरणों की छांह
मुस्कुरातीं कलियां क्यों प्रात?

सुबह, सूरज की किरण को छू कर फूल क्यों मुस्कुराने लगते हैं? क्यों अचानक सारी पृथ्वी एक नए आलोक, एक नई ऊर्जा, एक नए प्रवाह से भर जाती है जीवन के? क्यों सब तरफ जागरण छा जाता है?

प्रथम छू कर किरणों की छांह
मुस्कुरातीं कलियां क्यों प्रात?
समीरण का छू कर चल छोर
लौटते क्यों हंस-हंस कर पात?

और जब पत्तों से खेलने लगता समीरण, तो पत्ते क्यों मुस्कुराने लगते हैं, क्यों प्रसन्न होने लगते हैं?

जब प्रभु की किरण तुम्हें छुएगी, तभी तुम जान पाओगे यह प्रकृति में जो उत्सव चल रहा है, क्या है; यह चारों तरफ जो महोत्सव तुम्हें घेरे है, यह क्या है? यह जो अहर्निश ओंकार का नाद हो रहा है चारों तरफ, तुम्हें तभी सुनाई पड़ेगा।

लेकिन उसके पहले श्रम तो करना है, लाख जतन तो करने हैं। यत्न तुम करो, प्रभु प्रतीक्षा करता है। जैसे ही तुम्हारे यत्न का पात्र पूरा हो जाता, प्रसाद बरसता है।

प्रसाद को मुफ्त में मत मांगना। अपनी आहुति देनी होती है। अपनी आहुति दे कर मांगोगे तो ही मिलेगा। और कुछ देने से न चलेगा।

आदमी ने खूब तरकीबें निकाली हैं। फूल तोड़ लेता वृक्षों के, मंदिर में चढ़ा आता--किसको धोखा देते हो? फूल चढ़े ही थे परमात्मा को वृक्षों पर, तुमने उन्हें जुदा कर दिया। फूल ज्यादा जीवित थे वृक्षों पर, ज्यादा परमात्मा के साथ अठखेलियां कर रहे थे, तुमने उन्हें मार डाला। तुम मरे इन फूलों को, मरी एक प्रतिमा के सामने रख आए--और सोचे कि फूल चढ़ा आए? सोचे कि अर्ध्य हुआ? सोचे कि अर्चना पूरी हुई? प्रार्थना पूरी हुई? जला आए एक मिट्टी का दीया और सोचे कि रोशनी हो गई?

इतना सस्ता काम नहीं। जलाना होगा दीया भीतर प्राणों का और चढ़ाना होगा फूल--अपने ही परम चैतन्य के विकास का! अपना ही सहस्रार, अपना ही सहस्र दलों वाला कमल जिस दिन तुम चढ़ा आओगे--उस दिन! यह सिर अपना ही चढ़ाना होगा!

आदमी खूब चालाक है! उसने नारियल निकाल लिया है। नारियल आदमी जैसा लगता है, सिर जैसा। इसलिए तो उसको खोपड़ा कहते हैं। खोपड़ी! उसमें दो आंखें भी होती हैं, दाढ़ी-मूंछ सब उसमें होते हैं। नारियल चढ़ा आए। सिंदूर लगा आए। अपने रक्त की जगह सिंदूर लगा आए? अपने सिर की जगह नारियल चढ़ा आए? अपने सहस्रार की जगह और किन्हीं फूलों के, वृक्षों के फूल छीन लिए--उनको चढ़ा आए? किसको धोखा देते हो? अपने को चढ़ाना होगा! और अपने को चढ़ाने का एक ही उपाय है:

"मैं तो लाख यतन कर हारयो,
अरे हां, रामरतन धन पायो।"

आखिरी प्रश्न: जनक के जीवन में एक अपूर्व प्रसंग है--भूमि से प्राप्त सीता और सीता के आसपास जन्मी रामलीला का। कृपा करके रामलीला को आज हमें समझाएं।

अष्टावक्र के संदर्भ में और उस सबके संदर्भ में जो मैं तुमसे कह रहा हूं, उस कथा का अर्थ बहुत सीधा-साफ है। सीता है पृथ्वी, राम हैं आकाश। उन दोनों का मिलन ही रामलीला है--पृथ्वी और आकाश का मिलन। और रामलीला प्रत्येक के भीतर घट रही है। तुम्हारी देह सीता है; तुम्हारी आत्मा, राम। तुम्हारे भीतर दोनों का मिलन हुआ है--पृथ्वी और आकाश का, मर्त्य का और अमृत का। तुम्हारे भीतर दोनों का मिलन हुआ है। और उस सब में जो भी घट रहा है, सभी रामलीला है।

राम-कथा को अपने भीतर पढ़ो। और जिस दिन तुम यह पहचान लोगे कि तुम न तो राम हो और न तुम सीता हो, तुम तो रामलीला के साक्षी हो, द्रष्टा हो--उसी दिन रामलीला बंद हो जाती है। जाना है सीता और राम के ऊपर।

रामलीला लोग देखने जाते हैं, वहां क्या खाक मिलेगा? भीतर रामलीला चल रही है, वहीं बैठ कर देखो--तुम देखने वाले बन जाओ। रामलीला देखने से कहते ह? बड़ा लाभ होता, पुण्य होता। वह पुण्य, अगर मेरी बात समझ में आ जाए, तो होता है। यह जो सीता और राम का मिलन तुम्हारे भीतर हुआ है, ये जो पृथ्वी और आकाश मिले, यह जो पदार्थ और चैतन्य का मिलन हुआ--इसको मंच बना लो, यह होने दो। तुम दर्शक हो कर बैठ जाओ, तुम द्रष्टा बन जाओ, तुम साक्षी हो जाओ। जैसे ही तुम साक्षी हुए, तुम लीला के पार हो गए।

कहीं और रामलीला देखने नहीं जाना है। प्रत्येक के भीतर जन्मती है रामलीला। और जब तक रामलीला चलती रहती है, तब तक संसार चलता रहता है। जिस दिन तुम्हारा साक्षी जाग जाता है और रामलीला बंद हो जाती है, उसी दिन संसार तिरोहित हो जाता है।

बहुत दिन देख ली रामलीला; लेकिन जिस ढंग से देखी, उसमें थोड़ी भूल है। वह भूल ऐसी है कि तुम रामलीला देखते-देखते यह भूल ही जाते हो कि तुम द्रष्टा हो। यह भी रोज होता है। तुम फिल्म देखने जाते हो, तुम भूल जाते हो कि तुम देखने वाले हो; तुम फिल्म का अंग बन जाते हो।

जब पहली दफा थ्री डायमेंशनल फिल्म बनी और लंदन में दिखाई गई, तो लोगों को समझ में आया कि हम कितने भूल जाते हैं। तीन डायमेंशनल जो फिल्म है, उसमें तो बिलकुल ऐसा लगता है जैसे साक्षात व्यक्ति आ रहा है। एक घुड़सवार एक घोड़े पर दौड़ता एक भाला लिए आता है, और ठीक आ कर पर्दे पर वह भाला फेंकता है। पूरा हाल झुक गया--आधा इस तरफ, आधा उस तरफ--भाले से बचने के लिए। एक क्षण को झूठ सच हो गया। इस झूठ के सच हो जाने का नाम माया है।

बंगाल में बड़े प्रसिद्ध विचारक हुए ईश्वरचंद्र विद्यासागर। वे रामलीला देख रहे थे, या कोई और नाटक देख रहे थे। सभी नाटक रामलीला हैं। और नाटक में एक पात्र है, जो एक स्त्री के साथ बलात्कार करने की चेष्टा कर रहा है। वह इतनी बदतमीजी कर रहा है और वह इतनी कठोरता कर रहा है कि ईश्वरचंद्र विद्यासागर जो सामने ही बैठे थे पंक्ति में, भूल गए कि यह नाटक है। निकाल लिया जूता और चढ़ गए मंच पर, लगे पीटने उस अभिनेता को। अभिनेता ने ज्यादा होशियारी की। वह हंसने लगा। उसने जूता पुरस्कार की तरह ले कर अपनी छाती से लगा लिया। माइक पर खड़े हो कर उसने कहा कि धन्य मेरे भाग्य, मैंने तो कभी सोचा नहीं था कि मैं इतना कुशल अभिनेता हो सकता हूं कि ईश्वरचंद्र विद्यासागर धोखा खा जाएं। ऐसे ज्ञानी धोखा खा गए! तो इस जूते को लौटाऊंगा नहीं; यह तो मेरा पुरस्कार हो गया; इसको तो, अब याददाश्त के लिए रखूंगा। और बहुत प्रमाण-पत्र मुझे मिले हैं, मैडल मिले हैं; मगर इससे बड़ा कोई भी नहीं मिला।

ईश्वरचंद्र बड़े सकुचाए जैसे ही होश आया कि यह मैं कर क्या बैठा हूं।

ईश्वरचंद्र जैसा बुद्धिमान आदमी खो गया नाटक में! सभी बुद्धिमान ऐसे ही खो गए हैं।

जब तुम देखते हो नाटक को, तो तुम भूल ही जाते हो कि तुम द्रष्टा हो। वह जो चल रहा है धूप-छाया का खेल मंच पर, पर्दे पर, वही सब कुछ हो जाता है। ऐसा ही घट रहा है भीतर। यह जो रामलीला तुम्हारे जीवन में घटी है--सीता और राम के मिलन पर, पृथ्वी और आकाश के मिलन पर, इसमें तुम बिलकुल खो गए हो, तल्लीन हो गए हो; तुम भूल ही गए हो कि तुम सिर्फ द्रष्टा हो। करो याद, जगो अब। जागते ही तुम पाओगे कि पर्दा शून्य हो गया। न वहां राम हैं, न वहां सीता। खेल समाप्त हुआ। इस खेल की समाप्ति को हम कहते हैं: मुक्ति, मोक्ष, निर्वाण!

हरि ॐ तत्सत्!

तेरहवां प्रवचन

जब जागो तभी सवेरा

जनक उवाच।

अहो जनसमूहेऽपि न द्वैतं पश्यतो मम।
अरण्यमिव संवृत्तं क्व रतिं करवाण्यहम्।। ४१।।
नाहं देहो न मे देहो जीवो नाहमहं हि चित्।
अयमेव हि मे बंध आसीधा जीविते स्पृहा।। ४२।।
अहो भुवन कल्लोलैर्विचित्रैर्द्रकि समुत्थितम्।
मयनंतमहाम्भोधौ चित्तवाते समुद्यते।। ४३।।
मयनंतमहाम्भोधौ चित्तवाते प्रशाम्यति।
अभाग्याजीववणिजो जगतपोतो विनश्वरः।। ४४।।
मयनंतमहाम्भोधावाश्चर्यं जीववीचयः।
उद्यन्ति ध्वन्ति खेलन्ति प्रविशन्ति स्वभावतः।। ४५।।

ज्ञान और ज्ञान में बड़ा भेद है। एक तो ज्ञान है, जो बांझ होता है, जिसमें फल नहीं लगते, न फूल लगते। एक ज्ञान है, जिसमें मुक्ति के फल लगते हैं, सच्चिदानंद के फूल लगते, फल लगते, सुगंध उठती समाधि की।

जिस ज्ञान से समाधि की सुगंध न उठे, उसे थोथा और व्यर्थ जानना। उससे जितनी जल्दी छुटकारा हो जाए, उतना अच्छा। क्योंकि मुक्ति के मार्ग में वह बाधा बनेगा। मुक्ति के मार्ग में जो साधक नहीं है, वही बाधक हो जाता है। धन भी इतनी बड़ी बाधा नहीं है, जितनी बड़ी बाधा थोथा ज्ञान हो जाता है। धन इसलिए बाधा नहीं है कि धन से कोई साधन ही नहीं बनता; धन से कोई साथ ही नहीं मिलता मोक्ष की तरफ जाने में, तो धन के कारण बाधा नहीं हो सकती।

मोक्ष की तरफ जाने में ज्ञान साधन है। इसीलिए अगर गलत ज्ञान हो, मिथ्या ज्ञान हो तो बाधा हो जाएगी। संसार उतनी बड़ी रुकावट नहीं है, जितना शब्दों और शास्त्रों से मिला हुआ संगृहीत ज्ञान रुकावट हो जाता है।

मैंने सुना है, पुरानी कथा है कि अवंतिका नगर के बाहर, क्षिप्रा नदी के पार एक महापंडित रहता था। उसकी दूर-दूर तक ख्याति थी। वह रोज क्षिप्रा को पार करके, नगर के एक बड़े सेठ को कथा सुनाने जाता था--धर्म-कथा। एक दिन बहुत चौंका। जब वह नाव से क्षिप्रा पार कर रहा था, एक घड़ियाल ने सिर बाहर निकाला और कहा कि पंडित जी, मेरी भी उम्र हो गई, मुझे भी कुछ ज्ञान आते-जाते दे दिया करें। और मुफ्त नहीं मांगता हूं। और घड़ियाल ने अपने मुंह में दबा हुआ एक हीरों का हार दिखाया।

पंडित तो भूल गया--जिस वणिक को कथा सुनाने जाता था--उसने कहा, पहले तुझे सुनाएंगे। रोज पंडित घड़ियाल को कथा सुनाने लगा और रोज घड़ियाल उसे कभी हीरे, कभी मोती, कभी माणिक के हार देने लगा। कुछ दिनों बाद घड़ियाल ने कहा कि पंडित जी! अब मेरी उम्र पूरी होने के करीब आ रही है, मुझे त्रिवेणी तक छोड़ आएं, एक पूरा मटका भर कर हीरे जवाहरात दूंगा। पंडित उसे लेकर त्रिवेणी गया और जब घड़ियाल को उसने त्रिवेणी में छोड़ दिया और अपना मटका भरा हुआ ले लिया और ठीक से देख लिया मटके में कि हीरे-जवाहरात सब हैं, और विदा होने लगा तो घड़ियाल उसे देख कर हंसने लगा। उस पंडित ने पूछा: हंसते हो? क्या कारण है?

उसने कहा, मैं कुछ न कहूंगा। मनोहर नाम के धोबी के गधे से अवंतिका में पूछ लेना। पंडित को तो बहुत दुख हुआ। किसी और से पूछें--यही दुख का कारण! फिर वह भी मनोहर धोबी के गधे से पूछें! मगर घड़ियाल ने कहा, बुरा न मानना। गधा मेरा पुराना सत्संगी है। मनोहर कपड़े धोता रहता है, गधा नदी के किनारे खड़ा रहता है, बड़ा ज्ञानी है। सच पूछो तो उसी से मुझमें भी ज्ञान की किरण जगी।

पंडित वापिस लौटा, बड़ा उदास था। गधे से पूछे! लेकिन चैन मुश्किल हो गई, रात नींद न आए कि घड़ियाल हंसा तो क्यों हंसा? और गधे को क्या राज मालूम है? फिर सम्हाल न सका अपने को। एक सीमा थी, सम्हाला, फिर न सम्हाल सका। फिर एक दिन सुबह-सुबह पहुंच गया और गधे से पूछा कि महाराज! मुझे भी समझाएं, मामला क्या है? घड़ियाल हंसा तो क्यों हंसा?

वह गधा भी हंसने लगा। उसने कहा, सुनो, पिछले जन्म में मैं एक सम्राट का वजीर था। सम्राट ने कहा कि इंतजाम करो, मेरी उम्र हो गई, त्रिवेणी चलेंगे, संगम पर ही रहेंगे। फिर त्रिवेणी का वातावरण ऐसा भाया सम्राट को, कि उसने कहा, हम वापिस न लौटेंगे। और मुझसे कहा कि तुम्हें रहना हो तो मेरे पास रह जाओ और अगर वापिस लौटना हो तो ये करोड़ मुद्राएं हैं सोने की, ले लो और वापिस चले जाओ। मैंने करोड़ मुद्राएं स्वर्ण की ले लीं और अवंतिका वापिस आ गया। इससे मैं गधा हुआ। इससे घड़ियाल हंसा।

कहानी प्रीतिकर है।

बहुत हैं, जिनका ज्ञान उन्हीं को मुक्त नहीं कर पाता। बहुत हैं जिनके ज्ञान से उनके जीवन में कोई सुगंध नहीं आती। जानते हैं, जानते हुए भी जानने का कोई परिणाम नहीं है। शास्त्र से परिचित हैं, शब्दों के मालिक हैं, तर्क का शृंगार है उनके पास, विवाद में उन्हें हरा न सकोगे; लेकिन जीवन में वे हारते चले जाते हैं। उनका खुद का जाना हुआ उनके जीवन में किसी काम नहीं आता।

जो ज्ञान मुक्ति न दे वह ज्ञान नहीं। ज्ञान की परिभाषा यही है, जो मुक्त करे।

जीसस ने कहा है, सत्य तुम्हें मुक्त करेगा; और अगर मुक्त न करे तो जानना कि सत्य नहीं है।

सिद्धांत एक बात है, सत्य दूसरी बात। सिद्धांत उधार है; सस्ते में ले लिया है; चोर-बाजार से खरीद लिया है; मुफ्त पा गए हो; कहीं राह पर पड़ा मिल गया है; अर्जित नहीं किया है। सत्य अर्जित करना होता है। जीवन की जो आहुति चढ़ाता है, वही सत्य को उपलब्ध होता है। जीवन का जो यज्ञ बनाता, वही सत्य को उपलब्ध होता है। सत्य मिलता है--स्वयं के श्रम से। सत्य मिलता है--स्वयं के बोध से। दूसरा सत्य नहीं दे सकता।

इस एक बात को जितने भी गहरे तुम सम्हाल कर रख लो उतना हितकर है। सत्य तुम्हें पाना होगा। कोई जगत में तुम्हें सत्य दे नहीं सकता। और जब तक तुम यह भरोसा किए बैठे हो कि कोई दे देगा, तब तक तुम भटकोगे; तब तक सावधान रहना, कहीं मनोहर धोबी के गधे न हो जाओ! तब तक तुम त्रिवेणी पर आ-आ कर चूक जाओगे; संगम पर पहुंच जाओगे और समाधि न बनेगी। बार-बार घर के करीब आ जाओगे और फिर भटक जाओगे।

मैंने सुना है, राबिया अलअदाबिया एक सूफी फकीर औरत गुजरती थी एक रास्ते से। उसने फकीर हसन को एक मस्जिद के सामने हाथ जोड़े खड़े देखा। और जोर से वह फकीर हसन कह रहा था, हे प्रभु! द्वार खोलो! कब से पुकारता हूं। कृपा करो! मुझ दीन पर अनुकंपा करो! द्वार खोलो!

हसन की आंखों से आंसू बह रहे हैं। राबिया वहां से निकलती थी, वह खड़ी हो गई, हंसने लगी। और उसने कहा, भाई मेरे आंख तो खोलो, जरा देखो भी, द्वार बंद कहां है? द्वार खुला ही है, जरा देखो तो।

हसन ने शास्त्रों में पढ़ा था। पढ़ा होगा जीसस का वचन: "पूछो, और मिलेगा! खटखटाओ, और खुलेगा!" शास्त्र से पढ़ा था: चीखो-पुकारो! आर्त तुम्हारी पुकार हो तो परमात्मा का द्वार खुलेगा। यह राबिया शास्त्र से पढ़ी हुई नहीं है। इसने देखा कि द्वार परमात्मा का कभी बंद ही नहीं। वह कहने लगी, भाई मेरे! आंख तो खोलो! नाहक शोरगुल मचा रहे हो! द्वार बंद कब था? द्वार खुला ही है--अपनी आंख चाहिए!

और यहां हम सब उधार आंखों से जी रहे हैं। साधारण जीवन में भी उधार आंख से नहीं जीया जा सकता, लेकिन हम उस अनंत की यात्रा पर उधार आंखें ले कर चल पड़े हैं।

एक आदमी था, बूढ़ा हो गया--उसकी आंखें चली गईं। चिकित्सकों ने कहा, आंखें ठीक हो सकती हैं, ऑपरेशन करवाना होगा, तीन महीने विश्राम करना होगा। उस बूढ़े ने कहा, "सार क्या? अस्सी साल का तो हो गया। फिर आंखों की मेरे घर में कमी क्या है? आठ मेरे लड़के हैं, सोलह उनकी आंखें; आठ उनकी बहुएं हैं, सोलह उनकी आंखें; मेरी पत्नी भी अभी जिंदा है, दो उसकी आंखें--ऐसे चौंतीस आंखें मेरे घर में हैं। दो आंखें न हुईं, क्या फर्क पड़ता है?" दलील तो जंचती है। लड़कों की आंखें, बहुओं की आंखें, पत्नी की आंखें--चौंतीस आंखें घर में हैं। न हुईं छत्तीस, चौतीस हुईं, क्या फर्क पड़ता है? दो आंख के कम होने से क्या बिगड़ता है? इतने तो सहारे हैं!

नहीं, वह राजी न हुआ ऑपरेशन को। और कहते हैं, उसी रात उस घर में आग लग गई। चौंतीस आंखें बाहर निकल गईं; बूढ़ा, अंधा बूढ़ा टटोलता, आग में झुलसता, चीखता-चिल्लाता रह गया। लड़के भाग गए, पत्नी भाग गई, बहुएं भाग गईं। जब घर में आग लगी हो तो याद किसे रह जाती है किसी और की! याद आती है बाहर जा कर। बाहर जा कर वे सब सोचने लगे, अब क्या करें? बूढ़े पिता को कैसे बचाएं? लेकिन जब आग लगी तो आंखें अपने पैरों को ले कर बाहर भाग गईं। दूसरे की याद कहां ऐसे संकट के क्षण में! समय कहां, सुविधा कहां कि दूसरे की याद कर लें! दूसरा तो सुविधा में, समय हो तो हम सोच पाते हैं। जब अपने प्राणों पर बनी हो तो कौन किसकी सोच पाता है!

वह बूढ़ा चीखने-चिल्लाने लगा और तब उसे याद आई कि मैंने बड़ा गलत तर्क दिया। आंख अपनी ही हो तो ही समय पर काम आती है।

और इस जीवन के भवन में आग लगी है। यहां हम रोज जल रहे हैं। यहां अपनी ही आंख काम आएगी, यहां दूसरे की आंख काम नहीं आ सकती। फिर बाहर की दुनिया में तो शायद दूसरे की आंख काम भी आ जाए, लेकिन भीतर की दुनिया में तो दूसरे का प्रवेश ही नहीं है; वहां तो तुम नितांत अकेले हो। वहां तो तुम्हीं हो, और कोई न कभी गया है और न कभी कोई जा सकता है। तुम्हारे अंतरतम में तुम्हारे अतिरिक्त किसी की गति नहीं है; वहां तो अपनी आंख होगी तो ही काम पड़ेगी।

इसलिए मैं कहता हूं कि ज्ञान और ज्ञान में भेद है।

जनक को जो हुआ वह असली ज्ञान है। वह पांडित्य नहीं है। वह प्रज्ञा की अभिव्यक्ति है। जल गया दीया!

सूफी एक कहानी कहते हैं। कहते हैं, एक युवा सत्य के खोजी ने अपने गुरु से कहा कि मैं क्या करूं? कैसे हो मेरा मन शांत? कैसे मिटे यह अंधेरा मेरे भीतर का? कैसे कटे मेरी मूर्च्छा का जाल? मुझे कुछ राह सुझाओ।

गुरु थोड़ी देर उसकी तरफ देखता रहा, फिर पास में रखी हुई उसने सूफियों की एक किताब दे दी और कहा, इसे पढ़! तल्लीन हो कर पढ़। डूब इसमें। लगा डुबकी! होगा मन शांत।

युवा खूब तन-मन से पढ़ने लगा। वह कुछ दिनों बाद आया। उसने कहा, आपने कहा, वह ठीक है; लेकिन बिलकुल ठीक नहीं। ठीक है, जब मैं पढ़ता हूं, डूब जाता हूं, रस-विभोर हो जाता हूं। संतों की वाणी जब मेरे आस-पास गूंजने लगती है तो मैं किसी और लोक में हो जाता हूं। बड़े दीये जल जाते हैं, बड़े कमल खिल जाते हैं। मगर फिर किताब बंद और सब बंद! फिर कमल विदा हो जाते हैं; दीए बुझ जाते हैं। फिर वही का वही अंधेरा, फिर मेरा वही पुराना अंधेरा। बार-बार ऐसा होता है, बार-बार फिर सब खो जाता है। संपदा बनती मालूम नहीं होती, सिर्फ सपना मालूम होती है।

गुरु हंसने लगा। उसने कहा, सुन! दो यात्री तीर्थयात्रा को गए। एक के पास लालटेन थी, दूसरे के पास लालटेन नहीं थी। दोनों साथ-साथ चलते। जिसके हाथ में लालटेन थी उसका प्रकाश दूसरे के भी काम आता। राह दोनों के लिए प्रकाशित हो जाती। लेकिन फिर ऐसी घड़ी आई, जब लालटेन वाले यात्री को अपना मार्ग

चुनना पड़ा। तो लालटेन वाला यात्री तो अपने मार्ग पर चला गया-- निश्चिंत, अभय! हाथ में अपना प्रकाश था। लेकिन जो यात्री अब तक प्रकाश में चला था, वह अचानक अंधेरे में खड़ा रह गया--भयातुर, कंपता हुआ।

ठीक ऐसी ही अवस्था शास्त्र के साथ होती है--गुरु ने कहा। जब तुम शास्त्र को पढ़ते हो तो दूसरे के प्रकाश में थोड़ी देर चल लेते हो; दूसरे के प्रकाश में सब साफ दिखायी पड़ने लगता है। फिर दूसरे का प्रकाश है, सदा के लिए तुम्हारा हो नहीं सकता। राहें जुदा हो जाती हैं। शास्त्र एक मार्ग पर चला जाता है, तुम एक मार्ग पर खड़े रह जाते हो, फिर अंधेरा घेर लेता है।

सत्संग में बहुत बार तुम्हारे भीतर भी दीया जलता है, मगर वह तुम्हारा दीया नहीं। वह बाहर, सदगुरु के दीये की झलक होती है। वह प्रतिबिंब होता है। शास्त्र को पढ़ते-पढ़ते कभी नासापुट सुगंध से भर जाते हैं; मगर वह तुम्हारी सुगंध नहीं। वह सुगंध किसी और की है। वह कहीं बाहर से आई है। उसका आविर्भाव भीतर से नहीं हुआ। वह जल्दी ही खो जाएगी।

और ध्यान रखना! देखा कभी राह पर चलते हो, अंधेरी राह है और फिर कोई तेज प्रकाश की कार निकल जाती है, तो क्षण भर को तो सब रोशन हो जाता है! लेकिन कार के चले जाने पर अंधेरा और भी घना हो जाता है, जितना पहले भी नहीं था। आंखें बिलकुल चुंधिया जाती हैं। कुछ नहीं दिखाई पड़ता। पहले तो थोड़ा-बहुत दिखाई भी पड़ता था।

अक्सर ऐसा होता है, शास्त्र के प्रकाश में या सदगुरु के प्रकाश में थोड़ी देर को तो बिजली चमक जाती है, सब साफ हो जाता है; लेकिन फिर ऐसा अंधेरा छाता है जैसा पहले भी नहीं था--और भी घना अंधेरा हो जाता है।

उस सूफी फकीर ने अपने शिष्य को कहा कि अब शास्त्र बंद कर, तेरा पहला पाठ पूरा हुआ, अब भीतर का दीया जला। ज्योति तेरे भीतर है। अपनी ज्योति जला। दूसरे की ज्योति में थोड़ी-बहुत देर कोई रोशनी में चल ले; यह सदा के लिए नहीं हो सकता; यह सनातन और शाश्वत यात्रा नहीं हो सकती। पराए प्रकाश में हम थोड़ी देर के लिए प्रकाशित हो लें; चाहिए तो होगा अपना ही प्रकाश।

इसलिए कहता हूं, ज्ञान और ज्ञान में भेद है। एक ज्ञान, जो तुम्हें दूसरे से मिलता है। उसे तुम सम्हाल कर मत बैठ जाना। यह मत सोच लेना कि मिल गई नाव, भवसागर पार हो जाएगा। दूसरा एक ज्ञान, जो तुम्हारी अंतर्ज्योति के जलने से मिलता है, वही तुम्हें पार ले जाएगा।

जनक को कुछ ऐसा हुआ। चोट पड़ी। भीतर का तम टूटा। अपनी ज्योति जली। यह ज्योति इतनी आकस्मिक रूप से जली कि जनक भी भरोसा नहीं कर पाते। इसलिए बार-बार कहे जाते हैं: "आश्चर्य! आश्चर्य! अहो, यह क्या हो गया?" देख रहे हैं कुछ हुआ--कुछ ऐसा हुआ कि पुराना सब गया और सब नया हो गया; कुछ ऐसा हुआ कि सब संबंध विच्छिन्न हो गए अतीत से; कुछ ऐसा हुआ कि अब तक जो मन की दुनिया थी, वह खंड-खंड हो गई, मन के पार का खुला आकाश दिखाई पड़ा। लेकिन यह इतना आकस्मिक हुआ है--अचंभित हैं, अवाक हैं, ठगे रह गए हैं! इसलिए हर वचन में आश्चर्य और आश्चर्य की बात कर रहे हैं।

आज का पहला सूत्र है:

अहो जनसमूहेऽपि न द्वैतं पश्यतो मम।
अरण्यमिव संवृत्तं क्व रतिं करवाण्यहम्।।

"आश्चर्य कि मुझे द्वैत दिखाई नहीं देता। जनसमूह भी मेरे लिए अरण्यवत हो गया है। तब मैं कहां मोह करूं, किससे मोह करूं, कैसे मोह करूं?"

दूसरा बचा ही नहीं मोह के लिए, कोई आश्रय न रहा!

"आश्चर्य कि मुझे द्वैत दिखाई नहीं देता।"

और ऐसा भी नहीं कि मैं अंधा हो गया हूं। दिखाई दे रहा है, खूब दिखाई दे रहा है! ऐसा दिखाई दे रहा है जैसा कभी दिखाई न दिया था। आंखें पहली दफे भरपूर खुली हैं--और द्वैत नहीं दिखाई दे रहा, एक ही दिखाई दे रहा है। सब किसी एक ही की तरंगें हो गए हैं। सब किसी एक ही संगीत के सुर हो गए हैं। सब किसी एक ही महावृक्ष के छोटे-छोटे पत्ते, शाखाएं, उपशाखाएं हो गए हैं। लेकिन जीवन-धार एक है! द्वैत नहीं दिखाई देता; अब तक द्वैत ही दिखाई दिया था।

तुमने सोचा है कभी? उन क्षणों में भी, जहां तुम चाहते हो द्वैत न दिखाई दे, वहां भी द्वैत ही दिखाई देता है। किसी से तुम्हारा प्रेम है। तुम चाहते हो, कम से कम यहां तो अद्वैत दिखाई दे। तुम चाहते हो, यहां तो कम से कम एकता हो जाए।

प्रेमी की तड़फन क्या है? प्रेमी की पीड़ा क्या है? प्रेमी की पीड़ा यही है कि जिससे वह एक होना चाहता है उससे भी दूरी बनी रहती है। कितने ही पास आओ, गले से गले मिलाओ--दूरी बनी रहती है। निकट आ कर भी निकटता कहां होती है? आत्मीय हो कर भी आत्मीयता कहां होती है?

प्रेमी की पीड़ा यही है: चाहता है कि कम से कम एक से तो अद्वैत हो जाए। अद्वैत की आकांक्षा हमारे प्राणों में पड़ी है। वह हमारी गहनतम आकांक्षा है। जिसको तुम प्रेम की आकांक्षा कहते हो, अगर गौर से समझोगे तो वह अद्वैत की आकांक्षा है। वह आकांक्षा है कि चलो न हो सकें सबसे एक, कम से कम एक से तो एक हो जाएं। कोई तो हो ऐसी जगह, जहां द्वि न हो, दूजा न हो, दूसरा न हो; जहां बीच में कोई खाली जगह न रह जाए; जहां सेतु बन जाए; जहां मिलन घटित हो।

प्रेम की आकांक्षा अद्वैत की आकांक्षा है। ठीक-ठीक तुमने व्याख्या न की होगी। तुमने ठीक-ठीक प्रेम की आकांक्षा का विश्लेषण न किया होगा। अगर तुम उसका विश्लेषण करो तो तुम पाओगे: समस्त धर्म प्रेम की ही आकांक्षा से पैदा होता है।

लेकिन प्रेमी भी एक नहीं हो पाते। क्योंकि एक होने के लिए प्रेम काफी नहीं। एक होने के लिए आकांक्षा काफी नहीं। एक होने के लिए एक को देखने की क्षमता चाहिए। देखने की क्षमता तो हमारी दो की है। देखते तो हम सदा दो को हैं। देखते तो हम भिन्नता को हैं। भिन्नता हमारे लिए तत्क्षण दिखाई पड़ती है। अभिन्नता हमें दिखाई नहीं पड़ती। अभिन्नता को देखने की हमारी क्षमता ही खो गई है। सीमा दिखाई पड़ती है, असीम दिखाई नहीं पड़ता। लहरें दिखाई पड़ती हैं, सागर दिखाई नहीं पड़ता। तुम दूसरों से कैसे भिन्न हो, यह दिखाई पड़ता है; तुम दूसरों से कैसे अभिन्न हो, यह दिखाई नहीं पड़ता।

अद्वैत तो तभी फल सकता है, जब दो के बीच जो शाश्वत सेतु है ही, वह दिखाई पड़े।

आश्चर्य, जनक कहने लगे, मुझे दिखाई देता है, लेकिन द्वैत दिखाई नहीं देता! यह क्या मामला है? यह क्या हो गया है मुझे? यह भरोसा नहीं आ रहा। यह घटना इतनी आकस्मिक हुई है। यह संबोधि ऐसे क्षण के अंश में घट गई है, धीरे-धीरे घटती तो आश्चर्य की कोई बात न थी।

बुद्ध ने ऐसा नहीं कहा है, कि आश्चर्य! महावीर ने ऐसा नहीं कहा है, कि आश्चर्य! जो घटा है, वह धीरे-धीरे घटा है, वह क्रमिक रूप से घटा है। जो घटा है वह एकदम छप्पर टूट कर नहीं घटा है।

तुम एक-एक पैसा जोड़ो, करोड़ों रुपये जोड़ लो, तो भी आश्चर्य न होगा। लेकिन राह के किनारे करोड़ों रुपए अचानक पड़े मिल जाएं तो तुम भरोसा न कर कर पाओगे। तुम बार-बार अपनी आंखों को साफ करके देखोगे कि मुझे, और करोड़ों रुपये मिल गए, यह मामला सच है कि कोई सपना तो नहीं देख रहा हूं? क्योंकि तुम्हारे जीवन भर का अनुभव तो यह है कि जो भी तुम छूते हो, मिट्टी हो जाता है; सोना छूते हो, मिट्टी हो जाता है। यह मामला क्या है? यह तुम्हारे साथ ऐसा अघट घट रहा है कि आज मिट्टी सोना हो कर पड़ी है। तुम्हें अपने पर भरोसा न आएगा। तुम यह मान न सकोगे एकदम से।

तो जब संबोधि की घटना क्रमशः घटती है, किरण-किरण सूरज उतरता है, एक किरण उतरी, दूसरी किरण उतरी, तीसरी किरण उतरी--इसके पहले कि दूसरी किरण उतरे, तुम एक किरण को अपने में आत्मसात कर लेते हो, तुम दूसरी के लिए तैयार हो जाते हो। यह जनक के लिए कुछ ऐसा हुआ जैसे आधी रात, अंधेरे में सूरज अचानक निकल आए; सारे जन्मों-जन्मों का अनुभव एकदम गलत हो जाए। सूरज सदा सुबह ही निकलता रहा था, यह अचानक आधी रात निकल आया! या कुछ ऐसा हो जाए कि हजार सूरज एक साथ निकल आएं तो भरोसा न आएगा। पहली बात तो यही खयाल में आए कि कहीं मैं पागल या विक्षिप्त तो नहीं हो गया!

इसलिए जब कभी ऐसी अनूठी घटना घटती है तो गुरु की मौजूदगी अत्यंत आवश्यक है, अन्यथा व्यक्ति पागल हो जाएगा। जनक पागल हो सकते थे अगर अष्टावक्र की मौजूदगी न होती। अष्टावक्र की मौजूदगी भरोसा देगी, आश्वासन देगी। अष्टावक्र चुपचाप सुन रहे हैं, देखते हो? जनक कहे जाते हैं, अष्टावक्र चुपचाप सुन रहे हैं। एक शब्द नहीं बोले। वे चाहते हैं, बह जाए यह आश्चर्य। एक बार इसे कह लेने दो जो हुआ है; इसके भीतर जो घटा है, इसको फूट कर बह जाने दो।

तुमने देखा, कोई आदमी को दुख घटता है, वह अगर दुख कह ले तो मन हलका हो जाता है! तुम्हें अभी दूसरी घटना का पता नहीं कि जब सुख घटता है तो भी न कहो तो हलका नहीं हो पाता आदमी। सुख घटा नहीं, इसलिए उस घटना का तुम्हें अनुभव नहीं है।

ये सारे जगत के बड़े शास्त्र जन्मे, ये इसलिए जन्मे कि जब आनंद घटा तो जिसको घटा वह बिना कहे न रह सका। उसे कहना ही पड़ा। कह कर वह हलका हुआ। चार को सुना कर बोझ टला। दुख का ही बोझ नहीं होता, सुख की भी बड़ी घनी पीड़ा होती है। मधुर! आनंद की भी बड़ी घनी पीड़ा होती है, जैसे तीर चुभ जाए। गुनगुनाना होगा; गाना होगा, नाचना होगा। पद घुंघरू बांध मीरा नाची! वह नाचना ही पड़ा। वह जो घटा है भीतर, वह इतना बड़ा है कि वह तुम्हें अगर डांवांडोल न करे तो घटा ही नहीं। वह अगर तुम्हें नचा न दे तो घटा ही नहीं। वह तुम्हें कंपा न दे तो घटा ही नहीं।

जैसे बड़े तूफान में वृक्ष की छोटी-सी पत्ती नाचती हो, कांपती हो--ऐसा जनक कंप गए होंगे।

"आश्चर्य कि मुझे द्वैत दिखाई नहीं देता।"

यह मेरी आंखों को क्या हुआ? सदा द्वैत ही देखा था, अनेक देखा था; आज सब एक हो गया है। एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति में मिला हुआ मालूम पड़ता है। सबकी सीमाएं एक-दूसरे में लीन हुई मालूम होती हैं। सब एक-दूसरे में प्रविष्ट हुए मालूम होते हैं। यह हुआ क्या!

तुम यहां बैठे हो, अगर अचानक तुम्हें जनक जैसी घटना घटे तो तुम क्या देखोगे? तुम यह नहीं देखोगे, यहां इतने लोग बैठे हैं; तुम देखोगे, यह मामला क्या है? ये इतने लोग अचानक खो गए? रूप तो बैठे हैं, लेकिन एक की आत्मा दूसरे में बह रही है, दूसरे की आत्मा तीसरे में बह रही है, सब एक-दूसरे में बहे जा रहे हैं। यह हुआ क्या है? ये लोग फूट क्यों गए? इनके घड़े टूट क्यों गए? इनके प्राण एक दूसरे में क्यों उतरे जा रहे हैं?

ऐसा ही हो रहा है; तुम्हें दिखाई नहीं पड़ता है, इसलिए एक बात है। ऐसा ही हो रहा है। तुम्हारी श्वास दूसरे में जा रही है, दूसरे की श्वास तुम में आ रही है। तुम्हारी ऊर्जा दूसरे में जा रही है, दूसरे की ऊर्जा तुम में आ रही है।

अब तो इसके वैज्ञानिक प्रमाण हैं कि हम एक-दूसरे में बहते रहते हैं। इसीलिए तो ऐसा हो जाता है कि अगर तुम किसी उदास आदमी के पास बैठो तो तुम उदास हो जाते हो। उसका उदास प्राण तुम में बहने लगता है। तुम किसी हंसते, प्रसन्नचित्त आदमी के पास बैठो, उसकी प्रसन्नचित्तता तुम्हें छूने लगती है, संक्रामक हो जाती है; कोई तुम्हारे भीतर हंसने लगता है। तुम कभी-कभी चकित भी होते हो कि हंसी का मुझे तो कोई कारण न था, मैं कोई प्रसन्नचित्त अवस्था में भी न था; लेकिन हुआ क्या? दूसरे तुम में बह गए।

वैज्ञानिक कहते हैं कि जब तुम किसी की तरफ बहुत प्रेम से देखते हो तो तुम्हारे भीतर से एक ऊर्जा उसकी तरफ बहती है। अब इस ऊर्जा को नापने के भी उपाय हैं। तुम्हारी तरफ से एक विशिष्ट ऊष्मा, गर्मी उसकी तरफ प्रवाहित होती है--ठीक वैसे ही जैसे विद्युत के प्रवाह होते हैं; ठीक वैसे ही विद्युतधारा तुम्हारी तरफ से उसकी तरफ बहने लगती है।

इसलिए अगर तुम्हें कोई प्रेम से देखे तो अपनी प्रेम की आंख को छिपा नहीं सकता, तुम पहचान ही लोगे। तुम्हें जब कोई घृणा से देखता है, तब भी छिपा नहीं सकता; क्योंकि घृणा के क्षण में भी एक विध्वंसात्मक ऊर्जा छुरी की तरह तुम्हारी तरफ आती है, चुभ जाती है।

प्रेम तुम्हें खिला जाता है, घृणा तुम्हें मार जाती है। घृणा में एक जहर है, प्रेम में एक अमृत है।

रूस में एक महिला है, उस पर बड़े वैज्ञानिक प्रयोग हुए हैं। वह सिर्फ किसी वस्तु पर ध्यान करके उसे चला देती है। टेबल के ऊपर--वह दस फीट की दूरी पर खड़ी है--और एक बर्तन रखा है। वह एक पांच मिनट तक उस पर ध्यान करती रहेगी, उसकी आंखें उस पर एकजुट जम जाएंगी और बर्तन कंपने लगेगा। और वह अगर कहेगी कि बाएं चलो, तो बर्तन बाएं सरकने लगेगा; दाएं चलो, तो बर्तन दाएं सरकने लगेगा।

इस पर बहुत अध्ययन हुआ है कि मामला क्या है। लेकिन एक और आश्चर्य की घटना पता चली कि अगर वह पांच मिनट यह प्रयोग करे तो उसका आधा किलो वजन कम हो जाता है। तो ऊर्जा निश्चित ही प्रवाहित हुई। उसने ऊर्जा खोई। पांच मिनट के प्रयोग में उसने काफी जोर से ऊर्जा को फेंका। उसी ऊर्जा के धक्के में बर्तन हटने लगा, सरकने लगा, बंध गया।

हम एक-दूसरे में बह रहे हैं--जानें हम, न जानें हम।

तुमने यह भी देखा होगा कि कुछ व्यक्ति ऐसे होते हैं जिनके पास तुम्हें बहाव मालूम होगा; जैसे तुम किसी नदी की धारा में पड़ गए, जो बह रही है। उनके साथ तुम रहोगे तो ताजगी मालूम होगी। उनके साथ तुम रहोगे तो एक प्रवाह है, गति मालूम होगी। फिर कुछ ऐसे लोग हैं जो डबरों की तरह हैं; उनके पास तुम रहोगे तो ऐसा लगेगा, तुम भी कुंद हुए, बंद हुए, कहीं बहाव नहीं मालूम होता, सड़ांध-सी मालूम होती है, सब रुका-रुका, द्वार-दरवाजे बंद, नई हवा नहीं, नई रोशनी नहीं।

तुमने जाना होगा, देखा होगा। तुम जिनको आमतौर से साधु-संत कहते हो, वे ऐसे ही डबरे हैं। उनके पास तुम जा कर बैठो, थोड़ी देर ठीक, चौबीस घंटे किसी संत के पास रहना बड़ा मुश्किल है; वह तुम्हारी जान लेने लगेगा। उसके पास तुम हंस न सकोगे जोर से, तुम मजाक न कर सकोगे, तुम गीत न गुनगुना सकोगे। वह खुद भी बंद है, वह तुम्हें भी बंद करेगा। वह खुद अकड़ा बैठा है, वह तुम्हें भी अकड़ाएगा। उसने सब द्वार-दरवाजे अपने बंद कर लिए हैं। वह कब्र बन गया है, वह तुमको भी कब्र बना देगा।

इसीलिए तो लोग साधु-संतों के दर्शन करके एकदम भागते हैं। नमस्कार महाराज--और भागे! पैर छुए--और भागे! ठीक ही करते हैं। किसी आंतरिक अनुभूति के बल ऐसा करते हैं। पूजा कर लेते हैं, सत्संग नहीं करते। सत्संग खतरनाक हो सकता है।

जिन व्यक्तियों के पास प्रवाह मालूम होता है, जिनके पास तुम्हारे जीवन में भी स्फुरणा होती है, तुम्हारे भीतर भी कुछ कंपने लगता है, डोलने लगता है, गति होने लगती है--उसका केवल इतना ही अर्थ है कि वे लोग तुम्हारे भीतर अपने प्राणों को डालते हैं; वे तुम्हें कुछ देने को तत्पर हैं; कंजूस नहीं हैं, कृपण नहीं हैं। और जो तुम्हारे भीतर कुछ डालता है वह तुम्हें भी तत्पर करता है कि तुम भी दो! तुम्हारे भीतर भी प्रतिध्वनि उठती है, संवेदन उठता है।

और आदमी जितना बहे, उतना ही शुद्ध रहता है। ऐसे हम चेष्टा कर-कर के अपने को रोके हुए हैं कि बह न जाएं। जब जनक को पहली दफा दिखाई पड़ा होगा कि अरे, यह सब चेष्टा व्यर्थ है। कितना ही ऊपर-ऊपर से रोकते रहो, लेकिन भीतर तो हम सब जुड़े हैं। हम समुद्र में उठे छोटे-छोटे द्वीप नहीं हैं; हम महाद्वीप हैं; हम सब

जुड़े हैं। और द्वीप भी जो दिखाई पड़ता है सागर में उठा छोटा-सा, वह भी नीचे गहराइयों में तो पृथ्वी से जुड़ा है, महाद्वीप से जुड़ा है। जुड़े हम सब हैं। इस जोड़ का दर्शन जनक को हुआ, तो वे कहने लगे:

अहो जनसमूहेऽपि न द्वैतं पश्यतो मम!

इतना जन-समूह देख रहा हूं, लेकिन द्वैत नहीं दिखाई पड़ता! ऐसा लगता है कि इन सबके भीतर एक ही कोई जी रहा है, एक ही श्वास ले रहा है, एक ही प्राण प्रवाहित है। और यह सारा संसार मेरे लिए अरण्यवत हो गया।

जैसे कि कोई आदमी जंगल में भटक जाए--कभी तुम जंगल में भटक गए हो?--जैसे कभी कोई आदमी जंगल में भटक जाए तो वहां घर थोड़े ही बनाता है! भटका हुआ आदमी तो राह खोजता है कि कैसे बाहर निकल जाऊं? कितने ही सुंदर दृश्य हों आसपास, उनको थोड़े ही देखता है। भटका हुआ आदमी तो बस खोज करता है कि कैसे इस अरण्य के बाहर निकल जाऊं। न वहां घर बनाता, न वहां सुंदर फूलों को देखता, न वहां सुंदर वृक्षों से मोह लगाता।

जनक कहते हैं कि मेरे लिए यह संसार अरण्यवत हो गया है। इस नए बोध में इस संसार का सारा काम मुझे एकदम जंगल जैसा हो गया है; जैसे मैं भटका था इसमें अब तक, अब बाहर निकलना चाहता हूं। और मैं अब चकित हो रहा हूं: तब कहां मैं मोह करूं? इस भटकी हुई अवस्था में, इस जंगल में, इस अरण्य में कहां मैं मोह करूं, किससे मोह करूं?

अब तक लोगों ने कहा होगा जनक को भी--वे बड़े ज्ञानियों का सत्संग करते थे, पंडितों का सत्संग करते थे, बड़े गुण-ग्राहक थे--न मालूम कितने लोगों ने कहा होगा: छोड़ो मोह! छोड़ो माया! लेकिन आज जनक पूछते हैं कि छोड़ो माया-मोह, यह तो बात ही फिजूल है। करो कैसे? करना चाहूं तो भी करने का उपाय नहीं दिखाई पड़ता, क्योंकि दूसरा कोई है ही नहीं जिससे मोह करो; मैं ही बचा हूं।

"मैं शरीर नहीं हूं। मेरा शरीर नहीं है। मैं जीव नहीं हूं। निश्चय ही मैं चैतन्यमात्र हूं। मेरा यही बंध था कि मेरे जीने में इच्छा थी।"

"मैं शरीर नहीं...!"

नाहं देहो न मे देहो जीवो नाहमहं हि चित्!

"मैं शरीर नहीं हूं। मेरा शरीर नहीं है। मैं जीव भी नहीं हूं। मैं तो केवल चैतन्य हूं।"

ऐसी प्रतीति हो रही है। यह कोई सिद्धांत नहीं है। ऐसा साक्षात्कार हो रहा है। ऐसा दर्शन हो रहा है। ऐसा जनक देख रहे हैं। यहां वे किसी दर्शनशास्त्र की बात नहीं कर रहे हैं; जो उन्हीं प्रतीत हो रहा है उसी को शब्द दे रहे, अभिव्यक्ति दे रहे हैं।

"मेरा यही बंध था कि मेरी जीने में इच्छा थी।"

जीवेषणा मेरा बंध था। मैं जीना चाहता था, यही मेरा बंध था। और कोई बंध न था। लेकिन अब तो जीवेषणा भी कहां रखूं? किससे मोह करूं? क्योंकि अब तो मैं देख रहा हूं, जो है वह शाश्वत और सनातन है; न कभी जन्मा, न कभी मरा। यह देह तो जन्मती और मरती है। ये श्वासें तो आज चलती हैं; कल नहीं चलेंगी। यह मन जो आज तरंगायित है, कल शांत हो जाएगा। ये प्राण जन्मे, मर जाएंगे। लेकिन अब मुझे एक बात सीधी-साफ दिखाई पड़ रही है, निश्चयपूर्वक दिखाई पड़ रही है कि मैं सिर्फ चैतन्य हूं, साक्षी हूं।

बंगाल में एक हंसोड़ आदमी हुआ: गोपाल भांड। उसके संबंध में बड़ी प्यारी कहानियां हैं। एक कहानी तो अति मधुर है। वह जिस नवाब के दरबार में लोगों को हंसाने का काम करता था, दरबारी उससे बड़े नाराज थे। क्योंकि वह सम्राट को धीरे-धीरे बहुत प्यारा हो गया था। जो हंसी ले आए जीवन में, वह अगर प्यारा न हो जाए तो और क्या हो? उसके पास बड़ी विलक्षण प्रतिभा थी, इसलिएर् ईष्या भी स्वाभाविक थी। उसे हराने की वे बड़ी सोच करते थे, लेकिन कुछ उपाय न खोज पाते थे। आखिर एक दिन कोई उपाय न देख कर उन्होंने

गोपाल भांड को पकड़ लिया और कहा कि आज तो तुझे राज बताना पड़ेगा कि तेरी प्रतिभा का राज क्या है? गांव में ऐसी अफवाह है कि तेरे पास सुखदामणि है। तूने कुछ सिद्धि कर ली है और तुझे सुखदा नाम की मणि मिल गई है, जिसकी वजह से न केवल तू सुख में रहता है, तू दूसरों को भी सुखी करता है, और यही तेरे चमत्कार का और तेरे प्रभाव का राज है। वह सुखदामणि हमें दे दे, अन्यथा ठीक न होगा।

दरबारी उसकी मारपीट भी करने लगे। उसने कहा कि ठहरो, तुम ठीक कहते हो। अफवाह सच है। सुखदामणि मेरे पास है। लेकिन कोई चुरा न ले, कोई छीन न ले, इसलिए मैंने उसे जंगल में गड़ा दिया है। मैं तुम्हें बता देता हूं, तुम खोद लो।

पूर्णिमा की रात, वह सब दरबारियों को ले कर जंगल में गया। एक वृक्ष के नीचे बैठ गया। वे पूछने लगे, बोलो, कहां गड़ायी है?

उसने कहा कि अब तुम खोज लो जगह। सूत्र यह है कि जिस जगह पर खड़े होने से चांद तुम्हारे सिर पर चमकता हो, उसी जगह गड़ी है।

वे दरबारी भागे, खोजने लगे स्थान, लेकिन जो दरबारी जहां खड़ा हुआ, पूर्णिमा का चांद था, ठीक सिर के ऊपर था। वह सभी स्थानों पर सिर के ऊपर था तो वे जगह-जगह खोदने लगे। रात भर खोदते रहे, कई जगह खोदा। और गोपाल भांड वृक्ष के नीचे आराम से सोया रहा। सुबह उन्होंने उससे कहा कि तुम धोखा दे रहे हो। हमने सारा स्थान खोद डाला वृक्ष के आस-पास। रात भर हम थक गए खोद-खोद कर। वह सुखदामणि का कोई पता नहीं।

गोपाल भांड हंसने लगा। उसने कहा, मैंने कहा था कि जहां सिर पर चांद चमकता है, वहीं सुखदामणि गड़ी है। वह तुम्हारी खोपड़ी में गड़ी है, कोई जमीन में थोड़े ही गड़ी है। वह तुम्हारे सिर में है।

वह तुम्हारे चैतन्य में है। वह तुम्हारे साक्षी में है। जो साक्षी हो जाता, वह सुखी हो जाता।

जनक कहने लगे, न मैं शरीर, न शरीर मेरा, मैं जीव नहीं। निश्चय ही मैं चैतन्य हूं। मेरा यही बंध था कि मेरी जीने में इच्छा थी।

एकमात्र बंधन है जीवन में कि हम जीना चाहते हैं। अब यह बड़े आश्चर्य की बात है। तुमने कभी देखा सड़क पर किसी को घिसटते हुए--पैर टूट गए, हाथ टूट गए, मरणासन्न है--फिर भी जीना चाहता है, फिर भी घिसट कर भीख मांगता है। तुम यह मत सोचना कि अगर तुम उसकी जगह होते तो आत्महत्या कर लेते। आसान नहीं। जीने का मोह बड़ा गहरा है। जीने का मोह ऐसा गहरा है कि आदमी किसी भी स्थिति में जीना चाहता है, किसी भी स्थिति के लिए राजी हो जाता है।

कुछ लोग आत्महत्या करते हैं, इसलिए तुम्हें लगता होगा: उनके संबंध में क्या? जो लोग आत्महत्या करते हैं, वे लोग भी जीने की आकांक्षा से ही आत्महत्या करते हैं। मरने के लिए कोई आत्महत्या नहीं करता। लोगों के जीने की शर्तें हैं। कोई कहता है, मेरे पास करोड़ रुपए होंगे तो ही मैं जीऊंगा। दीवाला निकल गया, करोड़ रुपए हाथ से खिसक गए--वह कहता है, अब जीने में क्या सार! उसके जीने की एक बड़ी शर्त थी जो टूट गई। उसने जीने के लिए एक खास ढंग चुना था जो अब संभव नहीं रहा। वह कहता है, हम मर जाएंगे। वह मरता जीने की ही किसी विशेष शर्त के लिए है।

किसी ने कहा, मैं किसी स्त्री के साथ रहूंगा तो ही रहूंगा, नहीं तो मर जाऊंगा। किसी स्त्री ने कहा, किसी पुरुष को पा लूंगी, तो रहूंगी, नहीं तो मर जाऊंगी। ये कोई मरने की बातें नहीं हैं, ये सब जीने के ही आग्रह हैं। जीना जैसा चाहा था वैसा न हो सका तो लोग मरने तक को तैयार हैं। जीने के लिए लोग मरने तक को तैयार हैं।

अगर आत्महत्या कभी घटती है तो वह तो किसी बुद्ध, किसी जनक, किसी अष्टावक्र, किसी महावीर की घटती है। वे ठीक आत्महत्या करते हैं। क्योंकि उसके बाद फिर कोई जन्म नहीं है। वे जीने के लिए मरने की तो

बात दूसरी, वे जीने के लिए जीना भी नहीं चाहते। वे जीवेषणा को ही समझ लेते हैं कि यह जीवेषणा एक धोखा है।

इसे समझें। जब दिखाई पड़ता है समाधि की आंखों से, ध्यान की आंखों से, तो दिखाई पड़ता है जीवन तो "है" ही, यह तो कभी "नहीं" हो ही नहीं सकता! यह तो बड़े पागलपन की बात है कि जो तुम हो ही, उसकी आकांक्षा कर रहे हो। यह तो ऐसा ही है कि तुम्हारे पास धन है और तुम धन मांग रहे हो। यह तो ऐसा ही है कि जो तुम्हारे पास है ही, उसके लिए तुम भिक्षा मांगते वन-वन में भटकते फिर रहे हो। जिस दिन यह दिखाई पड़ता है, जिस दिन अपना वास्तविक जीवन दिखाई पड़ता है, उसी क्षण जीवेषणा खो जाती है। जब तक तुमने अपने जीवन को किसी गलत चीज से जोड़ा है--किसी ने शरीर से जोड़ा है--किसी ने कहा, मैं शरीर हूं, तो अड़चन आएगी, क्योंकि शरीर तो कल मरेगा, शरीर के मरने के भय के कारण जीवेषणा पैदा होगी।

मैंने सुना है, एक पुरानी तिब्बती कथा है कि दो उल्लू एक वृक्ष पर आ कर बैठे। एक ने सांप अपने मुंह में पकड़ रखा था। भोजन था उनका, सुबह के नाश्ते की तैयारी थी। दूसरा एक चूहा पकड़ लाया था। दोनों जैसे ही बैठे वृक्ष पर पास-पास आ कर--एक के मुंह में सांप, एक के मुंह में चूहा। सांप ने चूहे को देखा तो वह यह भूल ही गया कि वह उल्लू के मुंह में है और मौत के करीब है। चूहे को देख कर उसके मुंह में रसधार बहने लगी। वह भूल ही गया कि मौत के मुंह में है। उसको अपनी जीवेषणा ने पकड़ लिया। और चूहे ने जैसे ही देखा सांप को, वह भयभीत हो गया, वह कंपने लगा। ऐसे मौत के मुंह में बैठा है, मगर सांप को देख कर कंपने लगा। वे दोनों उल्लू बड़े हैरान हुए। एक उल्लू ने दूसरे उल्लू से पूछा कि भाई, इसका कुछ राज समझे? दूसरे ने कहा, बिलकुल समझ में आया। जीभ की, रस की, स्वाद की इच्छा इतनी प्रबल है कि सामने मृत्यु खड़ी हो तो भी दिखाई नहीं पड़ती। और यह भी समझ में आया कि भय मौत से भी बड़ा भय है। मौत सामने खड़ी है, उससे यह भयभीत नहीं है चूहा; लेकिन भय से भयभीत है कि कहीं सांप हमला न कर दे।

मौत से हम भयभीत नहीं हैं; हम भय से ज्यादा भयभीत हैं।

और लोभ स्वाद का, इंद्रियों का, जीवेषणा का इतना प्रगाढ़ है कि मौत चौबीस घंटे खड़ी है, तो भी हमें दिखाई नहीं पड़ती। हम अंधे हैं।

शरीर से जिसने अपने को बांधा, वह अड़चन में रहेगा। क्योंकि लाख झुठलाओ, लाख समझाओ, यह बात भुलाई नहीं जा सकती कि शरीर मरेगा। रोज तो कोई मरता--कहां-कहां आंखें चुराओ, कैसे बचो इस तथ्य से कि मृत्यु होती है? रोज तो चिता सजती। रोज तो "राम-राम सत्य" कहते लोग निकलते। हमने सब उपाय किए हैं कि मौत का हमें ज्यादा पता न चले। मरघट हम गांव के बाहर इसीलिए बनाते हैं; बनाना चाहिए बीच में गांव के, ताकि सबको पता चले। एक लाश जले तो पूरे गांव को जलने का पता हो। बनाते हैं गांव के बाहर। स्त्रियां अपने छोटे बच्चों को भीतर कर लेती हैं; लाश निकलती हो, दरवाजे बंद कर देती हैं, कि कोई मर गया, भीतर आ जाओ! देखो मत मौत!

मौत की हम ज्यादा बात नहीं करते, चर्चा भी नहीं करते। मरघट पर भी जो लोग जाते हैं मुर्दों को ले कर, वे भी दूसरी बातें करते हैं मरघट पर बैठ कर। इधर लाश जलती रहती है, वे बातें करते हैं: फिल्म कौन-सी चल रही है? कौन-सा नेता जीतने के करीब है, कौन-सा हारेगा? चुनाव होगा कि नहीं? राजनीति, और हजार बातें! उधर लाश जल रही है!

ये सब बातें तरकीबें हैं। ये तरकीबें हैं एक परदा खड़ा करने की कि जलने दो, कोई दूसरा मर रहा है, हम थोड़े ही मर गए हैं!

हम दूसरे के मर जाने पर बड़ी सहानुभूति भी प्रगट करते हैं--वह भी तरकीब है। किससे सहानुभूति प्रगट कर रहे हो? उसी क्यू में तुम भी खड़े हो। एक खिसका, क्यू थोड़ा और आगे बढ़ गया, मौत तुम्हारी थोड़ी और करीब आ बई। नंबर करीब आया जाता है, खिड़की पर तुम जल्दी पहुंच जाओगे।

लेकिन हम कहते हैं, बड़ा बुरा हुआ, बेचारा मर गया! लेकिन एक गहन भ्रांति हम भीतर पालते हैं कि सदा कोई और मरता है। मैं थोड़े ही मरता हूं, सदा कोई और मरता है!

मगर फिर भी कितने ही उपाय करो, यह सत्य है कि शरीर के साथ तो सदा जीवन नहीं हो सकता। कितना ही लंबाओ, सौ वर्ष जीयो, दो सौ वर्ष जीयो, तीन सौ वर्ष जीयो--क्या फर्क पड़ता है? विज्ञान कभी न कभी यह व्यवस्था कर देगा कि आदमी और लंबा जीने लगे। मगर इससे भी क्या फर्क पड़ता है? मौत को थोड़ा पीछे हटा दो, लेकिन खड़ी तो रहेगी। थोड़े धक्के दे दो, लेकिन हटेगी तो नहीं। शरीर तो जायेगा।

इसलिए शरीर चला जाए, कहीं शरीर चला न जाए, हम घबड़ा कर जीवन की आकांक्षा करते हैं कि मैं बना रहूं! इस जीवन की आकांक्षा में धन इकट्ठा करते हैं, पद जुटाते, सब तरह की भ्रांति खड़ी करते हैं कि और सब मरेंगे, मैं नहीं मरूंगा। सब तरह की सुरक्षा। फिर भी मौत तो आती है।

शरीर से जिसने अपने को जोड़ा है, वह कितना ही धोखा दे, धोखा धोखा ही है। फूट-फूट कर धोखे के परदे के पार मौत दिखाई पड़ती रहेगी। और जितनी मौत दिखाई पड़ती है, उतनी ही जीवेषणा पैदा होती है; उतना ही आदमी जीवन को घबड़ा कर पकड़ता है कि कहीं छूट न जाऊं।

जनक को दिखाई पड़ा उस दिन कि यह भी क्या मजा है, हम मर ही नहीं सकते, हम अमृत हैं! अमृत पुत्रः! यह शरीर से हमने अपने को एक समझा, इसलिए मौत। प्राण से एक समझा, इसलिए मौत। मन से एक समझा, इसलिए मौत। इनके पार हम अपने को देख लें, फिर कैसी मौत? साक्षी की कैसी मौत? चैतन्य की कैसी मौत? एक ही बंध था--जीने में इच्छा थी।

अहम् देहः न--मैं देह नहीं।

मे देहः न--देह मेरी नहीं।

अहम् जीवः न--मैं जीव नहीं। यह तथाकथित जो जीवन दिखाई पड़ता है, यह मैं नहीं।

अहम् हि चित्--मैं तो निश्चित रूप से चैतन्य हूं।

मे एव बंध या जीविते स्पृहा आसीत--बस एक था बंधन मेरा कि जीने की स्पृहा थी, आकांक्षा थी। अब तो मैं जान गया कि मैं स्वयं जीवन हूं, जीने की आकांक्षा पागलपन है! मैं सम्राट हूं, व्यर्थ ही भिखारी बना था।

"आश्चर्य कि अनंत समुद्ररूप मुझमें चित्तरूपी हवा के उठने पर शीघ्र ही विचित्र जगतरूपी तरंगें पैदा होती हैं।"

अब आश्चर्य होता है--जनक कहते हैं--यह जानकर, कि जैसे हवा की तरंगें शांत झील में लहरें उठा जाती हैं, ऐसी ही चित्त की हवा मेरी शांत आत्मा में हजार-हजार लहरें उठा जाती है। वे लहरें मेरी नहीं हैं। वे लहरें चित्त की हवा के कारण हैं।

"आश्चर्य है कि अनंत समुद्ररूप मुझमें चित्तरूपी हवा के उठने पर शीघ्र ही विचित्र जगतरूपी तरंगें पैदा होती हैं।"

और कैसे-कैसे विचित्र सपने पैदा हो जाते हैं! और कैसे-कैसे माया और मोह और लोभ! और कैसे-कैसे जाल खड़े हो जाते हैं! फिर एक बार इन जालों का हम अभ्यास कर लेते हैं तो छूटना मुश्किल हो जाता है।

मैंने सुना है कि एक यूनानी संगीतज्ञ था। जब भी कोई उसके पास संगीत सीखने आता तो पूछता कि तुमने पहले कहीं और तो नहीं सीखा है? संगीत के संबंध में कुछ जानते तो नहीं हो?

अगर कोई व्यक्ति कहता कि मैं बिलकुल संगीत के संबंध में कुछ नहीं जानता तो वह आधी फीस लेता। अगर कोई कहता कि मैं कुछ जानता हूं तो दुगनी फीस मांगता। दो व्यक्ति साथ ही साथ आए थे--एक बिलकुल कोरा कागज और एक ख्यातिनाम संगीतज्ञ था, काफी जानता था, कुशल संगीतज्ञ था। और जब उस गुरु ने कहा कि जो बिलकुल नहीं जानता, उससे आधी फीस; और तुम, जो जानते हो, तुमसे दुगनी फीस! तो वह कहने लगा, यह अन्याय है। यह क्या मामला है? इसका अर्थ? तो वह संगीत-गुरु कहने लगा, इसका अर्थ सीधा है। जो

नहीं जानता उसे हम सिर्फ सिखाएंगे। तुम जानते हो, पहले तुम्हें भुलाएंगे। तुम जो जानते हो, पहले उसे मिटाएंगे, तब तुम सीख सकोगे।

संसार में हमारा असली सवाल एक ही है कि हमने जन्मों-जन्मों में कुछ अभ्यास कर लिए हैं। कुछ गलत बातें हम ऐसी प्रगाढ़ता से सीख गए हैं कि अब उन्हें कैसे भूलें, यही अड़चन है। यह बात हमने खूब गहराई से सीख ली है कि मैं शरीर हूं। भाषा, समाज, समूह, संस्कार सब इसी बात के हैं।

भूख लगती है, तुम कहते हो: मुझे भूख लगी है। जरा सोचो, अगर तुम इस वाक्य को ऐसा कहो कि शरीर को भूख लगी है, ऐसा मैं देखता हूं--तुम फर्क समझते हो कितना भारी हो जाता है? तुम कहते हो, मुझे भूख लगी, तो तुम घोषणा कर रहे हो कि मैं देह हूं। जब तुम कहते हो शरीर को भूख लगी, ऐसा मैं देखता हूं, जानता हूं--तो तुम यह कह रहे हो कि शरीर मुझसे अलग, मैं ज्ञाता हूं, द्रष्टा हूं, साक्षी हूं।

जब कोई तुम्हें गाली देता है और तुम्हारे मन में तरंगें उठती हैं तो तुम कहते हो मुझे क्रोध हो गया, तो तुम गलत बात कह रहे हो। तुम इतना ही कहो कि मन क्रोधित हो गया, ऐसा मैं देखता हूं। तुम मन ही नहीं हो; वह जो मन में क्रोध उठ रहा है, उसको देखने वाले हो। अगर तुम मन ही होते तब तो तुम्हें पता ही नहीं चल सकता था कि मुझे क्रोध हो गया है, क्योंकि तुम तो क्रोध ही हो गए होते; पता किसको चलता?

अगर तुम शरीर ही होते तो तुम्हें कभी पता नहीं चलता कि भूख लगी है, क्योंकि तुम तो भूख ही हो गए होते; पता किसको चलता? पता चलने के लिए तो थोड़ा फासला चाहिए। शरीर को भूख लगती है, तुमको पता चलता है। शरीर में भूख लगती है, तुम में पता चलता है। तुम सिर्फ बोध-मात्र हो।

अगर हमारी भाषा ज्यादा वैज्ञानिक और धार्मिक हो, अगर हमारे संस्कार चैतन्य की तरफ हों, शरीर की तरफ नहीं, तो बड़ी अड़चनें कम हो जाएं।

"अनंत समुद्ररूप मुझमें चित्तरूपी हवा के शांत होने पर जीवरूप वणिक के अभाग्य से जगतरूपी नौका नष्ट हो जाती है।"

और जब यह चित्तरूपी हवा शांत हो जाती है, लहरें खो जाती हैं और चेतना की झील मौन हो जाती है, तो फिर जीवरूप वणिक की नौका विनष्ट हो जाती है। जगतपोतः विनश्वरः! फिर इस जगत का जो पोत है, यह जो जगत की नाव है, यह तत्क्षण खो जाती है। जैसे एक स्वप्न देखा हो! जैसे कभी न रही हो! जैसे बस एक खयाल था, एक भ्रम था!

तो करना है एक ही बात कि यह जो चित्त की हवा है, यह शांत हो जाए।

इस संबंध में अष्टावक्र और जनक की दृष्टि बड़ी क्रांतिकारी है, जैसा मैं बार-बार कह रहा हूं। योग कहेगा कि कैसे इस चित्त की हवा को शांत करो। वह प्रक्रिया बताएगा--चित्तवृत्ति निरोधः! वह कहेगा योग है: चित्तवृत्ति का निरोध। तो कैसे चित्त की वृत्ति का निरोध करें?--यम करो, नियम करो, संयम करो; आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार करो; धारणा, ध्यान, समाधि करो। तो फिर चित्त की लहरें शांत हो जाएंगी।

इस संबंध में अष्टावक्र और जनक की दृष्टि बड़ी अनूठी है। वे क्या कहते हैं? वे यह नहीं कहते कि तुम कुछ करो। वे कहते हैं, करने से तो चित्तरूपी तरंगें और उठेंगी, क्योंकि करने से तो उपद्रव ही खड़ा होगा। करने से तो और लहरें हिल जाएंगी। तुम्हारे कुछ करने का सवाल नहीं है। तुम सिर्फ देखो। तुम करो कुछ मत।

"आश्चर्य है कि अनंत समुद्ररूप मुझमें जीवरूपी तरंगें अपने स्वभाव के अनुसार उठती हैं, परस्पर लड़ती हैं, खेलती हैं और लय होती हैं।"

अपने स्वभाव के अनुसार! यह कुंजी है। यह सब हो रहा है--अपने स्वभाव के अनुसार। तुम न इसे शांत कर सकते हो, न तुम इसे अशांत कर सकते हो; तुम बीच में पड़ो ही मत; तुम यह होने दो। तुम सिर्फ एक बात स्मरण रखो कि तुम साक्षी हो।

तुम किसी फिल्म को देखने गए। तुम फिल्म देखने बैठे, अंधेरा हो गया, कमरे में तस्वीरें चलने लगीं परदे पर। इतना ही अगर तुम याद रख सको कि मैं साक्षी हूं और परदे पर जो तस्वीरें चल रही हैं, केवल धूप-छाया का खेल है--तो कहानी तुम्हें बिलकुल प्रभावित न करेगी। कोई किसी की हत्या कर दे तो तुम एकदम विचलित न हो जाओगे।

तुमने देखा, फिल्म में हत्या हो जाती है, लोग एकदम रीढ़ सीधी करके बैठ जाते हैं; जैसे कुछ सचमुच कुछ घट रहा है। कोई मारा जाता है तो कई की आंखें गीली हो जाती हैं, लोग रूमाल निकाल लेते हैं। वह तो अंधेरा रहता है, इसलिए अच्छा है। अपना जल्दी से आंख पोंछ कर अंदर रख लिया, रूमाल को फिर खीसे में कर लिया। लोगों के रूमाल गीले हो जाते हैं फिल्मों में। जब तक रूमाल गीले न हों तब तक वे कहते ही नहीं कि फिल्म अच्छी थी। रोने का अभ्यास ऐसा पुराना है कि जो भी रुला दे, वही लगता है कि कुछ गजब का काम हुआ। लोग हंसने लगते हैं, रोने लगते हैं!

तुमने देखा कि छाया चल रही है! वहां कुछ भी नहीं है। परदे पर कुछ भी नहीं है। लेकिन छाया तुम्हें जकड़ लेती है। तुम उसके साथ डोलने लगते हो। तुम में क्रोध पैदा हो सकता है, प्रेम पैदा हो सकता, वासना जग सकती, उत्तेजना हो सकती, सब कुछ घट सकता है--और परदे पर कुछ भी नहीं है। तुम भूल ही जाते हो।

तुम्हारी उस भूल को ही सुधारना है, कुछ और करना नहीं। तुम्हें दौड़ कर परदा नहीं फाड़ डालना है कि बंद करो; कि तुम्हें पीछे जा कर प्रोजेक्टर नहीं तोड़ देना है कि बंद करो--यह क्या मजाक कर रखी है कि सिर्फ धूप-छाया का खेल है और लोगों को परेशान कर रहे हो? इतने लोग रो रहे हैं नाहक! अरे जिंदगी काफी है रोने के लिए। बंद करो! यह तो तुम नहीं करते। इसकी कोई जरूरत भी नहीं है। क्योंकि जो रोना चाहते हैं उनके लिए परदे को रहने दो। जिनकी अभी रोने में उत्सुकता है, पैसे चुका कर जो रोने आए हैं, उनके खेल में बाधा मत डालो। जो खेलना चाहता है, खेले। तुम सिर्फ इतना समझो कि तुम साक्षी हो। और यह सब जो रहा है, ऊपर-ऊपर है।

आश्चर्यं मयि अनंत महाम्भोधि जीववीचयः उद्यन्ति।
ध्वन्ति च खेलन्ति च स्वभावतः प्रविशन्ति।।

खेलने दो इन लहरों को! उठने दो इन लहरों को! नाचने दो इन लहरों को! जैसे स्वभाव से ये उठी हैं, ऐसे ही स्वभाव से शांत हो जाएंगी। तुम साक्षी-भाव से किनारे पर बैठ रहो।

कोई योग नहीं है। अष्टावक्र की दृष्टि में कुछ साधन नहीं करना है। सीधी छलांग है! तुम सिर्फ देखते रहो! क्रोध उठे तो तुम कहो कि ठीक है, स्वाभाविक है। काम उठे तो कहो ठीक है, स्वाभाविक है। तुम देखने वाले बने रहो। तुम विचलित न होओ द्रष्टा से। तुम्हारा साक्षी न कंपे बस। और सब कंपता रहे, सारा संसार तूफान में पड़ा रहे--तुम तूफान के मध्य साक्षी में ठहरे रहो।

मुल्ला नसरुद्दीन एक समुद्री-यात्रा पर था। जहाज डूबने लगा। बड़ा तूफान आ गया। लोग भाग-दौड़ करने लगे। स्त्रियां रोने-चिल्लाने लगीं। कुत्ते भौंकने लगे। बच्चे बेहोश होने लगे। सारे लोग एक कोने में इकट्ठे हो गए। मालिक चिल्ला रहा है, सम्हालने की कोशिश कर रहा है। कैप्टन चिल्ला रहा है। मल्लाह इंतजाम कर रहे हैं। एकदम अराजकता फैल गई! सिर्फ एक मुल्ला है कि जगह-जगह खड़े हो कर शांति से लोगों को देख रहा है। आखिर एक आदमी से न रहा गया और उसने कहा कि मुल्ला नसरुद्दीन! आदमी हो कि पत्थर? यह तुम कोई खेल समझे हो? यह नाव डूब रही है। यह जहाज डूब रहा है। यह हम सब मरने जा रहे हैं।

मुल्ला ने कहा, अपने को क्या लेना-देना है? कोई अपने कोई बाप का जहाज है?

यह ठीक कह रहा है। कोई अपना क्या बिगड़ रहा है?

एक ऐसी घड़ी है, जब सब होता रहता है और तुम जानते हो: "अपना क्या बिगड़ रहा है? अपने बाप का जहाज है?" तुम पार, साक्षी बने रहते हो! तब तुमने आंधी के बीच में भी एक शांत स्थान खोज लिया। तब तुम अपने केंद्र पर आ गए।

दृष्टि का रूपांतरण साधन नहीं है। अष्टावक्र और जनक एक नई ही बात कह रहे हैं। वे कह रहे हैं, तुम किनारे बैठ रहो। ये नदी में जो इतनी तरंगें उठी हैं, ये अपने से शांत हो जाएंगी। यह नदी में जो इतनी गंदगी उठी है, यह अपने से शांत हो जाएगी। तुम इसमें कूद कर इसको शांत करने की कोशिश करोगे तो और लहरें उठ आएंगी।

तुमने देखा कभी, जब तुम शांत होने की ज्यादा चेष्टा करते हो, और अशांत हो जाते हो!

मेरे पास अक्सर लोग आते हैं। मेरे अनुभव में ऐसा आया है कि जिनको तुम सांसारिक लोग कहते हो, वे ज्यादा शांत होते हैं धार्मिक लोगों की बजाए। क्योंकि सांसारिक आदमी को संसार की ही चिंता है; अशांतियां हैं, ठीक है। यह धार्मिक आदमी को एक नई अशांति है कि इनको शांत भी होना है। बाकी अशांतियां तो हैं ही, बाकी तो सब उपद्रव इनके भी लगे ही हुए हैं--घर है, द्वार है, गृहस्थी है, दूकान-बाजार है, हार-जीत है--सब लगा हुआ है--सफलता-असफलता, वह सब तो है; और एक नया रोग: इनको शांत होना है! कम-से-कम उतना रोग सांसारिक आदमी को नहीं है। वह कहता है, अशांति है, ठीक है। उसकी अशांति इतनी भयंकर नहीं है जैसी इस आदमी की अशांति हो जाती है, जो कि इसको शांत भी करना चाहता है।

और जब तुम कभी मंदिर जाते हो, पूजा करने बैठते, प्रार्थना करने बैठते, ध्यान करने--देखा, उस समय तुम और भी अशांत हो जाते हो! इतने तुम दूकान पर भी नहीं होते, बाजार में भी नहीं होते। क्या होता है? तुम उतर पड़े नदी में। तुम चेष्टा करने लगे लहरों को शांत करने की। तुम्हारी चेष्टा से तो और लहरें उठ आएंगी। तुम कृपा करके किनारे पर बैठो।

बुद्ध के जीवन में उल्लेख है, मुझे बड़ा प्यारा रहा है! बुद्ध गुजरते हैं एक पहाड़ से। धूप है, प्यासे हैं। आनंद को कहते हैं कि आनंद, तू पीछे लौट कर जा। कोई दो मील पीछे हम एक झरना छोड़ आए हैं, वहां से तू पानी भर ला, मुझे प्यास लगी है।

वे एक वृक्ष के नीचे बैठ कर विश्राम करते हैं, आनंद जाता है भिक्षा-पात्र ले कर। लेकिन जब वह पहुंचता है उस झरने पर, तो ठीक उसके सामने ही कुछ बैलगाड़ियां उस झरने में से निकल गईं, तो सारा पानी कूड़ा-कर्कट से भर गया। जमी कीचड़ उठ आई ऊपर, सूखे पत्ते ऊपर तैरने लगे, सड़े पत्ते ऊपर तैरने लगे। वह पानी पीने योग्य न रहा। वह वापिस लौट आया। उसने बुद्ध को कहा, वह पानी पीने़योग्य नहीं है। आगे चल कर कोई चार-छह मील दूर नयी--हम अभी पहुंचेंगे--नदी है, वहां से मैं पानी ले आता हूं। आप विश्राम करें, या चलते हों तो मेरे साथ चले चलें, लेकिन वह पानी पीने़योग्य नहीं रहा।

बुद्ध ने जिद्द की। उन्होंने कहा, तू वापिस जा और वही पानी ले आ। जब बुद्ध ने कहा तो आनंद इंकार भी न कर सका। फिर गया। झिझकते हुए गया कि वह पानी बिलकुल बेकार है। लेकिन वहां जा कर देखा कि तब तक तो पानी स्वच्छ हो गया। आना-जाना आनंद का दो मील, उस बीच धूल फिर बैठ गई, कीचड़ बह गया, पत्ते जा चुके, झरना तो ऐसा स्वच्छ, स्फटिक-मणि जैसा हो गया! वह बड़ा चकित हुआ!

तब उसे बुद्ध की जिद्द का अर्थ दिखाई पड़ा। वह पानी भर कर लाया, नाचता हुआ आया। उसने पानी बुद्ध के चरणों में रखा, सिर चरणों में झुकाया और उसने कहा कि मुझे ठीक-ठीक सूत्र दे दिया। यही मेरे चित्त की दशा है। आपने अच्छा किया मुझे वापिस भेजा। मैं रास्ते में सोचता जाता था कि अगर पानी शुद्ध न हुआ तो अब की बार उतर कर झरने में कीचड़-कर्कट को अलग करके किसी तरह भर लाऊंगा। अगर मैं उतर जाता तो फिर गंदा हो जाता। उतरने से ही तो गंदा हुआ था, बैलगाड?ियां निकल गई थीं। मैं किनारे पर ही रहा और पानी शांत हो गया! किसी ने शांत न किया और शांत हो गया!

"आश्चर्य! अनंत समुद्ररूप मुझमें जीवरूप तरंगें अपने स्वभाव से उठती हैं, परस्पर लड़ती हैं, खेलती हैं, और लय होती हैं।"

स्वभावतः प्रविशन्ति!

अपने स्वभाव से ही सब बनता, मिटता, खोता रहता है। तुम दूर साक्षी हो जाओ! तुम खड़े देखते रहो।

सुना है मैंने, एक गांव में एक पौराणिक कथा कह रहा था। उसने गांव के लोगों को समझाया कि पाप से डरो, पाप से बचो, पाप से लड़ो! जैसा कि सभी तथाकथित धार्मिक लोग कहते हैं। एक पागल-सा संन्यासी वहां बैठा था, वह उठ कर खड़ा हो गया। उसने कहा, "चुप! बकवास बंद! पाप में डूब मरो!" और वह तो इतना कह कर चल पड़ा। वह पौराणिक भी सकते में आ गया, लेकिन गांव के लोगों ने कहा कि तुम फिक्र न करो, कथा जारी रखो। यह आदमी पागल है! इसे हम जानते हैं। इसकी बात का कुछ खयाल मत करो।

लेकिन पौराणिक को कुछ चोट लग गयी: उस आदमी ने कहा, पाप में डूब मरो! उसने तो कथा बंद कर दी। इस आदमी में कुछ खूबी है। और इस आदमी में कुछ लहर भी उसे मालूम पड़ी। इस आदमी में एक चमक थी, एक दीप्ति थी। यह आदमी पागल नहीं है। यह आदमी परमहंस हो सकता है।

वह पौराणिक तो कथा-पुराण वहीं छोड़ कर भागा इस पागल के पीछे। कोई दो मील जा कर जंगल में उसे पकड़ लिया। वह एक वृक्ष के नीचे बैठा था। वह पौराणिक कहने लगा, महाराज! अब व्याख्या और कर दें। सूत्र तो दे दिया कि पाप में डूब मरो; अब इसकी व्याख्या और कर दें, इसका भाष्य और कर दें। मुझे मुश्किल में डाल दिया।

तो उस पागल संन्यासी ने कहा कि सुन, एक आदमी एक गुरु के पास गया और कहने लगा, मुझे शांत होना है। तो गुरु ने उसे एक मंत्र दे दिया और कहा कि तीन दिन में तू शांत हो जाएगा। मंत्र का रोज पांच बार पाठ कर लेना, लेकिन ध्यान रखना जब पाठ करे, बंदर का स्मरण न आए।

तीन दिन में ठीक होने को कहा था, तीन साल गुजर गए। वह आदमी मरा जा रहा है, लड़ा जा रहा है; मगर कुछ उपाय नहीं। जब भी वह मंत्र पड़ता है, बंदरों का स्मरण आ जाता है।

वह पागल संन्यासी बोला, किस्सा खत्म! अब भाग जा यहां से!

दूसरे दिन पौराणिक फिर गांव में कथा कह रहा था। उसने लोगों से कहा: न तो पाप से लड़ो, न पाप से डरो, न पाप से भागो, न पाप से बचो--बस देखते रहो!

लड़ने से...वह आदमी बंदर से लड़ रहा है कि बंदर न आने पाए! तुम जिससे लड़ोगे, वही आएगा। तुम्हारा लड़ना ही तुम्हारा आकर्षण बन जाएगा, जो व्यक्ति कामवासना से लड़ेगा, कामवासना ही उठेगी। जो लोभ से लड़ेगा, लोभ ही उठेगा। जो क्रोध से लड़ेगा, वह और क्रोध उठाएगा। क्योंकि जिससे तुम लड़ोगे, उसका स्मरण बना रहेगा।

तुमने खयाल किया, जिसे तुम भूलना चाहते हो उसे भूल नहीं पाते! क्योंकि भूलने के लिए भी तो बार-बार याद करना पड़ता है, उसी में तो याद बन जाती है। किसी को तुम्हें भूलना है, कैसे भूलो? भूलने की चेष्टा में तो याद सघन होगी। भूलने से कभी कोई किसी को भूल पाया? लड़ने से कभी कोई जीता?

इस जीवन का यह विरोधाभासी नियम ठीक से समझ लेना: जिससे तुम लड़े उसी से तुम हारोगे। लड़ना ही मत! संघर्ष सूत्र नहीं है विजय का। साक्षी! बैठ कर देखते रहो।

अब बंदर उछल-कूद रहे हैं, करने दो। वे अपने स्वभाव से ही चले जाएंगे। तुमने अगर उत्सुकता न ली, तो बार-बार तुम्हारे द्वार न आएंगे। तुमने अगर उत्सुकता ली--पक्ष में या विपक्ष में--तो दोस्ती बनी।

अब वह जो आदमी मंत्र पढ़ रहा है और सोचता है बंदर न आएं, शायद इस मंत्र पढ़ने के पहले कभी उसके मन में बंदर न आए होंगे--तुम्हारे मन में कभी आए? तुम कोशिश करना, कल मंत्र कोई भी चुन लेना--राम राम राम--और कोशिश करना, बंदर न आएं। बंदर ही नहीं, हनुमान जी भी चले आएंगे उनके पीछे। और कई बंदरों को ले कर, पूरी फौज-फांटा चला आएगा। और इसके पहले कभी ऐसा न हुआ था।

तुम्हारा विरोध, तुम्हारे रस की घोषणा है। लड़ना मत, अन्यथा हारोगे।

इस सूत्र की महत्ता को, महिमा को, गरिमा को समझो। जो हो रहा है, हो रहा है। न तुमसे पूछ कर शुरू हुआ है, न तुम से पूछ कर बंद होने का कोई कारण है। जो हो रहा है, होता रहा है, होता रहेगा--तुम देखते रहो। बस इसमें ही क्रांति घट जाती है।

दुनिया में दो तरह के लोग हैं। एक हैं--भोगी। भोगी कहते हैं: जो हो रहा है, यह और जोर से हो। एक हैं--योगी, जो कहते हैं: जो हो रहा है, यह बिलकुल न हो। ये दोनों ही संघर्ष में हैं। योगी कह रहा है, बिलकुल न हो; जैसे कि उसके बस की बात है! जैसे उससे पूछ कर शुरू हुआ हो! जैसे उसके हाथ में है!

भोगी कह रहा है, और जोर से हो, और ज्यादा हो! सौ साल जीता हूं, दो सौ साल जीऊं। एक स्त्री मिली, हजार स्त्रियां मिलें। करोड़ रुपया मेरे पास है, बीस करोड़ रुपया मेरे पास हो। भोगी कह रहा है, और जोर से हो; वह भी सोच रहा है: जैसे उससे पूछ कर हो रहा है; उसकी अनुमति से हो रहा है; उसकी आकांक्षा से हो रहा है।

दोनों की भ्रांति एक है। दोनों विपरीत खड़े हैं, एक दूसरे की तरफ पीठ किए खड़े हैं; लेकिन दोनों की भ्रांति एक है। भ्रांति यह है कि दोनों सोचते हैं कि संसार उनकी अनुमति से चल रहा है। चाहें तो बढ?ा लें, चाहें तो घटा दें।

मुल्ला नसरुद्दीन सौ साल का हो गया, तो दूर-दूर से अखबारनवीस उसका इंटरव्यू लेने आए। सौ साल का हो गया आदमी! वे उससे पूछने आए कि तुम्हारे स्वास्थ्य का राज क्या है? तुम अब भी चलते हो, फिरते हो! तुम प्रसन्नचित्त दिखाई पड़ते हो। तुम्हारे शरीर में कोई बीमारी नहीं। तुम्हारा राज क्या है?

तो मुल्ला ने कहा, मेरा राज! मैंने कभी शराब नहीं पी, धूम्रपान नहीं किया! नियम से जीया। नियम से सोया-उठा, संयम ही मेरे जीवन का और मेरे स्वास्थ्य का राज है।

वह इतना कह ही रहा था कि बगल के कमरे में जोर से कुछ अलमारी गिरी तो वे सब चौंक गए। पत्रकारों ने पूछा, यह क्या मामला है? तो उसने कहा, ये मेरे पिताजी हैं! वे मालूम होता है कि फिर शराब पी कर आ गए!

कोई आदमी सौ साल जिंदा रह जाता है, वह सोचता है मैंने शराब नहीं पी, इसीलिए जिंदा हूं सौ साल। उनके पिताजी पी कर अभी आए हैं। उन्होंने अलमारी गिरा दी है।

अगर कोई जैन ज्यादा जी जाता है, वह सोचता है शाकाहार की वजह से ज्यादा जी गए। कोई मांसाहारी ज्यादा जी जाता है, वह सोचता है मांसाहार की वजह से जी गए। धूम्रपान करने वाले भी ज्यादा जी जाते हैं, धूम्रपान न करने वाले भी ज्यादा जी जाते हैं। साग-सब्जी खा कर भी लोग ज्यादा जी जाते हैं; जिन्होंने साग-सब्जी कभी छुई ही नहीं, वे भी जी जाते हैं। और जो आदमी जिस ढंग से जी जाता है, वह सोचता है यह मैंने अपने जीवन का नियंत्रण किया, यह मेरे संयम से हुआ।

तुम्हारे किए कुछ भी नहीं हो रहा है, तुम कर्ता नहीं हो। तुम्हारे किए कुछ भी न हुआ है, न हो रहा है, न होगा। कभी-कभी संयोग से, कभी-कभी बिल्ली के भाग्य से छींका टूट जाता है, वह संयोग ही है। कभी-कभी ऐसा होता है, तुम जो चाहते हो वह हो जाता है। वह होने ही वाला था; तुम न चाहते तो भी हो जाता।

एक गांव में एक बूढ़ी औरत रहती थी। वह नाराज हो गई गांव के लोगों से। उसने कहा, तो भटकोगे तुम अंधेरे में सदा। उन्होंने पूछा, मतलब? उसने कहा कि मैं अपने मुर्गे को ले कर दूसरे गांव जाती हूं। न रहेगा मुर्गा, न देगा बांग, न निकलेगा सूरज! मरोगे अंधेरे में! देखा नहीं कि जब मेरा मुर्गा बांग देता है तो सूरज निकलता है?

वह बूढ़ी अपने मुर्गे को ले कर दूसरे गांव चली गई क्रोध में, और बड़ी प्रसन्न है, क्योंकि अब दूसरे गांव में सूरज निकलता है! वहां मुर्गा बांग देता है। वह बड़ी प्रसन्न है कि अब पहले गांव के लोग मरते होंगे अंधेरे में।

सूरज वहां भी निकलता है। मुर्गों के बांग देने से सूरज नहीं निकलता; सूरज के निकलने से मुर्गे बांग देते हैं। तुम्हारे कारण संसार नहीं चलता। तुम मालिक नहीं हो, तुम कर्ता नहीं हो। यह सब अहंकार, भ्रांतियां हैं।

भोगी का भी अहंकार है और योगी का भी अहंकार है। इन दोनों के जो पार है, उसने ही अध्यात्म का रस चखा--जो न योगी है न भोगी।

"आश्चर्य है कि अनंत समुद्ररूप मुझमें जीवरूपी तरंगें अपने स्वभाव के अनुसार उठती हैं, परस्पर लड़ती हैं, खेलती हैं और लय भी होती हैं!"

और मैं सिर्फ देख रहा! और मैं सिर्फ देख रहा! और मैं सिर्फ देख रहा!

रंग-रहित ही सपनों के चित्र,
हृदय-कलिका मधु-से सुकुमार।
अनिल बन सौ-सौ बार दुलार,
तुम्हीं ने खुलवाए उर-द्वार।
और फिर रहे न एक निमेष,
लुटा चुपके से सौरभ-भार।
रह गई पथ में बिछ कर दीन
दृगों की अश्रु-भरी मनुहार!
मूक प्राणों की विकल पुकार!
विश्व-वीणा में कब से मूक--
पड़ा था मेरा जीवनत्तार!
न मुखरित कर पाईं झकझोर
थक गईं सौ-सौ मलय-बयार।
तुम्हीं रचते अभिनव संगीत
कभी मेरे गायक! इस पार
तुम्हीं ने कर निर्मम आघात
छेड़ दी यह बेसुर झंकार।
और उलझा डाले सब तार?

सब हो रहा स्वभाव से--ऐसा कहो। या सब कर रहा प्रभु--ऐसा कहो।

भक्त की भाषा है कि परमात्मा कर रहा है। ज्ञानी की भाषा है कि स्वभाव से हो रहा है। तुम्हें जो भाषा प्रीतिकर हो, चुन लेना। वह भाषा का ही भेद है। एक बात सत्य है कि तुम कर्ता नहीं हो--या तो स्वभाव या परमात्मा--तुम कर्ता नहीं हो। तुम सिर्फ द्रष्टा हो। तुम सिर्फ देखने वाले हो।

प्राण के निर्वेद का लघु तोल है यह
शांति की परिकल्पना का मोल है यह
यह समुज्ज्वल भूमि का समतल किनारा
यह मधुर मधु-माधुरी रस घोल है यह
यह वही आनंद चिरसत्य सुंदर
और उस आलोक का लघु दीप पावन
यह हृदय का हार हीरक वैजयंति
और जीवन का मधुरतम सरस सावन
यह अभय का द्वार धीरज अमिट साहस
यह परम उस सत्य की पहली झलक है
और अखिल विराट को पहचानने की
यह हृदय की जागरित पहली ललक है
और मेरा कुछ नहीं सत्यानुभूति
मैं, यह देह, तेरा और मेरा

आज तक जो घेर कर मुझ को खड़ी थी
यह उसी काली निशा का है सवेरा।
यह परम उस सत्य की पहली झलक है!
साक्षी का थोड़ा सा अनुभव, सत्य की पहली झलक है।
यह परम उस सत्य की पहली झलक है
और अखिल विराट को पहचानने की
यह हृदय की जागरित पहली ललक है

थोड़ा-सा दर्शन, थोड़ी-सी दृष्टि, थोड़े-से साक्षी बनो! थोड़े-से देखो--जो हो रहा। उसमें कुछ भी भेद करने की आकांक्षा न करो। न कहो, ऐसा हो। न कहो, वैसा हो। तुम मांगो मत कुछ। तुम चाहो मत कुछ। तुम सिर्फ देखो--जैसा है। कृष्णमूर्ति कहते हैं: दैट ह्विच इज। जैसा है, उसको वैसा ही देखो; तुम अन्यथा न करना चाहो।

और अखिल विराट को पहचानने की
यह हृदय की जागरित पहली ललक है
और मेरा कुछ नहीं सत्यानुभूति
मैं, यह देह, तेरा और मेरा
आज तक जो घेर कर मुझ को खड़ी थी
यह उसी काली निशा का है सवेरा।

साक्षी है सवेरा! कर्ता और भोक्ता है अंधेरी रात्रि! जब तक तुम्हें लगता है मैं कर्ता-भोक्ता, तब तक तुम अंधेरे में भटकोगे। जिस क्षण जागे, जिस क्षण जगाया अपने को, जिस क्षण सम्हाली भीतर की ज्योति, साक्षी को पुकारा--उसी क्षण क्रांति! उसी क्षण सवेरा!

हरि ॐ तत्सत्!

चौदहवां प्रवचन

उद्देश्य -- उसे जो भावे

पहला प्रश्न: मनोवैज्ञानिक सिग्मंड फ्रायड ने मृत्यु-एषणा, थानाटोस की चर्चा की। आपने कल जीवेषणा, ईरोस की चर्चा की। फ्रायड की धारणा को क्या आप आधुनिक युग की आध्यात्मिक विकृति कहते हैं? कृपा करके हमें समझाएं।

जीवन द्वंद्व है। और जो भी यहां है उससे विपरीत भी जरूर होगा, पता हो न पता हो। जहां प्रेम है वहां घृणा है। और जहां प्रकाश है वहां अंधकार है। और जहां परमात्मा है वहां पदार्थ है। तो जीवेषणा के भीतर भी छिपी हुई मृत्यु-एषणा भी होनी ही चाहिए।

आधुनिक युग की विकृति नहीं है फ्रायड का वक्तव्य। फ्रायड ने एक बहुत गहरी खोज की है। जीवेषणा की चर्चा तो सदा से होती रही। फ्रायड ने जो थोड़ा-सा अनुदान किया है जगत की प्रतिभा को, उस अनुदान में मृत्यु-एषणा की धारणा भी है। आदमी जीना चाहता है, यह तो सच है; लेकिन ऐसी घड़ियां भी होती हैं जब आदमी मरना चाहता है, यह भी उतना ही सच है।

थोड़ा सोचो, जवान हो तुम, तो जीना चाहते हो। फिर एक दिन वृद्ध हुए, शिथिल हुए गात, अंग थके, जीवन में जो जानने योग्य था जान लिया, करने योग्य था कर लिया, भोगने योग्य था भोग लिया, अब सब विरस हुआ, अब किसी बात में कोई रस नहीं आता, अब सब पुनरुक्ति मालूम होती है, ऊब पैदा होती है--तो क्या तुम मरना न चाहोगे? क्या अंतरतम में एक गहरी आवाज न उठने लगेगी कि अब बहुत हुआ, अब परदा गिरे, अब नाटक समाप्त हो?

जिसे पूरब के मनीषियों ने वैराग्य कहा है, वह मृत्यु-एषणा की ही छाया है। जिसे बुद्ध ने निर्वाण कहा है, वह मृत्यु-एषणा की ही आत्यंतिक परिकल्पना है।

क्या है निर्वाण? हम कहते हैं कि इस देश में आवागमन से छुटकारा। क्या हुआ इसका अर्थ? इसका अर्थ हुआ: बहुत हो चुका जीवन, अब हम लौट कर नहीं आना चाहते; बहुत हो चुका, एक सीमा है, अब हम थक गए हैं और हम परम विश्राम चाहते हैं। इसको ही फ्रायड मृत्यु-एषणा कहता है। शब्द से ही मत घबड़ा जाना। जीवेषणा है राग, मृत्यु-एषणा है विराग। जीवेषणा तुम्हें बांधे रखती है माया से; मृत्यु-एषणा मुक्त करेगी। खुद फ्रायड को भी ठीक-ठीक साफ नहीं है कि उसने जो खोज लिया है, उसका पूरा-पूरा अर्थ क्या होगा! मृत्यु-एषणा की खोज उसने अपने जीवन के अंतिम चरण में की; शायद स्वयं भी मृत्यु-एषणा से भर गया होगा, तब की। स्वयं भी परेशान हो गया, क्योंकि जीवन भर तो लस्ट, लिबिडो, जीवेषणा, वासना--इसका ही अनुसंधान किया और जीवन की अंतिम घड़ियों में मृत्यु-एषणा का भी पता चला। वह हैरान हुआ, क्योंकि वह तार्किक व्यक्ति था। उसे बड़ी बेचैनी हुई कि यह तो सारे जीवन में मैंने जो खोजा था, उसका विरोध हो जाएगा। मैंने तो सदा यही कहा था कि आदमी जीने के पागलपन से जी रहा है और कामवासना मनुष्य-जीवन का एकमात्र आधार है, ईरोस। अब आज अचानक जीवन के अंतिम पहर में यह भी भीतर पता चला कि मरने की भी आकांक्षा है। फिर ईरोस का क्या हुआ, जीवेषणा का क्या हुआ?

फ्रायड कोई लाओत्सु का अनुयायी तो नहीं था; अरस्तू का अनुयायी था। विपरीत को मानने में उसे बड़ी अड़चन थी। वैज्ञानिक बुद्धि का व्यक्ति था। चाहता था, एक से ही सब सुलझा लूं; एक ही धारणा से सब सुलझा लूं, दूसरी कोई धारणा बीच में न लानी पड़े। और यह तो दूसरी धारणा थी; न केवल दूसरी, सारे जीवन की

खोज का विरोध थी, एंटी-थीसिस थी, उसका प्रतिवाद थी। मगर आदमी ईमानदार था। उसने छिपाया न। थोड़ा कम ईमान का आदमी होता तो दूसरी बात को उठाता ही नहीं। जीवन के अंतिम क्षण में कौन अपने जीवन के किए को लीपता-पोतता है! चालीस वर्षों के अथक श्रम से जिसने सिद्ध किया था, उसके विपरीत एक धारणा को अंत में डाल जाना सारे विचार को अस्त-व्यस्त करना होगा। थोड़ा कम ईमान का आदमी होता, थोड़ा कम प्रामाणिक होता, टाल जाता बात--मजबूरी कहां थी? कहता न किसी से, चुपचाप बैठा रहता। नहीं, लेकिन आदमी ईमानदार था। उसने फिक्र न की। उसने जाना कि अगर मेरे जीवन का पूरा दृष्टिकोण भी गिरता हो, अगर मेरे वक्तव्य में विरोधाभास भी आता हो, तो आए; लेकिन जो मैंने जाना है, जो मैंने देखा है, उसे कहूंगा। बड़े झिझकते मन से उसने मृत्यु-एषणा का सिद्धांत प्रतिपादित किया।

और मेरे देखे, उसके जीवन भर की खोज अधूरी रह जाती अगर यह दूसरी बात उसे पता न चलती।

जब तुम जीवेषणा में बहुत गहरे खोज करोगे तो वहीं तुम छिपा हुआ पाओगे विरोध भी। इसीलिए तो कहते हैं कि जैसे ही जन्म हुआ, वैसे ही मृत्यु भी होनी शुरू हो गई। जीवन में ही छिपा है मृत्यु का स्वर। बने नहीं, मिटना शुरू हो गया। जो भी बना है, मिटेगा। जो भी संगृहीत है, बिखरेगा।

तो यह जीवन जो हमारा है, इसके साथ-साथ मृत्यु की छाया भी चलती होगी। एक पैर जीवन का, तो दूसरा पैर मृत्यु का--दोनों पर सधे हम चलते हैं।

तीसरी खोज भारत की है। वह भारत की खोज यह है कि न तो हम जीवन हैं और न हम मृत्यु हैं; ये दोनों हमारे पैर हैं। द्वंद्व इसलिए मालूम होता है, अगर हम तीसरे को न देख पाएं। अगर तीसरा दिखाई पड़ जाए...सिंथीसिस।

ऐसा समझो, ईरोस की धारणा, जीवेषणा की धारणा है: थीसिस, एक वाद, एक सिद्धांत। फिर थानाटोस, मृत्यु-एषणा की धारणा है: प्रतिवाद, एंटी-थीसिस। अगर दो ही रहें तो विवाद ही होगा; हल होना मुश्किल हो जाएगा।

फ्रायड अगर थोड़े दिन और जीता--नहीं जीया, किसी अगले जन्म में, कहीं और खोजबीन करते--सिंथीसिस, संवाद भी घटित होगा; वह समन्वय की अंतिम दशा भी घटित होगी, जब वह साक्षी को भी पकड़ लेगा। वह ठीक रास्ते पर था; मंजिल अभी अधूरी थी, मगर रास्ता गलत न था। अभी मंजिल आई न थी, यात्रा अधूरी थी; लेकिन मार्ग ठीक था, दिशा ठीक थी। जीवन से मृत्यु पर पहुंचा था; अब एक ही उपाय बचा था कि जीवन और मृत्यु दोनों का अतिक्रमण कर जाता।

उसी को अष्टावक्र ने साक्षी-भाव कहा है। न तुम जीवन हो, न तुम मृत्यु हो। जीवन और मृत्यु दोनों ही खेल हैं, जो तुम चुनते हो। और एक को चुना तो दूसरा भी अनिवार्यतः चुनना होता है। जिसने जीवन को चुना उसे मृत्यु भी चुननी होगी। जिसने प्रेम को चुना उसे घृणा भी चुननी होगी। जिसने सम्मान चुना उसे अपमान भी स्वीकार कर लेना होगा। जिसने मुस्कुराहट चुनी, वह आंसुओं से बच न सकेगा। वे साथ-साथ हैं। देर-अबेर हो सकती है, लेकिन द्वंद्व साथ-साथ है।

जब तक तुम चुनोगे, तब तक विपरीत भी अपने-आप चुन लिया जाएगा। तुम चाहो न चाहो, तुम्हारी चाह-अचाह का सवाल नहीं। तुमने सिक्के का एक पहलू चुना, दूसरा पहलू तुम्हारे हाथ में अपने-आप आ गया। तुम देखो वर्षों बाद, इससे क्या फर्क पड़ता है? लेकिन आ गया। चुनो मत, दोनों के साक्षी बनो--तो तुम दोनों के पार हो गए। आवागमन से मुक्ति, जीवन-मृत्यु से मुक्ति, जन्म-मरण से मुक्ति घट सकती है।

तीसरे तत्व की खोज करनी होगी। वह तीसरा ही महिमावान है, आत्यंतिक रूप से महिमावान है। उस तीसरे का ही महत्व है।

पूछते हो तुम, "क्या यह आध्यात्मिक विकृति है आधुनिक युग की--मृत्यु-एषणा की खोज?"

नहीं, यह आधुनिक भाषा में विराग की खोज है, वैराग्य की खोज है। यह नया शब्द है। विरागी का अर्थ क्या होता है? विरागी का इतना ही अर्थ होता है, वह कहता है, अब मैं विदा होना चाहता हूं। विरागी का इतना ही अर्थ होता है: राग-रंग टूट गया, वीणा के तार उखड़ गए; अब मैं विदा होना चाहता हूं। विरागी यही कहता है कि अब यहां घर बनाने योग्य कोई जगह नहीं मालूम होती, मुझे जाने दो। यह मरने की ही आकांक्षा है।

फ्रायड भी ठीक से नहीं समझा। उसने अपनी इस खोज के संदर्भ में ऐसा सोचा कि बुद्ध मृत्यु-एषणा से भरे हुए हैं। एक अर्थ में ठीक है; क्योंकि जीवेषणा अब नहीं है, अब जीने की कोई आकांक्षा नहीं है। वह तृष्णा, वह तन्हा गई। अब कोई वासना जीने की नहीं है।

इसलिए फ्रायड ने सोचा कि बुद्ध मृत्यु-एषणा से भरे हैं और यह बुद्ध का धर्म मरने वालों का धर्म है; निराशा, अवसाद, संताप से भरे लोगों का धर्म है, नकारात्मक है। थोड़ी दूर चला, लेकिन पूरी बात उसकी पकड़ में न आई।

बुद्ध का धर्म न तो राग का धर्म है न विराग का--वीतराग का धर्म है। परम संन्यासी वीतरागी है। वीतरागी का अर्थ हुआ: विराग से भी राग न रहा। वह आखिरी ऊंचाई है चैतन्य की। राग से राग न रहे, तो विराग। फिर विराग से भी राग न रहे, तो वीतराग। संसारी संसार से छूटने लगे, तो संन्यासी; फिर संन्यास के भी ऊपर उठने लगे, तो वीतराग।

विराग में भी थोड़ा राग तो रहता है--विराग से हो जाता है। कोई धन से राग करता है; कोई निर्धनता से राग करने लगता है; कोई कहता है निर्धनता में बड़ा सुख है। कुछ न हो पास, तो बड़ा सुख है। कोई वस्त्रों से राग करता; कोई कहता है नग्न होने में बड़ा सुख है, दिगंबर हो जाने में बड़ा सुख है। कोई कहता है स्त्रियां चाहिए तो सुख है, पुरुष चाहिए तो सुख है, सुंदर देह चाहिए तो सुख है; कोई कहता है, नहीं, स्त्रियों से दूर, पुरुषों से दूर, देहों से दूर, जंगल में, एकांत में, अकेले में, जहां कोई न बचे वहां सुख है। लेकिन ये एक ही सिक्के के पहलू हैं; एक-दूसरे के विपरीत मालूम होते हैं, पर एक-दूसरे के सहयोगी हैं।

वीतराग की दशा है दोनों के पार; पूरा सिक्का छोड़ दिया हाथ से--कृष्णमूर्ति जिस अवस्था को च्वॉयसलेसनेस कहते हैं, निर्विकल्पता, चुनाव का अभाव। फ्रायड उसके करीब आता जरूर। आदमी अनूठा था। लेकिन उसकी अपनी सीमाएं थीं। और पूरब के धर्मों से वह कभी ठीक से परिचित नहीं हुआ। उसके मन को ईसाइयत और यहूदी धर्मों ने बड़े विरोध से भर दिया था।

ईसाइयत और यहूदी धर्म, धर्म की कोई बड़ी ऊंची अभिव्यक्तियां नहीं हैं। बड़ी साधारण अभिव्यक्तियां हैं। क्राइस्ट तो ठीक वहीं हैं जहां बुद्ध हैं, लेकिन ईसाइयत उस ऊंचाई को नहीं पहुंच सकी जहां बुद्ध के अनुयायियों ने बुद्ध के विचार को पहुंचाया--उस परिशुद्धि को, उस प्रज्ञा को। मौजेज तो वहीं हैं, जहां लाओत्सु है, लेकिन यहूदी मौजेज को वहां न उठा सके जहां लाओत्सु के शिष्यों ने लाओत्सु को उठाया, और लाओत्सु के विचार पर आकाश में एक ताना-बाना बुना-- अत्यंत परिशुद्ध!

ईसाइयत और यहूदी, धर्म की बड़ी साधारण अभिव्यक्तियां हैं, बड़ी प्राथमिक; परिष्कार नहीं है; राजनीति ज्यादा है, धर्म कम है; व्यवसाय ज्यादा है, धर्म कम है; धर्म औपचारिक मालूम होता है। रविवार को चर्च हो आता है आदमी और सोच लेता है बात पूरी हो गई। रविवारीय धर्म है, बाकी छह दिन कोई प्रयोजन नहीं है। थोड़ी-बहुत प्रार्थना को जगह है, ध्यान के लिए कोई जगह नहीं है; समाधि की कोई धारणा नहीं है। इसलिए बहुत ऊंचाई की बात नहीं थी।

फ्रायड सिर्फ इन दो धर्मों से परिचित था। पूरब के धर्म--उपनिषद, ताओत्तेह-किंग, झेन, तंत्र, तिलोपा, बोधिधर्म, नागार्जुन, बसुबंधु, धर्मकीर्ति--इनकी कोई पहचान उसे न थी। ऐसे कमल भी खिले हैं, इसका उसे कुछ पता न था। इसलिए उसकी सीमाएं थीं। उसने पश्चिम के साधारण धर्मों को ही धर्म मान लिया।

धर्म की गहरी समझ चाहिए हो तो पूरब में डुबकी लगानी जरूरी है; जैसे विज्ञान की गहरी समझ चाहिए हो तो पश्चिम में डुबकी लगानी जरूरी है; पश्चिम की मौलिक प्रतिभा विज्ञान में प्रगट हुई है। पूरब की प्रतिभा धर्म में प्रगट हुई है। जैसे पूरब का वैज्ञानिक मध्य श्रेणी का होता है। जिसको तुम पूरब में वैज्ञानिक कहते हो वह कोई बड़े मूल्य का नहीं होता; तकनीशियन होता है, वैज्ञानिक नहीं होता; पश्चिम से सीख कर आ जाता है, उधार उसका ज्ञान होता है। पूरब के पास विज्ञान की सीधी-सीधी प्रतिभा नहीं मालूम होती, क्योंकि विज्ञान की प्रतिभा के लिए तर्क चाहिए और विज्ञान की प्रतिभा के लिए गणित चाहिए--और पूरब की प्रतिभा काव्यात्मक है, रहस्यात्मक है, संगीत में प्रगट हुई है, ध्यान में प्रगट हुई है।

तो अगर किसी को भी धर्म का ठीक परिचय करना हो तो पूरब से ही परिचित होना होगा। विज्ञान पढ़ना हो तो ऑक्सफर्ड जाओ, कैम्ब्रिज जाओ, हार्वर्ड जाओ। लेकिन अगर धर्म पढ़ना हो तो भटको कहीं पूरब के गली-कूचों में, भटको पूरब की घाटियों-वादियों, पहाड़ों में। विज्ञान को समझना हो तो पश्चिम की धारा ने विज्ञान को ठीक-ठीक उसके निष्कर्ष पर पहुंचा दिया है, तर्क को उसकी आत्यंतिक निष्पत्ति दे दी है। अगर अतर्क्य हृदय की, अंतरतम की बात सुननी हो तो पूरब के सन्नाटे में सुनो; उसकी गुनगुनाहट, उसका नाद पूरब में है।

फ्रायड की सीमा थी वह पूरब से परिचित न था। वही सीमा माक्र्स की भी थी, वह भी पूरब से परिचित न था। दोनों ने धर्म-विरोधी वक्तव्य दिए। उनके धर्म-विरोधी वक्तव्यों का बहुत मूल्य नहीं है, क्योंकि वे अपरिचित लोगों के वक्तव्य हैं, वे परिचित लोगों के वक्तव्य नहीं हैं। उन्होंने कुछ जान कर नहीं कहा है; ऊपर-ऊपर से, जो सतही परिचय हो जाता है, उसके आधार पर कुछ कह दिया है। उन्होंने गहरी डुबकी न ली। वे पूरब की गहराई में उतर कर मोती न लाए। बुद्ध से उनका मिलन नहीं हुआ। लाओत्सु से साक्षात्कार नहीं हुआ। कृष्ण की बांसुरी उन्होंने नहीं सुनी।

ये सीमाएं थीं, अन्यथा शायद फ्रायड उस सिंथीसिस को, उस परम समन्वय को भी उपलब्ध हो जाता, जो वीतरागता का है। पर जो बात उसने मृत्यु-एषणा के संबंध में कही, वह सच है। हम तो उसे जानते रहे हैं। हमने उसे मृत्यु-एषणा कभी नहीं कहा था, यह बात भी सच है। हमने उसे कहा था वैराग्य-भाव।

मगर क्या अर्थ होता है वैराग्य-भाव का? अगर राग का अर्थ होता है: और जीने की इच्छा, तो वैराग्य का अर्थ होता है: अब और न जीने की इच्छा--बहुत हुआ, पर्याप्त हो गया, हम भर गए, अब हम विदा होना चाहते हैं।

नहीं, आधुनिक मन की कोई विकृति नहीं है; आधुनिक वैज्ञानिक पद्धति के द्वारा पुराने वैराग्य को नया नाम दिया गया है। शुभ है! मेरे लेखे, फ्रायड की मृत्यु-एषणा का गहन अध्ययन होना चाहिए! वह उपेक्षित है, उसका बहुत अध्ययन नहीं किया गया। जैसे हम मृत्यु की उपेक्षा करते हैं, वैसे ही हमने मृत्यु-एषणा के सिद्धांत की भी उपेक्षा की है। तो फ्रायड के लिबिडो, कामवासना का तो खूब अध्ययन हुआ है, बड़ी किताबें लिखी जाती हैं; लेकिन मृत्यु-एषणा का बहुत कम अध्ययन हुआ है। बड़ी मूल्यवान खोज है वह, और जीवन के अंतिम परिपक्व दिनों में उसने दी है--इसलिए मूल्य और भी गहन हो जाता है।

इतना ही स्मरण रखो कि जीवन में सब चीजें द्वंद्व हैं। द्वंद्व से चलता है जीवन। जिस दिन तुम द्वंद्व से जाग गए, जीवन रुक जाता है। जिस दिन तुम द्वंद्व से जागे, निर्द्वंद्व हुए, तब तुम भी कहोगे जनक जैसे: आश्चर्य कि मैं इतनी बार जन्मा और कभी नहीं जन्मा, और इतनी बार मरा और कभी नहीं मरा! आश्चर्य! मुझको मेरा नमस्कार! इतने जन्म, इतनी मृत्युएं आईं और गईं और कोई रेखा भी मुझ पर नहीं छोड़ गईं! इतने पुण्य इतने पाप, इतने व्यवसाय इतने व्यापार, आए और गए और सपनों की तरह चले गए, पीछे पदचिह्न भी नहीं छोड़ गए! आश्चर्य मेरी इस आत्यंतिक शुद्धता का! आश्चर्य मेरे इस क्वांरेपन का। धन्यभाग! मेरा मुझको नमस्कार!

ऐसा किसी दिन तुम्हारे भीतर भी, तुम्हारे अंतरतम में भी उठेगी सुगंध!

लेकिन ध्यान रखना, आना है निर्द्वंद्व पर। जहां तुम्हें द्वंद्व दिखाई पड़े, वहीं साक्षी साधना। द्वंद्व को तुम सूचना मान लेना कि साक्षी साधने की घड़ी आ गई, जहां द्वंद्व दिखाई पड़े--प्रेम और घृणा--तो तुम चुनना मत, दोनों के साक्षी हो जाना। क्रोध और दया--तो तुम चुनना मत, दोनों के साक्षी हो जाना। स्त्री और पुरुष--तो तुम चुनना मत, दोनों के साक्षी हो जाना। सम्मान-अपमान-- चुनना मत, दोनों के साक्षी हो जाना। सुख-दुख--साक्षी हो जाना। जहां तुम्हें द्वंद्व दिखाई पड़े, वहीं साक्षी हो जाना।

अगर यह एक स्वर्ण-सूत्र तुमने पाल लिया, तो वीतराग की दशा बहुत दूर नहीं है। बूंद-बूंद घड़ा भर जाता है, ऐसे ही बूंद-बूंद इस निर्विकल्पता को साधने से तुम्हारी समाधि का घड़ा भी भरेगा, एक दिन तुम ऊपर से बहने लगोगे। न केवल तुम समाधिस्थ हो जाओगे, तुम्हारे पास जो आएंगे उन्हें भी समाधि की सुवास मिलेगी, वे भी भर उठेंगे किसी अलौकिक आनंद से।

दूसरा प्रश्न: आपके कहे अनुसार और समस्त बुद्ध-पुरुषों के कहे अनुसार अहंकार की सत्ता नहीं है--और फिर भी अहंकार के साक्षी होने को आप कहते हैं! कृपा करके इस अबूझ पहेली को हमें समझाएं।

न तो अबूझ है, न पहेली है। सीधी-सी बात है: तुम अंधेरे को देख पाते हो या नहीं? और अंधेरे की कोई सत्ता नहीं है। अंधेरा मात्र अभाव है। फिर भी अंधेरे को तुम देख पाते हो या नहीं? देख तो पाते हो। तुम्हारे देखने से ही अंधेरे की सत्ता थोड़े ही सिद्ध होती है। जब तुम अंधेरा देखते हो तो तुम वस्तुतः यही देखते हो कि प्रकाश नहीं है--और क्या देखते हो? जब तुम अंधेरा देखते हो तो तुम अंधेरा थोड़े ही देखते हो, प्रकाश का अभाव देखते हो। अंधेरा तो है ही नहीं--काटो तो काट नहीं सकते, बांधो तो बांध नहीं सकते, धकाओ तो धका नहीं सकते, जलाओ तो जला नहीं सकते, मिटाओ तो मिटा नहीं सकते। अंधेरा हो कैसे सकता है? कुछ तो कर सकते। जब कोई चीज होती है तो उसके साथ हम कुछ कर सकते हैं। होने का प्रमाण क्या? उसके साथ कुछ किया जा सकता है। न होने का प्रमाण क्या? उसके साथ कुछ भी नहीं किया जा सकता।

अंधेरा भरा है तुम्हारे कमरे में, ले आओ तलवारें, काटो, धक्के दो, बुला लो पहलवानों को, मार-काट मचाओ--तुम्हीं थक कर गिरोगे, तुम्हीं को चोटें लग जाएंगी, अंधेरा अपनी जगह रहेगा। अंधेरे का तुम कुछ भी नहीं कर सकते, क्योंकि अंधेरा अभाव है।

हां, रोशनी के साथ तुम बहुत कुछ कर सकते हो। दीया जलता हो, बुझा दो फूंक कर--गई रोशनी। बुझा दीया हो, जला दो--हो गई रोशनी। इस कमरे में न हो, दूसरे कमरे से ले आओ। अपने घर में न हो, पड़ोसी से मांग लो। प्रकाश के साथ तुम हजार काम कर सकते हो।

खयाल किया? अंधेरे के साथ कुछ करना हो तो भी प्रकाश के साथ कुछ करना पड़ता है। अंधेरे को हटाना है, जलाओ प्रकाश को; लेकिन जलाते प्रकाश को हो। अंधेरे को लाना है, बुझाओ प्रकाश को; लेकिन बुझाते प्रकाश को हो। जो है, उसके साथ कुछ किया जा सकता है। लेकिन फिर भी अंधेरा दिखाई तो पड़ता है।

ऐसा ही अहंकार है। उसकी कोई सत्ता नहीं। वह आत्मा का अभाव है। तुम्हें अपना पता नहीं, इसलिए अहंकार मालूम होता है। जिस दिन तुम्हें अपना पता चल जाएगा, उसी दिन अहंकार मालूम न होगा। आत्मभाव में कोई अहंकार नहीं रह जाता। और चूंकि तुम अपने को भुला बैठे, विस्मरण हो गया, तुम्हें याद न रही कि तुम कौन हो--तो बिना कुछ प्रतिमा के बनाए काम नहीं चल सकता, तो एक कल्पित प्रतिमा बना ली है अहंकार की, कि मैं यह हूं: मेरे पिता का नाम, घर का नाम, मेरा पता-ठिकाना, कितनी डिग्रियां, कितने प्रमाण-पत्र, लोग क्या कहते हैं मेरे बाबत--तुमने एक फाइल बना ली। इससे तुम किसी तरह इस जिंदगी में अपने संबंध

में कुछ भान पैदा कर लेते हो, एक रूप बना लेते हो--जिसके सहारे काम चल जाता है, अन्यथा बड़ी मुश्किल हो जाएगी।

कोई तुमसे पूछे कि तुम कौन हो और अगर तुम सच्चा उत्तर देना चाहो, तो तुम खड़े रह जाओगे। वह आदमी फिर पूछे कि भाई बोलते नहीं तुम कौन हो, और तुम कंधे बिचकाओ। यही सच्चा होगा उत्तर, क्योंकि पता तो तुमको भी नहीं है कि तुम कौन हो, तो वह आदमी तुम्हें पागल समझेगा। कहां से आ रहे हो--तुम कोई उत्तर नहीं दे सकते हो। दे सकते नहीं, क्योंकि तुम्हें पता नहीं कहां से आ रहे हो। कहां जा रहे हो, कुछ पता नहीं। तो तुम पागल ही समझे जाओगे।

बड़ी मुश्किल हो जाएगी अगर सभी लोग इस तरह करने लगें। अगर सभी लोग छोड़ दें झूठी मान्यताएं अपने संबंध में, तो बड़ी कठिनाई खड़ी हो जाएगी। झूठी मान्यताएं इस झूठे समाज में उपयोगी हैं। इस झूठे माया के लोक में झूठी मान्यताएं उपयोगी हैं। उनसे काम चल जाता है। वे सच हैं या झूठ, इससे कोई प्रयोजन नहीं है। उनसे काम चल जाता है, वे उपयोगी हैं।

इसीलिए तो लोग जब स्वयं की खोज पर निकलते हैं तो बड़ी घबड़ाहट पकड़ती है, क्योंकि ये सब झूठी मान्यताएं हटानी होती हैं। जिनको सदा-सदा से माना कि मेरा यह नाम है, मेरा यह पता-ठिकाना, मेरी यह देह, मैं देह, मेरा यह मन, मेरे ये विचार, मेरा यह धर्म, मेरा यह देश--सब खोने लगते हैं। इन सबके साथ ही मेरा "मैं" भी बिखरने लगता है, पिघलने लगता है, तिरोहित होने लगता है। एक घड़ी आती है कि तुम शून्य सन्नाटे में रह जाते हो, जहां तुम्हें पता ही नहीं होता कि तुम कौन हो।

उस घड़ी को जीने का नाम तपश्चर्या है। वह घड़ी बड़ी तप की है, जब तुम्हें बिलकुल पता नहीं रहता कि मैं कौन हूं। जब तुम्हारे सब धारणा के बनाए हुए महल भूमिसात हो जाते हैं, जब तुम निबिड़ अंधकार में, शून्य में खड़े हो जाते हो, प्रकाश की एक किरण नहीं मालूम होती कि मैं कौन हूं--ईसाई फकीरों ने इसके लिए ठीक नाम दिया है: डार्क नाइट आफ द सोल; आत्मा की अंधेरी रात। और इसी अंधेरी रात के बाद सुबह है। जो इससे गुजरने से डरा वह सुबह तक कभी नहीं पहुंच पाता।

तो पहले तो झूठी धारणा छोड़नी होगी, झूठा तादात्म्य छोड़ना होगा। एक घड़ी आएगी कि तुम सब भूल जाओगे कि तुम कौन हो; बिलकुल पागल जैसी दशा होगी। अगर तुम हिम्मतवर रहे और इस घड़ी से गुजर गए तो एक घड़ी फिर से आएगी, जब सुबह का सूरज निकलेगा; पहली दफा तुम्हें पता चलेगा तुम कौन हो। जब तुम्हें पता चलता है कि वस्तुतः तुम कौन हो, यथार्थतः तुम कौन हो, परमार्थतः तुम कौन हो--तब तुम जानते हो कि अहंकार एक व्यावहारिक सत्य था।

यह बात समझ लेनी चाहिए। व्यावहारिक सत्य और पारमार्थिक सत्य के बीच का भेद समझ लेना चाहिए। एक कागज का टुकड़ा मैं तुम्हें देता हूं और कहता हूं यह सौ रुपये का नोट है; तुम कहते हो, यह कागज का टुकड़ा है। मैं तुम्हें सौ रुपये का नोट देता हूं और कहता हूं यह कागज का टुकड़ा है; तुम कहते हो, नहीं यह सौ रुपए का नोट है। दोनों कागज के टुकड़े हैं। जिसको तुम सौ रुपये का नोट कह रहे हो वह व्यावहारिक सत्य है, पारमार्थिक नहीं। अगर सरकार बदल जाए या सरकार का दिमाग बदल जाए और वह आज सुबह घोषणा कर दे कि सौ रुपये के नोट अब सौ रुपये के नोट नहीं, अब नहीं चलेंगे, चलन के बाहर हो गए--तो तत्क्षण सौ रुपये का नोट कागज का टुकड़ा हो जाएगा। लोग निकाल कर घूरों पर फेंक आएंगे कि क्या करेंगे। कल तक इतना सम्हाल-सम्हाल कर रखते थे, अब बच्चों को खेलने को दे देंगे कि खेलो, कागज की नाव बना कर नदी में चला दो। क्या करोगे? व्यावहारिक सत्य था, माना हुआ सत्य था। माना था, इसलिए सत्य था। सबने मिल कर माना था, इसलिए सत्य था। सबने इंकार कर दिया, बात खत्म हो गई।

अहंकार व्यावहारिक सत्य है--सौ रुपए का करेंसी नोट है। मानो तो है। और जिंदगी के लिए जरूरी भी है। मैं तुमसे यह नहीं कह रहा हूं कि तुम अहंकार को छोड़ कर जिंदगी में अड़चन बन जाओ। मैं तुमसे यह कह

रहा हूं कि अहंकार से जाग जाओ; इतना समझ लो कि यह व्यावहारिक सत्य है, पारमार्थिक नहीं। इसका उपयोग करो--भरपूर! करना ही होगा। लेकिन इसे सच्चाई मत मानो। सच्चाई मानने से बड़ी अड़चन हो जाती है। हम जो मान लेते हैं वैसा दिखाई पड़ने लगता है।

कल मैं एक घटना पढ़ रहा था--एक प्रयोग। हार्वर्ड विश्वविद्यालय में मनोविज्ञान-विभाग ने एक प्रयोग किया। एक बड़ा मनोवैज्ञानिक, जिसकी ख्याति सारे मुल्क और मुल्क के बाहर है, उसको उन्होंने कहा कि हम एक प्रयोग करना चाहते हैं, आप सहयोग दें। एक आदमी पागल है, दिमाग उसका खराब है और वह घोषणा करता है कि वह बड़ा भारी मनोवैज्ञानिक है। एक दूसरे विश्वविद्यालय के मनोवैज्ञानिक का वह नाम लेता है कि मैं वही हूं। आप उसका इलाज करें। और आप जो एक-दूसरे के साथ बात करेंगे, वह हम सब उसकी फिल्म लेना चाहते हैं, ताकि हम उसका अध्ययन कर सकें बाद में। वह मनोवैज्ञानिक राजी हो गया।

वे दूसरे आदमी के पास गए--मनोवैज्ञानिक के पास, दूसरे विश्वविद्यालय के। और उससे कहा कि एक पागल है, वह अपने को बड़ा मनोवैज्ञानिक समझता है। आप उसका इलाज करेंगे? हम फिल्म लेना चाहते हैं। वह भी राजी हो गया।

ये दोनों बड़े मनोवैज्ञानिक, इन दोनों को वे एक कमरे में लाये, पर दोनों एक-दूसरे को मान रहे हैं कि दूसरा पागल है और गलती से, भ्रांति से घोषणा कर रहा है कि मैं बड़ा मनोवैज्ञानिक हूं। उन्होंने पूछा, आप कौन? दोनों ने उत्तर दिया। दोनों ने वही उत्तर दिया जो सही था--उनके लिए सही था। लेकिन दूसरा मुस्कुराया--उसने कहा, "तो अच्छा तो बिलकुल दिमाग इसका खराब ही है? यह अपने को क्या समझ रहा है?" दोनों एक-दूसरे के इलाज का उपाय करने लगे। और जितना वह पागल-- क्योंकि दोनों एक-दूसरे को पागल समझते हैं--जितना एक-दूसरे का उपाय करने लगा इलाज का, वह दूसरा भी चकित हुआ कि हद हो गयी, पागलपन की भी सीमा है! न केवल यह पागल है, बल्कि मुझे पागल समझ रहा है, मुझे ठीक करने का उपाय कर रहा है।

दस मिनट तक बड़ी अदभुत स्थिति रही होगी। दस मिनट के बाद एक को याद आया कि यह चेहरा तो पहचाना-सा मालूम पड़ता है। अखबारों में फोटो देखे मालूम पड़ते हैं, हो न हो यह आदमी सच में ही तो वही नहीं है जिसका यह दावा कर रहा है!

और जैसे ही उसे याद आया तो सारी बात याद आ गई। उसने उस आदमी की किताबें भी पढ़ी हैं; वह जो बोल रहा है, उसमें उसके शब्द भी उसकी पहचान में आने लगे। तब वह चौंका। तब वह समझा जाल क्या है। यह एक प्रयोग था जिसमें मान्यता के आधार पर, हम जो मान लेते हैं, वही सत्य प्रतीत होने लगता है। तब वे दोनों हंसे खिलखिला कर। तब दोनों ने असली स्थिति पहचान ली। तब कोई भी पागल न रहा। मगर दस मिनट तक दोनों पागल थे और प्रत्येक सोच रहा था दूसरा पागल है। दस मिनट तक जो स्थिति थी, वह व्यावहारिक सत्य थी, पारमार्थिक नहीं। उखड़ गई। जैसे ही सच्चाई की याद आई, टूट गई।

एक और प्रयोग मैं पढ़ रहा था। एक दूसरे विश्वविद्यालय में एक बड़ा जर्मन संगीतज्ञ आया। वह सिर्फ जर्मन भाषा जानता है, अंग्रेजी के दो चार शब्द बोल लेता है। उसके एक विद्यार्थी ने आ कर पहले परिचय दिया श्रोताओं को। और जैसा वह संगीत बजाने जा रहा है, उसके संबंध में परिचय दिया कि बहुत अनूठी कृति है, शायद मनुष्य-जाति के इतिहास में ऐसी कोई दूसरी संगीत की कृति नहीं। इसकी खूबी यह है कि संगीतज्ञ तो पूरा गंभीर रहता है, लेकिन यह एक बड़ा गहरा व्यंग्य है। और आप अभागे हैं कि आपको जर्मन नहीं आती और आप पूरा न समझ पाएंगे, लेकिन जर्मनी में जहां भी उसने अपने इस संगीत का प्रदर्शन किया है वहां लोग लोट-पोट हो जाते हैं, हंसी के फव्वारे छूट जाते हैं; लोग पेट पकड़ लेते हैं, लोगों के पेट में दर्द होने लगता है। और खूबी यह है इस संगीतज्ञ की कि वह लेकिन अपनी गंभीरता, गुरु-गंभीरता बनाए रखता है, मुस्कुराहट भी नहीं आती। जैसे- जैसे लोग हंसते हैं, वह और भी गंभीर होता जाता है। यही तो उसकी खूबी है। और इसी से वह हंसी और भी बढ़ती चली जाती है। वह नाराज तक होने लगता है। वह चिल्लाने तक लगता है कि यह तुम क्या

कर रहे हो? मगर वह सारे व्यंग्य का हिस्सा है कि वह अपनी गंभीरता को गहन रखता है! और गंभीरता के गहन रखने के कारण पृष्ठभूमि में व्यंग्य और भी प्रगाढ़ हो जाता है, पैना हो जाता है।

फिर संगीतज्ञ आया। उसने अपना संगीत का प्रदर्शन शुरू किया। वह विद्यार्थी उसके पीछे खड़ा हो गया। अब लोग भाषा नहीं जानते, मगर तैयारी है उनकी। कोई धीरे से खिलखिलाया, कोई हंसा, फिर हंसी फैलने लगी। फिर सब लोगों ने नजर उस विद्यार्थी पर रखी जो पीछे खड़ा है। वह कई दफे ऐसा हंसता है, पेट पकड़ लेता है, धीरे-धीरे लोग उसकी नकल करने लगे--उस विद्यार्थी की-- क्योंकि जब वह हंस रहा है तो कोई बात हंसी की हो ही रही होगी। फिर थोड़ा-थोड़ा लोग अपनी तरफ से भी करने लगे। और वह संगीतज्ञ नाराज होने लगा। और वह चीखने-चिल्लाने लगा। गालियां बकने की नौबत आ गई। वह छोड़ कर खड़ा हो गया और जो दो-चार शब्द उसे अंग्रेजी के आते थे, उसने उससे समझाया कि यह क्या नालायकी है? यह मैं एक गंभीर, अति गंभीर संगीत पेश कर रहा हूं। और यह क्या पागलपन है? तुम्हें भाषा भी समझ में नहीं आती और तुम लोट-पोट हुए जा रहे हो!

तब लोगों ने निवेदन किया कि हमको पहले बताया गया है। उन्होंने इधर-उधर देखा, वह विद्यार्थी नदारद है, वह जा चुका है। वह प्रयोग पूरा हो गया। वहां कुछ भी हंसी जैसी बात न थी। वह जो गा रहा था गीत, वह बड़ा दुखांत था। लेकिन धारणा अगर पकड़ जाए तो व्यावहारिक रूप से सत्य मालूम होने लगती है।

अहंकार एक धारणा है। सभी को पकड़ी है। और खूब उस धारणा के नीचे सभी की छातियां दबी हैं! लेकिन है केवल व्यावहारिक सत्य। उपयोगी है निश्चित, यथार्थ नहीं है। उपयोग खूब करो, लेकिन भूल कर भी अपने को अहंकार मत समझ बैठना। काम ले लो, लेकिन अहंकार के वशीभूत मत हो जाना। इतना ही प्रयोजन है साक्षी-भाव का कि तुम साक्षी-भाव से देखो कि क्या व्यावहारिक है, क्या पारमार्थिक है; क्या वस्तुतः है और क्या है केवल मान्यता के आधार पर।

एक सूफी कथा है। एक आदमी था। उसे अपनी परछाईं से घृणा हो गई। न केवल परछाईं से घृणा हो गई, उसे अपने पद-चिह्नों से भी घृणा हो गई। उस आदमी को अपने से ही घृणा थी। जब अपने से घृणा थी तो अपने पद-चिह्नों से भी घृणा हो गई। और जब अपने से घृणा थी तो अपनी छाया से भी घृणा हो गई। वह बचना चाहता था। वह चाहता था कि यह छाया मिट जाए। और वह चाहता था कि मैं कोई पद-चिह्न पृथ्वी पर न छोडूं, मेरी कोई याद न रह जाए, मैं इस तरह मिट जाऊं कि जैसे मैं कभी हुआ ही नहीं। वह भागने लगा--छाया और पद-चिह्नों से बचने को। वह खूब दूर मीलों भागने लगा। लेकिन जितना ही वह भागता, छाया उसी के साथ घसिटती हुई भागती। वह जितना भागता, उतने ही पद-चिह्न बनते। आखिर उसकी बुद्धि ने कहा कि तुम ठीक से नहीं भाग रहे, तुम तेजी से नहीं भाग रहे हो। उसके तर्क ने कहा कि इस तरह काम न चलेगा; ऐसे तो तुम भागते रहोगे, छाया साथ लगी है। तुम्हारे दौड़ने में जितनी गति होनी चाहिए उतनी गति नहीं है। गति से दौड़ो! तुम जितनी तेजी से दौड़ रहे हो, उतनी तेजी से तो छाया भी दौड़ रही है। इसलिए छाया भी उतना दौड़ सकती है। इतने दौड़ो कि छाया न दौड़ सके, तो संबंध टूट जाए। तो वह इतना ही दौड़ा और कहते हैं, गिरा और मर गया।

सूफी इस कहानी की व्याख्या करते हैं। वे कहते हैं, ऐसी ही आदमी की दशा है। कुछ हैं यहां, जो छाया को भरने में लगे हैं; जो छाया पर हीरे-मोती लगा रहे हैं; जो छाया को सोने से मढ़ रहे हैं। वे कहते हैं, यह हमारी छाया है; इसे हम सजाएंगे; इसे हम रूपवान बनाएंगे; इस पर हम इत्र छिड़केंगे; इस पर हम मखमल बिछाएंगे। यह हमारी छाया है; यह किसी गरीब-गुरबे, किसी भिखमंगे की छाया नहीं। यह ऐसे सड़क के कंकड़-पत्थरों पर न पड़ेगी; यह सिंहासनों पर पड़ेगी; यह स्वर्ण-पटे मार्गों पर पड़ेगी।

राजाओं को चलते देखा है? जब वे चलते हैं तो आगे उनके मखमल बिछाई जाती है। उनके पदचिह्न मखमल पर पड़ते हैं। ये कोई साधारण आदमी थोड़े ही हैं कि मिट्टी पर...साधारण मिट्टी पर तो सभी के पदचिह्न पड़ते हैं।

एक हैं, जो इस छाया को सजाने में लगे हैं। यह एक तरह का पागलपन है। फिर दूसरे हैं, जो इस छाया से भयभीत हो गए हैं--भगोड़े, तथाकथित साधु-संत। संसारी छाया को सजाने में लगे हैं, छाया के आस-पास महल बना रहे हैं। और जिनको तुम गैर-संसारी कहते हो, विरागी कहते हो, वे भाग खड़े हुए, वे भाग रहे हैं कि छाया से दूर निकल जाएं। और छाया है नहीं। सजाओ तो भ्रांति है, भागो तो भ्रांति है। दोनों हालत में तुम मरोगे। कुछ सजाते-सजाते गिर पड़ेंगे, कुछ भागते-भागते गिर पड़ेंगे।

सूफी कहते हैं, काश उस पागल आदमी को इतनी अक्ल होती कि मैं छाया में जा कर बैठ जाऊं किसी वृक्ष की, तो छाया मिट जाती। छाया बनती है जब तुम सूरज के सामने खड़े होते हो, सूरज के नीचे खड़े होते हो। छाया बनती है जब तुम धूप में खड़े होते हो, प्रकाश में खड़े होते हो। छाया बनती है जब तुम अहंकार की घोषणा करते हो; जब तुम कहते हो: "देखे दुनिया मुझे! पहचाने दुनिया मुझे! पड़े प्रकाश सारी दुनिया का मुझ पर!" जब तुम सम्मान चाहते हो, सफलता चाहते हो, तब छाया बनती है। सूरज की रोशनी में।

सूफी कहते हैं; काश यह पागल आदमी हट गया होता, किसी छप्पर के नीचे शांति से बैठ गया होता, छाया मिट गई होती!

जो सम्मान नहीं चाहते, जो पद-प्रतिष्ठा नहीं चाहते, जो यश-गौरव नहीं चाहते, उनकी छाया मिट जाती है। वे छाया में खुद ही बैठ गए, अब छाया बनेगी कैसे? काश यह आदमी बैठ जाता तो पदचिह्न बनने बंद हो जाते। भागने से कहीं पद-चिह्न बनने बंद होंगे? और बनेंगे, और ज्यादा बनेंगे।

तुमने देखा? यहां सांसारिक लोगों को चाहे लोग भूल भी जाएं, संतों को नहीं भूल पाते। सांसारिक आदमी के पद-चिह्न तो जल्दी ही मिट जाते हैं, क्योंकि वहां बड़ी भीड़ चल रही है। वहां करोड़ों लोग चल रहे हैं, कौन तुम्हारे पदचिह्नों की चिंता करेगा? तुम निकल भी न पाओगे कि तुम्हारे पदचिह्न रौंद दिए जाएंगे। लेकिन साधु-संतों के पदचिह्न बनते हैं। वहां कोई भी नहीं चलता। वहां ज्यादा संघर्ष और प्रतियोगिता ही नहीं है। साधु-संत बड़े अकेले चलते हैं। उनके पदचिह्न सदियों तक बने रहते हैं।

काश! वह आदमी सिर्फ बैठ जाता विश्राम में--जिसको अष्टावक्र ने कहा, काश उसने अपनी चेतना में विश्राम कर लिया होता--तो न पद-चिह्न बनते, न पृथ्वी विकृत होती, न छाया बनती, न छाया से बचने का उपाय करना पड़ता, न वह आदमी इस बुरी मौत मरता, इस कुत्ते की मौत मरता।

अहंकार कुछ है नहीं, जिससे छूटना है। सिर्फ जाग कर देखना है कि कुछ भी नहीं है, छाया-मात्र है। तुम व्यर्थ ही भागे जा रहे हो, व्यर्थ ही परेशान हो रहे हो। बैठ जाओ, कुछ भी नहीं है। एक व्यावहारिक उपयोगिता है, उपयोगिता कर लो। बोलोगे तो कहना पड़ेगा, मैं। मैं भी बोलता हूं, तो कहता हूं मैं। बुद्ध भी बोलते हैं तो कहते हैं मैं। कृष्ण भी बोलते हैं तो कहते हैं मैं। लेकिन वहां मैं जैसा कोई भी नहीं। वे जानते हैं कि मैं सिर्फ एक भाषागत उपयोगिता है, एक व्यवहारगत उपयोगिता है। संवाद की जरूरत है। कहनी पड़ती है। मानी हुई बात है, सत्य नहीं।

साक्षी होने का इतना ही अर्थ है कि तुम गौर से देख लो जो भी तुम्हारी दशा है। उस गौर से देखने में तुम्हें पता चल जाएगा: क्या है और क्या नहीं है? जो है, वही है आत्मा। जो नहीं है, वही है अहंकार।

तीसरा प्रश्न: आपने उस रोज कहा, तुम किसी अंश में नहीं, पूरे के पूरे गलत हो। जो भी हो, गलत ही हो। इसका क्या कारण है? अहंकार या अज्ञान दर्प या भ्रांति? और क्या अहंकार और अज्ञान अन्योन्याश्रित हैं?

पहली बात, ये सब नाम ही हैं एक ही बीमारी के अलग-अलग। जैसे कि तुम्हें कोई बीमारी हो, तुम आयुर्वेदिक चिकित्सक के पास जाओ और वह कोई नाम बताए, वह कहे कि तुम्हें दमा हो गया। और तुम जाओ एलोपैथिक चिकित्सक के पास और वह कहे कि तुम्हें अस्थमा हो गया। तो तुम इस चिंता में मत पड़ना कि तुम्हें दो बीमारियां हो गई हैं, कि तुम बड़ी मुश्किल में पड़े--दमा भी हो गया, अस्थमा भी हो गया। फिर तुम जाओ और किसी यूनानी हकीम के पास, और किसी होमियोपैथ के पास और वे अलग-अलग नाम देंगे; क्योंकि अलग-अलग भाषाएं हैं उनकी, अलग पारिभाषिक शब्द हैं।

आदमी की बीमारी तो एक है--कहो अज्ञान, कहो अहंकार कहो माया, कहो भ्रांति, कहो बेहोशी, मूर्च्छा, प्रमाद, पाप, विस्मरण--जो तुम कहना चाहो। बीमारी एक है, नाम हजार हैं।

तो पहली बात तो यह स्मरण रखना कि तुम्हारी बीमारियां बहुत नहीं हैं, इससे भी मन हलका हो जाएगा कि एक ही बीमारी है। और तुम्हें हजारों बीमारियों का इलाज भी नहीं करना है, नहीं तो बीमारी तो बीमारी, इलाज मार डालेंगे। बीमारी तो एक तरफ रहेगी, औषधियां मार डालेंगी।

तुम्हारी बहुत बीमारियां नहीं हैं। माया, मत्सर, लोभ, मोह, क्रोध--ये सब अलग-अलग बीमारियां नहीं हैं; ये एक ही बीमारी की अलग-अलग अभिव्यक्तियां हैं, अलग-अलग रूप-रंग हैं। ये एक ही बीमारी के अलग-अलग नाम हैं।

अहंकार बिलकुल ठीक है नाम, मुझे पसंद है। क्योंकि इस "मैं"-भाव से ही सब पैदा होता है। "मैं"-भाव से "मेरा" पैदा होता, "मेरे" से सारा माया-मोह बनता है। "मैं" भाव से जरा-जरा में क्रोध आता है। जरा चोट लग जाए तो क्रोध आ जाता है। "मैं"-भाव से दूसरों के प्रति...दूसरों के प्रति निंदा पैदा होती है; अपने को ऊंचा करने की, दूसरों को नीचा करने की आकांक्षा पैदा होती है। "मैं"-भाव से प्रतिस्पर्धा, गला-घोंट प्रतिस्पर्धा शुरू होती है कि सब को पछाड़ देना है, हरा देना है, पराजित कर देना है; मुझे जीत की घोषणा करनी है कि मैं कौन हूं। "मैं" से संघर्ष पैदा होता है, विरोध पैदा होता है, युद्ध पैदा होता है, हिंसा पैदा होती है। और जितना ही यह "मैं" में तुम डूबने लगते हो, उतनी ही बेहोशी बढ़ती जाती है। यह गहरा नशा हो जाता है।

तुमने देखा, अहंकारी को चलते हुए? जैसे हमेशा शराब पीये हुए है! उसको हमने अहंकार का मद इसीलिए तो कहा है। उसके पैर जमीन पर ही नहीं पड़ते और वह तत्क्षण उलझने को तैयार है। वह खोज ही रहा है कि कोई मिल जाए, जिसके सामने वह अपने अहंकार को टकरा ले, क्योंकि अहंकार का पता ही टकराहट में चलता है। जैसी टकराहट, उतना ही अहंकार का पता चलता है। बड़ी टकराहट, तो बड़ा पता चलता है। छोटी-मोटी टकराहट, तो छोटा-मोटा पता चलता है। तो अहंकार शत्रु की तलाश करता है। एक ही नाम काफी है--अहंकार।

दूसरी बात, मैंने निश्चित कहा कि तुम किसी अंश में नहीं, पूरे के पूरे गलत हो। यह अहंकार की एक बड़ी बुनियादी व्यवस्था है कि अहंकार तुमसे कहता है कि तुम गलत हो माना, लेकिन अंश में गलत हो, अंश में तो सभी गलत होते हैं। थोड़ी गलती किसमें नहीं है? थोड़ी गलती है, सुधार लेंगे। इससे तुम्हारे जीवन में एक तरह का सुधारवाद चलता है, क्रांति नहीं हो पाती। अहंकार कहता है, यह गलत है, इस को सुधार लो; यहां पलस्तर उखड़ गया है, पलस्तर कर दो, यहां जमीन में गड्ढा हो गया है, पाट दो; यहां की दीवाल गिरने लगी है, संभाल दो; यहां खंभा लगा दो; यहां नए खपड़े बिछा दो। अहंकार कहता है, मकान तो बिलकुल ठीक है; जरा-जरा कहीं गड़बड़ होती है, उसको ठीक करते जाओ, एक दिन सब ठीक हो जाएगा। तो कभी ठीक न होगा। यह अहंकार के बचाव की बुनियादी तरकीब है कि वह कहता है कि थोड़ी-सी गलती है, बाकी तो सब ठीक है।

मैं तुमसे कहना चाहता हूं, जब तक अहंकार है तब तक सभी गलत है। ऐसा थोड़े ही होता है कि कमरे के एक कोने में प्रकाश है और पूरे कमरे में अंधकार है। ऐसा थोड़े ही होता है कि कमरे के जरा-से हिस्से में अंधकार है और बाकी में प्रकाश है। प्रकाश होता है तो पूरे कमरे में हो जाता है। प्रकाश नहीं होता तो पूरे कमरे में नहीं होता।

साक्षी जब जागता है तो सर्वांश में जागता है। ऐसा नहीं कि थोड़ा-थोड़ा जग गए, थोड़ा-थोड़ा सोए। जब तुम्हारा ध्यान फलता है तो समग्ररूपेण फलता है।

इस अहंकार की तरकीब से बचना, नहीं तो तुम एक सुधारवादी, एक रिफार्मिस्ट हो जाओगे। और तुम्हारे जीवन में वह महाक्रांति न हो पाएगी, जो महाक्रांति इस महागीता में जनक के जीवन में हुई। वह क्षण में हो गई, क्योंकि जनक ने देख लिया कि मैं पूरा का पूरा गलत था।

इसे मैं फिर दोहराऊं कि या तो तुम पूरे गलत होते हो, या तुम पूरे सही होते हो; दोनों के बीच में कोई पड़ाव नहीं है। अहंकार को यह बात माननी बहुत कठिन है कि मैं पूरा का पूरा गलत हूं। अहंकार कहता है, होऊंगा गलत, लेकिन कुछ तो सही होऊंगा। जिंदगी पूरी की पूरी गलत मेरी?

मगर यहीं से क्रांति की शुरुआत होती है।

एक बड़ी प्राचीन कथा है कि एक ब्राह्मण सदा लोगों को समझाता कि जो कुछ करता है परमात्मा करता है; हम तो साक्षी हैं, कर्ता नहीं। परमात्मा ने उसकी परीक्षा लेनी चाही। वह गाय बन कर उसकी बगिया में घुस गया और उसके सब वृक्ष उखाड़ डाले और फूल चर डाले और घास खराब कर दी और उसकी सारी बगिया उजाड़ डाली। जब वह ब्राह्मण अपनी पूजा-पाठ से उठ कर बाहर आया-- पूजा-पाठ में वह यही कह रहा था कि तू ही है कर्ता, हम तो कुछ भी नहीं हैं, हम तो द्रष्टा-मात्र हैं-- बाहर आया तो द्रष्टा वगैरह सब भूल गया। वह बगिया उजाड़ डाली थी; वह उसने बड़ी मेहनत से बनाई थी, उसका उसे बड़ा गौरव था। सम्राट भी उसके बगीचे को देखने आता था। उसके फूलों का कोई मुकाबला न था; सब प्रतियोगिताओं में जीतते थे। वह भूल ही गया सब पूजा-पाठ, सब साक्षी इत्यादि। उसने उठाया एक डंडा और पीटना शुरू किया गाय को। उसने इतना पीटा कि वह गाय मर गई। तब वह थोड़ा घबड़ाया कि यह मैंने क्या कर दिया! गौ-हत्या ब्राह्मण कर दे? और ब्राह्मणों की जो संहिता है, मनुस्मृति, वह कहती है, यह तो महापाप है। इससे बड़ा तो कोई पाप ही नहीं है। गौ-हत्या! वह कंपने लगा। लेकिन तभी उसके ज्ञान ने उसे सहारा दिया। उसने कहा, "अरे नासमझ! सदा तू कहता रहा है कि हम तो साक्षी हैं, यह भी परमात्मा ने ही किया। कर्ता तो वही है। यह कोई हमने थोड़े ही किया।" वह फिर सम्हल गया।

गांव के लोग आ गए। वे कहने लगे, महाराज! ब्राह्मण महाराज, यह क्या कर डाला?

उसने कहा, मैं करने वाला कौन! करने वाला तो परमात्मा है। उसी ने जो चाहा वह हुआ। गाय को मरना होगा, उसे मारना होगा। मैं तो निमित्त मात्र हूं।

बात तो बड़े ज्ञान की थी। ज्ञान की ओट में छिप गया अहंकार। ज्ञान की ओट में छिपा लिया उसने अपने सारे पाप को। कोई इसका खंडन भी न कर सका। लोगों ने कहा, ब्राह्मण देवता पहले से ही समझाते रहे हैं कि यह सब साक्षी है; तब यह भी बात ठीक ही है, वे क्या कर सकते हैं?

परमात्मा दूसरे दिन फिर आया, तब वह एक भिखारी ब्राह्मण की तरह आया। उसने आ कर कहा कि अरे, बड़ा सुंदर बगीचा है तुम्हारा! बड़े सुंदर फूल खिले हैं। यह किसने लगाया?

उस ब्राह्मण ने कहा, किसने लगाया? अरे, मैंने लगाया!

वह उसे दिखाने लगा परमात्मा को ले जा ले जा कर--जो वृक्ष उसने लगाए थे, संवारे थे, जो बड़े सुंदर थे। और बार-बार परमात्मा उससे पूछने लगा, ब्राह्मण देवता, आपने ही लगाए? सच कहते हैं?

वह बार-बार कहने लगा, हां, मैंने ही लगाए हैं। और कौन लगाने वाला है? अरे और कौन है लगाने वाला? मैं ही हूं लगाने वाला। यह मेरा बगीचा है।

विदा जब होने लगा वह ब्राह्मण--छिपा हुआ परमात्मा--तो उसने कहा, ब्राह्मण-देवता, एक बात कहनी है: मीठा-मीठा गप्प, कड़वा-कड़वा थू!

उसने कहा, मतलब? ब्राह्मण ने पूछा, तुम्हारा मतलब? मीठा-मीठा गप्प, कड़वा-कड़वा थू!

उसने कहा, अब तुम सोच लेना। गाय मारी तो परमात्मा ने, तुम साक्षी थे; और वृक्ष लगाए तुमने! परमात्मा साक्षी है!

अहंकार बड़ी तरकीबें करता है: मीठा-मीठा गप्प, कड़वा-कड़वा थू! और वही उसके बचाव के उपाय हैं। क्रांति तो तब घटित होती है जब तुम जानते हो कि सर्वांश में मैं गलत था; समग्ररूपेण मैं गलत था; मेरा अब तक का होना ही गलत था। उसमें प्रकाश की कोई किरण न थी। वह सब अंधकार था। ऐसे बोध के साथ ही क्रांति घटित होती है और तत्क्षण प्रकाश हो जाता है।

सुधारवादी मत बनना। सुधारवादी से ज्यादा से ज्यादा तुम सज्जन बन सकते हो। मैं तुम्हें क्रांतिकारी बनाना चाहता हूं। क्रांति तुम्हारे जीवन में संतत्व को लाएगी। तुम्हारे जो संत हैं वे सज्जन से ज्यादा नहीं हैं। वास्तविक संत तो परम विद्रोही होता है। विद्रोह--स्वयं के ही अतीत से। विद्रोह-- अपने ही समस्त अतीत से। वह अपने को विच्छिन्न कर लेता है। वह तोड़ देता है सातत्य। वह कहता है, मेरा कोई नाता नहीं उस अतीत से; वह पूरा का पूरा गलत था; मैं सोया था अब तक, अब मैं जागा।

जब तुम सोए थे, तब तुम सोए थे, तब सब गलत था। ऐसा थोड़े ही है कि सपने में कुछ चीजें सही थीं और कुछ चीजें गलत थीं; सपने में सभी चीजें सपना थीं। ऐसा थोड़े ही है कि सपने में से कुछ चीजें तुम बचा कर ले आओगे और कुछ चीजें खो जाएंगी। सपना पूरा का पूरा गलत है।

अहंकार एक मूर्च्छा है, एक सपना है। उसे तुम पूरा ही गलत देखना। यद्यपि अहंकार कोशिश करेगा कि कुछ तो बचा लो, एकदम गलत नहीं हूं, कई चीजें अच्छी हैं। अगर तुमने कुछ भी बचाया अहंकार से, अहंकार पूरा बच जाएगा। अगर सपने में से तुमने कुछ भी बचा लिया और तुम्हें लगता रहा कि यह सच है तो पूरा सपना बच जाएगा। क्योंकि जिसको सपने में अभी सच दिखाई पड़ रहा है, वह अभी जागा नहीं।

इसलिए मैं जोर दे कर बार-बार कहता हूं: तुम पूरे गलत हो। इससे तुम्हें बेचैनी होती है। तुम मुझसे कभी नाराज भी हो जाते हो कि पूरे गलत! ऐसा तो नहीं हो सकता कि हम बिलकुल ही गलत हों! तुम्हारे अहंकार को मैं कोई जगह बचने की नहीं देता। तुमसे कहता हूं, तुम पूरे ही गलत हो। लेकिन इससे तुम उदास मत होना, क्योंकि इससे मैं एक और बात भी कह रहा हूं जो शायद तुम्हें सुनाई न पड़ रही हो, कि तुम चाहो तो पूरे के पूरे अभी सही हो सकते हो। उस आशा के दीप पर ध्यान दो। अगर पूरे गलत हो तो पूरे के पूरे सही हो सकते हो। अगर तुम थोड़े-थोड़े गलत हो, थोड़े-थोड़े सही हो--तो तुम थोड़े-थोड़े गलत और थोड़े-थोड़े सही ही रहोगे। तब तुम पूरे के पूरे सही न हो सकोगे। तब तुम घसीटते रहोगे अपने अतीत को। तब तुम एक मिश्रित खिचड़ी रहोगे। और खिचड़ी होने में सुख नहीं। खिचड़ी होने में नर्क है।

तुम शुद्ध हो। तुम एक रोशनी से भरो। और उस रोशनी से भरने के लिए इतना ही जानना जरूरी है कि तुमने अभी तक अपने को जो माना है, वह तुम नहीं हो। तुम कोई और हो। कोई अज्ञात तुम्हारे भीतर छिपा है। कोई अज्ञात कमल तुम्हारे भीतर खिलने को राजी है, जरा मुड़ो भीतर की तरफ! जरा रुको, किसी छाया में बैठो। धूप में मत भागो! विश्राम! और उसी विश्राम में ध्यान और समाधि है।

चौथा प्रश्न: कल आपने कहा कि धार्मिक व्यक्ति सदा विद्रोही होता है। तो क्या विद्रोही व्यक्ति सहज हो सकता है?

मैंने निश्चित कहा कि धार्मिक व्यक्ति सदा विद्रोही होता है, लेकिन मैंने यह नहीं कहा कि सभी विद्रोही व्यक्ति धार्मिक होते हैं। विद्रोही कोई हो सकता है बिना धार्मिक हुए, लेकिन धार्मिक कोई नहीं हो सकता बिना विद्रोही हुए।

तो फिर धार्मिक विद्रोही और विद्रोही में क्या फर्क होगा? जो साधारण विद्रोही है, जिसमें धर्म नहीं है, राजनीतिक, सामाजिक विद्रोही है, उस विद्रोही का जीवन कभी सहज नहीं हो सकता। वहां तो बड़ा तनाव होगा। वहां तो चौबीस घंटे चिंता और बेचैनी होगी।

धार्मिक विद्रोही का अर्थ है: सहज। विद्रोह करने के लिए विद्रोह नहीं; किसी के खिलाफ विद्रोह नहीं--अपनी सहजता में रहने की आकांक्षा है धार्मिक व्यक्ति का विद्रोह। वह स्वयं में जीना चाहता है। इस स्वयं में जीने में जो चीजें भी बाधा डालती हैं, वह उन्हें स्वीकार नहीं करता। उसकी तोड़ने की कोई आकांक्षा नहीं। वह किसी के विरोध में भी नहीं जाना चाहता। वह इतना ही चाहता है कि उसकी स्वतंत्रता में कोई बाधा न बने। न तो वह किसी की स्वतंत्रता में बाधा बनना चाहता है, न किसी को अपनी स्वतंत्रता में बाधा बनने देना चाहता है।

धार्मिक विद्रोही प्रतिक्रियावादी नहीं है। वह किसी के विरोध में नहीं है; वह सिर्फ अपने पक्ष में है। इस बात को तुम खयाल में ले लेना। राजनीतिक विद्रोही को अपना तो कुछ पता ही नहीं है, वह किसी के विरोध में है; जो भी सत्ता में है, उसके विरोध में है; जिसके हाथ में भी ताकत है, उसके विरोध में है। क्योंकि ताकत उसके हाथ में होनी चाहिए, अपने हाथ में होनी चाहिए; दूसरे हाथ में है तो गलत है।

राजनीतिक विद्रोही अहंकार का विद्रोह है। धार्मिक विद्रोही अहंकार का विसर्जन है और सहज-स्वभाव में जीने की प्रक्रिया है। इसका यह अर्थ नहीं होता कि धार्मिक व्यक्ति अकारण बाधाएं खड़ी करेगा। नियम है कि बाएं चलो तो वह दाएं चलेगा--ऐसा नहीं है। धार्मिक व्यक्ति तो भूल कर भी यह झंझट न लेगा दाएं चलने की, क्योंकि दाएं चलो कि बाएं चलो, सब बराबर है। इसमें झगड़ा क्या है? वह बाएं ही चलेगा।

तुम धार्मिक विद्रोही के जीवन में कोई अकारण झंझट न देखोगे। वह सौ में निन्यानबे मौकों पर समाज के साथ ही होगा। समाज के साथ किसी भय के कारण नहीं होगा; यह समझ कर होगा कि कुछ चीजें तो औपचारिक हैं, इनमें अर्थ ही क्या है? इनमें झगड़ा क्या करना? लेकिन एक मुद्दे पर, जहां भी आत्मा बेचने का सवाल होगा, वह सब कुछ दांव पर लगा देगा। बाएं-दाएं चलने में उसे कोई अड़चन नहीं है। नियम पालन करने में उसे कोई अड़चन नहीं है। लेकिन जहां नियम आत्मघाती होने लगेगा, वहां वह बगावत करेगा; वहां वह राजी नहीं होगा; वहां वह मर जाना पसंद करेगा, ऐसे जीने के मुकाबले जहां आत्मा खो देनी पड़ती हो।

धार्मिक व्यक्ति में बड़ी सहजता होगी। तनाव तो पैदा होता है जब हम किसी से संघर्ष करते हैं। धार्मिक व्यक्ति का किसी से कोई संघर्ष नहीं है। धार्मिक व्यक्ति का तो अपने में रस है। वह अपने रस के उद्रेक में जीना चाहता है और वह नहीं चाहता कि कोई उसे बाधा दे; वह नहीं चाहता कि वह किसी को बाधा दे। वह चुपचाप अपने में डूबना चाहता है। बस इस बात में अगर कोई अड़चन डाली जाए तो वह इंकार करेगा, तो वह सूली चढ़ने को राजी रहेगा।

लेकिन तुम चकित होओगे यह जान कर कि तुम्हारी अंतरात्मा में बाधा कोई देता नहीं। लोगों को अंतरात्मा का पता ही नहीं, बाधा देने का सवाल ही कहां? लोग तो ऊपर-ऊपर की बातों में चलते हैं।

मैं तुम्हें एक घटना कहूं। रामकृष्ण के बचपन की घटना है। रामकृष्ण बचपन से ही भक्त थे, भजन करते-करते बेहोश हो जाते थे। गदाधर उनका नाम था। मां-बाप थोड़े चिंतित हुए, जैसे कि सभी मां-बाप चिंतित हो जाते हैं कि यह लड़का कुछ सामान्य नहीं मालूम होता। कोई कहता कि मिरगी आती है, कोई कहता कि मूर्च्छा आती है, कोई कहता कि इसको समाधि लग जाती है। अलग-अलग लोग, अलग-अलग व्याख्यायें थीं। और इस लड़के की सामान्य रुचियां भी न थीं; न तो यह खेलता बच्चों के साथ, न इसको स्कूल में पढ़ने-लिखने में कोई रुचि थी। दूसरी क्लास से आगे रामकृष्ण कभी गए नहीं। जंगल में चला जाता। नदी-पोखर के पास बैठ जाता।

और कभी छोटी-छोटी घटनाएं...एक सुबह पोखर के किनारे बैठे-बैठे बगुलों की एक कतार आकाश से उड़ी, रामकृष्ण की समाधि लग गई। काली घटाओं में उड़ते हुए सफेद बगुलों की पंक्ति...पर्याप्त थी। किसी और लोक की याद आ गई। रामकृष्ण का हंस उड़ चला! चले मानसरोवर! छूट गई देह जैसे यहीं! उड़ चले आकाश में! घंटों बेहोश रहे। मां-बाप को लोग सलाह देने लगे, इसकी शादी कर दो। लोग एक ही उपाय जानते हैं: जरा कुछ गड़बड़ दिखाई पड़े, शादी कर दो। सब रोगों की एक दवा: झंझट में डाल दो। तो लोगों ने कहा, जरा झंझट में डालो, यह कोई झंझट में नहीं है; न स्कूल जाता है, न कोई काम-धाम करता है, गीत-भजन, साधु-सत्संग--अभी से बिगाड़ रहे हो; अभी बांध दो पैर में झंझट। पर उन्होंने कहा, यह करेगा शादी? क्योंकि यह दिखता नहीं शादी करने वाला जैसा।

तो रामकृष्ण से डरते-डरते पिता ने पूछा कि बेटा! तू शादी करेगा? तो रामकृष्ण ने कहा, जरूर करेंगे। पिता भी थोड़े चौंके कि यह क्या मामला है? उनको भी थोड़ा धक्का लगा। सोचते तो यही थे कि यह इंकार करेगा। इंकार करता तो भी धक्का लगता। तो शायद समझाने-बुझाने की कोशिश करते; लेकिन इसने इंकार की कोई बात ही न उठाई। इसने कहा, करेंगे; किससे करनी है?

जल्दी ही इंतजाम किया गया। एक लड़की खोजी गई। रामकृष्ण उसको देखने गए दूल्हा बन कर, सज-संवर कर। बड़े प्रसन्न थे। मां ने ग्यारह रुपए खीसे में रख दिए थे, उनको बार-बार गिन लेते थे, फिर रख लेते थे। छोटी उम्र थी, शायद ग्यारह साल से ज्यादा नहीं थी। फिर गए तो भोजन परोसने लड़की आई। उसकी उम्र सात साल से ज्यादा की नहीं थी--शारदा की उस समय। जब वह भोजन परोसने आई तो ग्यारह रुपए निकाल कर उसके पैर में रख कर उन्होंने उसके पैर छू लिए। अब और एक मुसीबत हो गई।

बाप ने कहा, नासमझ! यह क्या करता है? पहली तो यह नासमझी कि शादी करने को तैयार हो गया, अब यह क्या किया?

उसने कहा कि मुझे तो बिलकुल मां का स्वरूप मालूम पड़ता है। यह मेरी मां है। शादी तो करेंगे, मगर यह है मेरी मां।

शादी भी हुई--और शारदा मां ही रही। यह सहजता है; इसमें कहीं कोई बगावत नहीं है। शादी से इंकार भी न किया। शादी भी कर ली। पिता को भी प्रसन्न कर दिया, मां को भी प्रसन्न कर दिया। कहा, बंधन डालते हो, अच्छा बंधन डाल दो। फिर बंधन को चरण छू कर नमस्कार करके मां भी बना लिया। ऐसे कारागृह को ही मंदिर बना लिया। ऐसे बंधन ही मुक्ति हो गई।

धार्मिक व्यक्ति अकारण उपद्रव में नहीं पड़ेगा। कोई कारण नहीं है। राजनीतिक व्यक्ति विक्षिप्त है। राजनीति एक तरह की न्यूरोसिस है, एक तरह का उन्माद है। तो राजनीतिक व्यक्ति तो झगड़े की तलाश में है; जब झगड़ा नहीं होता तब वह बड़ा बेचैन होता है कि अब क्या करें।

अभी जैसे भारत में अनुशासन-पर्व चल रहा है, तो राजनीतिक व्यक्ति बड़े बेचैन हैं! कुछ तो भीतर जेल के बंद हैं, तो थोड़ी हालत उनकी ठीक भी है कि कम से कम चलो जेल में तो बंद हैं, कर भी क्या सकते हैं? लेकिन जो बाहर हैं, तुम्हें उनका पता नहीं; वे बड़े कसमसा रहे हैं। वे भीतर ही भीतर डांवाडोल हो रहे हैं कि न हड़ताल हो रही है, न नारेबाजी, न झंडा ऊंचा रहे हमारा! कुछ भी नहीं हो रहा। सब जिंदगी बेकार मालूम होती है। तुम्हें पता नहीं कि सब राजनीतिक लोगों की हालत कैसी बुरी है! कुछ करने जैसा नहीं लगता। कोई उपद्रव, कोई उत्पात! वही उत्पात उनका भोजन है।

राजनीतिक व्यक्ति उत्पात में रस रखता है। उत्पात करने के लिए वह कारण खोजता है, बड़े सुंदर कारण खोजता है कभी गरीब के बहाने, कभी स्वतंत्रता के बहाने, कभी प्रजातंत्र-लोकतंत्र के बहाने, कभी यह कभी वह, लेकिन वह हमेशा कारण खोज लेता है। कोई न कोई कारण खोज लेता है कि उपद्रव चाहिए, क्योंकि

उपद्रव के बिना वह रह नहीं सकता। राजनीतिक व्यक्ति एक तरह की बेचैनी है। और बेचैनी मार्ग खोजती है बहने का। उसके लिए कैथार्सिस चाहिए, रेचन चाहिए।

धार्मिक व्यक्ति एक सहज शांति है। सौ में से निन्यानबे मौकों पर तो तुम उसे कभी विरोध में न पाओगे। हां, एक मौके पर वह "नहीं" कहेगा, जरूर कहेगा। और उस मौके पर जब वह "नहीं" कहेगा तो वह "नहीं" निरपेक्ष "नहीं" होगी, उसमें कोई शर्त न होगी; उसके "हां" में बदलने का कोई उपाय नहीं है।

तुम मार डाल सकते हो सुकरात को। तुम जीसस को सूली पर लटका सकते हो। तुम मंसूर का गला काट सकते हो। लेकिन उस एक मौके पर जब वह "नहीं" कहता है तो उसकी "नहीं" शाश्वत है, उसको तुम "हां" में नहीं बदल सकते। क्योंकि वह उसी एक मौके पर "नहीं" कहता है जहां उसकी आत्मा को खोने का सवाल है; अन्यथा तो उसके पास खोने को कुछ भी नहीं है; अन्यथा तो सब खेल है।

पांचवां प्रश्न: आप तो सतत प्रभु-प्रसाद लुटा रहे हैं, प्रभु-कृपा की वर्षा हो रही है, परंतु हम चूकते ही चले जाते हैं। पात्रता कैसे संभव होगी?

मुल्ला नसरुद्दीन से कोई पूछता था कि आपकी सफलता का रहस्य क्या है? "सही निर्णय पर काम करना", मुल्ला नसरुद्दीन ने उत्तर दिया। "लेकिन सही निर्णय किए कैसे जाते हैं?" उस आदमी ने पूछा। "अनुभवों के आधार पर", मुल्ला ने कहा। "और अनुभव किस प्रकार प्राप्त होते हैं?" उस आदमी ने फिर पूछा। मुल्ला ने कुछ सोचा और फिर कहा, "गलत निर्णयों पर काम करके।"

मैं तुमसे कुछ कह रहा हूं, अब तुम यह प्रतीक्षा मत करो कि जब सही निर्णय होगा तब कुछ करेंगे। सही-गलत की अभी फिक्र छोड़ो। निर्णय करके तुम कुछ करोगे तो निर्णय कभी होगा नहीं। कुछ करो, उससे निर्णय होता है।

तुम मुझे सुनते ही मत रहो। जो तुम्हें भा जाए, जल्दी से उसे करो। उसे जीवन में उतारो। मैं सागर उड़ेल दूं तुम में, तो किसी काम का नहीं; एक बूंद तुम उपयोग में ले आओ तो काम की सिद्ध होगी। वही तुम्हारा सागर बनेगी। सुनते ही मत रहो कि अभी तो गुनेंगे, सुनेंगे, समझेंगे, सोचेंगे, औरों से पूछेंगे, तुलना करेंगे, फिर निष्पत्तियां बनाएंगे, फिर अनुभव में उतारेंगे--तो तुम चूक जाओगे। तो यह वर्षा हो कर भी चली जाएगी, तुम खाली के खाली रह जाओगे। ये बादल आए और न आए बराबर हो जाएंगे।

कुछ करो। थोड़ी-सी बात जो तुम्हें भा जाए! मैं कहता हूं भा जाए, मैं यह भी नहीं कह रहा हूं कि तुम्हारी बुद्धि को तर्करूप से सही लगे; मैं कहता हूं भा जाए, तुम्हें पसंद आ जाए, तुम्हारे भीतर गुनगुन होने लगे किसी बात से, कोई बात तुम्हारे मन में गुदगुदी ले आए, कुछ गदगद कर जाए--उसे करो! जरूरी नहीं है कि वह सही ही हो। मैं कहता भी नहीं कि जरूरी है। पर इतना मैं कहता हूं, उसे करने से लाभ होगा। सही होगी तो पता चल जाएगा सही है, तो तुम और और उसे करना। अगर गलत होगी तो पता चल जाएगा कि गलत है, तो तुम उसे छोड़ देना। और उस तरह की बातों के भ्रम में दुबारा मत पड़ना। हर हालत में करना ही निर्णायक है।

जैसे मैं साक्षी की बात कह रहा हूं--साक्षी बनो! थोड़ी-थोड़ी साक्षी की तरफ जीवन-चेतना को दौड़ाओ, थोड़े झरोखे खोलो।

तुम कभी-कभी कुछ करते भी हो, ऐसा भी नहीं कि तुम नहीं करते; मगर तुम जो करते हो, वहां भी भूल कर जाते हो। वह भूल ऐसी है: अगर तुम क्रोध से भरे हो और मुझे सुनने आते हो तो तुम सुनते वक्त यही तरकीब लगाए रखते हो कि कोई ऐसी कुंजी मिल जाए जिससे क्रोध अलग हो जाए। तो मैं जो कह रहा हूं वह तुम सुन ही नहीं पाते, तुम अपनी कुंजी ही खोजते रहते हो। तुम अशांत हो तो तुम सुनते हो मेरी बातें--एक

दृष्टि से कि शांति का कोई सूत्र मिल जाए शायद! तो बाकी सब सूत्र जो मैं लुटा रहा हूं वे खो जाते हैं। और उन्हीं सबको तुम समझते तो शांति का सूत्र भी समझ में आता।

और तुम, मैं जो कह रहा हूं, अगर अपने संदर्भ में उसको पकड़ोगे तो उसका अर्थ विकृत हो जाएगा। तो क्रोधी क्रोध का दमन करने लगेगा। मैं तो कह रहा हूं साक्षी बनो, लेकिन तुम साक्षी के नाम पर दमन करने लगोगे। क्योंकि तुम्हारी मूल इच्छा साक्षी बनने की है ही नहीं, तुम्हारी मूल इच्छा तो इतनी ही थी कि क्रोध से छुटकारा हो जाए। तो तुम साक्षी का उपयोग भी इस तरह करोगे कि तुम क्रोध को दबा लोगे। वह साक्षी बनना न हुआ, वह फिर चूक हो गई।

ऐसा हुआ कि एक आदमी ने मुझे आ कर कहा कि कल रात सर्कस में बहुत भगदड़ मच गई। एक शेर पिंजड़े से निकल भागा। फिर क्या हुआ? मैंने पूछा। उसने कहा, प्रत्येक व्यक्ति भाग खड़ा हुआ। लेकिन एक संत पुरुष वहां मौजूद थे; वे बड़े हौसले में रहे, वे जरा भी न डरे, जरा भी भयभीत न हुए।

मैंने पूछा, उन्होंने क्या किया? तो उसने कहा कि वे संत पुरुष तत्क्षण शेर के खाली पिंजड़े में जा कूदे और अंदर से दरवाजा बंद करके बैठ गए।

अब तुम भागो या पिंजड़े में कूद कर दरवाजा बंद करके बैठ जाओ--ये प्रक्रियाएं उल्टी दिखाई पड़ती हैं लेकिन उल्टी नहीं। वस्तुतः तो संत पुरुष ही ज्यादा कुशल आदमी है। क्योंकि एक बात पक्की है कि सिंह और कहीं जाए, पिंजड़े में वापिस आने वाला नहीं है; अपने से तो आने वाला नहीं है। सब जगह खतरा है, सिर्फ पिंजड़े में खतरा नहीं है।

मैं तुम्हें ऐसे संत पुरुष नहीं बनाना चाहता हूं। लोग संसार से भाग कर पिंजड़ों में बंद हो जाते हैं। मंदिर, मस्जिद, गुरुद्वारे पिंजड़े हैं। वहां सीखचों में बैठ जाते हैं। वहां कोई सिंह इत्यादि नहीं आते। लेकिन वह भी बचाव है; जीवन-क्रांति नहीं, पलायन है।

तुम मुझे जब सुनो तो मुझे ऐसे सुनो जैसे कोई किसी गायक को सुनता है। तुम मुझे ऐसे सुनो जैसे कोई किसी कवि को सुनता है। तुम मुझे ऐसे सुनो कि जैसे कोई कभी पक्षियों के गीतों को सुनता है, या वृक्षों में हवा के झोकों को सुनता है, या पानी की मरमर को सुनता है, या वर्षा में गरजते मेघों को सुनता है। तुम मुझे ऐसे सुनो कि तुम उसमें अपना हिसाब मत रखो। तुम आनंद के लिए सुनो। तुम रस में डूबो। तुम यहां दूकानदार की तरह मत आओ। तुम यहां बैठे-बैठे भीतर गणित मत बिठाओ कि क्या इसमें से चुन लें और क्या करें और क्या न करें। तुम सिर्फ मुझे आनंद-भाव से सुनो।

स्वांतः सुखाय रघुनाथ गाथा...स्वांतः सुखाय तुलसी रघुनाथ गाथा!

स्वांतः सुखाय! सुख के लिए सुनो। उस सुख में सुनते-सुनते जो चीज तुम्हें गदगद कर जाए, उसमें फिर थोड़ी और डुबकी लगाओ। मेरा गीत सुना, उसमें जो कड़ी तुम्हें भा जाए, फिर तुम उसे गुनगुनाओ। उसे तुम्हारा मंत्र बन जाने दो। धीरे-धीरे तुम पाओगे कि जीवन में बहुत कुछ बिना बड़ा आयोजन किए घटने लगा।

हवा कहीं से उठी, बही
ऊपर ही ऊपर चली गई
पथ सोया ही रहा
किनारे के क्षुप चौंके नहीं
न कांपी डाल
न पत्ती कोई दरकी
अंग लगी लघु ओस
बूंद भी एक न ढरकी
हवा कहीं से उठी, बही
ऊपर ही ऊपर चली गई।
वनखंडी में सधे खड़े, पर
अपनी ऊंचाई में खोए-से

चीड़ जाग कर सिहर उठे
सनसना गए
एक स्वर नाम वही अनजाना
साथ हवा के गा गए
मैंने उठ कर
खोल दिया वातायन
और दुबारा चौंका
वह सन्नाटा नहीं
झरोखे के बाहर
ईश्वर गाता था।
हवा कहीं से उठी, बही
ऊपर ही ऊपर चली गई
पथ सोया ही रहा।
तुम पथ की तरह मत सोए रहना, पत्थर की तरह मत सोए रहना!
किनारे के क्षुप चौंके नहीं
न कांपी डाल
न पत्ती कोई दरकी
अंग लगी लघु ओस
बूंद भी एक न ढरकी।

यह जो हवा मैं तुम्हारे आसपास उठा रहा हूं, इसके लिए जरा तुम ऊंचे उठो। अगर तुम नीचे ही पड़े रहे तो ओस की एक बूंद भी तुमसे न ढरकेगी, एक आंसू भी न बहेगा। तुम ऐसे ही अछूते पड़े रह जाओगे।

वनखंडी में सधे खड़े, पर
अपनी ऊंचाई में खोए-से
चीड़ जाग कर सिहर उठे
सनसना गए।

जरा ऊंचे उठो। मैं जहां की खबर लाया हूं, वहां की खबर लेने के लिए चीड़ बनो। थोड़े सिर को उठाओ। थोड़े सधो।

वनखंडी में सधे खड़े, पर
अपनी ऊंचाई में खोए-से
चीड़ जाग कर सिहर उठे
सनसना गए।
एक स्वर नाम वही अनजाना
साथ हवा के गा गए।

मेरे साथ गुनगुना लो थोड़ा। जिस एक की मैं चर्चा कर रहा हूं, उस एक की गुनगुनाहट को तुममें भी गूंज जाने दो।

एक स्वर नाम वही अनजाना
साथ हवा के गा गए।

और तब तुम्हें पता चलेगा कि जैसे खुल गई कोई खिड़की। और जिसे तुमने समझा था सिर्फ एक विचार, वह विचार न था; वह ध्यान बन गया। और जिसे तुमने समझा था सिर्फ एक सिद्धांत, एक शास्त्र, वह सिद्धांत न था, शास्त्र न था; वह सत्य बन गया।

मैंने उठ कर खोल दिया वातायन
और दुबारा चौंका
वह सन्नाटा नहीं

झरोखे के बाहर
ईश्वर गाता था।

तो थोड़े उठो। थोड़े जागो। थोड़े सधो। और छोड़ो अपनी क्षुद्र चिंताएं; उनका हिसाब-किताब मत बिठाओ मेरे पास। तुम मुझे पीयो। तुम मेरे पास ऐसे रहो जैसे कोई फूल के पास रहता है।

तुम इसमें से कुछ उपयोग की बातें निकालने की चिंता न करो, क्योंकि उपयोगिता से ईश्वर का कोई संबंध नहीं है। ईश्वर से ज्यादा अनुपयोगी और कोई वस्तु जगत में नहीं है। क्या संबंध है ईश्वर का उपयोगिता से? बाजार में बेच न सकोगे। क्या उपयोग है ईश्वर का? किसी काम न आएगा। अर्थहीन, प्रयोजन-शून्य!

मैं तुमसे जो कह रहा हूं, तुमने अगर उसे उपयोगिता की दृष्टि से सुना तो तुम चूक जाओगे।

मैं कोई शिक्षक नहीं हूं। मैं तुम्हें कोई उपयोगी बातें नहीं सिखा रहा हूं जो तुम्हारी जिंदगी में काम आएंगी। मैं तुम्हें कुछ दर्शन कराना चाहता हूं, जिसका कोई उपयोग नहीं है सिवाए इसके कि तुम सच्चिदानंद से भर जाओगे; सिवाए इसके कि तुम आनंद-मग्न हो जाओगे, मदमस्त हो जाओगे। यह तो मस्ती की एक हवा यहां मैं फैलाता हूं। मगर तुम पर निर्भर है। तुम रास्ते पर पटे पत्थर की तरह पड़े रह सकते हो--हवा आएगी, चली जाएगी; तुम अछूते रह जाओगे। तुम्हारे कानों में भनक भी न पड़ेगी। या राह के किनारे छोटे-छोटे पौधों की तरह तुम रह जा सकते हो। उनके शिखर ही इतने ऊंचे नहीं कि आकाश की हवाएं उन्हें छू सकें। तो एक ओस की बूंद भी न ढरकेगी। एक आंसू भी न बहेगा। तुम्हें पता भी न चलेगा कि हवा आई और चली गई।

बुद्ध आए, कितनों को पता चला? थोड़े-से चीड़ जैसे उठे वृक्ष अपने में खोए-से, आकाश में खड़े-से, उत्तुंग उनके शिखर पर बुद्ध की हवा छुई। कृष्ण आए, किसने सुना? कृष्ण की बांसुरी सभी तक तो नहीं पहुंची। अष्टावक्र ने कहा, कोई जनक ने सुना। कोई चीड़ जैसे वृक्ष! उठो थोड़े ऊंचे!

और मुझे ऐसे सुनो जिसमें प्रयोजन का कोई भाव न हो। जो मुझे प्रयोजन से सुनेगा, वह चूकेगा। जो मुझे निष्प्रयोजन, आनंद से सुनेगा--स्वांतः सुखाय तुलसी रघुनाथ गाथा--वही पा लेगा। उसके जीवन में धीरे-धीरे क्रांति घटनी शुरू हो जाती है।

आखिरी प्रश्न: मैं स्त्रैण-चित्त का आदमी हूं, संकल्प बिलकुल नहीं है। क्या संकल्प का विकास करना जरूरी है?

जरा भी जरूरी नहीं है। समर्पण पर्याप्त है। अपने चित्त को पहचानो। कुछ भी थोपना आवश्यक नहीं है। चित्त जैसा हो उसी चित्त के सहारे परमात्मा तक पहुंचो।

परमात्मा तक स्त्रैण चित्त पहुंच जाते हैं, पुरुष-चित्त पहुंच जाते हैं। परमात्मा तक तुम जहां हो, वहीं से पहुंचने का उपाय है; बदलने की कोई जरूरत नहीं है। और बदलने की झंझट में तुम पड़ना मत, क्योंकि बदल तुम पाओगे न। अगर तुम्हारा चित्त भावपूर्ण है तो तुम लाख उपाय करो, तुम उसे संकल्प से न भर पाओगे। अगर तुम्हारा चित्त हृदय से भरा है तो तुम बुद्धि का आयोजन न कर पाओगे। जरूरत भी नहीं है। ऐसी उलझन में पड़ना भी मत। अन्यथा तुम जो हो, वह भी न रह पाओगे; और तुम जो होना चाहते हो वह तो तुम हो न सकोगे।

गुलाब का फूल गुलाब के फूल की तरह ही चढ़ेगा प्रभु के चरणों में। कमल का फूल कमल के फूल की तरह चढ़ेगा। तुम जैसे हो वैसे ही स्वीकार हो। तुम जैसे हो वैसा ही प्रभु ने तुम्हें बनाया। तुम जैसे हो वैसा ही प्रभु ने तुम्हें चाहा। तुम अन्यथा होने की चेष्टा में विकृत मत हो जाना, क्षत-विक्षत मत हो जाना। तुमसे मैं एक छोटा-सा गीत कहता हूं:

तू नहीं कहेगा, मैं फिर भी सुन ही लूंगा
किरण भोर की पहली, भोलेपन से बतलावेगी

झरना शिशु-सा अनजान उसे दोहरावेगा
घोंघा गीली-पीली रेती पर धीरे-धीरे आंकेगा
पत्तों का मरमर कनबतियों में जहांत्तहां फैलावेगा
पंछी की तीखी कूक फरहरे मढ़े शल्य-सी आसमान पर टांकेगी
फिर दिन सहसा खुल कर उसको सब पर प्रगटावेगा।
तू नहीं कहेगा, मैं फिर भी सुन ही लूंगा
मैं गुन ही लूंगा।
तू नहीं कहेगा
आस्था है
नहीं अनमना होऊंगा
तब मैं सुन लूंगा।
और दे भी क्या सकता हूं हवाला
या प्रमाण अपनी बात का?
अब से तेरा कर एक वही गह पाएगा।
संभ्रम अवगुंठित अंगों को
उसका ही मृदुतर कुतूहल
प्रकाश की किरण छुआएगा।
तुझसे रहस्य की बात निभृत में
एक वही कर पाएगा।
तू उतना वैसा समझेगी
वह जैसा जो समझाएगा
तेरा वह प्राप्य वरद कर
तुम पर जो बरसाएगा
उद्देश्य, उसे जो भावे
लक्ष्य वही, जिस ओर मोड़ दे वह
तेरा पथ मुड़-मुड़ कर सीधा उस तक ही जाएगा।
तू अपनी भी उतनी ही होगी जितना वह अपनाएगा
ओ आत्मा री!
तू गई वरी
महाशून्य के साथ भांवरें तेरी रची गईं।
उद्देश्य, उसे जो भावे; समर्पण का यही अर्थ है।
उद्देश्य, उसे जो भावे
लक्ष्य वही, जिस ओर मोड़ दे वह
तेरा पथ मुड़-मुड़ कर सीधा उस तक ही जाएगा
तू अपनी भी उतनी ही होगी
जितना वह अपनाएगा
ओ आत्मा री!
तू गई वरी
महाशून्य के साथ भांवरें तेरी रची गईं।

अगर तुम्हें लगता है कि स्त्रैण-चित्त है तुम्हारे पास--शुभ है, मंगल है। पुरुष-चित्त का कोई अपने-आप में मूल्य नहीं। हो तो वह भी शुभ है, वह भी मंगल है।

परमात्मा ने दो ही तरह के चित्त बनाए: स्त्रैण और पुरुष; संकल्प और समर्पण। दो ही मार्ग हैं उस तक जाने के। तुम जहां हो वहीं से चलो। तुम जैसे हो वैसे ही चलो। प्रभु तुम्हें वैसा ही अंगीकार करेगा।

हरि ॐ तत्सत्!

पंद्रहवां प्रवचन

जीवन की एकमात्र दीनता: वासना

अष्टावक्र उवाच।

अविनाशिनमात्मानमेकं विज्ञाय तत्त्वतः।
तवात्मज्ञस्य धीरस्य कथमर्थार्जने रतिः।। ४६।।
आत्माऽज्ञानादहो प्रीतिर्विषयभ्रमगोचरे।
शुक्तेरज्ञानतो लोभो यथा रजतविभ्रमे।। ४७।।
विश्वं स्फुरति यत्रेदं तरंग इव सागरे।
सोऽहमस्मीति विज्ञाय किं दीन इव धावसि।। ४८।।
श्रुत्वाऽपि शुद्धचैतन्यमात्मानमतिसुन्दरम्।
उपस्थेऽत्यन्तसंसक्तो मालिन्यमधिगच्छति।। ४९।।
सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
मुनेजनित आश्चर्यं ममत्वमनुवर्तते।। ५०।।
आस्थितः परमाद्वैतं मोक्षार्थेऽपि व्यवस्थितः।
आश्चर्यं कामवशगो विकलः केलिशिक्षया।। ५१।।
उद्भूतं ज्ञानदुर्मित्रभवधार्याति दुर्बलः।
आश्चर्यं काममाकाक्षेत् कालमंतमनुश्रितः।। ५२।।

गुरु मात्र शिक्षक ही नहीं है, शास्ता भी है। शास्ता यानी वह, जो जीवन को एक अनुशासन दे, जीवन को शासन दे। जो मात्र शब्द दे, वह शिक्षक। जो शासन भी दे, वह शास्ता।

अष्टावक्र शब्द दे कर ही संतुष्ट नहीं हो गए। शब्द देने के बाद जो पहला खतरा है, उस खतरे की तरफ इंगित है इन सूत्रों में। शब्द सुन कर गुरु के इस बात की बहुत संभावना है कि तुम शब्द से ऐसे अभिभूत हो जाओ कि तुम समझो सब हो गया; तुम शब्द को ही पकड़ लो और शब्द को ही सत्य मान लो।

सदगुरु से निकले हुए शब्दों का बल है, ऊर्जा है। उस ऊर्जा और बल में तुम आविष्ट हो सकते हो, सम्मोहित हो सकते हो। तुम बिना ज्ञानी हुए ज्ञानी बन सकते हो--यही पहला खतरा है। शब्द ठीक मालूम पड़ें, तर्कयुक्त मालूम पड़ें, बुद्धि प्रभावित हो, हृदय प्रफुल्लित हो जाए--तो ऐसी घड़ियां आ सकती है सत्संग में, जब जो तुम्हारा अनुभव नहीं है अभी, वह भी अनुभव जैसा मालूम होने लगे। तो गुरु परीक्षक भी है। वह तुम्हारी परीक्षा भी करेगा कि जो तुम कह रहे हो वह हुआ भी है या केवल सुनी हुई बात दोहरा रहे हो?

अष्टावक्र ने जो उदघोष किया--परम सत्य का--उस उदघोष का ऐसा परिणाम हुआ कि जनक तत्क्षण प्रतिध्वनि करने लगे। जनक भी वही बोले। और जनक ने कहा कि आश्चर्य कि मैं अब तक कैसे सोया रहा! और जनक ने कहा कि मैं जाग गया! और जनक ने कहा कि मैं न केवल जाग गया हूं, मैं जानता हूं मैं ही समस्त का केंद्र, सब मुझसे ही संचालित होता! मुझ का मुझ ही को नमस्कार है!

ऐसी महिमा का उदय हुआ। अष्टावक्र चुपचाप खड़े सुनते रहे। यह जो हुआ है, इसे देखते रहे। इन सूत्रों में परीक्षा है। अष्टावक्र प्रश्न उठाते हैं, संदेह उठाते हैं। जनक के घड़े को जगह-जगह से ठोंक कर देखते हैं, कच्चा तो नहीं है? बातें सुन कर तो नहीं बोल रहा है? किसी प्रभाव के कारण तो नहीं बोल रहा है? मेरी मौजूदगी के कारण तो ये तरंगें नहीं उठी हैं? ये तरंगें इसकी अपनी हैं? यह क्रांति वस्तुतः घटी है? यह कहीं बौद्धिक मात्र न हो।

मेरे पास बहुत लोग आते हैं। उनमें अनेक कृष्णमूर्ति के भक्त हैं। वे मुझसे आ कर कहते हैं कि हम वर्षों से सुनते हैं; जो सुनते हैं वह शत-प्रतिशत ठीक भी मालूम होता है, उसमें हमें कुछ संदेह नहीं है। जो कृष्णमूर्ति कहते हैं, उसे हमने समझ भी लिया है। हम नहीं समझे, ऐसा भी नहीं है। लेकिन फिर भी जीवन में कोई क्रांति नहीं घटती। बौद्धिक रूप से सब समझ में आ गया है। बुद्धि भर गई है, लेकिन आत्मा रिक्त की रिक्त रह गई है। ऊपर-ऊपर सब जान लिया और भीतर-भीतर हम वैसे के वैसे हैं; भीतर कोई घटना नहीं घटी। अछूते के अछूते रह गए हैं। वर्षा हो गयी है, घड़ा खाली रह गया है।

बड़ी अड़चन में पड़ जाता है व्यक्ति, जब उसे बौद्धिक रूप से सब समझ में आ जाता है और अस्तित्वगत कोई समानांतर घटना नहीं घटती। तुम्हें उसकी दुविधा का अंदाज नहीं। उसे दिखाई पड़ता है कि दरवाजा कहां है, लेकिन निकलता दीवाल से है। जिसको दरवाजा नहीं दिखाई पड़ता, वह भी दीवाल से निकलता है; लेकिन उसे दरवाजा दिखाई ही नहीं पड़ता, इसलिए शिकायत किससे?

जिस आदमी को खयाल है कि मुझे दरवाजा दिखाई पड़ता है, समझ आ गया है कि कहां है, लेकिन फिर भी मैं दीवाल से सिर तोड़ता हूं--तुम उसकी पीड़ा समझो। जब भी उसका सिर टूटता है, वह महाविषाद से भर जाता है कि मुझे मालूम तो है कि ठीक क्या है, फिर मैं गलत क्यों करता हूं? मुझे मालूम तो है कि कहां जाना चाहिए, फिर मैं विपरीत क्यों जाता हूं?

सब मालूम है उसे और कुछ भी मालूम नहीं। तो उसके भीतर सीखने की क्षमता भी खो जाती है। उसमें शिष्यत्व का भाव भी खो जाता है, क्योंकि उसे मालूम तो सब है; अब सीखने को और क्या है? उसकी विनम्रता भी खो जाती है। और भीतर की पीड़ा सघन होती चली जाती है। उसमें कोई अंतर पड़ता नहीं।

ऐसा ही समझो कि तुम दवाइयां इकट्ठी करते चले जाओ, इससे तो तुम्हारी बीमारी समाप्त न होगी। पीयोगे तब समाप्त होगी। तुम डाक्टरों के "प्रिसक्रिप्शन" इकट्ठे कर के फाइलें बना लो। उन "प्रिसक्रिप्शनों" से तो कुछ परिणाम न होगा, जब तक उन "प्रिसक्रिप्शनों" के अनुसार जीवन न बनेगा। लेकिन दवाइयों का ढेर तुम्हें एक भ्रांति दे सकता है कि सब दवाइयां तो मेरे पास हैं, पूरी केमिस्ट की दूकान तो उठा लाया, अब और क्या है, अब कहां जाऊं? किससे पूछूं? अब तो पूछने को भी कुछ नहीं बचा।

तो एक दंभ पैदा होता है। बुद्धि की थोथी समझ से एक अहंकार, एक अस्मिता जगती है कि मैं जानता हूं, और भीतर एक पीड़ा भी होती है कि मुझे कुछ भी तो पता नहीं, क्योंकि कुछ हो तो नहीं रहा है।

हो, तो ही कसौटी है। तुम्हारा जीवन बदले किसी सत्य से, तो ही सत्य तुम्हारे पास है। अगर जीवन न बदले तो सत्य तुम्हारे पास नहीं है।

मैंने सुना है, स्वामी रामतीर्थ एक छोटी-सी कहानी कहा करते थे। वे कहते थे, कल्प-गंगा के किनारे, स्वर्ग की गंगा के किनारे, ज्ञान और मोह एक सुबह आ कर रुके। गंगा ने कहा, भले आए, स्वागत! लो डुबकी मुझमें, तुम्हें पवित्र कर दूंगी। उतरो मुझमें। नहा लो। तुम नए हो जाओगे। तुम्हें फिर कुंआरा कर दूंगी। सारी धूल पोंछ डालूंगी।

ज्ञान तो अकड़ा खड़ा रहा, क्योंकि ज्ञान ने कहा: तू, और मुझे शुद्ध करेगी? उसे तो इस बात पर भरोसा न आया। और झुकने की क्षमता वह खो चुका था, समर्पण की कला खो चुका था, शिष्य होना भूल चुका था। किसी दूसरे से कुछ हो सकता है, यह बात ही भूल चुका था। ज्ञान की अकड़ आ गई थी कि मैं सब स्वयं कर लूंगा, किस गंगा की जरूरत है? किस तीर्थ की जरूरत? किस गुरु की जरूरत? किसी की कोई जरूरत नहीं है।

वह तो मुस्कुराया। वह तो गंगा के इस बेहूदे आमंत्रण पर मुस्कुराया। लेकिन मोह तो मोह है-- मोहाविष्ट हो गया। मोह को तो बात लुभा गई। लोभ के कारण वह तो उतर गया। गंगा ने उसे नहला दिया। वह शुद्ध हो गया। वह पवित्र हो गया। वह निर्दोष हो गया। जब वह बाहर आया तो देवताओं ने उसकी स्तुति की, आरती की; क्योंकि मोह अब प्रेम हो चुका था। नहा लिया था गंगा में, झुक गया था। मोह अब प्रेम हो चुका था।

मोह ही तो शुद्ध हो कर प्रेम हो जाता है। प्रेम ही की तो आखिरी ऊंचाई प्रार्थना है। और प्रार्थना का ही आखिरी पड़ाव तो परमात्मा है।

लेकिन ज्ञान तो अपने रास्ते पर जा चुका था--अकड़ा हुआ; अपनी धूल-धवांस सम्हाले हुए, खोपड़ी भरी और मजबूत और भारी, और हृदय बिलकुल सूखा और रिक्त और मरुस्थल।

अष्टावक्र सुन कर जनक की बातें इन सूत्रों में पहला सवाल उठाते हैं कि जनक, ऐसा तुझे हुआ है? या बातों में उलझ गया? या मेरी बातों में आ गया? वे जगह-जगह से उसे ठोंकते हैं।

पहला सूत्र अष्टावक्र ने कहा, "आत्मा को तत्वतः एक और अविनाशी जान कर भी क्या तुझ आत्मज्ञानी धीर को धन कमाने में अभी भी रुचि है?"

क्योंकि जनक ने कोई महल तो छोड़ा नहीं। जनक ने कोई धन का त्याग तो किया नहीं। जनक जैसा है वैसा का वैसा है। एक प्रश्न अष्टावक्र उठाते हैं।

जब शिष्य प्रश्न उठाता है तो अज्ञान से उठता है; जब गुरु प्रश्न उठाता है तो ज्ञान से उठता है। शिष्य के प्रश्नों के उत्तर देने बड़े आसान हैं; गुरु के प्रश्नों के उत्तर तो केवल जीवन से दिए जा सकते हैं, और तो कोई उपाय नहीं।

अविनाशिनमात्मानमेकं विज्ञाय तत्त्वतः।

--तत्व से तू घोषणा कर रहा है कि एक है अविनाशी, एक है आत्मा? अद्वैत की तू तत्वतः घोषणा कर रहा है?

तवात्मज्ञस्य धीरस्य कथमर्थार्जने रतिः।

--और ऐसी घोषणा के बाद क्या धन में रुचि रह सकती है? राज्य में, साम्राज्य में, महल में, पद-प्रतिष्ठा में, सिंहासन में रुचि रह सकती है?

जनक के सामने एक प्रश्न-चिह्न खड़ा किया है अष्टावक्र ने, कि तुझसे पूछता हूं जनक, जब एक का तुझे पता चल गया और तुझे बोध हो गया कि तू स्वयं परमात्मा है, तो क्या धन के पीछे अब भी तू दौड़ सकता है? तू तलाश अपने भीतर, धन का कहीं मोह तो शेष नहीं रहा?

यह पहली बात धन की क्यों उठाई? क्योंकि इस जीवन में बड़ी से बड़ी हमारी दौड़ और बड़े से बड़ा हमारा पागलपन धन के लिए है। हम भीतर हैं खाली, रिक्त, सूने; धन से उसे भरते हैं। खालीपन काटता है। खालीपन में बड़ी बेचैनी होती है कि मैं ना-कुछ, कुछ हो कर दिखाना है! कैसे दिखाऊं? तो पद, प्रतिष्ठा, धन--वे सब धन के ही रूप हैं। उनसे हम अपने को भरते हैं, ताकि मैं कह सकूं, "मैं कुछ हूं! मैं ना-कुछ नहीं हूं! देखो, कितना धन मेरे पास है!" ताकि मैं प्रमाण दे सकूं कि मैं कुछ हूं!

अष्टावक्र कहते हैं कि धन की दौड़ तो उस आदमी की है जिसे भीतर बैठे परमात्मा का पता नहीं। जिसे भीतर बैठे परमात्मा का पता चल गया वह तो धनी हो गया, उसे तो मिल गया धन। राम-रतन धन पायो! अब उसे कुछ बचा नहीं पाने को। अब कोई धन धन नहीं है; धन तो उसे मिल गया; परम धन मिल गया। और परम धन को पा कर फिर कोई धन के पीछे दौड़ेगा?

छोटे थे तुम तो खेल-खिलौनों से खेलते थे; टूट जाता खिलौना तो रोते भी थे; कोई छीन लेता तो झगड़ते भी थे। फिर एक दिन तुम युवा हो गये। फिर तुम भूल ही गये वे खेल-खिलौने कहां गये, किस कोने में पड़े-पड़े धीरे से झाड़ कर, बुहार कर कचरे में फेंक दिये गये। तुम्हें उनकी याद भी नहीं रही। एक दिन तुम लड़ते थे। एक दिन तुम उनके लिए मरने-मारने को तैयार हो जाते थे। आज तुमसे कोई पूछे कि कहां गये वे खेल-खिलौने, तो तुम हंसोगे। तुम कहोगे, अब मैं बच्चा तो नहीं, अब मैं युवा हो गया, प्रौढ़ हो गया; मैंने जान लिया कि खेल-खिलौने खेल-खिलौने हैं।

ऐसी ही एक प्रौढ़ता फिर घटती है, जब किसी को भीतर के परमात्मा का बोध होता है। तब संसार के सब खेल-खिलौने धन-पद-प्रतिष्ठा सब ऐसे ही व्यर्थ हो जाते हैं जैसे बचपन के खेल-खिलौने व्यर्थ हो गए। फिर उनके लिए कोई संघर्ष नहीं रह जाता, प्रतिद्वंद्विता नहीं रह जाती, कोई स्पर्धा नहीं रह जाती।

धन की दौड़ आत्महीन व्यक्ति की दौड़ है। जितना निर्धन होता है आदमी भीतर, उतना ही बाहर के धन से भरने की चेष्टा करता है। बाहर का धन भीतर की निर्धनता को भुलाने की व्यवस्था, विधि है। जितना गरीब आदमी होता है, उतना ही धन के पीछे दौड़ता है।

इसलिए तो हमने देखा कि कभी बुद्ध, कभी महावीर, महाधनी लोग रहे होंगे, कि सब छोड़ कर निकल पड़े और भिखारी हो गए। इस आश्चर्य की घटना को देखते हो! यहां निर्धन धन के पीछे दौड़ते रहते हैं, यहां धनी निर्धन हो जाते हैं। जिन्हें भीतर का धन मिल गया, वे बाहर की दौड़ छोड़ देते हैं।

अष्टावक्र ने पूछा कि जनक, जरा पीछे भीतर उतर कर टटोल, कहीं धन की आकांक्षा तो शेष नहीं? अगर धन की आकांक्षा शेष हो तो यह सब जो तू बोल रहा है, सब बकवास है। कसौटी वहां है। अभी भी तू पद तो नहीं चाहता? अभी भी तू राज्य का विस्तार तो नहीं चाहता? अभी भी भीतर तृष्णा तुझे पकड़े तो नहीं है? अगर वासना अभी भी मौजूद है भीतर, तो पक्का जान कि आत्मा का तुझे अनुभव नहीं हुआ। आत्मा का अनुभव तो तभी होता है जब वासना नहीं रह जाती। या आत्मा का अनुभव होते ही वासना नहीं रह जाती। दोनों साथ-साथ नहीं हो सकते। आत्मा और वासना के बीच किसी तरह का सहयोग नहीं हो सकता; जैसे अंधेरे और प्रकाश के बीच किसी तरह का साथ-संग नहीं हो सकता। प्रकाश--तो अंधेरा नहीं; अंधेरा--तो प्रकाश नहीं।

तू प्रकाश की बातें कर रहा है। तू अचानक महावाक्य बोल रहा है, जनक! यह इतनी जल्दी हुआ है। इसकी तू कसौटी कर ले। इसे तू जरा खोजबीन कर ले, जांच-पड़ताल कर ले। भीतर उतर। देख, कहीं धन की आकांक्षा तो नहीं छिपी बैठी। अगर छिपी बैठी हो तो यह सब जो तूने कहा, मुझे तूने दोहरा दिया; यह सब बासा है; यह सब उधार है; फिर इसकी बहुत मूल्यवत्ता नहीं है। फिर हमें फिर से अ ब स से शुरू करना पड़ेगा। तो मैं फिर तुझे जगाऊं, अगर धन की आकांक्षा कहीं बैठी हो। अगर तू धन की आकांक्षा पाए ही नहीं कहीं, तो कुछ हुआ है, अन्यथा कुछ भी नहीं हुआ है।

"आत्मा को तत्वतः एक और अविनाशी जान कर भी क्या तुझ आत्मज्ञानी धीर को धन कमाने में रुचि है?"

जरा-सी भी रुचि? लेशमात्र भी रुचि? जरा-सा भी रस?

खयाल रखना, जब तक हम सोचते हैं कि बाहर कुछ हमें मिल जाए, उससे हम कुछ हो जाएंगे--तब तक हमारी धन में रुचि है। यह भी हो सकता है कि तुम धन का त्याग कर दो, लेकिन त्याग से कुछ मिल जाएगा, ऐसी रुचि शेष रह जाए--कि दुनिया तुम्हें त्यागी कहेगी, कि लोग प्रशंसा करेंगे, कि चरण छुएंगे--तो फिर कुछ फर्क न हुआ; तुमने सिर्फ सिक्के बदल लिए। लेकिन अब भी तुम्हारी आकांक्षा वही की वही है। रुचि तुम्हारी धन की ही है। धन से मात्र धन की तरफ ही इशारा नहीं है, धन से एक भीतर की आकांक्षा का इशारा है कि बाहर कुछ हो सकता है, जिससे मैं मूल्यवान हो जाऊं। धन का आत्यंतिक अर्थ इतना ही है कि बाहर से कुछ मिल सकता है जो मुझे मूल्यवत्ता दे दे!

मेरा मूल्य मेरे भीतर है; मैं स्वयं अपना मूल्य हूं--ऐसी प्रतीति वस्तुतः संन्यास है। मेरा मूल्य बाहर से आता है; लोग क्या कहते हैं, इससे मेरा मूल्य निर्मित होता है--तो ऐसी आकांक्षा धन की आकांक्षा है।

इसलिए तुम्हारे सौ त्यागियों में निन्यानबे तो अभी भी धन की ही आकांक्षा में जीते हैं। धन उन्होंने छोड़ दिया होगा, बाजार छोड़ दिया, दूकान छोड़ दी, सब छोड़-छाड़ कर मंदिरों में बैठ गए हैं; लेकिन अब भी तुम्हारी प्रतीक्षा करते हैं कि तुम आओ और सम्मान दो। अब भी तुम्हारे द्वारा किया गया अपमान खलता है,

कांटे की तरह गड़ता है। तुम्हारा सम्मान अभी भी गदगद करता है। तुम कहते हो, महात्यागी हो आप, तो भीतर फूल खिल जाते हैं, कमल खिल जाते हैं।

अगर कोई नहीं आता सम्मान करने को तो त्यागी प्रतीक्षा करने लगता है कि आज कोई भी नहीं आया। दूकान बदल गई, ग्राहक नहीं बदले। ग्राहक की अभी भी प्रतीक्षा है! जैसे दूकानदार सुबह से दूकान खोल कर बैठ कर प्रतीक्षा करता है ग्राहक आएं, अगर ऐसा ही त्यागी भी सुबह से प्रतीक्षा करने लगता है कि मंदिर में लोग आएं, मेरी पूजा-अर्चना हो, लोग मुझे सम्मान दें, प्रतिष्ठा दें--तो दूकान बदली, कुछ भीतर बदला नहीं।

जिस दिन तुम्हारे मन में दूसरों से मिलने वाले सम्मान का कोई मूल्य नहीं रह जाता--न निषेधात्मक, न विधायक; न उनके अपमान का कोई मूल्य रह जाता है; तुम्हारे पास क्या है, इससे तुम अपनी सत्ता की गणना नहीं करते और तुम्हारे पास क्या नहीं है, इससे तुम अपने भीतर कमी का अनुभव नहीं करते; तुम जिस क्षण बेशर्त पूर्ण हो जाते हो; जिस क्षण तुम्हारी घोषणा पूर्णता की अकारण हो जाती है, जिसमें कोई बाहरी कारण हाथ नहीं देता--उस क्षण तुम जानना कि तुमने जाना। उसके पहले जानकारी है और जानकारी को भूल से जानना मत समझ लेना।

ऐसा हुआ कि स्वामी विवेकानंद अमरीका से वापिस लौटे। जब वे वापिस आए तो बंगाल में अकाल पड़ा था। तो वे तत्क्षण आ कर अकालग्रस्त क्षेत्र में सेवा करने चले गए। ढाका की बात है। ढाका के कुछ वेदांती पंडित उनका दर्शन करने आए। स्वामी जी अमरीका से लौटे, भारत की पताका फहरा कर लौटे! तो पंडित दर्शन करने आए थे, सत्संग करने आए थे। लेकिन जब पंडित आए तो स्वामी विवेकानंद ने न तो वेदांत की कोई बात की, न ब्रह्म की कोई चर्चा की, कोई अध्यात्म, अद्वैत की बात ही न उठाई, वे तो अकाल की बात करने लगे और वे तो जो दुख फैला था चारों तरफ उससे ऐसे दुखी हो गए कि खुद ही रोने लगे, आंख से आंसू झरझर बहने लगे।

पंडित एक-दूसरे की तरफ देख कर मुस्कुराने लगे कि यह असार संसार के लिए रो रहा है। यह शरीर तो मिट्टी है और यह रो रहा है, यह कैसा ज्ञानी!

उनको एक-दूसरे की तरफ व्यंग्य से मुस्कुराते देख कर विवेकानंद को कुछ समझ न आया। उन्होंने कहा, मामला क्या है, आप हंसते हैं? तो उनके प्रधान ने कहा कि हंसने की बात है। हम तो सोचते थे आप परमज्ञानी हैं। आप रो रहे हैं? शास्त्रों में साफ कहा है कि देह तो हैं ही नहीं हम, हम तो आत्मा हैं! शास्त्रों में साफ कहा है कि हम तो स्वयं ब्रह्म हैं, न जिसकी कोई मृत्यु होती, न कोई जन्म होता। और आप ज्ञानी हो कर रो रहे हैं? हम तो सोचते थे, हम परमज्ञानी का दर्शन करने आए हैं, आप अज्ञान में डूब रहे हैं!

विवेकानंद का सोटा पास पड़ा था, उन्होंने सोटा उठा लिया, टूट पड़े उस आदमी पर। उसके सिर पर डंडा रख कर बोले कि अगर तू सचमुच ज्ञानी है तो अब बैठ, तू बैठा रह, मुझे मारने दे। तू इतना ही स्मरण रखना कि तू शरीर नहीं है।

विवेकानंद का वैसा रूप--मजबूत तो आदमी थे ही, वे हट्टे-कट्टे आदमी थे--और हाथ में उनके बड़ा डंडा! उस पंडित की तो रूह निकल गई। वह तो गिड़गिड़ाने लगा कि महाराज, रुको, यह क्या करते हो? अरे, यह कोई ज्ञान की बात है? हम तो सत्संग करने आए हैं। यह कोई उचित मालूम होता है?

वह तो भागा। उसने देखा कि यह आदमी तो जान से मार डाल दे सकता है। उसके पीछे बाकी पंडित भी खिसक गए। विवेकानंद ने कहा: शास्त्र को दोहरा देने से कुछ ज्ञान नहीं हो जाता। पांडित्य ज्ञान नहीं है। पर-उपदेश कुशल बहुतेरे!

वह जो पंडित ज्ञान की बात कर रहा था, तोतारटंत थी। उस तोतारटंत में कहीं भी कोई आत्मानुभव नहीं है। शास्त्र की थी, स्वयं की नहीं थी। और जो स्वयं की न हो, वह दो कौड़ी की है।

तो अष्टावक्र पहली परीक्षा खड़ी करते हैं। पहली परीक्षा, वे यह कहते हैं: जनक, ध्यान कर! तू कहता है, आत्मा को तत्वतः तूने जान लिया, पहचान गया अविनाशी को, अब क्या तुझ आत्मज्ञानी धीर को धन कमाने में थोड़ी भी रुचि है? इसका मुझे उत्तर दे।

गुरु तो दर्पण है। गुरु के दर्पण के समक्ष तो शिष्य को समग्र-रूप से नग्न हो जाना है। उसे तो अपने हृदय को पूरा उघाड़ कर रख देना है, तो ही क्रांति घट सकती है।

पुरानी कथा है जैन-शास्त्रों में, मिथिला के महाराजा नेमी के संबंध में। उन्होंने कभी शास्त्र नहीं पढ़े। उन्होंने कभी अध्यात्म में रुचि नहीं ली। वह उनका लगाव ही न था। उनकी चाहत ने वह दिशा कभी नहीं पकड़ी थी। बूढ़े हो गए थे, तब बड़े जोर का दाह्य-ज्वर उन्हें पकड़ा। भयंकर ज्वर की पीड़ा में पड़े हैं। उनकी रानियां उनके शरीर को शीतल करने के लिए चंदन और केसर का लेप करने लगीं। रानियों के हाथ में सोने की चूड़ियां थीं, चूड़ियों पर हीरे-जवाहरात लगे थे; लेकिन लेप करते समय उनकी चूड़ियां खड़खड़ातीं और बजतीं। सम्राट नेमी को वह खड़खड़ाहट की आवाज, वह चूड़ियों का बजना बड़ा अरुचिकर मालूम हुआ। और उन्होंने कहा, हटाओ ये चूड़ियां, इन चूड़ियों को बंद करो! ये मेरे कानों में बड़ी कर्ण-कटु मालूम होती हैं।

तो सिर्फ मंगल-सूत्र के खयाल से एक-एक चूड़ी बचा कर, बाकी चूड़ियां रानियों ने निकाल कर रख दीं। आवाज बंद हो गई। लेप चलता रहा। नेमी भीतर एक महाक्रांति को उपलब्ध हो गए। यह देख कर कि दस चूड़ियां थीं हाथ में तो बजती थीं; एक बची तो बजती नहीं। अनेक हैं तो शोरगुल है। एक है तो शांति है। कभी शास्त्र नहीं पढ़ा, कभी अध्यात्म में कोई रस नहीं रहा। उठ कर बैठ गए। कहा, मुझे जाने दो। यह दाह्य-ज्वर नहीं है, यह मेरे जीवन में क्रांति का संदेश ले कर आ गया। यह प्रभु-अनुकंपा है।

रानियां पकड़ने लगीं। उन्होंने समझा कि शायद ज्वर की तीव्रता में विक्षिप्तता तो नहीं हो गई! उनका भोगी-रूप ही जाना था। योग की तो उन्होंने कभी बात ही न की थी, योगी को तो वे पास न फटकने देते थे। भोग ही भोग था उनके जीवन में। कहीं ऐसा तो नहीं कि सन्निपात हो गया है! वे तो घबड़ा गईं, वे तो रोकने लगीं।

सम्राट ने कहा, घबड़ाओ मत। न कोई यह सन्निपात है। सन्निपात तो था, वह गया। तुम्हारी चूड़ियों की बड़ी कृपा! कैसी जगह से परमात्मा ने सूरज निकाल दिया, कहा नहीं जा सकता! चूड़ियां बजती थीं तुम्हारी, बहुत तुमने पहन रखीं थीं। एक बची, शोरगुल बंद हुआ--उससे एक बोध हुआ कि जब तक मन में बहुत आकांक्षाएं हैं तब तक शोरगुल है। जब एक ही बचे आकांक्षा, एक ही अभीप्सा बचे, या एक की ही अभीप्सा बचे--और ध्यान रखना एक की ही अभीप्सा एक हो सकती है। संसार की अभीप्सा तो एक हो ही नहीं सकती--संसार अनेक है। तो वहां अनेक वासनाएं होंगी। एक की अभीप्सा ही एक हो सकती है।

नेमी तो उठ गए, ज्वर तो गया। वे तो चल पड़े जंगल की तरफ। न शास्त्र पढ़ा, न शास्त्र जानते थे। लेकिन, शास्त्र पढ़ने से कब किसने जाना! जीवन के शास्त्र के प्रति जागरूकता चाहिए, तो कहीं से भी इशारा मिल जाता है। अब चूड़ियों से कुछ लेना-देना है?

तुमने कभी सुना, चूड़ियों और संन्यास का कोई संबंध? जुड़ता ही नहीं। लेकिन बोध के किसी क्षण में, जागरूकता के किसी क्षण में, मौन के किसी क्षण में, कोई भी घटना जगाने वाली हो सकती है। तुम सो रहे हो, घड़ी का अलार्म जगा देता है, पक्षियों की चहचहाहट जगा देती है, कौओं की कांव-कांव जगा देती है, दूध वाले की आवाज जगा देती है, राह से निकलती हुई ट्रक का शोरगुल जगा देता है, ट्रेन जगा देती है, हवाई-जहाज जगा देता है; कुत्ता भौंकने लगे पड़ोसी का, वह जगा देता है।

ठीक ऐसे ही हम सोए हैं। इसमें जागरण की घटना घट सकती है, लेकिन जागरण की घटना केवल शब्दों से नहीं घटती। वास्तविक ध्वनि...। शास्त्र तो ऐसे हैं जैसे रिकार्ड में ध्वनियां बंद हैं। तुम रिकार्ड रखे अपने

बिस्तर के पास सोए रहो, इससे कुछ भी न होगा। तुम अपनी स्मृति में कितने ही शास्त्रों के रिकार्ड भर लो, इससे कुछ न होगा।

बड़ी महिमापूर्ण घटना घटी है जनक को, लेकिन अष्टावक्र ठीक से कसौटी कर लेना चाहते हैं। अष्टावक्र जनक को भी ठीक से अपने भीतर पहुंच कर मौका देना चाहते हैं कि वह देख ले: कहीं धन की आकांक्षा तो नहीं है? अगर है तो सम्हलो। तो इतनी ऊंची बातें मत करो। तो तुम्हारे पैर तो जमीन में गड़े हैं, आकाश में उड़ने की बातें मत करो। धन तो जमीन है; अगर तुम्हारी धन में आकांक्षा रुपी है, तो तुम्हारी जड़ें जमीन में गड़ी हैं, फिर तुम पंख आकाश में न खोल सकोगे।

जैन शास्त्रों में एक और कथा है, अमरावती के श्रेष्ठि सुमेद की। सुमेद के पिता की मृत्यु हुई। वह अमरावती का सबसे बड़ा धनी व्यक्ति था। पिता के मर जाने पर अंत्येष्ठि क्रिया और सारे परिजनों-प्रियजनों के विदा हो जाने पर, जो बड़ा मुनीम था, बूढ़ा मुनीम था, वह आया। उसने सारा हिसाब-किताब सुमेद के सामने रखा। कितनी उनकी कोठियां हैं सारे देश में, किस कोठी में कितना धन संलग्न है, कितने उनके व्यवसाय हैं, किस व्यवसाय में कितना धन लगा है, कितनी उनकी तिजोरियां हैं--कहा कि आप आएं, तलघर में चलें तो मैं सारी चाबियां आपको सौंप दूं, आप के पिता मुझे सब सौंप गए हैं, अब आप मालिक हैं।

सुमेद उठा। उसने सारे खाते-बही देखे। करोड़ों रुपए की संपत्ति थी। उसने जा कर सारी तिजोरियां देखीं। उनमें बहुमूल्य रत्न भरे थे, अरबों-खरबों की संपत्ति थी। उसने यह सब देखा। लेकिन मुनीम बड़ा हैरान हुआ। वह देख तो रहा था, लेकिन जैसे कहीं बहुत दूर से, पास नहीं था, लोलुप नहीं था। और देखते-देखते उसकी आंखों में आंसू आने लगे। और मुनीम ने पूछा कि मैं समझा नहीं। आप रो रहे हैं! आप इस वक्त पृथ्वी के सबसे धनी लोगों में एक हैं। पिता के जाने पर अब आप मालिक हैं। ये आपके पुरखों की संपदा है। इसको हरेक पीढ़ी बढ़ाती चली गई है, इसमें से घटा कभी भी नहीं है। आप प्रसन्न हों।

सुमेद ने पूछा, मुझे एक बात पूछनी है। मेरे पिता के पिता मरे, वे भी इसे न ले जा सके। मेरे पिता भी मर गए, वे भी इसे न ले जा सके। और मैं तुमसे कहता हूं कि मैं इसे ले जाना चाहता हूं, तुम कोई तरकीब खोजो। तुम कहते हो, पीढ़ियों से चली आयी है! इसका मतलब साफ है: लोग मरते रहे और सब यहीं छूटता गया। अब मैं यह नहीं करना चाहता कि मैं मरूं और सब यहीं छूट जाए। क्योंकि जो यहीं छूट जाए, उसमें सार क्या? ले जाऊंगा सब साथ। या तो तुम खोज कर कल सुबह तक मुझे खबर कर दो या मैं खोज लूंगा। लेकिन अब मुझे चैन नहीं, क्योंकि किसी भी क्षण मौत आ सकती है। फिर ये चाबियां किसी और के हाथ में होंगी। फिर तुम किसी और को दिखाओगे, मेरे बेटे को दिखाओगे। लेकिन न मैं ले जा सकूंगा न मेरा बेटा ले जा सकेगा। नहीं, मैं यह हिसाब खत्म ही करना चाहता हूं। मैं यह सब साथ ही ले जाना चाहता हूं।

मुनीम ने कहा, यह तो कभी हुआ नहीं और हो भी नहीं सकता। कोई इसे कभी ले नहीं गया।

सुमेद ने कहा, मैंने तरकीब खोज ली। उसने उसी क्षण सारी संपत्ति दान कर दी। वह संन्यस्त हो गया। उसने कहा, मैंने तरकीब खोज ली। मैं इसे साथ ले जाऊंगा! यह कह कर उसने सब छोड़ दिया और संन्यस्त हो गया।

एक क्रांति घटती है; जब बाहर का तुम छोड़ते हो, भीतर का उसी क्षण मिल जाता है। लोगों ने तो एक ही बात देखी कि उसने बाहर की संपत्ति छोड़ दी, तुम्हें मैं दूसरी बात में जगाना चाहता हूं--उसने बाहर की संपत्ति यहां छोड़ी कि भीतर की संपत्ति वहां मिली। वह साथ ले कर गया। भीतर का ही साथ जाता है। बाहर में उलझे होने के कारण भीतर का दिखाई नहीं पड़ता। जब भीतर का दिखाई पड़ता है तो बाहर की पकड़ नहीं रह जाती।

आश्चर्य! कहा अष्टावक्र ने। जैसे बार-बार जनक ने कहा आश्चर्य! कि परम ब्रह्म शाश्वत चैतन्य, और कैसे माया में भटक गया था! जैसे बार-बार जनक ने कहा कि आश्चर्य! कि मैं स्वयं परमात्मा और कैसे सपने में खो गया था! ऐसे ही अब बार-बार अष्टावक्र कहते हैं।

"आश्चर्य! कि जैसे सीपी के अज्ञान से चांदी की भ्रांति में लोभ पैदा होता है, वैसे ही आत्मा के अज्ञान से विषय-भ्रम के होने पर राग पैदा होता है।"

रस्सी पड़ी देखी और समझा कि सांप है तो भय पैदा हो जाता है। सांप है नहीं और भय पैदा हो जाता है। सांप तो झूठा, भय बहुत सच्चा। तुम भाग खड़े होते हो। तुम घबड़ाहट में गिर भी सकते हो, भागने में हाथ-पैर तोड़ ले सकते हो--और वहां कुछ था ही नहीं; सिर्फ रस्सी थी। सांप के भ्रम ने काम कर दिया।

अष्टावक्र कहते हैं, ऐसे ही सीपी में कभी चांदी की झलक दिखाई पड़ जाती है। सीपी पड़ी है, सूरज की किरणों में चमक रही है--लगता है चांदी! चांदी वहां है नहीं, सिर्फ लगता है चांदी है। चांदी के लगते ही उठाने का भाव पैदा हो जाता है, मालिक बनने की आकांक्षा हो जाती है। चांदी के भ्रम में भी लोभ पैदा हो जाता है। आश्चर्य कि भ्रम में भी लोभ पैदा हो जाता है! जहां कुछ भी नहीं है, वहां पाने की आकांक्षा पैदा हो जाती है!

जहां से कभी किसी को कुछ भी नहीं मिला, वहीं-वहीं हम टटोलते रहते हैं। कुछ मिला हो तो भी ठीक। इस पृथ्वी पर कितने लोग हुए, कितने अनंत लोग हुए, सबने धन खोजा, सब निर्धन मरे। सबने पद खोजा, सबने प्रतिष्ठा खोजी, सब धूल में गिरे। बड़े-बड़े सम्राट पैरों में दबे पड़े हैं, धूल हो गए हैं।

च्वांगत्सु लौटता था एक गांव से। मरघट से गुजरा तो एक खोपड़ी पर उसका पैर लग गया। उसने वह खोपड़ी उठा ली और उससे माफी मांगने लगा कि क्षमा कर। उसके शिष्यों ने कहा, यह क्या कर रहे हैं! यह मरी खोपड़ी से क्या क्षमा मांग रहे हैं? इसमें सार क्या?

च्वांगत्सु ने कहा, तुम्हें पता नहीं। एक तो यह बड़े लोगों का मरघट है। यहां सिर्फ राजा, धनपति, राजनेता गड़ाए जाते हैं। यह कोई छोटी-मोटी खोपड़ी नहीं है, पागलो! यह किसी बड़े आदमी की खोपड़ी है।

शिष्य हंसने लगे। उन्होंने कहा, आप भी खूब मजाक करते हैं। अब यह बड़े की हो कि छोटे की हो, खोपड़ी सब बराबर हैं। और मुर्दा खोपड़ी से क्या क्षमा मांगते हो?

च्वांगत्सु कहने लगा, तुम्हें पता नहीं, केवल समय की बात है। दो-चार छह महीने पहले इस आदमी के सिर में अगर मेरा पैर लग जाता तो मेरे सिर की खैरियत न थी। यह कुल समय की बात है। माफी तो मांग ही लूं। तुम जरा इसकी भी तो सोचो। और कुछ दिनों बाद मेरी खोपड़ी भी यहीं कहीं पड़ी होगी और लोगों के पैर मेरी खोपड़ी से लगेंगे और कोई क्षमा भी न मांगेगा। तुम यह भी तो सोचो!

किसको क्या मिला है? कुछ मिला हो और तुम खोजो, तब भी ठीक है।

ऐसा सुलतान महमूद के जीवन में उल्लेख है कि वह रोज रात अपने घोड़े पर सवार हो कर निकलता था गांव में देखने--कहां क्या हो रहा है, कैसी व्यवस्था चल रही है? छिपे वेष में। वह रोज रात एक आदमी को देखता था--नदी के किनारे, रेत को छानते। उसने एक-दो दफा पूछा भी कि तू क्या करता है आधी-आधी रात तक? उसने कहा, मैं रेत छानता हूं, इसमें कभी-कभी चांदी के कण मिल जाते हैं। उनको मैं इकट्ठा करता हूं। वही मेरी जीविका है।

ऐसा अनेक रातों देख कर एक दिन महमूद को लगा कि बेचारा मेहनत तो बड़ी करता है, मिलता कुछ खाक नहीं। तो उसने अपना भुज-बंध, जो लाखों रुपये का रहा होगा, निकाल कर चुपचाप रेत में फेंक दिया और चल पड़ा। उस रेत छानने वाले ने तो देखा भी नहीं। लेकिन थोड़ी देर बाद खोजने पर उसे मिल गया भुज-बंध।

दूसरे दिन फिर महमूद रात आया। उसने सोचा कि आज तो वह रेत छानने वाला नहीं होगा वहां। लेकिन वह फिर रेत छान रहा था। महमूद बड़ा हैरान हुआ। उसने कहा कि सुन, मेरे सिपाहियों ने मुझे खबर दे दी है कि जो भुज-बंध मैं फेंक गया था, वह तुझे मिल गया है। तू उसे बाजार में बेच भी चुका है, वह भी खबर आ चुकी है। मैं सुलतान महमूद हूं! भुज-बंध लाखों रुपये का था। तेरे जीवन के लिए और तेरे बच्चों के जीवन के लिए पर्याप्त है। अब तू किस लिए छान रहा है रेत? उसने कहा मालिक: इसी रेत के छानने में भुज-बंध मिला; अब तो

चाहे कुछ भी हो जाए, मैं छानना छोड़ नहीं सकता। अब तो छानता ही रहूंगा। अब तो यह जिंदगी है और मैं हूं और यह रेत है। जहां ऐसी-ऐसी चीजें मिल सकती हैं--भुज-बंध मिल गया! अब इसको मैं रोक नहीं सकता।

महमूद ने अपनी आत्मकथा में लिखवाया है कि उसके तर्क में तो बल है; लेकिन हम इस संसार में क्या खोज रहे हैं जहां किसी को कभी कुछ नहीं मिला? फिर भी रेत छान रहे हैं। कुछ मिला किसी को कभी?

कहते हैं, आश्चर्य कि जैसे सीपी के अज्ञान से चांदी की भ्रांति में लोभ पैदा होता है, वैसे ही आत्मा के अज्ञान से विषय-भ्रम के होने पर राग पैदा होता है। हे जनक, कहीं तेरे भीतर राग तो नहीं बचा है? कहीं थोड़ा-सा भी मोह तो नहीं बचा, लोभ तो नहीं बचा है?

यह तुम्हें याद दिला दूं। तुमने बहुत बार सुना है कि लोभ छोड़ो, मोह छोड़ो, राग छोड़ो, क्रोध छोड़ो तो आत्मज्ञान होगा। हालत बिलकुल उल्टी है। आत्मज्ञान हो तो राग, मोह, लोभ, क्रोध छूटता है; वह परिणाम है। अंधेरे को थोड़े ही छोड़ना पड़ता है प्रकाश को लाने के लिए; प्रकाश लाना पड़ता है, अधेरा छूटता है।

इसलिए अष्टावक्र यह प्रश्न पूछ रहे हैं। वे कह रहे हैं, आत्मज्ञान हो गया जनक? तेरी उदघोषणा से लगता है आत्मज्ञान हो गया। अब मैं तुझसे पूछता हूं, जरा खोज, कहीं राग तो नहीं? अभी भी कहीं पुराने भ्रम पकड़े तो नहीं हैं?

क्योंकि, कई बार ऐसा होता है--रोज ही ऐसा होता है, कई बार क्यों--रोज रात तुम सपना देखते हो, सुबह सपना टूटता है, तुम कहते हो सब सपना था; और फिर दूसरी रात फिर सपना देखते हो। टूट-टूट कर भी सपना टूटता नहीं। सुबह कैसे तुम ज्ञानी हो जाते हो! कहते हो सब बकवास, सब सपना था, कुछ भी सार नहीं! लेकिन यह याद नहीं रह जाता। फिर रात आएगी, फिर तुम सोओगे, फिर सपना उठेगा। तब यह कितनी बार सपना टूट चुका और कितनी बार सुबह तुमने घोषणा कर दी कि सपना टूट गया--ये सब घोषणाएं फिर काम नहीं आतीं, फिर सपना पकड़ लेता है। बड़ा प्रबल प्रभाव मालूम होता है सपने का। तो कहीं यह रोज-रोज सुबह उठ कर जो घोषणा हम करते हैं सपने झूठ होने की, वैसी ही अध्यात्म की घोषणा तो नहीं है?

मैं एक कविता कल पढ़ रहा था:

यह तीसरा फरेबे-मुहब्बत है मालती,
मैं आज फिर फरेबे-मुहब्बत में आ गया।

प्रेमी अपनी प्रेयसी से, किसी मालती से कह रहा है:

यह तीसरा फरेबे-मुहब्बत है मालती,
यह तीसरी बार भ्रम हो रहा है।
मैं आज फिर फरेबे-मुहब्बत में आ गया।
रुखसार दिलशिकार हैं आंखें हैं दिलनशीं
शोलाजने-खिरद है तेरा हुस्ने-आतशीं।
मैं सोचता रहा, मैं बहुत सोचता रहा,
लेकिन तेरा जमाल, नजर में समा गया।

पहले भ्रमों की भी याद है। पहले और मालतियां धोखा दे गईं। यह तीसरा भ्रम है; दो मालतियां आ चुकीं, जा चुकीं।

मैं सोचता रहा, मैं बहुत सोचता रहा,
लेकिन तेरा जमाल नजर में समा गया।
गो जानता हूं यह भी तमन्ना का है फरेब,
गो जानता हूं यह भी तमन्ना का है फरेब,
गो मानता हूं राहे-मुहब्बत है पुरनसेब,

यह सब झूठ, यह सब सपना, यह सब फरेब--यह सब जानता हूं।

लेकिन बगैर इसके भी चारा नहीं मेरा,

इसके बिना भी चलता नहीं।

लेकिन बगैर इसके भी चारा नहीं मेरा,

कुछ भी बजुज फरेब सहारा नहीं मेरा।

और इन भ्रमों के सिवाए कोई सहारा ही नहीं मालूम होता, सपनों के सिवाए कोई जिंदगी ही नहीं मालूम होती।

तुझ-सी परी जमाल हसीनाओं के बगैर,

मैं हूं सनमपरस्त, गुजारा नहीं मेरा।

मैं आज फिर फरेबे-मुहब्बत में आ गया

यह तीसरा फरेबे-मुहब्बत है मालती।

तीसरा क्या, तीसवां, तीन सौवां, तीन हजारवां--मगर फरेब जारी रहता है।

जनक से अष्टावक्र कहने लगे, यह कहीं सुबह उठे हुए आदमी की बात तो नहीं कि सपना था, और फिर कल तू सो जाए? इधर मैं गया और उधर तू सो जाए। तो तू ठीक से देख ले। सोने की अब और कोई संभावना तो नहीं है, यह जागरण आखिरी है? यह भ्रम का टूटना भी कहीं भ्रम ही सिद्ध न हो? तू ठीक से देख ले। यह टूट ही गया है? यह ऐसा टूट गया है कि फिर न बन सकेगा? तो गौर से देख ले, इसके बीज कहीं भीतर छिपे तो नहीं हैं? अन्यथा ऊपर-ऊपर जमीन साफ हो, भीतर बीज पड़े हों, फिर अंकुरित हो जाएं!

इसीलिए तो होता है, सुबह हम देख लेते हैं कि सपना टूट गया; लेकिन बीज तो मिटते नहीं, बीज तो पड़े ही रहते हैं। जिन बीजों से सपने रात फैले थे, वे बीज तो अब भी भूमि में पड़े हैं वैसे के वैसे। फिर रात आएगी, ठीक मौसम पा कर, ठीक वर्षा होगी, फिर सपने खड़े हो जाएंगे। सपने के टूटने से क्या होता है? सपने के बीज दग्ध होने चाहिए। अगर बीज दग्ध नहीं हुए तो कुछ भी नहीं हुआ।

धन की आकांक्षा बीज है। पद की आकांक्षा बीज है। महत्वाकांक्षा बीज है। इन बीजों की तलाश के लिए अष्टावक्र कहते हैं, तू जरा भीतर जा! देख, कहीं छिपे हुए बड़े छोटे-छोटे बीज...!

बीज तो बड़े छोटे होते हैं, वृक्ष बड़े हो जाते हैं। वृक्ष दिखाई पड़ते हैं, बीज तो पता भी नहीं चलते। तो उन बीजों को खोज। जब तक बीज दग्ध न हो जाएं, तब तक तू इस भ्रम में मत आना कि भ्रम के बाहर हो गया है।

"जिस आत्मारूपी समुद्र में यह संसार तरंगों के समान स्फुरित होता है, वही मैं हूं। यह जान कर भी क्यों तू दीन की तरह दौड़ता है?"

आदमी के जीवन की एकमात्र दीनता है वासना, क्योंकि वासना भिखमंगा बनाती है। वासना का अर्थ है: दो। वासना का अर्थ है: मेरी झोली खाली है, भरो! कोई भरो, मेरी झोली खाली है। वासना का अर्थ है: मांगना। वासना का अर्थ है कि मैं जैसा हूं वैसा पर्याप्त नहीं। मैं जैसा हूं, उससे मैं संतुष्ट नहीं, दो!

कहते हैं, फरीद, उनके गांव के लोगों ने कहा कि तुम अकबर को जानते हो, अकबर तुम्हें जानता है, तुम्हारा सम्मान भी करता है। तुम एक बार जा कर अकबर से इतना कह दो कि हमारे गांव में एक मदरसा खोल दे, गांव के बच्चे पढ़ने को तड़फते हैं। गरीब गांव है, तुम कहोगे तो मदरसा खुल जाएगा।

फरीद कभी राजमहल गया नहीं था। कभी-कभी अकबर को जब रस होता था तो फरीद के दरबार में आता था। लेकिन जब मांगना हो तो जाना चाहिए--यह सोच कर फरीद गया। जब वह पहुंचा, सुबह-सुबह ही पहुंच गया; क्योंकि मांगना हो तो सुबह-सुबह ही मांगना चाहिए। सांझ तक तो आदमी इतने क्रोध में आ जाता है, इतना परेशान हो चुका होता है कि देने की बात कहां--और तुमसे छीन ले!

इसलिए भिखमंगे सुबह आते हैं। सुबह तुमसे थोड़ी आशा है। ताजे हो, रात भर विश्राम के बाद उठे हो, जिंदगी उतनी बोझिल नहीं है, इतना क्रोध नहीं है। सांझ तक तो तुम भी थक जाओगे; सुबह-सुबह तुम्हारी ताजगी में...।

फरीद पहुंचा। अकबर प्रार्थना कर रहा था अपनी निजी मस्जिद में। फरीद को तो जाने दिया गया। लोग जानते थे अकबर का बड़ा भाव है फरीद के प्रति। फरीद पीछे जा कर खड़ा हो गया। अकबर ने अपनी नमाज पूरी की, हाथ उठाए आकाश की तरफ और कहा, हे परमात्मा! मुझे और धन दे, और दौलत दे, मेरे साम्राज्य को बड़ा कर!

फरीद की आंखों में तो आंसू आ गए यह दीनता देख कर। यह सम्राट भी कोई सम्राट है! इससे तो हम भले। कम से कम परमात्मा एक इल्जाम तो नहीं लगा सकता कि हमने कुछ मांगा हो। और फिर उसे याद आया कि इस आदमी से क्या मांगना! इससे तो एक मदरसा लेने का मतलब होगा इसको गरीब बनाना, थोड़ा गरीब हो जाएगा। यह तो वैसे ही गरीब, इसकी हालत तो वैसे ही खराब है! इसकी दीनता तो देखो, अभी भी हाथ फैलाए है! अकबर जैसा सम्राट, जिसके पास सब है, वह भी मांग रहा है अभी! होने से क्या होता है, भिखमंगापन थोड़े ही मिटता है!

दुनिया में दो तरह के भिखमंगे हैं--गरीब और अमीर। भिखमंगे तो सभी हैं। गरीब को तो क्षमा भी कर दो; लेकिन अमीर को कैसे क्षमा करो, वह भी मांगे चला जाता है।

फरीद तो लौटने लगा। अकबर उठा तो फरीद को सीढ़ियों से उतरते देखा। उसने कहा, कैसे आए और कैसे चले? कभी तो तुम आए नहीं। स्वागत! घर में पधारो!

फरीद ने कहा, हो गया; आए थे एक बात से, लेकिन वह तो गलत खयाल था। चूक हो गई। हमसे भूल हुई, तुम्हारा कोई कसूर नहीं है।

अकबर तो बड़ा बेचैन हो गया। उसने कहा, हुआ क्या? मैं कुछ समझूं भी तो! पहेली मत बूझो!

फरीद ने कहा, गांव के लोगों ने--नासमझों ने--यह समझ कर कि तुम सम्राट हो, तुम्हारे पास बहुत है, मुझे भी भ्रम में डाल दिया। मैं भी उनकी बातों में आ कर चला आया। नासमझों की दोस्ती ठीक नहीं। अब मैं वापिस जा रहा हूं उनको समझाने कि तुम गलती में थे। मैं आ गया मांगने। गांव के लोगों ने कहा था एक मदरसा खुलवा दो। नहीं, लेकिन तुम्हारी हालत खराब है, तुम तो दीन अवस्था में हो। वह प्रार्थना मैं तुमसे न करूंगा। मेरे पास कुछ होता तो वह मैं तुम्हें दे डालता। मेरे पास कुछ है नहीं। तुम्हारी हालत बड़ी खराब है। तुम्हारी तो हालत दिवाले निकले जैसी है। तुम प्रार्थना करके मांग रहे थे! मैं आया था सम्राट से मिलने, भिखारी को देख कर वापिस जा रहा हूं।

अष्टावक्र ने कहा:

विश्वं स्फुरति यत्रेदं तरंग इव सागरे।

"जैसे आत्मारूपी समुद्र में यह संसार तरंगों के समान स्फुरित होता, वही मैं हूं--ऐसा जानकर...।"

सोऽहमस्मीति विज्ञाय...

"...ऐसा जान कर।"

किं दीनं इव धावसि।

"...फिर तू दीन की तरह दौड़ा जा रहा है!"

जरा भीतर तो देख, वहां कोई दौड़ बाकी तो नहीं है? वहां कुछ मांग बाकी तो नहीं है? वहां कुछ पाने को शेष तो नहीं है? क्योंकि परमात्मा के मिलने का अर्थ यह है कि अब पाने को कुछ भी शेष न रहा। मिल गया जो मिलना था। आखिरी मिल गया, आत्यंतिक मिल गया; इसके पार मिलने को कुछ भी नहीं। अगर तेरे भीतर अब भी इसके पार मिलने को कुछ हो तो समझना कि परमात्मा नहीं मिला, तू शब्दों के जाल में आ गया जनक! तू मेरे प्रभाव में आ गया जनक। तू सम्मोहित हो गया।

ध्यान रखना, मन को अच्छी बातें मान लेने की बड़ी जल्दी होती है। कोई तुमसे कह दे कि आप तो परमात्म-स्वरूप हैं, कौन इंकार करना चाहता है! आप तो ब्रह्म-स्वरूप हैं, कौन इंकार करना चाहता है! अहंकार भरता है। कोई कह दे, आप तो शुद्ध-बुद्ध नित्य-चैतन्य--कौन इंकार करता है! बुद्धू से बुद्धू भी इंकार नहीं करता जब उससे कहो कि आप शुद्ध-बुद्ध! तो वह कहता है बिलकुल ठीक, अब तुम पहचाने। अभी तक कोई पहचाना नहीं। नासमझ हैं; क्या खाक पहचानेंगे! आप बुद्धिमान हैं, इसलिए पहचाना।

ज्ञान की घोषणाएं कहीं तुम्हारे अहंकार के लिए आधार तो नहीं बन रहीं? कहीं ऐसा तो नहीं है, प्रीतिकर लगती हैं, इसलिए मान लीं? कड़वी बातें कौन मानना चाहता है! कोई तुमसे पापी कहे तो दिल नाराज होता है। कोई तुम्हें पुण्यात्मा कहे तो तुम स्वीकार कर लेते हो। और यह हो सकता है कि जिसने पापी कहा था, वह सत्य के ज्यादा करीब हो।

टालस्टाय ने लिखा है अपनी आत्मकथा में कि एक दिन सुबह-सुबह मैं चर्च गया तो देखा गांव का सबसे बड़ा धनपति, सुबह के अंधेरे में चर्च में प्रार्थना कर रहा है। तो मैं तो चकित हुआ कि यह आदमी भी प्रार्थना करता है! मैं पीछे खड़े हो कर सुनने लगा। उस धनपति को कुछ पता नहीं था कि कोई और है अंधेरे में। वह धनपति कह रहा था, "हे प्रभु, मैं महापापी हूं। मुझ जैसा पापी इस संसार में कोई भी नहीं!" वह अपने पापों का कन्फेशन कर रहा था, स्वीकार-भाव से सब प्रगट कर रहा था जो-जो पाप उसने किए थे। और शायद, भाव से कर रहा था।

लेकिन तभी सुबह होने लगी। और उसको खयाल आया, मालूम हुआ कि कोई और भी पीछे खड़ा है। उसने देखा--और देखा टालस्टाय है। वह टालस्टाय के पास आया। उसने कहा, क्षमा करना, यह बात किसी और तक न जाए। यह जो मैंने कहा है, मेरे और परमात्मा के बीच है। तुमने अगर सुन लिया, अनसुना कर दो। यह बात किसी और तक न जाए, अन्यथा मान-हानि का मुकदमा चलाऊंगा।

टालस्टाय ने कहा, यह भी खूब रही! तुम परमात्मा के सामने स्वयं घोषणा कर रहे हो, फिर आदमियों से क्या डरते हो?

उसने कहा, तुम इस बात में पड़ो ही मत। अगर तुमने यह बात कहीं भी निकाली, और यहां कोई दूसरा नहीं है, अगर मैंने यह बात कहीं से भी सुनी, तो तुम्हीं पकड़े जाओगे। यह मेरे और परमात्मा के बीच निजी बात है। यह कोई सार्वजनिक बात नहीं है।

तो हम पाप को तो चुपचाप स्वीकार करना चाहते हैं--परमात्मा और हमारे बीच--और पुण्य की हम घोषणा करना चाहते हैं सारे जगत में। करना चाहिए उल्टा। पुण्य की घोषणा तो निजी होनी चाहिए--वह परमात्मा और स्वयं के बीच। पाप की घोषणा सार्वलौकिक होनी चाहिए, सार्वजनिक होनी चाहिए।

तो अष्टावक्र ने कहा, कहीं ऐसा तो नहीं है कि ये स्वादिष्ट बातें, ये मधुर बातें, ये वेदों का सार, ये उपनिषदों का सार...! तुझे स्वादिष्ट लग रहा है, यह तो पक्का है; लेकिन स्वादिष्ट लगने से कुछ सत्य थोड़े ही हो जाता है!

आदमी मौत से डरता है, तो जल्दी से मान लेता है, आत्मा अमर है। इसलिए नहीं कि समझ गया कि आत्मा अमर है; मौत के डर के कारण...।

तुमने देखा, यह भारत है। यह पूरा मुल्क मानता है कि आत्मा अमर है, और इससे ज्यादा कायर कौम खोजनी मुश्किल है। होना तो उल्टा चाहिए। आत्मा जिनकी अमर है, उनको कोई गुलाम बना सकता है? लेकिन एक हजार साल तक ये गुलाम बने रहे। आत्मा अमर है!

नहीं, आत्मा अमर है का सिद्धांत हम पकड़े ही इसलिए हैं कि मरने से हम डरे हैं। यह सिद्धांत हमारी सुरक्षा है। हम यह सिद्धांत अनुभव से नहीं जाने हैं। अगर अनुभव से जाना होता तो यह मुल्क तो गुलाम बनाया ही नहीं जा सकता, इस मुल्क को तो कोई दबा ही नहीं सकता, क्योंकि जिसकी आत्मा अमर है, उसको तुम क्या

दबाओगे? ज्यादा से ज्यादा धमकी मार डालने की दे सकते हो, वह धमकी भी नहीं दे सकते तुम इस देश को। आत्मा जिनकी अमर है, उनके ऊपर कोई धमकी न चलेगी।

लेकिन दिखाई उल्टा पड़ता है। भयभीत लोग, मौत से डरे हुए लोग मंत्र-जाप कर रहे हैं आत्मा की अमरता के। क्षुद्र में पड़े हुए लोग विराट की घोषणा कर रहे हैं। क्षुद्र को छिपाने का आयोजन तो नहीं है विराट की चर्चा? पाप को छिपाने का आयोजन तो नहीं है पुण्य की चर्चा?

अगर ऐसा है तो जनक से अष्टावक्र कहने लगे, तू फिर से एक बार भीतर उतर कर देख, ठीक से कसौटी कर ले।

"अत्यंत सुंदर और शुद्ध चैतन्य आत्मा को सुन कर भी कैसे कोई इंद्रिय-विषय में अत्यंत आसक्त हो कर मलिनता को प्राप्त होता है!"

श्रुतापि--सुन कर भी!

ध्यान रखना, सुनने से ज्ञान नहीं होता। ज्ञान तो स्वयं के अनुभव से होता है। श्रुति से ज्ञान नहीं होता, शास्त्र से ज्ञान नहीं होता। हिंदुओं ने ठीक किया है कि शास्त्र के दो खंड किए हैं--श्रुति और स्मृति। ज्ञान उसमें कोई भी नहीं है। कुछ शास्त्र श्रुतियां हैं, कुछ शास्त्र स्मृतियां हैं। न तो स्मृति से ज्ञान होता, न श्रुति से ज्ञान होता। श्रुति का अर्थ है सुना हुआ, स्मृति का अर्थ है याद किया हुआ। जाना हुआ दोनों में कोई भी नहीं है।

श्रुत्वाऽपि शुद्धचैतन्यमात्मानमतिसुंदरम्।

ऐसा सुन कर कि आत्मा अति सुंदर है, भ्रांति में मत पड़ जाना, मान मत लेना। जब तक जान ही न ले, तब तक मानना मत। विश्वास मत कर लेना, अनुभव को ही आस्था बनने देना। नहीं तो ऊपर-ऊपर तू मानता रहेगा--आत्मा अति सुंदर है--और जीवन के भीतर वही पुरानी मवाद, वही इंद्रिय-आसक्ति, वही वासना के घाव बहते रहेंगे, रिसते रहेंगे।

"अत्यंत सुंदर और शुद्ध चैतन्य आत्मा को सुन कर भी कैसे कोई इंद्रिय-विषय में अत्यंत आसक्त हो कर मलिनता को प्राप्त होता है!"

इसे ध्यान रख! सुनने वाले बहुत हैं। सुन कर मान लेने वाले बहुत हैं। लेकिन उनके जीवन में तो देख। सुन-सुन कर उन्होंने मान भी लिया है, लेकिन फिर भी मलिनता को रोज प्राप्त होते हैं। मलिनता जाती नहीं। जहां मौका मिला, वहां फिर तीसरा फरेब कि तीन सौवां फरेब, फिर फरेब खाने को तैयार हो जाते हैं।

कितनी बार तुमने सोचा कि क्रोध न करेंगे। तुम भलीभांति सुन कर जान चुके हो कि क्रोध पाप है, जहर है, कुछ लाभ नहीं; लेकिन फिर भी जब उठता है तब तुम खो जाते हो किसी झंझावात में, याद ही नहीं रहती। जब क्रोध जा चुका होता है उजाड़ कर तुम्हारे भीतर की सारी बगिया, तब फिर याद आती है, फिर पश्चात्ताप होता है। पर फिर पछताए होत का जब चिड़िया चुग गई खेत! फिर तुम पछताते हो। यह पुरानी आदत हो गई है। क्रोध कर लिया, पछता लिया। फिर क्रोध कर लिया, फिर पछता लिया। क्रोध और पश्चात्ताप एक-दूसरे के संगी-साथी हो गए हैं; उनमें कुछ फर्क नहीं रहा है। तुम्हारे पश्चात्ताप ने क्रोध को रोका तो नहीं। साफ है कि तुमने क्रोध को अभी देखा नहीं है; सुन-सुन कर मान रखा है कि बुरा है। यह तुम्हारा अपना आत्म-दर्शन नहीं है।

मैं एक कहानी पढ़ता था। बौद्ध कथा है। श्रावस्ती में एक सेठ था--मृगार। उसके लड़के की पत्नी थी विशाखा। विशाखा सुनने जाती थी बुद्ध को। मृगार कभी कहीं सुनने गया नहीं। वह धन- लोलुप धन के पीछे पागल था। वह सबसे बड़ा श्रेष्ठि था श्रावस्ती का। श्रावस्ती भारत की सबसे ज्यादा धनी नगरी थी और मृगार उसका सबसे बड़ा धनपति था।

तुम्हें शायद खयाल में न हो, जो शब्द हिंदी में है सेठ, वह श्रेष्ठि का ही अपभ्रंश है, श्रेष्ठ का अपभ्रंश है। अब तो सेठ गाली जैसा लगता है। लेकिन कभी वह श्रेष्ठतम लोगों के लिए उपयोग किया जाता था।

नगर का सबसे बड़ा, श्रावस्ती का सबसे बड़ा श्रेष्ठि था मृगार, लेकिन कभी बुद्ध को सुनने न गया था। विशाखा उसकी सेवा करती--अपने ससुर की; उसके लिए भोजन बनाती। लेकिन विशाखा को सदा पीड़ा लगती थी कि यह ससुर बूढ़ा होता जाता है और बुद्ध के वचन भी इसने नहीं सुने। जानना तो दूर, सुने भी नहीं। इसका जीवन ऐसे ही धन, पद, वैभव में बीता जा रहा है। यह जीवन यूं ही रेत में गंवाए दे रहा है। यह सरिता ऐसे ही खो जाएगी सागर में पहुंचे बिना।

तो एक दिन जब मृगार भोजन करने बैठा और विशाखा उसे भोजन परोसती थी, तो वह कहने लगी: तात! भोजन ठीक तो है? सुस्वादु तो है?

मृगार ने कहा: सदा तू सुंदर सुस्वादु भोजन बनाती है। यह प्रश्न तूने कभी पूछा नहीं, आज तू पूछती है, बात क्या है? तेरा भोजन सदा ही सुस्वादु होता है।

विशाखा ने कहा: आपकी कृपा है, अन्यथा भोजन सुस्वादु हो नहीं सकता, क्योंकि यह सब बासा भोजन है। मैं दुखी हूं कि मुझे आपको बासा भोजन खिलाना पड़ता है।

मृगार बोला: पागल! बासा! पर बासा तू खिलाएगी क्यों? धन-धान्य भरा हुआ है कोठियों में, जो तुझे चाहिए प्रतिदिन उपलब्ध है। बासा क्यों?

उसने कहा कि नहीं मैं वह नहीं कह रही, आप समझे नहीं। यह जो धन-धान्य है, शायद होगा आपके पिछले जन्मों के पुण्यों के कारण; लेकिन इस जीवन में तो मैंने आपको कोई पुण्य-पुरुषार्थ करते नहीं देखा। इस जीवन में तो मैंने आपको कोई पुण्य-पुरुषार्थ करते नहीं देखा, इसलिए मैं कहती हूं यह सब बासा है। होगा, पिछले जन्मों में आपने कुछ पुण्य किया होगा, इसलिए धनी हैं। लेकिन मैंने अपनी आंखों से जबसे आपके घर में बहू हो कर आई हूं, मैंने आपका कोई पुण्य-प्रताप, आपका कोई पुण्य-पुरुषार्थ, आपके जीवन में कोई प्रेम, कोई धर्म, कोई पूजा, कोई प्रार्थना, कोई ध्यान, कुछ भी नहीं देखा। इसलिए मैं कहती हूं, यह पिछले जन्मों के पुण्यों से मिला हुआ भोजन बासा है तात! आप ताजा भोजन कब करेंगे?

मृगार आधा भोजन किए उठ गया। रात भर सो न सका। बात तो सही थी, चोट गहरी पड़ी। दूसरे दिन सुबह विशाखा ने देखा, वह भी बुद्ध के वचन सुनने के लिए मौजूद है, वह भी सुन रहा है। तब सुन-सुन कर वह ज्ञान की बातें करने लगा। वर्ष बीतने लगे। पहले वह ज्ञान की बातें न करता था, अब वह ज्ञान की बातें करने लगा; लेकिन जीवन वैसा का वैसा रहा। फिर विशाखा ने कहा कि तात! आप अब भी बासा ही भोजन कर रहे हैं, अब ज्ञान का बासा भोजन कर रहे हैं। ये बुद्ध के वचन हैं, आपके नहीं। ये उनकी सुन कर अब आप दोहरा रहे हैं। आप अपनी कब कहेंगे? आप जो गीत अपने प्राणों में ले कर आए हैं, वह कब प्रगट होगा? प्रभु, उसे प्रगट करें। कुछ आपके भीतर छिपा पड़ा है झरना, उसे बहाएं! यह अब भी बासा है।

तुम्हारा धन भी बासा है, तुम्हारा ज्ञान भी बासा है। और बासा होना ही पाप है। सब पाप बासे हैं। पुण्य तो सदा ताजा है, सद्यःस्नात! अभी-अभी हुई वर्षा में ताजे खड़े हुए फूल, अभी-अभी ऊगे सूरज की किरणों में नाचती सुबह की ताजीत्ताजी पत्तियां--ऐसा पुण्य है।

ज्ञान को सुन कर सब कुछ मत मान लेना। जब तक जान न लो, तब तक रुकना मत।

"सब भूतों में आत्मा को और आत्मा में सब भूतों को जानते हुए भी मुनि को ममता होती है--यही आश्चर्य है।"

अष्टावक्र कहने लगे, मुनियों को देखो, साधु-संन्यासियों को देखो, संतों को देखो! कहते हैं सब भूतों में आत्मा है और आत्मा में सब भूत हैं, फिर भी मुनि को ममता होती है! तो जरा जल्दी न करो जनक! कहीं तुम भी ऐसे मुनि मत बन जाना। ऊपर-ऊपर से तो कहे चले जाते हैं लोग कि हमारी कोई ममता नहीं, सब छोड़ दिया है...!

एक जैन साध्वी, मैं दिल्ली जाता था, तो मुझे मिलने आयी। मेरी बातें सुन कर उसे लगने लगा कि वह जिस जाल में है, उसके बाहर हो जाए। मैंने कहा, अपने गुरु से पहले बात कर। उसने अपने गुरु को कही, तो गुरु तो बहुत नाराज हो गए। गुरु ने तो कहा कि मुझसे मिलना चाहते हैं। मुझसे मिले तो बड़े नाराज थे। नाराजगी में भूल ही गए वे। वे कहने लगे कि यह साध्वी अगर छोड़ कर चली जाएगी तो हमारे संप्रदाय की बड़ी हानि होगी। फिर इस साध्वी से हमारी बड़ी ममता है। यह हमारे बुढ़ापे का सहारा है।

वे काफी बूढ़े हो गए थे। मैंने कहा, यह तो बात वैसी की वैसी है जैसे कोई बाप कहता है कि यह बेटा हमारे बुढ़ापे का सहारा है; कोई मां कहती है, यह बेटी हमारे बुढ़ापे का सहारा है। यह तो घर-गृहस्थी की बात हो गई। यह साधु को शोभा नहीं देती। अगर इस साध्वी को ऐसा लग रहा है कि इसके जीवन में स्वतंत्रता घटित होगी इस जाल के बाहर निकलने से, तो तुम्हारा आशीर्वाद दो। अगर तुम्हें इससे ममता है तो अपनी ममता को तुम अपनी समस्या समझो, उसको सुलझाने की कोशिश करो, मरने से पहले ममता छोड़ो।

तब वे थोड़े चौंके। कहने लगे, बात तो ठीक है। ममता होनी नहीं चाहिए, लेकिन ममता है।

बेटे-बेटियों से ममता छूटती है तो शिष्य-शिष्याओं से हो जाती है। ममता थोड़े ही हटती है। घर से छूटती है तो मंदिर से हो जाती है। दूकान से छूटती है तो आश्रम से हो जाती है। ममता थोड़े ही छूटती है। "मेरा" नए-नए आश्रय बनाता चला जाता है। एक आश्रय उजाड़ो, वह उसके पहले दूसरी जगह आश्रय बना लेता है। एक नीड़ गिराओ, दूसरी जगह नीड़ बना लेता है। लेकिन "मेरा" तो बचता ही चला जाता है।

अष्टावक्र ने कहा, सब भूतों में आत्मा को और आत्मा में सब भूतों को जानते हुए भी मैं तुमसे कहता हूं जनक, ऐसे मुनि हैं, जिनको ममता होती है। असली आश्चर्य तो यही है। तुम क्या आश्चर्य की बात कर रहे हो कि शुद्ध-बुद्ध आत्मा कैसे संसार में पड़ गई! छोड़ो यह फिक्र। उससे बड़े आश्चर्य मैंने देखे हैं। मुनि हो गए हैं, सब छोड़ दिया है, घोषणा भी कर दी...!

सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
मुनेजनित आश्चर्यं ममत्वमनुवर्तते।।

मैं तुम्हें असली आश्चर्य बताता हूं। जिन्होंने सब छोड़ दिया, फिर भी कुछ छूटा नहीं, ममता मौजूद है--इससे बड़ा चमत्कार तुम देखोगे! साधु भी गृहस्थ है, संन्यासी भी बंधा है। मोक्ष की आकांक्षा करने वाले अभी संसार में ही भटक रहे हैं। बातें मोक्ष की हैं, प्राण संसार में अटके हैं। तो जरा सोच कर करना, एकदम जल्दी मुनि मत बन जाना। क्योंकि यह चमत्कार होता है।

अष्टावक्र निश्चित ही कठोर गुरु रहे होंगे। कठोर गुरु होना ही चाहिए। गुरु कठोर न हो तो करुणावान नहीं। उसकी कठोरता ही उसकी करुणा है। वे कसने लगे, खूब ठोंकने लगे। जनक भी घबड़ाया होगा। जनक ने तो पहले सोचा होगा कि इतनी ऊंची बातें कहीं, गुरु एकदम छाती से लगा लेंगे कि धन्यभाग! कि तू उपलब्ध हो गया! लेकिन ये गुरु भी खूब हैं! ये अष्टावक्र तो उल्टी डांट पिलाने लगे।

मगर अष्टावक्र ने ठीक किया। कसौटियों से गुजर कर ही सोने की परख होती है, आग से गुजर कर ही सोना कुंदन बनता है।

"परम अद्वैत में आश्रय किया हुआ और मोक्ष के लिए भी उद्यत हुआ पुरुष काम के वश हो कर क्रीड़ा के अभ्यास से व्याकुल होता है--यही आश्चर्य है।"

आदमी मरते-मरते दम, मर रहा हो, आखिरी क्षण तक भी, मौत द्वार पर दस्तक दे रही हो, तब तक भी कामवासना से पीड़ित होता है। और साधारण आदमी नहीं--परम अद्वैत में आश्रय किया हुआ! जो परम अद्वैत में अपनी आस्था की घोषणा कर चुका है, जो कहता हमने घर बना लिया भगवान में, वह भी! और मोक्ष के लिए उद्यत हुआ भी; वह जो कहता है हम मोक्ष की तरफ प्रयाण कर रहे हैं, वह भी!

"...पुरुष काम के वश हो कर क्रीड़ा के अभ्यास से व्याकुल होता है--यही आश्चर्य है।"

पुरानी आदतें जाती नहीं। बोध भी आ जाता है तो पुरानी आदतें लौट-लौट कर हमला करती हैं। आदतें बदला लेती हैं।

मैंने सुना है, एक अंधा और एक लंगड़ा दो मित्र थे--दोनों भिखारी। और दोनों की मित्रता एकदम जरूरी भी थी, क्योंकि एक अंधा था और एक लंगड़ा था। लंगड़ा चल नहीं सकता था, अंधा देख नहीं सकता था। तो अंधा चलता था और लंगड़ा देखता था। लंगड़ा अंधे के कंधों पर बैठ जाता, दोनों भिक्षा मांग लेते। साझेदारी थी भिखारी की दूकान में। लेकिन कभी-कभी झगड़ा भी हो जाता था; जैसा सभी साझेदारों में होता है। कभी एक ज्यादा ले लेता, दूसरा कम ले लेता। या लंगड़ा चकमा दे देता अंधे को, तो झगड़ा हो जाता था। एक दिन झगड़ा इतना बढ़ गया कि मारपीट हो गई। मारपीट हो गई और दोनों ने कहा कि अब यह साझेदारी खत्म, यह पार्टनरशिप बंद, अब नहीं करते। अब अपनी तरफ से ही घिसट लेंगे, मगर यह नहीं चलेगा। यह तो काफी धोखा चल रहा है।

कहते हैं, परमात्मा को बड़ी दया आई। पहले आती रही होगी, अब नहीं आती। क्योंकि परमात्मा भी थक गया दया कर-कर के, कुछ सार नहीं। आदमी कुछ ऐसा है कि तुम दया करो तो भी उस तक दया पहुंचती नहीं। परमात्मा भी थक गया होगा। पर यह पुरानी कहानी है, दया आ गई। परमात्मा मौजूद हुआ, प्रगट हुआ। उसने उस दिन सोचा कि आज दोनों को आशीर्वाद दे दूंगा। अंधे के पास जा कर कहूंगा, मांग ले जो तुझे मांगना है। स्वभावतः अंधा मांगेगा कि मुझे आंखें दे दो, क्योंकि वही उसकी पीड़ा है। लंगड़े से कहूंगा, जो तुझे मांगना है तू मांग ले। वह मांगेगा पैर, उसको पैर दे दूंगा। अब दोनों को स्वतंत्र कर देना उचित है।

वह गया, लेकिन रोता हुआ वापिस लौटा। परमात्मा रोता हुआ वापिस लौटा! क्योंकि अंधे से जब उसने कहा कि मैं परमात्मा हूं, तुझे वरदान देने आया हूं, मांग ले जो मांगना है--उसने कहा कि लंगड़े को अंधा कर दो। जब उसने लंगड़े से कहा तो लंगड़े ने कहा कि अंधे को लंगड़ा कर दो, प्रभु!

ऐसे ही अनुभवों के कारण उसने आना भी जमीन पर धीरे-धीरे बंद कर दिया। कोई सार नहीं है। बीमारी दुगुनी हो गई। आने से कुछ फायदा न हुआ। दया का परिणाम और घातक हो गया।

आदमी की आदतें! दुख भी आदत है! अगर तुम्हारे सामने परमात्मा खड़ा हो जाए तो तुम जो मांगोगे, उससे तुम और दुख खड़ा कर लोगे। तुम्हारी पुरानी आदत ही तो मांगेगी न! अगर अंधे में थोड़ी भी अक्ल होती तो वह कहता प्रभु, जो तुम्हें ठीक लगता हो, मेरे योग्य हो, वह दे दो। क्योंकि मैं तो जो भी मांगूंगा, वह गलत होगा। क्योंकि मैं अब तक गलत रहा हूं। मेरी उसी गलत चेतना में से तो मेरी मांग भी आएगी। नहीं, मैं न मांगूंगा, तुम जो दे दो! तुम्हारी मर्जी पूरी हो! तुम ज्यादा ठीक से देखोगे। तुम मुझे दे दो जो मेरे योग्य हो।

अंधे ने मांगा, वहीं भूल हो गई। लंगड़े ने मांगा, वहीं भूल हो गई। आदतें पुरानी थीं और अभी भी क्रोध का जहर बाकी था। तो परमात्मा भी सामने खड़ा था, फिर भी चूक गए। आदमी के सामने कई बार मोक्ष की घड़ी आ जाती है, फिर भी आदमी चूक जाता है; क्योंकि पुरानी आदतें हमला करती हैं और मोक्ष की घड़ी में बड़ी जोर से हमला करती हैं। क्योंकि आदतें भी अपनी रक्षा करना चाहती हैं। हर आदत अपनी रक्षा करती है, टूटना नहीं चाहती।

मेरे देखे दुनिया में अधिक लोग दुखी इसलिए नहीं है कि दुख के कारण हैं। सौ में निन्यानबे मौके पर तो कोई कारण नहीं, सिर्फ आदत है। कुछ लोगों ने दुख का गहन अभ्यास कर लिया है। वह अभ्यास ऐसा हो गया है कि छोड़ते नहीं बनता। उसमें ही तो उन्होंने अपना सारा जीवन लगाया है, आज एकदम से छोड़ भी कैसे दें?

मैं एक किताब पढ़ रहा था। एक बहुत अनूठी किताब है, सभी को पढ़नी चाहिए, उससे सभी को लाभ होगा। किताब का नाम है: हाउ टू मेक युअरसैल्फ मिजरेबल; वस्तुतः दुखी कैसे हों? और निश्चित ही लिखने वाले ने (डान ग्रीन वर्ग) ने बड़ी खोज की है। उसने सारे नियम साफ कर दिए हैं कि कहीं कोई चूक न रह जाए। सब नियम साफ कर दिए हैं! थोड़े से तुम भी अभ्यास करते हो, उनमें से अनजाने; मगर अगर किताब पढ़ लोगे

तो तुम जान-बूझ कर, ठीक से, व्यवस्था से अभ्यास कर सकोगे। शायद कुछ भूल-चूक हो रही हो और तुम्हारा दुख परिपूर्ण न हो पा रहा हो।

दुख के अभ्यासी हैं लोग। कामवासना एक बड़ा प्राचीन अभ्यास है--सनातन-पुरातन! जन्मों- जन्मों में उसका अभ्यास किया है। कभी उससे कुछ पाया नहीं, सदा खोया, सदा गंवाया; लेकिन अभ्यास रोएं-रोएं में समा गया है।

आस्थितः परमाद्वैतं मोक्षार्थेऽपि व्यवस्थितः।

--वह जो मोक्ष के लिए तैयार है और वह जो परम अद्वैत में अपनी आस्था की घोषणा कर चुका है...।

आश्चर्यं कामवशगो विकलः केलिशिक्षया।

केलिशिक्षया--पुरानी कामवासना की शिक्षा के कारण, अभ्यास के कारण!

आश्चर्यं कामवशगो विकलः केलिशिक्षया।

--पुराने अभ्यास के कारण बार-बार विकल हो जाता है।

मौत के क्षण में तक आदमी कामवासना के सपनों से भरा होता है। ध्यान करने बैठता है, तब भी कामवासना के विचार ही मन में दौड़ते रहते हैं। मंदिर जाता, मंदिर में बाहर से दिखाई पड़ता, भीतर से शायद वेश्यालय में हो।

इसलिए अष्टावक्र कहते हैं, जनक, जल्दी मत कर। ये जाल बड़े पुराने हैं। तू ऐसा एक क्षण में मुक्त हो गया?

अष्टावक्र यह नहीं कह रहे हैं कि तू मुक्त नहीं हुआ। अष्टावक्र की तो पूरी धारणा ही यही है कि तत्क्षण मुक्त हुआ जा सकता है। लेकिन वे जनक को सब तरफ से सावचेत कर रहे हैं कि कहीं से भी भ्रांति न रह जाए। यह मुक्ति अगर हो तो सर्वांग हो, यह कहीं से भी अधूरी न रह जाए। कहीं से भी रोगाणु फिर वापिस न लौट आएं।

"काम को ज्ञान का शत्रु जान कर भी, कोई अति दुर्बल और अंतकाल को प्राप्त पुरुष काम-भोग की इच्छा करता है--यही आश्चर्य है।"

उद्भूतं ज्ञानदुर्मित्रम् अवधार्य अति दुर्बलः च
अंतकालम् अनुश्रितः कामम् आकांक्षेत आश्चर्यम्!

तू क्या आश्चर्य की बातें कर रहा है जनक, असली आश्चर्य हम तुझे बताते हैं--अष्टावक्र कहते हैं--कि मर रहा है आदमी, सब जीवन-ऊर्जा क्षीण हो गई, सब जीवन बिखर गया, फिर भी कामवासना बची है। सिवाय कड़वे तिक्त स्वाद के कुछ भी नहीं छूटा है। सिवाय विषाद और घावों के कुछ भी नहीं बचा है। सारा जीवन एक विफलता थी, फिर भी कामवासना बची है। कठिन है, दुस्तर है; क्योंकि अभ्यास अति प्राचीन है। तो तू ठीक से निरीक्षण कर ले, निदान कर ले, अंतश्चेतन में उतर, अचेतन में उतर।

वस्तुतः जिसको फ्रॉयड ने अनकांशस, अचेतन कहा है--अष्टावक्र उसी की तरफ इशारा कर रहे हैं--कि तेरे चेतन में तो प्रकाश हो गया, लेकिन तेरे अचेतन की क्या गति है? तेरे बैठक के कमरे में तो सब साफ-सुथरा हो गया, लेकिन तेरे तलघरे की क्या स्थिति है? अगर तलघरे में आग जल रही है तो धुआं जल्दी ही पहुंच जाएगा तेरे बैठकखाने में भी। और अगर तलघरे में गंदगी भरी है तो तू बैठकखाने में कब तक सुवास को कायम रख सकेगा? उतर भीतर सीढ़ी-सीढ़ी। खोज बीजों को अचेतन में, और वहां दग्ध कर ले। और अगर तू वहां न पाए तो फिर ठीक हुआ। तो फिर जो हुआ, ठीक हुआ।

दुख, तृष्णा, काम, लोभ, क्रोध सभी बीमारियां हमारे सतत अभ्यास के फल हैं। यह अकारण नहीं है, हमने बड़ी मेहनत से इनको सजाया-संवारा है। हमने बड़ा सोच-विचार किया है। हमने इनमें बड़ी धन-संपत्ति लगाई है। हमने बड़ा न्यस्त स्वार्थ इनमें रचाया है। यह हमारा पूरा संसार है।

जब कोई आदमी कहता है कि मैं दुख से मुक्त होना चाहता हूं, तो उसे खयाल करना चाहिए कि वह दुख के कारण कुछ लाभ तो नहीं ले रहा है, कोई फसल तो नहीं काट रहा है? अगर फसल काट रहा है दुख के कारण, तो दुख से मुक्त होना भला चाहे, हो न सकेगा।

अब कुछ लोग हैं जिनका कुल सुख इतना ही है कि जब वे दुख में होते हैं तो दूसरे लोग उन्हें सहानुभूति दिखलाते हैं। तुमने देखा, पत्नी ऐसे बड़ी प्रसन्न है, रेडियो सुन रही है। पति घर की तरफ आना शुरू हुए, तो रेडियो बंद, सिरदर्द...एकदम सिरदर्द हो जाता है! ऐसा मैंने देखा, अनेक घरों में मैं ठहरा हूं, इसलिए कह रहा हूं। मैं देखता रहा कि अभी पत्नी बिलकुल सब ठीक थी, मुझसे ठीक से बात कर रही थी, यह सब, और तब पति के आने का हार्न बजा नीचे और वह गई अपने कमरे में और लेट गई और पति मुझे बताने लगे कि उसके सिर में दर्द है। यह हुआ क्या मामला? मैं यह नहीं कह रहा हूं कि दर्द नहीं है। दर्द होगा, मगर दर्द के पीछे कारण है गहरा। पति सहानुभूति ही तब देता है, पास आ कर बैठ कर सिर पर हाथ ही तब रखता है, जब दर्द होता है। यह स्वार्थ है उस दर्द में। दर्द वस्तुतः हो गया होगा, क्योंकि वह जो आकांक्षा है कि कोई हाथ माथे पर रखे...और पति बिना दर्द के तो हाथ रखता नहीं। अपनी पत्नी के माथे पर कौन हाथ रखता है! वह तो मजबूरी है कि अब वह सिरदर्द बना कर बैठी है, अब करो भी क्या! हालांकि उसको अपना अखबार पढ़ना है किसी तरह, लेकिन सिर पर हाथ रख कर बैठा है।

अब यह सिर पर हाथ रखने की जो भीतर कामना है--कोई सहानुभूति प्रगट करे, कोई प्रेम जाहिर करे, कोई ध्यान दे--अगर यह तुम्हारे दुख में समाविष्ट है, तो तुम लाख कहो हम दुख से मुक्त होना चाहते हैं, तुम मुक्त न हो सकोगे। क्योंकि तुम एक हाथ से तो पानी सींचते रहोगे और दूसरे हाथ से शाखाएं काटते रहोगे। ऊपर से काटते भी रहोगे, भीतर से सींचते भी रहोगे। इससे कभी छुटकारा न होगा। देखना, दुख में तुम्हारा कोई नियोजन तो नहीं है, इनवेस्टमेंट तो नहीं है?

मंजर रहीने-ऱ्यास है, नाजिर उदास है,
मंजिल है कितनी दूर, मुसाफिर उदास है।
परवाज में कब आएगी रिफअत खयाल की
नारस हैं बालो-पर, ताइर उदास है।
तख्लीके-शाहकार का इम्कां नहीं अभी,
अशआर बेकरार है, शायर उदास है।
मुद्दत से यात्री को तरसती है मूर्ति,
सुनसान कोहसार का मंदिर उदास है।
एहसासो-फिक्र दोनों का हासिल है इस्तिराद
शायर है महवे-ऱ्यास मुवक्खिर उदास है।

यहां सभी उदास हैं। पक्षी उदास है, उड़ नहीं पाता। हो सकता है, सोने के पिंजड़े से मोह लग गया हो। यहां कवि उदास है, क्योंकि उदासी के गीत ही लोग सुनते हैं और तालियां बजाते हैं। यहां विचारक उदास है, क्योंकि हंसते और आनंदित आदमी को तो लोग पागल समझते हैं, विचारक कौन समझता है? यहां सब उदास हैं। इस उदासी से भरे वातावरण में, उदासी के पार होना बड़ा मुश्किल मालूम होता है। यहां की हवा उदास है। यहां की हवा में कामवासना है, क्रोध है, लोभ है, मोह है। यहां मोक्ष की किरण को उतारना बड़ा कठिन है।

लेकिन जनक के जीवन में किरण उतरी है। उतरी है, इसलिए अष्टावक्र सब तरह से परीक्षा कर लेना चाहते हैं--कहीं भूल-चूक न हो जाए, कहीं कोई छिद्र न रह जाए! इस महाकरुणा के वश, वे ऐसे कठोर वचन जनक को बोलने लगे कि तू जरा देख तो! तू भी कहीं उसी जाल में न पड़ जाना, जिसमें बहुत मुनि पड़े हैं, बहुत ज्ञानी पड़े हैं। बहुत-से समझदार नासमझियों में उलझे हैं। बहुत-से पंडित शास्त्रों में दबे हैं। और बहुत-से त्याग

की बातें करने वाले भीतर अभी भी धन की आकांक्षा से भरे हैं। इन सबकी ठीक से तू जांच-पड़ताल कर ले। यह सब न हो, तब तेरी उदघोषणा में सत्य है।

हरि ॐ तत्सत्!

प्रवचन-क्रम

16. धर्म है जीवन का गौरीशंकर 2
17. परीक्षा के गहन सोपान 23
18. विस्मय है द्वार प्रभु का 42
19. संन्यास का अनुशासन: सहजता 63
20. क्रांति: निजी और वैयक्तिक 82
21. ज्ञान मुक्ति है 105
22. एकटि नमस्कारे प्रभु एकटि नमस्कारे! 123
23. दृष्टि ही सृष्टि है 145
24. कितनी लघु अंजुलि हमारी 167
25. दृश्य स्वप्न है, द्रष्टा सत्य है 188
26. स्वतंत्रता की झील: मर्यादा के कमल 208
27. वासना संसार है, बोध मुक्ति है 226
28. बोध से जीयो-- सिद्धांत से नहीं 249
29. ध्यान अर्थात उपराम 270
30. संन्यास बांसुरी है साक्षी-भाव की 291

सोलहवां प्रवचन

धर्म है जीवन का गौरीशंकर

पहला प्रश्न: प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक ए. एच. मैसलो ने मनुष्य की जीवन आवश्यकताओं के क्रम में आत्मज्ञान ९एमस(बिजनंसप्रंजपवद० को अंतिम स्थान दिया है। क्या आपके जाने आत्मज्ञान मनुष्य-जीवन की एक अनिवार्य आवश्यकता है, और धर्म, अध्यात्म जैसे संबोधन अनावश्यक रूप से आत्मज्ञान के साथ जोड़ दिए गए हैं? कृपा करके समझाएं।

पहली बात, कि आत्मज्ञान न तो अनिवार्य है और न आवश्यकता है। वैसी भाषा आत्मज्ञान के संबंध में मूलभूत रूप से गलत है। भूख है तो रोटी की आवश्यकता है। देह है तो श्वास की आवश्यकता है। इनके बिना तुम जी न सकोगे। लेकिन आत्मज्ञान के बिना तो आदमी मजे से जीता है। पानी चाहिए, रोटी चाहिए, मकान चाहिए। इनकी तो आवश्यकता है। इनके बिना तुम एक क्षण न जी सकोगे। आत्मज्ञान के बिना तो अधिक लोग जीते ही हैं।

तो पहली तो बात आत्मज्ञान आवश्यकता नहीं। और अनिवार्य तो बिलकुल ही नहीं है। कभी कोई बुद्ध, कभी कोई अष्टावक्र, कोई क्राइस्ट, मुहम्मद उस दशा को उपलब्ध होते हैं। यह इतना अद्वितीय है इस घटना का घटना, कि इसको अनिवार्य तो कहा ही नहीं जा सकता, नहीं तो सबको घटती, प्रत्येक को घटती।

अध्यात्म एक अर्थ में प्रयोजन-शून्य है, अर्थहीन है। इसलिए तो हम इस देश में उसे सच्चिदानंद कहते हैं।

आनंद का क्या अर्थ? आनंद की क्या आवश्यकता? आनंद की क्या अनिवार्यता? परमात्मा के बिना जगत बड़े मजे से चल रहा है। इसलिए तो परमात्मा कहीं दिखाई नहीं देता। उसकी मौजूदगी आवश्यक नहीं मालूम होती--न दूकान पर जरूरत है, न दफ्तर में जरूरत है, न घर में जरूरत है। आत्मज्ञान तो आत्यंतिक आभिजात्य, आत्यंतिक ऐरिस्टोक्रेसी है।

रोटी की जरूरत है; लेकिन माइकल एंजिलो की मूर्तियों की थोड़े ही जरूरत है! उनके बिना आदमी मजे से रह लेगा। छप्पर की जरूरत है, लेकिन कालिदास की क्या जरूरत है? न हों कालिदास के ग्रंथ, कौन-सी अड़न आ जाएगी? क्षुद्र की जरूरत है, विराट की कहां जरूरत है? और अगर विराट तुम्हारी जरूरत हो तो वह भी क्षुद्र हो जाएगा। विराट तो आनंद है, अहोभाव है। विराट को तुम आवश्यकता की भाषा में मत खींचना। परमात्मा को अर्थशास्त्र मत बनाना, ईकनॉमिक्स मत बनाना।

इसलिए तो समाजवादी कहते हैं: रोटी, रोजी और मकान। उसमें कहीं परमात्मा को जगह नहीं। इसलिए कम्यूनिज्म में परमात्मा को कोई जगह नहीं। थोड़ा सोचो, माक्र्स जैसा अर्थशास्त्री...अगर परमात्मा की कोई आवश्यकता होती, आत्मज्ञान की आवश्यकता होती तो कम्यूनिज्म में कुछ जगह रखता। बिलकुल जगह नहीं रखी। शुद्ध अर्थशास्त्र में कोई जरूरत ही नहीं।

सच तो यह है कि तुम्हारे जीवन में परमात्मा की किरण उतरेगी तो बहुत अड़चनें खड़ी होंगी। इसलिए तो बहुत से लोग हिम्मत नहीं करते। परमात्मा की किरण उतरेगी तो तुम जैसे चलते थे फिर वैसे न चल पाओगे। अड़चनें आनी शुरू हो जाएंगी। तुम्हारे जीवन का ढांचा बदलने लगेगा। तुम्हारी शैली बदलेगी। तुम्हारा होने का रूप बदलेगा। तुम्हारी दिशा बदलेगी। तुम बुरी तरह अस्त-व्यस्त हो जाओगे। तुम्हारा जो जमा-जमाया रूप था सब उखड़ेगा। तुम्हारी जड़ें उखड़ जाएंगी। तुम्हें नई भूमि खोजनी पड़ेगी; पुरानी भूमि काम न आएगी। तुम पृथ्वी पर न टिक सकोगे, तुम्हें आकाश का सहारा लेना होगा।

इस बात को तुम जितनी गहराई से समझ लो उतना उपयोगी होगा।

परमात्मा बिलकुल गैर-जरूरी है। इसलिए तो उन थोड़े-से लोगों के ही मन में परमात्मा की प्यास पैदा होती है, जिन्हें यह बात समझ में आ गई कि जरूरी में आनंद नहीं हो सकता। जरूरी में ज्यादा से ज्यादा जरूरत पूरी होती है।

तुम्हें भूख लगी, तुमने भोजन कर लिया। भूखे रहो तो तकलीफ होती है, भोजन करके कौन-सा सुख मिल जाता है? धूप पड़ती थी, पसीना आता था, तुम परेशान और बेचैन थे। छप्पर के नीचे आ गए, बेचैनी मिट गई। लेकिन छप्पर के नीचे आ जाने से कोई सुख थोड़े ही मिल जाता है।

आवश्यकता के जगत में दुख है और दुख से छुटकारा है; आनंद बिलकुल नहीं। यही तो तकलीफ है कि एक गरीब आदमी, जिसके पास धन नहीं है, सोचता है धन मिल जाएगा तो आनंद मिल जाएगा। जब धन मिल जाता है, तब पता चलता है: गरीबी तो मिट गई, धन भी मिल गया, आनंद नहीं मिला।

आवश्यकताओं की तृप्ति में आनंद कहां? आवश्यकताओं की तृप्ति से दुख कम होता जाएगा। और, एक और अनूठी घटना घटती है कि जैसे-जैसे दुख कम होता जाएगा, वैसे-वैसे तुम्हें लगेगा कि सब दुख भी समाप्त हो जाए और आनंद न मिले तो सार क्या है? एक आदमी है जिसे न कोई बीमारी है, न कोई कष्ट है, न कोई आर्थिक परेशानी है, सब सुख-सुविधा है--मकान है, कार है, प्रतिष्ठा है--अब और क्या चाहिए? सब आवश्यकताएं पूरी हो गईं, अब और क्या चाहिए? लेकिन वह आदमी भी कहता है कुछ खाली-खाली है, कुछ लगता है खो रहा है, कुछ मिला नहीं!

जब तक तुम प्रयोजन-शून्य से संबंध न बांधो, जब तक तुम आवश्यकता के ऊपर उठकर न देखो, जब तक तुम्हारे जीवन में कुछ ऐसा न घटे जिसकी कोई आवश्यकता नहीं थी--तब तक आनंद न घटेगा।

आवश्यकता के मिटने से, पूरे होने से दुख नहीं होता, सुविधा हो जाती है; आनंद भी नहीं होता। आनंद तो घटता है तब जब तुम आवश्यकता के पार उठते हो--अर्थ-शून्य में, फूलों में, संगीत में, काव्य में। कोई जरूरत नहीं है। वैजनर हो या न हो, शेक्सपियर हो या न हो, रवींद्रनाथ हों या न हों--क्या सार है? खाओगे कविताओं को, पीयोगे, ओढ़ोगे? लेकिन यह तो मैं इसलिए नाम ले रहा हूं कि तुम्हें समझ में आ जाएं। इनमें भी थोड़ा-बहुत अर्थ हो सकता है। परमात्मा में उतना भी अर्थ नहीं है। आत्मज्ञान तो बिलकुल ही निरर्थक है। उसका होने का रस तो है, अर्थ बिलकुल नहीं। उसे तुम "कमोडिटी", बाजार में बिकने वाली वस्तु न बना सकोगे।

जिस दिन कोई व्यक्ति इस सत्य को समझने में समर्थ हो जाता है कि जब तक मैं आवश्यकता की पूर्ति खोजता रहूंगा, तब तक मैं एक वर्तुल में घूमूंगा। रोज भूख लगेगी, रोज खाना कमा लूंगा, रोज खाना खा लूंगा, फिर भूख मिट जाएगी, कल फिर भूख लगेगी। फिर भोजन, फिर भूख, फिर भोजन। भोजन से कुछ सुख न मिलेगा; सिर्फ भूख से जो दुख मिलता था, वह न होगा।

सांसारिक आदमी की परिभाषा यही है--जो केवल सुविधा खोज रहा है, असुविधा न हो। आध्यात्मिक आदमी का अर्थ यही है कि जो इस सत्य को समझ गया कि सुविधा सब भी मिल जाए तो जीवन में फूल नहीं खिलते, न सुगंध उठती, न गीत बजते। नहीं, जीवन की वीणा खाली ही पड़ी रह जाती है।

इसलिए मैं धर्म को आभिजात्य कहता हूं। आभिजात्य का अर्थ है: इसका कोई प्रयोजन नहीं है। यह प्रयोजनहीन, प्रयोजन-शून्य या कहो प्रयोजन-अतीत। और तुम्हारे जीवन में जब भी कभी कोई प्रयोजन-अतीत उतरता है, वहीं थोड़ी-सी झलक आनंद की मिलती है; जैसे प्रेम में। प्रेम का क्या अर्थ है, क्या सार है? खाओगे? पीयोगे? ओढ़ोगे? क्या करोगे प्रेम का? अगर कोई तुमसे पूछने लगे कि क्या पागल हो रहे हो, प्रेम से फायदा क्या है? बैंक-बैलेंस तो बढ़ेगा नहीं। मकान बड़ा बनेगा नहीं। प्रेम से फायदा क्या है? क्यों समय गंवाते हो?

इसलिए तो राजनीतिज्ञ प्रेम-व्रेम के चक्कर में नहीं पड़ता; वह सारी शक्ति पद पर लगाता, प्रेम पर नहीं। धन का दीवाना, धन का आकांक्षी, सारी शक्ति धन को कमाने में लगाता है। प्रेम, वह कहता है, अभी नहीं! अभी फुर्सत कहां?

फिर प्रेम का प्रयोजन भी कुछ नहीं दिखाई देता--एक तरह का पागलपन मालूम होता है।

तुम व्यावहारिक लोगों से पूछो, वे कहेंगे, प्रेम यानी पागलपन। लेकिन प्रेम में थोड़ी-सी झलक मिलती है उसकी, जो प्रयोजनहीन है, जिसका कोई अर्थ नहीं; फिर भी परम रसमय है; फिर भी परम विभामय है; फिर भी सच्चिदानंद है।

कोई आदमी बैठकर अपनी सितार बजा रहा है। तुम उससे पूछो कि "क्या मिलेगा इससे?" वह उत्तर न दे पाएगा। "क्या सार है इस तार को ठोकने, खींचने, पीटने से? बंद करो। कुछ काम करो, कुछ काम की बात करो। कुछ उपजाओ, कुछ पैदा करो! फैक्टरी बनाओ, खेत में जाओ! ये तार छेड़ने से क्या सार है?" लेकिन जिसको तार छेड़ने में रस आ गया, वह कभी-कभी भूखा भी रह जाना पसंद करता है और तार नहीं छोड़ता।

विन्सेंट वानगॉग भूखा-भूखा मरा। उसके पास इतने ही पैसे थे...उसका भाई उसे इतने ही पैसे देता था कि सात दिन की रोटी खरीद सकता था। तो वह तीन दिन खाना खाता, चार दिन भूखा रहता। और जो पैसे बचते, उनसे खरीदता रंग, कैनवस, और चित्र बनाता। चित्र उसके एक भी बिकते नहीं। क्योंकि उसने जो चित्र बनाए, वे कम-से-कम अपने समय के सौ साल पहले थे। दुनिया की सारी प्रतिभा समय के पहले होती है। वस्तुतः प्रतिभा का अर्थ ही यही है, जो समय के पहले हो। कोई खरीददार न था उन चित्रों का। अब तो उसका एक-एक चित्र लाखों में बिकता है; दस-दस लाख रुपये में एक-एक चित्र बिकता है। तब कोई दस पैसे में भी खरीदने को तैयार न था। वह भूखा ही जीया, भूखा ही मरा। घर के लोग हैरान थे कि तू पागल है!

आदमी की भूख पहली जरूरत है, लेकिन कुछ मिल रहा होगा वानगॉग को, जो किसी को दिखाई नहीं पड़ रहा था। कोई रसधार बह रही होगी! नहीं तो क्यों, क्या प्रयोजन? न प्रतिष्ठा मिल रही है, न नाम मिल रहा है, न धन मिल रहा है; भूख मिल रही, पीड़ा मिल रही, दरिद्रता मिल रही--लेकिन वह है कि अपने चित्र बनाए जा रहा है। जब वह चित्र बनाने लगता तो न भूख रह जाती, न देह रह जाती--वह देहातीत हो जाता। जब उसके सारे चित्र बन गए, जो उसे बनाने थे, तो उसने आत्महत्या कर ली। और वह जो पत्र लिखकर छोड़ गया, उसमें लिख गया कि अब जीने में कुछ अर्थ नहीं रहा।

अब यह बड़े मजे की बात है। वह लिख गया कि जो मुझे बनाना था, बना लिया; जो मुझे गुनगुनाना था, गुनगुना लिया; जो मुझे रंगों में ढालना था, ढाल दिया; जो मुझे कहनी थी बात, कह दी; जो मेरे भीतर छिपा था, वह प्रगट हो गया; अब कुछ अर्थ नहीं है रहने का।

वह जो अर्थहीन चित्र बना रहा था, वही उसका अर्थ था; जब उसका काम चुक गया, वह विदा हो गया। जीवन में जैसे कोई और अर्थ था नहीं!

क्या फायदा रोटी रोज खा लो, फिर भूख लगा लो; फिर रोटी रोज खा लो, फिर भूख लगा लो? हर रोटी नई भूख ले आती है, हर भूख नई रोटी की मांग ले आती है। यह तो एक वर्तुल हुआ, जिसमें हम घूमते चले जाते हैं। इससे सार क्या है, तुमने कभी सोचा?

एक आदमी अगर अस्सी साल जीए तो अस्सी साल में उसने किया क्या? जिसको तुम अर्थपूर्ण प्रक्रियाएं कहते हो--रोटी, रोजी, मकान--उसने किया क्या? जरा तुम गौर करो। न मालूम कितने हजारों मन भोजन उसने मल-मूत्र बना दिया। इतना ही काम किया। जरा सोचो, अस्सी साल में उसने कितने मल-मूत्र के ढेर, अगर वह लगाता ही चला जाता तो कितने ढेर लग जाते, पहाड़ खड़े कर देता। बस इतना ही उसका काम है। पीछे तुम मल-मूत्र का एक पहाड़ छोड़ कर विदा हो जाओगे। इसको तुम अर्थ कहते हो? लेकिन यही अर्थ जैसा मालूम पड़ता है। इसका ही अर्थशास्त्र है।

मैं इसीलिए परमात्मा को अर्थ नहीं कहता, क्योंकि अर्थ देने से ही तो वह अर्थशास्त्र का हिस्सा हो जाएगा। मैं उसे कहता हूं "अर्थातीत"। वह कोई आवश्यकता नहीं है। और जब तक तुम आवश्यकताओं में उलझे

हो, तब तक तुम उस तरफ आंख न उठा सकोगे। इसलिए मैं कहता हूं, जब कोई समाज बहुत समृद्ध होता है, तभी धर्म में गति होती है, अन्यथा नहीं होती।

यह मेरी बात बड़ी मुश्किल में डालती है लोगों को। क्योंकि लोग पूछने लगते हैं: "तो फिर क्या गरीब धार्मिक नहीं हो सकता?" मैं यह नहीं कहता। गरीब भी धार्मिक हो सकता है, लेकिन गरीब समाज कभी धार्मिक समाज नहीं हो सकता। व्यक्तिगत रूप से गरीब भी इतना प्रतिभावान हो सकता है कि धार्मिक हो जाए, जीवन की व्यर्थता को समझ ले; जिसको हम अर्थ कहते हैं, उसकी व्यर्थता समझ ले। तो फिर जो अर्थातीत है, वही अर्थ हो जाता है। लेकिन वह बड़ी रूपांतरण की, बड़ी क्रांति की बात है। लेकिन समृद्ध समाज निश्चित रूप से धार्मिक हो जाता है।

मेरे देखे तो वही समृद्ध समाज है जो धार्मिक हो जाए। भारत जब अपने स्वर्ण-शिखर पर था, जब जरूरतें पूरी थीं, खलिहान भरे थे, खेतों में फसलें थीं, लोग भूखे न थे, पीड़ित न थे, परेशान न थे, तब धर्म ने ऊंचे शिखर छुए, तब भगवदगीता उतरी, तब अष्टावक्र की महागीता उतरी, तब उपनिषद गूंजे, तब बुद्ध और महावीरों ने इस देश को जगाया। वह स्वर्ण-शिखर था।

अब वैसा स्वर्ण-शिखर पश्चिम जा चुका है। अब अगर धर्म की कोई भी संभावना है तो पश्चिम में है, पूरब में नहीं है। पूरब के साथ धर्म का अतीत है, पश्चिम के साथ धर्म का भविष्य है। तुमने अपने हाथ गंवाया। तुमने यह सोचकर गंवाया कि क्या रखा है धन में, संपदा में! कुछ भी नहीं रखा है, यह भी सच है। लेकिन जब धन-संपदा होती है तभी पता चलता है कि कुछ भी नहीं रखा है। इतनी सार्थकता उसमें है--यह दिखाने की। और जब तुम्हारे जीवन में सब होता है और तुम पाते हो कुछ भी नहीं हुआ, तो पहली दफा एक हूक उठती है कि अब खोजें उसे, जो आवश्यकता नहीं है।

और अनिवार्य तो बिलकुल ही नहीं है परमात्मा। अनिवार्य का तो अर्थ यह होता कि तुम चाहे करो चाहे न करो, हो कर रहेगा। अनिवार्य मौत है, समाधि नहीं। अनिवार्य तो मृत्यु है, ध्यान नहीं। अनिवार्य बुढ़ापा है, धर्म नहीं। अनिवार्य इतना ही है कि यह जो क्षणभंगुर है, बह जाएगा। शाश्वत आएगा कि नहीं, यह अनिवार्य नहीं है। शाश्वत तो तुम खोजोगे तो आएगा। खोजोगे, भटकोगे, बार-बार पा लोगे और खो जाएगा, बड़ी मुश्किल से आएगा। अनिवार्य तो कतई नहीं है। अनिवार्य का तो यह मतलब है कि तुम बैठे रहो, कुछ न करो, होने वाला है, होकर रहेगा। मौत जैसा होगा परमात्मा फिर; जैसे सभी आदमी मरते हैं, ऐसे सभी आदमी आत्मज्ञान को उपलब्ध हो जाएंगे। नहीं, न तो अनिवार्य है और न आवश्यकता है। आत्मज्ञान खोजने से होगा, गहन साधना से होगा, बड़ी त्वरा से होगा, दांव पर लगाओगे अपने को, तो होगा। आत्मज्ञान भाग्य नहीं है कि हो जाएगा, लिखा है विधि में। विधि में जो लिखा है, वह तो क्षुद्र है; वह होता रहेगा।

चौदह साल के हो जाओगे तो कामवासना पैदा होगी। अस्सी साल के हो जाओगे तो मौत आ जाएगी। पचास के पार होने लगोगे तो बुढ़ापा आ जाएगा। कामवासना अनिवार्य है; चौदह साल के हुए कि हर बच्चे में हो जाती है। अगर किसी बच्चे में न हो तो कुछ गड़बड़ है, तो चिकित्सा की जरूरत है। होनी ही चाहिए; अनिवार्य है; प्राकृतिक है। लेकिन अध्यात्म अनिवार्य नहीं है और न प्राकृतिक है। हो जाए तो चमत्कार है। जब हो जाए किसी को तो आश्चर्य है: जो नहीं घटना चाहिए, वह घटा।

इसलिए तो हम सदियों तक याद रखते हैं बुद्ध को, कि जो नहीं घटना था वह घटा; जिसकी कोई अपेक्षा न थी, वह घटा; जिसकी कोई संभावना न थी, वह घटा। हजारों साल बीत जाते हैं; बुद्धों को हम नहीं भूल पाते। उनकी याद हमें सताती है। कोई तार हमारे हृदय में बजता रहता है। असंभव भी हुआ है।

इस पृथ्वी पर सबसे ज्यादा असंभव घटना आत्मज्ञान है। जब मैं कहता हूं असंभव, तो मैं यह नहीं कह रहा हूं कि नहीं घटने वाली; घटती है, घट सकती है, लेकिन अनिवार्यता नहीं है। ऐसा नहीं है कि तुम कुछ न करोगे और अपने से घट जाएगी। प्राकृतिक नहीं है, अति-प्राकृतिक है।

पूछा है कि "क्या आपके जाने आत्मज्ञान मनुष्य-जीवन की एक अनिवार्य आवश्यकता है?"

दोनों बात नहीं है। अनिवार्य हो तो फिर तुम्हें कुछ करने की जरूरत न रही। तुम्हें बहुत कुछ करना पड़ेगा, तब भी घट जाए तो चमत्कार है। तब भी पक्का नहीं है, आश्वासन नहीं है कि घट ही जाएगी, कोई गारंटी नहीं है। बड़ी अभूतपूर्व घटना है: उतार कर लाना है सीमा में असीम को; उतार कर लाना है देह में परमात्मा को; उतार कर लाना है शून्य को मन में; महाशून्य के लिए जगह बनानी है। अनिवार्य तो बिलकुल नहीं है। अनिवार्य तो वही है जो हो गया है। वासना हो गई है, घर बस गया है, धन की दौड़ चल रही है, पद की दौड़ चल रही है। राजनीति अनिवार्य है, धर्म अनिवार्य नहीं है।

इसलिए तो हमने इस देश में धार्मिक व्यक्ति को समादर दिया। हमने सम्राटों को आदर नहीं दिया, क्योंकि इसमें क्या है? सभी सम्राट होना चाहते हैं। नहीं हो पाते, यह दूसरी बात है; लेकिन सभी होना चाहते हैं, सभी की आकांक्षा है। यह होना कुछ विशेष नहीं। यह बड़ी साधारण बात है। पद पर हो जाना कुछ विशेष बात नहीं।

एक गांव में बुद्ध का आगमन हुआ था। तो उस गांव के वजीर ने अपने राजा को कहा कि बुद्ध आते हैं, हम स्वागत के लिए गांव के बाहर चलें। राजा अकड़ीला था। उसने कहा, "जाने की हमें क्या जरूरत है? और बुद्ध हैं क्या? भिखारी ही हैं। आ जाएंगे अपने-आप! हमारे जाने न जाने की क्या जरूरत है?"

वह बूढ़ा वजीर तो यह सुन कर रोने लगा। उसने अपना इस्तीफा लिख दिया। उसने कहा, "यह मेरा इस्तीफा ले लें, यह त्यागपत्र! मुझे क्षमा करें, मैं चला! अब तुम्हारी छाया में भी बैठना उचित नहीं।"

उस राजा ने कहा, "मामला क्या है? इसमें इतने नाराज होने की बात क्या है? मैंने कुछ बुरी बात तो कही नहीं। मैं सम्राट हूं, वे भिखारी हैं। उनके लिए मुझे लेने जाने की जरूरत क्या है?"

उस वजीर ने कहा, "बस बात खत्म हो गई। अब मैं तुम्हारे पास न बैठ सकूंगा। तुम अपने लिए वजीर खोज लो। क्योंकि ऐसे आदमी के पास क्या बैठना, जिसे इतनी भी समझ न हो कि राजनीति तो साधारण है, राजा होना तो साधारण है। लेकिन यह बुद्ध का भिखारी हो जाना असाधारण है, अपूर्व है, अद्वितीय है। यहां कुछ घटा है। जाओ, उनके चरणों में गिरो! यह सौभाग्य तुम्हारा कि वे इस गांव में आते हैं। और मैं तो चला! तुम्हारे पास बैठना कुसंग है।"

यह ठीक कह रहा है वजीर। इस बूढ़े के पास आंखें हैं। इसके पास कुछ समझ है, कुछ परख है।

धन का हमने समादर नहीं किया है। हमने समादर कुछ और ही बात का किया है--बोध का, संन्यास का, त्याग का। उन्होंने जिन्होंने छोड़ा, उन्होंने जिन्होंने ऊपर आंखें उठाईं और आकाश की तरफ देखा, उनका हमने सम्मान किया है।

पश्चिम में इतिहास लिखा गया, पूरब में इतिहास नहीं लिखा गया; हमने पुराण लिखे। पश्चिम के विचारक बड़े हैरान होते हैं कि भारत में इतिहास क्यों नहीं लिखा गया! वे समझते हैं, पुराण तो कथा, कल्पना...!

लेकिन हमने इतिहास जान कर नहीं लिखा, क्योंकि इतिहास तो होता है साधारण घटनाओं का; पुराण होता है असाधारण घटनाओं का। इसलिए तो कल्पना जैसा मालूम होता है पुराण, क्योंकि उस पर भरोसा नहीं आता कि यह घटा भी होगा। पुराण का अर्थ होता है जो कभी-कभी घटता है। इतिहास का अर्थ होता है जो रोज घटता है, जो पुनरुक्ति है। नेपोलियन हो, कि नादिरशाह हो, कि तैमूरलंग हो, कि चंगेज हो, कि हिटलर हो, कि

स्टेलिन हो, कि माओ हो--यह रोज की घटना है; इससे इतिहास बनता है। ये तो अखबार की कतरनें हैं, जिनसे इतिहास बनता है।

बुद्ध का घटना अनहोना है। नहीं घटना था और घटा। जैसे अचानक आधी रात में सूरज ऊग आए, कि अंधेरे में किरण उतर आए और हम पकड़ भी न पाएं और खो जाए, और हमारे हाथ भी न लगे और खो जाए। हम ठगे और अवाक रह जाएं, आए और चली जाए। गूंजे एक गीत, हम ठीक से सुन भी न पाएं, क्योंकि हम अपने शोरगुल से भरे हैं, और गीत विदा हो जाए। एक स्मृति भर रह जाए, और हमें खुद ही शक होने लगे कि यह गीत सुना था? ऐसा आदमी देखा था? हमें खुद ही भरोसा न आए। हम खुद संदेह में पड़ने लगें। जैसे-जैसे स्मृति फीकी होने लगे और दूर होने लगे, वैसे-वैसे हमीं को भरोसा न आए: ऐसा हुआ था?

पुराण का अर्थ होता है: जो कभी-कभी होता है; हजारों साल में कभी-कभी होता है। वैसी अद्वितीय घटनाओं के संग्रह का नाम पुराण है। पुराण पर भरोसा आता ही नहीं। इतिहास तो रद्दी है, इतिहास तो कूड़ा-कर्कट है; कचरे का ढेर है, जो रोज होता है।

पुराने दिनों में लोग सुबह उठ कर गीता पढ़ते थे या धम्मपद पढ़ते थे या कुरान पढ़ते थे, अब उठ कर अखबार पढ़ते हैं। जो रोज होता है...।

तुमने अखबार में कभी खयाल किया, तुम जो पढ़ते हो वह रोज होता है! फिर भी तुम रोज उसी को पढ़ते हो। तुमने अखबार में कुछ नया होते देखा? किसी ने कभी अखबार में नया होते देखा? अखबार से ज्यादा पुरानी चीज तुमने देखी? कहते हो, नया अखबार है! दो दिन का पुराना हो जाए तो फिर तुम नहीं पढ़ते।

मैं एक जगह रहता था, तो मेरे पास एक पागल आदमी रहता था। उसको अखबारों का बड़ा शौक था। वह सब मोहल्ले के अखबार इकट्ठे कर लेता। शायद अखबारों के कारण पागल हो गया हो, कुछ पता नहीं। लेकिन जब मैं गया वह पागल ही था। वह मुझसे भी आकर जो भी अखबार वगैरह होते, सब उठा कर ले जाता। कभी मैंने कहा उसको कि तू सात-सात आठ-आठ दिन पुराने अखबार उठा कर ले जाता है, इनका तू करेगा क्या? वह बोला, अखबार क्या पुराने, क्या नए! अरे जब पढ़ो--तभी नए! जब हमने पढ़े ही नहीं, तो हमारे लिए तो नए।

उस पागल आदमी ने बड़ी बुद्धिमानी की बात कही। कहा कि क्या नए और क्या पुराने!

तुम अखबार पढ़ते हो, तुमने कभी इस पर खयाल किया कि यही तुम रोज-रोज पढ़ते हो। कुछ नया घटता है कभी? नया तो कुरान में घटा है, धम्मपद में घटा है, अष्टावक्र में घटा है। पुराने लोग ज्यादा होशियार थे। वे वही पढ़ते थे जो अघट है, अनिर्वचनीय है, पकड़ में नहीं आता। नहीं होना था, फिर भी हो जाता है। वे दुर्लभ फूल खोजते थे, तुम कूड़ा-कर्कट खोजते हो। दुर्लभ फूलों की खोज में वे भी धीरे-धीरे दुर्लभ हो जाते थे। अघट की खोज में धीरे-धीरे अघट की घटने की संभावना उनके भीतर भी बन जाती थी।

इसलिए मैं तुमसे कहना चाहता हूं: न तो अनिवार्य और न आवश्यक। धर्म इस जगत में सबसे गैर-अनिवार्य बात है और सबसे अनावश्यक। इसलिए तो रूस है, बीस करोड़ लोग बिना धर्म के जी रहे हैं, कौन-सी अड़चन है? सच तो यह है, बहुत मजे से जी रहे हैं। चिंता-फिक्र मिटी। सब सुख-सुविधा से जी रहे हैं। शायद कुछ थोड़े-से लोगों को अड़चन है, मगर सौ में निन्यानबे आदमियों को कोई अड़चन नहीं है। कोई एकाध है सौ में, कोई सोल्जेनित्सिन या कोई और, कोई एकाध है जिसको अड़चन है। मगर उस एकाध की क्या गणना? लोकतंत्र तो भीड़ के लिए जीता है। निन्यानबे को तो कोई मतलब नहीं है। उन्हें शराब मिल जाए, सुंदर पत्नी मिल जाए, मकान मिल जाए, कार मिल जाए, खाने-पीने की जगह मिल जाए--पर्याप्त है। तुम कितने क्षुद्र से राजी हो जाते हो! तुम ना-कुछ से राजी हो जाते हो। तुम्हारी दीनता तो देखो! अष्टावक्र कहते हैं, यह तुम्हारा मालिन्य तो देखो! कैसे मलिन हो तुम, कितने क्षुद्र से राजी हो जाते हो!

दुनिया में धर्म अगर बिलकुल विदा हो जाए तो बहुत थोड़े लोगों को अड़चन होगी। कोई गौतम बुद्ध पैदा होगा तो उसे अड़चन होगी। लेकिन बाकी को तो कोई अड़चन न होगी। अपूर्व है धर्म। कभी-कभी खिलने वाला फूल है, रोज नहीं खिलता। कभी-कभी खिलने वाला फूल है!

मेरे पास कुछ दिनों तक एक माली था। वह एक पौधा ले आया। वह मुझसे कहने लगा, इसके पांच सौ रुपए देने हैं, जिससे खरीदा। मैंने कहा, "पागल इस एक पौधे के पांच सौ रुपये, इसका इतना मूल्य? मामला क्या है, इस पौधे की खूबी क्या है?"

उसने कहा, "इसमें फूल खिलता है, लेकिन वह बारह साल में एक बार खिलता है।"

तो मैंने कहा, "फिर देने लायक है। फिर तू पांच सौ नहीं हजार भी दे। तू ले जा। क्योंकि जब बारह साल में फूल खिलता है तो अद्वितीय है। ऐसे मौसमी फूल हैं, दो सप्ताह चार सप्ताह में खिल जाते हैं। बारह साल, तो थोड़ा धर्म जैसा फूल है। इसे तू जरूर लगा। इसे मेरे बगीचे में होना ही चाहिए। हम प्रतीक्षा करेंगे इसकी, जब खिलेगा।"

और जब फूल खिला--वह रात को ही खिलता--पूर्णिमा की रात को वह खिला, तो सारा पड़ोस, दूर-दूर से लोग उसे देखने आने लगे। वह कभी-कभी खिलता, उसके दर्शन रोज-रोज नहीं होते।

बुद्ध-पुरुष कभी-कभी खिलते हैं। वह सहस्रार का कमल कभी-कभी खिलता है। उसकी आकांक्षा मत करो जो रोज खिलता है, जो रोज मिलता है। उस क्षुद्र में कुछ भी नहीं है। उसकी आकांक्षा करो जो अपूर्व है, अद्वितीय है, अनिर्वचनीय, पकड़ के बाहर है। उसे चाहो जो असंभव है। जिस दिन तुमने असंभव को चाहा, उसी दिन तुम धार्मिक हुए। असंभव की वासना--धर्म की मेरी परिभाषा है।

तरतूलियन का बड़ा प्रसिद्ध वचन है, कि मैं ईश्वर में भरोसा करता हूं, क्योंकि ईश्वर असंभव है। असंभव है! इसलिए भरोसा करता हूं। संभव में क्या भरोसा करना! संभव में भरोसा करने के लिए कोई बुद्धिमानी चाहिए, कोई बड़ी प्रतिभा चाहिए? संभव में भरोसा तो बुद्धू से बुद्धू को आ जाता है। असंभव में भरोसे के लिए तुम्हारे भीतर श्रद्धा के पहाड़ उठें, गौरीशंकर निर्मित हो, तो असंभव की श्रद्धा होती है। असंभव की चाह है धर्म। "पैशन फॉर द इंपॉसिबल!"

और तुमने पूछा है कि "धर्म, अध्यात्म जैसे संबोधन अनावश्यक रूप से आत्मज्ञान के साथ जोड़ दिए गए हैं?"

नहीं, जरा भी नहीं। वे संबोधन बड़े सार्थक हैं। धर्म का अर्थ होता है: स्वभाव। वह बड़ा सांकेतिक शब्द है। धर्म का अर्थ रिलिजन या मज़हब नहीं होता। रिलिजन या मज़हब को तो हम संप्रदाय कहते हैं। धर्म का अर्थ तो बड़ा गहरा है। जिसके कारण इस्लाम, धर्म है; और जिसके कारण ईसाइयत, धर्म है; और जिसके कारण जैन, धर्म है; और जिसके कारण हिंदू, धर्म है; जिसके कारण ये सारे धर्म, धर्म कहे जाते हैं--वह जो सबका सारभूत है, उसका नाम धर्म है। ये सब उस धर्म तक पहुंचने के मार्ग हैं, इसलिए संप्रदाय हैं।

ईसाइयत एक संप्रदाय हुई, हिंदू एक संप्रदाय है, जैन एक संप्रदाय है, बौद्ध एक संप्रदाय है, इस्लाम एक संप्रदाय है। धर्म तो वह है जहां तक ये सभी संप्रदाय पहुंचा देते हैं। इसलिए इस्लाम को धर्म कहना उचित नहीं, हिंदू को धर्म कहना उचित नहीं--संप्रदाय! "संप्रदाय" शब्द अच्छा है। इसका अर्थ होता है: मार्ग, जिससे हम पहुंचें। जिस पर पहुंचें, वह धर्म है।

"धर्म" बड़ा अनूठा शब्द है। उसका गहरा अर्थ होता है: स्वभाव; हमारा जो आत्यंतिक स्वभाव है; हमारे भीतर के आखिरी केंद्र पर जो छिपा है बीज की तरह, उसका प्रगट हो जाना।

हम परमात्मा को बीज की तरह लिए घूम रहे हैं। हम जन्मों-जन्मों तक घूमते रहे हैं परमात्मा को बीज की तरह लिए। जब तक हम उस बीज को भूमि न देंगे--ध्यान की--तब तक धर्म का वृक्ष खड़ा न होगा। अगर धर्म

से परिचित होना है तो ध्यान में गहरे उतरना पड़े। क्योंकि ध्यान भूमि बनता है, और धर्म का बीज ध्यान की भूमि में अंकुरित होता है।

दुनिया में धर्म नहीं हैं। हां, कभी-कभी धार्मिक व्यक्ति होते हैं। जो हैं, वे सब संप्रदाय हैं। तो धर्म शब्द व्यर्थ नहीं है। ऐसे जबर्दस्ती आत्मज्ञान के ऊपर नहीं थोप दिया गया है।

और अध्यात्म भी बड़ा बहुमूल्य शब्द है। उसका भी वही मतलब होता है: वह, जो तुम्हारी निजता है। समझने की कोशिश करो।

तुम्हारे पास दो तरह की चीजें हैं। एक तो जो तुम्हें दूसरों ने दी हैं, जो तुम्हारी निजी नहीं हैं: जैसे भाषा। जब तुम पैदा हुए थे तो तुम कोई भाषा ले कर न आए थे। भाषा तुम्हें दी गई। मौन तुम ले कर आए थे। भाषा तुम्हें दी गई। मौन अध्यात्म है, भाषा सामाजिक है। जो तुम ले कर आए थे, जो तुम्हारा है, निजी है--वह अध्यात्म है। जो उधार है, बासा है, वह अध्यात्म नहीं है। जो भी तुम्हें दूसरों ने दे दिया है, वह अध्यात्म नहीं है।

तुम्हारे पास बहुत ज्ञान हो सकता है जो तुमने विश्वविद्यालय से सीखा, शास्त्रों से सीखा, गुरुओं से सीखा--वह अध्यात्म नहीं है। जिस दिन तुम्हारा अंतश्चेतन जागेगा, तुम्हारी आंख खुलेगी, तुम्हारे अपने ज्ञान का प्रादुर्भाव होगा--उसका नाम अध्यात्म है।

अध्यात्म का कोई शास्त्र नहीं होता और अध्यात्म की कोई किताब नहीं होती और अध्यात्म को उधार पाने का कोई उपाय नहीं है। अध्यात्म कोई वस्तु नहीं जो हस्तांतरित हो सके। अध्यात्म है तुम्हारा आत्यंतिक निज रूप, तुम्हारी निजता। जिस दिन तुम सब उधार को छांटकर अलग कर दोगे; कहते जाओगे: यह भी मैं नहीं, यह भी मैं नहीं; नेति, नेति; तुम इंकार करते जाओगे और वैसी घड़ी बचेगी जब तुम इंकार न कर सकोगे; जिसे तुम्हें कहना पड़ेगा, यही मैं हूं--उस दिन अध्यात्म! तो साक्षी-भाव ही अध्यात्म है; बाकी तो सब गैर-अध्यात्म है।

ये शब्द बड़े प्यारे हैं। इन शब्दों का अर्थ समझोगे तो तुम्हारे भीतर शब्दों का अर्थ सुनते-सुनते, समझते-समझते ही कुछ घटना घटनी शुरू हो जाएगी। एक छोटी-सी चिनगारी महावन को जला देती है। ये छोटे-छोटे शब्द नहीं हैं, ये छोटी-छोटी चिनगारियां हैं।

दूसरा प्रश्न: गुरु शिष्य को सीधे भी देखता है लेकिन फिर भी उसे विभिन्न परीक्षाओं से जान-बूझ कर गुजारता है। क्या इससे शिष्य का आत्मज्ञान तीव्र और शुद्धतर होता है? कृपा करके समझाएं।

गुरु देखता है तुम्हारे तीन रूप--तुम जो थे; तुम जो हो; तुम जो हो सकते हो। तुम जो थे, उससे तुम्हें छुटकारा दिलाना है। तुम्हारे अतीत से तुम्हें मुक्ति दिलानी है। तुम्हारे अतीत को पोंछ डालना है, साफ कर देना है; वह कचरा है जो तुम्हारे दर्पण पर इकट्ठा हो गया। तुम्हें अतीत से विच्छिन्न करना है, यह पहला काम।

फिर तुम जो हो, उसके प्रति तुम्हें जगाना है। क्योंकि तुम्हें उसका बिलकुल पता नहीं कि तुम कौन हो। तुम जो रहे हो अब तक, तुम्हारा अतीत इतना बोझिल हो गया है, उससे तुम इस भांति दब गए हो कि तुम्हारा वर्तमान तुम्हें दिखाई नहीं पड़ता। और वर्तमान बड़ा छोटा-सा क्षण है, बड़ा आणविक--इतना छोटा क्षण है कि तुम उसे पकड़ भी नहीं सकते। तुमने देखा कि यह रहा वर्तमान कि वह गया। इतना कहने में कि यह रहा वर्तमान, वर्तमान अतीत हो जाता है। इतने समय में तो वर्तमान गया। वर्तमान को कहने के लिए शब्द भी जुटाओ, उतनी देर में वर्तमान जा चुका होता है। वर्तमान तो बड़ी पतली धार है, बड़ी सूक्ष्म! वहां तो तुम शांत साक्षी रहोगे तो ही पकड़ पाओगे।

तो तुम्हें अतीत से छुटकारा दिलाना है; तुम्हें वर्तमान में जगाना है; और भविष्य...। अगर तुम अतीत में जकड़े रहे तो अतीत ही तुम्हारे भविष्य का निर्णायक होता है, अतीत ही तुम्हारे भविष्य को बनाता है। मुर्दा

तुम्हारे भविष्य को भी नष्ट करता चला जाता है। क्योंकि तुम भविष्य की जो योजना बनाओगे, वह कहां से लाओगे? तुम्हारे अतीत से लाओगे। अतीत के अनुभव के आधार पर ही तुम भविष्य के भवन खड़े करोगे। वे पुनरुक्तियां होंगी। वह फिर-फिर वही दोहराना होगा। थोड़े-बहुत हेर-फेर कर लोगे, रंग बदल लोगे, थोड़ा रूप बदल लोगे; लेकिन होगा वह अतीत ही सजाया हुआ, संवारा हुआ। लाश ही होगी--अच्छे वस्त्रों में शृंगारित। भविष्य की तुम योजना जो भी बनाओगे, अतीत से आएगी; वह अतीत का प्रोजेक्शन है, प्रक्षेपण होगा।

तो गुरु की चेष्टा होगी कि वह तुम्हें अतीत को भविष्य में प्रक्षेपित न होने दे। नहीं तो तुम्हारा अतीत तो नष्ट हुआ, तुम्हारा भविष्य भी नष्ट हो जाएगा। गुरु की चेष्टा होगी कि तुम्हें अतीत से मुक्त करवा दे और गुरु की चेष्टा होगी कि तुम्हें भविष्य की चिंता और विचारणा से भी मुक्त करवा दे। क्योंकि भविष्य का सारा विचार भविष्य को नष्ट करना है। भविष्य का विचार कैसे हो सकता है? भविष्य तो वही है जो अभी आया नहीं। भविष्य तो वही है जिसका तुम्हें कोई पता नहीं। भविष्य तो अभी कोरी स्लेट है, कोरा कागज है, जिस पर कुछ लिखा नहीं गया।

अभी तुम भविष्य पर अगर कुछ लिखना शुरू कर दोगे तो तुम भविष्य को खराब कर लोगे। उसका कोरापन घर आने के पहले ही खराब हो जाएगा।

तो वर्तमान में तुम्हें जगाना है; अतीत से तुम्हें छुटकारा दिलाना है; भविष्य के सपनों को अवरुद्ध करना है। इन तीन कामों के लिए गुरु सारी की सारी चेष्टा करता है। तुम्हें जगाता; फिर परीक्षाएं भी खड़ी करता है कि तुम जागे या नहीं। क्योंकि तुम्हारी नींद इतनी गहरी है कि कई बार तुम नींद में ही सपना देख लेते हो कि जाग गए। तुम्हें ऐसे सपने याद होंगे जिनमें तुमने नींद में, सपने में समझ लिया कि जाग गए। सुबह उठकर पता चला कि सपना तो झूठा था ही; सपने में जागे, वह भी झूठा था। बहुत डर है इस बात का कि जागने की बातें सुन-सुन कर कहीं तुम जागने का सपना न देखने लगो! वह यथार्थ नहीं होगा।

इसलिए अष्टावक्र जनक की खूब कस कर कसौटी करने लगते हैं। मुझे भी देखना पड़ता है कि कहीं तुम किसी नए सपने में न पड़ जाओ! कहीं अध्यात्म का सपना न देखने लगो! सपने सब सपने हैं--संसार के हों कि अध्यात्म के। सपने से मुक्त हो जाना है--तो अध्यात्म। और तुम्हें जल्दी बातें पकड़ जाती हैं। क्योंकि जिस-जिस बात से अहंकार की तृप्ति हो, वह तत्क्षण पकड़ जाती है। जैसे किसी ने कहा कि तुम तो ब्रह्मस्वरूप हो--पकड़ी! कि इसमें तो कोई अड़चन होती नहीं। इसलिए तो इतने करोड़ों लोग इस बात को मान लेते हैं कि हम ब्रह्मस्वरूप हैं। इसको पकड़ने में देर नहीं लगती। पापी से पापी आदमी भी जब सुनता है उदघोष उपनिषदों का, अष्टावक्र का--सिंह गर्जना--कि तुम परमेश्वर हो, तो वह भी सोचता है कि बिलकुल ठीक है, यह तो हम पहले से जानते थे। कहते नहीं थे कि कोई मानेगा नहीं; लेकिन जानते तो हम पहले से थे ही। पाप इत्यादि तो सब सपना है!

हालांकि तुम किए जाते हो पाप। अब तुम एक नई तरकीब खोज लेते हो कि यह तो सब माया है। चोरी तुम किए चले जाते हो, बेईमानी तुम किए चले जाते हो--अब तुम कहते हो, यह सब माया है।

तुम अक्सर पाओगे, जहां इस तरह के शुद्ध वेदांत की बातें होती हैं, वहां तुम महापापियों को बैठे देखोगे और प्रसन्न पाओगे! वहीं उनको प्रसन्नता मिलती है, और कहीं तो मिल नहीं सकती। और तो जहां भी वे जाते हैं, कोई कहता है, यह ब्लैकमार्केट करने वाला जा रहा है; कोई कहता, यह चोर है; कोई कहता, यह बेईमान है, यह महापापी है। वह जहां शुद्ध अध्यात्म बह रहा है, वहीं उनको थोड़ी शांति मिलती है। वहां उनको लगता है कि बिलकुल ठीक बात हो रही है। पाप इत्यादि सब झूठे हैं!

तुम साधु-संतों के पास पापियों को इकट्ठा देखोगे। उनके वचन उनके अहंकार को बड़ी तृप्ति देते हैं: चलो, कोई तो जगह है जहां हम प्रफुल्लित हो कर बैठ सकते हैं कि कोई पाप इत्यादि नहीं है, यह सब माया है। न कुछ किया, न कुछ किया जा सकता है। कर्ता हम हैं ही नहीं, न हम भोक्ता हैं--हम तो साक्षी हैं!

तो गुरु को देखना पड़ता है कि कहीं यह साक्षी की धारणा तुम्हारे लिए आत्मघाती तो न हो जाएगी। जल्दी से यह घोषणा हो जाती है। अभी जनक और अष्टावक्र की बातें सुन कर अनेक लोगों ने मुझे पत्र लिख दिए कि "आपने खूब जगा दिया! और हमको ज्ञान हो गया!" एक मित्र ने लिखा कि अब तो मैं जाग कर जा रहा हूं, कि मैं स्वयं परमब्रह्म हूं। वे गए भी! वे पत्र लिख कर गए, वे चले ही गए पत्र लिख कर! परीक्षा देने तक का मौका उन्होंने नहीं दिया। वे तो सिर्फ घोषणा करके गए!

"स्वभाव" ने पत्र लिख दिया कि "मैं जाग गया! धन्यवाद प्रभु कि आपने बता दिया कि मैं भगवान हूं।" न इतना किया, वे सिर घुटा लिए उसी जोश में! लक्ष्मी मुझसे कहने लगी कि ऊषा आ कर रोती है (उनकी पत्नी)। मैंने लक्ष्मी को कहा, तू ऊषा को कह, तू बिलकुल फिक्र न कर। ऐसे कहीं कोई...ऐसे कहीं स्वभाव जागने वाले नहीं। सिर घुटाने से क्या होता है, देख चोटी बचा ली है! उसी में सब बच गया! चोटी क्यों बचाई स्वभाव ने? हिंदू चोटी तो बचाएगा ही!

मैंने उनकी पत्नी को खबर भेज दी कि तू बिलकुल घबड़ा मत, ऊषा। जब तक मैं ही न कहूं, ये जाग गये, तब तक तू फिक्र मत कर। ऐसे तो ये कई करवटें लेंगे और फिर-फिर सो जाएंगे। उत्तर मैंने उनके प्रश्न का दिया नहीं था, मैंने...कि जरा तुम सुन लो पहले अष्टावक्र किस तरह जनक की परीक्षा करते हैं, फिर तुम्हारा उत्तर दे देंगे। अब अष्टावक्र की परीक्षा चल रही है जनक के लिए। वह सब सोचना, गौर से सोचना।

मन बड़ा बेईमान है! मन बड़ा कुशल है धोखा देने में! दूसरों को धोखा देता ही देता, अपने को भी दे लेता है। जागोगे निश्चित! जागना है! जागरण तुम्हारा स्वभाव है, तुम्हारे भीतर पड़ा है! लेकिन जल्दी ही मान लोगे, बहुत जल्दी मान लोगे, तो गुरु को तुम्हारी टांग खींचनी पड़ेगी। फिर तुम्हें चारों खाने चित्त...! अगर तुम न गिराए गए तो तुम किसी खतरे में पड़ सकते हो।

जागरण निश्चित घटता है--घटना चाहिए भी! कभी-कभी तीव्रता से भी घटता है। कभी-कभी तत्क्षण भी घटता है। लेकिन फिर भी गुरु को ध्यान रखना पड़ता है कि कहीं वह किसी की भी भ्रामक दशा में सहयोगी तो न बन जाएगा। हालांकि तुम्हें कभी-कभी चोट भी लगेगी, क्योंकि तुम कुछ मान कर चलते थे और मैं कह देता हूं, नहीं यह नहीं हुआ। तो तुम्हें चोट भी लगेगी। वह मजबूरी है। उसके लिए मुझे क्षमा करना। लेकिन चोट मुझे करनी ही पड़ेगी। अगर मैं चोट न करूं और तुम्हें किसी भ्रांति में चलने दूं तो मैं तुम्हारा गुरु नहीं, तुम्हारा संगी-साथी नहीं; फिर तुम्हारा शत्रु हूं; फिर मैंने तुम पर करुणा न की, मैंने तुम पर प्रेम न किया। तुम्हारे अहंकार को अगर मैं किसी भी कारण भरूं तो मैं तुम्हारा दुश्मन हूं। तुम्हारे अहंकार को तो मिटाना है। तुम्हारे अहंकार को तो ऐसे मिटा देना है कि उसका बीज बिलकुल दग्ध हो जाए।

अब ध्यान रखना, कहीं स्वभाव जा कर चोटी न घुटा लें। अब कोई सार नहीं है घुटाने से। अब तो मैंने कह दिया, अब कुछ मतलब नहीं है। अब तुम घुटा भी लो तो कोई फर्क नहीं पड़ता।

चेष्टा तो है समझने की, स्वभाव की! गहन चेष्टा है! बड़ी तीव्र आकांक्षा है! जागना चाहते हैं। जागना चाहते हैं, इसीलिए तो कभी-कभी नींद में भी जागने का सपना देख लेते हैं। आकांक्षा शुभ है। आकांक्षा होनी चाहिए। एक अर्थ में धन्यभागी है ऐसा व्यक्ति, क्योंकि कम-से-कम उनसे तो बेहतर है जो नींद में भी जागने का सपना नहीं देखते। कम-से-कम जागने का सपना ही सही। लेकिन जागने की आकांक्षा होगी, तभी तो जागने का सपना देखोगे! अगर अहंकार संन्यास से भी भरते हो तो भी शुभ है एक अर्थ में कि संन्यास से भर रहे हो अहंकार, संन्यास की आकांक्षा तो है ही! अब थोड़े और आगे जाना है। इस आकांक्षा को परिशुद्ध करना पूरा। जागना ही है, सपना क्या देखना जागने का? जागने के सपने से कुछ सार न होगा।

इस प्र्रभु की यात्रा के रास्ते पर कई पड़ाव पड़ेंगे, जहां तुम्हारा सो जाने का मन होगा। शक्तियां जगेंगी, तब तुम्हारा सो जाने का मन होगा। तुम कहोगे, "आ गए, बस हो गया! देखो शक्ति जग गई!"

एक मुसलमान युवक मेरे पास साधना करता था। बड़ी गहन आकांक्षा से साधना में लगा था। बड़ी अटूट उसकी निष्ठा थी। वह एक दिन मेरे पास आया और उसने कहा कि घटना घट गई; मालूम होता है, आत्मज्ञान हो गया।

मैंने कहा, "हुआ क्या?"

तो उसने कहा, "मैं एक बस में बैठा था। और ऐसे बस मुड़ी पहाड़ी के किनारे तो मुझे लगा कि मेरे सामने जो आदमी बैठा है वह कहीं गिर तो न जाएगा! और जैसे ही मुझे लगा, कि वह गिर गया। तो मैंने सोचा कि कहीं मेरे विचार ने तो इसको नहीं गिरा दिया। पर मैंने कहा, संयोग की बात भी हो सकती है। तो मैंने एक दूसरी दफे, जब मुड़ी बस, तो मैंने एक दूसरे आदमी पर ध्यान किया और सोचा कि यह आदमी गिरेगा! वह आदमी गिर गया! तब मैं थोड़ा घबड़ाया कि यह मामला क्या है! पर फिर भी मैंने सोचा एक परीक्षा और कर लेनी चाहिए। तीसरी दफे जब बस मुड़ी तो एक बहुत मोटे आदमी पर, जिसके गिरने की संभावना ही नहीं थी, जो ऐसा फंसा बैठा था कि सीट ही छोटी पड़ रही थी, बस पूरी भी उलट जाए तो वह शायद न उलटे--उसको सोचा कि यह गिर जाए, वह गिर गया!

तो फिर बोला, फिर तो मुझे एकदम घबड़ाहट हो गई। घबड़ाहट भी हुई और आनंद भी आया। मैंने कहा कि यह तो मालूम होता है शक्ति हाथ में आ रही है।

अब वस्तुतः उसे घट रहा था; फिर भी मुझे कहना पड़ा, यह पागलपन है।

यह एकाग्रता की क्षमता है। अगर तुम ध्यान करते-करते बहुत एकाग्र हो जाओ और उस एकाग्र्ता में कोई विचार तुम सोचो, वह तत्क्षण घट जाएगा। इसलिए समस्त योगशास्त्रों ने कहा है, इसके पहले कि तुम ध्यान की एकाग्रता में उतरो, तुम्हें शुभ विचारों से भर जाना चाहिए। क्योंकि अगर ध्यान की एकाग्रता के बाद अशुभ विचार तुम्हारे भीतर चलते रहे तो उनके परिणाम आने शुरू हो जाएंगे।

इसलिए पतंजलि ने, इसके पहले कि धारणा, ध्यान, समाधि साधो--यम, नियम, प्राणायाम, प्रत्याहार, इन सबके साधने की बात कही। इतने परिशुद्ध हो जाओ कि जब ध्यान की ऊर्जा उठे तो तुम्हारे पास गलत विचार तो हो ही नहीं।

इसलिए महावीर ने कहा, ध्यान के पहले अहिंसा का भाव गहरा कर लो। बुद्ध ने कहा, ध्यान के पहले करुणा का भाव गहरा कर लो।

बुद्ध ने तो यह भी कहा कि हर ध्यान के बाद, उठने के पहले ध्यान से, सारे जगत के प्रति करुणा का फैलाव करना। हर ध्यान को करुणा पर पूरा करना, करुणा से शुरू करना; अन्यथा खतरा है, क्योंकि अगर जरा भी गलत विचार घूम जाए ध्यान की स्थिति में तो वह विचार परिणामकारी हो जाएगा। उस विचार में एक बल आ जाता है। वह विचार दूसरे व्यक्ति में प्रवेश कर जाएगा।

शक्ति जागनी शुरू होती है, उसे भी गुरु को रोकना पड़ता है। कल्पनाएं सत्य मालूम होने लगती हैं, उसे भी गुरु को रोकना पड़ता है।

भ्रांति जन्मों-जन्मों की है। उस भ्रांति का बड़ा फैलाव है। ऐसा ही समझो कि इस बगीचे में जन्मों-जन्मों से कूड़ा-कर्कट ऊगता रहा है, घास-पात ऊगता रहा है। अब तुमने गुलाब बो दिए, लेकिन इस बात की बहुत संभावना है कि तुम्हारे गुलाब पर घास चढ़ दौड़ेगा, उसे दबा लेगा। शायद गुलाब का पता ही नहीं चलेगा। जन्मों-जन्मों से तुम्हारे मन की भूमि आक्रांत रही है व्यर्थ से, असार से। तो जब सार की थोड़ी-सी क्षमता भी पैदा होगी, तत्क्षण असार उसे दबा लेगा। गुरु को चेष्टा रखनी होगी कि असार सार को दबा न पाए। स्वप्न सत्य पर हावी न हो पाए। इसलिए बहुत-सी परीक्षाओं से गुजारना होगा।

गुरु की मौजूदगी ही परीक्षा है। गुरु जब तुम्हारी आंख में आंख डाल कर देखता है, तभी परीक्षा चल रही है। गुरु के पास होने का अर्थ ही यह होता है कि तुम चौबीस घंटे कसे जा रहे हो। और इस कसने से घबड़ाना मत, इस कसने के लिए तैयार रहना। और गुरु को धन्यवाद देना कि मुझे ऐसा छोड़ मत देना, मुझे कसते

चलना। क्योंकि यात्रा लंबी है, अनजान है, अपरिचित है! मुझे तो कुछ पता नहीं, कहीं भटक न जाऊं! भटकाव की संभावना ज्यादा है, पहुंचने के बजाय; क्योंकि भटकाव हमारा पुराना अभ्यास है।

तीसरा प्रश्न: हमारी संन्यास-दीक्षा के समय आप जिस कागज पर हमारे नये नाम और अपने हस्ताक्षर अंकित करते हैं, उसका एक बड़ा हिस्सा कोरा ही रह जाता है। उस पर क्या लिखते हैं जो कोरा रह जाता है? प्रभु, उस कोरेपन के पीछे क्या रहस्य है?

वही तुम्हारे संन्यास के लिए सूत्र है। जो नाम लिखता हूं तुम्हारा कोने में, उसे तो आज नहीं कल भूल जाना, उसे तो मिटा देना। कोरा कागज ही रह जाए! तुम कोरे रह जाओ! तुम्हें पता ही न रहे, तुम कौन हो, क्या हो! तुम्हें पता न रहे, कोई तादात्म्य। तुम्हारी सारी सीमाएं गिर जाएं, तुम कोरे कागज रह जाओ!

इसलिए जान कर ही एक कोने में तुम्हारा नाम लिख देता हूं, वह भी नीचे। ऊपर कोरा आकाश!

तुमने कभी चीनी झेन फकीरों की बनाई हुई चित्रकला देखी? उनके चित्र वास्तविक चित्र हैं। उनके चित्र में तुम पाओगे, बड़ा कैनवस होता, लंबा, और नीचे कोने में जरा-सी पेंटिंग होती है। बड़ा विराट आकाश और जरा-से कोने में...! वे ठीक-ठीक सूचना दे रहे हैं। वे कह रहे हैं, आदमी का जाना हुआ बस ऐसा है--जरा-सा कोने में! आदमी का बनाया हुआ बस ऐसा है--जरा-सा कोने में! फिर विराट आकाश है।

पश्चिम में जो पेंटिंग होती है, उसमें आकाश होता ही नहीं। सब भरा होता है, पूरा कैनवस भरा होता है। सब रंग डालते हैं, कोरा कुछ छोड़ते नहीं। जब पश्चिम पहली दफा झेन पेंटिंग को पहचानने लगा तो बड़ा चकित हुआ कि इतने बड़े कागज पर इतनी सी पेंटिंग! इतनी-सी पेंटिंग तो थोड़े से कागज पर हो जाती है! यह इतना कागज खाली क्यों छोड़ा है? वह खाली बड़ा राज है, वह रहस्य है, वह सूचक है। वह खाली ही सच है; बाकी तो थोड़ी-सी लहरें हैं। सागर ही सच है।

यह पृथ्वी तो हमारी बड़ी छोटी-सी है। यह बड़ा आकाश!

इस अनुपात को मत भूलना। इसलिए कोने में नीचे दस्तखत कर देता हूं, तुम्हारा नाम लिख देता हूं। और पूरा कागज खाली छोड़ देता हूं, ताकि बार-बार तुम्हें याद आती रहे कि तुम्हारा नाम तो बस जरा-सा कोने में है। वह भी एक दिन भूल ही जाना है। अनाम हो जाना है, तभी संन्यास पूर्ण होता है। कोरे कागज जैसे हो जाना है।

सूफियों की एक किताब है, जो बिलकुल कोरी है। उस जैसी बढ़िया कोई किताब नहीं। उस किताब में कुछ लिखा नहीं है। कोई सात सौ आठ सौ साल पुरानी किताब है। एक गुरु से दूसरे गुरु को दी जाती रही। एक गुरु ने एक शिष्य को दे दी, फिर वह अपने शिष्य को दे गया, हाथ-हाथ चलती रही है। अभी भी सुरक्षित है। अभी भी सात सौ साल के बाद शिष्य उसे पढ़ते हैं खोल कर। उसमें कुछ लिखा नहीं है। वह कोरे कागज हैं। उस किताब को सूफी छापना चाहते थे, कोई पब्लिशर छापने को राजी नहीं। फिर किसी ने हिम्मत की और छापा। लेकिन उसने भी जब छापा उसको तो कोई बीस-पच्चीस पन्ने भूमिका के लिखवा लिए।...खराब हो गई किताब! भूमिका में सब इतिहास दे दिया कि किसने शुरू की यह किताब, फिर किसके हाथ में रही, फिर किसके हाथ में गई। मगर उससे सब खराब हो गया। वह किताब कोरी ही होनी चाहिए। मगर कौन राजी होगा कोरी किताब छापने को! लोग कहेंगे, कुछ हो भी तो छापने को तो छापें। इसमें तो कुछ है नहीं।

राजस्थान में एक महिला है: भूरिबाई! अदभुत महिला है! जब भी मैं राजस्थान जाता था, वह जरूर मुझे मिलने आती थी। बहुत थोड़ी-सी महिलाएं भारत में होंगी, जो उस कोटि की हैं। बिलकुल देहाती है, उसे कुछ पता भी नहीं; मगर सब पता है। वह मुझसे कहने लगी कि "बापजी, आप मेरे गांव आना! मैंने एक किताब लिखी है, उसका उदघाटन करना।"

मैंने कहा, "तू किसी और को धोखा देना। तेरी किताब मैं समझ गया, उसमें क्या होगा। तू उसे यहीं ले आना, मैं यहीं उदघाटन कर दूंगा।

तो वह ले आई एक दफा, सिर पर रख कर लाई, बड़ी सुंदर पेटी में सजा कर लाई! उसके भक्त...उसके भक्त हैं! वह महिला है योग्य! उसके भक्त साथ में आए। उसकी किताब का मैंने उदघाटन कर दिया। कुछ भी नहीं, एक छोटी-सी पुस्तिका थी अंदर, खाली! कुछ उसमें लिखा नहीं था। वह लिखना-पढ़ना जानती भी नहीं।

जब पहली दफा मेरे शिविर में आई तो जो उसके साथ आए थे, भक्त, वे तो सब ध्यान करने लगे, वह उठ कर अपनी कोठरी में चली गई। उसके भक्तों ने जा कर कहा कि हम आए ही यहां इसलिए हैं कि ध्यान करें, आपने ध्यान नहीं किया? वह कहने लगी कि तुम बापजी से पूछ लेना। वे मेरे पास आए। उन्होंने कहा, यह मामला क्या है? भूरिबाई कहती है, बापजी से पूछ लेना।

"बापजी" मुझे कहना नहीं चाहिए, क्योंकि वह होगी सत्तर-अस्सी साल की। मैंने कहा, वह ठीक कहती है। क्योंकि जो मैंने कहा था वही उसने किया। मैंने कहा था, कुछ न करो, शांत साक्षी हो जाओ!

वे उसके पास गए। उन्होंने कहा, उन्होंने तो ऐसा कहा। वह कहने लगी कि ठीक कहा। वहां तो बड़ी भीड़-भाड़ थी, उपद्रव था। कई लोग कुछ-कुछ कर रहे थे। मैं इस कोठरी में आ कर बैठ गई, मैंने कुछ न किया, बड़ा ध्यान लगा।

फिर वह अपने गांव वापिस गई तो गांव के लोगों ने पूछा कि वहां से क्या लाई, तो उसने अपनी कोठरी पर "चुप" लिखवा दिया। उसने कहा कि इतना ही समझी मैं तो, वे कहे तो बहुत-सी बातें, लेकिन मेरी बुद्धि में ज्यादा नहीं समाता, मैं तो गैर-पढ़ी लिखी हूं; "चुप"--इतना ही मेरी समझ में आया। वह अपनी कोठरी पर लिखवा रखा है कि इतना उनकी बातों में से मैं समझ पाई। कहते तो वे बहुत कुछ हैं, इतना मैं पकड़ पाई। वही मैं तुमको कह सकती हूं।

वह जो कोरा कागज है, वह कहता है "चुप"। वह जो कोरा कागज है, वही कुरान है, वही धम्मपद, वही अष्टावक्र की संहिता है। उस कोरे कागज के लिए ही सारे शास्त्रों ने चेष्टा की है कि तुम्हारी समझ में कोरा कागज पढ़ना आ जाए। शून्य को समझाने के लिए शब्दों का सहारा लिया है; लेकिन शब्दों को समझाने के लिए नहीं--शून्य को समझाने के लिए। मौन में ले जाने के लिए भाषा का प्रयोजन है।

तुम साक्षी बनो! तुम कोरे भीतर शून्य के साक्षी बनो! वहीं निर्वाण घटित होता है, समाधि घटित होती है!

चौथा प्रश्न: कल आपने मोह और ज्ञान के गंगातट जाने की कथा कही। उसमें मोह तो गंगा में स्नान कर प्रेम को उपलब्ध हो गया, लेकिन ज्ञान का क्या हुआ? कृपाकर ज्ञान की नियति पर भी थोड़ा प्रकाश डालें!

वह अभी भी भटक रहा है। ज्ञान अभी भी भटक रहा है।

ज्ञान बड़ी अकड़ी हुई बात है। तुम पंडित से ज्यादा अहंकारी और किसको पाओगे? धनी भी उतना अहंकारी नहीं होता, जितना अहंकारी तथाकथित ज्ञानी हो जाता है। जिसको यह लगता है कि मुझे मालूम है, उसकी अकड़ का क्या कहना!

तो ज्ञान तो राजी न हुआ कल्प-गंगा में उतरने को। कल्प-गंगा ने तो दोनों को कहा था--ज्ञान और मोह दोनों खड़े थे किनारे। ज्ञान और मोह को तुम ऐसा समझ लो कि हृदय और बुद्धि, संकल्प और समर्पण, भाव और विचार--नाम कुछ भी दे दो। दोनों खड़े थे। गंगा ने कहा, "आओ प्यारे! स्नान कर लो मुझमें! हो जाओ पवित्र! नहलाऊंगी तुम्हें! शुद्ध कर दूंगी! नया कर दूंगी! पुनर्जीवन होगा तुम्हारा!"

मोह तो उतर गया; क्योंकि मोह तो भाव है, हृदय है; तर्क नहीं है वहां। उसने तो निमंत्रण स्वीकार कर लिया। उसने कहा कि चलो, देखें। वह तो उतर गया। उसने तो डुबकी मार ली। वह तो जब निकला तो पुराना जा चुका था, नया हो चुका था। मोह प्रेम हो गया। हृदय समाधि बन गया। भाव रस में डूब गया।

ज्ञान अकड़ा खड़ा रहा। उसने कहा, कौन मुझे शुद्ध करेगा? यह किस तरह की बात? मुझे और शुद्ध? मैं शुद्ध हूं! यह साधारण-सी गंगा का जल मुझे शुद्ध करेगा? अरे मैं शास्त्रों का ज्ञाता! मुझे कौन शुद्ध करेगा? मैं दूसरों को शुद्ध कर दूं!

वह अकड़ा खड़ा रहा। वह मोह पर हंसा भी कि यह भी क्या पागल बातों में आ रहा है! वह अभी भी भटक रहा है। वह अभी भी वहीं खड़ा है, अब भी हंस रहा है। पंडित सदा ही हंसता है प्रेमी पर। लेकिन प्रेमी ही हैं जो पाते हैं।

तुमसे एक और कथा कहता हूं।

एक राजा के दो बेटे थे। राजा के पास बहुत धन था। एक बेटे का नाम ज्ञान था, एक बेटे का नाम प्रेम था। राजा बड़ी चिंता में था कि किसको अपना राज्य सौंप जाए। किसी फकीर को पूछा कि कैसे तय करूं? दोनों जुड़वां थे, साथ-साथ पैदा हुए थे। उम्र में कोई बड़ा-छोटा न था; नहीं तो उम्र से तय कर लेते। दोनों प्रतिभाशाली थे, दोनों मेधावी थे, दोनों कुशल थे। कैसे तय करें?

बाप का मन बड़ा डांवाडोल था, कहीं अन्याय न हो जाए! फकीर से पूछा। फकीर ने कहा, "यह करो। दोनों बेटों को कह दो कि यही बात निर्णायक होगी। तुम जाओ और सारी दुनिया में बड़े-बड़े नगरों में कोठियां बनाओ। जो कोठियां बनाने में पांच साल के भीतर सफल हो जाएगा, वही मेरे राज्य का उत्तराधिकारी होगा।"

ज्ञान चला। उसने कोठियां बनानी शुरू कर दीं। मगर पांच साल में सारी पृथ्वी पर कैसे कोठियां बनाओगे? हजारों बड़े नगर हैं! कुछ कोठियां बनायीं, उसका धन भी चुक गया, सामर्थ्य भी चुक गई, थक भी गया, परेशान भी हो गया। और फिर बात भी मूढ़तापूर्ण मालूम पड़ी, इससे सार क्या है?

पांच साल बाद जब दोनों लौटे तो ज्ञान तो थका-मांदा था, भिखमंगे की हालत में लौटा। सब जो उसके पास थी संपदा, वह सब लगा दी। कुछ कोठियां जरूर बन गईं, लेकिन इससे क्या सार? वह बड़ा पराजित और विषाद में लौटा।

प्रेम बड़ा नाचता हुआ लौटा। बाप ने पूछा, कोठियां बनाई? प्रेम ने कहा कि बना दीं, सारी दुनिया पर बना दीं। सब बड़े नगरों में क्या, छोटे-छोटे नगरों में भी बना दीं। समय काफी था।

बाप भी थोड़ा चौंका। उसने पूछा कि यह तेरा बड़ा भाई, यह तेरा दूसरा भाई, यह तो थका-हारा लौटा है कुछ नगरों में बना कर; तूने कैसे बना लीं? प्रेम ने कहा कि मैंने मित्र बनाए, जगह-जगह मित्र बनाए। सभी मित्रों की कोठियां मेरे लिए खुली हैं। जिस गांव में जाऊं वहीं, एक क्या दो-दो, तीनत्तीन कोठियां हैं। मकान मैंने नहीं बनाए, मैंने मित्र बनाए। यह आदमी मकान बनाने में लग गया, इसलिए चूक हो गई। मकान तो मेरे लिए खुले खड़े हैं, कोठियां मेरे लिए तैयार हैं, जगह-जगह तैयार हैं। जहां आप कहें, वहां मेरी कोठी। हर नगर में मेरी कोठी!

एक तो ढंग है प्रेम का और एक ढंग है ज्ञान का। ज्ञान से अंततः विज्ञान पैदा हुआ। ज्ञान की आखिरी संतति विज्ञान है। विज्ञान से अंततः टेक्नोलॉजी पैदा हुई। विज्ञान की संतति टेक्नोलॉजी है; तकनीक है।

प्रेम से भक्ति पैदा होती है। भक्ति प्रेम की पुत्री है। भक्ति से भगवान पैदा होता है। वह दोनों दिशाएं बड़ी अलग हैं।

ज्ञान के मार्ग से जो चला है, वह कहीं न कहीं विज्ञान में भटक जाएगा। इसलिए तो पश्चिम विज्ञान में भटक गया। यूनानी विचारकों से पैदा हुई पश्चिम की सारी परंपरा। वह ज्ञान के...उनकी बड़ी पकड़ थी। अरस्तू, प्लेटो! तर्क और विचार और ज्ञान! जानना है! जान कर रहेंगे! उस जानने का अंतिम परिणाम हुआ कि अणुबम तक आदमी पहुंच गया। मौत खोज ली और कुछ सार न आया।

पूरब प्रेम से चला है। तो हमने समाधि खोजी। हमने कुछ अनूठा आकाश खोजा--जहां सब भर जाता है, सब पूरा हो जाता है। अब तो पश्चिम परेशान है, अपने ही ज्ञान से परेशान है।

अलबर्ट आइंस्टीन मरने के पहले कह कर मरा है कि "अगर मुझे दुबारा जन्म मिले तो मैं वैज्ञानिक न होना चाहूंगा--कतई नहीं! प्लंबर होना पसंद कर लूंगा, वैज्ञानिक होना पसंद नहीं करूंगा।" बड़ी पीड़ा में मरा है कि क्या सार? जानने का क्या सार? होने में सार है।

प्रेम भी जब तक झुके नहीं तब तक भक्ति नहीं बनता। ज्ञान भी अगर झुक जाए तो ध्यान बन जाता है। लेकिन ज्ञान झुकने को राजी नहीं होता। प्रेम झुकने को बड़ी जल्दी राजी हो जाता है।

अगर ज्ञान भी उतर गया होता गंगा में--समझ लो, उतरा नहीं, उतर गया होता--उसने भी निमंत्रण स्वीकार कर लिया होता, डुबकी मार ली होती, तो जैसे मोह प्रेम बन कर निकला, ज्ञान ध्यान बन कर निकल सकता था। लेकिन किनारे पर अकड़ा खड़ा रह गया, तो विज्ञान बन गया, तो टेक्नोलॉजी बन गई। तो सब चीजें खराब होती चली गईं।

ऐसा नहीं है कि ज्ञान की वृत्ति वाले व्यक्ति के लिए मार्ग नहीं; झुक जाए वह भी तो उसके लिए भी मार्ग है। प्रेमी झुकता है तो प्रार्थना पैदा होती है; ज्ञानी झुकता है तो ध्यान पैदा होता है। प्रार्थना भी परमात्मा पर ले जाती है; ध्यान भी परमात्मा पर ले जाता है। भाषा अलग होगी। जब ध्यानी परमात्मा पर पहुंचेगा तो वह कहेगा, आत्मा! क्योंकि दूसरे का कोई उपाय नहीं है ध्यान में। जब प्रेमी परमात्मा पर पहुंचता है तो वह आत्मा नहीं कहता; वह कहता है, तुम्हीं हो, मैं कहां!

ये सिर्फ भाषा के भेद हैं। दोनों एक ही महाशून्य पर पहुंच गए हैं। एक उसे आत्मा कहता है, एक उसे परमात्मा कहता है। ये भाषा के भेद हैं। अगर तुम्हारी विचार पर बहुत पकड़ हो तो ध्यान का मार्ग पकड़ो; डुबकी मगर लगाओ। इधर रही गंगा! यह मैं कहता हूं कि आ जाओ, ले लो डुबकी! मैं तुम्हें नया कर दूंगा।

अगर विचार पर बहुत पकड़ है, कोई हर्जा नहीं। जो मोह तक को रूपांतरित कर देती है गंगा, वह विचार को न कर पाएगी? मोह तक को रूपांतरित कर दिया प्रेम में, तो विचार की क्या ताकत है? विचार तत्क्षण ध्यान में रूपांतरित हो जाता है। लेकिन झुकना पड़े। बिना झुके कुछ भी नहीं! बिना समर्पित हुए कुछ भी नहीं!

पांचवां प्रश्न: ऐसा लगता है कि पृथ्वीचारी जनक पहली बार आकाश को देख कर आश्चर्यचकित होते हैं। तो आकाश-विहारी अष्टावक्र को संसार देख कर ही आश्चर्य होता है। क्या सच ही संसार और मोक्ष एक-दूसरे के लिए इतने आश्चर्य के विषय हैं? वे परस्पर-विरोधी हैं या एक-दूसरे के पूरक हैं?

न तो विरोधी और न पूरक। जब एक होता है तो दूसरा होता ही नहीं। ऐसा समझो कि प्रकाश और अंधेरा एक-दूसरे के विरोधी हैं या एक-दूसरे के पूरक? न पूरक न विरोधी; क्योंकि जब प्रकाश होता है तो अंधेरा नहीं होता, जब अंधेरा होता है तो प्रकाश नहीं होता। पूरक होने के लिए तो दोनों को साथ-साथ होना चाहिए। विरोधी होने के लिए भी दोनों को साथ-साथ होना चाहिए। लेकिन एक ही होता है, दूसरा तो बचता ही नहीं।

जब तुम्हारे जीवन में आकाश का अनुभव आना शुरू होता है, पृथ्वी खो जाती है। इसलिए तो उस परम दशा को प्राप्त लोगों ने कहा कि यह पृथ्वी माया है। माया का अर्थ है, भ्रम हो गई, खो गई, स्वप्नवत हो गई। जब पृथ्वी का सपना पकड़ता है तुम्हें जोर से तो आत्मा, ब्रह्म, ईश्वर सब स्वप्नवत हो जाते हैं।

जिसके लिए पृथ्वी सच है, उसके लिए आत्मा माया है। जिसके लिए आत्मा सच है, उसके लिए पृथ्वी माया हो जाती है। लेकिन दोनों साथ-साथ कभी नहीं होते; एक ही होता है।

ऐसा समझो कि रस्सी में सांप दिखाई पड़ गया। तो जब तक सांप दिखाई पड़ता है तब तक रस्सी दिखाई नहीं पड़ती। फिर जब दीया ले आए और रस्सी दिखाई पड़ गई, तो सांप दिखाई नहीं पड़ता। तो तुम क्या

कहोगे?--एक-दूसरे के पूरक हैं या एक-दूसरे के विरोधी? न तो पूरक न विरोधी। क्योंकि दोनों कभी साथ-साथ होते नहीं। एक ही है। एक ही भ्रांति में दूसरे जैसा भासता है।

आकाश ही है, परमात्मा ही है--तुम्हारे देखने के ढंग में जरा भूल है! तो तुम आकार में उलझ जाते हो, निराकार को नहीं देख पाते। तो तुम रूप में उलझ जाते हो, अरूप को नहीं देख पाते। गुण को तो पकड़ लेते हो, निर्गुण छूट जाता है। फिर जब तुम्हारी समझ गहन होती है, प्रगाढ़ होती है और तुम अरूप को देखने लगते हो तो रूप खो जाता है। तब तुम निराकार को देखने लगते हो तो आकार खो जाता है। और इसलिए आश्चर्य पैदा होता है।

जनक आश्चर्यचकित हैं, क्योंकि जब पहली दफा आकाश दिखाई पड़ा तो पृथ्वी एकदम खो गई। जिस पर सदा से खड़े थे, अचानक वह पैरों के नीचे से खिसक गई जमीन। तो वे आश्चर्य से भरे हैं! वे कहते हैं, "आश्चर्य, आश्चर्य! यह हुआ क्या! यह कैसे हुआ!"

अष्टावक्र भी आश्चर्य से भरे हैं। वे आकाश की तरफ से जब देखते हैं तो पृथ्वी वहां कहीं भी नहीं है। तो वे कहते हैं कि आश्चर्य! तुझे आश्चर्य होता है आकाश को देख कर, मुझे आश्चर्य हो रहा है तेरा पृथ्वी की बातें सुन कर।

दोनों का आश्चर्य बिलकुल ठीक है। क्योंकि जिसने रस्सी में सांप देखा था, जब उसे पता चलेगा कि यह रस्सी है तो वह आश्चर्यचकित होगा। जो सदा से जानता रहा कि रस्सी रस्सी है, वह भी आश्चर्यचकित होगा कि किसी ने इसमें सांप देख लिया। दोनों आश्चर्यचकित होंगे।

एक ही हो सकता है। परमात्मा और पदार्थ दो चीजें नहीं हैं। सत्य और संसार दो चीजें नहीं हैं। जब हम सत्य को गलत ढंग से देखते हैं और हमारी व्याख्या गलत होती है--तो संसार। जब हम संसार को ठीक से देख लेते हैं और व्याख्या ठीक हो जाती है--तो सत्य। परमात्मा को ही देखते हैं हम हर हाल। कुछ भी देखो, परमात्मा को ही देखते हो। और कुछ है ही नहीं, जिसको देख सकते हो। हां, तुम्हारे देखने में अगर थोड़ी भ्रांति हो, तुम्हारी आंख में अगर थोड़ी खराबी हो, तो जो तुम्हें दिखाई पड़ता है, जो तुम देख लेते हो, वह जो दिखाई पड़ रहा है उससे भिन्न हो जाता है। लेकिन जो दिखाई पड़ रहा है, वह तो वही का वही है--शाश्वत, सनातन! उसमें कोई रूपांतरण नहीं होता है।

आदमी की भूल है संसार। आदमी की गलत व्याख्या है संसार। रात अंधेरे में तुम देख लेते हो--तुम्हारा ही लंगोट टंगा है--और वह लंगोट में दो हाथ जैसे मालूम पड़ते हैं। लंगोटी लटकी है, तो लगता है कोई आदमी खड़ा है। तुम्हीं टांग आए दिन में, और रात तुम्हीं बाहर जाने से डरने लगते हो कि वहां कोई आदमी खड़ा मालूम होता है! लंगोट अब भी लंगोट है। लंगोट ने डराने का तुम्हें कुछ भी नहीं किया है। मगर तुम घबड़ा सकते हो।

कभी अंधेरे में तुमने देखा, अंधेरे रास्ते पर एकांत में चलते हुए अपने ही जूते की आवाज ऐसी लगती है कि कोई पीछे आ रहा है! घबड़ाहट पकड़ने लगती है। छोटी-छोटी चीजें भ्रम दे जाती हैं। उन सभी भ्रमों का जोड़ संसार है। जब भ्रम टूट जाते और वही दिखाई पड़ जाता है, जो है--तो परमात्मा। परमात्मा यानी जो है; संसार यानी जैसा हमने देख लिया है।

छठवां प्रश्न: मैं कभी-कभी अपने शरीर पर गैरिक वस्त्र देख कर चकित हो उठता हूं। जीवन में मैंने अनगिनत स्वप्न देखे, उनमें यह स्वप्न कहां था कि मैं संन्यासी भी होऊंगा! मैंने तो सदा साधु-संन्यासियों का मखौल ही उड़ाया किया। कहीं ऐसा तो नहीं है कि उनमें से किसी सच्चे संन्यासी ने मुझे यह वरद शाप दिया कि तुम्हारी देह पर भी गैरिक वस्त्र उतर जाएं?

सब सपने आदमी देखता है; संन्यास का सपना तो कभी नहीं देखता। क्योंकि संन्यास सपना नहीं--सपनों से जागना है। तुमने जो सपने देखे बहुत, वे सपने ही जब हार गए, थक गए और पराजित हो गए; जब उन सपनों में से तुम कुछ भी न निचोड़ पाए, तो संन्यास फलित हुआ।

संन्यास संसार की महत्वाकांक्षा की पराजय से फलित होता है। धन पाया तो व्यर्थ, नहीं पाया तो दुखदायी। पद पाया तो व्यर्थ, नहीं पाया तो दुखदायी। दौड़-दौड़ कर, कभी पा कर कभी न पा कर, हर हाल दुख पाया।

"मैत्रेय" का प्रश्न है। मैत्रेय मुझे मिले तब वे पार्लियामेंट के सदस्य थे, एम.पी. थे। राजनीति में उनकी दौड़ थी। बने रहते वहां तो अभी कहीं न कहीं चीफ मिनिस्टर होते। बड़ी संभावना थी। जवाहर लाल के प्रिय पात्रों में से थे। तो मेरे चक्कर में न पड़ते, तो या तो जेल में होते या चीफ मिनिस्टर होते, दो में से कुछ होते। क्योंकि जयप्रकाश के भी वे प्रिय पात्र थे। दोनों से बचा लिया मैंने उन्हें।

लेकिन मैं समझ पाता हूं उनका प्रश्न। उन्होंने कभी सपना भी नहीं देखा होगा। राजनीतिज्ञ कहीं सपना देखता है संन्यासी होने का!

राजनीति और धर्म बड़े विपरीत आयाम हैं। उनसे ज्यादा विपरीत और कुछ भी नहीं। राजनीति है महत्वाकांक्षा; धर्म है महत्वाकांक्षा से शून्य हो जाना। राजनीति है पद-प्रतिष्ठा की दौड़, दूसरों पर काबू पाने की दौड़; और धर्म है अपने मालिक होने की आकांक्षा। ये बड़ी भिन्न बाते हैं। दूसरे के स्वामी होने की जो आकांक्षा है, वह राजनीति; अपने स्वामी होने की जो आकांक्षा है, वह धर्म।

इसलिए तो संन्यासियों को हम स्वामी कहते हैं। इससे तुम यह मत समझ लेना कि तुम किसी दूसरे के स्वामी, मैं तुमको बना रहा हूं। ऐसी भ्रांति हो सकती है कि हमको स्वामी बना दिया, अब हम सबके स्वामी हैं! ऐसा मत सोच लेना। अपने बस, इतने हो गए तो काफी है। अपना ही कोई स्वामी हो जाए तो पर्याप्त है। और जो अपना स्वामी नहीं है, वह दूसरों के स्वामी होने की चेष्टा कर रहा है; उसकी यात्रा असफल होना निश्चित है। जो अभी अपना भी स्वामी नहीं हो पाया, वह किसका स्वामी हो पाएगा?

इसलिए जिनको तुम राजनेता कहते हो, वे अपने अनुयायियों के भी अनुयायी होते हैं, वे अपने गुलामों के भी गुलाम होते हैं। अखबारों में उनकी तस्वीरें देख कर बहुत चकित मत हो जाना। वे छोटे-छोटे लुच्चे-लफंगों, गुंडों से दबे होते हैं। वे पीछे खड़े रहते हैं। उन गुंडों की कहीं अखबारों में तस्वीर नहीं छपती। लेकिन उनके इशारों पर चलते होते हैं। चलना ही पड़ेगा। जिसको तुम्हें अपने पीछे चलाना है, उसके इशारे पर चलना होगा।

तुम्हारे अनुभव में सिर्फ एक ही बात होगी, क्योंकि तुम सभी राजनीतिज्ञ नहीं हो। पत्नी को तुम्हें अपने पीछे चलाना हो तो तुम्हें मालूम है पत्नी की एक-एक आकांक्षा पूरी करनी होती है तो ही वह तुम्हारे पीछे चलती है। वह कहती है, आप मालिक, मैं दासी! मगर दासी होने का मतलब समझते हैं? जब तक आप उसके दास न हो जाओ, वह दासी नहीं। लिखती है "आपकी दासी", मगर मतलब साफ है। वह आपके पीछे-पीछे चलती है, जब भांवर पड़ती हैं; लेकिन अगर उसको जिंदगी भर अपने पीछे चलाना हो तो बड़े छिपे रूप में आपको उसके पीछे चलना होता है। नहीं तो वह आपके पीछे नहीं चलेगी। यह तो साझेदारी है: तुम हमारे पीछे तो हम तुम्हारे पीछे। यह तो सांठ-गांठ है।

राजनेता जिनको अपने पीछे चला रहा है, राजनेता उनके पीछे चलता होता है। वह लौट-लौट कर देखता रहता है, लोग कहां जा रहे हैं, उसी तरफ जाने लगता है। असली कुशल राजनीतिज्ञ का अर्थ ही यही है।

कुछ कुशल राजनीतिज्ञ नहीं होते तो उनकी अकुशलता का कारण क्या होता है? इतना ही होता है--अकुशल राजनीतिज्ञ वही है कि जो यह सोचने लगता है दुनिया मेरे पीछे चल रही है। वह झंझट में पड़ता है। मोरारजी देसाई से पूछो! अकुशल राजनीतिज्ञ की अकुशलता यही है कि वह सोचता है सब मेरे पीछे चल रहे हैं; मैं जहां जाऊंगा वहां दुनिया जाएगी। वह गलती में है। कुशल राजनीतिज्ञ वह है जो देख लेता है, लोग किस

तरफ जा रहे हैं, उसी तरफ उनके आगे-आगे चलने लगता। समाजवाद? समाजवाद सही! यही तो हम भी चाहते हैं!

मुल्ला नसरुद्दीन अपने गधे पर भागा जा रहा था। एक बाजार में लोगों ने उसे रोक लिया और पूछा कि कहां जा रहे हो? उसने कहा, मुझसे मत पूछो, मेरे गधे से पूछो! क्योंकि मैं राजनीतिज्ञ हूं। पहले मैंने बहुत कोशिश की इस गधे को चलाने की, मगर गधा है। हम बाएं चलाएं, वह दाएं जाए। बीच बाजार में मखौल उड़े! भीड़ इकट्ठी हो जाए, कि अरे नसरुद्दीन, तुम्हारे गधे पर भी बस नहीं! क्या करें? फिर हमें समझ में आया कि गधे के साथ राजनीति करनी चाहिए। अब गधा जिस तरफ जाता है हम उसी तरफ जाते हैं। दुनिया यही समझती है कि हम गधे को चला रहे हैं, मगर गधा हमको चला रहा है।

"मैत्रेय जी" राजनीति में थे। उन्होंने कभी सपना नहीं देखा होगा संन्यासी होने का, यह सच है। लेकिन रह कर राजनीति में कुछ भी न पाया। उस न पाने से संन्यास की तरफ वृत्ति हुई। उस न पाने से वे दूसरी दिशा में झुकना शुरू हुए। राजनीतिज्ञ तो थे, लेकिन उनके पास राजनीतिज्ञ की प्रतिभा नहीं थी, बेईमानी नहीं थी। बड़े सरल आदमी हैं। संन्यास उन्हें स्वाभाविक पड़ा। राजनीति में वे बड़ी उलझन में पड़े थे। राजनीति में बड़ी बेचैनी में थे। अड़चन थी। वह उनके अनुकूल न था। वह उतने ओछे और छोटे आदमी नहीं थे।

वहां सफलता उनकी है जो जितने ओछे हैं, जितने छोटे हैं। वहां सफलता उनकी है, जो जितने नीचे उतर आएं। वहां कोई आदमी अगर सरल हो, सीधा-सादा हो, तो वहां सफलता नहीं है। वे गलत दिशा में पड़ गए थे। वह दिशा उनके लिए नहीं थी।

शायद संन्यासियों का मजाक भी वे इसीलिए उड़ाते रहे होंगे, क्योंकि हम मजाक भी अकारण नहीं उड़ाते। अक्सर तो ऐसा होता है कि हम मजाक उन्हीं की उड़ाते हैं जिनसे हमारीर् ईष्या होती है। जैसे तुम पाओगे, सरदारों का मजाक पूरे मुल्क में उड़ाई जाता है। उसमें कुछ कारण है: सरदारों सेर् ईष्या है।र् ईष्या के कारण भी साफ हैं: सरदार तुमसे ज्यादा मजबूत। गर्दन दबा दे तो तुम्हारी चीं बोल जाए! तो पूरे भारत में सरदार पास में खड़ा हो तो तुम्हें बेचैनी तो होती है, कि यह आदमी ज्यादा ताकतवर है, अब इससे बदला कैसे लो! इससे झगड़ा-झांसा करने में सार नहीं है। तो हम मजाक उड़ाते हैं, हम मखौल करते हैं। वह मखौल झूठ है। वहर् ईष्या के कारण है।

पश्चिम में यहूदियों का मजाक उड़ाया जाता है। जितनी मजाकें हैं, यहूदियों के खिलाफ हैं। उसके भी पीछे कारण हैं। यहूदी की प्रतिभा से बड़ीर् ईष्या है। जहां यहूदी पैर रख दे, वहां से दूसरों को हट जाना पड़ता है। जितनी नोबल प्राईज यहूदियों को मिलती उतनी दुनिया में किसी को नहीं मिलती। एक तरफ सारी दुनिया और एक तरफ यहूदी अकेले। उनकी संख्या ज्यादा नहीं है, लेकिन नोबल प्राईज वे इतनी मार ले जाते हैं कि चकित होना पड़ता है कि मामला क्या है!

इस सदी को जिन तीन लोगों ने प्रभावित किया है, वे तीनों के तीनों यहूदी थे--माक्र्स, फ्रायड, आइंस्टीन। यह सारी सदी, बीसवीं सदी, यहूदियों से प्रभावित है। यह सारी सदी यहूदियों के आधार से चल रही है। हिटलर इसीलिए कम्यूनिज्म के खिलाफ था, क्योंकि वह कहता था कि यह भी यहूदियों का षडयंत्र है। यह जो माक्र्स है, यह इसने एक नई तरकीब निकाली है दुनिया पर कब्जा करने की। मगर आधी दुनिया पर कब्जा कर भी लिया है। फिर फ्रायड है; उसने सारे मनोविज्ञान पर कब्जा कर लिया है। आदमी के मनस के संबंध में मालिक हो गया है। उधर अलबर्ट आइंस्टीन है; उसने सारे विज्ञान पर कब्जा कर लिया है।

यहूदी जहां पैर रख दे--राजनीति में रखे तो राजनीति में, बाजार में रखे, धन की दौड़ में रखे तो धन में--वह सब जगह पराजित कर देता है लोगों को। उसके पास प्रतिभा है। उस प्रतिभा से बेचैनी होती है,र् ईष्या होती है। तो मजाक में बदला लेते हैं हम।

मजाक का खयाल रखना। तुम उसी का मजाक उड़ाते हो जिससे तुम्हारीर् ईष्या होती है।

तो मैत्रेय से मैं कहता हूं: संन्यासियों का तुमने मखौल उड़ाया होगा, क्योंकि संन्यासी से तुम्हारे भीतर मन में बड़ीर् ईष्या रही होगी कि यह तुम्हें होना था और तुम नहीं हो पाए।

किसी संन्यासी के वरद शाप के कारण नहीं--तुम्हारे भीतर ही संन्यासी में लगाव था, रस था। तुम संन्यासी की उपेक्षा नहीं कर सकते थे। और तुम यह भी नहीं मान सकते थे कि संन्यासी सही है, क्योंकि अगर संन्यासी सही तो तुम गलत हो। तो मखौल उड़ाते थे। लेकिन कहीं तुम्हें लगता रहा होगा अचेतन में, कि संन्यासी सही है, उसकी दिशा सही है। वह तुम्हारी आत्म-सुरक्षा (डिफेन्स) का उपाय था--मजाक।

अगर तुम मुझे मिले होते, कभी भी मिले होते तो तुम चक्कर में पड़ते। क्योंकि मैं कुछ ऐसा संन्यासी हूं, जो संन्यासी जैसा है ही नहीं। इसलिए बहुत लोग मेरे चक्कर में पड़ जाते हैं। जो संन्यासियों के सदा खिलाफ रहे वे आ कर मेरे पास संन्यास ले लेते हैं। जो धर्म के सदा खिलाफ रहे, वे मेरे पास आ कर ध्यान करने लगते हैं। मेरे पास नास्तिक आते हैं और कहते हैं, "बड़ी मुश्किल और आस्तिकों से तो हम लड़ लेते हैं, आपसे लड़ना नहीं हो पाता।" मैं नास्तिक, महानास्तिक-- मुझसे लड़ोगे कैसे? तुम एक नास्तिक चाल चलो, मैं दो नास्तिक चाल चलता हूं। मेरी आस्तिकता, नास्तिकता के विपरीत नहीं है--नास्तिकता के ऊपर है। मैं नास्तिकता को सीढ़ी बना लेता हूं। मैं कहता हूं, चलो यह खेल भी थोड़ी देर खेल लें। नास्तिक हो तो चलो नास्तिकता का खेल खेल लें। नास्तिकता मेरे लिए आस्तिकता की सीढ़ियां बन गई। संसार को मैंने संन्यास की सीढ़ी बनाया। इसलिए जो किसी भी प्राचीन परंपरागत संन्यासी से प्रभावित न होंगे, वे मेरी प्रतीक्षा ही कर रहे हैं। वे जब भी मेरे संपर्क में आएंगे, उनको डूब जाना पड़ेगा।

मैंने कुछ फूल चुने
मैंने कुछ गीत बुने
अपनी महफिल को सजाने के लिए
अपने जीवन को बिताने के लिए
खाए कितने ही फरेब
अपने मन को बहलाने को
कच्चे धागों से कई जाल बुने
मैंने कुछ फूल चुने।
आसपास अपने बुनी सपनों की ठंडी छाया
मन लुभाती रहीं सुंदर काया
फिर भी यह आस की माया
मैंने दिन-रैन कभी चैन नहीं क्यों पाया!
मैंने कुछ गीत बुने गीत सुने
जो सुने सर धुने
इन मधुर गीतों की लय में खोकर
मुस्कुराते हुए भोले मन को
मैंने बहलाया है
रूप-रस पाने का भ्रम खाया है!
मैंने जो फूल चुने
मैंने जो गीत बुने
मन को उन फूलों ने
उन गीतों ने गर्माया है
नौजवानी के हसीं ख्वाबों ने
चंद रातों में, मुलाकातों में
मुझको बहलाया है
रूप माया में मगर

सुख मेरे मन ने कहां पाया है!

तो "मैत्रेय जी" तुम्हारे सपने थे सब, खूब तुमने बुने। वे सब सपने थे, टूटने को ही थे। उनमें शांति न मिली, सुख न मिला, छाया न मिली। ज्वर मिला, बीमारी मिली, तनाव मिला, संताप मिला--शांति न मिली! संसार से थके-हारे को, महत्वाकांक्षा से थके हारे को--संन्यास के अतिरिक्त और शरण कहां! हारे को हरिनाम!

आखिरी प्रश्न: मैं तेरे मैकदे के काबिल हूं,
यह हरगिज मैंने कहा नहीं।
इम्तिहां और भी बाकी हैं क्या,
क्या है, जो मैंने सहा नहीं?

मैं तेरे मैकदे के काबिल हूं,
यह हरगिज मैंने कहा नहीं।

इसीलिए तुम मेरे मैकदे के काबिल हो। जिसने यह कहा कि मैं काबिल हूं, वह नाकाबिल है। जिसने कहा, मेरी कोई योग्यता नहीं, उसे मैं अपनी मधुशाला में भरती कर लेता हूं। योग्यों की यहां कोई जगह नहीं। अहंकारियों के लिए यहां कोई उपाय नहीं।

"मैं तेरे मैकदे के काबिल हूं
यह हरगिज मैंने कहा नहीं।"

ठीक इसीलिए, बिलकुल ठीक इसीलिए, मेरे द्वार तुम्हारे लिए खुले हैं। यह मेरी मधुशाला तुम्हारा मंदिर है। यहां न ज्ञानियों की जरूरत है; न पंडितों की। यहां न पुण्यात्माओं की जरूरत है; न साधु-महात्माओं की। यहां तो उनकी जरूरत है जो विनम्र हैं और झुकने की जिनकी तैयारी है।

"इम्तिहां और भी बाकी हैं क्या,
क्या है, जो मैंने सहा नहीं?"

कोई इम्तिहां बाकी नहीं है। अगर तुमने जो सहा है, उसे मूर्च्छा में नहीं सहा है तो फिर कोई इम्तिहां बाकी नहीं है। तुमने जो सहा है, अगर होशपूर्वक सह लिया है तो तुम आ गए हो साक्षी के किनारे; वह घटना घटने के ही करीब है, किसी भी क्षण घट सकती है। लेकिन अगर मूर्च्छा में सहा है तो एक इम्तिहान बाकी है। और वह है जागने का। जो-जो मूर्च्छा में सहा है, अब उसे जाग कर सह लो। जो भी तुम जाग कर सह लोगे उससे तुम मुक्त हो जाओगे।

जब से तेरी लगन लगी है हमें
हम परीदा-हवास रहते हैं।
दिल की दूरी अगर न हायल हो
पास ही तेरे दास रहते हैं।
जब से तेरी लगन लगी है हमें
हम परीदा-हवास रहते हैं।

तब से हमारी बुद्धि का होश उड़ गया! जिनकी बुद्धि का होश उड़ गया है, वही मेरे काम के हैं।

जब से तेरी लगन लगी है हमें
हम परीदा-हवास रहते हैं।
दिल की दूरी अगर न हायल हो
पास ही तेरे दास रहते हैं।

बस जरा-सी दूरी रह गई है। वह दूरी है तुम्हारे मूर्च्छित हृदय की। वहां थोड़ा जागरण का दीया जल जाए, फिर कोई दूरी नहीं। और वही मूर्च्छा सब दुखों का कारण है।

बेहिस वीरानी छाई है
अलबेले अरमां रूठे
अक्ल ने कैसी बेदर्दी से
दिल की बस्ती लूटी है!

बुद्धि ने तुम्हें लूटा है। तुम बुद्धि के हाथों लूटे गए हो।

बेहिस वीरानी छाई है
अलबेले अरमां रूठे
अक्ल ने कैसी बेदर्दी से
दिल की बस्ती लूटी है!
गुमसुम रहते हैं दुख सहते
हाले-दिल किससे कहते?
अपने-आप से छूट गए हम
तेरी गली क्या छूटी है!

वह जो प्रभु की गली है--प्रेमगली अति सांकरी तामें दो न समाय--वह जो प्रभु की गली है, जहां केवल एक ही समा सकता है, वह छूट गई उसी दिन, जिस दिन तुम हुए।

गुमसुम रहते हैं दुख सहते
हाले-दिल किससे कहते?
अपने-आप से छूट गए हम
तेरी गली क्या छूटी है!

अगर उस गली में फिर, अगर उस वृंदावन की गली में फिर प्रवेश करना हो--तब अपने को छोड़ो! उतनी-सी दूरी है। बस तुम्हारे "मैं" की दूरी ही एकमात्र दूरी है। एक ही कदम उठाना है--"मैं" से "न-मैं" में; अहंकार से निरहंकार में--और शेष सब अपने से हो जाता है। मधुशाला के द्वार खुले हैं। तुम "मैं" को बाहर रख कर आ सको तो यह मैकदा तुम्हारा है।

हरि ॐ तत्सत्!

सत्रहवां प्रवचन

परीक्षा के गहन सोपान

अष्टावक्र उवाच।

इहामुत्र विरक्तस्य नित्यानित्यविवेकिनः।
आश्चर्यं मोक्षकामस्य मोक्षादेव विभीषिका।। ५३।।
धीरस्तु भोज्यमानोऽपि पीडयमानोऽपि सर्वदा।
आत्मानं केवलं पश्यन् न तुष्यति न कुप्यति।। ५४।।
चेष्टमानं शरीरं स्वं पश्यत्यन्यशरीरवत्।
संस्तवे चापि निंदायां कथं क्षुभ्येत् महाशयः।। ५५।।
मायामात्रमिदं विश्वं पश्यन् विगतकौतुकः।
अपि सन्निहिते मृत्यौ कथं त्रस्यति धीरधीः।। ५६।।
निस्पृहं मानसं यस्य नैराश्येऽपि महात्मनः।
तस्यात्म ज्ञानतृप्तस्य तुलना केन जायते।। ५७।।
स्वभावादेव जानानो दृश्यमेतन्न किंचन।
इदं ग्राह्यमिदं त्याज्यं स किं पश्यति धीरधीः।। ५८।।
अन्तस्त्यक्तकषायस्य निर्द्वन्द्वस्य निराशिषः।
यदृच्छयागतो भोगो न दुःखाय न तुष्टतेये।। ५९।।

एक फूल का खिल जाना ही,
उपवन का मधुमास नहीं है।
बाहर घर का जगमग करना,
भीतर का उल्लास नहीं है।

ऊपर से हम खुशी मनाते,
पर पीड़ा न जाती घर से।
अमराई के लहराने पर भी,
सुलगा करते हैं भीतर से।
रेतीले कण की तृप्ति से,
बुझती अपनी प्यास नहीं है।
एक फूल का खिल जाना ही,
उपवन का मधुमास नहीं है।

इधर गरजता काला बादल,
आग उगलता सागर गहरा।
कुटि पुरानी संन्यासिन पर,
अवसादों का निशि-दिन पहरा।
इक पहरे का सो जाना ही,
मुक्ति का आभास नहीं है।

एक फूल का खिल जाना ही,

उपवन का मधुमास नहीं है।

खतरा इसका है कि एक फूल के खिल जाने को कोई समझ ले वसंत का आगमन हो गया! जब तक कि पूरे प्राण ही न खिल जाएं, जब तक कि पूरी चेतना ही कमलों से न ढक जाए, जब तक कि सारा अंतस्तल प्रकाश से मंडित न हो जाए...।

एक किरण के उतर लेने को सूर्य का आगमन मत मान लेना, और एक फूल के खिल जाने को मधुमास मत मान लेना। इसलिए गुरु के द्वारा परीक्षा जरूरी है। हम इतने अंधेरे में रहे हैं, इतने जन्मों, जीवनों, कि जरा-सी भी तृप्ति की झलक--और हमें लगता है आ गया मोक्ष का द्वार! जरा-सी सुगंध--लगता है पहुंच गए उस महा उपवन में। आंख में प्रकाश का सपना भी डोल जाए तो लगता है--हो गया सूर्योदय।

हमारा लगना भी ठीक है, क्योंकि हमने कभी दुख के सिवाय कुछ जाना नहीं। सुख की जरा-सी पुलक, सिहरन, जरा-सा रोमांच हमें आह्लादित कर जाता है। हम नर्क में ही जीए हैं; स्वर्ग का स्वप्न भी हमें तृप्ति देता मालूम पड़ता है।

लेकिन गुरु की जरूरत ही यही है कि वह हमें जगाए जाए; वह कहे, अभी बहुत फूल खिलने को हैं; वह हमें रुकने न दे, वह हमें बढ़ाए चले; वह कहे चले: और आगे, और आगे...! वह तब तक हमें न ठहरने दे, जब तक कि समस्त जीवन सुगंध से न भर जाए; जब तक कि प्राणों का कोना-कोना ही प्रकाश से आच्छादित न हो जाए; जब तक कि हम स्वयं प्रकाश-रूप न हो जाएं; हमारे भीतर सिवाय प्रकाश के और कुछ भी न बचे। तभी जानना कि हुआ वसंत का आगमन।

एक फूल का खिल जाना ही,

उपवन का मधुमास नहीं है।

और एक पहरे का सो जाना ही,

मुक्ति का आभास नहीं है।

इसलिए जनक का यह जो आनंद है, इसको अष्टावक्र ने चुपचाप स्वीकार नहीं कर लिया। इसकी वे बड़ी कसौटी करने लगे। कहीं ऐसा तो नहीं है कि बहुत दिन का भूखा-प्यासा रूखी-सूखी रोटी पा गया है और समझ रहा है कि मिल गया अंतिम? ऐसा तो नहीं है कि बहुत थका-मांदा धूप का, जरा-सी छाया में बैठ गया है--चाहे खजूर के वृक्ष की छाया ही क्यों न हो--और सोचता है, आ गया कल्पवृक्ष के नीचे? क्योंकि हम जो भी देखते हैं, वह हमारे अतीत अनुभव से देखते हैं।

एक गरीब आदमी को एक रुपया पड़ा हुआ मिल जाए तो आह्लादित हो जाता है। अमीर को एक रुपया पड़ा हुआ मिले, तो कुछ भी पड़ा हुआ नहीं मिला। रुपया वही है, लेकिन गरीब अपने अतीत से तौलता है, अमीर अपने अतीत से तौलता है। बहुत है उसके पास; उसमें एक रुपये के जुड़ने से कुछ भी नहीं जुड़ता। गरीब के पास कुछ भी नहीं है; उसमें एक रुपये का जुड़ जाना, जैसे सारे जगत की संपदा का जुड़ जाना है। रुपया तो वही है, लेकिन हमारी प्रतीति तुलनात्मक और सापेक्ष होती है। हम अपने ही अनुभव से देखते हैं।

मैं कल एक छोटी-सी कहानी पढ़ता था। एक भूतपूर्व महाराजा ने अपने संस्मरणों में लिखी है, कि उन्होंने एक नए नौकर को नौकरी पर रखा। और उसे हुक्म दिया: झिनकू, पीकदान उठा कर ला। झिनकू की समझ में नहीं आया। पीकदान शब्द उसने कभी सुना ही नहीं था। थूकने के लिए भी स्वर्णपात्र होते हैं, यह उसका अनुभव न था। कोने में ही रखा है स्वर्णपात्र--हीरे-जवाहरातों से जड़ा।

सम्राट ने फिर कहा कि समझ में नहीं आया रे? अबे, वह कोने में जो स्वर्णपात्र रखा है, उसे उठा कर ला।

झिनकू ने पीकदान में झांक कर देखा और बोला: तनिक रुको हजूर! एह में कौन्हों मूरख थूकी मरा है। मेहतरवा बुलाई...।

पीकदान गरीब का अनुभव नहीं है! वह तो कहीं भी थूकता रहता है; सारी पृथ्वी पीकदान है। और स्वर्णपात्र! थूकने के लिए सोने का पात्र!

हम अपने अनुभव से तौलते हैं। हम जो भी व्याख्या करते हैं जीवन की, वह व्याख्या हमसे आती है।

तो अष्टावक्र सोचते हैं: जनक ने कभी जाना नहीं यह अहोभाव, यह आश्चर्य, यह अपूर्व घटना कभी घटी नहीं--कहीं ऐसा तो नहीं है, एक फूल के खिल जाने को मधुमास का आगमन समझ बैठा हो?

जिसने फूल देखे ही नहीं, जो मरुस्थलों में ही जीया हो, वह एक फूल के आगमन को भी मधुमास समझ सकता है। उसके भीतर की भूख धोखा दे सकती है। इसी तरह तो मृग-मरीचिका पैदा होती है। मरुस्थल में जब कोई भटक जाता है, घंटों और दिनों की प्यास से जब घिर जाता है, तो मृग-मरीचिका पैदा होती है। यही आदमी अगर तृप्त हो, इसके पास जल की बोतल हो, सुराही हो और जब प्यास लगे, तब यह अपना जल पी ले--तो मृग-मरीचिका नहीं होती। लेकिन जब प्यास बहुत हो जाती है और प्राण तड़पने लगते हैं, और मरुस्थल में कहीं कोई उपाय नहीं देखता कि कहीं कोई जलधार है, कि कोई मरूद्यान है, फिर भ्रम होने शुरू होते हैं। फिर किरणों के ही नियम के आधार पर इसे दूर मरूद्यान दिखाई पड़ने लगता है। मरूद्यान का धोखा किरणों के कारण जितना होता है, उससे भी ज्यादा प्यास के कारण होता है। प्यास इतनी है कि जो नहीं है, उसे भी देख लेने की आकांक्षा होने लगती है। प्यास इतनी है कि जो नहीं है, उसका भी स्वप्न हम साकार कर लेते हैं।

प्यासे को मृग-मरीचिका का भ्रम हो जाता है। भयभीत को रस्सी में सांप दिख जाता है। रस्सी में सांप नहीं होता--भय में होता है। अगर बहुत बार सांप से मुकाबला हुआ हो और बहुत बार सांप का दंश झेला हो और सांप की घबड़ाहट प्राणों में बैठ गई हो, तो रस्सी में सांप दिख जाए, इसमें आश्चर्य नहीं। रस्सी में सांप नहीं होता--देखने वाले की आंख और उसके भय में होता है, उसे आरोपित कर लेता है।

तो अष्टावक्र परीक्षा ले रहे हैं इसीलिए। हो भी सकता है सूर्योदय हुआ हो, और हो भी सकता है सिर्फ अंधेरे में रहने के कारण प्रकाश का सपना देखा हो।

फिर दूसरी बात--इसके पहले कि हम सूत्र में उतरें--जिसके अनुभव में आता है, अनुभव तो सत्य है। जैसे मैंने जाना तो वह मेरे लिए सत्य है--तुमसे कहा, वह असत्य होना शुरू हो गया। सत्य कहते ही असत्य होना शुरू हो जाता है। जब तक मैंने अपने भीतर रखा--जो मैंने जाना--तब तक वह सत्य है; क्योंकि मैंने जाना, अनुभव किया, वह मेरी प्रतीति है, मेरा साक्षात्कार है। जैसे ही तुमसे कहा, शब्द बनाए, व्यवस्था दी, संवाद किया, तुम तक पहुंचाया--वह असत्य होना शुरू हो गया। पहले तो जब मैंने शब्दों में बांधा निःशब्द को, तब बहुत कुछ टूट गया। जब मैंने विराट को भरा छोटे-से आंगन में, तब बहुत कुछ छूट गया। जब सुबह की ताजगी को शब्दों की मंजूषा में कैद किया, तब कुछ मर गया। जैसे सुबह का सूरज निकला है, नाचती किरणें हरे वृक्षों को पार करती हैं, वृक्ष मस्ती में मदमाते हैं, सुबह की हवा आनंद से नाचती-भागती है, खिलखिलाती, ठिठलाती है--इस सबको तुम एक छोटी-सी पेटी में बंद कर लो। तुम जाओ उस जगह जहां सूरज की किरणें वृक्ष से छन-छन कर जमीन पर गिर रही हैं और हवा ने जहां पत्तों के साथ रास रचाया है, और जहां गंध है, और जहां सुबह का ताजा माधुर्य है--तुम इसे एक पेटी में बंद कर लो। पेटी तुम उठा कर ले आओ--खाली पेटी ही आती है! शायद थोड़ी-बहुत भनक आ जाए सुगंध की। लेकिन कैसे बांधोगे प्रकाश को? और सुगंध भी पेटी में बंद होते ही जल्दी ही दुर्गंध हो जाएगी।

जो जाना जाता है, वह तो है शून्य में, मौन में, प्रगाढ़ निःशब्द में; फिर जैसे ही शब्द में रखा-- अस्तव्यस्त हुआ। फिर कठिनाई यही नहीं है। शब्द में रखने से आधा सत्य तो मर जाता है, आधा भी बच जाए तो बहुत; यह कहने वाले की कुशलता पर निर्भर है।

इसलिए दुनिया में ज्ञानी तो बहुत होते हैं, सदगुरु बहुत नहीं। सदगुरु का अर्थ है: जिसने जाना और जो ऐसी कुशलता से कह देता है कि सत्य का कुछ अंश तो पहुंच ही जाए तुम तक। शिष्य तक कुछ पहुंच जाए, ऐसी कुशलता का नाम सदगुरु है। ज्ञानी तो बहुत होते हैं।

बुद्ध को किसी ने पूछा है एक दिन कि ये दस हजार भिक्षु हैं तुम्हारे, वर्षों से तुम्हारे साथ हैं, जीवन अर्पित किया है, साधना की है, साधना में लगे हैं, इनमें से कितने बुद्धत्व को उपलब्ध हुए? बुद्ध ने कहा: इनमें से बहुत उपलब्ध हुए हैं, बहुत उपलब्ध हो रहे हैं, बहुत उपलब्ध होने के मार्ग पर हैं। कुछ चल पड़े हैं, कुछ पहुंचने के करीब हैं, कुछ पहुंच भी गए हैं।

पूछने वाले ने कहा, इस पर भरोसा नहीं आता, क्योंकि इनमें से आप जैसा तो कोई भी नहीं दिखता। बुद्ध हंसने लगे। उन्होंने कहा: यह सच है। बुद्ध होने से ही कोई दिखाई नहीं पड़ता, जब तक कि बुद्धत्व को अभिव्यक्ति न दे; जब तक कि बुद्धत्व को बोले न; जब तक कि बुद्धत्व को गुनगुनाए नहीं, गीत न बनाए; जब तक कि बुद्धत्व को बांधे नहीं छंद और मात्रा में; जब तक कि बुद्धत्व को दूसरे तक पहुंचाए नहीं। जब तक बुद्धत्व संवादित न हो, तब तक पता कैसे चले? और जब तक मैं जीवित हूं, तब तक ये बोलेंगे भी नहीं। क्योंकि ये कहते हैं, जब आप मौजूद हैं तो हम बोलें क्या? आपकी मौजूदगी में क्या बोलें? इनमें बहुत पहुंच गए हैं। बहुत तो बोलेंगे भी नहीं, क्योंकि बोलना एक अलग कुशलता है।

पा लेना एक बात है, बोलना बड़ी दूसरी बात है। पा लेने वाले को जैनशास्त्र कहते हैं: केवली, जिन। और बता देने वाले को जैनशास्त्र कहते हैं: तीर्थंकर। हजारों "केवली" होते हैं, तब कहीं एकाध तीर्थंकर होता है। तीर्थंकर का अर्थ है: जो खुद ही पार नहीं हुआ, बल्कि जिसने घाट बनाया, नाव बनाई, औरों को भी बिठाया नाव में, घाट से उतारा और चलाया। तीर्थ यानी घाट। तीर्थंकर यानी घाट को बनाने वाला; खुद तैर कर तो बहुत लोग पार हो जाते हैं, लेकिन दूसरों को नाव पर ले जाने वाला।

पर ध्यान रखना, जैसे ही--बड़े से बड़ा तीर्थंकर हो, बड़ा से बड़ा सदगुरु हो--जैसे ही शब्द देता अनुभव को, अनुभव झूठ होने लगता है। उसमें से कुछ तो तत्क्षण मरने लगता है; अंश ही पहुंचता है। फिर पहुंचने वाले पर निर्भर है कितना पहुंचेगा। पहले तो बोलने वाले पर निर्भर है कितना भर पाएगा; फिर सुनने वाले पर निर्भर है कितना खोल पाएगा!

तो सभी सुन रहे हो तुम, लेकिन सभी उतना ही न खोल पाओगे, एक जैसा न खोल पाओगे। कोई बहुत खोल लेगा, कोई तुम्हारे पास में ही बैठा हुआ गदगद हो जाएगा और तुम चौंकोगे कि क्या यह आदमी पागल है! उसने कुछ तुमसे ज्यादा खोल लिया। उसके हृदय तक बात पहुंच गई। तुम्हारे शायद सिर में ही गूंजती रह गई। शायद तुम शब्दों का ही हिसाब बिठाते रहे। उस तक मर्म पहुंच गया।

फिर तुम पर निर्भर है कि कितना तुम खोलोगे। लेकिन फिर कुछ सत्य मरेगा तुम्हारे खोलने में। जो बांधा गया है शब्दों में, वह शब्दातीत है। फिर शब्द से तुम्हें शब्दातीत को छांटना होगा; शब्द से फिर तुम्हें अर्थ को अलग करना होगा; फिर शब्द की परिधि तोड़नी होगी, सीमा तोड़नी होगी, असीम को फिर मुक्त करना होगा।

एक पक्षी को, अनंत के पक्षी को पिंजरे में रख कर मैं तुम्हें देता हूं। उनमें से बहुत से तो ऐसे हैं कि पिंजरे के सौंदर्य पर मोहित हो जाएंगे, पक्षी को भूल जाएंगे। बहुत-से तो ऐसे हैं, पिंजरे को सिर पर ले कर चलने लगेंगे, पक्षी की उन्हें याद नहीं आएगी, पहचान भी न होगी।

पिंजरे के लिए पिंजरा नहीं दिया था; भीतर एक जीवंत पक्षी है, उसके दिए दिया था। पिंजरा तो बनाया ही इसलिए था कि पक्षी तुम तक पहुंच जाए, नहीं तो मेरे हाथ से उड़ेगा और तुम तक कभी पहुंचेगा नहीं।

इसलिए शब्द का, शास्त्र का पिंजरा है; सिद्धांत का, भाषा का पिंजरा है। उसे जितना सुंदर बना सकें, बनाने की कोशिश की जाती है, ताकि उसके सौंदर्य से तुम उसके भीतर प्रवेश पाने की आकांक्षा से भरो; ताकि

तुममें प्यास उठे कि जो बाहर से इतना सुंदर है पिंजरा, भीतर भी देखें! लेकिन बहुत हैं, जो पिंजरे को सम्हाल कर रख लेंगे; वे पंडित हो जाएंगे। वे दोहराने लगेंगे मेरे शब्दों को; वे मेरे पिंजरे को ले कर घूमने लगेंगे और दिखाने लगेंगे लोगों को कि देखो, कैसा सुंदर पिंजरा है! कैसा सुंदर दर्शनशास्त्र, कैसा प्यारा सिद्धांत, कैसा हृदयग्राही मंतव्य, कैसी बात कही, कैसी भा गई मन को, कैसी रच गई, कैसी रंग से भरी, कैसी इंद्रधनुषी! मगर भूल जाएंगे कि पिंजरे के लिए पिंजरा नहीं दिया था। कुछ उनमें से पिंजरे के भीतर छिपे पक्षी को भी पहचान लेंगे, लेकिन उसे पिंजरे से मुक्त न कर पाएंगे; वह पिंजरे में ही बंद रहेगा। अगर बहुत ज्यादा दिन बंद रह गया, तो पक्षी की उड़ने की क्षमता खो जाएगी।

मुझसे शब्द मिलें तो देर मत करना, उसे जल्दी निःशब्द में खोल लेना। तुम मुझसे जो सुनो, देर मत करना, उसे ध्यान में जल्दी ही रूपांतरित कर लेना। क्योंकि जितनी देर हो जाएगी, उतनी ही कठिनाई हो जाएगी। इधर सुनो, उधर ध्यान में मुक्त कर लेना। इधर मैं पिंजरा तुम्हारे हाथ में दूं, तुम रुकना मत! पिंजरा हाथ में लेते ही द्वार खोलना, पक्षी को मुक्त कर लेना। अगर ज्यादा देर हो गई, तुमने कहा कल करेंगे, तुमने कहा परसों करेंगे, तुमने कहा जब सुविधा होगी तब करेंगे, अभी तो नोट-बुक में लिख लें, फिर पीछे अर्थ निकाल लेंगे, फिर सोच लेंगे, जल्दी क्या है? सुविधा से, मौके पर--तो तुम जब अर्थ निकालने जाओगे, तब तक अर्थ मर चुका होगा; शब्द ही रह जाएंगे, पिंजरा ही रह जाएगा। तुमने अगर पक्षी मुक्त न किया, तो पक्षी मर चुकेगा। फिर तुम जब खोलोगे भी, तो लाश मिलेगी; उसके प्राण तो जा चुके होंगे, क्योंकि उसके प्राण तो अनंत के हैं, उसके प्राण तो शून्य के हैं, उसके प्राण तो आकाश के हैं। वह पक्षी पिंजरे में रहने को बना नहीं। देह पड़ी रह जाएगी, प्राण का पखेरू तो उड़ जाएगा। फिर तुम उस देह की कितनी ही पूजा करो, तो भी उसमें प्राण न आएंगे। ऐसे ही तो तुम पूजा कर रहे हो मंदिरों में, मस्जिदों में, गुरुद्वारों में--मरे पक्षियों की पूजा कर रहे हो! अब प्राण डाले नहीं जा सकते हैं। तुमने अवसर खो दिया।

सदगुरु से जब वचन निकले तो उसे तत्क्षण खोल लेना; उसमें एक क्षण की भी देरी खतरनाक है; जब वह गर्म-गर्म हो तभी खोल लेना; जब उसकी ऊष्मा समाप्त न हो गई हो...।

जब मैं तुम्हें दे रहा हूं कुछ तो वह गर्म है, ताजा है। तुम उसे रख कर मत बैठ जाना। तुम जा कर अपने फ्रिज में मत रख देना कि जब सुविधा होगी तब खोल लेंगे, जब जरूरत होगी तब निकाल लेंगे। वह मर जाएगा, उसकी ऊष्मा खो जाएगी; प्राण-पखेरू जा चुके होंगे, देह पड़ी रह जाएगी।

सत्य की पड़ी हुई देहों का नाम ही शास्त्र है। फिर तुम सिर पर रखो गीता और कुरान और बाइबिल, और लाख करो पूजा और लाख पटको सिर, चढ़ाओ फूल, अर्चना--सब व्यर्थ है; सब बिलकुल व्यर्थ है! इस आयोजन से अब कुछ होने वाला नहीं।

तो जब सदगुरु बोले, उसे तत्क्षण खोल लेना। इधर मैं बोलता जाऊं, उधर तुम खोलते चले जाना। तुम शब्द में बहुत ज्यादा मत उलझना; तुम अर्थ को मुक्त करते चले जाना। तुम फूल में मत उलझना, तुम तो सुवास को मुक्त करते चले जाना। तुम तो पिंजरे को भूल ही जाना। तुम तो मेरे साथ उड़ना आकाश में, तो ज्यादा पा सकोगे।

साधारणतः तो ऐसा नहीं होगा। तुम मुर्दा-मुर्दा पाओगे।

फिर अगर तुमने किसी दूसरे को कहा, जो तुमने मुझसे सुना, तब तो वह मरे से भी गया-बीता है; वह सड़ी हुई लाश है। और ऐसा ही हुआ है। ऐसे ही संप्रदाय बनते हैं। मैंने तुमसे कहा, तुम किसी और को कहोगे, वह किसी और को कहेगा, पीढ़ियां दूसरी पीढ़ियों से कहेंगी, एक समय दूसरे समय से कहेगा--उतरता चला जाता है। फिर सड़ती जाती है लाश। इसलिए तो धर्मों से इतनी दुर्गंध आती है और धर्मों के नाम पर इतने कत्ल होते हैं। और धर्मों से प्रेम नहीं फैला दुनिया में, घृणा फैली है। और धर्मों से संघर्ष हुआ, हत्याएं हुईं, युद्ध हुए; प्रार्थना

नहीं उतरी, परमात्मा का द्वार नहीं खुला। धर्मों से शैतान की शक्ति बढ़ी, परमात्मा की शक्ति नहीं बढ़ी। क्योंकि तुम जिसे धर्म कहते हो, वह सड़ी हुई लाश है।

अष्टावक्र पूछने लगे, बार-बार चोट करने लगे जनक को। क्योंकि जब गुरु देता है, तो वह यह जानना चाहता है कि तुम तक जीवित पहुंचा? जीवंत पहुंचा? ऊष्ण था तभी पहुंचा? तुमने खोला ठीक-ठीक? कहीं तुम शब्द से तो आंदोलित नहीं हो गए? कहीं यह जनक पिंजरा ही तो नहीं हिला रहा है? इसके भीतर पक्षी भी है? जीवित पक्षी है? उस जीवित पक्षी को मुक्त करने की चेष्टा इसने की है या केवल शब्द-जाल में पड़ गया? क्योंकि जो-जो अष्टावक्र ने कहा, वही-वही जनक ने दोहरा दिया है--सिर्फ "आश्चर्य" शब्द जोड़-जोड़ कर वही-वही दोहरा दिया है। तो कहीं यह पुनरुक्ति तो नहीं? कहीं यह यांत्रिक स्मृति तो नहीं? कहीं यह जनक बहुत स्मृतिवान व्यक्ति तो नहीं? यह वस्तुतः इसे हो रहा है जो यह कह रहा है?

तो अष्टावक्र सब तरफ से खोदने लगे। ये सूत्र उनकी खुदाई के हैं। इनमें बड़ी करुणा है और बड़ी कठोरता भी। कठोरता, कि जनक तो अहोभाव की बात कर रहे हैं और अष्टावक्र परीक्षा लेने लगे। करुणा, क्योंकि परीक्षा अगर समय पर न ली जाए और समय खो जाए, तो फिर बात बेमौसम की हो जाती है, फिर उसका कुछ अर्थ नहीं रह जाता। तो अभी-अभी ताजीत्ताजी परीक्षा वे ले रहे हैं कि वह जो मैंने तुझे कहा है वह पहुंच गया तेरे हृदय तक? बन गया तेरा रक्त, मांस-मज्जा? तूने उसे रूपांतरित कर लिया अपने प्राणों में? वह तेरे अस्तित्व का हिस्सा हो गया? या केवल बुद्धि में भटकती हुई बात है? कि बुद्धि में भटकते हुए शब्द और विचार हैं? तू कहां से कह रहा है? तेरे भीतर हो गया--वहां से कह रहा है? या तूने मुझे सुन लिया और तू मेरे सामने ही मुझ ही को दोहरा रहा है? तू कहीं ग्रामोफोन का रिकार्ड तो नहीं?

इसका खतरा है ही। क्योंकि सदगुरुओं के वचनों की एक खूबी है कि वे बड़े प्यारे हैं। वे इतने प्यारे हैं कि उन पर भरोसा कर लेने का मन होता है। वे इतने प्यारे हैं कि उन पर विश्वास जगता है। यही खतरा है। अगर सत्य पर विश्वास जग गया तो खतरा है। खतरा यही है कि सत्य कभी विश्वास नहीं बन सकता। विश्वास तो सदा झूठ हो जाता है। विश्वासमात्र झूठ है। सत्य से जगनी चाहिए श्रद्धा, विश्वास नहीं।

मैंने तुम्हें एक बात कही, मैंने तुम्हें बड़ी प्यारी बात कही--तुम उससे मोहित हुए। तुमने मान ली कि बात इतनी प्यारी है कि सच होगी ही, कि जिसने कही उससे तुम्हें प्यार है, तो झूठ कैसे होगी? तो तुमने विवाद भी न किया, तुमने तर्क भी न किया। तुमने चुपचाप स्वीकार कर लिया। तुमने एक विश्वास बनाया, तुम उस विश्वास के सहारे जीने लगे--तुम झूठ के सहारे जीने लगे। मैंने कही थी, सच ही थी, लेकिन तुमने विश्वास बनाया तो झूठ हो गई; श्रद्धा बननी चाहिए।

क्या फर्क है श्रद्धा और विश्वास में? जब हम दूसरे को बिना अपने किसी अनुभव की गवाही के मान लेते हैं तो विश्वास। जब हम दूसरे को अपने अनुभव की कसौटी पर कस कर मानते हैं तो श्रद्धा। श्रद्धा अनुभव है। विश्वास दूसरे का अनुभव है, तुम्हारा नहीं। इससे सावधान रहना।

तो यह जो जनक कह रहा है विश्वास है या श्रद्धा, इसकी ही कसौटी अष्टावक्र करने लगे हैं।

अष्टावक्र ने कहा:

इहामुत्र विरक्तस्य नित्यानित्यविवेकिनः।
आश्चर्यं मोक्षकामस्य मोक्षादेव विभीषिका।।

"जो इहलोक और परलोक के भोग से विरक्त है जनक, और जो नित्य और अनित्य का विवेक रखता है, और मोक्ष को चाहने वाला है, वह भी मोक्ष से भय करता है--यही तो आश्चर्य है!"

तेरे भीतर कहीं मोक्ष का भय तो नहीं बचा है?

इसे समझना, यह बड़ा अदभुत सूत्र है! मोक्ष का भय? तुम कहोगे, मोक्ष का भय? स्वतंत्रता का भय? हम सभी स्वतंत्र होना चाहते हैं। यह बात क्या हुई कि स्वतंत्रता का भय? स्वतंत्रता से कौन भयभीत है?

लेकिन तुम्हें पता नहीं। अष्टावक्र ठीक कह रहे हैं। इस जगत में बहुत कम लोग हैं, जो स्वतंत्र होना चाहते हैं। सौ में निन्यानबे आदमी तो बातें करते हैं स्वतंत्रता की, लेकिन स्वतंत्र होना नहीं चाहते। परतंत्रता में बड़ी सुरक्षा है। मुक्त होने में बड़ा खतरा है, जोखिम! इसलिए लोग एक परतंत्रता से दूसरी परतंत्रता में उतर जाते हैं। बस, परतंत्रता बदल लेते हैं, लेकिन स्वतंत्र कभी नहीं होते। पूंजीवाद साम्यवाद बन जाता है, लेकिन कुछ फर्क नहीं होता। परतंत्रता वहीं की वहीं। एक की गुलामी दूसरे की गुलामी से बदल जाती है, मगर फर्क कोई भी नहीं पड़ता। आदमी स्वतंत्र होना ही नहीं चाहता।

तो इसे हम समझें। स्वतंत्रता का भय है। और मोक्ष तो परम स्वतंत्रता है, उसका तो बड़ा भय है।

जो बात अष्टावक्र ने उठाई है, उसे पांच हजार साल के बाद पश्चिम में मनोविज्ञान अब समझ पा रहा है। पश्चिम के बहुत बड़े मनोवैज्ञानिक, ऐरिक फॉम ने इस पर बड़ा जोर दिया, बड़ी खोज की है इस संबंध में--फीयर ऑफ फ्रीडम; स्वतंत्रता का भय! हम चाहते हैं कि कोई हमें बांध ले। इसीलिए तो लोग हमें बांध पाते हैं। तुम सोचते हो लोग बांध लेते हैं इसलिए तुम बंधे हो, तो तुम गलती में हो। जो नहीं बंधना चाहता, उसे कोई भी नहीं बांध सकता। तुम बंधना चाहते हो, इसलिए लोग बांध लेते हैं। तुम्हारे बंधने की चाह पहले है, बांधने वाला बाद में आता है। पहले मांग, फिर पूर्ति। तुम पुकारते हो कि कोई बांध ले, तो बांधने वाला आ जाता है। फिर तुम चीखते-चिल्लाते हो कि मुझे बांध लिया गया।

मेरे पास लोग आते हैं। वे कहते हैं, "बड़े बंधन में हैं! पत्नी है, बच्चे हैं!" मगर किसने तुम्हें कहा था? कौन तुम्हारे पीछे पड़ा था? और लाख लोग पीछे पड़े थे, अगर तुम्हें नहीं बंधना था तो कौन बांध सकता था? तुम भाग निकले होते। घर में आग लगी हो और तुम घर के भीतर बैठे हो, लाख तुम्हें लोग समझाएं कि अरे बैठे रहो, कोई हर्जा नहीं--तुम बैठ न सकोगे। तुम कहोगे, "हो गई समझदारी की बातें, मैं बाहर चला। तुम बैठो!" तुम भाग खड़े होते, अगर तुम्हें बंधन दिखाई पड़ता। लेकिन बंधन तुम्हें दिखाई पड़ा नहीं था।

और मजा यह है कि अगर यह पत्नी मर जाए तो बहुत संभावना है कि जल्दी ही तुम दूसरा विवाह करोगे। पत्नी के मरने के बाद ज्यादा दिन याद न रख सकोगे। मन नई कल्पनाएं करने लगेगा। मन कहेगा, "सभी स्त्रियां थोड़े ही एक जैसी होती हैं? यह दुष्ट मिल गई थी तो भाग्य की बात, अब सभी थोड़े ही दुष्ट मिल जाएंगी? दुनिया में अच्छी स्त्रियां भी हैं। अपनी पत्नी को छोड़ कर सभी स्त्रियां अच्छी हैं ही। कोई अच्छी स्त्री मिल जाएगी तो जीवन में सुख हो जाएगा।" फिर तुम खोजने लगे। देर नहीं लगेगी, जल्दी ही तुम फिर बंधन में पड़ जाओगे, फिर तुम चीखने-पुकारने लगोगे कि मैं बंधन में पड़ गया।

तुम्हीं बनाते हो अपने बंधन, क्योंकि बिना बंधन के रहने के लिए बड़ा साहस चाहिए। अनबंधा रहने के लिए बड़ा साहस चाहिए। क्योंकि बिना बंधन के रहने का अर्थ हुआ कि न कोई सुरक्षा है, कल का पता नहीं क्या होगा! पत्नी तुम क्यों खोज लाए हो?--कल की व्यवस्था के लिए। कल अगर तुम्हारे जीवन में कामवासना उठेगी तो कौन तृप्त करेगा? तो तुमने पत्नी खोज ली है, जो कल भी मौजूद होगी। पत्नी ने पति खोज लिया है; क्योंकि कल की क्या सुरक्षा है, भोजन कौन देगा, मकान कौन देगा, वस्त्र कौन देगा, अलंकरण कौन देगा! कल की सुरक्षा तुमने कर ली है, परसों की सुरक्षा कर ली है। लोगों ने आगे तक की सुरक्षा कर रखी है। फिर उस सुरक्षा में बंध गए हैं।

तुमने एक मकान बना लिया, तुमने बैंक में बैलेंस इकट्ठा कर लिया, तुमने धन-प्रतिष्ठा बना ली--अब तुम कहते हो, बड़ा बंध गया हूं! लेकिन कौन तुम्हें बांधता है? तुम बंधे हो इसलिए कि बंधन में कुछ सुरक्षा है--कल अगर बीमार हुए तो क्या होगा? मरने लगे तो क्या होगा?

मुहम्मद के जीवन में उल्लेख है, उनको जो कुछ मिलता दिन भर में, वे खाने-पीने के बाद जो बचता सांझ को बांट देते, रात भिखारी हो कर सो जाते। यह उनके जीवन भर की व्यवस्था थी। जिस रात मरे, उनकी पत्नी

ने यह सोच कर कि मौत करीब आती है, चिकित्सक कहते हैं बचने का अब कोई उपाय नहीं है, दवादारू की जरूरत पड़े, रात वैद्य बुलाना पड़े, हकीम बुलाना पड़े--तो उसने पांच रुपये बचा कर रख लिए, पांच दीनार बचा कर रख लिए।

बारह बजे रात मुहम्मद बड़े तड़पने लगे। उन्होंने अपनी पत्नी को बुलाया और कहा कि देख, मुझे लगता है कि मेरे जीवन भर का जो नियम था, वह टूटा जा रहा है मरने का वक्त। मैंने कल के लिए कभी कोई व्यवस्था नहीं की। और मुझे आज डर लग रहा है कि घर में कुछ रुपये हैं। अगर हों, तो जल्दी उन्हें तू बांट दे, नहीं तो परमात्मा के सामने आखिरी दिन लज्जित होना पड़ेगा। वह मुझसे पूछेगा: तो फिर आखिरी दिन तूने रुपये बचा लिए?

पत्नी तो घबड़ा गई कि इन्हें पता कैसे चला! उसने जल्दी से पांच दीनार जो बचाए थे, निकाल कर दे दिए कि क्षमा करें, मुझसे भूल हो गई! मैं तो यह सोच कर कि रात-बेरात, आधी रात जरूरत पड़ सकती है, फिर मैं कहां मांगूंगी?

तो मुहम्मद ने कहा: पागल, जिसने हर बार दिया है, हर दिन दिया है, इतने दिन तक दिया...। कभी हम भूखे मरे? कभी जरूरत पूरी नहीं हुई, ऐसा हुआ? जो सुबह देता है, सांझ देता है, वह आधी रात न दे सकेगा? तू जरा दरवाजे पर तो जा कर देख!

वह पांच दीनार ले कर गई, वहां एक भिखारी खड़ा है; वह कहता है, मुझे पांच दीनार की जरूरत है। वे पांच दीनार उस भिखारी को दे दिए गए।

मुहम्मद ने कहा: देख, लेने भी वही आ जाता है, देने भी वही आ जाता है। हम नाहक चिंता खड़ी कर लेते हैं। फिर चिंता में बंधते हैं, फिर बंधन से पीड़ित होते हैं और चिल्लाते हैं। अब मैं निश्चिंत हुआ। अब मैं उसके सामने सिर उठा कर खड़ा हो सकूंगा कि तू ही मेरा एकमात्र भरोसा था। तेरे अलावा मैंने भरोसा और किसी चीज में न रखा।

जिसका परमात्मा में भरोसा है, उसको फिर कोई बंधन नहीं। लेकिन परमात्मा में हमारा भरोसा नहीं है; भरोसा हमारा हजार और चीजों में है--इंश्योरेंस कंपनी में है, बैंक में है, स्त्री में है, पति में है, मित्रों में, परिवार में, पिता में, पुत्र में, सरकार में, और हमारे हजार भरोसे हैं!

नास्तिक भी जो अपने को कहता है, वह भी नास्तिक नहीं है। बैंक का जहां तक सवाल है, वह भी आस्तिक है; इंश्योरेंस कंपनी का जहां तक सवाल है, वह भी आस्तिक है; सिर्फ भगवान के संबंध में वह आस्तिक नहीं है।

आस्तिक का अर्थ है: जिसने अपना सारा भरोसा परमात्मा में रखा, जिसने सारा भरोसा जीवन की ऊर्जा में रखा, अस्तित्व में रखा।

जैसे ही रुपये बांट दिए, मुहम्मद हंसे और उन्होंने कहा: अब शुभ हुआ, अब ठीक घड़ी आ गई, अब मैं निश्चिंत जा सकता हूं। चादर उन्होंने अपने मुंह पर डाल ली और कहते हैं, प्राण उड़ गए। पत्नी ने चादर उघाड़ी, वहां तो लाश पड़ी थी, मुहम्मद जा चुके थे। जैसे वे पांच दीनार अटकाए थे! जैसे उनके कारण वे बेचैन थे, बोझ था, बंधन था!

हम कहते तो हैं कि हम स्वतंत्र होना चाहते हैं; लेकिन स्वतंत्र होने के लिए हम जो व्यवस्था करते हैं वही हमें बांध लेती है।

तुमने देखा, धन की आदमी आकांक्षा क्यों करता है? इसलिए ताकि स्वतंत्र हो। धन से स्वतंत्रता मिलती है, ऐसा खयाल है। ऐसी भ्रांति है कि जितना धन होगा, उतनी तुम्हारी स्वतंत्रता होगी; जहां जाना होगा जा सकोगे; जिस होटल में ठहरना होगा, ठहर सकोगे; हवाई जहाज में उड़ना होगा, हवाई जहाज में उड़ोगे; महल में रहना होगा, महल में रहोगे; जिस स्त्री को चाहोगे वह तुम्हारे पैर दाबेगी; जो कुछ तुम करना चाहोगे, कर

सकोगे। धन स्वतंत्रता देता है, इस आशा में आदमी धन इकट्ठा करता है। लेकिन धन इकट्ठा करने में ही बंध जाता है, बुरी तरह बंध जाता है! धन का बोझ भारी हो जाता है और छाती उसके नीचे टूटने लगती है।

यह तो हमारी साधारण स्वतंत्रता है। फिर परम स्वतंत्रता का नाम मोक्ष है।

अष्टावक्र कहते हैं: "सुन जनक, जो इहलोक और परलोक के भोग से विरक्त है और जो नित्य और अनित्य का विवेक रखता है...।"

जैसा तेरी बातों से लग रहा है। तेरी बातों से ऐसा लग रहा है कि तू तो बिलकुल मुक्त हो गया! न इस लोक की तेरी कोई आकांक्षा है, न परलोक की तेरी कोई आकांक्षा है। न तू यहां कुछ चाहता है, न स्वर्ग में कुछ चाहता है। और ऐसा लगता है तेरी बातों से कि तुझे तो विवेक उत्पन्न हो गया। तुझे तो पता है: अनित्य क्या है, नित्य क्या है; सार क्या, असार क्या? तुझे तो दिखाई पड़ गया है, ऐसा मालूम होता है। तुझे दर्शन हो गया है, ऐसा मालूम होता है। लेकिन फिर भी मैं तुझसे पूछता हूं कि मोक्ष को चाहने वाला मोक्ष से ही भय करे, इस आश्चर्य का तुझे पता है? कहीं तेरे भीतर मोक्ष से भी तो भय नहीं है अभी। अगर है, तो यह सब बातचीत है, जो तू कर रहा है। उस भय के कारण तू बंधा ही रहेगा, तू संसार निर्मित करता रहेगा।

हमने भय के कारण ही संसार निर्मित किया है। संसार यानी हमारे भय का विस्तार। और तब एक बड़े मजे की बात, कि तुम्हारा भगवान भी तुम्हारे भय का विस्तार; और तुम्हारा स्वर्ग भी तुम्हारे भय का विस्तार; तुम्हारा पुण्य भी तुम्हारे भय का विस्तार। तुम अगर पुण्य भी करते हो तो इसी भय से कि कहीं नर्क न जाना पड़े। तुम अगर पाप भी नहीं करते तो इसी भय से कि कहीं नर्क न जाना पड़े। तुम अगर पुण्य करते हो तो इसी भय से कि कहीं स्वर्ग न खो जाए, स्वर्ग की अप्सराएं और कल्पवृक्ष और शराब के बहते झरने न खो जाएं। तुम अगर मंदिर और मस्जिद में जा कर सिर टेक आते हो, तो सिर्फ इसीलिए कि परमात्मा अगर कहीं हो तो नाराज न हो जाए।

तुम्हारा धर्म तुम्हारे भय से निकलता है--अधर्म हो गया। इस जहर से अमृत न निकलेगा; इससे तो जहर ही निकलता है। भय से जो निकलता है, वह संसार है। तुम उसे परमात्मा कहो, स्वर्ग कहो, बहिश्त कहो, जो तुम कहना चाहो, लेकिन एक बात याद रखना, भय से संसार के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं निकलता। भय से मोक्ष कैसे निकलेगा? यह तो ऐसा होगा जैसे रेत से कोई निचोड़ ले तेल को। नहीं, यह होता नहीं।

भय से मोक्ष नहीं निकलता। अभय से मोक्ष निकलता है। फिर मोक्ष का भय क्या है? अष्टावक्र क्यों कहते हैं कि देख ले तू अपने भीतर खोजबीन करके, कहीं मोक्ष का भय तो नहीं है?

मोक्ष का भय क्या है? मोक्ष का भय महामृत्यु का भय है। मोक्ष तुम्हारी मृत्यु है। तुम्हारे मुक्त होने का एक ही अर्थ है: तुम्हारा बिलकुल मिट जाना। तब जो शेष बचेगा वही मोक्ष है; तुम जहां बिलकुल न रहोगे; तुम्हारी रूपरेखा भी न बचेगी; तुम बिलकुल खो जाओगे जहां।

मृत्यु में तो आदमी बचता है, मोक्ष में बिलकुल नहीं बचता। मृत्यु में तो शरीर खोता है; मन बचता है, अहंकार बचता है, संस्कार बचते हैं, सब कुछ बच जाता है, सिर्फ शरीर बदल जाता है। मृत्यु में तो केवल वस्त्र बदलते हैं; पुराने जीर्ण-शीर्ण वस्त्र छूट जाते हैं, नए वस्त्र मिल जाते हैं। मोक्ष में शरीर भी गया, संस्कार भी गए, अहंकार भी गया, मन भी गया; तुमने जो जाना, अनुभव किया--सब गया। तुम गए! तुम पूरे के पूरे गए, समग्रता से गए! फिर जो शून्य बचता है, तुम्हारे अभाव में, तुम्हारी गैर मौजूदगी में जो बचता है--वही मोक्ष है, वही परमात्मा है, वही सत्य है। तुम तो ऐसे चले जाओगे जैसे प्रकाश के आने पर अधंकार चला जाता है। मोक्ष के आने पर तुम न बचोगे--मोक्ष महामृत्यु है।

उपनिषद कहते हैं; गुरु महामृत्यु है। क्योंकि गुरु के माध्यम से मोक्ष की तरफ चलना पड़ता है। गुरु सिखाता ही है मरने की कला।

अष्टावक्र ठीक कहते हैं:

आश्चर्यं मोक्षकामस्य मोक्षादेव विभीषिका।

मैंने देखा है, अष्टावक्र कहते हैं कि मोक्ष की कामना करने वाले लोग भी मोक्ष से ही डरे होते हैं। जनक तू जरा गौर से देख ले, कहीं तेरे भीतर भी कोई भय की रेखा तो नहीं है। अगर है, तो फिर मोक्ष की ये बातें सब व्यर्थ हैं, अनर्गल प्रलाप हैं, पागल का प्रलाप हैं! इनमें फिर कुछ भी सार नहीं।

मोक्ष का स्वर तो तुम्हारे भीतर तभी फूटता है, जब तुम्हारे सब स्वर बंद हो जाते हैं। जब तुम्हारी सब आवाज खो जाती है, तभी उस महासंगीत में तरोबोर होने की घड़ी आती है। तुम खाली करो सिंहासन! सिंहासन पर बैठे-बैठे मोक्ष नहीं है। जब तक तुम हो, तब तक मोक्ष नहीं है। जैसे ही तुम न हुए, मिटे, झुके, खोए--मोक्ष है! मोक्ष था ही सदा से--तुम्हारे कारण दिखाई न पड़ता था; तुम ओट थे; तुम पर्दा थे; तुम ही अड़चन थे; तुम ही बाधा थे।

अब बड़ी अड़चन उठी। मोक्ष का तो अर्थ ही यह है कि जिसने इस सचाई को पहचान लिया कि मैं ही रोग हूं। मोक्ष का अर्थ तुम्हारी मुक्ति नहीं है; मोक्ष का अर्थ है--तुमसे मुक्ति। जिसने पहचान लिया कि मैं ही रोग हूं, सारे रोग का आधार मैं ही हूं, और जिसने कहा कि ठीक अब मैं यह आधार छोड़ता हूं, अब मैं न होने की तैयारी दिखलाता हूं, अब मैं मरने को राजी हूं; हो-हो कर देख लिया, कुछ पाया नहीं; हो-हो कर देख लिया, सिवाय खोने के कुछ भी नहीं हुआ; हो-हो कर देख लिया, अनेक बार हो कर देख लिया, कितने जन्मों तक हो कर देख लिया, काफी देर हो चुकी है। तुम बहुत बार हो कर देख लिए, हर होना खाली गया। अब जरा न हो कर देख लें। मोक्ष का मतलब इतना है: कि हो कर देख लिया, असफल हुए; अब जरा न हो कर देख लें।

"जनक, कहीं तेरे भीतर कुछ भय तो नहीं है?"

मोक्षकामस्य मोक्षात् एव विभीषिका आश्चर्यम्!

अष्टावक्र कहते हैं: तू आश्चर्य की बात करता है, सुन, बड़े आश्चर्य मैं तुझे बताता हूं! बड़े से बड़ा आश्चर्य यह है कि मोक्ष की कामना करने वाला भी मरने से डरता है। और जो मरने से डरता है, वह मोक्ष को कैसे उपलब्ध होगा? मोक्ष तो महामृत्यु है।

मुल्ला नसरुद्दीन और उसकी पत्नी खाना खा रहे थे, तभी रेडियो पर राग मल्हार आने लगा। "वाह-वाह!" मुल्ला ने कहा, "क्या प्यारी चीज है।"

"क्या?" पत्नी ने जरा जोर से पूछा।

"मैंने कहा, क्या प्यारी चीज है!" मुल्ला ने और जरा जोर से दोहराया।

पत्नी बोली, "इस रेडियो को बंद करो तो कुछ सुनाई दे। इस बेसुरी आऽऽऽ आऽऽऽ के कारण तुम्हारी बात सुनाई ही नहीं दे रही है।"

मुल्ला उसी मल्हार राग की बात कर रहा है, जिसको पत्नी कह रही है यह बेसुरी आऽऽऽ आऽऽऽ इसके कारण तुम्हारी बात ही सुनाई नहीं दे रही।

वह जो मोक्ष का स्वर है, किन्हीं को तो मल्हार राग मालूम होती है, किन्हीं को सिर्फ आऽऽऽ आऽऽऽ...। क्या लगा रखा है शोरगुल! जो भयभीत हैं, उन्हें तो वह व्यर्थ का शोरगुल मालूम होता है। क्योंकि उन्होंने व्यर्थ के शोरगुल को सार्थक समझ रखा है, इसलिए सार्थक उन्हें व्यर्थ मालूम होने लगा। वे उल्टे खड़े हैं, शीर्षासन कर रहे हैं। लेकिन जिन्होंने व्यर्थ को व्यर्थ जान लिया है, उन्हें तत्क्षण वह जो मोक्ष की ध्वनि है, जो तुम्हारी मृत्यु में थोड़ी-सी आती है--वह राग मल्हार हो जाती है, वह जीवन का महासंगीत हो जाता है।

अगर तुमने जीवन से कुछ भी समझा है तो एक बात तो समझो कि जीवन बिलकुल असार है। इसमें सार जैसा कुछ भी तो नहीं है। दौड़ो-धूपो, आपा-धापी, खूब करो श्रम--हाथ कुछ भी लगता नहीं है। यह बड़ा आश्चर्य

है! और फिर भी तुम मरना नहीं चाहते। फिर भी तुम मिटना नहीं चाहते। फिर भी तुम कहते हो, कोई तरकीब बताएं कि मैं सदा बना रहूं, सदा-सदा बना रहूं! क्या करोगे सदा बने रह कर?

कहते हैं, जब सिकंदर पूरब आया तो उसके दरबारियों में से एक ज्ञानी ने उसे कहा कि तू पूरब जा रहा है, मार्ग में कहीं एक ऐसा स्थान है, जहां जल का एक झरना है मरुस्थल में, उसे जो पी लेता है वह अमर हो जाता है। अब तू जा ही रहा है, तो उसकी भी खोज कर लेना; शायद मिल जाए; शायद यह कथा ही न हो, सच हो।

सिकंदर ने अपने सैनिकों को सचेत कर दिया कि खोजबीन करते रहना। कहीं भी ऐसी जरा भी भनक पड़े, कान में अफवाह पड़े, मुझे खबर कर देना। खबर आ गई। बीच एक रेगिस्तान से गुजरते वक्त खबर आई कि यहीं है वह झरना। सिकंदर ने उसकी खोज कर ली। वह सारे सिपाहियों को बाहर छोड़ कर, सैनिकों को बाहर छोड़ कर उतरा उस गुफा में, जहां वह झरना था। वह उतर गया गुफा में, सीढ़ियों से उतर कर झरने में खड़ा हो गया, बड़ा आह्लादित था कि इस झरने के जल को पी कर अब मैं सदा-सदा के लिए अमर हो जाऊंगा। उसने चुल्लू भी भर ली। तभी एक कौआ बैठा है पास ही चट्टान पर। वह कहने लगा: रुक! सिकंदर तो बहुत घबड़ाया कौए को बोलते सुन कर। उसने कहा: घबड़ा मत, मेरी बात सुन ले इसके पहले कि तू पानी पीए, क्योंकि मैं पी कर बड़ी झंझट में पड़ गया हूं।

सिकंदर ने कहा: क्या झंझट? कौए ने कहा: मैंने भी इसकी बड़ी खोज की, बामुश्किल मैं आ पाया। मैं कौओं का राजा हूं, जैसा तू आदमियों का राजा है। मैं कोई छोटा-मोटा कौआ नहीं हूं। तू शाही कौए से बात कर रहा है। बामुश्किल मैं खोज पाया, मैंने हजारों कौए इस खोज में लगा दिए थे, आखिर इसका पता चल गया, आखिर मैं आ गया और मैंने यह पी भी लिया--पी कर मैं फंस गया। अब मैं मरना चाहता हूं, क्योंकि सदियां बीत गईं तब से मैं जिंदा हूं। अब मैं मरना चाहता हूं, मर नहीं सकता। सिर पटकता हूं चट्टानों पर, कोई सार नहीं। जहर पी लेता हूं, कुछ सार नहीं। गर्दन में फांसी लटका कर लटक जाता हूं, कुछ सार नहीं। कोई उपाय मेरे मरने का नहीं है। यह पानी बड़ा खतरनाक है सिकंदर!

सिकंदर ने पूछा: तू, और मरना क्यों चाहता है?

उस कौए ने कहा: अब क्या करूं? वही-वही राग, वही-वही उपद्रव, कब तक देखूं? मिलता तो कुछ है ही नहीं--दौड़-धूप, दौड़-धूप, दौड़-धूप...! अब तो मैं उनसेर् ईष्या करने लगा जो मर जाते हैं; कम से कम शांति तो मिल जाती है। मुझसे ज्यादा अशांत इस पृथ्वी पर कोई नहीं सिकंदर! फिर तेरी मर्जी!

कहते हैं, सिकंदर ने हाथ से पानी नीचे गिरा दिया। सीढ़ियां चढ़ कर वापिस लौट आया। पानी उसने पीया नहीं।

कहानी सच हो या झूठी, मगर कहानी बड़ी सार्थक है। तुम्हीं सोचो, अगर तुम अमर हो जाओ, क्या करोगे? यह पचास-साठ-सत्तर साल की जिंदगी तो किसी तरह कट जाती है। यह कोई बड़ी जिंदगी नहीं है। सत्तर साल आदमी जीता है, उसमें से बीस-पच्चीस साल तो सोने में निकल जाते हैं; आठ घंटा रोज सोया तो एक तिहाई तो सोने में निकल गया। पंद्रह-बीस साल पढ़ने-लिखने में, स्कूली उपद्रव में निकल गए, तब कुछ होश ही नहीं था। बचे बीस-एक साल--तो दफ्तर, फैक्टरी, दूकान, मजदूरी, पत्नी, बच्चे, हजार उपद्रव! मंदिर, मस्जिद--इसमें निकल गए। तुम्हारे पास बचता क्या सत्तर साल में? सात मिनट भी बचते हैं?

लेकिन तुम जरा सोचो कि अगर मरो ही न, तो कैसी असुविधा न खड़ी हो जाएगी? जिसको जीवन की यह व्यर्थता दिखाई पड़ती है, वह अमरत्व की आकांक्षा नहीं करता। वह कहता है: "हे प्रभु! महामृत्यु घटित हो, ऐसी मृत्यु घटित हो कि फिर जीवन न मिले।" इसी को हम आवागमन से मुक्ति कहते हैं। यही तो पूरब की बड़ी से बड़ी निधि और खोज है। पश्चिम अभी बचकाना है। अभी पश्चिम जीवन से ऊबा नहीं। पूरब बड़ा प्राचीन है, बड़ा प्रौढ़ है--जीवन से ऊब गया। पश्चिम के तो विचारक सोच कर हैरान होते हैं कि यह मामला क्या है? बुद्ध,

महावीर, पतंजलि, अष्टावक्र, लाओत्सु--ये सब यही एक बात करते हैं कि कैसे छुटकारा हो? यह मामला क्या है? अरे जीवन छूटने के लिए है? जीवन को थोड़ा लंबा करो, नई औषधियां खोजो, नए उपाय खोजो, आदमी लंबा जीए, खूब जीए! ये लोग क्या पागल हैं? ये सारे बुद्धपुरुष, इनका दिमाग फिर गया है? ये कहते हैं कि कैसे आवागमन से छुटकारा हो?

पश्चिम अभी बचकाना है। अभी पश्चिम को जीवन का अनुभव नहीं। पूरब ने जीवन का बड़ा लंबा अनुभव लिया है और पाया: यह बिलकुल ही असार है। "पानी केरा बुदबुदा!" क्षणभंगुर है! और भीतर कुछ भी नहीं। फूटता है तो शून्य हाथ लगता है। प्याज की तरह है: पर्त-पर्त उघाड़ते चलो, नई पर्तें निकलती आतीं, निकलती आतीं; एक दिन शून्य, कुछ हाथ नहीं लगता। दौड़ो-धापो, कहीं पहुंचते नहीं, जहां के तहां खड़े-खड़े मर जाते हो। कहीं पहुंचे हो तुम? चले तो हो--कोई तीस साल चल लिया, कोई पचास साल चल लिया, कोई साठ साल चल लिया--लेकिन कहीं पहुंचे हो? कहीं ऐसा लगता है कि कोई पहुंचना हुआ, कोई मंजिल आई? मार्ग ही मार्ग...घूमते रहते! कहीं पहुंचना तो होता नहीं, तृप्ति तो कुछ होती नहीं। एक अतृप्ति दूसरी अतृप्ति में ले जाती है; दूसरी अतृप्ति तीसरी अतृप्ति में। दो अतृप्तियों के बीच थोड़ी-सी आशा रहती कि शायद तृप्ति हो; बाकी तृप्ति कभी होती नहीं; संतोष कभी आता नहीं। संतुष्टि इस जगत में है ही नहीं।

जन्म-मरण से छुटकारे की आकांक्षा मोक्ष है।

अष्टावक्र ने कहा कि तू जरा गौर से देख, जरा हाथ में खुर्दबीन ले कर देख जनक! कहीं भी भय तो नहीं है मरने का? नहीं तो यह सब बात, ऊंची-ऊंची बात, बात की बात रह जाएगी। अगर तेरे प्राण में यह उतर गई हो, तो तुझे मरने को राजी होना चाहिए; तुझे महामृत्यु के लिए राजी होना चाहिए। तब तो तुझे अहोभाव से नाचता हुआ मृत्यु के स्वागत के लिए जाना चाहिए।

जो नाचता हुआ, गीत गुनगुनाता हुआ मृत्यु के स्वागत को गया है, उसी ने जीवन को जाना है। जो डरते और कंपते मृत्यु की तरफ जा रहे हैं, वे जीवन को नहीं जाने, नहीं पहचाने। और चूंकि जीवन को नहीं पहचाने, इसलिए मृत्यु का अर्थ भी नहीं समझ पाते। मृत्यु तो छुटकारा है। मृत्यु तो विश्राम है। लेकिन अगर मरते समय तुम्हारे मन में यह कामना रही कि फिर हो जाऊं, फिर हो जाऊं; मरते वक्त अगर तुम्हारे मन में यह कामना रही कि अभी थोड़ी देर और जी जाता, और जी जाता--तो तुम फिर लौट आओगे, तुम्हारी वासना तुम्हें फिर खींच लाएगी। वासना के धागे फिर तुम्हें वापिस किसी गर्भ में ले आएंगे। मरते वक्त जो कहता है: अहो, धन्यभागी मैं, आश्चर्य कि अब मैं जा रहा हूं और फिर कभी न आऊंगा!

बुद्ध ने ऐसी चेतना को अनागामिन कहा है--जो जाता है और फिर कभी नहीं आता, फिर जिसका आगमन कभी नहीं होता। बुद्ध ने कहा: धन्य हैं वे जो अनागामिन हैं--मरते क्षण जो पूरे मर जाते हैं और जो कहते हैं यह यात्रा समाप्त हुई, यह व्यर्थ की दौड़-धाप बंद हुई, यह सपना अब और नहीं देखना है!

मोक्षकामस्य मोक्षात् एव विभीषिका आश्चर्यम्।

--तो तू जरा देख, उस पर आश्चर्य कर अगर कहीं भय हो।

"धीर-पुरुष तो भोगता हुआ भी और पीड़ित होता हुआ भी नित्य केवल आत्मा को देखता हुआ न प्रसन्न होता है और न क्रुद्ध होता है।"

धीरस्तु भोज्यमानोऽपि पीडयमानोऽपि सर्वदा।
आत्मानं केवलं पश्यन् न तुष्यति न कुप्यति।।

कहने लगे अष्टावक्र कि जनक, देख, जो वस्तुतः ज्ञान को उपलब्ध हो गया, जो धीर-पुरुष है, वह फिर न तो प्रसन्न होता है और न क्रुद्ध होता है। हानि हो तो अप्रसन्न नहीं, लाभ हो तो प्रसन्न नहीं। मान हो तो प्रसन्न नहीं, अपमान हो तो क्रुद्ध नहीं। तू जरा भीतर देख, अगर तेरा सम्मान हो, तो तू प्रसन्न होगा? अगर तेरा अपमान हो, तो तू नाराज होगा? अगर तू हारे जीवन में--आज तू सम्राट है कल भिखारी हो जाना पड़े--तो तेरे

चित्त में कोई अंतर पड़ेगा? अगर रेखा-मात्र का भी अंतर पड़ता हो, तो अभी जल्दी मत कर। यह घोषणा बड़ी है जो तू कर रहा है, यह घोषणा मत कर। फिर यह घोषणा अयोग्य है और खतरनाक है, क्योंकि कहीं इस घोषणा का तू भरोसा करने लगे कि यह सत्य है, तो फिर तू सत्य को कभी भी न पा सकेगा।

गुरु की यह सतत चेष्टा दिखाने की, कि कहीं तुम किसी भ्रांत धारणा को जो नहीं हुई है, ऐसा मत मान लेना कि हो गई है। बड़ी अनिवार्य है गुरु की यह उपदेशना, बड़ी करुणामयी है! क्योंकि मन तो बड़े जल्दी मानने को होता है कि हो गया और जब बिना किए हो रहा हो तो दिक्कत ही क्या? पतंजलि के साथ तो यह खतरा नहीं है, अष्टावक्र के साथ बहुत खतरा है। इसलिए पतंजलि कोई परीक्षा भी नहीं लेते, अष्टावक्र परीक्षा लेते हैं।

यह तुमने खयाल किया? पतंजलि के साथ कोई खतरा नहीं है; वे एक-एक इंच बढ़ाते हैं। वे उतना ही बढ़ाते हैं जितना संभव है साधारण मनुष्य को बढ़ना। छलांग वहां नहीं है। और एक सीढ़ी चढ़ो तो ही दूसरी सीढ़ी पर चढ़ सकते हो। पहली सीढ़ी अगर नहीं चढ़ पाए तो दूसरी पर चढ़ ही न पाओगे। इसलिए पतंजलि परीक्षा की कोई व्यवस्था नहीं करते। लेकिन अष्टावक्र ने परीक्षा की व्यवस्था की--करनी ही पड़ी। क्योंकि अष्टावक्र तो कहते हैं कोई सीढ़ी नहीं; चाहो तो तत्क्षण, अभी इसी क्षण मुक्त हो सकते हो! यह सुन कर कई पागल तत्क्षण घोषणा कर देंगे कि हम मुक्त हो गए। इन पागलों को खींच कर इनकी जगह लाना पड़ेगा। इनके लिए सूत्र दिए जा रहे हैं।

"जो अपने चेष्टारत शरीर को दूसरे के शरीर की भांति देखता है, वह महाशय पुरुष स्तुति और निंदा में भी कैसे क्षोभ को प्राप्त होगा?"

चेष्टमानं शरीरं स्वं पश्यत्यन्यशरीरवत्।

जो अपने शरीर को भी ऐसा देखता है जैसे किसी और का शरीर है; जो अपने शरीर को भी अपना नहीं मानता; जिसने अपने शरीर से भी उतनी ही दूरी कर ली है जितनी दूसरे के शरीर से है। जैसे तुम्हारे शरीर को कोई चोट पहुंचाए, तो मुझे चोट नहीं लगती--ऐसा ही मेरे शरीर को कोई चोट पहुंचाए और तब भी मैं जानता रहूं कि मुझे चोट नहीं लगती; जैसे यह किसी और का शरीर है। तो ही...।

"जो अपने चेष्टारत शरीर को दूसरे के शरीर की भांति देखता है, वह महाशय पुरुष स्तुति और निंदा में कैसे क्षोभ को प्राप्त होगा?"

संस्तवे चापि निंदायां कथं क्षुभ्येत् महाशयः।

यह "महाशय" शब्द बड़ा प्रिय है। बना है महा + आशय से--जिसका आशय महान हो गया; जो क्षुद्र आशयों से नहीं बंधा है; शरीर के और मन के, वृत्ति के और विचार के आशय जिसके जीवन में नहीं रहे; जिसने अपने समस्त आशय, अपनी समस्त आकांक्षाएं परमात्मा के चरणों में, महत के चरणों में समर्पित कर दी हैं।

"महाशय" बड़ा अनूठा शब्द है। हम तो साधारण उपयोग करते हैं। कोई घर आता है तो कहते हैं: आइए महाशय, बैठिए! लेकिन उपयोग ठीक है। हमें यह मान कर चलना चाहिए कि दूसरा महाशय है; किसी क्षुद्र प्रेरणा से नहीं आया होगा, प्रभु-प्रेरणा से आया है। इसलिए तो हम अतिथि को देवता कहते हैं। अतिथि आया है तो प्रभु ही आया है। जो आया है वह महाशय है। चोर भी आया है तो भी किसी महाशय से आया होगा। ऐसी प्रतीति साधु-स्वभाव की होनी चाहिए।

कहते हैं: "वह महाशय पुरुष स्तुति और निंदा में कैसे क्षोभ को प्राप्त होगा?" तो तू देख जनक, तुझे क्षोभ होगा? तेरी स्तुति करूं तो तुझे प्रसन्नता होगी?

प्रसन्नता भी क्षोभ है। क्षोभ का मतलब होता है: तरंगें उठ आना; क्षुब्ध हो जाना। क्रोध तो क्षोभ है ही, प्रसन्नता भी क्षोभ है। दुखी होना तो क्षोभ है ही, सुखी होना भी क्षोभ है; क्योंकि दोनों हालत में चित्त तरंगों से

भर जाता है, क्षुब्ध हो जाता है। जो सुख और दुख के पार है, वही क्षुब्ध होने के पार है। उसे फिर कोई क्षुब्ध नहीं कर पाता।

तो वे कहते हैं कि अगर तेरा कोई अपमान करे जनक, तो तू क्षुब्ध होगा? तेरा कोई सम्मान करे तो तू क्षुब्ध होगा? तुझमें कोई अंतर पड़ेगा--कोई भी अंतर पड़ेगा? अंतर-मात्र पड़े तो तू जो अभी कह रहा है, वह तूने मेरी सुनी बात दोहरा दी। और सत्य को पुनरुक्त नहीं करना चाहिए। सत्य को अनुभव करना चाहिए।

"जो इस विश्व को माया-मात्र देखता है और जो कौतुक को पार कर गया है, वह धीरपुरुष मृत्यु के आने पर भी क्यों भयभीत होगा?"

जिसकी जिज्ञासा, कुतूहल, अज्ञान सब बीत गए; जिसको अब पूछने को कुछ नहीं बचा है, जो पूछने की यात्रा समाप्त कर चुका; जिसके सब प्रश्न गिर गए हैं।

विगतकौतुकः!

यह शब्द प्यारा है। जिसके मन में अब पूछने के लिए कुछ भी नहीं है, प्रश्न ही नहीं है।

मायामात्रमिदं विश्वं पश्यन् विगतकौतुकः।

"जो इस विश्व को मायामात्र देखता है और जो कौतुक को पार कर गया है...।"

अपि सन्निहिते मृत्यौ कथं त्रस्यति धीरधीः।

"...क्या मृत्यु को पास आया हुआ देख कर वह भयभीत होगा?"

क्या जरा भी भय की रेखा उसमें उठेगी? तू तो देख, आ रही जैसे मृत्यु, खड़ी तेरे द्वार पर दस्तक दे रही मृत्यु, आ गए यमदूत अपने भैंसों पर सवार हो कर--तू उनका स्वागत करके उनके साथ जाने को तत्पर होगा कि जरा भी तेरा मन झिझकेगा? अगर जरा भी झिझक रह गई हो, तो फिर तू अभी विगतकौतुक नहीं। अगर जरा भी झिझक रह गई हो, तो अभी श्रद्धा का जन्म नहीं हुआ। अगर जरा भी झिझक रह गई हो, तो अभी बहुत कुछ करने को बाकी है, क्रांति घटी नहीं। तू समझा बुद्धि से, अभी प्राणों से नहीं समझा। तूने जाना ऊपर से, अभी अंतरतम में प्रकाश का दीया नहीं जला।

"जिस महात्मा का मन मोक्ष में भी स्पृहा नहीं रखता और जो आत्मज्ञान से तृप्त है, उसकी तुलना किसके साथ हो सकती है?"

"जिस महात्मा का मन मोक्ष में भी स्पृहा नहीं रखता...।"

निस्पृहं मानसं यस्य नैराश्येऽपि महात्मनः।

जो इतना ज्यादा वासना के पार हो गया कि मोक्ष की भी वासना नहीं है। हो तो हो, न हो तो न हो--यह आत्यंतिक स्थिति है। जब मोक्ष की भी वासना नहीं होती, तभी मोक्ष फलित होता है। यह मोक्ष का विरोधाभास है।

कल मैं एक सूफी फकीर का जीवन पढ़ता था। वह बड़ा धनपति था--फकीर होने के पहले। दमिश्क में रहता था। और दमिश्क की जो बड़ी प्रसिद्ध मस्जिद है, जगत-प्रसिद्ध मस्जिद है, उसके मन में यह आकांक्षा थी कि वह उस मस्जिद का व्यवस्थापक हो जाए, वह उसके नियंत्रण में चले। वह बड़े सम्मान की बात थी। वह दमिश्क का सबसे ऊंचा पद था--उस मस्जिद का व्यवस्थापक हो जाना। तो वह धनी तो था ही, सब काम छोड़ कर वह सुबह मस्जिद में प्रवेश करने वाला पहला व्यक्ति होता और सांझ मस्जिद को छोड़ने वाला आखिरी व्यक्ति होता। वह दिन भर नमाज में लीन रहता। वह चौबीस घंटे तन्मय हो कर प्रार्थना करता--इस आशय से भीतर कि जब लोग मुझे इतनी प्रार्थना में देखेंगे, तो आज नहीं कल, मस्जिद में आने वाले लोगों का यह भाव होगा ही कि इतने बड़े नमाजी के रहते हुए कोई और दूसरा व्यवस्थापक हो!

नमाज में उसका रस न था। रस तो इसमें था कि लोग देख लें। लोगों ने देखा भी। महीने बीते, साल भी बीतने लगा; लेकिन कोई परिणाम दिखाई न पड़े। ईश्वर से तो कुछ उसे लेना-देना भी न था; वह तो सिर्फ

प्रदर्शन था। साल पूरा हो गया तो उसने कहा, यह तो फिजूल की बात है। अगर साल भर में गांव के लोगों को इतना भी पता नहीं...कि कोई आ कर कहता भी नहीं मुझसे कि तुम व्यवस्थापक हो जाओ। तो उस रात उसने कहा कि व्यर्थ है यह। बात छोड़ दी। उसने उस रात परमात्मा से प्रार्थना की कि मुझे क्षमा कर। मैंने भी कहां की व्यर्थ बात में साल भर गंवाया! साल भर अगर तेरे को पाने की प्रार्थना की होती, तो शायद तेरे ही दर्शन हो जाते। मगर इन मूढ़ों को कुछ अक्ल न आई। मगर मैं भी मूढ़ हूं, मुझे क्षमा कर!

उस रात उसने बड़े निस्पृह मन से प्रार्थना की, उसमें कुछ मांग न थी! वह प्रार्थना करके उठ कर द्वार पर आया कि देखा कि गांव के लोग इकट्ठे हो रहे हैं। उसने पूछा: मामला क्या है? लोगों ने कहा: हम सबने मिल कर तय किया कि तुम उस मस्जिद के व्यवस्थापक हो जाओ। साल भर से हम देखते हैं, तुम जैसा कोई नमाजी कभी हुआ!

वह तो बड़ा हैरान हुआ कि आज तो मैंने छोड़ी आकांक्षा और आज ही आकांक्षा पूरे होने का दिन आ गया! लेकिन तब उसे होश भी आया। उसने कहा कि क्षमा करो मित्रो, साल भर तो मैं आकांक्षा करता था, तब तुम कहां थे? अब तुम आए हो जबकि मैं आकांक्षा छोड़ चुका। जब आकांक्षा छोड़ने से ऐसा फल मिलता है तो अब आकांक्षा न करूंगा; अब तुम व्यवस्थापक किसी और को बना लो।

और उसे इतना बोध हुआ इस घटना से कि वह सब छोड़-छाड़ कर फकीर हो गया। "मलिक बिन दीनार" उसका नाम था। कहते हैं कि उसने मोक्ष की भी आकांक्षा नहीं की फिर। स्वर्ग की आकांक्षा का तो सवाल ही नहीं; उसने आकांक्षा ही नहीं की। जब मरा तो किसी बुजुर्ग को सपने में दिखाई दिया और बुजुर्ग ने पूछा: क्या खबर है? वहां कैसा हुआ?

क्योंकि जिस दिन मलिक बिन दीनार मरा, उसी दिन एक और फकीर मरा--हसन नाम का एक फकीर मरा। दोनों की बड़ी ख्याति थी। तो पूछा बुजुर्ग ने कि तुम दोनों साथ-साथ मरे, एक ही समय मरे, तो मोक्ष के दरवाजे पर एक साथ पहुंचे होओगे, पहले प्रवेश किसको मिला?

मलिक बिन दीनार ने कहा कि मैं भी बड़ा चकित हूं, पहले प्रवेश मुझको मिला। और मैंने पूछा प्रभु को कि मुझे प्रवेश पहले देने का क्या कारण है? क्योंकि हसन मुझसे ज्यादा बुद्धिमान है। हसन मुझसे ज्यादा ज्ञानी है। हसन के पास तो मैं भी सीखने जाता था। तो प्रभु ने कहा: तुझसे ज्यादा ज्ञानी है, वह तुझसे ज्यादा त्यागी है; लेकिन उसके मन में मोक्ष की आकांक्षा थी और तेरे मन में मोक्ष की आकांक्षा न थी! तू पहले प्रवेश का हकदार है।

मोक्ष की आकांक्षा भी जिसकी छूट गई हो; जिस महात्मा का मन मोक्ष की भी स्पृहा न करता हो और जो आत्मज्ञान से तृप्त है, और जो अपने होने से तृप्त है; जिसकी तुष्टि अपने में है; जो अब कुछ भी नहीं मांगता; जो कहता है मेरा होना काफी है, काफी से ज्यादा है; और मुझे चाहिए क्या--जो ऐसा कहता है! जो कहता है, मैंने अपने को जान लिया, भर पाया, खूब पाया, मिल गया सब, अब मुझे कुछ भी नहीं चाहिए!

"आत्मज्ञान से जो तृप्त है...।"

तस्यात्म ज्ञानतृप्तस्य तुलना केन जायते।

"...उसकी तुलना किसी से भी नहीं हो सकती।"

तो हे जनक, तेरे मन में मोक्ष की स्पृहा तो नहीं है? अभी भी तेरे मन में मुक्त होने की आकांक्षा तो नहीं है? तुझे जो यह आत्मज्ञान हुआ है, जैसा तू कह रहा है कि हो गया, इससे परितृप्त हो गया तू? अब और तो कुछ नहीं चाहिए? तेरी तृप्ति पूरी हो गई? अब तू कुछ और तो न मांगेगा? अगर प्रभु तेरे सामने आ जाए और कहे कि सुन जनक, तुझे क्या चाहिए, मैं देने को तैयार हूं--तो तेरे पास मांगने को कुछ होगा, या तू सिर्फ धन्यवाद देगा? तू कुछ मांगेगा या धन्यवाद देगा? तू यह कहेगा कि आपने दे दिया सब, अब मुझे कुछ चाहिए नहीं। अब तो कुछ भी नहीं चाहिए, ऐसा तू कह सकेगा बिना किसी अड़चन के? जरा-सी भी भीतर द्वंद्व की स्थिति न

बनेगी, मन तेरा न कहेगा कि अरे, अब प्रभु कहते हैं तो थोड़ा कुछ मांग ही लो? जन्मों-जन्मों तक आकांक्षा की, अब घड़ी आई, शुभ घड़ी कि परमात्मा स्वयं कहता है कुछ मांग लो, मेरे वरदहस्त आज तुम्हें लुटाने को तैयार हैं, खड़े हैं तुम्हारी झोली भरने को--तो तेरा मन झोली फैला तो न देगा?

ये सारी बातें अष्टावक्र कहने लगे, ताकि जनक अपने को देख ले कहां है।

"जो जानता है कि यह दृश्य स्वभाव से ही कुछ भी नहीं है, वह धीरबुद्धि कैसे देख सकता है कि यह ग्रहण करने योग्य है और यह त्यागने योग्य?"

यह बड़े महत्व का सूत्र है इन सब सूत्रों में महत्व का सूत्र है। इस सूत्र का अर्थ है कि अष्टावक्र कहते हैं कि जनक देख, इन सारी बातों को सुन कर--मैंने कहा कि धीरपुरुष धन में आकांक्षा न रखेगा; मैंने कहा कि धीरपुरुष मोक्ष में भी आकांक्षा न रखेगा; मैंने कहा, धीर-पुरुष साम्राज्य में, महल में, संपत्ति के विस्तार में आकांक्षा न रखेगा--इससे ऐसा तो नहीं होता कि तेरे मन में एक सवाल उठ रहा हो: तो मैं इस सबका त्याग कर दूं? यह बड़ी बारीक बात है। मेरी ये बातें सुन कर तेरे मन में ऐसा तो नहीं हो रहा है कि इस सबका त्याग कर दूं? क्योंकि धीरपुरुष तो धन की आकांक्षा नहीं रखता, महल की आकांक्षा नहीं रखता, सुख-सुविधा की आकांक्षा नहीं रखता, तो मैं इन सबको छोडूं और जंगल चला जाऊं--अगर तेरे मन में ऐसा हो रहा हो, तो अभी तू धीरपुरुष नहीं। क्योंकि धीरपुरुष न तो वस्तु की आकांक्षा करता है, न वस्तु के त्याग की आकांक्षा करता है। तो तेरे भीतर कहीं भोग बचा है?

इसके लिए अब तक के सूत्र कहे कि अगर कहीं भी भोग की आकांक्षा बची है तो खोज ले।

अब यह बड़ा सूत्र, उससे भी बड़ा सूत्र है कि वे कहते हैं: अब मैं तुझसे यह पूछता हूं कि हो सकता है भोग न बचा हो, त्याग की आकांक्षा तो नहीं है कहीं?

क्योंकि त्याग की आकांक्षा भोग का ही दूसरा रूप है। त्याग की आकांक्षा भोग ही है--सिर के बल खड़ा, कुछ फर्क नहीं। भोग कहता है पकड़ो, त्याग कहता है छोड़ो; लेकिन पकड़ने और छोड़ने में जिस पर ध्यान होता है, वह तो एक ही चीज है--धन, कामिनी या कांचन। भोग कहता है: "और स्त्रियां।" त्याग कहता है: "बिलकुल नहीं।" लेकिन दोनों की नजर तो स्त्री पर होती है या पुरुष पर होती है। भोग कहता है: "और-और धन!" त्याग कहता है: "बिलकुल नहीं; और-और त्याग!" लेकिन दोनों के मन में अभी "और" तो होता है।

न भोगी को तुम तृप्त पाओगे, न त्यागी को। क्योंकि त्यागी सोचता है अभी और त्याग करना है, और भोगी सोचता है अभी और भोग करना है। बड़े मजे की बात है, दोनों की दृष्टि "और" पर लगी है--और! इस "और" को ठीक से समझना, इस "और" में ही सारा संसार समाया है।

तुम भोगी को भी बेचैन पाओगे। वह कहता है कि है, कार तो है, लेकिन और बड़ी चाहिए; मकान है, लेकिन और बड़ा चाहिए। तुम त्यागी के भीतर खोजो। त्यागी कहता है, किए तो उपवास, लेकिन और! त्याग किया तो, लेकिन और! अभी और बहुत कुछ छोड़ने को है। क्रोध छोड़ा, माया छोड़ी, मोह छोड़ना है, प्रतिष्ठा छोड़नी है, अहंकार छोड़ना है। लेकिन "और" की दौड़ तो बराबर जारी है। न भोगी तृप्त है, न त्यागी तृप्त है।

स्वभावादेव ज्ञानानो दृश्यमेतन्न किंचन।
इदं ग्राह्यमिदं त्याज्यं स किं पश्यति धीरधीः।।

जो वस्तुतः धीर हो गया, जो वस्तुतः धैर्य को उपलब्ध हो गया, जो वस्तुतः शांत हो गया और जिसने वस्तुतः जान लिया कि ये सब दृश्य स्वभाव से ही कुछ भी नहीं हैं--उसके मन में न तो ग्रहण करने की कोई वासना उठती, और न त्याग की कोई वासना उठती है।

भोगी और योगी में बहुत अंतर नहीं है; वे एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। भोगी और त्यागी में कोई भेद नहीं है; वे एक ही तर्क की दो व्याख्याएं हैं। मगर तर्क एक ही है। वास्तविक धीर तो वही है जो दोनों के पार हो गया।

देखते हैं, परीक्षा कैसी कठिन होती जाती है! जनक को कैसे कसते जाते हैं सब तरफ से, भागने की कोई जगह नहीं दे रहे हैं! अभी तक भोग का खंडन किया था, तो एक उपाय था जनक को भागने का, कि जनक सोचता कि ठीक है, अष्टावक्र कहते हैं कि यह सब ज्ञानी नहीं करता--धन, माया, मद, पद, व्यवस्था, साम्राज्य, महल, यह सब नहीं करता। तो एक छुटकारे की जगह थी--तो ठीक है, सब छोड़ दूंगा।

अहंकार ज्ञान के दावे में छोड़ भी सकता है। अगर इस पर ही कसौटी हो जाए कि तुमने जो वक्तव्य दिया है जनक, कि मैं जाग गया, यह वक्तव्य तभी सही सिद्ध होगा, जब तुम यह सब छोड़ दो, क्योंकि जागा हुआ आदमी इन सब चीजों में नहीं होता--तो अहंकार की यह खूबी है, सूक्ष्म खूबी कि अहंकार इसके लिए भी राजी हो जाएगा। जनक कहता: अच्छा, अगर यही कसौटी है, हम पूरी किए देते हैं! मैं जाता यह सब छोड़ कर! यह रहा पड़ा साम्राज्य, मैं चला!

लेकिन उससे कुछ सिद्ध न होता। उससे यह बिलकुल भी सिद्ध न होता कि साम्राज्य स्वप्नवत हुआ। क्योंकि स्वप्न न तो पकड़े जा सकते हैं और न छोड़े जा सकते हैं। जब तुमसे कोई कहे कि मैंने लाखों रुपये त्याग कर दिए तो समझ लेना कि त्याग नहीं हुआ, हिसाब जारी है। तब तुम पक्का समझ लेना कि यह आदमी अभी भी हिसाब कर रहा है कि इसने कितने रुपये छोड़ दिए; रुपये अभी भी बहुत वास्तविक हैं।

मेरे एक मित्र हैं, उन्होंने लाखों रुपये छोड़े हैं। मुझसे बुजुर्ग हैं। कई वर्ष हो गए, तब उन्होंने छोड़े; मगर जब भी मैं उनसे मिलने जाता था तो वे किसी न किसी बहाने यह बात निकाल ही देते कि मैंने लाखों रुपयों पर लात मार दी। एक दफा सुना मैंने, दो दफे सुना, तीसरी दफे मैंने उनसे कहा कि सुनें, नाराज न हों। यह लात आपने कब मारी थी?

कहने लगे, कोई तीस-पैंतीस साल पहले की बात है, लाखों पर लात मार दी!

मैंने कहा, यह लात आपने मारी, लेकिन लग नहीं पाई। इसको दोहराते क्यों हैं? तीस-पैंतीस साल की बात गई-बीती हो गई, इसको दोहराते क्यों हैं? वह लाखों का हिसाब अभी भी कायम है? पहले अकड़ कर चलते रहे होंगे कि मेरे पास लाखों हैं, अब अगड़ कर चलते हैं कि लाखों पर लात मार दी--अकड़ वहीं की वहीं है! पहली अकड़ से दूसरी अकड़ थोड़ी ज्यादा खतरनाक है। क्योंकि पहली अकड़ तो दिखाई भी पड़ जाती है, दूसरी दिखाई भी नहीं पड़ती, अति सूक्ष्म है।

जनक के लिए वह दरवाजा खुला रखा था इतनी देर तक अष्टावक्र ने, अब उसे भी बंद कर दिया। अब जनक को भागने की कोई जगह नहीं रही। अब तो जागने की ही जगह रही, भागने की कोई जगह नहीं रही। अब तो सीधे सत्य को स्वीकार करना होगा कि या तो हुआ है तो हुआ है; या नहीं हुआ है तो नहीं हुआ है। बचने का कोई उपाय नहीं है।

स्वभावादेव ज्ञानानो दृश्यमेतन्न किंचन।

अरे, जिसे सब माया दिखाई पड़ने लगी, उसे कैसा छोड़ना, कैसा पकड़ना!

इदं ग्राह्यमिदं त्याज्यं स किं पश्यति धीरधीः।

उसे तो कुछ दिखाई ही नहीं पड़ता कि इसमें पकड़ना और छोड़ना क्या?

धीर-पुरुष ऐसा नहीं कहता कि सोना मिट्टी है। धीर-पुरुष कहता है: सोना सोना है, मिट्टी मिट्टी है; पर दोनों अर्थहीन, दोनों सारहीन। वह कहता है: महल में बैठो तो, महल के बाहर बैठो तो--सब बराबर हैं, दोनों सपने हैं। अमीर का सपना है, गरीब का सपना है; सफल का सपना है, असफल का सपना है--दोनों सपने हैं। सपने बदलने से कुछ भी न होगा। एक रात तुमने सपना देखा कि डाकू हो, दूसरी रात सपना देखा कि संत हो--दोनों सपने हैं, दोनों का कोई मूल्य नहीं है। न तुम डाकू हो, न तुम साधु हो।

तुम जब तक अपने को कोई तादात्म्य देते हो तब तक भ्रांति जारी रहेगी। तुम तो परम शून्य हो, तुम तो परम प्रज्ञा हो, तुम तो परम साक्षी हो।

त्याग भी तो कृत्य हुआ! जैसे भोग कृत्य है, वैसे त्याग भी कृत्य है। और अष्टावक्र का पूरा क्रांति-सूत्र यही है: कर्ता नहीं, भोक्ता नहीं--साक्षी। छोड़ा, वह भी कर्म हुआ। पकड़ा, वह भी कर्म हुआ। दोनों में तुम कर्ता हो गए, दोनों में अहंकार निर्मित होगा। कृत्य से अहंकार निर्मित होता है। तुम साक्षी हो जाओ।

"जिसने अंतःकरण के कषाय को त्याग दिया है और जो द्वंद्व-रहित और आशा-रहित है, ऐसे पुरुष को दैवयोग से प्राप्त वस्तु से न दुख होता है और न सुख होता है।"

"जिसने अंतःकरण से कषाय को त्याग दिया...।"

अंतःकरण से कषाय को त्यागने का अर्थ है: जिसने जाग कर देख लिया कि कषाय मेरे नहीं; जिसने दीया जला कर देख लिया कि मैं तो सिर्फ प्रकाश हूं, और मैं कोई भी नहीं। न क्रोध मेरा, न मोह मेरा। पकड़ने-छोड़ने की बात नहीं; इतना जानने की बात है कि दोनों मेरे नहीं। न भोग मेरा, न त्याग मेरा।

"जिसने अंतःकरण से कषाय को त्याग दिया है और जो द्वंद्व-रहित और आशा रहित है...।"

अब न तो कोई द्वंद्व है भीतर, क्योंकि दो बचे नहीं, सिर्फ साक्षी बचा है। साक्षी सदा एक है। और यह शब्द बड़ा अदभुत है: निरद्वंद्वस्य निराशिषः। जो द्वंद्व से रहित और आशा से रहित है! अब जो कोई भी आशा नहीं करता कि ऐसा हो, वैसा हो; यह मिले, वह मिले--जिसके लिए कल समाप्त हो गया!

दो कल हैं हमारे आज के दोनों तरफ। एक कल है बीता हुआ, उससे द्वंद्व पैदा होता है। एक कल है आने वाला, उससे आशा जगती, वासना जगती। जिसने अतीत के कल को छोड़ दिया, जिसने कह दिया कि जो भी मैं अब तक था, सब सपना था--वह मुक्त हुआ अतीत से। और जिसने सब आशा छोड़ दी, जिसने कहा जो मैं हूं वह काफी हूं, अब मुझे कुछ और होना नहीं, कहीं और जाना नहीं; जहां हूं वहीं मेरा घर है; जहां हूं, वैसा होना ही मेरा स्वभाव है; जैसा हूं, तैसा ही होना मेरा नियति है, अन्यथा की कोई चाह नहीं--उसने भविष्य को मिटा दिया। जिसने अतीत और भविष्य को पोंछ डाला, वह शाश्वत में प्रवेश कर जाता है।

अंतस्त्यक्तकषायस्य निर्द्वन्द्वस्य निराशिषः।
यदृच्छयागतो भोगो न दुःखाय न तुष्टये।।

उसे जो मिल जाए, वह दैवयोग से, भाग्य से--सुख मिले तो, दुख मिले तो।

यह समझना। यह सूत्र याद रखना, भूलना मत। तुम कहते हो: जो मिलता है, अपने कृत्य से, कर्म से...। यह कर्म की फिलॉसफी नहीं है। यह साक्षी का दर्शन है। अष्टावक्र कहते हैं: उसे दुख मिलता है तो वह कहता है: दैवयोग, प्रभु इच्छा, अदृश्य की इच्छा! दुख मिलता तो, सुख मिलता तो! न तो सुख में वह कहता है कि मेरे कारण मिला, न दुख में कहता है मेरे कारण मिला। वह तो कहता है, मैं तो सिर्फ देखनेवाला हूं; यह मिलना न मिलना उसकी लीला! फिर कैसा खेद! न तो फिर प्राप्त वस्तु में दुख है और न सुख है।

जीसस ने सूली पर आखिरी क्षण में कहा है: तेरी मर्जी पूरी हो! मेरी मर्जी मत सुन! मैं क्या कहता हूं, इस पर ध्यान मत दे! तेरी मर्जी पूरी हो! क्योंकि मैं तो जो भी कहूंगा वह गलत होगा और तू जो भी कहेगा, वही ठीक है। मैं चाहूं या न चाहूं, वही हो जो तेरी मर्जी है!

जब भी तुम प्रभु से प्रार्थना करते हो और कहते हो ऐसा कर दे, वैसा कर दे--तभी तुम्हारी प्रार्थना विकृत हो गई, खंडित हो गई, प्रार्थना न रही। तुम तो प्रभु को सुझाव देने लगे। तुम तो कहने लगे मैं तुझसे ज्यादा समझदार, तू यह क्या कर रहा है?

एक सूफी फकीर हुआ, उसके दो बेटे थे--जुड़वां बेटे, बड़े प्यारे बेटे थे! और बड़ी देर से बुढ़ापे में पैदा हुए थे। उसका बड़ा मोह था उन पर। वह एक दिन मस्जिद में प्रवचन दे कर लौटा, घर आया, तो वह आते ही से

रोज पूछता था कि आज बेटे कहां हैं? अक्सर तो वे मस्जिद जाते थे, आज नहीं गए थे सुनने। उसने पूछा पत्नी से, बेटे कहां हैं? उसने कहा, आते होंगे, कहीं खेलते होंगे, तुम भोजन तो कर लो! उसने भोजन कर लिया। भोजन करके उसने फिर पूछा कि बेटे कहां हैं? क्योंकि ऐसा कभी न हुआ था, वे भोजन उसके साथ ही करते थे। तो उसने कहा, इसके पहले कि मैं बेटों के संबंध में कुछ कहूं, एक बात तुमसे पूछती हूं। अगर कोई आदमी बीस साल पहले अमानत में कुछ मेरे पास रख गया था, दो हीरे रख गया था, आज वह वापिस मांगने आया, तो मैं उसे लौटा दूं कि नहीं?

फकीर ने कहा, यह भी कोई पूछने की बात है? यह भी तू पूछने योग्य सोचती है? लौटा ही देने थे, मेरे से पूछने की क्या बात थी? उसके हीरे उसे वापिस कर देने थे, इसमें हमारा क्या लेना-देना है? तू मुझसे पूछने को क्यों रुकी?

उसने कहा, बस, ठीक हो गया। पूछने को रुक गई थी, अब आप आ जाएं!

वह कमरे में ले गई, दोनों बेटे मुर्दा पड़े थे। पास के एक मकान में खेल रहे थे और छत गिर गई। फकीर ने देखा, बात को समझा, हंसने लगा। कहा: तूने भी ठीक किया। ठीक है, बीस साल पहले कोई हमें दे गया था, अदृश्य, दैवयोग, परमात्मा या जो नाम पसंद हो--आज ले गया, हम बीच में कौन? जब ये बेटे नहीं थे, तब भी हम मजे में थे, अब ये बेटे नहीं हैं तो हम फिर वैसे हो गए जैसे हम पहले थे। इनके आने-जाने से क्या भेद पड़ता है! तूने ठीक किया। तूने मुझे ठीक जगाया।

जो भी हो रहा है, वह मेरे कारण हो रहा है--इससे ही "मैं" की भ्रांति पैदा होती है। जो हो रहा है, वह समस्त के कारण हो रहा है, मैं सिर्फ द्रष्टा-मात्र हूं--ऐसी समझ प्रगाढ़ हो जाए, ऐसी ज्योति जले अकंप, निर्धूम, तो साक्षी का जन्म होता है।

अष्टावक्र ने जनक को कहा: तू देख ले अपने को इन सब बातों पर कस कर। अगर इन सब बातों पर ठीक उतर जाता हो, तो तूने जो घोषणा की, वह परम घोषणा है। अगर इन बातों पर ठीक न उतरता हो, तो अपनी घोषणा वापिस ले ले। क्योंकि झूठी घोषणाएं खतरनाक हैं। तू मुझे सुन कर विश्वास मत बना, तू मुझे सुन कर श्रद्धा को जगा! तू सत्य में स्वयं जाग। मेरी जाग तेरी जाग नहीं हो सकती और मेरी रोशनी तेरी रोशनी नहीं हो सकती। मेरी आंखें मेरे काम आएंगी और मेरे पैर से मैं चलूंगा। तुझे तेरे पैर चाहिए और तेरी आंखें चाहिए और तेरी रोशनी चाहिए। तू ठीक से पहचान ले, तू मुझसे प्रभावित तो नहीं हो गया है?

कृष्णमूर्ति निरंतर कहते हैं: किसी से प्रभावित मत होना। वे ठीक कहते हैं। वह अष्टावक्र का ही सूत्र है। किसी से प्रभावित मत होना। जागो, अनुकरण में मत पड़ जाना। अनुकरण तो सिर्फ नाटक है, अभिनय है; जीवन का उससे कुछ लेना-देना नहीं।

यही मैं तुमसे भी कहता हूं। मुझे सुनो, लेकिन सुन लेना काफी नहीं है। सुनते-सुनते जागो! जो सुनो, उसको पकड़ कर मत बैठ जाना। नहीं तो पिंजरा हाथ लगेगा, पक्षी उड़ जाएगा या मर जाएगा। जो सुनो, उसे जल्दी खोल लेना, गुन लेना। जो सुनो, उसे जल्दी रूपांतरित करना; पचाना; नहीं तो अपच हो जाएगा। उसे पचाना! वह तुम्हारा खून बने, तुम्हारे खून में बहे, तुम्हारी हड्डी बने, तुम्हारी मज्जा बने, तुम्हारा प्राण बने--तो श्रद्धा!

श्रद्धा का अर्थ है: पचाया हुआ। विश्वास का अर्थ है: अनपचा।

विश्वास बोझ हो जाता है; श्रद्धा मुक्ति लाती है!

हरि ॐ तत्सत्!

अठारहवां प्रवचन

विस्मय है द्वार प्रभु का

पहला प्रश्न: मनोवैज्ञानिक विक्टर ई. फ्रैंकल ने "अहा-अनुभव" ९०:ी(द्मगचमतपमदबम० एवं "शिखर-अनुभव" ९ढमां(द्मगचमतपमदबम० की चर्चा करके मनोविज्ञान को नया आयाम दिया है। क्या आप कृपा करके इसे अष्टावक्र एवं जनक के आश्चर्य-बोध के संदर्भ में हमें समझाएंगे?

पहली बात: जिसे फ्रैंकल ने "अहा- अनुभव" कहा है, वह "अहा" तो है, अनुभव बिलकुल नहीं। अनुभव का तो अर्थ होता है "अहा" मर गई। अहा का अर्थ ही होता है कि तुम उसका अनुभव नहीं बना पा रहे; कुछ ऐसा घटा है, जो तुम्हारे अतीत-ज्ञान से समझा नहीं जा सकता, इसीलिए तो अहा का भाव पैदा होता है; कुछ ऐसा घटा है जो तुम्हारी अतीत-शृंखला से जुड़ता नहीं, शृंखला टूट गई; अनहोना घटा है, अपरिचित घटा है, असंभव घटा है; जिसे न तुमने कभी सोचा था, न विचारा था, न सपना देखा था--ऐसा घटा है।

परमात्मा जब तुम्हारे सामने खड़ा होगा, तो न तो वह कृष्ण की तरह होगा बांसुरी बजाता हुआ और न जीसस की तरह होगा सूली पर लटका हुआ और न राम की तरह होगा धनुष-बाण हाथ में लिए हुए। अगर राम की तरह धनुष-बाण हाथ में लिए खड़ा हो, तो तुम्हारे अनुभव से मेल खा जाएगा। तुम कहोगे: ठीक है, प्रभु द्वार आ गए। अहा पैदा नहीं होगा; अनुभव बन जाएगा; तुम्हारी धारणा में बैठ जाएगा। थोड़े-बहुत चौंकोगे, लेकिन चौंक इतनी गहरी न होगी कि तुम्हारे अतीत से तुम्हारे भविष्य को अलग तोड़ जाए।

अहा का अर्थ होता है ऐसी चौंक कि जैसे बिजली कौंध गई और एक क्षण में जो अतीत था वह मिट गया, उससे तुम्हारा कोई संबंध न रहा। कुछ ऐसा घटा, जिसकी तुम्हें सपने में भी भनक न थी। असंभव घटा! अज्ञेय द्वार पर खड़ा हो गया! न जिसके लिए कोई धारणा थी, न विचार था, न सिद्धांत था; जिसे समझने में तुम असमर्थ हो गए बिलकुल; जिस पर तुम्हारी समझ का ढांचा न बैठ सका; जो तुम्हारी समझ के सारे ढांचे तोड़ गया--उसी अवस्था में ही अहा का भाव पैदा होता है।

इसलिए अहा, पहली तो बात खयाल रखना, अनुभव नहीं है। अनुभव का तो अर्थ होता है प्रत्यभिज्ञा हो गई, रिकॅगनीशन हो गया, तुम पहचान गए कि अरे, यह गुलाब का फूल! लेकिन गुलाब के फूल की प्रत्यभिज्ञा, पहचान तभी हो सकती है, जब अतीत में देखे गए फूलों जैसा ही हो। अगर ऐसा हो जैसा कि अतीत में कभी जाना ही नहीं, तो तुम पहचान न सकोगे; तुम ठगे खड़े रह जाओगे; तुम्हारा मन एकदम स्तब्ध हो जाएगा। तुम्हारे मन की चलती विचारधारा एकदम खंडित हो जाएगी। उस खंडित विचारधारा में, उस निर्विचार-क्षण में जो घटता है, वही अहा है, वह अनुभव नहीं है। अनुभव तो सभी मन के हैं। वह अनुभवातीत अनुभव है। कहने को अनुभव कहो, अनुभव नहीं है।

उस अनुभवातीत अवस्था की तीन श्रेणियां हैं। पहली: जैसे ही किसी व्यक्ति को अनजान और अपरिचित की प्रतीति होती है, उसका सान्निध्य मिलता है--संबोधि कहो, समाधि कहो, परमात्मा कहो--जैसे ही तुम्हारे पास उस अनजान की तरंगें आती हैं, तुम तरंगायित होते हो, तो जो पहला भाव उठता है, वह होता है: आह! मुझे, और हुआ! इस पर भरोसा नहीं आता कि मुझे, और हो सकता है! बुद्ध को हुआ होगा, कृष्ण को हुआ होगा, क्राइस्ट को हुआ होगा--मुझे! पहली असंभावना तो यह दिखती है कि मुझ पापी को, मुझ ना-कुछ को, मुझ गिरे हुए को, मुझे हुआ! आह!

तो पहला अनुभव तो यह होता है कि जैसे एक छाती में छुरी चुभ गई। तुमने कभी सोचा ही नहीं था कि तुम्हें हो सकता है।

तुमने कभी सोचा, परमात्मा तुम्हें मिल सकता है? सदा किसी और को मिला है। तुमने न तो इतनी याद की है उसकी कभी कि तुम मान लो कि मुझे मिलेगा; न तुमने ऐसा कोई पुण्य-अर्जन किया है कि मान लो कि मुझे मिलेगा। तुम्हारे पास अर्जित क्या है? हजार-हजार भूलें की हैं, हजार-हजार पाप किए हैं, हजार-हजार नासमझियां की हैं--और की हैं ऐसा ही नहीं, अब भी जारी हैं।

तो जब पहली दफे परमात्मा उतरता है तो अपने पर भरोसा नहीं आता। तो पहली तो चोट उठती है: आह! मुझे! नहीं, नहीं, ऐसा कैसे हो सकता है! तुम यह मान ही नहीं पाते कि यह प्रसाद तुम पर भी बरस सकता है।

लेकिन मैं तुमसे कहता हूं कि यह सभी पर बरस सकता है। यह प्रसाद है, इसके पाने के लिए तुम्हें अर्जित करने की जरूरत ही नहीं। यह कुछ ऐसी चीज नहीं जिसे तुम मोलत्तोल कर लो, जिसे तुम खरीद लो--त्याग से, तपश्चर्या से। जो त्याग से मिलता है, वह कुछ और होगा, परमात्मा नहीं। जो तपश्चर्या से मिलता है, वह कुछ और होगा, परमात्मा नहीं। क्योंकि जो तुम्हारे करने से मिलता है वह तुमसे छोटा होगा, तुमसे बड़ा नहीं हो सकता। जो तुम्हारे कृत्य से मिलता है, जो तुम्हारी मुट्ठी में बंधा है, उसका मूल्य ही क्या; वह विराट नहीं होगा। तुम्हारे कृत्य से जो मिलता है, वह कर्ता से तो बड़ा नहीं हो सकता। कर्ता तो अपने कृत्य से सदा बड़ा होता है।

तुम एक चित्र बनाते हो; कितना ही सुंदर चित्र हो, लेकिन चित्रकार से बड़ा तो नहीं हो सकता। चित्रकार से पैदा हुआ है, चित्रकार बड़ा होगा। तुमने एक गीत रचा; कितना ही सुंदर हो, कितना ही मनमोहक हो, लेकिन गीतकार से बड़ा तो नहीं हो सकता। तुमने वीणा बजाई; कैसी ही रस की धार बहे, लेकिन वीणा-वादक से तो बड़ी नहीं हो सकती; जिससे बहती है, उससे तो छोटी ही होगी।

अगर तुम्हारे कृत्य से परमात्मा मिले, तो तुमसे छोटा होगा। इसलिए तो लोगों को जो परमात्मा मिलते हैं, वे बहुत परमात्मा नहीं हैं; वे उनसे छोटे हैं; वे उनके ही मन के खेल हैं; उनकी ही आकांक्षाओं, वासनाओं के रूप हैं। वे सपने की भांति हैं, यथार्थ नहीं।

वास्तविक परमात्मा तो प्रसाद-रूप मिलता है। वहां तुम्हारा कृत्य होता ही नहीं, न तुम्हारा पुण्य होता है; न तुम्हारा ध्यान, न तुम्हारा तप। वहां कुछ भी नहीं होता--वहां तुम भी नहीं होते। जब तुम मिटते हो, तब वह प्रसाद बरसता है। जब तुम सिंहासन खाली कर देते हो, तब वह राजा आता है।

तो पहली तो चोट लगती है: आह! तुम मान सकते थे कि किसी और को मिला, उसने बड़ी तपश्चर्या की थी, जन्मों-जन्मों तक पुण्य अर्जन किया था। तुम्हें मिला! तो पहला अनुभव तो है: आह! जब तुम थोड़े सम्हलते हो, जब तुम सम्हल कर जो हो रहा है उसे देखते हो; जिसे हो रहा है, उसकी फिक्र छोड़ देते हो, क्योंकि अब तो यह हो ही गया इस पर रुकना क्या; जो हो रहा है, जब तुम्हारी नजर उस पर जाती है--तो भाव उठता है: अहा! अपूर्व हो रहा है, अनिर्वचनीय हो रहा है!

"अहा" शब्द बड़ा प्यारा है। यह किसी भाषा का शब्द नहीं है। हिंदी में कहो तो अहा है, अंग्रेजी में कहो तो अहा है, चीनी में कहो तो अहा है, जर्मन में कहो तो अहा है। यह किसी भाषा का शब्द नहीं है--यह भाषाओं से पार है। जिसको भी होगा...इकहार्ट को हो तो उसको भी निकलता है अहा, और रिंझाई को हो तो उसको भी निकलता है अहा, और कबीर को हो तो उसको भी। सारी दुनिया में जहां भी किसी ने परमात्मा का अनुभव किया है, वहीं अहा का उदघोष हुआ है।

लेकिन यह भी दूसरी सीढ़ी है। पहले तुम अपने पर चौंकते हो कि मुझे हुआ, फिर तुम इस पर चौंकते हो कि परमात्मा हुआ! फिर इन दोनों के पार एक तीसरा बोध है, जिसे हम कहें: अहो! वही जनक को हो रहा है।

तीसरा बोध है; फिर न तो यह सवाल है कि मुझे हुआ, न यह सवाल है कि परमात्मा हुआ। फिर सब्जेक्ट और आब्जेक्ट, मैं और तू के पार हो गई बात। हुआ, यही आश्चर्य है; होता है, यही आश्चर्य है।

तरतूलियन ने कहा है कि परमात्मा असंभव है; हो नहीं सकता, लेकिन होता है। तब तीसरी बात उठती है: अहो!

ऐसा समझो, आह--हृदय धक्क से रह गया; ठिठक कर रह गया; अवाक! एक पूर्ण विराम आ गया। दौड़े चले जाते थे, न मालूम कहां-कहां दौड़े चले जाते थे; पैर ठिठक गए; दौड़ बंद हो गई, सब रुक गया, श्वास तक ठहर गई। आह...! जो श्वास आह में बाहर गई, वह भीतर नहीं लौटती। थोड़ी देर सब शून्य हो गया। सम्हले--श्वास भीतर वापिस लौटी।

यह जो श्वास का भीतर लौटना है, यह बड़ा नया अनुभव है। क्योंकि तुम तो मिट गए आह में; अब श्वास भीतर लौटती है एक शून्य-गृह में, मंदिर में। और अब यह श्वास लौटती है--वह जो बाहर खड़ा है परमात्मा, उसकी सुगंध से भरी हुई, उसकी गंध से आंदोलित, उसकी शीतलता, उसके प्रकाश की किरणों में नहाई हुई, उसके प्रेम में पगी! जैसे ही यह श्वास भीतर जाती है, तो अहा! पहले तुम चौंक कर रह गए थे, श्वास बाहर की बाहर रह गई थी; अब श्वास भीतर आती है तो श्वास के बहाने परमात्मा भीतर आता है। तुम्हारा रोआं-रोआं खिल जाता है, कली-कली फूल बन जाती है, हजार-हजार कमल खिल जाते हैं तुम्हारे चैतन्य की झील पर। अहा!

और तब दोनों मिट जाते हैं--न तो तुम हो, न परमात्मा है; दोनों एक हो गए, सीमाएं खो गईं। महामिलन होता है! जहां न मैं मैं हूं, न तू तू है--तब अहो! आह है: अवाक हो जाना। अहा है: अवाक+आश्चर्य। अहो है: आश्चर्य+अवाक+कृतज्ञता।

तो आह तो घट सकती है नास्तिक को भी। आह तो घट सकती है वैज्ञानिक को भी। जब वैज्ञानिक भी कोई नई खोज कर लेता है, तो धक्क रह जाता है, भरोसा नहीं आता, आह निकल जाती है। आह तो घट सकती है गणितज्ञ को भी। कोई सवाल जब बरसों तक उलझाए रहा हो, जब हल होता है, तो वर्षों तक उलझाए रहने के कारण इतना तनाव पैदा हो जाता है और जब हल होता है तो सारा तनाव गिर जाता है, बड़ी शांति मिलती है। इससे धर्म का अभी कोई संबंध नहीं है। आह तो घट सकती है गैर-धार्मिक को भी। जब हिलेरी एवरेस्ट पर पहुंचा तो आह निकल गई। इससे कुछ ईश्वर का लेना-देना नहीं है। कोई कभी नहीं पहुंच पाया था वहां, ऐसी अनहोनी घटना घटी थी। इससे हिलेरी का ईश्वरवादी होना जरूरी नहीं है।

जब पहली दफे आदमी चांद पर चला होगा तो आह निकल गई होगी; भरोसा न आया होगा कि मैं चल रहा हूं चांद पर! सदियों-सदियों से आदमी ने सपना देखा...हर बच्चा चांद को पकड़ने के लिए हाथ उठाए पैदा होता है। "पहली दफा मैं, पहुंच गया हूं चांद पर!" लेकिन इससे भी ईश्वर का कोई लेना-देना नहीं है।

जब अहा पैदा होती है, तो अहा पैदा हो सकती है कवि को, चित्रकार को, मूर्तिकार को। आह तो पैदा हो सकती है--वैज्ञानिक को, गणितज्ञ को, तर्कशास्त्री को। अहा पैदा होती है--एक कदम और: अवाक+आश्चर्य--कवि को, मनीषी को, संगीतज्ञ को। जब संगीतज्ञ किसी ऐसी धुन को उठा लेता है, जिसे कभी नहीं उठा पाया था, जब वह धुन बजने लगती है, जब वह धुन वास्तविक हो जाती है, सघन होने लगती है, जब धुन चारों तरफ बरसने लगती है! या कवि जब कोई गीत गुनगुना लेता है, जिसे गुनगुनाने को जीवन भर तड़पा था, शब्द नहीं मिलते थे, भाव नहीं बंधते थे, जब पंक्तियां बैठ जाती हैं, जब लय और छंद पूरे हो जाते हैं...।

अहा थोड़ी रहस्यमय है। आह बहुत व्यवहारिक है। और अहो धार्मिक है। वह घटती है केवल रहस्यवादी समाधिस्थ व्यक्ति को। वह संबोधि में घटती है।

ये जो जनक के वचन हैं, ये अहो के वचन हैं। सम्हाले नहीं सम्हल रही है बात। हर वचन में कहे जाते हैं: अहो! अहो!! इसमें बड़ी कृतज्ञता का भाव है, बड़ा गहन धन्यवाद है। पहली दफा आस्था का जन्म हुआ है, पहली

दफे अंधेरे में आस्था की किरण उतरी है। अब तक माना था, सोचा था, विचारा था कि परमात्मा है--अब परमात्मा भीतर आ गया है, अब प्रत्यक्ष है!

रामकृष्ण से विवेकानंद ने पूछा कि मुझे परमात्मा को दिखाएंगे? मुझे परमात्मा को सिद्ध करके बताएंगे? मैं परमात्मा की खोज में हूं। मैं तर्क करने को तैयार हूं।

रामकृष्ण सुनते रहे। और रामकृष्ण ने कहा: तू अभी देखने को राजी है कि थोड़ी देर ठहरेगा? अभी चाहिए?

थोड़े विवेकानंद चौंके। क्योंकि औरों से भी पूछा था--वे पूछते ही फिरते थे। बंगाल में जो भी मनीषी थे, उनके पास जाते थे कि ईश्वर है? तो कोई सिद्ध करता था, प्रमाण देता था--वेद से, उपनिषद से। और यहां एक आदमी है अपढ़, वह कह रहा है: अभी या थोड़ी देर रुकेगा? जैसे कि घर में रखा हो, जैसे कि खीसे में पड़ा हो परमात्मा!

अभी! यह सोचा ही नहीं था विवेकानंद ने कि कोई ऐसा भी पूछने वाला कभी मिलेगा कि अभी। और इसके पहले कि वह कुछ कहें, रामकृष्ण खड़े हो गए। इसके पहले कि विवेकानंद उत्तर देते, उन्होंने अपना पैर विवेकानंद की छाती से लगा दिया, और विवेकानंद के मुंह से जोर की चीख निकली: आह! और वे गिर पड़े और कोई घंटे भर बेहोश रहे।

जब वह होश में आए तो आंखें आंसुओं से भरी थीं, "आह" "अहा" हो गई थी। जब उन्होंने रामकृष्ण की तरफ देखा तो "अहो" में रूपांतरण हुआ "अहा" का। वे गदगद हो गए। उन्होंने पैर पकड़ लिए रामकृष्ण के और कहा: अब मुझे कभी छोड़ना मत! मैं नासमझ हूं! मैं कभी छोडूं भी, भागूं भी; लेकिन मुझे तुम कभी मत छोड़ना! यह हुआ क्या?

विवेकानंद पूछने लगे: मुझे किस लोक में ले गए? सब सीमाएं खो गईं, मैं खो गया, अपूर्व शांति और आनंद की झलक मिली! तो परमात्मा है!

विचार ठिठक जाए--आह। भाव ठिठक जाए--अहा। तुम्हारी समग्र आत्मा ठिठक जाए--अहो।

फ्रैंकल ने महत्वपूर्ण काम किया है कि मनोविज्ञान में उसने अहा अनुभव की बात शुरू की। लेकिन फ्रैंकल कोई रहस्यवादी संत नहीं। उसे संबोधि का या ध्यान का कोई पता नहीं। इसलिए वह "अहा" तक ही जा पाया, "अहो" की बात नहीं कर पाया है। और उसकी "अहा" भी बहुत कुछ "आह" से मिलती-जुलती है, क्योंकि उसके स्वयं के कोई अनुभव नहीं हैं। यह तर्क-सरणी से, विचार की प्रक्रिया से उसने सोचा है कि ऐसा भी अनुभव होता है। इकहार्ट हैं, तरतूलियन हैं, कबीर हैं, मीरा हैं--इनके संबंध में सोचा है। सोच-सोच कर उसने यह सिद्धांत निर्धारित किया। लेकिन फिर भी सिद्धांत मूल्यवान है; कम से कम किसी ने तर्क से भरे हुए खोपड़ियों में, कुछ तो डाला कि इसके पार भी कुछ हो सकता है! लेकिन फ्रैंकल की बात प्राथमिक है। उसे खींच कर "अहो" तक ले जाने की जरूरत है, तभी उसमें दिव्य आयाम प्रविष्ट होता है।

दूसरा प्रश्न: हम मनुष्यों ने किस महत आकांक्षा के वश अपनी अनुपम आश्चर्यबोध क्षमता का त्याग कर दिया है? कृपा करके इसे समझाएं।

प्रत्येक बच्चा आश्चर्य की क्षमता से भरा हुआ पैदा होता है। प्रत्येक बच्चा कुतूहल और जिज्ञासा में जीता है। और प्रत्येक बच्चा छोटी-छोटी चीजों से ऐसा अह्लादित होता है कि हमें भरोसा नहीं आता है। नदी के किनारे, कि सागर के किनारे सीपियां बीन लेता है, शंख बीन लेता है--और सोचता है हीरे-जवाहरात बीन रहा है! कंकड़-पत्थर लाल-पीले-हरे इकट्ठे कर लेता है। मां-बाप समझाते हैं कि फेंक, कहां बोझ ले जाएगा? वह छिपा

लेता है अपने खीसों में। रात मां उसके बिस्तर में से पत्थर निकालती है, क्योंकि सब खीसे से पत्थर बिखर जाते हैं। वह छिपा-छिपा कर ले आता है।

हमें दिखाई पड़ते हैं पत्थर; उसे दिखाई पड़ते हैं हीरे। अभी उसकी आश्चर्य की क्षमता मरी नहीं। अभी उसके प्राण पुलकित हैं। अभी परमात्मा के घर से नया-नया, ताजात्ताजा आया है। अभी आंखें रंगों को देख पाती हैं; अभी आंखें धूमिल नहीं हो गईं, धुंधली नहीं हो गईं। अभी कान स्वरों को सुन पाते हैं। अभी हाथ स्पर्श करने से मर नहीं गए हैं, अभी जीवंत चेतना है, अभी संवेदनशीलता है। इसलिए बच्चा छोटी-छोटी चीजों में किलकारी मारता है।

तुमने छोटे बच्चे को देखा?...अकारण!...इतनी छोटी बात में कि तुम्हें ही भरोसा नहीं आता कि कोई इतनी छोटी बात में इतना प्रसन्न कैसे हो सकता है! लेकिन धीरे-धीरे वह क्षमता मरने लगती है; हम उसे मारते हैं; इसलिए मरने लगती है। बड़े-बूढ़े बच्चे की जिज्ञासा में रस नहीं लेते। बड़े-बूढ़ों के लिए अड़चन है। बच्चे की जिज्ञासा उन्हें एक उपद्रव है, एक उत्पात है। पूछे ही चला जाता है। उनके पास उत्तर भी नहीं हैं। इसलिए बार-बार उसका पूछना उन्हें बेचैन भी करता है, क्योंकि उत्तर भी उनके पास नहीं हैं। या जो उत्तर उनके पास हैं, उन्हें खुद भी पता है, वे थोथे हैं। और बच्चों को धोखा देना मुश्किल है।

बच्चा पूछता है: यह पृथ्वी किसने बनाई है? और तुम कहो: परमात्मा ने। तो वह पूछता है: परमात्मा को किसने बनाया? तुम डांटते-डपटते हो। डांटने-डपटने से तुम सिर्फ इतना कह रहे हो कि तुम्हारा उत्तर थोथा है। बच्चे ने तुम्हारा अज्ञान दिखा दिया। उसने कह दिया: पिताजी, किसको धोखा दे रहे हो? दुनिया भगवान ने बनाई! वह पूछता है: भगवान को किसने बनाया? तुम कहते हो: चुप रह नासमझ, जब बड़ा होगा तो जान लेगा।

तुमने बड़े हो कर जाना? लेकिन सिर्फ तुम टाल रहे हो। तुम छुटकारा कर रहे हो। तुम कह रहे हो: मुझे मत सता, मुझे खुद ही पता नहीं। लेकिन इतना कहने की तुम्हारी हिम्मत नहीं कि मुझे पता नहीं है। जब बच्चे ने पूछा, पृथ्वी किसने बनाई, संसार किसने बनाया--काश, तुम ईमानदार होते और कहते कि "मैं भी खोज रहा हूं! पता चलेगा तो मैं तुझे कहूंगा। तुझे कभी पता चल जाए तो मुझे कह देना। मगर मुझे पता नहीं है।" तो आश्चर्य की क्षमता मरती नहीं।

स्कूल जाता बच्चा और शिक्षकों से पूछता, संसार किसने बनाया--और वे कहते कि "हमें पता नहीं, हम खोजते हैं, लेकिन अभी तक कुछ पता नहीं चला, बड़ा रहस्य है। तुम भी खोजना।" नहीं, लेकिन मुश्किल है, बाप का अहंकार है कि बाप, और न जाने! बाप यह बात मान ही नहीं सकता। बाप क्या हो गया, सब बातों का जानकार हो जाना चाहिए! कोई स्त्री मां क्या बन गई, हर बात की जानकार हो गई! कोई आदमी प्राइमरी स्कूल में पढ़ाने क्या लगा, सौ रुपए की नौकरी क्या मिल गई--वह हर चीज का जानकार हो गया!

तो शिक्षक का अहंकार है, बाप का अहंकार है, मां का अहंकार है, बड़े भाइयों का, परिवार के लोगों का, समाज का अहंकार है--और छोटा-सा बच्चा इतने अहंकारों में तुम सोचते हो बच सकेगा? अबोध, उसका नाजुक आश्चर्य--तुम्हारे अहंकारों में दबेगा, पिस जाएगा, मर जाएगा। तुम सब उसे पीस डालोगे। जहां जाएगा, वहीं डांट-डपट खाएगा। जहां जिज्ञासा उठाएगा, वहीं उसे ऐसा अनुभव होगा कि कुछ गलती की; क्योंकि जिससे भी जिज्ञासा करो वही कुछ ऐसे भाव से लेता है जैसे कोई भूल हो रही। जिससे प्रश्न पूछो वही नाराज हो जाता है; या ऐसा उत्तर देता है जिसमें कोई उत्तर नहीं है। अगर फिर उत्तर पूछो तो कहता है, नासमझी की बात है।

छोटे-मोटे लोगों की बात छोड़ दो, जिनको तुम बड़े-बड़े ज्ञानी कहते हो उनकी भी यही हालत है।

जनक ने एक दफा बड़े शास्त्रार्थ का आयोजन करवाया। उस समय के बड़े ज्ञानी याज्ञवल्क्य भी उसमें शास्त्रार्थ में गए। जनक ने हजार गऊएं खड़ी रखी थीं महल के द्वार पर कि जो जीत जाए, ले जाए। याज्ञवल्क्य

महापंडित थे। उन्होंने अपने शिष्यों को कहा कि गऊएं धूप में खड़ी हैं, तुम इनको ले जाओ, विवाद मैं पीछे कर लूंगा। इतना भरोसा रहा होगा अपने विवाद की क्षमता पर। बड़ा अहंकारी व्यक्तित्व रहा होगा। और सचमुच, वे पंडित थे, उन्होंने विवाद में सभी को हरा दिया। लेकिन वे जमाने भी अदभुत थे! एक स्त्री खड़ी हो गई विवाद करने को। गार्गी उसका नाम था। उसने याज्ञवल्क्य को प्रश्न पूछे, उसने मुश्किल में डाल दिया।

स्त्री, पुरुषों से ज्यादा बच्चों के करीब है। इसलिए तो स्त्री उम्र भी पा जाती है तो भी उसके चेहरे पर एक भोलापन और बचकानापन होता है; वही तो उसका सौंदर्य है। स्त्री बच्चों के करीब है, क्योंकि अभी भी रो सकती है, अभी भी हंस सकती है। पुरुष बिलकुल सूख गए होते हैं।

तो और तो सब पंडित थे, उन सूखे पंडितों को याज्ञवल्क्य ने हरा दिया, एक रसभरी स्त्री खड़ी हो गई। और उसने कहा कि सुनो, मुझसे भी विवाद करो। वे दिन अच्छे थे, तब तक स्त्रियां विवाद से वर्जित न की गई थीं। याज्ञवल्क्य के बाद ही स्त्रियों को विवाद से वर्जित कर दिया गया और कहा गया कि वे वेद न पढ़ सकेंगी। यह महत अनाचार हुआ। लेकिन इसके पीछे कारण था: गार्गी! गार्गी ने याज्ञवल्क्य को पसीने-पसीने कर दिया। कोई भी बच्चा कर देता, इसमें गार्गी की कोई खूबी न थी। खूबी इतनी ही थी कि अभी वह आश्चर्य-भाव से भरी थी। वह पूछने लगी प्रश्न। उसने सीधा-सा प्रश्न पूछा। पंडितों ने तो बड़े जटिल प्रश्न पूछे थे, उनके उत्तर भी याज्ञवल्क्य ने दे दिए थे।

जटिल प्रश्न का उत्तर देना सदा आसान है। सरल प्रश्न का उत्तर देना सदा कठिन है। क्योंकि प्रश्न इतना सरल होता है कि उसमें उत्तर की गुंजाइश नहीं होती। जब प्रश्न बहुत कठिन हो तो उसमें बहुत गुंजाइश होती है; इस कोने, उस कोने, हजार रास्ते होते हैं। जब प्रश्न बिलकुल सीधा-सरल हो; जैसे कोई पूछ ले कि पीला रंग यानी क्या? तुम क्या करोगे? प्रश्न बिल्कुल सीधा सरल है। तुम कहोगे: पीला रंग यानी पीला रंग। वह कहे: यह भी कोई उत्तर हुआ? पीला रंग यानी क्या? समझाओ!

अब पीला रंग इतनी सरल बात है, इसको समझाने का उपाय नहीं है, इसकी परिभाषा भी नहीं बना सकते। परिभाषा भी पुनरुक्ति होगी। अगर तुम कहो पीला रंग पीला रंग, तो यह तो पुनरुक्ति हुई। यह कोई परिभाषा हुई? यह तो तुमने वही बात फिर दोहरा दी, बात तो वहीं की वहीं रही, प्रश्न अटका ही रहा।

गार्गी ने कोई बड़े कठिन प्रश्न नहीं पूछे; सीधी-सादी स्त्री रही होगी। वहीं मुश्किल खड़ी हो गई। अगर वह भी उलझी स्त्री होती तो याज्ञवल्क्य ने उसे हरा दिया होता। वह पूछने लगी: मुझे तो छोटे- छोटे प्रश्न पूछने हैं। यह पृथ्वी को किसने सम्हाला हुआ है?

याज्ञवल्क्य तभी डरा होगा कि यह झंझट की बात है, यह कोई शास्त्रीय प्रश्न नहीं है। तो याज्ञवल्क्य ने जो पौराणिक उत्तर था दिया कि कछुए ने सम्हाला हुआ है, कछुए के ऊपर पृथ्वी टिकी है। यह उत्तर बचकाना है। यह उत्तर बिलकुल झूठा है। गार्गी पूछने लगी: और कछुआ किस पर टिका है? यह बच्चे का प्रश्न है। इसलिए मैं कहता हूं गार्गी ने उलझन खड़ी कर दी, क्योंकि वह सीधी-सादी, आश्चर्य से भरी हुई स्त्री रही होगी। कछुआ किस पर खड़ा है?

याज्ञवल्क्य को घबराहट तो बढ़ने लगी होगी, क्योंकि यह तो मुश्किल मामला है। यह तो अब पूछती ही चली जाएगी। तुम बताओ, हाथी पर खड़ा है। तो हाथी किस पर खड़ा है? तुम कहां तक जाओगे? आखिर में यह तो हल नहीं होने वाला।

तो उसने सोचा कि इसे चुप ही कर देना उचित है; जैसा कि सभी पंडित, सभी शिक्षक, सभी मां-बाप बजाय उत्तर देने के चुप करने में उत्सुक हैं। किसी तरह मुंह बंद कर दो! तो उसने कहा: सब परमात्मा पर खड़ा हुआ है, सभी को उसने सम्हाला हुआ है।

गार्गी ने कहा: बस अब एक प्रश्न और पूछना है, परमात्मा को किसने सम्हाला है?

इसलिए मैं कहता हूं, यह बिलकुल बच्चों जैसा प्रश्न था--सीधा-सरल। बस याज्ञवल्क्य क्रोध में आ गया। उसने कहा, यह अतिप्रश्न है गार्गी! अगर आगे पूछा तो सिर धड़ से गिरा दिया जाएगा!

यह भी कोई उत्तर हुआ? मगर यही उत्तर सब बाप देते रहे हैं कि अगर ज्यादा पूछा तो पिटाई हो जाएगी! सिर धड़ से अलग कर दिया जाएगा! सिर गिर जाएगा गार्गी, अगर और तूने पूछा आगे! यह अतिप्रश्न है।

अतिप्रश्न का क्या मतलब होता है? कोई प्रश्न अतिप्रश्न हो सकता है? या तो सभी प्रश्न अतिप्रश्न हैं--तो पूछो ही मत, फिर उत्तर ही मत दो। या फिर किसी प्रश्न को अतिप्रश्न कहने का तो इतना ही अर्थ हुआ कि मुझे इसका उत्तर मालूम नहीं, यह मत पूछो। तुम्हें उत्तर मालूम नहीं है, इसलिए प्रश्न अति हो गया! इससे तुम नाराज हो गए!

और वह आखिरी दिन था भारत के इतिहास में, उसके बाद फिर स्त्रियों को वेद पढ़ने की मनाही कर दी गई, शास्त्र पढ़ने की मनाही कर दी गई, क्योंकि स्त्रियां खतरनाक थीं। वे छोटे बच्चों की तरह थीं। वे झंझटें खड़ी करने लगीं पंडितों को। भारत में एक अंधेरी रात शुरू हुई स्त्रियों के लिए। उनसे सारे सोच-विचार के उपाय छीन लिए गए।

यही हमने बच्चों के साथ किया है। तो बच्चा कब तक अपने आश्चर्य के भाव को बचा कर रखे? देर-अबेर समझ जाता है कि कोई मेरे प्रश्नों में उत्सुक नहीं है, कोई मेरे आश्चर्य का साथी नहीं है; और जहां-जहां मैं आश्चर्य भाव प्रगट करता हूं, जहां-जहां मैं उत्सुकता लेता हूं, हर आदमी ऐसा भाव प्रकट करता है कि मैं कोई पाप कर रहा हूं। बच्चा इन इशारों को समझ जाता है। वह अपने आश्चर्य को पीने लगता है, रोकने लगता है, दबाने लगता है। जिस दिन बच्चा अपने आश्चर्य को दबाता है, उसी दिन बचपन की मौत हो जाती है। उस दिन के बाद वह बूढ़ा होना शुरू हो जाता है। उस दिन के बाद फिर जीवन में विकास नहीं होता, सिर्फ मृत्यु घटती है।

पूछा है कि "किस महत आकांक्षा के वश हम अपनी अनुपम आश्चर्यबोध-क्षमता का त्याग कर देते हैं?"

महत आकांक्षा है: लोग स्वीकार करें! बच्चा चाहता है: बाप स्वीकार करे, मां स्वीकार करे। क्योंकि बच्चा उन पर निर्भर है। वह चाहता है कि मां प्रेम करे, बाप प्रेम करे--तो ऐसा कोई काम न करूं, जिससे बाप नाराज हो जाता है या बाप को बेचैनी होती है, अन्यथा प्रेम रुक जाएगा। ऐसी कोई बात न पूछूं, जिससे मां नाराज होती है। ऐसी कोई बात न पूछूं जिससे शिक्षक नाराज होता है। धीरे-धीरे प्रेम पाऊं, स्वीकार पाऊं; दूसरे मेरे जीवन में सहयोगी बनें--इस आधार पर आश्चर्य की मृत्यु हो जाती है। बच्चा आश्चर्य को छोड़ देता है, अहंकार को पकड़ लेता है। यह सब अहंकार की आकांक्षा है कि लोगों में सम्मान मिले, अपमान न मिले, सभी लोग मुझे स्वीकार करें; सब लोग कहें कितना अच्छा, कितना शांत, कितना सौम्य बच्चा है!

पूछने वाला उपद्रवी मालूम पड़ता है। सीमा से ज्यादा पूछने वाला विद्रोही मालूम पड़ने लगता है। अगर हर चीज पर पूछताछ करते चले जाओ, तो बड़ी अड़चन हो जाती है।

मैं छोटा था तो मेरे घर के लोग मुझे किसी सभा इत्यादि में नहीं जाने देते थे, कि तुम्हारे पीछे हमारा तक नाम खराब होता है; क्योंकि मैं रुक ही नहीं सकता था। कोई स्वामी जी बोल रहे हैं, मैं खड़ा हो जाऊंगा बीच में--और सारे लोग नाराजगी से देखेंगे कि यह बच्चा आ गया गड़बड़! मैं बिना पूछे रह ही नहीं सकता था। और ऐसा उत्तर मैंने कभी नहीं पाया, जिसके आगे और प्रश्न करने की संभावना न हो। तो स्वाभाविक था कि स्वामी लोग नाराज हों। कॉलेज से मुझे निकाल दिया गया, क्योंकि मेरे शिक्षक ने कहा कि हम नौकरी छोड़ देंगे अगर तुम इस क्लास में...। या तो तुम छोड़ दो या हम छोड़ दें।

फिलॉसफी पढ़ने कॉलेज गया था और फिलॉसफी पढ़ाने वाला प्रोफेसर कहता है कि तुम अगर प्रश्न पूछोगे तो हम नौकरी छोड़ देंगे। तो हद हो गई! तो क्या खाक फिलॉसफी पढ़ाओगे? दर्शन- शास्त्र पढ़ाने बैठे हो, प्रश्न पूछने नहीं देते!

उनकी कठिनाई भी मैं समझता हूं--अब तो और अच्छी तरह समझता हूं उनकी कठिनाई! क्योंकि पढ़ना-लिखना हो ही नहीं सकता था। मेरे पूछने का अंत नहीं था और उनके पास इतनी हिम्मत न थी कि वे किसी प्रश्न पर कह दें कि मुझे इसका उत्तर नहीं मालूम--वह अड़चन थी। वह कुछ न कुछ उत्तर देते और मैं उनके उत्तर में से फिर भूल निकाल लेता।

ऐसा हुआ कि आठ महीने तक पहले पाठ से हम आगे बढ़े ही नहीं। तो उनकी घबड़ाहट भी मैं समझता हूं, मगर एक छोटी-सी बात से हल हो जाता; वे कह देते, मुझे मालूम नहीं--बात खत्म हो जाती। मैं उनसे यही कहता कि आप इतना कह दो कि मुझे मालूम नहीं, फिर मैं आपको परेशान नहीं करूंगा। फिर बात खत्म हो गई। अगर आप कहते हो मुझे मालूम है तो यह विवाद चलेगा, चाहे जिंदगी मेरी खराब हो जाए और आपकी खराब हो जाए।

आठ महीने बीत गए तो उनको लगा, यह तो अब मुश्किल मामला है, यह परीक्षा का वक्त आने लगा, औरों का क्या होगा?

धीरे-धीरे यह हालत हो गई कि और विद्यार्थियों ने तो आना ही बंद कर दिया क्लास में कि सार ही क्या, ये दो आदमी लड़ते हैं, आगे तो बात बढ़ती ही नहीं! बढ़ सकती भी नहीं। क्योंकि ऐसा कोई भी उत्तर नहीं है जिसमें प्रश्न न पूछे जा सकें। हर उत्तर नए प्रश्न पैदा कर जाता है।

हां, अगर उन्होंने जरा भी विनम्रता दिखाई होती, बात हल हो गई होती। मैंने उनसे बार-बार कहा कि आप एक दफे कह दो कि मुझे इसका उत्तर नहीं मालूम, बात खत्म हो गई; फिर अशिष्टता है आपसे पूछना। लेकिन आप कहते हो मालूम है, तो मजबूरी है, फिर मुझे पूछना ही पड़ेगा।

उन्होंने तो इस्तीफा दे दिया, वे तीन दिन छुट्टी ले कर घर बैठ गए। उन्होंने कहा, मैं तो आऊंगा ही तब जब यह विद्यार्थी वहां नहीं रहेगा!

आश्चर्य को तुम बचने नहीं देते। अब यह स्वाभाविक था, क्योंकि मेरी परीक्षा के पत्र उन्हीं के हाथ में थे। यह तो तय ही था कि मैं फेल होने वाला हूं। इसमें तो कोई शक-सुबहा नहीं था। उनको भी लगता था कि धीरे-धीरे मुझे समझ आ जाएगी कि परीक्षा करीब आ रही है, तो अब मुझे चुप हो जाना चाहिए। मैंने उनको कहा, परीक्षा वगैरह की मुझे चिंता नहीं है। यह प्रश्न अगर हल हो गया तो सब हल हो गया।

अगर हम सम्मान चाहते हैं तो स्वभावतः हमें राजी होना होगा--लोग जो कहते हैं वही मान लेने को राजी हो जाना होगा।

तो तुमने पूछा है: "किस कारण से, किस महत आकांक्षा से आश्चर्य मर जाता है?"

अहंकार की आकांक्षा से आश्चर्य मर जाता है। सफल होना है तो आश्चर्य से काम नहीं चलेगा। आश्चर्य से भरे हुए लोग असफल होंगे ही। वे कहीं भी सफल नहीं हो सकते, क्योंकि सफल होने के लिए दूसरों का साथ जरूरी है। सफल होने के लिए सम्मान पाना जरूरी है। सफल होने के लिए... दूसरों के बिना सफलता का उपाय कहां है?

अगर तुम असफल होने को राजी हो तो फिर तुम्हारे आश्चर्य को कोई भी मार नहीं सकता। लेकिन यह बड़ा कठिन है। असफल होने को कौन राजी होगा! अगर तुम ना-कुछ होने को राजी हो तो तुम्हारा आश्चर्य कोई भी मार नहीं सकता।

लेकिन अहंकार की स्वाभाविक आकांक्षा होती है: सर्टिफिकेट हों, पुरस्कार मिलें; शिक्षक सम्मान करें; मां-बाप सम्मान करें; गांव, नगर, समाज सम्मान करे; लोग कहें कि देखो, कैसा सुपुत्र हुआ! लेकिन तब आश्चर्य मरेगा। तुम्हारे भीतर का काव्य मर जाएगा। तुम्हारे भीतर का कुतूहल मर जाएगा। तुम्हारे भीतर की वह जो तरंगायित, रहस्य अनुभव करने की क्षमता है, वह जड़ हो जाएगी! तुम पथरीले हो जाओगे। तुम्हारे जीवन की रसधार सूख जाएगी। तुम एक मरुस्थल हो जाओगे। सफल हो जाओगे, लेकिन सफल होने में जीवन गंवा दोगे; मरने के पहले मर जाओगे।

मैं तुमसे कहता हूं: असफल रहना, कोई फिक्र नहीं; आश्चर्य को मत मरने देना! क्योंकि आश्चर्य परमात्मा तक पहुंचने का द्वार है। भरो अपने को आश्चर्य से! जितना विराट तुम्हारा आश्चर्य हो, जितनी गहन तुम्हारी जिज्ञासा हो, उतनी ही बड़ी संभावना है तुम्हारे भीतर विराट के उतरने की। पूछोगे, पुकारोगे, खोजोगे--तो मिलेगा।

जीसस ने कहा है: खटखटाओ, तो द्वार खुलेंगे! पूछो, तो उत्तर मिलेगा। मांगो, तो भर दिए जाओगे!

लेकिन अगर तुम्हारे भीतर संवेदनशीलता ही नहीं, तुम पूछते ही नहीं, तुम खोजते ही नहीं, तुम यात्रा पर जाते ही नहीं, तुम बैठे हो गोबर-गणेश की तरह...। हालांकि सब तुम्हारी बड़ी प्रशंसा करते हैं कि देखो, गणेशजी कितने अच्छे मालूम होते हैं!

अक्सर ऐसा होता है कि जितना गोबर-गणेश बच्चा हो, मां-बाप उसकी उतनी ही प्रशंसा करते हैं। बैठा रहे मिट्टी के लौंदे जैसा, तो कहते हैं देखो गणेशजी कैसे प्यारे! मगर यह तो मर गया बच्चा, पैदा होने के पहले मर गया। अगर बच्चा उपद्रवी है...उपद्रवी का मतलब ही यह होता है कि मां-बाप की धारणाओं को तोड़ता है। उपद्रवी का अर्थ ही होता है कि ऐसे प्रश्न उठाता है जिनके उत्तर मां-बाप के पास नहीं; ऐसी जीवन-शैली सीखता है, जिसकी स्वीकार की क्षमता और हिम्मत मां-बाप में नहीं। अगर मां-बाप आस्तिक हैं तो बच्चा ऐसे प्रश्न उठाता है जिनसे नास्तिकता की गंध आती है। अगर मां-बाप परंपरावादी हैं तो बच्चा ऐसी बातें उठाता है, जिनसे लीक टूटती, परंपरा टूटती। बच्चा लकीर का फकीर नहीं है।

तो सारा समाज, इतना बड़ा समाज, राज्य, पुलिस, अदालतें--सब आश्चर्य की हत्या करने को बैठे हैं। जब तुम्हारा आश्चर्य मर गया तब तुम यंत्रवत हो गए, फिर तुम योग्य हो गए, काम के हो गए, कुशल हो गए। फिर तुम पूछोगे नहीं, तुम प्रश्न नहीं उठाओगे; तुम चुपचाप जो कहा जाएगा, करोगे।

देखा, मिलिट्री में यही करते हैं वे! मिलिट्री में घंटों कवायद करवाते रहते हैं। कहते हैं: बाएं घूम, दाएं घूम! कोई पूछे कि तीनत्तीन चार-चार घंटे, बाएं-दाएं घूम क्यों करवा रहे हो? उसके पीछे बड़ा मनोवैज्ञानिक कारण है। वे व्यक्ति के भीतर व्यक्तित्व को मारना चाहते हैं। वे कहते हैं: जब हम कहें बाएं घूम तो तुम बाएं घूमो। तुम्हारे भीतर ऐसा प्रश्न नहीं उठना चाहिए: क्यों?

किसी साधारण आदमी से सड़क पर खड़े हो कर कहो कि बाएं घूम तो वह कहेगा: क्यों? स्वाभाविक है, किसलिए बाएं घूमें? अब कोई कारण हो तो बाएं घूमें, लेकिन मिलिट्री में अगर तुम कहो कि किसलिए बाएं घूमें, क्या कारण है--तो तुम गलत बात पूछ रहे हो। कारण पूछने का सवाल नहीं--आज्ञा मानना है। तुम्हारे मस्तिष्क को इस तरह से ढालना है कि तुमसे जो कहा जाए, तुम बिना सोचे कर सको--यही कुशलता है; एफीसिएंसी। क्योंकि सोचने में तो समय लगता है। तुमसे कहा, बाएं घूमो; तुम सोचने लगे कि घूमें कि न घूमें कि फायदा क्या कि मतलब क्या; और फिर दाएं घूमना पड़ेगा और फिर यहीं आना पड़ेगा, तो थोड़ी देर में घूम कर लोग यहीं आ जाएंगे, हम यहीं खड़े रहें, सार क्या है--तो तुम सैनिक नहीं बन सकते।

सैनिक बनने का अर्थ ही यही है कि तुम्हारे भीतर विचार की कोई भी ऊर्मि न रह जाए, विचार की कोई तरंग न रह जाए; तुम बिलकुल जड़वत हो जाओ; जब कहा बाएं घूम, तो तुम ऐसे यंत्रवत घूम जाओ कि तुम चाहो भी अपने को रोकना तो न रोक सको।

विलियम जेम्स ने उल्लेख किया है कि पहले महायुद्ध के वक्त वह एक होटल में बैठा हुआ है। अपने मित्रों से बात कर रहा है। तभी बाहर से एक युद्ध से रिटायर सैनिक अंडों की एक टोकरी लिए सिर पर जा रहा है। उसने मजाक में, सिर्फ यह दिखाने के लिए कि आदमी कैसा यांत्रिक हो जा सकता है, होटल में जोर से कहा: अटेंशन! वह जो सैनिक बाहर जा रहा था अंडे की टोकरी लिए, वह अटेंशन में खड़ा हो गया। उसको नौकरी छोड़े भी दस साल हो गए हैं! वे सारे अंडे सड़क पर गिर कर, बिखर कर टूट गए। वह बड़ा नाराज हुआ। उसने

कहा: यह किस नासमझ ने अटेंशन कहा? विलियम जेम्स ने कहा कि तुम्हें मतलब? हम अटेंशन कहने के हकदार हैं, तुम मत होओ अटेंशन!

उसने कहा: यह भी हो सकता है? तीस साल तक, अटेंशन यानी अटेंशन--अब तो वह खून में समा गया है। ऐसी मजाक करनी ठीक नहीं।

यह यंत्रवतता सैनिक में पैदा करनी पड़ती है। तभी तो एक सैनिक को कहा--मारो, गोली चलाओ! तो वह यह नहीं पूछता कि इस आदमी ने मेरा बिगाड़ा क्या, जिस पर मैं गोली चलाऊं? वह यह नहीं सोचता कि इसकी पत्नी होगी घर, इसके बच्चे होंगे; जैसे मेरी पत्नी और मेरे बच्चे हैं। वह यह नहीं सोचता कि इसकी बूढ़ी मां होगी, शायद इसी पर निर्भर होगी। वह यह नहीं सोचता कि इसका बूढ़ा बाप होगा, शायद आंखें खो गई होंगी; यही उसके जीवन की लकड़ी है, सहारा है। वह कुछ नहीं सोचता। "गोली मार!"--तो वह गोली मारता है, क्योंकि वह यंत्रवत है।

जिस आदमी ने हिरोशिमा पर ऐटम बम गिराया और एक ऐटम बम के द्वारा एक लाख आदमी दस मिनिट के भीतर राख हो गए, वह वापिस लौट कर सो गया। जब सुबह उससे पत्रकारों ने पूछा कि तुम रात सो सके? उसने कहा, क्यों? खूब गहरी नींद सोया! आज्ञा पूरी कर दी, बात खत्म हो गई। इससे मेरा लेना-देना ही क्या है कि कितने लोग मरे कि नहीं मरे? यह तो जिन्होंने पॉलिसी बनाई, वे जानें; मेरा क्या? मुझे तो कहा गया कि जाओ, बम गिरा दो फलां जगह--मैंने गिरा दिया। काम पूरा हो गया, मैं निश्चिंत भाव से आ कर सो गया।

एक लाख आदमी मर जाएं तुम्हारे हाथ से गिराए बम से, और तुम्हें रात नींद आ जाए--थोड़ा सोचो, मतलब क्या हुआ? एक लाख आदमी! राख हो गए! इनमें से तुम किसी को जानते नहीं, किसी ने तुम्हारा कुछ कभी बिगाड़ा नहीं, तुमसे किसी का कोई झगड़ा नहीं। इनमें छोटे बच्चे थे जो अभी दूध पीते थे, जिन्होंने किसी का कुछ बिगाड़ना भी चाहा हो तो बिगाड़ नहीं सकते थे। इनमें गर्भ में पड़े हुए बच्चे थे, मां के गर्भ में थे, अभी पैदा भी न हुए थे--उन्होंने तो कैसे किसी का क्या बिगाड़ा होगा! एक छोटी बच्ची अपना होमवर्क करने सीढ़ियां चढ़ कर ऊपर जा रही थी, वह वहीं की वहीं राख हो कर चिपट गई दीवाल से! उसका बस्ता, उसकी किताबें सब राख हो कर चिपट गए!

लाख आदमी राख हो गए और यह आदमी कहता है, मैं रात सो सका मजे से!

यह सैनिक है। सैनिक का मतलब इतना है कि वह आज्ञा का पालन करे। दुनिया में आज्ञापालन करने वालों के कारण जितना नुकसान हुआ है, आज्ञा न पालन करने वालों के कारण नहीं हुआ। और अगर एक अच्छी दुनिया बनानी हो तो हमें आज्ञा मानने की ऐसी अंधता तोड़नी पड़ेगी। हमें व्यक्ति को इतना विवेक देना चाहिए कि वह सोचे कि कब आज्ञा माननी, कब नहीं माननी।

थोड़ा सोचो, यह आदमी यह कह सकता था कि ठीक है, आप मुझे गोली मार दें, लेकिन लाख आदमियों को मैं मारने नहीं जाऊंगा। अगर मेरे मरने से लाख आदमी बचते हैं तो आप मुझे गोली मार दें। थोड़ा सोचो कि जिस सैनिक को भी कहा जाता कि हिरोशिमा पर बम गिराओ, ऐटम, वह कह देता मुझे गोली मार दें मैं तैयार हूं, मगर मैं गिराने नहीं जाता--दुनिया में एक क्रांति हो जाती।

क्या आदमी ने इतना बल खो दिया है, विचार की इतनी क्षमता खो दी है? मगर इसी के लिए कवायद करवानी पड़ती है, ताकि धीरे-धीरे, धीरे-धीरे विचार की क्षमता खो जाए।

सैनिक और संन्यासी दो छोर हैं। संन्यासी का अर्थ है: जो ठीक उसे लगता है वही करेगा, चाहे परिणाम कुछ भी हो। और सैनिक का अर्थ है: जो कहा जाता है वही करेगा, चाहे परिणाम कुछ भी हो। संन्यासी बगावती होगा ही, बुनियादी रूप से होगा। इसलिए मैं कहता हूं: धार्मिक आदमी विद्रोही होगा ही। अगर कोई आदमी धार्मिक हो और विद्रोही न हो, तो समझना कि धार्मिक नहीं है। उसने सैनिक होने को संन्यासी होना समझ

लिया है। वह मंदिर भी जाता है, पूजा कर आता है; लेकिन उसकी पूजा कवायद का ही एक रूप है। उसे कहा गया है कि ऐसी पूजा करो तो वह कर आता है, घंटी ऐसी बजाओ तो बजा आता है, पानी छिड़को, गंगाजल डालो, तिलक-टीका लगाओ--वह कर आता है; लेकिन यह सब कवायद है। यह आदमी धार्मिक नहीं है; क्योंकि धार्मिक आदमी तो वही है जो अपने अंतरविवेक से जीता है।

यह दुनिया धर्म के बड़े विपरीत है। यहां तीन सौ धर्म हैं जमीन पर, मगर यह दुनिया धर्म के बड़े विपरीत है। ये तीन सौ धर्म सभी धर्म के हत्यारे हैं। इन्होंने सब धर्म को मिटा डाला है और मिटाने की पूरी चेष्टा है। धर्म मिट जाता है, अगर तुम आज्ञाकारी हो जाओ। मैं तुमसे यह नहीं कहता कि अनाज्ञाकारी हो जाओ, खयाल रखना। मेरी बात का गलत अर्थ मत समझ लेना। मैं तुमसे कहता हूं: विवेकपूर्ण...। फिर जो ठीक लगे आज्ञा में, बराबर करो; और जो ठीक न लगे, फिर चाहे कोई भी परिणाम भुगतना पड़े, कभी मत करो। तब तुम्हारे जीवन में फिर से आश्चर्य का उदभव होगा। फिर से तुम्हारे प्राणों पर जम गई राख झड़ेगी और अंगारा निखरेगा और दमकेगा। उस दमक में ही कोई परमात्मा तक पहुंचता है।

परमात्मा तक पहुंचने का मार्ग सैनिक होना नहीं है--परमात्मा तक पहुंचने का मार्ग संन्यासी होना है। और संन्यासी का अर्थ है: जिसने निर्णय किया कि सब जोखिम उठा लेगा, लेकिन अपने विवेक को न बेचेगा; सब जोखिम उठा लेगा, अगर जीवन भी जाता हो तो गंवाने को तैयार रहेगा, लेकिन अपनी अंतस-स्वतंत्रता को न बेचेगा।

स्वतंत्रता का अर्थ स्वच्छंदता नहीं है। स्वतंत्रता का अर्थ विवेक है। स्वतंत्रता का अर्थ परम दायित्व है कि मैं अपना उत्तरदायित्व समझ कर स्वयं जीऊंगा, अपने ही प्रकाश में जीऊंगा; उधार, परंपरागत, लकीर का फकीर हो कर नहीं। क्योंकि दुनिया की स्थितियां बदलती जाती हैं और लकीरें नहीं बदलतीं। दुनिया रोज बदलती जाती है, नक्शे पुराने बने रहते हैं। दुनिया रोज बदलती जाती है, आदेश पुराने हैं। अब तुम वेद से आदेश लोगे, भटकोगे नहीं तो क्या होगा? तुम कुरान से आदेश लोगे, गीता से आदेश लोगे, भटकोगे नहीं तो क्या होगा? पढ़ो गीता, समझो गीता; लेकिन आदेश सदा स्वयं की आत्मा से लेना। उपदेश ले लेना जहां से भी लेना हो, आदेश कहीं से भी मत लेना। उपदेश और आदेश का यही फर्क है।

उपदेश का अर्थ है: जहां भी शुभ बात सुनाई पड़े, सुन लेना, गुन लेना, समझ लेना। लेकिन आदेश कहीं से मत लेना। आदेश के लिए तो तुम्हारे भीतर बैठा परमात्मा है, उसी से लेना।

आश्चर्य की क्षमता मर गई है, क्योंकि तुमने अहंकार को चाहा; अहंकार की आकांक्षा में मर गई है। अगर तुम चाहते हो आश्चर्य फिर से जागे, तो अहंकार की चट्टानों को हटाओ--बहेगा झरना आश्चर्य का। और वह आश्चर्य तुम्हें ताजा कर जाएगा, कुंआरा कर जाएगा, नया कर जाएगा। फिर से तुम देखोगे दुनिया को जैसा कि देखना चाहिए। ये हरे वृक्ष कुछ और ही ढंग से हरे हो जाएंगे। ये गुलाब के फूल किसी और ढंग से गुलाबी हो जाएंगे।

यह जगत बड़ा सुंदर है, लेकिन तुम्हारी आंखों का आश्चर्य खो गया है; तुम्हारी आंखों पर पत्थर जम गए हैं। यह जगत अपूर्व है, क्योंकि प्रभु मौजूद है यहां, यह प्रभु से व्याप्त है! यहां पत्थर-पत्थर में परमात्मा छिपा है; इसलिए कोई पत्थर पत्थर नहीं है, यहां सिर्फ कोहिनूर ही कोहिनूर हैं। हर पत्थर से उसी का नूर प्रगट हो रहा है, उसी की रोशनी है। मगर तुम्हारे पास आश्चर्य की आंख चाहिए।

इसलिए तो जीसस ने कहा है: धन्य हैं वे जो छोटे बच्चों की भांति हैं, क्योंकि वे ही मेरे प्रभु के राज्य में प्रवेश पा सकेंगे। यहां वे आश्चर्य के संबंध में ही इंगित कर रहे हैं।

तीसरा प्रश्न: गुरु शिष्यों के साथ क्या कभी छिया-छी का खेल भी खेलता है? कृपा करके कहें।

छिया-छी ही तो पूरा का पूरा संबंध है गुरु और शिष्य का। कभी-कभी खेलता है, ऐसा नहीं; बस वही तो संबंध है। और न केवल गुरु और शिष्य के बीच वैसा संबंध है, परमात्मा और सृष्टि के साथ भी वैसा ही संबंध है। गुरु और शिष्य तो उसी विराट खेल को छोटे पैमाने पर खेलते हैं जिसे बड़े पैमाने पर परमात्मा सृष्टि के साथ खेल रहा है।

यहां परमात्मा सब जगह छिपा है, पुकार रहा है जगह-जगह से: "आओ, मुझे छुओ, खोजो!" जिस दिन तुम उसकी पुकार सुन लोगे और तुम उसे खोजने लगोगे, उस दिन तुम पाओगे कि खोजने में इतना आनंद है कि तुम शायद कहने लगो कि जल्दी मत करना प्रगट हो जाने की।

तुम कभी छोटे थे, जब तुमने खेला बच्चों का खेल छिया-छी का। एक ही कमरे में बच्चे खड़े हो जाते हैं छिप कर, कोई बिस्तर के नीचे दब गया है, कोई कुर्सी के पीछे छिप गया है--और सबको पता है कि कौन कहां है, क्योंकि सभी धीरे-धीरे आंख खोल कर देख रहे हैं कि कौन कहां है, फिर भी खेल चलता है। जिसने देख लिया है, वह भी इधर-उधर दौड़ता है; वहां नहीं आता जहां कि तुम छिपे हो, क्योंकि खेल तो खेलना है; नहीं तो अगर सीधे चले आए, जहां तुम छिपे हो तो खेल खत्म हो गया। तुम्हें भी पता है कि वह कहां से आ रहा है। तुम भी देख रहे हो, वह भी देख रहा है; फिर भी खेल चल रहा है।

आत्यंतिक अर्थों में यही अर्थ है लीला का। परमात्मा ऐसा नहीं छिपा है कि मिले नहीं; ऐसा छिपा है कि तुम हाथ बढ़ाओ और मिल जाए। लेकिन जिस दिन तुम समझोगे कि इतने पास छिपा है, तुम कहोगे जरा खेल चलने दो।

चुभते ही तेरा अरुण बाण
बहते कण-कण से फूट-फूट
मधु के निर्झर से सजल गान
मेरे छोटे जीवन में
देना न तृप्ति का कणभर
रहने दो प्यासी आंखें
भरती आंसू के सागर
तुम मानस में बस जाओ
छिप दुख की अवगुंठन से
मैं तुम्हें ढूंढने के मिस
परिचित हो लूं कण-कण से
तुम रहो सजल आंखों की
सित-असित मुकुरता बन कर
मैं सब कुछ तुमसे देखूं
तुमको न देख पाऊं पर।

भक्त कहता है: सब तुमसे देखूं; तुम मेरी आंखों में छिप जाओ; मैं तुम्हारे द्वारा ही सब देखूं-- फिर भी तुम्हें न देख पाऊं। और यह खेल चलता रहे।

तुम मानस में बस जाओ
छिप दुख की अवगुंठन से
मैं तुम्हें ढूंढने के मिस
परिचित हो लूं कण-कण से
--ढूंढता फिरूं तुम्हें! और तुम्हें ढूंढने के बहाने...
मैं तुम्हें ढूंढने के मिस
--तुम्हें ढूंढने के बहाने...
परिचित हो लूं कण-कण से!

खोजता फिरूं, एक-एक कण में तुम्हें पुकारता फिरूं! लहर-लहर में तुम्हें झांकता फिरूं--और इस बहाने सारे अस्तित्व से परिचित हो लूं!

शायद परमात्मा के छिपने का राज और रहस्य भी वही है कि तुम उसे खोजने के बहाने इस अस्तित्व के महारहस्य से परिचित हो जाओ। वह तब तक छिपा ही रहेगा जब तक कि इस जगत के समग्र रहस्य से तुम परिचित नहीं हो जाते। तुम एक जगह उसे खोज लोगे, वह दूसरी जगह छिप जाएगा कि चलो अब दूसरी जगह से भी परिचित हो लो। तुम यहां उसे खोज लोगे, वह वहां छिप जाएगा, ताकि तुम वहां से भी परिचित हो लो। ऐसे वह तुम्हें लिए चलता है, तुम्हें अपने पीछे दौड़ाए चलता है।

जब भक्त समझ पाता है ठीक से कि यह खेल है, चिंता मिट जाती है उसी क्षण। फिर खोजना एक तनाव नहीं रह जाता, एक आनंद हो जाता है। फिर खोजने में कोई अधैर्य भी नहीं होता।

मेरे छोटे जीवन में
देना न तृप्ति का कणभर!

फिर तो भक्त कहता है, मुझे तृप्त मत कर देना, क्योंकि मैं तृप्त हो गया तो फिर तुम्हें न खोजूंगा। तुम्हें खोजना--इसके मुकाबले क्या तृप्ति में रस हो सकता है? तुम्हारी प्रतीक्षा, तुम्हारा इंतजार-- इससे ज्यादा और रस कहां हो सकता है?

मेरे छोटे जीवन में
देना न तृप्ति का कणभर
रहने दो प्यासी आंखें
भरती आंसू के सागर

तुम फिक्र मत करना, तुम ज्यादा परेशान मत हो जाना कि मेरी आंख के आंसू सागर बनाए दे रहे हैं। तुम फिक्र मत करना। इसमें मुझे आनंद आ रहा है। मैं रसमग्न हूं। यह मैं दुख से नहीं रो रहा हूं!

भक्त आनंद से रोने लगता है, अहोभाव से रोने लगता है। उसके आंसुओं में फूल हैं, कांटे नहीं; शिकायत नहीं, शिकवा नहीं; प्रार्थना है, कृतज्ञता-ज्ञापन है, आभार है, शुक्रिया है!

जो बड़े पैमाने पर परमात्मा और सृष्टि के बीच हो रहा है, एक छोटे पैमाने पर वही खेल गुरु और शिष्य के बीच है। और छोटे पैमाने पर तुम खेलना सीख जाओ तो फिर बड़े पैमाने पर खेल सकोगे, इतना ही उपयोग है।

जैसे एक आदमी तैरना सीखने जाता है तो नदी के किनारे तैरना सीखता है; एकदम से नदी की गहराइयों में नहीं चला जाता, डूबेगा नहीं तो। किनारे पर, जहां उथला-उथला जल है, जहां गले-गले जल है, वहां तैरना सीखता है; फिर धीरे-धीरे गहराई में जाना शुरू होता है।

गुरु, जैसे किनारा है परमात्मा का; वहां तुम थोड़ा खेल सीख लो; वहां तुम थोड़ी क्रीड़ा कर लो। फिर जब तुम कुशल हो जाओ तैरने में और तुम जब खेल के नियम सीख जाओ और लीला का अर्थ समझ जाओ--तो फिर जाना गहन में, गहरे में! फिर उतरना सागरों में।

तो गुरु तो केवल पाठ है परमात्मा में उतरने का। इसलिए जो बड़े पैमाने पर सृष्टि में हो रहा है, वही छोटे पैमाने पर गुरु और शिष्य के बीच घटता है।

ठीक तुमने पूछा, छिया-छी का खेल ही घटता है।

एक बात गुरु तुमसे कहता है, तुम उसे पूरी करने लगते हो; वह तत्क्षण दूसरी कहने लगता है। तुम एक बात मानने-मानने के करीब आते कि वह सब उखाड़ डालता है। तुम घर बनाने को होते कि वह आधार गिरा देता है। तुम जल्दी में हो कि किसी तरह हल हो जाए; गुरु इतनी जल्दी में नहीं है। गुरु कहता है कि जो जल्दी हल हो जाएगा, वह कोई हल न हुआ। यह जीवन का ऐसा प्रगाढ़ रहस्य है कि यह जल्दी हल नहीं हो सकता। ये

कोई मौसमी फूल के पौधे नहीं हैं। ये बड़े दरख्त हैं जो आकाश को छूते हैं; जो हजारों साल जीते हैं; जो चांदत्तारों से बात करते हैं; इनमें प्रतीक्षा...!

मैंने सुना है, महर्षि कश्यप की पत्नी को बड़ी आकांक्षा थी कि एक ऐसा पुत्र हो जो महासत्व हो। साधारण पुत्र की आकांक्षा नहीं थी। कश्यप की पत्नी थी, साधारण पुत्र की आकांक्षा भी क्या करती! कम से कम कश्यप जैसा तो हो। कश्यप से बड़ा हो, ऐसी आकांक्षा थी। महासत्व हो, बोधिसत्व हो, बुद्ध जैसा हो! तो उसने बड़ी प्रार्थनाएं कीं। कहते हैं, ईश्वर उस पर प्रसन्न हुआ। और विनीता उसका नाम था, उसे एक डिम्ब दिया गया कि उससे महासत्व संतान होगी। लेकिन वह बड़ी हैरान हुई। जैसा नियम होना चाहिए कि नौ महीने में बच्चा पैदा हो, बच्चे की कोई खबर ही नहीं। नौ महीने क्या, सालों बीतने लगे। वह बड़ी परेशान हुई। वह जल्दी में थी कि बच्चा होना चाहिए। वह बूढ़े होने के करीब आ गई तो उसने डिम्ब फोड़ डाला। बच्चा निकला, लेकिन आधा निकला। जो बच्चा पैदा हुआ, पुराणों में उसी का नाम अरुण है। वही बच्चा बाद में सूर्य का सारथी बना।

अरुण जब पैदा हुआ तो उसने बड़े क्रोध से अपनी मां से कहा कि सुन, तू महासत्व संतान चाहती है, लेकिन महाप्रतीक्षा करने की तेरी कुशलता और क्षमता नहीं है। तूने बीच में ही अंडा फोड़ दिया! मैं अभी आधा ही बढ़ पाया हूं।

पर मां ने कहा, प्रतीक्षा हो गई, सालों बीत गए। तो उस बेटे ने कहा फिर महासत्व संतान की आकांक्षा नहीं करनी चाहिए। फिर साधारण बच्चा चाहिए तो नौ महीने में मिल जाता है। महासत्व चाहिए तो महाप्रतीक्षा चाहिए।

शिष्य तो बड़ी जल्दी में होते हैं। उन्हें तो लगता है, अभी हो जाए, कोई दे दे तो झंझट मिटे। तुम्हें रस नहीं है खोज का। गुरु जानता है कि खोज में रस इतना हो जाए जब कि तुम यह भी कह सको कि अब न भी मिलेगा तो चलेगा; खोज ही इतनी रसपूर्ण है, कौन फिक्र करता है! उसी दिन मिलता है। इसे तुम खयाल में रख लेना गांठ बांध कर।

मैं फिर से दोहरा दूं: जिस दिन तुम यह कहने में समर्थ हो जाओगे कि अब तू जान, मिलने-जुलने की हमें फिक्र नहीं; लेकिन खोज इतनी आनंदपूर्ण है, हम खोज करते रहेंगे, तू छिपता रह। उसी दिन खोज व्यर्थ हो गई, उसी दिन छिपने का कोई अर्थ न रहा। जब खोज ही मिलन का आनंद बन गई और जब मार्ग ही मंजिल मालूम होने लगा, तो फिर मंजिल छिप नहीं सकती; उसी दिन मिलन घटता है। महाप्रतीक्षा चाहिए।

तुम अमर प्रतिज्ञा हो, मैं
पग विरह पथिक का धीमा।
आते-जाते मिट जाऊं,
पाऊं न पंथ की सीमा।
पाने में तुमको खोऊं,
खोने में समझूं पाना।
यह चिर अतृप्ति हो जीवन,
चिर तृष्णा हो मिट जाना।
मेघों में विद्युत-सी छवि,
उनकी बन कर मिट जाती;
आंखों की चित्रपटी में,
जिसमें मैं आंक न पाऊं।
वह आभा बन खो जाते,
शशि किरणों की उलझन में
जिसमें उनको कण-कण में

ढूंढूं, पहचान न पाऊं।

एक अनंत प्रतीक्षा चाहिए, महत प्रतीक्षा चाहिए।

तो गुरु कई बार तुमसे कहता है: अभी हुआ जाता, अभी हुआ जाता, बस होने को ही है! वह सिर्फ इसलिए, ताकि तुम खोज में लगे रहो; ताकि तुम्हारा धैर्य बंधा रहे। "पहुंचे, पहुंचे"--गुरु कहता जाता है--"देखो किनारा करीब आ रहा है, पक्षी उड़ते दिखाई पड़ने लगे! देखो दूर किनारे वृक्ष दिखाई पड़ने लगे, अब हम पहुंचते हैं!" ताकि तुम्हारी हिम्मत बंधी रहे।

तुम्हारी हिम्मत बड़ी कमजोर है। और जैसे ही तुम किसी स्थिति में थिर होने लगते हो, किसी मकान के नीचे घर बनाने लगते हो और किसी पड़ाव को मंजिल समझने लगते हो--तत्क्षण गुरु डेरा उखाड़ देता है। वह कहता है, चलो बस हो गया, अभी मंजिल बहुत है। अभी बहुत दूर जाना है। अभी यहां घर नहीं बना लेना है। ऐसी छिया-छी चलती है। धीरे-धीरे तुम इस राज को समझने लगते हो। अनुभव से ही समझ में आता है। धीरे-धीरे तुम समझने लगते हो कि वास्तविक बात पाना नहीं है, खोजना है। वास्तविक बात पहुंच जाना नहीं है, पहुंचने की चेष्टा करते रहना है। वास्तविक बात यात्रा है, मंजिल नहीं। हालांकि मैं समझता हूं, तुम्हारी बड़ी जल्दी है किसी तरह मंजिल मिल जाए; कोई चोर-दरवाजा हो, वहां से पहुंच जाएं या कोई रिश्वत चलती हो तो किसी द्वारपाल को रिश्वत दे दें और अंदर हो जाएं; या कोई शार्टकट! मगर न कोई शार्टकट है, न कोई चोर दरवाजा है, न रिश्वत चलती है। न तुम्हारे पुण्य से कुछ होगा, न तुम्हारी तपश्चर्या से कुछ होगा।

अनंत यात्रा है परमात्मा। परमात्मा मंजिल है, इस भाषा में सोचा कि तुम भूल में पड़ोगे। क्योंकि मंजिल का मतलब है: फिर उसके बाद बैठ गए, फिर कुछ भी नहीं। परमात्मा सतत जीवन है, इसलिए बैठना तो घट ही नहीं सकता, यात्रा होती रहेगी। परमात्मा प्रक्रिया है--वस्तु नहीं। वस्तु की तरह सोचोगे तो भ्रांति होगी, भूल होगी। परमात्मा प्रक्रिया है--चलते रहने में, जीते रहने में, बहते रहने में। जैसे नदी बही जाती है सागर की तरफ और सागर उड़-उड़ कर नदी की तरफ बहता रहता है--ऐसे ही साधक खोजते रहते परमात्मा को, परमात्मा साधकों को खोजता रहता है। यह खेल छिया-छी का है।

जिस दिन समझ में आ जाएगा कि यह खेल है, तनाव समाप्त हो जाएगा, फिर खेल में पूरा मजा आएगा। हम तो ऐसे पागल हैं कि खेल में भी तनाव बना लेते हैं। तुमने देखा दो आदमी ताश खेल रहे हों, कैसा सिर भारी कर लेते हैं, लड़ने-मारने को उतारू हो जाते हैं! तलवारें खिंच जाती हैं शतरंज के खेलों में! लोगों ने एक-दूसरे की हत्या कर दी है शतरंज खेलते हुए। ऐसे पगला जाते हैं! और कुछ भी नहीं है वहां। न हाथी हैं, न घोड़े हैं, न राजा हैं, न कुछ है--लकड़ी के, या बहुत हुए हाथी-दांत के। सब नकली हैं, मगर ऐसा रस पैदा हो जाता है कि जी-जान की बाजी लग जाती है।

लोग खेल में इतनी गंभीरता ले लेते हैं और साधक वही है जो गंभीरता में भी खेल ले ले।

संसारी वही है जो खेल को भी गंभीर बना लेता है। और संन्यासी वही है जो गंभीरता को भी खेल बना लेता है।

तुम अमर प्रतिज्ञा हो, मैं
पग विरह पथिक का धीमा!
सुनो--
तुम अमर प्रतिज्ञा हो, मैं
पग विरह पथिक का धीमा।
आते-जाते मिट जाऊं,
पाऊं न पंथ की सीमा।

भक्त कहता है: पंथ की सीमा कहां पानी, किसको पानी, पा कर करना क्या?

आते-जाते मिट जाऊं,

पाऊं न पंथ की सीमा।

पाने में तुमको खोऊं,

खोने में समझूं पाना!

यही छिया-छी का अर्थ है।

यह चिर अतृप्ति हो जीवन

चिर तृष्णा हो मिट जाना!

तुम्हें खोजते-खोजते मिट जाऊं! तुम्हारी तृष्णा बनी ही रहे! तुम्हारी प्यास जलती ही रहे! मैं तुम्हें पा कर तृप्त नहीं हो जाना चाहता--भक्त कहता है। भक्त कहता है, तुम्हारी अतृप्ति इतनी प्यारी!

मेघों में विद्युत-सी छवि

उनकी, बनकर मिट जाती।

कभी-कभी बनेगी परमात्मा की छवि, मिटेगी परमात्मा की छवि!

आंखों की चित्रपटी में,

जिससे मैं आंक न पाऊं।

वह बनेगी और मिटेगी इतनी शीघ्रता से कि तुम्हारे मन में तुम उसको संजो न पाओगे। तुम मन में प्रतिमा न बना पाओगे। तुम्हारा अहोभाव अहोभाव ही रहेगा। तुम यह न कह पाओगे: मैंने जान लिया।

इसलिए उपनिषद कहते हैं: जो कहता है मैंने जान लिया, उसने नहीं जाना। और जो कहता है मुझे कुछ भी पता नहीं, शायद उसे पता हो।

मेघों में विद्युत-सी छवि,

उनकी, बन कर मिट जाती।

आंखों की चित्रपटी में,

जिससे मैं आंक न पाऊं।

कोई प्रतिमा नहीं बन पाती। झलक आती और जाती--और इतनी त्वरा से, इतनी तीव्रता से कि तुम मुट्ठी नहीं बांध पाते। बांधोगे भी तो मुट्ठी खाली रह जाएगी। परमात्मा मुट्ठी में बांधा नहीं जा सकता--न शब्दों में, न सिद्धांतों में, न शास्त्रों में। कहीं भी उसकी छवि तुम बांध न पाओगे। वह अरूप अरूप ही रहता। दर्शन भी हो जाते हैं, फिर भी अरूप रहता। मिल भी जाता, फिर भी पाने को सदा शेष रहता।

वह आभा बन खो जाते,

शशि किरणों की उलझन में

जिसमें उनको कण-कण में

ढूंढूं, पहचान न पाऊं।

भक्त को जल्दी नहीं है। और जिसे जल्दी नहीं है, जल्दी ही घटना घट जाती है। और जिसे बहुत जल्दी है, उसे अनंत-अनंत काल तक भटकना पड़ता है और घटना नहीं घटती।

अगर तुम चाहते हो अभी मिल जाए परमात्मा, तो तुम अनंत प्रतीक्षा के लिए राजी हो जाओ। कह दो: जब मिलना हो मिल जाना, कुछ जल्दी नहीं है। हम खोजते रहेंगे, हम खोज में बहुत तृप्त हैं। हम अतृप्ति में भी बहुत तृप्त हैं। हमारे ये विरह के आंसू भी बड़े आनंदपूर्ण हैं।

आखिरी प्रश्न: आप भीतर के प्रकाश की इतनी बात करते हैं, लेकिन मेरा अनुभव कुछ और है। जब भी ध्यान में मेरे विचार शांत होते हैं तो मेरे भीतर एक घना अंधकार घिरता है, जो ठंडा और प्रीतिकर लगता है। कृपापूर्वक समझाएं कि यह क्या है?

सुबह होने के पूर्व रात गहन रूप से अंधेरी हो जाती है। और अंधेरे के गर्भ से ही सुबह का जन्म होता है। तो जब मैं तुमसे निरंतर बात करता हूं प्रकाश की, तुम यह मत समझ लेना कि तुम भीतर जाओगे तो तत्क्षण प्रकाश मिल जाएगा। पहले तो गुजरना पड़ेगा गहन रात्रि से। उसी रात्रि के अंत पर सुबह है, प्रकाश है।

ईसाई फकीरों ने इस अवस्था को "डार्क नाइट ऑफ द सोल" कहा है--आत्मा की अंधेरी रात। सिर्फ ईसाई फकीरों ने ऐसा प्यारा नाम दिया है, किसी और ने नहीं। और बड़ा ठीक किया है। क्योंकि सभी शास्त्र, कुरान, वेद, उपनिषद परमात्मा के प्रकाश-रूप की बात करते हैं--वह आत्यंतिक बात है। लेकिन जब साधक भीतर उतरेगा तो प्रकाश एकदम से नहीं मिलता। और अगर एकदम से मिलता हो तो जरा संदेह करना; क्योंकि वह प्रकाश कल्पना का होगा, वास्तविक नहीं हो सकता। वह तुमने सुन-सुन कर, शास्त्रों में पढ़-पढ़ कर कि परमात्मा प्रकाश-रूप है, प्रकाश रूप...। और कई तो ऐसे पागल हैं जिनका हिसाब नहीं!

चार-छः दिन पहले एक व्यक्ति ने संन्यास लिया। उन्होंने कहा कि मैंने बालयोगेश्वर से दीक्षा ली है, तो उन्होंने मुझे समझाया था कि आंख को अंगूठों से दबाने से प्रकाश का अनुभव होता है, बड़ा अनुभव होता है। मैं दबाता हूं आंख, बड़ा अनुभव होता है। तो वह मैं जारी रखूं कि बंद करूं?

अब क्या पागल हो? आंख को दबाओगे अंगूठे से तो तिलमिलाहट पैदा होने से रोशनी मालूम होती है; वह तो किसी को भी मालूम होती है; उससे अध्यात्म का कोई संबंध है? कोई भी आंख को जोर से दबाएगा तो तिलमिलाहट पैदा होती है, तिलमिलाहट से रोशनी मालूम होती है। वह रोशनी तो सिर्फ आंख के दबाने के कारण मालूम हो रही है। इसको तुम आध्यात्मिक प्रकाश समझ रहे हो?

और वे दो साल से यही काम कर रहे हैं। उसमें उनकी आंखें भी खराब हो गई हैं। क्योंकि जब बहुत आंखों को दबाओगे...। और फिर धीरे-धीरे रस आने लगा, तो फिर और ज्यादा दबाने लगे। क्योंकि जितना दबाओ उतना प्रकाश दिखाई पड़ता है, गजब हो रहा है! इसको बालयोगेश्वर ज्ञान कहते हैं। आंख में दबाने से जो रोशनी पैदा होती है--यह ज्ञान है।

अब यह मामला ऐसा है कि किसी की भी आंख दबा दो, उसको रोशनी दिखाई पड़ती है; वह भी चकित हो जाता है कि यह तो बात बिलकुल ठीक हो रही है! हमें पता ही नहीं था, बड़ा सीधा-सुगम उपाय मिल गया!

या फिर ऐसे लोग हैं जो कहते हैं, रोशनी की भीतर धारणा करो। आंख बंद कर लो, दोनों आंखों के मध्य में देखो कि एक दीये की ज्योति जल रही है या एक प्रकाश का बिंदु, उस पर ध्यान रखो। अगर तुम ऐसी कल्पना करोगे तो धीरे-धीरे कल्पना प्रगाढ़ हो जाएगी। तुम्हें रोशनी दिखाई पड़ने लगेगी, मगर यह झूठी रोशनी है।

धर्म ज्योति ने पूछा है यह प्रश्न। ठीक हो रहा है! अंधेरी रात से गुजर कर ही जो सुबह होगी, जिस सुबह को तुम नहीं ला सकते, जो अपने-आप आती है सुबह, वह अंधेरी रात से गुजर कर आती है। तुम अंधेरी रात में शांति से गुजरो, जाओ। प्रकाश करीब आने से पहले रात बहुत अंधेरी हो जाएगी।

मगर शुभ हो रहा है, क्योंकि अंधेरे के साथ एक ठंडा और प्रीतिकर भाव है। तो बिलकुल शुभ हो रहा है। भय न हो अंधेरे से, प्रेम हो अंधेरे से, तो सुबह ज्यादा दूर नहीं। अगर भय हो तो तुम भागने लगोगे। भागने लगे तो सुबह से दूर हो जाओगे। भागोगे तो अंधेरे से, दूर हो जाओगे सुबह से।

और ठंडा, शीतल...बिलकुल शुभ हो रहा है। ठंडा और शीतल ही है अंधेरे का अनुभव। वह तो भय के कारण हम अनुभव नहीं कर पाते। बचपन से ही अंधेरे के संबंध में हमारी गलत धारणा हो जाती है। बच्चा डरता है अंधेरे से, क्योंकि अकेला रह जाता है। अंधेरे में घबराता है कि कोई आ न जाए, कुछ मार न दे, कोई चोट न कर दे, कुछ गिर न पड़े। छोटा बच्चा! वह भय बैठ जाता है।

और फिर मनुष्य-जाति के इतिहास में भी आज से कोई दस हजार, बीस हजार साल पहले जब आदमी जंगलों में था, गुफाओं में था, आग का आविष्कार न हुआ था--तो रात बड़ी घबराने वाली थी। क्योंकि रात को ही जंगली जानवर हमला करते थे, दिन तो किसी तरह गुजर जाता था, रात में हमला होता था। दिन में तो सूरज की रोशनी होती थी, आदमी अपने को बचा लेता, भाग जाता। रात को सिंह गरजते और शिकार करते। और हजार तरह के जंगली जानवर थे, उन सबके बीच बचना बड़ा कठिन था। तो रात के साथ उन सबका जोड़ हो गया।

मनोवैज्ञानिक कहते हैं कि प्रत्येक मनुष्य के अचेतन मन में वह गुफा-मानव का अनुभव अभी तक पड़ा है, वह गया नहीं। वह शरीर की स्मृति में समाविष्ट हो गया है। तो इसलिए हम अंधेरे से डरते हैं। अब तो कोई कारण भी नहीं है, घर में बैठे हैं, बिजली पास में है, जब बटन दबाओ रोशनी हो जाए, कोई झंझट भी नहीं है ऐसी। देश में अनुशासन-पर्व चल रहा है--कोई उपद्रव नहीं है, कोई डर का कारण नहीं है। अपने कमरे में बैठे हैं, तो भी अंधेरे से घबरा रहे हैं। वह बीस हजार साल पहले आदमी का जो अनुभव था, वह तुम्हारी नस-नस में समाया हुआ है। तुम भी उसी आदमी से पैदा हुए हो। शृंखला उसी से बंधी है। वह बात भूली नहीं है, वह बहुत गहरे में पड़ी है। तो अंधेरे से डर लगता है। अंधेरे से आदमी भयभीत होता है।

लेकिन जो आदमी अंधेरे से भयभीत होता है और डरता है, वह भीतर जा ही न सकेगा। उसकी अंतर्यात्रा ही न हो सकेगी। अंतर्यात्रा में अंधेरे से तो पार होना ही पड़ेगा। अंतर्यात्रा अंतर्गुहा में प्रवेश है।

शुभ हो रहा है। जाओ--आनंदपूर्वक, शांतिपूर्वक! सुबह भी करीब है। अंधेरा बढ़ने लगे, उतना ही भरोसा जगा लेना कि अब सुबह करीब आती है, अब करीब आती है।

एक ही बात ध्यान रखना: इस अंधेरे से मोह मत बना लेना। एक तो खतरा है भय का कि आदमी घबड़ा कर भाग जाए। और दूसरा खतरा है, क्योंकि यह ठंडा और प्रीतिकर मालूम हो रहा है, इससे मोह मत बना लेना; नहीं तो तुम सुबह को पैदा न होने दोगे। तुम्हारा मोह ऐसा हो जाएगा कि तुम इसको पकड़ोगे। तुम धीरे-धीरे मोह के कारण अंधेरे से जकड़ जाओगे।

बहुत लोग हैं, जिन्होंने इसी तरह की जकड़नें पैदा कर ली हैं।

मेरे पास इतने लोग आते हैं, मैं चकित होता हूं! देखता हूं कोई आदमी उदासी से पकड़े हुए है अपने को, जकड़े हुए है। वह कहता है कि मुझे उदासी नहीं चाहिए, लेकिन सब उपाय करता है कि उदास हो जाए। बातें करता है कि मुझे उदासी से बाहर खींचो, लेकिन जब मैं उसे समझा रहा होता हूं तब मैं देख रहा होता हूं कि वह सुन भी नहीं रहा है। वह शायद मेरी बातों को सुन कर भी उदास हो जाएगा। ऐसे भी लोग मैंने देखे, वे मुझे सुन कर कहने लगे कि हम पहले से ही उदास थे, आपकी बातें सुन कर और उदास हो गए।

"मैंने तुम्हें कौन-सी बात कही?"

आपने प्रकाश की और आनंद की इतनी बात कही कि उससे हमें ऐसा लगने लगा कि अरे, यह तो हम बड़े चूक रहे हैं! और उदासी आ गई। तो हमारा जीवन बेकार ही गया!

देखते हैं, मैं प्रकाश की बात कर रहा हूं, परमात्मा की, कि तुम उठो, जागो, खोजो। वे कहते हैं, कि हम और सुस्त हो कर गिर पड़े कि मार डाला! हम तो सोचते थे, सब ठीक चल रहा है। आपने और यह कहां की बात कह दी? इससे हम और भी उदास हो गए।

लोग दुख से संबंध बना लेते हैं। फिर संबंध ऐसे हो जाते हैं प्राचीन और आदत के, कि छूटना भी चाहो तो छूटते नहीं। एक हाथ से छूटते हो, दूसरे हाथ से बनाए चले जाते हो। इसका थोड़ा खयाल रखना।

कल मैं एक गीत पढ़ता था:

एक उदास तनहाई
जिंदगी को रास आई!

कुछ लोग हैं, जिन्हें उदासी और अकेलापन रास आ जाता है। क्योंकि किसी के साथ रहो तो झंझट तो आती है। तुम जानते हो: साथ यानी झंझट। इसलिए तो आदमी साथ से भागता है। किसी के भी साथ रहो तो थोड़ी-बहुत झंझट होगी, क्योंकि जहां दो बर्तन हुए, थोड़ी आवाज, कलह होना शुरू होती है। वहीं चुनौती भी है। लेकिन इससे आदमी डर सकता है, भाग सकता है कि इससे तो अकेले बेहतर। अकेले राम--कोई झंझट नहीं!

मगर अकेले राम तो हो गए, लेकिन चुनौती नहीं रही; सीता नहीं रही, रावण नहीं रहे! अकेले राम तो हो गए, लेकिन रामलीला खत्म! तो तुम तो राम से भी ज्यादा समझदार हो गए। राम का सारा व्यक्तित्व निखरा, क्योंकि अकेले राम नहीं थे; बड़ी चारों तरफ जीवन के संघर्ष की स्थिति थी। उसमें से व्यक्तित्व निखरता है। तो अकेले में एक तरह की मुर्दा शांति है।

एक उदास तनहाई
जिंदगी को रास आई
दिल में तेरी चाहत भी
ले के रंगे-यास आई।
आशिकी शक-ए-बाइ
क्यों न मेरे पास आई?
कितने जाम खाली हैं
कितने जाम छलके हैं
इश्क की फजाओं में
वहम के महलके हैं
हुस्न की जियाओं में
सोच के धुंधलके हैं
मेरी आरजुओं के
रंग कितने हलके हैं
आह, क्यों मेरी फितरत
रोशनी से घबराई?
आह, क्यों मेरी फितरत
रोशनी से घबराई?
खलअतों की शैदाई
जलवतों से शरमाई
एक उदास तनहाई
जिंदगी को रास आई।

तुम कहीं इस उदासी से रास मत आ जाना। इस उदासी से संग-साथ मत बना लेना। इस उदासी से गठबंधन मत कर लेना। इस उदासी से विवाह मत कर बैठना। यह ठंडी है और प्रीतिकर है।

आह, क्यों मेरी फितरत
रोशनी से घबराई?

और अगर इससे तुमने बहुत संबंध बना लिया तो फिर तुम रोशनी से घबड़ाने लगोगे।

कुछ लोग हैं जो अंधेरे से घबड़ाते हैं; अंधेरे से घबड़ा कर भागते हैं तो रोशनी तक नहीं पहुंच पाते। फिर कुछ लोग हैं, जो रोशनी से घबड़ाने लगते हैं; क्योंकि अंधेरे से उनका प्रेम बन जाता है।

जिसने पूछा है, धर्म ज्योति ने, उसके लिए यह खतरा है, इसलिए मैं कह रहा हूं। उसके लिए खतरा है कि वह इस अंधेरे, उदासी, शांति से कहीं बहुत ज्यादा संबंध न बना ले। अगर यह संबंध ज्यादा बन गया तो फिर सुबह, हो सकती थी जो सुबह, वह भी न हो पाएगी।

इसलिए गुजरो अंधेरे से--आनंद से गुजरो, गीत गुनगुनाते गुजरो। अंधेरा निश्चित ही ठंडा और शीतल है, बड़ा विश्रामदायी है! लेकिन खयाल रखना, अंधेरा केवल गर्भ है उजाले का। अंधेरा केवल निषेध है। विधेय तो प्रकाश है। पहुंचना तो प्रकाश पर है। अंधेरे से गुजरो, अंधेरे में निखरो, नहाओ, लेकिन जाना तो प्रकाश पर है।

अगर कोई व्यक्ति अंधेरे में ही रह जाए तो शांत तो हो सकता है, लेकिन उसके जीवन में प्रेम पैदा न होगा।

बुद्ध ने कहा है: अगर ध्यान लग जाए और करुणा पैदा न हो, तो समझना कि कहीं कुछ चूक हो गई; होते-होते बात रह गई। अंधेरे में आदमी ध्यान को तो उपलब्ध हो सकता है, लेकिन जब प्रकाश का उदय होगा, तभी प्रेम को उपलब्ध होगा। और जब ध्यान और प्रेम दोनों एक साथ फलते हैं, तभी व्यक्ति के वृक्ष में फल और फूल दोनों आए; तभी कोई वस्तुतः सफल और सुफल हुआ।

धर्म ज्योति को खतरा है, क्योंकि वह प्रेम से बड़ी डरी हुई है। उसने जीवन में प्रेम जाना नहीं। वह पहले से ही कुछ गलत गुरुओं के चक्कर में पड़ गई, जिन्होंने समझा दिया कि प्रेम पाप है; जिन्होंने समझा दिया कि शरीर पाप है; जिन्होंने समझा दिया कि संबंध संसार है, इससे तो पार जाना है। उन्होंने उसे बहुत घबड़ा दिया। उनसे वह छूट भी गई, लेकिन बड़े गहरे अचेतन में उनकी धारणाएं अब भी पड़ी रह गई हैं। इसलिए इस बात का डर है कि कहीं अंधेरे से गठबंधन न बन जाए।

तो ध्यान रखना, रोशनी से घबड?ाना मत। रोशनी करीब आए तो आंख बंद मत कर लेना। रोशनी करीब आए तो दरवाजा बंद मत कर लेना। क्योंकि परमात्मा के मार्ग पर भला अंधेरा हो, परमात्मा की उपलब्धि पर प्रकाश है। उसकी प्रतीक्षा करते रहना--अंधेरी रात में भी! अंधेरी रात में भी उसे पहचानने की कोशिश जारी रहे।

कुमुद-दल से वेदना के दाग को
पोंछती जब आंसुओं से रश्मियां
चौंक उठतीं अनिल के विश्वास छू
तारिकाएं चकित-सी अनजान-सी
अवनि अंबर की रुपहली सीप में
तरल मोती-सा जलधि जब कांपता
तैरते घन मृदुल हिम के पुंज से
ज्योत्सना के रजत पारावार में
सुरभि बन जो थपकियां देता मुझे
नींद के उच्छवास-सा वह कौन है!

अंधेरे में भी जो तुम्हें थपकियां दे, खयाल रखना: वही है!

सुरभि बन जो थपकियां देता मुझे
नींद के उच्छवास-सा वह कौन है!

वह जो नींद में भी आ कर तुम्हें घेर लेता है, वह भी वही परमात्मा है। अंधेरे की तरह तुम्हें जो घेर लेता, वह भी वही परमात्मा है। शीतल छांह जो अंधेरे की मालूम होती है, वह भी उसी की शीतल छांह है। वह जो मीठा शांतिदायी, विश्राममयी भाव घेर लेता है अंधेरे में, वह भी उसी के पास होने की खबर है; कहीं पास ही वह मौजूद है!

उसे भूलना मत और उसकी खोज जारी रखना। जो आज सोया है, वह कल जागेगा। जो आज अंधेरे में दबा है--उभरेगा। क्षितिज पर उसकी लाली जल्दी ही दिखाई देने लगेगी।

मुझे यह महसूस हो रहा है मेरा खुदा
ख्वाबगाहे-गफलत में सो रहा है
मेरा दिले-बेकरार मुद्दत से रो रहा है
शिकस्त है यह कि आजमाइश

कि रब्बे-आलम कि लुत्मोंअकराम की नुमाइश
बफूरे-वहशत ने जिंदगी का सुहाग लूटा
तिलिस्म कैफे-शबाब लूटा
मुझे यह महसूस हो रहा है
कि खालिके-जीस्त सो रहा है।
बशर मुहब्बत से
जीस्त के हुस्ने-रंग से हाथ धो रहा है।
कभी तो जागेगा सोने वाला
कभी तो इस सबकी तीरगी को
मिटाएगा सुबह का उजाला।
कभी तो जागेगा सोने वाला
कभी तो इस सबकी तीरगी को
मिटाएगा सुबह का उजाला।

वह होगा--होने ही वाला है! निश्चित ही है! जब रात आ गई तो सुबह दूर नहीं। जब अंधेरा घना होने लगा और तारों की छांव गहरी होने लगी, तो सूरज करीब आने लगा। जल्दी ही क्षितिज पर फैल जाएगी उसकी लाल रेखा।

प्रतीक्षा करो! प्रार्थना करो! आशा को जगाए रखो! आंख खोल कर पुकारते रहो! अंधेरा भी उसका है, प्रकाश भी उसका है! मृत्यु भी उसकी, जीवन भी उसका। इसलिए सब जगह उसे पहचानते रहो।

हरि ॐ तत्सत्!

उन्नीसवां प्रवचन

संन्यास का अनुशासन: सहजता

जनक उवाच।

हंतात्मज्ञस्य धीरस्य खेलतो भोगलीलया।
न हि संसारवाहीकैर्मूढैः सह समानता।। ६०।।
यत्पदं प्रेप्सवो दीनाः शक्राद्याः सर्वदेवताः।
अहो तत्र स्थितो योगी न हर्षमुपगच्छति।। ६१।।
तज्ज्ञस्य पुण्यपापाभ्यां स्पर्शो हृयन्तर्न जायते।
न हृयकाशस्य धूमेन दृश्यमानोऽपि संगतिः।। ६२।।
आत्मवेदं जगत्सर्वं ज्ञातं येन महात्मना।
यदृच्छया वर्तमानं तं निषेद्धुं क्षमेत कः।। ६३।।
आब्रह्मस्तम्बपर्यन्ते भूतग्रामे चतुर्विधे।
विज्ञस्यैव हि सामर्थ्यमिच्छानिच्छाविवर्जने।। ६४।।
आत्मानमद्वयं कश्चिज्जानति जगदीश्वरम्।
यद्वेति तत्स कुरुते न भयं तस्य कुत्रचित्।। ६५।।

अष्टावक्र ने बड़ी कठिन परीक्षा ली। और जनक जैसे सद्यः, अभी-अभी पैदा हुए आत्मज्ञानी की; अभी-अभी जन्म हुआ; अभी-अभी प्रकाश की किरण उतरी। अभी सम्हल भी नहीं पाये जनक। अभी आश्चर्य की तरंगें उठी जा रही हैं। अभी भरोसा भी नहीं बैठा कि जो हो गया है, वह हो भी गया! भरोसा बैठने में थोड़ा समय लगता है। जितनी बड़ी घटना हो, जितनी अज्ञात घटना हो, उतना ही ज्यादा समय लगता है। अभी तो गदगद हैं जनक। हृदय में नयी-नयी तरंगें उठ रही हैं। जो हुआ है वह हो भी सकता है--इस पर भरोसा नहीं आ रहा है। जो हुआ है, वह मुझे हो सकता है--इस पर तो और भी भरोसा नहीं आ रहा। जो हुआ है, वह इतने तत्क्षण हो सकता है--इस पर कैसे भरोसा आये!

बड़े गहन अहोभाव से भरे जनक। और अष्टावक्र बड़ी कठोर परीक्षा लेते हैं; जैसे अभी-अभी पैदा हुआ बच्चा हो और परीक्षा शुरू हो गयी।

लेकिन उस कठोरता में करुणा है। उस कठोरता में जनक का सारा भविष्य है। और यह परीक्षा तत्क्षण ही ली जा सकती है। अगर थोड़ी देर हो जाये और ज्ञान की ताजगी समाप्त हो जाये, तो फिर परीक्षा लेनी कठिन है।

इसे थोड़ा समझने की कोशिश करें।

जब ताजात्ताजा ज्ञान है, तब तरल होता है; तब उसे नये रूप दिये जा सकते हैं, नये ढांचे दिये जा सकते हैं। जैसे छोटा-सा अंकुर निकलता है, उसे हम कैसे ही झुका लें और किन्हीं दिशाओं में मोड़ दें, कोई भी ढंग दे दें। फिर बड़ा पुराना वृक्ष है, उसे झुकाना मुश्किल हो जाता है--टूट जायेगा, झुकेगा नहीं!

तो ज्ञान जब पैदा हो, तभी अवसर है। देर हो जाये, आश्चर्य समाप्त हो जाये, तो ज्ञान ठोस हो गया, तरलता खो गयी। वह जो अग्नि पैदा हुई थी, वह विलीन हो गयी। वह जो लावा बहा था, वह जम गया, पत्थर हो गया। फिर उसकी परीक्षा बड़ी कठिन है और परीक्षा व्यर्थ भी है। क्योंकि फिर बड़ी तोड़-फोड़ करनी पड़ेगी।

इसलिए अष्टावक्र ने एक क्षण भी न खोया। इधर जनक आश्चर्य से भरे हैं, उधर अष्टावक्र ने कसना शुरू कर दिया।

जनक ने इन सूत्रों में, आज के सूत्रों में, उत्तर दिया है। जो परीक्षा ली जा रही है उसके प्रति अपने हृदय के भाव प्रकट किये हैं--वे बड़े अनूठे हैं। जनक न तो नाराज हुए; जरा भी नाराज हो जाते तो असफल हो जाते; जरा भी उद्विग्न हो जाते तो असफल हो जाते। क्या कहते हैं, यह उतना सवाल नहीं है--कैसे परीक्षा को लिया? करुणा को पहचाने अष्टावक्र की या कठोरता को? अगर कठोरता को पहचानते और करुणा को भूल जाते तो उसका अर्थ हुआ कि जनक का अहंकार अभी भी मरा नहीं। अहंकार ही कठोरता को पहचानता है। जहां अहंकार खो गया वहां तो सिर्फ महाकरुणा ही ज्ञात होती है। वहां तो गुरु गरदन पर तलवार भी रख दे तो फूलों का हार ही रखा हुआ मालूम होता है। वहां तो गुरु मार भी डाले तो भी शिष्य मरने को तत्पर होता है। क्योंकि गुरु के हाथ से मौत--इससे शुभ और क्या होगा! इससे महाजीवन और क्या हो सकता है! यह तो गुरु की महा अनुकंपा है कि वह गरदन को अलग कर दे, तो तुम पिंजरे से मुक्त हो जाओ। अगर मृत्यु भी दे गुरु और अहंकार न हो, तो करुणा का दर्शन होगा। और अगर अहंकार हो और गुरु महाजीवन भी देता हो, तो भी संदेह उठेंगे।

हजार संदेह उठ सकते थे जनक के मन में। पहली तो बात यह उठ सकती थी कि मुझ पर संदेह किया जा रहा है? पहला तो संदेह यह उठ सकता था कि मुझ पर संदेह किया जा रहा है? अगर ऐसा संदेह उठ आता तो श्रद्धा खो जाती। तो वह जो संवाद चल रहा था गुरु और शिष्य के बीच, रुक जाता, सेतु टूट जाता। दूसरी बात यह उठ सकती थी कि कहीं अष्टावक्र कोर् ईष्या तो नहीं हो गयी? मुझ में यह जो ज्ञान का प्रादुर्भाव हुआ है, कहीं अष्टावक्रर् ईष्यालु तो नहीं हो गये? कहीं ऐसा तो नहीं है कि शिष्य के जीवन में उठती इस क्रांति को देख कर मन में जलन पैदा हुई हो?

अगर ऐसा भाव उठता तो फिर शिष्य शिष्य नहीं रह गया। फिर तो शिष्य और गुरु के बीच हजारों-हजारों योजन का फासला हो गया। फिर तो एक-दूसरे की आवाज पहुंचानी असंभव है। फिर तो वे दूसरे अलग लोकों के वासी हो गये।

नहीं, न तो ऐसा संदेह उठा कि गुरु को मेरे पर संदेह है, न ऐसा भाव उठा कि गुरुर् ईष्या से भरा है; न ही जनक ने अपने पक्ष में बोलने की चेष्टा की।

नहीं तो साधारणतः जब भी कोई तुमसे कुछ कहे और तुम्हें परीक्षा का संदेह हो तो तुम तत्क्षण सुरक्षा को तत्पर हो जाते हो। तुम तर्क देने लगते हो, विवाद करने लगते हो। तुम हजार सिद्धांत खड़े करके बताने लगते हो कि नहीं, मैं ठीक हूं।

अगर जनक ने जरा भी कोशिश की होती कि मैं ठीक हूं तो वे गलत हो गये होते। क्योंकि ठीक सिद्ध करने की कोशिश गलत आदमी ही करता है। अगर कोई भी तर्क दिया होता और यह सिद्ध करने की कोशिश की होती बौद्धिक रूप से कि नहीं, आप गलत हैं, मैं ठीक हूं--तो इस कोशिश में ही गलत हो गये होते।

जीवन का गणित बड़ा विरोधाभासी है। यहां जो सिद्ध करने चला है कि मैं ठीक हूं, वह गलत सिद्ध हो जायेगा। क्योंकि ठीक हूं, ऐसी सिद्ध करने की आकांक्षा ही तुम्हारे अचेतन में तभी उठती है जब तुम्हें भीतर पता ही होता है कि तुम गलत हो। आत्मरक्षा का भाव भीतर गलत की प्रतीति से पैदा होता है--भय के कारण कि कहीं बात खुल तो न जायेगी? कहीं मेरे भीतर का राज जाहिर तो न हो जायेगा? यह तो गुरु पर्दे उठाने लगा! यह तो मुझे नग्न किये दे रहा है!

नहीं, ऐसी बात भी नहीं उठी।

जनक के ये सूत्र तुम सुनोगे, ये चकित करने वाले सूत्र हैं। परीक्षा कठोर थी, गुरु की आंख तेज तलवार की धार की तरह थी। और गुरु ने जरा भी रहम न किया था। गुरु बड़ा बेरहम था। और गुरु ने चोट पूरी की थी, जितनी की जा सकती थी। और गुरु ने सब दरवाजों से चोट की थी; कहीं से भागने की जगह न छोड़ी थी। पहले भोग के दरवाजे रोक दिये, फिर त्याग का भी दरवाजा रोक दिया। बचने का उपाय न छोड़ा था। गुरु ने खूब कसा था, सब तरफ से कसा था। अगर थोड़ी भी संभावना होती जनक के भीतर अंधकार की, तो इन सूत्रों का जन्म नहीं हो सकता था। कोई अंधकार की संभावना नहीं रह गयी थी।

जनक ने ऐसे उत्तर दिया जिसमें आत्मरक्षा का भाव बिलकुल नहीं; ऐसे उत्तर दिया जिसमें तर्क-सरणी है ही नहीं। उत्तर कहना भी ठीक नहीं है। जनक ने जो उत्तर दिया है, वह प्रतिध्वनि है, उत्तर नहीं। गुरु ने दर्पण सामने रख दिया था, जनक ने अपना हृदय सामने रख दिया; उस दर्पण में जो झलका, वे ही ये सूत्र हैं। जरा भी अपने को ओट में छिपाने की कोशिश न की। जरा भी चौंक कर संदेह से न भरे। जरा भी तर्क को बीच में न लाये। जैसे गुरु ने कुछ परीक्षा ही नहीं ली है, इसी तरह जनक ने उत्तर दिये।

पहला सूत्र, जनक ने कहा: "हंत, भोगलीला के साथ खेलते हुए आत्मज्ञानी धीरपुरुष की बराबरी संसार को सिर पर ढोने वाले मूढ़ पुरुषों के साथ कदापि नहीं हो सकती है।"

पहला शब्द है: "हंत!" उसमें सारी श्रद्धा उंडेल दी। "हंत" बड़ा प्यारा शब्द है। जैनों में उसका पूरा रूप है "अरिहंत"। बौद्धों में उसका रूप है "अर्हत"। हिंदू संक्षिप्त "हंत" का उपयोग करते हैं। हंत का, अरिहंत का, अर्हत का अर्थ होता है, जिसने अपने शत्रुओं पर विजय पा ली--काम, क्रोध, लोभ, मोह, भोग, त्याग, इहलोक, परलोक! जिसने अपनी समस्त आकांक्षाओं पर विजय पा ली, जो निष्कांक्षा को उपलब्ध हुआ है, वही है अरिहंत।

सूत्र की उदघोषणा करते हैं जनक, अष्टावक्र को अरिहंत कह कर--परम श्रद्धा से! इससे बड़ा शब्द नहीं है भाषा में। अरिहंत का अर्थ होता है: भगवान, अरिहंत का अर्थ होता है: आखिरी चैतन्य की दशा, जिसके पार फिर कुछ भी नहीं है। जो-जो हटाना था, हटा दिया। जो-जो गिराना था, गिरा दिया। जो-जो मिटाना था, मिटा दिया। जो-जो जीतना था, जीत लिया। अब कुछ भी नहीं बचा! शुद्ध चैतन्य का सागर रह गया। वैसी दशा का नाम है "अरिहंत"।

और हंत का एक अर्थ और भी है जो बड़ा कीमती है। हम तो इसका एक ही तरह से उपयोग करते हैं साधारण भाषा में। जब कोई आदमी अपने को मार लेता है तो हम कहते हैं: आत्महंता। हंत का अर्थ होता है, जिसने अपने को मिटा लिया; जिसने अपने को समाप्त कर दिया; जिसके भीतर "मैं" न रहा; जिसके भीतर अहंकार न रहा; जिसने अपने को बिलकुल समाप्त कर दिया; जिसने अपनी कोई रूप-रेखा न बचायी, नाम-पता न छोड़ा; जो शून्यवत हुआ; जो महाशून्य हुआ; निर्वाण को उपलब्ध हुआ; जिसने वस्तुतः आत्मघात कर लिया!

तुम जिन्हें आत्मघात कहते हो वे आत्मघात नहीं हैं, वे तो केवल शरीर-घात हैं। एक आदमी गोली मार कर मर जाता है, इसको आत्मघात नहीं कहना चाहिए। क्योंकि आत्मा तो नहीं मरती। अहंकार तो नहीं मरता। सच तो यह है कि अहंकार के कारण ही उसने शरीर को मिटा डाला है। अहंकार पर चोट पड़ रही थी; दांव लग गया था; मुश्किल दिखता था बचना; दिवाला निकल रहा था; कि पत्नी भाग गयी थी; कि पराजित हो गया था; चुनाव में हार गया था--आत्महत्या कर ली। "आत्महत्या" कहनी नहीं चाहिए--"शरीर-हत्या", "देह-हत्या"। मन, अहंकार सब मौजूद है। फिर जन्म ले लेगा। देर नहीं लगेगी। फिर किसी देह में उतर जायेगा।

लेकिन ज्ञानी वस्तुतः आत्महंता है। वह अपने को मिटा ही डालता है पूरा का पूरा। और उसके मिट जाने में ही परमात्मा का होना है। जब तुम खो जाते हो, तभी प्रभु होता है। जहां तुम नहीं हो, वहीं भगवान है।

तुम्हारा मिलन भगवान से कभी न हो सकेगा। तुम जब तक खोजते रहोगे तब तक भटकते रहोगे। क्योंकि तुम जब तक खोजते रहोगे तुम तुम ही बने रहोगे।

कल एक युवक इंगलैंड से आया और मुझसे कहने लगा कि मैं आपके पास आया हूं। मेरी जीसस में बड़ी आस्था है; बड़ा विश्वास है मुझे जीसस में--उसने कहा--क्या आप मेरे विश्वास को दृढ़ बना सकेंगे? क्या आप मेरे विश्वास को और मजबूत बना सकेंगे? तो मैं संन्यस्त होने को तैयार हूं।

मैंने उससे कहा: फिर हमें बातचीत साफ कर लेनी चाहिए, क्योंकि तुम्हारे विश्वास को मजबूत बनाने का अर्थ तो तुम्हीं को मजबूत बनाना होगा। तुम सोचते हो तुम जीसस पर विश्वास करते हो? तुम्हें जीसस से कोई भी प्रयोजन है? तुम्हारा विश्वास मजबूत होना चाहिए! और जब तक तुम्हारा सब भाव न मिट जाये, "मैं" होने

का, तब तक जीसस से तुम्हारा कोई संबंध नहीं हो सकता। अगर तुम मुझ पर छोड़ते हो, तो मेरी पूरी चेष्टा यह होगी कि तुम्हारे विश्वासों को बिलकुल मिटा डालूं, क्योंकि उन्हीं विश्वासों के सहारे तुम खड़े हो। जब सब सहारे गिर जायेंगे तो तुम भी गिर जाओगे। और जहां तुम गिरोगे वहीं सूली लगी! जहां तुम गिरे, वहीं तुम्हारा संबंध क्राइस्ट से हुआ।

उससे मैंने कहा, जब तक तुम क्रिश्चियन हो, तब तक क्राइस्ट से कोई संबंध न हो सकेगा। तो अगर तुम मुझ पर छोड़ते हो, तो मैं तुम्हारे क्राइस्ट...तुम्हारे क्राइस्ट को तो बिलकुल मिटा दूंगा, क्योंकि तुम्हारा क्राइस्ट तो तुम्हीं को भरता है। जब तुम समाप्त हो जाओगे, तुम्हारा क्राइस्ट, तुम्हारी क्रिश्चिएनिटी, तुम्हारा चर्च, तुम्हारा शास्त्र सब खो जायेगा, और तुम्हीं खो जाओगे सबके आधार!--तब जिसका प्रादुर्भाव होगा, उसे फिर तुम चाहे क्राइस्ट कहना, चाहे बुद्ध कहना, चाहे जिन कहना, तुम्हें जो मर्जी हो कहना। उससे फिर मुझे कोई प्रयोजन नहीं, वह नाम की ही बात है।

न तो जीसस का नाम क्राइस्ट था, न बुद्ध का नाम बुद्ध था, न महावीर का नाम जिन था, वे तो चैतन्य की अवस्था के नाम हैं--आखिरी अवस्था के नाम हैं। जिन का अर्थ: जिसने जीत लिया। बुद्ध का अर्थ: जो जाग गया। क्राइस्ट का अर्थ भी है: जो सूली से गुजर गया और फिर भी न मरा। जो मृत्यु से गुजर गया और महाजीवन को उपलब्ध हो गया--क्राइस्ट का अर्थ है। सूली गुजर गयी और फिर भी कुछ न मिटा। जो शाश्वत था वह बना रहा, जो व्यर्थ था वही छूट गया। सूली पर जो मरा, वे जीसस थे--सूली से जो बच रहा, वे क्राइस्ट! वही पुनरुज्जीवन की कथा का अर्थ है।

हंता का अर्थ है: जिसने अपने को पोंछ डाला, मिटा डाला; जिसने अपने हाथ से अपने अहंकार को घोंट दिया, गला घोंट दिया। फिर बचते हैं हम--असीम की भांति, अनंत की भांति, शाश्वत- सनातन की भांति।

ठीक किया जनक ने; उत्तर देने में जो पहला शब्द उपयोग किया, उसमें सब कह दिया। उसमें सब कह दिया कि आप मुझे धोखा न दे पायेंगे। आप मुझे नाराज न कर पायेंगे। कितनी ही परीक्षा लो मेरी, क्षण भर को भी मैं नहीं भूलूंगा कि तुम पहुंच गये हो। तुम्हारी कठोरता के कारण मैं ऐसा सोच भी नहीं सकता हूं कि तुम्हारे मन मेंर् ईष्या होगी। तुम तो हो ही नहीं, तोर् ईष्या कैसी? तुम तो हो ही नहीं, तो अहंकार कैसा? तुम तो हो ही नहीं, तो कठोरता कैसी?

इसलिए पहला "हंत" शब्द उपयोग किया। उस "हंत" में सब कह दिया। बात तो वहीं खत्म हो गयी, शेष सूत्र तो फिर व्याख्या हैं। शेष सूत्रों में तो इसी बात को फैला कर कहा।

हंतात्मज्ञस्य धीरस्य खेलतो भोगलीलया।
न हि संसारवाहीकैर्मूढैः सह समानता।।

"हे हंत, भोगलीला के साथ खेलते हुए आत्मज्ञानी धीरपुरुष की बराबरी संसार को सिर पर ढोनेवाले मूढ़ पुरुषों के साथ कदापि नहीं हो सकती।"

और परीक्षा को व्यक्तिगत रूप से न लिया। उत्तर देखते हैं! उत्तर में यह नहीं कहा कि आप मेरी बराबरी अज्ञानियों से कर रहे हैं! "मुझको" तो बीच में लाये ही नहीं। "मैं" को तो उठाया ही नहीं। मैं का कोई संबंध न बांधा। उत्तर बिलकुल निर्वैयक्तिक है।

कहा कि "भोगलीला के साथ खेलते हुए आत्मज्ञानी धीरपुरुष की बराबरी संसार को सिर पर ढोनेवाले मूढ़ पुरुषों के साथ कदापि नहीं हो सकती।"

दोनों संसार में खड़े हैं। अज्ञानी भी खड़ा है, ज्ञानी भी खड़ा है। दोनों बाजार में खड़े हैं। लेकिन दोनों के खड़े होने के ढंग में फर्क है। दोनों का स्थान भला एक हो, दोनों की स्थिति अलग है। अज्ञानी तो सिर पर ढो रहा है, ज्ञानी ने पोटली रथ पर उतार कर रख दी। फिर से तुम्हें वह कहानी कह दूं। बार-बार कहता हूं, क्योंकि बड़ी महत्वपूर्ण है।

सम्राट चला आ रहा है शिकार खेल कर अपने रथ में बैठा हुआ; देखता है एक भिखारी को पोटली लिये हुए रास्ते पर। बिठा लेता है रथ में कि छोड़ दूंगा जहां तुझे उतरना हो; कहां तुझे उतरना है? भिखारी बड़ा सकपकाता है। बैठ तो जाता है रथ में--डरा-डरा! कहना तो चाहता है कि नहीं महाराज, मैं और रथ में बैठूं, नहीं, नहीं! मगर इतनी भी हिम्मत नहीं, "नहीं" कहने से कहीं सम्राट नाराज न हो जाये! उस स्वर्ण-सिंहासन पर सिकुड़ा-सिकुड़ा बैठा है; घबड़ाया हुआ बैठा है कि कहीं मेरे कारण सब गंदा न हो जाये। मैं दीन-हीन, इस राजरथ पर बैठूं! लेकिन पोटली उसने अपने सिर पर उठा रखी है।

सम्राट थोड़ी देर बाद कहता है: अरे पागल, पोटली नीचे रख! अब पोटली सिर पर क्यों रखे है? वह कहता है: नहीं महाराज, इतनी ही दया क्या कम है कि आपने मुझे बैठा लिया! और अपनी पोटली का वजन भी आपके रथ पर रखूं? नहीं-नहीं, यह ज्यादती हो जायेगी। यह तो अशिष्टाचार हो जायेगा। माना कि मैं दीन-हीन गरीब आदमी हूं, इतनी तो बुद्धि मुझे भी है। पोटली तो मैं सिर पर ही रखूंगा, आप कुछ भी कहो। मैं बैठ गया, यही बहुत--बैठना भी नहीं था मुझे। डर के मारे बैठ गया हूं कि कहीं आप नाराज न हो जायें। मेरे पैर तो चलने के लिए ही बने हैं। मैं तो गरीब आदमी हूं, यह रथ मेरे लिए नहीं है। मुझे बड़ी दिक्कत हो रही है। तो कम से कम पोटली तो मुझे सिर पर रखे रहने दें। इतना बोझ आपके रथ पर और डालूं--नहीं, यह मुझसे न हो सकेगा।

अब तुम रथ में बैठे हो, पोटली सिर पर रखो कि नीचे--बराबर है।

जनक कहते हैं: ज्ञानीपुरुष भी रथ में बैठता, अज्ञानी भी रथ में बैठता। अज्ञानी पोटली सिर पर रखे रहता है, ज्ञानी पोटली नीचे उतार कर रख देता है।

"संसार को सिर पर ढोने वाले मूढ़ पुरुषों के साथ ज्ञानी पुरुष की समानता कदापि नहीं की जा सकती।"

क्यों? भोगलीला के साथ खेलते हुए...। वह जो ज्ञानी पुरुष है उसके लिए तो सब लीला हो गया, सब खेल हो गया। वह तो इस जगत में खेल की तरह सम्मिलित है। इस जगत में उसे कोई रस नहीं है। इस जगत में पक्ष-विपक्ष नहीं रहा उसके मन में, इच्छा-अनिच्छा नहीं रही। वह तो सम्मिलित होता है--प्रभु-मर्जी से। वे सूत्र आगे आयेंगे। लेकिन जगत उसे खेल हो गया।

तुम दुकान पर दो ढंग से बैठ सकते हो। एक ढंग है अज्ञानी का कि तुम सोचते हो: दुकान ही जीवन। एक ढंग है ज्ञानी का कि तुम जानते हो: एक खेल है--जरूरी; खेलना आवश्यक; जीवन का हिस्सा, लेकिन खेल-मात्र! दोनों दुकान पर बैठे हैं; दोनों एक जगह बैठे हैं--लेकिन दोनों की चित्त-दशा बड़ी भिन्न है। एक साक्षी-मात्र है, क्योंकि सब खेल है। दूसरा भोक्ता हो गया; कर्ता हो गया, क्योंकि सब बड़ा गंभीर है।

अज्ञानी जगत को गंभीरता से लेता है, ज्ञानी हंस कर लेता। बस, उतनी मुस्कुराहट का फासला है। पत्नी मर जाती है तो अज्ञानी भी उसे मरघट तक छोड़ आता है; लेकिन रोता, चीखता, चिल्लाता। ज्ञानी भी मरघट तक छोड़ आता।...एक खेल पूरा हुआ। एक नाटक समाप्त हुआ, पर्दा गिरा। रोने, चीखने, चिल्लाने जैसा कुछ भी नहीं है। भीतर वह साक्षी ही बना रहता है। द्रष्टा-भाव उसका क्षण भर को नहीं खोता। इतना ही भेद है।

ज्ञानी संसार को छोड़ कर भागे, तब ज्ञानी--तब तो इसका अर्थ हुआ कि अभी भी संसार को गंभीरता से ले रहा है; छोड़ कर भाग रहा है। अभी संसार को देख नहीं पाया। अभी आंख गहरी नहीं हुई। अभी उतरा नहीं जीवन के अंतरतम में। अभी पहचाना नहीं कि भोक्ता और कर्ता मैं दोनों नहीं हूं, सिर्फ साक्षी-मात्र हूं।

अमेरिका में लिंकन की पहली शती मनायी गयी। तो एक आदमी ने लिंकन का पार्ट किया, पार्ट किया एक वर्ष तक सारे अमेरिका में। उसका चेहरा लिंकन से मिलता-जुलता था। तो उसे नाटक का काम दिया गया कि वह लिंकन का अभिनय करे। और वह नाटक की मंडली सारे अमेरिका में घूमी, हर बड़े नगर में गयी, गांव-गांव गयी, साल भर उसने यात्रा की। वह आदमी साल भर तक लिंकन का अभिनय करता रहा।

लेकिन धीरे-धीरे, धीरे-धीरे लोगों को थोड़ा शक हुआ कि उस आदमी में गड़बड़ होनी शुरू हो गयी। वह लिंकन के कपड़े पहनता, नाटक में तो पहनता ही, धीरे-धीरे वह बाहर भी पहनने लगा। मंच के बाहर भी चलने लगा वैसे ही जैसे लिंकन चलता था। थोड़ा लंगड़ाता था लिंकन, तो वह ऐसे ही लंगड़ा कर बाहर भी चलने लगा। लिंकन थोड़ा हकलाता था, तो वैसे ही हकला कर वह बाहर भी बोलने लगा। लोगों ने कहा कि यह क्या मजाक है?

पहले तो लोगों ने समझा, मजाक कर रहा है। लेकिन फिर धीरे-धीरे लोग गंभीर हो गये, क्योंकि वह तो बिलकुल ही मान बैठा कि लिंकन हो गया है।

जब साल भर बाद वह घर आया तो वह तो बिलकुल लिंकन हो कर आ गया था। साल भर अभिनय करते-करते वह यह भूल ही गया कि मैं अभिनेता हूं। उसने तो मान ही लिया कि मैं अब्राहम लिंकन हूं। उसके संबंध में तो यह लोकोक्ति प्रचलित हो गयी कि जब तक इसको गोली न मारी जायेगी तब तक यह न मानेगा। जैसे लिंकन को गोली मारी गयी और लिंकन की हत्या हुई--जब तक इसकी हत्या न होगी, यह मानने वाला नहीं है।

सब तरह के इलाज किये गये, चिकित्सा की गयी; डॉक्टरों को दिखाया गया, मनोवैज्ञानिकों को दिखाया गया। सब थक गये समझा-समझा कर। वे उसको समझायें, वह मुस्कुरा कर बैठा रहे। वह कहे कि आप बड़े मजे की बात कह रहे हैं। हद हो गयी, आप मुझको समझा रहे हैं कि मैं अब्र्राहम लिंकन नहीं हूं! आपका दिमाग ठीक है? मुझमें क्या कमी देखते हैं?

कमी उसमें कुछ भी न थी, अभिनय वह बिलकुल पूरा कर रहा था। वैसा चलता, वैसा बोलता, वैसा उठता-बैठता, वैसी उसने दाढ़ी-मूछें बढ़ा ली थीं--सब बिलकुल वैसा था।

आखिर चिकित्सक भी उससे थक गये। और उन्होंने कहा कि यह आदमी तो हद है! इसको भरोसा इतना गहरा आ गया है!

तभी अमेरिका में एक मशीन ईजाद की गयी थी, जिसको अदालतों में उपयोग करते हैं, झूठ पकड़ने के लिए--लाइ-डिटेक्टर। आदमी को मशीन के ऊपर खड़ा कर देते हैं, उससे प्रश्न पूछते हैं--ऐसे प्रश्न जिनके उत्तर वह झूठे तो कभी दे ही नहीं सकता। जैसे, उससे पूछते हैं घड़ी दिखा कर कि कितना बजा है? अब घड़ी में अगर साढ़े आठ बजा है तो वह कहता है, साढ़े आठ बजा है। इसमें क्या झूठ बोलेगा, घड़ी सामने है। झूठ बोलेगा कैसे? उससे पूछते हैं, यह रंग कैसा है, गेरुआ है कि हरा है? तो वह कहता है, गेरुआ है। इसमें झूठ क्या बोलेगा? उसके सामने किताब रख कर कहते हैं, यह किताब कुरान है कि बाइबिल है? वह कहता है, बाइबिल है। इसमें झूठ क्या बोलेगा? ऐसे पांच-सात प्रश्न पूछते हैं, जिनमें सच बोलना अनिवार्य ही है। उनमें झूठ बोलने की कोई जगह नहीं है। नीचे मशीन ग्राफ बनाती है। जैसा तुमने कार्डियोग्राम देखा हो, वैसा ही ग्राफ बनता है नीचे। उसके हृदय की धड़कनें बताती हैं कि बिलकुल ठीक चल रही हैं।

तभी अचानक उससे पूछते हैं कि तुमने चोरी की? उसके हृदय में तो आवाज आती है कि की, क्योंकि उसने की है। लेकिन वह उसे गटक जाता है और कहता है, नहीं! नीचे कार्डियोग्राम जो बन रहा है, ग्राफ जो बन रहा है, वह झटका खा जाता है। क्योंकि अब पहली दफा कुछ कहना चाहता था और कुछ कहा, तो एक झटका लगा। हृदय की धड़कन पर, श्वास पर एक विरोध पैदा हुआ, एक द्वंद्व हुआ; द्वंद्व पकड़ जाता है। बस, वहीं उसे पकड़ लेते हैं।

तो किसी ने सुझाव दिया कि इस आदमी को लाइ-डिटेक्टर पर खड़ा कर के देखो। तो उसे खड़ा किया गया। तो उसके सब चिकित्सक इकट्ठे हुए, परिवार के लोग इकट्ठे हुए। वह आदमी भी थक गया था; रोज-रोज, रोज-रोज सभी समझाते थे। उसने उस दिन कहा कि अच्छा चलो, झंझट खत्म करो। हूं तो मैं अब्राहम लिंकन,

लेकिन क्या करूं! अब दुनिया ही मानने को राजी नहीं है तो जाने दो दुनिया को, कह देंगे कि नहीं हैं। इस किस्से को अब खत्म किया जाये।

लाइ-डिटेक्टर पर खड़ा किया; पांच-सात ऐसे प्रश्न पूछे जो ठीक उत्तर दिये जा सकते थे। तब उससे पूछा कि क्या तुम अब्राहम लिंकन हो? उसने कहा कि नहीं! और नीचे लाइ-डिटेक्टर ने कहा कि यह झूठ बोल रहा है। इतना गहरा भरोसा! ऊपर से कह रहा है, नहीं! लाइ-डिटेक्टर भी कहता है कि है तो यह अब्राहम लिंकन!

हमारी भी ऐसी दशा है। जन्मों-जन्मों...। उसने तो एक ही साल काम किया था अब्राहम लिंकन का, हम जन्मों-जन्मों से कर्ता और भोक्ता बने हैं। कोई लाइ-डिटेक्टर हमें पकड़ नहीं सकता। अगर हम कहें भी लाइ-डिटेक्टर पर खड़े हो कर कि हम साक्षी हैं, लाइ-डिटेक्टर कहेगा, यह आदमी झूठ बोल रहा है--कर्ता-भोक्ता है। साक्षी--बिलकुल नहीं!

हमारी आदत लंबी और प्राचीन हो गयी है--पुरातन है! सदियों से चली आती है।

जब कोई व्यक्ति जागता है, तो भागता थोड़े ही है कहीं, भागेगा कहां? जाग कर इतना ही अंतर पड़ता है। यह अंतर बहुत छोटा और बहुत बड़ा--दोनों एक साथ। यह किसी को पता भी नहीं चलेगा, ऐसा अंतर है। यह तो तुम गुरु के सामने खड़े होओगे, उसके दर्पण में ही झलकेगा, और किसी को पता भी नहीं चलेगा। शायद तुम्हारी पत्नी भी न पहचान पाये कि कब तुम कर्ता से साक्षी हो गये। कब, किस घड़ी में, किस क्षण में क्रांति घटी--शायद तुम्हारा पति भी न पहचान पाये; तुम्हारे बच्चे भी न जान पायें। जो तुम्हारे हृदय के बहुत करीब हैं, वे भी न जान पायेंगे। क्योंकि यह क्रांति बड़ी सूक्ष्म है--सूक्ष्म, अति-सूक्ष्म है यह। इतनी बारीक क्रांति है कि या तो तुम जानोगे या गुरु जानेगा। इसके अतिरिक्त कोई भी नहीं पहचान सकेगा।

क्योंकि रहोगे तो तुम वैसे के वैसे ही। दुकान करते थे तो उस दिन क्रांति के बाद भी तुम दुकान पर जा कर बैठोगे, तराजू से सामान तौलोगे, बेचोगे, ग्राहकों से मोलत्तोल करोगे--सब करोगे। घर आओगे; बच्चों के सिर थपथपाओगे; पत्नी के लिए फूल या आइस्क्रीम खरीद लाओगे--वह सब करोगे। सब वैसा ही चलता रहेगा। शायद पहले से भी अच्छा चल पड़ेगा। क्योंकि अब एक गहन समझ का जन्म हुआ है। अब तुम किसी को व्यर्थ कष्ट न देना चाहोगे।

लेकिन भीतर एक क्रांति घटित हो गयी। अब तुम दूर-दूर हो। अब तुम बहुत दूर हो। अब तुम कर रहे हो, लेकिन करने में अब कोई गंभीरता नहीं है। अब नाटक है। अब तुम जाग गये कि यह सब रामलीला है। अब तुम्हें होश आ गया।

इस होश को तो कोई होश वाला ही पहचानेगा और परखेगा। इसलिए गुरु की बड़ी जरूरत है, क्योंकि गुरु ही साक्षी हो सकता है।

जनक ने कहा: "भोगलीला के साथ खेलते हुए आत्मज्ञानी धीरपुरुष की बराबरी संसार को सिर पर ढोने वाले मूढ़ पुरुषों के साथ कदापि नहीं की जा सकती।"

देखना, उत्तर में ये "मैं" को बीच में नहीं लाये। अगर थोड़ा भी अज्ञान बचा होता तो वे कहते, "क्या आप कहते हैं? मेरी बराबरी, और संसार के मूढ़ पुरुषों से करते हैं?"--ऐसा उत्तर होता। उत्तर बिलकुल ऐसा ही होता, लेकिन जरा-सा फर्क होता कि "आप मेरी तुलना मूढ़ों से करते हैं! मैं ज्ञानी, मुझे ज्ञान का उदय हो गया!" नहीं, वह तो बात ही नहीं उठायी। जिसे ज्ञान का उदय हो गया, उसका "मैं" तो अस्त हो गया। अब मैं की बात उठाने का कोई कारण न रहा। अब तो सीधी बात की--सिद्धांत की। सीधी बात की--सत्य की, सूत्र की।

हंतात्मज्ञस्य धीरस्य खेलतो भोगलीलया।

"हे हंत, हे अरिहंत! खेलता है ज्ञानी तो भोगमयी लीला के साथ, ढोता नहीं। क्रीड़ा है जगत, कृत्य नहीं।"

अज्ञानी तो खेल भी खेलता है तो भी उलझ जाता है, गंभीर हो जाता है। ज्ञानी कृत्य भी करता है, तो भी उलझता नहीं, जागा रहता है। जानता रहता है कि मेरा स्वभाव तो सिर्फ साक्षी है। ऐसी अहर्निश धुन बजती रहती है कि मैं साक्षी हूं। यह "मैं साक्षी" का भाव पृष्ठभूमि में खड़ा रहता है। सब होता रहता है। जन्म होता,

मृत्यु होती; हार होती, जीत होती, सम्मान-अपमान होता, सब होता रहता है। कभी महल, कभी झोपड़े, सब होता रहता। लेकिन भीतर बैठा ज्ञानी जानता रहता है कि लीला है, खेल है, क्रीड़ा है।

तुमने देखा, तुम उसी रास्ते पर सुबह घूमने जाते हो और उसी रास्ते पर दोपहर दफ्तर के लिए जाते हो; रास्ता वही, तुम वही, रास्ते के किनारे खड़े दरख्त वही; सूरज, आकाश सब वही, पड़ोस के लोग वही, सब कुछ वही--लेकिन जब तुम दफ्तर जाते हो तो तुम्हारी चाल में तनाव होता है। तब तुम्हारे मन में चिंता होती है। सुबह उसी रास्ते पर तुम घूमने जाते हो, तब न कोई चिंता होती, न कोई तनाव होता। क्योंकि तुम कहीं जा ही नहीं रहे हो--खेल है। घूमने निकले हो; हवा खाने निकले हो। कहीं से भी लौट सकते हो, कोई मंजिल नहीं है। कहीं पहुंचने का कोई स्थिर स्थान नहीं है। कहीं पहुंचने को निकले ही नहीं हो, सिर्फ घूमने निकले हो। घूमने निकले हो, तो एक मौज होती है। काम से जा रहे हो, सब मौज खो जाती है।

ज्ञानी अपने समस्त कामों को खेल बना लेता है और अज्ञानी खेल को भी काम बना लेता है। बस, इतना ही फर्क है। ज्ञानी को कर्म भी अभिनय हो जाते हैं। अज्ञानी को अभिनय भी कर्म हो जाता है। वह अभिनय को भी गंभीरता से पकड़ लेता है। ज्ञानी जीवन में से कुछ भी नहीं पकड़ता, कुछ भी नहीं छोड़ता। पकड़ने-छोड़ने का कोई सवाल नहीं। जो आ जाये, जो होता है--होने देता है। सिर्फ देखता रहता है।

"जिस पद की इच्छा करते हुए शक्र और दूसरे देवता दीन हो रहे हैं, उस पद पर स्थित हुआ भी योगी हर्ष को नहीं प्राप्त होता--यही आश्चर्य है।"

वक्तव्य निर्वैयक्तिक है।

यत्पदं प्रेप्सवो दीनाः शक्राद्याः सर्वदेवताः।

इंद्र इत्यादि देवता भी दीन हो कर मांग रहे हैं: और मिल जाये, और मिल जाये, और मिल जाये। जिनके पास सब मिला हुआ मालूम पड़ता है, वे भी मांग रहे हैं। मांग बंद होती नहीं, दीनता जाती नहीं, हीनता मिटती नहीं। कितने ही बड़े पद पर रहो, हीन बने ही रहते हो: "और बड़ा पद मिल जाये! और थोड़ी शक्ति बढ़ जाये! और थोड़ा साम्राज्य विस्तीर्ण हो जाये! तिजोरी थोड़ी और बड़ी हो जाये!" इसका कहीं कोई अंत नहीं आता। दीन दीन ही बना रहता है।

"जिस पद की इच्छा करते हुए शक्र और दूसरे देवता दीन हो रहे हैं...।"

अहो तत्र स्थितो योगी न हर्षमुपगच्छति।

आश्चर्य है हंत, कि योगी वहां बैठा है--उस परम अवस्था में जिसके लिए देवता भी दीन हो रहे हैं--और फिर भी हर्ष को प्राप्त नहीं होता। उसकी सारी दीनता खो गयी है।

इसे समझना।

जब तक तुम सुखी हो सकते हो तब तक तुम दुखी भी हो सकते हो। सुख-दुख साथ-साथ हैं--रात-दिन की भांति। तुम एक को न बचा सकोगे। तुम यह न कर सकोगे कि हर्ष तो बच जाये, दुख खो जाये। तुम यह न कर सकोगे: दिन ही दिन बचें और रातें समाप्त हो जायें। दिन बचाओगे, रातें भी रहेंगी। सुख बचाओगे, दुख भी रहेगा। जन्म बचाओगे, मौत भी रहेगी। मित्र बचाओगे, शत्रु भी रहेंगे। द्वंद्व से तुम बाहर जा न सकोगे। जिस दिन तुम देखोगे कि ये तो दोनों जुड़े हैं: एक ही सिक्के के दो पहलू हैं, उस दिन पूरा सिक्का हाथ से गिर जाता है। योगी उस पद पर बैठा है जिसकी बड़े-बड़े देवता भी आकांक्षा कर रहे हैं। लेकिन फिर भी हर्ष को उपलब्ध नहीं होता है।

"वह उस पद पर स्थित हुआ भी, जरा भी हर्ष को उत्पन्न नहीं होता।"

क्यों? क्योंकि जो उस पद पर मिला है, वह तो स्वभाव है। उसके लिए हर्ष क्या? जो मिलना ही चाहिए वही मिला है। जो मिला ही हुआ था, वही मिला है। जिसको भूल से समझा था कि खो गया, वही मिला। खोया तो कभी भी न था। हर्ष क्या है? अपनी स्वयं की संपत्ति पाकर हर्ष कैसा?

जनक कहते हैं: आश्चर्य यही है कि सब पाकर भी हर्ष नहीं होता योगी को। हर्ष होता ही नहीं योगी को।

तुम आनंद का अर्थ हर्ष मत समझना। हर्ष तो एक ज्वरग्रस्त दशा है। हर्ष भी थकाता है। तुम ज्यादा देर हर्ष में न रह सकोगे। हर्ष में भी तरंगें उठती हैं। जैसे चिंता की तरंगें हैं वैसे हर्ष की तरंगें हैं। जैसे दुख की तरंगें हैं, वैसे हर्ष की तरंगें हैं। फर्क इतना ही है कि दुख की तरंगों को तुम पसंद नहीं करते, सुख की तरंगों को तुम पसंद करते हो--बस। मगर दोनों तरंगें हैं। दोनों में चित्त तो विक्षुब्ध होता है। दोनों में चित्त तो टूट-टूट जाता, खंड-खंड हो जाता है। तुम्हारी अखंडता तो बिखर जाती है। तुम्हारी शांत झील तो खो जाती है। तुम्हारा दर्पण तो ढंक जाता है।

तत्र स्थितो योगी न हर्षम् उपगच्छति अहो!

आश्चर्य प्रभु! जनक कहने लगे अष्टावक्र से कि जिसे पाने के लिए सारा संसार दौड़ा जा रहा है; जन्मों-जन्मों की यात्रा चल रही है, अनंत की खोज चल रही है, अनंत से चल रही है--उसे पाकर भी, उस सिंहासन पर विराजमान हो कर भी योगी में हर्ष का भी पता नहीं होता। वह वहां भी साक्षी बना रहता है। उसका साक्षी-भाव वहां भी नहीं खोता। जरा भी तरंग उठती नहीं। आकाश उसका कोरा का कोरा रहता है। न दुख के बादल, न सुख के बादल--बादल घिरते ही नहीं।

"उस पद को जानने वाले के अंतःकरण का स्पर्श वैसे ही पुण्य और पाप के साथ नहीं होता है, जैसे आकाश का संबंध भासता हुआ भी धुएं के साथ नहीं होता।"

तुमने देखा, चूल्हा जलाते हो, धुआं उठता है। धुआं आकाश में फैलता है, लेकिन आकाश को गंदा नहीं कर पाता, न छूता। इतने बादल उठते हैं, सब धुआं हैं; फिर-फिर खो जाते हैं। कितनी बार बादल उठे हैं और कितनी बार खो गये हैं--आकाश तो जरा भी मलिन नहीं हुआ। न तो शुभ्र बादलों से स्वच्छ होता है, न काले बादलों से मलिन होता है।

जनक कहते हैं: "उस पद को जानने वाले का अंतःकरण ऐसे ही हो जाता है जैसे आकाश।"

तज्ज्ञस्य पुण्यपापाभ्यां स्पर्शो हृयन्तर्न जायते।
न हृयकाशस्य धूमेन दृश्यमानोऽपि संगतिः।।

जैसे धुएं के संग से आकाश अछूता, कुआंरा बना रहता--अस्पर्शित--वैसे ही ज्ञानी के साक्षी-भाव का आकाश किसी भी चीज से धूमिल नहीं होता। उसकी प्रभा, वह भीतर की ज्योति धूम-रहित जलती है। न महल उसे अमीर करते और न झोपड़े उसे गरीब करते। न सिंहासनों पर बैठ कर स्वर्ण उसे छूता; न मार्गों पर भिखारी की तरह भटक कर दीनता उसे छूती।

"जिस महात्मा ने इस संपूर्ण जगत को आत्मा की तरह जान लिया है, उस वर्तमान ज्ञानी को अपनी स्फुरणा के अनुसार कार्य करने से कौन रोक सकता है?"

बड़ा अनूठा सूत्र है अब।

हि आकाशस्य संगतिः दृश्यमाना अपि धूमेन न।

"आकाश जैसा हो गया जो, धुआं जिसे अब छूता नहीं...।"

"जिस महात्मा ने इस संपूर्ण जगत को आत्मा की तरह जान लिया है...।"

"मैं" मिटा कि फिर भेद न रहा। जैसे मकान के आसपास तुम बागुड़ लगा लेते हो, तो पड़ोसी से भिन्न हो गये। फिर बागुड़ हटा दी, बागुड़ जला दी--जमीन तो सदा एक ही थी, बीच की बागुड़ लगा रखी थी, वह हटा दी, तो तत्क्षण तुम सारी पृथ्वी के साथ एक हो गये।

"मैं" की बागुड़ है। "मैं" की हमने एक सीमा खींच रखी है अपने चारों तरफ; एक लक्ष्मण-रेखा खींच रखी है, जिसके बाहर हम नहीं जाते और न हम किसी को भीतर घुसने देते हैं। जिस दिन तुम इस लक्ष्मण-रेखा को मिटा देते हो--न फिर कुछ बाहर है, न कुछ फिर भीतर है; बाहर और भीतर एक हुए। बाहर भीतर हुआ, भीतर बाहर हुआ। तुमने मकान बना लिया है; ईंट की दीवालें उठा लीं, तो आकाश बाहर रह गया, कुछ आकाश भीतर

रह गया। किसी दिन दीवालें तुमने गिरा दीं, तो फिर जो भीतर का आकाश है, भीतर न कह सकोगे उसे; जो बाहर का है, उसे बाहर न कह सकोगे। बाहर और भीतर तो दीवाल के संदर्भ में सार्थक थे। अब दीवाल ही गिर गयी तो बाहर क्या? भीतर क्या? कैसे कहो बाहर? कैसे कहो भीतर? दीवाल के गिरते ही बाहर-भीतर भी गिर गया। एक ही बचा।

"जिस महात्मा ने इस संपूर्ण जगत को आत्मा की तरह जान लिया है, उस वर्तमान ज्ञानी को अपनी स्फुरणा के अनुसार कार्य करने से कौन रोक सकता है?"

आत्मवेदं जगत्सर्वं ज्ञातं येन महात्मना।
यदृच्छया वर्तमानं तं निषेद्धुं क्षमेत कः।।

किसकी क्षमता है? कैसे कोई रोकेगा?

जनक के इस सूत्र को बहुत गहराई में समझना। जनक का यही उत्तर है। जनक कह रहे हैं: अब कौन रोके? जब मैं एक हो गया तो अब कौन रोके? जो हो रहा है, हो रहा है। जो होगा, होगा। अब रोकने वाला न रहा। अब तो "यदृच्छया"। अब तो भाग्य! अब तो विधि। अब तो परमात्मा या जो भी नाम दो। अब तो "वह" जो कराये, होगा। अब तो अपने किये कुछ न होगा। हम तो रहे नहीं। हम तो गये। तब तो जो होगा, उसे देखेंगे। महल में रखवायेगा तो महल में रहेंगे। महल छीन लेगा, तो महल को छीनता हुआ देखेंगे।

ऐसी जनक के जीवन में कथा है कि एक गुरु ने अपने शिष्य को बहुत वर्षों तक मेहनत करने के बाद भी जब देखा कि कोई गति नहीं हो रही है समाधि में, तो कहा कि तू जनक के पास चला जा। अब जिसकी गति समाधि में नहीं हो रही थी, जाहिर है कि बड़ा अहंकारी रहा होगा। उसने कहा: मैं, और जनक के पास जाऊं? और जनक मुझे क्या सिखायेंगे? खुद ही तो पहले सीखें, पहले त्याग तो करें! महलों में रहते हैं; राग-रंग में जीते हैं--मुझे क्या खाक सिखायेंगे? मगर आप कहते हैं तो चला जाता हूं। गुरु-आज्ञा है, इसलिए चला जाता हूं।

गया तो, लेकिन गया नहीं। मजबूरी जैसा गया। विवशता में गया। माननी है आज्ञा, सो पूरी कर देनी है। गुरु ने कहा तो जाओ। गया, लेकिन अकड़ थी।

जब पहुंचा जनक के दरबार में तो वहां तो राग-रंग चल रहा था, संगीत उठ रहा था। नर्तकियां नाच रही थीं। शराब के प्याले ढाले जा रहे थे, दरबारी मस्त हो रहे थे। बीच में बैठे थे जनक। वह हंसा। अपने मन में उसने कहा कि मैं पहले ही जानता था। अभी इसको खुद ही बोध नहीं है। अब यह बैठा यहां क्या कर रहा है? और अगर यह ज्ञानी है, तो फिर अज्ञानी कौन है? और अगर इससे मुझे सीखना है...हालत तो उलटी मालूम होती है: इसको तो मैं ही सिखा सकता हूं कुछ।

जनक उठा। ब्राह्मण देवता आये थे तो उन्होंने उसके पैर पड़े और कहा कि आप विश्राम करें; सुबह विश्राम के बाद अपनी जिज्ञासा प्रगट करना।

उसने कहा, खाक जिज्ञासा! तुमने अपने को समझा क्या है? कैसी जिज्ञासा? तुमसे जिज्ञासा करूंगा?

उसने कहा कि नहीं, आपकी मर्जी, करना हो करें न करें; लेकिन अभी तो विश्राम कर लें, भोजन करें।

भोजन और विश्राम की व्यवस्था करवा दी। जनक को दिखायी तो पड़ गया सीधा-सीधा कि इस आदमी की अड़चन क्या है; इसके गुरु ने क्यों इसे भेजा है? यह भोग से तो छूट गया था, यह त्यागी हो गया था। और भोगी को तो ध्यान में ले जाना कठिन है ही, त्यागी को महा कठिन है। ध्यान में ले जाने में जो अहंकार बाधा है, वह त्यागी के पास तो और भी मजबूत हो जाता है--ठीक इस्पात का हो जाता है। त्यागी का अहंकार तो स्टैलिन हो जाता है। स्टैलिन का नाम स्टील से बना है। तो वह तो बिलकुल स्टैलिन हो जाता है। उसको तो झुकाना मुश्किल!

देख तो लिया जनक ने। पैर धोये त्यागी के। त्यागी तो और भी अकड़ा। उसने कहा, "मैं पहले ही जानता था कि यह मूढ़ मुझे क्या समझायेगा! मेरे पैर धो रहा है! यह खुद ही मुझसे सीखने को उत्सुक हो रहा है। सुबह

यही जिज्ञासा करेगा।" तो वह शान से सोया। वह थोड़ी-सी चिंता थी मन में, वह भी गयी कि किसी से कुछ सीखना पड़ेगा। सिखाने का मजा अहंकार को बहुत है। सीखने के लिए अहंकार बिलकुल राजी नहीं है। गुरु होने का मौका मिले तो अहंकार तत्क्षण होने को तैयार है। शिष्य बनने में बड़ी अड़चन है, बड़ी कठिनाई है।

सुबह हुई। जनक ने उसे द्वार पर आ कर जगाया और कहा कि चलें स्नान को। पीछे बहती है नदी, वहां हम स्नान कर लें।

वे दोनों स्नान को गये। त्यागी के पास तो सिवाय लंगोटी के कुछ भी न था। दो लंगोटियां थीं। तो एक लंगोटी तो वह किनारे पर रख गया और एक लंगोटी वह पहने था, तो नदी में गया। जनक भी उसके साथ-साथ गये। जब वे दोनों नदी में स्नान कर रहे थे, तभी वह त्यागी चिल्लाया: अरे जनक, तेरे महल में आग लगी! सारा महल धू-धू कर जल रहा है।

जनक ने कहा: मेरा महल क्या? महल में आग लगी है, इतना ही कहो। अपना क्या! न ले कर आये थे, न ले कर जायेंगे।

उसने कहा: तू जान, तेरा महल, मेरी लंगोटी...! वह भागा, क्योंकि वह महल की दीवाल के पास ही लंगोटी रखी है।

बाद में जनक ने उसे कहा: सोच, यह महल धू-धू कर जल रहा है और मैं कहता हूं कि मैं बिना महल के आया था, बिना महल के जाऊंगा। इसलिए अब महल रहे कि जले, क्या फर्क पड़ता है? देखता हूं! लेकिन तू अपनी छोटी-सी लंगोटी का भी द्रष्टा न हो सका। तो सवाल यह नहीं है कि कितनी बड़ी संपदा तुम्हारे पास है, करोड़ की है या एक कौड़ी की है--सवाल यह है कि उस संपदा के प्रति तुम्हारा भाव क्या है, भोक्ता का है कि साक्षी का है?

यह आग, कहते हैं, जनक ने लगवायी थी। यह उपदेश था जनक का उस नासमझ त्यागी को।

"जिस महात्मा ने इस संपूर्ण जगत को आत्मा की तरह जान लिया है, उस वर्तमान ज्ञानी को अपनी स्फुरणा के उनसार कार्य करने से कौन रोक सकता है?"

कौन रोकेगा? कोई बचा नहीं! जनक यह कह रहे हैं कि मैं तो अब हूं नहीं। परीक्षा गुरुदेव आप किसकी लेते हैं? जिसकी परीक्षा ली जा सकती थी, वह जा चुका। आप मुझे यह भी नहीं कह सकते कि तू ऐसा क्यों करता है, वैसा क्यों नहीं करता? क्योंकि अब नियंत्रण कौन करे? मैं तो रहा नहीं--अब तो जो होता है, होता है।

यह परम अवस्था की बात है।

तुमने देखा, छोटे बच्चों को पाप नहीं लगता, अदालत में जुर्म नहीं लगता, अपराध नहीं लगता; क्योंकि उन्हें बोध नहीं है। पागलों को भी अपराध नहीं लगता, क्योंकि उन्हें बोध नहीं है। बुद्धों को भी अपराध नहीं लगता, क्योंकि वे बोध के पार चले गये। उलझन बीच में खड़े आदमी की है। न तो नीचे पाप है, न ऊपर पाप है। जानवरों को तो तुम पापी नहीं कह सकते, क्योंकि पापी होने के लिए बोध तो चाहिए। लेकिन बुद्ध को भी तुम पापी नहीं कह सकते; क्योंकि बोध इतना है कि साक्षी हो गये, कर्ता का भाव ही न रहा।

मैंने सुना, मुल्ला नसरुद्दीन--सर्दी के दिन थे--अपने घर के बाहर बैठा धूप ले रहा है। उसका बेटा होमवर्क कर रहा है; वह उसके कान मरोड़ रहा है, उसे गालियां दे रहा है। वह उससे कह रहा है: हरामजादे! किस नालायक ने तुझे पैदा किया? अरे उल्लू के पट्ठे!

पड़ोस में पंडित रहते हैं एक, उन्होंने सुना। यह हद हो गयी। यह गालियां अपने को ही दे रहा है! उल्लू के पट्ठे का मतलब हुआ कि तुम खुद ही उल्लू हो। तब तो उल्लू का पट्ठा!

"किस नालायक ने तुझे पैदा किया! हरामजादे!"

उसने सोचा, पंडित ने, वह भी बैठा धूप ले रहा है। उससे न रहा गया। उसने कहा कि मुल्ला, तुम यह सोचो तो, ये गालियां किसको लगती हैं? मुल्ला ने कहा: जो साला गालियों को समझता है, उसी को लगती हैं!

मैं तो समझता नहीं और यह तो उल्लू का पट्ठा है, यह क्या खाक समझेगा! आप ही समझो! जो समझता है, उसी को लगती हैं।

कहते हैं, पंडित जल्दी से उठ कर घर के अंदर चला गया। उसने कहा कि झंझट...हम इस झंझट में क्यों पड़ें?

एक तो बच्चे हैं, पागल हैं; पशु-पक्षी हैं, पौधे हैं--वहां कुछ पाप नहीं है, क्योंकि वहां कोई समझ नहीं है। फिर बुद्धपुरुष हैं, अष्टावक्र हैं, जीसस हैं, महावीर हैं--वहां बोध इतना सघन हुआ है कि कर्ता का भाव नहीं रहा। इन दोनों को कोई पाप नहीं है। पाप तो बीच में पंडितों को है, जो समझते हैं। तुम समझते हो कि तुमने किया, इसलिए तुम पापी हो जाते हो। तुम समझते हो कि तुमने किया, इसलिए तुम पुण्यात्मा हो जाते हो। तुम समझते हो तुमने किया--इसलिए भोगी। तुम समझते हो तुमने किया--इसलिए त्यागी। जिस दिन तुम समझोगे तुमने कुछ किया ही नहीं--जो हो रहा है, हो रहा है; तुम सिर्फ देखने वाले हो--उस दिन न पाप है न पुण्य है; न योग है न भोग है।

इसलिए अष्टावक्र परम योग की बात कह रहे हैं। यह योग के भी पार जाने वाली बात है। ऐसी अवस्था में न तो कोई विधि रह जाती है, न कोई निषेध रह जाता है।

जनक कहने लगे:

आत्मवेदं जगत्सर्वं ज्ञातं येन महात्मना।

"जिन महात्माओं ने अपने को जगत के साथ एक समझ लिया, जान लिया...।"

यदृच्छया वर्तमानं तं निषेद्धुं क्षमेत कः।

"...अब वे कैसे रोकें, क्या रोकें, क्या बदलें?"

बदलाहट की आकांक्षा भी अहंकार की ही आकांक्षा है। साधना भी अहंकार का ही आयोजन है। अनुष्ठान भी अहंकार की ही प्रक्रिया है। इसलिए तो जनक ने कहा कि आप ही तो कहे कि अधिष्ठान, अनुष्ठान, आधार, आश्रय सब बाधाएं हैं। करने को कुछ बचा नहीं, क्योंकि कर्ता नहीं बचा। इसका यह अर्थ नहीं कि कर्म नहीं बचा। कर्म तो चलेगा। कर्म की तो अपनी धारा है। शरीर को भूख लगेगी, शरीर भोजन मांगेगा। इतना ही फर्क होगा अब कि तुम जाग कर देखते रहोगे कि शरीर को भूख लगी है, शरीर को भोजन दे दो। मगर भूख भी शरीर की है, भोजन से आने वाली तृप्ति भी शरीर की है। तुम भूख के भी द्रष्टा हो, तुम तृप्ति के भी द्रष्टा हो, तुम हर हालत में द्रष्टा हो। कर्म तो जारी रहेगा। कर्म तो विधि है, भाग्य है। कर्म तो समस्त का है, व्यक्ति का नहीं है--समष्टि का है। वह परमात्मा चल रहा है। हजार-हजार कृत्य चल रहे हैं। वह तुमसे जो भी काम लेना चाहता है, लेता रहेगा। लेकिन अब तुम जानते हो कि तुम कर्ता नहीं हो। तुम निमित्त मात्र हो। इस स्थिति में जनक कहते हैं: कौन रोके, कैसे रोके, रोकने वाला कौन है, कौन नियंत्रण करे, कौन साधना करे, कौन अनुशासन दे?

"जिस महात्मा ने संपूर्ण जगत को आत्मा की तरह जान लिया, उस वर्तमान ज्ञानी को...।"

यह शब्द भी खयाल करना--कहते हैं, "वर्तमान ज्ञानी" को। ज्ञानी अतीत में नहीं होता है और न ज्ञानी भविष्य में होता है। ज्ञान की घटना तो वर्तमान की घटना है। या तो अभी या कभी नहीं। ज्ञान जब भी घटता है "अभी" घटता है। क्योंकि अभी ही अस्तित्व है। जो जा चुका, जा चुका। जो आया नहीं आया नहीं। इन दोनों के मध्य में जो पतली-सी धार है, बड़ी महीन धार है--जीवन-चेतना की, अस्तित्व की--वहीं ज्ञान घटता है। वर्तमान ज्ञानी को अपनी स्फुरणा से जीना होता है--स्वतः स्फुरणा। वह "सर्व" से आती है स्फुरणा। उसके लिए हम पैदा नहीं करते; न हम नियंत्रण करते हैं। न हम उसके जन्मदाता हैं, न हम उसके नियंत्रक हैं। वह स्फुरणा आती है।

पक्षी गीत गा रहे हैं। वृक्षों में फूल लग रहे हैं। यह सब स्वतः हो रहा है। यह स्फुरणा जागतिक है। वृक्षों को कोई अहंकार नहीं है। वृक्ष ऐसा नहीं कहते कि हम फूल खिला रहे हैं। ऐसी ही अवस्था फिर आ जाती है जब वर्तुल पूरा होता है और व्यक्ति बुद्धत्व को, अरिहंतत्व को उपलब्ध होता है, तब फिर ऐसी दशा आ जाती है।

तुम बुद्ध से पूछो कि आप चल रहे हैं? बुद्ध कहेंगे कि नहीं, मैं तो हूं ही नहीं, चलूंगा कैसे? वही चल रहा है, जो सब में चल रहा है। जो फूल की तरह खिल रहा है; जो नदी की धार की तरह बह रहा है; जो पक्षी की तरह आकाश में उड़ रहा है, जो आकाश की तरह फैलता चला गया है अनंत तक--वही चल रहा है।

पूछो बुद्ध से, आप बोल रहे हैं? वे कहेंगे कि नहीं, वही बोल रहा है।

हम तो बांस की पोंगरी--कबीर ने कहा। वह जो गाता है, उसे हम प्रगट कर देते हैं; मार्ग दे देते हैं; रुकावट नहीं डालते। हम तो निमित्त मात्र हैं।

वर्तमान ज्ञानी: वर्तमान के क्षण में जिसका साक्षी जागा हुआ है।

तुम देखो, चाहो तो इसे अभी देख सकते हो; कोई रुकावट नहीं है। तुम साक्षी होकर अभी देख सकते हो। चीजें तो चलती रहेंगी। शरीर है तो भूख लगेगी। शरीर है तो प्यास लगेगी। धूप पड़ेगी तो गर्मी लगेगी। शीत बढ़ जायेगी तो सर्दी लगेगी। भोजन डाल दोगे शरीर में तो तृप्ति हो जायेगी। गर्म कपड़े पहन लोगे, शीत मिट जायेगी। धूप से हट कर छाया में बैठ जाओगे, धूप मिट जायेगी। कर्म तो जारी रहेगा, सिर्फ कर्ता नहीं रह जायेगा भीतर। तुम ऐसा न कहोगे कि मैं परेशान हो रहा, कि मैं पीड़ित हो रहा, कि मुझे भूख लगी। तुम इतना ही कहोगे, अब शरीर को भूख लगी; अब चलो इसे कुछ दें।

और शरीर को भूख लगी है, इसमें तुम्हारा कुछ भी हाथ नहीं है। प्रकृति ही शरीर में भूखी हो रही है। और अगर धूप में बैठ कर शरीर को धूप लग रही है तो परमात्मा ही तप रहा है--तुम्हारा इसमें क्या है? अब अगर तुम जबर्दस्ती बिठा कर इसको धूप में तपाओ तो यह अहंकार का लौटना हो गया। तुम कहो कि हम तो तपायेंगे, क्योंकि हम त्यागी हैं; तपायेंगे नहीं तो तपश्चर्या कैसे होगी; तो हम तो बैठ कर तपायेंगे--तो तुम नियंत्रण की तरह बीच में आ गये। तब जो हो रहा था, तुमने उसे होने न दिया। अगर तुम स्वभावतः होने देते, तो शरीर खुद ही उठता।

तुम इसे करके देखो। तुम इसमें जरा बह कर देखो। तुम चकित हो जाओगे। तुम धूप में बैठे हो, धूप लग रही है--तुम सिर्फ देखते रहो। तुम अचानक देखोगे, शरीर उठ कर खड़ा हो गया। शरीर चला छाया की तरफ। तुम कहोगे कि हम न चलायेंगे तो कैसे चलेगा? तुम फिर गलत बात कह रहे हो। तुम्हें पता ही नहीं। तुमने कभी प्रयोग नहीं किया। भूख लगी, शरीर चला रेफ्रिजरेटर की तरफ। तुम सिर्फ देख रहे हो। तुम न रोकना, न चलाना। यह परम सूत्र है: स्फुरणा से जीना। जो हो उसे होने देना। न शुभ-अशुभ का निर्णय करना।...तुम हो कौन? न पाप-पुण्य का हिसाब रखना। जो होता रहे, जो होता जाये--उसके साथ बहते चले जाना।

"ब्रह्मा से चींटी पर्यंत चार प्रकार के जीवों के समूह में ज्ञानी को ही इच्छा और अनिच्छा को रोकने में निश्चित सामर्थ्य है।"

इच्छा और अनिच्छा दोनों ही ज्ञानी की रुक जाती हैं; भोग-त्याग, दोनों। इच्छा यानी भोग, अनिच्छा यानी त्याग। पसंद-नापसंद दोनों रुक जाती हैं। क्योंकि ज्ञानी कहता, हमारा चुनाव ही कुछ नहीं है। जो होगा, जो स्वभावतः होगा, हम उसे देखते रहेंगे। हम उसे होने देंगे। हम न उसे झुकायेंगे इस तरफ, न उस तरफ। जो स्वभावतः होगा, हम उसे होने देंगे।

यह बात तो सुनो। यह बात तो गुनो। इस बात को जरा तुम्हारे हृदय पर तो फैलने दो। जरा प्राणों में इस बात का प्रकाश तो पहुंचने दो। तुम पाओगे यह बड़ी मुक्तिदायी बात है। जो होगा होने देंगे। हम कुछ भी ना-नुच न करेंगे।

भोगी कहता है: और भोग चाहिए। भूख खत्म हो गयी तो भी खाये चला जाता है। शरीर तो कहता है: रुको अब! शरीर की स्फुरणा कहती है: बस हो गया, अब मत खाओ। लेकिन भोगी और खाये चला जाता है।

भोजन में भोग नहीं है; जब शरीर कहता है नहीं और तुम खाये चले जाते हो, तब भोग है। फिर त्यागी है; शरीर तो कहता है भूख लगी है; और त्यागी कहता है, हमने उपवास किया है। ये पर्युषण चल रहे हैं। हम उपवासी हैं, हम नहीं खा सकते! मांगते रहो, चिल्लाते रहो।

शरीर को जब भूख लगी, वह तो नैसर्गिक है। अब तुम जो जबर्दस्ती कर रहे हो, वही अहंकार आ रहा है। जबर्दस्ती में अहंकार है। हिंसा में अहंकार है।

हिंसा दो तरह की है: भोगी की और त्यागी की। लोग मुझसे आ कर पूछते हैं: आप अपने संन्यासियों को त्याग क्यों नहीं सिखाते?...बड़ा मुश्किल है! मैं अपने संन्यासियों को सहजता सिखाता हूं: न भोग न त्याग। उतना खाओ जितना सहज शरीर की स्फुरणा मांगती है। उतना सोओ जितनी सहज शरीर की स्फुरणा कहती है। उतना श्रम करो, उतना बोलो, उतना चुप रहो--जितना सहज होता है। असहज मत होने दो। जहां असहज हुए, वहीं संतुलन खोया, संन्यास गंवाया।

दो तरह से संन्यास गंवा सकते हो। संन्यास का अर्थ ही संतुलन है; सम्यक न्यास; ठीक-ठीक बीच में ठहर जाना; न इस तरफ न उस तरफ। त्यागी संन्यासी है ही नहीं--हो ही नहीं सकता; उसी तरह नहीं हो सकता जैसे भोगी संन्यासी नहीं हो सकता। दोनों झुक गये हैं। संन्यासी तो बीच में खड़ा है। सहजता उसका अनुशासन है। परमात्म-स्फूर्ति एकमात्र उसके जीवन की व्यवस्था है। वही उसकी विधि है।

इसलिए झेन फकीर बोकोजू ने कहा--जब किसी ने पूछा, आप करते क्या हो? तुम्हारी साधना क्या है?--कहा कि जब भूख लगती, भोजन कर लेता; जब नींद आती तो सो जाता। पूछने वाला चौंका होगा। पूछने वाले ने कहा: यह भी कोई बात हुई? यह तो हम सभी करते हैं। यह तो कोई भी करता है। यह कौन सी बड़ी बात हुई।

बोकोजू हंसने लगा। उसने कहा कि मैंने तो अभी तक मुश्किल से इने-गिने लोग देखे हैं जो यह करते हैं। जब भूख लगती तब तुम खाते नहीं या ज्यादा खा लेते हो। जब नींद आती है, तब तुम सोते नहीं या ज्यादा सो जाते हो। या तो कम या ज्यादा। कम यानी त्याग, ज्यादा यानी भोग। ठीक-ठीक सम्यक--यानी संन्यास; उतना ही जितना सहज हो पाता है।

सहज के सूत्र को पकड़ कर चलते रहो, मोक्ष दूर नहीं है। सहज के सूत्र को पकड़ कर चलते रहो, समाधि दूर नहीं है। साधो, सहज समाधि भली!

वह जो कबीर ने सहज समाधि कही है, उसकी ही बात जनक कह रहे हैं; अपने गुरु के सामने निवेदन कर रहे हैं। वे कह रहे हैं कि समझ गया। आप मुझे उकसाओ, उकसा न सकोगे। क्योंकि बात सच्ची घट गयी है, मुझे दिखायी ही पड़ गया। अब आप लाख इधर-उधर से घुमाओ, आप मुझे धोखे में न डाल सकोगे। अब तो मुझे दिख गया कि मैं साक्षी हूं और जो स्फुरणा से होता है, होता है। न तो मैं उसे रोकने वाला, न मैं उसे लाने वाला। मेरा कुछ लेना-देना नहीं है। मैं दूर खड़ा हो गया हूं। भूख लगती है, खा लूंगा। नींद आ जायेगी, सो जाऊंगा।

बोकोजू से किसी ने और एक बार पूछा कि जब तुम ज्ञान को उपलब्ध न हुए थे, तब तुम्हारी जीवन-चर्या क्या थी? तो उसने कहा कि तब मैं गुरु के आश्रम में रहता था; जंगल से लकड़ियां काटता था और कुएं से पानी भर कर लाता था। फिर उसने पूछा: अब? अब जब कि तुम स्वयं गुरु हो गये और तुम ज्ञान को उपलब्ध हो गये--तुम्हारी जीवन-चर्या क्या है?

बोकोजू ने कहा: वही, जंगल से लकड़ी काट कर लाता हूं; कुएं से पानी भर कर लाता हूं।

उस आदमी ने कहा: हद हो गयी! फिर फर्क क्या हुआ? बोकोजू ने कहा: फर्क भीतर हुआ है, बाहर नहीं हुआ। फर्क मुझे पता है या मेरे गुरु को पता है। काम में फर्क नहीं हुआ है। ध्यान में फर्क हुआ है। कृत्य तो वैसा का वैसा ही है। लकड़ी अब भी काट कर लाता हूं, लेकिन अब मैं कर्ता नहीं हूं। पानी अब भी भर कर लाता हूं,

लेकिन अब मैं कर्ता नहीं हूं। मैं साक्षी ही बना रहता हूं। कृत्य चलते चले जाते हैं। कृत्यों के पार एक नये भाव और एक नये बोध का उदय हुआ है। एक नया सूरज चमका है!

विज्ञस्य एव इच्छानिच्छा विवर्जने हि सामर्थ्यम्!

कहते हैं: ज्ञानी की बस एक ही सामर्थ्य है कि वह इच्छा और अनिच्छा दोनों से मुक्त हो जाता है। वह न तो कहता, ऐसा हो; और न कहता है, ऐसा नहीं हो। वह कहता है, जैसा हो मैं राजी। जैसा भी हो, मैं देखता रहूंगा। मैं तो द्रष्टा हूं--तो कैसा भी हो, फर्क क्या पड़ता है? हार हो तो ठीक; जीत हो तो ठीक। हार, तो तेरी; जीत, तो तेरी। सफलता, तो तेरी; असफलता, तो तेरी। अब मैं देखता रहूंगा। जीवन को देखूंगा, मृत्यु को भी देखूंगा।

एक बार साक्षी उठ जाये, तो सारा जीवन रूपांतरित हो जाता है। प्रभु-मर्जी!

जीसस सूली पर लटके हैं; आखिरी क्षण कहने लगे: "हे प्रभु, यह तू मुझे क्या दिखा रहा है? क्या तूने मेरा साथ छोड़ दिया?" लेकिन चौंके; खुद की ही बात समझ में आयी कि यह मैंने क्या कह दिया, शिकायत हो गयी! यह तो यह हो गया कहने का मतलब कि मेरी मर्जी तू पूरी नहीं कर रहा है। यह तो मेरी मर्जी को मैंने ऊपर रख दिया और प्रभु की मर्जी को नीचे रख दिया। यह तो मैंने उसे सलाह दे दी। यह तो मैंने "सर्व" को नियंत्रण करने की चेष्टा कर ली।

तो कहा कि नहीं-नहीं, क्षमा कर! क्षमा कर दे, भूल हो गयी। तेरी मर्जी पूरी हो! मुझे तो भूल ही जा। मेरी बात को ध्यान में मत रखना। बस तेरी मर्जी पूरी हो! प्रभु-मर्जी!

प्रभु-मर्जी--अगर प्रभु शब्द का उपयोग तुम्हें रुचिकर लगता हो। अरुचिकर लगता हो--कोई जरूरत नहीं है, शब्द ही है। सर्वेच्छा--कहो "सर्व की इच्छा"। समग्र-इच्छा--समग्र की इच्छा। अस्तित्व की मर्जी। जो तुम्हें कहना हो। इतनी ही बात खयाल रखो कि व्यक्ति की मर्जी नहीं, समष्टि की। जब तक व्यक्ति की मर्जी से जीते हो--संसार। जब समष्टि की मर्जी से जीने लगे तो मोक्ष। मोक्ष यानी स्वयं से मोक्ष। जो है, है। जो हो, हो। इसमें मैं बीच में न आऊं। जो दृश्य देखने को मिले, देख लेंगे--मरुस्थल तो मरुस्थल, मरूद्यान तो मरूद्यान। इसमें मैं बीच में न आऊंगा। जो हो, हो; जो है, है। अन्यथा की चाह नहीं। इच्छा-अनिच्छा के विवर्जन का यही अर्थ है: न विधि न निषेध। विधि- निषेध का कंकर नहीं है ज्ञानी; गुलाम नहीं है। ज्ञानी किसी अनुशासन को नहीं जानता--सर्वानुशासन में लीन हो जाता है।

"कोई ही आत्मा को अद्वय और जगदीश्वर-रूप में जानता है...।"

"कोई ही कभी विरला, आत्मा को अद्वय और जगदीश्वर-रूप में जानता है। वह जिसे करने योग्य मानता है, उसे करता है। उसे कहीं भी भय नहीं है।"

आत्मानमद्वयं कश्चिज्जानाति जगदीश्वरम्।
यद्वेति तत्स कुरुते न भयं तस्य कुत्रचित्।।

समझो, कभी कोई विरला ऐसी महत घड़ी को उपलब्ध होता है जहां बूंद को सागर में लीन कर देता है; जहां अहं को शून्य में डुबा देता है; जहां सीमा को असीम में डुबा देता है! कोई विरला, कभी! धन्यभागी है वैसा विरला पुरुष! होना तो सभी को चाहिए, लेकिन हम होने नहीं देते। हम अड़ंगे डालते रहते हैं। होना तो सभी को चाहिए। सभी का स्वभाव-सिद्ध अधिकार है। लेकिन हम हजार अड़चनें खड़ी करते हैं, हम होने नहीं देते।

यह बड़े मजे की बात है, तुम चकित होओगे सुन कर कि तुम जो चाहते हो, वही तुम होने नहीं देते। तुम्हारे अतिरिक्त और कोई तुम्हारा दुश्मन नहीं है। तुम आनंद चाहते हो और आनंद होने नहीं देते! क्योंकि आनंद हो सकता है सहजता में। तुम स्वतंत्रता चाहते हो, स्वतंत्रता होने नहीं देते। क्योंकि स्वतंत्रता हो सकती है केवल सर्व की स्फुरणा के साथ एक हो जाने में। तुम चिंता नहीं चाहते, दुख नहीं चाहते; लेकिन तुम बनाये चले जाते हो। क्योंकि चिंता और दुख है संघर्ष में।

समर्पण में फिर कोई चिंता और दुख नहीं है। बहो धार के साथ। यह गंगा जाती है सागर को--तुम इसी के साथ बह चलो! इसमें पतवार भी चलाने की कोई जरूरत नहीं है--छोड़ दो नाव को! तोड़ दो पतवार को! यह गंगा जा ही रही है सागर। धार के विपरीत मत बहो। गंगोत्री जाने की चेष्टा मत करो। अन्यथा तुम टूटोगे; दुखी और परेशान हो जाओगे।

जो भी प्रकृति से प्रतिकूल जाता है वही टूटता है; नहीं कि प्रकृति उसे तोड़ती--अपने प्रतिकूल जाने से ही टूटता है। जो प्रकृति के अनुकूल जाता है, उसके टूटने का कोई उपाय नहीं।

जो संघर्ष ही नहीं करता, वह हारेगा कैसे? जो विजय की आकांक्षा ही नहीं करता, उसकी कोई पराजय नहीं। छोड़ो अपने को; जाती यह गंगा--चलो, बह चलो इस पर।

हिंदुओं ने अपने सारे तीर्थ नदियों के किनारे बनाये; बहुत कारणों में एक कारण यह भी है--ताकि नदी सामने रहे! बहती, सागर की तरफ जाती नदी का स्मरण रहे। और यह भाव कभी न भूले कि हमें अपने को छोड़ देना है--नदी की भांति।

नदी कुछ भी तो नहीं करती, सिर्फ बही चली जाती है। बहने में कोई प्रयास भी नहीं है, चेष्टा भी नहीं है। कोई नक्शा भी ले कर नदी नहीं चलती। गंगा जब निकलती है गंगोत्री से, कोई नक्शा पास नहीं होता कि सागर कहां है। बिना नक्शे के सागर पहुंच जाती है। सभी नदियां पहुंच जाती हैं! नदियां तो छोड़ो, छोटे-छोटे झरने, नदी-नाले, वे भी सब पहुंच जाते हैं। खोज लेते हैं मार्ग--बिना किसी शास्त्र के। एक तरकीब वे जानते हैं कि उलटे मत बहो, ऊंचाई की तरफ मत बहो। बहते रहो, जहां गड्ढा मिल जाये, वहीं समाते जाओ।

स्वभाव पानी का नीचे की तरफ बहना है। बस इतने स्वभाव की बात नदी जानती है। नदी के किनारे बैठ कर हिंदू तपस्वियों ने, संन्यासियों ने, मनीषियों ने--कुछ भी नाम दो--एक ही सत्य जाना कि नदी जैसे बहने वाले हो जाओ, पहुंच ही जाओगे सागर। बहने वाले सदा पहुंच जाते हैं।

"कोई कभी अद्वय और जगदीश्वर-रूप को जानता है...।"

जगदीश्वर-रूप को जानने के लिए तुम्हें अपना रूप खोना पड़े--उतनी शर्त पूरी करनी पड़े, उतना सौदा है! तुम अगर चाहो कि अपने को भी बचा लूं और प्रभु को भी जान लूं, तो यह असंभव है, यह नहीं हो सकता। या तो अपने को बचा लो तो प्रभु खो जायेगा। या अपने को खो दो तो प्रभु बच जायेगा। अब तुम्हारी मर्जी! और जो अपने को खो कर प्रभु को बचा लेते हैं, तुम यह मत सोचना कि महंगा सौदा करते हैं। महंगा सौदा तो तुम कर रहे हो: अपने को बचा कर प्रभु को खो रहे हो। कंकड़ बचा लिया, हीरा खो दिया।

जिनको तुम ज्ञानी कहते हो, उन्होंने महंगा सौदा नहीं किया। वे बड़े होशियार हैं। उन्होंने कंकड़ छोड़ा और हीरा बचा लिया। तुम्हारे साथ सिवाय दुख और नर्क के है ही क्या? तुम हो, तो सिवाय पीड़ा और चिंता के है ही क्या? तुम तो कांटे हो छाती में चुभे अपनी ही। इसे बचा-बचा कर क्या करोगे? इसको जो समर्पण कर देता है, वही कोई विरला...!

आत्मानमद्वयं कश्चिज्जानति जगदीश्वरम्।

वही कभी, क्वचित, कोई जान पाता प्रभु को। और जो उसे जान लेता...

यद्वेति तत्स कुरुते।

फिर वह कुछ नहीं करता। फिर तो वह जिसे करने योग्य मानता है--वह, जिसमें तुमने अपने को समर्पित कर दिया--वह जिसे करने योग्य मानता है, वही करता है। फिर उसकी अपनी कोई मर्जी नहीं रह जाती।

यत् वेति तत् स कुरुते।

--वह तो वही करता है जो प्रभु करवाता है।

खूब जवाब दिया जनक ने। ठीक-ठीक जवाब दिया। अष्टावक्र नाचे होंगे हृदय में, प्रफुल्लित हुए होंगे! इसी जवाब की तलाश थी। इसी उत्तर की खोज थी।

तस्य भयम् कुत्रचित् न।

--और फिर ऐसे व्यक्ति को कहां भय है!

जिसने परमात्मा में अपने को छोड़ दिया, उसे कहां भय है! भय तो तभी तक है जब तक तुम लड़ रहे हो सर्व से। और भय स्वाभाविक है, क्योंकि सर्व के साथ तुम जीत सकते ही नहीं। तो भय बिलकुल स्वाभाविक है। मौत घटने ही वाली है। हार होने ही वाली है। तुम्हारी यात्रा पहले से ही पराजित है।

सर्व से लड़ कर कौन कब जीतेगा? अंश अंशी से लड़ कर कैसे जीतेगा? तो भयभीत है, कंप रहा है। जैसे छोटा-सा बच्चा अपने बाप से लड़ रहा है--कैसे जीतेगा? फिर वही छोटा बच्चा अपने बाप का हाथ पकड़ लिया और बाप के साथ चल पड़ा--अब कैसे हारेगा?

परमात्मा के साथ अपने को एकस्वर, एकलीन, एक तान में बांध देने पर--फिर कैसा भय?

तस्य भयम् कुत्रचित् न!

शास्त्र कहते हैं: "ब्रह्मवित् ब्रह्मैव भवति--जो ब्रह्म को जानता, वह स्वयं ब्रह्म हो जाता है।"

फिर कैसा भय है? जानते ही वही हो जाता है जो हम जानते हैं।

तुमने क्षुद्र को जाना तो क्षुद्र हो गये; विराट को जाना तो विराट हो जाओगे। तुम्हारा जानना ही तुम्हारा होना हो जाता है। ब्रह्मवित् ब्रह्मैव भवति! और शास्त्र यह भी कहते: "तरति शोकमात्मवित्।" और जिसने स्वयं को जान लिया, वह समस्त शोकों के पार हो जाता है। फिर उसे कोई भय नहीं, दुख नहीं, पीड़ा नहीं।

सब दुख, सब पीड़ा, सब भय, सब नर्क अहंकार-केंद्रित हैं। अहंकार के बिना यह सब ऐसे ही बिखर जाता, जैसे ताश के पत्ते हवा के एक झोंके में गिर जाते हैं। ज्ञान का जरा-सा झोंका, साक्षी-भाव की जरा-सी हवा--और सब पत्ते बिखर जाते हैं।

जनक ने सीधा-सीधा उत्तर नहीं दिया। सीधा-सीधा उत्तर चाहा भी न गया था। जनक ने तो उत्तर भी बड़ा निर्वैयक्तिक दिया और दूर खड़े हो कर दिया; जैसे कुछ परीक्षा उनकी नहीं हो रही है। क्योंकि जब तुम्हें खयाल हो जाये कि तुम्हारी परीक्षा हो रही है तो तनाव हो जाता है। तनाव हो जाता तो जनक परीक्षा में असफल हो जाते। बेचैन हो जाते बचाने को, सिद्ध करने को, तो गड़बड़ हो जाती। वे जरा भी बेचैन नहीं हैं, जरा भी चिंता नहीं है। वे दूर खड़े हो कर ऐसे देख लिये जैसे परीक्षा किसी और की हो रही है। जैसे जनक को कुछ लेना-देना नहीं है।

अनेक मित्रों ने प्रश्न पूछे हैं कि गुरु परीक्षा क्यों लेता है? क्या गुरु को इतनी सामर्थ्य नहीं है कि वह देख ले कि वस्तुतः शिष्य को हुआ या नहीं? गुरु तो सब जानता है, फिर परीक्षा क्यों लेता है?

परीक्षा सिर्फ परीक्षा ही नहीं है--परीक्षा आगे की प्रगति का उपाय भी है। ये जो प्रश्न पूछे अष्टावक्र ने, यह सिर्फ परीक्षा ही नहीं है। परीक्षा का तो मतलब होता है: अब तक जो जाना उसको कसना है। अगर ये सिर्फ परीक्षा ही होती तो व्यर्थ थे। अब तक जो जाना वह तो अष्टावक्र को भी दिखायी पड़ रहा है। उसकी कोई परीक्षा नहीं है। लेकिन अब तक जो जाना उसके संबंध में प्रश्न उठा कर अब जो प्रतिक्रिया भविष्य में यह जनक करेगा, वह आगे की प्रगति बनेगी। तो परीक्षा दोहरी है--अतीत के संबंध में, मगर वह गौण है। उसका कोई बहुत मूल्य नहीं है। यह तो अष्टावक्र भी जान सकते हैं; सीधा ही जान रहे हैं कि क्या हुआ है--लेकिन जो हुआ है उसके संबंध में पूछ कर जनक जो प्रतिक्रिया करेगा, जो उत्तर देगा, उससे आगे के द्वार खुलेंगे।

दोनों संभावनाएं हैं। अगर जनक गलत उत्तर दें तो पीछे के द्वार बंद हो सकते हैं; जो खुलते- खुलते थे, वे फिर बंद हो सकते हैं। और अगर ठीक-ठीक उत्तर दे, तो जो द्वार खुले थे वे तो खुले ही रहेंगे--और भी द्वार हैं, वे भी खुल जायेंगे। सब निर्भर करेगा जनक के उत्तर पर।

गुरु के सामने जनक को अब तक जो घटा है, वह तो साफ है; लेकिन जो घटेगा, वह तो किसी के लिए भी साफ नहीं है। जो घटेगा, वह तो अभी घटा नहीं है। भविष्य तो अभी शून्य में है, निराकार में है; अभी उसने

आकार नहीं लिया। अतीत का तो सब पता है। अतीत का तो सब पता अष्टावक्र को जनक से भी ज्यादा है। जनक जितना अपने संबंध में बता सकेगा, अष्टावक्र उससे ज्यादा देख सकते हैं।

अष्टावक्र की दृष्टि निश्चित ही ज्यादा थिर और ज्यादा गहरी है। वे तो भीतर तक झांक कर देख लेंगे। उसका कोई सवाल भी नहीं है। अतीत से कुछ बड़ा सवाल नहीं है--सवाल है भविष्य से। भविष्य का कुछ पता नहीं है। एक क्षण बाद क्या होगा, कुछ नहीं कहा जा सकता। क्योंकि जीवन यंत्रवत नहीं है; जीवन परम स्वतंत्रता है। होते-होते बात रुक सकती है; घटते-घटते रुक सकती है। आदमी आखिरी क्षण से पहुंच कर लौट सकता है।

एक आदमी छलांग लगाने जा रहा था। मुझे बचपन में बहुत शौक था नदी पर ऊंचाई से कूदने का। जितनी ऊंचाई हो, उतना मुझे रस था। अब मेरे साथ जो मेरे मित्र थे, वे बड़े परेशान रहते थे। क्योंकि अगर मैं कूद जाऊं और वे न कूदें तो उनके अहंकार को चोट लगे। मगर कूदें तो उनके प्राण संकट में! तो कभी-कभी मैं देखता कि कोई हिम्मत करके दौड़ता है, मेरे साथ दौड़ रहा है कूदने के लिए--चालीस फीट या तीस फीट की ऊंचाई या पचास फीट की ऊंचाई। फिर धीरे-धीरे तो मुझे रस इतना आने लगा कि वह जो नदी के ऊपर रेलवे का पुल था, उससे जा कर मैं कूदने लगा। वह तो बहुत ही खतरनाक था। उस पर कोई मेरे साथ दौड़ कर आता-आता, आता-आता बिलकुल आखिर में; मैं तो कूद जाता, वे खड़े ही रह गये! अब बिलकुल आखिर पर आ गया था। कोई शक-शुबा न थी। मेरे साथ दौड़ा, किनारे पर आ गया था...।

एक बार तो ऐसा हुआ कि पंचमढ़ी में--मेरे गांव से थोड़े फासले पर पहाड़ी स्थान है--वहां के एक जलप्रपात में हम कूदने गये। तो मेरे एक मित्र थे, जो मेरे साथ बहुत जगह कूदे थे; काफी ऊंचाई थी, घबड़ा गये! कूद भी गये, लेकिन बीच में एक जड़ को पकड़ कर लटक गये। क्या करोगे? कूद भी गये! ऐसा भी नहीं कि न कूदे हों--कूद भी गये, लेकिन बीच में एक जड़ को पकड़ लिया। मैं जब पानी में नीचे पहुंच गया, डुबकी खा कर ऊपर आया तो मैंने कहा कि...अब यह बड़ा मुश्किल हो गया। उनको उतारना बड़ा मुश्किल हो गया।

जो हो गया है, वह तो अष्टावक्र देख सकते हैं; लेकिन जो अभी होने को है, उसका कोई उपाय नहीं है। भविष्य बिलकुल निराकार है! हो भी सकता है, न भी हो! तो इसको तुम परीक्षा ही मत समझना; यह परीक्षा से भी ज्यादा...। परीक्षा तो है ही--परीक्षा से भी ज्यादा, भविष्य की तरफ इंगित है। परीक्षा से भी ज्यादा, भविष्य को एक दिशा में लाने का उपाय है; भविष्य को एक रूप देने का उपाय है; भविष्य को जन्म देने का उपाय है।

और जनक ने जो उत्तर दिये हैं, वे निश्चित ही, साफ कहते हैं कि छलांग हो गयी--और होती रहेगी। जनक के उत्तर ने साफ कर दिया कि परीक्षा में तो वे पूरे उतरे, भविष्य की तरफ भी यात्रा साफ हो गयी है, नये द्वार खुल गये हैं।

गुरु जो भी करता है, ठीक ही करता है। तुम्हारे मन में ऐसे प्रश्न उठे कि क्या गुरु में इतनी सामर्थ्य नहीं कि वह जान ले। ऐसा प्रश्न अगर जनक के मन में भी उठता तो जनक चूक जाते। वे यह खुद भी कह सकते थे कि गुरुदेव, आप तो सर्वज्ञाता हैं; आप, और मेरी परीक्षा लेते हैं! अरे आप तो आंख खोल कर देख लो मुझमें! तो आप...खुद ही पता चल जायेगा।

नहीं, जनक ने वह भी न कहा। क्योंकि अगर गुरु परीक्षा लेते हैं तो परीक्षा में भी कोई राज होगा। कोई राज होगा, जिसका जनक को अभी पता ही नहीं। जनक ने चुपचाप परीक्षा स्वीकार कर ली।

गुरु जितनी परीक्षाएं खड़ी करे, स्वीकार कर लेने में ही सार है। क्योंकि तुम जितना समझ सकते हो उतना ही तुम्हें समझाया जा सकता है। कुछ है, जो तुम्हें कराया जायेगा। यह परीक्षा तो एक सिचुएशन, एक स्थिति थी। गुरु ने तो एक स्थिति पैदा की। इस स्थिति में कैसा जनक प्रत्युत्तर लाते हैं, क्या प्रतिध्वनि होती है उनके भीतर--उस प्रतिध्वनि का एक मौका दिया। इससे अतीत का तो पता चल ही जायेगा, वह तो बिना इसके भी पता चल जाता--लेकिन इससे भविष्य भी सुनिश्चित होगा। एक रेखा निर्मित होगी, आयाम साफ होगा।

ऐसे प्रश्न एकाध मित्र ने नहीं, अनेकों ने पूछे हैं। मैंने उनके उत्तर अब तक नहीं दिये थे, क्योंकि मैं चाहता था जनक का उत्तर पहले तुम सुन लो।

जैसे मैंने "स्वभाव" की पीछे चर्चा की। एक मित्र ने आ कर कहा कि आपने ऐसी बात की कि कहीं स्वभाव दुखी न हो जाये। मैंने कहा, दुखी हो जाये तो हुए अनुत्तीर्ण। "कि कहीं स्वभाव समझे न और नाराज न हो जाये; क्रुद्ध न हो जाये।" क्रुद्ध हुए, तो फिर मैंने जो कहा कि हाथी तो निकल गया, पूंछ रह गयी--पूरा सिर तो उन्होंने घुटा लिया, चोटी रह गयी; तो हाथी तो निकल गया, पूंछ अटक गयी--तो फिर पूंछ के द्वारा पूरे स्वभाव अटक गये!

नहीं, लेकिन स्वभाव ने बुरा नहीं माना, न दुख लिया। समझने की चेष्टा की। ऐसी चेष्टा जारी रहे, तो हाथी तो निकल ही गया है, किसी दिन पूंछ भी निकल जायेगी। स्वभाव ने ठीक किया है।

हरि ॐ तत्सत्!

बीसवां प्रवचन

क्रांति: निजी और वैयक्तिक

पहला प्रश्न: आप आज मौजूद हैं, तो भी मनुष्य नीचे और नीचे की ओर जा रहा है; जबकि बुद्धों के आगमन पर मनुष्यता कोई शिखर छूने लगती है। हजारों आंखें आपकी ओर लगी हैं कि शायद आपके द्वारा फिर नवजागरण होगा और धर्म का जगत निर्मित होगा। कृपया बताएं कि यह विस्फोट कब और कैसे होगा? क्योंकि बदलना तो दूर, उलटे लोग आपका ही विरोध कर रहे हैं।

पहली बात, मनुष्यता सदा ऐसी की ऐसी ही रही है। कुछ विरले मनुष्य बदलते हैं, मनुष्यता जरा भी नहीं बदलती बाहर की स्थितियां बदलती हैं, व्यवस्थाएं बदलती हैं, भीतर मनुष्य वैसा का ही वैसा रहता है! तो पहले तो इस भ्रांति को छोड़ दो कि आज का मनुष्य पतित हो गया है।

सदा का मनुष्य ऐसा ही था। बुद्ध के समय में भी लोग ऐसे ही प्रश्न पूछते हैं बुद्ध से, कि आज का मनुष्य पतित हो गया है, आप कुछ करें। लाओत्सु से भी ऐसे ही प्रश्न, कन्फ्यूशियस से भी ऐसे ही प्रश्न। पुराने से पुराना शास्त्र खोज लें, पुराने से पुराना शास्त्र यही रोना रोता है कि मनुष्य पतित हो गया है।

बेबिलोन में छह हजार वर्ष पुरानी एक ईंट मिली है जिस पर शिलालेख है। उस शिलालेख में यही लिखा है कि आज के मनुष्य को क्या हो गया, पतित हो गया!

छह हजार साल पहले भी यही बात है। हर समय के आदमी ने ऐसा सोचा है कि आज का मनुष्य पतित हो गया है। इसके पीछे कुछ मनोवैज्ञानिक कारण हैं। अतीत के मनुष्यों का तो तुम्हें पता नहीं। उनके संबंध में तो तुम कुछ भी नहीं जानते। बुद्ध के संबंध में तो तुम कुछ जानते हो, लेकिन बुद्ध किन मनुष्यों के बीच जी रहे थे, उनके संबंध में तुम कुछ भी नहीं जानते हो। बुद्ध के संबंध में तो शास्त्र हैं, उनकी महिमा के गीत हैं, उनकी महिमा के गीत को तुम उस समय की मनुष्यता की महिमा मत समझ लेना। अगर सच में ही बुद्ध के समय के लोग ऊंचे होते तो बुद्ध की कौन फिक्र करता? अंधेरे काले बादलों में ही बिजली चमकती है। बुद्ध इतने बड़े होकर दिखाई पड़े, यह छोटे मनुष्यों के कारण ही संभव था। अगर बुद्ध जैसे ही मनुष्य होते बड़ी संख्या में तो बुद्ध को कौन पूछता? कौन खयाल करता?

सोचो, कोहिनूर हीरा कीमती है, क्योंकि अकेला है। अगर गांव, गली-कूचे, राह के किनारे, नदी के तटों पर कोहिनूरों के ढेर लगे होते तो कोहिनूर को कौन पूछता?

राम की हम याद करते हैं, क्योंकि जमाना राम जैसा नहीं था। कृष्ण की हम याद करते हैं, क्योंकि जमाना कृष्ण जैसा नहीं था। जमाना तो रावण जैसा रहा होगा और जमाना तो कंस जैसा रहा होगा।

आदमी सदा से ऐसा ही है। लेकिन अतीत के संबंध में एक धारणा बन जाती है कि अतीत सुंदर था, क्योंकि अतीत के सुंदरतम लोगों की खबरें तुम तक आती हैं, अतीत के सुंदरतम गीत गूंजते हुए सदियों में तुम्हारे पास आते हैं। बाजार की भीड़-भाड़, छीना-झपटी तो भूल जाती है, सुंदरतम बचता है; फूल बचते हैं, कांटे तो भूल जाते हैं।

और आज, जो तुम्हारे निकट लोग हैं उनमें तुम्हें कांटे दिखाई पड़ते हैं; कांटे ही कांटे सब तरफ दिखाई पड़ते हैं। समसामयिक बुद्धपुरुष दिखाई भी नहीं पड़ता, क्योंकि इतने कांटों की भीड़ में भरोसा भी करना मुश्किल है कि गुलाब का फूल खिल सकता है।

तो जब कोई बुद्धपुरुष मौजूद होता है, उस पर भरोसा नहीं आता; क्योंकि बुद्धपुरुष तो एक होता है और अबुद्धपुरुष अरबों-खरबों होते हैं। भरोसा आए भी कैसे? लेकिन जब समय बीत जाता है तो उस एक की तो याद गूंजती रहती है और उन अनेकों का विस्मरण हो जाता है। तब तुम्हारे सब मूल्यांकन अस्तव्यस्त हो जाते हैं।

आदमी सदा से ऐसा ही रहा है। न तो अतीत के समय का आदमी श्रेष्ठ था, न तुम निकृष्ट हो। न अतीत के समय का आदमी निकृष्ट था, न तुम श्रेष्ठ हो। आदमी आदमी जैसा है, चीजों में फर्क पड़ गए हैं। यह बात निश्चित है कि अतीत का आदमी फिएट कार की आकांक्षा नहीं करता था, क्योंकि फिएट कार नहीं थी। इससे तुम यह मत सोच लेना कि आज आदमी बड़ा पतित हो गया है, देखो फिएट कार की आकांक्षा करता है। अतीत का आदमी एक शानदार घोड़े की आकांक्षा करता था, एक अच्छी बग्घी की आकांक्षा करता था, रथ की आकांक्षा करता था। आकांक्षा वही है। बग्घी की जगह फिएट आ गई, आकांक्षा में कोई फर्क नहीं पड़ा है।

अतीत का आदमी ऐसा ही लोभी था, ऐसा ही कामी था, ऐसा ही क्रोधी था; नहीं तो बुद्धपुरुष पागल हैं जो समझाएं कि क्रोध मत करो, वासना में मत पड़ो; जो लोगों को समझाएं, लोभ छोड़ो।

तुम्हारे सारे शास्त्र शिक्षा क्या देते हैं? शिक्षा किसको दी जाती है? अगर लोग अलोभी थे तो बुद्ध पागल थे जो लोगों को कहते कि लोभ छोड़ो। लोग तो लोभ छोड़े ही हुए थे--वे कहते, आप भी बातें क्या कर रहे हैं? लोभी यहां है कौन? चालीस साल निरंतर बुद्ध गांव-गांव घूम कर लोगों को समझाते रहे: लोभ छोड़ो,र् ईष्या छोड़ो, महत्वाकांक्षा छोड़ो, अहंकार छोड़ो! निश्चित ही ये बातें लोगों में रही होंगी, अन्यथा ये औषधियां किसको बांटी जा रही थीं? लोग बीमार रहे होंगे।

तुम्हारे शास्त्र गवाह हैं कि किस तरह के लोगों के बीच में लिखे गए होंगे। जो बीमारी होती है उसकी चिकित्सा का आयोजन करना होता है। लोग कामी रहे होंगे इसलिए तो ब्रह्मचर्य की इतनी प्रशंसा है। अगर लोग ब्रह्मचारी ही थे तो ब्रह्मचर्य की प्रशंसा का क्या प्रयोजन था?

लाओत्सु ने कहा है: अगर लोग धार्मिक हों तो धर्म-शास्त्र व्यर्थ। ठीक कहा है। अगर लोग सचमुच धार्मिक हों तो धर्म-शास्त्र की क्या जरूरत?

या दूसरी तरफ से देखें। कृष्ण ने कहा है कि जब-जब धर्म की हानि होगी मैं आऊंगा। तो उस वक्त क्यों आए थे? धर्म की हानि हो गई होगी। सीधी-सी बात है: जब-जब अंधेरा घिरेगा, साधु-संत सताए जाएंगे, तबत्तब आऊंगा। तो उस समय यह घड़ी घट गई होगी।

अगर तर्क को ठीक से समझें, तो जब तुम्हारे घर में कोई बीमार होता है तभी वैद्य को बुलाते हैं। जब कोई समाज पतित होता है तो उसे उठाने की चेष्टा होती है।

इतने अवतार, इतने तीर्थंकर किसलिए पैदा होते हैं? कहीं-न-कहीं आदमी गलत रहा होगा।

तो, पहली तो बात यह समझ लेना कि आदमी सदा से ऐसा ही है।

यह जो हमें भ्रांति पैदा होती है, इसके पीछे और भी कारण हैं। सभी को ऐसा खयाल है कि बचपन बड़ा सुंदर था, स्वर्णिम! सभी को! हालांकि बच्चों से पूछो, कोई बच्चा इस बात के लिए राजी नहीं कहने को कि स्वर्णिम काल बचपन है। बच्चे जल्दी से जल्दी बड़े होना चाहते हैं। बच्चा बाप के बगल में कुर्सी पर खड़ा हो जाता है और कहता है, देखो तुमसे बड़े। वह उसकी आकांक्षा का सबूत है; वह चाहता है, तुमसे बड़ा हो जाए।

एक छोटे बच्चे को स्कूल में एक शिक्षक ने मारा। उसने कुछ भूल-चूक की थी। मारने के बाद उसे फुसलाया, समझाया और कहा, "बेटा देख, यह मैं मारता हूं, इसीलिए कि तुझे मैं प्रेम करता हूं।" उस बेटे ने आंख से आंसू पोंछते हुए कहा कि प्रेम तो मैं भी आपको बहुत करता हूं, लेकिन प्रमाण अभी दे नहीं सकता।

छोटे बच्चों से पूछो, वे जल्दी से जल्दी बड़े हो जाना चाहते हैं। लेकिन बाद में याद रह जाती है सिर्फ कि बचपन बड़ा सुंदर था। कैसे हो सकता है बचपन सुंदर? क्योंकि तुम बचपन में बिलकुल ही परतंत्र थे, हर बात के लिए असहाय थे, दीन थे और हर बात के लिए तुम्हें किसी का मुंह तकना पड़ता था। ऐसी परतंत्र अवस्था,

ऐसी स्वतंत्रता-हीन अवस्था कैसे सुंदर हो सकती है? लेकिन बाद में यही याद रह जाती है कि बचपन बड़ा सुंदर था।

मनोवैज्ञानिक कहते हैं, इसके पीछे एक कारण है। आदमी का मन, जो दुखपूर्ण है उसे भुला देता है, क्योंकि दुख को याद रखना कठिन है। दुख इतना ज्यादा है कि अगर हम दुख को याद रखें तो हम जी न सकेंगे। तो जो दुखपूर्ण है उसे हम हटा देते हैं, उसे हम अचेतन में, गर्त में डाल देते हैं। और जो सुखद-सुखद है उसकी फूलमाला बना लेते हैं, जैसे-जैसे हम आगे बढ़ते जाते हैं जो सुखद है, उसको इकट्ठा करते जाते हैं। जो सुखद नहीं है उसे छोड़ते चले जाते हैं। तो पीछे के संबंध में हम जो भी वक्तव्य देते हैं, वे सब गलत होते हैं।

और यही स्थिति बड़े पैमाने पर समाज के संबंध में सही है। हम सोचते हैं कि अतीत में सब सुंदर था; सब स्वर्णयुग अतीत में हो चुके। यह बात हर हाल में गलत है, क्योंकि अगर अतीत इतना सुंदर था तो यह वर्तमान उसी अतीत से पैदा हुआ है, यह और भी सुंदर होना चाहिए। अगर बचपन इतना सुंदर था तो जवानी उसी बचपन से आई है, यह बचपन से ज्यादा सुंदर होनी चाहिए। अगर जवानी सुंदर थी तो बुढ़ापा जवानी से आया है, बुढ़ापा जवानी से भी ज्यादा सुंदर होना चाहिए। और अगर जीवन तुम्हारा सचमुच आह्लाद था तो मृत्यु भी नृत्य होगी, उत्सव होगी, क्योंकि मृत्यु उसी जीवन का सार-निचोड़ है।

लेकिन तुम तो देखते हो कि बचपन सुंदर था जवानी से, जवानी सुंदर बुढ़ापे से; जीवन सुंदर, मृत्यु सुंदर कभी नहीं! यह तो तुम दुख-दुख को छोड़ते जाते हो, सुख-सुख को चुनते जाते हो। सुख तुम्हें मिलता तो नहीं, लेकिन जो कुछ भी क्षणभंगुर स्मृतियां रह जाती हैं, उन्हीं को तुम सजा-संवार कर रख लेते हो।

तुम आए हो उन्हीं समाजों से जिनको लोग स्वर्णयुग कहते हैं, सतयुग कहते हैं। यह कलियुग सतयुग से पैदा हुआ है। अगर यह कलियुग बुरा है तो कहावत है कि फल से वृक्ष का पता चलता है। अगर फल गलत है तो वृक्ष सड़ा हुआ रहा होगा, बीज से ही सड़ा हुआ रहा होगा। तुम सबूत हो इस बात के कि सारा मनुष्य-जाति का अतीत तुमसे बेहतर तो नहीं रहा, किसी हालत में नहीं रहा। तुमसे शायद बुरा भले रहा हो, तुमसे बेहतर तो नहीं हो सकता, क्योंकि तुम उसके फल हो।

तो पहली तो मैं यह भ्रांति तुम्हारे मन से हटा देना चाहता हूं। मैं तुमसे यह भी नहीं कहना चाहता कि तुम श्रेष्ठ हो। तुमसे यह भी नहीं कहना चाहता कि तुम निकृष्ट हो। तुमसे मैं एक बहुत सीधा-सादा प्रस्ताव करता हूं कि तुम वैसे ही हो जैसे सदा से मनुष्य रहा है। इसलिए यह चिंता, विचार छोड़ कर इस बात पर ध्यान दो कि कुछ मनुष्यों ने कभी-कभी जीवन में क्रांति की है। तुम सबकी चिंता भी भूल जाओ। तुम तो इतनी ही फिक्र कर लो कि तुम्हारे जीवन में प्रकाश उतर आए, तुम्हारा दीया जल जाए तो बस काफी है।

"आप मौजूद हैं तो भी मनुष्य नीचे की ओर, नीचे की ओर जा रहा है।"

मैं किसी को नीचे की ओर जाते नहीं देखता और न किसी को ऊंचे जाते देखता। लोग कोल्हू के बैल की तरह घूम रहे हैं, वहीं के वहीं घूम रहे हैं। आंख पर पट्टियां बंधी हैं, सोचते हैं कहीं जा रहे हैं। कोई कहीं नहीं जा रहा है। कभी-कभी कोई एकाध व्यक्ति आंख से पट्टियां हटा देता है--धारणाओं की, सिद्धांतों की, धर्मों की, राजनीतियों की; खोल कर देखता है, देखता है: अरे, मैं एक वर्तुल में घूम रहा हूं, कोल्हू का बैल! वह निकल पड़ता है वर्तुल के बाहर। उस वर्तुल के बाहर छलांग लगा लेना ही संन्यास है।

इस समाज में कभी धर्म आने वाला नहीं है; कुछ संन्यासियों के जीवन में धर्म आने वाला है। धर्म तो महाक्रांति है--और क्रांति व्यक्ति में ही घट सकती है। समाज में तो ज्यादा से ज्यादा सुधार घटते हैं, लीपा-पोती चलती है। मकान वही का वही रहता है; कहीं पलस्तर गिर गया तो चढ़ा दिया; कहीं रंग खराब हो गया तो रंग कर दिया; कहीं छप्पर खराब हो गया तो कुछ खपरे बदल दिये; कहीं दीवाल गिरने लगी तो सहारे और टेक लगा दी--मगर मकान वही का वही रहता है। क्रांति तो व्यक्ति में घटती है। नितांत रूप से वैयक्तिक है क्रांति।

तो मैं तो किसी को नीचे-ऊंचे जाते नहीं देखता। समाज तो वहीं का वहीं है।

पूछा है: "...जबकि बुद्धपुरुषों के आगमन पर मनुष्यता कोई शिखर छूने लगती है।"

मनुष्यता नहीं, कुछ मनुष्य! कुछ मनुष्यों में छिपी मनुष्यता जरूर छूने लगती है। लेकिन उस शिखर को न छूने वाले लोगों की संख्या सदा बड़ी होती है। कभी करोड़ में एक आदमी बुद्धों के साथ उस अनंत की यात्रा पर निकलता है। आज तुम्हें लगता है कि बुद्ध के समय में बड़ी क्रांति हुई होगी, या महावीर के समय में बड़ी क्रांति हुई होगी; लेकिन अगर तुम अनुपात देखो तो तुम चकित हो जाओगे। बुद्ध जिस गांव से गुजरते हैं अगर उसमें दस हजार आदमी हैं तो दस भी सुनने को आ जाएं तो बस पर्याप्त है। और उन दस में भी जो सुनने आ गए हैं, उनमें से एक भी सुन ले तो बहुत। सुनने आ जाने से ही थोड़े ही कोई सुन लेता है। आज तुम्हें लगता है कि बहुत लोग...।

अभी जो मुझे सुन रहे हैं, उनकी संख्या नगण्य है। जो मुझे समझ रहे हैं उनकी और भी नगण्य है। जो मुझे समझ कर अपने जीवन को बदल रहे हैं उनकी और भी नगण्य है। समय बीत जाने पर यही संख्या बड़ी दिखाई पड़ने लगेगी।

आज जैनों की संख्या तीस लाख से ज्यादा नहीं है। अगर महावीर ने तीस आदमियों को बदला हो तो दो हजार साल में उनसे तीस लाख की संख्या पैदा हो सकती है। बहुत ज्यादा लोगों को नहीं बदला होगा। ढाई हजार साल में जैनियों की संख्या तीस लाख है। तीस जोड़े इतनी बड़ी संख्या पैदा कर सकते हैं ढाई हजार साल में। बहुत थोड़े से लोग बदले होंगे।

बदलाहट सदा थोड़े से लोगों में आती है। हां, उन थोड़े से लोगों में मनुष्यता जो छिपी है वह बड़े ऊंचे शिखर छूने लगती है। मगर तुम इसकी चिंता न करके, इसकी ही चिंता करो कि तुम्हारे भीतर वह शिखर छुआ जा रहा है या नहीं? कहीं ऐसा न हो कि तुम सबकी चिंता में खुद को बिसार बैठो। और वहीं घटना घट सकती है। सबकी चिंता में तुम तो चूक ही जाओगे और सब को कोई लाभ न होगा।

"...हजारों आंखें आपकी ओर लगी हैं कि शायद आपके द्वारा फिर नवजागरण होगा।"

ये भ्रांतियां छोड़ो। किसी के द्वारा कभी कोई नवजागरण न हुआ है, न होनेवाला है। कितने सत्पुरुष हुए! तुम ये भ्रांतियां कब तक बांधे रहोगे? ये भ्रांतियां तुम्हें भटकाती हैं। इनके कारण तुम जो क्रांति कर सकते थे, वह नहीं करते; तुम बैठ कर प्रतीक्षा करते हो, होगा। जैसे किसी और का काम है! जैसे यह मेरी जिम्मेवारी है। जैसे नहीं होगा तो मैं दोषी! तब तो तुम सभी बुद्धपुरुषों को दोषी पाओगे, क्योंकि वह नवजागरण अब तक नहीं आया।

मैं तुमसे यह कहना चाहता हूं: वह कभी नहीं आएगा।

अंग्रेजी में उस नवजागरण के लिए जो शब्द है, उटोपिया, वह बहुत अच्छा है। उटोपिया शब्द का ही अर्थ होता है, जो न कभी आया, न कभी आएगा। वह सिर्फ तुम्हारी आकांक्षा है--और नपुंसक आकांक्षा है। दूसरे के लिए प्रतीक्षा क्यों कर रहे हो?

मेरे पास लोग आते हैं और कहते हैं: "अब अवतार का जन्म कब होगा?" तुम क्या कर रहे हो? जन्माओ अवतार को अपने भीतर! तुम यह उत्तरदायित्व क्यों टालते हो? किस पर टाल रहे हो? मेरे पास लोग आते हैं, वे कहते हैं: "भगवान सुनता नहीं। इतनी आहें उठ रही हैं, भगवान कहां है? आता क्यों नहीं?" ये मनुष्य की जालसाजियां, ये धारणाएं! इनसे एक तरकीब तुम अपने भीतर बना लेते हो कि हमें तो कुछ करना नहीं, बैठकर राह देखनी है, जब आएगा तब होगा। कोई मसीहा आएगा, कोई पैगंबर आएगा, कोई अवतार आएगा।

आ चुके पैगंबर, आ चुके मसीहा, आ चुके अवतार--और नवजागरण नहीं आया। तुम कब जागोगे? कितने अवतार, कितने तीर्थंकर आ चुके! कहां नवजागरण आया? कहां हुई क्रांति?

नहीं, तुम्हारी भ्रांति है। किसी दूसरे से होने वाली नहीं है। तुममें घटना घटेगी। समूह में कभी घटना नहीं घटेगी। समूह में जो घटती है वह राजनीति है; व्यक्ति में जो घटता है, वह धर्म। तुम राजनीति को धर्म पर

आरोपित मत करो। अगर लोग सोना चाहते हैं तो कौन जगाएगा, कैसे जगाएगा? अगर ज्यादा जगाने वाला गड़बड़ करेगा, सोने वाले उसकी हत्या कर देंगे। वही तो हुआ। जीसस को सूली पर लटका दिया, सुकरात को जहर पिला दिया। ये लोग जरा ज्यादा शोरगुल मचाने लगे।

अब जिसको सोना है, तुम उठ कर और घंटा बजाने लगे सुबह से और कहने लगे प्रभात-वेला आ गई, जागो! पर जिसको सोना है, वह कहता है: सोना और जागना तो कम से कम मेरी स्वतंत्रता होनी चाहिए। दूसरा आदमी आ कर घंटा बजाने लगे कि जागो तो उसे गुस्सा आए, बिलकुल स्वाभाविक है। और सोने वाले लोग ज्यादा हैं। सोए ही हैं। घंटे बजाने वाले आते हैं और चले जाते हैं और सोने वाले करवट भी नहीं बदलते। या बहुत-से-बहुत करवट बदल लेते हैं, फिर सो जाते हैं। थोड़े नाराज हो जाते हैं। अगर भले हुए तो कहते हैं, "महाराज, नमस्कार! आप बड़े महात्मा हैं! मगर अभी मुझ दीन को छोड़ो, अभी मेरी सुविधा नहीं जागने की। जागूंगा जरूर। आपकी बात बिलकुल ठीक है।"

लोग कहते हैं कि आपकी बात बिलकुल ठीक है, कि छोड़ो, मेरा पिंड छोड़ो।

अब कौन विवाद करे? सोने वाला विवाद कैसे करे? सोने वाला कहता है, मुझे सोने दो। माना कि ब्रह्ममुहूर्त है और उठना चाहिए ब्रह्ममुहूर्त में, और कभी हम जरूर उठेंगे, और याद रखेंगे तुम्हारी बात और तुम्हारा नाम स्मरण करेंगे, तुम्हारी पूजा भी करेंगे, फोटो लटका लेंगे, मूर्ति लगा देंगे, सदा-सदा तुम्हें पूजेंगे--मगर अभी छोड़ो! अभी मुझे नींद आ रही है। अभी मैं इस योग्य नहीं, अभी मैं पात्र नहीं। अभी घर है, गृहस्थी है, बच्चे हैं, पत्नी है--अभी इनको सम्हालने दो; एक दिन तो मोक्ष की तरफ जाना है, आप बिलकुल ठीक कहते हैं।

इसीलिए तुम पूजा करते हो, मंदिर बनाते हो। तुम्हारे मंदिर और तुम्हारी पूजाएं तुम्हारे बचने की विधियों का अंग हैं। जो दुष्ट हैं, वे झगड़ने को खड़े हो जाते हैं; जो सज्जन हैं, वे पूजा करने को। मगर जगने को कोई राजी नहीं।

हमने भारत में सूली नहीं दी--सज्जनों का देश है! मारपीट, झगड़ा-झांसे में हम भरोसा नहीं करते--अहिंसकों का देश है! शाकाहारियों का देश है! बड़ी पुरानी हमारी परंपरा है। हम कहते हैं, जिसको हाथ जोड़ कर, पैर छू कर छुटकारा पाया जा सकता है, उसको सूली पर क्यों लटकाना?

और सूली पर लटकाने से झंझट ही बढ़ती है; आखिर सोने वाले आदमी को सूली बनाना पड़े, ले जाओ, सूली पर लटकाओ...। पैर छू लिए कि महाराज साष्टांग दंडवत है, आप जाएं! हमने समझ ली तरकीब।

तो जो जीसस के साथ यहूदियों ने किया, वह हमने बुद्ध के साथ नहीं किया। कभी इक्के-दुक्के किसी पागल ने पत्थर फेंक दिया, लेकिन आमतौर से समाज ने कहा कि आप ईश्वर के अवतार हैं। महावीर को हमने थोड़ी-बहुत गाली-गलौज दी, लेकिन कोई जहर नहीं पिला दिया; जैसा सुकारात को यूनान में पिला दिया। हमने कबीर को कोई मंसूर की तरह काट नहीं डाला है, जैसा मुसलमानों ने मंसूर को काट दिया। सज्जनों का देश है! हम तरकीब ज्यादा बेहतर जान गए। हम समझ गए कि जहां सुई से काम हो जाता है, वहां तलवार की क्या जरूरत? मंदिर में बिठा देते हैं, मूर्ति बना देते हैं, फूल चढ़ा देंगे, शास्त्र बना देते हैं--और क्या चाहिए? मगर जगाने की कोशिश मत करो!

समाज कभी भी नहीं जागेगा। समाज तो सोई हुई भीड़ है। इस भीड़ में से कभी-कभी कोई विरला पुरुष जागता है।

तो तुम यह तो पूछो ही मत, यह तो बात ही मत करो। मैं तुम्हारी किसी भ्रांति में किसी तरह का सहारा देने को तैयार नहीं हूं। मैं नहीं तुमसे कहता कि मेरे द्वारा नवजागरण आएगा, सारी दुनिया में क्रांति हो जाएगी, राम-राज्य स्थापित हो जाएगा।...हो चुकीं ये पागलपन की बातें बहुत। राम से नहीं हुआ रामराज्य स्थापित, तो

किसी दूसरे से कैसे हो जाएगा? कृष्ण से नहीं हुआ, हार गए सिर पटक-पटक कर! बुद्ध से नहीं हुआ, तो मुझसे कैसे हो जाएगा?

नहीं, बुद्ध और कृष्ण और राम ने वैसी भ्रांति पाली ही नहीं; वह भ्रांति तुम पाले हुए हो। बुद्ध तो बार-बार कहते हैं कि अपने दीये बनो; मेरे द्वारा कुछ भी न होगा। महावीर बार-बार कहते हैं: अपनी शरण जाओ, मेरी शरण आने से क्या होगा?

महावीर ने तो बहुत साफ कहा है कि मैं स्वयं जागा हूं, मैं तुम्हारे कल्याण के लिए नहीं आया हूं; यद्यपि जैन अभी भी कहे जाते हैं कि जगत के कल्याण के लिए उनका जन्म हुआ। महावीर कहते हैं, मैं तुम्हारे कल्याण के लिए नहीं आया, क्योंकि कोई दूसरा तुम्हारा कल्याण कैसे करेगा? और अगर दूसरा तुम्हारा कल्याण कर सके तो वह कल्याण भी दो कौड़ी का होगा। उसमें तुम्हारा विकास फलित नहीं होगा, तुम्हारी आंतरिक उत्क्रांति घटित नहीं होगी। वह उधार होगा, बासा होगा। तो महावीर कहते हैं: अपनी शरण जाओ, समझो, अपने को जगाओ!

"...धर्म का जगत कब निर्मित होगा?"

झूठे सपने मत देखो। जगत अधर्म का रहेगा। इसमें कभी-कभी धार्मिक व्यक्ति जगते रहेंगे। यह रात तो अंधेरी रहेगी। इसमें कभी-कभी कोई तारे जगमगाते रहेंगे। अब तुम यह प्रतीक्षा मत करो कि कब पूरी रात बदलेगी। तुम तो इसकी फिक्र करो कि मैं जगमगाने लगा या नहीं? तुम जगमगा गए, तुम्हारे लिए रात समाप्त हो गई। तुम जिस दिन जगमगाए, तुम्हारी सुबह हो गई।

इसे मैं बार-बार दोहराना चाहता हूं कि यह क्रांति व्यक्ति के अंतस्तल में घटती है! यह बड़ी आंतरिक है, आत्यंतिक रूप से निजी है। समूह, भीड़ से इसका कुछ नाता नहीं।

पूछा है: "क्योंकि बदलना तो दूर...कब होगा विस्फोट? कैसे होगा? बदलना तो दूर उल्टे लोग आपका विरोध कर रहे हैं।"

वे सदा से करते रहे हैं। कुछ नया नहीं इसमें। वे विरोध न करें तो आश्चर्य होगा। विरोध उन्हें करना ही चाहिए। वह उनकी पुरानी आदत है।

जैन शास्त्रों में उल्लेख है: एक मुनि नदी में स्नान करने उतरा। एक बिच्छु को उसने तैरते देखा, डुबकी खाते। कि मर न जाए, तो उसने हाथ पर चढ़ा कर उसे घाट पर रख देना चाहा; लेकिन जब तक उसने घाट पर रखा, उसने दोत्तीन डंक मार दिए। और जैसा कि तुमने देखा होगा, चींटे को अगर हटाने की कोशिश करो तो जिस दिशा से हटाओ वह उसी दिशा की तरफ भागता है। बड़े जिद्दी होते हैं। जितनी नासमझी, उतनी ही जिद्द। तो बिच्छु तो बिच्छु! उसको छोड़ा तो वह फिर भागा पानी की तरफ। उस मुनि ने फिर उसे उठाया और फिर किनारे पर रखा। फिर उसने दोत्तीन डंक मार दिए।

एक मछुआ राह के किनारे खड़ा है। वह कहने लगा कि महाराज वह आपको डंक मारे जा रहा है, अब छोड़ो भी, मरने भी दो! वह मुनि हंसने लगा। उसने कहा कि वह अपनी आदत नहीं छोड़ता, मैं अपनी आदत छोड़ दूं? देखें कौन जीतता है? बिच्छु है तो यह मान कर ही चलना चाहिए कि वह डंक मारेगा; इसमें कुछ नया तो नहीं कर रहा है। न मारे डंक और अचानक कहे कि धन्यवाद, तो घबड़ाहट होगी, तो भरोसा न आएगा।

जब भी कोई सोए हुए लोगों को जगाने की कोशिश करेगा तो वे डंक मारेंगे, वे नाराज होंगे। उनकी बात मेरी समझ में आती है, मैं उसमें कुछ एतराज भी नहीं करता। मुझे बिलकुल समझ में आता है: सोए हुए को जगाओ तो नाराजगी होती है। यह भी हो सकता है कि तुम से कह कर सोया हो कि सुबह चार बजे उठा देना, मुझे ट्रेन पकड़नी है; लेकिन उसको भी चार बजे उठाओ तो वह भी गुस्सा दिखलाता है। वह भी तुम्हें दुश्मन की

तरह देखता है: कि अरे, कहा था ठीक है, मगर इसका यह मतलब थोड़े ही है कि जगाने ही लगो। अब कह दिया, भूल हो गई; मगर अब पीछे तो न पड़ो।

रुग्ण आदमी को दवा दो तो भी वह पीने में आनाकानी करता है।

बच्चे जैसे हैं लोग, नासमझ हैं। उनकी तरफ से विरोध बिलकुल स्वाभाविक है। अगर इस विरोध का तुम मनोविज्ञान समझो तो बड़े चकित होओगे। वे विरोध इसीलिए कर रहे हैं कि उन्हें बात जंचने लगी है कि बात में कुछ सचाई है। नहीं तो वे विरोध भी नहीं करते। उन्हें डर लगने लगा है कि यह आदमी कहीं जगा ही न दे। उनके विरोध की केवल इतनी ही सार्थकता है कि वे शंकित हो गए हैं कि अगर इस आदमी को सुना, इसकी बात को जरा गौर से सुना, विरोध का धुआं खड़ा न किया, अपनी आंखें विरोध से न भर लीं तो कहीं यह बात समझ में न आ जाए; कहीं यह बात हृदय में न उतर जाए; कहीं यह बीज आत्मा में पड़ न जाए।

तो उनका विरोध सांकेतिक है। वे कह रहे हैं कि अब या तो हमें विरोध करना पड़ेगा या साथ चलना पड़ेगा--अब दो ही उपाय छोड़े हैं। इसलिए सदा उन्होंने विरोध किया है। उनके विरोध की मैं निंदा नहीं कर रहा हूं, मैं उसे स्वीकार करता हूं; वह बिलकुल स्वाभाविक है। वे जिस दिन विरोध न करेंगे उस दिन समझना कि उनका अब बुद्धत्व में कोई रस नहीं रहा। वे बड़े दुर्दिन होंगे, जब बुद्धपुरुष आएगा और लोग बिलकुल विरोध न करेंगे--लोग कहेंगे, मजे से आपको जो कहना है कहो, जो करना है करो; हमारा मनोरंजन होता है, आप बड़े मजे से कहो। लोग ताली बजाएंगे और अपने घर चले जाएंगे; कोई विरोध न करेगा। उस दिन कठिनाई होगी।

ध्यान रखना, विरोध का मतलब ही है, लगाव शुरू हो गया। घृणा प्रेम का रूप है। जो आदमी घृणा करने लगा, अब ज्यादा देर नहीं है, वह प्रेम भी कर सकेगा।

उपेक्षा खतरनाक है। बुद्धपुरुष आएं और लोग उनकी उपेक्षा कर दें; वे राह से निकलें, न कोई विरोध करे, न कोई प्रेम करे; लोग कहें कि ठीक आपकी मर्जी, आपका जैसा दिल आप कहें, जो आपको रहना है आप रहें, हमें कोई एतराज नहीं। जरा सोचो उस स्थिति की बात कि कोई विरोध न करे; कोई पक्ष में नहीं, कोई विपक्ष में नहीं; बुद्ध आएं, कहें और चले जाएं, कोई लकीर ही न छूटे किसी पर--तो दुर्दिन होगा। तो उसका अर्थ हुआ कि अब बुद्धत्व में इतना भी रस नहीं रहा लोगों का। अब कोई विरोध भी नहीं करता।

विरोध तो रागात्मक है।

एक यहूदी हसीद फकीर ने किताब लिखी थी। किताब बड़ी बगावती थी। हसीद बड़े बगावती फकीर हैं। और उसने अपने देश के सबसे बड़े यहूदी धर्मगुरु को वह किताब भेजी; खुद अपनी पत्नी के हाथ भेजी। और उसने कहा कि कुछ फिक्र न करना। जो भी हो, तू उसमें उलझना मत, सिर्फ देखते रहना क्या हो रहा है; सब मुझे आ कर वैसा का वैसा बता देना। वह गई। जैसे ही किताब उसने दी पंडित के हाथ में, उसने किताब उलट कर देखी; देखा कि हसीद फकीर की है। वह तो ऐसा तिलमिला गया कि जैसे हाथ में अंगारा रख दिया हो। उसने तो किताब उठा कर बाहर फेंक दी अपने मकान के। उसने कहा कि मेरे हाथ अपवित्र हो गए, मुझे स्नान करना पड़ेगा। वह तो आग-बबूला हो गया।

उसके पास ही एक दूसरा पुरोहित बैठा था, एक दूसरा धर्मगुरु। उसने कहा कि माना कि वह बगावती है; मगर उसने किताब भेंट भेजी, तुम थोड़ी देर बाद फेंक देते, यह पत्नी को तो चले जाने देते! उसने भेजी तो! उसने तो प्रेम से भेजी, उपहार दिया। इस पत्नी को चले जाने देते, फिर फेंक देते। इतनी जल्दी क्या थी? और तुम्हारे घर में इतनी किताबें हैं, इतनी बड़ी लायब्रेरी है; उसमें यह एक किताब पड़ी भी रहती तो क्या बिगाड़ देती?

पत्नी वापिस लौटी। पति ने पूछा, क्या हुआ? उसने कहा कि प्रधान पुरोहित ने तो किताब एकदम बाहर फेंक दी; वे तो ऐसे नाराज हो गए कि मुझ पर हमला न कर दें। उन्होंने तो ऐसे किया कि जैसे मैंने हाथ में अंगारा रख दिया हो। मगर उनके पास ही एक दूसरे धर्मगुरु बैठे थे। उन्होंने कहा कि नहीं, यह करना उचित नहीं है; पत्नी को चले जाने देते, फिर फेंक देते; या फिर रखी रहती किताब, इतनी किताबें पड़ी हैं! तुम्हारे घर में

विरोधियों की किताबें भी रखी हैं, तो यह तो यहूदी है, माना कि बगावती है। रख लेते, पड़ी रहती लायब्रेरी में, क्या बिगड़ता था?

पति ने कहा: जिसने किताब फेंकी, उसे तो हम किसी न किसी दिन बदल लेंगे, लेकिन दूसरे से हमारा कोई संबंध नहीं बन सकता।

समझे आप मतलब?

जिसने किताब फेंकी, उससे तो रागात्मक संबंध बन गया। वह कम से कम इतना तो राग है उसका, जोश तो आया! उसने कुछ किया तो, तरंग तो उठी। वह जो बैठ कर शांति से कह रहा है, रख लो, डाल दो, किनारे में पड़ी रहेगी लायब्रेरी में, वह उपेक्षा से भरा आदमी है, उससे हम कभी कोई संबंध न बना पाएंगे। इस धर्मगुरु को तो हम बदल लेंगे, लेकिन दूसरे धर्मगुरु से हमारा कोई संबंध न बन पाएगा। मैं दूसरे के लिए दुखी हूं।

पत्नी तो बहुत चौंकी। वह तो सोचती थी, दूसरा भला आदमी है; पहला आदमी बुरा है। लेकिन उसके पति ने कहा कि पहला आदमी तो हमारे चक्कर में आ ही चुका है, दूसरा खतरनाक है। मैं तुमसे कहता हूं कि पहला तो उठा कर किताब पढ़ेगा। जिसने इतने जोश से फेंकी है वह बिना पढ़े नहीं रह सकता, क्योंकि इस जोश को कैसे शांत करेगा? वह तो उत्सुक हो ही गया। मैं उसका पीछा करूंगा; रात सपने में दिखाई पड़ूंगा। मैं उसके सिर के आसपास घूमूंगा। वह सोचेगा, कई बार कि फेंकना था कि नहीं फेंकना था; देख तो लूं, इसमें लिखा क्या है!

जो मेरा विरोध करते हैं, वे निश्चित रूप से मेरी किताब पढ़ते हैं--यह तुम खयाल रखना। उनसे मेरा संबंध बन चुका है। उनसे मेरे हृदय का नाता जुड़ गया है, धीरे-धीरे खींच लूंगा। लेकिन जो विरोध भी नहीं करते, विरोध तक नहीं करते, उनके साथ बड़ा मुश्किल है। उनके हृदय का दरवाजा पाना बहुत मुश्किल है। उनके दरवाजे सब बंद हैं।

और यह बिलकुल स्वाभाविक है। जितनी क्रांति की बात होगी, उतनी ही कठिनाई होती है। लोग परंपरा से जीते हैं। लोग परंपरा में सुविधा और सुरक्षा पाते हैं। बदलाहट साहसियों का काम है, दुस्साहसियों का काम है। उतना साहस जिसमें नहीं होता, वह विरोध न करे तो क्या करे? उसका विरोध तो समझो; वह यह कह रहा है कि इतना साहस मुझ में नहीं है, तो या तो मैं यह स्वीकार करूं कि मैं कायर और कमजोर हूं और या सिद्ध करूं कि यह बात गलत है। तो पहले वह कोशिश करता है सिद्ध करने की कि बात गलत है; जाने योग्य है ही नहीं, इसलिए हम नहीं जाते। नहीं तो उसे साफ हो जाएगा, अगर जाने योग्य है और नहीं जाते, तो फिर हम कायर हैं। अहंकार को फिर चोट लगती है। वह अहंकार की सुरक्षा है विरोध।

लेकिन जब कोई व्यक्ति मुझमें और उसके अहंकार में चुनाव करने लगा, तो एक न एक दिन उसे मुझे चुनना ही होगा, क्योंकि अहंकार सिवाए नर्क के कुछ देता ही नहीं। उस चुनाव को तुम कब तक किए चले जाओगे?

दूसरा प्रश्न: आपने कहा कि उपदेश सबसे लेना चाहिए, लेकिन आदेश अपनी अंतरात्मा से, अपने विवेक से। प्रश्न है कि जब तक विवेक न हो तब तक कैसे पता चले कि जो आवाज अंदर से आ रही है, वह विवेक-जन्य है या मन का ही एक खेल है? कृपया प्रकाश डालें।

स्वाभाविक प्रश्न उठेगा। मैंने कहा, उपदेश सबसे ले लेना, आदेश अपने से लेना। तुम्हारा प्रश्न संगत है। तुम पूछते हो, तय कैसे होगा कि जो हम कर रहे हैं, जो हम मान कर चल रहे हैं, जिस दिशा को हमने चुना, वह हमारी अंतरात्मा का आदेश है या हमारे मन का ही खेल है?

चलो! चलने से ही पता चलेगा। मैं तुमसे यह नहीं कह रहा हूं कि तुम हमेशा सही चल पाओगे। यह मैंने कहा भी नहीं। तुम बहुत बार चूकोगे। लेकिन चूक-चूक कर ही तो पता चलता है कि गलत क्या है और सही क्या है। तुम बहुत बार गिरोगे; गिर-गिर कर ही तो पता चलता है कि कैसे चलना चाहिए ताकि न गिरें।

छोटा बच्चा चलना शुरू करता है। अगर वह कहे कि मुझे बिलकुल ऐसी तरकीब चाहिए, सौ प्रतिशत गारंटी की कि गिरूं न--तो वह कभी चलेगा नहीं, कभी चल ही न पाएगा। फिर वह किसी की गोदी में ही चढ़ा रहेगा। गिरना तो पड़ेगा। और जब मां कहती है, बेफिक्र हो कर तू चल, गिरेगा थोड़े ही--तो वह जानती है कि गिरेगा। लेकिन गिरने के सिवाए चलना सीखने का कोई उपाय नहीं।

तुम साइकिल चलाने के संबंध में किताब पढ़ लो, किताब में सब समझाया हो कि किस तरह संतुलन कायम करना चाहिए, किस तरह पैडल चलाने चाहिए, किस तरह हैंडल पकड़ना चाहिए-- इससे कुछ न होगा। तुम लाख किताब को कंठस्थ करके साइकिल चलाने जाओ, दो-चार बार गिरोगे, हाथ-पैर पर पट्टी बंधेगी, चमड़ी दो-चार बार छिलेगी। मगर उसी गिरने से तुम्हें संतुलन की प्रतीति होगी, क्या है संतुलन। किताब में लिखने से थोड़े ही पता चलता है कि संतुलन क्या है, बैलेंस क्या है? वह तो साइकिल पर चढ़ने से पता चलता है।

अब दो चाक की साइकिल, और सधी रह जाती है, चमत्कार है। गिरना तो बिलकुल नियमानुसार है; नहीं गिरना, चमत्कार है। मगर दो-चार बार गिर कर तुमको खयाल आने लगता है। अब वह खयाल ऐसा है कि कोई दूसरा कितना ही जिंदगी से साइकिल चला रहा हो तो भी तुम्हें दे नहीं सकता। कोई तुम्हें दे नहीं सकता कि यह लो मैं तुम्हें अपनी समझ दिए देता हूं। वह कितना ही समझा दे, फिर भी तुम्हें गिरना पड़ेगा।

तो जब मैंने तुमसे कहा, उपदेश सबसे लेना, तो मैंने कहा जितने साइकिल सवार हों, सबसे पूछ लेना। मगर इससे तुम यह मत समझ लेना कि तुम्हें साइकिल चलाना आ गया। चढ़ना तो तुम्हें ही पड़ेगा। और इससे मैं यह भी नहीं कह रहा हूं कि तुम्हें सौ प्रतिशत गारंटी है कि तुम न गिरोगे। ऐसी गारंटी मैं देता ही नहीं। गारंटी इतनी दे सकता हूं कि जरूर गिरोगे; मगर गिर-गिर कर सीखोगे। कई बार गलत रास्तों पर भटक जाओगे। लेकिन अगर अपने ही कारण भटके तो लौट आओगे, अगर दूसरे के कारण भटके तो कभी न लौट सकोगे। क्योंकि जो आदमी दूसरे के पीछे चल रहा है उसे कभी पता ही नहीं चलता है कि मैं ठीक जा रहा हूं कि गलत जा रहा हूं।

जैसे कि तुम किसी साइकिल सवार के पीछे कैरियर पर बैठे हुए हो, तुम्हें थोड़े ही बैलेंस आएगा! हालांकि तुम भी साइकिल पर सवार हो, लेकिन तुम्हें संतुलन नहीं आएगा। तुम जन्मों-जन्मों तक बैठे रहो दूसरे की साइकिल के पीछे, यात्रा भी होगी, मगर संतुलन नहीं आएगा।

और असली बात संतुलन है।

तो तुम किसी की पीठ के पीछे चल पड़ो...तुम जब किसी के पीछे चलते हो तो तुम इसी भय के कारण तो चलते हो, कहीं हम चलें तो भूल न हो जाए, तो हम जानकार के पीछे चलें! लेकिन हो सकता है कि जानकार भी तुम्हारी जैसी ही बुद्धि का हो, किसी और जानकार के पीछे चल रहा हो और वे भी इसी बुद्धि के हों--और अक्सर इसी बुद्धि के लोग हैं--तो तुम पाओगे कि एक आदमी दूसरे के पीछे चल रहा है, दूसरा तीसरे के पीछे चल रहा है; तीसरा किसी और के, जो कि मर चुके हैं; वे किसी और के पीछे चलते थे जो कि बहुत पहले मर चुके हैं; वे किसी और के पीछे चलते थे, जो कभी हुए ही नहीं। अब चले जा रहे हैं! अब इनको कभी पता नहीं चलेगा कि गलती हो रही है, क्योंकि गलती होने का उपाय नहीं है; यह तो क्यू है, और इसका छोर खोजना मुश्किल है। गलती तो तब पता चले जब क्यू का छोर पता चले।

अब अष्टावक्र की मान कर चलने लगें जनक, जनक की मान कर चलने लगें कोई और, कोई और, पांच हजार साल में अब तो तुम्हें पता लगाना मुश्किल हो जाएगा कि गलती कहां हो रही है। यह तो बड़ा क्यू है। इसमें तो अष्टावक्र गिरें तो भी तुम्हें पता न चलेगा कि वे गिर गए खड्ड में। काम नहीं आई उनकी गीता। वे तड़प

रहे हैं पड़े हुए। उसका भी तुम्हें पता नहीं चलेगा। तुम तो भेड़-चाल से चलते चले जाओगे। जब दस-पांच हजार साल में तुम भी उनके ऊपर गिरोगे, उनकी हड्डियों पर, तब तुम्हें पता चलेगा कि यह तो भूल हो गई है। लेकिन तब बहुत देर हो चुकी होगी।

नहीं, भूल कर किसी के पीछे मत चलना। सुन लेना, जान लेना, समझ लेना; लेकिन उत्तरदायित्व सदा अपना अपने हाथ में रखना। तो उसका लाभ है; कम से कम क्यू तो नहीं है आगे। तुम गिरोगे तो पता तो चलेगा कि मैं गिरा। तुम गिरोगे तो गिरना क्यों हुआ, किस कारण से हुआ--इसका तो पता चलेगा! अगली बार उस तरह का कारण न दोहरे, इसकी समझ तो आएगी। दस-पांच बार गिर कर तुम्हें साइकिल चलाने की कला आ जाएगी। वह कला है, विज्ञान नहीं। विज्ञान होता तो दूसरा दे देता।

कला कोई दे नहीं सकता, कला सीखनी पड़ती है अनुभव से।

तो तुमने मुझसे पूछा है कि "प्रश्न है जब तक विवेक न हो तब तक कैसे पता चले कि जो आवाज अंदर से आ रही है वह विवेक-जन्य है या मन का ही एक खेल है?"

कोई उपाय नहीं है जानने का। अनुभव से ही तुम्हें धीरे-धीरे पता चलेगा। कैसे पता चलेगा? जो मन का खेल है, उससे तुम हमेशा तकलीफ में पड़ोगे--हमेशा तकलीफ में पड़ोगे, दुख आएगा! और जो मन का खेल नहीं है, उससे हमेशा आनंद की स्फुरणा होगी। वही कसौटी है। जो भीतर से आ रही, अंतरात्मा से, उसका फल सदा ही आनंद है, सच्चिदानंद है। जो मन का है जाल, उससे तुम हमेशा दुख पाओगे। दुख से पता चलेगा। करके ही पता चलेगा किससे दुख मिला, किससे सुख मिला। जिससे सुख मिले, वह सत्य की तरफ जा रही है यात्रा; और जिससे दुख मिले, वह असत्य की तरफ जा रही है यात्रा।

तुमने सुना है, पढ़ा है कि नर्क में दुख है। अच्छा हो इसे थोड़ा उल्टा कर लो: दुख में नर्क है। तो जहां-जहां दुख मिले, तुम समझ लेना कि नर्क की तरफ चल रहे हो, गड्ढे में गिर रहे हो। जहां-जहां सुख मिले, तरंग आए समाधि की, लहर उठे, गीत फूटे, खिलें भीतर के इंद्रधनुष, सुवास उठे, संगीत जन्मे--समझना कि चल रहे स्वर्ग की तरफ।

चलते-चलते, गिरते-उठते आदमी सीखता है। एक भूल कभी मत करना--और वह भूल है: बैठे मत रह जाना भूल के डर से। भूल करनी ही होगी। हां, एक ही भूल को दुबारा करने की कोई जरूरत नहीं। तो बोधपूर्वक भूल करना। और एक भूल जब हो जाए और पता चल जाए तो पछताते मत बैठे रहना कि भूल हो गई। उतना अनुभव हुआ। लाभ हुआ। अब आगे ऐसी भूल दुबारा न हो, इसकी गांठ बांध लेना। ऐसे धीरे-धीरे तुम पाओगे, भूल कम होती गईं, कम होती गईं, एक दिन भूल समाप्त हो गई और तुम्हारे जीवन में विवेक का उदय हो गया।

तुमसे मैं यह पूछता हूं--तुमने पूछा है कि "अगर हम दूसरे से उपदेश न लें तो हमें कैसे पक्का पता चलेगा कि क्या ठीक और क्या गलत? क्या मन का खेल और क्या विवेक की आवाज?"--मैं तुमसे पूछता हूं, बिना विवेक के जगे तुम कैसे पक्का करोगे कि किसकी मानें और किसकी न मानें? प्रश्न तो वही का वही है। हजारों लोग हैं, हजारों शास्त्र हैं, हजारों शास्ता हैं, सबके मंतव्य अलग हैं, सबकी दृष्टि अलग है--इसमें तुम किसको चुनोगे? महावीर को चुनोगे कि कृष्ण को चुनोगे? कैसे चुनोगे? क्योंकि महावीर कहते हैं, चींटी भी न मरे, नहीं तो सड़ोगे नरकों में। कृष्ण कहते हैं: फिक्र ही मत कर, सब उसकी लीला है! तू बेधड़क मार। तू मारने वाला कौन? और फिर कभी आत्मा मारी गई है? न हन्यते हन्यमाने शरीरे। यह तो शरीर ही गिरता-उठता है, आत्मा कभी मरती नहीं। तू तलवार से काटेगा, तब भी नहीं कटती। नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि। तू फिक्र ही छोड़, यह तो खेल है!

किसकी मानोगे? कैसे तय करोगे? कौन ठीक इन दो गुरुओं में? तय करने का लोगों ने एक सस्ता रास्ता निकाल लिया है: जिस घर में पैदा हुए। अगर जैन घर में पैदा हुए तो महावीर को मानेंगे। यह भी कोई बात

हुई? सिर्फ घर में पैदा हो जाने से! हिंदू घर में पैदा हुए तो कृष्ण को मान लेंगे! कैसे तय करोगे कौन ठीक है? अंततः तो तुम्हीं को तय करना है।

जब तुम गुरु भी चुनते हो, तब तुम कैसे तय करते हो यह अंतरात्मा से आवाज उठी कि मन की आवाज है? तुम बच नहीं सकते। यह निर्णय तो तुम्हारा ही होगा। तुम अगर मुझे गुरु चुन लो, तो तुम कैसे पक्का करोगे कि इस आदमी की बातचीत में उलझ गए, सम्मोहित हो गए, प्रीतिकर थी बातचीत, तर्कयुक्त थी--इसलिए उलझ गए या कि सच में यह आदमी जाग्रत पुरुष है? कैसे तय करोगे? क्या उपाय है? क्या कसौटी है? तुम्हीं तो तय करोगे न! तो वही प्रश्न वहीं का वहीं खड़ा है।

जब तय तुम्हीं को करना है तो एक बात साफ है कि परमात्मा ने निर्णय की शक्ति प्रत्येक व्यक्ति को दी हुई है और निर्णय किसी दूसरे पर नहीं छोड़ा जा सकता। तुम निर्णायक हो।

सुनो मेरी, समझो मेरी। हृदयपूर्वक समझने की कोशिश करो, समग्रता से समझने की कोशिश करो। लेकिन जब अंतिम निर्णय लोगे, तो निर्णय तो तुम्हीं लोगे कि यह आदमी ठीक कह रहा है कि गलत; इसकी मान कर चलें कि न चलें। तो तुम कुछ भी करो, चाहे किसी के पीछे चलो, चाहे न चलो, चाहे अपने पैर चलो, चाहे किसी के कंधे पर सवार हो कर चलो--निर्णायक तुम ही हो, जिम्मेवारी तुम्हारी है। तुम तो चाहते हो जिम्मेवारी टल जाए। तो कल अगर गड्ढे में गिरो तो तुम मेरी गर्दन पकड़ लो कि देखो, गिराया गड्ढे में, मैं तो आपके पीछे चल रहा था!

इसलिए मैं पहले ही कहे दे रहा हूं: मेरे पीछे चलने से कुछ मतलब नहीं है। गड्ढे में गिरोगे तो तुम गिरोगे। और गड्ढे में गिरोगे तो मैं गड्ढे के किनारे खड़े हो कर हंसूंगा; मैं कहूंगा, मैंने पहले ही कह दिया था। तुम्हारी मर्जी थी, तुम मेरे पीछे चले, फिर भी सुन कर चले। मैंने पहले ही कह दिया था कि अगर गिरोगे तो तुम गिरोगे। तुम मुझसे यह न कह सकोगे कि हम तो आपके पीछे चल रहे थे। आपने ही चुना था। मेरे पीछे चलना भी आपने चुना था। मैंने जबर्दस्ती थोप नहीं दिया था। जबर्दस्ती कौन किस पर थोप देता है? कैसे थोपा जा सकता है?

लेकिन आदमी उत्तरदायित्व से बचता है। आदमी चाहता है, किसी के कंधे पर जिम्मेवारी हो जाए तो कल हम कह तो सकें; अगर अदालत हो कहीं परमात्मा की, तो हम कह सकें हम तो बिलकुल निर्दोष हैं; ये गेरुए वस्त्र इस आदमी ने पहना दिए थे। अब क्या पक्का है तुम्हें कि परमात्मा गेरुए वस्त्र के पक्ष में होगा? कुछ पक्का नहीं है। बुद्ध ने पीले वस्त्र चुन लिए थे; हो सकता है, परमात्मा पीले वस्त्र के पक्ष में हो। पार्श्वनाथ ने सफेद वस्त्र चुन लिए थे; हो सकता है परमात्मा सफेद वस्त्रों के पक्ष में हो। और महावीर नग्न खड़े हो गए थे; हो सकता है परमात्मा न्यूडिस्ट हो। करोगे क्या? यह तो परमात्मा जब आएगा, तभी। उस वक्त तुम यह न कह सकोगे कि हमें तो कुछ पता ही नहीं था; हमें तो इस आदमी ने कह दिया, गैरिक वस्त्र पहन लो, हमने गैरिक वस्त्र पहन लिए।

नहीं, तब तुम्हें जवाब स्वयं ही देना होगा। यह चुनाव भी तुम्हारा चुनाव है। अगर तुमने यह चुना कि मेरे प्रति समर्पित हो जाओ, यह भी तुम्हारा संकल्प है, यह भी तुमने ही चाहा है। इस तरह तुम इस बात को सदा ही याद रखना कि तुम्हीं निर्णायक हो, तुम्हीं उत्तरदायी हो और अंतिम रूप से जो भी फलित होगा, घटित होगा, उसका श्रेय भी तुम्हारा है।

ऐसा मान कर जो व्यक्ति चलता है--वही सत्य का शोधक, खोजी।

खतरे तो हैं ही। जीवन जोखिम है। और जो जितने ज्यादा खतरे उठाता है, उतना ही जानने में समर्थ हो पाता है। जो लोग खतरे नहीं उठाते, वे मिट्टी के लौंदे रह जाते हैं। उनके जीवन में कोई धार नहीं होती। उनके जीवन में कोई त्वरा नहीं होती। कोई चमक नहीं होती। उनके जीवन में प्रतिभा नहीं होती।

तुम जा कर देख सकते हो, ऐसे मिट्टी के लौंदे तुम्हें आश्रमों में बैठे मिलेंगे, मंदिरों में बैठे मिलेंगे--घंटियां बजा रहे, पूजा कर रहे, कोई उपवास कर रहा--मिट्टी के लौंदे हैं! उन आंखों में तुम बिजलियां न पाओगे, और उनके प्राणों में तुम वह ऊर्जा न पाओगे, जो ऊर्जा सत्य को पाने के लिए अत्यंत अनिवार्य है। तुम उन्हें मुर्दा पाओगे। तुम उन्हें लाश की तरह पाओगे।

तो मैं तुमसे यह कहता हूं कि ऐसे तुम मत बन जाना। तुम अपनी निजता को बचाना और अपनी निजता को निखारना। और कितनी ही कठिनाई हो, कभी अपनी निजता को मत खोना। क्योंकि निजता ही तुम्हारी आत्मा है और उसी आत्मा में छिपा है सत्य।

बुद्ध ने अंतिम वचन कहा है आनंद को: "अप्प दीवो भव!" अपना दीया स्वयं बन। आनंद रोने लगा था बुद्ध को जाता देख कर, बुद्ध चले। घबड़ा गया होगा। इन्हीं के पीछे चलता रहा चालीस- ब्यालीस साल। पूरा जीवन दांव पर लगा दिया। इन्हीं की पीठ के सिवाए कुछ देखा नहीं। इन्हीं के पीछे चलता रहा, उठता रहा, बैठता रहा; आज ये चले, तो रोने लगा! स्वाभाविक था रोना। उसने कहा कि मैं तो अभी तक पहुंचा नहीं और आपके जाने की घड़ी आ गई। तो बुद्ध ने कहा: मैंने तुझे कभी कहा ही नहीं कि मैं तुझे पहुंचा दूंगा। अपना दीया खुद बन! और आनंद, शायद मेरे कारण बाधा पड़ती रही हो, तो अब मैं जा रहा हूं; अब वह बाधा भी न रहेगी। अब तेरे सामने कोई पीठ न होगी; अब तेरे सामने खुला आकाश होगा।

और आश्चर्य की घटना है कि आनंद चौबीस घंटे बाद ही ज्ञान को उपलब्ध हुआ। ब्यालीस साल में जो न हो सका, वह चौबीस घंटे में हुआ। यह बात तीर की तरह चुभ गई। यह बात तो उसकी समझ में आ गई कि आज बुद्ध चले, अब मैं अकेला रह गया।

अकेले तो हम सदा से हैं। किसी के पीछे चलो तो भी तुम अकेले हो; भ्रांति भर पैदा होती है कोई साथ है। इस अकेलेपन को तुम पहले से ही याद रखो। बुद्ध ने आनंद से अंत में कहा था; मैं अपने "आनंदों" से प्रथम से कह रहा हूं कि तुम अपने दीये स्वयं बनो। तब कोई जरूरत नहीं कि मेरे जाने के बाद चौबीस घंटे में तुम ज्ञान को उपलब्ध होओ; तुम मेरे रहते चौबीस क्षण में ज्ञान को उपलब्ध हो सकते हो। क्योंकि ज्ञान को उपलब्ध होने का कुल अर्थ इतना ही है कि यह जीवन मेरा है और मैं उत्तरदायी हूं। भूल होगी, चूक होगी तो मैं जिम्मेवार हूं। मैं उत्तरदायित्व पूरा अपने हाथ में लेता हूं। मैं अपनी मालकियत अपने ऊपर घोषणा करता हूं।

इसलिए तो तुम संन्यासियों को मैं स्वामी कहता हूं। स्वामी का अर्थ है: तुम्हारी मालकियत तुम्हारे हाथ में है। यह मैंने घोषणा कर दी कि अब तुम स्वामी हुए। अब तुम्हारा कोई भी स्वामी नहीं है। अब तुम अपने स्वामी हो। यह तुम्हारा स्वामित्व है।

इस घोषणा के साथ ही सत्य की यात्रा शुरू होती है। और इस घोषणा को जिस दिन तुम पूरा-पूरा अनुभव कर लोगे, उस दिन आ गई मंजिल, उस दिन आ गया अपना घर।

सिखलाएगा वह ऋत् एक ही अनल है,
जिंदगी नहीं वहां, जहां नहीं हलचल है।
जिनमें दाहकता नहीं, न तो गर्जन है,
सुख की तरंग का जहां अंध वर्जन है।
जो सत्य राख में सने रुक्ष रूठे हैं,
छोड़ो उनको, वे सही नहीं, झूठे हैं।
जो सत्य राख में सने रुक्ष रूठे हैं।
छोड़ो उनको, वे सही नहीं, झूठे हैं।

जीवंत सत्य तो तुम्हारे भीतर पैदा होगा। बाहर से तुम जो भी ले आए हो, सब कूड़ा-कर्कट है; किसी और से इकट्ठा कर लिया है, सब उधार और बासा और व्यर्थ है। आग लगा दो उस सब में। वे सब सत्य राख में सने हैं।

तुम्हारा सत्य तुम्हारे भीतर पैदा होगा। तुम्हारे सत्य के लिए तुम्हें ही प्रसव-पीड़ा से गुजरना होगा। तुम्हारा सत्य तुम्हारे भीतर जन्मेगा। तुम्हें उस सत्य के लिए गर्भ बनना होगा, और प्रसव-पीड़ा से गुजरना होगा।

खयाल किया तुमने? कोई स्त्री को बच्चा पैदा नहीं होता, वह किसी के बच्चे को गोद ले लेती है। ऐसे मन समझाना हो जाता है।

मैं तुमसे कहता हूं: सत्यों को गोद मत लेना। यह तो बड़ी झूठ हो जाएगी। और हम सबने सत्य गोद ले लिए हैं। कोई हिंदू बना बैठा है, कोई ईसाई, कोई मुसलमान, कोई जैन। हमने सब सत्य उधार ले लिए हैं।

नानक का सत्य है; तुम सिक्ख बने बैठे हो, यह सत्य तुम्हारा नहीं है। नानक ने इसके लिए पीड़ा सही, नानक ने गर्भ धारण किया--इस सत्य को जन्म दिया। तुम मुफ्त लिए बैठे हो। तुमने इसके लिए कुछ भी नहीं किया। न तुम आग में गए, न तुम जले, न तुम भटके, न तुम गिरे--तुम्हें यह मुफ्त मिला।

पीड़ा निखारती है। मुफ्त मिलने से कुछ भी निखार नहीं आता।

गोद मत लेना सत्यों को--जन्माना। और जब तुम जन्माने में समर्थ हो पाओगे, तभी तुम्हारे भीतर वह तरंग उठेगी निजता की, व्यक्तिगत की। तुम अद्वितीय बनोगे। अद्वितीयता धर्म का आखिरी फल है।

और यह भी मैं जानता हूं कि अचानक आज तुम पूरे सत्य को न पा सकोगे। इंच-इंच चलना होगा, घिसटना होगा--और चढ़ाई बड़ी है और पहाड़ ऊंचा है, और सांस घुटेगी, और सब बोझ छोड़ देना होगा; क्योंकि जरा भी बोझ नहीं ले जाया जा सकता। जैसे-जैसे पहाड़ पर कोई चढ़ने लगता है, वैसे-वैसे बोझ कम करना पड़ता है। जब हिलेरी एवरेस्ट पर पहुंचा, उसके पास कुछ भी नहीं था। पानी की बोतल भी थोड़े पीछे उसे छोड़ देनी पड़ी, क्योंकि उतना बोझ ढोना भी मुश्किल हो गया। जितनी ऊंचाई होती है उतना बोझ मुश्किल हो जाता है। सब सामान ले कर आया था, वे धीरे-धीरे सब छूट गए; धीरे-धीरे सब डालता गया, राह के किनारे रखता गया, क्योंकि उनका खींचना मुश्किल होने लगा था। जब पहुंचा तो अकेला था, खाली था।

और जिस गौरीशंकर की चढ़ाई की मैं तुमसे बात कर रहा हूं, वह तो आखिरी ऊंचाई है अस्तित्व की। वह आज न घट जाएगी। इंच-इंच जलना और तपना होगा। धीरे-धीरे तुम छोड़ पाओगे। मगर छोड़ने का खयाल रहे।

बांसों-बांस उछलती लहरें।

देख लिया है चांद सलोना,
लेकिन हाथ रह गया बौना।
रह-रहकर कर मलती लहरें,
बांसों-बांस उछलती लहरें।

शीतलता कैसी बिखरा दी,
पानी में ही आग लगा दी।
बुझती और सुलगती लहरें,
बांसों-बांस उछलती लहरें।

स्वप्न-लोक के यात्रा-पथ पर,
भावुकता ने रचा स्वयंवर,
असफल हो सिर धुनती लहरें,
बांसों-बांस उछलती लहरें।

चांद तो दिखाई पड़ने लगता है उपदेश से, तुम बांसों-बांस उछलने लगते हो। मगर इतने से चांद मिल न जाएगा। उपदेश से चांद नहीं मिलेगा, उपदेश से चांद दिखेगा। मिलेगा तो तुम्हारे अपने जीवन को एक अनुशासन और आदेश देने से।

वह जो मैंने कहा कि तुम उपदेश सब से ले लेना, आदेश स्वयं देना--उसका इतना ही अर्थ है। महावीर, बुद्ध, कृष्ण, क्राइस्ट, नानक, कबीर, उनके पास तुम्हें पहली दफे चांद की स्मृति आएगी कि चांद है। पहली दफे तुम्हारी जमीन में गड़ी आंखें ऊपर उठेंगी और आकाश को देखेंगी। तुम उछलोगे खूब। जीवन बड़ी प्रफुल्लता से भर जाएगा।

सदगुरु के पास होना एक अपूर्व अनुभव है। तो फिर सत्य को पहुंच जाना तो कैसा अपूर्व होगा, सोच लो! सदगुरु के पास होना भी अपूर्व अनुभव है। जिसे सत्य मिला है, उसके पास होना भी अपूर्व अनुभव है।

बांसों-बांस उछलती लहरें,
देख लिया है चांद सलोना,
लेकिन हाथ रह गया बौना।
रह-रहकर कर मलती लहरें,
बांसों-बांस उछलती लहरें!

तुम्हारा हृदय उछलने लगेगा, तरंगें लेने लगेगा: चांद दिखाई पड़ने लगा!

लेकिन उपदेश को ही तुम सब मत समझ लेना--शुरुआत है, प्रारंभ है। चांद तक चलना है, चांद तक पहुंचना है। और तुम अपने ही पैरों से पहुंच पाओगे। कोई किसी और के पैरों से कभी नहीं पहुंचा है। अप्प दीपो भव! अपने दीए बनो!

तीसरा प्रश्न: मैं आंसू का एक झरना हूं,
लेकिन हूं रुंधा हुआ अरसे से।
कैसे चट्टान हटे बुद्धि की,
कैसे मैं फूट कर बह निकलूं?

पूछा है "योग प्रीतम" ने। प्रीतम कवि हैं। और कवि के लिए सदा एक कठिनाई है। और कठिनाई यह है कि कवि का अस्तित्व तो होता है हृदय का, अभिव्यक्ति होती है बुद्धि की। तो कवि के भीतर एक द्वंद्व होता है, एक सतत द्वंद्व है। जो उसे कहना है, वह शब्दों के पार है। और जो उसे कहने का माध्यम है, वे शब्द हैं। जो वह उंडेलना चाहता है, वह हृदय है--और उंडेलना पड़ता है बुद्धि की भाषा में। सब कट-पिट जाता है, सब खंड-खंड हो जाता है, छितर जाता है।

इसलिए कवि सदा पीड़ा में रहता है। कवि कभी तृप्त नहीं हो पाता। और जो कवि तृप्त हो जाए वह बहुत छोटा कवि है; तुकबंद कहना चाहिए, कवि नहीं। जितना बड़ा कवि हो उतनी अतृप्ति होती है। तड़फता है कुछ प्रगट होने को। और जब उसे प्रगट करना चाहो तब मिलते हैं छोटे-छोटे शब्द, जिनमें वह समाता नहीं। बड़ा आकाश है हृदय का और शब्दों के भीतर जगह नहीं है, स्थान नहीं, अवकाश नहीं।

तो कह-कह कर भी कवि कह नहीं पाता। जीवन भर गा-गा कर भी गा नहीं पाता। जिसे गाने आया था वह तो अनगाया ही रह जाता है। जिसके लिए जीवन भर चाहा था कि प्रगट कर दे, वह अप्रगट ही रह जाता है।

तो कवि की दुविधा है। वह दुविधा यह है कि भाव तो प्रगट करना है और बुद्धि से प्रगट करना है। अगर कवि इसमें ही उलझा रहे तो सदा बेचैन और असंतुष्ट रहेगा।

कवि एक साथ दो संसारों में जीता है, तो बड़ा तनाव होता है। पश्चिम में बहुत-से कवि आत्महत्या कर लिए। और बहुत-से कवि पागल हो जाते हैं। और अक्सर कवि शराब पीने लगते हैं। और उसका कुल कारण

इतना है कि उनके भीतर इतनी बेचैनी होती है कि उस बेचैनी को ढालने के लिए सिवाय शराब के, बेचैनी को ढांकने के लिए सिवाय शराब के और कुछ मिलता नहीं। किसी तरह अपने को विस्मरण करना चाहते हैं; वह तनाव भारी है।

कवि तब तक खिंचा रहता है जब तक कि संत न बन जाए। कवि तब तक असंतुष्ट रहता है जब तक संत न बन जाए। संत बनने का अर्थ है कि अब बुद्धि से प्रगट करने की चेष्टा छूटती है; अब प्रगट करने की चेष्टा विचार से छूटती है; और नए ढंग पकड़ता है कवि। जैसे मीरा नाचने लगी, बजाने लगी अपना सितार; कि बाऊल ले लेते इकतारा, ले लेते एक डुग्गी, बजाने लगते डुग्गी और बजाने लगते इकतारा और नाचने लगते। जो बड़े-बड़े कवि नहीं कह पाते, वे बाऊल कह पाते हैं। कि चैतन्य महाप्रभु नाचने लगे। वे जो कहना चाहते थे, वह नाच से ज्यादा आसानी से कहा जा सकता है। शब्द उसके लिए ठीक माध्यम नहीं हैं। तो जब तक कवि रहस्य को अपने समग्र व्यक्तित्व से प्रगट न करने लगे, तब तक अड़चन होती है।

"मैं आंसू का इक झरना हूं"--पूछा है--"लेकिन हूं रुंधा हुआ अरसे से!"

रुंधे हुए हो, इसीलिए आंसू के झरने हो, ऐसा प्रतीत होता है। जैसे ही आंसू प्रगट हुआ, मुस्कान बन जाता है। मुस्कान रुंधी रह जाए, आंसू हो जाती है। रुंधी मुस्कान का नाम ही आंसू है।

इसलिए तो तुम जब कभी रो लेते हो तो हलके हो जाते हो। और अगर तुम दिल भर कर रो लो तो तुम्हारे चेहरे पर एक स्मित आ जाता है, एक प्रसाद आ जाता है, एक आशीष की वर्षा हो जाती है तुम्हारे ऊपर। इसलिए तो रोने में इतना प्रसाद है।

पुरुषों ने खो दिया प्रसाद। स्त्रियों के चेहरे पर थोड़ा प्रसाद शेष रहा है, क्योंकि उन्होंने रोने की क्षमता कभी नहीं खोई। स्त्रियों ने बहुत कुछ खोया, लेकिन एक बहुत बहुमूल्य चीज बचा ली, वह रोने की क्षमता। पुरुषों ने बहुत कुछ बचाया, शक्ति, पद, प्रतिष्ठा। लेकिन कुछ बहुत बहुमूल्य खो दिया, वह रोने की क्षमता खो दी। उनकी आंखें गीली नहीं हो पातीं। और जिसकी आंखें गीली नहीं हो पातीं उसका हृदय धीरे-धीरे पथरीला हो जाता है।

तो मैं तुमसे कहूंगा: प्रीतम, अगर तुम्हें लगता है आंसू का झरना भीतर पड़ा है--

"...रुंधा हुआ अरसे से

कैसे चट्टान हटे बुद्धि की?

कैसे मैं फूट कर बह निकलूं?"

और तुम जो प्रश्न पूछ रहे हो, वह फिर बुद्धि का है--"कैसे?" तुम बुद्धि से ही बुद्धि को न हटा सकोगे। रोओ, दिल भर कर रोओ। कौन रोकता है? पहले संकोच लगेगा, तो एकांत में चले गए, वृक्षों के पास बैठ लिए। वृक्ष तुम्हारा बिलकुल भी अपमान न करेंगे कि रो रहे, अरे स्त्रैण मालूम होते! वृक्ष तुमसे बिलकुल न कहेंगे कि प्रीतम रोओ मत, यह पुरुष जैसा नहीं मालूम पड़ता; अरे बहादुर आदमी, तुम रो रहे? चले जाओ पहाड़ियों में, चले जाओ नदी के तट पर। रोओ! वृक्ष तुम्हें स्वीकार करेंगे। नदियां तुम्हें स्वीकार कर लेंगी! पहाड़ तुम्हें स्वीकार कर लेंगे। दिल भर कर रोओ। रोने के लिए "कैसे" क्या पूछना? रोना शुरू करो।

रोना तो एक कृत्य है। कैसे का कोई सवाल नहीं है। कैसे का तो मतलब यह है कि अब तुम पहले इंतजाम करोगे, विधि-विधान करोगे, अनुष्ठान करोगे, आयोजन करोगे कि कैसे रोएं। तो क्या करोगे? मिर्ची पीस कर आंखों में डालोगे? तो रोना झूठा हो जाएगा।

अभिनेता वैसा करते हैं। अब रामलीला में राम को रोना पड़ रहा है और सीता का उन्हें कोई दर्द है नहीं। सीता है भी नहीं सीता, गांव का कोई लड़का ही बना हुआ है। हो सकता है राम और सीता में झगड़ा भी हो। तो अब क्या करना? तो मिर्च का थोड़ा-सा मसाला बना लेते हैं। उसको हाथ में लगाए रखते हैं। जब रोना पड़ता है राम को तो वे अपनी आंख में लगा लेते, आंसू बहने लगते हैं।

आयोजन करके जो रोना आएगा, वह झूठा हो जाएगा। चेष्टा से जो आंसू आएंगे, वे आंसू न रहे, उनका प्रसाद-गुण खो गया। इतना कुछ है चारों तरफ...इतना दुख है, उसे देखकर रोओ! इतनी पीड़ा है, उसे देखकर रोओ! इतना आनंद है, उसे देखकर रोओ! इतने फूल खिले हैं, उन्हें देखकर रोओ! इतने चांदत्तारे हैं, उन्हें देखकर रोओ! रोने के लिए क्या कमी है? पूरा आयोजन है। और रोओ--ध्यानपूर्वक! डोलो रोने में! नाचो रोने में! बहने दो आंसुओं की धार!

शुरू-शुरू में कठिनाई होगी, क्योंकि बहुत दिन का अवरुद्ध है तो शायद तुम भूल गए होओ। एकांत में जाकर बैठ जाओ और प्रतीक्षा करो। किसी-न-किसी दिन तुम अचानक पाओगे, आंखों से आंसू बहने लगे अकारण।

लोग सोचते हैं, कारण चाहिए। घर में कोई मरेगा तो रोएंगे। मृत्यु रोज घट रही है; तुम्हारे घर में घटेगी, इसके लिए क्या प्रतीक्षा करते हो? जीवन मृत्यु से घिरा है। चले जाओ मरघट पर।

बुद्ध भेज देते थे अपने भिक्षुओं को मरघट पर कि तीन महीने वहीं ध्यान कर लो। कोई लाश आएगी, जलेगी, तुम बैठ कर देखते रहो।

रोना है तो हर जगह सुविधा है। कारण खोजने की कोई विशेष जरूरत ही नहीं; सब जगह कारण मौजूद है। देखते हो, वृक्ष पर पत्ता था, कल तक हरा था, आज पीला हो गया! देखते रहो उस पीले होते पत्ते को--और तुम पाओगे तुम्हारी आंखें डबडबा आईं। और तुम पाओगे वह पत्ता पीला होकर गिरने लगा, वह टूट गया, अब जमीन पर पड़ा है। ऐसे ही सब गिर जाएगा। ऐसे ही तुम गिर जाओगे। ऐसा गिरना ही होने वाला है।

जो फला, सो झरा। यहां जो जन्मा, सो मरा। यहां सब तरफ इन हरे-से-हरे वृक्षों को भी मृत्यु की काली छाया घेर कर खड़ी है।

फिर कोई दुख ही जरूरी नहीं है रोने के लिए; सुख भी! इतनी मृत्यु के घिराव में भी जीवन नष्ट नहीं होता--देखो तो इस अपूर्व चमत्कार को! इतने कांटे हैं, फिर भी फूल खिले चले जाते हैं। मौत रोज-रोज आती है, फिर भी बच्चे जन्मे जाते हैं। परमात्मा थकता नहीं। मौत जीत नहीं पाती। जीवन हारता नहीं, जीवन बढ़ता ही चला जाता है। आये मौत कितनी, जीवन फिर नई तरंगें ले कर उठ आता है। मौत आती रहती है और जीवन बढ़ता जाता है।

इस अहोभाव को देखो, इस आनंद भाव को देखो! इस अपने होने को सोचो। यह होना इतना आश्चर्यजनक है--तुम देख पाते हो, सोच पाते हो, अनुभव कर पाते हो। तुम हो, इतना ही काफी है। यह भाव ही तुम्हें डोला जाएगा।

तो एकांत में बैठो, शिथिल हो जाओ, धारणाएं छोड़ो। देखो आकाश के तारों को, कि बहती नदी की धार को, कि आकाश में उठे हुए वृक्षों को, कि घूमते-भटकते बादलों को। इस जीवन-प्रकृति के चमत्कार से घिर जाओ। और तुम पाओगे आंखों से आंसू बहने लगे।

विधि की नहीं बात करूंगा, क्योंकि तुम पूछते हो "कैसे?" कैसे में तो अड़चन हो जाएगी। कैसे ही से तो रुकावट पड़ गई है।

फूट कर बह निकलने में बुद्धि बाधा नहीं दे रही है। तुम बुद्धि को पकड़े हो, इसलिए बाधा है। इसे भी खयाल में ले लेना। लोग सोचते हैं, बुद्धि बाधा दे रही है। बुद्धि बाधा नहीं दे रही।

चैतन्य महाप्रभु के पास कुछ कम बुद्धि न थी। लेकिन फर्क इतना ही है कि उन्होंने बुद्धि को पकड़ा नहीं। बुद्धि अपनी जगह है, हृदय उसे डुबाता हुआ, सरोबोर करता हुआ बहता रहता है। बुद्धि बाधा नहीं डालती। सच तो यह है, जहां चट्टानें होती हैं। वहां नदी में संगीत आ जाता है।

तुमने देखा, झरना जब चट्टानों से बह कर निकलता है तो झरने में संगीत आ जाता है! चट्टानें न हों तो संगीत खो जाता है। झरना कुछ रिक्त हो जाता है बिना चट्टानों के। झरने में शोर नहीं रह जाता, स्वर नहीं रह जाता। झरना नीरव हो जाता है। झरने की वाणी खो जाती है।

तो मैं तो तुमसे कहता हूं, बुद्धि की फिक्र ही मत करो। बुद्धि को रहने दो पत्थर की तरह, चट्टानों की तरह; बहो बुद्धि के ऊपर से, बहो बुद्धि को घेर कर। और तुम पाओगे कि तुम्हारे हृदय के बहते झरने पर जब बुद्धि की चट्टानों की टक्कर होती है तो उठेगा एक संगीत, उठेगा एक निनाद, एक मरमर! वही काव्य है। वही असली कविता है।

एक तो ऐसी कविता है जो भाव उठता है और उसको तुम चेष्टा करके बुद्धि के शब्दों में ढालते हो--वही तुम्हारी अड़चन है अभी। एक और भी कविता है, जो बहती अनायास, बुद्धि की चट्टानों से टकराती। उस टकराहट से जो रव पैदा होता है, जो लय पैदा होती है, वह जो गुनगुनाहट पैदा हो जाती है--वह एक कविता है। उस कविता में अर्थ कम होगा, लय ज्यादा होगी। उस कविता में व्याकरण कम होगा, संगीत ज्यादा होगा। उस कविता को शायद बुद्धि के ढांचे में समझा ही न जा सके, लेकिन फिर भी हृदय उससे आंदोलित होगा।

आधुनिक काव्य की यही खूबी है। उसने व्याकरण छोड़ी, लयबद्धता पुराने ढंग की, मात्रा, छंद का आयोजन छोड़ा। नई कविता शुद्ध कविता है। पुरानी कविता से उसने बड़ी ऊंचाई ली है। यह बहुत लोगों की समझ में नहीं आती, क्योंकि बहुत लोग सीमा के बाहर को नहीं समझ पाते। बहुत लोग व्याकरण के बाहर को नहीं समझ पाते। बहुत-से लोग परिभाषा के बाहर को नहीं समझ पाते।

ऐसा नए चित्रों में भी हुआ है, नई मूर्तियों में भी हुआ है, नई कविता में भी हुआ है। सारे जगत में एक विस्फोट हुआ है--वह विस्फोट हृदय को बहाने से है। बुद्धि के पत्थर पड़े रहने दो। इससे हानि नहीं है। इससे बुद्धि के इन पत्थरों से थोड़ी समृद्धि ही बढ़ेगी।

और कवि को चाहिए प्रेम, चाहिए प्रार्थना, चाहिए परमात्मा; अन्यथा अड़चन रहेगी। जब तक कविता भजन न बने, तब तक दुविधा रहेगी। और जब तक कविता प्रार्थनापूर्ण न हो जाए, अर्चना न बने, नैवेद्य न बने, तब तक अड़चन रहेगी।

कौन है अंकुश
इसे मैं भी नहीं पहचानता हूं।
पर सरोवर के किनारे
कंठ में जो जल रही है,
उस तृषा, उस वेदना को जानता हूं।
आग है कोई नहीं जो शांत होती
और खुल कर खेलने से निरंतर भागती है।
टूट गिरती हैं उमंगें
बाहुओं का पाश हो जाता शिथिल है,
अप्रतिभ में, फिर उसी दुर्गम जलधि में डूब जाता
फिर वही उद्विग्न चिंतन
फिर वही पृच्छा चिरंतन
रूप की आराधना का मार्ग
आलिंगन नहीं तो और क्या है?
स्नेह का सौंदर्य को उपहार
रस चुंबन नहीं तो और क्या है?
रक्त की उत्तप्त लहरों की परिधि के पार
कोई सत्य हो तो,

चाहता हूं भेद उसका जान लूं
पंथ औ" सौंदर्य की आराधना का
व्योम में यदि,
शून्य की उस रेख को पहचान लूं।
पर जहां तक भी उड़ूं
इस प्रश्न का उत्तर नहीं है।
मृत्तिमहद् आकाश में ठहरें कहां पर
शून्य है सब
और नीचे भी नहीं संतोष।
मिट्टी के हृदय से
दूर होता ही कभी अंबर नहीं है।
इस व्यथा को झेलता
आकाश की निस्सीमता में
घूमता, फिरता, विकल, विभ्रांत
पर कुछ भी न पाता
प्रश्न जो गढ़ता
गगन की शून्यता में गूंज कर सब ओर
मेरे ही श्रवण में लौट आता।
मैं न रुक पाता कहीं
फिर लौट आता हूं पिपासित
शून्य से साकार सुषमा के भुवन में
युद्ध से भागे हुए
उस वेदना-विह्वल युवक-सा
जो कहीं रुकता नहीं
बेचैन जा गिरता अकुंठित
तीर-सा सीधे प्रिया की गोद में।
नींद जल का स्रोत है
छाया सघन है
नींद श्यामल मेघ है
शीतल पवन है।
किंतु जग कर देखता हूं
कामनाएं वर्तिका-सी बल रही हैं
जिस तरह पहले पिपासा से विकल थीं
प्यास से आकुल अभी भी जल रही हैं।
प्राण की चिरसंगिनी यह वह्नि
इसको साथ लेकर
भूमि से आकाश तक चलते रहो
मर्त्य नर का भाग्य
जब तक प्रेम की धारा न मिलती
आप अपनी आग में जलते रहो।
मर्त्य नर का भाग्य
जब तक प्रेम की धारा न मिलती
आप अपनी आग में जलते रहो!
काव्य एक यात्रा का प्रारंभ है, अंत नहीं। काव्य की अंतिम पूर्णाहुति तो प्रेम में है।

कवि का हृदय तो केवल इस बात की सूचना दे रहा है कि प्रेम की बड़ी गहरी संभावना है, जो नहीं घट रहा है। करो प्रेम!

तुम पूछोगे "कैसे" फिर। प्रेम के लिए "कैसे" की कोई भी जरूरत नहीं। शुरू करो; ऐसे ही जैसे कोई तैरना शुरू करता है, अनगढ़ हाथ फेंकता है। कोई भी तो यहां जन्म से ही सीखा हुआ नहीं आता। सभी को हाथ इरछे-तिरछे फेंकने पड़ते हैं। फिर धीरे-धीरे तैरने की कुशलता आ जाती है।

करो प्रेम! वृक्षों से करो, पशु-पक्षियों से करो, मित्रों से करो, प्रियजनों से करो। जहां मौका मिले प्रेम का, चूको मत।

हम बड़े अजीब हैं! हम प्रेम के संबंध में बड़े कृपण हैं। प्रेम में हम ऐसे कंजूस हैं कि जिनसे हम कहते हैं, हमारा प्रेम है, उनसे भी हम बामुश्किल से प्रेम का संबंध बनाते हैं; जैसे कि कुछ लुटा जा रहा है; जैसे कि प्रेम क्या कर लेंगे, तो कुछ खो जाएगा; जैसे कि प्रेम क्या दे देंगे किसी को तो कुछ मिट जाएगा भीतर; जैसे कि कुछ कम हो जाएगा। प्रेम ऐसी संपदा नहीं है। यह तिजोड़ी नहीं है आदमियों की, कि तुमने अगर दस रुपए किसी को दे दिए तो दस रुपए कम हो गए। यह कुछ मामला ही और है। यह तो ऐसे है जैसे कुएं से कोई पानी भर ले। तुम भर लो पुराना पानी, नया ताजा झरना कुएं में फूटा चला आ रहा है। पुराने को हटाओ, नया मिलता है। सड़े को हटाओ, गले को हटाओ--ताजा मिलता है। जैसे कुएं से पानी को भरते रहो तो कुआं जीवंत रहता है, झरने जागे रहते हैं, नई-नई धारें फूटती रहती हैं; सागर, दूर का सागर, कुएं को भरता रहता, भरता रहता। बीच की मिट्टी छानती है। सागर के पानी को सीधे नहीं पीया जा सकता। पीयोगे तो मर जाओगे। लेकिन बीच की मिट्टी सागर के पानी को छान लेती है, छान देती है। और कुएं में पानी भागा चला आ रहा है। अगर तुम भरोगे न पानी, बांटोगे नहीं पानी, तुम कहोगे मेरा कुआं खाली हो जाएगा--तो तुम्हारा कुआं सड़ेगा, मरेगा। धीरे-धीरे झरने बहेंगे नहीं, तो सूख जाएंगे।

अब तुम पूछते हो कि झरनों को कैसे खोलें, मैं अवरुद्ध पड़ा हूं एक अरसे से, रुंधा पड़ा हूं, कैसे खोलूं इस झरने को? मैं कहता हूं: बांटो प्रेम! निमंत्रण दो लोगों को! जहां मौका मिल जाए-- परिचित से, अपरिचित से; अपने से, पराए से; पहचान वाले से, अजनबी से! प्रेम में कुछ भी तो तुम्हारा खर्च नहीं होता है। दो! जरूरी नहीं कि तुम कुछ दो ही...।

टालस्टॉय ने अपने संस्मरणों में लिखा है कि मैं एक दिन जा रहा था एक राह के किनारे से, एक भिखमंगे ने हाथ फैला दिया। सुबह थी, अभी सूरज ऊगा था और टालस्टॉय बड़ी प्रसन्न मुद्रा में था, इंकार न कर सका। अभी-अभी चर्च से प्रार्थना करके भी लौट रहा था, तो वह हाथ उसे परमात्मा का ही हाथ मालूम पड़ा। उसने अपने खीसे टटोले, कुछ भी नहीं था। दूसरे खीसे में देखा, वहां भी कुछ नहीं था। वह जरा बेचैन होने लगा। उस भिखारी ने कहा कि नहीं, बेचैन न हों; आपने देना चाहा, इतना ही क्या कम है! टालस्टॉय ने उसका हाथ अपने हाथ में ले लिया। और टालस्टॉय कहता है, मेरी आंखें आंसुओं से भर गईं। मैंने उसे कुछ भी न दिया, उसने मुझे इतना दे दिया। उसने कहा कि आप बेचैन न हों! आपने टटोला, देना चाहा--इतना क्या कम है? बहुत दे दिया!

न दे कर भी देना हो सकता है। और कभी-कभी दे कर भी देना नहीं होता। अगर बेमन से दिया तो देना नहीं हो पाता। अगर मन से देना चाहा, न भी दे पाए, तो भी देना घट जाता है--ऐसा जीवन का रहस्य है।

बांटते चलो! धीरे-धीरे तुम पाओगे, जैसे-जैसे तुम बांटने लगे ऊर्जा, वैसे-वैसे तुम्हारे भीतर से कहीं परमात्मा का सागर तुम्हें भरता जाता। नई-नई ऊर्जा आती, नई तरंगें आतीं। और एक दफा यह तुम्हें गणित समझ में आ जाए...यह जीवन का अर्थशास्त्र नहीं है, यह परमात्मा का अर्थशास्त्र है, यह बिलकुल अलग है। जीवन का अर्थशास्त्र तो यह है कि जो है, अगर नहीं बचाया तो लुटे। इसको तो बचाना, नहीं तो भीख मांगोगे!

मैंने सुना, एक भिखमंगा मुल्ला नसरुद्दीन के द्वार पर भीख मांग रहा था। मुल्ला ने उसे खूब दिल खोल कर दिया। खिलाया, पिलाया, वस्त्र पहनाए, जाने लगा तो दस का नोट भी दिया। फिर मुल्ला ने उससे पूछा कि तुम आदमी तो भले मालूम पड़ते हो, तुम्हारे चेहरे से संस्कार मालूम पड़ता है। तुम्हारे वस्त्र भी यद्यपि दीन, मलिन हैं, फटे-पुराने हैं, लेकिन कीमती मालूम होते हैं। यह दशा तुम्हारी कैसे हुई?

वह कहने लगा, जैसे आप कर रहे हैं, ऐसे ही मैं करता था। जल्दी आपकी भी यही दशा हो जाएगी। दे-दे कर यह दशा हुई। बांटता रहा, उसी में लुट गया।

तो एक तो इस बाहर के जगत का अर्थशास्त्र है: यहां छीनो तो मिलेगा; यहां दो तो खो जाएगा। एक भीतर का अर्थशास्त्र है, कबीर ने कहा: दोनों हाथ उलीचिए! उलीचते रहो तो नया आता रहेगा। बांटते रहो तो मिलता रहेगा। जो बचाया वह गया; जो दिया वह बचा। जो तुमने बांट दिया और दे दिया, वही तुम्हारा है अंतर के जगत में।

तो दो काम करो: प्रेम बांटो और आंसुओं को आने दो।

और दोनों साथ-साथ हो जाएंगे, क्योंकि दोनों एक ही घटना के हिस्से हैं। जितना हृदय में प्रेम बंटने लगता है, उतनी आंखें गीली होने लगती हैं, नम होने लगती हैं।

प्राण की चिरसंगिनी यह वह्नि
इसको साथ ले कर,
भूमि से आकाश तक चलते रहो
मर्त्य नर का भाग्य
जब तक प्रेम की धारा न मिलती
आप अपनी आग में जलते रहो।

यह जो आज जलन है, यही कल फूल की तरह खिलेगी। यह आज जो अग्नि है, यही कल तुम्हारे भीतर कमल बनेगी। मगर बांटो! प्रेम सूत्र है। और प्रेम के जगत में "कैसे" का कोई संबंध नहीं! बेशर्त बांटो। यह भी मत कहना "किसको"! यह तो कंजूस पूछता है। पात्र-अपात्र, यह भी कंजूस पूछता है। हम कौन हैं तय करें--कौन पात्र, कौन अपात्र? जो मिल जाए, दे दो।

और जो तुमसे तुम्हारे प्रेम को ले ले, उसका धन्यवाद मानना, आभार मानना; इंकार भी कर सकता था। उसने इंकार न किया, तुम धन्यभागी हो। उसने तुम्हें अपने को लुटाने का थोड़ा मौका दिया, क्योंकि उस लुटाने से ही तुम और भरोगे, उसे धन्यवाद देना!

प्रेम जीवन में आए तो धीरे-धीरे प्रार्थना भी आ जाती है। और जब तक काव्य की क्षमता भजन न बने, जब तक काव्य प्रार्थना न बने, तब तक कवि को बड़ी बेचैनी रहेगी।

तुम्हारा काव्य जब उपनिषद बन जाए, तो कवि मर जाता है और ऋषि का जन्म होता है। ऋषि और कवि दोनों शब्दों का एक ही अर्थ है। फर्क इतना ही है कि कवि चेष्टा करके हृदय के भावों को शब्दों में ढालता है; और ऋषि निश्चेष्टा से, सहजता से, सहज स्फुरणा से, भाव को बहने देता है मस्तिष्क की चट्टानों पर से। उससे जो रव पैदा होता है, जो संगीत पैदा होता है--वही उसका काव्य है। और वही उसका नैवेद्य है प्रभु के चरणों में।

आखिरी प्रश्न:

मेरे माजी के तल्ख अंधेरों में,
बता "रजनीश" क्या देखा तूने?
गर्दिश-ए-अय्याम में था उलझा,
या बाहर उलझनों से आते देखा?

(मेरे अतीत के गहरे अंधेरे में क्या देखा? क्या मैं भाग्य-चक्र में उलझा था या भाग्य- चक्र के बाहर आ रहा था।)

दिनेश ने पूछा है।

उलझे तो अभी भी हो। और भाग्य- चक्र में आदमी उलझा ही रहता है जब तक पूरा न जाग जाए। भाग्य-चक्र का अर्थ ही इतना होता है कि हम बेहोशी से चले जा रहे हैं। भाग्य होता ही बेहोश आदमी का है। होश से भरे आदमी का कोई भाग्य नहीं होता। बेहोश आदमी के संबंध में ज्योतिषी भविष्यवाणी कर सकते हैं। होश वाले आदमी के संबंध में कोई ज्योतिषी कोई भविष्यवाणी नहीं कर सकता। क्योंकि होश से भरा हुआ आदमी क्या करेगा, इसका कोई निर्णय अतीत के हाथों में नहीं है। बेहोश आदमी क्या करेगा, यह सब अतीत पर निर्भर है।

अगर तुम्हारा अतीत बता दिया जाए, पता हो, तो तुम्हारे भविष्य की भी घोषणा की जा सकती है। तुमने कल भी क्रोध किया था, परसों भी क्रोध किया था, और भी पीछे क्रोध किया था--तुम कल भी क्रोध करोगे, इसमें कुछ अड़चन नहीं है। क्योंकि तुम वही करोगे जो तुम करते रहे हो। तुम आदत से चलते हो, यंत्रवत हो। भाग्य यानी यंत्रवत जीवन।

जैसे-जैसे होश जगता है, ध्यान जगता है, आदमी भाग्य के बाहर होने लगता है। फिर तुम अतीत से संचालित नहीं होते। फिर प्रतिक्षण जो घटता है, उसके साथ तुम्हारा संवाद होता है। वह संवाद सीधा है। वह पुरानी आदत के कारण नहीं। उसका कोई निर्धारण तुम्हारे पीछे के अनुभवों से नहीं होता। इस क्षण की मौजूदगी और इस क्षण की उपस्थिति और इस क्षण का बोध ही उसका निर्णायक होता है।

लेकिन "दिनेश" के जीवन में चेष्टा तो है बाहर आने की--और वही शुभ है। चेष्टा है तो बाहर आना भी हो जाएगा।

मुझे इसकी चिंता नहीं है कि तुमने क्या किया। तुमने पाप किए, तुमने बुरे कर्म किए--मुझे उसकी कोई चिंता नहीं, या कि तुमने पुण्य किए। न तो मेरे लिए पुण्य का कोई मूल्य है और न पाप का कोई मूल्य है; क्योंकि पुण्य भी तुमने सोए-सोए किए, पाप भी तुमने सोए-सोए किए। तुम चोर थे तो सोए थे, तुम संत थे तो सोए थे। मेरे लिए तो एक ही बात का मूल्य है कि अब तुम्हारे मन में जागने की आकांक्षा पैदा हुई। उस आकांक्षा पर सब निर्भर है। वही आकांक्षा जीवन की सबसे बड़ी घटना है।

मैं कि बरबादे-निगाराने-दिलाआरा ही सही,

मैं कि रुसवा-ए-मय-ओ-सागरो-मीना ही सही,

मैं कि मक्तूले-गुलो-नरगिसे-सहला ही सही,

फिर भी मैं खाके-रहे-साहिदे-नजरा हूं दोस्त।

मैं कि बरबादे-निगाराने-दिलाआरा ही सही।

--हृदय आकर्षक सुंदरियों द्वारा बरबाद, मान लिया यही सही है।

मैं कि रुसवा-ए-मय-ओ-सागरो-मीना ही सही

--या कि शराब के प्याले और सुराही के द्वारा अपमानित, मान लिया, तो वह भी ठीक।

मैं कि मक्तूले-गुलो-नरगिसे-सहला ही सही

--और या कि फूलों, नरगिस के फूल, ऐसी आंखों वाली सुंदरियों द्वारा मारा हुआ! ठीक, वह भी ठीक, वह भी स्वीकार कर लिया।

फिर भी मैं खाके-रहे-साहिदे-नजरा हूं दोस्त।

--फिर भी मैं पारखियों के मार्ग की धूल हूं। बस, वही बात मूल्यवान है।

"दिनेश" के भीतर पारखी का जन्म हो रहा है। आकांक्षा पैदा हो रही है--आकांक्षा के पार जाने की। पूरब के क्षितिज पर सूरज की पहली किरणों की लाली प्रगट होने लगी।

नहीं, तुम्हारे अतीत से, तुम्हारे माजी से मुझे कुछ लेना-देना नहीं।

तुमने सपने देखे हैं अब तक, अब जागने की पहली झलक आ रही है। नींद टूटने के करीब है--वही मूल्यवान है। तुम सम्राट थे कि दरिद्र, तुम साधु थे कि असाधु, कि तुमने अब तक पुण्यों का अंबार लगा लिया था कि पापों के संग्रह कर लिए थे--सब बात व्यर्थ है। वह सब तुमने नींद-नींद में किया था, वे सब सपने थे। अब सपना टूटने की घड़ी करीब आ रही है। ध्यान के प्रति प्रेम पैदा हुआ है, वही बात महत्वपूर्ण है।

और "दिनेश" की तैयारी है मिटने की--वही बात महत्वपूर्ण है। जो मिटने को तैयार है, वह अतीत से मुक्त हो जाएगा। क्योंकि तुम हो ही अतीत का संग्रह।

हम जो निरंतर कहते हैं यहां कि अहंकार छोड़ दो, तो उसका मतलब सिर्फ इतना ही होता है कि तुम अब तक जो अतीत ने तुम्हें बनाया है उसे विस्मृत करो, उससे अपने को विच्छिन्न कर लो, ताकि ताजे के लिए घटने के लिए जगह बन सके।

बावरे, अहेरी रे! कुछ भी अवध्य नहीं तुझे,
सब आखेट है।
एक बस मेरे मन-विवर में, दुबकी कलोंच को,
दुबकी ही छोड़ कर, क्या तू चला जाएगा?
ले मैं खोल देता हूं कपाट सारे
मेरे इस खंडहर की,
शिरा-शिरा छेद दे
आलोक की अनि से अपनी।
गढ़ सारा ढाह कर ढूह भर कर दे,
विफल दिनों की तू, कलोंच पर मान जा
मेरी आंखें आंज जा
कि तुझे देखूं
देखूं और मन में, कृतज्ञता उमड़ आए
पहनूं सिरोपे से, ये कनक तार तेरे
बावरे, अहेरी!

"दिनेश" की प्रार्थना मुझे सुनाई पड़ रही है:

ले मैं खोल देता हूं कपाट सारे,
मेरे इस खंडहर की
शिरा-शिरा छेद दे
आलोक की अनि से अपनी!

और वही शुभ घड़ी है, वही भाग्योदय है, जब तुम किसी के पास जा कर कह सको, मिटा दो मुझे।

गढ़ सारा ढाह कर, ढूह भर कर दे
विफल दिनों की तू, कलोंच पर मान जा
मेरी आंखें आंज जा!

ध्यान यानी आंखों का आंजना है। ध्यान यानी आंखों को ताजा करना है, नया करना है, अतीत की धूल झाड़ना है!

"मेरे माजी के तल्ख अंधेरों में
बता "रजनीश" क्या देखा तूने?"

नहीं, तुम्हारे अतीत की मैं चिंता ही नहीं करता। जो गया, गया। जो बीता सो बीता।

"गर्दिश-ए-अय्याम में था उलझा

या बाहर उलझनों से आते देखा?"

नहीं, अभी आए नहीं बाहर। लेकिन बाहर आने की पहली आकांक्षा उठी। और पहली आकांक्षा का उठ आना आधी यात्रा का पूरा हो जाना है।

ले मैं खोल देता हूं कपाट सारे,

मेरे इस खंडहर की,

शिरा-शिरा छेद दे

आलोक की अनि से अपनी।

इधर मैं प्रकाश लिए बैठा हूं, तुम अगर तैयार हो हृदय को खोल देने को, तो मृत्यु घटेगी और तुम्हारा नया जन्म भी होगा। सूली भी लगेगी और तुम्हारा पुनर्जन्म भी होगा।

पर मिटने की तैयारी चाहिए, पूरी-पूरी मिटने की तैयारी चाहिए! वही संन्यास है: अतीत से अपने को विच्छिन्न कर लेना; अतीत की भूमि से अपनी जड़ों को बिलकुल उखाड़ लेना। नई भूमि की तलाश है संन्यास। जैसे अब तक जो था व्यर्थ था; जो हुआ हुआ; नहीं हुआ नहीं हुआ; अब हम उससे सब संबंध छोड़ लेते हैं; अब आगे उसका कोई हिसाब न रखेंगे; और अब पीछे लौट-लौट कर न देखेंगे।

गढ़ सारा ढाह कर, ढूह भर कर दे

विफल दिनों की तू, कलोंच पर मान जा

मेरी आंखें आंज जा।

मैं तैयार हूं! अगर तुम तैयार हो, तो मैं तैयार हूं तुम्हारी आंखें आंजने को। थोड़ी तकलीफ भी होती है जब आंखें आंजी जाती हैं। आंसू भी बहते हैं, आंख बंद कर लेने का भी मन होता है। वह सब स्वाभाविक है। लेकिन अगर साहस हो तो परमात्मा सुनिश्चित घट सकता है।

मेरी तैयारी है; अगर तुम भी तैयार हो तो कोई रुकावट रुकावट नहीं बन सकती। छोड़ो पीछे को, आगे की सुधि लो।

हरि ॐ तत्सत्!

इक्कीसवां प्रवचन

ज्ञान मुक्ति है

अष्टावक्र उवाच।

न ते संगोऽस्ति केनापि किं शुद्धस्त्यक्तुमिच्छसि।
संघातविलयं कुर्व्वन्नेमेव लयं व्रज।। ६६।।
उदेति भवतो विश्वं वारिधेरिव बुदबुदः।
इति ज्ञात्वैकमात्मानमेवमेव लयं व्रज।। ६७।।
प्रत्यक्षमप्यवस्तुत्वद्विश्वं नास्त्यमले त्वयि।
रज्जुसर्प इव व्यकृमेवमेव लयं व्रज।। ६८।।
समदुःख सुखः पूर्ण आशानैराश्ययोः समः।
समजीवित मृत्युः सन्नैवमेव लयं व्रज।। ६९।।

जनक उवाच।

आकाशवदनंतोऽहं घटवत् प्राकृतं जगत्।
इति ज्ञानं तथैतस्य न त्यागो न ग्रहो लयः।। ७०।।
महौदधिरिवाहं स प्रपंचो वीचिसन्निभिः।
इति ज्ञानं तथैतस्य न त्यागो न ग्रहो लयः।। ७१।।
अहं स शुक्तिसंकाशो रूप्पवद्विश्वकल्पना।
इति ज्ञानं तथैतस्य न त्यागो न ग्रहो लयः।। ७२।।
अहं वा सर्वभूतेषु सर्वभूतान्ययो मयि।
इति ज्ञानं तथैतस्य न त्यागो न ग्रहो लयः।। ७३।।

संसार छूटता है तो जरूरी नहीं कि अज्ञान की पकड़ छूट जाए। भोग छूटता है तो जरूरी नहीं कि भोग के आंतरिक कारण विनष्ट हो जाएं। आंतरिक कारण तो फिर भी मौजूद रहेंगे। तुम धन छोड़ दो; वह जो पकड़ने की आकांक्षा थी, वह त्याग को पकड़ लेगी। तुम घर छोड़ दो; वह जो पकड़ने की आकांक्षा थी, आश्रम को पकड़ लेगी। तुम बाजार छोड़ दो; वह जो पकड़ने की पुरानी वृत्ति थी, वह एकांत पकड़ लेगी। और पकड़ पकड़ की है...पकड़ छोड़नी है।

इसलिए जो व्यक्ति भोग से जागता है, उसके लिए तत्क्षण एक दूसरा खतरा पैदा होता है। वह खतरा भोगी को कभी नहीं है। वह खतरा केवल उसको है जो भोग से जागता है। वह खतरा है--त्याग में उलझ जाने का।

अगर पुरानी आदत बनी ही रही और परिवर्तन बाहरी हुआ, भीतर क्रांति न घटी, तो तुम त्याग में उलझ जाओगे। संसारी से संन्यासी हो जाओगे। धन छोड़ दोगे, परिवार, घर-द्वार छोड़ दोगे; लेकिन भीतर तुम्हारे जो जाल थे पकड़ने के, वे मौजूद रहेंगे। तुम कुछ और पकड़ लोगे। एक लंगोटी काफी है; कोई साम्राज्य नहीं चाहिए पकड़ने को। नंगापन भी आदमी पकड़ ले सकता है। त्याग भी आदमी पकड़ ले सकता है।

पुरानी सूफियों की एक कथा है। एक सम्राट जब छोटा बच्चा था, स्कूल में पढ़ता था, तो उसकी एक युवक से बड़ी मैत्री थी। फिर जीवन के रास्ते अलग-अलग हुए। सम्राट का बेटा तो सम्राट हो गया। वह जो उसका मित्र था, वह त्यागी हो गया, वह फकीर हो गया। उसकी दूर-दिगंत तक प्रशंसा फैल गई--फकीर की। यात्री दूर-दूर से

उसके चरणों में आने लगे। खोजी उसका सत्संग करने आने लगे। जैसे-जैसे खोजियों की भीड़ बढ़ती गई, उसका त्याग भी बढ़ता गया। अंततः उसने वस्त्र भी छोड़ दिए, वह दिगंबर हो गया। फिर तो वह सूर्य की भांति चमकने लगा। और त्यागियों को उसने पीछे छोड़ दिया।

लेकिन सम्राट को सदा मन में यह होता था कि मैं उसे भलीभांति जानता हूं, वह बड़ा अहंकारी था स्कूल के दिनों में, कालेज के दिनों में--अचानक इतना महात्याग उसमें फलित हो गया! इस पर भरोसा सम्राट को न आता था। फिर यह जिज्ञासा उसकी बढ़ती गई। अंततः उसने अपने मित्र को निमंत्रण भेजा कि अब तुम महात्यागी हो गए हो, राजधानी आओ, मुझे भी सेवा का अवसर दो। मेरे प्रजाजनों को भी बोध दो, जगाओ!

निमंत्रण स्वीकार हुआ। वह फकीर राजधानी की तरफ आया। सम्राट ने उसके स्वागत के लिए बड़ा आयोजन किया। पुराना मित्र था। फिर इतना ख्यातिलब्ध, इतनी प्रशंसा को प्राप्त, इतना गौरवान्वित! तो उसने कुछ छोड़ा नहीं, सारी राजधानी को सजाया--फूलों से, दीपों से! रास्ते पर सुंदर कालीन बिछाए, बहुमूल्य कालीन बिछाए। जहां से उसका प्रवेश होना था, वहां से राजमहल तक दीवाली की स्थिति खड़ी कर दी।

फकीर आया, लेकिन सम्राट हैरान हुआ...वह नगर के द्वार पर उसकी प्रतीक्षा करता था अपने पूरे दरबारियों को लेकर, लेकिन चकित हुआ: वर्षा के दिन न थे, राहें सूखी पड़ी थीं, लोग पानी के लिए तड़फ रहे थे और फकीर घुटनों तक कीचड़ से भरा था। वह भरोसा न कर सका कि इतनी कीचड़ राह में कहां मिल गई, और घुटने तक कीचड़ से भरा हुआ है! पर सबके सामने कुछ कहना ठीक न था। दोनों राजमहल पहुंचे। जब दोनों एकांत में पहुंचे तो सम्राट ने पूछा कि मुझे कहें, यह अड़चन कहां आई? आपके पैर कीचड़ से भरे हैं!

उसने कहा, अड़चन का कोई सवाल नहीं। जब मैं आ रहा था तो लोगों ने मुझसे कहा कि तुम्हें पता है, तुम्हारा मित्र, सम्राट, अपना वैभव दिखाने के लिए राजधानी को सजा रहा है? वह तुम्हें झेंपाना चाहता है। तुम्हें कहना चाहता है, "तुमने क्या पाया? नंगे फकीर हो! देखो मुझे!" उसने रास्ते पर बहुमूल्य कालीन बिछाए, लाखों रुपये खर्च किए गए हैं। राजधानी दुल्हन की तरह सजी है। वह तुम्हें दिखाना चाहता है। वह तुम्हें फीका करना चाहता है।...तो मैंने कहा कि देख लिए ऐसा फीका करने वाले! अगर वह बहुमूल्य कालीन बिछा सकता है, तो मैं फकीर हूं, मैं कीचड़ भरे पैरों से उन कालीनों पर चल सकता हूं। मैं दो कौड़ी का मूल्य नहीं मानता!

जब उसने ये बातें कहीं तो सम्राट ने कहा, अब मैं निश्चिंत हुआ। मेरी जिज्ञासा शांत हुई। आपने मुझे तृप्त कर दिया। यही मेरी जिज्ञासा थी।

फकीर ने पूछा, क्या जिज्ञासा थी?

"यही जिज्ञासा थी कि आपको मैं सदा से जानता हूं। स्कूल में, कालेज में आपसे ज्यादा अहंकारी कोई भी न था। आप इतनी विनम्रता को उपलब्ध हो गए, यही मुझे संदेह होता था। अब मुझे कोई चिंता नहीं। आओ हम गले मिलें, हम एक ही जैसे हैं। तुम मुझ ही जैसे हो। कुछ फर्क नहीं हुआ है। मैंने एक तरह से अपने अहंकार को भरने की चेष्टा की है--सम्राट हो कर; तुम दूसरी तरह से उसी अहंकार को भरने की चेष्टा कर रहे हो। हमारी दिशाएं अलग हों, हमारे लक्ष्य अलग नहीं। और मैं तुमसे इतना कहना चाहता हूं, मुझे तो पता है कि मैं अहंकारी हूं, तुम्हें पता ही नहीं कि तुम अहंकारी हो। तो मैं तो किसी न किसी दिन इस अहंकार से ऊब ही जाऊंगा, तुम कैसे ऊबोगे? तुम पर मुझे बड़ी दया आती है। तुमने तो अहंकार को खूब सजा लिया। तुमने तो उसे त्याग के वस्त्र पहना दिए।"

जो व्यक्ति संसार से ऊबता है, उसके लिए त्याग का खतरा है।

दुनिया में दो तरह के संसारी हैं--एक, जो दुकानों में बैठे हैं; और एक, जो मंदिरों में बैठे हैं। दुनिया में दो तरह के संसारी हैं--एक, जो धन इकट्ठा कर रहे हैं; एक जिन्होंने धन पर लात मार दी है। दुनिया में दो तरह के दुनियादार हैं--एक जो बाहर की चीजों से अपने को भर रहे हैं; और दूसरे, जो सोचते हैं कि बाहर की चीजों को छोड़ने से अपने को भर लेंगे। दोनों की भ्रांति एक ही है। न तो बाहर की चीजों से कभी कोई अपने को भर

सकता है और न बाहर की चीजों को छोड़ कर अपने को भर सकता है। भराव का कोई भी संबंध बाहर से नहीं है।

अष्टावक्र ने पहले तो परीक्षा ली जनक की। आज के सूत्रों में परीक्षा नहीं लेते, प्रलोभन देते हैं। वह प्रलोभन, जो हर त्यागी के लिए खड़ा होता है; वह प्रलोभन, जो भोग से भागते हुए आदमी के लिए खड?ा होता है। आज वे फुसलाते हैं जनक को कि तू त्यागी हो जा। अब तुझे ज्ञान हो गया, अब तू त्याग को उपलब्ध हो जा। अब छोड़ सब! अब उठ इस मायामोह के ऊपर!

ये जो सूक्ष्म प्रलोभन अष्टावक्र देते हैं जनक को, यह पहली परीक्षा से भी कठिनतर परीक्षा है। लेकिन यह प्रत्येक भोग से हटने वाले आदमी के जीवन में आता है; इसलिए बिलकुल ठीक अष्टावक्र करते हैं। ठीक ही है यह प्रलोभन का देना।

और जब तक कोई त्याग से भी मुक्त न हो जाए तब तक कोई मुक्त नहीं होता। भोग से तो मुक्त होना ही है, त्याग से भी मुक्त होना है। संसार से तो मुक्त होना ही है। मोक्ष से भी मुक्त होना है। तभी परम मुक्ति फलित होती है।

परम मुक्ति का अर्थ ही यही है कि अब कोई चीज की आकांक्षा न रही। त्याग में तो आकांक्षा है। तुम त्याग करते हो तो किसी कारण करते हो। और जहां कारण है, वहां कैसा त्याग? फिर भोग और त्याग में फर्क क्या रहा? दोनों का गणित तो एक हो गया।

एक आदमी भोग में पड़ा है, धन इकट्ठा करता, सुंदर स्त्री की तलाश करता, सुंदर पुरुष को खोजता, बड़ा मकान बनाता--तुम पूछो उससे, क्यों बना रहा है? वह कहता है, इससे सुख मिलेगा। एक आदमी सुंदर मकान छोड़ देता, पत्नी को छोड़ कर चला जाता, घर-द्वार से अलग हो जाता, नग्न भटकने लगता, संन्यासी हो जाता--पूछो उससे, यह सब तुम क्यों कर रहे हो? वह कहेगा, इससे सुख मिलेगा। तो दोनों की सुख की आकांक्षा है और दोनों मानते हैं कि सुख को पाने के लिए कुछ किया जा सकता है। यही भ्रांति है।

सुख स्वभाव है। उसे पाने के लिए तुम जब तक कुछ करोगे, तब तक उसे खोते रहोगे। तुम्हारे पाने की चेष्टा में ही तुमने उसे गंवाया है। संसारी एक तरह से गंवाता, त्यागी दूसरी तरह से गंवाता। तुम किस भांति गंवाते, इससे कोई फर्क नहीं पड़ता। तुम किस ढंग की शराब पीकर बेहोश हो, इससे कुछ फर्क नहीं पड़ता। तुम किस मार्के की शराब पीते हो, इससे कोई फर्क नहीं पड़ता।

लेकिन इस गणित को ठीक खयाल में ले लेना। संसारी कहता है, इतना-इतना मेरे पास होगा तो मैं सुखी हो जाऊंगा। त्यागी कहता है, मेरे पास कुछ भी न होगा तो मैं सुखी हो जाऊंगा। दोनों के सुख सशर्त हैं। और जब तक तुम शर्त लगा रहे हो सुख पर, तब तक तुम्हें एक बात समझ में नहीं आई कि सुख तुम्हारा स्वभाव है। उसे पाने कहीं जाना नहीं; सुख मिला ही हुआ है। तुम जाना छोड़ दो। तुम कहीं भी खोजो मत। तुम अपने भीतर विश्राम में उतर जाओ।

यही तो अष्टावक्र ने प्राथमिक सूत्रों में कहा: चैतन्य में विश्राम को पहुंच जाना ही सुख है, आनंद है, सच्चिदानंद है।

तुम कहीं भी मत जाओ! तरंग ही न उठे जाने की! जाने का अर्थ ही होता है: हट गए तुम अपने स्वभाव से। मांगा तुमने कुछ, चाहा तुमने कुछ, खोजा तुमने कुछ--च्युत हुए अपने स्वभाव से। न मांगा, न खोजा, न कहीं गए--की आंख बंद, डूबे अपने में!

जो है। वह इसी क्षण तुम्हारे पास है। जो है, उसे तुम सदा से ले कर चलते रहे हो। जो है वह तुम्हारी गुदड़ी में छिपा है। वह हीरा तुम्हारी गुदड़ी में पड़ा है। तुम गुदड़ी देखते हो और भीख मांगते हो। तुम सोचते हो, हमारे पास क्या? और हीरा गुदड़ी में पड़ा है। तुम गुदड़ी खोलो। और जिसे तुम खोजते थे, तुम चकित हो जाओगे, वही तो आश्चर्य है--जो जनक को आंदोलित कर दिया है। जनक कह रहे हैं, "आश्चर्य! ऐसा मन होता है

कि अपने को ही नमस्कार कर लूं, कि अपने ही चरण छू लूं! हद हो गई, जो मिला ही था, उसे खोजता था! मैं तो परमेश्वरों का परमेश्वर हूं! मैं तो इस सारे जगत का सार हूं! मैं तो सम्राट हूं ही और भिखारी बना घूमता था!"

सम्राट होना हमारा स्वभाव है; भिखारी होना हमारी आदत। भिखारी होना हमारी भूल है। भूल को ठीक कर लेना है; न कहीं खोजने जाना है, न कुछ खोजना है।

तो जब कोई व्यक्ति भोग से जागने लगता है तब खतरा खड़ा होता है। फिर भी वह मांगेगा वही।

तंग आ चुका हूं सिद्दते-जहदे-हयात से।

मुतरिब! शुरू कोई मोहब्बत का राग कर।

--घबड़ा चुका हूं जीवन के संघर्ष से!

तंग आ चुका हूं सिद्दते-जहदे-हयात से

--बहुत हो गया यह संघर्ष! अब और नहीं। अब हिम्मत न रही। अब टूट चुका हूं।

मुतरिब! शुरू कोई मोहब्बत का राग कर।

--हे गायक, अब तू प्रेम का गीत गा!

मगर यह मामला क्या हुआ? अगर जिंदगी के राग से ऊब गये हो तो यह प्रेम का गीत? यह तो फिर जिंदगी का राग शुरू हुआ। अगर जिंदगी के संघर्ष से ऊब गए हो, तो फिर प्रेम की अभीप्सा, फिर जीवन की शुरुआत हो जाएगी।

हम बदलते हैं तो भी बदलते नहीं। हम मुड़ते हैं तो भी मुड़ते नहीं। हम ऊपर-ऊपर सब खेल खेल लेते हैं। हम लहरों-लहरों में तैरते रहते हैं, भीतर हम प्रवेश नहीं करते।

बे-गोता कैसे मिलता हमें गौहरे-मुराद

हम तैरते रहे सदा, लहरों के झाग पर।

एक लहर से दूसरी लहर, दूसरी से तीसरी लहर। हम लहरों के झाग पर ही तैरते रहते हैं। तो वह जो मणि है, जिसे मिलकर मुक्ति मिल जाती है--कहें मुक्ता, कहें मणि--वह जो परम मणि है, वह तो गहरे डुबकी लगाने से मिलती है।

बे-गोता कैसे मिलता हमें गौहरे-मुराद

वह जो हमारी सदा की आकांक्षाओं की आकांक्षा है, वह जो हमारी चाहतों की चाहत है, "गौहरे-मुराद", जिसके अतिरिक्त हमने कभी कुछ नहीं चाहा है--हमने सब ढंग, सब रंग में उसी को चाहा है। कोई धन में खोजता है, कोई पद में खोजता है; लेकिन हम खोजते परमात्मा को ही हैं, पद पर बैठकर परमात्मा होने का ही थोड़ा मजा लेते हैं कि थोड़ी शक्ति हाथ आई! धन पास होता है तो परमात्मा का थोड़ा सा मजा लेते हैं कि हम दीन-दरिद्र नहीं। ज्ञान होता है तो परमात्मा का थोड़ा सा मजा लेते हैं कि हम अज्ञानी नहीं।

बे-गोता कैसे मिलता हमें गौहरे-मुराद

वह परमात्मा ही गौहरे-मुराद है। उसको हमने बहुत-बहुत लहरों में खोजा, कभी पाया नहीं। हाथ में झाग लगता है। लहर को पकड़ते हैं, झाग मुट्ठी में रह जाता है। मगर फिर दूसरी लहर पर उठा झाग हमें बुलाने लगता है। झाग बड़ा सुंदर लगता है कभी! सूरज की सुबह की किरणों में झाग बड़ा रंगीन लगता है। मणिमुक्ताएं हार जाएं, ऐसी शुभ्रता, ऐसे रंग, ऐसे इंद्रधनुष झाग में दिखाई पड़ सकते हैं। दूर उठती लहर के ऊपर झाग ऐसे लगता है जैसे हिमालय पर बर्फ जमी हो, पवित्र! झाग ऐसे लगता है जैसे सारे समुद्र का सार नवनीत हो। हाथ बांधो, मुट्ठी बांधो--कुछ भी हाथ नहीं आता।

बे-गोता कैसे मिलता हमें गौहरे-मुराद

हम तैरते रहे सदा, लहरों के झाग पर।

हमने बहुत बार करवटें बदलीं, मगर एक लहर से दूसरी लहर में उलझ गए, मैं तुमसे यह कहना चाहता हूं कि तुममें से बहुत अनेक बार संन्यासी हुए फिर भोगी हुए, फिर संन्यासी हुए, फिर भोगी हुए। ये करवटें तुम

बहुत बार बदल चुके हो। यह कुछ नया खेल नहीं। यह खेल बड़ा पुराना है। तुम इसमें बड़े निष्णात हो चुके हो। कई बार मैं देखता हूं, कुछ लोग जब पहली दफा संन्यास लेने आते हैं, वे सोचते हैं कि पहली दफा संन्यास लेने आए; उनके भीतर मैं झांकता हूं तो आश्चर्य से भर जाता हूं: यह तो वे कई बार कर चुके हैं, क्या इस बार भी फिर वही पुराना ही खेल जारी रखेंगे, कि इस बार क्रांति होगी? मैं सोचने लगता: यह फिर एक नई लहर होगी या गहराई में उतरना होगा? भोगियों को देखता हूं तो भोगी संन्यास का सपना देखते मिलते हैं और संन्यासियों से भी मैं मिलता रहा हूं। वर्षों तक घूमता रहा हूं, सब तरह के संन्यासियों से मिला हूं। संन्यासियों को भोग के सपने आने शुरू हो जाते हैं। यह बड़ा मजा है। जो लहर, जिस पर तुम सवार होते हो, वह व्यर्थ मालूम होती है; और जो लहर दूर है--वे दूर के ढोल सुहावने--वह बड़ी आकर्षक मालूम होती है!

भोगी कहता है कि त्यागी बड़ा आनंद ले रहा होगा। इसलिए तो भोगी त्यागी के चरण छूने जाता है। कब तुम्हें अक्ल आएगी? कब तुम्हारी आंखें खुलेंगी?

अगर तुमने त्यागी के चरण सिर्फ इसलिए छुए हैं कि तुम सोचते हो कि त्यागी मजा ले रहा है, तो खतरा है। जब तुम भोग से ऊबोगे, तुम त्यागी हो जाओगे। क्योंकि पैर तुम उसी के छूना चाहते हो, जो तुम होना चाहते हो। पैर छूना तो केवल इंगित है। तुम तो खबर दे रहे हो कि अगर हमारा बस चले तो ऐसे होते; जरा मुसीबत है, इसलिए उलझे हैं।

मुल्ला नसरुद्दीन एक दिन बड़ा उदास था। मैंने पूछा, तुम इतने उदास क्यों हो? माना कि तुम्हारी पत्नी मर गई; लेकिन तुम अभी जवान हो, दूसरी शादी हो सकती है। सच तो यह है कि कुछ लोगों ने मेरे पास आकर कहा भी है, किसी तरह मुल्ला को राजी कर दें, उनकी जवान लड़की है।

मुल्ला ने कहा, कर तो लूं, लेकिन इसके चार कारण हैं; कर नहीं सकता हूं। चार कारण! मैंने कहा, ब्रह्मचारी भी चार कारण नहीं गिना सके हैं अब तक शादी न करने के, तू बता।

चार कारण...उसने कहा चार कारण हैं; तीन लड़कियां और एक लड़का। इन चार कारणों के कारण विवाह कर सकता नहीं। करना तो मैं भी चाहता हूं। मगर ये अटके हैं। इनसे फांसी लगी है।

भोगी त्यागी के पैर छूने जाता है। लेकिन हजार कारण अटके हैं उसके गले में, अन्यथा वह भी त्यागी होना चाहता। तुम क्यों जाते हो महात्मा के चरण छूने? तुम सोचते हो, कभी ऐसे सदभाग्य होंगे मेरे भी कि मैं भी महात्मा हो जाऊंगा! अभी नहीं हो सकता तो कम से कम चरण तो छू सकता हूं। अभी नहीं हो सकता तो कम से कम समादर तो दे सकता हूं।

तुम्हारा समादर तुम्हारी अपनी ही भविष्य की आकांक्षाओं के चरणों में चढ़ाए गए फूल हैं। तुम किसी महात्मा के चरण थोड़े ही छू रहे हो; तुम अपने ही भविष्य की प्रतिमा के चरणों में झुक रहे हो। कभी अगर तुम्हें मौका मिला, चार कारण न रहे, तब खतरा आएगा। तब तुम छलांग लगा कर संन्यासी हो जाओगे, त्यागी हो जाओगे। और मैं त्यागियों को जानता हूं, वे त्यागी हो कर तड़फ रहे हैं।

मुझसे एक सत्तर-पचहत्तर साल के बूढ़े संन्यासी ने कहा कि "आपसे कह सकता हूं, किसी और से तो कह भी नहीं सकता। यह दर्द ऐसा है, कहो किससे! लोग मेरे पैर छूने आते हैं। उनसे तो मैं कह नहीं सकता। वे तो मुझे आदर देते हैं, उनसे तो सत्य कहा नहीं जा सकता; लेकिन आपसे कहता हूं कि चालीस साल हो गए मुझे संन्यास लिए।" जैन मुनि हैं, चालीस साल से सब त्यागा है, लेकिन कुछ मिला नहीं। "अब तो यह शक होने लगा है इस बुढ़ापे में," उन्होंने मुझसे कहा, "कि कहीं मैंने भूल तो नहीं कर दी! अब तो रात मुझे सपने आने लगे हैं कि इससे तो बेहतर था मैं ग्रहस्थ ही रहता। घर-द्वार था, पत्नी थी, बच्चे थे, इससे तो मैं वहीं बेहतर था। अब तो मुझे शक होने लगा है अपने उपक्रम पर। चालीस साल पहले की बातें मुझे अब प्रीतिकर लगने लगीं कि वही ठीक था, इससे तो वही ठीक था। अब वह लहर जो चालीस साल पहले छोड़ी थी, अब फिर झाग से भर गई है। अब उस लहर के सिर पर फिर सुंदर झाग ने मुकुट रचा दिए; फिर इंद्रधनुष पैदा हो रहे हैं।"

यह तुम चकित होओगे जान कर कि बुरे आदमी अच्छे आदमी होने के सपने देखते हैं। अच्छे आदमी बुरे आदमी होने के सपने देखते हैं। अगर तुम साधु-संतों के सपनों में झांक पाओ तो तुम घबड़ा जाओगे। वहां तुम अपराधियों को छिपा पाओगे। और अगर तुम जेलखाने में जाओ और अपराधियों के सपनों में झांको, उनकी खोपड़ी में खिड़की बना लो और उनका सपना देखो, तुम चकित हो जाओगे, कि वे सब ऊब गए हैं, थक गए हैं बुरा कर-करके, अब वे भले होना चाहते हैं। अब किसी तरह उनको एक बार मौका मिल जाए, तो वे दुनिया में सिद्ध कर देना चाहते हैं कि वे अपराधी नहीं हैं, संत हैं। यह दूसरी बात है कि जेल से जब वे छूटेंगे दस-पंद्रह साल बाद, तब फिर बाहर की लहरें ताजी मालूम होने लगेंगी। यह दूसरी बात है। लेकिन आदमी हमेशा वहां के सपने देखता है जहां नहीं है।

जनक की यह जो ध्यान की घटना घटी है, अष्टावक्र परीक्षा लिए, अब उसे प्रलोभन देते हैं। यह प्रलोभन और भी गहरी परीक्षा है। अब वे कहते हैं कि फिर ठीक, जब तुझे ज्ञान ही हो गया जनक, तो अब...अब छोड़, अब त्याग में उतर जा। अगर जनक इसमें फंस गया तो असफल हुआ--तो गहरी परीक्षा में असफल हुआ।

जनक की जगह कोई भी साधारण व्यक्ति होता तो उलझ जाता झंझट में। क्योंकि अष्टावक्र इन शब्दों में बात कर रहे हैं कि पकड़ना बहुत मुश्किल है। सुनो उनके सूत्र।

अष्टावक्र ने कहा: "तेरा किसी से भी संग नहीं है। तूने घोषणा कर दी असंग होने की।"

"तेरा किसी से भी संग नहीं है, इसलिए तू शुद्ध है। तू किसको त्यागना चाहता है? इस प्रकार देहाभिमान को मिटाकर तू मोक्ष को प्राप्त हो।"

बड़ा उलझा हुआ सूत्र है। उकसाते हैं बड़े बारीक नाजुक रास्ते से। पूछते हैं: तू शुद्ध है, तेरा किसी से भी कोई संग नहीं है--फिर भी जनक, मैं देखता हूं, तेरे भीतर त्याग की लहरें उठ रही हैं। तू किसको त्यागना चाहता है? ठीक, अगर त्यागना ही चाहता है तो इस प्रकार के देहाभिमान को त्याग कर तू मोक्ष को प्राप्त हो जा।

"देहाभिमान को त्याग कर मोक्ष को प्राप्त हो जा!"

एक तो कहते हैं कि मैं तेरे भीतर त्याग की लहर उठते देखता हूं, धीमी तरंग है; शायद तूने भी अभी पहचानी न हो; शायद तुझे भी अभी पहचानने में समय लगे। तेरे गहरे अतल में उठ रही है एक लहर, जो थोड़ी-बहुत देर बाद तेरी चट्टान से टकराएगी चैतन्य की, और तू जान पायेगा। अभी शायद तुझे खबर भी नहीं।

जब मनुष्य के भीतर कोई विचार उठता है तो वह चार खंडों में बांटा जा सकता है। जब तुम बोलते हो, वह आखिरी बात है। बोलने के पहले तुम्हारे कंठ में होता है। तुम जानते हो। साफ-साफ होता है, क्या बोलना है। तुम भीतर तो परिचित हो गए, भीतर तो तुमने बोल लिया। अभी बाहर प्रगट नहीं किया है। वह तीसरी अवस्था है।

उसके पहले दूसरी अवस्था होती है जब धुंधला होता है। तुम्हें साफ नहीं होता कि क्या है। ऐसा भी हो सकता है, वैसा भी हो सकता है। शायद हो शायद न हो! रूपरेखा स्पष्ट नहीं होती। सुबह के धुंधलके में छिपा होता है। मगर थोड़ी-थोड़ी भनक पड़ती है। लगता है कुछ है। थोड़ी आवाज आनी शुरू होती है। वह दूसरी अवस्था है।

उसके पहले एक पहली अवस्था है: जब तुम्हें बिलकुल ही पता नहीं होता, धुंधलके का भी पता नहीं होता। गहरी अंधेरी रात छाई होती है।

लेकिन तुम्हारे भीतर वह पहली अवस्था जब उठती है, तब भी गुरु देख लेता है। अष्टावक्र देख रहे हैं कि जनक की पहली अवस्था में विचार की कोई तरंग है। थोड़ी देर बाद दूसरी अवस्था होगी। थोड़ा धुंधला-धुंधला आभास होगा। फिर तीसरी अवस्था होगी: विचार प्रगाढ़ होगा, स्पष्ट होगा। फिर चौथी अवस्था होगी: जनक उदघोषणा करेंगे कि मैंने सब छोड़ा, मैंने सब त्यागा, अब मैं जाता वन की ओर।

इसके पहले कि विचार यहां तक पहुंच जाए...क्योंकि यहां तक पहुंच कर फिर लौटना मुश्किल हो जाता है। विचार से मुक्त होने की प्रक्रिया यही है कि पहली अवस्था में विचार को अगर पकड़ लिया जाए तो तुम कभी

उसके बंधन में नहीं पड़ते। तुमने बीज में पकड़ लिया वृक्ष को, वृक्ष पैदा ही नहीं हो पाता। अधिक लोग तो जब वृक्ष न केवल पैदा हो जाता है, उसमें फल लग जाते, न केवल फल लग जाते, बल्कि वृक्ष हजारों बीजों को अपनी तरफ फेंक देता है भूमि में--तब सजग होते हैं, तब बड़ी देर हो गई। तब तुम इस वृक्ष को उखाड़ भी दो तो भी फर्क नहीं पड़ने वाला, क्योंकि हजारों बीज फेंक चुका। समय आने पर वे फूटेंगे, हजारों वृक्ष बनेंगे। और तुम्हारी पुरानी आदत है, तुम तभी पकड़ोगे जब वृक्ष बन जाएंगे, बीज गिर जाएंगे, तब तुम फिर पकड़ोगे, फिर तुम काट देना। तुम वृक्षों को काटते रहना और वृक्षों का कोई अंत न होगा। वृक्षों की नई शृंखलाएं आती चली जाएंगी। ऐसा ही हमारे जीवन में होता है।

बुद्ध ने विपस्सना का प्रयोग दिया है अपने भिक्षुओं को। विपस्सना का कुल अर्थ इतना ही है कि तुम इस भांति भीतर सजग होते जाओ कि धीरे-धीरे तुम्हें पहली अवस्था में विचार दिखाई पड़ने लगे। जब पहली अवस्था में विचार दिखाई पड़ता है, बड़ी सरल है बात। इतना ही कह देना काफी है: "बस क्षमा कर! नहीं इच्छा पड़ने की इसमें।" इतना भाव ही कि "नहीं" पर्याप्त है और बीज दग्ध हो जाता है।

दूसरी अवस्था में थोड़ा कठिन है। थोड़ा संघर्ष करना पड़ेगा। तीसरी अवस्था में और भी कठिन है। संघर्ष करोगे तो भी जीत पाओगे, संदिग्ध है। चौथी अवस्था में तो बहुत मुश्किल है। घोषणा हो चुकी। तुम फंस गए। लौटना करीब-करीब असंभव हो जाता है। अब तो फल भोगना पड़ेगा, क्योंकि विचार कर्म बन गया।

पहले विचार केवल भाव होता। उसके पहले शून्य में बीज-मात्र होता, संभावना मात्र होता। फिर भाव बनता, फिर विचार बनता, फिर अभिव्यक्ति बनता।

अभी जनक को शायद पता भी न हो, या शायद पता चलना शुरू हुआ हो; लेकिन अष्टावक्र को दिखाई पड़ा है।

"तेरा किसी से भी संग नहीं जनक, तू शुद्ध है! लेकिन फिर भी किसको त्यागना चाहता है?" ...एक काम कर, अगर त्यागना ही है तुझे, अगर त्यागने की जिद ही है तो..."देहाभिमान को मिटा कर तू मोक्ष को प्राप्त हो!"

बड़ा गहरा जाल है! अगर जनक इतना भी कह दे कि हां, देहाभिमान का त्याग करना है, तो बात तय हो जाएगी कि कुछ त्याग करना है इसे। कुछ भी त्याग करना हो तो अज्ञान शेष है। फिर अभी ज्ञान की क्रांति नहीं घटी। दीया जल गया और तुम कहो, अंधेरे का त्याग करना है, तो फिर दीया जला नहीं! दीया जल जाने पर अंधेरे का कैसा त्याग? दीया जल गया तो अंधेरा तो जा ही चुका, त्याग हो ही चुका। त्याग करना हो तो गलत, त्याग हो जाए तो सही। जो करना पड़े तो कर्ता बन जाते हैं हम; जो हो जाए तो साक्षी रहते हैं। भोग हुआ, त्याग हुआ। न हमने भोग किया, न हमने त्याग किया। जो होता था, होने दिया। हम करते भी क्या? जो होता था, होने दिया। देखते रहे। अपने देखने को विशुद्ध रखा!

न ते संगोऽस्ति केनापि किं शुद्धस्त्यक्तुमिच्छसि।
संघातविलयं कुर्वन्नेवमेव लयं व्रज।।
ते केन अपि संगः न...।

तेरा कोई संगी-साथी नहीं, छोड़ना किसको चाहता है? कोई संगी-साथी होता तो छोड़ देते।

समझो, बारीक है सूत्र। समझा तो क्रांति घट सकती है। कोई मेरे पास आता है, वह कहता है, पत्नी-बच्चे छोड़ने हैं। तो उसने एक बात तो मान ही ली कि पत्नी-बच्चे उसके हैं। कोई मेरे पास आता है, कहता है, धन छोड़ना है, घर-द्वार छोड़ना है। मैं उससे पूछता हूं, "तुझे पक्का है कि वे तेरे हैं? तू न छोड़ेगा तो तेरे रहेंगे? कल तू मरेगा, फिर क्या करेगा? मरते वक्त तू कहेगा कि ये मेरे हैं और छूट रहे हैं, यह मामला क्या है? जन्म के पहले तू तो नहीं था, मकान यहीं था। जिस तिजोड़ी में तूने हीरे भर रखे हैं, वे भी यहीं थे, तू नहीं था। वे किसी और के थे। किसी और को भ्रांति थी कि मेरे हैं। अब तुझे भ्रांति है कि मेरे हैं। तू जब नहीं था, तब भी थे; तू नहीं रहेगा,

तब भी होंगे। छोड़ेगा तू? छोड़ना तो तभी घट सकता है जब तुझे पक्का हो कि ये मेरे हैं। मेरे हैं, तो छोड़ना संभव है। अगर मेरे नहीं हैं तो छोड़ेगा कैसे? छोड़ने में तो मालकियत का दावा जारी है।

जिस आदमी ने कहा, मैंने छोड़ दिया संसार, वह आदमी अभी छोड़ नहीं पाया, क्योंकि छोड़ने में भी दावेदार मौजूद है। वह कहता है, मैंने छोड़ा! तो उसने पहली भ्रांति को अभी भी पकड़ा हुआ है कि मेरा था! जो मेरा हो तो छोड़ा जा सकता है।

ते केन अपि संगः न...।

तेरा कौन संगी, तेरा कौन साथी! अकेला तू आता, अकेला तू जाता! न कुछ ले कर आता, न कुछ ले कर जाता! खाली हाथ आता, खाली हाथ जाता!

मामला तो अजीब ही है। आदमी जब पैदा होता है तो बंधी मुट्ठी; मरता है तो खुली मुट्ठी। और बुरी हालत में मरता है। कम से कम बंधी मुट्ठी ले कर आता है, बच्चा जब आता है। नहीं सही, कुछ भी नहीं है उसमें, कम से कम बंधी मुट्ठी...लोग कहते हैं बंधी मुट्ठी लाख की, खुली तो खाक की! जब मरता है तो मुट्ठी खुल जाती है, खाक की हो जाती है। न तो बंधी मुट्ठी में कुछ था, न खुली मुट्ठी में कुछ था। लेकिन बंधी मुट्ठी में कम से कम भ्रम तो था कि कुछ है। न हम कुछ लाते, न हम कुछ ले जाते। छोड़ेगा क्या? छोड़ने को क्या है?

ते केन अपि संगः न अतः शुद्धः।

बड़ा अदभुत सूत्र है! बड़े वैज्ञानिक सूत्र हैं! तेरा कोई संगी नहीं, साथी नहीं, तेरी कोई मालकियत नहीं, तेरी कोई वस्तु नहीं। अतः शुद्धः। इसलिए तू शुद्ध है। क्योंकि मालकियत भ्रष्ट करती है।

तुमने देखा, जिस चीज पर मालकियत कायम करो, उसी की मालकियत तुम पर कायम हो जाती है! बनो किसी स्त्री के स्वामी और वह तुम्हारी मालिक हो गई। बनो मकान के मालिक और मकान तुम्हारा मालिक हो गया।

फरीद एक रास्ते से गुजरता था अपने शिष्यों के साथ और एक आदमी एक गाय के गले में रस्सी बांध कर घसीटे ले जा रहा था। गाय घिसट रही थी, जा नहीं रही थी। परतंत्रता कौन चाहता है! फरीद ने घेर लिया उस आदमी को, गाय को। अपने शिष्यों से कहा, खड़े हो जाओ, एक पाठ ले लो। मैं तुमसे एक सवाल पूछता हूं: "यह आदमी ने गाय को बांधा है कि गाय ने आदमी को बांधा है?"

वह आदमी जो गाय ले जा रहा था वह भी खड़ा हो गया: देखें मामला क्या है! यह तो बड़ा अजीब प्रश्न है। और फरीद जैसा ज्ञानी कर रहा है!

शिष्यों ने कहा, बात साफ है कि इस आदमी ने गाय को बांधा है, क्योंकि रस्सी इसके हाथ में है।

फरीद ने कहा, मैं दूसरा सवाल पूछता हूं। हम इस रस्सी को बीच से काट दें तो यह आदमी गाय के पीछे जाएगा कि गाय आदमी के पीछे जाएगी?

तो शिष्यों ने कहा, तब जरा झंझट है। अगर रस्सी काट दी तो इतना तो पक्का है कि गाय तो भागने को तैयार ही खड़ी है। यह इसके पीछे जाने वाली नहीं है, यह आदमी ही इसके पीछे जाएगा।

तो फरीद ने कहा, ऊपर से दिखता है कि रस्सी गले में बंधी है गाय के, पीछे से गहरे में समझो तो आदमी के गले में बंधी है।

जिसके हम मालिक होते हैं, उसकी हम पर मालकियत हो जाती है। तुम धन के कारण धनी थोड़े ही होते हो, धन के गुलाम हो जाते हो। धन के कारण धनी हो जाओ तो धन में कुछ भी खराबी नहीं है। लेकिन धन के कारण कभी कोई विरला धनी हो पाता है। धन के कारण तो लोग गुलाम हो जाते हैं। उनकी सारी जिंदगी एक ही काम में लग जाती है जैसे... तिजोड़ी की रक्षा! और धन को इकट्ठा करते जाना! जैसे वे इसीलिए पैदा हुए हैं! ये महत कार्य करने को इस संसार में आए हैं। तिजोड़ी में भर कर मर जायेंगे, उनका महत कार्य पूरा हो जाएगा! तिजोड़ी यहीं पड़ी रह जाएगी।

अष्टावक्र कहते हैं: तेरा कोई नहीं, तू किसी का नहीं, अकेला है--अतः शुद्धः। इसलिए मैं घोषणा करता हूं कि तू शुद्ध है। शुद्ध तेरा स्वभाव है।

जब भी कोई चीज किसी दूसरी चीज से मिल जाती है तो अशुद्ध हो जाती है। विजातीय से मिलने से अशुद्धि होती है। प्रत्येक चीज अपने-आप में तो शुद्ध ही होती है, यह ध्यान रखना। तुम कहते हो, इस दूध वाले ने पानी मिला दिया दूध में, तो दूध अशुद्ध हो गया। तुमने कभी दूसरी बात सोची कि पानी भी अशुद्ध हो गया? वह तो तुम्हें जरूरत दूध की है, इसलिए तुम दूध की फिक्र करते हो कि दूध अशुद्ध हो गया। लेकिन दूध, अगर दूध वाला यह कहे कि मैंने बिलकुल शुद्ध पानी मिलाया है, कैसी नासमझी की बात करते हो कि अशुद्ध हो गया! पानी बिलकुल शुद्ध था, मैंने मिलाया; दूध भी शुद्ध था--शुद्धता दोहरी हो गई! तुम अशुद्धता की बात कर रहे हो? कोई अशुद्ध पानी नहीं मिलाया है, कोई डबरे से सड़क के किनारे नहीं भर कर मिला दिया, बिलकुल शुद्ध करके, उबाल कर, प्राशुक इसमें मिलाया है। तुम कैसे कहते हो कि यह अशुद्ध है? दो शुद्ध चीजें जब मिलती हैं तो सीधा गणित है कि शुद्धि दोहरी हो जानी चाहिए, दुगनी हो जानी चाहिए।

मगर जिंदगी में गणित नहीं चलता। जिंदगी गणित से कुछ ज्यादा है। दो शुद्ध चीजों को भी मिलाओ तो दोनों अशुद्ध हो जाती हैं। तुम कहते हो, दूध अशुद्ध हो गया, क्योंकि दूध की तुम्हें जरूरत है, दूध के दाम लगते हैं। पानी भी अशुद्ध हो गया।

तो अशुद्धि का अर्थ समझ लेना...मल-मूत्र भी पड़ा हो और तुम उसमें सोना डाल दो तो मलमूत्र भी अशुद्ध हो गया। मलमूत्र मलमूत्र की तरह शुद्ध है। शुद्ध का मतलब यह कि सिर्फ स्वयं है। शुद्ध का अर्थ ही इतना होता है: स्वयं होना।

मुल्ला नसरुद्दीन एक चाय-घर मैं बैठ कर गप-शप कर रहा था और कह रहा था कि भगवान ने सब चीजें परिपूर्ण बनाई हैं। भगवान पूर्ण है, तो भगवान ने हर चीज पूर्ण बनाई। लोग बड़ी गंभीरता से सुन रहे थे, बात जंच भी रही थी, तभी एक कुबड़ा आदमी--रहा होगा अष्टावक्र जैसा--खड़ा हो गया। और उसने कहा, मेरे संबंध में क्या? वह कई जगह से इरछा-तिरछा था। थोड़ा तो मुल्ला भी चौंका कि जरा मुश्किल बात है। उसने कहा कि तू बिलकुल...तेरे संबंध में भी सही है। तुझ जैसा परिपूर्ण कुबड़ा मैंने देखा ही नहीं। तू बिलकुल पूर्ण कुबड़ा है। इसमें और सुधार करने का उपाय नहीं है। परमात्मा बनाता ही पूर्ण चीजें है, तुझे पूर्ण कुबड़ा बनाया है!

प्रत्येक वस्तु जैसी है, अपने में शुद्ध है। तो शुद्ध का अर्थ हुआ: स्वभाव में होना। अशुद्ध का अर्थ हुआ: परभाव में होना। जब भी तुम पर का भाव करते हो, विशुद्धता खो जाती है, अशुद्ध हो जाते हो। धन चाहा तो तुम्हारी चेतना में धन की छाया पड़ने लगी; पद चाहा तो पद की छाया पड़ने लगी; प्रतिष्ठा चाही तो प्रतिष्ठा की छाया पड़ने लगी। जब तक तुमने कुछ चाहा, चाह का अर्थ ही है अपने से अन्यथा की चाह। स्वयं को तो कौन चाहता है! स्वयं तो तुम हो ही, चाहने को कुछ है नहीं।

इसलिए तो लोग आत्मा को चूकते चले जाते हैं, क्योंकि आत्मा को कोई चाहेगा क्यों! आत्मा तो है ही। जो नहीं है, उसे हम चाहते हैं। जो हम नहीं हैं, उसे हम चाहते हैं--और उसकी चाह ही हमें अशुद्ध करती है।

ते केन अपि संगः न अतः शुद्धः।

तू शुद्ध है जनक, क्योंकि तेरी कोई चाह नहीं।

किम् त्यक्तुम इच्छसि!

लेकिन तेरे भीतर मैं देखता हूं, इच्छा पैदा हो रही है त्याग की। किसे तू छोड़ना चाहता है? किसे? क्योंकि छोड़ने में भ्रांति--मेरी है--ऐसी तो रहेगी ही। इतना जान लेना काफी है कि मेरा कुछ भी नहीं--त्याग हो गया! न कहीं भागना है, न कहीं जाना है। तुम जहां हो वहीं बैठे-बैठे किसी को कानों-कान खबर भी न होगी, पत्नी पास ही बैठी रहेगी, बच्चे वहीं खेलते रहेंगे, दुकान चलती रहेगी, ग्राहक आते-जाते रहेंगे; तुम वहीं बैठे-बैठे इस छोटे-से बोध के दीए से मुक्त हो जा सकते हो कि मेरा कुछ भी नहीं!

किम् त्यक्तुम इच्छसि!

तू किसे छोड़ने की इच्छा कर रहा है? तेरे भीतर मैं एक इच्छा का अंकुर उठते देखता हूं।

एवम् एव संघातविलयम् कुर्वन् लयम् व्रज।

और अगर ऐसा है तो एक बात छोड़ने जैसी है, वह है देहाभिमान। यह बात कि मैं देह हूं, यह बात कि मैं मन हूं, यह बात कि मेरा कोई तादात्म्य है--यह छोड़ने जैसी है, तू इसका त्याग कर दे।

देखें जाल! ऊपर से कह रहे हैं कि तेरे भीतर कोई भी त्याग की आकांक्षा उठे तो गलत है। और फिर बड़ी बारीकी से, बड़ी कुशलता से कहते हैं: लेकिन फिर भी अगर तेरी मर्जी हो, छोड़ने का ही मन हो तो और कुछ छोड़ना तो व्यर्थ है, यह बात छोड़ दे कि मैं देह, कि मैं मन, कि मेरा किसी से तादात्म्य। ऐसे वे त्याग के लिए उकसाते हैं। बड़ी जटिल बात है!

तुमने कभी कुम्हार को घड़ा बनाते देखा? क्या करता कुम्हार? भीतर से तो सम्हालता है घड़े को। चाक पर रखता है मिट्टी को, भीतर से सम्हालता है और बाहर से चोट मारता है। एक हाथ से चोट मारता है, एक हाथ से सम्हालता है। इसी से घड़े की दीवाल उठनी शुरू होती है। घड़ा बनना शुरू होता है। भीतर से सम्हालता जाता है, बाहर से चोट करता जाता है।

कबीर ने कहा है: यही गुरु का काम है। एक हाथ से चोट करता, एक हाथ से सम्हालता है। अगर तुमने चोट ही देखी तो तुमने आधा देखा। तुमने अगर सम्हालना ही देखा तो भी तुमने आधा देखा, तो तुम गुरु की पूरी कीमिया से परिचित न हो सके, फिर पूरा रसायन तुम्हें समझ में न आएगा। इधर चोट मारता, इधर समझा लेता। इतनी भी चोट नहीं मारता कि तुम भाग ही खड़े होओ। इतना भी नहीं समझा लेता कि तुम वही के वही रह जाओ जैसे आए थे। चोट भी किए चला जाता है, ताकि तुम बदलो भी। लेकिन चोट भी इतनी मात्रा में करता है--होमियोपैथी के डोज देता है, धीरे-धीरे! एकदम ऐलोपैथी का डोज नहीं दे देता कि तुम या तो भाग ही खड़े होओ या खत्म ही हो जाओ। बड़ी छोटी मात्रा में, चोट करता है! देखता है कितनी दूर तक सह सकोगे, उतनी चोट कर देता है। फिर रुकता है; देखता है कि ज्यादा हो गई, तिलमिला गए, भागे जा रहे हो, बिस्तर-विस्तर बांध रहे हो, तो फिर थोड़ा समझा लेता है।

देखा! "स्वभाव" के साथ वही तो किया न। अब उन्होंने फिर बिस्तर वगैरह खोल कर रख दिया है। अब वे फिर मजे-मजे से बैठे हुए हैं, सिर घुटाए हुए, अब उनको कोई अड़चन नहीं है। अब फिर चोट की तैयारी है। अब उन पर फिर मार पड़नी चाहिए।

...एक हाथ से सम्हालो, एक हाथ से चोट करते जाओ।

तो वे उससे कहते, "ऐसा कर कि तू छोड़। धन इत्यादि छोड़ना तो छोटी बातें हैं, मैं तुझे बड़ी बात छोड़ने की बताता हूं। तू देहाभिमान छोड़ दे!"

संघातविलयम्!

यह जो देह का संघात है, इसको लय कर दे! मैं देह हूं, ऐसे भाव को विलीन कर दे। इस प्रकार देहाभिमान को मिटा कर तू मोक्ष को अभी प्राप्त हो जा सकता है।

देखना बारीकी: "मोक्ष को प्राप्त हो जा सकता है, अगर देहाभिमान को छोड़ दे!" फिर कारण- कार्य की दुनिया बनाई जा रही है। फिर उसे कहा जा रहा है कि यह कारण है, देह का अभिमान छूट जाए तो मोक्ष फले।

मोक्ष फल नहीं है; मोक्ष के लिए कुछ करना जरूरी नहीं है। मोक्ष तुम्हारा स्वभाव है। मगर जनक भी अदभुत कुशल व्यक्ति रहे होंगे। उनके सूत्र शीघ्र ही आएंगे, तब तुम समझोगे, उन्होंने कैसा अदभुत उत्तर दिया!

"तुझसे संसार उत्पन्न होता है; जैसे समुद्र से बुलबुला। इस प्रकार आत्मा को एक जान और ऐसा जान कर मोक्ष को प्राप्त हो।"

उदेति भवतो विश्वं वारिधेरिव बुद्बुदः।
इति ज्ञात्वैकमात्मानमेवमेव लयं व्रज।।

इतनी ही भावना कर कि मुझसे संसार उत्पन्न हुआ है; जैसे समुद्र में बुलबुला उत्पन्न होता है। और अपने को और जगत को, स्वयं को और समष्टि को एक मान कर, एक जान कर तू मोक्ष को प्राप्त हो जा।

जैसे कि मोक्ष किसी जानने पर निर्भर है! जैसे मोक्ष के लिए कोई ज्ञान आवश्यक है!

अगर मोक्ष के लिए कुछ भी आवश्यक है तो वह मोक्ष न रहा। क्योंकि जिस मोक्ष के लिए कोई कारण है, वह कारण पर निर्भर होगा; उसकी शर्त हो गई; वह कारण से बंधा होगा; किसी दिन कारण हट जाएगा तो मोक्ष गिर जाएगा। मोक्ष अकारण है। मोक्ष का कोई भी कारण नहीं है।

तुमने अगर पूछा कि मैं कैसे मुक्त हो जाऊं तो तुम बंधने का नया उपाय पूछ रहे हो। तुम पूछ रहे हो कि मुझे अब कुछ और बताएं; पुराने बंधन पुराने पड़ गए, उनमें अब रस नहीं आता; अब मैं कैसे मुक्त हो जाऊं? तो कोई कहता है, अब तुम योगासन करो, इससे मुक्त हो जाओगे। तो पहले तुम दुकान पर बैठे थे, गद्दी पर आसन लगा रहे थे, अब तुम बैठ गए कहीं जंगल में जा कर झाड़ के नीचे, योगासन लगाने लगे। मगर, जारी रहा काम। आकांक्षा भविष्य की रही।

मोक्ष तो है ही! तुम कुछ न करो--मोक्ष है। जब तुम कुछ भी नहीं करते होओगे, उसी क्षण तुम्हें दिखाई पड़ेगा। क्योंकि करने से ऊर्जा मुक्त हुई कि फिर क्या करेगी? फिर देखेगी!

कर्ता में ऊर्जा उलझी रहे तो साक्षी नहीं बन पाती। वही ऊर्जा जब कर्ता में नहीं उलझी होती, कुछ करने को नहीं होता, तो साक्षी बन जाती है।

झेन गुरु अपने शिष्यों को कहते हैं: बस बैठो और कुछ न करो। इससे क्रांतिकारी सूत्र कभी दिया ही नहीं गया। वे कहते हैं, बस बैठो कुछ न करो। शिष्य बार-बार आता है कि कुछ करने को दे दो। सदगुरु कहता है: कुछ करने को दे दिया, बस शुरू हुआ गोरखधंधा!

"गोरखधंधा" शब्द बड़ा अदभुत शब्द है। यह गोरखनाथ से चला। क्योंकि जितनी विधियां गोरखनाथ ने खोजीं, मेरे अलावा किसी और ने नहीं खोजीं। गोरखधंधा! मानते नहीं, कुछ करेंगे... करो! कुंडलिनी करो, नादब्रह्म करो! करने के बिना चैन नहीं है! तुम कहते हो, बिना कुछ किए तो हम बैठ ही नहीं सकते। तो मैं कहता हूं चलो ठीक है, कुछ करो! जब थक जाओगे करने से, किसी दिन जब कहोगे कि अब कुछ ऐसा बताएं कि करने से बहुत हो गया, अब करने से कुछ होता नहीं, तो तुमसे कहूंगा, अब बैठ रहो!

जैसे छोटा बच्चा घर में होता है--बेचैन--तुम उसे कहते हो, शांत बैठ! वह शांत क्या, कैसे बैठे? इतना बूढ़ा नहीं है कि शांत बैठे। अभी ऊर्जा से भरा है, अभी उबल रही है आग! अभी वह शांत भी बैठे तो कसमसाता है, हिलता-डुलता है। वह रात में सो भी नहीं सकता, बिस्तर से नीचे गिर जाता है। तो करवटें बदलता है, हाथ-पैर फेंकता है। अभी तो शक्ति उठ रही है। तुम उसे कहते हो, "शांत बैठ! आंख बंद कर!" वह बैठ नहीं सकता। उसके लिए तो एक ही उपाय है। उससे कहो कि जा घर के पंद्रह चक्कर लगा आ, जोर से दौड़ना। फिर कुछ कहने की जरूरत न रहेगी। वे पंद्रह चक्कर लगा कर खुद ही शांति से आ कर बैठ जाएंगे। तब तुम देखना उनकी शांति में फर्क है। ऊर्जा बह गई है, थकान आ गई है--उस थकान में बैठना आसान हो जाता है।

सारी विधियां गोरखधंधे हैं। उनका उपयोग केवल एक है कि तुम थक जाओ; तुम्हारे कर्ता में धीरे-धीरे थकान आ जाए। तुम यह सोचने लगो, कर-कर के तो कुछ हुआ नहीं, अब जरा न करके देख लें! तुम करने से ऐसे परेशान हो जाओ कि एक दिन तुम कहने लगो, अब तो प्रभु करने से छुड़ाओ! अब तो यह करना बड़ा जान लिए ले रहा है। अब तो हम शांत होना चाहते हैं, बैठना चाहते हैं!

जब तुम्हीं शांत बैठना चाहोगे, तभी शांत बैठ सकोगे।

जब तक शिष्य कर्ता में अभी रस ले रहा है किसी तरह का, तब तक उसे कुछ न कुछ कर्म देना पड़ेगा, कोई प्रक्रिया देनी पड़ेगी। लेकिन झेन फकीर आखिरी बात कहते हैं। वे कहते हैं, बैठ जाओ, कुछ करो मत! बड़ा कठिन होता है बैठ जाना और कुछ न करना।

तुमने कभी खयाल किया, घर में कुछ करने को न हो तो कैसी मुसीबत आ जाती है! फर्नीचर ही जमाने लगते हैं लोग; अभी कल ही जमाया था, फिर से जमाने लगते हैं। झाड़-पोंछ करने लगते हैं। कल ही की थी, फिर से करने लगते हैं। अखबार पुराना पड़ा है, उसी को पढ़ने लगते हैं; उसे पढ़ चुके हैं पहले ही। तुमने कभी खयाल किया? कुछ न कुछ करने लगते हैं! कुछ न हो तो कुछ खाने-पीने लगेंगे।

मैं यात्रा करता था वर्षों तक, तो मेरे साथ एक मित्र कभी-कभी यात्रा पर जाते थे। तो वे मुझसे बोले कि बड़ी अजीब बात है, घर ऐसी भूख नहीं लगती। ट्रेन में मेरे साथ कभी उनको तीस घंटे बैठना पड़ता। घर ऐसी भूख नहीं लगती, क्या मामला है? और घर तो काम में लगे रहते हैं और भूख नहीं लगती, और ट्रेन में तो सिर्फ बैठे हुए हैं। ट्रेरन में अनेक लोगों को भूख लगती है। और अगर घर से कुछ कलेवा ले कर चले हैं फिर तो बड़ी बेचैनी हो जाती है। फिर तो कब खोलें...!

तो मैंने उनसे कहा कि इसका कारण...कारण कुल इतना है कि तुम खाली नहीं बैठ सकते। अब यह एक झाझेन हो गया, एक क्रिया हो गई झेन की, कि बैठे ट्रेन में तीस घंटे तक, अब कुछ काम भी नहीं है। बाहर भी कब तक देखो, आंखें थक जाती हैं। अखबार भी कब तक पढ़ो, थोड़ी देर में चुक जाता है। तो कुछ खाओ, फिर से बिस्तर जमाओ, फिर से सूटकेस खोल कर देखो; जैसे कि किसी और का है! तुम्हीं जमा कर आए हो घर से। उसको व्यवस्थित कर लो!

मैंने देखा कि...मैं देखता रहता कि क्या रहे हैं वे। फिर चले बाथरूम! क्यों? अभी तुम गये थे! न मालूम क्या मामला है? खिड़की खोलते, बंद करते!

आदमी को कुछ उलझन चाहिए। उलझा रहे, व्यस्त रहे तो ठीक मालूम पड़ता है। उलझा रहे, व्यस्त रहे तो पुरानी आदत के अनुकूल सब चलता रहता है। खाली छूट जाए, शून्य पकड़ने लगता है। वही शून्य ध्यान है। खाली छूट जाए, मोक्ष उतरने लगता है।

मोक्ष का तुम्हें पता ही नहीं। तुम दरवाजा बंद कर-कर देते हो। जब भी मोक्ष कहता है, जरा भीतर आने दो, तुम फिर कुछ करने में लग जाते हो।

मोक्ष तभी आयेगा, जब तुम ऐसी घड़ी में होओगे जब कुछ भी नहीं कर रहे। तब अचानक उतर आता है। वह परम आशीष बरस जाता है। एकदम प्रसाद सब तरफ खड़ा हो जाता है। क्योंकि मोक्ष तो प्रत्येक का स्वभाव है; तुम्हारे करने पर निर्भर नहीं।

लेकिन गुरु देखता है अगर कोई वासना करने की थोड़ी-बहुत शेष रह गई, उसको भी निपटा लो।

"तुझ से संसार उत्पन्न होता है; जैसे समुद्र से बुलबुला। इस प्रकार आत्मा को एक जान और ऐसा जान कर मोक्ष को प्राप्त हो।"

इति ज्ञात्वैकमात्मानमेवमेव लयं व्रजं।

वे कहते हैं, तू एक काम कर ले। इतना जान ले कि आत्मा सर्व के साथ एक है।

अब यह ज्ञान की यात्रा शुरू करवा रहे हैं। ऐसे तो कई नासमझ बैठे हैं, जो दोहराते रहते हैं बैठे-बैठे कि मैं और ब्रह्म एक, मैं और ब्रह्म एक। दोहराते रहो जन्मों तक, कुछ भी न होगा। तोते बन जाओगे। दोहराते-दोहराते ऐसी भ्रांति भी पैदा हो सकती है कि शायद मैं और ब्रह्म एक। मगर इस भ्रांति का नाम ज्ञान नहीं है।

"दृश्यमान जगत प्रत्यक्ष होता हुआ भी रज्जु-सर्प की भांति तुझ शुद्ध के लिए नहीं है। इसलिए तू निर्वाण को प्राप्त हो।"

यह सब भ्रांति है। यह सब भ्रांति से जाग! निर्वाण को प्राप्त हो! यह सब सपना है; जैसे रस्सी में सांप दिखाई पड़ जाए।

व्यक्तम् विश्वम् प्रत्यक्षम् अपि अवस्तुत्वात्।

यद्यपि दिखाई पड़ता है यह विश्व, फिर भी नहीं है। ऐसा ही दिखाई पड़ता, जैसे रस्सी में सांप।

अमले त्वयि रज्जुसर्पः इव न अस्ति।

तुझ शुद्ध में, तुझ बुद्ध में, कोई भी मल, कोई भी दोष नहीं है। अगर दोष दिखाई भी पड़ता हो तो वह भी रज्जु में सर्पवत है।

एवम् एव लयम् व्रज।

ऐसा जान कर तू लय को प्राप्त हो जा! तू निर्वाण को प्राप्त हो जा!

दो ही बातें हैं जो संसार के भोग से जागे हुए आदमी को पकड़ सकती हैं: एक त्याग और एक ज्ञान। त्याग: कि छोड़ो; तपश्चर्या में उतरो, उपवास करो, नींद त्यागो, इसको छोड़ो उसको छोड़ो; और ज्ञान: ऐसा जानो, वैसा जानो, और जानने को मजबूत करो।

दो तरह के लोग हैं संसार में: जो बहुत सक्रिय प्रवृति के लोग हैं वे तो संसार से छूटते ही त्याग में लग जाते हैं। जो थोड़ी निष्क्रिय प्रवृति के लोग हैं, विचारक वृत्ति के लोग हैं, वे संसार से छूटते ही ज्ञान में लग जाते हैं। मगर दोनों ही अड़चनें हैं।

तुम अक्सर पाओगे: या तो संसार से भागा हुआ आदमी पंडित हो जाता है, शास्त्र दोहराने लगता; या शरीर को गलाने लगता, सताने लगता। दोनों ही अवरोध हैं। न तो यहां कुछ जानने को है, न यहां कुछ करने को है। ज्ञाता तुम्हारे भीतर छुपा है, जानना क्या है? जानने वाला तुम्हारे भीतर बैठा है, सबको जानने वाला तुम्हारे भीतर बैठा है। जानना क्या है?

ये अध्यात्म के आत्यंतिक उदघोष हैं। इसलिए तुम्हें कठिन भी मालूम पड़ें तो भी समझने की कोशिश करना।

"दुख और सुख जिसके लिए समान हैं, जो पूर्ण है, जो आशा और निराशा में समान है, जीवन और मृत्यु में समान है; ऐसा हो कर तू निर्वाण को प्राप्त हो।"

समदुःखसुखः पूर्ण आशानैराश्ययोः समः।

सुख-दुख जिसे समान दिखाई पड़ें, आशा-निराशा जिसे समान दिखाई पड़े--यही तो वैराग्य की परिभाषा है।

समजीवितमृत्युः।

--मृत्यु और जीवन भी जिसे समान मालूम पड़ें।

सन्नैवमेव लयं व्रज।

--ऐसा जान कर तू निर्वाण को प्राप्त कर ले जनक।

फिर एक लक्ष्य दे रहे उसे। या तो त्याग दे देहाभिमान और या "मैं स्वयं परमब्रह्म हूं, आत्मा हूं, आत्मा सर्व से एक है"--ऐसे ज्ञान को पकड़ ले। ये दो रास्ते हैं तेरे मुक्त हो जाने के।

अगर कोई भी साधारण साधक होता तो उलझ गया होता। अगर सक्रिय व्यक्ति होता तो कर्मयोग में पड़ जाता। अगर निष्क्रिय व्यक्ति होता तो ज्ञानयोग में पड़ जाता।

भक्ति की बात अष्टावक्र ने नहीं उठाई, क्योंकि जनक में उसकी कोई संभावना नहीं थी। ये दो संभावनाएं थीं। क्षत्रिय था जनक, तो सक्रिय होने की संभावना थी। बीज-रूप से योद्धा था, तो सक्रिय होने की संभावना थी। इसीलिए तो जैनों के सारे तीर्थंकर, चूंकि क्षत्रिय थे, गहन त्याग में पड़ गए।

तो एक तो संभावना थी कि जनक महात्यागी हो जाए। और एक संभावना थी--क्योंकि सम्राट था, सुशिक्षित था, सुसंस्कृत था उस जगत का, उस जमाने का जो भी शुद्धतम ज्ञान संभव था वह जनक को उपलब्ध हुआ था--दूसरी संभावना थी, बड़ा विचारक हो जाए। भक्ति की कोई संभावना न दिखाई पड़ी होगी, इसलिए

अष्टावक्र ने वह कोई सवाल नहीं उठाया। ये दो सवाल उठाए। ये दो अचेतन में पड़ी हुई संभावनाएं हैं, कहीं भीतर सरकती हुई गुंजाइश है; इनमें अंकुरण हो सकता है।

हम अपने ही ढंग से समझते हैं, कुछ भी कहा जाए। मैं तुमसे कह रहा हूं; जितने लोग यहां हैं, उतनी बातें पैदा हो जाएंगी। मैं तो एक ही हूं कहने वाला; लेकिन जितने लोग यहां हैं उतनी बातें पैदा हो जाएंगी। लोग अपने ढंग से समझते हैं।

मुल्ला नसरुद्दीन के बेटे से मेरी बात हो रही थी। छोटा बच्चा है, उसने अचानक मुझसे पूछा कि आप एक बात बताएं। आप सबके सवाल का जवाब देते हैं, मेरे सवाल का जवाब दें। आदमी जब मरता है तो उसकी जान कहां से निकलती है?

छोटे बच्चे अक्सर ऐसी बात पूछ लेते हैं। मैं भी थोड़ा चौंका। मैंने उससे पूछा, तुझे पता है कहां से निकलती है? वह हंसने लगा। उसने कहा, मुझे पता है। मैंने कहा, तो पहले तू बता दे। उसने कहा, खिड़की से निकलती है।

मैंने उससे पूछा, अच्छा यह कैसे? तुझे कैसे पता चला?

उसने कहा, एक दिन मैंने देखा कि पापा (अर्थात मुल्ला नसरुद्दीन)...एक दिन मैंने देखा कि पापा जब खिड़की के पास खड़े थे, नीचे सड़क से कोई लड़की निकल रही थी तो वे बोले, ठहरो मेरी जान! तभी मैंने समझा कि जान खिड़की से निकल जाती है।

छोटा बच्चा है, उसने ठीक समझा, जहां तक समझ सकता था बिलकुल ठीक समझा।

हम वही समझते हैं जो हम समझ सकते हैं। जनक ऐसा समझा जैसा जनक समझ सकता है। जनक की समझ बड़ी असाधारण है, बड़ी विशिष्ट है। वह साधारण व्यक्ति की समझ नहीं है। अष्टावक्र को भी थोड़ा-सा रहा होगा कि पता नहीं, जनक समझ पायेगा कि नहीं समझ पायेगा। स्वाभाविक भी है, क्योंकि यह घटना इतनी बड़ी है, यह ऊंचाई इतनी बड़ी है, यहां तक कोई चढ़ पायेगा कि नहीं चढ़ पायेगा!

"सुख और दुख जिसके लिए समान हैं।"

खयाल रखना, तुम अगर चेष्टा करो तो सुख और दुख समान हो सकते हैं। और फिर भी तुम बंधन में रहोगे। जीवन और मृत्यु भी समान हो सकती हैं--मान्यता के आधार पर। तुम अपने को समझा ले सकते हो, तुम अपने को सम्मोहित कर ले सकते हो, कि सब समान है। लेकिन इससे कोई...कोई महत घटना न घटेगी जो तुम्हें बदल जाए और तुम्हें नये अर्थ और नये अभिप्राय और नये आकाश दे जाए।

जनक ने कहा...।

अब जनक के सूत्र हैं। ये बड़े अनूठे सूत्र हैं। ऐसा लगता है जैसे जनक की गहराई में उतर कर अष्टावक्र ने कहे होंगे। ऐसा लगता है कि जैसा अष्टावक्र चाहते होंगे, ठीक वैसा जनक ने प्रत्युत्तर दिया। ऐसा शिष्य पाना दुर्लभ है।

जनक ने कहा: "मैं आकाश की भांति हूं। संसार घड़े की भांति प्रकृति-जन्य है, ऐसा ज्ञान है। इसलिए न इसका त्याग है, और न ग्रहण है, और न लय है।"

बड़ी क्रांति की बात कही जनक ने! नाच उठे होंगे अष्टावक्र। माना कि उनका शरीर आठ जगह से टेढ़ा था, लेकिन इस क्षण रुक न सके होंगे, नाचे होंगे। यह तो परम कमल खिला, सहस्रार खिला।

आकाशवदनंतोऽहं घटवत् प्राकृतं जगत्।

मैं हूं आकाश की भांति। संसार तो घड़े की भांति है; बनता और मिटता रहता है। आकाश पर इसका कोई परिणाम नहीं है। संसार उठते हैं, बनते हैं, मिटते हैं; जैसे सपने बनते, उठते, मिटते हैं। लेकिन साक्षी तो आकाश जैसा शुद्ध बना रहता है। मुझे कोई चीज अशुद्ध कर ही नहीं सकती--इसकी घोषणा की जनक ने। इसलिए आप यह तो बात ही छोड़ दें कि मैं शुद्ध हो कर और मुक्ति को प्राप्त हो जाऊं। मैं कभी अशुद्ध हुआ ही नहीं।

माना कि दूध में पानी मिलाया जा सकता है, क्योंकि दूध और पानी दोनों ही एक ही ढंग के पदार्थ हैं। तुम तेल में पानी को तो न मिला सकोगे। फिर भी तेल और पानी को साथ-साथ तो किया ही जा सकता है; मिलें न मिलें, एक ही बोतल में भरा तो जा ही सकता है। क्योंकि दोनों फिर भी पदार्थ हैं। लेकिन आकाश को तो तुम किसी चीज से भी मिला नहीं सकते। आकाश तो शुद्ध निर्विकार है।

इस पृथ्वी पर कितने लोग पैदा हुए--अच्छे-बुरे, पुण्यात्मा-पापी; कितने युद्ध हुए, कितने प्रेम घटे; कितने वसंत आए, पतझड़ हुए--आकाश तो निर्विकार खड़ा रहता। कोई रेखा नहीं छूट जाती। आकाश में तो कोई आकार नहीं बनता।

इति ज्ञानं!--यह बड़ी अदभुत बात है।

जनक कहते हैं: मैं आकाशवत हूं। इति ज्ञानं। यही ज्ञान है। अब और किस ज्ञान की आप मुझसे कह रहे हैं कि मैं ज्ञान को पा लूं, ज्ञान को खोज लूं? ज्ञान हो गया! इति ज्ञानं!

तथैतस्य न त्यागो न ग्रहो लयः।

सारे आध्यात्मिक साहित्य में ऐसा सूत्र तुम न खोज सकोगे। ऐसे तो बहुत-से शास्त्र हैं जो कहते हैं: न भोग है न त्याग है। लेकिन जनक कहते हैं: न भोग है, न त्याग है, न मोक्ष; लय भी नहीं है।

यह तीसरी बात सोचने जैसी है।

"मैं आकाश की भांति हूं। संसार घड़े की भांति प्रकृति-जन्य है।"

घड़े बनते-मिटते रहते हैं। घड़ा जब बन जाता है तो घड? के भीतर आकाश हो जाता है, घड़े के बाहर हो जाता है। घड़ा फूट जाता है, भीतर का आकाश बाहर का आकाश फिर एक हो जाते हैं। शायद जब घड़ा बना रहता है तब भी बाहर और भीतर के आकाश अलग नहीं होते। क्योंकि घड़ा पोरस है, छिद्रों से आकाश जुड़ा हुआ है। आकाश छिन्न-भिन्न नहीं होता, खंडित नहीं होता। तुम तलवार से आकाश को काट तो नहीं सकते। सब सीमाएं काल्पनिक हैं, बनाई हुई हैं। आकाश पर कोई रेखा खिंचती नहीं।

मैं आकाश की भांति हूं--ऐसा ज्ञान है। इति ज्ञानं! इसलिए न इसका त्याग है, न इसका ग्रहण है और न लय है।

"मैं समुद्र के समान हूं। यह संसार तरंगों के सदृश्य है। ऐसा ज्ञान है। इसलिए न इसका त्याग है, न इसका ग्रहण है और न इसका लय है।"

महोदधिरिवाहं स प्रपंचो वीचिसन्निभिः।
इति ज्ञानं तथैतस्य न त्यागो न ग्रहो लयः।।

जनक कहने लगे, मुझे गुरुदेव उलझाओ मत। तुम मुझे उलझा न सकोगे। मुझे तुमने जगा ही दिया। अब जाल न फेंको। अब तुम्हारे प्रलोभन किसी भी काम के नहीं हैं। खूब ऊंचे प्रलोभन तुम दे रहे हो कि ऐसा जान कर तू मुक्ति को प्राप्त हो जा।

जनक कहते हैं, मैं मुक्त हूं। इति ज्ञानं! ऐसा ज्ञान है; अब और कहां ज्ञान बचा? मुक्त हो जाऊं--तो फिर तुम वासना को जगाते हो। मोक्ष को खोजूं--तो फिर तुम आकांक्षा को जगाते हो। फिर पल्लवित करते हो--जो जल गया, दग्ध हो गया, मिट गया। यह बात किससे कर रहे हो? बंद कर लो यह प्रलोभन देना। अब तुम मुझे न फुसला सकोगे।

अष्टावक्र जैसा कुशल व्यक्ति भी बड़ी सूक्ष्म भाषा में छिपे हुए जाल को जनक को अब बेच नहीं पाता है। जनक अब ग्राहक ही न रहे। जनक निश्चित ही जागे हैं।

महोदधि...जैसे समुद्र में, महोदधि में उठती हैं तरंगें--ऐसा ज्ञान है। मैं महोदधि हूं। मैं समुद्र हूं। यह संसार तरंगों के सदृश्य है। यह संसार मुझसे अलग दिखाई पड़ता हुआ भी अलग कहां? लहरें समुद्र से अलग कहां हैं? समुद्र में हैं, समुद्र की हैं। समुद्र ही तो लहराता है, और कौन है? यह संसार भी मैं हूं; इस संसार का न होना भी मैं हूं। जब लहरें होती हैं तब भी समुद्र है, जब लहरें नहीं होतीं, तब भी समुद्र है। इति ज्ञानं! ऐसा ज्ञान है। अब

किसको छोड़ूं? समुद्र लहरों को छोड़े?--बात ही नासमझी की है। समुद्र लहरों को पकड़े?--पकड़ने की कोई जरूरत ही नहीं है; लहरें समुद्र की ही हैं। मुक्ति कहां, मोक्ष कहां? कैसी मुक्ति, कैसा मोक्ष? ऐसा जान कर मैं मुक्त हो ही गया हूं। इति ज्ञानं!

"मैं सीपी के समान हूं। विश्व की कल्पना चांदी के सदृश्य है। ऐसा ज्ञान है। इसलिए न इसका त्याग है, न इसका ग्रहण है, न लय है।"

अहं स शुक्तिसंकाशो रूप्यवद्विश्वकल्पना।
इति ज्ञानं तथैतस्य न त्यागो न ग्रहो लयः।।

"मैं निश्चित सब भूतों में हूं और यह सब भूत मुझमें हैं। ऐसा ज्ञान है। इसलिए न इसका त्याग है, न ग्रहण है और न लय है।"

ज्ञान पाना नहीं है। ज्ञान है। या तो है या नहीं है। पा कर कभी किसी ने पाया नहीं। पाने वाला पंडित बन जाता है; जागने वाला, ज्ञानी।

जो होना चाहिए, वह हुआ ही हुआ है। जैसा होना चाहिए, वैसा ही है। अन्यथा क्षण भर को न तो हुआ था, न हो सकता है। इस दशा को जो उपलब्ध हो जाए वही संत है।

कुछ लोग हैं जो संसार में पाने में लगे हैं: धन मिलना चाहिए, पद मिलना चाहिए, प्रतिष्ठा...। कुछ लोग हैं जो स्वर्ग पाने में लगे हैं: वहां पद मिलना चाहिए, वहां प्रतिष्ठा...। कुछ लोग हैं जो इस संसार की कमाई कर रहे हैं, कुछ लोग परलोक की कमाई कर रहे हैं। किन्हीं का बैंक यहां है, किन्हीं का दूर स्वर्गों में। पर कोई फर्क नहीं पड़ता। दोनों कमाने में लगे हैं। संत वही है जो कहता है, कैसा कमाना? यह सारा जगत मेरा है। इस सारे जगत का मैं हूं। मुझमें और इस जगत में रत्ती-मात्र भी फासला नहीं।

अब तो इस मंजिल पर आ पहुंचे हैं तेरी चाहत में,
खुद को तुझ में पाते हैं हम, तुझको खुद में पाते हैं।

अब यह मैंत्तू का फासला नहीं है। यह सिर्फ भाषा का खेल है, शायद लीला है। एक तरंग दूसरी तरंग से अलग नहीं है।

अब तो इस मंजिल पर आ पहुंचे हैं तेरी चाहत में,
खुद को तुझ में पाते हैं हम, तुझको खुद में पाते हैं।
ऐसी घड़ी--इति ज्ञानं!
जमाले-निगारां पे अशआर कह कर,
करारे-दिले-आशिकां हो गए हम।
शनासा-ए-राजे-जहां हो गए हम,
तो बेफिक्रे-सूदो-जियां हो गए हम।

संसार के रहस्य से परिचित हो गए। तो फिर सब लाभ-हानि से निश्चिंत हो गए--यहां न कुछ लाभ है, यहां न कुछ हानि है; क्योंकि यहां हमारे अतिरिक्त कोई है ही नहीं। न तो कोई छीन सकता है, न कोई दे सकता है। न तो लोभ में कुछ अर्थ है, न क्रोध में कुछ अर्थ है।

क्रोध ऐसा ही है जैसे कोई अपना ही चांटा अपने ही गाल पर मार ले। लोभ ऐसा ही है जैसे कोई अपने ही घर में अपनी ही चीजों को छिपा कर, सम्हाल कर रख ले--अपने से ही--कि कहीं चोरी न कर बैठूं!

जमाले-निगारां पे अशआर कह कर,
करारे-दिले-आशिकां हो गए हम।
शनासा-ए-राजे-जहां हो गए हम!
जान लिया--
शनासा-ए-राजे-जहां हो गए हम!

जान लिया रहस्य--जगत का, जीवन का, संसार का। रहस्य खुल गया!

तो बेफिक्रे-सूदो-जियां हो गए हम।

अब न कुछ हानि है, अब न कोई लाभ है।

"आप किससे कहते हैं"--जनक ने कहा--"सुख-दुख में समान हो जा? यहां सुख है कहां? दुख है कहां? आप कहते हैं, जीवन-मृत्यु में समभाव रख। समभाव रखने का तो मतलब ही यह हुआ कि दोनों अलग हैं, दोनों में समभाव रखना है। दोनों एक ही हैं, समभाव रखना किसको है? और दोनों मुझमें ही हैं और दोनों में मैं हूं।"

व्यक्ति जहां शून्य हो जाता, वहां समष्टि के साथ एक हो जाता। इसलिए कहा कि ब्रह्म को जो जान लेता, वह ब्रह्म हो जाता। सत्य को जो जान लेता, वह सत्य हो जाता। जो हम जान लेते हैं, वही हम हो जाते हैं।

अहं वा सर्वभूतेषु सर्वभूतान्ययो मयि।
इति ज्ञानं तथैतस्य न त्यागो न ग्रहो लयः।।

ये छोटे-से चार सूत्र जब जनक ने कहे होंगे, तुम अष्टावक्र के आनंद की कल्पना नहीं कर सकते!

जब शिष्य उपलब्ध होता है तो तुम गुरु की प्रसन्नता का अनुभव नहीं कर सकते। जैसे फिर से गुरु को परम आनंद मिलता है; जो उसे मिला ही हुआ था, वह उसे फिर से मिलता है। जब शिष्य में दीया जलता है तो जैसे गुरु के प्रकाश में और भी एक नया सूरज जुड़ा! हजारों सूरज वहां थे, एक हजार एक हुए! इसकी ही अपेक्षा थी, इसलिए परीक्षा थी। इसकी ही अपेक्षा थी, इसलिए प्रलोभन था। जनक से यह संभावना थी, इसलिए जनक को जल्दी नहीं छोड़ दिया।

जिन शिष्यों को गुरु जल्दी छोड़ देता है, वह इसलिए छोड़ देता है कि उनकी संभावना बहुत नहीं है; उन्हें ज्यादा कसने में वे टूट जाएंगे। परीक्षा उतनी ही ली जा सकती है जितनी सामर्थ्य हो। परीक्षा सीमा के बाहर हो तो शिष्य को नष्ट कर जाएगी, बना न पाएगी।

जनक को आखिर तक खींचा, आखिरी प्रलोभन दिया ज्ञान का और त्याग का। ज्ञान और त्याग आखिरी बाधाएं हैं। जो उनके भी पार हो गया, वही मुक्त है।

जिसने ऐसा जान लिया कि मैं मुक्त हूं, वही मुक्त है। इति ज्ञानं!

ऐसे तो अज्ञानी भी बड़ी ज्ञान की बातें कर लेते हैं। अक्सर अज्ञानी ज्ञान की बातें करते हैं। तभी तो अपने अज्ञान को छिपा पाते हैं। नहीं तो छिपाएंगे कैसे? ज्ञान की बातों में अज्ञान खूब व्यवस्था से छिप जाता है। रोग हो, बीमारी हो, तो तुम स्वास्थ्य की चर्चा में छिपा सकते हो। अक्सर बीमार ही स्वास्थ्य की चर्चा करते हैं। घाव हो, तुम ऊपर से फूल लगा सकते हो; सुंदर वस्त्रों में ढांक सकते हो; मखमल रेशम में ढांक सकते हो। लेकिन उससे घाव मिटेगा नहीं।

तुम्हें अक्सर इस संसार में लोग कहते हुए मिल जाएंगे: सुख-दुख में समानता रखो, जीवन-मृत्यु में समानता रखो। लेकिन समानता रखो? तो इसका अर्थ ही यह हुआ कि दोनों असमान हैं और समानता तुम्हें रखनी है। यह तो चेष्टा हुई। जहां चेष्टा है, वहां ज्ञान नहीं। ज्ञान तो सहज है। सहज है तो ही ज्ञान है। इति ज्ञानं! जो चेष्टा से आता है, वह तो खबर दे रहा है कि भीतर विपरीत मौजूद है; नहीं तो चेष्टा किसके खिलाफ?

एक आदमी चेष्टा से क्रोध से लड़ रहा है और कहता है, शांत रहना चाहिए, शांत रहना ही धर्म है। ये तुम्हें बातें जंचती भी हैं कि शांत रहना धर्म है। शांत रहना धर्म नहीं है। शांत रहने की चेष्टा तो केवल क्रोध को छिपाने का उपाय है। शांत हूं, ऐसा जान लेना धर्म है; शांत रहने की चेष्टा नहीं। शांत हूं ही--ऐसे अनुभव में, ऐसे साक्षात्कार में उतर जाना।

मुल्ला नसरुद्दीन एक दिन अपने पड़ोसी से कहता था: घोर मुसीबत में इतना याद रखना चाहिए--आधे लोगों को तुम्हारी मुसीबत सुनने में रस नहीं और बाकी आधे लोगों का खयाल है कि तुम इसी लायक हो।

अब वह बड़े ज्ञान की बात कह रहे हैं। अज्ञानियों से भी तुम ज्ञान के बड़े वचन सुनोगे; हालांकि उनके कारण हमेशा गलत होंगे। वे बातें तो सही करेंगे, लेकिन कारण गलत होंगे।

क्रोध के विपरीत नहीं है शांति कि तुम साध लो। जहां शांति है वहां क्रोध नहीं है, यह सच है। शांति क्रोध का अभाव है, विपरीत नहीं। लोग यही सोचते हैं कि शांति क्रोध का वैपरीत्य है, विपरीत स्थिति है; तो क्रोध को हटाओ तो शांति होगी। हटाने से शांति न होगी। हटाने में तुम और अशांत हो जाओगे। हटाने में इतना ही हो सकता है कि तुम शांति का एक कलेवर ओढ़ लो; एक वस्त्राभरण, और भीतर सब छिप जाए, जहर की तरह, मवाद की तरह। वह कभी फूटेगा।

कामवासना के विपरीत नहीं है ब्रह्मचर्य। जहां ब्रह्मचर्य है, वहां कामवासना नहीं है--यह सच है। इति ज्ञानं! पर कामवासना के विपरीत नहीं है ब्रह्मचर्य। कामवासना को रोक रोक कर, सम्हाल- सम्हाल कर कोई ब्रह्मचर्य नहीं होता। कोई जान लेता है कि मैं ब्रह्म हूं, उसकी चर्या में ब्रह्म उतर आता है। ब्रह्मचर्य यानी ब्रह्म जैसी चर्या। उसका कामवासना से कोई भी संबंध नहीं है। इस शब्द को तो देखो! इतना अदभुत शब्द है ब्रह्मचर्य। उसको तुम्हारे तथाकथित महात्माओं ने बुरी तरह भ्रष्ट किया। ब्रह्मचर्य का वे मतलब करते हैं: कामवासना से मुक्त हो जाना। ब्रह्मचर्य में कहीं कामवासना की बात ही नहीं है। ब्रह्म जैसी चर्या! ईश्वरीय व्यवहार!

मगर ब्रह्म जैसी चर्या तो तभी होगी जब तुम्हें ब्रह्म का भीतर अनुभव हो। जिसको ब्रह्म का अनुभव हो गया, उसकी चर्या में ब्रह्मचर्य। वह कहेगा, सागर में लहरें हैं, वह भी मेरी। वह कहेगा, सब कुछ मेरा है और सब कुछ का मैं हूं। न यहां कुछ छोड़ने को है, न यहां कुछ पकड़ने को। संसार ही मोक्ष है फिर, फिर जाना कहां है?

झेन फकीर रिंझाई का बड़ा प्रसिद्ध वचन है: संसार निर्वाण है। सैकड़ों वर्षों से अनेकों लोगों को बेचैन करता रहा रिंझाई का यह सूत्र। संसार निर्वाण है? यह तो बात बड़ी अजीब-सी है। संसार, और निर्वाण? यह तो ऐसे हुआ कि जैसे कोई कहे भोग त्याग है। मगर बात सही है।

रिंझाई यही कह रहा है: न कुछ छूटने को है, न कुछ छोड़ने को है, न कुछ पाने को है--ऐसा जिसने जान लिया वह निर्वाण की अवस्था में आ गया। इति ज्ञानं! फिर वह संसार में ही रहेगा, भागेगा कहां? जाएगा कहां? जाना कहां है? जो है वह उसे स्वीकार है। लहर है तो लहर स्वीकार है; लहर खो गई तो लहर का खो जाना स्वीकार है। उसकी स्वीकृति परम है। उसकी अवस्था तथाता की है। जो है, उसे स्वीकार है। अन्यथा की वह मांग नहीं करता; अन्यथा हो भी नहीं सकता।

जब तक तुम चाहते हो अन्यथा हो जाए, कुछ और हो जाए, जैसा है उससे भिन्न हो जाए--तब तक तुम बेचैन रहोगे। जिस दिन तुमने कहा--जैसा है वैसा है; और जैसा है वैसा ही रहेगा; और जैसा है उससे मैं राजी हूं--तुम मुक्त हो गए! इति ज्ञानं!

हरि ॐ तत्सत्!

बाईसवां प्रवचन

एकटि नमस्कारे प्रभु एकटि नमस्कारे!

पहला प्रश्न: कपिल ऋषि के सांख्य-दर्शन, अष्टावक्र की महागीता और कृष्णमूर्ति की देशना में क्या देश-काल अनुसार अभिव्यक्ति का ही भेद है? कृपा करके समझाइये!

सत्य तो कालातीत है, देशातीत है। सत्य का तो देश और काल से कोई संबंध नहीं। सत्य तो शाश्वत है; समय की सीमा के बाहर है। लेकिन अभिव्यक्ति कालातीत नहीं है, देशातीत नहीं है। अभिव्यक्ति समय के भीतर है; सत्य समय के बाहर है। जो जाना जाता है, वह तो समय में नहीं जाना जाता; लेकिन जो कहा जाता है, वह समय में कहा जाता है। जो जाना जाता है, वह तो नितांत एकांत में; वहां तो कोई दूसरा नहीं होता। लेकिन जो कहा जाता है, वह तो दूसरे से ही कहा जाता है।

सत्य की घटना तो घटती है व्यक्ति में; अभिव्यक्ति की घटना घटती है समाज में, समूह में।

तो स्वभावतः, कपिल जिनसे बोले, उनसे बोले। अष्टावक्र ने जिससे कहा, उससे कहा। कृष्णमूर्ति जिससे बोलते हैं, स्वभावतः उससे ही बोलते हैं। भेद अभिव्यक्ति में पड़ेगा। लेकिन जो जाना गया है, वह अभिन्न है।

इसका यह अर्थ मत समझ लेना कि कृष्णमूर्ति अष्टावक्र को दोहरा रहे हैं, या अष्टावक्र कपिल को दोहरा रहे हैं, या कपिल कृष्णमूर्ति को दोहरा रहे हैं। कोई किसी को दोहरा नहीं रहा है। जब तक दोहराना है तब तक सत्य का कोई अनुभव नहीं है। दोहराया गया सत्य, असत्य हो जाता है। जाना हुआ सत्य ही सत्य है। माना हुआ सत्य, असत्य है। प्रत्येक ने स्वयं जाना है।

और जब कोई सत्य को जानता है स्वयं, तो उसे ऐसा जरा भी भाव पैदा नहीं होता कि ऐसा किसी और ने भी जाना होगा। वह घटना इतनी अलौकिक, इतनी अद्वितीय, इतनी मौलिक है कि प्रत्येक व्यक्ति जब जानता है तो ऐसा ही अनुभव करता है: पहली बार, प्रथम बार यह किरण उतरी!

जैसे कि जब कोई व्यक्ति किसी के प्रेम में पड़ता है, तो क्या उसे लगता है यह प्रेम किसी और ने कभी जाना होगा? पृथ्वी पर अनेक प्रेमी हुए, अनंत प्रेमी हुए; लेकिन जब भी प्रेम की किरण उतरती है किसी हृदय में, तो उसे लगता है ऐसा प्रेम बस मैं ही जान रहा हूं। क्योंकि प्रेम पुनरुक्ति नहीं है; तुम किसी से उधार नहीं लेते। जब घटता है तो तुम्हें घटता है। और जब घटता है तो तुम्हें तो पहली बार ही घटता है। दूसरों को घटा, इसका न तो तुम्हें पता हो सकता...। दूसरों को कैसा घटा, इसका कोई अनुभव भी तुम्हें नहीं हो सकता। तुम्हें तो अपना ही अनुभव प्रतीत होता है।

इसलिए सत्य जब भी घटता है तो मौलिक उदघोषणा होती है। इस कारण ही अनुयायी बड़े धोखे में पड़ जाते हैं। अनुयायी भी दावा करने लगते हैं कि जो कपिल ने जाना वह किसी ने नहीं जाना; जो अष्टावक्र ने जाना वह किसी ने नहीं जाना; जो कृष्णमूर्ति कहते हैं वह किसी ने नहीं कहा। यह अनुयायी की भ्रांति है। यही जाना गया है; अन्यथा जानने को कुछ है ही नहीं। और यही कहा गया है। शब्दों के कितने ही भेद हों, सुनने वालों के कितने ही भेद हों--यही जाना गया है, यही कहा गया है!

लेकिन जब भी यह जाना जाता है तो सत्य का यह गुणधर्म है कि उसके साथ-साथ मौलिक होने की स्फुरणा होती है। तुम्हें लगता है, बस पहली दफा! न ऐसा कभी हुआ, न ऐसा फिर कभी होगा।

जब बुद्ध को सत्य का अनुभव हुआ तो उन्होंने उदघोषणा की: अपूर्व! पहले कभी हुआ नहीं, ऐसा मुझे अनुभव हुआ है।

यह उनके संबंध में घोषणा है। लेकिन शिष्यों ने समझा कि अपूर्व! अर्थात किसी को ऐसा नहीं हुआ, जैसा बुद्ध को हुआ है। भ्रांति हो गई। फिर बुद्ध के पीछे चलने वाला दावा करता है कि जो बुद्ध को हुआ वह महावीर को नहीं हुआ। जो बुद्ध को हुआ वह शंकर को नहीं हुआ। जो बुद्ध को हुआ वह अपूर्व है। खुद बुद्ध का वचन है कि जो मुझे हुआ वह अपूर्व है।

लेकिन बुद्ध के वचन का अर्थ बड़ा भिन्न है। बुद्ध सिर्फ अपने अनुभव की बात कर रहे हैं। वे कह रहे हैं, ऐसा मुझे कभी न हुआ था। यह सुबह पहली बार हुई। यह रात पहली बार टूटी। यह अंधेरा पहली बार हटा है।

अनुत्तर अपूर्व समाधि--बुद्ध ने कहा। लेकिन जब भी किसी को समाधि घटती है, तभी अनुत्तर अपूर्व होती है। उपद्रव होता है सुनने वाले, श्रावक, अनुयायी, पांथिक से। जैसे ही तुम सुनते हो, एक बड़ी अड़चन होती है।

मैं तुमसे कुछ कह रहा हूं, जब तक मैंने नहीं कहा तब तक सत्य है; जैसे ही मैंने कहा और तुमने सुना, असत्य हुआ। क्योंकि जो मैं कह रहा हूं वह मेरा अनुभव है। जो तुम सुन रहे हो, वह तुम्हारा अनुभव नहीं। जो मैं कह रहा हूं, वह मेरी प्रतीति है; जो तुम सुन रहे हो, वह ज्यादा से ज्यादा तुम्हारा विश्वास होगा। विश्वास असत्य है। तुम मानोगे; तुमने जाना नहीं। मानने से उपद्रव खड़ा होता है।

फिर, मानने वालों में संघर्ष खड़ा होता है। क्योंकि किसी ने बुद्ध को सुना, किसी ने महावीर को सुना, किसी ने कपिल को, किसी ने अष्टावक्र को, किसी ने कृष्णमूर्ति को। उन्होंने अलग-अलग अभिव्यक्तियां सुनीं। एक ही गीत है, लेकिन हर कंठ से स्वर भिन्न हो जाते हैं।

तुम्हें पता है ध्वनि-शास्त्री क्या कहते हैं? आधुनिक ध्वनि-शास्त्र की बड़ी से बड़ी खोजों में एक खोज यह है कि जैसे तुम्हारे अंगूठे का चिह्न भिन्न होता है, ऐसे प्रत्येक आदमी की आवाज भिन्न होती है। साऊंड-प्रिंट! दो आदमियों की आवाज एक जैसी नहीं होती। इतना वैभिन्य है व्यक्तित्वों का, कि दो आदमियों की आवाज भी एक जैसी नहीं होती। गीत एक ही दोहराओ, राग भिन्न हो जाता है। गीत एक ही दोहराओ, स्वर भिन्न हो जाता है। गीत एक ही दोहराओ, रंग भिन्न हो जाता है।

तो कृष्णमूर्ति जो कहते हैं, उस पर उनकी ध्वनि की छाप है; उनके व्यक्तित्व की छाप है; उनके हस्ताक्षर हैं। कपिल जो कहते हैं, उस पर उनके हस्ताक्षर हैं। इन हस्ताक्षरों में अगर उलझ गए तो संप्रदाय बनेगा, और अगर हस्ताक्षर को हटा कर मूल को देखने की चेष्टा की तो धर्म का जन्म होता है।

सब संप्रदायों के भीतर कहीं धर्म छिपा है। संप्रदाय वस्त्रों की भांति हैं। और जब तक तुम वस्त्रों को अलग न कर दोगे और निर्वस्त्र धर्म को न खोज लोगे, तक तक तुम्हें धर्म का कोई पता नहीं चलेगा। हिंदू, मुसलमान, ईसाई, सिक्ख, जैन--ये सब संप्रदाय हैं। ये अभिव्यक्तियों के भेद हैं। यह एक ही बात को अलग-अलग भाषाओं में कहने के कारण इतनी भिन्नता मालूम होती है। और भाषाएं अनेक हो सकती हैं। सभी धर्म भाषाओं जैसे हैं।

लेकिन मैं तुमसे यह नहीं कह रहा हूं कि तुम इन सभी धर्मों के बीच कोई समन्वय स्थापित करो। उस भ्रांति में मत पड़ना। वह भ्रांति बौद्धिक होगी। अष्टावक्र को पढ़ो, कृष्णमूर्ति को पढ़ो, कपिल को पढ़ो, फिर उनके बीच समानता खोजो और जो-जो मेल खाता लगे उसे इकट्ठा करो और फिर एक सिंथीसिस, एक समन्वय बनाओ--वह सब बुद्धि का जाल होगा। उससे कुछ तुम्हें धर्म का पता न चलेगा। जहां पहले तीन संप्रदाय थे, वहां चार हो जाएंगे बस। एक तुम्हारा संप्रदाय और संयुक्त हो जाएगा।

एक गांव में कुछ लोग झगड़ रहे थे। मुल्ला नसरुद्दीन पास से गुजरता था। तो उसने कहा, भई! झगड़ते क्यों हो? यह निपटारा तो बातचीत से हो सकता है। इतनी तलवारें क्यों खींचे हुए हो? खून, खतरा हो जाएगा, रुको!

उसने गांव के दो-चार पंच इकट्ठे कर दिए और कहा कि आप...तो दोनों पार्टियों ने अपने पांच-पांच पंच चुन लिए...ये निर्णय कर देंगे झगड़े का।

जब शाम को मुल्ला वहां वापिस पहुंचा तो देखा, जहां सुबह थोड़े-से झगड़ने वाले थे वहां और भारी भीड़ है। तलवारें खिंची हैं। उसने कहा, मामला क्या है?

उन्होंने कहा कि अब ये पंच भी लड़ रहे हैं। पहले तो सुबह विवादी थे, वे लड़ रहे थे; अब ये पंच भी लड़ रहे हैं। और तो कोई उपाय नहीं है। किसी ने सलाह दी कि नसरुद्दीन पंचों के लिए भी पंच नियुक्त करो। नसरुद्दीन ने कहा, अब बहुत हो गया। अब मुझे अक्ल आ गई। यह तो सुबह ही निपट लेते तुम, तो बेहतर था; यह तो झगड़ा और बढ़ गया।

जो समन्वयवादी हैं इनसे संप्रदाय समाप्त नहीं होते। जहां तीन संप्रदाय होते हैं, वहां इन तीन की जगह यह चार, चौथा समन्वय: अल्लाह ईश्वर तेरे नाम! चौथा खड़ा हो जाता है। उसके अपने दावे शुरू हो जाते हैं। समन्वय का उसका दावा हो जाता है।

तुमने देखा, महावीर के साथ ऐसा हुआ! महावीर ने कहा कि सभी सत्य की अभिव्यक्तियां सत्य हैं, आंशिक सत्य हैं; कोई अभिव्यक्ति पूर्ण सत्य नहीं है। इसलिए महावीर ने एक सिद्धांत को जन्म दिया--स्यादवाद। स्यादवाद का अर्थ होता है: मैं भी ठीक हूं, तुम भी ठीक हो, वह भी ठीक है। कुछ न कुछ तो ठीक सभी में है। इसलिए हम क्यों झगड़ें? स्यादवाद का अर्थ है: सभी के भीतर सत्य के अंश की स्वीकृति, ताकि विवाद न हो, व्यर्थ का झगड़ा न हो। लेकिन परिणाम क्या हुआ? स्यादवाद का अलग एक झगड़ा खड़ा हो गया।

एक जैन मुनि से मैं बात कर रहा था। मैंने उनसे कहा कि आप मुझे संक्षिप्त में कहिए कि स्यादवाद का अर्थ क्या है? उन्होंने कहा, स्यादवाद का अर्थ है कि कोई भी पूर्ण सत्य नहीं है; सभी सत्य आंशिक हैं। सभी में सत्य है थोड़ा-थोड़ा। हम सभी के सत्य को देखते हैं; हम विवादी नहीं हैं; हम संवादी हैं। मैंने थोड़ी देर इधर-उधर की बात की, और मैंने पूछा कि मैं आपसे एक बात पूछता हूं: स्यादवाद पूर्ण सत्य है या नहीं? उन्होंने कहा, बिलकुल पूर्ण सत्य है।

अब यह स्यादवाद पूर्ण सत्य है! अब अगर इसको कोई कहे कि यह आंशिक सत्य है, यह भी आंशिक सत्य है, तो झगड़ा खड़ा हो जायेगा। सब आंशिक सत्य हैं, लेकिन जो मैं कह रहा हूं वह पूर्ण सत्य है--यही तो झगड़ा था। इसी झगड़े को हल करने को स्यादवाद खोजा गया। अब स्यादवाद भी झगड़ा करने वालों में एक हिस्सा हो गया, एक पार्टी। वह भी एक विवाद है। वह भी एक संप्रदाय है।

अगर स्यादवाद समझा गया होता तो जैनों का कोई संप्रदाय होना नहीं चाहिए, क्योंकि स्यादवाद के आधार पर संप्रदाय खड़ा नहीं हो सकता। स्यादवाद का अर्थ ही यह है कि सभी में सत्य है और किसी में पूर्ण सत्य नहीं है; इसलिए संप्रदाय खड़े करने की कोई जगह नहीं है। संप्रदाय का तो मतलब ही यह होता है कि सत्य यहां है, वहां नहीं है। स्यादवाद ने तो संप्रदाय की जड़ काटी थी। लेकिन जैनों का एक संप्रदाय खड़ा है, जो अब स्यादवाद की रक्षा करता है।

इन तीनों के बीच तुमसे मैं समन्वय खोजने को नहीं कह रहा हूं। मैं तुमसे यही कह रहा हूं कि अगर तुम ध्यान की गहराइयों में गए, तुम साक्षी-भाव को उपलब्ध हुए तो अचानक तुम्हें दिखाई पड़ेगा कि इस साक्षी के शिखर पर बैठ कर पता चलता है: सभी मार्ग इसी पहाड़ के शिखर की तरफ आते हैं। उन मार्गों के प्रारंभ होने के बिंदु कितने ही भिन्न हों, उनकी अंतिम पूर्णाहुति एक ही शिखर पर होती है। सभी मार्ग वहीं आ जाते हैं जहां साक्षी-भाव है। कैसे तुम आते हो, यह तुम्हारी मर्जी है--बैलगाड़ी पर, घोड़े पर, पैदल, हवाई जहाज पर, ट्रेन पर, मोटर, बस में...। कैसे तुम आते हो, यह तुम्हारी मर्जी है। अगर जरा भी समझदारी हो तो इसमें कोई झगड़ा करने की जरूरत नहीं--कोई घोड़े पर आ रहा है, कोई बैलगाड़ी पर आ रहा है, अपनी-अपनी मौज। कोई मस्जिद से आ रहा है, कोई मंदिर से आ रहा है, कोई प्रार्थना करके आ रहा है, कोई ध्यान करके आ रहा है, कोई नाच कर, कोई चुप बैठकर। लेकिन अगर साक्षी-भाव जग रहा है, अगर तुम्हारे भीतर जागरूकता की किरण फूट रही है, प्रभात हो रहा है, होश गहन हो रहा है--अब तुम बेहोशी से नहीं जीते, होश से जीने लगे हो और

तुम्हारे जीवन में करुणा और प्रेम की छाया आने लगी है; तुम्हारे जीवन से क्रोध और हिंसा विसर्जित होने लगे हैं।

बस दो बातें जानने की हैं। वे दो बातें भी एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। भीतर ध्यान घटता है तो बाहर प्रेम घटता है। बाहर प्रेम घटता है तो भीतर ध्यान अनिवार्य रूप से घटता है। अगर प्रार्थना करो तो प्रेम घटेगा और ध्यान उसके पीछे आएगा। अगर ध्यान करो तो ध्यान घटेगा और प्रार्थना उसके पीछे से आएगी। तुम दो में से कोई एक साध लो, दूसरा अपने-आप सध जाता है।

साक्षी में पहुंच कर ही तुम्हें सारे जगत के सत्यों के बीच समन्वय की प्रतीति होगी। उस अनुभव की तरफ मेरा इशारा है। इसे तुम बौद्धिक समन्वय बनाने की कोशिश मत करना।

दूसरा प्रश्न: आपने कल कहा कि सभी साधनाएं गोरखधंधा हैं। लेकिन साथ ही आप अपने संन्यासियों के लिए ध्यान करना अनिवार्य कर रखे हैं। इससे मन दुविधा में पड़ता है। ध्यान नहीं करने से लगता है कुछ चूक हो रही है और करने पर मन कहता है कि समय तो नहीं गंवा रहे हो? कृपापूर्वक मार्गदर्शन करें।

निश्चित ही सभी अनुष्ठान गोरखधंधे हैं। लेकिन इसका यह अर्थ नहीं कि तुम अनुष्ठान करना मत। जैसे कि मैं तुमसे कहूं, नाव पर सवार हो जाओ, लेकिन उस पार जा कर उतर जाना। तुम कहो कि आप तो दुविधा में डाल रहे हैं: एक हाथ से तो कहते हैं, सवार हो जाओ और तत्क्षण कहते हैं, उतर जाना। अगर उतरना ही है तो हम नाव पर चढ़ें ही क्यों? और अगर चढ़ ही गए तो फिर उतरें क्यों? यह तो आप दुविधा में डालते हैं; चढ़ने को भी कहते हैं, उतरने को भी कहते हैं।

लेकिन इसमें दुविधा है। नाव पर चढ़ना होगा और नाव से उतरना भी होगा।

दुनिया में दो तरह के पागल हैं। वे बड़े तार्किक हैं। तर्क बड़ा विक्षिप्त होता है। ठीक है तर्क यह।

मैंने सुना है कि कुछ लोग तीर्थ-यात्रा को जा रहे हैं--हरिद्वार। और ट्रेन पर बड़ी भीड़-भड़क्का है। और एक आदमी बड़ी कोशिश कर रहा है, लेकिन चढ़ नहीं पा रहा। किसी ने ऐसे ही मजाक में उससे कहा कि अरे, इतने क्यों मरे जा रहे हो चढ़ने के लिए, आखिर उतरना पड़ेगा! तो वह आदमी रहा होगा बड़ा विचारक, वह उतर ही गया। उसने चढ़ने की कोशिश छोड़ दी। उसके साथी जो अंदर चढ़ गये थे, उन्होंने कहा कि भई, तू खड़ा क्यों है, गाड़ी छूटने को हो रही है, चढ़! उसने कहा कि तुम्हें पता नहीं, उतरना पड़ेगा। जब उतरना ही है तो चढ़ने के लिए इतनी धक्कम-धक्की क्या करनी? समझ गये, यहीं उतर गये।

वे घबड़ाए, क्योंकि गाड़ी छूटी जा रही है। और उस आदमी को साथ ले आये हैं, कहां उसे छोड़ जाएं? उनमें से कुछ उतरे और जबर्दस्ती उसे चढ़ाया। वह चिल्लाता-चीखता रहा। उसने कहा, यह कर क्या रहे हो? जब उतरना ही है तो हम क्यों इस मुसीबत में फंसें?

पर उन्होंने उसकी कोई फिक्र नहीं की। उन्होंने कहा, विवाद पीछे कर लेंगे, पहले तू चढ़! अब तुझे हम कहां छोड़ जायें यहां अनजान जगह में?

कहीं गांव से आते थे। खैर किसी तरह उसको चढ़ा लिया। बड़ी मुश्किल वह चढ़ा। एक तो वैसे ही भीड़ थी और वह चढ़ने में झगड़ा खड़ा कर रहा था। वह उतर जाना चाहता था। चढ़ गया। फिर हरिद्वार आ गया। अब उतारने की झंझट खड़ी हुई। वह उतरता नहीं। वह कहता है, जब चढ़ ही गये, जब एक दफा चढ़ ही गये तो अब क्या उतरना बार-बार? अब फिर चढ़ने की झंझट होगी। इसलिए हम चढ़े ही रहेंगे। अब हमें तुम यहीं छोड़ दो, तुम जाओ।

अब उसको वे जबर्दस्ती उतार रहे हैं। वह आदमी चिल्ला रहा है कि तुम कैसे असंगत हो? क्षण भर पहले चढ़ाते, क्षण भर बाद उतारते--असंगति तो देखो! तुम मुझे दुविधा में डाल रहे हो। तुम मुझे सीधा सार-सूत्र कह दो कि या चढ़ना या उतरना, तो हम निपटा लें। हम वही हो जाएं।

तुम जिंदगी को इतना तर्क से अगर चले तो बड़ी बुरी तरह चूकोगे। अगर तुम चढ़ोगे ही नहीं तो तीर्थ नहीं पहुंचोगे। और अगर चढ़े ही रह गए तो भी तीर्थ नहीं पहुंचोगे।

इसलिए मैं तुमसे कहता हूं कि ध्यान भी करना और एक दिन स्मरण रखना कि ध्यान भी छोड़ देना है। दोनों बातें तुमसे कहता हूं। तुम तो चाहोगे कि कोई एक कहूं तो तुम्हें सुविधा हो जाए। तुम सुविधा की फिक्र कर रहे हो; तुम साधना की फिक्र नहीं कर रहे हो। तुम सुविधा खोज रहे हो। तुम क्रांति नहीं खोज रहे हो।

तो सुविधाओं में दो उपाय हैं। या तो मैं तुमसे कहूं कि करो ही मत। जैसे कृष्णमूर्ति कहते हैं-- उनकी बात सीधी-साफ है--ध्यान करने की कोई जरूरत नहीं। जिनको ध्यान नहीं करना है वे उनके पास इकट्ठे हो गए हैं; यद्यपि उन्हें कुछ भी नहीं हुआ।

मेरे पास आते हैं लोग। वे कहते हैं, हम कृष्णमूर्ति को सुनते-सुनते थक गए। हमें बात भी समझ में आ गई कि ध्यान इत्यादि में कुछ भी नहीं है, मगर हमें कुछ हुआ भी नहीं है। कुछ हुआ भी नहीं है और समझ में भी आ गया है कि ध्यान इत्यादि में कुछ भी नहीं है।

ये इसी पार रह गए, नाव पर न चढ़े। फिर दूसरी तरफ महेश योगी या उन जैसे लोग हैं, जो कहते हैं: "ध्यान, ध्यान, ध्यान! करो!" और फिर कभी नहीं कहते कि इसे छोड़ना है। तो कुछ लोग हैं जो बस जप रहे हैं: राम, राम, राम, राम। राम-राम जपते ही चले जाते हैं। जिंदगी गुजर गई। वे भी मेरे पास आ जाते हैं। वे कहते हैं, राम-राम जपते हम थक गए, अब कब तक जपते रहें? और ध्यान तो छोड़ा नहीं जा सकता। ध्यान तो धर्म की विधि है।

तुम मेरी स्थिति को समझने की कोशिश करो। मैं तुमसे कहता हूं, ध्यान शुरू करो। नहीं तो खतरा है कि तुम कृष्णमूर्ति जैसी आखिरी बात सुन कर बैठ गए। यह बात सही है, नाव छोड़ देनी है--मगर उस किनारे, इस किनारे नहीं। और कृष्णमूर्ति ने नाव छोड़ी, इसलिए तुमसे कह रहे हैं कि छोड़ दो नाव। लेकिन यह उस किनारे की बात है, इस किनारे की बात नहीं है। इस किनारे छोड़ दी तो तुम कभी उस किनारे न पहुंचोगे। तुमने कृष्णमूर्ति को नाव से उतरते देखा है, यह सच है; तुम मत उतर जाना, क्योंकि तुम इस किनारे ही हो। तुम अगर उतर गए तो भटक जाओगे। और तुमने महेश योगी को चढ़ते देखा नाव पर, यह भी सच है। अब चढ़े ही मत रह जाना। क्योंकि दूसरा किनारा आ जाए तो उतरने का खयाल रखना।

मैं तुम्हें जब ये विरोधाभासी बातें कहता हूं कि ध्यान करो और ध्यान छोड़ो भी, तो ये दो किनारों की बातें हैं। इस किनारे से शुरू करो, उस किनारे पर छोड़ देना। अगर मैं कहूं सिर्फ ध्यान करो, तो एक खतरा पैदा होगा, जब छोड़ने की बात आएगी, तुम छोड़ न सकोगे। अगर मैं सिर्फ इतना ही कहूं कि छोड़ दो, तो तुम करोगे ही नहीं, छोड़ने की संभावना का सवाल ही नहीं; करोगे ही नहीं तो छोड़ोगे क्या खाक?

मैं तुमसे कहता हूं: कमाओ और दान कर दो! कमाने में भी मजा है, फिर दान करने में तो बहुत मजा है। ध्यान में बहुत रस है; फिर ध्यान के छोड़ने में तो महारस है।

दुविधा में पड़ने की तुम्हें जरूरत नहीं। सीधी-साफ बात है। मैं सभी विरोधों का उपयोग करना चाहता हूं। तुम चाहते हो अविरोधी वक्तव्य, जिसमें तुम्हें अड़चन न हो; तुम लकीर के फकीर बन जाओ और चल पड़ो। तुम लकीर के फकीर बनने को इतने आतुर हो कि बस तुम्हें एक झंडा पकड़ा दिया जाए, बस तुम चलते रहोगे।

निश्चित ही मेरी बात में विरोधाभास है, क्योंकि सारा जीवन विरोधाभास से निर्मित है। जन्म होता है, मृत्यु होती है--यह विरोधाभास है। तुम जीवन से नहीं कहते: यह क्या मामला है? तुम परमात्मा से कभी खड़े हो कर शिकायत नहीं करते कि यह क्या मामला है? अगर जन्म दिया तो मारते क्यों हो फिर? और अगर मारना ही है तो जन्म देना ही बंद कर दो।

तुम कहो तो भी परमात्मा तुम्हारी सुनेगा नहीं। कई लोगों ने कई बार कहा भी है। लेकिन परमात्मा जन्म देता है, मृत्यु देता है। एक हाथ से जन्म देता है, दूसरे हाथ से जन्म वापिस ले लेता है। यहां रात होती, दिन

होता। यहां गर्मी आती, सर्दी आती। यहां मौसम बदलते रहते। यही तो जीवन की रसमयता है। यहां विरोध का मिलन है। अगर इकहरा होता जीवन तो इसमें रस न होता, इसमें समृद्धि न होती। यहां विपरीत संघात मिल कर अपूर्व संगीत का जन्म होता है। यहां जन्म और मृत्यु के बीच जीवन का खेल चलता है, जीवन का रास रसा जाता है

वही मैं तुमसे कह रहा हूं: ध्यान करो भी और ध्यान रखना कि छोड़ना है। एक दिन छोड़ना है। विधि का एक दिन विसर्जन कर देना है।

तुमने देखा, हिंदू इस संबंध में बड़े कुशल हैं। गणेश जी बना लिए मिट्टी के, पूजा इत्यादि कर ली--जा कर समुद्र में समा आए। दुनिया का कोई धर्म इतना हिम्मतवर नहीं है। अगर मंदिर में मूर्ति रख ली तो फिर सिराने की बात ही नहीं उठती। फिर वे कहते हैं अब इसकी पूजा जारी रहेगी। हिंदुओं की हिम्मत देखते हो! पहले बना लेते हैं, मिट्टी के गणेश जी बना लिए। मिट्टी के बना कर उन्होंने भगवान का आरोपण कर लिया। नाच-कूद, गीत, प्रार्थना-पूजा सब हो गई। फिर अब वह कहते हैं, अब चलो महाराज, अब हमें दूसरे काम भी करने हैं! अब आप समुद्र में विश्राम करो, फिर अगले साल उठा लेंगे।

यह हिम्मत देखते हो? इसका अर्थ क्या होता है? इसका बड़ा सांकेतिक अर्थ है: अनुष्ठान का उपयोग कर लो और समुद्र में सिरा दो। विधि का उपयोग कर लो, फिर विधि से बंधे मत रह जाओ। जहां हर चीज आती है, जाती है, वहां भगवान को भी बना लो, मिटा दो। जो भगवान तुम्हारे साथ करता है वही तुम भगवान के साथ करो--यही सज्जन का धर्म है। वह तुम्हें बनाता, मिटा देता। उसकी कला तुम भी सीखो। तुम उसे बना लो, उसे विसर्जित कर दो।

जब बनाते हिंदू, तो कितने भाव से! दूसरे धर्मों के लोगों को बड़ी हैरानी होती है। कितने भाव से बनाते, कैसा रंगते, मूर्ति को कितना सुंदर बनाते, कितना खर्च करते! महीनों मेहनत करते हैं। जब मूर्ति बन जाती, तो कितने भाव से पूजा करते, फूल-अर्चन, भजन, कीर्तन! मगर अदभुत लोग हैं! फिर आ गया उनका विसर्जन का दिन। फिर वे चले बैंड-बाजा बजाते, तो भी नाचते जाते हैं। जन्म भी नृत्य है, मृत्यु भी नृत्य होना चाहिए। चले परमात्मा को सिरा देने! जन्म कर लिया था, मृत्यु का वक्त आ गया।

इस जगत में जो भी चीज बनती है वह मिटती है। और इस जगत में हर चीज का उपयोग कर लेना है और किसी चीज से बंधे नहीं रह जाना है--परमात्मा से भी बंधे नहीं रह जाना है। मैं नहीं कहता कि हिंदुओं को ठीक-ठीक बोध है कि वे क्या कर रहे हैं। लेकिन जिन्होंने शुरू की होगी यात्रा उनको जरूर बोध रहा होगा। लोग भूल गये होंगे। अब उन्हें कुछ भी पता न हो कि वे क्या कर रहे हैं। मूर्च्छा में कर रहे होंगे। पुरानी परंपरा है कि बनाया, विसर्जन कर रहे होंगे; लेकिन उसका सार तो समझो। सार इतना ही है कि विधि उपयोग कर ली। फिर विधि से बंधे नहीं रह जाना है। अनुष्ठान पूरा हो गया, विसर्जन कर दिया।

वही मैं तुमसे कहता हूं: नाचो, कूदो, ध्यान करो, पूजा, प्रार्थना--इसमें उलझे मत रह जाना। यह पथ है, मार्ग है; मंजिल नहीं। जब मंजिल आ जाए तो तुम यह मत कहना कि "मैं इतना पुराना यात्री, अब मार्ग को छोड़ दूं? छोड़ो! इतने दिन जन्मों-जन्मों तक मार्ग पर चला, अब आज मंजिल आ गई, तो मार्ग को धोखा दे दूं? दगाबाज, गद्दार हो जाऊं? जिस मार्ग से इतना साथ रहा और जिस मार्ग ने यहां तक पहुंचा दिया, उसको छोड़ दूं? मंजिल छोड़ सकता हूं, मार्ग नहीं छोड़ सकता।" तब तुम समझोगे कि कैसी मूढ़ता की स्थिति हो जाएगी। इसी मंजिल को पाने के लिए मार्ग पर चले थे; मार्ग से नाता-रिश्ता बनाया था--वह टूटने को ही था।

मार्ग की सफलता ही यही है कि एक दिन घड़ी आ जाए जब मार्ग छोड़ देना पड़े।

ध्यान के जो परम सूत्र हैं, उनमें एक सूत्र यह भी है कि जब ध्यान छोड़ने की घड़ी आ जाये तो ध्यान पूरा हुआ। जब तक ध्यान छूट न सके, तब तक जानना अभी कच्चा है, अभी पका नहीं। जब फल पक जाता है तो वृक्ष

से गिर जाता है। और जब ध्यान का फल पक जाता है, तब ध्यान का फल भी गिर जाता है। जब ध्यान का फल गिर जाता है तब समाधि फलित होती है।

पतंजलि ने ध्यान की प्रक्रिया को तीन हिस्सों में बांटा है: धारणा, ध्यान, समाधि। धारणा छोटी-सी पगडंडी है, जो तुम्हें राजपथ से जोड़ देती है। तुम जहां हो वहां से राजपथ नहीं गुजरता। एक छोटी-सी पगडंडी है, जो राजपथ से जोड़ती है। मार्ग, जो राजमार्ग से जोड़ देता है--धारणा। फिर राजमार्ग-- ध्यान। फिर राजमार्ग मंजिल से जोड़ देता है--मंदिर से, अंतिम गंतव्य से। धारणा छूट जाती है जब ध्यान शुरू होता है। ध्यान छूट जाता जब समाधि आ जाती है।

इसलिए ध्यान करना--उतने ही भाव से जैसे गणेश को हिंदू निर्मित करते हैं, उतने ही अहोभाव से! ऐसा मन में खयाल मत रखना कि "इसे छोड़ना है तो क्या...तो क्या रंगना? कैसे भी बना लिया, क्या फिक्र करनी कि सुंदर है कि असुंदर है, कोई भी रंग पोत दिए, चेहरा जंचता है कि नहीं जंचता, आंख उभरी कि नहीं उभरी, नाक बनी कि नहीं--क्या करना है? अभी चार दिन बाद तो इसे विदा कर देना होगा, तो कैसे ही बना-बनू कर पूजा कर लो।" नहीं, तो फिर पूजा हुई ही नहीं। तो छोड़ने की घड़ी आएगी ही नहीं। जब बने ही नहीं गणेश तो विसर्जन कैसे होगा?

तो जब ध्यान करो, तब ऐसे करना जैसे सारा जीवन दांव पर लगा है। तब ही उस महाघड़ी का आगमन होगा, वह महासौभाग्य का क्षण आएगा--जब तुम पाओगे अब विसर्जन का समय आ गया; अब ध्यान को भी छोड़ दें; अब ध्यान से भी ऊपर उठ जाएं; अब समाधि; अब समाधान; अब मंजिल।

तो मैं तुमसे यह विरोधाभास कहता हूं कि जो ध्यान को समग्रता से करेंगे वे ही एक दिन ध्यान को समग्रता से छोड़ पाएंगे। और जिन्होंने ऐसे-ऐसे किया, कुनकुने-कुनकुने किया, और कभी उबले नहीं और भाप न बने, उनकी कभी छोड़ने की घड़ी न आएगी। वे इसी किनारे अटके रह जाएंगे।

जैन शास्त्रों में एक कथा है। एक साधु स्नान कर रहा है। और वह देख रहा है कि एक आदमी आया, वह नाव में बैठा, पतवार चलाई; लेकिन कुछ हैरान है। वह साधु हंसने लगा। उस आदमी ने पूछा कि मेरे भाई, तुम्हें शायद पता हो, मामला क्या है? यह नाव चलती क्यों नहीं?

उस साधु ने कहा कि सज्जन पुरुष, महाशय! नाव किनारे से बंधी है। पतवार चलाने से कुछ भी न होगा। पहले खूंटी से रस्सी तो खोल लो!

वे पतवार चला रहे हैं, तेजी से चला रहे हैं! यह सोच कर कि शायद धीमे-धीमे चलाने से नाव नहीं चल रही है, तो और तेजी से चलाओ। पसीने-पसीने हुए जा रहे हैं। लेकिन नाव किनारे से बंधी है। उसे छोड़ा नहीं गया। नाव चलाने के पहले किनारे से छोड़ लेना जरूरी है।

तो अगर, तुमने आधे-आधे मन से ध्यान किया तो नाव किनारे से छूटेगी ही नहीं। तो तुम उस किनारे कभी पहुंचोगे ही नहीं। उतरने की घड़ी कभी आएगी ही नहीं।

अष्टावक्र ने जनक को कहा कि सब अनुष्ठान बंधन हैं। बिलकुल ठीक कहा। लेकिन तुम यह याद रखना कि यह नाव उस किनारे पहुंच गई है, तब कहे गए वचन हैं। इसलिए मैंने इसको महागीता कहा। कृष्ण की गीता को मैं सिर्फ गीता कहता हूं; अष्टावक्र की गीता को महागीता। क्योंकि कृष्ण की गीता अर्जुन से कही गई है--इस किनारे पर। वह नाव पर सवार ही नहीं हो रहा है। वह भाग-भाग खड़ा हो रहा है। वह कह रहा है, "मुझे संन्यास लेना है। मैं नाव पर नहीं चढ़ता। क्या सार है? मुझे जाने दो।" वह भाग रहा है। वह कहता है, "मेरे गात शिथिल हो गए। मेरा गांडीव ढीला हो गया। मैं नहीं चढ़ना चाहता।" वह रथ पर बैठा है, सुस्त हो गया है। वह कहता है, नाव पर मुझे चढ़ना ही नहीं। कृष्ण उसे पकड़-पकड़ कर, समझा-समझा कर नाव पर बिठाते हैं। कृष्ण की गीता सिर्फ गीता है; इस किनारे अर्जुन को नाव पर बिठा देना है। अष्टावक्र की गीता महागीता है। यह उस

किनारे की बात है। ये जनक उस किनारे हैं, लेकिन नाव से उतरने को शायद तैयार नहीं; या नाव में बैठे रह गए हैं। बहुत दिनों तक नाव में यात्रा की है, नाव में ही घर बना लिया है।

अष्टावक्र कहते हैं: उतर आओ। सब अनुष्ठान बंधन हैं, अनुष्ठान छोड़ो!

कृष्ण कहते हैं: उतरो संघर्ष में, भागो मत ! सब परमात्मा पर छोड़ दो। वह जो करवाए, करो। तुम निमित्त-मात्र हो जाओ। इस नाव में चढ़ना ही होगा। यही तुम्हारी नियति, तुम्हारा भाग्य है।

अगर अर्जुन नाव में चढ़ जाए--चढ़ ही गया कृष्ण की बात मान कर--तो खतरा है, वह भी बड़ा तर्कनिष्ठ व्यक्ति था। एक दिन उसको फिर अष्टावक्र की जरूरत पड़ेगी, क्योंकि वह उस किनारे जा कर उतरेगा नहीं। जितना विवाद उसने चढ़ने में किया था, उससे कम विवाद वह उतरने में नहीं करेगा, शायद ज्यादा ही करे। क्योंकि वह कहेगा, कृष्ण चढ़ा गए हैं। अब उतरना एक तरह की गद्दारी होगी। यह तो अपने गुरु के साथ धोखा होगा। बामुश्किल तो मैं चढ़ा था, अब तुम उतारने आ गए? मैं तो पहले ही कह रहा था कि मुझे चढ़ना नहीं है। यह भी क्या खेल है?

और अष्टावक्र कहते हैं, सब अनुष्ठान बंधन हैं। ध्यान बंधन है, धारणा बंधन है, योग बंधन है, पूजा-प्रार्थना बंधन है--सब बंधन हैं।

कृष्ण की गीता उसके लिए है जो अभी अ ब स सीख रहा है अध्यात्म का। अष्टावक्र की गीता उसके लिए है जिसके सब पाठ पूरे हो गए, दीक्षांत का समय आ गया। कृष्ण की गीता दीक्षारंभ है। अष्टावक्र की गीता दीक्षांत-प्रवचन है। इन दोनों गीताओं के बीच में सारी यात्रा पूरी हो जाती है। एक चढ़ा देती है अनुष्ठानों में, एक उतार लेती है अनुष्ठानों से। एक बताती है गणेश को कैसे निर्मित करो, कैसे भाव-भक्ति से, कैसे रंग भरो; एक बताती है, कैसे नाचते, गीत गुनगुनाते विसर्जित करो।

ऐसा जन्म और मृत्यु के बीच जीवन है, ऐसे ही नाव में चढ़ने और नाव से उतरने के बीच परमात्मा का अनुभव है।

तीसरा प्रश्न: जब मैं आपका प्रवचन सुनता हूं तो न जाने क्यों उसके प्रेम-संगीत में खो जाता हूं। मुझे लगता है कि आप सितार बजा रहे हैं और मैं तबला बजा रहा हूं। कभी लगता है कि मैं तानपूरा बजा रहा हूं और आप तान लगा रहे हैं। प्रभु, मुझे यह क्या हो गया है? कृपा कर मुझे थामें!

था में? धक्का देंगे! ऐसी शुभ घड़ी आ गई, तुम कहते हो, कृपाकर थामें? यही तो मैं चाहता हूं कि सभी को हो, जो तुम्हें हुआ है।

यह जो मैं कह रहा हूं, यह शब्द नहीं, संगीत ही है। और इसे अगर तुम सुनना चाहते हो तो सुनने की जो श्रेष्ठतम व्यवस्था है वह यही कि तुम भी मेरे संगीत में सहभागी हो जाओ। मेरी इस लय में तुम भी तानपूरा तो बजाओ कम से कम। तुम ऐसे दूर-दूर खड़े न रह जाओ। तुम इस आर्केस्ट्रा के अंग बन जाओ, तभी तुम समझ पाओगे।

शुभ हो रहा है, सौभाग्य की घटना घट रही है। तुम डरो मत। दो तबले पर ताल! बजाओ तानपूरा! साथ मेरे गाओ, साथ मेरे नाचो। इसी नृत्य में तुम खो जाओगे। इसी खोने से तुम्हारा वास्तविक होना शुरू होगा। इसी नृत्य में तुम विसर्जित हो जाओगे; तुम्हारी सीमाएं असीम में डूब जाएंगी। अचानक तुम पहली दफा जागोगे और पाओगे कि तुम कौन हो! इसी खो जाने में नींद टूटेगी, जागरण होगा।

और तुम कहते हो, प्रभु, थामें! समझ रहा हूं तुम्हारी अड़चन भी, तुम्हारे प्रश्न को भी समझ रहा हूं। क्योंकि जब कोई ऐसा डूबने लगता, तो घबड़ाहट स्वाभाविक होती है कि यह क्या हो रहा? कहीं मैं पागल तो नहीं हुआ जा रहा? यहां कैसी वीणा और कैसा तबला?

पूछने में भी तुम डरे होओगे। प्रश्न को मैंने कहा तो बहुत लोग हंसे भी। उनको भी लगा, यह क्या पागलपन है? तुमको भी लगा होगा, क्या पागलपन है? यह मैं कर क्या रहा हूं? यहां सुनने आया हूं कि तबला बजाने? और यह कैसा तानपूरा मैंने साध लिया। यह कैसी कल्पना में मैं उलझा जा रहा हूं, यह कोई सम्मोहन तो नहीं? यह कोई मन की विक्षिप्तता तो नहीं? यह कैसी लहर मुझमें उठी?

मत घबड़ाओ, यही लहर तुम्हें ले जाएगी उस पार। यही लहर नाव बनेगी। इसी लहर पर चढ़ने को कह रहा हूं। चढ़ जाओ इस लहर पर। इस लहर को चूको मत। यह लहर डुबाए तो डूब जाओ। यह उबारे तो उबरो, डुबाए तो डूबो। इस लहर के साथ अपना तादात्म्य कर लो। इस लहर से लड़ो मत। इसके विपरीत तैरो मत। इससे बचने की चेष्टा मत करो।

तब बुला जाता मुझे उस पार जो
दूर के संगीत-सा वह कौन है?

जो तुम्हें बुला रहा है, वह अभी दूर का संगीत है। तुम उसके साथ अगर तानपूरा बजाने लगे, वह करीब आने लगेगा।

तब बुला जाता मुझे उस पार जो
दूर के संगीत-सा वह कौन है?

अभी दूर है संगीत। सहभागी बनो।

एक तो सुनने का ढंग होता है कि सुन रहे हैं--तटस्थ भाव से; जैसे कुछ लेना-देना नहीं। सुन रहे हैं--एक निष्क्रिय अवस्था में मुर्दे की तरह। कान हैं तो सुन रहे हैं। एक तो निष्क्रिय सुनना है। और एक सक्रिय सुनना है--प्रफुल्लित, आनंदमग्न, नाचते हुए, सहयोग करते हुए; जैसे मैं नहीं बोल रहा हूं, तुम्हीं बोल रहे हो; जैसे तुम्हारा ही भविष्य बोल रहा है; जैसे तुम्हारे ही भीतर छिपी हुई संभावना बोल रही है। मैं तुम्हारी ही गुनगुनाहट हूं। जो गीत तुम अभी गाए नहीं और गाना है, उसी की तरफ थोड़े-से पाठ तुम्हें दे रहा हूं।

अभी जो तुम्हें लगेगा तानपूरा है, बजाते-बजाते वही तुम्हारी वीणा हो जाएगी। अभी तुम मेरे साथ बजाओगे, धीरे-धीरे तुम पाओगे तुम और मैं का फासला तो समाप्त हो गया; न तो मैं हूं, न तुम हो--परमात्मा बजा रहा है। और तब तुम इस योग्य हो जाओगे कि कोई तुम्हारे पास आए तो वह अपना तानपूरा बजाने लगे।

प्राणों के अंतिम पाहुन!

चांदनी धुला अंजन-सा
विद्युत मुस्कान बिछाता
सुरभित समीर पंखों से
उड़ जो नभ में घिर आता
वह वारिद तुम आना बन!

ज्यों श्रांत पथिक पर रजनी
छाया-सी आ मुस्काती
भारी पलकों में धीरे
निद्रा का मधु खुलकाती
त्यों करना तुम बेसुध जीवन!

अज्ञात लोक से छिप-छिप
ज्यों उतर रश्मियां आतीं
मधु पीकर प्यास बुझाने
फूलों के उर खुलवातीं

छिप आना तुम छाया तन!

आने दो मुझे, तुम्हारे भीतर आने दो। थामने की बात ही मत उठाओ। तुम्हें मदमस्त होना है। तुम्हें शराबी बनना है। तुम्हें डोलना है किसी मदिरा में। थामने की बात ही मत उठाओ।

तुम्हारा डर मैं समझता हूं--कि यह क्या हो रहा है? कहीं मैं अपना होश तो न खो दूंगा? कहीं मैं बेसुध तो न हो जाऊंगा?

ज्यों श्रांत पथिक पर रजनी
छाया-सी आ मुस्काती
भारी पलकों में धीरे
निद्रा का मधु खुलकाती
त्यों करना तुम बेसुध जीवन!
यही अब तुम्हारी प्रार्थना हो:
त्यों करना तुम बेसुध जीवन!

तुम मुझसे कहो कि जल्दी करो! तुम मुझसे कहो कि अब ऐसा भय मुझे न रहे कि मैं कुछ थाम कर रुक जाऊं। तुम मुझसे कहो कि अब मुझे डुबाओ, मुझे बेसुध करो। क्योंकि तुमने जिसे अब तक सुध समझी है वह तो बेसुधि थी। तुमने जिसे अब तक होश समझा है वह तो बेहोशी थी। और तुम जिसे अब तक जागरण समझते थे वह सपनों से ज्यादा नहीं था। वह बड़ी गहन अंधेरी रात और नींद थी।

अब यह जो बेसुधि मैं तुम्हें देना चाहता हूं, जो बेहोशी तुम्हें पिलाना चाहता हूं--यह होश का आगमन है। यह तुम्हें बेहोशी लगती है, क्योंकि तुम जिसे अब तक होश समझे थे, यह उससे विपरीत है। यह मदिरा ऐसी है जो होश लाती है।

अज्ञात लोक से छिप-छिप
ज्यों उतर रश्मियां आतीं
मधु पीकर प्यास बुझाने
फूलों के उर खुलवातीं
छिप आना तुम छाया तन!

तुम मुझे आने दो। तुमने जो कहा है: थामें! उसका अर्थ हुआ कि तुम भयभीत हो गये हो। उसका अर्थ हुआ, अगर मैं तुम्हारे द्वार पर दस्तक दूंगा तो तुम द्वार न खोलोगे। उसका अर्थ हुआ कि तुम मुझे पास देख कर द्वार बंद कर लोगे। उसका अर्थ हुआ कि तुम पागलपन से घबड़ा रहे हो।

लेकिन ध्यान रखना, धर्म एक अनूठा पागलपन है--ऐसा पागलपन जो बुद्धिमानों की बुद्धियों से बहुत ज्यादा बुद्धिमान है; ऐसा पागलपन जो साधारण बुद्धि से बहुत पार और अतीत है; ऐसा पागलपन जो परमात्मा के निकट ले जाता है।

दुनिया में दो तरह के लोग पागल हो जाते हैं: एक तो वे, जो बुद्धि से नीचे गिर जाते हैं; और एक वे जो बुद्धि के पार निकल जाते हैं।

इसलिए आश्चर्य की बात नहीं है कि मनस्विद संतों को पागलों के साथ ही गिनते हैं--दोनों को एबनार्मल...। मनोविज्ञान की किताबों में तुम संतों के लिए और पागलों के लिए अलग-अलग विभाजन न पाओगे। उनके हिसाब से दो ही तरह के आदमी हैं--नार्मल, एबनार्मल; साधारण और रुग्ण। साधारण तुम हो। रुग्ण दो तरह के लोग हैं--फिर वे किसी ढंग के रुग्ण हों; चाहे धार्मिक रुग्ण हों, चाहे अधार्मिक हों; चाहे नास्तिक, चाहे आस्तिक--लेकिन एबनार्मल हैं।

अभी भी जीसस पर किताबें लिखी जाती हैं पश्चिम में, जिनमें दावा किया जाता है कि जीसस पागल थे, न्यूरोटिक थे। अभी हिंदुस्तान में मनोविज्ञान का उतना प्रभाव नहीं है, इसलिए बुद्ध और महावीर, अष्टावक्र अभी बचे हैं। लेकिन ज्यादा दिन यह बात चलेगी नहीं। जल्दी ही हिंदुस्तान के मनोवैज्ञानिक भी हिम्मत जुटा लेंगे। अभी उनकी इतनी हिम्मत भी नहीं है; लेकिन जल्दी हिम्मत जुटा लेंगे। जो जीसस के खिलाफ लिखा जा

रहा है, वह किसी न किसी दिन महावीर के खिलाफ लिखा जाएगा। और तुम पक्का समझो कि जीसस को पागल सिद्ध करने के लिए उतने प्रमाण नहीं हैं, जिससे ज्यादा प्रमाण महावीर को पागल सिद्ध करने के लिए मिल जाएंगे।

तुमने देखा, महावीर नग्न खड़े हैं! कम से कम जीसस कपड़े तो पहने हैं। अब यह तो पागलपन है। तुमने देखा, महावीर अपने बालों को लोंच कर उखाड़ते हैं! पागलों का एक खास समूह होता है जो अपने बाल लोंच कर उखाड़ता है। तुमने पागलों को देखा होगा, तुमने कभी खुद भी देखा होगा, जब तुम पर कभी पागलपन चढ़ता है, तो तुम कहते हो, बाल लोंच लेने का मन होता है। कहावत है कि बाल लोंच लेने का मन होता है। स्त्रियों को गुस्सा आ जाता है तो बाल लोंच लेती हैं--किसी पागलपन के क्षण में! बहुत पागल हैं पागलखानों में जो अपने बाल लोंच लेते हैं। महावीर अपने बाल लोंच लेते थे। केश लुंच।

तुम्हारे पास एक गाली है--नंगा-लुच्चा। वह सबसे पहले महावीर को दी गई थी। क्योंकि वे नंगे थे और बाल लोंचते थे। नंगा-लुच्चा! अगर महावीर में खोजना हो पागलपन तो पूरा मिल जाएगा।

लेकिन मनोवैज्ञानिक अभी कुछ भी नहीं जानते हैं। जो उनका विभाजन है, अज्ञानमय है। यह भी हो सकता है कि एक आदमी शराब के नशे में चल रहा हो रास्ते पर--डांवांडोल, डगमगाता; और कोई किसी के प्रेम में मदमस्त हो कर चल रहा हो; और कोई किसी प्रार्थना में डोल रहा हो। तीनों राह पर डांवांडोल चल रहे हों, पैर जगह पर न पड़ते हों, समाए न समाते हों, भीतर की खुशी ऐसी बही जा रही हो--पीछे से तुम तीनों को देखो तो तीनों लगेंगे कि शराबी हैं। क्योंकि जैसा शराबी डांवांडोल हो रहा है, वैसी ही मीरा भी डांवांडोल हो रही है, वैसे ही चैतन्य भी डांवांडोल हो रहे हैं। जैसे शराबी गीत गुनगुना रहा है, वैसी मीरा भी गीत गुनगुना रही है। पीछे से तुम देखोगे तो तुम्हें दोनों एक जैसे लगेंगे। लेकिन कहां मीरा और कहां शराबी! कहां चैतन्य और कहां शराबी! शराबी ने बुद्धि गंवा दी शराब पी कर। मीरा ने भी बुद्धि गंवा दी।

मीरा कहती है, सब लोक-लाज खोई। कोई और बड़ी शराब पी ली! अंगूरों से बनती है जो शराब, वही तो शराब नहीं। एक और भी शराब है, जो प्रभु-प्रेम से बनती है। वह पी ली। वह भी मदमस्त है।

लेकिन मीरा रुग्ण नहीं है। अगर मीरा रुग्ण है तो फिर तुम्हारे स्वास्थ्य की परिभाषाएं गलत हैं। क्योंकि मीरा जैसी मस्त और आनंदित है...स्वास्थ्य का लक्षण ही मस्ती और आनंद होना चाहिए। साधारण, जिसको मनोवैज्ञानिक कहते हैं नार्मल, वह तो बड़ा अशांत, बेचैन, परेशान, दुखी दिखाई पड़ता है। यह कोई स्वास्थ्य की परिभाषा हुई? ये चिंताग्रस्त लोग, दुखी लोग, परेशान लोग, जिनके जीवन में कभी कोई फूल नहीं खिला, कोई सरगम नहीं फूटा, कोई रसधार नहीं बही--ये स्वस्थ लोग हैं? अगर यही स्वस्थ लोग हैं तो समझदार लोग तो मीरा का पागलपन चुनेंगे। वह चुनने योग्य है। पागलपन सही, नाम से क्या फर्क पड़ता है? गुलाब को तुम क्या नाम देते हो, इससे क्या फर्क पड़ता है? गुलाब तो गुलाब है। गुलाब तो गुलाब ही रहेगा; तुम गेंदा कहो, इससे क्या फर्क पड़ता है?

तुम महावीर को पागल कहो, इससे क्या फर्क पड़ता है? या परमहंस कहो, इससे क्या फर्क पड़ता है? महावीर महावीर हैं।

यह तुम खयाल में लेना। घबड़ा मत जाना।

मेरे पास अगर तुम हो, तो निश्चित ही किसी शराब के पिलाने का आयोजन चल रहा है। यह मधुशाला है। इसे मंदिर कहने से बेहतर मधुशाला ही कहना उचित है। यहां मैं चाहता हूं कि तुम डोलो, नाचो! यहां तुम किसी गहरी मस्ती में उतरो! नया आयाम खुले!

दूर दिल से सब कदूरत हो गई है
जीस्त कितनी खूबसूरत हो गई है!
थोड़ा पीओ मुझे!
दूर दिल से सब कदूरत हो गई है

सब चिंता, फिक्र, बेचैनी, अशांति, सब दूर हो जाएगी!

जीस्त कितनी खूबसूरत हो गई है!

और जिंदगी बड़ी खूबसूरत हो जाएगी। एक-एक फूल में हजार-हजार फूल खिलते दिखाई पड़ेंगे।

इस कदर सतही है दुनिया की मसर्रत
दिल को फिर गम की जरूरत हो गई है।

और जब तुम जिंदगी के असली आनंद को जानोगे तो तुम चकित हो जाओगे। तुम पाओगे इस दुनिया के सुख से तो परमात्मा को, परमात्मा के विरह में, परमात्मा के बिछोह में पैदा होने वाला दुख बेहतर है। इस दुनिया के सुखों से तो परमात्मा के बिछोह में रोना बेहतर है। इस दुनिया की मुस्कुराहटों से तो परमात्मा के लिए बहे आंसू बेहतर हैं।

इस कदर सतही है दुनिया की मसर्रत
दिल को फिर गम की जरूरत हो गई है।
यूं बसी है मुझमें तेरी याद साजन
मेरे मन-मंदिर की मूरत हो गई है।
तेरी याद ने दिल को चमका दिया,
तेरे प्यार से यह सभा सज गई है।
जबां पर न आया कोई और नाम,
तेरा नाम ही रात-दिन भज गई है।
मेरे दिल में शहनाई-सी बज गई है।

इस शहनाई को बजने दो। इस इकतारे को बजने दो। इस तानपूरे को बजने दो। उठने दो तबले पर धुन। नाचो, गाओ, गुनगुनाओ!

मेरी दृष्टि में, धर्म वही है जो नाचता हुआ है। और दुनिया को एक नाचते हुए परमात्मा की जरूरत है। उदास परमात्मा काम नहीं आया। उदास परमात्मा सच्चा सिद्ध नहीं हुआ। क्योंकि आदमी वैसे ही उदास था, और उदास परमात्मा को ले कर बैठ गया। उदास परमात्मा तो लगता है उदास आदमी की ईजाद है, असली परमात्मा नहीं। नाचता, हंसता परमात्मा चाहिए! और जो धर्म हंसी न दे और जो धर्म खुशी न दे और जो धर्म तुम्हारे जीवन को मुस्कुराहटों से न भर दे, उत्सव से न भर दे, उत्साह से न भर दे--वह धर्म, धर्म नहीं है, आत्महत्या है। उससे राजी मत होना। वह धर्म बूढ़ों का धर्म है या मुर्दों का धर्म है--जिनके जीवन की धारा बह गई है और सब सूख गया है। धर्म तो जवान चाहिए! धर्म तो युवा चाहिए! धर्म तो छोटे बच्चों जैसा पुलकता, फुदकता, नाचता, आश्चर्य-भरा चाहिए!

तो मैं यहां तुम्हें उदास और लंबे चेहरे सिखाने को नहीं हूं। और मैं नहीं चाहता कि तुम यहां बड़े गंभीर हो कर जीवन को लेने लगो। गंभीरता ही तो तुम्हारी छाती पर पत्थर हो गई है। गंभीरता रोग है। हटाओ गंभीरता के पत्थर को।

वह पत्थर सरक रहा है और तानपूरा बजने को है, और तुम कहते हो थामो! तुम कहते हो, थामो मुझे! कहो कि धक्का दो! कहो कि ऐसा धक्का दो कि मैं तो मिट ही जाऊं, तानपूरा ही बजता रहे।

चौथा प्रश्न:

जिंदगी देने वाले, सुन!
तेरी दुनिया से जी भर गया
मेरा जीना यहां मुश्किल हो गया।
रात कटती नहीं, दिन गुजरता नहीं,
जख्म ऐसा दिया जो भरता नहीं।
आंख वीरान है, दिल परेशान है,

गम का सामान है
जिंदगी देने वाले सुन!
तेरी दुनिया से जी भर गया।

अगर जी सचमुच भर गया है, अगर सच में ही दुनिया से जी भर गया है तो उसका परिणाम उदासी नहीं है। उसका परिणाम निराशा भी नहीं है। उसका परिणाम तो एक अपूर्व उत्फुल्लता का जन्म है। जिसका जीवन से जी भर गया--अर्थ हुआ कि उसने जान लिया कि जीवन व्यर्थ है। अब कैसी निराशा? निराशा के लिए तो आशा चाहिए। इसे समझने की कोशिश करो।

जब तक तुम्हारे जीवन में आशा है कि कुछ मिलेगा जिंदगी से, कुछ मिलेगा--तब तक जिंदगी तुम्हें निराश करेगी, क्योंकि मिलने वाला कुछ भी नहीं है। जिस दिन तुम्हारी आशा छूट गई, उसी दिन निराशा भी छूट गई। लोग सोचते हैं: जब आशा छूट जाएगी तो हम बिलकुल निराश हो जाएंगे। आशा छूट गई, फिर तो निराश होने का उपाय ही नहीं। क्योंकि आशा, निराशा साथ ही विदा हो जाते हैं। आशा की छाया है निराशा। जितनी तुम आशा करोगे उतनी निराशा पलेगी। उतने ही तुम हारोगे। जीतना चाहा तो ही हार सकते हो।

लाओत्सु कहता है: मुझे कोई हरा नहीं सकता क्योंकि मैं जीतना चाहता ही नहीं। कैसे हराओगे उस आदमी को जो जीतना चाहता ही नहीं। लाओत्सु कहता है मैं हारा ही हुआ हूं, मुझे तुम हराओगे कैसे?

जिस आदमी को जीतने की आकांक्षा है, वह हारेगा--और जितनी ज्यादा आकांक्षा है, उतना ज्यादा हारेगा। जो आदमी धनी होना चाहता है वह निर्धन रहेगा--और जितना ज्यादा धनी होना चाहता है उतना निर्धन रहेगा। क्योंकि उसकी धन की अपेक्षा कभी भी भर नहीं सकती। जितना मिलेगा वह छोटा मालूम पड़ेगा, ओछा मालूम पड़ेगा। उसकी आकांक्षा का पात्र तो बड़ा है। उस पात्र में सभी जो मिलेगा, खो जाएगा।

इस सूत्र को खयाल में लेना: तुम्हारी आशा निराशा की जन्मदात्री है। तुम्हारी आकांक्षा तुम्हारी विफलता का सूत्र-आधार है। तुम्हारी मांग तुम्हारे जीवन का विषाद है।

अगर सच में ही जीवन से जी भर गया...। लगता नहीं।

"जिंदगी देने वाले सुन

तेरी दुनिया से जी भर गया।"

अभी भरा नहीं। थक गए होओगे। आशाएं पूरी नहीं हुईं, लेकिन आशाएं समाप्त नहीं हो गई हैं। जिसको तुम जीवन से जी भर जाना कहते हो, वह विषाद की अवस्था है। तुम जो चाहते थे वह नहीं हुआ, इसलिए ऊब गए हो। लेकिन अगर अभी परमात्मा कहे कि हो सकता है, तुम फिर दौड़ पड़ोगे। अगर कोई तुम्हें फिर से कह दे कि दौड़ जाओ, अभी मिल जाएगा, बस पास ही है--तुम फिर चल पड़ोगे; फिर आशा का दीया जलने लगेगा।

यह तुम्हारी हार है, समझ नहीं। यह तुम्हारी पराजय है, लेकिन बोध नहीं। और पराजय को बोध मत समझ लेना। पराजित आदमी बैठ जाता है थक कर; लेकिन गहरे में तो अभी भी सोचता रहता है: मिल जाता शायद, कुछ और उपाय कर लेता! शायद कोई और ढंग होगा खोजने का! मैंने शायद गलत ढंग से खोजा, ठीक न खोजा। या मैंने पूरी ताकत न लगाई खोजने में!

तुम कितनी ही ताकत लगाओ, संसार में हार सुनिश्चित है। संसार में जीत होती नहीं।

मैंने सुना है, एक महिला एक दुकान पर बच्चों के खिलौने खरीद रही है। एक खिलौने को वह जमाने की कोशिश कर रही है, जो टुकड़े-टुकड़े में है और जमाया जाता है। उसने बहुत कोशिश की, उसके पति ने भी बहुत कोशिश की; लेकिन वह जमता ही नहीं। आखिर उसने दुकानदार से पूछा कि सुनो, पांच साल के बच्चे के लिए हम यह खिलौने खरीद रहे हैं; न मैं इसको जमा पाती हूं, न मेरे पति जमा पाते हैं। मेरे पति गणित के प्रोफेसर हैं। अब और कौन इसको जमा पाएगा? मेरा पांच साल का बच्चा इसको कैसे जमाएगा?

उस दुकानदार ने कहा, सुनें, परेशान न हों। यह खिलौना जमाने के लिए बनाया ही नहीं गया। यह तो बच्चे के लिए एक शिक्षण है कि दुनिया भी ऐसी ही है; कितना ही जमाओ, यह जमती नहीं। यह तो बच्चा अभी से सीख ले जीवन का एक सत्य...। इसको जमाने की कोशिश करेगा बच्चा, हजार कोशिश करेगा; मगर यह जमाने के लिए बनाया ही नहीं गया, यह जम सकता ही नहीं। इसमें तुम चूकते ही जाओगे। इसमें हार निश्चित है।

संसार एक प्रशिक्षण है। यह जमने को है नहीं। यह कभी जमा नहीं। यह सिकंदर से नहीं जमा। यह नेपोलियन से नहीं जमा। यह तुमसे भी जमने वाला नहीं है। यह किसी से कभी नहीं जमा। अगर यह जम ही जाता तो बुद्ध, महावीर छोड़ कर न हट जाते; उन्होंने जमा लिया होता। बुद्ध-महावीरों से नहीं जमा, तुमसे नहीं जमेगा। यह जमने को है ही नहीं। यह बनाया ही इस ढंग से गया है कि इसमें हार सुनिश्चित है, विषाद निश्चित है।

यह जागने को बनाया गया है कि तुम देख-देख कर, हार-हार कर जागो। एक दिन, जिस दिन तुम जाग जाओगे, तुम्हें यह समझ आ जाएगी कि यह जमता ही नहीं--नहीं कि मेरे उपाय में कोई कमी है; नहीं कि मैंने मेहनत कम की; नहीं कि मैं बुद्धिमान पूरा न था; नहीं कि मैं थोड़ा कम दौड़ा, अगर थोड़ा और दौड़ता तो पहुंच जाता। जिस दिन तुम समझोगे यह जमने को बना ही नहीं, उस दिन विषाद मिट जाएगा। उस दिन सब भीतर की पराजय, हार, सब खो जाएगी। उस दिन तुम खिलखिला कर हंसोगे। तुम कहोगे, यह भी खूब मजाक रही!

इस मजाक को जान कर ही हिंदुओं ने जगत को लीला कहा। खूब खेल रहा! इस संसार से तुम जब तक अपेक्षा रखे हो, तब तक बेचैनी है।

ऐ दिले-मर्ग-आशनां खत का जवाब सुन लिया?

और तू बेकरार हो! और तू इंतजार कर!

--बैठे हैं, बड़ी प्रतीक्षा कर रहे हैं कि प्रेयसी का पत्र आता होगा।

ऐ दिले-मर्ग-आशनां!

--ऐ प्रेयसी पर मिटे हुए दिल।

ऐ दिले-मर्ग-आशनां खत का जवाब सुन लिया?

और तू बेकरार हो! और तू इंतजार कर!

अब जागो, बहुत हो चुका इंतजार! देखो, यहां कुछ मिलने को है नहीं। खेल है, खेल की तरह खेल लो। इसमें भटक मत जाओ। इसको अति गंभीरता से मत लो।

और तुम तो ऐसे पागल हो कि फिल्म देखने जाते हो, उसी को गंभीरता से ले लेते हो। देखा, फिल्म में किसी की हत्या हो जाती है, अनेक आहें निकल जाती हैं! पागल हो गए हो? कुछ तो होश रखो! लोगों के रूमाल अगर तुम फिल्म के बाद पकड़ कर एक-एक के देखो तो गीले पाओगे। आंसू बह जाते हैं, पोंछ लेते हैं अपने आंसू जल्दी से, रूमाल छिपा लेते हैं। अच्छा है वह तो अंधेरा रहता है सिनेमागृह में, तो कोई देख नहीं पाता। पत्नी भी बगल में रो रही है, पति भी रो रहे हैं। दोनों पोंछ कर अपना...। मगर दोनों को यह समझ में नहीं आ रहा कि पर्दे पर कुछ भी नहीं है। धूप-छांव! लेकिन वह भी प्रभावित कर जाती है। उससे भी तुम बड़े आंदोलित हो जाते हो। प्रतीक प्रभावित कर जाते हैं। शब्द प्रभावित कर जाते हैं।

तो स्वाभाविक है कि यह जीवन जो चारों तरफ फैला है, इतना विराट मंच, इसमें अगर तुम भटक जाओ तो कुछ आश्चर्य नहीं! तुम होश में नहीं हो, तुम मूर्च्छित हो।

"जिंदगी देने वाले सुन

तेरी दुनिया से जी भर गया,

मेरा जीना यहां मुश्किल हो गया।"

मुश्किल? इसका मतलब है कि अभी भी अपेक्षा बनी है; नहीं तो क्या मुश्किल है? मुश्किल का मतलब है: अभी भी तुम चाहते हो कुछ सुविधा हो जाती, कुछ सफलता मिल जाती, कुछ तो राहत दे देते। एकदम हार ही हार तो मत दिलाए चले जाओ। कुछ बहाना तो, कुछ निमित्त तो रहे जीने का।

"रात कटती नहीं, दिन गुजरता नहीं

जख्म ऐसा दिया, जो भरता नहीं।"

फिर से गौर से देखो। क्योंकि जानने वालों ने तो कहा कि जगत माया है, इससे जख्म तो हो ही नहीं सकता। यह तो ऐसा ही है--अष्टावक्र बार-बार कहते हैं--जैसे रज्जू में सर्प। जैसे कोई आदमी अंधेरे में देख कर रस्सी और भाग खड़ा हो कि सांप है; भागने में पसीना-पसीना हो जाए, छाती धड़कने लगे, हृदय का दौरा पड़ने लगे--और कोई दीया ले आए और कहे कि पागल, जरा देख भी तो, वहां न कुछ भागने को है, न कुछ भयभीत होने को है! रस्सी पड़ी है।

मेरे गांव में एक कबीरपंथी साधु थे। वे यह रज्जू में सर्प का उदाहरण सदा देते। छोटा-सा था, तब से उन्हें सुनता था। जब भी उनको सुनने जाता तो यह उदाहरण तो रहता ही। यह बड़ा प्राचीन, भारत का उदाहरण है। आखिर एक दफा मुझे सूझी कि यह आदमी इतना कहता है कि संसार तो रज्जू में सर्पवत, जरा इसकी परीक्षा भी कर ली जाए।

तो वे रोज मेरे घर के सामने से रात को निकलते थे। उनका मकान मेरे घर के पीछे, नाले को पार करके था, तो एक रस्सी में एक पतला धागा बांध कर मैं अपने घर में बैठ गया। रस्सी को दूसरी तरफ सड़क के किनारे नाली में डाल दिया। जब वे निकले अपना डंडा इत्यादि लिए हुए, तो मैंने धीरे से वह धागा खींचना शुरू किया। मैं दूसरी तरफ बैठा हूं, इसलिए उस...।

और जब रस्सी उन्होंने देखी सरकती हुई, तो वे ऐसे भागे, ऐसी चीख-पुकार मचा दी कि मैं एक खाट के पीछे छिपा था, उनकी चीख-पुकार में खाट गिर गई, मैं पकड़ा गया। बहुत डांट पड़ी कि यह...यह बात ठीक नहीं है, एक बूढ़े आदमी के साथ ऐसा मजाक करना! पर मैंने कहा, यह मजाक उन्होंने सुझाया है। मैं थक गया सुनते-सुनते--रज्जू में सर्पवत, रज्जू में सर्पवत! तो मैंने सोचा कि कम से कम ये तो न घबड़ाएंगे; ये तो पहचान लेंगे कि रस्सी है। ये भी चूक गए तो औरों का क्या कहना?

यह संसार प्रतीत होता, भासमान होता। और भासमान ऐसा होता है कि लगता है सच है। लेकिन तुम एक दिन नहीं थे और एक दिन फिर नहीं हो जाओगे। यह जो बीच का थोड़ी देर का खेल है, यह एक दिन सपने जैसा विलीन जाएगा। पीछे लौट कर देखो, तुम तीस साल जी लिए, चालीस साल जी लिए, पचास साल जी लिए--ये जो पचास साल तुम जीये, आज क्या तुम पक्का निर्णय कर सकते हो कि सपने में देखे थे पचास साल या असली जीये थे? अब तो सिर्फ स्मृति रह गई। स्मृति तो सपने की भी रह जाती है। आज तुम्हारे पास क्या उपाय है यह जांच करने का कि जो पचास साल मैंने जीए, ये वस्तुतः मैं जीया था। वस्तुतः या एक सपने में देखी कथा है? बड़ी मुश्किल में पड़ जाओगे। बड़ा चित्त बेचैन हो जाएगा अगर सोचने बैठोगे। अगर इस पर ध्यान करोगे तो बड़े बेचैन, पसीने-पसीने हो जाओगे। क्योंकि तुम पकड़ न पाओगे सूत्र कि यह कैसे सिद्ध करें कि जो मैंने, सोचता हूं कि देखा, वह सच में देखा था, या केवल एक मृग-मरीचिका थी?

मरते वक्त जब मौत तुम्हारे द्वार पर खड़ी हो जाएगी और मौत का अंधकार तुम्हें घेरने लगेगा, क्या तुम्हें याद न आएगी कि जो मैं साठ, सत्तर, अस्सी साल जीवन जीया, वह था? तुम कैसे तय करोगे कि वह था? मृत्यु सब पोंछ जाएगी। कितने लोग इस जमीन पर रहे, कितने लोग इस जमीन पर गुजर गए, आए और गए--उनका आज कोई भी तो पता-ठिकाना नहीं है।

वैज्ञानिक कहते हैं कि तुम जिस जगह बैठे हो वहां कम से कम दस आदमियों की लाशें गड़ी हैं। इतने लोग इस जमीन पर मर चुके हैं। इंच-इंच जमीन कब्र है। तुम यह मत सोचना कि कब्र गांव के बाहर है। जहां गांव है वहां कभी कब्र थी, कभी कब्रिस्तान था, मरघट था। जहां अब मरघट है, वहां कभी गांव था। सब चीजें बदलती रही हैं। कितने करोड़ों वर्षों में! जमीन का एक-एक इंच आदमी की लाशों से पटा है। हर इंच पर दस लाशें पटी हैं। तुम जहां बैठे हो, वहां दस मुर्दे नीचे गड़े हैं। तुम भी धीरे से ग्यारहवें हो जाओगे, उन्हीं में सरक जाओगे।

फिर इस सब दौड़-धूप का, इस आकांक्षा-अभिलाषा का, इस महत्वाकांक्षा का क्या अर्थ है? क्या सार है? इस सत्य को देख कर जो जागता, फिर वह ऐसा नहीं कहता कि "रात कटती नहीं, दिन गुजरता नहीं।" फिर वह ऐसा नहीं कहता कि "जख्म ऐसा दिया जो भरता नहीं। आंख वीरान है, दिल परेशान है, गम का सामान है।" यह तो सब आशा-अपेक्षा की ही छायाएं हैं। इनसे कोई धार्मिक नहीं होता। और इनके कारण जो आदमी धार्मिक हो जाता है, वह धर्म के नाम पर संसार की ही मांग जारी रखता है। वह मंदिर में भी जाएगा तो वही मांगेगा जो संसार में नहीं मिला है! उसका स्वर्ग उन्हीं चीजों की पूर्ति होगी जो संसार में नहीं मिल पायी हैं; उनकी आकांक्षा वहां पूरी कर लेगा। इसलिए तो स्वर्ग में हमने कल्पवृक्ष लगा रखे हैं; उनके नीचे बैठ गए, सब पूरा हो जाता है।

मैंने सुना, एक आदमी भूले-भटके कल्पवृक्ष के नीचे पहुंच गया। उसे पता नहीं था कि यह कल्पवृक्ष है। वह उसके नीचे बैठा, बड़ा थका था। उसने कहा, "बड़ा थका-मांदा हूं। ऐसे में कहीं कोई भोजन दे देता। मगर कहीं कोई दिखाई पड़ता ही नहीं।" ऐसा उसका सोचना ही था कि अचानक भोजन के थाल प्रगट हुए। वह इतना भूखा था कि उसने ध्यान भी न दिया कि कहां से आ रहे हैं? क्या हो रहा है? भूखा आदमी, मर रहा था। उसने भोजन कर लिया। भोजन करके उसने सोचा, बड़ी अजीब बात है। मगर दुनिया है, यहां सब होता है, हर चीज होती है। इस वक्त तो अब चिंता करने का समय भी नहीं, पेट खूब भर गया है। उसने डट कर खा लिया है। जरूरत से ज्यादा खा लिया, तो नींद आ रही है। तो वह सोचने लगा कि एक बिस्तर होता तो मजे से सो जाते। सोचना था कि एक बिस्तर लग गया। जरा सा शक तो उठा मगर उसने सोचा, "अभी कोई समय है! अभी तो सो लो, देखेंगे। अभी तो बहुत जिंदगी पड़ी है, जल्दी क्या है, सोच लेंगे।" सो भी गया। जब उठा सो कर, अब जरा निश्चिंत था। अब उसने देखा चारों तरफ कि मामला हो क्या रहा है। यहां कोई भूत-प्रेत तो नहीं हैं! भूत-प्रेत खड़े हो गए, क्योंकि वह तो कल्पवृक्ष था। उसने कहा, मारे गए! तो मारे गए! कि भूत-प्रेत झपटे उन पर, वे मारे गए!

कल्पवृक्ष की कल्पना कर रखी है स्वर्ग में । जो-जो यहां नहीं है, वहां सिर्फ कामना से मिलेगा।

तुमने देखा, आदमी की कामना कैसी है! यहां तो श्रम करना पड़ता है; कामना से ही नहीं मिलता। श्रम करो, तब भी जरूरी नहीं कि मिले। कहां मिलता? श्रम करके भी कहां मिलता? तो इससे ठीक विपरीत अवस्था स्वर्ग में है। वहां तुमने सोचा, तुमने सोचा नहीं कि मिला नहीं। तत्क्षण! उसी क्षण! समय का जरा भी अंतराल नहीं होता। लेकिन ध्यान रखना, तुम वहां भी सुखी न हो सकोगे।

देखा, इस आदमी की क्या हालत हुई! जहां सब मिल जाएगा वहां भी तुम सुखी न हो सकोगे। क्योंकि सुखी तुम तब तक हो ही नहीं सकते जब तक तुम सुख में भरोसा करते हो।

सुख से जागो! सुख से जागने से ही दुख विसर्जित हो जाता है।

बुद्ध के पास एक आदमी आया--उनका भिक्षु था, उनका संन्यासी था। उसने बहुत दिन ध्यान किया, बहुत शांत भी हो गया। एक दिन ध्यान करते-करते उसे खयाल आया कि बुद्ध ने असली बातों के तो जवाब ही नहीं दिए। वह आया उनके पास भागा हुआ। उसने कहा कि सुनिए, न तो आपने कभी बताया है कि ईश्वर है या नहीं, न आपने कभी यह बताया है कि स्वर्ग है या नहीं, न आपने कभी यह बताया है कि आत्मा मर कर कहां जाती है, पुनर्जन्म होता कि नहीं? इन बातों के उत्तर दें।

बुद्ध ने कहा, सुनो, अगर मैं इन बातों के उत्तर दूं तो तुम्हारे तक उत्तर पहुंचने के पहले मैं मर जाऊंगा और तुम्हारे समझने के पहले तुम मर जाओगे। इन बातों के उत्तर व्यर्थ हैं। ये तो ऐसे हैं जैसे किसी आदमी को तीर लग गया हो और वह मरने के करीब पड़ा हो और मैं उससे कहूं कि ला मैं तेरा तीर खींच लूं; और वह कहे, रुको, पहले मेरी बातों के उत्तर दो: "यह तीर किस दिशा से आया? यह किसने चलाया? चलाने वाला मित्र था कि दुश्मन था? भूल से लगा कि जान कर मारा गया? तीर जहर-बुझा है या साधारण है? पहले इन बातों के उत्तर दो!" तो मैं उस आदमी को कहूंगा, फिर तू मरेगा। मुझे पहले तीर खींच लेने दे, फिर तू फिक्र करना इन प्रश्नों की। अभी तो बच जा।

तो बुद्ध ने उस भिक्षु को कहा कि मैंने तुम्हें बताया है कि जीवन में दुख है और मैंने तुम्हें बताया है कि जीवन के दुख से मुक्त होने का मार्ग है। मेरी देशना पूरी हो गई। इससे ज्यादा मुझे तुम्हें कुछ नहीं बताना। तुम्हारा दुख मिट जाए, फिर तुम जानो, खोज लेना।

यह बड़े सोचने जैसी बात है। बुद्ध ने ऐसा क्यों कहा? क्या बुद्ध ईश्वर के संबंध में उत्तर नहीं देना चाहते थे? बुद्ध जानते हैं कि तुम ईश्वर को भी दुख के कारण ही खोज रहे हो। जिस दिन दुख मिट जाएगा, तुम ईश्वर इत्यादि की बकवास बंद कर दोगे। ईश्वर भी तुम्हारी दुख की ही आकांक्षा है कि किसी तरह दुख मिट जाए। संसार में नहीं मिटा तो स्वर्ग में मिट जाए। यहां तो मांग-मांग कर हार गये, यहां तो न्याय मिलता नहीं, परमात्मा के घर तो मिलेगा!

लोग कहते हैं, वहां देर है अंधेर नहीं। कहते हैं, चाहे देर कितनी हो जाये, जन्म के बाद मिले, जन्मों के बाद मिले, मरने के बाद; लेकिन न्याय तो मिलेगा। अंधेर नहीं है।

लेकिन तुम्हारी आकांक्षाएं अपनी जगह खड़ी हैं। तुम कहते हो, कभी तो भरी जायेंगी! देर है, अंधेर नहीं।

बुद्ध ने कहा, मैंने दो ही बातें सिखाईं: दुख है, इसके प्रति जागो; और दुख से पार होने का उपाय है--साक्षी हो जाओ! बस इससे ज्यादा मुझे कुछ कहना नहीं, मेरी देशना पूरी हो गई। तुम ये दो काम कर लो, बाकी तुम खोज लेना।

और बुद्ध ने बिलकुल ठीक कहा। जिस आदमी का दुख मिट गया वह बिलकुल चिंता नहीं करता कि स्वर्ग है या नहीं। स्वर्ग तो हो ही गया, जिस आदमी का दुख मिट गया। और जिस आदमी का दुख मिट गया वह नहीं पूछता कि ईश्वर है या नहीं? जिस आदमी का दुख मिट गया, वह स्वयं ईश्वर हो गया। अब और बचा क्या?

जिसने पूछा है प्रश्न, उसे बहुत कुछ समझने की जरूरत है। जिंदगी को आकांक्षाओं के पर्दे से मत देखो। जिंदगी को अपेक्षाओं के ढंग से मत देखो। जैसी जिंदगी है उसे देखो और बीच में अपनी आकांक्षा को मत लाओ। और तब तुम अचानक पाओगे: सांप खो गया, रस्सी पड़ी रह गई। फिर उससे भय भी पैदा नहीं होता, जख्म भी नहीं लगते, हार भी नहीं होती, पराजय भी नहीं होती, विषाद भी नहीं होता। और उससे तुम्हारे भीतर उस दीए का जलना शुरू हो जाएगा, जिसको अष्टावक्र साक्षी-भाव कह रहे हैं।

दुख को देखो। सुख को चाहो मत, दुख को देखो।

दो ही तरह के लोग हैं दुनिया में: सुख को चाहने वाले लोग, और दुख को देखने वाले लोग। जो सुख को चाहता है वह नये-नये दुख पैदा करता जाता है, क्योंकि हर सुख की आकांक्षा में नये दुख का जन्म है। और जो दुख को देखता है, दुख विसर्जित हो जाता है। और दुख के विसर्जन में सुख का आविरर्भाव है।

मैं फिर से दोहरा दूं: दो ही तरह के लोग हैं, और तुम्हारी मर्जी जिस तरह के लोग तुम्हें बनना हो बन जाना।

सुख को मांगो, दुख बढ़ता जाएगा। क्योंकि सुख मिलता ही नहीं, मांगने से मिलता ही नहीं; इसलिए दुख बढ़ता जाता है। फिर जितना दुख बढ़ता है, उतना ही तुम सुख की मांग करते हो--उतना ही ज्यादा दुख बढ़ता है। पड़े एक दुष्टचक्र में, जिसके बाहर आना मुश्किल हो जाएगा। इसी को तो ज्ञानियों ने संसार-चक्र कहा है--

भवसागर! बड़ा सागर बनता जाता है, क्योंकि जैसे-जैसे तुम्हारा दुख बढ़ता है, तुम सोचते हो: और सुख की खोज करें। और सुख की खोज करते हो, और दुख बढ़ता है। अब इसका कहीं पारावार नहीं, इसका कोई अंत नहीं। भवसागर निर्मित हुआ।

दूसरे तरह के लोग हैं, जो दुख को देखते हैं। दुख है, ठीक है। इससे विपरीत की आकांक्षा करने से क्या सार है? इसे देख लें: यह कहां है, क्या है, कैसा है? दुख तथ्य है तो इसके प्रति जाग जाएं।

तुम इसका छोटा-मोटा प्रयोग करके देखो। जब भी तुम उदास हो, दुखी हो, बैठ जाओ शांत अपने कमरे में। रहो दुखी! वस्तुतः जितने दुखी हो सको उतने दुखी हो जाओ। अतिशयोक्ति करो।

तिब्बत में एक प्रयोग है: अतिशयोक्ति। ध्यान का गहरा प्रयोग है। वे कहते हैं, जिस चीज से तुम्हें छुटकारा पाना हो, उसकी अतिशयोक्ति करो, ताकि वह पूरे रूप में प्रगट हो जाये, ऐसा मंद-मंद न हो। तुम दुखी हो रहे हो, बंद कर लो द्वार-दरवाजे, बैठ जाओ बीच कमरे के और हो जाओ दुखी, जितने होना है। तड़फो, आह भरो, चीखो; लोटना-पोटना हो जमीन पर, लोटो-पोटो; पीटना हो अपने को, पीटो--लेकिन दुख की अतिशयोक्ति करो। दुख को उसकी पूरी गरिमा में उठा दो, दुख की आग जला दो। और जब दुख की आग भभक कर जलने लगे, धू-धू करके जलने लगे, तब बीच में खड़े हो कर देखने लगो: क्या है, कैसा है दुख? इस दुख के साक्षी हो जाओ।

तुम चकित हो जाओगे, तुम हैरान हो जाओगे कि तुम्हारे साक्षी बनते ही दुख दूर होने लगा; तुम्हारे और दुख के बीच फासला होने लगा, तुम साक्षी बनने लगे, फासला बड़ा होने लगा। तुम और भी साक्षी बनने लगे, फासला और बड़ा होने लगा। और जैसे-जैसे फासला बड़ा होने लगा, सुख की धुन आने लगी, सुख की सुवास आने लगी। क्योंकि दुख का दूर होना, यानी सुख का पास आना। धीरे-धीरे तुम पाओगे, दुख इतने दूर पहुंच गया कि अब समझ में भी नहीं आता कि है या नहीं; दूर तारों पर पहुंच गया और सुख की वीणा भीतर बजने लगी। फिर एक ऐसी घड़ी आती है, जब दुख चला ही गया। जब दुख चला जाता है, तो जो शेष रह जाता है, वही सुख है।

सुख तुम्हारा स्वभाव है। सुख, दुख के विपरीत नहीं है। तुम्हें सुख पाने के लिए दुख से लड़ना नहीं है। दुख का अभाव है सुख। दुख की अनुपस्थिति है सुख। दुख को तुम देख लो भर आंख--और दुख गया। यही करो तुम क्रोध के साथ। यही करो तुम लोभ के साथ। यही करो तुम चिंता के साथ। और सौ में से नब्बे मौकों पर तो शरीर के दुख के साथ भी तुम यही कर सकते हो।

अभी पश्चिम में बड़े मनोवैज्ञानिक प्रयोग चल रहे हैं, जिन्होंने इस बात की सच्चाई की गवाही दी है। सौ में निन्यानबे मौकों पर सिरदर्द केवल साक्षी-भाव से देखने से चला जाता है--निन्यानबे मौके पर। एक ही मौका है जब कि शायद न जाए, क्योंकि उसका कारण शारीरिक हो, अन्यथा उसके कारण मानसिक होते हैं।

तुम्हें अब जब दुबारा सिरदर्द हो तो जल्दी से सेरिडॉन मत ले लेना, एस्प्रो मत ले लेना। अब की बार जब दुख हो तो ध्यान का प्रयोग करना, तुम चकित होओगे। यह तो प्रयोगात्मक है। यह तो अब वैज्ञानिक रूप से सिद्ध है, धार्मिक रूप से तो सदियों से सिद्ध रहा है, अब वैज्ञानिक रूप से सिद्ध है। जब तुम्हारे सिर में दर्द हो, तुम बैठ जाना। उस दर्द को खोजने की कोशिश करना: कहां है ठीक- ठीक? ताकि तुम अंगुली रख सको, कहां है। पूरे सिर में मालूम होता है तो खोजने की कोशिश करना: कहां है ठीक-ठीक? तुम चकित होओगे: जैसे तुम खोजते हो, दर्द सिकुड़ने लगता है, उसकी जगह छोटी होने लगती है। पहले लगता था पूरे सिर में है, अब लगता है एक थोड़ी-सी जगह में है। और खोजते जाना, और खोजते जाना, और खोजते जाना, देखते जाना भीतर--और जरा भी चेष्टा नहीं करना कि दुख न हो, दर्द न हो; है तो है, स्वीकार कर लेना। और तुम अचानक पाओगे, एक ऐसी घड़ी आएगी कि दर्द ऐसा रह जाएगा जैसे कि कोई सुई चुभो रहा है। इतने-से, छोटे-से बिंदु पर! और तब तुम हैरान होओगे कि कभी-कभी दर्द खो जाएगा। कभी-कभी लौट आएगा। कभी-कभी फिर खो जाएगा। कभी-

कभी फिर लौट आएगा। और तब तुम्हें एक बात साफ हो जाएगी कि जब भी तुम्हारा साक्षी-भाव सधेगा, दर्द खो जाएगा। और जब भी साक्षी-भाव से तुम विचलित हो जाओगे, दर्द वापिस लौट आएगा। और अगर साक्षी-भाव ठीक सध गया तो दर्द बिलकुल चला जाएगा। इसे तुम जरा प्रयोग करके देखो। मानसिक दुख तो निश्चित रूप से चले जाते हैं; शायद शारीरिक दुख न जाएं। अब किसी ने अगर सिर में पत्थर मार दिया हो तो उसके लिए मैं नहीं कह रहा हूं। इसलिए सौ में एक मौका छोड़ा है कि तुमने अपना सिर दीवाल से टकरा लिया हो, फिर दर्द हो रहा हो, तो वह दर्द शारीरिक है। उसका मन से कुछ लेना-देना नहीं। लेकिन अगर किसी ने सिर में पत्थर भी मार दिया हो तो भी अगर तुम साक्षी-भाव से देखोगे तो दर्द मिटेगा तो नहीं, लेकिन एक बात साफ हो जाएगी कि तुम दर्द नहीं हो। तुम दर्द से भिन्न हो। दर्द रहेगा। अगर मानसिक दर्द है तो मिट जाएगा। अगर शारीरिक दर्द है तो दर्द रहेगा। लेकिन दोनों हालत में तुम दर्द के पार हो जाओगे। मानसिक होगा तो दर्द गया; अगर शारीरिक होगा तो दर्द रहा; लेकिन अब मुझे दर्द हो रहा है, ऐसी प्रतीति नहीं होगी। दर्द हो रहा है, जैसे किसी और के सिर में दर्द हो रहा है; जैसे किसी और के पैर में दर्द हो रहा है; जैसे किसी और को चोट लगी है। बड़े दूर हो जाएगा। तुम खड़े देख रहे हो। तुम द्रष्टा, साक्षी-मात्र!

घबड़ाओ मत।

"जिंदगी देने वाले सुन!
तेरी दुनिया से जी भर गया।
मेरा जीना यहां मुश्किल हो गया।"

यह जिसने तुम्हें जिंदगी दी है, उसके कारण नहीं हुआ है; यह तुम्हारे कारण हुआ है। इसलिए घबड़ाओ मत; क्योंकि अगर उसके कारण हुआ हो, तब तो तुम्हारे हाथ में कुछ भी नहीं। तुम्हारे कारण हुआ है, इसलिए तुम्हारे हाथ में सब कुछ है। तुम जागो तो यह मिट सकता है। और ये गीत गाने से कुछ भी न होगा--कुछ करना होगा! कुछ श्रम करना होगा, ताकि भीतर की निद्रा टूटे।

निद्रा टूट सकती है। यह जो अंधेरा दिखाई पड़ रहा है, यह सदा रहने वाला नहीं है। सुबह हो सकती है।

यह एक शब की तड़फ है, सहर तो होने दो
बहिश्त सर पे लिए रोजगार गुजरेगा।
फिजा के दिल से परअफ्शां है आरजू-ए-गुबार
जरूर इधर से कोई शहसवार गुजरेगा।
"नसीम" जागो, कमर को बांधो,
उठाओ बिस्तर कि रात कम है।
रात तो गुजर ही जाएगी। तैयारी करो!
"नसीम" जागो, कमर को बांधो,
उठाओ बिस्तर कि रात कम है।

साक्षी-भाव बिस्तर का बांध लेना है, कि अब तो सुबह होने के करीब है। और तुमने जिस दिन बांधा बिस्तर, उसी दिन सुबह करीब आ जाती है। यह सुबह कुछ ऐसी है कि तुम्हारे बिस्तर बांधने पर निर्भर है। इधर तुमने बांधा, इधर तुमने तैयारी की, तुम जाग कर खड़े हो गए--सुबह हो गई!

सुबह अर्थात तुम्हारा जाग जाना। रात अर्थात तुम्हारा सोया रहना।

रो-रो कर दर्द की बातें कर लेने से कुछ हल न होगा। यह तो तुम करते ही रहे हो। यह रोना तो काफी हो चुका है। यह तो जन्मों-जन्मों से तुम रो रहे हो और कह रहे हो कि कोई कर दे, दुनिया को बनाने वाला हो या न हो। तुम किससे प्रार्थना कर रहे हो? उसका तुम्हें कुछ पता भी नहीं है। हो न हो; हो, बहरा हो; हो, और तुम्हें दुख देने में मजा लेता हो; हो, और तुम्हारा दुख उसे दुख जैसा दिखाई न पड़ता हो--तुम किससे प्रार्थना कर रहे हो? और वह है भी, इसका कुछ पक्का नहीं है।

आदमी ने अपने भय में भगवान खड़े किए हैं और अपने दुख में मूर्तियां गढ़ ली हैं, और अपनी पीड़ा में किसी का सहारा खोजने के लिए आकाश में आकार निर्मित कर लिए हैं। इनसे कुछ भी न होगा।

अष्टावक्र या बुद्ध या कपिल तुमसे इस तरह की बातें करने को नहीं कहते।

वे तो कहते हैं, जो हो सकता है वह एक बात है कि तुम्हारे भीतर चैतन्य है, इतना तो पक्का है; नहीं तो दुख का पता कैसे चलता? दुख का जिसे पता चल रहा है उस चैतन्य को और निखारो, साफ-सुथरा करो! कूड़े-कर्कट से अलग करो। उसको प्रज्वलित करो, जलाओ कि वह एक मशाल बन जाए। उसी मशाल में मुक्ति है।

आखिरी सवाल--और आखिरी सवाल सवाल नहीं है:

एकटि नमस्कारे प्रभु,
एकटि नमस्कारे!
सकल देह लूटिए पड़ूक
तोमार ए संसारे
घन श्रावण-मेघेर मतो
रसेर भारे नम्र नत
एकटि नमस्कारे प्रभु,
एकटि नमस्कारे!
समस्त मन पड़िया थाक,
तव भवन-द्वारे
नाना सुरेर आकुल धारा
मिलिए दिए आत्महारा
एकटि नमस्कारे प्रभु,
एकटि नमस्कारे!
समस्त गान समाप्त होक,
नीरव पारावारे
हंस येमन मानस-यात्री
तेमन सारा दिवस-रात्रि
एकटि नमस्कारे प्रभु,
एकटि नमस्कारे!
समस्त प्राण उड़े चलूक
महामरण-पारे!
स्वामी आनंद सागरेर प्रणाम!

आनंद सागर ने निवेदन किया है, प्रश्न तो नहीं है। लेकिन सार्थक पंक्तियां हैं। उन्हें स्मरण रखना।

"सकल देह लूटिए पड़ूक,
तोमार ए संसारे!"

--तेरे इस संसार में सब लुट गया! अब तो एक नमस्कार ही बचा है।

"एकटि नमस्कारे प्रभु,
एकटि नमस्कारे!
सकल देह लूटिए पड़ूक,
तोमार ए संसारे
घन श्रावण-मेघेर मतो"

--और जैसे आषाढ़ में मेघ भर जाते हैं जल से।

"रसेर भारे नम्र नत"...

--और रस से भरे हुए झुक जाते पृथ्वी पर और बरस जाते हैं।

"एकटि नमस्कारे प्रभु,

एकटि नमस्कारे!"

--ऐसा मैं बरस जाऊं तुम्हारे चरणों में जैसे रस से भरे हुए मेघ बरस जाते हैं।

"समस्त मन पड़िया थाक,

तव भवन द्वारे!"

--और तेरे भवन के द्वार पर सारे मन को थका कर तोड़ डालूं, मन से मुक्त हो जाऊं तेरे द्वार पर, बस इतनी ही प्रार्थना है।

"नाना सुरेर आकुल धारा

मिलिए दिए आत्महारा

एकटि नमस्कारे प्रभु,

एकटि नमस्कारे!

समस्त गान समाप्त होक,

नीरव पारावारे!"

--ऐसा हो कि मेरे सब गीत अब खो जाएं, केवल नीरव पारावर बचे! शून्य का गीत शुरू हो, स्वरहीन रवहीन गीत शुरू हो!

"समस्त गान समाप्त होक,

नीरव पारावारे!"

--अब आखिरी गीत नीरव हो, बिना कहे हो, बिना शब्दों का हो! अब मौन ही आखिरी गीत हो।

"हंस येमन मानस-यात्री

तेमन सारा दिवस-रात्रि।"

--ये प्राण तो मानस-सरोवर के लिए, मान-सरोवर के लिए उड़ रहे हैं। ये प्राण तो हंस जैसे हैं, जो अपने घर के लिए तड़फ रहे हैं।

"हंस येमन मानस-यात्री

तेमन सारा दिवस-रात्रि।"

--अहर्निश बस एक ही प्रार्थना है कि कैसे उस शून्य में, कैसे उस महाविराट में, कैसे उस मानसरोवर में इस हंस की वापिसी हो जाए! कैसे घर पुनः मिले!

"एकटि नमस्कारे प्रभु,

एकटि नमस्कारे!

समस्त प्राण उड़े चलूक,

महामरण-पारे।"

--ऐसा कुछ हो कि सारे प्राण अब इस जन्म और मृत्यु को छोड़ कर, जन्म और मृत्यु के जो अतीत है उस तरफ उड़ चलें।

ऐसी बस एक नमस्कार शेष रह जाए! बस, ऐसी एक प्रार्थना शेष रह जाए और मेघों की भांति तुम्हारे प्राण झुक जाएं अनंत के चरणों में--तो सब प्रसाद-रूप फलित हो जाता है, घट जाता है। तुम झुको कि सब हो जाता है। तुम अकड़े खड़े रहो कि वंचित रह जाते हो।

तुम्हारे किए, तुम्हारी अस्मिता और अहंकार से, और तुम्हारे संकल्प से, दौड़-धूप ही होगी। तुम्हारे समर्पण से, तुम्हारे विसर्जन से, तुम्हारे डूब जाने से महाप्रसाद उतरेगा। तुम झुको।

"रसेर भारे नम्र नत
घन श्रावण-मेघेर मतो
एकटि नमस्कारे प्रभु,
एकटि नमस्कारे!
समस्त मन पड़िया थाक
समस्त गान समाप्त होक
समस्त प्राण उड़े चलूक,
महामरण-पारे!"

जीवन का परम सत्य मृत्यु के पार है। जीवन का परम सत्य वहीं है जहां तुम मिटते हो। तुम्हारी मृत्यु ही समाधि है। और तुम्हारा न हो जाना ही प्रभु का होना है। जब तक तुम हो--प्रभु रुका, अटका। तुम दीवाल हो। तुम मिटे कि द्वार खुला! सीखो मिटना!

और मिटने के दो ही उपाय हैं: या तो साक्षी बन जाओ--जो कि अष्टावक्र, कपिल, कृष्णमूर्ति, बुद्ध इनका उपाय है; या प्रेम में डूब जाओ--जो कि मीरा, चैतन्य, जीसस, मोहम्मद, इनका मार्ग है। दोनों ही मार्ग ले जाते हैं--या तो बोध, या भक्ति। मगर दोनों मार्ग का सार-सूत्र एक ही है। बोध में भी तुम मिट जाते हो, क्योंकि अहंकार साक्षी में बचता नहीं; और प्रेम में भी तुम मिट जाते हो, क्योंकि प्रेम में अहंकार के बचने की कोई संभावना नहीं। तो एक बात सार-निचोड़ की है: अहंकार न रहे तो परमात्मा प्रगट हो जाता है।

हरि ॐ तत्सत्!

तेईसवां प्रवचन

दृष्टि ही सृष्टि है

जनक उवाच।

मय्यनन्तमहाम्भोधौ विश्वपोत इतस्ततः।
भ्रमति स्वान्तवातेन न ममास्त्यसहिष्णुता।। ७४।।
मय्यनन्तमहाम्भोधौ जगद्वीचिः स्वभावतः।
उदेतु वास्तमायातु न मे वृद्धिर्न न क्षतिः।। ७५।।
मय्यनन्तमहाम्भोधौ विश्वं नाम विकल्पना।
अतिशान्तो निराकार एतदेवाहमास्थितः।। ७६।।
नात्मा भावेषु नो भावस्तत्रानन्ते निरंजने।
इत्यसक्तोऽस्पृहः शान्त एतदेवाहमास्थिताः।। ७७।।
अहो चिन्मात्रमेवाह मिन्द्रजालोपमं जगत्।
अतो मम कथं कुत्र हेयोपादेयकल्पना।। ७८।।

सत्य को कहा नहीं जा सकता, इसीलिए बार-बार कहना पड़ता है। बार-बार कह कर भी पता चलता है कि फिर छूट गया। फिर छूट गया। जो कहना था, वह नहीं समा पाया शब्दों में।

अरब में एक कहावत है कि पूर्ण मनुष्य नहीं बनाया जा सकता। इसलिए परमात्मा रोज नये बच्चे पैदा करता जाता है। अभी भी कोशिश कर रहा है पूर्ण मनुष्य को बनाने की--हारा नहीं, थका नहीं, हताश नहीं हुआ है।

ठीक वैसी ही स्थिति सत्य के संबंध में भी है। सनातन से बुद्धपुरुष कहने की चेष्टा करते रहे हैं। हजार-हजार ढंग से उस तरफ इशारा किया है, लेकिन फिर भी जो कहना था वह अनकहा रह गया है। उसे कहा ही नहीं जा सकता है। स्वभाव से ही शब्द में बंधने की कोई संभावना नहीं है। जैसे कोई मुट्ठी में आकाश को नहीं भर ले सकता।

एक आश्चर्य की बात देखी! मुट्ठी बांधो तो आकाश बाहर रह जाता है; मुट्ठी खोल दो तो आकाश मुट्ठी में होता है। खुली मुट्ठी में तो होता है, बंधी मुट्ठी में खो जाता है। तो मौन में तो सत्य होता है, शब्द में खो जाता है। शब्द तो बंधी मुट्ठी है; मौन खुला हाथ है। लेकिन फिर भी बुद्धपुरुष कहने की चेष्टा करते हैं--करुणावशात। और शुभ है कि चेष्टा जारी है। सत्य भला न कहा जा सके, लेकिन सत्य को कहने की जो चेष्टा है वह चलती रहनी चाहिए; क्योंकि उसी चेष्टा में बहुत-से सोये व्यक्ति जागते हैं। सुन कर सत्य मिलता भी नहीं, लेकिन सुन-सुन कर प्यास तो जग जाती है; सत्य की खोज की आकांक्षा तो प्रज्वलित हो जाती है।

मैं तुमसे कह रहा हूं जो कुछ, जान कर कह रहा हूं कि तुम तक नहीं पहुंचेगा। लेकिन फिर भी जो मैं कहूंगा, वह भला न पहुंचे, तुम्हारे जीवन के भीतर छिपी हुई अग्नि में घी का काम करेगा; अग्नि प्रज्वलित होगी। सत्य तुम्हें मिले न मिले, लेकिन तुम्हारे भीतर सोई हुई अग्नि को ईंधन मिलेगा। इसी आशा में सारे शास्त्रों का जन्म हुआ है। लेकिन अगर तुम सत्य को पकड़ने की चेष्टा में शब्द में उलझ जाओ तो चूक गये। जैसे कि कोई गीत तो कंठस्थ कर ले और गीत के भीतर छिपा हुआ अर्थ भूल जाए।

तोतों को देखा! याद कर लेते हैं। राम-राम रटने लगते हैं। भजन भी दोहरा देते हैं।

तुम शब्द सीख ले सकते हो। सुंदर शब्द उपलब्ध हैं। और तुम्हें ऐसी भ्रांति भी हो सकती है कि जब शब्द आ गया तो सत्य भी आ गया होगा। शब्द तो केवल खाली मंजूषा है। सत्य तो आता नहीं, इसलिए शब्द को कभी भूल कर सत्य मत समझ लेना और शास्त्र को सिर पर मत ढोना।

अष्टावक्र की यह महागीता है। इससे शुद्धतम वक्तव्य सत्य का कभी नहीं दिया गया और कभी दिया भी नहीं जा सकता। फिर भी तुम्हें याद दिला दूं, इन शब्दों में मत उलझ जाना। ये शब्द खाली हैं। ये बड़े प्यारे हैं--इसलिए नहीं कि इनमें सत्य है; ये बड़े प्यारे हैं, क्योंकि जिस आदमी से निकले हैं उसके भीतर सत्य रहा होगा; ये बड़े प्यारे हैं, क्योंकि जिस हृदय से उमगे हैं, जहां से उठे हैं, वहां सत्य का आवास रहा होगा।

सदगुरु के पास या सदवचनों के सान्निध्य में कुछ ऐसी घटना घटती है, जैसे सुबह कुहासा घिरा हो और तुम घूमने गये हो, तो एकदम भीग नहीं जाते; कोई वर्षा तो हो नहीं रही है कि तुम भीग जाओ; लेकिन अगर घूमते ही रहे, घूमते ही रहे, तो वस्त्र धीरे-धीरे आर्द्र हो जाते हैं। वर्षा हो भी नहीं रही कि तुम भीग जाओ, कि तर-बतर हो जाओ; लेकिन कुहासे में अगर घूमने गये हो तो घर लौट कर पाओगे कि वस्त्र थोड़े गीले हो गये।

सत्संग में ऐसा ही गीलापन आता, आर्द्रता आती; वर्षा नहीं हो जाती। लेकिन अगर तुम शास्त्र के शुद्ध वचनों को शांति से सुनते रहे और शब्दों में न उलझे, तो कुहासे की तरह शब्दों के आसपास लिपटी हुई जो गंध आती है वह तुम्हें सुगंधित कर जायेगी, और तुम्हें प्रज्वलित कर जायेगी; तुम्हारे भीतर की मशाल को ईंधन बन जायेगी।

कवि ने गीत लिखे नये-नये बार-बार
पर उसी एक विषय को देता रहा विस्तार--
जिसे कभी पूरा पकड़ पाया नहीं;
जो कभी किसी गीत में समाया नहीं
किसी एक गीत में वह अट गया दिखता
तो कवि दूसरा गीत ही क्यों लिखता?

तुम्हें बहुत बार लगेगा अष्टावक्र वही कहे जाते हैं, जनक वही दोहराए चले जाते हैं।

कवि ने गीत लिखे नये-नये बार-बार
पर उसी एक विषय को देता रहा विस्तार--
जिसे कभी पूरा पकड़ पाया नहीं;
जो कभी किसी गीत में समाया नहीं,

एक गीत हार जाता, कवि दूसरा गीत रचता है। लेकिन जो उसने पहले गीत में गाना चाहा था वही वह दूसरे गीत में गाना चाहता है।

विन्सेंट वानगाग को किसी ने पूछा कि तुमने अपने जीवन में कितने चित्र बनाये हैं? उसने कहा कि बनाये तो बहुत, लेकिन बनाना एक ही चाहता था।

ठीक कहा। उस एक को बनाने की चेष्टा में बहुत बने और वह एक हमेशा रह जाता है, वह बन नहीं पाता है।

रवींद्रनाथ मरण-शैया पर थे। उनकी आंखों से आंसू टपकते देख कर उनके एक मित्र ने कहा, आप, और रोते हैं? अरे धन्यवाद दो! प्रभु ने तुम्हें सब कुछ दिया। तुमसे बड़ा महाकवि नहीं हुआ। तुमने छह हजार गीत लिखे जो संगीत में बंध सकते हैं। पश्चिम में शैली की बड़ी ख्याति है; उसने भी दो हजार ही गीत लिखे हैं जो संगीत में बंध जाएं। तुमने छह हजार लिखे। और क्या चाहते हो? अब किसलिए रोते हो? अब तो शांति से विदा हो जाओ।

रवींद्रनाथ हंसने लगे। उन्होंने कहा, इसलिए रोता भी नहीं। इधर प्रभु से निवेदन कर रहा था भीतर-भीतर, आंख में आंसू आ गये। निवेदन कर रहा था, यह भी कैसा मजाक है! अभी तो मैं साज बिठा पाया था।

अभी गीत गाया कहां? अभी तो साज बिठा पाया था। और यह विदा की बेला आ गई। यह कैसा अन्याय है? ये छह हजार गीत जो मैंने गाये, यह तो सिर्फ साज का बिठाना था।

जैसे तुमने देखा, तबलची तबले को ठोंकता-पीटता, वीणाकार वीणा को कसता। उस वीणा को कसने से जो आवाज निकलती है, तारों को खींचने से, जांचने से जो आवाज निकलती है, उसे संगीत मत समझ लेना; वह तो केवल अभी आयोजन किया जा रहा है।

रवींद्रनाथ ने कहा, अभी तो आयोजन पूरा होने को आया था। अब मैं गा सकता था, ऐसा लगता था; और यह विदा होने का वक्त आ गया, यह कैसा अन्याय है?

जिन्होंने भी कुछ कहने की कोशिश की है, सभी का यही अनुभव है। जो गाना है, वह अनगाया रह जाता है। जो कहना है, अनकहा छूट जाता है।

फिर दूसरी तरफ से चेष्टा होती है कि चलो, इस आयाम से नहीं हुआ, दूसरे आयाम से हो जाएगा; ये शब्द काम न आये, कोई और शब्द काम आ जायेंगे; इससे न जल सका दीया, किसी और बात से जल जाएगा। लेकिन दीया जल सकता नहीं, क्योंकि शब्द और सत्य का मिलन होता नहीं। फिर भी, अगर तुमने शांति से सुना, तुमने अगर पीया, तो शब्द तो खो जाएगा, लेकिन शब्द के पास कुहासे की तरह जो आभामंडल था, वह तुम्हारे भीतर की अग्नि को प्रज्वलित कर देगा, तुम प्यासे हो जाओगे।

जनक के आज के सूत्र, पीछे जो सूत्र थे उन्हीं के सिलसिले में हैं, उन्हीं की क्रमबद्धता में हैं। पीछे के चार सूत्र बड़े क्रांतिकारी थे। अब उन्हीं का विस्तार है। और वस्तुतः, पूरी महागीता में उन्हीं का विस्तार होगा। उन चार सूत्रों में जो मौलिक बात थी वह इतनी ही थी कि अष्टावक्र ने कहा है जनक को कि अब तू ज्ञान को उपलब्ध हो जा। और जनक कहते हैं, ज्ञान को उपलब्ध हो जाऊं? यह भी आप कैसी बात कह रहे हैं? ज्ञान को उपलब्ध हो गया हूं! यह आप कैसी बात कर रहे हैं कि ज्ञान को उपलब्ध हो जाओ; जैसे कि ज्ञान मुझसे कुछ भिन्न हो! मेरा स्वभाव, मेरा बोध है। इति ज्ञानं! यही ज्ञान है। यह जो साक्षी का अनुभव हो रहा है, यही ज्ञान है। "हो जाओ" में तो ऐसा लगता है भविष्य में होगा। "हो जाओ" में तो ऐसा लगता है, कुछ साधन करना पड़ेगा, विधान करना पड़ेगा, अनुष्ठान करना पड़ेगा। "हो जाओ" में तो ऐसा लगता है यात्रा करनी होगी; मंजिल भविष्य में है, मार्ग तय करना होगा।

जनक ने कहा, नहीं-नहीं! आप मुझे उलझाने की कोशिश मत करें और आप मुझे ऐसे प्रलोभन न दें। हो गया है, घट गया है। और जब कह रहे हैं कि घट गया है तो इसका यह अर्थ नहीं है कि पहले नहीं घटा था, अब घटा है। इसका इतना अर्थ है कि घटा तो सदा ही से था, मुझे ही बोध न था, मुझे स्मरण न था। संपत्ति तो मुझमें पड़ी थी; मैं उधर आंख को न ले गया; मैं कहीं और खोजता रहा। मिलने में कोई अड़चन न थी; मेरी गलत खोज ही अड़चन थी। ऐसा नहीं था कि मेरा श्रम पूरा नहीं था, मेरी साधना पूरी नहीं थी, या मेरे साधन अधूरे थे, या मैंने पूरी जीवन-ऊर्जा को दांव पर न लगाया था--ऐसा नहीं था। सिर्फ जहां मुझे देखना था वहां मैंने नहीं देखा था। मैंने अपने भीतर नहीं देखा था। खोजने वाले ने खोजने वाले में नहीं देखा था, कहीं और खोज रहा था। देखा भीतर, हो गया। "हो गया", कहना पड़ता है भाषा में; कहना तो ऐसा चाहिए: वही हो गया जो सदा से था।

बुद्ध को ज्ञान हुआ तो बुद्ध से किसी ने पूछा, क्या मिला? बुद्ध ने कहा, मिला कुछ भी नहीं। जो मिला ही हुआ था, उसका पता चला। जो मिला ही हुआ था, जिसे खोने का कोई उपाय ही नहीं है!

अष्टावक्र बड़े प्रसन्न हो रहे होंगे सुन कर जनक के उत्तर। शायद ही कभी किसी शिष्य ने गुरु की आकांक्षा को इस परिपूर्णता से पूरा किया है। क्योंकि शिष्य की उत्सुकता तो होने में होती है, बनने में होती है, विकसित होने में, समृद्ध होने में, ज्ञानवान होने में, शक्तिसंपन्न होने में, सिद्धि पाने में। अष्टावक्र बड़े प्रफुल्लित हुए होंगे। उनका मन बहुत मग्न हुआ होगा। क्योंकि जो जनक कह रहे थे वही अष्टावक्र सुनना चाहते थे।

तेरे हुस्ने-जवाब से आई,

मेरे रंगीं सवाल की खुशबू।

जरूर जनक के जवाब में अपने सवाल की आत्यंतिक सुगंध को अष्टावक्र ने अनुभव किया होगा। इधर भीतर तो वह प्रफुल्लित हो रहे होंगे, लेकिन बाहर उन्होंने रुख बड़े कठोर बना रखा है। बाहर तो परीक्षक हैं। बाहर तो आंखें जांच रही हैं। पैनी धार आंखों की जनक के हृदय को काट रही है।

गुरु को कठोर होना ही चाहिए--यही उसकी करुणा है। वह तो आत्यंतिक स्थिति में ही कहेगा कि ठीक, उसके पहले नहीं। जब तक जरा-सी भी संभावना है भूल-भटक की, तब तक वह कुरेदे जाएगा, तब तक वह काटे जाएगा, तब तक वह और उपाय करेगा कि तुम फंस जाओ, और उपाय करेगा कि कहीं तुमसे भूल-चूक हो जाए।

जनक ने कहा: "मुझ अंतहीन महासमुद्र में, विश्व-रूपी नाव अपनी ही प्रकृत वायु से इधर-उधर डोलती है। मुझे असहिष्णुता नहीं है।"

यह सूत्र इतना सरल मालूम होता है, लेकिन बड़ा गहन है! इसमें उतरने की कोशिश करो। खूब ध्यान से सुनोगे तो ही उतर सकोगे। इस सूत्र का यह अर्थ हुआ कि दुख आए चाहे सुख, दोनों ही प्रकृति से उत्पन्न हो रहे हैं। मेरे चुनाव की सुविधा कहां है! मुझसे पूछता कौन है! जैसे समुद्र में लहरें उठ रही हैं--छोटी लहरें, बड़ी लहरें; अच्छी लहरें, बुरी लहरें; सुंदर, कुरूप लहरें--यह समुद्र का स्वभाव है कि ये लहरें उठती हैं। ऐसे ही मुझ में लहरें उठती हैं--सुख की, दुख की; प्रेम की, घृणा की; क्रोध की, करुणा की। ये स्वभाव से ही उठती हैं और इधर-उधर डोलती हैं। इसमें मैंने चुनाव नहीं किया है, चुनाव छोड़ दिया है। और जब से चुनाव छोड़ा तभी से असहिष्णुता भी चली गई। करने को ही कुछ नहीं है तो असहिष्णुता कैसे हो?

मेरे पास लोग आते हैं, वे कहते हैं कि किसी तरह अशांति के बाहर निकाल लें। मैं उनसे कहता हूं कि तुम अशांति को स्वीकार कर लो। एकदम उन्हें समझ में नहीं आता, क्योंकि वे आए हैं अशांति को छोड़ने। मैं उनसे कहता हूं, अशांति को स्वीकार कर लो। उनके आने का कारण बिलकुल भिन्न है। वे चाहते हैं कि कोई अशांति से छुड़ा दे। कोई विधि होगी, कोई उपाय होगा, कोई औषधि होगी, कोई मंत्रत्तंत्र, कुछ यज्ञ-हवन--कुछ होगा, जिससे अशांति छूट जाएगी। और दुनिया में सौ गुरुओं में निन्यानबे ऐसे हैं कि तुम जाओगे तो वे जरूर तुम्हें कुछ कह देंगे कि यह करो तो अशांति छूट जाएगी।

मेरी अड़चन यह है कि मैं जानता हूं अशांति को छोड़ने का कोई उपाय ही नहीं है--स्वीकार करने का उपाय है। और स्वीकार करने में अशांति विसर्जित हो जाती है। मैं जब कहता हूं अशांति विसर्जित हो जाती है तो तुम यह मत समझना कि अशांति छूट जाती है। अशांति होती रहे या न होती रहे, तुम अशांति से छूट जाते हो। तुमसे अशांति छूटे या न छूटे; तुम अशांति से छूट जाते हो।

इस मन की व्यवस्था को समझें। मन अशांत है, तुम कहते हो शांत होना चाहिए। मन तो अशांत था, एक और नई अशांति तुमने जोड़ी कि अब शांत होना चाहिए। मन की अशांति को समझो। तुम्हारे पास दस हजार रुपये हैं, तुम दस लाख चाहते थे, इसलिए मन अशांत है। जितना है उससे तुम तृप्त न थे। जो नहीं है वह तुम मांग रहे थे। "नहीं" की मांग से अशांति आई। अशांति आती है अभाव से। जो है, उससे अशांति कभी नहीं आती है; जो नहीं है, उसकी मांग से आती है। जो पत्नी तुम्हारी है, उससे सुंदर चाहिए। जो पति तुम्हारा है, उससे ज्यादा यशस्वी चाहिए। जो बेटा तुम्हारा है, उससे ज्यादा बुद्धिमान चाहिए। जैसा मकान है, उससे बड़ा चाहिए। जितनी तुम्हारी प्रतिष्ठा है, उससे गहरी चाहिए। जो पद तुम्हारे पास है, उससे आगे का पद चाहिए। अशांति आती है उसकी मांग से जो तुम्हारे पास नहीं है। फिर, जब तुम अशांत हो गए तो अब तुम एक और नई बात मांगना शुरू करते हो--पुराना जाल तो कायम है और उसी जाल का गणित और फैलता है--अब तुम कहते हो, मुझे शांति चाहिए। अब शांति नहीं है तुम्हारे पास, अब तुम्हें शांति चाहिए। तुम समझे? इसका मतलब हुआ कि अब जाल और भी जटिल हो जाएगा।

जो आदमी साधारणतः अशांत है और शांति की झंझट में नहीं पड़ा है, वह उस आदमी से ज्यादा शांत होता है जो शांत होना चाहने की झंझट में पड़ गया है। यह एक और उपद्रव हुआ। अशांत तो तुम थे ही, तर्क था कि जो नहीं है वह होना चाहिए; अब शांति नहीं है, शांति होना चाहिए। एक और नई झंझट शुरू हुई।

जो तथाकथित धार्मिक लोग हैं, उनसे ज्यादा अशांत व्यक्ति तुम दूसरे न पाओगे। सांसारिक व्यक्ति उतने अशांत नहीं हैं। मंदिरों में, मस्जिदों में झुके लोग, पूजागृहों में बैठे लोग, तपश्चर्या उपवास करते लोग तुम्हें जितने अशांत दिखाई पड़ेंगे उतने तुम्हें साधारण लोग, होटलों में बैठे, चाय पीते, अखबार पढ़ते, उतने अशांत न दिखाई पड़ेंगे। कम से कम उनके पास एक ही अशांति है--वे संसार में कुछ पाना चाहते हैं। धार्मिक व्यक्ति के पास दोहरी अशांति है--वह परलोक में भी कुछ पाना चाहता है। न केवल परलोक में कुछ पाना चाहता है, यहां भी शांति पाना चाहता है, आनंद पाना चाहता है, ध्यान पाना चाहता है। और सारा जाल इतना ही है कि तुम अगर कुछ पाना चाहते हो तो तुम और अशांत होते जाओगे।

मैं कहता हूं--जब कोई शांति की खोज में आता--कि तुम अशांति को स्वीकार कर लो। उसे समझाता हूं। कभी-कभी उसकी समझ में भी आ जाता है। यह बात कठिन है: "अशांति को स्वीकार कर लो! तो फिर शांत कैसे होंगे?" तुम्हारी बात भी मेरी समझ में आती है। लेकिन मैं तुमसे कहता हूं: जब भी कोई शांत हुआ है, अशांति को स्वीकार करके हुआ है। सुन कर मुझे, समझ कर मुझे कोई राजी हो जाता है कि "अच्छा, तो स्वीकार कर लेते हैं; फिर शांत हो जाएंगे? स्वीकार कर लेते हैं, फिर शांत हो जाएंगे? कब तक शांत होंगे? चलो स्वीकार कर लेते हैं।" तो मैं उनसे कहता हूं यह तुमने स्वीकार किया ही नहीं। अभी भी तुम्हारी मांग तो कायम है कि शांत होना है। स्वीकार करने का अर्थ है: जैसा है, वैसा है; अन्यथा हो नहीं सकता। जैसा है, वैसा ही होगा। जैसा हुआ है, वैसा ही होता रहा है।

जब तुम इस भांति स्वीकार कर लेते हो तो पीछे यह प्रश्न खड़ा नहीं होता कि स्वीकार करने से हम शांत हो जाएंगे? और शांति उसी घटना की स्थिति है, जब जो है स्वीकार है। फिर कैसे अशांत होओगे बताओ मुझे? फिर क्या उपाय है अशांत होने का? जो है, जैसा है--स्वीकार है। फिर तुम्हें कौन अशांत कर सकेगा, कैसे अशांत कर सकेगा? फिर तो अगर अशांति भी होगी तो स्वीकार है। फिर तो दुख भी आएगा तो स्वीकार है। फिर तो मौत भी आएगी तो स्वीकार है। तुमने चुनाव छोड़ दिया, तुमने संकल्प छोड़ दिया, तुम समर्पित हो गये। तुमने कहा, अब जो है वही है। और उसी दिन वह महाक्रांति घटती है जिसका इस सूत्र में इंगित है।

मयि अनंत महाम्भोधौ विश्वपोत इतस्ततः।

"मुझ अंतहीन महासमुद्र में विश्व-रूपी नाव अपनी ही प्रकृत वायु से इधर-उधर डोलती है।"

भ्रमति स्वान्तवातेन न मम अस्ति असहिष्णुता।

अब मैं जान गया कि यह स्वभाव ही है। कोई मेरे विपरीत मेरे पीछे नहीं पड़ा है। कोई मेरा शत्रु नहीं है जो मुझे अशांत कर रहा है। ये मेरे ही स्वभाव की तरंगें हैं। यह मैं ही हूं। यह मेरे होने का ढंग है कि कभी इसमें लहरें उठती हैं, कभी लहरें नहीं उठतीं; कभी सब शांत हो जाता है, कभी सब अशांत हो जाता है। यह मैं ही हूं और यह मेरा स्वभाव है।

एक मित्र ने पूछा कि आप कहते हैं, आत्मा जब मुक्त हो जाएगी तब परिपूर्ण आनंद में होगी, स्वतंत्र होगी; लेकिन क्या फिर आत्मा में वासना नहीं उठ सकती? और अगर वासना फिर नहीं उठ सकती तो पहले ही वासना क्यों उठी? क्योंकि आत्मा तो स्वभाव से ही स्वतंत्र है, शुद्ध-बुद्ध है। पहले से ही वासना क्यों उठी?

उन मित्र को...उनका प्रश्न बिलकुल स्वाभाविक है, तर्कयुक्त है। उनको यह खयाल में नहीं आ रहा कि वासना का उठना भी आत्मा की स्वतंत्रता का हिस्सा है। यह किसी ने उठा नहीं दी तुममें। यह तुम्हारा स्वभाव है। वासना भी उठती है तुम्हारे स्वभाव में और मोक्ष भी उठता है तुम्हारे स्वभाव में। जब वासना उठती है तो तुम संसारी हो जाते हो। जब वासना उठती है तो तुम देह में प्रवेश कर जाते हो। जब वासना से थक जाते हो तो मुक्त हो जाते हो। मगर दोनों तुम्हारे ही स्वभाव हैं। ऐसा नहीं है कि वासना कोई शैतान तुम में डाल रहा है और

मोक्ष तुम लाओगे। वासना भी तुम्हारी, मोक्ष भी तुम्हारा। और जिसने ऐसा समझ लिया, उसे एक बात खयाल में आ जाएगी कि अगर आत्मा में वासना न उठ सके तो वह आत्मा मुक्त ही नहीं। क्योंकि मुक्ति ऐसी क्या मुक्ति हुई? अगर तुम्हें स्वर्ग जाने की ही मुक्ति हो और नरक जाने के लिए दरवाजे ही बंद हों और जा ही न सको, तो यह मुक्ति कोई पूरी मुक्ति न हुई। यह स्वर्ग भी बेमजा हो जाएगा। इसका भी स्वाद खो जाएगा। मुंह कड़वाहट से भर जाएगा स्वर्ग में जा कर।

स्वर्ग का मजा ही यह है कि नरक जाने की भी सुविधा है। सुख का मजा यही है कि दुखी होने की सुविधा है। विपरीत के कारण ही जीवन में सारा रंग है, सारा संगीत है। अगर विपरीत न हो तो सब संगीत खो जाए। वीणावादक अंगुलियों से तार को छेड़ता है तो संगीत है। अंगुलियों और तार में जो संघर्ष होता है वही संगीत है। संघर्ष बंद हो जाए, संगीत शून्य हो जाए, संगीत खो जाए।

स्त्री और पुरुष के बीच जो विपरीतता है, वही प्रेम है। अगर विपरीतता समाप्त हो जाए, प्रेम विदा हो जाए। संसार और मोक्ष के बीच जो विकल्प है, वही स्वतंत्रता है। स्वतंत्रता का मतलब यह है कि अगर मैं चाहूं तो मैं नरक की आखिरी परत तक जा सकता हूं, कोई मुझे रोकने वाला नहीं। और अगर मैं चाहूं तो स्वर्ग की सब ऊंचाइयां मेरी हैं, मुझे कोई रोकने वाला नहीं। यह मेरा निर्णय है। और ये दोनों मेरे स्वभाव हैं। नरक मेरी ही निम्नतम दशा है, स्वर्ग मेरी ही उच्चतम दशा है। समझो कि नरक मेरे पैर हैं और स्वर्ग मेरा सिर है। मगर दोनों मेरे हैं और भीतर मेरा खून दोनों को जोड़े हुए है।

भ्रमति स्वान्तवातेन...।

अपनी ही हवा है, उसी से भ्रम पैदा हो रहा है। डांवांडोल होती नौका।

"मुझ अंतहीन महासमुद्र में विश्व-रूपी नाव अपनी ही प्रकृत वायु से इधर-उधर डोलती है। मुझे असहिष्णुता नहीं है।"

जनक कहते हैं, अब मैं चुनाव नहीं करना चाहता। मैं यह नहीं चाहता कि नाव न डोले, क्योंकि वह मेरा आकर्षण कि नाव न डोले, मेरे मन का तनाव बनेगा।

जब भी तुमने कुछ चाहा, जब भी तुमने कुछ चाह की, तनाव पैदा हुआ। जब भी तुमने स्वीकार किया, जो है, तभी तनाव खो गया। अगर तुमने चाहा कि अज्ञान हटे और ज्ञान आए--उपद्रव शुरू हुआ। अगर तुमने चाहा कि वासना मिटे, निर्वासना आए--पड़े तुम झंझट में! अगर तुमने चाहा संसार से मुक्ति हो, मोक्ष बने मेरा साम्राज्य--अब तुमने एक तरह की परेशानी मोल ली, जो तुम्हें चैन न देगी।

जनक बड़ी अदभुत बात कह रहे हैं। जनक कह रहे हैं: संसार और मोक्ष दोनों ही मुझमें उठती तरंगें हैं। अब मैं चुनाव नहीं करता; जो तरंग उठती है, देखता रहता हूं। यह भी मेरी है। यह भी स्वाभाविक है।

देखा इस स्वीकार-भाव को! फिर कैसी असहिष्णुता? फिर तो सहिष्णुता बिलकुल ही नैसर्गिक होगी। जो हो रहा है, हो रहा है। बड़ी कठिन है यह बात स्वीकार करनी, क्योंकि अहंकार के बड़े विपरीत है।

कोई मेरे पास आया और कहने लगा, मैं महाक्रोधी हूं, मुझे क्रोध से मुक्त होना है। मैंने उससे पूछा कि तू महाक्रोधी क्यों है? इसको थोड़ा समझ। अहंकार के कारण होगा।

उसने कहा, आप ठीक कहते हैं। और मैंने कहा, उसी अहंकार के कारण तू कहता है कि मुझे क्रोध से बाहर होना है, क्योंकि क्रोध के कारण अहंकार को चोट लगती है। तो क्रोध के पीछे भी अहंकार है और अक्रोधी बनने के पीछे भी अहंकार है। जब भी तू क्रोध करता है तो तेरी प्रतिमा नीचे गिरती है, तेरे अहंकार को भाता नहीं है। तू चाहता है कि लोग तुझे संत की तरह पूजें, चरण छुएं तेरे। तेरे क्रोध के कारण वह सब गड़बड़ हो जाता है। तेरे कोई चरण नहीं छूता। चरण कौन तेरे छुए? नमस्कार कौन करे तुझे? तो अब तू चाहता है कि क्रोध से कैसे छूटें। लेकिन मूल जड़ तो वही की वही है। जिसके कारण तू क्रोध करता था--जिस अहंकार के कारण--वही अहंकार अब संत- महात्मा बन जाना चाहता है। इसे समझ और अब तू चुनाव छोड़ दे। मैं तुझसे कहता हूं, तू क्रोधी है, तू

राजी हो जा: ठीक है, मैं क्रोधी हूं। और क्रोध के जो परिणाम हैं, वे होंगे। कोई तुझे सम्मान नहीं देगा, ठीक है, बिलकुल ठीक है। सम्मान देना ही क्यों चाहिए। कोई तेरा अपमान करेगा, ठीक है। क्रोधी हूं, इसलिए अपमान होता है।

समझने की कोशिश करना। अगर यह व्यक्ति क्रोध को समझ ले, स्वीकार कर ले तो क्या क्रोध बचेगा?

उस व्यक्ति ने दो दिन पहले मुझे पत्र लिखा था कि मुझे अब बचाएं, मुझे बाहर निकालें; क्योंकि मैं वेश्या के घर जाने लगा हूं, और ये और लोग मुझे संत मानते हैं, साधु मानते हैं। और अगर मैं पकड़ा गया या किसी को पता चल गया तो फिर क्या होगा?

देखते हैं, वही अहंकार नए-नए रूप लेगा! वही अहंकार वेश्या के घर ले जाएगा। वही अहंकार संत बनने की आकांक्षा पैदा करवा देगा।

उस व्यक्ति को मैंने कहा, तू एक काम कर। या तो तू स्वीकार कर ले कि तू वेश्यागामी है और घोषणा कर दे कि मैं वेश्यागामी हूं। बात खत्म हो गई। फिर न तुझे डर रहेगा, न भय रहा; फिर तुझे जाना है जा, नहीं जाना है न जा। तेरी मर्जी है। तेरे लिए शायद अभी यही उचित होगा: जो हो रहा है ठीक हो रहा है। मैं तुझे नहीं कहता कि मत जा। अगर इस स्वीकार-भाव से यह गिर जाए वृत्ति तो ठीक, तो तू जाग जाएगा। तब जागरण को स्वीकार कर लेना, अभी सोने को स्वीकार कर। और स्वीकार के माध्यम से ही सोने और जागरण के बीच सेतु बनता है।

क्या किया उस व्यक्ति ने? वह चीखा, मेरे सामने ही चिल्लाया कि मुझे बुद्ध बनने से कोई भी नहीं रोक सकता! इतने जोर से चीखा कि शीला मेरे पास बैठी थी, वह एकदम कंप गई।

वही क्रोध, वही अहंकार नए-नए रूप ले लेता है। अब बुद्ध बनने से कोई नहीं रोक सकता! जैसे कि मैं उसको बुद्ध बनने से रोक रहा हूं! क्योंकि मैंने उससे कहा, स्वीकार कर ले। जो हो रहा है, स्वीकार कर ले! जैसा है स्वीकार कर ले।

यह बात चोट कर गई। यह कैसे स्वीकार कर लें! बुरा से बुरा आदमी भी यह स्वीकार नहीं करता कि मैं बुरा हूं। इतना ही मानता है कि कुछ बुराई मुझमें है; हूं तो मैं आदमी अच्छा। देखो, अच्छा होने की कोशिश में लगा हूं। पूजा करता, प्रार्थना करता, ध्यान करता, साधु-सत्संग में जाता--आदमी तो मैं अच्छा हूं; जरा कमजोरी है; थोड़ी-थोड़ी बुराई कभी हो जाती है, मिट जाएगी धीरे-धीरे! कभी नहीं मिटेगी। क्योंकि यह अच्छाई तुम्हारी बुराई को छिपाने का उपाय भर है। यह साधु-सत्संग, तुम्हारे भीतर जो क्रोध पड़ा है, उसके लिए आड़ है। ये अच्छी-अच्छी बातें और ये अच्छी-अच्छी कल्पनाएं कि कभी तो संत हो जाऊंगा, बुद्ध बनने से कोई भी मुझे रोक नहीं सकता--यह अहंकार अब बड़ी अच्छी आड़ ले रहा है; बड़े सुंदर पर्दे में छिप रहा है--बुद्ध होने का पर्दा!

अगर मन को तुम ठीक से देखोगे तो जनक की बात का महत्व समझ में आएगा। स्वीकार है! यह भी स्वाभाविक है, वह भी स्वाभाविक है। जो इस घड़ी हो रहा है, उससे अन्यथा मैं नहीं होना चाहता। इस बात की क्रांति को समझे? जो इस क्षण हो रहा है, वही मैं हूं: क्रोध तो क्रोध, लोभ तो लोभ, काम तो काम। इस क्षण मैं जो हूं वही मैं हूं; और इससे अन्यथा की मैं कोई मांग नहीं करता और न अन्यथा का कोई आवरण खड़ा करता हूं।

अक्सर अच्छे-अच्छे आदशर्ो के पीछे तुम अपने जीवन के घाव छिपा लेते हो। हिंसक, अहिंसक बनने की कोशिश में लगे रहते हैं। कभी बनते नहीं, बन सकते नहीं। क्योंकि अहिंसक बनने का एक ही उपाय है--और वह है: हिंसा को परिपूर्ण रूप से स्वीकार कर लेना। क्रोधी करुणा की चेष्टा करते रहते हैं--कभी नहीं बन सकते। हो सकता है ऊपर-ऊपर आवरण ओढ़ लें, पाखंड रच लें, लेकिन बन नहीं सकते। कामी ब्रह्मचर्य की चेष्टा में लगे रहते हैं। जितना कामी पुरुष होगा उतना ही ब्रह्मचर्य में आकर्षित होता है। क्योंकि ब्रह्मचर्य के आदर्श में ही

छिपा सकता है अपनी कामवासना की कुरूपता को, और तो कोई उपाय नहीं। आज तो गलत है, कल अच्छा हो जाऊंगा--इस आशा में ही तो आज को जी सकता है; नहीं तो आज ही जीना मुश्किल हो जाएगा।

मैं तुमसे कहता हूं: कल है ही नहीं; तुम जो आज हो, वही तुम हो। इसको समग्र-भावेन, इसको परिपूर्णता से अंगीकार कर लेते ही तुम्हारे जीवन से द्वंद्व विसर्जित हो जाता है। तुम जो हो हो, अन्यथा हो नहीं सकते; द्वंद्व कहां? चुनाव कहां? जैसे तुम हो, वैसे हो। यही तुम्हारा होना है। प्रभु ने तुम्हें ऐसा ही चाहा है। इस घड़ी प्रभु को तुम्हारे भीतर ऐसी ही घटना घटाने की आकांक्षा है। इस घड़ी समस्त जीवन तुम्हें ऐसा ही देखना चाहता है; ऐसे ही आदमी की जरूरत है। तुम्हारे भीतर यही विधि है, यही भाग्य है।

"मुझ अंतहीन महासमुद्र में विश्व-रूपी नाव अपनी प्रकृत वायु से इधर-उधर डोलती है।"

कभी क्रोध बन जाती, कभी करुणा बन जाती; कभी काम, कभी ब्रह्मचर्य; कभी लोभ, कभी दान--इधर-उधर, इतस्ततः! मुझे लेकिन असहिष्णुता नहीं है। मैं इससे अन्यथा चाहता नहीं। इसलिए मुझे कुछ करने को नहीं बचा है। गया कृत्य। अब तो मैं बैठ कर देखता हूं कि लहर कैसी उठती है।

भ्रमति स्वांतवातेन...।

भटक रही अपनी ही हवा से। न कहीं जाना, नहीं मुझे कुछ होना। कोई आदर्श नहीं है, कोई लक्ष्य नहीं है। अब तो मैं बैठ गया। अब तो मैं मौज से देखता हूं। सब असहिष्णुता खो गई।

जब तुम कहते हो मैं क्रोधी हूं और मुझे अक्रोधी होना है--तो इसका अर्थ समझे? तुम क्रोध के कारण बहुत असहिष्णु हो रहे हो। तुम क्रोध को धैर्य के साथ स्वीकार नहीं कर रहे। तुम बड़े अधैर्य में हो। तुम कहते हो, "क्रोध और मैं! मुझ जैसा पवित्र पुरुष और क्रोध करे--नहीं, यह बात जंचती नहीं। मुझे क्रोध से छुटकारा चाहिए! मुझे मुक्त होना है! मैं उपाय करूंगा, यम-नियम साधूंगा, आसन-व्यायाम करूंगा, धारणा-ध्यान करूंगा; मुझे लेकिन क्रोध से मुक्त होना है!" तुमने अधैर्य बता दिया। तुमने कह दिया कि जो है, तुम उसके साथ राजी नहीं; तुम कुछ और चाहते हो। बस वहीं से तुम अशांत होने शुरू हुए।

असहिष्णुता अशांति का बीज है।

जनक कह रहे हैं: ये लहरें हैं। कभी-कभी क्रोध आता, कभी-कभी काम आता, कभी-कभी लोभ आता। इतस्ततः! यहां-वहां! स्वांतवातेन! भटकता सब कुछ! पर मैं तो देखता हूं। अब मुझे कुछ लेना-देना नहीं। अब मेरा कोई भी आग्रह नहीं है कि ऐसा हो जाऊं। मैं जैसा हूं, बस प्रसन्न हूं।

आदर्श-मुक्ति में सहिष्णुता है। और मैं किसे संन्यासी कहता हूं? उसी व्यक्ति को संन्यासी कहता हूं, जिसने आदशर्ो का त्याग कर दिया। अब तुम जरा चौंकोगे। तुमने सदा यही सुना है कि जिसने संसार का त्याग कर दिया वही संन्यासी। मैं तुमसे कहता हूं: जिसने आदशर्ो का त्याग कर दिया, वह संन्यासी। क्योंकि आदर्श के त्याग के बाद असहिष्णु होने का कोई उपाय नहीं रह जाता।

तुम जरा करके तो देखो। एक महीना सही। एक महीना, तुम जो है, उसे स्वीकार कर लो। किसी ने कुछ कहा, और तुम क्रोधित हो गए--स्वीकार कर लो। स्वीकार करने का मतलब यह नहीं कि तुम सिद्ध करो कि मेरा क्रोध ठीक है। तुम इतना ही स्वीकार कर लो कि मैं आदमी क्रोधी हूं। और दूसरे से कहना कि भई क्रोधी से दोस्ती बनाई, तो कांटे तो चुभेंगे। मैं आदमी क्रोधी हूं। गलती तुम्हारी है कि मुझसे दोस्ती बनाई, कि मुझसे पहचान की। अब अगर मेरे साथ रहोगे तो क्रोध कभी-कभी होने वाला है। मैं तुम्हें यह भी वचन नहीं देता कि कल मैं अक्रोधी हो जाऊंगा। कल का किसको पता है! जहां तक मैं जानता हूं, अतीत में कभी भी अक्रोधी नहीं रहा, इसलिए बहुत संभावना तो यही है कि कल भी क्रोधी रहूंगा। तुम सोच लो। मैं पश्चात्ताप भी नहीं कर सकता, क्योंकि पश्चात्ताप बहुत बार कर चुका, उससे कुछ हल नहीं होता, वह धोखा सिद्ध होता है। क्रोध कर लेता हूं, पछता लेता हूं, फिर क्रोध करता हूं। पश्चात्ताप का क्या सार है? तुमसे इतना ही कहता हूं कि अब पश्चात्ताप की लीपापोती भी न करूंगा।

पश्चात्ताप का मतलब होता है: लीपापोती। तुम किसी से क्रोधित हो गए, फिर घर लौट कर आए, तुमने सोचा: "यह भी क्या हुआ, बीच बाजार में भद्द करवा ली, लोग क्या सोचेंगे! अब तक सज्जन समझे जाते थे। लोग कहते थे कि बड़े गुरु-गंभीर! आज सब उथलापन सिद्ध हो गया। लोग सोचते थे स्वर्ण-पात्र, अल्यूमीनियम के सिद्ध हुए, जरा में एकदम गरमा गए। अब कुछ करो, प्रतिमा खंडित हो गई, औंधे मुंह पड़ी है! उठाओ, सिंहासन पर फिर बिठाओ।" फिर तुम गए सोच-विचार कर कहा, क्षमा करना भाई! मैं करना नहीं चाहता था, हो गया!

सोचते हो, क्या लोग कहते हैं? लोग कहते हैं--मैं करना नहीं चाहता था, हो गया! मेरे बावजूद हो गया। न-मालूम कैसे हो गया! कौन शैतान मेरे सिर चढ़ गया।

सुनते हो लोगों की बातें? अब खुद शैतान हैं, यह स्वीकार न करने का उपाय कर रहे हैं। "कौन शैतान मेरे सिर चढ़ गया। कैसी दुर्बुद्धि? लेकिन होश आया, पछताने आया हूं, क्षमा करना।"

तुम कर क्या रहे हो? तुम यह कर रहे हो कि वह जो प्रतिमा तुम्हारी बीच बाजार में खंडित हो गई, वह जो गिर पड़ी जमीन पर, उसे तुम उठा रहे हो। तुम कह रहे हो कि मैं बुरा आदमी नहीं हूं। भूल-चूक हो गई। भूल-चूक किससे नहीं हो जाती! आदमी भूल-चूक करता ही है।

तुम्हें अपने आदमी होने की याद ही तब आती है जब तुम भूल-चूक करते हो। तब तुम कहते हो: टू इर्र इज ह्यूमन। भूल-चूक करना तो आदमी है। और तुम्हें आदमी होने की याद नहीं आती? क्षमा मांग कर या उसके चरण छू कर...वह भी सोचता है कि नहीं, आदमी तो अच्छा है। वह भी क्यों सोचता है कि आदमी अच्छा है? क्रोध करके तुमने उसके अहंकार को चोट पहुंचा दी थी, तो वह नाराज था। अब तुमने उसके पैर छू लिए, फूल चढ़ा आए, गुलदस्ता भेंट कर आए। वह भी सोचता है कि आदमी तो अच्छा है। वह क्यों सोचता है? तुमसे उसे भी कुछ लेना-देना नहीं। न तुम्हें उससे कुछ लेना-देना है। वह सोचता है आदमी अच्छा है, क्योंकि अब तुमने उसके अहंकार पर फूल रख दिए। घड़ी भर पहले चांटा मार आए थे तो वह तमतमा गया था, बदला लेने की सोच रहा था, अदालत में जाने की सोच रहा था। तुम फूल रख आए, झंझट बची। अदालत भी बची। प्रतिष्ठा तुम्हें मिली। उसका अहंकार भी प्रतिष्ठित हो गया, तुम्हारा भी प्रतिष्ठित हो गया। संसार फिर वैसा ही चल पड़ा जैसा तुम्हारे चांटा मारने के पहले चल रहा था। फिर जगह पर आ गईं चीजें। फिर वहीं के वहीं खड़े हो गए जहां थे।

नहीं, जिस व्यक्ति को वस्तुतः समझना हो, वह जाएगा--पश्चात्ताप करने नहीं, स्वीकार करने। वह जाएगा कहने कि भाई देख लिया, आदमी मैं कैसा हूं? तुम्हारी धारणा मेरे प्रति गलत थी। तुम जो सोचते थे कि मैं आदमी अच्छा हूं, वह गलत धारणा थी। मेरा असली आदमी प्रगट हो गया। और अच्छा हुआ कि प्रगट हो गया। अब तुम सोच लो, आगे मुझसे संबंध रखना कि नहीं रखना। मैं कोई भरोसा नहीं देता कि कल ऐसा फिर न होगा। मैं भरोसे-योग्य नहीं हूं। मैं भरोसा दूं भी तो भरोसा रखना मत, क्योंकि मैंने पहले लोगों को भरोसे दिए और धोखा दिया। मैं आदमी बुरा हूं। शैतानियत मेरा स्वभाव है।

सोचते हो तुम इसका क्या परिणाम होगा? दूसरे पर क्या होगा, वह दूसरा जाने; लेकिन तुम्हारे भीतर एक सरलता आ जाएगी। तुम एकदम सरल हो जाओगे। तुम एकदम विनम्र हो जाओगे। यह पश्चात्ताप नहीं है, यह स्वीकार-भाव है। तुमने सब चीजें साफ कर दीं अपने बाबत, कि तुम आदमी कैसे हो। और तुमने अपने बाबत कोई भ्रम नहीं संजोया है। और तब एक क्रांति घटित होती है। वह क्रांति घटती है स्वीकार के इस महासत्य से, इस महासूत्र से। तुम अचानक पाते हो कि धीरे-धीरे क्रोध मुश्किल हो गया, अब क्रोध करने का कारण क्या रहा? क्रोध तो इसलिए हो जाता था कि कोई तुम्हारे अहंकार को गिराने की कोशिश कर रहा था, तो क्रोध हो जाता था। अब तो तुमने खुद ही वह प्रतिमा गिरा दी। तुम तो उसे खुद ही कचरे-घर में फेंक आए। अब तो कोई तुम्हें क्रोधित कर नहीं सकता।

ध्यान रखना, हमारा मन सदा होता है जिम्मेवारी दूसरे पर छोड़ दें। हम सब यही करते हैं। हजार-हजार उपाय से हम यही काम करते हैं कि हम दूसरे पर जिम्मेवारी छोड़ देते हैं।

एक आदमी को मैं जानता हूं--महाक्रोधी। उससे मैंने पूछा, इतना क्रोध कैसे हो गया है? उसने कहा, क्या करूं, मेरा बाप बड़ा क्रोधी था। उसकी वजह से, बचपन से ही कुसंस्कार पड़ गए।

मगर यह आदमी जो कह रहा है, हंसना मत। फ्रायड भी यही कह रहा है। बड़े से बड़े मनोवैज्ञानिक भी यही कह रहे हैं। सारा उपाय यह चलता है कि किसी पर हटा दो जिम्मेवारी। पुराने धर्म भी यही कहते थे। अगर तुम पूरी मनुष्य-जाति का इतिहास देखो तो अष्टावक्र या जनक जैसी बात को कहने वाले इने-गिने, उंगलियों पर गिने जा सकें, इतने लोग मिलेंगे; बाकी सब लोग तो कुछ और कह रहे हैं।

ईसाइयत कहती है कि परमात्मा ने अदम को और हव्वा को स्वर्ग के बगीचे से बाहर खदेड़ दिया, क्योंकि उन्होंने आज्ञा का उल्लंघन किया था। जब परमात्मा आया और उसने अदम से पूछा कि "तूने क्यों खाया इस वृक्ष का फल? तुझे मना किया गया था।" उसने कहा, "मैं क्या करूं? यह हव्वा, इसने मुझे फुसलाया।" देखते हैं, शुरू हो गई कहानी! उसने अपनी जिम्मेवारी हव्वा पर फेंक दी। यह इस पत्नी को देखिए, अब मैं पति ही हूं, और पति की तो आप जानते ही हैं हालतें! अब पत्नी कहे और पति न माने तो झंझट। अब अगर पति को पत्नी और परमात्मा में चुनना हो तो इसको ही चुनना पड़ेगा। माना, आपकी आज्ञा मुझे मालूम है, मगर इसकी आज्ञा भी तो देखिए! यह फल ले आई और कहने लगी चखो, तो मुझे खाना पड़ा।

तो परमात्मा ने हव्वा से पूछा कि तुझे भी पता था, फिर तू क्यों फल लाई? उसने कहा, मैं क्या करूं? वह शैतान सांप बन कर मुझसे कहने लगा। सांप कहने लगा मुझसे कि खाओ इसका फल। उसने मुझे काफी उत्तेजित किया। उसने कहा, इस फल को खाने से तुम मनुष्य नहीं, परमात्म-रूप हो जाओगे। परमात्मा स्वयं इसका फल खाता है और तुम्हें कहता है, मत खाओ। जरा धोखा तो देखो! यह ज्ञान का फल, इसी को खाकर परमात्मा ज्ञानी है और तुमको अज्ञानी रखना चाहता है। तो साधारण स्त्री हूं, फुसला लिया उसने।

स्त्री का सदा से यही कहना रहा है कि दूसरों ने फुसला लिया। हर पति जानता है कि पत्नी कहती है कि हम तुम्हारे पीछे न पड़े थे। तुम्हीं हमारे पीछे पड़े थे, तुम्हीं ने फुसला लिया और यह झंझट खड़ी कर दी।

...मैं क्या करूं, सांप ने फुसला लिया!

अगर सांप भी बोल सकता होता, तो किसी और पर टाल देता। हो सकता था, वृक्ष पर ही टाल देता कि यह वृक्ष ही विज्ञापन करता है कि जो मेरे फल को खाएगा वह ज्ञान को उपलब्ध हो जाएगा। लेकिन सांप बोल नहीं सकता था; उसने शायद सुना भी न होगा कि मामला क्या चल रहा है। आदमी-आदमी के बीच की बात थी; वह चुपचाप रहा, इसलिए कहानी वहां पूरी हो गई; नहीं तो कहानी पूरी हो नहीं सकती थी।

माक्र्स कहता है, समाज जिम्मेवार है। अगर तुम बुरे हो तो इसलिए बुरे हो, क्योंकि समाज बुरा है। यह कुछ फर्क न हुआ। यह वही पुरानी चाल है, नाम बदल गया।

हिंदू कहते हैं, विधि, भाग्य, विधाता ने ऐसा लिख दिया; तुम क्या करोगे? छोड़ो किसी पर! विधाता लिख गया है! जब पैदा हुए थे तो माथे पर लिख गया कि ऐसा-ऐसा होगा, तुम क्रोधी बनोगे, कामी बनोगे, कि साधु, कि संत, कि क्या तुम्हारी जिंदगी में होगा--सब लिखा हुआ है। सब तो पहले से तय किया हुआ है, हमारे हाथ में क्या है? तो वही करवा रहा है, सो हो रहा है।

फ्रायड कहता है कि बचपन में मां-बाप ने जो संस्कार डाले, तुम्हारे मन पर जो संस्कारित हो गया, उसका ही परिणाम है।

लेकिन ये सब तरकीबें हैं एक बात से बचने की कि यह मेरा स्वभाव है; यह जो भी हो रहा है, मेरा स्वभाव है। इस महत सत्य से बचने की सब तरकीबें हैं, ईजादें हैं, आविष्कार हैं कि कैसे हम टाल दें। और मैं उसी

को हिम्मतवर कहता हूं, वही है साहसी, जो जनक की भांति कह दे कि अपनी ही प्रकृत वायु से इधर-उधर डोलती लहरें हैं।

भ्रमति स्वांतवातेन!

मम असहिष्णुता न अस्ति।

मुझे कोई असहिष्णुता नहीं है। मैं इसमें कुछ फर्क नहीं करना चाहता, गुरुदेव! अष्टावक्र से उन्होंने कहा, जो है, है; मैं राजी हूं। मेरे राजीपन में जरा भी ना-नुच नहीं है।

इससे महाक्रांति का उदय होता है। इस सत्य को जिस दिन तुम देख पाओगे, तुम पाओगे बिना कुछ किए सब हो जाता है।

"मुझ अंतहीन महासमुद्र में जगतरूपी लहर स्वभाव से उदय हो, चाहे मिटे...।"

सुनो!

"मुझ अंतहीन महासमुद्र में जगतरूपी लहर, स्वभाव से उदय हो चाहे मिटे, मेरी न वृद्धि है और न हानि है।"

न यहां कुछ खोता, न यहां कुछ कमाया जाता। फिर क्या फिक्र? न तो क्रोध में कुछ खोता है और न करुणा में कुछ कमाया जाता है। बड़ी अदभुत बात है! यह सब सपना है।

मयि अनंत महाम्भोधौ जगद्वीचिः स्वभावतः।

स्वभाविक रूप से उठ रही हैं जगत की लहरें। छोटी-बड़ी, अनेक-अनेक रूप, अच्छी-बुरी, शोरगुल उपद्रव करती, शांत--सब तरह की लहरें उठ रही हैं।

उदेतु वास्तमायातु न मे वृद्धिर्न न क्षतिः।

न तो वृद्धि होती, न क्षति होती। कुछ भी मेरा तो कुछ आता-जाता नहीं।

रात तुमने सपना देखा, चोर हो गए कि साधु हो गए--सुबह उठ कर तो दोनों सपने बराबर हो जाते हैं। सुबह तुम यह तो नहीं कहते कि रात हम साधु हो गए थे सपने में। तो तुम कुछ गौरव तो अनुभव नहीं करते। और न सुबह तुम कोई अगौरव और ग्लानि अनुभव करते हो कि चोर हो गए थे कि हत्यारे हो गए थे--सपना तो सपना है। सपना तो टूटा कि गया।

तो जनक कहते हैं कि ये चाहे बनें चाहे मिटें! आप मुझसे कहते हैं कि जगत से मुक्त हो जाऊं? आप बात क्या कर रहे हैं? यह जो हो रहा है, होता रहेगा, होता रहा है, होता रहे; मुझे लेना-देना क्या है? न तो ऐसा करने से मुझे कुछ लाभ होता, न वैसा करने से मुझे कुछ हानि होती है। यहां चुनाव करने को ही कुछ नहीं है। यहां लाभ-हानि बराबर है।

हानि न लाभ कछु! यहां कुछ है ही नहीं हानि-लाभ, तुम नाहक ही खाते-बही फैलाए और लिख रहे हो बड़ी हानि-लाभ के--इसमें लाभ है, इसमें हानि है; यह करें तो लाभ, यह करें तो हानि।

जनक कहते हैं, जो हो रहा है, हो रहा है। मैं तो सिर्फ देख रहा हूं।

जगद्वीचिः स्वभावतः उदेतु वा अस्तम्।

मेरे किए परिवर्तन होने वाला भी नहीं है। क्योंकि स्वभाव में कैसे परिवर्तन होगा? पतझर आती है, पत्ते गिर जाते हैं। वसंत आता है, फिर नई कोंपलें उग आती हैं। जवानी होती है, वासना उठती है। बुढ़ापा आता है, वासना क्षीण हो जाती है। मेरे किए हो भी नहीं रहा है। मैं कर्ता नहीं हूं। तो छोड़ना कैसा, भागना कैसा, त्याग करना कैसा?

अष्टावक्र ने एक जाल फैलाया है परीक्षा के लिए और उससे कहा कि तू त्याग कर, यह सब छोड़ दे! जब तुझे ज्ञान हो गया, तू कहता है कि तुझे ज्ञान हो गया तो अब तू सब त्याग कर दे। अब यह शरीर मेरा, यह धन मेरा, यह राज्य मेरा, यह सब तू छोड़ दे।

जनक कहते हैं, मेरे छोड़ने से, पकड़ने से संबंध ही कहां है? यह मेरा है ही नहीं जो मैं छोड़ दूं। मैंने इसे कभी पकड़ा भी नहीं है जो मैं इसे छोड़ दूं। यह अपने से हुआ है, अपने से खो जाएगा।

स्वभावतः उदेतु वा अस्तम्।

मे न वृद्धिः च न क्षति।

मैं तो इतना ही देख पा रहा हूं कि न तो इसके होने से मुझे कुछ लाभ है, न इसके न-होने से मुझे कुछ लाभ है।

यह बड़ी अदभुत बात है। यही परम संन्यास है। बैठे दुकान पर तो बैठे। हो रही दुकान, तो चल रही है, तो चले! बंद हो जाए तो बंद हो जाए! जब दीवाला निकल गया तो प्रसन्नता से बाहर आ गए! जब तक चलती रही, चलती रही! करोगे क्या? चलती थी तो साथ थे, नहीं चलती तो रुक गए। इस भांति जो ले ले, वैसा व्यक्ति कभी अशांत हो सकता है? वैसा व्यक्ति कभी उद्विग्न हो सकता है? वैसे व्यक्ति के जीवन में कभी तनाव हो सकता है? उसकी विश्रांति आ गई। बचपन था तो बचपन के खेल थे, जवानी आई तो जवानी के खेल हैं, बुढ़ापा आया तो बुढ़ापे के खेल हैं। बच्चे खेल- खिलौनों से खेलते हैं; जवान, व्यक्तियों से खेलने लगते; बूढ़े, सिद्धांतों से खेलने लगते हैं।

बचपन में कामवासना का कोई पता नहीं है। तुम समझाना भी चाहो बच्चे को, तो समझा नहीं सकते कि कामवासना क्या है। कोई अभी उठी नहीं तरंग। अभी स्वभाव वासनामय नहीं हुआ। अभी स्वभाव ने वासना की तरंग नहीं उठाई। फिर जवान हो गया आदमी, उठीं वासना की तरंगें। फिर तुम लाख समझाओ...।

मुल्ला नसरुद्दीन मरता था। अपने बेटे को उसने पास बुलाया और कहने लगा कि कहने को तो बहुत कुछ है, लेकिन कहूंगा नहीं। बेटे ने पूछा, क्यों? उसने कहा कि मेरे बाप ने भी मुझसे कहा था, लेकिन मैंने सुना कहां! कहने को तो बहुत कुछ है, कहूंगा नहीं। पर बेटा कहने लगा, आप कह तो दें, मैं सुनूं या न सुनूं। उसने कहा कि फिर देख, मेरे बाप ने भी मुझसे कहा था कि स्त्रियों के चक्कर में मत पड़ना, मगर मैं पड़ा। और एक के चक्कर में नहीं पड़ा; इस्लाम जितनी आज्ञा देता है, नौ स्त्रियां, पूरे नौ विवाह किए, और भोगा! खूब नरक सहा। तुझसे भी मैं कहना चाहता हूं, लेकिन कहना नहीं चाहता। क्योंकि मैं जानता हूं तू भी पड़ेगा। मेरे कहने से कुछ होगा नहीं। बाप मेरा मरा था तो कह गया था शराब मत पीना, पर मैंने पी, खूब पी, और सड़ा। और तू भी सड़ेगा; क्योंकि जो मैं नहीं कर पाया, मेरा बेटा कर पाएगा--यह भी मुझे भरोसा नहीं है। इतनी ही याद रखना कि इतना मैंने तुझसे कहा था कि कहने से कोई सुनता नहीं; अनुभव से ही कोई सुनता है। तो एक बार भूल करे, कर लेना; खूब अनुभव कर लेना उसका; लेकिन दुबारा वही भूल मत करना। और अगर तू मुझे मौका दे--वह कहने लगा--तो इतना कहना चाहता हूं, स्त्रियों की झंझट में तू पड़ेगा, लेकिन एक समय में एक ही स्त्री की झंझट में पड़ना। अगर इतना भी संयम साध सके तो काफी है।

आदमी के भीतर कुछ होता है जो स्वाभाविक है। जवान होता आदमी तो वासना उठेगी। बूढ़े सोचते हैं कि उन्हें कोई बड़ी भारी संपदा मिल गई, क्योंकि अब उनमें वासना के प्रति वैसा राग नहीं रहा, या उनमें अब वैराग्य उठ रहा है। यह बुढ़ापे का खेल है वैराग्य। राग जवानी का खेल है, वैराग्य बुढ़ापे का खेल है। जैसे राग स्वाभाविक है एक खास उम्र में, एक खास उम्र में वैराग्य स्वाभाविक है।

इसलिए हिंदुओं ने तो ठीक कोटि ही बांट दी थी कि पच्चीस साल तक विद्याअर्जन, ब्रह्मचर्य; फिर पचास साल तक भोग, गृहस्थ-जीवन; फिर पचहत्तर तक वानप्रस्थ जीवन--सोचना, सोचना की अब संन्यास लेना, अब संन्यास लेना। वानप्रस्थ यानी सोचना, कि जाना जंगल, जाना जंगल; जाना-करना नहीं। थोड़े गए गांव के बाहर तक, फिर लौट आए--ऐसे बीच में उलझे रहना। फिर पचहत्तर के बाद संन्यास--अगर मौत इसके पहले न आ जाए तो! अक्सर तो मौत इसके पहले आ जाएगी और तुम्हें संन्यासी होने की झंझट नहीं पड़ेगी। अगर मौत न आ जाए इसके पहले, तो संन्यास।

पचहत्तर के बाद हिंदुओं ने संन्यास रखा। हिंदुओं की सोचने की पद्धति बड़ी वैज्ञानिक है। क्योंकि पचहत्तर के बाद संन्यास वैसा ही स्वाभाविक है, जैसे जवान आदमी में वासना उठती, तरंगें उठतीं, महत्वाकांक्षा उठती--धन कमा लूं, पद-प्रतिष्ठा कर लूं। ठीक एक ऐसी घड़ी आती है, जब जीवन- ऊर्जा रिक्त हो जाती है, झुक जाती है; तुम थक चुके होते--तब वैराग्य उठने लगता। थकान वैराग्य ले आती है।

यह पद्धति हिंदुओं की साफ वैज्ञानिक है और इसीलिए बुद्ध और महावीर दोनों ने इस पद्धति के खिलाफ बगावत की। उन्होंने कहा कि जो वैराग्य पचहत्तर के बाद उठता, वह कोई वैराग्य है? वह तो यंत्रवत है। वह तो उठता ही है। वह तो मौत करीब आने लगी, उसकी छाया है। वह कोई वैराग्य है? वैराग्य तो वह है जो भरी जवानी उठता है।

बुद्ध और महावीर ने जो क्रांति की, उस क्रांति का भी तर्क यही है। वे कहते हैं, मान लिया, तुम्हारा हिसाब तो ठीक है; लेकिन जो पचहत्तर साल के बाद संन्यास उठेगा, वह कोई उठा? इस फर्क को समझना।

जैन या बौद्ध, उनकी संस्कृति श्रमण संस्कृति कहलाती है--श्रम वहां मूल्यवान है; पुरुषार्थ! वहां विधि, भाग्य, स्वभाव--इन सबकी कोई व्यवस्था नहीं है। वहां तो तुम्हारा संकल्प और श्रम! इसलिए स्वभावतः उन्होंने जवानी में संन्यास को डालने की चेष्टा की, क्योंकि जवान आदमी श्रम करेगा तो संन्यासी हो सकेगा; संकल्प से जूझेगा, संघर्ष करेगा, तो संन्यासी हो सकेगा। इसलिए तुम जैन संन्यासी को जितना अहंकारी पाओगे उतना हिंदू संन्यासी को न पाओगे। और मुसलमान संन्यासी को तो तुम बिलकुल ही अहंकारी न पाओगे। क्योंकि उसने कुछ छोड़ा ही नहीं है, सिर्फ समझा है; कर्ता का कोई भाव ही नहीं है।

जैन संन्यासी बहुत अहंकारी होगा, क्योंकि उसने बहुत कुछ किया है। भरी जवानी में या बचपन में सब छोड़ दिया है--धन, द्वार, घर, वासना, महत्वाकांक्षा! उठ तो रही हैं भीतर तरंगें, वह उन्हें दबाए बैठा है। तो वह जितना उनको दबाता है उतना ही वह चाहता है सम्मान मिले, क्योंकि वह काम तो बड़ा मेहनत का कर रहा है, कठिन काम कर रहा है।

मुल्ला नसरुद्दीन ने एक दफ्तर में नौकरी की दरखास्त दी थी। और जब वह इंटरव्यू देने गया तो उस दफ्तर के मालिक ने पूछा कि तुम्हें टाइपिंग आती है, तुमने टाइपिस्ट के लिए दरखास्त दी?

मुल्ला नसरुद्दीन ने कहा, नहीं, आती तो नहीं। तो उसने कहा, हद हो गई। जब टाइपिंग नहीं आती है तो दरखास्त क्यों दी? और फिर न केवल इतना, हद हो गई, तुमने इसमें तनख्वाह दुगनी मांगी है!

मुल्ला ने कहा, इसलिए तो मांगी दुगनी, कि अगर टाइपिंग आती तो आधे से ही कर देते काम। आती तो है नहीं, मेहनत बहुत पड़ेगी। मेहनत का तो सोचो!

तो जवानी में जो संन्यासी हो जाए, तो वह आदमी बहुत अहंकार की प्रतिष्ठा मांगेगा। वह कहता है, जरा देखो भी तो, जवान हूं अभी और संन्यास लिया हूं! जीवन की धार के विपरीत बहा हूं। गंगोत्री की तरफ तैर रहा हूं, जरा देखो तो!

हिंदू का संन्यास तो है गंगा के साथ, गंगासागर की तरफ तैरना। और जैन का संन्यास है गंगोत्री की तरफ तैरना, धार के उल्टे। तो वह आग्रह मांगता है कि कुछ मुझे प्रतिष्ठा मिलनी चाहिए, नहीं तो किसलिए मेहनत करूं? तो बजाओ तालियां, शोभा-यात्रा निकालो, चारों तरफ बैंड-बाजे करो! जैन मुनि आएं गांव में, तो बड़ा शोरगुल मचाते हैं। हिंदू संन्यासी आता है, चला जाता है, ऐसा कुछ खास पता नहीं चलता। मुसलमान फकीर का तो बिलकुल पता नहीं चलता। क्योंकि उसने तो कुछ छोड़ा नहीं है बाहर से। हो सकता है उसकी पत्नी हो, दूकान हो। सूफी तो कुछ भी नहीं छोड़ते। सूफियों को तो पहचानना तक मुश्किल है।

जब एक गुरु किसी दूसरे सूफी के पास अपने शिष्य को सीखने भेजता है, तो ही पता चलता है कि वह दूसरा गुरु है; नहीं तो पता ही नहीं चल सकता था। क्योंकि हो सकता है, दरी बुनने का काम कर रहा हो, जिंदगी भर से दरी बना कर बेच रहा हो। या जूता बना रहा हो और जिंदगी भर से जूते बना रहा हो।

गुरजिएफ जब सूफी फकीरों की खोज में पूरब आया तो बड़ी मुश्किल में पड़ा। कैसे उनका पता लगे कि कौन आदमी है? क्योंकि वे कोई अलग-थलग दिखाई नहीं पड़ते; जीवन में रमे हैं। तो उसने लिखा है कि बामुश्किल से सूत्र मिलने शुरू हुए। बामुश्किल से!

उसने किसी मुसलमान को पूछा कि मैं सूफी फकीरों का पता लगाना चाहता हूं। दमिश्क की गलियों में भटकता था कि कहीं खोज ले। मगर कैसे पता चले? तो उसने कहा, तुम एक काम करो। तुम पता न लगा सकोगे। तुम तो जा कर मस्जिद में जितनी देर बैठ सको, नमाज पढ़ सको, पढ़ो। किसी सूफी की तुम पर नजर पड़ जाएगी तो वह तुम्हें पकड़ेगा। तुम तो नहीं पकड़ पाओगे। क्योंकि शिष्य कैसे गुरु को खोजेगा? गुरु ही शिष्य को खोज सकता है।

यह बात जंची गुरजिएफ को। वह बैठ गया मस्जिद में, दिन भर बैठा रहता, आधी-आधी रात तक वहां बैठ कर नमाज पढ़ता रहता; किसी की तो नजर पड़ेगी--और नजर पड़ी। एक बुजुर्ग उसे गौर से देखने लगा, कुछ दिन के बाद। एक दिन वह बुजुर्ग उसके पास आया, उसने कहा कि तुम मुसलमान तो नहीं मालूम होते, फिर इतनी नमाज क्यों कर रहे हो?

उसने कहा कि मैं किसी सदगुरु की तलाश में हूं और मुझे कहा गया है कि मैं तो न खोज पाऊंगा। अगर मैं यहां नमाज पढ़ता रहूं तो शायद किसी की नजर मुझ पर पड़ जाए, कोई बुजुर्गवार। आपकी अगर नजर मुझ पर पड़ गई और अगर आप पाते हों कि मैं इस योग्य हूं कि किसी सूफी के पास मुझे भेज दें, तो मुझे बता दें।

उसने कहा कि तुम आज रात बारह बजे फलां-फलां जगह आ जाओ। वह जब वहां पहुंचा तो चकित हुआ। जिससे उसे मिलाया गया, वह होटल चलाता था, चाय इत्यादि बेचता था, चायघर चलाता था। और उस चायघर में तो गुरजिएफ कई दफे चाय पी आया था। न केवल यही, उस चाय वाले से पूछ चुका था कई बार कि अगर कोई सूफी का पता हो तो मुझे पता दे दो। तो वह चाय वाला हंसता था कि भई धर्म में मुझे कोई रुचि नहीं, तो मुझे तो कुछ पता नहीं।

वही आदमी गुरजिएफ के लिए गुरु सिद्ध हुआ। उसने गुरजिएफ से कहा कि बस अब तेरा वर्ष दो वर्ष तक तो यही काम है कि कप-प्याले साफ कर। कप-प्याले साफ करवाते-करवाते ध्यान की पहली सुध उस गुरु ने देनी शुरू की।

एक अमरीकन यात्री ढाका पहुंचा। किसी ने खबर दी कि वहां एक सूफी फकीर है--जो पहुंच गया है आखिरी अवस्था में; फना की अवस्था में पहुंच गया है, जहां मिट जाता है आदमी। तुम उसे पा लो तो कुछ मिल जाए।

तो वह ढाका पहुंचा। उसने जा कर एक टैक्सी की और उसने कहा कि मैं इस-इस हुलिया के आदमी की तलाश में आया हूं, तुम मुझे कुछ सहायता करो। उसने कहा कि जरूर सहायता करेंगे, बैठो। वह इसे ले कर गया, एक छोटे-से झोपड़े के सामने गाड़ी रोकी और उसने कहा कि पांच मिनट के बाद तुम भीतर आ जाना। वह जब पांच मिनट बाद भीतर गया तो वह जो टैक्सी-ड्राइवर था, वहां बैठा था और दस-पंद्रह शिष्य बैठे थे। उसने कहा कि आप ही गुरु हैं क्या? उसने कहा कि मैं ही हूं और इसलिए टैक्सी-ड्राइविंग का काम करता हूं कि कभी-कभी खोजी आ जाते हैं तो उनको सीधा वहीं से पकड़ लेता हूं।

कहां खोजोगे तुम, तुम खोजोगे कैसे? सूफियों का तो पता भी न चलेगा, क्योंकि जीवन को बड़ी सहजता से...।

ये जो वक्तव्य हैं, सूफियों के वक्तव्य हैं। ये जो जनक ने कहे, यह सूफी मत का सार है।

"मुझ अंतहीन महासमुद्र में निश्चित ही संसार कल्पना-मात्र है। मैं अत्यंत शांत हूं, निराकार हूं और इसी के आश्रय हूं।"

मय्यनंतमहाम्भोधौ विश्वं नाम विकल्पना!

यह विश्व तो नाममात्र को है, कल्पना-मात्र है। यह वस्तुतः है नहीं--भासता है। यह तो हमारी धारणा है। यह तो हमारी नींद में चल रहा सपना है। हम जागे हुए नहीं हैं, इसलिए जगत है। हम जाग गए तो फिर जगत नहीं।

तुम थोड़ा सोचो! जगत कैसा होगा अगर तुम्हारे भीतर कोई वासना न बचे, तुम्हारे भीतर कुछ पाने की आकांक्षा न बचे। कुछ होने का पागलपन न बचे? तो क्या तुम इसी जगत में रहोगे फिर? तुम अचानक पाओगे कि तुम्हारा जगत तो पूरा रूपांतरित हो गया। क्योंकि जो आदमी जो खोजता है उसी के आधार पर जगत बन जाता है। ऐसा हो सकता है कि तुम जिस रास्ते से रोज गुजरते हो, रास्ते के किनारे ही बंबा लगा है पोस्ट ऑफिस का, लेटर-बॉक्स लगा है, लाल रंग के हनुमान जी खड़े हैं, मगर तुम्हारी नजर शायद कभी न पड़े; लेकिन जिस दिन तुम्हें पत्र डालना है, उस दिन अचानक तुम्हारी नजर पड़ जाएगी। उसी रास्ते से तुम रोज गुजरते थे, लेकिन पत्र डालना नहीं था, तो पोस्ट ऑफिस के लेटर-बॉक्स को कौन देखता है? तुम्हारी आंखें उस पर न टिकती रही होंगी। वह आंख से ओझल होता रहा होगा। था वहीं, लेकिन तुम्हें तब तक नहीं दिखा था, जब तक तुम्हारे भीतर कोई आकांक्षा न थी, जो संबंध बना दे। आज तुम्हें चिट्ठी डालनी थी, अचानक...।

उपवास करके देखो और फिर जाओ एम.जी. रोड पर। फिर तुम्हें कुछ और न दिखाई पड़ेगा। फिर रैस्तरां, होटल, कॉफी-हाउस, बस इसी तरह की चीजें दिखाई पड़ेंगी। और अचानक तुम्हारी नाक ऐसी प्रगाढ़ हो जाएगी कि हर तरह की सुगंधें आने लगेंगी, हर तरह के आकर्षण बुलावे देने लगेंगे। तुम्हारे उपवास से तुम किसी और ही रास्ते से गुजरते हो जिससे तुम कभी नहीं गुजरे थे। कहने मात्र को एम.जी. रोड है। जब तुम भरे पेट से गुजरते हो, तब बात और है। जब तुम कपड़े खरीदने गुजरते हो, तब बात और है।

जो पुरुष अपनी पत्नी से तृप्त है वह भी गुजरता है, तो बात और। जो अपनी पत्नी से तृप्त नहीं है, वह भी उसी रास्ते से गुजरता है, लेकिन तब रास्ता और। क्योंकि दोनों के देखने का ढंग और, दोनों की आकांक्षा और।

तुम जो चाहते हो, उससे तुम्हारा जगत निर्मित होता है। हम सब एक ही जगत में नहीं रहते। हम सब अपने-अपने जगत में रहते हैं। यहां जितने मनुष्य हैं, जितने मन हैं, उतने जगत हैं। उसी जगत की बात हो रही है, तुम खयाल रखना। नहीं तो अक्सर भ्रांति होती है। पूरब के इन मनीषियों के वचन से बड़ी भ्रांति होती है, लोग सोचते हैं: "जगत--कल्पना? तो अगर हम शांत हो गए तो यह मकान समाप्त हो जाएगा? ये वृक्ष खो जाएंगे?" तो तुम समझे नहीं। जगत का अर्थ होता है: तुम्हारे मन से जो कल्पित है, उतना खो जाएगा। जो है, वह तो रहेगा। सच तो यह है कि जो है वह पहली दफे दिखाई पड़ेगा। तुम्हारे मन के कारण वह तो दिखाई ही नहीं पड़ता था। तुम तो कुछ का कुछ देख लेते थे। तुम जो देखने के लिए आतुर थे वही तुम्हें दिखाई पड़ जाता था। तुम्हारी आतुरता बड़ी सृजनात्मक है। उसी सृजनात्मकता से सपना पैदा होता, कल्पना पैदा होती।

मय्यनन्तमहाम्भोधौ विश्वं नाम विकल्पना!

तुम्हारा विश्व तुम्हारी कल्पना है। तुम्हारे पड़ोसी का विश्व जरूरी नहीं कि तुम्हारा ही विश्व हो। दो व्यक्ति एक ही जगह बैठ सकते हैं--और दो अलग दुनियाओं में।

एक सिनेमाघर में मुल्ला नसरुद्दीन और उसकी पत्नी लगभग आधा समय तक आपस में ही बातें करते रहे। उनके पास बैठे दर्शकों को यह बड़ा बुरा लग रहा था। एक दर्शक ने--मुल्ला नसरुद्दीन के पीछे जो बैठा था--कहा, "क्या तोते की तरह टायं-टायं लगा रखी है? कभी चुप ही नहीं होते।" इस पर मुल्ला बिगड़ गया। उसने कहा, क्या आप हमारे बारे में कह रहे हैं? उस दर्शक ने कहा, जी नहीं आपको कहां? फिल्म वालों को कह रहा हूं। शुरू से ही बकवास किए जा रहे हैं; आपकी दिलकश बातों का एक शब्द भी नहीं सुनने दिया।

अब यह हो सकता है दो आदमी पीछे बैठे हों फिल्म-गृह में, और पति-पत्नी आपस में बातें कर रहे हों तो एक हो सकता है परेशान हो कि फिल्म चल रही है वह सुनाई नहीं पड़ रही इनकी बकवास से; और दूसरा हो

सकता है परेशान हो कि बड़ी गजब की बातें हो रही हैं इन दोनों की, यह फिल्म बंद हो जाए तो जरा सुन लें क्या हो रहा है? दोनों पास बैठे हो सकते हैं और दोनों के देखने के ढंग अलग हो सकते हैं।

हमारा देखने का ढंग हमारी दृष्टि है, हमारी सृष्टि है। दृष्टि से सृष्टि बनती है। जब तुम्हारी कोई दृष्टि नहीं रह जाती, जब तुम्हारे भीतर जैसा है वैसे को ही देखने की सरलता रह जाती, अन्यथा कुछ आरोपण करने की कोई गुंजाइश नहीं रह जाती, तुम्हारे भीतर का प्रोजेक्टर, प्रक्षेपन-यंत्र जब बंद हो जाता है, तब तुम अचानक पाते हो: पर्दा खाली है। वह पर्दा सच है। पर्दे पर चलने वाली जो धूप-छांव से बने जो चित्र हैं, वे सब तुम्हारे प्रोजेक्टर, तुम्हारे प्रक्षेपन से निकलते हैं।

तो जब भी शास्त्रों में तुम कहीं यह वचन पाओ कि यह सब संसार कल्पना-मात्र है, तो तुम इस भ्रांति में मत पड़ना कि शास्त्र यह कह रहे हैं कि अगर तुम्हारा जागरण होगा, समाधि लगेगी तो सारा संसार तत्क्षण स्वप्नवत खो जाएगा। इतना ही कह रहे हैं तुम्हारा संसार तत्क्षण खो जाएगा।

यह संसार तुम्हारा नहीं। यह तो तुम आए उसके पहले भी था; तुम चले जाओगे उसके बाद भी रहेगा। ये वृक्ष, ये पक्षी, यह आकाश...। तुम्हारा नहीं है इनसे कुछ लेना-देना। तुम सोओ तो है, तुम जागो तो है। तुम ध्यानस्थ हो जाओ, तो है; तुम वासनाग्रस्त रहो, तो है। यह तो नहीं मिटेगा। लेकिन इस संसार को पर्दा मान कर तुमने एक कल्पनाओं का जाल बुन रखा है। तुम जरा इस जाल को पहचानने की कोशिश करना, तुम किस भांति रोज इस जाल को बुने जाते हो! और यह जाल तुम्हें परिचित नहीं होने देता उससे, जो है।

"मुझ अंतहीन महासमुद्र में निश्चित ही संसार कल्पना-मात्र है। मैं अत्यंत शांत हूं, निराकार हूं और इसी के आश्रय हूं।"

अतिशांतो निराकार एतदेवाहमास्थितः।

यह समझ कर कि ये सारी कल्पनाएं हैं--मुझमें ही उठती हैं और लीन हो जाती हैं, ये सब मेरी ही तरंगें हैं--मैं बिलकुल शांत हो गया हूं, मैं निराकार हो गया हूं। और अब तो यही मेरा एकमात्र आश्रय है। अब छोड़ने को कुछ बचा नहीं है, सिर्फ मैं ही बचा हूं।

"आत्मा विषयों में नहीं है और विषय उस अनंत निरंजन आत्मा में नहीं हैं। इस प्रकार मैं अनासक्त हूं, स्पृहा-मुक्त हूं और इसी के आश्रय हूं।"

नात्मा भावेषु नो भावस्तत्रानन्ते निरंजने।

न तो विषय मुझमें हैं और न मैं विषयों में हूं। सब सतह पर उठी तरंगों का खेल है। सागर की गहराई उन तरंगों को छूती ही नहीं।

तुम सागर के ऊपर कितनी तरंगें देखते हो! जरा गोताखोरों से पूछो कि भीतर तुम जाते हो, वहां तरंगें मिलतीं कि नहीं? सागर की अतल गहराई में कहां तरंगें? सिर्फ सतह पर तरंगें हैं। उस अतल गहराई में तो सब अनासक्त, शांत, निराकार है, स्पृहा-मुक्त! और वही मेरा आश्रय है। वही मेरा निजस्वरूप है। कैसा छोड़ना, कैसा त्यागना, किसको जानना? इति ज्ञानं! ऐसा जो मुझे बोध हुआ है, यही ज्ञान है।

"अहो, मैं चैतन्य-मात्र हूं। संसार इंद्रजाल की भांति है। इसलिए हेय और उपादेय की कल्पना किसमें हो?"

किसे छोडूं, किसे पकडूं? हेय और उपादेय, लाभ और हानि, अच्छा और बुरा, शुभ और अशुभ--अब ये सब कल्पनाएं व्यर्थ हैं। जो हो रहा है, स्वभाव से हो रहा है। जो हो रहा है, सभी ठीक है। इसमें न कुछ चुनने को है, न कुछ छोड़ने को है।

कृष्णमूर्ति जिसे बार-बार च्वायसलेस अवेयरनेस कहते हैं, जनक उसी सत्य की घोषणा कर रहे हैं: चुनावरहित बोध!

अहो अहम् चिन्मात्रम्!

--बस केवल चैतन्य हूं मैं! बस केवल साक्षी हूं!

जगत इंद्रजालोपमम्!

--और जगत तो ऐसा है जैसा जादू का खेल है, इंद्रजाल। सब ऊपर-ऊपर भासता, और है नहीं; प्रतीत होता, और है नहीं।

अतः मम हेयोपादेय कल्पना कथम् च कुत्र।

--तो मैं कैसे कल्पना करूं कि कौन ठीक, कौन गलत?

अब यह सब कल्पना ही छोड़ दी। इति ज्ञानं! यही ज्ञान है। यही जागरण है। यही बोध है।

भोग एक तरह की कल्पना है, त्याग दूसरे तरह की कल्पना है। भोग से बचे तो त्याग में गिरे--तो ऐसे ही जैसे कोई चलता खाई और कुएं के बीच, कुएं से बचे तो खाई में गिरे। बीच में है मार्ग। न तो त्यागी बनना है, न भोगी बनना है। अगर तुम त्याग और भोग से बच सको, अगर तुम दोनों के पार हो सको, अगर तुम दोनों के साक्षी बन सको, तो संन्यस्त, तो संन्यास का जन्म हुआ।

संसारी संन्यासी नहीं है, त्यागी भी संन्यासी नहीं है। दोनों ने चुनाव किया है। भोगी ने चुनाव किया है कि भोगेंगे, और-और भोगेंगे, और भोग चाहिए, तो ही सुख होगा। त्यागी ने चुनाव किया है कि त्यागेंगे, खूब त्यागेंगे, तो सुख होगा। संन्यासी वही है, जो कहता है: सुख है। इति सुखम्! होगा नहीं। न कुछ पकड़ना है न कुछ छोड़ना है--अपने में हो जाना है। वहीं अपने में होने में सुख और ज्ञान है।

अन्यथा, तुम पीड़ाएं बदल ले सकते हो। तुम एक कंधे का बोझ दूसरे कंधे पर रख ले सकते हो। तुम एक नरक से दूसरे नरक में प्रवेश कर सकते हो, लेकिन अंतर न पड़ेगा।

मुल्ला नसरुद्दीन की पत्नी मुल्ला से कह रही थी: हमने फरीदा के लिए जो लड़का पसंद किया है, वह वैसे तो बहुत ठीक है, दो ही बातों की भूल-चूक है। एक तो यह उसकी दूसरी शादी है, पहली पत्नी तो मर गई है। विधुर है। मगर यह कोई बड़ी बात नहीं, पत्नी ने कहा। अभी जवान है। मगर जो बात अखरती है, वह यह है कि सब ठीक है--खिलता हुआ रंग, ऊंचा कद, तंदरुस्त, नाक-नक्शा भी अच्छा--पर एक ऐब खटकता है।

मुल्ला ने पूछा, वह क्या?

पत्नी ने कहा, लगता है तुमने ध्यान नहीं दिया। जब वह हंसता है तो उसके लंबे-लंबे दांत बाहर आ जाते हैं और वह कुरूप लगने लगता है।

मुल्ला ने कहा, अजी छोड़ो भी! फरीदा से विवाह तो होने दो, फिर उसे हंसने का मौका ही कहां मिलेगा?

अभी एक पत्नी मरी है उनकी, अब वे फरीदा के चक्कर में पड़ रहे हैं।

हम ज्यादा देर बिना उलझनों के नहीं रह सकते। एक उलझन छूट जाती है तो लगता है खाली- खाली हो गए। जल्दी हम दूसरी उलझन निर्मित करते हैं। आदमी उलझनों में व्यस्त रहता है।

मनोवैज्ञानिक कहते हैं, गैर-शादीशुदा लोग ज्यादा पागल होते हैं, बजाए शादीशुदा लोगों के। यह बड़ी हैरानी की बात है। जब मैंने पहली दफा पढ़ा तो मैं भी सोचने लगा कि मामला क्या है! होना तो उल्टा चाहिए कि शादीशुदा लोग पागल हों, यह समझ में आ सकता है; ज्यादा पागल हों, यह भी समझ में आ सकता है। सारी दुनिया से आंकड़े इकट्ठे किए गए हैं, उनसे पता चलता है कि गैर- शादीशुदा लोग ज्यादा आत्महत्या करते हैं, बजाए शादीशुदा लोगों के। यह तो जरा कुछ भरोसे योग्य नहीं मालूम होता। लेकिन फिर खोजबीन करने से मनोवैज्ञानिकों को पता चला कि कारण यह है कि गैर-शादीशुदा आदमी को उलझनें नहीं होतीं। पागल न हो तो करे क्या, फुर्सत ही फुर्सत! शादीशुदा आदमी को फुर्सत कहां पागल होने की! इतनी व्यस्तता है!

एक मनोवैज्ञानिक खोजबीन कर रहा था कि किस तरह के लोग सर्वाधिक सुखी होते हैं। और वह बड़े अजीब निष्कर्ष पर पहुंचा। वे ही लोग सर्वाधिक सुखी मालूम होते हैं जिनको इतनी भी फुर्सत नहीं कि सोच सकें कि हम सुखी हैं कि दुखी। इतनी फुर्सत मिली कि दुख शुरू हुआ।

तुम राजनीतिज्ञों को बड़ा सुखी पाओगे, बड़े प्रफुल्लता से भरे हुए, गजरे इत्यादि पहने हुए, भागे चले जा रहे हैं। और कारण कुल इतना ही है कि उनको इतना भी समय नहीं है कि वे बैठ कर एक दफा सोच लें, पुनर्विचार करें कि हम सुखी हैं कि दुखी? इतना समय कहां! बंधे कोल्हू के बैलों की तरह, भागे चले जाते हैं: दिल्ली चलो! फुर्सत कहां है कि इधर-उधर देखें! और धक्कम-धुक्की इतनी है कि कोई टांग खींच रहा; कोई आगे खींच रहा, कोई पीछे खींच रहा, कोई एक हाथ पकड़े, कोई दूसरा; कुछ समझ में नहीं आता है कि हो क्या रहा है! लेकिन भागे चले जाते हैं। आपाधापी में फुरसत नहीं मिलती।

मनोवैज्ञानिक कहते हैं कि जो लोग व्यस्त रहते हैं सदा, वे कम पागल होते हैं, कम आत्महत्या करते हैं। उन्हें याद ही नहीं रह जाती कि वे हैं भी। उन्हें पता ही भूल जाता है अपना--सारा जीवन, सारी ऊर्जा व्यर्थ कामों में इतनी संलग्न हो जाती है।

इसीलिए कभी-कभी थोड़े-बहुत दिनों के लिए चुप हो कर एकांत में बैठ जाना शुभ है। वहां तुम्हें पता चलेगा कि अव्यस्त होने में तुम कितने बेचैन होने लगते हो! खालीपन कैसा काटता है!

लोग मुझसे पूछते हैं कि लोग दुख को क्यों पसंद करते हैं, क्यों चुनते हैं? लोग दुख को पसंद कर लेते हैं खालीपन के चुनाव में। खालीपन से तो लोग सोचते हैं दुख ही बेहतर है। कम से कम सिरदर्द तो है, सिर में कुछ तो है। उलझनें हैं तो कुछ तो उपाय है, कुछ करने की सुविधा तो है। लेकिन कुछ भी नहीं है तो...।

और जो आदमी खाली होने को राजी नहीं, वह कभी स्वयं तक पहुंच नहीं पाता। क्योंकि स्वयं तक पहुंचने का रास्ता खाली होने से जाता है, रिक्त, शून्यता से जाता है। वही तो ध्यान है। या कोई और नाम दो। वही समाधि है।

जब तुम थोड़ी देर के लिए सब व्यस्तता छोड़ कर बैठ जाते हो, किनारे पर, नदी की धार से हट कर; नदी बहती, तुम देखते, तुम कुछ भी करते नहीं--उन्हीं क्षणों में धीरे-धीरे साक्षी जागेगा। लेकिन साक्षी के जागने से पहले शून्य के रेगिस्तान से गुजरना पड़ेगा। वह मूल्य है; जिसने चुकाने की हिम्मत न की, वह कभी साक्षी न हो पाएगा।

थोड़ा दूर होना जरूरी है। हम चीजों में इतने ज्यादा खड़े हैं कि हमें दिखाई ही नहीं पड़ता कि हम चीजों से अलग हैं। थोड़ा-सा फासला, थोड़ा स्थान, थोड़ा अवकाश...कि हम देख सकें कि हम कौन हैं? जगत क्या है? क्या हो रहा है हमारे जीवन का? थोड़े-थोड़े खाली अंतराल तुम्हें आत्मबोध के लिए कारण बन सकते हैं। उन्हीं-उन्हीं अंतरालों में तुम्हें थोड़ी-थोड़ी झलक मिलेगी: "अहो, मैं चैतन्य-मात्र हूं!" व्यस्तता में तो तुम्हें कभी पता न चलेगा। व्यस्तता का तो मतलब है: वस्तुओं से उलझे, और से उलझे, अन्य से उलझे। जब तुम अव्यस्त होते हो, अनआकुपाइड, जब तुम किसी से भी नहीं उलझे--तब तुम्हें अपनी याद आनी शुरू होती है, स्वयं का स्मरण होता है।

"अहो, मैं चैतन्य-मात्र हूं। संसार इंद्रजाल की भांति है।"

और तब तुम्हें पता चलता है कि तुम्हारी सारी व्यस्तता बचपना, खेल है। धन कमा रहे हो, धन के ढेर लगा रहे हो--क्या मिलेगा? बड़े से बड़े पद पर पहुंच जाओगे--क्या पाओगे? सफल आदमियों से असफल आदमी तुम कहीं और खोज सकते हो? जो सफल हुआ वह मुश्किल में पड़ा। सफल हो कर पता चलता है: अरे, यह तो जीवन हाथ से गया, और हाथ तो कुछ भी न लगा।

कहते हैं सिकंदर जब भारत आया और पोरस पर उसने विजय पा ली, तो एक कमरे में चला गया, एक तंबू में चला गया, और रोने लगा। उसके सिपहसालार, उसके सैनानी बड़े चिंतित हो गए। उन्होंने कभी सिकंदर को रोते नहीं देखा था। उसे कैसे व्यवधान दें, कैसे बाधा डालें--यह भी समझ में नहीं आता था। फिर किसी एक को हिम्मत करके भेजा। उसने भीतर जा कर सिकंदर को पूछा: "आप रो क्यों रहे हैं? और विजय के क्षण में!

अगर हार गए होते तो समझ में आता था कि आप रो रहे हैं। विजय के क्षण में रो रहे हैं, मामला क्या है? पोरस रोए, समझ में आता है। सिकंदर रोए? यह तो घड़ी उत्सव की है।"

सिकंदर ने कहा, इसीलिए तो रो रहा हूं। अब दुनिया में मुझे जीतने को कुछ भी न बचा। अब दुनिया में मुझे जीतने को कुछ भी न बचा, अब मैं क्या करूंगा?

शायद पोरस न भी रोया हो, कोई कहानी नहीं पोरस के रोने की। क्योंकि पोरस को तो अभी बहुत कुछ बचा है; कम से कम सिकंदर को हराना तो बचा है; अभी इसके तो उसको दांत खट्टे करने हैं। मगर सिकंदर के लिए कुछ भी नहीं बचा है। वह थर्रा गया। सारी व्यस्तता एकदम समाप्त हो गई। आ गया शिखर पर! अब कहां? अब इस शिखर से ऊपर जाने की कोई भी सीढ़ी नहीं है। अब क्या होगा?

यह घबड़ाहट सभी सफल आदमियों को होती है। धन कमा लिया, पद पा लिया, प्रतिष्ठा मिल गई, लेकिन इतना करते-करते सारा जीवन हाथ से बह गया। एक दिन अचानक सफल तो हो गए, और एक साथ ही उसी क्षण में, पूरी तरह विफल भी हो गए। अब क्या हो? राख लगती है हाथ। व्यस्त आदमी आखिर में राख का ढेर रह जाता; अंगार तो बिलकुल ढक जाती या बुझ जाती है।

थोड़े-थोड़े अव्यस्त क्षण खोजते रहना। कभी-कभी थोड़ा समय निकाल लेना अपने में डूबने का। भूल जाना संसार को। भूल जाना संसार की तरंगों को। थोड़े गहरे में अपनी प्रशांति में, अपनी गहराई में थोड़ी डुबकी लेना। तो तुम्हें भी समझ में आएगा--तभी समझ में आएगा--किस बात को जनक कहते हैं: इति ज्ञानं! यही ज्ञान है।

"अहो, मैं चैतन्य-मात्र हूं! संसार इंद्रजाल की भांति है। इसलिए हेय और उपादेय की कल्पना किसमें हो?"

अब मुझे न तो कुछ हेय है, न कुछ उपादेय है। न तो कुछ हानि, न कुछ लाभ। न तो कुछ पाने-योग्य, न कुछ डर कि कुछ छूट जाएगा। मैं तो सिर्फ चैतन्यमात्र हूं। अहो!

यही तो मुक्ति है।

जब तक तुम कमर्ो में उलझे हो तब तक तुममें भेद है। जैसे ही तुम साक्षी बने, सब भेद मिटे।

अपने-अपने कमर्ो का फल
भोग रहा है हर कोई
सूरज तो इक-सा ही चमके
नाथों और अनाथों पर।
अपने-अपने कमर्ो का फल
भोग रहा है हर कोई।
तुम अपने कमर्ो से बंधे हो और फल भोग रहे हो।
सूरज तो इक-सा ही चमके
नाथों और अनाथों पर।

सूरज तो सब पर एक-सा चमक रहा है। परमात्मा तो सब पर एक-सा बरस रहा है। लेकिन तुमने अपने-अपने कमर्ो के पात्र बना रखे हैं। कोई का छोटा पात्र, किसी का बड़ा पात्र। किसी का गंदा पात्र, किसी का सुंदर पात्र। परमात्मा एक-सा बरस रहा है। किसी का पाप से भरा पात्र, किसी का पुण्य से भरा पात्र; लेकिन सभी पात्र सीमित होते हैं--पापी का भी, पुण्यात्मा का भी। तुम जरा पात्र को हटाओ, कर्म को भूलो, कर्ता को विस्मरण करो--साक्षी को देखो! साक्षी को देखते ही तुम पाओगे: तुम अनंत सागर हो, परमात्मा अनंत रूप से तुममें बरस रहा है।

अहो, अहम् चिन्मात्रम्!

तुम तब पाओगे, जैसा कि जनक ने बार-बार पीछे कहा कि ऐसा मन होता है कि अपने ही चरण छू लूं। ऐसा धन्यभाग, ऐसा प्रसाद कि अपने को ही नमस्कार करने का मन होता है!

दामने-दिल पे नहीं बारिशे-इल्हाम अभी

इश्क नापुख्ता अभी जज्बे दरूखाम अभी।

दिलरूपी दामन पर अगर दैवी वर्षा नहीं हो रही है तो इतना ही समझना कि प्रेम अभी कच्चा और भीतर की भावना अपरिपक्व।

दामने-दिल पे नहीं बारिशे-इल्हाम अभी!

अगर प्रभु का प्रसाद नहीं बरस रहा है तो यह मत समझना कि प्रभु का प्रसाद नहीं बरस रहा है; इतना ही समझना: इश्क नापुख्ता अभी! अभी तुम्हारा प्रेम कच्चा। जज्बे-दरूखाम अभी। और अभी तुम्हारी भीतर की चैतन्य की दशा परिपक्व नहीं। अन्यथा परमात्मा तो बरस ही रहा है--पात्र पर, अपात्र पर; पुण्यात्मा पर, पापी पर।

सूरज तो इक-सा ही चमके
नाथों और अनाथों पर।

अब दो विधियां हैं इस परम अवस्था को खोजने की। एक तो है कि कमर्ो को बदलो, बुरे कमर्ो को अच्छा करो, अशुभ को शुभ से बदलो, पाप को हटाओ, पुण्य को लाओ--वह बड़ी लंबी विधि है, और शायद कभी सफल नहीं हो सकती। क्योंकि वे तो इतने अनंत जन्मों के कर्म हैं, उनको तुम बदल भी न पाओगे। वह तो धोखा है। वह तो पोस्टपोन करने की तरकीब है। वह तो मिथ्या है। फिर दूसरी विधि है--या कहना चाहिए वस्तुतः तो एक ही विधि है--यह दूसरी विधि कि तुम सारे कमर्ो के पीछे खड़े हो कर साक्षी हो जाओ। तो तुम अभी हो सकते हो। इसी क्षण हो सकते हो।

अष्टावक्र की महागीता का मौलिक सार इतना ही है कि तुम यदि चाहो तो अभी किनारे पर निकल जाओ और बैठ जाओ। अभी साक्षी हो जाओ! और जब तक तुमने कमर्ो को बदलने की कोशिश की, तब तक तो तुम नई-नई उलझनें खड़ी करते रहोगे। क्योंकि हर पाप के साथ थोड़ा पुण्य है, हर पुण्य के साथ थोड़ा पाप है। तुम ऐसा कोई पुण्य कर ही नहीं सकते जिसमें पाप न जुड़ा हो। सोचो, कौन-सा पुण्य करोगे जिसमें पाप न जुड़ा हो? अगर धन दान दोगे तो धन कमाओगे तो! दान दोगे कहां से? पहले कमाने में पाप कर लोगे, तो दान दोगे। यह तो बात बेमानी हो गई। मंदिर बनाओगे तो किन्हीं झोपड़ों को मिटाओगे तभी मंदिर बना पाओगे। किसी को चूसोगे, तभी मंदिर खड़ा हो सकेगा। यह तो बात व्यर्थ हो गई। यह तो पुण्य के साथ पाप चल जाएगा। तुम अच्छा कुछ भी करोगे तो थोड़ा न बहुत बुरा साथ में होता ही रहेगा। बुरा भी जब तुम करते हो, कुछ न कुछ अच्छा होता है। तभी तो बुरा आदमी करता है, नहीं तो वह भी क्यों करेगा?

एक चोर है, वह चोरी कर लाता है; क्योंकि वह कहता है कि उसका बच्चा बीमार है और दवा चाहिए। बच्चे को दवा तो मिलनी चाहिए। चोरी से मिलती है तो चोरी से, लेकिन बच्चे को दवा तो देनी ही पड़ेगी। जीवन मूल्यवान है। तुम्हारे धन-संपत्ति के नियम इतने मूल्यवान नहीं हैं।

परम रासायनिक नागार्जुन के जीवन में उल्लेख है। वह दार्शनिक भी था, विचारक भी था। अपूर्व दार्शनिक था! शायद भारत में वैसा कोई दूसरा दार्शनिक नहीं हुआ। शंकराचार्य भी नंबर दो मालूम पड़ते हैं नागार्जुन से। और ऐसा लगता है शंकर ने जो भी कहा, उसमें नागार्जुन की छाप है। नागार्जुन ने बड़ी अनूठी बातें कहीं हैं। और वह रसायनविद था। उसे दो सहयोगियों की जरूरत थी, जो रसायन की प्रक्रिया में उसका साथ दे सकें। तो उसने बड़ी खोज की। दो रसायनविद आए। वह उनकी परीक्षा लेना चाहता था। तो उसने कुछ रासायनिक द्रव्य दिए दोनों को और कहा कि कल तुम इसका मिश्रण बना कर ले आना। अगर तुम सफल हो गए मिश्रण बनाने में, तो जो भी सफल हो जाएगा वह चुन लिया जाएगा।

वे दोनों चले गए। दूसरे दिन एक तो मिश्रण बना कर आ गया और दूसरा रासायनिक द्रव्य वैसे के वैसे ले कर आ गया। नागार्जुन ने उस दूसरे से पूछा कि तुमने बनाया नहीं? उसने कहा कि मैं गया, रास्ते पर एक भिखारी मर रहा था, मैं उसकी सेवा में लग गया। चौबीस घंटे उसको बचाने में लग गए, मुझे समय ही नहीं मिला। और यह जो प्रक्रिया है इसमें कम से कम चौबीस घंटे चाहिए। इसलिए मुझे क्षमा करें। मैं जानता हूं कि मैं अस्वीकृत हो गया, लेकिन कुछ और उपाय न था। भिखारी मर रहा था, मुझे चौबीस घंटे उसकी सेवा करनी

पड़ी। वह बच गया, मैं खुश हूं। मुझे जो आपकी सेवा का मौका मिलता था, वह नहीं मिलेगा; लेकिन मैं प्रसन्न हूं। मेरी कोई शिकायत नहीं।

और नागार्जुन ने इसी आदमी को चुन लिया। और नागार्जुन के और दूसरे सहयोगी थे, वे कहने लगे कि यह आप क्या कर रहे हैं? जो आदमी रसायन बना कर ले आया है, उसको नहीं चुन रहे?

नागार्जुन ने कहा, जीवन का मूल्य रसायन से ज्यादा है। यह रसायन-वसायन तो ठीक है मगर जीवन का मूल्य...। इस आदमी के पास पकड़ है। यह जानता है कि कौन-सी चीज ज्यादा मूल्यवान है--बस, यही तो रहस्य है। सार और असार में इसे भेद है।

अब एक आदमी का बच्चा मर रहा है, वह तुम्हारी फिक्र करे कि चोरी नहीं करनी चाहिए? वह चिंता करे इस बात की? व्यक्तिगत संपत्ति को समादर दे? वह फिक्र नहीं करता। वह कहता है, चोरी हो जाए, चाहे मैं जेल चला जाऊं, बच्चे को बचाना है।

तो पाप में भी कहीं तो थोड़ा पुण्य है। दो आदमी अगर साथ-साथ चोरी भी करते हैं तो कम से कम एक-दूसरे को तो दगा नहीं देते। उतनी तो ईमानदारी है। वे भी मानते हैं, आनेस्टी इज द बेस्ट पालिसी। आपस में तो कम से कम। किसी और के साथ न मानते हों, लेकिन ईमानदारी एक-दूसरे के साथ बरतते हैं। उतना तो पुण्य है।

तुम ऐसा कोई पाप का कृत्य नहीं खोज सकते जिसमें पुण्य न हो।

एक चोर पकड़ा गया, तो मैजिस्ट्रेट बड़ा हैरान था। उसने कहा कि हमने सुना कि तुम नौ दफे रात में इस दुकान में घुसे!

उसने कहा, और क्या करूं हुजूर? अकेला आदमी, पूरी दुकान ढोनी थी!

तो मैजिस्ट्रेट ने कहा कि तो कोई संगी-साथी नहीं? उसने कहा कि जमाना बड़ा खराब है। संगी-साथी किसको बनाओ? जिसको बनाओ वही धोखा दे जाता है।

चोर भी कहता है कि जमाना खराब है और आप तो जानते ही हैं। संगी-साथी किसको बनाओ?

चोरी भी करनी हो तो भी जमाना अच्छा होना चाहिए। किसी को धोखा देना हो तो भी। उस आदमी में इतनी, जिसको तुम्हें धोखा देना है, इतनी भलमनसाहत तो होनी चाहिए कि भरोसा करे।

पाप और पुण्य गुंथे पड़े हैं। साथ-साथ जुड़े हैं। न तो तुम पुण्य कर सकते हो बिना पाप किए, न तुम पाप कर सकते हो बिना पुण्य किए।

सुख न सहचरी, लुटेरा भी हुआ करता है,
खुशी में गम का बसेरा भी हुआ करता है।
अपनी किस्मत की स्याही को कोसने वालो,
चांद के साथ अंधेरा भी हुआ करता है।

वे सब जुड़े हैं। इसलिए अगर तुम एक से बचना चाहोगे तो तुम ज्यादा से ज्यादा दूसरे को छिपा सकते हो, लेकिन दूसरे से भाग नहीं सकते।

पाप-पुण्य एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। सिक्का जाएगा तो पूरा जाएगा, आधा नहीं बचाया जा सकता। एक पहलू नहीं बचाया जा सकता।

इसलिए अष्टावक्र और जनक के संवाद के बीच जो क्रांतिकारी सूत्र घटित हो रहा है, वह साक्षी का है। तुम्हें न तो पाप छोड़ना है, न पुण्य छोड़ना है। न तुम्हें पाप पकड़ना है, न पुण्य पकड़ना है। तुम्हें पकड़ना-छोड़ना छोड़ना है। न पकड़ो न छोड़ो। तुम दोनों से दूर हट कर खड़े हो जाओ, देखने वाले बनो, द्रष्टा बनो, साक्षी बनो!

अहो अहम् चिन्मात्रम् जगत इंद्रजालोपमम्।
अतः मम हेयोपादेय कल्पना कथम् च कुत्र।।

इसलिए जनक ने कहा, मुझे तो कल्पना भी नहीं उठती कि कौन ठीक, कौन गलत। अब तो सब ठीक या सब गलत। मैं जाल के बाहर खड़ा, चिन्मात्र! चिन्मयरूप! केवल चैतन्य! केवल साक्षी! आप किससे कह रहे हैं त्याग की बात? वे कहने लगे। आप किससे कह रहे हैं कि मैं ज्ञान को उपलब्ध होऊं?

इति ज्ञानं!

हरि ॐ तत्सत्!

चौबीसवां प्रवचन

कितनी लघु अंजुलि हमारी

पहला प्रश्न: आपने कहा कि सब आदर्श गलत हैं। लेकिन क्या अपने गंतव्य को, अपनी नियति को पाने का आदर्श भी उतना ही गलत है?

आदर्श गलत है; किस बात को पाने का आदर्श है, इससे कोई भेद नहीं पड़ता। आदर्श का अर्थ है: भविष्य में होगा। आदर्श का अर्थ है: कल होगा। आदर्श का अर्थ है: आज उपलब्ध नहीं है। आदर्श स्थगन है--भविष्य के लिए।

जो तुम्हारी नियति है उसे तो आदर्श बनाने की कोई भी जरूरत नहीं; वह तो होकर ही रहेगा; वह तो हुआ ही हुआ है।

नियति का अर्थ है, जो तुम्हारा स्वभाव है। इस क्षण जो पूरा का पूरा तुम्हें उपलब्ध है, वही तुम्हारी नियति है। सब आदर्श नियति-विरोधी हैं।

आदर्श का अर्थ ही यह होता है कि तुम वह होना चाहते हो जो तुम पाते हो कि हो न सकोगे। गुलाब तो गुलाब हो जाता है, कमल कमल हो जाता है। कमल के हृदय में कहीं कोई आदर्श नहीं है कि मैं कमल बनूं। अगर कमल कमल बनना चाहे तो पागल होगा, कमल नहीं हो पाएगा।

जो तुम हो वह तो तुम हो ही--बीज से ही हो। उससे तो अन्यथा होने का उपाय नहीं है।

इसलिए नियति के साथ, स्वभाव के साथ आदर्श को जोड़ना तो विरोधाभास है। पर हमारे मन पर आदर्श की बड़ी पकड़ है। सदियों से हमें यही सिखाया गया है कि कुछ होना है, कुछ बनना है, कुछ पाना है। दौड़ सिखाई गई, स्पर्धा सिखाई गई, वासना सिखाई गई--अनंत-अनंत रूपों में।

अष्टावक्र का उदघोष यही है कि जो तुम्हें होना है वह तुम हो ही। कुछ होना नहीं है, जीना है। इस क्षण तुम्हें सब उपलब्ध है। एक क्षण भी टालने की कोई जरूरत नहीं है। एक क्षण भी टाला तो भ्रांति में पड़े। तुम जीना शुरू करो--तुम परिपूर्ण हो।

समस्त अध्यात्म की मौलिक उदघोषणा यही है कि तुम परिपूर्ण हो, जैसे तुम हो। होने को कुछ परमात्मा ने बाकी नहीं छोड़ा है। और जो परमात्मा ने बाकी छोड़ा है, उसे तुम पूरा न कर पाओगे। जो परमात्मा नहीं कर सका, उसे तुम कर सकोगे--यह अहंकार छोड़ो। जो हो सकता था, हो गया है। जो परमात्मा के लिए संभव था, वह घट गया है। तुम जीना शुरू करो, टालो मत।

परम अध्यात्म की घोषणा यही है कि उत्सव की घड़ी मौजूद है, तुम तैयारी मत करो। एक तैयारी करने वाला चित्त है जो उत्सव में कभी सम्मिलित नहीं होता, सदा तैयारी करता है: यह तैयार कर लूं, वह तैयार कर लूं, वह हमेशा टाइम-टेबल देखता रहता है; कभी ट्रेन पर सवार नहीं होता। ट्रेन सामने भी खड़ी हो तो वह टाइम-टेबल में उलझा होता है। वह सदा बिस्तर बांधता है, लेकिन कभी यात्रा पर जाता नहीं। वह सदा मकान बनाता है, लेकिन कभी उसमें रहता नहीं। वह धन कमाता है, लेकिन धन को कभी भोगता नहीं। बस वह तैयारी करता है।

तुम ऐसे तैयारी करने वाले करोड़ों लोगों को चारों तरफ देखोगे--वही हैं, उन्हीं की भीड़ है। वे सब तैयारी कर रहे हैं। वे कह रहे हैं, कल भोगेंगे, परसों भोगेंगे। इनमें सांसारिक भी हैं, इनमें आध्यात्मिक जिनको तुम कहते हो वे भी सम्मिलित हैं--तुम्हारे तथाकथित साधु-संत और महात्मा। वे कहते हैं: यहां क्या रखा है, स्वर्ग में

भोगेंगे! उनका कल और भी आगे है: मरने के बाद भोगेंगे, यहां क्या रखा है! यहां तो सब क्षणभंगुर! यहां तो सिर्फ पीड़ित होना है, परेशान होना है और कल की तैयारी करनी है।

लेकिन तुमने देखा, कल कभी आता नहीं! कल कभी आया ही नहीं। इसलिए मैं तुमसे कहता हूं: स्वर्ग कभी आता नहीं, कभी आया ही नहीं। स्वर्ग तो कल का विस्तार है। कल ही नहीं आता, स्वर्ग कैसे आएगा?

जिस आदमी ने कल में अपने स्वर्ग को देखा है, उसका आज नर्क होगा--बस इतना पक्का है। कल तो आएगा नहीं। और जब भी कल आएगा आज होकर आएगा। और अगर तुमने यह गलत आदत सीख ली कि तुम कल में ही नजर लगाए रहे तो तुम आज को सदा चूकते जाओगे। और जब भी आएगा आज आएगा; जो भी आएगा आज की तरह आएगा। और तुम्हारी आंखें कल पर लगी रहेंगी। कल कभी आता नहीं। ऐसे तुम वंचित हो जाओगे। ऐसे तुम, जो मिला था उसे न भोग पाओगे। जो हाथ में रखा था उसे न देख पाओगे। जो मौजूद था, जो नृत्य-गीत चल ही रहा था, उसमें तुम सम्मिलित न हो पाओगे।

अध्यात्म की आत्यंतिक घोषणा यही है कि समय के जाल में मत पड़ो। समय है मन का जाल।

अस्तित्व मौजूद है--उतरो, छलांग लो! तैयारी सदा से पूरी है, सिर्फ तुम्हारी प्रतीक्षा है। तुम नाचो! तुम यह मत कहो कि कल नाचेंगे, और तुम यह मत कहो कि आंगन टेढ़ा है, नाचें कैसे? जिसे नाचना आता है, वह टेढ़े आंगन में भी नाच लेता है। और जिसे नाचना नहीं आता, आंगन कितना ही सीधा, चौकोर हो जाए तो भी नाच न पाएगा।

मुल्ला नसरुद्दीन की आंखें खराब हो गई थीं, तो वह इलाज कराने गया। डॉक्टर से पूछने लगा कि क्या मेरी आंखों के आपरेशन के बाद मैं पढ़ने में समर्थ हो जाऊंगा? डॉक्टर ने कहा, निश्चित। यह जाली है, इसे हम काट देंगे आंख से, तुम पढ़ने में समर्थ हो जाओगे।

मुल्ला ने कहा, धन्यवाद भगवान का, क्योंकि मैं कभी पढ़ना-लिखना सीखा नहीं।

अगर पढ़ना-लिखना आता ही नहीं तो आंख की जाली कटने से पढ़ना नहीं आ जाएगा। अगर नाचना आता ही नहीं तो तुम स्वर्ग में भी रोओगे। तुम्हें रोना ही आता है। तुम स्वर्ग में भी बैठ कर पोथा-पुराण खोल कर सोचोगे कि अब आगे क्या है? तुम स्वर्ग में भी कहोगे, क्या रखा है यहां? क्योंकि तुमने एक ही गणित और एक ही तर्क सीखा है कि यहां तो कुछ भी नहीं रखा है; सदा वहां, कहीं और, कहीं और है जीवन बरस रहा, यहां तो बस मौत है!

तुम जैसा तर्क पकड़े हो, अगर किसी भूल-चूक से तुम स्वर्ग पहुंच जाओ तो तुम उसे नर्क में रूपांतरित कर लोगे। तुम्हें हर चीज को नर्क बनाने की कला आती है। और उस कला का सबसे महत्वपूर्ण सूत्र यही है कि आज को मत देखना; कल की आशा रखना, कल होगा सब! आज तो सह लो, आज तो रो लो; कल हंसेंगे! आज तो रुदन है, आंसू हैं; कल होंगी मुस्कुराहटें।

लेकिन कल जब तक आएगा तब तक रोने का अभ्यास भी सघन हो रहा है, इसे याद रखना। प्रतिपल तुम रो रहे हो, आज तुम रो रहे हो। रोज रोते-रोते रोने की कला आती जा रही है, आंखें सूजती जा रही हैं, आंसुओं के सिवाए तुम्हारी और कोई कुशलता नहीं है। कल आएगा तुम्हारे द्वार पर, लेकिन इस अभ्यास को तुम अचानक छोड़ थोड़े ही पाओगे! कल फिर आज की तरह आएगा। फिर तुम्हारा पुरातन तर्क काम करेगा: कल; और रो लो! ऐसे ही तुम रोते रहे हो जन्मों-जन्मों, ऐसे ही तुम रो रहे हो। अगर ऐसे ही तुम्हें रोना है, रोते रहना है, तो बनाओ आदर्श!

मैं तुमसे कहता हूं: आदर्श-मुक्त हो जाओ। तुम्हें घबड़ाहट होती है, क्योंकि तुम्हारा चित्त कहता है, आदर्श-मुक्त? तुम्हारा अहंकार कहता है, आदर्श-मुक्त? तो उसका तो मतलब हुआ कि फिर तुम कभी परिपूर्ण न हो पाओगे। मैं तुमसे कहता हूं: तुम परिपूर्ण हो। पूर्णता तुम्हें मिली है--वरदान है, भेंट है परमात्मा की! अगर

परमात्मा पूर्ण है तो उससे अपूर्ण पैदा हो ही नहीं सकता। और अगर परमात्मा से अपूर्ण पैदा हो रहा है तो तुम एक बात पक्की मानो कि तुम अपूर्ण से पूर्ण की कोई संभावना नहीं।

थोड़ा सोचो तो हिसाब क्या हुआ? पूर्ण से अपूर्ण पैदा हो रहा है, पहले तो यह बात गलत। पूर्ण से पूर्ण ही पैदा होता है। उपनिषद कहते हैं: पूर्ण से पूर्ण निकाल लो, तो भी पीछे पूर्ण शेष रह जाता है। पूर्ण से तुम अपूर्ण तो निकाल ही न सकोगे, पाओगे कहां अपूर्ण? और फिर अब एक तो तुमने यह भ्रांति पाल रखी है कि पूर्ण से अपूर्ण हो सकता है। अब दूसरी भ्रांति इस भ्रांति से पैदा हो रही है कि अब इस अपूर्ण को पूर्ण होना है। अब अपूर्ण चेष्टा करेगा पूर्ण होने की।

थोड़ा सोचो, अपूर्ण की सब चेष्टाएं अपूर्ण रहेंगी! और अपूर्ण से पूर्ण को निकालने का कोई उपाय नहीं है।

अगर तुम सही हो तो नर्क ही एकमात्र सत्य है। अगर मैं सही हूं तो स्वर्ग हो सकता है। चुनाव तुम्हारा है। और तुम्हारी जिंदगी है और तुम्हें चुनना है। मैं तुमसे कहता हूं: भोगो जीवन को इस क्षण! नाचो, गुनगुनाओ! आनंदित होओ! यह आनंद का अभ्यास सघन होगा तो इसी आनंद के अभ्यास की सघनता में कल भी आएगा। और तुम आज में ही रस लेना सीख लोगे, तो कल भी तुम रस लोगे, और रसधार बहेगी। परसों भी आएगा, तब तक तुम्हारा रस का अभ्यास और गहन हो जाएगा। तुम और रस से भर जाओगे। तुम और मुग्ध मतवाले, तुम्हारे रोएं-रोएं में मदिरा फैल गई होगी। परसों भी आएगा; तुम और नाचोगे, और गुनगुनाओगे। धीरे-धीरे तुम पाओगे, तुम्हें नाचना आ गया। अब आंगन टेढ़ा हो कि चौकोर, आंगन हो कि न हो, अब तुम नाच सकते हो। अब तो तुम बैठे भी रहो शांत तो भी भीतर नृत्य चलता है। अब तो तुम न भी बोलो तो भी गीत उठते हैं। अब तो तुम कुछ भी न करो तो भी कमल खिलते चले जाते हैं।

नियति, स्वभाव का इतना ही अर्थ है: जो अपने से हो रहा है, और जो अपने से होगा।

जिसे करने के लिए चेष्टा की जरूरत है, वह तुम्हारी नियति नहीं। चेष्टा का अर्थ ही यह होता है कि कुछ नियति के विपरीत करने चले हो; तुमने कुछ अपनी योजना बनाई। जो परमात्मा ने तुम्हें ब्लूप्रिंट दिया, जो परमात्मा ने तुम्हें जीवन की दिशा दी, गंतव्य दिया, उससे अन्यथा तुमने कोई योजना बनाई। और इसलिए तो तुम्हारी योजना कभी पूरी नहीं होती। सदा तुम्हारी योजना टूटती है, पराजित होती है।

तुम परमात्मा से लड़ कर जीत न सकोगे। उससे जीतने का एक ही रास्ता है, उससे हार जाना। प्रेम में हार ही विजय है। प्रार्थना में भी वही बात है। प्रार्थना में भी हार विजय है। तुम हारो!

तुमने कब से बांध रखे आदर्श, क्या करोगे? और इतना भी तुम नहीं देखते कि जीवन भर आदर्श की चेष्टा करके तुम उपलब्ध क्या कर पाते हो?

मैं देखता हूं, कोई ब्रह्मचर्य का आदर्श बनाए बैठा है। सब तरह से अपने को कसता है। दीवालें बनाता है, बाधाएं खड़ी करता है, छाती पर पत्थर अटकाता है, ताकि किसी तरह वासना न उठे। लेकिन जितनी चेष्टा करता है उतना ही वासना से भरता चला जाता है। वासना मालूम होती है परमात्मा की है, और ब्रह्मचर्य तुम्हारा है। वासना तो तुम्हें मिली है, ब्रह्मचर्य तुम ला रहे हो। वासना तो स्वाभाविक, प्राकृतिक है; ब्रह्मचर्य आदर्श है।

मैं यह नहीं कह रहा हूं कि ब्रह्मचर्य फलित नहीं होता; फलित होता है, लेकिन ऐसे ही फलित होता है जैसे वासना फलित हुई है। तुम छोड़ो परमात्मा पर, तुम सहज भाव से बहे चले जाओ। वह जहां ले चले--कभी अंधेरे, कभी उजाले; कभी आंसुओं में, कभी मुस्कुराहटों में--तुम चले चलो। तुम निष्ठा रखो। तुम वासना में भी यही खयाल रखो: प्रभु की मर्जी! उसने जो चाहा है, हो रहा है। तुमने तो वासना पैदा नहीं की।

एक महात्मा मेरे पास आए और कहने लगे: बस, वासना से छुटकारा करवा दें। मैंने कहा, तुमने पैदा की है? उन्होंने कहा कि नहीं, मैंने तो पैदा नहीं की है। मैंने कहा, जो तुमने पैदा नहीं की उसे तुम मिटा न सकोगे। जो तुमने पैदा की है उसे तुम मिटा सकते हो। तुम पत्नी को छोड़ कर भाग सकते हो, क्योंकि पत्नी तुमने चुनी है,

बनाई है। लेकिन वासना छोड़ कर कहां भागोगे? जहां जाओगे वासना रहेगी। तुम स्त्रियों से आंख बंद कर ले सकते हो, तुम आंख फोड़ ले सकते हो। स्त्रियों को देखो न देखो, इससे कुछ फर्क न पड़ेगा। वासना को कैसे मिटाओगे? अंधा भी वासना को देखता रहता है।

तुमने सुनी है सूरदास की कथा? मुझे ठीक नहीं मालूम पड़ती, सच नहीं मालूम पड़ती। क्योंकि कथा ऐसी बेहूदी है कि सूरदास का सारा मूल्य खराब हो जाता है। सूरदास जैसे कीमती मनुष्य के जीवन में ऐसी घटना घट सकती है, यह मैं मानने को राजी नहीं। घटी हो तो सूरदास दो कौड़ी के। न घटी हो, तो ही सूरदास में कुछ मूल्य है।

कथा कहती है कि सूरदास ने एक सुंदर युवती को देखा और वे चल पड़े उसके पीछे। उसके द्वार पर भिक्षा मांगी, फिर रोज-रोज भिक्षा मांगने जाने लगे। फकीर हैं। अपना लिए इकतारा, गीत गुनगुनाते रहते हैं; लेकिन सब गीत अब उस स्त्री की तरफ समर्पित होने लगे। घबड़ाहट पैदा हुई। तो कहते हैं, अपनी आंखें फोड़ डालीं। सूरदास उस दिन हुए। आंखें फोड़ लीं, अंधे हो गए। क्योंकि सोचा कि जो आंखें भटका रही हैं, इन आंखों से क्या संग-साथ!

यह कहानी जरूर नासमझों ने गढ़ी होगी। क्योंकि आंखें फोड़ लेने से वासना से कहीं मुक्ति होती है? आंखें फोड़ लेने से तो वासना बाहर दिखाई पड़ती थी, अब भीतर दिखाई पड़ने लगेगी।

तुम कभी सोचो, एक सुंदरी जाती हो रास्ते से, घबड़ाहट में आंखें बंद कर लो, साधु-महात्मा हो जाओ--तो आंखें बंद करके क्या स्त्री का रूप खो जाता है? और सुंदर हो कर प्रगट होता है। और सुगंधित हो कर प्रगट होता है। वह साधारण-सी स्त्री, जो खुली आंख से देखते तो शायद उससे छुटकारा भी हो जाता। कौन स्त्री, कौन पुरुष इतना सुंदर है कि अगर ठीक से देखो तो छुटकारा न हो जाए! अगर गौर से देखते तो मुक्त भी हो जाते। अब आंख बंद करके तो बड़ी मुश्किल हो गई। अब तो स्त्री अप्सरा हो गई, सपना बन गई।

तुमने खयाल किया, तुम्हारे सपनों में जैसी सुंदर स्त्रियां होती हैं, ऐसी सुंदर स्त्रियां जगत में नहीं हैं! इसलिए तो कवि बड़े अतृप्त रहते हैं, क्योंकि वे जैसी कल्पना कर लेते हैं स्त्रियों की, वैसी स्त्रियां कहीं मिलती नहीं। चित्रकार बड़े अतृप्त रहते हैं, मूर्तिकार बड़े अतृप्त रहते हैं। किसी से मन नहीं भरता।

अब जो मूर्ति गढ़ता है, उसकी रूप की कल्पना बड़ी प्रगाढ़ है। नाक-नक्श का उसका अनुपात बड़ा गहरा है। वह तो अति सुंदर हो तो ही सुंदर हो सकता है, वैसा तो कोई चेहरा कहीं मिलता नहीं। सपने इतने सुंदर हैं कि यथार्थ उनसे फीका पड़ता है।

तो जिसकी भी कल्पना प्रगाढ़ है, वह कभी जीवन में तृप्त नहीं होता। उसकी कल्पना ही कहे चली जाती है: इसमें क्या रखा है? इसमें क्या रखा है? उसकी कल्पना तुलना का आधार रहती है।

आंख बंद करने से कल्पना तो न मिटेगी, सपने तो न मिटेंगे। आंख बंद करने से तो जो ऊर्जा थोड़ी-बहुत बाहर चली जाती थी, सपने नहीं बनती थी, वह भी सपने बनने लगेगी। सारी ऊर्जा सपना बनने लगेगी।

तो जिस व्यक्ति ने वासना के खिलाफ ब्रह्मचर्य का आदर्श बनाया, वह ब्रह्मचर्य को तो उपलब्ध नहीं होता, एक मानसिक व्यभिचार को उपलब्ध होता है। उसके भीतर-भीतर वासना दौड़ने लगती है।

मैं यह नहीं कह रहा हूं कि ब्रह्मचर्य घटित नहीं होता, लेकिन आदर्श की तरह कभी घटित नहीं होता। वासना को समझ कर वासना को जी कर, वासना के अनुभव से, वासना के रस में डूब कर, प्रतीति से, साक्षात से, धीरे-धीरे तुम्हें दिखाई पड़ता है कि वासना से कुछ भी मिलने को नहीं है। और धीरे-धीरे वासना में ही तुम्हें दिखाई पड़ना शुरू होता है--निर्वासना की पहली-पहली झलकें।

ब्रह्मचर्य की पहली झलकें वासना की गहराई में ही मिलती हैं। संभोग की आत्यंतिक गहराई में ही पहली दफे समाधि की किरण उतरती है। वैसी किरण जब उतर आती है, बस फिर घटना घट गई। फिर तुम उस किरण के सहारे चल पड़ो, सूरज तक पहुंच जाओगे। फिर तुम्हें कोई रोक सकता नहीं। लेकिन वह घटना उतनी ही

स्वाभाविक है, जैसे वासना स्वाभाविक है, कामना स्वाभाविक है, ब्रह्मचर्य भी स्वाभाविक है। थोपा, आरोपित, आयोजित ब्रह्मचर्य दो कौड़ी का है।

तुम हिंसक हो, अहिंसा का आदर्श बना लेते हो। सच तो यह है कि तुम आदमी का आदर्श देख कर बता सकते हो कि आदमी कैसा होगा, उल्टा कर लेना। अगर आदमी का आदर्श ब्रह्मचर्य हो तो समझ लेना कामी आदमी है। कामी के अतिरिक्त कौन ब्रह्मचर्य का आदर्श बनाएगा! अगर आदमी दान को आदर्श मानता हो, तो समझना लोभी है। अगर आदमी करुणा को आदर्श मानता हो, समझना क्रोधी है। अगर आदमी कहता हो, जीवन में शांति आदर्श है तो समझ लेना, अशांत आदमी है, विक्षिप्त आदमी है।

तुम मुझे बता दो किसी आदमी का आदर्श और मैं बता दूंगा उसका यथार्थ क्या है। यथार्थ बिलकुल विपरीत होगा। इस गणित में तुम्हें कभी चूक न होगी। तुम पूछ लो आदमी से, आपका आदर्श क्या है महानुभाव? और आप उनके यथार्थ से परिचित हो जाओगे। अगर आदमी कहे कि अचौर्य मेरा आदर्श है, तो अपनी जेब संभाल लेना; यह आदमी चोर है। क्योंकि चोर के लिए ही केवल अचौर्य का आदर्श हो सकता है। जो आदमी चोर नहीं है उसे तो खयाल भी नहीं आएगा कि अचौर्य भी आदर्श है। अगर वह कहे कि ईमानदारी मेरा आदर्श है, तो वह बेईमान है।

तुम आदर्शों को मत देखना। तुम तत्क्षण विपरीत खोजना--और तुम्हें अचानक उस आदमी के जीवन की कुंजी मिल जाएगी।

जिस आदमी के जीवन में ईमानदारी है उसे ईमानदारी का खयाल ही नहीं रह जाता; जो है, उसका खयाल ही भूल जाता है। स्वस्थ आदमी के जीवन में कभी भी स्वास्थ्य का आदर्श नहीं होता; बीमार आदमी के जीवन में होता है। तुम बीमारों को देखोगे प्राकृतिक चिकित्सा की किताबें पढ़ रहे हैं, ऐलोपैथी, होम्योपैथी, बायोकेमिस्ट्री और न मालूम कहां-कहां से खोज कर ले आते हैं। बीमार आदमी को तुम हमेशा स्वास्थ्य के शास्त्र पढ़ते देखोगे। स्वस्थ आदमी को हैरानी होती है कि कुछ और पढ़ने को नहीं है? यह क्या पढ़ रहे हो तुम? प्राकृतिक चिकित्सा, कि पेट पर मिट्टी बांधो, कि सिर पर गीला कपड़ा रखो, कि टब में लेटे रहो, कि उपवास कर लो, कि ऐसा करो, कि एनीमा ले लो, यह तुम कर क्या रहे हो? यह कोई...?

वह आदमी कहेगा, स्वास्थ्य मेरा आदर्श है। लेकिन यह आदमी बीमार है। यह बुरी तरह से बीमार है। इसका रोग भयानक है। यह रोग से ग्रस्त है।

और आदर्श बनाना कहीं और से नहीं आता--तुम्हारे रोग से आता है। स्वस्थ आदमी को स्वास्थ्य का पता नहीं चलता। वस्तुतः स्वास्थ्य की परिभाषा यही है कि जब तुम्हें शरीर का बिलकुल पता न चले तो तुम स्वस्थ। अगर शरीर का कहीं भी पता चले तो बीमार। बीमारी का मतलब क्या होता है? सिर में जब दर्द होता है तो सिर का पता चलता है। सिर में दर्द न हो तो सिर का पता चलता ही नहीं। तुम सोचो, देखो। सिर की तुम्हें याद कब आती है? जब सिर में दर्द होता है। अगर कोई आदमी चौबीस घंटे सिर के संबंध में सोचने लगे तो समझना कि सिर उसका रुग्ण है। पैर में कांटा गड़ता है तो पैर का पता चलता है। जूता काटता है तो जूते का पता चलता है। अगर जूता काटता न हो तो जूते का पता चलता है?

जिस चीज से पीड़ा होती है उसका हमें पता चलता है। जब पता चलता है तो उससे विपरीत को हम आदर्श बनाते हैं।

आदर्श रुग्ण चित्त के लक्षण हैं। स्वस्थ व्यक्ति आदर्श नहीं बनाता; जो स्थिति है, उसको समझने की कोशिश करता है, उसको जीने की कोशिश करता है--ध्यान-पूर्वक, होशपूर्वक। और उसी होश से स्वास्थ्य फलित होता है। उसी होश से ब्रह्मचर्य फलित होता है, करुणा फलित होती है।

तुम अपने क्रोध को समझो, क्रोध को जीयो--करुणा अपने आप आ जाएगी। आदर्श मत बनाओ। तुम अपनी कामवासना को पहचानो, दीया जलाओ होश का। तुम कामवासना में होशपूर्वक जाओ। ऐसे डरे-डरे,

सकुचाते, परेशान, घबड़ाए हुए, तने हुए, नहीं जाना और जाना पड़ रहा है--ऐसे अपराध में डूबे हुए मत जाओ। इसमें कुछ सार न होगा। सहज भाव से जाओ। प्रभु ने जो दिया है, अर्थ होगा। जो समग्र में उठ रहा है, उसमें अर्थ होगा।

तुम यहां होते नहीं अगर वासना न होती; न तुम्हारे महात्मा होते, न ब्रह्मचर्य का उपदेश देने वाले होते। वे सब वासना के ही फल हैं।

तो जिस वासना से बुद्ध जैसे लोग पैदा होते, उस वासना को गाली दोगे? जिस वासना से महावीर जैसे फल लगते, उसको गाली दोगे? जिस वासना से अष्टावक्र जन्मते, तुम उसे गाली देते थोड़ा संकोच नहीं करते?

अगर ब्रह्मचर्य इस जगत में फला है तो वासना से ही फला है। फल को तो तुम आदर देते हो, वृक्ष को इंकार करते हो? तो तुम भूल कर रहे हो। तो तुम्हारे जीवन के गणित में साफ-सुथरापन नहीं, बड़ी उलझन है, बड़ा विभ्रम है।

बुद्ध हों कि महावीर, कृष्ण हों कि मुहम्मद कि क्राइस्ट--सब आते हैं। वासना के सागर में ही ये लहरें उठती हैं और ब्रह्मचर्य की ऊंचाई पर पहुंच जाती हैं। सागर को धन्यवाद दो, विरोध मत करो।

जब मैं कहता हूं, सभी आदर्श खतरनाक हैं, तो मेरा मतलब इतना ही है कि जीवन पर्याप्त है, इसके ऊपर तुम और आदर्श मत थोपो, जीवन में गहरे उतरो। जीवन की गहराई में ही तुम उन मणियों को पाओगे, जिनको तुम चाहते हो।

वासना में उतर कर मिलता है ब्रह्मचर्य। मैं यह नहीं कह रहा हूं कि सभी वासना से भरे लोगों को ब्रह्मचर्य मिल जाएगा या मिल गया है। मेरी शर्त खयाल में रखना। वासना में उतर कर मिलता है; लेकिन जो जागरूकता से उतरता है, बस उसी को मिलता है; जो साक्षी-भाव से उतरता है, उसी को मिलता है।

तो दुनिया में दो तरह के लोग हैं साधारणतः--वासना में उतरते मूर्च्छा से, उनको कुछ नहीं मिलता; फिर वासना से भयभीत हो कर भागते ब्रह्मचर्य की तरफ मूर्च्छा में, उनको भी कुछ नहीं मिलता। मिलता उसे है जो सजग हो कर, जाग कर, जीवन जो दिखाए उसे देखने को राजी होता है; जो कहता है, मेरी निजी कोई मर्जी नहीं, प्रभु जो दिखाएगा उसे देखेंगे, लेकिन साक्षी को जगा कर देखेंगे, पूरा-पूरा देखेंगे, रत्ती-रत्ती देखेंगे, कुछ छोड़ न देंगे, छोड़ने की जल्दी न करेंगे।

ऐसे सजग जागरण में सभी आदर्श अपने-आप फलने लगते हैं।

जब मैं तुमसे कहता हूं, आदर्श छोड़ो तो मैं आदर्शों के विरोध में नहीं हूं। अगर तुम मेरी बात समझो तो मैं ही आदर्शों के पक्ष में हूं। क्योंकि जो मैं कह रहा हूं, उसी से आदर्श फलेंगे। और जो तुम सुनते रहे हो, उससे आदर्श कभी नहीं फलते।

आदर्श के पीछे दौड़ो और आदर्श कभी न मिलेगा। और मैं तुमसे कहता हूं: रुको, जो है उसमें उतरो। आदर्श अपने-आप फल जाएंगे।

स्वभाव का अर्थ ही यही है, नियति का अर्थ ही यही है: कुछ करने को नहीं है। जाग कर जीना है। और जागना कोई करना थोड़े ही है! वह तो तुम्हारी क्षमता ही है। उसमें कुछ कृत्य जैसा नहीं है।

लेकिन अहंकार आदर्शों से पलता है। तुम चकित होओगे। अहंकार बहुत घबड़ाता है इस बात से जो मैं कह रहा हूं। क्योंकि अगर मेरी बात तुमने मानी तो अहंकार इसी क्षण मर जाएगा। फिर अहंकार को सजाने के लिए कोई उपाय न रहेगा। अहंकार सजता है आदर्शों से। न तो कभी आदर्श मिलते, लेकिन अहंकार की दौड़ हो जाती। दौड़ में अहंकार है। और आदर्श दौड़ की सुविधा देते हैं। किसी को धन कमाना है, तो अहंकार को सुविधा है। किसी को पद पर पहुंचना है, तो अहंकार को सुविधा है। किसी को मोक्ष पाना है, तो अहंकार को सुविधा है। किसी को त्यागी बनना है, तो अहंकार को सुविधा है। मैं कहता हूं: कुछ बनना नहीं, तुम हो! तो दौड़ खत्म। दौड़ गिरी, अहंकार गिरा।

अहंकार बड़ी सूक्ष्म प्रक्रिया है। अगर तुमने निरहंकारिता का आदर्श बना लिया तो भी अहंकार बना रहेगा। अहंकार कहता है, निरहंकार होना है। फिर चली यात्रा, फिर चल पड़े तुम। फिर मन का व्यापार शुरू हो गया।

तुम कोई आदर्श मत बनाओ। फिर देखो क्या घटता है! तुम इतना ही कह दो कि जो हूं हूं, ऐसा हूं! खोल कर रख दो अपनी किताब, ढांको मत। उदघोषणा कर दो कि बुरा हूं, पापी हूं, क्रोधी हूं, कामी हूं--ऐसा हूं। और अपने बनाए हूं ऐसा नहीं, क्योंकि मैंने कभी ऐसा बनना नहीं चाहा। ऐसा मैंने अपने को पाया है तो मैं कर क्या सकता हूं? देखूंगा जो है। बैठ कर देखेंगे इस खेल को, जो प्रभु ने दिखाना चाहा, जरूर कोई राज होगा।

और राज है। राज यही है कि इस लीला को तुम देखने वाले बन जाओ, तुम द्रष्टा बन जाओ।

आदर्श तुम्हें कर्ता बना देते हैं; कुछ करने का मौका हो जाता है।

मैं तुमसे आदर्श छीन रहा हूं। अष्टावक्र तुमसे आदर्श छीन रहे हैं, सिर्फ इसलिए ताकि कर्ता को कोई जगह न बचे। आदर्श गए तो करने के सब उपाय गए। फिर करोगे क्या? फिर तो होना ही बचा। शुद्ध होना!

आदर्श से सावधान रहना! आदर्श के कारण ही तुम्हारा जीवन रिक्त रह गया है। आदर्श के कारण ही आदर्श नहीं फल पाए, नहीं फूल पाए। अगर सच में ही तुम चाहते हो कि आदर्श तुम्हारे जीवन को भर दें तो आदर्शों को बिलकुल भूल जाओ और जीवन के साक्षी हो जाओ। जैसा है, है। जो है, है। इस तथाता में ठहरो। इसमें रत्ती भर हेर-फेर करने की आकांक्षा मत करो। तुम हो कौन? तुम हेर-फेर कर कैसे सकोगे?

जरा धार्मिक लोगों की विडंबना तो देखो! एक तरफ कहते हैं, उसके बिना हिलाए पत्ता नहीं हिलता, और ये महात्मा बन रहे हैं--उसके बिना हिलाए! इनसे थोड़ा पूछो कि जब उसके बिना हिलाए पत्ता नहीं हिलता तो यह पापी कैसे हिलेगा? जब वह हिलाएगा, हिलेंगे। जब तक नहीं हिलाता तो जरूर कोई राज होगा, स्वीकार करेंगे। अगर दुख दे रहा है तो जरूर मांजने के लिए दे रहा होगा। अगर कामना दी है तो जरूर जलने के लिए दी होगी। इसी आग से गुजर कर निखरेगा रूप। तो स्वीकार करेंगे।

पत्ता नहीं हिलता उसकी बिना आज्ञा के, और तुम सारे जीवन को बदल देने की चेष्टा कर रहे हो? तुम हो कौन? और तुम्हारे किए कब क्या हुआ है?

और फिर इस जाल को और भी थोड़ा गौर से देखो। तुम जो भी करोगे, तुम्हीं करोगे न? कामी कोशिश करेगा ब्रह्मचर्य लाने की, लेकिन कामी कोशिश करेगा न? कामी की कोशिश कामना की ही होगी। क्रोधी कोशिश करेगा करुणा की, क्रोधी करेगा न? तो क्रोधी की सारी चेष्टा में क्रोध होगा। करुणा भी क्रोध से विषाक्त हो जाएगी।

अहंकारी विनम्र बनने की चेष्टा करता है, पर अहंकारी करता है। तो तुम विनम्र आदमियों को देखो! उन जैसे सजे-सजाए अहंकारी तुम्हें कहीं भी न मिलेंगे। कोई आदमी आता है, तुमसे कहता है: आपके पैरों की धूल हूं मैं! वह यह नहीं कह रहा है कि मैं पैरों की धूल हूं। वह यह कह रहा है, मैं बड़ा विनम्र आदमी हूं। वह यह कह रहा है कि अब तुम मुझसे कहो कि नहीं-नहीं, आप और पैरों की धूल? आप तो सरताज हैं! वह यह सुनने को खड़ा है कि बोलो अब! वह यह कह रहा है कि छुओ मेरे चरण! देखो मैंने इतनी विनम्रता दिखाई कि कहा कि मैं तुम्हारे पैरों की धूल हूं!

और अगर तुमने मान लिया कि नहीं, आप बिलकुल ठीक कहते हैं, पहले तो मैं तो ऐसा मानता ही हूं सदा से कि आप बिलकुल पैरों की धूल हैं। तो वह आदमी तुम्हें जिंदगी भर माफ न कर सकेगा। हालांकि कहा उसी ने था। तुमने कुछ और कुछ जोड़ा न था। तुमने इतना ही कहा कि आप बिलकुल ठीक कह रहे हैं। सभी को पता है। एक-एक आदमी जानता है इस गांव में कि आप बिलकुल पैरों की धूल, पैरों की धूल से भी गए-बीते हैं।

फिर देखना उस आदमी की आंख में कैसी आग जलती है! तब तुम्हें पक्का पता चलेगा कि विनम्रता की ओट में भी अहंकार पलता है। लेकिन स्वाभाविक है। अहंकार ही विनम्र होने की कोशिश कर रहा है, अन्यथा होगा भी कैसे?

तो मैं तुम्हारे विपरीत किन्हीं आदर्शों को तुम्हारे ऊपर नहीं थोपना चाहता। क्योंकि तुम्हीं थोपोगे उन्हें, अड़चन खड़ी होगी। मैं तो चाहता हूं कि तुम जीवन, जैसा तुम्हारा है, जो तुम्हारे जीवन का यथार्थ है, उस यथार्थ को समझो। उसी यथार्थ की समझ में से खिलेंगे फूल, उठेंगे गीत। उसी यथार्थ के बोध में से तुम्हारे जीवन में क्रांति घटेगी। क्रांति घटती है--तुम्हारे घटाए नहीं घटती। तुम जाग कर देखने लगो जो है--और घटती है!

क्रांति प्रभु-प्रसाद है।

दूसरा प्रश्न: एक ही सपना बार-बार पुनरुक्त होता है, इसलिए पूछता हूं। सपना ऐसा है: मैं कार चला रहा हूं, पहाड़ी रास्ता है और यात्रा ऊपर की ओर है। अचानक कार पीछे की तरफ जाने लगती है--रिवर्स। और मैं रोकने की कोशिश करता हूं, लेकिन न मैं गियर संभाल पाता हूं और न ब्रेक और न स्टीयरिंग। असहाय होकर दुर्घटना के किनारे पहुंच जाता हूं और तभी चौंक कर जाग जाता हूं। कभी-कभी कार जब उतार पर होती है, तब भी मेरा सब नियंत्रण जाता रहता है। लेकिन एक बात सदा महसूस होती है कि यद्यपि मैं ड्राइवर हूं तो भी मेरा पैर एक्सीलरेटर पर नहीं है। गाड़ी अपने-आप चलती है। मैं रोकने की कोशिश करता हूं और नियंत्रण नहीं रख पाता हूं।

पूछा है "अजित सरस्वती" ने।

सपना महत्वपूर्ण है और सभी के काम का है। और अभी-अभी जो मैं पहले प्रश्न के उत्तर में कह रहा था, उससे जुड़ा हुआ है। उसी संदर्भ में समझने की कोशिश करना।

"मैं कार चला रहा हूं, पहाड़ी रास्ता है, यात्रा ऊपर की ओर है।"

सभी लोग जीवन को ऊपर की ओर खींच रहे हैं--पहाड़ी पर! आदर्श यानी पहाड़, ऊपर! सभी कोशिश कर रहे हैं: गंगोत्री में पहुंच जाएं गंगा में तैर कर। गंगा के साथ जाने को कोई तैयार नहीं, विपरीत जा रहे हैं। धार के विपरीत बह रहे हैं।

अहंकर को मजा ही धार के विपरीत बहने में है। धार के साथ बहने में क्या मजा! धार के साथ बहने में तो तुम बचते ही नहीं, धार ही बचती है। तुम्हारा क्या है? छोड़ दिए हाथ-पैर, चल पड़े, तो गंगा तुम्हें ले जाएगी सागर तक, गिरा देगी वहां बंगाल की खाड़ी में। लेकिन तुम्हारा क्या? तुम इतना भी तो न कह पाओगे कि मैंने इतनी यात्रा की। लोग हंसेंगे। वे कहेंगे, "तुमने यात्रा की? यह तो गंगा की यात्रा है। तुम तो बचे कहां? तुम तो उसी दिन मिट गए जिस दिन तुमने धार में अपने को छोड़ा। तुम तो बच सकते थे एक ही तरकीब से कि लड़ते धार से, जाते ऊपर की तरफ। उलटे बहते। विपरीत करते कुछ।

तो देखना तुम, तुम्हारा त्यागी, तुम्हारा महात्मा महत रूप से अहंकारी हो जाता है। वह धारे के विपरीत बह रहा है। वह तुमसे कहता है: "तुम क्या हो, क्षुद्र मनुष्य! पापी! कामवासना में पड़े हो। देखो मुझे, ब्रह्मचर्य साध रहा हूं! तुम हो क्या? जमीन के कीड़े, लोभ में पड़े हो, क्रोध में पड़े हो! क्षुद्र क्षणभंगुर में पड़े हो! मुझे देखो, विराट की तलाश कर रहा हूं!"

तुम जरा अपने महात्माओं को जा कर गौर से तो देखना। उनकी आंख में ही तुम्हारी निंदा है। उनके व्यवहार में तुम्हारी निंदा है। उनके उठने-बैठने में तुम्हारी निंदा है। वे धारे के विपरीत जा रहे हैं। उन्होंने अहंकार छोड़ने की कोशिश की है, वासना छोड़ी, क्रोध छोड़ा, धन छोड़ा, परिवार छोड़ा, सब छोड़ा। तुम क्या कर रहे हो? तुम साधारण भोगी! तुम गंगा में बह रहे हो। तुम्हें भी लगता है कि बात तो ठीक है, हम कर क्या

रहे हैं? इसलिए तुम भी महात्माओं के चरण छूते हो। महात्माओं के चरण छूने में तुम इतना ही कहते हो कि करना तो हमको भी यही है; कर नहीं पा रहे, मजबूरियां हैं, हजार झंझटें हैं, घर-द्वार, बाल-बच्चे, पाल ली उलझन! कर नहीं पा रहे, लेकिन आपको देख कर प्रसन्नता होती है कि चलो कोई तो कर रहा है।

तुम कोई आदमी शीर्षासन लगाए खड़ा हो तो रुक कर देखने लगते हो। पैर के बल खड़े आदमी को कौन देखता है! वह कुछ उलटा कर रहा है। कांटों पर कोई आदमी सोया हो तो लोग फूल चढ़ाने लगते हैं। लेकिन तुम अच्छी शैया लगा कर और लेट जाओ, कोई फूल न चढ़ाएगा। उलटे लोग पत्थर मारने लगेंगे कि "यह क्या लगा है? बीच में, बाजार में उपद्रव किया हुआ है! बिस्तर अपने घर में लगाओ!" लेकिन कांटों की शैया पर कोई सो जाए तो लोग फूल चढ़ाते हैं। अच्छे बिस्तर पर, शानदार बिस्तर को लगा कर कोई लेट जाए तो लोग पत्थर मारते हैं।

क्या, मामला क्या है? आदमी उलटे में रस लेता मालूम होता है, क्योंकि उलटे में पता चलता है कि कोई कुछ कर रहा है।

"मैं कार चला रहा हूं, पहाड़ी रास्ता है और यात्रा ऊपर की ओर है।"

सभी यही कर रहे हैं, यही सबका सपना है, और यही सबकी जिंदगी है। और तुम्हारी जिंदगी इस सपने से भिन्न नहीं है।

"अचानक कार पीछे की तरफ जाने लगती है--रिवर्स। और मैं रोकने की कोशिश करता हूं।"

ऐसे मौके जीवन में बहुत बार आएंगे कि तुम तो ले जाना चाहते हो पहाड़ की चोटी पर, लेकिन जीवन की घटनाएं तुम्हें पीछे की तरफ ले जाने लगती हैं। तब घबड़ाहट पैदा होती है। तुम तो जाना चाहते हो गंगोत्री की तरफ और गंगा जा रही है सागर की तरफ, वह तुम्हें सागर की तरफ ले जाने लगती है। कई दफा तुम थक जाते। कई दफा तुम हार जाते। स्वाभाविक के विपरीत कब तक लड़ोगे? अगर कार को ऊपर ले जाना हो तो पेट्रोल चाहिए। नीचे लाना हो तो पेट्रोल की कोई जरूरत नहीं है, तो पेट्रोल बंद कर दो, कार अपने से चली आएगी, क्योंकि नीचे आना स्वाभाविक है; ग्रेवीटेशन, जमीन की कशिश खींच लेती है। ऊपर जाना अस्वाभाविक है, इसलिए बड़ी शक्ति की जरूरत पड़ती है।

तो हजार मौके आएंगे जीवन में, जब तुम अचानक पाओगे कार पीछे की तरफ सरकने लगी। और जब भी ऐसे मौके आएंगे, तुम रोकने की कोशिश करोगे; क्योंकि यह तो तुम्हारे अहंकार के बिलकुल विपरीत हो रहा है। यह तो तुम्हारे संकल्प के विपरीत हो रहा है। यह तो तुम्हारी हार हुई जाती, यह तो तुम पराजित होने लगे, यह तो विफलता आ गई।

"और मैं रोकने की कोशिश करता हूं, लेकिन न मैं गियर सम्हाल पाता हूं, न ब्रेक और न स्टीयरिंग।"

यह मेरे पास रहने का परिणाम है अजित सरस्वती! अब यह संभलेगा नहीं। अब न तो तुम गियर सम्हाल पाओगे, न ब्रेक सम्हाल पाओगे, न स्टीयरिंग। क्योंकि मेरा सारा प्रयोजन तुम्हें समझाने का इतना ही है कि जीवन के साथ एकरस हो जाओ। जहां जीवन ले जाए वहीं चलो, वहीं मंजिल है।

तो अब तुम सपने में भी न रोक पाओगे, यह शुभ है। रोक लेते तो दुर्घटना थी। यह शुभ है कि अब सपने में भी तुम रोक नहीं पाते। तुम्हारा नियंत्रण खो रहा है। तुम्हारा नियंत्रण खो रहा है, अर्थात तुम्हारा अहंकार खो रहा है, क्योंकि अहंकार नियंता है। जैसे ही तुमने अहंकार छोड़ा, परमात्मा नियंता है, फिर तुम नियंता नहीं हो। जब तक तुम्हारा अहंकार है, तुम नियंता हो; तब तक परमात्मा इत्यादि की तुम कितनी ही बातें करो, लेकिन परमात्मा से तुम्हारा कोई संबंध नहीं बन सकता। तुम हो, तो परमात्मा नहीं है।

अच्छा हो रहा है कि अब न गियर सम्हलता, न ब्रेक लगता, न स्टीयरिंग पर पकड़ रह गई है।

"असहाय हो कर दुर्घटना के किनारे पहुंच जाता हूं।"

वह दुर्घटना जैसी लगती है, क्योंकि तुम ऊपर जाना चाहते थे। खयाल रखना, कौन-सी बात दुर्घटना है? घटना पर निर्भर नहीं होता, तुम्हारी व्याख्या पर निर्भर होता है। तुम जो करना चाहते थे उसके विपरीत हो जाए तो दुर्घटना है। तुम जो करना चाहते थे उसके अनुकूल हो जाए तो सौभाग्य, फिर दुर्घटना नहीं है। तुम्हारे ऊपर निर्भर है। तो वह जो अहंकार की छोटी-सी बची हुई कहीं छिपी कोने में पड़ी हुई आशा है, वह तत्क्षण कहती है, यह तो दुर्घटना हुई जा रही है! नियंत्रण खोए दे रहे हो! यह तो कार तुम्हारी तुम्हारे हाथ के बाहर हुई जा रही है।

"असहाय हो कर दुर्घटना के किनारे पहुंच जाता हूं।"

तुम नहीं चाहते और पहुंच जाते हो, इसलिए असहाय अवस्था मालूम होती है। अगर तुम चाहने लगो तो जिसे तुम असहाय कह रहे हो, वह असहाय न रह जाएगी। उसी अवस्था में तुम पाओगे, जहां तुमने अपना सब आधार छोड़ा, वहीं, जहां तुम निराधार हुए, वहीं परमात्मा का आधार मिला। तब तुम अचानक पाओगे, पहली दफा आसरा मिला। अब तक असहाय थे, क्योंकि अपने सिवाय अपना कोई सहारा नहीं था। वह भी कोई सहारा था? तिनकों को पकड़े थे और सागर में तैरने की सोचते थे। कागज की नाव में बैठे थे। अब पहली दफा तुम पाओगे कि बेसहारा हो कर सहारा मिला। हारे को हरिनाम!

जैसे ही आदमी पूर्ण रूप से हार जाता है, हरिनाम का उदघोष होता है। निर्बल के बल राम! जब तुम बिलकुल निर्बल सिद्ध हो जाते हो, सब तरह से असहाय, उसी क्षण तुम्हें प्रभु का सहारा मिलना शुरू हो जाता है। तुम्हारे कारण ही बाधा पड़ रही थी, अब कोई बाधा न रही।

"असहाय हो कर दुर्घटना के किनारे पहुंच जाता हूं और तभी चौंक कर जाग जाता हूं।"

वहीं जागने की घटना घटेगी जहां अहंकार बिलकुल असहाय हो कर गिर जाता है। यह सपना सुंदर है। यह सपना बड़ा सार्थक है। इसका एक-एक प्रतीक मूल्यवान है। इसलिए यह बार-बार दोहर रहा होगा। क्योंकि यह सपना ही नहीं है, यह अजित की जिंदगी में भी घट रही बात है। सपना तो उसका प्रतिफलन है। सपना तो केवल छाया है अचेतन में--उस घटना की जो उनके जीवन में चारों तरफ घट रही है।

"और तभी चौंक कर जाग जाता हूं।"

अगर जागना हो तो बेसहारा हो जाओ, असहाय हो जाओ। जब तक तुम्हें अकड़ रहेगी कि मैं कुछ कर लूंगा, तब तक तुम सोए रहोगे। जब तक तुम्हें अकड़ रहेगी कि मैं कर्ता हूं, तब तक तुम सोए रहोगे। जैसे ही तुम्हारी अकड़ टूटने लगेगी, न गियर सम्हलेगा, न ब्रेक, न स्टीयरिंग, अचानक गाड़ी चलने लगेगी तुम्हारे नियंत्रण के बाहर, उसी क्षण तुम जाग जाओगे।

अहंकार मूर्च्छा है, निद्रा है। निरहंकार होना जाग जाना है, अमूर्च्छा है।

"कभी-कभी कार जब उतार पर होती है, तब भी मेरा सब नियंत्रण जाता रहता है।"

उतार से ही हम डरते हैं। उतार शब्द से ही घबड़ाहट है। चढ़ाव तो अहंकार को रस देता है; उतार, तो बेचैनी शुरू हो जाती है।

इसलिए तो जवानी में रस होता है, बुढ़ापे में बेचैनी शुरू हो जाती है। कोई बूढ़ा नहीं होना चाहता। होना पड़ता है, यह दूसरी बात है। कोई होना नहीं चाहता। और लोग बूढ़े भी हो जाते हैं, तब तक दावा भी करते रहते हैं कि वे जवान हैं। और लोग बड़े प्रसन्न होते हैं उनकी बात को सुन कर।

पंडित जवाहरलाल नेहरू बुढ़ापे तक कहते रहे हैं कि मैं जवान हूं! और सारा मुल्क प्रसन्न होता था कि बिलकुल ठीक बात है।

यह क्या बात हुई? चढ़ाव पर ही रहने में रस है, उतार को स्वीकार करने की भी हिम्मत नहीं? लेकिन मुल्क को बड?ा अच्छा लगता था कि मुल्क का प्रधानमंत्री कहता है कि मैं जवान हूं बुढ़ापे में, कि मैं साठ साल का जवान हूं, कि मैं पैंसठ साल का जवान हूं! हम बड़े प्रसन्न होते थे। वह प्रसन्नता हमारे भीतर की आकांक्षा को

बताती है। हममें से भी कोई बूढ़ा नहीं होना चाहता है। हम सब जवान रहना चाहते हैं। हम सब चढ़ाव पर रहना चाहते हैं, सदा चढ़ाव पर रहना चाहते हैं।

मगर सोचो भी तो, चढ़ाव बिना उतार के हो कैसे सकते हैं? चढ़ते ही रहोगे और उतार न होगा तो पागल हो जाओगे। हर पहाड़ के पास खाई होगी, खड्ड होगा। हर बड़ी लहर के पीछे गड्ढा होगा। जवानी के साथ बुढ़ापा जुड़ा है। और अगर जवान ही कोई रह जाए, अटक जाए तो सड़ांध पैदा होगी, बहाव मिट जाएगा। बूढ़ा होना बिलकुल स्वाभाविक है। जैसे जवानी को स्वीकार किया, वैसे बुढ़ापे को स्वीकार करना। जो अटक गया जवानी में, उसका प्रवाह रुक गया।

बुढ़ापे से हम सभी घबड़ाते हैं। जब आदमी देखता है पहले बाल सफेद होने लगे, तो बड़ा घबड़ा जाता है। जब पहली दफा देखता है पैर कंपता है चलने में, हाथ थर्राता है--बड़ा घबड़ा जाता है! उतार आ गया! और हम तो सोचते थे, सदा जवान रहेंगे। और हम तो सोचते थे, सदा जीएंगे। यह तो उतार आ गया! अब मौत भी ज्यादा दूर न होगी। यह तो मौत का संदेशवाहक आ गया।

बुढ़ापे को हम इंकार करते हैं, क्योंकि हम मौत को इंकार करना चाहते हैं। बुढ़ापा तो सीढ़ी है मौत की तरफ। लेकिन ध्यान रखना, जो बुढ़ापे को इंकार करता है, मृत्यु को इंकार करता है, वह जीवन को भी स्वीकार नहीं कर पाता। क्योंकि जीवन में ही तो ये घटनाएं घटती हैं--बुढ़ापा और मृत्यु। ये जीवन के ही तो अंतिम चरण हैं। यह जीवन का ही तो आखिरी चरण, आखिरी अभिव्यक्ति है। यह आखिरी स्थिति है। यह जीवन का ही तो अंतिम उदघोष है--मृत्यु। यह जीवन का तार जो अंतिम स्वर बजाता है, वह मृत्यु का है। तो फिर जीवन को भी तुम प्रेम नहीं कर पाते।

"नीचे आते कार को देखता हूं, तब भी नियंत्रण जाता रहता है।"

असल में जब भी कोई चीज नीचे आती है, तभी तुम्हें पता चलता है कि अपने नियंत्रण में सब कुछ नहीं है। जब तक चीजें ठीक चलती हैं, पत्नी झगड़ती नहीं, बच्चे ठीक से स्कूल में पढ़ते हैं, धंधा, दुकान कमाई में चलती है--तब तक सब ठीक है। तब तक तुम्हें पता नहीं चलता कि तुम असहाय हो। फिर अचानक देखा कि दुकान टूटी, दिवाला निकल गया। जब तक दीवाली, तब तक ठीक; जब दिवाला, तब घबड़ाए कि यह अपने बस के बाहर हुई जा रही है बात। मैं तो सोचता था, सब अपने बस में है; और दीवाली ही दीवाली रहेगी।

यह "दिवाला" शब्द बड़ा बढ़िया है। अब दीवाली बिना दिवाले के हो कैसे सकती है? दीवाली तो स्त्री है, दिवाला तो पति है। यह तो पूरा जोड़ा ही है। तुम सोचते थे, सिर्फ दीवाली से गुजार लें; मगर जब पत्नी आ गई तो पति भी आ रहा है पीछे से। देर-अबेर आ ही जाएगा।

पत्नी ठीक है, कोई झगड़ा-झांसा नहीं, सब ठीक चल रहा है--तो तुम सोचते हो बिलकुल तरंग उठ रही है, जीवन बड़ी प्रसन्नता से भरा है, अहंकार मजबूत है। जरा-सा पत्नी कलह कर देती है, जरा-सा उपद्रव खड़ा हो जाता है कि बस क्षण भर में तुम्हारा सब संगीत खो जाता है, सब लय विच्छिन्न हो जाती है। तत्क्षण तुम्हें पता चलता है: अरे, यह नाव डूबने वाली है!

तुमने कभी खयाल किया, जरा-सा झगड़ा हो जाए पत्नी से, तुम सोच लेते हो: कहां पड़ गए इसकी झंझट में, क्यों विवाह किया, यह मर ही जाए तो बेहतर, या कहीं छूट निकलें तो अच्छा! अभी क्षण भर पहले सब ठीक चल रहा था, तब अहंकार तरंगें ले रहा था।

अहंकार बड़ा घबड़ाता है पराजय से, उतार से। लेकिन उतार ही मनुष्य को परमात्मा की तरफ लाती है। दीवाला ही परमात्मा की तरफ लाता है। अगर तुम जीतते ही चले जाओ तो तुम कभी धार्मिक बनोगे ही नहीं। तुम्हारी जीत में वस्तुतः तुम्हारी नियति की हार है। और जब तुम हारते हो तब पहली दफे तुम्हें अपनी असली स्थिति का पता चलता है: हम इस विराट में एक छोटी-सी तरंग हैं, एक बूंद हैं सागर में। हमारी जीत क्या, हमारी हार क्या! जीत है तो उसकी, हार है तो उसकी।

"लेकिन एक बात सदा महसूस होती है कि यद्यपि मैं ड्राइवर होता हूं तो भी मेरा पैर ऐक्सीलरेटर पर कभी नहीं होता।"

यह बात ठीक है। है भी नहीं किसी का पैर ऐक्सीलरेटर पर। ऐक्सीलरेटर पर पैर तो परमात्मा का है।

तुम्हारी हालत तो वैसी है जैसे कोई छोटा बच्चा बाप से कहता है, कार में बैठा कर मुझे चलाने दो। और बाप ऐक्सीलरेटर पर पैर रखता है, ब्रेक पर पैर रखता है, स्टीयरिंग भी पकड़े रहता है और लड़के को संभलवा देता है स्टीयरिंग और लड़का बड़ा अकड़ से, बड़ा मजे से...हालांकि वह जो घुमा रहा है वह भी बाप ही घुमा रहा है...और बड़ा प्रसन्न होता है कि गाड़ी चला रहा है! उस वक्त उसका चेहरा देखो, उसकी प्रफुल्लता देखो! वह चारों तरफ देखता है कि लोग देख लें कि गाड़ी कौन चला रहा है।

यह जीवन की जो गाड़ी है, इस पर ऐक्सीलरेटर पर पैर तुम्हारा नहीं है, कभी नहीं है; न स्टीयरिंग तुम्हारे हाथ में है। तुम छोटे बच्चे की भांति हो, जो भ्रांति में पड़ गया है। गाड़ी अपने आप चलती है, गाड़ी अपने आप ही चल रही है। तुम्हारे चलाने की जरा भी जरूरत नहीं। तुम नाहक परेशान हो रहे हो, पसीने-पसीने हुए जा रहे हो। यह बच्चा नाहक परेशान हो रहा है। यह सोच रहा है, गाड़ी यह चला रहा है, अगर न चलाए तो मुश्किल हो जाएगी। बड़ा हॉर्न बजा रहा है। यह सोच रहा है इसके बिना तो सब अस्तव्यस्त हो जाएगा यह सारा, अभी दुर्घटना हो जाएगी, कहीं कोई टक्कर हो जाएगी। यह पसीने-पसीने हुए जा रहा है। इसे पता नहीं कि तेरे न हॉर्न बजाने से कुछ होना है, न तू गाड़ी को संभाल रहा है। गाड़ी कोई और संभाले हुए है। किन्हीं विराट हाथों में सब है। हम सिर्फ साक्षी हो जाएं। कर्ता हम नहीं हैं। हम सिर्फ साक्षी हो जाएं, तो बड़ी हंसी आएगी। जीवन की इस विडंबना पर बड़ी हंसी आएगी कि खूब मजाक रही।

"गाड़ी अपने-आप चलती है। मैं रोकने की कोशिश करता हूं और नियंत्रण नहीं रख पाता हूं।"

नियंत्रण छोड़ देना ही मेरी देशना है। मैं तुमसे कहता हूं: छोड़ो सब नियंत्रण! तुम्हारे हाथ बड़े छोटे हैं, इनसे नियंत्रण हो भी न सकेगा। तुम छोड़ो प्रभु पर। करने दो उसे नियंत्रण। तुम नहीं थे, तब भी यह जगत चल रहा था। फूल खिलते थे, चांद निकलते थे, वर्षा आती, धूप आती! तुम नहीं थे, तब भी सब चल रहा था। चांदत्तारे घूमते, सूरज निकलता! तुम नहीं रहोगे, तब भी सब चलता रहेगा। इतना विराट चल रहा है। तुम नाहक इसमें परेशान हो रहे हो।

मैंने सुना है, एक छिपकली राजा के महल में रहती थी। स्वभावतः राजा के महल में रहती थी तो वह अपने को सम्राट से कम नहीं मानती थी। कोई साधारण छिपकली न थी। गांव की और छिपकलियों में उसका बड़ा समादर था। उसको बड़े निमंत्रण भी मिलते थे कि आज इस जगह उदघाटन कर दो, कि नई छिपकली ने घर बसाया, कि किसी छिपकली का विवाह हो रहा है, कि किसी छिपकली को बच्चा पैदा हुआ; लेकिन वह कभी जाती नहीं, वह मुस्कुरा कर टाल देती। वह कहती, किसी और को ले जाओ, क्योंकि मैं अगर चली गई तो इस महल के छप्पर को कौन सम्हालेगा? यह महल गिर जाएगा।

छिपकली सोचती है सम्हाले है छप्पर को! कोई सम्हाले नहीं। हमारे सम्हाले कुछ सम्हला नहीं। लेकिन हमारे अहंकार के कारण हम यह बात मानने को राजी नहीं हो पाते कि हमारे बिना भी महल रह जाएगा। असंभव!

वर्नर इरहार्ड एक छोटी-सी कहानी कहते हैं, कि अमरीका के पहाड़ों में बसे एक कबीले में एक गुरु था। वह रोज सांझ को--उसके पास एक जादुई कंबल था--वह जोर से कंबल को उठा कर घुमाता और तत्क्षण आकाश में तारे निकलने शुरू हो जाते। ऐसा सदियों से होता रहा था। और वह कबीला मानता था कि गुरु के कंबल में कुछ जादू है। क्योंकि जब भी गुरु घुमाता है कंबल को, फिर तुम जाओ बाहर और देखना शुरू करो, शीघ्र ही आकाश में तारे दिखाई पड़ने लगते हैं। उस गुरु से लोग बहुत डरते थे, क्योंकि खतरनाक मामला है, किसी दिन कंबल न घुमाए, फेंक दे कंबल, कह दे कि नहीं निकालते तारे--तो क्या होगा?

फिर ऐसा हुआ कि कोई दूसरे कबीले का चोर, गुरु का कंबल एक दफे चुरा कर ले गया। अब गुरु बड़ी मुश्किल में पड़े। सबसे बड़ी मुश्किल यह थी...ऐसे तो गुरु को भी यही भरोसा था, उनके कंबल घुमाने से तारे निकलते हैं...सारा कबीला उदास है कि अब क्या करें? आज क्या होगा? सब अस्तव्यस्त हो गया। लेकिन कुछ अस्तव्यस्त न हुआ। तारे निकल आए ठीक समय पर। कहते हैं गुरु ने आत्महत्या कर ली। फिर कोई रहने का कोई उपाय नहीं रहा। लोग हंसने लगे। उन्होंने कहा, हम भी बड़ी नासमझी में पड़े थे। तारे निकलते ही थे। कंबल से तारों के निकलने का कोई संबंध न था। यह तो कंबल ठीक वक्त पर घुमाते थे। सूरज ढल गया, ठीक समय तय था, तब यह कंबल घुमा देते थे। कंबल के घुमाने और तारों के निकलने में कोई कार्य-कारण का संबंध न था।। कंबल घुमाओ न घुमाओ, तारे निकलते ही हैं।

तुम करो न करो, जो होता है होता है। तुम्हारे किए कुछ भी नहीं है। जिस दिन यह बात तुम्हें समझ में आ जाएगी, जिस दिन तुम्हारा कंबल चोरी चला जाएगा...और वही हुआ, अजित सरस्वती का कंबल चोरी जा रहा है, खींच रहा हूं धीरे-धीरे, काफी तो निकल गया है, थोड़ा-सा पकड़े रह गए हैं वे हाथ में, वह भी जिस दिन छूट जाएगा, उसी दिन यह सपना बंद हो जाएगा। उस दिन तुम अचानक पाओगे: हम व्यर्थ ही परेशान हो रहे थे; जीवन चल ही रहा है, सुंदरतम ढंग से चल रहा है। इससे और ज्यादा गौरवशाली ढंग हो नहीं सकता। बड़ी गरिमा और प्रसाद से चल रहा है। हम व्यर्थ ही इसमें शोरगुल मचा रहे थे। हम व्यर्थ ही चिल्ला रहे थे, चीख रहे थे।

हम चीखते-चिल्लाते हैं, क्योंकि हमारा अहंकार यह मानने को राजी नहीं हो पाता कि हमारे बिना भी दुनिया चलती रहेगी। हमारे बिना, और दुनिया चलती रहेगी? असंभव! हम गए कि महल का छप्पर गिरा।

नहीं, महल का छप्पर तुमसे सम्हला नहीं है। न तुम्हारे कंबल के घुमाने से जीवन चल रहा है। इस भ्रांति को छोड़ देने का नाम ही धर्म है। तुम ईश्वर को मानो या न मानो, धार्मिक होने से ईश्वर को मानने न मानने का कुछ प्रयोजन नहीं। तुम इसकी भ्रांति छोड़ दो कि मेरे चलाए सब चल रहा है--तुम धार्मिक हो गए; तुमने जान ही लिया प्रभु को; परमात्मा अवतरित हो ही गया; तुम उसके आमने- सामने खड़े हो गए। फिर साक्षात में क्षण भर देर नहीं होती।

तीसरा प्रश्न: मैंने देश के अनेक आश्रमों में देखा है कि वहां के अंतेवासियों के लिए कुछ न कुछ अनिवार्य साधना निश्चित है, जिसका अभ्यास उन्हें नियमित करना पड़ता है। परंतु आश्चर्य है कि यहां ऐसा कोई साधन, अनुशासन नहीं दिखता। कृपया इस विशिष्टता पर कुछ प्रकाश डालने की अनुकंपा करें!

मैं यहां मौजूद हूं, मैं तुम्हारा अनुशासन हूं। जब मैं न रहूं, तब तुम्हें नियम, व्यवस्था, अनुशासन की जरूरत पड़ेगी। शास्ता हो, तो शासन की कोई जरूरत नहीं। जब शास्ता न हो तो शासन परिपूरक है। मुर्दा आश्रमों में तुमने जरूर यह देखा होगा।

यह एक जिंदा आश्रम है। अभी यह जिंदा है। मरेगा कभी--और तब तुम निश्चित मानो: नियम भी होंगे, अनुशासन भी होगा। मेरे जाते ही नियम होंगे, अनुशासन होंगे; क्योंकि तुम बिना नियम- अनुशासन के रह नहीं सकते--तुम ऐसे गुलाम हो! मैं भी लाख उपाय करता हूं तब भी तुम बार-बार पूछने लगते हो: कुछ नियम, कुछ अनुशासन! मेरी सारी चेष्टा तुम्हें समझाने की यह है कि तुम्हारे हाथ में कुछ भी नहीं है। क्या अनुशासन? क्या नियम?

तुम पांच बजे सुबह उठ आओगे तो ज्ञान को उपलब्ध हो जाओगे? किस मूढ़ता में पड़े हो? पांच बजे उठो कि चार बजे उठो कि तीन बजे उठो, तुम मूढ़ के मूढ़ ही रहोगे। मूढ़ पांच बजे उठे कि तीन बजे, कोई फर्क नहीं

पड़ता। घड़ी से तुम्हारे आत्मज्ञान का कोई संबंध नहीं है। मगर मूढ़ों को रस मिलता है। उनको कम से कम कुछ सहारा मिल जाता है। मैं उनको कोई सहारा नहीं देता। उनको अगर मैं कह दूं ब्रह्ममुहूर्त में उठो तो ब्रह्मज्ञान होगा...। हालांकि उन्हें तकलीफ होगी उठने में पांच बजे, अड़चन पाएंगे, लेकिन अड़चन में मजा आएगा; क्योंकि अड़चन में लगेगा कार ऊपर की तरफ चढ़ रही है। उनको मैं कह दूं, रोज सुबह शीर्षासन लगा कर खड़े हो जाओ...। बुद्धू मालूम पड़ेंगे शीर्षासन करते हुए। कौन आदमी सुंदर मालूम पड़ता है सिर के बल खड़ा! लेकिन तकलीफ भी होगी, गर्दन भी दुखेगी; लेकिन फिर भी उनको रस आएगा। वे कहेंगे, चलो कुछ कर तो रहे, मोक्ष की तरफ बढ़ तो रहे!

मैं तुमसे कह रहा हूं, तुम मुक्त हो। हां, तुम्हें अगर आनंद आता हो पांच बजे उठने में, बराबर उठो; लेकिन पांच बजे उठने से मोक्ष मिलेगा, इस भ्रांति में मत पड़ना। तुम्हें अगर सिर के बल खड़े होने से रस मिलता हो, बराबर खड़े हो जाओ, मैं तुम्हें रोकता नहीं। लेकिन मैं तुमसे यह नहीं कह सकता हूं कि सिर के बल तुम खड़े हो गए तो संबोधि की घटना घट जाएगी। तुम सस्ती तरकीबें चाहते हो, मैं तुम्हें कोई तरकीब नहीं देता।

मेरे रहते इस आश्रम में कोई नियम, अनुशासन होने वाला नहीं है। मेरे रहते यह आश्रम अराजक रहेगा, क्योंकि अराजकता जीवन का लक्षण है। मैं तुम्हें परिपूर्ण स्वतंत्रता देता हूं कि तुम जो भी होना चाहो और जैसे भी होना चाहो, जागरूकता-पूर्वक वही होने में रस लो।

पूछा है "स्वामी योग चिन्मय" ने। बार-बार, चिन्मय घूम-फिर कर यही पूछते हैं। जिन मुर्दा आश्रमों में उनको जाने का दुर्भाग्य से अवसर मिला, उनसे पीछा नहीं छूटता। क्योंकि कहीं कोई एक दफे भोजन करते हैं, कहीं कोई तीन बजे रात उठते हैं, कहीं कोई सिर के बल खड़े होते हैं, नौली-धोती करते हैं, कहीं कोई योगासन साधते हैं, कहीं क्रियायोग, कहीं कुछ, कहीं कुछ। और सब एक जबर्दस्त अनुशासन की तरह, कि न किया तो पाप, अपराध; किया तो पुण्य! ये मूढ़ता के लक्षण हैं।

मैं तुम्हें स्वतंत्रता देता हूं। मैं तुम्हें अपराधी नहीं सिद्ध करना चाहता किसी भी कारण से। क्योंकि नियम दूंगा तो उसके पीछे अपराध का भाव आता है। किसी दिन पांच बजे सुबह तुम न उठ पाए तो पीछे से अपराध का भाव आता है कि आज आज्ञा का उल्लंघन हो गया; तुम्हें मैंने अपराधी कर दिया। पांच बजे उठने से तो कुछ मिलने वाला था नहीं। इतनी सस्ती बात नहीं है। स्वास्थ्यपूर्ण है पांच बजे उठो, लेकिन मोक्ष से कुछ लेना-देना नहीं है। ताजी हवा होती है, सुंदर सुबह होती है, एस्थेटिक है। सौंदर्य का जिन्हें बोध है, वे सुबह पांच बजे उठेंगे; लेकिन धर्म से इसका कुछ लेना-देना नहीं। जिन्हें थोड़ा काव्य का रस है वे चूकेंगे नहीं, क्योंकि सुबह पांच बजे जैसी दुनिया होती है, जैसी सुंदर, आदमी से अछूती! अभी सब बुद्धू और बुद्धिमान, सब सो रहे हैं, अभी दुनिया अछूती है; जैसी भगवान ने बनाई होगी, कुछ-कुछ वैसी है! तो पांच बजे जिनको थोड़ा भी जीवन में रस है, वे जरूर उठेंगे।

मेरी बात को तुम समझ लेना। मैं यह नहीं कह रहा हूं, तुम पांच बजे मत उठो। मैं तो कह रहा हूं: जिनमें थोड़ी भी समझ है वे जरूर उठेंगे। लेकिन यह अनुशासन नहीं है। उठे, तो तुम्हारी मौज। उठे, तो तुमने लाभ लिया, फल मिल गया। तुम्हें मैं कोई प्रमाण-पत्र न दूंगा कि तुम महाज्ञानी हो, क्योंकि पांच बजे उठते हो; क्योंकि तुम उठे तो तुमने लाभ ले लिया, अब और कुछ प्रशंसा की जरूरत नहीं है। अगर न उठे तो तुम चूक गए। एक सुंदर सुबह थी मौजूद, तुम्हारे द्वार खटखटाई थी, तुम पड़े सोए रहे, घुर्राते रहे। बाहर संगीत फैल रहा था, सुबह का सूरज ऊगा था, तुम आंखें बंद किए अपनी तंद्रा में पड़े रहे, तुम चूक गए! दंड तुम्हें काफी मिल गया। अब और मैं तुम्हें इसके ऊपर से अपराधी सिद्ध करूं कि तुमने आज्ञा का उल्लंघन किया--यह तो गलत हो जाएगा।

मुल्ला नसरुद्दीन एक दिन जा रहा था अपनी कार से। तेज चला रहा था। पुलिस वाले ने रोका। पुलिस वाले के रोकते ही...पीछे पत्नी बैठी थी मुल्ला की गाड़ी में। वह एकदम मुल्ला पर नाराज होने लगी कि हजार

दफे कहा कि तुम आंख के अंधे हो? तुम्हें दिखाई नहीं पड़ता? कि इतनी तेजी से कार मत चलाओ? तुम्हें मीटर नहीं दिखाई पड़ता? और तुम्हें मैं पूरे वक्त चिल्लाती रहती हूं कि बाएं घूमो, दाएं घूमो, फिर भी तुम चले जा रहे हो। न तुम्हें लाइट दिखाई पड़ती है कि अब यह गाड़ी जाने की है कि नहीं है। तुम होश में हो?

वह पुलिस वाला यह सब सुनता रहा। आखिर उसने मुल्ला से कहा कि अब आप जाइए, आपको सजा पहले ही काफी मिल चुकी, अब और क्या सजा? यह पत्नी काफी है।

जो आदमी सुबह नहीं उठा, उसे सजा काफी मिल चुकी। अब और क्या उस बेचारे को, गरीब को और दंड दे रहे हैं कि पापी है, कि अपराधी है, कि आज्ञा का उल्लंघन हो गया!

नहीं, मैं तुम्हें कोई अनुशासन नहीं देता। मैं तो तुम्हें सिर्फ केवल एक बोध-मात्र देता हूं कि तुम जो भी करो जाग कर करो।

अब रह गई बात...पूछा है, अनिवार्य साधना? कुछ अनिवार्य नहीं है यहां। क्योंकि जो भी अनिवार्य हो, वह बंधन बन जाता है। जो करना ही पड़े, वह बंधन बन जाता है। इसी तरह तो हमने बहुत सुंदर चीजें खराब कर दीं। जो करना ही पड़े, उसका रस ही खो जाता है। तुम गए, और मां है, तो उसके पैर छूना ही चाहिए, वह अनिवार्य है, तो मां के पैर छूते हो--मजा खो गया, अनिवार्य हो गया! उससे मौज चली गई, उसमें से मुक्ति चली गई। अब तुम छूते हो, क्योंकि मां है और सदा छूना चाहिए, इसलिए छूते हो--एक नियम, औपचारिकता।

मुल्ला एक दिन अपने घर आया। और उसने देखा उसका मित्र उसकी पत्नी को चूम रहा है। तो वह बड़ा हैरान हो गया, सकते में खड़ा हो गया। मित्र भी घबड़ा गया, पत्नी भी घबड़ा गई और वह कुछ बोले ही नहीं। मित्र ने पूछा, कुछ बोलो तो! उसने कहा, बोलें क्या! मुझे तो करना पड़ता है यह, लेकिन तुम क्यों कर रहे हो? मुझे तुम्हारी बुद्धि पर तरस आता है। खैर, मेरी वह पत्नी है तो मुझे वह करना पड़ता है। इसमें कोई...मगर तुम्हें क्या हुआ?

जो करना पड़ता है, उसमें से सब रस चला जाता है--वह चाहे पत्नी का चुंबन ही क्यों न हो। दुलार और प्रेम और आलिंगन भी कष्टपूर्ण मालूम होने लगते हैं, अगर करने पड़ें। अनिवार्य...!

मैं एक संस्कृत विद्यालय में शिक्षक था। जब मैं पहले-पहले वहां गया तो संस्कृत महाविद्यालय था, तो पंडितों का राज्य था वहां तो। मैं तो बिलकुल एक उपद्रव की तरह वहां पहुंच गया। कुछ भूल-चूक हो गई सरकार की, वह मुझे वहां ट्रांसफर कर दिया। जल्दी उन्होंने फिर सुधार ली, छः महीनों में मुझे वहां से हटाया, क्योंकि वहां बड़ा उपद्रव शुरू हो गया। वे तो सब पंडित थे और वहां तो उन्होंने बड़ी अजीब हालत कर रखी थी।

तो मैं, कोई मेरे पास रहने की जगह न थी तो छात्रावास में मैं रुका। कोई सत्तर अस्सी विद्यार्थी छात्रावास में थे। उनको तीन बजे रात उठना पड़ता था, अनिवार्य। संस्कृत महाविद्यालय! कोई इस आधुनिक सदी का तो नहीं, गुरुकुल पुराना! तीन बजे रात उठना! सर्दी हो कि गर्मी, वर्षा हो कि कुछ, तीन बजे तो उठना ही पड़ता। और फिर सबको कुएं पर जा कर स्नान करना है। मैं भी गया। जब तीन बजे पूरा होस्टल उठ आया तो मैं भी उठा, मैं भी गया कुएं पर। मुझे लोग तब जानते भी नहीं थे। पहले ही दिन आया था, तो किसी ने मेरी फिक्र भी नहीं की। वे अपने नहा रहे थे और वे गाली दे रहे थे प्रिंसिपल से ले कर परमात्मा तक को--मां-बहन की गाली! मैंने सुना, यह भी खूब हो रहा है! इस गाली-गलौज के बाद फिर उनको प्रार्थना करने खड़ा होना पड़ता था, तो वे किसी तरह प्रार्थना करते।

मैंने प्रिंसिपल को कहा कि देखो, तुम नर्क में सड़ोगे। उसने कहा, क्या मतलब? मैंने कहा कि ये लड़के, सत्तर लड़के, रोज सुबह अनिवार्य रूप से प्रिंसिपल से ले कर परमात्मा तक को गाली देते हैं। तुम्हें गाली ठीक, मगर परमात्मा को गाली पड़ रही हैं, तुम इसके कारण हो।

यह अनिवार्यता खतरनाक है, मैंने कहा।

उसने कहा, नहीं, यह अनिवार्य नहीं है; जैसा कि लोग हमेशा कहते हैं। यह तो लोग अपनी स्वेच्छा से, अपने मजे से करते हैं। तो मैंने कहा, फिर मेरे हाथ में आप दे दो। मैं नोटिस लगा देता हूं और कल तीन बजे सुबह आप भी कुएं पर मौजूद हो जाना और मैं भी हो जाऊंगा।

नोटिस मैंने लगा दिया कि "जिनको करना हो स्नान तीन बजे केवल वे ही उठें; जिनको प्रार्थना में सम्मिलित होना हो केवल वे ही उठें। कोई अनिवार्यता आज से नहीं है।"

मेरे और प्रिंसिपल के सिवाय कुएं पर कोई नहीं था। मैंने पूछा, कहो जनाब! अब अगर हिम्मत हो तो डूब जाओ कुएं में!

उन्होंने मुझे छह महीने के भीतर वहां से कहा कि नहीं, आप यहां से जाओ, यह सब गड़बड़ कर दिया! सब ठीक चल रहा था।

इसको ठीक चलना कहते हो? अनिवार्यता? प्रार्थना और अनिवार्य हो सकती है? प्रेम और अनिवार्य हो सकता है? पूजा और अनिवार्य हो सकती है? अनिवार्य तो केवल चीजें कारागृह में होती हैं। जीवन में कुछ भी अनिवार्य नहीं। भूल कर भी किसी चीज को अनिवार्य मत करना, अन्यथा उसी क्षण उस चीज का मूल्य नष्ट हो जाएगा।

जीवन बड़ा नाजुक है, फूल जैसा नाजुक है! इस पर अनिवार्यता के पत्थर मत रख देना, नहीं तो फूल मर जाएगा। मुझसे कोई आ कर भी पूछता है, आश्रमवासी हैं, मुझसे पूछते हैं आ कर कि हम अनिवार्य-रूप से आपको सुबह सुनने आएं? मैं कहता हूं, भूल कर मत आना। अनिवार्य, और मुझे सुनने? तुम मुझे गालियां देने लगोगे। तुम्हें आना हो तो आना, तुम्हें न आना हो तो न आना। और भूल कर भी अपराध अनुभव मत करना कि हम आश्रम में रहते हैं और हम सुनने न गए और लोग इतने दूर से आते हैं! इसकी फिक्र छोड़ो। तुम्हारी जब मौज हो, तब तुम आ जाना। तो अगर महीने में तुम एक बार भी आए तो इतना पा लोगे जितना कि अनिवार्य आ कर महीने भर में भी नहीं पा सकते थे; क्योंकि पाने की घटना तो प्रेम से घटती है।

तो यहां अनिवार्य कुछ भी नहीं है। और अनुशासन जो बाहर से थोपा जाए वे तो बेड़ियां हैं। मैं तुमसे कहूं कि ध्यान करो, यह भी कोई बात हुई? मैं रोज सुबह समझा रहा हूं ध्यान का रस, बहाता रसधार सुबह रोज ध्यान की, गंगा तुम्हारे सामने कर देता हूं--अब यह भी तुमसे कहूं कि रोज गंगा में स्नान करो, कि रोज पीयो जलधार? अब यह तुम्हारी मर्जी है। इतना क्या कम है कि मैंने गंगा तुम्हारे सामने ला दी। अब यह भी मुझे करना पड़ेगा? गंगा का इतना गुणगान कर दिया, अब ठीक है, अब तुम्हारी मौज। तुम्हें ध्यान करना हो करो, न करना हो न करो। लेकिन मैं तुमसे यह नहीं कहूंगा कि अनिवार्य रूप से तुम्हें ध्यान करना है। क्योंकि जैसे ही अनिवार्य हुई कोई बात वैसे ही गड़ने लगती है, कांटे की तरह गड़ने लगती है। ध्यान जैसी महिमापूर्ण चीज को खराब तो मत करो।

तो तुम पूछे हो कि अनिवार्य साधना निश्चित होती आश्रमों में, जिसका अभ्यास उन्हें नियमित करना होता है।

नहीं, यहां मेरे पास कुछ भी नियम नहीं है और न कोई अभ्यास है तुम्हें देने को। सब अभ्यास अहंकार के हैं। अध्यात्म का कोई अभ्यास नहीं। मैं तो कहता हूं: जागो! इति ज्ञानं! यही ज्ञान है! इति ध्यानं! यही ध्यान है! इति मोक्षः! यही मोक्ष है!

तुम जाग कर जीने लगो, ध्यान तुम्हारे चौबीस घंटे पर फैल जाएगा। ध्यान कोई ऐसी चीज थोड़े ही है कि कर लिया सुबह उठ कर और भूल गए फिर। ध्यान तो ऐसी धारा है जो तुम्हारे भीतर बहनी चाहिए। ध्यान तो ऐसा सूत्र है जो तुम्हारे भीतर बना रहना चाहिए; जो तुम्हारे सारे कृत्यों को पिरो दे एक माला में। जैसे हम माला बनाते हैं तो फूलों को धागे में पिरो देते हैं, फूल दिखाई पड़ते, धागा तो दिखाई भी नहीं पड़ता--ऐसा ही

ध्यान होना चाहिए, दिखाई ही न पड़े। जीवन के सब काम-- उठना-बैठना, खाना-पीना, चलना, बोलना, सुनना, सब--फूल की तरह ध्यान में अनस्यूत हो जाएं, ध्यान का धागा सब में फैल जाए।

तो ध्यान तो मेरे लिए जागरण और साक्षी-भाव का नाम है।

और जब मैं न रहूंगा, तब निश्चित यह उपद्रव होने वाला है। क्योंकि कोई न कोई "योग चिन्मय" इस कुर्सी पर बैठ जायेंगे। ऐसी मुश्किल है...यह कुर्सी खाली थोड़े ही रहेगी। कोई न कोई चलाने लगेगा अनुशासन। जिस दिन अनुशासन चलने लगे, उस दिन समझना मेरा संबंध टूट गया इस जगह से। जिस दिन यहां नियम हो जाए, अनिवार्यता हो जाए, अभ्यास हो जाए, उस दिन जानना यह मेरा आश्रम न रहा; यह एक मुर्दा आश्रम हो गया, जो जुड़ गया दूसरे मुर्दा आश्रमों से।

मेरे जीते-जी ऐसा न हो सकेगा। मैं स्वयं जी रहा हूं और तुम्हें भी जिंदा देखना चाहता हूं, मुर्दा नहीं। मैं तुम्हें साधक नहीं मानता। मैं तुम्हें सिद्ध मानता हूं। और मैं चाहता हूं कि तुम भी अपनी सिद्धावस्था को स्वीकार कर लो। मैं चाहता हूं कि तुम भी कह सको: अहो, मेरा मुझको नमन!

चौथा प्रश्न: आबू में जो अनुभव हुआ था, वह अब प्रगाढ़ हो गया है। सतत आनंद का भाव बना रहता है। जीवन धन्य हो गया प्रभु! जो अनुभव में आया है, उसे कह नहीं पाती। अहोभाव के सागर में तैर रही हूं। मेरे अनंत प्रणाम स्वीकार करें।

पूछा है "हेमा" ने।

हेमा को जो आबू में हुआ था, वह निश्चित अनूठा था। जिसको झेन फकीर सतोरी कहते हैं, समाधि की पहली झलक, हेमा को आबू में घटी। इतनी आकस्मिक थी कि वह खुद भी भरोसा न कर पाई। तीन दिन तक वह हंसती ही रही, उसकी हंसी देखने-योग्य थी। वैसी हंसी तुम्हें फिर कहीं और सुनाई नहीं पड़ सकती। वैसी हंसी केवल सतोरी के बाद ही आती है।

यह मैंने उससे तब कहा भी नहीं था कि यह सतोरी है, आज कहता हूं। क्योंकि उस वक्त कहने से उसका अहंकार मजबूत हो सकता था। अब डर नहीं है।

वह तीन दिन तक हंसती ही रही। उसकी हंसी बड़ी अलौकिक थी। वह रुक ही न पाती थी; अकारण, सतत हंसी जारी रही।

ऐसा बोधिधर्म के जीवन में उल्लेख है, जब उसे पहली दफे समाधि उपलब्ध हुई तो वह हंसता ही रहा तीन दिन तक। हंसता रहा इस बात पर, कि भरोसा ही न आए कि क्या हो गया--और ऐसा रस, और ऐसी गुदगुदी कि भीतर से कोई गुदगुदाए जा रहा है। अपनी सीमा में न रहा।

उसके परिवार के लोग चिंतित भी हुए कि यह पागल हो गई। स्वभावतः, मिनट दो मिनट की हंसी भी कठिन मालूम होने लगती है। हम रोने के ऐसे आदी हैं कि अगर आदमी तीन दिन रोता रहे तो कोई पागल न कहेगा। देखो मजा, उसको हम स्वीकार करते हैं। लेकिन अगर कोई आदमी तीन दिन तक सतत हंसता रहे तो पागल निश्चित हो गया। यहां आनंदित होने में बड़ा खतरा है। यहां लोग ऐसे दुख में रहे हैं कि दुख को तो स्वीकार करते हैं; आनंद तो संभव ही नहीं है, ऐसा मान लिया है; सिर्फ पागलों को हो सकता है।

सिगमंड फ्रॉयड ने अपने जीवन भर के अनुभवों के बाद लिखा है कि आदमी सुखी हो ही नहीं सकता। चालीस साल का सतत मनोविश्लेषण, हजारों-हजारों रोगियों का इलाज और उसके बाद उसका यह अनुभव है कि आदमी सुखी हो ही नहीं सकता। यह असंभव है। दुख आदमी की नियति है।

तो जब सिगमंड फ्रॉयड जैसा विचारशील व्यक्ति यह कहे तो सोचना पड़ता है कि जरूर दुख आदमी की नियति बन गया है। कृष्ण अपवाद मालूम होते हैं, नियम नहीं। बांसुरी लगता नहीं कि बज सकती है जीवन में।

और कभी-कभी जब हम बांसुरी में डूबते भी हैं तो सिर्फ इसीलिए कि जीवन का दुख भूल जाए, और कुछ नहीं। बांसुरी में हमें रस नहीं है; जीवन का दुख भुलाने का एक उपाय है, विस्मरण की एक व्यवस्था है।

हेमा जब हंसी थी तो वह हंसी वही थी जो बोधिधर्म की हंसी थी। वह तीन दिन तक हंसती रही। उसके परिवार, प्रियजनों में तो बड़ी घबड़ाहट फैल गई। उसके परिवार और प्रियजनों में से जो मुझे सुनने आते थे, उन सबने आना बंद कर दिया...हेमा तो पागल हो गई! लेकिन बड़ी अनूठी घटना घटी थी।

पूछा है उसने: "आबू में जो अनुभव हुआ था वह अब प्रगाढ़ हो गया है। सतत आनंद का भाव बना रहता है, जीवन धन्य हो गया है प्रभु। जो अनुभव में आया उसे कह नहीं पाती। अहोभाव के सागर में तैर रही हूं।"

अब हंसी खो गई है। वह उद्वेग चला गया। क्योंकि वह उद्वेग तो प्राथमिक क्षण में ही होता है। फिर तो हंसी धीरे-धीरे रोएं-रोएं में समा गई है। अब वह प्रफुल्लित है, आनंदित है। एक स्मित है व्यक्तित्व में। अब रस सिर्फ ओंठों में नहीं है।

जब पहली दफे घटता है तो हंसी बड़ी प्रगाढ़ होती है, फिर धीरे-धीरे हंसी संतुलित हो जाती है, धीरे-धीरे व्यक्तित्व में समा जाती है। एक सहज अहोभाव और एक आनंद का भाव निर्मित हो जाता है।

निश्चित ही जो अनुभव में आया है, वह कहती है, उसे कहा नहीं जा सकता। कोई उसे कभी नहीं कह पाया है। जितना ज्यादा अनुभव में आता है उतना ही कहना मुश्किल हो जाता है।

बाहर वह खोया पाया मैला उजला
दिन-दिन होता जाता वयस्क
दिन-दिन धुंधलाती आंखों से
सुस्पष्ट देखता जाता था
पहचान रहा था रूप
पा रहा वाणी और बूझता शब्द
पर दिन-दिन अधिकाधिक हकलाता था
दिन-पर-दिन उसकी घिग्घी बंधती जाती थी
धुंध से ढंकी हुई, कितनी गहरी वापिका तुम्हारी
कितनी लघु अंजुलि हमारी!
हाथ हमारे छोटे हैं। प्रभु का आनंद-लोक बहुत बड़ा है।
धुंध से ढंकी हुई, कितनी गहरी वापिका तुम्हारी
कितनी लघु अंजुलि हमारी!

जितना ही कोई जानता है, उतना ही हकलाता है। जितना ही कोई जानता है, उतनी ही घिग्घी बंधती जाती है। कहने को मुश्किल होने लगता है।

जो कहना है वह तो कहा नहीं जा सकता। उसके आसपास ही प्रयास चलता है।

तो ठीक, "जो अनुभव में आया उसे कह नहीं पाती। अहोभाव के सागर में तैर रही हूं।"

उसे कहने की फिक्र भी मत करना। अन्यथा उस चेष्टा से भी तनाव पैदा होगा।

समाधि बहुत लोगों को घटती है, बहुत थोड़े-से लोग उसे कहने में थोड़े-बहुत समर्थ हो पाते हैं। हेमा से वह नहीं होगा। उस चेष्टा में पड़ेगी तो उसके भीतर जो घट रहा है उसमें अवरोध आ जाएगा, बाधा आ जाएगी। कहने की फिक्र ही मत करो। अगर बहुत कहने का मन होने लगे--और होगा मन--क्योंकि जब भीतर कुछ घटता है तो हम बांटना चाहते, साझीदार बनाना चाहते औरों को। जब रस भीतर बहता है तो हम चाहते हैं किसी और को भी मिल जाए। लोग इतने प्यासे हैं, लोग इतने भूखे हैं, लोग इतने जल रहे हैं, तो बांटने की इच्छा पैदा होती है। लेकिन जब भी कहने का सवाल उठे तो कहने की जगह हंसना, हेमा! नाचना, गुनगुनाना! उससे आसान होगा। शब्द तुम न बना सकोगी। शब्द तुम्हारा संभव नहीं होगा। कुछ और ढंग से तुम्हें कहना होगा--जैसे मीरा ने कहा, गुनगुना कर कहा; बुद्ध ने कह कर कहा; जैसे चैतन्य ने कहा, ले गए, ले कर मंजीरा और मृदंग, नाचते हुए कहने लगे।

अपना ढंग खोजना होगा। शब्द निश्चित तुम्हारा ढंग नहीं है। हंसो, नाचो, गुनगुनाओ--हजार ढंग हो सकते हैं।

लेकिन अपना ढंग खोजना ही पड़ता है, जब घटना घट जाती है। नहीं तो भीतर कुछ उबलने लगता है। और भीतर कुछ तैयार होता है, पकता है--और हम उसे बांट न पाएं तो बोझिल होने लगते हैं; जैसे वर्षा के मेघ जब भर जाते जल से तो वर्षा होती है। वर्षा स्वाभाविक है।

(इतने में किसी को जोर से रुलाई आई और लोग उसे रोकने को दौड़े। भगवान श्री ने एक संन्यासी को संबोधित करते हुए कहा: "संत, छोड़ दो। छोड़ दो उन्हें। छोड़ दो। छोड़ दो उन्हें। वह शांत हो जाएंगे, छोड़ दो। बिलकुल छोड़ दो, अलग हट जाओ। दूर हट जाओ उनसे।")

प्रत्येक को अपनी विधि, अपनी व्यवस्था खोजना पड़ती है। अभिव्यक्ति सभी के लिए एक जैसी नहीं हो सकती। फिर स्त्री-पुरुषों में भी बड़ा फर्क है। इसलिए तो तुम्हें स्त्री सदगुरु बहुत कम दिखाई पड़ते हैं--उसका कारण यह नहीं है कि स्त्रियां मोक्ष को उपलब्ध नहीं हुईं। मेरे देखे तो स्त्रियां मोक्ष को ज्यादा आसानी से उपलब्ध हो सकती हैं, बजाय पुरुषों के। क्योंकि पुरुषों के अहंकार को गिरने में बड़ी देर लगती है। स्त्रियों का अहंकार बड़ी सरलता से गिर जाता है। लेकिन फिर भी तुम्हें बुद्ध, महावीर, पार्श्व, कृष्ण, क्राइस्ट, शंकर, नागार्जुन ऐसे पुरुषों की शृंखलाबद्ध कतार दिखाई पड़ती है-- ऐसे स्त्रियों के नाम लेने जाओ तो उंगलियों पर भी नहीं गिने जा सकते। कभी कोई सहजो, कोई मीरा, राबिया, थैरेसा--बस ऐसे तीन चार नाम हैं। इसका यह अर्थ नहीं है, इस गलत तर्क में मत पड़ जाना कि इसलिए स्त्रियां मोक्ष को उपलब्ध नहीं हुईं, या स्त्रियों ने पाया नहीं, या स्त्रियां पा नहीं सकतीं।

स्त्रियों ने पाया--उतना ही जितना पुरुषों ने, शायद थोड़ा ज्यादा। लेकिन स्त्रियां शब्द में नहीं कह पातीं। यह अड़चन है। और बिना शब्द में कहे, तुम्हें बुद्ध का पता न चलता अगर बुद्ध ने शब्द में न कहा होता। अगर बुद्ध चुप बैठे रहते बोधि-वृक्ष के नीचे, किसी को कानों-कान खबर न होती। अगर मैं न बोलूं तो तुम यहां न आ सकोगे। मैं तो न बोल कर भी मैं ही रहूंगा। क्या फर्क पड़ेगा मेरे न बोलने से? मेरे लिए कोई फर्क न पड़ेगा, लेकिन तुम न आ सकोगे।

तुम मुझे सुनने आए हो--सुनते-सुनते शायद तुम फंस भी जाओ, सुनते-सुनते शायद तुम मेरे साथ उलझ भी जाओ, सुनते-सुनते शायद तुम मुझमें धीरे-धीरे पग जाओ। लेकिन आए थे तुम सुनने। सुनते-सुनते शायद तुम गुनने भी लगो। गुनते-गुनते शायद तुम गुनगुनाने भी लगो। मेरे पास बैठते-बैठते हो सकता है यह पागलपन तुम्हें भी छू जाए। तुम मदमस्त हो जाओ। लेकिन तुम आए थे मुझे सुनने।

शब्द की गति है जगत में। शब्द के अतिरिक्त और कोई संवाद का उपाय नहीं दिखाई पड़ता। इसलिए स्त्रियां सदगुरु तो हुईं, लेकिन उनका पता भी नहीं चल सका। ज्ञान को तो उपलब्ध हुईं, लेकिन वे गुरु न बन पाईं। शिष्य तो शब्द सुनने आते हैं। मीरा ने ऐसे अदभुत भजन गाए, फिर भी कोई शिष्य थोड़े ही पैदा कर पाई मीरा। कोई मीरा की स्थिति सदगुरु की तरह थोड़े ही है। अदभुत गाया, जिन्होंने सुना उन्होंने भी रस पाया; लेकिन गुरु की स्थिति तो नहीं बन पाई। क्योंकि गुरु का तो अर्थ ही यह है: जो मीरा को मिला था वही वह दूसरों को भी मिलाने में सहयोगी हो जाती। वह नहीं हो पाया।

स्त्री के चित्त की अपनी व्यवस्था है।

तो मैं हेमा से यही कहूंगा: अगर तुझे भर जाए भाव, बांटने का मन होने लगे और शब्द कहने को न मिलें, किसी के पैर दबाने लगना; वह तेरा रास्ता होगा। किसी का सिर दबाने लगना, किसी को प्रेम देना, नाचना, गाना, गुनगुनाना! खोजना कोई उपाय। शब्द तो तेरा उपाय नहीं हो सकता। लेकिन बांटना तो पड़ता है, बिना बांटे रहा नहीं जा सकता। जब सुगंध आ गई फूल में तो पंखुरी को खिलना ही होगा, सुगंध को विसर्जित होना ही होगा, गंध चढ़ेगी पंखों पर हवा के, जाएगी दूर-दूर लोकों तक, तो नियति पूरी होती है।

ऐ कल्पना के दर्पण!

तन-मन तुझ पर अर्पण
जब होंगे तेरे दर्शन
धड़कन हरसूं होगी।
कोयल की तरह मेरा
चंचल मन मचलेगा
जब आम के पेड़ों पर
हरसूं कू-कू होगी।
जब समाधि की पहली झलक आती है तो ऐसा ही होता है।
ऐ कल्पना के दर्पण!
तन-मन तुझ पर अर्पण
जब होंगे तेरे दर्शन
धड़कन हरसूं होगी।

तब तुम्हारा हृदय ही नहीं धड़कता है जब समाधि फलित होती है--तब तुम पहली दफे पाते हो तुम्हारे हृदय के साथ सारा जगत धड़क रहा है। पत्थर भी धड़क रहे हैं; वहां भी हृदय है। वृक्ष भी धड़क रहे हैं, चांदत्तारे भी धड़क रहे हैं। तब तुम्हारी धड़कन के साथ सारा जगत एक लयबद्ध, एक छंदोबद्ध गति में आ जाता है--एक गीत, एक संगीत--जिसमें तुम अलग नहीं हो; एक विराट आर्केस्ट्रा के हिस्से हो गए हो!

कोयल की तरह मेरा
चंचल मन मचलेगा
जब आम के पेड़ों पर
हरसूं कू-कू होगी।

यह किसी बाहर की कोयल की बात नहीं है और यह किसी बाहर के आमों की बात नहीं है। भीतर भी वसंत आता है। भीतर की कोयल भी कू-कू करती है।

उस घटना के करीब है हेमा। अगर चलती रही और इस बात को सुन कर कि मुझे समाधि की पहली प्रतीति हुई है, अकड़ न गई...। क्योंकि उस अकड़ में ही मर जाता सब। इसलिए पहली दफा वर्षों पहले जब उसे आबू में हुआ था, मैंने कुछ कहा नहीं, मैं चुप ही रहा। अब कहता हूं, लेकिन फिर भी खतरा तो सदा है। अब इस बात को बहुत अहंकार का हिस्सा मत बना लेना। नहीं तो जो हुआ है वह वहीं अटक जाएगा। जहां अहंकार आया वहीं गति अवरुद्ध हो जाती है।

ऐसा हुआ है तो यह मत सोचना कि मेरे किए हुआ है। ऐसा सोचना, प्रभु का प्रसाद है! ऐसा सोचना कि कृतज्ञ उसकी, उसका आशीष है! ऐसा सोचना कि मैं अपात्र, कैसे यह हो पाया! आश्चर्य! अहो!

अहोभाव का इतना ही अर्थ है कि भीतर अहो का भाव उठता रहे, कि अहो, मुझे होना नहीं था और हुआ! मैं पात्र नहीं थी, और हुआ! अपात्र थी, और हुआ!

उसकी अनुकंपा अपार है!

आखिरी प्रश्न: गर जाम नहीं है हाथों में,
आंखों से पिला दे, काफी है।
अब जीने की है फिक्र किसे,
तू मुझे मिटा दे, काफी है।
अब डोर तेरे ही हाथों में,
जी भर के नचा दे, काफी है।
ना होश रहे बाकी, ऐसा--
पागल ही बना दे, काफी है।

अब अमृत की है चाह किसे,

तू जहर पिला दे, काफी है।

पूछा है "हंस" ने।

हंस के पास कवि का हृदय है: और ठीक जो उसके हृदय में हो रहा है, वही इन शब्दों में बांध दिया है।

जो अभी हृदय में हो रहा है, जिसकी अभी थोड़ी-थोड़ी झलक है, वह कभी समय पा कर, ठीक अवसर पर, ठीक मौसम में पका हुआ फल भी बनेगा। तुम नाचोगे! तुम मस्त हो कर नाचोगे!

और जो व्यक्ति जहर पीने को राजी हो गया है मस्ती में, उसके लिए जहर भी अमृत हो जाता है। जो प्रभु के साथ चलने को राजी हो गया है--सब स्थितियों में, चाहे जहर पिलाए तो भी, चाहे नर्क में फेंक दे तो भी--उसका नर्क समाप्त हुआ; अब उसके लिए स्वर्ग ही स्वर्ग है।

"गर जाम नहीं है हाथों में,

आंखों से पिला दे, काफी है।

अब जीने की है फिक्र किसे,

तू मुझे मिटा दे, काफी है।

अब डोर तेरे ही हाथों में,

जी भर के नचा दे, काफी है।

ना होश रहे बाकी, ऐसा--

पागल ही बना दे, काफी है।

अब अमृत की है चाह किसे,

तू जहर पिला दे, काफी है।"

यह होगा। पिलाऊंगा। यह घटना घटेगी। भरे आशा से, प्रतीक्षा से, स्वीकार से तुम तैयार रहो--यह घटना घटेगी। यह घटना घटनी शुरू ही हो गई है। यह तुम्हारे गीत में तुमने जो भाव बांधा है, उसी सुबह की पहली किरण है। प्राची लाल होने लगी, प्राची पर लाली होने लगी--सूरज ऊगेगा!

सूरज ऊगता ही है, हम जरा राजी भर हो जाएं। हमारे न राजी होने पर भी सूरज तो ऊगता ही है, लेकिन हम आंख खोल कर नहीं देखते। तो हम अंधेरे में ही रहे आते हैं। आंख बंद, तो हमारी रात जारी रहती है। जब हम राजी हो जाते हैं तो हम आंख खोल कर देखने की तत्परता दिखाते हैं! सूरज तो ऊगता ही रहा है। हर रात के बाद सुबह है। हर भटकन के बाद पड़ाव है। हर संसार के बाद मोक्ष है। बस हम आंख खोल कर देखने को तैयार हों!

हरि ॐ तत्सत्!

पच्चीसवां प्रवचन

दृश्य स्वप्न है, द्रष्टा सत्य है

अष्टावक्र उवाच।

तदा बंधो यदा चित्तं किंचिद्वाग्छति शोचति।
किंचिन्मुग्चति गृहणाति किंचिद्धृष्यति कुप्यति।। ७९।।
तदा मुक्तिर्यदा चित्तं न वांछति न शोचति।
न मुग्चति न गृहणाति न हृष्यति न कुप्यति।। ८०।।
तदा बंधो यदा चित्तं सक्तं कास्वपि दृष्टिषु।
तदा मोक्षो यदा चितंसक्तं सर्व दृष्टिषु।। ८१।।
यदा नाहं तदा मोक्षो यदाहं बंधनं तदा।
मत्वेति हेलया किंचित् मा गृहाण विमुग्च मा।। ८२।।

सजा का हाल सुनाएं, जजा की बात करें,
खुदा मिला हो जिन्हें, वो खुदा की बात करें।

आदमी अपने दुख की बात करता, अपनी चिंताओं की, बेचैनियों की, अपने संताप की। आदमी वही बात करता है, जो उसे मिला है। जब आनंद की किरण फूटती है, तो एक नई ही बात शुरू होती है। जब प्रभु से मिलन होता, तो सब भूल जाते जन्मों-जन्मों के जाल; जैसे कभी हुए ही न हों; जैसे रात में जो देखा था वह सच ही न रहा हो। सुबह का सूरज सारी रातों को झूठ कर जाता। और सूरज के ऊगने पर फिर कौन अंधेरे की बात करे!

जनक के जीवन में ऐसा ही सूरज ऊगा है। और जनक के जीवन में जो घटा है, वह इतना आकस्मिक है कि जनक भी सम्हाल नहीं पा रहे हैं; वह बहा जा रहा है; जैसे कोई झरना अचानक फूट पड़ा हो, जिसके लिए अभी मार्ग भी नहीं है, मार्ग बन रहा है। उसी मार्ग बनाने में सहारा दे रहे हैं अष्टावक्र। पहले परीक्षा की, फिर प्रलोभन दिया। आज के सूत्रों में प्रोत्साहन है। परीक्षा ठीक उतरी, जनक उत्तीर्ण हुए। प्रलोभन भी व्यर्थ गया; जनक उसमें भी न उलझे। जो हुआ है, सच में ही हुआ है; कसौटी पर खरा आया। अब प्रोत्साहन देते हैं। अब पीठ थपथपाते हैं। अब वे उसे कहते हैं कि ठीक हुआ। अब जो जनक ने कहा है, उसको अष्टावक्र दोहरा कर साक्षी बनते हैं।

ये सूत्र बड़े अनूठे हैं।

सजा का हाल सुनाएं, जजा की बात करें,
खुदा मिला हो जिन्हें, वो खुदा की बात करें।

यहां खुदा के मिलने की घटना घटी है। अष्टावक्र और जनक के बीच खुदा घटा है। इसलिए कोई और बात नहीं चल सकती अब। तुम्हें तो कभी-कभी ऐसा भी लगने लगेगा: "अब यह इतनी पुनरुक्ति हुई जा रही है! अब यह बार-बार वही बात क्यों कही जा रही है?" लेकिन जिन्हें खुदा मिला हो, वे कुछ और कर ही नहीं सकते; वे बार-बार वही कहेंगे।

तुमने कभी देखा, जब छोटा बच्चा पहली दफे बोलना शुरू करता है, टूटे-फूटे शब्द होते हैं, बड़े सार्थक भी नहीं होते; पापा, मामा, ऐसे कुछ शब्द बोलना शुरू करता है--लेकिन जब बच्चा बोलना शुरू करता है तो फिर दिन भर दोहराता है। प्रयोजन हो न प्रयोजन हो, संगति हो न संगति हो, उसे इतना रस आता है; एक बड़ी अदभुत क्षमता हाथ में आ गई है! वह पापा या मामा कहना सीख गया है। उसका जगत में एक नया अनुभव

घटित हुआ है। वह समाज का हिस्सा बन गया है। अब तक समाज के बाहर था, अब तक जंगल में था, पापा कह कर प्रवेश-द्वार से भीतर आ गया है। अब वह भाषा, समाज, समूह का अंग है। अब बोल सकता है।

तो जब पहली दफे बच्चा बोलता है, तो वह दिन भर गुनगुनाता है: पापा, पापा, मामा...। कुछ प्रयोजन न हो तो भी कहता है। कहने में ही रस लेता है। बार-बार दोहराता है, दोहराने में ही मजा पाता है।

ठीक वैसी ही घटना घटी है। एक नया जन्म हुआ है जनक का। प्रभु की पहली झलक मिली है। झलक प्राणों तक कौंध गई है, रोएं-रोएं को कंपा गई है। अब तो वे जो भी बोलेंगे, जो भी देखेंगे, जो भी सुनेंगे--उस सबमें ही परमात्मा ही परमात्मा की बात होगी। यद्यपि यह बात ऐसी है कि कही नहीं जा सकती, फिर भी जब घटती है तो हजार-हजार उपाय इसे कहने के किए जाते हैं।

आज के सूत्रों में अष्टावक्र जनक की पीठ पर हाथ रख कर थपथपाते हैं। वे कहते हैं, तू जीता। वे कहते हैं, तू घर लौट आया। तू जो कह रहा है ठीक कह रहा है। तेरी परीक्षा पूरी हुई है। तू उत्तीर्ण हुआ है।

पहला सूत्र:

"जब मन कुछ चाहता है"--अष्टावक्र ने कहा--"कुछ सोचता है, कुछ त्यागता है, कुछ ग्रहण करता है, जब वह दुखी और सुखी होता है--तब बंध है।"

बंध की ठीक-ठीक परिभाषा हो जाए तो मोक्ष की भी परिभाषा हो जाती है। क्योंकि जो बंध नहीं है, वही मोक्ष है। और आसान है पहले बंधन की परिभाषा कर लेना, क्योंकि बंधन से हम परिचित हैं।

आनंद की परिभाषा करनी हो तो बुद्ध कहते हैं: दुख का निरोध। दुख से हम परिचित हैं। जहां दुख न रह जाएगा, वहां आनंद। अंधेरी रात से हम परिचित हैं। सुबह की परिभाषा करनी हो तो कहना होगा: जहां अंधेरा न रह जाए।

लेकिन इस परिभाषा से बड़ी भूलें भी हो गई हैं। कुछ लोग सोचने लगते हैं कि शायद अंधेरे को मिटाना पड़ेगा, तब सुबह होगी। परिभाषा तो बिलकुल ठीक है कि जहां अंधेरा न रह जाए, वहां सुबह। लेकिन इस परिभाषा को तुम अनुष्ठान मत बना लेना। तुम यह मत सोचना कि हम अंधेरे को मिटाएंगे तो सुबह हो जाएगी। तब सब उल्टा हो जाएगा। सुबह आती है, तब अंधेरा मिटता है। अंधेरे को मिटाने की कोई संभावना नहीं है। तुम तो सुबह को पुकारना। तुम तो सुबह को खोजना। तुम तो दीये को जलाना। यद्यपि यह परिभाषा बिलकुल ठीक है कि जब अंधेरा नहीं रह जाता, तब सुबह। परिभाषा की तरह ठीक है, साधन की तरह खतरनाक है।

जहां कोई दुख नहीं रह जाता, वहां आनंद है। तो तुम दुख को मिटाने में मत लग जाना, नहीं तो तुम आनंद तक कभी न पहुंचोगे। परिभाषा की तरह बिलकुल सुंदर है। तुम तो आनंद को पुकारना। तुम तो आनंद को जगाना।

मेरे पास लोग आते हैं। वे कहते हैं कि हम कैसे दुख से छूटें? मैं कहता हूं, तुम दुख से ध्यान हटाओ। तुम जब तक दुख से छूटना चाहोगे, तब तक न छूट सकोगे। क्योंकि दुख से छूटने में तुम दुख ही पर तो नजर रखे हो। दुख से छूटने के लिए तुमने अपनी आंखें दुख में ही गड़ा दी हैं। दुख से छूटने के लिए तुम दुख का ही चिंतन करते हो। जिसका तुम चिंतन करते हो, वह बढ़ता है। दुख से छूटने के लिए तुम क्षण भर को दुख को भूलते नहीं हो। जिसको तुम भूलते नहीं वह गहरा उतरता जाता है। जिसका स्मरण करोगे, वही हो जाओगे। जिससे छूटना चाहोगे, उसकी याद बार-बार करनी पड़ेगी।

देखा तुमने, कभी किसी को विस्मरण करना हो तो विस्मरण करना मुश्किल हो जाता है! ऐसे हजारों लोग आते हैं जीवन में और भूल जाते हैं। लेकिन किसी को विस्मरण करना हो, फिर कठिनाई हो जाती है। क्योंकि विस्मरण करने में तो स्मरण करना पड़ता है। स्मरण से तो उल्टी प्रक्रिया शुरू हो जाती है।

जिसे भूलना हो, उसे भूलने की कभी कोशिश मत करना। अगर कोशिश की तो कभी भूल न पाओगे। क्योंकि कोशिश का तो मतलब होगा फिर-फिर याद जगा लोगे। फिर-फिर कोशिश करोगे, फिर-फिर याद आ

जाएगी। भूलना हो तो उपेक्षा...। भूलना हो तो ध्यान को कहीं और ले जाना। भुलाने के लिए अगर चेष्टा की तो ध्यान वहीं अटका रहेगा।

यह तो ऐसा होगा जैसे कोई अपने घाव में अंगुली डाल कर खेले और सोचे कि इससे घाव भर जाएगा। इससे तो घाव कभी भी न भरेगा, घाव तो हरा रहेगा। तुम तो रोज घाव को बनाते चले जाओगे। तुम तो जितनी अंगुली से खेलोगे, घाव के भरने की कोई संभावना न छूटेगी। तुम भूलो।

तुमने देखा, अगर कोई आदमी बहुत बीमार हो तो चिकित्सक कहते हैं, पहली जरूरत है नींद! अगर नींद आ जाए तो आधी बीमारी ठीक हो जाए। क्यों? नींद का इतना मूल्य क्या है? क्योंकि नींद न आए तो बीमार बीमारी को भूल नहीं पाता। वह घाव में अंगुली डाल कर खेलता है। वह बार-बार वही सोचता है कि सिर में दर्द है, सिर में दर्द है, सिर में दर्द है! वह जितनी बार सोचता है, दर्द को उतना बल देता है।

कामी व्यक्ति काम से छूटना चाहता है, तो काम ही काम की चिंता करता है कि "कैसे छूटूं? यह पाप है, यह बुरा है, यह अपराध है।" क्रोधी क्रोध से छूटना चाहता है, तो क्रोध के साथ ही उलझा रह जाता है।

तुम जिससे छूटना चाहोगे, उसी में अटक जाओगे।

ध्यान को बदलना। ध्यान रात से हटे, सुबह पर लगे। ध्यान अंधेरे से हटे, दीये पर लगे। दुख की बात ही मत उठाओ। दुख है, उसकी उपेक्षा करो। सुख को जगाओ। इधर सुख जगने लगेगा, उधर दुख तिरोधान होने लगेगा।

तो परिभाषाओं को तुम साधना मत समझना। अनेक लोग परिभाषाओं को साधना मान लेते हैं। परिभाषाएं तो केवल इंगित हैं, इशारे हैं, किसी बात को कहने के ढंग हैं। और कहना पड़ता है उल्टी तरफ से, क्योंकि उल्टे से तुम परिचित हो। आनंद को हम बुद्धों की तरफ से तो कह नहीं सकते, क्योंकि उसके लिए फिर कोई भाषा नहीं है। बुद्धों की कोई भाषा नहीं है; वहां तो मौन भाषा है। आनंद को कहना हो तो अबुद्धों की तरफ से कहना पड़ेगा। अबुद्धों को आनंद का कोई पता नहीं है। अड़चन समझो। बुद्धों के पास कोई भाषा नहीं है, आनंद का अनुभव है। अबुद्धों के पास भाषा है, आनंद का कोई अनुभव नहीं है। अब इन दोनों के बीच कैसे संवाद हो? तो हम बुद्धों के अनुभव को अबुद्धों की भाषा में अनुवादित करते हैं। जब हम कहते हैं, आनंद दुख का निरोध है, तो अनुवाद है यह। जब हम कहते हैं, सूरज का ऊगना रात का मिट जाना है, तो अनुवाद है यह। तुम्हारी भाषा में अनुवाद है, तुम्हें अनुभव नहीं है। और उनका अनुवाद है जिन्हें अनुभव है, लेकिन जिनके पास भाषा नहीं है।

"जब मन कुछ चाहता है...।"

तदा बंधो यदा चित्तं किंचिद्वाग्छति शोचति।

किंचिन्मुग्चति गृहणाति किंचिद्धृष्यति कुप्यति।।

"जब मन कुछ सोचता है, कुछ चाहता है, कुछ त्यागता है, कुछ ग्रहण करता है, जब वह सुखी और दुखी होता है--तब बंध है।"

जब मन सक्रिय होता है तब बंध है। मन की क्रिया बंधन है। तुमसे लोगों ने कहा, क्रोध बंध है। तुमसे लोगों ने कहा, काम बंध है, लोभ बंध है--वह बात पूरी नहीं है: क्योंकि अगर दान तुम करोगे सोच कर, तो वह भी बंध है। अगर तुम करुणा करोगे सोच कर, तो वह भी बंध है। अष्टावक्र बड़ी मौलिक परिभाषा दे रहे हैं। वे कह रहे हैं, मन की क्रिया-मात्र बंध है। जहां मन सक्रिय हुआ, तरंगें उठीं, वहां तुम बंध गए। जहां मन पूरा निष्क्रिय हुआ, वहीं तुम मुक्त हो गए। उन क्षणों को खोजो जहां मन की कोई क्रिया न हो।

तदा बंधः!

--यहां है बंध।

यदा चित्तं वांछति!

--जब तुमने कुछ चाहा। चाहा कि निकले यात्रा पर। जरा सोचा तुमने कि बने शेखचिल्ली।

सुनी तुमने शेखचिल्ली की कहानी? जाता था दूध बेचने, सिर पर रखा था घड़ा दूध का। सोचने लगा राह में, कि आज बेच लूंगा तो चार आने मिलेंगे। बचाता रहूंगा चार आने, चार आने, चार आने, तो जल्दी ही एक और भैंस खरीद लूंगा! फिर तो बड़ा प्रफुल्लित हो गया, जब भैंस सामने आई, आंख में उतरी, मन में गूंजी। भैंस देखी तो सोचा: "अरे, इतना-इतना दूध होगा, इतना-इतना घी निकलेगा, इस-इस तरह बेचूंगा, जल्दी ही भैंसें ही भैंसें हो जाएंगी! खरीदता जाऊंगा, बेचता जाऊंगा, खरीदता जाऊंगा! जल्दी ऐसी घड़ी आ जाएगी कि इतना धन मेरे पास होगा कि गांव की जो सुंदरतम लड़की है, वह निश्चित विवाह का निवेदन करेगी!"

तब तो वह हवाओं में उड़ने लगा। जा तो रहा था उसी सड़क पर, दूध बेचने जा रहा था--अभी बिका भी नहीं था, अभी चार आने हाथ में आए भी नहीं थे--शादी भी कर ली, बहू को घर भी ले आया। इतना ही नहीं, जल्दी ही बेटा भी हो गया। अभी बाजार पहुंचा नहीं था, अभी जा ही रहा था। बेटा भी हो गया। बेटे को बिठाए, सर्दी के दिन हैं, गोदी में खिला रहा है। बेटे ने उसकी दाढ़ी खींचनी शुरू कर दी। तो उसने कहा, "अरे नासमझ!" यह बात जरा जोर से निकल गई। पहले धीरे-धीरे मन में चल रहा था सब खेल। अब तो खेल इतना पक्का हो गया था कि यह बात जरा जोर से निकल गई। और दोनों हाथ से उसने बेटे को दाढ़ी से अगल करने की कोशिश की--घड़ा छूट गया। घड़ा जमीन पर गिरा।

तुम्हें दिखा कि घड़ा गिरा; उसका तो सारा संसार गिर गया। तुम्हें उसके संसार का पता नहीं! बेटा मरा, पत्नी मरी, हजारों भैंसें खरीदनी थीं, सब खो गईं। संपत्ति खड़ी हो गई थी, सब मिट गई। कोई भी न था। वे चार आने भी जो संभव थे, वे भी गए। खड़ा है अकेला। तुम समझ भी नहीं सकते कि राह पर टूट गई उस मटकी में कितना क्या टूट गया!

इसको अष्टावक्र तुम्हारे मन का संसार कहते हैं।...नाम कल्पना! कुछ है नहीं--खेल है। लेकिन मन उस खेल में रसलीन हो जाता, डूब जाता।

जहां मन की क्रिया है, वहीं बंधन है।

यदा चित्तं वांछति!

--जहां मन ने चाहा, कुछ भी चाहा।

यहां विषय का कोई भेद नहीं है। ऐसा नहीं कहा जा रहा कि जो लोग धन चाहते हैं वे संसारी हैं और बंधन में हैं। तुमने अगर परमात्मा चाहा तो भी तुम बंधन में हो। तुमने अगर सत्य चाहा तो भी तुम बंधन में हो। देखना सूत्र को:

यदा चित्तं वांछति

--जिसके चित्त में वांछा उठी।

वांछा किसकी? इसकी कोई जरूरत कहने की नहीं। क्योंकि किसी की भी वांछा उठे, वांछा के पीछे लहरें उठती हैं, झील डांवांडोल हो जाती है। जैसे शांत झील है, तुम बैठे किनारे, उठा कर एक पत्थर फेंक दिया, छपाक अवाज हुई और झील लहरों से भर गई--ऐसे ही वांछा का पत्थर, चाह का पत्थर, जैसे ही मन में पड़ता है कि सारा डांवांडोल हो जाता है।

तुम करके देखो। करके देखने की बात नहीं है, रोज तुम कर ही रहे हो। तुम इस शेखचिल्ली को कहीं किसी दूसरे में मत देखना। कई बार तुम अगर जरा पकड़ने की कोशिश करोगे तो अपने में ही पकड़ लोगे। कितनी बार नहीं यह शेखचिल्ली तुम्हारे भीतर तुम्हारे कितने रूप लेता! मन शेखचिल्ली है। और जब तुम शेखचिल्ली को पकड़ लो, तो जरा हंसना अपने पर और अपनी मूढ़ता पर। क्योंकि जो व्यक्ति अपनी मूढ़ता पर हंसने लगे वह बुद्धिमान होना शुरू हो गया। क्योंकि जो मूढ़ता पर हंसता है वह साक्षी हो गया।

यदा चित्तं वांछति किंचित शोचति...।

सोचा कि उलझे। सोच-विचार में जाल है। जब भी तुमने कोई विचार उठाया कि तुम उसमें डूबे। जैसे ही विचार उठता है, तुम गौण हो जाते हो, विचार प्रमुख हो जाता है। भीतर सब मूल्य परिवर्तन हो जाते हैं। तुम विचार में इतने संलग्न हो जाते हो कि तुम्हें स्मरण भूल जाता है कि तुम द्रष्टा हो; तुम विचारक हो जाते हो।

तीन स्थितियां हैं तुम्हारी। एक तो साक्षी की--तब मन बिलकुल नहीं है, क्योंकि कोई तरंग ही नहीं है। मन तो तरंगों का जोड़ है, विचार के प्रवाह का नाम है। साक्षी की दशा--तब झील बिलकुल मौन है, कोई हवा कंपाती नहीं।

फिर दूसरी अवस्था है--विचारक की। झील कंप गई। विचार के बीज पड़ गए हैं। विचार का पत्थर गिरा, वांछा उठी, सब कंपित हो गया, दर्पण खो गया--वह दर्पण जैसी शांत झील जो अभी तक चांद को झलकाती थी, अब नहीं झलकाती। अब चांद भी टुकड़े-टुकड़े हो गया। चांदी फैल गई पूरी झील पर, लेकिन चांद का प्रतिबिंब अब कहीं भी ठीक से नहीं बनता, सब विकृत हो गया। यह दूसरी अवस्था।

फिर तीसरी अवस्था--कर्ता की। वह जो विचार में तुमने पकड़ लिया, जल्दी ही कर्म बनेगा। साक्षी, विचार और कर्म। कर्म में आ गए तो घने जंगल में आ गए संसार के। विचार में थे, तो आ रहे थे संसार की तरफ। साक्षी से चूक गए थे, कर्म में आए न थे, मध्य में अटके थे--त्रिशंकु थे।

साक्षी को जो उपलब्ध हो ले वह व्यक्ति है धार्मिक। जो विचार में उलझा रहे, वह व्यक्ति है दार्शनिक। और जो कर्म में उतर आए, वही है राजनीतिज्ञ।

धर्म, दर्शनशास्त्र और राजनीति--ये तुम्हारे चित्त की तीन अवस्थाएं हैं। धर्म का कोई संबंध न तो कृत्य से है और न विचार से है। धर्म का संबंध तो शुद्ध साक्षीभाव से है। फिर दर्शनशास्त्र है, उसका संबंध सिर्फ विचार से है। वह तरंगों का हिसाब लगाता; तरंगों के हिसाब में झील को भूल जाता; तरंगों की गिनती में भूल ही जाता किसकी तरंगें हैं। और फिर सबसे ज्यादा भटकी हुई अवस्था राजनीतिक चित्त ही है; वह तरंगों तक से चूक जाता है। वह तो तरंगों के जो परिणाम होते हैं--अगर झील में तरंगें हैं तो तरंगों से जो आवाज उठती, वह पास की वादियों में गूंजने लगती है--उसका हिसाब रखता है। जब तक कर्म न बन जाए कोई चीज, तब तक राजनीति नहीं बनती।

जिन लोगों ने कृष्ण की गीता पर टीका लिखी है, उनमें तीन तरह के लोग हैं। एक तो राजनीतिज्ञ हैं; जैसे तिलक, अरविंद, गांधी--इन्होंने कृष्ण की गीता पर टीकाएं लिखीं। इन सबकी कोशिश यह है कि गीता में कर्मयोग सिद्ध करें कि कर्म ही सब कुछ है। फिर दूसरे विचारकों ने टीकाएं लिखी हैं। उनका आग्रह है कि वे विचार की किसी परंपरा को सिद्ध करें--अगर विचार की कोई परंपरा भक्ति को मानती है तो भक्ति को सिद्ध करें; अगर विचार की कोई परंपरा ज्ञान को मानती है तो ज्ञान को सिद्ध करें; विचार की कोई परंपरा अद्वैत को मानती है तो अद्वैत सिद्ध करें, द्वैत को मानती है तो द्वैत सिद्ध करें, या द्वैताद्वैत सिद्ध करें। हजारों विचार की परंपराएं हैं। वे विचारकों की व्याख्याएं हैं।

तीसरी व्याख्या कभी की नहीं गई। क्योंकि तीसरी व्याख्या तो की नहीं जा सकती। तीसरी व्याख्या है साक्षी-भाव की। वह तो अनुभव की बात है। उस व्याख्या में तो कोई उतरता है--कर नहीं सका, करने का कोई उपाय नहीं है। क्योंकि अगर वह तीसरी भी व्याख्या की जाए तो वह दूसरी व्याख्या बन जाएगी। अगर कोई यह भी सिद्ध करने की चेष्टा करे कि साक्षी-भाव है गीता का मूल उद्देश्य, ध्यान है, समाधि है--तो भी वह विचार का हिस्सा हो जाएगा।

तीसरी व्याख्या की नहीं जा सकती। लेकिन जिन्होंने तीसरी व्याख्या समझी अनुभव से, वे ही समझ पाए; बाकी सबने अपनी समझ के कारण कृष्ण की समझ को अस्तव्यस्त कर दिया।

"जब मन कुछ चाहता, कुछ सोचता, कुछ त्यागता, कुछ ग्रहण करता, जब सुखी-दुखी होता-- तब बंध है।"

तदा बंधः!

फिर मजा है कि कुछ लोग पकड़ते, कुछ लोग छोड़ते। कुछ लोग संसार को पकड़े हुए हैं। इन पकड़े हुए लोगों को कुछ समझाते हैं कि छोड़ो, संसार में दुख है, छोड़ो, भागो! लेकिन जो भाग रहे हैं वे सुखी नहीं दिखाई पड़ते। उनके जीवन में कोई प्रसाद नहीं मालूम होता। जो भाग कर बैठ गए हैं जंगलों-पहाड़ों में, मठों में, उनके जीवन में कोई किरण नहीं दिखाई पड़ती, कोई विभा नहीं दिखाई पड़ती।...बात क्या हो गई? न पकड़ने से कुछ मिलता न छोड़ने से कुछ मिलता। क्योंकि पकड़ते भी तुम वही हो, छोड़ते भी तुम वही हो। कभी-कभी तो ऐसा होता है कि पकड़ने वाले शायद तुम्हें थोड़े-बहुत सुखी भी दिखाई पड़ें, भगोड़े बिलकुल सुखी नहीं दिखाई पड़ते। क्योंकि पकड़ने वाले को कम से कम जीवन के साधारण क्षणभंगुर सुख तो मिलते हैं। क्षणभंगुर सही! कभी किसी स्त्री के प्रेम में कोई पड़ जाता है, तो क्षणभंगुर ही सही, एक सपना तो देखता है सुखी होने का। टूट जाएगा यह सपना, यह भी सच है। लेकिन था--यह भी सच है। लेकिन जो भाग गया है, उसको तो क्षणभंगुर भी खो जाता है; शाश्वत तो मिलता नहीं, क्षणभंगुर भी खो जाता है।

मैं एक कहानी पढ़ता था। एक कथा-गुरु ने अपने शिष्यों को कहा कि एक कहानी सुनो और इस पर ध्यान करना और इसका अर्थ कल सुबह ला कर मुझे दे देना--इसकी निष्पत्ति। कहानी सीधी-सादी थी। कहानी थी कि एक सम्राट था और उसके हरम में, उसके रनिवास में पांच सौ सुंदर स्त्रियां थीं। लेकिन रनिवास उसने अपने महल से पांच मील दूर जंगल में बना रखा था। उसका जो विश्वस्त, सबसे ज्यादा विश्वस्त दास था, सेवक था, उसे सांझ जाना पड़ता था; एक रानी को ले आता था--राजा के रात के भोग के लिए। कहते हैं, राजा तो नब्बे साल तक जीया, लेकिन जो आदमी उसकी स्त्रियों को लाता, ले जाता था, वह चालीस साल में मर गया। फिर उसने दूसरा आदमी रखा, वह भी राजा के मरने के पहले मर गया।

तो कथा-गुरु ने अपने शिष्यों को कहा कि कल तुम सुबह इस पर ध्यान करके इसकी निष्पत्ति मेरे पास ले आना, इसका अर्थ क्या है?

शिष्यों ने बहुत सोचा, कुछ अर्थ समझ में न आया कि इसमें अर्थ क्या है? वे वापिस आए। कथा-गुरु हंसा और उसने कहा, अर्थ सीधा-साफ है। आदमी स्त्रियों के भोग से इतनी जल्दी नहीं मरता, जितना स्त्रियों के पीछे भागने से मरता है। वह जो भागता था, रोज जाता, रोज आता--वह चालीस साल में खत्म हो गया। जो भोगता था, वह नब्बे साल तक जीया।

आदमी धन के पीछे भागने से उतना नहीं टूटता, धन को भोगने से उतना नहीं टूटता, जितना धन से भागने से टूटता है। आदमी संसार से उतना नहीं टूटता, जितना संसार से भागने लगे तो टूट जाता है। सांसारिक व्यक्तियों के चेहरे पर तो तुम्हें कभी-कभी रौनक भी दिखाई पड़ जाए; लेकिन जिनको तुम तपस्वी कहते हो, उनके चेहरे पर तुम्हें कोई रौनक नहीं दिखाई पड़ेगी। वे मुर्दा हैं। हां, यह हो सकता है तुम उनके मरेपन को ही तपश्चर्या समझते हो तो तुम्हें दिखाई पड़े कुछ। पीला पड़ जाए आदमी उपवास से तो भक्त कहते हैं: "कैसा कुंदन जैसा रूप निखर आया! देखो, कैसा स्वर्ण जैसा!" जो उनके भक्त नहीं, उनसे पूछो तो वे कहेंगे: इनको हम पीतल भी नहीं कह सकते, सोना तो दूसरी बात है। यह सोना तुमको दिखाई पड़ता है; दिखाई भी पड़ता है, यह भी पक्का नहीं--तुम देखना चाहते हो, इसलिए दिखाई पड़ता है।

तुमने कभी तुम्हारे त्यागियों को आनंदित देखा? कभी किसी जैन मुनि को तुमने आनंदित देखा? और तुमने कभी यह भी सोचा कि इतने जैन मुनि हैं, इनमें कोई आनंदित नहीं दिखाई पड़ता, कोई नाचता, गीत गुनगुनाता नहीं दिखाई पड़ता? इनमें तो आनंद होना चाहिए। ये तो सब संसार छोड़ कर चले गए हैं। इन्होंने तो दुख के सब रास्ते तोड़ दिए। इन्होंने तो सब सेतु गिरा दिए। इनके हाथ में तो इकतारा होना चाहिए। इनके हृदय में तो वीणा बजनी चाहिए। इनके पैरों में तो घूंघर होना चाहिए। ये तो गाएं...पद घुंघरू बांध मीरा नाची

रे! मगर नहीं, न कोई नाच है, न पद में घुंघरू हैं, न प्राणों में घुंघरू हैं। सब उदास, सब खाली, सब रिक्त, सब मुर्दा, मरघट की तरह हैं ये लोग।

तुम्हारे महात्मा यानी जीते-जी मरघट। फिर भी तुम सोचते नहीं कि हुआ क्या है? कहीं ऐसा तो नहीं कि भोग तो गलत है ही, त्याग और भी गलत है? भोगी तो नासमझ है ही, त्यागी भी नासमझ है--भोगी से भी ज्यादा नासमझ है।

अष्टावक्र का यह सूत्र सुनो: "जो कुछ त्यागता है, कुछ ग्रहण करता है...।"

किंचित् मुग्चति किंचित् गृहणाति...।

कुछ पकड़ा, कुछ छोड़ा--दोनों बंधन है।

यदा बंधः।

जो सुखी होता, दुखी होता। सुख और दुख दोनों में कोई भी आनंद नहीं है। आनंद बड़ी ही पारलौकिक बात है। सुखी आदमी आनंदित आदमी नहीं है; सुखी आदमी दुख को दबाए बैठा है। सुखी आदमी क्षण भर को दुख को भुला बैठा है।

तुम कब अपने को सुखी कहते हो, तुमने खयाल किया? फिल्म देखने चले गए, दो घंटे फिल्म में डूब गए--तुम कहते हो, बड़ा सुख मिला! बाहर निकले, फिर तुम्हारा दुख मौजूद है। कभी शराब पी ली--तुम कहते हो, बड़ा सुख मिला! सुबह उठे, फिर तुम्हारा दुख मौजूद है; वहीं का वहीं खड़ा है; शायद बढ़ भी गया हो रात में। तुम जब बेहोश पड़े थे, तब दुख बढ़ रहा था। क्योंकि इस जगत में कोई भी चीज ठहरी हुई नहीं है, सब चीजें बढ़ रही हैं। तुम रात सोए थे, वृक्ष बढ़ रहे थे। तुम रात सोए थे, तुम्हारा बच्चा बड़ा हो रहा था। तुम रात सोए थे, तुम्हारा दुख भी बढ़ रहा था। तुम शराब पी कर पड़े थे तो विस्मरण हो गया था; लेकिन विस्मरण से तो कुछ मिटता नहीं। यह तो शुतुरमुर्ग की दृष्टि है।

सुनी है न तुमने बात कि शुतुरमुर्ग अपने दुश्मन को देख कर सिर को रेत में खपा कर खड़ा हो जाता है? न दिखाई पड़ता दुश्मन...शुतुरमुर्ग मानता है: जो दिखाई नहीं पड़ता है, वह हो कैसे सकता है? उसका तर्क तो ठीक है। नास्तिक भी तो यही कहते हैं कि परमात्मा दिखाई नहीं पड़ता तो हो नहीं सकता। शुतुरमुर्ग अरस्तू के न्याय-शास्त्र को मानता है। उसने सिर गपा लिया रेत में--वह कहता है, मुझे तो कोई दिखाई नहीं पड़ रहा दुश्मन, तो हो कैसे सकता है? जो मुझे दिखाई न पड़े, तो हो नहीं सकता, क्योंकि प्रत्यक्ष प्रमाण कहां?

लेकिन शुतुरमुर्ग कितना ही सिर रेत में गड़ा ले, दुश्मन सामने है तो है। सच तो यह है, अगर आंखें खुली होतीं और शुतुरमुर्ग दुश्मन को देखता तो बचने का कोई उपाय भी था। अब बचने का कोई उपाय भी न रहा। अब तो यह बिलकुल दुश्मन के हाथ में है। इसने अपने हाथ से अपने को दुश्मन को दे दिया। यह तो आत्महत्या है। अगर दुश्मन इसको मार डालेगा, तो दुश्मन की कला कम, शुतुरमुर्ग की आत्महत्या की वृत्ति ज्यादा कारगर है। उसका ही हाथ होगा--आत्महत्या की वृत्ति का।

शुतुरमुर्ग मत बनना, आंख बंद मत करना।

लेकिन तुम जिसे सुख कहते हो वह सब शुतुरमुर्गी बातें हैं। कभी इसमें कभी उसमें, थोड़ा अपने को उलझा लेते हो। कोई ताश के पत्ते लिए बैठा है, खेल रहा है। किसी ने शतरंज बिछा रखी है, झूठे-नकली घोड़े, वजीर-बादशाह बना रखे हैं--खेल रहा है। कैसे लोग डूब जाते हैं, तुम जरा सोचो! शतरंज के खेलने वाले ऐसे डूब जाते हैं कि सारी दुनिया भूल जाती है। कैसी एकाग्रता! और किस पर ये एकाग्रता कर रहे हैं--जहां कुछ भी नहीं है! अपने ही बनाए हाथी-घोड़े हैं!

और मैं तुमसे कहना चाहता हूं कि शतरंज के हाथी-घोड़े ही झूठे हों, ऐसा नहीं है; जो तुम्हारे राजा-महाराजाओं के हाथी-घोड़े हैं, राजनीतिज्ञों के, राष्ट्रपतियों, प्रधानमंत्रियों के हाथी-घोड़े हैं, वे भी इतने ही झूठे हैं।

अंतिम विश्लेषण में, इस जगत में जो भी चल रहा है--खेल है। उस खेल को अति गंभीरता से ले लेना भ्रांति है। लेकिन हम लेते हैं। हम लेते हैं एक कारण से कि वही एकमात्र उपाय है दुख को भूलने का।

तुम देखते हो, क्रिकेट का मैच हो कि हाकी हो कि वालीबॉल हो, चले लाखों लोग देखने! इनसे थोड़ा पूछो भी कि क्या देखने जाते हो? तो इनके पास कोई उत्तर न होगा। लेकिन ये भूलने जा रहे हैं।

तुम राह से जा रहे हो, हजार जरूरी काम हों, अगर दो आदमी लड़ते हों राह के किनारे, तुम रुक जाते हो। टिका दी साइकिल, खड़े हो गए, देखने लगे। क्या देखते हो? दो आदमी लड़ते हैं, इसको देखना भी अशोभन है, अभद्र है। यह तो लड़ने जैसा ही है। यह तो तुम्हारे देखने से भी उनको लड़ने में गति मिलेगी। तुम पाप के भागीदार हो रहे हो। तुम प्रोत्साहन दे रहे हो। अगर कोई खड़ा न हो तो शायद वे भी अपने-अपने रास्ते चले जाएं कि क्या सार है! लेकिन जब भीड़ खड़ी हो जाए तो उनका भी जाना मुश्किल हो जाता, अहंकार पर चोट पड़ती, दांव लग जाता: इतने लोग देख रहे हैं! अब अगर हटे तो कायर! इतने लोगों की मौजूदगी लड़ा देगी। तुम अगर खड़े हो गए, तो तुम उनके लड़ने का कारण बन रहे हो।

और तुमने कभी यह भी खयाल किया कि अगर झगड़ा न हो और वे दोनों आदमी सुलह पर आ जाएं और नमस्कार करके विदा हो जाएं, तो तुम भीतर थोड़ा-सा अनुभव करते हो, जैसे कुछ चूका, कुछ नुकसान हुआ, मजा न आया! तुम्हारे भीतर ऐसा लगता है कि होना जो चाहिए था, हो जाती टक्कर, हो जाता खून-खराबा, तो थोड़ी तुम्हें उत्तेजना मिलती; तुम्हारी मुर्दा-सी पड़ी जिंदगी में थोड़ा बल आता, थोड़े प्राण सरकते; तुम्हारी मरी आत्मा थोड़ी सांस लेती। नहीं हुआ कुछ भी? तुम ऐसे जाते हो खाली हाथ, जैसे तुम्हें धोखा दिया गया। तुम एक शिकायत लिए जाते हो। तुम कह भी नहीं सकते किसी से। क्या कहने का! लेकिन भीतर एक शिकायत, एक कड़वा स्वाद तुम्हारे मुंह में रह जाएगा। कुछ की तुम प्रतीक्षा करते थे, वह नहीं हुआ। और दोनों बड़ा शोरगुल मचा रहे थे और कुछ भी नहीं हुआ।

सुबह जब तुम अखबार उठा कर पढ़ते हो, तो तुम जल्दी से देखते हो: "कहां डाका पड़ा? कहां हत्या हुई? कौन प्रधानमंत्री मारा गया? कौन गिराया गया? कौन क्या हुआ?" अगर अखबार में कुछ भी न हो तो तुम ऐसे उदासी से पटक देते हो कि आज कोई समाचार ही नहीं। तुम किन समाचारों की प्रतीक्षा कर रहे हो? तुम चाहते क्या हो? तुम अपनी चाहत तो देखो। तुम बस अपनी उत्तेजना के लिए कुछ भी, कुछ भी हो जाए...।

स्पेन में लोग सांडों से आदमियों को लड़ाते हैं और देखने जाते हैं। अब किसी आदमी से सांड को लड़ाना सांड के साथ भी ज्यादती है और आदमी के साथ भी ज्यादती है। लेकिन लाखों लोग देखते हैं--तत्पर हो कर! इन सांडों की लड़ाई में लोग जितने ध्यान-मग्न दिखाई पड़ते हैं और कहीं दिखाई नहीं देते।

पुराने दिनों में, रोमन दिनों में आदमियों को छोड़ दिया जाता था जंगली जानवरों, शेरों, सिंहों के सामने और उनसे लड़ाई...। और लाखों लोग देखने आते थे।

मुर्गे लड़ाते हैं लोग, कबूतर लड़ाते हैं लोग। अगर तुम्हारे पड़ोस में पति-पत्नी लड़ने लगें, तो तुम दीवाल से कान लगा कर बैठ जाते हो। रस है तुम्हारा ऐसी बातों में, जिनके द्वारा तुम किसी भांति अपने पर से अपना ध्यान हटा लो।

सारा धर्म कहता है: अपने पर ध्यान लगाओ, तो आनंद फलित होगा। तुम अपने पर से ध्यान हटा रहे हो। और जब तुम्हारा ध्यान थोड़ी देर को हट जाता है, तुम सफल हो जाते--तुम कहते, जरा सुख मिला! जरा-सा सुख मिला। संगीत में डूब गए, कि संभोग में डूब गए, कि शराब में डूब गए--जरा-सा सुख मिला। क्षण भर को अपने को भूल गए, किया विस्मरण--सुखी थे? विस्मरण सुख है? तो फिर सब बुद्ध नासमझ हैं। क्योंकि वे कहते हैं, आत्म-स्मरण आनंद है।

तो आनंद और सुख की परिभाषा समझ लो। आत्म-स्मरण आनंद है। स्वेच्छा से आत्म-स्मरण की तरफ जाना साधना है। आत्म-विस्मरण सुख है। जबर्दस्ती स्वयं की याद दिला दे कोई चीज तो दुख है। तुम जिसे दुख कहते हो, उससे आनंद करीब है, बजाय तुम्हारे सुख के।

फिर से मैं समझा दूं: आत्म-स्मरण आनंद है; आत्म-विस्मरण सुख है। और दुख है दोनों के बीच में। दुख में मजबूरी से आदमी को स्वयं का थोड़ा बहुत स्मरण करना पड़ता है--मजबूरी से, जबर्दस्ती; करना नहीं चाहता! सिर में दर्द है और अपनी याद आती है। हृदय में एक कांटा चुभा है और पीड़ा के कारण याद आती। करना पड़ता है! भागता है कि कोई उपाय खोज ले, कहीं शराब की बोतल खोल ले और अपने को भूल जाए।

जहां भी तुम अपने को भुलाने जाते हो--भला वह मंदिर हो या मस्जिद, प्रार्थना हो या नमाज-- वह सब शराब है। जहां भूलने का तुम उपाय खोजते हो, वह सब शराब है। भूलना-मात्र आदमी को अपने से दूर ले जाता है।

अगर तुम्हें मेरी यह बात समझ में आई हो, तो तुम तपश्चर्या का अर्थ भी समझ लोगे।

तपश्चर्या का अर्थ है: जब दुख हो तो उससे भागना नहीं। तपश्चर्या का अर्थ है: जब जीवन में दुख हो, तो उससे जरा भी भागने की कोशिश न करनी, बल्कि ठीक उस दुख के बीच ध्यानस्थ हो कर बैठ जाना; उस दुख को देखना; उस दुख के प्रति जागना और साक्षी-भाव पैदा करना।

इसलिए मैंने कहा कि दुख से आनंद करीब है, बजाय सुख के। मैं तुमसे यह नहीं कह रहा हूं कि तुम दुख पैदा करो, क्योंकि वह तो दुखवाद होगा, वह एक तरह का मैसोचिज्म होगा। मैं तुमको यह नहीं कह रहा कि तुम अपने को सताओ; जैसा कि कई मूढ़ सता रहे हैं। जिंदगी में दुख अपने-आप काफी है, अब तुम्हें कुछ और करने की जरूरत नहीं है। जीवन काफी दुखदायी है, दुख ही दुख से भरा है। जन्म दुख है, जरा दुख है, मृत्यु दुख है--यहां दुख ही दुख हैं। बुद्ध ने कहा, यहां दुखों की कोई कमी है? सब तरफ दुख ही दुख हैं।

तुम्हें दुख बनाने की जरूरत नहीं, दुख तो हैं; तुम सिर्फ दुखों से भागो मत, दुखों के प्रति जागो! तुम दुखों को सुख में भुलाने की चेष्टा मत करो। तुम दुखों को ध्यान बना लो, और उसी ध्यान से तुम पाओगे, तुम आत्म-स्मरण में सरकने लगे। धीरे-धीरे दुख को देखते-देखते, तुम्हें वह भी दिखाई पड़ने लगेगा जो दुख को देख रहा है। सुख में तो देखने वाला सो जाता है। इसलिए तो सुख में कभी परमात्मा याद नहीं आता। इसलिए तो सुखी आदमी एक तरह के अभिशाप में है और दुखी आदमी को एक तरह का वरदान है। सुखी तो भूल जाता अपने को, परमात्मा की सुध कौन रखे? परमात्मा तो हमारा आत्यंतिक केंद्र है। हम अपने को ही भूल गए, तो अपने केंद्र की कहां सुध रही? परमात्मा तो हमारे भीतर छिपा है; हम अपने को ही भूल गए तो परमात्मा को ही भूल गए। इसलिए कभी-कभी दुख में परमात्मा की भला याद आए, सुख में जरा भी याद नहीं आती; सुख में तो आदमी बिलकुल भूल जाता है।

सुख आएं तो सौभाग्य मत समझना। सुख आएं तो उनके भी साक्षी बनना। और दुख आएं तो दुर्भाग्य मत समझना; दुख आएं तो उनके भी साक्षी बनना। और दोनों के साक्षी बन कर तुम पाओगे कि दोनों के पार हो गए हो।

जो न सुखी होता न दुखी, जहां न सुख है न दुख, वहीं बंधन के पार हो जाता है आदमी। जब तक सुखी होता, दुखी होता, छोड़ता, पकड़ता, तभी तक बंधन है। तदा बंधः!

"जब मन न चाह करता है, न सोचता है, न त्यागता है, न ग्रहण करता है, वह जब न सुखी होता, न दुखी होता--तब मुक्ति।"

तदा मुक्तिर्यदा चित्तं न वांछति न शोचति।
न मुग्चति न गृहणाति न हृष्यति न कुप्यति।।

कहां है मुक्ति? मोक्ष कहां है? लोग सोचते हैं, शायद मोक्ष कहीं किसी पारलौकिक भूगोल का हिस्सा है, कोई ज्यॉग्राफी है। मोक्ष ज्यॉग्राफी नहीं है, भूगोल नहीं है। मोक्ष तो तुम्हारे ही चित्त की आत्यंतिक रूप से शांत हो गई दशा है।

लोग सोचते हैं, संसार बाहर है। संसार भी बाहर नहीं है--तुम्हारी ही विक्षुब्ध चेतना है। मोक्ष भी कहीं दूर ऊपर आकाश में है? नहीं, जरा भी नहीं। मोक्ष भी तुम्हारी फिर से शांत हो गई आत्मा है।

तो ऐसा समझो कि संसार है ज्वर-ग्रस्त चेतना; मोक्ष है ज्वर-मुक्त चेतना। संसार है उद्विग्न लहरें तुम्हारे चैतन्य की; मोक्ष है लहरों का फिर सो जाना, विश्राम में खो जाना। झील जब शांत हो जाए और चांद का प्रतिबिंब बनने लगे पूरा-पूरा तो मोक्ष; और झील जब उद्विग्न हो जाए, और लहरें ही लहरें फैल जाएं और चांद का प्रतिबिंब टूट जाए--तब संसार।

तदा मुक्तिः यदा न वांछति...

--न तो चाह हो;

न शोचति...

--न सोच हो, विचार हो;

न मुग्चति...

--न त्याग हो;

न गृह्णाति...

--न पकड़ हो;

तदा मुक्तिः...

--वहीं है मोक्ष।

यह शुद्धतम मोक्ष की परिभाषा है। इसका यह अर्थ हुआ कि ऐसा भी नहीं है कि तुम्हें किसी दिन मोक्ष मिलेगा, तुम चाहो तो अभी भी, कभी-कभी, भरे संसार में भी क्षण भर को तुम मोक्ष का रस ले सकते हो। क्योंकि अगर क्षण भर को भी विचार बंद हो जाएं, और क्षण भर को भी कोई वांछा न हो, क्षण भर को भी चित्त में क्रिया रुक जाए, कोई गति-आवागमन न हो, न कुछ पकड़ने का भाव उठे न छोड़ने का--तो उस क्षण में तुम मोक्ष में हो। और वही स्वाद तुम्हें फिर और-और मोक्ष में ले जाएगा। ध्यान का अर्थ है: थोड़ी-थोड़ी झलकें। समाधि का अर्थ है: झलकों का ठहर जाना, थिर हो जाना।

"जब मन न चाह करता है...।"

लेकिन तुम देखो! जिनको तुम त्यागी कहते हो, वे भी चाह कर रहे हैं--मोक्ष की चाह कर रहे हैं! अष्टावक्र की परिभाषा में तुम्हारे त्यागी, त्यागी नहीं हैं।

तुम पूछो अपने त्यागी से कि तुमने संसार क्यों छोड़ा? वह कहता है, मोक्ष की तलाश में। तुम पूछो अपने त्यागी से, तुमने धन-द्वार, घर-द्वार क्यों छोड़ा? तो वह कहता है, मोक्ष की तलाश में; आत्मा के आनंद को खोजना, सत्य को खोजना। मगर यह तो फिर त्याग न हुआ।

मैंने सुना है, दो छोटे-छोटे गांव एक पहाड़ी पर बसे थे। एक था क्षत्रियों का गांव और एक था जुलाहों का गांव। जुलाहे सदा से क्षत्रियों से पीड़ित थे, सदा डरते रहे। क्षत्रिय, क्षत्रिय; जुलाहे, जुलाहे! उनके सामने अकड़ कर भी न निकल पाते। क्षत्रियों ने नियम बना रखा था कि उनके गांव में से कोई जुलाहा मूंछ पर ताव दे कर नहीं निकल सकता, तो मूंछ नीची कर लेनी पड़ती। बड़ी पीड़ा थी जुलाहों को। आखिर उन्होंने कहा, इसका कुछ उपाय करना पड़े, आखिर एक सीमा होती है सहने की। उन्होंने कहा, एक रात जब क्षत्रिय सोए हों--क्योंकि जागे में तो उन पर हमला करने में झंझट है--जब सब क्षत्रिय सोए हों--और उनको कभी कल्पना भी नहीं हो

सकती, किसी क्षत्रिय ने सपना भी न देखा होगा कि जुलाहे हमला करेंगे--तो रात में हम चले जाएं और अच्छी मार-कुटाई कर दें और लूटपाट कर लें।

बड़ी हिम्मत बांध कर जुलाहों ने क्षत्रियों के गांव पर हमला किया, लेकिन जुलाहे तो जुलाहे थे। सोए हुए क्षत्रिय भी जागे हुए जुलाहों के लिए काफी थे। वे पहले ही से घबड़ा रहे थे, एक-दूसरे के पीछे हो रहे थे, बामुश्किल तो पहुंचे क्षत्रियों के गांव में! उनके पहुंचने के शोरगुल में इसके पहले कि वे हमला करें या कुछ करें, क्षत्रिय जग गए। वे सोच-विचार ही काफी करते रहे कि कहां से करें, किस पर करें; सोचते रहे कि सबसे कमजोर क्षत्रिय कौन है, पहले उसी को देखें।

अब ये भी कोई ढंग होते हैं? उतनी देर में क्षत्रिय जाग गए, वे तलवारें निकाल लाए। जुलाहों ने तलवारें देखीं तो भागे, बेतहाशा भागे। जब जुलाहे भाग रहे थे, तो उनमें से उनका एक साथी कहने लगा कि भाइयो! भागे तो जाते ही हो, भला मारो-मारो तो कहते चलो। तो जुलाहे भागते जाते और चिल्लाते जाते: "मारो-मारो!"

किसको धोखा देते हो? लेकिन उनको मजा आया "मारो-मारो" चिल्लाने में। मारना-करना उनके बस के बाहर था, पिटाई हो रही थी, भागे जा रहे थे; लेकिन जिसने कहा, उसने भी खूब तरकीब निकाली। उसने कहा कि कम से कम मारो-मारो तो चिल्लाओ। मार नहीं सकते, कोई हर्जा नहीं; लेकिन मारो-मारो की आवाज तो हम कर ही सकते हैं। इससे कम से कम भरोसा तो रहेगा कि हमने भी कुछ किया।

तुम अपने त्यागियों को देखते हो? तुम्हारे ही जैसे, ठीक तुम्हारे जैसे ही वांछा से भरे, कामना से भरे, तुम्हारे ही जैसे वासना से भरे। माना कि उनके वासना के विषय दूसरे, तुम्हारे विषय दूसरे; पर विषय-भेद से थोड़े कोई भेद पड़ता है! वासना का अर्थ है: कुछ भी चाहा, तो चूके, तो अपने से चूके। चाह-मात्र अपने से वंचित कर जाती है। लेकिन भागते जाते हैं अपनी चाह के पीछे और चिल्लाते भी जाते हैं कि भाइयो! त्यागो, त्यागो! वासना में कुछ सार नहीं है!

तुम जरा सुनो अपने जुलाहों को--तुम्हारे महात्मा! वे कहते हैं: "भाइयो! त्यागो, त्यागो! वासना में कुछ भी रखा नहीं; दुख ही दुख है।" और तुम उनसे ही पूछो कि महाराज, आप उपवास करते, घर छोड़ दिया, मंदिर में बैठे हैं, बड़ा ध्यान लगाते हैं--किसलिए? अगर तुम्हारा महात्मा उत्तर दे दे कि इसलिए, तो चूक गया। कोई भी उत्तर वह दे, कहे कि इसलिए, तो वासना मौजूद है।

तुम्हारा महात्मा अगर हंसे और कहे कि "किसलिए भी नहीं, सिर्फ जीवन की व्यर्थता दिखाई पड़ गई...! मैंने जीवन छोड़ा नहीं है--जीवन छूट गया है। मैं कुछ चाहने में नहीं लगा हूं, मैं कुछ खोजने में भी नहीं लगा हूं--मैंने तो यह जान लिया कि जिसको खोजना है, वह मेरे भीतर है, उसको खोजने की कोई जरूरत नहीं है। मैं कहीं जा भी नहीं रहा हूं, अपने घर में बैठा हूं। मेरी सब यात्रा समाप्त हो गई है। मैं मोक्ष भी नहीं खोज रहा हूं, परमात्मा भी नहीं खोज रहा हूं। मेरी प्रार्थना कुछ मांगने के लिए नहीं है। उपवास मेरा आनंद है, कुछ चाह नहीं। ध्यान मेरा आनंद है, कुछ चाह नहीं। ये मेरे साधन नहीं हैं, ये मेरे साध्य हैं।"

अगर तुमसे कोई महात्मा ऐसा कहे, और ऐसा तुम पाओ कि किसी महात्मा के जीवन में ऐसा है भी; क्योंकि कहने से कुछ नहीं होता; हो सकता है "मारो-मारो" चिल्ला रहा हो, फिर भी तुम्हें उसकी आंखों में ऐसी झलक मिले, उसके सान्निध्य में भी ऐसा लगे कि न उसकी कोई पकड़ है न कोई छोड़ है, न त्याग है न भोग है, जो होता है होता है, वह चुपचाप किनारे पर बैठा देख रहा है--अगर तुम ऐसी विश्राम की चेतना को पा लो, वहां झुकाना अपना सिर। वह झुकने की जगह है। वह मंदिर की चौखट आ गई। वैसा आदमी मंदिर है।

लेकिन अगर कहीं भी पाने की, कोई आकांक्षा अभी भी सरक रही हो मन के किसी कोने में, फिर वह पाना कुछ भी क्यों न हो, तो संसारी संसारी है। सिर के बल खड़ा हो जाए, इससे कुछ भेद नहीं पड़ता। भूखा मरे, इससे कुछ भेद नहीं पड़ता। नंगा खड़ा हो जाए, इससे कुछ भेद नहीं पड़ता।

संसार और मोक्ष अष्टावक्र की परिभाषा में तुम्हारे चित्त की दशाएं हैं--चाह और अचाह की।

"जब मन न चाह करता है, न सोचता है, न त्यागता है, न ग्रहण करता है, न सुखी होता, न दुखी होता--तब मुक्ति है।"

तदा मुक्तिः।

जब मन एकरस होता, बस होता, कोई क्रिया नहीं होती, कोई हलन-चलन नहीं होता, कोई कंपन नहीं होता, स्तब्ध ज्योति ठहरी होती है अकंप, न कहीं जाना, न होने की कोई वांछा, जैसा है है--ऐसा सर्वस्वीकार, ऐसी तथाता; जैसे दर्पण कोरा; जैसे कोरा कागज, जिस पर कुछ लिखा नहीं है, ऐसा जब मन कोरा होता--उस कोरे मन का नाम ही ध्यान है। और उस कोरे मन में जब कोई संभावना नहीं रह जाती...। क्योंकि कुछ कोरे कागज होते हैं जिनमें अदृश्य लिखावट होती है। कोरा कागज हो सकता है, लेकिन ऐसी रासायनिक प्रक्रियाएं होती हैं कि तुम रासायनिक द्रव्यों से लिख सकते हो, दिखाई न पड़े, थोड़ी आंच बताओ तो दिखाई पड़ने लगे। जब कोरा कागज ऐसा होता है कि उसमें अदृश्य लिखाई भी नहीं होती, कितनी ही आंच दिखाओ कुछ भी दिखाई नहीं पड़ेगा, कुछ भी पैदा नहीं होगा--तब जानना आ गए अपने घर, मंजिल मिली। तदा मुक्तिः।

"जब मन किसी दृष्टि अथवा विषय में लगा हुआ है तब बंध है और मन जब सब दृष्टियों से अनासक्त है तब मोक्ष है।"

सीधी-सीधी बातें हैं, बड़े सीधे सूत्र हैं और सत्य के अत्यंत निकट हैं।

तदा बंधो यदा चित्तं सक्तं कास्वपि दृष्टिषु।
तदा मोक्षो यदा चितंसक्तं सर्वदृष्टिषु।।

"जब मन किसी दृष्टि अथवा विषय में लगा है...।"

किसी दृष्टि में लगा है--आंख से जो दिखाई पड़ता है उसमें लगा है; कान से जो सुनाई पड़ता है उसमें लगा है; हाथ से जो स्पर्श में आता है उसमें लगा है--तो दृष्टि में लगा है।

समझो इस बात को। तुम राह से गुजरे, देखा एक सुंदर स्त्री को जाते हुए--मन उसके पीछे चलने लगा। तुम न भी जाओ उसके पीछे, तुम मुंह मोड़ लो, तुम आंख बंद कर लो, तुम उस तरफ देखो ही नहीं--लेकिन मन चलने लगा। तुम्हारे चलने से कुछ मन के चलने का संबंध नहीं। तुम्हारा शरीर चले न चले, मन चलने लगा। फिर वहीं से एक त्यागी निकल रहा है। तुम उस स्त्री के सौंदर्य के भोग के लिए आतुर होने लगे, मन में कल्पना उठने लगी। फिर एक त्यागी निकलता है वहीं से, उसने भी सुंदर स्त्री देखी। सुंदर स्त्री देख कर ही वह शास्त्रों के वचन अपने भीतर दोहराने लगा कि "स्त्री में है क्या? हड्डी, मांस, मज्जा, मल-मूत्र--है क्या स्त्री में? कुछ भी तो नहीं है।" वह समझाने लगा अपने को। यह त्यागी है, लेकिन इस त्याग के पीछे भी कहीं गहरे में राग छिपा है; नहीं तो यह बात भी क्या उठानी? और स्त्री में मल-मूत्र छिपा है तो तुममें क्या कोई सोना-चांदी छिपा है।

तुमने कभी सोचा? जिन महात्माओं ने तुम्हारे शास्त्र लिखे, उसमें वे लिख गए "स्त्री में मल-मूत्र, मांस-मज्जा, बस यही थूक-खखार--यही सब छिपा पड़ा है।" खुद इन महात्मा में क्या छिपा था? इस संबंध में भी तो कुछ सूचना दे जाते। उस संबंध में बिलकुल चुप हैं। क्योंकि पुरुषों ने शास्त्र लिखे हैं, इसलिए स्त्रियों में तो हड्डी, मांस, मज्जा है और पुरुषों में सोना-चांदी है! स्त्रियों ने शास्त्र लिखे होते तो शायद बात कुछ और होती, तो वे पुरुषों के बाबत लिखतीं। लेकिन यह लिखने की जरूरत भी क्या है? क्या इस बात में साफ प्रमाण नहीं है कि कहीं न कहीं अभी भी स्त्री में रस रहा होगा। उसी रस को झुठलाने को यह कह रहा है कि रखा क्या है! यह

अपने मन को समझा रहा है। मन तो कहता है कि चलो...। यह मन को कह रहा है: अरे पागल, कुछ भी नहीं रखा है! वासना तो उठी है, यह वासना की लगाम खींचने की कोशिश कर रहा है।

लाख तुम ऐसी कोशिशें करो, तुम जीतोगे नहीं। यह सब सोच-विचार ही है।

मुझे अपनी पस्ती की शरम है,

तेरी रिफअतों का खयाल है,

मगर अपने दिल को मैं क्या करूं?

इसे फिर भी शौक-ए-विसाल है।

तुम लाख समझो, शघमदा होओ, अपराधी अनुभव करो: गलती हो रही है, पाप हो रहा है--फिर भी कुछ फर्क नहीं पड़ता।

मगर अपने दिल को मैं क्या करूं?

इसे फिर भी शौक-ए-विसाल है।

वह दिल तो भोग मांगता ही जाता है। उस दिल को तुम रोको, बंधन डालो, जंजीरें पहनाओ-- इससे भी कोई फर्क नहीं पड़ता। तुम निकल रहे राह से--तुम भोगी हो तो भोग की आकांक्षा उठती है; त्यागी निकलता, उसको भी भोग की आकांक्षा निकलती है, वह त्याग की बातों से उस आकांक्षा को दबाता। मगर दोनों दृष्टि में उलझ गए; जो दिखाई पड़ा उसमें उलझ गए।

तुम उस आदमी की कल्पना करो जो वहीं रास्ते से निकलता है और जो दिखाई पड़ता है, वह न तो इस तरफ न उस तरफ, किसी तरह की उलझन पैदा नहीं करता। स्त्री निकली, निकली--स्त्री स्त्री है! न तो शोरगुल मचाने की जरूरत है कि स्वर्ग निकल गया पास से, न शोरगुल मचाने की जरूरत है कि यह कार्पोरेशन की मैला-गाड़ी निकल गई पास से। स्त्री, स्त्री है--निकल गई, निकल गई! तुम ऐसे ही चले गए, जैसे कुछ भी न निकला। इस अवस्था का नाम है: दृष्टि के पार हो जाना।

तुमने कान से कुछ सुना और उसमें रस पड़ गया। एक गीत सुन लिया, फिर-फिर गीत को सुनने की आकांक्षा होने लगी--तो दृष्टि में उलझ गए। तुमने कुछ छुआ, प्रीतिकर लगा, फिर-फिर छूना चाहा--तो फिर दृष्टि में उलझ गए।

खयाल रखना, तुमने जा कर किसी साधु की वाणी सुनी, किसी संत के वचन सुने, सुनने के कारण अच्छे लगे और उलझ गए--तो वह भी दृष्टि है। समझ के कारण ठीक लगना एक बात है, सुनने के कारण ठीक लगना बिलकुल दूसरी बात है। तुम, सिर्फ कानों को प्रीतिकर लगे, इसलिए उलझ गए; कर्णमधुर लगे, इसलिए उलझ गए--तो फिर तुम दृष्टि में उलझ गए। तुम्हारी समझ को ठीक लगे...।

"जब मन किसी दृष्टि अथवा विषय में लगा हुआ है, तब बंध है।"

यदा चित्तम् कासु दृष्टिषु सक्तम् तदा बंधः।

"और मन सब दृष्टियों से जब अनासक्त है, तब मोक्ष है।"

यदा चित्तम् सर्वदृष्टिषु असक्तम् तदा मोक्षः।

जब तुम देखते हुए--और नहीं देखते; चलते हुए--और नहीं चलते; छूते हुए--और नहीं छूते; सुनते हुए--नहीं सुनते; सब होता रहता है, लेकिन तुम अपने द्रष्टा-भाव में थिर होते हो, वहां से तुम विचलित नहीं होते, वहां अविचलित तुम्हारी अंतरज्योति कंपती नहीं, कोई हवा का झोंका तुम्हें हिलाता नहीं; सब आता है जाता है, तुम वही के वही बने रहते हो, एकरस, ज्यों के त्यों--यही मोक्ष है। मोक्ष कहीं सात स्वर्गों के पार नहीं। और संसार बाजार में, दुकान में, व्यवसाय में नहीं। संसार तुम्हारे चित्त की एक दशा; मोक्ष भी तुम्हारे चित्त की एक दशा। मोक्ष वैसी दशा जैसा स्वाभाविक होना चाहिए; और संसार वैसी दशा जैसा रोग-ग्रस्त अवस्था में हो जाता है। संसार यानी बीमार आत्मा की अवस्था। मोक्ष यानी स्वस्थ आत्मा की अवस्था।

"स्वस्थ" शब्द बड़ा अच्छा है। इसका अर्थ ही होता है: स्वयं में स्थित। स्वास्थ्य का अर्थ ही होता है, जो स्वयं में स्थित हो गया। आत्मस्थ जो हुआ, वही स्वस्थ; बाकी सब बीमार।

शरीर की बीमारी थोड़े ही कोई बीमारी है; असली बीमारी तो आत्मा का अस्वस्थ होना है। अपने से च्युत हो जाना, अपने से हट जाना, अपने केंद्र से डांवांडोल हो जाना: अस्वास्थ्य। अपने केंद्र पर बैठ जाना, अडिग: स्वास्थ्य। इसी स्वास्थ्य को अष्टावक्र मोक्ष कह रहे हैं।

"जब मैं हूं तब बंध है। जब मैं नहीं हूं तब मोक्ष है।"

कैसे प्यारे वचन हैं! इनसे श्रेष्ठ वचन तुम कहां खोज सकोगे!

"जब मैं हूं तब बंध है। जब मैं नहीं हूं तब मोक्ष है। इस प्रकार विचार कर न इच्छा कर, न ग्रहण कर और न त्याग कर।"

सरल, अनूठे, पर अति कठिन! जितने सरल उतने कठिन। सरल ही तो हमें करना कठिन हो गया है। कठिन तो हम कर लेते हैं, सरल अटका देता है।

इसे थोड़ा समझना।

कठिन को तो करने में अहंकार को रस आता है, इसलिए कर लेते हैं। कठिन में तो अहंकार को चुनौती है, कुछ करके दिखला देने का मजा है। कठिन में तो कर्ता होने की सुविधा है। तो आदमी कठिन को करने में बड़ा उत्सुक होता है।

तुम ध्यान रखना, तुम जीवन में जो भी कर रहे हो, कहीं वह इसलिए तो नहीं कर रहे हो कि वह कठिन है? बड़ा मकान बनाना कठिन है। बड़ी कार खरीद लाना कठिन है। बड़ा धन-अंबार लगा लेना कठिन है। कहीं तुम इसलिए तो पीछे नहीं लगे हो? खाओगे, पीयोगे, ओढ़ोगे--क्या करोगे उस धन के अंबार का? लेकिन आदमी धन का ढेर लगाता जाता है। क्यों? पूछो उससे। शायद बहुत कठिन था, इसलिए चुनौती थी। कुछ दिखला कर--मैं भी कुछ हूं--दुनिया को बतला देने का मजा था। जो बिलकुल सरल है, उसमें तो किसी को रस नहीं आता।

सिकंदर सारी दुनिया जीतना चाहता था। डायोजनीज ने उससे कहा, क्या करोगे सारी दुनिया को जीतने के बाद? सिकंदर ने कहा, क्या करेंगे? फिर विश्राम करेंगे!

डायोजनीज खूब हंसने लगा। उसने कहा, अगर विश्राम ही करना है तो हम अभी विश्राम कर रहे हैं, तो तुम भी करो। सारी दुनिया जीत कर विश्राम करोगे, यह बात कुछ समझ में नहीं आई। इसमें तर्क क्या है? क्योंकि सारी दुनिया के जीतने का विश्राम से कोई भी तो संबंध नहीं है। विश्राम मैं बिना कुछ जीते कर रहा हूं। जरा मेरी तरफ देखो!

और वह कर ही रहा था विश्राम। वह नदीत्तट पर नग्न लेटा था। सुबह की सूरज की किरणें उसे नहला रही थीं। मस्त बैठा था। मस्त लेटा था। कहीं कुछ करने को न था, विश्राम में था। तो वह खूब हंसने लगा। उसने कहा, सिकंदर तुम पागल हो! तुम जरा मुझे कहो तो, कि अगर विश्राम दुनिया को जीतने के बाद हो सकता है, तो डायोजनीज कैसे विश्राम कर रहा है? मैं कैसे विश्राम कर रहा हूं? मैंने तो कुछ जीता नहीं। मेरे पास तो कुछ भी नहीं है। मेरे हाथ में एक भिक्षा-पात्र हुआ करता था, वह भी मैंने छोड़ दिया। वह इस कुत्ते की दोस्ती के कारण छोड़ दिया।

कुत्ता उसके पास बैठा था। डायोजनीज का नाम ही हो गया था यूनान में: "डायोजनीज कुत्ते वाला"। वह कुत्ता सदा उसके साथ रहता था। उसने आदमियों से दोस्ती छोड़ दी। उसने कहा, आदमी कुत्तों से गए-बीते हैं। उसने एक कुत्ते से दोस्ती कर ली। और उसने कहा, इस कुत्ते से मुझे एक शिक्षा मिली, इसलिए मैंने पात्र भी छोड़ दिया; पहले एक भिक्षा-पात्र रखता था। एक दिन मैंने इस कुत्ते को नदी में पानी पीते देखा। मैंने कहा, "अरे, यह बिना पात्र के पानी पी रहा है! मुझे पात्र की जरूरत पड़ती है!" वहीं मैंने छोड़ दिया। इस कुत्ते ने मुझे हरा दिया। मैंने कहा, यह हमसे आगे पहुंचा हुआ है? मुझे पात्र की जरूरत पड़ती है? क्या जरूरत? जब कुत्ता पी लेता है

पानी और कुत्ता भोजन कर लेता...। तो मेरे पास कुछ भी नहीं है, फिर भी मैं विश्राम कर रहा हूं। और क्या तुम संदेह कर सकते हो मेरे विश्राम पर?

नहीं, सिकंदर भी संदेह न कर सका। वह आदमी सच कह रहा था। वह निश्चित ही विश्राम में था। उसकी आंखें, उसका सारा भाव, उसके चेहरे की विभा...वह ऐसा था जैसे दुनिया में कुछ पाने को बचा नहीं, सब पा लिया है। कुछ खोने को नहीं, कोई भय नहीं, कोई प्रलोभन नहीं।

सिकंदर ने कहा, तुमसे मुझेर् ईष्या होती है। चाहता मैं भी हूं ऐसा ही विश्राम, लेकिन अभी न कर सकूंगा। दुनिया तो जीतनी ही पड़ेगी। मैं यह तो बात मान ही नहीं सकता कि सिकंदर बिना दुनिया को जीते मर गया।

डायोजनीज ने कहा, जाते हो, एक बात कहे देता हूं, कहनी तो नहीं चाहिए, शिष्टाचार में आती भी नहीं, लेकिन मैं कहे देता हूं: तुम मरोगे बिना विश्राम किए।

और सिकंदर बिना विश्राम किए ही मरा! भारत से लौटता था, रास्ते में ही मर गया, घर तक भी नहीं पहुंच पाया। और जब बीच में मरने लगा और चिकित्सकों ने कहा कि अब बचने की कोई उम्मीद नहीं, तो उसने कहा, सिर्फ मुझे चौबीस घंटे बचा दो, क्योंकि मैं अपनी मां को मिलना चाहता हूं। मैं अपना सारा राज्य देने को तैयार हूं। मैंने यह राज्य अपने पूरे जीवन को गंवा कर कमाया है, मैं वह सब लुटा देने को तैयार हूं...चौबीस घंटे! मैंने अपनी मां को वचन दिया है कि मरने के पहले जरूर उसके चरणों में आ जाऊंगा।

चिकित्सकों ने कहा कि तुम सारा राज्य दो या कुछ भी करो, एक श्वास भी बढ़ नहीं सकती।

सिकंदर ने कहा, किसी ने अगर मुझे पहले यह कहा होता, तो मैं अपना जीवन न गंवाता। जिस राज्य को पाने में मैंने सारा जीवन गंवा दिया, उस राज्य को देने से एक श्वास भी नहीं मिलती! डायोजनीज ठीक कहता था कि मैं कभी विश्राम न कर सकूंगा।

खयाल रखना, कठिन में एक आकर्षण है अहंकार को। सरल में अहंकार को कोई आकर्षण नहीं है। इसलिए सरल से हम चूक जाते हैं। सरल...परमात्मा बिलकुल सरल है। सत्य बिलकुल सरल है, सीधा-साफ, जरा भी जटिलता नहीं।

यदा नाहं तदा मोक्षो यदाहं बंधनं तदा।
मत्वेति हेलया किंचित् मा गृहाण विमुग्च मा।।
"जब मैं हूं, तब बंध है।"
यदा अहम् तदा बंधनम्!

मैं ही बंध हूं। मेरा भाव मुझे दूर किए है परमात्मा से। यह सोचना कि मैं हूं, मेरे और उसके बीच फासला है। यही सीमा अटका रही। जिस क्षण मैं जानता हूं--वही है, मैं नहीं।

यदा अहम् न तदा मोक्षः।
यदा अहम् न तदा मोक्षः--जहां मैं नहीं, बस वहां मुक्ति, वहां मोक्ष।

एक ही चीज गिरा देनी है: मैं-भाव, अस्मिता, अहंकार। और जब तक चित्त में लहरें हैं, तब तक अहंकार नहीं गिरता, क्योंकि अहंकार सभी लहरों के जोड़ का नाम है। अहंकार तुम्हारी सारी अशांति का संघट है। अहंकार कोई वस्तु नहीं है कि तुम उठा कर फेंक दो। अहंकार तुम्हारे पूरे पागलपन का संगृहीत नाम है। जैसे-जैसे तुम शांत होते जाओगे, वैसे-वैसे अहंकार विसर्जित होता जाएगा।

जैसे तुम गए और देखा दरिया में तूफान है, फिर तूफान शांत हो गया--फिर तुम क्या पूछते हो तूफान कहां गया? जब दरिया शांत है तो तूफान कहां है? क्या तुम कहोगे कि तूफान अब शांत अवस्था में है? तूफान है ही नहीं। और जब तूफान था तब क्या था? तब भी दरिया ही था, सिर्फ अस्तव्यस्त दरिया था। बड़ी लहरें उठती थीं, आकाश को छू लेने का पागलपन था, बड़ा महत्वाकांक्षी दरिया था, बड़ी आकांक्षा, बड़ी चाहत, बड़ा

विचार, कुछ कर दिखाने का भाव दरिया में था। थक गया, हार गया, समझ लिया कि कुछ सार नहीं, सो गया, विश्राम में लौट गया--तूफान गया।

तूफान कोई वस्तु नहीं है, तूफान एक उद्विग्न अवस्था है। अहंकार भी तूफान जैसा है। तुम्हारे चित्त की उद्विग्न अवस्था का नाम अहंकार है। जैसे-जैसे तुम शांत होने लगे, अहंकार विदा होने लगा। परम शांति में तुम्हारी सीमा खो जाती है, तुम अचानक असीम के साथ एक हो जाते हो।

"जब मैं हूं तब बंध है।"

यदा नाहं तदा मोक्षो यदाहं बंधनं तदा।

"और जब मैं नहीं, तब मोक्ष।"

"इस प्रकार विचार कर न इच्छा कर, न ग्रहण कर, न त्याग कर।"

बड़ा सीधा सूत्र है, लेकिन तुम कहोगे, बड़ा जटिल है! यह तो उलझा दिया। सीधी बात कहो, या तो कहो कि ग्रहण करो, भोगो--समझ में आता है। यह भी समझ में आता है कि मत भोगो, छोड़ो, त्यागो। यह भी समझ में आता है। यह क्या बात है? यह तो बड़ी उलझन है।

अष्टावक्र कहते हैं: "ऐसा विचार कर न इच्छा कर, न ग्रहण कर और न त्याग कर।"

हमें तो बड़ी जटिलता मालूम होती है ऊपर से देखने पर कि यह तो बड़ी उलझन की बात हो गई।

मेरे पास लोग आते हैं, वे कहते हैं, हम कामवासना के साथ क्या करें? भोगें? दबाएं? क्या करें? आप हमें उलझन में डाले हुए हैं।

जो कहते हैं, भोगो...चार्वाक कहते हैं, भोगो! बृहस्पति ने कहा, "कोई फिक्र न करो। ऋणं कृत्वा घृतं पिवेत! अगर ऋण ले कर घी पीना पड़े तो पीयो मजे से, लौट कर आता कौन? किसका ऋण चुकाना है? किसको चुकाना है? मरे कि मरे। भोग लो, लूट कर भी भोगना हो तो भोग लो। अपनी है कि पराई है स्त्री, इसकी फिक्र मत करो। कौन किसका है? मर गए कि सब राख है। कोई मर कर आता नहीं। कोई आत्मा इत्यादि नहीं, इसलिए अपराध इत्यादि की व्यर्थ बातों में मत पड़ो। न कोई पाप है, न कोई पुण्य।"

यह भी बात समझ में आती है। सौ में निन्यानबे लोग यही मानते हैं, चाहे कहते कुछ भी हों। उनके कहने पर मत जाना--देखना, क्या करते हैं? उनकी किताबों में मत खोजना, उनके चेहरों में खोजना।

हरेक चेहरा खुद एक खुली किताब है यहां,

दिलों का हाल किताबों में ढूंढ़ता क्यों है?

मुसलमान को देखना हो तो कुरान में मत देखना, अन्यथा गलती में पड़ोगे। क्योंकि मुसलमान का कुरान से क्या लेना-देना है, जितना हिंदू का लेना-देना है कुरान से उतना ही मुसलमान का लेना-देना है, उससे ज्यादा नहीं। हिंदू को देखना हो तो वेद और उपनिषदों में मत देखना। उससे हिंदू को क्या लेना-देना है? हिंदू को देखना हो तो उसकी आंखों में देखना, उसके चेहरे में देखना। सिद्धांतों में मत झांकना, सिद्धांत बड़े धोखे से भरे हैं। हमने सिद्धांत पकड़ लिए हैं अपनी असलियत छिपाने को। कुरान में ढंके बैठे हैं। कोई वेद को ओढ़े बैठा है, कोई राम-नाम चदरिया डाले है--उनके भीतर छिपे बैठे हैं। तुम राम-नाम चदरियों के धोखे में मत आना, तुम तो आदमी की सीधी आंख में देखना।

हरेक चेहरा खुद एक खुली किताब है यहां,

दिलों का हाल किताबों में ढूंढ़ता क्यों है?

सौ में निन्यानबे आदमी चार्वाकवादी हैं। चार्वाक का पुराना नाम है लोकायत। वह नाम बड़ा प्यारा है। लोकायत का अर्थ होता है: लोग को जो प्रिय है। सबको जो प्रिय है। कहें लोग कुछ भी, ऊपर से कुछ भी

गुनगुनाएं, राम-राम जपें; ऊपर से मोक्ष, परमात्मा, धर्म की बातें करें--लेकिन भीतर से अगर पूछो तो हर आदमी का दिल चार्वाक है।

"चार्वाक" शब्द भी बहुत अच्छा है। वह आया है चारु वाक से--जिसके वचन मधुर लगें। सभी को मधुर लगते हैं--कहे कोई नहीं; हिम्मतवर कहेंगे सिर्फ। बृहस्पति हिम्मतवर रहे होंगे, इसलिए भारत में उनको आचार्य का पद दिया गया, "आचार्य बृहस्पति" कहा है। चार्वाक-दर्शन के जन्मदाता को भी आचार्य कहा है--उसी तरह जिस तरह शंकर को आचार्य कहा है, रामानुज को आचार्य कहा है।

इस देश में हिम्मत तो है। यह तो कहता है कि बात तो कही ही है बृहस्पति ने, बड़े मूल्य की कही है। और अधिक लोग तो बृहस्पति के ही अनुयायी हैं। हालांकि बृहस्पति के लिए कोई समर्पित मंदिर नहीं है कहीं। और न तुम किसी के घर में चार्वाक की किताब पाओगे, किताब बची नहीं है; किसी ने बचाई भी नहीं। कौन बचाएगा? किताबें तुम पाओगे: गीता, कुरान, बाइबिल, वेद, धम्मपद। मगर इनसे किसी को कुछ लेना-देना नहीं है। किताबों के कवर धम्मपद के हैं, भीतर तो बृहस्पति के वचन लिखे हैं।

हृदय खोजो आदमी का, तो सौ में निन्यानबे आदमी नास्तिक हैं और सौ में निन्यानबे आदमी भोगवादी हैं। वह भी समझ में आता है, स्वाभाविक लगता है।

फिर थोड़े-से लोग हैं जो त्यागी हैं। वे भी समझ में आते हैं। भोग के तर्क से उनके तर्क में कुछ विरोध नहीं। वे कहते हैं, जीवन में कुछ नहीं है, इसलिए हम छोड़ते हैं। वह भी बात समझ में आती है: "जहां कुछ नहीं है, उससे भागो! किसी और की तलाश करो, जहां कुछ हो!"

लेकिन अष्टावक्र को कैसे समझोगे? मुझे कैसे समझोगे?

"न इच्छा कर, न ग्रहण कर और न त्याग कर।"

तो जब मुझसे कोई पूछता है, "हम अपनी कामवासना का क्या करें? आप कहते हैं दबाओ मत। आप कहते हैं भोगो मत। करें क्या फिर?" ये दो बातें साफ समझ में आती हैं। द्वैत सदा समझ में आता, अद्वैत समझ में नहीं आता।

मैं उनसे कहता हूं, जागो! न भोगो न भागो--जागो। न दबाओ न दमन करो, न भोग में अपने को नष्ट करो--साक्षी बनो। देखो। जो होता हो उसे देखो। वासना पकड़े तो पकड़ने दो, तुम क्या करोगे? तुम दूर भीतर बैठे देखते रहो कि वासना पकड़ती है। तुमने उठाई भी नहीं। जिसने उठाई वह जाने। तुम अपने को क्यों बेचैन किए लेते हो? क्रोध उठता है, क्रोध को भी देखो। लोभ उठता है, लोभ को भी देखो। तुम सिर्फ देखने पर ध्यान रखो कि देखूंगा। जो भी उठेगा, देखूंगा।

सुबह होती है तो क्या करते हो--सुबह को देखते। रात हो जाती तो क्या करते, रात को देखते। जवान होते तो जवानी देखते, बूढ़े हो जाते तो बुढ़ापे को देखते। मौसम बदलते, ऋतुएं बदलतीं--ऐसा ही तुम्हारा चित्त भी डांवांडोल होता रहता है, तुम देखते रहो। अगर तुमने देखने के सूत्र को पकड़ लिया, तो तुम धीरे-धीरे पाओगे सब ऋतुएं दूर हो गईं; न काम बचा, न ब्रह्मचर्य बचा; न भोग बचा न त्याग बचा। दोनों गए। एक दिन अंततः आदमी पाता है: अकेला बैठा हूं घर में, कोई भी नहीं बचा। एकांत, बिलकुल अकेला, शुद्ध चैतन्य, चिन्मात्र! अहो चिन्मात्रं! आश्चर्य कि मैं सिर्फ चैतन्य-मात्र हूं, और सब व्यर्थ की बकवास थी--पकड़ो, छोड़ो, यह करो, वह करो। कर्ता भी भूल थी, भोक्ता भी भूल थी। संस्कृत में जो शब्द है वह बड़ा बहुमूल्य है।

मत्वेति हेलया किंचित् मा गृहाण विमुग्च मा।

हिंदी में अनुवाद सदा किया जाता रहा है: "इस प्रकार विचार कर, न इच्छा कर, न ग्रहण कर, और न त्याग कर।" लेकिन यह "विचार करना" नहीं है। क्योंकि विचार करने को तो मना किया है अष्टावक्र ने शुरू में ही।

तो जिन्होंने भी अनुवाद किए हैं अष्टावक्र के, वे ठीक नहीं मालूम पड़ते हैं। क्योंकि तीन सूत्रों के पहले ही वे कहते हैं: "जब मन कुछ चाहता है, कुछ सोचता है, कुछ त्यागता, कुछ ग्रहण करता, जब वह सुखी-दुखी होता, तब बंध है।"

किंचित शोचति तदा बंधः!

तो विचार तो नहीं हो सकता "मत्वेति" का अर्थ। मत्वेति बनता है मति से। मति एक बड़ी पारिभाषिक धारणा है। तुमने सुनी कहावत कि जब परमात्मा किसी को मिटाना चाहता तो उसकी मति भ्रष्ट कर देता। मति क्या है? तुम्हारे सोचने पर निर्भर नहीं है मति। तुम तो सोच-सोच कर जो भी करोगे वह मन का ही खेल होगा। मति है मन के पार जो समझ है, उसका नाम मति है। मन के पार जो समझ है, सोच-विचार से ऊपर जो समझ है, शुद्ध समझ, जिसको अंग्रेजी में अंडरस्टेंडिंग कहें, थिंकिंग नहीं, विचारणा नहीं, अंडरस्टेंडिंग, प्रज्ञा जिसको बुद्ध ने कहा है--मति।

मत्वेति हेलया किंचित् मा गृहाण विमुग्च मा।

जो ऐसी मति में थिर हो गया है--मैं अगर अनुवाद करूं तो ऐसा करूंगा--जो ऐसी मति को उपलब्ध हो गया है, मत्वेति, कि अब न तो इच्छा उठती, न ग्रहण उठता, न त्याग का भाव उठता। जो ऐसी मति को उपलब्ध हो गया है, जहां मन नहीं उठता। जिसको झेन फकीर नो-माइंड कहते हैं, वही मति। यह तुम्हारे सोच-विचार का सवाल नहीं है। जब तुम्हारा सब सोच-विचार खो जाएगा, तब तुम उस घड़ी में आओगे, जिसको मति कहें।

मति तुम्हारी और मेरी नहीं होती। मति तो एक ही है। मेरे विचार मेरे, तुम्हारे विचार तुम्हारे हैं। जब तुम्हारे विचार खो गए, मेरे विचार खो गए, मैं निर्विचार हुआ, तुम निर्विचार हुए--तो मुझमें तुममें कोई भेद न रहा। और जो उस घड़ी में घटेगा--वह मति। वह मति न तो तुम्हारी न मेरी। विचार तो सदा मेरेत्तेरे होते हैं। और अष्टावक्र तो कहते हैं, जब मैं हूं तब बंध है। और विचार के साथ तो मैं जुड़ा ही रहता है। इसलिए तो लोग बड़े लड़ते हैं। कहते हैं, मेरा विचार। इसकी भी फिक्र नहीं करते कि सत्य क्या है? मेरा विचार सत्य होना ही चाहिए, क्योंकि मेरा है। दुनिया में जो विवाद चलते हैं, वह कोई सत्य के अनुसंधान के लिए थोड़े ही हैं। सत्य के अनुसंधान के लिए विवाद की जरूरत ही नहीं है। विवाद चलते हैं कि जो मैं कहता हूं वही सत्य; जो तुम कहते हो वही गलत। तुम कहते हो, इसलिए वह गलत। और मैं कहता हूं, इसलिए यह सही। और कोई आधार नहीं है। मैंने कहा है, तो गलत हो कैसे सकता है!

तो विचार में तो मैंत्तू है। मति में मैंत्तू नहीं है। या ऐसा होगा कहना ज्यादा ठीक कि विचार हमारेत्तुम्हारे होते, विचार मनुष्यों के होते; मति परमात्मा की। मति वहां है जहां हम खो गए होते हैं।

इति मति मत्वा हेलया मा गृहाण मा विमुग्च।

--ऐसी मति में हों हम, कि न तो इच्छा करके ग्रहण करें, न इच्छा करके त्याग करें।

इसको भी समझ लेना। जरा भी इच्छा न हो। जो हो, उसे होने दें। अगर किसी क्षण दुख हो, तो उसे होने दें; इच्छा करके हम दुख को न हटाएं। और किसी क्षण सुख हो, तो उसे होने दें; इच्छा करके हम सुख को न हटाएं। हम इच्छा करके हटाने का काम ही बंद कर दें। हम तो यही कह दें: जो हो तेरी मर्जी। जैसी तेरी मर्जी वैसे रहेंगे। जो अनंत की मर्जी, वही मेरी मर्जी। मैं अपने को अलग-थलग न रखूंगा। मेरा अपना कोई निजी लक्ष्य नहीं अब। जो सर्व का लक्ष्य है, वही मेरा लक्ष्य है।

ऐसी घड़ी में, ऐसी मति में, ऐसी प्रज्ञा में, ऐसे बोधोदय में, कहां दुख? कहां सुख? कहां बंधन? कहां मुक्ति? सब द्वंद्व खो जाते हैं। सब द्वैत सो जाते हैं। एक ही बचता है अहर्निश। एक ही गूंजता है, एक ही गाता, एक ही जीता, एक ही नाचता है। ऐसी घड़ी में तुम सर्व के अंग हो जाते, सर्व के साथ प्रफुल्लित, सर्व के साथ खिले हुए। तुम्हारा सब संघर्ष समाप्त हो जाता है। तुम सर्व के साथ लयबद्ध हो जाते; छंदोबद्ध हो जाते।

सर्व के साथ जो छंदबद्ध हो गया है, उसी को मैं संन्यासी कहता हूं। जो हो--अच्छा हो, बुरा हो--अब कोई चिंता न रही। जैसा हो, हो; अब मेरी कोई अपेक्षा न रही। अब जो होगा वह मुझे स्वीकार है। नर्क तो नर्क और स्वर्ग तो स्वर्ग। ऐसी परम स्वीकृति का नाम संन्यास है।

ये संन्यास के महत सूत्र हैं। इन्हें तुम समझना, सोच-विचार कर नहीं, ध्यान कर-कर के, ताकि इनसे मति का जन्म हो जाए।

यदा नाहं तदा मोक्षो यदाहं बंधनं तदा।
मत्वेति हेलया किंचित् मा गृहाण विमुग्च मा।।

और इस जीवन के लिए, इस जीवन की परम क्रांति के लिए तुम्हीं प्रयोग-स्थल हो, तुम ही परीक्षा हो। तुम्हीं को अपनी परीक्षा लेनी है। तुम्हीं को जनक बनना है और तुम्हीं को अष्टावक्र भी। यह संवाद तुम्हारे भीतर ही घटित होना है।

मैंने सुना है कि मुल्ला नसरुद्दीन अपनी लान में आरामकुर्सी पर अधलेटा अखबार पढ़ रहा था। और एक अल्सेशियन कुत्ता उसके पांव के पास बैठा पूंछ हिला रहा था। एक पड़ोसी मित्र मिलने आए थे, कुत्ते के डर से दरवाजे पर ही खड़े हो गए। मुल्ला का ध्यान आकृष्ट करने के लिए उन्होंने जोर से चिल्ला कर कहा कि भाई, यह कुत्ता काटता-आटता तो नहीं?

मुल्ला ने कहा, अरे आ जाइए, बिलकुल आ जाइए, कोई फिक्र मत कीजिए! फिर भी मित्र डरे थे, क्योंकि कुत्ता कुछ खड़ा हो गया था और गुर्रा कर देख रहा था। तो मित्र ने कहा कि ठीक, आप ठीक कहते हैं कि काटता इत्यादि तो नहीं? क्योंकि मुझे पहले कुत्तों के बड़े बुरे अनुभव हो चुके।

मुल्ला ने कहा, भाई, यही तो देखना चाहता हूं कि काटता है कि नहीं, अभी ही खरीद कर लाया हूं।

जीवन में परीक्षाएं दूसरों की मत लेना। और दूसरों की परीक्षाओं से जो तुम्हें मिल भी जाएगा, वह कभी तुम्हारा नहीं होगा। दूसरे के अनुभव कभी तुम्हारे अनुभव नहीं हो सकते। जीवन की आत्यंतिक रहस्यमयता तो उसी के सामने प्रगट होती है, जो अपने को ही अपना परीक्षा-स्थल बना लेता, जो अपने को ही अपनी प्रयोग-भूमि बना लेता।

इसलिए कहता हूं: सोच-विचार से नहीं, प्रयोग से, ध्यान से मति उपलब्ध होगी। और तुमने सदा सुन रखा है: स्वर्ग कहीं ऊपर, नर्क कहीं नीचे। उस भ्रांत धारणा को छोड़ दो। स्वर्ग तुम्हारे भीतर, नर्क तुम्हारे भीतर। स्वर्ग तुम्हारे होने का एक ढंग और नर्क तुम्हारे होने का एक ढंग। मैं से भरे हुए तो नर्क, मैं से मुक्त तो स्वर्ग।

संसार बंधन, और मोक्ष कहीं दूर सिद्ध-शिलाएं हैं जहां मुक्त पुरुष बैठे हैं--ऐसी भ्रांतियां छोड़ दो। अगर मन में चाह है, चाहत है, तो संसार। अगर मन में कोई चाहत नहीं, छोड़ने तक की चाह नहीं, त्याग तक की चाह नहीं, कोई चाह नहीं--ऐसी अचाह की अवस्था मोक्ष।

बाहर मत खोजना स्वर्ग-नरक, संसार-मोक्ष को। ये तुम्हारे होने के ढंग हैं। स्वस्थ होना मोक्ष है, अस्वस्थ होना संसार है। इसलिए बाहर छोड़ने को भी कुछ नहीं है, भागने को भी कुछ नहीं है। हिमालय पर भी बैठो तो तुम तुम ही रहोगे और बाजार में भी बैठो तो तुम तुम ही रहोगे। इसलिए मैंने तुमसे नहीं कहा है, मेरे संन्यासियों को मैंने नहीं कहा है, तुम कुछ भी छोड़ कर कहीं जाओ। मैंने उनको सिर्फ इतना ही कहा, तुम जाग कर देखते रहो, जो घटता है घटने दो। गृहस्थी है तो गृहस्थी सही। और किसी दिन अगर तुम अचानक अपने को हिमालय पर बैठा हुआ पाओ तो वह भी ठीक, जाते हुए पाओ तो वह भी ठीक है।

जो घटे, उसे घटने देना; इच्छापूर्वक अन्यथा मत चाहना। अन्यथा की चाह से मैं संगठित होता है। तुम अपनी कोई चाह न रखो, सर्व की चाह के साथ बहे चले जाओ। यह गंगा जहां जाती है, वहीं चल पड़ो। तुम पतवारें मत उठाना। तुम तो पाल खोल दो, चलने दो हवाओं को, ले चलने दो इस नदी की धार को।

इस समर्पण को मैंने संन्यास कहा है। इस समर्पण में तुम बचते ही नहीं, सिर्फ परमात्मा बचता है। किसी न किसी दिन वह घड़ी आएगी, वह मति आएगी कि हटेंगे बादल, खुला आकाश प्रगट होगा। तब तुम हंसोगे, तब तुम जानोगे कि अष्टावक्र क्या कह रहे हैं--न कुछ छोड़ने को, न कुछ पकड़ने को। जो भी दिखाई पड़ रहा है, स्वप्नवत है; जो देख रहा है, वही सत्य है।

हरि ॐ तत्सत्!

छब्बीसवां प्रवचन

स्वतंत्रता की झील: मर्यादा के कमल

पहला प्रश्न: भारतीय मनीषा ने आत्मज्ञानी को सर्वतंत्र स्वतंत्र कहा है। और आप उस कोटिहीन कोटि में हैं। लेकिन मुझे आश्चर्य होता है कि उस परम स्वतंत्रता से इतना सुंदर अनुशासन और गहन दायित्व कैसे फलित होता है!

ऐसा प्रश्न स्वाभाविक है। क्योंकि साधारणतः तो मनुष्य अथक चेष्टा करके भी जीवन में अनुशासन नहीं ला पाता। सतत अभ्यास के बावजूद भी दायित्व आनंदपूर्ण नहीं हो पाता। दायित्व में भीतर कहीं पीड़ा बनी रहती है। जो भी हमें कर्तव्य जैसा मालूम पड़ता है, उसमें ही बंधन दिखाई पड़ता है। और जहां बंधन है, वहां प्रतिरोध है। और जहां बंधन है, वहां से मुक्त होने की आकांक्षा है।

कर्तव्य या दायित्व, हमें लगते हैं, ऊपर से थोपे गए हैं। समाज ने, संस्कृति ने, परिवार ने, या स्वयं की सुरक्षा की कामना ने हमें कर्तव्यों से बंध जाने के लिए मजबूर किया है--पर मजबूरी है वहां, विवशता है, असहाय अवस्था है। और जहां भी मजबूरी है, वहां प्रसन्नता और प्रफुल्लता नहीं हो सकती। जब भी हमें स्वतंत्र होने का अवसर मिलता है, तो हम तत्क्षण स्वच्छंद हो जाते हैं। हम इतनी परतंत्रता में जीए हैं कि हमें अगर स्वतंत्र होने का मौका मिले तो हम सब दायित्व को छोड़ कर, सब कर्तव्य को फेंक कर अराजक स्थिति में पहुंच जाएंगे।

इससे स्वभावतः यह प्रश्न उठता है कि क्या यह संभव है कि सर्वतंत्र स्वतंत्र व्यक्ति, जिसके ऊपर न कोई शासन है, न कोई नियम हैं--यही संन्यासी की परिभाषा है, सर्वतंत्र स्वतंत्र, जिस पर समाज और संस्कृति का कोई आरोपण नहीं है, जो सब मर्यादाओं के बाहर है--लेकिन वैसा व्यक्ति मर्यादाओं में कैसे जीता होगा?

हम अपनी तरफ से सोचते हैं तो लगता है, यह तो असंभव है। हम तो मर्यादा छोड़ी कि स्वच्छंद हुए। तो संन्यासी सारी मर्यादाओं के पार जा कर भी अनुशासनबद्ध होता है, एक अपूर्व दायित्व-- बंधन की भांति नहीं, सुगंध की भांति--उससे उठता रहता है। उसकी अंतर्ज्योति उसे कहीं भी भटकने नहीं देती। उसकी अंतर्ज्योति उसकी परम मर्यादा बन जाती है। वह सब मर्यादाओं से तो ऊपर उठ जाता है, लेकिन उसका आत्मबोध उसका अनुशासन बन जाता है।

प्रश्न उठना हमें स्वाभाविक है।

मैंने सुना है, मुल्ला नसरुद्दीन ने अपने कुत्ते से एक दिन कहा कि अब ऐसे न चलेगा, तू कालेज में भरती हो जा। पढ़े-लिखे बिना अब कुछ भी नहीं होता। अगर पढ़ लिख गया तो कुछ बन जाएगा। पढ़ोगे-लिखोगे, तो होगे नवाब!

कुत्ते को भी जंचा। नवाब कौन न होना चाहे, कुत्ता भी होना चाहता है! जब पढ़-लिख कर कुत्ता वापिस लौटा कालेज से, चार साल बाद, तो मुल्ला ने पूछा, क्या-क्या सीखा? उस कुत्ते ने कहा कि सुनो, इतिहास में मुझे कोई रुचि नहीं आई। क्योंकि आदमियों के इतिहास में कुत्ते की क्या रुचि हो सकती है! कुत्तों की कोई बात ही नहीं आती, कुत्ते ने कहा। बड़े-बड़े कुत्ते हो चुके हैं, जैसे तुम्हारे सिकंदर और हिटलर, ऐसे हमारे भी बड़े-बड़े कुत्ते हो चुके हैं लेकिन हमारे इतिहास का कोई उल्लेख नहीं। इतिहास में मुझे कुछ रस न आया। जिसमें मेरा और मेरी जाति का उल्लेख न हो, उसमें मुझे क्या रस? भूगोल में मेरी थोड़ी उत्सुकता थी--उतनी ही जितनी कि कुत्तों की होती है, हो सकती है।...पोस्ट आफिस का बंबा या बिजली का खंभा, क्योंकि वे हमारे शौचालय हैं; इससे ज्यादा भूगोल में मुझे कुछ रस नहीं आया।

मुल्ला थोड़ा हैरान होने लगा। उसने कहा, और गणित? कुत्ते ने कहा, गणित का हम क्या करेंगे? गणित का हमें कोई अर्थ नहीं है। क्योंकि हमें धन-संपत्ति इकट्ठी नहीं करनी है। हम तो क्षण में जीते हैं। हम तो अभी जीते हैं, कल की हमें कोई फिक्र नहीं। जो बीता कल है, वह गया; जो आने वाला कल है, आया नहीं--हिसाब करना किसको है? लेना-देना क्या है? कोई खाता-बही रखना है?

तो मुल्ला ने कहा, चार साल सब फिजूल गए? नहीं, उस कुत्ते ने कहा, सब फिजूल नहीं गए। मैं एक विदेशी भाषा में पारंगत हो कर लौटा हूं। मुल्ला खुश हुआ। उसने कहा, चलो कुछ तो किया! तो चलो विदेश विभाग में नौकरी लगवा देंगे। अगर भाग्य साथ दिया तो राजदूत हो जाओगे। और अगर प्रभु की कृपा रही तो विदेश मंत्री हो जाओगे। कुछ न कुछ हो जाएगा। चलो इतना ही बहुत। मेरे सुख के लिए थोड़ी-सी वह विदेशी भाषा बोलो, उदाहरण स्वरूप, तो मैं समझूं।

कुत्ते ने आंखें बंद की, अपने को बिलकुल योगी की तरह साधा। बड़े अभ्यास से, बड़ी मुश्किल से एक शब्द उससे निकला। उसने कहा, म्याऊं!

"यह विदेशी भाषा सीख कर लौटे हो?"

लेकिन कुत्ते के लिए यही विदेशी भाषा है!

हर चेतना के तल की अपनी भाषा है और हर चेतना के तल की अपनी समझ है। जहां हम जीते हैं, वहां हम सोच भी नहीं सकते कि सर्वतंत्र स्वतंत्र हो कर भी हम शांत होंगे, सुनियोजित होंगे, सृजनात्मक होंगे--हम सोच भी नहीं सकते, सोचने का उपाय भी नहीं है। हमें समझ में नहीं आ सकता, क्योंकि हम कर्तव्य को प्रेम-रहित जाने हैं। हमें पता नहीं कि जब प्रेम से प्राण भरते हैं तो कर्तव्य छाया की तरह चला आता है।

एक संन्यासी हिमालय की यात्रा पर गया था। वह अपना बिस्तर-बोरिया बांधे हुए चढ़ रहा है-- पसीने से लथपथ, दोपहर है घनी, चढ़ाव है बड़ा। और तभी उसने पास में एक पहाड़ी लड़की को भी चढ़ते देखा, होगी उम्र कोई दस-बारह साल की, और अपने बड़े मोटेत्तगड़े भाई को जो होगा कम से कम छह सात साल का, उसको वह कंधे पर बिठाए चढ़ रही है--पसीने से लथपथ। उस संन्यासी ने उससे कहा, बेटी, बड़ा बोझ लगता होगा? उस लड़की ने बड़े चौंक कर देखा और संन्यासी को कहा, स्वामी जी! बोझ आप लिए हैं, यह मेरा छोटा भाई है!

तराजू पर तो छोटे भाई को भी रखो या बिस्तर को रखो, कोई फर्क नहीं पड़ता--तराजू तो दोनों का बोझ बता देगा। लेकिन हृदय के तराजू पर बड़ा फर्क पड़ जाता है। छोटा भाई है, फिर बोझ कहां? फिर बोझ में भी एक रस है, फिर बोझ भी निर्बोझ है।

जिस व्यक्ति को आत्म-भाव जगा, जिसने स्वयं को जाना, उसके लिए सारा अस्तित्व परिवार हो गया, इससे एक नाता जुड़ा। जिस दिन तुम स्वयं को जानोगे, उस दिन तुम यह भी जानोगे कि तुम इस विराट से अलग और पृथक नहीं हो; यह तुम्हारा ही फैलाव है, या तुम इसके फैलाव हो, मगर दोनों एक हो। उस एकात्म बोध में तुम कैसे किसी की हानि कर सकोगे; तुम कैसे हिंसा कर सकोगे; तुम कैसे किसी को दुख पहुंचा सकोगे; तुम कैसे बलात्कार कर सकोगे--किसी भी आयाम में, किसी के भी साथ; तुम कैसे जबर्दस्ती कर सकोगे? वह तो अपने ही पैर काटना होगा। वह तो अपनी ही आंखें फोड़ना होगा। वह तो अपने ही साथ बलात् होगा।

जिस व्यक्ति को आत्मज्ञान होता, उसे यह भी ज्ञान हो जाता कि मैं और तू दो नहीं हैं, एक ही हैं। उस ऐक्य बोध में दायित्व फलित होता है। लेकिन वह दायित्व तुम्हारे कर्तव्य जैसा नहीं है। तुम्हें तो करना पड़ता है।

उस सर्वतंत्र स्वतंत्र अवस्था में करने-पड़ने की तो कोई बात ही नहीं रह जाती--होता है।

संन्यासी खींच रहा था बोझ को, परेशान था, सोच रहा होगा हजार बार: "कहीं सुविधा मिल जाए तो इस बोझ को उतार दूं, हटा दूं! किस दुर्भाग्य की घड़ी में इतना बोझ ले कर चल पड़ा! पहले ही सोचा होता कि पहाड़ पर चढ़ाई है, घनी धूप है...।" इन्हीं बातों को सोचता हुआ जाता होगा, इन्हीं बातों के पर्दे से उसने उस

छोटी-सी लड़की को भी देखा। लेकिन लड़की इस तरह का कुछ सोच ही नहीं रही थी। उनकी भाषाएं अलग थीं। उसने कहा, यह मेरा छोटा भाई है। आप कहते क्या हैं स्वामी जी? अपने शब्द वापिस लें! बोझ! यह मेरा छोटा भाई है!

वहां एक संबंध है, एक अंतरसंबंध है। जहां अंतरसंबंध है वहां बोझ कहां! और जिस व्यक्ति का अंतरसंबंध सर्व से हो गया। वह सर्वतंत्र स्वतंत्र हो जाए लेकिन अब सर्व से जुड़ गया। तंत्र से मुक्त हुआ सर्व से जुड़ गया। तो तंत्र में तो एक ऊपरी आरोपण था। कानून कहता है, ऐसा करो। नीति-नियम कहते हैं, ऐसा करो। न करोगे तो अदालत है। अदालत से बच गए तो नर्क है। घबड़ाहट पैदा होती है! इस भय के कारण आदमी मर्यादा में जीता है।

लेकिन जिस व्यक्ति को पता चला कि मैं इस विराट के साथ एक हूं--ये वृक्ष भी मेरे ही फैलाव हैं, यह मैं ही इन वृक्षों में भी हरा हुआ हूं--तो वृक्ष की डाल को काटते वक्त भी तुम्हारी आंखें गीली हो आएंगी, तुम संकोच से भर जाओगे, तुम अपने को ही काट रहे हो, तुम सम्हल-सम्हल कर चलने लगोगे; जैसे महावीर चलने लगे सम्हल-सम्हल कर। कहते हैं, रात करवट न बदलते थे कि कहीं करवट बदलने में कोई कीड़ा-मकोड़ा पीछे आ गया हो, दब न जाए। तो एक ही करवट सोते थे। अब किसी ने भी ऐसा उनसे कहा नहीं था, किसी शास्त्र में लिखा नहीं कि एक ही करवट सोना। किसी नीति-शास्त्र में लिखा नहीं कि करवट बदलने में पाप है। महावीर के पहले भी जो तेईस तीर्थंकर हो गए थे जैनों के, उनमें से भी किसी ने कहा नहीं कि रात करवट मत बदलना; किसी ने सोचा ही नहीं होगा कि करवट बदलने में कोई पाप हो सकता है। तुम्हारी करवट है, मजे से बदलो, क्या अड़चन है? लेकिन महावीर का अंतरबोध कि करवट बदलने में भी उन्हें लगा कि कुछ दब जाए, कोई पीड़ा पा जाए! अंधेरे में चलते नहीं थे कि कोई पैर के नीचे दब न जाए। अंधेरे में भोजन न करते थे कि कोई पतंगा गिर न जाए।

जैन भी नहीं करता अंधेरे में भोजन--लेकिन इसलिए नहीं कि पतंगे से कुछ लेना-देना है। जैन का प्रयोजन इतना है कि पतंगा गिर गया और खा लिया, तो हिंसा हो जाएगी, नर्क जाओगे! यह फिक्र अपनी है, यह तंत्र है। महावीर की फिक्र अपनी नहीं है पतंगे की फिक्र है। यह सर्वतंत्र स्वतंत्रता! यह सर्व के साथ एकात्म भाव!

जैन मुनि भी चलता है पिच्छी लेकर, रास्ता अपना साफ कर लेता है जहां बैठता है। लेकिन उसका प्रयोजन भिन्न है, वह नियम का अनुसरण कर रहा है। अगर कोई देखने वाला नहीं होता तो वह बिना ही साफ किए बैठ जाता है। अगर दस आदमी देखने वाले बैठे हैं, श्रावक इकट्ठे हैं, तो वह बड़ी कुशलता से प्रदर्शन करता है। यह तो तंत्र है। ये तो एक अनुशासन मान कर चल रहे हैं। इन्होंने कुछ बातें पढ़ी हैं, सुनी हैं, समझी हैं, परंपरा से इन्होंने कुछ सूत्र लिए हैं--उन सूत्रों के पीछे चल रहे हैं।

इसलिए तो तुम जैन मुनि को प्रसन्न नहीं देखते। देखो महावीर की प्रसन्नता! प्रसन्नता तो सदा स्वतंत्रता में है। और जीवन का आत्यंतिक अनुशासन भी स्वतंत्रता में है।

पूछा है, "भारतीय मनीषा ने आत्मज्ञानी को सर्वतंत्र स्वतंत्र कहा। लेकिन मुझे आश्चर्य होता है कि उस परम स्वतंत्रता में इतना सुंदर अनुशासन और गहन दायित्व कैसे फलित हो सकता है!"

उसके अतिरिक्त अगर फलित हो तो आश्चर्य करना। परतंत्रता में अगर सुंदर अनुशासन फलित हो जाए तो चमत्कार है। यह हो ही नहीं सकता। यह हुआ नहीं कभी। यह होगा भी नहीं कभी।

मां अपने बेटे से कहती है कि मुझे प्रेम कर, क्योंकि मैं तेरी मां हूं। प्रेम में भी "क्योंकि", "इसलिए"! जैसे कि प्रेम भी कोई तर्कसरणी है; जैसे यह भी कोई गणित का सवाल है! "मैं तेरी मां हूं, इसलिए मुझे प्रेम कर!"

बेटा भी सोचता है कि मां है तो प्रेम करना चाहिए! प्रेम, और करना चाहिए? तुमने प्रेम को जड़ से ही काटना शुरू कर दिया। तुम उसकी संभावना ही नष्ट किए दे रहे हो। जहां "करना चाहिए" आ गया, वहां से प्रेम विदा हो चुका। क्या करोगे तुम प्रेम में? तुम अभिनय करोगे? छोटा बच्चा क्या करेगा? मां आएगी पास तो मुस्कुराएगा, जबर्दस्ती मुंह फैला देगा। भीतर हृदय से कोई मुस्कुराहट उठेगी नहीं। अब मां आ रही है--मां है तो

मुस्कुराना चाहिए, प्रेम दिखाना चाहिए; लेकिन इसके हृदय में कहीं कोई मुस्कुराहट नहीं उठ रही, यह झूठ होना शुरू हुआ। यह पाखंड की यात्रा शुरू हुई। यह प्रेम की यात्रा नहीं है; यह बच्चा मरने लगा, यह पाखंडी होने लगा। फिर जिंदगी भर यह मुंह को फैला देगा।

मुंह को फैला लेना तो अभ्यास से आ जाता है। मुंह का फैला देना थोड़े ही मुस्कुराहट है! मुस्कुराहट तो वह है जो आए भीतर से, फैल जाए चेहरे पर, रोएं-रोएं पर, उठे हृदय से--तो ही मुस्कुराहट है। ऐसे ओंठ को तान लिया, तो अभिनय हुआ, नाटक हुआ, राजनीति हुई!

देखते हो राजनीतिज्ञ को, बस हाथ जोड़े मुस्कुराता ही रहता है!

एक राजनीतिज्ञ को मैं जानता हूं। कहते हैं, वे रात में भी जब सोते हैं, तो हाथ जोड़े मुस्कुराते रहते हैं। नींद में भी वोटरों के समक्ष खड़े हैं; मुस्कुरा रहे हैं! जीवन सड़ा जा रहा है। प्राण में सिवाय अंधेरे के कुछ भी नहीं है; सिवाय चिंता और विक्षिप्तता के कुछ जाना नहीं, मगर मुस्कुराए जा रहे हैं! वह मुस्कुराहट थोथी है।

और तुमने अगर प्रेम इसलिए किया, क्योंकि मां है, क्योंकि छोटी बहन है, क्योंकि छोटा भाई है--अगर तुम्हारे प्रेम में "क्योंकि" रहा, तो तुम समझ लेना कि तुम समझ नहीं पाए।

हम सबको तैयार किया गया है पाखंड के लिए। इसलिए तो दुनिया में प्रेम कम है और पाखंड बहुत है। इसलिए तो दुनिया में सत्य कम है और अभिनय बहुत है। इसलिए तो दुनिया में परमात्मा प्रगट नहीं हो पाता; क्योंकि माया बहुत है, मायाचारी बहुत हैं।

तुम वही जीना, जो तुम्हारे भीतर से उठता हो। शुरू-शुरू में अड़चन होगी, क्योंकि बहुत बार तुम पाओगे: जब हंसना था, तब तुम नहीं हंस पाए; जब रोना था, तब नहीं रो पाए। शुरू-शुरू में अड़चन होगी। उस अड़चन को ही मैं तपश्चर्या कहता हूं। लेकिन धीरे-धीरे तुम एक अपूर्व आनंद से भरने लगोगे। और तब तुम पाओगे कि जब तुम हंसते हो तो तभी हंसते हो, जब वस्तुतः हंसी खिल रही होती है। तुम धोखा नहीं देते: धीरे-धीरे तुम्हारा जीवन तंत्र से मुक्त होने लगेगा और स्वभाव के अनुकूल आने लगेगा।

तंत्र है आदत। बचपन से किसी को सिखा दिया कि हिंदू मंदिर के सामने हाथ जोड़ना, तो वह जोड़ लेता है; वह आदत है। न तो कोई हृदय में श्रद्धा है, न प्राणों में कोई नैवेद्य चढ़ाने की आतुरता है, न भरोसा है। गणित जरूर है, भरोसा नहीं है।

मैं ब्लैस पैसकल का जीवन पढ़ता था। बहुत बड़ा गणितज्ञ और वैज्ञानिक हुआ: पैसकल। उसका एक मित्र था: दि मेयर। वह जुआरी था। कहते हैं, दुनिया के खास बड़े जुआरिओं में एक था। उसने अपना सब जीवन जुए पर लगा दिया था। जुए में जब कभी कोई बड़ी कठिनाई आ जाती, उसे कोई प्रश्न उठता, तो वह पैसकल से पूछा करता था कि तुम इतने बड़े गणितज्ञ हो, जरा मेरे जुए में साथ दो। तो पैसकल का मित्र था, इसलिए पैसकल उसकी बात सुनता था। उसकी बात सुनते-सुनते पैसकल को यह समझ में आया...उसने अपनी आत्मकथा में लिखा है, कि उसकी बातें सुन-सुन कर मैं ईसाई हो गया।

यह बड़े आश्चर्य की बात है, जुआरी की बातें सुन-सुन कर ईसाई...! तो पैसकल कहता है, इस तरह मैं ईसाई हुआ। उसके जुआरी के मनोविज्ञान को समझ कर मुझे समझ में आया कि धार्मिक आदमी का मनोविज्ञान भी जुआरी का है। जुआरी एक रुपया लगाता: अगर जीतेगा तो पच्चीस रुपए मिलने वाले हैं; अगर हारेगा सिर्फ एक ही रुपया जायेगा। यह उसका मनोविज्ञान है। हारने में कुछ खास खोता नहीं; अगर मिल गया तो पचीस गुना मिलता है या हजार गुना मिलता है। अगर खोया तो कुछ खास खोता नहीं। मिलता है तो बहुत मिलता है। इन दोनों के बीच जुआरी तौलता है।

तो पैसकल ने लिखा है कि मैंने भी सोचा कि यदि ईश्वर है...। आस्तिक मानता है कि ईश्वर है; अगर मरने के बाद आस्तिक ने पाया कि ईश्वर नहीं है, तो क्या खोया? थोड़ा-सा समय खोया-- प्रार्थना-पूजा में लगाया, जो सत्संग में गंवाया, बाइबिल, कुरान उलटने में जो नष्ट हुआ--थोड़ा-सा समय खोया। अगर ईश्वर नहीं पाया तो

आस्तिक इतना ही खोएगा कि थोड़ा सा समय खोया और जब पूरी ही जिंदगी खो गई तो उस थोड़े समय से भी क्या फर्क पड़ता है? लेकिन अगर ईश्वर हुआ, तो शाश्वत रूप से स्वर्ग में निवास करेगा, भोगेगा आनंद!

नास्तिक कहता है, ईश्वर नहीं है। अगर ईश्वर न हुआ तो ठीक; नास्तिक ने कुछ भी नहीं खोया। लेकिन अगर ईश्वर हुआ, तो अनंत काल तक नर्कों के दुख...।

इसलिए पैसकल ने लिखा कि मैं कहता हूं, यह सीधा गणित है कि ईश्वर को मानो। इसमें खोने को तो कुछ भी नहीं है, मिलने की संभावना है। न मानने में कुछ मिलेगा नहीं अगर ईश्वर न हुआ; लेकिन अगर हुआ तो बहुत कुछ खो जाएगा।

पैसकल कहता है, अगर तुम्हें थोड़ी भी सुरक्षा और जुए का थोड़ा भी अनुभव है, तो ईश्वर सौदा करने जैसा है।

अब यह एक सरणी है। इस सरणी में ईश्वर के प्रति कोई प्रेम नहीं है। यह सीधा तर्क है। और अगर पैसकल मुझे कहीं मिल जाए, तो उससे मैं कहूंगा: जो आदमी इस तरह सोच कर ईश्वर में भरोसा करता है, वह भरोसा करता ही नहीं। वह जुए में भरोसा करता है, गणित में भरोसा करता है, ईश्वर में भरोसा नहीं करता। यह कोई भरोसा हुआ? यह कोई प्रेम की और श्रद्धा की भाषा हुई? यह तो सीधी बाजार की बात हो गई, यह तो दूकान की बात हो गई।

या तो ईश्वर है या ईश्वर नहीं है--"यदि" का कोई सवाल नहीं। या तो तुम्हारे अनुभव में आ रहा है कि ईश्वर है, या तुम्हारे अनुभव में आ रहा है कि नहीं है। अगर तुम्हारे अनुभव में आ रहा है कि है, तो फिर चाहे लाभ हो कि हानि--ईश्वर है। अगर तुम्हारे अनुभव में आ रहा है कि नहीं है, तो फिर चाहे हानि हो कि लाभ--नहीं है। "यदि" का कहां सवाल है?

लेकिन हम अपने जीवन को "यदियों" पर खड़ा करते हैं। हमारा सब जीवन जुआरियों जैसा है--गणित, हिसाब, सौदा!

सुनते हो, पैसकल क्या कह रहा है? कि थोड़ा-सा समय प्रार्थना में गया, वही गंवाया! ऐसा आदमी प्रार्थना कर पाएगा? प्रार्थना पैदा कैसे होगी? गणित से, तर्क से कहीं प्रार्थना का कोई संबंध है? प्रार्थना तो ऐसा अहोभाव है कि ईश्वर ही है और कुछ भी नहीं है। और अगर ईश्वर के मानने में सब कुछ भी जाता हो तो भी भक्त ईश्वर को मानने को राजी है। और ईश्वर को छोड़ने में अगर सब कुछ भी बचता हो, तो भी भक्त कहेगा, क्षमा करो, यह सब कुछ मुझे नहीं चाहिए।

प्रार्थना एक सत्य मनोदशा होनी चाहिए, गणित नहीं। प्रेम भी एक सत्य मनोदशा होनी चाहिए, गणित नहीं। और तुम्हारे सभी भाव प्रामाणिक होने चाहिए। तो धीरे-धीरे तुम पाओगे, तुम स्वतंत्र भी होते जाते हो, सर्वतंत्र स्वतंत्र होते जाते हो और एक अपूर्व अनुशासन तुम्हारे जीवन में उतरता आता है! स्वच्छंदता नहीं आएगी तब स्वतंत्रता से। तब स्वतंत्रता से परिपूर्ण दायित्व का जन्म होगा--ऐसे दायित्व का, जिसमें कर्तव्य-भाव बिलकुल नहीं है; ऐसे दायित्व का, जिसमें प्रेम की बहती हुई धारा है! तब तुम उठोगे, बैठोगे, चलोगे, कुछ भी करोगे--सबके पीछे तुम्हारा बोध का दीया बना रहेगा।

भीतर का दीया जलता रहे तो फिर हम जो भी करते हैं, उसमें प्रकाश पड़ता है। भीतर का दीया बुझा रहे तो हम जो भी करते हैं, उसमें हमारे अंधेरे की छाया पड़ती है। सोया हुआ आदमी पुण्य भी करे तो पाप हो जाता है। जागा हुआ आदमी पाप भी करे तो भी पुण्य ही होगा। क्योंकि जागा हुआ आदमी पाप कर ही नहीं सकता। जागरण और पाप का कोई संबंध नहीं है।

तुमने देखा, अंधेरे में आदमी टटोलता है कि दरवाजा कहां है? उजाले में आदमी न टटोलता, न पूछता--उठता है और निकल जाता है। उजाले में आदमी सोचता भी नहीं कि दरवाजा कहां है, ऐसा प्रश्न भी नहीं उठता।

तुम्हें यहां से उठ कर जाना होगा तो तुम सोचोगे थोड़े ही, तुम योजना थोड़े ही बनाओगे कि ऐसे चलें, ऐसे चलें, फिर यहां दरवाजा खोजें--बस, तुम उठोगे और चल पड़ोगे! तुम्हें दिखाई पड़ रहा है।

सर्वतंत्र स्वतंत्र व्यक्ति वही हो सकता है, जिसके भीतर प्रकाश जला है। संन्यासी को हमने सर्वतंत्र स्वतंत्र कहा है। उसे हमने कोटिहीन कोटि माना है। अष्टावक्र उसी की चर्चा कर रहे हैं--उसी परम संन्यास की, परम दशा की--जहां न भोगी, न त्यागी, दोनों नियम काम नहीं करते हैं; न भोग न त्याग, जहां केवल साक्षी-भाव पर्याप्त है। अष्टावक्र कह रहे हैं कि साक्षी-भाव हो तो फिर तू कहीं भी रह, कैसे भी रह, जैसे हो वैसे रह। साक्षी-भाव है तो सब सध जाएगा, सब ठीक हो जाएगा। एक बात सम्हल जाए--ध्यान सम्हल जाए, साक्षी-भाव सम्हल जाए--सब अपने-आप सम्हल जाता है; शेष सब अपने-आप सम्हल जाता है। और निश्चित ही तब जो एक अनुशासन होता है, उसके सौंदर्य की महिमा अपूर्व है। तब जो अनुशासन होता है वह प्रसादरूप है। तब उसमें आरोपण जरा भी नहीं, चेष्टा जरा भी नहीं। तुम, कुछ करना चाहिए, इसलिए नहीं करते। जो होता है, होता है। जो होता है, सुंदर और शुभ है।

तुमने परिभाषा सुनी होगी। परिभाषाएं कहती हैं: अच्छे काम करने वाला पुरुष संत है। मैं तुमसे कहना चाहता हूं: "अच्छे काम करने वाला पुरुष संत है"--इसमें तुमने बैलों को गाड़ी के पीछे रख दिया। "संत से अच्छे काम होते हैं"--तब तुमने बैल को गाड़ी के आगे जोता। अच्छे कामों से कोई संत नहीं होता; संत होने से काम अच्छे होते हैं। ऊपर से आचरण ठीक कर लेने से कोई भीतर अंतस की क्रांति नहीं होती; लेकिन भीतर अंतस की क्रांति हो जाए, तो बाहर का आचरण देदीप्यमान हो जाता है, दीप्ति से भर जाता है, आभा से आलोकित हो जाता है।

और जमीन-आसमान का फर्क तुम देखोगे महावीर के चलने में और जैन मुनि के चलने में, बुद्ध के चलने में और बौद्ध भिक्षु के चलने में; जीसस के उठने-बैठने में और ईसाई के उठने-बैठने में। हो सकता है, दोनों बिलकुल एक-सा कर रहे हों। कभी-कभी तो यह हो सकता है, अनुकरण करने वाला मूल को भी मात कर दे। क्योंकि मूल तो सहज होगा, स्वस्फूर्त होगा; अनुकरण करने वाला तो यंत्रवत होगा। जो अभिनय कर रहा है, वह तो रिहर्सल करके, खूब अभ्यास करके करता है। लेकिन जो स्वभाव से जी रहा है, वह तो कोई रिहर्सल नहीं करता, कोई अभ्यास नहीं करता। जो उसकी अंतश्चेतना में प्रतिफलित होता है, वैसा जीता है; जब जैसा प्रतिफलित होता है वैसा जीता है।

जब जैसा स्वभाव चलाए, चलना। जब जैसा स्वभाव कराए, करना! जब जैसा अंतस में उगे, उससे अन्यथा न होना। यही संन्यास है। यह घोषणा बड़ी कठिन है। क्योंकि इस घोषणा का परिणाम यह होगा कि तुम्हारे चारों तरफ, जिनसे तुम जुड़े हो, उनको अड़चन मालूम होगी। वे तुम्हारी स्वतंत्रता नहीं चाहते हैं; वे सिर्फ तुम्हारी कुशलता चाहते हैं। वे तुम्हारी आत्मा में उत्सुक नहीं हैं; तुम्हारी उपयोगिता में उत्सुक हैं। और उपयोगिता यंत्र की ज्यादा होती है, आदमी की कम होती है--यह खयाल रखना। यंत्र की उपयोगिता बहुत ज्यादा है, क्योंकि वह काम ही काम करता है; मांग कुछ भी नहीं करता--न स्वतंत्रता मांगता, न हड़ताल करता, न झंझट-झगड़े खड़ा करता; न कहता है, यह ठीक है, यह ठीक नहीं है--जो आज्ञा, जो हुक्म! यंत्र कहता है, बस, हम तैयार हैं! दबाओ बटन, बिजली जल जाती है। समाज भी चाहता है कि आदमी भी ऐसे ही हों--दबाओ बटन, बिजली जल जाए।

स्वस्फूर्त व्यक्ति की बटनें नहीं होतीं; तुम उसकी बटन नहीं दबा सकते। कोई उपाय नहीं तुम्हें, तुम्हारे हाथ में उसकी बटन दबाने का; वह अपना मालिक है। तुम अगर उसे गाली दो तो वह खड़ा हुआ सुन लेगा। तुम गाली दे कर भी उसकी क्रोध की बटन नहीं दबा सकते। तुम गाली देते रहोगे, वह खड़ा सुनता रहेगा; वह मुस्कुरा कर चल देगा। वह कहेगा कि हमारा दिल क्रोध करने का नहीं है। हम तुम्हारे गुलाम नहीं हैं कि तुमने

जब चाहा गाली दे दी और हम तुम्हारे पंजे में आ गए। हम अपने मालिक हैं! तुम्हें देना है गाली देते रहो, यह तुम्हारा काम है--हम नहीं लेते। देना तुम्हारी स्वतंत्रता है; लें न लें, हमारी मालकियत है। तुमने दी--धन्यवाद! तुमने इतना समय खराब किया हम पर बड़ी कृपा! अब हम जाते अपने घर, तुम अपने घर।

जो अपना मालिक है, वही स्वतंत्र है। और मालिक कौन है? जिसने स्वयं को जाना, वही स्वयं का मालिक हो सकता है। जो स्वयं को ही नहीं जानता, वह मालिक तो कैसे होगा? उस जानने से, उस बोध से जीवन में सब बदल जाता है। एक...निश्चित एक मर्यादा आती है। और उस मर्यादा में जरा भी गंदगी नहीं है, कुरूपता नहीं है। उस मर्यादा से स्वतंत्रता का कोई विरोध नहीं है; वे मर्यादा के कमल स्वतंत्रता की झील में ही लगते हैं।

तुम जरा देखो! तुम जरा प्रेम से जी कर देखो, ध्यान से जी कर देखो! तुम्हारी पुरानी आदतें बाधा डालेंगी, क्योंकि तुमने कर्तव्य के खूब जाल बना रखे हैं। तुम अपनी पत्नी को प्रेम प्रगट किए चले जाते हो, क्योंकि कहते हो पत्नी है; शास्त्र कहते हैं, जन्म-जन्म का साथ है। लेकिन तुमने एक दिन भी इस पत्नी को प्रेम किया है? इन शास्त्रों ने तुम्हारा जीवन नष्ट किया, और यह पत्नी तुमसे तृप्त नहीं हो सकी। क्योंकि प्रेम तो तुमने कभी किया नहीं; पत्नी को प्रेम करना चाहिए, इसलिए एक नियम का अनुसरण किया; प्रेम कभी बहा नहीं; प्रेम कभी झरा नहीं; प्रेम कभी नाचा नहीं, गुनगुनाया नहीं; प्रेम में कोई गीत नहीं बने--सिर्फ एक नियम कि डाल लिए थे सात फेरे; पंडित-पुजारियों ने ज्योतिष से हिसाब बांध दिया था कि यह तुम्हारी पत्नी, तुम इसके पति; मां-बाप ने कुल-परिवार खोज लिया था, तो अब तो करना ही पड़ेगा! पत्नी है तो प्रेम तो करना ही पड़ेगा! तुमने इस पत्नी का भी जीवन नष्ट कर दिया, तुमने अपना जीवन भी नष्ट कर लिया।

तुम्हारा प्रेम जब झूठा हो जाता है, तो तुम्हारे परमात्मा से जुड़ने के सब सेतु टूट जाते हैं। तुम पत्नी से न जुड़ सके, पति से न जुड़ सके, तुम परमात्मा से क्या खाक जुड़ोगे? तुम प्रेम ही न कर पाए, तुम प्रार्थना कैसे करोगे? प्रार्थना तो प्रेम का ही नवनीत है। वह तो प्रेम का ही सार भाग है।

जीवन को स्वाभाविक रूप से जीना विद्रोह है। इसलिए मैं कहता हूं: धार्मिक जीवन विद्रोही का जीवन है। धार्मिक जीवन तपस्वी का जीवन है। और ध्यान रखना, तपश्चर्या से मेरा मतलब नहीं कि तुम धूप में खड़े हो, शरीर को काला कर रहे हो या कांटे बिछा कर लेट गए हो--ये सब मूढ़ताएं हैं। इनका तपश्चर्या से कुछ लेना-देना नहीं है। तपश्चर्या का इससे कोई संबंध नहीं कि तुम उपवास कर रहे हो कि भूखे मर रहे हो--ये सब मूढ़ताएं हैं। होंगी विक्षिप्तताएं तुम्हारे मन की, लेकिन तपश्चर्या से इनका कोई संबंध नहीं।

तपश्चर्या तो एक ही है कि तुम भीतर से बाहर की तरफ जी रहे हो, फिर जो परिणाम हो; तुम बाहर से भीतर की तरफ नहीं जीयोगे, फिर जो परिणाम हो; तुम जो भीतर होगा, उसी को बाहर लाओगे; तुम अपने बाहर को अपने भीतर के अनुसार बनाओगे।

अब देखना फर्क। साधारणतः तुम्हें धर्मगुरु समझाते हैं कि जो तुम्हारे बाहर है, वही तुम्हारे भीतर होना चाहिए। मैं तुमसे कहता हूं: जो तुम्हारे भीतर है, वही तुम्हारे बाहर होना चाहिए। और तुम यह मत समझना कि हम एक ही बात कह रहे हैं।

धर्मगुरु कहता है: जो तुम्हारे बाहर है, वही भीतर होना चाहिए। वह कहता है: तुम मुस्कुराये तो तुम्हारे हृदय में भी मुस्कुराहट होनी चाहिए, अब यह बड़ी अड़चन की बात है। मैं तुमसे कहता हूं: जो तुम्हारे भीतर हो वही तुम्हारे ओठों पर होना चाहिए। अगर भीतर मुस्कुराहट है तो फिक्र छोड़ो, समय-असमय की चिंता छोड़ो। अगर भीतर मुस्कुराहट है तो हंसो।

मैं छोटा था। मेरे एक शिक्षक मर गए। उनसे मुझे बड़ा लगाव था। वे बड़े प्यारे आदमी थे। काफी मोटे थे। और जैसे मोटे आदमी आमतौर से भोले-भाले लगते हैं, वे भी भोले-भाले लगते थे। उन्हें हम चिढ़ाया भी करते थे--सारे विद्यार्थी उनकी खूब मजाक भी उड़ाते थे। वे बड़ा साफा-वाफा बांध कर आते; एक तो वैसे ही मोटे,

और साफा इत्यादि और डंडा वगैरह--बड़े प्राचीन मालूम होते। और चेहरे पर उनके बच्चों जैसा भोलापन था; जैसा अक्सर मोटे आदमियों के चेहरे पर हो जाता है। उन्हें देख कर ही हंसी आती। उनका नाम ही लोग भूल गए थे; उनको हम सब भोलेनाथ...। उससे वे चिढ़ते थे। ब्लैक बोर्ड पर उनके आते ही बड़े-बड़े अक्षरों में लिख दिया जाता--भोलेनाथ। और बस, वे आते ही से गरमा जाते थे। और उनकी गर्मी देखने लायक थी! और उनकी परेशानी और उनका पीटना टेबल को...विद्यार्थी बड़े शांति से आनंद लेते उनका।

वे मर गए तो मैं छोटा ही था, गया वहां। वहां बड़ी भीड़ इकट्ठी हो गई थी; छोटा गांव, सभी लोग एक-दूसरे से जुड़े, सभी लोग इकट्ठे हो गए थे। और गांव-भर उनको प्रेम करता था। उनको मरा हुआ पड़ा देखकर और उनके चेहरे को देख कर मुझे एकदम हंसी आने लगी। मैंने रोका, क्योंकि यह तो अशोभन होगा। लेकिन फिर एक ऐसी घटना घटी कि मैं नहीं रोक पाया। उनकी पत्नी भीतर से आई और एकदम उनकी छाती पर गिर पड़ी और बोली: "हाय, मेरे भोलेनाथ!"

जिंदगी भर हम उनको "भोलेनाथ" कह कर चिढ़ाते रहे थे। मरते वक्त, मरने के बाद और पत्नी के मुंह से! यह बिलकुल कठिन हो गया तो मैं तो खिलखिला कर हंसा। मुझे घर लाया गया, डांटा-डपटा गया और कहा, कभी अब किसी की मृत्यु इत्यादि हो, तुम जाना मत! क्योंकि वहां हंसना नहीं चाहिए था।

मैंने कहा, इससे और उचित, अनुकूल अवसर कहां मिलेगा? मेरी बात तो समझो। आदमी बेचारा मर गया और जिंदगी भर परेशान था कि लोग भोलेनाथ कह-कह कर सता रहे थे। बच्चे उनके पीछे चिल्लाते चलते थे कि भोलेनाथ। उनको स्कूल पहुंचने में घंटा भर लग जाता था; क्योंकि इस बच्चे के पीछे दौड़े, उस बच्चे के पीछे दौड़े, किसी से झगड़ा-झंझट खड़ा हो गया--और मरते वक्त यह खूब उपसंहार हुआ! यह इति काफी अदभुत हुई कि पत्नी उनकी छाती पर गिर कर कहती है: "हाय, मेरे भोलेनाथ!"

जो भीतर हो उसे ही बाहर होने देना।

मुझे डांटा-डपटा गया, लेकिन मैं यह बात मानने को राजी नहीं हुआ कि मैंने गलत किया है। और फिर मैंने कहा, जीवन और मौत दोनों ही हंसने जैसे हैं। तो मेरे घर के लोगों ने कहा: यह फलसफा तुम अपने पास रखो कि मौत और जीवन हंसने जैसे हैं। मगर तुम दुबारा किसी की मौत में अब मत जाना, और गए तो ठीक नहीं होगा।

व्यक्ति को एक सुनिश्चित निर्णय कर लेना चाहिए कि जो मेरे भीतर हो, उसे मैं दबाऊं नहीं। और जो मेरे भीतर हो, वह मेरे बाहर प्रगट हो। जो मेरे भीतर है, उसे मैं प्रगट करूं या न करूं, वह है तो। न प्रगट करने से धीरे-धीरे मेरे अपने संबंध मेरी अंतरात्मा से टूट जाएंगे। जब रोने की घड़ी हो, और तुम्हें रोना आता हो तो लाख स्थिति कहे कि "मत रोओ, कि मर्द बच्चा हो, रोते हो? यह तो स्त्रियों का काम है! क्या जनानी बात कर रहे हो? मर्दाने हो! रोओ मत।" लेकिन जब रोने की घड़ी हो और तुम्हारा हृदय रुदन से भरा हो तो बहने देना आंसुओं को; मत सुनना, लाख दुनिया कहे। और जब हंसने की तुम्हारे भीतर फुलझड़ियां फूटती हों तो लाख दुनिया कहे, हंसना। इसको मैं तपश्चर्या कहता हूं।

तुम्हें बड़ी कठिनाइयां आएंगी। और इन कठिनाइयों के मुकाबले धूप में खड़ा होना या भूखे मरना या उपवास करना कुछ भी नहीं है--बच्चों के खेल हैं; सर्कसी खेल हैं। जीवन में इंच-इंच पर तुम्हें कठिनाई आएगी; क्योंकि इंच-इंच पर समाज ने मर्यादाएं बना कर रखी हैं, इंच-इंच पर समाज ने व्यवहार, लोकोपचार, शिष्टाचार बना कर रखा है। और सब लोकोपचार तुम्हें झूठ किए दे रहा है। तुम बिलकुल झूठे हो गए हो। तुम एक महाझूठ हो। तुम्हारे भीतर खोजने से सच का पता ही नहीं चलेगा। तुम खुद भी अगर खोजोगे तो चकित हो जाओगे।

मैं तुमसे यह कहना चहता हूं: एक महीने भर तक इस बात की खोज करो कि तुम कितने-कितने समय पर झूठ होते हो। रास्ते पर कोई मिलता, तुम कहते, "नमस्कार, बड़े दिनों में दर्शन हुए, बड़ी आंखें तरस गईं।" और

भीतर तुम कह रहे हो, "ये दुष्ट सुबह से कहां मिल गया, यह सारा दिन खराब न हो जाए! हम किस दुर्भाग्य के क्षण में इस रास्ते से निकल आए!" तुम ऊपर से कह रहे हो कि मिल कर बड़ी खुशी हुई, और भीतर से तुम कह रहे हो, कैसे छुटकारा हो! तुम जरा जांचना। तुम सिर्फ एक महीना जांच करो। तुम मुस्कुरा रहे हो, जरा जांचना: ओंठ पर ही है या भीतर से जुड़ी है? तुम आंख में आंसू ले आए हो, जरा जांचना: आंख में आंसू झूठे तो नहीं हैं, प्राणों से निकलते हैं?

तुम एक महीना सिर्फ जांच करो और तुम पाओगे तुम्हारी जिंदगी करीब-करीब निन्यानबे प्रतिशत झूठ है--और फिर तुम कहते हो, परमात्मा को खोजना है! परमात्मा तो केवल उन्हीं को मिलता है जिनका जीवन सौ प्रतिशत सच है। और सच होना अत्यंत कठिन है, तपश्चर्यापूर्ण है; क्योंकि जगह-जगह अड़चन होगी।

समाज झूठ से जीता है। फ्रेडरिक नीत्से ने लिखा है कि आदमी बना ही कुछ ऐसा है कि बिना झूठ के जी नहीं सकता। सारा व्यवहार झूठ से चलता है। आदमी को--नीत्से ने लिखा है--कभी भूल कर भी झूठ से मुक्त मत करवा देना, अन्यथा उसका जीना मुश्किल हो जाएगा, वह जी ही न सकेगा। झूठ जीवन में वैसे ही काम करता है, जैसे इंजन में लुब्रीकेशन काम करता है। अगर तेल न डालो, लुब्रीकेशन न डालो, तो इंजन चल नहीं पाता। लुब्रीकेशन डाल दो, तो चीजें चल पड़ती हैं, खटर-पटर कम हो जाती है। तेल की चिकनाहट जैसे इंजन को चलाने में सहयोगी है, वैसे झूठ की चिकनाहट दो आदमियों के बीच खटर-पटर नहीं होने देती।

घर तुम आए, पत्नी के लिए आइसक्रीम ले आए, फूल खरीद लाए--तुम एक झूठ खरीद लाए। क्योंकि अगर तुम्हारे हृदय में प्रेम है तो आइसक्रीम की कोई भी जरूरत नहीं है, फूल की कोई भी जरूरत नहीं है; प्रेम काफी है। तुम अगर हृदयपूर्वक पत्नी को गले लगा लोगे तो बहुत है। वह तुमने कभी किया नहीं; उसका भीतर अपराध-भाव अनुभव होता है। जितना अपराध-भाव अनुभव होता है, उस गड्ढे को भरने की चेष्टा करते चलो, फूल खरीद लाओ, आइसक्रीम ले आओ, मिठाई लाओ। जब गड्ढा बहुत बड़ा हो जाता है, तो फिर गहना लाओ, साड़ी लाओ। जितना बड़ा गड्ढा हो, उतनी महंगी चीज से भरो। प्रेम जहां भर सकता था, वहां कोई और चीज न भरेगी, तुम कितना ही लाओ। तुम सोचते हो, मैं इतना कर रहा हूं; पत्नी सोचती है, प्रेम नहीं मिल रहा। और तुम सोचते हो, मैं कर कितना रहा हूं, रोज इतना लाता हूं, सब तुम्हारे लिए ही तो कर रहा हूं! लेकिन इससे कुछ हल नहीं होता। प्रेम तो सिर्फ प्रेम से भरता है--तुम्हारे झूठों से नहीं।

लेकिन नीत्से भी ठीक कहता है। अगर आदमियों की जिंदगी देखो तो झूठ से भरी है, बिलकुल झूठ से भरी है। वहां सच्चाई है ही नहीं। इस झूठी स्थिति में तुम कभी परमात्मा के दर्शन न पा सकोगे। झूठ, समाज में जीवन तो सरल बना देता है; लेकिन झूठ परमात्म-जीवन में बाधा बन जाता है।

तो अगर तुम मेरी बात समझो तो मैं तुम्हें समाज छोड़ने को नहीं कहता; लेकिन मैं तुमसे उन झूठों को छोड़ने को जरूर कह देता हूं, जिनके कारण तुम समाज के मुर्दा अंग बन गए हो और तुमने जीवन खो दिया है। समाज को छोड़ने से कुछ अर्थ नहीं है, लेकिन सामाजिकता को छोड़ो। रहो समाज में, लेकिन औपचारिकता को छोड़ो, प्रामाणिक बनो! और धीरे-धीरे तुम पाओगे: उतरने लगा प्रभु तुम्हारे भीतर। जैसे-जैसे तुम सत्यतर होते हो, वैसे-वैसे आंखें तुम्हारी विराट को देखने में सफल होने लगती हैं।

जो इस संसार में सहयोगी है, वही परमात्मा की खोज में बाधा है। और तुम चकित तो तब होओगे, जैसे जनक चकित हो गए हैं, कहते हैं: "अहो, आश्चर्य", ऐसे तुम भी चकित होओगे एक दिन, जिस दिन तुम पाओगे कि प्रसाद उसका उतरा और तुम सर्वतंत्र स्वतंत्र हो गए हो, और उसका प्रसाद उतर आया और अब फिर तुम्हारे जीवन में एक दायित्व का बोध है, जो बिलकुल नया है। अचानक फिर तुम जीवन की मर्यादाओं को पूरा करने लगे हो, लेकिन अब किसी बाहरी दबाव के कारण नहीं; किसी बाहरी जबर्दस्ती के कारण नहीं। अब तुम्हारे

भीतर से ही रस बह रहा है। अब तुमने देखना शुरू किया कि यहां कोई दूसरा है ही नहीं। अब तुमने जाना कि बाहर है ही नहीं, बस भीतर ही भीतर है, मैं ही मैं हूं।

इसलिए तो जनक कहते हैं, मन होता है अपने को ही नमस्कार कर लूं! अब तो मैं ही मैं हूं। सब मुझमें है, मैं सबमें हूं! उस दिन होता है एक अनुशासन--अति गरिमापूर्ण, अति सुंदर, अपूर्व! होता है एक दायित्व--किसी का थोपा हुआ नहीं; तुम्हारी निज-बोध की क्षमता से जन्मा, स्वस्फूर्त!

स्वस्फूर्त को खोजो--और तुम परमात्मा के निकट पहुंचते चले जाओगे। जबर्दस्ती थोपे हुए के लिए राजी हो जाओ--और तुम गुलाम की तरह जीयोगे और गुलाम की तरह मरोगे।

गुलाम की तरह मत मरना; यह बड़ा महंगा सौदा है मालिक की तरह जीयो और मालिक की तरह मरो। और मालकियत का इतना ही अर्थ है कि तुम अपने स्वयं के बोध के मालिक बनो, स्वबोध को उपलब्ध होओ!

दूसरा प्रश्न: कल आपने वानप्रस्थ की अदभुत परिभाषा कही--अनिर्णय की स्थिति का वह व्यक्ति जो दो कदम जंगल की तरफ चलता है और दो कदम वापिस बाजार की तरफ लौट आता है, ऐसी चहलकदमी का नाम वानप्रस्थ है। इस संदर्भ में कृपया समझाएं कि यदि अचुनाव महागीता का संदेश है तो वह व्यक्ति क्या करे--बाजार चुने, या जंगल, या दोनों नहीं? कृपया यह भी समझाएं कि अनिर्णय की दशा में और अचुनाव की दशा में क्या फर्क है?

महागीता का मौलिक संदेश एक है कि चुनाव संसार है। अगर तुमने संन्यास भी चुना तो वह भी संसार हो गया। जो तुमने चुना, वह परमात्मा का नहीं है; जो अपने से घटे, वही परमात्मा का है। जो तुमने घटाना चाहा, वह तुम्हारी योजना है; वह तुम्हारे अहंकार का विस्तार है।

तो महागीता कहती है: तुम चुनो मत--तुम सिर्फ साक्षी बनो। जो हो, होने दो। बाजार हो तो बाजार; अचानक तुम पाओ कि चल पड़े जंगल की तरफ, चल पड़े--नहीं चुनाव के कारण; सहज स्फुरणा से--तो चले जाओ।

फर्क समझने की कोशिश करो। सहज स्फुरणा से चले जाना जंगल एक बात है; चेष्टा करके, निर्णय करके, साधना करके, अभ्यास करके जंगल चला जाना बिलकुल दूसरी बात है।

मेरे एक मित्र जैन साधु हैं। उनके पास से निकलता था...जंगल में उनकी कुटी थी और मैं गुजरता था रास्ते से, किसी गांव जाता था, तो मैंने ड्राइवर को कहा कि घड़ी भर उनके पास रुकते चलें। तो हम मुड़े। जब मैं उतर कर उनकी कुटी के पास पहुंचा तो मैंने खिड़की में से देखा: वे नंगे, कमरे में टहल रहे हैं। कोई आश्चर्य की बात न थी, जंगल में वहां कोई था भी नहीं--किसके लिए कपड़े पहनना? फिर मैं जानता हूं उन्हें कि जैन परंपरा में वे पले हैं और नग्नता का...दिगंबर जैन हैं तो नग्नता का बहुमूल्य आदर है उनके मन में, बड़ा मूल्य है। मैं जब दरवाजे पर दस्तक दिया, तो मैंने देखा: वे आए तो एक कपड़ा लपेट कर चले आए।

मैंने पूछा कि अभी मैंने खिड़की से देखा आप नग्न थे, यह कपड़ा क्यों लपेट लिया? वे हंसने लगे। वे कहने लगे, अभ्यास कर रहा हूं।

"काहे का अभ्यास?"

उन्होंने कहा, नग्न होने का अभ्यास कर रहा हूं।

दिगंबर जैनों में पांच सीढ़ियां हैं संन्यासी की, तो धीरे-धीरे पहले ब्रह्मचारी होता है आदमी, फिर छुल्लक होता, फिर एल्लक होता, फिर ऐसे बढ़ता जाता, फिर अंतिम घड़ी में मुनि होता; मुनि जब होता, तब नग्न हो जाता। तो धीरे-धीरे छोड़ता जाता है। पहले दो लंगोटी रखता, फिर एक लंगोटी रखता, फिर छोड़ देता।

मैंने उनसे पूछा कि महावीर के जीवन में कहीं उल्लेख है कि उन्होंने नग्नता का अभ्यास किया हो?

कहा, "कोई उल्लेख नहीं।"

मैंने कहा, मुझे वह बताएं, जो उनकी नग्नता के संबंध में कहा है शास्त्रों में, आप शास्त्र के ज्ञाता हैं!

वे थोड़े हैरान हुए, क्योंकि शास्त्र में तो इतना ही कहा है कि महावीर जब घर से चले तो एक चादर उन्होंने लपेट ली। सब बांट दिया। राह में जब वे जा रहे थे, तो सब तो बांट चुके थे; पूरा गांव, जो भी आए थे सब ले कर गए थे। आखिर में एक भिखमंगा मिला जो अभी भी घिसटता हुआ चला आ रहा था, और बोला, "अरे, क्या सब बंट गया? और मैं तो अभी आ ही रहा था।" तो महावीर ने कहा, यह तो बड़ा मुश्किल हुआ। उसको आधी चादर फाड़ कर दे दी। अब और तो कुछ बचा भी नहीं था; अब आधी ही से काम चला लेंगे। जब वे इस आधी चादर को ले कर जंगल में प्रवेश कर रहे थे, तो एक झाड़ी से, हो सकता है गुलाब की झाड़ी रही हो या कोई और झाड़ी रही हो--वह आधी चादर उलझ गई। वह इस बुरी तरह उलझ गई कि अगर उसे निकालें, तो झाड़ी को चोट पहुंचेगी। तो महावीर ने कहा, तू भी ले ले, अब आधी को भी क्या रखना! वह आधी उस झाड़ी को दे दी। ऐसे वे नग्न हुए। अभ्यास तो इसमें, मैंने कहा, कहीं भी नहीं है।

मैंने उनसे कहा कि तुम अभ्यास कर-करके नग्न अगर हो गए, तो तुम संन्यासी न बनोगे, सर्कसी बन जाओगे। पहले तुम ऐसा कमरे में नंगे घूमोगे, फिर धीरे-धीरे बगीचे में घूमने लगना, फिर धीरे- धीरे गांव में जाने लगना--ऐसे कर-करके हिम्मत बढ़ा लोगे--कि लोग हंसते हैं, हंसने दो; लोग कुछ कहते हैं, कहने दो; धीरे-धीरे, धीरे-धीरे...। मगर धीरे-धीरे जो घटेगा वह तो झूठा हो गया। यह तो तुम चूक ही गए, नग्नता की निर्दोषता चूक गए।

अभ्यासजन्य तो सभी चालाकी से भर जाता है, निर्दोष तो सहज होता है। अगर तुम्हें नग्न होने का भाव आ गया है, चलो यह चादर मुझे भेंट कर दो--मैंने कहा--खत्म करो इस बात को।

वे कहने लगे, नहीं, अभी नहीं। मैं उनकी चादर खींचने लगा तो बोले: अरे, यह मत करना! मैंने कहा, मैं तो सहयोगी हो रहा हूं। यह अभी घटवाए देता हूं और गांव के लोगों को बुलाए लेता हूं। कब तक अभ्यास करोगे? यह पांच मिनट का काम है। मैं गांव से लोगों को बुला लेता हूं, भीड़-भाड़ इकट्ठी कर देता हूं, चादर ले लूंगा सबके सामने। खत्म करो! कब तक अभ्यास करोगे?

उन्होंने कहा, नहीं-नहीं, अभी नहीं, किसी से कहना भी नहीं। अभी मेरी योग्यता नहीं है।

नग्न होने में भी योग्यता की जरूरत है? सारा जंगल, पशु-पक्षी नग्न घूम रहे हैं; तुम कहते हो, नग्नता में भी योग्यता की जरूरत है! आदमी भी हद चालाक है! इतने सरल में भी योग्यता की जरूरत है!

वे अभी तक नग्न नहीं हुए। यह घटना घटे कोई पंद्रह साल हो गए। वे अभी तक भी चादर ओढ़े हुए हैं। अभ्यास अब भी जारी होगा।

खयाल करना, महागीता कहती है: चुनो मत! क्योंकि चुनोगे तो अहंकार से ही चुनोगे न? चुनोगे तो "मैं" करने वाला हूं--कर्ता हो जाओगे न। महागीता कहती है: न कर्ता, न भोक्ता--तुम साक्षी रहो। तुम अगर पाओ कि बाजार में बैठे हैं और सब ठीक है--तो ठीक है, बाजार ठीक है। तुम अगर पाओ कि नहीं, चल पड़े पैर, जंगल बुलाने लगा, आ गई पुकार--अब रुकते-रुकते भी रुकने का कोई उपाय नहीं, अब तुम चल पड़े, अब तुम दौड़ पड़े; जैसे बज गई कृष्ण की बांसुरी और भागने लगीं गोपियां! कोई ने आधा अभी दूध लगाया था, उसने पटकी मटकी वहीं, वह भागी; कोई अभी दीया जला रही थी, उसने दीया नहीं जलाया और भागी। बंसी उठी पुकार! अब कैसे कोई रुक सकता है!

जिस दिन ऐसा सहज घटता हो, जिस दिन तुम जवाब न दे सको कि क्यों किया, तुम्हारे पास कोई तर्क न हो कि क्यों ऐसा हुआ; तुम इतना ही कह सको कि बस हुआ, हम देखने वाले थे, हम करने वाले नहीं थे--तो महागीता कहती है, तो अष्टावक्र कहते हैं--तो असली संन्यास, सहजस्फूर्त!

तो पहली तो बात है, पूछा है, "तो वह व्यक्ति क्या करे--बाजार चुने कि जंगल?"

चुना कि भटका। चुनाव में संसार है, अगर वह जंगल भी चुने तो संसार है, चुनाव में संसार है। और अगर वह बिना चुने बाजार में भी रहे तो संन्यास है। अचुनाव संन्यास है; चुनाव संसार है। इसलिए संन्यास को चुनने का कोई उपाय नहीं है--संन्यास घटता है।

मेरे पास इतने लोग आते हैं। मेरे पास भी दो तरह के संन्यासी हैं--एक जो घटाते; और एक, जिनको घटता है। जो घटाते हैं, वे कहते हैं, सोच रहे हैं; वे कहते हैं, सोच रहे हैं, बात तो कुछ जंचती है, सोच-विचार कर रहे हैं। लेंगे, कभी न कभी लेंगे; मगर अभी नहीं। अभी, वे कहते हैं, और बहुत काम हैं; बात तो जंचती है।

मैंने सुना है, मुल्ला नसरुद्दीन मस्जिद में बैठा था और धर्मगुरु ने प्रवचन दिया। और बीच प्रवचन में उसने बड़े नाटकीय ढंग से पूछा कि जो लोग स्वर्ग जाना चाहते हैं, उठ कर खड़े हो जाएं। सब लोग उठ कर खड़े हो गए, सिर्फ मुल्ला बैठा रहा। उस धर्मगुरु ने पूछा: क्या तुमने सुना नहीं नसरुद्दीन? मैं कह रहा हूं, जिनको स्वर्ग जाना हो, वे खड़े हो जाएं।

नसरुद्दीन ने कहा: बिलकुल सुन लिया, लेकिन अभी मैं जा नहीं सकता।

"बात क्या है?"

उसने कहा कि पत्नी ने कहा है कि मस्जिद से सीधे घर आना। मस्जिद से सीधे घर आना, इधर- उधर जाना ही मत! अब आप और एक लंबी..स्वर्ग जिनको जाना है, जो जा सकते हों जाएं। जाऊंगा मैं भी कभी। तो पहला तो कारण कि पत्नी ने कहा कि मस्जिद से सीधे घर आना। और दूसरा कारण कि इस कंपनी के साथ स्वर्ग मैं नहीं जाना चाहता। इन्हीं की वजह से तो यह संसार भी नर्क हो गया है और अब स्वर्ग भी खराब करवाओगे? इनके बिना तो मैं नर्क भी जाना पसंद कर लूंगा। इनके साथ...।

मेरे पास लोग आते हैं, वे कहते हैं: सोच रहे, बात जंचती; लेकिन अभी मुश्किल है; पत्नी से पूछना है, बच्चों से पूछना है; अभी तो लड़की की शादी करनी है, अभी लड़के की शादी करनी है; यह करना, वह करना; दुकान...।

मैं उनसे कहता हूं: मैं तुमसे लड़की न छोड़ने को कहता हूं न लड़का, न पत्नी न दुकान--मैं तुमसे कुछ छोड़ने को कहता ही नहीं। और मैं तुमसे यह भी नहीं कहता कि तुम संन्यास के संबंध में सोचो, तब लेना। सोच कर लिया, चूक गए। क्योंकि सोचने में तो तुम्हारा निर्णय हो जाएगा। मैं तो कहता हूं: अहोभाव से लेना। उठ गया हो भाव तो ले लेना। सोचना मत। सोचने की प्रक्रिया मत चलाना। जब घटता हो तो घट जाने देना, न घटे तो कोई चिंता की बात नहीं--थोपना मत।

कुछ लोग आते हैं, जो इसी सहजता से लेते हैं। कुछ लोग आते हैं, उनसे मैं कहता हूं कि क्या इरादे हैं संन्यास के? वे कहते हैं: आपकी मर्जी! आप अगर मुझे योग्य समझें तो दे दें।

यह बात और हुई। यह बात ही और हो गई। इसका मूल्य बड़ा अलग हो गया। वे कहते हैं, आप अगर योग्य समझें तो मुझे दे दें। संन्यास मैं कैसे लूंगा? आप देते हों तो दे दें।

इस व्यक्ति ने ठीक से समझा संन्यास का अर्थ। जो होता हो, जो घटता हो, उसे घट जाने देना-- बिना ना-नुच के, बिना अपनी बाधा डाले, बिना अपनी पसंद नापसंद डाले।

तो तुम पूछते हो: बाजार चुनें कि जंगल?

मैं कहता हूं: चुने कि फंसे! चुने कि बाजार में रहे। जंगल जाओ या कहीं भी जाओ, चुने कि बाजार में रहे। न चुना और बाजार में भी रहे तो आ गया जंगल।

जहां तुम बाजार देख रहे हो, वहां कभी जंगल थे और फिर जंगल हो जाएंगे। और जहां तुम जंगल देख रहे हो, वहां बाजार कई दफे बन चुके हैं और उजड़ चुके हैं। जंगल और बाजार में कोई बड़ा फर्क नहीं है।

इब्राहीम एक मुसलमान सम्राट, संन्यासी हो गया। अचानक निकल गया राजमहल से। द्वारपाल रोकने लगे। उसने कहा, हटो भी! तुम्हें मैंने यहां द्वारों पर खड़ा किया था कि किसी को भीतर मत आने देना, मुझे रोकने को नहीं। रास्ता दो।

वे उससे हाथ जोड़ने लगे कि आप यह क्या कर रहे हैं? हमें खबर मिली है कि आप संन्यासी हो रहे हैं। आप क्यों यह महल छोड़ रहे हैं?

इब्राहीम ने कहा: छोड़ रहा हूं? बात ही गलत है। यहां कुछ छोड़ने योग्य है ही नहीं, इसलिए जा रहा हूं। न पकड़ने योग्य है न छोड़ने योग्य है।

इब्राहीम चला गया और गांव के बाहर रहने लगा। वह बल्ख का राजा था। उसने मरघट के पास एक चौरस्ते पर अपना निवास बना लिया। लोग उस चौरस्ते से आते, राहगीर, और उससे पूछते कि बस्ती कहां है, तो वह मरघट का रास्ता बता देता। दोनों तरफ रास्ते जाते थे। और उसकी बात मान कर लोग चले जाते। बड़ा शांत फकीर था, शाही आदमी था! उसके चेहरे की शान और रौनक, उसके व्यक्तित्व की गरिमा और प्रसाद...बड़ा आभायुक्त व्यक्ति था! उसकी बात पर सहज भरोसा हो जाता। कोई यह भी नहीं सोचता कि यह आदमी गलत कहेगा। उससे पूछते, बाबा कहां है बस्ती का रास्ता, तो वह कह देता कि बिलकुल सीधे चले जाओ; इस रास्ते पर मत जाना, नहीं तो भटक जाओगे। जब वे चार मील चल कर पहुंचते, तो मरघट! बड़े क्रोध में लौट कर आते। वे कहते कि तुम होश में तो हो? मरघट भेज दिया!

उसने कहा: तुमने बस्ती पूछी थी न? तो मैंने मरघट में जिनको बसते देखा, उनको कभी उजड़ते नहीं देखता--इसलिए उसको मैं बस्ती कहता हूं। और बस्ती तुम जिसको कहते हो, उसको मैं मरघट कहता हूं, क्योंकि वहां सब मरने वाले लोग हैं। आज मरा कोई, कल मरा कोई, परसों मरा कोई--वह मरघट है। वहां क्यू लगा है; जिसका नंबर आ गया, वह गया। जिसको तुम बस्ती कहते हो, उसको मैंने बसते कभी देखा नहीं; उजड़ते देखा। उसको बस्ती कहो कैसे? बस्ती तो वह, जो बसी रहे। मरघट है बस्ती। तुमने बात गलत पूछी, मेरी कोई गल्ती नहीं है। तुमने पूछा बस्ती कहां है, मैंने तुम्हें बस्ती बता दी। तुम पूछते मरघट, मैं तुम्हें गांव भेज देता। अब तुम मरघट जाना चाहते हो, तो तुम इस रास्ते से चले जाओ। लेकिन मैं तुमसे कहे देता हूं, मरघट पर कभी तुम बस न पाओगे। जाना तो पड़ेगा--जिसको तुम मरघट कहते हो--वहीं। क्योंकि वहीं अंतिम बसाव है, वहीं आदमी अंततः पहुंच जाता है।

जिसको बस्ती कहो, वहां कई दफे मरघट बन चुका; जिसको मरघट कहो, वहां कई दफे बस्ती बस चुकी। यहां क्या जंगल है, क्या बाजार है! यहां दोनों ही माया हैं, दोनों ही सपने हैं। चुने कि फंसे।

महागीता कहती है: चुनना मत। जो हो होने देना। तुम सिर्फ देखते रहना।

यह सबसे कठिन बात है और सबसे सरल भी। क्योंकि करने को कुछ नहीं, इसलिए बिलकुल सरल; और चूंकि करने को कुछ भी नहीं है, इसलिए तुम्हें बहुत कठिन है। कुछ करने को हो तो कर लो। इसमें कुछ करने को ही नहीं है; सिर्फ देखते रहने का है।

"कृपया यह भी समझाएं कि अनिर्णय की दशा में और अचुनाव की दशा में क्या फर्क है!"

बहुत फर्क है। दोनों एक-दूसरे के विपरीत हैं। अनिर्णय का अर्थ है: तुम्हारे मन में दो निर्णय एक साथ हैं। जब भी कोई आदमी कहता है कि मैं अनिर्णीत हूं, तुम भूल में मत पड़ जाना। वह यह कह रहा है कि दो निर्णय हैं और तय नहीं कर पा रहा हूं कि कौन-सा करूं--जंगल जाऊं कि दुकान पर रहूं? एक मन कहता है, दुकान पर रहो; एक कहता है, जंगल चले जाओ। एक मन कहता है, शादी कर लो; एक कहता है, कुंआरे बने रहो। एक मन कहता है, ऐसा करो; एक मन कहता है, वैसा करो। दो निर्णय हैं या कई निर्णय हैं। और कई निर्णयों में चुन नहीं पा रहे हो, क्योंकि सभी करीब-करीब बराबर वजन के मालूम होते हैं--इसलिए अनिर्णय।

अनिर्णय बड़ी भ्रांत, मूर्च्छित दशा है; और अचुनाव बड़ी जाग्रत दशा है। अचुनाव का मतलब है कि न यह चुनते हैं न यह चुनते हैं; चुनते ही नहीं। अनिर्णय में तो चुनने की आकांक्षा बनी है, मगर तय नहीं हो पा रहा: क्या करें, किसको चुनें?

एक स्त्री है जिसको तुम चाहते हो कि शादी कर लें, लेकिन उसके पास सुंदर शरीर नहीं है और धन बहुत है। और एक स्त्री है, जिसके पास सुंदर शरीर है और धन बिलकुल नहीं है। अब तुम्हारे मन में डांवांडोल चल रहा है: किसको चुन लें? धन वाली कुरूप स्त्री को चुन लें कि निर्धन सुंदर स्त्री को चुन लें? एक मन कहता है, "धन का क्या करोगे? धन को खाओगे कि पीयोगे? अरे, सौंदर्य के आगे धन क्या है?" एक मन कहता है, "सौंदर्य का क्या करोगे? दो दिन में सब फीका हो जाएगा, दो दिन में परिचित हो जाओगे। फिर क्या करोगे, खाओगे कि पीयोगे? धन आखिर में काम आता। धन जिंदगी भर काम आएगा। और आज यह स्त्री सुंदर है; कल चेचक निकल आए, फिर क्या करोगे? और आज यह सुंदर दिखाई पड़ रही है दूर से--दूर के ढोल सुहावने होते हैं--पास आ कर कौन-सा जहर निकलेगा, क्या पता! फिर आज जवान है, कल बूढ़ी हो जाएगी--फिर क्या करोगे? और अभी तो अकेले निर्धन हो, और एक गले से बांध ली फांसी--दो हो जाओगे, भूखों मरोगे!"

आदमी की भूख पेट में हो तो कहां का प्रेम और कहां का सौंदर्य--भूखे भजन न होय! तो एक मन कहता है, सुंदर को चुन लो; एक मन कहता है, धन को चुन लो। और दुविधा है कि तुम दोनों चाहते। तुम चाहते यह थे, दोनों हाथ लड्डू होते। तुम चाहते सुंदर स्त्री होती और धन भी होता। वैसे दोनों हाथ लड्डू इस संसार में किसी को नहीं मिलते। अगर किसी को भी मिल जाते इस संसार में दोनों हाथ लड्डू, तो उसके लिए धर्म व्यर्थ हो जाता; लेकिन धर्म किसी को कभी व्यर्थ नहीं हुआ, क्योंकि दोनों हाथ लड्डू कभी किसी को नहीं मिलते। कुछ न कुछ कमी रह जाती है। किसी की आंख सुंदर है, किसी के कान सुंदर हैं, किसी की नाक सुंदर है...बड़ी मुश्किल है...किसी के बाल सुंदर हैं, किसी की वाणी मधुर है, किसी का व्यवहार सुंदर है, किसी का देह का अनुपात सुंदर है। हजार चीजें हैं, सभी पूरी नहीं होतीं। मन की आकांक्षा बड़ी है और चीजें बड़ी छोटी हैं। मन के सपने बड़े सुंदर हैं और सब चीजें फीकी पड़ जाती हैं। दोनों हाथ लड्डू किसी को भी नहीं मिलते। वे तो परमात्मा हुए बिना नहीं मिलते।

तुमने देखा न, हिंदुओं की परमात्मा की मूर्तियां हैं--कहीं सहस्रबाहु...और सब हाथों में, किसी में शंख, किसी में लड्डू, किसी में कुछ। आदमी के दो हाथ हैं, संसार बड़ा है--जब तक तुम सहस्रबाहु न हो जाओ, तब तक कुछ होने वाला नहीं। परमात्मा हुए बिना कोई तृप्त नहीं होता; हाथ भर ही नहीं पाते। और दो हाथ भर भी जाएं तो भी क्या होने वाला है? आकांक्षाएं बहुत हैं, उनके लिए हजारों हाथ चाहिए; वे भी शायद छोटे पड़ जाते होंगे।

कभी तुम देखना हिंदुओं की पुरानी मूर्तियां, तो कई नई चीजें पैदा हो गई हैं, जो उन हाथों में नहीं हैं। अब भगवान को नए हाथ उगाने पड़ें; नहीं तो वे भी तड़प रहे होंगे। अगर अब हम फिर से बनाएं तो एक हाथ में कार लटकी है, एक हाथ में कुर्सी लटकी है, एक हाथ में फ्रिज रखा है। तुम हंसते हो! क्योंकि तुमने उन दिनों जो चीजें श्रेष्ठतम थीं वे लटका दी थीं। अब तो चीजें बहुत बढ़ गई हैं, उतने हाथों से काम न चलेगा। चीजें तो रोज बढ़ती जाती हैं, हाथ सदा छोटे पड़ जाते हैं।

तो अनिर्णय की अवस्था तो तब है, जब तुम्हारे मन में बहुत-सी चीजें हैं, प्रतियोगी चीजें हैं और तुम तय नहीं कर पाते। तय तुम करना चाहते हो और नहीं कर पाते--तो अनिर्णय। अनिर्णय बड़ी दुविधा की दशा है। अचुनाव--तुम तय करना ही नहीं चाहते; तुमने तय करना ही छोड़ दिया। तुम कहते हो, हम तो देखेंगे। हम यह भी देखेंगे, हम वह भी देखेंगे; हमारा कोई झुकाव नहीं है। हम सिर्फ साक्षी बन कर बैठे हैं।

अचुनाव तो चैतन्य की सबसे ऊंची स्थिति है। अनिर्णय, चैतन्य की सबसे नीची स्थिति है। अनिर्णय को अचुनाव मत समझ लेना, नहीं तो तुम भ्रांति को सत्य समझ लोगे। तुम यह मत समझ लेना: चूंकि हम निर्णय नहीं कर पाते, इसलिए हम अचुनाव की अवस्था को उपलब्ध हो गए हैं। निर्णय न कर पाना एक बात है और निर्णय करना छोड़ देना बिलकुल दूसरी बात है। निर्णय न कर पाना तो एक तरह की असहाय अवस्था है; निर्णय करना छोड़ देना एक मुक्ति है। इति ज्ञानं! जनक कहते हैं, यही ज्ञान है!

तीसरा प्रश्न: जनक अष्टावक्र के समक्ष निस्संकोच भाव से ज्ञान को अभिव्यक्त किए जा रहे हैं। क्या ज्ञान उपलब्धि के बाद गुरु के समक्ष सकुचाहट भी खो जाती है? कृपा करके समझाइए।

सकुचाहट या संकोच भी अहंकार का ही अनुषंग है। जिसको तुम संकोच कहते हो, लज्जा कहते हो, वह भी अहंकार की ही छाया है।

तुम सकुचाते क्यों हो कहने में? तुम सोचते हो, कहीं ऐसा न समझा जाए कि कोई समझे कि अभद्र है, मर्यादा-रहित है। तुम सकुचाते क्यों हो कहने में? कहीं ऐसा न हो कि भद्द हो जाए, जो मैं कहूं वह ठीक न हो। तुम सकुचाते क्यों हो कहने में? क्योंकि तुम डरे हुए हो: दूसरा क्या सोचेगा!

लेकिन गुरु और शिष्य का संबंध तो बड़ा अंतरंग संबंध है। वहां दूसरा क्या सोचेगा, यह विचार भी आ जाए तो भेद आ गया। गुरु के सामने कैसा संकोच? जो हुआ है, उसे खोल कर रख देना। बुरा हुआ तो बुरा खोल कर रख देना, भला हुआ तो भला खोल कर रख देना। दुख-स्वप्न देखा तो उसे खोल कर रख देना। अंधेरा है तो कह देना अंधेरा है; रोशनी हो गई, तब संकोच क्या?

क्या तुम सोचते हो कि जनक को कहना चाहिए कि नहीं-नहीं, कुछ भी नहीं हुआ, अरे साहब, मुझे कैसे हो सकता है! हो गया, और वे कहें संकोचवश, शिष्टाचारवश, कि नहीं-नहीं! तुमने जनक को क्या कोई लखनवी समझा है?

मैंने सुना है कि एक स्त्री के पेट में दो बच्चे थे। नौ महीने निकल गए, दस महीने निकलने लगे, ग्यारह महीना, बारह महीना...। स्त्री भी घबड़ा गई, डाक्टर भी घबड़ा गए। कई साल निकल गए, बामुश्किल आपरेशन करके बच्चे निकाले गए। जब निकाले गए तब तो वे बोलने की उम्र के आ चुके थे। डाक्टर ने पूछा कि करते क्या रहे इतनी देर तक? उन्होंने कहा, "साहब क्या करते! मैं इनसे कहता, पहले आप; ये कहते, पहले आप!" लखनवी थे दोनों। अब पहले कौन निकले, यही अड़चन थी।

पुराने दिनों में ऐसा हो जाता था। लखनऊ के स्टेशन पर गाड़ी सीटी बजा रही है। और कोई खड़े हैं अभी, चढ़ ही नहीं रहे--वे कहते हैं, "पहले आप! पहले आप! अरे नहीं आपके सामने मैं कैसे चढ़ सकता हूं!"

संकोच, सकुचाहट, शिष्टाचार गुरु और शिष्य के बीच अर्थ नहीं रखते। जहां प्रेम प्रगाढ़ है, वहां इन क्षुद्र बातों की कोई भी जरूरत नहीं। ये तो सब प्रेम को छिपाने के उपाय हैं। ये तो जो नहीं है उसको बतलाने के ढंग हैं। जब तुम्हारा प्रेम पूरा होता है, तो तुम कुछ भी नहीं छिपाते; तब तो तुम सब खोल कर रख देते हो।

तुमने देखा, दो आदमी दोस्त होते हैं तो सब शिष्टाचार खो जाता है। लोग तो कहते हैं, जब तक दो आदमी एक-दूसरे को गाली-गलौज न देने लगें, तब तक दोस्ती ही नहीं। ठीक ही कहते हैं एक अर्थ में, क्योंकि जब तक गाली-गलौज की नौबत न आ जाए, तब तक कैसी दोस्ती? तब तक शिष्टाचार कायम है; आइए, बैठिए, पधारिए कायम है। जब दो मित्र दोस्त हो जाते हैं, जब मित्रता घनी हो जाती है। तो आइए, बैठिए, पधारिए, सब विदा हो जाता है। तब बातें सीधी होने लगती हैं। तब दिल की दिल से बात होती है। ये ऊपर-ऊपर के खेल, समाज के नियम, उपचार--इनका कोई मूल्य नहीं रह जाता।

गुरु और शिष्य के बीच तो कोई भी औपचारिकता नहीं है।

लेकिन तुम हैरान होओगे कि अगर तुम गुरु-शिष्य को देखोगे तो तुम चंकित होओगे। जनक कह तो रहा है ये सारी बातें, लेकिन इसका यह अर्थ नहीं है कि जनक के मन में गुरु के प्रति कृतज्ञता नहीं है, कि अहोभाव नहीं है।

एक झेन फकीर मंदिर में रात रुका। रात सर्द थी और उसने मंदिर में से बुद्ध की प्रतिमा को उठा लिया; लकड़ी की प्रतिमा थी, जला कर आंच ताप ली। जब मंदिर के पुजारी की नींद खुली आधी रात को; लकड़ी की आवाज, जलने की आवाज सुन कर, तो वह भागा आया। उसने कहा कि यह तू आदमी पागल है क्या? हमने तो तुझे साधु समझ कर मंदिर में ठहरा लिया, यह तूने क्या पाप किया? तूने बुद्ध को जला डाला!

तो वह साधु एक लकड़ी को उठा कर बुद्ध की जली हुई मूर्ति में, राख में टटोलने लगा। उस मंदिर के पुजारी ने पूछा, क्या करते हो अब? उसने कहा, मैं बुद्ध की अस्थियां खोज रहा हूं। वह पुजारी हंसा। उसने कहा, तुम निश्चित पागल हो। अरे, लकड़ी की मूर्ति में कैसी अस्थियां?

उसने कहा, जब अस्थियां ही नहीं हैं तो कैसे बुद्ध? तुम, दो मूर्तियां और रखी हैं, उठा लाओ, रात अभी बहुत बाकी है। और तुम भी आ जाओ; हम तो ताप ही रहे हैं, तुम क्यों ठंड में ठिठुर रहे हो, ताप ही लो!

उसने तो उसे उसी वक्त मंदिर के बाहर निकाला, क्योंकि कहीं वह दूसरी मूर्तियां और न जला डाले।

सुबह जब पुजारी उठा तो उसने देखा कि वह साधु राह के किनारे लगे मील के पत्थर पर दो फूल चढ़ा कर हाथ जोड़े बैठा है। उसने कहा, हद हो गई! रात बुद्ध को जला बैठा, अब मील के पत्थर पर फूल चढ़ा कर बैठा है! उसने जा कर फिर उसे हिलाया और कहा, तू आदमी कैसा है? अब यह क्या कर रहा है यहां?

उसने कहा, भगवान को धन्यवाद दे रहा हूं। यह उनकी ही कृपा है कि उनकी मूर्ति को जलाने की क्षमता आ सकी। और मूर्ति तो मानने की बात है। जहां मान लिया, वहां बुद्ध। वे तो सभी जगह मौजूद हैं, मगर हम सभी जगह देखने में समर्थ नहीं; हम तो एक ही दिशा में ध्यान लगाने में समर्थ हैं। तो अभी जो सामने मिल गया, यह पत्थर मिल गया, फूल भी लगे थे किनारे, सब साधन-सामग्री उन्हीं ने जुटा दी, सोचा कि अब पूजा कर लें। अब धूप भी निकल आई, दिन भी ताजा हो गया। फिर रात इन्होंने साथ दिया था। देखा नहीं, जब सर्दी पड़ी तो इन्हीं को ले कर आंच ली थी। शरीर को भी ये बचा लेते हैं, आत्मा को भी बचा लेते हैं। अब धन्यवाद दे रहे हैं।

शिष्य और गुरु के बीच बड़ा अनूठा संबंध है। वह अपने सत्य को पूरा खोल कर भी रख देता है, लेकिन इसका अर्थ नहीं है कि अवज्ञा कर रहा है, या अभद्रता कर रहा है। यही भद्र संबंध है। और धन्यवाद भी उसका पूरा है।

जनक पैर भी छुएंगे अष्टावक्र के, उनको बिठाया है सिंहासन पर, खुद नीचे बैठे हैं। खुद सम्राट हैं, अष्टावक्र तो कुछ भी नहीं हैं। उनको बिठा कर सिंहासन पर कहा, प्रभु! मुझे उपदेश दें। मुझे बताएं: क्या है ज्ञान, क्या है वैराग्य, क्या है मुक्ति?

और तुम यह मत सोचना कि अष्टावक्र नाराज हैं यह ज्ञान की अभिव्यक्ति सुन कर। अगर सकुचाते जनक तो कुछ कमी रह गई। क्योंकि संकोच का मतलब है: अभी भी तुम सोच रहे हो, मैं हूं। अब कोई संकोच नहीं, "मैं" बिलकुल गया। और अष्टावक्र स्वयं ही कहते हैं: जहां "मैं" नहीं, वहां मुक्ति है; जहां "मैं" है, वहां बंधन है। तो सब बंधन गिर गया। "मैं" ही गिर गया तो कैसा संकोच, कैसी सकुचाहट?

लेकिन तुम इससे यह मत समझ लेना कि जनक की कृतज्ञता का भाव गिर गया। वह तो और घना हो गया। इसी गुरु के माध्यम से तो, इसी गुरु के इशारे पर तो, इसी गुरु की चिनगारी से तो जली यह आग और सब भस्मीभूत हुआ। यह जो घटना घटी है महामुक्ति की, यह जो समाधिस्थ हो गए हैं जनक--यह जिस गुरु की कृपा से हुए हैं, जिसके प्रसाद से हुए हैं, उसके सामने कैसा संकोच?

सच तो यह है, जब गुरु और शिष्य के बीच परम संबंध जुड़ता है तो न शिष्य शिष्य रह जाता, न गुरु गुरु रह जाता; तब दोनों एक हो जाते, महामिलन हो जाता!

चौथा प्रश्न: मैं चाहता हूं, तुम कुछ बोलो,
तुम चाहते हो, मैं कुछ बोलूं;
अधर कांप के रह जाते हैं,
विस्मित हूं कैसे मुंह खोलूं!

खोल तो दिया! तो तुम्हारे लिए एक कहानी:

चार आदमियों ने तय किया कि मौन की साधना करेंगे। वे चारों गए, एक मंदिर में बैठ गए...चौबीस घंटे मौन से रहेंगे। कोई घड़ी भी नहीं गुजरी थी कि पहला आदमी बोला: अरे अरे, पता नहीं मैं ताला लगा आया कि नहीं घर का! दूसरा मुस्कुराया, उसने कहा कि तुमने मौन खंडित कर दिया नासमझ, मूढ़! तूने बोल कर सब मौन खराब कर दिया! तीसरा बोला कि खराब तो तुम्हारा भी हो गया है! तुम क्या खाक उसको समझा रहे हो? चौथा बोला: हे प्रभु! एक हम ही बचे, जिसका मौन अभी तक खराब नहीं हुआ।

बोले बिना रहा नहीं जाता। अगर बिना बोले रह जाओ तो बहुत कुछ हो। अगर मौन रह जाओ तो महान घट सकता है।

शब्द से सत्य के घटने में कोई सहारा नहीं मिलता--शून्य से ही सहारा मिलता है। अगर ऐसा भाव मन में उठ रहा है मौन रह जाने का, तो रह ही जाओ, इतना भी मत कहो; इतना कहने से भी खराब हो जाएगा।

मेरी मजबूरी है कि मुझे तुमसे बोलना पड़ रहा है, क्योंकि तुम मेरे शून्य को न सुन सकोगे। काश, तुम मेरे शून्य को सुन सकते तो बोलने की कोई जरूरत न रह जाती! तो मैं यहां बैठता, तुम यहां बैठते--मंतक-मंतक, हृदय से हृदय की हो लेती चर्चा, शब्द बीच में न आते।

तुम्हें उसी तरफ तैयार कर रहा हूं। बोल भी इसलिए रहा हूं कि तुम्हें न बोलने की तरफ धीरे-धीरे सरकाया जा सके। तुमसे कह भी रहा हूं कि सुनो--सिर्फ इसीलिए कि अभी तुम सुनने के माध्यम से ही शांत बैठ सकते हो, अन्यथा तुम शांत न बैठ सकोगे। फिर धीरे-धीरे, जब तुम सुनने में परम कुशल हो जाओगे, तो तुमसे कहूंगा: अब सुनो, और अब मैं बोलूंगा नहीं, तुम सिर्फ सुनो। फिर मैं बिना बोले तुम्हारे पास बैठूंगा। फिर भी तुम सुन पाओगे। और जो अभी झलक-झलक आता है, वह बिलकुल साक्षात आएगा। जो अभी शब्द में थोड़ा-थोड़ा आता है, बूंद-बूंद आता है, वह फिर सागर की तरह आएगा। और अभी जो हवा के झोंके की तरह आता है--कभी पता चलता आया, कभी पता चलता नहीं आया--वह एक अंधड़-आंधी की तरह आएगा और तुम्हें डुबा देगा; और तुम्हें मिटा देगा; और तुम्हें बहा ले जाएगा। वह एक सागर की तूफानी लहर होगा, जिसमें तुम विलीन हो जाओगे।

मैं बोल रहा हूं--सिर्फ इसलिए कि तुम्हें शून्य के लिए तैयार कर लूं। अभी मजबूरी है।

तुमने देखा, छोटे बच्चों की किताबें होती हैं, तो उनमें अक्षर कम होते हैं, चित्र खूब होते हैं। अक्षर बड़े-बड़े होते हैं, बहुत थोड़े होते हैं--आम...और बड़ा एक आम लटका होता है। क्योंकि अभी अक्षर तो रसपूर्ण नहीं है बच्चे को। अभी तुम आम कितने ही लिखो, उसे कुछ मजा न आएगा। अभी वह देखता है रंगीन आम को। उसे देख कर उसके मुंह में स्वाद आ जाता है; वह कहता है, अरे आम! आम को वह जानता है चित्र से। आम के सहारे वह किनारे पर लिखा हुआ शब्द "आम", वह भी उसे समझ में आ जाता है कि अच्छा तो यह आम है। जैसे-जैसे बच्चा बड़ा होने लगता है, किताबों में से चित्र खोने लगते हैं। विश्वविद्यालय तक पहुंचते-पहुंचते किताबों में कोई चित्र नहीं रह जाते, सब चित्र खो जाते हैं, और अक्षर छोटे होने लगते हैं। फिर विश्वविद्यालय के बाद जो असली

शिक्षा है वहां तो अक्षर और भी छोटे होते-होते अक्षर भी खो जाते हैं। कोरा कागज! वही मेरी मेहनत चल रही है कि अब अक्षर को छोटा-छोटा करते-करते, करते-करते एक दिन तुम्हें कोरा कागज दे दूं और तुमसे कहूं, पढ़ो! और तुम पढ़ो भी, और तुम गुनो भी, और तुम गुनगुनाओ और नाचो भी, और तुम मुझे धन्यवाद दे सको कि कोरा कागज आपने दिया!

ये शब्द तो केवल सेतु हैं, शून्य की तरफ इशारे हैं। तुम्हारे मन में अगर चुप होने की बात आती हो तो बिलकुल ही चुप हो जाना; इतना भी मत कहना कि चुप होने की बात आ गई; उतने में भी मौन टूट जाता है।

आखिरी प्रश्न: महागीता पर हुए आपके प्रवचनों से मेरे सारे संशय दूर हो गए और मेरे सारे स्वनिर्मित बंधन क्षण में ढह गए और आज मैं आपकी करुणा से झूठे पाशों से मुक्त हुआ!

कहा है "स्वामी सदाशिव भारती" ने।

कुछ घटा है, निश्चित घटा है। मगर इससे बहुत सावधान रहने की जरूरत भी आ गई है। अब अगर अकड़ गए कि कुछ घटा है, तो खो दोगे। अभी बड़ी नाजुक किरण उतरी है; मुट्ठी में अगर जोर से बांध लिया, मर जाएगी। अभी कली उमगी है, अभी खिलने देना, फूल बनने देना। नहीं तो कभी-कभी ऐसा होता है, हम किनारे-किनारे पहुंच कर भी गंगा में बिना डूबे वापिस लौट आते हैं। बिलकुल पहुंच गए थे, छलांग लगाने के करीब थे--और लौट आते हैं।

कुछ निश्चित हुआ है सदाशिव को। यह कहता हूं--इसलिए कि तुम्हें भरोसा आए, मजबूती आए। मगर यह भी सावधानी दे देनी जरूरी है कि इसमें अकड़ मत जाना। इससे अहंकार को घना मत कर लेना कि हो गया। अभी बहुत कुछ होने को है। कुछ हुआ है, बहुत कुछ होने को है।

कुछ हुआ--सौभाग्य! प्रभु-कृपा! अनुकंपा मानना उसे, क्योंकि तुम्हारे किए कुछ भी नहीं हुआ है। तुमने किया ही क्या है? सुनते-सुनते, यहां बैठे-बैठे हो गया है। इसे अनुकंपा मानना, इससे अहंकार को मत भर लेना। इससे और भी अनुगृहीत हो जाना कि प्रभु का प्रसाद मिला, और मैं तो पात्र भी न था। इससे अहंकार को और विसर्जित होने देना, तो और घटेगा, और घटेगा। तुम्हारा पात्र जितना शून्य होने लगेगा अहंकार से, उतना ही परमात्मा भरने लगेगा। एक घड़ी ऐसी आती है कि तुम सिर्फ शून्य-मात्र रह जाते हो--महाशून्य! उस महाशून्य में महापूर्ण उतरता है।

पहली किरण आई है अभी ताजीत्ताजी सुबह की, अभी सूरज उगने को है, प्राची लाल हुई, लाली आ गई है प्राची पर, प्राची लाल हो गई है--तुम कहीं अहंकार में आंख बंद मत कर बैठना।

पहले तो यह पहली किरण पानी बहुत मुश्किल है, फिर पा कर खो देनी बहुत आसान है। जिन्हें नहीं मिली, उनका उतना खतरा नहीं है--उनके पास कुछ है ही नहीं। जिन्हें यह किरण मिलती है, उनके पास संपदा है, उन्हें खतरा है। उस खतरे से सावधान रहना। अहंकार निर्मित न हो बस! अनुग्रह का भाव और भी गहन होता जाए, तो और भी होगा, बहुत कुछ होगा! यह तो अभी शुरुआत है। यह तो अभी श्रीगणेशाय नमः! अभी तो शास्त्र प्रारंभ हुआ।

हरि ॐ तत्सत्!

सत्ताईसवां प्रवचन

वासना संसार है, बोध मुक्ति है

अष्टावक्र उवाच।

कृताकृते च द्वंद्वानि कदा शांतानि कस्य वा।
एवं ज्ञात्वेह निर्वेदाद्भव त्यागपरोऽव्रती।। ८३।।
कस्यापि तात धन्यस्य लोकचेष्टावलोकनात्।
जीवितेच्छा बुभुक्षा च बुभुत्सोपशमं गताः।। ८४।।
अनित्यं सर्वमेवेदं तापत्रितय दूषितम्।
असारं निंदितं हेयमिति निश्चित्य शाम्यति।। ८५।।
काऽसौ कालो वयाः किं वा यत्र द्वंद्वानि नो नृणाम्।
तान्युपेक्ष्य यथाप्राप्तवर्ती सिद्धिमवाप्नुयात।। ८६।।
नाना मतं महर्षीणां साधुनां योगिनां तथा।
दृष्टव निर्वेदमापन्नः को न शाम्यति मानवः।। ८७।।
कृत्वा मूर्तिपरिज्ञानं चैतन्यस्य न किं गुरुः।
निर्वेदसमतायुक्तया यस्तारयति संसृतेः।। ८८।।
पश्य भूतविकारास्त्वं भूतमात्रान् यथार्थतः।
तत्क्षणाद् बंधनिर्मुक्तः स्वरूपस्थो भविष्यसि।। ८९।।
वासना एव संसार इति सर्वा विमुग्च ताः।
तत्त्यागो वासनात्यागात् स्थितिरद्य यथा तथा।। ९०।।

अष्टावक्र ने कहा:

"किया और अनकिया कर्म, और द्वंद्व किसके कब शांत हुए हैं! इस प्रकार निश्चित जान कर इस संसार में उदासीन (निर्वेद) हो कर अव्रती और त्यागपरायण हो।"

कृताकृते च द्वंद्वानि कदा शांतानि कस्य वा।
एवं ज्ञात्वेह निर्वेदाद्भव त्यागपरोऽवृती।।

बहुत बहुमूल्य सूत्र है। एक-एक शब्द को ठीक से समझने की कोशिश करें।

"किया और अनकिया कर्म...।"

मनुष्य उससे ही नहीं बंधता जो करता है; उससे भी बंध जाता है जो करना चाहता है। किया या नहीं, इससे बहुत भेद नहीं पड़ता; करना चाहा था तो बंधन निर्मित हो जाता है। चोरी की या नहीं--अगर की तो अपराध हो जाता है; लेकिन न की हो तो भी पाप तो हो ही जाता है।

पाप और अपराध का यही भेद है। सोचा, तो पाप तो हो गया। कोई पकड़ नहीं सकेगा। कोई अदालत, कोई कानून तुम्हें अपराधी नहीं ठहरा सकेगा, अपने घर में बैठ कर तुम सोचते रहो--डाके डालना, चोरी करनी, हत्या करनी--कौन नहीं सोचता है!

विचार पर समाज का कोई अधिकार नहीं, जब तक कि विचार कृत्य न बन जाए। इस कारण तुम इस भ्रांति में मत पड़ना कि विचार करने में कोई पाप नहीं; क्योंकि तुमने विचार किया, तो परमात्मा के समक्ष तो तुम पापी हो ही गए। तुमने सोचा--इतना काफी है; तुम तो पतित हो ही गए। विचार की तरंग उठी, न बनी कृत्य, इससे भेद नहीं पड़ता; लेकिन तुम्हारे भीतर तो मलिनता प्रविष्ट हो गई।

किया, तो अपराध बन जाता है; न किया, सोचा, तो भी पाप बन जाता है। और अपराध से तो बचने के उपाय हैं; क्योंकि कानून, अदालत, पुलिस, इनसे बचने की व्यवस्थाएं खोजी जा सकती हैं, खोज ली गई हैं। जितने कानून बनते हैं, उतना कानून से बचने का उपाय भी निकल आता है। आखिर वकीलों का सारा काम ही वही है।

"वकील" शब्द सूफियों का है--बड़ी बुरी तरह विकृत हुआ। वकील के जो मौलिक अर्थ हैं, वे हैं: जो परमात्मा के सामने तुम्हारा गवाह होगा कि तुम सच हो। मुहम्मद वकील हैं। वे परमात्मा के सामने गवाही देंगे कि हां, यह आदमी सच है। लेकिन फिर वकील शब्द का तो बड़ा अजीब पतन हुआ। अब तो तुम झूठ हो या सच, तुम्हारे लिए जो गवाही दे सकता है और प्रमाण जुटा सकता है कि तुम सच हो; वस्तुतः तुम जितने झूठे हो, उतना ही जो प्रमाण जुटा सके कि तुम सच हो--वह उतना ही बड़ा वकील। अगर तुम सच हो और वकील तुम्हें सच सिद्ध करे, तो उसकी वकालत का क्या मूल्य? कौन उसको वकील कहेगा? वकील तो हम उसी को कहते हैं इस दुनिया में, जो झूठ को सच करे, सच को झूठ करे।

सूफियों का शब्द था वकील--और वकील का अर्थ था: गुरु तुम्हारा वकील होगा। वह तुम्हें परमात्मा के सामने प्रमाण देगा कि मेरी गवाही सुनो, यह आदमी सच है। जीसस ने कहा है अपने अनुयायियों से कि "तुम घबड़ाना मत, आखिरी क्षण में मैं तुम्हारा गवाह रहूंगा। मेरी गवाही का भरोसा रखना।" वह वकालत है।

लेकिन साधारणतः तो वकील का अर्थ है, जो तुमसे कहे: घबड़ाओ मत; पाप किया, झूठ बोले, चोरी की--कोई फिक्र मत करो, कानून से बचने का उपाय है। आदमी ऐसा कोई कानून तो खोज ही नहीं सकता, जिससे बचने का कोई उपाय न हो। आदमी ही कानून खोजता है, आदमी ही कानून से बचने का उपाय भी खोज लेगा।

अपराध से तो तुम बच सकते हो--और अक्सर बड़े अपराधी बच जाते हैं, छोटे अपराधी पकड़े जाते हैं। जिसको बचाने वाला कोई नहीं, वे फंस जाते हैं। जिनको बचाने के लिए धन है, सुविधा है, संपत्ति है, वे बच जाते हैं। बड़े अपराधी नहीं पकड़े जाते। बड़े अपराधी तो सेनापति हो जाते हैं, राजनेता हो जाते हैं। बड़े अपराधी तो इतिहास-पुरुष हो जाते हैं। छोटे अपराधी कारागृहों में सड़ते हैं।

लेकिन जहां विचार का संबंध है, वहां कोई तुम्हें बचा न सकेगा। यहां तुमने विचार किया कि तुम पतित हो ही गए। ऐसा अगर होता कि अभी तुम विचार करते और कई जन्मों के बाद पतित होते, तो बीच में हम कोई उपाय खोज लेते, रिश्वत खिला देते। ऐसा कोई उपाय नहीं है। विचार किया कि तुम पतित हुए।

तुमने देखा, जब तुम भीतर विचार करते हो क्रोध का, तो तुम्हारे लिए तो क्रोध घट ही गया! तुम तो उसी में उबल जाते हो। तुम तो जल जाते हो, तुम तो दग्ध हो जाते हो। फिर तुमने क्रोध किया है या नहीं किया, यह दूसरी बात है। भीतर-भीतर तो छाले पड़ गए, भीतर-भीतर तो घाव हो गए। वह तो क्रोध के भाव में ही हो गए। क्रोध में ही क्रोध का परिणाम है।

इसलिए परमात्मा को धोखा देने का उपाय नहीं है। उसने परिणाम को कारण से दूर नहीं रखा है। आग में हाथ डालो तो ऐसा नहीं कि इस जन्म में हाथ डालोगे और अगले जन्म में जलोगे; हाथ डाला कि जल गये।

यहां भी आदमी ने तरकीबें निकाली हैं। लोग कहते हैं: अभी करोगे, अगले जन्म में भरोगे। क्या मजे की बात कह रहे हैं! वे कह रहे हैं: अभी पाप करोगे, अगले जन्म में मिलेगा फल; इतनी तो अभी सुविधा है! कौन देख आया अगले जन्म की! और तब तक बीच में कुछ पुण्य कर लेंगे, बचने का कुछ उपाय कर लेंगे; पूजा, प्रार्थना, अर्चना कर लेंगे; पंडित, पुरोहित को नौकरी पर लगा देंगे; मंदिर बना देंगे, दान करेंगे, धर्मशाला बना देंगे--कुछ कर लेंगे! अभी तो होता नहीं!

पंडितों ने तुम्हें समझाया है कि धर्म उधार है। यह हो नहीं सकता, क्योंकि धर्म तो उतना ही वैज्ञानिक है जितना विज्ञान। अगर विज्ञान नगद है तो धर्म उधार नहीं हो सकता। आग में हाथ डालते हो तो अभी जलते हो। क्रोध करोगे तो भी अभी जलोगे। बुरा सोचोगे तो बुरा हो गया।

विचार से मनुष्य पाप करता है और जब पाप को कृत्य तक ले आता है तो अपराध हो जाते हैं। अपराधों से तो बचने का उपाय है; लेकिन अगर तुमने सोच लिया बुरा विचार, तो बस घटना घट गई; अब बचने की कोई सुविधा न रही; जो होना था हो गया।

अष्टावक्र कहते हैं: "किया और अनकिया कर्म और द्वंद्व, सुख और दुख का संघर्षण, किसके कब शांत हुए हैं!"

बड़ी अनूठी बात कह रहे हैं। वे कह रहे हैं: तुम इनको शांत करने में मत लग जाना, अन्यथा और अशांत हो जाओगे। ये कब किसके शांत हुए हैं!

तुमने कभी कोई ऐसा आदमी देखा, जिसके सुख-दुख शांत हो गए हों? महावीर की भी मृत्यु होती तो पेचिस की बीमारी से होती। बुद्ध की मृत्यु होती है तो विषाक्त भोजन शरीर में फैल जाता है--विष के कारण होती है। जीसस सूली पर लटक कर मरते हैं। सुकरात जहर पी कर मरता है। रमण को कैंसर था, रामकृष्ण को कैंसर था। सुख-दुख कब किसके शांत हुए! सुख-दुख तो चलते ही रहेंगे--और विचार भी!

किये-अनकिये कमर्ो से भी बिलकुल छुटकारा नहीं हो सकता। तुम कैसे छुटकारा करोगे? तुम कहो कि हम बिलकुल बैठ जाएंगे, हम कुछ करेंगे ही नहीं--यही तो पुराने ढब का संन्यासी कहता है: हम बैठ जाएंगे, कुछ करेंगे ही नहीं--लेकिन बैठना कर्म है। बैठे-बैठे हजारों चीजें हो जाएंगी। तुम बैठोगे, सांस तो लोगे? सांस लोगे तो पूछो वैज्ञानिक से, वह कहता है: एक श्वास में लाखों जीवाणु मर जाते हैं। हो गई हत्या, हो गई हिंसा। बांध लो कितनी ही मुंहपट्टी मुंह पर, बन जाओ जैन तेरापंथी मुनि, बांध लो मुंहपट्टी--कुछ फर्क नहीं पड़ता। तुम्हारी पट्टी से टकरा कर मर जाएंगे। मुंह तो खोलोगे, बोलोगे तो, श्रावकों को समझाओगे तो? वह जो मुंह से गर्म हवा निकलती है, उसमें मर जाएंगे। भोजन तो करोगे, पानी तो पीयोगे, कुछ तो करोगे ही--जब तक जीवन है कृत्य तो रहेगा। और प्रत्येक कृत्य के साथ कुछ न कुछ हो रहा है। प्रत्येक कृत्य में कुछ न कुछ हिंसा हो ही रही है। जीवन हिंसाशून्य हो ही नहीं सकता। भाग जाओगे, छोड़ दोगे सब--जहां जाओगे वहां कुछ न कुछ करना पड़ेगा। भीख तो मांगोगे?

कृत्य तो जारी रहेगा; जीवन का अनिवार्य अंग है। जीवन जब शून्य हो जाता, तभी कृत्य शून्य होता है। और जब कुछ करोगे तो कुछ विचार भी चलते रहेंगे। अब संन्यासी बैठा है, उसे भूख लगी है तो विचार न उठेगा कि भूख लगी? महावीर को भी उठता होगा कि भूख लगी, नहीं तो भिक्षा मांगने क्यों जाते? विचार तो स्वाभाविक है, उठेगा कि अब भूख लगी। रास्ते पर अंगारा पड़ा हो तो महावीर भी हों तो बच कर निकलेंगे; उनको भी तो विचार उठेगा कि अंगारा पड़ा है, इस पर पैर न रखूं, पैर जल जाएगा। तुम पत्थर महावीर की तरफ फेंकोगे तो उनकी आंख भी झप जाएगी। इतना तो विचार होगा न, इतनी तो तरंग होगी न, कि पत्थर आ रहा है, आंख फूटी जाती है, आंख झपा लो!

विचार तो उठता रहेगा, क्योंकि विचार भी जीवन का अनुषंग है। जब तक श्वास चलती है, तब तक विचार भी उठता रहेगा। इसका क्या अर्थ हुआ? क्या इसका अर्थ हुआ कि आदमी के शांत होने का कोई उपाय नहीं? नहीं, उपाय है। उसी उपाय की तरफ इंगित करने के लिए अष्टावक्र कहते हैं कि पहले यह समझ लो कि कौन-कौन से उपाय काम नहीं आएंगे। छोड़ कर भागना काम नहीं आएगा। कर्म से बचना काम नहीं आएगा। विचार से लड़ना काम नहीं आएगा।

कृताकृते च द्वंद्वानि कदा शांतानि कस्य वा।

तू मुझे बता जनक, किसके कब विचार शांत हुए हैं? किसके कब द्वंद्व, दुख शांत हुए?

जीवन है तो द्वंद्व है। दिन को जागोगे, तो रात सोओगे न? द्वंद्व शुरू हो गया, दोहरी प्रक्रियाएं हो गईं। श्रम करोगे तो विश्राम करोगे। सुख होगा तो उसके पीछे दुख आएगा, जैसे दिन के पीछे रात आती है। रात के पीछे फिर दिन चला आ रहा है। हर सुख के पीछे दुख है, हर दुख के पीछे सुख है--शृंखला बंधी है। श्वास भीतर लोगे

तो फिर बाहर भी तो छोड़ोगे न? नहीं तो फिर भीतर न ले सकोगे। बाहर लोगे श्वास तो भीतर जाएगी, भीतर लोगे तो बाहर जाएगी--द्वंद्व जारी रहेगा।

इस जीवन की सारी गति द्वंद्वात्मक है। दो पैर से आदमी चलता है। सब चलने में दो की जरूरत है। दो पंख से पक्षी उड़ता है। उड़ने में दो की जरूरत है। एक पंख काट दो, पक्षी गिर जाएगा। एक पैर काट दो, आदमी गिर जाएगा।

जीवन द्वंद्व से चलता है। जो निर्द्वंद्व हुआ वह तत्क्षण गिर जाएगा। इसलिए तो परमात्मा तुम्हें कहीं दिखाई नहीं पड़ता। जो भी दिखाई पड़ता है, वह द्वंद्व से घिरा होगा। जहां द्वंद्व गया, वहां दृश्य भी गया; वहां व्यक्ति अदृश्य हो जाता है। जीवन तो उसी अदृश्य का दृश्य होना है।

इसलिए अष्टावक्र कहते हैं: किया-अनकिया कर्म, द्वंद्व किसके कब शांत हुए! तो तू इस उलझन में मत पड़ जाना कि इनको शांत करना है।

मेरे पास लोग आते हैं। वे कहते हैं, मन में बड़ा क्रोध है, इसे कैसे शांत करें? मैं उनसे कहता हूं, झंझट में मत पड़ो। क्रोध को कौन कब शांत कर पाया है? तुम तो साक्षी-भाव से देखो--जो है, सो है--और देखते से ही शांत होना शुरू हो जाता है। लेकिन यह शांति बड़ी और है।

इसका यह अर्थ नहीं है कि तरंगें नहीं उठेंगी; तरंगें उठती रहेंगी, लेकिन तुम तरंगों से दूर हो जाओगे। तरंगें उठती रहेंगी, लेकिन इन तरंगों से तुम्हारा तादात्म्य टूट जाएगा। तुम ऐसा न समझोगे: ये तरंगें मेरी हैं। भूख लगेगी तो तुम ऐसा न समझोगे: मुझे भूख लगी; तुम समझोगे: शरीर को भूख लगी। पैर में कांटा चुभेगा तो तुम समझोगे: शरीर को पीड़ा हुई। विचार तो उठेगा--तुम में भी उठता है, महावीर में भी उठता है। तुममें उठता है: अरे, मुझे पीड़ा हुई! महावीर को उठता है: अरे, शरीर को कांटा गड़ा! जब तुम मरोगे तो तुम्हें विचार उठता है: मैं मरा! जब रमण मरते हैं, तो उन्हें विचार उठता है: यह शरीर के दिन पूरे हुए। मृत्यु तो होगी ही। वह तो जन्म के साथ ही बंधा है द्वंद्व।

"इस प्रकार निश्चित जान कर इस संसार में उदासीन हो कर अव्रती और त्यागपरायण हो।"

एक-एक शब्द कोहिनूर जैसा है!

"इस प्रकार निश्चित जान कर...।"

एवं ज्ञात्वेह...

--ऐसा जान कर!

"निश्चित जान कर" का क्या अर्थ है? सुन कर नहीं; किसी और के जानने से उधार ले कर नहीं--ऐसा जीवन का अवलोकन करके। ऐसा जीवन को देख कर कि द्वंद्व यहां रुक कैसे सकता है? यहां विचार समाप्त कैसे हो सकते हैं? सागर की सतह पर तो चलती ही रहेंगी तरंगें। हवा के इतने झकोरे हैं, सूरज निकलेगा, बादल आएंगे, हवा चलेगी, तूफान उठेंगे--सतह पर तो सब चलता ही रहेगा। इतना ही हो सकता है कि तू सतह पर मत रह, तू सरक जरा, सरक कर अपने केंद्र पर आ जा।

प्रत्येक के भीतर एक ऐसी जगह है जहां कोई तरंग नहीं पहुंचती। तुम तरंग को रोकने की चेष्टा मत करो; तुम तो वहां सरक जाओ जहां तरंग नहीं पहुंचती। बाहर तुम बैठे हो, सुबह है, सर्दी के दिन हैं, धूप सुहावनी लगती, मीठी लगती; फिर थोड़ी देर में सूरज ज्यादा गर्म हो आया, ऊपर आ गया, ऊपर उठने लगा, पसीना-पसीना होने लगे--अब तुम क्या करते हो? क्या तुम सूरज के ऊपर पानी छिड़कते हो कि चलो ठंडा कर दो सूरज को थोड़ा? तुम चुपचाप सरक जाते अपने घर की छाया में, तुम हट आते छप्पर के नीचे।

अब कोई आदमी ले कर हौज और सूरज को ठंडा करने की कोशिश करने लगे, तो उसको तुम पागल कहोगे। तुम कहोगे: "अरे पागल! सूरज को कौन कब शांत कर पाया!" यही अष्टावक्र कह रहे हैं: जब सूरज बहुत गर्म हो जाए तो चले जाना भूमिगत कमरों में, जहां कोई सूरज की किरण न पहुंचती हो। सरकते जाना भीतर!

प्रत्येक के भीतर एक ऐसी जगह है जहां कोई तरंग नहीं पहुंचती; वही तुम्हारा केंद्र है; वही तुम्हारा स्वरूप है। उस गहराई में ही तुम्हारा वास्तविक "होना" है।

"इस प्रकार निश्चित जान कर--एवं ज्ञात्वेह--ऐसा जान कर...।"

मगर यह मैं कहूं, इससे न होगा। अष्टावक्र कहें, इससे भी न होगा। वेद-कुरान कहते रहे हैं, कुछ भी नहीं होता। जब तक तुम न जानोगे; जब तक यह तुम्हारी प्रतीति न बनेगी...।

ज्ञान मुफ्त नहीं मिलता और उधार भी नहीं मिलता--जीवन के कड़वे-मीठे अनुभव से मिलता है; जीवन जी कर मिलता है; जीवन को जीने में जो पीड़ा है, तप है, उस सबको झेल कर मिलता है।

"ऐसा निश्चित जान कर आदमी इस संसार में उदासीन हो जाता है।"

"उदासीन" शब्द बड़ा प्यारा है। आसीन का मतलब तो तुम समझते ही हो: बैठ जाना; आसन। उदासीन का अर्थ है अपने में बैठ जाना, अपनी गहराई में बैठ जाना; ऐसे सरक जाना अपने भीतर कि जहां बाहर की कोई तरंग न पहुंचती हो।

हैरिगेल ने बड़ी मीठी घटना लिखी है अपने झेन गुरु के बाबत। हैरिगेल जापान में था और तीन वर्षों तक धनुर्विद्या सीखता था एक झेन गुरु से। धनुर्विद्या भी ध्यान को सिखाने के लिए एक माध्यम है। तीन वर्ष पूरे हो गए थे और हैरिगेल उत्तीर्ण भी हो गया था--बामुश्किल उत्तीर्ण हो पाया। क्योंकि पाश्चात्य बुद्धि तकनीक को तो समझ लेती है, टेक्नोलॉजिकल है; लेकिन उससे गहरी किसी बात को समझने में उसे बड़ी अड़चन होती है।

वह झेन गुरु कहता था: तुम चलाओ तो तीर, लेकिन ऐसे चलाओ जैसे तुमने नहीं चलाया। अब यह बड़ी मुश्किल बात है। हैरिगेल निष्णात धनुर्विद था। सौ प्रतिशत उसके निशाने ठीक बैठते थे। लेकिन वह गुरु कहता: नहीं, अभी इसमें झेन नहीं है; अभी इसमें ध्यान नहीं है।

हैरिगेल कहता: मेरे निशाने बिलकुल ठीक पड़ते हैं, अब और क्या चाहिए?

यह पाश्चात्य तर्क है कि जब निशाने सब ठीक लग रहे हैं, सौ प्रतिशत ठीक लग रहे हैं, तो अब और क्या इसमें भूल-चूक है? लेकिन झेन गुरु कहता: हमें तुम्हारा निशाना ठीक लगता है कि नहीं, इससे सवाल नहीं; तुम ठीक हो या नहीं, इससे सवाल है। निशाना चूके तो भी चलेगा। निशाने की फिक्र किसको है? तुम न चूको।

बात बड़ी कठिन थी। वह कहता: तुम ऐसे तीर चलाओ कि चलाने वाले तुम न रहो; कर्ता तुम न रहो, तुम सिर्फ साक्षी...। चलाने दो परमात्मा को, चलाने दो विश्व की ऊर्जा को; मगर तुम न चलाओ।

अब यह बड़ी कठिन बात है। हैरिगेल कहेगा कि मैं न चलाऊं तो मैं फिर तीर को प्रत्यंचा पर रखूं ही क्यों? अब जो रखूंगा तो मैं ही रखूंगा। जब खींचूंगा प्रत्यंचा को तो मैं ही खींचूंगा, कौन बैठा है खींचने वाला? और जब तीर का निशाना लगाऊंगा तो मैं ही लगाऊंगा, कौन बैठा है देखने वाला और?

तीन वर्ष बीत गए और गुरु ने उससे कहा कि अब बहुत हो गया, अब तुम्हारी समझ में न आएगा। यह बात नहीं होने वाली, तुम वापिस लौट जाओ।

तो आखिरी दिन वह छोड़ दिया...उसने खयाल किया, अपने से होने वाला नहीं है या यह कुछ पागलपन का मामला है। वह गुरु से विदा लेने गया है। गुरु दूसरे शिष्यों को सिखा रहा है। तीन वर्ष उसने कई बार गुरु को तीर चलाते देखा, लेकिन यह बात दिखाई न पड़ी थी। नहीं दिखाई पड़ी थी, क्योंकि खुद की चाह से भरा था कि कैसे सीख लूं? कैसे सीख लूं? बड़ा भीतर तनाव था। आज सीखने की बात तो खत्म हो गई थी। वह विदा होने को आया है--आखिरी नमस्कार करने। कुछ भी हो इस गुरु ने तीन वर्ष उसके साथ मेहनत तो की है। तो वह बैठा है एक बेंच पर, गुरु दूसरे शिष्यों को सिखा रहा है। वह खाली हो जाए, तो हैरिगेल उससे क्षमा मांग ले और विदा ले ले। खाली बैठे- बैठे उसको पहली दफा दिखाई पड़ा कि अरे, गुरु उठाता है प्रत्यंचा, लेकिन जैसे उसने नहीं उठाई। कोई तनाव नहीं है उठाने में। रखता है तीर, लेकिन जैसे उदासीन। चढ़ाता है हाथ, खींचता है हाथ, लेकिन जैसे प्रयोजन-शून्य; सूना-सूना; भीतर कोई चाहत नहीं है कि ऐसा हो; जैसे कोई करवा ले रहा है!

तुमने फर्क देखा? तुम अपनी प्रेयसी से मिलने जा रहे हो तो तुम्हारी गति और होती है; और किसी के संदेशवाहक हो कर जा रहे हो, किसी ने चिट्ठी दे दी कि जरा मेरी प्रेयसी को पहुंचा देना, तो तुम रख लेते हो उदासीन मन से खीसे में, तुम्हें क्या लेना-देना! चले जाते हो, दे भी देते हो; मगर वह गति, त्वरा, ज्वर, जो तुम्हारी प्रेयसी की तरफ जाने में होता है, वह तो नहीं होता; तुम सिर्फ संदेशवाहक हो।

तुमने देखा, पोस्टमैन आता है, डाकिया! तुम्हें लाख रुपये की लाटरी मिल गई हो, वह ऐसे ही चला आता है कि जैसे दो कौड़ी का लिफाफा पकड़ा रहा है। तुम्हें हैरानी होती है कि अरे, तू कैसा पागल है? लाख रुपये मुझे मिल गए और तू बिलकुल ऐसे ही चला आ रहा है जैसे रोज आता है--वही रोनी सूरत, वही साइकिल पर सवार चला आ रहा है! मगर उसे क्या लेना-देना है? संदेशवाहक, संदेशवाहक है।

देखा हैरिगेल ने कि गुरु ठीक कहता था, मैं चूकता रहा हूं। वह उठा, और चकित हुआ थोड़ा, क्योंकि उसे लगा: मैं नहीं उठा हूं, कोई चीज उठी! वह उठ कर गुरु के पास गया, उसने गुरु के हाथ से तीर-कमान ले लिया, चढ़ाया, निशाना मारा और गुरु प्रफुल्लित हो गया, उसने गले से लगा लिया। उसने कहा, हो गया! आज "उसने" चलाया। आज तू उदासीन था। तीन वर्ष में जो न हो पाया, वह आज आखिरी घड़ी में हो गया।

उसकी खुशी में उसने गुरु को निमंत्रण दिया कि आज मेरे साथ भोजन करें। गुरु आया, एक सात-मंजिल मकान में भोजन करने बैठे, अचानक भूकंप आ गया। जापान में आमतौर से भूकंप आ जाते हैं। सब भागे, पूरा भवन कंप गया। हैरिगेल खुद भी भागा। भागने में उसे यह भी याद न रही कि गुरु कहां है। सीढ़ी पर भीड़ हो गई, क्योंकि कोई पचीसत्तीस आदमियों को उसने बुलाया था। तो उसने पीछे लौट कर देखा, गुरु तो शांत आंख बंद किए बैठा है; जहां बैठा था, वहीं बैठा है। हैरिगेल को यह इतना मनमोहक लगा--यह घटना, गुरु का यह निश्चिंत रहना, यह भूकंप का होना, यह मौत द्वार पर खड़ी, यह मकान अभी गिर सकता है, सात-मंजिल मकान है, कंपा जा रहा है जड़ों से, और गुरु ऐसा बैठा है निश्चिंत, जैसे कुछ भी नहीं हो रहा है! वह भूल ही गया भागना। ऐसा कुछ जादू गुरु की मौजूदगी में उसे लगा! कुछ ऐसी गहराई, जो उसने कभी नहीं जानी! वह आ कर गुरु के पास बैठ गया; कंप रहा है, लेकिन उसने कहा कि मेहमान घर में बैठा हो और मेजबान भाग जाए, यह तो अशोभन है--तो मैं भी बैठूंगा; फिर जो इनका होगा, मेरा भी होगा। भूकंप आया और गया, क्षण भर टिका। गुरु ने आंख खोली, और जहां से बात टूट गई थी भूकंप के आने और लोगों के भागने के कारण, उसे फिर वहीं से शुरू कर दिया।

हैरिगेल ने कहा: छोड़िए भी, अब मुझे कुछ याद नहीं कि कौन-सी हम बात कर रहे थे। वह बात आयी-गयी हो गई, इस संबंध में कुछ अब मुझे जानना नहीं। मुझे कुछ और जानने की उत्सुकता है। इस भूकंप का क्या हुआ? हम सब भागे, आप नहीं भागे?

गुरु ने कहा: तुमने देखा नहीं, भागा मैं भी। तुम बाहर की तरफ भागे, मैं भीतर की तरफ भागा। तुम्हारा भागना नासमझी से भरा है, क्योंकि तुम जहां जा रहे हो वहां भी भूकंप है। पागलो, जा कहां रहे हो? इस मंजिल पर भूकंप है तो छठवीं पर नहीं है? तो पांचवीं पर नहीं है? तो चौथी पर नहीं है? क्या पहली मंजिल पर नहीं है? तुम अगर किसी तरह मकान के बाहर भी निकल गए, तो सड़क पर भी भूकंप है। तुम भूकंप में ही भागे जा रहे हो। तुम्हारे भागने में कुछ अर्थ नहीं है। मैं ऐसी जगह सरक गया, जहां कोई भूकंप कभी नहीं जाते। मैं अपने भीतर सरक गया। इस भीतर सरक जाने का नाम है "उदासीन"--अपने भीतर बैठ गए!

भूकंप आएगा तो शरीर तक जा सकता है, ज्यादा से ज्यादा मन तक जा सकता है; इससे पार भूकंप की कोई गति नहीं है। तुम्हारी आत्मा में भूकंप के जाने का कोई उपाय नहीं है। क्योंकि उन दोनों के होने का ढंग इतना अलग है कि एक-दूसरे का कहीं मिलन नहीं हो सकता। भूकंप आएगा तो शरीर पर तो निश्चित परिणाम होगा; क्योंकि शरीर इसी मिट्टी का बना है, इसी भूमि का बना है, जिसमें भूकंप आया है। दोनों की तरंगें एक हैं।

दोनों एक ही धातु से निर्मित हैं, एक ही द्रव्य से निर्मित हैं। तो पूरी भूमि कंप रही हो तो तुम्हारा शरीर न कंपे, यह नहीं हो सकता; शरीर तो कंपेगा।

यही तो कहते अष्टावक्र कि अरे पागल, कौन कब शांत हुआ? कौन कब सुख-दुख के पार हुआ? एक सीमा तक तो सब कंपता ही रहेगा। भूकंप आएगा तो महावीर को भी आएगा, कोई तुम्हारा शरीर ही थोड़े ही टूटेगा? अगर महावीर होंगे तो उनका शरीर भी टूटेगा। शरीर तो मिट्टी का है, तो मिट्टी के नियम काम करेंगे। और जब भूकंप आएगा और शरीर टूटेगा, तो मन भी विचलित होगा; क्योंकि मन तो शरीर का गुलाम है; क्योंकि मन तो शरीर का सेवक है; क्योंकि मन तो शरीर का ही अपने को बचाए रखने का एक उपाय है, अपनी सुरक्षा है।

जब भूख लगती है तो मन कहता भूख लगी, क्योंकि शरीर अबोल है, गूंगा है, तो उसने एक बोलने वाले का सहारा ले रखा है। प्यास लगती है तो मन कहता है प्यास लगी; शरीर कह न सकेगा।

तो जैसा तुमने सुना होगा कि एक अंधे आदमी ने और एक लंगड़े आदमी ने दोस्ती कर ली थी--दोनों भिखमंगे थे, एक-दूसरे को सहारा देते थे। अंधा देख नहीं सकता था, लंगड़ा चल नहीं सकता था। अंधा चल सकता था, लंगड़ा देख सकता था--दोनों की दोस्ती काम आई। अंधा बैठा लेता था लंगड़े को अपने कंधों पर, दोनों भिक्षा मांग आते थे। दोनों अकेले तो असमर्थ थे, दोनों साथ-साथ बड़े समर्थ हो जाते थे।

शरीर में घटना घटती है, मन में अंकन होता है। मन और शरीर का संयोग है। मनोवैज्ञानिक तो कहते हैं, मन और शरीर इस तरह दो चीजों की बात नहीं करनी चाहिए--मनोशरीर। एक ही घटना है; उसका एक बाहर का हिस्सा है, एक भीतर का हिस्सा है। तो अब नवीन मनोविज्ञान में शरीर और मन ऐसे दो शब्दों का प्रयोग नहीं किया जाता, बल्कि "मनोशरीर" का प्रयोग किया जाता है, साइकोसोमैटिक। दोनों संयुक्त हैं।

इसलिए जो शरीर में घटता है, उसी तरंगें मन तक पहुंच जाती हैं। सच तो यह है शरीर में घटा नहीं कि तरंगें पहुंच जाती हैं। कभी-कभी तो शरीर में घटने के पहले पहुंच जाती हैं। जैसे कोई आदमी छुरा लिए चला आ रहा है मारने तुम्हें, तो अभी शरीर में तो छुरा लगा नहीं, लेकिन मन में खबर पहले पहुंच जाएगी।

मन की जरूरत ही यही है कि कुछ घटे, उसके पहले खबर दे दे कि बचो, यह आदमी छुरा मारने आ रहा है। तुम जब सोए हो, तब कोई छुरा मारने आए, तो मन सोया रहता है। शरीर तो मौजूद रहता है; लेकिन शरीर तो अंधा है, शरीर को तो कुछ दिखाई पड़ता नहीं; कोई आ जाए, छुरा मार जाए, तो कुछ पता न चलेगा। तुम जागे हो तो मन सजग है। मन तो ऐसा है जैसे तुमने हवाई जहाज में राडार देखा हो। जैसे राडार का उपकरण दो सौ मील दूर तक देखता रहता है, क्योंकि हवाई जहाज की गति इतनी है अब तो, ध्वनि से भी ज्यादा गति है, कि अगर दो सौ मील दूर तक दिखाई न पड़े तो दुर्घटना हो जाएगी। क्योंकि एक क्षण लगेगा दो सौ मील पार करने में। अगर हवाई जहाज आठ सौ मील प्रति घंटे की रफ्तार से जा रहा है, तो कितनी देर लगने वाली है? तो अगर हवाई जहाज के सामने ही जब कोई चीज आ जाए, तब दिखाई पड़े, तब तो गए; तब तो तुम्हारे देखने और बचाने के बीच समय न होगा। तो राडार देखता है दो सौ मील, छह सौ मील, हजार मील दूर--बादल हैं, बिजली चमक रही है, पानी गिर रहा है, क्या हो रहा है?

मन राडार है। वह देखता है, कौन छुरा मारने आ रहा है? वह देखता है, अरे, यह वृक्ष गिर रहा है, हट जाओ! वह देखता है, राह पर कांटे पड़े हैं, बच जाओ। मगर है वह शरीर का सेवक, शरीर की सेवा में रत है। वह शरीर का ही विकसिततम रूप है। वह शरीर की ही शुद्ध ऊर्जा है।

इसलिए जब शरीर कंपेगा, तब तो मन कंपेगा ही। कभी-कभी तो शरीर नहीं भी कंपता और मन कंप जाता है। जैसे कि तुमसे कोई कह दे कि भूकंप आने वाला है, अभी आया नहीं, तब इस शरीर को तो कुछ पता नहीं चल रहा, लेकिन मन कंप जाएगा कि भूकंप आने वाला है।

देखा अभी, पेकिंग में कई दिनों तक लोग घर के बाहर तंबू डाले पड़े रहे! भूकंप आने वाला है, इसकी संभावना से मन तो कंप गया, मन तो घबड़ा गया।

अभी यहां कोई जोर से चिल्ला दे, "आग, आग"--इनमें से कई भाग खड़े होंगे। आग न भी लगी हो, तो भी भाग खड़े होंगे; क्योंकि इसकी सुविधा कहां मिलेगी कि जांच-पड़ताल करें? मन ने सुना आग कि भागा मन।

देखा तुमने, कोई कह दे नीबू, और तत्क्षण लार मन में बहनी शुरू हो जाती है! अभी नीबू शरीर में डाला नहीं, लेकिन नीबू शब्द--और भीतर लार बहनी शुरू हो गई! मन तैयारी करने लगा कि नीबू करीब आ रहा है। शब्द आया है तो शायद यथार्थ भी आता होगा।

उस झेन गुरु ने हैरिगेल को कहा: भागे तुम, लेकिन तुम्हारा भागना व्यर्थ था, क्योंकि तुम भूकंप में ही भागे जाते थे। भागा मैं भी, यद्यपि तुम्हें दिखाई न पड़ा; मैं भीतर की तरफ भागा। मैंने तत्क्षण अपना तादात्म्य शरीर और मन से अलग कर लिया: इन पर भूकंप घट सकता है, इनसे दोस्ती अभी ठीक नहीं। मैं तत्क्षण अपने को अलग कर लिया। शरीर कंपता रहा, मन कंपता रहा--मैं भीतर बैठा देखता रहा। भूकंप आ जाता तो शरीर मरता, मन टूटता, बिखरता; मेरा कुछ होने वाला नहीं था। नैनं छिंदंति शस्त्राणि--नहीं शस्त्र उसे छेद पाते; नैनं दहति पावकः--नहीं आग उसे जला पाती है।

"किया और अनकिया कर्म और द्वंद्व किसके कब शांत हुए हैं! इस प्रकार निश्चित जान कर इस संसार में उदासीन, निर्वेद हो कर अव्रती और त्यागपरायण हो।"

तुमने "उदासीन" शब्द सुना होगा। लेकिन इसका ठीक-ठीक अर्थ शायद कभी न समझा होगा। लोग तो समझते हैं: उदासीन का संबंध उदास से है। लोग सोचते हैं: जो जिंदगी से उदास हो गए वे उदासीन। उदास से उदासीन का कुछ लेना-देना नहीं। क्योंकि जिंदगी में जो उदास हो गए हैं, वे तो उदासीन हो ही नहीं सकते। जिंदगी में उदास होने का तो इतना ही मतलब है कि अभी उनकी बुद्धि जागी नहीं; नहीं तो उदास होने को भी यहां कुछ नहीं है। यहां प्रफुल्लित होने को भी कुछ नहीं है, उदास होने को भी कुछ नहीं है। न यहां पाना है न देना है। हानि-लाभ न कछु! अगर लाभ हो सकता हो तो तुम प्रफुल्लित हो जाते हो, अगर हानि होने लगे तो उदास हो जाते हो; लेकिन यहां तो न हानि है न लाभ।

इसलिए उदासीन का उदास शब्द से कोई अर्थ नहीं; भला भाषा-शास्त्र कुछ भी कहते हों, मुझे उसका प्रयोजन नहीं है। मैं तुम्हें कुछ आत्म-शास्त्र की बात कह रहा हूं, भाषा-शास्त्री मैं हूं भी नहीं। उदासीन का अर्थ है: अपने भीतर जो आसीन; उद-आसीन। जो अपने भीतर बैठ गया! जो अपने अंतरतम में बैठ गया! और वहां से देखने लगा लीला, वहां साक्षी हो गया। और सारा जगत बाहर का, भीतर का सब दृश्य-मात्र, नाटक हो गया।

जो ठीक से जान लेता है--अष्टावक्र कहते हैं--वह उदासीन हो जाता है। वह फिर यह भी नहीं कहता कि मुझे शांत होना है। वह कहता है: न मैं शांत हो सकता हूं न अशांत; मैं तो द्रष्टा हूं। यह शांत और अशांत होने की बात भी मन के साथ तादात्म्य के कारण है। वह यह भी नहीं कहता कि मुझे सुखी होना है; क्योंकि यह सुखी होना और दुखी होना, साथ-साथ चलने वाला है। जो सुखी होना चाहता है, वह दुखी भी होगा। दोनों पंख चाहिए उड़ने के लिए। तुम अकेले सुखी होना चाहते हो--तुम व्यर्थ की आकांक्षा कर रहे हो, जो कभी सफल नहीं हो सकती। जितने तुम सुखी होना चाहोगे, उतने दुखी हो जाओगे। जिसने जान लिया, वह तो कहता है: अब मुझे न सुखी होना, न दुखी; न शांत, न अशांत।

लोग आते हैं मेरे पास। वे कहते हैं, ध्यान हमें सीखना है, क्योंकि हम शांत होना चाहते हैं। उन्हें ध्यान का अर्थ भी पता नहीं है। ध्यान का अर्थ होता है: ऐसी भीतर की अवस्था, जहां न शांति है न अशांति। वहीं शांति है--जहां शांति भी नहीं। क्योंकि जहां तक शांति है, वहां तक अशांत होने का उपाय है।

तुम बैठे हो तो तुमने देखा होगा, कभी-कभी घर में कोई आदमी ध्यान में उत्सुक हो जाता है तो वह शांत हो कर बैठा है। किसी बच्चे ने किलकारी मार दी, वह अशांत हो गया। यह भी कोई शांति हुई? कि आप बड़े ध्यान-मंदिर में बैठे हैं, ध्यान कर रहे हैं और पत्नी ने एक प्याली गिरा दी--और ऐसे मौके पर पत्नी जरूर गिरा देगी--और आप बौखला गए कि अशांति हो गई; कि पड़ोसी ने रेडियो चला दिया और आप अशांत हो गए; कि पड़ोसी के यहां बड़े अधार्मिक हैं, पापी हैं, नर्क जाएंगे, ध्यान भ्रष्ट कर दिया!

जो भ्रष्ट हो जाए, वह ध्यान नहीं। जिससे तुम डांवांडोल हो जाओ वह ध्यान नहीं। प्यालियों के टूटने से, रेडियो के चल पड़ने से, बच्चे के हंसने से जो बिखर जाता हो, वह है ही नहीं। तुम किसी तरह अपने को सम्हाल-सम्हाल कर बैठे थे, मगर वह सम्हाल कर बैठा होना सिर्फ नियंत्रण था, कोई गहरा अनुभव नहीं था। थे तो तुम बिलकुल करीब सतह के, शायद सिर डुबा लिया था; लेकिन थे बिलकुल सतह के करीब। जरा-सी चोट बाहर से आयी कि तुम अस्तव्यस्त हो गये।

ध्यान न तो शांति है न अशांति। ध्यान तो वैसी चित्त की साक्षी-दशा है, जहां तुम शांति को उठते देखते और आसक्त नहीं होते; जहां तुम अशांति को उठते देखते और विक्षुब्ध नहीं होते। तुम कहते, यह तो मन का खेल है, चलता रहेगा, ये तो सागर की लहरें हैं, चलती रहेंगी, इनसे क्या लेना-देना है! तुम दूर बैठे उदासीन देखते रहते।

एवं ज्ञात्वेह निर्वेदाद्भव...!

"निर्वेद" शब्द का ठीक वही अर्थ है, जो उदासीन का। समझो।

निर्वेद का अर्थ होता है: ऐसी दशा, जहां कोई भावत्तरंग से तुम्हारा संबंध न रह जाए। वेद का अर्थ होता है: भावत्तरंग। वेद का अर्थ होता है: ज्ञानत्तरंग। इसलिए तो हम हिंदुओं के शास्त्र को वेद कहते हैं। इसलिए तो हम दुख को वेदना कहते हैं; भावत्तरंग, पीड़ा घेर लेती। निर्वेद का अर्थ है: जहां न तो ज्ञान की तरंग रह जाए, न भाव की तरंग रह जाए। क्योंकि ज्ञान की तरंग उठती है मस्तिष्क में और भाव की तरंग उठती है हृदय में--और तुम दोनों के पार जब बैठ जाओ; न वहां भाव उठे न ज्ञान उठे; न तो तुम्हें लगे कि कुछ मैं जानने वाला हूं, न तुम्हें लगे कि मैं कुछ भावने वाला हूं; जहां ज्ञान और भाव दोनों से दूर खड़े तुम मात्र साक्षी रह जाओ; किसी तरंग से तुम्हारा कोई तादात्म्य न रह जाए। ये दो ही तरंगें हैं तुम्हारे भीतर, इनसे जब तुम तीसरे हो जाओ--तो निर्वेद। वही उदासीन का अर्थ है। जो निर्वेद हो गया, वही उदासीन हो गया।

"ऐसा निश्चित जान कर संसार में उदासीन हो कर अव्रती और त्यागपरायण हो।"

बड़ी बहुमूल्य बात आगे आती है--अव्रती! तुम चौंकोगे, क्योंकि तुम तो कहते हो: व्रती! आदमी को व्रती होना चाहिए! हम कहते हैं: फलां आदमी बड़ा त्यागी-व्रती है! जब किसी का हमें बड़ा सम्मान करना होता है तो हम कहते हैं: महान त्यागी, व्रती! लेकिन अष्टावक्र कह रहे हैं, अव्रती।

अष्टावक्र निश्चित ही अदभुत क्रांतिकारी व्यक्ति हैं। वे कह रहे हैं: जिसने व्रत लिया, वह तो धोखे में पड़ जाएगा। क्योंकि व्रत तो जबर्दस्ती है। व्रत का अर्थ तो है हठ। व्रत का अर्थ तो है आग्रह। अव्रती का अर्थ है: जिसका कोई आग्रह नहीं; जिसकी कोई मंसा नहीं; जो नहीं कहता कि ऐसा ही हो।

समझो, एक आदमी चोर है। वह व्रत ले लेता है मंदिर में जा कर कि अब मैं चोरी नहीं करूंगा। क्या घटेगा इसके भीतर? यह आदमी चोर है। व्रत लेने से ही तो चोरी नहीं रुक सकती है। नहीं तो दुनिया में सभी व्रत ले लेते और संत हो जाते। इसने मंदिर में जा कर व्रत लिया कि मैं चोरी नहीं करूंगा। किसी महात्मा के चरणों में सिर झुका कर कहा कि आशीर्वाद दें कि मेरा व्रत पूरा हो कि मैं चोरी नहीं करूंगा। समूह-समाज के समक्ष इसने घोषणा की कि अब मैं चोरी नहीं करूंगा। यह कर क्या रहा है? यह कर यह रहा है कि यह चोरी के खिलाफ अपने अहंकार को खड़ा कर रहा है, यह कहता है अब मंदिर में समूह के समक्ष, हजार आदमियों के

सामने कह दिया, अब अगर चोरी की तो वह तो थूके को निगलना होगा। लोग क्या कहेंगे कि अरे, पतित हो गए!

और जब कोई व्रत का नियम लेता है, तो समाज उसमें फूल-मालाएं उसके गले में डालता, उसका जुलूस निकालता, अखबारों में फोटो छापता, महात्मा आशीर्वाद देते, महात्मा गवाह बनते, समाज चारों तरफ से प्रशंसा के फूल बरसाने लगता। व्रती को इतनी प्रशंसा मिलती है कि अहंकार मजबूत होता है। अब उसके सामने अड़चन आएगी। अगर वह चोरी करने जाए तो इतना अहंकार खोने की हिम्मत होनी चाहिए।

तो जितना व्रती को सम्मान दिया जाता है, उतना ही उसका अहंकार परिपुष्ट हो जाता है। और अब अहंकार को लड़ाता है वह अपनी पुरानी आदत के खिलाफ। इतना ही कुल अर्थ है व्रती का। व्रती में कुछ और मामला नहीं है।

अब तुम सोचो, चोरी से छूटे और अहंकार में फंसे--यह कुछ मुक्ति न हुई; इससे चोरी बेहतर थी। इससे चोरी बुरी नहीं थी। यह तो कुएं से बचे और खाई में गिरे! और इससे भी चोरी नष्ट नहीं हो जाएगी, चोरी भीतर-भीतर सुलगेगी; अहंकार ऊपर-ऊपर पताका फहराएगा, चोरी भीतर-भीतर सुलगेगी। और भीतर सतत एक संघर्ष होगा, चौबीस घंटे एक लड़ाई चलेगी।

अब समझ लो कि लाख रुपये इस आदमी को रास्ते के किनारे पड़े मिल जाएं, अब इसको बड़ी मुश्किल हो जाएगी कि क्या करूं! अब यह लाख बचाऊं कि अहंकार बचाऊं? एक हाथ बढ़ाएगा कि उठा लूं, एक हाथ रोकेगा कि अरे, यह क्या कर रहे हो? इसी को समाज अंतःकरण कहता है, कॉनशिएन्स कहता है। कॉनशिएन्स बड़ी समाज की गहरी तरकीब है। वह तुम्हें एक तरह का अहंकार दे देता है, जिसको तुम अंतःकरण कहते हो। तुमसे बचपन से कहा गया है कि तुम बड़े कुलीन हो, बड़े घर में पैदा हुए, हिंदू, मुसलमान, ईसाई! खयाल रखना--अपनी इज्जत का, अपने परिवार का, अपने वंश का, अपने कुल का, अपने धर्म का, अपने राष्ट्र का! स्मरण रखना, तुम कौन हो! तुम कोई साधारण पुरुष नहीं हो। तुम हिंदू हो, कि मुसलमान हो, कि ईसाई हो! बाकी सब साधारण हैं।

मुल्ला जब मरने लगा तो लोगों ने उसकी प्रार्थना सुनी--वह कह रहा था परमात्मा से कि हे प्रभु, मैंने चोरी की है बहुत बार, यह सच है; और मैं कई बार अचौर्य के व्रत से पतित हुआ हूं। मैंने दूसरों की स्त्रियों की तरफ बुरी नजर से देखा है, यह भी सच है; मैं व्यभिचारी हूं। और मैंने कोई बड़ी-बड़ी चोरियां ही की हों, यह भी नहीं है; मैंने मुर्गियां तक पड़ोसियों की चुरा ली हैं। और मैं सब तरफ से बेईमान हूं, झूठा हूं। झूठ मेरी आदत में शुमार हो गई है, सच मुझसे बोला नहीं गया। मैं दुष्ट भी हूं। छोटी-मोटी बात पर झगड़ा मुझे बिलकुल आसान है, मारपीट आसान है। इतना ही नहीं, मैंने एक आदमी की हत्या भी कर दी है। और हत्या के विचार तो मेरे मन में सदा उठते रहे हैं। यह सब है; लेकिन एक बात तुमसे कहना चाहता हूं कि मैंने सब कुछ किया हो, लेकिन अपना धर्म कभी नहीं खोया!

अब यह बड़े मजे की बात है! अब यह धर्म क्या है? मैंने अपना "दीन" कभी नहीं खोया, रहा सदा मुसलमान ही! उस संबंध में मैंने कभी ऐसा नहीं कि ईसाई हो गया, कि हिंदू हो गया--रहा सदा मुसलमान ही! धर्म मैंने कभी नहीं खोया! इतनी बात मैं जरूर तुझसे कहूंगा, यह तू याद रखना! लाख बुरे काम कर लिए हों, लेकिन धर्म कभी नहीं खोया!

अब लोग धर्म बचा रहे हैं। धर्म भी अहंकार का हिस्सा हो जाता है। कुल, प्रतिष्ठा, मान, मर्यादा...।

और तुम थोड़ा सोचो, तुमने कसम ले ली कि चोरी नहीं करेंगे--और चोर का तुम्हारा मन है, और यह अहंकार है; अब इन दोनों में संघर्ष चलेगा; एक युद्ध तुम्हारे भीतर पैदा होगा, महाभारत तुम्हारे भीतर चलेगा। तुम आ गए जोश-खरोश में, सुन रहे थे किसी साधु-संत की बात, उसने तुमको घबड़ा दिया कि अगर काम-वासना रही तो नर्क में सड़ोगे। और उसने खूब स्पष्ट चित्र खींचे, रंगीन, थ्री डायमेंशनल, कि वहां आग की लपटें

हैं, और कड़ाहे जल रहे हैं तेल के, और उन कड़ाहों में डाले जाओगे, मरोगे भी नहीं और सेंके भी जाओगे और उबाले भी जाओगे, और मरोगे भी नहीं, और कीड़े तुम्हारे शरीर में छेद बना-बना कर दौड़ेंगे, और मरोगे भी नहीं और छिद्र-छिद्र हो जाओगे। उसने खूब तस्वीर खींची रंगीन और तुम्हें बिलकुल घबड़ा दिया। उस घबड़ाहट के भावावेश के क्षण में तुम खड़े हो गए, तुमने कहा: मैं ब्रह्मचर्य की प्रतिज्ञा लेता हूं।

अब मरे! घर तक लौटते-लौटते जब शांत हो जाओगे थोड़े, उद्विग्नता थोड़ा बैठेगी, मंदिर की हवा से थोड़े दूर जाओगे और तुम्हें याद आएगा: यह क्या कर बैठे? अब फांसी लगी! व्रती हो गए! और लोगों ने तालियां बजा दीं। और लोग तो कोई भी बुद्धू बन रहा हो तो ताली बजाते हैं। लोगों की तालियों से बड़े सावधान रहना।

एक अदभुत फकीर थे: महात्मा भगवानदीन। वे कभी-कभी मेरे पास रुकते थे। मेरी तो छोटी उम्र थी, लेकिन उनका मुझसे बड़ा लगाव था। वे कभी मेरे गांव से गुजरते तो मेरे पास जरूर रुकते। उनकी एक खूबी थी: जब वे बोलते, अगर कोई ताली बजा दे तो बड़े नाराज हो जाते। वे उठ कर ही खड़े हो जाते कि अब मैं बोलूंगा ही नहीं, क्यों ताली बजाई? मैंने उनसे कहा कि लोग ताली बजा रहे हैं, आप इतने नाराज होते हैं? वे कहते: लोग ताली ही तब बजाते हैं, जब कोई आदमी बुद्धूपन करता है। मैंने जरूर कोई गलती की होगी। पहली तो बात, इन बुद्धुओं को अगर मैं सच बात कहूं तो समझ में न आएगी, गलत कहूं तभी समझ में आती है--और तभी ये ताली बजाते हैं। ताली बजाई कि मैं तत्काल समझ जाता हूं कि हो गई कोई गलती।

वे ठीक कहते हैं। जैसा आदमी है उसको देख कर ऐसा ही लगता है। आदमी तो उसी बात पर ताली बजाता है जो उसको जंचती है। जब तुम किसी के ब्रह्मचर्य के व्रत लेने पर ताली बजाते हो, तो मतलब क्या है? तुम यह कह रहे हो कि लेना तो हम भी चाहते हैं, लेकिन अभी नहीं। तुमने हिम्मत की, बड़ा अच्छा; तुम आगे बढ़े, बड़ा अच्छा। तुम शहीद हो रहे हो, बड़ा अच्छा, जाओ। हमारी शुभकामनाएं तुम्हारे साथ हैं।

मगर यही लोग जिन्होंने ताली बजाई, अब नजर रखेंगे। अब वे देखेंगे कि कहीं सिनेमा में तो नहीं बैठे हो ब्रह्मचर्य का व्रत ले कर? यहां होटल में बैठे क्या कर रहे, क्लब में क्या कर रहे? यह किसकी स्त्री के साथ चले जा रहे?

मेरे एक संन्यासी ने संन्यास लिया--एक युवक ने। वह कुछ दिन बाद मेरे पास आया कि मेरी पत्नी को भी संन्यास दे दो। तो मैंने कहा, मामला क्या है? उसने कहा कि मैं गरीब आदमी हूं, अब मैं ये गेरुए वस्त्र पहन कर अपनी पत्नी के साथ कहीं जाता हूं तो लोग रोक लेते हैं कि किसकी पत्नी है? संन्यासी...! लोग भला धार्मिक न हों, लेकिन दूसरे को तो धार्मिक बनाने में उत्सुक रहते ही हैं! "यह किसकी पत्नी को ले कर जा रहे हो?" झगड़ा-झांसा खड़ा करते हैं। इसको भी आप संन्यास दे दें।

मैंने उसको संन्यास दे दिया। वह आठ दिन बाद फिर आया कि मेरे बेटे को...। क्योंकि लोग कहते हैं कि बाबा जी, किसका बच्चा भगाए ले जा रहे हो? यह गेरुआ तो खतरनाक है! क्योंकि लोगों की अपेक्षाएं हैं।

लोग ताली बजा देंगे, फूल-माला पहना देंगे--उनकी फूल-माला में छिपी फांसी को मत भूल जाना। उन्होंने गर्दन पर हाथ रख लिया, अब वे कहेंगे: कहां जा रहे हो? क्या कर रहे हो? कैसे उठते? कैसे बैठते? किससे बात करते? कितनी देर सोते? ब्रह्ममुहूर्त में उठते कि नहीं? अब वे सब तरफ तुम्हारी जांच रखेंगे। उन्होंने जो ताली बजाई थी उसका बदला लेंगे। और तुम मरे, तुम मुश्किल में पड़े; क्योंकि कामवासना कसम खाने से मिटती होती, इतनी आसान बात होती, तो सारी दुनिया कामवासना के बाहर हो गयी होती। अब यह ब्रह्मचर्य खींचेगा और यह कामवासना खींचेगी और इन दोनों के बीच तुम पिसोगे। दो पाटन के बीच अब तुम्हारी बुरी तरह मरम्मत होगी! बार-बार तुम वासना में गिरोगे और बार-बार तुम अपने को सम्हाल कर बाहर निकालोगे और बार-बार गिरोगे। तुम्हारा जो अब तक थोड़ा-बहुत आत्म-गौरव था वह भी नष्ट हो जाएगा। तुम पाओगे: मुझ जैसा पापी कोई भी नहीं!

मंदिर में जा कर लोग सिर्फ यही समझ कर लौटते हैं कि हम जैसा पापी कोई भी नहीं।

अष्टावक्र कहते हैं: "अव्रती! त्यागपरायण!"

यही मैं भी तुमसे कहता हूं। तुम्हारा बोध ही तुम्हारा व्रत हो; उससे ज्यादा व्रत की कोई जरूरत नहीं है। तुम्हें समझ में आ गई है बात, बस काफी है। इसके लिए समाज की स्वीकृति और समादर की कोई भी जरूरत नहीं है। तुम समझ गए, तुम्हें ब्रह्मचर्य में रस आने लगा बिलकुल ठीक है, अब व्रत की क्या जरूरत है? व्रत तो इतना ही बताता है कि रस अभी आया नहीं था, सिर्फ लोभ पैदा हुआ था। ब्रह्मचर्य का लोभ पैदा हुआ तो व्रत।

अगर समझ में ही आ गया, तो तुम ऐसी तो कभी कसम नहीं खाते कि मैं कसम खाता हूं कि सदा दो और दो चार ही जोड़ूंगा। तुम जानते हो कि दो और दो चार होते हैं, इसमें जोड़ना क्या है, कसम क्या खानी है? और अगर तुम जा कर किसी मंदिर-मस्जिद में कसम खाओ कि हे सदगुरु, मुझे आशीर्वाद दें, अब से मैं दो और दो चार ही जोड़ूंगा, तो साफ है कि तुम विक्षिप्त हो। और जो तुम्हें आशीर्वाद दे, वह तुमसे भी आगे है विक्षिप्तता में। तुम्हारा दिमाग खराब है। तुम्हें शक है कि तुम दो और दो पांच जोड़ोगे। उस शक से लड़ने के लिए तुम इंतजाम कर रहे हो पहले से। तुम्हें अपनी भीतरी अवस्था का पता है कि जब मैं जोड़ूंगा तो दो और दो पांच होंगे। "नहीं-नहीं, कसम खा लो, पहले से इंतजाम कर लो!" वह भीतर तो तुम जानते ही हो कि दो और दो पांच होने वाले हैं, इसलिए कसम खा कर इंतजाम कर लो, रुकावट डाल दो कि दो और दो चार हों। लेकिन यह ज्ञान नहीं है, यह बोध नहीं है--यह लोभ है।

लोभी व्रती होता है; बोध को उपलब्ध व्यक्ति अव्रती होता है। इसका यह अर्थ नहीं कि उसके जीवन में क्रांति नहीं होती--उसी के जीवन में क्रांति होती है! व्रत के कारण कहीं क्रांतियां हुई हैं? अगर व्रत के कारण क्रांति हो सके तो इसका अर्थ हुआ कि ऊपर से थोपने से, जबर्दस्ती आग्रह अपने ऊपर आरोपित कर लेने से आत्मा बदल जाएगी--यह तो नहीं हो सकता। तुम व्रत के कारण सैनिक तो हो सकते हो, संन्यासी नहीं हो सकते। तुम व्रत के कारण एक अभ्यास कर ले सकते हो, एक हठ कर ले सकते हो और एक खास ढंग में चलने की आदत बना ले सकते हो, लेकिन उससे तुम्हारे जीवन में सूर्योदय न होगा। सूर्योदय तो अव्रती का होता है।

अव्रती का अर्थ इतना ही है कि जो तुम्हें दिखाई पड़ता है, वह करना; लेकिन इसकी घोषणा क्या करनी? इसके लिए किसी की स्वीकृति क्या लेनी? जो तुम्हें समझ में आ गया है, अगर ठीक से आ गया है, तो अपने-आप तुम्हारे आचरण में आना शुरू हो जाएगा। समझ आचरण में रूपांतरित होती ही है; उससे अन्यथा न हुआ है न हो सकता है। इसलिए व्रत की कहां जरूरत है?

मेरे पास कोई आता है कि मुझे व्रत दे दें ब्रह्मचर्य का, मैं कहता हूं: पागलपन मत करना। मैं तुम्हारे किसी पागलपन में सम्मिलित नहीं हो सकता हूं। तुम्हें अगर ब्रह्मचर्य में रस आने लगा है--बहो उस तरफ, मगर व्रत नहीं! कोई मुझसे कहता है कि आप मुझे कसम दिलवा दें कि मैं सदा ध्यान करूं, कभी चूकूं न। मैं तुम्हें यह कसम नहीं दिलवाता, मैं किसी पाप में भागीदार नहीं होता। तुम्हें अगर समझ आ गई, तो तुम ध्यान करोगे। और अगर ध्यान में रस आएगा तो वही रस नियम बनेगा। आज करोगे और कल नहीं करोगे, तो कल तुम पाओगे: कुछ चूका, कुछ खोया, कुछ गंवाया, दिन ऐसे ही गया! एक तंद्रा छाई रही। तो परसों तुम फिर करोगे। कर-करके तुम जानोगे कि जब तुम करते हो तो एक उज्वलता, एक पवित्रता, एक शुचिता का जन्म होता है! करने से पता चलेगा कि तुम ताजेत्ताजे रहते, एक स्वच्छता, जैसे सद्यःस्नात! चौबीस घंटे जीवन की सब उलझनों के बीच भी तुम गैर-उलझे बने रहते। उपद्रव हैं, चलते रहते हैं; काम-धाम है, व्यवसाय है, आपाधापी है--लेकिन भीतर कहीं कोई सूत्र जुड़ा रहता अंतरात्मा से। और वहां सब शांत है; न कोई आपाधापी है, न कोई व्यवसाय, न कोई उपद्रव। कर-करके तुम्हें पता चलेगा कि अगर एक दिन भोजन न करो तो उतनी हानि नहीं है, जितनी ध्यान न करने से। एक दिन अगर स्नान न करो तो चल जाएगा। क्योंकि भोजन शरीर का कृत्य है; ध्यान आत्मा का। ध्यान आत्मा का भोजन है। अगर ऐसा किसी दिन हो कि आज समय ज्यादा नहीं है, या तो भोजन करना

छोड़ूं या ध्यान कर लूं, तो तुम ध्यान करोगे। मगर व्रत के कारण नहीं। क्योंकि व्रत के कारण किया तो धोखा होगा।

मैं राजस्थान जाता था अक्सर, तो राह में एक जगह मुझे ट्रेन बदलनी पड़ती थी; वहां कोई दोत्तीन घंटे रुकना पड़ता। सांझ का वक्त होता तो कुछ मुसलमान मित्रों को मैं देखता कि वे स्टेशन पर अपना कपड़ा बिछा कर नमाज पढ़ रहे हैं। मैं घूमता रहता, क्योंकि दोत्तीन घंटे वहां ट्रेन खड़ी रहती तो प्लेटफार्म पर घूमता रहता। मगर जो नमाज पढ़ रहे हैं, वे बीच-बीच में लौटकर देखते जाते कि ट्रेन कहीं छूट तो नहीं गई!

एक सज्जन मेरे ही डिब्बे में एक बार यात्रा कर रहे थे, तो रास्ते में उनसे पहचान भी हो गई। वे मौलवी थे, धर्मगुरु थे। जब वे भी यही करने लगे--उस स्टेशन पर मैंने देखा कि उन्होंने भी बिछा लिया कपड़ा और अपनी नमाज कर रहे हैं, लेकिन बीच-बीच में देखते जाते है। तो मैं उनके पीछे गया, मैंने उनका सिर पकड़ कर उस तरफ कर दिया। अब वे नमाज में थे तो कुछ बोल भी न सके; नाराज तो बहुत हुए, भनभना गए।

वे उठे तो एकदम नाराज हो गए कि यह क्या मामला है, आपने मेरा सिर क्यों मोड़ा? मैंने कहा कि या तो इस तरफ कर लो, क्योंकि ट्रेन और परमात्मा दोनों को साथ-साथ याद न कर सकोगे। अगर ट्रेन की याद करनी है तो छोड़ो यह बकवास, काहे के लिए नमाज, कौन कह रहा है? मैंने तो नहीं कहा! अगर परमात्मा को याद करना है तो भूलो इस ट्रेन को कम से कम आधा घड़ी के लिए; छूट जाएगी, बहुत से बहुत इतना ही होगा न? परमात्मा रह गया हाथ में और ट्रेन छूट गई तो क्या खाक छूटा? कुछ भी नहीं छूटा--दूसरी ट्रेन आती है।

अगर परमात्मा की याद में इतना भी नहीं भूल पाते...तो मैंने उनसे सूफियों की एक कहानी कही। एक सूफी नमाज पढ़ रहा था और एक औरत भागी हुई निकली, उसको धक्का देती हुई, उसके कपड़े पर पैर डालती हुई। वह बड़ा नाराज हुआ! बड़ा नाराज हुआ, लेकिन नमाज में था तो बोल नहीं सका। जल्दी उसने नमाज पूरी की कि इसका पीछा करें, कैसी बदतमीज औरत, इतना भी ध्यान नहीं! लेकिन जब वह नमाज करके उठा तो वह औरत वापिस आ रही थी, तो उसने उसे पकड़ा। उसने कहा कि सुन बदतमीज औरत! तुझे इतना भी पता नहीं कि कोई ध्यान कर रहा है, नमाज कर रहा है, प्रार्थना कर रहा है? तो इस तरह, इस तरह सलूक करना चाहिए कि तू मुझे धक्का देती, मेरे कपड़े पर पैर रखती निकल गई?

उसने कहा: क्षमा करें, मुझे याद भी नहीं। मैं अपने प्रेमी से मिलने जाती थी। मुझे याद भी नहीं कि आप कहां बैठे थे, कहां नमाज पढ़ रहे थे, कौन नमाज पढ़ रहा था, कौन नहीं पढ़ रहा था, मुझे याद नहीं। वर्षों बाद मेरा प्रेमी आता था, मैं उसे लेने गांव के बाहर द्वार पर जाती थी। क्षमा करें! लेकिन एक बात आपसे पूछती हूं: मैं अपने प्रेमी से मिलने जाती थी--क्षणभंगुर प्रेमी; आप अपने प्रेमी से मिलने गए थे, आपको, मेरे पैर कपड़े पर पड़ गए, मेरा धक्का लगा, इसका समझ में आ गया? आप परमात्मा से मिल रहे थे? तब तो मेरी प्रार्थना आपसे बेहतर है। माना कि मैं किसी के शरीर के मोह में पड़ी हूं, और यह मोह ठीक नहीं, लेकिन कम से कम है तो! और माना कि तुम परमात्मा के मोह में पड़े हो, मगर है कहां?

कहते हैं, उस सूफी के जीवन में क्रांति हो गई इस बात से। उसने कहा, अब नमाज तभी पढ़ेंगे जब प्रेम होगा, अन्यथा क्या सार है?

व्रत से नहीं--बोध से। व्रत से नहीं--प्रेम से। व्रत से नहीं, नियम से नहीं, किसी बाहरी अनुशासन से नहीं--अंतरभाव से!

"अव्रती और त्यागपरायण हो!"

बड़ी उल्टी बात, बड़ा कंट्राडिक्शन, बड़ा विरोधाभास है। कहते हैं कि तू व्रत तो मत ले, लेकिन तेरा बोध ही तेरे जीवन में त्याग बन जाए, बस। त्याग को लाना न पड़े, बोध के पीछे छाया की तरह आए।

एवं ज्ञात्वेह निर्वेदाद्भव त्यागपरोऽव्रती।

इसे याद रखना। यही मेरे संन्यास का सूत्र भी है।

अव्रती त्यागपरः भव।

त्यागी बनो--त्याग की कसम खा कर नहीं। त्यागी बनो--त्यागी बनना चाहिए, ऐसे निर्णय और आग्रह से नहीं। त्यागी बनो--इसलिए नहीं कि त्यागी को सम्मान, समादर, प्रतिष्ठा मिलती है। त्यागी बनो--अव्रत, बिना किसी लोभ के, बिना किसी नियम के, बिना किसी आग्रह के, अनाग्रह-भाव से। त्यागी बनो--बोध से। कचरा, कचरा दिखाई पड़े तो छूट जाएगा। कचरे को छोड़ने की कसम नहीं लेनी है। कचरा, कचरा दिखाई पड़े, इसकी चेष्टा करनी है। ज्ञान त्याग है। वे ही छोड़ पाते हैं जो जागते हैं और देखते हैं।

"हे प्रिय, लोकव्यवहार, उत्पत्ति और विनाश को देख कर किसी भाग्यशाली की ही जीने की कामना, भोगने की वासना और ज्ञान की इच्छा शांत हुई है।"

किसी भाग्यशाली की ही! लोकव्यवहार को देख कर--ठीक से देख कर!

जीवन में जो चल रहा है चारों तरफ, उसका ठीक से अवलोकन करो! शास्त्र में मत जाओ खोजने। शास्त्र में नियम मिलेंगे और शास्त्र से व्रत आएगा। खोजो जीवन में--वहां से बोध मिलेगा और बोध का कोई व्रत नहीं है। बोध पर्याप्त है। उसे व्रत के सहारे की जरूरत नहीं है। व्रत तो अंधे के हाथ की लकड़ी है; और बोध, आंख वाले आदमी की आंख है। आंख वाले आदमी को लकड़ी नहीं चाहिए। व्रत तो बैसाखी है लूले-लंगड़े की। जिसको बोध नहीं है, उसके लिए व्रत चाहिए; वह बैसाखी के सहारे चलता है। लेकिन जिसके अंग और देह स्वस्थ हैं, उसके लिए बैसाखी की कोई जरूरत नहीं होती। जिसके अंग स्वस्थ हैं, वह तो अपने पैर से चलता है। व्रत दूसरे से उधार मिलते हैं--बोध अपना है।

कस्यापि तात धन्यस्य लोकचेष्टावलोकनात्।
जीवितेच्छा बुभुक्षा च बुभुत्सोपशमं गताः।।

हे प्रिय, लोकव्यवहार को ठीक से अवलोकन करके--लोकचेष्टा अवलोकनात्--ठीक से जाग कर, जीवन में जो हो रहा है, उसे देखो।

कोई पैदा हो रहा, कोई मर रहा--जोड़ो! इस हिसाब को जोड़ो कि जो पैदा होता, मरता। किसी के पास दीनता है, दरिद्रता है--वह दुखी है। धनी को देखो, धन है, सब कुछ है--और दुखी है। यहां ऐसा लगता है, सुखी होने का किसी को कोई उपाय नहीं। विफल रो रहा है, सफल रो रहा है। कुरूप रो रहा है, सुंदर रो रहा है। बीमार रो रहा है, स्वस्थ रो रहा है। यहां जैसे रुदन ही, हाहाकार मचा है।

"जीवन के ठीक से अवलोकन से किसी भाग्यशाली को ही जीने की कामना, भोगने की वासना और ज्ञान की इच्छा शांत हुई है।"

तीन बातें कह रहे हैं: जीने की कामना, जीवितेच्छा! जीवन को देखो तो, फिर कामना करो जीने की। यहां जीवन में रखा क्या है, धरा क्या है? जीवन को गौर से तो देखो! इसकी आकांक्षा करने योग्य है? तो लोग यह तो देखते ही नहीं, लोग इस जीवन को तो देखते ही नहीं गौर से, परलोक की आकांक्षा करने लगते हैं। तो व्रत पैदा होता है। इस लोक को ही गौर से देखो, तो जीवितेच्छा विलीन हो जाती है, जीवन की आकांक्षा नहीं रह जाती। और जिसकी जीवन की आकांक्षा न रही, उसका परलोक है। जिसके जीवन की आकांक्षा न रही, उसका परम जीवन है।

अब तुम फर्क समझना। फर्क बहुत बारीक है। जिस आदमी ने इस जीवन की व्यर्थता को देखा और पहचाना, वह किसी जीवन की भी आकांक्षा नहीं करता। उसकी आकांक्षा ही विलीन हो जाती है, देख कर ही विलीन हो जाती है।

मैंने सुना है, एक युवक संन्यासी गांव से गुजरता था। वह बचपन से ही संन्यासी हो गया था। पिता मर गए, मां मर गई, कोई और पालने वाला न था। गांव के एक बूढ़े संन्यासी ने उसे पाला। फिर बूढ़ा संन्यासी

हिमालय चला गया, तो वह बच्चा भी उसके साथ हिमालय चला गया। वह हिमालय में ही बड़ा हुआ। अब बूढ़ा संन्यासी मर गया था, तो वह वापिस दुनिया में लौट रहा था। युवा था, स्वस्थ था। वह पहले ही गांव में आया, तो उसने देखा एक बारात जा रही है! उसने कभी बारात नहीं देखी थी। बैंड-बाजा बज रहा था। एक युवक घोड़े पर सवार है, बड़े लोग पीछे जा रहे हैं। उसने पूछा, यह क्या है? तो किसी ने समझाया कि बारात है। उसने पूछा, बारात यानी क्या?

तो किसी ने समझाया कि भई तुम्हें इतना भी बोध नहीं है। यह जो घोड़े पर बैठा है, यह दूल्हा है; इसका विवाह होने वाला है एक लड़की से।

उसने कहा, फिर क्या होगा? तो किसी ने उसको पकड़ कर पास ले गया कि तू यहां आ, तुझे कुछ भी पता नहीं। उसने उसे सब समझाया कि फिर क्या होगा--शादी होगी इनकी, भोग करेंगे एक-दूसरे का, फिर इनका बच्चा पैदा होगा।

बारात तो निकल गई। संन्यासी, रात हो गई थी, तो गांव के बाहर जा कर कुएं के पाट पर सो रहा, गर्मी के दिन थे। सपना उसने देखा कि घोड़े पर सवार है, बैंड-बाजे बज रहे हैं, बारात चल रही, फिर उसकी शादी हो गई, फिर वह अपनी पत्नी के साथ सो रहा है। और पत्नी ने उससे कहा कि जरा सरको, मुझे भी तो जगह दो। वह जरा सरका कि कुएं में गिर गया। सारा गांव इकट्ठा हो गया। हैरानी तो गांव को और इसलिए हुई कि वह कुएं में पड़ा-पड़ा खूब खिलखिला कर हंस रहा है। लोगों ने पूछा: अरे भई हंसते क्यों हो? उसने कहा, हंसें नहीं तो क्या करें? मुझे निकालो तो मैं अपनी कथा कहूं।

उसे निकाला। लोगों ने पूछा, हंसते क्यों हो? कुएं में गिरना, तो मौत हो जाए--और तुम हंसते हो? उसने कहा, हंसने की बात हो गई। सपने की स्त्री ने कुएं में गिरा दिया, असली स्त्री क्या न करती होगी लोगों के साथ!

उसने कहा: बचे! सपने के अनुभव ने जगा दिया। अब कोई बारात नहीं, अब यह घोड़े-वोड़े पर चढ़ना अपने से होने वाला नहीं। इतना काफी है अनुभव। सपने की झूठी स्त्री ने ऐसा धक्का दिया कि भले-चंगे सोए, मैं जिंदगी भर से सोता आ रहा हूं कुओं पर, कभी नहीं गिरा। इस स्त्री ने कहा, जरा सरको...। असली स्त्रियां क्या न करती होंगी?

अगर बोध हो तो सपना भी जगा देता है। अगर बोध न हो तो जीवन भी ऐसा ही बीत जाता है, तुम उसका हिसाब भी नहीं लगा पाते।

लोकचेष्टा अवलोकनात्...।

लोक की चेष्टाओं का अवलोकन!

कस्य धन्यस्य अपि...।

और कोई धन्यभागी ही जीवन की चेष्टाओं का अवलोकन करता है। अधिक लोग तो शास्त्रों में खोजते उसे, जो चारों तरफ बरस रहा है; जो चारों तरफ मौजूद है, उसे शब्दों में खोजते; जो हर घड़ी मौजूद है, जो कहीं से भी पकड़ा जा सकता है सूत्र, उसके लिए व्यर्थ के तर्क और सिद्धांत और विवाद में पड़ते हैं।

कस्य धन्यस्य अपि...।

इसलिए अष्टावक्र कहते हैं: कोई धन्यभागी कभी जीवन का ठीक अवलोकन करके...।

जीवितेच्छा बुभुक्षा च बुभुत्सोपशमं गताः।

तीन चीजों से मुक्त हो जाता है--जीने की इच्छा से, भोगने की इच्छा से और जानने की इच्छा से।

तुम चकित होओगे: जानने की इच्छा भी--कि मैं और ज्यादा जान लूं, और ज्यादा जान लूं, पंडित हो जाऊं, महापंडित हो जाऊं, सब कुछ जान लूं जो दुनिया में है--वह भी बंधन का कारण है। इच्छा-मात्र बंधन का कारण है। और तीन ही इच्छाएं हैं। या तो आदमी जीवन की इच्छा से भरा रहता है तो धन कमाता है, पद की प्रतिष्ठा खोजता है। या भोगने की वासना से भरता है, तो शराब पीता है, वेश्यागमन करता है, भागता-फिरता

भोगने। और तीसरे तरह के लोग हैं जो ज्ञान की आकांक्षा करते हैं। वे शास्त्राध्ययन, तर्क को निखारते हैं, सिद्धांतों पर धार धरते हैं, वाद-विवाद में पड़े रहते हैं। ये तीन तरह के साधारण लोग हैं।

चौथा व्यक्ति वह है--धन्यभागी, जिसकी कोई आकांक्षा नहीं; जो न भोगना चाहता, न जानना चाहता, न जीना चाहता; जो कहता है: देख लिया सब, इसमें कुछ भी नहीं है।

"यह सब अनित्य है, तीनों तापों से दूषित है, सारहीन है, निंदित है, त्याज्य है--ऐसा निश्चय कर वह शांति को प्राप्त होता है।"

ये तीनों दौड़ें सिर्फ तीन ताप ले आती हैं।

अनित्यं सर्वमेवेदं तापत्रितय दूषितम्।
असारं निंदितं हेयमिति निश्चित्य शाम्यति।।

इदम् सर्वम् अनित्यम्...।

यह सब अनित्य है, असार है--ऐसा बोध! अवलोकन से--याद रखना! शास्त्र से नहीं, उधार नहीं--अवलोकन से। अपनी ही आंख के अनुभव से। आधि-दैविक, आधि-भौतिक, आध्यात्मिक-- तीन तरह के दुख। शरीर का दुख, मन का दुख, आत्मा का दुख। बस, इतना ही मिलता है इस जगत में; और कुछ मिलता नहीं। दुख ही दुख मिलता है; और कुछ मिलता नहीं। राख ही राख हाथ आती है अंततः; कुछ और हाथ आता नहीं।

असारम् निंदितम् हेयम् इति निश्चित्य शाम्यति।

ऐसा जान कर कि यह बिलकुल व्यर्थ है, निंदित है, असार है, शांति उपलब्ध हो जाती है।

इति निश्चित्य शाम्यति...।

जैसे ही यह निश्चय हो जाता, कि यह जगत असार है, शांति फलित हो जाती है।

"वह कौन काल है और कौन-सी अवस्था है, जिसमें मनुष्य को द्वंद्व, सुख-दुख न हो? उनकी उपेक्षा कर, यथाप्राप्त वस्तुओं में संतोष करने वाला मनुष्य, सिद्धि को प्राप्त होता है।"

ऐसा कोई काल नहीं है, जैसा कि लोग सोचते हैं, जैसा कि पुराण कहते हैं कि कभी ऐसा था। जैन-शास्त्र कहते हैं: सुखमा-सुखमा, एक ऐसा काल था जब सुख ही सुख था; फिर ऐसा काल आया जब सुखमा-दुखमा, सुख और दुख मिश्रित थे; फिर ऐसा काल आ गया दुखमा-दुखमा, दुख ही दुख। या हिंदू कहते हैं: ऐसा काल था सतयुग, जब सुख ही सुख था, रामराज्य था। लेकिन ये सब मन की कल्पनाएं हैं।

दुनिया में दो तरह के कल्पनाशील लोगों ने दो तरह की धारणाएं बनाई हैं। एक कहते हैं अतीत में था स्वर्ग। सभी पुराने धर्म यही कहते हैं कि अतीत में सब ठीक था। दूसरा, जो नया पागलपन है दुनिया में, वह है कम्यूनिज्म, साम्यवाद--वे कहते हैं, भविष्य में है स्वर्ग। लेकिन इसे तुम जान लो। स्वर्ग कभी नहीं रहा है। न राम के समय में रामराज्य था। रामराज्य ही होता तो रामकथा के बनने की कोई जगह नहीं थी। अगर सुख ही सुख हो तो समाचार होते ही नहीं। रामकथा बनेगी कहां से? सीता चुराएगा कौन? चौदह वर्ष का वनवास खुद राम को भोगना पड़ा। सब तरह की कलह और सब तरह की राजनीति थी। खुद की सौतेली मां धोखा दे गई। खुद का बाप कामी और लोलुप सिद्ध हुआ। पत्नी की गलत बात मान कर भी--लेकिन पत्नी युवा थी--अपने प्यारे से प्यारे बेटे को घर के बाहर भेज दिया, जंगल भेज दिया। तुम कहते हो रामराज्य?

सीता को राम ले भी आए लंका से छुड़ा कर, तो जो पहले शब्द उन्होंने कहे, वे कुछ बड़े अच्छे शब्द नहीं। उन्होंने सीता से कहा: तू यह मत सोचना कि तेरे लिए मैंने युद्ध किया; यह युद्ध तो प्रतिष्ठा, कुल के लिए किया। फिर जरा-सी बात पर कि किसी धोबी ने कह दिया अपनी औरत को कि तूने क्या समझा है! कह दिया, मैं कोई राम नहीं हूं। एक रात धोबिन कहीं और रह गई तो धोबी नाराज हो गया, उसने कहा कि मैं कोई राम नहीं हूं, तूने समझा क्या है मुझे, कि वर्षों रावण के घर रह आई सीता और फिर भी स्वीकार कर लिया! इतनी-सी बात से, अग्नि-परीक्षा ले लेने के बाद भी, सीता को जंगल में फेंक दिया। राजनीति ज्यादा रही होगी, रामराज्य कम।

अगर ऐसा ही था तो सीता के साथ खुद भी जंगल चले गए होते। अगर ऐसा ही था, मर्यादा ही रखनी थी, तो सीता को भी ले जाते जंगल और खुद भी चले गए होते।

लेकिन सब कहानियां हैं कि रामराज्य था। दीन थे, दरिद्र थे, दुखी, पीड़ित थे--सब तरह के लोग थे। सब तरह के उपद्रव, सब तरह की जालसाजियां, सब तरह की कूटनीति-राजनीति थी। कब था सुख? अब उससे लोग घबड़ा गए। अतीत का सुख, अतीत के उटोपिआ व्यर्थ हो गए, तो लोगों ने नए ईजाद कर लिए। नए पुराणकार हैं माक्र्स, एंजिल्स, लेनिन, माओ। अब इन्होंने नए पुराण ईजाद कर लिए। ये कहते हैं, भविष्य में होगा।

एक बात तो पक्की है, कोई भी नहीं कहता कि अभी है; क्योंकि अभी कहोगे तो दुनिया में कौन मानेगा, कैसे मानेगा? दुख ही दुख दिखाई पड़ता है। अभी तो दुख ही दुख दिखाई पड़ता है। या तो कहो, कभी था या कभी होगा। अब इसमें कुछ विवाद करना मुश्किल हो जाता है--कभी था, कुछ निर्णायक नहीं हैं। मगर शायद अतीत को तो खंडित भी किया जा सकता है, भविष्य को कैसे खंडित करोगे? इसलिए कम्यूनिज्म और भी चालाक है। वह कहता है: भविष्य में होगा; स्वर्णयुग आता है, आने वाला है। तुम कुर्बान होओ उसके लिए, तो आएगा।

अष्टावक्र कहते हैं, "वह कौन काल है, कौन अवस्था है, जिसमें मनुष्य को द्वंद्व न रहा हो? सुख-दुख न रहे हों?"

नहीं, किसी काल की प्रतीक्षा मत करो, किसी स्थिति की प्रतीक्षा मत करो। एक चैतन्य की क्रांति चाहिए। वह क्रांति कैसे घटित होगी?

"उनकी उपेक्षा कर, यथाप्राप्त वस्तुओं में संतोष करने वाला मनुष्य सिद्धि को प्राप्त होता है।"

यथा प्राप्तवर्ती सिद्धिम!

जो मिला है! जो मिला है, उसमें ही बरतने वाला पुरुष मोक्ष को उपलब्ध हो जाता है।

जो है, उसमें ही बरतो। उससे ज्यादा की चाह मत करो। उससे अन्यथा कभी नहीं हुआ है, कभी नहीं होगा। ऐसा ही रहा है। कथा यही की यही है। युग बदलते हैं, आदमी नहीं बदलता। चीजें बदलती हैं, चैतन्य नहीं बदलता। सब समय में ऐसा ही रहा है। यही वारदातें, यही झंझटें, यही उपद्रव-- कमोबेश--मगर सब ऐसा ही रहा है।

"कौन सिद्धि को उपलब्ध होता है?"

अष्टावक्र कहते हैं: जो जैसा है, जो मिला है, जो वर्तमान है--यथा प्राप्तवर्ती--जो है, जो मिला है, उसमें जो संतोष मान लेता कि ठीक है।

तो दौड़ पैदा नहीं होती। तो अभीप्सा पैदा नहीं होती, आकांक्षा पैदा नहीं होती, चाह पैदा नहीं होती। संतोष पैदा होता है कि जो है, ठीक है। जो है, इससे अन्यथा हो नहीं सकता, अन्यथा कभी हुआ नहीं, अन्यथा कभी होगा नहीं--इसलिए अन्यथा की चाह नहीं करनी।

"उनकी उपेक्षा कर, यथाप्राप्त वस्तुओं में संतोष कर लेने वाला मनुष्य सिद्धि को प्राप्त होता है।"

"महर्षियों के, साधुओं के, योगियों के अनेक मत हैं। ऐसा देख कर उपेक्षा को प्राप्त हुआ कौन मनुष्य शांति को नहीं प्राप्त होता है?"

यह भी बड़ी महत्वपूर्ण बात वे कहते हैं।

नाना मतं महर्षीणां...।

महर्षियों के बहुत-से सिद्धांत हैं, दार्शनिकों के बड़े सिद्धांत हैं। अगर उनमें उलझे तो कोई पारावार नहीं है, भटकते ही रहोगे। साधुओं के अनेक सिद्धांत हैं, योगियों के अनेक सिद्धांत हैं। सिद्धांतों की भरमार है। जीवन एक है, जीवन को समझाने वाली दृष्टियां बहुत हैं। और जिसको तुम सुनोगे, वही ठीक लगेगा। जिसको तुम

पढ़ोगे, वही ठीक लगेगा। निश्चित ही तुमसे ज्यादा प्रतिभाशाली लोगों ने उनको ईजाद किया है, महर्षियों ने ईजाद किया है, योगियों ने ईजाद किया है। तो उन्होंने जरूर बड़ा तर्कबल भरा है उनमें। तुम उससे प्रभावित हो जाओगे। लेकिन जब तुम दूसरे को सुनोगे, दूसरा ठीक लगने लगेगा। जब तुम तीसरे को सुनोगे, तीसरा ठीक लगने लगेगा। ऐसे तो तुम न घर के रहोगे न घाट के। ऐसे तो तुम दर-दर के भिखारी हो जाओगे।

अष्टावक्र कहते हैं: ऐसा देख कर कि अनेक मत हैं, बुद्धिमान व्यक्ति मतों को ही छोड़ देता है, मतों की झंझट में ही नहीं पड़ता। ऐसा देख कर कि अनेक शास्त्र हैं--कौन ठीक? कुरान कि बाइबिल? वेद कि धम्मपद? कौन सही? कौन गलत? इस झंझट में बुद्धिमान आदमी नहीं पड़ता। इस झंझट में जो पड़ जाते हैं वे कभी इस झंझट के बाहर नहीं आ पाते हैं। उस झंझट का कोई अंत ही नहीं है। उसमें तो एक उलझन में से दूसरी उलझन निकलती चली जाती है। एक प्रश्न का उत्तर हल करो, तो उस उत्तर में से दस नए प्रश्न खड़े हो जाते हैं। चलता ही चला जाता है। अंतहीन शृंखला है। उससे कभी कोई बाहर नहीं आ पाता।

नाना मतं महर्षीणां साधुनां योगिनां तथा।

दृष्टव निर्वेदमापन्नः को न शाम्यति मानवः।।

"ऐसा देखकर कि इस विवाद में क्या सार है? यह कहीं ले जाएगा नहीं..."

दृष्टव निर्वेदमापन्नः को न शाम्यति मानवः।

"...ऐसा कौन व्यक्ति है जो इतनी-सी बात समझ कर शांत न हो जाए?"

शांत अगर होना है तो सिद्धांतों से बचना। शांत अगर होना है तो मतवादों से बचना। शांत अगर होना हो तो हिंदू, मुसलमान, ईसाई, जैन, बौद्ध होने से बचना। शांत अगर होना हो तो स्वयं में खोजना, सिद्धांतों में मत भटक जाना।

नाना मतं महर्षीणां...।

और सभी महर्षि हैं, झंझट तो यह है! अगर ऐसे ही होता कि एक आदमी बुरा होता और एक आदमी अच्छा होता, तो अच्छे की हम मान लेते, बुरे की हम छोड़ देते। यहां झंझट बड़ी गहरी है, दोनों अच्छे हैं। किसको पकड़ो, किसको छोड़ो! जीसस की सुनो कि मुहम्मद की? कि महावीर की? सभी अदभुत पुरुष हैं! सभी के व्यक्तित्व में बड़ा चमत्कार है। जब वे कहते हैं तो उनकी बातों में सम्मोहन है। लेकिन उलझना मत।

ऐसा देख कर कि यह तो सिद्धांत और दर्शनशास्त्र का जाल चला ही आ रहा है, कभी समाप्त नहीं हुआ...।

दर्शनशास्त्र से एक भी प्रश्न का उत्तर नहीं मिला है, और तर्क से जीवन को हल करने वाला एक आधार नहीं मिला है। और तर्क बड़ा दोगला है। और तर्क से तुम ऐसा भी सिद्ध कर सकते हो और वैसा भी सिद्ध कर सकते हो। तर्क वेश्या जैसा है। तर्क का कुछ लेना-देना नहीं।

मैं एक बड़े वकील हरि सिंह गौर से परिचित था। उन्होंने सागर विश्वविद्यालय का निर्माण किया। वे बड़े वकील थे, सारी दुनिया के ख्यातिलब्ध वकील थे। प्रिवि कौंसिल में एक मुकदमा था। वे किसी महाराजा की तरफ से मुकदमा लड़ रहे थे। वे तो जिसके पक्ष में खड़े हो जाते थे, वह जीतेगा ही--यह निश्चित था। इसलिए वे कुछ ज्यादा फिक्र भी नहीं करते थे।

धीरे-धीरे उनकी प्रतिष्ठा ऐसी हो गई थी कि वे जिसके पक्ष में हों, वह जीतने ही वाला है। तो विरोधी तो पस्त हो जाते थे। उनका ज्ञान-भंडार भी बहुत था। और उनके पास काम भी बहुत था। एक दिल्ली में दफ्तर था, एक पेकिंग में, एक लंदन में। भागे फिरते थे तीनों जगह। काम भी बहुत था, उलझन भी बहुत थी। रात किसी पार्टी में संलग्न थे और देर से आए और सो गए और देख नहीं पाए फाइल। सुबह अदालत में जाना पड़ा बिना फाइल देखे, तो सीधे खड़े हो गए, भूल गए कि किसके पक्ष में हैं--और विपक्षी के पक्ष में दलील देने लगे।

विपक्षी के पक्ष में उन्होंने घंटे भर तक दलील की। बड़ा सन्नाटा छा गया अदालत में कि यह हो क्या रहा है! मजिस्ट्रेट भी बेचैन, विरोधी वकील भी बेचैन कि यह मामला क्या है? विरोधी भी बेचैन! और उनका जो

आदमी था, जिसके पक्ष में वे लड़ रहे थे--किसी महाराजा के--वह तो पसीने-पसीने हो गया कि जब अपना ही वकील यह कह रहा है, तो अब क्या रहा? अब तो कोई उपाय नहीं है। अब तो मारे गए।

आखिर उनके सेक्रेटरी ने हिम्मत जुटाई, उनके पास जा कर कान में कहा कि आप यह क्या कर रहे हैं? यह तो आपने अपने आदमी को मार डाला। आपने तो बुरी तरह उसे खराब कर दिया। अब तो यह मुकदमा जीतना मुश्किल है।

उन्होंने कहा, क्या मतलब? क्या मैं विरोधी की तरफ से बोल रहा हूं? उन्होंने कहा, घबड़ा मत! उन्होंने टाई-वाई ठीक की और मजिस्ट्रेट से कहा कि महानुभाव, अभी मैंने वे दलीलें दीं जो मेरा विरोधी वकील देगा, अब मैं इनका खंडन शुरू करता हूं।

और खंडन शुरू कर दिया और मुकदमा जीत गए। और बड़ी सुगमता से जीते, क्योंकि अब विरोधी को कुछ कहने को बचा ही नहीं; वह जो कहता और जितनी अच्छी तरह से कह सकता था, उससे भी ज्यादा अच्छी तरह से उन्होंने कह ही दिया था, अब कुछ बचा ही नहीं था कहने को, और उसका खंडन भी कर दिया था।

तर्क की कोई निष्ठा नहीं है। तर्क तो वेश्या है। वह तो किसी के भी साथ खड़ा हो जाता है। जिसमें भी थोड़ी अक्ल हो, तर्क उसी के आसपास नाचने लगता है। उससे तुम चाहो ईश्वर को सिद्ध कर दो, चाहो ईश्वर को असिद्ध कर दो। तुम चाहो आत्मा को सिद्ध कर दो, तुम चाहो आत्मा को असिद्ध कर दो।

अष्टावक्र कहते हैं: बुद्धिमान पुरुष वही है जो तर्क में आस्था नहीं रखता, तर्क का त्याग कर देता है। यह देख कर कि साधुओं के, योगियों के, महर्षियों के बहुत मत हैं, तो एक बात तो सच है कि मतों में सत्य नहीं हो सकता, नहीं तो बहुत मत नहीं होते। सत्य तो मतातीत है। तर्कों में सत्य नहीं हो सकता, नहीं तो तर्क का एक ही निष्कर्ष होता। तो सत्य तो तर्कातीत है।

ऐसा देख कर मतों के प्रति उपेक्षा पैदा हो जाती है। और जो उस उपेक्षा को प्राप्त होता है, वह मनुष्य निश्चित ही शांति को प्राप्त हो जाता है।

"जो उपेक्षा, समता और युक्ति द्वारा चैतन्य के सच्चे स्वरूप को जान कर संसार से अपने को तारता है, क्या वह गुरु नहीं है?"

यह बड़ा महत्वपूर्ण सूत्र है। अष्टावक्र कह रहे हैं कि गुरु तेरे भीतर छिपा है। अगर तू उपेक्षा, समता और युक्ति द्वारा चैतन्य के सच्चे स्वरूप को जान ले, तो मिल गया तुझे तेरा गुरु।

कृत्वा मूर्तिपरिज्ञानं चैतन्यस्य न किं गुरुः।

क्या यही गुरु नहीं है? समता से, उपेक्षा से, युक्ति द्वारा स्वयं के चैतन्य-स्वरूप को जान लेना--क्या यही गुरु नहीं है? क्या यही जान लेने की घटना पर्याप्त नहीं है?

निर्वेदसमतायुक्त्या यस्तारयति संसृतेः।

बाहर जिसको तुम गुरु की तरह स्वीकार भी करते हो...जनक ने अष्टावक्र को स्वीकार किया है। जनक अष्टावक्र को ले आया है अपने राजमहल में और कहा: गुरुदेव, मुझे समझाएं ज्ञान क्या? मुक्ति क्या? सच्चिदानंद परमात्मा क्या? मुझे समझाएं।

गुरु का यह अंतिम कृत्य है कि वह समझाए कि जो मैंने तुझे समझाया, वह तेरे भीतर ही घट सकता है। गुरु की यह अंतिम कृपा है कि वह शिष्य को गुरु से भी छुटकारा दिला दे। यह आखिरी काम है। जो गुरु यह न करे, वह सदगुरु नहीं। जो गुरु शिष्य को उलझा ले और फिर अपने में ही उलझाए रखे, वह गुरु ही नहीं है। क्योंकि वह फिर इस शिष्य का शोषण कर रहा है। फिर उसकी चेष्टा यही है कि तुम शिष्य ही बने रहो।

लेकिन वास्तविक गुरु तो जल्दी ही जैसे ही तुम्हारे शिष्यत्व का काल पूरा हुआ और बोध का जागरण शुरू हुआ--कहेगा कि अब, अब मेरी तरफ देखने की जरूरत नहीं, अब भीतर देख, अब आंख बंद कर। मैं तो दर्पण था। तब तक मेरी जरूरत थी, जब तक तेरी अपनी आंख साफ न थी। अब तो तू अपनी ही आंख से देख

लेगा। मैंने तुझे जो दिखाया वह वही था जो तू भी देख सकता है। मेरी जरूरत पड़ी थी, क्योंकि तू बेहोश था। अब मेरी कोई जरूरत नहीं रही।

"जो उपेक्षा, समता और युक्ति द्वारा चैतन्य के सच्चे स्वरूप को जान कर अपने को तारता है, क्या वही गुरु नहीं है?"

वही गुरु है! गुरु तो भीतर है। बाहर का गुरु तो केवल प्रतीक-रूप है। जो तुम्हारे भीतर घटना है, वह किसी में घट गया है, बस। लेकिन आत्यंतिक घटना तुम्हारे भीतर घटती है।

बाहर के गुरु से संकेत ले लेना, लेकिन बाहर के गुरु को जंजीर मत बना लेना। बाहर का गुरु तुम्हारा कारागृह बन जाए, इससे सावधान रहना।

जरथुस्त्र का बड़ा बहुमूल्य वचन है। जब जरथुस्त्र अपने शिष्यों को छोड़ कर बाहर जाने लगा, विलीन होने को अपनी अंतिम समाधि में, तो उसने कहा, "अब आखिरी सूत्र: जरथुस्त्र से सावधान रहना! आखिरी सूत्र: जरथुस्त्र से सावधान रहना।" बस, इतना कह कर वह पहाड़ों में चला गया। "बिवेयर ऑफ जरथुस्त्रा!" सब समझाया, आखिर में यह समझाया कि अब मुझसे सावधान रहना, कहीं ऐसा न हो कि तुम मुझसे बंध जाओ! कहीं तुम्हारी आसक्ति मुझ पर न टिक जाए! नहीं तो फिर चूक हो गई।

दर्पण में तुम्हारा चेहरा दिखाई पड़ता है। इससे तुम यह मत समझ लेना कि दर्पण में तुम्हारा चेहरा है, नहीं तो पागल हो जाओगे। फिर दर्पण लिए फिरोगे कि अब दर्पण न ले जाएंगे तो चेहरा घर ही छूट जाएगा।

मुल्ला नसरुद्दीन एक धनपति के घर मस्जिद के लिए कुछ दान मांगने गया। जैसे कि धनपति होते हैं, धनपति ने ऐसा खिड़की से झांक कर देखा, देखा कि मुल्ला आया है, जरूर कुछ दान मांगने आया होगा। उसने अपने दरबान को कहा कि कह दो कि वे बाहर गए हैं। मुल्ला ने भी देख लिया था। उस सिर को मुल्ला भी देख चुका था खिड़की से।

दरबान ने कहा कि महानुभाव, आप गलत समय आए, मालिक बाहर गए हैं।

तो मुल्ला ने कहा, कोई हर्जा नहीं, हम फिर आ जाएंगे। मालिक आ जाएं तो हमारी तरफ से मुफ्त एक सलाह उनको दे देना कि बाहर तो जाएं, लेकिन सिर घर न छोड़ कर जाया करें। इसमें कभी खतरा हो सकता है।

अगर तुमने समझा कि दर्पण में तुम्हारा चेहरा है, तो फिर तुम्हें दर्पण को ले कर घूमना पड़ेगा; नहीं तो चेहरा घर छूट जाएगा, बिना चेहरे के तुम जाओगे।

गुरु तो दर्पण है; तुम्हें तुम्हारा चेहरा पहचनवा देता है। लेकिन एक दफा पहचान आनी शुरू हो गई, तो अंततः तो अपने भीतर ही खोजना है।

गुरु तो वही है जो तुम्हें तुम्हारे गुरु से मिला दे। गुरु तो वही है जो तुम्हारे भीतर के सोए गुरु को जगा दे। स्वयं में छिपा है गुरु। बाहर का गुरु तो केवल प्रतिध्वनि है तुम्हारे भीतर के गुरु की।

"जब भूत-विकारों को, देह, इंद्रिय आदि को यथार्थतः भूत-मात्र देखेगा, उसी क्षण तू बंध से मुक्त हो कर अपने स्वभाव में स्थित होगा।"

पश्य भूतविकारास्त्वं भूतमात्रान् यथार्थतः।

--जो जैसा है, जब तू उसको वैसा ही देखने लगेगा।

तत्क्षणाद् बंध निर्मुक्तः

--उसी क्षण तू बंधन से मुक्त हो जाएगा।

स्वरूपस्थो भविष्यसि

--और अपने स्वभाव में थिर हो जाएगा। पहुंच जाएगा उस आंतरिक केंद्र पर जहां कोई तरंग नहीं पहुंचती।

"जब भूत-विकारों को, देह, इंद्रिय आदि को यथार्थतः वैसा ही देखेगा, जैसे वे हैं...।"

शरीर को जब तू शरीर की भांति देखेगा। अभी हम देखते हैं: मेरा शरीर, मैं शरीर; मेरा मन, मैं मन। अभी हम चीजों को वैसा देखते हैं जैसी वे नहीं हैं; हम अन्यथा देखते हैं। और हम अन्यथा इसलिए देखते हैं कि अभी हमारी देखने की क्षमता ही साफ नहीं है, बड़ी धूमिल है; कुछ का कुछ दिखाई पड़ता है।

अष्टावक्र कहते हैं: जो जैसा है, उसे वैसा ही देख लेना है। शरीर, शरीर है। मन, मन है। और मैं तो दोनों के पार हूं--जो दोनों को देखता, दोनों को पहचानता।

तुमने कभी खयाल किया? मन में क्रोध आता है, तब भी तो कोई तुम्हारे भीतर देखता है कि क्रोध आ रहा है। तुमने उस भीतर देखने वाले को थोड़ा पहचानने की कोशिश की--कौन देखता है क्रोध आ रहा है? जब क्रोध आता है तो कोई देखता है क्रोध आ रहा है। तुम देखते हो कि शरीर में जहर फैल रहा है, हिंसा की भावना उठ रही है। कौन देखता है? कौन देखता है? कोई अपमान कर देता है तो अपमान हो जाता है; तुम्हारे भीतर कोई देखता है कि मैं अपमानित अनुभव कर रहा हूं। कौन देखता है कि अपमान हो गया?

तुम मुझे सुन रहे हो। मैं यहां बोल रहा हूं, तुम वहां सुन रहे हो--यह बोलने और सुनने के पीछे तुम्हारा साक्षी खड़ा है, जो यह देख रहा है कि तुम सुन रहे हो। और कभी-कभी तुम्हारा साक्षी तुमसे यह भी कहेगा कि तुमने सुना तो, फिर भी सुना नहीं, चूक गए!

तुम एक पन्ना पढ़ते हो किताब का, पूरा पन्ना पढ़ जाते हो--अचानक खयाल आता है कि अरे, पढ़ते तो रहे, लेकिन चूक गए! यह किसको याद आया? पढ़ने के अतिरिक्त भी तुम्हारे पीछे कोई खड़ा है--अंतिम निर्णायक--जो कहता है, फिर से पढ़ो, चूक गए! यह जो अंतिम है तुम्हारे भीतर, यही तुम्हारा स्वरूप है।

"जो जैसा है उसे वैसा ही देख ले कर उसी क्षण तू बंध से मुक्त हो कर अपने स्वभाव में स्थिर होगा।"

"वासना ही संसार है। इसलिए वासना को छोड़।"

संसार को नहीं! वासना संसार है, इसलिए वासना को छोड़।

"वासना के त्याग से संसार का त्याग है। अब जहां चाहे वहां रह।"

बड़े क्रांतिकारी वचन हैं! अब जहां चाहे वहां रह! अब संसार में रहना है, संसार में रह; बाजार में रहना है, बाजार में रह। अब जहां चाहे वहां रह। बस, तेरा साक्षी सुस्पष्ट बना रहे, फिर कुछ और चाहिए नहीं।

वासना एव संसार इति सर्वा विमुग्च ताः।
तत्त्यागो वासनात्यागात् स्थितिरद्य यथा तथा।।

जैसा है फिर तू, जहां है फिर तू, बिलकुल ठीक है और सुंदर है। कहीं कुछ करने को नहीं है। बस, एक बात जानते रहने को है कि मैं सिर्फ साक्षी-मात्र! अहो चिन्मात्रम्!

वासना एव संसारः...।

इस भेद को समझना। लोग तुमसे कहते हैं, वासनाएं छोड़ो तो संसार छूटेगा। लोग तुमसे कहते हैं, वासनाएं छोड़ो तो संसार छूटेगा। वासनाएं नहीं हैं, वासना है। कोई बहुत वासनाएं नहीं हैं; वासना तो एक ही है। वासना तो एक ही वृत्ति है: कुछ होना है, कुछ पाना है। उनके नाम तुम कुछ भी रखो। किसी को धन पाना है, किसी को पद पाना है, किसी को मोक्ष पाना है--वासना तो एक ही है। वासना का अर्थ है: जो मैं हूं, उससे मैं राजी नहीं; कुछ और होना चाहिए, तब मैं राजी होऊंगा। वासना का अर्थ है: जो है, उससे मैं नाराज, और जो नहीं है वह होना चाहिए। जब तुम जो है उससे राजी हो जाओगे, और जो नहीं है उसकी मांग न करोगे--वासना गई।

वासना एव संसारः...!
और वासना ही संसार है!

कुछ हैं जो कहते हैं: संसार छोड़ो, तब वासना छूटेगी। गलत कहते हैं। संसार छोड़ने से कुछ भी न होगा। तुम जंगल में भाग जाओगे, वासना तुम्हारे साथ छाया की तरह लगी रहेगी। तुम मंदिर में बैठ जाओगे वासना तुम्हारा पीछा करेगी; वहीं संसार बन जाएगा। जहां तुम हो, वहां वासना होगी। वासना होगी, वहीं संसार निर्मित हो जाएगा। इससे कुछ फर्क नहीं पड़ता।

वासना एव संसारः...।

--वासना संसार है, इसलिए वासना छूट जाए!

इति ज्ञात्वा...।

--ऐसा जो जान लेता है।

ताः सर्वा विमुग्च...।

--वह सबसे मुक्त हो ही गया। उससे सब छूट गया। इस सत्य को पहचान लिया कि वासना ही संसार है, बस इस पहचान में ही सब छूट हो गई।

वासना त्यागात तत्त्यागः...।

--इधर वासना गई, वहां संसार गया।

अद्य यथा तथा स्थिति।

--फिर तेरी जनक, जहां मर्जी हो, वहां रह। फिर जहां चाहे वहां रह।

इस सूत्र को भी खयाल में ले लेना। इसका यह अर्थ हुआ कि फिर जहां पाए अपने को, वहीं ठीक है। फिर जो हो रहा हो, वही ठीक है। महल में पाए तो महल ठीक है, जंगल में पाए तो जंगल ठीक है।

एक फकीर एक सम्राट का मित्र था। सम्राट उस फकीर से बहुत ही प्रभावित था। इतना प्रभावित था कि एक दिन उसने कहा कि प्रभु, मुझसे देखा नहीं जाता कि इस वृक्ष के नीचे धूप, छाया, गर्मी में आप बैठे रहें; राजमहल चलें!

सोचा था सम्राट ने कि जब मैं यह कहूंगा, फकीर कहेगा कि "नहीं-नहीं, नहीं-नहीं, राजमहल और मैं? मैं छोड़ चुका संसार!" ऐसा कहा होता फकीर ने तो सम्राट प्रसन्न हुआ होता। उसके मन में और भी फकीर के प्रति आदर बढ़ा होता। लेकिन फकीर मेरे जैसा रहा होगा। वह उठ कर खड़ा हो गया। उसने कहा, घोड़ा इत्यादि कहां है? सम्राट थोड़ा सकुचाया कि अरे, यह कैसा त्यागी! मगर अब कुछ कह भी न सकता था। ले आया घोड़ा, लेकिन बेमन से लाया। वह तो फकीर चढ़ कर घोड़े पर बैठ गया। उसने कहा कि चलो।

ले आया महल, लेकिन मजा चला गया। क्योंकि मजा तो यही था सम्राट का कि महात्यागी गुरु! यह कैसा त्यागी? अब लेकिन कह भी कुछ नहीं सकता, अपने हाथ से ही फंस गया, बुला लाया। उसको अच्छे से अच्छे कमरे में रखा, जो श्रेष्ठतम, सुंदरतम महल का हिस्सा था। वह वहीं रहने लगा। वह जैसे वृक्ष के नीचे बैठा रहा था, वह सुंदर महल में बैठा रहने लगा।

कुछ दिन बाद सम्राट की बेचैनी बढ़ने लगी। उसने कहा, यह तो बात अजीब हो गई। छह महीने बीत जाने पर उसने कहा कि महाराज एक प्रश्न उठता रहा है।

फकीर ने कहा, इतनी देर क्यों की? प्रश्न तो उसी दिन उठ गया था जब मैंने कहा, घोड़ा ले आओ!

सम्राट डरा। उसने कहा कि आपको पता है?

"पता कैसे नहीं होगा? क्योंकि तत्क्षण तुम्हारा चेहरा बदल गया था। उसी क्षण मेरा तुमसे संबंध छूट गया, जब मैंने घोड़े से संबंध जोड़ा। उसी क्षण मैं कोई त्यागी नहीं रहा तुम्हारे लिए। बोलो, छह महीने क्यों रुके? इतनी देर क्यों तकलीफ सही? मुझे पता है कि तुम बेचैन हो रहे। क्या है?"

कहा, "इतना-सा पूछना है कि अब तो मुझमें और आपमें कुछ भी अंतर नहीं है। अब तो ठीक आप भी मेरे जैसे हैं--महल में रहते हैं, सुख-सुविधा, नौकर-चाकर, अच्छा खाना-पीना! भेद तो तब था, जब आप बैठे थे वृक्ष के नीचे--आप फकीर थे, त्यागी थे, महात्मा थे; मैं राजा था, भोगी था। अब क्या भेद है?"

उस फकीर ने कहा, जानना चाहते हो भेद, तो गांव के बाहर चलो।

राजा ने कहा, ठीक।

दोनों गांव के बाहर गए। फकीर ने कहा, थोड़ी दूर और चलें।

दोपहर हो गई। सम्राट ने कहा, अब बता भी दें, बताना है तो कहीं भी बता दें, अब आधा जंगल आ गया यह।

नहीं, उसने कहा कि थोड़ी दूर और। सूरज अस्त होते ही समझा दूंगा।

सूरज अस्त होने लगा। सम्राट ने कहा, अब...अब बोलें!

उसने कहा कि इतना ही समझाना है कि अब मैं वापिस नहीं जा रहा। तुम जाते हो कि चलते हो?

सम्राट ने कहा, मैं कैसे चल सकता हूं आपके साथ? महल है, पत्नी है, बच्चे हैं, सारी व्यवस्था...। मैं कैसे चल सकता हूं?

फकीर ने कहा, लेकिन मैं जा रहा हूं। फर्क समझ में आया?

सम्राट उसके पैर पर गिर पड़ा। उसने कहा कि नहीं, मुझे छोड़ें मत, मुझसे बड़ी भूल हो गई।

उसने कहा, मैं तो अभी फिर घोड़े पर बैठने को तैयार हूं। लेकिन तुम फिर मुश्किल में पड़ जाओगे। ले आ, घोड़ा कहां है?

जब अष्टावक्र कह रहे हैं तो उनका इशारा यही है: अब जहां चाहे, वहां रह।

अद्य यथा तथा स्थितिः।

फिर जो हो, जैसा हो--ठीक है, स्वीकार है। तथाता! ऐसे तथाता के भाव में जो रहता है, उसी को बौद्धों ने तथागत कहा है।

बुद्ध का एक नाम है: तथागत। तथागत का अर्थ है: जो हवा की तरह आता, हवा की तरह चला जाता; पूरब कि पश्चिम का कोई भेद नहीं, उत्तर कि दक्षिण का कोई भेद नहीं। रेगिस्तानों में बहे हवा कि मरूद्यानों में बहे हवा--कुछ भेद नहीं। जो ऐसा आया और ऐसा गया! तथागत! जिसे सब स्वीकार है!

अद्य यथा तथा स्थितिः।

इस सूत्र को महावाक्य समझो। इस पर खूब-खूब ध्यान करना। इसे धीरे-धीरे तुम्हारे अंतरतम में विराजमान कर लेना। यह तुम्हारे मंदिर का जलता हुआ दीया बने--तो बहुत प्रसाद फलित होगा, बहुत आशीष बरसेंगे!

तुम वही हो सकते हो, जिसको अष्टावक्र ने कहा है: कस्य धन्यस्य अपि! कोई धन्यभागी! तुम वही धन्यभागी हो सकते हो। उसका ही मैंने तुम्हारे लिए द्वार खोला है।

हरि ॐ तत्सत्!

अट्ठाईसवां प्रवचन

बोध से जीयो-- सिद्धांत से नहीं

पहला प्रश्न: अष्टावक्र ने कहा कि महर्षियों, साधुओं और योगियों के अनेक मत हैं--ऐसा देख कर निर्वेद को प्राप्त हुआ कौन मनुष्य शांति को नहीं प्राप्त होता है? कहीं इसलिए ही तो नहीं आप एक साथ सबके रोल--महर्षि, साधु और योगी के; अष्टावक्र, बुद्ध, पतंजलि और चैतन्य तक के रोल--पूरा कर रहे हैं, ताकि हम निर्वेद को प्राप्त हों?

निश्चय ही ऐसा ही है। जिससे मुक्त होना हो, उसे जानना जरूरी है। जाने बिना कोई मुक्त नहीं होता।

तर्क से मुक्त होना हो तो तर्क को जानना जरूरी है। तर्क में जिनकी गहराई है, वे ही तर्क के पार उठ पाते हैं। बुद्धि के पार जाना हो तो बुद्धि में निखार चाहिए। अति बुद्धिमान ही बुद्धि के पार जा पाते हैं। बुद्धि के पार जाने के लिए जितनी धार रखी जा सके बुद्धि पर, उतना ही सहयोगी है।

वैसे तो यह बात उल्टी दिखाई पड़ेगी, क्योंकि जब बुद्धि से मुक्त होना है तो धार क्यों रखनी? मगर बुद्धू बुद्धि से मुक्त नहीं हो पाते। जिन्होंने बुद्धि का खेल जाना ही नहीं, वे तो सदा तत्पर होंगे उस जाल में उलझ जाने को।

विश्वास बुद्धि से नीचे है; आस्था बुद्धि के पार है। विश्वास कर लेने के लिए किसी बुद्धिमत्ता की जरूरत नहीं है; मूढ़ता पर्याप्त है। लेकिन आस्था को जगाने के लिए बड़ी बुद्धिमत्ता की जरूरत है। बुद्धि की सारी सीढ़ियों को, सरणियों को जो पार करता है, उसके ही जीवन में आस्था का प्रकाश होता है।

आस्तिक होना सत्य नहीं है। नास्तिक हुए बिना कोई कभी आस्तिक हुआ ही नहीं; जो हुआ हो तो उसकी आस्तिकता सदा कच्ची रहेगी। वह बिना पका घड़ा है। धोखे में मत आ जाना। उसमें पानी भर कर मत ले आना। नहीं तो घर आते-आते न तो घड़ा रहेगा न पानी रहेगा।

आग से गुजरना जरूरी है घड़े के पकने के लिए।

इस जगत में जो परम आस्तिक हुए हैं, वे परम नास्तिकता की अग्नि से गुजरे हैं। और यह ठीक भी मालूम पड़ता है, क्योंकि जिसे "नहीं" कहना ही न आया, उसकी "हां" में कितना बल होगा? उसकी "हां" तो नपुंसक की "हां" होगी। उसकी नपुंसकता ही उसका विश्वास बनेगी। उसकी कमजोरी, उसकी दीनता ही उसका विश्वास बनेगी।

और आस्था तो व्यक्ति को बना देती है सम्राट! आस्था तो व्यक्ति को बना देती है विराट! आस्था तो देती है विभुता, प्रभुता!

आस्था से तो साम्राज्य फैलता ही चला जाता है--ऐसा साम्राज्य जिसमें सूर्य का कभी कोई अस्त नहीं होता; क्योंकि वहां अंधकार नहीं है, प्रकाश ही प्रकाश है।

नास्तिकता को मैं कहता हूं आस्तिकता की अनिवार्य सीढ़ी। इंकार करना सीखना ही होता है, तभी हमारे "हां" कहने में कुछ सार्थकता होती है। जो आदमी हर बात में "हां" कह देता हो उसकी "हां" का कितना मूल्य है? जो आदमी कभी "नहीं" भी कहता हो, उसी की "हां" में मूल्य हो सकता है।

तो दुनिया में तुम्हें दो तरह के आस्तिक मिलेंगे--एक, जो भय के कारण आस्तिक हैं। उनका नास्तिक मौजूद ही रहेगा भीतर। गहरे में तो नास्तिकता रहेगी; ऊपर-ऊपर पतली-सी पर्त रहेगी, झीनी-झीनी चादर रहेगी आस्तिकता की--जरा खरोंच दो, फट जाएगी और नास्तिक बाहर आ जाएगा। सब ठीक चलता रहे तो

आस्तिकता बनी रहेगी, जरा अस्तव्यस्त हो जाए तो सब खो जाएगा। तुम्हारा लड़का जवान हो और मर जाए--और ईश्वर पर संदेह आ जाएगा। तुम्हारी दूकान ठीक चलती थी और दिवाला निकल जाए--और ईश्वर पर संदेह आ जाएगा। तुमने ईमानदारी से काम किया था और तुम्हें फल न मिले और कोई बेईमान ले जाए--बस, संदेह आ जाएगा। संदेह जैसे तैयार ही बैठा है! जैसे संदेह बिलकुल हाथ के पास में बैठा है, मौका मिले कि आ जाए!

जिनको तुम आस्तिक कहते हो--मंदिरों में, मस्जिदों में झुके हुए लोग, प्रार्थना-नमाज में-- उनके भीतर भी गहरा संदेह है; शक उठता है बार-बार कि हम जो कर रहे हैं, वह ठीक है? लेकिन किए जाते हैं भय के कारण--पता नहीं परमात्मा हो ही, पता नहीं स्वर्ग और नर्क हों! इसलिए होशियार आदमी को दोनों का इंतजाम कर लेना चाहिए।

एक मुसलमान मौलवी मरने के करीब था। गांव में कोई और पढ़ा-लिखा आदमी नहीं था, तो मुल्ला नसरुद्दीन को ही बुला लिया कि वह मरते वक्त मरते आदमी को कुरान पढ़ कर सुना दे। मुल्ला ने कहा, कुरान इत्यादि छोड़ो। अब इस आखिरी घड़ी में मैं तो तुमसे सिर्फ एक बात कहता हूं, इस प्रार्थना को मेरे साथ दोहराओ।

और मुल्ला ने कहा: कहो मेरे साथ कि हे प्रभु और हे शैतान, तुम दोनों को धन्यवाद! मेरा खयाल रखना।

उस मौलवी ने आंखें खोलीं। मर तो रहा था, लेकिन अभी एकदम होश नहीं खो गया था। उसने कहा, तुम होश में तो हो? तुम क्या कह रहे हो--हे प्रभु, हे शैतान?

मुल्ला ने कहा, अब इस आखिरी वक्त में खतरा मोल लेना ठीक नहीं। पता नहीं कौन असली में मालिक हो! तुम दोनों को ही याद कर लो। और फिर पता नहीं तुम कहां जाओ--नर्क जाओ कि स्वर्ग जाओ! नर्क गए तो शैतान नाराज रहेगा कि तुमने ईश्वर को ही याद किया, मुझे याद नहीं किया। स्वर्ग गए तब तो ठीक। लेकिन पक्का कहां है? और ऐसी घड़ी में कोई भी खतरा मोल लेना ठीक नहीं। जोखिम मोल लेना ठीक नहीं; तुम दोनों को ही खुश कर लो। राजनीति से काम लो थोड़ा।

तो जिनको तुम मंदिरों में प्रार्थना करते देखते हो, वे राजनीति से काम ले रहे हैं थोड़ा। इस जगत को भी सम्हाल रहे हैं; मौत के बाद कुछ होगा तो उसको भी सम्हाल रहे हैं। नहीं हुआ तो कुछ हर्ज नहीं; लेकिन अगर हुआ...।

फिर इस जगत में भी सहारा चाहिए, अकेले बहुत कमजोर हैं। तो आदमी सहारे की आकांक्षा से ईश्वर को मान लेता है। लेकिन यह कोई आस्था नहीं है। यह कोई श्रद्धा नहीं है। जब तक ईश्वर की धारणा का तुम कोई उपयोग कर रहे हो तब तक आस्था नहीं है। जब ईश्वर की धारणा तुम्हारे आनंद का अहोभाव हो, जब तुम्हारा कोई भी संबंध ईश्वर से कुछ लेने-देने का न रह जाए, कुछ मांगने का न रह जाए, भिखमंगेपन का न रह जाए; जब तुम्हारे और ईश्वर के बीच प्रेम की धार बहने लगे, जो कुछ भी मांगती नहीं; जब तुम्हारे और ईश्वर के बीच एक संगीत का जन्म हो, तुम्हारी वीणा उसकी वीणा के साथ कंपने लगे, तुम्हारा कंठ उसके कंठ के साथ बंध जाए, तुम्हारे प्राण उसके छंद में नाचने लगें और इसके पार कुछ न पाना है न खोना है--तब आस्था! लेकिन ऐसी आस्था तो उन्हीं को मिलती है, जो सब तरह की नास्तिकता को काट कर, सब तरह की नास्तिकता से गुजर कर निकले हैं।

"नहीं" कहना सीखना ही होता है, तो ही "हां" कहा जा सकता है। इसलिए मैं तुमसे सारी परंपराओं की बात करता हूं, क्योंकि मैं चाहता हूं कि तुम परंपराओं के पार हो जाओ। इससे मैं तुमसे सारे धर्मों की बात करता, क्योंकि मैं तुम्हें उस परम धर्म की तरफ इशारा करता हूं जो सब धर्मों के पार है। इसलिए कभी मुहम्मद की, कभी महावीर की, कभी पतंजलि की, कभी मीरा की तुमसे बात करता, कि तुम्हें यह स्मरण रहे कि सत्य तो एक है; मत बहुत हैं, अनेक हैं। इसलिए मतों में सत्य नहीं हो सकता। तुम मत से मुक्त हो सको...।

पहले तो नास्तिकता को ठीक से जान लेना जरूरी है। नास्तिकता से मुक्त होने से फिर आस्तिकता के जो बहुत-से सिद्धांत हैं उनको जान लेना जरूरी है, ताकि उनसे भी तुम मुक्त हो जाओ। तुम ही रह जाओ तुम्हारी परिशुद्धि में, चैतन्यमात्र, चिन्मात्र! न कोई आस्था, न कोई मत, न कोई "हां" न कोई "ना"। जहां कोई विकार न रह जाए, दर्पण कोरा हो--बस वहीं तुम अपने घर आ गए। निर्वेद का वही अर्थ है।

"निर्वेद" शब्द में बड़ी बातें छिपी हैं। इसका एक अर्थ होता है: निर्भाव। इसका एक अर्थ होता है: निर्विचार। ज्ञान के मूल शास्त्र को हम वेद कहते हैं। निर्वेद का अर्थ है: समस्त वेदों से मुक्त हो जाना; समस्त ज्ञान से मुक्त हो जाना; ज्ञान मात्र से मुक्त हो जाना; मत, सिद्धांत, धारणाएं, विश्वास सबसे मुक्त हो जाना; वेद से मुक्त हो जाना। फिर वेद तुम्हारा हो सकता है कुरान हो। मुसलमान का वेद कुरान है, बौद्ध का वेद धम्मपद है, ईसाई का वेद बाइबिल है। इससे कुछ फर्क नहीं पड़ता। जहां-जहां तुमने सोचा है ज्ञान है, जिन-जिन शब्दों में, सिद्धांतों में तुमने सोचा है ज्ञान है, उन सबसे मुक्त हो जाना।

निर्वेद की दशा का अर्थ होगा: निर्विचार की दशा; निर्भाव की दशा। तुम्हारे भीतर कोई शास्त्र नहीं, कोई शब्द नहीं, कोई सिद्धांत नहीं--तुम शून्यवत। तुम फिर हिंदू नहीं, मुसलमान नहीं, ईसाई नहीं, जैन नहीं, बौद्ध नहीं--क्योंकि वे सब नाम तो वेदों से मिलते हैं। किसी ने एक वेद को माना है तो वह हिंदू है; किसी ने दूसरे वेद को माना है तो वह जैन है। किसी ने कहा, हमें तो महावीर में ही वेद का अनुभव होता है, तो वह जैन है। और किसी ने कहा, हमें बुद्ध में वेद का अनुभव होता है, तो वह बौद्ध है।

लेकिन अष्टावक्र कह रहे हैं, परमज्ञान की अवस्था है, जब तुम्हें सिर्फ अपने में ही वेद का अनुभव हो। बाहर के सब वेदों से मुक्ति--निर्वेद।

निर्वेद का अर्थ होगा: बड़ा कुंआरापन; जैसे ज्ञान है ही नहीं! इसको अज्ञान भी नहीं कह सकते। क्योंकि बोध परिपूर्ण है। होश पूरा है। इसको अज्ञान नहीं कह सकते। यह बड़ा ज्ञानपूर्ण अज्ञान है। ईसाई फकीरों ने, विशेषकर तरतूलियन ने दो विभाजन किए हैं। उसने दो विभाजन किए हैं मनुष्य के जानने के। एक को वह कहता है: इग्नोरेंट नॉलेज ; अज्ञानी ज्ञान। और एक को वह कहता है: नोइंग इग्नोरेंस; जानता हुआ अज्ञान। बड़ा अदभुत विभाजन किया है तरतूलियन ने!

एक तो ऐसा ज्ञान है कि तुम जानते कुछ भी नहीं--खाक भी नहीं--और फिर भी लगता है खूब जानते हो! शास्त्र कंठस्थ हैं, तोते बन गए हो। मस्तिष्क में सब भरा है, दोहरा सकते हो--ठीक से दोहरा सकते हो। स्मृति तुम्हारी प्रखर है, याददाश्त सुंदर है--तुम दोहरा सकते हो। भाषा का तुम्हें पता है, व्याकरण का तुम्हें पता है--तुम शब्दों का ठीक-ठीक अर्थ जुटा सकते हो। और फिर भी तुम कुछ नहीं जानते। क्योंकि जो भी तुमने जाना है उसमें तुम्हारा जानना कुछ भी नहीं है; सब उधार है; सब बासा है; मांगात्तूंगा है; अपना नहीं है; निज का नहीं है। और जो निज का नहीं है वह कैसा ज्ञान?

तो एक तो ज्ञान है, जिसके पीछे अज्ञान छिपा रहता है। जिसको हम पंडित कहते हैं, वह ऐसा ही ज्ञानी है। पंडित यानी पोपट। पंडित यानी तोता। पंडित यानी दोहराता है, जानता नहीं; कह देता है, लेकिन क्या कह रहा है, उसे कुछ भी पता नहीं। यंत्र जैसा है, यांत्रिक है--इग्नोरेंट नालेज!

और फिर तरतूलियन कहता है, एक दूसरा आयाम है: नोइंग इग्नोरेंस; जानता हुआ अज्ञान। निर्वेद का वही अर्थ है। निर्वेद का अर्थ है: कुछ भी नहीं जानते--बस इतना ही जानते हैं। और जानना पूरा जागा हुआ है, भीतर दीया जल रहा है अपनी प्रखरता में। उस दीये के आसपास वेदों का कोई भी धुआं नहीं है। उस दीये के आसपास कोई छाया भी नहीं है किसी सिद्धांत की। बस, शुद्ध अंतरतम का दीया जल रहा है। उस अंतरतम के दीये के प्रकाश में सब कुछ जाना जाता है, फिर भी जानने का कोई दावा नहीं उठता।

उपनिषद कहते हैं: जो कहे मैं जानता हूं, जान लेना कि नहीं जानता।

सुकरात ने कहा है: जब मैं कुछ-कुछ जानने लगा, तब मुझे पता चला कि मैं कुछ भी नहीं जानता हूं। जब कुछ-कुछ जानने लगा, तब पता चला कि मैं कुछ भी नहीं जानता हूं।

लाओत्सु ने कहा है: ज्ञानी अज्ञानी जैसा होता है।

जीसस ने कहा है: जो बच्चों की भांति भोले हैं, वे मेरे प्रभु के राज्य में प्रवेश करेंगे।

बच्चों की भांति भोले हैं! बात साफ है। बच्चे में पांडित्य नहीं होता। बच्चे का अभी कोई अनुभव ही नहीं है कि पांडित्य हो सके। अभी कहीं पढ़ा-लिखा नहीं, सोचा-सुना नहीं--अभी तो भोला-भाला है। ऐसा भोला-भाला अज्ञान, जानता हुआ अज्ञान! तुम कुछ जानते नहीं, लेकिन तुम प्रज्वलित अग्नि हो; तुम्हारा प्रकाश सब तरफ फैलता है।

निर्वेद की दशा बड़ी अनूठी दशा है। इसलिए परम ज्ञानियों ने वेदों को तो अज्ञानियों के लिए माना है। अष्टावक्र भी वही मानते हैं, बुद्ध भी वही मानते हैं, महावीर भी वही मानते हैं। वेदों को तो माना है उनके लिए जिन्हें अभी कुछ भी समझ नहीं है। उनके लिए वेद हैं। जिनको कुछ भी समझ है, वे तो निर्वेद में अपना बोध खोजते हैं, वेद में नहीं। उनकी आंखें तो शब्दातीत शून्य की तरफ उठने लगती हैं, द्वंद्वातीत सत्य की तरफ उनकी उड़ान शुरू हो जाती है।

तुमसे मैं इन सारे सिद्धांतों की इसीलिए बात कर रहा हूं, ताकि तुम जान कर मुक्त हो सको; तुम परिचित हो लो, तो मुक्त हो जाओ। परिचित नहीं हुए तो मुक्त न हो सकोगे।

अगर तुम मुझे सुनते ही रहे शांत भाव से, तो तुम धीरे-धीरे पाओगे: सब आया और सब गया! खतरा तो तब है कि जब तुम सुनते-सुनते मुझे, ज्ञान को पकड़ने लगो, तब खतरा है। वेद बनने लगा, तुम निर्वेद से चूके। मगर मैं तुम्हें टिकने न दूंगा। इसलिए रोज बदल लेता हूं। एक दिन बोलता हूं बुद्ध पर, तो तुम धीरे-धीरे राजी होने लगते हो। जैसे ही मुझे लगा कि अब राजी हो रहे, तुम ज्ञानी बन रहे; जैसे ही मुझे लगा कि अब बुद्ध तुम्हारा वेद बने जा रहे हैं...।

आदमी इतनी जल्दी सुरक्षा पकड़ता है, इतनी जल्दी मान लेना चाहता है कि जान लिया--बिना श्रम के, बिना चेष्टा के! मुफ्त कुछ मिल जाए तो ज्ञानी बन जाने का मजा कौन नहीं लेना चाहता है! सुन ली बुद्ध की बात, बड़े प्रसन्न हो गए, गदगद हो गए, थोड़ी जानकारी बढ़ गई--अब उस जानकारी को तुम फेंकते हुए रास्ते पर चलोगे; कोई भी मिल जाएगा, फंस जाएगा जाल में, तो तुम उसकी खोपड़ी में वह जानकारी भरोगे, तुम मौका न चूकोगे। तुम्हें कोई भी मौका मिल जाएगा तो किसी भी बहाने तुम अपनी जानकारी को जल्दी से किसी भी आदमी की खूंटी पर टांग दोगे। तुम निमित्त तलाशोगे कि जहां निमित्त मिल जाए; कोई कुछ पूछ ले, कोई कुछ बात उठा दे, तो तुम अपनी बात ले आओगे।

यह जानकारी तुम्हें मुक्त नहीं करवा देगी। यह जानकारी तुम्हारे अहंकार का आभूषण भला हो जाए, यह अहंकार से मुक्ति नहीं होने वाली है।

तो जैसे ही मैं देखता हूं कि तुम बुद्ध को वेद मानने लगे, तो मुझे तत्क्षण महावीर की बात करनी पड़ती है, ताकि तुम्हारे पैर के नीचे से जमीन फिर खींच ली जाए। ऐसा मैं बहुत बार करूंगा। ऐसा बार-बार होगा तो तुम्हें एक बोध आएगा कि यह जमीन तो बार-बार पैर के नीचे से खींच ली जाती है। किसी दिन तो तुम्हें यह समझ में आएगा कि अब जमीन न बनाएं; अब सुन लें और सिद्धांत को न पकड़ें; सुन लें, गुन लें, लेकिन अब किसी मत को ओढ़ें न। जिस दिन तुम्हें यह समझ में आ गई, उसी दिन निर्वेद उपलब्ध हुआ।

इन सारी कक्षाओं से गुजर जाना जरूरी है। क्योंकि जिससे तुम नहीं गुजरोगे, उसका खतरा शेष रहेगा; कभी अगर मौका आया तो शायद फंस जाओ।

इसलिए मैं निरंतर कहता हूं: जिससे भी मुक्त होना हो, उसे ठीक से जान लो। जानने के अतिरिक्त न कोई मुक्ति है न कोई क्रांति है।

दूसरा प्रश्न: शिष्य के अंदर अपने सदगुरु के प्रति उसका प्रेम और शिष्य का अहंकार क्या दोनों एक साथ टिक सकते हैं?

थोड़े दिन टिकते हैं, ज्यादा दिन टिक नहीं सकते। लेकिन प्रथमतः तो टिकेंगे। प्रथमतः तो जब शिष्य गुरु के पास आता है, तो एकदम से थोड़े ही अहंकार गिरा देगा, एकदम से थोड़े ही अहंकार छोड़ देगा। शुरू में तो शायद अहंकार के कारण ही गुरु के पास आता है। धन खोजा, कुछ नहीं पाया; अहंकार को वहां तृप्ति न मिली; पद खोजा, वहां कुछ न पाया; अहंकार को वहां भी तृप्ति न मिली--अब अहंकार कहता है, ज्ञान खोजो।

देखा तुमने, अष्टावक्र ने तीन वासनाएं गिनाईं--उनमें एक और आखिरी वासना ज्ञान की! अहंकार ही तुम्हें गुरु के पास ले आया है। इसलिए जो गुरु के पास ले आया है, वह एकदम साथ न छोड़ेगा; वह कहेगा कि प्रथमतः तो हम ही तुम्हारे गुरु हैं, हम ही तुम्हें यहां लाए। पहले तुम हमें नमस्कार करो! ऐसे कहां हमें छोड़ कर चले? इतने जल्दी न जाने देंगे।

तो अहंकार रहेगा; लेकिन अगर गुरु का प्रेम...गुरु के प्रति प्रेम उठने लगा, तो ज्यादा दिन न रह सकेगा। क्योंकि ये विपरीत घटनाएं हैं, ये दोनों साथ-साथ नहीं हो सकतीं। दीया जलने लगा, ज्योति बढ़ने लगी, प्रगाढ़ होने लगी--पहले टिमटिमाती-टिमटिमाती होगी तो थोड़ा-बहुत अंधेरा बना रहेगा; फिर ज्योति जैसे-जैसे प्रगाढ़ होगी, वैसे-वैसे अंधेरा कटेगा। फिर एक घड़ी आएगी ज्योति के थिर हो जाने की, और अंधकार नहीं रह जाएगा।

गुरु के पास लाता तो अहंकार ही है, इसलिए एकदम से छोड़ा नहीं जा सकता। इस तरह के अहंकार को ही तो लोग सात्विक अहंकार कहते हैं, धार्मिक अहंकार कहते हैं, पवित्र अहंकार! तो अहंकार भी...।

जैसे तुमने कहावत सुनी होगी कि कोई बिल्ली हज को जाती थी, तो उसने सब को निमंत्रण दिया--चूहे इत्यादि को--कि अब तो तुम मुझसे आ कर मिल लो। अब मैं हज को जा रही हूं, पता नहीं लौटूं न लौटूं! पुराने जमाने की बात होगी। अब तो लोग लौट आते हैं। पहले तो कोई तीर्थयात्रा को जाता था तो आखिरी नमस्कार करके जाता था--लौटना हो या न हो! होना भी नहीं चाहिए तीर्थ से लौटना। क्योंकि जब तीर्थ चले ही गए तो फिर क्या लौटना? फिर लौटना कैसा?

तो बिल्ली ने खबर भेज दी। चूहे बड़े चिंतित हुए। चूहों में बड़ी अफवाह, सरगर्मी हो गई। उन्होंने कहा कि जा तो रही हज को, लेकिन इसका भरोसा क्या? सौ-सौ चूहे खाए, हज को चली, पता नहीं...! इतने चूहे खा गई है, आज अचानक धर्म-भाव पैदा हुआ है!

अहंकार ने बहुत चूहे खाए हैं, इसलिए एकदम भरोसा तो तुम्हें भी नहीं आएगा। कि अहंकार, और सदगुरु के पास ला सकता है! लेकिन बिल्लियां भी हज की यात्रा को जाती हैं। आखिर आदमी थक जाता है, हर चीज से थक जाता है। और अहंकार की खूबी एक है कि वह किसी चीज से भरता नहीं; इसलिए थकोगे नहीं तो करोगे क्या? कितना ही धन इकट्ठा करो जन्मों-जन्मों तक, अहंकार भरता ही नहीं। अहंकार तो ऐसी बाल्टी है, जिसमें पेंदी है ही नहीं। तुम उसमें डालते जाओ, डालते जाओ, सब खोता चला जाता है।

मुल्ला नसरुद्दीन के पास एक युवक आया और उसने कहा कि किसी ने मुझसे कहा है कि तुम्हें ज्ञान की कुंजी मिल गई है। तो मुझे स्वीकार करो गुरुदेव, मैं आपके चरणों में रहूंगा!

मुल्ला ने कहा, कुंजी तो मिल गई है, लेकिन सीखने के लिए बड़ा धैर्य चाहिए। तो मेरी एक ही शर्त है कि धैर्य रखना पड़ेगा। और धैर्य की अगर परीक्षा में तुम खरे उतरे, तो ही मैं तुम्हें स्वीकार करूंगा।

उसने कहा, मैं तैयार हूं, परीक्षा मेरी ले लें।

मुल्ला ने कहा, अभी तो मैं कुएं पर जा रहा हूं पानी भरने, तुम मेरे साथ आ जाओ, वहीं परीक्षा भी हो जाएगी।

जब मुल्ला ने उठाई बाल्टी, तो उस युवक ने देखा उसमें पेंदी नहीं है। वह थोड़ा हैरान हुआ, मगर उसने सोचा: अपना बोलना ठीक नहीं, अभी परीक्षा का वक्त है। अब यह जो कर रहा है करने दो; मगर यह आदमी पागल मालूम होता है। रस्सी इत्यादि ले कर और बिना पेंदी की बाल्टी ले कर यह जा कहां रहा है! शिष्य बड़ा बेचैन तो हुआ, लेकिन उसने अपने को संभाले रखा। उसने कहा कि धैर्य की परीक्षा है, पता नहीं यही परीक्षा हो।

मुल्ला ने कुएं में बाल्टी फेंकी, हिला कर उसमें पानी भर लिया। तो नीचे जब पानी में डूब गई तो भरी मालूम पड़ने लगी। वह युवक खड़ा देख रहा है। उसने कहा, हद हो रही है! यह अज्ञानी हमको ज्ञान देगा! इस मूढ़ को इतना भी पता नहीं है कि यह क्या कर रहा है! इसको ज्ञान की कुंजी मिल गई है? हम भी कहां चक्कर में पड़े जाते थे!

उसने बाल्टी खींची, बाल्टी खाली आई। मुल्ला ने कहा, मामला क्या है? फिर से पानी में डाली।

अब उसका बर्दाशत करना...। वह भूल ही गया। उसने कहा कि ठहरो जी, तुम मुझे जब सिखाओगे तब सिखाओगे, कुछ मैं तुम्हें सिखा दूं, मुफ्त! यह बाल्टी कभी न भरेगी।

मुल्ला ने कहा, तुम बीच में बोले, तुमने धैर्य तोड़ दिया। तुमसे मैं इतना ही कहना चाहता हूं कि तुम्हारे अहंकार की बाल्टी की कुछ जांच-परख करोगे, कभी भरी? अब तुम भाग जाओ यहां से। मैं तुम्हें शिष्य की तरह स्वीकार नहीं करूंगा, क्योंकि तुमने नियम भंग कर दिया। तुम धैर्य तो रखते। मैं तुम्हें कुछ दिखा रहा था।

भगा दिया तो शिष्य चला गया, लेकिन रात भर सो न सका। बात तो उसे भी जंची कि बात तो यही है: कितने जन्मों से भर रहे हैं अहंकार को, भरता नहीं है; तो शायद पेंदी न होगी। यही कारण हो सकता है।

अहंकार में पेंदी है भी नहीं। तो तुम ज्ञान से भरो, धन से भरो, पद से, त्याग से, प्रेम से--किसी से भी भरो, भरेगा नहीं। अंततः अहंकार का यह न भरना ही, अहंकार की यह विफलता ही तो परमात्मा के द्वार पर लाती है। सौ-सौ चूहे खा कर बिल्ली हज को जाती है। और हज की तरफ जाने का उपाय ही नहीं है।

तो जो तुम्हें गुरु के पास ले आता है, वह भी अहंकार की विफलता ही है। लेकिन अहंकार कितना ही विफल हो जाए, आशा नहीं छोड़ता। आशा अहंकार का प्राण है। वह गुरु के पास आता है, अब वह सोचता है धर्म से भर लेंगे, ज्ञान से भर लेंगे, ध्यान से भर लेंगे। तो थोड़े दिन सरकता है। भरने की चेष्टा यहां भी करता है।

लेकिन अगर गुरु के प्रति समर्पण का सूत्र पैदा हो गया, तो अहंकार ज्यादा दिन टिकेगा नहीं। दोनों थोड़े दिन साथ रह सकते हैं, ज्यादा दिन साथ नहीं रह सकते।

रहीम का एक वचन है:

कहु रहीम कैसे निभै बेर केर को संग

वह डोलत रस आपने उनके फाटत अंग।

केले का वृक्ष और बेर का वृक्ष, दोनों का साथ-साथ होना ज्यादा दिन चल नहीं सकता।

कहु रहीम कैसे निभै बेर केर को संग

वह डोलत रस आपने...

बेर तो अपने आनंद में मग्न हो कर डोलता है।

उनके फाटत अंग।

लेकिन उसकी शाखाओं के छूने, कांटों के छूने से केले के तो पत्ते फट जाते हैं। कोई केले के पत्ते फाड़ने के लिए बेर कोई चेष्टा करता नहीं; वह तो अपने रस में डोलता है; हवाएं आ गईं सुबह की, मग्न हो कर नाचने लगता है। लेकिन उसका नाचना ही केले की मौत होने लगती है।

अगर तुम्हारे भीतर अहंकार भी है--जो कि स्वाभाविक है, और तुम्हारा सदगुरु के प्रति प्रेम भी है--जो कि बड़ा अस्वाभाविक; जो कि बड़ी महत्वपूर्ण घटना है, बड़ी अद्वितीय घटना है, अपूर्व घटना है, क्योंकि अपने प्रति

प्रेम का नाम तो अहंकार है, किसी और के प्रति प्रेम का नाम निरहंकार है। और सदगुरु के प्रति प्रेम का तो अर्थ है कि जहां से तुम्हारे अहंकार को तृप्त करने का कोई भी मौका न मिलेगा। अगर तुम सदगुरु के समर्पण में, सदगुरु के सत्संग में नाचने लगे, मदमस्त होने लगे, तो ज्यादा दिन यह अहंकार टिकेगा नहीं, यह तो केर-बेर का संग हो जाएगा। इसके तो पत्ते अपने से फट जाएंगे। यह तो अपने से नष्ट हो जाएगा।

तुम इस पर विचार भी मत दो, इसका ध्यान भी मत करो, इसकी चिंता भी न लो। तुम तो डूबो सत्संग में, समर्पण में। यह धीरे धीरे अपने से विदा हो जाएगा। इसे विदा करने की चेष्टा भी मत करना। क्योंकि इस पर ध्यान देना ही खतरनाक है। इसकी उपेक्षा ही इससे मुक्ति का उपाय है। रहने दो, जब तक है ठीक है। तुम इसकी फिक्र मत करो। तुम तो अपनी सारी ऊर्जा समर्पण में डालो।

जैसे कोई आदमी सीढ़ी चढ़ता है, तो तुमने देखा, एक पैर पुरानी सीढ़ी पर होता है, एक पैर नई सीढ़ी पर रखता है! फिर जब नई सीढ़ी पर पैर जम जाता है, तो पिछले पैर को उठा लेता है, फिर नए पैर को आगे की सीढ़ी पर रखता है। लेकिन ऐसी बहुत घड़ियां होती हैं, जब एक पैर पुरानी सीढ़ी पर होता है और एक नई सीढ़ी पर होता है--तभी तो गति होती है।

अहंकार तुम्हारी अब तक की सीढ़ी है; समर्पण तुम्हारा पैर है--नए की तलाश में। जब तक नए पर पैर न पड़ जाए, तब तक पुराने से पैर हटाया भी नहीं जा सकता--हटाना भी मत, नहीं तो मुंह के बल गिरोगे। जब पैर जम जाए नई सीढ़ी पर, तो फिर उठा लेना, फिर कोई डर नहीं है। एक बार पैर को समर्पण में जम जाने दो, अहंकार से उठ जाने में ज्यादा अड़चन न आएगी।

लेकिन जल्दी की भी कोई जरूरत नहीं है। चीजों को उनके स्वाभाविक ढंग से धैर्यपूर्वक होने दो। इससे चिंता मत लेना कि मुझमें अहंकार है तो कैसे समर्पण होगा?

कमरे में अंधेरा होता है तो तुम यह पूछते हो कि कमरे में इतना अंधेरा है, और दिन दो दिन का नहीं, जन्मों-जन्मों का है, न मालूम कब से है, यहां दीया जलाएंगे छोटा-सा--जलेगा? इतने अंधकार में दीया जलेगा? ऐसा तुम पूछते नहीं, क्योंकि तुम जानते हो अहंकार या अंधकार कितना ही सदियों पुराना हो, उसका कोई अस्तित्व नहीं है। दीया जले--बोध का, समर्पण का, प्रेम का तो जैसे अंधकार दीये के जलने पर विसर्जित हो जाता है, ना-नुच भी नहीं करता; यह भी नहीं कहता खड़े हो कर कि यह क्या अन्याय हो रहा है; मैं इस कमरे में हजारों साल से था और आज तुम अचानक आ गए मेहमान की तरह और मुझे निकलना पड़ रहा है; मैं मेजबान हूं, तुम मेहमान हो; दीया अभी जला है, मैं कब से यहां मौजूद हूं! नहीं, अंधकार शिकायत भी नहीं करता, कर ही नहीं सकता। अंधकार का कोई बल थोड़े ही है! वह तो था ही इसलिए कि दीया नहीं था। अब दीया आ गया, अंधकार गया।

तो अगर तुम्हारे भीतर समर्पण का भाव पैदा हो गया है तो घबड़ाओ मत। अहंकार कितना ही प्राचीन हो, इस समर्पण की नई-सी फूटती कोंपल के सामने भी टिक न सकेगा। यह छोटी-सी जो ज्योति तुम्हारे भीतर समर्पण की पैदा हुई है, यह पर्याप्त है। यह सदियों पुराने, जन्मों पुराने अहंकार को जला कर राख कर देगी। इसका बल बड़ा है। इसका बल तुम्हें पता नहीं है, इसलिए चिंता उठती है। और इस चिंता में तुम कहीं भूल मत कर बैठना, तुम इस चिंता में कहीं अहंकार के संबंध में बहुत विचार मत करने लगना कि कैसे इसे छोड़ें, कैसे इसे हटाएं! इस चिंता में वह जो ऊर्जा दीये को जलाने में लगनी चाहिए थी, वह खंडित हो जाएगी।

तुम तो समग्र भाव से, सब चिंताएं छोड़कर समर्पण में अपनी ऊर्जा को उंडेले चले जाओ। वही तो ऊर्जा है; जब सारी की सारी समर्पण में समाविष्ट हो जाएगी तो अहंकार के लिए कुछ भी न बचेगा। अहंकार अपने से चला जाता है।

तीसरा प्रश्न: मेरे जीवन के कोरे कागज पर आपने क्या लिख दिया कि मेरा जीवन ही बदल गया? जिस प्रेम और आनंद की तलाश मुझे जन्मों से थी, वह प्रेम और आनंद मुझे अयाचित गुरु-प्रसाद के रूप में मिल गया। मैं तो इसका पात्र भी नहीं था। प्रभु, जो संपदा आपने मुझे दी है, उसको मैं बांटना चाहता हूं। कृपा कर निर्देश और आशीष दें।

पहली तो बात, तुम्हारे जीवन के कोरे कागज पर मैंने कुछ लिखा नहीं। तुम्हारे जीवन का कागज कोरा नहीं था, उसे कोरा किया। इस भ्रांति को पालना मत, अन्यथा ज्ञान की जगह जानकारी में जकड़ जाओगे।

मैंने तुम्हारे जीवन के कागज पर कुछ लिखा नहीं; तुमने लिख लिया हो, तो मेरी कोई जिम्मेवारी नहीं। मेरी तो सारी चेष्टा तुम्हारे जीवन के कागज पर जो-जो तुमने लिख रखा है, उसको पोंछ डालने की है। मैं तुम्हारी सारी जानकारी छीन लेना चाहता हूं। मैं तुम्हें निपट निर्वेद की दशा में छोड़ देना चाहता हूं। निर्वेद ही निर्वाण है। और वही हुआ भी है। लेकिन तुम्हारी पुरानी आदत देखने और सोचने की गलत व्याख्या किए चली जाती है। वही हुआ भी है।

तुम कहते हो: "मेरे जीवन के कोरे कागज पर आपने क्या लिख दिया कि मेरा जीवन ही बदल गया?"

मैंने कुछ भी नहीं लिखा है क्योंकि लिखने से कभी किसी का जीवन बदला नहीं। लिखने से तो जो लिखा था, उसमें ही और थोड़ा जुड़ जाता है। सब लिखा हुआ फुटनोट सिद्ध होता है। तुम्हारी किताब बहुत पुरानी है। तुम बड़ा शास्त्र लिए बैठे हो, बड़ी बही-खाता! इसमें मैं कुछ लिखूंगा तो वह भी एक फुटनोट बनेगा; इससे ज्यादा कुछ होने वाला नहीं है। तुम्हारा लिखा हुआ तो तुम्हारा पूरा अतीत है। इसमें मैं लिखूंगा भी तो वह खो जाएगा। नहीं, लिखने का मैं प्रयास भी नहीं कर रहा हूं।

शिक्षक और गुरु में यही फर्क है। शिक्षक लिखता है; गुरु मिटाता है। शिक्षक सिखाता है; गुरु, जो तुम सीख चुके हो, उससे तुम्हें मुक्त करता है। शिक्षक ज्ञान देता है; गुरु ज्ञान के ऊपर उठने की कला देता है। शिक्षक गुरु नहीं है; गुरु शिक्षक नहीं है। इन शब्दों का बड़ा भिन्न आयाम है।

शिक्षक वह, जो तुम्हें शिक्षा दे, संस्कार दे, अनुशासन दे, जीवन-व्यवस्था, शैली दे! शिक्षक वह, जो तुम्हें कुछ दे, तुम्हें भरे! शिक्षक वह, जो तुम्हारे भीतर उंडेलता जाए और तुम्हें भर दे, और तुम्हें यह भ्रांति देने लगे कि तुम भी जानते हो, प्रमाण-पत्र दे दे, डिग्रियां दे दे। गुरु वही, जो तुम्हें कोरा करे; जो तुमने सीखा है, उसे कैसे अनसीखा करो, यही सिखाए।

एक जर्मन विचारक रमण महर्षि के पास आया। और उसने कहा कि मैं बड़ी दूर से आया हूं और आपसे कुछ सीखने की आशा है। रमण ने कहा, फिर तुम गलत जगह आ गए। हम तो यहां सीखे को भुलाते हैं। अगर सीखना है तो कहीं और जाओ। यहां तो जब भूलने की तैयारी हो, तब आना।

लेकिन वही हुआ है, जो मैं कह रहा हूं। क्योंकि अगर वह नहीं हुआ होता, तो वह जो तुम्हें जीवन की बदलाहट मालूम हो रही है, वह बदलाहट नहीं हो सकती थी। तुम्हारे पुराने जाल में कुछ भी जोड़ दो, तुम्हारे पुराने खंडहर में कुछ भी जोड़ दो--कुछ फर्क होने वाला नहीं; तुम्हारा खंडहर, खंडहर रहेगा। तुम्हारी प्राचीनता बड़ी है; उसमें कुछ भी नया जोड़ा जाए, वह खो जाएगा। वह तो ऐसा है कि जैसे सागर में कोई एक चम्मच शक्कर डाल दे और आशा करे कि सागर मीठा हो जाएगा। तुम्हारे भीतर शक्कर डालने का सवाल नहीं है--तुम्हारे भीतर से तो कैसे तुम्हारे विष को बाहर किया जाए...। और तुम अब तक जो भी रहे हो, गलत रहे हो। जो भी तुमने किया है और सोचा है वह सब गलत हुआ है तुम्हारा जीवन सिर्फ एक समस्या है। तुमने जीवन के रहस्य को जाना नहीं और न जीवन के उत्सव में तुम प्रविष्ट हुए हो। तुम तो समस्याओं के जंगल में खो गए हो।

मैं तुम्हें सिद्धांत नहीं दे रहा हूं। मैं तुम्हारी समस्याएं छीन रहा हूं। पर तुम्हारी व्याख्या स्वाभाविक है। जो घटेगा नया, उसको भी तो तुम पुरानी ही आंखों से देखोगे।

तो तुम कहते हो: "मेरे जीवन के कोरे कागज पर आपने क्या लिख दिया कि मेरा जीवन ही बदल गया?"

जीवन बदला है, क्योंकि तुम्हारे जीवन के कागज से मैंने कुछ लिखावटें छीन ली हैं; तुम्हें थोड़ी जगह दी; तुम्हें थोड़ा रिक्त स्थान दिया; तुम्हारे भीतर के कूड़े-कबाड़ को थोड़ा कम किया; तुम्हें थोड़ा अवकाश दिया है। उसी अवकाश में उतरता है परमात्मा। जब तुम बिलकुल खाली होते हो, तो परमात्मा उतरता है। जब तक तुम भरे होते हो, तब तक उसको जगह ही नहीं कि उतर आए।

वर्षा होती है, देखा? पहाड़ों पर भी होती है; लेकिन पहाड़ खाली रह जाते हैं, क्योंकि पहले से ही भरे हैं। फिर खाई-खड्डों में होती है तो झीलें बन जाती हैं; क्योंकि खाई-खड्डे खाली थे, जगह थी, तो पानी भर जाता है। परमात्मा तो बरस ही रहा है, सब पर बरस रहा है, जितना मुझ पर उतना तुम पर; लेकिन अगर तुम भरे हो तो तुम खाली रह जाओगे, अगर तुम खाली हो तो भर दिए जाओगे।

इस जीवन के रहस्यपूर्ण नियम को ठीक से खयाल में ले लेना। अगर तुम भरे हो पहाड़ की तरह और तुम्हारा अहंकार पहाड़ के शिखर की तरह अकड़ा खड़ा है, तो परमात्मा बरसता रहेगा और तुम वंचित रह जाओगे। तुम बन जाओ झील की तरह, खाई-खड्डों की तरह, निरहंकार, विनम्र, ना-कुछ, दावेदार नहीं, सिर्फ शून्य के उदघोषक--और परमात्मा तुम्हें भर देगा। तुम मिटो!

यही तो अष्टावक्र ने कहा कि जब तक "मैं हूं", तब तक सत्य नहीं। जहां "मैं" न रहा, वहीं सत्य उतर आता है।

मेरी पूरी चेष्टा तुम्हें यह अदभुत कला सिखाने की है कि तुम कैसे मिटो, कि तुम कैसे मरो। इसलिए तो मैं कहता हूं: मैं मृत्यु सिखाता हूं। क्योंकि वही द्वार है परम जीवन को पाने का। इससे ही बदलाहट की किरण तुम्हारे भीतर आई है।

"जिस प्रेम और आनंद की तलाश मुझे जन्मों से थी, वह प्रेम और आनंद मुझे अयाचित गुरु-प्रसाद के रूप में मिल गया।"

अयाचित ही मिलता है। याचना से कुछ मिले, दो कौड़ी का है। मांग कर कुछ मिले, मूल्य न रहा। बिन मांगे मिले, तो ही मूल्यवान है।

ध्यान रखना, इस जगत में भिखारी की तरह तुम अगर मांगते रहे, मांगते रहे...वही तो वासना है। वासना का अर्थ क्या है? मांग। तुम कहते हो: यह मिले, यह मिले, यह मिले! तुम जितना मांगते हो, उतना ही बड़ा भिखमंगापन होता जाता है, और उतना ही जीवन तुम्हें लगता है विषाद से भरा हुआ। तुम जो मांगते हो, मिलता नहीं मालूम होता।

स्वामी राम ने कहा है कि एक रास्ते से मैं गुजरता था। एक बच्चा बहुत परेशान था। सुबह थी, धूप निकली थी, सर्दी के दिन थे और बच्चा आंगन में खेल रहा था। वह अपनी छाया को पकड़ना चाहता था। तो उचक-उचक कर छाया को पकड़ रहा था। बार-बार थक जाता था, दुखी हो जाता था, उसकी आंख में आंसू आ गए, फिर छलांग लगाता। लेकिन जब तुम छलांग लगाओगे, तुम्हारी छाया भी छलांग लगा जाती है। वह छाया को पकड़ने की कोशिश करता है, छाया नहीं पकड़ पाता है। राम खड़े देख रहे हैं, खिलखिला कर हंसने लगे। उस बच्चे ने राम की तरफ देखा। वे बड़े प्यारे संन्यासी थे, अदभुत संन्यासी थे! वे उस बच्चे के पास गए। उन्होंने कहा, जो मैं करता रहा जन्म-जन्म, वही तू कर रहा है। फिर मैंने तो तरकीब पा ली, मैं तुझे तरकीब बता दूं?

वह छोटा-सा बच्चा रोता हुआ बोला: बताएं, कैसे पकडूं?

राम ने उसका हाथ उठा कर उसके माथे पर रख दिया। देखा उधर छाया पर भी उसका हाथ माथे पर पड़ गया। वह बच्चा हंसने लगा। वह प्रसन्न हो गया।

उस बच्चे की मां ने राम से कहा, आपने हद कर दी! आपके बच्चे हैं?

राम ने कहा, मेरे बच्चे तो नहीं। लेकिन जन्मों-जन्मों का यही अनुभव मेरा भी है। जब तक दौड़ो, पकड़ो--हाथ कुछ नहीं आता। जब अपने पर हाथ रख कर बैठ जाओ, हाथ फैलाओ ही मत, मांगो ही मत, दौड़ो ही मत, छीना-झपटी छोड़ो--सब मिल जाता है।

राम ने कहा, मैंने एक घर क्या छोड़ा, सारा विश्व मेरा हो गया। एक कुटिया, एक आंगन क्या छोड़ा, सारा आकाश मेरा आंगन हो गया। अब चांदत्तारे मेरे आंगन में चलते हैं, सूरज मेरे आंगन में निकलता है।

तुम्हारे जीवन में जो भी महत्वपूर्ण घटेगा, अयाचित घटेगा। और नहीं घट रहा है, क्योंकि तुम याचना से भरे हो; तुम्हारी याचना ही अवरोध बन रही है। मांगो मत। अगर चाहते हो तो मांगो मत। अगर चाहते हो तो चाहो मत। होगा, अपने से हो जाता है। यह तुम्हीं थोड़े ही परमात्मा को तलाश रहे हो, परमात्मा भी तुम्हें तलाश रहा है। अगर तुम्हीं तलाश रहे होते तो खोजना मुश्किल था। अगर वह छिप रहा होता तो खोजना मुश्किल था। कैसे तुम तलाशते? कुछ पता-ठिकाना भी तो नहीं उसका। वह भी तुम्हें तलाश रहा है। उसके भी अदृश्य हाथ तुम्हारे आसपास आते हैं, मगर तुम्हें मौजूद ही नहीं पाते। तुम कुछ और ही खोज में निकल गए हो।

दो मित्र एक सुबह मिले। एक ने कहा, रात मैंने सपना देखा कि गांव में जो प्रदर्शनी, नुमाइश लगी है, मैं उसे देखने गया हूं। बड़ा मजा आया सपने में, नुमाइश गया हूं देखने, बड़ा मजा आया। दूसरे ने कहा: अरे इसमें क्या रखा है, रात मैंने सपना देखा कि हेमामालिनी और मैं दोनों एक नाव पर सवार, पूर्णिमा की रात--शरदपूर्णिमा!

मित्र जरा उदास हो गया। उसने कहा कि अरे, तो तुमने मुझे क्यों नहीं बुलाया?

तो उसने कहा, मैं गया था, तुम्हारी मां ने कहा कि वह तो नुमाइश में गया है।

परमात्मा तुम्हारे पास आता है, लेकिन तुम कहीं और हो, तुम कभी घर मिलते नहीं, तुम कोई और सपना देख रहे हो, तुम किसी नुमाइश में गए हो, तुम किसी मेले में भटक रहे हो। तुम वहां तो होते ही नहीं जहां तुम दिखाई पड़ते हो। और परमात्मा अभी तक नहीं समझ पाया और कभी नहीं समझ पाएगा, क्योंकि परमात्मा तो वहीं होता है जहां दिखाई पड़ता है। वह अभी भी नहीं समझ पाया कि यह असंभव कैसे घट रहा है, कि आदमी जहां दिखाई पड़ता है वहां होता नहीं! वह तुम्हें वहीं खोजता है--अपने सीधे सरलपन में, जहां तुम दिखाई पड़ते हो; लेकिन वहां तुम होते नहीं। बैठे पूना में हो सकते हो, और होओ दिल्ली में। हो सकते हो कि बैठे दफ्तर के बाहर एक छोटे से मूढ़े पर-- चपरासी--और सोच रहे हो कि राष्ट्रपति हो गए हो।

तो जो तुम सोच रहे हो, वहीं तुम्हारा होना है। यहां तो देह बैठी है मुर्दे की भांति; लेकिन परमात्मा यहीं खोजेगा। और तुम्हारा मन याचनाओं के जाल में भागा हुआ है--भविष्य में। न मालूम कहां-कहां पर मारते हो तुम! जिस दिन तुम कुछ न मांगोगे, उस दिन एक क्रांति घटती है; उस दिन तुम अपने घर होते हो। जब मांग ही नहीं रही तो कहीं जाना न रहा। मांग ले जाती है, दूर-दूर भटकाती है--चांदत्तारों में, भविष्य में, स्वर्ग-नरकों में।

मांग के, याचना के कारण ही समय पैदा होता है। मैं जब कहता हूं मांग के कारण समय पैदा होता है, तो तुम घड़ी के समय की मत सोचना। घड़ी का समय तो अलग बात है; लेकिन तुम्हारे अंतस-जगत में जो समय है, जो काल की घटना घटती है, वह याचना के कारण घटती है। तुम मांगते हो, इसलिए भविष्य पैदा होता है। अगर तुम मांगो न तो कैसा भविष्य? अगर तुम कल के संबंध में न सोचो तो कैसा कल? तो फिर सिर्फ आज है; आज भी कहना ठीक नहीं--"अभी" है--यही क्षण! बस एक क्षण ही सदा है--यही क्षण! यही शाश्वत है।

अयाचित मिलता है परमात्मा। क्योंकि जब तुम याचना नहीं करते, समय मिट जाता है, समय में भटकने के सपने मिट जाते हैं। जब तुम याचना नहीं करते, तब तुम ठीक वहां होते हो जहां तुम हो; तुम अपने केंद्र पर होते हो। वहीं परमात्मा का हाथ तुम्हें खोज सकता है और कहीं नहीं खोज सकता।

इसलिए अष्टावक्र ने कहा: जो जैसा है, उसे वैसा ही जान लेना। जो प्राप्त है, उस प्राप्त में संतुष्ट हो जाना। तो फिर तुम वहीं रहोगे, जहां तुम हो। जो प्राप्त है, उसमें संतुष्ट; और जो जैसा है उसका वैसा ही स्वीकार; न सुख की आकांक्षा, न दुख से बचने का उपाय; सुख है तो सुख है, दुख है तो दुख है--तुम साक्षी-मात्र! इस घड़ी में अयाचित स्वर्ग का राज्य तुम पर बरस उठता है। तुम थोड़े ही स्वर्ग के राज्य में जाते हो; स्वर्ग का राज्य तुम पर बरस जाता है।

"अयाचित गुरु-प्रसाद के रूप में मिल गया।"

और गुरु तो केवल द्वार है अगर तुम गुरु के पास झुके तो तुम द्वार के पास झुके। गुरु कोई व्यक्ति नहीं है और गुरु को भूल कर भी व्यक्ति की तरह सोचना मत; अन्यथा, गुरु को तुमने व्यक्ति सोचा कि दीवाल बना लिया।

गुरु व्यक्ति नहीं है। गुरु तो एक घटना है, एक अपूर्व घटना है! उसके पास झुक कर अगर तुमने देखा तो तुम गुरु के आर-पार देख पाओगे। गुरु है ही नहीं--नहीं है, इसीलिए गुरु है। उसके न होने में ही उसका सारा राज है। तुम अगर गुरु में गौर से देखोगे तो तुम पाओगे पारदर्शी है। जैसे कांच के आरपार दिखाई पड़ता है। शुद्ध कांच! पता भी नहीं चलता कि बीच में कुछ है--ऐसा गुरु है पारदर्शी व्यक्तित्व। ठोस नहीं है उसके भीतर कुछ भी।

अगर तुमने गुरु में गौर से देखा...और गौर से तो तुम तभी देखोगे जब तुम्हारे भीतर प्रेम और समर्पण होगा, श्रद्धा होगी, भरोसा होगा--तो तुम आंखें गड़ा कर गौर से देखोगे, तुम गुरु पर ध्यान करोगे।

तुमने सुनी है गुरु पर ध्यान करने की बात, लेकिन अर्थ शायद तुमने कभी न समझा हो। गुरु पर ध्यान करने का मतलब होता है कि अपने गुरु का नाम जपो?--नहीं। गुरु पर ध्यान करने का मतलब यह नहीं होता कि गुरु का फोटो रख लो और उसको देखो। नहीं, गुरु पर ध्यान करने का अर्थ होता है: गुरु को देखो--और देखो उसके न होने को कि वह है नहीं। देखो उसके भीतर जो शून्य घना हो कर उपस्थित हुआ है; जो अनुपस्थिति उपस्थित हुई है, उसे देखो! और उस देखने में, देखने में से, अचानक तुम्हें परमात्मा की झलक मिलनी शुरू हो जाएगी। गुरु द्वार है।

जीसस ने कहा है: "मैं हूं द्वार! मैं हूं मार्ग!" ठीक कहा है। जिनसे कहा था, वे शिष्य थे; उनके लिए ही कहा था।

जो भी तुम्हें गुरु जैसा लगे, जो तुम्हारे मन को भा जाए, फिर उस पर ध्यान करने लगना। इस ध्यान की प्रक्रिया को हम सत्संग कहते रहे हैं। सत्संग का अर्थ होता है: गुरु के पास बैठ जाना और चुपचाप बैठे रहना; देखना; झांकना; अपने को शांत करके, विचार-शून्य करके, खाली करके गुरु की मौजूदगी का आनंद लेना, स्वाद लेना! गुरु का स्वाद--सत्संग--धीरे-धीरे चखना! धीरे-धीरे गुरु की मधुरिमा तुममें व्याप्त होती जाए! धीरे-धीरे गुरु तुम्हारे भीतर उठने लगे, तुम्हारे कंठ से तुम्हारे हृदय में जाने लगे!

एक मुसलमान फकीर बायजीद एक मरघट से निकलता था। अचानक उसे ऐसा भास हुआ कि कोई उससे कहता है हृदय के अंतरतम से कि रुक जा! इस मरघट में कुछ होने को है। तो उसने और मित्रों को विदा कर दिया। मित्रों ने कहा भी कि यह मरघट है, यह कोई रुकने की जगह नहीं, रात तकलीफ में पड़ जाओगे, भूत-प्रेत होते हैं। उसने कहा कि भीतर मुझे कुछ कहता है, रुक जा! आप लोग जाएं।

वे तो वैसे भी नहीं रुकना चाहते थे, मरघट में कौन रुकना चाहता था! लेकिन अकेला बायजीद रुक गया। फिर भीतर से उसको आवाज हुई कि इसके पहले कि सूरज ढल जाए, तू बहुत सी खोपड़ियां इकट्ठी कर ले। थोड़ा भयभीत भी हुआ कि यह मामला क्या है! यह कोई भूत-प्रेत तो नहीं, जो मुझे इस तरह के सुझाव दे रहा है! लेकिन उसने कहा, मेरा अगर परमात्मा पर भरोसा है तो वह जाने।

उसने कुछ खोपड़ियां इकट्ठी कर लीं। जब वह खोपड़ियां इकट्ठी कर रहा था तो भीतर से आवाज हुई: एक-एक खोपड़ी को गौर से देख। तो उसने कहा, खोपड़ी में गौर से देखने को क्या है? सभी खोपड़ियां एक जैसी

होती हैं। फिर भी आवाज हुई कि कोई खोपड़ी एक जैसी नहीं होती। दो आदमी एक जैसे नहीं होते तो दो खोपड़ियां कैसे एक जैसी हो सकती हैं? देख, गौर से देख!

उसने एक-एक खोपड़ी को गौर से देखा, वह बड़ा चकित हुआ। कुछ खोपड़ियां थीं, जिनके दोनों कान के बीच में दीवाल थी--तो एक कान में कुछ पड़े तो दूसरे कान तक नहीं पहुंचे। कुछ खोपड़ियां थीं, जिनके दोनों कान के बीच में सुरंग थी--एक कान में पहुंचे तो दूसरे कान तक पहुंच जाए। और कुछ खोपड़ियां थीं, जिनमें न केवल दोनों कानों के बीच में सुरंग थी, बल्कि उस सुरंग के मध्य से एक और सुरंग आती थी जो हृदय तक चली गई थी, जो नीचे कंठ में उतर गई थी। वह बड़ा हैरान हुआ। उसने कहा, हम तो सोचते थे सभी खोपड़ियां एक जैसी होती हैं। हे प्रभु! अब इसका अर्थ और बता दो!

तो उसने कहा, पहली खोपड़ियां उन लोगों की हैं, जो सुनते मालूम पड़ते थे, लेकिन जिन्होंने कभी सुना नहीं। दूसरी खोपड़ियां उन लोगों की हैं, जो सुनते थे, लेकिन दूसरे कान से निकाल देते थे--जिन्होंने कभी गुना नहीं। और तीसरी खोपड़ियां उन लोगों की हैं, जिन्होंने सुना और जो हृदय में पी गए। ये तीसरी खोपड़ियां सत्संगियों की हैं।

जब मैंने बायजीद के जीवन में यह उल्लेख पढ़ा तो बड़ा प्यारा लगा: तीसरी खोपड़ियां सत्संगियों की हैं! ये समादर योग्य हैं!

सत्संग का अर्थ होता है: गुरु के पास। अगर बोले गुरु तो उसके शब्द सुनना; अगर न बोले तो उसका मौन सुनना। कुछ करने को कहे तो कर देना; कुछ न करने को कहे तो न करना। गुरु के पास होना। इस पास होने को अपने भीतर उतरने देना। वह जो गुरु की तरंग है, उस तरंग के साथ तरंगित होना। वह जो गुरु की भाव-दशा है, थोड़े-थोड़े उसके साथ उड़ना।

तुमने देखा, छोटे-छोटे पक्षियों को उनके मां-बाप अपने साथ उड़ाते हैं! उनके पंख अभी कमजोर हैं, लेकिन मां-बाप साथ जा रहे हैं तो वे भी हिम्मत करते हैं। थोड़ी दूर जाते हैं, फिर थक कर लौट आते। फिर दूसरे दिन और थोड़ी दूर जाते, फिर थक कर लौट आते। फिर तीसरे दिन और थोड़ी दूर जाते। एक दिन, दूर सारा आकाश उनका अपना हो जाता है। फिर मां-बाप के साथ जाने की जरूरत भी नहीं होती, फिर वे अकेले जाने लगते हैं।

ऐसा ही है परमात्मा का अनुभव। गुरु के साथ थोड़ा-थोड़ा उड़ कर तुम्हारे पंख मजबूत हो जाएं। थोड़ा-थोड़ा जाते-जाते, तुम्हारी हिम्मत बढ़ती जाएगी। श्रद्धा, स्वयं पर भरोसा पैदा होगा। एक दिन गुरु की कोई जरूरत न रह जाएगी--तुम्हारे भीतर का गुरु जग गया! बाहर का गुरु तो भीतर के गुरु को जगाने का एक उपाय मात्र है।

"जन्मों-जन्मों से जिसकी मुझे खोज थी, वह प्रेम और आनंद मुझे अयाचित गुरु-प्रसाद के रूप में मिल गया।"

अगर तुम याचना-शून्य हो तो मिलेगा। अगर तुम गुरु के पास हो तो प्रसाद बरसेगा। पास होने से ही बरसता है; कुछ करने की बहुत बात नहीं है। कोई पहुंच गया, उसकी मौजूदगी में तुम्हारा जीवन भी उस धारा में बहने लगता है। कोई पहुंच गया है, उसके साथ-साथ तुम भी उठने लगते हो आकाश की तरफ; गुरुत्वाकर्षण का वजन तुम पर कम होने लगता है। कोई उड़ चुका! किसी ने जान लिया कि उड़ने की घटना होती है, घटती है! किसी का सारा आकाश अपना हो गया! उसकी मौजूदगी में तुम भी अपने पंख धीरे-धीरे फड़फड़ाने लगते हो। बस इतना ही।

"मैं तो इसका पात्र भी नहीं था।"

जब भी यह घटना घटेगी, तो निश्चित यह भी अनुभव में आएगा कि मैं इसका पात्र नहीं था। क्योंकि परमात्मा इतनी बड़ी घटना है कि कोई भी उसका पात्र नहीं हो सकता। जो कहे कि मैं पात्र था, उसे तो

परमात्मा घटता ही नहीं। अपात्र को घटता नहीं, क्योंकि अपात्र तैयार नहीं। सुपात्र को घटता है, लेकिन तभी, जब सुपात्र कहता है: मैं बिलकुल अपात्र हूं। यह विरोधाभास देखते हो! अपात्र को घटता नहीं; क्योंकि उसका पात्र तैयार नहीं, फूटा है, जगह-जगह से टूटा है; अगर ठीक भी है, तो उल्टा रखा है। बरसते रहो लाख उस पर, सब बह जाएगा, उसमें न भरेगा। या, सीधा भी रखा है तो ढक्कन बंद है। उसका ढक्कन भीतर न जाने देगा; खुला नहीं है; कुछ भीतर लेने को राजी नहीं है।

अपात्र को तो कभी परमात्मा नहीं घटता; सुपात्र को घटता है। सुपात्र का अर्थ है, जिसमें छिद्र नहीं! सुपात्र का अर्थ है, जो उल्टा नहीं रखा। सुपात्र का अर्थ है, जो सीधा रखा है। सुपात्र का अर्थ है, जिसका ढक्कन खुला है, ढक्कन बंद नहीं। बस, यही तो शिष्यत्व है। लेकिन, सुपात्र का एक अनिवार्य अंग है: यह भाव कि मैं बिलकुल अपात्र हूं। मैं इतना छोटा-सा पात्र, इतनी बड़ी घटना मुझमें घटेगी कैसे! तुम सीधे भला रखे रहो, ढक्कन खोल कर रखे रहो, छिद्र भी नहीं है, तो भी इतनी बड़ी घटना मुझमें घट सकती है--यह कभी भरोसा नहीं आता। जब घट जाता है, तब भी भरोसा नहीं आता।

सूफी फकीर कहते हैं कि संसार से परमात्मा को जोड़ने वाला जो सेतु है, उसके इस पार खड़े हो कर भरोसा नहीं आता कि यह सेतु दूसरी पार जाता होगा, क्योंकि दूसरा पार दिखाई ही नहीं पड़ता। यह सेतु कहीं रास्ते में ही त्रिशंकु की तरह अटका तो नहीं देगा? क्योंकि दूसरा किनारा तो दिखाई ही नहीं पड़ता है।

और जब कोई उस सेतु पर चढ़ कर दूसरे किनारे पर पहुंच जाता है, तब भी यह भरोसा नहीं आता। क्योंकि अब पहला किनारा दिखाई नहीं पड़ता। अब शक-सुबहा होने लगता है कि पहला किनारा था भी! घटना इतनी बड़ी है--इस तरफ से भी समझ में नहीं आती, उस तरफ से भी समझ में नहीं आती। घटना इतनी बड़ी है! समझ से बड़ी है, इसलिए समझ में नहीं आती। पात्र छोटा है; जो प्रसाद बरसता है, वह बहुत बड़ा है। पात्र की सीमा है; प्रसाद है असीम, अनिर्वचनीय, अव्याख्य।

इसलिए सुपात्र की अनिवार्य शर्त है इस बात का बोध कि मैं तो अपात्र हूं। जो दावेदार बना, वह परमात्मा से चूका। जिसने कहा मुझे मिलना चाहिए--क्योंकि देखो कितनी मैंने की तपश्चर्या, कितने उपवास, कितने व्रत, कितने नियम, कितने अनुशासन, कितना ध्यान, कितनी नमाज, कितनी प्रार्थना; मुझे मिलना चाहिए; यह मेरा हिसाब है; मेरे साथ अन्याय हो रहा है; यह देखो तो मैंने क्या-क्या किया--वह चूक जाएगा। उसके इस दावे में ही चूक जाएगा, क्योंकि दावा क्षुद्र का है।

तुमने कितने बार सिर झुकाया, इससे क्या लेना-देना? परमात्मा के मिलने से क्या संगति है कि तुमने नमाज में बहुत सिर झुकाया? कवायद हो गई होगी तो उसका तुम्हें लाभ भी मिल गया होगा! कि तुमने योगासन किए, तो ठीक, तुम थोड़े ज्यादा दिन जिंदा रह लिए होओगे! कि तुमने प्रार्थना की तो प्रार्थना का मजा ले लिया होगा। प्रार्थना का संगीत है, उसमें थोड़ी देर तुम प्रफुल्लित हो लिए होओगे। और क्या चाहिए? तुमने जो किया, उससे कुछ दावा नहीं बनता। इसलिए जो दावेदार हैं, वे चूक जाते हैं। यहां तो गैर-दावेदार पाते हैं।

तो तुम पथ के दावेदार मत बनना। तुम यह तो कहना ही मत कभी भूल कर कि अब मुझे मिलना चाहिए; जो मैं कर सकता था, कर चुका। वही बाधा हो जाएगी--वह भाव! तुम तो यही जानना कि मेरे किए क्या होगा! करता हूं, क्योंकि बिना किए नहीं रहा जाता। कुछ करता हूं, लेकिन मेरे किए होना क्या है! मेरे हाथ छोटे हैं; जो पाना है, बहुत विराट है! मेरी मुट्ठी में कैसे समाएगा?

मैंने सुना है, एक कवि हिमालय की यात्रा को गया। उसने पहाड़ों से उतरते ग्लेशियर, उनकी सरकती हुई मरमर ध्वनि सुनी। वह अपनी प्रेयसी के लिए एक बोतल में ग्लेशियर का जल भर लाया। घर आ कर जब बोतल से जल उंडेला तो घुप्प-घुप्प, इसके सिवा कुछ आवाज न हुई। उसने कहा, यह मामला क्या है? क्योंकि जब मैंने

ग्लेशियर में देखा था उतरती पहाड़ से जलधार, बहती जलधार में बर्फ की चट्टानें, तो ऐसा मधुर रव था--वह कहां गया?

तुम कोशिश करके देख सकते हो। गए समुद्र के तट पर, देखीं समुद्र की उत्तुंग लहरें, टकरातीं चट्टानों से, करतीं शोरगुल, देखा उनका नृत्य, आह्लादित हुए--भर लाए एक बोतल में थोड़ा-सा सागर। घर आ कर उंडेला--घुप्प-घुप्प! वे सारी तूफानी आवाजें, सागर का वह विराट रूप, वह तांडव-नृत्य--कुछ भी नहीं, घुप्प-घुप्प--सब खो जाता है।

हमारी बोतलें बड़ी छोटी हैं! परमात्मा का सागर सभी सागरों से बड़ा है। हमारी समझ बड़ी छोटी है। हम इस समझ में न तो अनंत सौंदर्य भर पाते, न अनंत सत्य भर पाते, न अनंत जीवन भर पाते। इसलिए दावेदार मत बनना।

यह लक्षण है शिष्य का कि वह जानता रहे कि मैं तो इसका पात्र ही नहीं--और तुम पात्र हो जाओगे। जानते-जानते कि मैं पात्र नहीं--पात्रता बड़ी होगी। तुम जिस दिन कहोगे, मैं बिलकुल अपात्र हूं--उसी क्षण घटना घट जाएगी; उसी क्षण सब तुम्हारे भीतर उतर आएगा। तुम्हारे "न होने" में सब है! तुम्हारे "होने" में सब अटका है।

"जो संपदा आपने मुझे दी, उसको मैं बांटना चाहता हूं। कृपापूर्वक निर्देश और आशीष दें!"

चाह मत लाओ बीच में। बांटना चाहते हो तो गड़बड़ हो जाएगी। बंटेगी। तुम प्रतीक्षा करो। जब तुम खूब भर जाओगे तो ऊपर से बहेगी। जल्दी मत करना, क्योंकि बांटने की अगर चेष्टा की तो उसी चेष्टा में तुम्हारा अहंकार फिर से खड़ा हो सकता है। और उसी चेष्टा में, जो ज्ञान की तरह बन रहा था, वह जानकारी की तरह मर जा सकता है। तुम चेष्टा मत करना, तुम प्रतीक्षा करो। जैसे अयाचित घटना घटी है, ऐसे ही अयाचित तुमसे बंटनी भी शुरू हो जाएगी। क्या होगा? एक पात्र रखा है, वर्षा का जल गिर रहा है, भर गया, भर गया, भर गया--क्या होगा फिर? फिर पात्र के ऊपर से जलधार बहेगी। बड़ी से बड़ी झीलें भर जाती हैं तो उनके ऊपर से जलधार बहने लगती है। नदियां भर जाती हैं तो बाढ़ आ जाती है।

जब तुम्हारे भीतर इतना भर जाएगा कि तुम न संभाल सकोगे, तब अपने से बहेगा। बस, उसकी प्रतीक्षा करो। और कोई निर्देश मैं न दूंगा, क्योंकि तुमने कोई भी चेष्टा की तो खराब कर लोगे। तुम्हारी चेष्टा विकृति लाएगी। तुम तो कहो: जब तुझे बंटना हो, बंट जाना! फिर जब बंटने लगे तो तुम रोकना मत। तुम अपने को बीच से हटा लो--न तुम बांटना, न तुम रोकना।

दो तरह के लोग हैं। कुछ हैं, जब जिनके जीवन में थोड़ी-सी किरण आती है, तो वे तत्क्षण उत्सुक होते हैं कि बांट दें। स्वाभाविक है। क्योंकि जो इतना प्रीतिपूर्ण हमें घटता है, हम चाहते हैं हमारे प्रियजनों को भी मिल जाए। यह बिलकुल मानवीय है। पति को मिला तो सोचता है पत्नी को कह दे। पत्नी को मिला तो सोचती है पति को कह दे। किसी को मिला तो सोचता है जाऊं, अपने मित्रों को खबर दे दूं कि तुम कहां भटक रहे हो? मिल सकता है, मिला है! मैं स्वाद ले कर आ रहा हूं। अब यह मैं कोई धारणा की बात नहीं कर रहा हूं, अनुभव की कह रहा हूं!

तो तुम्हारा मन होता है कि तुम कह दो जा कर। मगर गलती में पड़ जाओगे। तुमने अगर चेष्टा करके कहा, तो तुम अभी पूरे न भरे थे। और घड़ा जब तक पूरा नहीं भरता, तब तक शोरगुल करता है। जब भर जाता है, तब मौन से बहता है। मौन से ही जाने देना इस बात को। और ध्यान रखना, तुमने अगर शोरगुल किया तो अड़चन होगी।

एक बात खयाल में लो, अगर पति को मिल गई कोई बात, ध्यान की थोड़ी-सी संपदा मिली, स्वाभाविक है कि चाहे कि अपनी पत्नी को दे दे। और क्षुद्र संपदाएं भी पत्नी को दी थीं, इसके मुकाबले तो क्या भेंट होगी! सोचता है अपनी पत्नी को दे दे। लेकिन अगर चेष्टा की, कि अड़चन हो जाएगी। तुम्हारी चेष्टा के कारण ही पत्नी

सुरक्षा करने लगेगी, तुम पर भरोसा न करेगी। हीरे-जवाहरात तुम ले आते हो, तो वे मान लेती हैं, क्योंकि वे प्रत्यक्ष दिखाई पड़ते हैं; यह ध्यान तो तुम्हीं को अनुभव होता है, उसे तो दिखाई नहीं पड़ता। वह कहेगी: "दिमाग खराब हो गया, होश में तो हैं? किस जाल में पड़ गए हैं?"

और पत्नियां बड़ी व्यावहारिक हैं, बड़ी पार्थिव हैं, भूमि में उनकी जड़ें हैं। आदमी तो थोड़ा आकाश में भी उड़े; उनकी भूमि में जड़ें हैं, बिलकुल व्यावहारिक हैं। वे कहेंगी: "किस नासमझी में पड़े हो? अरे, बाल-बच्चों की फिक्र करो। कहां का ध्यान? अभी धन पास नहीं है, तुम ध्यान में लग गए? और अभी तो तुम जवान हो। यह क्या झंझट कर रहे हो?" पत्नी और उपद्रव खड़े कर देगी अगर तुमने कहा। क्योंकि पत्नी को लगेगा, तुम तो उसके हाथ के बाहर होने लगे।

पत्नी ऐसी कोई भी चीज बर्दाश्त नहीं कर सकती, जो तुम्हें मिल गई है और जिसमें वह भागीदार नहीं हो सकती। कोई चीज प्राइवेट, निजी तुम्हें मिल गई है, जिसको तुम भागीदार नहीं बना सकते पत्नी को--पत्नी बर्दाश्त नहीं करेगी। पहले तो वह यही सिद्ध करेगी कि तुम्हें मिली नहीं, तुम भ्रम में पड़ गए हो। कहां मिलता? किसको मिलता? किस नासमझी में पड़े हो, किसी के सम्मोहन में आ गए? छोड़ो ये बातें, दिमाग खराब हो जाएगा।

वह तुम्हें खींचने की कोशिश करने लगेगी। जब तक तुम आते थे ध्यान करने, शांति की तलाश में, वह शायद राजी भी थी। अगर तुम मस्त होने लगे...मस्ती उसने मांगी भी न थी। पत्नी चाहती थी, पति थोड़ा शांत हो जाए, छोटी-छोटी बातों में झल्लाए न, नाराज न हो; पत्नी की आकांक्षा यह नहीं थी कि तुम आत्मा-परमात्मा को जान लो। वह इतना ही जानती थी कि एक सज्जन पति हो जाओ--बस, पर्याप्त है! अब तुम कहने लगे, तुम्हें ध्यान घटा! अब तुम गुनगुनाने लगे, तुम डोलने लगे! अब पत्नी घबड़ाई कि यह जरा ज्यादा हो गया।

मैंने सुना है कि एक युवती किसी व्यक्ति के प्रेम में थी। युवती थी कैथोलिक ईसाई और जिसके वह प्रेम में पड़ी थी, वह था प्रोटेस्टेंट ईसाई। तो युवती की मां ने कहा, यह विवाह हो नहीं सकता; हमारे धर्म भिन्न-भिन्न, हमारा संप्रदाय भिन्न-भिन्न। लेकिन लड़की बहुत दीवानी थी तो मां ने कहा: एक ही रास्ता है यह विवाह करने का कि वह लड़का कैथोलिक होने को राजी हो जाए। पहले तू यह कोशिश कर।

तो लड़की कोशिश करने लगी। लड़का भी प्रेम में था। और रोज-रोज आ कर मां को खबर देने लगी कि सब ठीक चल रहा है, धीरे-धीरे वह झुक रहा है।

एक दिन आ कर खबर दी कि आज तो चर्च भी गया था। एक दिन आ कर खबर दी कि अब तो वह कैथोलिक धर्म में विश्वास भी करने लगा है। ऐसे महीने बीते। एक दिन रोती हुई घर आई। मां ने पूछा, क्या हुआ? सब तो ठीक चल रहा था!

उसने कहा, जरूरत से ज्यादा हो गया। वह अब कैथोलिक पादरी होना चाहता है। अब वह विवाह करना ही नहीं चाहता, वह ब्रह्मचर्य...! तो कैथोलिक पादरी तो ब्रह्मचारी होते हैं। मैंने जरा जरूरत से ज्यादा कर दिया।

पत्नी ने ही, हो सकता है, तुम्हें ध्यान करने भेजा हो, लेकिन संन्यास लेने नहीं भेजा था। यह जरा ज्यादा हो गया। तुम तो कैथोलिक पादरी होने की तैयारी करने लगे। हो सकता है पति ने ही पत्नी को भेजा हो, क्योंकि कौन पति अपनी पत्नी से परेशान नहीं है! वह कहता है कि जा, चल चल अब ध्यान ही सीख ले--कुछ तो कलह बंद हो, कुछ तो घर में शांति रहे। मगर पति ने यह नहीं चाहा था कि तुम संन्यासी हो जाओ, कि पत्नी ध्यान में मस्त होने लगे, कि लोक-लाज खो कर मीरा की तरह नाचने लगे--यह नहीं चाहा था। यह तो मीरा के घर वालों को भी पसंद नहीं पड़ा था, इसलिए तो जहर का प्याला भेज दिया था।

जल्दी मत करना, नहीं तो दूसरा बाधा डालने लगेगा। जब तुम्हारे भीतर कुछ पैदा होने लगे तो संभालना, छिपाना। कबीर ने कहा है: "हीरा पायो गांठ गठियायो!" जल्दी से गांठ लगा लेना, किसी को पता भी

न चले! नहीं तो चोर बहुत हैं, बेईमान बहुत हैं, बाधा डालने वाले बहुत हैं औरर् ईष्यालु बहुत हैं! और ऐसा तो कोई भी मानने को राजी नहीं होगा कि तुमको ध्यान हो गया। क्योंकि इससे तो लोगों के अहंकार को चोट लगती है।

जब भी तुम कहोगे मुझे ध्यान हो गया, कोई नहीं मानने वाला है। क्योंकि उनको नहीं हुआ, तुम्हें कैसे हो सकता है! उनसे पहले, तुम्हें हो सकता है? कोई यह बात मानने को राजी नहीं। इसलिए जब भी तुम भीतर की संपदा की घोषणा करोगे, सब इंकार करेंगे।

वहां "चमनलाल" बैठे हुए हैं। वे कल ही मुझसे कह रहे थे कि बड़ी मुश्किल हो गई है, बड़ी घबड़ाहट होती है। दो-तीन महीने में आपके पास आने का मन होने लगता है, लेकिन सारा परिवार बाधा डालता है। पत्नी बाधा डालती, बेटे बाधा डालते, बेटियां बाधा डालतीं, पड़ोसी तक समझाते कि मत जाओ, कहां जा रहे हो? कहते थे कि अभी भी आया हूं बामुश्किल, तो भी बेटा साथ आया है कि देखें कि मामला क्या है? कहां जाते हो बार-बार? हुलिया खराब कर लिया, गेरुए वस्त्र पहन लिए--अब बहुत हो गया, अब घर में बैठो, अब कहीं और आगे न बढ़ जाना!

अब उनका रस लग रहा है, अब उनका ध्यान जग रहा है, कुछ घट रहा है! निश्चित घट रहा है! उनके भीतर जो घट रहा है, उसे मैं देख पाता हूं। जन्म हो रहा है किसी अनुभव का। लेकिन अब सब बाधा डालने को उत्सुक हैं, क्योंकि इतनी सीमा के बाहर कोई भी जाने नहीं देना चाहता।

पत्नी समझाती है कि घर में ही रहो, यहीं ध्यान इत्यादि कर लो, वहां जाने की जरूरत क्या है? लेकिन जहां से मिलता हो, वहां आने की बार-बार आकांक्षा पैदा होती है--स्वाभाविक है। दो-चार महीने में लगने लगता है कि फिर उस रंग में थोड़ा डूब लें, फिर थोड़े उस संगीत में नहा लें, फिर थोड़ा वहां हो आएं तो फिर ताजगी हो जाए, फिर ऊर्जा आ जाए, फिर जीवन गतिमान होने लगे! नहीं तो जीवन में पठार आ जाते हैं।

तुम कहना ही मत; मिल जाए तो चुपचाप रख लो संभाल कर। जब बहने की घड़ी आएगी, तब अपने से बहेगा। और तब कोई भी बाधा न डाल सकेगा। लेकिन उसके पहले तो बाधा डल सकती है, उसके पहले तो अड़चन आ सकती है।

तो अभी जो हो रहा है उसे सम्हालो। तुम प्रतीक्षा करो। जब परमात्मा पाएगा कि अब घड़ी आ गई कि तुमसे दूसरों में भी बहा जा सकता है, तब अपने-आप मार्ग खोज लेगा। न तो तुम्हें मेरे निर्देश की जरूरत है, न मार्ग-दर्शन की। परमात्मा तुमसे मार्ग खोज लेगा, जब पाएगा कि तुम तैयार हो गए। जब फल पक जाते हैं तो गिर जाते हैं। जब बादल जल से भर जाते हैं तो बरस जाते हैं। उसके पहले मार्ग-दर्शन की जरूरत है।

इसलिए मैं मार्ग-दर्शन देता भी नहीं। मैं कहता हूं कि उसी के हाथ में छोड़ो। तुम भरते जाओ, अपने अंतस्तल को भरते जाओ, भरते जाओ--और छिपाए रखो! अपनी तरफ से चेष्टा मत करना बांटने की। आकांक्षा पैदा होगी, मगर उस आकांक्षा में पड़ना मत। और जिस दिन बंटने लगे, उस दिन दूसरा खतरा पैदा होता है। फिर रोकने की चेष्टा मत करना। जब अपने से बंटने लगे, तो बंटने देना। नहीं तो धीरे-धीरे, सम्हाले-सम्हाले, रत्न को गांठ में गठियाये-गठियाये गांठ पड़ने की आदत मत बांध लेना कि अब कैसे खोलें! नहीं, जब बंटना चाहे तो बंटने देना।

तुम प्रभु की मर्जी से जीयो! उससे कहो: जो तेरी मर्जी! तेरी मर्जी पूरी हो! तू चाहता हो हम छुपे रहें तो हम छुपे रहेंगे! तू चाहता हो हमारी किसी को खबर न हो तो हम किसी को खबर न होने देंगे! तू चाहता हो हम ऐसे ही तेरे को भीतर सम्हाले-सम्हाले जीएं और विदा हो जाएं, तो हम ऐसे ही विदा हो जाएंगे! तू चाहता हो कि गाएं, तू चाहता हो कि घरों के छप्पर पर चढ़ें और चिल्लाएं और सोयों को जगाएं, तो हम राजी हैं।

मगर अपनी तरफ से तुम कुछ करना ही मत। तुम्हारी तरफ से जो होता है, सब गलत ही होता है। तुम बीच से हट जाओ--तुम उसे मार्ग दो!

चौथा प्रश्न: आप कभी कहते हैं कि व्यक्ति नहीं, समष्टि ही है; एक पत्ता भी उसकी मर्जी के बिना नहीं डोलता। और कभी कहते हैं कि व्यक्ति की स्वतंत्रता इतनी पूरी है कि परमात्मा के लिए वहां जगह कहां? ऐसी ध्रुवीय विपरीतताओं के बीच हम बड़ी उलझन में पड़ जाते हैं। सत्य तो एक ही होना चाहिए। कृपापूर्वक हमें समझाएं।

सत्य तो एक ही है। लेकिन सत्य के दो पहलू हैं--एक इस किनारे से देखा गया और एक उस किनारे से देखा गया। सत्य के दो पहलू हैं--एक मूर्च्छा में मिली हुई झलक और एक परम जागृति में हुआ अनुभव।

इसलिए सत्य की दो व्याख्याएं हैं; सत्य तो एक ही है। एक उस समय की व्याख्या है, जैसे मैं तुमसे कह रहा हूं। जो मैं तुमसे कह रहा हूं, वह तुम्हारे लिए अभी सत्य नहीं है। और जो मेरा सत्य है, अगर तुम अपना सत्य मान लो, तो तुम भ्रांति में पड़ जाओगे। मेरा सत्य तुम्हारा सत्य नहीं है। तो मैं तुमसे दोनों बातें कहता हूं। मैं तुमसे पहले तुम्हारा सत्य कहता हूं, क्योंकि वहीं से तुम्हें यात्रा करनी है। और फिर मैं तुमसे अपना सत्य कहता हूं कि वहां तुम्हें पहुंचना है।

अब समझो।

"आप कभी कहते हैं व्यक्ति नहीं, समष्टि ही है; एक पत्ता भी उसकी मर्जी के बिना नहीं डोलता।"

यह मैं कहता हूं--तुम्हारे कारण; तुम्हारी जगह से खड़े हो कर; तुम्हारे जूतों में खड़े हो कर कहता हूं कि उसकी बिना मर्जी के एक पत्ता भी नहीं हिलता। मैं चाहता हूं ताकि तुम अपने अहंकार को हटा दो, उसकी मर्जी से हिलने लगो--उसके पत्ते हो जाओ! उसकी हवाएं हिलाएं तो हिलो; उसकी हवाएं न हिलाएं तो न हिलो।

अभी देखते हैं, हवा नहीं है तो वृक्ष खड़े हैं! पत्ता भी नहीं हिलता। कोई परेशान नहीं हैं। कोई शिकायत नहीं कर रहे हैं कि हम हिल क्यों नहीं रहे हैं? हवा आएगी तो हिलेंगे; हवा नहीं आती तो मौन खड़े हैं, सन्नाटे में खड़े हैं--ध्यानस्थ, योगियों की भांति। अभी हवा आएगी तो नाचेंगे भक्तों की भांति। यह मैं तुम्हारी तरफ से कहता हूं कि उसकी मर्जी के बिना पत्ता नहीं हिलता। क्योंकि सच तो यह है कि हर पत्ते में वही है, इसलिए उसकी बिना मर्जी के हिल भी कैसे सकता है? यह मैं तुम्हारे लिए कह रहा हूं, ताकि तुम अपनी मर्जी छोड़ो और उसकी मर्जी की तरफ झुको। यह मैं तुमसे कह रहा हूं, ताकि तुम व्यक्ति को विसर्जित करो और समष्टि में जगो; तुम क्षुद्र को छोड़ो और विराट की तरफ चलो; तुम लड़ो मत, समर्पण करो--इसलिए।

अगर तुमने मेरी बात समझ ली और तुम चल पड़े, तो दूसरी बात सच हो जाएगी।

"और कभी आप कहते हैं कि व्यक्ति की स्वतंत्रता इतनी पूरी है कि परमात्मा के लिए वहां जगह नहीं।"

अगर तुमने मेरी बात मान ली और अहंकार का विसर्जन कर दिया, तो तुम स्वयं परमात्मा हो गए, अब परमात्मा के लिए भी जगह नहीं है। अगर तुमने अपने अहंकार को छोड़ दिया तो अब तुम्हारी स्वतंत्रता परम है, क्योंकि तुम स्वयं परमात्मा हो। अब तुम्हारी मर्जी से सारा जगत चलेगा और हिलेगा। इसलिए तुम्हें विरोधाभास मालूम पड़ता है।

एक दफे मैं कहता हूं, तुम्हारी मर्जी से कुछ नहीं होता, उसकी मर्जी के बिना पत्ता नहीं हिलता; और दूसरी दफे मैं तुमसे कहता हूं, तुम मालिक हो, तुम सब कुछ हो! तुम्हीं हो चांदत्तारों को चलाने वाले!

स्वामी राम से किसी ने अमरीका में पूछा कि दुनिया को किसने बनाया? स्वामी राम ने कहा, मैंने।

"चांदत्तारे कौन चलाता है?"

उन्होंने कहा, मैं चलाता हूं।

जो पूछा रहा था, उसने कहा कि क्षमा करें, आप जरा बड़ी विक्षिप्त-सी बात कह रहे हैं! आप नहीं थे, तब कौन चलाता था?

राम ने कहा, ऐसा कभी हुआ ही नहीं कि मैं न रहा होऊं।

"आप मरेंगे कि नहीं?" उस आदमी ने पूछा।

राम ने कहा, ऐसा कभी हुआ ही नहीं कि मैं मरा होऊं या मर सकूं।

कठिनाई क्या हो रही है? दोनों के बीच दो अलग भाषाओं में बात हो रही है। वह आदमी देख रहा है राम का रूप, आकार, यह देह, यह व्यक्ति। और राम बात कर रहे हैं उसकी--जहां न कोई व्यक्ति है, न रूप, न कोई देह।

आखिर राम ने कहा कि सुनो जी, तुम समझ नहीं पा रहे। मैं राम के संबंध में नहीं कह रहा हूं। मैं यह नहीं कह रहा हूं कि राम के चलाए चांदत्तारे चलते हैं, कि राम ने बनाई दुनिया। मैंने बनाई! मैं राम के पार हूं!

जब मंसूर को सूली लगी और उसने घोषणा कर दी अनलहक की--कि मैं ही सत्य हूं--तो मुसलमान न समझ पाए। क्योंकि उन्होंने समझा, यह आदमी खुदा होने का दावा कर रहा है। मुसलमानों ने तो पहली ही बात पकड़ रखी है कि उसकी मर्जी के बिना पत्ता नहीं हिलता। वह दूसरा वक्तव्य खयाल में नहीं है।

जब पहली बात पूरी हो जाती है तो दूसरी भी घटती है। जब तुम अपने को बिलकुल खो देते हो, तो वही बचता है। तो जब मंसूर ने कहा अनलहक--मैं सत्य हूं, मैं ब्रह्म हूं--तो वे क्या कह रहे हैं? वे यह कह रहे हैं कि मंसूर तो अब बचा नहीं, अब ब्रह्म ही बचा है। अगर मंसूर ने यह बात भारत में कही होती तो कोई सूली न चढ़ाता। हमने पूजा की होती सदियों तक, उनके पैरों पर फूल चढ़ाए होते। हम कहते, यह तो उपनिषद का सार है: अहं ब्रह्मास्मि, मैं ब्रह्म हूं!

ये दो वक्तव्य विपरीत नहीं हैं; विपरीत दिखाई पड़ते हैं। एक वक्तव्य है तुम्हारी जगह से, क्योंकि अहंकार छोड़ना है; और एक वक्तव्य है उस जगह से, जहां अहंकार बचा नहीं। जहां अहंकार नहीं बचा वहां तो सिर्फ परमात्मा ही बचा--इतना अकेला परमात्मा बचा कि अब परमात्मा यह भी क्या कहे कि परमात्मा है। किससे कहना? किसको कहना? किसके बाबत कहना?

इसलिए तो महावीर ने कहा: अप्पा सो परमप्पा! आत्मा ही परमात्मा हो जाती है कोई और परमात्मा नहीं है। इसमें कुछ ईश्वर का विरोध नहीं है। हिंदू गलत समझे। यह तो उपनिषद का सार है।

इसलिए तो बुद्ध ने यह भी कह दिया कि न परमात्मा है, न आत्मा; क्योंकि इन दोनों में तो द्वंद्व मालूम होता है कि दो हैं। इसलिए बुद्ध ने कहा: जो है, उस संबंध में मैं कुछ कहूंगा ही नहीं। जो नहीं है, बस उसी तक अपने वक्तव्य को रखूंगा--न आत्मा है, न परमात्मा है। फिर जो है, उस संबंध में कुछ भी न कहूंगा। वह तुम इन दोनों को छोड़ दो और जान लो।

बुद्ध को हिंदुओं ने समझा कि नास्तिक है। नहीं, यह आस्तिकता की आखिरी घोषणा है। इससे ऊपर कोई घोषणा हो नहीं सकती।

कठिनाई इसलिए खड़ी होती है कि बुद्धपुरुषों को दोनों ही वक्तव्य देने पड़ते हैं। एक तो वक्तव्य तुम्हारी तरफ से, क्योंकि वहां से यात्रा शुरू होनी है। तुम वहीं से तो चलोगे न जहां तुम खड़े हो? लेकिन, अगर वक्तव्य यहीं समाप्त हो जाए तो फिर तुम पहुंचोगे कहां? चलते ही थोड़ी रहोगे। कहीं पहुंचना है। तो दूसरा वक्तव्य है। एक साधक के लिए है, एक सिद्ध के लिए।

यह जो अष्टावक्र की गीता है, यह सिद्धावस्था का अंतिम वक्तव्य है। इसमें साधना की जगह ही नहीं है। इसमें साधक के लिए कोई बात ही नहीं कही गई है। यह सिद्ध की घोषणा है। यह सिद्ध का गीत है। इसलिए मैंने इसको महागीता कहा है।

कृष्ण की गीता में अर्जुन का ध्यान है। अर्जुन की तरफ से बहुत बातें कही गई हैं। धीरे-धीरे, धीरे-धीरे अर्जुन को समझा-समझा कर यात्रा पर निकाला गया है। कृष्ण की गीता अर्जुन को समझाने-बुझाने में लगी है कि अर्जुन किसी तरह नाव पर सवार हो जाए, दूसरे तट की तरफ चले। कहीं-कहीं बीच में थोड़े-बहुत दूसरे तट

के इशारे हैं, जहां कृष्ण कहते हैं: "सर्वधर्मान परित्यज्य, मामेकं शरणं ब्रज!" सब छोड़, मेरी शरण आ! वहां वे दूसरे तट की घोषणा कर रहे हैं। वहां वे यह नहीं कह रहे हैं कि तू कृष्ण की शरण आ। वहां वे कह रहे हैं, वह जो आत्यंतिक रूप है मैं का; मामेकं; वह जो "मैं एक!" उस "मैं एक" में "तू" भी सम्मिलित है। उसके "तू" बाहर नहीं है। माम एकम्! उस "मैं" में सभी सम्मिलित हैं, क्योंकि वह एक ही "मैं" है।

यह बहुत मजे की बात है। तुम्हारा नाम राम, किसी का नाम विष्णु, किसी का नाम रहीम, किसी का नाम रहमान। लेकिन तुमने देखा, सब आदमी भीतर अपने को सिर्फ "मैं" कहते हैं! सब! रहीम भी कहता है "मैं", राम भी कहता है "मैं", विष्णु भी कहता है "मैं", रहमान भी कहता है "मैं"। "मैं" मालूम होता है सबके भीतर का सार्वभौम सत्य है।

जब कृष्ण कहते, मामेकं शरणं ब्रज, तो वे यह कहते हैं कि इस "मैं", इस एक "मैं"--यही तो ब्रह्म है, यही तो परम सत्य है--इस एक की शरण आ जा, और सब छोड़! यह दूसरे तट की घोषणा है। लेकिन कहीं-कहीं घोषणाएं हैं।

जनक और अष्टावक्र के बीच जो महागीता घटी है, उसमें साधक की बात ही नहीं है; उसमें सिद्ध की ही घोषणा है; उसमें दूसरे तट की ही घोषणा है। वह आत्यंतिक महागीत है। वह उस सिद्धपुरुष का गीत है, जो पहुंच गया; जो अपनी मस्ती में उस जगत का गान गा रहा है, स्तुति कर रहा है। इसीलिए तो जनक कह सके: "अहो अहं नमो मह्यम्! अरे, आश्चर्य! मेरा मन होता है, मुझको ही नमस्कार कर लूं!"

अब इससे ज्यादा उपद्रव की बात सुनी कभी? "मुझको ही नमस्कार कर लूं, अपनी ही पूजा कर लूं, अपनी ही अर्चना कर लूं, नैवेद्य चढ़ा दूं!"--यह दूसरे तट की घोषणा है।

जब भी मैं तुमसे कुछ कह रहा हूं, तो दोनों बातें ध्यान में हैं। तुम्हारा अर्जुन होना मैं भूलता नहीं। क्योंकि वह भूल जाऊं, तो तुम्हें कोई लाभ न होगा। इसलिए अष्टावक्र की महागीता से कोई बहुत लाभ नहीं हुआ, क्योंकि यह सिद्धपुरुष की वाणी है। यह तो जब सिद्ध कोई होगा तो समझेगा; लेकिन सिद्ध होगा कोई, तब समझेगा न? इसमें साधक की यात्रा नहीं है। यह तो मंजिल की बात है। इसमें साधन की कोई बात ही नहीं है।

कृष्ण की गीता से ज्यादा लाभ हुआ, क्योंकि उसमें साधक की बात है। कृष्ण की गीता पर अगर तुम चलोगे, तो किसी दिन अष्टावक्र की महागीता पर पहुंचोगे।

मैं तुम्हारा ध्यान रखता हूं कि तुम कहां खड़े हो। तो कभी तुम्हारी तरफ से बोलता हूं। लेकिन सदा तुम्हारी तरफ से नहीं बोलता। मुझे अपने साथ भी तो न्याय करना चाहिए। कभी-कभी अपनी तरफ से भी बोलता हूं। मुझ पर भी तो दया करो!

इन दोनों के बीच तुम्हें कभी-कभी विरोध मालूम पड़ेगा, लेकिन वह आभास है।

आखिरी प्रश्न: शरीर पर गेरुआ और गले में माला देख कर लोग प्रश्न ही प्रश्न पूछते रहते हैं। वे मुझसे मेरे गुरु का प्रमाण भी मांगते हैं। ऐसे प्रश्नों के सामने क्या करना चाहिए मुझे--चुप रह जाना चाहिए या कुछ कहना चाहिए?

कोई नियम बनाने की जरूरत नहीं। परिस्थिति पर निर्भर करेगा। अगर पूछने वाला कुतूहलवश पूछ रहा हो तो चुप रह जाना चाहिए; अगर जिज्ञासावश पूछ रहा हो तो कुछ कहना चाहिए। अगर मुमुक्षावश पूछ रहा हो तो सब जो जानते हो, उंडेल देना चाहिए। परिस्थिति पर निर्भर करेगा।

इसलिए मैं तुम्हें कोई ऐसा सीधा आदेश नहीं दे सकता कि बोलो या चुप रहो। मैं तो तुम्हें सिर्फ निर्देश इतना दे सकता हूं कि पूछने वाले की आंख में जरा देखना। अगर तुम्हें लगे मात्र कुतूहल है, बचकाना कुतूहल है,

तो चुप रह जाना। तुम्हारे चुप रहने से लाभ होगा। क्योंकि कुतूहल तो खाज जैसा है, खुजलाने से समाप्त थोड़े ही होता; चमड़ी छिल जाती और घाव हो जाता है। तुम चुप ही रह जाना।

लेकिन कोई अगर जिज्ञासा से पूछे, ऐसा लगे कि निष्ठावान है, साधक है, पूछता है इसलिए कि शायद मार्ग की तलाश कर रहा है, तो जरूर कहना। और अगर लगे मुमुक्षु है, ऐसे ही जिज्ञासा बौद्धिक नहीं है, प्राणपण से खोजने में लगा है, जीवन को दांव पर लगा देने की तैयारी है--तो अपने हृदय को पूरा खोल कर रख देना।

मैं तुमसे इतना ही कह सकता हूं कि कोई सूत्र पकड़ कर चलने की जीवन में जरूरत नहीं है, क्योंकि परिस्थिति रोज बदल जाती है। अगर जड़ सूत्र को पकड़ लिया तो बहुत अड़चनें खड़ी होती हैं; कुछ का कुछ होता रहता है।

झेन फकीरों की पुरानी कहानी है। दो मंदिर थे एक गांव के। दोनों मंदिरों में पुराना झगड़ा था। झगड़ा इतना था कि मंदिर के पुजारी एक-दूसरे से बोलते भी नहीं थे। दोनों पुजारियों के पास दो छोटे बच्चे थे जो उनके लिए सब्जी खरीद लाते और कुछ सेवा-टहल कर देते। उन पुजारियों ने कहा उन बच्चों से कि तुम भी आपस में बोलना मत, रास्ते में कहीं मिल जाओ तो। बच्चे बच्चे हैं! उनको बता दिया कि हमारा झगड़ा बहुत पुराना है, हजारों साल से चल रहा है। उस मंदिर को हम नर्क मानते हैं। उस मंदिर के बच्चे से बोलना मत, बातचीत मत करना।

लेकिन बच्चे तो आखिर बच्चे हैं, रोकने से और उनकी जिज्ञासा बढ़ी। पहले मंदिर का बच्चा एक दिन खड़ा हो गया बाजार में। जब दूसरे मंदिर का बच्चा आता था तो उसने दूसरे मंदिर के बच्चे से पूछा, कहां जा रहे? तो उस बच्चे ने कहा--सुनते-सुनते वह भी ज्ञानियों की बातें, ज्ञानी हो गया था--उसने कहा, जहां हवा ले जाए! पहला बच्चा बड़ा हैरान हुआ कि अब बात कैसे आगे चले? हवा ले जाए, अब तो सब बात ही खत्म हो गई! वह बड़ा उदास आया। उसने अपने गुरु को कहा कि भूल से मैंने उससे बात कर ली। उससे मैंने पूछ लिया, कहां जा रहे? आपने तो मना किया था, मुझे क्षमा करें! लेकिन मैं बच्चा ही हूं। मगर सच में आदमी उस मंदिर के बड़े गड़बड़ हैं। मैंने तो सीधा-सादा सवाल पूछा, वह बड़ा अध्यात्म झाड़ने लगा। वह बोला, जहां हवा ले जाए! और चला भी गया हवा की तरह!

गुरु ने कहा, मैंने पहले ही कहा था कि वे लोग गलत हैं। अब तू ऐसा कर, कल उससे फिर पूछना। और जब वह कहे, जहां हवा ले जाए, तो तू कहना, अगर हवा न चल रही हो तो फिर क्या करोगे?

वह बच्चा गया दूसरे दिन। उसने पूछा, कहां जा रहे हो? उस बच्चे ने कहा, जहां पैर ले जाएं। अब बड़ी मुश्किल हो गई। अब जहां पैर ले जाएं! वह तो बंधा हुआ उत्तर ले कर आया था। वह फिर लौट कर आया, उसने कहा कि वे तो बड़े बेईमान हैं। आप ठीक कहते हैं, वे आदमी तो बड़े बेईमान हैं! उस मंदिर के लोग तो बदल जाते हैं। कल बोला, जहां हवा ले जाए; आज बोला, जहां पैर ले जाएं!

गुरु ने कहा, मैंने पहले ही कहा था, उनकी बातों का कोई भरोसा ही नहीं। उनसे शास्त्रार्थ हो ही नहीं सकता। कभी कुछ कहते, कभी कुछ कहते। जैसा मौका देखते हैं, अवसरवादी हैं। तो तू ऐसा कर, कल तैयार रह। अगर वह कहे जहां हवा ले जाए, तो पूछना, हवा न चले तो? अगर कहे, जहां पैर ले जाएं, तो कहना: भगवान न करे कहीं अगर लूले-लंगड़े हो गए, फिर?

वह गया। अब दो उत्तर उसके पास थे। उसने फिर पूछा, कहां जा रहे हो? उस लड़के ने कहा, सब्जी खरीदने!

मैं तुम्हें उत्तर नहीं देता। मैं तुम्हें सिर्फ इतना इशारा देता हूं कि जो पूछे, उसकी तरफ गौर से देखना, उसकी स्थिति को समझना और जैसा उचित हो वैसा करना।

जीवन को कभी भी बंधे हुए नियमों में चलाने की जरूरत नहीं है। उसी से तो आदमी धीरे-धीरे मुर्दा हो जाता है। जीवन को जगाया हुआ रखो। बोध से जीयो, सिद्धांत से नहीं। जागरूकता से जीयो, बंधी हुई धारणाओं से नहीं। मर्यादा बस एक ही रहे कि बिना होश के कुछ मत करो। और सब मर्यादाएं व्यर्थ हैं।

हरि ॐ तत्सत्!

उन्तीसवां प्रवचन

ध्यान अर्थात उपराम

अष्टावक्र उवाच।

विहाय वैरिणं काममर्थं चानर्थसंकुलम्।
धर्ममप्येतयोर्हेतुं सर्वत्रानादरं कुरु।। ९१।।
स्वप्नेन्द्रजालवत् पश्य दिनानि त्रीणि पंच वा।
मित्रक्षेत्रधना गारदारदायादिसम्पदः।। ९२।।
यत्र यत्र भवेत्तृष्णा संसार विद्धि तत्र वै।
प्रौढ़वैराग्यमाश्रित्य वीततृष्णः सुखी भव।। ९३।।
तृष्णमात्रात्मको बंधस्तन्नाशो मोक्ष उच्यते।
भवासंसक्तिमात्रेण प्राप्तितुष्टिर्मुहुर्मुहुः।। ९४।।
त्वमेकश्चेतनः शुद्धो जडं विश्वमसत्तथा।
अविद्यापि ना किंचित्सा का बुभुत्सा तथापि ते।। ९५।।
राज्यं सुता कलत्राणि शरीराणि सुखानि च।
संसक्तस्यापि नष्टानि तव जन्मनि जन्मनि।। ९६।।
अलमर्थेन कामेन सुकृतेनापि कर्मणा।
एभ्यः संसारकांतारे न विश्रांतमभून्मनः।। ९७।।
कृतं न कति जन्मानि कायेन मनसा गिरा।
दुःखमायासदं कर्म तदद्याप्युपरम्यताम्।। ९८।।

अष्टावक्र ने कहा:

"वैरी-रूप काम को और अनर्थ से भरे अर्थ को त्याग कर और उन दोनों के कारण-रूप धर्म को भी छोड़ कर तू सबकी उपेक्षा कर।"

साधारणतः अर्थ और काम को छोड़ने को सभी ने कहा है। अष्टावक्र कहते हैं: "धर्म को भी छोड़ कर...।" इस बात को ठीक से समझ लेना जरूरी है।

धर्म की आत्यंतिक क्रांति धर्म को भी छोड़ने पर ही घटित होती है। धर्म का आत्यंतिक लक्ष्य धर्म से भी मुक्त हो जाना है। अधर्म से अर्थ है: जो बुरा है, अकर्तव्य है। धर्म से अर्थ है: जो शुभ है, कर्तव्य है। अधर्म से अर्थ है: पाप। धर्म से अर्थ है: पुण्य। पाप से तो छूटना ही है, अष्टावक्र कहते हैं, पुण्य से भी छूट जाना है। क्योंकि मूलतः पाप और पुण्य अलग-अलग नहीं हैं, एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। और जो व्यक्ति पुण्य से बंधा है, वह पाप से भी बंधा रहेगा। पुण्य करने के लिए भी पाप करने होंगे। बिना पाप किए पुण्य नहीं किए जा सकते हैं।

तुम्हें दान देना हो, तो धन तो इकट्ठा करोगे न! धन इकट्ठा करने में पाप होगा, दान देने में पुण्य होगा। लेकिन धन इकट्ठा किए बिना कैसे दान करोगे?

ऐसा उल्लेख है कि लाओत्सु का एक शिष्य न्यायाधीश हो गया था। मुकदमा चला, एक आदमी चोरी में पकड़ा गया। गांव के सबसे बड़े नगरसेठ के घर में उसने डाका डाला था, सेंध लगाई थी। पकड़ा गया था रंगे हाथों, इसलिए कुछ उलझन भी न थी। लाओत्सु के शिष्य न्यायाधीश ने छह महीने की सजा चोर को दी और बारह महीने की सजा नगरसेठ को दी। नगरसेठ तो हंसने लगा। उसने कहा: ऐसा न्याय कभी सुना है? यह क्या पागलपन है?

सम्राट के पास बात गई कि यह तो हद हो गई, मेरी चोरी हो और फिर मुझे दंड दिया जाए! लेकिन उस न्यायाधीश ने सम्राट को कहा: न यह इतना इकट्ठा करता, न चोरी होती। चोरी नंबर दो है, इकट्ठा करना नंबर एक है। इसलिए छह महीने की सजा देता हूं चोर को, साल की सजा देता हूं इस आदमी को।

बात तो सम्राट को भी जंची, लेकिन नियम ऐसे नहीं चल सकते। सम्राट ने कहा: बात में तो बल है, लेकिन ऐसा कभी हुआ नहीं। और इस आधार पर तो, मैं भी अपराधी हो जाऊंगा। तुम नौकरी से इस्तीफा दे दो। तुम्हारी बात कितनी ही ठीक हो, व्यावहारिक नहीं है।

व्यवहार के नाम पर आदमी बहुत-सी बातें छिपाए चला जाता है। सत्य प्रगट नहीं हो पाता, क्योंकि हम व्यवहार की आड़ में छिपा लेते हैं।

मनुष्य-जाति के इतिहास में यह एक ही घटना है, जबकि चोर को भी दंड दिया गया, और जिसके घर चोरी हुई थी उसको भी दंड दिया गया। और इस घटना में बड़ा राज है। चोरी हो ही तब सकती है जब कोई धन को इकट्ठा कर ले।

तो धन को इकट्ठा करना तो पुण्य के लिए भी जरूरी होगा। तभी तो त्याग करोगे।

तुम देखते हो, अगर कोई गरीब आदमी, कोई भिखमंगा घोषणा कर दे कि मैं सब त्याग करता हूं, तो लोग हंसेंगे। लोग कहेंगे, तुम्हारे पास है क्या? त्याग तुम किस बात का करते हो?

कोई महावीर, कोई बुद्ध जब त्याग करता है, तो उसकी घोषणा सदियों तक होती है। जैनों के शास्त्रों में, महावीर ने कितना त्याग किया, उसके बड़े बढ़ा-चढ़ा कर वर्णन हैं। कितने हाथी, कितने घोड़े, कितने रथ, कितना स्वर्ण, कितनी अशर्फियां--वह बढ़ा-चढ़ाया हुआ वर्णन है। उतना हो नहीं सकता था। क्योंकि महावीर एक बहुत छोटे-मोटे राजा के लड़के थे। उस राजा की हैसियत राजा जैसी नहीं थी, एक बड़े मालगुजार जैसी थी। आज की भाषा में अगर कहें, तो एक तहसील से बड़ा वह राज्य न था; तहसीलदार की हैसियत थी। इतना धन महावीर के घर में हो नहीं सकता, जितना शास्त्रों में लिखा है। लेकिन क्यों शास्त्रों में बढ़ा-चढ़ा कर लिखा होगा? क्योंकि शास्त्रकार महावीर को महात्यागी बताना चाहते थे। और त्याग को मापने का एक ही उपाय है: धन।

अब यह बड़ी हैरानी की बात है: यहां भोग भी धन से नापा जाता, यहां त्याग भी धन से नापा जाता! यहां अगर तुम किसी को प्रतिष्ठा देते हो तो भी धन के कारण। और अगर तुम कभी त्यागी को भी प्रतिष्ठा देते हो तो वह भी धन के कारण। धन की प्रतिष्ठा दिखाई पड़ती है, अंतिम है। उसके अतिरिक्त हमारे पास कोई मापदंड नहीं है। भिखमंगा छोड़े तो क्या छोड़ा?

इसलिए शायद जैनों के चौबीस तीर्थंकर ही राजपुत्र हैं। ऐसा तो नहीं है कि इन राजपुत्रों के काल में किसी गरीब ने त्याग न किया होगा। चौबीस ही राजपुत्र हैं: तीर्थंकर। बुद्ध भी राजा हैं, कृष्ण, राम, हिंदुओं के अवतार भी राजा हैं। थोड़ा सोचने जैसा है। धन की प्रतिष्ठा इतनी है कि अगर हम त्याग को भी मापेंगे तो वही तो एक मापदंड है। ये राजा रहे होंगे, तब सम्मानित थे। फिर उन्होंने जब राज त्याग दिया, तब और भी सम्मानित हो गए।

लेकिन क्या यह त्याग का सम्मान हुआ? यह तो धन का ही सम्मान हुआ। भिखमंगा छोड़ कर खड़ा हो जाए तो तुम हंसोगे। तुम कहोगे: था क्या तुम्हारे पास, जो तुमने छोड़ दिया? लंगोटी भी नहीं थी, नंगे तुम थे ही, अब दिगंबर होने की घोषणा क्या करते हो?

तो त्याग के लिए भी धन होना चाहिए। और पुण्य के लिए भी पाप करना होगा। इसलिए जो लोग जीवन की व्यवस्था को समझते हैं, वे कहेंगे: धर्म भी छोड़ देना होगा; पुण्य भी छोड़ देना होगा। ये दोनों बातें एक साथ छोड़ देनी होंगी।

इस सूत्र को समझने की कोशिश करें:

विहाय वैरिणं काममर्थं चानर्थसंकुलम्।

धर्ममप्येतयोर्हेतुं सर्वत्रानादरं कुरु।।

शत्रु है काम। क्यों समस्त शास्त्र सारी दुनिया के, काम को शत्रु कहते हैं? क्या कारण होगा कहने का? एक मत से शत्रु कहते हैं। हिंदू हों, जैन हों, बौद्ध हों, ईसाई हों--एक मत से कहते हैं कि काम शत्रु है। क्या कारण होगा काम को शत्रु कहने का? उसे हम समझने की कोशिश करें।

काम का बल ही, काम-ऊर्जा की शक्ति इतनी विराट है, कि उसके पाश के बाहर होना सर्वाधिक कठिन है, करीब-करीब असंभव जैसा है। मनोवैज्ञानिक तो मानते हैं, उसके पार हुआ ही नहीं जा सकता। और मनोवैज्ञानिकों की बात भी समझ लेने जैसी है। क्योंकि काम में ही हुआ है हमारा जन्म। जो पहली स्फुरणा तुम्हारे जीवन की थी, वह तुम्हारे मां और पिता की कामवासना ही थी। उसी तरंग से तुम आए हो, उसी तरंग से निर्मित हुए हो। तुम्हारा रोआं-रोआं काम से भरा है। तुम्हारा पहला अणु दो काम-अणुओं का जोड़ था। उससे तुम निर्मित हुए। फिर उन्हीं काम-अणुओं का फैलाव होता चला गया है। अब तुम्हारे पास करोड़ों सेल हैं शरीर में, लेकिन प्रत्येक सेल काम-कोष्ठ है।

और तुम ऐसा मत सोचना कि स्त्री तुम्हारे बाहर ही है। क्योंकि जब तुम्हारा जन्म हुआ तो आधा अंग तो मां से मिला, आधा पुरुष से मिला, पिता से मिला। तो तुम्हारे भीतर स्त्री-पुरुष दोनों मौजूद हैं। मात्रा का भेद है, पर दोनों मौजूद हैं।

हिंदुओं की धारणा है, अर्धनारीश्वर की। शंकर की तुमने प्रतिमाएं देखी होंगी, जिनमें आधे वे पुरुष हैं, आधे स्त्री। वह धारणा बड़ी बहुमूल्य है। तुम भी अर्धनारीश्वर हो, प्रत्येक व्यक्ति अर्धनारीश्वर है; अन्यथा होने का उपाय ही नहीं है। क्योंकि आधी तुम्हारी मां है, आधे तुम्हारे पिता हैं; दोनों के मिलन से तुम निर्मित हुए हो। पुरुष में पिता की मात्रा ज्यादा है, स्त्री में मां की मात्रा ज्यादा है; पर यह मात्रा का भेद है। इसीलिए तो कभी घटना घटती है कि किसी व्यक्ति का काम बदल जाता है, लिंग बदल जाता है।

अभी दक्षिण भारत में एक युवती युवक हो गई। कोई बीस-बाईस साल तक युवती थी, अचानक युवक हो गई। पश्चिम में बहुत घटनाएं घटी हैं। और अब तो शरीर-शास्त्री कहते हैं कि यह हमारे हाथ की बात हो जाएगी। लोग अगर अपना लिंग-परिवर्तन करना चाहें तो कर सकेंगे। कोई व्यक्ति ऊब गया पुरुष होने से तो स्त्री हो सकता है। कोई स्त्री ऊब गई स्त्री होने से तो पुरुष हो सकती है। यह तो सिर्फ थोड़े-से हारमोन बदल देने की बात है, मात्रा बदल देने की बात है।

तुम्हारे भीतर, ऐसा समझो कि अगर तुम पुरुष हो, तो साठ प्रतिशत पुरुष के जीवाणु हैं, चालीस प्रतिशत स्त्री के जीवाणु हैं। बस, इस अनुपात को बदल दिया जाए, तो तुम स्त्री हो जाओगे।

काम से हुआ है जन्म, दो विपरीत कामों के मिलन पर तुम्हारा जीवन खड़ा है। इसलिए यह करीब-करीब असंभव है--मनोवैज्ञानिक के हिसाब से तो बिलकुल असंभव है कि व्यक्ति कामवासना के पार हो जाए! धर्मशास्त्र भी यही कहते हैं। आत्मपुराण में बड़ा अदभुत वचन है:

कामेन विजितो ब्रह्मा, कामेन विजितो हरः।
कामेन विजितो विष्णुः शक्रः कामेन निर्जितः।।

काम ने जीता ब्रह्मा को, काम ने हराया शंकर को, काम ने हराया विष्णु को--काम से कौन कब जीता! काम से सब हारे हैं।

काम का बल तो प्रबल है। और जिसका जितना ज्यादा बल प्रबल है, उसके पार होने में उतना ही संघर्षण होगा। इसलिए कहते हैं: वैरी-रूप काम। इस जगत में अगर टक्कर ही लेनी हो किसी से, अगर हिम्मत ही हो टक्कर लेने की, अगर संघर्ष करने का और युद्ध करने का, योद्धा बनने का रस हो--तो छोटे-मोटे दुश्मन मत चुनना। खयाल रखना, जितना बड़ा दुश्मन चुनोगे उतनी ही बड़ी तुम्हारी विजय होगी। छोटे-मोटे को हरा भी दिया तो क्या सार है?

कहते हैं जंगल में--ईसप की कथा है--एक गधे ने सिंह को चुनौती दे दी और कहा: अगर हो हिम्मत तो आ मैदान में और हो जाए सीधा युद्ध। लेकिन सिंह चुपचाप चला गया। सियार यह सुन रहा था। उसने थोड़ा आगे बढ़ कर सिंह को पूछा कि सम्राट, बात क्या है? एक गधे की चुनौती को भी तुम स्वीकार नहीं किए!

उसने कहा: पागल हुआ है? अगर उसकी चुनौती मैं स्वीकार करूं, तो पहले तो अफवाह उड़ जाएगी कि सिंह गधे से लड़ा। यह बदनामी होगी। ऐसा कभी हुआ नहीं। यह हमारे कुल, वंश, परंपरा में नहीं हुआ कि गधे से लड़ें। लड़ना है गधे से...गधे को समाप्त कर दे सकते हैं, लड़ना क्या है? अगर गधा हारा तो उसका कोई अपमान नहीं है। हम जीते भी तो कोई सम्मान नहीं। लोग कहेंगे, क्या जीते, गधे से जीते! और कहीं भूल-चूक से जीत गया गधा--गधे हैं इनका भरोसा क्या--तो हम सदा के लिए मारे गए। इसलिए मैं चुपचाप चला आया हूं। गधे से झंझट में पड़ना ठीक नहीं है।

छोटे से अगर तुम उलझोगे, जीते भी तो छोटे से जीते। और काश अगर हार गए, तो छोटे से हारे! दुश्मन जरा सोच कर चुनना। मित्र तो कोई भी चल जाएगा, शत्रु जरा सोच कर चुनना। शत्रु जरा बड़ा चुनना। क्योंकि चुनौती, संघर्षण तुम्हें अवसर देगा, तुम्हारे अपने आत्म-विकास का।

तो जो बाहर की चीजों से लड़ते रहते हैं, वे अगर जीत भी जाएं तो चीजों से ही जीतते हैं। सिकंदर हो कि तैमूरलंग हो, कि नादिरशाह हो कि नेपोलियन हो, फैला लें विस्तार सारे जगत पर अपना, तो भी वस्तुओं पर ही विस्तार फैलता है।

इसलिए इस देश में हमने उनको सम्मान दिया जिन्होंने अपने को जीता। सबको भी जिन्होंने जीता, उन्हें भी हमने वैसा आदर नहीं दिया; हमने आदर उन्हें दिया, जिन्होंने स्वयं को जीता। क्योंकि स्वयं को जीतने का एक ही उपाय है और वह है--काम-ऊर्जा से अतिक्रमण हो जाना; काम-ऊर्जा के पार हो जाना। काम-ऊर्जा के पार होने का अर्थ है: अपने जन्म से मुक्त हो जाना; अपने जीवन से मुक्त हो जाना; अपनी मृत्यु से मुक्त हो जाना।

काम-ऊर्जा ने तुम्हें जन्म दिया, और काम-उर्जा की उत्फुल्लता ही तुम्हारी जवानी है, तुम्हारा जीवन है। और जब काम की ऊर्जा थक जाएगी, और विसर्जित होने लगेगी--वही तुम्हारी मृत्यु होगी। तो तुम्हारे जीवन की सारी कथा, प्रथम से ले कर अंत तक काम की कथा है। अगर तुम इस काम के अंतर्गत ही बने रहे, तो तुम कभी मालिक की तरह न जीए, एक गुलाम की तरह जीए।

स्वयं का मालिक बनना हो और अगर चुनौती ही स्वीकार करनी हो किसी की, तो स्वयं में छिपी इस चुनौती को ही स्वीकार कर लेना उचित है। इसलिए धर्म-शास्त्र काम को वैरी-रूप कहते हैं। यह सिर्फ निंदा नहीं है, इसमें सम्मान भी छिपा है। वे यह कहते हैं कि अगर शत्रुता ही करनी हो तो काम से करना। क्योंकि कामेन विजितो ब्रह्मा! काम ने ब्रह्मा को भी हराया। कामेन विजितो हरः। काम ने महादेव को भी हराया।

तो अब अगर लड़ने योग्य कोई है तो काम ही है। जिससे देवता भी हार गए हों, उसको ही जीतने में मनुष्य के भीतर छिपा हुआ फूल खिलेगा। जिससे सब हार गए हों, उसको ही जीतने में तुम्हारे भीतर पहली दफे प्रभु का साम्राज्य निर्मित होगा।

भारत अकेला देश है, जहां हमने बुद्धपुरुषों के चरणों में देवताओं को झुकाया है। जब सिद्धार्थ गौतम बुद्धत्व को उपलब्ध हुए, तो कथा है कि ब्रह्मा, विष्णु, महेश, तीनों उनके चरणों में अपना नैवेद्य, अपनी पूजा चढ़ाने आए। जब महावीर परम ज्ञान को उपलब्ध हुए, तो देवताओं ने फूल बरसाए। लेकिन देवता क्यों बरसाते होंगे फूल एक मनुष्य के चरणों में? इसलिए कि यह मनुष्य उस सीमा के भी पार जा चुका, जिस सीमा के पार अभी देवता भी नहीं गए। अभी इंद्र भी अप्सराओं में उलझा है। अभी स्वर्ग में भी वही काम-व्यापार चल रहा है, जो पृथ्वी पर चल रहा है। थोड़ा व्यवस्थित चल रहा है; थोड़ा ढंग से चल रहा है; ज्यादा सुंदर स्त्रियां हैं, ज्यादा सुंदर देह है, ज्यादा लंबी आयु है, भोग की सब सुविधाएं, सामग्रियां हैं।

जो हमने स्वर्ग में देवताओं के लिए व्यवस्था की है, वही व्यवस्था विज्ञान आदमी के लिए पृथ्वी पर कर देने की कोशिश कर रहा है।

मैंने तो सुना है, एक आदमी मरा और स्वर्ग पहुंचा। तो वह बड़ा हैरान हुआ। वहां उसने देखा कि कुछ लोग जंजीरों से बंधे हैं। स्वर्ग में जंजीरों से बंधे हैं! उसने द्वारपाल से पूछा कि यह तो मुझे घबड़ाहट का कारण मालूम होता है। नरक में बंधे हों, यह समझ में आता है। यह स्वर्ग में भी अगर बंधन हैं और लोग जंजीरों से बंधे हैं--यह किस तरह का स्वर्ग है?

वह द्वारपाल हंसने लगा। उसने कहा, ये अमरीकी हैं। ये जब से आए हैं, तब से यह धुन लगाए हैं कि हमें अमरीका वापिस जाना है, यहां से तो वहीं बेहतर था।

विज्ञान कोशिश कर रहा है कि स्वर्ग को जमीन पर घसीट लाए; लेकिन जमीन पर विज्ञान स्वर्ग ले आए, तो भी कोई फर्क नहीं पड़ता। तुम्हारी कामवासना को कितनी ही तृप्ति की सुविधा जुटा दी जाए, तृप्ति नहीं होगी। क्योंकि कामवासना का स्वभाव अतृप्ति है। जो मिल जाता है, उससे ही अतृप्ति हो जाती है। जो नहीं मिला, उसी में रस होता है। काम के इस स्वभाव को समझो--यही उसका बंधन है, यही उसका वैरी-रूप है।

जो मिल जाता है, वही व्यर्थ हो जाता है। जिस स्त्री को तुम चाहते थे, मिल गई; जिस पुरुष को तुमने चाहा, मिल गया--बस, तत्क्षण तुम किसी और की चाह में लग गए।

बायरन, अंग्रेजी का कवि हुआ। उसका अनेक स्त्रियों से संबंध था। सुंदर पुरुष था, प्रतिभाशाली पुरुष था, और महीने-दो-महीने से ज्यादा उसका संबंध नहीं चलता था। लेकिन एक स्त्री ने उसे बिलकुल मजबूर कर दिया विवाह करने को। उसने कहा, विवाह नहीं किया तो हाथ भी नहीं छुऊंगी। और वह दीवाना हो गया उसे अपने करीब लेने को। आखिर विवाह के लिए राजी होना पड़ा। जब वह विवाह हो गया और चर्च से बायरन उतरता था अपनी नई विवाहित पत्नी का हाथ पकड़े हुए, सीढ़ियां पार कर रहा था, ठिठक कर खड़ा हो गया। उसने अपनी पत्नी से कहा, आश्चर्य! मैं तेरे लिए दीवाना था, महीनों सोया नहीं, और अभी क्षण भर के लिए तेरा हाथ मेरे हाथ में है, लेकिन तेरी मुझे सुधि भूल गई। राह से वह जो स्त्री जा रही है, मेरा मन उसके पीछे चला गया।

अभी विवाह नहीं हुआ, और तलाक शुरू हो गया!

जो मिल जाता है, उसमें हमारा रस खो जाता है। तुम एक मकान बनाना चाहते थे बहुत दिन से, बना लिया; जब तक नहीं बना था, तब तक खूब सपने देखे, खूब सोचा, खूब विचारा, वही-वही धुन थी, फिर मकान बन गया। एक दिन अचानक तुम थके-मांदे खड़े हो--कुछ भी तो नहीं मिला! अब तुम और दूसरा मकान बनाने की सोचने लगे।

काम की लक्षणा यही है कि वह तुम्हें कभी तृप्त न होने देगा, तृप्ति का वहां कोई उपाय नहीं। अतृप्ति की जलती हुई आग ही काम का स्वरूप है।

"वैरी-रूप काम को, और अनर्थ से भरे अर्थ को त्याग कर...।"

हिंदुओं ने चार पुरुषार्थ कहे हैं: अर्थ, काम, धर्म, मोक्ष। काम है साधारण आदमी की वासना, और अर्थ है उसे भरने का उपाय। धन की हम आकांक्षा इसलिए करते हैं कि हमारी कोई कामनाएं हैं, जिन्हें पूरा बिना धन के न किया जा सकेगा। अगर धन है, तो सुंदर स्त्री उपलब्ध हो सकती है। निर्धन को तो बचा-खुचा, जो शेष रह जाता है, वही उपलब्ध होता है। अगर धन है तो तुम जो चाहते हो, वह तुम्हारे हाथ में हो सकता है। अगर निर्धन हो तो चाहते रहो, चाहने से कुछ भी नहीं होता। धन चाह को यथार्थ बनने में सहयोगी होता है।

इसलिए एक बहुत मजे की बात है, तुम धनी से ज्यादा अतृप्त आदमी कहीं भी न पाओगे। निर्धन को तो आशा रहती है, धनी की आशा भी मर जाती है। निर्धन को आशा रहती है--आज नहीं कल धन हाथ में होगा, तो

कर लेंगे जो भी करना है--धन के पीछे दौड़ता रहता है। धनी के पास धन है; जो करना है, करने की सुविधा है। लेकिन करने में कुछ अर्थ नहीं मालूम होता। इसलिए धनी व्यक्ति अनिवार्यरूपेण अशांत, अतृप्त हो जाता है।

तुम गरीब आदमी को पागल होते न देखोगे, अमीर आदमी को पागल होते देखोगे। अमीर मुल्कों में ज्यादा पागलपन घटता है। गरीब मुल्कों में मनोवैज्ञानिक अभी है ही नहीं, अभी मनोविश्लेषक है ही नहीं। बंबई में शायद एकाध कोई या पूना में एकाध कोई मनोविश्लेषक हो। लेकिन इस साठ करोड़ के मुल्क में तुम कहीं मनोविश्लेषक को न पाओगे; उसकी कोई जरूरत भी नहीं है। लेकिन न्यूयार्क में वह फैलता जा रहा है। उसकी संख्या उतनी ही होती जा रही है, जितनी कि शरीर के चिकित्सकों की है। संभावना तो यह है कि इस सदी के पूरे होते-होते, मन के चिकित्सकों की संख्या ज्यादा होगी शरीर के चिकित्सकों से। क्योंकि शरीर के लिए तो सारी सुविधाएं पश्चिम में मिलती जा रही हैं। और जितनी शरीर की सुविधाएं मिलती हैं, उतना मन पागल होता जा रहा है।

मेरे देखे, अगर गरीब आदमी धार्मिक हो तो यह चमत्कार है। और अगर आदमी अमीर हो और धार्मिक न हो, तो यह भी चमत्कार है। गरीब आदमी धार्मिक हो तो अपवाद-स्वरूप है। क्योंकि गरीब आदमी को अभी मन से मुक्त होने का मौका कहां मिला? अभी तो मन की पीड़ा भी उसने नहीं जानी। अभी तो आशा टूटी नहीं है। इसलिए गरीब आदमी जब कभी धार्मिक हो जाए, तो अपवाद-स्वरूप है। धार्मिक आदमी अगर अमीर है तो बिलकुल स्वाभाविक है, ऐसा होना ही चाहिए था। अमीर आदमी को धार्मिक होना ही चाहिए; क्योंकि अब इस जगत में कुछ है, इसकी आशा समाप्त हो गई। उसके पास सब है। कोई एंड्रू कारनेगी, कोई रॉकफेलर, सब है उनके पास। जो खरीदना हो, सब खरीदा जा सकता है। जितनी मात्रा में खरीदना हो, खरीदा जा सकता है। जो खरीदा जा सकता है, खरीदने की क्षमता उससे ज्यादा है उनके पास। अब क्या करें?

तो अगर धार्मिक आदमी अमीर हो, तो साधारण बात है, होना ही चाहिए; गरीब हो, तो असाधारण घटना है। और अगर अमीर धार्मिक आदमी न हो, तो बड़ी असाधारण घटना है, ऐसा होना नहीं चाहिए। इसके दो ही अर्थ हो सकते हैं: या तो वह बुद्धू है, मूढ़ है, और या फिर अभी ठीक से धनी नहीं हुआ। ठीक से धनी हो और बुद्धि पास हो, तो धार्मिक होने के सिवाय कोई उपाय नहीं। गरीब आदमी को धार्मिक होना हो तो बड़ी प्रखर प्रतिभा चाहिए। अमीर आदमी को अगर धार्मिक होने से बचना हो तो बड़ी प्रखर मूढ़ता चाहिए।

भारत जब धनी था तो धार्मिक था। स्वर्ण-युग था भारत का बुद्ध-महावीर के समय में। शिखर पर था भारत दुनिया में, सोने की चिड़िया था! सारी दुनिया भारत की तरफ देखती थी, सारा धन जैसे यहां इकट्ठा था। उन घड़ियों में हमने जो शिखर छुए धर्म के, फिर नहीं छू सके हम, फिर सपना हो गया सब।

गरीब आदमी धार्मिक दिखाई भला पड़े, हो नहीं सकता। क्योंकि गरीब आदमी का अभी भी भरोसा अर्थ में है। अभी तो कामना ही पकड़े हुए है। अभी तो जीवन की छोटी-मोटी जरूरतें पूरी नहीं हुईं; धर्म तो जीवन की बड़ी आखिरी जरूरत है। कहते हैं, "भूखे भजन न होय गोपाला!" वह जो भूखा आदमी है, कैसे भजन करे? उसके भजन में भी भूख की छाया होगी। उसके भजन में भी भूख होगी। वह भजन भी करेगा तो रोटी ही मांगेगा। उसके भजन में परमात्मा की मांग नहीं हो सकती। जब जीवन की छोटी जरूरतें पूरी हो जाती हैं, शरीर, मन की दौड़ के लिए सब उपाय हो जाते हैं, तब अचानक पता चलता है कि यहां तो पाने योग्य कुछ भी नहीं है। तो कहीं और है पाने योग्य, उसकी खोज शुरू होती है।

धर्म की यात्रा तभी शुरू होती है, जब अर्थ और काम की यात्रा व्यर्थ हो जाती है।

तो दो यात्राएं हैं इस जगत में, एक है--अर्थ, काम। अर्थ है साधन; काम है साध्य। फिर दूसरी यात्रा है--धर्म, मोक्ष। धर्म है साधन; मोक्ष है साध्य। तो साधारणतः, ऐसा समझा गया है कि जिस आदमी को मोक्ष पाना हो, उसे धर्म कमाना चाहिए। जैसे, जिस व्यक्ति को कामना तृप्त करनी हो, उसे धन कमाना चाहिए। क्योंकि धन

के बिना कैसे तुम कामना तृप्त करोगे? जिसको काम का जगत पकड़े हो, उसे अर्थ कमाना चाहिए। और जिस व्यक्ति को यह बात व्यर्थ हो गई, अब उसे मुक्त होना है, परम मुक्ति का स्वाद लेना है--उसे धर्म कमाना चाहिए। यह साधारण धर्म की व्यवस्था है।

अष्टावक्र बड़ी क्रांतिकारी बात कह रहे हैं। वे कह रहे हैं: जिस व्यक्ति को वस्तुतः मोक्ष पाना हो, उसे धर्म से भी मुक्त हो जाना चाहिए। क्यों? क्योंकि मोक्ष को कामना नहीं बनाया जा सकता। मोक्ष का स्वभाव ऐसा है कि तुम उसकी चाह नहीं कर सकते। जिसकी भी तुमने चाह की, वह मोक्ष नहीं रह गया। तुम्हारी चाह अगर पीछे खड़ी है, तो तुम जो भी चाहोगे, वह संसार हो गया। मोक्ष का कोई साधन नहीं है। धर्म भी मोक्ष का साधन नहीं है।

यह तो हमारी गणित की दुनिया है। हम कहते हैं, यहां कामवासना पूरी करनी है तो धन कमाओ; और अगर मोक्ष पाना है तो धर्म कमाओ। लोग धर्म भी कमाते हैं, जैसा धन कमाते हैं। लोग पुण्य को भी तिजोरी में भरते चले जाते हैं, जैसे सिक्कों को भरते हैं। जैसे खाते-बही बनाते हैं, और बैंक-बैलेंस रखते हैं, वैसा ही पुण्य का भी हिसाब रखते हैं। परमात्मा के सामने खोल कर रख देंगे अपनी किताब कि येऱ्ये, इतने-इतने पुण्य किए थे, इनका बदला चाहिए।

साधारण आदमी का तर्क यही है कि जीवन में सब कुछ सौदा है, व्यवसाय है।

अष्टावक्र कहते हैं: मोक्ष कोई सौदा नहीं, कोई व्यवसाय नहीं; तुम्हारे कुछ करने से न मिलेगा। प्रसादरूप है यह। तुम्हारी चाह से नहीं मिलेगा। तुम्हारी चाह के कारण ही तुम चूक रहे हो। मोक्ष तो मिला ही हुआ है--तुम्हारी चाह के कारण तुम नहीं देख पा रहे; चाह ने तुम्हें अंधा किया है। तुम चाहत छोड़ो, तुम चाह छोड़ो। तुम बिना चाह के थोड़ी देर रह कर देखो--अचानक पाओगे, मोक्ष की किरणें तुम्हारे भीतर उतरने लगीं!

तो मोक्ष कोई साध्य नहीं है, जिसका साधन हो सके--मोक्ष स्वभाव है। मोक्ष है ही, हम मोक्ष में ही जी रहे हैं।

मैंने सुना है, एक मछली बचपन से ही सुनती रही थी सागर की, महासागर की बातें। शास्त्रों में भी मछलियों के महासागर की बातें लिखी हैं। बड़े ज्ञानी थे जो मछलियों में, वे भी महासागर की बातें करते थे। वह मछली बड़ी होने लगी, बड़ी चिंता और विचार में पड़ने लगी कि महासागर है कहां? अब जब मछली सागर में ही पैदा हुई हो तो सागर का पता नहीं चल सकता। सागर में ही बड़ी हुई तो सागर का पता नहीं चल सकता। वह पूछने लगी कि यह महासागर कहां है? लोगों ने कहा, हमने सुनी हैं ज्ञानियों से बातें, सुनी है वार्ता, देखा तो किसी ने भी नहीं। कुछ धन्यभागी मछलियां, कोई बुद्ध-महावीर, कोई कृष्ण-राम जान लेते होंगे; बाकी साधारण मछलियां, हम तो सिर्फ सुन कर मानते हैं कि है महासागर कहीं।

वह बड़ी चिंता में रहने लगी। उसका जीवन बड़ा विक्षुब्ध हो गया। वह बड़ी विचारशील मछली थी। वह भूखी-प्यासी भी पड़ी रहती और सोचती रहती कि कैसे महासागर पहुंचे, वह अद्वितीय घटना कैसे घटेगी? महासागर का लोभ उसके मन में समाने लगा। वह सूखने लगी, वह दुर्बल होने लगी।

फिर कोई एक अतिथि मछली पड़ोस की नदी से आई थी। उसने उसकी यह हालत देखी। उसने कहा, पागल! जिसे तू खोजती है, वह चारों तरफ मौजूद है, हम उसी के भीतर हैं। न तो भूखे मरने की जरूरत है, न ध्यान करने की जरूरत है, न जप करने की जरूरत है--महासागर है ही। महासागर के बिना हम हो ही नहीं सकते।

जैसा उस मछली को बोध दिया गया, अष्टावक्र जैसे सदगुरु हमें भी यही कह रहे हैं कि हम मोक्ष में हैं ही, परमात्मा हमें चारों तरफ से घेरे हुए है! उसी में हमारा जन्म है, उसी में जीवन है, उसी में हमारा विसर्जन है। लेकिन इतना निकट है परमात्मा, इसलिए दिखाई नहीं पड़ता। दूर होता तो हम देख लेते। आंखें हमारी दूर को देखने में समर्थ हैं। जो निकट है, वही चूक जाता है। जो बहुत पास है, वह भूल जाता है। और परमात्मा से ज्यादा

निकट कोई भी नहीं। मछली के लिए तो उपाय भी है कि कोई उसे उठाकर रेत के किनारे पर डाल दे तो तड़प ले और पता चल जाए उसे कि सागर का छूट जाना कैसा होता है। हमारे लिए तो वह भी उपाय नहीं है, परमात्मा के बाहर हम जा ही नहीं सकते।

अष्टावक्र की उदघोषणा यही है कि तुम धर्म की चिंता में मत पड़ना। परमात्मा को पाने के लिए कुछ भी करना जरूरी नहीं है; वह मिला ही हुआ है। मोक्ष कहीं भविष्य में नहीं है--मोक्ष अभी और यहीं है। मोक्ष, तुम्हारी चाह से शून्य अवस्था का नाम है।

वैरिणं काममम्...।

काम है शत्रु क्योंकि वह तृप्त न होने देगा। शत्रु तो वही न जो तृप्त न होने दे! यह शत्रु का अर्थ समझो। मित्र तो वही न जो तृप्ति दे, विश्रांति दे, जिसके पास बैठकर आराम मिले! जिसके पास बैठकर सुख हो--मित्र वही। जिसके साथ रहकर दुख ही दुख हो; जिसकी दोस्ती में सिवाय कांटों के कभी कुछ और न मिले; जो फूलों का भरोसा दे, लेकिन परिणाम में हमेशा कांटे हाथ आएं--शत्रु।

वैरिणं काममम् अनर्थसंकुलम् अर्थम्!

और अष्टावक्र कहते हैं: जिसको तुम अर्थ कहते हो, वह अनर्थ है। जिसको तुम धन कहते हो, अर्थ, अर्थशास्त्र, इक्नामिक्स, वह अनर्थ का शास्त्र है। दुनिया में जितना अनर्थ हो रहा है, वह धन के कारण होता है। इसलिए कुछ दुनिया के विचारक तो इस सीमा तक पहुंच गए कि उन्होंने कहा: जब तक दुनिया में धन है, तब तक शांति नहीं हो सकती।

तुमने निन्यानबे के चक्कर की कहानी पढ़ी है न, वह अनर्थ की घटना है। कहानी सीधी-साफ है, सरल है; मनुष्य को ठीक से प्रगट करती है।

एक सम्राट का एक नौकर था, नाई था उसका। वह उसकी मालिश करता, हजामत बनाता। सम्राट बड़ा हैरान होता था कि वह हमेशा प्रसन्न, बड़ा आनंदित, बड़ा मस्त! उसको एक रुपया रोज मिलता था। बस, एक रुपया रोज में वह खूब खाता-पीता, मित्रों को भी खिलाता-पिलाता। सस्ते जमाने की बात होगी। रात जब सोता तो उसके पास एक पैसा न होता; वह निश्चिंत सोता। सुबह एक रुपया फिर उसे मिल जाता मालिश करके। वह बड़ा खुश था! इतना खुश था कि सम्राट को उससे र्ा होने लगी। सम्राट भी इतना खुश नहीं था। खुशी कहां! उदासी और चिंताओं के बोझ और पहाड़ उसके सिर पर थे। उसने पूछा नाई से कि तेरी प्रसन्नता का राज क्या है? उसने कहा, मैं तो कुछ जानता नहीं, मैं कोई बड़ा बुद्धिमान नहीं। लेकिन, जैसे आप मुझे प्रसन्न देख कर चकित होते हैं, मैं आपको देख कर चकित होता हूं कि आपके दुखी होने का कारण क्या है? मेरे पास तो कुछ भी नहीं है और मैं सुखी हूं; आपके पास सब है, और आप सुखी नहीं! आप मुझे ज्यादा हैरानी में डाल देते हैं। मैं तो प्रसन्न हूं, क्योंकि प्रसन्न होना स्वाभाविक है, और होने को है ही क्या?

वजीर से पूछा सम्राट ने एक दिन कि इसका राज खोजना पड़ेगा। यह नाई इतना प्रसन्न है कि मेरे मन में र् ईष्या की आग जलती है कि इससे तो बेहतर नाई ही होते। यह सम्राट हो कर क्यों फंस गए? न रात नींद आती, न दिन चैन है; और रोज चिंताएं बढ़ती ही चली जाती हैं। घटना तो दूर, एक समस्या हल करो, दस खड़ी हो जाती हैं। तो नाई ही हो जाते।

वजीर ने कहा, आप घबड़ाएं मत। मैं उस नाई को दुरुस्त किए देता हूं।

वजीर तो गणित में कुशल था। सम्राट ने कहा, क्या करोगे? उसने कहा, कुछ नहीं। आप एक-दो-चार दिन में देखेंगे। वह एक निन्यानबे रुपये एक थैली में रख कर रात नाई के घर में फेंक आया। जब सुबह नाई उठा, तो उसने निन्यानबे गिने, बस वह चिंतित हो गया। उसने कहा, बस एक रुपया आज मिल जाए, तो आज उपवास ही रखेंगे, सौ पूरे कर लेंगे!

बस, उपद्रव शुरू हो गया। कभी उसने इकट्ठा करने का सोचा न था, इकट्ठा करने की सुविधा भी न थी। एक रुपया मिलता था, वह पर्याप्त था जरूरतों के लिए। कल की उसने कभी चिंता ही न की थी। "कल" उसके

मन में कभी छाया ही न डालता था; वह आज में ही जीया था। आज पहली दफा "कल" उठा। निन्यानबे पास में थे, सौ करने में देर ही क्या थी! सिर्फ एक दिन तकलीफ उठानी थी कि सौ हो जाएंगे। उसने दूसरे दिन उपवास कर दिया। लेकिन, जब दूसरे दिन वह आया सम्राट के पैर दबाने, तो वह मस्ती न थी, उदास था, चिंता में पड़ा था, कोई गणित चल रहा था। सम्राट ने पूछा, आज बड़े चिंतित मालूम होते हो? मामला क्या है?

उसने कहा: नहीं हजूर, कुछ भी नहीं, कुछ नहीं सब ठीक है।

मगर आज बात में वह सुगंध न थी जो सदा होती थी। "सब ठीक है"--ऐसे कह रहा था जैसे सभी कहते हैं, सब ठीक है। जब पहले कहता था तो सब ठीक था ही। आज औपचारिक कह रहा था।

सम्राट ने कहा, नहीं मैं न मानूंगा। तुम उदास दिखते हो, तुम्हारी आंख में रौनक नहीं। तुम रात सोए ठीक से?

उसने कहा, अब आप पूछते हैं तो आपसे झूठ कैसे बोलूं! रात नहीं सो पाया। लेकिन सब ठीक हो जाएगा, एक दिन की बात है। आप घबड़ाएं मत।

लेकिन वह चिंता उसकी रोज बढ़ती गई। सौ पूरे हो गए, तो वह सोचने लगा कि अब सौ तो हो ही गए; अब धीरे-धीरे इकट्ठा कर लें, तो कभी दो सौ हो जाएंगे। अब एक-एक कदम उठने लगा। वह पंद्रह दिन में बिलकुल ही ढीला-ढाला हो गया, उसकी सब खुशी चली गई। सम्राट ने कहा, अब तू बता ही दे सच-सच, मामला क्या है? मेरे वजीर ने कुछ किया?

तब वह चौंका। नाई बोला, क्या मतलब? आपका वजीर...? अच्छा, तो अब मैं समझा। अचानक मेरे घर में एक थैली पड़ी मिली मुझे--निन्यानबे रुपए। बस, उसी दिन से मैं मुश्किल में पड़ गया हूं। निन्यानबे का फेर!

सारे अनर्थ की जड़ में कहीं अर्थ है। दुनिया में आज पर्याप्त संपत्ति है कि सभी लोग सुखी हो सकें। लेकिन कब्जा करने वालों की दौड़ इतनी है, मालकियत का नशा इतना है कि यह असंभव है, यह हो नहीं सकता। दुनिया आज इतनी संपन्न हो सकती है कि कोई आदमी दुखी न हो; किसी को रोटी, रोजी, कपड़े की कोई तकलीफ न हो; दवा, छप्पर का कोई अभाव न हो--लेकिन यह हो नहीं सकता। क्योंकि कुछ लोग बिलकुल दीवाने हैं और पागल हैं। उनका एक ही रस है जीवन में--ढेर लगाना धन का। यह आब्सेशन है, यह एक विक्षिप्त चित्त की दशा है। कितनी हत्याएं, कितने युद्ध--वे सभी अर्थ के कारण हैं! कितनी राजनीति--वह सब अर्थ के कारण है।

टालस्टॉय ने लिखा है कि दुनिया में शांति न होगी, जब तक सिक्के चलते रहेंगे। शायद, दुनिया में ऐसा तो कभी नहीं होगा कि सिक्के न चलें। क्योंकि वह भी अड़चन का कारण होगा, बहुत अड़चन हो जाएगी खड़ी। आज तो हम सोच ही नहीं सकते कि आदमी बिना सिक्के के रह सकता है। इसलिए टालस्टॉय जैसे अराजकवादियों की बात कभी सुनी जाएगी, यह तो ठीक नहीं है। और मैं मानता भी नहीं कि सुनी जानी चाहिए। लेकिन सिक्कों के पागलपन से आदमी का छुटकारा हो सकता है।

खयाल करें, जिस आदमी को धन के पीछे तुम दौड़ते पाओगे, उस आदमी को अगर गौर से देखो तो एक बात तुम्हें पक्की मिलेगी, उस आदमी के जीवन में प्रेम न मिलेगा। कृपण प्रेमी नहीं होता--हो ही नहीं सकता! और प्रेमी कभी कृपण नहीं होता। तो ऐसा लगता है, जितना जीवन में प्रेम होता है, धन का पागलपन उतना ही कम होता है। और जितना जीवन में प्रेम कम होता है, धन का पागलपन उतना ही ज्यादा होता है। धन प्रेम की परिपूर्ति है। हृदय प्रेम से खाली रह गया है तो किसी चीज से भरना होगा। वह जो भीतर की रिक्तता है, घबड़ाती है, डर पैदा होता है कि मैं भीतर खाली-खाली, भर लूं किसी चीज से!

मनस्विद कहते हैं कि बच्चा जब पहली दफे पैदा होता है, तो उसके जीवन में जो पहली महत्वपूर्ण घटना घटती है, वह है मां का स्तन। और मां के स्तन से दो चीजें साथ-साथ बहती हैं उस बच्चे में--प्रेम और दूध। अगर

मां बच्चे को प्रेम करती है तो बच्चा कभी बहुत फिक्र नहीं करता कि ज्यादा दूध पी ले। सच तो यह है कि मां बच्चे को प्रेम करती है तो बच्चे को बहुत फुसलाना पड़ता है, समझाना पड़ता है, तब वह दूध पीता है। वह फिक्र ही नहीं करता दूध वगैरह पीने की। वह इतना भरा रहता है प्रेम से कि दूध से भरने की इच्छा पैदा नहीं होती। अगर बच्चे को शक हो जाए कि मां प्रेम नहीं करती, या सौतेली मां है, या नर्स है, या मां की उपेक्षा है; चाहती नहीं थी, बच्चा जबर्दस्ती पैदा हो गया है; बर्थ-कंट्रोल की टिकिया शायद काम नहीं कर सकी, इसलिए पैदा हो गया है; एक तिरस्कार है--तो बच्चा जल्दी ही समझ जाता है, फिर वह बहुत दूध पीने लगता है। क्योंकि घड़ी भर बाद दूध मिलेगा या नहीं, इसका भरोसा नहीं। कल की चिंता पकड़ लेती है। तो वह मां के स्तन से लगा ही रहता है। और जितना वह ज्यादा पीता है, उतना मां हटाती है उसको कि हो गया बहुत। जितना मां कहती है, हो गया बहुत, हटो--उतना ही उसको घबड़ाहट पैदा होती है भविष्य की: इकट्ठा कर लूं, दूध को इकट्ठा कर लूं, जितना हो सके इकट्ठा कर लूं!

तुमने देखा, गरीब बच्चों के पेट बड़े मिलेंगे, अमीर घर के बच्चों के पेट बड़े नहीं मिलेंगे। गरीब बच्चों के शरीर तो दुबले हो जाएंगे, पेट खूब बड़ा हो जाएगा। यह सबूत है कि बच्चा डरा है; कल रोटी मिलेगी या नहीं, इसका कुछ पक्का नहीं है। फिर यही भय पूरे जीवन पर फैल जाता है।

धन यानी रोटी। धन यानी दूध। धन यानी कल का भरोसा। धन यानी कल की सुरक्षा।

आदमी बैंक में बैलेंस रखता है, इंश्योरेंस करवाता है--वह कल का इंतजाम कर रहा है। वह यह कह रहा है, कल की फिक्र नहीं रहेगी। कल बूढ़े हो जाएं, बीमार हो जाएं--कोई फिक्र नहीं, पैसा पास में है तो सब सुरक्षा है। वह कहता है, प्रेम न भी हो तो चलेगा; पैसा तो होना ही चाहिए। प्रेम को क्या खाओगे, पीयोगे--क्या करोगे? फिर वह कहता है कि पैसा होगा तो प्रेम तो बहुत मिल जाएगा। जिसको पैसे का पागलपन होता है, वह सोचता है हर चीज पैसे से खरीदी जा सकती है।

नहीं, जीवन में कुछ महत्वपूर्ण चीजें हैं, जो पैसे से नहीं खरीदी जा सकतीं। सच तो यह है, जो भी महत्वपूर्ण है वह पैसे से नहीं खरीदा जा सकता--न प्रेम, न प्रार्थना, न परमात्मा। जीवन में जो क्षुद्र है और व्यर्थ है, वही पैसे से खरीदा जा सकता है। पैसा स्वयं क्षुद्र है। क्षुद्र से क्षुद्र ही मिल सकता है।

तो आदमी इकट्ठा करता जाता है। वह कहता है: प्रेम कल कर लेंगे, आज तो पैसा इकट्ठा कर लूं। कल निश्चिंत हो जाएंगे, फिर प्रेम कर लेंगे, फिर गीत गा लेंगे, फिर वीणा बजा लेंगे, फिर विश्राम करेंगे--आज तो कमा लूं! कल को हम कहते हैं, छोड़ो; आज कमा कर कल का इंतजाम कर लें। कल भी आज की तरह आएगा। फिर भी तुम यही करते रहोगे कि कल के लिए कमा लें, कल के लिए कमा लें। एक दिन मौत आ जाती है और कल कभी नहीं आता। धन का ढेर बाहर लग जाता है, और तुम नंगे भिखारी हो जाते हो। धन का ढेर लग जाता है, भीतर निर्धनता गहरी हो जाती है; भीतर घाव ही घाव हो जाते हैं। धीरे-धीरे तुम प्रेम करना भूल ही जाते हो।

धन, अर्थ अनर्थ है। इसे पहचानना। मैं तुमसे यह नहीं कह रहा हूं कि धन को छोड़ कर भाग जाओ। मैं तुमसे सिर्फ इतना कह रहा हूं कि जाग जाओ। धन का उपयोग है। मैं कोई अराजकवादी नहीं हूं और न धन-विरोधी हूं। धन का उपयोग है। धन की बाह्य उपयोगिता है। लेकिन धन से अपने को भरने की चेष्टा मत करना; वह नहीं हो सकता; वह असंभव है। असंभव को करोगे तो जीवन नष्ट हो जाएगा, अनर्थ हो जाएगा।

धन से कुछ चीजें मिलती हैं, जरूर मिलती हैं--और उन चीजों का मूल्य भी है; लेकिन उन चीजों से कोई तृप्ति नहीं मिलती।

जीसस का वचन है: मैन कैन नॉट लिव बाइ ब्रेड अलोन। आदमी अकेली रोटी से नहीं जी सकता। दूसरा वचन भी जोड़ा जा सकता है कि आदमी बिना रोटी के भी नहीं जी सकता; वह भी सच है। रोटी चाहिए, लेकिन रोटी पर्याप्त नहीं है; रोटी से कुछ ज्यादा चाहिए। जिस दिन तुमने समझा कि धन पर्याप्त है, उस दिन अनर्थ

हुआ। जब तक तुमने समझा कि धन की उपयोगिता है एक सीमा तक और तुम सीमा के भीतर सजग रहे--फिर कोई हर्ज नहीं है। तो तुमने धन का उपयोग किया और धन ने तुम्हारा उपयोग नहीं किया। तुम मालिक रहे और धन मालिक न हुआ। संक्षिप्त में कहें तो ऐसा कह सकते हैं: जब अर्थ तुम्हारा मालिक हो जाए तो अनर्थ हो गया। जब अर्थ के तुम मालिक होते हो--तब अर्थ, अन्यथा अनर्थ।

वैरिणम् कामम् अनर्थसंकुलम् अर्थम्, एतयोः

हेतुम् धर्मम् अपि विहाय सर्वत्र अनादरम् कुरु।

और इन सबके भीतर--यह सूत्र बड़ा क्रांतिकारी है--और इन सबके भीतर, सबका मूलरूप कारण, सारे अनर्थ, काम और धन की दौड़ के पीछे जो मूल कारण है, वह धर्म है। यह तुम चौंकोगे सुन कर। क्योंकि तुमने सदा यही सुना है कि धर्म तो त्राण है, कि धर्म तो नाव है जिसमें बैठ कर हम उस पार उतर जाएंगे। और अष्टावक्र कहते हैं, इन दोनों का कारण-रूप धर्म है। इस सारे उपद्रव का कारण धर्म है। क्यों?

धर्म का अर्थ है कि मोक्ष पाना है। धर्म का अर्थ है कि मोक्ष पाने के लिए कुछ करना है। यह मूल कारण है उपद्रव का। तृप्ति के लिए कुछ करना है--फिर उसी से अर्थ भी पैदा होता है, उसी से काम भी पैदा होता है। मोक्ष की उदघोषणा यह है कि कुछ करना नहीं है, तुम मुक्त पैदा हुए हो। इस क्षण अभी और यहीं मोक्ष तुम्हारा स्वभाव है। तुम्हारी उदघोषणा की भर बात है। तुम जब चाहो घोषणा कर दो--और उसी क्षण से आनंद की वर्षा हो जाएगी। समझने की कोशिश करो।

साधारणतः हम चीजों को हमेशा दो में बांट देते हैं--साधन और साध्य। साध्य होता है भविष्य में, साधन होता है अभी। मोक्ष के संबंध में या परमात्मा के संबंध में बात उल्टी है। मोक्ष अभी है, यहीं है। किसी साधन की कोई जरूरत नहीं है--सिर्फ जागना है। सिर्फ आंख खोल कर देखना है--सूरज निकला हुआ है। रात कहीं भी नहीं; तुम पलक बंद करके बैठे हो, इसलिए अंधेरा मालूम हो रहा है।

किसी साधन की कोई भी जरूरत नहीं है, क्योंकि साधन का तो मतलब यह होगा कि आज तैयारी करेंगे, तब कल मिलेगा। यह तो फिर वही दौड़ शुरू हो गई। आज धन कमाएंगे तो कल धनी होंगे। आज स्त्री खोजेंगे, तो कल मिलेगी। यह तो फिर परमात्मा के नाम पर भी वही दौड़ शुरू हो गई।

नहीं, परमात्मा आज है! संसार कल है और परमात्मा आज है: संसार में सदा दौड़ है और परमात्मा सदा मंजिल है। संसार मार्ग है और परमात्मा लक्ष्य है। वह लक्ष्य मौजूद ही है; तुम्हें कहीं जाना भी नहीं। तुम उसी में घिरे बैठे हो। वही तुम्हारे भीतर है और वही तुम्हारे बाहर है।

"तू सबकी उपेक्षा कर, अनादर कर। सर्वत्र! अर्थ, काम और धर्म, इन तीनों का तू अनादर कर। तेरे मन से साधन-मात्र अनादृत हो जाएं।"

ये तीनों साधन हैं। इन तीनों का अनादर हो जाए, तो जो शेष रह जाएगा वही मोक्ष है।

"मित्र, खेत, धन, मकान, स्त्री, भाई आदि संपदा को तू स्वप्न और इंद्रजाल के समान देख, जो तीन या पांच दिन ही टिकते हैं।"

इस जगत में जो भी हम पकड़ लेते हैं और जिसको भी हम सोचते हैं कि इससे हमें सुख मिलेगा--अष्टावक्र कहते हैं--वह द्रष्ट-नष्ट है, देखते-देखते ही नष्ट हो जाता है, स्वप्न जैसा है! जब होता है तो सच लगता है; जब खो जाता है तब बड़ी हैरानी होती है।

तुमने देखा, स्वप्न का यह स्वभाव देखा! रोज रात देखते हो, रोज सुबह जाग कर पाते हो झूठा था। और फिर जब रात सोते हो दूसरे दिन, तो फिर उस झूठ में पड़ जाते हो। फिर रात वही सपना फिर ठीक मालूम होने लगता है। सपने में तुम्हें कभी संदेह उठता ही नहीं। सपने में मैंने नास्तिक देखा ही नहीं, सपने में सभी आस्तिक हैं। सपने में संदेह उठता ही नहीं, भ्रम उठता ही नहीं, शक उठता ही नहीं। सपने में तो बिलकुल श्रद्धा रहती है। बड़े आश्चर्यजनक लोग हैं!

अगर तुम सपने में देख रहे हो कि अचानक एक घोड़ा चला आ रहा है, पास आ कर अचानक तुम्हारी पत्नी बन गया है या पति बन गया है, तो भी तुम्हारा मन यह नहीं कहता कि यह कैसे हो सकता है! तुम स्वीकार करते हो। जरा भी, रंचमात्र भी संदेह नहीं उठता। कुछ भी घटना घट सकती है। तुम सपने में आकाश में उड़ते हो, तुम शक भी नहीं करते कि मैं आकाश में कैसे उड़ सकता हूं! यह कैसे संभव है! तुम विराट हो जाते हो सपने में, सारा आकाश भर देते हो, कि बड़े छोटे हो जाते हो, कि चींटी से भी छोटे हो जाते हो कि दिखाई भी नहीं पड़ते, तो भी तुम्हें शक नहीं होता। सुबह जाग कर तुम हंसते हो कि क्या-क्या पागलपन देखा! सपने में सपना सच हो जाता है।

"मित्र, खेत, धन, मकान, स्त्री, भाई आदि संपदा को तू स्वप्न और इंद्रजाल के समान देख, जो तीन या पांच दिन ही टिकते हैं।"

भारत में सत्य की एक परिभाषा है और वह परिभाषा है: जो तीनों काल में टिके; त्रिकाल- अबाधित; कभी भी जिसका खंडन न हो; जो पहले भी था, अभी भी है और फिर भी होगा; जो शाश्वत है--वही सत्य है। जो कल नहीं था, आज है, और कल फिर नहीं हो जाएगा--उसे भारत असत्य कहता है।

भारत की इस परिभाषा को ठीक खयाल में लेना। यहां सत्य की परिभाषा ही यही है कि जो अबाधित रूप से रहे, जैसा था वैसा ही रहे। क्यों? जो कल नहीं था, आज है, और कल फिर नहीं हो जाएगा--इसका तो अर्थ हुआ कि दो "नहीं" के बीच में होना घट सकता है। एक दिन था तुम नहीं थे, जन्म नहीं हुआ था; एक दिन आएगा कि तुम मर जाओगे, मौत हो जाएगी। दो "नहीं" और उन दोनों के बीच में जिसको तुम जीवन कहते हो यह है। यह तो स्वप्नवत है--चाहे सत्तर साल देखो, चाहे सात सौ साल देखो, इससे कोई फर्क नहीं पड़ता। लंबाई से कुछ भेद नहीं पड़ता। जो सदा है...।

त्रिकालाबाध्यत्वे सत्यत्वम्।

"जो तीनों काल में अबाधित रहे, वही सत्य है।"

भारतीय मनोविज्ञान मनुष्य की चेतना की चार अवस्थाएं कहता है। तीन तो अवस्थाएं हैं, चौथा स्वभाव है। जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति--तीन तो अवस्थाएं हैं; और साक्षी, तुरीय, चतुर्थ स्वभाव है। जागते में तुम एक दुनिया देखते हो। जब तुम सो जाते हो और सपने में पड़ते हो तो जागने की दुनिया झूठ हो जाती है। तुम ठीक अपनी पत्नी के पास सो रहे हो बिस्तर पर, लेकिन पत्नी झूठ हो गई जब तुम सो गए। तुम्हें सोने में पत्नी की कभी याद नहीं आती। तुम यह सोचते ही नहीं इस भाषा में कि वह मेरी पत्नी है। जब तुम सो गए तो बच्चे, तुम्हारा मकान, तुम गरीब हो कि अमीर, प्रतिष्ठित हो कि अप्रतिष्ठित, साधु हो कि संत, कि असाधु कि असंत, सब खो गया। जागना एक सपना था। जब दूसरा सपना शुरू हुआ; जागने का सपना खो गया।

फिर सुबह जब सपना टूटता है फिर दूसरा सपना शुरू हुआ। सपने में जो देखा था, वह अब खो गया। जब रात में गहरी नींद लगती है और सपना भी खो जाता है--तब जाग्रत में जो जाना, वह भी समाप्त हो गया; सपने में जो जाना, वह भी समाप्त हो गया। सुषुप्ति में दोनों ही खंडित हो गए। और जो लोग चौथी अवस्था को उपलब्ध होते हैं--चौथी, जो कि तुम्हारा निज-स्वरूप है; कहो बुद्धत्व, साक्षी-भाव, जिनत्व, जो भी नाम देना हो--जो उस चौथी शुद्ध अवस्था को उपलब्ध होते हैं, जहां परम जागरण रह जाता है, उनको पता चलता है कि वे तीनों अवस्थाएं खंडित हो गईं। स्वप्न, सुषुप्ति, जागृति--सब खंडित हो गए; कुछ और ही अनुभव में आता है। ब्रह्म ही ब्रह्म अनुभव में आता है। कहीं कोई संसार नहीं दिखाई पड़ता, कहीं कोई दूजा नहीं दिखाई पड़ता। अपना ही फैलाव मालूम होता है। न कोई मैं बचता, न कोई तू बचता।

तो भारत कहता है: साक्षी-भाव में जो जाना जाता है, वही केवल सत्य है; उसका फिर कभी खंडन नहीं होता। यह जगत जिसको हम सत्य मान बैठे हैं--भारतीय मनीषा कहती है--इस जगत की परिभाषा: गच्छतीति

जगत! जो जा रहा है--जगत। जो गया-गया है--जगत। जो जा ही चुका है, जो जाने के किनारे खड़ा है--जगत। जगत का अर्थ है: जो अथिर है, जो थिर नहीं; जो नदी की धार की तरह बहा जा रहा है; जहां सब परिवर्तन ही परिवर्तन है और कुछ भी शाश्वत नहीं। जहां परिवर्तन है, वहां असत्य। और जहां अपरिवर्तित के दर्शन होते हैं, शाश्वत की प्रतीति होती है--वहीं सत्य। गच्छतीति जगत--जो भागा जा रहा है! जैसे आकाश में धुएं के बादल बनते हैं और मिटते हैं और रूप खड़े होते हैं और बिखरते हैं, क्षण भर भी कुछ ठहरा हुआ नहीं है--वैसा जगत! कोई गिर रहा, कोई उठ रहा; कोई जीत रहा, कोई हार रहा! जो हार रहा है, वह कल जीत सकता है। जो अभी जीत रहा है, वह कल हार सकता है। यहां कुछ भी पक्का नहीं है, यहां सब चीजें बदली जा रही हैं। समुद्र की लहरें हैं! इसमें जिसने सत्य को खोजना चाहा, वह खाली हाथों मरता है।

इस सारी बदलाहट के बीच, क्या तुम्हें कभी भी थोड़ा स्मरण आता है कि कोई ऐसी चीज है जो बिना बदली है? उस बिना बदले को ही हम आत्मा कहते हैं। दिन में तुम जागते हो--संसार--एक बात। यह जो भीतर तुम्हारे बैठा देखता है संसार को--यह दूसरी बात है। रात तुम सपने में सो जाते हो, सपना देखते हो, तब भी दो चीजें रहती हैं--सपना और तुम। फिर तुम गहरी नींद में पड़ जाते हो, तब भी दो चीजें रहती हैं--तुम और गहरी नींद। गहरी नींद कभी सपना बन जाती है, सपना कभी गहरी नींद बन जाता है। सपने से कभी जाग आते हो, दुनिया आ जाती है, फिर दुनिया खो जाती है; लेकिन एक चीज शाश्वत बनी रहती है--तुम्हारा साक्षी-भाव, तुम्हारा द्रष्टा-भाव, तुम्हारी अंतर्दृष्टि।

तुमने देखा, गहरी नींद से भी उठ कर आदमी कहता है, रात बड़ी गहरी नींद आई, बड़ी आनंदपूर्ण नींद आई! पूछो उससे, अगर नींद पूरी लग गई थी तो यह पता किसको चला? यह किसने जाना? यह कौन खबर दे रहा है? जरूर तुम्हारे भीतर कोई था जो देखता रहा कि गहरी नींद लगी, बड़ी आनंदपूर्ण नींद लगी! किसी ने इसका प्रत्यक्ष किया है--वही तुम हो। और सब तो बदलता है, सिर्फ साक्षी नहीं बदलता।

तुम छोटे बच्चे थे, फिर तुम जवान हो गए, फिर तुम बूढ़े हो गए; कभी स्वस्थ थे, अब जीर्ण-जर्जर हो गए, खंडहर हो गए--लेकिन एक तुम्हारे भीतर अखंड, अबाध वैसा का वैसा बना है--वह द्रष्टा, साक्षी। एक दिन उसने देखा बच्चे जैसी देह है, एक दिन उसने देखा जवान हो गए; एक दिन उसने देखा, बूढ़े होने लगे; एक दिन उसने देखा, जीर्ण-जर्जर हो गए।

अगर तुम खयाल कर पाओ कि तुम्हारे भीतर यह साक्षी का जो अनस्यूत धागा है, इस पर हजारों घटनाएं घटी हैं, मगर यह वैसा का वैसा बना रहा है। सब इसके सामने आया और गया है। सब खेल इसके सामने चला है। यह सबसे पार, दूर अछूता, निष्कलुष मौजूद रहा है। यह मौजूदगी ही एकमात्र सत्य है।

"जहां-जहां तृष्णा हो, वहां-वहां ही संसार जान। प्रौढ़ वैराग्य को आश्रय करके वीततृष्णा हो।"

यत्र यत्र भवेत्तृष्णा संसार विद्धि तत्र वै।
प्रौढ़वैराग्यमाश्रित्य वीततृष्णः सुखी भव।।

प्रौढ़ वैराग्य! कच्चा वैराग्य खतरनाक है। पका वैराग्य! क्या फर्क है कच्चे और पके वैराग्य में? एक तो वैराग्य है जो तुम किसी की बातें सुन कर ले लो। किसी साधु-सत्संग में वैराग्य की चर्चा चलती हो, वैराग्य के अनूठे अनुभवों की बात होती हो--तुम्हारा लोभ जग जाए। वैराग्य के आनंद की प्रशस्ति गायी जा रही हो, कोई समाधि के सुख का वर्णन कर रहा हो--और तुम्हारे भीतर वासना जग जाए कि ऐसा आनंद हमें भी मिले, ऐसा सुख हम भी पाएं, ऐसी परम रसपूर्ण अवस्था हमारी भी हो! और इस कारण तुम वैराग्य ले लो, तो कच्चा वैराग्य। यह टिकेगा नहीं, यह तुम्हें बड़े खतरे में डालेगा। तुम अभी पके न थे, कच्चे तोड़ लिए गए। कच्चा फल टूट जाए तो वृक्ष को भी पीड़ा होती है, फल को भी पीड़ा होती है।

और कच्चा फल कच्चा है, इसलिए कुछ अनुभव घटेगा नहीं। जो पके फल को घटा है, वह कच्चे को घट नहीं सकता; क्योंकि वह पकने में ही घटता है। जब पका फल वृक्ष से गिरता है तो कभी किसी को पता भी नहीं चलता कब गिर गया, चुपचाप! न वृक्ष पर घाव छूटता, न पके फल को कोई पीड़ा होती--चुपचाप सरक जाता है। हवा का झोंका भी न आया हो और चुपचाप सरक जाता है।

पका वैराग्य, प्रौढ़ वैराग्य--यह शब्द बहुत बहुमूल्य है--प्रौढ़ वैराग्य का अर्थ है: जीवन की असारता को अनुभव करके जो वैराग्य जन्मे। वैराग्य का गीत सुन कर, वैराग्य की प्रशस्ति सुन कर, जो लोभ के कारण वैराग्य आ जाए, तो वह कच्चा संन्यास है--उससे बचना, उसका कोई भी मूल्य नहीं; वह बड़े खतरे में डाल देगा। वह तुम्हें संसार का अनुभव भी न करने देगा और समाधि तक भी न जाने देगा; तुम बीच में अटक जाओगे त्रिशंकु की भांति। प्रौढ़ वैराग्य--संसार का ठीक-ठीक अनुभव करके, अपने ही अनुभव से जान कर।

बुद्ध तो कहते हैं: संसार दुख है। और अष्टावक्र कहते हैं कि काम शत्रु है। और महावीर कहते हैं: अर्थ में सिर्फ अनर्थ है। मगर यह वे कहते हैं, यह तुमने नहीं जाना। इनकी सुन कर एकदम चल मत पड़ना; अनुयायी मत बन जाना, नहीं तो खतरा होगा। तुम्हारे पास अपनी आंखें नहीं हैं--तुम कहीं न कहीं खाई, खड्डे में गिरोगे। इनकी बात समझना और जीवन की कसौटी पर कसना। अनुयायी मत बनना, अनुभव से सीखना। ये कहते हैं, तो ठीक ही कहते होंगे; इस पर विश्वास कर लेने की कोई जरूरत नहीं है। ये कहते हैं तो ठीक ही कहते होंगे इस पर अविश्वास करने की भी कोई जरूरत नहीं है, लेकिन इस पर प्रयोग करने की जरूरत है। ये जो कहते हैं, उसे जीवन में उतारना, देखना। देखना अपनी वासना को। अगर तुम्हारा भी यही निष्कर्ष हो, तुम्हारा अवलोकन भी यही कहे कि बुद्ध ठीक कहते हैं, अष्टावक्र ठीक कहते हैं...लेकिन निर्णायक तुम्हारा अनुभव हो, बुद्ध का कहना नहीं। बुद्ध गवाह हों। मौलिक निष्पत्ति तुम्हारी अपनी हो। फिर तुम्हारे जीवन में जो वैराग्य होगा, वह प्रौढ़ वैराग्य है।

"जहां-जहां तृष्णा हो, वहां-वहां संसार जान।"

अगर मोक्ष की भी तृष्णा हो, तो वह भी संसार है। इसलिए धर्म को भी कहा, त्याग कर देना।

"प्रौढ़ वैराग्य को आश्रय करके वीततृष्णा हो।"

प्रौढ़वैराग्यमाश्रित्य वीततृष्णः सुखी भव।

अभी हो जा सुख को उपलब्ध! लेकिन पहले वैराग्य को प्रौढ़ हो जाने दे।

यत्र यत्र तृष्णा भवेत तत्र संसारम् विधि वै।

जहां-जहां है वासना, वहां-वहां संसार। समझना। वासना संसार है, इसलिए संसार को छोड़ने से कुछ भी न होगा। वासना छोड़ने से सब कुछ होगा। संसार तो वासना के कारण निर्मित होता है। तुम संसार से भाग गए तो कुछ लाभ नहीं। वासना साथ रही तो नया संसार निर्मित हो जाएगा। जहां तुम होओगे, वहीं ब्लूप्रिंट तुम्हारे पास है, फिर तुम खड़ा कर लोगे। उससे तुम बच न पाओगे। उसका बीज तुम्हारे भीतर है।

वासना बीज है, संसार वृक्ष है। बीज को दग्ध करो, वृक्ष से मत लड़ने में लग जाना।

...तत्र संसारम् विद्धि वै।

प्रौढ़ वैराग्यम् आश्रित्य वीततृष्णः सुखी भव।।

और प्रौढ़ता को उपलब्ध हो!

इसलिए कच्चे-कच्चे भागो मत। गैर अनुभव में भागो मत। भगोड़े मत बनो। पलायनवादी मत बनो। जीवन की गहराई में, सघन में खड़े हो कर, जीवन को सब तरह जान कर...। कामवासना में उतर कर ही तुम कामवासना से मुक्त हो सकोगे। कामवासना की गहराइयों में उतर कर ही तुम जान पाओगे व्यर्थता। धन की दौड़ में दौड़ कर ही तुम पाओगे: मिलता कुछ भी नहीं। महत्वाकांक्षा में जी कर ही तुम्हें पता चलेगा कि सिर्फ

दग्ध करती है महत्वाकांक्षा, जलाती है; ज्वर है, सन्निपात है। राजनीति में पड़ कर ही तुम जानोगे कि राजनीति रोग है, विक्षिप्तता है, पागलपन है।

जीवन को अनुभव से पकने दो। और जब जीवन का अनुभव तुम्हारा कह दे, तो फिर वैराग्य सहज घट जाएगा; जैसे पका फल गिर जाता है।

"मात्र तृष्णा ही बंध है और उसका नाश मोक्ष कहा जाता है। और संसार-मात्र में असंग होने से निरंतर आत्मा की प्राप्ति और तुष्टि होती है।"

तृष्णामात्रात्मको बंधस्तन्नाशो मोक्ष उच्यते।
भवासंसक्तिमात्रेण प्राप्तितुष्टिर्मुहुर्मुहुः।।
यह सूत्र बड़ा विचारणीय है।

"मात्र तृष्णा बंध है!"

जब तक तुम कुछ भी चाहते हो, तब तक जानना बंधे रहोगे। ईश्वर को भी चाहा तो बंधे रहोगे।

कल ही "गुणा" ने एक प्रश्न लिख कर मुझे भेजा है कि मैं तो आपको कभी नहीं छोड़ सकती और आप कोशिश भी मत करना मुझे छुड़ा देने की। मेरे लिए तो आप सब कुछ हो, मुझे कोई ईश्वर नहीं चाहिए, कोई मोक्ष नहीं चाहिए।

तुम्हें न चाहिए हो और तुम अपनी चाहत में कुछ गलत की मांग भी करो, तो भी मैं गलत का सहयोगी नहीं हो सकता हूं। कितनी ही कठोरता मालूम पड़े, मैं पूरी चेष्टा करूंगा कि तुम मुझसे मुक्त हो जाओ। अन्यथा, मैं तुम्हारा शत्रु हो गया। यह तो फिर चाहत ने नया रूप लिया। यह तो फिर तृष्णा बनी। पति से छूटे, पत्नी से छूटे, तो गुरु से बंध गए; मगर यह तो फिर नया जंजाल हुआ, फिर नई जंजीर बनी।

गुरु तो वही, जो तुम्हें आत्यंतिक जंजीर से मुक्त करवा दे; जो तुम्हें स्वयं से भी मुक्त करवा दे। कठिन लगता है, क्योंकि एक प्रेम जगता है। कठोर लगती है बात, लेकिन तुम्हारी मान कर मैं चलूं, तब तो तुम कभी भी कहीं न पहुंच पाओगे। फिर तो मैं तुम्हारा अनुयायी हुआ। तुम्हें कठोर भी लगे तो भी मैं वही किए चला जाऊंगा जो मुझे करना है। अगर मैं तुमसे कहूं भी कि घबड़ाओ मत, कभी नहीं छुड़ाऊंगा, तो भी तुम मेरा भरोसा मत करना। वह भी सिर्फ इसलिए कह रहा हूं कि कहीं छुड़ाने के पहले ही भाग मत खड़े होना। तो रोके रहूंगा, समझाता रहूंगा कि नहीं, कोई हर्जा नहीं, कहां छुड़ाना है? किसको छुड़ाना है? सदा-सदा तुम्हारे साथ रहूंगा! मगर नीचे से जड़ें काटता रहूंगा। एक दिन अचानक तुम पाओगे कि छुटकारा हो गया। मुझसे भी छुटकारा तो चाहिए ही!

सदगुरु वही है, जो तुम्हें स्वयं से भी मुक्त कर दे। नहीं तो संसार की सारी वासनाएं धीरे-धीरे गुरु पर लग जाती हैं; तुम्हारा मोह गुरु से बन जाता है। फिर तुम उसकी फिक्र में लग जाते हो। फिर मोह कैसे अंधेपन में ले जाता है, कहना कठिन है।

मैं पंजाब जाता था, एक घर में ठहरता था। एक दिन सुबह उठ कर निकला तो देखा गुरु-ग्रंथ साहब--किताब!--को सजा कर रखा हुआ है। सामने दतौन रखी है और एक लोटा पानी भरा रखा है। मैंने पूछा, मामला क्या है? कहते हैं, गुरु-ग्रंथ साहब के लिए दतौन!

अब पागलपन की कोई सीमा होती है! नानक के लिए दी थी दतौन--ठीक, समझ में आता; तुम गुरु-ग्रंथ को दतौन लगा रहे?

लेकिन भक्त यही कर रहे हैं। मूर्ति को सजाते हैं, भोग लगाते हैं, उठाते-बिठाते, नहलाते- सुलाते, न मालूम क्या-क्या करते रहते हैं!

खेल-खिलौनों से कब छूटोगे? छोटे बच्चों जैसी बात हो गई, बचकानी हो गई। छोटे बच्चे अपनी गुड्डा-गुड्डी को सम्हाले फिरते हैं, स्नान करवाते हैं, कपड़े बदलाते हैं, भोजन भी करवाते हैं, सुलाते भी हैं--तुम उनको कहते

हो बचकाने! और तुम रामचंद्र जी के साथ यही कर रहे हो। मगर मोह है। भक्त को लगता है: यह तो भक्ति है, यह तो प्रेम है, यह तो बड़ी ऊंची बात है! यह कितनी ही ऊंची हो, यह तुम्हें कभी भी मुक्त न होने देगी, तुम बंधे ही रह जाओगे।

संसार से छूटना कठिन है, फिर धर्म से छूटना और भी कठिन हो जाता है। सांसारिक संबंधों से छूटना कठिन है, फिर धार्मिक संबंधों से छूटना और भी कठिन हो जाता है। क्योंकि धार्मिक संबंध इतने प्रीतिकर हैं!

अब गुरु और शिष्य का संबंध ऐसा प्रीतिकर है, उसमें कड़वाहट तो है ही नहीं, रस ही रस है। पति-पत्नी तो एक-दूसरे से ऊब भी जाते हैं; बाप-बेटा तो एक-दूसरे से कलह भी कर लेते हैं, झंझट भी हो जाती है--लेकिन गुरु-शिष्य का संबंध तो बड़ा ही मधुर है। वहां न कोई झंझट है, न कोई झगड़ा है, न कोई कलह है, न कोई कांटे हैं। वहां तो रस ही रस है। वहां तो शिष्य भी अपनी ऊंचाई में मिलता है। और गुरु तो अपनी ऊंचाई पर है। तुम जब गुरु के पास आते हो, तब तुम्हारे भीतर जो श्रेष्ठतम है, वह प्रगट होने लगता है। इसलिए मिलन श्रेष्ठ का श्रेष्ठ से होता है। तुम गुरु के पास अपनी गंदी शक्ल ले कर थोड़े ही आते हो। स्नान करके, ताजे हो कर, शुभ मुहूर्त में, पूजा-प्रार्थना के भाव से भरे, तुम गुरु की सन्निधि में आते हो; तुम्हारा शुद्धतम रूप तुम लाते हो। गुरु के श्रेष्ठतम से मिलना है तो जो भी तुम्हारे पास श्रेष्ठतम है, उसे ले कर आते हो। इन दो के बीच जो मिलन होता है, वह तो अति मधुर है। फिर उसमें बंधन पैदा होता है। फिर लगता है: बस, ऐसा ही बना रहे, ऐसा ही चलता रहे, सदा-सदा, यह सपना कभी टूटे न!

लेकिन यह सपना भी टूटना ही चाहिए। शिष्य न तोड़ना चाहे तो भी गुरु को तोड़ना पड़ेगा। शिष्य यह नासमझी कर सकता है, यह कामना कर सकता है--गुरु तो इस कामना को बल नहीं दे सकता।

"मात्र तृष्णा ही बंध है और उसका नाश मोक्ष कहा जाता है।"

तृष्णामात्रात्मकः बंधः तन्नाशः मोक्षः उच्यते।

"और जहां तृष्णा गिर गई, वहीं मोक्ष।"

और संसार-मात्र में असंग होने से निरंतर आत्मा की प्राप्ति और तुष्टि होती है।

भवासंसक्तिमात्रेण मुहुः मुहुः प्राप्तितुष्टिः।

और जैसे-जैसे वासना के गिरने की झलकें आती हैं...जैसे वासना गिरी कि तत्क्षण मोक्ष झलका! ऐसा बार-बार होगा। मुहुः मुहुः! प्राप्ति होगी, तुष्टि होगी! पहले-पहले तो कभी-कभी क्षण भर को वासना सरकेगी, लेकिन उतनी ही देर में आकाश खुल जाएगा और सूरज प्रगट हो जाएगा। जैसे किसी ने मूंदे-मूंदे आंख जरा-सी खोली, फिर बंद कर ली, पुरानी आदतवश आंख फिर बंद हो गई, फिर जरा-सी खोली, फिर बंद कर ली, फिर धीरे-धीरे खोलने के लिए अभ्यस्त हुआ, फिर पूरी आंख खोली--और फिर कभी बंद न की। तो पहले तो बार-बार ऐसा होगा।

"संसार-मात्र में असंग होने से बार-बार आत्मा की प्राप्ति और तुष्टि होती है।"

बार-बार, फिर-फिर, पुनः-पुनः! और रस बार-बार बढ़ता जाता है, क्योंकि आंख बार-बार और भी खुलती जाती है।

जैसे-जैसे सत्य दिखाई पड़ना शुरू होता है, वैसे-वैसे असत्य से सारे संबंध टूटने लगते हैं। जैसे ही दिखाई पड़ गया कि असार असार है, वैसे ही हाथ से मुट्ठी खुल जाती है। जैसे ही दिखा सार सार है, वैसे ही सार को हृदय में संजो लेने की, हृदय को मंजूषा बना लेने की सहज प्रवृत्ति हो जाती है।

"तू एक शुद्ध चैतन्य है, संसार जड़ और असत है, वह अविद्या भी असत है--इस पर भी तू क्या जानने की इच्छा करता है?"

अष्टावक्र कहते हैं: यहां जानने को और कुछ भी नहीं। यहां तीन चीजें हैं: आत्मा है, जगत है और आत्मा और जगत के बीच एक भ्रांत संबंध है, जिसको हम अविद्या कहें, माया कहें, अज्ञान कहें। यहां तीन चीजें हैं:

आत्मा, जगत--भीतर है कुछ हमारे, चैतन्य-मात्र, और बाहर है जड़ता का फैलाव--और दोनों के बीच में एक सेतु है। वह सेतु अगर अविद्या का है, तो हम उलझे हैं। वह सेतु अगर तृष्णा का है, तो हम बंधन में पड़े हैं। वह सेतु अगर मांग का है, याचना का है, तो हम भिखारी बने हैं। और हमें अपनी संपदा का कभी पता न चलेगा। अगर दिखाई पड़ गया कि वह अविद्या, और माया, और सपना, और मूर्च्छा व्यर्थ है और हम जागने लगे, तो बीच से सेतु टूट जाता है: वहां जड़ संसार रह जाता है, यहां चैतन्य आत्मा रह जाती है। जानने को फिर कुछ और नहीं है।

"तू एक शुद्ध चैतन्य है।"

त्वमेकश्चेतनः शुद्धो जडं विश्वमसत्तथा।
अविद्यापि न किंचित्सा का बुभुत्सा तथापि ते।।

त्वम् एकः--तू एक; शुद्धः--शुद्ध; चेतनः--चैतन्य; विश्वं जडं च असत्--और विश्व है जड़, स्वप्नवत। तथा सा अविद्या अपि न किंचित--और जैसा यह जड़ जगत असत है, स्वप्नवत है--इससे जो हमने संबंध बनाए हैं, स्वभावतः वे संबंध सत्य नहीं हो सकते।

असत्य से कैसे सत्य के संबंध हो सकते हैं? रात तुमने एक सपना देखा कि कोहिनूर तुम्हारे सामने रखा है--लड़ते रहें पाकिस्तान, हिंदुस्तान और सब, लेकिन कोहिनूर तुम्हारे सपने में सामने रखा है। कोहिनूर देखते ही तुम्हारा मन हुआ: उठा लूं, रख लूं, अपना बना लूं, छिपा लूं! कोहिनूर देखा--वह तो झूठा है, सपने का है! अब तुम्हारे मन में यह जो भाव उठा--उठा लूं, संभाल लूं, रख लूं, कोई देख न ले, किसी को पता न चल जाए--यह जो भाव उठा, यह कैसे सच हो सकता है? जिसके प्रति उठा है वही असत है, तो जो भाव उठा है वह सत नहीं हो सकता है।

अष्टावक्र कहते हैं: अविद्या अपि न किंचित--और ये जो अविद्या के संबंध हैं, ये भी असार हैं। तथा अपि ते का बुभुत्सा--फिर तू और अब क्या जानना चाहता है? बस, जानना पूरा हो गया। इतना ही जानना है। इति ज्ञानं!

संसार है भागता हुआ! गच्छतीति जगत! परिवर्तन, तरंगों से भरा हुआ! और आत्मा है शाश्वत, निस्तरंग, असंग। और दोनों के बीच में जो संबंध हैं, वे संबंध सब झूठे हैं, अज्ञान के हैं, अविद्या के हैं। कोई कहता है, मेरा बेटा; कोई कहता है, मेरी पत्नी; कोई कहता, मेरा मकान!

मैंने सुना है, एक धनपति के मकान में आग लग गई। धू-धू करके मकान जल रहा है, वह छाती पीट कर रो रहा है। बड़ी भीड़ लग गई है। एक आदमी ने आ कर कहा, "तुम नाहक रो रहे हो। मुझे पक्का पता है, तुम्हारे बेटे ने कल ही शाम यह मकान बेच दिया है।" ऐसा सुनते ही धनपति एकदम प्रसन्न हो गया और उसने कहा: सच! मुझे तो पता ही नहीं। बेटे ने कुछ खबर न दी, बेटा दूसरे गांव गया है।

मगर अब...अब भी मकान जल रहा है, धू-धू करके जल रहा है, और लपटें बड़ी हो गई हैं; लेकिन अब आंसू सूख गए, वह बड़ा प्रसन्न है! तभी बेटा वापिस आया भागा हुआ और उसने कहा कि "क्या खड़े हो? बात उठी थी बेचने की, लेकिन सौदा अभी हुआ नहीं था।" फिर रोने लगा, फिर छाती पीटने लगा। अब फिर अपना मकान! मकान अभी वही का वही है, अब भी जल रहा है। लेकिन बीच में थोड़ी देर को "मेरे" का संबंध नहीं रहा। थोड़ी देर को भी "मेरे" का संबंध छूट गया। सभी स्थिति वही की वही थी, कुछ फर्क न पड़ा था। यह आदमी वैसा का वैसा, यह मकान वैसा का वैसा। यह आदमी कोई बुद्ध नहीं हो गया था। यह बिलकुल वैसे का वैसा ही आदमी है, मकान भी जल रहा था; सिर्फ एक संबंध बीच से खो गया था--"मेरा"। बस, उस संबंध के खो जाने से दुख खो गया। फिर संबंध लौट आया, फिर दुख हो गया।

तुम जरा गौर करना। तुम्हारा दुख, असत के साथ तुम्हारे बनाए हुए संबंधों से पैदा होता है। तुम्हारा सुख, असत के साथ तुम्हारे संबंध छूट जाएं, उनसे घटित होता है।

"तेरे राज्य, पुत्र-पुत्रियां, शरीर और सुख जन्म-जन्म में नष्ट हुए हैं; यद्यपि तू उनसे आसक्त था।"

अष्टावक्र कहते हैं: लौट कर पीछे देख। जो तेरे पास आज है, ऐसा कई बार तेरे पास था। ऐसे राज्य कई बार हुए। ऐसी पत्नियां, ऐसे पुत्र कई बार हुए। बहुत-बहुत धन कई बार तेरे पास था। और हर बार तू आसक्त था। लेकिन तेरी आसक्ति से कुछ रुका नहीं--आया और गया। आसक्तियों से कहीं सपने ठहरते हैं?

राज्यं सुताः कलत्राणि शरीराणि सुखानि च।
संसक्तस्यापि नष्टानि तव जन्मनि जन्मनि।।

कितने जन्मों से जनक तू ऐसी ही चीजों के बीच में रहा है! हर बार तूने आसक्ति की! हर बार तूने चीजों से "मेरा" संबंध बनाया--मेरी हैं--फिर छूट-छूट गईं। मौत आई और सब संबंध तोड़ गई, सब विच्छिन्न कर गई।

"अर्थ, काम और सुकृत कर्म बहुत हो चुके। इनसे भी संसार रूपी जंगल में मन विश्रांति को नहीं प्राप्त हुआ।"

सुनो: अर्थ, काम, सुकृत कर्म बहुत हो चुके! तू सब कर चुका, धन भी खूब कमा चुका, भोग भी खूब कर चुका।

ययाति की कथा है उपनिषदों में, कि जब वह मरने को हुआ, सौ साल का हो कर, मौत आई तो वह घबड़ा गया। उसने कहा, यह तो जल्दी आ गई। अभी तो मैं सौ ही साल का हूं। अभी तो मैं भोग भी नहीं पाया।

उसके सौ बेटे थे, सैकड़ों रानियां थीं। उसने अपने बेटों से कहा कि ऐसा करो, मुझ बूढ़े बाप के लिए इतना तो करो, तुममें से कोई मर जाए!

पुराने दिनों की कहानियां हैं। उन दिनों नियम इतने सख्त न रहे होंगे। परमात्मा सदय था। मौत ने भी कहा कि ठीक है, बूढ़ा आदमी है, छोड़ देते हैं; लेकिन किसी को तो मुझे ले जाना ही होगा, कोई भी राजी हो जाए। मौत ने सोचा, कौन राजी होगा! बड़े बेटे तो राजी न हुए। कोई सत्तर साल के थे, कोई तो अस्सी साल के हो रहे थे। वे भी जीवन देख चुके थे, अनुभव कर चुके थे; मगर, फिर भी रस छूटा न था। छोटा बेटा खड़ा हो गया। उसने कहा कि मुझे ले चलो। वह तो अभी पंद्रह सोलह साल का ही था। मौत ने कहा, नासमझ, तेरे और निन्यानबे भाई हैं, वे तुझसे उम्र में बड़े हैं। उनमें से कोई जाता तो समझ में आता। अस्सी साल के हैं--वे खुद भी तेरे बाप जितने बूढ़े हो रहे हैं, वे नहीं जाते। तेरा बाप खुद सौ साल का है, उसे खुद जाना चाहिए! वह किसी को भेजने को राजी है, कोई बेटा चला जाए तो तैयार है। तू क्यों मरता है?

उस बेटे ने कहा, यही देख कर कि सौ साल के हो कर भी पिता को कुछ न मिला, तो सौ साल अगर मैं जी भी लिया तो क्या पाऊंगा? यही देख कर कि अस्सी साल, सत्तर, साठ साल के मेरे भाई हैं, इनको अभी तक कुछ नहीं मिला, तो रह कर भी क्या सार है? मैं तैयार हूं।

बड़ा अभूतपूर्व व्यक्ति रहा होगा वह बेटा। मौत उसे ले गई। राजा सौ साल जीया। उस बेटे की उम्र उसे लग गई।

ऐसा कहते हैं कई बार हुआ--दस बार हुआ! हर बार मौत आई और हर बार ययाति ने कहा: अभी...अभी तो मैं भोग ही नहीं पाया। फिर किसी बेटे को भेजा, फिर किसी बेटे को भेजा। जब वह हजार साल का हो गया, मौत फिर आई। फिर ययाति को भी शर्म लगी। उसने कहा कि क्षमा करो, अब तो एक बात समझ में आ गई कि एक हजार साल क्या एक करोड़ साल भी जीऊं, तो भी कुछ नहीं होगा। कुछ यहां होता ही नहीं। समय का कोई सवाल नहीं है। वासना भरती ही नहीं, दुष्पूर है।

अष्टावक्र कहते हैं जनक को: अर्थ, काम, सब तू कर चुका और ऐसा ही नहीं, सुकृत कर्म भी बहुत हो चुके, शुभ कर्म भी तू बहुत कर चुका, पुण्य भी खूब कर चुका है--उनसे भी कुछ भी नहीं हुआ।

"इनसे भी संसार-रूपी जंगल में मन विश्रांति को प्राप्त नहीं हुआ।"

न तो बुरे कर्म से विश्रांति मिलती, न अच्छे कर्म से विश्रांति मिलती। कर्म से विश्रांति मिलती ही नहीं--अकर्म से मिलती है। क्योंकि कर्म का तो अर्थ ही है: अभी गति जारी है, भाग-दौड़ जारी है, आपाधापी जारी है।

अकर्म का अर्थ है: बैठ गए, शांत हो गए, विराम में आ गए, पूर्ण विराम लगा दिया! अब सिर्फ साक्षी रहे, कर्ता न रहे।

अर्थेन कामेन सुकृतेन कर्मणा अपि अलम्!

बहुत हो चुका! सब तू कर चुका!

तथा अपि संसार कांतारे मनः न विश्रांतम् अभूत।

फिर भी इस जंगल में, इस उपद्रव में, इस उत्पात-रूपी संसार में मन को जरा भी विश्रांति का कोई क्षण नहीं मिला। तो अब जाग--अब करने से जाग!

"कितने जन्मों तक तूने क्या शरीर, मन और वाणी से दुखपूर्ण और श्रमपूर्ण कर्म नहीं किए हैं? अब तो उपराम कर।"

अब विश्रांति कर! जिसको झेन फकीर झाझेन कहते हैं। झाझेन का अर्थ होता है: बस बैठे रहना और देखते रहना; उपराम! यह ध्यान की परम परिभाषा है।

ध्यान कोई कृत्य नहीं है। ध्यान का तुम्हारे करने से कुछ संबंध नहीं है। ध्यान का अर्थ है: साक्षी-भाव। जो हो रहा है उसे चुपचाप देखना! बिना किसी लगाव के, बिना किसी विरोध के, बिना किसी पक्षपात के--न इस तरफ, न उस तरफ; निष्पक्ष; उदासीन--बस चुपचाप देखना!

कृतं न कति जन्मानि कायेन मनसा गिरा।

दःुखमायासदं कर्म तदद्याप्युपरम्यताम्।।

तत अद्यापि उपरम्यताम्।

अब तो उपराम कर! अब तो बैठ!

लोग अधर्म में उलझे हैं। किसी तरह अधर्म से छूटते हैं तो धर्म में उलझ जाते हैं--मगर उलझन नहीं जाती। लोग पाप कर रहे हैं; किसी तरह पाप से छूटते, तो पुण्य में उलझ जाते हैं--लेकिन उलझन नहीं जाती। कुछ तो करेंगे ही। अगर गाली बक रहे हैं; किसी तरह उनको समझा-बुझा कर राजी करो, मत बको, तो वे कहते हैं: अब हम जाप करेंगे, भजन करेंगे, मगर उपद्रव तो जारी रखेंगे!

तुमने देखा, लोग लाऊडस्पीकर लगा कर अखंड कीर्तन करने लगते हैं। कीरंतन को कीर्तन कहते हैं! अब अखंड कीर्तन तुम कर रहे हो, पूर मोहल्ले को सोने नहीं देते! बच्चों की परीक्षा है, उनकी परीक्षा की क्या गति होगी--तुम्हें मतलब नहीं। तुम धार्मिक कार्य कर रहे हो! ये किस तरह के धार्मिक लोग हैं? ये किसी से पूछने भी नहीं जाते। इन पर कोई रोक भी नहीं लगा सकता, क्योंकि यह धार्मिक काम कर रहे हैं। अगर कोई आदमी माइक लगा कर रात भर अनर्गल बके, तो पुलिस पकड़ ले जाए; लेकिन वह कीर्तन कर रहा है या सत्यनारायण की कथा कर रहा है, तो कोई पुलिस भी पकड़ कर नहीं ले जा सकती। धार्मिक होने की तो स्वतंत्रता है और धार्मिक कृत्य की स्वतंत्रता है। मगर यह आदमी वही का वही है। यह चिल्ल-पों में इसका भरोसा है।

मेरे पास लोग आते हैं। वे कहते हैं कि आप कहते हैं: बस, शांत बैठ कर ध्यान कर लें। मगर कुछ तो सहारा चाहिए, कुछ आलंबन दे दें, राम-राम बता दें, कोई भी मंत्र दे दें, कान फूंक दें, कुछ तो दे दें--तो हम कुछ करें! अब उनको अगर राम-राम दे दो, तो वे राम-राम करने को तैयार हैं--मगर बकवास जारी रही! पहले कुछ और बक रहे थे भीतर, हजार चीजें बक रहे थे; अब सब बकवास उन्होंने एक तरफ लगा दी, अब राम-राम बकने लगे। मगर चुप होने को राजी नहीं, सिर्फ देखने को राजी नहीं! देखना बड़ा कठिन है, साक्षी होना बड़ा कठिन!

साक्षी ही ध्यान है। बैठ जाओ; मन चले, चलने दो। तुम हो कौन बाधा डालने वाले? तुमसे पूछा किसने? तुमसे पूछ कर तो मन शुरू नहीं हुआ, तुमसे पूछ कर बंद भी होने की कोई जरूरत नहीं है। तुम हो कौन? जैसे

राह पर कारें चल रही हैं, रिक्शे दौड़ रहे, भोंपू बज रहे, आकाश में हवाई जहाज उड़ रहे, पक्षी गुनगुना रहे, बच्चे रो रहे, कुत्ते भौंक रहे--ऐसे तुम्हारे भीतर मन का भी ट्रैफिक है: चल रहा, चलने दो! तुम बैठे रहो! उदासीन का यही अर्थ है।

"उदासीन" ठीक-ठीक झाझेन जैसा अर्थ रखता है: बस, बैठ गए! जमा ली आसन भीतर, हो गए आसीन भीतर, बैठ गए, देखने लगे! जो चलता है, चलने दो। बुरा विचार आए तो बुरा मत कहो, क्योंकि बुरा कहा कि तुम डांवांडोल हो गए। बुरा कहा, कि तुम्हारा मन हुआ कि न आता तो अच्छा था। आ गया, तुम विचलित हो गए। अच्छा विचार आ जाए, तो भी पीठ मत थपथपाने लगना कि गजब, बड़ा अच्छा विचार आया। इतना तुमने कहा कि आसीन न रहे तुम, उखड़ गया आसन, तुम डांवांडोल हो गए, तुम्हारी थिरता खो गई। कुंडलिनी जगने लगे, तो परेशान मत होना कि उठने लगी कुंडलिनी, अब बस सिद्धपुरुष होने में ज्यादा देर नहीं है। प्रकाश दिखाई पड़ने लगे तो विचलित मत हो जाना। ये सब मन के ही खेल हैं। बड़े-बड़े खेल मन खेलता है! बड़े दूर के दृश्य दिखाई देने लगेंगे।

एक महिला, कोई अस्सी वर्ष बूढ़ी महिला, मेरे पास आई। वह कहने लगी कि बड़ा गजब अनुभव हो रहा है।

"क्या अनुभव हो रहा है?"

कि जब मैं बैठती हूं, तो ऐसे-ऐसे जंगल दिखाई पड़ते हैं जिनको कभी नहीं देखा।

"मगर इनको देख कर भी क्या करोगे? जंगल ही दिखाई पड़ रहे हैं न?"

वह मुझसे बड़ी नाराज हो गई। उसने कहा कि आप कैसे हैं? मैं तो जब भी किसी साधु-संत के पास जाती हूं, तो वे कहते हैं: बहुत अच्छा हो रहा है! बड़ा अनुभव हो रहा है!

अध्यात्म अनुभव नहीं है। और जब तक अनुभव होता रहे, तब तक अध्यात्म नहीं है। अनुभव का तो अर्थ ही है, तुम अभी भी अनुभोक्ता बने हो, अभी भी भोगी हो! बाहर का नहीं भोग रहे, भीतर का भोग रहे हो, लेकिन भोग जारी है। किसी की कुंडलिनी उठ रही, किसी को पीठ में सुरसुरी मालूम होने लगी...। और वह भी सुन लिया है, पढ़ लिया है शास्त्रों में कि ऐसा होगा। तो बैठे हैं, बैठे-बैठे बस खोज रहे हैं कि हो सुरसुरी। अब तुम खोजते रहोगे तो हो जाएगी। तुम कल्पित कर लोगे, तुम मान लोगे--हो जाएगी। और जब हो जाएगी, तो तुम बड़े प्रफुल्लित होने लगोगे। तुम प्रफुल्लित होने लगे कि गए, चूक गए, फिर ध्यान चूका!

कुछ भी हो, तुम सिर्फ देखना! तुम द्रष्टा से जरा भी डिगना मत। तुम सिर्फ साक्षी बने रहना। तुम कहना: ठीक, गलत, जो भी हो, हम देखते रहेंगे। हम अपनी तरफ से कोई निर्णय न देंगे, कोई चुनाव न करेंगे। हम अच्छे-बुरे का विभाजन न करेंगे।

शुरू-शुरू में बड़ा कठिन होगा, क्योंकि आदत जन्मों-जन्मों की है निर्णय देने की।

जीसस का बड़ा प्रसिद्ध वचन है: जज ई नॉट; निर्णय मत करो; न्यायाधीश मत बनो! न कहो अच्छा, न कहो बुरा--बस देखते रहो। और तुम चकित हो जाओगे, अगर तुम देखते रहे, तो धीरे-धीरे भीड़ छंटने लगेगी। कम विचार आएंगे, कम अनुभव गुजरेंगे। कभी-कभी ऐसा होगा, रास्ता मन का खाली पड़ा रह जाएगा; एक विचार गुजर गया, दूसरा आया नहीं; बीच में एक खाली जगह, अंतराल--उसी अंतराल में, जिसको अष्टावक्र कहते हैं: भवासंसक्तिमात्रेण मुहुः मुहुः प्राप्ति तुष्टि! वही पुनः-पुनः तुष्टि और प्राप्ति होने लगेगी। मिलेगा प्रभु और परम तुष्टि मिलेगी! वह तुष्टि अनुभव की नहीं है कि कोई बड़ा अनुभव हुआ है, इसलिए अहंकार को मजा आया। नहीं, वह तुष्टि तो शून्य की है। वह तुष्टि तो समाधि की है, अनुभव की नहीं है; वह तुष्टि तो अनुभवातीत है। वह तुष्टि तो तुरीय अवस्था की है। वह तुष्टि तो परम उपराम, विश्रांति की है।

"अब तो उपराम कर!"

तत अद्यापि उपरम्यताम्!

यही मैं तुमसे भी कहता: अब तो उपराम करो! अब तो विश्राम करो! अब तो बैठो और देखो। अब तो साक्षी बनो! कर्ता बने बहुत, भोक्ता बने बहुत; अच्छे भी किए कर्म, बुरे भी किए--हो चुका बहुत! अब जरा साक्षी बनो! और जो तुम्हें न कर्ता बन कर मिला, न भोक्ता बन कर मिला--वही बरस उठेगा प्रसाद की भांति साक्षी में। साक्षी में मिलता है परमात्मा। साक्षी में मिलता है सत्य। क्योंकि साक्षी सत्य है!

हरि ॐ तत्सत्!

तीसवां प्रवचन

संन्यास बांसुरी है साक्षी-भाव की

पहला प्रश्न: आपने बताया कि जब अष्टावक्र मां के गर्भ में थे, उनके पिता ने उन्हें शाप दिया, जिसकी वजह से उनका शरीर आठ जगहों से आड़ा-तिरछा हो गया। भगवान, इस आठ का क्या रहस्य है? वे अठारह जगह से भी टेढ़े-मेढ़े हो सकते थे और अष्टादशवक्र कहलाते। यह आठ का ही आंकड़ा क्यों?

यह आठ आंकड़ा अर्थपूर्ण है। ये छोटी-छोटी कहानियां गहरे सांकेतिक अर्थ लिए हैं। इन्हें तुम इतिहास मत समझना। इनका तथ्य से बहुत कम संबंध है। इनका तो भीतर के रहस्यों से संबंध है।

आठ का आंकड़ा योग के अष्टांगों से संबंधित है। पतंजलि ने कहा है: आठ अंगों को जो पूरा करेगा--यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि--वही केवल सत्य को उपलब्ध होगा। यह पिता की नाराजगी, यह पिता का अभिशाप सिर्फ इतनी ही सूचना देता है कि वे आठ अंग, जिनसे व्यक्ति परम सत्य को उपलब्ध होता है, मैं तेरे विकृत किए देता हूं।

तुम्हें घटना फिर से याद दिला दूं। पिता वेदपाठी थे। वे सुबह रोज उठ कर वेद का पाठ करते। ख्यातिलब्ध थे, सारे देश में उनका नाम था। बड़े शास्त्रार्थी थे। और अष्टावक्र गर्भ में सुनता। एक दिन अचानक बोल पड़ा गर्भ से कि हो गया बहुत, इस तोता-रटन से कुछ भी न होगा। जाने बिना सत्य का कोई पता नहीं चलता--पढ़ो कितना ही वेद, शास्त्र सत्य नहीं है--सत्य तो अनुभव से उपलब्ध होता है।

पिता नाराज हुए। पिता के अहंकार को चोट लगी। पंडित और पिता दोनों साथ-साथ। बेटे की बात बाप माने, यह बड़ी अनहोनी घटना है। नाराज ही होता है। बाप कभी यह मान ही नहीं पाता कि बेटा भी कभी समझदार हो सकता है। बेटा सत्तर साल का हो जाए तो भी बाप समझता है कि वह नासमझ है। स्वाभाविक है। बेटे और बाप का फासला उतना ही बना रहता है जितना शुरू में, पहले दिन होता है, उसमें कोई अंतर नहीं पड़ता। अगर बाप बीस साल बड़ा है तो वह सदा बीस साल बड़ा होता है। उतना अंतर तो बना ही रहता है। तो बेटे से ज्ञान ले लेना कठिन; फिर पंडित, तो और भी कठिनाई। बाप तो सोचता था मैं जानता हूं, और अब यह गर्भस्थ शिशु कहने लगा कि तुम नहीं जानते हो--यह तो हद हो गई! अभी पैदा भी नहीं हुआ।

तो बाप ने अभिशाप दिया होगा; वह अभिशाप ज्ञान के आठ अंगों को नष्ट कर देने वाला है। जिन आठ अंगों से व्यक्ति ज्ञान को उपलब्ध होता है, बाप ने कहा, तेरे वे नष्ट हुए। अब देखूं तू कैसे ज्ञान को उपलब्ध होगा--जिस ज्ञान की तू बात कर रहा है, जिस परम ज्ञान की तू घोषणा कर रहा है? अगर शास्त्र से नहीं मिलता सत्य तो दूसरा एक ही उपाय है कि साधना से मिलता है। तू कहता है शास्त्र से नहीं मिलता है, चल ठीक; साधना के आठ अंग मैं तेरे विकृत किए देता हूं, अब तू कैसे पाएगा?

और अष्टावक्र ने फिर भी पाया। अष्टावक्र के सारे उपदेश का सार इतना ही है कि सत्य मिला ही हुआ है; न शास्त्र से मिलता है न साधना से मिलता है। साधना तो उसके लिए करनी होती है जो मिला न हो। सत्य तो हम लेकर ही जन्मे हैं। सत्य तो हमारे साथ गर्भ से ही है, सत्य तो हमारा स्वरूप-सिद्ध अधिकार है। जन्म-सिद्ध भी नहीं, स्वरूप-सिद्ध अधिकार! सत्य तो हम हैं ही, इसलिए मिलने की कोई बात नहीं।...आठ जगह से टेढ़ा, चलो कोई हर्जा नहीं; लेकिन सत्य टेढ़ा नहीं होगा। स्वरूप टेढ़ा नहीं होगा। यह शरीर ही इरछा-तिरछा हो जाएगा।

साधना की पहुंच शरीर और मन के पार नहीं है। तो तुम अगर इरछे-तिरछे का अभिशाप देते हो तो शरीर तिरछा हो जाएगा, मन तिरछा हो जाएगा, लेकिन मेरी आत्मा को कोई फर्क न पड़ेगा। यही तो अष्टावक्र

ने जनक से कहा कि राजन! आंगन के टेढ़े-मेढ़े होने से आकाश तो टेढ़ा-मेढ़ा नहीं हो जाता। घड़े के टेढ़े-मेढ़े होने से घड़े के भीतर भरा हुआ आकाश तो टेढ़ा-मेढ़ा नहीं हो जाता। मेरी तरफ देखो सीधे; न शरीर को देखो न मन को।

अष्टावक्र की पूरी देशना यही है कि न शास्त्र से मिलता न साधना से मिलता। इसलिए तो मैंने बार-बार तुम्हें याद दिलाया कि कृष्णमूर्ति की जो देशना है वही अष्टावक्र की है। कृष्णमूर्ति की भी देशना यही है कि न शास्त्र से मिलता न साधना से मिलता। तुम घबड़ा कर पूछते हो: तो फिर कैसे मिलेगा? देशना यही है कि कैसे की बात ही पूछना गलत है--मिला ही हुआ है। जो मिला ही हुआ है, पूछना कैसे मिलेगा--असंगत प्रश्न पूछना है।

सत्य के लिए कोई शर्त नहीं है; सत्य बेशर्त मिला है। पापी को मिला है, पुण्यात्मा को मिला है; काले को मिला है, गोरे को मिला है; सुंदर को, असुंदर को; पुरुष को, स्त्री को। जिन्होंने चेष्टा की, उन्हें मिला है; जिन्होंने चेष्टा नहीं की, उन्हें भी मिला है। किन्हीं को प्रयास से मिल गया है, किन्हीं को प्रसाद से मिल गया है। न तो प्रयास जरूरी है, न प्रसाद की मांग जरूरी है, क्योंकि सत्य मिला ही हुआ है।

खिलता है रात में बेला
प्रभात में शतदल,
नहीं है अपेक्षित स्फुटन के लिए
उजाला, अंधेरा।
जागे जिस क्षण चेतना,
वही सवेरा।

बेला खिल जाता रात में, शतदल खिलता है सुबह प्रभात में; खिलने के लिए न तो रात है न दिन है। जाग जाता है आदमी हर स्थिति में। सवेरा ही जागने के लिए जरूरी नहीं है, आधी रात में भी आदमी जाग जाता है।

खिलता है रात में बेला
प्रभात में शतदल,
नहीं है अपेक्षित स्फुटन के लिए
उजाला, अंधेरा।
जागे जिस क्षण चेतना,
वही सवेरा।

और जागना है तो जागने के लिए कुछ भी और करना जरूरी नहीं है, सिर्फ जागना ही जरूरी है; आंख खोलना जरूरी है। आंख की पलक में ही सब छिपा है, आंख की ओट में ही सब छिपा है।

कभी तुमने देखा, आंख में छोटी-सी किरकिरी चली जाती है, रेत का एक टुकड़ा चला जाता है, कचरा चला जाता है--और आंख की देखने की क्षमता समाप्त हो जाती है। ऐसे आंख हिमालय को भी समा लेती है। देखो जा कर हिमालय को, सैकड़ों मील तक फैले हुए हिम-शिखर, सब आंख में दिखाई पड़ते हैं। छोटी-सी आंख ऐसे हिमालय को समा लेती है, लेकिन छोटी-सी कंकरी से हार जाती है। और कंकरी आंख में पड़ जाए तो हिमालय दिखाई नहीं पड़ता; कंकरी की ओट में हिमालय हो जाता है। जरा कंकरी अलग कर देने की बात है।

अष्टावक्र की देशना इतनी ही है कि जरा-सी समझ, जरा-सी पलक का खुलना--और सब जैसा होना चाहिए वैसा है ही; कुछ करने को नहीं है; कहीं जाने को नहीं है; कुछ पाने को नहीं है।

खुले नयन से सपने देखो, बंद नयन से अपने।
अपने तो रहते हैं भीतर, बाहर रहते सपने।
नाम-रूप की भीड़ जगत में, भीतर एक निरंजन।
सुरति चाहिए अंतर्दृग को, बाहर दृग को अंजन।

देखे को अनदेखा कर रे, अनदेखे को देखा।

क्षर लिख-लिख तू रहा निरक्षर, अक्षर सदा अलेखा।

समझो--

खुले नयन से सपने देखो, बंद नयन से अपने।

अपने तो रहते हैं भीतर, बाहर रहते सपने।

जो भी बाहर देखा है, सपना है। अपने को देखना है--तो भीतर! जो भी बाहर देखा, उसे अगर पाना चाहा तो बड़ी दौड़ दौड़नी पड़ेगी, फिर भी मिलता कहां? दौड़ पूरी हो जाती है--हाथ कुछ भी नहीं आता।

संसार का स्वभाव समझो। दिखता है सब--मिलता कुछ भी नहीं। लगता है यह रहा, जरा ही चलने की बात है, थोड़ा प्रयास और! जैसे क्षितिज छूता है, लगता है कुछ मील का फासला है दौड़ जाएंगे, पहुंच जाएंगे, आकाश और जमीन जहां मिलते हैं वह जगह खोज लेंगे; फिर वहां से आकाश में चढ़ जाएंगे, लगा लेंगे सीढ़ी, बना लेंगे अपना बेबिलोन, स्वर्ग की सीढ़ी लगा लेंगे--मगर कभी वह जगह मिलती नहीं जहां आकाश पृथ्वी से मिलता है; बस दिखता है कि मिलता है। आभास! जिसको हिंदुओं ने माया कहा है। प्रतीत तो बिलकुल होता है कि यह दिखाई पड़ रहा है आकाश मिलता हुआ; होगा दस मील, पंद्रह मील, बीस मील, थोड़ी यात्रा है--लेकिन तुम जितने क्षितिज की तरफ जाते हो, उतना ही क्षितिज तुमसे दूर चलता चला जाता है। दिखता सदा मिला मिला, मिलता कभी भी नहीं।

खुले नयन से सपने देखो, बंद नयन से अपने।

अपने तो रहते हैं भीतर, बाहर रहते सपने।

बाहर लगता है मिल जाएगा, और मिलता कभी नहीं। और भीतर लगता है कैसे मिलेगा? और मिला ही हुआ है। ठीक संसार से विपरीत अवस्था है भीतर की। संसार देखना हो तो आंखें बाहर खोलो; सत्य देखना हो तो आंखें भीतर खोलो। बाहर से आंख बंद करने का कुल इतना ही अर्थ है कि भीतर देखो।

नाम-रूप की भीड़ जगत में, भीतर एक निरंजन।

सुरति चाहिए अंतर्दृग को, बाहर दृग को अंजन।

बाहर ठीक-ठीक देखना हो तो आंख में हम काजल आंजते, अंजन लगाते। बुढ़िया का काजल लगा लेते हैं न, बाहर ठीक-ठीक देखना हो तो। भीतर देखना हो तो भी बूढ़ों ने एक काजल ईजाद किया है। उसको कहते हैं; सुरति, स्मृति, जागृति, समाधि!

नाम-रूप की भीड़ जगत में, भीतर एक निरंजन।

सुरति चाहिए अंतर्दृग को, बाहर दृग को अंजन।

बाहर ठीक देखना हो, आंज लो आंख, ठीक-ठीक दिखाई पड़ेगा। भीतर ठीक-ठीक देखना हो तो एक ही अंजन है--निरंजन ही अंजन है! वहां तो एक ही बात स्मरण करने जैसी है, वहां तो एक ही प्रश्न जगाने जैसा है कि मैं कौन हूं? वहां तो एक ही बोध उठने लगे सब तरफ से कि मैं कौन हूं? एक ही प्रश्न गूंजने लगे प्राणों में कि मैं कौन हूं? धीरे-धीरे इसी प्रश्न की चोट पड़ते-पड़ते भीतर के द्वार खुल जाते हैं। यह चोट तो ऐसी है जैसे कोई हथौड़ी मारता हो: मैं कौन हूं? मैं कौन हूं?

उत्तर मत देना, क्योंकि उत्तर बाहर से आएगा। तुमने जल्दी से पूछा कि मैं कौन हूं? और कहा, अहं ब्रह्मास्मि--तो आ गया उपनिषद बीच में। तुम उत्तर मत देना, तुम तो सिर्फ पूछते ही चले जाना। एक ऐसी घड़ी आएगी, प्रश्न भी गिर जाएगा। और जहां प्रश्न गिर जाता है...जहां प्रश्न गिर जाता है, वहीं उत्तर है। फिर तुम

ऐसा कहते नहीं कि अहं ब्रह्मास्मि--ऐसा तुम जानते हो; ऐसा तुम अनुभव करते हो। शब्द नहीं बनते, निःशब्द में प्रतीति होती है।

देखे को अनदेखा कर रे, अनदेखे को देखा।

अभी तो तुम जिसे देख रहे हो, उसी में उलझे हो। और जो दिखाई पड़ रहा है, वही संसार है। दृश्य संसार है। और जो देख रहा है, जो द्रष्टा है, वह तो अदृश्य है, वह तो बिलकुल छिपा है।

देखे को अनदेखा कर रे, अनदेखे को देखा।

क्षर लिख-लिख तू रहा निरक्षर...!

लिखने-पढ़ने से कुछ भी न होगा। हम लिखते तो हैं और जो लिखते हैं उसको कहते हैं: अक्षर। कभी तुमने सोचा, अक्षर का मतलब होता है जो मिटाया न जा सके! लिखते तो क्षर हो, कहते हो अक्षर। कैसा धोखा देते हो, किसको धोखा देते हो? तुमने जो भी लिखा है, सब मिट जाएगा। लिखा हुआ सब मिट जाता है। शास्त्र लिखो, खो जाएंगे; पत्थरों पर नाम खोदो, रेत हो जाएंगे। यहां तुम कुछ भी लिखो, नदी के तट पर रेत में लिखे गए हस्ताक्षर जैसा है; हवा का झोंका आया और खो जाएगा। शायद इतना भी नहीं है, पानी पर लिखे जैसा है; तुम लिख भी नहीं पाते और मिटना शुरू हो जाता है।

क्षर लिख-लिख तू रहा निरक्षर...!

अपढ़! अज्ञानी! मूढ़! क्षर को लिख रहा है और भरोसा कर रहा है अक्षर का? समय में लिख रहा है और शाश्वत की आकांक्षा कर रहा है? क्षुद्र को पकड़ रहा है और विराट की अभिलाषा बांधे है?

क्षर लिख-लिख तू रहा निरक्षर, अक्षर सदा अलेखा।

और तेरी इस लिखावट में ही, यह क्षर में उलझे होने में ही, अक्षर नहीं दिखाई पड़ता। अक्षर तेरे भीतर है। थोड़ी देर लिख मत, थोड़ी देर पढ़ मत, थोड़ी देर कुछ कर मत। थोड़ी देर दृश्य को विदा कर। थोड़ी देर अपने में भीतर आंख खोल--सुरति में।

सूफियों के पास ठीक शब्द है सुरति के लिए, वे कहते हैं--जिक्र। जिक्र का भी वही अर्थ होता है, जो सुरति का। जिक्र का अर्थ होता है: स्मरण, याददाश्त, कि चलो बैठें, प्रभु का जिक्र करें, उसकी याद करें! जिसको हिंदू नाम-स्मरण कहते हैं। नाम-स्मरण का मतलब यह नहीं होता कि बैठ कर राम-राम, राम-राम करते रहे। अगर राम-राम करने से शुरू भी होता है राम का स्मरण, तो भी समाप्त नहीं होता।

सूफियों का जिक्र समझने जैसा है। कुछ तुममें से प्रयोग करना चाहें तो करें। सूफियों के जिक्र का आधार है: अल्लाह! शब्द बड़ा प्यारा है। शब्द में बड़ा रस है। वह तो हम हिंदू, मुसलमान, जैन, ईसाई में बांट कर दुनिया को देखते हैं, इसलिए बड़ी रसीली बातों से वंचित रह जाते हैं। मैंने बहुत-से शब्दों पर प्रयोग किया, "अल्लाह" जैसा प्यारा शब्द नहीं है। "राम" में वह मजा नहीं है। तुम जब गुनगुनाओगे, तब पता चलेगा। जो गुनगुनाहट अल्लाह में पैदा होती है और जो मस्ती अल्लाह में पैदा होती है--वह किसी और शब्द में नहीं होती। चेष्टा करके देखना।

कभी रात के अंधेरे में द्वार-दरवाजे बंद करके दीया बुझा कर बैठ जाना, ताकि बाहर कुछ दिखाई ही न पड़े, अंधेरा कर लेना। नहीं तो तुम्हारी आदत तो पुरानी है, कुछ न कुछ देखते रहोगे। फिर भीतर बैठ कर पहला कदम है जिक्र का: "अल्लाह-अल्लाह" कहना शुरू करना। जोर से कहना। ओंठ का उपयोग करना। एक पांच-सात मिनट तक "अल्लाह-अल्लाह" जोर से कहना। पांच-सात मिनट में तुम्हारे भीतर रसधार बहनी शुरू होगी, तब ओंठ बंद कर लेना। दूसरा कदम: अब सिर्फ भीतर जीभ से कहना, "अल्लाह-अल्लाह-अल्लाह"! पांच-सात मिनट जीभ का उपयोग करना, तब भीतर ध्वनि होने लगेगी; तब तुम जीभ को भी छोड़ देना, अब बिना जीभ के भीतर "अल्लाह-अल्लाह-अल्लाह" करना। पांच-सात मिनट...तब तुम्हारे भीतर और भी गहराई में ध्वनि होने लगेगी, प्रतिध्वनि होने लगेगी। तब भीतर भी बोलना बंद कर देना, "अल्लाह-अल्लाह" वहां भी छोड़ देना। अब

तो "अल्लाह" शब्द नहीं रहेगा, लेकिन "अल्लाह" शब्द के निरंतर स्मरण से जो प्रतिध्वनि गूंजी, वह गूंज रह जाएगी, तरंगें रह जाएंगी। जैसे वीणा बजते-बजते अचानक बंद हो गई, तो थोड़ी देर वीणा तो बंद हो जाती है, लेकिन श्रोता गदगद रहता है, गूंज गूंजती रहती है; ध्वनि धीरे-धीरे-धीरे शून्य में खोती है।

तो तुमने अगर पंद्रह-बीस मिनट अल्लाह का स्मरण किया, पहले ओंठों से, फिर जीभ से, फिर बिना जीभ के, तो तुम उस जगह आ जाओगे, जहां दो-चार-पांच मिनट के लिए "अल्लाह" की गूंज गूंजती रहेगी। तुम्हारे भीतर जैसे रोआं-रोआं "अल्लाह" करेगा। तुम उसे सुनते रहना। धीरे-धीरे वह गूंज भी खो जाएगी।

और तब जो शेष रह जाता है, वही अल्लाह है! तब जो शेष रह जाता है, वही राम है। शब्द भी नहीं बचता, शब्द की अनुगूंज भी नहीं बचती--एक महाशून्य रह जाता है। सुरति!

"राम" शब्द का उपयोग करो, उससे भी हो जाएगा। "ओम" शब्द का उपयोग करो, उससे भी हो जाएगा। लेकिन "अल्लाह" निश्चित ही बहुत रसपूर्ण है। और तुम सूफियों को जैसी मस्ती में देखोगे, इस जमीन पर तुम किसी को वैसी मस्ती में न देखोगे। जैसी सूफियों की आंख में तुम शराब देखोगे, वैसी किसी की आंख में न देखोगे। हिंदू संन्यासी ओंकार का पाठ करता रहता है, लेकिन उसकी आंख में नशा नहीं होता, मस्ती नहीं होती।

"अल्लाह" शब्द तो अंगूर जैसा है, उसे अगर ठीक से निचोड़ा तो तुम बड़े चकित हो जाओगे। तुम चलने लगोगे नाचते हुए। तुम्हारे जीवन में एक गुनगुनाहट आ जाएगी।

सुरति, जिक्र, नाम-स्मरण--नाम कुछ भी हों।

नाम-रूप की भीड़ जगत में, भीतर एक निरंजन।

सुरति चाहिए अंतर्दृग को, बाहर दृग को अंजन।

देखे को अनदेखा कर रे, अनदेखे को देखा।

क्षर लिख-लिख तू रहा निरक्षर, अक्षर सदा अलेखा।

और वह जो भीतर छिपा है, वह हम ले कर ही आए हैं। उसे कुछ पैदा नहीं करना--उघाड़ना है, आविष्कार करना है। ज्यादा तो ठीक होगा कहना: पुनर्आविष्कार करना है, रिडिस्कवरी! भीतर रखे-रखे हम भूल ही गए हैं, हमारा क्या है? अपना क्या है? सपने में खो गए हैं, अपना भूल गए हैं। सपने को थोड़ा विदा करो, अपने को थोड़ा देखो! अनदेखा दिखेगा! अलेखा दिखेगा! अक्षर उठेगा!

अष्टावक्र के आठ अंगों के टेढ़े हो जाने की कथा का कुल इतना ही अर्थ है कि सुरति में कोई बाधा नहीं पड़ती। अंग टेढ़े हैं कि मेढ़े, तुम बैठे कि खड़े...।

तुमने देखा, अलग-अलग आसनों में परम ज्ञान उपलब्ध हुआ! महावीर गौदोहासन में बैठे थे, बड़े मजे की बात है! जैनी बहुत चिंता नहीं करते कि क्या हुआ? गौदोहासन में बैठे, कर क्या रहे थे? गौदोहासन का मतलब है जैसे कोई गाय को दोहते वक्त बैठता है। न तो गाय थी, न दोहने का कोई कारण था उनको--गौदोहासन में बैठे थे। उस वक्त उन्हें परम ज्ञान उपलब्ध हुआ।

अब गौदोहासन कोई बहुत सुंदर आसन नहीं है, तुम बैठ कर देख लेना। बुद्ध तो कम से कम भले ढंग से बैठे थे, सिद्धासन में बैठे थे। महावीर गौदोहासन में बैठे थे। महावीर आदमी ही थोड़े अनूठे हैं। नंग-धड़ंग गौदोहासन में बैठे हैं--तब उन्हें परम ज्ञान उपलब्ध हुआ।

शरीर तिरछा हो कि इरछा, छोटा हो कि बड़ा, ऐसा बैठे कि वैसा--नहीं, आसन से कुछ लेना-देना नहीं है। मन की दशा पुण्य की हो कि पाप की, अच्छा करने की हो कि बुरा करने की--इससे भी कुछ लेना-देना नहीं है। अष्टावक्र का मौलिक सूत्र केवल इतना है कि तुम अगर साक्षी हो सको--तिरछा शरीर है तो तिरछे शरीर के साक्षी; और मन अगर पाप में उलझा है तो पाप में उलझे मन के साक्षी--तुम अगर साक्षी हो सको, दूर खड़े हो

कर देख सको शरीर और मन को, तो घटना घट जाएगी। आठ अंगों से टेढ़े होने का अर्थ है, योग के अष्टांगों का कोई उपाय न था।

तुम पक्का समझो, अगर अष्टावक्र किसी योगी के पास जाते और कहते कि मुझे योग में दीक्षित करो, तो वह हाथ जोड़ लेता। कहता: महाराज, आप हमें क्यों मुसीबत में डालते हैं? यह नहीं हो सकता। आप, और योगासन कैसे करेंगे? एक अंग सीधा करने की कोशिश करेंगे, सात अंग तिरछे हो जाएंगे। इधर सम्हालेंगे, उधर बिगड़ जाएगा।

कभी ऊंट को योगासन करते देखा है? अष्टावक्र को भी कोई योगी अपनी योगशाला में भरती नहीं कर सकता था। उपाय ही न था।

यह तो केवल सूचक कथा है। यह कथा तो यह कहती है कि ऐसे आठ अंगों से टेढ़ा व्यक्ति भी परम ज्ञान को उपलब्ध हो गया, चिंता मत करो। देह इत्यादि में बहुत उलझे मत रहो।

दूसरा प्रश्न: स्वामी रामतीर्थ का एक शेर है:

राजी हैं उसी हाल में जिसमें तेरी रजा है,

यूं भी वाह-वाह है, वूं भी वाह-वाह है।

लेकिन अपने राम को तो ऐसा लगता है:

यूं भी गड़बड़ी है और वूं भी गड़बड़ी है,

यूं भी झंझटें हैं, और वूं भी झंझटें हैं।

अब आपका क्या कहना है?

मैं न तो रामतीर्थ से राजी हूं, न तुम्हारे राम से। एक है जीवन के प्रति विधायक (पाजिटिव) दृष्टिकोण। एक है जीवन के प्रति नकारात्मक (निगेटिव) दृष्टिकोण। जब रामतीर्थ कहते हैं--राजी हैं उसी हाल में जिसमें तेरी रजा है--तो उन्होंने जीवन को एक विधायक दृष्टि से देखा। कांटे नहीं गिने, फूल गिने; रातें नहीं गिनीं, दिन गिने। अगर रामतीर्थ से तुम पूछो तो वे कहेंगे: दो दिनों के बीच में एक छोटी-सी रात होती है। वे फूलों की चर्चा करेंगे, वे कांटों की चर्चा न करेंगे। वे कहेंगे: क्या हुआ अगर थोड़े-बहुत कांटे भी होते हैं--फूलों की रक्षा के लिए जरूरी हैं! जीवन में जो सुखद है, उस पर उनकी नजर है; जो शुभ है, सुंदर है--असुंदर की उपेक्षा है। अशुभ के प्रति ध्यान नहीं है। और अगर प्रभु ने अशुभ भी चाहा है तो उसमें भी कोई छिपा हुआ शुभ होगा, ऐसी उनकी धारणा है।

यह आस्तिक की धारणा है। यह स्वीकार-भाव है। जो व्यक्ति कहता है प्रभु, मैंने तेरे लिए परिपूर्ण रूप से हां कह दी; जिस व्यक्ति ने अपनी चैकबुक बिना कुछ आंकड़े लिखे हस्ताक्षर करके प्रभु को दे दी कि अब तू जो लिखे, वही स्वीकार है।

"राजी हैं उसी हाल में जिसमें तेरी रजा है!

यूं भी वाह-वाह है, वूं भी वाह-वाह है।"

रामतीर्थ कहते हैं, जहां रख--यूं भी तो भी ठीक, वूं भी तो भी ठीक; स्वर्ग दे दे तो भी मस्त, नर्क दे दे तो भी मस्त। तू हमारी मस्ती न छीन सकेगा, क्योंकि हम तो तेरी रजा में राजी हो गए।

फिर तुम कहते हो, लेकिन अपने राम को ऐसा लगता है:

"यूं भी गड़बड़ी है, वूं भी गड़बड़ी है!"

यह रामतीर्थ से ठीक उल्टा दृष्टिकोण है, यह नास्तिक की दृष्टि है--नकारात्मक! तुम कांटे गिनते हो। तुम कहते हो कि हां, दिन होता तो है, लेकिन दो रातों के बीच में एक छोटा-सा दिन। इधर भी रात, उधर भी रात;

इधरे गिरे तो कुआं, उधर गिरे तो खाई--बचाव कहीं नहीं दिखता। रामतीर्थ का स्वर है राजी का; तुम्हारा स्वर है नाराजी का। तुम कहते हो: गृहस्थ हुए तो झंझटें हैं, संन्यासी हुए तो झंझटें हैं। घर में रहो तो मुसीबत है, घर के बाहर रहो तो मुसीबत है। अकेले रहो तो मुसीबत है, किसी के साथ रहो तो मुसीबत है। मुसीबत से कहीं छुटकारा नहीं। तुम अगर स्वर्ग में भी रहोगे तो झंझट में रहोगे। स्वर्ग की भी झंझटें निश्चित होंगी। स्वर्ग में भी प्रतिस्पर्धा होगी: कौन ईश्वर के बिलकुल पास बैठा है? कौन दूर बैठा है? किसकी तरफ ईश्वर ने देखा और किसकी तरफ नहीं देखा? और राजनीति भी चलेगी ही। आदमी जहां है, राजनीति आ जाएगी।

जब जीसस विदा होने लगे तो उनके शिष्यों ने पूछा: अंत में इतना तो बता दें कि स्वर्ग में आप तो प्रभु के ठीक हाथ के पास बैठेंगे, हम बारह शिष्यों की क्या स्थिति होगी? कौन कहां बैठेगा?

जीसस को सूली लगने जा रही है और शिष्यों को राजनीति पड़ी है। कौन कहां बैठेगा! यह भी कोई बात थी? बेहूदा प्रश्न था, लेकिन बिलकुल मानवीय है।

"नंबर दो आपसे कौन होगा? नंबर तीन कौन होगा? चुने हुए कौन लोग होंगे? परमात्मा से हमारी कितनी निकटता और कितनी दूरी होगी?"

नहीं, तुम स्वर्ग में भी जाओगे तो वहां भी कुछ गड़बड़ ही पाओगे। किसी को सुंदर अप्सरा हाथ लग जाएगी, किसी को न लगेगी। तुम वहां भी रोओगे कि जमीन पर भी चूके, यहां भी चूके। वहां भी लोग कब्जा जमाए बैठे थे; यहां भी पहले से ही साधु-संत आ गए हैं, वे कब्जा जमाए बैठे हैं। तो मतलब, गरीब सब जगह मारे गए!

"यूं भी गड़बड़ी है, वूं भी गड़बड़ी है!

यूं भी झंझटें हैं और वूं भी झंझटें हैं।"

--यह देखने की दृष्टि है।

तुम मुझसे पूछते हो, मेरा दृष्टिकोण क्या है? मैं न तो आस्तिक हूं न नास्तिक। मैं न तो "हां" की तरफ झुकता हूं न "ना" की तरफ। क्योंकि मेरे लिए तो "हां" और "ना" एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। रामतीर्थ ने जो कहा है, उसी को तुमने सिर के बल खड़ा कर दिया है--कुछ फर्क नहीं। तुमने जो कहा है उसी को रामतीर्थ ने पैर के बल खड़ा कर दिया--कुछ फर्क नहीं। तुम समझते हो तुम्हारी दोनों बातों में बड़ा विरोध है--मैं नहीं समझता। अब जरा गौर से देखने की कोशिश करो।

"राजी हैं उसी हाल में जिसमें तेरी रजा है!"

इसमें ही नाराजगी तो शुरू हो गई। जब तुम किसी से कहते हो कि मैं राजी हूं, तो मतलब क्या? कहीं-न-कहीं नाराजी होगी। नहीं तो कहा क्यों? कहने की बात कहां थी? "कि नहीं, आप जो करेंगे वही मेरी प्रसन्नता है।" लेकिन साफ है कि वही आपकी प्रसन्नता है नहीं। स्वीकार कर लेंगे। भगवान जो करेगा, वही ठीक है। और किया भी क्या जा सकता है? एक असहाय अवस्था है।

लेकिन गौर से देखना, जब तुम कहते हो कि नहीं, मैं बिलकुल राजी हूं--तुम जितने आग्रहपूर्वक कहते हो कि मैं बिलकुल राजी हूं, उतनी ही खबर देते हो कि भीतर राजी तो नहीं हो; भीतर कहीं कांटा तो है।

मैं न तो आस्तिक हूं न नास्तिक। मैं न तो कहता हूं कि राजी हूं, न मैं कहता हूं नाराजी हूं। क्योंकि मेरी घोषणा यही है कि हम उससे पृथक ही नहीं हैं, नाराज और राजी होने का उपाय नहीं। नाराज और राजी तो हम उससे होते हैं, जिससे हम भिन्न हों। यही अष्टावक्र की महागीता का संदेश है।

तुम ही वही हो, अब नाराज किससे होना और राजी किससे होना? दोनों में द्वंद्व है। वह जो कहता है, मैं तेरी रजा से राजी हूं--वह भी कहता है: तू मुझसे अलग, मैं तुमसे अलग। और जब तक तुम अलग हो, तब तक तुम राजी हो कैसे सकते हो? भेद रहेगा। वह जो कहता है, मैं राजी नहीं हूं--वह भी इतना ही कह रहा है कि

मेरी मर्जी और है, तेरी मर्जी और है, मेल नहीं खाती। एक झुक गया है। एक कहता है ठीक, मैं तेरी मर्जी को ओढ़े लेता हूं।

लेकिन जब तक तुम हो, तब तक तुम्हारी मर्जी भी रहेगी। तुम दूसरे की ओढ़ भी लो, इससे कुछ फर्क नहीं पड़ने वाला। जो महासत्य है, वह कुछ और है। महासत्य तो यह है कि उसके अलावा हम हैं ही नहीं। हम ही हैं। हमारी मर्जी ही उसकी मर्जी है! उसकी मर्जी ही हमारी मर्जी है। यह तुम्हारे चाहने न चाहने की बात नहीं है। तुम राजी होओ कि नाराजी होओ, इससे कुछ फर्क नहीं पड़ता। तुम्हारी राजी और नाराजगी दोनों एक बात की खबर देती हैं कि तुमने अभी भी जीवन के अद्वैत को नहीं देखा; तुम जीवन के द्वैत में अभी भी उलझे हो। तुम अपने को अलग, परमात्मा को अलग मान रहे हो। यहां उपाय ही नहीं है--किसको "हां" कहो, किसको "ना" कहो?

एक सूफी फकीर परमात्मा से प्रार्थना करता था रोज, चालीस वर्षों तक, कि "प्रभु तेरी मर्जी पूरी हो! तू जो चाहे, वही हो!" चालीसवें वर्ष, कहते हैं, प्रभु ने उसे दर्शन दिया और कहा, बहुत हो गया! चालीस साल से तू एक ही बकवास लगाए है कि जो तेरी मर्जी हो वही पूरी हो! एक दफा कह दिया, बात खत्म हो गई थी; अब यह चालीस साल से इसी बात को दोहराए जा रहा है! जरूर तू नाराज है। जरूर तू शिकायत कर रहा है--बड़े सज्जनोचित ढंग से, बड़े शिष्टाचारपूर्वक। लेकिन तू रोज मुझे याद दिला देता है कि ध्यान रखना, राजी तो मैं नहीं हूं। अब ठीक है, मजबूरी है। तुम्हारे हाथ में ताकत है और मैं तो निर्बल! अच्छा, तो राजी हूं, जो मर्जी!

"जो मर्जी" विवशता से उठ रहा है, जबर्दस्ती झुकाए जा रहे हैं! जैसे कोई जबर्दस्ती तुम्हारी गर्दन झुका दे और तुम कुछ भी न कर पाओ तो तुम कहो, ठीक जो मर्जी! लेकिन तुमने परमात्मा को अन्य तो मान ही लिया। परमात्मा अनन्य है। वही है, हम नहीं हैं; या हम ही हैं, वह नहीं है। दो नहीं हैं, एक बात पक्की है। मैं और तू, ऐसे दो नहीं हैं। या तो मैं ही हूं, अगर ज्ञान की भाषा बोलनी हो; अगर भक्त की भाषा बोलनी हो तो तू ही है। मगर एक बात पक्की है कि एक ही है। तो फिर क्या सार है? क्या अर्थ है? "हां" कहो कि "ना" कहो, किससे कह रहे हो? अपने से ही कह रहे हो।

एक झेन फकीर, बोकोजू, रोज सुबह उठता तो जोर से कहता: बोकोजू! और फिर खुद ही बोलता: "जी हां! कहिए, क्या आज्ञा है?" फिर कहता है कि देखो ध्यान रखना, बुद्ध के नियमों का कोई उल्लंघन न हो। वह कहता: "जी हजूर! ध्यान रखेंगे।" कोई भूल-चूक न हो, स्मरणपूर्वक जीना! दिन फिर हो गया। वह कहता: "बिलकुल खयाल रखेंगे।"

उसके एक शिष्य ने सुना कि यह क्या पागलपन है! यह किससे कह रहा है! बोकोजू इसी का नाम है। सुबह उठ कर रोज-रोज यह कहता है: बोकोजू! और फिर कहता है: "जी हां, कहिए क्या कहना है?" उस शिष्य ने कहा कि महाराज, इसका राज मुझे समझा दें।

बोकोजू हंसने लगा। उसने कहा, यही सत्य है। यहां दो कहां? यहां हम ही आज्ञा देने वाले हैं, हम ही आज्ञा मानने वाले हैं। यहां हमीं स्रष्टा हैं और हमीं सृष्टि। हमीं हैं प्रश्न और हमीं हैं उत्तर। यहां दूसरा नहीं है।

इसलिए तुम इसको मजाक मत समझना--बोकोजू ने कहा। यह जीवन का यथार्थ है।

तुम मुझसे पूछते हो, मेरा क्या उत्तर है? मैं यही कहूंगा: एक है, दो नहीं हैं। अद्वय है। इसलिए तुम नकारात्मक के भी पार उठो और विधायक के भी पार उठो--तभी अध्यात्म शुरू होता है।

फर्क को समझ लेना--नकारात्मक यानी नास्तिक; अकारात्मक यानी आस्तिक। और नकार और अकार दोनों के जो पार है, वह आध्यात्मिक।

अध्यात्म आस्तिकता से बड़ी ऊंची बात है। आस्तिकता तो वहीं चलती है जहां नास्तिकता चलती है; उन दोनों की भूमि भिन्न नहीं है। एक "ना" कहता है, एक "हां" कहता है; लेकिन दोनों मानते हैं कि परमात्मा को

"हां" और "ना" कहा जा सकता है; हमसे भिन्न है। अध्यात्म कहता है, परमात्मा तुमसे भिन्न नहीं--तुम ही हो! अब क्या "हां" और "ना"? जो है, है।

राजी हूं, नाराजी हूं--यह बात ही मत उठाओ। इसमें तो अज्ञान आ गया। तुम मुझसे पूछते हो, मैं क्या कहूं? मैं कहूंगा: जो है, है। कांटा है तो कांटा है, फूल है तो फूल है। न तो मैं नाराज हूं, न मैं राजी हूं। जो है, है। उससे अन्यथा नहीं हो सकता। अन्यथा करने की कोई चाह भी नहीं है। जैसा है, उसमें ही जी लेना। अष्टावक्र ने कहा: यथाप्राप्त! जो है, उसमें ही जी लेना; उसको सहज भाव से जी लेना। ना-नुच न करना, शोरगुल न मचाना, आस्तिकता-नास्तिकता को बीच में न लाना--यही परम अध्यात्म है।

तीसरा प्रश्न: अष्टावक्र ने जानने की इच्छा को भी अन्य इच्छाओं जैसी बताया हैं: जबकि अन्य ज्ञानी मुमुक्षा की बहुत महिमा बताते हैं। कृपापूर्वक इस पर प्रकाश डालें।

मुमुक्षा का पहले तो अर्थ समझ लें।

मुमुक्षा तुम्हारी सारी आकांक्षाओं का संगृहीत होकर परमात्मा की ओर उन्मुख हो जाना है; जैसे छोटी-छोटी आकांक्षाओं की नदियां हैं, छोटे-छोटे झरने हैं, छोटी-छोटी सरिताएं हैं, नाले हैं--ये सब गिर कर गंगा बन जाती है और गंगा सागर की तरफ दौड़ पड़ती है। तुम धन पाना चाहते हो, तुम पद पाना चाहते हो, तुम सुंदर होना चाहते, स्वस्थ होना चाहते, प्रतिष्ठित होना चाहते--ऐसी हजार-हजार आकांक्षाएं हैं। जब सारी आकांक्षाएं एक ही आकांक्षा में निमज्जित हो जाती हैं और तुम कहते, मैं प्रभु को जानना चाहता--तो गंगा बनी। सब झरने, सब छोटे-मोटे नाले इस महानद में गिरे--गंगा चली सागर की तरफ!

लेकिन अंततः तो गंगा को भी मिट जाना पड़ेगा, नहीं तो सागर से मिल न पाएगी। एक घड़ी तो आएगी सागर से मिलने के क्षण में, जब गंगा को अपने को भी मिटा देना होगा। नहीं तो गंगा का होना ही बाधा हो जाएगा। अगर गंगा सागर के तट पर खड़े हो कर कहे कि मैं इतने दूर से आई, इतनी मुमुक्षा, इतनी ईश्वर-मिलन की आस को ले कर; मैं मिटने को नहीं आई हूं, मैं तो ईश्वर को पाने आई हूं--तो चूक हो गई। तो गंगा खड़ी रह जाएगी किनारे पर और चूक जाएगी सागर से। अंततः तो गंगा को भी सागर में गिर जाना है और खो जाना है।

पहले छोटी-मोटी इच्छाएं मुमुक्षा की महा अभीप्सा में गिर जाती हैं; फिर मुमुक्षा की आकांक्षा भी अंततः लीन हो जानी चाहिए। इसलिए परमज्ञानी तो यही कहेंगे कि मुमुक्षा भी बाधा है। यह जानने की इच्छा भी बाधा है। यह मोक्ष की इच्छा भी बाधा है।

मुमुक्षा यानी मोक्ष की इच्छा; मैं मुक्त होना चाहता हूं! कोई धनी होना चाहता है, कोई शक्तिशाली होना चाहता है, कोई अमर होना चाहता है, कोई मुक्त होना चाहता है--लेकिन चाह मौजूद है। निश्चित ही मोक्ष की चाह सभी चाहों से ऊपर है, लेकिन है तो चाह ही। खूब सुंदर चाह है, लेकिन है तो चाह ही। खूब सजी-संवरी चाह है, दुल्हन जैसी नई-नई--लेकिन है तो चाह ही। और चाह बंधन है।

जब तक मैं कुछ चाहता हूं, तब तक संघर्ष जारी रहेगा: क्योंकि मेरी चाह सर्व के विपरीत चलेगी। चाह का मतलब ही यह है: जो होना चाहिए वह नहीं है; और जो है, वह नहीं होना चाहिए। चाह का अर्थ ही इतना है। चाह में असंतोष है। चाह असंतोष की अग्नि में ही पैदा होती है। और मोक्ष तो तभी घटता है, जब हम कहते हैं: जो है, है; और यही हो सकता है। तत्क्षण विश्राम आ गया। जो नहीं है, उसकी मांग नहीं; जो है, उसका आनंद। संतोष आ गया, परितोष आ गया, तुष्ट हुए!

अष्टावक्र कहते हैं: बार-बार आत्मा मिलती, बार-बार तुष्टि मिलती। मुहुर्मुहुः! फिर-फिर! जैसे-जैसे संतोष घना होता है, फिर और बड़ी शांति बरसती है। और संतोष घना होता है, और बड़ा आनंद बरसता है। और शांति गहन होती है, और परमात्मा उतरता है! मुहुर्मुहुः! फिर-फिर, बार-बार, पुनः-पुनः! और कोई अंत नहीं इस यात्रा का!

तो मुमुक्षा परमात्मा के द्वार तक तो ले जाती है, लेकिन फिर द्वार पर अटका लेती है। अंततः मुमुक्षा को भी छोड़ देना होगा। अंततः सब चाह छोड़ देनी होगी, उसमें मुमुक्षा की चाह भी सम्मिलित है। अगर मुक्त होना है, तो मुक्ति की आकांक्षा भी छोड़ देनी होगी।

लेकिन जल्दी मत करना। पहले तो गंगा बनाओ, पहले तो और सब आकांक्षाओं को मुक्ति की आकांक्षा में समाविष्ट कर दो। एक ही आकांक्षा प्रज्वलित रह जाए। मन हजार तरफ दौड़ रहा है, वह एक ही तरफ दौड़ने लगे। मन में अभी खंड-खंड हैं, न मालूम कितनी मांगें हैं--एक ही मांग रह जाए। एक ही मांग रह जाएगी तो तुम एकजुट हो जाओगे। तुम्हारे भीतर एक योग फलित होगा। तुम्हारे खंड समाप्त हो जाएंगे, तुम अखंड बनोगे। फिर जब तुम पूरे अखंड हो जाओ--तो अब तुम नैवेद्य बन गए। अब तुम जा कर परमात्मा के चरणों में अपनी अखंडता को समर्पित कर देना। अब तुम कहना: अब कुछ भी नहीं चाहिए! अब यह सब चाह--यह जानने की, मोक्ष की, तुझे खोजने की--यह भी तेरे चरणों में रख देते हैं! गंगा उसी क्षण सागर में सरक जाती है, उसी क्षण सागर हो जाती है।

झलक होश की है अभी बेखुदी में
बड़ी खामियां हैं मेरी बंदगी में!
झलक होश की है अभी बेखुदी में
बड़ी खामियां हैं मेरी बंदगी में!

अगर तुम्हें इतना भी होश रह गया कि मैं बेहोश हूं, तो अभी बंदगी पूरी नहीं हुई, अभी प्रार्थना पूरी नहीं हुई। तुम अगर राह पर मदमाते, मस्त हो कर चलने लगे, लेकिन इतना खयाल रहा कि देखो कितना मस्त हूं, तो मस्ती अभी पूरी नहीं! मस्ती तो तभी पूरी होती है जब मस्ती का भी खयाल नहीं रह जाता। मोक्ष तो तभी पूरा होता है जब मोक्ष की भी आकांक्षा नहीं रह जाती।

झलक होश की है अभी बेखुदी में
बड़ी खामियां हैं मेरी बंदगी में।
कैसे कहूं कि खत्म हुई मंजिले-फनां,
इतनी खबर तो है कि मुझे कुछ खबर नहीं।

अगर इतनी भी खबर रह गई भीतर कि मुझे कुछ खबर नहीं, तो काफी है बंधन, काफी अड़चन, काफी अवरोध।

और ध्यान रखना: बड़े-बड़े अवरोध तो आदमी आसानी से पार कर जाता है; छोटे अवरोध असली अड़चन देते हैं। धन पाना है, यह आकांक्षा तो बड़ी क्षुद्र है; इसको हम मोक्ष पाने की आकांक्षा में समाविष्ट कर दे सकते हैं। बड़ी आकांक्षा इसकी जगह रख देते हैं--मोक्ष पाने की आकांक्षा। सब विकृत, सब कुरूप, धीरे-धीरे सुंदर हो जाता है। मोक्ष की धारणा ही सौंदर्य की धारणा है--सब प्रसादपूर्ण हो जाता है। तब तो पता भी नहीं चलता कि कोई दुख है, कोई पीड़ा है। फिर तो इतनी छोटी बाधा रह जाती है--पारदर्शी, दिखाई भी नहीं पड़ती! अगर ईंट-पत्थर की दीवाल चारों तरफ हो तो दिखाई पड़ती है। कांच की दीवाल, शुद्ध कांच की दीवाल, स्फटिक मणियों से बनी है--कुछ बाधा नहीं मालूम पड़ती, आर-पार दिखाई पड़ता है! दीवाल का पता ही नहीं चलता। लेकिन दीवाल अभी है। अगर निकलने की कोशिश की तो सिर टकराएगा।

मुमुक्षा कांच की दीवाल है--दिखाई भी नहीं पड़ती। संसारी की तो वासनाएं बड़ी क्षुद्र हैं, स्थूल हैं, पत्थरों जैसी हैं। संन्यासी की आकांक्षा बड़ी सूक्ष्म है, बड़ी पारदर्शी है और बड़ी सुंदर है--अटका ले सकती है।

अगर तुम्हें इतनी भी याद रह गई कि मुक्त होना है तो तुम अभी मुक्त नहीं हुए। और मुक्त होना है, यह वासना अगर मन में बनी है तो तुम मुक्त हो भी न सकोगे। क्योंकि मुक्त होने का कुल इतना ही अर्थ होता है कि अब कोई चाह न रही। मगर यह तो एक चाह बची--और इस चाह में तो सभी बच गया।

इसलिए अष्टावक्र ने बड़ी क्रांतिकारी बात कही: काम, अर्थ से तो मुक्त होना ही, धर्म से भी मुक्त होना। ऐसा कोई सूत्र किसी ग्रंथ में नहीं है। अर्थ और काम से मुक्त होने को सबने कहा है; धर्म से भी मुक्त होने को किसी ने नहीं कहा है। अष्टावक्र उस संबंध में बिलकुल मौलिक और अनूठे हैं। वे कहते हैं: धर्म से भी मुक्त होना है, नहीं तो धर्म ही बाधा बन जाएगा। अंततः तो सभी चाह गिर जानी चाहिए।

कैसे कहूं कि खत्म हुई मंजिले-फनां,
मंजिले-फनां का अर्थ होता है: शून्य हो जाना।
कैसे कहूं कि खत्म हुई मंजिले-फनां,
कैसे कहूं कि मैं शून्य हो गया?
इतनी खबर तो है कि मुझे कुछ खबर नहीं।
इतनी बाधा तो अभी बनी है।
इतनी खबर तो है कि मुझे कुछ खबर नहीं।
मगर इतना काफी है। इतनी दीवाल पर्याप्त है। इतनी दीवाल चुका देगी।
हिमगिरि लांघ चला आया मैं,
लघु कंकर अवरोध बन गया

क्षण का साहस केवल संशय,
अगर मूल में जीवित है भय,
जलनिधि तैर चला आया मैं,
उथला तट प्रतिरोध बन गया।

साध्य विमुक्त स्वयं से होना,
द्वंद्व विगत क्या पाना खोना,
हुआ समन्वय सबसे लेकिन,
निज से वही विरोध बन गया,
सूक्ष्म ग्रंथि में यह रेशम मन,
सुलझाने में उलझा चेतन,
क्रिया अहं से इतनी दूषित,
शोधन ही प्रतिशोध बन गया।

हिमगिरि लांघ चला आया मैं,
लघु कंकर अवरोध बन गया।

बड़े पहाड़ आदमी पार कर लेता है, छोटा-सा कंकर अटका लेता है। हाथी आसानी से निकल जाता है; पूंछ ही मुश्किल से निकलती है; पूंछ ही अटक जाती है।

जलनिधि तैर चला आया मैं,
उथला तट प्रतिरोध बन गया।

बहुत लोग हैं, जो सागर तो तैर जाते हैं, फिर किनारे से उलझ जाते हैं।

महावीर के जीवन में बड़ा मीठा उल्लेख है। महावीर का प्रधान शिष्य था: गौतम गणधर। वह वर्षों महावीर के साथ रहा, लेकिन मुक्त न हो सका। वह सबसे ज्यादा प्रखर-बुद्धि व्यक्ति था महावीर के शिष्यों में।

उसकी बेचैनी बहुत थी। वह बहुत मुक्त होना चाहता था, उसकी आकांक्षा में कोई कमी न थी और वह सोचता था: "अब और क्या करूं? सब दांव पर लगा दिया। सब जीवन आहुति बना दिया। अब मोक्ष क्यों नहीं हो रहा है?" लेकिन यह बात उसकी समझ में नहीं आती थी कि यही बात बाधा बन रही है। यह जो आग्रह है, यह जो आकांक्षा है कि मोक्ष क्यों नहीं हो रहा--यही बेचैनी यही तनाव खड़ा कर रही है। यह मोक्ष की आकांक्षा भी अहंकार-जन्य है। यह अहंकार का आखिरी खेल है। अब वह मोक्ष के नाम पर खेल रहा है।

महावीर की मृत्यु हुई तो उस दिन गौतम बाहर गया था। कहीं पास के गांव में उपदेश करने गया था। लौटता था तो राहगीरों ने कहा कि तुम्हें पता नहीं, महावीर तो छोड़ भी चुके देह? तो वह वहीं रोने लगा। रोते-रोते उसने इतना पूछा राहगीरों से कि मेरे लिए कोई अंतिम संदेश छोड़ा है? क्योंकि वह निकटतम शिष्य था और महावीर की उसने अथक सेवा की थी, और सब दांव पर लगाया था; फिर भी कुछ अड़चन थी कि समझ में नहीं आता था, क्यों अटका है?

तो उन्होंने कहा: हम तो समझ नहीं पाए कि उपदेश का क्या अर्थ है, क्या संदेश का अर्थ है? उन्होंने छोड़ा जरूर है, वचन हमें याद है, हम वह कह देते हैं। हमें अर्थ मालूम नहीं, अर्थ तुम हमसे पूछना भी मत, तुम जानो और वे जानें। इतना ही उन्होंने कहा कि हे गौतम, तू पूरी नदी तो तैर गया, अब किनारे पर क्यों रुक गया है?

और कहते हैं, यह सुनते ही गौतम ज्ञान को उपलब्ध हो गया! यह सुनते ही मोक्ष घट गया!

हिमगिरि लांघ चला आया मैं,
लघु कंकर अवरोध बन गया।
जलनिधि तैर चला आया मैं,
उथला तट प्रतिरोध बन गया।

आदमी पूरा सागर तैर जाता है, फिर सोचता है, अब तो किनारा आ गया--अब किनारे को पकड़ कर रुक जाता है। किनारे को भी छोड़ना पड़े। सब छोड़ना पड़े। छोड़ना भी छोड़ना पड़े। तभी तुम बचोगे अपने शुद्धतम रूप में--निरंजन! तभी तुम्हारा मोक्ष प्रगट होता है।

चौथा प्रश्न: आपने जैसे मुझे मेरे पिछले स्वप्न से जगाया, मैं उसका बिलकुल गलत अर्थ किए बैठा था--वैसे ही इस स्वप्न के बारे में भी कुछ कहने की कृपा करें। पहले मैं अक्सर स्वप्न देखता था कि भीड़ में, सभा में, समाज में अचानक नग्न हो गया हूं। और उससे मैं बहुत चौंक उठता था। लेकिन संन्यास लेने के पश्चात वैसा स्वप्न आना बंद हो गया है। वर्ष भर से मैं अनेक बार स्वप्न में अपने को गैर-गैरिक वस्त्रों में देखता हूं और अपने को वैसा देख कर भी मैं बहुत चौंक उठता हूं। उल्लेखनीय है कि अब तो मैं गैरिक वस्त्र स्वेच्छा, आनंद और कृतज्ञता के भाव से पहनता हूं। मैंने जो कुछ पाया है, उसे बांटने में यह रंग बहुत सहयोगी साबित हुआ है। फिर यह स्वप्न क्या सूचित करता है?

पूछा है "अजित सरस्वती" ने।

इस स्वप्न को समझने के लिए आधुनिक मनोविज्ञान को कार्ल गुस्ताव जुंग के द्वारा दी गई एक धारणा समझनी होगी। कार्ल गुस्ताव जुंग ने उस धारणा को "दि शैडो", छाया-व्यक्तित्व कहा है। वह बड़ी महत्वपूर्ण धारणा है। जैसे तुम धूप में चलते हो तो तुम्हारी छाया बनती है--ठीक ऐसे ही तुम जो भी करते हो, उसकी भी तुम्हारे भीतर छाया बनती है। वह छाया विपरीत होती है। वह छाया सदा तुमसे विपरीत होती है।

और जीवन का नियम है कि यहां सभी चीजें विपरीत से चलती हैं। यहां स्त्री चलती है तो पुरुष के बिना नहीं चल सकती। यहां पुरुष चलता है तो स्त्री के बिना नहीं चल सकता। यहां रात है तो दिन है और यहां जन्म

है तो मौत है। यहां अंधेरा है तो प्रकाश है। यहां हर चीज अपने विपरीत से बंधी है। जगत द्वंद्व है; द्वैत; द्वि। ठीक ऐसी ही स्थिति मन के भीतर है।

अब इस स्वप्न को समझने की कोशिश करो।

कहा है कि पहले स्वप्न देखता था: भीड़ में, सभा में, समाज में अचानक नग्न हो गया हूं। वह छाया है। तुम वस्त्र पहन कर समाज में, भीड़ में, व्यक्तियों में मिलते-जुलते हो--तुम्हारी छाया उससे विपरीत भाव पैदा करती रहती है, नग्न हो जाने का। इसलिए अक्सर जब कभी कोई आदमी पागल हो जाता है तो वस्त्र फेंक कर नग्न हो जाता है। जो छाया सदा से कह रही थी और उसने कभी नहीं सुना था, पागल हो कर वह छाया के साथ राजी हो जाता है; जो उसने किया था, उसे छोड़ देता है और छाया की सुनने लगता है। उसका छाया-रूप सदा से कह रहा था: हो जाओ नग्न, हो जाओ नग्न!

इसलिए तो समाज इतने जोर से आग्रह करता है कि नग्न मत होना, नग्न मत निकलना बाहर। क्योंकि सभी को पता है: जिस दिन से आदमी ने वस्त्र पहने हैं, उसी दिन से नग्न होने की कामना छाया-रूप व्यक्तित्व में पैदा हो गई है। जिस दिन से वस्त्र पहने हैं--उसी दिन से!

जो लोग नग्न रहते हैं जंगलों में, उनको कभी ऐसा सपना नहीं आएगा। सपने में वे कभी नहीं देखेंगे कि वे नग्न हो गए हैं, क्योंकि वस्त्र उन्होंने पहने नहीं। हां, सपने में वस्त्र पहनने का सपना आ सकता है। अगर उन्होंने वस्त्र पहने हुए लोग देखे हैं, तो सपने में वस्त्र पहनने की आकांक्षा पैदा हो सकती है।

सपने में हम वही देखते हैं जो हमने इंकार किया है, जो हमने अस्वीकार किया है, जो हमने त्याग दिया है। सपने में वही हमारे मन में उठने लगता है जो हमने घर के तलघरे में फेंक दिया है। और जब भी हम कोई काम करेंगे, तो कुछ तो तलघरे में फेंकना ही पड़ेगा।

अगर तुमने किसी स्त्री को प्रेम किया तो प्रेम के साथ जुड़ी हुई घृणा को क्या करोगे? घृणा को तलघरे में फेंक दोगे। तुम्हारे सपने में घृणा आने लगेगी। तुम्हारे सपने में तुम किसी दिन अपनी पत्नी की हत्या कर दोगे। किसी दिन तुम सपने में पत्नी की गर्दन दबा रहे होओगे। और तुम सोच भी न सकोगे कि कभी ऐसा सोचा नहीं, जागते में कभी विचार नहीं आया--और पत्नी इतनी सुंदर है और इतनी प्रीतिकर है और सब ठीक चल रहा है, यह सपना कैसे पैदा होता है!

तुम कभी सपने में मित्र के साथ लड़ते हुए पाए जाओगे; क्योंकि जिससे भी तुमने मैत्री बनाई, उसके साथ जो शत्रुता का भाव उठा, उसे तुमने तलघरे में फेंक दिया।

हम चौबीस घंटे कुछ करते हैं तो तलघरे में फेंकते हैं। इसलिए तो अष्टावक्र तो कहते हैं कि तुम न तो चुनना पुण्य को न पाप को। तुमने पुण्य चुना तो पाप को तलघरे में फेंक दोगे। वह तुम्हारे सपनों में छाया डालेगा और वह तुम्हारे आने वाले जीवन का आधार बन जाएगा। अगर तुमने चुना पाप को तो तुम पुण्य को तलघरे में फेंकोगे। फर्क ही क्या है? जिसको हम पुण्यात्मा कहते हैं, उस आदमी ने पाप को भीतर दबा लिया है, पुण्य को बाहर प्रगट कर दिया है। जिसको हम पापी कहते हैं, उसने उल्टा किया है: पुण्य को भीतर दबा लिया, पाप को बाहर प्रगट कर दिया। लेकिन सभी चीजें दोहरी हैं; जैसी सिक्के के दो पहलू हैं।

"तो जब पहले स्वप्न देखता था भीड़ में, सभा में, समाज में--तो देखता था, अचानक नग्न हो गया हूं!"

जिस दिन पहली दफा "अजित" को मां-बाप ने वस्त्र पहनाए होंगे, उसी दिन छाया पैदा हो गई। बच्चे पसंद नहीं करते वस्त्र पहनना। उनको जबर्दस्ती सिखाना पड़ता है, धमकाना पड़ता है, रिश्वत देनी पड़ती है कि मिठाई देंगे, कि यह टाफी ले लो, कि यह चाकलेट ले लो, कि इतने पैसे देंगे--मगर कपड़े पहन कर बाहर निकलो। तो बच्चे के मन में तो नग्न होने का मजा होता है; क्योंकि बच्चा तो जंगली है, वह तो आदिम है। वह कोई कारण नहीं देखता कि क्यों कपड़े पहनो? कोई वजह नहीं है। और कपड़े के बिना इतनी स्वतंत्रता और मुक्ति

मालूम होती है, नाहक कपड़े में बंधो। और फिर झंझटें कपड़े के साथ आती हैं कि तुम कपड़ा फाड़ कर आ गए कि मिट्टी लगा लाए!

अब यह बड़े मजे की बात है कि यही लोग कपड़ा पहनाते हैं और यही लोग फिर कहते हैं कि अब कपड़े को साफ-सुथरा रखो, अब इसको गंदा मत करो। उसने कभी पहनना नहीं चाहा था। एक मुसीबत दूसरी मुसीबत लाती है। फिर सिलसिला बढ़ता चला जाता है। फिर अच्छे कपड़े पहनो, फिर सुंदर कपड़े पहनो, फिर सुसंस्कृत कपड़े पहनो--प्रतिष्ठा योग्य! फिर यह जाल बढ़ता जाता है। धीरे-धीरे वह जो मन में बचपन में नग्न होने की स्वतंत्रता थी, वह तलघर में पड़ जाती है। वह कभी-कभी सपनों में छाया डालेगी। वह कभी-कभी कहेगी कि क्या उलझन में पड़े हो? कैसा मजा था तब! कूदते थे, नाचते थे! पानी में उतर गए तो फिक्र नहीं। वर्षा हो गई तो खड़े हैं, फिक्र नहीं। रेत में लोटें तो फिक्र नहीं। इन कपड़ों ने तो जान ले ली। इन कपड़ों से मिला तो कुछ भी नहीं है, खोया बहुत कुछ।

तो वह भीतर दबी हुई आकांक्षा उठ आती होगी। वह कहती है: "छोड़ दो, अब तो छोड़ो, बहुत हो गया, क्या पाया? वस्त्र ही वस्त्र रह गए, आत्मा तो गंवा दी, स्वतंत्रता गंवा दी!" इसलिए सपने में नग्न हो जाते रहे होओगे।

फिर पूछा है कि "जब से संन्यास लिया, वैसा स्वप्न आना बंद हो गया।"

साफ है प्रतीक। संन्यास तुमने लिया--मां-बाप ने नहीं दिलवाया। कपड़े मां-बाप ने पहनाए थे, तुम पर किसी न किसी तरह की जबर्दस्ती हुई होगी। यह संन्यास तुमने स्वेच्छा से लिया, यह तुमने अपने आनंद से लिया। ये वस्त्र तुमने अपने प्रेम से चुने, तुमने अहोभाव से चुने। निश्चित ही इन वस्त्रों से तुम्हारा जैसा मोह है वैसा दूसरे वस्त्रों से नहीं था। इन वस्त्रों से जैसा तुम्हारा लगाव है वैसा दूसरे वस्त्रों से नहीं था।

इसलिए नग्नता का स्वप्न तो विलीन हो गया, वह पर्दा गिरा, वह बात खत्म हो गई। वे वस्त्र ही तुमने गिरा दिए, जिनके कारण नग्नता का स्वप्न आता था। उन्हीं वस्त्रों से जुड़ा था नग्नता का स्वप्न, जो तुम्हें जबर्दस्ती पहनाए गए थे। अब उस स्वप्न की कोई सार्थकता न रही। जब वे वस्त्र ही चले गए, तो उन वस्त्रों के कारण जो छाया पैदा हुई थी, वह छाया भी विदा हो गई। सिक्के का एक पहलू चला गया, दूसरा पहलू भी चला गया।

अब तुमने खुद अपनी इच्छा से वस्त्र चुने हैं। इसलिए नग्न होने का भाव तो पैदा नहीं होता।

"लेकिन कभी-कभी गैर-गैरिक वस्त्रों में अपने को सपने में देखता हूं।"

अब यह थोड़ा समझने जैसा है। यद्यपि इन वस्त्रों के साथ वैसा विरोध नहीं है, जैसा कि मां-बाप के द्वारा पहनाए गए वस्त्रों के साथ था, यह तुमने अपनी मर्जी से चुना है; लेकिन फिर भी, जो भी चुना है, उसकी भी छाया बनेगी। धूमिल होगी छाया, उतनी प्रगाढ़ न होगी। जो तुम्हें जबर्दस्ती चुनवाया गया था, तो उसकी छाया बड़ी मजबूत होगी। जो तुमने अपनी स्वेच्छा से चुना है उसकी छाया बहुत मद्धिम होगी--मगर होगी तो! क्योंकि जो भी हमने चुना है उसकी छाया बनेगी। वह स्वेच्छा से चुना है या जबर्दस्ती चुनवाया गया है, यह बात गौण है। चुनाव की छाया बनेगी। सिर्फ अचुनाव की छाया नहीं बनती। सिर्फ साक्षी-भाव की छाया नहीं बनती। कर्तृत्व की तो छाया बनेगी।

यह संन्यास भी कर्तृत्व है। यह तुमने सोचा, विचारा, चुना। इसमें आनंद भी पाया। लेकिन स्वप्न बड़ी सूचना दे रहा है। स्वप्न यह कह रहा है कि अब कर्ता के भी ऊपर उठो, अब साक्षी बनो।

साक्षी बनते ही स्वप्न खो जाते हैं--तुम यह चकित होओगे जान कर। वस्तुतः कोई व्यक्ति साक्षी बना या नहीं, इसकी एक ही कसौटी है कि उसके स्वप्न खो गए या नहीं? जब तक हम कर्ता हैं तब तक स्वप्न चलते रहेंगे। क्योंकि करने का मतलब है: कुछ हम चुनेंगे!

अब समझो, अजित ने जब संन्यास लिया तो एकदम से कपड़े नहीं पहने। अजित ने जब संन्यास लिया शुरू में, तो ऊपर का शर्ट बदल लिया, नीचे का पैंट वे सफेद ही पहनते रहे। द्वंद्व रहा होगा। मन कहता होगा:

"क्या कर रहे? घर है, परिवार है, व्यवसाय है!" अजित डाक्टर हैं, प्रतिष्ठित डाक्टर हैं। "धंधे को नुकसान पहुंचेगा। लोग समझेंगे: पागल हैं! यह डाक्टर को क्या हो गया?" माला भी पहनते थे तो भीतर छिपाए रखते थे--अब मुझसे छुपाया नहीं जा सकता। जो-जो भीतर छुपा रहे हैं, वे खयाल रखना--उसको भीतर छुपाए रखते थे। फिर धीरे-धीरे हिम्मत जुटाई, माला बाहर आई। जब भी मुझे मिलते, तो मैं उनसे कहता रहता कि अब कब तक ऐसा करोगे? अब यह पैंट भी गेरुआ कर डालो। वे कहते: करूंगा, करूंगा...। धीरे-धीरे ऐसा कोई दोत्तीन साल लगे होंगे। तो दोत्तीन साल जो मन डांवांडोल रहा, उसकी छाया है भीतर। चुना इतने दिनों में, सोच-सोच कर चुना-- धीरे-धीरे पिघले, समझ में आया। फिर पूरे गैरिक वस्त्रों में चले गए। लेकिन वह जो तीन साल डांवांडोल चित्त-दशा रही--चुनें कि न चुनें, आधा चुनें आधा न चुनें--उस सबकी भीतर रेखाएं छूट गईं। वही रेखाएं स्वप्नों में प्रतिबिंब बनाएंगी।

जो भी हम चुनेंगे...चुनाव का मतलब यह होता है: किसी के विपरीत चुनेंगे। जो कपड़े वे पहने थे, उनके विपरीत उन्होंने गेरुए वस्त्र चुने। तो जिसके विपरीत चुने, वह बदला लेगा। जिसके विपरीत चुने, वह प्रतिशोध लेगा; वह भीतर बैठा-बैठा राह देखेगा कि कभी कोई मौका मिल जाए तो मैं बदला ले लूं। अगर सामान्य जिंदगी में मौका न मिलेगा...कुछ को मिल जाता है; जैसे "स्वभाव" कल या परसों अपना साधारण कपड़े पहने हुए यहां बैठे थे। तो स्वभाव को सपना नहीं आएगा, यह बात पक्की है। सपने की कोई जरूरत नहीं है। वे बेईमानी जागने में ही कर जाते हैं, अब सपने की क्या जरूरत है? जब धोखा जागने में ही दे देते हो तो फिर सपने का कोई सवाल नहीं रह जाता। स्वभाव को सपना नहीं आने वाला, मगर यह उनका दुर्भाग्य है। यह अजित का सौभाग्य है कि सपना आ रहा है। इससे एक बात पक्की है कि जागने में धोखा नहीं चल रहा हैं। तो सपने में छाया बन रही है।

अब इस सपने की छाया के भी पार जाना है। इसके पार जाने का एक ही उपाय है: इसे स्वीकार कर लो। इसे सदभाव से स्वीकार कर लो कि संन्यास मैंने चुना था। इसे बोधपूर्वक अंगीकार कर लो कि संन्यास मैंने चुना था, पुराने कपड़ों से लड़-लड़ कर चुना था। तो पुराने कपड़ों के प्रति कहीं कोई दबी आसक्ति भीतर रह गई है; उसे स्वीकार कर लो कि वह आसक्ति थी और मैंने उसके विपरीत चुना था। उसको स्वीकार करते ही स्वप्नों से वह तिरोहित हो जाएगी। लेकिन उसके स्वीकार करते ही तुम एक नए आयाम में प्रविष्ट भी होगे। ये गैरिक वस्त्र गैरिक रहेंगे, लेकिन अब यह चुनाव जैसा न रहा, यह प्रसाद-रूप हो जाएगा।

इस फर्क को समझ लेना।

अगर तुमने संन्यास मुझसे लिया है प्रसाद-रूप, तुमने मुझसे कहा कि आप दे दें अगर मुझे पात्र मानते हों, और तुमने कोई चुनाव नहीं किया--तो सपने में छाया नहीं बनेगी। अगर तुमने चुना, तुमने सोचा, सोचा, बार-बार चिंतन किया, पक्ष-विपक्ष देखा, तर्क-वितर्क जुड़ाया, फिर तुमने संन्यास लिया--तो छाया बनेगी।

अजित ने खूब सोच-सोच कर संन्यास लिया। इसलिए छाया रह गई है। अब तुम संन्यास को प्रसाद-रूप कर लो। अब तुम यह भाव ही छोड़ दो कि मैंने लिया। अब तो तुम यही समझो कि तुम्हें दिया गया--प्रभु-प्रसाद, प्रभु-अनुकंपा! यह मेरा चुनाव नहीं।

और जो तुम्हारे भीतर दबा हुआ भाव रह गया है, उसको भी अंगीकार कर लो कि वह है; वह तुम्हारे अतीत में था, उसकी छाया रह गई है। स्वीकार करते ही धीरे से यह सपना विदा हो जाएगा। और संन्यास को प्रसाद-रूप जानो। हालांकि चाहे तुमने सोच कर ही लिया हो, अगर तुम किसी दिन सत्य को समझोगे तो तुम पाओगे; तुमने लिया नहीं, मैंने दिया ही है।

कुरान में एक बड़ा अदभुत वचन है। वचन है कि फकीर कभी सम्राट या धनपतियों के द्वार पर न जाए। जब भी आना हो, सम्राट ही फकीर के द्वार पर आए।

जलालुद्दीन रूमी बड़ा पहुंचा हुआ सिद्ध फकीर हुआ। उसे उसके शिष्यों ने देखा एक दिन कि वह सम्राट के राजमहल गया। शिष्य बड़े बेचैन हुए। यह तो कुरान का उल्लंघन हो गया। जब जलालुद्दीन वापिस लौटा तो

उन्होंने कहा कि गुरुदेव, यह तो बात उल्लंघन हो गई। और आप जैसा सत्पुरुष चूक करे! कुरान में साफ लिखा है कि कभी फकीर धनपति या राजाओं या राजनीतिज्ञों के द्वार पर न जाए। अगर राजा को आना हो तो फकीर के द्वार पर आए।

पता है, जलालुद्दीन ने क्या कहा? जो कहा, वह बड़ा अदभुत है! कुरान के वचन की ऐसी व्याख्या ठीक कोई पहुंचा हुआ सिद्ध ही कर सकता है। जलालुद्दीन ने कहा: "तुम इसकी फिक्र न करो। चाहे मैं जाऊं राजा के घर, चाहे राजा मेरे पास आए--हर हालत में राजा मेरे पास आता है।" अजीब व्याख्या! हर हालत में! तुम आंखों की चिंता में मत पड़ना कि तुमने क्या देखा! चाहे मैं राजा के महल जाता दिखाई पड़ूं और चाहे राजा मेरे झोपड़े पर आता दिखाई पड़े, मैं तुमसे कहता हूं: हर हालत में राजा ही मेरे पास आता है।

अब जलालुद्दीन कहते हैं तो शिष्य सकते में आ गए, लेकिन बात तो समझ में नहीं आई कि यह क्या मामला है? हर हालत में!

जलालुद्दीन ने कहा: घबड़ाओ मत, परेशान मत होओ। कभी मैं राजा के द्वार पर जाता हूं, क्योंकि वह हिम्मत नहीं जुटा पा रहा आने की। वह तो नासमझ है, मैं तो नासमझ नहीं। मैं तो उसकी संभावना देखता हूं। मैं तो इसलिए गया कि उसके आने के लिए रास्ता बना आऊं। अब वह चला आएगा। मेरा जाना उससे अगर कुछ मांगने को होता तो मैं गया। मैं तो देने गया था, तो जाना कैसा? कुरान यही कहता है कि मत जाना--उसका कुल मतलब इतना है कि मांगने मत जाना। देने जाने के लिए तो कोई मनाही नहीं है। और जो देने गया है, वह गया ही नहीं है।

मैं जलालुद्दीन से राजी हूं। मैं अजित सरस्वती को कहता हूं कि तुमने सोच-सोच कर संन्यास लिया, वह तुम्हारी समझ होगी; जहां तक मुझसे पूछते हो, मैंने दिया। तुम सोचते न तो थोड़ी जल्दी मिल जाता; तुम सोचे तो थोड़ी देर से मिला--बाकी हर हाल में दिया मैंने।

जिन्होंने भी संन्यास लिया है, वे खयाल में ले लें कि तुम चाहे संन्यास लो चाहे मैं दूं, हर हाल में मैं देता हूं। तुम्हारे लेने का कोई सवाल नहीं है। तुम ले कैसे सकते हो? तुम उस विराट की तरफ हाथ कैसे फैला सकते हो?

संन्यास प्रसाद है। और यह भाव जिस दिन समझ में आ जाएगा उसी दिन यह स्वप्न खो जाएगा। इसमें थोड़ा कर्तृत्व-भाव बचा है, उतनी ही अड़चन है।

छठवां प्रश्न: मुझे अपने समर्पण पर शक होता है। क्या पूरा समर्पण शिष्य को ही करना होगा, या कि गुरु के सहयोग से वह शिष्य में घटित होता है? कृपया इस दिशा में हमें उपदेश करें।

समर्पण पर शक सभी को होता है, क्योंकि समर्पण तुम सोच-सोच कर करते हो। जो तुम सोच-सोच कर करते हो, उसमें शक तो रहेगा। शक न होता तो सोचते ही क्यों? तब समर्पण एक छलांग होता है--क्वांटम छलांग। तब तुम सोच कर नहीं करते। तब समर्पण एक पागलपन जैसा होता है, एक उन्माद की अवस्था होती है। तुम ऐसे भावाविष्ट हो जाते हो...एक श्रद्धा की क्रांति घटती है! लेकिन ऐसी क्रांति तो कभी सौ में एक को घटती है; निन्यानबे तो सोच कर ही करते हैं।

इसलिए जब तुम सोच कर करोगे, तो वह जो तुमने सोचा है बार-बार, वह जो तुमने निर्णय लिया है, वह चाहे बहुमत का निर्णय हो, लेकिन है पार्लियामेंट्री। तुमने बहुत सोचा, तुमने पाया: साठ प्रतिशत मन गवाही है समर्पण के लिए, चालीस प्रतिशत गवाही नहीं। तुमने कहा, अब ठीक है, अब निर्णय लिया जा सकता है। लेकिन यह पार्लियामेंट्री है। वह जो चालीस प्रतिशत राजी नहीं था, वह कभी भी कुछ सदस्यों को फोड़ ले सकता है। रिश्वत खिला दे, भविष्य का आश्वासन दिला दे--मिनिस्टर बना देंगे, यह कर देंगे, वह कर देंगे--वह मन के कुछ

खंडों को तोड़ ले सकता है। वह किसी भी दिन बल में आ सकता है। और उसके आने की संभावना है। क्योंकि जिस साठ प्रतिशत मन से तुमने समर्पण किया है, समर्पण करने के बाद कसौटी आएगी कि समर्पण से कुछ घट रहा है या नहीं? अब साठ प्रतिशत समर्पण से कुछ भी नहीं घटता, तो वह जो चालीस प्रतिशत मन है वह कहेगा: "सुनो, अब आयी अक्ल? पहले ही कहा था कि करो मत, इससे कुछ होने वाला नहीं है।"

यह भीतर की स्थिति है। घटती तो है घटना सौ प्रतिशत से। उसके पहले तो घटती नहीं, सौ डिग्री पर ही पानी भाप बनता है। साठ डिग्री पर बहुत-से-बहुत गर्म हो सकता है, भाप नहीं बन सकता। तो गरमा गए हो। पहले की शांति भी चली गई, और ज्वर आ गया, और उपद्रव ले लिया ये गेरुए वस्त्रों का! वैसे ही परेशान थे, वैसे ही झंझटें काफी थीं--और एक नई झंझट जोड़ ली। वह जो चालीस प्रतिशत बैठा हुआ है, उसकी तो तुम आलोचना नहीं कर सकते, वह तो विरोधी पार्टी हो गया!

विरोधी पार्टी को एक फायदा है। उसकी तुम आलोचना नहीं कर सकते। उसने कुछ किया ही नहीं, आलोचना कैसे करोगे? इसलिए विरोधी पार्टी के नेता बड़े क्रिटिकल और आलोचक हो जाते हैं। वे हर चीज की आलोचना करने लगते हैं--यह गलत, यह गलत! जो कर रहा है, निश्चित उस पर ही गलती का आरोपण लगाया जा सकता है। जो कुछ भी नहीं कर रहा...।

इसलिए बड़े मजे की घटना सारी दुनिया में घटती रहती है--भीतर भी और बाहर भी! जो पार्टी हुकूमत में होगी, वह ज्यादा देर हुकूमत में नहीं रह सकती। वह लाख उपाय करे, सदा हुकूमत में नहीं रह सकती। क्योंकि जो भी वह करेगी, उसमें कुछ तो भूलें होने वाली हैं, कुछ तो चूकें होने वाली हैं। जीवन की समस्याएं ही इतनी बड़ी हैं कि सब तो हल नहीं हो जाएंगी। जो नहीं हल होंगी, विरोधी पार्टी उन्हीं की तरफ इशारा करती रहेगी कि "इसका क्या? इस संबंध में क्या? कुछ भी नहीं हुआ, बरबाद हो गया मुल्क!" तो लोग धीरे-धीरे विरोधी की बात सुनने लगेंगे कि बात तो ठीक ही कह रहा है। विरोधी का बल बढ़ जाता है। जैसे ही विरोधी सत्ता में आया, बस उसका बल टूटना शुरू हो जाता है। सत्ताधिकारी सत्ता में आते से ही कमजोर होने लगता है। गैर-सत्ताधिकारी सत्ता के बाहर रह कर शक्तिशाली होने लगता है।

इसलिए दुनिया में राजनितिज्ञों का एक खेल चलता रहता है। सारे लोकतंत्रीय मुल्कों में दो पार्टियां होती हैं। हिंदुस्तान अभी भी उतनी अक्ल नहीं जुटा पाया--इसलिए यहां व्यर्थ परेशानी होती है। दो पार्टियां होती हैं, एक खेल है। जनता मूर्ख बनती है। उन दो पार्टियों में एक सत्ता में होती है, उसे जो करना है वह करती है; जो गैर-सत्ता में होती है, इस बीच वह अपनी ताकत जुटाती है। अगले चुनाव में दूसरी पार्टी सत्ता में आ जाती है, पहली पार्टी जनता में उतर कर फिर अपनी ताकत जुटाने में लगती है। उन दोनों के बीच एक षडयंत्र है। एक सत्ता में होता है, दूसरा आलोचक हो जाता है।

और जनता की स्मृति तो बड़ी कमजोर है। वह पूछती ही नहीं कि तुम जब सत्ता में थे तब तुमने यह आलोचना नहीं की, अब तुम आलोचना करने लगे? यही काम तुम कर रहे थे, लेकिन तब सब ठीक था; अब सब गलत हो गया? और ये जो कह रहे हैं, सब गलत हो गया है, जब सत्ता में पहुंच जाएंगे, तब फिर सब ठीक हो जाएगा! इनके सत्ता में होने से सब ठीक हो जाता है, इनके सत्ता में न होने से सब गलत हो जाता है। इनकी मौजूदगी जैसे शुभ और इनकी गैर-मौजूदगी अशुभ है।

यही घटना मन के भीतर घटती है। जो मन का हिस्सा कहता था, "मत करो समर्पण, मत लो संन्यास", वह बैठ कर देखता है: अच्छा! ले लिया, ठीक। अब क्या हुआ? अब वह बार-बार पूछता है: बताओ क्या हुआ? तो तुम्हारे जो साठ प्रतिशत हिस्से थे मन के, वे धीरे-धीरे खिसकने लगते हैं। कुछ हिस्से उसके पास चले जाते हैं। कई बार ऐसी नौबत आ जाती हैं--फिफ्टी-फिफ्टी, पचास- पचास की, तब संदेह उठता है, तब तुम बड़े डांवाडोल हो उठते हो।

कभी-कभी ऐसा भी हो सकता है कि हालत उलटी हो जाए, समर्पण के पक्ष में चालीस हिस्से हो जाएं और विपरीत में साठ हिस्से हो जाएं--तो तुम संन्यास छोड़ कर भागने की आकांक्षा करने लगते हो।

"मुझे अपने समर्पण पर शक होता है।"

समर्पण किया है तो शक होगा ही। क्योंकि समर्पण किया नहीं जा सकता। समर्पण होता है। यह तो प्रेम जैसी घटना है। किसी से प्रेम हो गया, तुम यह थोड़े ही कहते हो कि प्रेम किया--हो गया!

तो मेरे पास भी दो तरह के संन्यासी हैं--एक, जिन्होंने समर्पण किया है, उनको तो शक सदा रहेगा; एक, जिनका समर्पण हो गया है। शक की बात ही न रही। यह कोई पार्लियामेंट्री निर्णय न था। यह कोई बहुमत से किया न था। यह तो सर्व मत से हुआ था। यह तो पूरी की पूरी दीवानगी में हुआ था--उसको मैं क्वांटम छलांग कहता हूं। वह प्रक्रिया नहीं है सीढ़ी-सीढ़ी जाने की--वह छलांग है।

तो जिन मित्र ने पूछा है, उन्होंने सोच कर किया होगा। सोच कर करो तो पूरा हो नहीं पाता। पूरा हो न, तो कुछ हाथ में नहीं आता। हाथ में न आए तो संदेह उठते हैं।

फिर पूछा है कि "क्या पूरा समर्पण शिष्य को ही करना होता है?"

समर्पण करना ही नहीं होता। समर्पण तो समझ की अभिव्यक्ति है--होता है। तुम सुनते रहो मुझे, पीते रहो मुझे, बने रहो मेरे पास, बने रहो मेरी छाया में--धीरे-धीरे, धीरे-धीरे, एक दिन तुम अचानक पाओगे: समर्पण हो गया! तुम सोचो मत इसके लिए कि करना है, कि कैसे करें, कब करें। तुम हिसाब ही मत रखो यह। तुम तो सिर्फ बने रहो। सत्संग का स्वाभाविक परिणाम समर्पण है।

न तो शिष्य को करना होता है, न गुरु को करना होता है। गुरु तो कुछ करता ही नहीं, उसकी मौजूदगी काफी है; शिष्य भी कुछ न करे, बस सिर्फ मौजूद रहे गुरु की मौजूदगी में! इन दो मौजूदगियों का मेल हो जाए, ये दोनों उपस्थितियां एक-दूसरे में समाविष्ट होने लगें, ये सीमाएं थोड़ी छूट जाएं, एक-दूसरे में प्रवेश कर जाएं, अतिक्रमण हो जाए! मेरे और तुम्हारे बीच फासला कम होता जाए! सुनते-सुनते, बैठते-बैठते, निकट आते-आते कोई धुन तुम्हारे भीतर बजने लगे।

न तो मैं बजाता हूं, न तुम बजाते हो--निकटता में बजती है। मेरा सितार तो बज ही रहा है, तुम अगर सुनने को राजी हो तो तुम्हारा सितार भी उसके साथ-साथ डोलने लगेगा; तुम्हारे सितार में भी स्वर उठने लगेंगे।

तो, न तो शिष्य करता समर्पण, न गुरु करवाता। जो गुरु समर्पण करवाए, वह असदगुरु है। और जो शिष्य समर्पण करे, उसे शिष्यत्व का कोई पता नहीं। समर्पण दोनों के बीच घटता है, जब दोनों परम एकात्ममय हो जाते हैं। गुरु तो मिटा ही है, जब शिष्य भी उसके पास बैठते-बैठते, बैठते-बैठते मिटने लगता है, पिघलने लगता है--समर्पण घटता है।

"या कि गुरु के सहयोग से वह शिष्य में घटित होता है।"

न कोई सहयोग है। गुरु कुछ भी नहीं करता। अगर गुरु कुछ भी करता हो तो वह तुम्हारा दुश्मन है। क्योंकि उसका हर करना तुम्हें गुलाम बना लेगा। उसके करने पर तुम निर्भर हो जाओगे। किसी के करने से मोक्ष नहीं आने वाला है। गुरु कुछ करता ही नहीं। गुरु तो एक खाली स्थान तुम्हें देता है। गुरु तो अपनी मौजूदगी तुम्हारे सामने खोल देता है। अपने को खोल देता है। गुरु तो एक द्वार है। द्वार में कुछ भी तो नहीं होता, दीवाल भी नहीं होती। द्वार का मतलब ही है: खाली। तुम उसमें से भीतर जा सकते हो। तुम अगर डरो न, तुम अगर सोचो-विचारो न, तो धीरे से द्वार तुम्हें बुला रहा है।

तुमने देखा, खुला द्वार एक निमंत्रण है! खुले द्वार को देख कर तुम अगर उसके पास से निकलो तो भीतर जाने का मन होता है। अगर तुम हिम्मत जुटा लो और खुले द्वार का निमंत्रण मान लो तो गुरु गुरुद्वारा हो गया; उसी से तुम प्रविष्ट हो जाते हो।

गुरु कुछ करता नहीं। गुरु केटेलिटिक एजेंट है। उसकी मौजूदगी कुछ करती है, गुरु कुछ भी नहीं करता। और मौजूदगी तभी कर सकती है जब तुम करने दो--तुम मौका दो, तुम अवसर दो, तुम अपनी अकड़ छोड़ो, तुम थोड़े अपने को शिथिल करो, विश्राम में छोड़ो।

जो है, वह तो तुम्हारे भीतर है--गुरु की मौजूदगी में तुम्हें पता चलने लगता है।

फिरा अपनी ही गंध से अंध कस्तूरा
वन-वन उत्स का अज्ञान
बन गया व्याध का संधान।
फिरा अपनी ही गंध से अंध कस्तूरा!

कस्तूरी कुंडल बसै! वह कस्तूरा फिरता है पागल, अंधा बना--अपनी ही गंध से!

फिरा अपनी ही गंध से अंध कस्तूरा!

दौड़ता फिरता, भागता कि कहां से गंध आती, गंध पुकारती...!

यह गंध जो तुम मुझमें देख रहे हो, यह तुम्हारी गंध है। यह स्वर जो तुमने मुझमें सुना है, यह तुम्हारे ही सोए प्राणों का स्वर है।

फिरा अपनी ही गंध से अंध कस्तूरा
वन-वन उत्स का अज्ञान
बन गया व्याध का संधान।

जो मारने वाला छिपा है व्याध कहीं, उसके हाथ में अचानक कस्तूरा आ जाता है। कस्तूरा अपनी ही गंध खोजने निकला था। तुम भी न मालूम कितने व्याधों के संधान बन गए हो--कभी धन के, कभी पद के, कभी प्रतिष्ठा के। न मालूम कितने तीर तुम में चुभ गए हैं और तुम भटक रहे हो-- खोजते अपने को!

फिरा कस्तूरा अपनी ही गंध से अंध!

अपनी ही गंध का पता नहीं, भागते फिरते हो! अकारण संसार के हजार-हजार तीर छिदते हैं और तुम्हारे हृदय को छलनी कर जाते हैं।

सदगुरु का इतना ही अर्थ है, जिसकी मौजूदगी में तुम्हें पता चले कि "कस्तूरी कुंडल बसै"। वह तुम्हारे भीतर बसी है।

अब समर्पण कर दिया। पहले भी सोचते रहे, अब भी सोच रहे हो--सोच-सोच कर कब तक गंवाते रहोगे? एक तो समर्पण ही सोच कर नहीं करना था। अब एक तो भूल कर दी, अब कर ही चुके, अब तो सोचना छोड़ो। अब तो पूंछ कट ही गई। अब तो उसे जोड़ लेने के सपने छोड़ो। वह जो थोड़ी-सी जीवन-रेखा बची है, वह जो थोड़ी-सी जीवन-ऊर्जा बची है, उसका कुछ सदुपयोग हो जाने दो--उसे सोचने-सोचने में गंवाओ मत!

एक बची चिनगारी, चाहे चिता जला या दीप।

जीर्ण थकित लुब्धक सूरज की लगने को है आंख
फिर प्रतीची से उड़ा तिमिर-खग खोल सांझ की पांख
हुई आरती की तैयारी शंख खोज या सीप।

मिल सकता मनवंतर क्षण का चुका सको यदि मोल
रह जाएंगे काल-कंठ में माटी के कुछ बोल
आगत से आबद्ध गतागत फिर क्या दूर समीप?

एक बची चिनगारी, चाहे चिता जला या दीप।

थोड़ी-सी जो जीवन-ऊर्जा बची है, इसे तुम चिता के जलाने के ही काम में लाओगे या दीया भी जलाना है? हो गया सोच-विचार बहुत, अब इस सारी ऊर्जा को बहने दो समर्पण में! आओ निकट, आओ समीप--ताकि जो मेरे भीतर हुआ है, वह तुम्हारे भीतर भी संक्रामक हो उठे।

एक बची चिनगारी, चाहे चिता जला या दीप।

हुई आरती की तैयारी, शंख खोज या सीप।

समर्पण किया, संन्यास मैंने तुम्हारे हाथ में दे दिया--अब इसे हाथ में रखे बैठे रहोगे? इस बांसुरी को बजाओ!

भले ही फूंकते रहो बांसुरी
बिना धरे छिद्रों पर अंगुलियां
नहीं निकलेगी प्रणय की रागिनी!

दे दी बांसुरी तुम्हें, अब तुम ऐसे ही खाली फूंक-फूंक करते रहोगे? सोच-विचार फूंकना ही है। कुछ जीवन-ऊर्जा की अंगुलियां रखो बांसुरी के छिद्रों पर!

भले ही फूंकते रहो बांसुरी
बिना धरे छिद्रों पर अंगुलियां
नहीं निकलेगी प्रणय की रागिनी!

यह जो संन्यास तुम्हें दिया है, यह परमात्मा के प्रणय के राग को पैदा करने का एक अवसर बने! सोच-विचार बहुत हो चुका। सुना नहीं अष्टावक्र को? कहा जनक को: कितने-कितने जन्मों में तुमने अच्छे किए कर्म, बुरे किए कर्म, क्या काफी नहीं हो चुका? पर्याप्त नहीं हो चुका? बहुत हो चुका, अब जाग! अब उपशांति को, विराम को, उपराम को उपलब्ध हो। अब तो लौट आ घर! अब तो वापिस आ जा मूलस्रोत पर!

उस मूलस्रोत का नाम साक्षी है। संन्यास तो बांसुरी है, अगर अंगुलियां रख कर बजाई तो जो स्वर निकलेंगे, उनसे साक्षी-भाव जन्मेगा। संन्यास तो केवल यात्रा है--साक्षी की तरफ। और जब तक साक्षी पैदा न हो जाए, समझना: संन्यास पूरा नहीं हुआ है।

हरि ॐ तत्सत्!

प्रवचन-क्रम

31. मनुष्य है एक अजनबी 2
32. प्राण की यह बीन बजना चाहती है 24
33. हर जगह जीवन विकल है 42
34. धार्मिक जीवन -- सहज, सरल, सत्य 65
35. अचुनाव में अतिक्रमण है 86
36. संन्यास: अभिनव का स्वागत 106
37. जगत उल्लास है परमात्मा का 127
38. जागते-जागते जाग आती है 150
39. विषयों में विरसता मोक्ष है 174
40. धर्म अर्थात उत्सव 195
41. सहज है सत्य की उपलब्धि 217
42. श्रद्धा का क्षितिज: साक्षी का सूरज 235
43. प्रभु की प्रथम आहट -- निस्तब्धता में 258
44. शूल हैं प्रतिपल मुझे आगे बढ़ाते 284
45. धर्म एक आग है 303

इकतीसवां प्रवचन

मनुष्य है एक अजनबी

अष्टावक्र उवाच।

भावाभावविकारश्च स्वभावादिति निश्चयी।
निर्विकारो गतक्लेशः सुखेनैवोपशाम्यति।। ९९।।
ईश्वरः सर्वनिर्माता नेहान्य इति निश्चयी।
अंतर्गलित सर्वाशः शांतः क्वापि न सज्जते।। १००।।
आपदः संपदः काले दैवादेवेति निश्चयी।
तृप्तः स्वस्थेन्द्रियो नित्यं न वाग्छति न शोचति।। १०१।।
सुखदुःखे जन्ममृत्यु दैवादेवेति निश्चयी।
साध्यादर्शी निरायासः कुर्वन्नपि न लिप्यते।। १०२।।
चिंतया जायते दुःखं नान्यथैहेति निश्चयी।
तया हीनः सुखी शांतः सर्वत्र गलितस्पृहः।। १०३।।
नाहं देहो न मे देहो बोधोऽहमिति निश्चयी।
कैवल्यमिव संप्राप्तो न स्मरत्यकृतं कृतम्।। १०४।।
आब्रम्हस्तम्बपर्यन्तमहमेवेति निश्चयी।
निर्विकल्पः शुचिः शांतः प्राप्ताप्राप्तविनिर्वृतः।। १०५।।
नानाश्चर्यमिदं विश्वं च किंचिदिति निश्चयी।
निर्वासनः स्फूर्तिमात्रो न किंचिदिव शाम्यति।। १०६।।

मनुष्य है एक अजनबी--इस किनारे पर। यहां उसका घर नहीं। न अपने से परिचित है, न दूसरों से परिचित है। और अपने से ही परिचित नहीं तो दूसरों से परिचित होने का उपाय भी नहीं। लाख उपाय हम करते हैं कि बना लें थोड़ा परिचय, बन नहीं पाता। जैसे पानी पर कोई लकीरें खींचे, ऐसे ही हमारे परिचय बनते हैं और मिट जाते हैं; बन भी नहीं पाते और मिट जाते हैं।

जिसे कहते हम परिवार, जिसे कहते हम समाज--सब भ्रांतियां हैं; मन को भुलाने के उपाय हैं। और एक ही बात आदमी भुलाने की कोशिश करता है कि यहीं मेरा घर है, कहीं और नहीं। यही समझाने की कोशिश करता है: "यही मेरे प्रियजन हैं, यही मेरा सत्य है। यह देह, देह से जो दिखाई पड़ रहा है वह, यही संसार है; इसके पार और कुछ भी नहीं।" लेकिन टूट-टूट जाती है यह बात, खेल बनता नहीं। खिलौने खिलौने ही रह जाते हैं, सत्य कभी बन नहीं पाते। धोखा हम बहुत देते हैं, लेकिन धोखा कभी सफल नहीं हो पाता। और शुभ है कि धोखा सफल नहीं होता। काश, धोखा सफल हो जाता तो हम सदा को भटक जाते! फिर तो बुद्धत्व का कोई उपाय न रह जाता। फिर तो समाधि की कोई संभावना न रह जाती।

लाख उपाय करके भी टूट जाते हैं, इसलिए बड़ी चिंता पैदा होती है, बड़ा संताप होता है। मानते हो पत्नी मेरी है--और जानते हो भीतर से कि मेरी हो कैसे सकेगी? मानते हो बेटा मेरा है--लेकिन जानते हो किसी तल पर, गहराई में कि सब मेरात्तेरा सपना है। तो झुठला लेते हो, समझा लेते हो, सांत्वना कर लेते हो, लेकिन भीतर उबलती रहती है आग। और भीतर एक बात तीर की तरह चुभी ही रहती है कि न मुझे मेरा पता है, न मुझे औरों का पता है। इस अजनबी जगह घर बनाया कैसे जा सकता है?

जिस व्यक्ति को यह बोध आने लगा कि यह जगह ही अजनबी है, यहां परिचय हो नहीं सकता, हम किसी और देश के वासी हैं; जैसे ही यह बोध जगने लगा और तुमने हिम्मत की, और तुमने यहां के भूल-भुलावे में अपने को भटकाने के उपाय छोड़ दिए, और तुम जागने लगे पार के प्रति; वह जो दूसरा किनारा है, वह जो बहुत दूर कुहासे में छिपा किनारा है, उसकी पुकार तुम्हें सुनाई पड़ने लगी--तो तुम्हारे जीवन में रूपांतरण शुरू हो जाता है। धर्म ऐसी ही क्रांति का नाम है।

ये खाड़ियां, यह उदासी, यहां न बांधो नाव।
यह और देश है साथी, यहां न बांधो नाव।

दगा करेंगे मनाजिर किनारे दरिया के
सफर ही में है भलाई, यहां न बांधो नाव।

फलक गवाह कि जल-थल यहां है डांवांडोल
जमीं खिलाफ है भाई, यहां न बांधो नाव।

यहां की आबोहवा में है और ही बू-बास
यह सरजमीं है पराई, यहां न बांधो नाव।

डुबो न दें हमें ये गीत कुर्बे-साहिल के
जो दे रहे हैं सुनाई, यहां न बांधो नाव।

जो बेड़े आए थे इस घाट तक अभी उनकी
खबर कहीं से न आई, यहां न बांधो नाव।

रहे हैं जिनसे शनासा यह आसमां वह नहीं
यह वह जमीं नहीं भाई, यहां न बांधो नाव।

यहां की खाक से हम भी मुसाम रखते हैं
वफा की बू नहीं आई, यहां न बांधो नाव।

जो सरजमीन अजल से हमें बुलाती है
वह सामने नजर आई, यहां न बांधो नाव।

सवादे-साहिले-मकसूद आ रहा है नजर
ठहरने में है तबाही, यहां न बांधो नाव।

जहां-जहां भी हमें साहिलों ने ललचाया
सदा फिराक की आई, यहां न बांधो नाव।

किनारा मनमोहक तो है यह, सपनों जैसा सुंदर है। बड़े आकर्षण हैं यहां, अन्यथा इतने लोग भटकते न। अनंत लोग भटकते हैं, कुछ गहरी सम्मोहन की क्षमता है इस किनारे में। इतने-इतने लोग भटकते हैं, अकारण ही न भटकते होंगे--कुछ लुभाता होगा मन को, कुछ पकड़ लेता होगा।

कभी-कभार कोई एक अष्टावक्र होता है, कभी कोई जागता; अधिक लोग तो सोए-सोए सपना देखते रहते हैं। इन सपनों में जरूर कुछ नशा होगा, इतना तो तय है। और नशा गहरा होगा कि जगाने वाले आते हैं, जगाने की चेष्टा करते हैं, चले जाते हैं--और आदमी करवट बदल कर फिर अपनी नींद में खो जाता है। आदमी जगाने वालों को भी धोखा दे जाता है। आदमी जगाने वालों से भी नींद का नया इंतजाम कर लेता है; उनकी वाणी से भी शामक औषधियां बना लेता है।

बुद्ध जगाने आते हैं; तुम अपनी नींद में ही बुद्ध को सुन लेते हो। नींद में और-और सपनों में तुम बुद्ध की वाणी को विकृत कर लेते हो; तुम मनचाहे अर्थ निकाल लेते हो; तुम अपने भाव डाल देते हो। जो बुद्ध ने कहा था, वह तो सुन ही नहीं पाते; जो तुम सुनना चाहते थे, वही सुन लेते हो--फिर करवट लेकर तुम सो जाते हो। तो बुद्धत्व भी तुम्हारी नींद में ही डूब जाता है, तुम उसे भी डुबा लेते हो।

लेकिन, कितने ही मनमोहक हों सपने, चिंता नहीं मिटती। कांटा चुभता जाता है, सालता है, पीड़ा घनी होती जाती है।

देखो लोगों के चेहरे, देखो लोगों के अंतरतम में--घाव ही घाव हैं! खूब मलहम-पट्टी की है, लेकिन घाव मिटे नहीं। घावों के ऊपर फूल भी सजा लिए हैं, तो भी घाव मिटे नहीं। फूल रख लेने से घावों पर, घाव मिटते भी नहीं।

अपने में ही देखो। सब उपाय कर के तुमने देखे हैं। जो तुम कर सकते थे, कर लिया है। हार-हार गए हो बार-बार। फिर भी एक जाग नहीं आती कि कहीं ऐसा तो नहीं है कि जो हम कर रहे हैं, वह हो ही नहीं सकता।

अपरिचित, अपरिचित ही रहेगा। अगर परिचय बनाना हो तो अपने से बना लो; और कोई परिचय संभव नहीं है, दूसरे से परिचय हो ही नहीं सकता। एक ही परिचय संभव है--अपने से। क्योंकि दूसरे के भीतर तुम जाओगे कैसे? और अभी तो तुम अपने भीतर भी नहीं गए। अभी तो तुमने भीतर जाने की कला भी नहीं सीखी। अभी तो तुम अपने भी अंतरतम की सीढ़ियां नहीं उतरे। अभी तो तुमने अपने कुएं में ही नहीं झांका, अपने ही जलस्रोत में नहीं डूबे, तुमने अपने ही केंद्र को नहीं खोजा--तो दूसरे को तो तुम देखोगे कैसे? दूसरे को तुम उतना ही देख पाओगे जितना तुम अपने को देखते हो।

अगर तुमने माना कि तुम शरीर हो तो दूसरे तुम्हें शरीर से ज्यादा नहीं मालूम पड़ेंगे। अगर तुमने माना कि तुम मन हो, तो दूसरे तुम्हें मन से ज्यादा नहीं मालूम पड़ेंगे। यदि तुमने कभी जाना कि तुम आत्मा हो, तो ही तुम्हें दूसरे में भी आत्मा की किरण का आभास होगा।

हम दूसरे में उतना ही देख सकते हैं, उसी सीमा तक, जितना हमने स्वयं में देख लिया है। हम दूसरे की किताब तभी पढ़ सकते हैं जब हमने अपनी किताब पढ़ ली हो।

कम से कम भीतर की वर्णमाला तो पढ़ो, भीतर के शास्त्र से तो परिचित होओ तो ही तुम दूसरे से भी शायद परिचित हो जाओ।

और मजा ऐसा है कि जिसने अपने को जाना, उसने पाया कि दूसरा है ही नहीं। अपने को जानते ही पता चला कि बस एक है, वही बहुत रूपों में प्रगट हुआ है। जिसने अपने को पहचाना उसे पता चला: परिधि हमारी अलग-अलग, केंद्र हमारा एक है। जैसे ही हम भीतर जाते हैं, वैसे ही हम एक होने लगते हैं। जैसे ही हम बाहर की तरफ आते हैं, वैसे ही अनेक होने लगते हैं। अनेक का अर्थ है: बाहर की यात्रा। एक का अर्थ है: अंतर्यात्रा।

तो जो दूसरे को जानने की चेष्टा करेगा, दूसरे से परिचित होना चाहेगा...। पुरुष स्त्री से परिचित होना चाहता है, स्त्री पुरुष से परिचित होना चाहती है। हम मित्र बनाना चाहते हैं, हम परिवार बनाना चाहते हैं। हम

चाहते हैं अकेले न हों। अकेले होने में कितना भय लगता है! कैसी कठिन हो जाती हैं वे घड़ियां जब हम अकेले होते हैं। कैसी कठिन और दूभर--झेलना मुश्किल! क्षण-क्षण ऐसे कटता है जैसे वर्ष कटते हों। समय बड़ा लंबा हो जाता है। संताप बहुत सघन हो जाता है, समय बहुत लंबा हो जाता है।

तो हम दूसरे से परिचय बनाना चाहते हैं ताकि यह अकेलापन मिटे। हम दूसरे से परिवार बनाना चाहते हैं ताकि यह अजनबीपन मिटे, किसी तरह टूटे यह अजनबीपन--लगे कि यह हमारा घर है!

सांसारिक व्यक्ति मैं उसी को कहता हूं जो इस संसार में अपना घर बना रहा है। हमारा शब्द बड़ा प्यारा है। हम सांसारिक को "गृहस्थ" कहते हैं। लेकिन तुमने उसका ऊपरी अर्थ ही सुना है। तुमने इतना ही जाना है कि जो घर में रहता है, वह संसारी है। नहीं, घर में तो संन्यासी भी रहते हैं। छप्पर तो उन्हें भी चाहिए पड़ेगा। उस घर को चाहे आश्रम कहो, चाहे उस घर को मंदिर कहो, चाहे स्थानक कहो, मस्जिद कहो--इससे कुछ फर्क पड़ता नहीं। घर तो उन्हें भी चाहिए होगा। नहीं, घर का भेद नहीं है, भेद कहीं गहरे में होगा।

संसारी मैं उसको कहता हूं, जो इस संसार में घर बना रहा है; जो सोचता है, यहां घर बन जाएगा; जो सोचता है कि हम यहां के वासी हो जाएंगे, हम किसी तरह उपाय कर लेंगे। और संन्यासी वही है जिसे यह बात समझ में आ गई है: यहां घर बनता ही नहीं। जैसे दो और दो पांच नहीं होते ऐसे उसे बात समझ में आ गई कि यहां घर बनता ही नहीं। तुम बनाओ, गिर-गिर जाता है। यहां जितने घर बनाओ, सभी ताश के पत्तों के घर सिद्ध होते हैं। यहां तुम बनाओ कितने ही घर, सब जैसे रेत में बच्चे घर बनाते हैं, ऐसे सिद्ध होते हैं; हवा का झोंका आया नहीं कि गए। ऐसे मौत का झोंका आता है, सब विसर्जित हो जाता है। यहां घर कोई बना नहीं पाया।

जिस दिन तुम्हें यह दिखाई पड़ जाता है कि यहां कोई घर बना नहीं पाया, घर बनना इस जगत के नियम में ही नहीं है--उसी दिन तुम्हारे जीवन में संन्यास का पदार्पण होता है। उसी दिन तुम्हारे जीवन में उस दूसरे किनारे की गहन अभीप्सा जागती है। एक पुकार उठती है, एक अहर्निश खिंचाव, एक चुनौती--तुम चल पड़ते हो एक नई यात्रा पर!

जब तुम संसार से परिचित होने का खयाल छोड़ देते हो, तभी परमात्मा से परिचित होने का उपाय शुरू होता है। जब तुम यह भूल ही जाते हो कि दूसरा अपना हो सकता है, तब तुम अपने भीतर उतरने लगते हो, क्योंकि अब और कहीं जगह न रही कि जहां घर बनाएं।

बाहर कोई स्थान नहीं--भीतर ही जाना होगा।

अष्टावक्र के ये सूत्र उस अंतर्यात्रा के बड़े गहरे पड़ाव-स्थल हैं। एक-एक सूत्र को खूब ध्यान से समझना। ये बातें ऐसी नहीं कि तुम बस सुन लो, कि बस ऐसे ही सुन लो। ये बातें ऐसी हैं कि गुनोगे तो ही सुना। ये बातें ऐसी हैं कि ध्यान में उतरेंगी, अकेले कान में नहीं, तो ही पहुंचेंगी तुम तक। तो बहुत मौन से, बहुत ध्यान से...। इन बातों में कुछ मनोरंजन नहीं है। ये बातें तो उन्हीं के लिए हैं जो जान गए कि मनोरंजन मूढ़ता है। ये बातें तो उनके लिए हैं जो प्रौढ़ हो गए हैं; जिनका बचपना गया; अब जो घर नहीं बनाते हैं; अब जो खेल-खिलौने नहीं सजाते; अब जो गुड्डा-गुड्डियों के विवाह नहीं रचाते; अब जिन्हें एक बात की जाग आ गई है कि कुछ करना है, कुछ ऐसा आत्यंतिक कि अपने से परिचय हो जाए। अपने से परिचय हो तो चिंता मिटे। अपने से परिचय हो तो दूसरा किनारा मिले। अपने से परिचय हो तो सबसे परिचय होने का द्वार खुल जाए।

जैसे ही कोई व्यक्ति अंतरतम की गहराई में डूबता है, एक दूसरे ही लोक का उदय होता है--ऐसे लोक का, जहां तुम अपनी नाव बांध सकते हो; एक ऐसा किनारा, जो तुम्हारा है।

पहला सूत्र--अष्टावक्र ने कहा: "भाव और अभाव का विकार स्वभाव से होता है। ऐसा जो निश्चयपूर्वक जानता है, वह निर्विकार और क्लेश-रहित पुरुष सहज ही शांति को प्राप्त होता है।"

सीधे-सादे शब्द, पर बड़े अर्थगर्भित!

भावाभावविकारश्च स्वभावादिति निश्चयी।
निर्विकारो गतक्लेशः सुखेनैवोपशाम्यति।।

भावाभावविकारः स्वभावात्...।

अष्टावक्र इस पहले सूत्र में कहते हैं कि जो भी पैदा होता है, जो भी बनता है, मिटता है; आता है, जाता है; भाव हो, अभाव हो; सुख हो, दुख हो; जन्म हो, मृत्यु हो; जहां भी आवागमन है, आना- जाना है, बनना-मिटना है--समझना वहां प्रकृति का खेल है। तुममें न तो कभी कुछ उठता, न कभी कुछ गिरता; न भाव न अभाव--तुम सदा एकरस; तुम्हारे होने में कभी कोई परिवर्तन नहीं। सब परिवर्तन बाहर है; तुम शाश्वत, सनातन। सब तरंगें बाहर हैं, तुम तो हो मात्र गहराई, जहां कोई तरंग कभी प्रवेश नहीं पाती। तुम मात्र द्रष्टा हो परिवर्तन के।

भूख लगी: तुम्हें भूख कभी नहीं लगती; तुम तो मात्र जानते हो कि भूख लगी। भूख तो शरीर में ही लगती है। भूख तो शरीर का ही हिस्सा है। शरीर यानी प्रकृति। शरीर को जरूरत पड़ गई। शरीर तो दीन है। उसे तो प्रतिपल भीख की जरूरत है। उसके पास अपने जीवन को जीने का स्वसंभूत कोई उपाय नहीं है। वह तो उधार जीता है। उसे तो भोजन न दो तो मर जाएगा। उसे तो श्वास न मिले तो समाप्त हो जाएगा। उसे तो रोज-रोज भोजन डालते रहो, तो ही किसी तरह घिसटता है, तो ही किसी तरह चलता है। भूख लगी तो शरीर को भूख लगी। फिर भोजन तुमने किया तो भी शरीर को तृप्ति हुई। भूख का भाव, फिर भूख का अभाव हो जाना--दोनों ही शरीर में घटे। तुमने मात्र जाना, तुमने मात्र देखा, तुम केवल साक्षी रहे। तुममें न तो भूख लगी, तुममें न संतोष आया।

"भाव और अभाव का विचार स्वभाव से, प्रकृति से होता है। ऐसा जो निश्चयपूर्वक जानता है, वह निर्विकार और क्लेश-रहित पुरुष सहज ही शांति को प्राप्त होता है।"

इति निश्चयी--ऐसा जिसने निश्चय से जाना! सुन कर तो तुमने भी जान लिया, लेकिन निश्चय नहीं बनेगा। शास्त्र में तो तुमने भी पढ़ा, लेकिन निश्चय नहीं बनेगा। निश्चय तो अनुभव से बनता है; दूसरे के कहे नहीं बनता।

मैं तुमसे कहता हूं, अष्टावक्र तुमसे कहते हैं कि भूख शरीर को लगती है, तुम्हें नहीं। तुम सुनते हो, शायद थोड़ा बुद्धि का प्रयोग करोगे तो साफ भी हो जाएगी कि बात ठीक है। कांटा तो शरीर में ही गड़ता है, पीड़ा शरीर में ही होती है--पता हमें चलता है; बोध हमें होता है। घटनाएं घटती रहती हैं, हम साक्षी-मात्र हैं। ऐसा बुद्धि से समझ में भी आ जाएगा, लेकिन इससे तुम "इति निश्चयी" न बन जाओगे। यह तो बार-बार समझ में आ जाएगा और फिर-फिर तुम भूल जाओगे। जब फिर भूख लगेगी, तब अष्टावक्र भूल जाएंगे। तब फिर तुम कहोगे, मुझे भूख लगी। तुम भूल जाओगे। भूख के क्षण में तादात्म्य फिर सघन हो जाएगा, फिर तुम कहोगे मैं भूखा। फिर तुम भोजन करके जब तृप्ति अनुभव करोगे, कहोगे: "तृप्त हुआ, मैं तृप्त हुआ!" बौद्धिक रूप से इसे तुम समझ भी ले सकते हो, लेकिन इससे तुम "इति निश्चयी" न हो जाओगे।

इसलिए बार-बार अष्टावक्र दोहराएंगे इन शब्दों के समूह को--"इति निश्चयी", ऐसा जिसने निश्चयपूर्वक जाना। इससे तुम यह गलती मत समझ लेना कि अष्टावक्र तुमसे यह कह रहे हैं कि तुम इसे खूब दोहराओ तो निश्चय पक्का हो जाए। बार-बार दोहरा-दोहरा कर, बार-बार मन में यही भाव उठा-उठाकर निश्चय कर लो, दृढ़ता कर लो तो बस ज्ञान हो जाएगा।

नहीं, इस तरह निश्चय नहीं होता। तुम झूठ को कितना ही दोहराओ तुम्हें झूठ सच जैसा भी मालूम पड़ने लगे, तो भी सच इस तरह पैदा नहीं होता। बहुत बार दोहराने से भ्रम पैदा होता है; ऐसा लगने लगता है कि अनुभव होने लगा। अगर बैठे-बैठे तुम रोज दोहराते हो कि मैं देह नहीं, मैं देह नहीं, मैं देह नहीं--ऐसा दोहराते रहो वर्षों तक, आखिर मन पर लकीर तो पड़ेगी, बार-बार लकीर पड़ेगी। रसरी आवत जात है, सिल पर पड़त निशान! वह तो पत्थर पर भी निशान पड़ जाते हैं, कोमल-सी रस्सी के आते-जाते। तो मन पर निशान पड़ जाएगा, उसको तुम निश्चय मत समझ लेना। वह तो बार-बार दोहराने से पड़ गई लीक-लकीर है। उससे तो भ्रांति पैदा होगी। तुम्हें ऐसा लगने लगेगा कि अब मैं जानता हूं कि मैं देह नहीं।

लेकिन तुमने अभी जाना नहीं, तो जानोगे कैसे? अभी जाना ही नहीं, तो निश्चय कैसे होगा?

तो जब अष्टावक्र कहते हैं, ऐसा जिसने निश्चयपूर्वक जाना, तो उनका यह अर्थ नहीं है कि तुम अपने को आत्म-सम्मोहित कर लो। ऐसा बहुत-से लोग इस देश में कर रहे हैं। अगर तुम संन्यासियों के आश्रम में देखो तो बैठे दोहरा रहे हैं कि मैं देह नहीं, मैं ब्रह्म हूं! लेकिन क्या दोहरा रहे हो? अगर मालूम पड़ गया तो बंद करो दोहराना। दोहराना ही बताता है कि अभी पता नहीं चला। तो दो-चार दिन के लिए छोड़ो फिर देखो। दो-चार दिन छोड़ने को भी वे राजी नहीं होंगे। क्योंकि वे कहेंगे, इससे तो निश्चय में कमी आ जाएगी। यह भी कोई निश्चय हुआ कि दो-चार दिन न दोहराया तो बात खतम हो गई? यह तो निश्चय न हुआ, यह तो तुम किसी भ्रम को सम्हाल रहे हो दोहरा-दोहरा कर।

अडोल्फ हिटलर ने अपनी आत्मकथा में लिखा है: "सच और झूठ में ज्यादा फर्क नहीं। बहुत बार दोहराए गए झूठ, सच मालूम होने लगते हैं।" और अडोल्फ हिटलर ठीक कहता है, क्योंकि यही उसने जीवन भर किया। झूठ दोहराए, इतनी बार दोहराए कि वे सच मालूम होने लगे। ऐसे झूठ जिन पर पहली बार सुन कर उसके मित्र भी हंसते थे, वे भी सच मालूम होने लगे। दोहराए चले जाओ, विज्ञापन करो; दूसरों के सामने दोहराओ, अपने सामने दोहराओ; एकांत में, भीड़ में दोहराए चले जाओ--तो तुम अपने आस-पास एक धुआं पैदा कर लोगे। एक लकीर तुम्हारे आस-पास सघन हो जाएगी। उस लकीर में तुम निश्चय मत जान लेना।

जब अष्टावक्र कहते हैं, निश्चयपूर्वक, तो उनका अर्थ अडोल्फ हिटलर वाला अर्थ नहीं। उनका अर्थ है: सत्य को अनुभव से जान कर, दोहरा कर नहीं--दोहराना तो भूल कर मत। मंत्र तो सभी धोखा देते हैं। मंत्र तो धोखा देने के उपाय हैं। उनसे आंखें धुंधली हो जाती हैं। बार-बार दोहराने से शब्द रट जाते हैं। रट जाने से शब्द तुम्हारे चित्त पर घूमने लगते हैं, लेकिन तुम्हारी अनुभूति इससे निर्मित नहीं होती।

"इति निश्चयी" का अर्थ है: जिसने सुना, जिसने गुना, और फिर जिसने जीवन में प्रयोग किया। अब जब भूख लगे तो देखना। मैं तुमसे नहीं कहता कि दोहराना मैं देह नहीं; मैं कहता हूं, जब भूख लगे तो देखना, जागना, थोड़ा होश सम्हालना। देखना, भूख कहां लगी? तत्क्षण तुम पाओगे, भूख शरीर में लगी। यह कोई अष्टावक्र के कहने से थोड़े ही, मेरे कहने से थोड़े ही, किसी के कहने से थोड़े ही--यह तो भूख लगती ही शरीर में है; इसको दोहराने की जरूरत नहीं है, सिर्फ जानने की जरूरत है। इसे देखने की जरूरत है, पहचानने की जरूरत है, प्रत्यभिज्ञा चाहिए। जब भूख लगे तो गौर से देखना कि कहां लग रही है? पाओगे, पेट में लग रही है। और गौर से देखना। और तब यह भी देखना कि यह जो देखने वाला है, यह जो देख रहा भूख को लगते, इसको कहीं भूख लग रही है? तुम अचानक पाओगे, वहां कोई भूख का पता नहीं। वहां भूख की छाया भी नहीं पड़ती।

जैसे दर्पण के सामने तुम खड़े हो जाते हो तो दर्पण में तुम्हारा प्रतिबिंब बनता है। दर्पण में कुछ बनता थोड़े ही है। दर्पण में कोई अंतर थोड़े ही पड़ता है तुम्हारे खड़े हो जाने से। प्रतिबिंब कुछ है थोड़े ही। तुम हटे कि प्रतिबिंब गया। दर्पण में तो कुछ भी नहीं बना, सिर्फ बनने का आभास हुआ। वह आभास भी तुम्हें हुआ; दर्पण को वह आभास भी नहीं हुआ।

चैतन्य तो दर्पण जैसा है। उसके सामने घटनाएं घटती हैं, प्रतिबिंब बनते हैं--बस। घटनाएं समाप्त हो जाती हैं, प्रतिबिंब खो जाते हैं; दर्पण फिर खाली का खाली, फिर अपने अनंत खालीपन में आ गया। वही तो दर्पण की शुद्धि है--उसका अनंत खालीपन।

निर्विकार गतक्लेशः...।

और जिस व्यक्ति को यह निश्चय से प्रतीति हो गई कि सब खेल प्रकृति में चलता है, मैं द्रष्टा-मात्र हूं, उसके सब क्लेश समाप्त हो जाते हैं, सब विकार शून्य हो जाते हैं।

निर्विकार गतक्लेशः...।

वह विकार-शून्य हो जाता है और समस्त क्लेश के पार हो जाता है--विगत हो जाता है। अब उसे कोई क्लेश नहीं हो सकता। भूख लगे तो भी वह जानता है कि शरीर को लगी। उपाय भी करता है, नहीं कि उपाय

नहीं करता। शरीर को भोजन की जरूरत है, यह भी जानता है। लेकिन अब कोई क्लेश नहीं होता। अब दर्पण इस भ्रांति में नहीं पड़ता कि मुझ पर कोई चोट पड़ रही।

कांटा लगता है तो ज्ञानी भी कांटा निकालता है। जहां तक कांटा निकालने का संबंध है, ज्ञानी-अज्ञानी में कोई फर्क नहीं। धूप पड़ती है तो ज्ञानी भी छाया में बैठता है। जहां तक छाया में बैठने का संबंध है, ज्ञानी-अज्ञानी में कोई फर्क नहीं। अगर बाहर से तुम देखोगे तो ज्ञानी-अज्ञानी में कोई भी फर्क न पाओगे। क्या फर्क है? लेकिन भीतर अनंत फर्क है। बोध का भेद है। जब कांटा गड़ता है तो ज्ञानी निकालता है, लेकिन जानता है कि शरीर में घटना घटी; पीड़ा भी शरीर में है, प्रतिबिंब मुझमें है। फिर कांटा निकल जाता, तो पीड़ा से मुक्ति हुई; वह भी शरीर में है। पीड़ा से मुक्ति हुई , इसका प्रतिबिंब मुझमें है। बड़ी दूरी पैदा हो जाती है। जैसे शरीर अनंत दूरी पर हो जाता है।

ज्ञानी शरीर से बड़ी दूर हो जाता है। ज्ञानी शरीर में होता ही नहीं। जैसे-जैसे ज्ञान सघन होता है, ज्ञानी शरीर से दूर होता जाता है। और आश्चर्य की बात यह है कि जैसे-जैसे ज्ञानी दूर होने लगता है, वैसे-वैसे प्रतिबिंब सुस्पष्ट बनता है।

तो जब बुद्ध के पैर में कांटा गड़ेगा, तो शायद तुमने सोचा हो उन्हें पीड़ा नहीं होती--मैं तुमसे कहना चाहता हूं, उनकी पीड़ा का बोध तुमसे ज्यादा स्पष्ट होगा; स्वभावतः उनका दर्पण ज्यादा निर्मल है। जिस दर्पण पर धूल जमी हो, उसमें कहीं प्रतिबिंब साफ बनते? जिस दर्पण पर कोई धूल नहीं रही, निर्विकार हुआ, उस पर प्रतिबिंब बड़े साफ बनते हैं।

बुद्ध की संवेदनशीलता निश्चित ही तुमसे कई गुना, अनंत गुना ज्यादा होगी। फिर भी क्लेश नहीं होगा। दर्पण शुद्ध है, प्रतिबिंब साफ बनते, लेकिन क्लेश बिलकुल नहीं होता। क्योंकि क्लेश का अर्थ तुम समझ लो। क्लेश का अर्थ है: शरीर का, आत्मा का तादात्म्य। जैसे ही तुमने अपने को शरीर से जोड़ा और कहा, मुझे भूख लगी--क्लेश हुआ। क्लेश न तो शरीर में है न आत्मा में; शरीर और आत्मा के मिलन में है। जहां दोनों ने भ्रांति की कि हम एक हुए, वहीं क्लेश का जन्म होता है। शरीर और आत्मा की जो गांठ है, जो विवाह है, जो तुमने सात फेरे डाल लिए हैं--उसमें ही क्लेश है।

निर्विकार गतक्लेशः सुखेन एव उपशाम्यति।

और अष्टावक्र कहते हैं कि और अगर इतनी बात साफ हो जाए, इतना निश्चय हो जाए कि मैं भिन्न, कि मैं सदा भिन्न, कि मैं कभी पीड़ा, सुख-दुख, आने-जाने से मेरा कोई जोड़ नहीं, गांठ खुल जाए, ऐसा तलाक हो जाए शरीर से, ऐसा भेद और फासला हो जाए--तो सहज ही शांति उपलब्ध होती है।

सुखेन एव उपशाम्यति।

तो अष्टावक्र कहते हैं: फिर इस शांति के लिए कोई तपश्चर्या नहीं करनी पड़ती कि सिर के बल खड़े हों, कि हवन जलाएं और आग के पास धूनी रमाएं और शरीर को गलाएं और कष्ट दें--ये सब बातें व्यर्थ हैं।

सुखेन एव...।

बड़े सुखपूर्वक, बड़ी शांतिपूर्वक, बिना किसी श्रम के, बड़े विराम और विश्रांति में जीवन की परम घटना घट जाती है।

जिसको झेन फकीर कहते हैं--प्रयास-रहित प्रयास--अष्टावक्र के सूत्र का वही अर्थ है।

मैं कई बार सोचता हूं कि झेन फकीरों का अष्टावक्र के सूत्रों की तरफ ध्यान क्यों नहीं गया? शायद सिर्फ इसलिए कि अष्टावक्र के सूत्र बुद्ध से संबंधित नहीं हैं। अन्यथा झेन के लिए अष्टावक्र के सूत्रों से ज्यादा और कोई परम भूमिका नहीं हो सकती। अष्टावक्र का सारा कहना यही है कि बिना श्रम के हो जाता है, बिना चेष्टा के हो जाता है। क्योंकि बात सिर्फ बोध की है, चेष्टा की है नहीं। कुछ करना नहीं है; जैसा है वैसा जानना है। करने की बात ही फिजूल है।

खोजियो! तुम नहीं मानोगे

लेकिन संतों का कहना सही है
जिस घर में हम घूम रहे हैं,
उससे निकलने का रास्ता नहीं है
शून्य और दीवार दोनों एक हैं
आकार और निराकार दोनों एक हैं
जिस दिन खोज शांत होगी
तुम आप से यह जानोगे
कि खोज पाने की नहीं,
खोने की थी।
यानी तुम सचमुच में जो हो
वही होने की थी।
खोजियो! तुम नहीं मानोगे।

लेकिन सत्य ऐसा ही है। खोजना नहीं है, तुम उसे लिए ही बैठे हो। कहीं जाना नहीं है, तुम उसके साथ ही पैदा हुए हो।

सत्य तुम्हारा स्वभाव-सिद्ध अधिकार है। तुम चाहो तो भी उसे छोड़ नहीं सकते। तुम चाहो भी कि उसे गंवा दें तो गंवा नहीं सकते; क्योंकि तुम ही वही हो, कैसे गंवाओगे? कहां तुम जाओगे? जहां तुम जाओगे, सत्य तुम्हारे साथ होगा। यह कहना ही ठीक नहीं कि सत्य तुम्हारे साथ होगा, क्योंकि इससे लगता है जैसे दो हैं। तुम सत्य हो। तत्वमसि...तुम वही हो! तुम छोड़ोगे कैसे? भागोगे कैसे? बचोगे कैसे? चले जाओ गहनतम नर्क में, अंधकार से अंधकार में--क्या फर्क पड़ेगा? तुम तुम ही रहोगे। भटको खूब, भूल जाओ बिलकुल अपने को--तुम्हारे भूलने से कुछ भी अंतर न पड़ेगा; तुम तुम ही रहोगे। भूलो कि जागो, तुम तुम ही रहोगे।

जिस दिन खोज शांत होगी,
तुम आप से आप यह जानोगे
कि खोज पाने की नहीं,
खोने की थी।
यानी तुम सचमुच में जो हो
वही होने की थी।

इसलिए अष्टावक्र कह पाते हैं: "सुखेन एव उपशाम्यति।"

बड़े सुखपूर्वक घट जाती है क्रांति! पत्ता भी नहीं हिलता और घट जाती है क्रांति। श्वास भी नहीं बदलनी पड़ती, पैर भी नहीं उठाना पड़ता। कहीं गए बिना आ जाती है मंजिल। क्योंकि मंजिल तुम अपने भीतर लिए चल रहे हो। तुम्हारा घर तुम्हारे भीतर है।

वह दूसरा किनारा तुम्हारे भीतर है। एक है किनारा तुम्हारे बाहर और एक है किनारा तुम्हारे भीतर। तुम्हारे भीतर और बाहर इन दो किनारों के बीच प्रवाह है परमात्मा का। जब तुम बाहर की तरफ देखने में बिलकुल बंध जाते हो, तो एक किनारा ही रह जाता है हाथ में। तब सब अन्य मालूम होते, सब भिन्न मालूम होते। जब तुम दूसरे किनारे से परिचित हो जाते हो तब सभी अनन्य मालूम होते हैं, तब कोई भिन्न मालूम नहीं होता, सभी अभिन्न मालूम होते हैं।

"सबको बनाने वाला ईश्वर है। यहां दूसरा कोई नहीं। ऐसा जो निश्चयपूर्वक जानता है, वह पुरुष शांत है। उसकी सब आशाएं जड़ से नष्ट हो गई हैं और वह कहीं भी आसक्त नहीं होता।"

ईश्वरः सर्व निर्माता नेहान्य इति निश्चयी।
अंतर्गलितसर्वाशः शांतः क्वापि न सज्जते।।

सबको जानने वाला ईश्वर है। इसलिए अगर तुम ईश्वर को जानने चले हो तो एक गलती कभी मत करना--तुम ईश्वर को दृश्य की तरह मत सोचना। ईश्वर दृश्य नहीं बन सकता। वह सबको जानने वाला है। वह

द्रष्टा है। तो तुम इस भ्रांति में मत पड़ना कि किसी दिन मैं ईश्वर को जान लूंगा। ईश्वर सबको जानने वाला है। इसलिए तुम उसे दृश्य न बना सकोगे।

फिर ईश्वर को खोजने का उपाय क्या है? क्योंकि साधारणतः लोग जब ईश्वर को खोजते हैं तो इसी तरह खोजते हैं कि ईश्वर कोई वस्तु, कोई दृश्य, कोई व्यक्ति है; हम जाएंगे और देख लेंगे और बड़े आह्लादित होंगे, और नाचेंगे और गाएंगे और बड़े प्रसन्न होंगे कि देख लिया ईश्वर को।

मेरे पास लोग आते हैं, वे कहते हैं कि ईश्वर की खोज कैसे करें? कहां मिलेगा ईश्वर? हिमालय जाएं? एकांत में जाएं? क्या है ईश्वर की प्रतिछवि? कुछ हमें समझा दें, ताकि हम पहचानें तो भूलें न; ताकि पहचान लें, पहचान हो सके; कुछ रूप-रेखा दे दें।

नास्तिक भी और आस्तिक भी, दोनों में बड़ा फर्क नहीं मालूम पड़ता। नास्तिक भी कहता है: दिखलाओ, कहां है ईश्वर, तो हम मान लेंगे। और आस्तिक भी यही कहता है कि हम मानते हैं, हम खोजने चले हैं, कहां है? उसका रूप क्या? उसका नाम, पता, ठिकाना क्या है? लेकिन दोनों की बुद्धि एक जैसी है। दोनों में कोई बड़ा फर्क नहीं।

नास्तिक के तर्क और आस्तिक के तर्क में तुम देखते हो, फर्क कहां है? दोनों यह कहते हैं कि परमात्मा कहीं बाहर है। नास्तिक कहता है: दिखला दो तो मान लेंगे। आस्तिक कहता है: मान तो हमने लिया है, अब दिखला दो। फर्क जरा भी नहीं है, रत्ती भर का नहीं है। इसलिए तो दुनिया में इतने आस्तिक हैं--और आस्तिकता बिलकुल नहीं। क्योंकि इनमें और नास्तिक में कोई फर्क नहीं है। शायद एक फर्क होगा कि नास्तिक थोड़ा हिम्मतवर है, ये थोड़े कायर और कमजोर हैं।

नास्तिक कहता है, दिखला दो तो मान लेंगे। और यह बात ज्यादा युक्तियुक्त मालूम होती है कि मानें कैसे? आस्तिक कहता है कि चलो माने तो हम लेते हैं, कौन झंझट करे! मानने में सुविधा है, सुरक्षा है। सभी मानते हैं। समाज के विपरीत जाने में उपद्रव होता है। जगह-जगह झंझटें आती हैं। चलो माने लेते हैं, अब दिखला दो। लेकिन दोनों का खयाल है, आंख से देखा जा सकेगा। दोनों का खयाल है, परमात्मा दृश्य बन सकेगा।

यह सूत्र स्मरण रखना: "सबको जानने वाला, सबको बनाने वाला ईश्वर है। यहां दूसरा कोई नहीं है। ऐसा जो निश्चयपूर्वक जानता है, वह पुरुष शांत है। उसकी सब आशाएं जड़ से नष्ट हो गई हैं और वह कहीं भी आसक्त नहीं होता है।"

तो फिर ईश्वर को जानने का ढंग क्या है? अगर ईश्वर को दृश्य की तरह नहीं जाना जा सकता तो फिर उपाय क्या है? उपाय है कि तुम द्रष्टा बनो। क्योंकि द्रष्टा ईश्वर का स्वभाव है। जैसे-जैसे तुम द्रष्टा बने कि तुम सरकने लगे ईश्वर के करीब।

दुनिया में दो ही ढंग हैं ईश्वर के साथ थोड़ा-सा संबंध बनाने के। एक तो है कवि का ढंग और एक है ऋषि का ढंग। कवि का ढंग है कि वह कुछ सृजन करता है, कविता बनाता है, शून्य से लाता है शब्द को। चित्रकार, मूर्तिकार, संगीतकार, नर्तक--निर्माण करते कुछ। अनगढ़ पत्थर को गढ़ता मूर्तिकार; जहां कोई रूप न था, वहां रूप का निर्माण करता। कल तक पत्थर था राह के किनारे पड़ा, आज अचानक मूर्ति हो गई। उस पत्थर के चरणों पर फूल चढ़ने लगे, कुछ निर्माण कर दिया!

कहते हैं, माइकल एंजिलो निकल रहा था एक रास्ते से और उसने किनारे पर पड़ा हुआ एक पत्थर देखा। पास ही पत्थर वाले की दूकान थी। उसने पूछा, यह पत्थर कई सालों से पड़ा देखता हूं। उसने कहा, इसका कोई खरीदार नहीं, बहुत अनगढ़ है। माइकल एंजिलो ने कहा, मैं इसे खरीद लेता हूं। उस पत्थर से माइकल एंजिलो ने ईसा की बड़ी सुंदर प्रतिमा निकाली। जब प्रतिमा बन गई तो वह पत्थर की दूकान वाला भी देखने आया। उसने कहा, चमत्कार है। क्योंकि यह पत्थर मैं भी नहीं मानता था कि बिकेगा। यह तुमने क्या किया, कैसा जादू!

माइकल एंजिलो ने कहा: मैंने कुछ किया नहीं। मैं जब निकल रहा था तो इस पत्थर में छिपे हुए जीसस ने मुझे पुकारा और कहा, "मुझे छुड़ाओ! मुझे मुक्त करो! तुम ही कर सकोगे। बंधे-बंधे बहुत दिन हो गए इस पत्थर से।" तो जो व्यर्थ हिस्सा था, वह मैंने अलग कर दिया, मैंने कुछ किया नहीं।

लेकिन एक अनूठी कृति निर्मित हो गई--अनगढ़ पत्थर से!

जब माइकल एंजिलो जैसा मूर्तिकार एक अनगढ़ पत्थर को एक मूर्ति में बना डालता है, तो ईश्वर के करीब होने का थोड़ा-सा अनुभव होता है, क्योंकि स्रष्टा हुआ। जब कोई नर्तक एक नृत्य को जन्म देता है और उस नृत्य में डूब जाता है, तो थोड़ी-सी ईश्वर की झलक मिलती है। क्योंकि ऐसा ही ईश्वर अपनी सृष्टि में डूब गया है और नाच में लीन हो गया है। जब कोई कवि एक गीत को ले आता भीतर के शून्य से पकड़ कर...बड़ा कठिन है लाना, शब्द छूट-छूट जाते हैं, शून्य पकड़ में आता नहीं, लेकिन बांध लाता किसी तरह धागों में शब्दों के, भाषा के--और जब गीत का जन्म होता है, तो उसके चेहरे पर जो आनंद की आभा है, वैसी ही आनंद की आभा ईश्वर ने जब सृष्टि बनाई होगी तो उसके चेहरे पर रही होगी।

खयाल रखना, न तो कोई ईश्वर है, न कोई चेहरा है। यह तो मैं कवि की बात समझा रहा हूं तो कवि की भाषा का उपयोग कर रहा हूं। एक ढंग है स्रष्टा हो कर ईश्वर के पास पहुंचने का, क्योंकि वह स्रष्टा है: तो तुम कुछ बनाओ।

जब कोई स्त्री मां बन जाती है तो उसके चेहरे पर जो आनंद की झलक है वह सृजन की झलक है--एक बच्चे का जन्म हुआ!

देखा तुमने, स्त्रियां और कुछ निर्माण नहीं करतीं! कारण इतना ही है कि वे जीवन को निर्माण करने की क्षमता रखती हैं, और कुछ निर्माण करने की आकांक्षा नहीं रह जाती। जब एक जीवित बच्चा पैदा हो सकता है, तो कौन पत्थर की मूर्ति बनाएगा!

इसलिए कोई बड़ी मूर्तिकार स्त्री कभी हुई नहीं। कोई बड़ी संगीतज्ञ स्त्री कभी हुई नहीं। कोई बड़ी कवि स्त्री कभी हुई नहीं। मनोवैज्ञानिक तो कहते हैं कि पुरुष को सृजन की इतनी आकांक्षा पैदा होती है, वह स्त्री सेर् ईष्या के कारण। स्त्री तो बच्चों को जन्म दे देती है; पुरुष के पास जन्म देने को कुछ भी नहीं--छूंछ के छूंछ, बांझ!

तो बड़ी बेचैनी है पुरुष के भीतर, वह भी कुछ निर्माण करे! इसलिए पुरुषों ने धर्म निर्माण किए--जैन धर्म, हिंदू धर्म, ईसाई धर्म, बौद्ध धर्म; बड़ी मूर्तियां बनाईं--अजंता, एलोरा, खजुराहो; बड़े चर्च, बड़े मंदिर बनाए, बड़े काव्य लिखे...कालीदास, शेक्सपीयर, मिलटन! स्त्री उस अनुभव को, उस पुलक को उपलब्ध हो जाती है, जब बच्चे का जन्म होता है। तब इस जन्मे बच्चे को, अपने ही भीतर के शून्य से आए हुए जीवन को देख कर पुलकित हो जाती है।

इसलिए जब तक स्त्री का बच्चा न पैदा हो, तब तक कुछ कमी रहती है, चेहरे पर कुछ भाव शून्य रहता है। स्त्री अपने परम सौंदर्य को उपलब्ध होती है मां बन कर, क्योंकि मां बन कर वह स्रष्टा हो जाती है। थोड़ा-सा सृष्टि का रस उस पर भी बरस जाता है। थोड़ी बदली उस पर भी बरखा कर जाती है। पुरुष भी जब कुछ बना लेता है तो प्रमुदित होता, आह्लादित होता, आनंदित होता।

कहते हैं, आर्कमिडीज ने जब पहली दफा कोई गणित का सिद्धांत खोज लिया तो वह टब में लेटा हुआ था। लेटे-लेटे उसी आराम में उसे सिद्धांत समझ में आया, अनुभूति हुई, एक द्वार खुला! वह इतना मस्त हो गया, भागा निकल कर! क्योंकि सम्राट ने उससे कहा था यह सिद्धांत खोज लेने को। वह भूल ही गया कि नंगा है। राह में भीड़ इकट्ठी हो गई और वह चिल्ला रहा है: "यूरेका, यूरेका! पा लिया!" लोगों ने पूछा: "पागल हो गए हो? नंगे हो!" तब उसे होश आया, भागा घर में। उसने कहा, यह तो मुझे खयाल ही न रहा।

सृजन का आनंद: पा लिया! उस घड़ी आदमी वैसा ही है जैसा परमात्मा--एक थोड़ी-सी किरण उतरती है!

वैज्ञानिक हो, कवि हो, चित्रकार, मूर्तिकार--जब भी तुम कुछ सृजन कर लेते हो तो एक किरण उतरती है। यह तो एक रास्ता है। इसको मैं काव्य का रास्ता कहता, कला का रास्ता कहता। परमात्मा के पास जाने का

सबसे सुगम रास्ता है कला। मगर पूरा नहीं है यह रास्ता। इससे सिर्फ किरणें हाथ में आती हैं, सूरज कभी हाथ में नहीं आता।

फिर दूसरा रास्ता है ऋषि का। ऋषि परमात्मा को जानता है साक्षी हो कर, कवि जानता है स्रष्टा हो कर। स्रष्टा हम कितने ही बड़े हो जाएं, हमारी सृष्टि छोटी ही रहेगी। क्योंकि सृष्टि के लिए हमें शरीर का उपयोग करना पड़ेगा। इन्हीं हाथों से तो बनाओगे न मूर्ति! ये हाथ ही छोटे हैं। इन हाथों से बनी मूर्ति कितनी सुंदर हो तो भी छोटी रहेगी। इसी मन से तो रचोगे न काव्य! यह मन ही बहुत क्षुद्र है। इस मन से कितना ही सुंदर काव्य रचो, आखिर मन की ही रचना रहेगी। तो थोड़ी-सी किरण तो उतरेगी, लेकिन पूरा परमात्मा नहीं खयाल में आएगा।

साक्षी! साक्षी में न तो शरीर की जरूरत है, न मन की जरूरत है। तो सब सीमाएं छूट गईं--शुद्ध ब्रह्म, जो तुम्हारे भीतर छिपा है, उसका सीधा साक्षात्कार हुआ। उस साक्षात्कार में तुम ईश्वर हो।

ईश्वर को पाने का उपाय है: दृश्य की तरह ईश्वर को कभी मत खोजना, अन्यथा भटकते रहोगे। क्योंकि दृश्य ईश्वर बनता ही नहीं। ईश्वर द्रष्टा है।

"सबको बनाने वाला, सबको जानने वाला ईश्वर है। यहां दूसरा कोई नहीं है। ऐसा जो निश्चयपूर्वक जानता है, वह पुरुष शांत है।"

फिर कैसी अशांति? जब एक ही है, फिर कैसी अशांति? द्वंद्व न रहा, द्वैत न रहा, दुविधा न रही, दुई न रही--फिर कैसी अशांति? कलह करने का उपाय न रहा। तुम ही तुम हो, मैं ही मैं हूं--एक ही है! एकरस सब हुआ, तो शांति अनायास सिद्ध हो जाती है।

"उसकी सब आशाएं जड़ से नष्ट हो गई हैं।"

जिसने ऐसा जाना कि ईश्वर ही है, अब उसकी कोई आशा नहीं, कोई आकांक्षा नहीं। क्योंकि अब अपनी आकांक्षा ईश्वर पर थोपने का क्या प्रयोजन? वह जो करेगा, ठीक ही करेगा। फिर जो हो रहा है ठीक ही हो रहा है। जो है, शुभ है।

जब भी तुम आशा करते हो, उसका अर्थ ही इतना है कि तुमने शिकायत कर दी। जब तुमने कहा कि ऐसा हो, उसका अर्थ ही है कि जैसा हो रहा है उससे तुम राजी नहीं। तुमने कहा, ऐसा हो--उसमें ही तुमने शिकायत कर दी; उसमें ही तुम्हारी प्रार्थना नष्ट हो गई।

प्रार्थना का अर्थ है: जैसा है वैसा शुभ; जैसा है वैसा सुंदर; जैसा है वैसा सत्य; इससे अन्यथा की कोई मांग नहीं। तब तुम्हारे भीतर प्रार्थना है। आस्तिक का अर्थ है: जैसा है, उससे मैं परिपूर्ण हृदय से राजी हूं। मेरा कोई सुझाव नहीं परमात्मा को कि ऐसा हो कि वैसा हो। मेरा सुझाव क्या अर्थ रखता है? क्या मैं परमात्मा से स्वयं को ज्यादा बुद्धिमान मान बैठा हूं। जब एक ही है, तो जो भी हो रहा है ठीक ही हो रहा है। और जब सभी ठीक हो रहा है तो अशांति खो ही जाती है।

अंतर्गलितसर्वाशः...।

ऐसे व्यक्ति के भीतर से आशा, निराशा, वासना, आकांक्षा सब गलित हो जाती है, विसर्जित हो जाती है। फिर आसक्ति का भी कोई उपाय नहीं बचता। जब एक ही है, तो कौन करे आसक्ति, किससे करे आसक्ति? जब एक ही है, तो मन के लिए ही ठहरने की जगह नहीं बचती। उस एक में मन ऐसे खो जाता है जैसे धुएं की रेखा आकाश में खो जाती है।

मूल फूल को पूछता रहा: ऊपर कुछ पता चला?

फूल मूल को पूछता रहा: नीचे कुछ सुराग मिला?

लेकिन फूल और मूल एक ही हैं। वह जो नीचे चली गई है जड़ गहरे अंधेरे में पृथ्वी के, गहन गर्भ में, और वह जो फूल आकाश में उठा है और खिला है हवाओं में गंध को बिखेरता, सूरज की किरणों में नाचता--ये दो नहीं हैं।

मैंने सुना है, एक केंचुआ सरक रहा था कीचड़ में। वह अपनी ही पूंछ के पास आ गया, मोहित हो गया। कहा: "प्रिये, बहुत दिन से तलाश में था, अब मिलन हो गया!" उसकी पूंछ ने कहा: "अरे मूढ़! मैं तेरी ही पूंछ हूं।" वह समझा कि कोई स्त्री से मिलन हो गया है। अकेला था, संगी-साथी की तलाश रही होगी।

मूल फूल को पूछ रहा, फूल मूल को पूछ रहा। दोनों एक हैं। कौन किससे पूछे? कौन किसको उत्तर दे?

"विपत्ति और संपत्ति दैवयोग से ही अपने समय पर आती हैं। ऐसा जो निश्चयपूर्वक जानता है वह सदा संतुष्ट और स्वस्थेंद्रिय हुआ न इच्छा करता है न शोक करता है।"

आपदः संपदः काले दैवादेवेति निश्चयी।
तृप्तः स्वस्थेंद्रियो नित्यं न वांछति न शोचति।।
काले आपदः च संपदः...।

समय पर सब होता है। समय पर जन्म, समय पर मृत्यु; समय पर सफलता, समय पर असफलता--समय पर सब होता है। कुछ भी समय के पहले नहीं होता है। ऐसा जो जानता है कि विपत्ति और संपत्ति दैवयोग से समय आने पर घटती हैं, वह सदा संतुष्ट है। फिर जल्दी नहीं, फिर अधैर्य नहीं। जब समय होगा, फसल पकेगी, काट लेंगे। जब सुबह होगा, सूरज निकलेगा, तो सूरज के दर्शन करेंगे, धूप सेंक लेंगे। जब रात होगी, विश्राम करेंगे, आराम करेंगे; सब छोड़-छाड़, डूब जाएंगे निद्रा में। सब अपने से हो रहा है और सब अपने समय पर हो रहा है। अशांति तब पैदा होती है जब हम समय के पहले कुछ मांगने लगते हैं; हम कहते हैं, जल्दी हो जाए।

इसलिए तुम देखते हो, पश्चिम में लोग ज्यादा अशांत हैं, पूरब में कम! हालांकि पूरब में होने चाहिए ज्यादा, क्योंकि दुख यहां ज्यादा, धन की यहां कमी, भूख यहां, अकाल यहां, हजार-हजार बीमारियां यहां, सब तरह की पीड़ाएं यहां। पश्चिम में सब सुविधाएं, सब सुख, वैज्ञानिक, तकनीकी विकास--फिर भी पश्चिम में लोग दुखी; पूरब में लोग सुखी न हों, पर दुखी नहीं। मामला क्या है?

एक बात पूरब ने समझ ली, एक बात पूरब को समझ में आ गई है कि सब होता, अपने समय पर होता; हमारे किए क्या होगा? तो पूरब में एक प्रतीक्षा है, एक धैर्यपूर्ण प्रतीक्षा है--इसलिए तनाव नहीं।

फिर पश्चिम में धारणा है कि एक ही जन्म है। यह सत्तर-अस्सी साल का जन्म, फिर गए सो गए! तो जल्दबाजी भी है, सत्तर-अस्सी साल में सब कुछ कर लेना है। इसमें आधी जिंदगी तो ऐसे सोने में, खाने-पीने में बीत जाती है, नौकरी करने, कमाने में बीत जाती है। ऐसे मुश्किल से थोड़े-से दिन बचते हैं भोगने को, तो भोग लो। गहरी आतुरता है, हाथ कहीं खाली न रह जाएं! समय बीता जाता, समय की धार भागी चली जा रही--तो भागो, तेजी करो, जल्दी करो! और कितनी ही जल्दी करो, कुछ खास परिणाम नहीं होता। जल्दी करने से और देरी हो जाती है।

अभी मैं आंकड़े पढ़ता था। न्यूयॉर्क में जब कारें नहीं चलती थीं तो आदमी की गति जितनी थी उतनी ही पचास साल के बाद फिर हो गई! और इतनी कारें, गति उतनी की उतनी हो गई! क्योंकि अब कारें सड़क पर इतनी हो गईं कि तुम पैदल जितनी देर में दफ्तर पहुंच सकते हो उससे ज्यादा देर लगने लगी कार में पहुंचने से। यह बड़े मजे की बात हो गई। आदमी ने कार खोजी कि जल्दी पहुंच जाएगा। वह जल्दी पहुंचना तो दूर रहा क्योंकि जगह-जगह ट्रेफिक जाम हो जाता है, जगह-जगह हजारों कारें अटक जाती हैं।

एक आदमी ने प्रयोग किया कि वह पैदल चल कर दफ्तर जाए। एक साल वह पैदल चल कर दफ्तर गया। और एक साल कार से दफ्तर गया। वह बड़ा चकित हुआ। हिसाब बराबर हो गया--एक ही बराबर! जितनी देर कार से लगी पहुंचने में, उतनी ही देर पैदल चल कर पहुंचने में लगी। और पैदल चल कर जो स्वास्थ्य को

फायदा हुआ वह अलग, और कार में जाने से जो पेट्रोल का खर्चा हुआ, सो अलग। और कुछ समझ में नहीं आता कि क्या हुआ। इतनी दौड़-धूप!

कभी-कभी बहुत जल्दी करने से बहुत देर हो जाती है। असल में जल्दी करने वाला मन इतना आतुर हो जाता है, इतने तनाव से भर जाता है, इतना रोगग्रस्त, इतने बुखार से भर जाता कि जब पहुंच भी जाता तब भी पहुंचता कहां? उसका बुखार तो उसे पकड़े ही रहता है, उसके भीतर प्राण तो कंपते ही रहते हैं। वह भागा-भागी ही उसके जीवन का आधार हो जाता है।

एक जगह से दूसरी जगह, दूसरी जगह से तीसरी जगह। एक नौकरी से दूसरी नौकरी, एक किताब से दूसरी किताब, एक गुरु से दूसरे गुरु--वह भागता ही रहता! इस पत्नी को बदलो, इस पति को बदलो, इस धंधे को बदलो--वह भागता ही रहता! आखिर में वह पाता है कि भागा खूब, पहुंचे कहीं भी नहीं। जैसे कोल्हू का बैल चलता रहे, चलता रहे, अपनी ही लीक पर, गोल-गोल घूमता रहता।

"विपत्ति और संपत्ति दैवयोग से अपने समय पर आती हैं। ऐसा जो निश्चयपूर्वक जानता है वह सदा संतुष्ट, स्वस्थेंद्रिय हुआ न इच्छा करता है न शोक करता है।"

जो आता है उसका साक्षी रहता है--दुख आया तो साक्षी, सुख आया तो साक्षी; धन आया तो साक्षी, निर्धन हो गया तो साक्षी। उसके भीतर एकरसता बनी रहती है।

मत छुओ इस झील को
ककड़ी मारो नहीं
पत्तियां डारो नहीं
फूल मत बोरो
और कागज की तरी
इसमें नहीं छोड़ो।
खेल में तुमको
पुलक उन्मेष होता है
लहर बनने में
सलिल को क्लेश होता है।

पर हम डालते जाते हैं कंकड़ियां वासनाओं की, आकांक्षाओं की। फेंकते चट्टानें--कंकड़ियां दूर, फेंकते चट्टानें--महत आकांक्षाओं, महत्वाकांक्षाओं की। झील कंपती रहती है। सलिल को बहुत क्लेश होता है।

साक्षी बनो, कर्ता होना छोड़ो। कर्ता होने से ही सारा उपद्रव है। पूरब का सारा संदेश एक छोटे-से शब्द में आ जाता है: साक्षी बनो!

मेरा जीवन सबका साखी।
कितनी बार दिवस बीता है,
कितनी बार निशा बीती है।
कितनी बार तिमिर जीता है,
कितनी बार ज्योति जीती है।
मेरा जीवन सबका साखी।

कितनी बार सृष्टि जागी है,
कितनी बार प्रलय सोया है।
कितनी बार हंसा है जीवन,
कितनी बार विवश रोया है।
मेरा जीवन सबका साखी।

देखते चलो। रमो मत किसी में, रुको मत कहीं, अटको मत कहीं। देखते चलो। जो आए--कोई भाव मत बनाओ; बुरा-भला मत सोचो। जो आए, जैसा आए, जो लहर उठे--देखते चलो। और धीरे-धीरे तुम पाओगे: देखने वाला ही शेष रह गया, सब लहरें चली गईं, सलिल शांत हुआ। उस परम शांति के क्षण में सत्य का साक्षात्कार है।

काले आपदः च संपदः...।

--जब आता समय, होतीं घटनाएं।

दैवात् एव...।

--ऐसा प्रभु-मर्जी से!

इति निश्चयी...।

--ऐसा जिसने जाना अनुभव से।

नित्यम् तृप्तः!

--सदा तृप्त है।

नित्यम् तृप्तः! स्वाद लो इस शब्द का: नित्यम् तृप्तः! चबाओ इसे, गलाओ इसे! उतर जाने दो हृदय तक! नित्यम् तृप्तः। वह सदा तृप्त है। ऐसा व्यक्ति अतृप्ति जानता ही नहीं। अतृप्ति पैदा होती है--आकांक्षा से। तुम करते आकांक्षा, फिर वैसा नहीं होता तो अतृप्ति पैदा होती है। न करो आकांक्षा, न होगी अतृप्ति। न रहेगा बांस, न बजेगी बांसुरी।

स्वस्थेंद्रियः...।

और ऐसा व्यक्ति स्वयं में स्थित हो जाता है, स्वस्थ हो जाता है। और उसकी सारी इंद्रियां स्वयं से, भीतर की केंद्रीय शक्ति से संचालित होने लगती हैं। अभी तो इंद्रियां तुम्हें चलाती हैं। अभी तो दिखाई पड़ गया भोजन, और भूख लग आती है। भूख थी नहीं क्षण भर पहले। चमत्कार है: कैसे तुम धोखा दे देते हो! क्षण भर पहले गुनगुनाते चले आ रहे थे गीत, और मिठाई की दूकान से गंध आ गई, नासापुटों में भर गई--भूख लग गई! भूल गए, कहां जा रहे थे! पहुंच गए दूकान में। क्षण भर पहले भूख नहीं थी, क्षण भर में कैसे लग गई! कुछ समय तो लगता है भूख के लगने में! सिर्फ गंध के कारण लग गई? नहीं, नाक ने मालकियत जतला दी। नाक तुम्हें खींच कर ले गई। ऐसे तो गुलाम मत बनो!

राह चले जाते थे, कोई वासना न थी, कोई सुंदर स्त्री निकल गई, चित्त वासनाग्रस्त हो गया। सुंदर स्त्री की तो बात छोड़ो। अखबार देख रहे थे, अखबार में काली स्याही के धब्बे हैं और कुछ भी नहीं, वहां किसी ने नग्न स्त्री का चित्र बनाया हुआ है अखबार में--उसी को देख कर आंदोलित हो गए! चल पड़े सपनों में, खोजने लगे, वासना प्रज्वलित होने लगी। यह तो हद हो गई। जरा सोचो भी तो, कागज का टुकड़ा है। उस पर कुछ स्याही के दाग हैं--इनसे तुम इतने प्रभावित हो गए? आंखों ने धोखा दे दिया। तो फिर आंखें दिखाने का साधन न रहीं, अंधा बनाने लगीं।

जब आंख मालिक हो जाए तो अंधा बनाती है। जब तुम मालिक हो तो आंख देखने का साधन होती है। बुद्ध देखते हैं आंख से, महावीर देखते हैं--तुम नहीं। इंद्रियां अभी मालिक हैं; तुम गुलाम हो। इस गुलामी से छूट जाने का नाम मुक्ति है, मोक्ष है--जब तुम मालिक हो जाओ और इंद्रियां तुम्हारी अनुचर हो जाएं।

स्वस्थेंद्रियः न वांछति न शोचति।

ऐसा व्यक्ति न तो किसी तरह की चिंता करता, न इच्छा करता, न शोक करता। क्योंकि सारी बात समाप्त हो गई। जो है, उसके साथ वह परम भाव से राजी है।

नित्यम् तृप्तः।

"सुख और दुख, जन्म और मृत्यु दैवयोग से ही होता है। ऐसा जो निश्चयपूर्वक जानता है, वह पुरुष साध्य कर्म को नहीं देखता हुआ और श्रम-रहित कर्म करता हुआ भी लिप्त नहीं होता है।"

सुखदुःखे जन्ममृत्यु दैवादेवेति निश्चयी।
साध्यादर्शी निरायासः कुर्वन्नपि न लिप्यते।।
सुखदुःखे जन्ममृत्यु दैवात् एव...

सुख-दुख, जन्म और मृत्यु भी मिले हैं। सोचो, देखो जरा--तुमने जन्म तो सोचा नहीं था कि हो। तुमने जन्म पाने के लिए तो कुछ किया नहीं था। तुमने किसी से पूछा भी नहीं था कि तुम जन्म लेना चाहते कि नहीं? तुम्हारी मर्जी का सवाल ही नहीं है। तुमने अचानक एक दिन अपने को जीवन में पाया। जन्म घटा है; तुम्हारा कर्तृत्व नहीं है कुछ। ऐसे ही एक दिन मौत भी घटेगी। तुमसे कोई पूछेगा नहीं कि अब मरने की इच्छा है या नहीं? रिटायर होना चाहते कि नहीं? कोई नहीं पूछेगा। तुम कोई हड़ताल वगैरह भी न कर सकोगे कि जल्दी रिटायरमेंट किया जा रहा है, अभी हम और जीना चाहते हैं! कोई उपाय नहीं। मौत द्वार पर दस्तक भी नहीं देती, पूछती भी नहीं, सलाह-मशविरा भी नहीं लेती--बस उठा कर ले जाती है। जन्म एक दिन अचानक घटता है, मृत्यु एक दिन अचानक घटती है। फिर इन दोनों के बीच में तुम कर्ता होने का कितना पागलपन करते हो! जब जीवन की असली घटनाओं पर तुम्हारा कोई बस नहीं, जन्म पर तुम्हारा बस नहीं, मृत्यु पर तुम्हारा बस नहीं--तो थोड़ा तो जागो--इन दोनों के बीच की घटनाओं पर कैसे बस हो सकता है? न शुरू पर बस, न अंत पर बस--तो मध्य पर कैसे बस हो सकता है?

इतना ही अर्थ है जब हम कहते हैं: भगवान करता है, दैवयोग से, भाग्य से...। इतना ही अर्थ है, इसी सत्य की स्वीकृति है कि न शुरू में पूछता कोई हमसे, न बाद में हमसे कोई पूछता, तो बीच में हम नाहक शोरगुल क्यों करें? तो जब न शुरू में कोई पूछता, न बाद में कोई पूछता, तो बीच में भी हम क्यों नाहक चिल्लाएं, दुखी हों? तो बीच को भी हम स्वीकार करते हैं। इस स्वीकार में परम शांति है।

जो निश्चयपूर्वक ऐसा जानता है, फिर उसके लिए कुछ साध्य नहीं रह गया; परमात्मा जो करवाता वह करता है। जब तुम्हारा कोई साध्य नहीं रह गया तो फिर जीवन में कभी विफलता नहीं होती; परमात्मा हराता तो तुम हारते, परमात्मा जिताता तो तुम जीतते। जीत तो उसकी, हार तो उसकी।

"ऐसा व्यक्ति श्रम-रहित हुआ, कर्म करता हुआ...!"

खयाल करना इन शब्दों पर--श्रम-रहित हुआ, कर्म करता हुआ! श्रम तो समाप्त हो गया, अब कोई मेहनत नहीं है जीवन में, अब तो खेल है। वह जो करवाता; जैसे नाटक होता है, पीछे नाटककार छिपा है: वह जो कहलवाता, हम कहते हैं। वह जो प्रॉम्प्ट करता है पीछे से, हम दोहराते हैं। वह जैसी वेशभूषा सजा देता है, हम वैसी वेशभूषा कर लेते हैं। वह राम बना देता तो राम बन जाते, रावण बना देता तो रावण बन जाते हैं। कोई ऐसा थोड़े ही है कि रावण झंझट खड़ी करता है कि मुझको रावण क्यों बनाया जा रहा है, मैं राम बनूंगा! ऐसी झंझट कभी-कभी हो जाती है, तो झंझट झंझट मालूम होती है और मूढ़तापूर्ण मालूम होती है।

एक गांव में ऐसा हुआ, रामलीला होती थी। और जब सीता का स्वयंवर रचा तो रावण भी आया था। संभावना थी कि रावण धनुष को तोड़ दे। लेकिन तत्क्षण...राजनीति का पुराना जाल!...खबर आई लंका से कि लंका में आग लग गई है, जो कि बात झूठी थी, कूटनीतिक थी। वहीं से तो रामायण का सारा उपद्रव शुरू हुआ। लंका में आग लग गई तो भागा, पकड़ा होगा ऐरोप्लेन रावण ने उसी क्षण। भागा एकदम लंका; लेकिन तब तक यहां सब खतम हो गया। वह गया लंका, उसको हटाने का यह उपाय था। वह गया लंका, तब तक राम को सीता वरी गई।

एक गांव में रामलीला हुई। अब रावण को पता तो था, यह तो नाटक ही था, असली तो था नहीं। पता तो था ही कि क्या होता है। वह कुछ गुस्से में था, मैनेजर के खिलाफ था। वह असल में चाहता था राम बनना और उसने कहा कि तू रावण बन। उसने कहा, अच्छा देख लेंगे, वक्त पर देख लेंगे! जब बाहर गोहार मची,

स्वयंवर के बाहर, कि रावण तेरी लंका में आग लगी है, तो उसने कहा: "लगी रहने दो। आज तो सीता को वर कर ही घर जाएंगे!" और उसने उठ कर धनुष-बाण तोड़ दिया-- धनुष-बाण रामलीला का। अब बड़ी मुश्किल खड़ी हो गई कि अब करना क्या! तो जनक बूढ़ा आदमी, पुराना उस्ताद था! उसने कहा, "भृत्यो! यह मेरे बच्चों के खेलने का धनुष-बाण कौन उठा लाया? गिराओ पर्दा, असली धनुष लाओ।" धक्के दे कर उस रावण को निकाला, वह निकलता नहीं था। वह कहे कि ले आओ, असली ले आओ।

तुम जीवन में ऐसे ही नाहक धक्कम-धुक्की कर रहे हो। पूरब की मनीषा ने जो गहरे सूत्र खोजे, उनमें एक है कि जीवन एक अभिनय है, नाटक है, लीला है--इसे गंभीरता से मत लो। जो वह करवाए, कर लो। जो वह दिखलाए, देख लो। तुम अछूते बने रहो, तुम कुंआरे बने रहो। और तब तुम्हारे जीवन में कोई श्रम न होगा, क्योंकि कोई तनाव न होगा। कर्म तो होगा, श्रम न होगा। श्रम न होगा, कर्म होगा--इसका अर्थ हुआ: कर्म तो होगा, कर्ता न होगा। जब कर्ता होता है तो श्रम होता है, तब चिंता होती है। अब कर्ता तो परमात्मा है, हार-जीत उसकी है, सफलता-असफलता उसकी है। तुम तो सिर्फ एक उपकरण-मात्र हो, निमित्त-मात्र। सब चिंता खो जाती है।

"इस संसार में चिंता से दुख उत्पन्न होता है, अन्यथा नहीं। ऐसा जो निश्चयपूर्वक जानता है, वह सुखी और शांत है। सर्वत्र उसकी स्पृहा गलित है। और वह चिंता से मुक्त है।"

चिंतया जायते दुःखं नान्यथैहेति निश्चयी।
तया हीनः सुखी शांतः सर्वत्र गलित स्पृहः।।
चिंतया दुःखं जायते--चिंता से दुख...।

चिंता पैदा होती है कर्ता के भाव से। जैसे ही तुम स्वीकार कर लेते हो कि मैं कर्ता नहीं हूं, फिर कैसी चिंता? चिंता है कर्ता की छाया। तुम चिंता तो छोड़ना चाहते हो, कर्तृत्व नहीं छोड़ना चाहते। तुम रहना तो चाहते हो कर्ता, कि दुनिया को दिखा दो कि तुमने यह किया, यह किया, यह किया; कि इतिहास में नाम छोड़ जाओ कि कितना काम तुमने किया! लेकिन तुम चाहते हो, चिंता न हो। यह असंभव की तुम मांग करते हो। जितना बड़ा तुम्हारा कर्तृत्व होगा, उतनी ही चिंता होगी। जितना बड़ा तुम्हारा अहंकार होगा, उतनी ही तुम्हारी चिंता होगी। निश्चिंत होना हो तो निरहंकारी हो जाओ। लेकिन निरहंकारी का अर्थ ही होता है, एक ही अर्थ होता है कि तुम कर्ता मत रहो। तुम जगह दे दो परमात्मा को--उसे जो करना है करने दो। तुम्हारे हाथ उसके भर रह जाएं; तुम्हारी आंखें उसकी आंखें हो जाएं; तुम्हारी देह में वह विराजमान हो जाए, तुम मंदिर हो जाओ। उसे करने दो जो करना है। तब तुम्हारे जीवन में एक बड़ा नैसर्गिक सौंदर्य होगा, एक प्रसाद होगा! तुम हार जाओगे, तो भी तुम निश्चिंत सो जाओगे। तुम जीत जाओगे, तो भी तनाव न होगा मन में, तो भी तुम निश्चिंत सो जाओगे। क्योंकि तुम अब अपने सिर पर लेते ही नहीं।

तुम्हारी हालत ऐसी हो जाएगी जैसे एक छोटा-सा बच्चा अपने बाप का हाथ पकड़ कर जाता है। जंगल है घना, बीहड़ है, पशु-पक्षियों का डर है--बाप चिंतित है, बेटा मस्त है! वह बड़ा ही मस्त है, जंगल देख कर उसके आनंद का ठिकाना नहीं। वह हर चीज के संबंध में प्रश्न पूछ रहा है। "यह फूल क्या है?"...शेर भी सामने आ जाए तो बेटा मस्ती से खड़ा रहेगा। उसे क्या फिक्र है? बाप के हाथ में हाथ।

एक जापानी कथा है। एक युवक विवाहित हुआ। अपनी पत्नी को ले कर--समुराई था, क्षत्रिय था--अपनी पत्नी को लेकर नाव में बैठा। दूसरी तरफ उसका गांव था। बड़ा तूफान आया, अंधड़ उठा, नाव डांवांडोल होने लगी, डूबने-डूबने को होने लगी। पत्नी तो बहुत घबड़ा गई। मगर युवक शांत रहा। उसकी शांति ऐसी थी जैसे बुद्ध की प्रतिमा हो। उसकी पत्नी ने कहा, तुम शांत बैठे हो, नाव डूबने को हो रही, मौत करीब है! उस युवक ने

झटके से अपनी तलवार बाहर निकाली, पत्नी के गले पर तलवार लगा दी। पत्नी तो हंसने लगी। उसने कहा: क्या तुम मुझे डरवाना चाहते हो?

पति ने कहा: तुझे डर नहीं लगता? तलवार तेरी गर्दन पर रखी, जरा-सा इशारा कि गर्दन इस तरफ हो जाएगी।

उसने कहा: जब तलवार तुम्हारे हाथ में है तो मुझे भय कैसा?

उसने तलवार वापिस रख ली। उसने कहा: यह मेरा उत्तर है। जब तूफान-आंधी उसके हाथ में है तो मैं क्यों परेशान होऊं? डुबाना होगा तो डूबेंगे, बचाना होगा तो बचेंगे। जब तलवार मेरे हाथ में है तो तू नहीं घबराती। मुझसे तेरा प्रेम है, इसलिए न! कल विवाह न हुआ था, उसके पहले अगर मैंने तलवार तेरे गले पर रखी होती तो? तो तू चीख मारती। आज तू नहीं घबड़ाती, क्योंकि प्रेम का एक सेतु बन गया। ऐसा सेतु मेरे और परमात्मा के बीच है, इसलिए मैं नहीं घबड़ाता। तूफान आए, चलो ठीक, तूफान का मजा लेंगे। डूबेंगे, तो डूबने का मजा लेंगे। क्योंकि सब उसके हाथ में है, हम उसके हाथ के बाहर नहीं हैं। फिर चिंता कैसी?

चिंतया दुःखं जायते...।

और कोई ढंग से चिंता पैदा नहीं होती, बस चिंता एक ही है कि तुम कर्ता हो। कर्ता हो तो चिंता है, चिंता है तो दुख।

इति निश्चयी सुखी शांतः सर्वत्र गलितस्पृहः।

ऐसा जिसने निश्चयपूर्वक जाना, अनुभव से निचोड़ा--वह व्यक्ति सुखी हो जाता है, शांत हो जाता है, उसकी सारी स्पृहा समाप्त हो जाती है।

नीड़ नहीं करता पंछी की
पल भर कभी प्रतीक्षा।
गगन नहीं लिखता पंखों की
अच्छी बुरी समीक्षा।
दीप नहीं लेता शलभों की
कोई अग्नि परीक्षा।
धूम नहीं काजल बनने की
करता कभी अभीप्सा।
प्राण स्वयं ही केवल अपनी,
तृषा तृप्ति का माध्यम।
तत्व सभी निरपेक्ष, अपेक्षा
मन का मीठा विभ्रम!
तत्व सभी निरपेक्ष, अपेक्षा
मन का मीठा विभ्रम।

भ्रम है, सपना है--ऐसा हो, वैसा न हो जाए। और जैसा होना है वैसा ही होता है। तुम्हारे किए कुछ भी अंतर नहीं पड़ता, रत्ती भर अंतर नहीं पड़ता; तुम नाहक परेशान जरूर हो जाते हो, बस उतना ही अंतर पड़ता है। कभी तुम ऐसे भी तो जी कर देखो। कभी अष्टावक्र की बात पर भी तो जी कर देखो। कभी तय कर लो कि तीन महीने ऐसे जीएंगे कि जो होगा ठीक, कोई अपेक्षा न करेंगे। क्या तुम सोचते हो, सब होना बंद हो जाएगा?

मैं तुमसे कह सकता हूं प्रामाणिक रूप से, वर्षों से मैंने कुछ नहीं किया, अपने कमरे में अकेला बैठा रहता हूं। जो होना है, होता रहता है--होता ही रहता है! एक बार तुम करके देख लो, तुम चकित हो जाओगे। तुम हैरान हो जाओगे कि जन्मों-जन्मों से कर-करके परेशान हो गए, और यह तो सब होता ही है। करने वाला जैसे कोई और ही है। सब होता रहता है। तुम बीच से हट जाओ, तुम रोड़े मत बनो। तुम जैसे-जैसे रोड़े बनते हो, वैसे-वैसे उलझते हो।

प्राहा, अपने को नकार कर
सोचता है आदमी
दूसरों के बारे में
भटकता है अंधियारे में
निकालता है खा कर चोट
पत्थरों को गालियां।
करता है निंदा रास्तों की
सुन कर अपनी ही प्रतिध्वनि
भींचता है मुट्ठियां
पीसता है दांत
नोचता है चेतना के पंख
नहीं देख पाता
आत्मा का निरभ्र आकाश।
तुम जो भी शोरगुल मचा रहे हो, वह तुम नाहक ही मचा रहे हो।

सिबली ने देखा, एक कुत्ता पानी के पास आया, प्यासा है, मरा जाता है--लेकिन पानी में दिख गई अपनी छाया, तो घबड़ाया: दूसरा कुत्ता मौजूद है, झपटने को मौजूद है, खूंखार मालूम होता है! भौंका तो दूसरा कुत्ता भी भौंका। उसकी अपनी ही प्रतिध्वनि थी। सिबली बैठा देखता रहा और हंसने लगा। उसे सब समझ में आ गया। उसे अपने ही जीवन का पूरा राज सब समझ में आ गया। पर प्यास ऐसी थी उस कुत्ते की कि कूदना ही पड़ा। आखिर हिम्मत करके एक छलांग लगा ली। पानी में कूदते ही दूसरा मिट गया। वह दूसरा तो प्रतिबिंब था। जिससे तुम भयभीत हो वह तुम्हारी छाया है। जिससे तुम चिंतित हो वह तुम्हारी छाया है। जिससे तुम लड़ रहे हो वह तुम्हारी छाया है।

हिंदी में शब्द है परछाईं। यह बड़ा अदभुत शब्द है! किसने गढ़ा? किसी बड़े जानकार ने गढ़ा होगा। तुम्हारी छाया को कहते हैं परछाईं--पराये की छाया। कभी इस शब्द पर खयाल किया? छाया तुम्हारी है, नाम है परछाईं! तुम्हारी छाया ही पर हो जाती है, वह ही पर जैसी भासती है। ठीक ही जिसने यह शब्द चुना होगा, बड़ा बोधपूर्वक चुना होगा--परछाईं। अपनी ही छाया दूसरे जैसी मालूम होती है, उससे ही संघर्ष चलने लगता है। फिर लड़ो खूब, जीत हमारे हाथ नहीं लगेगी। कहीं छाया से कोई जीता है! शून्य में व्यर्थ ही कुशतम-कुश्ती कर रहे हो।

"मैं शरीर नहीं हूं, देह मेरी नहीं है, मैं चैतन्य हूं--ऐसा जो निश्चयपूर्वक जानता है, वह पुरुष कैवल्य को प्राप्त होता हुआ, किए और अनकिए कर्म को स्मरण नहीं करता है।"

नाहं देहो न मे देहो बोधोऽहमिति निश्चयी।
कैवल्यमिव संप्राप्तो न स्मरत्यकृतं कृतम्।।
अहं देहः न...।
--मैं देह नहीं।
देहः मे न...।
--और देह मेरी नहीं।
बोधोऽहम् इति निश्चयी...।
--ऐसा जिसके भीतर बोध का दीया जला, ऐसा निश्चयपूर्वक जिसके भीतर ज्योति जगी...
कैवल्यं संप्राप्तः...।
--वह धीरे-धीरे कैवल्य की परम दशा को उपलब्ध होने लगता है।

क्योंकि जिसने जाना मैं देह नहीं, ज्यादा दूर नहीं है उसका जानना कि मैं ब्रह्म हूं। उसने पहला कदम उठा लिया। जिसने कहा, मैं देह नहीं, निश्चयपूर्वक जान कर; जिसने कहा, मैं मन नहीं--उसने कदम उठा लिए धीरे-

धीरे कैवल्य की तरफ। शीघ्र ही वह घड़ी आएगी जब उसके भीतर उदघोष होगा: "अहं ब्रह्मास्मि! अनलहक! मैं ही हूं ब्रह्म!" फिर ऐसे व्यक्ति को न तो किए की चिंता होती है न अनकिए की चिंता होती है।

तुमने देखा कभी, तुम उन कर्मों का तो हिसाब रखते ही हो जो तुमने किए; जो तुम नहीं कर पाए उनके लिए भी चिंतित होते हो! तुमने मूढ़ता का कोई अंत देखा? यह गणित को समझो। कल तुम किसी को गाली नहीं दे पाए, उसकी भी चिंता चलती है। दी होती तो चिंता चलती, समझ में आता है। दे नहीं पाए, मौका चूक गए; अब मिले मौका दुबारा, न मिले मौका दुबारा; समय वैसा हाथ आए न आए--अब इसकी चिंता चलती है। तुम किए हुए की चिंता करते हो, अनकिए की चिंता करते हो। तुम जो-जो नहीं कर पाए जीवन में, वह भी तुम्हारा पीछा करता है।

मुल्ला नसरुद्दीन मर रहा था। तो मौलवी ने उससे कहा कि अब पश्चात्ताप करो, अब आखिरी घड़ी में प्रायश्चित करो! उसने आंख खोली। उसने कहा कि प्रायश्चित ही कर रहे हैं, अब बीच में गड़बड़ मत करो! उस मौलवी ने पूछा: जोर से बोलो, किस चीज का प्रायश्चित कर रहे हो? उसने कहा कि जो पाप नहीं कर पाए, उनका प्रायश्चित कर रहा हूं--कि कर ही लेते तो अच्छा था, यह मौत आ गई। अब पता नहीं बचें कि न बचें। अगर दुबारा प्रभु ने भेजा--मुल्ला नसरुद्दीन ने कहा--तो अब इतनी देर न करेंगे। जल्दी-जल्दी निपटा लेंगे। जो-जो नहीं कर पाए, उसी का पश्चात्ताप हो रहा है।

मरते वक्त अधिक लोग उसका पश्चात्ताप करते हैं, जो नहीं कर पाए।

ऐसा पुरुष, जिसने जाना मैं देह नहीं, मैं मन नहीं और जिसने पहचानी अपने भीतर की छवि--अनकिए की तो बात छोड़ो, किए का भी विचार नहीं करता। जो हुआ हुआ, जो नहीं हुआ नहीं हुआ। वह बोझ नहीं ढोता, वह अतीत को सिर पर लेकर नहीं चलता। और जिस व्यक्ति ने अतीत को सिर से उतार कर रख दिया, उसके पंख फैल जाते हैं, वह खुले आकाश में उड़ने लगता है। उस पर जमीन की कशिश का कोई प्रभाव नहीं रह जाता, वह आकाशगामी हो जाता है।

बोझ तुम्हारे सिर पर अतीत का है। और अतीत के बोझ के कारण भविष्य की आकांक्षा पैदा होती है। जो नहीं कर पाए, भविष्य में करना है। जो कर लिया, और भी अच्छी तरह कर सकते थे--उसको भविष्य में करना है।

भविष्य क्या है? तुम्हारे अतीत का ही सुधरा हुआ रूप, सजा-संवारा, और व्यवस्थित किया। अब की बार मौका आएगा तो और अच्छी तरह कर लोगे। अतीत का बोझ जो ढोता है, वही भविष्य के पीछे भी दौड़ता रहता है। जिसने अतीत को उतार दिया, उसका भविष्य भी गया। वह जीता शुद्ध वर्तमान में। और वर्तमान में होना परमात्मा में होना है।

"ब्रह्म से ले कर तृणपर्यंत मैं ही हूं--ऐसा जो निश्चयपूर्वक जानता है, वह निर्विकल्प शुद्ध और शांत और लाभालाभ से मुक्त होता है।"

जिसने जाना कि ब्रह्म से लेकर तृणपर्यंत एक ही जीवन-धारा है, एक ही जीवन का खेल है, एक ही जीवन की तरंगें हैं, एक ही सागर की लहरें--जिसने ऐसा पहचान लिया, "तृण से ले कर ब्रह्म तक", वह निर्विकल्प हो जाता है। फिर किसका भय है! फिर कैसी वासना! फिर कैसी अशांति! फिर कैसी अशुद्धि! जब एक ही है तो शुद्ध ही है। फिर कैसा लाभ, कैसा अलाभ!

"अनेक आश्चर्यों वाला यह विश्व कुछ भी नहीं है, अर्थात मिथ्या है--ऐसा जो निश्चयपूर्वक जानता है, वह वासना-रहित, बोध-स्वरूप पुरुष इस प्रकार शांति को प्राप्त होता है, मानो कुछ भी नहीं है।"

नानाश्चर्यमिदं विश्वं न किंचिदिति निश्चयी।
निर्वासनः स्फूर्तिमात्रो न किंचिदिव शाम्यति।।
इदम् विश्वं नानाश्चर्यं न किंचित...।

यह जो बहुत-बहुत आश्चर्यों से भरा हुआ विश्व है, शांत हुए व्यक्ति को ऐसा लगता है कि सपना-मात्र। यह सत्य लगता है तुम्हारी वासना के कारण, तुम्हारी वासना इसमें प्राण डालती है। वासना के हटते ही प्राण निकल जाते हैं विश्व में से। यह नाना आश्चर्यों से भरा हुआ विश्व अचानक स्वप्नवत हो जाता है, मायाजाल!

इति निश्चयी निर्वासनः स्फूर्तिमात्र न किंचिदिव शाम्यति!

"ऐसा निश्चयपूर्वक जिसने जाना, वह वासना-रहित बोध-स्वरूप पुरुष इस प्रकार शांति को प्राप्त होता है, मानो कुछ भी नहीं है।"

यह सूत्र खयाल रखना।

रात तुमने स्वप्न देखा कि तुम गिर पड़े पहाड़ से, कि छाती पर राक्षस बैठे हैं, कि गर्दन दबा रहे हैं, कि चीख निकल गई, कि चीख में नींद टूट गई। नींद टूटते ही तुम पाते हो कि चेहरा पसीना-पसीना है। छाती धक-धक हो रही, हाथ-पैर कंप रहे; लेकिन अब तुम हंसते हो। अब कोई अशांति नहीं होती। अब न राक्षस है, न पहाड़ है, न कोई तुम्हारी छाती पर बैठा है। हो सकता है अपने ही तकिए अपनी ही छाती पर लिए पड़े हो। या कभी-कभी तो ऐसा होता है कि अपने ही हाथ छाती पर वजन डालते हैं और लगता है कोई छाती पर बैठा है। अब तुम हंसते हो। अभी तक जो सपना था, सत्य मालूम हो रहा था, तो घबड़ाहट थी। अब सपना हो गया तो घबड़ाहट खो गई।

बोध को प्राप्त व्यक्ति, संबोधि को उपलब्ध व्यक्ति, जिसने जाना कि मैं स्फूर्ति-मात्र हूं, चैतन्य-मात्र हूं, चिन्मात्र हूं, वह ऐसे जीने लगता है संसार में जैसे संसार है ही नहीं; जैसे संसार है ही नहीं; है या नहीं है, कुछ भेद नहीं।

धागे में मणियां हैं
कि मणियों में धागा
ज्ञाता वह जो शब्द में सोया
अक्षर में जागा।

यह जो तुम बाहर देखते हो क्षर है, क्षणभंगुर है।

ज्ञाता वह जो शब्द में सोया
अक्षर में जागा।

जो उसमें जाग गया जिसका कोई क्षय नहीं होता--अच्युत अक्षर! वह तुम्हारे भीतर है। यह बड़े मजे की बात है, देवनागरी लिपि में वर्णमाला को हम कहते हैं अक्षर--अ, ब, स, क, ख, ग--अक्षर। फिर जब दो अक्षर से मिल कर कोई चीज बन जाती है तो उसको कहते हैं शब्द। "रा" अक्षर "म" अक्षर--"राम" शब्द।

शब्द तो जोड़ है दो का; अक्षर, एक का अनुभव है। अल्फाबेट अर्थहीन शब्द है; अक्षर, बड़ा सार्थक। अक्षर का अर्थ होता है: जब एक है तो फिर कोई विनाश नहीं; जब दो हैं तो विनाश होगा। जहां जोड़ है वहां टूट होगी; जहां योग है, वहां वियोग होगा। इसलिए तो शब्द से अक्षर को कहना असंभव है। इसलिए तो सत्य को शब्द में नहीं कहा जा सकता। क्योंकि सत्य है एक और शब्द बनते हैं दो से।

इसलिए हिंदुओं ने उस परम सत्य को प्रगट करने के लिए "ओम" खोजा। और उसको "ओम" नहीं लिखते। अगर "ओम" लिखें तो दो अक्षर हो जाएंगे। उसके लिए अलग ही प्रतीक बनाया-- "ॐ"--ताकि वह अक्षर रहे, एक ही रहे। ऐसे तो तीन हैं उसमें--अ, उ, म, "ओम" बनाने में तीन अक्षर आ गए। लेकिन तीन आ गए तो शब्द हो गया। शब्द हो गया तो असत्य हो गया। शब्द हो गया तो जोड़ हो गया; जोड़ हो गया तो टूटेगा, बिखरेगा। तो फिर हमने एक खूबी की--हमने उसके लिए एक अलग ही प्रतीक बनाया, जो वर्णमाला के बाहर है। तुम किसी से पूछो "ॐ" का अर्थ क्या है? "ॐ" का कोई अर्थ नहीं।

शब्द का अर्थ होता है, अक्षर का कोई अर्थ नहीं होता। "ॐ" तो अर्थहीन है, प्रतीक-मात्र है--उस परम का। वह एक जब टूटता है तो तीन हो जाते हैं--इसलिए त्रिमूर्ति। फिर तीन तेरह हो जाते; फिर तो बिखरता जाता है। उस एक का नाम अक्षर।

धागे में मणियां हैं
कि मणियों में धागा
ज्ञाता वह जो शब्द में सोया
अक्षर में जागा।
दर्पण में बिंबित
छाया से लड़ते-लड़ते
हो गया है
लहूलुहान सत्य।
आंख मुंदे तो आंख खुले।
आंख मुंदे तो आंख खुले!

आंख खोल कर तुमने जो देखा है, वह संसार है। आंख मूंद कर जो देखोगे--वही सर्व, वही परमात्मा, वही सत्य।

आंख मुंदे तो आंख खुले।

ये सारे सूत्र एक अर्थ में आंख मूंदने के सूत्र हैं--संसार से मूंद लो आंख। और एक अर्थ में आंख खोलने के सूत्र हैं--खोल लो परमात्मा की तरफ, स्वयं की तरफ आंख।

ये खाड़ियां, यह उदासी, यहां न बांधो नाव।
यह और देश है साथी, यहां न बांधो नाव।

दगा करेंगे मनाजिर किनारे दरिया के
सफर ही में है भलाई, यहां न बांधो नाव।

फलक गवाह कि जल-थल यहां है डांवांडोल
जमीं खिलाफ है भाई, यहां न बांधो नाव।

यहां की आबोहवा में है और ही बू-बास
यह सरजमीं है पराई, यहां न बांधो नाव।

डुबो न दें हमें ये गीत कुर्बे-साहिल के
जो दे रहे हैं सुनाई, यहां न बांधो नाव।

जो बेड़े आए थे इस घाट तक अभी उनकी
खबर कहीं से न आई, यहां न बांधो नाव।

रहे हैं जिनसे शनासा यह आसमां वह नहीं
यह वह जमीं नहीं भाई, यहां न बांधो नाव।

यहां की खाक से हम भी मुसाम रखते हैं
वफा की बू नहीं आई, यहां न बांधो नाव।

जो सरजमीन अजल से हमें बुलाती है
वह सामने नजर आई, यहां न बांधो नाव।
सवादे-साहिले-मकसूद आ रहा है नजर
ठहरने में है तबाही, यहां न बांधो नाव।

जहां-जहां भी हमें साहिलों ने ललचाया
सदा फिराक की आई, यहां न बांधो नाव।

हरि ॐ तत्सत्।

बत्तीसवां प्रवचन

प्राण की यह बीन बजना चाहती है

पहला प्रश्न: आपने हमें संन्यास दिया, लेकिन कोई मंत्र नहीं बताया। पुराने ढब के संन्यासी मिल जाते हैं तो वे पूछते हैं, तुम्हारा गुरुमंत्र क्या है?

मंत्र तो मन का ही खेल है। मंत्र शब्द का भी यही अर्थ है: मन का जाल, मन का फैलाव। मंत्र से मुक्त होना है, क्योंकि मन से मुक्त होना है। मन न रहेगा तो मंत्र को सम्हालोगे कहां? और अगर मंत्र को सम्हालना है तो मन को बचाये रखना होगा।

निश्चय ही मैंने तुम्हें कोई मंत्र नहीं दिया। नहीं चाहता कि तुम्हारा मन बचे। तुमसे मंत्र छीन रहा हूं। तुम्हारे पास वैसे ही मंत्र बहुत हैं। तुम्हारे पास मंत्रों का तो बड़ा संग्रह है। वही तो तुम्हारा सारा अतीत है। बहुत तुमने सीखा। बहुत तुमने ज्ञान अर्जित किया। कोई हिंदू है, कोई मुसलमान है, कोई जैन है, कोई ईसाई है। किसी का मंत्र कुरान में है, किसी का मंत्र वेद में है। कोई ऐसा मानता, कोई वैसा मानता। मेरी सारी चेष्टा इतनी ही है कि तुम्हारी सारी मान्यताओं से तुम्हारी मुक्ति हो जाए। तुम न हिंदू रहो, न मुसलमान, न ईसाई। न वेद पर तुम्हारी पकड़ रहे, न कुरान पर। तुम्हारे हाथ खाली हो जायें। तुम्हारे खाली हाथ में ही परमात्मा बरसेगा। रिक्त, शून्य चित्त में ही आगमन होता परम का; द्वार खुलते हैं।

तुम मंदिर हो। तुम खाली भर हो जाओ तो प्रभु आ जाए। उसे जगह दो। थोड़ा स्थान बनाओ। अभी तुम्हारा घर बहुत भरा है--कूड़े-कर्कट से, अंगड़-खंगड़ से। तुम भरते ही चले जाते हो। परमात्मा आना भी चाहे तो तुम्हारे भीतर अवकाश कहां? किरण उतरनी भी चाहे तो जगह कहां?

तुम भरे हो। भरा होना ही तुम्हारा दुख है। खाली हो जाओ! यही महामंत्र है। इसलिए मैंने तुम्हें कोई मंत्र नहीं दिया, क्योंकि मैं तुम्हें किसी मंत्र से भरना नहीं चाहता। मन से ही मुक्त होना है। लेकिन अगर मंत्र शब्द से तुम्हें बहुत प्रेम हो और बिना मंत्र के तुम्हें अड़चन होती हो, तो इसे ही तुम बता दिया करो कि मन से खाली हो जाने का सूत्र दिया है; साक्षी होने का सूत्र दिया है।

कुछ रटने से थोड़े ही होगा कि तुम राम-राम, राम-राम दोहराते रहो तो कुछ हो जाएगा। कितने तो हैं दोहराने वाले! सदियों से दोहरा रहे हैं। उनके दोहराने से कुछ भी नहीं हुआ। दोहराओगे कहां से? दोहराना तो मन के ही यंत्र में घटता है। चाहे जोर से दोहराओ, चाहे धीरे दोहराओ--दोहराता तो मन है। हर दोहराने में मन ही मजबूत होता है। क्योंकि जिसका तुम प्रयोग करते हो वही शक्तिवान हो जाता है।

मैं तुम्हें कह रहा हूं कि साक्षी बनो। ये मन की जो प्रक्रियाएं हैं, ये जो मन की तरंगें हैं, तुम इनके द्रष्टा बनो। तुम इन्हें बस देखो। तुम इसमें से कुछ भी चुनो मत।

कोई फिल्मी गीत गुनगुना रहा है, तो तुम कहते: अधार्मिक; और कोई भजन गा रहा है तो तुम कहते हो: धार्मिक! दोनों मन में हैं--दोनों अधार्मिक। मन में होना अधर्म में होना है। उस तीसरी बात को सोचो जरा। खड़े हो, मन चाहे फिल्मी गीत गुनगुनाए और चाहे राम-कथा--तुम द्रष्टा हो। तुम सुनते हो, देखते हो, तुम तादात्म्य नहीं बनाते। तुम मन के साथ जुड़ नहीं जाते। तुम्हारी दूरी, तुम्हारी असंगता कायम रहती है। तुम देखते हो मन को ऐसे ही जैसे कोई राह के किनारे खड़े हुए, चलते हुए लोगों को देखे: साइकिलें, गाड़ियां, हाथी-घोड़े, कारें, ट्रक, बसें...। तुम राह के किनारे खड़े देख रहे हो। तुम द्रष्टा हो।

अष्टावक्र का भी सारा सार एक शब्द में है--साक्षी।

मंत्र तो बोलते ही तुम कर्ता हो जाओगे। बड़ा सूक्ष्म कर्तृत्व है, लेकिन है तो! मंत्र पढ़ोगे, प्रार्थना करोगे, पूजा करोगे--कर्ता हो जाओगे। बात थोड़ी बारीक है। थोड़ा प्रयोग करोगे तो ही स्वाद आना शुरू होगा।

जो चल रहा है, जो हो रहा है, वही काफी है; अब और मंत्र जोड़ने से कुछ अर्थ नहीं है। इसी में जागो। इसको ही देखने वाले हो जाओ। इससे संबंध तोड़ लो। थोड़ी दूरी, थोड़ा अलगाव, थोड़ा फासला पैदा कर लो। इस फासले में ही तुम देखोगे मन मरने लगा। जितना बड़ा फासला उतना ही मन का जीना मुश्किल हो जाता है। जब तुम मन का प्रयोग नहीं करते तो मन को ऊर्जा नहीं मिलती। जब तुम मन का सहयोग नहीं करते तब तुम्हारी शक्ति मन में नहीं डाली जाती। मन धीरे-धीरे सिकुड़ने लगता है। यह तुम्हारी शक्ति से मन फूला है, फला है। तुम्हीं इसे पीछे से सहारा दिये हो। एक हाथ से सहारा देते हो, दूसरे हाथ से कहते हो: कैसे छुटकारा हो इस दुख से? इस नर्क से? तुम सहारा देना बंद कर दो, इतना ही साक्षी का अर्थ है।

मन को चलने दो अपने से, कितनी देर चलता है? जैसे कोई साइकिल चलाता है, तो पैडल मारता तो साइकिल चलती है। साइकिल थोड़े ही चलती है; वह जो साइकिल पर बैठा है, वही चलता है। साइकिल को सहारा देता जाता है, साइकिल भागी चली जाती है। तुम पैडल मारना बंद कर दो, फिर देखें साइकिल कितनी देर चलती है! थोड़ी-बहुत चल जाए, दस-पचास कदम, पुरानी दी गयी ऊर्जा के आधार पर; लेकिन ज्यादा देर न चल पाएगी, रुक जाएगी। ऐसा ही मन है।

मंत्र का तो अर्थ हुआ पैडल मारे ही जाओगे। पहले भजन या फिल्म का गीत गुनगुना रहे थे, अब तुमको किसी ने मंत्र पकड़ा दिया--दोहराओ ओम, राम--उसे दोहराने लगे, दोहराना जारी रहा। पैडल तुम मारते ही चले जाते हो। प्रक्रिया में जुड़ जाना मन की, मन को बल देना है।

तो अगर तुम्हें मंत्र शब्द बहुत प्रिय हो तो यही तुम्हारा मंत्र है, महामंत्र, कि मन से पार हो कर साक्षी बन जाना है। और जिन संन्यासियों की तुम बात कर रहे हो, पुराने ढब के संन्यासी, उनसे थोड़े सावधान रहना। वैसा संन्यास सड़ा-गला है। वैसा संन्यास बड़े धोखे और प्रवंचना से भरा है। वैसा संन्यास एक शोषण है।

उधर से आए सेठ जी
इधर से संन्यासी
एक ने कही,
एक ने मानी
दोनों ठहरे ज्ञानी
दोनों ने पहचानी
सच्ची सीख पुरानी
दोनों के काम की
दोनों की मनचीती
जय सियाराम की
सीख सच्ची सनातन
सौ टंच सत्यानाशी!

पुराना संन्यास भगोड़ापन है। पुराना संन्यास पलायन है जीवन के संघर्ष से। विकास तो जीवन के संघर्ष में है। क्योंकि जहां संघर्ष है, जहां चुनौती है, वहीं जागने का उपाय है। अगर भाग गए संघर्ष से, सो जाओगे। इसलिए तो तुम पुराने ढंग के संन्यासी को देखो, न प्रतिभा की कोई चमक है, न आंखों में शांति है, न प्राणों में किसी गीत का गुंजन है, न पैरों में नृत्य है। भाग गया है, भगोड़ा है। कमजोर है, कायर है। नहीं लड़ पाया, तो अंगूर खट्टे हैं, ऐसा कहने लगा है। नहीं पहुंच पाया अंगूरों तक, तो अंगूरों को गाली देने लगा है।

निश्चित ही यह भगोड़ा किन्हीं लोगों के काम का है। जिनकी सत्ता है--धन हो, पद हो, राजनीति हो--जिनकी सत्ता है, उनके लिए यह सहयोगी है। क्योंकि यह एक तरह की अफीम पैदा करता है समाज में,

भगोड़ापन पैदा करता है। यह एक तरह की तंद्रा पैदा करता है, एक तरह की निद्रा पैदा करता है। यह लोगों को यही समझाए जाता है: यह सब माया है, भागो! लेकिन अगर माया है तो भागते क्यों हो?

कोई आदमी भागा चला जा रहा है और तुम से कहता है: मत जाओ उधर, उधर एक रस्सी पड़ी है जो सांप जैसी दिखती है, उसी के करण मैं भाग रहा हूं। थोड़ा सोचो, अगर रस्सी है और सांप जैसी दिखती है तो भाग क्यों रहे हो? नहीं, तुम्हें पक्का पता है कि सांप ही है। रस्सी नहीं है, यह तो तुम शास्त्र दोहरा रहे हो। अगर रस्सी ही होती तो भागते क्यों? माया से कोई भागेगा क्यों? और भागेगा कहां? नहीं, माया में कुछ बल है, कोई सत्य है, कोई यथार्थ है। माया से तुम घबड़ाए हुए हो। भय से भाग रहे हो।

मैंने संन्यास को नया आयाम दिया है--भागो मत, जागो! मेरे संन्यास का सूत्र है: भागो मत, जागो। जहां हो, जैसे हो, वहीं खड़े हो जाओ पैर जमा कर। और असली सवाल बाहर से, बाहर की वस्तुओं से, पत्नी-बच्चों से, मकान-दूकान से नहीं है; असली सवाल तुम्हारे भीतर मन पर तुम्हारी जो जकड़ है, उससे है। उस जकड़ को छोड़ दो। जहां हो वहीं रहो। और तुम पाओगे एक अपूर्व मुक्ति तुम्हारे जीवन में उतरनी शुरू हो गई। अब तुम्हें कुछ बांधता नहीं।

जागरण मुक्ति है। साक्षी-भाव कहो, जागरण कहो, ध्यान कहो--जो तुम्हें नाम प्रीतिकर हो, कहो। लेकिन भागना मत। क्योंकि भागने का तो अर्थ ही यह हो गया कि तुम डर गए।

भीरु भगवान को कभी नहीं उपलब्ध होता। भगवान ने यह जीवन ही तुम्हें दिया है ताकि इससे गुजरो। यह जीवन तुम्हें किसने दिया है? इस जीवन में तुम्हें किसने भेजा है? जिसने भेजा है, प्रयोजन होगा। तुम्हारे महात्मा जरूर गलत होंगे, कहते हैं: भागो इससे! परमात्मा तो जीवन को बसाए चला जाता है और महात्मा कहते हैं: भागो! महात्मा परमात्मा के विपरीत मालूम पड़ते हैं।

यह तो ऐसा हुआ कि मां-बाप तो भेजते हैं बच्चे को स्कूल में, वहां कोई बैठे हैं सौ टंच सत्यानाशी, वे कहते हैं: भागो, स्कूल में कुछ सार नहीं है! पढ़ने-लिखने में क्या धरा है?

परमात्मा भेजता है इस जगत में--जगत एक विद्यापीठ है। यहां बहुत कुछ सीखने को है। यहां झूठ और सच की परख सीखने को है। यहां सार और असार का भेद सीखने को है। यहां सीमा और असीम का शिक्षण लेना है। यहां पदार्थ और चैतन्य की परिभाषा समझनी है। निश्चित ही भागने से यह न होगा; यह जागने से होगा।

और जागने के लिए हिमालय से कुछ प्रयोजन नहीं है। ठेठ बाजार में जाग सकते हो। सच तो यह है, बाजार में जितनी आसानी से जाग सकते हो, हिमालय पर न जाग सकोगे। बाजार का शोरगुल सोने ही कहां देता है! चारों तरफ से उपद्रव है। नींद संभव कहां है! हिमालय की गुफा में बैठ कर सोओगे नहीं तो करोगे क्या? तंद्रा पकड़ेगी, सपने पकड़ेंगे। और यहां जीवन के यथार्थ में प्रतिक्षण तुम्हारी छवि बनती है, जो तुम्हें बताती है, तुम कौन हो।

मैंने सुना है, एक स्त्री बड़ी कुरूप थी। वह दर्पण के पास न जाती थी। क्योंकि वह कहती थी: "दर्पण मेरे दुश्मन हैं। दर्पण मेरे साथ अत्याचार कर रहे हैं। मैं तो सुंदर हूं, दर्पण मुझे कुरूप बतलाते हैं।" कोई उसके पास दर्पण ले आए तो दर्पण तोड़ देती थी।

तुम्हारे जो संन्यासी हैं, वे ऐसे ही दर्पण तोड़ रहे हैं। पत्नी से भाग जाओगे, क्योंकि पत्नी के पास रहने से कलह होती थी। कलह होती थी, इसका अर्थ ही इतना है कि तुम्हारे भीतर कलह अभी मौजूद है। पत्नी तो दर्पण थी, तुम्हारा चेहरा बनता था। तुम सोचते हो पत्नी कलह करवा रही है तो तुम गलती में हो। कोई कैसे कलह करवा सकेगा? पत्नी तो सिर्फ मौका है, जहां तुम्हारा चेहरा दिखाई पड़ता है। वह चेहरा कुरूप लगता है, तुम सोचते हो भाग जाओ, पत्नी छोड़ो, बच्चे छोड़ो--यह सब जंजाल है। यह जंजाल नहीं है। अपने चेहरे को बदलो! यह दर्पण है। और तब तुम परमात्मा को पत्नी के लिए भी धन्यवाद दोगे कि अच्छा किया।

मैंने सुना है, सुकरात के पास बड़ी खतरनाक पत्नी थी। "जिनथिप्पे" उसका नाम था। ऐसी दुष्ट पत्नी कम ही लोगों को मिलती है। ऐसे तो अच्छी पत्नी मिलना मुश्किल है, मगर वह खराब में भी खराब थी। वह उसे चौबीस घंटे सताती। एक बार तो उसने चाय का उबलता पानी उसके सिर से ढाल दिया। उसका आधा चेहरा सदा के लिए जल गया और काला हो गया। लेकिन सुकरात भागा नहीं, जमा रहा! एक युवक उससे पूछने आया कि मैं विवाह करना चाहता हूं, आपकी क्या सलाह है? सोचा था युवक ने कि सुकरात तो निश्चित कहेगा, भूल कर मत करना। इतनी पीड़ा पाया है, सारा एथेन्स जानता था! घर-घर में यह चर्चा होती थी कि आज "जिनथिप्पे" ने सुकरात को किस तरह सताया। यह तो कम से कम कहेगा कि विवाह मत करना। वह युवक विवाह नहीं करना चाहता था। लेकिन सुकरात का सहारा चाहता था ताकि कह सके मां-बाप को कि सुकरात ने भी कह दिया है। लेकिन चौंका युवक, क्योंकि सुकरात ने कहा: विवाह तो करना ही! अगर मेरी पत्नी जैसी मिली तो सुकरात हो जाओगे। अगर अच्छी पत्नी मिल गयी, सौभाग्य! हानि तो है ही नहीं! इसी पत्नी की कृपा से मैं शांत हुआ। इसकी मौजूदगी प्रतिपल परीक्षा है, पल-पल कसौटी है। अनुगृहीत हूं इसका। इसी ने मुझे बदला। इसी में अपने चेहरे को देख-देख कर मैंने धीरे-धीरे रूपांतरण किये। मन में तो मेरे भी बहुत बार उठा कि भाग जाऊं। सरल तो वही था। भगोड़ेपन से ज्यादा सरल और क्या है! जहां जीवन में कठिनाई हो, भाग खड़े होओ! इससे सरल क्या है?

तुम जिसको संन्यास कहते रहे हो अब तक, उससे सरल और क्या है? सब तरह के अपाहिज, सब तरह के कमजोर, दीन-हीन, बुद्धिहीन, अपंग, कुरूप--सब भाग जाते हैं। बुद्ध को तो एक नियम बनाना पड़ा था कि जिसका दिवाला निकल जाये वह भिक्षु न हो सकेगा। क्योंकि जिसका भी दिवाला निकलता है, वही भिक्षु होने लगता है। जिसकी पत्नी मर जाए, वह कम से कम साल भर रुके, फिर संन्यास ले। क्योंकि जिसकी पत्नी मरी, वही संन्यासी होने को तैयार हो जाता है! जहां जीवन में जरा-सा धक्का लगा कि बस, उखड़ गये। जड़ें भी हैं तुम्हारी या नहीं? बिना जड़ के जी रहे हो? जरा-जरा से हवा के झोंके तुम्हें उखाड़ जाते हैं। ये तूफान, ये आंधियां, ये जीवन की कठिनाइयां--ये सब मौके हैं, अवसर हैं, जिनमें व्यक्ति पकता है।

यह तो ऐसा ही हुआ जैसे एक कुम्हार ने एक घड़ा बनाया और वह मिट्टी के बने घड़े को आग में डाल रहा था और घड़ा चिल्लाने लगा: "मुझे आग में मत डालो। मुझे आग में क्यों डालते हो?" घड़े को पता ही नहीं कि आग में पड़ कर ही पकेगा। यह कच्चा घड़ा किसी काम का नहीं है। यह अगर कुम्हार ने इस पर दया की तो वह दया न होगी, वह बड़ी कठोरता हो जाएगी। रोने दो, चीखने दो घड़े को, कुम्हार तो इसे आग में डालेगा ही। क्योंकि घड़े को खुद ही पता नहीं है कि वह क्या कह रहा है। आग में कभी गया नहीं, पता हो भी कैसे सकता है?

तुम्हारे महात्मा कहेंगे, मत डालो घड़े को आग में। लेकिन परमात्मा कहता है, आग में बिना गये कभी कोई घड़ा मजबूत हुआ; कभी कोई घड़ा वस्तुतः घड़ा हुआ। कच्चे घड़े में पानी भर सकोगे? देखने में लगेगा घड़े जैसा, रखे रहो संभाल कर तो एक बात; पानी भरने के काम न आएगा। और जब धूप पड़ेगी और सूरज तपेगा तो जल को शीतल करने के काम भी न आएगा। पानी भरने गए तो पानी में ही घुल जाएगा।

तो तुम्हारे तथाकथित संन्यासी कच्चे घड़े हैं, भगोड़े हैं! मेरे देखे तो संन्यास संसार की आग में ही निर्मित होता है।

मेरे पास लोग आते हैं। वे कहते हैं: आपने यह क्या किया? यह कैसा संन्यास कि लोग अपने घरों में हैं, पत्नी-बच्चे हैं, दूकान कर रहे हैं--और आप उनको संन्यासी कहते हैं! उनका कहना ठीक है, क्योंकि सदियों से उन्होंने जिसे संन्यास समझा था, स्वभावतः उनके संन्यास की वही धारणा बन गयी। वैसी धारणा सार्थक सिद्ध नहीं हुई। लाखों संन्यासी रहे, लेकिन फूल कहां खिले धर्म के?

संन्यास मैंने तुम्हें दिया है--भागने को नहीं, जागने को। इसलिए जहां कठिनाई हो वहां तुम पैर जमा कर खड़े हो जाना। जान लेना कि यहां दर्पण है। यहां से तो तभी हटेंगे जब दर्पण गवाही दे देगा कि हां ठीक, सुंदर हो। जहां आग हो वहां से तो हटना मत। यहां से तो तभी हटेंगे जब आग भी कह दे कि भाई, अब और क्या पकायें, तुम पक गये। अब नाहक मुझे और न परेशान करो, अब जाओ। हटना तभी जब परिपक्वता हो। और तब हटने की भी कोई जरूरत नहीं है। भीतर है कुछ सम्हालना। यह बाहर की बात नहीं है।

स्वभावतः पुराना संन्यास जीवन-विरोधी था। उसमें निषेध है, निराशा है, अवसाद है। पुराना संन्यास दुखवाद है। मैं तुम्हें जो मंत्र दे रहा हूं वह जीवन को सौभाग्य मानने का है; जीवन को प्रभु का प्रसाद मानने का है। तुम गाओ। संन्यास गुनगुनाता हुआ हो।

दुख से स्वर टूटता है
छंद सधता नहीं
धीरज छूटता है।
गा!
या कि सुख से ही बोलती बंद है
रोम सिहरे हैं
मन निस्पंद है
फिर भी गा, फिर भी गा!
मरता है
जिसका पता नहीं, उससे डरता है?
गा!
जीता है
आसपास सब कुछ इतना भरा-पूरा है
और बीच में तू रीता है?
गा!

गुनगुनाओ! नाचो! हंसो! प्रभु की अनुकंपा को स्वीकार करो।

पुराना संन्यास प्रभु का विरोध है। वह कहता है: तुमने जो दिया उसे हम स्वीकार न करेंगे। पुराना संन्यास यह कह रहा है: "तुमने गलत दिया। माया में उलझा दिया।" मैं तुमसे कह रहा हूं कि अगर प्रभु ने माया में डाला, तो जरूरत होगी; तो आवश्यक होगा। तुम प्रभु से अपने को ज्यादा समझदार मत मान बैठना। तुम उसे स्वीकार करना अहोभाव से, गुनगुनाते हुए। दुख हो तो भी गाना। गाने से मत चूकना। दुख हो तो दुख का गीत गाना। सुख हो, सुख का गीत गाना--मगर गाना। तुम्हारे जीवन में गुनगुनाहट समा जाए, तो तुम्हारे जीवन में प्रार्थना का पदार्पण हो गया।

और नाचते हुए चलना प्रभु के मंदिर की तरफ। उदास और लंबे चेहरे जैसे तुम्हें नापसंद हैं वैसे ही परमात्मा को भी नापसंद हैं। कौन पसंद करता है उदास लंबे चेहरों के पास बैठना!

कभी तुम साधु-संतों के पास थोड़ी देर रहे? लोग जल्दी से नमस्कार करके भागते हैं कि महाराज, अब जायें! सेवा करने जाते हैं--मतलब चरण छू लिए और भागे। कोई साधु-संतों के पास बैठता नहीं। चौबीस घंटे भी अगर तुम किसी साधु के पास रह जाओ तो या तो उसकी गर्दन दबा दोगे या अपनी दबा लोगे।

उदास! मरुस्थल! मरघट जैसी हवा! जहां फूल नहीं खिलते! जहां फूल खिलने बंद हो गए! जहां कोई गीत नहीं जन्मता, जगता। जहां जीवन में उल्लास नहीं, प्रफुल्लता नहीं है! नहीं, ऐसे संन्यासी को मैं सत्यानाशी कहता हूं।

तुम गाओ। तुम नाचो। तुम कृतज्ञता से भरो। तुम प्रभु को धन्यवाद दो कि खूब परीक्षाएं तुमने जमायीं--गुजरेंगे; पार करेंगे। पक कर ही आएंगे तेरे द्वार पर! अगर तूने भेजा है, प्रयोजन होगा। हम कौन जो बीच से भाग जाएं!

कृष्ण ने अर्जुन से इतना ही कहा है कि तू भाग मत। गीता पढ़ते हैं लोग, लेकिन गीता समझी नहीं गई। कृष्ण ने इतना ही कहा कि भाग मत। यह युद्ध अगर परमात्मा देता है तो सही है। भरोसा कर! समर्पण कर! उतर युद्ध में, जूझ, जो प्रभु दे उसमें हां भर। निमित्त मात्र हो! अपनी बीच में मत अड़ा। मत कह कि मैं तो भाग कर संन्यासी होना चाहता हूं।

वह संन्यासी होना चाहता था--पुराने ढब का। वह कह रहा था कि "इसमें क्या सार है! इनको--अपनों को मारना! मैं चला जाऊं, जंगल में बैठ जाऊंगा झाड़ के नीचे। ध्यान लगाऊंगा, समाधि साधूंगा।" कृष्ण उसे खींचते हैं। कहते हैं, जंगल जाने की जरूरत नहीं, तू यहीं जूझ!

प्रभु जो कराए, करो। कर्ता-भाव भर मत रखो। साक्षी बन जाओ। वह जो करवाए, करो। जो पाठ दे दे, उसे पूरा कर दो; जैसे रामलीला के मंच पर। तुम अपने को बीच में मत लाओ।

हम बीच-बीच में आ जाते हैं।

एक गांव में रामलीला होती थी। लक्ष्मण बेहोश पड़े हैं। हनुमान को जड़ी-बूटी लेने भेजा है। जड़ी-बूटी मिलती नहीं, पहाड़ बड़ा है। और वे तय नहीं कर पाते तो पूरा पहाड़ ले आते हैं। रामलीला हो रही है--तो एक रस्सी में बांध कर पहाड़ लिए हुए हनुमान आते हैं। बीच में कहीं घिर्री अटक गई, तो वे लटके हैं। अब वह घिर्री चलाने वाला छिपा बैठा है, वह बड़ी मुश्किल में है कि अब क्या करें। कुछ तो करना ही पड़ेगा, क्योंकि ये कब तक लटके रहेंगे! इनको उतारना जरूरी है। कुछ सूझा नहीं उसे, तो उसने रस्सी काट दी। तो हनुमान मय पहाड़ के धड़ाम से नीचे गिरे। रामचंद्रजी ने पूछा--जैसे पूछना चाहिए था, जैसा कहा गया था--कि हनुमान, जड़ी-बूटी ले आए? हनुमान ने कहा: ऐसी की तैसी जड़ी-बूटी की! पहले यह बताओ रस्सी किसने काटी?

भूल गया जो पाठ सिखाया था; खुद बीच में आ गए।

जीवन जैसा प्रभु ने दिया है उसे तुम वैसे ही स्वीकार कर लेना। तुम अपने को बीच में मत लाना। तुम चुपचाप अंगीकार कर लेना। इस अंगीकार-भाव को ही मैं आस्तिकता कहता हूं। ऐसे धीरे-धीरे समर्पण करते-करते एक ऐसी घड़ी आती है जब तुम्हारे बीच और परमात्मा के बीच कोई फासला नहीं रह जाता। क्योंकि जो वह करवाता है वही तुम करते हो, अन्यथा नहीं। तुम्हारी कोई शिकायत नहीं है। तुम्हारी कोई मांग नहीं है। तुम न उससे कहते हो, तुमने गलत करवाया; न तुम उससे कहते हो, भविष्य में सुधार कर लेना। तुम्हारा स्वीकार परिपूर्ण है। तुम्हारी तथाता पूरी-पूरी है। इसी घड़ी में मिलन हो जाता है। इसी घड़ी में तुम मिट जाते हो, परमात्मा हो जाता है।

तुम मिटो ताकि परमात्मा हो सके। लेकिन इस मिटने को भी गीत गा कर और हंस कर पूरा करना है। उदास-उदास मत जाना, अन्यथा शिकायत रहेगी। गीत गुनगुनाते जाना।

और मैं तुमसे कहता हूं: जिन्होंने भी प्रभु को कभी जाना है उन सभी ने यह बात भी जानी कि जो भी हुआ इसके पहले वह सब जरूरी था; उसके बिना पहुंचना नहीं हो सकता था। जो दुख झेले, वे भी जरूरी थे। जो सुख झेले, वे भी जरूरी थे। मित्र मिले, वे भी जरूरी थे। शत्रु मिले, वे भी जरूरी थे। अकारण कुछ भी कभी नहीं होता है। इस परम भाव को मैं संन्यास कहता हूं। यही तुम्हारा मंत्र है।

दूसरा प्रश्न: जो निश्चयपूर्वक जानते हैं उनमें से कोई दैव को, कोई पुरुषार्थ को और कोई दोनों को प्रबल बताते हैं। ऐसा क्यों है? उनमें भी मतैक्य क्यों नहीं है?

जो जानते हैं, वे वही नहीं कहते--जो जानते हैं। क्योंकि जो जाना जाता है जीवन की आत्यंतिक गहराई में उसे तो सतह पर ला कर शब्द नहीं दिये जा सकते। जो जाना जाता है, वह तो कभी कहा नहीं जाता। उसे कहा ही नहीं जा सकता। शब्द बड़े संकीर्ण और बड़े छोटे हैं। फिर भी जानने वाले कुछ कहते हैं। वे क्या कहते हैं? और

जब वे कुछ कहते हैं तो तुम यह मत खयाल करना कि वे सत्य के संबंध में कुछ कहते हैं। वे असल में तुम्हारे और सत्य के संदर्भ में कुछ कहते हैं। इस भेद को समझ लेना।

महावीर ने सत्य को जाना, बुद्ध ने सत्य को जाना। अष्टावक्र ने सत्य को जाना। लेकिन जब वे बोलते हैं तो सत्य उतना महत्वपूर्ण नहीं होता जितना सुनने वाला महत्वपूर्ण होता है। वे सुनने वाले से बोलते हैं, अन्यथा बातचीत व्यर्थ हो जाएगी। वे तुम्हारे संदर्भ में बोलते हैं। निश्चित ही जनक अलग तरह का श्रोता है; अर्जुन से बहुत भिन्न है। अगर जनक होता कृष्ण के सामने तो कृष्ण ने भी अष्टावक्र-गीता ही कही होती। और अगर अष्टावक्र के सामने अर्जुन होता तो अर्जुन से भी अष्टावक्र ने जो कहा होता वह कृष्ण की गीता से भिन्न नहीं होता।

ऐसा समझो कि तुम बीमार हो और तुम चिकित्सक के पास गए हो, तो चिकित्सक अपना सारा चिकित्साशास्त्र थोड़े ही तुम पर उंड़ेल देता है; तुम्हारी बीमारी के संदर्भ में कुछ कहता है। प्रिसक्रिप्शन तुम्हारी बीमारी के संदर्भ में होता है। वह निश्चित ही उसके चिकित्साशास्त्र के अनुभव से आता है; लेकिन होता तुम्हारे संदर्भ में है। तो तुम यह मत समझ लेना कि तुम जब एक चिकित्सक के पास गए और उसने तुम्हें एक प्रिसक्रिप्शन दे दिया तो तुम यह मत समझ लेना कि यह प्रिसक्रिप्शन उसने हर मरीज के लिए दे दिया, कि अब कोई भी बीमार हो जाए घर में तो डाक्टर के पास जाने की जरूरत नहीं है, प्रिसक्रिप्शन तो अपने पास है। तो तुम खतरनाक हो जाओगे। तो बीमारी तो ठीक शायद ही हो, तुम बीमारों को नष्ट कर डालोगे, मार डालोगे। प्रिसक्रिप्शन तुम्हारे लिए था, तुम्हारे संदर्भ में था।

ऐसा समझो, जब किसी ज्ञानी पुरुष के सामने कोई खड़ा होता है पूछने, अगर यह व्यक्ति बहुत अहंकारी है तो ज्ञानी पुरुष कहेगा: ऐसे जीओ जैसे भाग्य से सब तय है। क्योंकि इसके अहंकार की बीमारी से यह ग्रसित है। इसे इसके अहंकार से नीचे उतारना है। तो उस ज्ञान की शून्यता से एक आवाज उठेगी: "दैव, भाग्य! तुम्हारे किए कुछ भी नहीं होता।" क्योंकि अहंकारी को तो यह लगता है, मेरे किए ही सब हो रहा है; मैं करने वाला हूं। उसके अहंकार के पीछे कर्ता ही तो छिपा है। तो सदगुरु कर्ता को खिसकाने लगेगा। एक दफा कर्ता हट गया तो अहंकार ऐसे गिर जाता है, जैसे ताश के पत्तों का घर।

लेकिन अगर पूछने वाला आलसी है, तामसी है--अहंकारी नहीं, राजसी नहीं, तामसी है, सुस्त है, अकर्मण्य है और कहता है, जो होना है सो होगा, अपने किये क्या होता; और बैठा रहता है गोबर-गणेश बना--तो ज्ञानी पुरुष उसके संदर्भ में बोलेगा। वह कहेगा: "उठो, पुरुषार्थ के बिना कभी कुछ नहीं होता। कुछ करो! ऐसे बैठे-बैठे-बैठे गंवाओ मत! थोड़ा हलन-चलन लाओ जीवन में! थोड़ी ऊर्जा को जगाओ। ऐसे बैठे-बैठे परमात्मा न मिलेगा: यात्रा पर निकलो।"

क्यों?

अगर भाग्य की बात यह अज्ञानी सुन ले तो उस भाग्य की बात को सुन कर यह तो बड़ा निश्चिंत हो जाएगा। यह तो कहेगा: यही तो हम कहते थे। तो हम तो ज्ञान को उपलब्ध ही हैं। हम तो कुछ करते नहीं, बैठे रहते हैं। घर के लोग पीछे पड़े हैं, नासमझ हैं! कोई कहता है, नौकरी करो; कोई कहता है, धंधा करो; कोई कहता है कुछ करो--मगर हम तो अपने शांत बैठे रहते हैं।

जापान में ऐसा हुआ, एक सम्राट बहुत आलसी था--अति आलसी था। एक दिन पड़े-पड़े बिस्तर पर उसे खयाल आया, मैं तो सम्राट हूं, तो जितना भी आलस्य करूं, करूं, कोई कुछ कह नहीं सकता; लेकिन और आलसियों का क्या हाल होता होगा! बेचारे बड़े मुश्किल में पड़े होंगे।

तो उस सम्राट ने सोचा कि सभी अपनों के लिए कुछ करते हैं, मुझे भी उनके लिए कुछ करना चाहिए। तो उसने डुंडी पिटवा दी सारे राज्य में कि जितने आलसी हों सब आ जाएं राजमहल। सबके रहने-खाने का इंतजाम राज्य की तरफ से होगा।

मंत्रियों ने कहा: महाराज, आप ही काफी हैं! अब यह क्या कर रहे हैं? और अगर ऐसा किया तो पूरा राज्य उमड़ पड़ेगा, रुकेगा कौन! किसको मतलब फिर! फिर तो झूठे-सच्चे का पता लगाना मुश्किल हो जाएगा कि आलसी कौन है।

सम्राट ने कहा: वह तुम चिंता करो पता लगाने की, लेकिन जो-जो आलसी हैं उनको राज्य से शरण मिलेगी। उनका कसूर क्या है? भगवान ने उन्हें आलसी बनाया। वे अपना आलस्य का जीवन जी रहे हैं। उनको सुख-सुविधा होनी चाहिए। और करने वाले तो कर लेते हैं, न करने वाले का कौन है? उसका भी तो कोई होना चाहिए। तो तुम...यह तुम फिक्र कर लो कौन सच्चा, कौन झूठा।

वह तो डुंडी पिट गई तो हजारों लोग आने शुरू हो गए। गांव के गांव! मंत्रियों ने व्यवस्था की पता लगाने की। उन्होंने घास की झोपड़ियां बनवा दीं; जो भी आए उनको ठहरा दिया। और आधी रात में आग लगा दी। सब भाग खड़े हुए। लेकिन चार आदमी अपना कंबल ओढ़ कर सो रहे। उनको दूसरों ने खींचा भी तो उन्होंने कहा: भाई अब परेशान न करो आधी रात। लोगों ने कहा: आग लगी है पागलो!

उन्होंने कहा: लगी रहने दो। मगर नींद मत तोड़ो।

उन चार को वजीरों ने कहा कि ये निश्चित पहुंचे हुए सिद्ध पुरुष हैं। इन चार को राज्य-आश्रय मिले, समझ में आता है।

जब ऐसा कोई व्यक्ति किसी ज्ञानी के सामने आ जाए तो उससे वह क्या कहे? भाग्य की बात कहे? नहीं, वह दर्शन उसके जीवन के काम का नहीं होगा। वह औषधि उसका इलाज नहीं है।

ये जो वक्तव्य हैं, औषधियां हैं। बुद्ध ने तो बार-बार कहा है कि मैं चिकित्सक हूं, दार्शनिक नहीं। नानक ने बहुत बार कहा है कि मैं तो वैद्य हूं, कोई विचारक नहीं। जोर इस बात पर है कि तुम्हारी बीमारी जो है, उसका इलाज...।

अर्जुन भागना चाहता था, अकर्मण्य होना चाहता था। कृष्ण ने उसे खींचा। भागने न दिया कर्म से। जनक सम्राट है और सम्राट के भीतर स्वभावतः न तो करने का कोई सवाल होता है, न करने की कोई जरूरत होती है। और स्वभावतः सम्राट के भीतर एक गहन अहंकार होता है, सूक्ष्म अहंकार होता है--परिमार्जित, परिष्कृत। सम्राट कुछ करे न भी तो भी जानता यही है कि उसी के किए सारा साम्राज्य चल रहा है। कुछ न भी करे तो भी, वैसी सूक्ष्म धारणा तो बनी ही रहती है! वह माने ही रहता है कि मेरे बिना क्या होगा। जिस दिन मैं न रह जाऊंगा, दुनिया में सूरज अस्त हो जाएगा। तो लोग सोचते हैं, मेरे बाद कौन! कोई भिखारी तो नहीं सोचता ऐसा कि मेरे बाद कौन! लेकिन जिनके पास पद है, शक्ति है, वे सोचते हैं, मेरे बाद कौन! क्यों? तुम्हें इसकी चिंता क्या है? तुम्हारे बाद जो होंगे वे फिक्र कर लेंगे। नहीं, लेकिन वह सोचता है कि मैं कुछ इंतजाम कर जाऊं। मेरे बाद के लिए भी इंतजाम मुझे करना है। व्यवस्था मुझे जुटानी है। वसीयत कर जाऊं। गरीब तो कोई वसीयत नहीं करता, वसीयत करने को भी कुछ नहीं है। अमीर वसीयत करता है--कौन सम्हालेगा!

जनक में एक सूक्ष्म अस्मिता रही होगी--कहीं बहुत गहरे में पड़ी रही होगी। चिकित्सक की आंख से तो तुम बच नहीं सकते, क्योंकि चिकित्सक की आंख तो एक्स-रे है; वह तो दूर तक देखती है। गुरु की आंख से तुम बच नहीं सकते। वह तो तुम्हारी गहनतम चेतना में प्रवेश करती है। वह तो तुम्हारे अचेतन को उघाड़ती है। वह तो वहां तक देखती है जहां जन्मों-जन्मों के संचित संस्कार पड़े हैं जिनको तुम भूल ही गए हो; जिनकी तुम्हें याद भी नहीं रही है; जहां बीज पड़े हैं, जो कभी फले नहीं, जो कभी फूले नहीं, जिनमें कभी अंकुर नहीं आए, लेकिन कभी भी सुसमय पा कर, ठीक मौसम में वर्षा हो जाने पर अंकुरित हो जाएंगे।

तो जब अष्टावक्र ने जनक को ऐसा कहा, तो जनक को ऐसा कहा है, इसे याद रखो। ये वक्तव्य निजी हैं और व्यक्तियों को दिये गए हैं। एक गुरु और एक शिष्य के बीच जो घटा है इसे तुम सार्वजनीन सत्य मत मान लेना। यह सबकी औषधि नहीं है। यह कोई रामबाण-औषधि नहीं है कि कोई भी बीमारी हो, ले लेना और ठीक

हो जाओगे। तुम्हारी बीमारी पर निर्भर करेगा। इसलिए कभी-कभी उल्टा भी हो जाता है। अक्सर उल्टा हो जाता है।

अब अष्टावक्र की गीता, अक्सर जो आलसी हों, उनको जंचेगी। वह उल्टा हो गया मामला। जो अकर्मण्य हैं उनको जंचेगी। वे कहेंगे, बिलकुल सत्य! यही तो हम जानते रहे सदा से। तब बजाय जीवन में प्रभु का प्रकाश फैले, उनके जीवन में नर्क का अंधकार फैल जाएगा।

यही तो भारत में हुआ। भाग्य का अपूर्व सिद्धांत भारत को दीन और दरिद्र कर गया। लोग काहिल हो गए, लोग सुस्त हो गए। उन्होंने कहा, जो भगवान करेगा, गुलामी दे तो, कोई लूट-पाट ले तो ठीक; भूखा रखे, अकाल पड़े, तो ठीक। लोग बिलकुल ऐसे दीन हो कर बैठ गए कि हमारे किए तो कुछ होगा नहीं।

ये सूत्र तुम्हें अकर्मण्य बनाने को नहीं हैं। ये सूत्र तुम्हें अकर्ता बनाने को हैं, अकर्मण्य बनाने को नहीं हैं। और अकर्ता का अर्थ अकर्मण्यता नहीं होता। अकर्ता तो बड़ा कर्मण्य होता है। सिर्फ कर्म उसका अब अपना नहीं होता है; अब ईश्वर समर्पित होता है। करता तो वह बहुत है, लेकिन करने का श्रेय नहीं लेता। करता सब है और कर्ता नहीं बनता। और यह नहीं कहता कि मैं करने वाला हूं। करता सब है और सब प्रभु-चरणों में समर्पित कर देता है। कहता है, तुमने करवाया, किया!

इस बात को खयाल रखना। अगर भाग्य का परम सिद्धांत तुम्हारे जीवन में अकर्मण्यता और आलस्य लाने लगे तो समझना कि तुमसे चूक हो गई; तुम समझ नहीं पाए। अगर भाग्य का सिद्धांत तुम्हारे जीवन में कर्म का प्रकाश लाए, और कर्ता को विदा कर दो तुम, और सारे कर्म का श्रेय परमात्मा के चरणों में चढ़ता जाए, तो समझना कि तुम बिलकुल, बिलकुल ठीक समझ गए; तीर ठीक जगह लग गया है।

पूछा है: "जो निश्चयपूर्वक जानते हैं उनमें से कोई दैव को, कोई पुरुषार्थ को, कोई दोनों को प्रबल बताते हैं।"

निर्भर करता है--किस व्यक्ति से बात कही जा रही है?

पुरुषार्थ है पल-पल डोलते हुए मन को निस्पंद करना।

पुरुषार्थ है सोचने की प्रक्रिया को बंद करना।

पुरुषार्थ वह है जो मन को समेट कर उसके उत्स पर डाल दे;

मस्तिष्क के महल से सारी स्मृतियों को बुहार कर निकाल दे।

मन का महल जब साफ होगा, तुम अपने-आप के दर्शन पाओगे।

मैं शपथपूर्वक कहता हूं कि सोचना बंद करने से तुम मर नहीं जाओगे।

ऐसी है पुरुषार्थ की परिभाषा--परम पुरुषार्थ!

"पुरुषार्थ" शब्द को तुमने कभी सोचा? पुरुष और अर्थ! तुम्हारे भीतर जो छिपा हुआ चैतन्य है, उसका नाम है पुरुष। तुम्हारा शरीर तो नगर है, पुर। और उसके भीतर जो छिपा हुआ दीया है चैतन्य का, वह है--पुरुष। तुम एक बस्ती हो। वैज्ञानिक कहते हैं कि कोई सात करोड़ जीवाणु शरीर में रह रहे हैं। सात करोड़! छोटी-मोटी बस्ती नहीं--बड़े नगर हो, महानगर हो। बंबई भी छोटी है; आधा करोड़ लोग ही रहते हैं। तुम्हारे शरीर में सात करोड़, चौदह गुनी क्षमता है! भीड़ है तुम्हारे शरीर में। इन सारे जीवाणुओं के बीच में छिपा हुआ तुम्हारे चैतन्य का दीया है। उसका नाम पुरुष है। पुरुष इसीलिए कि वह इस पूरे पुर के बीच में बसा है। फिर उस पुरुष के अर्थ को जान लेना पुरुषार्थ है। क्या है इस पुरुष का अर्थ? कौन है यह पुरुष? क्या है इसका स्वाद?--उसे जान लेना।

तो पुरुषार्थ तो एक ही है स्वयं को जान लेना। और स्वयं को जानने के लिए अहंकार का गिरा देना अत्यंत अनिवार्य है, क्योंकि वही नहीं जानने देता। अहंकार का अर्थ है: तुमने मान लिया कि तुम अपने को जानते हो बिना जाने। अहंकार का अर्थ है: तुमने कुछ झूठी मान्यता बना ली अपने संबंध में कि मैं यह हूं, यह हूं, यह हूं--हिंदू हूं, जैन हूं, ब्राह्मण हूं, शूद्र हूं; धनी हूं, अमीर हूं, गरीब हूं, काला, गोरा, युवा, बूढ़ा--ऐसी तुमने धारणाएं

बना लीं। इनमें से तुम कोई भी नहीं हो। जवानी आती है, चली जाती है। बुढ़ापा आता है, बुढ़ापा भी चला जाता है। जीवन आया, जीवन भी चला जाता है। तुम तो वही के वही बने रहते हो। न तुम गोरे, न तुम काले। चमड़ी का रंग पुरुष को नहीं रंगता; चमड़ी बाहर है। पुरुष बहुत गहरे में छिपा है। वहां तक चमड़ी का रंग नहीं पहुंचता है। चमड़ी का रंग तो बड़ी साधारण-सी बात है।

वैज्ञानिक कहते हैं, गोरे और काले में चार आने के रंग का फर्क है। आज नहीं कल वैज्ञानिक इंजेक्शन निकाल ही लेंगे। कि गोरे को नीग्रो होना है, एक इंजेक्शन लगवा लिया। चार आने का पिगमेंट, और सुबह उठे और नीग्रो हो गए। नीग्रो को गोरा होना है, चार आने का इंजेक्शन लगा लिया। चार आने के पीछे कितनी मारा-मारी है!

चमड़ी का रंग भीतर नहीं जाता है। तुम बीमार हो तो बीमारी भीतर नहीं जाती। तुम स्वस्थ हो तो स्वास्थ्य भीतर नहीं जाता। भीतर तो तुम उस परम अतिक्रमण की अवस्था में सदा एकरस हो; न बीमारी फर्क लाती, न स्वास्थ्य फर्क लाता। जीओ या मरो, उस भीतर के पुरुष को कोई तरंग नहीं छूती। निस्तरंग! वहां तक कोई लहर नहीं पहुंचती। सागर की सतह पर ही लहरें हैं, गहराई में कहां लहर! और यह तो गहरी से गहरी संभावना है जो तुम्हारे भीतर है। प्रशांत महासागर भी इतना गहरा नहीं, जितनी गहराई पर तुम्हारा पुरुष छिपा है। इस पुरुष के अर्थ को जानने का नाम ही पुरुषार्थ है। और उस जानने के लिए जो भी तुम करो, वह सब पुरुषार्थ है।

भाग्य का केवल इतना ही अर्थ है कि तुम अतिशय रूप से अपने जीवन में तनाव मत ले लेना। चलना जरूर। यात्रा करना, खोजना; लेकिन तनाव मत ले लेना। श्रम-रहित हो तुम्हारा प्रयास। करो तुम खूब, लेकिन करने के कारण उद्विग्न, चिंतित न हो जाना। तुमने फर्क देखा दोनों बातों में--एक चित्रकार चित्र बनाता है, तुम देखो बैठ कर पास, कैसे बनाता है! जैसे छोटा बच्चा खेलता हो। कोई तनाव नहीं। कब पूरा होगा, होगा पूरा कि नहीं होगा--इसकी भी कोई चिंता नहीं है; कोई खरीदेगा, नहीं खरीदेगा; बिकेगा, नहीं बिकेगा--इसकी भी कोई चिंता नहीं है। ऐसा लीन हो जाता है चित्र बनाने में, जैसे बनाना अपने-आप में पूर्ण है। साधन ही साध्य है। कोई फलाकांक्षा नहीं है। लवलीन! डुबकी लग जाती है! चित्रकार तो मिट ही जाता है।

इसलिए सभी महाचित्रकारों ने कहा है कि हमें पता नहीं कौन हमारे हाथ में तूलिका सम्हाल लेता है! सभी महाकवियों ने कहा है: हमें पता नहीं, कौन हमारे भीतर गीत को गुनगुनाने लगता है! हम तो केवल वाहक होते हैं। हम तो केवल ले आते हैं उसकी खबर बाहर तक। संदेशवाहक! जैसे कि तुम कलम से लिखते हो तो कलम थोड़े ही लिखती है! लिखने वाले तुम हो; कलम तो सिर्फ तुम्हारे हाथ में सधी होती है। ऐसा ही महाचित्रकार या महाकवि या महानर्तक सिर्फ कलम की तरह हो जाता है परमात्मा के हाथ में। नहीं कि लिखना नहीं होता, लिखना तो खूब होता है अब। अब ही लिखना हो पाता है! लेकिन अब परमात्मा लिखता है! कोई तनाव नहीं रह जाता।

महाकवि हुआ: कूलरिज। मरा तो चालीस हजार कविताएं अधूरी छोड़ कर मरा। मरने के पहले किसी ने पूछा कि इतना अंबार लगा रखा है, इनको पूरा क्यों नहीं किया? और अदभुत कविताएं हैं! किसी में सिर्फ एक पंक्ति कम रह गई है। पूरी क्यों नहीं की?

तो कूलरिज ने कहा: मैं कैसे पूरी करूं? उसने वहीं तक लिखवाईं। फिर मैं राह देखता रहा। फिर पंक्ति आगे नहीं आई। शुरू-शुरू में जब मैं जवान था, तो मैं जोड़तोड़ करता था; तीन पंक्तियां उतरीं, एक मैं जोड़ देता था। लेकिन धीरे-धीरे मैंने पाया, मेरी पंक्ति मेल नहीं खाती। वे तीन तो अपूर्व हैं; मेरी बड़ी साधारण! वह तो ऐसा हुआ जैसे सोने में मिट्टी लगा दी, सुगंध में दुर्गंध जोड़ दी। जब मुझमें समझ आई तो फिर मैंने यह काम बंद कर दिया। कभी कविता पूरी उतरी तो उतरी; कभी अधूरी उतरी तो अधूरी उतरी। कभी ऐसा हो गया कि आधी

अभी उतरी और आधी साल भर बाद उतरी, तब पूरी हुई। तो मैं सिर्फ प्रतीक्षा करता रहा हूं। मेरा किया इसमें कुछ भी नहीं है। जिसने लिखवाईं हैं, उसी से तुम बात कर लेना।

एक दूसरे महाकवि इलियट से किसी ने पूछा कि तुम्हारी इस कविता का अर्थ क्या है? मैं शिक्षक हूं विश्वविद्यालय में और विद्यार्थियों को पढ़ाता हूं। और यह कविता मेरा कचूमर निकाल देती है। यह कविता जब पढ़ाने का समय आता है, मेरे हाथ-पैर कंपने लगते हैं। इसका अर्थ क्या है?

इलियट ने कहा कि दो आदमियों को इसका अर्थ मालूम था, अब केवल एक को ही मालूम है। शिक्षक खुश हुआ। उसने कहा कि चलो, कम से कम तुमको तो मालूम है। उसने कहा: मैंने यह कहा नहीं। दो को मालूम था--परमात्मा को और मुझे। मैं तो भूल-भाल गया। अब तो वही जाने। जब उसने गुनगुनाई थी, तब तो मुझे भी पता था। तब तो मैं भरा-भरा था। तब तो जैसे वर्षा आई थी और बाढ़ आ गई थी। मेरा रोआं-रोआं जानता था कि अर्थ क्या है। वह बौद्धिक अर्थ न था। मेरी श्वास-श्वास पहचानती थी कि अर्थ क्या है। अर्थ मुझमें भरा था। अब वर्षों बीत गए, मैं तो बहुत बहा और बदल गया। अब तो सिर्फ परमात्मा जानता है। तुम उसी से प्रार्थना करना। शायद प्रार्थना की किसी घड़ी में जिसने मुझे कविता दी थी, वही अर्थ भी तुम्हें खोल दे।

महाकाव्य अवतरण है। तो महाकवि के जीवन में कोई तनाव नहीं होता। रवींद्रनाथ के चेहरे पर तुम्हें जो प्रसाद दिखाई पड़ता है, वह प्रसाद इसीलिए है। उनकी वाणी में जो उपनिषदों की गंध है वह इसीलिए है। उनको कवि कहना ठीक नहीं--वे ऋषि हैं। जो उनसे आया है वह उनका नहीं है--कोई और गाया है। किसी और ने वीणा के तार छेड़े हैं। ज्यादा से ज्यादा वे उपकरण हैं, वीणा हैं; लेकिन तार किसी और ने छेड़े हैं; अंगुलियां किसी और अज्ञात की उन पर गूंजी हैं।

तनाव-रहित प्रयास का अर्थ होता है, तुम्हें अब कोई फल का विचार नहीं है। जो इस क्षण हो रहा है, तुम परिपूर्ण रूप से उसे कर रहे हो। परमात्मा पूरा करवाना चाहेगा, पूरा करवा लेगा; अधूरा तो अधूरा। फल आएगा तो ठीक; न आएगा तो ठीक। यह तुम्हारी चिंता नहीं है।

फलाकांक्षा-रहित जो कृत्य है उसमें तनाव चला जाता है। तनाव गया, कर्ता गया; कर्ता गया, अहंकार गिरा।

भाग्य का ऐसा अर्थ है कि भगवान कर रहा है। तो इसे मैं तुम्हारी कसौटी के लिए कह दूं कि कर्म तो जारी रहे और कर्ता का भाव संगृहीत न हो तो समझना कि अष्टावक्र को तुमने ठीक से समझा। कर्म ही बंद हो जाए और कर्ता का भाव तो बना ही रहे, तो समझ लेना कि तुम चूक गए। और दूसरी बात ज्यादा आसान है, पहली बात बहुत कठिन है।

मेरे पास लोग आते हैं, वे कहते हैं कि जब वही कर रहा है तो हम करें ही क्यों? थोड़ा सोचो, तुम्हारा यह कहना ही कि हम करें ही क्यों? यही बताता है कि तुम्हें अभी भी यह खयाल है कि तुम कर्ता हो। पहले तुम करते थे, अब तुम नहीं करते हो; लेकिन कर्ता हो, यह खयाल तो तुम्हारा मजबूत अभी भी है। तुम कहते हो, अब हम क्यों करें? जैसे कि अब तक तुम करते थे! भ्रांति अभी भी कायम है। जो समझेगा वह कहेगा, करना न करना अपने हाथ में नहीं है; जो होगा, होगा। हम बाधा न डालेंगे। हम साथ हो लेंगे। हम उसकी लहर के साथ बहेंगे।

फिर कभी-कभी ऐसा भी होता है कि कोई व्यक्ति ठीक मध्य में होता है, जिसके भीतर पुरुषार्थ और भाग्य संतुलित होते हैं। ऐसा व्यक्ति अगर सदगुरु के पास आए तो वह उससे कहेगा: दोनों ही ठीक हैं; पुरुषार्थ भी ठीक है, भाग्य भी ठीक है। क्योंकि यह व्यक्ति संतुलित है। इससे कहना कि पुरुषार्थ ठीक नहीं, इसका संतुलन तोड़ना है। इससे कहना कि भाग्य ठीक है, इसका संतुलन तोड़ना है। यह संतुलित हो ही रहा है।

एक आदमी ने बुद्ध से पूछा, ईश्वर है? बुद्ध ने कहा: नहीं। उसी दिन दूसरे आदमी ने पूछा, ईश्वर है? बुद्ध ने कहा: निश्चय ही। और उसी सांझ एक तीसरे आदमी ने पूछा और बुद्ध चुप रह गए। रात आनंद उनसे पूछने लगा: मुझे पागल कर दोगे क्या? क्योंकि आनंद तीनों मौकों पर मौजूद था। उसने कहा: मैं आज सो न सकूंगा,

आप मुझे समझा दें। यह बात निपटारा ही कर दें। ईश्वर है या नहीं? सुबह आपने कहा, नहीं है। मैंने कहा, चलो ठीक, कोई बात नहीं, उत्तर एक साफ हो गया। दोपहर होते-होते आप बदल गए। कहने लगे, है। सांझ चुप रह गए।

बुद्ध ने कहा: उनमें से कोई भी उत्तर तेरे लिए नहीं दिया था, तूने लिया क्यों? ऐसे बीच-बीच में झपटोगे तो झंझट में पड़ोगे। जो मेरे पास आया था पहले से ही भाव लिए कि ईश्वर नहीं है, उससे मैंने कहा, है। उसे उसकी स्थिति से हटाना जरूरी था। वह नास्तिक था। उसकी नास्तिकता को डांवांडोल करना जरूरी था। उसकी यात्रा बंद हो गई थी। वह मान कर ही बैठ गया था कि ईश्वर नहीं है। बिना जाने मान कर बैठ गया था, ईश्वर नहीं है। बिना कहीं गए मानकर बैठ गया था कि ईश्वर नहीं है। उसको धक्का देना जरूरी था। उसकी जड़ों को हिलाना जरूरी था। उसे राह पर लगाना जरूरी था। तो मैंने कहा कि ईश्वर, ईश्वर है।

वह जो दूसरा आदमी आया था, वह मान कर बैठ गया था, ईश्वर है। बिना खोजे, बिना आविष्कार किए, बिना चेष्टा, बिना साधना, बिना श्रम, बिना ध्यान, बिना मनन, बस मान कर बैठ गया था उधार कि ईश्वर है। उसे भी डगमगाना जरूरी था। उसकी श्रद्धा झूठी थी, उधार थी। उससे मुझे कहना पड़ा, ईश्वर नहीं है।

और जो तीसरा आदमी सांझ आया था, उसकी कोई धारणा न थी, कोई विश्वास न था, वह परम खोजी था। उससे कुछ भी कहना खतरनाक है। कोई भी धारणा उसके भीतर डालनी उसके मन को विकृत करना है, इसलिए मैं चुप रह गया। मैंने उससे कहा: मौन उत्तर है। और वह समझ गया।

और बुद्ध ने कहा: कुछ घोड़े होते हैं, उनको मारो तो बामुश्किल चलते हैं। कुछ घोड़े होते हैं, उनको सिर्फ कोड़ा फटकारो, चलने लगते हैं। कुछ घोड़े होते हैं, सिर्फ कोड़ा देख लेते हैं, फटकारने की जरूरत नहीं पड़ती और चलते हैं। और ऐसे भी कुछ कुलीन घोड़े होते हैं कि कोड़े की छाया भी काफी है। वह जो तीसरा था उसको कोड़े की छाया काफी थी। शब्द की जरूरत न थी। शब्द का कोड़ा चलाना आवश्यक न था--मौन रह जाना...! उसने मुझे देख लिया। बात उसकी समझ में आ गई। कह दिया मैंने जो कहना था; सुन लिया उसने जो सुनना था। और शब्द बीच में आया नहीं, सिद्धांत बीच में आए नहीं। भाषा का उपयोग नहीं हुआ। हृदय से हृदय मिल गए और साथ-साथ हम हो लिए। वह भी समझ गया, मैं भी समझ गया कि वह समझ गया है। तुम इन तीनों में से कुछ भी उत्तर, आनंद, मत ले लेना। तुम्हें कोई भी उत्तर नहीं दिया गया है।

काश, तुम इस बात को समझ लो तो तुम्हें महापुरुषों के जीवन में जो विरोधाभास दिखाई पड़ते हैं, वे तत्क्षण विदा हो जाएंगे। तब तुम्हें महावीर, बुद्ध, कृष्ण, राम, मुहम्मद, जरथुस्त्र, जीसस में कोई विरोधाभास दिखाई न पड़ेगा। अलग-अलग शिष्यों की अलग-अलग जरूरतें थीं। अलग-अलग रोगियों के लिए अलग-अलग औषधि है।

तीसरा प्रश्न: माना कि आत्मज्ञानी के लिए निजी सुख-दुख के अनुभव समाप्त हो जाते हैं, लेकिन वे भी तो दूसरों के सुख-दुख से सुखी-दुखी होते ही होंगे न! कृपा कर प्रकाश डालें।

नहीं, जिसके सुख-दुख के अनुभव समाप्त हो गए, वह दूसरे के सुख-दुख से भी प्रभावित नहीं होता। तुम्हें कठिनाई होगी यह बात सोच कर, क्योंकि तुम सोचते हो कि उसे तो बहुत प्रभावित होना चाहिए तुम्हारे सुख-दुख से। नहीं, उसे तो दिखाई पड़ गया कि सुख-सुख होते ही नहीं हैं। तो तुम्हारा सुख-दुख देख कर तुम पर दया आती है, लेकिन सुखी-दुखी नहीं होता। सिर्फ दया आती है कि तुम अभी भी सपने में पड़े हो!

ऐसा समझो कि दो आदमी सोते हैं, एक ही कमरे में, दोनों दुख-स्वप्न में दबे हैं, दोनों बड़ा नारकीय सपना देख रहे हैं। एक जग गया। निश्चित ही जो जग गया अब उसे सपने के सुख-दुख व्यर्थ हो गए। क्या तुम सोचते हो दूसरे को पास में बड़बड़ाता देख कर, चिल्लाता देख कर, उसकी बात सुन कर कि वह कह रहा है, "हटो, यह

राक्षस मेरी छाती पर बैठा है," यह दुखी-सुखी होगा? यह हंसेगा और दया करेगा। यह कहेगा कि पागल! यह अभी भी सपना देख रहा है। यह इसके राक्षस को हटाने की कोशिश करेगा कि इसकी छाती पर राक्षस न हो? राक्षस तो है ही नहीं, हटाओगे कैसे? हटाने के लिए तो होना चाहिए। यह तो देख रहा है कि सज्जन अपनी ही मुट्ठी बांधे छाती पर, पड़े हैं। और गुनगुना रहे हैं कि राक्षस बैठा है, यह रावण बैठा दस सिर वाला मेरे ऊपर! इसको हटाओ!

यह जो जाग गया है, क्या करेगा? यह इस आदमी को भी जगाने की कोशिश करेगा। इसके दुख को हटाने की नहीं--इसको जगाने की। फर्क साफ समझ लेना। जब बुद्ध तुम्हें दुखी देखते हैं, तो तुम्हारे दुख को मान नहीं सकते कि है; क्योंकि वे तो जानते हैं दुख हो ही नहीं सकता, भ्रांति है। तुम्हें जगाने की कोशिश करते हैं। तुम्हें भागते देख कर कि तुम रस्सी को सांप समझ कर भाग रहे हो, वे एक दीया ले आते हैं। वे कहते हैं, जरा रुको तो, जरा इस सांप को गौर से तो देखें, है भी? उस प्रकाश में रस्सी तुम्हें भी दिखाई पड़ जाती है, तुम भी हंसने लगते हो।

ज्ञानी पुरुष तुम्हारे सुख-दुख से जरा भी प्रभावित नहीं होता। और जो प्रभावित होता हो, वह ज्ञानी नहीं है। यद्यपि तुम्हारे सुख-दुख से दया उसे जरूर आती है। कभी-कभी हंसता भी है--देख कर सपने का बल, व्यर्थ का बल; देख कर झूठ का बल!

ऐसा ही समझो, एक छोटा बच्चा है, और उसकी गुड़िया की टांग टूट गयी और वह रो रहा है। तुम क्या करते हो? रोते हो उसके पास बैठ कर? तुम भी दुखी होते, आंसू झारते हो? तुम उससे कहते हो कि "बेटा, नासमझ, यह गुड़िया ही है! टूटने को ही थी। इसमें कोई प्राण थोड़े ही हैं कि तू परेशान हो रहा है? यह टांग कोई असली टांग थोड़े ही है।" हालांकि तुम्हारी समझ की बातें शायद बेटे को समझ न भी आयें। लेकिन तुम भी जानते हो, यह भी बड़ा होगा कल, थोड़ी प्रौढ़ता आयेगी, गुड्डा-गुड्डी भूल जायेगा। फेंक देगा कहीं फिर, लौट कर देखेगा भी नहीं। अभी बचपना है, तो गुड्डा-गुड्डियों से खेल रहा है।

ज्ञानी पुरुष तुम्हें सुख-दुख में डूबा देख कर जानता है कि तुम अभी भी सोये सपना देख रहे हो।

छाया मत छूना मन
होगा दुख दूना मन
यश है न वैभव है
मान है न सरमाया
जितना ही दौड़ा तू
उतना ही भरमाया
जो है यथार्थ कठिन
उसका तू कर पूजन
छाया मत छूना मन
होगा दुख दूना मन।

तुम्हारे सब दुख छाया, झूठे हैं, माया! बुद्धपुरुष को, समाधिस्थ पुरुष को जो यथार्थ है, दिखाई पड़ता है। जिसे अपना यथार्थ दिखाई पड़ गया, उसे सबका यथार्थ दिखाई पड़ जाता है। फिर भी तुम पर दया करता है--दया करता है कि तुम अभी भी सोये हो। दया करता है, क्योंकि कभी वह भी सोया था। और जानता है कि तुम्हारी पीड़ा गहन है; झूठी है, फिर भी गहन है। जानता है, तुम तड़प रहे हो; माना कि जिससे तुम तड़प रहे हो वह है नहीं। क्योंकि वह भी तड़पा है। वह भी कभी ऐसा ही रोया है, गिड़गिड़ाया है। वह पहचानता है।

वह भी कभी खेल-खिलौनों से खेला है। कभी गुड़ियाएं टूट गयी हैं, कभी विवाह रचाते-रचाते नहीं रच पाया है तो बड़े दुख हुए हैं। कभी बना-बना कर तैयार किया था ताश का महल, हवा का झोंका आया है और गिरा गया है, तो बच्चे की आंखों से झर-झर आंसू झरे हैं, ऐसे आंसू उसको भी झरे थे। वह जानता है। वह

पहचानता है। वह भलीभांति तुम्हारे दुख में सहानुभूति रखता है। लेकिन फिर भी हंसी तो उसे आती है, क्योंकि बात तो झूठी है। है तो सपना ही। भला तुम्हारे सामने हंसे न; सौजन्यतावश, सज्जनतावश तुम्हें थपथपाये भी; तुमसे कहे भी कि बड़ा बुरा हुआ, होना नहीं था--लेकिन भीतर हंसता है।

जैसे कि तुम छोटे बच्चे को समझाते हो कि "घबड़ा मत, टांग भला टूट गयी, गुड़िया की आत्मा अमर है, घबड़ा मत! गुड़िया परमात्मा के घर चली गयी, देख प्रभु की गोद में बैठी है, कैसा मजा कर रही है!" तुम समझाते हो। तुम कहते हो, "दूसरी गुड़िया ले आयेंगे। घबड़ा मत। रो मत। चीख- पुकार मत मचा। कुछ भी नहीं बिगड़ा है। सब ठीक हो जायेगा।" समझाते हो। थपथपाते हो। फिर भी भीतर तुम जानते हो, एक खेल तुम्हें भी खेलना पड़ रहा है।

जब बुद्धपुरुष तुम्हारे दुख में तुम्हें सहानुभूति दिखलाते हैं तो एक नाटक है, एक अभिनय है--सौजन्यतावश। तुम्हें बुरा न लगे। तुम्हें पीड़ा न हो। लेकिन साथ-साथ चेष्टा करते रहते हैं कि तुम भी जागो। क्योंकि असली घटना तो तभी घटेगी दुख के बाहर होने की, जब तुम जानोगे कि सब दुख-सुख छाया हैं, माया हैं।

चौथा प्रश्न: मुझे लगता है कि जैसे-जैसे सजगता बढ़ती है वैसे-वैसे संवेदनशीलता भी बढ़ती है, जिसे मैं बिलकुल भी सह नहीं पाती हूं। कृपाकर मार्गदर्शन करें।

नयनहीन को राह दिखा प्रभु,
चलत-चलत गिर जाऊं मैं!

निश्चित ही जैसे-जैसे सजगता बढ़ेगी, संवेदनशीलता भी बढ़ेगी। साधारणतः तो हम एक तरह की धुंध में रहते हैं--बेहोश, मूर्च्छित। जैसे एक आदमी शराब पीए पड़ा है नाली में, तो उसे नाली की बदबू थोड़े ही आती है। तुम्हें लगता है कि नाली में पड़ा है बेचारा। मगर वे तो बड़े मजे से पड़े हैं। हो सकता है कि सपना देख रहे हों, महल में विश्राम कर रहे हैं। कि राष्ट्रपति हो गए हैं, दरबार लगाए बैठे हों!

तुम्हें लगता है कि कीचड़ में, बदबू में पड़ा है। मुंह में कीचड़ चली जा रही है। नाक के पास नाली बह रही है। बड़ी दुर्गंध इसे आती होगी। लेकिन वह बेहोश पड़ा है। दुर्गंध वगैरह आने के लिए थोड़ा होश चाहिए। हां, सुबह जब आंख खुलेगी उसकी और होश आएगा, तो झाड़-झकाड़ कर भागेगा घर; स्नान-ध्यान करके, चंदन-मंदन लगा कर, पूजा-पाठ करके तैयार हो कर बैठकखाने में बैठ जाएगा। तब तुम उससे कहो कि जरा नाली में चल कर लेट जाओ, असंभव हो जाएगा। क्योंकि अब सब इंद्रियां सजग होंगी।

ऐसी ही घटना घटती है। जैसे-जैसे सजगता बढ़ती है, तुम्हारे जीवन की बहुत-सी नालियां जिनको तुम अब तक स्वर्ग समझ कर जी रहे थे, दुर्गंधयुक्त हो जाती हैं। बहुत-से सुख जिन्हें तुम अब तक सुख समझते थे, दुख जैसे मालूम होने लगते हैं, चुभने लगते हैं। इसलिए सजगता बढ़ने के साथ एक उपद्रव बढ़ता है। वह उपद्रव है कि आदमी बहुत संवेदनशील, कोमल हो जाता है। एक गहन कोमलता उसे घेर लेती है।

लेकिन यह मार्ग पर ही है बात। जैसे-जैसे सजगता परिपूर्णता पर पहुंचती है, पहले आदमी की जड़ता टूटती है, संवेदनशीलता बढ़ती है। फिर एक ऐसी घड़ी आती है--सजगता की आखिरी छलांग--जब जाग इतनी गहन हो जाती है कि शरीर और मन दूर हो जाते हैं। फिर कोई संवेदनशीलता कष्ट नहीं देती, दुख नहीं देती। बोध तो होता है। अगर बुद्ध को कांटा लगेगा तो तुमसे ज्यादा बोध होता है। क्योंकि बुद्ध का बोध प्रगाढ़ है। तुम्हारा बोध तो कुछ भी नहीं है।

देखा कभी हाकी के मैदान पर खेलते-खेलते खिलाड़ी के पैर में चोट लग गई, खून बह रहा है, मगर वह खेलता चला जाता है! उसे पता नहीं। सब देखने वालों को दिखाई पड़ रहा है कि पैर से खून बह रहा है, खून की

कतार बन गई है मैदान पर। उसे पता नहीं है। वह खेल में मस्त है, बेहोश है। होश कहां उसे अपने शरीर का! जैसे ही खेल बंद होगा, रेफरी की सीटी बजेगी, तत्क्षण दुख होगा, दर्द होगा, बैठ जाएगा पैर पकड़ कर। कहेगा कि हाय, पता नहीं कब से चोट लगी है! अब उसे दुख होगा। इतनी देर भी दुख तो था, लेकिन बोध नहीं था।

तो पहली दफा जब तुम्हारे जीवन में ध्यान आएगा तो बहुत-सा बोध आएगा। उस बोध के साथ-साथ जो-जो गलत तुम अब तक कर रहे थे, उस सबकी संवेदनशीलता आएगी। जरा-सा तुम क्रोध करोगे और तुम्हारे प्राण कंप जाएंगे। जरा-सी तुमर् ईष्या करोगे और जहर फैल जाएगा। जरा-सी तुम घृणा करोगे और तुम अनुभव करोगे जैसे अपनी ही छाती में छुरा भोंक लिया। तो कठिन होगा। लेकिन इस कठिनाई से भागना मत और घबराना मत।

हृदय छोटा हो तो शोक वहां नहीं समाएगा।
और दर्द दस्तक दिये बिना दरवाजे से लौट जाएगा।
टीस उसे उठती है जिसका भाग्य खुलता है।
वेदना गोद में उठा कर सबको निहाल नहीं करती।
जिसका पुण्य प्रबल होता है, वही अपने आंसुओं से धुलता है।

दर्द तो बढ़ेगा, पीड़ा बढ़ेगी, बोध बढ़ेगा। लेकिन यह संक्रमण में होगा। एक घड़ी आएगी, छलांग लगेगी। सौ डिग्री पर जैसे पानी भाप बन जाता है और और छलांग लग जाती है--ऐसे सौ डिग्री पर जब होश आता है, एक छलांग लग जाती है। तत्क्षण तुम पाते हो कि तुम्हारा शरीर और मन पीछे छूट गया। सब सुख-दुख वहीं थे, इंद्रियों में थे। अब तुम पार हो गए। तुम दूर हो गए। अब तुम्हारा सारा तादात्म्य समाप्त हो गया।

लेकिन इस घड़ी के आने के पहले बोध के साथ-साथ दुख भी बढ़ेगा।

संस्कृत में बड़ा प्यारा शब्द है: वेदना। उसके दोनों अर्थ होते हैं: दुख और बोध। "वेद" उसी धातु से बना है जिससे "वेदना"। वेद का अर्थ होता है: ज्ञान, बोध। "वेदना" का अर्थ होता है: ज्ञान, बोध। और दूसरा अर्थ होता है: दुख, पीड़ा।

संस्कृत बहुत अनूठी भाषा है। उसके शब्दों का विश्लेषण बड़ा बहुमूल्य है। क्योंकि जिन्होंने उस भाषा को रचा है, बहुत जीवन की गहन अनुभूतियों के आधार पर रचा है। जैसे-जैसे बोध बढ़ता है, दुख बढ़ता है। अगर दुख के बढ़ने से घबरा गए तो एक ही उपाय है: बोध को छोटा कर लो। वही तो हम करते हैं। सिर में दर्द हुआ, एस्प्रो ले लो! एस्प्रो करेगी क्या? दर्द को थोड़े ही मिटाती है, सिर्फ बोध को क्षीण कर देती है, तंतुओं को शिथिल कर देती है, तो दर्द का पता नहीं चलता। ज्यादा तकलीफ है, पत्नी मर गई, शराब पी लो! दिवाला निकल गया, शराब पी लो। बोध को कम कर लो, तो वेदना कम हो जाएगी।

बहुत-से लोगों ने यही खतरनाक तरकीब सीख ली है। जीवन में दुख बहुत है, उन्होंने बोध को बिलकुल नीचा कर लिया है: न होगा बोध, न होगी पीड़ा। लेकिन यह बड़ा महंगा सौदा है। क्योंकि बोध के बिना तुम्हारा बुद्धत्व कैसे फलेगा, तुम्हारा फूल कैसे खिलेगा? कैसे बनोगे कमल के फूल फिर? यह सहस्रार अनखुला ही रह जाएगा।

घबड़ाओ मत, इस पीड़ा को स्वीकार करो। इस पीड़ा की स्वीकृति को ही मैं तपश्चर्या कहता हूं। तपश्चर्या मेरे लिए यह अर्थ नहीं रखती है कि तुम उपवास करो, धूप में खड़े रहो, पानी में खड़े रहो--उन मूढ़ताओं का नाम तपश्चर्या नहीं है। तपश्चर्या का इतना ही अर्थ है: बोध के बढ़ने के साथ वेदना बढ़ेगी, उस वेदना से डरना मत; उसे स्वीकार कर लेना कि ठीक है, यह बोध के साथ बढ़ती है। थोड़े दूर तक बोध के साथ वेदना बढ़ती रहेगी। फिर एक घड़ी आती है, बोध छलांग लगा कर पार हो जाता है, वेदना पीछे पड़ी रह जाती है। जैसे एक दिन सांप अपनी पुरानी केंचुली के बाहर निकल जाता है, ऐसे एक दिन वेद वेदना की केंचुली के बाहर निकल जाता है। बोध वेदना के पार चला जाता है।

लेकिन मार्ग पर पीड़ा है। उसे स्वीकार करो। उसे इस तरह स्वीकार करो कि वह भी उपाय है तुम्हारे बोध को जगाने का।

तुमने कभी खयाल किया, जब तुम सुख में होते हो, भगवान भूल जाता है; जब तुम दुख में होते हो, तब याद आता है! तो दुख का भी कुछ उपयोग है।

सूफी फकीर हुआ बायजीद। वह रोज प्रार्थना करता था, वह कहता था, "सब करना प्रभु, थोड़ा दुख मुझे दिये रहना। सुख ही सुख में मैं भूल जाऊंगा। तुम्हें मेरा पता नहीं है। सुख ही सुख में मैं निश्चित भूल जाऊंगा। तुम इतना ही सुख मुझे देना जितने में मैं भूल न सकूं, बाकी तुम दुख को देते रहना।"

यह बायजीद ठीक कह रहा है। यह कह रहा है: दुख रहेगा तो जागरण बना रहेगा। सुख में तो नींद आ जाती है। सुख में तो आदमी सो जाता है।

व्यर्थ कोई भाग जीवन का नहीं है,
व्यर्थ कोई राग जीवन का नहीं है।
बांध दो सबको सुरीली तान में तुम,
बांध दो बिखरे सुरों को गान में तुम।

दुख भी अर्थपूर्ण है। उसका भी सार है। वह जगाता है। जिस दिन तुमने यह देख लिया कि दुख जगाता है, उस दिन तुम दुख को भी धन्यभाग से स्वीकार करोगे। उस दिन तुम्हारे जीवन में निषेध गिर जायेगा। अब तो तुम कांटों को भी स्वीकार कर लोगे, क्योंकि तुम जानते हो कांटों के बिना फूल होते नहीं। यह गुलाब का फूल कांटों के साथ-साथ है। यह बोध का फूल वेदना के साथ-साथ है।

पांचवां प्रश्न: जीवन का सत्य यदि अद्वैत है, तो फिर द्वैत क्यों है?

एक जगत रूपायित प्रत्यक्ष
एक कल्पना संभाव्य
एक दुनिया सतत मुखर
एक एकांत निस्स्वर
एक अविराम गति उमंग
एक अचल निस्तरंग
दो पाठ, एक ही काव्य।

दो नहीं है। दो पाठ हैं--काव्य एक ही है।

सत्य तो एक ही है। सोये-सोये देखो तो संसार मालूम पड़ता है। जाग कर देखो, परमात्मा मालूम पड़ता है। संसार और परमात्मा ऐसी दो चीजें नहीं हैं। सोये हुए आदमी ने जब परमात्मा को देखा तो संसार देखा और जागे हुए आदमी ने जब संसार देखा तो परमात्मा को देखा।

जागा हुआ आदमी कहता है: संसार नहीं है, परमात्मा है। सोया हुआ आदमी कहता है: कहां है परमात्मा? संसार ही संसार है।

ये दो दृष्टियां हैं; सत्य तो एक है। दो पाठ, एक ही काव्य!

आखिरी प्रश्न: मुझे लगता है कि मैं आपको चूक रहा हूं। यह समझ में नहीं आता कि मैं क्या करूं कि आपको न चूकूं। आप गहन से गहन होते जा रहे हैं और मैं पाता हूं कि मैं इस गहनता के लिए तैयार नहीं हूं। क्या मैं ऐसे ही हाथ मलता रह जाऊंगा?

चूकने न चूकने की भाषा ही लोभ की भाषा है। लोभ छोड़ो। मेरे साथ उत्सव में सम्मिलित रहो।

"चूक जाऊंगा"--इसका मतलब हुआ कि तुम लोभ की भाषा से देख रहे हो। सब सम्हाल लूं, सब मिल जाए, सब पर मुट्ठी बांध लूं, सब मेरी तिजोरी में हो जाए; धन भी हो वहां, ध्यान भी हो वहां; संसार भी हो,

परमात्मा भी हो--ऐसा लोभ तुमने अगर रखा तो निश्चित चूक जाओगे। चूकोगे--लोभ के कारण। यह चूकने न चूकने की भाषा छोड़ो।

यहां मैं तुम्हें कुछ दे नहीं रहा हूं। यहां मैं तुमसे कुछ छीन रहा हूं। और यहां मैं तुम्हें कुछ ज्ञान देने नहीं बैठा हूं। तुम मेरे साथ उत्सव में थोड़ी देर सम्मिलित हो जाओ, मेरे साथ गुनगुना लो। तुम थोड़ी दूर मेरे साथ चलो। दो कदम मेरे साथ चल लो, बस इतना काफी है।

तुम्हें एक दफा स्वाद लग जाए परम का, फिर कोई भय नहीं है। फिर मैं यहां रहूं न रहूं--कोई चिंता नहीं है। मेरे रहते तुम्हें थोड़ा-सा स्वाद लग जाए।

तो तुम यह चूकने, खोने इत्यादि की बातें छोड़ो। इनमें तुम उलझे रहे तो तुम मेरे उत्सव में सम्मिलित न हो पाओगे। चाह तो ठीक है, लेकिन लोभ से जुड़ी है, इसलिए गलत हुई जा रही है।

चाहतीं किरणें धरा पर फैल जाना
चाहतीं कलियां चटख कर महमहाना
फूल से हर डाल सजना चाहती है
प्राण की यह बीन बजना चाहती है।
चाहतीं चिड़ियां वसंती गीत गाना
पत्तियां संदेश मधु ऋतु का सुनाना
वायु ऋतुपति नाम भजना चाहती है
प्राण की यह बीन बजना चाहती है।

ठीक है, भाव तो बिलकुल ठीक है। सिर्फ लोभ की दृष्टि से उसे मुक्त कर लो।

इसी क्षण मैं यहां हूं, तुम भी मेरे साथ रहो। यह हिसाब-किताब मन में मत बांधो कि सम्हाल लूं, यह पकड़ लूं, यह पकडूं न पकडूं, यह समझ में आया कि नहीं आया। छोड़ो, समझ इत्यादि का कोई सवाल नहीं है। उत्सव, महोत्सव में सम्मिलित हो जाओ! तुम मेरे साथ सिर्फ बैठो। तुम सिर्फ मेरे साथ हो रहो, सत्संग होने दो! थोड़ी देर को तुम मिट जाओ। यहां तो मैं नहीं हूं, अगर वहां तुम थोड़ी देर को मिट जाओ...। वह लोभ न मिटने देगा। वह लोभ खड़ा रहेगा कि कैसे पकडूं, कैसे इकट्ठा करूं। थोड़ी देर को तुम मिट जाओ! तुम कोरे और शून्य हो जाओ। उसी क्षण जो भी मैं हूं, उसका स्वाद तुम्हें लग जाएगा। और वह स्वाद तुम्हारे ही भविष्य का स्वाद है।

पूरी धरती पर फैला ली बांहें
इन बांहों में आकाश नहीं आया
हर परिचय को आवाज लगा ली है
सुन कर भी कोई पास नहीं आया

मील के पत्थर लगे हैं, किंतु अक्षर मिट गए
कौन से पूछें कि अपना गांव कितनी दूर है!
मील के पत्थर लगे हैं, किंतु अक्षर मिट गए
कौन से पूछें कि अपना गांव कितनी दूर है!
भोर होते ही चले थे, अब दुपहरी हो रही
कौन से पूछें कि शीतल छांव कितनी दूर है!
धूल मस्तक से लगा मिलती दिशा गंतव्य की
कौन से पूछें कि पावन पांव कितनी दूर हैं!

मैं यहां मौजूद हूं। तुम्हें किसी से पूछने की कोई जरूरत नहीं है। मुझसे भी पूछने की कोई जरूरत नहीं है। सिर्फ मेरे साथ क्षण भर को गुनगुना लो। मेरे अस्तित्व के साथ थोड़ी देर को रास रचा लो।

नहीं चूकोगे। लेकिन अगर चूकने न चूकने की भाषा में उलझे रहे, तो चूक रहे हो, चूकते रहे हो और निश्चित ही चूक जाने वाले हो।

हरि ॐ तत्सत्।

तैतीसवां प्रवचन

हर जगह जीवन विकल है

जनक उवाच।

कायकृत्यासहः पूर्वं ततो वाग्विस्तरासहः।
अथ चिंतासह स्तस्मादेवमेवाहमास्थितः।। १०७।।
प्रीत्यभावेन शब्दादेरदृश्यत्वेन चात्मनः।
विक्षेपैकाग्रहृदय एवमेवाहमास्थितः।। १०८।।
समाध्यासादिविक्षिप्तौ व्यवहारः समाधये।
एवं विलोक्य नियमेवमेवाहमास्थितः।। १०९।।
हेयोपादेयविरहादेवं हर्षविषाद्योः।
अभावादद्य हे ब्रह्मान्नेबमेवाहमास्थितः।। ११०।।
आश्रमानाश्रमं ध्यानं चित्तस्वीकृतवर्जनम्।
विकल्पं मम वीक्ष्यैतैरवमेवाहमास्थितः।। १११।।
कर्माऽनुष्ठानमज्ञामाद्यथैवोपरमस्तथा।
बुद्धवा सम्यगिदं तत्त्वमेवमेवाहमास्थितः।। ११२।।
अचिंत्यं चिंत्यमानोऽपि चिंतारूपं भजत्यसौ।
त्यक्त्वा तद्भावनं तस्मादेवमेवाहमास्थितः।। ११३।।
एवमेव कृतं येन स कृतार्थो भवेदसौ।
एवमेव स्वभावो यः स कृतार्थो भवेदसौ।। ११४।।

हर जगह जीवन विकल है।

तृषित मरुथल की कहानी
हो चुकी जग में पुरानी
किंतु वारिधि के हृदय की
प्यास उतनी ही अटल है।
हर जगह जीवन विकल है।

रो रहा विरही अकेला
देख तन का मिलन मेला
पर जगत में दो हृदय की
मिलन-आशा विफल है।
हर जगह जीवन विकल है।

अनुभवी इसको बताएं
व्यर्थ मत मुझसे छिपाएं
प्रेयसी के अधर-मधु में भी
मिला कितना गरल है।
हर जगह जीवन विकल है।

मनुष्य को गौर से देखें तो मरुस्थल ही मरुस्थल मिलेगा। जीवन में किसी के भीतर झांकें तो प्यास ही प्यास, अतृप्ति ही अतृप्ति मिलेगी।

ऊपर से देख कर मनुष्य को, धोखे में मत पड़ जाना। ऊपर तो हंसी है, मुस्कुराहट है, फूल सजा लिए हैं--भीतर जीवन बहुत विकल है। वस्तुतः भीतर विकलता है, इसीलिए बाहर फूल सजा लिए हैं; भीतर आंसू हैं, इसलिए बाहर मुस्कुराहटों का आयोजन कर लिया है।

फ्रेडरिक नीत्शे ने कहा है: मैं हंसता हूं; लोग सोचते हैं मैं खुश हूं। मैं हंसता हूं इसलिए कि कहीं रोने न लगूं। अगर न हंसा तो रोने लगूंगा। हंस-हंस कर छिपा लेता हूं आते हुए आंसुओं को।

हम बाहर तो कुछ और दिखाते हैं, भीतर हम कुछ और हैं। इसलिए बड़ा धोखा पैदा होता है। काश, हर व्यक्ति अपने जीवन की कथा को खोल कर रख दे, तो तुम बहुत हैरान हो जाओगे: इतना दुख है, दुख ही दुख है; सुख की तो बस आशा है! आशा है कि मिलेगा कभी! आशा है--आज नहीं तो कल, कल नहीं तो परसों; इस जन्म में नहीं तो अगले जन्म में; पृथ्वी पर नहीं तो स्वर्ग में--बस, आशा है! हाथ में तो राख है। प्राणों में तो बुझापन है। इस सत्य से जो जागा, उसके जीवन में ही क्रांति घटित होती है।

होता ऐसा है कि हम दूसरे को धोखा देते-देते अपने को भी धोखा दे लेते हैं। हंसते हैं ताकि दूसरे को पता न चले आंसुओं का। दूसरा हमें हंसते देखता है, भरोसा कर लेता है कि हम प्रसन्न हैं; उसके भरोसे पर धीरे-धीरे हम भरोसा कर लेते हैं कि हम जरूर प्रसन्न होंगे, तभी तो लोग भरोसा करते हैं। ऐसा धोखा बड़ा गहरा है।

जिस आदमी ने अमरीका में पहला बैंक खोला, उससे किसी ने पूछा जब वह बड़ा सफल हो गया, कि तुमने बैंक खोला कैसे?

उसने कहा: मैंने किताबों में पढ़ा, यूरोप में बैंक हैं--उनके संबंध में। मैंने भी अपने द्वार पर एक तख्ती लगा दी--बैंक। घंटे भर बाद एक आदमी आया और दो सौ डालर जमा करवा गया। सांझ दूसरा आदमी आया और डेढ़ सौ डालर जमा करवा गया। तीसरे दिन तक तो मेरी हिम्मत इतनी बढ़ गई कि मेरे भी पास जो बीस डालर थे, वे भी मैंने अपने बैंक में जमा कराए।

ऐसे भरोसा पैदा हो जाता है।

तुम अपनी छवि को दूसरे की आंख में ही देखते हो; और तो उपाय भी नहीं है। तुम अपने को पहचानते भी दूसरे के माध्यम से हो; और तो कोई उपाय भी नहीं है। दूसरे की आंखें दर्पण का काम करती हैं। अब अगर दर्पण के सामने तुम मुस्कुराते हुए खड़े हो गए तो दर्पण क्या करे? दर्पण बता देता है कि मुस्कुराहट है ओंठों पर। दर्पण में मुस्कुराहट देख कर तुम्हें भरोसा आ जाता है कि जरूर मैं खुश होऊंगा। ऐसा बार-बार करने से, दोहराने से असत्य भी सत्य मालूम होने लगते हैं। फिर हम डरते हैं कि कहीं सत्य का पता न चल जाए, तो हम अपने भीतर देखना बंद कर देते हैं; हम फिर बाहर ही देखते हैं।

लोगों से पूछो, तुम कौन हो? तो वे जो उत्तर देंगे, वे उत्तर उन्होंने बाहर से सीखे हैं। यह भी गजब हुआ, यह भी अजब हुआ: अपना पता दूसरे से पूछते हो! मैं कौन हूं, यह दूसरे से पूछते हो! दूसरे को खुद का पता नहीं है, तुम्हें कैसे बता सकेगा?

अपना पता अपने से पूछना होगा--आंख बंद करके देखना होगा। लेकिन लोग आंख बंद नहीं करते हैं; आंख बंद की कि सो जाते हैं। इसलिए तो कभी-कभी जब तुम आंख बंद करते हो, नींद नहीं आती, तो बड़ी तकलीफ होती है। वह तकलीफ नींद न आने के कारण नहीं है। वह तकलीफ इसलिए है कि आंख खुली रहे तो दूसरे दिखाई पड़ते रहते हैं; आंख बंद हो जाए और नींद न आए, तो अपने भीतर का उपद्रव दिखाई पड़ने लगता है--कूड़ा-कर्कट, नर्क, पर्त-पर्त खुलने लगती है; उससे घबड़ाहट होती है।

नींद न आने के कारण घबड़ाहट नहीं है। घड़ी भर को नींद न आई तो क्या बिगड़ जाएगा? लेकिन हम दो ही उपाय जानते हैं--आंख खुली हो तो कहीं उलझे रहें; आंख बंद हो तो नींद में डूब जाएं। आंख बंद करके जागे

रहना कठिन है। क्योंकि आंख बंद करके फिर हमें अपनी असली तस्वीर दिखाई पड़ने लगती है। और वह असली तस्वीर बहुत सुंदर नहीं है। आत्मज्ञानी कुछ भी कहें, हमें उनकी बात पर भरोसा नहीं आता। वे तो कहते हैं, परम परमात्मा विराजमान है। हम तो जब भी भीतर देखते हैं तो अंधेरा, नर्क, दुख, पीड़ा, अतीत के सब टूटे हुए सपने, खंडहर, हाथ तो कुछ लगा नहीं कभी, अतृप्ति-अतृप्ति की कतार पर कतारें--वही हाथ लगती हैं।

ज्ञानी कहते हैं भीतर बड़ा प्रकाश है! हम तो जब भीतर जाते हैं तो अंधेरे ही अंधेरे से मिलना होता है; बड़ी घबड़ाहट होने लगती है; अमावस की रात मालूम होती है। पूर्णिमा तो दूर, छोटा-मोटा चांद भी नहीं होता, दूज का चांद भी नहीं होता, रोशनी का कोई पता नहीं चलता। एक अंधेरे की गर्त में डूबने लगते हैं। घबड़ाहट होती है।

दूसरे से पूछ-पूछ कर हमने झूठा आत्म-परिचय बना लिया है। ज्ञानी ठीक कहते हैं कि भीतर परमात्मा है और प्रकाश है; लेकिन इस अंधेरी घाटी से गुजरना होगा। अंधेरी घाटी से गुजरना कीमत चुकाना है। नहीं तो जीवन विकल रहेगा।

मैं तो बहुत दिनों पर चेता।
जम कर ऊबा
श्रम कर डूबा
सागर को खेना था मुझको
रहा शिखर को खेता
मैं तो बहुत दिनों पर चेता।
थी मति मारी
था भ्रम भारी
ऊपर अंबर गर्दीला था
नीचे भंवर लपेटा
मैं तो बहुत दिनों पर चेता।
यह किसका स्वर
भीतर बाहर
कौन निराशा, कुंठित घड़ियों में
मेरी सुधि लेता
मैं तो बहुत दिनों पर चेता।
मत पछता रे
खेता जा रे
अंतिम क्षण में चेत जाए जो
वह भी शतवर चेता
मैं तो बहुत दिनों पर चेता।

मगर लोग हैं जो अंत तक नहीं चेतते। अंतिम क्षण में भी चेतना आ जाए, होश आ जाए, अपने जीवन को परखने की क्षमता और साहस आ जाए--तो भी चेत गए।

अंतिम क्षण में चेत जाए जो
वह भी शतवर चेता।
वह भी प्रबुद्ध हो गया।

लेकिन कठिन है, जब जीवन भर हम धोखा देते हैं तो अंतिम क्षण में चेतना कठिन है। क्योंकि चेतना कुछ आकाश से नहीं उतरती--हमारे जीवन भर का निचोड़ है।

बहुत लोग यह आशा भी रखते हैं कि अभी तो जवान हैं, आएगा बुढ़ापा--कर लेंगे ध्यान, कर लेंगे धर्म। मेरे पास आ जाते हैं, कहते हैं, अभी तो हम जवान हैं। बूढ़े भी मेरे पास आते हैं, उनको भी अभी पक्का नहीं हुआ कि बूढ़े हो गए हैं। वे भी कहते हैं: "अभी तो बहुत उलझनें हैं! और अभी कोई मरे थोड़े ही जाते हैं! अभी तो समय पड़ा है--कर लेंगे!" टालते चले जाते हैं। मरते-मरते, जब कि श्वास छूटने लगती, दूसरे राम-राम जपते

तुम्हारे कान में, दूसरे गंगाजल पिलाते तुम्हें...। जब जवान थे, ऊर्जा थी--तब ली होती डुबकी गंगा में, तब तैरे होते, तब बहे होते गंगा में, तो सागर तक पहुंच गए होते। अब मरते-मरते, गले में उतरता नहीं...।

मैं एक घर में मेहमान था, एक आदमी मर रहा था। उसके बेटे उसको गंगाजल पिला रहे हैं, वह जा नहीं रहा गले में। वह मर ही चुका है। किसको धोखा दे रहे! पंडित मंत्रपाठ कर रहा है। उसको होश नहीं है, वह आदमी बेहोश पड़ा है, उसकी आखिरी सांस लथड़ रही है; पानी गटकने तक की क्षमता नहीं रह गई है--अब राम को गटकना बहुत मुश्किल हो जाएगा।

ऐसी प्रतीक्षा मत करते बैठे रहना। चेतना हो तो अभी चेतना। जो अभी चेता--वही चेता। जिसने कहा कल--वह सोया और उसने खोया। कल की बात ही मत उठाना। कल का कोई भरोसा नहीं है। कल है मौत, जीवन है आज। जीवन तो बस अभी है; अभी या कभी नहीं।

जिसको इतनी प्रगाढ़ता से जीवन की स्थिति का स्मरण आएगा, वही शायद दांव लगा सकेगा। और धर्म तो जुए का दांव है। मुफ्त नहीं है; पूरा चुकाओगे तो ही पा सकोगे। सब खोओगे, तो ही मिलेगा। सस्ता धर्म मत खोजना। सस्ता धर्म होता ही नहीं। धर्म महंगी बात है। इसीलिए तो कुछ सौभाग्यशाली उस संपदा को उपलब्ध कर पाते हैं। सस्ता होता, मुफ्त बंटता होता, धर्मादय में मिलता होता, तो सभी को मिल गया होता।...अथक श्रम और अथक प्रयास का परिणाम है। यद्यपि जब आता है तब प्रसादरूप आता है; लेकिन पहले प्रयास जो करता है, वही प्रसाद का हकदार होता है।

आज के सूत्र अत्यंत क्रांतिकारी सूत्र हैं। खूब साक्षी-भाव रखकर समझोगे तो ही समझ में आएंगे, अन्यथा चूक जाओगे। शायद ऐसे सूत्र कभी तुमने सुने भी न होंगे। इससे ज्यादा और क्रांतिकारी सूत्र हो भी नहीं सकते।

इसलिए मैं निरंतर कहता हूं कि अष्टावक्र की गीता पर सुधार करना संभव नहीं है। आखिरी बात और आखिरी ढंग से कह दी है। हो गए पांच हजार साल, लेकिन पांच हजार सालों में फिर इससे और कीमती वक्तव्य नहीं दिया जा सका। कभी-कभी ऐसा होता है, कोई-कोई वक्तव्य आखिरी हो जाता है। फिर उसमें सुधार संभव नहीं होता। वह पूर्ण होता है। उसमें सुधार का उपाय नहीं होता। उसको सजाया भी नहीं जा सकता।

तुमने कभी देखा? अगर कुरूप स्त्री आभूषण पहन ले, सुंदर वस्त्र पहन ले तो अच्छी लगने लगती है; लेकिन अति सुंदर स्त्री अगर आभूषण पहनने लगे तो भद्दी हो जाती है। सौंदर्य का अर्थ ही यह है कि अब कोई आभूषण सौंदर्य को बढ़ा न सकेंगे, कम कर देंगे। इसलिए जब भी कोई समाज सुंदर होने लगता है तो वहां से आभूषण विदा होने लगते हैं। जितना कुरूप समाज होता है--उतना आभूषण, उतने वस्त्र, उतना रंग-रोगन, उतने झूठ। जब कोई सुंदर होता है तो सौंदर्य काफी होता है। आभूषण भी सौंदर्य को विकृत कर देते हैं।

ये सीधे-सीधे वचन हैं, मगर ये सुंदरतम हैं। ये तुम्हारे हृदय में पहुंच जाएं तो सौभाग्य।

जनक ने कहा: "पहले मैं शारीरिक कर्म का न सहारने वाला हुआ, फिर वाणी के विस्तृत कर्म का न सहारने वाला हुआ और उसके बाद विचार का न सहारने वाला हुआ। इस प्रकार मैं स्थित हूं।"

जनक कह रहे हैं:

कायकृत्यासहः पूर्वं ततो वाग्विस्तरासहः।
अथ चिंतासह स्तस्मादेवमेवाहमास्थितः।।

इस सूत्र का अर्थ है कि देह चलती है--अपने कारण; मन चलता है--अपने कारण; वाणी चलती है--अपने कारण। तुम नाहक उससे अपने को जोड़ लेते हो। जोड़ने के कारण भ्रांति हो जाती है।

मैंने सुना है कि एक सम्राट अपने घोड़े पर बैठ कर यात्रा को जाता था। राह पर लोग झुक-झुक कर प्रणाम करने लगे। घोड़ा बिलकुल अकड़ गया। घोड़ा तो खड़ा हो गया। घोड़े ने तो चलने से इंकार कर दिया। पुराने जमाने की कथा है जब घोड़े बोला करते थे। सम्राट ने कहा: यह तुझे क्या हुआ? पागल हो गया? रुकता क्यों है? ठिठकता क्यों है?

उसने कहा: उतरो नीचे! मुझे अब तक पता ही नहीं था कि मैं कौन हूं! इतने लोग नमस्कार कर रहे हैं!

नमस्कार हो रहा है सम्राट को; घोड़े ने समझा, मुझे हो रहा है!

मैंने सुना है, एक महल में एक छिपकली वास करती थी। महल की छिपकली थी, कोई साधारण छिपकली तो थी नहीं! तो कुछ गांव में अगर छिपकलियों का कोई आयोजन इत्यादि हो, तो जैसा बुलाते हैं राष्ट्रपति को, प्रधानमंत्री को, ऐसा उसे उदघाटन इत्यादि के लिए बुलाते थे। लेकिन वह जाती नहीं थी; अपने सहयोगियों को भेज देती थी--उपराष्ट्रपति को भेज दिया! छिपकलियों ने पूछा कि देवी तुम क्यों नहीं आती हो? उसने कहा: मैं आ जाऊं तो यह महल गिर जाए। छप्पर को सम्हाले कौन?

छिपकली छप्पर को सम्हाले हुए है! हंसो मत! छिपकली को ऐसी भ्रांति हो तो आश्चर्य नहीं; मनुष्य ऐसी भ्रांति में जीता है!

शरीर अपने से चल रहा है, लेकिन तुम एक भ्रांति में पड़ जाते हो कि मैं चला रहा हूं। मन अपने से चल रहा है, लेकिन तुम भ्रांति में पड़ जाते हो कि मैं चला रहा हूं।

यह पहला सूत्र यह कह रहा है कि सबसे पहले तो मैंने यह जाना कि शरीर को मेरे सहारने की कोई आवश्यकता नहीं है; शरीर अपने ही सहारे चल रहा है। तो सबसे पहले मैं शारीरिक कर्म का न सहारने वाला हुआ; मैंने यह भ्रांति छोड़ दी कि मैं चला रहा हूं।

रात तुम सोते हो तब भी तो शरीर चलता रहता है, भोजन पचता रहता है; तुम्हारी जरूरत तो रहती नहीं।

तुमने कभी किसी को कोमा में पड़े देखा हो, महीनों से बेहोश पड़ा है, तो भी खून बहता रहता, हृदय धड़कता रहता, श्वास चलती रहती; तुम्हारी कोई जरूरत तो नहीं है। तुम्हारे बिना भी तो सब मजे से चलता रहता है। सच तो यह है कि चिकित्सक कहते हैं कि तुम्हारे कारण बाधा पड़ती है। इसलिए अगर कोई मरीज सो न सके तो बीमारी ठीक होनी मुश्किल हो जाती है, क्योंकि वह बाधा डालता है। सो जाता है तो बाधा बंद हो जाती है, शरीर अपने को रास्ते पर ले आता है; बीच का उपद्रव हट जाता है, यह हस्तक्षेप हट जाता है।

इसलिए नींद हजारों दवाओं की दवा है। क्योंकि नींद में तुम तो खो गये; शरीर को जो करना है वह स्वतंत्रता से कर लेता है, तुम बीच-बीच में नहीं आते।

जनक कह रहे हैं: शरीर तो अपने से चलता है, अब तक मेरी भ्रांति थी कि मैं चलाता हूं।

जरा इस बात को समझो। अगर यह तुम्हें खयाल आ जाए कि शरीर अपने से चलता है, तो तुम शरीर में रहते हुए इस शरीर से मुक्त हो गए। शरीर ने तुमको नहीं बांधा है; यह भ्रांति तुम्हें बांधे हुए है कि तुम शरीर को चलाते हो। शरीर का कृत्य प्राकृतिक है और वैसा ही कृत्य मन का है, वैसा ही कृत्य शब्द का है।

बुद्ध ने कहा है अपने भिक्षुओं को कि तुम मन के चलते विचारों को ऐसे ही देखो, जैसे कोई राह के किनारे बैठ कर रास्ते को देखता है--लोग आते-जाते, राह चलती रहती है। ऐसे ही तुम अपने मन में चलते विचारों को देखो। इन विचारों को तुम यह मत समझो कि तुम चला रहे हो, या कि तुम इन्हें रोक सकते हो। जिसको यह भ्रांति है कि मैं विचारों को चला रहा हूं, उसको एक न एक दिन दूसरी भ्रांति भी होगी कि मैं चाहूं तो रोक सकता हूं। तुम कोशिश करके देख लो।

तिब्बत में कथा है कि एक युवक धर्म की खोज में था। वह एक गुरु के पास गया। गुरु के बहुत पैर दबाए, सेवा की वर्षों तक--और एक ही बात पूछता था कि कोई महामंत्र दे दो कि सिद्धि हो जाए, शक्ति मिल जाए। आखिर गुरु उससे थक गया। गुरु ने कहा: तो फिर ले! इसमें एक कठिनाई है, वह मुझे कहनी पड़ेगी। उसी के कारण मैं भी सिद्ध नहीं कर पाया। मेरे गुरु ने भी मुझे बामुश्किल दिया था। मैं तो तीस साल सेवा किया, तब दिया था; मैं तुझे तीन साल में दे रहा हूं। तू धन्यभागी! मगर सफल मैं भी नहीं हुआ, क्योंकि इसमें एक बड़ी बेढंगी शर्त है।

उस युवक ने कहा: तुम कहो तो! मैं सब कर लूंगा। सारा जीवन लगा दूंगा।

गुरु ने कहा: यह मंत्र है, छोटा-सा मंत्र है। इस मंत्र को तू दोहराना; बस, पांच बार दोहराना, कोई ज्यादा मेहनत नहीं। लेकिन जितनी देर यह दोहराए, उतनी देर बंदर का स्मरण न आए।

उसने कहा: हद हो गई! कभी बंदर का स्मरण आया ही नहीं जीवन में, अब क्यों आएगा! जल्दी से मंत्र दो!

मंत्र तो तिब्बतियों का बड़ा सीधा-सादा है। दे दिया। मंत्र लेकर वह उतरा सीढ़ी मंदिर की, लेकिन बड़ा घबड़ाया। अभी सीढ़ियां भी नहीं उतर पाया कि बंदर उसके मन में झांकने लगे। इस तरफ, उस तरफ बंदर चेहरा बनाने लगे। वह बहुत घबड़ाया कि यह मामला क्या है? यह मंत्र कैसा? घर पहुंचा नहीं कि बंदरों की भीड़ उसके साथ पहुंची--मन में ही सब! नहा-धो कर बैठा, लेकिन बड़ी मुश्किल! नहा-धो रहा है कि बंदर हैं कि खिलखिला रहे हैं, जीभ बता रहे हैं, मुंह बिचका रहे हैं। उसने सोचा, यह भी अजीब मंत्र है; मगर मालूम होता है शक्तिशाली है, क्योंकि बाधा तो दिखाई पड़ने लगी है। रात भर बैठा, बहुत बार बैठा, फिर-फिर बैठा, उठ-उठ आए--क्योंकि पांच दफे कहना है कुल; एक-आध दफे ऐसा लग जाए योग कि पांच दफे कह ले और बंदर न दिखाई पड़े, मगर यह न हो सका। हर मंत्र के शब्द के बीच बंदर खड़ा।

सुबह थका-मांदा आया, गुरु को कहा: यह मंत्र सम्हालो! न तुमसे सधा, न मुझसे सधेगा, न यह किसी से सध सकता है। क्योंकि यह बंदर इसमें बड़ी बाधा है। अगर यही शर्त थी तो महापुरुष! कही क्यों? कहते भर नहीं। दुनिया का कोई जानवर नहीं याद आया रात भर। साधारणतः मन में वासना उठती है, स्त्रियां दिखाई पड़ती हैं; मगर इस रात स्त्री भी नहीं दिखाई पड़ी--बस, यह बंदर ही बंदर। कहते न, तो शायद मंत्र सध जाता।

गुरु ने कहा: मैं भी क्या करूं? वह शर्त तो बतानी जरूरी है।

तुम मन के साथ प्रयोग करके देखो। जिसे तुम भुलाना चाहोगे, उसकी और याद आ जाएगी। जिसे तुम हटाना चाहोगे, वह और जिद बांध कर खड़ा हो जाएगा। फिर भी तुम्हें खयाल नहीं आता कि मन के चलाने वाले तुम नहीं हो। चलाने की चेष्टा ही भ्रांत है।

"तो पहले मैंने शरीर को देखा और समझा--पाया कि मैं इसका न सहारने वाला हूं।"

पूर्व कायकृत्यासहः...।

पहले मैंने यह जाना कि मेरा सहयोग आवश्यक नहीं है। मैं नाहक सहयोग कर रहा हूं। कोई जरूरत ही नहीं शरीर को मेरे सहयोग की। पहले मैं सहयोग करता हूं; और फिर जब परेशान होता हूं तो असहयोग करता हूं। लेकिन दोनों में भ्रांति एक ही है। मुझसे कुछ लेना-देना नहीं है--न सहयोग, न असहयोग। मैं सिर्फ साक्षी हो जाऊं।

ततः वाग्विस्तरासहः।

और तब जाना कि यह जो वाणी का विस्तार है, शब्द का विस्तार है, ये जो शब्द की तरंगें हैं--इन पर भी मेरा कोई वश नहीं है। मैं इनके भी पार हूं।

अथ चिंतासहः...।

और तब जाना कि चिंतन-मनन, ये भी मेरे नहीं हैं। मैं इनसे भी पार हूं।

तस्मात् एवं अहं आस्थितः।

और तब से मैं अपने में स्थित हो गया हूं।

स्वयं में स्थित होने के लिए कुछ और करना नहीं--इतना ही जानना पर्याप्त है कि कर्ता मैं नहीं हूं; कर्तापन खो जाए।

नदी रुकती नहीं है
लाख चाहे उसे बांधो,
ओढ़ कर शैवाल

वह चलती रहेगी।
धूप की हलकी छुअन भी
तोड़ देने को बहुत है
लहरियों का हिमाच्छादित मौन
सोन की बालू नहीं यह
शुद्ध जल है
तलहटी पर रोकने वाला
इसे है कौन?
हवा मरती नहीं है
लाख चाहे तुम
उसे तोड़ो-मरोड़ो
खुशबुओं के साथ
वह बहती रहेगी।
आंधियों का आचरण
या घना कोहरा जलजला का
काटता कब हरेपन का शीश
खेत बेहड़ या कि आंगन
जहां होगी उगी तुलसी
सिर्फ देगी मुक्ति का आशीष
शिखा मिटती नहीं है
लाख अंधे पंख से
उसको बुझाओ
अंचलों की ओट वह
जलती रहेगी।
नदी रुकती नहीं है
लाख चाहे उसे बांधो
ओढ़ कर शैवाल
वह चलती रहेगी।

जीवन की धारा बही जाती है--तुम्हें न रोकना है, न सहारा देना है। तुमने इसे रोकने की कोशिश की तो तुम उलझे। तुमने इसे सहारा देने की कोशिश की, तो तुम उलझे। तुम तट पर बैठ जाओ, तटस्थ हो जाओ।

संस्कृत में दो शब्द हैं--तटस्थ और कूटस्थ। दोनों शब्द बड़े अदभुत हैं! तटस्थ प्रक्रिया है कूटस्थ होने की। पहले किनारे बैठ जाओ, तट पर बैठ जाओ। बहने दो नदी की धार; तुम इसमें राग-रंग न रखो, पक्ष-विपक्ष न रखो। राग तो छोड़ो ही, विराग भी छोड़ो; क्योंकि तुमसे इसका कुछ लेना-देना नहीं। तुम नहीं थे, तब भी जीवन बहुत था; तब भी फूल खिलते थे, कोयल कुहुकती थी; तब भी संसार में विचार की तरंगें भरी थीं; तब भी सागर की छाती पर लहरें उठतीं, तूफान, आंधियां आते थे। तुम एक दिन नहीं रहोगे, तब भी सब ऐसे ही चलता रहेगा। तुम तट पर बैठ जाओ, तटस्थ हो जाओ।

तटस्थ होना साधन है। अगर तुम तट पर बैठ गए, और नदी की धार को बहने दिया और तुमने कोई भी पक्षपात न रखा; तुमने कोई निर्णय भी न रखा मन में कि यह नदी अच्छी है या बुरी...तुम्हारा लेना-देना क्या? जिसकी हो, वह जाने। यह जीवन कैसा है--शुभ है कि अशुभ, पाप कि पुण्य-- ऐसा तुमने कुछ भी विचार न किया। तुम्हारा लेना-देना क्या? आए तुम अभी, कल तुम चले जाओगे, घड़ी भर का बसेरा है। रात रुक गए हो सराय में, अब सराय अच्छी कि बुरी, तुम्हें क्या प्रयोजन है? सुबह डेरा उठा लोगे, जिसकी हो सराय वह फिक्र

करे। तुम अगर तट पर ऐसे बैठ गए, तटस्थ हो गए तो जल्दी ही एक दूसरी घटना घटेगी, तुम कूटस्थ हो जाओगे।

कूटस्थ का ही अर्थ है: "आस्थितः"! यह शब्द समझना, क्योंकि जनक इसे बार-बार दोहराएंगे।

"मैं अपने में स्थित हो गया हूं! अब मेरे भीतर कोई हलन-चलन नहीं! अब बाहर चलता रहे तूफान, मेरे भीतर कोई तरंग नहीं आती।"

तरंग आती थी तभी तक, जब तक तुम बाहर से संबंध जोड़े बैठे थे--सहयोग या असहयोग, मित्र या शत्रु, राग या विराग--कोई नाता तुमने बना लिया था। सब नाते छोड़ दिए...।

तीन शब्द हैं हमारे पास: राग, विराग, वीतराग। ये सूत्र वीतरागता के हैं। रागी एक तरह का संबंध बनाता है; विरागी भी संबंध बनाता है दूसरे तरह के।

किसी व्यक्ति से तुम्हें प्रेम है तो तुम्हारा एक संबंध होता है। फिर किसी व्यक्ति से तुम्हारी घृणा है तो भी तुम्हारा एक तरह का संबंध होता है। मित्र से ही थोड़े संबंध होता है, शत्रु से भी संबंध होता है। किसी से आकर्षण से बंधे हो, किसी से विकर्षण से बंधे हो--बंधे तो निश्चित ही हो। तुम्हारा मित्र मर जाए, तो भी कुछ खोएगा, तुम्हारा शत्रु मर जाए तो भी कुछ खोएगा। तुम्हारे शत्रु के बिना भी तुम अकेले और अधूरे हो जाओगे।

कहते हैं, महात्मा गांधी के मर जाने के बाद मुहम्मद अली जिन्ना उदास रहे। जिस दिन महात्मा गांधी की मौत हुई, जिन्ना अपने बाहर बगीचे में लान पर बैठा था। और तब तक जिन्ना ने जिद की थी, यद्यपि वे गवर्नर जनरल थे पाकिस्तान के, तब तक जिद की थी कि मेरे पास कोई सुरक्षा का इंतजाम नहीं होना चाहिए। "मुसलमानों का देश, उनके लिए मैं जीया, उनके लिए मैंने सब किया--उनमें से कोई मुझे मारना चाहेगा, यह बात ही फिजूल है।" इसलिए तब तक बहुत आग्रह किए जाने पर भी उन्होंने कोई सुरक्षा की व्यवस्था नहीं की थी। लेकिन जैसे ही उनके सेक्रेटरी ने आ कर खबर दी कि गांधी को गोली मार दी गई, जिन्ना एकदम उठ कर बगीचे से भीतर चला गया। और दूसरी बात जो जिन्ना ने कही अपने सेक्रेटरी को, कि सुरक्षा का इंतजाम कर लो। जब हिंदू गांधी को मार सकते हैं, तो अब कुछ भरोसा नहीं। अब किसी का भरोसा नहीं किया जा सकता। तो मुसलमान जिन्ना को भी मार सकते हैं। उसके बाद जिन्ना के चेहरे पर वह प्रसन्नता कभी नहीं रही जो सदा थी। दुश्मन मर गया। गांधी के मरते ही जिन्ना भी मर गए। कुछ खो गया।

तुम्हारा दुश्मन भी तुम्हारा संबंध है। मित्र से तो खोएगा ही कुछ, शत्रु से भी खो जाता है।

तो एक तो राग का संबंध है संसार से, फिर एक विराग का संबंध है। कोई धन के लिए दीवाना है, कोई धन से डरा हुआ है और भागा हुआ है। किसी के मन में बस चांदी के सिक्के ही तैरते हैं, और कोई इतना डरा है कि अगर रुपया उसे दिखा दो तो वह कंपने लगता है। संन्यासी हैं जो रुपये को नहीं छूते।

मैं एक संन्यासी के पास मेहमान हुआ, वे रुपये को नहीं छूते। मैंने उनसे पूछा कि रुपये को नहीं छूते? वे बोले, मिट्टी है! मैंने कहा, मिट्टी को तो तुम छूते हो। अगर सच में ही मिट्टी है तो रुपये को छूते क्यों नहीं? मिट्टी के साथ तो तुम्हें कोई एतराज मैंने देखा नहीं!

वे जरा बेचैन हुए। उनके शिष्य भी बैठे थे। वे जरा बड़ी परेशानी में पड़े कि अब क्या कहें? क्योंकि मिट्टी को छुए बिना तो चलेगा नहीं। मैंने कहा, बोलो! अगर सच में मिट्टी है...लेकिन मुझे शक है कि अभी रुपया मिट्टी हुआ नहीं। अभी रुपये में राग की जगह विराग आ गया। संबंध पहले मित्र का था, अब शत्रु का हो गया। तो तुम शीर्षासन करने लगे, उल्टे खड़े हो गए--लेकिन तुम आदमी वही के वही हो।

एक और संन्यासी के पास एक बार मैं मेहमान हुआ। वे एक बड़े मंच पर बैठे थे। उनके पास ही एक छोटा मंच था, उस पर एक दूसरे संन्यासी बैठे थे। वे मुझसे कहने लगे: क्या आप जानते हैं इस छोटे मंच पर कौन बैठा है?

मैंने कहा, मैं तो नहीं जानता। मैं पहली दफे यहां आपके निमंत्रण पर आया हूं।

कहने लगे कि इलाहाबाद हाईकोर्ट के चीफ जस्टिस थे। मगर बड़े विनम्र आदमी हैं! देखो मेरे साथ तख्त पर भी नहीं बैठते। छोटा तख्त बनवाया है।

मैंने उनसे कहा कि आपको यह याद रखने की आवश्यकता क्या है कि हाईकोर्ट के चीफ जस्टिस थे? और जहां तक मैं देख रहा हूं इन सज्जन को, ये प्रतीक्षा कर रहे हैं कि कब आप लुढ़को और ये चढ़ बैठें। माना कि आपसे इन्होंने छोटा तख्त बनाया लेकिन इनसे भी नीचे दूसरे बैठे हैं; उनसे तो इन्होंने थोड़ा ऊंचा बनाया ही। और जिस ढंग से ये बैठे हैं, उससे साफ जाहिर हो रहा है कि रास्ता देख रहे हैं। सीढ़ी बना ली है इन्होंने। आधे में आ गए हैं, बाकी सब पीछे हैं आपके शिष्य। आपके लुढ़कते ही ये ऊपर बैठेंगे। फिर आपको भी यह खयाल है कि ये चीफ जस्टिस थे? चीफ जस्टिस का क्या मूल्य है? राग तो छूट गया, लेकिन ऐसे ही नहीं छूट जाता; सूक्ष्म, धूमिल रेखाएं छोड़ जाता है। कहते हो विनम्र हैं, लेकिन अगर विनम्र ही हैं तो यह छोटा तख्त भी क्यों? और अगर तख्त से ही विनम्रता का पता चलता है, तो इनसे कहो कि गड्ढा खोद लें, उसमें बैठें।

यह विनम्रता अहंकार का ही एक रूप है। यह थोथी है और झूठी है; और कहती कुछ है, है कुछ और। रागी, विरागी हो जाता है; विपरीत भाषा बोलने लगता है।

अगर तुम मंदिरों में जाओ, साधु-संन्यासियों के सत्संग में जाओ--संन्यासी जिनको मैं "सत्यानाशी" कहता हूं--उनकी बात सुनो, तो तुम एक बात निश्चित पाओगे: उन्हीं-उन्हीं चीजों की वे निंदा कर रहे हैं जिनमें तुम्हें रस है। अगर तुम्हें धन में रस है तो वे धन की निंदा कर रहे हैं। तुम्हें अगर कामवासना में रस है तो वे कामवासना की निंदा कर रहे हैं। तुम्हें अगर स्त्री में रस है तो वे स्त्री का जैसा वीभत्स चित्र खींच सकें वैसा खींचने की चेष्टा कर रहे हैं। लेकिन यह सारी चेष्टा एक ही बात बताती है: रस विपरीत तो हुआ, बदला नहीं। राग विराग तो बना, गया नहीं।

वीतराग का अर्थ है: जहां राग और विराग दोनों गए। वीतराग का अर्थ है: जहां तुमने इतना ही जाना कि न मेरी किसी से शत्रुता है, और न मेरी किसी से मित्रता है--मैं अकेला हूं, असंग, अछूता, कुंआरा!

तस्मात् एवं अहं आस्थितः।

"और इस कारण मैं स्वयं में हूं और इस प्रकार मैं स्थित हुआ हूं।"

यह जनक और अष्टावक्र के बीच जो चर्चा है, यह अदभुत संवाद है। अष्टावक्र ने कुछ बहुमूल्य बातें कहीं। जनक उन्हीं बातों की प्रतिध्वनि करते हैं। जनक कहते हैं कि ठीक कहा, बिलकुल ठीक कहा; ऐसा ही मैं भी अनुभव कर रहा हूं; मैं अपने अनुभव की अभिव्यक्ति देता हूं। इसमें कुछ प्रश्न-उत्तर नहीं है। एक ही बात को गुरु और शिष्य दोनों कह रहे हैं। एक ही बात को अपने-अपने ढंग से दोनों ने गुनगुनाया है। दोनों के बीच एक गहरा संवाद है। यह संवाद है, यह विवाद नहीं है।

कृष्ण और अर्जुन के बीच विवाद है। अर्जुन को संदेह है। वह नई-नई शंकाएं उठाता है। चाहे प्रगट रूप से कहता भी न हो कि तुम गलत कह रहे हो, लेकिन अप्रगट रूप से कहे चला जाता है कि अभी मेरा संशय नहीं मिटा। वह एक ही बात है। वह कहने का सज्जनोचित ढंग है कि अभी मेरा संशय नहीं मिटा, अभी मेरी शंका जिंदा है; तुमने जो कहा वह जंचा नहीं।

तो अगर कोई उपद्रवी हो तो सीधा कहता है, तुम गलत। अगर कोई सज्जन सुशील हो, कुलीन हो, तो कहता है अभी मुझे जंचा नहीं। बस, इतना ही फर्क है, लेकिन विवाद तो है।

यह गीता जनक और अष्टावक्र के बीच जरा भी विवाद नहीं है। जैसे दो दर्पण एक-दूसरे के सामने रखे हों और एक-दूसरे के दर्पण में एक-दूसरे दर्पण की छवि बन रही है।

एक महिला एक दूकान पर गई। उसके दो जुड़वां बेटे थे; दोनों के लिए कपड़े खरीदती थी। क्रिसमस का त्यौहार करीब था। दोनों ने कपड़े पहने। एक-से कपड़े दोनों के लिए खरीदे। दोनों बड़े सुंदर लग रहे थे। दूकानदार ने कहा कि तुम दोनों जा कर, पीछे दर्पण लगा है, वहां खड़े हो कर देख लो। उस महिला ने कहा,

जरूरत नहीं। ये एक-दूसरे को देख लेते हैं और समझ लेते हैं कि बात हो गई। दर्पण की क्या जरूरत? दोनों जुड़वां हैं; एक जैसे लगते हैं; एक जैसे कपड़े पहनते हैं। ये दर्पण कभी देखते ही नहीं। ये एक-दूसरे को देख लेते हैं, बात हो जाती है।

कुछ ऐसा जनक और अष्टावक्र के बीच घट रहा है--दर्पण दर्पण के सामने खड़ा है। जैसे दो जुड़वां, एक ही अंडे से पैदा हुए बच्चे हैं। दोनों का स्रोत समझ का साक्षी है। दोनों की समझ बिलकुल एक है। भाषा चाहे थोड़ी अलग-अलग हो, लेकिन दोनों का बोध बिलकुल एक है। दोनों अलग- अलग छंद में, अलग-अलग राग में एक ही गीत को गुनगुना रहे हैं। इसलिए मैंने इसे महागीता कहा है। इसमें विवाद जरा भी नहीं है।

कृष्ण को तो अर्जुन को समझाना पड़ा, बार-बार समझाना पड़ा; खींच-खींच कर, बामुश्किल राजी कर पाए। यहां कोई प्रयास नहीं है। अष्टावक्र को कुछ समझाना नहीं पड़ रहा है। अष्टावक्र कहते हैं और उधर जनक का सिर हिलने लगता है सहमति में। दोनों के बीच बड़ा गहरा अंतरंग संबंध है, बड़ी गहरी मैत्री है। इधर गुरु बोला नहीं कि शिष्य समझ गया।

"शब्द आदि एंद्रिक विषयों के प्रति राग के अभाव से और आत्मा की अदृश्यता से जिसका मन विक्षेपों से मुक्त होकर एकाग्र हो गया--ऐसा ही मैं स्थित हूं।"

प्रीत्यभावेन शब्दादेरदृश्यत्वेन चात्मनः।
विक्षेपैकाग्रहृदय एवमेवाहमास्थितः।।
शब्दादेः प्रीत्यभावेन...।

"शब्द आदि के प्रति जो प्रेम है, भाव है, उससे मैं मुक्त हो गया हूं।"

शब्द में बड़ा रस है। शब्द का अपना संगीत है। शब्द का अपना सौंदर्य है। शब्द के सौंदर्य से ही तो काव्य का जन्म होता है। शब्द में जो बहता हुआ रस है, उसको ही एक शृंखला में बांध लेने का नाम ही तो कविता है। शब्द को अगर तुम गुनगुनाओ--तो मीठे शब्द हैं, कड़वे शब्द हैं; सुंदर शब्द हैं, असुंदर शब्द हैं। कोई तुम्हें गाली दे जाता है, वह भी उसी वर्णमाला से बने अक्षरों का उपयोग कर रहा है। कोई तुमसे कह जाता है, मुझे तुमसे बड़ा प्रेम है; कोई धन्यवाद दे जाता है। इन सभी में एक ही वर्णमाला है--कोई गाली दे कि कोई तुम्हारी प्रशंसा करे। लेकिन कुछ शब्द हृदय पर अमृत की वर्षा कर देते हैं; कुछ शब्द कांटे चुभा जाते हैं; कुछ घाव बना जाते हैं।

शब्द की बड़ी पकड़ है, बड़ी जकड़ है आदमी के मन पर। हम शब्द से ही जीते हैं।

तुम अगर गौर करो, किसी ने कहा, "मुझे तुमसे बड़ा प्रेम है"--तुम कैसे प्रफुल्लित हो जाते हो! और किसी ने हिकारत से कुछ बात कही, अपमान किया--तो तुम कैसे दुखी हो जाते हो!

शब्द सिर्फ तरंग है; इतना महत्वपूर्ण होना नहीं चाहिए, लेकिन बड़ा महत्वपूर्ण है। किसी ने गाली दी हो बीस साल पहले, लेकिन भूलती नहीं; चोट कर गई है, बैठ गई है भीतर; बदला लेने के लिए अभी भी आतुर हो। और किसी ने पचास साल पहले तुम्हारी बुद्धिमत्ता की प्रशंसा की हो, अब भी तुम सर्टिफिकेट रखे बैठे हो। जिसने तुम्हें बुद्धिमान कहा हो, वह बुद्धिमान खुद भी चाहे न रहा हो, मगर उसकी कौन चिंता करता है! हम शब्द बटोरते हैं, हम शब्द से जीते हैं!

जनक ने कहा: शब्दादेः प्रीत्यभावेन--शब्द के प्रति वह जो मेरा राग है, वह मेरा गया। क्योंकि मैंने देख लिया: मैं शब्दातीत हूं! मैं शब्द के पीछे खड़ा हूं। शब्द तो ऐसे ही हैं जैसे हवा के झकोरे पानी में लहरें उठा जाते हैं। शब्द तो तरंग मात्र हैं, न अच्छे हैं न बुरे हैं।

इसलिए अगर कोई दूसरा व्यक्ति किसी दूसरी भाषा में तुम्हें कुछ कहे, तो कुछ परिणाम नहीं होता--चाहे वह गालियां ही दे रहा हो।

खलील जिब्रान की एक कहानी है। एक आदमी परदेस गया। वह एक बड़े होटल के सामने खड़ा है। लोग भीतर आ रहे हैं, जा रहे हैं, बैरे लोगों का स्वागत कर रहे हैं--उसने समझा कि कोई राज-भोज है। वह भी चला गया। उसका भी स्वागत किया गया। उसको भी बिठाया गया। थाली लगाई गई, उसने भोजन किया।

उसने कहा, अदभुत नगर है! इतना अतिथि-सत्कार! फिर बैरा तश्तरी में रख कर उसका बिल ले आया। लेकिन वह समझा कि बड़े अदभुत लोग हैं, लिख कर धन्यवाद भी दे रहे हैं कि आपने बड़ी कृपा की कि आप आए! वह झुक-झुक कर नमस्कार करने लगा। वह बोला कि बड़ा खुश हूं। मगर वह बैरे को कुछ समझ में न आया कि मामला क्या है, यह झुक किसलिए रहा है, नमस्कार किसलिए कर रहा है! कुछ समझा नहीं, तो मैनेजर को बुला लाया।

उस आदमी ने समझा कि हद हो गई, अब खुद मालिक आ रहा है महल का! वह झुक-झुक कर नमस्कार करने लगा और बड़ी प्रशंसा करने लगा, लेकिन एक-दूसरे की बात किसी को समझ में न आए। मैनेजर ने समझा, या तो पागल है या हद दर्जे का धूर्त है। उसको पुलिस के हवाले कर दिया। वह समझा कि अब शायद सम्राट के पास ले जा रहे हैं। वह ले जाया गया अदालत में, मजिस्ट्रेट बैठा था, वह समझा कि सम्राट...।

मजिस्ट्रेट ने सारी बात समझने की कोशिश की, लेकिन समझने का वहां कोई उपाय न था। वहां भाषा एक-दूसरे की कोई जानता न था। आखिर उसने दंड दिया कि कुछ भी हो, इसको गधे पर बिठा कर, तख्ती लगा कर इसके गले में कि यह धूर्त है, दगाबाज है और दूसरे लोग सावधान रहें ताकि यह गांव में किसी और को धोखा न दे सके, इसकी फेरी लगवाई जाए। जब उसको गधे पर बिठाया जाने लगा, तब तो उसकी आंख से आंसू बहने लगे आनंद के। उसने कहा, हद हो गई, अब जुलूस निकाला जा रहा है! मैं सीधा-सादा आदमी, मैं कोई नेता वगैरह नहीं हूं, मगर मेरा जुलूस निकाला जा रहा है। मैं तो बिलकुल गरीब आदमी हूं, यह तो नेताओं को शोभा देता है, यह आप क्या कर रहे हैं!

मगर कोई उसकी सुने नहीं। जब वह गधे पर बैठ कर गांव में घूमने लगा तो स्वभावतः भीड़ भी पीछे चली। बच्चे चले शोरगुल मचाते। उसकी प्रसन्नता का ठिकाना नहीं है। जीवन में ऐसा कभी अवसर मिला नहीं था। एक ही बात मन में चुभने लगी कि आज कोई अपने देश का होता और देख लेता। जा कर कहूंगा तो कोई मानेगा भी नहीं।

वह बड़ी गौर से देख रहा है भीड़ को। जब बीच चौरस्ते पर उसका जुलूस पहुंचा--शोभा-यात्रा --और काफी भीड़ इकट्ठी हो गई, तो उसे भीड़ में एक आदमी दिखाई पड़ा। वह आदमी उसके देश का था। वह चिल्लाया कि अरे, मेरे भाई, देखो क्या हो रहा है! लेकिन वह दूसरा आदमी तो इस देश की भाषा समझने लगा था, यहां कई साल रह चुका था। ऐसा सिर झुका कर वह भीड़ में से निकल गया कि कोई दूसरा यह न देख ले कि हमारा इनसे संबंध है। लेकिन गधे पर बैठे हुए नेता ने समझा कि हद हो गई,र् ईष्या की भी एक सीमा होती है!

भाषा समझ में न आए तो फिर मनगढ़ंत है सब हिसाब। जब तक समझ में आता है, तब तक अच्छा शब्द, बुरा शब्द; जब समझ में नहीं आता तो सभी शब्द बराबर हैं, कोई अर्थ नहीं है।

अर्थ नहीं है शब्दों में--अर्थ माना हुआ है। शब्द तो केवल ध्वनियां हैं--अर्थहीन। जिस दिन यह समझ में आ जाता है कि शब्द तो केवल ध्वनियां हैं अर्थहीन, उस दिन जीवन में एक बड़ी अभूतपूर्व घटना घटती है। तुम शब्द से मुक्त होते हो, तो तुम समाज से भी मुक्त हो जाते हो। क्योंकि समाज यानी शब्द। बिना शब्द के कोई समाज नहीं है।

इसलिए तो जानवरों का कोई समाज नहीं होता; आदमियों का समाज होता है। समाज के लिए भाषा चाहिए। दो को जोड़ने के लिए भाषा चाहिए। अगर दो के बीच भाषा न हो तो जोड़ नहीं पैदा होता। तो भाषा समाज को बनाती है। भाषा आधार है।

अब जिस व्यक्ति को सच में ही संन्यासी होना हो, उसे समाज से भागने की कोई जरूरत नहीं; सिर्फ भाषा का जो राग-विराग है, उससे मुक्त हो जाना काफी है। बस इतना जान ले कि शब्द तो मात्र ध्वनियां हैं--अर्थहीन, मूल्यहीन, न अच्छे हैं, न बुरे हैं। ऐसा जानते ही, तुम अचानक पाओगे तुम मुक्त हो ग़ए समाज से। अब तुम्हें कोई न तो गाली दे कर दुखी कर सकता है, न खुशामद करके तुम्हें प्रसन्न कर सकता है। जिस दिन तुम लोगों के दुख देने और सुख देने की क्षमता के पार हो गए, उस दिन तुम पार हो गए।

"शब्द आदि एंद्रिक विषयों के प्रति राग के अभाव से और आत्मा की अदृश्यता से जिसका मन विक्षेपों से मुक्त हो कर एकाग्र हो गया--ऐसा ही मैं स्थित हूं।"

आत्मा अदृश्य है। और सब दृश्य है; आत्मा अदृश्य है--होनी ही चाहिए। अगर आत्मा भी दृश्य हो तो किसके लिए दृश्य होगी? आत्मा द्रष्टा है। तुम सब कुछ देखते हो आत्मा से--आत्मा को नहीं देखते। इसलिए तो लोग आत्मा को विस्मरण कर बैठे हैं। आंख से सब दिखाई पड़ता है, बस आंख दिखाई नहीं पड़ती। हाथ से तुम सब पकड़ सकते हो, लेकिन इसी हाथ को इसी हाथ से नहीं पकड़ सकते।

आत्मा तो द्रष्टा है। चाहे बाहर लगे इन हरे वृक्षों को देखो, चाहे बैठे जनसमूह को देखो, चाहे अपनी देह को देखो, चाहे आंख बंद करके अपने विचारों को देखो, और गहरे उतरो, भावों की सूक्ष्म तरंगों को देखो--लेकिन तुम तो सदा देखने वाले हो। तुम कभी भी दृश्य नहीं बनते।

आत्मा अदृश्य है। आत्मा कभी विषय नहीं बनती--अविषय है। हटती जाती पीछे, हटती जाती पीछे। तुम जो भी देखते जाओ, समझ लेना कि वही तुम नहीं हो। तुम तो सिर्फ देखने वाले हो।

इसलिए आत्म-दर्शन शब्द झूठा है। आत्मा का कभी दर्शन नहीं होता, किसको होगा? उपयोग के लिए ठीक है, कामचलाऊ है, लेकिन बहुत अर्थपूर्ण नहीं है। दर्शन तो आत्मा का कभी नहीं होता।

आत्मा की अनुभूति होती है। जब सभी दृश्य समाप्त हो जाते हैं और देखने को कुछ भी नहीं बचता, सिर्फ देखने वाला अकेला बचता है, तब ऐसा नहीं होता है कि तुम देखते हो आत्मा को, क्योंकि देखने में फिर खंड हो जाएगा। फिर आधी आत्मा हो जाएगी, जो देख रही; और जो दिखाई पड़ रही, वह अनात्मा हो जाएगी। अनात्मा का अर्थ ही यह है कि जिसे हम देख लेते हैं, वह पराया, वह विषय हो गया। और जिसे हम कभी नहीं देख पाते, जिसे दृश्य बनाने का कोई उपाय नहीं--वही आत्मा है।

यह सूत्र ध्यान की पराकाष्ठा का सूत्र है। आत्मा अदृश्य है। तो फिर आत्मा को देखने के जितने उपाय हैं, सब व्यर्थ हैं। जप करो, तप करो--सब व्यर्थ है। यह बात जिसकी समझ में आ गई कि आत्मा को तो देखा नहीं जा सकता क्योंकि आत्मा तो सदा देखनेवाली है, उसके लिए फिर अब कोई साधन न रहे।

आत्मनः अदृश्यत्वेन...।

आत्मा अदृश्य है, ऐसी प्रतीति और अनुभूति के हो जाने से--

विक्षेपैकाग्रहृदय...।

--हृदय से सारे विक्षेप विसर्जित हो गए।

अब कोई तनाव नहीं है। अब कोई खोज नहीं है। आत्मा की खोज करने की भी खोज नहीं है। अब इतनी भी वासना नहीं बची कि आत्मा को जानें, क्योंकि आत्मा को जाना नहीं जा सकता। आत्मा तो जानने का स्रोत है।

एवं अहं आस्थितः।

--और इसलिए मैं अपने में स्थित हो गया हूं, क्योंकि अब करने को कुछ बचा ही नहीं।

संसार अपने से चल रहा है। मन की धारा अपने से बह रही है, वहां कुछ करने को नहीं है। शायद कोई कहे कि "चलो, संसार अपने से बह रहा है, मन की धारा अपने से बह रही, कुछ करने को नहीं, परमात्मा इनका

कर्ता है--लेकिन तुम अपने को तो खोजो!" तो उस खोज से फिर नया तनाव पैदा होगा, फिर नई वासना, नई इच्छा! फिर नया संसार।

जनक कहते हैं, वह भी अब सवाल नहीं है, खोजना किसको है? मैं तो खोजने वाला हूं, तो खोजना किसको है? मैं शुद्ध-बुद्ध, चिन्मात्र--ऐसा जान कर स्थित हो गया हूं। ऐसा जानने में ही स्थिति आ गई है। ऐसा जानने के कारण ही सब अथिरता चली गई, थिरता बन गई है।

अंधेरों पली है यह धरती कि जिसमें
दिवस पर भी छाई हुई यामिनी है
मेरा शरीर धरती निवासी है तो क्या?
मेरी आत्मा तो गगन-गामिनी है!

शरीर होगा धरती पर, आत्मा तो गगन-गामिनी है। आत्मा तो गगन है, आत्मा तो आकाश जैसी है--असीम!

जनक कहते हैं: मैं इस बोध में ही स्थित हो गया हूं।

चाहे सारा जीवन गुजरे जहरीलों के संग
नेकों पर तो चढ़ न सकेगा सोहबते-बद का रंग
जहर सरायत हो न सका महफूज रहा यह पेड़
गो चंदन के गिर्द हमेशा लिपटे रहे भुजंग।

चंदन के वृक्ष पर सर्प लिपटे हैं, तो भी चंदन विषाक्त नहीं हो गया है।

गो चंदन के गिर्द हमेशा लिपटे रहे भुजंग।

कोई फर्क नहीं पड़ता। आत्मा अदृश्य है; शरीर दृश्य है, मन भी दृश्य है। दृश्य अदृश्य को छू भी नहीं सकता। लिपटे रहे भुजंग! आत्मा इनसे कलुषित नहीं होती है। आत्मा कलुषित हो ही नहीं सकती है। आत्मा का होना ही शुद्ध-बुद्धता है। लाख तुमने पाप किए हों, तुम्हारी भ्रांति इसमें है कि तुमने किए। और पाप के कारण तुम पापी नहीं हो गए हो। कितने ही पाप किए हों, तुम पापी हो नहीं सकते, क्योंकि पापी होने की संभावना ही नहीं है। तुम्हारा अंतस्तम, तुम्हारा आंतरिक स्तल सदा शुद्ध है।

जैसे कि दर्पण के सामने कोई हत्यारे को ले आए, तो दर्पण हत्यारा नहीं हो जाता। दर्पण के सामने ही हत्या की जाए, तो भी दर्पण हत्यारा नहीं हो जाता। दर्पण के सामने ही खून गिरे, तो भी दर्पण पर हत्या का जुर्म नहीं है। जो भी हुआ है, शरीर और मन में हुआ है। इन दोनों के पार तुम्हारा होना अतीत है, अतिक्रमण करता है। न वहां कोई तरंग कभी पहुंची है न पहुंच सकती है।

"ऐसा जान कर मैं स्थित हूं!"

हम तो जो दृश्य है, उससे उलझ गए हैं और द्रष्टा को भूल गए हैं।

मुल्ला नसरुद्दीन एक रात जूते खरीदने बाजार गया। एक साहब जूता खरीद रहे थे, वह भी उनके पास ही बैठ गया। अनेक जूते लाए गए। वे साहब जूता खरीद कर चले गए; दूसरे साहब आए, वे भी जूता खरीद कर चले गए; तीसरे आए...। लेकिन मुल्ला ने पचासों जोड़ियां देखीं लेकिन कोई जोड़ी उसके पैर आई नहीं। दूकानदार भी थक गया और दूकान बंद होने का वक्त भी आ गया। लेकिन कोई जूता फिट ही नहीं बैठ रहा था। इतने में बिजली चली गई। पूना है, जानते ही हैं आप, बिजली चली जाती है! इतने में बिजली चली गई। और तभी मुल्ला बड़े जोर से चिल्लाया: अरे आ गया, आ गया, फिट आ गया! दूकानदार भी बड़ा खुश हुआ कि चलो, आशा नहीं थी कि यह आदमी कुछ खरीदेगा, कि खरीद पाएगा। लेकिन जब रोशनी वापिस आई तो देखा कि मुल्ला पैर एक जूते के डब्बे में रखे बैठा है।

जब रोशनी आएगी, तब तुम पाओगे कि कहां तुम पैर रखे बैठे हो! शरीर में अदृश्य दृश्य के साथ बंधा बैठा है। मन में निस्तरंग तरंगों के साथ बंधा बैठा है। जब रोशनी आएगी, तब जागोगे और जानोगे।

रोशनी कैसे आएगी? ये सूत्र रोशनी के लिए ही हैं।

"अध्यास आदि के कारण विक्षेप होने पर समाधि का व्यवहार होता है। ऐसे नियम को देख कर समाधि-रहित मैं स्थित हूं।"

इसलिए मैंने कहा, ये बड़े क्रांतिकारी सूत्र हैं।

जनक कहते हैं: "समाधि-रहित मैं स्थित हूं!"

जनक यह कह रहे हैं कि जैसे बीमारी होती है तो औषधि की जरूरत होती है। चित्त में विक्षेप है तो ध्यान की जरूरत है।

अंग्रेजी में जो शब्द है ध्यान के लिए, मेडीटेशन, वह उसी धातु से आता है, जिससे अंग्रेजी का शब्द है मेडीसन। दोनों का मतलब औषधि होता है। मेडीसन शरीर के लिए औषधि है; और मेडीटेशन, आत्मा के लिए।

लेकिन जनक कहते हैं: आत्मा तो कभी रुग्ण हुई नहीं, तो वहां तो औषधि की कोई जरूरत नहीं है। मन तक औषधि काम कर सकती है। लेकिन तुम अगर समझो कि मैं मन के साथ एक हूं तो मन के साथ एकता तोड़ने के लिए औषधि की जरूरत है।

अगर तुम जाग कर इतना समझ लो कि मैं मन के साथ अलग हूं ही, कभी जुड़ा ही नहीं--तो बात खतम हो गई, फिर औषधि की कोई जरूरत न रही।

आत्मा को ध्यान करने के कारण भी बंधन शेष रहता है, क्योंकि क्रिया जारी रहती है। तुम कहते हो, हम ध्यान कर रहे हैं--तो कुछ करना जारी है। ध्यान तो अवस्था है न करने की। तुम कहते हो, हम समाधिस्थ हो गए--तो जनक कहेंगे कि क्या कभी ऐसा भी था कि तुम समाधिस्थ नहीं थे? समाधि तो स्वभाव है। तो जो समाधि तुम बाहर से लगा लेते हो, किसी तरह आयोजन करके जुटा लेते हो, वह मन में ही रहेगी, मन के पार न जाएगी।

तो बहुत बार ऐसा होता है कि मन शांत होता है, हवाएं रुक जाती हैं और पानी पर लहरें नहीं होतीं--तब तुम्हें लगता है समाधि हो गई, बड़ा आनंद आ रहा है! मगर फिर लहरें आएंगी, फिर हवा आएगी--हवा पर तुम्हारा बस क्या है? फिर तरंगें उठेंगी, फिर सब शांति खो जाएगी।

जनक कहते हैं: समाधि तो तभी है जब समाधि के भी तुम पार चले जाओ। फिर तुम्हें कोई भी चीज अस्तव्यस्त न कर पाएगी।

समाध्यासादिविक्षिप्तौ व्यवहारः समाधये।

--समाधि तो व्यवहार है। अगर मन विक्षिप्त है तो समाधि की जरूरत है।

एवं विलोक्य नियमेवमेवाहमास्थितः।

--इस नियम को जान कर मैं तो अपने में स्थित हो गया, समाधि के पार स्थित हो गया।

ये सूत्र ज्ञान के चरम सूत्र हैं, इनमें क्रिया की कोई भी जगह नहीं है। इनमें योग का कोई भी उपाय नहीं। कुछ करना नहीं है--यह सूत्र है आधारभूत। सिर्फ, जो तुम हो, उसे जाग कर देख लेना है; कुछ करना नहीं है।

"अध्यास आदि के कारण विक्षेप होने पर समाधि का व्यवहार होता है। ऐसे नियम को देख कर समाधि-रहित मैं स्थित हो गया हूं!"

समाधि-रहित!

"हे प्रभु, हेय और उपादेय के वियोग से, वैसे ही हर्ष और विषाद के अभाव से, अब मैं जैसा हूं, वैसा ही स्थित हूं।"

ये शब्द सुनना। ये शब्द गुनना। ये शब्द खूब भीतर तुम्हारे पड़ जाएं बीज की तरह।

"अब मैं जैसा हूं, वैसा ही स्थित हूं!"

मेरी भी सारी शिक्षा यही है कि तुम जैसे हो वैसे ही परमात्मा को स्वीकार हो। तुम नाहक दौड़-धूप मत करो। तुम यह मत कहो कि पहले हम पुण्यात्मा और महात्मा बनेंगे, तब फिर परमात्मा हमें स्वीकार करेगा। तुम जैसे हो वैसे ही ठहर जाओ! तुम स्वीकृत हो।

तुम्हारा मन आपाधापी का आदी हो गया है। पहले धन के पीछे दौड़ता है; फिर धन से ऊब गए तो ध्यान के पीछे दौड़ता है--लेकिन दौड़ता है जरूर। और जब तक तुम दौड़ते, तब तक तुम उपलब्ध न हो सकोगे। आस्थित हो जाओ! रुक जाओ!

ऐसा कहो: इस संसार में बिना दौड़े कुछ भी नहीं मिलता। यहां तो दौड़ोगे तो कुछ मिलेगा। तो संसार का यह सूत्र हुआ कि यहां दौड़ने से मिलता है। और परमात्मा के जगत में अगर दौड़े तो खो दोगे। वहां न दौड़ने से मिलता है। तो स्वाभाविक, जगत और परमात्मा का गणित बिलकुल भिन्न-भिन्न है। यहां न दौड़े तो गंवाओगे, यहां तो दौड़े तो ही कमाओगे। वहां अगर दौड़े तो गंवाया। वहां तो अगर ठहर गए, बैठ गए, रुक गए, आस्थितः, तटस्थ, कूटस्थ हो गए--मिल गया! दौड़ने के कारण ही खो रहे हो। दौड़ने के कारण ही, दौड़ने के ज्वर के कारण ही तुम्हें उसका पता नहीं चल पाता जो तुम्हारे भीतर है।

हेयोपादेयविरहादेवं हर्षविषाद्योः।
अभावादद्य हे ब्रह्मान्नेवमेवाहमास्थितः।।

हे ब्रह्मन्! जनक अपने गुरु को कहते हैं: हे ब्रह्मन्! हे भगवान!

हेयोपादेयविरहात्...।

अब तो क्या ठीक, क्या गलत--दोनों ही गए! क्या करना, क्या न करना--दोनों ही गए, क्योंकि कर्ता गया। क्या शुभ, क्या अशुभ--ऐसी चिंता अब न रही, क्योंकि करने को ही अब कुछ नहीं रहा। मैं तो अकर्ता हूं!

हर्षविषाद्योः अभावत्...।

--और ऐसा होने के कारण हर्ष और विषाद का अभाव हो गया है।

हे ब्रह्मन् अद्य अहं एवं एव आस्थितः।

--इसलिए अब तो मैं जैसा हूं, वैसा का वैसा ही स्थित हो गया हूं।

मैं कुछ नया नहीं हो गया। मैं कुछ महात्मा नहीं हो गया। मैंने कुछ पा नहीं लिया। अब तो मैं जैसा हूं, वैसा ही स्थित हो गया हूं। और स्वभाव का अर्थ इतना ही होता है कि जैसे हो, वैसे ही स्थित हो जाओ।

यह अपूर्व उपदेश है। इससे अधिक ऊंचाई कभी किसी उपदेश ने नहीं ली। यह आखिरी देशना है। इससे श्रेष्ठ कोई देशना हो नहीं सकती, क्योंकि यह परम स्वीकार की बात है। तुम जैसे हो वैसे ही, इसी क्षण! इसे थोड़ा जाग कर अनुभव करो।

इसी क्षण! अगर तुम शांत हो, मुझे सुनते समय, अगर तुम अपने में स्थित बैठे हो, कोई भाग-दौड़ नहीं, कोई हलन-चलन नहीं--तो क्या पाने को है? क्या इसी क्षण तुम्हें स्वाद नहीं मिलता इस बात का कि पाने को क्या है? पा लिया, पाए ही हुए हैं!

जब बुद्ध को ज्ञान हुआ, किसी ने पूछा कि क्या मिला? तो बुद्ध ने कहा, मिला कुछ भी नहीं; जो पाया ही हुआ था, उसका पता चला। अपने ही घर में संपदा थी; न मालूम कहां-कहां खोजते-फिरते थे!

यहूदियों की बड़ी मीठी कथा है कि एक यहूदी धर्मगुरु ने सपना देखा कि राजधानी में, पुल के बाएं किनारे, राजमहल के सामने बड़ा धन गड़ा है। एक दिन देखा, तो उसने सोचा सपने तो सपने हैं; लेकिन दूसरे दिन फिर देखा। और इतना स्पष्ट देखा, बराबर जगह भी दिखाई पड़ी कि एक पुलिस वाला वहां खड़े हो कर पहरा देता है पुल के ऊपर। ठीक उसके नीचे, जहां पुलिस वाला खड़ा है। मगर दूसरे दिन थोड़ा मन में गुदगुदी तो आई कि धन उखाड़ ले जा कर; लेकिन सोचा कि सपनों से कहीं ऐसे धन मिले! फिर लेकिन तीसरे दिन सपना आया और आवाज आई, कि क्या पड़ा-पड़ा कर रहा है! जा खोज ले, अब यह मौका फिर न मिलेगा! पीढ़ी-दर-पीढ़ी के लिए तेरी रोग-दीनता सब दूर हो जाएगी।

तो बेचारा यहूदी गया। पहुंचा चल कर कई दिनों के बाद राजधानी। भरोसा तो नहीं आता था, कई दफे संदेह होने लगता था मन में कि सपने के पीछे जा रहा हूं, मूरख हूं! कहां का पुल, कहां का राजमहल--हो या न हो! पर अब आधा आ गया, तो चलो देख ही आएं। और राजधानी भी नहीं देखी, तो राजधानी भी देख लेंगे। जा कर तो चकित हो गया, पुल है--वही पुल! महल है सामने-- वही महल जो सपने में देखा, रत्ती-रत्ती वही है और पुलिस वाला खड़ा है और शक्ल भी पहचानी। वह तीन दिन जो सपने में देखा, वही आदमी खड़ा है। बड़ा हैरान, लेकिन अब खोदे कैसे! वहां पहरा लगा रहता है चौबीस घंटा।

मगर वह घूमने लगा वहीं-वहीं। पुल के आसपास चक्कर लगाए, इधर जाए, उधर जाए।

पुलिस वाला भी देख कर सोचने लगा कि मामला क्या है! वह उसके लिए खड़ा किया गया है पुलिस वाला कि कोई पुल पर से कूद-काद कर मर न जाए। आत्महत्या करने वालों के लिए जगह थी वह। कुछ आत्महत्या तो नहीं करनी है? बात क्या है? लेकिन आदमी सीधा-सादा, भोला-भाला मालूम पड़ता है।

दो-चार दिन तो उसने देखा, फिर नहीं रहा गया। उसने कहा कि सुन भाई, तू क्यों यहां भटकता है? किसी की प्रतीक्षा है? कुछ खोज रहा, कुछ गंवा बैठा, कोई दुख, कोई पीड़ा--क्या मामला है?

तो उसने कहा, अब आप से क्या छिपाना। एक बड़ी हैरानी की बात है: "सपना देखा, तीन दिन तक देखा। यही जगह, जहां आप खड़े हैं, इसके नीचे धन गड़ा है।" वह पुलिस वाला तो जोर से हंसने लगा। उसने कहा, हद हो गई, सपना तो मैंने भी देखा है कि फलां-फलां गांव में--और वह उसी के गांव का नाम लिया जहां से यहूदी आया है--फलां-फलां यहूदी के घर में--वह तो इसी का नाम है, यहूदी का--उसकी खाट के नीचे जहां वह रोज रात सोता है, सपने देखता है, धन गड़ा है। अब हम कोई ऐसे पागल हैं कि सपनों में उलझ जाएं! और कहां खोजें? उस गांव में इस नाम के पचासों यहूदी होंगे, आधा गांव इस नाम का होगा। कोई के घर में घुस कर खोदेंगे कैसे? तू भी खूब पागल है, मूरख!

लेकिन यह सुन कर यहूदी तो बोला: नमस्कार, धन्यवाद! वह भागा। जा कर खाट के नीचे खोदा, धन वहां था।

जिसे हम खोजते फिर रहे हैं कहीं और, वह हमारे भीतर है। हम उसे लेकर ही आए हैं। वह हमारा स्वभाव है।

तुम जैसे हो, वैसे ही, इसी क्षण, एक क्षण बिना गंवाए, निर्वाण को उपलब्ध हो सकते हो! कुछ करने की बात होती तो समय लगता, तो चेष्टा करनी पड़ती। महात्मा बनना हो तो समय लगेगा, परमात्मा बनना हो तो समय लगने की जरा भी जरूरत नहीं।

इसे मुझे फिर से दोहराने दो: महात्मा बनना हो तो बहुत समय लगेगा, जन्म-जन्म लगेंगे; क्योंकि महात्मा का अर्थ है: बुराई को काटना है, भलाई को सम्हालना है, अच्छा करना है, बुरा छोड़ना है। यह छोड़ना वह पकड़ना, बड़ा समय लगेगा। और फिर भी तुम महात्मा हो पाओगे, इसमें संदेह है। क्योंकि कोई महात्मा हो ही नहीं सकता जब तक उसे भीतर का परमात्मा न दिखाई पड़ जाए। तब तक सब थोथा है, धोखा है, ऊपर-ऊपर है, आवरण है।

असली क्रांति महात्मा होने की नहीं है। असली क्रांति तो इस उदघोषणा की है कि मैं परमात्मा हूं! अहं ब्रह्मास्मि! और यह इस क्षण हो सकता है। अगर न हो, तो केवल इतना ही है कि तुम समझ नहीं पाए स्थिति को। देह तुम नहीं हो, मन तुम नहीं हो--इतनी बात तुम्हारे स्मरण में गहरी हो जाए! तुम द्रष्टा हो!

"अब मैं जैसा हूं, वैसा ही स्थित हूं।"

अद्य अहं एवं एव आस्थितः।

इसे खूब गुनगुनाना। इस बात को जितना पी जाओ, उतना शुभ है। कभी-कभी बैठे-बैठे शांत इस बात का स्मरण करना कि मैं जैसा हूं, वैसा ही अपने में स्थित, प्रभु में स्थित हूं। कभी अंधेरी रात में उठ कर बिस्तर पर बैठ जाना और इसी एक बात का गहन स्मरण करना कि मैं जैसा हूं, वैसा ही...! और मैं तुमसे कहता हूं: अभी और यहीं तुम जैसे हो ऐसे ही...! बस फर्क इतना ही है कि कर्ता से चेतना हट जाए और साक्षी हो जाए। जरा-सा फर्क है; जैसे कोई गेयर बदलता कार में, बस ऐसा गेयर बदलना--कर्ता से साक्षी।

इस गेयर बदलने के लिए कई बातें सहयोगी हो सकती हैं, लेकिन इस गेयर बदलने को कोई भी बात जरूरी नहीं। ध्यान सहयोगी हो सकता है, लेकिन ध्यानी मत बन जाना। संन्यास सहयोगी हो सकता है, लेकिन संन्यास की अकड़ मत ले लेना--संन्यासी मत बन जाना, नहीं तो चूक गए! पूजा, प्रार्थना सहयोगी हो सकती है, लेकिन पुजारी मत बन जाना। ये सब चीजें सहयोगी हो सकती हैं-- कारण नहीं। कारण की तो जरूरत ही नहीं है।

परमात्मा तो तुम हो ही, अन्यथा होने का उपाय नहीं है।

लेकिन जब मैं यह कह रहा हूं, तब भी तुम सुनोगे--यह संदिग्ध है; क्योंकि सुन लो तो तुम अभी हो जाओ। तुम सुनना नहीं चाहते। तुम्हें कर्ता होने में अभी रस है। तुम कहते हो, कर्ता नहीं...तो मैं ही कर्ता-भर्ता हूं अपने परिवार का! तुम पत्नी के सामने कैसे अकड़ कर खड़े हो जाते हो कि पति स्वामी, छू चरण! और वह कहती है, मैं तुम्हारी दासी! और तुम बेटे से कहते हो कि देख, मैं तुझे पाल कर बड़ा कर रहा हूं, भूल मत जाना! और जब तुम धन कमा लेते हो, तो तुम चाहते हो हर कोई कहे कि हां, हो साहसी, हो संघर्षशील! और जब तुम चुनाव जीत जाओ और किसी पद पर पहुंच जाओ--तो तुम यह कहने में मजा न पाओगे कि मैं साक्षी हूं! फिर मजा क्या रहा? हराया, जीते, किसी को गिराया--इसमें सब रस है।

मैंने सुना, मुल्ला नसरुद्दीन कुछ वर्षों लंदन में रहता था। दिल्ली में रहने वाले उसके छोटे भाई ने एक दिन उससे फोन पर बातचीत की। हाल-चाल पूछने के बाद छोटे भाई ने कहा: भैया, मां कह रही हैं कि पांच सौ रुपये भेज दो।

मुल्ला ने कहा: क्या कहा? कुछ सुनाई नहीं दे रहा।

अब तक सब सुनाई दे रहा था। अचानक बोला: कुछ सुनाई नहीं दे रहा। छोटे ने फिर भी चिल्ला कर कहा, मां कह रही हैं पांच सौ रुपए भेज दो। मुल्ला ने फिर भी वही उत्तर दिया। छोटे ने और भी चिल्ला कर कहा; पर बड़े ने, मुल्ला ने, फिर भी वही जवाब दिया। इतने में आपरेटर, जो दोनों की बातें सुन रहा था, बोला: अरे भाई, आपको सुनाई कैसे नहीं दे रहा? आपकी मां कह रही हैं कि पांच सौ रुपए भेज दो!

मुल्ला ने कहा: तुझे अगर सुनाई दे रहा है तो तू ही क्यों नहीं भेज देता?

सुनाई तो सभी को दे रहा है, लेकिन वह पांच सौ रुपए भेजना...!

मैंने सुना है, एक गांव में एक धनपति था--बड़ा कंजूस! बामुश्किल दान देता था। और बाद- बाद में वह बहरा भी हो गया। लोगों को तो शक था कि वह बहरा इसीलिए हो गया कि लोग दान मांगने आएं तो वह कान पर हाथ रख ले; वह कहे कि कुछ सुनाई ही नहीं दे रहा। पर एक आदमी आया। वह भी खूब चिल्ला-चिल्ला कर कह रहा था।

उसने कहा कि भई बाएं तरफ से कह, मुझे दाएं कान में तो कुछ सुनाई पड़ता नहीं। उसने बाएं कान में कहा, बड़ी हिम्मत करके कहा कि सौ रुपए। दे तो वह लाख सकता था; लेकिन कंजूस है, कृपण है। सौ रुपए सुन कर उसने कहा कि नहीं भई, बाएं कान में ठीक सुनाई नहीं पड़ रहा, तू दाएं में कह। दाएं तक आते हुए उसने सोचा कि अब इसको सुनाई ही नहीं पड़ रहा, न सौ सुनाई पड़ रहे हैं, तो क्यों न बदल लूं--उसने कहा, दो सौ रुपए। उसने कहा, फिर बाएं वाली बात ही ठीक है। फिर जो बाएं से सुनाई पड़ा, वह ही ठीक है।

सुनाई तो सब पड़ रहा है, बहरे बने बैठे हो! क्योंकि सुनो तो जीवन में एक क्रांति घटेगी। और तुम इस बात के लिए भी राजी हो। अगर कोई तुमसे कहे कि ठीक, कुछ करना है--तो तुम कहते हो, करने को हम राजी हैं, क्योंकि करने में तत्क्षण तो क्रांति होने वाली नहीं। करेंगे, अभी कोई जल्दी तो है नहीं। आज तो होने वाला नहीं है; कल करेंगे, परसों करेंगे।

लेकिन जनक की बात सुनने की हिम्मत नहीं है। क्योंकि जनक कहते हैं: अभी हो सकता है। तुम्हें बचने का जरा भी तो अवसर नहीं देते। तुम्हें भागने का जरा भी तो उपाय नहीं देते। तुम स्थगित कर सको, इतनी बेईमानी की गुंजाइश नहीं छोड़ते।

इसलिए अष्टावक्र की गीता प्रभावी नहीं हो सकी। मुझसे लोग पूछते हैं कि इतना महाग्रंथ...कृष्ण की गीता तो इतनी प्रभावी हुई, अष्टावक्र की गीता प्रभावी क्यों न हो सकी? कारण साफ है। कारण यह है कि अष्टावक्र कहते हैं: अभी हो सकता है। और इतना दांव लगाने की हिम्मत बड़ी बिरली हिम्मत, कभी होती है किसी में! इसलिए ऐसी बात को लोग सुनते ही नहीं, पढ़ते ही नहीं। लोग तो ऐसी बात पढ़ते-सुनते हैं जिसमें उनको सुविधा रहे।

"आश्रम है, अनाश्रम है, ध्यान है, और चित्त का स्वीकार और वर्जन है। उन सबसे उत्पन्न हुए अपने विकल्प को देख कर, मैं इन तीनों से मुक्त हुआ स्थित हूं।"

"आश्रम है...।"

हिंदू चार आश्रम में बांटते जीवन को; वर्णों में बांटते। चार वर्ण, चार आश्रम। लेकिन जनक कहते हैं: आश्रम है, अनाश्रम है--वह भी जाल है, वह भी उपद्रव है। सब विभाजन उपद्रव हैं। अविभाज्य की खोज करनी है तो विभाजन से काम न आएगा। न ब्राह्मण ब्राह्मण है, न शूद्र शूद्र है--वे सब चालबाजियां हैं। वे राजनीतिज्ञों की शोषण की व्यवस्थाएं हैं। और मैं बंटने को राजी नहीं हूं, क्योंकि चैतन्य न तो शूद्र है और न ब्राह्मण है। चैतन्य तो बस चैतन्य है। वह साक्षी तो सिर्फ साक्षी है।

इसलिए कभी-कभी ऐसा होता है, बड़े-बड़े ज्ञानी भी क्षुद्र बातों में पड़े रह जाते हैं। कहते हैं, शंकराचार्य काशी में स्नान करके लौटते थे कि एक शूद्र ने उनको छू लिया--तो वे चिल्लाए कि हट शूद्र! लेकिन शूद्र भी फकीर संत था। उसने कहा कि मैंने सुना कि आप अद्वैत का प्रचार करते हैं और आप कहते हैं, एक ही है! और इस एक ही में ये शूद्र और ब्राह्मण कहां से आ गए? और मैं यह पूछना चाहता हूं महानुभाव, कि जब मैंने आपको छुआ तो आपके शरीर को छुआ कि आपकी आत्मा को छुआ? अगर शरीर को छुआ है, तो शरीर तो सभी के शूद्र हैं, सभी गंदे हैं; और शरीर से शरीर को छुआ तो आप क्यों परेशान हो रहे हैं? और अगर मैंने आपकी आत्मा को छू लिया, तो आत्मा तो न शूद्र है न ब्राह्मण है। ऐसा आप ही उपदेश करते हैं।

कहते हैं, शंकराचार्य, जो बड़े-बड़े पंडितों को हरा चुके थे, बड़े दिग्गजों को हरा चुके थे, इस फकीर के सामने झुक गए और नत हो गए। उन्होंने कहा: क्षमा करना, ऐसा बोध मुझे कभी किसी ने दिया नहीं। फिर बहुत शंकराचार्य ने कोशिश की कि खोजें, यह कौन आदमी था! सुबह के अंधेरे में यह बात हो गई थी, ब्रह्ममुहूर्त में--पता नहीं चल सका, कौन आदमी था! लेकिन जो भी रहा हो, उसका अनुभव बड़ा गहरा था।

"आश्रम है, अनाश्रम है...।"

इस जाल में पड़ने के लिए जनक कहते हैं, मैं तैयार नहीं; इसलिए अपने में स्थित हो गया हूं।

"ध्यान है और चित्त का स्वीकार और वर्जन है...।"

यह पकड़ो, यह छोड़ो! मैं दोनों छोड़ कर अपने में स्थित हो गया हूं।

कण-कण करके दुनिया जोड़ी
कितनी भुक्खड़ चाह निगोड़ी
सब के प्रति मन में कमजोरी

किससे नाता तोडूं रे!
अंगड़-खंगड़ मोह सभी से
क्या बांधूं, क्या छोडूं रे!
क्या लादूं, क्या छोडूं रे!

झोपड़ियां कुछ पीठ लिए हैं
कुछ महलों को पीठ दिए हैं
भोगी त्यागी, त्यागी भोगी
दो में किससे होडूं रे!
अंगड़-खंगड़ मोह सभी से,
क्या बांधूं, क्या छोडूं रे!
क्या लादूं, क्या छोडूं रे!

तिनका साथ नहीं चलता है
बोझा फिर भी सिर खलता है
तन की आंखें मोड़ीं, कैसे
मन की आंखें मोडूं रे!
अंगड़-खंगड़ मोह सभी से,
क्या बांधूं, क्या छोडूं रे!
क्या लादूं, क्या छोडूं रे!
अपना कह कर हाथ लगाऊं,
कैसा रखवारा कहलाऊं!
जिसका सारा माल-मत्ता है
उससे नाता जोडूं रे!
अंगड़-खंगड़ मोह सभी से,
क्या बांधूं, क्या छोडूं रे!
क्या लादूं, क्या छोडूं रे!

कुछ लोग हैं, जो इसी चिंतना में जीवन बिताते हैं: क्या छोड़ें? क्या पकड़ें?

जनक कहते हैं: न पकड़ो, न छोड़ो। क्योंकि दोनों में ही पकड़ है। जब तुम कुछ छोड़ते हो, तब भी तुम कुछ पकड़ने के लिए ही छोड़ते हो। कोई कहता है, धन छोड़ेंगे, तो स्वर्ग मिलेगा। यह तो छोड़ना एक तरफ है, पकड़ना दूसरी तरफ हो गया। यह तो लोभ का ही फैलाव हुआ। यह तो गणित पुराना ही रहा; इसमें कुछ नवीन नहीं है। क्या छोड़ें, क्या पकड़ें!

जनक कहते हैं: न छोड़ो, न पकड़ो--जागो! अचुनाव! कृष्णमूर्ति जिसे कहते हैं: च्वायसलेस अवेयरनेस! निर्विकल्प बोध! न यह पकड़ता हूं, न यह छोड़ता हूं। छोड़ता-पकड़ता ही नहीं।

"चित्त का स्वीकार और वर्जन है...।"

दोनों व्यर्थ!

"उन सबसे उत्पन्न हुए अपने विकल्प को देख कर, मैं इन सबसे मुक्त हुआ, अपने में स्थित हूं।"

छोड़ने-पकड़ने में बड़ी चालबाजी है।

सुना है मैंने, मुल्ला नसरुद्दीन एक शराब के अड्डे पर रोज शराब पीने जाता था, और दो गिलास आर्डर देता। शराब आने पर वह दोनों हाथों में गिलास ले कर चीयर्स करता और एक के बाद दूसरे गिलास से घूंट भर-भर कर पीता। एक दिन बैरे ने एक राज पूछा कि मामला क्या है? आप सदा दो ही गिलास क्यों बुलवाते हैं?

तो उसने बताया: एक गिलास मेरा है और एक मेरे दोस्त का। दोस्त की याद में पीता हूं एक गिलास और एक गिलास खुद पीता हूं।

लेकिन एक दिन जब उसने एक ही गिलास का आर्डर दिया, तो बैरे ने फिर पूछा कि नसरुद्दीन, मामला क्या है? आज आप एक ही गिलास ले कर पी रहे हैं? दोस्त की याददाश्त भूल गई?

नसरुद्दीन ने कहा: कभी नहीं, दोस्त को कैसे भूल सकता हूं! मैंने शराब पीना छोड़ दी है, यह तो दोस्त की ही याद में पी रहा हूं।

छोड़ो, पकड़ो--बहुत फर्क पड़ता नहीं; तुम आदमी वही के वही रहते हो! अब खुद शराब पीनी छोड़ दी तो दोस्त की याद में पी रहे हैं!

आदमी बहुत चालबाज है। और गहरी से गहरी चालबाजी यह है कि तुम कहते हो: धन छोड़ दें, इससे परम धन मिलेगा? तुम कहते हो: पद छोड़ दें, इससे परम पद मिलेगा? तुम कहते हो: सब छोड़ दें इस संसार का, लेकिन मोक्ष मिलेगा? स्वर्ग मिलेगा?

देखो, मिलने की बात तो कायम ही है। तुम सौदा कर रहे हो, छोड़ कुछ भी नहीं रहे हो। यह कोई छोड़ना हुआ? अगर यह छोड़ना है, तो तुम फिल्म देखने जाते हो, दस रुपए की टिकट खरीदते हो, तो तुमने दस रुपए का त्याग कर दिया; लेकिन तुम उसको त्याग नहीं कहते, क्योंकि तुम कहते हो: "दस रुपए का छोड़ा, छोड़ा क्या? फिल्म देखी!"

तुमने संसार छोड़ा और स्वर्ग देखने की कामना रखी तो तुम कुछ भिन्न बात नहीं कर रहे; सौदा है यह, यह त्याग नहीं है। त्याग तो तभी संभव है, जब तुम छोड़ने-पकड़ने दोनों को छोड़ कर अपने में स्थित हो गए।

तुमने कहा: मैं तो बस "मैं" हूं; न कुछ पकडूंगा, न कुछ छोडूंगा; जो होगा, होने दूंगा; मैं जैसा हूं, प्रसन्न; मैं जैसा हूं, प्रमुदित; मैं जैसा हूं, तटस्थ, कूटस्थ।

"जैसे कर्म का अनुष्ठान अज्ञान से है, वैसे ही कर्म का त्याग भी अज्ञान से है।"

सुनो इस सूत्र को!

"जैसे कर्म का अनुष्ठान अज्ञान से है, वैसे ही त्याग का अनुष्ठान भी अज्ञान से है। इस तत्व को भलीभांति जान कर मैं कर्म-अकर्म से मुक्त हुआ अपने में स्थित हूं!"

न कुछ करता, न कुछ छोड़ता। परमात्मा जो कर रहा है, करे। मैं तो सिर्फ द्रष्टा हूं, देखता हूं!

यथा कर्माऽनुष्ठानं अज्ञानात्...।

--जैसे अज्ञान से खयाल होता है बुरे करने का।

तथा उपरमः।

--ऐसे ही त्याग करने का भाव भी अज्ञान से ही उठता है।

करने का भाव ही अज्ञान से उठता है। कर्ता का भाव ही अज्ञान से उठता है।

इदं सम्यक् बुद्धवा...।

--ऐसा सम्यक रूप से जाग कर मैंने देखा।

इदं सम्यक् बुद्धवा...।

--ऐसा मैं जागा और मैंने देखा।

अहं एवं आस्थितः।

--इसलिए उसी क्षण से अपने में स्थित हो गया हूं।

अब न मुझे कुछ करणीय है, न कुछ अकरणीय है; न कुछ कर्तव्य है, न कुछ अकर्तव्य है।

अगर ऐसा न हुआ, तो तुम्हारी जो भ्रांति भोग में थी, पकड़ में थी, संसार में थी, उसी भ्रांति का नए-नए रूपों में, नए-नए ढंग में तुम फिर-फिर आविष्कार करते रहोगे।

मुल्ला नसरुद्दीन आदमी तो झक्की है। कोई न कोई बीमारी लेकर अस्पताल पहुंच जाता है। अस्पताल के डॉक्टर भी उससे परेशान हैं। एक बार उसकी छाती में दर्द हुआ, जांच के लिए अस्पताल गया। डॉक्टरों ने भली प्रकार खोजबीन की, फिर भी मुल्ला को तसल्ली न हुई। विशेषज्ञ ने उन्हें आराम करने के लिए कहा तो वह चिल्लाया: पहले मेरा एक्स-रे लिया जाए। एक्स-रे की रिपोर्ट भी बिलकुल ठीक थी। खून वगैरह की जांच भी उसने करवाई। सभी प्रकार की जांच हो जाने पर भी मुल्ला शांत न हुआ। डॉक्टर ने कहा: अब क्या विचार है? अब और क्या करें?

उसने कहा: अब मेरा पोस्ट-मार्टम किया जाए।

सुन रखा था कि पोस्ट-मार्टम भी होता है। तो सोचा कि एक जांच बाकी रह गई। आदमी की मूढ़ता अगर है तो सब तरफ से प्रगट होगी, जगह-जगह से प्रगट होगी। अगर बोध है तो संसार में भी प्रगट होगा; और अगर अज्ञान है तो त्याग में भी प्रगट होगा।

इसलिए तुम छोड़-छाड़ कर भागने की बात मत सोचना। जहां हो, जैसे हो, उसी स्थिति में कर्ता-भाव को विसर्जित करो! कर्ता-भाव को समाप्त हो जाने दो। धीरे-धीरे अकर्ता-भाव से करते रहो जो कर रहे थे। कल भी किया था, आज भी करो वही। बस इतना-सा फर्क पीछे से खिसका लो कि करने वाले तुम न रह जाओ। कल भी दूकान गए थे, आज भी जाना है। कल भी ग्राहक को बेचा था, आज भी बेचना है। बस, इतना फर्क कर लेना है कि कर्ता-भाव सरका लेना है। कल मालिक की तरह दूकान पर गए थे, आज ऐसे जाना कि मालिक परमात्मा है, तुम तो केवल नौकर-चाकर। और तुम अचानक फर्क पाओगे--चिंता गई, झंझट गई! ग्राहक ले ले तो ठीक; न ले ले तो ठीक। मालकियत क्या गई कि सारा पागलपन गया।

इतना ही हो जाए, तो तुम धीरे-धीरे पाओगे--जहां थे वहीं, जैसे थे वहीं, धीरे-धीरे परमात्मा तुम्हारे भीतर जाग गया, उतर गई रोशनी, अवतरण हुआ!

"अचिंत्य का चिंतन करता हुआ भी यह पुरुष चिंता को ही भजता है। इसलिए उस भावना को त्याग कर मैं भावना मुक्त हुआ स्थित हूं।"

जनक कहते हैं, बड़ी अदभुत घटनाएं दुनिया में घटती हैं। अचिंत्य का भी लोग चिंतन करते हैं। पूछो महात्माओं से--कहेंगे, परमात्मा अचिंत्य है--और फिर समझाएंगे कि परमात्मा की याद करो, स्मरण करो।

अचिंत्य का चिंतन! क्या कहते हो? अचिंत्य का तो अर्थ ही यह हुआ कि चिंतन नहीं हो सकता। अचिंत्य का तो कोई चिंतन नहीं हो सकता। हां, सब चिंतन तुमसे छूट जाएं, तुम चिंतन पर पकड़ न रखो, तो अचिंत्य तुम्हें उपलब्ध हो जाए।

तो परमात्मा की कोई चिंतना थोड़े ही करनी होती है; नहीं तो नई चिंता सवार हुई। ऐसे ही चिंताएं क्या कुछ कम हैं तुम पर? ऐसे ही बोझ से दबे जाते हो। ऊंट तुम्हारा वैसे ही तो गिरा जाता है; अब इस पर और परमात्मा को बिठाने की कोशिश कर रहे हो! आखिरी तिनका साबित होगा, बुरी तरह गिरोगे।

अधार्मिक आदमी चिंतित होता है, धार्मिक आदमी और बुरी तरह चिंतित हो जाता है। अधार्मिक आदमी को संसार की ही चिंता है, धार्मिक को परलोक की भी चिंता लगी है। यहां भी धन कमाना, वहां भी धन कमाना। यहां भी कुछ करके दिखाना है, वहां भी पुण्य का अर्जन कर लेना है। तुम तो यहीं बैंक-बैलेंस रखते हो, वह वहां भी रखता है। वह वहां के लिए भी हुंडियां लिखवाता है। उसकी चिंता और भी भारी हो जाती है।

अचिंत्यं चिंत्यमानोऽपि चिंतारूपं भजत्यसौ।

हद हो गई--जनक कहते हैं--लोग अचिंत्य का चिंतन कर रहे हैं! तो, मैंने तो सब चिंतन के साथ हाथ हटा लिए। अब तो मैं खाली हो गया हूं। अब तो मैं भगवान का भी चिंतन नहीं करता, क्योंकि भगवान का चिंतन हो कैसे सकता है?

त्यक्त्वा तद्भावनं तस्मादेवमेवाहमास्थितः।

--और सब छोड़ कर अपने में बैठ गया हूं।

"जिसने साधनों से क्रिया-रहित स्वरूप अर्जित किया है, वह पुरुष कृतकृत्य है। और जो ऐसा ही, अर्थात स्वभाव से स्वभाव वाला है, वह तो कृतकृत्य है ही, इसमें कहना ही क्या!"

इस सूत्र का अर्थ है: जिसने साधनों से क्रिया-रहित स्वरूप अर्जित किया है, जिसने तप से, जप से, ध्यान से, मनन-चिंतन से, निदिध्यासन से स्वभाव को पाया--वह पुरुष तो कृतकृत्य है ही। ठीक है। लेकिन जिसने ऐसा कुछ भी नहीं किया, और जो ऐसा ही बिना कुछ किए, "स्वभाव वाला हूं", ऐसा जान कर शांत हो गया है, उसकी तो बात ही क्या कहनी! उसकी कृतकृत्यता तो अवक्तव्य है।

तो जिसने कुछ कोशिश करके परमात्मा को पा लिया, वह कोई चमत्कार नहीं है। जिसने बिना कुछ किए, बैठे-बैठे, बिना हिले-डुले, सिर्फ बोध-मात्र से परमात्मा को उपलब्ध कर लिया, उसकी कृतकृत्यता तो कही नहीं जा सकती; उसे तो शब्दों में बांधने का कोई उपाय नहीं है।

एवमेव कृतं येन स कृतार्थो भवेदसौ।

--हां, जिसने साधन से पाया, ठीक है, धन्यभागी!

एवमेव स्वभावो यः स कृतार्थो भवेदसौ।।

--लेकिन कैसे करें उसका गुण-वर्णन, कैसे करें उसकी प्रशंसा, जिसने बिना कुछ किए पा लिया!

जनक कहते हैं: मैंने तो बिना कुछ किए पा लिया। न कहीं गया, न कहीं आया; अपनी ही जगह बैठ कर पा लिया है।

इन सूत्रों पर खूब मनन करना--बार-बार; जैसे कोई जुगाली करता है! फिर-फिर, क्योंकि इनमें बहुत रस है। जितना तुम चबाओगे, उतना ही अमृत झरेगा। ये कुछ सूत्र ऐसे नहीं हैं कि जैसे उपन्यास, एक दफे पढ़ लिया, समझ गए, बात खतम हो गई, फिर कचरे में फेंका। यह कोई एक बार पढ़ लेनी वाली बात नहीं है--यह तो सतत पाठ की बात है। यह तो किसी शुभमुहूर्त में, किसी शांत क्षण में, किसी आनंद की अहो-दशा में, तुम इनका अर्थ पकड़ पाओगे। यह तो रोज-रोज, घड़ी भर बैठ कर, इन परम सूत्रों को फिर से पढ़ लेने की जरूरत है। पाठ का यही अर्थ है। पढ़ना और पाठ करने में यही फर्क है। पढ़ने का मतलब एक दफे पढ़ लिया, बात खतम हो गई।

पश्चिम में पाठ जैसी कोई चीज नहीं है। जब वे सुनते हैं पाठ, तो उनको समझ में नहीं आता कि पाठ क्या करना! उनको भरोसा नहीं आता कि एक ही शास्त्र को रोज-रोज लोग जीवन भर पढ़ते हैं। यह बात क्या हुई? जब एक दफा पढ़ लिया, पढ़ लिया।

पश्चिम में तो किताब ही पेपर-बैक छापते हैं अब वे। एक दफे पढ़ लिया और फेंक दी, क्योंकि उसको रखने की क्या जरूरत! सस्ती से सस्ती छाप ली, लोग पढ़ लेते हैं और ट्रेन में छोड़ जाते हैं। पढ़ ली और बस में छोड़ दी। अब उसको करेंगे क्या?

लेकिन ये किताबें, "किताबें" नहीं हैं--ये जीवन के शास्त्र हैं। शास्त्र और किताब का यही फर्क है। किताब एक दफा पढ़ लेने से व्यर्थ हो जाती है। शास्त्र अनेक बार पढ़ने से भी व्यर्थ नहीं होता। शास्त्र तो तब तक व्यर्थ नहीं होता, जब तक तुम शास्त्र न बन जाओ। तब तक उसे पढ़ते ही जाना; तब तक उसे फिर-फिर पढ़ना। कौन जाने किस मुहूर्त में...!

तुम्हारा मन सदा एक-सी अवस्था में नहीं होता। कभी तुम उदास हो, तब शायद ये वचन समझ में आ जाएं। या हो सकता है, कभी तुम बड़े प्रफुल्लित हो, तब ये समझ में आ जाएं। तुम कभी बड़े तरंगित हो, बड़े संगीत से भरे हो, मदमस्ती है--तब समझ में आ जाएं! या हो सकता है, कभी तुम बिलकुल शांत बैठे हो, कोई हलन-चलन नहीं, बड़े स्थिर हो--तब समझ में आ जाएं! कोई कह नहीं सकता, भविष्यवाणी हो नहीं सकती।

लेकिन एक बात तय है कि इन सूत्रों से जीवन का द्वार खुल सकता है। तुम पंख फैला सकते हो। जा सकते हो उस अनंत के मार्ग पर, उस परम नीड़ को खोज सकते हो--जिसे बिना खोजे कोई कभी तृप्त नहीं हुआ है!

उड़ जा इस बस्ती से पंछी
उड़ जा भोले पंछी!

घर-घर है दुखों का डेरा
सूना है यह रैन-बसेरा
छाया है घनघोर अंधेरा
दूर अभी है सुख का सवेरा
उड़ जा इस बस्ती से पंछी
उड़ जा भोले पंछी!

इस बस्ती के रहने वाले
फुरकत का गम सहने वाले
दुख-सागर में बहने वाले
राम-कहानी कहने वाले
उड़ जा इस बस्ती से पंछी
उड़ जा भोले पंछी!

जीवन गुजरा रोते-धोते,
आहें भरते, जगते-सोते,
हाल हुआ है होते-होते
फूट रहे हैं खून के सोते
उड़ जा इस बस्ती से पंछी
उड़ जा भोले पंछी!

ये सूत्र पंख बन सकते हैं। इन सूत्रों के सहारे तुम उड़ सकते हो--अनंत की दूरी पार कर सकते हो! ये सूत्र अनूठे हैं, बहुमूल्य हैं। इनसे मूल्यवान कभी भी कहा नहीं गया है। इनका खूब पाठ करना! ये धीरे-धीरे तुम्हारे खून में मिल जाएं! ये तुम्हारी मांस-मज्जा बन जाएं। ये तुम्हारे हृदय की धड़कनों में समा जाएं। जाने-अनजाने, जागते-सोते इनकी छाया तुम्हारे पीछे बनी रहे--तो, तो ही, उस महाक्रांति की घटना घट सकती है। और उसके बिना घटे तुम चैन नहीं पा सकोगे। उसके बिना घटे, कभी किसी ने चैन नहीं पाया है।

हरि ॐ तत्सत्!

चौतीसवां प्रवचन

धार्मिक जीवन -- सहज, सरल, सत्य

पहला प्रश्न: एक ओर आप साधकों को ध्यान-साधना के लिए प्रेरित करते हैं और दूसरी ओर कहते हैं कि सब ध्यान-साधनाएं गोरखधंधा हैं। इससे साधक दुविधा में फंस जाता है। वह कैसे निर्णय करे कि उसके लिए क्या उचित है?

जब तक दुविधा हो तब तक गोरखधंधे में रहना पड़े। जब तक दुविधा हो तब तक ध्यान करना पड़े। दुविधा को मिटाने का ही उपाय है ध्यान। दुविधा का अर्थ है: मन दो हिस्सों में बंटा है। मन के दो हिस्सों को करीब लाने की विधि है ध्यान। जहां मन एक हुआ, वहीं मन समाप्त हुआ।

अष्टावक्र को सुनते समय यह बात ध्यान में रखना कि अष्टावक्र ध्यान के पक्षपाती नहीं हैं, न समाधि के, न योग के--विधि मात्र के विरोधी हैं।

दुनिया में दो ही तरह के आध्यात्मिक मार्ग हैं--एक विधि का और एक बिना विधि का। अष्टावक्र विधि-शून्य मार्ग के प्रस्तोता हैं। तो उन्हें समझते वक्त खयाल रखना कि उनकी बात तो केवल उन्हीं के लिए है जो दुविधा-शून्य हो कर समझ सकेंगे; जिनकी समझ ही इतनी गहरी हो जाए कि फिर किसी ध्यान की कोई जरूरत न रहे; जिनकी समझ ही समाधि बन जाए।

अष्टावक्र का आग्रह मात्र जागरण, साक्षी-भाव पर है, लेकिन अगर यह न हो सके तो अष्टावक्र को पकड़ कर मत बैठ जाना। न हो सके तो पतंजलि उपाय हैं। न हो सके तो बुद्ध, महावीर उपाय हैं।

कृष्णमूर्ति यही कह रहे हैं वर्षों से, जो अष्टावक्र ने कहा है। चालीस वर्षों से निरंतर जो लोग उन्हें सुन रहे हैं, वे इसी दुविधा में पड़ गए हैं। समझ में आया भी नहीं, समझ तो जगी नहीं--और ध्यान भी छोड़ दिया। तो धोबी के गधे हो गए, न घर के न घाट के। अटक गए बीच में। त्रिशंकु हो गए। मझधार में पड़ गए, न इस किनारे के न उस किनारे के। मेरे पास आते हैं, कहते हैं: "मन में शांति नहीं है।" अगर मैं उनको कहता हूं, ध्यान करो, वे कहते हैं: "ध्यान से क्या होगा? कृष्णमूर्ति तो कहते हैं, ध्यान से कुछ न होगा।" अगर कृष्णमूर्ति समझ में आ गए तो मन में अशांति कैसे बची? आए हो पूछने कि मन में अशांति है, क्या करें? अगर कृष्णमूर्ति समझ में आ गए तो अशांति बचनी नहीं चाहिए। क्योंकि कृष्णमूर्ति के पास तो समझ के अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं है; या तो समझ गये या नहीं समझे। समझ गए तो शांत हो गए; नहीं समझे तो बकवास में मत पड़ो। फिर कुछ और करो जो नासमझों के लिए है; फिर ध्यान करो।

अहंकार बड़ा अदभुत है! अहंकार यह भी मानने को तैयार नहीं कि मैं नासमझ! ध्यान तो नासमझों के लिए है। मैं कोई नासमझ तो हूं नहीं जो ध्यान करूं। और इतने समझदार भी तुम नहीं हो कि बिना ध्यान किए पहुंच जाओ। तब तुम अड़चन में पड़ोगे। तब तुम्हारी बेचैनी बड़ी गहरी हो जाएगी। तुम टूटोगे। तुम खंड-खंड हो जाओगे।

अष्टावक्र कहते हैं: सब ध्यान, सब विधियां व्यर्थ हैं, क्योंकि कर्म-मात्र वहां नहीं पहुंचा सकता; वहां तो केवल होश पहुंचाता है। ध्यान भी करोगे तो कृत्य होगा। ध्यान भी करोगे तो कर्ता बन जाओगे। तो भोजन पकाओ कि बुहारी लगाओ कि दूकान चलाओ कि ध्यान करो, फर्क नहीं पड़ता--कुछ करते हो। अष्टावक्र यह कह रहे हैं कि तुम्हारा जो स्वभाव है, वहां कर्म नहीं पहुंचता; वहां तो सत्ता मात्र है। वह जो बुहारी लगाना हो रहा है, उसमें तुम नहीं हो; वह जो बुहारी लगाने को देख रहा है, वही तुम हो। भोजन पकाते हो, भोजन पकाने में तुम नहीं हो; वह जो भोजन को पकते देख रहा है और देख रहा है कि तुम भोजन पका रहे हो, वही तुम हो।

यही बात ध्यान में है। ध्यान में तुम नहीं हो; वह जो देख रहा है कि ध्यान कर रहे हो, वह जो देख रहा है कि ध्यान से शांति आ रही, वह जो साक्षी है--वही तुम हो।

"गोरखधंधा" शब्द बड़ा महत्वपूर्ण है--गोरखनाथ से जुड़ा है। जब भी कोई आदमी ज्यादा विधि-विधान में पड़ जाता है तो हम कहते हैं, गोरखधंधे में मत पड़ो। गोरख ने सबसे ज्यादा विधियां खोजीं ध्यान की। पतंजलि के बाद गोरख का नाम अविस्मरणीय है। उन्होंने ध्यान के बड़े प्रयोग खोजे। निश्चित ही ध्यान के प्रयोग से लोग पहुंचे हैं; लेकिन ध्यान का प्रयोग उनके लिए है, जिनके पास समझ अकेली पर्याप्त नहीं है; परिपूरक है; जो कमी समझ में रह गयी है, वह ध्यान पूरी कर देता है। ध्यान से कोई आत्मा को नहीं जानता; लेकिन ध्यान से तुम इतने शांत हो जाते हो कि उस शांति में साक्षी बनना सुगम हो जाएगा। जानोगे तो अष्टावक्र के मार्ग से ही।

जैसे समझो कि कोई आदमी बुखार से ग्रस्त है, बीमार पड़ा है, सन्निपात चढ़ा है और वह कहता है, "मैं समाधि को कैसे उपलब्ध होऊं?" तो हम क्या करेंगे? उसे समाधि की कोई विधि-विधान बताएंगे? हम कहेंगे, पहले बुखार ठीक हो जाने दो। वह पूछे कि क्या बुखार ठीक हो जाने से मुझे समाधि लग जाएगी? तो हम उसे समझाने को कहेंगे कि हां, बुखार ठीक हो जाने से समाधि लगने में सहायता मिलेगी। क्योंकि सन्निपात में कभी किसी की समाधि लगी हो, ऐसा सुना नहीं; यद्यपि सन्निपात में जो नहीं हैं, उनको समाधि लग गयी हो, ऐसा भी नहीं है। क्योंकि इतने लोग हैं जो सन्निपात में नहीं हैं; इनकी कोई समाधि नहीं लग गयी है। लेकिन एक बात पक्की है कि सन्निपात वाले को तो कभी नहीं लगी है। जिसको भी लगी है, एक बात निश्चित है कि वह सन्निपात में नहीं था।

तो औषधि दे कर हम बुखार से भरे आदमी का सन्निपात नीचे उतारते हैं। जब सन्निपात नीचे उतर जाता है, तब उसे ध्यान की विधि देंगे। जब ध्यान की विधि उसके चित्त को शांत कर देगी, तो साक्षी सुगम हो जाएगा। अंतिम घटना तो साक्षी की ही है। अंतिम समय में तो अष्टावक्र ही सही हैं। लेकिन तुम एकदम उस अंतिम घड़ी को पहुंच पाओगे? पहुंच जाओ तो शुभ; न पहुंच पाओ तो ध्यान करना ही होगा।

पूछा है: "एक ओर साधकों को ध्यान-पद्धति के लिए कहते हैं और दूसरी ओर सब ध्यान- पद्धतियां गोरखधंधा हैं, ऐसा कहते हैं। इससे साधक दुविधा में फंस जाता है। वह कैसे निर्णय करे कि उसके लिए क्या उचित है?"

जब तक दुविधा रहे तब तक ध्यान उचित है। जब दुविधा मिट जाए और समझ, प्रज्ञा का प्रकाश फैले और एक क्षण में घटना घट जाए, फिर तुम पूछोगे ही नहीं। फिर बात ही नहीं उठती पूछने की। घटना ही घट गयी, तुम समाधि को उपलब्ध ही हो गए, तो फिर तुम पूछने थोड़े ही आओगे कि अब ध्यान करूं कि न करूं? जब तक पूछने आते हो तब तक तो ध्यान करना।

अभी तुम जहां खड़े हो, वहां से छलांग तुम न लगा सकोगे। शायद ध्यान कर-करके मन थोड़ा शांत हो, सन्निपात थोड़ा कम हो, तो फिर छलांग लग सके। छलांग तो लगानी ही होगी कर्ता से साक्षी पर, इतना निश्चित है।

आत्यंतिक अर्थों में अष्टावक्र का वक्तव्य पूर्ण सत्य है; लेकिन तुम जिस जगह खड़े हो, वहां सत्य है या नहीं, यह कहना कठिन है।

छोटे बच्चे को स्कूल भेजते हैं तो सिखाते हैं "ग" गणेश का या "ग" गधे का। "ग" से न तो गधे का कोई संबंध है न गणेश का कोई संबंध है। और अगर बच्चा बहुत सीख ले कि "ग" गधे का, "ग" गधे का--फिर जब भी "ग" को पढ़े, तब यह मन में उसको दोहराए कि "ग" गधे का, तो वह कभी पढ़ नहीं पाएगा। वह गधा बीच-बीच में आएगा। वह तो सिर्फ सहारा था, बच्चे को समझाने का उपाय था। बच्चा गधे को जानता है, "ग" को नहीं जानता। गधा देखा है। इसलिए बच्चों की किताब में बड़े-बड़े चित्र बनाने पड़ते हैं, क्योंकि चित्र बच्चा पहचान लेता है। बड़ा आम लटका है, वह पहचान लेता है। गधा खड़ा है, वह पहचान लेता है। गधे को पहचानने से "ग"

को पहचानने में सुविधा बन जाती है। लेकिन एक दिन फिर भूल जाएगा "ग" गधे का। "ग" अपना; "ग" क्यों गधे का हो, क्यों गणेश का हो!

ध्यान तो उनके लिए है जिनके लिए अभी वह आत्यंतिक बात समझ में न आ सकेगी। यह प्राथमिक है। अभी तो ध्यान भी समझ में आ जाए तो बहुत। अभी तो बहुत ऐसे हैं जिन्हें ध्यान भी समझ में नहीं आ सकेगा। अभी उनको प्राइमरी स्कूल में भी भरती करना उचित नहीं है, अभी तो किंडरगार्डन में कहीं डालना पड़े। अभी तो ध्यान भी समझ में नहीं आएगा। जिसको ध्यान समझ में न आए उसे हम कहते हैं: पढ़ो, स्वाध्याय करो, मनन करो। जिसको मनन होने लगे, स्वाध्याय होने लगे, उसे कहते हैं: ध्यान करो। जिसको ध्यान आ जाए, फिर उसको कहते हैं कि अब छलांग लगा लो; अब कर्ता से साक्षी पर कूद जाओ। तब हम उससे कहते हैं: करने से कुछ भी न होगा।

तो जिसको अष्टावक्र समझ में आ जाएं, वह तो यह प्रश्न पूछेगा नहीं। जिसको अभी प्रश्न बाकी है, वह अष्टावक्र को भूल जाए; उनसे अभी तुम्हारी दोस्ती न बनेगी। अभी तुम्हें ध्यान करना ही होगा।

मैं सबके लिए बोल रहा हूं। यहां कई क्लास के व्यक्ति उपस्थित हैं। कोई किंडरगार्डन में है, कोई प्राइमरी में है, कोई मिडल स्कूल, कोई हाईस्कूल, कोई विश्वविद्यालय में चला गया है, कोई विश्वविद्यालय के बाहर निकलने की तैयारी में है। इन सबके लिए बोल रहा हूं। तो मैं जो बोल रहा हूं, उसके अलग-अलग अर्थ होंगे। लेकिन यह बोलना जरूरी है, क्योंकि कभी तुम भी विश्वविद्यालय में पहुंचोगे, कभी तुम भी विश्वविद्यालय के बाहर जाने की स्थिति में आ जाओगे।

सुन लो; हो सके आज तो ठीक, अन्यथा सम्हाल कर रख लो। गांठ बांध लो। आज समझ नहीं आता, शायद कभी काम पड़े। पाथेय हो जाएगा। यात्रा में काम पड़ेगा। बहुत-सी बातें हैं जो आज समझ में नहीं भी आएंगी। जो आज समझ में आता हो, उसे आज कर लो। जो आज समझ में न आता हो, जल्दी उसके लिए परेशान मत होना, उसे गांठ बांध कर रख लेना। कभी समझ तुम्हारी बढ़ेगी, वह भी समझ में आएगा।

पहाड़ नहीं कांपता, न पेड़, न तराई
कांपती है ढाल पर के घर से
नीचे झील पर झरी दीये की लौ की नन्हीं परछाईं।
पहाड़ नहीं कांपता, न पेड़, न तराई
कांपती है ढाल पर के घर से
नीचे झील पर झरी दीये की लौ की नन्हीं परछाईं।

तुम नहीं कंपते--तुम तो पहाड़ हो अचल। तुम्हारे केंद्र पर कोई कंपन नहीं है। कंपती है केवल परछाईं। मन कंपता है। यह समझ में आ जाए तो इसी क्षण क्रांति हो सकती है। यह समझ में न आए तो ध्यान की प्रक्रियाओं से गुजरो, ताकि ऐसा क्षण आ जाए, जिस क्षण तुम्हारी समझ में आ सके।

दूसरा प्रश्न: पूर्व में आप अपने प्रवचन के अंत में कहते थे, "मैं आपके भीतर बैठे परमात्मा को प्रणाम करता हूं। मेरे प्रणाम स्वीकार करें!" अब आप वैसा नहीं कहते। क्या अब आपको हमारे भीतर की झलक नहीं दिखायी पड़ती? या कि आपने वैसा कहना इसलिए बंद कर दिया कि लोग आपको भगवान कहने लगे?

प्रश्नकर्ता ने नाम नहीं लिखा है, वह कायरता का सबूत है। मैं साधारणतः उन प्रश्नों के उत्तर नहीं देता जिन पर आपने अपना नाम न लिखा हो। क्योंकि जिसकी इतनी हिम्मत नहीं है कि सूचना दे सके कि यह मेरा प्रश्न है, किसका प्रश्न है, उसका प्रश्न इस योग्य नहीं कि उसका उत्तर दिया जाए।

लेकिन प्रश्न महत्वपूर्ण है और बहुतों के मन में उठता होगा, इसलिए उत्तर देता हूं।

"पूर्व में आप अपने प्रवचन के अंत में कहते थे, मैं आपके भीतर बैठे परमात्मा को प्रणाम करता हूं।"

मैंने पूर्व में क्या कहा है, उसका मैं हिसाब नहीं रखता, तुम भी मत रखना। मैं तो उतनी ही बात का जुम्मा लेता हूं जो मैं अभी कह रहा हूं। घड़ी भर पहले जो कहा था, उसका भी मेरा कोई जुम्मा नहीं। इस बात को ठीक से याद रख लेना, अन्यथा तुम बड़े जाल में पड़ जाओगे। मैं तो इस क्षण हूं और जो मेरा वक्तव्य इस क्षण है, वही मेरा है; बाकी जो बीता सो बीता, जो गया सो गया। उसका हिसाब नहीं रखता हूं। अन्यथा तुम मेरे वक्तव्यों में बड़े विरोधाभास पाओगे; एक वक्तव्य दूसरे का खंडन करता हुआ मालूम पड़ेगा। अगर तुमने हिसाब लगाने की कोशिश की तो विमुक्त होना तो दूर, तुम विक्षिप्त हो जाओगे।

इसलिए इस सूत्र को खूब सम्हाल कर रख लो कि जो मैं तुमसे कह रहा हूं इस क्षण, वही...। घड़ी भर बाद इसे भी भूल जाना। गुलाब का पौधा है, फूल लगा है आज। तुम उससे जा कर नहीं कहते कि कल तो बड़ा फूल लगा था या छोटा फूल लगा था, आज ऐसा क्यों? गुलाब का पौधा अगर बोल सकता तो कहता, "आज ऐसा है, कल वैसा था।" तुम आकाश से नहीं कहते कि "कल तो सूरज निकला था, आज बादल घिरे हैं, बात क्या है? ऐसा विरोधाभास क्यों?" आकाश अगर कह सकता तो कहता: "कल वैसा था, आज ऐसा है।"

विन्सेंट वानगाग, एक बड़ा डच चित्रकार हुआ। चित्र बना रहा था, किसी ने पूछा कि तुम्हारा सबसे श्रेष्ठतम चित्र कौन-सा है? उसने कहा, "यही जो मैं अभी बना रहा हूं।" दूसरे दिन वह दूसरा चित्र बना रहा था। वही आदमी फिर आया। उसने कहा कि कल जो चित्र तुमने बताया था और कहा था श्रेष्ठतम है, उसे मैं खरीदने आया हूं। उसने कहा, अब वह श्रेष्ठतम नहीं रहा। अब तो मैं जो बना रहा हूं...। वही श्रेष्ठतम है जिसमें मैं मौजूद हूं। बाकी तो पिटी लकीर हैं। सांप निकल गया, रेत पर निशान छूट गया है।

पूर्व में मैंने क्या कहा है, मैं ही हिसाब नहीं रखता, तुम क्यों रखोगे? छोड़ो! कहीं ऐसा न हो कि आज जो मैं कह रहा हूं उसे आज न सुन पाओ और परसों फिर मुझसे पूछने आओ। जिस मित्र ने यह पूछा है, जब मैं ऐसा कह रहा था तब उसने सुना नहीं होगा। अगर सुन लेता तो जीवन में क्रांति हो गई होती। अगर समझ लेता तो यह प्रश्न न उठता। उस दिन चूके अब भी मत चूक जाना। चूकने की आदत मत बना लेना। कुछ लोग चूकने की आदत बना लेते हैं; वे पीछे का हिसाब रखते हैं--मृत का; मुर्दों की गणना करते रहते हैं।

जो वक्तव्य मैं अभी दे रहा हूं, वही जीवित है। ताजात्ताजा और गर्म-गर्म उसे अपने हृदय में ले लो। जब ठंडा और बासा हो जाए, तब तुम उसे पचा न पाओगे; जब ताजे और गर्म को न पचा पाए तो ठंडे और बासे को कैसे पचाओगे? भूल कर भी उसे खाना मत, अन्यथा बोझ बनेगा, पाचन को खराब करेगा, जीवन को विषाक्त कर सकता है।

तो पहली तो बात, पूर्व में मैंने क्या कहा, पागल उसका हिसाब रखें; या जिनको पागल होना हो, वे उसका हिसाब रखें। मैं तो अपने वक्तव्य के साथ अभी हूं, क्षण भर बाद न रहूंगा। यह भी जो मैं कह रहा हूं, हो सकता है कल इसका खंडन कर दूं। क्योंकि मैं कोई विचारक नहीं हूं। मैंने कोई विचार-सरणी तय नहीं कर रखी है कि बस इस सरणी के अनुसार जीऊंगा। मैंने जीवन को पूरा का पूरा सरणी-विहीन छोड़ा है। मेरे जीवन में कोई अनुशासन नहीं है--मात्र स्वतंत्रता है। इसलिए तुम मुझे बांध न सकोगे। तुम मुझसे यह न कह सकोगे: "कल कहा था, आज उससे विपरीत क्यों कह रहे हैं?" मैं कहूंगा: "कल भी मैंने अपनी स्वतंत्रता से कहा था, आज भी अपनी स्वतंत्रता से कह रहा हूं। कल वैसा गीत गाने का मन था, आज ऐसा गीत गाने का मन है। और वही-वही रोज-रोज दोहराना उचित भी तो नहीं है--उबाएगा।

तो, मैं तो पानी की धार जैसा हूं।

हेराक्लतु ने कहा है: एक ही नदी में दुबारा नहीं उतर सकते। मुझसे भी तुम्हारा दुबारा मिलना नहीं हो सकता। आज तुम जहां मुझे मिल रहे हो, कल मैं वहां न रहूंगा। और जिन्हें मेरे साथ चलना है उन्हें प्रवाह

सीखना पड़ेगा। नहीं तो तुम घिसटोगे। मैं भागा जाता हूं--नदी की धार की तरह सागर की तरफ; तुम घसिटते रहोगे। तुम पीछे का हिसाब करते रहोगे।

मेरा कोई इतिहास नहीं है और इतिहास में मुझे कोई रुचि नहीं है। प्रतिपल जीवन जो कहला दे, कहता हूं। या अगर परमात्मा में भरोसा हो तो प्रतिपल परमात्मा जो कहला दे, सो कहता हूं। यह प्रतिपल होने वाला संवेदन है। यह झरने जैसा है। यह किसी दार्शनिक की प्रणाली नहीं है।

दार्शनिक जीता है एक ढांचे से, एक ढांचा तय कर लेता है; उसके विपरीत फिर कभी नहीं कहता, चाहे जीवन विपरीत हो जाए; वह आंख बंद रखता है। सब बदल जाए, लेकिन वह अपनी दोहराए चला जाता है। वह अपने खिड़की-दरवाजे बंद रखता है--कोई नई हवा, सूरज की नई किरण कहीं बदलने को मजबूर न कर दे। वह आंख नहीं खोलता।

दार्शनिक अंधे होते हैं, तो ही संगत हो पाते हैं। अगर आंख है तुम्हारे पास और संवेदनशीलता जीवंत है तो प्रतिपल तुम्हारा उत्तर भिन्न-भिन्न होगा, क्योंकि प्रतिपल सब बदला जा रहा है।

मैं इस बदलती हुई जीवनधारा के साथ हूं। मुझे मेरे अतीत से कुछ लेना-देना नहीं। वर्तमान ही सब कुछ है। इसलिए इस बहाने तुमसे यह कह दूं कि पूर्व में और भी बहुत बातें मैंने कही हैं, तुम उसकी चिंता मत करना।

"आप कहते थे कि मैं आपके भीतर बैठे परमात्मा को प्रणाम करता हूं, मेरे प्रणाम स्वीकार करें। अब आप वैसा नहीं कहते।"

न तो तब वैसा मैंने तुम्हारी मान कर कहा था और न अब तुम्हारी मान कर कहूंगा। तब मैंने अपनी मौज से कहा था, अब अपनी मौज से बंद कर दिया। तुम मेरे मालिक नहीं हो। इस तरह के प्रश्नों में कहीं भीतर छिपी एक आकांक्षा होती है जैसे तुम मेरे मालिक हो। मैं वही कहता हूं जो मैं कहना चाहता हूं; तुम्हारी रत्ती भर चिंता नहीं है। तुम हो कौन? तुम्हें प्रीतिकर लगे, मेरा गीत सुन लेना; तुम्हें प्रीतिकर न लगे, तुम्हारे पास पैर हैं, तुम अपनी राह पकड़ लेना।

मैं तुम्हारी आकांक्षाएं, अभीप्साएं तृप्त करने के लिए यहां नहीं हूं--मैं तुम्हारा गुलाम नहीं हूं। साधारणतः तुम जिनको महात्मा कहते हो, वे तुम्हारे गुलाम होते हैं। वही तो अड़चन है मेरे साथ। तुम जैसा कहलवाते हो, कहते हैं। तुम जैसा चलवाते हो, चलते हैं। तुम जैसा बताते हो, बस...। ऊपर से दिखता है कि तुम महात्मा के पीछे चल रहे हो; गौर करो तो महात्मा तुम्हारे पीछे चल रहा है। इनको तुम महात्मा कहते हो जो तुम्हारे पीछे चलते हैं? किस धोखे में पड़े हो? जो तुम्हारे पीछे चलता है, वह तो इसी कारण अयोग्य हो गया; उसके पीछे तो चलना ही मत। लेकिन तुम्हारा परिचय इसी तरह के महात्माओं से है, इसी तरह के नेताओं से है। मैं न तो कोई महात्मा न कोई नेता हूं।

नेता हमेशा अपने अनुयायी का अनुयायी होता है। इसलिए कुशल नेता वही है जो देख लेता है कि अनुयायी किस तरफ जाते हैं, उसी तरफ चलने लगता है। कुशल राजनीतिज्ञ वही है जो पहचान लेता है हवा का रुख और देख लेता है कि अब अनुयायी पूरब की तरफ जा रहे हैं तो वह पहले से ही पूरब की तरफ चलने लगता है। अनुयायी कहते हैं समाजवाद, वह और जोर से चिल्लाता है समाजवाद; अनुयायी अगर समाजवाद के विरोध में हैं तो वह विरोध में हो जाता है। या वह इस ढंग के वक्तव्य देता है कि उन वक्तव्यों में तुम साफ नहीं कर सकते कि वह पक्ष में है कि विपक्ष में, ताकि उसे सुविधा बनी रहती कि वह कभी भी उन वक्तव्यों को बदल ले।

मैंने सुना है, पटवारी ने रिश्वत ली। पकड़ा गया। मुकदमा चला। पटवारी के विरुद्ध गांव में तीन व्यक्ति साक्षी देने आए, जिनमें ताऊ शिवधन भी थे। पहला गवाह पेश हुआ। पटवारी के वकील ने एक ही प्रश्न पूछा: "पटवारी ने जब पचास रुपए लिए, उस समय वह बैठा था या खड़ा था?" पहला गवाह बोला: "बैठा था।" अब दूसरा गवाह पेश हुआ। वकील ने वही प्रश्न उससे भी पूछा। उसने कह दिया: "खड़ा था।" अब बारी आयी ताऊ

शिवधन की। वे भांप गये कि मामला गड़बड़ है। वकील ने उनसे भी वही प्रश्न किया तो ताऊ बोले: "बस बाबूजी, कै बूझोगे?"

"मेरे सवाल का सीधा जवाब दो। बूझोगे कि नहीं बूझोगे, यह बात मत करो। यह क्या उत्तर हुआ कि बस बाबूजी, कै बूझोगे। मेरे सवाल का सीधा जवाब दो," वकील ने धमकी दी।

ताऊ हंस कर बोले: "अरे वकील साहिब, पटवारी ने तो कमाल कर दिया! पचास रुपये जेब में पड़ गये ते माचा-माचा फिरै। कदै उठे, कदै बैठे! कदै कुरसी पै बैठे, कदै मूढ़े पै और कदै खड़ा होवै।"

यह राजनीतिज्ञ का जवाब है। राजनीतिज्ञ चिंता करता है कि तुम कहां जा रहे, क्योंकि सदा तुम्हारे आगे होना चाहता है। तुम जहां जा रहे, वहीं भाग कर आगे हो जाता है।

मुल्ला नसरुद्दीन एक दिन बाजार में अपने गधे पर बैठा जा रहा है--तेजी से भागा। किसी ने पूछा: "नसरुद्दीन, कहां जा रहे हो?" उसने कहा: "मुझसे मत पूछो, गधे से पूछ लो।" लोगों ने कहा: "मतलब?" नसरुद्दीन ने कहा: "गधा ही है! पहले मैं इसके साथ बड़ी झंझट में पड़ जाता था। बीच बाजार में मैं इसे कहीं ले जाना चाहता हूं, यह कहीं जाना चाहता है। फजीहत मेरी होती, यह तो गधा है! लोग हंसते कि अरे, अपने गधे को भी काबू में नहीं रख पाते। तब से मैंने तरकीब सीख ली। बाजार में तो मैं इससे झंझट करता ही नहीं--यह जहां जाता है...! कम से कम बाजार में यह साख तो रहती है कि मालिक मैं हूं। जहां जाता है, मैं वहीं चला जाता हूं। भीड़-भाड़ में मैं इसको रोकता ही नहीं; क्योंकि गधा गधा है, भीड़-भाड़ में और अकड़ जाता है।"

तो नेता तो अनुयायी के पीछे चलता है। तुम्हारा महात्मा तुम्हारी अपेक्षाओं की पूर्ति करता है। मैं न महात्मा हूं न नेता। मुझे तुमसे कुछ भी अपेक्षा नहीं है और न मैं कोई तुम्हारी अपेक्षा पूरी करने को हूं। मुझसे तो तुम्हारा कोई संबंध अगर है तो स्वतंत्रता का है। इसलिए तुम अगर पूछो कि क्यों? तुम इसके हकदार नहीं। मैं उत्तरदायी नहीं। मैंने तुमसे पूछ कर थोड़े ही कहा था, जो मैं तुमसे पूछ कर बंद करूं! और मैं यह भी नहीं कह रहा हूं कि मैं किसी दिन फिर न शुरू करूंगा। कौन जाने!

"क्या अब आप हमारे भीतर परमात्मा की झलक नहीं देखते?"

परमात्मा की झलक एक बार दिखायी पड़ जाए तो फिर समाप्त नहीं होती। जो झलक दिखायी पड़ जाए और फिर दिखायी न पड़े, वह परमात्मा की नहीं। परमात्मा कोई सपना थोड़े ही है--अभी था, अभी खो गया! परमात्मा शाश्वतता है। एक बार दिख गया तो दिख गया। नहीं, परमात्मा की झलक दिखायी पड़नी बंद नहीं हो गयी है; लेकिन कुछ और झलक दिखायी पड़ी और वह झलक यह थी कि तुम्हें मैंने देखा कि तुम बड़े मस्त हो जाते थे, जब मैं कहता था, तुम्हारे भीतर बैठे परमात्मा को प्रणाम करता हूं। तुम समझते थे कि तुम्हें प्रणाम कर रहा हूं। तुम भूल करते थे। मैं कहता था, तुम्हारे भीतर बैठे परमात्मा को प्रणाम करता हूं। तुम समझते थे, तुम्हें प्रणाम कर रहा हूं। तुम गदगद हो जाते थे।

मेरे पास लोग आते थे, वे कहते थे कि जब आप यह कहते हैं कि तुम्हारे भीतर बैठे परमात्मा को प्रणाम करता हूं, तो बड़ा आनंद होता है! आनंद अहंकार की तृप्ति से होता होगा। क्योंकि तुम भलीभांति जानते हो कि तुम परमात्मा नहीं हो। अगर तुम जानते ही होते कि तुम परमात्मा हो तो तुम यहां आते किसलिए? मैं जानता हूं कि तुम परमात्मा हो, तुम नहीं जानते कि तुम परमात्मा हो। मेरी तरफ से प्रणाम सज्जा था, तुम्हारी तरफ जा कर गलत हो जाता था; तुम कुछ का कुछ समझ लेते थे। मैं तो परमात्मा को प्रणाम करता था; तुम समझते थे, तुम्हारे चरणों में प्रणाम अर्पित है। तुम्हारे अहंकार को बड़ी तृप्ति मिलती थी।

जिसने पूछा है, उसकी भी अड़चन यही है; अब उसके अहंकार को तृप्ति नहीं मिल रही होगी। आदमी अपने ही हिसाब से समझता है।

शहर में नौकरी कर रहे अपने लड़के का हाल-चाल देखने चौधरी गांव से आए। बड़े सवेरे पुत्रवधू ने पक्के गाने का अभ्यास शुरू किया। अत्यंत करुण स्वर में वह गा रही थी: "पनियां भरन कैसे जाऊं? पनियां भरन कैसे

जाऊं?" शास्त्रीय संगीत तो शास्त्रीय संगीत है; उसमें तो एक ही पंक्ति दोहराए चले जाओ: पनियां भरन कैसे जाऊं...। आधे घंटे तक यही सुनते रहने के बाद बगल के कमरे से चौधरी उबल पड़े और चिल्लाए: "क्यों रे बचुआ, क्यों सता रहा है बहू को? यहां शहर में पानी भरना क्या शोभा देगा उसे? जा, आज ही कहारिन का इंतजाम कर।"

शास्त्रीय संगीत--"पनियां भरन कैसे जाऊं"--लेकिन चौधरी की बुद्धि तो शास्त्रीय नहीं है। समझे कि बचुआ, उनका लड़का, बहू को सता रहा है--कह रहा है, चल पानी भरने। वह बेचारी आधे घंटे से कह रही है, पनियां भरन कैसे जाऊं! और बंबई जैसा शहर, यहां जाएगी भी कहां पानी भरने! गांव की बात और।

समझ तो अपनी-अपनी है। मैं अपनी समझ से कहता था, तुम अपनी समझ से समझते थे। फिर वर्षों तक कहने के बाद मैंने देखा कि मेरे कहने से कुछ अंतर नहीं पड़ता। वे प्रणाम व्यर्थ चले जाते हैं, तुम तक पहुंचते नहीं। तुम अभी सोए हो। मैं तो फूल चढ़ा आता हूं, लेकिन तुम्हारी नींद में कहीं खो जाते हैं। तुम करवट भी नहीं लेते। उल्टे, मेरे फूल तुम्हारी नींद के लिए और शामक दवा बन जाते हैं। मैं कह देता हूं तुम परमात्मा हो, तुम बड़े प्रफुल्लित होते हो। जागते नहीं।

अगर तुम समझदार होते तो तुम्हें चोट पड़ती, तुम रोते--जब मैंने कहा था कि मैं तुम्हारे भीतर बैठे परमात्मा को प्रणाम करता हूं। तो तुम्हारी आंखों में आंसू झरते, तुम रोते! तुम कहते कि नहीं, ऐसा मत कहो; मैं पापी हूं। लेकिन तुम में से एक ने भी यह न कहा। मैं वर्षों तक कहता रहा। गांव-गांव घूम कर कहता रहा। किसी ने मुझसे आ कर न कहा कि "नहीं, आप ऐसा न कहें, मैं पापी हूं! मुझे परमात्मा न कहें।" कोई रोया नहीं। लोग मुझसे बार-बार कहते थे कि हृदय गदगद हो जाता है जब आप ऐसा कहते हैं।

यह चोट, मेरी तरफ से तो चोट थी, तुम समझे कि तुम्हारी पीठ सहला रहा हूं! मेरी तरफ से तो चोट थी कि तुम थोड़े जागो कि परमात्मा होकर और तुम क्या हो गए हो? क्या कर रहे हो? कहां भटके हो? लेकिन उस चोट का तो कोई परिणाम नहीं होता था। तुम गदगद होते थे, उल्टा तुम्हारा अहंकार भरता था। परमात्मा की झलक तो अब भी वैसी ही है। उसके खोने का कोई उपाय नहीं। लेकिन देखा, औषधि तुम पर काम नहीं करती, जहर बन जाती है; रोक दी।

"या कि आपने वैसा कहना इसलिए बंद कर दिया कि लोग आपको भगवान कहने लगे?"

किसी ने मुझे भगवान कहा नहीं, मैंने ही घोषणा की। तुम कहोगे भी कैसे? तुम्हें अपने भीतर का भगवान नहीं दिखता, मेरे भीतर का कैसे दिखेगा? यह भ्रांति भी छोड़ दो कि तुम मुझे भगवान कहते हो। जिसे अपने भीतर का नहीं दिखा उसे दूसरे के भीतर का कैसे दिखेगा? भगवान की तो मैंने ही घोषणा की है। और यह खयाल रखना, तुम्हें कभी किसी में नहीं दिखा। कृष्ण ने खुद घोषणा की, बुद्ध ने खुद घोषणा की। तुम्हारे कहने से थोड़े ही बुद्ध भगवान हैं। तुम्हारे कहने से थोड़े ही कृष्ण भगवान हैं। दूसरे के कहने से तो कोई भगवान हो भी कैसे सकता है? यह कोई दूसरों का निर्णय थोड़े ही है। यह तो एकांत रूप से निज-घोषणा है। ऐसा मेरा अनुभव है। इसमें तुम्हारी गवाही की जरूरत नहीं। तुम्हारे वोट की जरूरत नहीं कि तुम वोट दो कि यह आदमी भगवान है या नहीं। उसके लिए राष्ट्रपति और प्रधानमंत्रियों को तुम तय करो।

भगवान तो एक स्व-स्फुरण है, एक आत्मप्रतीति है। तुम्हें भी जब होगी तब तुम्हें ही होगी। किसी के कहने से थोड़े ही तुम भगवान हो जाओगे। अंधे, जिनको अपना ही पता नहीं है, वे अगर तुम्हें भगवान भी कहें तो इससे थोड़े ही तुम भगवान हो जाओगे। उनकी समझ उतनी ही होगी जितनी उनकी समझ है।

एक दिन पत्नी मुल्ला नसरुद्दीन पर बहुत नाराज हो गई। नाराज होकर उसके ऊपर झपटी, तो मुल्ला भाग कर खाट के नीचे घुस गया। पत्नी चीख कर बोली: "कायर निकल बाहर!"

मुल्ला ने कहा: "क्यों निकलूं बाहर? मैं इस घर का स्वामी हूं, मेरी जहां मर्जी होगी वहीं बैठूंगा।"

यह किस भांति का स्वामित्व हुआ! खाट के नीचे छिपे बैठे हैं और कह रहे हैं: "जहां मर्जी होगी वहां बैठेंगे! घर का स्वामी कौन है?"

तुम्हें अपने ही स्वामित्व का पता नहीं है, तुम मेरा निर्णय करोगे? तुम अपना ही कर लो, उतना ही काफी है।

नहीं, तुम्हारे कहने से भगवान नहीं हूं, न हो सकता हूं। यह मेरी उदघोषणा है। इसे दुनिया में कोई भी स्वीकार न करे, कोई फर्क नहीं पड़ता, मेरी उदघोषणा फिर भी खड़ी रहेगी। क्योंकि यह किसी के सहारे पर नहीं खड़ी है। मैं अकेला ही कहूं, एक भी व्यक्ति साथ देने को न हो, तो भी यह उदघोषणा खड़ी रहेगी। तुमसे सहारा मांगता नहीं, क्योंकि तुमसे सहारा मांगा तो तुमसे डरूंगा। कल तुम सहारा खींच लो तो फिर? नहीं, तुम मेरी बैसाखी नहीं हो। मैं अपने पैरों पर खड़ा हूं। यह मेरा निजी वक्तव्य है। सही हो, गलत हो--वक्तव्य मेरा है और एकांतरूपेण निजी है।

अब यह बड़े मजे की बात है: जब मैं तुमसे कहता था, तुम्हारे भीतर बैठे परमात्मा को प्रणाम करता हूं, तो तुममें से एक ने भी आकर मुझसे न पूछा कि हम परमात्मा नहीं हैं और प्रणाम करते हैं परमात्मा को? नहीं, तुमने बिलकुल स्वीकार किया। जब मैंने घोषणा की कि मैं परमात्मा हूं, तब बहुत पत्र मेरे पास आने लगे, बहुत लोग आने लगे कि यह आप कैसे कहते हैं? ये वे ही लोग थे। इनके भीतर बैठे परमात्मा को प्रणाम करता था तब इन्होंने कभी संदेह न उठाया और जब मैंने अपने भीतर बैठे परमात्मा की घोषणा की, तो इन्होंने संदेह उठाना शुरू कर दिया।

तुम अपने अहंकार के जाल को देखोगे? तुम्हारा अहंकार तुम्हें किस भांति ग्रसे हुए है!

मेरी यह घोषणा कि मैं भगवान हूं, वस्तुतः तुम्हारे लिए भी द्वार है कि तुम भी हिम्मत जुटाओ, तुम भी छलांग लो। यह तुम्हारे लिए अनुस्मरण है। यह तुम्हारे लिए स्मृति का एक उपाय है कि हड्डी-मांस-मज्जा में कोई व्यक्ति अगर परमात्मा हो सकता है तो तुम भी हो सकते हो।

बुद्ध तो गये, बहुत समय हुआ; आज भरोसा आता नहीं कि रहे होंगे न रहे होंगे। कहानी तो कहानी हो गई। जीसस गए, महावीर गए। आज कोई चाहिए, जो ठीक तुम जैसा है सब तरह से-- हड्डी-मांस-मज्जा है, देह है, जवानी, बुढ़ापा, बीमारी, मौत है, ठीक तुम जैसा है सब तरह से--फिर भी किसी अलौकिक लोक में जीता है, किसी विभा से भरा है। एक अर्थ में ठीक तुम जैसा है और एक अर्थ में कहीं से पार हो गया है।

तुम्हारी आकांक्षा यह होती है कि भगवान अगर कोई व्यक्ति घोषणा करे तो वह बिलकुल तुम जैसा नहीं होना चाहिए। तो तुमने किताबें भी लिखी हैं, वे झूठी हैं।

जैन कहते हैं कि महावीर के पसीने में बदबू नहीं आती थी--झूठ। क्योंकि महावीर का शरीर भी मनुष्य का शरीर है। मनुष्य के शरीर की ग्रंथियां जैसा काम करती हैं, महावीर का शरीर भी करेगा काम। जैन कहते हैं, महावीर को सांप ने काटा तो खून नहीं निकला, दूध निकला। या तो मवाद रही होगी, सफेद दिखाई पड़ गई होगी तो समझा कि दूध है। अब पैर में से अगर दूध निकले तो आदमी सड़ जाए। खून चाहिए, दूध से काम नहीं चलता। और शरीर में अगर दूध चल रहा हो तो आदमी कभी का मर जाए। एकाध जैन जा कर अस्पताल में कोशिश करवा ले, निकलवा दे खून बाहर और दूध चढ़वा दे। कितनी देर जीता है, देख ले! या कोई जैन मुनि कर दे।

जैन कहते हैं, महावीर पाखाना इत्यादि मलमूत्र नहीं करते। ये सारी चेष्टाएं हैं यह सिद्ध करने की कि वे हमारे जैसे नहीं हैं। हमारे जैसे नहीं हैं तो फिर हम मान सकते हैं कि भगवान हैं। अगर हमारे जैसे हैं तो फिर हम कैसे मानें कि भगवान हैं?

मेरी सारी चेष्टा यही है कि मैं बिलकुल तुम जैसा हूं और फिर भी तुम जैसा नहीं हूं। अगर मैं बिलकुल तुम जैसा नहीं तो मुझसे तुम्हारे लिए कोई लाभ नहीं है। क्या करोगे तुम? अगर महावीर को संबोधि मिल गयी तो मिल गयी होगी--उनके शरीर में खून नहीं, दूध बहता था। तुम्हारे शरीर में तो नहीं बहता दूध, तुमको कैसे

मिलेगी? तो महावीर बने ही इस ढंग से थे, पसीने में बदबू नहीं, खुशबू आती थी। तुम्हारे पसीने में तो बदबू आती है, खुशबू नहीं आती। कितने ही डियोडरेंट साबुन का उपयोग करो, पाउडर छिड़को, फिर भी बदबू आती है। तो तुम कैसे समाधिस्थ होओगे, तुम कैसे कैवल्य को उपलब्ध होओगे?

वही कथाएं बुद्ध और जीसस के बाबत और हरेक के बाबत गढ़ी गयी हैं--सिर्फ एक बात सिद्ध करने के लिए कि वे मनुष्य नहीं हैं, परमात्मा हैं।

वे ठीक तुम जैसे मनुष्य थे। जैन तो कहते हैं, महावीर मलमूत्र नहीं करते; महावीर की मौत ही पेचिश की बीमारी से हुई। छह महीने तक दस्त लगे, उससे, बीमारी से मौत हुई। बुद्ध का प्राणांत विषाक्त भोजन करने से हुआ। कृष्ण पैर में तीर लगने से मरे। ये सारी घटनाएं लीपी-पोती जाती हैं और चेष्टा की जाती है इस तरह बताने की...लेकिन इस चेष्टा के कारण ही मनुष्य और परमात्मा का संबंध टूट जाता है। संबंध तो तभी हो सकता है जब परमात्मा कुछ तुम जैसा हो और कुछ तुम जैसा नहीं, तो संबंध जुड़ सकता है, तो सेतु बन सकता है।

एक हाथ से मैं तुम्हारा हाथ पकड़ सकता हूं, वह तुम्हारे जैसा है और दूसरे हाथ से तुम्हें एक यात्रा पर ले जा सकता हूं, वह हाथ परमात्मा का है। एक हाथ मैं तुम्हारे हाथ में दे सकता हूं और एक परमात्मा के हाथ में दिया है। यही सदगुरु का अर्थ है। अगर सदगुरु बिलकुल परमात्मा जैसा हो तो संबंध टूट जाएगा; अगर बिलकुल मनुष्य जैसा हो तो किसी काम का नहीं है।

सदगुरु सेतु होना चाहिए--एक हिस्सा पुल का इस किनारे पर टिका हो और एक हिस्सा पुल का उस किनारे पर टिका हो, तो ही सदगुरु तुम्हें पार ले जा सकेगा।

मेरी यह घोषणा कि मैं भगवान हूं तुम्हारे लिए सिर्फ जागने का एक मौका है। तुम्हें भगवान कहा था जगाने के लिए। वह काम न आयी तरकीब। अब अपने को भगवान कह रहा हूं, वह भी तुम्हें जगाने के लिए। काम आ गई तो ठीक, अन्यथा कोई और तरकीब करेंगे।

तीसरा प्रश्न: आप तो जनक के गवाह हैं। क्या सच ही आत्मोपलब्धि पर यह भाव होता है: "अहां अहं नमो मह्यं! मेरा मुझको नमस्कार! अहो!" क्या ऐसा भाव होता है सम्यक समाधि में?

ऐसा भाव होता नहीं, क्योंकि वहां तो सारे भाव खो जाते हैं, सब विचार खो जाते हैं। लेकिन जब समाधि से उतरती है चेतना वापस जगत में, तब ऐसा भाव होता है।

इसको ठीक से समझ लेना। ठीक निर्विकल्प समाधि में तो कोई भाव नहीं होता--वही तो निर्विकल्प होने का अर्थ है। सब भाव शून्य हो जाते हैं। लेकिन जब चेतना वापस उतरती है उस महालोक से, फिर लौटती है इस जगत में, मन में, देह में, संसार में; और जब चेतना चेष्टा करती है अभिव्यक्त करने का कि क्या हुआ, उस महालोक में क्या घटा, कौन-सी प्रतीति हुई, कौन-सा स्वाद मिला--तब ऐसा भाव जरूर होता है: "अहो अहं नमो मह्यं!" तब ऐसा भाव होता है कि धन्य हूं मैं! मेरे ही भीतर परमात्मा विराजमान है! मैं अपने ही चरण लगूं, ऐसा भाव होता है।

यह वचन बहुत अनूठा है! जनक का यह वचन अदभुत है। सिर्फ एक उल्लेख मिलता है रामकृष्ण के जीवन में कि उनका चित्र किसी ने लिया और जब चित्रकार चित्र ले कर आया तो रामकृष्ण अपने ही चित्र के सामने झुक कर उसके चरण छूने लगे। शिष्य तो समझे कि दिमाग इनका खराब हुआ। अब यह हद हो गयी! यह भी पागलपन की हद है! किसी ने कहा भी कि "परमहंसदेव, आप यह क्या कर रहे हैं? अपने ही चित्र का पूजन कर रहे हैं? नमन कर रहे हैं अपने ही चित्र को?" रामकृष्ण ने कहा: "भली याद दिलाई। मैं तो भूल ही गया। यह तो समाधि का चित्र है। यह तो किसी भाव-दशा का चित्र है, मुझसे क्या लेना-देना? यह तो मैं अपनी समाधि को

नमस्कार कर रहा हूं, और समाधि मेरीत्तेरी थोड़े ही होती है, अपनीत्तुम्हारी थोड़े ही होती है। समाधि तो समाधि है। समाधि को तो नमन करना होता है।"

तो जब सिद्ध उतरता है वापस जगत में और खबर देता है, तब ऐसे भाव पैदा होते हैं। ये भाव समाधि में पैदा नहीं होते, लेकिन समाधि को बांटना पड़ता है। समाधि अगर बंटे न तो समाधि नहीं।

महावीर बारह वर्ष तक मौन में रहे; फिर जिस दिन घटी घटना, भागे नगर की तरफ! जो छोड़ आए थे, वहीं भागे। भागे भीड़ की तरफ! जिससे पीठ मोड़ ली थी, उसी तरफ गए। जहां से विमुख हो गए थे, फिर वहां लौटे। अब घटना घट गयी थी, अब बांटना था। फूल खिल गए थे, अब सुगंध फैलनी थी।

सोचता था मैंने जो नहीं कहा
वह मेरा अपना रहा, रहस्य रहा
अपनी इस निधि, अपने संयम पर
मैंने बार-बार अभिमान किया
पर हार की तक्षण धार है साल रही
मेरा रहस्य उतना ही रक्षित है
उतना भर मेरा रहा
जितना किसी अरक्षित क्षण में
तुमने मुझसे कहला लिया
जो औचक कहा गया, वह बचा रहा
जो जतन संजोया, चला गया।
यह क्या, मैं तुमसे या जीवन से
या अपने से छला गया!
जो औचक कहा गया, वह बचा रहा
जो जतन संजोया, चला गया!

इस जीवन में जो तुम बचाओगे वह खो जाएगा। जो तुम बांट दोगे, वह बच जाएगा। ऐसा अनूठा नियम है। जो दोगे, वही तुम्हारा रहेगा। जो सम्हाल कर रख लोगे, छिपा लोगे--सड़ जाएगा, कभी तुम्हारा न रहेगा।

इसलिए समाधि तो परम ध्यान है। जब फलता है तो बांटना पड़ता है। समाधि वही जो बंटे; न बंटे तो झूठ; कहीं कुछ भूल हो गई; कहीं कुछ नासमझी हो गई; कहीं कुछ का कुछ समझ बैठे। जब बादल जल से भरा हो तो बरसेगा, तो तृप्त कंठ पृथ्वी का होगा उसकी वर्षा से। जब दीया जलेगा तो रोशनी बिखरेगी।

जब भी समाधि लगती है किसी के जीवन में, फूल खिलता है तो बंटता है। सारे शास्त्र ऐसे ही जन्मे। शास्त्र का जन्म समाधि के बंटने के कारण होता है। शास्त्र और किताब का यही फर्क है। किताब आदमी लिखता है, चेष्टा करता है। शास्त्र समाधि से सहज निकसित होता है, कोई चेष्टा नहीं है, कोई प्रयास नहीं है। समाधि अपने-आप शास्त्र बन जाती है। समाधि से निकले उपनिषद, निकले वेद, निकला कुरान, निकली बाइबिल, निकला धम्मपद। ये समाधि के क्षण से बंटे हैं।

समाधि का अर्थ है: तुमने पा लिया!

समाधि बंटना चाहती है, बंटती है। फिर भी जो कहना है, अनकहा रह जाता है। फिर भी जो बांटना था, बंट नहीं पाता। क्योंकि जो मिलता है निःशब्द में, उसे शब्द में लाना कठिन। जिसका अनुभव होता है निराकार में, उसे आकार देना कठिन। जिसे मौन में साक्षात्कार किया, उसे अभिव्यक्ति बनानी अत्यंत कठिन हो जाती है।

कन्हाई ने प्यार किया
कितनी गोपियों को कितनी बार
पर उंड़ेलते रहे अपना सारा दुलार

उस एक रूप पर जिसे कभी पाया नहीं,
जो कभी हाथ आया नहीं
कभी किसी प्रेयसी में उसी को पा लिया होता
तो दुबारा किसी को प्यार क्यों किया होता?
कवि ने गीत लिखे नये-नये बार-बार
पर उसी एक विषय को देता रहा विस्तार
जिसे कभी पूरा पकड़ पाया नहीं
जो कभी किसी गीत में समाया नहीं
किसी एक गीत में वह अट गया दिखता
तो कवि दूसरा गीत ही क्यों लिखता?

बुद्ध चालीस-ब्यालीस वर्षों तक बोलते रहे--प्रतिदिन, सुबह-सांझ। महावीर चालीस वर्षों तक समझाते रहे, घूमते रहे। कुछ था, जो कहना था। कहने की कोशिश की भरसक, अथक कोशिश की; फिर भी पाया कि पूरा अट नहीं पाता है, कुछ छूट जाता है, कुछ पीछे रह जाता है।

रवींद्रनाथ ने मरते वक्त कहा कि "हे प्रभु, तू समय के पहले उठा ले रहा है। अभी तो मैं अपना साज बिठा पाया था, अभी गीत गया कहां था?" छः हजार गीत वे गा चुके थे। "अभी केवल साज बिठाया था। अभी तो यह तबला ठोंक-ठाक कर ठीक किया था, वीणा के तार कसे थे--और तूने उठा लिया, उठाने लगा? अभी असली गीत तो अनगाया रह गया है।"

मैंने सुना है, एक वाइसराय लखनऊ के एक नबाब के घर मेहमान था। नवाब ने शास्त्रीय संगीत का आयोजन किया। संगीतज्ञ आए। जैसे शास्त्रीय संगीतज्ञों की आदत होती है, तबला ठोंकने लगे, वीणा कसने लगे। जब तक वे इंतजाम कर रहे थे, साज-सामान बिठा रहे थे, नवाब ने वाइसराय से पूछा: "आपको कैसा संगीत प्रिय है?" वाइसराय ने सौजन्यतावश सोच कर कि यही संगीत हो रहा है, अब इसमें...उसने कहा, यही संगीत प्रिय है। उसे कुछ पता भी नहीं था कि संगीत में अब उत्तर क्या दे? उसने कहा कि यही संगीत प्रिय है। नवाब ने कहा: "तो फिर यही चलने दो।" तीन घंटे तक यही चला। तबला कसा जा रहा, वीणा कसी जा रही और वाइसराय सौजन्यतावश सुन रहा है। और नवाब अपना सिर ठोक रहा है कि अब क्या करो। इसको यही पसंद है तो यही चलने दो।

रवींद्रनाथ ने कहा: "अभी तो मैं अपना साज-सामान बिठा पाया था और तू मुझे वापस बुलाने लगा! गीत गाने की कोशिश की थी, अभी गीत गया कहां!"

कोई महाकवि कभी नहीं गा पाया। कोई महापुरुष कभी नहीं कह पाया, जो कहना था। कुछ न कुछ छूट जाता है। कुछ न कुछ बात अधूरी रह जाती है। कारण है। कारण ऐसा है कि जो मिलता है वह तो मिलता है आत्मा के लोक में; फिर उसे मन में लाना बड़ा कठिन हो जाता है। मन बड़ा छोटा है। आत्मा है आकाश जैसी। मन है तुम्हारे घर के आंगन जैसा। इसमें इस विराट आकाश को भर लेना कठिन है, असंभव है। फिर जो मन में भी जो थोड़ा-बहुत आ जाता है, उसको शरीर से बोलना है--फिर और अड़चन आ गई। फिर और क्षुद्र में प्रवेश करना है। नहीं, यह हो नहीं पाता। थोड़ी-बहुत बूंदें आ जाती हों, बरस जाती हों तुम पर तो बहुत; सागर तो घुमड़ता रह जाता है। लेकिन थोड़ी-सी बूंदें भी काफी हैं--सागर का स्मरण दिलाने को। थोड़ी-सी बूंदें भी पर्याप्त हैं बोध के लिए; इशारा तो मिल जाता है। सूरज की एक किरण तुम पकड़ लो तो सूरज की राह तो मिल जाती है; उसी किरण के सहारे तुम सूरज तक पहुंच सकते हो।

भाव तो तभी उठते हैं जब उन्हें प्रगट करने का सवाल आता है। अनुभूति के क्षण में न कोई विचार है न कोई भाव है।

चौथा प्रश्न: हम बहुत पुराने हो गये हैं। जब कभी नये के प्रादुर्भाव का क्षण आता है, हमारे गात शिथिल हो जाते हैं, हाथ में से गांडीव गिरने लगता है और हम भय से कांपने लगते हैं। हम चाहते तो हैं कि नये का जन्म हो, लेकिन भय का अंधकार हमें घेर लेता है और हम किंकर्तव्यविमूढ़ हो जाते हैं। कृपा पूर्वक समझाएं कि नये के स्वागत के लिए कैसी चित्त-दशा चाहिए और कैसी दृष्टि?

पहली तो बात, पुराने से तुम अभी ऊबे नहीं हो; कहीं कुछ रस लगाव बाकी रह गया है; कहीं कुछ गठबंधन बाकी रह गया है। तो पहली तो बात यह है कि पुराने को ठीक से देख लो, ताकि पुराने से संबंध छूट जाए। तुम पुराने को पकड़े-पकड़े नये का स्वागत करना चाहोगे, नहीं हो पाएगा। पुराना तुम्हें डराएगा; क्योंकि पुराने का न्यस्त स्वार्थ है कि नये को न आने दिया जाए, अन्यथा पुराना निकाल दिया जाएगा। तो पुराना तो नये के विरोध में है। और अगर तुम पुराने से अभी भी ऊब नहीं गये हो, थक नहीं गये हो, अगर तुमने पुराने की निस्सारता नहीं देख ली है तो वह तुम्हें नये को स्वीकार न करने देगा।

मेरे पास लोग आते हैं। वे कहते हैं कि हमें ध्यान सीखना है, ध्यान करना है; वैसे हम बीस वर्ष से ध्यान कर रहे हैं। मैं उनसे पूछता हूं, बीस वर्ष से ध्यान कर रहे हो, कुछ मिला? वे कहते हैं, हां काफी शांति मिली, काफी सुख मिला। मैं उनके चेहरे को देखता हूं, वहां न कोई सुख है न कोई शांति है। उनके भीतर देखता हूं, वहां मरुस्थल है। कहीं हरियाली नहीं है, कोई मरूद्यान नहीं है। कोई घूंघर बजते हुए नहीं सुनाई पड़ते। फिर भी मैं उनसे कहता हूं कि "फिर से सोच कर कहें। जो करते रहे हैं, अगर उससे शांति और आनंद मिल रहा है तो मेरे पास क्यों आए? उसे जारी रखें। मैं तुम्हारे शांति, आनंद को नहीं तोडूंगा, विघ्न नहीं डालूंगा। मैं तुम्हारा दुश्मन थोड़े ही हूं।"

तब वे कहते हैं कि "नहीं, ऐसा कुछ खास नहीं मिल रहा है। बस ऐसा ही है, मतलब ज्यादा अशांति नहीं है।" अब वे यह नहीं कहते कि शांति है; अब वे कहते हैं, ज्यादा अशांति नहीं है। मैं उनसे कहता हूं, "तब भी कुछ हो तो रहा है। और यह तो लंबी प्रक्रिया है। बीस वर्ष कुछ बहुत वक्त नहीं, बीस जन्मों में भी हो जाए तो बहुत। आप ठीक रास्ते पर चल पड़े हैं, अब क्यों मुझे और परेशान करते हैं! चलते रहें!"

तब उनको लगता है कि अगर उन्होंने स्पष्ट बात नहीं कही तो मुझसे संबंध न बनेगा। वे कहते हैं कि अब आप जोर ही डालते हैं तो साफ ही बात कह देते हैं कि कुछ नहीं हुआ।

"तो इतनी देर क्यों खराब की?"

मनुष्य का मन यह भी मानने को राजी नहीं होता कि जो काम मैं बीस वर्ष से कर रहा था, उससे कुछ नहीं हुआ। इससे अहंकार को चोट लगती है: "तो इसका मतलब कि बीस साल मैं मूरख, बीस साल मैं नासमझ था?" यह तो मानना पड़ेगा न! तो अहंकार यह मानने को कभी राजी नहीं होता कि मैंने जो किया वह व्यर्थ गया। वह कहता है कि नहीं, कुछ-कुछ तो हो रहा है। हो भी नहीं रहा है; अगर हो रहा होता तो फिर नये की कोई जरूरत नहीं। अगर पुराने में सार है तो नये की जरूरत क्या है? कोई नये को लेकर क्या करोगे? सार असली बात है।

तो पहली बात तो यह देख लेना जरूरी है कि पुराने में सार है? अहंकार को बीच में मत आने देना। साफ-साफ देख लेना। तुम हिंदू हो, हिंदू होने से कुछ मिला? मुसलमान हो, मुसलमान होने से कुछ मिला? जैन हो, जैन होने से कुछ मिला?

अभी चार दिन पहले एक महिला ने आकर कहा...यूरोप से आयी है और कहा कि मैं तो जीसस की अनुयायी हूं और जीसस के अतिरिक्त मेरा कोई और गुरु हो नहीं सकता। मैंने कहा: "बिलकुल ठीक बात है।

जरूरत भी क्या है? एक गुरु काफी है। एक गुरु ही मोक्ष पहुंचा देता है, दो की जरूरत क्या है?" तू यहां आई क्यों, मैंने उससे पूछा। वृद्ध महिला है। आने की कोई जरूरत ही न थी। गुरु तुझे मिल गए।

वह जरा हैरान हुई, क्योंकि वह आई तो इसीलिए है। अब मजा यह है कि वह सीखना भी मुझसे चाहती है, लेकिन अपने पुराने ढांचे को छोड़ना भी नहीं चाहती। तो मैंने कहा कि मेरे द्वार बंद। जब जीसस के द्वार तेरे लिए खुले हैं तो पर्याप्त है, जहां हम ले जाएंगे, वहीं जीसस तुझे ले जाएंगे। तू उसी रास्ते से चल।

उसने कहा: "अब जीसस को तो मरे दो हजार साल हो गए। अब उनसे तो मैं पूछने जाऊं कहां?" तो फिर मैंने कहा: "मुझसे पूछना हो तो उनको छोड़ो। फिर इतनी हिम्मत करो। मुर्दा को छोड़ो!"

आदमी अहंकार के कारण बड़े उपद्रव में पड़ा है। वह बोली कि यह तो कैसे हो सकता है? मैं कैथोलिक ईसाई हूं और बचपन से ही ईसाई धर्म को मैंने माना है।

मैंने कहा: मानो! मैं अभी भी मना नहीं करता। मैं किसी धर्म के विपरीत हूं ही नहीं। अगर तुम्हें कुछ हो रहा है, तुम्हारे जीवन में फूल खिल रहे हैं, मेरा आशीर्वाद! खूब फूल खिलें। मैं कहता नहीं कुछ, लेकिन तुम्हीं अपने-आप आयी हो और खबर दे रही हो कि फूल नहीं खिले हैं, अब तक की ईसाइयत काम नहीं आयी है। मैं यह भी नहीं कहता कि ईसाइयत गलत है। मैं इतना ही कह रहा हूं कि तुम्हारे काम नहीं आई है, तुमसे मेल नहीं बैठा है। इस सत्य को तो देखो! इस सत्य को देखे बिना कैसे नये का अंगीकार होगा? पुराने से साफ-साफ निपटारा कर लेना चाहिए।

नये के स्वागत के पूर्व पुराने को विदा करो। पुराना घर में बैठा रहे और नये का तुम स्वागत करने जाओगे, पुराना उसे अंदर न आने देगा। क्योंकि पुराना बीस साल, तीस साल, चालीस साल, पचास साल रह चुका है। इतनी असानी से कोई अपना स्थान नहीं छोड़ता। बड़ी जद्दोजहद होगी। तुम पहले पुराने को अलविदा कहो।

एक ही बात खयाल रखो कि हुआ है पुराने से कुछ? तो कोई जरूरत नहीं नये के साथ जाने की, क्योंकि नये-पुराने से क्या लेना-देना? सत्य कोई नया होता कि पुराना होता? सत्य तो बस सत्य है। अगर तुम्हारे जीवन में सार की वर्षा हुई है, अमृत का झरना बहा है तो कितने ही प्राचीन के कारण हुआ हो, हो गया! तुम धन्यभागी हो, नाचो, उत्सव मनाओ! नहीं हुआ तो हिम्मत जुटाओ, पुराने को विदा करो। पुराने की विदा प्रथम चरण है नये के स्वागत के लिए।

लेकिन तुम हो चालाक। तुम हो हिसाब लगाने वाले। तुम सोचते हो: "पुराना भी बना रहे, नये में भी कुछ सार हो तो इसको भी हथिया लो।" यह नहीं होता। इससे तुम्हारी दुविधा बढ़ेगी। दो नाव पर कभी सवार मत होना, अन्यथा टूटोगे और मरोगे। दो घोड़ों पर सवार मत हो जाना, अन्यथा प्राण गंवाओगे। पुराने और नये का साथ-साथ हिसाब मत बांधना।

मंत्र धुंधवाए हवन के
दर्द अकुराए चमन के
बोल सांसों को मलय
वातास दूं लाकर कहां से?

देख चारों ओर फैले
सर्प क्षितिजों पर विषैले
बोल पंखों को खुला
आकाश दूं लाकर कहां से?

नाम लहरों ने मिटाए

सब घरौंदे खुद ढहाए
बोल सपनों को नए
रनिवास दूं लाकर कहां से?

पुराने को गौर से तो देखो! कुछ भी नहीं है वहां--राख है। सपने ही हैं--और वे भी खंडित।

पुराने का सत्य ठीक-ठीक स्पष्ट हो जाए कि वहां कारागृह है, आकाश नहीं है; तुम बंधे हो, मुक्त नहीं हुए; तुम्हारे जीवन में जंजीरें पड़ गई हैं, स्वातंत्र्य नहीं आया। अगर यह तुम्हें साफ हो जाए, पुराना तुम्हें अगर कारागृह की तरह दिखाई पड़ने लगे--और ध्यान रखना, जिससे भी जीवन में सार नहीं आए, वही कारागृह बन जाता है--तो फिर नए के स्वागत की तैयारी हो सकती है। नए के स्वागत की तैयारी तभी हो सकती है जब तुम्हें दिखाई पड़ने लगे कि अब तक जिन मार्गों को मान कर चला, उनसे पहुंचा नहीं, सिर्फ भटका।

कोल्हू के बैल की तरह लोग हो गए हैं।

मैंने सुना है, एक तर्कशास्त्री एक तेली के घर तेल लेने गया। वह बड़ा हैरान हुआ--तर्कशास्त्री था! उसने देखा कि तेली तेल बेच रहा है और उसकी ठीक पीठ के पीछे कोल्हू चल रहा है; कोई चला नहीं रहा, बैल खुद ही चल रहा है। वह बहुत हैरान हुआ। उसने कहा कि तेली भाई, यह मुझे बड़े विस्मय में डालती है बात, क्योंकि बैल तो मारे-मारे नहीं चलते, यह तुम धार्मिक बैल कहां से पा गए? ये तो सतयुग में हुआ करती थीं बातें, यह कलियुग चल रहा है। और यह सतयुगी बैल तुम्हें कहां से मिल गया? यह अपने-आप चल रहा है; न कोई कोड़ा फटकारता है, न कोई पीछे मारता है!

उस तेली ने कहा कि यह अपने-आप नहीं चल रहा है, चलाया जा रहा है। उसके पीछे तरकीब है। आदमी की बुद्धि क्या नहीं कर सकती!

उस तर्कशास्त्री ने कहा कि मैं जरा तर्क का विद्यार्थी हूं, मुझे तुम समझाओ कि क्या मामला है? तो उसने कहा: "देखते हैं बैल के गले में घंटी बांध दी है! बैल चलता रहता है, घंटी बजती रहती है। तो मुझे घंटी सुनाई पड़ती रहती है। जब तक बैल चलता है, घंटी बजती रहती है। जैसे ही घंटी रुकी कि मैं उठा और मैंने बैल को लगाई चोट। तो बैल को यह कभी पता ही नहीं चलता कि पीछे मालिक नहीं है। इसमें देर नहीं होती; घंटी रुकी कि मैंने कोड़ा मारा। तो बैल चलता रहता है, घंटी बजती रहती है। आंख पर पट्टियां बांध दी हैं। तो बैल को कुछ दिखाई तो पड़ता नहीं कि मालिक कहां है।"

तर्कशास्त्री तर्कशास्त्री था। उसने कहा: "और ऐसा भी तो हो सकता है कि बैल खड़ा हो जाए और सिर हिला कर घंटी बजाए।"

उस तेली ने कहा: "महाराज, जोर से मत बोलो, बैल न सुन ले! तो और यह कहां की झंझट आप आ गए! अभी तक बैल ने ऐसा किया नहीं। धीरे बोलो! और दुबारा इस तरफ इस तरह की बात मत करना।"

जिनके तुम बैल हो--कोई हिंदू, कोई मुसलमान, कोई ईसाई, कोई जैन, कोई बौद्ध; जिन पंडित-पुरोहितों के तुम बैल हो, जिन्होंने तुम्हारे गले में घंटी बांधी है--वे तुम्हें सुनने न देंगे नए की बात। वे अटकाव डालेंगे। उन्होंने तुम्हारी आंख पर पट्टियां बांधी हैं। उन्होंने सब भांति इस तरह इंतजाम किया है कि तुम अंधे की तरह जीयो और अंधे की तरह मर जाओ। अगर तुम्हें यह सत्य दिखाई पड़ गया, तो ही नए का स्वागत संभव है।

सत्य नये और पुराने का कोई संघर्ष नहीं है--सत्य और असत्य का संघर्ष है। असत्य अगर तुम्हारे जीवन में साफ-साफ दिखाई पड़ गया कि असत्य है, फिर तुम सत्य के लिए द्वार खोल कर, बाहें फैला कर आलिंगन करने को तत्पर हो जाओगे।

हां, बहुत दिन हो गए घर छोड़े
अच्छा था मन का अवसन्न रहना
भीतर-भीतर जलना, किसी से न कहना

पर अब बहुत ठुकरा लिए पराई गलियों के अनजान रोड़े
नहीं जानता कब कौन संयोग
ये डगमग भटकते पग
फिर इधर मोड़े या न मोड़े
पर हां, मानता हूं कि जब तक पहचानता हूं
कि बहुत दिन हो गए घर छोड़े।

अगर तुम्हें इतनी स्मृति आने लगे कि घर छोड़े बहुत दिन हो गए, भटक लिए बहुत, चल लिए बहुत, घर मिलता नहीं--तो शायद नए स्वर, सत्य का नया रूपांतरण तुम्हारे लिए आकर्षण बन जाए।

स्वभावतः, पुराने के साथ सुविधा है, क्योंकि पुराने के साथ भीड़ है। नए के साथ सुविधा नहीं है, क्योंकि नए के साथ भीड़ कभी नहीं होती। जब बुद्ध थे तो भीड़ उनके साथ न थी; अब भीड़ उनके साथ है। अभी मैं हूं तो भीड़ मेरे साथ नहीं है। दो हजार साल बाद तुम आना और देखना, भीड़ तुम मेरे साथ पाओगे; लेकिन तब वह बेकार होगी, तब मैं पुराना हो चुका होऊंगा। तब दो हजार साल में मेरी बातों पर खूब धूल जम चुकी होगी और पंडित-पुजारियों ने उसके सब अर्थ विकृत कर दिए होंगे। तब तुम भीड़ को पाओगे। लेकिन तब किसी अर्थ की न रह जाएगी।

सत्य को बार-बार नया-नया आना पड़ता है, क्योंकि पंडित-पुजारी उसको सदा व्यर्थ कर देते हैं, खराब कर देते हैं। सत्य जब भी आता है तो कुछ लोग उसके दावेदार हो जाते हैं और उस दावे का लाभ उठाने लगते हैं। यह स्वाभाविक है। यह होता रहा है। ऐसा होता रहेगा। इसे बदलने का कोई उपाय नहीं। तुम ही समझ लो, बस इतना काफी है।

पुराने के साथ भीड़ है, पुराने के साथ साख है। अब मेरी बात तो नई है। अगर तुम वेद की बात मानोगे तो पांच हजार साल पुरानी है। और अगर तुम वेद के पंडित से पूछो तो वह कहता है, नब्बे हजार साल पुरानी है। इसलिए सभी धर्मगुरु अपने धर्म को बहुत पुराना सिद्ध करने की कोशिश करते हैं, क्योंकि जितनी पुरानी दूकान, उतनी ही पुरानी साख। और जब इतने दिन तक दूकान चलती रही तो कुछ होगा, मालमत्ता कुछ होगा; नहीं तो कैसे चलती? कोई ऐसे कोरे दूकान चलती है, बिना बेचे कहीं कुछ इतने दिन तक चल सकती है? कहीं कुछ होगा सत्व!

इसलिए हर धर्म सिद्ध करता है कि हमारी दूकान पुरानी है। जैन कहते हैं कि हमारा धर्म हिंदुओं से भी ज्यादा पुराना है। वे भी प्रमाण जुटाते हैं कि ऋग्वेद में उनके प्रथम तीर्थंकर का नाम है; आदिनाथ का, ऋषभदेव का नाम है। निश्चित है कि ऋग्वेद ऋषभदेव से पुराना नहीं। एक बात तो पक्की हो गई। और नाम बड़े आदर से लिया गया है। तो जैन कहते हैं कि इतना आदर समसामयिक व्यक्ति के प्रति होता ही नहीं। इतने आदर से तो नाम तभी लिया जाता है जब ऋषभदेव को हजार दो हजार साल बीत गए हों। आदमी ऐसे मरे-मराए हैं कि मरों को ही पूजते हैं। तो दो हजार साल, तीन हजार साल पुराना नाम होना चाहिए ऋग्वेद से। ऋग्वेद में उल्लेख है तो ऋषभदेव का नाम तीन हजार साल पुराना कम से कम होना चाहिए। तब कहीं इतना आदर लोग कर पाते हैं। जिंदा का कहीं कोई आदर करता है? जिंदा से तो लोग डरते हैं। जिंदा से लोग बचते हैं। आदर की बात दूर, निंदा करते हैं, विरोध करते हैं। हां, समय बीत जाता है, तब पूजा शुरू हो जाती है।

तो जैन सिद्ध करते हैं, उनका धर्म पुराना है। हिंदू सिद्ध करते हैं, उनका धर्म पुराना है। सब अपनी-अपनी तरकीब खोजते हैं कि दूकान हमारी बड़ी पुरानी है, इतने लंबे दिनों से चली आई है! क्यों? क्योंकि पुराने के साथ प्रतिष्ठा हो जाती है। जितनी लंबी परंपरा उतनी प्रतिष्ठित हो जाती है। फिर यह सवाल उठने लगता है कि जब इतने करोड़-करोड़ लोगों ने इतने हजारों-हजारों वर्ष तक माना है कुछ, तो सच होगा ही।

भीड़...भीड़ दो तरह से जुटाई जाती है। एक तो भीड़ राजनीतिज्ञ जुटाता है। राजनीतिज्ञ भीड़ जुटाता है समसामयिक, कंटेम्परेरी; जैसे अभी कार्टर जीत गया, फोर्ड हार गए, तो कार्टर ने सिद्ध कर दिया कि भीड़ मेरे साथ है, मौजूदा भीड़ मेरे साथ है, फोर्ड के साथ नहीं। यह समसामयिक हिसाब है राजनीति का। धर्म भी भीड़

जुटाते हैं, लेकिन दूसरे ढंग से--वे जुटाते हैं पीछे की तरफ: पांच हजार साल से भीड़ हमारे साथ है; जोड़ो, कितने लोग! पचास हजार साल से भीड़ हमारे साथ है; जोड़ो, कितने लोग! अरबों-खरबों लोग हमारे साथ रहे हैं, गलत हो सकते हैं? नहीं, कैसे गलत हो सकते हैं? इतने लोग धोखा खा सकते हैं? एकाध को धोखा दे लो, दो-चार को धोखा दे लो, अरबों-खरबों को धोखा दे पाओगे?

बात कुछ और ही है। भीड़ के पास सत्य कभी नहीं होता। सत्य तो कभी विरलों के पास होता है। भीड़ तो सदा असत्य से जीती है। भीड़ सत्य चाहती ही नहीं। भीड़ के लिए असत्य बड़ा शुभ है, सुंदर है। असत्य भीड़ को बदलने से बचाता है, सुरक्षा करता है; तुम जैसे हो, ठीक हो। सत्य तो तिलमिलाता है। सत्य तो जलाता है, तोड़ता है, काटता है, खंड-खंड कर देगा। तुम जैसे हो, इसमें क्रांति उमगेगी। तो सत्य तो भीड़ कभी मानती नहीं। सत्य तो कभी विरले लोगों के पास होता है, कभी एकाध...। लेकिन तब वह नया होता है--नए होने के कारण समादृत नहीं होता। जब तक पुराना होगा, तब तक असत्य हो जाएगा। समय की धार सत्य को असत्य कर जाती है।

तो पहले तो तुम ठीक से समझ लेना कि पुराने को तुम पकड़े क्यों हो? पुराने का ठीक विश्लेषण कर लेना। जैसे-जैसे विश्लेषण स्पष्ट होने लगेगा, अपने-आप पुराना गिरेगा। तुम तैयार हो जाओगे नए के स्वागत को। क्योंकि नया जीवन है, नया परमात्मा है। नया होना ही सत्य का ढंग है। सत्य चिरनवीन है।

पुराने शब्द होते हैं; सत्य नहीं। पुराने शास्त्र हो जाते हैं; सत्य का अनुभव नहीं, समाधि नहीं। और जो सत्य के साथ होना चाहे उसे थोड़ी हिम्मत तो चाहिए, साहस तो चाहिए। उसे भीड़ से अन्यथा चलना होगा। लोग हंसेंगे। लोग आलोचना करेंगे। लोग मजाक उड़ाएंगे। लोग मजाक उड़ाते ही इसीलिए हैं, ताकि तुम्हारी हिम्मत भी न हो नए के साथ जाने की। और लोग मजाक इसलिए भी उड़ाते हैं, आलोचना इसलिए भी करते हैं; क्योंकि वे खुद भी डरे हुए हैं कि अगर इस तरह सुविधा दी लोगों को जाने की तो उनका पुराना ढांचा बिखर जाएगा। पुराने ढांचे के साथ बड़े न्यस्त स्वार्थ जुड़ गए हैं। नए के साथ तुम अकेले हो जाओगे, अकेले होकर डर लगेगा, तुम कंपोगे।

अब कोई व्यक्ति मेरा संन्यासी हो जाता है तो वह खतरा ले रहा है। सिर्फ हिम्मतवर लोग, दुस्साहसी लोग ही खतरा ले सकते हैं। क्योंकि सब तरह की अड़चन उसे आएगी; जहां जाएगा, मुश्किल में पड़ेगा।

एक मित्र ने संन्यास लिया। उनकी पत्नी मेरे पास आई। उसने कहा कि इनको अगर संन्यासी ही होना है तो पुराने ढब के हो जाएं, कम से कम आदर-प्रतिष्ठा तो रहेगी। वह घर से छोड़ने को राजी है पति को, मगर कहती है कि "कम से कम पुराने ढंग के हो जाएं, चले जाएं छोड़ कर, मैं बच्चों को सम्हाल लूंगी। मगर यह आपका संन्यास तो बड़ा खतरनाक है।"

मेरे संन्यास में पति घर छोड़ कर नहीं जा रहा है; पत्नी की फिक्र रखेगा, नौकरी जारी रखेगा, बच्चों की चिंता करेगा। तो भी पत्नी कहती है: "नहीं! कि यह नहीं चलेगा। ये पुराने ढंग के हो जाएं, जाएं हिमालय! उससे हम राजी हैं, कम से कम लोग यह तो कहेंगे कि संन्यास लिया, समादर तो मिलेगा। अभी तो लोग कहते हैं, ये भ्रष्ट हो गए।"

पति को छोड़ने को राजी है, पति के बिना जीने को राजी है! अहंकार का कैसा मजा है! लेकिन भ्रष्ट हो गए, इससे चोट लगती है। कहने लगी कि अगर ढंग से संन्यास लेते--वे जैन हैं--तो शोभायात्रा निकलती; दूर-दूर से लोग रिश्तेदार इकट्ठे होते; पूजा-प्रतिष्ठा होती।

वह सोच रही है कि वह बड़ी गहरी बातें कह रही है। वह इतना ही कह रही है कि अहंकार पर कुछ और फूलमालाएं चढ़ जातीं। सह लेते दुख इनको छोड़ने का, मगर प्रतिष्ठा तो बनी रहती। मगर यह तो बड़ा उपद्रव कर लिया। अब जहां जाओ, वहीं मुसीबत है।

मेरा संन्यास तो अड़चन में डालेगा। और संन्यास ही क्या जो अड़चन में न डाले! क्योंकि उसी अड़चन से, चुनौती से तो तुम्हारे जीवन का विकास होगा। उसी चुनौती पर तो धार रखी जाएगी। उसी पर तो तुम्हारी तलवार में धार आएगी। लोग हंसेंगे, विरोध करेंगे। लोग कहेंगे: यह भी कोई संन्यास है! हजार आलोचना करेंगे, विवाद करेंगे। और फिर भी तुम डटे रहे तो तुम्हारे जीवन में कुछ बल पैदा होगा।

पुराने ढंग का संन्यास तो अब कूड़ा-कचरा है! अहंकार की पूजा उससे हो जाएगी, लेकिन सत्य का कोई अनुभव न होगा। क्योंकि अहंकार से बड़ी और कोई बाधा नहीं है सत्य के अनुभव में।

आखिरी प्रश्न: आपने कहा कि कर्म करते हुए कर्ता-भाव नहीं रखना है और जो होता है उसे होने देना है। इस हालत में कृपया बताएं कि मनुष्य फिर कर्तव्य और अकर्तव्य का निर्णय कैसे करे?

जो हो सहज, वही कर्तव्य है। जो करना पड़े जबर्दस्ती, वही अकर्तव्य है। तुम चौंकोगे, क्योंकि तुम्हारी परिभाषा ठीक उल्टी है। तुम तो कर्तव्य उसी को कहते हो जो मजबूरी में करना पड़ता है। बाप बीमार है, पैर दबा रहे हैं--तुम कहते हो, कर्तव्य कर रहे हैं। कर्तव्य कर रहे हैं--मतलब कि "मरो भी! या ठीक हो जाओ, कर्तव्य तो न करवाओ। अब यह किन पापों का फल भोग रहे हैं, कि अभी फिल्म देखने गए होते, कि क्लब में नाच हो रहा है, कि रोटरी क्लब की बैठक हो रही है, और अब यह बाप के पांव दबाने पड़ रहे हैं! किसने तुमसे कहा था कि हमको जन्म दो?" ये सब विचार उठ रहे हैं।

कर्तव्य का मतलब तुम समझते हो? कर्तव्य का मतलब है: जिसे तुम करना नहीं चाहते और करना पड़ता है। तुम किसी स्त्री के प्रेम में पड़ जाते हो, तब तुम यह तो नहीं कहते कि यह कर्तव्य है। तब तुम कहते हो: प्रेम! लेकिन जब तुम मां को देखने जाते हो तो कहते हो, कर्तव्य है। तुम अपनी प्रेयसी से मिलने जाते हो, तब तुम नहीं कहते कि कर्तव्य; यद्यपि जब तुम घर लौटते हो पत्नी से मिलने, तब कहते हो, कर्तव्य है। जो करना पड़े...।

मुल्ला नसरुद्दीन एक दिन घर आया और उसने देखा कि उसका मित्र उसकी पत्नी को चूम रहा है। वह एकदम सिर ठोक कर खड़ा हो गया। उसने कहा: "मुझे तो करना पड़ता है, तू क्यों कर रहा है?" उसे भरोसा ही न आया।

कर्तव्य का अर्थ ही है: नहीं करना था, फिर भी करना पड़ा। मन से नहीं किया, हृदय से नहीं किया--यह कोई कर्तव्य हुआ? तुम्हारा "कर्तव्य" तो गंदा शब्द है। तो मैं तो तुमसे कहता हूं: वही करना, जो सहज हो। धोखा मत देना। अगर पैर न दबाने हों पिता के तो क्षमा मांग लेना; कहना कि भाव नहीं उठता, झूठ न करूंगा। हां, सहज उठता हो भाव, तो ही दाबना। मैं मानता हूं कि तुम्हारे पिता भी प्रसन्न होंगे, क्योंकि मेरा यह अनुभव है कि अगर तुम जबर्दस्ती पिता के पैर दाब रहे हो तो पिता प्रसन्न नहीं होते। जबर्दस्ती से कोई प्रसन्नता कहीं नहीं फलती। जब तुम्हीं प्रसन्न नहीं हो तो तुम्हारे हाथ की ऊर्जा और गर्मी और तुम्हारे हाथ की तरंगत्तरंग कहेगी कि तुम जबर्दस्ती कर रहे हो; कर रहे हो, ठीक है! करना पड़ रहा है। उधर पिता भी पड़े देख रहे हैं कि ठीक है! मजबूरी है तो कर रहे हो। न तुम प्रसन्न हो, न पिता प्रसन्न हैं। न तुम आनंदित हो, न तुम उन्हें आनंदित कर पाते हो।

जो आनंद से पैदा नहीं होता, वह आनंद पैदा कर भी नहीं पाता। आनंद से बहेगी जो धार, उसी से आनंद फलता है। तो तुम कह देना साफ; भीतर कुछ, बाहर कुछ मत करना। बाहर पैर दाब रहे हैं और बड़े आज्ञाकारी पुत्र बने बैठे हैं और भीतर कुछ और सोच रहे हैं, विपरीत सोच रहे हैं, क्रोधित हो रहे हैं। सोच रहे हैं, समय खराब हुआ; विश्राम कर लेते, वह गया। लेकिन तुम अपने साथ झूठ हो रहे हो और तुम पिता के सामने भी सच नहीं हो। मैं नहीं कहता, ऐसा कर्तव्य करो। मैं कहता हूं, तुम क्षमा मांग लेना। कहना कि क्षमा करें।

ऐसा बचपन में मेरे होता था। मेरे दादा थे, उनको पैर दबवाने का बहुत शौक था। वे हर किसी को पकड़ लेते कि चलो, पैर दाबो। कभी-कभी मैं भी उनकी पकड़ में आ जाता। तो कभी मैं दाबता, जब मेरी मौज में होता; और कभी मैं उनसे कह देता, क्षमा करें, अभी तो भीतर मैं गालियां दूंगा। दबवाना हो दबवा लें, लेकिन मैं दाबूंगा नहीं। यह कर्तव्य होगा। अभी तो मैं खेलने जा रहा हूं।

धीरे-धीरे वे समझे। एक दिन मैंने सुना, वे मेरे पिता से कह रहे थे कि जब यह मेरे पैर दाबता है तो जैसा मुझे आनंद मिलता है, कभी नहीं मिलता। हालांकि यह सदा नहीं दाबता। मगर जब यह दाबता है तो इस पर भरोसा किया जा सकता है कि यह दाब रहा है और इसे रस है। कभी-कभी तो यह बीच दाबते-दाबते रुक जाता है और कहता है, बस क्षमा...।

"क्यों भाई, क्या हो गया, अभी तो तू ठीक दाब रहा था।"

"बस, अब बात खतम हो गयी, अब मेरा इससे आगे मन नहीं है।"

वे जितने प्रसन्न मुझसे थे, कभी परिवार में किसी से भी नहीं रहे। हालांकि उनके बेटे तो उनके पैर दाबते थे, मगर वे उनसे प्रसन्न नहीं थे। मैं तो छोटा था, ज्यादा उनके पैर दाब भी नहीं सकता था। फिर तो धीरे-धीरे वे मुझसे पूछने लगे कि आज मन है? उन्होंने यह कहना बंद कर दिया कि चलो, पैर दाबो। फिर तो धीरे-धीरे मैं खुद भी जब कभी मुझे मन होता, मैं उनसे जा कर कहता: "आपका मन है? आज मैं राजी हूं।"

जीवन को जितने दूर तक बन सके, छोटे से छोटे काम से ले कर, सहज करना उचित है, क्योंकि सहज ही धीरे-धीरे समाधि बन जाता है। वही करना जो तुम्हारे आनंद से हो रहा हो। और तुम लंबे अर्से में पछताओगे नहीं। हो सकता है, तत्क्षण अड़चन मालूम पड़े। लेकिन झूठ झूठ है और तत्क्षण कितना ही सुविधापूर्ण मालूम पड़े, अंततः तुम्हें जाल में उलझा जाएगा। तुम साफ-साफ होना। इसको मैं प्रामाणिक होना कहता हूं।

पूछा है तुमने: "मनुष्य फिर कैसे तय करे--क्या कर्तव्य, क्या अकर्तव्य?"

तय करने की बात ही नहीं है। जो सुखद, जो प्रीतिकर--वही कर्तव्य। जो प्रीतिकर नहीं, जो सुखद नहीं--वही अकर्तव्य। तुम्हें उल्टा सिखाया गया है, इसलिए उलझन पैदा हो रही है। तुम्हें सिखाया गया है प्रीतिकर-अप्रीतिकर का कोई सवाल नहीं है, सहज-असहज का कोई सवाल नहीं है--दूसरे जैसा चाहते हैं, वैसा करो तो कर्तव्य; तुम जैसा चाहते हो, वैसा करो तो अकर्तव्य हो गया। तो हर व्यक्ति दूसरे के हिसाब से जी रहा है। इसलिए तो कम लोग जी रहे हैं, अधिक लोग तो मरे-मराए हैं, जी ही नहीं रहे हैं। यह कोई जीने का ढंग है? दूसरों की अपेक्षाएं पूरी करने में जीवन बिता रहे हो, फिर कैसे सुगंध होगी, फिर कैसे संगीत जन्मेगा, फिर तुम कैसे नाचोगे? सदा दूसरे की आकांक्षा पूरी कर रहे हो।

एक मां अपने बेटे को कह रही थी कि बेटा, सदा दूसरों की सेवा करनी चाहिए। उसने पूछा: "क्यों?" उसकी मां ने कहा: "क्यों! शास्त्र ऐसा कहते हैं। भगवान ने इसीलिए तो बनाया हमें कि हम दूसरों की सेवा करें।" उस बेटे ने कहा: "और दूसरों को किसलिए बनाया है? इसका भी तो कुछ उत्तर होना चाहिए। हम उनकी सेवा करें, इसलिए बनाया है; और हमको इसीलिए बनाया है कि वे हमारी सेवा करें। तो सब अपनी-अपनी सेवा न कर लें? यह इतना जाल क्यों फैलाना?"

तुम अपेक्षा दूसरे की पूरी करो, दूसरे तुम्हारी अपेक्षाएं पूरी कर रहे हैं। न वे प्रसन्न हैं, न तुम प्रसन्न हो। जगत बिलकुल उदास हो गया है।

नहीं, यही मेरी मौलिक क्रांति है जो मैं तुम्हें देना चाहता हूं। तुम वही करो जो तुम्हारा आनंद है, चाहे कुछ भी कीमत हो। तुम कभी वह मत करो जो तुम्हारा आनंद नहीं है। चाहे उसके लिए तुम्हें कितना ही चुकाना पड़े, तुम आखिर में पाओगे कि तुम जीते, हारे नहीं। और मैं तुमसे यह भी कहता हूं कि चाहे शुरू-शुरू में लोग तुमसे परेशान हों; क्योंकि उनकी आदतें खराब कर ली हैं तुमने इसलिए, समाज विकृत हो गया है इसलिए,

लेकिन धीरे-धीरे तुम्हारी प्रामाणिकता समझेंगे। तुम पर भरोसा किया जा सकता है, ऐसा मानेंगे, क्योंकि तुम प्रामाणिक हो।

सत्य अंततः किसी को भी नुकसान नहीं पहुंचाता। शुरू-शुरू में कई दफे लगता है कि नुकसान पहुंचाता है। असत्य मत होओ और भावों को तो कभी झुठलाओ मत। अगर इस प्रक्रिया में तुम पड़ गए झुठलाने की तो तुम धीरे-धीरे झूठ का एक संग्रह हो जाओगे, जिसमें से जीवन की आग बिलकुल खो जाएगी, राख ही राख रह जाएगी। और अगर तुम सहज बनने लगो तो तुम अचानक पाओगे: परमात्मा को खोजने के लिए कुछ भी नहीं करना पड़ता; तुम्हारी सहजता के ही झरोखे से किसी दिन परमात्मा भीतर उतर आता है। क्योंकि परमात्मा यानी सहजता।

ज्ञात नहीं जाने किस द्वार से
कौन से प्रकार से मेरे गृह-कक्ष में
दुस्तर तिमिर दुर्ग दुर्गम विपक्ष में
उज्ज्वल प्रभामयी
एकाएक कोमल किरण एक आ गयी
बीच से अंधेरे के हुए दो टूक
विस्मय-विमुग्ध मेरा मन पा गया अनंत धन!

तुम्हें पता भी न चलेगा कि कब किस अज्ञात क्षण में, बिना कोई खबर दिये अतिथि की भांति परमात्मा द्वार पर दस्तक दे देता है।

धर्म के इतने जाल की जरूरत नहीं है, अगर तुम सहज हो। क्योंकि सहज होना यानी स्वाभाविक होना, स्वाभाविक होना यानी धार्मिक होना। महावीर ने तो धर्म की परिभाषा ही स्वभाव की है: बत्थु सहावो धम्मो! जो वस्तु का स्वभाव है, वही धर्म है। जैसे आग का धर्म है जलाना, पानी का धर्म है नीचे की तरफ बहना--ऐसा अगर मनुष्य भी अपने स्वभाव में जीने लगे तो बस हो गयी बात। कुछ करना नहीं है। सहज हो गये कि सब हो गया।

राम जी, भले आए
ऐसे ही आंधी की ओट में चले आए!
बिन बुलाए!
आए, पधारो!
सिर आंखों पर बंदना सकारो!
ऐसे ही एक दिन डोलता हुआ आ धमकूंगा मैं
तुम्हारे दरबार में
औचक क्या ले सकोगे अपनी करुणा के पसार में?

राम जी, भले आए!
ऐसे ही आंधी की ओट में चले आए!
बिन बुलाए!
आए, पधारो!
सिर आंखों पर बंदना सकारो!

परमात्मा ऐसे ही आता है, चुपचाप, पगध्वनि भी सुनायी नहीं पड़ती। कोई शोरगुल नहीं होता। योग, तप-जप, कोई जरूरत नहीं पड़ती--अगर तुम सहज हो जाओ; अगर तुम शांत, आनंदमग्न जीने लगो। और आनंदमग्न जीने का एक ही उपाय है: अपेक्षाएं पूरी करने मत लग जाना। जिनकी तुम अपेक्षाएं पूरी करोगे, उन्हें तुम कभी प्रसन्न न कर पाओगे, यह और एक मजा है। तुम अपने को विकृत कर लोगे और वे कभी प्रसन्न न होंगे। क्योंकि तुम्हारे प्रसन्न हुए बिना वे कैसे प्रसन्न हो सकते हैं?

तुमने देखा, तुम्हारी पत्नी तुमसे प्रसन्न है? हालांकि तुम सिर धुनते रहते हो कि तेरे लिए ही मरा जाता हूं, पिसा जाता हूं, सिर तोड़ता दिन-रात--और तू प्रसन्न नहीं है! तुम्हारे बच्चे तुमसे प्रसन्न हैं? हालांकि तुम छाती पीट-पीट कर यही कहते रहते हो कि तुम्हारे लिए ही जी रहा हूं, अन्यथा जीने में और क्या है? तुम पढ़-लिख जाओ, तुम बड़े हो जाओ, सुख-संपन्नता को उपलब्ध हो जाओ--इसीलिए सब कुछ लुटाए जा रहा हूं। तुम्हारे लिए सब कुछ दांव पर लगाया है और तुम अनुगृहीत भी नहीं हो!

तुम अपेक्षाएं पूरी कर रहे हो तो तुम प्रसन्न तो हो ही नहीं सकते। जब तुम प्रसन्न नहीं हो तो तुम्हारे बच्चे प्रसन्न नहीं हो सकते। वे जानते हैं, जबर्दस्ती तुम कर रहे हो। तुम्हारे ढंग से पता चलता है। बाप कहते हैं बच्चों के सामने कि तुम्हारे लिए घसिट रहे हैं, मर रहे हैं, खप रहे हैं! यह कोई बात हुई? यह कोई प्रेम हुआ? यह तुम्हारा आनंद हुआ? यह तो आलोचना हुई। यह तो शिकायत हुई। यह तो तुम यह कह रहे हो कि न हुए होते पैदा तो अच्छा था, तुम्हारी वजह से यह सब झंझट हो रही है कि अब कर ली है शादी तो अब ठीक है। लेकिन इससे तुम्हारी पत्नी प्रसन्न होगी? और ये बच्चे तुमसे यह सीख रहे हैं। ये अपने बच्चों के साथ यही करेंगे। ऐसे भूलें दोहराई जाती हैं पीढ़ी-दर-पीढ़ी। तुम प्रसन्न हो जाओ!

तुम अगर काम कर रहे हो तो एक बात ईमानदारी से समझ लो कि तुम अपने आनंद के लिए कर रहे हो। बच्चों का उससे हित हो जाएगा, यह गौण है, यह लक्ष्य नहीं है। तुम्हारी पत्नी को वस्त्र और भोजन मिल जाएगा, यह गौण है, यह लक्ष्य नहीं है। काम तुम अपने आनंद से कर रहे हो, यह तुम्हारा जीवन है। तुम आनंदित हो इसे करने में। और यह तुम्हारी पत्नी है, तुमने इसे चाहा है और प्रेम किया है, इसलिए तुम...। यह कोई सवाल ही नहीं है कहने का कि मैं खपा जा रहा हूं, मैं मरा जा रहा हूं। यह कोई भाषा है? यह तुम बच्चों से कह रहे हो, उनके मन में जहर डाल रहे हो। इन्होंने तुम्हारी कभी प्रसन्न मुद्रा नहीं देखी।

मुल्ला नसरुद्दीन एक दफा फोटो निकलवाने गया, तो बहुत तरह से कैमरा जमाया फोटोग्राफर ने, लेकिन उनकी शक्ल ठीक बने ही न। तो उसने कहा कि बड़े मियां, एक क्षण को मुस्कुरा दो, फिर आप अपनी स्वाभाविक मुद्रा में आ जाना!

मुस्कुराना लोग भूल गए हैं, हंसना भूल गए हैं! हंसना पाप जैसा मालूम पड़ता है। लोग रोती सूरतें बना लिए हैं। इन्हीं रोती सूरतों को लेकर परमात्मा के पास जाओगे? उस पर कुछ तो दया करो!

और इशारा समझ में आ जाए तो छोटा-सा इशारा काफी है।

राह में एक सितारा भी बहुत होता है
आंखवाले को इशारा भी बहुत होता है
बीच मझधार में जाने की जरूरत क्या है
डूबना हो तो किनारा भी बहुत होता है

सहजता सूत्र है। जागना हो तो सहजता के सूत्र को पकड़ लो। और सब खो जाए, सहजता का धागा न खोए! तुम्हारे जीवन की सारी मणियां सहजता के धागे में पिरो जाएं! तुम गजरे बन जाओगे उसके गले के योग्य!

निहारिका से द्वंद्व कर रविकर-निकर विजयी बने
प्रत्यूष के पीयूष-कण पहुंचा रहे तुम तक घने
कोमल मलय के स्पर्श-सौरभ से हिमानी से सने
दुलरा तुम्हें जाते, जगाते, कूजते तरु के तने
भोले कुसुम, भूले कुसुम, जो आज भी जागे न तुम
तो और जागोगे भला किस जागरण-क्षण में कुसुम?
यह स्वप्न टूटेगा न क्या, भोले कुसुम, भूले कुसुम!
लो तितलियां मचलीं चलीं सतरंग चीनांशुक पहन
छवि की पुतलियों-सी मचलतीं, मदभरे जिनके नयन

हर एक कलि के कान में कहती हुई: "जागो बहन!"

जागो बहन, दिन चढ़ गया, खोलो नयन, धो लो बदन,

अनमोल रे यह क्षण, न खोने का शयन बनमय कुसुम,

कब और जागोगे भला, भोले कुसुम, भूले कुसुम!

सब मौजूद है और तुम सोये हो! हवा चल उठी, सूरज निकल आया, तितलियां गूंजने लगीं, मलय बहार बहने लगी और कहने लगी: जागो कुसुम, भूले कुसुम! सब तैयार है, सुबह हो गई, तुम सोए पड़े! तुम बेहोश पड़े!

परमात्मा प्रतिपल तैयार है; लेकिन तुम ऐसे अंधेरे में और ऐसी उदासी में और ऐसे नर्क में घिरे हो! और नर्क तुम्हारा अपना बनाया हुआ है। तुम उसके कारण हो।

हजारों लोगों के जीवन में देख कर मैं यह पाता हूं कि तुम अपने नर्क के कारण हो। और मैं यह नहीं कहता कि अतीत जन्मों में तुमने कोई पाप किए थे, इसलिए तुम नर्क में हो। मैं तुमसे कहता हूं: अभी तुम भ्रांतियां कर रहे हो, इसलिए तुम नर्क में हो। क्योंकि अतीत जन्मों में किए पापों को ठीक करने का कोई उपाय नहीं। अब तो पीछे जाने की कोई जगह नहीं। वह तो धोखा है। मैं तो तुमसे कहता हूं: अभी भी तुम वही कर रहे हो। उनमें एक बुनियादी बात है: सहजता को मत छोड़ना।

कबीर ने कहा है: साधो सहज समाधि भली!

तुम सहज और सत्य और सरल...फिर जो भी कीमत हो, चुका देना। यही संन्यास है। कीमत चुकाना तपश्चर्या है। तुम झूठ मत लादना। तुम झूठे मुखौटे मत पहनना।

झेन फकीर कहते हैं: खोज लो अपना असली चेहरा, ओरिजिनल फेस। सहजता असली चेहरा है। जीसस ने कहा: हो जाओ फिर छोटे बच्चों की भांति! सहजता छोटे बच्चों की भांति हो जाना है। और वही अष्टावक्र का संदेश है, देशना है, कि जैसे हो वैसे ही, इसी क्षण घटना घट सकती है; सिर्फ एक बात छोड़ दो, अपने को कुछ और-और बताना छोड़ दो। जो हो, बस वैसे...।

शुरू में निश्चित कठिनाई होगी, लेकिन धीरे-धीरे तुम पाओगे, हर कठिनाई तुम्हें नए-नए द्वारों पर ले आई और हर कठिनाई तुम्हारे जीवन को और मधुर कर गई और हर कठिनाई ने तुम्हें सम्हाला और हर कठिनाई ने तुम्हें मजबूत किया, तुम्हारे भीतर बल को जगाया! धीरे-धीरे कदम-कदम चल कर एक दिन आदमी परिपूर्ण सहज हो जाता है। तब उसके जीवन में कोई दुराव नहीं रह जाता, कोई कपट नहीं रह जाता। इस जीवन को ही मैं धार्मिक जीवन कहता हूं।

हरि ॐ तत्सत्!

पैंतीसवां प्रवचन

अचुनाव में अतिक्रमण है

जनक उवाच।

अकिंचनभवं स्वास्थ्यं कौपीनत्वेऽपि दुर्लभम्।
त्यागदाने विहायास्मादहमासे यथासुखम्।। ११५।।
कुत्रापि खेदः कायस्य जिह्वा कुत्रापि खिद्यते।
मनः कुत्रापि तत्त्यक्त्वा पुरुषार्थे स्थितः सुखम्।। ११६।।
कृतं किमपि नैव स्यादिति संचिन्त्य तत्त्वतः।
यदा यत्कर्तुमायाति तत्कृत्वाऽसे यथासुखम्।। ११७।।
कर्मनैष्कर्म्यनिर्बंधभावा देहस्थ योगिनः।
संयोगायोगविरहादहमासे यथासुखम्।। ११८।।
अर्थानर्थौ न मे स्थित्या गत्या वा शयनेन वा।
तिष्ठन् गच्छन् स्वपंस्तस्मादहमासे यथासुखम्।। ११९।।
स्वपतो नास्ति मे हानिः सिद्धिर्यत्नवतो न वा।
नाशोल्लासौ विहायास्मादहमासे यथासुखम्।। १२०।।
सुखादिरूपानियमं भावेष्वालोक्य भूरिशः।
शुभाशुभे विहायास्मादहमासे यथासुखम्।। १२१।।

एक पुरानी यहूदी कथा है।

सिकंदर विश्व-विजय की यात्रा को निकला। अनेक देशों को जीतता हुआ, एक पहाड़ी कबीले के पास आया। उसे भी सिकंदर ने जीतना चाहा। जब हमला किया तो चकित हुआ। कबीले के नग्न लोग बैंड-बाजे लेकर उसका स्वागत करने आए थे। थोड़ा सकुचाया भी। उसका इरादा तो हमले का था। वहां तो कोई लड़ने को तैयार ही न था। उस कबीले के लोगों के पास अस्त्र-शस्त्र थे ही नहीं। उन्होंने कभी अपने इतिहास में युद्ध जाना ही न था। वस्त्र भी उनके पास न थे। बड़े मकान भी उनके पास न थे--झोपड़े थे; उन झोपड़ों में कुछ भी न था। क्योंकि संग्रह की वृत्ति उन्होंने कभी पाली नहीं।

जहां संग्रह है वहां हिंसा होगी। जहां संग्रह है वहां युद्ध भी होगा। जहां मालकियत है वहां प्रतिस्पर्धा भी है।

वे सिकंदर को ले गए। सिकंदर सकुचाया। किंकर्तव्यविमूढ़! वह तो एक ही बात जानता था--लड़ना। वे उसे अपने प्रधान के झोपड़े में ले गए। उसका बड़ा स्वागत किया गया फूलमालाओं से। फिर प्रधान ने उसके लिए भोजन बुलाया। सोने की थाली--सोने की ही रोटी! हीरे-जवाहरात जड़े हुए बर्तन--और हीरे-जवाहरातों की ही सब्जी! सिकंदर ने कहा: तुम पागल हुए हो? सोने की रोटी कौन खाएगा! हीरे-जवाहरातों की सब्जी! तुमने मुझे समझा क्या है? आदमी हूं।

उस बूढ़े प्रधान ने कहा। हम तो सोचे कि आप अगर साधारण रोटी से ही तृप्त हो सकते हैं तो अपने देश में ही मिल जाती। इतनी दूर, इतनी यात्रा करके न आना पड़ता! इतना संघर्ष, इतना युद्ध, इतनी हिंसा, इतनी मृत्यु--गेहूं की रोटी खाने को? साधारण सब्जी खाने को? यह तो तुम्हारे देश में ही मिल जाता। फिर क्या तुम पागल हुए हो? इसलिए हमने तो जैसे ही खबर सुनी कि तुम आ रहे हो, बामुश्किल इकट्ठा करके किसी तरह खदानों से सोना, यह सब इंतजाम किया।

एक बात--वह बूढ़ा बोला--मुझे पूछनी है फिर: तुम्हारे देश में वर्षा होती है? गेहूं की बालें पकती हैं? घास उगता है? सूरज चमकता है? चांदत्तारे निकलते हैं रात में?

सिकंदर ने कहा: पागल हो तुम! क्यों न निकलेगा सूरज? क्यों न निकलेंगे चांदत्तारे? मेरा देश और देश जैसा ही देश है।

वह बूढ़ा तो सिर हिलाने लगा और कहा कि मुझे भरोसा नहीं आता। तुम्हारे देश में पशु-पक्षी हैं? जानवर हैं?

सिकंदर ने कहा: निश्चित हैं।

वह हंसने लगा। उसने कहा: तब मैं समझ गया। तुम जैसे आदमियों के लिए तो परमात्मा सूरज को निकालना कभी का बंद कर दिया होता--पशु-पक्षियों के लिए निकालता होगा। वर्षा कभी की बंद कर दी होती तुम जैसे आदमियों के लिए--पशु-पक्षियों के लिए करनी पड़ती होगी।

कहते हैं, सिकंदर इस तरह किसी पर हमला करके कभी न पछताया था।

जीवन की किसी न किसी घड़ी में तुम्हें भी ऐसा ही लगेगा। क्या करोगे सोने का?--खाओगे, पीयोगे? क्या करोगे धन का?--ओढ़ोगे, बिछाओगे? क्या करोगे प्रतिष्ठा का, सम्मान का, अहंकार का? कोई भी तो उपयोग नहीं है। हां, एक बात निश्चित है, सोने से घिर कर, सोने से मढ़ कर, अहंकार में बंद होकर, तुम पर परमात्मा का सूरज न चमकेगा; तुम पर परमात्मा का चांद न निकलेगा। तुम्हारी रातें अंधेरी हो जाएंगी; तारे विदा हो जाएंगे। तुम सूखे रेगिस्तान हो जाओगे। फिर उसके मेघ तुम्हारे ऊपर न घिरेंगे और वर्षा न होगी। तुम वंचित हो जाओगे इस भरे-पूरे जगत में। जहां सब है, वहां तुम ठीकरे बीनते रह जाओगे। फिर तुम खूब दुखी होओगे और सुख की आशाएं करोगे। सुख के सपने देखोगे और दुख भोगोगे।

यही हुआ है। महत्वाकांक्षा ने प्राण ले लिए हैं। और जब तक महत्वाकांक्षा न गिर जाए, कोई व्यक्ति धार्मिक नहीं होता।

आज के सूत्र बड़े अनूठे हैं। ऐसे तो अष्टावक्र की इस गीता के सभी सूत्र अनूठे हैं, पर कहीं-कहीं तो आखिरी ऊंचाई छू लेते हैं सूत्र; उनके पार जाना जैसे फिर संभव नहीं, ऐसे ही सूत्र हैं।

"नहीं है कुछ भी, ऐसे भाव से पैदा हुआ जो स्वास्थ्य है, वह कौपीन के धारण करने पर भी दुर्लभ है। इसलिए त्याग और ग्रहण दोनों को छोड़ कर मैं सुखपूर्वक स्थित हूं।"

पहुंचने दो इसे तुम्हारे प्राणों के अंतर्तम तक।

अकिंचनभवं स्वास्थ्यं कौपीनत्वेऽपि दुर्लभम्।

ऐसा जान कर कि नहीं कुछ भी है इस जगत में पाने योग्य; नहीं कुछ भी है इस जगत में मालिक बनने योग्य; नहीं कुछ भी है इस जगत में सिवाय सपनों के--ऐसा जान कर अकिंचन जो हो गया...अकिंचन का अर्थ होता है, ना-कुछ जो हो गया; ऐसा जान कर जिसने अपनी शून्यता को स्वीकार कर लिया। मैं हूं शून्य और इस जगत में भरने का इस शून्य को कोई उपाय नहीं है, क्योंकि यह जगत है सपना। मैं हूं शून्य, जगत है सपना--सपने से शून्य को भरा नहीं जा सकता। यह शून्य तो तभी भरेगा जब परमात्मा इसमें आविष्ठ हो, उतरे, पड़ें उसके चरण! अन्यथा यह मंदिर खाली रहेगा। इस मंदिर में तो प्रभु ही विराजे तो भरेगा।

तो तुम इस जगत की कितनी ही चीजों से भर लो स्वयं को, तुम धोखा ही दे रहे हो। अंततः तुम पाओगे, किसी और को तुमने धोखा दिया, ऐसा नहीं; खुद ही धोखा खा गए--अपनी कुशलता से ही धोखा खा गए। ऐसा मुझे कहने दो: इस जगत में जो बहुत कुशल हैं, अंत में पाते हैं कि अपनी ही कुशलता से मारे गए। इस जगत में सीधे-सरल लोगों ने तो सत्य को कभी पा भी लिया है, लेकिन कुशल और चालाक लोग कभी नहीं पा सके।

तुम्हारा पांडित्य ही तुम्हारा पाप है। और तुम्हारी समझदारी ही तुम्हारी फांसी बनेगी।

अकिंचनभवं...।

जनक कहते हैं: मैं ना-कुछ हूं! और इसे भरने का इस जगत में कोई उपाय नहीं है। ऐसा मान कर मैं अपने ना-कुछ होने से राजी हो गया हूं।

यही क्रांति का द्वार है। जिस व्यक्ति ने समझ लिया कि बाहर कुछ भी नहीं है जो मुझे भर सके, मैं खाली हूं, और खाली हूं, और खाली हूं, तो अब इस खालीपन से राजी हो जाऊं...। जैसे ही तुम राजी हुए कि एक महत रूपांतरण होता है। जैसे ही तुम राजी हुए, तुम शांत हुए, चित्त की दौड़ मिटी, स्पर्धा गई, अकिंचन-भाव को तुम स्वीकार किए कि ठीक है, यही मेरा होना है, यही मेरा स्वभाव है, शून्यता मेरा स्वभाव है--अकिंचनभवं स्वास्थ्यं--तत्क्षण तुम्हारे जीवन में एक स्वास्थ्य की घटना घटती है।

"स्वास्थ्य" शब्द बड़ा महत्वपूर्ण है। इसका अर्थ होता है: तुम स्वयं में स्थित हो जाते हो। स्व-स्थित हो जाना स्वास्थ्य है। अभी तो तुम दौड़ रहे हो। तुम विचलित हो, च्युत हो। अस्वास्थ्य का अर्थ है: जो अपने केंद्र पर नहीं है; जो स्वयं में नहीं है; जो इधर-उधर भटका है। कोई धन के पीछे दौड़ा है--अस्वस्थ है; रुग्ण है। कोई पद के पीछे दौड़ा है--अस्वस्थ है; रुग्ण है। कोई किसी और चीज के पीछे दौड़ा है। लेकिन जो दौड़ रहा है किसी और के पीछे, वह अस्वस्थ रहेगा। क्योंकि दौड़ में तुम च्युत हो जाते हो अपने केंद्र से। जैसे ही दौड़ गई, तुम अपने में ठहरे।

लोग पूछते हैं: "स्वयं में कैसे जाएं?"

स्वयं में जाने में जरा भी कठिनाई नहीं है; इससे सरल कोई बात ही नहीं है। स्वयं में जाना कठिन होगा भी कैसे? क्योंकि तुम स्वयं तो हो ही। स्वयं में तो तुम हो ही। इसलिए असली सवाल यह नहीं है कि हम स्वयं में कैसे जाएं। असली सवाल यही है कि हम "पर" से कैसे छूटें। छूटे नहीं कि पहुंचे नहीं। इधर "पर" पर पकड़ छोड़ी कि स्वयं में बैठ गए। यह सवाल नहीं है कि हम अपने में कैसे आएं। इतना ही सवाल है कि हम जिन चीजों के पीछे दौड़ रहे हैं, उनकी व्यर्थता कैसे देखें!

हाय, क्या जीवन यही था!

एक बिजली की झलक में
स्वप्न औ" रसरूप दीखा
हाथ फैले तो मुझे निज
हाथ भी दिखता नहीं था
हाय, क्या जीवन यही था!

एक झोंके में गगन के
तारकों ने जा बिठाया
मुट्ठियां खोलीं, सिवा कुछ
कंकड़ों के कुछ नहीं था
हाय, क्या जीवन यही था!

गीत से जगती न झूमी
चीख से दुनिया न घूमी
हाय लगते एक से अब
गान औ" क्रंदन मुझे भी
छल गया जीवन मुझे भी
हाय, क्या जीवन यही था!

जिसे तुमने अब तक जीवन जाना है, उसे खुली आंख से देख लो। बस इतना काफी है। और तुम अकिंचन होने लगोगे। "अकिंचन" शब्द का ठीक-ठीक अर्थ वही है जो जीसस के वचन का है। जीसस ने कहा है: "ब्लैसेड आर दि पुअर। देअर्स इज दि किंगडम आफ गॉड।" धन्यभागी हैं दरिद्र, उनका ही है राज्य परमात्मा का! और खयाल करना, जीसस ने यह नहीं कहा कि धन्यभागी हैं दरिद्र, उनका होगा राज्य परमात्मा का। नहीं, जीसस कहते हैं: "देअर्स इज दि किंगडम आफ गॉड।" उनका ही है राज्य परमात्मा का। है ही इसी क्षण! हो गया! धन्य हैं दरिद्र!

अकिंचन उसी दरिद्रता का नाम है। ऐसी दरिद्रता तो समृद्धि का द्वार बन जाती है। ऐसी दरिद्रता, कि एक बार उसे अंगीकार कर लिया तो फिर तुम कभी दरिद्र होते ही नहीं, क्योंकि फिर प्रभु का सारा राज्य तुम्हारा है।

अकिंचनभवं...।

ऐसा जान कर कि मैं कुछ भी नहीं हूं, ऐसे भाव से कि कुछ भी नहीं है इस जगत में, एक स्वप्न है--एक स्वास्थ्य पैदा होता है; स्वयं में स्थिति बनती है; भागदौड़ जाती है, आपाधापी मिटती है; ज्वर छूटता है, बीमारी मिटती है; आदमी अपने घर लौट आता है, अपने में ठहरता है।

ऐसा अपने में ठहर जाना ही--जनक कहते हैं--वास्तविक संन्यास है। कुछ संन्यासी के वस्त्र धारण कर लेने से थोड़े ही कोई संन्यासी हो जाता है! कौपीन के धारण करने से ही तो कुछ नहीं हो जाता। संन्यास की दीक्षा लेने से ही तो नहीं कुछ हो जाता। संन्यास की दीक्षा शायद एक प्रतीक हो, एक शुभारंभ हो; शुभ मुहूर्त में एक संकल्प हो। पर संन्यास लेने से ही तो कुछ नहीं हो जाता। संन्यास ले कर यात्रा समाप्त नहीं होती, शुरू होती है। वह पहला कदम है। उसी पर जो अटक गए वे बुरी तरह भटक गए। वह तो तुम्हारी घोषणा थी। जिस दिन तुम संन्यासी होते हो उस दिन थोड़े ही तुम संन्यासी हो जाते। उस दिन तुमने घोषणा की कि अब मैं संन्यासी होना चाहता हूं; अब मैं संन्यास के मार्ग पर चलना चाहता हूं। तुम्हारी घोषणा से तुम संन्यासी थोड़े ही हो जाते हो।

"जो कौपीन धारण करने पर भी दुर्लभ है, वैसा परम संन्यास अकिंचन-भाव के पैदा होते ही उपलब्ध हो जाता है। इसलिए त्याग और ग्रहण दोनों को छोड़ कर मैं सुखपूर्वक स्थित हूं।"

त्यागदाने विहायास्मादहमासे यथासुखम्।

इसलिए अब न पकड़ता हूं, न छोड़ता हूं। न अब किसी चीज से मेरा लगाव है, न मेरा विरोध है। अगर विरोध रहा तो लगाव जारी है। विरोध होता ही उनसे है जिनसे हमारा लगाव जारी रहता है।

इसे समझना। क्योंकि यह बहुत आसान है--लगाव को विरोध में बदल लेना। लगाव से मुक्त होना बड़ा कठिन है। लगाव को विरोध में बदल लेना बड़ा सुगम है। तुम धन के पीछे दौड़ते थे; बहुत दुख पाया, बहुत पीड़ा उठाई, कोई सुख न मिला, विफलता-विफलता हाथ लगी--तुम रोष से भर गए; तुम धन के दुश्मन बन गए; तुम कहने लगे: धन पाप है; छुऊंगा भी नहीं। लेकिन मन में अभी भी धन के प्रति कहीं न कहीं किसी गहरे तल पर कोई आकर्षण है। धन की तुम बात अभी भी किए चले जाओगे।

एक जैन मुनि के पास एक दफा मुझे ले जाया गया। उन्होंने एक भजन गाया। जो उनके पास बैठे थे, सब धनी लोग थे। उनके भक्तों के सिर हिलने लगे। भजन था कि "मुझे सम्राटों के स्वर्ण-सिंहासनों में जरा भी रस नहीं; मुझे तो मेरी राह की धूल ही प्रिय है। मुझे तुम्हारे महलों में कोई रस नहीं है; मुझे तो धूल-भरी राह ही प्रिय है।" ऐसे ही भाव थे। सिर हिले लोगों के। लोग बड़े मगन थे। भजन सुना कर मुझे चुप देख कर उन्होंने पूछा: "आपने कुछ कहा नहीं! आपको भजन पसंद नहीं पड़ा?"

मैंने कहा कि मैं जरा अड़चन में पड़ गया। अगर आपको सम्राटों के सिंहासनों में कोई रस नहीं है तो भजन लिखने का कष्ट क्यों उठाया? क्योंकि मैं सम्राटों से भी मिला हूं, उनमें से किसी ने भी मुझे ऐसा भजन नहीं सुनाया कि रहे आओ मस्त तुम अपनी धूल में, हमें तुम्हारी धूल से न कोई लगाव है नर् ईष्या है। मैंने सम्राटों को, संन्यासियों के साथर् ईष्या नहीं है, ऐसा कोई गीत गाते नहीं सुना। संन्यासी ही सदा यह गीत गाते हैं, यह जरा सोचने जैसा है। होना तो उल्टा चाहिए कि सम्राट कोर् ईष्या पैदा हो संन्यासी से। अपने को समझाने को

वह कहे कि "नहीं, मैं तो अपने महल में ही ठीक हूं। तुम रहो मजे में अपने झोपड़ों में, रहो अकिंचन, मैं तो सम्राट ही ठीक हूं।" लेकिन कोई सम्राट ऐसा कहता नहीं। संन्यासी सदियों से कहते रहे कि हमें तुम्हारे सिंहासन से कोई रस नहीं है। रस नहीं है तो इतना श्रम क्यों उठाया? रस है। तुम अपने को समझा रहे हो। तुम अपने को ही जोर-जोर से बोल कर भरोसा दिला रहे हो।

ऐसा होता है न कभी अंधेरी रात में, अकेले जा रहे हो तो जोर-जोर से गाना गाने लगते हो! डर लगता है, गाना गाते हो। हालांकि गाना गाने से कुछ स्थिति बदलती नहीं; लेकिन खुद की ही आवाज सुन कर हिम्मत आ जाती है। लोग सीटी बजाने लगते हैं। गली में से निकल रहे हैं, अंधेरा है, लोग सीटी बजाने लगते हैं। अपनी ही सीटी की आवाज सुन कर थोड़ी हिम्मत आ जाती है, गर्मी आ जाती है। कम से कम इतना तो हो जाता है कि हम कोई डरे हुए नहीं हैं, गाना गा रहे हैं! लेकिन यह गाना ही खबर देता है कि भय है।

मैंने कहा: "आपको जरूर महलों में रस रह गया है, लगाव बाकी है। सिंहासन आपको दिखाई पड़ता है। अन्यथा संन्यासी को क्या चिंता! सम्राटर् ईष्यालु हों, यह समझ में आता है; और सम्राट अपने को समझाने के लिए इस तरह के गीत गाएं, यह भी समझ में आता है।"

उनको कुछ समझ में न आया। वे बड़ी मुश्किल में पड़ गए। बात तो चोट कर गई। दूसरे दिन मुझे फिर बुलाया। जब दूसरे दिन मुझे बुलाया तो वहां कोई शिष्य न था। मैंने पूछा: "शिष्यों की भीड़ क्या हुई?" उन्होंने कहा कि आज मैं एकांत में बात करना चाहता हूं, उनके सामने बात नहीं हो सकती। आपने कैसे पहचाना? बात आपने पते की कही। मुझे रस है। आपने मेरे घाव को छू दिया। मैं तिलमिला गया, वह भी सच है; रात भर सो न सका, सोचता रहा। धन में मुझे रस है; पहले भी था। धन पा न सका, इसलिए अंगूर खट्टे हो गए। मैंने छोड़ दिया संसार। और जब संसार छोड़ा तो मैं बड़ा चकित हुआ: जिन धनपतियों के द्वार पर मुझे द्वारपाल की नौकरी भी न मिल सकती थी, वे मेरे पैर छूने आने लगे। और तब से मैं निरंतर धन के खिलाफ बोल रहा हूं। यह कोई एक भजन नहीं जो मैंने गाया; मैंने जितने भजन गाए, सब धन के खिलाफ हैं। आपने बात पकड़ ली। बड़ी कृपा कि आपने संकोच न किया, शिष्टाचार का खयाल न किया और मेरे घाव को उघाड़ दिया। अब मैं क्या करूं?

ऐसी स्थिति में मैंने बहुत संन्यासियों को देखा है। कोई स्त्री से भाग गए हैं तो स्त्री की निंदा में लगे हैं; तब से उन्होंने स्त्री का पीछा नहीं छोड़ा, स्त्री की निंदा चल रही है। पहले प्रशंसा चलती थी, फिर निंदा चल रही है। पहले सौंदर्य-शतक चलता था, अब वैराग्य-शतक चल रहा है। लेकिन शतक का आधार स्त्री है। पहले उसके सौंदर्य के नख-शिख का वर्णन था; अब उसके शरीर में भरे मल-मूत्र का वर्णन चल रहा है। लेकिन बात वहीं अटकी है।

ध्यान रखना, जो स्त्री के नख-शिख का वर्णन कर रहा है कि आंखें कजरारी, कि आंखें मीन जैसी सुंदर, कि चेहरा गुलाब, कि कपोल गुलाब की पंखुरियों जैसे कोमल--इसमें; और जो कह रहा है कि भरा है मलमूत्र, गंदगी, हड्डी, मांस-मज्जा, मवाद, खून, जो इसकी चर्चा कर रहा है--इन दोनों में बहुत भेद नहीं। ये एक-दूसरे की तरफ पीठ किए खड़े हैं जरूर, मगर इन दोनों का रस स्त्री में उलझा है। इन दोनों से सावधान रहना। दोनों में से कोई भी संन्यस्त नहीं है। दोनों संसारी हैं।

"नहीं है कुछ भी, ऐसे भाव से पैदा हुआ जो स्वास्थ्य है...।"

न तो स्त्री गुलाब का फूल है और न मल-मूत्र का ढेर। नहीं है कुछ भी। न तो धन में जीवन है और न धन कोई जहर है कि छूने से घबड़ा जाओ। नहीं है कुछ भी। न तो यह संसार इस योग्य है कि इसमें भोगो और न यह इस योग्य है कि इसे त्यागो और इससे भागो। नहीं है कुछ भी। स्वप्नवत है।

"ऐसे भाव से पैदा हुआ जो स्वास्थ्य है वह कौपीन के धारण करने पर भी दुर्लभ। इसलिए त्याग और ग्रहण दोनों को छोड़ कर मैं सुखपूर्वक स्थित हूं।"

अकिंचनभवं स्वास्थ्यं कौपीनत्वेऽपि दुर्लभम्।
अस्मात् त्यागदाने विहाय...।
--इसलिए मैंने त्याग को, ग्रहण को, दोनों को छोड़ दिया।

इसमें छोड़ना नहीं है, खयाल रखना। यह सिर्फ भाषा का उपयोग है। क्योंकि जब त्याग भी छोड़ दिया तो छोड़ना कैसा! इसका केवल इतना अर्थ है: मैं जाग गया। मुझे दिखायी पड़ गई बात कि त्याग भी वही है, भोग भी वही है। भोग ही जब शीर्षासन करने लगता है, त्याग मालूम पड़ता है। मगर बात वही है, जरा भी भेद नहीं है। दिखायी पड़ गया कि भोग और त्याग एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। मौलिक भेद नहीं है। जड़-मूल से क्रांति नहीं होती त्यागी की। त्यागी वही करने लगता है जो भोगी कर रहा है--उससे विपरीत करने लगता है।

तुम जरा त्यागी को देखो! तुम जो कर रहे हो वह उससे विपरीत कर रहा है। और तुम इसलिए उससे प्रभावित भी होते हो कि वह कांटों पर सोया है, तुम फूल बिछाते शैया पर। इसी से तुम प्रभावित भी होते हो कि अरे, एक मैं हूं कि फूल बिछाता शैया पर, तब भी नींद नहीं आती और एक देखो यह धन्यभागी, कांटों की शैया पर सोया है! तुम जा कर चरण में सिर रखते हो। तुम्हारा सिर त्यागी के चरणों में झुकता है, क्योंकि त्यागी की भाषा तुम्हें समझ में आती है; वह तुम्हारी ही भाषा है। भेद नहीं है। तुम धन के लिए दीवाने हो, किसी ने धन को लात मार दी, तुम उसके चरण में गिर गए--तुमने कहा: "अरे हद हो गई, यह मुझे करना था, मैं तो नहीं कर पाया। मैं कमजोर, दीन-हीन, पापी! मगर तुमने कर दिखाया, तुम धन्यभागी!"

तुम जहां-जहां त्यागी को पाओगे वहां-वहां भोगी को उसके चरण दबाते पाओगे। यह चमत्कार है। लेकिन यह गणित के हिसाब से चलता है। संन्यासी से त्यागी भी प्रभावित नहीं होगा और भोगी भी प्रभावित नहीं होगा। त्यागी से भोगी प्रभावित होता है और त्यागी भोगी से प्रभावित रहता है। गहरे में वह भी यही चाहता है, इसलिए तो स्वर्ग में आकांक्षा कर लेता है उस सबकी जो तुम्हें यहां मिला है, तुम यहां स्त्रियां भोग रहे हो; त्यागी अपने मन में सांत्वना कर लेता है कि इन स्त्रियों में क्या रखा है, अरे दो दिन में कुम्हला जाएंगी! भोगेंगे हम स्वर्ग में अप्सराएं जिनकी उम्र सोलह साल पर ठहर जाती है, फिर कभी आगे नहीं बढ़ती। तुम यहां शराब पी रहे हो चुल्लू-चुल्लू; हम पीएंगे स्वर्ग में, बहिश्त में, जहां शराब के चश्मे बहते हैं; डुबकी लगाएंगे, कूदेंगे, फांदेंगे, पीएंगे! कोई ऐसा दूकान पर क्यू लगा कर लायसेंस से थोड़े ही मिलती है! तुम क्षुद्र में उलझे हो, हम भोगेंगे वहां! यहां हम त्यागते हैं ताकि हम वहां भोग सकें।

त्यागी भोग के बाहर नहीं है। तुम उनके स्वर्ग की कथाएं देखो। तुम उनके स्वर्ग की कथा से समझ जाओगे कि त्यागी अगर त्याग भी कर रहा है तो किसलिए कर रहा है। आकांक्षा भोग की है। और अगर यहां भोग से बच रहा है तो इसी आशा में कि मिलेगा कल, फल मिलेगा; आज कर लो उपवास, रहो धूप में, तपाओ शरीर को; और यह शरीर तो जाने ही वाला है, एक दिन जलेगा चिता में, इसको कब तक बचाओगे! कुछ ऐसा कमा लो जो फिर सदा-सदा, शाश्वत तक साथ रहेगा।

लेकिन त्यागी भी भोग के लिए ही त्याग कर रहा है। जब तक तुम किसी चीज को पाने के लिए त्याग करते हो तब तक तुम भोगी ही हो। यह त्याग किसी ज्ञान से नहीं घट रहा है। और जिसको तुम भोगी कहते हो, वह भी त्याग की सोचता है; उसको भी समझ में आता है, लेकिन देखता है कि मैं कमजोर हूं, अभी इतनी सामर्थ्य नहीं, बल नहीं, होगा कभी बल बुढ़ापे में, अगले जन्म में कभी बल होगा, छोडूंगा--छोडूंगा जरूर। इस बात की आशा को जगाए रखने के लिए वह त्यागी के चरणों में सिर रख आता है--स्मरण दिलाने को कि आना तो इसी राह पर मुझे भी है। तुम जरा आगे चले गए हो, मैं जरा पीछे आता हूं, पर आऊंगा जरूर! आज तो नहीं संभव है, कल आऊंगा। तो आज कम से कम इतना तो करूं कि तुम्हारे चरणों में सिर झुका जाऊं, याददाश्त बनी रहे।

त्यागी-भोगी एक ही भाषा बोलते हैं। उनकी भाषा में अंतर नहीं है; दोनों समझते हैं एक-दूसरे को। इसलिए अक्सर तुम देखोगे, जितना भोगी समाज होगा, उतनी ही त्याग की प्रशंसा होगी। इससे बड़ी उलझन पैदा होती है।

अब जैन हैं, उनकी त्याग की परिभाषा भारत में सबसे ज्यादा कठिन है, लेकिन सबसे ज्यादा धनी समाज वही है। महावीर नग्न खड़े हो गए और सबसे ज्यादा कपड़े की दूकानें जैनियों की हैं। मैं कभी-कभी सोचता हूं...।

मैं जबलपुर में रहता था तो एक मेरे निकट के रिश्तेदार हैं, उनकी दूकान का नाम है: "दिगंबर शाप"! कपड़े की दूकान! दिगंबर का मतलब: नग्न। मैंने उनसे कहा: कुछ तो शर्म खाओ! महावीर को तो न उलझाओ! "दिगंबर शाप"! तुम्हें पता है दिगंबर का अर्थ क्या होता है? और कपड़ा बेच रहे हो?

यह जरा सोचने जैसा है कि जिनका गुरु नग्न हुआ, वे सब कपड़े क्यों बेच रहे हैं! कुछ लगाव होगा नग्नता में और कपड़े में, कुछ संबंध होगा, कुछ विपरीत जोड़ होगा।

जैनों ने त्याग की बड़ी प्रगाढ़ धारणा बनाई है, लेकिन सारा समाज भोगी है, धन-लोलुप है। जैन मुनि त्याग की पराकाष्ठा लिए बैठा है और जैन श्रावक भोग की पराकाष्ठा लिए बैठा है। पर दोनों में बड़ा मेल है। दोनों एक-दूसरे को सम्हाले हुए हैं।

विपरीत में आकर्षण होता है, इसे खयाल रखना। इसलिए तो पुरुष स्त्री में आकर्षित होता है; स्त्री पुरुष में आकर्षित होती है। विपरीत में आकर्षण होता है। अपने ही जैसे व्यक्ति में आकर्षण थोड़े ही होता है, क्योंकि वह तो प्रतिछबि मालूम होती है, तुम्हारी ही कापी मालूम होती है। अपने से विपरीत में बुलावा होता है, चुनौती होती है कि यह तो रह कर देख लिए, भोगी तो होकर देख लिया, अब त्यागी रहना बच गया है। तो उसमें आकर्षण है। जो हम हैं, उसमें तो रस नहीं मिल रहा है--तो जो हम नहीं हुए अब तक, जो हमसे बिलकुल विपरीत है शायद रस वहां हो। आज हिम्मत नहीं है; जुटाएंगे हिम्मत, धीरे-धीरे चलेंगे, पहले अणुव्रत लेंगे, फिर महाव्रत लेंगे, फिर ऐसा धीरे-धीरे किसी दिन दिगंबरत्व को उपलब्ध होंगे। और एकदम से तो कोई होता नहीं। क्रमशः जन्मों-जन्मों में यात्रा कर-करके हम भी कभी हो जाएंगे।

भोगी के मन में भी त्याग का सपना है और त्यागी के मन में भी भोग का स्वर्ग है। ये दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। जनक जैसे व्यक्ति को पहचानना बड़ा कठिन हो जाता है। क्योंकि न वे त्यागी हैं न वे भोगी। वे कुछ ऐसी भाषा बोलते हैं जो न त्यागी को समझ में आती है न भोगी को समझ में आती है।

इसलिए जनक अष्टावक्र के ये महामूल्यवान सूत्र ऐसे ही पड़े रह गए; इन्हें कभी भारत ने अपने सिर पर न उठाया; इन्हें लेकर भारत कभी नाचा नहीं। क्योंकि यह भाषा ही बहुत अपरिचित हो गई। न भोगी समझा इस भाषा को--क्योंकि जनक को अगर भोगी देखने जाएगा तो कहेगा, "इनमें रखा क्या है, ये हमारे ही जैसे महल में रहते हैं, बल्कि हमसे बेहतर महल में रहते हैं; राज्य है, सब कुछ है। तो फर्क क्या है!" तो भोगी नमस्कार नहीं करेगा। और त्यागी तो करेगा कैसे! त्यागी तो भोग के विरोध में खड़ा है। वह कहेगा, यही तो पाप है। जनक को कौन समझेगा!

ऐसा उल्लेख है कि कबीर का एक बेटा था: कमाल। कमाल का ही रहा होगा, इसलिए कबीर ने उसे नाम "कमाल" दिया था। और कबीर जब नाम दें तो ऐसे ही नाम नहीं दे देते; कुछ सोच कर दिया होगा। लेकिन कमाल के संबंध में और शिष्यों को बड़ीर् ईष्या थी। एक तो वह कबीर का बेटा था, तो उसकी प्रतिष्ठा थी, इसलिए शिष्यों कोर् ईष्या भी थी। और यह डर भी था कि कहीं आखिर में वही उत्तराधिकारी न हो जाए। इसलिए उस बेटे को खिसकाने के लिए उसके विरोध में हजार बातें लाने में लगे रहते थे।

आखिर कबीर ने कहा कि ठीक, शिकायत क्या है तुम्हारी? तो उन्होंने कहा कि आप और इसमें बड़ा फर्क है, यह आपसे बिलकुल विपरीत है। हमें शक है कि यह त्याग की बातें ऊपर-ऊपर से करता है, भीतर यह भोगी है। इसे आप अलग कर दें, इसके कारण आपकी बदनामी होती है। देखें, कल ही एक धनपति आपको हजार

मुद्राएं भेंट करने आया था; आपने तो इंकार कर दिया; यह बाहर बैठा था दरवाजे पर, इसने पूछा: "अरे क्या लिए जाते हो?" तो उस धनपति ने कहा कि भेंट करने आया था कबीर को, वे तो लेते नहीं। तो कमाल ने क्या कहा? कमाल ने कहा कि अब यहां तक बोझ ढोया है, फिर वापिस बोझ ढो कर घर ले जाएगा! डाल दे यहीं!

तो शिष्यों ने कहा कि यह तो बेईमानी है, चालबाजी है। कबीर तो समझते होंगे। उन्होंने कहा कि ठीक, तो कमाल को अलग कर देते हैं। कमाल का झोपड़ा अलग कर दिया गया। काशी-नरेश कभी-कभी आते थे कबीर के पास। उन्होंने देखा कि कमाल दिखायी नहीं पड़ता। उन्हें कमाल में रुचि थी, रस था। पूछा: "कमाल दिखायी नहीं पड़ता?" कबीर ने कहा कि शिष्य उसके बड़े पीछे पड़े थे, अलग कर दिया, पास के झोपड़े में है। कारण पूछा तो कारण बताया।

तो सम्राट गया। उसने अपनी जेब से एक बहुमूल्य हीरा निकाला और कहा कि आपको भेंट करने आया हूं--कमाल से कहा। कमाल ने कहा: "लाए भी तो पत्थर! खाएंगे कि पीएंगे इसको? इसका करेंगे क्या!" यह सुन कर सम्राट ने मन में सोचा कि अरे! और लोग कहते हैं कि भोगी और यह तो...इससे और महात्यागी क्या होगा! इतना बहुमूल्य हीरा, शायद भारत में उस जैसा दूसरा हीरा न हो उस समय! तो जेब में रखने लगे। तो कमाल ने कहा: "अब ले आए, अब कहां वापस ले जाते हो! पत्थर ही है, डाल दो यहां!" तब जरा सम्राट को भी शक हुआ। तो उसने पूछा: "कहां डाल दूं?" तो कमाल ने कहा: "अगर पूछते हो कहां डाल दूं, तो फिर ले ही जाओ। क्योंकि फिर तुमने इसे पत्थर नहीं समझा, इसका मूल्य है तुम्हारे मन में। अरे कहीं भी डाल दो--पत्थर ही है!" लेकिन सम्राट कैसे मान ले कि पत्थर ही है। है तो बहुमूल्य हीरा। तो कहा: यहां झोपड़े में खोंस जाता हूं।" वह भी परीक्षा के लिए। सनौलियों की छप्पर थी, उसमें खोंस गया। सोचा कि मेरे जाते ही कमाल उसे निकाल लेगा। आठ दिन बाद वापिस आया। पूछा कमाल से कि मैं एक हीरा लाया था...। कमाल ने कहा कि हीरा होता ही नहीं, लाओगे कहां से? सब पत्थर हैं!

सम्राट ने कहा: चलो पत्थर सही! मैं यहां लगा गया था झोपड़े में उसका क्या हुआ? कमाल ने कहा: अगर किसी ने न निकाला हो तो वहीं होगा, तुम देख लो।

वह हीरा वहीं खोंसा था।

अब कमाल को समझना मुश्किल हो जाएगा। न तो भोगी इसे समझ पाएगा और न त्यागी इसे समझ पाएगा। यह परम अवस्था है। कबीर ने ठीक ही कहा कि इसका नाम कमाल है। लेकिन शिष्यों ने बड़े अर्थ लगाए। उन्होंने तो इसका यह अर्थ निकाला कि कमाल का तिरस्कार कर दिया। कबीर का एक वचन है: "बूड़ा वंश कबीर का, उपजा पूत कमाल!" तो शिष्य कहते हैं कि कमाल की निंदा में है यह वचन। कबीरपंथी कहते हैं निंदा में है, कि इस कमाल के पैदा होने से मेरा वंश नष्ट हो गया। "बूड़ा वंश कबीर का, उपजा पूत कमाल।" और यह कहा गया है बड़ी प्रशंसा में! वंश तो तभी समाप्त होता है जब कोई कमाल जैसा बेटा पैदा हो, नहीं तो शृंखला जारी रहती है। फिर कमाल का कोई बेटा नहीं पैदा हुआ। इसलिए वंश उजड़ गया। जीसस का कोई बेटा पैदा नहीं हुआ।

बाइबिल में कहानी है कि अदम और हव्वा को ईश्वर ने बनाया, फिर उनका फलां बेटा हुआ, फिर फलां बेटा हुआ, फिर फलां बेटा हुआ--ऐसी चलती है वंशावली। फिर मरियम और जोसेफ को जीसस पैदा हुआ और फिर और कोई नहीं; जीसस पर आ कर सब बात रुक गई। "बूड़ा वंश कबीर का, उपजा पूत कमाल!" वे जो एक के बाद एक पैदा होते रहे, शृंखला जारी रही, जीसस पर आ कर झटके से शृंखला टूट गयी। शिखर आ गया। आखिरी ऊंचाई आ गयी। अब और आगे जाने को कोई जगह न रही। यात्रा समाप्त हो गयी, मंजिल आ गयी।

वही अर्थ है कबीर का: "बूड़ा वंश कबीर का, उपजा पूत कमाल।" किसी बड़े अहोभाव में कहा है। लेकिन शिष्यों ने उसका मतलब पकड़ा कि कबीर ने नाराजगी में कहा है। नाराजगी में तो कबीर कह नहीं सकते। कमाल को अगर कबीर न समझेंगे तो और कौन समझेगा! उन्हीं का बेटा था--उनसे भी दो कदम आगे गया। कबीर का तो वंश थोड़ा चला, लेकिन कमाल का कोई वंश नहीं। आ गयी आखिरी ऊंचाई!

लेकिन ऐसे व्यक्ति को समझना मुश्किल हो जाता है; क्योंकि वह भोगी को भोगी जैसा लगता है, त्यागी को त्यागी जैसा नहीं लगता। उसका त्याग परम है--जहां भोग और त्याग दोनों छूट जाते हैं।

"त्याग और ग्रहण दोनों को छोड़ कर मैं सुखपूर्वक स्थित हूं।"

और जब तक तुम एक को पकड़ोगे, दुख में रहोगे। जिसने पकड़ा, दुखी हुआ। इसलिए कृष्णमूर्ति बार-बार कहते हैं: च्वॉयसलेस अवेयरनेस। चुनना मत! चुनना ही मत! चुनाव-रहित हो जाना। इसको चुन लूं उसके विपरीत, ऐसा मत करना, अन्यथा उलझे ही रहोगे। यही तो उलझाव है। तुम इन दोनों के साक्षी हो जाना--चुनना मत। अचुनाव में अतिक्रमण हो जाता है।

"कहीं तो शरीर का दुख है, कहीं वाणी दुखी है और कहीं मन दुखी होता है। इसलिए तीनों को त्याग कर मैं पुरुषार्थ में, आत्मानंद में सुखपूर्वक स्थित हूं।"

कुत्रापि खेदः कायस्य जिह्वा कुत्रापि खिद्यते।
मनः कुत्रापि तत्त्यक्त्वा पुरुषार्थे स्थितः सुखम्।।
कुत्र अपि कायस्य खेदः...।

दुख हैं शरीर के--हजार दुख हैं। शरीर में सब बीमारियां छिपी पड़ी हैं। समय पा कर कोई बीमारी प्रगट हो जाती है, लेकिन पड़ी तो होती ही है भीतर। सब बीमारियां ले कर हम पैदा हुए हैं। शरीर को तो व्याधि कहा है ज्ञानियों ने। सब व्याधियों की जड़ वहां है, क्योंकि शरीर पहली व्याधि है।

इसे समझना। शरीर में होना ही व्याधि में होना है। शरीर में होना उपाधि में होना है। उलझ गए--फिर और उलझनें तो अपने-आप आती चली जाती हैं। तो शरीर का दुख है कहीं। कहीं कोई दुखी है बीमारी से, कहीं कोई दुखी है बुढ़ापे से, कहीं कोई दुखी है कि कुरूप है। और मजा यह है कि जो स्वस्थ हैं वे सुखी नहीं हैं। जो सुंदर हैं वे भी सुखी नहीं हैं। तो ऐसा लगता है कि शरीर के साथ सुख संभव ही नहीं है। बीमार दुखी है, समझ में आता है; लेकिन स्वस्थ क्या कर रहा है? वह भी कोई सुखी नहीं दिखायी पड़ता।

तुमने कभी खयाल किया? जब तुम बीमार होते हो तब तुम और ज्यादा दुखी हो जाते हो, बस। जब तुम स्वस्थ होते हो तब तुम उतने दुखी नहीं होते, लेकिन होते तो दुखी ही हो। सिर्फ कभी तुम इसलिए नाचे हो सड़क पर कि स्वस्थ हूं, आज कोई बीमारी नहीं। नहीं, तब पता ही नहीं चलता। अगर स्वस्थ हो तो स्वास्थ्य का पता नहीं चलता; भूल ही जाते हो। बीमार हो तो बीमारी का पता चलता है और पीड़ा होती है।

जो कुरूप हैं वे दुखी हैं। प्रतिपल उनको एक ही अड़चन लगी है कि कुरूप हैं। सजाते-संवारते हैं, फिर भी सम्हलता नहीं। जो सुंदर हैं, उनसे पूछो। वे कुछ सुखी हों, ऐसा मालूम नहीं पड़ता।

अमरीका की बहुत बड़ी अभिनेत्री मनरो ने आत्महत्या कर ली। सुंदरतम स्त्री थी। प्रेसीडेंट कैनेडी भी उसके लिए दीवाने थे। और बड़े-बड़े प्रेमी थे उसके। अमरीका में शायद ही कोई धनपति हो जो उसके लिए दीवाना न था। वह जिसको चाहती उसको पा सकती थी; जो चाहती पा सकती थी। आत्महत्या कर ली! हुआ क्या? सुखी न थी। सुंदर होने से कोई सुखी नहीं होता; असुंदर होने से दुखी जरूर होता है।

इस जीवन में कुछ ऐसा मालूम पड़ता है कि शरीर के साथ सुखी होना संभव ही नहीं है। शरीर के साथ सुख का कोई संबंध नहीं है। कहीं तो शरीर का दुख है, कहीं वाणी दुखी है। कोई इसलिए दुखी है कि उसके पास बुद्धि नहीं है, विचार नहीं, वाणी नहीं। और जिनके पास बुद्धि है, वाणी है, विचार है, उनसे पूछो। उनमें से अनेक आत्महत्या कर लेते हैं, पागल हो जाते हैं।

पश्चिम में जितने बड़े विचारक पिछले पचास वर्षों में हुए, उनमें से करीब-करीब आधे पागल हुए। वे बड़े बुद्धिमान थे। नीत्शे! प्रगाढ़ प्रतिभा थी वाणी की। सदियों में कभी नीत्शे जैसी वाणी और विचार की क्षमता किसी को मिलती है। नीत्शे की कोई किताब पढ़ें--दस स्पेक जरथुस्त्रा पढ़ें--तो ऐसा लगता है, कोई प्रॉफेट, कोई

पैगंबर, कोई तीर्थंकर बोल रहा है। लेकिन पागल हो कर मरा नीत्शे। और जीवन भर दुखी रहा। मामला क्या था?

जिनके पास वाणी नहीं है, वे गूंगे हैं। और जिनके पास वाणी है, वे विक्षिप्त हो जाते हैं। जिनके पास विचार नहीं है, वे दीनहीन हैं, वे तड़पते हैं कि काश, हमारे पास बुद्धि होती। जिनके पास है, वे बुद्धि का क्या करते हैं? खुद के लिए और झंझटें खड़ी कर लेते हैं, हजार उलझनें खड़ी कर लेते हैं, चिंताओं का जाल, संताप का जाल फैला लेते हैं।

कहीं वाणी दुखी है और कहीं मन दुखी है। अगर कुछ भी न हो, शरीर स्वस्थ हो, विचार कुशल हो, अभिव्यक्ति की क्षमता हो, जीवन में सब भरा-पूरा हो, तो भी मन दुखी है। क्योंकि मन का एक नियम है--जो नहीं है, उसकी मांग मन का नियम है। जो है, उसमें मन को कोई रस नहीं है; जो नहीं है, उसी में रस है। अभाव में रस है। तो मन तो दुखी रहेगा ही। मन को सुखी करने का कोई उपाय नहीं कर पाया। इसलिए तो ज्ञानी मन के बाहर होने का उपाय करने लगे। समझदार मन के बाहर हो गए, क्योंकि उन्होंने देख लिया कि मन का स्वभाव ही सुखी होना नहीं है।

जनक कहते हैं: बड़े अदभुत दुख हैं--शरीर के, वाणी के, मन के! इसलिए मैं तीनों को त्याग कर, अपने में डूब कर, वहां खड़ा हो गया हूं न जहां मैं वाणी हूं, न शरीर, न मन। उस साक्षी-भाव में सुखपूर्वक स्थित हूं।

"किया हुआ कर्म कुछ भी वास्तव में आत्मकृत नहीं होता। ऐसा यथार्थ विचार कर मैं जब जो कुछ कर्म करने को आ पड़ता है, उसको करके सुखपूर्वक स्थित हूं।"

आदमी धोखे दे रहा है अपने को। धोखों से कुछ बात मिटती नहीं, वहीं की वहीं बनी रहती है, धोखे देने की प्रक्रिया छोड़नी पड़े, तो ही बदलाहट होती है।

मैंने सुना, सुरता भाई रास्ता भूल गए। रात पड़ गई। एक पेड़ पर चढ़ कर देखा कि दूर एक दीया जल रहा है। सीधे वहीं पहुंचे। देखा कि खेतों में एक मकान है, बाहर एक चारपाई पड़ी है। वहीं बैठ गए। घर में पति-पत्नी बेहद कंजूस, बाहर मेहमान को देख कर भिन्नाए। योजना बनाई कि नकली लड़ाई करेंगे। पत्नी रोएगी पति मारेगा। सो भीतर नकली लड़ाई शुरू हुई। एक हंगामा खड़ा कर दिया दोनों ने। सुरता भाई डर गए। कहीं उनकी पिटाई न हो जाए, सो चारपाई के नीचे जा छिपे। पति-पत्नी बाहर आए, मेहमान को वहां न देख कर बहुत खुश हुए। पति बोला: "देख्या मन्ने कै मारा!" पत्नी ने कहा: "मैं कै रोई, देख्या!" और चारपाई के नीचे से निकल कर सुरता भाई ने कहा: "देख्या, मैं कै गया!"

कुछ फर्क नहीं पड़ता, धोखाधड़ी में चीजें वहीं की वहीं रहती हैं। तुम जरा लौट कर अपनी जिंदगी पर देखो। सब तरह के उपाय तुमने किए, सब तरह की धोखाधड़ियां कीं--कहीं कुछ बदला? आखिर में पाओगे, सुरता भाई निकल कर कहते हैं: "देख्या, मैं कै गया!" कुछ कहीं गया नहीं। सब वहीं का वहीं है। अधिक लोग जैसे पैदा होते हैं वैसे ही मर जाते हैं। उनके जीवन में रत्ती भर क्रांति घटित नहीं होती, कुछ बदलता नहीं। जीवन का पूरा अवसर ऐसे ही व्यर्थ चला जाता है।

ये सूत्र तो आत्मक्रांति के सूत्र हैं।

"किया हुआ कर्म कुछ भी वास्तव में आत्मकृत नहीं है।"

समझना। कठिन बात है। जनक कह रहे हैं: तुम जो भी करते हो, वह तुम्हारा किया हुआ नहीं है। प्रकृति कर रही है। यह बड़ी कठिन बात है, लेकिन बड़ी सत्य है। इससे बड़ा और कोई सत्य नहीं। और इस सत्य को किसी न किसी दिन तुम्हें समझना ही पड़ेगा। भूख लगी तो शरीर को लगती है। फिर भोजन की जो खोज होती है वह भी शरीर ही करता है। बहुत-से-बहुत मन साथ देता है। मन तो शरीर का ही अंग है। मन और शरीर दो नहीं हैं। मन यानी सूक्ष्म शरीर और शरीर यानी स्थूल मन। वे एक ही चीज के दो हिस्से हैं। तो भूख लगी तो मन

उपाय करता है--रोटी लाओ, भोजन बनाओ! मांग लो कि कमाओ, हजार उपाय कर सकते हो। लेकिन जहां तक तुम्हारा संबंध है, तुम्हारे चैतन्य का संबंध है, तुम बाहर ही हो।

"किया हुआ कर्म कुछ भी वास्तव में आत्मकृत नहीं है। ऐसा यथार्थ विचार कर मैं जब जो कुछ कर्म करने को आ पड़ता है उसको करके सुखपूर्वक स्थित हूं।"

यह सुनो, यह वचन बड़ा मीठा है। और मीठा ही नहीं, उतना ही सत्य भी कि जो आ पड़ा, कर लेता हूं। भूख लगी तो भोजन कर लेता हूं। नींद आई तो सो जाता हूं। कोई बोला तो उत्तर दे लेता हूं। लेकिन एक बात के प्रति जागा रहता हूं कि इसमें मैं कर नहीं रहा हूं। जो आ पड़ता है, कर लेता हूं।

लौटती है लहर सागर को अगम
गंभीर क्षण है, शांति रखो, मौन धारो!
और जो होना यही है, हो
क्योंकि सारा भूत ही इसकी गवाही है
कि जो होना हुआ है, वही हो कर रहा है।
हुई की लंबी पुरानी आदिहीन कथा-व्यथा है
लिखी, सुधियों में संजोई
जान या अनजान, भूली या भुलाई
लौटती है लहर सागर को अगम
शांति रखो, मौन धारो!
और जो होना यही है, हो
क्योंकि सारा भूत ही इसकी गवाही है
कि जो होना हुआ है, वही हो कर रहा है।

पीछे लौट कर देखो। जरा अपने जीवन की कहानी के पन्ने पलटो। जरा अतीत में खोजबीन करो, खोदो। तुम पाओगे: जो होना है वही होकर रहा है। तुम नाहक ही बीच में परेशान हो लिए। तुम्हारे बिना भी होकर रहता। तुम इतने परेशान न होते तो भी होकर रहता। हार हुई, तुम परेशान न होते, तो भी हो जाती। होनी थी तो हो जाती। तुम परेशानी बचा सकते थे, हार नहीं बदल सकते थे। आदमी के हाथ में बस इतना ही है कि परेशानी बचा ले, दुख बचा ले, पीड़ा बचा ले, संताप बचा ले। जो होना है, होकर रहेगा। जो होना है, होता ही रहा है। लेकिन हमारा मन इससे बगावत करना चाहता है। क्योंकि जब हम कुछ करते हैं, तभी हमें मजा आता है, नशा आता है; तभी लगता है: मैं हूं!

एक गीत कल मैं पढ़ रहा था:
प्रार्थना करनी मुझे है
और इसे स्वीकारना, संभव बनाना--
सरल उतना ही तुम्हें है!
परमात्मा से प्रार्थना कर रहा है भक्त:
प्र्रार्थना करनी मुझे है
और इसे स्वीकारना, संभव बनाना--
सरल उतना ही तुम्हें है
यह कि तुम जिस ओर आओ, चलूं मैं भी
यह कि तुम जो राह थामो, रहूं थामे हुए मैं भी
यह कि कदमों से तुम्हारे कदम अपना मैं मिलाए रहूं
यह कि तुम खींचो जिधर को, खिंचूं

जिससे तुम मुझे चाहो बचाना, बचूं,
यानी कुछ न देखूं, कुछ न सोचूं
कुछ न अपने से करूं--
मुझसे यह न होगा।
छूटने को, विलग जाने, ठोकरें खाने, लुड़कने
गरज अपने-आप करने के लिए कुछ विकल
चंचल आज मेरी चाह है।

प्रार्थना भी आदमी करता है कि हे प्रभु, तू जैसा कराए वैसा ही हम करें। तेरी जैसी मर्जी, वही पूरी हो। कहते हैं लोग: "उसकी मर्जी के बिना पत्ता भी नहीं हिलता।" लेकिन फिर भी कहीं भीतर अहंकार घोषणा करता है:

मुझसे न होगा
छूटने को, विलग जाने, ठोकरें खाने, लुड़कने
गरज अपने-आप करने के लिए कुछ विकल
चंचल आज मेरी चाह है।

अहंकार निरंतर कोशिश करता है: "कुछ अपने से करके दिखा दूं! कर्ता हो कर दिखा दूं!" यह कर्ता होने की चाह समस्त नर्क का आधार है, स्रोत है।

तुम कितना ही करो, जो होना है वही होता है। कभी सफलता होती है जरूर, कभी असफलता भी होती है जरूर--लेकिन संयोगवशात। न तो तुम सफलता अपने हाथ से ला सकते हो और न तुम विफलता अपने हाथ से ला सकते हो। तुम्हारी लाख चेष्टा करने पर भी कभी तुम विफल हो जाते हो और कभी निश्चेष्ट पड़े रहने पर भी सफल हो जाते हो। कभी इस पर तुमने देखा?

मैं विश्वविद्यालय में एम.ए. का विद्यार्थी था। मेरे जो प्रोफेसर थे, अब तो चल बसे, अभी-अभी कुछ वर्ष पहले चल बसे। उनका मुझ पर बड़ा लगाव था। और वे कहते, तुम जरा मेहनत करो तो गोल्ड मैडल तुम्हारा है; तुम घंटा भर भी दे दो पढ़ने को तो गोल्ड मैडल तुम्हारा है। मैं उनसे कहता, मिलना होगा तो मिल कर रहेगा। उनको यह बात जंचती न। वे कहते, ऐसे कैसे मिल कर रहेगा? तुम कुछ करोगे तो ही मिलेगा; कुछ न करोगे तो कैसे मिलेगा?

परीक्षा के तीन महीने पहले उन्होंने मुझसे कहा: "तो अब इसकी परीक्षा हो ले। तो तुम मेरे घर आ जाओ। और मेरे घर ही रहो, ताकि मैं देखूं तुम कुछ करते हो या नहीं।"

तीन महीने मैं उनके घर रहा। मैंने सब किताबें वगैरह बांध कर रख दीं। वे थोड़े डरे भी। पांच-सात दिन बाद वे मुझसे बोले कि "छोड़ो, इस झंझट में क्या रखा है! यह जिद ठीक नहीं। इसमें कहीं ऐसा न हो कि तुम नाहक खो बैठो।" मैंने कहा: "खोना है तो खोएंगे। पाना है तो पाएंगे। मगर अब इसको बदलेंगे नहीं। अब ये किताबें मैं खोलने वाला नहीं।" महीना बीतते-बीतते तो वे बहुत घबड़ाने लगे। वे कहने लगे कि मुझे क्षमा करो; मैं अपनी बात वापिस लेता हूं, लेकिन तुम पढ़ो- लिखो। मैंने कहा: आपके बात लेने न लेने का कोई सवाल नहीं है; वैसे भी मैं पढ़ने वाला नहीं था। कोई आपकी वजह से नहीं पढ़ रहा हूं, यह सवाल नहीं है। जो मुझे करना था वही करने वाला था। और जो होना है, होगा।

परीक्षा जब बिलकुल करीब आ गई तो वे तो इतने घबड़ाने लगे कि मुझसे बोले कि "ऐसा करो, मैं तुम्हें बताए देता हूं कि क्या-क्या आ रहा है, कम से कम उतना...। मैंने अपने जीवन में ऐसा कभी नहीं किया। लेकिन तुम पर मुझे दया आती है और हैरानी होती है कि तुम पागल तो नहीं हो।" क्योंकि मैं पड़ा रहता घास पर उनके लान में; सोया रहता धूप में या वृक्षों की छाया में। तीन महीने मैंने किताब छुई नहीं। मैंने कहा कि नहीं, आप

बताओ भी तो भी कोई सार नहीं, क्योंकि मैं किताब उठाने वाला नहीं। मैं बिना किताब छुए ही परीक्षा में आ रहा हूं।

आखिरी दिन रात तो उनसे न रहा गया। मैं कमरे में सोया था, कोई ग्यारह बजे रात उन्होंने खटका किया और कहा: "सुनो, यह रहा पेपर।" अब मैंने कहा कि देखो, आप अपने हाथ से सब खराब किये ले रहे हैं। अब तीन महीने गुजर गए, अब रात बची है; कल सुबह जो होगा, होगा। और इस पेपर का मैं करूंगा भी क्या? यह जान भी लूं कि क्या आ रहा है...यह तो सुबह मैं जान ही लूंगा, इसमें क्या ऐसी जल्दी है? पढ़ने वाला मैं नहीं हूं। तो अभी जान लूं कि सुबह जान लूं, फर्क क्या पड़ेगा? बीच में मैं पढ़ने वाला नहीं हूं।

और जब मुझे गोल्ड मैडल मिला तो उनकी हालत देखने जैसी थी। वे नाचने लगे खुशी में। उन्होंने कहा कि हद हो गई! तो शायद तुम ठीक ही कहते हो कि जो होने वाला था, हो कर रहेगा। मगर मुझे अब भी भरोसा नहीं आता। यह हो गया, यह भी ठीक...।

फिर वर्ष बीत गए, जब भी वे मुझे मिलते, कहते: "कहो, बताओ तो, किया कैसे? इसके पीछे राज क्या था?" मैं उनको कहता: "आपके घर रहा तीन महीने, आप जानते हैं, चौबीस घंटे आपकी आंख के सामने रहा। किताबें मैंने बंद करके चाबी आपको दे दी थी। किताबें कभी फिर आपके घर से मैं दुबारा लेने गया भी नहीं; वे अब भी आपके पास पड़ी हैं। फिर मैंने उन्हें उठा कर देखा भी नहीं। मैंने भी एक प्रयोग किया, मैंने भी एक दांव खेला कि जो होना होगा, होगा।

मगर उन्हें भरोसा न आया।

आप भी बहुत बार बिना कुछ किए सफल हो जाएंगे, तो भी भरोसा न आएगा; तो भी ऐसा लगेगा: "संयोग होगा; हो गया होगा संयोगवशात।"

लेकिन जीवन का सत्य यही है: जो होना है वही हो रहा है। जो होता है वही होता है। ऐसे सत्य को जान कर अगर पीछे सरक गए तो तुम्हारे जीवन में शांति के मेघ बरस जाएंगे। फिर अशांति कैसी? फिर सुख ही सुख है।

"किया हुआ कर्म कुछ भी वास्तव में आत्मकृत नहीं है। ऐसा यथार्थ विचार कर मैं जब जो कुछ कर्म करने को आ पड़ता है, उसको करके सुखपूर्वक स्थित हूं।"

"जो करने को आ पड़ता है।"

आ ही गया द्वार तो ठीक, निपटा लेता हूं; बाकी न करने में कोई रस है, न न-करने का कोई आग्रह है।

कृतं किमपि नैव स्यादिति संचिन्त्य तत्त्वतः।
यदा यत्कर्तुमायाति तत्कृत्वाऽसे यथासुखम्।।
कृतं किमपि एव न आत्मकृतं स्यात्...।

नहीं, अपने किए कुछ नहीं होता। अपना किया कुछ भी नहीं है। सब किए पर परमात्मा के हस्ताक्षर हैं। तुम अपने हस्ताक्षर हटा लो और तुमने नर्क बनाना बंद कर दिया। तुम अपने हस्ताक्षर बड़े करते जाओ और तुम्हारा नर्क उतना ही बड़ा होता जाएगा।

इति तत्वतः संचिन्त्य...।

ऐसा जान कर, ऐसा अनुभव करके, ऐसे तत्व का साक्षात करके।

यदा यत् कर्तुं आयाति तत् कृत्वा।

जो आ गया, जो सामने पड़ गया।

आयाति तत् कृत्वा।

उसे कर लेते हैं। इंकार भी नहीं है। आलस्य भी नहीं है। करने की कोई दौड़ भी नहीं है। करने का कोई पागलपन भी नहीं है। न तमस है न रजस है--वहीं सत्व का उदय है।

तमस का अर्थ होता है: आलस्य से पड़े हैं। आग लग गई घर में, तो भी पड़े हैं।

रजस का अर्थ होता है: घर में अभी आग नहीं लगी, इंश्योरेंस कराने गए हैं; कुआं खोद रहे हैं; इंतजाम कर रहे हैं, क्योंकि आग जब लगेगी तब थोड़े ही इंतजाम कर पाओगे। सारा इंतजाम कर रहे हैं। आग लगे या न लगे, इंतजाम में मरे जा रहे हैं। मकान तो बच जाएगा, इंतजाम करने वाला मर जाएगा--इंतजाम करने में ही।

सत्व का अर्थ है: न रजस, न तमस; दोनों का जहां संतुलन हो गया। घर में आग लग गई तो निकलेंगे, पानी भी लाएंगे, बुझाएंगे भी। जो आ पड़ा, कर लेंगे। लेकिन उसके लिए कोई चिंतना, आयोजना, कल्पना कुछ भी नहीं है। जो वर्तमान दिखाएगा, करवाएगा--कर लेंगे।

यथासुखं आसे...।

इसलिए सुखपूर्वक स्थित हूं।

आदमी कर्ता तो बना रहता है, फिर भी कहीं तो किसी चेतना के तल पर पता चलता रहता है कि अपना किया कुछ होता नहीं। कितनी चेष्टा तुम करते हो सफल होने की और असफलता हाथ लग जाती है। और कभी-कभी अनायास छप्पर फोड़ कर धन बरस जाता है।

मैंने सुना है, एक यहूदी कथा है कि एक सम्राट ऐसा ही भरोसा करता था कि जो होना है होता है। गांव में एक भिखमंगा था--बस एक ही भिखमंगा था। पूरी राजधानी धन-संपन्न थी। अंधा था भिखमंगा। नहीं कि आंख से अंधा था; बस कुछ ऐसा अंधापन था कि जो भी करता गलत हो जाता, कि गलत ही चुनता, कि गलत दिशा में ही जाता। जब सारे लोग बाजार में बेच रहे होते, तब वह खरीदता; जब चीजों के दाम गिर रहे होते, तब वह फंस जाता। जो करता, गलत हो जाता। वजीरों को उस पर दया आई। उन्होंने सम्राट से कहा कि गांव पूरा धनी है; यह एक आदमी बेचारा उलझन में पड़ा रहता है, इसका कुछ भाग्य विपरीत है, इसकी बुद्धि उल्टी है। जब सारी दुनिया कुछ कर रही है, वह न करेगा। जब सब सफल हो रहे हैं, धन कमा रहे हैं, तब न कमाएगा। जब सारे लोग फसल बो रहे हैं तब वह बैठा रहेगा। जब मौसम है बीज डालने का तब बीज न डालेगा; जब मौसम चला जाएगा तब बीज डालेगा। तब बीज भी सड़ जाते हैं; वे फिर पैदा नहीं होते हैं। फसल तो आती नहीं, हाथ का भी चला जाता है। इस पर कुछ दया करें।

सम्राट ने कहा: "दया करने से कुछ भी न होगा, लेकिन तुम कहते हो तो एक प्रयोग करें।"

तो वह आदमी रोज सांझ को बाजार से लौटता अपने घर, तो एक पुल को पार करता है। सम्राट ने कहा: "पुल खाली कर दिया जाए। और अशर्फियों से भरा हुआ एक हंडा, बड़ा हंडा बीच पुल पर रख दिया। सम्राट और वजीर दूसरे किनारे बैठे हैं। पुल खाली कर दिया गया। कोई दूसरा जा न सकेगा।

वही आदमी निकला अपनी धुन में, अपने सोच-विचार में, गुनगुनाता, ओंठ फड़फड़ाता। वजीर चकित हुए कि पुल पर पैर रखते ही उसने आंख बंद कर ली। वे बड़े हैरान हुए कि हद हो गयी। अब यह मूर्ख आंख क्यों बंद कर रहा है पुल पर! लेकिन वह आंख बंद करके और टटोल-टटोल कर पार हो गया और घड़े को वहीं छोड़ गया, क्योंकि अंधे को अब घड़ा क्या दिखायी पड़ता! जब वह उस तरफ पहुंच गया तो सम्राट ने कहा कि देखो...। उसे पकड़ा। उससे पूछा कि महापुरुष, आंख क्यों बंद की? उसने कहा कि कई दिन से मेरे मन में यह खयाल था कि एक दफे आंख बंद करके पुल पार करें। आज खाली देख कर कि पुल पर कोई भी नहीं है, मैंने सोचा कर लो, यह मौका फिर न मिलेगा। राह खाली है, गुजर जाओ। यह अनुभव के लिए कि आंख बंद करके चल सकते हैं कि नहीं।

"आज ही सूझा तुम्हें यह?"

"नहीं, योजना तो पुरानी थी, लेकिन रास्ता कभी खाली नहीं होता था। लोग आ रहे जा रहे, धक्का-धुक्की हो जाए।"

सम्राट ने कहा: "जो होना होता है, होता है।"

तुम कोई उपाय खोज लोगे असफल होने का या सफलता तुम्हें खोजती आ जाएगी। यह बहुत कठिन तत्व है, क्योंकि अहंकार के विपरीत इससे बड़ी और कोई बात नहीं हो सकती। तो सिर्फ जो अकिंचन है, जिसने अहंकार छोड़ा, वही इसे समझ पाएगा।

यह कि अपना लक्ष्य निश्चित मैं न करता
यह कि अपनी राह मैं चुनता नहीं हूं
यह कि अपनी चाल मैंने नहीं साधी
यह कि खाई-खंदकों को आंख मेरी देखने से चूक जाती
यह कि मैं खतरा उठाने से हिचकता-झिझकता हूं
यह कि मैं दायित्व अपना ओढ़ते घबड़ा रहा हूं
--कुछ नहीं ऐसा
शुरू में भी कहीं पर चेतना थी
भूल कोई बड़ी होगी
तुम सम्हाल तुरंत लोगे
अंत में भी आश्वासन चाहता हूं
अनगही मेरी नहीं है बांह!

कहीं ऊपर-ऊपर तो वह सब खेल चलता रहता है--हार का, जीत का, पराजय का, सफलता- विफलता, सुख-दुख का--लेकिन भीतर कहीं अचेतन की गहराई में ऐसा भी प्रतीत होता रहता है:

भूल कोई बड़ी होगी
तुम सम्हाल तुरंत लोगे
अंत में भी आश्वासन चाहता हूं
अनगही मेरी नहीं है बांह!

वह भी बना रहता है। मनुष्य एक विरोधाभास है। एक तल पर कर्ता होने की कोशिश करता रहता है और एक तल पर जानता भी रहता है कि अकर्ता हूं और तुमने मेरी बांह पकड़ी है, इसलिए सम्हाल लोगे। अपनी तरफ से सम्हलने की चेष्टा भी करता रहता है और भीतर कहीं जानता भी रहता है कि सम्हाल लोगे अगर भटकूंगा बहुत। इन दोनों दुविधाओं के बीच आदमी टूट जाता है। तो इस लिहाज से वे लोग भले जैसे पश्चिम के लोग, उन्होंने पहली बात छोड़ ही दी। वे मानते ही नहीं कि तुम सम्हाल लोगे, तुम हो ही नहीं! ईश्वर मर चुका। वह बात खतम हुई। वह बात आयी-गयी, अब पुराण-कथा हो गयी। अब तो अपने से ही करना है जो करना है। आदमी ही कर्ता है और कोई नहीं।

तो पश्चिम के आदमी में तुम एक तरह की सरलता पाओगे, दुविधा नहीं। वह कर्ता मानता है अपने को। जनक में एक तरह की सुविधा पाओगे, वे अपने को कर्ता नहीं मानते, साक्षी मानते हैं। लेकिन पूरब का आदमी, कम से कम भारत का आदमी, बड़ी दुविधा में है--एक तल पर जानता है कि साक्षी हूं और एक तल पर मानता है कि कर्ता हूं। इसलिए बड़ी खिंचावट है।

पश्चिम के लोग आते हैं; उनमें मुझे एक तरह की सरलता और साफ-सुथरापन दिखायी पड़ता है। दो और दो चार! जब भारतीय कोई आता है, उसके भीतर गौर से देखो तो कभी दो और दो पांच होते दिखायी पड़ते हैं और कभी दो और दो तीन होते दिखायी पड़ते हैं। दो और दो चार कभी नहीं होते। कुछ अड़चन है। उसने महासत्य भी सुन लिए हैं। खुद तो नहीं जाना--सुन लिए हैं। महासत्यों की उदघोषणा इतनी बार हुई इस देश में--कभी बुद्ध, कभी महावीर, कभी कृष्ण, कभी अष्टावक्र-- उसने सुन लिए हैं। उनको इंकार भी नहीं कर सकता। भारत की चेतना ने इन महापुरुषों को देखा। सदियों-सदियों में वे आते रहे। उनको इंकार भी नहीं किया जा सकता। उनकी मौजूदगी प्रगाढ़ छाप छोड़ गयी। उनकी वाणी गूंजती है, गूंजती चली जाती है। वह हमारे खून में मिल गयी है। हम भुलाना भी चाहें तो भूल नहीं सकते। और हमारा अहंकार भी है; उसको भी हम झुठलाना नहीं चाहते। हम अपने अहंकार की मान कर भी चले जाते हैं। ऐसी दुविधा है। इस दुविधा में बड़ी टूट हो जाती है; आदमी खंड-खंड हो जाता है।

पूरब का आदमी मुझे ज्यादा चालबाज मालूम पड़ता है बजाय पश्चिम के आदमी के। पश्चिम का आदमी एक बात पर तय है कि आदमी कर्ता है। पूरब का आदमी दो बातों में डोल रहा है। उसकी नाव दो तरफ एक साथ जा रही है। उसने अपनी बैलगाड़ी में दोनों तरफ बैल जोत लिए हैं। हड्डी-पसली टूटी जा रही है, अस्थि-पंजर उखड़े जा रहे हैं। और बड़ी बेईमानी पैदा हुई है। कैसी बेईमानी पैदा हुई है? पूरब का आदमी जीतता है तो कहता है, मैं जीता; हारता है तो वह कहता है, भाग्य में लिखा था। यह बेईमानी पैदा हुई है। जब हार तो वह एक तरफ की बात कहता है कि "भाग्य में लिखा, क्या कर सकते हो! होना नहीं था।" जब जीत होती है तब भूल जाता है यह। तब वह कहता है, मैं जीता।

"देहासक्त योगी हैं जो कर्म और निष्कर्म के बंधन से संयुक्त भाव वाले हैं। मैं देह के संयोग और वियोग से सर्वथा पृथक होने के कारण सुखपूर्वक स्थित हूं।"

सुनो! जनक कहते हैं, देहासक्त हैं योगी! भोगी तो देहासक्त हैं ही, योगी भी देहासक्त हैं। उनकी आसक्तियां अलग-अलग ढंग की हैं, लेकिन हैं तो आसक्तियां। भोगी फिक्र करता है कि खूब सजा ले अपने जीवन को। भोगी फिक्र करता है देह के लिए सब सुख-साधन जुटा ले, शैया बना ले मखमल की। और त्यागी फिक्र करता है कि आसन जमा कर बैठ जाए, सिद्धासन सीख ले, योगासन सीख ले, हठयोग लगा ले, श्वास पर काबू पा ले। मगर चेष्टा दोनों की शरीर पर ही लागू है। होगी योगी की चेष्टा शायद भोगी से बेहतर, लेकिन भिन्न नहीं। तल एक ही है, आयाम एक ही है।

कर्मनैर्ष्कम्यनिर्बंधभावा देहस्थ योगिनः।
संयोगायोगविरहादहमासे यथासुखम्।।

योगी भी देहासक्त हैं--जो कर्म और निष्कर्म के बंधन से जुड़े हुए हैं; जो सोचते हैं, न करूं। योगी का अर्थ होता है: जिसने करना छोड़ दिया। भोगी का अर्थ होता है: जो करने में उलझा है। लेकिन दोनों ही, कर्म और अकर्म, एक ही ऊर्जा की भिन्न-भिन्न अभिव्यक्तियां हैं। तो जनक कहते हैं कि मैं देह के संयोग और वियोग से सर्वथा पृथक होने के कारण सुखपूर्वक स्थित हूं।

"मुझको ठहरने से, चलने से या सोने से अर्थ और अनर्थ कुछ नहीं है...।"

सुनो!

"मुझको ठहरने से, चलने से या सोने से अर्थ और अनर्थ कुछ भी नहीं है। इस कारण मैं ठहरता हुआ, जाता हुआ और सोता हुआ भी सुखपूर्वक स्थित हूं।"

सुना है कभी इससे ज्यादा कोई क्रांतिकारी सूत्र!

अर्थानर्थौ न मे स्थित्या गत्या वा शयनेन वा।

जनक कहते हैं: सो कर भी मैं वही हूं और जाग कर भी मैं वही हूं। भेद नहीं है। और न मुझे अर्थ और अनर्थ में कोई भेद है।

तिष्ठन् गच्छन् स्वपंस्तस्मादहमासे यथासुखम्।

मैं तो नींद आ जाती है तो सो जाता हूं; चलना होता है तो चल लेता हूं; बैठना होता है तो बैठ जाता हूं।

झेन फकीर निरंतर यही कहते रहे हैं। इसलिए मैं कहता हूं कि झेन फकीरों को अष्टावक्र की गीता पर ध्यान देना चाहिए। इससे बड़ा झेन वक्तव्य और दूसरा नहीं है।

बोकोजू से किसी ने पूछा कि तुम करते क्या हो? तुम्हारी साधना क्या है? क्योंकि न हम तुम्हें कभी ध्यान में बैठे देखते, न कभी तुम्हें प्राणायाम करते देखते, न तुम्हें हम कभी योगासन लगाते देखते, न पूजा, न पाठ। तुम करते क्या हो? तुम्हारी साधना क्या है?

बोकोजू ने कहा: जब नींद आती है तब मैं सो जाता हूं और जब भूख लगती है तब भोजन कर लेता हूं। जब चलने का होता है भाव तो चल लेता हूं। जब बैठने का होता है भाव तो बैठ जाता हूं। यही मेरी साधना है।

"मुझको ठहरने से, चलने से या सोने से अर्थ और अनर्थ कुछ नहीं है। इस कारण मैं ठहरता हुआ, जाता हुआ, और सोता हुआ भी सुखपूर्वक स्थित हूं।"

अब कोई चुनाव न रहा।

एक युवक को मेरे पास लाया गया। उसका दिमाग खराब हुआ जा रहा था। विश्विद्यालय का विद्यार्थी था। मैंने पूछा: "तुझे हुआ क्या? तुझ पर कौन-सी मुसीबत आ गयी है? यह दिमाग को इतना अस्तव्यस्त क्यों कर लिया है?" उसने कहा कि मैं स्वामी शिवानंद का शिष्य हूं। उनकी ही किताबें पढ़-पढ़ कर योगसाधन कर रहा हूं। तो स्वामी शिवानंद ने लिखा है कि पांच घंटे से ज्यादा मत सोना। तो मैं पांच घंटे सोता हूं। और लिखा है, तीन बजे रात उठ आना तो मैं तीन बजे रात उठ आता हूं।

अब तीन बजे रात जो उठेगा उसे दिन में नींद आएगी। और वह विश्वविद्यालय का विद्यार्थी था।

"तो दिन में मुझे नींद आती है। तो किताबों में खोजबीन की तो शिवानंद ने लिखा है कि दिन में नींद आए तो उसका अर्थ है कि तुम्हारा भोजन तामसी है, तो भोजन को शुद्ध करो। तो मैं सिर्फ दूध पीता हूं।"

तो वह कमजोर होने लगा। इधर सिर्फ दूध पीने लगा तो कमजोर होने लगा, उधर रात नींद कम कर ली तो नींद से जो विश्राम मिलता था वह समाप्त होने लगा। मन के तंतु टूटने लगे। तो विक्षिप्तता की हालत आने लगी। उन्हीं किताबों में लिखा है कि साधक को ऐसी असुविधाएं भी आती हैं। तपश्चर्या में ऐसी कठिनाइयां भी आती हैं। तो उसके लिए भी सांत्वना मिल गयी।

अब यह जाल खुद खड़ा किया हुआ है। पांच घंटे सोना सभी के लिए ठीक नहीं हो सकता। हां, बुढ़ापे में ठीक हो सकता है। बुढ़ापे में नींद अपने से कम हो जाती है। और अक्सर लोग शास्त्र बुढ़ापे में लिखते हैं। तो वे जो अपने अनुभव से लिखते हैं, ठीक ही लिखते हैं। बुढ़ापे में भोजन भी कम हो जाता है। सच तो यह है कि बुढ़ापे के लिए दूध ठीक भोजन है। क्योंकि बूढ़ा फिर बच्चे जैसा हो आता है। फिर उसका जीवन उतना ही सीमित हो जाता है जैसे छोटे बच्चे का। अब कुछ जीवन में निर्माण तो होता नहीं; दूध काफी है। और नींद कम हो जाती है अपने-आप।

बच्चा मां के पेट में चौबीस घंटे सोता है। अब वह कहीं शिवानंद को पढ़ ले तो मरा। पैदा होने के बाद बाईस घंटे सोता है। वह शिवानंद को पढ़ ले तो गये! फिर बीस घंटे सोएगा, फिर सोलह घंटे सोएगा। जवान होते-होते आठ घंटे सोएगा, सात घंटे सोएगा। यह स्वाभाविक है। बूढ़ा जैसे-जैसे होने लगेगा, नींद कम होने लगेगी। क्योंकि नींद की जरूरत है एक--वह है शरीर के भीतर टूट गए तंतुओं का निर्माण। बूढ़े आदमी के तंतुओं का निर्माण होना बंद हो गया है, इसलिए नींद की जरूरत न रही। बच्चा चौबीस घंटे सोता है मां के पेट में, क्योंकि हजार चीजें निर्मित हो रही हैं, नींद चाहिए। गहरी नींद चाहिए ताकि कोई बाधा न पड़े, सब काम चुपचाप होता रहे। नींद के अंधेरे में निर्माण होता है। इसलिए तो बीज जमीन में अंदर चला जाता है, वहां फूटता है। रोशनी में नहीं फूटता चट्टान पर रखा हुआ। अंधेरा चाहिए। इसलिए तो वीर्य-कण मां के गर्भ में चला जाता है अंधेरे में, वहां जा कर विकसित होता है। अंधेरा चाहिए। गहरी नींद चाहिए। विश्राम चाहिए।

बूढ़े आदमी की तो अपने-आप नींद खतम होने लगती है। मेरे पास बूढ़े आ जाते हैं। वे दूसरे, वही उपद्रव में पड़े हैं। वे कहते हैं कि पहले हम आठ घंटे सोते थे, अब सिर्फ तीन घंटे नींद आती है। अब बड़े परेशान हैं, अनिद्रा के रोग ने पकड़ लिया है।

यह रोग नहीं है, बुढ़ापे में स्वभावतः नींद कम हो जाएगी। अब तुम चाहो कि आठ घंटे सोओ, संभव नहीं है। बुढ़ापे में भोजन भी कम हो जाएगा। उसकी जरूरत ही न रही। जवानी में भोजन ज्यादा था।

अब यह जवान लड़का है। अभी इसका जीवन बढ़ रहा है। अब यह पांच घंटे सोएगा, दिन भर नींद आएगी। नींद आने से तामसी होने का खयाल उठता है। भोजन के कारण नहीं कोई फर्क हो रहा है, नींद कम ले रहा है तो नींद आ रही है। और शास्त्र में पढ़ता है तो तामसी भोजन है--तो भोजन बदलो। फिर कमजोरी बढ़ने लगी। अब मस्तिष्क के तंतु टूटने लगे, उनका बनना बंद होने लगा। तो अब विक्षिप्त हो रहा है। तो सोचता है कि परमहंस होने की अवस्था करीब आ रही है।

इन जालों से सावधान रहना।

जनक के सूत्र बड़े महत्वपूर्ण हैं। न ठहरने से, न चलने से, न सोने से अब कोई लगाव है। जो होता है, जितना होता है, उतने से राजी हूं। अर्थ-अनर्थ कुछ भी नहीं है। कारण--ठहरता हुआ, जाता हुआ, सोता हुआ मैं सुखपूर्वक स्थित हूं।

खोल दो नाव
जिधर बहती है, बहने दो
नाव तो तिर सकती है मेरे बिना भी
मैं बिना नाव भी डूब सकूंगा
चलो खोल दो नाव
चुपचाप जिधर बहती है, बहने दो
मुझे रहने दो
अगर मैं छोड़ पतवार निस्सीम पारावार तकता हूं
खोल दो नाव
जिधर बहती हो, बहने दो।

जनक के सूत्र तो समर्पण के सूत्र हैं। यह तो अष्टावक्र ही जनक के भीतर से जगमगा रहे हैं। यह तो गुरु ही शिष्य से बोला है। यह तो गुरु ने ही शिष्य के हृदय में उठायी हैं ये तरंगें। और तुम एक बात खयाल करोगे कि अष्टावक्र कुछ बोलते हैं, फिर चुप हो जाते हैं; फिर जनक को बोलने देते हैं। सुनते हैं कि जो अष्टावक्र ने बोला, वह जनक के हृदय तक पहुंच गया, पल्लवित होने लगा, उसमें फूल खिलने लगे; और एक बात तुम खयाल करना: अष्टावक्र जो बोलते हैं वह बीज जैसा है और जनक जो बोलते हैं वह फूल जैसा है। इसलिए जनक के वचन और भी सुंदर मालूम होते हैं, अष्टावक्र से भी ज्यादा सुंदर मालूम होते हैं। लेकिन वे वचन अष्टावक्र के ही हैं। अष्टावक्र बीज की तरह गिर जाते हैं जनक के हृदय में; वहां अंकुरित होते, पल्लवित होते, फूल खिलते हैं। उन फूलों की सुवास इन वचनों में है।

अष्टावक्र अपूर्व आनंद को उपलब्ध हुए होंगे जनक की ये बातें सुन कर। जैसे कोई मां, पहली दफे जब उसका बेटा बोलता है तो आह्लादित हो जाती है, ऐसे जनक के ये वचन सुन कर अष्टावक्र खूब आह्लादित हुए होंगे। शायद ही कभी शिष्य ने किसी गुरु को इतना तृप्त किया हो!

मैंने सुना है, एक हसीद फकीर हुआ। वह बड़ा प्रसिद्ध पंडित था। बड़ा ज्ञानी था। और जैसा ज्ञानियों को अक्सर झंझट हो जाती है, उसको भी हुई। जब वह कोई पचास वर्ष का था तो नास्तिक हो गया। तब तक उसने न मालूम कितने लोगों को धर्म की शिक्षा दी। फिर वह नास्तिक हो गया। इन पचास वर्षों में न मालूम कितने लोग उसके कारण संतत्व को उपलब्ध हुए। और फिर वह नास्तिक हो गया। सबने उसका साथ छोड़ दिया, लेकिन उसका एक शिष्य रबी मेयर उसके पास आता रहा। वह अपने गुरु को बार-बार कहता रहा कि वापिस लौट आओ, यह तुमने क्या रंग पकड़ा आखिर में? लेकिन शिष्य गुरु को समझाए भी तो कैसे समझाए! गुरु बड़ा तर्कशास्त्री था; वह सारी बातें खंडित कर देता था। वह बड़ा बगावती हो गया था। मरने के दिन भी उसका शिष्य आया और उसने कहा कि अब तो कृपा करो, अब वापिस लौट आओ, तर्क इत्यादि छोड़ो। मैं तुम्हें जानता हूं।

गुरु ने आंख खोली और कहा कि क्या अब प्रभु मुझे क्षमा कर सकेगा? रोया और मर गया। दफनाने के दूसरे दिन ही लोग भागे आए और उसके शिष्य को कहा कि हद हो गयी, जिस बात से हम डरे थे वही हो रहा है, तुम्हारे गुरु की कब्र से लपटें निकल रही हैं। जैसे कि गुरु नर्क में पड़ा हो--कब्र से लपटें निकल रही हैं!

तो मेयर गया और उसने जा कर कहा कि देख...। एक चादर कब्र के ऊपर ढांक दी और कहा कि सुनो, अब बहुत हो गयी बगावत, अब आखिर तक परेशान न करो। रात भर शांति से सोए रहो; परमात्मा क्षमा कर

देगा; परमात्मा मुक्ति देगा, शांति देगा। और अगर सुबह तक परमात्मा कुछ न करे तो मैं तुम्हें मुक्ति दूंगा, मैं तुम्हें शांत करूंगा!

कहते हैं ऊपर से एक आवाज आई कि मेयर, यह तू क्या कह रहा है? गुरु को और शिष्य मुक्त करेगा!

तो मेयर ने कहा: हां, मैं मुक्त करूंगा! क्योंकि मैं जो भी हूं, गुरु की ही छाया हूं। और अगर मैं इतना शुद्ध हृदय हूं तो मैं यह मान नहीं सकता कि मेरा गुरु अशुद्ध हो गया है। वह खेल खेल रहा है। उसने ही मुझे जगाया तो मैं यह तो मान ही नहीं सकता हूं कि वह सो गया है। वह खेल खेल रहा है। इसलिए मैं कहता हूं: या तो प्रभु तुझे समझ लेगा और अगर प्रभु की करुणा सूख गयी हो तो फिक्र मत कर सुबह आ कर मैं तुझे मुक्त करूंगा और शांत करूंगा।

जब एक शिष्य खिलता है तो गुरु फिर से मुक्त होता है। एक बार तो मुक्त हुआ था अपने कारण; अब हर शिष्य में जब भी फूल खिलता है तो गुरु फिर-फिर मुक्त होता है। जितने शिष्यों के फूल खिलने लगते हैं, गुरु उतनी बार मोक्ष का आस्वादन करने लगता है, उतनी बार मोक्ष का स्वाद लेने लगता है।

परम आह्लाद को उपलब्ध हुए होंगे अष्टावक्र। क्योंकि ये सूत्र बड़े अनूठे हैं।

"सोते हुए मुझे हानि नहीं है और न यत्न करते हुए मुझे सिद्धि है। इसलिए मैं हानि और लाभ दोनों को छोड़ कर सुखपूर्वक स्थित हूं।"

स्वपतो नास्ति मे हानिः सिद्धिर्यत्नवतो न वा।
नाशोल्लासौ विहायास्मादहमासे यथासुखम्।।

"सोते हुए मुझे हानि नहीं है...!"

सुनो! जनक कहते हैं: सोया हुआ भी मैं हूं तो वही, हानि कैसी! भटका हुआ भी मैं हूं तो वही, हानि कैसी! अंधेरी से अंधेरी रात में मैं हूं तो प्रकाश का ही अंग, हानि कैसी! संसार में खड़ा हुआ भी मैं हूं तो परमात्मा से जुड़ा, हानि कैसी!

"सोते हुए मुझे हानि नहीं है और न यत्न करते हुए मुझे सिद्धि है।"

प्रयत्न करने से सिद्धि का कोई संबंध नहीं, क्योंकि सिद्धि कोई बाहर से मिलने बाली बात थोड़े ही है; सिद्ध तो तुम पैदा हुए हो; सिद्ध बुद्ध तुम पैदा हुए हो। वह तुम्हारा स्वरूप है, स्वभाव है।

"इसलिए मैं हानि और लाभ दोनों को छोड़कर सुखपूर्वक स्थित हूं।"

स्वप्न में तुम हो--तुम्हीं हो जागरण में।

कब उजाले में मुझे कुछ और भाया
कब अंधेरे ने तुम्हें मुझसे छिपाया
तुम निशा में और तुम्हीं प्रातः-किरण में
स्वप्न में तुम हो--तुम्हीं हो जागरण में।

ध्यान है केवल तुम्हारी ओर जाता
ध्येय में मेरे नहीं कुछ और आता
चित्त में तुम हो--तुम्हीं हो चिंतवन में
स्वप्न में तुम हो--तुम्हीं हो जागरण में।

रूप बन कर घूमता जो वह तुम्हीं हो
राग बन कर गूंजता जो वह तुम्हीं हो
तुम नयन में और तुम्हीं अंतःकरण में
स्वप्न में तुम हो--तुम्हीं हो जागरण में।

प्रतिपल एक ही है। वह कभी दो नहीं हुआ, अनेक नहीं हुआ। वह अनेक भासता है। जैसे रात चांद हो पूर्णिमा का और जितनी झीलें हैं जगत में, सभी में झलकता है और अनेक-अनेक मालूम होता है। डबरों में, झीलों में, सागर में, नदियों में, सरोवरों में--कितने प्रतिबिंब बनते हैं! चांद एक है। उपर आंख उठा कर देखो तो एक है; नीचे प्रतिबिंबों में भटक जाओ तो अनेक है। लेकिन तुम जब सोचते हो कि अनेक है, तब भी चांद तो एक ही है। तुम्हारे सोचने से सिर्फ तुम्हीं भ्रांत होते हो, चांद अनेक नहीं होता; चांद तो एक ही है।

"सोते हुए मुझे हानि नहीं, न यत्न करते हुए मुझे सिद्धि है।"

ऐसा जिसने जान लिया, क्या उसके जीवन में तनाव हो सकता है? बेचैनी हो सकती है? यह तो ध्यानातीत, समाधि-अतीत अवस्था हो गई।

"इसलिए अनेक परिस्थितियों में सुखादि की अनित्यता को बारंबार देख कर और शुभाशुभ को छोड़ कर मैं सुखपूर्वक स्थित हूं।"

सुखादिरूपानियमं भावेष्वालोक्य भूरिशः।

बहुत-बहुत बार देख लिया सुख-दुख, लाभ-हानि, सब अनित्य है।

शुभाशुभे विहायास्मादहमासे यथासुखम्।

बहुत बार शुभ करके देख लिया, अशुभ भी करके देख लिया, सब क्षणभंगुर है; पानी पर खींची गई लकीरें हैं, बन भी नहीं पातीं और मिट जाती हैं। इसलिए अब न शुभ में कोई आकांक्षा है न अशुभ में कोई रस है। न राग में कोई रस है न विराग में। न अब चाहता हूं कि दुख न हो, न अब चाहता हूं कि सुख हो। अब दोनों से छुटकारा है। दोनों से मुक्त हुआ।

यथासुखं आसे...।

अब सुख में हूं। यह महासुख की अवस्था ही मोक्ष की, निर्वाण की अवस्था है।

कोई धड़कन है न आंसू न उमंग
वक्त के साथ ये तूफान गए।

गया समय, बीत गया समय! बचपन गया, जवानी गई, बुढ़ापा गया। शरीर की तरंगें गईं, मन की तरंगें गईं। अब न कोई तूफान उठते हैं, न कोई उमंग।

कोई धड़कन है न आंसू न उमंग
वक्त के साथ ये तूफान गए।

सब जा चुका! और जब सब चला जाता है--सब आंधीत्तूफान--तब जो शेष रह जाता है, वही तुम हो। तत्वमसि श्वेतकेतु! वही तुम हो! वही तुम्हारा ब्रह्मस्वरूप है। हे ब्रह्मन्, वही तुम हो!

हरि ॐ तत्सत्!

छत्तीसवां प्रवचन

संन्यास: अभिनव का स्वागत

पहला प्रश्न: क्या प्रेम के द्वारा सत्य को उपलब्ध हुआ जा सकता है?

प्रेम और सत्य दो घटनाएं नहीं हैं, एक ही घटना के दो पहलू हैं। सत्य को पा लो तो प्रेम प्रगट हो जाता है। प्रेम को पा लो तो सत्य का साक्षात हो जाता है। या तो सत्य की खोज पर निकलो; मंजिल पर पहुंच कर पाओगे, प्रेम के मंदिर में भी प्रवेश हो गया। खोजने निकले थे सत्य, मिल गया प्रेम भी साथ-साथ। या प्रेम की यात्रा करो। प्रेम के मंदिर पर पहुंचते ही सत्य भी मिल जाएगा। वे साथ-साथ हैं। प्रेम और सत्य परमात्मा के दो नाम हैं।

लेकिन दो तरह के व्यक्ति हैं जगत में। एक हैं, जिन्हें सत्य को पाना सुगम है; प्रेम परिणाम में मिलेगा। दूसरे हैं, जिन्हें प्रेम पाना सुगम, सत्य परिणाम में मिलेगा। इसलिए ज्ञान और भक्ति दो मौलिक मार्ग हैं। स्त्री और पुरुष दो मौलिक विभाजन हैं।

और जब मैं कहता हूं स्त्री और पुरुष, तो बहुत रूढ़ अर्थों में मत पकड़ना। बहुत पुरुष हैं, जिनके पास स्त्रियों जैसा प्रेम से भरा हृदय है। बहुत स्त्रियां हैं, जिनके पास पुरुष जैसा सत्य को खोजने वाला तर्क है। अपनी पहचान ठीक से कर लेना। परमात्मा की पहचान तो पीछे होगी। अपनी पहचान ठीक से कर लेना। ऐसा कुछ मार्ग मत चुन लेना, जो तुम्हारे साथ रास न आता हो। जो तुम्हें सहज मालूम पड़े, वही तुम्हारा मार्ग है।

सत्य की खोज में जो अंतिम फल है, वहां "तू" मिट जाता हैं, "मैं" का विस्फोट होता है--अहं ब्रह्मास्मि, मैं ही ब्रह्म हूं, और कोई ब्रह्म नहीं! सत्य की खोज में "पर" से मुक्त होना उपाय है।

ध्यान से सुनना, क्योंकि जो सत्य की खोज में उपाय है, वही प्रेम की खोज में बाधा है। और जो प्रेम की खोज में उपाय है, वही सत्य की खोज में बाधा है। दोनों भिन्न-भिन्न जगह से चल रहे हैं--जा रहे एक तरफ। जैसे कोई पश्चिम से चला भारत आने को, कोई पूरब से चला भारत आने को। तो जो इंग्लैंड से चला वह पूरब की तरफ आ रहा है, जो जापान से चला वह पश्चिम की तरफ जा रहा है। दोनों भारत आ रहे हैं। दोनों एक जगह पहुंचेंगे; लेकिन जहां से चले हैं वह स्थान बड़ा भिन्न-भिन्न है।

सत्य का खोजी "तू" को गिरा देता है। इसलिए तो महावीर और बुद्ध परमात्मा को स्वीकार नहीं करते। परमात्मा यानी तू, परमात्मा यानी पर। परमात्मा यानी जिसके चरणों में पूजा करनी है, अर्चना करनी है, जिसके सामने नैवेद्य चढ़ाना है। परमात्मा यानी पर। इसलिए बुद्ध और महावीर परमात्मा को इंकार कर देते हैं। पतंजलि भी बड़े संकोच से स्वीकार करते हैं। और स्वीकार ऐसे ढंग से करते हैं कि वह इंकार ही है। पतंजलि कहते हैं, ईश्वर प्रणिधान भी सत्य को पाने का एक उपाय, एक विधि है; आवश्यक नहीं है, अनिवार्य नहीं है। ईश्वर है या नहीं, यह बात विचारणीय नहीं है। यह भी एक विधि है। मान लो, काम करती है। मानी हुई बात है।

समस्त ज्ञानी ईश्वर को किसी न किसी तरह इंकार करेंगे। शंकर कहते हैं, ईश्वर भी माया का हिस्सा है। अहं ब्रह्मास्मि! मेरा जो आत्यंतिक रूप है, वह ब्रह्म-स्वरूप है। लेकिन वह जो ईश्वर है मंदिर में विराजमान, वह तो माया का ही रूप है, वह तो संसार ही है। संसार यानी पर, दूसरा। स्वयं से बाहर गए कि संसार। फिर चाहे मंदिर ही क्यों न जाओ या दूकान जाओ या बाजार जाओ, कोई फर्क नहीं पड़ता--स्वयं से बाहर गए तो संसार में गए। मंदिर भी उसी संसार का हिस्सा है जहां दूकान है। मंदिर और दूकान बहुत अलग-अलग नहीं हैं।

सत्य का खोजी कहता है, पर को भूलो। पर के कारण ही तरंग उठती है। कोई भागा जा रहा है स्त्री को पाने, कोई भागा जा रहा है धन को पाने, कोई भागा जा रहा है प्रभु को पाने। सत्य का खोजी कहता है, भाग-दौड़ छोड़ो। जिसे पाना है, वह तुम्हारे भीतर बैठा है।

अष्टावक्र का मार्ग भी सत्य का मार्ग है। इसलिए साक्षी पर जोर है। साक्षी हो जाओ। ऐसे गहन रूप से साक्षी हो जाओ कि तुम्हारे साक्षीत्व की अग्नि में "पर" जल जाए, समाप्त हो जाए, राख रह जाए "पर" की--बचे "मैं"। तभी तो नमस्कार कर सकोगे स्वयं को। जहां कोई नहीं बचा, अब किसको नमस्कार करें? अब किसके चरणों में सिर झुकाएं? स्वयं ही बचा तो स्वयं को ही नमस्कार।

प्रेम का खोजी ठीक विपरीत दिशा से चलता है। वह कहता है, स्वयं को मिटाना है। सब कुछ समर्पित कर देना है परमात्मा को। तू ही बचे। तू ही तू बचे, मैं न बचूं। मैं गल जाऊं, पिघल जाऊं, खो जाऊं, तुझमें लीन हो जाऊं। तू ही बचे!

इसलिए इस्लाम--इस्लाम प्रेम की खोज है--मंसूर को बर्दाश्त न कर सका। क्योंकि मंसूर ने कहा, अनलहक! मैं ही ब्रह्म हूं, मैं ही सत्य हूं! इस्लाम बर्दाश्त न कर सका। इस्लाम है भक्ति-मार्ग। यह घोषणा भक्ति के विपरीत है। अगर तुम्हीं हो ब्रह्म, तो फिर भक्ति कैसी, फिर भगवान कैसा? फिर न भक्ति है न भगवान है, न भजन है, स्मरण नहीं। किसका करोगे स्मरण? स्मरण तो "पर" का ही होता है। सब स्मरण "पर" का है। इस्लाम मंसूर को बर्दाश्त न कर सका। मंसूर भारत में पैदा होता, तो हम उसकी गणना महर्षियों में करते। ब्रह्म ऋषियों में करते। अरब में पैदा हुआ, फांसी लगी।

यहूदी भी जीसस को बर्दाश्त न कर सके। क्योंकि जीसस ने कहा कि मैं और मेरा पिता, जिसने मुझे बनाया, हम दोनों एक हैं। वह जो ऊपर है और नीचे है--एक है। यह घोषणा यहूदियों को पसंद न पड़ी। प्रेम के मार्गी को यह बात कठिन मालूम पड़ेगी। यह तो प्रेम के मार्गी को अहंकार की घोषणा मालूम पड़ेगी। यह तो हद दर्जे का कुफ्र, यह तो आखिरी काफिरता है। इससे बड़ा और कोई पाप नहीं हो सकता।

समझने की कोशिश करना, क्योंकि भक्ति की पूरी व्यवस्था और है। वहां तो "मैं" को गलाना है। वहां तो कहना है किसी दिन कि मैं नहीं हूं, तू ही है।

जलालुद्दीन रूमी की प्रसिद्ध कथा है। प्रेमी आया प्रेयसी के द्वार पर, दस्तक दी। भीतर से पूछा प्रेयसी ने, "कौन है? कौन खटखटाता है द्वार?" प्रेमी ने कहा, "मैं हूं तेरा प्रेमी। पहचाना नहीं?" भीतर सन्नाटा हो गया। बड़ा उदास सन्नाटा हो गया। कोई उत्तर न आया। प्रेमी जोर से खटखटाने लगा कि "क्या तू मुझे भूल गई?" प्रेयसी ने कहा, "क्षमा करो, इस घर में दो के रहने के लायक जगह नहीं। दो यहां न समा सकेंगे। प्रेम गली अति सांकरी, तामें दो न समाएं। और तुम कहते हो, मैं हूं तेरा प्रेमी! लौट जाओ अभी! जब पक जाओ, लौट आना।"

प्रेमी चला गया, जंगल पहाड़ों में भटकता, ध्यान करता, पूछता, रोता, गाता, सोचता, विचार करता--कैसे? कैसे पाऊं प्रवेश? अनेक दिन आए-गए, चांद ऊगे-बुझे, सूरज निकला-डूबा, महीने-वर्ष बीते--तब एक दिन प्रेमी वापिस लौटा। द्वार पर दस्तक दी। प्रेयसी ने पूछा, "कौन!" प्रेमी ने कहा, "अब मत पूछो, अब तू ही तू है।" कहते हैं, द्वार खुल गए, तत्क्षण द्वार खुल गए! ये द्वार परमात्मा के द्वार हैं।

तो प्रेम में समर्पण मार्ग है--स्वयं को जला डालना, राख कर डालना। सत्य में निखारना है, संघर्ष है, सब बुराई काटनी है और आत्यंतिक रूप से "पर" से सारे संबंध तोड़ लेने हैं, असंबंधित, असंग हो जाना है। लेकिन चमत्कार तो यही है कि दोनों एक ही जगह पहुंच जाते हैं। कैसे पहुंच जाते हैं? जब "तू" गिर जाता है ज्ञानी का, तो "मैं" बच नहीं सकता। क्योंकि "मैं" और "तू" साथ-साथ बचते हैं। "मैं" और "तू" एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। तुम कैसे कहोगे कि मैं हूं जब तू न रहा? जब ज्ञानी का "तू" गिर गया, तो "मैं" को कैसे बचाएगा? "मैं" बच नहीं

सकता। बिना "तू" के सहारे "मैं" बच नहीं सकता। "मैं" का कोई अर्थ ही नहीं रह जाता। जब "तू" है ही नहीं, तो "मैं" का क्या अर्थ है? क्या प्रयोजन है? किसे कहोगे "मैं"? "मैं" हम उसी को कहते हैं न, जो "तू" के विपरीत है, जो "तू" से भिन्न है, जो "तू" से अलग है।

तुमने अपने घर के आसपास बागुड़ लगा रखी है, दीवाल बना रखी है, लेकिन वह पड़ोसी के कारण है। अगर पड़ोसी है ही नहीं तो किसके लिए बागुड लगाते हो? अगर सोचो, तुम अकेले होते पृथ्वी पर, तो घर की सीमा बनाते? किसके लिए बनाते? किससे बनाते? सीमा के लिए दो चाहिए। एक से सीमा नहीं बनती--पड़ोसी चाहिए, अन्य चाहिए, पर चाहिए। जब "तू" ही गिर गया, तो "मैं" कैसे बचेगा?

तो ज्ञानी गिराता है "तू" को। और अंत में जब "तू" बिलकुल गिर जाता है, बैसाखी गिर जाती है, तब अचानक देखता है कि उसी के साथ "मैं" भी गिर गया--शून्य रह जाता है।

और यही घटना घटती है प्रेमी को। वह मिटाता है "मैं" को। एक दिन "मैं" पूरा गिर जाता है। जिस दिन "मैं" पूरा गिर जाता है, "तू" कैसे बचेगा? जब "तू" को कहने वाला न बचा, जब पुजारी न बचा, जब आराधक न बचा तो आराध्य कैसे बचेगा? जब भक्त न बचा तो भगवान कैसे बचेगा? भक्त के साथ ही भगवान बच सकता है। भक्त तो गया, शून्य हो गया--तो भगवान का क्या अर्थ, क्या प्रयोजन? जिस दिन भक्त शून्य हो जाता है, उसी दिन भगवान भी विदा हो जाता है।

सब खेल दो का है, दो के बिना खेल नहीं। सब संसार द्वि है, द्वैत है। तुम एक को गिरा दो किसी भी तरह, दूसरा अपने से गिरेगा। एक को तुम मिटा दो, दूसरा अपने से मिटेगा। दोनों साथ-साथ चलते हैं। जैसे एक आदमी दो पैरों पर चलता है; तुम एक तोड़ दो, फिर चलेगा? फिर कैसे चलेगा? पक्षी दो पंखों पर उड़ता है; तुम एक काट दो, फिर उड़ेगा? एक से कैसे उड़ेगा?

स्त्री-पुरुष, दो से संसार चलता है। तुम सारी स्त्रियों को मिटा डालो, पुरुष बचेंगे? कितनी देर? तुम सारे पुरुषों को मिटा डालो, स्त्रियां बचेंगी? कितनी देर? यह खेल दो का है। यह संसार एक से नहीं चलता। जहां एक बचा, वहां तो समझ लेना दोनों नहीं बचे।

इसलिए तो ज्ञानियों ने, भक्तों ने, प्रेमियों ने, जानने वालों ने परमात्मा को एक नहीं कहा, अद्वैत कहा। अद्वैत का मतलब--दो न रहे। एक कहने में खतरा है। क्योंकि एक का तो अर्थ ही होता है कि दूसरा भी होगा। अगर कहें एक ही बचा, तो एक की परिभाषा कैसे करोगे, सीमा कैसे खींचोगे? एक की सीमा दो से बनती है, दो की सीमा तीन से बनती है, तीन की सीमा चार से बनती है--यह फैलाव फैलता चला जाता है। इसलिए हमने एक अनूठा शब्द चुना--अद्वैत; दो नहीं। पूछो परम ज्ञान को उपलब्ध व्यक्ति को, परमात्मा एक है या दो? तो वह यह नहीं कहेगा एक या दो; वह कहेगा, दो नहीं। बस इतना ही कह सकते हैं, इसके पार कहा नहीं जा सकता। न एक है, न दो है। दो नहीं है, इतना पक्का है। इससे ज्यादा वाणी सार्थक नहीं, समर्थ नहीं।

तो चाहे प्रेम से चलो, चाहे सत्य की खोज करो--एक घड़ी आएगी, न दूसरा बचता, न तुम बचते। तब जो बच रहता है, वही सार है, वही पूर्ण है। भक्त उसे भगवान कहेगा जो बच रहता है, ज्ञानी उसे आत्मा कहेगा। यह सिर्फ अलग-अलग भाषा, परिभाषा की बात है; बात वही है।

इसलिए सबसे महत्वपूर्ण है यह खोज लेना कि तुम कहां हो? तुम क्या हो? तुम कैसे हो? कहीं गलत मार्ग पर मत चल पड़ना। जो मार्ग तुमसे मेल न खाए, वह तुम्हें पहुंचा न सकेगा। जो मार्ग तुमसे न निकलता हो वह तुम्हें पहुंचा न सकेगा। तुम्हारा मार्ग तुम्हारे हृदय से निकलना चाहिए। जैसे मकड़ी जाला बुनती है, खुद ही निकालती है, अपने ही भीतर से बुनती है--ऐसा ही साधक भी अपना जीवनपथ अपने ही भीतर से बुनता है।

अगर प्रेम का जाल बुनने में समर्थ हो तो भक्ति तुम्हारा मार्ग है। फिर अष्टावक्र कुछ भी कहें, तुम फिक्र मत करना; तुम नारद की सुनना; तुम चैतन्य, मीरा को गुनना। लेकिन अगर तुम पाओ कि यहां हृदय से प्रेम के धागे निकलते नहीं, प्रेम का जाल बनता नहीं, तो घबड़ा मत जाना, रोने मत बैठ जाना। कोई अड़चन नहीं है। प्रत्येक के लिए उपाय है। तुम जिस क्षण पैदा हुए, उसी क्षण तुम्हारा उपाय तुम्हारे साथ पैदा हुआ है; तुम्हारे भीतर पड़ा है; तुम्हारे अंतस्तल में प्रतीक्षा कर रहा है। तो शायद सत्य का मार्ग तुम्हारा मार्ग होगा। तब नारद के पास फड़कना मत। मीरा कितने ही गीत गाए, तुम अपने कान बंद कर लेना, उसमें उलझना मत। क्योंकि वह उलझाव महंगा पड़ जाएगा। जो तुम्हारे भीतर से आए, सहजस्फूर्त हो--बस वही।

जो जहां भी है।
समर्पित है सत्य को।
ये फूल और यह धूप,
लहलहाते खेत, नदी का कूल
क्या प्रार्थनाएं नहीं हैं?
यह व्यक्तित्व निवेदित
ऊर्ध्व के प्रति क्या नहीं है?

गौर से देखना फूल को वृक्ष पर--वृक्ष की प्रार्थना है। यह वृक्ष का ढंग है प्रार्थना करने का। आदमी ही थोड़े प्रार्थना करता है। तुम तभी मानोगे जब वृक्ष जाएगा मंदिर में और गंगाजल चढ़ाएगा? तभी तुम मानोगे? जब वृक्ष पानी भर कर लाएगा और शंकर जी पर चढ़ाएगा, तभी तुम मानोगे? और वृक्ष रोज अपने फूल झराता रहा शंकर पर, अपने पत्ते गिराता रहा, अपने प्राणों से पूजा करता रहा, इसे तुम स्वीकार न करोगे? जो जहां है...।

जो जहां भी है
समर्पित है सत्य को।
ये फूल और यह धूप,
लहलहाते खेत, नदी का कूल
क्या प्रार्थनाएं नहीं हैं?

प्रार्थनाएं अलग-अलग होंगी, अलग-अलग ढंग हैं। वैविध्य है जगत में। और सुंदर है जगत--वैविध्य के कारण।

तो जब मुसलमान मस्जिद में झुके तो तुम यह मत सोचना कि गलत है। और मंदिर में जब हिंदू घंटियां बजाए तो तुम नाराज मत होना। और चर्च में जब ईसाई गुनगुनाए या बौद्ध अपने पूजागृह में बैठ कर ध्यान करे, तो तुम जानना: जो जहां है, वहीं समर्पित है सत्य को। और धूप और फूल भी प्रार्थना कर रहे हैं। सारा जगत प्रार्थना-मग्न है। झरने अपना गीत गुनगुना रहे हैं।

स्त्रियां स्त्रियों के ढंग से जाएंगी, पुरुष पुरुष के ढंग से जाएंगे। और एक बार तुम्हें यह समझ में आ जाए कि मेरा ढंग मुझे खोज लेना है तो तुम दूसरी बात छोड़ दोगे, तुम दूसरों को घसीटने की आदत छोड़ दोगे।

दुनिया में बड़ा अहित हुआ है। पत्नी जिस मंदिर में जाती है, पति को भी ले जाती है। बाप जिस मंदिर में जाता है, बेटे को भी ले जाता है। इससे दुनिया में इतना अधर्म है। क्योंकि लोगों को स्वभाव के अनुकूल सुविधा नहीं है। मैंने वर्षों घूम कर देश में देखा। किसी को पाया जैन घर में पैदा हुआ है, वह उसका दुर्भाग्य हो गया। उसके पास हृदय था भक्ति का, लेकिन जैन घर में भक्ति के लिए कोई उपाय नहीं। वहां तो ध्यान की ही गूंज, एकमात्र गूंज है। किसी को मैंने देखा कि भक्ति के पंथ में पैदा हो गया है, वल्लभ संप्रदाय में पैदा हो गया है; लेकिन उसका कोई रस भक्ति में नहीं है। ध्यान से सुगंध उठती, लेकिन ध्यान से दुश्मनी है पैदाइश के कारण।

कहीं पैदाइश से कोई धर्म होता है? स्वभाव से धर्म होता है। स्वभाव यानी धर्म। पैदाइश तो सांयोगिक घटना है। तुम किस घर में पैदा हुए, इससे थोड़े ही धर्म तय होता है!

दुनिया अगर सच में धार्मिक होना चाहती हो, तो हमें बच्चों को धर्म में जबर्दस्ती प्रवेश करवाने की पुरानी प्रवृत्ति छोड़ देनी चाहिए। हमें बच्चों को, सारे द्वार खुले छोड़ देने चाहिए। उन्हें कभी मस्जिद भी जाने दो, कभी मंदिर भी, कभी गुरुद्वारा भी। उन्हें खोजने दो। सिर्फ उन्हें तुम एक रस दे दो कि खोजना है परमात्मा को, बस इतना काफी है। फिर तुम कैसे खोजो--कुरान से तुम्हें धुन मिलेगी कि गीता से--तुम्हारी मर्जी। पहुंच जाना परमात्मा के घर। कुरान की आयत दोहराते पहुंचोगे कि गीता के मंत्र पाठ करते, कुछ लेना-देना नहीं। तुम पहुंच जाना, अटक मत जाना कहीं। शुभ होगा वह दिन, जिस दिन एक ही घर में कई धर्मों के लोग होंगे--पत्नी मस्जिद जाती, पति गुरुद्वारा जाता, बेटा चर्च में। और जब तक ऐसा न हो जाए, तब तक दुनिया में धर्म नहीं हो सकता, असंभव है। क्योंकि धर्म का पैदाइश से कोई भी संबंध नहीं है। तो तुम अपनी खोज करो।

मेरे पास जो लोग हैं, यही मेरी देशना है उन्हें। इसलिए मैं सब पर बोल रहा हूं। तुम कभी-कभी चौंकते हो। मेरे पास लोग आते हैं। वे कहते हैं, आप एक ही धारा पर बोलें, तो हम निश्चिंत हो कर लग जाएं काम में। कभी आप भक्ति पर बोलते हैं, कभी आप ज्ञान पर बोलते हैं। कभी आप कहते हैं, डूब जाओ; कभी कहते हैं, साक्षी हो जाओ; कभी अष्टावक्र, कभी नारद--हम बड़ी बिबूचन में पड़ जाते हैं।

तुम बिबूचन में मेरे बोलने के कारण नहीं पड़ रहे हो। तुम बिबूचन में पड़ रहे हो, क्योंकि तुम अभी तक यह नहीं पहचान पाए कि तुम्हारा रस क्या है? तुम्हें अपना रस समझ में आ जाए, इसलिए बोल रहा हूं। ये सारे शास्त्र तुम्हारे सामने खोल रहा हूं कि तुम्हें अपना रस पहचान में आ जाए।

ऐसा हुआ, इंग्लैंड में एक आदमी दूसरे महायुद्ध में, चोट खाया युद्ध में, गिर पड़ा, स्मृति खो गई। बड़ी मुश्किल हो गई। स्मृति खो गई थी तो कोई अड़चन न थी। उसे नाम तक याद न रहा, तो भी अड़चन न थी। लेकिन युद्ध के मैदान से लौटते वक्त उसका नंबर का बिल्ला भी कहीं गिर गया। वह कौन है, यही समझ में न आए। किसी मनोवैज्ञानिक ने सलाह दी कि इसे इंग्लैंड में गांव-गांव घुमाया जाए, शायद अपने गांव को देख कर पहचान ले, शायद भूली सुध आ जाए, जहां पैदा हुआ, बचपन बीता, जिन वृक्षों के नीचे खेला, जिस नदी के किनारे नहाया, शायद उस गांव की हवा, उस गांव का ढंग इसकी भूली स्मृति को खींच लाए।

तो उसे इंग्लैंड में गांव-गांव घुमाया गया। यह खड़ा हो जाता स्टेशनों पर जा कर, उसकी आंखें कोरी की कोरी रहतीं। सौभाग्य और संयोग की बात कि एक स्टेशन पर गाड़ी रुकी, जहां रुकना नहीं था गाड़ी को। संयोगवशात रुकी, आमतौर से वहां रुकती न थी। कोई दूसरी ट्रेन निकलती थी, इसलिए रुक जाना पड़ा।

उस आदमी ने खिड़की से नीचे झांक कर देखा और उसके चेहरे पर रोशनी आ गई। उसकी आंखें जो अब तक खाली थीं, भर गईं। वह तो बिना कहे अपने साथियों को उतर गया नीचे। वह तो भागने लगा। उसके साथी उसके पीछे भागे। बोले, पागल हो गए हो? उसने कहा, पागल नहीं हो गया। अब तक पागल था, होश आ गया! यही मेरा गांव है। यह वृक्ष, यह स्टेशन...। मेरे पीछे आओ।

वह ठीक भागता हुआ गली-कूचों में से अपने घर के द्वार पर पहुंच गया। उसने कहा, यह मेरा घर है, वह मेरी मां रही।

ऐसा तुम्हारे सामने मैं शास्त्र खोलता चलता हूं। कभी अष्टावक्र, कभी नारद, कभी महावीर, कभी बुद्ध, कभी सूफी, कभी हसीद, कभी झेन--सिर्फ इस आशा में कि जहां भी तुम्हारे स्वभाव का तालमेल खाएगा, किसी स्टेशन पर, तो तुम कहोगे: "आ गया घर"। किसी स्टेशन पर तो तुम्हारी आंखों में रोशनी आ जाएगी, तुम दौड़ने लगोगे, तुम नाचने लगोगे। किसी जगह तो तुम्हें एकदम से पुलक, उमंग होगी।

इसलिए बोल रहा हूं इतने पर, क्योंकि मेरी मान्यता है कि दुनिया में जितने मार्ग हैं, उतने ही तरह के लोग हैं। ये दो तो मूल धाराएं हैं--ज्ञान की और प्रेम की। फिर प्रेम की छोटी धाराएं हैं, ज्ञान की छोटी धाराएं हैं।

प्रेम से निश्चित ही मार्ग जाता है; उतना साफ-सुथरा नहीं जैसा सत्य का मार्ग है। प्रेम का मार्ग तो बड़ा धुंधला-धुंधला है। वही उसका मजा भी है, वही उसका स्वाद भी है। सत्य का मार्ग तो ऐसा है जैसे दोपहर में सूरज सिर पर खड़ा है, सब साफ-सुथरा। प्रेम का मार्ग तो ऐसा है, जैसे सांझ होने लगी, सूरज ढल गया, अभी तारे भी नहीं निकले, संध्याबेला है। इसलिए तो भक्त अपनी प्रार्थना को संध्या कहते हैं, पूजा को संध्या कहते हैं। भक्तों की भाषा का नाम संध्या-भाषा है--धुंधली-धुंधली, प्रेमरस पगी!

सांझ के धुंधलके में
एक राह खुलती है।
एक राह, जिसकी उस
छोर पर मंदिम-मंदिम
एक दीप जलता है,
एक लौ मचलती है।
सांझ के धुंधलके में
एक राह खुलती है।
दबे पांव आ मुझको
रोशनी बुलाती है
हाथ थाम लेती है,
साथ ले टहलती है
साझ के धुंधलके में
एक राह खुलती है।
भीतर बाहर कुछ
जगमग-जगमग होता है
दिनभर की थकन-घुटन
वेदना पिघलती है
सांझ के धुंधलके में
एक राह खुलती है।
पद-पद होता प्रयाग,
क्षण-क्षण होता संगम,
प्रीति तुम्हारी मेरे
प्राणों में पलती है।
सांझ के धुंधलके में
एक राह खुलती है।

प्रेम का मार्ग तो धुंधला है। रस का मार्ग तो मस्ती का मार्ग है। ज्ञान का मार्ग साक्षी का; प्रेम का मार्ग, बेहोशी का। ज्ञान का मार्ग समझ का, प्रज्ञा का; प्रेम का मार्ग मदमस्तों का, मस्ती का। ज्ञान के मार्ग पर ध्यान उपाय है; प्रेम के मार्ग पर प्रार्थना, भजन, नृत्य, गान। ज्ञान का मार्ग मरुस्थल से निकलता है; प्रेम का मार्ग कुंज, वनों से, वृंदावन से।

ज्ञान का मार्गी या सत्य का खोजी बड़ी प्रखर बुद्धि का प्रयोग करता है; तलवार की धार की तरह काटता चलता है। निषेध का मार्ग है सत्य का मार्ग। असत्य को काटते चलो, असार को तोड़ते चलो; फिर जो बच रहेगा अनटूटा, वही सार है। प्रेम का मार्ग कुछ भी तोड़ता नहीं, काटता नहीं। प्रेम के मार्ग में त्याग नहीं है, विराग नहीं

है। प्रेम के मार्ग में तो जो तुम्हारे भीतर राग पड़ा ही हुआ है, उसी राग के सहारे सेतु बना लेना है; जो तुम्हारे भीतर प्रेम की छोटी-सी रोशनी जल रही है, उसी को प्रगाढ़ कर लेना है। प्रेम का मार्ग तो आस्था का मार्ग है।

मैं गाता हूं
हर गीत मधुर विश्वास लिए।
लहराती अंबर पर
तारों से टकराती,
ध्वनि पास तुम्हारे
एक समय गूंजेगी ही।
मैं रखता हूं
हर पांव सुदृढ़ विश्वास लिए।
ऊबड़-खाबड़
तम की ठोकर खाते-खाते,
इनसे कोई
रक्ताभ किरण फूटेगी ही।

भक्त तो ऐसा टटोल-टटोल कर चलता है। वह तो कहता है, आस्था है, कभी पहुंच जाऊंगा। जल्दी भी नहीं है भक्त को, बेचैनी भी नहीं है। त्वरा से हो जाए कुछ, ऐसी आकांक्षा भी नहीं है। भक्त तो कहता है, यह खेल चले, जल्दी क्या है? भक्त तो कहता है, प्रभु! यह छिया-छी चले। तुम छिपो, मैं खोजूं! मैं तुम्हारे पास आऊं, तुम फिर-फिर छिप जाओ। खोजूं, खोजूं और खोज न पाऊं। यह रास चले, यह लीला चले। क्योंकि भक्त के लिए यह लीला है, रास है, खेल है। ज्ञानी के लिए यह बड़ा दुर्गम मार्ग है। ज्ञानी के लिए यह खेल नहीं, लीला नहीं, बड़ी गंभीर बात है, उलझन है, जंजाल है, आवागमन है; इससे छुटकारा पाना है।

ये अलग-अलग भाषाएं हैं; दोनों सही हैं। और एक के सही होने से दूसरी गलत नहीं होती, यह खयाल रखना। अक्सर मन में ऐसा होता है, अगर एक सही तो दूसरी गलत होगी। जीवन बहुत बड़ा है, विरोधों को भी सम्हाल लेता है। जीवन इतना छोटा और संकीर्ण नहीं जैसा तुम सोचते हो। देखने की बात है। ज्ञानी को तो लगता है जंजाल--कब छूटूं इससे, कैसे मुक्ति हो? तो ज्ञानी के लिए जो आत्यंतिक चरण है, वह मुक्ति है। भक्त मुक्ति की बात नहीं करता। मोक्ष शब्द ही भक्त की भाषा में नहीं है--बैकुंठ। वह कहता है, खेले यहां, वहां भी खेलेंगे। यहां बजाई तुमने बांसुरी की धुन, वहां भी बजाना। यहां हम नाचे, वहां भी नाचेंगे।

नहीं, भक्त कहता है, मुक्ति मुझे नहीं चाहिए, तुम मुझे अनंत-अनंत पाशों में बांध लो। तुम मुझे जितने पाशों में बांध सको बांध लो, मैं तुमसे बंधना चाहता हूं।

ये दोनों सही हैं। अब बात इतनी ही है कि तुम्हें जो सही लगे। तुम दूसरे को छोड़ देना, भूल जाना, उलझन में मत पड़ना। फिर तुम्हें जो सही लग जाए, जो तुम्हारे स्वभाव के अनुकूल आ जाए, जो तुम्हारे हृदय पर चोट करे, फिर उसी का जाला तुम बुन लेना। मगर मकड़ी की याद रखना।

पुराने शास्त्र कहते हैं: परमात्मा ने संसार को भी मकड़ी के जाले की तरह बुना, अपने भीतर से निकाला। और तो कहां से निकालेगा! और तो कुछ था भी नहीं निकालने को। अपने भीतर से ही निकाला होगा।

और हर चीज भीतर से ही निकलती है। एक बीज को तुम देखो, इस बीज में छिपा है बड़ा वृक्ष। जरा बो दो इसे जमीन में, आने दो ठीक मौसम, पड़ने दो वर्षा, और एक दिन तुम पाओगे वृक्ष फूट पड़ा, कोंपलें आ गईं। इस बीज में छिपा पड़ा था वृक्ष। भीतर से ही निकल रहा है।

एक वैज्ञानिक ने जापान में एक प्रयोग किया--चमत्कार जैसा प्रयोग है। उसे प्रयोग करते-करते पौधों पर, यह खयाल आया कि पौधा बीज में से ही पूरा आता है या कि बहुत कुछ तो जमीन से लेता होगा? तो उसने एक प्रयोग किया। एक गमले में उसने सब तरह से जांच-परख कर ली कि कितनी मिट्टी डाली है। एक-एक रत्ती-रत्ती

नाप कर सब काम किया। कितना पानी रोज डालता है, उसका भी हिसाब रखा। वृक्ष बड़ा होने लगा, खूब बड़ा हो गया। फिर उसने वृक्ष को निकाल लिया। जड़ें धो डालीं। एक मिट्टी का कण भी उस पर न रहने दिया। और जब मिट्टी तोली तो बड़ा चकित हुआ, मिट्टी उतनी की उतनी है। मिट्टी में कोई फर्क नहीं पड़ा। उस बीज से ही आया है यह पूरा वृक्ष, उस शून्य से ही प्रगट हुआ है। ऐसे ही एक दिन परमात्मा से सारा अस्तित्व प्रगट हुआ।

तुम भी अपना सारा अस्तित्व अपने भीतर बीज की तरह छिपाए बैठे हो। मगर पहचान तो करनी ही होगी कि तुम्हारे भीतर प्रेम का बीज पड़ा है कि सत्य का! और ये दो ही बीज हैं मौलिक रूप से--तुम या तो संकल्प करो या समर्पण करो। संकल्प दुर्धर्ष मार्ग है। इसलिए तो वर्धमान को जैनों ने महावीर कहा। बड़ा गहन संघर्ष है। महावीर उनका नाम ही हो गया धीरे-धीरे, वर्धमान तो लोग भूल ही गए। इतना संघर्ष किया; समर्पण नहीं है वहां, संकल्प है। महावीर कहते हैं: अशरण, किसी की शरण मत जाना!

बुद्ध ने मरते वक्त कहा: अप्प दीपो भव! अपना प्रकाश खुद बन, आनंद! कोई दूसरा तेरा मार्गद्रष्टा नहीं है।

कृष्णमूर्ति कहते हैं: मैं किसी का गुरु नहीं और तुम किसी को भूल कर गुरु बनाना मत। ठीक कहते हैं। सहारे की जरूरत नहीं है सत्य के खोजी को। सत्य का खोजी बड़ा अकेला चलता है। अकेला चलता है, इसलिए मरुस्थल जैसा होगा ही। वहां से काव्य नहीं फूटता।

बहुत बार मुझसे जैनों ने कहा कि कुंदकुंद पर आप कुछ बोलें। मैं नहीं बोलता। कई बार कुंदकुंद का शास्त्र उठा कर देखता हूं, सोचता हूं बोलना तो चाहिए। कुंदकुंद प्यारे हैं! मगर बात मरुस्थल की है। उसमें काव्य बिलकुल नहीं है। काव्य का उपाय ही नहीं है। काव्य के जन्म के लिए प्रेम की थोड़ी-सी धारा तो चाहिए। नहीं तो फूल नहीं खिलते, हरियाली नहीं उमगती, गीत नहीं गूंजते। सब सूखा-सूखा है।

सुखा लेना ही सत्य के खोजी का मार्ग है। इतना सुखा लेना कि सब रस सूख जाए। उसी को तो हम विराग कहते हैं, जब सब रस सूख जाए।

तो अपने भीतर खोज लेना है। अगर तुम्हें लगे कि मरुस्थल ही तुम्हें निमंत्रण देता है, मरुस्थल में आमंत्रण मालूम पड़े, पुकार मालूम पड़े, चुनौती मालूम पड़े, तो हर्ज नहीं है। फिर मरुस्थल ही तुम्हारे लिए उद्यान है। लेकिन अपने भीतर कस लेना, अपने भीतर देख लेना।

और एक बात कसौटी में काम पड़ेगी: जब भी तुम पाओगे कोई मार्ग तुम्हारे अनुकूल पड़ने लगा, तुम तत्क्षण खिलने लगोगे, तत्क्षण शांति मिलने लगेगी; जैसे अचानक स्वरों में मेल बैठ गया, तुम्हें अपनी भूमि मिल गई, तुम्हारा मौसम आ गया, तुम्हारी ऋतु आ गई--फलने की, फूलने की!

कभी-कभी ऐसा होता है, किसी की वाणी सुनते ही तत्क्षण तुम्हारे भीतर एक खटके की तरह कुछ हो जाता है, द्वार खुल जाते हैं। किसी को देखते ही किसी क्षण अचानक प्रेम उमग आता है। किसी के पास पहुंचते ही अचानक बड़ी गहन शांति घेर लेती है, आनंद के स्रोत फूटने लगते हैं। यह अकारण नहीं होता। जहां भी तुम्हारा मेल बैठ जाता है, जहां भी तुम्हारी तरंग मेल खा जाती है, वहीं यह हो जाता है।

यहां मैं बोलता हूं; साफ दिखाई पड़ जाता है--कौन तरंगित हुआ, कौन नहीं तरंगित हुआ। कुछ पत्थर के रोड़े की तरह बैठे रह जाते हैं, कुछ डोलने लगते हैं। किसी के हृदय को छू जाती है बात, कोई बुद्धि में ही उलझा रह जाता है।

तुम मेरे पथ के बीच लिए
काया भारी भरकम
क्यों जम कर बैठ गए
कुछ बोलो तो!
क्यों तुमको छूता है
मेरा संगीत नहीं?
तुम बोल नहीं सकते

तो झूमो, डोलो तो!
रागों की रोकी
जा सकती है राह नहीं,
रोड़ो, हठधर्मी छोड़ो
मुझसे मन जोड़ो।
तुमसे भी मधुमय
शब्द निकल कर गूंजेंगे,
तुम साथ जरा
मेरी धारा के हो लो तो!

जब भी तुम्हारा कहीं मेल खा जाए, तब तुम और सब चिंताएं छोड़ देना। जहां तुम्हारा मन का रोड़ा पिघलने लगे, जहां तुम्हारे सदा के जमे हुए, चट्टान जैसे हो गए हृदय में तरंगें उठने लगें, तुम डोलने लगो, जैसे बीन को सुन कर सांप डोलने लगता है...तो तुम चकित होओगे, सांप के पास कान नहीं होते। वैज्ञानिक बड़ी मुश्किल में पड़े जब पहली दफे यह पता चला कि सांप के पास कान होते ही नहीं, वह बीन सुन कर डोलता है। सुन तो सकता नहीं तो डोलता कैसे है? तो या तो बीन-वादक कुछ धोखा दे रहा है, सांप को किसी तरह से प्रशिक्षित किया है। तो बीन-वादकों को दूर बिठाया गया, बीच में पर्दा डाला गया, कि हो सकता है बीन-वादक डोलता है, उसको देख कर सांप डोलता है। आंख है सांप के पास, कान तो है नहीं। तो बीच में पर्दे डाल दिए गए, बीन-वादक को दूर कर दिया; लेकिन फिर भी सांप डोलता है। तब एक अनूठी बात पता चली और वह यह कि सांप के पास कान तो नहीं है, लेकिन बीन से जो तरंग पैदा होती है, उससे उसके पूरे शरीर पर तरंग पैदा होती है। कान नहीं है। उसकी पूरी काया डोल जाती है।

जब कोई बात छूती है, तो सब डोल जाता है। तो जिस बात से तुम डोलने लगो, वही तुम्हारा मार्ग है। जिस बात से रस घुलने लगे तुम्हारे भीतर, वही तुम्हारा मार्ग है। फिर तुम सुनना मत, और क्या कोई कहता है। तुम अपने हृदय की सुनना और अपने रस के पीछे चल पड़ना।

दूसरा प्रश्न: जब आपका प्रवचन पढ़ता हूं तो आश्चर्य होता है। लेकिन उसे ही जब सुनता हूं तब सिर्फ ध्वनि ही ध्वनि गूंजती रह जाती है। अंत में रह जाती है केवल शून्यता और भीनी-भीनी मस्ती। क्या यही आपका स्वाद है प्रभु?

निश्चित ही।

तुम्हारी बुद्धि को समझाने को मैं कुछ भी नहीं कह रहा हूं। यहां मेरा प्रयास तुम्हारी बुद्धि को राजी करने के लिए नहीं है। या तो कभी बोलता हूं भक्ति पर, तब प्रयास होता है कि तुम्हारा हृदय तरंगित हो; या कभी बोलता हूं ज्ञान पर, तब प्रयास होता है कि तुम हृदय, बुद्धि दोनों का अतिक्रमण करके साक्षी बनो। लेकिन बुद्धि के लिए तो बोलता ही नहीं। बुद्धि तो खाज जैसी है, जितना खुजलाओ...। खुजलाते वक्त लगता है सुख, पीछे बड़ी पीड़ा आती है।

तुम्हारी बुद्धि के लिए नहीं बोल रहा हूं, तुम्हारे सिर के लिए नहीं बोल रहा हूं। या तो बोलता हूं हृदय के लिए कभी, या बोलता हूं उसके लिए जो सब के पार है--हृदय, बुद्धि दोनों के। या तो साक्षी के लिए या तुम्हारे भाव के लिए। या तुम्हारे प्रेम के लिए या सत्य का तुम्हारे भीतर जागरण हो, उसके लिए।

और अधिकतम लाभ उन्हीं को होगा, जो बुद्धि को छोड़ कर सुनेंगे। बुद्धि से सुना कुछ खास सुना नहीं। शब्दों का सुन लेना कुछ सुनना नहीं है।

मैं जो बोल रहा हूं, उसकी ध्वनि तुम्हें गुंजाने लगे, तुम सांप की तरह डोलने लगो। यह कोई तर्क नहीं है जो मैं यहां दे रहा हूं--एक उपस्थिति है। इस उपस्थिति से तुम आंदोलित हो जाओ!

शुभ हो रहा है, फिक्र मत करो। जब होता है ऐसा तो बड़ी चिंता होती है; क्योंकि आए थे सुनने, और यह क्या होने लगा, ध्वनि ही ध्वनि गूंजती रह गई! हाथ तो कुछ आया नहीं, ऐसा लगता है। सोचा था, कुछ ज्ञान लेकर लौटेंगे, कुछ पोथी थोड़ी और बड़ी हो जाएगी बुद्धि की, थोड़ा और भार लेकर लौटेंगे, यह क्या हुआ जा रहा है? सिद्धांत तो हाथ नहीं आ रहे, संगीत हाथ आ रहा है। संगीत लेने तो आए भी नहीं थे, यह तो सोचा भी नहीं था। तो मन में चिंता भी व्यापती है। और ऐसा भी लगता है, कहीं ऐसा तो नहीं हम गंवाए दे रहे हैं? क्योंकि सदा तो केवल हमने जीवन में शब्द ही जोड़े, सिद्धांत ही जोड़े। इसलिए स्वभावतः हमारा अतीत कहता है, यह क्या कर रहे हो? कुछ संगृहीत कर लो, कुछ ज्ञान पकड़ लो, कुछ जुटा लो, काम पड़ेगा पीछे।

इस मन की बातों में मत पड़ना। अगर तुम्हें संगीत सुनाई पड़ने लगा, अगर ध्वनि सुनाई पड़ने लगी, अगर भीतर लहर आने लगी, तो शब्द से तुम पार निकले। शब्द से पार जाता है संगीत। इसलिए तो संगीत सभी को आंदोलित कर देता है। संगीत की कोई भाषा सीमित नहीं है। हिंदी बोलो; जो हिंदी समझता है, समझेगा। चीनी बोलो; जो चीनी समझता है, समझेगा। जो चीनी नहीं समझता, उसके लिए तो सब व्यर्थ है। लेकिन वीणा बजाओ, सारे जगत में कहीं भी वीणा बजाओ...।

स्विटजरलैंड में एक विश्व कवि-सम्मेलन था। उसमें भारत से दो कवि भाग लेने गए--एक हिंदी के कवि और एक उर्दू के। उर्दू के कवि थे--सागर निजामी। हैरानी हुई कि हिंदी के कवि को तो लोगों ने सुन लिया सौजन्यतावश, लेकिन कोई मांग न आई कि फिर-फिर सुनाओ। लेकिन सागर निजामी के लिए तो लोग पागल हो गए। खूब मांग आने लगी कि फिर से सुनाओ, फिर से सुनाओ। खुद सागर निजामी हैरान हुआ कि मामला क्या है! इनको समझ में तो कुछ आता नहीं। लेकिन तरन्नुम, गीत तो पकड़ में आता था। शब्द पकड़ में नहीं आते थे। हिंदी कविता तो आधुनिक कविता थी। उसमें न कोई तुक न कोई छंद न कोई लयबद्धता। सुन ली; अगर भाषा समझ में आती तो शायद कुछ समझ में भी आ जाता, भाषा समझ में नहीं आती तो फिर तो कुछ बचा नहीं। छह घंटे तक सागर निजामी को लोगों ने बार-बार सुना। थका डाला, मगर सागर निजामी चकित! पीछे पूछा लोगों से कि बात क्या है? तुम्हारी समझ में तो कुछ आता नहीं?

उन्होंने कहा, समझ का कोई सवाल भी नहीं। वह जो तुम गाते हो, वह जो धुन है, वह पकड़ लेती है, वह हृदय को मथ जाती है। हम समझे नहीं, फिर भी समझ गए।

यहां जो मैं तुमसे बोल रहा हूं, उसमें अगर तुम्हें शब्द ही समझ में आएं तो परिधि समझ में आई। अगर संगीत पकड़ में आ जाए तो केंद्र पकड़ में आ गया। अगर शब्द ही ले कर गए तो तुम थोड़े और बुद्धिमान हो जाओगे; वैसे ही तुम बुद्धिमान थे, और बीमारी बढ़ी। अगर संगीत पकड़ में आया, तो तुम सरल हो कर जाओगे। वह जो तुम बुद्धिमानी लाए थे, वह भी यहीं छोड़ जाओगे।

मैं भरा, उमड़ा--भरा, उमड़ा गगन भी।
आज रिमझिम मेघ, रिमझिम हैं नयन भी।
कौन कोना है गगन का आज सूना
कौन कोना प्राण मन का आज सूना
पर बरसता मैं, बरसता है गगन भी
आज रिमझिम मेघ, रिमझिम हैं नयन भी।
मौन मुखरित हो गया, जय हो प्रणय की
पर नहीं परितृप्त है तृष्णा हृदय की।

पा चुका स्वर, आज गायन खोजता हूं
पा चुका स्वर, आज गायन खोजता हूं
मैं प्रतिध्वनि सुन चुका, ध्वनि खोजता हूं
पा गया तन, आज मैं मन खोजता हूं
मैं प्रतिध्वनि सुन चुका, ध्वनि खोजता हूं।

जो शब्द हैं, वे तो तन की भांति हैं, देह की भांति; उनके भीतर छिपा हुआ जो रस है, वह शब्दों की आत्मा है। जब तुम डोलने लगो, जब तुम्हें मेरी ध्वनि घेरने लगे, तुम मेरी ध्वनि में खोने लगो, मेरी ध्वनि जब तुम्हें नशे की तरह मदमस्त कर दे--तब तुमने प्राण को छुआ; तब तुमने मूल स्वर को छुआ!

वेणुधारी! वेणु तुम ऐसी बजाना
विस्मरणकारी कि गत वनप्रांत निर्गत
मैं चलूं पीछे तुम्हारे
मुग्ध अवनत चेतनाहत।
ॐ तत्सत्, तत्सत् सतत्
वेणुधारी! तुम वेणु ऐसी बजाना
विस्मरणकारी कि गत वनप्रांत निर्गत
मैं चलूं पीछे तुम्हारे
मुग्ध अवनत चेतनाहत।

जो कह रहा हूं, वह तो ऊपर-ऊपर है; जो तुम्हें दे रहा हूं, वह कहने से बहुत भिन्न और बहुत गहरे है। शब्द तो तुम्हें उलझाए रखने को हैं, ताकि तुम शब्दों में उलझे रहो और मैं तुम्हारे हृदय के पात्र को भर दूं--भर दूं ॐ तत्सत् से!

शब्द तो तर्कजाल है; जीवन के द्वार वहां से नहीं खुलते। वस्तुतः तर्क के कारण ही बहुत लोग भटके रह जाते हैं।

सुनो मेरे शब्दों को, पर जरा गहरे झांकना। सतह पर ही मत अटके रहना। सतह पर तरंगें हैं, तुम जरा गहरे उतरना, डुबकी लगाना। अगर तुमने मेरे शब्दों में डुबकी लगाई, तो तुम शून्य का रस पाओगे। वही उनकी ध्वनि है। और यह तुम्हारे बस में नहीं है कि तुम इसे जबर्दस्ती कर लो। यह सहज होता है तो ही होता है; होता है तो ही होता है।

तो जिसने पूछा है, उसे हो रहा है। "आनंदतीर्थ" का प्रश्न है। तो अब इसकी आकांक्षा मत करने लगना, अन्यथा अड़चन पड़ जाएगी। अब ऐसा मत करना कि कल तुम बिलकुल जम कर बैठ जाओ कि आज और हो, और गहरा हो--तो चूक जाओगे। यह तो हो ही रहा है। तुम इसमें बीच में मत आना; तुम इसकी आकांक्षा भी मत करना; तुम इसकी प्रतीक्षा भी मत करना, अपेक्षा भी मत करना--तो यह गहरा होता जाएगा। अगर तुमने इसकी अपेक्षा की और तुम प्रतीक्षा करने लगे, तो बुद्धि आ गई, हिसाब आ गया, अड़चन आ गई। फिर तुम अचानक पाओगे कि अब वह बात नहीं घटती। तुम्हारे घटाए घटती ही नहीं थी।

यह प्रश्न तो तीन-चार दिन पुराना है, मैंने उत्तर नहीं दिया था। जान कर रोक रखा था कि होने दो कुछ देर और, रस और थोड़ा प्रगाढ़ हो जाने दो।

क्योंकि कहीं ऐसा न हो कि मेरे कहने से तुम्हारे भीतर वासना जग जाए कि यह तो ठीक, अब और हो! जहां "और" आया, मन आया। जहां मांग आई, मन आया। और जहां मांग आई, वहीं तुम भिखमंगे हुए; वहीं भिखारी हुए; वहीं दीन-दुर्बल!

होते हैं क्षण
जो देशकाल मुक्त हो जाते हैं।

होते हैं,

पर ऐसे क्षण हम कब दोहराते हैं?

या क्या हम लाते हैं?

उनका होना, जीना, भोगा जाना

है स्वैर्सिद्ध, सब स्वतःपूर्त

हम इसीलिए तो गाते हैं।

तो जब गुनगुन आ जाए, गा लेना। जब ध्वनि पकड़ ले, डूब लेना, डुबकी ले लेना। जब न आए, तो तने बैठे प्रतीक्षा मत करना। हवा के झोंके हैं; जब आते हैं, आते हैं। ऐसे ही प्रभु के झोंके भी आते हैं। मनुष्य के हाथ में नहीं है खींच लाना। प्रसाद-रूप आते हैं।

बस इतना खयाल रहे। सब शुभ हो रहा है। मांग भर न बने। अन्यथा मनुष्य के मन की पुरानी आदत है, जिसमें सुख मिलता है उसकी मांग पैदा हो जाती है। बस वहीं सब अड़चन हो जाती है। दोहराने की बात ही मत करना। जीवन में कोई अनुभव दोहराया नहीं जा सकता। होगा, बार-बार होगा; लेकिन तुम दोहराने की आकांक्षा मत करना। ज्यादा-ज्यादा होगा, लेकिन तुम दोहराने की आकांक्षा मत करना।

तुम तो जो प्रभु दे दे, उसे स्वीकार कर लेना। जिस दिन दे दे, धन्यवाद। जिस दिन न दे, उस दिन भी धन्यवाद। क्योंकि जिस दिन न दे, समझना कि आज आवश्यकता न थी, जरूरत न थी। जिस दिन दे, समझना जरूरत थी।

तीसरा प्रश्न: आपसे संबंधित होने के लिए क्या संन्यास अनिवार्य है? मैंने अभी संन्यास नहीं लिया है और न व्यक्तिगत रूप से आपसे मिला ही हूं। फिर भी आपके प्रति अजीब अनुभूतियों से भर जाता हूं; कभी रोता हूं और कभी आपको निहारता ही रह जाता हूं। प्रभु, ऐसा क्यों होता है? और यह कि मैं क्या करूं?

पहली बात, पूछा है: "आपसे संबंधित होने के लिए क्या संन्यास अनिवार्य है?" यह ऐसे ही पूछना है, जैसे कोई पूछे कि क्या आपसे संबंधित होने के लिए संबंधित होना अनिवार्य है?

संन्यास तो केवल ढंग है, बहाना है संबंधित होने का। यह तो एक उपाय है संबंधित होने का। किसी व्यक्ति का हाथ आप अपने हाथ में ले लेते हैं, तो क्या हम पूछते हैं कि प्रेम प्रगट करने के लिए क्या हाथ में हाथ लेना अनिवार्य है? किसी को हम छाती से लगा लेते हैं, तो क्या हम पूछते हैं कि क्या प्रेम के होने के लिए छाती से लगाना अनिवार्य है? अनिवार्य तो नहीं है। प्रेम तो बिना छाती से लगाए भी हो सकता है। लेकिन जब प्रेम हो, तो बिना छाती से लगाए रह सकोगे?

फिर से सुनो।

प्रेम तो हाथ हाथ में पकड़े बिना भी हो सकता है। लेकिन जब प्रेम होगा, तो हाथ हाथ में लिए बिना रह सकोगे? साथ साथ आते हैं। अभिव्यक्तियां हैं। जिससे तुम्हें प्रेम है, उसके पास कुछ भेंट ले जाते हो--फूल ही सही, फूल नहीं तो फूल की पांखुरी ही सही। क्या प्रेम के लिए भेंट ले जाना अनिवार्य है? जरा भी नहीं। लेकिन जब प्रेम होता है तो देने का भाव होता है।

संन्यास क्या है? संन्यास है इस बात की घोषणा कि मैं अपने को देने को तैयार हूं! संन्यास है इस बात की घोषणा कि आप मेरा हाथ अपने हाथ में ले लो! संन्यास है इस बात की घोषणा कि आप अगर हाथ मेरा अपने हाथ में लोगे, तो मैं छुड़ा कर भागूंगा नहीं। संन्यास तो केवल एक भाव-भंगिमा है--और बड़ी बहुमूल्य है। मैं आपके संग-साथ हूं, आप भी मेरे संग-साथ रहना--इस बात की एक आंतरिक अभिव्यक्ति है।

पूछते हैं, "आपसे संबंधित होने के लिए क्या संन्यास अनिवार्य है?"

और जिसने पूछा है, वे ज्यादा देर संन्यास से बच न सकेंगे। पूछा ही इसीलिए है कि अब बात खड़ी हो गई है प्राण में। अब मुश्किल खड़ी हो गई है। अब संन्यास लिए बिना रहा न जाएगा; चुनौती आ गई है। भय भी है, इसलिए प्रश्न उठा है। लेकिन जब जीवन में कभी कोई विधायक का जन्म होता है, जब भी कोई विधायक दिशा खुलती है, तो फिर कितने ही भय हों, उनके बावजूद आदमी को जाना ही पड़ता है।

पुकार तुमने सुन ली है। इसीलिए तो रो रहे हो, इसीलिए तो निहार रहे हो। अब कब तक रोते रहोगे, कब तक निहारते रहोगे? द्वार खुले हैं, प्रवेश करो।

"अभी संन्यास नहीं लिया है और न व्यक्तिगत रूप से आपसे मिला ही हूं।"

शायद व्यक्तिगत रूप से मिलने में भी डर होगा। और सम्हल कर ही मिलना, कि आए कि मैंने संन्यास दिया! तुम छिपा न सकोगे। प्रेम कहीं छिपा? तुम लाख उपाय करोगे, छिपा न सकोगे। मेरे सामने आए कि मैं पहचान ही लूंगा, कि यही हो तुम जो रो रहे थे, कि यही हो तुम जो निहार रहे थे। तो सोच कर ही आना!

वस्तुतः मेरे सामने तुम आते ही तब हो, जब तुम्हारे जीवन में समर्पण की तैयारी हो गई; तुम छोड़ने को राजी हो; तुम नत होने को तैयार हो; तुम मेरे शून्य के साथ गठबंधन करने को तैयार हो। यह भी एक भांति का विवाह है। ये भी सात फेरे हैं। यह जो माला तुम्हारे गले में डाल दी है, यह कोई फांसी से कम नहीं है। यह तुम्हें मिटाने का उपाय है। ये जो वस्त्र तुम्हारे गैरिक अग्नि के रंगों में रंग दिए, ये ऐसे ही नहीं हैं, यह तुम्हारी चिता तैयार है। तुम मिटोगे तो ही तुम्हारे भीतर परमात्मा का आविर्भाव होगा।

संन्यास साहस है--अदम्य साहस है। और मेरा संन्यास तो और भी। क्योंकि इसके कारण तुम्हें कोई समादर न मिलेगा। इसके कारण तुम्हें कोई पूजा, शोभा-यात्रा, कोई जुलूस, कुछ भी न होगा। इसके द्वारा तो तुम जहां जाओगे वहीं अड़चन, वहीं झंझट होगी; पत्नी, बच्चे, पिता, मां, परिवार, दूकान, ग्राहक--जहां तुम जाओगे वहीं अड़चन होगी। यह तो मैं तुम्हारे लिए सतत उपद्रव खड़ा कर रहा हूं। लेकिन इस उपद्रव को अगर तुम शांतिपूर्वक झेल सके, तो इसी से साक्षी का जन्म हो जाएगा। इस उपद्रव को अगर तुम मेरे प्रेम के कारण झेलने को राजी रहे, तो इसी से भक्ति का जन्म हो जाएगा।

मेघ गरजा,
घोर नभ में मेघ गरजा।
गिरी बरखा
प्रलय रव से गिरी बरखा।
तोड़ शैलों के शिखर
बहा कर धारें प्रखर
ले हजारों घने धुंधले निर्झरों को
कह रही है वह नदी से
उठ, अरी उठ!
कई जन्मों के लिए
तू आज भर जा
मेघ गरजा।

यह जो मैं तुमसे निरंतर पुकार कर रहा हूं कि उठो, भर लो अपने को...

उठ, अरी उठ!
कह रही है वह नदी से
ले हजारों घने धुंधले निर्झरों को
बहा कर धारें प्रखर
तोड़ शैलों के शिखर

उठ, अरी उठ!
कई जन्मों के लिए
तू आज भर जा
मेघ गरजा।

बुद्ध ने तो समाधि की अवस्था को "धर्म-मेघ" समाधि कहा है, कि जब कोई समाधि को उपलब्ध होता है, तो मेघ बन जाता है। धर्म-मेघ समाधि! धर्म का जल उससे झरने लगता है, जैसे मेघ से वर्षा गिरती है।

अरी उठ!
कई जन्मों के लिए
तू आज भर जा
मेघ गरजा।

यह समय तुम छोड़ो मत। यह पुकार उठी है, इसे दबाओ मत। यह संन्यास का आकर्षण पैदा हुआ है, चूको मत।

क्योंकि शुभ करना हो तो देर मत करना। और अशुभ करना हो तो जल्दी मत करना। क्रोध आए, तो कहना कल कर लेंगे। प्रेम आए, तो अभी कर लेना, कल का क्या भरोसा है! दुश्मनी करनी हो, कल-परसों टालते जाना, टालते जाना। लेकिन दोस्ती बनानी हो, तो क्षण भर नहीं टालना। अभी यहीं। अभी, तो ही होगी दोस्ती। अगर सोचा फिर कभी, तो कभी नहीं।

मैं भी तुमसे मिलने को आतुर हूं। मेघ जब बरसता है पृथ्वी पर तो ऐसा मत सोचना कि पृथ्वी ही प्यासी है--मेघ भी आतुर है। पृथ्वी ही प्रसन्न नहीं होती जब जल की बूंदें उसके सूखे कंठ को गीला कर जाती हैं, मेघ भी आनंदित होता है।

कौन मिलनातुर नहीं है!
आ क्षितिज फैली हुई मिट्टी
निरंतर पूछती है
कब मिटेगा, कब कटेगा
बोल तेरी चेतना का शाप?
और तू हो लीन मुझमें
फिर बनेगा शांत।
कौन मिलनातुर नहीं है!
गगन की निर्बंध बहती वायु
प्रतिपल पूछती है:
कब गिरेगी टूट तेरी
देह की दीवार
और तू हो लीन मुझमें
फिर बनेगा मुक्त?
कौन मिलनातुर नहीं है!
सर्वव्यापी विश्व का व्यक्तित्व
प्रतिक्षण पूछता है:
कब मिटेगा बोल तेरा
अहं का अभिमान
और तू हो लीन मुझमें
फिर बनेगा पूर्ण?
कौन मिलनातुर नहीं है!

परमात्मा भी मिलने को आतुर है। तुम्हीं नहीं खोज रहे हो उसे; वह भी खोज रहा है। तुम्हीं नहीं दौड़ रहे उसकी तरफ; वह भी दौड़ रहा है। अगर यह आग एक ही तरफ से लगी होती तो मजा ही न था। यह आग दोनों तरफ से लगी है। तो ही तो मजा है, तो ही तो इतना रस है।

संन्यास का मैंने निमंत्रण दिया है; क्योंकि जो मेरे पास है, मैं वह बांटना चाहता हूं। तुम ले लोगे, तो मैं तुम्हारा कृतज्ञ! तुम ले लोगे, तो मेरा धन्यवाद तुम्हें। जब कभी मन में ऐसा भाव उठे छलांग लगाने का, तो झिझकना मत, क्योंकि कभी-कभी ऐसे हिम्मत के क्षण आते हैं। उस हिम्मत के क्षण में घटना घट जाए तो घट जाए; अन्यथा तुम टाल गए; सोचा, कल कर लेंगे...। कल का क्या भरोसा है!

बुद्ध एक गांव से तीस बार निकले चालीस वर्षों की यात्रा में। और एक आदमी बार-बार सोचता था: जाना है! लेकिन कभी घर मेहमान आ गए, कभी पत्नी बीमार हो गई। अब पत्नियों का कोई भरोसा थोड़े ही है, कब बीमार हो जाएं! ऐन वक्त पर हो जाती हैं। कभी दूकान पर ज्यादा ग्राहक, कभी खुद को सिरदर्द हो गया। कभी जा ही रहा था, दूकान बंद ही कर रहा था कि कोई मित्र आ गया वर्षों के बाद। ऐसे अड़चन आती रही, आती रही। सोचा, अगली बार जब आएंगे...। ऐसा तीस बार बुद्ध आए गांव और तीस बार वह आदमी चूक गया।

चौंकना मत, सोचना मत कि तीस बार बहुत हो गया। तुम भी कम से कम तीन हजार बार चूके हो। कितने जन्मों से तुम यहां हो, कितने बुद्धों से तुम्हारा मिलना न हुआ होगा! जीवन के पथों पर बहुत बार बुद्धों के आस-पास गुजर गए होओगे, लेकिन तुमने कहा: "कल! फिर मिल लेंगे, अभी जल्दी क्या? अभी और दूसरे काम जरूरी हैं, वह पहले निपटा लेना है।"

परमात्मा को तो हम फेहरिस्त पर आखिर में रखते हैं; जब कुछ करने को न होगा, तब परमात्मा को सूझ-बूझ लेंगे।

फिर एक दिन अचानक गांव में खबर आई कि बुद्ध ने घोषणा की कि आज वे देह छोड़ रहे हैं, तब वह आदमी घबराया। तब उसने फिक्र न कि पत्नी बीमार है, कि बच्चे का विवाह करना है, कि दूकान पर ग्राहक हैं--वह भागा। दूकान बंद भी नहीं की और भागा। लोगों ने कहा, पागल हो गए हो, कहां जा रहे हो? उसने कहा, अब बहुत हो गया। वह भाग कर पहुंचा, लेकिन देर हो गई थी। बुद्ध ने अपने भिक्षुओं से पूछा था घड़ी-भर पहले: कुछ पूछना तो नहीं? अन्यथा मैं अब विलीन होऊं, मेरा समय आ गया है; मेरी नाव आ लगी किनारे, अब मैं जाऊं?

भिक्षुओं ने कहा: आपने बिना पूछे इतना कहा, बिना मांगे इतना दिया है--अब पूछने को कुछ भी नहीं। जो आपने दिया है, उसे ही हम कहां समझ पाए? जो आपने कहा है, उसे ही हम अभी कहां गुन पाए? जन्म-जन्म लगेंगे हमें, तब कहीं हम उसका सार निकाल पाएंगे।

भिक्षु तो रोने लगे। बुद्ध वृक्ष के पीछे जा कर बैठ गए। उन्होंने शरीर का साक्षी-भाव साधा, शरीर से अलग हो गए। मन का साक्षी-भाव साध रहे थे, मन से अलग होते जाते थे, तभी वह आदमी भागता हुआ पहुंचा। उसने कहा: कहां हैं? बुद्ध कहां हैं? अब और नहीं चूक सकता। अब कल नहीं बचा, क्योंकि अब वे जा रहे हैं।

भिक्षुओं ने कहा: अब तुम चुप रहो, तुम चूक ही गए। हम तो उनसे विदा भी ले चुके। अब तो वे धीरे-धीरे जीवन की पर्तों को छोड़ कर अनंत की यात्रा पर जा रहे हैं। उनकी नाव तो किनारे से छूटने के करीब है। अब नहीं, अब बहुत देर हो गई।

लेकिन कहते हैं, बुद्ध ने जैसे ही यह सुना...। वे मन से छूट ही रहे थे। मन से छूट गए होते, तब तो सुन भी नहीं सकते थे। मन की आखिरी जगह से नाव की रस्सी खोल रहे थे कि सुन लिया, कि वापिस लौट आए। उठ

कर आए और कहा: मत रोको, मेरे नाम पर लांछन रह जाएगा कि मैं जीवित था, कोई मेरे द्वार आया था, झोली ले कर आया था और खाली हाथ लौट गया। नहीं, ऐसा मत करो। उसे क्या पूछना है, पूछ लेने दो। उसने तीस साल तक भूल की, इससे क्या मैं भूल करूं? और जब भी आ गया वह, तभी जल्दी है। तीस साल में भी कौन आता है! अनेक लोग हैं जो तीसत्तीस जन्मों तक नहीं आते हैं।

जब ऐसा भाव जगे तो हिम्मत करना।
जग के कीचड़ कांदों से
लथपथ मटमैली
काल कंटकित झंखाड़ों में
अटकी-झटकी
चित चिरबत्ती
जीवन के श्रम ताप स्वेद से
बुसी कुचैली
चादर का अब मोह निवारो।
दलदल, जंगल, पर्वत
मरुथल मारी-मारी फिरी
शिथिल विकथित काया से
जीर्ण-शीर्ण यह वसन उतारो।
तारक सिकता फूलों में
अविरत बहती
शुभ्र गगन गंगाधारा में
मल-दल नहला
नव निर्मल कर
जलन थकन हर
अपने तन पर
वत्सलता करुणा अनुरंजित
सतरंगा परिधान संवारो।
सतह पर अस्तित्व का उत्थान
किरणावली समुज्ज्वल
मोतियों की मुक्त कर बौछार
कल-कल गान
शत-शत लहरियों के संग
उमगित अंग
तट को प्रथम छूने के लिए
प्रतियोगिता अभियान
अब सब वह बिसारो।
अब लहर नत शीश
तिमिराच्छन्न अंतर
सन्न अंग-अंग
सर्वथा निस्संग निर्धन
हर तरह से हार
अपना रिक्त हस्त पसार
अपने मूक नयनों से
किनारा देख अंतिम बार
पारावार से असहाय एकाकार
भूलो लहर को

प्रभु को पुकारो!

जब आ जाए घड़ी, मन जब राजी हो--चूक मत जाना उस क्षण को।

बुद्ध कहते थे, एक राजमहल में एक अंधा आदमी बंद था। उस राजमहल में बहुत द्वार थे। लेकिन सब द्वार बंद थे, सिर्फ एक द्वार राजा ने खुला छोड़ा था। वह अंधा आदमी निकलने के प्रयास करता है। वह टटोलता, टटोलता, टटोलता--लेकिन सब द्वार बंद। और जब वह खुले द्वार के करीब आया, तो उसके सिर में खुजलाहट आ गई तो वह सिर खुजलाने लगा, निकल गया। फिर टटोलने लगा। फिर महीनों के श्रम के बाद फिर उस द्वार पर आया, बड़ा महल, तब एक मक्खी उसके मुंह पर आ गई, तो वह मक्खी उड़ाने में लग गया, तब तक वह द्वार निकल गया। एक ही खुला द्वार, ऐसे हजार-हजार द्वार थे राजमहल में। लेकिन खुले द्वार पर जब आया, तभी कोई निमित्त, कारण बन गया।

जीवन में करोड़ों क्षण हैं, किसी एक क्षण में तुम संन्यास के करीब होते हो। उस वक्त मक्खी मत उड़ाने लगना। उस वक्त सिर मत खुजलाने लगना। फिर वह द्वार दुबारा आए न आए।

अब लहर नत शीश
तिमिराच्छन्न अंतर
सन्न अंग अंग
सर्वथा निस्संग निर्धन
हर तरह से हार
अपना रिक्त हस्त पसार
अपने मूक नयनों से
किनारा देख अंतिम बार
पारावार से असहाय एकाकार
भूलो लहर को
प्रभु को पुकारो!

पूछा है, "व्यक्तिगत रूप से आपसे अभी तक मिला नहीं, फिर भी आपके प्रति अजीब अनुभूतियों से भर जाता हूं। कभी रोता हूं, कभी आपको निहारता रह जाता हूं।"

शुभ लक्षण हैं। कहीं तालमेल बैठ रहा है। कहीं तुम्हारी धारा मेरी धारा के साथ बहने के लिए तैयार हो रही है। तुम राजी हो रहे हो पंख खोल कर उड़ने को। इसलिए नई-नई अनुभूतियों का उन्मेष होगा। डर मत जाना, क्योंकि नए से बड़ा भय लगता है। पुराने से तो हम परिचित होते हैं। परिचित से भय नहीं लगता। परिचित से चाहे दुख मिले, मगर भय नहीं लगता। इसलिए तो लोग इतने दुखी रहते, फिर भी दुख को बदलते नहीं। दुख से परिचय हो जाता है, संबंध जुड़ जाता है। अगर अचानक सुख तुम्हारे द्वार पर आ जाए, तो तुम मेरी मानो, पक्की मानो, तुम द्वार बंद कर लोगे। तुम कहोगे: सुख, पहली तो बात होता ही नहीं सुख दुनिया में। दूसरी बात, धोखा होगा। और तीसरी बात, अब बामुश्किल तो दुख से राजी हो पाए हैं, अब मत उखाड़ो। किसी तरह जम पाए हैं। किसी तरह संबंध बन गया है, अब यह नया और झंझट कौन ले! फिर से कौन शुरुआत करे!

लोग कारागृह में भी आदी हो जाते हैं रहने को, फिर उन्हें बाहर अच्छा नहीं लगता।

मैं मध्य-प्रदेश में कुछ वर्षों तक था, तो वहां की सेंट्रल जेल में जाता था। गवर्नर मेरे एक मित्र थे, तो उन्होंने कहा कि आप बाहर के कैदियों को कब तक समझाएंगे, भीतर के कैदियों को भी समझाएं। मैंने कहा, ठीक, मैं आऊंगा। तो वहां पहली बार गया जेल में, तो मैंने जो लोग देखे; दुबारा गया कुछ महीने बाद, वही लोग, वही लोग। बरस बीतते गए। कभी कोई छूट जाता, फिर महीने दो महीने के भीतर वापिस जेल में आ जाता। मैंने एक बूढ़े कैदी से पूछा, तू कितनी बार जेल में आया है? उसने कहा, यह मेरा तेरहवां...तेरहवीं बार आया हूं।

"तो बाहर रहने में अड़चन क्या है तुझे?"

कहता, बाहर अच्छा नहीं लगता। सब मित्र-प्रियजन यहीं हैं। अपने वाले सब यहीं हैं। बाहर बड़ा अजनबीपन-सा लगता है। किससे बोलो? किससे बात करो? फिर कहा, हजार झंझटें हैं बाहर। रोटी-रोजी कमाओ, मकान ढूंढो, रहने का इंतजाम करो। यहां सब सुविधा है। न रोटी-रोजी की फिक्र, न राशन लेने लाइन में खड़े होना पड़ता है, न सुबह चार बजे से पानी भरने के लिए नल पर खड़े रहो। सब यहां सुविधा है। यह तो लाखों का महल है, वह कहने लगा। डॉक्टर, जब जरूरत तो डॉक्टर आता है। इतनी सारी सुविधा के लिए ये थोड़ी-सी जंजीरें सहना कुछ महंगा सौदा नहीं। फिर शुरू-शुरू में आया था तो बुरा भी गलता था, अब तो सबसे दोस्ती भी हो गई है। पुलिस वाले भी पहचानते हैं, अपने वाले हैं, जेलर भी जानता है। यह अपना घर है। अब कहां जाना? छोड़ देते हैं, तो मैं महीने दो महीने में फिर उपाय करके भीतर आ जाता हूं।

कारागृह में भी तुम ज्यादा देर रह गए, तो घर बन जाता है। और तुम जिस कारागृह में हो, इसमें कई जन्मों से हो। इसलिए अगर कभी तुम्हें बाहर के पक्षियों के गीत बुलाएं, जो मुक्त हैं, अगर उनकी वाणी तुम्हें पुकारे, तो तुम इन जंजीरों को तोड़ने की हिम्मत करना।

और मजा तो यह है कि इस कारागृह में कोई दूसरा जंजीरों पर पहरा नहीं दे रहा है; तुम ही पहरा दे रहे हो। कोई दूसरा तुम्हें रोक नहीं रहा है। कोई संतरी तुम्हारे सिर पर नहीं खड़ा है, तुम्हीं रोक रहे हो। यहां तुम्हारे दुख का कारण तुम हो। कभी अगर तुम्हें आकाश में उड़ते पक्षियों का इशारा मिल जाए, तो मैं तुमसे कहता हूं: द्वार खुले हैं तुम्हारे पिंजरे के, किसी ने बंद किया नहीं।

संन्यास का इतना ही अर्थ है कि तुम नए को प्रयोग करने को तैयार हो। संन्यास का इतना ही अर्थ है कि तुम पुराने दुख के साथ संबंध तोड़ने की हिम्मत रखते हो। संन्यास का इतना ही अर्थ है कि तुम जीवन को एक नई शैली, एक नया परिधान देने को राजी हो; तुम एक प्रयोग करने को राजी हो।

संन्यास साहस है।

और तुम्हारे भीतर जो नई-नई अनुभूतियों की तरंगें बह रही हैं, वे तरंगें खो न जाएं। क्योंकि तरंगें आती हैं; अगर तुम उन तरंगों को जीवन में स्वीकार न करो तो खो जाती हैं। तरंगें उठती हैं; अगर उन तरंगों के साथ तुम अपने जीवन को रूपांतरित न करो, तो तरंगें सदा नहीं उठेंगी। आएंगी, खो जाएंगी। धीरे-धीरे उन तरंगों के भी आदी हो जाओगे। अगर तुम किसी मुक्तपुरुष की वाणी को बार-बार सुनते रहो, सुनते रहो और कुछ न करो, तो धीरे-धीरे तुम सुनने के आदी हो जाओगे। फिर चोट न पड़ेगी। फिर तुम्हारे भीतर कोई हलन-चलन न होगा, आंख से आंसू न बहेंगे।

जो मित्र पूछे हैं, अभी नया-नया संपर्क है। इस नए संपर्क में नई अनुभूतियां उठ रही हैं। इसके पहले कि ये अनुभूतियां अपना अर्थ खो दें, इसके पहले कि ये तरंगें जड़ हो जाएं, इसके पहले कि तुम इन तरंगों को भी धीरे-धीरे स्वीकार कर लो, और ये भी पुरानी पड़ जाएं--छलांग ले लेना।

"कभी रोता हूं, कभी आपको निहारता रह जाता हूं।"

रोना खबर है इस बात की कि संबंध हृदय से बन रहा है। बुद्धि से बने तो कभी रोना नहीं आता। बुद्धि से अगर संबंध बने तो व्यक्ति ज्यादा से ज्यादा सिर हिलाता है कि ठीक; या गलत, तो सिर हिलाता है कि गलत। बस खोपड़ी थोड़ी-सी हिलती है। आंसुओं का कोई संबंध सिर से नहीं है। आंसू तुम्हारी खोपड़ी के भीतर से नहीं आते। आंखों से बहते हैं--आते हृदय से हैं, आते अंतस्तल से हैं। आंसू ज्यादा सार्थक हैं--बजाय धारणाओं के, विचारों के, संप्रदायों के। आंसू ज्यादा सार्थक हैं। आंसू खबर दे रहे हैं इस बात की, हृदय पर चोट पड़ी, कोई भीतर कंप गया है। इसके पहले कि आंसू सूख जाएं, इसके पहले कि तुम्हारी आंखें सूख जाएं--कुछ करना। आंसुओं को शुभ संकेत मानो, और उनके इशारों पर चलो। अगर तुम आंसुओं के इशारे पर चल सके, आंसुओं को

तुमने अंगीकार किया, आंसुओं का इंगित समझा, उनकी भाषा पहचाने और कुछ तुमने किया--तो जल्दी ही तुम पाओगे, आंसुओं के पीछे छिपी हुई एक अनूठी हंसी तुम्हारे पूरे जीवन पर फैल जाएगी।

संन्यास मेरे लिए कोई उदास बात नहीं है। संन्यास तो हंसता-फूलता, आनंद-मग्न, जीवन का एक नया वितान, एक नया विकास है। तुम बंद हो, कुंद हो, छोटे हो, पड़े हो कारागृह में--शरीर के, मन के! संन्यास तो इस बात की खबर है कि पूरा आकाश तुम्हारा, सब तुम्हारा! भोगो! जागो! यह जो रस बरस रहा है जगत में, यह तुम्हारा है, तुम्हारे लिए बरस रहा है। ये चांदत्तारे तुम्हारे लिए चलते हैं। ये फूल तुम्हारे लिए खिलते हैं! तुम इन्हें भोगो! तुम इस रस में डूबो।

अगर प्रेम का मार्ग पकड़ो, तो भोगो। अगर ज्ञान का मार्ग पकड़ो, तो जागो। दोनों सही हैं, दोनों पहुंचा देते हैं। और मेरे संन्यासियों में दोनों तरह के संन्यासी हैं।

वस्तुतः मेरा संन्यास कोई संप्रदाय नहीं है। सारे जगत के धर्मों से लोग आए हैं। ऐसी घटना कभी पृथ्वी पर घटी नहीं है। तुम ऐसा कोई स्थान न पा सकोगे जहां तुम्हें हिंदू मिल जाएं, मुसलमान मिल जाएं, ईसाई मिल जाएं, यहूदी मिल जाएं, बौद्ध मिल जाएं, जैन मिल जाएं, सिक्ख मिल जाएं, पारसी मिल जाएं; और जहां आकर सबने अपनी जीवन-धारा को एक गंगा में डुबा लिया है; जहां कुछ भेद नहीं--ऐसी सार्वभौमता! और यहां कोई सार्वभौमता की बात नहीं कर रहा है और यहां कोई सर्व- धर्म-समन्वय की बकवास नहीं कर रहा है। कोई समझा नहीं रहा है कि "अल्ला ईश्वर तेरे नाम" रटो, "अल्ला ईश्वर तेरे नाम!" कोई समझा नहीं रहा है। इसकी कोई बात ही क्या उठानी, यह बात ही बेहूदी है। जिस दिन तुमने कहा अल्ला ईश्वर तेरे नाम, उस दिन तुमने मान ही लिया कि दो नाम विपरीत हैं, तुम मिलाने की राजनीति बिठा रहे हो। मान ही लिया कि भिन्न हैं। यहां कोई समझा नहीं रहा है कि अल्ला ईश्वर तेरे नाम।

यहां तो अनजाने अनायास ही यह घटना घट रही है। अल्ला पुकारो तो, ईश्वर पुकारो तो--एक ही को तुम पुकार रहे हो। और इसकी कोई चेष्टा नहीं है।

चकित होते हैं लोग जब पहली दफा आते हैं। देख कर हैरान हो जाते हैं कि मुसलमान भी गैरिक वस्त्रों में! "कृष्ण मुहम्मद" को देखा? "राधा मुहम्मद" को देखा? एक सज्जन मुझसे आकर बोले कि राधा हिंदू है कि मुसलमान?

मैंने कहा, क्या करना है? राधा राधा है, हिंदू-मुसलमान से क्या लेना-देना?

नहीं, उन्होंने कहा, नाम से तो हिंदू लगती है, लेकिन कृष्ण मुहम्मद के साथ जाते देखी।

यूं कृष्ण मुहम्मद की पत्नी है वह। कृष्ण मुहम्मद हो गए हैं! फासले बिना किसी के गिराए, बिना किसी की चेष्टा के, बिना किसी तालमेल बिठाने का उपाय किए, अपने-आप घट रही है बात। अपने-आप जब घटती है तो उसका मूल्य बहुत है, उसका सौंदर्य अनूठा, उसमें एक प्रसाद होता है।

ऐसा संन्यास पृथ्वी पर पहले कभी घटा नहीं। तुम एक अनूठे सौभाग्य से गुजर रहे हो। समझोगे, तो चूकोगे नहीं। नहीं समझे, तो पीछे बहुत पछताओगे। तुम एक अनूठे स्रोत के करीब हो जहां से बड़ी धाराएं निकलेंगी--गंगोत्री के करीब हो। पीछे बहुत पछताओगे। पीछे गंगा बहुत बड़ी हो जाएगी। सागर पहुंचते-पहुंचते सागर जैसी बड़ी हो जाएगी। लेकिन अभी गोमुख से जल गिर रहा है, अभी गंगोत्री पर है। अभी जिन्होंने इस जल को पी लिया, फिर दुबारा नहीं ऐसा मौका मिलेगा। फिर काशी में भी गंगा है, लेकिन फिर गंदी बहुत हो गई है। फिर न मालूम कितने नाले आ गिरे। गंगोत्री पर जो मजा है, जो स्वच्छता है, फिर दुबारा नहीं।

तो जितने जल्दी तुम संन्यास ले सको उतना शुभ है। यह संन्यास की गंगा तो बड़ी होगी--यह पूरी पृथ्वी को घेरेगी। ये गैरिक वस्त्र अब कहीं एक जगह रुकने वाले नहीं हैं--ये सारी पृथ्वी को घेरेंगे। पीछे तुम आओगे--कहीं प्रयाग में, काशी में--तुम्हारी मर्जी है। लेकिन मैं तुमसे कहता हूं, अभी गंगोत्री पर आ जाओ तो अच्छा है।

मैं एक विश्वविद्यालय में विद्यार्थी था। तो मेरे जो वाइस चांसलर थे, वे बुद्धजयंति पर एक दफा बोले कि मैं कई बार विचार करता हूं कि कैसा धन्यभागी होता मैं अगर बुद्ध के समय में होता, उनके चरणों में जाता! धन्यभागी थे वे लोग जो बुद्ध के पास उठे-बैठे; जिन्होंने बुद्ध के साथ सांस ली; जिन्होंने बुद्ध की आंखों में झांका; जो बुद्ध के चरणों पर चले; जो बुद्ध की छाया में बैठे। धन्यभागी थे वे लोग। काश, मैं उनके समय में होता!

मैं तो विद्यार्थी था, लेकिन जैसी मेरी आदत थी, मैं बीच में उठ कर खड़ा हो गया। मैंने उनसे कहा, आप शब्द वापिस ले लो। उन्होंने कहा, क्यों?

मैंने कहा, यह आपकी लफ्फाजी है, क्योंकि मैं आपसे कहता हूं कि आप उस समय में भी थे और आप बुद्ध के पास नहीं गए।

वे थोड़े घबराए। वे थोड़े बेचैन भी हुए कि यह मामला क्या हो गया?

मैंने कहा, मैं निश्चित कहता हूं कि आप उस समय में भी थे। रहे तो होंगे कहीं न! पुनर्जन्म को मानते हैं?

वे हिंदू ब्राह्मण थे--कहा कि मानता हूं।

मैंने कहा: कहीं तो रहे होंगे न! पशु-पक्षी थे कि आदमी, आप क्या कहते हैं?

अब पशु-पक्षी कहने को वे भी राजी नहीं थे, तो कहा कि आदमी रहा होऊंगा।

लेकिन तब आप बुद्ध के पास गए नहीं, क्योंकि गंगोत्री में गंगा दिखाई कहां पड़ती है! तो गंगा तो तब दिखाई पड़ती है जब बहुत बड़ी हो जाती है, लेकिन तब स्रोत से बहुत दूर निकल जाते हैं। आज बुद्ध का इतना बड़ा नाम आपको दिखाई पड़ रहा है, क्योंकि हजारों-करोड़ों मूर्तियां हैं, करोड़ों मानने वाले हैं--इसलिए आप प्रभावित हैं। आप बुद्ध से प्रभावित नहीं हैं; आप, बुद्ध का यह जो बड़ा नाम है, इससे प्रभावित हैं। मैं आपसे कहता हूं कि आप इस जिंदगी में कभी किसी संत के पास गए?

मैं उन्हें जानता था। संत वगैरह तो दूर, वे छाया न संत की पड़ने दें। मांसाहारी, शराबी, वेश्यागामी...मैं उन्हें भलीभांति जानता था। मैंने कहा कि आप सच-सच कह दो। आपको मैंने और जगहों में तो देखा--क्लबघरों में देखा है, शराब पीते देखा है। और मुझे शक है कि अभी भी आप पीए हुए हैं। नहीं तो इतनी बात आप कह नहीं सकते थे--बेहोशी में कह रहे होंगे कि बुद्ध के समय में अगर होता धन्यभाग! यह नशे में कह रहे होंगे आप। क्योंकि आपमें मैंने धर्म की तरफ तो कभी कोई झुकाव नहीं देखा, आप पक्के राजनीतिज्ञ हैं! बिना राजनीतिज्ञ हुए कोई वाइस चांसलर आजकल हो ही नहीं सकता। गधे से गधे राजनीतिज्ञ वाइस चांसलर हो कर बैठे हैं।

तो मैंने उनसे कहा कि आप वापिस ले लो ये शब्द। आप बुद्ध को पहचान सकेंगे?

उन्हें कोई राह न सूझी। तो उन्होंने कहा कि बात तो समझ में आती है कि शायद मैं न गया होता अगर बुद्ध होते भी। शायद यह बात भी ठीक है कि उनका नाम ही अब इतना बड़ा है...।

पीछे मुझे बुलाया और कहा कि कुछ भी कहना हो तो एकांत में आकर कह दिया करो। ऐसा बीच भीड़ में खड़े हो गए...!

मैंने कहा कि आप भी सोच-समझकर, जब तक मैं इस विश्वविद्यालय में हूं, वक्तव्य सोच-समझ कर देना। क्योंकि वक्तव्य आप जब लोगों के सामने दे रहे हैं, तो वहीं मुझे भी कुछ कहना पड़ेगा।

अभी स्रोत के करीब हो तुम। यह स्रोत गंगा बनेगा। अभी गंगोत्री में शायद तुम पहचान भी न पाओ। पीछे तुम पछताओगे।

तो अगर ऐसी सौभाग्य की किरण तुम्हारे भीतर उठी हो कि भाव उठता हो कि डूब लें, मस्त हों लें--तो रुको मत! लाख भय हों, किनारे सरका कर उतर जाओ। और भय मिटते ही हैं, जब तुम उन्हें सरका कर आगे बढ़ते हो, अन्यथा वे कभी मिटते नहीं।

दाना तू, खेती भी तू,

बारां भी तू, हासिल भी तू।

राह तू, रहरव भी तू,

रहबर भी तू, मंजिल भी तू।

नाखुदा तू, डेहर तू,

कश्ती भी तू, साहिल भी तू।

मय भी तू, मीना भी तू,

साकी भी तू, महफिल भी तू।

यहां तो कुछ और तुम्हें थोड़े ही सिखा रहा हूं। संन्यास यानी तुम्हारी याद तुम्हें दिलानी है। और तुम सब कुछ हो।

मय भी तू, मीना भी तू।

साकी भी तू, महफिल भी तू।

मेरे पास सिर्फ तुम्हें वही दे देना है जो तुम्हारे पास है ही। मैं तुम्हें वही देना चाहता हूं जो तुम्हारे पास है। जो तुम लिए बैठे हो, और भूल गए हो और जिसका तुम्हें विस्मरण हो गया है। तुम्हें तुम्हारा स्मरण दिला देना है। संन्यास उस स्मरण की तरफ एक व्यवस्थित प्रक्रिया है।

इस चक्की पर खाते चक्कर

मेरा तन-मन, जीवन जर्जर

हे कुंभकार, मेरी मिट्टी को

और न अब हैरान करो,

अब मत मेरा निर्माण करो!

संन्यास इस बात की घोषणा है कि हे प्रभु! बहुत चक्कर हो गए इस चाक पर।

इस चक्की पर खाते चक्कर

मेरा तन-मन, जीवन जर्जर

हे कुंभकार, मेरी मिट्टी को

और न अब हैरान करो,

अब मत मेरा निर्माण करो।

इस अंधेरी रात से जागना है--तो संन्यास! इस दुख भरे नर्क से बाहर निकलना है--तो संन्यास। सुबह को पास लाना है--तो संन्यास। जीवन को परमात्मा की सुगंध से भरना है--तो संन्यास।

संन्यास का अर्थ है: तुमने तैयारी दिखला दी कि तुम मंदिर बनने को तैयार हो, अब परमात्मा की मौज हो तो आ विराजे तुम्हारे हृदय में।

हरि ॐ तत्सत्!

सैतीसवां प्रवचन

जगत उल्लास है परमात्मा का

जनक उवाच।

प्रकृत्या शून्यचित्तो यः प्रमादाद्भावभावनः।
निद्रितो बोधित इव क्षीणसंसरणे हि सः।। १२२।।
क्व धनानि क्व मित्राणि क्व मे विषयदस्यवः
क्व शास्त्रं क्व च विज्ञानं यदा मे गलिता स्पृहा।। १२३।।
विज्ञाते साक्षिपुरुषे परमात्मनि चेश्वरे।
नैराश्ये बंधमोक्षे च न चिंता मुक्तये मम।। १२४।।
अंतर्विकल्पशून्यस्य बहिः स्वच्छंदचारिणः।
भ्रांतस्येव दशास्तास्तादृशा एव जानते।। १२५।।

आज के सूत्र महावाक्य हैं; साधारण वक्तव्य नहीं हैं, असाधारण गहराई में पाए गए मोती हैं। बहुत ध्यानपूर्वक समझोगे तो ही समझ पाओगे। और फिर भी समझ बौद्धिक ही रहेगी। जब तक जीवन में प्रयोग न हो तब तक ऊपर-ऊपर से समझ लोगे, लेकिन अंतःकरण तक इन शब्दों की ध्वनि नहीं गूंज पाएगी। ये शब्द ऐसे हैं कि तभी जान सकोगे जब अनुभव में आ जाएं।

लेकिन फिर भी बौद्धिक रूप से समझ लेना भी उपयोगी होगा। बौद्धिक रूप से भी तभी समझ सकोगे जब बहुत ध्यान से, बारीकी से...। नाजुक हैं ये वक्तव्य। जरा यहां-वहां चूके कि भूल हो जाएगी। और इनकी गलत व्याख्या बड़ी सरल है।

पहला सूत्र: "जो स्वभाव से शून्यचित्त है, पर प्रमाद से विषयों की भावना करता है और सोता हुआ भी जागते के समान है, वह पुरुष संसार से मुक्त है।"

न केवल डर है कि तुमसे भूल हो जाए, अष्टावक्र की गीता में अनेक जगह गलत पाठ उपलब्ध है इस पहले सूत्र का। यह जो मैंने अभी अनुवाद किया, यह गलत अनुवाद है। "प्रमाद" जहां कहा गया है वहां "प्रमोद" होना चाहिए। लेकिन जिसने ये संग्रह किये होंगे उसे लगा होगा कि प्रमोद तो ठीक शब्द नहीं, प्रमाद ठीक शब्द है। प्रमाद गलत शब्द है यहां। जो स्वभाव से शून्यचित्त है उसे प्रमाद कहां!

प्रमाद का अर्थ होता है: मूर्च्छा। प्रमाद का अर्थ होता है: तंद्रा। प्रमाद का अर्थ होता है: बेहोशी। जो शून्यचित्त को अनुभव कर लिया है उसे प्रमाद कहां, बेहोशी कहां? वह तो परम साक्षित्व को उपलब्ध हो गया है।

प्रकृत्या शून्यचित्तो यः प्रमादाद्भावभावनः।

ऐसा पाठ मिलता है अनेक जगह। कहीं-कहीं बहुत मुश्किल से ठीक पाठ मिलता है। ठीक पाठ है:

प्रकृत्या शून्यचित्तो यः प्रमोदाद्भावभावनः।

खेल-खेल में जो भाव में डूबता है; प्रमाद के कारण नहीं, प्रमोद के कारण।

"जो स्वभाव से शून्यचित्त है वह प्रमोद से विषयों की भावना करता है और सोता हुआ भी जागते के समान है, वह पुरुष संसार से मुक्त है।"

प्रमोद ठीक है। प्रमोद का अर्थ है: लीला; खेल-खेल में। यही तो पूरब की बड़ी से बड़ी खोज है। दुनिया में बहुत धर्म हुए पैदा, जैसा पूरब ने परमात्मा को समझा वैसा किसी ने नहीं समझा--वैसी गहराई पर। पूछो: "परमात्मा ने जगत क्यों बनाया?" तो सिर्फ पूरब के पास ठीक-ठीक उत्तर है: "खेल-खेल में! लीलावशात!"

परमात्मा किसी कारण से जगत बनाए तो गलत बात हो जाएगी। क्योंकि कारण का अर्थ हुआ: कोई कमी हुई। कारण का अर्थ हुआ कि परमात्मा खाली था, कुछ अड़चन हुई; अकेला था।

कुछ धर्म कहते हैं: परमात्मा अकेला था, इसलिए संसार बनाया। तो परमात्मा भी अकेला नहीं रह सकता! तो फिर मनुष्य का तो वश क्या है! तो फिर परमात्मा ही जब द्वैत खोजता है तो मनुष्य की क्या क्षमता है अद्वैत को पाने की? फिर अद्वैत असंभव है। तो जो धर्म कहते हैं, "परमात्मा अकेला था, अकेलेपन से ऊबा, इसलिए संसार बनाया", गलत बात कहते हैं। वे आदमी के मन को परमात्मा पर आरोपित कर लेते हैं। उन्होंने अपने ही मन को फैला कर परमात्मा का मन समझ लिया। हम अकेले में परेशान होते हैं--क्या करें, क्या न करें! कुछ चाहिए व्यस्तता, कुछ उलझाव; कहीं, जहां मन लग जाए! तो हम सोचते हैं कि परमात्मा ने भी ऐसे ही एकांत से ऊब कर जगत का निर्माण किया होगा।

कुछ हैं जो कहते हैं: परमात्मा ने जगत बनाया, ताकि मनुष्य मुक्त हो सके। यह बात बड़ी मूढ़ता की मालूम पड़ती है। आदमी को बंधन में डाला ताकि आदमी मुक्त हो सके! बंधन में ही क्यों डाला?--आदमी मुक्त था ही! संसार को बनाया ताकि तुम मुक्त हो सको! यह तो बड़ी अजीब बात हुई कि कारागृह बनाया कि तुम मुक्त हो सको! मुक्त तो तुम थे ही, कारागृह में डालने की जरूरत क्या थी? नहीं, इस बात में भी बहुत अर्थ नहीं है।

कारण में कोई अर्थ नहीं हो सकता, क्योंकि परमात्मा अकारण है; पूरा है, कोई कमी नहीं है; कोई अभाव नहीं है। सच्चिदानंद है। अकेलापन उसे खलता नहीं। निश्चित ही ऐसा होगा, क्योंकि हमने तो पृथ्वी पर भी ऐसे लोग देखे जो अकेले हैं और परम आनंद में हैं।

बुद्ध अपने बोधिवृक्ष के नीचे बैठे हैं--एकदम अकेले हैं! लेकिन कोई कमी नहीं है, सब पूरा है! महावीर एकांत में नग्न खड़े हैं पहाड़ों में, बिलकुल अकेले हैं। महावीर ने तो उस आखिरी दशा का नाम ही कैवल्य रखा। कैवल्य का अर्थ है: जहां बिलकुल अकेलापन बचा; केवल चेतना बची; कोई और न बचा; कोई दूसरा न रहा। बुद्ध ने उस एकांत का नाम रखा है: निर्वाण। न केवल दूसरा नहीं बचा; तुम भी बुझ गए। निर्वाण का अर्थ होता है: बुझ गए! जैसे दीया जलता हो, कोई फूंक मार दे और दीया बुझ जाए तो हम कहते हैं: दीए का निर्वाण हो गया। न केवल दूसरे चले गए, तुम भी चले गए। इतना एकांत कि तुम भी वहां नहीं हो! शून्य बचा। फिर भी बुद्ध परम आनंद में हैं, महावीर परम आनंद में हैं। तो परमात्मा की तो बात ही क्या कहनी!

इसलिए तो हमने बुद्ध और महावीर को परमात्मा कहा। असल में जिसने एकांत को आनंद जाना, उसी को हमने परमात्मा कहा है। वह परमात्मा का लक्षण है।

अकेले में सुखी होने का अर्थ है: अब दूसरे की जरूरत न रही। अब तुम पूर्ण हुए। जब तक दूसरे की जरूरत है तब तक पीड़ा है। इसलिए तो प्रेमी एक-दूसरे को क्षमा नहीं कर पाते। क्षमा करना संभव नहीं है। क्योंकि जब तक दूसरे की जरूरत है, दूसरे से बंधन है। और जिससे बंधन है, उस पर नाराजगी है। पति पत्नी पर नाराज है, पत्नी पति पर नाराज है। प्रेयसी प्रेमी पर नाराज है। नाराजगी का बड़ा गहरा कारण है। ऊपर-ऊपर मत खोजना कि यह पत्नी दुष्ट है, कि यह पति दुष्ट है, कि यह मित्र ठीक नहीं। नाराजगी का कारण बड़ा गहरा है। कारण यह है कि जिस पर हमारा सुख निर्भर होता है उसके हम गुलाम हो जाते हैं। गुलामी कोई चाहता नहीं। स्वतंत्रता चाही जाती है। गहरी से गहरी चाह स्वातंत्र्य की है।

तो जिससे हम सुखी होते हैं...अगर तुम पत्नी के कारण सुखी हो तो तुम पत्नी पर नाराज रहोगे। भीतर-भीतर एक कांटा खलता रहेगा कि सुख इसके हाथ में है, चाबी इसके हाथ में है--कभी खोले दरवाजा, कभी न खोले दरवाजा। तो इसके गुलाम हुए। गुलामी पीड़ा देती है।

मोक्ष हम उसी अवस्था को कहते हैं जब चाबी तुम्हारे हाथ में है। खोलने, बंद करने की भी जरूरत नहीं। खोले ही बैठे रहो, कौन बंद करेगा, किसलिए बंद करेगा! आनंद में डूबे रहो निशि-वासर!

परमात्मा ने किसी दुख, किसी पीड़ा, किसी अभाव के कारण संसार नहीं बनाया। फिर क्यों बनाया? सिर्फ पूरब ने ठीक-ठीक उत्तर दिया है। पूरब ने उत्तर दिया है: "खेल-खेल में! लीलावश! उमंग में। जैसे छोटे बच्चे खेलते हैं, रेत का घर बनाते हैं, लड़ते-झगड़ते भी हैं...।"

बुद्ध ने कहा है: गुजरता था एक नदी के किनारे से, कुछ बच्चे खेलते थे, रेत के घर बनाते थे। उनमें बड़ा झगड़ा भी हो रहा था। क्योंकि कभी किसी बच्चे का घर किसी के धक्के से गिर जाता, किसी का पैर पड़ जाता, तो मार-पीट भी हो जाती। बुद्ध खड़े हो कर देखते रहे, क्योंकि उन्हें लगा: ऐसा ही तो यह संसार भी है। यहां लोग मिट्टी के घर बनाते हैं, गिर जाते हैं तो रोते हैं, तकलीफ, नाराज...अदालत-मुकदमा करते हैं। यही तो बच्चे कर रहे हैं, यही बड़े करते हैं। फिर सांझ हो गयी, सूरज ढलने लगा और किसी ने नदी के किनारे से आवाज दी कि बच्चो, अब घर जाओ, सांझ हो गयी। और सारे बच्चे भागे। अपने ही घरों पर, जिनकी रक्षा के लिए लड़े थे, खुद ही कूदे-फांदे, उनको मिटा कर सब खाली कर दिया और खूब हंसे, खूब प्रफुल्लित हुए और घर की तरफ लौट गए।

बुद्ध अपने भिक्षुओं को कहते: ऐसी ही परम ज्ञानी की अवस्था है। वह देख लेता है कि अपना ही खेल था; खेलना चाहे खेलता रह सकता था। लेकिन तब खेल बांधता नहीं; अपने ही घरों को अपने ही हाथ से भी गिराया जा सकता है; जिनके लिए लड़े थे, उनको खुद ही गिराया जा सकता है।

परमात्मा खेल रहा है। पूछो: "क्यों खेल रहा है?" तो पूरब कहता है: ऊर्जा का लक्षण ही यही है। ऊर्जा अभिव्यक्त होती है। ऊर्जा प्रगट होती है। गीत पैदा होता है, नाच पैदा होता है, फूल पैदा होते, पक्षी पैदा होते। यह परमात्मा के जीवित होने का लक्षण है। ये फूल नहीं हैं, ये वृक्ष नहीं हैं, यह तुम नहीं हो यहां--यह परमात्मा अनेक-अनेक ऊर्मियों में, अनेक-अनेक लहरों में प्रगट हुआ है। यह उसके होने का लक्षण है। किसी कारण से यह नहीं हो रहा है। अगर फूल न हों, वृक्ष न हों, पौधे न हों, पक्षी न हों, आदमी न हों, चांदत्तारे न हों, तो परमात्मा मरा हुआ होगा; उसमें जीवन न होगा। ये जो सागर पर लहरें उठती हैं, यह सागर के जीवित होने का लक्षण है।

परमात्मा महाजीवन है। इसलिए तो वह अनंत रूपों में प्रगट हुआ। यह प्रगटीकरण किसी कारण से नहीं है। पक्षी सुबह गीत गाते हैं--अकारण। वृक्षों में फूल खिल जाते--अकारण। कभी तुम्हें भी लगता है कि तुम कुछ अकारण करते हो। जब तुम कुछ अकारण करते हो, तब तुम परमात्मा के निकटतम होते हो।

इसलिए मैं निरंतर कहता हूं: ध्यान अकारण करना। यह मत सोचना कि मन की शांति मिलेगी। बस मन की शांति मिलेगी, ऐसे खयाल से किया कि चूक गए; व्यवसाय हो गया, धर्म न रहा। अकारण करना! करने के मजे से करना! स्वांतः सुखाय तुलसी रघुनाथ गाथा! गाना स्वांतः सुखाय।

तुलसी से किसी ने पूछा होगा: क्यों कही यह राम की कथा? तो तुलसी ने कहा: किसी कारण नहीं--स्वांतः सुखाय तुलसी रघुनाथ गाथा। यह गाथा कहीं अपने आनंद के लिए।

कवि गीत गाता है, क्योंकि बिना गाए नहीं रह सकता। गीत उमड़ रहा है! जैसे मेघ से वर्षा होती है, ऐसा कवि बरसता है। संगीतज्ञ वीणा बजाता है, नर्तक नाचता है--ऊर्जा है!

रूस के एक बहुत प्रसिद्ध नर्तक निजिन्सकी से किसी ने पूछा कि तुम नाचते-नाचते थकते नहीं? उसने कहा: जब नहीं नाचता तब थक जाता हूं। जब नाचता हूं तब तो पर लग जाते हैं। जब नाचता हूं तभी तो मैं होता हूं। तभी मैं प्रगाढ़ रूप से होता हूं! जब नहीं नाचता तब उदास हो जाता हूं। तब जीवन-ऊर्जा क्षीण हो जाती है। जब जीवन-ऊर्जा प्रगट होती है, तभी होती है।

ध्यान करना--स्वांतः सुखाय! कल कुछ मिलेगा, इसलिए नहीं; अभी करने में मजा है, प्रमोदवश!

यह पहला सूत्र है: "जो स्वभाव से शून्यचित है, वह प्रमोद से विषयों की भावना करता है।"

खेल-खेल में! जनक यह कह रहे हैं कि वह भाग नहीं जाता संसार से। और अगर भागे भी तो भी प्रमोद में ही भागता है; गंभीर नहीं होता है। यह साधु का परम लक्षण है कि वह गंभीर नहीं होता। और तुम साधु-

महात्मा को पाओगे सदा गंभीर, जैसे कोई भारी काम कर रहा है। तुमने परमात्मा को कहीं गंभीर देखा है? मगर महात्मा को सदा गंभीर पाओगे। महात्मा ऐसा कर रहा है जैसे कि भारी काम कर रहा है! तप कर रहा है, पूजा कर रहा है, प्रार्थना कर रहा है। सब कर्तव्य मालूम होता है, स्वांतः सुखाय नहीं। परमात्मा को तुमने कहीं उदास देखा? जहां देखो, वहीं किलकारी है। जहां देखो वहीं उल्लास है। जहां देखो वहीं झरने की तरह फूटा पड़ रहा है। जरा आंख खोल कर चारों तरफ देखो--चांदत्तारों में, सूरज में, वृक्षों में, पहाड़ों में, पर्वतों में, खाई-खंदकों में--सब तरफ हंसी है, खिलखिलाहट है, मधुर मुस्कान है, एक नृत्य चल रहा है, एक अहर्निश नृत्य चल रहा है।

इसलिए तो हिंदुओं ने परमात्मा को नटराज कहा है। वह नाच रहा है। और इस नटराज में भी बड़ा अर्थ है। अगर मूर्तिकार मूर्ति बनाता है तो मूर्ति अलग हो जाती है, मूर्तिकार अलग हो जाता है। मूर्तिकार मर जाए तो भी मूर्ति रहेगी। लेकिन नर्तक के मरने पर नृत्य नहीं बचता। नर्तक और नृत्य अलग किये ही नहीं जा सकते। नर्तक गया कि नृत्य भी गया। परमात्मा को मूर्तिकार नहीं कहा। जिन्होंने कहा उन्होंने जाना नहीं।

कुछ हैं जो कहते हैं, परमात्मा कुंभकार जैसा है, कुम्हार जैसा है। जिन्होंने कहा, कुम्हार ही रहे होंगे; ज्यादा बुद्धि न रही होगी। परमात्मा मटके नहीं बना रहा है। परमात्मा नटराज है--नाच रहा है। नृत्य बंद हुआ, परमात्मा हटा कि फिर तुम बचा न सकोगे कुछ।

इसको यूं समझो: न तो तुम नृत्य को नर्तक से अलग कर सकते हो और न तुम नर्तक को नृत्य से अलग कर सकते हो। क्योंकि जैसे ही नृत्य बंद हुआ, नर्तक नर्तक न रहा। नर्तक तभी तक है जब तक नृत्य है। दोनों संयुक्त हैं। दोनों एक ही लहर के दो हिस्से हैं, अलग-अलग नहीं हैं। परमात्मा नाच रहा है। यह सारा जगत उसका नृत्य है। प्रमोद में, अहोभाव में, स्वांतः सुखाय!

इसलिए इस पहले सूत्र में प्रमाद की जगह प्रमोद कर लेना। प्रमाद तो बड़ा ही गलत शब्द है। प्रमाद के दो अर्थ हो सकते हैं। एक तो जैनों और बौद्धों का अर्थ है: प्रमाद यानी मूर्च्छा। तो महावीर निरंतर अपने भिक्षुओं को, अपने संन्यासियों को कहते हैं: "अप्रमाद में जीयो! अप्रमत्त!" बुद्ध अपने भिक्षुओं को कहते हैं: "प्रमाद में मत रहो! जागो! मूर्च्छा तोड़ो।" हिंदुओं का अर्थ है प्रमाद का: प्रारब्ध कर्मों के कारण।

"जो स्वभाव से शून्यचित्त हैं, वे प्रमाद के कारण अर्थात अपने पिछले जन्मों के कर्मों के कारण विषय-वासनाओं में उलझे रहते हैं। फिर भी सोते हुए में जैसे जागरण हो, ऐसे वे पुरुष संसार से मुक्त हैं।"

लेकिन यह बात भी ठीक नहीं है। क्योंकि जिसने यह जान लिया कि मैं कर्ता नहीं हूं, उस पर पीछे-आगे, वर्तमान, अतीत, भविष्य सारे कर्मों का बंधन छूट जाता है। बंधन तो कर्ता होने में था। सुबह तुम जाग गए और तुमने जान लिया कि जो रात देखा वह सपना था; फिर क्या सपने का प्रभाव तुम पर रह जाता है? जाग गए कि सपना समाप्त हो गया। कोई यह कहे...कभी-कभी छोटे बच्चों में रहता है: रात सपना देखा, खेल-खिलौने खूब थे, फिर नींद खुली, हाथ खाली पाए, तो बच्चा रोने लगता है कि मेरे खिलौने कहां गए! क्योंकि छोटे बच्चे को अभी सपने में और जागरण में सीमा-रेखा नहीं, भेद-रेखा नहीं। अभी उसे पक्का पता नहीं है कि कहां सपना समाप्त होता है, कहां जागरण शुरू होता है। मुक्तपुरुष को पता नहीं होगा कि कहां सपना टूटा और कहां जागरण शुरू हुआ! हमको पता होता है। साधारण जन को पता होता है। सुबह उठ कर तुम कहते हो: "अरे, खूब सपना देखा!" बात खतम हो गई। फिर ऐसा थोड़े ही है कि सपने में देखी चीजों का तुम अभी भी हिसाब रखते हो!

मैंने सुना है कि मुल्ला नसरुद्दीन ने एक रात सपना देखा। सपना देखा कि कोई उससे कह रहा है: कितने रुपए चाहिए, ले ले! मुल्ला ने कहा: सौ रुपए। वह आवाज आई। उसने कहा कि निन्यानबे दूंगा। मुल्ला जिद पर अड़ गया कि सौ ही लूंगा। ऐसी जिदमजिद में नींद खुल गई। नींद खुल गई तो मुल्ला घबराया। देखा कि यह तो सपना था। जल्दी से आंख बंद की और बोला: "अच्छा निन्यानबे ही दे दो।" मगर अब तो बात गई। अब तुम

लाख उपाय करो, अब तो बात गई। न कोई देने वाला है, न कोई लेने वाला है। अब लाख बंद करो, सपना टूटा सो टूटा।

तो न तो जैनों-बौद्धों की परिभाषा के अनुसार प्रमाद अर्थ हो सकता है, क्योंकि जो जाग गया, शून्यचित्त का जिसने अनुभव कर लिया, उस पर अब कोई छाया भी नहीं रह जाती सपने की, मूर्च्छा की, तंद्रा की। न हिंदू-अर्थों से अर्थ हो सकता है कि प्रारब्ध कर्मों के कारण...। जागा हुआ पुरुष जान लेता है कि अब तक जो हुआ जन्मों-जन्मों में, एक लंबा सपना था। अब तक जागे न थे तो था; अब जाग गए तो नहीं है। दोनों साथ-साथ नहीं होते।

यह तो ऐसा ही हो जाएगा जैसे कि मुल्ला किसी के घर नौकरी करता था। और मालिक ने कहा: "बाहर जा कर देख नसरुद्दीन, सुबह हुई या नहीं?" नसरुद्दीन बाहर गया, फिर अंदर आया और लालटेन लेकर बाहर जाने लगा। तो मालिक ने पूछा: "यह क्या कर रहा है?" उसने कहा: "बाहर बहुत अंधेरा है, दिखाई नहीं पड़ता कि सुबह हुई कि नहीं। तो लालटेन ले जा रहा हूं।"

अब सुबह हो गई हो तो अंधेरा कहां रहता है? और लालटेन से कैसे देखोगे? सुबह हो गई तो हो गई। सुबह होने का अर्थ ही है कि अब अंधेरा नहीं है। सूरज उग आया, अंधेरा गया। तुम एक दीया जलाओ, फिर तुम कमरे में दीया जला कर खोजो अंधेरे को कि अभी तो था, अभी तो था; अब कहां गया! तुम द्वार-दरवाजे भी बंद कर रखो, तुम दरवाजे पर पहरेदार बिठा दो कि अंधेरे को निकलने मत देना, बाहर मत जाने देना। तुम सब तरफ से बिलकुल रंध्र-रंध्र बंद कर दो। लेकिन जैसे ही तुम दीया जलाओगे कि देखें, अंधेरा कहां है--अंधेरा नहीं है। दीया और अंधेरा साथ-साथ तो नहीं हो सकते। रोशनी और अंधेरा साथ-साथ तो नहीं हो सकते।

जैसे ही कोई जागा, सब सपने गए। कितने ही सपने देखे हों जन्मों-जन्मों में--कभी तुम सिंह थे और कभी बकरे थे, और कभी आदमी और कभी घोड़े और कभी पौधे--सब सपने थे; सब तुम्हारी मान्यताएं थीं। तुम उन में से कोई भी न थे। तुम तो द्रष्टा थे। कभी देखा कि घोड़े, कभी देखा कि वृक्ष, कभी देखा कि आदमी, कभी औरत--ये सब रूप थे सपने में बने। कभी देखा चोर, कभी देखा साधु, कभी बैठे हैं बड़े शांत, कभी देखा कि बड़े अशांत हत्यारे--लेकिन ये सब सपने थे। जैसे ही जागे, एक ही झटके में सारे सपने समाप्त हो गए। तो अब कैसा प्रमाद! नहीं।

प्रकृत्या शून्यचित्तो यः प्रमोदाद्भावभावनः।
निद्रितो बोधित इव क्षीणसंसरणे हि सः।।

"जो स्वभाव से शून्यचित्त है, पर प्रमोद से, खेल-खेल में...।"

कभी-कभी तुम अपने छोटे बच्चे के साथ भी खेल-खेल में कुछ करते हो। तुम्हारा बेटा है, कुश्ती लड़ना चाहता है, बाप बेटे से कुश्ती लड़ता है जानते हुए कि यह बेटा जीत तो सकता नहीं, फिर भी बेटे को जिता देता है। झट लेट जाता है, बेटा छाती पर बैठ जाता है--और देखो उसका उल्लास! तुम खेल-खेल में हो और बेटा खेल-खेल में नहीं है; बेटा सच में मान रहा है कि जीत गया। वह चिल्लाता फिरेगा, घर भर में झंडा घुमाता फिरेगा कि पटका, चारों खाने चित कर दिया पिताजी को! उसके लिए बड़े गौरव की बात है। तुम खुद ही लेट गए थे। तुमने उसे जिता दिया था। तुम्हारे लिए खेल था।

मैंने सुना है कि एक जर्मन विचारक जापान गया। वह एक घर में मेहमान था। घर के लोगों ने, घर के बूढ़े मेजबान ने, जिसकी उम्र कोई अस्सी साल की थी, कहा कि आज सांझ एक विवाह हो रहा है मित्र के परिवार में, आप भी चलेंगे? उसने कहा: "जरूर चलूंगा, क्योंकि मैं आया ही इसलिए हूं कि जापानी रीति-रिवाज का अध्ययन करूं; यह मौका नहीं छोडूंगा।"

वह गया। वहां देख कर बड़ा हैरान हुआ कि वहां गुड्डे-गुड्डी का विवाह हो रहा था छोटे-छोटे बच्चों ने विवाह रचाया था और बड़े-बड़े बूढ़े भी सम्मिलित हुए थे। और बड़ी शालीनता से विवाह का कार्यक्रम चल रहा

था। वह जरा हैरान हुआ। उसने कहा: "बच्चे तो सारी दुनिया में खेलते हैं, गुड्डा-गुड्डी का विवाह रचाते हैं; मगर बड़ी उम्र के लोग सम्मिलित हुए, फिर जुलूस निकला, बारात निकली, उसमें भी सब सम्मिलित हुए। वह रोक न पाया अपने को। घर आते से ही उसने कहा कि "क्षमा करें! यह मामला क्या है? बच्चे तो ठीक हैं, बच्चे तो सारी दुनिया में ऐसा करते हैं; मगर आप सब बड़े-बूढ़े इसमें सम्मिलित हुए!"

तो उस बूढ़े ने हंस कर कहा: "बच्चे इसे असलियत समझ कर कर रहे हैं, हम इसे खेल-खेल में...। बच्चे इतने प्रसन्न हैं, साथ देना जरूरी है। कभी वे भी जागेंगे। और हमारे साथ रहने से उनका खेल उन्हें बड़ा वास्तविक मालूम पड़ता है।"

फिर उस बूढ़े ने कहा: और बाद में जिनको तुम असली विवाह कहते हो, असली दूल्हा-दूल्हन, वह भी कहीं खेल से ज्यादा है क्या? वह भी खेल है। यह भी खेल है। यह छोटों का खेल है, वह बड़ों का खेल है।

जागा हुआ पुरुष भी खेल में सम्मिलित हो सकता है। जब स्वयं परमात्मा खेल में सम्मिलित हो रहा है तो जागा हुआ पुरुष भी खेल में सम्मिलित हो सकता है।

बोधिधर्म जब चीन गया--एक महान बौद्ध भिक्षु! बुद्ध के बाद महानतम!--तो चीन का सम्राट उसका स्वागत करने आया था। लेकिन देखा तो बड़ा हैरान हो गया। यह बोधिधर्म तो पागल मालूम हुआ। वह एक जूता सिर पर रखे था और एक पैर में पहने हुए था। सम्राट थोड़ा विचलित भी हुआ। यह तो फजीहत की बात है। सम्राट का पूरा दरबार मौजूद था। अनेक मेहमान, प्रतिष्ठितगण मौजूद थे। सब जरा परेशान हो गये कि यह किस आदमी का स्वागत करने हम आए हैं, यह तो पागल मालूम होता है! और बोधिधर्म खिलखिला कर हंसा।

सम्राट ने पूछा: "यह क्या आप कर रहे हैं? आपका मन तो स्वस्थ है? कहीं यह लंबी यात्रा भारत से चीन तक की आपको विक्षिप्त तो नहीं कर गयी? क्योंकि मैंने तो ऐसी खबरें सुनी हैं कि आप महानतम जाग्रत पुरुष हैं--और यह क्या कर रहे हैं!"

बोधिधर्म ने कहा: यही जानने को किया कि तुम खेल को खेल समझ सकते हो या नहीं! जूता जूता है, पैर में हो कि सिर पर हो, सब बराबर है। यही जांचने को कि तुम मुझे पहचान सकोगे या नहीं...। मुझे देखो, मेरा कृत्य नहीं। कृत्य में मत उलझो, क्योंकि मैं कृत्य के पार गया। तुम मुझे देखो! तुम यही देख रहे हो कि आदमी सिर पर जूता रखे आ रहा है। यह सिर तो आज नहीं कल गिरेगा और हजारों लोगों के जूते इस सिर पर पड़ेंगे। फिर? और कभी-कभी क्रोध में सम्राट वू--"वू" उसका नाम था--तुमने भी किसी के सिर पर जूता मार देना चाहा है या नहीं?

कभी खयाल किया तुमने? आदमी का मनोविज्ञान बड़ा अदभुत है। जब तुम किसी पर श्रद्धा करते हो तो अपना सिर उसके जूतों में रखते हो, उसके पैर में रख देते हो। और जब तुम्हें किसी पर क्रोध आता है तो अपना जूता निकाल कर उसके सिर पर मारते हो। इच्छा तो यही होती थी कि उचक कर अपना पैर उसके सिर पर रख दें, वह जरा कठिन काम है और सर्कस में रहना पड़े, तब कर पाओ--तो प्रतीकवत, प्रतीक-स्वरूप जूता निकाल कर उसके सिर पर रख देते हो।

बोधिधर्म ने कहा: इसलिए एक पैर में रखा है, एक सिर पर रखा है--तुम्हें तुम्हारी खबर देने को!

और वू तो और भी परेशान हुआ, क्योंकि कल सांझ ही एक घटना घटी थी, जब उसने अपने नौकर को, उठा कर जूता उसके सिर में मार दिया था। वह तो बड़ा विचलित हो गया। उसे तो पसीना आ गया। उसने कहा: "महाराज, क्या आपको कुछ अंदाज मिल गया, कुछ पता चल गया? आप ऐसा व्यंग्य न उड़ायें।"

बोधिधर्म एक खेल कर रहा है। यह कृत्य सिर्फ लीला-मात्र है, लेकिन बच्चों के लिए उपयोगी हो सकता है।

एक दूसरा बौद्ध भिक्षु जापान के गांव-गांव में घूमता रहता था। होतेई उसका नाम था। वह एक झोला अपने कंधे पर टांगे रखता; उसमें खेल-खिलौने, मिठाइयां इत्यादि रखे रहता था। और जो भी उससे पूछता, "धर्म के संबंध में कुछ कहो होतेई," वह एक खिलौना पकड़ा देता या मिठाई दे देता। पूछने वाला कहता कि

तुमने हमें क्या बच्चा समझा है? होतेई कहता: मैं खोज रहा हूं, प्रौढ़ तो कोई दिखता नहीं, सब खेल में उलझे हैं। छोटे बच्चे भी छोटे बच्चे हैं, बड़े बच्चे भी बस बच्चे हैं। बड़े होंगे उम्र से, बच्चे ही हैं।

इस होतेई से किसी बड़े समझदार आदमी ने पूछा कि होतेई, धर्म का अर्थ क्या है? तो उसने अपना झोला नीचे गिरा दिया। पूछने वाले ने पूछा: और फिर धर्म का जीवन में आचरण क्या है? उसने झोले को उठा कर कंधे पर रखा और चल दिया। उसने कहा: पहले त्याग दो, सब व्यर्थ है; फिर खेल-खेल में सब सिर पर रख लो; क्योंकि जब व्यर्थ ही है तो न तो भोग में अर्थ है न त्याग में अर्थ है। फिर जिनकी बस्ती में तुम हो, उनके साथ सम्मिलित हो जाओ।

एक बड़ी प्रसिद्ध कहानी है खलील जिब्रान की। एक गांव में एक जादूगर आया। उसने गांव के कुएं में मंत्र पढ़ कर कोई एक चीज फेंक दी और कहा: जो भी इसका पानी पीएगा, पागल हो जाएगा। गांव में दो ही कुएं थे--एक राजा के घर में था और एक गांव में था। सारा गांव तो पागल हो गया, राजा बचा और उसका वजीर बचा। राजा बड़ा खुश था कि हम अच्छे बचे, अन्यथा पागल हो जाते। लेकिन जल्दी ही खुशी दुख में बदल गयी, क्योंकि सारे गांव में यह खबर फैल गई कि राजा पागल हो गया। सारा गांव पागल हो गया था। अब पागलों का गांव, उसमें राजा भर पागल नहीं था--स्वाभाविक था कि सारा गांव सोचने लगा, इसका दिमाग कुछ ठीक नहीं है, कुछ गड़बड़ है। राजा ने अपने वजीर से कहा कि: "यह तो बड़ी मुसीबत हो गयी! ये पगले खुद तो पागल हुए हैं...।" लेकिन इन्हीं में उसके सिपाही भी थे, सेनापति भी थे, उसके रक्षक भी थे। उसने वजीर से पूछा: "हम क्या करें? यह तो खतरा है।"

सांझ होते-होते पूरी राजधानी उसके महल के आसपास इकट्ठी हो गयी और उन्होंने कहा: "हटाओ इस राजा को! हम स्वस्थ-चित्त राजा चाहते हैं।" राजा ने कहा: "जल्दी करो कुछ! क्या करना है?" वजीर ने कहा: "मालिक, एक ही उपाय है कि चल कर उस कुएं का पानी पी लें।" भागे, जा कर कुएं का पानी पी लिया। उस रात गांव में जलसा मनाया गया और लोग खूब नाचे कि अपना राजा स्वस्थ हो गया। वे भी पगला गए।

यह जो दुनिया है, पागलों की है। यहां सब मूर्च्छित हैं। यहां जाग्रत पुरुष भी तुम्हारे बीच जीए तो तुम्हारी भाषा के अनुसार चलना होता है। तुम्हारे बीच जीता है, तुम्हारे नियमों को पालना पड़ता है। तुम तो पालते हो अपने नियमों को बड़ी गंभीरता से, वह उन नियमों का पालन करता है बड़े खेल-खेल में, प्रमोदवशात!

"जो स्वभाव से शून्यचित्त है, विषयों की भावना भी करता है तो प्रमोद से, और सोता हुआ भी जागते के समान है।"

तुम उसे सोता हुआ भी पाओ तो सोया हुआ मत समझना। तुम जब जागे हो, तब भी सोए हो। वैसा पुरुष जब सोया है, तब भी जागा है।

इसलिए तो कृष्ण ने गीता में कहा है: "या निशा सर्वभूतायां, तस्यां जागर्ति संयमी।" जो सबके लिए रात है, जहां सब सो गए हैं, वहां भी संयमी जागा हुआ है। तुम्हारे साथ सो भी गया हो, तुम्हारी नींद में खलल न भी डालनी चाही हो, तो भी जागा हुआ है। किसी अंतःलोक में उसका प्रकाश का दीया जल ही रहा है।

जनक कहते हैं: वह पुरुष सोया हुआ भी जागते के समान है।

एक बात तो हम जानते हैं कि हम जागते हुए भी सोए हुओं के समान हैं, तो दूसरी बात भी बौद्धिक रूप से कम से कम समझ में आ सकती है कि इसका विपरीत भी हो सकता है।

तुम्हारी आंखें खुली हैं, पर तुम जागे हुए नहीं हो। तुम्हें जरा-सी बात मूर्च्छा में डाल देती है। कोई आदमी धक्का मार दे, बस होश खो गया! दौड़ पड़े, पकड़ ली उसकी गर्दन! कोई तुम्हारी बटन दबा दे जैसे बस! बिजली के पंखे की तरह हो तुम, कि बिजली के यंत्र की तरह। दबाई बटन कि पंखा चला। पंखा यह नहीं कह सकता कि

अभी मेरी चलने की इच्छा नहीं। पंखा मालिक कहां अपना! पंखा तो यंत्र है। जब तुम्हारी कोई बटन दबा देता है, जरा-सी गाली दे दी, धक्का मार दिया कि तुम बस हुए क्रोधित--तो तुम भी यंत्रवत हो, जाग्रत नहीं अभी।

बुद्ध को कोई गाली देता है तो बुद्ध शांति से सुन लेते हैं। वे कहते हैं कि बड़ी कृपा की, आए; लेकिन जरा देर कर दी। दस साल पहले आते तो हम भी मजा लेते और तुम्हें भी मजा देते! जरा देर करके आए, हमने गाली लेनी बंद कर दी है। तुम लाए, जरा देर से लाए, मौसम जा चुका। अब तुम इसे घर ले जाओ। दया आती है तुम पर। क्या करोगे इसका? क्योंकि हम लेते नहीं हैं। देना तुम्हारे हाथ में है, देने के तुम मालिक हो; लेकिन लेना हमारे हाथ में है। तुमने गाली दी, हम नहीं लेते, तो तुम क्या करोगे?

लेकिन तुमने कभी देखा कि जब कोई गाली देता है तो लेने का खयाल आता है, न लेने का खयाल भी आता है? नहीं आता! इधर दिया नहीं कि उधर गाली पहुंच नहीं गयी। एक क्षण भी बीच में नहीं गिरता। तीर की तरह चुभ जाती है बात। वहीं तत्क्षण तुम बेहोश हो जाते हो, मूर्च्छित हो जाते हो। उस मूर्च्छा में तुम मार सकते हो, पीट सकते हो, हत्या कर सकते हो। लेकिन तुमने की, ऐसा नहीं है। तुम मूर्च्छित हो।

एक आदमी, अकबर की सवारी निकलती थी, छप्पर पर चढ़ कर गाली देने लगा। पकड़ लाए सैनिक उसे। अकबर के सामने दूसरे दिन उपस्थित किया। अकबर ने पूछा कि "तूने ये गालियां क्यों बकीं, क्या कारण है? यह अभद्रता क्यों की?" उस आदमी ने कहा: "माफ करें, मैंने कुछ भी नहीं किया। मैं शराब पी लिया था। मैं होश में नहीं था। अगर आप मुझे दंड देंगे उस बात के लिए तो कसूर किसी ने किया, दंड किसी को दिया--ऐसी बदनामी होगी। शराब पीने के लिए चाहें तो मुझे दंड दे लें--शराब पीना कोई कसूर न था--लेकिन गाली देने के लिए मुझे दंड मत देना, क्योंकि मैंने दी ही नहीं, मुझे पता ही नहीं। आप कहते हैं तो जरूर गाली मुझसे निकली होगी; लेकिन शराब ने निकलवाई है। मुझे कुछ पता नहीं है। मैं कैसे गाली दे सकता हूं!

और अकबर को भी बात समझ में आई। छोड़ दिया गया वह आदमी।

इसलिए छोटे बच्चों पर अदालत में मुकदमे नहीं चलते, पागलों पर मुकदमे नहीं चलते। अगर पागल हत्या कर दे और मनोवैज्ञानिक सर्टिफिकेट दे दें कि यह पागल है तो मुकदमा चलाने का कोई अर्थ नहीं है। क्योंकि जो अपने होश में नहीं है, उस पर क्या मुकदमा चलाना; उसने तो बेहोशी में किया है।

लेकिन तुम अगर गौर करो तो तुम सब जो कर रहे हो वह बेहोशी में ही है। चोर तो बेहोश हैं ही, मजिस्ट्रेट भी बेहोश हैं। चोर तो बेहोश हैं ही, चोर को पकड़ने वाला सिपाही भी उतना ही बेहोश है।

होश और बेहोशी का अर्थ ठीक से समझ लेना। बेहोशी का अर्थ है: तुमने निर्णयपूर्वक नहीं किया; तुमने विमर्शपूर्वक नहीं किया; तुमने जाग कर, सोच कर, पूरी स्थिति को समझ कर नहीं किया। मजबूरी में हो गया। बटन दबा दी किसी ने और हो गया।

तुम अपने मालिक नहीं हो। तुमसे कुछ भी करवाया जा सकता है। एक आदमी आया, जरा तुम्हारी खुशामद की, तुम पानी-पानी हो गए; फिर तुमसे वह कुछ भी करवा ले।

डेल कारनेगी ने लिखा है कि वह एक गांव में इंश्योरेंस का काम करता था और एक धनपति बूढ़ी महिला थी जिसने इंश्योरेंस तो करवाया नहीं था, और यद्यपि प्रत्येक इंश्योरेंस एजेंट की नजर उस पर लगी थी। वह इतनी नाराज थी इंश्योरेंस एजेंटों पर कि जैसे ही किसी ने कहा कि मैं इंश्योरेंस का आदमी हूं कि वह उसे धक्के दे कर बाहर निकलवा देती। भीतर ही न घुसने देती! जब डेल कारनेगी उस गांव में पहुंचा, तो उसके साथियों ने कहा कि अगर तुम इस औरत का इंश्योरेंस करके दिखा दो तो हम समझें। उसने बड़ी प्रसिद्ध किताब लिखी है: "हाऊ टू विन फ्रेंड्स एंड इन्फ्लूएंस पीपुल।" तो लोगों ने कहा: "किताब लिखना एक बात है--कि लोगों को कैसे जीतो, लोगों को कैसे मित्र बनाओ--इस बुढ़िया को जीतो तो जानें।" तो उसने कहा: "ठीक, कोशिश करेंगे।"

वह दूसरे दिन सुबह पहुंचा। मकान के अंदर नहीं गया, ऐसा बगीचे के किनारे घूमता रहा। बुढ़िया अपने फूलों के पास खड़ी थी। उसके गुलाब के फूल सारे देश में प्रसिद्ध थे। वह बाहर खड़ा है और उसने कहा कि

आश्चर्य, ऐसे फूल मैंने कभी देखे नहीं। बुढ़िया पास आ गयी। उसने कहा: "तुम्हें फूलों से प्रेम है! भीतर आओ!" इंश्योरेंस एजेंट को भीतर नहीं आने देती थी, लेकिन फूलों से कोई प्रेम करने वाला...। वह भीतर आया। वह एक-एक फूल की प्रशंसा करने लगा। ऐसे कुछ खास फूल थे भी नहीं। मगर प्रशंसा के उसने पुल बांध दिए। वह बुढ़िया तो बाग-बाग हो गयी। बुढ़िया तो उसे घर में ले गयी, उसे और चीजें भी दिखाईं।

ऐसा वह रोज ही आने लगा। एक दिन बुढ़िया ने उससे पूछा कि तुम काफी समझदार, बुद्धिमान आदमी हो, इंश्योरेंस के संबंध में तुम्हारा क्या खयाल है? क्योंकि बहुत लोग आते हैं: "इंश्योरेंस करवा लो, इंश्योरेंस करवा लो।" अभी तक उसने बताया नहीं था कि मैं इंश्योरेंस का एजेंट हूं और उसने समझाया कि इंश्योरेंस तो बड़ी कीमत की चीज है, जरूर करवा लेनी चाहिए। तो बुढ़िया ने पूछा: "कोई तुम्हारी नजर में हो जो कर सकता हो, तो तुम ले आओ।" उसने कहा: "मैं खुद ही हूं!"

वह धीरे-धीरे गया! खुशामद! कई बार तुम जानते भी हो कि दूसरा आदमी झूठ बोल रहा है। तुम्हें पता है अपनी शक्ल का, आईने में तुमने भी देखा है। कोई कहता है: "अहा, कैसा आपका रूप!" जानते हो कि अपना रूप खुद भी देखा है, लेकिन फिर भी भरोसा आने लगता है कि ठीक ही कह रहा है। जो सुनना चाहते थे, वही कह रहा है, "कि आपकी बुद्धिमानी, कि आपकी प्रतिभा, कि आपका चरित्र, कि आपकी साधुता...!" पता है तुम्हें कितनी साधुता है, लेकिन जब कोई कहने लगता है तो गुदगुदी होनी शुरू होती है। फिर जब कोई आदमी इस तरह की थोड़ी बातें कह लेता है...।

डेल कारनेगी ने लिखा है कि अगर किसी आदमी से किसी बात में "हां" कहलवानी हो तो पहले तो ऐसी बातें कहना जिसमें वह "ना" कह ही न सके। अब जब कोई तुम्हारे रूप की प्रशंसा करने लगे तो तुम "ना" कैसे कह सकोगे! इसी आदमी की जिंदगी भर से तलाश थी, अब ये मिले--तुम "ना" कैसे कह सकोगे? तुम "हां" कहने लगोगे। जब तुम दो-चार बातों में "हां" कह दो, तब डेल कारनेगी कहता है, फिर वह बात छेड़ना जिसमें कि तुम्हें डर है कि यह आदमी "ना" कह दे। तीन-चार-पांच बातों में "हां" कहने के बाद "हां" कहना सुगम हो जाता है। वह रपटने लगता है। तुमने रास्ता बना दिया। इसलिए तो कहते हैं, मक्खन लगा दिया! रपटने लगता है। फिसलने लगा। अब तुम उसे किसी गड्ढे में ले जाओ, वह हर गड्ढे में जाने को राजी है। अब ले जाने की जरूरत नहीं है; वह तत्पर है, खुद ही जाने को राजी है। किसी को गाली दे दो, किसी को नाराज कर दो, वह तत्क्षण क्रोध से भर गया, आग पैदा हो गई। ये घटनाएं तत्क्षण घट रही हैं। इन घटनाओं में विवेक नहीं है।

गुरजिएफ कहता था: "मेरे पिता ने मरते वक्त मुझे कहा, अगर कोई गाली दे तो उससे कहना, चौबीस घंटे का समय चाहिए; मैं आऊंगा चौबीस घंटे बाद, जवाब दे जाऊंगा।" और गुरजिएफ ने कहा है कि फिर जीवन में ऐसा मौका कभी नहीं आया कि मुझे जवाब देने जाना पड़ा हो, चौबीस घंटे काफी थे। या तो बात समझ में आ गई कि गाली ठीक ही है और या बात समझ में आ गई कि गाली व्यर्थ है, जवाब क्या देना! तो या तो सीख लिया गाली से कुछ कि अपने में कोई कमी थी जो गाली जगा गई, चौंका गई, चोट कर गई, बता गई--धन्यवाद दे लिया; और या समझ में आ गया कि यह आदमी पागल है, अब इस पागल के पीछे अपने को क्या पागल होना!

गुरजिएफ कहता था कि बाप के मरते वक्त की इस छोटी-सी बात ने मेरा सारा जीवन बदल दिया। चौबीस घंटा मांगना क्रोध के लिए बड़ी अदभुत बात है। चौबीस सेकेंड काफी हैं, चौबीस घंटा तो बहुत हो गया। क्रोध तो हो सकता है तत्क्षण, क्योंकि क्रोध हो सकता है केवल बेहोशी में। चौबीस घंटे में तो काफी होश आ जाएगा। चौबीस घंटे में तो समय बीतेगा, जागृति होगी।

इसलिए मैं तुमसे कहता हूं: शुभ करना हो, तत्क्षण करना लेना; अशुभ करना हो थोड़ी प्रतीक्षा करना, रुकना, कहना: कल, परसों! क्योंकि डर यह है कि साधारणतः तुम शुभ को तो कल पर टालते हो, अशुभ को

अभी कर लेते हो। शुभ को कल पर टाला कि गया। क्योंकि शुभ तभी हो सकता है जब तुम्हारे भीतर प्रगाढ़ भाव उठा हो। और अशुभ भी तभी हो सकता है जब तुम्हारे भीतर प्रगाढ़ तंद्रा घिरी हो। अगर तुम रुक गए तो प्रगाढ़ भाव भी चला जाएगा। अगर रुक गए तो प्रगाढ़ तंद्रा भी चली जाएगी। इसलिए शुभ तत्क्षण और अशुभ कभी भी कर लेना, कभी भी टाल देना।

"जो स्वभाव से शून्यचित्त है, पर प्रमोद से विषयों की भावना करता है वह सोता हुआ भी जागते के समान है। वह पुरुष संसार से मुक्त है।"

संयोग, वियोग, प्रतिक्रियाएं
नहीं है उनका अपना कोई अस्तित्व
संवेदना, मरीचिका पुदगल की
आत्मा का गुण निर्वेद है।

आत्मा किसी भी चीज से छुई हुई नहीं, अछूती है, कुंआरी है। और जो भी हो रहा है खेल, सब पुदगल में है, सब पदार्थ में है। ऐसा जाग कर जो देखने लगता है उसके जीवन में क्रांति घटित होती है। फिर वह जो भी करता है--प्रमोदवश। बोलता है तो प्रमोदवश, चलता है तो प्रमोदवश। लेकिन कोई भी चीज की अनिवार्यता नहीं रह जाती। किसी भी चीज की मजबूरी नहीं रह जाती, असहाय अवस्था नहीं रह जाती।

एक व्यक्ति मित्र के घर से जाना चाहता था, लेकिन मित्र बातचीत में लगा है। तो उसने कहा: "अब मुझे जाने दो। मुझे मेरे मनोवैज्ञानिक के पास जाना है और देर हुई जा रही है।" उस मित्र ने कहा कि अगर दस-पंद्रह मिनट की देर भी हो गई तो ऐसे क्या परेशान हुए जा रहे हो! उसने कहा: "तुम जानते नहीं मेरे मनोवैज्ञानिक को। अगर मैं न पहुंचा ठीक समय पर तो वह मेरे बिना ही मनोविश्लेषण शुरू कर देता है।" अनिवार्यता!

मैं एक विश्वविद्यालय में विद्यार्थी था तो मेरे एक अध्यापक थे, बंगाली थे। ऐसे खूबी के आदमी थे, लेकिन अक्सर जैसे दार्शनिक होते हैं--झक्की थे। अकेला ही मैं उनका विद्यार्थी था, क्योंकि कोई उनकी क्लास में भरती भी न होता था। लेकिन मुझे वे जंचे। मुझे पता चला कि तीन-चार साल से कोई उनकी क्लास में आया ही नहीं है। मैं गया तो उन्होंने कहा: देखो, एक बात समझ लो। साधारणतः मुझे रस नहीं है विद्यार्थियों में, इसलिए तुम देखते हो कि विद्यार्थी आते भी नहीं हैं। लेकिन अब तुम आ गये हो कई साल बाद, ठीक; मगर एक बात खयाल रखना: जब मैं बोलना शुरू करता हूं तो घंटे के हिसाब से शुरू करता हूं, लेकिन अंत घंटे के हिसाब से नहीं कर सकता। क्योंकि अंत का क्या हिसाब! घड़ी कैसे अंत को ला सकती है! जब मैं चुक जाता हूं, तभी अंत होता है। तो कभी मैं दो घंटे भी बोलता हूं, कभी तीन घंटे भी बोलता हूं। तुम्हें अगर बीच-बीच में जाना हो, कि तुम्हें बाथरूम जाना हो कभी या बाहर कुछ काम आ गया या थक गए तो तुम चले जाना और चुपचाप चले आना। मैं जारी रखूंगा। मुझे बाधा मत देना। यह मत पूछना कि मैं बाहर जाना चाहता हूं इत्यादि। यह बीच में मुझे बाधा मत देना।

मैं बड़ा चकित हुआ। पहले ही दिन मैंने जानने के लिए देखा कि क्या होता है। मैं चुपचाप उठ कर चला गया, वे बोलते ही रहे। मैं खिड़की के बाहर खड़े होकर सुनता रहा। वहां कोई नहीं क्लास में अब, लेकिन उन्होंने जारी रखा। वे जो कह रहे हैं, कहे चले जा रहे हैं। वह एक अनिवार्यता थी। धीरे-धीरे उनके मैं बहुत करीब आया तो मुझे पता चला कि जीवन भर वे अकेले रहे हैं--अविवाहित, मित्र नहीं, संगी-साथी कोई बनाये नहीं। अपने से ही बात करने की उन्हें आदत थी। बोलना एक अनिवार्यता हो गयी, एक बीमारी हो गयी। वे किसी के लिए नहीं बोल रहे थे। जब मैं भी वहां बैठा था तब मुझे साफ हो गया कि वे मेरे लिए नहीं बोल रहे हैं। उन्हें मुझसे कुछ लेना-देना नहीं है। वे टेबल-कुर्सी से भी इसी तरह बोल सकते हैं। मैं निमित्त मात्र हूं, बोलना अनिवार्यता है।

तुम जरा गौर करना। तुम्हारे जीवन में अगर अनिवार्यताएं ही हों तो तुम मुक्त नहीं हो। अगर तुम चुप न हो सको तो तुम शब्द से बंध गए, शब्द की कारा में पड़ गए। अगर तुम बोल न सको तो तुम मौन की कारा में पड़ गए, तो तुम मौन के गुलाम हो गए।

जीवन मुक्त होना चाहिए--सब दिशाओं में, सब आयामों में। और कोई अनिवार्यता न हो। तब भी जीवन के काम जारी रहते हैं; उनके करने का कारण प्रमोद हो जाता है। तब एक आब्सैशन, अनिवार्यता नहीं रहती कि करना ही पड़ेगा; नहीं किया तो मुश्किल हो जाएगी; नहीं किया तो बेचैनी होगी। नहीं किया तो ठीक है, किया तो ठीक है। करना और न करना अब गंभीर कृत्य नहीं हैं।

"जब मेरी स्पृहा नष्ट हो गयी तब मेरे लिए कहां धन, कहां मित्र, कहां विषय-रूपी चोर हैं? कहां शास्त्र, कहां ज्ञान है?"

जनक राजमहल में बैठे हैं, सम्राट हैं और कहते हैं: "जब मेरी स्पृहा नष्ट हो गयी, जब आकांक्षा न रही, अभीप्सा न रही, तो अब कहां धन, कहां मित्र, कहां विषय-रूपी चोर, कहां शास्त्र, कहां ज्ञान?"

इसे समझने की कोशिश करना। धन छोड़ना सरल है; मगर धन छोड़ने से धन नहीं छूटता है। इधर धन छूटा तो कुछ और धन बना लोगे--पुण्य को धन बना लोगे। वही तुम्हारी संपदा हो जाएगी। स्पृहा छूटने से धन छूटता है। फिर पुण्य भी धन नहीं। स्पृहा छूटने से, वासना छूटने से सब छूट जाता है--न कोई मित्र रह जाता है न कोई शत्रु।

तुम किसे मित्र कहते हो? जो तुम्हारी वासना में सहयोगी होता है, उसी को मित्र कहते हो न! शत्रु किसे कहते हो? जो तुम्हारी वासना में बाधा डालता है, तुम्हारे विस्तार में बाधा डालता है, तुम्हारे जीवन में अड़चनें खड़ी करता है--वह शत्रु; और जो सीढ़ियां लगाता है, वह मित्र। और तुम्हारा जीवन क्या है?--वासना की एक दौड़!

इसलिए तो कहावत है कि जो वक्त पर काम आए वह दोस्त। वक्त पर काम आने का क्या मतलब? जब तुम्हारी वासना की दौड़ में कहीं अड़चन आती हो तो वह सहारा दे, कंधा दे। वक्त पर काम आए तो दोस्त। काम ही क्या है? कामना ही तो काम है।

जनक कहते हैं: "जब मेरी स्पृहा नष्ट हो गयी...।"

क्व धनानि क्व मित्राणि क्व मे विषयदस्यवः।
क्व शास्त्रं क्व च विज्ञानं यदा मे गलिता स्पृहा।।
यदा मे स्पृहा गलितः...।

जब मेरी गल गयी वासना, स्पृहा की दौड़, पाने की आकांक्षा; कुछ हो जाऊं, कुछ बन जाऊं, कुछ मिल जाए, ऐसा जब कुछ भी भाव न रहा; जो हूं, उसमें आनंदित हो गया; जैसा हूं, उसमें आनंदित हो गया; तथ्य ही जब मेरे लिए एकमात्र सत्य हो गया; कुछ और होने की वासना न रही, तब--तदा मे क्व धनानि--फिर धन क्या? हो तो ठीक; न हो तो ठीक। है, तो खेल; न हो, तो खेल। क्व मित्राणि--फिर मित्र कैसे? कोई पास हुआ तो ठीक; नहीं हुआ पास तो ठीक। निर्धन होकर भी स्पृहा से शून्य व्यक्ति बड़ा धनी होता है। बिना मित्रों के होकर भी सारा जगत उसका मित्र होता है। जिसकी स्पृहा नहीं रही उसका सभी कोई मित्र है--वृक्ष मित्र हैं, पशु-पक्षी मित्र हैं। स्पृहा से शत्रुता पैदा होती है। उसका परमात्मा मित्र है जिसकी स्पृहा न रही।

अब तुम देखना, हमारी सारी शिक्षण-व्यवस्था स्पृहा की है। छोटा-सा बच्चा स्कूल में जाता है, हम जहर भरते हैं उसमें: "स्पृहा! दौड़ो! प्रथम आओ!" और हम कहते हैं बच्चों से: "मैत्री रखो, शत्रुता मत करो।" और शत्रुता सिखा रहे हैं--कह रहे हैं, प्रथम आओ! अब तीस बच्चे हैं, एक ही प्रथम आ सकता है। तो हर बच्चा उनतीस के खिलाफ लड़ रहा है और ऊपर-ऊपर धोखा दे रहा है मित्रता का। लेकिन जिनसे स्पर्धा है उनसे मित्रता कैसी! उनसे तो शत्रुता है। वे ही तो तुम्हारे बीच में बाधा हैं। फिर यही दौड़ बढ़ती चली जाती है। फिर हम कहते हैं: "यह तुम्हारा देश, ये तुम्हारे बंधु, यह तुम्हारा समाज, यह मनुष्य-जाति--इन सबको प्रेम करो!" लेकिन खाक प्रेम संभव है! स्पृहा तो भीतर काम कर रही है, दौड़ तो पीछे चल रही है। तो आदमी शत्रु से तो डरा रहता ही है; जिनको तुम मित्र कहते हो, उनसे भी डरा रहता है।

मुल्ला नसरुद्दीन एक दिन नमाज पढ़ कर प्रार्थना कर रहा था मैं उसके घर पहुंच गया, तो वह कह रहा था, "हे प्रभु, शत्रुओं से तो मैं निपट लूंगा, मित्रों से तू बचाना।" बात जंची। मित्रों से बचना बड़ा कठिन है। मित्र यहां कौन हैं!

अडोल्फ हिटलर ने कभी किसी से मित्रता नहीं बनायी। कभी एक व्यक्ति को ऐसा मौका नहीं दिया कि उसके कंधे पर हाथ रख ले। इतने पास कभी किसी को नहीं आने दिया। कोई राजनीतिक बर्दाश्त नहीं करता किसी का पास आना। क्योंकि जो बहुत पास आ गया वही खतरनाक है। जो नंबर दो हो गया वही खतरनाक है।

माओत्से तुंग ने कभी किसी को नंबर दो नहीं होने दिया। तुम चकित होओगे। जो आदमी भी माओत्से तुंग के निकट आ गया उसी का पतन करवा दिया उसने। जैसे ही पता चला कि वह नंबर दो हुआ जा रहा है...क्योंकि जो नंबर दो हुआ, वह जल्दी ही नंबर एक होना चाहेगा। खतरा नंबर दो से है। इसलिए जो व्यक्ति नंबर दो हुआ, माओत्से तुंग ने तत्क्षण उसको गिरवा दिया--इसके पहले कि वह नंबर एक होने की चेष्टा करे।

इसलिए जितने महत्वपूर्ण व्यक्ति माओ के करीब थे, सब गिर गए; अब बिलकुल एक गैर-महत्वपूर्ण व्यक्ति माओ की जगह बैठ गया है, जिसका कोई मूल्य कभी न था।

यह आश्चर्य की बात है, लेकिन सभी राजनीतिज्ञ यही करते हैं। जितने करीब कोई आया है उतना ही खतरा है, उतनी ही तुम्हारी गर्दन दबा लेगा; किसी मौके-बे-मौके खींच लेगा। इसलिए कोई राजनीतिज्ञ अपने नीचे किसी को बड़ा नहीं होने देता--दूर रखता है। बताए रखता है कि तुम्हारी हैसीयत को खयाल रखना; जरा गड़बड़ की कि हटाए गए, कि बदले गए। राजनीतिक बदलते रहते हैं, कैबिनेट में वे हमेशा बदली करते रहते हैं--इधर से हटाया उधर; किसी को कहीं जमने नहीं देते, कि कहीं कोई जम गया तो पीछे झंझट खड़ी होगी। इसलिए जमने किसी को मत दो। जब तक कोई गैर-जमा जमा है तब तक वह तुम पर निर्भर है; जैसे ही जम गया, तुम उस पर निर्भर हो जाओगे। इस जगत में स्पृहा के रहते मित्रता कहां संभव है!

जनक कहते हैं: "यहां तो कोई स्पृहा न रही, अब क्या धन, क्या मित्र? और विषय-रूपी चोरों का अब क्या डर?"

यहां कुछ है ही नहीं जिसको तुम चुरा ले जाओगे। यहां तो जो चुराया जा सकता है, हमने जान ही लिया कि व्यर्थ है। लेकिन स्पृहा के रहते हुए लोग अगर धर्म की दुनिया में भी आते हैं तो भी उनका पुराना संसार जारी रहता है।

सुना है मैंने--
नहीं थी कबीर की चादर में कहीं कोई गांठ
खुले थे चारों छोर, फिर भी संध्या-भोर
टटोलती रही भक्तों की भीड़ कि कहीं होगा
जरूर कहीं होगा चिंतामणि-रतन
नहीं तो बाबा काहे को करते इतना जतन!
कबीर ने कहा है न:
खूब जतन कर ओढ़ी चदरिया, झीनी-झीनी बीनी
खूब जतन कर ओढ़ी चदरिया, ज्यों की त्यों धरि दीन्हीं।

तो भक्तों को लगा रहा होगा कि इतने जतन से ओढ़ रहे हैं चादर, बाबा इतना जतन कर रहे हैं--मतलब? कहीं कुछ बांध-बूंध लिया है? कोई रतन!

नहीं थी कबीर की चादर में कहीं कोई गांठ
खुले थे चारों छोर, फिर भी संध्या-भोर
टटोलती रही भक्तों की भीड़
कि होगा कहीं चिंतामणि रतन
नहीं तो बाबा काहे को करते इतना जतन!

तुम धर्म की दुनिया में भी जाते हो तो स्पृहा छोड़ कर थोड़े ही जाते हो। स्पृहा के कारण ही जाते हो। इसलिए तो मंदिर में जाते हो, पहुंच कहां पाते हो! पटकते हो सिर मूर्तियों के सामने, लेकिन भगवान कहां प्रगट हो पाता है! स्पृहा से भरे चित्त में भगवान के लिए जगह नहीं है। स्पृहा से खाली चित्त शून्य चित्त है। समाधिस्थ! वहीं प्रभु विराजमान होता है। स्पृहा की गंदगी और धुएं में तुम उसे निमंत्रण न दे सकोगे।

और एक न एक दिन तुम अपनी स्पृहा में दौड़ कर जो इकट्ठा कर लोगे, तुम्हीं पर हंसेगा। धन धनी पर हंसता है एक दिन, क्योंकि जाना पड़ता है खाली हाथ। जीवन भर भरने की कोशिश की, भरने की कोशिश में ही खाली रह गए। तुम्हारे महल तुम्हारी ही ठिठोली करेंगे। तुम्हारे पद तुम्हारा ही व्यंग्य करेंगे।

तब रोक न पाया मैं आंसू

जिसके पीछे पागल हो कर
मैं दौड़ा अपने जीवन भर
जब मृग-जल में परिवर्तित हो
मुझ पर मेरा अरमान हंसा;
जिसमें अपने प्राणों को भर
कर देना चाहा अजर-अमर
जब विस्मृति के पीछे छिपकर
मुझ पर मेरा मधु-गान हंसा;

मेरे पूजन-आराधन को
मेरे संपूर्ण समर्पण को
जब मेरी कमजोरी कह कर
मेरा पूजित पाषाण हंसा।

एक दिन तुम पाओगे: जो तुमने बसाया है वही तुम पर हंस रहा है; जो घर तुमने बसाया है वही तुम्हारा व्यंग्य कर रहा है। यह सारा संसार तुम्हारी ठिठोली करेगा। क्योंकि यहां दौड़ो, मगर पहुंच कौन पाता है!

स्पृहा झूठी दौड़ है, मृग-मरीचिका है। चेष्टा होती है, फल कुछ भी हाथ नहीं लगता है; जैसे कोई रेत से तेल निकालने की कोशिश में लगा हो। थकते हैं लोग, मरते हैं लोग। छोटे बड़े गरीब-अमीर सभी स्पृहा से भरे हैं। यह बहुत कठिन नहीं है कि तुम धन छोड़ कर गरीब हो जाओ, तुम धन छोड़ कर भिखारी हो जाओ। यह बहुत कठिन नहीं है। क्योंकि जिसके पास धन है उसको दिखाई पड़ जाता है कि धन व्यर्थ है तब वह दूसरे छोर पर चला; वह गरीब होने लगा। लेकिन फिर भी स्पृहा जारी रहती है।

मैंने सुना है, एक यहूदी कथा है। एक आदमी ने धर्मगुरु के प्रवचन के बाद खड़े हो कर कहा कि जब आपके वचन सुनता हूं तो मैं ना-कुछ हो जाता हूं। जब आया था, मेरे पास कुछ नहीं था; आज मेरे पास करोड़ों डालर हैं। फिर भी जब तुम्हारे वचन सुनता हूं तो ना-कुछ हो जाता हूं।

दूसरे आदमी ने खड़े हो कर कहा: मैं भी जब आया था इस देश में तो एक कौड़ी पास न थी; आज अरबों डालर हैं। पर मेरे मित्र ने ठीक कहा। जब मैं सुनता हूं तुम्हारे वचन, तुम्हारे अमृत बोल, तो एकदम शून्यवत हो जाता हूं, कुछ भी नहीं बचता। मैं कुछ भी नहीं हूं तुम्हारे सामने। तुम्हारा धन असली धन है।

एक तीसरे आदमी ने खड़े होकर कहा कि मेरे दोनों साथियों ने जो कहा, ठीक ही कहा है। मैं भी जब आया था तो कुछ भी न था; अब मैं पोस्ट-आफिस में पोस्टमैन हो गया हूं। लेकिन जब तुम्हारे वचन सुनता हूं, अहा! शून्य हो जाता हूं।

पहले धनपति ने क्रोध से देखा और दूसरे धनपति से कहा: "सुनो, कौन ना-कुछ होने का दावा कर रहा है?"

ना-कुछ होने में भी दावे रहते हैं! "कौन ना-कुछ होने का दावा कर रहा है? पोस्टमैन! ना-कुछ हो ही, दावा क्या कर रहे हो?"

जिन्होंने धन छोड़ा है, फिर निर्धनता में स्पृहा शुरू होती है कि कौन बड़ा त्यागी। कौन बड़ा त्यागी! कौन ज्यादा विनम्र! अगर तुम किसी विनम्र साधु को जा कर कह दो कि आपसे भी ज्यादा विनम्र एक आदमी मिल गया, तो तुम देखना उसकी आंख में, लपटें जल उठेगी! "मुझसे विनम्र! हो नहीं सकता!" वही स्पर्धा, वही दौड़, वही अहंकार! कोई फर्क नहीं पड़ता।

तुम साधुओं में जा कर थोड़ा घूमो तो तुम चकित होओगे--वही अहंकार, वही दौड़! जरा भेद नहीं है। वही अकड़। अकड़ का नाम बदल गया, अब अकड़ का नाम विनम्रता है। अकड़ का नाम बदल गया, अकड़ नहीं बदली। रस्सी जल भी जाती है तो भी एंठन नहीं जाती।

"स्पृहा मेरी नष्ट हो गई है, तब मेरे लिए कहां धन, कहां मित्र, कहां विषय-रूपी चोर हैं? कहां शास्त्र और कहां ज्ञान?"

बहुत अनूठा वचन है! जब स्पृहा ही चली गई तो अब ज्ञान की भी कोई चिंता नहीं है; नहीं तो ज्ञान में भी स्पृहा है--कौन ज्यादा जानता है! तुम ज्यादा जानते हो कि मैं ज्यादा जानता हूं?"

तुमने देखा, जब तुम बात करते हो लोगों से तो हरेक अपना ज्ञान दिखलाने की कोशिश करता है! उसी में विवाद खड़ा होता है। कोई यह मानने को राजी नहीं होता कि तुमसे कम जानता है। प्रत्येक ज्यादा जानने का दावेदार है। और कोई यह मानने को तैयार नहीं कि अज्ञानी हूं। ज्ञान अहंकार को खूब भरता है। ज्ञान भोजन बनता है अहंकार का।

लेकिन स्पृहा चली गई तो कैसा ज्ञान और कैसा शास्त्र? फिर गए कुरान, बाइबिल, वेद, गीता--सब गए; वह सब भी अहंकार की दौड़ है--बड़ी सूक्ष्म दौड़ है। एक आदमी धन इकट्ठा करता है, एक आदमी ज्ञान इकट्ठा करता है; लेकिन दोनों का इकट्ठा करने में मोह है।

तुमने देखा, स्कूलों-कालेजों में वचन लिखे हैं! मैं एक संन्यासी के आश्रम में गया तो दीवाल पर, जहां वे बैठे थे, पीछे एक वचन लिखा था कि ज्ञानी की सर्वत्र पूजा होती है! मैंने उनसे पूछा ये वचन लिखे किसलिए बैठे हो? ज्ञानी की सर्वत्र पूजा होती है? जिसको पूजा की आकांक्षा है वह तो ज्ञानी ही नहीं। और जब आकांक्षा चली गई, फिर पूजा हो या न हो, फर्क क्या पड़ता है? यह किसके लिए लिखा है? यह तो कुछ फर्क न हुआ। कुछ लोग धन इकट्ठा कर रहे हैं, तो धनी की कहीं पूजा होती है। राजा की अपने देश में पूजा होती है। ज्ञानी की सर्वत्र पूजा होती है! मतलब वही रहा। कोई धन इकट्ठा करके पूजा पाना चाहता है, लेकिन ज्ञानी कह रहा है: तुम्हें कुछ ज्यादा पूजा नहीं मिलने वाली। कोई राजा होकर पूजा इकट्ठी करना चाहता है; ज्ञानी कह रहा है: तुम भी अपने देश में ही पा लो पूजा, दूसरी जगह न मिलेगी। लेकिन ज्ञानी सर्वत्र, सर्व लोक में, जहां चला जाए वहीं पूजा होती है। लेकिन पूजा की आकांक्षा! पूजा हो, इसका भाव! तो फिर अहंकार की ही सूक्ष्म दौड़ है।

और जो ज्ञान को संग्रह करने में लग गया वह ज्ञान से वंचित रह जाता है। क्योंकि ज्ञान तुम्हारे भीतर है, बाहर से संग्रह नहीं करना है। जो बाहर से आता है, ज्ञान नहीं--उधार, कूड़ा-कर्कट, कचरा है। तुम्हारा शास्त्र तुम्हारे भीतर है, बाहर के शास्त्र मत ढोना।

खड़े हैं दिग्भ्रमित से कब से कुछ प्रश्न
दुखते हैं बेचारों के पांव
याद है इन्हें पूरब, पश्चिम, दक्षिण
भूल गए उत्तर का गांव।

प्रश्न तो तुम्हारे खड़े हैं जन्मों से, उनके पैर भी दुखने लगे खड़े-खड़े।

याद है इन्हें पूरब, पश्चिम, दक्षिण

भूल गए उत्तर का गांव।

बस एक जगह भूल गए हैं--उत्तर का गांव। उत्तर तुम्हारे भीतर है। ये पूरब जाते, पश्चिम जाते, दक्षिण जाते--भीतर कभी नहीं जाते। जहां से प्रश्न उठा है, वहीं उत्तर है, वहीं जाओ।

एक झेन फकीर बोकोजू बोल रहा था। एक आदमी बीच में खड़ा हो गया और उसने कहा कि मैं कौन हूं, इसका उत्तर दें। बोकोजू ने कहा: "रास्ता दो।" बोकोजू बड़ा शक्तिशाली आदमी था। भीड़ हट गयी, वह बीच से उतरा। वह आदमी थोड़ा डरने भी लगा कि यह उत्तर देगा कि मारेगा या क्या करेगा! और साथ में उसने अपना सोटा भी रखा हुआ था। वह उसके पास पहुंचा। उसने जा कर उसका कालर पकड़ लिया और सोटा उठा लिया और बोला कि आंख बंद कर और जहां से प्रश्न आया है वहीं उतर। और अगर न उतरा तो यह सोटा है।

तो घबराहट में उस आदमी ने आंख बंद की। शायद घबराहट में एक क्षण को उसकी विचारधारा बंद हो गयी। कभी-कभी अत्यंत कठिन घड़ियों में विचार बंद हो जाते हैं। अगर अचानक कोई तुम्हारी छाती पर छुरा रख दे, विचार बंद हो जाते हैं। क्योंकि विचार के लिए सुविधा चाहिए। अब सुविधा कहां! ऐसी असुविधा में कहीं विचार होते हैं! कभी तुम कार चला रहे हो, अचानक दुर्घटना होने का मौका आने लगे, लगे कि गये, सामने से कार आ रही है, अब बचना मुश्किल है--विचार बंद हो जाते हैं। ये विचार तो सुख-सुविधा की बातें हैं। ऐसे खतरे में जहां मौत सामने खड़ी हो, कहां का विचार!

वह सोटा लिए सामने खड़ा था तगड़ा संन्यासी, वह मार ही देगा! वह बेचारा खड़ा हो गया। एक क्षण को विचार बंद हो गये। विचार क्या बंद हुए, एक आभा उसके चेहरे पर आ गयी, एक मस्ती छा गई! वह तो डोलने लगा। उस फकीर ने कहा: "अब खोल आंख और बोल!" उसने कहा कि आश्चर्य, तुमने मुझे वहां पहुंचा दिया जहां मैं कभी अपने भीतर न गया था! पूछता फिरता था। मैं कौन हूं? मैं कौन हूं? और हैरानी कि दूसरों से पूछता था! मैं कौन हूं, इसका उत्तर तो मेरे भीतर ही हो सकता है। तुमने बड़ी कृपा की कि सोटा उठा लिया।

झेन फकीरों के संबंध में कहा जाता है कि कभी-कभी तो वे साधक को उठा कर भी फेंक देते हैं, छाती पर भी चढ़ जाते हैं।

इसी बोकोजू के संबंध में कथा है कि जब भी वह कुछ बोलता था तो वह एक अंगुली ऊपर उठा लेता था--उस एक अद्वय को बताने के लिए। तो इसकी मजाक भी चलती थी उसके शिष्यों में। उसके शिष्यों का कोई बड़ा समूह था, कोई पांच सौ उसके भिक्षु थे, बड़ा आश्रम था। एक छोटा बच्चा, जो उसके लिए पानी इत्यादि लाने की सेवा करता था, वह भी सीख गया था उसकी भाव-मुद्रा। कोई कुछ कहता तो वह बच्चा भी एक अंगुली उठा कर जवाब देता। यह मजाक ही थी। बच्चा पीछे खड़ा था और बोकोजू समझा रहा था। बोकोजू ने अंगुली उठाई, उस बच्चे ने भी पीछे मजाक में अंगुली उठाई। बोकोजू लौटा पीछे, बच्चे की अंगुली उठा कर छुरे से उसने काट दी।

यह लगेगा कि बड़ा क्रूर कृत्य है। लेकिन एक सदमा लगा। अंगुली का काटा जाना, तीर की तरह चुभ जाना उस पीड़ा का--और एक क्षण को बच्चा किंकर्तव्यविमूढ़ हो गया! सोचा भी न था यह। अनसोचा हुआ। लेकिन उसी क्षण घटना घट गयी। वह बड़ी छोटी उम्र में अपने अंतस में प्रवेश कर गया, समाधिस्थ हो गया।

तो ऐसे सदगुरुओं की घटनाओं को ऊपर से देखा नहीं जा सकता। अब यह अंगुली काट देना साधु-संत के लिए उचित नहीं मालूम पड़ता। लेकिन कौन तय करे! जो घटा, अगर उसको हम देखें तो बड़ी करुणा थी बोकोजू की कि काट दी अंगुली। शायद यह मौका फिर न आता, शायद यह बच्चा बिना जाने मर जाता। यह बच्चा बड़े ज्ञान का उपलब्ध हुआ। यह अपने समय में खुद एक बड़ा सदगुरु हुआ। और वह सदा अपनी टूटी अंगुली उठा कर कहता था फिर कि मेरे गुरु की कृपा, अनुकंपा! एक चोट में विचार बंद हो गये! झटके में!

"जब मेरी स्पृहा नष्ट हो गयी, तब मेरे लिए कहां धन, कहां मित्र, कहां विषय-रूपी चोर, कहां शास्त्र, कहां ज्ञान?"

सब तब भीतर है, धन भी भीतर है, शास्त्र भी भीतर है, ज्ञान भी भीतर है। तुम जब तक बाहर से कचरा बटोरते रहोगे, सूचनाएं इकट्ठी करते रहोगे, अज्ञानी ही रहोगे। शास्त्र तुम्हें जगा न पाएगा। तुम ढोते रहो शास्त्र का बोझ, इससे तुम चमकोगे न; इससे तुम्हारे भीतर का दीया न जलेगा। शायद इसी के कारण दीया नहीं जल रहा है।

मैं बहुत लोगों के भीतर देखता हूं, उनके दीये की ज्योति किसी की वेद में दबी है, किसी की कुरान में दबी है, किसी की बाइबिल में दबी है और मर रही है। और वह सम्हाले हुए है अपने वेद- कुरान-बाइबिल को, पकड़े हुए है छाती से कि कहीं छूट न जाए, कहीं ज्ञान न छूट जाए। कोई हिंदू होने के कारण मर रहा है, कोई मुसलमान होने के कारण, कोई जैन होने के कारण मर रहा है। ज्ञान न हिंदू है न मुसलमान है न जैन है। जो ज्ञान हिंदू, मुसलमान, जैन है--ज्ञान ही नहीं है। ज्ञान तो तुम्हारे स्वभाव का दर्शन है। वह तुम्हारे भीतर छिपा है। कहीं और खोजने की जरूरत नहीं है।

उतर कर गहरे में बन गया तट
तल ऊपर उद्वेलित लहरें, नीचे शांत जल
छूट गये शंख-सीप, विद्रुम दीप
हाथ लगे मुक्ता फल

जैसे-जैसे भीतर गहरे जाओगे, हाथ लगेंगे मुक्ता-फल।

आकाश का मौन ही ध्वनि है।
ध्वनि की गति ही शब्द है
शब्द की रति ही स्वर है
स्वर की यति ही भास्वर है
भास्वर की प्रतीति ही ईश्वर है।

आकाश का मौन। मौन को पकड़ो। जैसा आकाश का मौन बाहर है वैसा ही आकाश का मौन भीतर है। जैसा एक आकाश बाहर है वैसा भीतर है।

आकाश का मौन ही ध्वनि है।
उसी को हमने ओंकार कहा, नाद कहा, अनाहत नाद कहा।
आकाश का मौन ही ध्वनि है।
सुनो मौन को!
ध्वनि की गति ही शब्द है
शब्द की रति ही स्वर है
स्वर की यति ही भास्वर है
भास्वर की प्रतीति ही ईश्वर है।

मौन ही सघन होते-होते ईश्वर बन जाता है। शास्त्रों में तो शब्द हैं। मौन तो स्वयं में है। अगर शास्त्र ही पढ़ो तो पंक्तियों के बीच-बीच में पढ़ना। अगर शास्त्र ही पढ़ो तो शब्दों के बीच-बीच खाली जगह में पढ़ना। अगर शास्त्र ही पढ़ना हो तो सूफियों के पास एक अच्छी किताब है वह खाली किताब है, उसमें कुछ लिखा हुआ नहीं है--उसे पढ़ना। और उसे खोजने की कोई जरूरत नहीं, खाली किताब कहीं से भी उठा लेना और रख लेना, उसको पढ़ना। खाली पन्ने को देखते-देखते शायद तुम भी खाली पन्ने हो जाओ। उस खालीपन में ही ईश्वर का अनुभव है।

"साक्षी-पुरुष, परमात्मा, ईश्वर, आशा-मुक्ति और बंध-मुक्ति के जानने पर मुझे मुक्ति के लिए चिंता नहीं है।"

विज्ञाते साक्षिपुरुषे परमात्मनि चेश्वरे।
नैराश्ये बंधमोक्षे च न चिंता मुक्तये मम।।

कहते हैं: साक्षी-पुरुष को जान लिया तो परमात्मा जान लिया, ईश्वर जान लिया। साक्षी-पुरुष को जान लिया तो आशा से मुक्ति हो गयी। बंध-मुक्ति को जान लिया साक्षी-पुरुष को पहचानते ही, कि बंधन भी भ्रांति थी और मुक्ति भी भ्रांति है। जब बंधन ही भ्रांति थी तो मुक्ति तो भ्रांति होगी ही। जब हम कभी बंधे ही न थे तो मुक्ति का क्या अर्थ? रात तुमने सपना देखा कि जेल में पड़े हो, हाथों में हथकड़ियां हैं, पैरों में बेड़ियां हैं। सुबह उठ कर जागे, पाया कि सपना देखा था। तो तुम यह थोड़े ही कहोगे कि अब जेल से छुटकारा हो गया कि हथकड़ियों-बेड?ियों से छुटकारा हो गया। वे तो कभी थीं ही नहीं।

"बंध-मुक्ति के जानने पर मुझे मुक्ति के लिए भी चिंता नहीं।"

अब चिंता क्या!

ध्यान रखना, पहले लोग संसार की चिंता में उलझे रहते हैं, फिर किसी तरह संसार की चिंता से छूटे तो दूसरी चिंता शुरू होती है, मगर चिंता नहीं छूटती। अब मोक्ष की चिंता पकड़ लेती है कि अब मुक्त कैसे हों! मोक्ष कैसे मिले! और चिंता के कारण ही मुक्ति नहीं हो पाती है। चिंतित चित्त, उद्वेलित चित्त, कंपता हुआ चित्त प्रभु का दर्पण नहीं बन पाता। सब चिंता जाए...।

इसलिए मैं तुमसे कहता हूं कि मोक्ष की भी फिक्र छोड़ो। मोक्ष अपनी फिक्र खुद कर लेगा। तुम परमात्मा को भी मत खोजो। परमात्मा तुम्हें खोज लेगा। तुम कृपा करके बैठे रहो। तुम अब कुछ भी मत खोजो। क्योंकि सब खोज में आशा है। सब आशा में निराशा छिपी है। सब खोज में सफलता का अहंकार है और विफलता की पीड़ा है। सब खोज में भविष्य आ जाता है, वर्तमान से संबंध टूट जाता है और जो है, अभी है, यहां है, वर्तमान में है। तुम जैसे हो ऐसे ही...जनक ने कहा: तुम जैसे हो ऐसे ही बैठे रहो, शांत हो रहो। देखो जो हो रहा है। साक्षी हो जाओ।

विज्ञाते साक्षिपुरुषे परमात्मनि चेश्वरे।

जान लोगे ईश्वर को भी, परमात्मा को भी, क्योंकि तुम्हारा जो साक्षी-भाव है वह ईश्वर का अंश है। तुम्हारे भीतर जो साक्षी है वह ईश्वर की ही किरण है।

लेकिन लोग एक बीमारी से दूसरी बीमारी पर चले जाते हैं। बीमारी से ऐसा मोह है कि बीमारी छूटती ही नहीं।

शूल तो जैसे विरह वैसे मिलन में
थी मुझे घेरे बनी जो कल निराशा
आज आशंका बनी, कैसा तमाशा!
एक से हैं एक बढ़ कर पर चुभन में
शूल तो जैसे विरह वैसे मिलन में
स्वप्न में उलझा हुआ रहता सदा मन
एक ही उसका मुझे मालूम कारण
विश्व सपना सच नहीं करता किसी का
प्यार से प्रिय, जी नहीं भरता किसी का।

तो पहले सांसारिक चीजों से प्यार चलता है, फिर किसी तरह वहां से ऊबे, हटे, तो परलोक से प्यार बन जाता है।

प्यार से प्रिय, जी नहीं भरता किसी का
शूल तो जैसे विरह वैसे मिलन में।

पहले तुम किसी को पाना चाहते, तब परेशानी; फिर पा लेते, तब परेशानी।

मैंने सुना है कि एक आदमी पागलखाने गया था। एक कोठरी में एक आदमी बंद था, अपना सिर पीट रहा था और अपने हाथ में उसने एक तस्वीर ले रखी थी। तो पूछा: इस आदमी को क्या हुआ? तो सुपरिन्टेंडेंट ने कहा कि यह आदमी पागल हो गया है। हाथ में तस्वीर देखते हो, इस स्त्री को पाना चाहता था, नहीं पा सका--उसी की पीड़ा में पागल हो गया है।

सामने ही दूसरे कटघरे में बंद एक दूसरा पागल था। वह सीखचों से सिर तोड़ रहा था, अपने बाल नोंच रहा था। उसने पूछा: और इसे क्या हुआ? उस सुपरिन्टेंडेंट ने कहा कि अब यह मत पूछो। इसने उस स्त्री से शादी कर ली, इसके कारण पागल हो गया है।

एक उस स्त्री को नहीं पा सका, इसलिए पागल हो गया; एक उसको पा गया, इसलिए पागल हो गया।

मुल्ला नसरुद्दीन एक स्त्री के प्रेम में था। उससे बोला: "रानी, मुझसे शादी करोगी?" उसे आशा थी कि वह इंकार करेगी। अनुभवी आदमी है, लेकिन धोखा खा गया। उसने तत्क्षण हां भर दी। फिर एकदम उदासी छा गई और सन्नाटा हो गया। थोड़ी देर स्त्री चुप रही। उसने कहा कि अब कुछ कहते नहीं? मुल्ला ने कहा: अब कहने को कुछ बचा ही नहीं। अब तो जो है, भोगने को बचा है। अब तो भूल हो गई।

शूल तो जैसे विरह वैसे मिलन में!

गरीब रो रहा है, क्योंकि धन नहीं है। अमीर रो रहा है क्योंकि धन है अब क्या करे! जो प्रसिद्ध नहीं है, वह रो रहा है; जो प्रसिद्ध है, वह रो रहा है।

कल इंग्लैंड के एक फिल्म-अभिनेता ने संन्यास लिया--प्रसिद्ध फिल्म अभिनेता था। पीड़ा क्या है? एक तो पीड़ा होती है, तुम राह से गुजरते हो, कोई तुम्हें पहचानता भी नहीं, कोई नमस्कार भी नहीं करता, मन में बड़ी पीड़ा होती है कि ना-कुछ हो तुम! न अखबार में फोटो छपते, न रेडियो पर खबर आती, न टेलिविजन पर चेहरा तुम्हारा दिखाई पड़ता। कोई तुम्हें जानता भी नहीं, तुम हुए न हुए बराबर हो। एक दिन मर जाओगे तो किसी को पता भी न चलेगा, शायद कोई रोएगा भी नहीं, शायद कोई स्मृति भी न छूट जाएगी। एक दिन तुम मर जाओगे तो ऐसे मर जाओगे जैसे कभी थे ही नहीं, कोई फर्क ही न पड़ेगा। इससे बड़ी पीड़ा होती है। आदमी प्रसिद्ध होना चाहता है कि दुनिया जाने कि मैं हूं। दुनिया जाने कि मैं कौन हूं! फिर एक दिन आदमी प्रसिद्ध हो जाता है, तब फिर मुसीबत। अब कहीं निकलो तो मुसीबत। जहां जाओ वहां भीड़ घेर लेती है। अब आदमी सोचता है कि यह तो बड़ा मुश्किल हो गया, कहीं एकांत मिल जाए, कहीं ऐसी जगह चला जाऊं जहां कोई पहचानता न हो; जहां मैं स्वयं हो सकूं! हर जगह नजर लगी है लोगों की। गुजरो तो नजर, बैठो तो नजर। जहां खड़े हो जाओ, वहां नजर।

फिल्म-अभिनेता की तकलीफ तुम समझते हो! जहां जाए वहीं धक्के-मुक्के! घबराहट होती है कि यह क्या हुआ! यह दुनिया ने तो जान लिया, मगर यह जानना तो मुसीबत बन गई, फांसी लग गई!

अप्रसिद्ध आदमी प्रसिद्ध होना चाहता है। प्रसिद्ध आदमी चाहता है कि किसी तरह लोग भूल जाएं, मुझे मुझ पर छोड़ दें, अकेला छोड़ दें।

इंग्लैंड से कोई यहां आए, प्रसिद्ध हो, सब छोड़कर आए, तो समझो, क्या तकलीफ है? तकलीफ यही है कि आदमी हारे तो मुसीबत, जीते तो मुसीबत। इधर गिरो तो कुआं, उधर गिरो तो खाई। और बीच में सम्हलना आता नहीं, क्योंकि बीच में सम्हलने के लिए बड़ी जागरूकता चाहिए। भोग में पड़ो तो झंझट, त्याग में पड़ो तो झंझट।

इधर मैं देखता हूं, जो भोगी हैं वे परेशान हो रहे हैं, रो रहे हैं। किसी को ज्यादा खाने का पागलपन है, तो वह परेशान हो रहा है, कि शरीर थकता जाता है, कि शरीर बढ़ता जाता है, पेट में दर्द रहता है, यह तकलीफ है, वह तकलीफ है!

तुम जरा जैन मुनि के पास जा कर देखो। उधर तकलीफ है। वह उपवास से परेशान है। बीच में तो रुकना जैसे आता ही नहीं। सम्यक भोजन तो जैसे किसी को आता ही नहीं; या तो ज्यादा खाओगे या बिलकुल न खाओगे। या तो सांस भीतर लोगे या बाहर ही रोक रखोगे। यह कोई बात हुई! फिर मुसीबत पैदा होती है।

जनक का सूत्र सम्यकत्व का है, संतुलन का है।

साक्षी-पुरुष का अर्थ होता है: जीवन के इन द्वंद्वों के बीच खड़े हो जाना; न इधर न उधर, कोई चुनाव नहीं; न त्याग न भोग; जो आ जाए, सहज कर लेना; जो हो जाए उसे हो जाने देना; जो घटे--प्रमोद से, प्रफुल्लता से, स्वांतः सुखाय उसे कर लेना और भूल जाना।

"जो भीतर विकल्प से शून्य है और बाहर भ्रांत हुए पुरुष की भांति है, ऐसे स्वच्छंदचारी की भिन्न-भिन्न दशाओं को वैसे ही दशा वाले पुरुष जानते हैं।"

यह सूत्र अति कठिन है। समझने की कोशिश करो।

"जो भीतर विकल्प से शून्य है...।"

जिसके भीतर अब कोई विचार न रहे, कोई चुनाव न रहा--ऐसा हो वैसा हो--कोई निर्णय न रहा, जो भीतर सिर्फ शून्य मात्र है, देखता है, साक्षी है।

"और बाहर भ्रांत हुए पुरुष की भांति है...।"

ऐसा व्यक्ति भी बाहर तो भ्रांत पुरुष जैसा ही लगेगा, क्योंकि उसे भी भूख लगेगी तो वह भोजन करेगा। वह भी शरीर थकेगा तो लेटेगा और सो जाएगा। बाहर से तो तुममें और उसमें क्या फर्क होगा? कोई फर्क नहीं होगा।

अगर तुम बुद्ध के पास जा कर बाहर से जांच-पड़ताल करो तो क्या फर्क होगा? तुम्हारे ही जैसा भ्रांत! धूप पड़ेगी तो बुद्ध भी तो उठ कर छाया में बैठेंगे न, जैसे तुम बैठते हो। कांटा गड़ेगा तो बुद्ध भी तो पैर से निकालेंगे न, जैसा तुम निकालते हो। प्यास लगेगी तो बुद्ध भी तो पानी मांगेंगे न, जैसे तुम मांगते हो। भूख लगती है तो भिक्षा को मांगने जाते हैं। रात हो जाती है तो सोते हैं। अगर तुमने बाहर से ही जांचा तो बुद्ध में और तुम में क्या फर्क लगेगा? कोई फर्क न लगेगा। तुम जैसे भ्रांत, वैसे ही भ्रांत बुद्ध भी मालूम पड?गे।

जनक कहते हैं: "जो भीतर विकल्प से शून्य है और बाहर भ्रांत हुए पुरुष की भांति है, ऐसे स्वच्छंदचारी की भिन्न-भिन्न दशाओं को वैसी ही दशा वाले पुरुष जानते हैं।"

अगर तुम्हें बुद्ध को जानना हो तो बाहर से जानने का कोई उपाय नहीं है, जब तक वैसी ही दशा तुम्हारी न हो जाए; जब तक तुम भी बुद्धत्व को उपलब्ध न हो जाओ और भीतर से न देखने लगो। बाहर से तो सब तुम्हारे जैसा है। वे भी हड्डी-मांस-मज्जा के बने हैं। शरीर की जो जरूरतें तुम्हारी हैं, उनकी भी हैं। देह जीर्ण होगी, शीर्ण होगी, बुढ़ापा आएगा, मृत्यु भी होगी।

झूठी बातों में मत पड़ना। ऐसा मत सोचना कि बुद्ध तुमसे भिन्न हैं। दावा करते हैं लोग। बुद्धों ने दावा नहीं किया है, शिष्यों ने दावा किया है। क्योंकि शिष्य सिद्ध करना चाहते हैं कि बुद्ध तुमसे भिन्न हैं; तुम कंकड़-पत्थर, वे हीरे-मोती! पर हीरे-मोती भी कंकड़-पत्थर हैं। भेद तो जरूर है, लेकिन भेद भीतर का है, बाहर का नहीं है। बाहर तो सब वैसा ही है जैसा तुम्हारा है। और जो बाहर से भेद दिखाने की कोशिश करे, वह तुम जैसे ही धोखे में पड़ा है। बाहर से भेद दिखाने की बात ही नहीं है। और भीतर का भेद तुम तभी देख पाओगे जब तुम्हारे भी भीतर थोड़ा प्रकाश हो जाएगा।

ये वचन सोचो--

अंतर्विकल्पशून्यस्य बहिः स्वच्छंदचारिणः।
भ्रांतस्येव दशास्तास्तास्तादृशा एव जानते।।

जिसकी वैसी ही दशा हो जाएगी, वही जानेगा। कृष्ण हो जाओ तो गीता समझ में आए; बुद्ध हो जाओ तो धम्मपद; मुहम्मद की तरह गुनगुनाओ तो कुरान समझ में आए। अन्यथा तुम कंठस्थ कर लो कुरान, कुछ भी न होगा। जो भीतर की चैतन्य की दशा है, वह तो तुम्हारे ही अनुभव से तुम्हें समझ में आनी शुरू होगी।

जिसने प्रेम किया है वह प्रेमी को देख कर समझ पाएगा कि भीतर क्या हो रहा है। जिसने कभी प्रेम नहीं किया, वह मजनू को खाक समझेगा! मजनू को पागल समझेगा। पत्थर फेंकेगा मजनू पर। कहेगा, तुम्हारा दिमाग खराब है। लेकिन जिसने प्रेम किया है वह मजनू को समझेगा।

जिसने कभी भक्ति का रस लिया है, वह मीरा को समझेगा। अब जिसने भक्ति का कभी रस नहीं लिया, उससे मीरा के बाबत पूछना ही मत। फ्रायड से मत पूछना मीरा के बाबत, अन्यथा तुम्हारी फजीहत होगी, मीरा तक की फजीहत हो जाएगी। फ्रायड तो कहता है कि यह मीरा...। ठीक-ठीक मीरा के लिए फ्रायड ने नहीं कहा, क्योंकि फ्रायड को मीरा का कोई पता नहीं; लेकिन मीरा की जो पर्यायवाची स्त्री-संत पश्चिम में हुई, थैरेसा, उसके बाबत फ्रायड ने जो कहा वही मीरा के बाबत कहता। और थैरेसा कहती है: "मैं तो तुम्हारी वधू हूं, क्राइस्ट!" और फ्रायड कहता है, इसमें तो सेक्सुअलिटी है, कामुकता है; यह बात गड़बड़ है। वधू! "तुमसे मेरा विवाह हुआ! तुम मेरे पति हो, मैं तुम्हारी पत्नी!"

एक यहूदी की लड़की ईसाई नन हो गयी, साध्वी हो गयी। यहूदी बड़ा नाराज था। एक तो ईसाई हो जाना, फिर साध्वी हो जाना! वह बहुत नाराज था। उसने उसका फिर चेहरा नहीं देखा। तीन साल बाद अचानक साध्वियों के आश्रम से फोन आया कि "तुम्हारी लड़की की मृत्यु हो गयी है। तो आप क्या चाहते हैं--किस तरह दफनाएं, क्या करें?" तो उसने क्या कहा? उसने कहा: "मैंने सुना है कि ईसाई साध्वियां कहती हैं कि वे तो क्राइस्ट की वधुएं हैं! क्या सच है?" स्वभावतः, आश्रम की प्रधान ने कहा: "यह सच है। साध्वियां क्राइस्ट की वधुएं हैं, उनकी पत्नियां हैं। हमने सब कुछ उन्हीं पर छोड़ दिया है; वे ही हमारे एकमात्र पति हैं।" तो उस यहूदी ने कहा: "फिर ऐसा करो, मेरे दामाद से पूछ लो। क्राइस्ट से पूछ लो कि क्या करना है। मुझसे क्यों पूछती हो? मेरे दामाद से पूछ लो।"

फ्रायड तो कहता है, यह कामुकता है--दबी हुई कामुकता! फ्रायड तो एक ही बात समझता है: दबी हुई कामुकता। उसने प्रेम का और कोई बड़ा रूप तो जाना नहीं। उसने तो रुग्ण बीमार लोगों के मन की चिकित्सा की, बीमार मन को पहचाना। वही उसकी भाषा, वही उसकी समझ। यह तो अच्छा हुआ कि कबीर के वचन उसके हाथ नहीं पड़े कि "मैं तो राम की दुलहनियां!"! नहीं तो वह कहता कि ये होमोसेक्सुअल हैं। स्त्री हो और कहे कि मैं दुलहन, चलो, क्षमा करो; यह कबीर को क्या हुआ कि मैं राम की दुलहनियां! हद हो गयी! फ्रायड तो निश्चित कहता कि यह मामला गड़बड़ है। यह तो मीरा से भी ज्यादा गड़बड़ हालत है। पुरुष हो कर और दुलहनियां! तुम्हारा दिमाग खराब है?

लेकिन कबीर को समझने का यह रास्ता नहीं है। एक ऐसा भाव है, एक ऐसी जगह है, जहां परमात्मा ही एकमात्र पुरुष रह जाता है और भक्त स्त्रैण हो जाता है।

स्त्री और पुरुष शरीर के तल पर एक बात है, चैतन्य के तल पर एक दूसरी बात है। तो कबीर ठीक कहते हैं: "मैं तो राम की दुलहनियां!" वहां चेतना के तल पर परमात्मा देने वाला है और हम लेने वाले हैं; जैसा पुरुष देने वाला है शरीर के तल पर और स्त्री लेने वाली है; जैसे स्त्री ग्राहक है, गर्भ है। पुरुष देता है, स्त्री अंगीकार कर लेती है, स्वीकार कर लेती है। ऐसे ही उस तल पर परमात्मा देता है; भक्त स्वीकार करता है, अंगीकार करता है; भक्त तो गर्भ-रूप हो जाता है। परमात्मा उसके गर्भ में प्रवेश कर जाता है।

मगर इस बात को तो तभी समझोगे जब यह बात तुम्हारे जीवन में कभी घटी हो; कहीं किसी क्षण में तुम्हारे अंधकार में परमात्मा की किरण उतरी हो। तब तुम जानोगे "मैं राम की दुलहनियां" का क्या अर्थ है? ऐसा हुआ न हो तो तुम तो वही अर्थ निकालोगे जो तुम निकाल सकते हो। तुम्हारा अर्थ तुम्हारा अर्थ है। तुम्हारा अर्थ तुमसे बड़ा नहीं हो सकता। होगा भी कैसे? अपेक्षा भी नहीं की जा सकती।

भ्रांतस्येव दशास्तास्तादृशा एव जानते।

जो जैसा है, जिसकी जैसी दशा है, उतना ही जानता है।

तुम भ्रांत हो, तुम जानते हो कि शरीर भोजन मांगता है। तुम जानते हो शरीर कामवासना के लिए आतुर होता है, शरीर प्यासा होता है। रात सो गये, सुबह उठे, फिर दौड़े। तुम बुद्ध को भी ऐसा ही देखते हो। इतना ही तुम्हारा जानना है। तुम्हारे भीतर कोई जागा नहीं अभी, दीया जला नहीं। तुम्हारे भीतर तो अंधेरा है; तुम कैसे मान लो कि बुद्ध कहते हैं, मेरे भीतर दीया जला है! कबीर तो कहते हैं: मेरे भीतर हजार-हजार सूरज उतर आए हैं। तुम कैसे मान लो!

तुम तो आंख बंद करते हो तो अंधेरा ही अंधेरा है, आंख खुली रहे तो थोड़ी रोशनी मालूम पड़ती है। तुम तो बाहर की रोशनी से परिचित हो; भीतर की रोशनी तो अभी दिखाई पड़ी नहीं; भीतर की आंख तो अभी खुली नहीं; अंतस-चक्षु तो अभी अंधे हैं। वहां तो अंधेरा है, घनघोर अंधेरा है। तुम कैसे मानो कि हजार-हजार सूरज जलते हैं! भीतर तो तुम जाते हो तो विचार, वासना, इन्हीं का ऊहापोह चलता है। विचार भाग रहे हैं, भीड़ चल रही है।

अंग्रेज विचारक डेविड ह्यूम ने कहा है: जब भी मैं भीतर जाता हूं तो सिवाय विचारों के कुछ भी नहीं पाता। और ये सब ज्ञानी कहते हैं कि भीतर आत्मा मिलेगी। सिवाय विचार के कुछ नहीं मिलता।

अब इसको कौन समझाये कि "किसको विचार मिलते हैं?" जिसको विचार मिलते हैं वह तो विचार नहीं है। यह कहता है, जब मैं भीतर जाता हूं तो सिवाय विचार के कुछ भी नहीं मिलता। तो एक बात तो पक्की है कि तुम विचार से अलग हो, तुम भिन्न हो, तुम देखते हो कि विचार चल रहे हैं! लेकिन ह्यूम को किसी ने मालूम होता है, कहा नहीं। वह लिख गया है कि साक्रेटीज कहें कि उपनिषद कहें कि भीतर आत्मा है, मैंने तो बहुत प्रयोग करके देखा, सिवाय विचारों के वहां कुछ भी नहीं। मगर किसने देखा? यह किसने जाना कि सिर्फ विचार ही विचार हैं।

तुम कमरे के भीतर गये और लौट कर आ कर कहने लगे कि मैं तो नहीं मिलता कमरे में, फर्नीचर भरा है। लेकिन तुम कमरे के भीतर गए तो एक बात तो पक्की है कि तुम फर्नीचर नहीं हो। तुमने भीतर जा कर फर्नीचर भरा देखा, एक बात तो पक्की है कि तुम देखने वाले हो। कुर्सी तो नहीं देखती और कुर्सियों को। दीवालें तो नहीं देखतीं दीवालों को। तुम द्रष्टा हो। जो तुम्हारी दशा होगी उतना ही तुम्हारा अनुभव होगा।

"जो भीतर विकल्प से शून्य है और बाहर भ्रांत हुए पुरुष की भांति मालूम होता है, ऐसे स्वच्छंदचारी की भिन्न-भिन्न दशाओं को वैसी ही दशा वाले पुरुष जानते हैं।"

यह शब्द "स्वच्छंदचारी" समझ लेना। यह बड़ा अनूठा शब्द है। स्वच्छंद का अर्थ होता है: जो अपने स्वभाव के छंद को उपलब्ध हो गया। इसका तुमने जो अर्थ सुना है वह ठीक अर्थ नहीं है। तुम तो समझते हो कि स्वच्छंद का मतलब होता है कि जिसने सब नियम इत्यादि तोड़ दिये, मर्यादाहीन, भ्रष्ट! लेकिन स्वच्छंद शब्द को तो सोचो। इसका अर्थ होता है: स्वयं के छंद को उपलब्ध; जो एक ही छंद जानता है--स्वभाव का; जो अपने स्वभाव के अनुकूल चलता है। "सहज" अर्थ होता है स्वच्छंद का। "स्व-स्फूर्त" अर्थ होता है स्वच्छंद का।

स्वच्छंदता स्वतंत्रता से भी ऊपर है। लोग तो अक्सर समझते हैं कि स्वतंत्रता ऊंची बात है, स्वच्छंदता नीची बात है, स्वच्छंदता तो विकृति है। लेकिन स्वच्छंदता बड़ी ऊंची बात है।

तीन तरह की स्थितियां हैं। परतंत्र...परतंत्र का अर्थ होता है: जो दूसरे के हिसाब से चलता है; जिसको दूसरे चलाते हैं; पर+तंत्र; जिसका तंत्र दूसरे में है। तुम उसे कहो उठो, तो उठता है; तुम कहो बैठो तो बैठता है। स्वतंत्र का अर्थ होता है: जिसका तंत्र स्वयं के पास है; जो उठना चाहता है तो योजना करके उठता है; बैठना चाहता है तो योजना करके बैठता है; जिसकी अपनी जीवन-पद्धति है; जिसका अपना एक जीवन-अनुशासन है।

स्वच्छंद का अर्थ होता है: न तो तुम्हारी मान कर उठता है, न अपनी मान कर उठता है; परमात्मा के उठाए उठता है, परमात्मा के बैठाए बैठता है; न तो तुम्हारी फिक्र करता है, न अपनी फिक्र करता है; न तो

बाहर देखता है कि कोई मुझे चलाए, न भीतर से इंतजाम करता चलाने का; इंतजाम ही नहीं करता, योजना ही नहीं बनाता--सहज, जो हो जाए, जैसा हो जाए...।

तो जनक कहते हैं: जो हो जाता है वैसा कर लेते हैं; जो परमात्मा करवाता है वैसा कर लेते हैं।

स्वच्छंद का अर्थ होता है: जो स्वभाव के साथ इतना लीन हो गया कि अब योजना की कोई जरूरत नहीं पड़ती; प्रतिपल, जो स्थिति होती है उसके उत्तर में जो निकल आता है निकल आता है, नहीं निकलता तो नहीं निकलता; न पीछे देख कर पछताता है और न आगे देख कर योजना बनाता है। वर्तमान के क्षण में समग्रीभूत भाव से जो जीता है, वही स्वच्छंद है।

कैसे समझोगे तुम स्वच्छंदचारी को? जब तक तुम्हारे भीतर का स्वच्छंद, तुम्हारे भीतर का गीत तुम गुनगुनाने न लगो, जब तक तुम्हारी समाधि के फूल न लगें, तब तक असंभव है।

कथ्य का प्रेय अकथ
पंथ का ध्येय अपथ
कहने की सारी चेष्टा उसके लिए है जो कहा नहीं जा सकता।
कथ्य का प्रेय अकथ
उल्टा लगता है; लेकिन कहने की सारी चेष्टा उसी के लिए है जिसे कहने का कोई उपाय नहीं है।
पंथ का ध्येय अपथ

और सारे पंथ इसीलिए हैं कि एक दिन ऐसी घड़ी आ जाए कि कोई पंथ न रह जाए। अपथ! अपथचारी स्वच्छंद है। फिर कोई मार्ग नहीं है, फिर कोई पथ नहीं। पाथलेस पाथ!

सभी मार्ग इसीलिए आदमी स्वीकार करता है कि किसी दिन मार्ग-मुक्त हो जाए।

वर्ष नव, हर्ष नव, जीवन-उत्कर्ष नव
नव उमंग, नव तरंग, जीवन का नव प्रसंग
नवल चाल, नवल राह, जीवन का नव प्रवाह
गीत नवल, प्रीत नवल, जीवन की रीति नवल
जीवन की नीति नवल, जीवन की जीत नवल!

तब फिर सब नया है प्रतिपल। जो स्वच्छंदता से जीता है उसके लिए कुछ भी कभी पुराना नहीं। क्योंकि अतीत तो गया, भविष्य आया नहीं--बस यही वर्तमान का क्षण है! इस क्षण में जो होता है, होता है; जो नहीं होता, नहीं होता। नहीं किए के लिए पछतावा नहीं है; जो हो गया, उसकी कोई स्पर्धा, स्पृहा, उसकी कोई आकांक्षा नहीं। दर्पण की भांति साक्षी बना जाग्रत पुरुष देखता रहता है; कर्ता नहीं बनता है। कर्म का प्रवाह आता-जाता; जैसे दर्पण पर प्रतिबिंब बनते हैं।

गंदे से गंदा आदमी भी दर्पण को गंदा थोड़े ही कर पाता है! तुम यह थोड़े ही कहोगे कि गंदा आदमी, देखो शूद्र सामने से निकल गया--तब दर्पण गंदा हो गया, क्योंकि शूद्र की छाया पड़ गई दर्पण में! दर्पण तो स्वच्छ ही रहता है। प्रतिबिंबों से कोई दर्पण गंदे नहीं होते।

साक्षी सदा स्वच्छ है। ऐसी अवस्था को हम परमहंस अवस्था कहते रहे हैं। जैसे हंस धवल, स्वच्छ, मानसरोवर में तिरता--ऐसे मन के सागर में साक्षी परमहंस हो जाता है।

अमल धवल गिरि के शिखरों पर
बादल को घिरते देखा है!
छोटे छोटे मोती जैसे
अतिशय शीतल वारि-कणों को
मानसरोवर के उन स्वर्णिम
कमलों पर गिरते देखा है!
तुंग हिमाचल के कंधों पर

छोटी-बड़ी कई झीलों के
श्यामल शीतल अमल सलिल में
समतल देशों से आ-आ कर
पावस की उमस से आकुल
तिक्त-मधुर विषतंतु खोजते
हंसों को तिरते देखा है!

जैसे दूर से दूर देशों से उड़ा हुआ हंस आए, मानसरोवर पहुंचे, तिरने लगे मानसरोवर पर, स्वच्छ धवल--ऐसी ही साक्षी की दशा है।

शरीर--घाट! मन--सरोवर! और वह साक्षी--हंस, परमहंस!

अमल धवल गिरि के शिखरों पर
बादल को घिरते देखा है!
छोटे छोटे मोती जैसे
अतिशय शीतल वारि-कणों को
मानसरोवर के उन स्वर्णिम
कमलों पर गिरते देखा है!
तुंग हिमाचल के कंधों पर
छोटी-बड़ी कई झीलों के
श्यामल शीतल अमल सलिल में
समतल देशों से आ-आ कर
पावस की उमस से आकुल
तिक्त-मधुर विषतंतु खोजते
हंसों को तिरते देखा है!

ऐसा ही परमहंस तुम्हारे भीतर विराजमान है। जागो तो मिले। और कोई उपाय मिलने का नहीं है। और जिसे मिल गया उसे सब मिल गया। और जिसे यह परमहंस-दशा न मिली, वह कुछ भी पा ले, उसका सब पाया व्यर्थ है।

हरि ॐ तत्सत्!

अड़तीसवां प्रवचन

जागते-जागते जाग आती है

पहला प्रश्न: आपने शास्त्र-पाठ की महिमा बताई। लेकिन ऐसे कुछ लोग मुझे मिले हैं जिन्हें गीता या रामायण कंठस्थ है और जो प्रायः नित्य उसका पाठ करते हैं, लेकिन उनके जीवन में गीता या रामायण की सुगंध नहीं। तो क्या पाठ और पाठ में फर्क है? और सम्यक पाठ कैसे हो?

निश्चय ही पाठ और पाठ में फर्क है। यंत्रवत दोहरा लेना पाठ नहीं। कंठस्थ कर लेना पाठ नहीं। हृदयस्थ हो जाये तो ही पाठ। और हृदय तक पहुंचाना हो तो अत्यंत जागरूकता से ही यह घटना घट सकती है। कंठस्थ कर लेना तो जागने से बचने का उपाय है।

जिस काम को करने में तुम कुशल हो जाते हो उसमें जागरूकता की जरूरत नहीं रह जाती। नये-नये कार चलाओ, नया-नया तैरने जाओ, नई-नई साइकिल चलानी सीखो, तो बड़ा होश रखना पड़ता है; जरा चूके कि गिरे। चूक महंगी पड़ती है। होश रखना जरूरी हो जाता है। लेकिन जैसे ही साइकिल चलानी आ गई, कार चलानी आ गई, तैरना आ गया, फिर वैसे-वैसे होश मद्धिम हो जाता है, फिर कोई जरूरत नहीं रहती। फिर तुम सिग्रेट पीयो, गाना गाओ, रेडियो सुनो और कार चलाओ; मित्र से बात करो, हजार बातें सोचो...। धीरे-धीरे कार चलाना इतना यंत्रवत हो जाता है कि मनोवैज्ञानिक कहते हैं कि कभी-कभी ड्राइवर आंख भी झपका कर क्षण भर को सो लेता है और गाड़ी चलती रहती है। करीब अधिकतम दुर्घटनायें तीन और चार बजे के बीच होती हैं रात में। मनोवैज्ञानिक कहते हैं कि उस क्षण गहरी नींद का क्षण है: ड्राइवर की आंख झपक जाती है और वह सोचता है सपने में कि उसे राह दिखाई पड़ रही है, तब दुर्घटना घट जाती है।

जैसे-जैसे व्यक्ति कुशल हो जाता है किसी काम में वैसे-वैसे होश की जरूरत नहीं रह जाती। तो पाठ कुशलता के लिए नहीं कहा है मैंने कि तुम कंठस्थ कर लेना। उसी कुशलता में तो यह देश मरा। यहां ऐसे लोग थे जिन्हें वेद कंठस्थ था, लेकिन जीवन में कोई वेद का प्रस्फुटन न हुआ, फूल न खिले, सुगंध न आई।

कहते हैं, सिकंदर वेद की एक संहिता को यूनान ले जाना चाहता था और उसने पंजाब के एक गांव में पता लगाने की कोशिश की कि वेद की प्रति कहां मिल सकेगी। पता चल गया। एक वृद्ध ब्राह्मण के पास ऋग्वेद की संहिता थी। उसने घर घेर लिया। और उसने ब्राह्मण से कहा कि वेद की संहिता मुझे सौंप दो अन्यथा घर, तुम, संहिता, सबको जला डाला जायेगा। ब्राह्मण ने कहा: इतने परेशान होने की जरूरत नहीं है, कल सुबह सौंप दूंगा, पहरा आप रखें।

रात भर का समय क्यों चाहते हो? सिकंदर ने पूछा। उसने कहा कि रात भर का समय चाहता हूं ताकि पूजा-पाठ कर लूं, पीढ़ियों से यह संहिता हमारे घर में रही है तो इसे ठीक से सम्मान से विदा देना होगा न! सुबह आप को भेंट कर देंगे। रात भर हम पूजा-पाठ कर लें, सुबह आप ले लेंगे। सिकंदर ने सोचा: हर्ज भी कुछ नहीं है। पहरा तो लगा था, भाग कहीं सकता न था ब्राह्मण। लेकिन सिकंदर ने यह सोचा भी न था कि भागने के और कोई सूक्ष्म उपाय भी हो सकते हैं। यज्ञ की वेदी पर हवन किया और उसने ऋग्वेद का पाठ करना शुरू किया।

सुबह जब सिकंदर पहुंचा तो ऋग्वेद की संहिता का आखिरी पन्ना ब्राह्मण के हाथ में था। वह एक-एक पन्ना पढ़ता गया और आग में डालता गया। उसका बेटा बैठा सुन रहा था। जब सिकंदर पहुंचा तो उसने कहा: "मेरे बेटे को ले जाएं, इसे ऋग्वेद कंठस्थ करवा दिया है। यह संहिता है। शास्त्र तो मैं दे नहीं सकता था, उसकी तो गुरु से मनाही थी; लेकिन बेटा मैं दे सकता हूं, इसकी कोई मनाही नहीं है!

सिकंदर को तो भरोसा न आया कि सिर्फ एक बार दोहराने से और पूरा ऋग्वेद बेटे को कंठस्थ हो गया होगा! उसने और पंडित बुलवाए, परीक्षा करवाई--चकित हुआ: वेद कंठस्थ हो गया था।

स्मृति को व्यवस्थित करने के बहुत उपाय खोजे गए थे, इसलिए बहुत दिनों तक तो भारत में हमने वेद को लिखे जाने के लिए स्वीकृति नहीं दी; जरूरत न थी। मनुष्य का मन इस भांति हमने व्यवस्थित किया था, ऐसी प्रणालियां खोजी थीं कि जरूरत नहीं थी कि किताब लिखी जाए; मन पर अंकित हो सकता था।

मन छोटी चीज नहीं है। मस्तिष्क बड़ी घटना है--संसार में सबसे बड़ी घटना है। जितने परमाणु हैं पूरे जगत में उतनी सूचनाएं तुम्हारे छोटे-से मस्तिष्क में समा सकती हैं। जितने पुस्तकालय हैं सारे जगत के, सुविधा और समय मिले तो एक आदमी के मस्तिष्क में सब समा सकते हैं। तुम अपने मस्तिष्क का कोई उपयोग थोड़े ही करते हो। श्रेष्ठतम दार्शनिक, विचारक, मनीषी, वैज्ञानिक भी दस-पंद्रह प्रतिशत हिस्से का उपयोग करता है, पच्चासी प्रतिशत तो ऐसे ही चला जाता है। इस पूरे मन को व्यवस्थित करने के उपाय थे, इस पूरे मन का उपयोग करने के उपाय थे। स्मृति का विज्ञान पूरा खोजा गया था। वेद कंठस्थ हो जाते थे यंत्रवत। जैसे टेप पर रिकार्ड हो जाता है, ऐसे ही स्मृति पर रिकार्ड हो जा सकते हैं। लेकिन इससे कोई ज्ञानी नहीं हो गया। वेद कंठस्थ हो गया, इसका अर्थ इतना ही हुआ कि मनुष्य यंत्रवत दोहरा सकता है; तोता हो गया, ज्ञानी नहीं हो गया।

उद्दालक ने अपने बेटे श्वेतकेतु को कहा है कि बेटा एक बात स्मरण रखना, तू जा रहा है गुरु के घर, उसको जान कर लौटना जिसको जानने से सब जान लिया जाता है। बेटा बहुत परेशान हुआ। उसने सब जान लिया, लेकिन उसका तो कोई पता न चला जिसको जानने से सब जान लिया जाता है। वह निष्णात होकर, वेद में पारंगत होकर, सभी शास्त्रों का ज्ञाता होकर घर लौटा। बाप ने आते ही पहला प्रश्न किया--वह डरा भी था मन में कि कहीं वही बात न पूछे--"उसे जान लिया जिसे जानने से सब जान लिया जाता है?"

श्वेतकेतु ने कहा: क्षमा करें, गुरु जो भी जानते थे, सब जान कर आ गया हूं। जितने भी शास्त्र उपलब्ध हैं सब जान कर आ गया हूं, आप परीक्षा ले लें। परीक्षा देकर आया हूं। उत्तीर्ण हुआ तो लौट सका हूं। लेकिन उसका तो कोई पता नहीं चल सका कि जिसको जानने से सब जान लिया जाता है।

तो उसके बाप ने कहा: फिर से जा वापिस; क्योंकि हमारे घर में नाममात्र के ब्राह्मण नहीं हुए। हमारे परिवार में सदा से वस्तुतः ब्राह्मण होते रहे हैं; नाममात्र के ब्राह्मण नहीं। जो ब्रह्म को जाने, वही वस्तुतः ब्राह्मण है। नाममात्र का ब्राह्मण वेद को जानता है, ब्रह्म को नहीं। और ब्रह्म को न जाना तो वेद को जानने का कोई भी अर्थ नहीं। तू वापिस जा, कूड़ा-कर्कट लेकर आ गया! उसको जान कर आ जिसको जानने से सब जान लिया जाता है।

कंठस्थ कर लेना एक बात है, इसमें कुछ बहुत गुण नहीं है; जागना बिलकुल दूसरी बात है। कंठस्थ करने से तुम्हारी सूचनाओं का संग्रह बढ़ जाता है, जागने से तुम्हारे चैतन्य में क्रांति घटती है। जागने से दीया जलता है। जागने से तुम प्रकाशित, आलोकित होते हो। जागने से तुम बुद्ध होते हो। जागने से वेद कंठस्थ हो या न हो; तुम जो कहते हो वही वेद हो जाता है, तुम्हारा शब्द-शब्द वेद बन जाता है।

तो पाठ पाठ में भेद है। तुम पढ़ सकते हो गीता, कुरान, बाइबिल; और ऐसे पढ़ते रहो रोज-रोज तो लकीर पर लकीर पड़ती रहेगी। रसरी आवत जात है, सिल पर पड़त निशान। वह तो कुएं पर भी, पत्थर पर भी निशान बन जाता है--कोमल-सी रस्सी के आने-जाने से। रोज-रोज दोहराओगे तो निशान बन जाएंगे, तुम्हारे मस्तिष्क में धारे खिच जाएंगे, उन धारों के कारण स्मृति पैदा हो जाएगी।

स्मृति बोध नहीं है, ज्ञान नहीं है। तो फिर कैसे पाठ करोगे? पाठ ऐसे करना कि जब दोहराओ वेद को तो दोहराना न बने। यह दोहराना न हो। जब आज फिर पढ़ो तुम गीता या कुरान को तो ऐसे पढ़ना जैसे फिर नया, जैसे कभी जाना ही नहीं। और जाना है भी नहीं। जान ही लेते तो पढ़ने की आज जरूरत क्या पड़ती! अब तक

नहीं जाना, इसीलिए तो पाठ की जरूरत है। जाना नहीं है। कल तक चूक गये, आज फिर प्रयास करते हो। प्रयास नया हो। प्रयास बहुत जागरूक हो। वेद को दोहराओ या कुरान को, दोहराते वक्त पीछे साक्षी खड़ा रहे। दोहराने में खो मत जाना। साक्षी पीछे खड़ा रहे और देखता रहे कि तुम वेद पढ़ रहे, कुरान पढ़ रहे, दोहरा रहे। साक्षी पीछे खड़ा देखता रहे तो कभी जब पढ़ते-पढ़ते साक्षी पूरा होता है...।

तो तुम जो पढ़ते हो, उससे थोड़े ही ज्ञान होने वाला है। तो पढ़ना तो बहाना था, निमित्त था; वह जो पीछे जाग कर खड़ा है, उसके जागते-जागते ज्ञान होता है। इसलिए जरूरी नहीं है कि तुम वेद ही पढ़ो, पक्षियों के गीत भी सुन लोगे अगर जाग कर रोज, पाठ हो जायेगा; झरने की कल-कल सुन लोगे अगर बैठ कर रोज तो पाठ हो जायेगा।

खयाल रखना, वेद के पढ़ने से थोड़े ही ज्ञान का जन्म होता है। पढ़ना तो एक निमित्त है। कोई निमित्त तो बनाना ही होगा, ताकि साक्षी बने। साक्षी को जगाने के लिए निमित्त है। और वेद से प्यारा निमित्त कहां खोजोगे! कुरान से और ज्यादा मधुर निमित्त कहां खोजोगे! क्योंकि कुरान आया किसी ऐसे व्यक्ति के चैतन्य से जो ज्ञान को उपलब्ध हो गया था; कुरान के उन वचनों में मुहम्मद की चेतना थोड़ी न थोड़ी लिपटी रह गई है। मुहम्मद का स्वाद इनमें होगा ही। मुहम्मद के शून्य से उठे हैं ये स्वर। मुहम्मद का संगीत इनमें होगा ही। वेद उठे हैं ऋषियों की अंतःप्रज्ञा से, तो जहां से उठती है चीज, वहां की कुछ खबर तो रखती ही होगी। गंगा कितनी ही गंदी हो जाये तो भी गंगोत्री के जल का कुछ हिस्सा तो शेष रहता ही है।

अच्छे उपकरण हैं, लेकिन ध्यान रखना: उपकरण हैं। असली काम जागने का है। इधर गीत दोहराते रहना, वेद का, कुरान का, बाइबिल का। उधर पीछे जाग कर देखते रहना। डूब मत जाना, बेहोश मत हो जाना, नहीं तो पाठ हो जायेगा, स्मृति भी बन जायेगी, एक दिन ऐसी घड़ी आ जायेगी कि तुम बिना किताब को सामने रखे दोहरा सकोगे--लेकिन उससे तुम्हारे जीवन में क्रांति घटित न होगी।

पाठ पाठ में निश्चित ही भेद है। बेहोशी में जो भी बीत रहा है वह बेहोशी को मजबूत कर रहा है। जो होश में बीतता है वह होश को मजबूत करता है। इसलिए जितने ज्यादा से ज्यादा क्षण होश में बीतें उतना शुभ है। भोजन करो तो होश पूर्वक।

इसलिए तो कबीर कहते हैं: "उठूं-बैठूं, सो परिक्रमा!" अब मंदिर जाने की और परिक्रमा करने की भी कोई बात न रही। अब तो उठता-बैठता हूं तो वह भी परिक्रमा है। "खाऊं-पीऊं सो सेवा!" अब कोई परमात्मा की उपासना करने की जरूरत नहीं, मंदिर में जा कर भोग लगाने की भी कोई जरूरत नहीं। खुद भी खाता-पीता हूं, वह भी सेवा हो गई है। क्योंकि जो खुद भी खा-पी रहा हूं, वहां भी जाग कर देख रहा हूं कि यह भी परमात्मा को ही दिया गया। यहां परमात्मा के अतिरिक्त कुछ और है ही नहीं। जाग कर देखने लगोगे तो प्रत्येक कृत्य पूजा हो जाता है और प्रत्येक विचार और प्रत्येक तरंग उसी के चरणों में समर्पित हो जाती है। सभी उसका नैवेद्य बन जाता है और सारा जीवन अर्चना हो जाती है।

लो एक क्षण और बीता
हम हारे, युग जीता।
बेहोशी में गया क्षण तो हार गये।
लो एक क्षण और बीता
हम हारे, युग जीता।
होश में गया क्षण कि तुम जीते, युग हारा।
लो एक क्षण और बीता
हम हारे, युग जीता
होंठों के सारे गम
आंखों में कैद
चांदनी के सिर का

एक बाल और हुआ सफेद
धूप की नजर का
एक अंग और बढ़ गया
सपने के पैरों में
एक कांटा और गड़ गया
रोते रहे राम
अतीत में समा गई सीता
खतम हुई रामायण
अब शुरू करो गीता।
लो एक क्षण और बीता
हम हारे, युग जीता।

लेकिन चाहे रामायण खतम करो और चाहे गीता शुरू करो, सोये-सोये चला तो सब व्यर्थ चला जायेगा। सोया सो खोया, जागा सो पाया।

तो जब मैं पाठ की महिमा के लिए कहता हूं तो ध्यान रखना। मैं तो चाहता हूं तुम्हारा पूरा जीवन पाठ बने। गीता, कुरान, बाइबिल सुंदर हैं, लेकिन उतने से काम न चलेगा। जीवन तो एक अविच्छिन्न धारा है, घड़ी भर सुबह पाठ कर लिया और फिर तेईस घंटे भटके रहे, भूले रहे, बेहोश रहे--यह पाठ काम न आयेगा। यह तो ऐसा हुआ कि घर का एक कोना साफ कर लिया और सारा घर गंदा रहा, कूड़ा-कर्कट उड़ता रहा--यह कोना कहीं साफ रहेगा? यह तो ऐसा हुआ कि सारा शरीर तो गंदा रहा, मुंह पर पानी के छींटे मार लिए, मुंह साफ-सुथरा कर लिया। यह कुछ धोखा दूसरे को दे रहे हो वह दे दो; यह खुद को धोखा काम न आयेगा।

धर्म तो अविच्छिन्न धारा बननी चाहिए। सुबह उठे तो उठने में होश। स्नान किया तो स्नान में होश। फिर बैठ कर पूजा की, पाठ किया तो पाठ में, पूजा में होश। सुंदर कृत्य है। फिर दूकान गये तो दूकान पर होश। बाजार में रहे तो बाजार में होश। घर आये तो घर में होश। सोने लगे तो सोते आखिरी-आखिरी क्षण तक होश।

शुरू-शुरू में तो ऐसा रहेगा कि जागने में भी होश खो-खो जायेगा। कई बार पकड़ोगे, छूट-छूट जायेगा। मुट्ठी बंधेगी न, बिखर-बिखर जायेगा। पारे जैसा है होश; बांधो कि छितर-छितर जाता है। लेकिन धीरे-धीरे मुट्ठी बंधेगी। तब तुम चकित होओगे कि जागने में तो होश बना ही रहता है; एक दिन अचानक तुम चौंक कर पाओगे कि नींद लग गई और होश बना है। उस दिन ऐसा अभूतपूर्व आनंद होता है! उस दिन बांसुरी बज उठी! उस दिन बैकुंठ के द्वार खुले! उस दिन स्वर्ग तुम्हारा हुआ। जिस दिन तुम सो जाओगे रात में और होश की धारा बहती ही रही; तुमने देखा अपनी देह को सोए हुए, अपने मन को शलथ, थका हुआ, हारा हुआ, पड़े हुए; जिस दिन तुम नींद में भी जाग जाओगे--बस फिर कुछ करने को न रहा, परिक्रमा पूरी हो गई। जागने में तो अब जाग ही जाओगे, जब सोने में जाग गये...। साधारणतः तो हम जागे भी जागे नहीं, सोये हैं। होना इससे उल्टा चाहिए।

कहता हूं: रे मन, अब नीरव हो जा
ससर सर्प के सदृश्य
जहां है उत्स वहीं पर सो जा
साखी बन कर देख
देह का धर्म सहज चलने दे
जो तेरा गंतव्य
वहां तक चल कर कौन गया है
गल जाने दे स्वर्ण
रूप में उसे स्वयं ढलने दे।

जाना कहीं है भी नहीं। कब कौन गया है! अगर तुम सहज साक्षी बन जाओ तो स्वर्ण खुद ढल जाता है, आभूषण बन जाते हैं। परमात्मा खुद ढल आता है, सरक आता है और तुम दिव्य हो जाते हो, तुम बुद्ध हो जाते हो।

कहता हूं: रे मन अब नीरव हो जा
ससर सर्प के सदृश्य
जहां है उत्स वहीं पर सो जा।

और उत्स तो तुम्हारा चैतन्य है। उत्स तो तुम्हारा जागरण भाव है। आये हो तुम गहन जागृति से, उतरे हो परमात्मा से। वहीं है तुम्हारी जड़ों का फैलाव।

जहां है उत्स वहीं पर सो जा
साखी बन कर देख
देह का धर्म सहज चलने दे।

साखी तुम बन जाओ। ये दो शब्द समझ लेने जैसे हैं: साखी और सखी। बस दो ही मार्ग हैं--या तो सखी बन जाओ, वह प्रेम का मार्ग है; या साखी बन जाओ, साक्षी बन जाओ, वह ज्ञान का मार्ग है। और जरा ही सा फर्क है सखी और साखी में, एक मात्रा का फर्क है, कुछ बड़ा फर्क नहीं।

तो जो मैंने कहा पाठ के लिए, वह साक्षी बनने को कहा। साक्षी बन जाओ। और तब तुम चकित होओगे। तब तुम्हारा कोई झगड़ा न रह जाएगा कि कोई गीता पढ़ रहा है, कोई कुरान, कोई धम्मपद, कोई झगड़ा न रहा। अगर तीनों ही साखी को साध रहे तो कोई झगड़ा न रहा, क्योंकि घटना तो साखी से घटने वाली है; कुरान पढ़ने से नहीं, न गीता पढ़ने से। फिर क्या झगड़ा है? अभी तक झगड़ा रहा है। झगड़ा रहा है, क्योंकि गीता वाला कहता है, गीता पढ़ने से ज्ञान होगा; और कुरान वाला कहता है, कुरान पढ़ने से होगा, गीता पढ़ने से कभी हुआ? कैसे हो सकता है! मैं तुमसे कहता हूं: न तो गीता से ज्ञान होता है न कुरान से; ज्ञान होता है साक्षी-भाव से पाठ करने से। फिर बात बदल गई। फिर तुम अगर गीता को साक्षी-भाव से पढ़ो तो गीता से हो जाएगा; कुरान को पढ़ो, कुरान से हो जाएगा।

तुम चकित होओगे यह जान कर कि कृष्णमूर्ति जासूसी उपन्यास के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं पढ़ते। जासूसी उपन्यास से भी हो जाएगा, साक्षी की बात है। तुम चकित ही होओगे कि जासूसी उपन्यास और कृष्णमूर्ति! पर कृष्णमूर्ति ने कभी कुछ और पढ़ा ही नहीं। वे तो कहते हैं मैं सौभाग्यशाली हूं कि मैंने गीता, कुरान, बाइबिल नहीं पढ़े। क्योंकि इतने अभागे लोग उलझे हैं, यह देख कर बात तो ठीक ही लगती है। तो जासूसी उपन्यास ही पढ़ते रहे। पर वहीं से हो जाएगा अगर होशपूर्वक पढ़ा। अगर तुम फिल्म भी होशपूर्वक देख लो जाकर तो ध्यान हो रहा है। तुम कहां हो, क्या कर रहे, इससे कोई भी संबंध नहीं; कैसे हो, जागे हो कि सोये, बस इतना स्मरण रहे। अगर जागे नहीं हो तो परमात्मा तुम्हारे द्वार पर दस्तक देता है और लौट-लौट जाता है, तुम्हें सोया पाता है। तुम दस्तक सुनते ही नहीं। तुम नींद में सुनते भी हो तो कुछ का कुछ समझ लेते हो।

आ कर चले गए
क्षण बार-बार
हो कर उदार
कब कितने छले गए!
बजी खिड़कियां
हिली पखुड़ियां
कलियों पर कुछ छाये
मैंने देखा
सूर्य किरण से
दौड़ द्वार तक आए

किंतु लगे दरवाजे देखे
ठिठक गए वे मौन
गुपचुप के संवादों
जैसे लौट गए
वे कौन!
सूरज ढले गए
आ कर चले गए
वे खा कर चोट गए
वे आए लौट गए
क्षण बार-बार
होकर उदार
कब कितने छले गए!

प्रभु तो आता है प्रतिपल, तुम जागते नहीं, मिलन नहीं हो पाता। प्रभु तो आता है प्रति किरण, प्रति श्वास, प्रति धड़कन हृदय की; लेकिन तुम सोये होते, मिलन नहीं हो पाता। जैसे मैं तुम्हारे घर आऊं और तुम गहरे सोये और घरटि भरते हो, तो मिलन कैसे होगा? प्रभु से मिलना हो तो जैसा प्रभु जागा है ऐसा ही तुम्हें जागना होगा। जागने का जागने से मिलन होगा। जागते का सोते से मिलन नहीं होता। तुम सोये पड़े, मैं तुम्हारे पास बैठा, तुम्हारे सिर पर हाथ रखे बैठा, तो भी मिलन नहीं होता--तुम सोये, मैं जागा। दो सोये व्यक्तियों के बीच मिलन होता नहीं। एक जागे और एक सोये के बीच भी मिलन नहीं होता। दोनों जागें तो मिलन होता है।

साक्षी बनो। और तब तुम पाओगे कि जो भी तुम कर रहे, धीरे-धीरे सभी पाठ हो गया।

दूसरा प्रश्न: मानव-जीवन में झूठ से लेकर बलात्कार और हत्या तक के अपराध फैले हैं। आदिकाल से संत महापुरुषों ने सदकर्म की प्रेरणा दी है। इस संदर्भ में कृपा कर समझायें कि आज का प्रबुद्ध वर्ग मानव-जीवन की विकार-जनित समस्याओं का समाधान कैसे करे?

पहली तो बात: भीड़ जैसी है वैसी ही रही है और वैसी ही रहेगी; इसमें तुम अपने को उलझाना मत। जीवन के जो परम सत्य हैं; वे केवल व्यक्तियों को उपलब्ध हुए हैं, भीड़ को नहीं। भीड़ को हो सकते नहीं। कोई उपाय नहीं। भीड़ तो मूर्च्छित लोगों की है। वहां तो धर्म के नाम पर भी पाप ही चलेगा। वहां पाप ही चल सकता है। वहां तो अच्छे-अच्छे नारों के पीछे भी हत्या ही चलेगी। हिंदू मुसलमानों को काटेंगे, मुसलमान हिंदुओं को काटेंगे। ईसाई मुसलमानों को मारेंगे, मुसलमान ईसाइयों को मारेंगे। हिंदुओं ने बौद्धों को उखाड़ डाला, समाप्त कर दिया।

आज इस बात को कोई उठाता भी नहीं कि कितने बौद्ध भिक्षु हिंदुओं ने जलाये, कितने मठों में आग लगाई। इस बात को उठाने में भी झंझट-झगड़ा खड़ा हो सकता है। इस बात को कोई उठाता भी नहीं। महावीर का इतना बड़ा प्रभाव था, जैनी सिकुड़-सिकुड़ कर थोड़े-थोड़े कैसे होते चले गये? कितने जैन मुनि मारे गये, जलाये गये, कितने मंदिर मिटाये गये--इसका कोई हिसाब नहीं। हिसाब रखने की सुविधा भी नहीं। बात भी उठानी ठीक नहीं; उपद्रव तत्क्षण खड़ा हो जाये।

आदमी ने धर्म के नाम पर जितने पाप किए, किसी और चीज के नाम पर नहीं किए। राजनीति भी पिछड़ जाती है उस मामले में। जितने लोग धर्म के नाम पर मारे गये और मरे, उतने तो लोग राज्य के नाम पर भी नहीं मारे गये और मरे। अगर पाप का ही हिसाब रखना हो तो एक बात तय है कि धर्म से बड़े पाप हुए दुनिया में, और किसी चीज से नहीं हुए। और जिनको तुम साधु-महात्मा कहते हो, वे ही जड़ में हैं सारे उपद्रव की; वे ही तुम्हें भड़काते हैं; वे ही तुम्हें लड़ाते हैं। लेकिन नारे सुंदर देते हैं। नारे ऐसे देते हैं कि जंचते हैं।

अब अगर सिक्ख गुरु कह दे कि गुरुद्वारा खतरे में है, तो मरने-मारने की बात हो ही गई; जैसे कि आदमी गुरुद्वारा को बचाने के लिए था! अगर मुसलमान चिल्ला दें कि इस्लाम खतरे में है तो मुसलमान पागल हो जाते हैं--इस्लाम को बचाना है! यह बड़े मजे की बात है। इस्लाम को तुम्हें बचाना है कि इस्लाम तुम्हें बचाता था? कि कोई गया और उसने किसी के गणेश जी तोड़ दिए, अब वह वैसे ही बैठे थे टूटने को तैयार, इतना भारी सिर, कोई धक्का ही दे दिया होगा, वे चारों खाने चित्त हो गये! खतरा हो गया। हिंदू धर्म खतरे में हो गया! अब यह जो मिट्टी के गणेश जी गिर गये या पत्थर के गणेश जी गिर गये, इनके कारण न मालूम कितने जीवित गणेशों की हत्या होगी। और मजा यह है कि इन गणेश की तुमने पूजा की थी कि ये हमारी रक्षा करेंगे, अब इनकी रक्षा तुम्हें करनी पड़ रही है! यह तो खूब अजीब मजा हुआ। यह तो खूब विरोधाभास हुआ।

तुम्हें परमात्मा की रक्षा करनी पड़ती है? तुम्हें धर्म की रक्षा करनी पड़ती है? तो यह धर्म न हुआ, यह तो तुम्हारा ही फैलाव हुआ, तुम्हारे ही मन के जाल हुए। और ये तो बहाने हुए लड़ने-लड़ाने, मारने-मराने के। फिर बड़े आश्वासन दिए जाते हैं। इस्लाम के मौलवी समझाते हैं कि अगर धर्म-युद्ध में मारे गये, जेहाद में, तो स्वर्ग निश्चित है। खूब प्रलोभन दिए जाते हैं कि जो धर्म-युद्ध में मरा वह तो प्रभु का प्यारा हो गया। कोई लौट कर तो कहता नहीं। लौट कर कुछ पता चलता नहीं। लेकिन मारने-मरने से कोई कैसे प्रभु का प्यारा हो जायेगा? प्रभु का प्यारा तो आदमी प्रेम से होता है, किसी और कारण से नहीं। प्रभु का तो जीवन है। जो जीवन को बढ़ाता, जिसकी ऊर्जा जीवन में सौभाग्य के नये-नये द्वार खोलती है, जो जीवन के लिए वरदान-स्वरूप है--उससे ही प्रभु प्रसन्न हैं। जो उसके जीवन के पक्ष में है, उसी से प्रभु प्रसन्न हैं। जो जितना सृजनात्मक है उतना धार्मिक है।

भीड़ तो सदा उपद्रव करती रही। भीड़ उपद्रव किए बिना रह नहीं सकती। मनस्विद कहते हैं कि ऐसी मूर्च्छा है भीड़ की कि उसे कोई न कोई बहाना चाहिए ही लड़ने-मारने को। तुमने देखा! हिंदुस्तान में हिंदू-मुसलमान इकट्ठे थे तो हिंदू-मुसलमान लड़ते थे! सोचा था कि हिंदुस्तान-पाकिस्तान बंट जायेंगे तो झगड़ा खतम हो गया। झगड़ा खतम नहीं हुआ। जब हिंदू-मुसलमान लड़ने को न रहे--लड़ने वाले तो मिट नहीं गये, आदमी तो वही के वही रहे--तो गुजराती मराठी से लड़ने लगा। तो हिंदी भाषी गैर हिंदी भाषी से लड़ने लगा। तो एक जिला कर्नाटक में हो कि महाराष्ट्र में, इस पर छुरे चलने लगे। अब यह बड़े मजे की बात है! पहले तो सवाल था कि हिंदू-मुसलमान चलो विपरीत धर्म हैं तो झगड़ा है; अब हिंदू हिंदू से लड़ने लगा! गुजराती भी हिंदू है, मराठी भी हिंदू है; लेकिन बंबई पर किसका कब्जा हो! तो छुरे चलने लगे। ऐसा लगता है, आदमी वही का वही है।

तुम जरा छोड़ दो, गुजराती को अलग कर दो बंबई से--मराठी मराठी से लड़ेगा। देशस्थ है कि कोकणस्थ?

विनोबा से किसी ने पूछा कि आप देशस्थ ब्राह्मण हैं कि कोकणस्थ? विनोबा ने कहा: "मैं स्वस्थ ब्राह्मण हूं।" बात तो ठीक है, लेकिन बहुत ठीक नहीं। स्वस्थ होना काफी है, ब्राह्मण जैसे गंदे शब्द को बीच में क्यों लाए? इतना ही कह देते, मैं स्वस्थ हूं। स्वस्थ होने का मतलब ही ब्राह्मण होता है। स्वयं में जो स्थित हो गया, स्वस्थ, वह ब्राह्मण। यह पुनरुक्ति काहे को की कि मैं स्वस्थ ब्राह्मण हूं? क्योंकि इसमें खतरा है। कल स्वस्थ ब्राह्मण अलग झंडा लेकर खड़े हो जाते हैं कि मारो कोकणस्थों को, मारो देशस्थों को; हम स्वस्थ ब्राह्मण हैं! मगर ब्राह्मण हैं! विनोबा कृपा करते, ब्राह्मण को और काट देते, स्वस्थ होना काफी है। आदमी स्वस्थ हो, बस पर्याप्त है। स्वयं में हो, बस पर्याप्त है!

मगर बहुत थोड़े-से व्यक्ति ही स्वयं में हो पाते हैं, भीड़ नहीं हो पाती, भीड़ हो भी नहीं सकती।

देखा है भीड़ को
ढोते हुए अनुशासन का बोझ
उछालते हुए अर्थहीन नारे
लड़ते हुए दूसरों का युद्ध

खोदते हुए अपनी कब्रें;
पर नहीं सुना कभी
तोड़ लिया हो किसी
भीड़ ने बलात
व्यक्ति की अंतश्चेतना में खिला
अनुभूति का अम्लान पारिजात!

व्यक्ति की चेतना के जो फूल हैं, वे भीड़ ने कभी नहीं तोड़े, भीड़ तोड़ सकती नहीं। भीड़ कभी बुद्ध नहीं बनती। कोई व्यक्ति बुद्ध बनता है।

मेरे पास लोग आते हैं कि आप समाज के लिए कुछ क्यों नहीं करते? व्यक्ति के लिए ही कुछ किया जा सकता है, समाज के लिए कुछ किया नहीं जा सकता। और जैसे ही तुम समाज के लिए कुछ करने को तत्पर होते हो वैसे ही तुम राजनीति में उतर जाते हो। धर्म का संबंध व्यक्ति से है, समाज का संबंध राजनीति से है। धर्म का कोई संबंध समाज से नहीं है। धर्म तो असामाजिक है। धर्म तो व्यक्तिवादी है। क्योंकि धर्म तो व्यक्ति की परिपूर्ण स्वतंत्रता में भरोसा करता है, स्वच्छंदता में।

पूछते हो: "मानव-जीवन में झूठ से लेकर बलात्कार और हत्या तक के अपराध फैले हैं।"

सदा फैले रहे हैं, सदा फैले रहेंगे। यह तो ऐसा ही है जैसे कि कोई मेरे पास आ कर कहे कि देखते हैं आप अस्पताल में टी.बी. से लेकर कैंसर तक की बीमारियां फैली हैं! अब अस्पताल में तो फैली ही रहेंगी, अस्पताल में न फैलेंगी तो कहां फैलेंगी? अस्पताल तो है ही इसीलिए। अस्पताल में कोई स्वस्थ लोग थोड़े ही रहेंगे! वहां तो बीमारियां ही रहेंगी। जो बीमारी में है वही तो अस्पताल में है। इसी को अगर तुम पूरब की मनीषा से पूछो तो पूरब की मनीषा कहती है: जो पाप में है वही तो भेजा जाता है संसार में। इनमें से कुछ थोड़े-से लोग इस सत्य को समझ कर भीड़ के पार उठ जाते हैं, कमलवत हो जाते हैं। फिर दुबारा उनका आना नहीं होता।

यह संसार जिसको तुम कहते हो, अस्पताल है पापियों के लिए। इसलिए तो भारत में हमने कभी आवागमन की आकांक्षा नहीं की। जो जानते हैं वे कहते हैं: "हे प्रभु, आवागमन से छुड़ाओ! हे कुंभकार, अब इस मिट्टी को मुक्त करो! तुम्हारे चाक पर घूम-घूम कर हम थक गए। अब छुट्टी दो।"

मोक्ष का अर्थ क्या है? इतना ही अर्थ है कि देख लिया बहुत, यहां रोग ही रोग हैं, इस पार रोग ही पलते हैं--अब उस पार वापिस बुला लो!

यह तो किसी व्यक्ति को दिखाई पड़ता है। भीड़ तो दौड़ी जाती है अंधों की भांति--लोभ में, धन में, पद में, मर्यादा में--भाग रही, दौड़ रही! इस भीड़ के बीच कोई एकाध छिटक पाता है। वह भी आश्चर्य है कि कोई कैसे छिटक पाता है। भीड़ का जाल बहुत मजबूत है। भीड़ अपने से बाहर किसी को हटने नहीं देती। भीड़ सब तरह से तुम्हारी छाती पर सवार है और गर्दन को पकड़े है।

कल ही एक मित्र पूछते थे कि "आप कहते हैं निसर्ग से जीएं, सहजता से, स्वच्छंदता से। बड़ी मुश्किल है, क्योंकि फिर समाज है, राज्य है; अगर हम स्वच्छंद भाव से जीएं, अपने ही भीतर के छंद से जीएं, तो कई अड़चनें खड़ी होंगी।"

ठीक पूछते हैं। अड़चनें तो होने वाली हैं। वही अड़चन तपश्चर्या है। उनसे मैंने कहा: जहां तक बने अपने स्वभाव से जीयो और जहां ऐसा लगे कि जीना असंभव ही हो जाएगा वहां नाटक करो, वहां अभिनय करो, वहां गंभीरता से मत लो, वहां नाटक...।

सम्यक-चेता व्यक्ति जीता सहजता से है। लेकिन चूंकि जीना भीड़ के साथ है और सभी भीड? से भाग नहीं सकते...भागेंगे कहां! अगर सभी भाग गये तो वहीं भीड़ हो जायेगी। इसलिए कोई उपाय नहीं है। वहीं सब उपद्रव शुरू हो जायेंगे। जहां भीड़ है वहां उपद्रव है। और अकेले होने से भी उपद्रव मिट नहीं जाता। क्योंकि अगर भीड़ सिर्फ बाहर ही होती तो तुम जंगल चले जाते, उपद्रव मिट जाता। भीड़ तुम्हारे भीतर घुस गई है।

तुम जंगल में भी जा कर हिंदू रहोगे, तो भीड़ तो तुम्हारे भीतर घुस गई। तुम जंगल में भी जा कर राम का नाम लोगे या अल्लाह का नाम लोगे, तो भीड़ तुम्हारे भीतर घुस गई। तुम जंगल में भी बैठ कर अपने भीड़ के संस्कारों से थोड़े ही छूट पाओगे। भीड़ बाहर होती तो बड़ा आसान था; भीड़ भीतर तक चली गई है। उसने तुम्हारे भीतर घर कर लिया है। इसलिए अब एक ही उपाय है: रहो भीड़ में जहां तक बने।

और नब्बे प्रतिशत तुम सहजता से जी सकते हो, दस प्रतिशत अड़चन होगी। उस अड़चन को नाटक और अभिनय मानना। उसको खेल समझना। जैसे कि रास्ते पर बायें चलो का नियम है, अब तुम्हारा स्वच्छंद भाव हो रहा है कि बीच में चलें, तो भी मत चलना, क्योंकि उससे कोई सार नहीं है। उस स्वच्छंदता से कुछ लेना-देना भी नहीं है। तुम बायें ही चलना। क्योंकि अगर सभी स्वच्छंद चलें तो राह पर चलना ही मुश्किल हो जायेगा। नियम से भी चलो तो भी कितनी झंझट है, राह से चलना मुश्किल हो रहा है। नियम से ही चलना। वह सहज स्वीकार है। वह भी बोधपूर्वक स्वीकार करना कि इतनी हम कीमत चुकाते हैं भीड़ के साथ रहने की। नब्बे प्रतिशत हम अपने को मुक्त करते हैं और प्रभु के लिए अर्पित होते हैं, दस प्रतिशत कीमत चुकाते हैं भीड़ के साथ रहने की।

कीमत तो चुकानी पड़ती है हर चीज के लिए। बिना मूल्य तो कुछ भी नहीं है। लेकिन एक बात ध्यान रखना कि धर्म का संबंध भीड़ से नहीं है, धर्म का संबंध तो सहजता से है। सहजता व्यक्ति की है। आत्मा व्यक्ति के पास है; भीड़ के पास कोई आत्मा नहीं है।

पूछा है: "आदिकाल से संत महापुरुषों ने सदकर्म की प्रेरणा दी है।"

अधिकतर तो उपद्रव का कारण ये संत महापुरुष ही हैं। इनमें सभी ज्ञान को उपलब्ध व्यक्ति नहीं हैं। तुम्हारे सौ संत महापुरुषों में शायद एकाध जीवन मुक्त है, बाकी तो भीड़ के ही हिस्से हैं। बाकी का तो धर्म से कोई संबंध नहीं है। सच्चरित्र होंगे। लेकिन सच्चरित्र का क्या अर्थ होता है? सच्चरित्र का अर्थ होता है: जो समाज की मान कर चलता है; समाज ने जो नियम निर्धारित किये हैं, जो उनकी मर्यादा को स्वीकार करता है।

इसलिए तुम देखते हो, राम की बड़ी प्रतिष्ठा है! कृष्ण का लोग नाम भी लेते हैं तो भी जरा डरे-डरे। कृष्ण का भक्त भी कृष्ण की बात करता है तो चुनाव करता है। जैसे सूरदास कृष्ण के केवल बचपन के गीत गाते हैं, जवानी तक जाने में सूरदास डरते मालूम पड़ते हैं। क्योंकि जवानी में फिर खतरा है। बचपन तक ठीक है। दूध की दुहनिया तोड़ रहे, ठीक है। लेकिन जवान जब तोड़ने लगता है तो फिर झंझट है। तो सूरदास चुनाव कर लेते हैं--बालकृष्ण! बस वहां से आगे नहीं बढ़ते वे। बस बालक को ही फुदकाते रहते हैं। पांव की पैंजनियां--और फुदक रहे बालक! उससे आगे नहीं जाने देते, क्योंकि वहां तक वे छेड़खान करें, चलेगा। लेकिन जब वे जवान हो जाते हैं और स्त्रियों के कपड़े चुरा कर वृक्षों पर बैठने लगते हैं, तब जरा अड़चन आती है, वहां सूरदास झिझक जाते हैं।

अधिकतर तो लोग कृष्ण की मान्यता गीता के कारण करते हैं। बस गीता तक उनके कृष्ण पूरे हैं; भागवत तक नहीं जाते। भागवत में खतरा है। गीता के कृष्ण स्वीकार हैं; वहां कुछ अड़चन नहीं है। लेकिन राम पूरे के पूरे स्वीकार हैं। तुमने इस फर्क को देखा? राम शुरू से ले कर अंत तक स्वीकार हैं। वे मर्यादा-पुरुषोत्तम हैं। वे ठीक वैसा करते हैं जैसा करना चाहिए। कृष्ण भरोसे के नहीं हैं। कृष्ण बहुत स्वच्छंद हैं, स्वचेतना से जीते हैं।

लेकिन अगर तुम समझोगे तो जिन्होंने जाना, उन्होंने राम को तो कहा है अंशावतार और कृष्ण को कहा पूर्णावतार। मतलब साफ है। राम में तो अंशरूप में ही परमात्मा है, कृष्ण में पूरे रूप में है। क्योंकि स्वच्छंदता पूर्ण है। राम में तो कहीं-कहीं छींटे हैं परमात्मा के; कृष्ण तो पूरी गंगा हैं। लेकिन कृष्ण को अंगीकार करने की सामर्थ्य चाहिए।

जिनको तुम संत महापुरुष कहते हो, आमतौर से तो तुम्हारी धारणाओं के अनुकूल चलने वाले लोग होते हैं। जैसे जैन है, वह किसी को संत कहता है, उसकी अपनी परिभाषा है संत की। रात भोजन नहीं करता, पानी

छान कर पीता है, एक ही बार भोजन करता है--उसकी अपनी परिभाषा है। यही परिभाषा हिंदुओं की नहीं है, तो हिंदू को कोई अड़चन नहीं है। दिगंबर जैन की परिभाषा है कि संत नग्न रहता है। अब वह दिगंबर जैन की परिभाषा है। तो जो नग्न न हो तब तक संत नहीं है; जैसे ही नग्न हुआ कि वह संत हुआ। चाहे वह पागलपन में ही नग्न क्यों न हो गया हो, लेकिन वह संत हो गया। इसीलिए तो जैन बुद्ध को भगवान नहीं कहते, महात्मा कहते हैं; भगवान तो महावीर को कहते हैं, बुद्ध को महात्मा कहते हैं: "ठीक हैं, कामचलाऊ, कुनकुने, कोई अभी पूरी अवस्था उपलब्ध नहीं हुई। पूरी अवस्था में तो दिगंबरत्व है!" महावीर नग्न खड़े हो जाते हैं।

जैन कृष्ण को तो महात्मा भी नहीं कह सकते। उनको तो नरक में डाला हुआ है--सातवें नरक में! क्योंकि कृष्ण ने युद्ध करवा दिया। महाभारत की सारी हिंसा कृष्ण के ऊपर है। अर्जुन तो बेचारा भाग रहा था। वह तो जैनी होना चाहता था। वह तो कह रहा था: "जाने दो महाराज, यह हिंसा मुझे नहीं सोहती। मैं जंगल चला जाऊंगा, झाड़ के नीचे बैठ कर ध्यान करूंगा।" वह तो तैयार ही था, भाग-भागा था। कृष्ण उसको खींच-खांच कर जबर्दस्ती समझा-बुझा कर उलझा दिए--गरीब आदमी को! तो हिंसा-हत्या, इसका जुम्मा किस पर है? यह जो महाभारत में इतना खून हुआ, इसका जुम्मा किस पर है? निश्चित ही अर्जुन पर तो नहीं है। कृष्ण पर ही हो सकता है। कोई भी अदालत अगर निर्णय देगी तो कृष्ण पर ही जुम्मा जायेगा। अर्जुन ज्यादा से ज्यादा सहयोगी था, लेकिन प्रधान केंद्र तो कृष्ण ही हैं सारे उपद्रव के। तो जैनों ने उनको सातवें नर्क में डाला है।

अब जैनों की संख्या ज्यादा नहीं, इसलिए हिंदुओं से डरते भी हैं, इसलिए गुंजाइश भी रखी है कि अगले कल्प में, फिर जब सृष्टि का निर्माण होगा, तब तक तो कृष्ण को नर्क में रहना पड़ेगा; लेकिन वे आदमी कीमत के हैं, यह बात भी सच है, तो अगली सृष्टि में वे पहले तीर्थंकर होंगे। ऐसे हिंदुओं को भी खुश कर लिया है। अगली सृष्टि में, कभी अगर होगी, तो वे पहले तीर्थंकर होंगे, लेकिन तब तक नर्क में पड़े सड़ेंगे।

कौन संत है, कौन महात्मा है? बड़ा मुश्किल है कहना। कृष्ण तक को जैन मानने को राजी नहीं कि वे संत हैं। मुहम्मद को तुम संत कहोगे? तलवार हाथ में! तुम जीसस को संत कहोगे?

एक जैन मुनि से मेरी बात हो रही थी। उन्होंने कहा कि आप जीसस की इतनी प्रशंसा क्यों करते हैं? उनको फांसी लगी! तो मैंने कहा: निश्चित लगी। तो वे कहने लगे: फांसी तो तभी लगती है, जब पिछले जन्म में कोई बड़ा पाप किया हो, नहीं तो फांसी कैसे लगे? बात तो ठीक लगती है। कांटा भी गड़ता है तो कर्म के फल से गड़ता है; फांसी लगती तो...। तो जैन हिसाब में फांसी देने वाले उतने जुम्मेवार नहीं हैं, जितना कि लगने वाला जुम्मेवार है, क्योंकि इसने कुछ महापाप किए होंगे। इसको महात्मा कैसे कहना!

जैनों का तो हिसाब यह है कि महावीर अगर चलते हैं रास्ते पर और कांटा सीधा पड़ा हो तो जल्दी से उल्टा हो जाता है करवट ले कर। महावीर आ रहे हैं, उनको तो कांटा गड़ नहीं सकता; कोई पाप किया ही नहीं; फांसी फूल बन जाती है। गले में लगा फंदा फूल की माला हो जाता अगर महावीर को लगी होती। तो ईसा को...कैसे महात्मा! कठिन है।

ईसाई से पूछें। ईसाई कहता है: तुम्हारे ये महावीर और बुद्ध और ये सब...इनमें क्या रखा है? इनको जीवन की कुछ पड़ी ही नहीं है। ये सब स्वार्थी हैं। बैठे हैं अपने-अपने झाड़ों के नीचे, अपना-अपना ध्यान कर रहे हैं। जीसस को देखो, सबके कल्याण के लिए चेष्टारत हैं और सबके कल्याण के लिए सूली लगवाने को तैयार हुए, क्योंकि सबकी मुक्ति इससे होगी! अपना बलिदान दिया! ये महात्मा हैं, शहीद!

परिभाषाओं की बात है। लेकिन एक बात मैं तुमसे कहता हूं: अगर तुम बहुत गौर से देखोगे और सारी परिभाषाओं को हटा कर देखोगे तो सौ महात्माओं में कभी एक तुम्हें सच में महात्मा मालूम पड़ेगा। कौन महात्मा है? जिसका परमात्मा के हाथ में हाथ है--वही। बड़ा कठिन है उसे देखना। जब तक तुम हिंदू हो, तब तक तुम्हें हिंदू महात्मा को महात्मा मानने की वृत्ति रहेगी। जब तक जैन हो, तब तक जैन महात्मा को महात्मा मानने की वृत्ति रहेगी। ये पक्षपात तुम्हें महात्मा को पहचानने न देंगे। तुम सारे पक्षपात हटाओ, फिर आंख खोल

कर देखो। तुम चकित हो जाओगे: तुम्हारे सौ महात्माओं में से निन्यानबे तो राजनीतिज्ञ हैं और समाज की सेवा में तत्पर हैं। उनका काम वैसा ही है जैसा पुलिस वाले का है। वे समाज को ही सम्हालने में लगे हुए हैं। वह जो काम पुलिस वाला करता है, वही वे अच्छे ढंग से कर रहे हैं। जो मजिस्ट्रेट करता है वही तुम्हारा महात्मा भी कर रहा है। मजिस्ट्रेट कहता है, जेल भेज देंगे; महात्मा कहता है, नर्क जाओगे अगर पाप किया। महात्मा कहता है: अगर पुण्य किया तो स्वर्ग मिलेगा। वे तुम्हारे लोभ और भय को उकसा रहे हैं।

तो तुम जो कहते हो: "आदिकाल से संत महापुरुषों ने सदकर्म की प्रेरणा दी है...।"

पहले तो यह पक्का नहीं है कि उनमें से कितने संत महापुरुष हैं। और दूसरा सदकर्म की प्रेरणा में ही असदकर्म की चुनौती छिपी हुई है। वास्तविक महात्मा कर्म की प्रेरणा ही नहीं देता; वह तो अकर्ता होने की प्रेरणा देता है। इसे समझना। यही तो अष्टावक्र की गीता का सार है। वह यह नहीं कहता: अच्छा कर्म करो। वह कहता है: अकर्ता हो जाओ! कर्म तुमने किया नहीं, कर्म तुम कर नहीं रहे--ऐसे साक्षी-भाव में हो जाओ, साखी बनो।

वास्तविक संत तो निरंतर यह कहता है कि कर्म तो परमात्मा का है, तुम्हारा है ही नहीं। तुम निमित्तमात्र हो! तुम देखते रहो। यह खेल प्रकृति और परमात्मा का चलने दो। यह छिया-छी चलने दो, तुम जागे देखते रहो। तुम इसमें पक्ष भी मत लो कि यह बुरा और यह अच्छा; यह मैं करूंगा और यह मैं नहीं करूंगा। जो होता हो होने दो; तुम मात्र निर्विकार-भाव से देखते रहो। दर्पण की भांति तुममें प्रतिफलन बने, लेकिन कोई निर्णय न बने अच्छा-बुरा।

वास्तविक महात्मा तो तुम्हें अकर्ता बनाता है। तुम जिनको महात्मा कहते हो, मैं भी समझ गया बात, वे तुम्हें सदकर्म की प्रेरणा देते हैं। सदकर्म का मतलब क्या होता है? जिसको समाज असदकर्म कहता है...।

समझ लो। एक लाओत्सु का शिष्य मजिस्ट्रेट हो गया चीन में। पहला ही मुकदमा आया। एक आदमी ने चोरी की एक धनपति के घर में और उसने दोनों को सजा दे दी छः-छः महीने की--धनपति को भी और चोर को भी। धनपति ने कहा: "तुम्हारा मस्तिष्क ठीक है? तुम्हें कुछ नियम-कानून का पता है? मुझे किसलिए दंड दिया जा रहा है? मेरी चोरी, उल्टे मुझे दंड! यह तो हद हो गई।"

सम्राट के पास मामला गया। सम्राट भी जरा हैरान हुआ कि इस आदमी को सोच-समझ कर रखा था, बुद्धिमान आदमी है, यह क्या बात है! ऐसा कभी सुना कि जिसके घर चोरी हुई उसको भी सजा! सम्राट ने पूछा कि तुम्हारा प्रयोजन क्या है? उसने कहा: "प्रयोजन साफ है। इस आदमी ने इतना धन इकट्ठा कर लिया है कि चोरी नहीं होगी तो क्या होगा? यह आदमी चोरों को पैदा करने का कारण है। जब तक यह आदमी सारे गांव का धन बटोरता जा रहा है, तब तक चोर को ही जिम्मेदार ठहराना ठीक नहीं। लोग भूखे मर रहे हैं, लोगों के पास वस्त्र नहीं हैं और यह आदमी इकट्ठा करता जा रहा है। इसके पास इतना इकट्ठा हो गया है कि अब चोरी को पाप कहना ठीक नहीं। इसके घर चोरी को पाप कहना तो बिलकुल ठीक नहीं। अपराध भी तो किसी विशेष संदर्भ में अपराध होता है। हां, किसी गरीब के घर इसने चोरी की होती तो अपराध हो जाता; इसके घर चोरी में क्या अपराध है? और यह खुद चोर है। इतना धन इकट्ठा कैसे हुआ? इसलिए अगर मुझे आप पद पर रखते हैं तो मैं दोनों को सजा दूंगा। न यह धन इकट्ठा करता न चोरी होती।"

अब तुम्हारा महात्मा क्या कहता है? महात्मा कहता है: चोरी मत करना! और इसलिए धनपति महात्मा के पक्ष में है सदा। धनपति कहता है: बिलकुल ठीक कह रहे हैं महात्मा जी, चोरी कभी नहीं करना! क्योंकि चोरी धनपति के खिलाफ पड़ती है। इसलिए सदियों से जिनके पास है, वे महात्मा के पक्ष में हैं; और महात्मा उनको आशीर्वाद दे रहा है जिनके पास है। और महात्मा तरकीबें खोज रहा है ऐसी-ऐसी जालभरी, चालाकी-भरी कि जिससे जिसके पास हो उसकी सुरक्षा होती है। वह कहता है: "तुम गरीब हो, क्योंकि तुमने पिछले जन्म में पाप किए। वह आदमी अमीर है, क्योंकि उसने पिछले जन्म में पुण्य किए हैं।"

अब एक बड़ी मजे की बात है! वह आदमी अभी चूस रहा है, इसलिए अमीर है; यह आदमी चूसा जा रहा है, इसलिए गरीब है। लेकिन तरकीब यह बताई जा रही है कि पिछले जन्म में तुमने पाप किए हैं, इसलिए तुम गरीब हो। और पिछले जन्मों का किसी को कोई पता नहीं। पिछला जन्म तो सिर्फ कहानी है--हो न हो! पिछले जन्म के आधार पर यह जो चालबाजी चली जा रही है, तो फिर माक्र्स ठीक मालूम पड़ता है कि धर्म को लोगों ने अफीम का नशा बना रखा है; गरीबों को पिलाये जाते हैं अफीम, उनको समझाये चले जाते हैं कि तुम अपने कर्मों का फल भोग रहे हो।

फिर अड़चनें भी आती हैं यहां। यहां हम देखते हैं रोज, जो बेईमान है, चार सौ बीस है, वह धन कमा रहा है; पाप का फल तो नहीं भोग रहा है। जो ईमानदार है, वह भूखा मर रहा है। तो भी महात्मा समझाये जाता है कि ठहरो, उसके घर देर है, अंधेर नहीं। अब यह देर किसने खोज ली? "उसके घर देर है, अंधेर नहीं।" कहते हैं: "जरा ठहरो! इस जन्म में कर लेने दो, अगले जन्म में देखना, जो बेईमान है वह सड़ेगा!" यह बड़ी हैरानी की बात है, आग में हाथ डालो तो अभी जल जाता है, जरा देर नहीं है; चोरी करो तो अगले जन्म में पाप का फल मिलता है! ईमानदारी करो तो अभी जीवन में सुख नहीं मिलता, अगले जन्म में मिलता है! कहीं यह चार सौ बीसी और तरकीब तो नहीं? यह कहीं समाज के शोषकों का जाल तो नहीं है?

किसको तुम महात्मा कहते हो? तुम्हारे अधिकतर महात्मा समाज की जड़ शोषण से भरी व्यवस्था के पक्षपाती रहे हैं। सदकर्म वे उसी को बताते हैं जो समाज की स्थिति-स्थापकता को कायम रखता है; असदकर्म उसी को बताते हैं जो समाज की स्थिति को तोड़ता है--जिनके पास है उनकी स्थिति डांवाडोल न हो जाये।

इसलिए तो मैंने कहा कि सेठ जी और संन्यासी में एक संबंध है और इसलिए तुम्हारा संन्यासी सत्यानाशी है।

इस देश में कोई क्रांति नहीं घट सकी सामाजिक तल पर। नहीं घट सकी, क्योंकि हमने ऐसी तरकीबें खोज लीं कि क्रांति असंभव हो गई। हमने क्रांति-विरोधी तरकीबें खोज लीं। हमारे अनेक सिद्धांत क्रांति-विरोधी तरकीबें हैं। तो तुम्हारे महात्मा कहते रहे, माना; लेकिन तुम्हारे जो महात्मा कहते रहे, उसमें बहुत बल नहीं है, वह धोखा है। इसलिए उसका कोई परिणाम भी नहीं हुआ है।

फिर तुम्हारे महात्मा जो कहते रहे, वह प्रकृति और स्वभाव के अनुकूल नहीं मालूम पड़ता है, प्रतिकूल है। अब लोगों को उल्टी-सीधी बातें समझाई जा रही हैं, जो नहीं हो सकतीं, जो उनकी प्रकृति के अनुकूल नहीं पड़तीं। जब नहीं हो सकतीं तो उनके मन में अपराध का भाव पैदा होता है। जैसे आदमी को भूख लगती है, अब तुम उपवास समझाते हो; तुम कहते हो: "उपवास--सदकर्म! भूख--पाप! उपवास--सदकर्म! तो उपवास करो!" अब यह शरीर का गुणधर्म है कि भूख लगती है। यह स्वाभाविक है। इसमें कहीं कोई पाप नहीं है। और उपवास में कहीं कोई पुण्य नहीं है। अब यह एक ऐसी खतरनाक बात है, अगर सिखा दी गई कि उपवास करो, यही पुण्य है, तो तुम सीख बैठे। अब तुम उपवास करोगे तो परेशानी में पड़ोगे, क्योंकि भूख लगेगी--तो लगेगा: कैसा पापी हूं, मुझे भूख लग रही है! अगर भोजन करोगे तो अपराध-भाव मालूम पड़ेगा कि मैं भी कैसा हूं कि अभी तक उपवास करने में सफल नहीं हो पाया! अब तुमको डाल दिया एक ऐसे जाल में जहां से तुम बाहर न हो सकोगे।

"कामवासना पाप है!" कामवासना से तुम पैदा हुए हो। जीवन का सारा खेल कामवासना पर खड़ा है। तुम्हारा रोआं-रोआं कामवासना से बना है। कण-कण तुम्हारी देह का काम-अणु से बना है। अब तुम कहते हो: कामवासना पाप है!

मेरे पास युवक आ जाते हैं। वे कहते हैं: बड़े बुरे विचार उठ रहे हैं। मैं उनसे पूछता हूं: "तुम मुझे कहो भी तो कौन-से बुरे विचार उठते हैं!" वे कहते हैं: "अब आपसे क्या कहना, आप सब समझते हैं। बड़े बुरे विचार उठ रहे हैं!" यह तुम्हारे साधु-महात्माओं की कृपा है। और जब पूछताछ करता हूं, उनसे जब बहुत खोदता हूं तो वे कहते हैं कि स्त्रियों का विचार मन में आता है। इसमें क्या बुरा विचार उठ रहा है? तुम्हारे पिता के मन में नहीं

आता तो तुम कहां होते? इसमें बुरा कहां है? नैसर्गिक है। इससे पार हो जाना जरूर महत्वपूर्ण है, लेकिन इसमें बुरा कुछ भी नहीं है। इसमें पाप कुछ भी नहीं है; यह प्राकृतिक है। इससे पार हो जाना जरूर महिमापूर्ण है, क्योंकि प्रकृति के पार जो हुआ उसकी महिमा होनी ही चाहिए। तो जो ब्रह्मचर्य को उपलब्ध हो जाए, उसकी महिमा है; जो न उपलब्ध हो सके, उसकी निंदा नहीं।

मेरी बात को ठीक से समझना। जो कामवासना में है, प्राकृतिक है, स्वस्थ है, सामान्य है; कोई निंदा की बात नहीं; जो होना चाहिए, वही हो रहा है। लेकिन जो कामवासना के पार होने लगा--और बड़ी घटना घटने लगी, प्रकृति का और कोई ऊपर का नियम इसके जीवन में काम करने लगा। यह शुभ है। इसका स्वागत करना। मेरी दृष्टि में ऊपर की सीढ़ियों का स्वागत तो होना चाहिए, नीचे की सीढ़ियों की निंदा नहीं। क्योंकि निंदा का दुष्परिणाम होता है। नीचे की सीढ़ियों की निंदा करने से ऊपर की सीढ़ियां तो नहीं मिलतीं; नीचे की सीढ़ियों पर भी ऐसी कठिन विक्षिप्तता पैदा हो जाती है कि पार करना ही असंभव हो जाता है।

अगर तुमने कामवासना को सहज भाव से स्वीकार कर लिया, तुम एक दिन उसके पार हो जाओगे। साखी बनो! साक्षी बनो! रोओ-धोओ मत, चिल्लाओ मत! बुरा-भला मत कहो, गाली- गलौज मत बको! परमात्मा ने अगर कामवासना दी है तो कोई प्रयोजन होगा। निष्प्रयोजन कुछ भी नहीं हो सकता। उसने सभी को कामवासना दी है, तो जरूर कोई महत प्रयोजन होगा।

और तुमने कभी सुना, कोई नपुंसक कभी बुद्धत्व को उपलब्ध हुआ है? तुमने कभी यह बात सुनी? नहीं, क्योंकि वही काम-ऊर्जा बुद्धत्व बनती है। वही काम-ऊर्जा जब धीरे-धीरे वासना से मुक्त होती है, वही काम-ऊर्जा जब काम से मुक्त होती है, तो राम बन जाती है।

सोना मिट्टी में पड़ा है, खदान में पड़ा है। शुद्ध करना है, यह भी सच है। लेकिन मिट्टी से सने पड़े सोने की कोई निंदा नहीं है। यही ढंग है शुरू होने का। खदान से ही तो निकलेगा सोना। जब खदान से निकलेगा तो कचरा-कूड़ा भी मिला होगा। फिर आग से गुजारेंगे, कचरा-कूड़ा जल जाएगा; जो बचना है बच रहेगा।

जीवन की आग से अगर कोई साक्षीपूर्वक गुजरता रहे, तो जो-जो गलत है, अपने-आप विसर्जित हो जाता है, उससे लड़ना नहीं पड़ता।

तुम्हारे साधु-महात्माओं ने तुम्हारी फांसी लगा दी है। उन्होंने तुम्हें इतना घबरा दिया है--"सब पाप, सब गलत!" इस कारण तुम इतनी आत्मनिंदा से भर गए हो कि तुम्हारे जीवन में विषाद ही विषाद है और कहीं कोई सूरज की किरण दिखाई नहीं पड़ती।

जीवन को स्वीकार करो! जीवन प्रभु का है। जैसा उसने दिया, वैसा स्वीकार करो। और उस स्वीकार में से ही धीरे-धीरे तुम पाओगे, जागते-जागते जाग आती है और सब रूपांतरित हो जाता है।

तुम्हारे साधु-संतों ने तुम्हें दुष्कर्मों से मुक्त नहीं किया है; तुम्हें सिर्फ पापी होने का अपराध-भाव दे दिया है। और अपराध-भाव जब पैदा हो जाए तो जीवन में बड़ी अड़चन हो जाती है--छाती पर पत्थर रख गए।

अब मैं देखता हूं: तुम अपनी पत्नी को प्रेम भी करते हो और साथ में यह भी सोचते हो कि इसी के कारण नर्क में पड़ा हूं! अब यह प्रेम भी संभव नहीं हो पाता; क्योंकि जिसके कारण तुम नर्क में पड़े हो उसके साथ प्रेम कैसे होगा! तुम पत्नी को गले भी लगाते हो--एक हाथ से गले लगा रहे, दूसरे से हटा रहे हो। तृप्ति भी नहीं मिलती गले लगाने से। तृप्ति मिल जाती तो पार हो जाते। तृप्ति मिलती नहीं, क्योंकि गले कभी पूरा लगा नहीं पाते; बीच में साधु-संत खड़े हैं। तुम पत्नी को गले लगा रहे हो, बीच में साधु-संत खड़े हैं। वे कह रहे हैं: "यह क्या कर रहे हो? दुष्कर्म हो रहा है।" तो उनके कारण कभी तुम पत्नी को पूरा गले भी नहीं लगा पाते। और जिसने पत्नी को पूरा गले नहीं लगाया, वह कभी स्त्री से मुक्त न हो सकेगा।

मुक्ति हमारी होती है ज्ञान से। जो भी जान लिया जाता है, उससे हम मुक्त हो जाते हैं। जान लो ठीक से। और जानने के लिए जरूरी है कि अनुभव कर लो। और अनुभव में जितने गहरे जा सको, चले जाओ। अनुभव को पूरा का पूरा जान लो। जानते ही मुक्त हो जाओगे; फिर कुछ जानने को बचेगा नहीं। जब जानने को कुछ भी नहीं बचता तो मुक्ति हो जाती है।

साधु-संतों के कारण ही तुम कामवासना से मुक्त नहीं हो पा रहे हो। और साधु-संतों के कारण ही तुम जीवन की बहुत-सी बातों से मुक्त नहीं हो पा रहे हो, क्योंकि वे तुम्हें जानने ही नहीं देते। वे तुम्हें अटकाये हुए हैं। वे तुम्हें उलझाये हुए हैं।

तो तुम पूछते हो कि "साधु-संतों ने सदा से सदकर्म की प्रेरणा दी है...।"

उन्हीं की प्रेरणा के कारण तुम भटके हो। मैं तो सिर्फ उनको संतपुरुष कहता हूं, जिन्होंने साक्षी होने की प्रेरणा दी; सदकर्म की नहीं। क्योंकि सदकर्म में तो दुष्कर्म का भाव आ गया। सदकर्म में तो निंदा आ गई, मूल्य आ गया। मूल्य-मुक्त होने का जिन्होंने तुम्हें पाठ सिखाया, उन्हीं को मैं कहता हूं संत। अष्टावक्र को मैं कहता हूं संत। जनक को मैं कहता हूं संत। इनकी बात समझो। ये तो कहीं नहीं कह रहे कि क्या बुरा है, क्या भला है। ये तो इतना ही कह रहे हैं, जो भी है जैसा भी है, जाग कर देख लो। जागना एकमात्र बात मूल्य की है। कर्म नहीं--अकर्ता-भाव।

हम कहते हैं बुरा न मानो
यौवन मधुर सुनहली छाया
सपना है, जादू है, छल है ऐसा
पानी पर मिटती-बनती रेखा-सा
मिट-मिट कर दुनिया देखे रोज तमाशा
यह गुदगुदी यही बीमारी
मन हलसावे, छीजे काया
हम कहते हैं बुरा न मानो
यौवन मधुर सुनहली छाया।

है तो छाया, पर बड़ी मधुर, बड़ी सुनहली! निंदा नहीं है इसमें। है सुंदर, सुनहली, बड़ी मधुर! पर है छाया! है माया! पानी पर खींची रेखा! खींच भी नहीं पाते, मिट जाती है। बंद आंख में देखा गया सपना! शायद सपनों में देखा गया सपना!

कभी तुमने सपने देखे, जब तुम सपने में सपना देखते हो? रात सोये, सपना देखा कि अपने सोने के कमरे में खड़े हैं और सोने जा रहे हैं। लेटे बिस्तर पर, लेट गये बिस्तर पर, नींद लग गई और सपना देखने लगे। सपने में सपना और भी सपना हो सकता है।

यह पूरा जीवन ही एक सपना है, फिर इस सपने में और छोटे-छोटे सपने हैं--कोई धन का देखता, कोई पद का देखता, कोई काम का देखता। फिर छोटे सपने में और छोटे-छोटे सपने हैं। बीज सपने का है, फिर उसमें शाखायें हैं, वृक्ष हैं, फल हैं, फूल हैं--वे सभी सपने हैं। और सब सुंदर हैं। क्योंकि है तो माया उसी की। है तो प्रभु की ही माया। यह खेल भी किसी बड़ी गहरी सिखावन के लिए है, कोई बड़ी देशना इसमें छिपी है।

तो मैं तुमसे यह नहीं कहता कि यह गलत है; न तुमसे मैं कहता, यह सही है। मैं तुमसे इतना ही कहता हूं, यह सपना है, तुम जागो तो यह टूटे।

सदकर्म की प्रेरणा का अर्थ है: तुम सपने में बने थे चोर, कोई महात्मा आया, उसने कहा, "देखो चोर बनना बहुत बुरा है, साधु बनो।" तुम सपने में साधु बन गये। अब सपने में चोर थे कि साधु थे, क्या फर्क पड़ता है! सुबह उठ कर सब बराबर हो जायेगा। तुम पानी पर लिख रहे थे भजन कि गाली-गलौज, क्या फर्क पड़ता है! पानी पर सब खींची रेखायें मिट जाती हैं। तुम यह तो न कह सकोगे कि मेरी न मिटे, क्योंकि मैं भजन लिख रहा

था! तुम यह तो न कह सकोगे कि दूसरे की मिट गई, ठीक, क्योंकि वह तो गाली लिख रहा था; मैं तो भजन लिख रहा था, राम-राम लिख रहा था, मेरी तो नहीं मिटनी चाहिए थी। लेकिन पानी पर कोई भी रेखा खींचो, शुभ-अशुभ, सब बराबर है।

इस संसार में सदकर्म-असदकर्म सब बराबर हैं। यह आत्यंतिक उदघोषणा है। और यह उदघोषणा जहां मिले वहीं जानना कि तुम संतपुरुष के करीब आये।

अगर संतपुरुष यह कह रहा हो: अच्छे काम करो! अच्छे काम का मतलब--ब्लैक मार्केट मत करो, चोरी मत करो, टैक्स समय पर चुकाओ, तो यह राष्ट्र-संत है। इनका मतलब राजनीति से है। यह सरकारी एजेंट है। यह कह रहा है कि ऐसा-ऐसा करो जैसा सरकार चाहती है। मैं यह नहीं कह रहा कि तुम ब्लैक मार्केट करो। मैं यह भी नहीं कह रहा कि तुम टैक्स मत भरो। मैं तुमसे यह कह रहा हूं: जो तुमसे ऐसा कहे वह राजनीतिक चालबाज है।

इसलिए तो राजनीतिज्ञ किन्हीं-किन्हीं संतों के पास जाते हैं। जिन संतों से उन्हें सहारा मिलता है राजनीति में, उन्हीं के पास जाते हैं। स्वभावतः सांठ-गांठ है। जो संत कहता है देश में अनुशासन रखो, तो जो सत्ता में होता है वह उसके पास जाता है कि बिलकुल ठीक। लेकिन जो सत्ता में नहीं है वह उससे दूर हट जाता है; वह कहता है, "यह तो हद हो गई! अगर अनुशासन रहा तो हम सत्ता में कैसे पहुंचेंगे?"

तो जो सत्ता में है वह अनुशासन वाले संत के पास जाता है, जो कहता है कि अनुशासन रखना बड़ा अच्छा है। और जो सत्ता में नहीं है वह क्रांतिकारी संत के पास जाता है, जो कहता है, "तोड़-फोड़ कर डालो सब, मिटा डालो सब।" सत्ता में पहुंच कर यह भी संत को बदल लेगा। सत्ता में पहुंच कर यह भी अनुशासन वाले के पास जायेगा। और जो सत्ता में था, सत्ता से नीचे उतर आये तो वह भी उपद्रव में भरोसा करने लगेगा, तब उपद्रव का नाम क्रांति, उपद्रव का नाम प्रजातंत्र, लोकतंत्र-- अच्छे-अच्छे नाम! लेकिन इनका संतत्व से कुछ लेना-देना नहीं है।

या संत तुम्हें छोटे-मोटे जीवन के आचरण सिखाता है: "अणुव्रत...। ऐसा मत करो, वैसा मत करो!" सुविधा सिखाता है जीवन की। नहीं, इनसे भी कुछ लेना-देना नहीं है। ये सामाजिक व्यवस्था के, सामाजिक सरमाये के हिस्सेदार हैं। वास्तविक संत तुमसे यह कहता ही नहीं कि तुम क्या करो। वास्तविक संत तो इतना ही कहता है कि तुम यह जान लो कि तुम कौन हो। फिर उस जानने के बाद जो होगा वही ठीक होगा और उसको न जानने से जो भी हो रहा है वही गलत होगा।

इस बात को खूब ठीक से समझ लेना। नासमझी की पूरी गुंजाइश है।

मेरे पास लोग आते हैं। वे कहते हैं कि आप हमें बता दें, कि हम क्या करें? मैं उनसे कहता हूं: मेरा तुम्हारे करने से कुछ लेना-देना नहीं है। मैं तो इतना ही बता सकता हूं कि तुम कैसे जागो। मैं तो इतना ही बता सकता हूं कि तुम्हें कैसे पता चले कि तुम कौन हो! तुम्हें यह पता चल जाए कि तुम कौन हो, तुम्हें थोड़ा अंतस-साक्षात्कार हो जाए, तुम्हें जरा भीतर की चेतना का स्वाद लग जाए--बस फिर तुम जो करोगे वह ठीक होगा। फिर तुम गलत कर न सकोगे, क्योंकि गलत करने के लिए मूर्च्छा चाहिए।

इसको ऐसा समझें। तुम्हें अब तक अधिकतर यही समझाया गया है कि तुम ठीक करोगे तो संत हो जाओगे। मैं तुमसे कहता हूं: तुम संत हो जाओ तो तुमसे ठीक होने लगेगा। तुम्हें अब तक यही समझाया गया है कि तुम अगर सदाचरण करोगे तो तुम साधु हो जाओगे। मैं तुमसे कहता हूं: तुम साधु हो जाओ, तुमसे सदाचरण होगा। सदाचरण बाहर है, साधुता भीतर है। जो भीतर है, उसे पहले लाना होगा। अंतःकरण बदले तो आचरण बदलता है। और अंतःकरण बदल जाने के बाद जो अपूर्व घटना घटती है, वही मूल्यवान है। तुम स्वच्छंद हो जाते हो और फिर भी तुम्हारे कारण किसी को कोई हानि नहीं होती। तुम अपने छंद से जीने लगते हो। तुम्हारा अपना राग, तुम्हारा अपना गीत, तुम्हारी अपनी धुन--और फिर भी तुम्हारे कारण किसी को हानि नहीं होती!

अब ये दो तरह के लोग हैं। एक तो वे हैं, जो दूसरों की हानि करते हैं; इनको तुम कहते हो दुष्कर्मी, पापी। और एक वे हैं जो दूसरों के हित में अपनी हानि करते हैं; इनको तुम कहते हो साधु-संत। इन दोनों में बहुत फर्क नहीं है। एक दूसरे को हानि पहुंचाता है और एक खुद को हानि पहुंचाता है--मगर दोनों हानि पहुंचाते हैं। मैं उसे संत कहता हूं जो किसी को हानि नहीं पहुंचाता--न किसी और को, न अपने को। ऐसी अपूर्व घटना जब घटती है तो ही धर्म की किरण उतरी। भीड़ को यह घटना नहीं घटती--नहीं घट सकती है।

फिर पूछा है: "इस संदर्भ में कृपा कर समझाएं कि आज का प्रबुद्ध वर्ग मानव-जीवन की विकार-जनित समस्याओं का समाधान कैसे करे?"

प्रबुद्ध किसको कहते हो? विश्वविद्यालय से डिग्री मिल गई, इसलिए? कि दो चार लेख दो-कौड़ी के अखबारों में लिख लिए, इसलिए? प्रबुद्ध किसको कहते हो? कि थोड़ी बकवास कर लेते हो तर्कयुक्त ढंग से, इसलिए? प्रबुद्ध किसको कहते हो?

"प्रबुद्ध" शब्द बहुत बड़ा शब्द है। बुद्धिजीवी को प्रबुद्ध कहते हो? क्योंकि स्कूल में मास्टर है? कॉलेज में प्रोफेसर है? बुद्धिजीवी एक बात है, प्रबुद्ध बड़ी और बात है। प्रबुद्ध का अर्थ है: जो जागा; जो बुद्ध हुआ; जिसका भीतर का दीया जला! और जिसके भीतर का दीया जला, वह पूछेगा कि मानव-जीवन की विकार-जनित समस्याओं का समाधान कैसे करें? तो फिर प्रबुद्ध क्या खाक हुए? कोई कहे कि मेरे घर में दीया जल रहा है, अब मुझे यह बताएं कि अंधेरे को कैसे बाहर करें, तो हम उसको क्या कहेंगे? हम कहेंगे तुम किसी भ्रांति में पड़े हो, दीया जल नहीं रहा होगा। दीया जब जलता है तो अंधेरा बाहर हो जाता है। अभी तुम पूछ रहे हो अंधेरे को कैसे बाहर करें, तो तुम्हारा दीया बुझा हुआ होगा; तुमने सपना देखा होगा कि दीया जल गया, दीया जला नहीं है। दीया उधार होगा, किसी और का ले आए हो उठा कर। तुमने अपने प्राणों से उसमें ज्योति नहीं डाली। तुम्हारी आत्मा नहीं जल रही है, प्रकाशित नहीं हो रही है।

प्रबुद्ध बनो! यही तो सारी चेष्टा है। न तो शिक्षा से कोई प्रबुद्ध बनता है, न बुद्धिवादी बनने से कोई प्रबुद्ध बनता है, न तर्क की क्षमता से कोई प्रबुद्ध बनता है। प्रबुद्ध तो बनता है कोई साक्षी होने से। और तब, तब तुम नहीं पूछते कि विकार-जनित जीवन की समस्याओं का कैसे समाधान करें! तब तुम्हें एक बात दिखाई पड़ जाती है कि साक्षी होने में समाधान है। तुम्हें जैसा समाधान हुआ, वैसे ही दूसरों को भी समाधान होगा। तब तुम लोगों को साक्षी बनाने की चेष्टा में संलग्न होते हो। यही तो महावीर ने किया चालीस वर्षों तक, बुद्ध ने किया। क्या सिखा रहे थे लोगों को? सिखा रहे थे कि हम जाग गए, तुम भी जाग जाओ। बस जागने में समाधान है।

यही मैं कर रहा हूं। मैं तुमसे कुछ भी नहीं कहता कि तुम कैसा आचरण बनाओ। बकवास है आचरण की बात। खूब की जा चुकी, तुम बना नहीं पाये। उस करने के कारण ही तुम उदास आत्महीनता से भर गये। मैं तुमसे कहता हूं: जागो! एक बात मैंने देखी है कि जागने से सब समस्याओं का समाधान हो जाता है और बिना जागे किसी समस्या का समाधान नहीं होता। ज्यादा से ज्यादा तुम समस्याएं बदल सकते हो। एक समस्या की जगह दूसरी बना लोगे, दूसरी की जगह तीसरी बना लोगे; पर इससे कुछ फर्क नहीं पड़ता, समस्या अपनी जगह खड़ी रहती है। जागने में समाधान है। लेकिन तुम दूसरों को तभी जगा सकोगे जब तुम जाग गये हो, इसके पहले नहीं। बुझी आत्मा का व्यक्ति किसी की आत्मा को जगा नहीं सकता।

अड़चन है। जिन्होंने पूछा है, उनकी आकांक्षा है लोगों की विकार-जनित समस्याओं को दूर करें। तुम अपनी कर लो। फिर तुम्हें समझ आयेगी।

बुद्ध के पास एक आदमी आया और उसने कहा कि मुझे बतायें कि मैं कैसे लोगों की सेवा करूं? बुद्ध ने उसकी तरफ देखा और कहते हैं, ऐसा कभी न हुआ था, उनकी आंख में एक आंसू आ गया। वह आदमी थोड़ा घबराया। उसने कहा कि आपकी आंख में आंसू, मामला क्या है? बुद्ध ने कहा: तुम पर मुझे बड़ी करुणा आ रही है। अभी तूने अपनी ही सेवा नहीं की, तो दूसरों की सेवा कैसे करेगा?

अक्सर ऐसा होता है कि दूसरों की सेवा करने वाले वे ही लोग हैं जो अपनी समस्याओं से भागना चाहते हैं। मैं बहुत से समाज-सेवकों को जानता हूं। इनके जीवन में कोई शांति नहीं है, मगर ये दूसरों के जीवन में शांति लाने में लगे हैं। और अक्सर इनके कारण दूसरों के जीवन में अशांति आती है, शांति नहीं। अगर दुनिया के समाज-सेवक कृपा करके अपनी-अपनी जगह बैठ जायें तो काफी सेवा हो जाये। मगर वे बड़ा उपद्रव मचाते हैं।

मैंने सुना है, एक ईसाई पादरी ने अपने स्कूल में बच्चों को कहा कि कम से कम प्रतिदिन एक अच्छा काम करना ही चाहिए। दूसरे दिन उसने पूछा कि कोई अच्छा काम किया? तीन लड़के खड़े हो गये। उसने पहले से पूछा: तुमने क्या अच्छा काम किया? उसने कहा: मैंने एक बूढ़ी स्त्री को सड़क पार करवाई। दूसरे से पूछा; उसने कहा: मैंने भी एक बूढ़ी स्त्री को सड़क पार करवाई। पादरी को लगा कि दोनों को बूढ़ी स्त्रियां मिल गईं! फिर उसने कहा कि हो सकता है, कोई बूढ़ी स्त्रियों की कमी तो है नहीं। तीसरे से पूछा कि तूने क्या किया? उसने कहा कि मैंने भी एक बूढ़ी स्त्री को सड़क पार करवाई। उसने कहा: तुम तीनों को बूढ़ी स्त्रियां मिल गईं? उन्होंने कहा: तीन नहीं थीं, एक ही बूढ़ी स्त्री थी। और सड़क पार होना भी नहीं चाहती थी, बामुश्किल करवा पाये। मगर करवा दी!

ये जो जिनको तुम समाज-सेवक कहते हो, ये तुम्हारी फिक्र ही नहीं करते कि तुम पार होना भी चाहते हो कि नहीं, ये तुमको पार करवा रहे हैं! ये कहते हैं: हम तो पार करवा कर रहेंगे। ये तुम्हारी तरफ देखते ही नहीं कि तुम सेवा करवाने को राजी भी हो!

मैं राजस्थान में यात्रा पर था, उदयपुर से लौटता था। कोई दो बजे रात होंगे, कोई आदमी गाड़ी में चढ़ आया। वह एकदम मेरे पैर दाबने लगा। मैंने कहा: "भाई, तू सोने भी दे!"

उसने कहा: "आप सोयें, मगर हम तो सेवा करेंगे।"

"तू सेवा करेगा तो हम सो कैसे पायेंगे?"

उसने कहा: "अब आप बीच में न बोलें। उदयपुर में भी मैं आया था, लेकिन लोगों ने मुझे अंदर न आने दिया। तो मैंने कहा, आप लौटोगे तो ट्रेन से; मेरे गांव से तो गुजरोगे! अब मैं दोत्तीन स्टेशन तो सेवा करूंगा ही। आप बीच में बोलें ही मत।"

मैंने कहा: "तब ठीक है, तब मामला ही नहीं है कोई। अगर यह सेवा है तो फिर तू कर।"

अक्सर जो तुम्हारी सेवा कर रहे हैं, कभी तुमने गौर से देखा कि तुम करवाना भी चाहते हो? जिनकी सेवा कर रहे हैं, वे सेवा करवाना चाहते हैं?

एक मित्र मेरे पास आये, वे आदिवासियों को शिक्षा दिलवाने का काम करते हैं, स्कूल खुलवाते हैं। जीवन लगा दिया। बड़े उससे भरे थे--सर्टिफिकेट राष्ट्रपति, प्रधानमंत्री के! और इन लोगों का काम ही है सर्टिफिकेट देना, कुछ और काम दिखाई पड़ता नहीं। सब रखे थे फाइल बना कर। कहा कि मैंने इतनी सेवा की। वे मुझसे भी चाहते थे। मैंने कहा कि मैं नहीं दूंगा कोई सर्टिफिकेट, क्योंकि मैं पहले उनसे पूछूं--आदिवासियों से--कि वे शिक्षित होना चाहते हैं? उन्होंने कहा: "आपका मतलब?" मैंने कहा: "मतलब मेरा यह है कि जो शिक्षित हैं, उनसे तो पूछो कि शिक्षा मिल कर मिल क्या गया उनको? रो रहे हैं! और तुम बेचारे गरीबों को, उनको भी शिक्षित किए दे रहे हो। वे भले हैं। न उनमें महत्वाकांक्षा है न दिल्ली जाने का रस है। तुम उनको शिक्षा देने में लगे हो। तुम जबर्दस्ती उनको पिला रहे हो शिक्षा। तुम पहले यह तो पक्का कर लो कि जो शिक्षित हो गये हैं उनके जीवन में कोई फूल खिले हैं?"

वे थोड़े बेचैन हुए। उन्होंने कहा: "यह मैंने कभी सोचा नहीं।"

मैंने कहा: "कितने साल से सेवा कर रहे हो?"

"कोई चालीस साल हो गए।"

सत्तर साल के करीब उनकी उम्र है। मैंने कहा: चालीस साल सेवा करते हो गए, सेवा करने के पहले तुमने यह भी न सोचा कि शिक्षा लाई क्या है दुनिया में! उधर अमरीका में दूसरी हालत चल रही है। वहां बड़े से बड़े शिक्षा-शास्त्री कह रहे हैं कि बंद करो।

डी. एच. लारेंस ने लिखा है कि सौ साल के लिए सब विश्वविद्यालय और सब स्कूल बंद कर दो तो आदमी के करीब-करीब नब्बे प्रतिशत उपद्रव बंद हो जाएं।

इवान इलिच ने अभी घोषणा की है, वह एक नयी योजना है उसकी: "डीस्कूलिंग सोसायटी"। वह कहता है, स्कूल समाप्त करो। स्कूल से समाज को मुक्त करो।

मैंने उनसे पूछा: "चालीस साल सेवा करने के शुरू करते वक्त यह तो सोचा होता कि तुम इनको दोगे क्या! आदिवासी तुमसे ज्यादा प्रसन्न है, तुमसे ज्यादा मस्त, प्रकृति के तुमसे ज्यादा करीब, रूखी-सूखी से राजी, अकिंचन में बड़ा धनी, सांझ तारों में नाच लेता है, रात सो जाता है--ऐसे अहोभाव से!"

बर्ट्रेंड रसेल ने लिखा है कि जब पहली दफा मैंने एक जंगल में आदिवासियों को देखा तो मेरे मन में ईष्या पैदा हो गई कि काश मैं भी ऐसा ही नाच सकता, लेकिन अब तो मुश्किल है! काश, इसी तरह घुंघरू बांध कर ढोल की थाप पर मेरे पैर भी फुदकते!

नाचते आदिवासियों को देख कर ईष्या नहीं होती? उनकी आंखों की सरलता देख कर ईष्या नहीं होती?

जहां-जहां शिक्षा पहुंची है वहां-वहां सारा उपद्रव पहुंचा। बस्तर में आज से तीस साल पहले तक कोई हत्या नहीं होती थी आदिवासियों में। और अगर कभी हो जाती थी तो जो हत्या करता था वह खुद सौ पचास मील चल कर मजिस्ट्रेट को खबर कर देता था जा कर पुलिस में कि मैंने हत्या की, मुझे जो दंड देना हो वह दे दें। चोरी नहीं होती थी। लोगों के पास पहली तो बात कुछ था ही नहीं कि चुरा लो और वस्तुओं का कोई मूल्य नहीं था। जहां जीवन का मूल्य है, वहां वस्तुओं का क्या मूल्य है! मगर ये समाज-सेवक हैं!

वे तो बहुत घबरा गए। वे कहने लगे: "आपका मतलब है कि मैंने जीवन व्यर्थ गंवाया!"

मैंने कहा: "व्यर्थ नहीं गंवाया है, बड़े खतरनाक ढंग से गंवाया है। दूसरों की जान ली! तुम अपना गंवाते, तुम्हारा जीवन है।"

वे बोले कि आप मुझे बहुत उदास किए दे रहे हैं। मैं बहुत लोगों के पास गया, सबने मुझे सर्टिफिकेट दी है।

मैंने कहा: "उनकी भी गलती है। वे भी तुम्हारे जैसे ही समाज-सेवक हैं जिन्होंने तुम्हें सर्टिफिकेट दी है।"

दूसरे की सेवा करने जाना मत, जब तक अपने घर का दीया न जल गया हो; जब तक बोध बिलकुल साफ न हो जाये; जब तक तुम्हारे भीतर का प्रभु बिलकुल निखर न आये--तब तक भूल कर भी सेवा मत करना। भूल कर उपदेश मत देना। भूल कर किसी की समस्या का समाधान मत करना। तुम्हारा समाधान और भी महंगा पड़ेगा। बीमारी ठीक, तुम्हारी औषधि और जान लेने वाली हो जाएगी। शायद बीमार कुछ दिन जिंदा रह लेता; तुम्हारी औषधि बिलकुल मार डालेगी।

अगर तुम दो सौ साल पहले के बड़े-बड़े विचारकों की किताबें उठा कर पढ़ो तो वे सब कहते थे: जिस दिन विश्व में सभी लोग शिक्षित हो जायेंगे, परम शांति का राज्य हो जाएगा। अब पश्चिम में सब शिक्षित हो गये, इससे ज्यादा अशांति का कभी कोई समय नहीं रहा। अब यह बड़ी हैरानी की बात है। जिन्होंने कहा, होश में नहीं थे, बेहोश थे। शिक्षा से शांति का क्या लेना-देना! शिक्षा तो अशांति लाती है, क्योंकि शिक्षा महत्वाकांक्षा देती है।

तो तुम पूछते हो कि "विकार-जनित समस्याएं हैं, इनका प्रबुद्ध वर्ग कैसे समाधान करे!"

अधिकतर सौ में निन्यानबे समस्याएं तो इस प्रबुद्ध वर्ग के कारण ही हैं। यह प्रबुद्ध वर्ग कृपा करे और अपनी प्रबुद्धता का प्रचार न करे तो कई समस्याएं तो अपने-आप समाप्त हो जाएं। करीब-करीब मामला ऐसा है: प्रबुद्ध वर्ग ही समस्या पैदा करता है, प्रबुद्ध वर्ग ही उसको हल करने का उपाय करता है।

मैंने सुना है, एक आदमी गांव में जाता, रात में लोगों की खिड़कियों पर कोलतार फेंक देता-- कांच पर, दरवाजों पर। तीन-चार दिन बाद उसका पार्टनर--एक ही धंधे में थे--उस गांव में आता और चिल्लाता: किसी की खिड़की पर कोलतार तो नहीं है, साफ करवा लो! करवाना ही पड़ता, क्योंकि वह लोगों की खिड़की पर कोलतार...। किसी को यह पता भी नहीं चलता कि दोनों साझेदार हैं, एक ही धंधे में हैं; आधा काम पहला करता है, आधा दूसरा करता है। जब एक सफाई करता रहता है एक गांव में, तो दूसरा दूसरे गांव में तब तक कोलतार फेंक देता है। ऐसे धंधा खूब चलता है।

प्रबुद्ध वर्ग, जिसको तुम कहते हो, वही समस्याएं पैदा करता है, वही समस्याओं के हल करता है। प्रबुद्ध वर्ग प्रबुद्ध वर्ग नहीं है। प्रबुद्धों का वर्ग हो भी नहीं सकता। सिंहों के नहीं लेहड़े, संतों की नहीं जमात! कभी बुद्ध होता है कोई एकाध व्यक्ति। वर्ग होता है? जमात! कोई भीड़-भाड़ होती है? एक बुद्ध काफी होता है और करोड़ों दीये जल जाते हैं। तुम इसके पहले कि किसी के घर में रोशनी लाने की चेष्टा करो, ठीक से टटोल लेना, तुम्हारे भीतर रोशनी है? इसलिए मेरा सारा ध्यान और सारा जोर एक ही बात पर है: तुम्हारे चैतन्य का जागरण! इसलिए ध्यान पर मेरा इतना जोर है।

लोग मेरे पास आते हैं, वे कहते हैं कि इतनी समस्याएं हैं और आप ध्यान में ही मेहनत लगाये रखते हैं! और समस्याओं में उलझा है समाज, इनको हल करवाइये!

मैं उनको कहता हूं कि वह कोई हल होने वाली नहीं, जब तक कि ध्यान न फैल जाये। ध्यान फैले तो संभव है कि समस्याओं का समाधान हो जाये।

ध्यान करो, ध्यान करवाओ!

आखिरी प्रश्न: मेरे एक वरिष्ठ मित्र हैं, उन्हें आदर करता हूं। धर्म में गहरी रुचि है उनकी और उन्हें आपका सत्संग भी कभी उपलब्ध हुआ था। मैं जब भी उनसे मिलता हूं तो बातचीत के क्रम में वे मुझे बहुत मित्रतापूर्वक तुलसीदास का यह वचन सुना देते हैं: "मूरख हृदय न चेत जो गुरु मिलहिं विरंचि सम।" और इधर कुछ समय से मुझे आपके प्रसंग में तुलसीदास का यह वचन स्मरण हो आता है, यद्यपि मानने का जी नहीं होता। अपनी मूर्खता से कैसे निपटूं भगवान?

निपटने की उतनी बात नहीं, स्वीकार करने की बात है। निपटने में तो फिर जाल फैल जायेगा। तो मूर्ख ज्ञानी बन सकता है, मगर अज्ञान न मिटेगा। स्वीकार की बात है। स्वीकार कर लो कि मैं अज्ञानी हूं।

और जैसे ही तुमने स्वीकार किया, उसी विनम्रता में, उसी स्वीकार में ज्ञान की किरण आनी शुरू होती है। अज्ञान को स्वीकार करना ज्ञान की तरफ पहला कदम है--अनिवार्य कदम है।

तो अगर यह मानने का मन नहीं होता कि मैं और मूरख, तो फिर तुम जो भी करोगे वह गलत होगा। क्योंकि फिर तुम यही कोशिश करोगे कि इकट्ठा कर लो कहीं से ज्ञान, थोड़ा संग्रह कर लो ज्ञान, छिपा लो अपने अज्ञान को, ढांक लो वस्त्रों में, सुंदर गहनों में ओढ़ा दो। लेकिन इससे कुछ मिटेगा नहीं, भीतर अज्ञान तो बना ही रहेगा। स्वीकार कर लो! अंगीकार कर लो! सचाई यही है।

और इसको तुलना के ढंग से मत सोचो कि तुम मूरख हो और दूसरे ज्ञानी हैं। कोई ज्ञानी नहीं है। दुनिया में दो तरह के अज्ञानी हैं--एक, जिनको पता है; और एक, जिनको पता नहीं। जिनको अपने अज्ञान का पता है उन्हीं को ज्ञानी कहा जाता है, और जिनको अपने अज्ञान का पता नहीं, उन्हीं को अज्ञानी कहा जाता है। बाकी दोनों अज्ञानी हैं।

सुकरात ने कहा है कि जब मैंने जान लिया कि मैं कुछ भी नहीं जानता हूं, उसी दिन प्रकाश हो गया।

उपनिषद कहते हैं: जो कहे मैं जानता हूं, जान लेना कि नहीं जानता। जो कहे मुझे कुछ पता नहीं, उसका पीछा करना; हो सकता है उसे पता हो!

जिंदगी बड़ी पहेली है।

तुम एक बार अज्ञान को स्वीकार तो करो! और सत्य को स्वीकार न करोगे तो करोगे क्या? कब तक झुठलाओगे? बात साफ है कि हमें कुछ भी पता नहीं। न हमें पता है हम कहां से आते; न हमें पता है हम कहां जाते; न हमें पता है हम कौन हैं--अब और क्या चाहिए प्रमाण के लिए?

रास्ते पर कोई आदमी मिल जाए चौराहे पर और तुम उससे पूछो कहां से आते हो; वह कहता है पता नहीं; तुम कहो, कहां जाते; वह कहता है, पता नहीं--तो तुम्हें कुछ शक होगा कि नहीं? और तुम पूछो तुम हो कौन; वह कहे कि पता नहीं--तो तुम क्या कहोगे इस आदमी को? "तू पागल है! तुझे यह भी पता नहीं कहां से आता है, कहां जाता है। खैर इतना तो पता होगा कि तू कौन है!" वह कहे कि मुझे कुछ पता नहीं। "नाम-धाम ठिकाना?" कुछ पता नहीं। तो तुम कहोगे कि यह आदमी या तो पागल है या धोखा दे रहा है।

हमारी दशा क्या है? जीवन के चौराहे पर हम खड़े हैं। जहां खड़े हैं, वहीं चौराहा है; क्योंकि हर जगह से चार राहें फूटती हैं, हजार राहें फूटती हैं। जहां खड़े हैं वहीं विकल्प हैं। कोई तुमसे पूछे कहां से आते हो, पता है? झूठी बातें मत दोहराना। सुनी बातें मत दोहराना। यह मत कहना कि हमने गीता में पढ़ा है। उससे काम न चलेगा। गीता में पढ़ा है, उससे तो इतना ही पता चलेगा कि तुम्हें कुछ भी पता नहीं है; नहीं तो गीता में पढ़ते? अगर तुम्हें पता होता कहां से आते हो, तो पता होता, गीता की क्या जरूरत थी? तुम यह मत कहना कि कुरान में सुना है कि कहां से आते, कि भगवान के घर से आते। न तुम्हें भगवान का पता है न तुम्हें उसके घर का पता है--तुम्हें कुछ भी पता नहीं।

लेकिन आदमी का अहंकार बड़ा है। अहंकार के कारण वह स्वीकार नहीं कर पाता कि मैं अज्ञानी हूं। और अहंकार ही बाधा है। स्वीकार कर लो, अहंकार गिर जाता है। अज्ञान की स्वीकृति से ज्यादा और महत्वपूर्ण कोई मौत नहीं है, क्योंकि उसमें मर जाता है अहंकार, खतम हुआ, अब कुछ बात ही न रही। तुम अचानक पाओगे हलके हो गये! अब कोई डर न रहा। सच्चे हो गये!

अब लोग सिखलाते हैं: झूठ मत बोलो। और जो सिखलाते हैं झूठ मत बोलो, उनसे बड़ा झूठ कोई बोलता दिखाई पड़ता नहीं। झूठ मत बोलो, समझाते हैं। और उनसे पूछो, दुनिया किसने बनाई? वे कहते हैं: भगवान ने बनाई। जैसे ये मौजूद थे। थोड़ा सोचो तो कि झूठ की भी कोई सीमा होती है! दूसरे लोग झूठ बोल रहे हैं, छोटी-मोटी झूठ बोल रहे हैं। कोई कह रहा है कि हमारे पास दस हजार रुपये हैं और हैं हजार रुपये, कोई बड़ा झूठ नहीं बोल रहा है। हजार रुपये तो हैं! सभी ऐसा झूठ बोलते हैं। घर में मेहमान आ जाता है, पड़ोस से सोफा मांग लाते हैं, उधार दरी ले आते हैं, सब ढंग-ढौंग कर देते हैं। झूठ बोल रहे हो। तुम यह बतला रहे हो मेहमान को कि बहुत है अपने पास।

मुल्ला नसरुद्दीन ने नई-नई दूकान खोली तो इसी तरह सामान सजा लिया। फोन तक ले आया किसी मित्र के घर से मांग कर, रख लिया वहां। कोई कनेक्शन तो था नहीं। एक आदमी आया। समझ कर कि ग्राहक है, उसने कहा: बैठो। जल्दी से फोन उठा कर वह जरा बात करने लगा कि "हां-हां, लाख रुपये का सौदा कर लो। ठीक है, लाख का कर लो।" फोन नीचे रख कर उसने उस आदमी से कहा: "कहिए, क्या बात है?" उसने कहा कि मैं फोन कंपनी से आता हूं, कनेक्शन लगाने आया हूं।

ये लाख रुपये की बात कर रहे थे। आदमी चेष्टा करता है दिखलाने की जो नहीं है। मगर ये कोई बड़े झूठ नहीं हैं, छोटे-छोटे झूठ हैं और क्षमा-योग्य हैं और इनसे जिंदगी में थोड़ा रस भी है। इसमें कुछ बहुत अड़चन नहीं, इनको झूठ क्या कहना!

लेकिन कोई तुमसे पूछता है: दुनिया किसने बनाई? छोटा बच्चा तुमसे पूछता है कि पिताजी, दुनिया किसने बनाई? तुम कहते हो: "भगवान ने बनाई।" कितना बड़ा झूठ बोल रहे हो! कुछ तो सोचो! तुम्हें पता है? और किससे बोल रहे हो! उस नन्हें छोटे बच्चे से, जो तुम पर भरोसा करता है! किसको धोखा दे रहे हो--जिसकी श्रद्धा तुम पर है और जिसका अगाध विश्वास है कि तुम झूठ न बोलोगे!

फिर अगर बड़े हो कर यह बेटा तुम पर श्रद्धा खो दे तो रोना मत, क्योंकि एक न एक दिन तो इसे पता चलेगा कि पिताजी को भी पता नहीं है, माताजी को भी पता नहीं है। वे पिताजी-माताजी के जो गुरुजी हैं, उनको भी पता नहीं। पता किसी को भी नहीं है और सब दावा कर रहे हैं कि पता है। जिस दिन यह बेटा जानेगा उस दिन इसकी श्रद्धा अगर खो जाए तो जुम्मेवार कौन? तुम्हीं हो जुम्मेवार! तुमने ऐसे झूठ बोले जिनका तुम प्रमाण न जुटा सकोगे।

बात क्या थी? क्या तुम इतनी-सी बात कहने में लजा गए कि बेटा, मुझे पता नहीं! काश, तुम इतना कह सकते! और जो बाप अपने बेटे से कह सकता है कि बेटा मुझे पता नहीं, तू भी खोजना, मैं भी अभी खोज रहा हूं, अगर तुझे कभी पता चल जाए तो मुझे बता देना, मुझे पता चलेगा तो तुझे बता दूंगा; लेकिन मुझे पता नहीं, किसने बनाई, बनाई कि नहीं बनाई, परमात्मा है या नहीं, मुझे कुछ पता नहीं! हो सकता है, आज तुम्हें अड़चन मालूम पड़े, लेकिन बेटा समझेगा, एक दिन समझेगा और तुम्हारे प्रति कभी आदर न खोयेगा! तुम्हारे प्रति श्रद्धा बढ़ती ही जाएगी। जब जवान होगा तब समझेगा कि कितना कठिन है अज्ञान को स्वीकार कर लेना, क्योंकि उसका अहंकार उसे बतायेगा कि अज्ञान को स्वीकार करना बड़ा कठिन है, लेकिन मेरे पिता ने अज्ञान स्वीकार किया था। तुम्हारी छाप उस पर अनूठी रहेगी। तुम्हारे प्रति श्रद्धा के खोने का कोई कारण नहीं है। लेकिन लोग झूठी बातें कहे चले जाते हैं।

मुल्ला नसरुद्दीन अपने बेटे से कह रहा था...। स्कूल से आया बेटा। पास नहीं हुआ क्लास में। तो कहा: "तुझे पता है कि तेरी उम्र में बिथोवन ने कितना संगीत जन्मा दिया था और माइकल एंजिलो ने कैसी-कैसी मूर्तियां बना दी थीं! और तेरी क्या हालत है?"

उस बेटे ने बाप की तरफ देखा और कहा: "ठीक। और आपकी उम्र में पिताजी माइकल एंजिलो कहां थे? कहां तक पहुंच गए थे? आप कहां पहुंचे हैं?" लेकिन तब दुख होता है, तब पीड़ा लगती है, तब अड़चन होती है।

धर्म के नाम पर बड़े झूठ चलते हैं। इन झूठों को गिरा देना धार्मिक आदमी का लक्षण है। इसलिए तो मैं कहता हूं: धार्मिक आदमी हिंदू, मुसलमान, जैन, बौद्ध नहीं हो सकता। धार्मिक आदमी तो सरल होगा, सहज होगा। वह तो जो जानता है उतना ही कहेगा, वह भी झिझक कर कहेगा; जो नहीं जानता, उस का तो कभी दावा नहीं करेगा। वह तो अपने को खोल कर रख देगा कि ऐसा-ऐसा, इतना मैं जानता हूं, थोड़ा-बहुत मैं जानता हूं।

एक मां अपनी बेटी से कह रही थी कि जब मैं तुम्हारी उम्र की थी तो मैंने किसी पुरुष का स्पर्श भी नहीं किया था और तुम गर्भवती होकर आ गई कॉलेज से! यह तो बताओ कि जब तुम्हारे बच्चे होंगे, तुम उनसे क्या कहोगी?

उस लड़की ने कहा: "कहेंगे तो हम भी यही, लेकिन जरा संकोच से कहेंगे, आप बड़े निस्संकोच से कह रही हैं।"

समझे मतलब? उस लड़की ने कहा: "कहेंगे तो हम भी यही कि तुम्हारी उम्र में हमारा कुंवारापन बिलकुल पवित्र था, हमने किसी पुरुष को छुआ भी नहीं था, कहेंगे तो हम भी यही जो आप कह रही हैं; लेकिन हम इतने निस्संकोच भाव से न कह सकेंगे जितने निस्संकोच भाव से आप कह रही हैं। हम थोड़े झिझकेंगे।"

यह झूठ है। यह झूठ मत कहें। जैसा है वैसा ही कहें। जो है वही कहें। जितना जाना उसमें रत्ती भर मत जोड़ें, सजायें भी मत। ऐसा निपट सत्य के साथ जो जीता है, उसे अगर किसी दिन महासत्य मिल जाता है तो आश्चर्य क्या!

इंच भर झूठे दावे न करें। दावे करने की बड़ी आकांक्षा होती है, क्योंकि अहंकार झूठे दावों से जीता है। अहंकार झूठ है और झूठ से उसका भोजन है, झूठ से उसको भोजन मिलता है। और इसलिए तुम्हारे झूठ को कोई जरा टटोल दे, झझकोर दे, तो तुम कितने नाराज होते हो!

अब तुम कहते हो, भगवान ने बनाई दुनिया। और बेटा पूछ ले: "भगवान को किसने बनाया?" बस भन्ना जाते हो, नाराज हो जाते हो। कहते हो: "यह बात मत पूछो। जब बड़े होओगे, तुम समझ लोगे।" और तुम्हें भी पता है कि बड़े हो गये तुम भी, अभी समझे कुछ नहीं। यह कैसे समझ लेगा? यही तुम्हारे बाप तुमसे कहते रहे कि बड़े हो जाओगे, समझ लोगे। बड़े तुम हो गये, अभी तक कुछ समझे नहीं। यही तुम इससे कह रहे, यही यह अपने बेटों से कहता रहेगा। ऐसे झूठ चलते पीढ़ी- दर-पीढ़ी और जीवन विकृत होता चला जाता है।

तुम सच हो जाओ।

अज्ञान बिलकुल स्वाभाविक है, पता हमें नहीं है। इसका एक पहलू तो यह है कि हमें पता नहीं है; इसका दूसरा पहलू यह है कि जीवन रहस्य है, पता हो ही नहीं सकता। इसका एक पहलू तो यह है कि मुझे पता नहीं है, इसका दूसरा पहलू यह है कि जीवन अज्ञात रहस्य है, पहेली है, इसलिए पता हो कैसे सकता है! इसलिए जिसने जाना कि मैं नहीं जानता वही जानने में समर्थ हो जाता है, क्योंकि वह जान लेता है: जीवन परम गुह्य रहस्य है।

परमात्मा रहस्य है, कोई सिद्धांत नहीं। जो कहता है परमात्मा है, वह यह थोड़े ही कह रहा है कि परमात्मा कोई सिद्धांत है; वह यह कह रहा है कि हम समझ नहीं पाये, समझ में आता नहीं, ज्ञात होता नहीं--अज्ञेय है। इस सारी बात को हम एक शब्द में रख रहे हैं कि परमात्मा है। परमात्मा शब्द में इतना ही अर्थ है कि सब रहस्य है और समझ में नहीं आता; सूझ-बूझ के पार है; बुद्धि के पार है; तर्क के अतीत है; जहां विचार थक कर गिर जाते हैं, वहां है; अवाक जहां हो जाती है चेतना; जहां आश्चर्यचकित हम खड़े रह जाते हैं...।

कभी तुम किसी वृक्ष के पास आश्चर्यचकित हो कर खड़े हुए हो? जीवन कितने रहस्य से भरा है! लेकिन तुम्हारे ज्ञान के कारण तुम मरे जा रहे हो, रहस्य को तुम देख नहीं पाते। और जिसने रहस्य नहीं देखा, वह क्या खाक धर्म से संबंधित होगा! एक छोटा-सा बीज वृक्ष बन जाता है और तुम नाचते नहीं, तुम रहस्य से नहीं भरते! रोज सुबह सूरज निकल आता है, आकाश में करोड़ों-करोड़ों अरबों तारे घूमते हैं, पक्षी हैं, पशु हैं, इतना विराट विस्तार है जीवन का--इसमें हर चीज रहस्यमय है, किसी का कुछ पता नहीं है! और जो-जो तुम्हें पता है वह कामचलाऊ है।

विज्ञान बहुत दावे करता है कि हमें पता है। पूछो कि पानी क्या है? तो वह कहता है हाइड्रोजन और आक्सीजन का मेल है। लेकिन हाइड्रोजन क्या है? तो फिर अटक गये। फिर झिझक कर खड़े हो गये। तो वह कहता है: हाइड्रोजन क्या है, अब यह जरा मुश्किल है। क्योंकि हाइड्रोजन तो तत्व है। दो का संयोग हो तो हम बता दें। पानी दो का संयोग है--हाइड्रोजन और आक्सीजन का जोड़, एच टू ओ। लेकिन हाइड्रोजन तो सिर्फ हाइड्रोजन है।

अब कोई तुमसे पूछे, पीला रंग क्या है? तो अब क्या खाक कहोगे कि पीला रंग क्या है! पीला रंग यानी पीला रंग। हाइड्रोजन यानी हाइड्रोजन। अब कहना क्या है? मगर यह कोई उत्तर हुआ कि हाइड्रोजन यानी हाइड्रोजन?

नहीं, विज्ञान भी कोई उत्तर देता नहीं; थोड़ी दूर जाता है, फिर ठिठक कर खड़ा हो जाता है। सब शास्त्र थोड़ी दूर जाते हैं, फिर ठिठक कर गिर जाते हैं। मनुष्य की क्षमता सीमित है और असीम है जीवन--जाना कैसे जा सकता है! इसलिए जिसने जान लिया कि नहीं जानता, वही ज्ञानी है।

तो घबराओ मत। स्वीकार करो। स्वीकार से ही विसर्जन है।

मूल्य-मुक्त कर ले चल मुझको तू अमूल्य की ओर

संशय-निश्चय दोनों दुविधा, इनसे परे विकास
मृगमरीचिका क्षितिज, स्वयं की सीमा है आकाश
समय समय है भोले दृग की छलना संध्या-भोर

पूर्ण नहीं है वस्तु, भाव में केवल उसका भास
बांध सके चिन्मय को, ऐसा किस भाषा का पाश!
कुंभ कूप तक पहुंचे इतना कर सकती बस डोर

कंचन नहीं, अकिंचन की ही दुर्लभ है पहचान
पंचभूत तो नग्न, तत्व ने पहन लिया परिधान
छुड़ा तुला की कारा, पकडूं मैं अमूल्य का छोर

मूल्य-मुक्त कर ले चल मुझको तू अमूल्य की ओर

मूल्य आदमी के बनाये हैं; अमूल्य परमात्मा का है। सब तुलायेंत्तराजू हमारे हैं; परमात्मा अनतौला है, अमित; कोई माप नहीं--अमाप!

जो भी जाना जा सकता है वह सीमित है--जानने से ही सीमित हो गया। क्षुद्र ही जाना जा सकता है, विराट नहीं।

बांध सके चिन्मय को, ऐसा किस भाषा का पाश!

शब्द में, भाषा में, सिद्धांत में, बंधेगा नहीं...।

कुंभ कूप तक पहुंचे इतना कर सकती बस डोर

कुएं में डाला गगरी को तो जो डोरी है, वह पानी तक पहुंचा दे गगरी को, और क्या कर सकती है! तर्क और विचार और बुद्धि बस परमात्मा तक पहुंचा देती है, और कुछ नहीं कर सकती। वहां जा कर जाग आती है। बस वहां डोर खतम हो जाती है। जहां बुद्धि की डोर खतम होती है, वहीं प्रभु का जल है। जहां विचार, तर्क की क्षमता टूटती है, गिरती है, बिखरती है, वहीं चिन्मय का आकाश है।

अज्ञान सिर्फ इस बात का सबूत है कि परमात्मा रहस्य है। ज्ञान इस बात का सबूत होता है कि परमात्मा भी रहस्य नहीं, पढ़ा जा सकता है, खोला जा सकता है। नहीं, उसके महल में प्रवेश तो होता है; बाहर कोई नहीं निकलता। उसमें डुबकी तो लगती है; लौटता कोई भी नहीं है।

रामकृष्ण कहते थे: दो नमक के पुतले एक मेले में भाग लेने गये थे। समुद्र के तट पर लगा था मेला। कई लोग विचार कर रहे थे कि समुद्र की गहराई कितनी है। कोई कहता था, अतल है! गए कोई भी न थे। अतल तो तभी कह सकते हैं जब तल तक गये और तल न पाया। यह तो बड़ी मुश्किल बात हो गई। कोई कहता था, तल है, लेकिन बहुत गहराई पर है। लेकिन वे भी गये न थे।

नमक के पुतलों ने कहा: "सुनो जी, हम जाते हैं, हम पता लगा आते हैं।" वे दोनों कूद पड़े। वे चले गहराई में। वे जैसे-जैसे गहरे गए वैसे-वैसे पिघले। नमक के पुतले थे, सागर के जल से ही बने थे, सागर में ही गलने लगे। पहुंच तो गए बहुत गहराई में, लेकिन लौटें कैसे! तब तक तो खो चुके थे, कभी लौटे नहीं। लोग कुछ दिन तक प्रतीक्षा करते रहे। फिर लोगों ने कहा, अरे पागल हुए हो, नमक के पुतले कहीं पता लाएंगे! खो गए होंगे।

ऐसी ही संतों की गति है। परमात्मा में डुबकी तो मार गए, लेकिन परमात्मा से ही बने हैं; जैसे नमक का पुतला सागर से ही बना है। तो डुबकी तो लग जाती है। फिर चले गहराई की तरफ। जैसे-जैसे गहरे होते हैं, वैसे-वैसे पिघलने लगे, खोने लगे। एक दिन पता तो चल जाता है गहराई का; लेकिन जब तक पता चलता है तब तक खुद मिट जाते हैं, लौटने का उपाय नहीं रह जाता।

कोई प्रभु से कभी लौटा? लौटने का कोई उपाय नहीं। इसलिए कोई उत्तर नहीं है। निरुत्तर है आकाश, निरुत्तर है अस्तित्व। इस निरुत्तर अस्तित्व के सामने तुम मौन हो कर झुको, अकिंचन हो कर झुको। अज्ञान को स्वीकार कर झुको। वहीं प्रकाश की किरण उतरेगी। तुम मिटे कि प्रकाश हुआ। तुम मिटे कि परमात्मा प्रगट हुआ। तुम्हारे होने में बाधा है।

हरि ॐ तत्सत्!

उन्चालीसवां प्रवचन

विषयों में विरसता मोक्ष है

अष्टावक्र उवाच।

यथातथोपदेशेन कृतार्थः सत्त्वबुद्धिमान्।
आजीवमपि जिज्ञासुः परस्तत्र विमुह्यति।। १२६।।
मोक्षो विषयवैरस्यं बंधो वैषयिको रसः।
एतावदेव विज्ञानं यथेच्छसि तथा कुरु।। १२७।।
वाग्मिप्राज्ञमहोद्योगं जनं मूकजडालसम्।
करोति तत्त्वबोधोऽयमतस्त्यक्तो बुभुक्षिभिः।। १२८।।
न त्वं देहो न ते देहो भोक्ता कर्ता न वा भवान्।
चिद्रूपोऽसि सदा साक्षी निरपेक्षः सुखं चर।। १२९।।
रागद्वेषौ मनोधर्मौ न मनस्ते कदाचन।
निर्विकल्पोऽसि बोधात्मा निर्विकारः सुखं चर।। १३०।।
सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
विज्ञाय निरहंकारो निर्ममस्त्वं सुखी भव।। १३१।।
विश्वं स्फुरति यत्रेदं तरंगा इव सागरे।
तत्त्वमेव न संदेहश्चिन्मूर्ते विज्वरो भव।। १३२।।

पूर्वीय शास्त्र सागर की तरंगों जैसे हैं। तरंग पर तरंग, एक जैसी तरंग-- सागर कभी थकता नहीं।

जब पहली बार पश्चिम में पूर्व के शास्त्रों के अनुवाद होने शुरू हुए तो पश्चिमी विचारक जिस बात से सदा परेशान रहे, वह थी कि पूर्व के शास्त्रों में बड़ी पुनरुक्ति है। वही-वही बात फिर-फिर कर कही है। थोड़े-थोड़े भेद से, थोड़े शब्दों के अंतर से, वही-वही सत्य बार-बार उदघाटित किया है।

पश्चिम के लिखने का ढंग दूसरा है। बात संक्षिप्त में लिखी जाती है; एक बार कह दी, कह दी, फिर उसकी पुनरुक्ति नहीं की जाती। पूर्व का ढंग बिलकुल भिन्न है। क्योंकि पूर्व ने जाना कि कहने वाले का सवाल नहीं है, सुनने वाले का सवाल है। सुनने वाला बेहोश है। बार-बार कहने पर भी सुन लेगा, यह भी पक्का नहीं। बार-बार कहने पर भी सुन ले तो भी बहुत। बार-बार कहने पर भी चूक जाये, यही ज्यादा संभव है। ये सत्य इतने बड़े हैं कि एक बार में तो समझ में ही नहीं आते, हजार बार में भी नहीं आते।

फिर, कहा जाता है कि अच्छा शिक्षक वही है जो अपनी कक्षा में आखिरी विद्यार्थी को ध्यान में रख कर बोले। कक्षा में सब तरह के विद्यार्थी हैं--प्रथम कोटि के, द्वितीय कोटि के, तृतीय कोटि के। जिनका बुद्धि अंक बहुत है, वे भी हैं; जिनके पास बुद्धि बहुत दुर्बल है, वे भी हैं। अच्छा शिक्षक वही है जो आखिरी विद्यार्थी को ध्यान में रख कर बोले; प्रथम विद्यार्थी को ध्यान में रख कर बोले तो एक समझेगा, उनतीस बिना समझे रह जाएंगे; अंतिम को ध्यान में रख कर बोले तो तीस ही समझ पाएंगे।

पूर्व के शास्त्र परम सत्य को भी कहते हैं तो अंतिम को ध्यान में रख कर कहते हैं। इसलिए बहुत पुनरुक्ति है। बार-बार वही बात कही गई है। इससे तुम घबराना मत। और फिर भी पुनरुक्ति एकदम पुनरुक्ति नहीं है; हर पुनरुक्ति में सत्य की कोई नई झलक है।

सागर के किनारे बैठ कर देखो, लहरें आती हैं, एक-सी ही लगती हैं! लेकिन, और थोड़े गौर से देखना तो कोई लहर दूसरी जैसी नहीं। बहुत ध्यानपूर्वक देखोगे तो हर लहर का अपना हस्ताक्षर है, अपना ढंग, अपनी

लय, अपना रूप, अपनी अभिव्यक्ति। कोई दो लहरें एक जैसी नहीं; जैसे किन्हीं दो आदमियों के अंगूठे के चिह्न एक जैसे नहीं। ऐसे ऊपर से देखो तो सब अंगूठे एक जैसे लगते हैं, गौर से देखने पर, खुर्दबीन से देखने पर पता चलता है कि बड़े भिन्न हैं।

अष्टावक्र की गीता में तुम्हें बहुत बार लगेगा कि पुनरुक्ति हो रही है, तो समझना कि तुम्हारे पास खुर्दबीन नहीं है। एक अर्थ में पुनरुक्ति है। सत्य दो नहीं हैं। तो एक ही सत्य को बार-बार कहना है, अहर्निश कहना है। पुनरुक्ति है। तुमने शास्त्रीय संगीत सुना? वैसी ही पुनरुक्ति है। शास्त्रीय संगीतज्ञ एक ही पंक्ति को दोहराए चला जाता है। लेकिन जो जानता है, जिसे शास्त्रीय संगीत का स्वाद है, वह देखेगा कि हर बार दोहराता है, लेकिन नये ढंग से; हर बार उसका जोर अलग-अलग हिस्से पर होता है; पंक्ति वही होती है, जोर बदल जाता है; पंक्ति वही होती है, स्वरों का उतार-चढ़ाव बदल जाता है।

लेकिन जिसे स्वरों के उतार-चढ़ाव का कोई पता नहीं, आरोह-अवरोह का कोई पता नहीं, वह तो कहेगा: "क्या एक ही बात कहे चले जा रहे हो! क्या घंटों तक...!"

बात एक ही है, और फिर भी एक ही नहीं है। शास्त्र शास्त्रीय संगीत हैं। बात एक ही है, फिर भी एक ही नहीं है। लहरें एक जैसी लगती हैं क्योंकि तुमने गौर से देखा नहीं। अन्यथा हर लहर में तुम कुछ नया भी पाओगे।

सत्य नया भी है और पुराना भी--पुरातनतम, सनातन और नित नूतन। सत्य विरोधाभास है।

तो जब तुम्हें कभी ऐसा लगे कि फिर पुनरुक्ति हो रही है...। अष्टावक्र फिर वही-वही बात क्यों कहने लगते हैं? कह तो चुके। किसी नये पहलू को उभारते हैं।

इस बात को भी खयाल में ले लो। तुम्हारा सभी का शिक्षण पश्चिमी ढंग से हुआ है। अब तो पूरब भी पूरब नहीं है, अब तो पूरब भी पश्चिम है। पूरब तो रहा ही नहीं अब, पश्चिम ही पश्चिम है। तुम्हारी शिक्षण की व्यवस्था भी पश्चिम से निर्धारित होती है। इसलिए पूर्वीय व्यक्ति को भी लगता है कि पुनरुक्ति है। लेकिन पूरब की शिक्षण-पद्धति अलग थी।

पूरब की सारी जीवन-व्यवस्था वर्तुलाकार है; जैसे गाड़ी का चाक घूमता है। पश्चिम की जीवन-व्यवस्था वर्तुलाकार नहीं है, रेखाबद्ध है। जैसे तुमने एक सीधी लकीर खींची, बस सीधी चली जाती है, कभी लौटती नहीं। पूर्व कहता है: यह तो बात संभव ही नहीं, सीधी लकीर तो होती ही नहीं। अगर तुमने यूकलिड की ज्यामेट्री पढ़ी है और उसके आगे तुमने फिर ज्यामेट्री नहीं पढ़ी तो तुम भी राजी होओगे पश्चिम से। लेकिन अब पश्चिम में एक नई ज्यामेट्री पैदा हुई: नानयूकलिडियन। यूकलिड की ज्यामेट्री कहती है कि एक रेखा सीधी खींची जा सकती है। लेकिन नई ज्यामेट्री कहती है: कोई रेखा सीधी होती नहीं। वह पूरब की बात पर उतर आई है।

यह जमीन गोल है, जमीन पर तुम कोई भी रेखा खींचोगे, अगर खींचते ही चले जाओ, वह वर्तुल बन जाएगी। तुम छोटे-से कागज पर खींचते हो; तुम्हें लगता है यह सीधी रेखा है। जरा खींचते जाओ, खींचते जाओ, तो तुम एक दिन पाओगे तुम्हारी रेखा वर्तुलाकार बन गई। इस पृथ्वी पर कोई चीज सीधी हो नहीं सकती। पृथ्वी वर्तुलाकार है। और जीवन की सारी गतिविधि वर्तुलाकार है। देखते हो, गर्मी आती, वर्षा आती, शीत आती, फिर गर्मी आ जाती है--घूम गया चाक। आकाश में तारे घूमते, सूरज घूमता सुबह-सांझ, चांद घूमता, बचपन, जवानी, बुढ़ापा घूमता--तुम देखते हो, चाक घूम जाता है!

जीवन में सभी वर्तुलाकार है। इसलिए पूरब के शास्त्र का जो वक्तव्य है वह भी वर्तुलाकार है। वह जीवन के बहुत अनुकूल है। वही चाक फिर घूम जाता है, भला भूमि नयी हो। बैलगाड़ी पर बैठे हो--चाक वही घूमता रहता है, भूमि नयी आती जाती है। अगर तुम चाक को ही देखोगे तो कहोगे: क्या पुनरुक्ति हो रही है! लेकिन अगर चारों तरफ तुम गौर से देखो तो वृक्ष बदल गये राह के किनारे के, जमीन की धूल बदल गई। कभी रास्ता पथरीला था, कभी रास्ता सम आ गया। सूरज बदल गया; सांझ थी, रात हो गई, चांदत्तारे आ गए। चाक पर

ध्यान रखो तो वही चाक घूम रहा है। लेकिन अगर पूरे विस्तार पर ध्यान रखो तो चाक वही है, फिर भी सब कुछ नया होता जा रहा है। इसे स्मरण रखना, नहीं तो यह खयाल आ जाए कि पुनरुक्ति है तो आदमी सुनना बंद कर देता है। सुनता भी रहता है, फिर कहता है: ठीक है, यह तो मालूम है।

पहला सूत्र: "सत्वबुद्धि वाला पुरुष जैसेत्तैसे, यानी थोड़े-से उपदेश से भी कृतार्थ होता है। असत बुद्धि वाला पुरुष आजीवन जिज्ञासा करके भी उसमें मोह को ही प्राप्त होता है।"

यथातथोपदेशेन कृतार्थः सत्व बुद्धिमान्।
आजीवमपि जिज्ञासुः परस्तत्र विमुह्यति।।

जिसके पास थोड़ी-सी जागी हुई बुद्धि है वह तो थोड़े-से उपदेश से भी जाग जाता है, जरा-सी बात चोट कर जाती है। जिसके पास सोई हुई बुद्धि है उस पर तुम लाख चोटें करो, वह करवट ले-ले कर सो जाता है।

बुद्ध के पास एक व्यक्ति आया एक सुबह। उसने आ कर बुद्ध के चरणों में प्रणाम किया और कहा कि शब्द से मुझे मत कहें, शब्द तो मैं बहुत इकट्ठे कर लिया हूं। शास्त्र मैंने सब पढ़ लिये हैं। मुझे तो शून्य से कह दें, मौन से कह दें। मैं समझ लूंगा। मुझ पर भरोसा करें।

बुद्ध ने उसे गौर से देखा और आंखें बंद कर लीं और चुप बैठ गए। वह आदमी भी आंख बंद कर लिया और चुप बैठ गया। बुद्ध के शिष्य तो बड़े हैरान हुए कि यह क्या हो रहा है। पहले तो उसका प्र्श्न ही थोड़ा अजीब था कि "बिना शब्द के कह दें और भरोसा करें मुझ पर और मैं शास्त्र से बहुत परिचित हो गया हूं, अब मुझे निःशब्द से कुछ खबर दें। सुनने योग्य सुन चुका; पढ़ने योग्य पढ़ चुका; पर जो जानने योग्य है, वह दोनों के पार मालूम होता है। मुझे तो जना दें। मुझे तो जगा दें! ज्ञान मांगने नहीं आया हूं। जागरण की भिक्षा मांगने आया हूं।" एक तो उसका प्रश्न ही अजीब था, फिर बुद्ध का चुपचाप उसे देख कर आंख बंद कर लेना, और फिर उस आदमी का भी आंख बंद कर लेना, बड़ा रहस्यपूर्ण हो गया। बीच में बोलना ठीक भी न था, कोई घड़ी भर यह बात चली चुपचाप, मौन ही मौन में कुछ हस्तांतरण हुआ, कुछ लेन-देन हुआ। वह आदमी बैठा-बैठा मुस्कुराने लगा आंख बंद किये ही किये। उसके चेहरे पर एक ज्योति आ गई। वह झुका, उसने फिर प्रणाम किया बुद्ध को, धन्यवाद दिया और कहा: "बड़ी कृपा। जो लेने आया था, मिल गया।" और चला गया।

आनंद ने बुद्ध से पूछा कि "यह क्या मामला है? क्या हुआ? आप दोनों के बीच क्या हुआ? हम तो सब कोरे के कोरे रह गए। हमारी पकड़ तो शब्द तक है, हमारी पहुंच भी शब्द तक है; निःशब्द में क्या घटा? हम तो बहरे के बहरे रह गए। हमें तो कुछ कहें, शब्दों में कहें।"

बुद्ध ने कहा: आनंद, तू अपनी जवानी में बड़ा प्रसिद्ध घुड़सवार था, योद्धा था। घोड़ों में तूने फर्क देखा? कुछ घोड़े होते हैं--मारो, मारो, बामुश्किल चलते हैं; मारो तो भी नहीं चलते--खच्चर जिनको हम कहते हैं। कुछ घोड़े होते हैं आनंद, मारते ही चल पड़ते हैं। और कुछ घोड़े ऐसे भी होते हैं कि मारने का मौका नहीं देते; तुम कोड़ा फटकारो, बस फटकार काफी है। कुछ घोड़े ऐसे भी होते हैं आनंद कि कोड़ा फटकारो भी मत, कोड़ा तुम्हारे हाथ में है और घोड़ा सजग हो जाता है। बात काफी हो गई। इतना इशारा काफी है। और आनंद, ऐसे भी घोड़े तूने जरूर देखे होंगे, तू बड़ा घुड़सवार था, कि कोड़ा तो दूर, कोड़े की छाया भी काफी होती है। यह ऐसा ही घोड़ा था। इसको कोड़े की छाया काफी थी।

सत्वबुद्धि का अर्थ होता है: जो शब्द के बिना भी समझने में तत्पर हो गया। सत्वबुद्धि का अर्थ होता है: जो सत्य को सीधा-सीधा समझने के लिए तैयार है; जो आना-कानी नहीं करता; जो इधर-उधर नहीं देखता। जो सीधे-सीधे सत्य को देखता है वही सत्वबुद्धि है।

सत्व को देखने की प्रक्रिया आती कैसे है? आदमी सत्वबुद्धि कैसे होता है? इससे तुम उदास मत हो जाना कि अगर हम असतबुद्धि हैं तो हम क्या करें! सत्वबुद्धि होते तो समझ लेते। अब असतबुद्धि हैं तो क्या करें!

और तुम्हारे शास्त्रों की जिन्होंने व्याख्या की है, उन्होंने भी कुछ ऐसा भाव पैदा करवा दिया है कि जैसे परमात्मा ने दो तरह के लोग पैदा किये हैं--सत्वबुद्धि और असत्वबुद्धि। तो फिर तो कसूर परमात्मा का है, फिर तुम्हारा क्या! अब तुम्हारे पास असतबुद्धि है तो तुम करोगे भी क्या? तुम्हारा बस क्या है? तुम तो परतंत्र हो गये। नहीं, मैं इस भ्रांति को तोड़ना चाहता हूं। सत्वबुद्धि और असत्वबुद्धि ऐसी कोई देनगियां नहीं हैं। तुम न तो सत्वबुद्धि लेकर आते हो न असत्वबुद्धि लेकर आते हो। इस जीवन के अनुभव से ही सत्वबुद्धि पैदा होती है या नहीं पैदा होती है। मेरी व्याख्या तुम खयाल में ले लो। मेरी व्याख्या सत्वबुद्धि की है: जो व्यक्ति जीवन के अनुभवों से गुजरता है और अनुभवों से बचना नहीं चाहता है। जो तथ्य को स्वीकार करता है और तथ्य का साक्षात्कार करता है, वह धीरे-धीरे सत्व को जानने का हकदार हो जाता है। तथ्य के साक्षात्कार से सत्य के साक्षात्कार का अधिकार उत्पन्न होता है। उसकी बुद्धि सत्वबुद्धि हो जाती है।

जैसे, फर्क समझो। एक युवा व्यक्ति मेरे पास आता और कहता है: "मुझे कामवासना से बचाएं।" इसका कोई अनुभव नहीं है कामवासना का। यह अभी कच्चा है। इसने अभी जाना भी नहीं है। यह कामवासना से बचने की जो बात कर रहा है, यह भी किसी से सीख ली है। यह उधार है। सुन लिये होंगे किसी संत के वचन, किसी संत ने गुणगान किया होगा ब्रह्मचर्य का। यह लोभ से भर गया है। ब्रह्मचर्य का लोभ इसके मन में आ गया है। इसे बात तर्क से जंच गई है। लेकिन अनुभव तो इसका गवाही हो नहीं सकता, अनुभव इसका है नहीं। इसकी बुद्धि को स्वीकार हो गई है। इसने बात समझ ली--गणित की थी। लेकिन इसके अनुभव की कोई साक्षी इसकी बुद्धि के पास नहीं है।

तो यह तथ्य को अभी इसने अनुभव नहीं किया। और अगर यह ब्रह्मचर्य की चेष्टा में लग जाये तो लाख उपाय करे, यह ब्रह्मचर्य को उपलब्ध न हो सकेगा। इसके पास ब्रह्मचर्य को समझने की सत्वबुद्धि ही नहीं है।

एक आदमी है, जो अभी दौड़ा नहीं जगत में और दौड़ने के पहले ही थक गया है; जो कहता है, मुझे तो बचाएं इस आपा-धापी से--इसे आपा-धापी का कोई निज अनुभव नहीं है। इसने दूसरों की बातें सुन ली हैं; जो थक गये हैं, उनकी बातें सुन ली हैं। लेकिन जो थक गये हैं, उनका अपना अनुभव है। यह अभी थका नहीं है खुद। अभी इसके जीवन में तो ऊर्जा भरी है। अभी महत्वाकांक्षा का संसार खुलने ही वाला है और यह उसे रोक रहा है। यह रोक सकता है चेष्टा करके। लेकिन वही चेष्टा इसके जीवन में अवरोध बन जाएगी। अनुभव से व्यक्ति सत्व को उपलब्ध होता है।

इसलिए मैं कहता हूं: जो भी तुम्हारे मन में कामना-वासना हो, जल्दी भागना मत। कच्चे-कच्चे भागना मत। फल पक जाए तो अपने से गिरता है। तब फल सत्व को उपलब्ध होता है। कच्चा फल जबर्दस्ती तोड़ लो, सड़ेगा और घाव भी वृक्ष को लगेगा। और जबर्दस्ती भी करनी पड़ेगी। और पके फल की जो सुगंध है, वह भी उसमें नहीं होगी, स्वाद भी नहीं होगा। कड़वा और तिक्त होगा। अभी इसे वृक्ष की जरूरत थी। वृक्ष तो किसी फल को तभी छोड़ता है, जब देखता है कि जरूरत पूरी हो गई है। वृक्ष से फल को जो मिलना था मिल गया, सारा रस मिल गया; अब इस वृक्ष में इस फल को लटकाए रखना बिलकुल अर्थहीन है। यह फल कृतार्थ हो चुका। यह इसकी यात्रा का क्षण आ गया। अब वृक्ष इसको छुटकारा देगा, छुट्टी देगा, इसे मुक्त करेगा, ताकि वृक्ष अपने रस को किसी दूसरे कच्चे फल में बहा सके; ताकि कोई दूसरा कच्चा फल पके।

सत्वबुद्धि का मेरा अर्थ है: जीवन के अनुभव से ही तुम्हारे जीवन की शैली निकले तो तुम धीरे-धीरे सत्व को उपलब्ध होते जाओगे। और जब कोई सत्व को उपलब्ध व्यक्ति सुनने आता है तो तत्क्षण बात समझ में आ जाती है। कोड़ा नहीं, कोड़े की छाया भी काफी है।

अब जिस घोड़े ने कभी कोड़ा ही नहीं देखा और कोई कभी इस पर सवार भी नहीं हुआ और कभी किसी ने कोड़ा मारा भी नहीं और जिसे कोड़े की पीड़ा का कोई अनुभव नहीं है, वह कोड़े की छाया से नहीं चलने वाला। वह तो कोड़े की चोट पर भी नहीं चलेगा। वह तो कोड़े की चोट से हो सकता है और अड़ कर खड़ा हो जाए।

जिस बात का अनुभव नहीं है उस बात से हमारे जीवन की समरसता नहीं होती।

"सत्वबुद्धि वाला पुरुष जैसेत्तैसे, थोड़े-से उपदेश से भी कृतार्थ होता है।"

जैसेत्तैसे!

सत्व बुद्धिमान् यथातथोपदेशेन...।

ऐसा छोटा-मोटा भी मिल जाए उपदेश, बुद्ध के वचनों की एक कड़ी पकड़ में आ जाए, बस काफी हो जाती है। बुद्ध के दर्शन मिल जाएं, काफी हो जाता है। किसी जाग्रत पुरुष के साथ दो घड़ी चलने का मौका मिल जाए, काफी हो जाता है। लेकिन यह काफी तभी होता है जब जीवन के अनुभव से इसका मेल बैठता हो।

बुद्ध बैठे हों और छोटे-छोटे बच्चों को तुम वहां ले जाओ तो इन पर तो कोई परिणाम नहीं होगा। इनको तो शायद बुद्ध दिखाई भी न पड़ेंगे। शायद ये बच्चे हंसी-ठिठौली भी करेंगे कि "यह आदमी बैठा हुआ वृक्ष के नीचे कर क्या रहा है! अरे कुछ करो! यह आंख बंद करके क्यों बैठा है?" शायद छोटे बच्चों को थोड़ा-बहुत कुतूहल पैदा हो सकता है, क्योंकि यह बड़ा भिन्न दिखाई पड़ता है, लेकिन कुतूहल से ज्यादा कुछ भी पैदा नहीं होगा। जिज्ञासा पैदा नहीं होगी कि इससे कुछ पूछें। पूछने को अभी जीवन में प्रश्न कहां! अभी जीवन समस्या कहां बना! अभी जीवन उलझा कहां! अभी तो जीवन की धारा में बहे ही नहीं। अभी जीवन का कष्ट नहीं भोगा; जीवन की पीड़ा नहीं मिली। अभी कांटे नहीं चुभे। तो पूछने को क्या है? जानने को क्या है?

लेकिन, अगर कोई जीवन से पका हुआ, जीवन से थका हुआ, जीवन के अनुभव से गुजर कर आया हो; जीवन की व्यर्थता देख कर आया हो, असार को पहचाना हो, दिख गयी हो राख--तो फिर बुद्ध की बात समझ में आएगी।

प्रत्येक चीज के समझने की एक घड़ी, ठीक घड़ी, न हो तो कुछ समझ में आता नहीं। तुम्हारे सामने कोई वानगाग की सुंदरतम कलाकृति रख दे, लेकिन अगर तुम्हें कलाकृतियों का कोई रस नहीं है तो शायद तुम नजर भी न डालोगे। तुम्हारे सामने कोई सुंदरतम गीत गाए, लेकिन गीत का तुम्हें कोई अनुभव नहीं, तुम्हारे प्राण में कोई वीणा गीत से बजती नहीं, तो तुम्हें कुछ भी न होगा। तुममें वही हो सकता है जिसकी तुम्हारे भीतर तैयारी है। और जब बाहर से कोई शब्द की अमृत वर्षा होती है और तुम्हारी तैयारी से मेल खा जाता है तो एक अपूर्व अनुभूति की शुरुआत होती है!

यथातथोपदेशेन...।

जैसेत्तैसे भी हाथ में कुछ बूंदें भी लग जाएं तो सागर का पता मिल जाता है; कृतार्थ हो जाता है व्यक्ति। "कृतार्थ" शब्द बड़ा सुंदर है। "कृतार्थ" का अर्थ होता है: सुन कर ही न केवल अर्थ प्रगट हो जाता है जीवन में, बल्कि कृति भी प्रगट हो जाती है। सुन कर ही कृति और अर्थ दोनों फलित हो जाते हैं। कभी ऐसा होता है, कोई बात सुनकर ही तुम बदल जाते हो। तब तुम कृतार्थ हुए। सुना नहीं कि बदल गये! जैसे अब तक जो बात सुनी नहीं थी, उसके लिये तुम तैयार तो हो ही रहे थे। बस कोई आखिरी बात को जोड़ देने वाला चाहिये था। किसी ने जोड़ दी तो कृतार्थ हो गये। फिर सुन कर कुछ करना नहीं पड़ता--सुनने में ही हो जाता है। यह तो श्रेष्ठतम साधक की अवस्था है, सत्वबुद्धि वाले साधक की। वह बुद्ध को, महावीर को, कृष्ण को या अष्टावक्र को सुन कर ऐसा नहीं पूछता कि महाराज आपकी बात तो समझ में आ गई, अब इसे करें कैसे! समझ में आ गई तो बात खतम हो गई, अब करने की बात पूछनी नहीं है।

तुम्हें मैंने दिखा दिया कि यह दरवाजा है, जब बाहर जाना हो तो इससे निकल जाना; यह दीवाल है, इससे मत निकलना, अन्यथा सिर टूट जाएगा। तुम कहोगे: "समझ में आ गई बात, लेकिन मन तो हमारा दीवार से निकलने का ही करता है। इससे हम कैसे बचें? और मन तो हमारा दरवाजे से निकलने में उत्सुक ही नहीं होता। इसको हम कैसे करें।" तो बात समझ में नहीं आई। सिर्फ बुद्धि ने पकड़ ली, तुम्हारे प्राणों तक नहीं पहुंची। तुम इसके लिए राजी न थे। अभी तुम्हें दीवार में ही दरवाजा दिखता है, इसलिए मन दीवार से ही निकलने का करता है। लेकिन जो बहुत बार दीवार से टकरा चुका है, उसे दिखाते ही, कहते ही, शब्द पड़ते ही बोध आ

जाएगा। वह कृतार्थ हो गया। वह यह नहीं पूछेगा: "कैसे करें?" वह कहेगा कि बस अभी तक एक जरा-सी कड़ी खोई-खोई सी थी, वह आपने पूरी कर दी। गीत ठीक बैठ गया। अब कोई अड़चन न रही।

"सत्वबुद्धि वाला पुरुष जैसेतैसे यानी थोड़े उपदेश से भी कृतार्थ होता है। असतबुद्धि वाला पुरुष आजीवन जिज्ञासा करके भी उसमें मोह को ही प्राप्त होता है।"

और बड़े आश्चर्य की बात है, सत्वबुद्धि वाला व्यक्ति तो ज्ञान से मुक्त होता है। ज्ञान मुक्ति लाता है। और असतबुद्धि वाला व्यक्ति मुक्ति को प्राप्त नहीं होता, उल्टे ज्ञान के ही मोह में पड़ जाता है। इसी तरह तो लोग हिंदू बन कर बैठ गये, मुसलमान बन कर बैठ गये, ईसाई बन कर बैठ गये। जीसस से उन्हें मुक्ति नहीं मिली; जीसस को बंधन बना कर बैठ गये। अब जीसस की उन्होंने हथकड़ियां ढाल लीं। राम ने उन्हें छुटकारा नहीं दिलवाया; राम तो उन्हें छुटकारा ही दिलवाते थे, लेकिन तुम छूटना नहीं चाहते।

तो तुम राम की भी जंजीर ढाल लेते हो--तुम हिंदू बन कर बैठ गये। कोई जैन बन कर बैठ गया है, कोई बौद्ध बन कर बैठ गया। बुद्ध बनना था, बौद्ध बन कर बैठ गये। बुद्ध बनते तो मुक्त हो जाते। बौद्ध बन गये, तो शब्दों का, सिद्धांतों का, शास्त्रों का जाल हो गया। अब तुम लड़ोगे, काटोगे, पीटोगे, मारोगे, तर्क-विवाद करोगे, सिद्ध करोगे कि मैं ठीक हूं और दूसरा गलत है; लेकिन तुम्हारे जीवन से कोई सुगंध न उठेगी, तुम्हारे सत्य का तुम प्रमाण न बनोगे। तुम विवाद करोगे, तर्क करोगे। तुम कहोगे: हमारे शास्त्र ठीक हैं, इनसे मुक्ति मिलती है। लेकिन तुम खुद प्रमाण होओगे कि तुम्हें मुक्ति नहीं मिली है। यह बड़ी हैरानी की बात है। तुम्हारे शास्त्र से मुक्ति मिलती है तो तुम तो मुक्त हो जाओ।

एक ईसाई मिशनरी मुझे मिलने आया। जीसस के संबंध में उसने मेरे वक्तव्य पढ़े थे तो सोचा था कि यह आदमी भी शायद ईसाई है; ईसाई न भी हो तो ईसा को प्रेम करने वाला तो है। तो वह मुझे मिलने आया और कहने लगा कि "अब आपको ईसाई होने से कौन-सी बात रोक रही है? आप जब ईसा को इतना प्रेम करते हैं तो आप ईसाई क्यों नहीं हो जाते?" मैंने कहा कि "मैं ईसा ही हो गया। ईसाई तो वे हों जो ईसा नहीं हो सकते हों।" वह थोड़ा हैरान हुआ। उसे थोड़ी चोट भी लगी। उसने कहा कि यह हो ही नहीं सकता। ईसा तो बस एक ही हो सकता है। तो मैंने कहा कि तुम्हें बस कार्बन कापी होने का ही अवसर बचा है? अब तुम मूल नहीं हो सकते? अब तुम उधार ही रहोगे? ईसाई ही बनोगे? ईसाई यानी कार्बन कापी। ईसा नहीं हो सकते, चलो ईसा की पूजा करो! बुद्ध नहीं हो सकते, बुद्ध की पूजा करो! लेकिन सारी चेष्टा ईसा की यही है कि तुम ईसा हो जाओ। और बुद्ध की सारी चेष्टा यही है कि तुम बुद्धत्व को उपलब्ध हो जाओ।

भले आदमी थे वे, जैसा कि ईसाई मिशनरी अक्सर होते हैं। सज्जन! सज्जनोचित ढंग से वे मुझसे विदा होने लगे। कहने लगे कि "फिर भी आप काम अच्छा कर रहे हैं, कम-से-कम ईसा का नाम तो पहुंचाते हैं। यही काम हम भी कर रहे हैं।" वे दूर बस्तर में आदिवासियों को ईसाई बनाने का काम करते हैं। मैंने उनसे पूछा कि तुम्हें देख कर यह प्रमाण नहीं मिलता कि ईसा सही हैं। तुम्हें देख कर यही प्रमाण मिलता है कि तुम सुशिक्षित हो, सज्जन हो। तुम्हें देख कर इतना प्रमाण मिलता है कि तुमने शास्त्र ठीक से पढ़ा है, ठीक से अध्ययन किया है; लेकिन तुम्हें देख कर यह प्रमाण नहीं मिलता कि ईसा सही हैं। तुम दूसरे को बदलने में लगे हो, लेकिन स्वयं को बदला?

तो उन्होंने क्या मुझसे कहा? कहा कि स्वयं को मुझे बदलने की जरूरत नहीं; वह तो मैंने ईसा पर छोड़ दिया है। वही मुक्ति देने वाले हैं, मुक्तिदाता! वे मुझे बदलेंगे, वे मेरे गवाह हैं। जब परमात्मा के सामने, कयामत के दिन खड़ा किया जाऊंगा तो वे मेरी गवाही देंगे कि हां, यह मेरा काम कर रहा था।

मैंने कहा: तुम उनका काम कर रहे हो, लेकिन उनका काम तभी कर सकते हो जब उन जैसे हो जाओ। और तो कोई काम करने का रास्ता नहीं है। तुम अपनी बेसुरी आवाज में सुंदरतम गीत भी गुनगुनाओ तो भी

व्यर्थ है। तुम्हारा राग, तुम्हारा सुर वैसा ही सुंदर होना चाहिये; फिर तुम साधारण वचन भी बोलो तो उनमें भी गेयता आ जाएगी, उनमें भी छंद होगा। तुम दूसरे को मुक्त करने की कोशिश में लगे हो। ईसा तुम्हें मुक्त करेंगे और तुम दूसरे को मुक्त कर रहे हो! तुम अभी मुक्त हो या नहीं?

आदमी ईमानदार थे। उन्होंने कहा: अभी तो मैं मुक्त नहीं हूं। अभी तो सब झंझटें जैसी आदमी की होती हैं वैसी मेरी हैं।

तो मैंने कहा: कम-से-कम तुम इतना तो करो कि ईसा के प्रेम ने तुम्हें मुक्त कर दिया, इसके प्रमाण तो बनो। फिर जिन्हें भी रस होगा वे तुम्हारे पास बदलने को आ जाएंगे। तुम्हें गांव-गांव, घर-घर जा कर आदमी को बदलने की जरूरत नहीं। ईसाइयों की संख्या बढ़ाने से थोड़े ही कुछ होगा।

लेकिन यही होता है। मुसलमान अपनी कुरान को पकड़ कर बैठा है, हिंदू अपनी गीता को पकड़ कर बैठा है। गीता, जिससे मुक्ति हो सकती थी, तुमने उसका भी करागृह बना लिया। तुमने शास्त्रों का ईंटों की तरह उपयोग किया है।

"असतबुद्धि वाला पुरुष जीवन भर जिज्ञासा करके भी उसमें मोह को ही प्राप्त होता है।"

इसलिए धार्मिक मैं उसी को कहता हूं जो संप्रदाय में नहीं है; जो सारे संप्रदायों से मुक्त है और सारे सिद्धांतों से भी; जो स्वच्छंद है; जिसने स्वयं के छंद को पकड़ लिया; अब जो जीता है अपने भीतर के गीत से; जो जीता है अब परमात्मा की भीतर गूंजती आवाज से; बाहर जिसका अब कोई सहारा नहीं। जो बाहर से बेसहारा है उसे परमात्मा का सहारा मिल जाता है।

लेकिन स्वाभाविक है, असत से भरा व्यक्ति मोह में पड़ जाता है। क्योंकि असत से भरा व्यक्ति अभी वस्तुतः ज्ञान के योग्य ही न था।

एक आदमी धन के पीछे दौड़ रहा था, उसकी इच्छा थी संग्रह कर लेने की। संग्रह में एक तरह की सुरक्षा है। बीच में ही, कच्चा ही लौट आया धन की दौड़ से। यह आदमी अब ज्ञान को संग्रह करने लगेगा, संग्रह की दौड़ नहीं मिटेगी। धन से लौट आया। बीच से लौट आया। संग्रह का भाव अधूरा रह गया। उसको कहीं पूरा करेगा। अब यह ज्ञान-संग्रह करने लगेगा।

यह आदमी राजनीति में था और कहता था कि मेरी पार्टी ही एकमात्र पार्टी है जो देश को सुख-शांति दे सकती है। यह उसमें पूरा नहीं गया। पूरा जाता तो असार दिखाई पड़ जाता। बीच में ही लौट आया, अधकच्चा लौट आया। यह किसी धर्म में सम्मिलित हो गया है, हिंदू हो गया है, तो अब यह कहता है कि हिंदू धर्म ही एकमात्र धर्म है जो दुनिया की मुक्ति ला सकता है। यह राजनीति है, यह धर्म नहीं है। यह आदमी अधूरा लौट आया।

तुम जहां से अधूरे लौट आओगे उसकी छाया तुम पर पड़ती रहेगी और वह छाया तुम्हारे जीवन को विकृत करती रहेगी। इसलिए एक बात को खूब खयाल से समझ लेना: कहीं से कच्चे मत लौटना। पाप का भी अनुभव आवश्यक है, अन्यथा पुण्य पैदा नहीं होगा। और संसार का अनुभव जरूरी है, अर्थात संसार की पीड़ा और आग से गुजरना ही पड़ता है। उसी से निखरता है कुंदन। उसी से तुम्हारा स्वर्ण साफ-सुथरा होता है। इसलिए जल्दी मत करना। और जो भी जल्दी में है, वह मुश्किल में पड़ेगा। वह न घर का रहेगा और न घाट का रहेगा; धोबी का गधा हो जाएगा--न संसार का, न परमात्मा का।

अधिक लोगों को मैं ऐसी हालत में देखता हूं--दो नावों पर सवार हैं। सोचते हैं, संसार भी थोड़ा सम्हाल लें, क्योंकि अभी संसार से मन तो छूटा नहीं; और सोचते हैं, परमात्मा को भी थोड़ा सम्हाल लें। भय भी पकड़ा हुआ है। बचपन से डरवाए गए हैं। लोभ दिया गया है। स्वर्ग का लोभ है, नर्क का भय है, वह भी पकड़े है, ऐसे डांवांडोल हैं।

यह डांवांडोलपन छोड़ो। अगर संसार से मुक्त होना है तो संसार के अंधकार में उतर जाओ पूरे। होशपूर्वक संसार का ठीक से अनुभव कर लो। वही होश तुम्हें बता जाएगा, आत्यंतिक रूप से बता जाएगा कि संसार

सपना है। उसके बाद तुममें सत्वबुद्धि पैदा होती है। संसार सपना है, ऐसी प्रतीति ही सत्वबुद्धि की प्रतीति है। फिर तुम सत्य को जानने को तैयार हुए। जब संसार सपना सिद्ध हो गया अपने अनुभव से, फिर किसी सदगुरु का छोटा-सा वचन भी तुम्हें चौंका जाएगा, कृतार्थ कर जाएगा। नहीं तो अंत-क्षण तक आदमी, वह जो अटका रह गया है, उसी में उलझा रहता है।

सबल जब दिवसांत काले
वेणु वन से घर मुझे लौटालना हो।
तब गले में डाल कर प्रश्वास पाश कठोर
मुझको खींचना मत।

देखा, गाय को ग्वाला जब सांझ को लौटाने लगता है जंगल से तो वह आना नहीं चाहती। हरा घास अभी भी बहुत हरा है। जंगल अभी भी पुकारता है।

सबल जब दिवसांत काले
वेणु वन से घर मुझे लौटालना हो
तब गले में डाल कर प्रश्वास पाश कठोर
मुझको खींचना मत।
मुक्त धरती और मुक्त आकाश में
अभिमत विचरने
स्वेच्छया बहने पवन में, श्वास लेने
स्वर्णिमा तप में नहाने,
नील-नील तरंगिणी में पैठने, तृष्णा बुझाने
और तरु के सघन शीतल छांहरे में
अर्धमीलित नेत्र बैठे स्वप्न रचने के सुखों से
फेरना मुंह कठिन होगा।
सुखद लगता दुख संकट कष्ट भी गत।

अगर मन अधूरा है, अभी भरा नहीं, अगर कहीं कोई फांस अटकी रह गई है, सपने में अभी भी थोड़ा रस है, लगता है शायद कहीं सच ही हो, असार अभी पूरा का पूरा प्रगट नहीं हुआ। लगता है कहीं कोई सार शायद छिपा ही हो! इतने लोग दौड़े जा रहे हैं--धन के, पद के पीछे! हम लौटने लगे! शक होता है। इतने लोग दौड़ते हैं, कहीं ठीक ही हों!

एक बस में एक महिला चढ़ी। उसने अठन्नी कंडक्टर को दी। कंडक्टर ने उसे गौर से देखा और कहा कि यह नकली है। महिला ने उसे फिर गौर से देखा, चश्मे को ठीक-ठाक करके देखा और कहा कि नकली हो नहीं सकती। कंडक्टर ने कहा कि क्या सबूत है कि नकली नहीं हो सकती? उसने कहा, इस पर लिखा हुआ है उन्नीस सौ से चल रही है। छहत्तर साल चल गई। नकली होती तो छहत्तर साल चलती?

संसार चल रहा है--झूठा होता तो इतना अनंत काल तक चलता? अनंत-अनंत लोग चलते? सारे लोग भागे जा रहे हैं! कौन सुनता है संतों की! संत तो ऐसे ही हैं जैसे कि किसी का दिमाग खराब हो गया हो। कौन सुनता है इनकी! कभी करोड़ों में एकाध कोई संत होता है, जो कहता है: संसार सपना है। इसकी मानें कि करोड़ की मानें! यह एक गलती में हो सकता है, करोड़ गलती में होंगे! यह तो सीधा-सा तर्क है, साफ-सुथरा है कि करोड़ गलती में नहीं हो सकते। और फिर लोकतंत्र के जमाने में तो करोड़ गलती में हो ही नहीं सकते। यह एक आदमी और करोड़ के विपरीत सत्य को सिद्ध करने चला है! लोकमत के जमाने में तो संख्या तय करती है सत्य क्या है। व्यक्ति तो तय करते नहीं कि सत्य क्या है, भीड़ तय करती है। सिरों की गिनती से, हाथ के उठाने से तय होता है कि सत्य क्या है।

अब अगर तुम बुद्ध को खड़ा करवा दो चुनाव में, जमानत भी जब्त होगी! कौन इनकी सुनेगा! ये जो बातें कह रहे हैं, न-मालूम किस कल्पना-लोक की हैं! अभी तो तुम्हें कल्पना सच मालूम होती है, इसलिए सच कल्पना

मालूम होगा। तो लौटना कठिन तो होता है। और फिर जिन दुखों में रहने के हम आदी हो गये, उन दुखों से भी एक तरह की दोस्ती बन जाती है।

तुमने कभी देखा, अगर दो-चार साल कोई बीमारी में रह गए तो निकलने का मन नहीं होता। कहो तुम लाख कितना, निकलने का मन नहीं होता। बीमारी के भी सुख हैं, बिस्तर पर पड़े हैं, सब पर रौब गांठ रहे हैं। न नौकरी पर जाना पड़ता है, न दूकान करनी पड़ती है। पत्नी भी पैर दाबती है, जो पहले कभी न दबाती थी। दबवाने को आकांक्षा रखती थी, अब पैर दाबती है। बच्चे सुनते हैं, शोरगुल नहीं करते। कमरे से दबे पांव निकलते हैं कि पिताजी बीमार हैं। मित्र भी देखने आते हैं। सभी की सहानुभूति, सभी का प्रेम बरसता है। तुम अचानक महत्वपूर्ण हो गये हो!

दो-चार साल बीमार रहने के बाद, चिकित्सक कहते हैं कि शरीर तो ठीक हो जाए, लेकिन मन का रस लग जाता है बीमारी में। ज्यादा देर बीमार रहना कठिन है, खतरनाक है; क्योंकि शरीर तो ठीक हो सकता है, लेकिन अगर मन को रस पकड़ गया तो फिर शरीर ठीक नहीं हो सकता। फिर तुम कोई नई-नई बीमारियां खोजते रहोगे। बीमारी में तुम्हारा न्यस्त स्वार्थ हो गया है। बीमारी भी सुख देने लगी है, दुख भी सुख देने लगा है! दुख में भी बहुत दिन रहने के बाद ऐसा लगता है दुख संगी-साथी है; कम से कम अकेले तो नहीं, दुख तो है। बात करने को कुछ तो है।

एक महिला एक डॉक्टर के पास पहुंची--बड़े सर्जन के पास--और कहा कि मेरा कोई आपरेशन कर दें! कोई आपरेशन! उसने पूछा, "तुम्हें हुआ क्या है? बीमारी क्या है?" उसने कहा: "बीमारी मुझे कुछ भी नहीं। लेकिन आप कोई भी आपरेशन कर दें।" डॉक्टर ने कहा, "लेकिन, इसका कोई भी प्रयोजन समझ में नहीं आ रहा है।" उसने कहा: "जब भी मिलती हूं दूसरी महिलाओं से, किसी ने टान्सिल निकलवा लिये, किसी ने अपैन्डिक्स निकलवा ली, किसी ने कुछ; मेरा कुछ भी नहीं निकला तो बात करने को ही कुछ नहीं है। आप कुछ भी निकाल दें। चर्चा को तो कुछ हो जाता है।" वह जब आपकी अपैन्डिक्स निकलती है तो सारा गांव सहानुभूति बतलाता है; जैसे कि आपने कोई महान कार्य किया है, कि धन्य कि आप पृथ्वी पर हैं और आपकी अपैन्डिक्स निकल गई है, और हम अभागे अभी तक बैठे हैं!

तुमने जरा देखा, जब लोग अपने दुख की कथा सुनाने लगते हैं तो तुमने उनकी आंखों में रस देखा! तुम अगर किसी की दुख की कथा न सुनो तो वह नाराज हो जाता है। मतलब? मतलब साफ है। वह एक रस ले रहा था। लोग अपने दुख को बढ़ा कर कहते हैं। जरा-जरा सा दुख हो तो उसको खूब बढ़ा-चढ़ा कर कहते हैं। क्योंकि छोटे दुख को कौन सुनेगा! बड़ा करके कहते हैं। और चाहते हैं कि तुम गौर से सुनो, ध्यानपूर्वक सुनो। देखते रहते हैं कि तुम उपेक्षा तो नहीं कर रहे।

यह तो बड़ी आश्चर्य की बात हुई। यह तो ऐसा हुआ जैसे कोई अपने घाव को कुरेदता हो। घाव को भी लोग कुरेदते हैं। कम से कम पीड़ा से इतना तो पता चलता है कि हम हैं, निश्चित हम हैं। पीड़ा इतना तो सबूत देती है कि हमारा अस्तित्व है। सिर में दर्द होता है तो सिर का पता तो चलता है! अपने होने का अहसास तो होता है कि मैं भी कुछ हूं, अन्यथा कुछ कारण नहीं है होने का; पता भी नहीं चलता कि हूं भी कि सपना हूं।

दुख हमें बांधे रखते हैं यथार्थ से। अगर दुख बिलकुल न हो तुम्हें कई बार शक होने लगेगा। यहां मेरे पास बहुत बार ऐसा मौका आता है। लोग आते हैं, ध्यान करते हैं। अगर दो-चार महीने रुक गये और ध्यान में गहरे उतर गये तो एक घड़ी ऐसी निश्चित आ जाती है, जब सुख की बड़ी तरंगें उठने लगती हैं। तब वे मुझसे आ कर कहते हैं कि सपना तो नहीं है, यह कल्पना तो नहीं है? मैं उनसे पूछता हूं कि तुम जीवन भर दुखी रहे, तब तुमने कभी नहीं कहा कि यह दुख कहीं सपना तो नहीं, कल्पना तो नहीं है। अब पहली दफा सुख की तरंग उठी है तो तुम कहते हो: कहीं कल्पना तो नहीं है? सुख को मानने का मन नहीं होता। सुख को झुठलाने की इच्छा होती है। दुख को मानने का मन होता है, क्योंकि दुख अतीत से चला आ रहा है। लंबी पहचान है। तुम दुख से अजनबी

नहीं हो; सुख से तुम बिलकुल अजनबी हो। तुमने सुख जाना नहीं। इसलिए जब पहली दफा आता है तो मानने का मन भी नहीं करता।

और भी एक बात है जो खयाल में रखना, जब तुम सुखी होते हो तो तुम्हारा अहंकार बिलकुल लीन हो जाता है, मिट जाता है। सुख में अहंकार बचता नहीं। सुख की परिभाषा यही है। अगर अहंकार बच जाए तो तुम्हारा सुख भी दुख ही है। दुख अहंकार को बचाता है; सुख तो बिखेर देता है। सुखी आदमी तो निरहंकारी हो जाता है। सुख की घड़ी इतनी बड़ी है कि आदमी का छोटा-सा अहंकार विलीन हो जाता है। सुख मस्त कर देता है। सुख डुला देता है--सिंहासन से गिर जाता है अहंकार। सुख एक उत्पात ले आता है। उसमें तुम होते भी हो, लेकिन पुराने अर्थों में नहीं होते। एक बड़ा नया अर्थ होता है। पुराना जो दुख से भरा हुआ तुम्हारा जीवन था वह और दुख के सहारे तुमने जो अहंकार खड़ा किया था, वह नहीं होता, वह जा चुका। सुख की एक लहर होती है। वह लहर तुम्हें ले गई, बहा ले गई। तुम अब किनारे पर अपने को पाते नहीं। इसलिए सुख को मानने की तैयारी नहीं होती, और दुख को पकड़ने का मन होता है।

अनुभव दुख का गहन हो जाए और तुम्हारे दुख के अनुभव से, दुख में तुम्हारे डाले न्यस्त स्वार्थ क्षीण हो जाएं, तुम दुख में रस लेना बंद कर दो, तुम दुख को सम्हालना बंद कर दो...। तुम बड़े हैरान होओगे, जब मैं तुमसे कहता हूं कि तुम दुख का त्याग करो। मेरे पास लोग आते हैं, वे कहते हैं: दुख का तो हम त्याग करना ही चाहते हैं। मैं नहीं देखता कि तुम करना चाहते हो। तुम्हें साफ नहीं है। नहीं तो दुख का त्याग कभी का हो जाता। तुम्हारे बिना पकड़े दुख रह नहीं सकता; तुम्हारे बिना बचाए, बच नहीं सकता। शायद तुम बड़ी कुशलता से बचा रहे हो। शायद तुमने बड़ी होशियारी कर ली है। तुमने छिपा ली हैं जड़ें, जिनसे तुम रस देते हो दुख को; लेकिन दुख तुम्हारे बिना बच नहीं सकता। तुम कहते जरूर हो ऊपर से कि मैं दुख को मिटाना चाहता हूं, लेकिन गौर से देखो, सच में तुम दुख मिटाने को राजी हो? दुख को मिटाने को राजी हो? दुख को मिटाने की वह जो महाक्रांति है, उससे गुजरने को राजी हो? दुख मिटाने का अर्थ है, मिटने को राजी हो? क्योंकि तुम्हारा अहंकार दुख का ही जोड़ है, उसका ही संग्रहीभूत रूप है।

इसे ऐसा समझें, जब तुम्हारे पेट में दर्द होता है तो पेट का पता चलता है। पेट में दर्द नहीं होता तो पेट का पता नहीं चलता। सिर में दर्द होता है तो सिर का पता चलता है। जब दर्द नहीं होता तो सिर का पता नहीं चलता। शरीर में कहीं भी पीड़ा हो तो उस अंग का पता चलता है।

ज्ञानियों ने कहा है: जब तुम्हारी चेतना में पीड़ा होती है तो तुम्हें पता चलता है कि मैं हूं। और जब सब संताप मिट जाता है, कोई पीड़ा नहीं रह जाती, तो पता ही नहीं चलता कि मैं हूं। वह जो न पता चलना है, वह घबराता है--"मैं नहीं हूं! तो इससे तो दुख को ही पकड़े रहो; दुख के किनारे को ही पकड़े रहो। यह तो मझधार में डूबना हो जाएगा!"

तो जब तक कोई व्यक्ति दुख के अनुभव को इतनी गहराई से न देख ले कि उसे पता चल जाए कि दुख मैं हूं और मेरे होने में दुख नियोजित है, दुख के बिना मैं हो नहीं सकता--ऐसी गहन प्रतीति के बाद जब कोई सदगुरु के पास आता है तो बस "यथातथोपदेशेन", जैसेत्तैसे थोड़े-से उपदेश में क्रांति घट जाती है।

एक वक्त ऐसा आता है
जब सब कुछ झूठ होता जाता है
सब असत्य सब पुलपुला,
सब कुछ सुनसान
मानो जो कुछ देखा था, इंद्रजाल था
मानो जो कुछ सुना था, सपने की कहानी थी।

जब ऐसी प्रतीति आ जाए, तब तुम तैयार हुए सदगुरु के पास आने को। उसके पहले तुम आ जाओगे, सुन लोगे, समझ भी लोगे बुद्धि से; लेकिन जीवन में कृतार्थता न होगी।

सदगुरु के पास आने का तो एक ही अर्थ है कि तुम अनंत की यात्रा पर जाने को तत्पर हुए। सीमित से ऊब गये, सीमा को देख लिया। बाहर से थक गये; देख लिया, बाहर कुछ भी नहीं है, हाथ खाली के खाली रहे। सिकंदर बन कर देख लिया, हाथ खाली के खाली रहे। तब अंतर की यात्रा शुरू होगी। देख लिया जो दिखाई पड़ता था; अब उसको देखने की आकांक्षा होती है जो दिखाई नहीं पड़ता और भीतर छिपा है: "शायद जीवन का रस और रहस्य वहां हो!" लेकिन जिसकी आंख में अभी बाहर का थोड़ा-सा भी सपना छाया डाल रहा है, वह लौट-लौट आयेगा।

यही तो होता है। तुम ध्यान करने बैठते हो, आंख बंद करते हो; आंख तो बंद कर लेते हो, लेकिन मन तो बाहर भागता रहता है--किसी का भोजन में, किसी का स्त्री में, किसी का धन में, किसी का कहीं, किसी का कहीं। तुमने खयाल किया, ऐसे चाहे खुली आंख तुम्हारा मन इतना न भागता हो, हजार कामों में उलझे रहते हो, मन इतना नहीं भागता; ध्यान करने बैठे कि मन भागा। ध्यान करते ही मन एकदम भागता है, सब दिशाओं में भागता है। न मालूम कहां-कहां के खयाल पकड़ लेता है! न मालूम किन-किन पुराने संचित संस्कारों को फिर से जगा लेता है! जिन बातों से तुम सोचते थे कि तुम छूट गये, वे फिर पुनरुज्जीवित हो जाती हैं। आंख बंद करते ही! साफ पता चल जाता है कि तुम्हारा राग अभी बाहर से बंधा हुआ है।

चिर सजग आंखें उनींदी, आज कैसा व्यस्त बाना!
जाग तुझको दूर जाना।

अचल हिमगिरि के हृदय में आज चाहे कंप हो ले
या प्रलय के आंसुओं में मौन अलसित व्योम रौले
आज पी आलोक को डोले तिमिर की घोर छाया
जाग या विद्युत शिखाओं में निठुर तूफान बोले

बांध लेंगे क्या तुझे ये मोम के बंधन सजीले?
पंथ की बाधा बनेंगे तितलियों के पर रंगीले?
विश्व का क्रंदन भुला देगी मधुप की मधुर गुनगुन?
क्या डुबा देंगे तुझे ये फूल के दल ओस-गीले?

तू न अपनी छांव को अपने लिए कारा बनाना!
चिर सजग आंखें उनींदी, आज कैसा व्यस्त बाना!
जाग तुझको दूर जाना!

अंतर की यात्रा बड़ी से बड़ी यात्रा है। चांदत्तारों पर पहुंच जाना इतना कठिन नहीं, इसलिए तो आदमी पहुंच गया। भीतर पहुंचना ज्यादा कठिन है। गौरीशंकर पर चढ़ जाना इतना कठिन नहीं, इसलिए तो आदमी चढ़ गया! भीतर के शिखर पर पहुंच जाना अति कठिन है।

कठिनाई क्या है? कठिनाई यह है कि बाहर अभी हजार काम अधूरे पड़े हैं। जगह-जगह मन अभी बाहर उलझा है। रस अभी कायम है। धार भीतर बहे तो बहे कैसे? धार भीतर एक ही स्थिति में बहती है जब बाहर से सब संबंध अनुभव के द्वारा व्यर्थ हो गये।

तुम भोग लो, भोगी अगर ठीक-ठीक भोग में उतर जाए तो योगी बने बिना रह नहीं सकता। भोग का आखिरी कदम योग है। इसलिए मैं भोग और योग को विपरीत नहीं कहता। भोग तैयारी है योग की, विपरीत

नहीं; मैं नास्तिकता को आस्तिकता के भी विपरीत नहीं कहता। नास्तिकता सीढ़ी है आस्तिकता की। नहीं कह कर ठीक से देख लो। नहीं कहने का दुख ठीक से भोग लो। नहीं कहने के कांटे को चुभ जाने दो प्राणों में। रोओ, तड़प लो! तभी तुम्हारे भीतर से "हां" उठेगी, आस्तिकता उठेगी। और जल्दी कुछ भी नहीं है, और ये काम जल्दी में होने वाले भी नहीं हैं। जहां तुम्हारा मन रस लेता हो वहां तुम चले ही जाओ। जब तक तुम्हें वहां वमन न होने लगे तब तक हटना ही मत। इतनी हिम्मत न हो तो सत्वबुद्धि पैदा नहीं होगी।

गुरजिएफ ने लिखा है कि जब वह छोटा था तो उसे एक खास तरह के फल में बहुत रस था। काकेशस में होता है वह फल। लेकिन वह फल ऐसा था कि उससे पेट में दर्द होता है। लेकिन स्वाद उसका ऐसा था कि छोड़ा भी नहीं जाता था। बच्चे बच्चे हैं। बूढ़े तक बच्चे हैं तो बच्चों का क्या कहना! बूढ़ों तक को दिक्कत है। डॉक्टर कहता है, आइसक्रीम मत खाओ; मगर खा लेते हैं! डॉक्टर कहता है, फलानी चीज मत खा लेना; लेकिन कैसे छोड़ें, नहीं छोड़ा जाता। फिर खा लेते हैं। फिर तकलीफ उठा लेते हैं। छोटा बच्चा था, उसको फल में रस था। और फल रसीला था। लेकिन पेट के लिए दुखदायी है। उसके बाप ने क्या किया? उसने कई बार उसे मना किया। वह सुनने को राजी न था। वह चोरी से खाने लगा। तो बाप एक दिन एक टोकरी भर कर फल ले आया और उसने इसे बिठा लिया अपने पास और रख लिया हाथ में डंडा और कहा: "तू खा!"

गुरजिएफ तो समझा नहीं कि मामला क्या है। पहले तो बड़ा प्रसन्न हुआ कि बाप को हुआ क्या, दिमाग फिर गया है! क्योंकि हमेशा मना करते हैं, घर में फल आने नहीं देते हैं। मगर बाप डंडा ले कर बैठा था तो उसे खाना पड़ा। पहले तो रस लिया--दो-चार आठ-दस फल--इसके बाद तकलीफ होनी शुरू हुई। मगर बाप है कि डंडा लिये बैठा है, वह कहता है कि यह टोकरी पूरी खाली करनी पड़ेगी। उसकी आंख से आंसू बहने लगे, और खाया नहीं जाता। अब वमन की हालत आने लगी और बाप डंडा लिये बैठा है और वह कहता है कि फोड़ दूंगा, हाथ-पैर तोड़ दूंगा, यह टोकरी खाली करनी है! उसने टोकरी खाली करवा कर छोड़ी।

पंद्रह दिन गुरजिएफ बीमार रहा, उल्टी हुई, दस्त लगे; लेकिन उसने बाद में लिखा है कि उस फल से मेरा छुटकारा हो गया। फिर तो उस फल को मैं वृक्ष में भी देखता तो मेरे पेट में दर्द होने लगता। बाजार में बिकता होता तो मैं आंख बचा कर निकल जाता। रस की तो बात दूर, विरस पैदा हुआ। विरस यानी वैराग्य। राग के दुख की ठीक प्रतीति से ही वैराग्य का जन्म होता है।

अधूरा रागी कभी योगी नहीं बन पाता, विरागी नहीं बन पाता। इसलिए मेरे शिक्षण में, तुम्हें कहीं से भी जल्दबाजी में हटा लेने की कोई आकांक्षा नहीं है। तुम घर में हो, घर में रहो। तुम भोग में हो, भोग में रहो। एक ही बात खयाल रखो: तुम जहां हो, उस अनुभव को जितनी प्रगाढ़ता से ले सको, उतना शुभ है। एक दिन भोग ही तुम्हें उस जगह ले आयेगा जहां प्राणपण से पुकार उठेगी--

प्रत्येक नया दिन नयी नाव ले आता है
लेकिन समुद्र है वही, सिंधु का तीर वही
प्रत्येक नया दिन नया घाव दे जाता है
लेकिन पीड़ा है वही, नयन का नीर वही
धधका दो सारी आग एक झोंके में
थोड़ा-थोड़ा हर रोज जलाते क्यों हो?
क्षण में जब यह हिमवान पिघल सकता है,
तिल-तिल कर मेरा उपल गलाते क्यों हो?

एक ऐसी घड़ी आती है जब तुम प्रभु से प्रार्थना करते हो कि एक क्षण में कर दो भस्मीभूत सब!

क्षण में जब यह हिमवान पिघल सकता है
तिल-तिल का मेरा उपल गलाते क्यों हो?
धधका दो सारी आग एक झोंके में

थोड़ा-थोड़ा हर रोज जलाते क्यों हो?

इस घड़ी में संन्यास फलित होता है। संन्यास सदबुद्धि की घोषणा है।

"विषयों में विरसता मोक्ष है, विषयों में रस बंध है। इतना ही विज्ञान है। तू जैसा चाहे वैसा कर।"

देखते हो यह अपूर्व सूत्र!

मोक्षो विषयवैरस्यं बंधो वैषयिको रसः।
एतावदेव विज्ञानं यथेच्छसि तथा कुरु।।

"विषयों में विरसता मोक्ष है।"

मोक्ष तुम्हारे चैतन्य की ऐसी दशा है जब विषयों में रस न रहा, जबर्दस्ती थोप-थोप कर तुम विरस पैदा न कर सकोगे। जितना तुम थोपोगे उतना ही रस गहरा होगा। इसलिए मैं देखता हूं: गृहस्थ के मन में स्त्री का उतना आकर्षण नहीं होता जितना तुम्हारे तथाकथित संन्यासी के मन में होता है। जिस दिन तुम भोजन ठीक से करते हो, उस दिन भोजन की याद नहीं आती; उपवास करते हो, उस दिन बहुत आती है।

दबाओ कि रस बढ़ता है, घटता नहीं। निषेध से निमंत्रण बढ़ता है, मिटता नहीं। और यही प्रक्रिया चलती रही...। तुम जिन्हें साधारणतः साधु-महात्मा कहते हो, उन्होंने तुम्हें निषेध सिखाया है। उन्होंने कहा कि दबा लो जबर्दस्ती। लेकिन दबाने से कहीं कुछ मिटा है!

सभी लोग, कोई सस्ता उपाय मिल जाए, इसकी खोज में लगे हैं। मैं तुमसे कहता हूं: दबाना भूल कर मत, अन्यथा जन्मों-जन्मों तक भटकोगे। इसी जन्म में क्रांति घट सकती है, अगर तुम भोगने पर तत्पर हो जाओ। तुम कहो कि ठीक है, अगर रस है तो उसे जान कर रहेंगे। अगर रस सिद्ध हुआ तो ठीक, अगर विरस सिद्ध हुआ तो भी ठीक। अनुभव से कभी कोई हारता नहीं, जीतता ही है। कुछ भी परिणाम हो। जो भी तुम्हें पकड़ता हो, जो भी तुम्हें बुलाता हो, उसमें चले जाना। भय क्या है? खोओगे क्या? तुम्हारे पास है क्या? कई दफे मैं देखता हूं: लोग डरे हैं कि कहीं कुछ खो न जाए! तुम्हारे पास है क्या? तुम्हारी हालत वैसी है, जैसे नंगा सोचता है, नहायें कैसे? फिर कपड़े कहां सुखाएंगे! कपड़े तुम्हारे पास हैं नहीं, तुम नहा लो!

"विषयों में विरसता मोक्ष है।"

विरसता कैसे पैदा होगी--यही साधना है। तथाकथित धार्मिक लोग तुमसे कहते हैं: विरसता पैदा नहीं होगी, करनी पड़ेगी। मैं तुमसे कहता हूं: होगी, की नहीं जा सकती। अगर विषय अर्थहीन हैं तो हो ही जाएगी, अनुभव से हो जाएगी।

तुम देखे, छोटा बच्चा खिलौनों में रस लेता है। लाख चेष्टा करो तो भी खिलौनों से उसका रस नहीं जाता। फिर बड़ा हो जाता है और रस चला जाता है। फिर तुम उससे कहो कि अपनी गुड्डी ले जा स्कूल, तो वह कहता है: "छोड़ो भी! तुम्हारा दिमाग खराब है? स्कूल में क्या अपना मजाक करवाना है?" एक दिन खुद ही गुड्डी को कचरे-घर में फेंक आता है कि झंझट मिटाओ, यह पुराने दिनों की बदनामी घर में न रहे। इसके रहने से पता चलता है कि हम भी कभी बुद्धू थे। लेकिन यही छोटा जब था तो इसे समझाना कठिन था कि गुड्डी गुड्डी है, इतना रस मत ले। बिना गुड्डी के रात सो नहीं सकता था। जब तक गुड्डी न पकड़ ले हाथ में, तब तक रात नींद नहीं आती थी। क्या हो गया? प्रौढ़ता आ गई। समझ आई--अनुभव से ही आई। गुड्डी के साथ खेल-खेल कर धीरे-धीरे पाया कि मुर्दा है, चीथड़े भरे हैं भीतर। एक दिन बच्चे खोल कर देख ही लेते हैं कि गुड़िया के भीतर क्या है। कुछ भी नहीं है!

तुमने देखा कि बच्चे अक्सर खिलौने तोड़ लेते हैं। उन्हें रोकना मत। वह उनकी प्रौढ़ता का लक्षण है। खिलौने तोड़ते इसलिये हैं कि वे देखना चाहते हैं कि भीतर क्या है! तुम बच्चे को घड़ी दे दो, वह जल्दी ही खोल कर बैठ जाएगा। तुम कहते हो: "नासमझ, घड़ी खोल कर देखने की नहीं है। बिगाड़ डालेगा।" लेकिन उसका रस

घड़ी से ज्यादा इस बात में है कि भीतर क्या है! और वह ठीक है उसका रस। भीतर को जानना ही होगा, उतरना ही होगा--तभी छुटकारा होगा।

बच्चे कीड़े-मकोड़ों तक को मार डालते हैं। तुम सोचते हो कि शायद हिंसा कर रहे हैं। गलत। वे असल में मार कर देखना चाहते हैं कि "भीतर क्या है, कौन-सी चीज चला रही है! यह तितली उड़ी जा रही है, कौन उड़ा रहा है!" पंख तोड़ का भीतर झांकना चाहते हैं। यह भी जीवन की खोज है। यह जिज्ञासा है। यही जिज्ञासा उन्हें जीवन के और अनुभवों के भीतर भी उतरने के लिए आमंत्रण देगी। एक दिन वे सभी अनुभवों को खोल कर देख लेंगे, कहीं भी कुछ न पायेंगे, सब जगह राख मिलेगी--उस दिन विरसता पैदा होती है।

"विषयों में विरसता मोक्ष है और विषयों में रस बंध है।"

संसार बाहर नहीं है--तुम्हारे रस में है। और मोक्ष कहीं आकाश में नहीं है--तुम्हारे विरस हो जाने में है। श्रुतियों का प्रसिद्ध वचन है: मन एव मनुष्याणां कारणं बंध मोक्षयोः! मन ही कारण है बंधन और मोक्ष का। और मन का अर्थ होता है: जहां तुम्हारा मन। अगर तुम्हारा मन कहीं है तो रस। रस है तो बंधन है। अगर तुम्हारा मन कहीं न रहा, जब चीजें विरस हो गईं, मन का पक्षी कहीं नहीं बैठता, अपने में ही लौट आता है--वहीं मोक्ष।

बंधाय विषयासक्तं मुक्तयैर्निर्विषये स्मृनम्। बंधन का कारण है मन, और मुक्ति का भी। पक्षी जब तक उड़ता रहता है और बैठता रहता है अलग-अलग स्थानों पर--और हम बदलते रहते हैं, और हम किसी चीज में पूरे नहीं जाते--तो रस नया बना रहता है।

एक दिन मुल्ला नसरुद्दीन को मैंने देखा, एक नया-नया छाता लिये चला आ रहा है। मैंने पूछा: "नसरुद्दीन कहां मिल गया इतना सुंदर छाता? और बड़ा नया है, अभी-अभी खरीदा क्या?" उसने कहा: "अभी तो नहीं खरीदा; है तो करीब कोई बीस साल पुराना।" मैं थोड़ा चौंका। छाते के लक्षण बीस साल पुराने के नहीं थे। मैंने कहा: "थोड़ी इसकी कथा कहो तो समझ में आए, क्योंकि यह बीस साल पुराना नहीं मालूम होता। छाते तो साल दो साल में खतम होने की अवस्था में आ जाते हैं, बीस साल!" उसने कहा: "है तो बीस साल पुराना, आप मानो या न मानो। और कम से कम पच्चीस दफे तो इसको सुधरवा चुका और कम से कम छः दफा दूसरों के छातों से बदल चुका है--और नया का नया है, फिर भी नया का नया!"

अब जब छाता बदल जाएगा तो नया का नया बना ही रहेगा।

तुम कभी किसी एक रस में गहरे नहीं जाते--ऐसे फुदकते रहते हो--तो रस नया का नया बना रहता है। थोड़े दौड़े धन की तरफ, फिर देखा कि यह नहीं मिलता। थोड़े दौड़े पद की तरफ, फिर देखा कि यहां भी बड़ी मुश्किल है, पहले ही से लोग क्यू बांधे खड़े हैं और बड़ी झंझट है! थोड़े कहीं और तरफ दौड़े, थोड़े कहीं और तरफ दौड़े; लेकिन कभी किसी एक तरफ पूरे न दौड़े कि पहुंच जाते आखिर तक, तो एक रस चुक जाता।

और तुम्हें सिखाने वाले हैं, जो कहते हैं, कहां जा रहे हो? ये लौटने वाले लोग हैं जो कहते हैं, कहां जा रहे हो? इनमें से कुछ तो ज्ञाता हैं। जो ज्ञाता हैं, वे तो न कहेंगे कि कहां जा रहे हो? वे तो कह रहे हैं जरा तेजी से जाओ ताकि जल्दी लौट आओ। जो ज्ञाता नहीं हैं, जो बीच से लौट रहे हैं और जिनके लिए अंगूर खट्टे सिद्ध हुए हैं, वे भी थोड़ी दूर गये थे और लौट पड़े, सोचा कि अपने बस का नहीं।

मैंने यह अनुभव किया कि तथाकथित संन्यासियों में अधिक मूढ़ बुद्धि के लोग हैं--जो कहीं जाते तो सफल हो भी नहीं सकते थे। तो वे कह रहे हैं, अंगूर खट्टे हैं। पहुंच सकते नहीं थे।

तुमने कभी अपने संन्यासियों पर गौर किया? जरा संन्यासियों की तुम कतार लगा कर...कुंभ का मेला आता है, जरा जा कर देखना! जरा गौर से खड़े हो कर देखना अपने संन्यासियों को। तुम पाओगे जैसे सारे जड़बुद्धि यहां इकट्ठे हो गए हैं। जड़बुद्धि न हों तो जो कर रहे हैं, इस तरह के कृत्य न करें। अब कोई बैठा है आग के पास, राख लपेटे, इसके लिए कोई बुद्धिमत्ता की जरूरत नहीं है; कि कोई खड़ा है सिर के बल; कि कोई लेटा है कांटों पर। और यही इनका बल है। बुद्धि का जरा भी लक्षण मालूम नहीं होता; बुद्धिहीनता मालूम होती है।

लेकिन जीवन में ये कहीं सफल नहीं हो सकते थे। दूकान चलाते, दिवाला निकलता। कोई आसान मामला नहीं दूकान चलाना! नौकरी करते तो कहीं चपरासी से ज्यादा ऊपर नहीं जा सकते थे।

इन्होंने बड़ी सस्ती तरकीब पा ली--ये धूनी रमा कर बैठ गये। अब इसके लिये न कोई बुद्धि की जरूरत है, न किसी विश्वविद्यालय के प्रमाण-पत्र की जरूरत है। कुछ भी जरूरत नहीं। यह तो जड़बुद्धि से जड़बुद्धि भी कर ले सकता है, इसमें क्या मामला है? गधे भी जमीन पर लोट कर धूल चढ़ा लेते हैं, इसमें कोई बात है! कहीं भी रेत में लेट गये तो धूल चढ़ जाती है। मगर मजा यह है कि यह जड़बुद्धि आदमी धूनी रमा कर बैठ गया, तो जो इसको अपने घर बर्तन मांजने पर नहीं रख सकते थे वे इसके पैर छू रहे हैं। चमत्कार है! यह कारपोरेशन का मेंबर नहीं हो सकता था, मिनिस्टर इसके पैर छू रहे हैं; क्योंकि मिनिस्टर सोचते हैं कि गुरु महाराज की कृपा हो जाए तो इलेक्शन जीत जाएं!

मैंने सुना है कि एक चोर भागा। सिपाहियों ने उसका पीछा किया। कोई रास्ता न देख कर एक नदी के किनारे पहुंच कर, वह तैरना जानता नहीं था, नदी गहरी, वह घबड़ा गया। पास में ही एक साधु महाराज धूनी जमाए बैठे थे। आंख बंद किये बैठे थे। वह भी जल्दी से पानी में डुबकी ले कर धूल शरीर पर डाल कर बैठ गया आंख बंद करके। वे जो सिपाही उसका पीछा करते आ रहे थे, अचानक आ कर उसके पैर छुए। वह बड़ा हैरान हुआ कि हद नासमझी हमने भी की, अब तक चोरी करते रहे नाहक, यह तो सब कुछ बिना ही उसके हो सकता है! वह बैठा ही रहा। सिपाहियों ने बहुत कुछ प्रश्न उठाये, मगर उसने कोई उत्तर...उत्तर उसके पास कोई था भी नहीं। लेकिन सिपाहियों ने समझा कि बड़ा मौनी बाबा है। गांव में खबर ले गये कि एक मौनी बाबा आये हैं। लोग आने लगे। संख्या बढ़ने लगी। राजमहल तक खबर पहुंची। खुद राजा आया। उसने चरण छुए और कहा: "महाराज कब से मौन लिए हो?" मगर वे बैठे हैं। वे उत्तर देते ही नहीं।

वह चोर मन में सोचने लगा कि हद हो गई, इन्हीं के घर से मैं ठीकरे चुरा-चुरा कर काम चलाता था, और अब तो हीरे-जवाहरात चरणों में आने लगे, लोग सोने के आभूषण चढ़ाने लगे, रुपये चढ़ाने लगे। ये वे ही लोग हैं जो उसे पकड़वा देते।

जब सम्राट आया तो उससे न रहा गया। उसने कहा कि नहीं, मेरे पैर मत छुएं! मैं चोर हूं! और एक सीमा होती है। लेकिन एक बात पक्की है कि अब मैं चोर होने वाला नहीं। क्योंकि मैं बिलकुल पागल था। किसी ने मुझे बताई नहीं यह तरकीब पहले। यह तो अचानक हाथ लगी। और मैं बिलकुल झूठा संन्यासी हूं और इतना समादर, इतना आदर मिल रहा है--काश मैं सच्चा होता!

मैंने बहुत संन्यासियों को देखा घूम कर सारे देश में, निन्यानबे प्रतिशत बुद्धिहीन हैं, जड़बुद्धि हैं। वे जीवन में कहीं सफल न हो सकते थे। अंगूरों तक पहुंच न सके, चिल्लाने लगे कि खट्टे हैं। उनकी सुन कर तुम लौट मत पड़ना; अन्यथा कभी विरसता पैदा न होगी, रस बना रहेगा।

"विषयों में विरसता मोक्ष है, विषयों में रस बंध है।" और अष्टावक्र कहते हैं: "इतना ही जनक, विज्ञान है, इतना ही विज्ञान है।"

"विज्ञान" शब्द बड़ा अदभुत है। विज्ञान का अर्थ होता है: विशेष ज्ञान। ज्ञान तो ऐसा है जो दूसरे से मिल जाए। विज्ञान ऐसा है जो केवल अपने अनुभव से मिलता है; इसीलिए विशेष ज्ञान। किसी ने कहा तो ज्ञान; खुद हुआ तो विज्ञान। साइंस को हम विज्ञान कहते हैं, क्योंकि साइंस प्रयोगात्मक है, अनुभवसिद्ध है, बकवास बातचीत नहीं है; प्रयोगशाला से सिद्ध है। इसी तरह हम अध्यात्म को भी विज्ञान कहते हैं। वह भी अंतर की प्रयोगशाला से सिद्ध होता है। सुना हुआ--ज्ञान; जाना हुआ--विज्ञान। यह वचन खयाल रखना:

एतावदेव विज्ञानम्।

अष्टावक्र कहते हैं: और कुछ जानने की जरूरत नहीं, बस इतना विज्ञान है। विरस हो जाए तो मोक्ष, रस बना रहे तो बंधन। ऐसा जान कर फिर तू जैसा चाहे वैसा कर। फिर कोई बंधन नहीं, फिर तू स्वच्छंद है। फिर तू

अपने छंद से जी--अपने स्वभाव के अनुकूल; फिर तुझे कोई रोकने वाला नहीं। न कोई बाहर का तंत्र रोकता है, न कोई भीतर का तंत्र रोकता है। फिर तू स्वतंत्र है। तू तंत्र मात्र से बाहर है, स्वच्छंद है।

यथेच्छसि तथा कुरु!

फिर कर जैसा तुझे करना है। फिर जैसा होता है होने दे। इतना ही जान ले कि रस न हो। फिर तू महल में रह तो महल में रह--रस न हो। और रस हो और अगर तू जंगल में बैठ जाए तो भी कुछ सार नहीं।

मुल्ला नसरुद्दीन की पत्नी उससे पूछ रही थी कि तुम इतने सुंदर हो नसरुद्दीन! फिर भी पता नहीं, तुम अक्ल से कोरे क्यों हो? भगवान ने तुम्हें सुंदर बनाया, अक्ल से कोरा क्यों रखा? इसका क्या कारण है?

नसरुद्दीन ने कहा: कारण स्पष्ट है। भगवान ने मुझे सौंदर्य इसलिए प्रदान किया कि तुम मुझसे विवाह कर सको और अक्ल से इसलिए कोरा रखा कि मैं तुमसे विवाह कर सकूं।

अक्ल से कोरे हो तुम, तो संसार से विवाह चलेगा, बच नहीं सकते, भागो कहीं भी। जगह-जगह से संसार तुम्हें पकड़ लेगा। और अक्ल से भरे होने का एक ही उपाय है--अनुभव से भरे होना। अनुभव का निचोड़ है बुद्धिमत्ता।

तो जितना तुम अनुभव कर सको उतना शुभ है। घबड़ाना मत भूल करने से। जो भूल करने से डरता है वह कभी अनुभव को उपलब्ध ही नहीं होता। भूल तो करो, दिल खोल कर करो; एक ही भूल दुबारा मत करना। कर लेना एक दफे पूरे मन से, ताकि दुबारा करने की जरूरत ही न रह जाए। यह मेरी प्रतीति है कि तुम अगर एक बार क्रोध पूरे मन से कर लो, समग्रता से कर लो, फिर तुम दोबारा क्रोध न कर सकोगे। वह क्रोध तुम्हें अनुभव दे जाएगा--आग का, जहर का, मृत्यु का। तुम एक बार अगर कामवासना में समग्रता से उतर जाओ, बिलकुल जंगलीपन से उतर जाओ, बिलकुल जानवर की तरह उतर जाओ, तो समाप्त हो जाएगी बात, दुबारा तुम न उतर सकोगे, विरस हो जाओगे। बार-बार उतरने की आकांक्षा होती है, क्योंकि उतर नहीं पाए, एक भी बार जान नहीं पाए। और परमात्मा कुछ ऐसा है कि जब तक तुम अनुभव से न सीखो, पीछा नहीं छोड़ता, धक्के देगा, कहेगा: जाओ, अनुभव लेकर आओ।

यह ऐसे ही है जैसे कि जब तक बच्चा उत्तीर्ण होने का सर्टिफिकेट लेकर घर न आ जाए, बाप कहता है: फिर जा, फिर उसी क्लास में भर्ती हो जा, फिर वही पढ़! उत्तीर्ण होकर आना तो ही घर आना, अन्यथा आना ही मत।

परमात्मा, जब तुम जीवन से उत्तीर्ण होते हो, तभी तुम्हें जीवन के पार ले जाता है। आवागमन से मुक्ति तभी होती है जब जीवन से जो मिल सकता था तुमने ले लिया। बिना लिये तुम चाहो, बिना अनुभव किये तुम चाहो कि पार हो जाओ, तुम हो न सकोगे।

"यह तत्वबोध वाचाल, बुद्धिमान और महाउद्योगी पुरुष को गूंगा, जड़ और आलसी कर जाता है। इसलिए भोग की अभिलाषा रखने वालों के द्वारा तत्वबोध त्यक्त है।"

यह वचन बहुत अनूठा है। इसे समझो। अष्टावक्र कहते हैं कि यह तत्वबोध, यह संसार के रस से मुक्त हो जाना, यह मोक्ष का स्वाद मिल जाना, यह स्वच्छंदता, यह विज्ञान वाचाल को मौन कर देता है; बुद्धिमान को ऐसा बना देता है कि जैसे लोग समझें कि जड़ हो गया; महाउद्योगी को ऐसा कर जाता है जैसे आलसी हो गया। इसीलिए भोग की लालसा रखने वालों के द्वारा ऐसे तत्वबोध से बचने के उपाय किए जाते हैं। वे हजार उपाय करते हैं। वे हजार कोस दूर भागते रहते हैं। वे बुद्धों के पास नहीं फटकते। वे तो बुद्धों की छाया भी अपने ऊपर पड़ने नहीं देना चाहते, क्योंकि खतरा है।

इसे समझो, यह सूत्र कठिन है। तुम्हारी जो बुद्धिमानी है, वह सांसारिक है; वस्तुतः बुद्धिमानी नहीं है। क्योंकि जिस बुद्धि से मोक्ष न मिले, जिस बुद्धि से स्वतंत्रता न फलित हो और जिस बुद्धि से सच्चिदानंद का अनुभव न हो, उसे क्या खाक बुद्धि कहना! फिर मूढ़ता किसको कहोगे? जिसे तुम बुद्धिमानी कहते हो, जिसे तुम

चालाकी कहते हो, आखिरी अर्थों में वही मूढ़ता है। इसलिए जो आखिरी अर्थों में बुद्धिमानी है, तुम्हें मूढ़ता जैसी मालूम होगी।

देखते हो मूढ़ को हम बुद्धू कहते हैं, वह शब्द बुद्ध से बना है। बुद्ध को लोगों ने बुद्धू कहा कि गये काम से, किसी मतलब के न रहे। घर था, महल था, पत्नी-बच्चे थे, सब था--और यह बुद्धू देखो, भाग खड़ा हुआ! लाओत्सु ने कहा है कि और सब तो बड़े बुद्धिमान हैं, मेरी हालत बड़ी गड़बड़ है, मैं बिलकुल बुद्धू हूं। लाओत्सु ने कहा है: और सब तो कितने सक्रिय हैं, भागे जा रहे हैं, दौड़े जा रहे हैं त्वरा से; एक मैं आलसी हूं।

समझो ऐसा, एक पागलखाने में तुम बंद हो और तुम पागल नहीं हो, तो सारे पागल तुम्हें पागल समझेंगे। समझेंगे ही कि तुम्हारा दिमाग खराब है। उन सबके दिमाग तो एक जैसे हैं, तुम्हारा उनसे मेल नहीं खाता। पागल दौड़ेंगे, चीखेंगे, चिल्लाएंगे; न तुम चीखते, न चिल्लाते, न दौड़ते, न मारपीट करते। पागल समझेंगे: "तुम्हें हुआ क्या है! क्या तुम्हारा दिमाग खराब हो गया है? अरे! सब जैसा व्यवहार करो। जैसा सब रह रहे हैं, वैसे रहो। जिनके साथ रहो, वैसे रहो। यही बुद्धिमानी का लक्षण है। यह क्या हम सब दौड़ रहे, चीख रहे, चिल्ला रहे; तुम बैठे!" बुद्धू मालूम पड़ेगा जो आदमी स्वस्थ है पागलखाने में।

अष्टावक्र कहते हैं कि कामी, भोगी तत्वज्ञान के पास नहीं फटकना चाहते, क्योंकि उन्हें डर लगता है कि तत्वज्ञानी तो खतरे पैदा कर देता है। तत्वज्ञान की जरा-सी छाया पड़ी कि महत्वाकांक्षा गई। महत्वाकांक्षा गई तो दौड़ गई, सामने हीरा भी पड़ा रहे तत्वज्ञानी के तो वह उठ कर उठायेगा नहीं। तो यह तो हालत आलस्य की हो गई। महत्वाकांक्षी समझेगा कि यह हद आलस्य हो गया, सामने हीरा पड़ा था, जरा हाथ हिला देते...। वह तो समझेगा, यह आदमी तो ऐसा ही हो गया, जैसे तुमने कहानी सुनी है दो आलसियों की।

दो आलसी लेटे थे वृक्ष के तले, और प्रार्थना कर रहे थे कि "हे प्रभु, जामुन गिरे तो मुंह में ही गिर जाए!" एक जामुन गिरी तो एक आलसी ने बगल वाले आलसी को कहा कि भई, मेरे मुंह में डाल दे। उसने कहा: "छोड़ भी, जब कुत्ता मेरे कान में पेशाब कर रहा था, तब तूने भगाया?"

अब इन आलसियों में और भर्तृहरि में...भर्तृहरि चले गए जंगल में, बैठ गये एक वृक्ष के नीचे, छोड़ दिया संसार। और उनका छोड़ना ठीक था; जिसको विरस कहें वह उन्हें पैदा हुआ होगा। भर्तृहरि ने दो शास्त्र लिखे: सौंदर्य-शतक और वैराग्य-शतक। सौंदर्य-शतक सौंदर्य की अपूर्व महिमा है। शरीर-भोग का ऐसा रसपूर्ण वर्णन न कभी हुआ था न फिर कभी हुआ है। खूब भोगा शरीर को और एक दिन सब छोड़ दिया। उसी भोग के परिणाम में योग फला। फिर दूसरा शास्त्र लिखा: वैराग्य- शतक। वैराग्य की भी फिर महिमा ऐसी किसी ने कभी नहीं लिखी और फिर दुबारा लिखी भी नहीं गई। और एक ही आदमी ने दोनों शतक लिखे--सौंदर्य का और वैराग्य का। एक ही आदमी लिख सकता है। जिसने सौंदर्य नहीं जाना, रस नहीं जाना शरीर में उतरने का, गया नहीं कभी शरीर के खाई- खंदकों में, वह कैसे वैराग्य को जानेगा! जो गया गहरे में। उसने पाया वहां कुछ भी नहीं, थोथा है। सब दूर के ढोल सुहावने थे, पास जा कर सब व्यर्थ हो गये। मृगजाल सिद्ध हुआ, मृगमरीचिका सिद्ध हुई।

तो बैठे हैं भर्तृहरि एक वृक्ष के नीचे। अचानक आंख खुली। सूरज निकला है वृक्षों के बीच से, उसकी पड़ती किरणें, सामने एक हीरा जगमगा रहा है राह पर पड़ा। बैठे रहे। बहुमूल्य हीरा है, पारखी थे, सम्राट थे, हीरों को जानते थे। बहुत हीरे देखे थे, लेकिन ऐसा हीरा कभी नहीं देखा था। भर्तृहरि के खजाने में भी न था। एक क्षण पुरानी आकांक्षा ने, पुरानी आदतों ने बल मारा होगा। एक क्षण मन हुआ कि उठा लें, फिर हंसी आई कि यह भी क्या पागलपन है, अभी सब कुछ छोड़ कर आया, और सब देख कर आया कि कुछ भी नहीं है! मुस्कुराए। आंख बंद करने जा ही रहे थे कि दो घुड़सवार भागते हुए आये, दोनों की नजर एक साथ हीरे पर पड़ी। दोनों ने तलवारें निकाल लीं। दोनों दावेदार थे कि मैंने पहले देखा। देखा तो भर्तृहरि ने था। मगर उन्होंने तो कोई दावा किया नहीं, वे गैरदावेदार रहे।

अगर इन दो सिपाहियों को पता चल जाता कि तीसरा आदमी वृक्ष के नीचे बैठा है और घंटे भर से इसको देख रहा है तो वे क्या कहते? वे कहते: "हद आलस्य! अरे उठा नहीं लिया! इतना बहुमूल्य हीरा! तुम्हारी बुद्धि में तमस भरा है? तुम्हारी बुद्धि खो गई है? जड़ हो गये हो? उठते नहीं बनता, लकवा लग गया है? मामला क्या है? होश है कि नहीं, कि शराब पीये बैठे हो?"

लेकिन उन्हें तो फुरसत भी नहीं थी देखने की। वह तो झगड़ा बढ़ गया, तलवारें खिंच गईं, तलवारें चल गईं, हीरा वहीं का वहीं पड़ा रहा। थोड़ी देर बाद दो लाशें वहां पड़ी थीं। दोनों ने एक दूसरे की छाती में तलवार भोंक दी। हीरा जहां का तहां, दो आदमी मर मिटे। भर्तृहरि ने आंखें बंद कर लीं। अब भर्तृहरि जैसे आदमियों के पास जाने से तुम डरोगे अगर महत्वाकांक्षा अभी बची है। तो तुम हजार-हजार उपाय खोजोगे।

"यह तत्वबोध बोलने वाले को चुप कर जाता है; बुद्धिमान को जड़ बना देता है; महाउद्योगी को आलसी जैसा कर देता है।"

वाग्मिप्राज्ञमहोद्योगं जनं मूकजडालसम्।

और जैसे कोई आलसी जैसा हो गया, जड़ जैसा हो गया, मूक हो गया, गूंगा हो गया, ऐसी हालत हो जाती है। इसलिए भोग की अभिलाषा रखने वाले तत्व बोध से हजार कोस दूर भागते हैं। बुद्ध उनके गांव आ जाएं तो वे दूसरे गांव चले जाते हैं। बुद्ध उनके पड़ोस में ठहर जाएं तो भी वे पीठ कर लेते हैं। बुद्ध के वचन उनके कान में पड़ें तो वे कान बंद कर लेते हैं। कान बंद करने की हजारों तरकीबें हैं। वे हजार तर्क खोज लेते हैं कि ठीक नहीं ये बातें, पड़ना मत इस झंझट में, सुनना मत ऐसी बातें। उनका कहना भी ठीक है। क्योंकि जिस दिशा में वे जा रहे हैं, ये बातें उस दिशा से बिलकुल ही विपरीत हैं।

"तू शरीर नहीं है, न तेरा शरीर है और तू भोक्ता और कर्ता भी नहीं है। तू तो चैतन्यरूप है, नित्य साक्षी है, निरपेक्ष है, तू सुखपूर्वक विचर!"

मधु मिट्टी के भांड में है, अथवा स्वर्णपात्र में!

दृष्टि का यह द्वैत नहीं छल पायेगा रसना के ब्रह्म को!

द्वैत छल पाता है केवल बुद्धि को, अनुभव को नहीं।

मधु मिट्टी के भांड में है, अथवा स्वर्णपात्र में!

दृष्टि का यह द्वैत नहीं छल पायेगा रसना के ब्रह्म को!

अगर तुमने चखा तो तुम पात्रों का थोड़े ही हिसाब रखोगे कि सोने के पात्र में था कि मिट्टी के पात्र में था। चखा तो तुम स्वाद का हिसाब रखोगे। तुम कहोगे: मधु मधु है या नहीं।

संसार में जो भागा जा रहा है वह सिर्फ पात्रों की फिक्र कर रहा है, सुंदर देह देख कर दीवाना हो जाता है, चाहे भीतर जहर हो; ऊंचा पद देख कर पागल जाता है, चाहे ऊंचे सिंहासन पर बैठ कर सूली ही क्यों न लगती हो। लगती ही है। ऊंचे सिंहासन पर जो बैठा है वह सूली ही पर लटका है। तुम्हें उसकी भीतर की पीड़ा पता नहीं। उसके भीतर की अड़चन तुम्हें पता ही नहीं, न सोता है न जागता है। हर हालत में बस कुर्सी को पकड़े बैठा है। और कोई उसकी टांग खींच रहा है, कोई पीछे से खींच रहा है, कोई गिराने की कोशिश कर रहा है, कोई चढ़ने की कोशिश कर रहा है। कुर्सी पर जो बैठा है, वह बैठ कहां पाता है। बैठा दिखाई पड़ता है अखबारों में। उसकी असलियत का तुम्हें पता नहीं है। जनता में आता है तो मुस्कुराता आता है। वे सब चेहरे हैं, उन चेहरों से धोखे में मत पड़ना। लेकिन जिसने जीवन के रस को लिया वह तत्क्षण पहचान लेता है कि बाहर मधु नहीं है, मधु का धोखा है। बाहर स्वाद नहीं है, स्वाद का धोखा है।

मन रोक न जो मुझको रखता
जीवन से निर्झर शरमाता
मेरे पथ की बाधा बन कर
कोई कब तक टिक सकता था,

पर मैं खुद ऊंचे बांध उठा
अपने को उनमें भरमाता।

लोग अपने को भरमा रहे हैं, उलझा रहे हैं। खुद ही बांध उठाते हैं, खुद ही तर्क के जाल खड़े करते हैं। खुद ही अपने को समझा-समझा लेते हैं--और जहां से समझ की किरण आ सकती है वहां से वे दूर भागते हैं। समझ की किरण वहीं से आ सकती है जो समझा हो। जिसके जीवन से महत्वाकांक्षा चली गई हो, उसी से पूछना आकांक्षा का सार। और जिसके जीवन से कामवासना चली गई हो उसी से पूछना कामवासना का सार। वही तुम्हें कामवासना का सार भी बतला सकेगा, वही तुम्हें ब्रह्मचर्य का स्वाद भी दे सकेगा।

अष्टावक्र कहते हैं:

न त्वं देहो न ते देहो भोक्ता कर्ता न वा भवान्।
चिद्रूपोऽसि सदा साक्षी निरपेक्षः सुखं चर।।

तू तो है चैतन्य, तू तो है नित्य साक्षी, निरपेक्ष--ऐसा जान कर तू सुख से विचर। न तू भोक्ता, न तू शरीर, न तेरा शरीर--तू तो भीतर जो छिपा हुआ साक्षी है, बस वही है।

"राग और द्वेष मन के धर्म हैं। मन कभी तेरा नहीं। तू निर्विकल्प, निर्विकार, बोधस्वरूप है। तू सुखी हो।"

लेकिन मन बहुत करीब है चेतना के। और जैसे दर्पण के पास कोई चीज रखी हो तो दर्पण में प्रतिबिंब बन जाता है, ऐसे ही शुद्ध चेतना में मन का प्रतिबिंब बन जाता है। सब खेल मन का है। मन के हटते ही दर्पण कोरा हो जाता है। उस कोरे को जान लेना ही ब्रह्मज्ञान है। वही विज्ञान है।

एतावदेव विज्ञानं!

लेकिन मन बहुत करीब है और मन में तरंगें उठती रहती हैं और तरंगों की छाया चैतन्य पर बनती रहती है। जब तक तुम मन की तरंगों को साक्षी-भाव से देखोगे न...।

और साक्षी-भाव को समझ लेना। मन में कामवासना उठी; तुमने अगर कहा, बुरी है तो साक्षी-भाव खो गया। तुमने तो निर्णय ले लिया। तुम तो जुड़ गये--विपरीत जुड़ गए; लड़ने लगे। तुमने कहा, भली है--तो भी साक्षी भाव खो गया। कामवासना उठी; न तुमने कहा भली, न तुमने कहा बुरी; तुमने कोई निर्णय न लिया; तुम सिर्फ देखते रहे; तुम सिर्फ देखने वाले रहे; तुम जरा भी जुड़े नहीं। न प्रेम में न घृणा में, न पक्ष में न विपक्ष में; तुम सिर्फ देखते रहे--अगर तुम क्षण भर भी देखते रह जाओ तो चकित होओगे। तुम्हारे देखते रहने में ही धुएं की तरह वासना उठी और खो भी गई। और उसके खोते ही पीछे जो शून्य रिक्त छूट गया था, अपूर्व है उसकी शांति, उसका आनंद! उसका अमृत अपूर्व है! और उसके कण-कण तुम इकट्ठे करते जाओ, तो धीरे-धीरे तुम बदलते जाओगे। एक-एक बूंद करके किसी दिन तुम्हारा घड़ा अमृत से भर जाएगा।

हम तो मन से जीते हैं और मन के कारण, जो है, वह हमें दिखाई नहीं पड़ता।

एक नई विधवा ने बीमा कंपनी में जा कर मैनेजर से पति के बीमे की रकम मांगी। तो मैनेजर ने शिष्टाचार के नाते उसे कुर्सी पर बैठने का संकेत किया और कहा: "हमें आप पर आई अचानक विपत्ति को सुन कर बड़ा दुख हुआ, देवी जी!" देवी जी ने बिगड़ कर कहा: "जी हां, पुरुषों का सब जगह वही हाल है। जहां स्त्री को चार पैसों के मिलने का अवसर आता है, उन्हें बड़ा दुख होता है।"

वह बेचारा कह रहा था कि तुम्हारे पति चल बसे, हमें बड़ा दुख है; लेकिन स्त्री को पति की अभी फिक्र ही न होगी। अभी उसका सारा मन तो एक बात से भरा होगा कि इतने लाख मिल रहे हैं--कितनी साड़ी खरीद लूंगी, कौन-सी कार, कौन-सा मकान! उसका चित्त तो एक जाल से भरा होगा और इसका उसे पता नहीं; और वह जो भी सुनेगी, अपने मन के द्वारा सुनेगी। उसको तो एक ही बात समझ में आई होगी कि "अच्छा, तो तुम्हें दुख हो रहा है! तो मेरे मकान और मेरी कार और मेरी साड़ियां वह सब जो मैं खरीदने जा रही हूं...।" उसने अपना ही अर्थ लिया।

मन सदा तुम्हारे ऊपर रंग डाल रहा है। और मन के कारण तुम जो अर्थ लेते हो जीवन के, वे सच्चे नहीं हैं; वे तुम्हारे मन के हैं।

एक महिला एक बस में दस-बारह बच्चों को ले कर सफर कर रही थी। इतने में उसके पास बैठे मुल्ला नसरुद्दीन ने सिगरेट पीना शुरू कर दिया। औरत को यह पसंद न आया। वह नाराज हो गई। और बोली: "आपने देखा नहीं, महानुभाव? यहां लिखा है, बस में धूम्रपान करना मना है।" मुल्ला ने कहा: "लिखने में क्या धरा है? अरे, लिखने को तो हजार बातें लिखी हैं। यहां तो यह भी लिखा हुआ है: दो या तीन बस। तो ये दस-बारह कैसे? लिखने में क्या धरा है?"

आदमी जो भी निर्णय लेता है, जो भी बोलता है, जो भी करता है, उसमें उसके मन की छाया है। यह मुल्ला सोच रहा होगा दस-बारह बच्चे! यह दस-बारह बच्चों से परेशान हो रहा होगा। शायद इसने इसीलिए सिगरेट पीना शुरू किया हो कि दस-बारह बच्चों की किचड़-बिचड़, शोरगुल, परेशानी में किसी तरह अपने को भुलाने का उपाय कर रहा होगा।

हम जो देखते हैं वह हमारी मन की तरंगों से देखते हैं।

गणित के एक अध्यापक के घर बच्चा हुआ, तो उन्होंने पार्टी दी। लोग चौंके। विश्वविद्यालय के और प्रोफेसर भी आये थे, विद्यार्थी भी आये थे। टेबल के सामने एक तख्ती लगी थी, जिस पर लिखा था: "किन्हीं पांच का रसास्वादन करें, सबके स्वाद समान हैं।" गणित के प्रोफेसर! पुरानी आदत गणित का पर्चा निकालने की, कि कोई भी पांच प्रश्नों का उत्तर हल करें, सबके अंक समान हैं।

आदमी जीता है अपनी आदतों से, सोचता है अपनी आदतों से। और आदतें मन तक हैं; मन के पार कोई आदत नहीं। मन के पार तुम निर्विकार हो। सब तरंगें मन तक हैं।

"राग और द्वेष मन के धर्म हैं।"

रागद्वेषौ मनोधर्मौ।

"मन कभी भी तेरा नहीं है।"

न ते मनः कदाचन।

"तू निर्विकार, तू मन का नहीं है।"

त्वं निर्विकल्पः निर्विकारः बोधात्मा असि।

"तू तो निर्विकार बोधस्वरूप चैतन्य मात्र है। सुखी हो!"

इस विज्ञान को जान लिया, बस सुख को जान लिया। आत्मा कभी दुखी हुई ही नहीं। और अगर तुम दुखी हुए हो तुमने कहीं भूल से मन को आत्मा समझ लिया है। दुख का एक ही अर्थ है: आत्मा का मन से तादात्म्य हो जाना।

"सब भूतों में आत्मा को और सब भूतों को आत्मा में जान कर तू अहंकार-रहित और ममता-रहित है। तू सुखी हो।"

जैसे ही तुम जान लोगे भीतर के साक्षी को, तुम यह भी जान लोगे कि साक्षी तो सबका एक है। जब तक मन है तब तक अनेक। जब साक्षी जागा तब सब एक। परिधि पर हम भिन्न-भिन्न हैं; भीतर हम एक हैं। ऊपर-ऊपर हम भिन्न-भिन्न हैं; गहरे में हम एक हैं। वहां एकता आ जाती है तो अहंकार कैसा! और जहां एक ही बचा वहां ममता भी कैसी!

सर्वभूतेषु चात्मानं च सर्वभूतानि आत्मनि विज्ञाय।

निरहंकारः च निर्ममः त्वं सुखी भव।।

"जिसमें यह संसार समुद्र में तरंग की भांति स्फुरित होता है, वह तू ही है। इसमें संदेह नहीं है। हे चिन्मय, तू ज्वर-रहित हो, संताप-रहित हो, सुखी हो।"

विश्वं स्फुरति यत्रेदं तरंगा इव सागरे।

इस सागर में ये जो इतनी तरंगें उठ रही हैं, इन तरंगों के पीछे छिपा जो सागर है, वह तू ही है। ये संसार की सारी तरंगें ब्रह्म की ही तरंगें हैं।

तत्वमेव न संदेहश्चिन्मूर्ते विज्वरो भव।

और ऐसा जान कर--तू वही चिन्मय है, जिसका सारा खेल है; तू वही मूल है, जिसकी सारी अभिव्यक्ति है--विगत-ज्वर हो, सारा संताप छोड़, सुखी हो!

जब तक मन है, तब तक अड़चन है।

रात ने चुप्पी साध ली है।
सपने शांति में समा गए हैं
अंतःकपाट आपसे-आप खुलने लगा है
देवता शायद दरवाजे पर आ गये हैं
पानी का अचल होना
मन की शांति और आभा का प्रतीक है।
पानी जब अचल होता है
उसमें आदमी का मुख दिखलाई पड़ता है
हिलते पानी का बिंब भी हिलता है।
मन जब अचल पानी के समान शांत होता है
उसमें रहस्यों का रहस्य मिलता है।
मन रे, अचल सरोवर के समान शांत हो जा
जग कर तूने जो भी खेल खेले
सब गलत हो गया
अब सब कुछ भूल कर
नींद में सो जा।

मन जब सो जाए तो चेतना जागे। मन जागा रहे तो चेतना सोई रहती है। मन के जागरण को अपना जागरण मत समझ लेना। मन का जागरण ही तुम्हारी नींद है। मन सो जाए, सारी तरंगें खो जाएं मन की, तो मन के सो जाने पर ही तुम्हारा जागरण है। सारी बात मन की है। मन है तो संसार; मन नहीं तो मोक्ष। तुम अपने को किसी भांति मन से मुक्त जान लो।

एतावदेव विज्ञानम्!
इतना ही विज्ञान है।
यथेच्छसि तथा कुरु।
ऐसा जान कर सुखपूर्वक विचर, जो करना हो कर। स्वच्छंद हो!

हरि ॐ तत्सत्!

चालीसवां प्रवचन

धर्म अर्थात उत्सव

पहला प्रश्न: आपने बताया कि प्रेम के द्वारा सत्य को उपलब्ध हुआ जा सकता है। कृपया बताएं क्या इसके लिए ध्यान जरूरी है?

फिर प्रेम का तुम अर्थ ही न समझे। फिर प्रेम से तुम कुछ और समझ गए। बिना ध्यान के प्रेम तो संभव ही नहीं है। प्रेम भी ध्यान का एक ढंग है। फिर तुमने प्रेम से कुछ अपना ही अर्थ ले लिया। तुम्हारे प्रेम से अगर सत्य मिलता होता तो मिल ही गया होता। तुम्हारा प्रेम तो तुम कर ही रहे हो; पत्नी से, बच्चे से, पिता से, मां से, मित्रों से। ऐसा प्रेम तो तुमने जन्म-जन्म किया है। ऐसे प्रेम से सत्य मिलता होता तो मिल ही गया होता।

मैं किसी और ही प्रेम की बात कर रहा हूं। तुम देह की भाषा ही समझते हो। इसलिए जब मैं कुछ कहता हूं, तुम अपनी देह की भाषा में अनुवाद कर लेते हो; वहीं भूल हो जाती है। प्रेम का मेरे लिए वही अर्थ है जो प्रार्थना का है।

एक पुरानी कहानी तुमसे कहूं--झेन कथा है। एक झेन सदगुरु के बगीचे में कद्दू लगे थे। सुबह-सुबह गुरु बाहर आया तो देखा, कद्दुओं में बड़ा झगड़ा और विवाद मचा है। कद्दू ही ठहरे! उसने कहा: "अरे कद्दुओ यह क्या कर रहे हो? आपस में लड़ते हो!" वहां दो दल हो गए थे कद्दुओं में और मारधाड़ की नौबत थी। झेन गुरु ने कहा: "कद्दुओ, एक-दूसरे को प्रेम करो।" उन्होंने कहा: "यह हो ही नहीं सकता। दुश्मन को प्रेम करें? यह हो कैसे सकता है!" तो झेन गुरु ने कहा, "फिर ऐसा करो, ध्यान करो।" कद्दुओं ने कहा: "हम कद्दू हैं, हम ध्यान कैसे करें?" तो झेन गुरु ने कहा: "देखो--भीतर मंदिर में बौद्ध भिक्षुओं की कतार ध्यान करने बैठी थी--देखो ये कद्दू इतने कद्दू ध्यान कर रहे हैं।" बौद्ध भिक्षुओं के सिर तो घुटे होते हैं, कद्दुओं जैसे ही लगते हैं। "तुम भी इसी भांति बैठ जाओ।" पहले तो कद्दू हंसे, लेकिन सोचा: "गुरु ने कभी कहा भी नहीं; मान ही लें, थोड़ी देर बैठ जाएं।" जैसा गुरु ने कहा वैसे ही बैठ गए--सिद्धासन में पैर मोड़ कर आंखें बंद करके, रीढ़ सीधी करके। ऐसे बैठने से थोड़ी देर में शांत होने लगे।

सिर्फ बैठने से आदमी शांत हो जाता है। इसलिए झेन गुरु तो ध्यान का नाम ही रख दिये हैं: झाझेन। झाझेन का अर्थ होता है: खाली बैठे रहना, कुछ करना न।

कद्दू बैठे-बैठे शांत होने लगे, बड़े हैरान हुए, बड़े चकित भी हुए! ऐसी शांति कभी जानी न थी। चारों तरफ एक अपूर्व आनंद का भाव लहरें लेने लगा। फिर गुरु आया और उसने कहा: "अब एक काम और करो, अपने-अपने सिर पर हाथ रखो।" हाथ सिर पर रखा तो और चकित हो गए। एक विचित्र अनुभव आया कि वहां तो किसी बेल से जुड़े हैं। और जब सिर उठा कर देखा तो वह बेल एक ही है, वहां दो बेलें न थीं, एक ही बेल में लगे सब कद्दू थे। कद्दुओं ने कहा: "हम भी कैसे मूर्ख! हम तो एक ही के हिस्से हैं, हम तो सब एक ही हैं, एक ही रस बहता है हमसे--और हम लड़ते थे।" तो गुरु ने कहा: "अब प्रेम करो। अब तुमने जान लिया कि एक ही हो, कोई पराया नहीं। एक का ही विस्तार है।"

वह जहां से कद्दुओं ने पकड़ा अपने सिर पर, उसी को योगी सातवां चक्र कहते हैं: सहस्रार। हिंदू वहीं चोटी बढ़ाते हैं। चोटी का मतलब ही यही है कि वहां से हम एक ही बेल से जुड़े हैं। एक ही परमात्मा है। एक ही सत्ता, एक अस्तित्व, एक ही सागर लहरें ले रहा है। वह जो पास में तुम्हारे लहर दिखाई पड़ती है, भिन्न नहीं, अभिन्न है; तुमसे अलग नहीं, गहरे में तुमसे जुड़ी है। सारी लहरें संयुक्त हैं।

तुमने कभी एक बात खयाल की? तुमने कभी सागर में ऐसा देखा कि एक ही लहर उठी हो और सारा सागर शांत हो? नहीं, ऐसा नहीं होता। तुमने कभी ऐसा देखा, वृक्ष का एक ही पत्ता हिलता हो और सारा वृक्ष मौन खड़ा हो, हवाएं न हों? जब हिलता है तो पूरा वृक्ष हिलता है। और जब सागर में लहरें उठती हैं तो अनंत उठती हैं, एक लहर नहीं उठती। क्योंकि एक लहर तो हो ही नहीं सकती। तुम सोच सकते हो कि एक मनुष्य हो सकता है पृथ्वी पर? असंभव है। एक तो हो ही नहीं सकता। हम तो एक ही सागर की लहरें हैं, अनेक होने में हम प्रगट हो रहे हैं। जिस दिन यह अनुभव होता है, उस दिन प्रेम का जन्म होता है।

प्रेम का अर्थ है: अभिन्न का बोध हुआ, अद्वैत का बोध हुआ। शरीर तो अलग-अलग दिखाई पड़ ही रहे हैं, कद्दू तो अलग-अलग हैं ही, लहरें तो ऊपर से अलग-अलग दिखाई पड़ ही रही हैं--भीतर से आत्मा एक है।

प्रेम का अर्थ है: जब तुम्हें किसी में और अपने बीच एकता का अनुभव हुआ। और ऐसा नहीं है कि तुम्हें जब यह एकता का अनुभव होगा तो एक और तुम्हारे बीच ही होगा; यह अनुभव ऐसा है कि हुआ कि तुम्हें तत्क्षण पता चलेगा कि सभी एक हैं। भ्रांति टूटी तो वृक्ष, पहाड़-पर्वत, नदी-नाले, आदमी-पुरुष, पशु-पक्षी, चांदत्तारे सभी में एक ही कंप रहा है। उस एक के कंपन को जानने का नाम प्रेम है।

प्रेम प्रार्थना है। लेकिन तुम जिसे प्रेम समझे हो वह तो देह की भूख है; वह तो प्रेम का धोखा है; वह तो देह ने तुम्हें चकमा दिया है।

मांगती हैं भूखी इंद्रियां
भूखी इंद्रियों से भीख!

और किससे तुम मांगते हो भीख, यह भी कभी तुमने सोचा?--जो तुमसे भीख मांग रहा है। भिखारी भिखारी के सामने भिक्षा-पात्र लिए खड़े हैं। फिर तृप्ति नहीं होती तो आश्चर्य कैसा? किससे तुम मांग रहे हो? वह तुमसे मांगने आया है। तुम पत्नी से मांग रहे हो, पत्नी तुमसे मांग रही है; तुम बेटे से मांग रहे हो, बेटा तुमसे मांग रहा है। सब खाली हैं, रिक्त हैं। देने को कुछ भी नहीं है; सब मांग रहे हैं। भिखमंगों की जमात है।

मांगती हैं भूखी इंद्रियां
भूखी इंद्रियों से भीख
मान लिया है स्खलन
को ही तृप्ति का क्षण!
नहीं होने देता विमुक्त
इस मरीचिका से अघोरी मन
बदल-बदल कर मुखौटा
ठगता है चेतना का चिंतन
होते ही पटाक्षेप, बिखर जाएगी
अनमोल पंचभूतों की भीड़।

यह तुमने जिसे अपना होना समझा है, यह तो पंचभूतों की भीड़ है। यह तो हवा, पानी, आकाश तुममें मिल गए हैं। यह तुमने जिसे अपनी देह समझा है, यह तो केवल संयोग है; यह तो बिखर जाएगा। तब जो बचेगा इस संयोग के बिखर जाने पर, उसको पहचानो, उसमें डूबो, उसमें डुबकी लगाओ। वहीं से प्रेम उठता है। और उसमें डुबकी लगाने का ढंग ध्यान है। अगर तुमने ध्यान की बात ठीक से समझ ली तो प्रेम अपने-आप जीवन में उतरेगा या प्रेम की समझ ली तो ध्यान उतरेगा--ये एक ही बात को कहने के लिए दो शब्द हैं। ध्यान से समझ में आता हो तो ठीक, अन्यथा प्रेम। प्रेम से समझ में आता हो तो ठीक, अन्यथा ध्यान। लेकिन दोनों अलग नहीं हैं।

अकबर शिकार को गया था। जंगल में राह भूल गया, साथियों से बिछड़ गया। सांझ होने लगी, सूरज ढलने लगा, अकबर डरा हुआ था। कहां रुकेगा रात! जंगल में खतरा था, भाग रहा था। तभी उसे याद आया कि सांझ का वक्त है, प्रार्थना करनी जरूरी है। नमाज का समय हुआ तो बिछा कर अपनी चादर नमाज पढ़ने लगा।

जब वह नमाज पढ़ रहा था तब एक स्त्री भागती हुई, अल्हड़ स्त्री--उसके नमाज के वस्त्र पर से पैर रखती हुई, उसको धक्का देती हुई...वह झुका था, गिर पड़ा। वह भागती हुई निकल गई।

अकबर को बड़ा क्रोध आया। सम्राट नमाज पढ़ रहा है और इस अभद्र युवती को इतना भी बोध नहीं है! जल्दी-जल्दी नमाज पूरी की, भागा घोड़े पर, पकड़ा स्त्री को। कहा: "बदतमीज है! कोई भी नमाज पढ़ रहा हो, प्रार्थना कर रहा हो तो इस तरह तो अभद्र व्यवहार नहीं करना चाहिए। फिर मैं सम्राट हूं! सम्राट नमाज पढ़ रहा है और तूने इस तरह का व्यवहार किया।"

उसने कहा: "क्षमा करें, मुझे पता नहीं कि आप वहां थे। मुझे पता नहीं कि कोई नमाज पढ़ रहा था। लेकिन सम्राट, एक बात पूछनी है। मैं अपने प्रेमी से मिलने जा रही हूं तो मुझे कुछ नहीं दिखाई पड़ रहा है। मेरा प्रेमी राह देखता होगा तो मेरे तो प्राण वहां अटके हैं। तुम परमात्मा की प्रार्थना कर रहे थे, मेरा धक्का तुम्हें पता चल गया! यह कैसी प्रार्थना? यह तो अभी प्रेम भी नहीं है, यह प्रार्थना कैसी? तुम लवलीन न थे, तुम मंत्रमुग्ध न थे, तुम डूबे न थे, तो झूठा स्वांग क्यों रच रहे थे? जो परमात्मा के सामने खड़ा हो, उसे तो सब भूल जाएगा। कोई तुम्हारी गर्दन भी उतार देता तलवार से तो भी पता न चलता तो प्रार्थना। मुझे तो कुछ भी याद नहीं। क्षमा करें!"

अकबर ने अपनी आत्मकथा में घटना लिखवाई है और कहा है कि उस दिन मुझे बड़ी चोट पड़ी। सच में ही, यह भी कोई प्रार्थना है? यह तो अभी प्रेम भी नहीं।

प्रेम का ही विकास, आत्यंतिक विकास, प्रार्थना है।

अगर तुम्हें किसी व्यक्ति के भीतर परमात्मा का अनुभव होने लगे और किसी के भीतर तुम्हें अपनी ही झलक मिलने लगे तो प्रेम की किरण फूटी। तुम जिसे अभी प्रेम कहते हो, वह तो मजबूरी है। उसमें प्रार्थना की सुवास नहीं है। उसमें तो भूखी इंद्रियों की दुर्गंध है।

लहर सागर का नहीं शृंगार,
उसकी विकलता है।
गंध कलिका का नहीं उदगार,
उसकी विकलता है।
कूक कोयल की नहीं मनुहार,
उसकी विकलता है।
गान गायक का नहीं व्यापार,
उसकी विकलता है।
राग वीणा की नहीं झंकार,
उसकी विकलता है।

अभी तो तुम जिसे प्रेम कहते हो, वह विकलता है। वह तो मजबूरी है, वह तो पीड़ा है। अभी तुम संतप्त हो। अभी तुम भूखे हो। अभी तुम चाहते हो कोई सहारा मिल जाए। अभी तुम चाहते हो कहीं कोई नशा मिल जाए। इसे मैंने प्रेम नहीं कहा। प्रेम तो जागरण है। विकलता नहीं, विक्षिप्तता नहीं। प्रेम तो परम जाग्रत दशा है। उसे ध्यान कहो।

अगर तुमने प्रेम की मेरी बात ठीक से समझी तो यह प्रश्न उठेगा ही नहीं कि अगर प्रेम से सत्य मिल सकता है तो फिर ध्यान की क्या जरूरत है? प्रेम से सत्य मिलता है तभी जब प्रेम ही ध्यान का एक रूप होता है, उसके पहले नहीं।

दूसरी तरह के लोग भी हैं, वे भी आ कर मुझसे पूछते हैं कि अगर ध्यान से सत्य मिल सकता है तो फिर प्रेम की कोई जरूरत है? उनसे भी मैं यही कहता हूं कि अगर तुमने मेरे ध्यान की बात समझी तो यह प्रश्न पूछोगे नहीं। जिसको ध्यान जगने लगा, प्रेम तो जगेगा ही।

बुद्ध ने कहा है: जहां-जहां समाधि है, वहां-वहां करुणा है। करुणा छाया है समाधि की।

चैतन्य ने कहा है: जहां-जहां प्रेम, जहां-जहां प्रार्थना, वहां-वहां ध्यान। ध्यान छाया है प्रेम की। ये तो कहने के ही ढंग हैं। जैसे तुम्हारी छाया तुमसे अलग नहीं की जा सकती, ऐसे ही प्रेम और ध्यान को अलग नहीं किया जा सकता। तुम किसको छाया कहते हो, इससे भी कोई फर्क नहीं पड़ता। ये तो पद्धतियां हैं।

दो पद्धतियां हैं सत्य को खोजने की। जो है, उसे जानने के दो ढंग हैं--या तो ध्यान में तटस्थ हो जाओ, या प्रेम में लीन हो जाओ। या तो प्रेम में इतने डूब जाओ कि तुम मिट जाओ, सत्य ही बचे; या ध्यान में इतने जाग जाओ कि सब खो जाए, तुम ही बचो। एक बच जाए किसी भी दिशा से। जहां एक बच रहे, बस सत्य आ गया। कैसे तुम उस एक तक पहुंचे, "मैं" को मिटा कर पहुंचे कि "तू" को मिटा कर पहुंचे, इससे कुछ भेद नहीं पड़ता है।

लेकिन मन बड़ा बेईमान है। अगर मैं ध्यान करने को कहता हूं तो वह पूछता है: "प्रेम से नहीं होगा?" क्योंकि ध्यान करने से बचने का कोई रास्ता चाहिए। प्रेम से हो सकता हो तो ध्यान से तो बचें फिलहाल, फिर देखेंगे! फिर जब मैं प्रेम की बात कहता हूं, तो तुम पूछते हो: "ध्यान से नहीं हो सकेगा?" तब तुम प्रेम से बचने की फिक्र करने लगते हो। तुम मिटना नहीं चाहते--और बिना मिटे कोई उपाय नहीं; बिना मिटे कोई गति नहीं।

हम भी सुकरात हैं अहदे-नौ के
तस्नालब ही न मर जाएं यारो
जहर हो या मय-आतशीं हो
कोई जामे-शहादत तो आए।

कोई मरने का मौका तो आए। हिम्मतवर खोजी तो कहता है:

हम भी सुकरात हैं अहदे-नौ के

हम भी सत्य के खोजी हैं सुकरात जैसे। अगर जहर पीने से मिलता हो सत्य, तो हम तैयार हैं। मय-आतशीं पीने से मिलता हो तो हम तैयार हैं। विष पीने से मिलता हो या शराब पीने से मिलता हो, हम तैयार हैं।

कोई जामे-शहादत तो आए।

कोई शहीद होने का, मिटने का, कुर्बान होने का मौका तो आए।

मैं तुम्हारे लिए शहादत का मौका हूं। तुम बचाव न खोजो। ध्यान से मरना हो ध्यान से मरो, प्रेम से मरना हो प्रेम से मरो--मरो जरूर! कहीं तो मरो, कहीं तो मिटो! तुम्हारा होना ही अड़चन है। तुम्हारी मृत्यु ही परमात्मा से मिलन होगी।

सत्य की खोज को ऐसा मत सोचना जैसे धन की खोज है कि तुम गए और धन खोज कर आ गए और तिजोड़ियां भर लीं। सत्य की खोज बड़ी अन्यथा है। तुम गए--तुम गए ही। तुम कभी लौटोगे न, सत्य लौटेगा! ऐसा नहीं है कि सत्य को तुम मुट्ठियों में भर कर ले आओगे, तिजोड़ियों में रख लोगे। तुम कभी सत्य के मालिक न हो सकोगे। सत्य पर किसी की कोई मालकियत नहीं हो सकती। जब तक तुम्हें मालिक होने का नशा सवार है, तब तक सत्य तुम्हें मिलेगा नहीं। जिस दिन तुम चरणों में गिर जाओगे, विसर्जित हो जाओगे, तुम कहोगे "मैं नहीं हूं"--उसी क्षण सत्य है। तुम सत्य को न खोज पाओगे; तुम मिटोगे तो सत्य मिलेगा। तुम्हारा होना बाधा है।

तो ऐसे बचते मत रहो। मैं ध्यान की कहूं तो तुम प्रेम की कहो, मैं प्रेम की कहूं तो तुम ध्यान की कहो--ऐसा पात-पात फुदकते न रहो। ऐसे ही तो जनम-जनम तुमने गंवाए।

मेरे साथ कठिनाई है थोड़ी। अगर तुम बुद्ध के पास होते तो बच सकते थे, क्योंकि बुद्ध ध्यान की बात कहते, प्रेम की बात नहीं कहते। तुम कह सकते थे: मेरा मार्ग तो प्रेम है। तुम उपाय खोज लेते। तुम चैतन्य के पास बच सकते थे, क्योंकि चैतन्य प्रेम की बात कहते; तुम कहते कि हमारा उपाय तो ध्यान है। तुम मुझसे न

बच कर भाग सकोगे। तुम कहो प्रेम से मरेंगे--मैं कहता हूं: चलो...। "ध्यान से मरना है"--मैं कहता हूं: ध्यान से मरो। मरना मूल्यवान है।

इसलिए तुम अगर मेरे साथ उलझ गए हो तो शहीद हुए बिना चलेगा नहीं। शहादत का मौका आ ही गया है। देर-अबेर कर सकते हो, थोड़ी-बहुत देर यहां-वहां उलझाए रख सकते हो, लेकिन ज्यादा देर नहीं। फिर इस देर-अबेर में तुम कोई सुख भी नहीं पा रहे हो। सिवाय दुख के और कुछ भी नहीं है। बिना सत्य को जाने सुख हो भी कैसे सकता है? सुख तो सत्य की ही सुरभि है, उसकी ही सुगंध है। सुख तो सत्य का ही प्रकाश है।

दूसरा प्रश्न: ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय से परे स्वयं में जो स्थित होना है, क्या उस अवस्था में आजीवन जीया जा सकता है? जिस तरह झील कभी शांत, कभी चंचल और कभी तूफानी अवस्था में होती है, क्या उसी तरह आत्मज्ञानी सांसारिक परिस्थितियों से प्रभावित नहीं होता है? प्रभु अज्ञान हरें!

पहली तो बात:

"ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय से परे स्वयं में जो स्थित होना है, क्या उस अवस्था में आजीवन जीया जा सकता है?"

"आजीवन" भ्रांत मन का फैलाव है। एक क्षण से ज्यादा तुम्हारे पास कभी होता ही नहीं। दो क्षण नहीं होते, आजीवन की बात कर रहे हो! जब होता है हाथ में, एक छोटा-सा क्षण होता है। इतना छोटा कि तुमने जाना नहीं कि वह गया। एक क्षण से ज्यादा तो कभी हाथ में होता नहीं। इसलिए तो बुद्ध ने अपनी जीवन-पद्धति को क्षणवाद कहा। कहा कि एक क्षण है तुम्हारे हाथ में और तुम आजीवन का हिसाब बांध रहे हो! दो क्षण तुम्हारे हाथ में कभी इकट्ठे मिलते नहीं। अगर तुम एक क्षण भी तटस्थ और कूटस्थ हो सकते हो तो हो गए सदा के लिए। एक ही क्षण तो मिलेगा जब भी मिलेगा। और तुम्हें एक क्षण में शांत होने की कला आ गई तो सारे जीवन में शांत होने की कला आ गई।

अब यह नई चिंता मत पैदा करो। ये मन की तरकीबें हैं। मन नई-नई झंझटें पैदा करता है। अगर तुम शांत हो जाओ तो मन कहता है: "इससे क्या होना है? अरे, सदा रहेगा? कल रहेगा? परसों रहेगा? अभी हो गए शांत, मान लिया; घड़ी-भर बाद अशांत हो जाओगे, फिर क्या?" मन ने यह प्रश्न उठा कर इस क्षण की शांति भी छीन ली। यह प्रश्न में इस क्षण की शांति भी छितर-बितर हो गई, नष्ट हो गई। यह प्रश्न तो बड़ी चालबाजी का हुआ।

सुख उठता है, कभी ध्यान में बड़ी महिमा का क्षण आ जाता है; लेकिन मन तत्क्षण प्रश्न-चिह्न लगा देता है कि "क्या मस्त हुए जा रहे हो, यह कोई टिकने वाला है? सपना है!" दुख पर मन कभी प्रश्न-चिह्न नहीं लगाता; सुख पर सदा लगा देता है। कह देता है: "क्षणभंगुर है! ज्यादा मत उछलो-कूदो। ज्यादा मत नाचो। अभी दुख आता है।" और तुमने अगर यह सुन लिया और प्रश्न को स्वीकार कर लिया तो दुख आ ही गया। इस प्रश्न ने तुम्हारे चित्त की समस्वरता को तोड़ दिया; वह एकरसता जो बंधती-बंधती होती थी, खो गई।

"आजीवन" का प्रश्न क्यों पूछते हो? यह किसी लोभ से उठती है बात। मन लोभी है। एक क्षण पर्याप्त नहीं है? काश, तुम्हें यह बात समझ में आ जाए कि एक क्षण ही तुम्हारे पास है, तो एक क्षण में ही शांत हो जाना आ जाना चाहिए।

लाओत्सु कहा करता था: एक आदमी तीर्थ-यात्रा को जा रहा था। कई वर्षों से योजना करता था, लेकिन बहाने आ जाते थे, अड़चनें आ जाती थीं, नहीं निकल पाता था। फिर हिम्मत करके एक रात को निकल पड़ा। ज्यादा दूर भी न था तीर्थ, दस ही मील था--पहाड़ी पर। और सुबह-सुबह जल्दी निकलना पड़ता था, ताकि धूप चढ़े, चढ़ते-चढ़ते आदमी पहुंच जाए। तो वह तीन बजे रात निकल पड़ा। गांव के बाहर अपनी लालटेन को लेकर पहुंचा। गांव के बाहर जाकर दिखाई पड़ा--दूर तक फैला हुआ भयंकर अंधकार! उसे एक शंका उठी कि यह

छोटी-सी लालटेन, तीन-चार कदम इससे रोशनी पड़ती है, दस मील के अंधेरे को यह काट सकेगी? वह बैठ गया। उसने कहा: "यह तो खतरा लेना है। दस मील लंबा अंधेरा है, सारे पहाड़ अंधेरे से भरे हैं! मैं इस छोटी-सी लालटेन के भरोसे निकल पड़ा हूं। यह हो नहीं सकता।" उसने गणित बिठाया। दूकानदार था, गणित लगाना आता था। उसने कहा: "तीन-चार कदम रोशनी पड़ती है, दस मील का अंधेरा है--सोचो भी तो यह हल कैसे होगा?"

वह उदास बैठा था, तभी उससे भी छोटी रोशनी लिए हुए एक आदमी पास से निकला। उसने कहा: "भाई, कहां जाते हो? भटक जाओगे, और तुम्हारी रोशनी तो मुझसे भी छोटी है, छोटी-सी लालटेन लिए हो। अंधेरा तो देखो कितना है, मीलों तक फैला हुआ है; और तुम्हारी रोशनी तो दो कदम पड़ती है!" उस आदमी ने कहा: "पागल हुए हो! दो कदम चल लिए, तब दो कदम और आगे रोशनी पड़ जाएगी। ऐसे-ऐसे तो हजार मील पार हो जाएंगे। यह गणित करके बैठे हो? यह गणित भ्रांत है। कोई दस मील लंबी रोशनी ले कर चलेंगे, तब पहुंचेंगे? तो चलना ही मुश्किल हो जाएगा। इतना बड़ा रोशनी का इंतजाम...चलना असंभव हो जाएगा। दो कदम पर्याप्त हैं। दो कदम दिख जाता है, दो कदम चल लेते हैं; फिर दो कदम दिखने लगता है, फिर दो कदम चल लेते हैं।

लाओत्सु ने कहा है: एक-एक कदम चल कर दस हजार मील की यात्रा पूरी हो जाती है।

एक क्षण तुम्हारा मन शांत हो गया, पर्याप्त है। एक ही क्षण तो मिलता है, फिर एक क्षण मिलेगा। तुम्हें क्षण में शांत होने की कला आ गई, दूसरे क्षण में भी तुम शांत होने की कला का उपयोग कर लेना। तुम्हें गीत गुनगुनाना आ गया, इस क्षण गुनगुनाया, अगले क्षण भी गुनगुना लेना। ऐसे-ऐसे एक जन्म में क्या, जन्मों-जन्मों बीत जाएं, कोई अंतर नहीं पड़ता।

मैं तुमसे कहता हूं: एक क्षण के लिए जो शांत होना सीख गया, वह सदा के लिए शांत हो गया। क्योंकि एक क्षण में उसने समय पर पकड़ बांध ली। अब समय उसे न हरा सकेगा। अब तो समय तभी हरा सकता है जब समय एक साथ दो क्षण तुम्हें दे दे। तब तुम मुश्किल में पड़ जाओगे कि एक क्षण तो शांत हो जाएगा और एक क्षण...? लेकिन समय कभी दो क्षण तुम्हें एक साथ देता नहीं। दो पल किसे मिलते हैं!

दूसरी बात: "जिस तरह झील कभी शांत, कभी चंचल और कभी तूफानी अवस्था में होती है, क्या उसी तरह आत्मज्ञानी सांसारिक परिस्थितियों से प्रभावित नहीं होता है?"

हमारे मन में आत्मज्ञान के संबंध में बड़ी भ्रांत धारणाएं हैं। पहली तो बात, आत्मज्ञानी का अर्थ होता है: जो बचा नहीं। तो शांत होता है, अशांत होता है--यह प्रश्न व्यर्थ है। यह तो ऐसे ही हुआ कि कोई आदमी पूछे कि "कमरे में हमने दीया जलाया, फिर अंधेरे का क्या होता है? फिर अंधेरा कहां जाता है?" हम कहेंगे: अंधेरा बचता ही नहीं।

"सिकुड़ कर छिप जाता है किसी कोने-कातर में? कुर्सी के पीछे? दरवाजे के बाहर प्रतीक्षा करता है? कहां चला जाता है? क्योंकि जब हम दीया बुझाते हैं, फिर आ जाता है--तो कहीं जाता होगा, आता होगा!"

सारी बातें भ्रांत हैं। अंधेरा है ही नहीं। अंधेरा तो केवल प्रकाश के न होने का नाम है।

समझो: तुम हो क्योंकि अज्ञान है। जैसे ही ज्ञान हुआ, तुम गए। शांत होने को भी कोई नहीं बचता, अशांत होना तो दूर की बात है। जब तुम नहीं बचते, उस अवस्था का नाम शांति है। ऐसा थोड़े ही है कि तुम शांत हो गए। ऐसा थोड़े ही है कि तुम रहे और + शांति। तुम रहे तब तो अशांति। तुम्हारा होना अशांति का पर्यायवाची है। तुम नहीं रहे तो शांति। फिर कैसे अशांत होओगे? मैं तुमसे यह भी नहीं कह रहा हूं कि तुम शांत हो गए हो। मैं तो कह रहा हूं, तुम नहीं हो गए हो। इसलिए तो कहता हूं: शहादत का मौका है, मिटने की तैयारी करनी है। तुम्हारी आकांक्षा यह है कि हम तो बचें और शांत होकर बचें। बैठे हैं महल में शांत! तुम बचे तो शांत बच ही नहीं सकते।

तुम गए नदी के किनारे या समुद्र के किनारे और तुमने देखा कि बड़ा तूफान है, सागर पर बड़ी लहरें हैं, बड़ा तूफान है। फिर तुमने देखा, तूफान चला गया। तो लोग कहते हैं: तूफान शांत हो गया। लेकिन यह भाषा ठीक नहीं। इससे ऐसा लगता है कि तूफान अब भी है और शांत होकर है। लोग कहते हैं: तूफान शांत हो गया। कहना चाहिए: तूफान नहीं हो गया। वस्तुतः तूफान शांत हो गया, इसका इतना ही अर्थ है कि तूफान अब नहीं है। तुम शांत हो गए, इसका इतना ही अर्थ है कि तुम अब नहीं हो। तो कौन विचलित होगा? विचलित होने के लिए होना तो चाहिए! कौन डांवांडोल होगा! आएं तूफान, जाएं तूफान, गुजरें तूफान--तुम शून्य हो गए।

बाहर तो वसंत और आएगा नहीं
मन रे, भीतर कोई वसंत पैदा कर!
वसंत यानी मौसम और मिजाज के बीच समरसता।
निदाग हो तब भी
फूलों के लिए रोना नहीं।
पक्षी सारे उड़ गए
अब डालियां सूनी हैं
यह सोच कर
ग्लानि में खोना नहीं।
हर मौसम में
नीरव और निश्चिंत रहना
वसंत की नदी की भांति
मंद-मंद बहना!
वसंत यानी मौसम और मिजाज के बीच समरसता।

शांति का क्या अर्थ है? शांति का अर्थ है: तुम्हारे और अस्तित्व के बीच समरसता। न मैं रहा, न तू रहा; दोनों जुड़ गए और एक हो गए। अब तुम्हें कौन विचलित करेगा?

मेरे पास लोग आते हैं। वे कहते हैं कि "ध्यान असंभव है। घर में करने बैठते हैं तो पत्नी जोर से थालियां गिराने लगती है, बर्तन तोड़ने लगती है, बच्चे शोर-गुल मचाने लगते हैं, ट्रेन निकल जाती है, रास्ते पर कारें हार्न बजाती हैं--ध्यान करना बहुत मुश्किल है, सुविधा नहीं है।" तुम ध्यान जानते ही नहीं। ध्यान का अर्थ यह नहीं है कि पत्नी बर्तन न गिराए, बच्चे रोएं न, सड़क से गाड़ियां न निकलें, ट्रेन न निकले, हवाई जहाज न गुजरे। अगर तुम्हारे ध्यान का ऐसा मतलब है, तब तो तुम अकेले बचो तभी ध्यान हो सकता है...पशु-पक्षी भी न बचें।

क्योंकि एक आदमी ऐसा ध्यानी था, वह घर छोड़ कर भाग गया। वह जा कर एक वृक्ष के नीचे बैठा। उसने कहा, अब यहां तो ध्यान होगा। एक कौए ने बीट कर दी, बौखला उठा। उसने कहा: "हद हो गई! किसी तरह पत्नी से छूटे, यह कौआ मिल गया। पत्नी का तो कुछ बिगाड़ा भी हो कभी, इस कौए का क्या बिगाड़ा है!" कौए को पता नहीं कि ध्यानी नीचे बैठा है। कौए को कुछ लेना-देना नहीं है।

तुम्हारा ध्यान अगर इस भांति का है कि हर चीज बंद हो जानी चाहिए तब तुम्हारा ध्यान होगा, तो होगा ही नहीं, असंभव है। जगत में बड़ी गति चलती है। जगत गति है। इसलिए तो जगत कहते हैं। जगत यानी जो गत; जा रहा है; भागा जा रहा है। जिसमें गति है, वही जगत। गतिमान को जगत कहते हैं।

संस्कृत के शब्द बड़े अनूठे हैं। वे सिर्फ शब्द नहीं हैं, उनके भीतर बड़े अर्थ हैं। जो भागा जाता है, वही जगत है।

तो इस जगत में तो सब तरफ गति हो रही है--नदियां भाग रही हैं, पहाड़ बिखर रहे, वर्षा होगी, बादल घुमड़ेंगे, बिजली चमकेगी--सब कुछ होता रहेगा। इससे तुम भागोगे कहां? तो तुमने ध्यान की गलत धारणा पकड़ ली। ध्यान का अर्थ यह नहीं है कि बर्तन न गिरें। ध्यान का अर्थ है कि बर्तन तो गिरें, लेकिन तुम भीतर इतने शून्य रहो कि बर्तन गिरने की आवाज गूंजे और निकल जाए। कभी किसी शून्य-घर में जा कर तुमने जोर से

आवाज की? क्या होता है? सूने घर में आवाज थोड़ी देर गूंजती है और चली जाती है; सूना घर फिर सूना हो जाता है, कुछ विचलित नहीं होता।

तो ध्यान को तुम स्वीकार बनाओ। तुम्हारा ध्यान अस्वीकार है, तो हर जगह अड़चन आएगी। अक्सर ऐसा होता है कि घर में एकाध आदमी ध्यानी हो जाए तो घर भर की मौत हो जाती है। क्योंकि वे पिताजी ध्यान कर रहे हैं तो बच्चे खेल नहीं सकते, शोरगुल नहीं मचा सकते। पिताजी ध्यान कर रहे हैं; जैसे पिताजी का ध्यान करना सारी दुनिया की मुसीबत है! और अगर जरा-सी अड़चन हो जाए तो पिताजी बाहर निकल आते हैं अपने मंदिर के और शोरगुल मचाने लगते हैं कि ध्यान में बाधा पड़ गई।

जिस ध्यान में बाधा पड़ जाए, वह ध्यान नहीं। वह तो अहंकार का ही खेल है, क्योंकि अहंकार में बाधा पड़ती है। तुम वहां अकड़ कर बैठे थे ध्यानी बने, तुम अहंकार का मजा ले रहे थे। जरा-सी बाधा कि तुम आ गए।

तुमने देखा! तुम्हारी ही बात नहीं है, तुम्हारे बड़े-बड़े ऋषि-मुनि जरा-सी बात में नाराज हो जाते हैं, दुर्वासा बन जाते हैं, क्रोध से उत्तप्त हो जाते हैं। यह कोई ध्यान नहीं है। ध्यान का तो अर्थ इतना ही है कि अब जो भी होगा वह मुझे स्वीकार है। मैं नहीं हूं; जो रहा है, हो रहा है; जो हो रहा है, होता रहेगा। तुम खाली बैठे। बर्तन टूटा, आवाज आई, गूंजी, तुमने सुनी, जरूर सुनी; लेकिन तुमने इससे कुछ विरोध न किया कि ऐसा नहीं होना चाहिए था। तुमने जैसे ही कहा कि ऐसा नहीं होना चाहिए था कि विघ्न हुआ, बाधा पड़ी। बर्तन के टूटने से बाधा नहीं पड़ रही--तुम्हारी दृष्टि विरोध की कि ऐसा नहीं होना था...। बच्चा रोया, तुम्हें बाधा पड़ी--यह नहीं होना था। कोई बच्चे को रोके, कोई नहीं रोक रहा है--और बाधा पड़ी! तुम ध्यान कर रहे हो और किसी को तुम्हारे ध्यान की फिक्र नहीं है! तुम महान कार्य कर रहे हो संसार के हित के लिए। और लोग अपने ढंग से चले जा रहे हैं, कोई हार्न ही बजा रहा है।

तुम गलत दृष्टि से ध्यान करने बैठे हो। तुम्हारा ध्यान अहंकार की ही सजावट है। वास्तविक ध्यान तो जो हो रहा है हो रहा है; तुम शांत बैठे देख रहे हो। तुम्हारा कोई अस्वीकार-भाव नहीं है।

ध्यान एकाग्रता नहीं है; ध्यान सर्व-स्वीकार है। पक्षी गाएंगे, आवाज करेंगे, राह पर लोग चलेंगे, कोई बात करेगा, बच्चे हंसेंगे--सब होता रहेगा, तुम वहां शून्यवत बैठे रहोगे। सब तुममें से गुजरेगा भी--ऐसा भी नहीं है कि तुम्हारे कान बहरे हो गए हैं कि तुम्हें सुनाई नहीं पड़ेगा--तुम्हें और भी अच्छी तरह सुनाई पड़ेगा। ऐसा पहले कभी नहीं पड़ा था, क्योंकि मन में हजार उलझनें थीं, तो कान सुन भी लेते थे, फिर भी मन तक नहीं पहुंचता था। अब बिना उलझन के बैठे तुम्हारी संवेदनशीलता बड़ी प्रगाढ़ हो जाएगी।

वसंत यानी मौसम और मिजाज के बीच समरसता।

ध्यान यानी तुम्हारे और समस्त के बीच समरसता। समरस हो गए। ठीक है जो है, बिलकुल ठीक है, स्वीकार है। कहीं कोई अस्वीकार नहीं, कहीं कोई विरोध नहीं। जो रहा है, शुभ हो रहा है। यही आस्तिकता है, यही ध्यान है। ऐसा ध्यान स्वभावतः एक नई ही अनुभूति में तुम्हें ले जाएगा। तूफान उठेंगे, तूफान रुक नहीं जाएंगे तुम्हारे ध्यान करने से। ध्यान करने से शरीर में बीमारियां आनी बंद नहीं हो जाएंगी। बीमारियां आएंगी, शरीर में कभी कांटा भी चुभेगा। रमण को कैंसर हो गया, रामकृष्ण को भी...तो बड़े तूफान आए!

रामकृष्ण को कैंसर हो गया गले का, तो भोजन न कर सकते थे, पानी न पी सकते थे। तो विवेकानंद ने उन्हें कहा कि आपके हाथ में क्या नहीं! आप क्यों नहीं प्रभु से प्रार्थना करते कि इतना तो कम से कम कर, कि कम से कम भोजन और पानी तो जाने दे! हम पीड़ित होते हैं आपको तड़पते देख कर।

रामकृष्ण ने कहा कि अरे, यह तो मुझे खयाल ही न आया कि प्रभु से प्रार्थना करूं। जिसकी प्रार्थना पूरी हो गई, उसे कैसे खयाल आएगा कि प्रभु से इसके लिए प्रार्थना करूं!

विवेकानंद ने बहुत आग्रह किया तो उन्होंने आंख बंद की और फिर हंसने लगे और कहा कि तू नहीं मानता तो मैंने कहा।...मैं जानता हूं, कहा नहीं होगा, क्योंकि प्रार्थना करने वाला प्रार्थना कर ही नहीं सकता।

सब प्रभु पर छोड़ दिया, अब उससे और क्या शिकायत कि ऐसा कर वैसा कर, कि गले में पानी जाने दे। यह भी कोई बात है? यह कोई कहने जैसी बात है? रामकृष्ण ने कही होगी? नहीं, लेकिन रामकृष्ण ने विवेकानंद के संतोष के लिए कहा कि मैंने कहा। तो विवेकानंद बड़ी उत्फुल्लता से बोले: "क्या कहा परमात्मा ने?" तो उन्होंने कहा: "परमात्मा ने कहा कि अरे पागल, अब इसी कंठ से पानी पीता रहेगा? और सब कंठों से पी! इसी कंठ से भोजन करता रहेगा? अब और कंठों से कर! यह शरीर तो जाने का क्षण आ गया।"

तो रामकृष्ण ने कहा: "अब विवेकानंद, तुम्हारे कंठ से पानी पी लेंगे, तुम्हारे कंठ से भोजन कर लेंगे। यह कंठ तो गया। प्रभु ने ऐसा कहा।"

यह मैं मानता हूं कि रामकृष्ण ने पूछा नहीं होगा, पूछ सकते नहीं।

जाग्रत पुरुष को कैंसर नहीं होगा, ऐसा नहीं है; हो सकता है। क्योंकि कैंसर कोई तुम्हारी जागृति और गैर-जागृति से नहीं चलता; वह तो शरीर के गुणधर्म से चलता है। वह तो शरीर की अलग यात्रा चल रही है। तुम जाग गए तो पैर में कांटा नहीं गड़ेगा, ऐसा नहीं है। तूफान तो आते रहेंगे, आंधियां आती रहेंगी, छप्पर गिरते रहेंगे; लेकिन अब तुम्हें कोई फर्क नहीं पड़ता। तुम्हें स्वीकार है।

पूछा है: "क्या उस अवस्था में आजीवन जीया जा सकता है? जिस तरह झील कभी शांत, कभी चंचल, कभी तूफानी अवस्था में होती है, क्या उसी तरह आत्मज्ञानी सांसारिक परिस्थितियों से प्रभावित नहीं होता है?"

नहीं, आत्मज्ञानी होता ही नहीं--इसलिए प्रभावित और अप्रभावित का कोई अर्थ नहीं। जो कहे कि प्रभावित होता हूं, वह तो आत्मज्ञानी है ही नहीं। और जो कहे कि मैं अप्रभावित रहता हूं, वह भी आत्मज्ञानी नहीं है। क्योंकि प्रभाव-अप्रभाव दोनों एक ही दिशा में हैं। उनमें दोनों में तुम तो मौजूद हो--कोई प्रभावित होता है, कोई प्रभावित नहीं होता। लेकिन अकड़ तो मौजूद है, अहंकार तो मौजूद है। और अगर तुम मुझसे पूछो तो मैं कहता हूं: जो प्रभावित होता है, वही सरल है। जो अप्रभावित रहता है वह कठिन, कठोर है, जड़ है। प्रभावित न होने से तो प्रभावित होना ही बेहतर है, कम से कम तरल तो हो। तूफान आते हैं हिलते-डुलते तो हो; पत्थर की तरह तो नहीं हो। लेकिन ये दोनों ही अवस्थाएं आत्मज्ञान की नहीं हैं।

आत्मज्ञान की अवस्था में तो तुम हो ही नहीं--जो होता है, होता है। न कोई प्रभावित होने को बचा, न कोई अप्रभावित रहने को बचा। आर-पार सब खाली है, पारदर्शी हो गए। किरण आती, गुजर जाती, कहीं कोई रुकावट नहीं पड़ती।

आज तो यह असंभव लगेगा। आज तो यह बिलकुल असंभव लगेगा। आज तो ऐसा लगता है कि अप्रभावित होना ही बड़ी दूर की मंजिल है। प्रभावित तो हम होते हैं हर पल छोटी-छोटी बात से, अप्रभावित होने को हमने लक्ष्य बना रखा है। और मैं कह रहा हूं: उसके भी पार जाना है।

टहलना छोड़ दूं,
यह हो सकता है
लेकिन टहलूं
और जमीन से पांव न लगें,
यह अनहोनी बात है।
पानी से दूर रहूं,
यह संभव है
लेकिन पानी में तैरें
और वस्त्र न भीगें,
यह करिश्मा कौन कर सकता है!

अगर यह कमजोरी है
तो इसका राज क्या है?
अगर यह बीमारी है
तो इसका इलाज क्या है?
तब भी तेरी महिमा अपार है।
तू चाहे
तो यह असमर्थता भी
हर सकता है।
इसलिए तो ऐसे लोग हैं
जो पांव छुलाए बिना
जमीन पर चलते हैं
और आग में
खड़े होकर भी नहीं जलते हैं।

लेकिन तुम ध्यान रखना, यह जो चमत्कार है--आत्यंतिक चमत्कार--यह तभी घटता है जब तुम होते ही नहीं; जलने वाला होता ही नहीं, तभी यह चमत्कार घटता है। जब तक तुम हो, तब तक तो तुम जलोगे ही। चाहे दिखाओ चाहे न दिखाओ, बताओ कि न बताओ, प्रगट करो कि न प्रगट करो; लेकिन जब तक तुम हो तब तक तो तुम जलोगे ही। और जब तक तुम हो, पानी पर चलोगे, तो पैर में पानी छुएगा ही। लेकिन यह करिश्मा भी घटता है। उसकी महिमा अपार है! यह तुम्हारे किए नहीं घटता; यह तुम्हारे मिटे घटता है।

तू जो चाहे, तो
यह असमर्थता भी हर सकता है।
इसलिए तो ऐसे लोग हैं
जो पांव छुलाए बिना
जमीन पर चलते हैं
और आग में खड़े होकर भी
नहीं जलते हैं।

ध्यान रखना, मैं वस्तुतः आग के अंगारों पर चलने वालों की बात नहीं कर रहा हूं और न ही पानी पर चलने वाले योगियों की बात कर रहा हूं। मैं तो जीवन की उस परम महिमा की बात कर रहा हूं, जहां तुम जीवन में होते हो, फिर भी तुम्हें कुछ छूता नहीं। बाजार में खड़े और तुम मंदिर में ही होते हो। दूकान पर बैठे, ग्राहक से बात करते, तुम किसी परलोक में होते हो। उठते-बैठते, घर-द्वार सम्हालते, बच्चे-पत्नी की चिंता-फिक्र करते--फिर भी निश्चिंत रहते हो! जल में कमलवत! मैं तो उस महा चमत्कार की बात कर रहा हूं। अंगारों पर चलना तो बच्चों का खेल है। वह तो सीखा जा सकता है, किया जा सकता है। और शायद कभी आदमी पानी पर चलने का भी उपाय कर ले, उसका भी आयोजन हो सकता है। लेकिन इन सब की मैं बात नहीं कर रहा हूं।

झेन फकीर बोकोजू अपने शिष्यों के साथ एक नदी के किनारे पहुंचा। शिष्य बहुत दिन से प्रतीक्षा करते थे कभी कि बोकोजू के साथ नदी पार करने का मौका मिल जाए। क्योंकि बोकोजू सदा कहता था कि मैं अगर नदी से गुजरूं तो मेरे पैर में पानी न छुएगा। तो शिष्य बड़े उत्सुक थे यह चमत्कार देखने को। लेकिन जब बोकोजू पानी में चला तो जैसे उनके पैर भीग रहे थे, उसके पैर भी भीग रहे थे। वे तो बड़े हैरान हुए। उन्होंने कहा: "गुरुदेव, यह क्या मामला है? आप तो सदा कहते थे कि मैं पानी में चलूं तो मेरे पैर न भीगेंगे।" और बोकोजू हंसने लगा। उसने कहा तो फिर तुम समझे नहीं। मैं तो अभी भी नहीं भीग रहा हूं; और जो भीग रहा है, वह मैं नहीं हूं। यह देह मैं नहीं हूं, यही तो मैं तुम्हें सुबह से सांझ समझाता हूं। तुम मूर्खचित्त, कब चेतोगे? मैं तो अभी भी अनभीगा हूं और मेरे भीगने का कोई उपाय नहीं है। और तुम भी अनभीगे हो, सिर्फ तुम्हें इसका पता नहीं चल रहा है, मुझे पता चल रहा है--भेद इतना ही है।

जिसे भीतर की शून्यता की प्रतीति होने लगी, तूफान आएं, निश्चित ही शरीर तो कंपेगा, कंपन होंगे; लेकिन भीतर उस शून्य में कुछ भी न होगा। जो मिट गया, उसे कुछ हो कैसे सकता है! इसलिए तो ज्ञानी को हम कहते हैं--जो जीते-जी मर गया; जो मरा हुआ जी रहा है; जिसके भीतर अब कुछ बचा नहीं।

अष्टावक्र का सूत्र देखा: "बोलने वाले, वाचाल, मौन हो जाते हैं। बड़े कर्मठ आलसी जैसे हो जाते हैं।" उसी में तुम जोड़ दे सकते हो--जीवित मृत जैसे हो जाते हैं, जड़-सम! मृत जैसे हो जाते हैं। बाहर सब चलता रहता है। भेद इतना ही पड़ जाता है कि बाहर अब नाटक होता है, अभिनय होता है। भीतर तुम जानते हो कि बाहर जो हो रहा है, अभिनय है, तुम इसके कर्ता नहीं हो। एक "पार्ट" है जो पूरा कर देना है।

मेरे पास अभिनेता आते हैं, मुझसे पूछते हैं कि हमें बताएं कि हमारी अभिनय की कला कैसे कुशल हो जाए? तो उनसे मैं कहता हूं: मेरे पास एक सूत्र है। अभिनय की कला करते हो, अभिनेता हो, तो अभिनय ऐसे करना कि भूल जाना कि यह अभिनय है, कर्ता हो जाना, तो सच्चा हो जाएगा अभिनय और तब उसमें प्राण पड़ जाएंगे। और यही मैं कहता हूं सभी से कि जीवन में इस तरह चलना कि जैसे अभिनय है। शिथिल हो जाएंगे हाथ, संबंध ढीले हो जाएंगे। अगर अभिनय को सच्चा करके दिखलाना हो, तो कर्ता बन जाना और अगर सच्चाई को माया सिद्ध कर देना हो, तो अकर्ता बन जाना, अभिनय मान लेना।

तुम जरा कोई काम करके तो देखो--अभिनेता की तरह। तुम बड़े हैरान होओगे, अपूर्व रस झरेगा, बड़ी भीनी-भीनी गंध उठेगी। आज घर जाओ लौट कर तो तय कर लेना कि तीन घंटे अभिनेता की तरह करेंगे। पत्नी को गले लगाएंगे, मगर ऐसे जैसे अभिनेता लगाता है। भोजन करेंगे जैसे अभिनेता करता है। बच्चों को पुचकारेंगे, दुलारेंगे, जैसे अभिनेता करता है, जैसे अपने बच्चे नहीं हैं, एक नाटक कर रहे हैं। तुम जरा करके तो देखो। अगर क्षण भर को भी तुम्हें अभिनय का भाव आ जाएगा, तो तुम चकित हो जाओगे। अभिनय का भाव आते ही सब शांत हो जाता है, फिर कोई अशांति नहीं।

इसलिए हिंदू कहते हैं: जगत लीला है। इसे खेल समझो, गंभीर मत हो जाओ।

तीसरा प्रश्न: कल का प्रवचन सुनते हुए मुझे लगा कि आपमें "चार्वाक--सुखं जीवेत" और "अष्टावक्र--सुखं चर" एक साथ बोल रहे हैं। और जाने क्यों वह मुझे प्रीतिकर भी लगा। लेकिन यदि भोग से विरस होने के लिए यानी मुक्ति के लिए भोग से पूरी तरह गुजर जाना जरूरी है तो क्या अच्छा नहीं होगा कि धर्म- साधना के इतने बड़े गोरखधंधे की जगह चार्वाक-दर्शन को भरपूर मौका दिया जाए?

सच्चाई तो यही है कि जो भोग में गहरा गया वही योग को उपलब्ध हुआ। सच्चाई तो यही है कि जो सपने में गहरा उतरा, वही जागा। सच्चाई तो यही है कि अनुभव के अतिरिक्त इस जगत में वैराग्य के पैदा होने का कोई उपाय न कभी था, न है, न होगा। इसलिए परमात्मा जगत को बनाए चला जाता है और तुम्हें जगत में धकाए चला जाता है। क्योंकि जगत में उतर कर ही तुम जान पाओगे कि पार होना क्या है! जगत में डुबकी लगा कर ही तुम जगत के ऊपर उठने की कला सीख पाओगे।

ईश्वर भी निश्चित ही चार्वाक और अष्टावक्र दोनों का जोड़ है। चार्वाक को मैं धर्म-विरोधी नहीं मानता। चार्वाक को मैं धर्म की सीढ़ी मानता हूं। सभी नास्तिकता को मैं आस्तिकता की सीढ़ी मानता हूं। तुमने धर्मों के बीच समन्वय करने की बातें तो सुनी होंगी--हिंदू और मुसलमान एक; ईसाई और बौद्ध एक। इस तरह की बात तो बहुत चलती है। लेकिन असली समन्वय अगर कहीं करना है तो वह है नास्तिक और आस्तिक के बीच।

यह भी कोई समन्वय है--हिंदू और मुसलमान एक! ये तो बातें एक ही कह रहे हैं, इनमें समन्वय क्या खाक करना? इनके शब्द अलग होंगे, इससे क्या फर्क पड़ता है?

मैं एक आदमी को जानता था, उसका नाम रामप्रसाद था। वह मुसलमान हो गया, उसका नाम खुदाबक्श हो गया। वह मेरे पास आया। मैंने कहा: "पागल! इसका मतलब वही होता है--रामप्रसाद। खुदाबक्श होकर कुछ हुआ नहीं। खुदा यानी राम; बक्श यानी प्रसाद।" वह कहने लगा: "यह मुझे कुछ खयाल न आया।"

भाषा के फर्क हैं, इनमें क्या समन्वय कर रहे हो? असली समन्वय अगर कहीं करना है तो नास्तिक और आस्तिक के बीच; पदार्थ और परमात्मा के बीच; चार्वाक और अष्टावक्र के बीच। मैं तुमसे उसी असली समन्वय की बात कर रहा हूं। जिस दिन नास्तिकता मंदिर की सीढ़ी बन जाती है, उस दिन समन्वय हुआ। उस दिन तुमने जीवन को इकट्ठा करके देखा, उस दिन द्वैत मिटा।

मैं तुमसे परम अद्वैत की बात कर रहा हूं। शंकर ने भी तुमसे इतने परम अद्वैत की बात नहीं की, वे भी चार्वाक के विरोधी हैं। इसका मतलब क्या होता है? इसका मतलब होता है: आखिर चार्वाक भी है तो परमात्मा का हिस्सा ही। तुम कहते हो सभी में परमात्मा है; फिर चार्वाक में नहीं है? फिर चार्वाक से जो बोला, वह परमात्मा नहीं बोला? फिर चार्वाक का खंडन कर रहे हो--क्या कह रहे हो? क्या कर रहे हो? अगर वास्तविक अद्वैत है तो तुम कहोगे: चार्वाक की वाणी में भी प्रभु बोला। यही मैं तुमसे कहता हूं। और वाणी उसकी मधुर है, इसलिए चार्वाक नाम पड़ा। चार्वाक का अर्थ होता है: मधुर वाणी वाला। उसका दूसरा नाम है: लोकायत। लोकायत का अर्थ होता है: जो लोक को प्रिय है; जो अनेक को प्रिय है। लाख तुम कहो ऊपर से कुछ, कोई जैन है, कोई बौद्ध है, कोई हिंदू है, कोई मुसलमान--यह सब ऊपरी बकवास है; भीतर गौर से देखो, चार्वाक को पाओगे। और तुम अगर इन धार्मिकों के स्वर्ग की तलाश करो तो तुम पाओगे कि सब स्वर्ग की जो योजनाएं हैं चार्वाक ने ही बनाई होंगी। स्वर्ग में जो आनंद और रस की धारें बह रही हैं, वे चार्वाक की ही धारणाएं हैं।

सुखं जीवेत! चार्वाक कहता है: सुख से जीयो। इतना मैं जरूर कहूंगा कि चार्वाक सीढ़ी है। और जिस ढंग से चार्वाक कहता है, उस ढंग से सुख से कोई जी नहीं सकता। क्योंकि चार्वाक ने ध्यान का कोई सूत्र नहीं दिया। चार्वाक सिर्फ भोग है, योग का कोई सूत्र नहीं है; अधूरा है। उतना ही अधूरा है जितने अधूरे योगी हैं। उनमें योग तो है लेकिन भोग का सूत्र नहीं है। इस जगत में कोई भी पूरे को स्वीकार करने की हिम्मत करता नहीं मालूम पड़ता--आधे-आधे को। मैं दोनों को स्वीकार करता हूं। और मैं कहता हूं: चार्वाक का उपयोग करो और चार्वाक के उपयोग से ही तुम एक दिन अष्टावक्र के उपयोग में समर्थ हो पाओगे।

जीवन के सुख को भोगो। उस सुख में तुम पाओगे, दुख ही दुख है। जैसे-जैसे भोगोगे वैसे-वैसे सुख का स्वाद बदलने लगेगा और दुख की प्रतीति होने लगेगी। और जब एक दिन सारे जीवन के सभी सुख दुख-रूप हो जाएंगे, उस दिन तुम जागने के लिए तत्पर हो जाओगे। उस दिन कौन तुम्हें रोक सकेगा? उस दिन तुम जाग ही जाओगे। कोई रोक नहीं रहा है। रुके इसलिए हो कि लगता है शायद थोड़ा सुख और हो, थोड़ा और सो लें। कौन जाने...। एक पन्ना और उलट लें संसार का। इस कोने से और झांक लें! इस स्त्री से और मिल लें! उस शराब को और पी लें! कौन जाने कहीं सुख छिपा हो, सब तरफ तलाश लें!

मैं कहता भी नहीं कि तुम बीच से भागो। बीच से भागे, पहुंच न पाओगे, क्योंकि मन खींचता रहेगा। मन बार-बार कहता रहेगा। ध्यान करने बैठ जाओगे, लेकिन मन में प्रतिमा उठती रहेगी उसकी, जिसे तुम पीछे छोड़ आए हो। मन कहता रहेगा: "क्या कर रहे हो मूर्ख बने यहां बैठे? पता नहीं सुख वहां होता। तुम देख तो लेते, एक दफा खोज तो लेते!"

इसलिए मैं कहता हूं: संसार को जान ही लो, उघाड़ ही लो! जैसे कोई प्याज को छीलता चला जाए--तुम बीच में मत रुकना, छील ही डालना पूरा। हाथ में फिर कुछ भी नहीं लगता। हां, अगर पूरा न छीला तो प्याज बाकी रहती है। तब यह डर मन में बना रह सकता है, भय मन में बना रह सकता है: "हो सकता है कोहिनूर छुपा ही हो!" तुम छील ही डालो। तुम सब छिलके उतार दो। जब शून्य हाथ में लगे, छिलके ही छिलके गिर

जाएं--संसार प्याज जैसा है, छिलके ही छिलके हैं, भीतर कुछ भी नहीं। छिलके के भीतर छिलका है, भीतर कुछ भी नहीं। जब भीतर कुछ भी नहीं पकड़ में आ जाएगा, फिर तुम्हें रोकने को कुछ भी न बचा।

चार्वाक की किताब पूरी पढ़ ही लो, क्योंकि कुरान, गीता और बाइबिल उसी के बाद शुरू होते हैं। चार्वाक पूर्वार्ध है, अष्टावक्र उत्तरार्ध।

तो ठीक ही लगा। मेरी सारी चेष्टा यही है कि तुम्हें सुख से भगाऊं न, तुम्हें सुख के वास्तविक स्वरूप का दर्शन करा दूं। तुम्हारे अनुभव से ही तुम्हें पता चल जाए कि जहां तुमने हीरे-मोती समझे, वहां कंकर-पत्थर भी नहीं हैं।

लेकिन धर्मगुरु इस पक्ष में नहीं होंगे। शंकराचार्य और पोप और पुरोहित इस पक्ष में नहीं होंगे। क्योंकि उनका तो सारा का सारा धंधा इस बात पर खड़ा है कि वे तुम्हें भोग के विपरीत समझाएं। उनकी तो सारी दूकान तुम्हारे कच्चे होने पर चलती है। जो व्यक्ति संसार से पक कर बाहर निकलेगा वह किसी शंकराचार्य, किसी पोप के पास थोड़े ही जाने वाला है, वह तो सीधा परमात्मा के पास जा रहा है। अब उसके बीच में किसी एजेंट की कोई भी जरूरत नहीं है। संसार व्यर्थ हो गया, अब तो परमात्मा ही बचा, अब तो कहीं और जाना नहीं। वह हिंदू, मुसलमान, ईसाई थोड़े ही बनेगा, वह तो सिर्फ धार्मिक होगा। उसका धर्म तो बिलकुल अनूठा होगा, विशेषण-शून्य होगा। लेकिन ये सारे धर्म-गुरु तो विशेषण से जीते हैं। ये तो चाहते हैं कि तुम्हारे भीतर परमात्मा की तरफ जाने की सीधी दौड़ न हो जाए शुरू, अन्यथा इनका क्या होगा! ये जो बीच में पड़ाव हैं, बीच में दूकानें हैं, ये जो बीच में ठहराव हैं, बीच में धर्मशालाएं हैं--इनका क्या होगा! नहीं, ये चाहते हैं कि तुम इन पर रुकते हुए जाओ। सच तो यही है, ये चाहते हैं, तुम इनसे पार कभी न जाओ, तुम यहीं रुके रहो।

चार्वाक के विपरीत हैं तुम्हारे धर्मगुरु। क्योंकि एक बात पक्की है कि अगर चार्वाक का ठीक-ठीक अनुसरण किया जाए, तो तुम आज नहीं कल, कल नहीं परसों, जाग ही जाओगे। और जो जागता है वह परमात्मा में जागता है। हां, जो सोए-सोए उठ कर चलने लगते हैं, उनमें से कोई पुरी पहुंच जाता, कोई हज का यात्री होकर काबा पहुंच जाता है, कोई जेरुसलम, कोई गिरनार, कोई काशी। ये जो नींद में सोये-सोये चल रहे लोग हैं, ये कहीं न कहीं जा कर उलझ जाते हैं।

इसलिए कोई धर्मगुरु, कोई धर्मपंथ मनुष्य को पूरी स्वतंत्रता नहीं देता--बांध कर रखता है। मनुष्य की स्वतंत्रता के पक्ष में बहुत थोड़े लोग हैं। स्वतंत्रता को इस तरह के लोग कहते हैं-- उच्छृंखलता। अष्टावक्र जैसी हिम्मत बहुत कम लोगों ने की है, जो कहते हैं: स्वच्छंद हो जा; अपने भीतर के स्वभाव से जी, और कोई समझौता मत कर। इतना ही जान ले, इतना ही ज्ञान है कि तू सब कालिख-कलुष के पार है। इतना ही ध्यान, इतना ही योग, इतनी ही सारी धर्म की प्रक्रिया है कि तू पहचान ले कि जागरण तेरा स्वभाव है, चैतन्य तेरा स्वभाव है, निर्विकल्प, असंग तेरा स्वभाव है। इतना जान ले, फिर तुझे जो करना है कर! फिर जैसेत्तैसे तुझे जीना है जी। फिर कोई बंधन नहीं है।

इतनी क्रांति, इतनी स्वतंत्रता तो धर्मगुरु नहीं दे सकता। इसलिए तो अष्टावक्र का कोई पंथ न बन सका और अष्टावक्र का कोई मंदिर खड़ा न हो सका, और अष्टावक्र के पुरोहित न हुए, और अष्टावक्र अकेला खड़ा रह गया। इतनी स्वच्छंदता के लिए समाज तैयार नहीं। समाज गुलामों का है और समाज चाहता है गुलामी को कोई सजाने वाला मिल जाए--जो सजा कर बता दे कि गुलामी बहुत भली है तो निश्चिंत हो गए, गहरी नींद में सो जाएं। जगाने वालों से पीड़ा होती है।

लेकिन, जो मुझे समझने की चेष्टा में रत हैं, उन्हें जान लेना चाहिए: मैं परमात्मा को पूरा का पूरा स्वीकार करता हूं, उसके चार्वाक रूप में भी! और जगत में मुझे कुछ भी अस्वीकार नहीं है। सिर्फ एक बात ध्यान रहे कि कोई चीज अटकाए न। हर चीज का उपयोग कर लेना और बढ़ जाना। हर पत्थर पर पैर रख लेना, सीढ़ी बना लेना, और ऊपर उठ जाना। मार्ग पर जो पत्थर पड़े हैं वे सीढ़ियां भी बन सकते हैं। तुम उन्हें अटकाव न

बना लेना। चार्वाक अटकाव बन सकता है, अगर तुम छोड़ो कि बस, चार्वाक पर सब समाप्त हो गया। वह केवल पूर्वार्ध है, उसे अंत मत मान लेना, उससे आगे जाना है। लेकिन उससे आगे उससे होकर ही जाना है, गुजर कर ही जाना है।

मैंने सुना है, एक पुरानी सूफी कथा है। एक लकड़हारा रोज जंगल में लकड़ी काटता था। एक सूफी फकीर बैठता था ध्यान करने, उसने इसे देखा: जन्मों-जन्मों से यह काटता रहा हो, ऐसा मालूम पड़ता है। जीर्ण-शीर्ण देह, बूढ़ा हो गया। और इससे एक दफा रोटी भी मुश्किल से मिल पाती होगी। तो उससे कहा: "देख, तू इस जंगल में रोज आता है, तुझे कुछ पता नहीं। तू थोड़ा आगे जा।" उसने कहा: "आगे क्या है?" उसने कहा: "तू थोड़ा आगे जा, खदान मिलेगी।" वह आगे गया, वहां एक तांबे की खदान मिली। वह बड़ा हैरान हुआ। उसने कहा: मैं सदा यहां आता रहा, जरा आगे न बढ़ा; बस, लकड़ियां काटीं और जाता रहा। जरा ही कुछ थोड़े ही कदम चल कर खदान थी। तांबा ले गया, तो लकड़ी के बेचने से तो एक दफे रोटी मिलती थी, एक दफा तांबा बेचने से इतना पैसा मिलने लगा कि महीने भर का भोजन चल जाए। जब दुबारा फिर आया तो उस फकीर ने कहा कि देख, अटक मत जाना; थोड़ा और आगे। तो उसने कहा: "अब आगे और क्या करना है जा कर?" उसने कहा: "तू जा तो! सुन, मेरी सीख मान। मैं यह पूरा जंगल जानता हूं।"

वह और थोड़े आगे गया तो चांदी की खदान मिल गई। वह बोला: "मैं भी खूब पागल था। उस फकीर की अगर न मानता तो अटक जाता तांबे पर।" चांदी बेच दी तो साल भर के लायक भोजन मिलने लगा, बड़ा मस्त था। एक दिन फकीर ने कहा कि देख, ज्यादा मस्त मत हो, और थोड़ा आगे। उसने कहा: "अब छोड़ो भी, अब मुझे कहीं न भेजो। अब बस काफी है, बहुत मिल गया।" फकीर ने कहा: "वैसे तेरी मर्जी है, लेकिन पछताएगा।" बात मन में चोट कर गई। थोड़ा और आगे गया, सोने की खदान मिल गई। अब तो एक दफा ले आया तो जन्म भर के लिए काफी था। फिर तो उसने जंगल आना ही बंद कर दिया।

फकीर एक दिन उसके घर पहुंचा, पूछा: "पागल, मैं तेरी राह देखता हूं, अभी थोड़ा और आगे।" उसने कहा: "अब छोड़ो, अब तुम मुझे मत भरमाओ।" उसने कहा: "तू पिछले अनुभव से तो कुछ सीख। जितना आगे गया उतना मिला। थोड़ा और आगे।" रात भर सो न सका। कई दफे सोचा: "अब जाने में सार क्या है! और आगे हो भी क्या सकता है! सोना--आखिरी बात आ गई।" पर नींद भी न लगी; सोचा कि फकीर शायद कुछ कहता हो, शायद कुछ और आगे हो। तो और आगे गया। हीरों की खदान मिल गई। सोचा कि बुरा होता हाल मेरा अगर न आता।

अब तो वह एक दफे ले आया तो जन्मों-जन्मों के लिए काफी था। फिर तो कई दिन दिखाई ही न पड़ता था वह। घर भी फकीर आता तो मिलता नहीं था। कभी होटल में, कभी सिनेमागृह में। वह कहां अब, उसका पता कहां चले! अब तो वह भागा-भागा था। फकीर उसको खोजता फिरे, उसका पता न चले। एक दफे मिल गया वेश्यालय के द्वार पर। उसने कहा: "अरे पागल, बस तू यहीं रुक जाएगा? अभी थोड़ा और आगे।" उसने कहा: "अब क्षमा करो, मैं मजे में हूं। अब मुझे और झंझट में न डालो।" पर फकीर ने कहा: "एक बार और मान ले। रुक मत।"

वह और आगे गया। अब तुम सोचो: और आगे क्या मिला होगा? और आगे फकीर मिला, वह बैठा था ध्यान में। उस आदमी ने पूछा: "अब यहां तो कुछ और दिखाई नहीं पड़ता।" उसने कहा: "यहां खदान भीतरी है। अब तू मेरे पास बैठ जा। अब जरा आंख बंद कर। अब जरा शांत हो कर बैठ। अब यहां ध्यान की खदान है। अब यहां परमात्मा मिलेगा, पागल! अब बाहर की चीज हो चुकी बहुत, अब भीतर खोद!"

जीवन में और आगे चलते जाना है, कहीं रुकना मत! धन के आगे ध्यान है। चार्वाक के आगे अष्टावक्र है। सुख के आगे आनंद है। पदार्थ के आगे परमात्मा है। विरोध मेरा किसी से भी नहीं है, इंकार किसी बात का नहीं।

बस, एक बात ध्यान रहे कि तुम्हारे जीवन की सरिता बहती रहे, तुम कहीं अटको न, डबरे न बनो। डबरे बने कि सड़े। डबरे बने कि गंदे हुए। डबरे बने कि सागर तक पहुंचने का उपक्रम बंद हुआ, अभियान समाप्त हुआ, फिर तुम गए।

बहते रहो! सागर तक चलना है। संसार से गुजरना है, परमात्मा तक पहुंचना है। और जिस दिन तुम पहुंचोगे, उस दिन तुम चकित होओगे। उस दिन पीछे लौट कर देखोगे तो तुम पाओगे सब जगह परमात्मा ही छिपा था। जहां-जहां सुख की झलक मिली थी, वहां-वहां ध्यान की कोई न कोई किरण थी, इसीलिए मिली थी। यह मैं तुमसे अपनी साक्षी की तरह कहता हूं, मैं इसका गवाह हूं। तुमने अगर कामवासना में कभी थोड़ी-सी सुख की झलक पाई थी तो वह झलक कामवासना की न थी, कामवासना के क्षण में कहीं ध्यान उतर आया था, जरा-सा सही। बड़ी दूर से एक गूंज आ गई थी, लेकिन वह थी ध्यान की। यह तो तुम आखिर में पाओगे। अगर कभी यश पा कर तुम्हें कुछ रस मिला था तो वह भी ध्यान की ही झलक थी। तुम्हें जहां भी सुख मिला था, वह परमानंद की ही कुछ न कुछ किरण थी। बहुत दूर की थी, शायद प्रतिफलन था। आकाश में चांद है और तुमने झील में उसकी छाया देखी थी, सिर्फ परछाईं देखी थी--लेकिन थी तो परछाईं उसी की। काम में जिसकी झलक है, वह राम की परछाईं है।

पत्थर के फर्श कगारों में,
सीखों की कठिन कतारों में,
खंभों, लोहों के द्वारों में,
इन तारों में, दीवारों में,
कुंडी, ताले, संतरियों में,
इन पहरों की हुंकारों में,
गोली की इन बौछारों में,
इन वज्र बरसती मारों में,
इन सुर शरमीले, गुण-गर्वीले
कष्ट सहीले वीरों में,
जिस ओर लखूं तुम ही तुम हो
प्यारे इन विविध शरीरों में!
जिस ओर लखूं तुम ही तुम हो
प्यारे इन विविध शरीरों में।

लेकिन यह तो पीछे से है। जब तुम जीवन की पूरी किताब पढ़ जाओगे, तब तुम लौट कर देखोगे कि अरे, यह कथा एक ही थी! कहीं अटक जाते तो यह कभी समझ में न आता। यह आज तुम्हें मेरी बात अनेक बार उल्टी मालूम पड़ती है। मैं तुमसे कहता हूं: कामवासना में जो तुम्हें सुख मिला है वह भी ब्रह्मचर्य की झलक है। अब तुम चकित होओगे यह बात सुन कर। लेकिन मैं तुम्हें समझाने की कोशिश करूं, अभी तो यह ऊपर-ऊपर बुद्धि के ही खयाल में आएगा।

कामवासना उठती है, उत्तप्त ज्वर घेर लेता है, मन डांवांडोल होता है, धुएं से भर जाता है। फिर जब तुम कामवासना में उतरते हो तो एक घड़ी आती है जहां कामवासना तृप्त हो जाती है। उस तृप्ति के क्षण में फिर कोई काम-विकार नहीं रह जाता। उस क्षण में ब्रह्मचर्य की अवस्था होती है। चाहे क्षण भर को सही, कोई विकार नहीं रह जाता। वह झलक तो ब्रह्मचर्य की है, जिससे सुख मिल रहा है; लेकिन तुम सोचते हो कामवासना से मिल रहा है। घड़ी आधा घड़ी को तो फिर संसार में कोई कामवासना नहीं रह जाती। घड़ी आधा घड़ी को तो तुम फिर काम-भावना से घिरते ही नहीं। घड़ी आधा घड़ी को कामवासना से छुटकारा हो जाता है।

तुम भोजन कर लेते हो, भूख लगी थी, पीड़ा हो रही थी--भोजन कर लिया, तृप्ति हो गई। उस तृप्ति के क्षण में उपवास का रस है। उतनी थोड़ी-सी देर के लिए फिर भोजन की कोई याद नहीं आती। और उपवास का अर्थ ही यह है कि भोजन की याद न आए। जब देह बिलकुल स्वस्थ होती है, जब देह तरंगित होती है, तब थोड़ी देर को विदेह की झलक मिलती है।

तुम कभी खिलाड़ियों से पूछो, दौड़ाकों से पूछो, तैराकों से पूछो। तैरने वाले को कभी-कभी ऐसी घड़ी आती है, सूरज की रोशनी में, लहरों के साथ तैरते हुए, एक क्षण को देह ऐसी तरंगित होने लगती है, ऐसा आनंद-भाव उठता है देह में, ऐसा सुख बरसता है कि देह भूल जाती है, विदेह हो जाता है। वह सुख विदेह का है। कभी दौड़ते समय, दौड़ने वाले को एक ऐसी घड़ी आती है जब कि भीतर का मिजाज और बाहर का मौसम समरस हो जाता है। भागता हुआ पसीने से तरबतर; लेकिन चित्त शांत हो जाता है, विचार रुक गए होते हैं। हवाओं के झरोखों में, शीतल हवा में, वृक्ष के तले खड़े हो कर छाया में एक क्षण को देह भूल जाती है।

मनोवैज्ञानिक कहते हैं कि खिलाड़ी को जो मजा है वह देह से मुक्त होने का है। नहीं तो कोई पागल है, लोग इतना दौड़ते, इतना तैरते--किसलिए? तुम सोचते हो सिर्फ पुरस्कार के लिए? लेकिन बहुत लोग हैं जो बिना पुरस्कार के दौड़ रहे हैं। तुम्हें भी शायद कभी ऐसा मौका आया हो, घूमने गए हो और एक घड़ी को जैसे शरीर न रहा, ऐसी तरतमता हो गई, बस उसी वक्त सुख मिला! तुम दूसरों से कहते हो कि बड़ा सुख मिलता है घूमने में! लेकिन अगर दूसरा तुम्हारी मान कर जाए और रास्ते में पूरे वक्त सोचता रहे कि कब मिले, कब मिले सुख, अब मिले, अभी तक नहीं मिला--वह खाली हाथ लौट आएगा! क्योंकि सुख मिलता है देह को भूल जाने में।

पीछे जब तुम कभी लौट कर देखोगे तो तुम पाओगे कि काम में भी जो सुख मिला था, वह भी क्षण भर को कामवासना से मुक्त हो जाने के कारण मिला था। और भोजन में भी जो सुख मिला था, वह भी क्षण भर को भूख से मुक्त हो जाने में मिला था। क्षण भर को वासना क्षीण हो गई थी, जरूरत न रही थी। देह से भी जो सुख जाने, वे सुख तभी मिले थे जब देह भूल गई थी और विदेह चित्त हो गया था। मगर यह तो पीछे समझ में आएगा, जब राम का अनुभव हो जाएगा। पीछे लौट कर देखोगे तो तुम पाओगे: अरे, सब जगह यही स्वाद था!

उमड़ता मेरे दृगों में
बरसता घनश्याम में जो
अधर में मेरे खिला
नव इंद्रधनु अभिराम में जो
बोलता मुझमें वही
जग मौन में जिसको बुलाता
जो न हो कर भी बना सीमा क्षितिज
वही रिक्त हूं मैं
विरति में भी
चिर विरत की बन गई
अनुरक्ति हूं मैं
बोलता मुझमें वही
जग मौन में जिसको बुलाता!

लेकिन जब तुम मौन होओगे, तभी समझोगे कि तुम्हारे मौन में परमात्मा ही बोला है। कोई और बोल ही नहीं सकता, कोई और है ही नहीं। तुम्हारे प्रेम में भी वही था, तुम्हारे काम में भी वही, तुम्हारे राम में भी वही, तुम्हारी प्रार्थना में भी वही। सब उसकी ही झलकें हैं। अनेक-अनेक रूपों में वही है। इसे मैं कहता हूं: अद्वैत! मेरा ब्रह्म माया के विरोध में नहीं है। मेरा ब्रह्म माया में छिपा छिया-छी कर रहा है। मेरा ब्रह्म माया में अनेक-अनेक रूपों में प्रगट है।

इश्क का जौके-नजारा मुफ्त में बदनाम है
हुस्न खुद बेताब है जलवे दिखाने के लिए।

यह जो फूलों में से झांक रहा है, यह परमात्मा उत्सुक है जलवे दिखाने के लिए। यह जो किसी स्त्री के चेहरे से सुंदर हो कर प्रगट हुआ है--

हुस्न खुद बेताब है जलवे दिखाने के लिए।

यह जो किसी बच्चे की सरल, निर्दोष आंखों में झलका है, यह खुद परमात्मा उत्सुक है, आमंत्रण दे रहा है। यह तो तुम पीछे समझोगे। आज तो और कठिनाई बढ़ गई है बहुत। तुम्हारे धर्मगुरुओं ने तुम्हें जो सिखाया है, वह कुछ ऐसा मूढ़तापूर्ण है कि हर चीज में बंधन का डर खड़ा कर दिया है। हर चीज में घबड़ाहट पैदा कर दी है, अपराध-भाव पैदा कर दिया है। अगर तुम किसी के प्रेम में अनुरक्त हुए, तो भीतर अपराध होता है कि यह क्या पाप कर रहा हूं। कोई आंख तुम्हें सुंदर लगी, आकर्षक लगी तो घबड़ाहट पैदा होती है कि जरूर पाप हो रहा है। ऋषि-मुनि सदा कहते रहे: बचो!

मैं तुमसे कहता हूं: इस आंख में थोड़े गहरे उतरो। थोड़े और आगे चलो। तांबा मिलेगा, माना; चांदी भी है, सोना भी है, हीरे-जवाहरात भी हैं। और थोड़ा आगे चलो, धन के पार ध्यान भी है।

जो हृदय व्योमवत, विगत कलुष,
उभरेगा उसमें इंद्रधनुष
रचना का कारण शून्य स्वयं,
मम त्वम से जिसका मुक्त अहं।

"मैं" और "तू" से मुक्त हो जाओ। इसी के लिए सारा संसार आयोजन है। इतनी पीड़ा मिलती है "मैं"-"तू" के कारण, फिर भी तुम मुक्त नहीं होते। इतना दुख पाते, इतने शूल छिदते, छाती छलनी हो जाती--फिर भी तुम मुक्त नहीं होते। और तुम्हें कौन मुक्त कर पाएगा? अगर पीड़ा तुम्हारी गुरु नहीं है तो और कौन तुम्हारा गुरु हो सकेगा?

संसार गुरु है। जो भी अनुभव हो रहा है उसका जरा हिसाब-किताब रखो। जहां-जहां दुख हो जरा गौर से देखना, पाओगे खड़े अपने "मैं" को। जहां-जहां पीड़ा हो, वहीं तुम पाओगे खड़े अपने "मैं" को। तो धीरे-धीरे कब तक सोए रहोगे? कभी तो जाग कर देखोगे कि यह शूल की तरह छिदा है अहंकार, यही मेरे प्राणों की पीड़ा है। जिस दिन कोई इस अहंकार को हटा कर रख देता...और रखना तुम्हारे हाथ में है। सच तो यह है, यह कहना ठीक नहीं कि रखना तुम्हारे हाथ में है। तुम सम्हालो न तो यह अभी गिर जाए। तुम सहयोग न करो तो यह अभी विसर्जित हो जाए। यह तुम्हारे सहयोग से सम्हला है।

यह बड़े मजे की बात है, तुम अपने दुख को खुद ही सम्हाले खड़े हो। तुम अपने नर्क के निर्माता हो। इस "मैं"-"तू" के जरा पार चलने की बात है। बस "मैं"-"तू" के पार उठे, चाहे प्रेम से उठो चाहे ध्यान से, दोनों से "मैं"-"तू" के पार उठना है।

मिट्टी में गड़ा हुआ मैं तुम्हारा मूल हूं
तुम मेरे फूल हो जो आकाश में खिला है
मिट्टी से जो रस मैं खींचता हूं,
वह फूल में लाली बन कर छाता है
और तुम जो सौरभ बनाते हो,
यहां नीचे भी उसका सुवास आता है
अदेह की विभा देह में झलक मारती है,
और देहक ज्योति अदेह की आरती उतारती है
द्वैताद्वैत से परे मेरी यह विनम्र टेक है
प्रभु! मैं और तुम दोनों एक हैं।

वह जो फूला खिला है ऊपर शिखर पर उसमें, और वह जो जड़ छिपी है गहरे अंधकार में भूमि के, उसमें भेद नहीं, दोनों एक हैं। बुद्ध में और तुममें, अज्ञानी में और ज्ञानी में, असाधु और साधु में कोई मौलिक अंतर नहीं है, कोई आधारभूत अंतर नहीं है। होगा संत खिला हुआ फूल जैसा, ऊपर शिखर पर आकाश में प्रगट, और होगा असाधु दूर अंधेरे में भूमि के दबा हुआ जड़ जैसा...

मिट्टी में गड़ा हुआ मैं तुम्हारा मूल हूं
तुम मेरे फूल हो जो आकाश में खिला है
मिट्टी से जो रस मैं खींचता हूं,
वह फूल में लाली बन कर छाता है
और तुम जो सौरभ बनाते हो,
यहां नीचे भी उसका सुवास आता है
अदेह की विभा देह में झलक मारती है,
और देहक ज्योति अदेह की आरती उतारती है।
द्वैताद्वैत से परे मेरी यह विनम्र टेक है,
प्रभु! मैं और तुम दोनों एक हैं।

इस संसार में तुम दो को भूलना शुरू करो, "मैं"-"तू" को भूलना शुरू करो और जैसे भी बने, जहां से भी बने, जहां से भी थोड़ी झलक उठ सके एक की--उस झलक को पकड़ो। वे ही झलकें सघनीभूत हो-हो कर एक दिन समाधि बन जाती हैं।

पांचवां प्रश्न: कल आपने कहा कि भोग की यात्रा अंततः योग पर पहुंचा देती है। कृपा करके समझाइये, क्या योग की यात्रा जीवन की वर्तुलाकार गति के कारण पुनः भोग पर पहुंचा देती है? क्या भोग-योग से अतिक्रमण जैसा कुछ भी नहीं है? कृपा करके अष्टावक्र के संदर्भ में हमें समझाइए।

भोग की यात्रा योग पर पहुंचा देती है अगर रुके न कहीं। जरूरी नहीं कि पहुंच ही जाओ। अगर अटक गए तांबे की खदान पर तो तांबे पर अटके रहोगे। भोग की यात्रा पहुंचा देती है, ऐसा मैं नहीं कहता--पहुंचा सकती है। खोजे जाओ, अटको मत, रुको मत, बढ़े जाओ, चले जाओ--तो भोग की यात्रा पहुंचा देती है योग पर। फिर योग में अटक गये अगर--तो प्रश्नकर्ता ने ठीक बात पूछी है--अगर योग में अटक गए तो फिर भोग में गिर जाओगे।

इसीलिए तो योगी स्वर्ग पहुंच जाता है। स्वर्ग यानी भोग। कमा लिया पुण्य, पहुंच गए स्वर्ग, खर्चा करने लगे। इसलिए तो जैन-बौद्ध कथाएं बड़ी महत्वपूर्ण हैं। जैन-बौद्ध कथाएं कहती हैं कि जब स्वर्ग में पुण्य चुक जाता है, फिर फेंक दिए जाते हैं, फिर संसार में। स्वर्ग से कोई मुक्त नहीं होता, मुक्त तो मनुष्य से ही होता है। ये बातें बड़ी महत्वपूर्ण हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि अगर योग में अटक गए तो फिर भोग में गिरोगे। कितनी देर तक योग चलेगा! वर्तुलाकार है जीवन की गति। तो जैसा मैंने तुमसे कहा: भोग में मत अटकना तो योग। अगर योग में न अटके तो अतिक्रमण। तो तुम साक्षी-भाव में प्रवेश कर जाओगे।

तो न तो भोग में अटकना, क्योंकि भोग में भी अटकाने के बहुत कारण हैं, बड़े सुंदर सपने हैं। और योग में भी बड़े सुंदर सपने हैं, पतंजलि ने उन्हीं का वर्णन किया विभूतिपाद में। बड़ी विभूतियां हैं, बड़ी सिद्धियां हैं--उन सिद्धियों में अटक जाओगे। तो जो योग में अटका, वह आज नहीं कल भोग में गिरेगा।

तुमने शब्द सुना होगा योगभ्रष्ट। योगभ्रष्ट का क्या अर्थ होता है? योगभ्रष्ट का अर्थ होता है: जो भोग से बढ़ कर योग तक पहुंच गया था, लेकिन फिर योग में अटक गया। जो अटका वह फिर गिरेगा, वह योगभ्रष्ट होगा, वह नीचे आ जाएगा। योग में कोई रुक नहीं सकता। या तो नीचे आओगे या पार जाओगे। रुकना होता

नहीं है; या तो आगे बढ़ो, या पीछे फेंक दिए जाओगे। जगत गति है, इसमें रुक नहीं सकते। इसमें रुके कि या तो पीछे हटने लगोगे, या आगे बढ़ना पड़ेगा।

एडिंग्टन ने लिखा है कि जगत में स्थिति जैसी कोई स्थिति नहीं है। यहां कोई चीज स्थिर तो है ही नहीं। अब ये वृक्ष हैं, या तो बढ़ रहे हैं या घट रहे हैं! बच्चा बड़ा हो रहा है, जवान घट रहा है, बूढ़ा घट रहा है; लेकिन घटना-बढ़ना चल रहा है। तुम ऐसा नहीं कह सकते कि एक आदमी जवानी में रुक गया है। रुकना यहां होता ही नहीं। जो जवानी में है, वह बूढ़ा हो ही रहा है--पता चले न चले, आज पता चले कल चले। लेकिन जो जवान है वह बूढ़ा हो रहा है। जो बच्चा है वह जवान हो रहा है। जो बूढ़ा है वह मरने में उतर रहा है। जो मरने में उतर रहा है वह नए जन्म की तलाश कर रहा है। वर्तुलाकार घूम रहा है जीवन का चक्र।

बढ़ते जाओ। योग से बढ़ना है आगे। उसी स्थिति का नाम साखी, साक्षी, अतिक्रमण। उसके पार कुछ भी नहीं है, क्योंकि साक्षी के पार होने का कोई उपाय ही नहीं। साक्षी का अर्थ है: आखिरी जगह आ गई। जिसके द्वारा तुम सब देखते हो, अब उसे देखने का तो कोई उपाय नहीं है। तुम आखिरी पड़ाव पर आ गए, केंद्र पर आ गए।

तो तीन स्थितियां हैं भोगी की, योगी की, और जो अतिक्रमण कर गया--कहो, महायोगी की या महाभोगी की। कोई भी शब्द उपयोग कर सकते हो, लेकिन वह दोनों से भिन्न है।

जिंदगी न जन्म के साथ पैदा होती है,
न मृत्यु के साथ मरती है
जन्म ले कर वह जिसे खोजती है,
मर कर भी उसी की तलाश करती है
और ईश्वर आसानी से हमारी पकड़ में नहीं आता
उसकी कृपा यह है
कि वह हमें जन्म देता और फिर मारता है
जन्म और मरण दोनों खराद के चक्के हैं
ईश्वर हमें तराशत्तराश कर संवारता है
और जब हम पूरी तरह संवर जाते हैं
ईश्वर अपने-आपको हमें सौंप देता है
हमारी मुक्तियां केंद्र से अलग नहीं रहतीं
ईश्वर या तो उनमें विलय होता है
या उन्हें अपने में लीन कर लेता है।

वह जो अतिक्रमण की दशा है, वहां दो घटनाएं हैं। वह भी दो कहने को, एक ही घटना है। क्योंकि बूंद सागर में गिरी कि सागर बूंद में गिर गया है, क्या फर्क पड़ता है, एक ही बात है। या तो ईश्वर साक्षी में लीन हो जाता है या साक्षी ईश्वर में लीन हो जाता है।

कबीर ने कहा है:

हेरत हेरत हे सखि रह्या कबीर हेराई
बुंद समानी समुंद में सो कत हेरी जाई।

खोजते-खोजते कबीर खो गया। खोजने वाला खो गया और बूंद सागर में समा गई। लेकिन तब उन्हें खयाल आया कि कुछ बात चूक गई इसमें, तो उन्होंने फिर से यह पद लिखा:

हेरत हेरत हे सखि रह्या कबीर हेराई
समुंद समाना बुंद में सो कत हेरी जाई।

खोजते-खोजते खोजने वाला खो गया, कबीर खो गया और अब समुद्र बूंद में समा गया, अब उसे कैसे निकाला जाए!

दोनों बातें सच हैं। बूंद समुद्र में समा गई--यह पहला अनुभव। क्योंकि यह बूंद की तरफ से अनुभव है। हम तो अभी बूंद हैं। जब पहली दफा घटना घटेगी तो हमें ऐसे लगेगा कि बूंद सागर में समा गई। सागर इतना

बड़ा, हम इतने छोटे, सागर तो हममें कैसे समाएगा? हमारी पुरानी छोटेपन की बुद्धि आखिरी तक खड़ी रहेगी। तो बूंद सागर में समा गई। लेकिन एक बार जब बूंद सागर में समा गई, तब हमें दिखाई पड़ेगा कि अरे कौन छोटा, कौन बड़ा! यहां तो एक ही है। तब हम यह भी कह सकते हैं कि सागर बूंद में समा गया।

अतिक्रमण हो जाए, तो या तो तुम प्रभु में समा जाते हो या प्रभु तुममें समा जाता है। दोनों एक ही बात के कहने के दो ढंग हैं।

रुकना भर नहीं। रुके कि सड़े। कहीं भी मत रुकना। जहां तक बन सके चलते ही चले जाना। एक ऐसी घड़ी आती है कि फिर जाने को ही कोई जगह नहीं रह जाती। वही जगह परमात्मा है, जिसके आगे फिर जाने को कुछ नहीं बचता। जब जाने को कोई स्थान ही न बचे, तभी रुकना। अगर तुम्हें जरा-सी भी जगह दिखाई पड़ती हो कि अभी थोड़ा जाने को आगे है, तो चले जाना। जब तक जाने के लिए अवकाश रहे, रुकना मत। तो यात्रा पूरी हो जाएगी। और जिसकी यात्रा पूरी हुई, वही घर आता है। घर आता है--यानी परमात्मा में वापिस लौट आता है।

आखिरी प्रश्न: आप निरंतर अपने संन्यासियों को हंसते रहने का उपदेश करते हैं। लेकिन आप दीक्षा में जो माला उन्हें देते हैं, उसके लाकेट में लगा आपका तो चित्र गंभीर मुद्रा लिए है। यह गंभीरता क्यों?

फिर तुम्हें हंसाने का विज्ञान ही समझ में नहीं आया। अगर मैं तुम्हें हंसाने की कुछ बात कहूं और खुद ही हंस दूं तो तुम चूक जाओगे, फिर तुम न हंस सकोगे। अगर मुझे तुम्हें हंसाना है तो मुझे गंभीर रहना पड़ेगा। जितना ज्यादा मैं गंभीर होता हूं, उतनी ही तुम्हें हंसने की सुविधा होती है। और जब मैं तुमसे कहता हूं हंसो, तो मैं बड़ी गंभीरता से कह रहा हूं कि हंसो। यह कोई हंसी की बात नहीं है। इसे तुम हंसी-हंसी में कही मत समझ लेना। इसे मैंने बड़ी गंभीरता से कहा है। क्योंकि हंसने को मैं साधना बना रहा हूं। मुस्कुराते हुए तुम परमात्मा के द्वार तक पहुंचो, तुम जल्दी स्वीकार हो जाओगे।

एक आदमी मरा। उसके सामने ही रहने वाला एक दूसरा आदमी भी मरा। एक ही साथ दोनों मरे। दोनों परमात्मा के सामने मौजूद हुए। लेकिन बड़ा चकित हुआ वह आदमी। उसको स्वर्ग मिला, यह तो ठीक था। यह सामने वाला आदमी, इसको स्वर्ग किसलिए मिल रहा है! वह तो सदा प्रार्थना किया था; इसने तो कभी प्रार्थना भी न की। वह तो सदा पूजा किया; इसने कभी पूजा भी न की। उसने प्रभु से पूछा कि यह जरा अन्याय है। यह निहायत पापी, सांसारिक! इसको किसलिए स्वर्ग मिल रहा है? मैं तो निरंतर पूजा किया, प्रार्थना किया। कभी एक दिन को तुझे भूला नहीं। सुबह याद किया, दोपहर याद किया, सांझ याद किया, रात याद किया, याद कर-करके मर गया। जिंदगी भर तेरी याद में गुजारी!

तो परमात्मा ने कहा: "इसीलिए। क्योंकि इस आदमी ने मुझे बिलकुल सताया नहीं। इसने न मुझे सुबह जगाया, न दोपहर जगाया, न रात जगाया--इसने मुझे सताया ही नहीं। तू जिंदगी भर मेरी खोपड़ी खाता रहा। तुझे नरक नहीं भेजा, यही काफी है। पूर्ण न्याय मांगता हो, तो तुझे नरक भेजना पड़े, निश्चित अन्याय हो रहा है। अन्याय यह हो रहा है कि तुझे भेजना तो नरक था।

तुम्हारे उदास, रोते हुए चेहरे परमात्मा को स्वीकार न होंगे। तुम फूल की भांति जाना! तुम नाचते हुए जाना। तुम नाचते हुए अंगीकार हो जाओगे। तुम नाचते गए तो तुम्हारे हजार पाप क्षमा हो जाएंगे। तुम उदास, गंभीर, रोते हुए गए तो तुम्हारे हजार पुण्य भी काम नहीं आएंगे। और पुण्य ही क्या जो तुम्हें उदास कर जाए?

इसलिए जब मैं हंसने के लिए कह रहा हूं, तो बड़ी गंभीरता से कह रहा हूं। इसे हंसी-हंसी में मत ले लेना। और मुझे तो गंभीर रहना पड़े तुम्हारी खातिर। नहीं तो तुम समझोगे हंसी-हंसी में कही थी बात। तुम शायद उसे गहरे में न लो। लेकिन तुम अगर मुझे पहचानोगे तो तुम पाओगे मुझसे ज्यादा गैर-गंभीर आदमी खोजना

मुश्किल है। तुम अगर थोड़ा मुझमें झांकोगे तो निश्चित पाओगे कि वहां सिवाय नृत्य और हंसी के कुछ भी नहीं है।

जो मैं तुमसे कहता हूं, जो मैं तुम्हें होने को कहता हूं, वह हो कर ही कह रहा हूं। हालांकि मैं तुम्हारी तकलीफ भी जानता हूं। तुम्हें हंसने में कठिनाई होती है। तुम हंसते हो कंजूसी से। रोने में तुम बड़े मुक्त-हस्त होते हो। हंसते हो तुम बामुश्किल क्षण भर को; फिर हंसी खो जाती है, सूख जाती है। रोने लगो तो तुम घड़ियों रोते हो। रोने लगो तो दूसरे समझाएं तो भी तुम नहीं समझते। दूसरे पुचकारें-थपकाएं, तो भी तुम नहीं मानते, और रोते चले जाते हो। हंसते हो तो बस जरा--जैसे जबर्दस्ती; जैसे मुश्किल से; जैसे हंसना पड़ा सो हंस लिए--फिर खो जाती है हंसी। जानता हूं कारण भी, जीवन में तुम्हारे सिवाए दुख के और कुछ भी नहीं है।

इतना रोया हूं गम-ए-दोस्त जरा-सा हंस कर,
मुस्कुराते हुए लमहात से जी डरता है।

तुम इतने रोए हो, इतने दुखी हुए हो कि तुम घबड़ाते हो। हंसना तुम्हें मौजू नहीं मालूम पड़ता; तुम्हारे साथ ठीक-ठीक नहीं बैठता--विजातीय मालूम पड़ता है, अजनबी मालूम पड़ता है। रोने से तुम्हारा साथ-संग है, परिचय है पुराना; हंसने से तुम्हारा कोई संबंध नहीं। और अगर कभी तुम हंसते भी हो, तो तुम्हारी हंसी में भी कुछ रुदन की छाप होती है, कुछ रोना होता है। तुम्हारी हंसी भी मुक्त नहीं होती है, तुम्हारी हंसी भी शुद्ध नहीं होती, कुंआरी नहीं होती; उस पर दाग होते हैं आंसुओं के। तुम गौर करना, तुम्हारी हंसी ठीक हृदय से नहीं उठती, शून्य से नहीं आती।

तुम मेरे भीतर झांकोगे, तो एक बात निश्चित है कि मैं तुम्हारे जैसा नहीं हंसता। तुम्हारे जैसा हंसने के लिए मुझे तुम्हारे जैसा होना पड़े। मेरी हंसी किसी और तल पर है। तुम उस तल पर आओगे तो पहचानोगे।

अष्टावक्र कहते हैं: उस अवस्था को जानने के लिए वैसी ही अवस्था चाहिए। ईसाई कहते हैं: जीसस कभी हंसे नहीं। यह बात झूठी है। मगर ईसाई भी ठीक ही कहते हैं, क्योंकि जिस तल पर वे हंसी को समझ सकते हैं, उस तल पर ईसा कभी नहीं हंसे। जिस तल पर मैं हंसी को समझता हूं, मैं जानता हूं ईसा खिलखिलाते रहे, सूली पर भी हंस रहे थे।

तुमने बुद्ध की हंसती हुई मूर्ति देखी? असंभव। तुमने महावीर की खिलखिलाहट सुनी? असंभव। अगर महावीर की हंसती हुई मूर्ति बना दो, जैनी तुम पर मुकदमा चला देंगे, अदालत में घसीटेंगे कि इन्होंने हमारे महावीर का चेहरा बिगाड़ दिया। महावीर, और हंसते हुए? यह हो ही नहीं सकता! एक बात ठीक भी है, तुम्हारे जैसे महावीर कभी हंसे भी नहीं। तुम्हारी हंसी में तो रोने की छाप है! महावीर की हंसी बड़ी मौन है, शांत है--महावीर जैसी शांत है, निर्विकार है। शायद हंसी में खिलखिलाहट नहीं है। खिलखिलाहट हो भी नहीं सकती। शून्य से उठती है, शून्य का स्वाद लिए है। लेकिन हंसी निश्चित है। पर तुम तभी जान पाओगे, जब तुम उन दशाओं को उपलब्ध होओगे।

रचना का दर्द छटपटाता है
ईश्वर बराबर अवतार लेने को अकुलाता है
दूसरों से मुझे जो कुछ कहना है
वह बात प्रभु पहले मुझसे कहते हैं
करुण-काव्य लिखते समय
कवि पीछे रोता है,
भगवान पहले रोते हैं।

अगर मुझे तुम्हें रुलाना हो तो मुझे तुमसे पहले रोना होगा। और मुझे अगर तुम्हें हंसाना हो तो मेरे प्राणों में हंसी चाहिए, अन्यथा मैं तुम्हें हंसा भी न सकूंगा। लेकिन तुम्हारे और मेरे ढंग अलग होंगे, यह सच है। कभी मैं

ठीक तुम्हारे जैसा था। और कभी तुम ठीक मेरे जैसे भी हो जाओगे, ऐसी आशा है। इस आशा के साथ तुम्हें इस शिविर से विदा करता हूं।

हरि ॐ तत्सत्!

इकतालीसवां प्रवचन

सहज है सत्य की उपलब्धि

अष्टावक्र उवाच।

श्रद्धत्स्व तात श्रद्धत्स्व नात्र मोहं कुरुत्स्व भोः।
ज्ञानस्वरूपो भगवानात्मा त्वं प्रकृतेः परः।। १३३।।
गुणैः संवेष्टितो देहस्तिष्ठत्यायाति याति च।
आत्मा न गंता नागंता किमेनमनुशोचति।। १३४।।
देहस्तिष्ठतु कल्पांतः गच्छत्वद्यैव वा पुनः।
क्व वृद्धिः क्व च वा हानिस्तव चिन्मात्ररूपिणः।। १३५।।
त्वय्यनन्तमहाम्भोधौ विश्ववीचिः स्वभावतः।
उदेतु वास्तुमायातु न ते वृद्धिर्न वा क्षतिः।। १३६।।
तात चिन्मात्ररूपोऽसि न ते भिन्नमिदं जगत्।
अथः कस्य कथं कुत्र हेयोपादेय कल्पना।। १३७।।
एकस्मिन्नव्यये शांते चिदाकाशेऽमले त्वयि।
कुतो जन्म कुतः कर्म कुतोऽहंकार एव च।। १३८।।

अलबर्ट आइंस्टीन के पूर्व अस्तित्व को दो भागों में बांट कर देखने की परंपरा थी: काल और आकाश; टाइम और स्पेस। अलबर्ट आइंस्टीन ने एक महाक्रांति की। उसने कहा, काल और आकाश भिन्न-भिन्न नहीं, एक ही सत्य के दो पहलू हैं।

एक नया शब्द गढ़ा दोनों से मिला कर: "स्पेसियोटाइम"; कालाकाश।

इस संबंध में थोड़ी बात समझ लेनी जरूरी है तो ये सूत्र समझने आसान हो जायेंगे। बहुत कठिन है यह बात खयाल में ले लेनी कि समय और आकाश एक ही हैं। आइंस्टीन ने कहा कि समय आकाश का ही एक आयाम, एक दिशा है, एक डायमेंशन है। समय की तरफ से जो जगत देखेंगे उनकी दृष्टि अलग होगी और जो आकाश की तरफ से जगत को देखेंगे उनकी दृष्टि अलग होगी। समय की तरफ से जो जगत को देखेगा उसके लिए कर्म महत्वपूर्ण मालूम होगा, क्योंकि समय है गति, क्रिया है महत्वपूर्ण। जो आकाश की तरफ से जगत को देखेगा, उसके लिए कर्म इत्यादि व्यर्थ हैं। आकाश है शून्य: वहां कोई गति नहीं। जो समय की तरफ से जगत को देखेगा उसके लिए जगत द्वैत, वस्तुतः अनेक मालूम होगा।

मैं हूं, कल नहीं था, कल फिर नहीं हो जाऊंगा। मेरे मरने से तुम न मरोगे; न मेरे जन्म से तुम्हारा जन्म हुआ। निश्चित ही मैं अलग, तुम अलग। वृक्ष अलग, पहाड़-पर्वत अलग, सब अलग-अलग। समय में प्रत्येक चीज परिभाषित है, भिन्न-भिन्न है। आकाश में सभी चीजें एक हैं। आकाश एक है।

समय की धारा चीजों को खंडों में बांट देती है। समय विभाजन का स्रोत है। इसलिए जिसने समय की तरफ से अस्तित्व को देखा, वह देखेगा अनेक; जिसने आकाश की तरफ से देखा, वह देखेगा एक। जिसने समय की तरफ से देखा वह सोचेगा भाषा में--साधना की, सिद्धि की। चलना है, पहुंचना है, गंतव्य है कहीं; श्रम करना है, संकल्प करना है, चेष्टा करनी है, प्रयास करना है--तब कहीं पहुंच पायेंगे। जो आकाश की तरफ से देखेगा, उसके लिए कहीं कोई गंतव्य नहीं।

सिद्धि मनुष्य का स्वभाव है। आकाश तो यहां है, कहीं और नहीं। जाने को कहां है! तुम जहां हो वहीं आकाश है। आकाश तो बाहर-भीतर सबमें व्याप्त है! आकाश तो सदा से है; एक क्षण को भी खोया नहीं। समय में

चलना हो सकता है, आकाश में कैसा चलना! कहीं भी रहो, उसी आकाश में हो। तो आकाश में यात्रा का कोई उपाय नहीं; समय में यात्रा हो सकती है। इस बात को खयाल में लेना।

महावीर की परंपरा कहलाती है श्रमण। "श्रमण" का अर्थ होता है: श्रम। श्रम करोगे तो पा सकोगे। बिना श्रम के परमात्मा नहीं पाया जा सकता, न सत्य पाया जा सकता है। हिंदू परंपरा कहलाती है ब्राह्मण। उसका अर्थ है कि ब्रह्म तुम हो; पाने की कोई बात नहीं। जागना है, जानना है। हो तो तुम हो ही, स्वभाव से हो। ब्रह्म तो तुम्हारे भीतर बैठा ही हुआ है। यह आकाश की तरफ से देखना है। तुम चकित होओगे, महावीर ने तो आत्मा को भी जो नाम दिया है वह है समय। इसलिए महावीर की समाधि का नाम है सामायिक।

मैं तो एक जैन घर में पैदा हुआ। उस संप्रदाय का नाम है "समैया"। वह समय से बना शब्द है। महावीर तो कहते हैं: समय में लीन हो जाओ तो ध्यान लग गया, सामायिक हो गई, समय में ठहर जाओ तो पहुंच गये। हिंदू परंपरा समय को मूल्य नहीं देती, इसलिए श्रम को भी मूल्य नहीं देती। आकाश का मूल्य है।

ये सारे अष्टावक्र के सूत्र आकाश के सूत्र हैं। और जैसा अलबर्ट आइंस्टीन कहता है, आकाश और समय एक ही अस्तित्व के दो पहलू हैं, दोनों तरफ से पहुंचना हो सकता है। जो समय को मान कर चलेगा, उसके लिए समर्पण संभव नहीं--संघर्ष, संकल्प। जो आकाश को मान कर चलेगा, वह अभी झुक जाये, यहीं झुक जाये--समर्पण संभव है। श्रद्धा! श्रम की कोई बात नहीं। बोध मात्र काफी है। कुछ करना नहीं है। जो समय को मान कर चलेगा, उसे शुभ और अशुभ में संघर्ष है। अशुभ को हटाना है, शुभ को लाना है। बुरे को मिटाना है, भले को लाना है। इसलिए जैन विचार बहुत नैतिक हो गया--होना ही पड़ेगा। अंधेरे को काटना है, प्रकाश को लाना है तो योद्धा बनना होगा। इसलिए तो वर्द्धमान का नाम महावीर हो गया। वे योद्धा थे। उन्होंने जीता, विजय की। "जैन" शब्द का अर्थ होता है: जिसने जीता। अगर भक्त से पूछो तो वह कहेगा, यह बात ही गलत; जीतने से कहीं परमात्मा मिलता है, हारने से मिलता है! हारो! उसके सामने समर्पित हो जाओ! छोड़ो संघर्ष! हारते ही मिल जाता है।

ये दो अलग भाषायें हैं। दोनों सही हैं, याद रखना। दोनों तरफ से लोग पहुंच गये हैं। तुम्हें जो रुच जाये, बस वही तुम्हारे लिए सही है। हालांकि यह मन में वृत्ति होती है कि जो एक धारणा को मानता है, दूसरे को गलत कहने की वृत्ति स्वाभाविक है। जो मानता है संकल्प से मिलेगा, वह कैसे मान सकता है कि समर्पण से मिल सकता है! अगर वह मान ले कि समर्पण से मिल सकता है तो फिर संकल्प की जरूरत क्या रही? और जो मानता है समर्पण से ही मिलता है, वह अगर मान ले कि संकल्प से भी मिल सकता है तो फिर समर्पण का क्या मूल्य रह गया? इसलिए दोनों एक दूसरे का खंडन करते रहेंगे, एक-दूसरे का विरोध करते रहेंगे।

तुम चकित होओगे यह बात जान कर: हिंदू और मुसलमान में उतना विरोध नहीं है, उनकी पद्धति तो एक ही है; जैन और हिंदू में बहुत विरोध है, उनकी पद्धति मौलिक रूप से भिन्न है। मुसलमान भी, ईसाई भी, हिंदू भी--वे सब, अगर गौर से समझो, तो आकाश की धारणा को मान कर चलते हैं। थोड़े-बहुत भाषा के भेद होंगे, लेकिन मौलिक अंतर नहीं है। लेकिन बुद्ध-महावीर आकाश की भाषा को मान कर नहीं चलते, समय की भाषा को मान कर चलते हैं।

सारे जगत के धर्मों को श्रमण और ब्राह्मण में बांटा जा सकता है। और इस बात को मैं फिर से दोहरा दूं कि दोनों तरफ से लोग पहुंच गये हैं। इसलिए तुम इस चिंता में मत पड़ना कि दूसरा गलत है; तुम तो इतना ही देख लेना, तुम्हारा किससे संबंध बैठ जाता है। तुम्हारे भीतर का "स्व" किसके साथ छंदोबद्ध हो जाता है, बस इतना काफी है; इससे ज्यादा विचारणीय नहीं है।

हिंदू परंपरा की आत्यंतिक पराकाष्ठा पहुंची अद्वैत पर; लेकिन महावीर अद्वैत पर नहीं जा सकते, क्योंकि अद्वैत का तो मतलब हो जायेगा, फिर पाने को कुछ नहीं बचता। दूसरा तो चाहिए ही। संघर्ष करने को भी कुछ

नहीं बचता, अगर दूसरा न हो। हराने को भी कुछ नहीं बचता, अगर दूसरा न हो। योद्धा के लिए अकेले होने में क्या प्रयोजन रह जायेगा! लिए तलवार कमरे में नाच रहे, कूद रहे--युद्ध नहीं रह जायेगा, नाच हो जायेगा। योद्धा को तो दूसरा चाहिए। जिसकी चुनौती में जूझ सके। तो महावीर कहते हैं: संसार अलग, परमात्मा अलग; और दोनों में संघर्ष है; चेतना और पदार्थ में संघर्ष है। इसलिए महावीर अद्वैतवादी नहीं हैं, द्वैतवादी हैं। जीवन और चेतना एक लोक; पदार्थ, जड़ अलग दूसरा लोक। और दोनों में कभी कोई मिलना नहीं होता। दोनों भिन्न हैं।

महावीर की ये धारणायें तुम्हें अष्टावक्र को समझने में सहयोगी हो सकती हैं। उनकी पृष्ठभूमि में अष्टावक्र साफ हो सकेंगे।

अष्टावक्र की धारणा है अद्धैत की; एक ही है, आकाश जैसा! उसी का सब खेल है। वही एक अनेक-अनेक रूपों में प्रगट हो रहा है। वही तुम्हारे भीतर सदा से मौजूद है; तुम झपकी ले रहे हो, सो रहे हो--एक बात। आंख खोलते ही तुम उसे पा लोगे। उसके पाने में और तुम्हारी स्थिति में इंच भर का फासला नहीं है, जिसे यात्रा करनी हो। ऐसा ही समझो कि सूरज निकला है तुम आंख बंद किए बैठे हो। रोशनी चारों तरफ झर रही है, लेकिन तुम अंधेरे में हो। तुमने पलक खोली, रोशनी से भर गये। कहीं जाना न था। रोशनी पलक पर ही विराजी थी; तुम्हारी पलक पर ही दस्तक दे रही थी। पलक खुली कि सब खुल गया। प्रकाश ही प्रकाश हो गया। सहज है सत्य की उपलब्धि। और समाधि श्रम-साध्य नहीं है; समाधि समर्पण-साध्य है, श्रद्धा से है।

महावीर और बुद्ध में तुम्हें बहुत तर्क मिलेगा, बारीक तर्क मिलेगा। महावीर में ऐसी कोई धारणा नहीं है जो तर्क से सिद्ध न होती हो। महावीर कोई ऐसी बात नहीं कहते जिसे तार्किक रूप से प्रमाणित न किया जा सके। इसलिए महावीर परमात्मा की बात ही नहीं करते, न बुद्ध करते हैं। बुद्ध तो और एक कदम आगे गये--वे आत्मा की बात भी नहीं करते, क्योंकि उसे भी तर्क से सिद्ध करने का कोई उपाय नहीं।

पश्चिम के एक बहुत बड़े विचारक लुडविग विडगिंस्टीन ने इस सदी की एक बहुत महत्वपूर्ण किताब लिखी है। उस किताब का एक सूत्र है: "जो कहा न जा सके उसे भूल कर कहना नहीं है। जो वाणी में न आ सके, उसे लाने की कोशिश भी मत करना। अन्यथा अन्याय होता है, अत्याचार होता है।"

विडगिंस्टीन ठीक महावीर और बुद्ध की परंपरा में पड़ता है--वही तर्क-दृष्टि। महावीर ऐसी कोई बात नहीं कहते जिसको तर्क से सिद्ध न किया जा सके।

इसलिए महावीर में काव्य बिलकुल नहीं है, क्योंकि कविता को कैसे सिद्ध करोगे! कविता सिद्ध थोड़े ही होती है। कोई उसकी मस्ती में आ जाये, आ जाये; न आये तो सिद्ध करने का कोई उपाय नहीं है। और सिद्ध करने कविता को चलो तो मर जाती है कविता। अगर कोई तुमसे पूछ ले इस कविता का अर्थ क्या, तो भूल कर अर्थ मत बताना। क्योंकि अर्थ अगर बताने में लगे और विश्लेषण किया, उसी में तो कविता मर जाती है। पकड़ में आ जाये, झलक में आ जाये, तो ठीक; न आये तो बात गई। फिर उसे पकड़ में लाने का उपाय नहीं।

महावीर साफ-सुथरे हैं, तर्कयुक्त हैं; बुद्ध भी। श्रद्धा की कोई बात नहीं है। मानने का कोई सवाल नहीं है। जो भी है, वह जाना जा सकता है। इसलिए बुद्धि की, मेधा की पूरी चेष्टा आवश्यक है। ब्राह्मण-विचार में बुद्धि की चेष्टा ही बाधा है। तुम जब तक बुद्धि से चेष्टा करते रहोगे तब तक तुम्हारी चेष्टा ही तुम्हारा कारागृह बनी रहेगी। क्योंकि कुछ है जो बुद्धि से जाना जा सकता है, कुछ है जो बुद्धि से जाना नहीं जा सकता; क्योंकि कुछ बुद्धि के आगे है और कुछ बुद्धि के पीछे है। एक बात तो तय है कि तुम बुद्धि के पीछे हो। तुम बुद्धि के आगे नहीं हो। तुम्हारे ही पीछे खड़े होने के कारण तो बुद्धि चलती है। तो तुम्हें तो बुद्धि नहीं समझ सकती; पीछे लौटकर तुम्हें कैसे समझेगी? तुम्हारे सहारे ही समझती है, तो तुम्हारे बिना तो चल ही नहीं सकती।

जैसे कि मैं हाथ में एक चमीटा ले लूं तो चमीटे से मैं कोई भी चीज पकड़ सकता हूं; लेकिन उसी चमीटे से, जिस हाथ ने चमीटे को पकड़ा है, उसे थोड़े ही पकड़ सकूंगा। उसको पकड़ने की कोशिश में तो चमीटा भी गिर जायेगा, और मेरे हाथ में न रहा तो चमीटा तो कुछ भी नहीं पकड़ सकता।

बुद्धि भी तुम्हारी है, तुम्हारे चैतन्य का हिस्सा है--चैतन्य के हाथ में चमीटा है। उससे तुम सब पकड़ लो, चैतन्य छूट जायेगा। चैतन्य को पकड़ना हो तो चमीटा छोड़ देना पड़े। चमीटे का अगर ज्यादा मोह रखा तो मुश्किल में पड़ोगे। फिर तुम सब समझ लोगे, अपने को नहीं समझ पाओगे।

इसलिए विज्ञान सब समझे ले रहा है, सिर्फ स्वयं, मनुष्य की स्वयंता को भूले जा रहा है। मनुष्य की अंतस चेतना भर पकड़ में नहीं आ रही; और सब पकड़ में आया जा रहा है।

विज्ञान महावीर और बुद्ध से बहुत राजी है। इस बात की बहुत संभावना है कि अगर वैज्ञानिक महावीर को पढ़ेंगे तो बड़े चकित होंगे, क्योंकि जो वे आज कह रहे हैं वह महावीर ने ढाई हजार साल पहले कहा है। महावीर की पकड़ तर्क की बड़ी साफ और पैनी है; लेकिन जो भूल वैज्ञानिक कर रहा है वह भूल महावीर ने नहीं की। इतना तो कहा कि जो जाना जा सकता है, तर्क से जाना जा सकता है और जो अतर्क्य है उसकी कोई बात नहीं की। लेकिन अपने साधकों को धीरे-धीरे अतर्क्य की तरफ चुपचाप ले गये, उसकी कोई चर्चा नहीं चलाई, उसका कोई सिद्धांत नहीं बनाया। लेकिन वह जाना भी तर्क की गहन संघर्षणा के द्वारा। जब तर्क उस जगह पहुंच जाये--किनारे पर, जहां आगे पंख न उड़ा सके, जब आगे कोई गति न रह जाये और तर्क अपने-आप से गिर जाये, पंख कट जायें तर्क के--तब जिसका तुम साक्षात करोगे...।

ब्राह्मण कहते हैं: तो यह तर्क की इतनी दूर की यात्रा भी व्यर्थ है। अगर तर्क यहीं गिर जाये पहले कदम पर तो मंजिल यहीं आ जाती है। ब्राह्मण-शास्त्र कहता है कि जब तर्क गिरता है तभी मंजिल आ जाती है। तुम कहते हो, आखिर में गिरायेंगे, तुम्हारी मर्जी। अभी गिरा दो तो अभी मंजिल आ जाती है। यह तुम्हारी मौज। अगर तुम कुछ दिन तक इसको ढोना चाहते हो तो ढोते रहो। ऐसा नहीं है कि किसी खास जगह गिराने से मंजिल आती है; जहां तुम गिरा देते हो वहीं मंजिल आ जाती है। गिराने से मंजिल आती है। उस तर्क के गिराने का नाम श्रद्धा है।

आज के सूत्र बड़े अनूठे हैं। बहुत खयाल से समझने की बात है।

पहला सूत्र: "हे सौम्य, हे प्रिय! श्रद्धा कर, श्रद्धा कर! इसमें मोह मत कर। तू ज्ञानरूप है, भगवान है, परमात्मा है, प्रकृति से परे है।"

"हे सौम्य!"

"सौम्य" का अर्थ होता है: समत्व को उपलब्ध, सौंदर्य को उपलब्ध; समता को उपलब्ध; प्रसाद को उपलब्ध; समाधि के बहुत करीब है जो। "सौम्य" शब्द बड़ा प्यारा है! संतुलन को उपलब्ध! जो भीतर ठहरा-ठहरा हो रहा है, ठहरा जा रहा है, आखिरी तरंग भी खोई जा रही है, जल्दी ही कोई तरंग न रह जायेगी झील पर। समाधि बस करीब है। जैसे क्षण भर की देर है पलक खुलने को। बस इतना ही फासला है।

अब तक अष्टावक्र ने जनक के लिए इस शब्द का उपयोग न किया था, अब वे उपयोग करते हैं। वे कहते हैं: "हे सौम्य! हे समाधि के निकट पहुंच गये जनक! हे समता में ठहरने वाले जनक!" और जब कोई समता को उपलब्ध होता है तो सुंदर हो जाता है। सौंदर्य समता की ही छाया है। अगर कभी शरीर भी किसी का सुंदर मालूम होता है तो इसीलिए मालूम होता है कि शरीर में एक अनुपात है, एक समत्व है; शरीर में एक सिमिट्री है। कोई अंग बहुत बड़ा, कोई अंग बहुत छोटा--ऐसा नहीं; सब समतुल है; जैसा होना चाहिए वैसा है।

सौंदर्य का यही अर्थ है कि सब चीजें ठीक-ठीक अनुपात में हैं और एक-दूसरे के साथ समस्वरता है। ऐसा मत सोचना तुम कि किसी सुंदर नाक को ले लो, किसी सुंदर आंख को ले लो, किसी सुंदर बालों को ले लो, सुंदर हाथों को ले लो और सबके जोड़ से तुम सुंदर स्त्री या सुंदर आदमी बना सकोगे! ऐसा मत सोचना। शायद उससे

ज्यादा कुरूप कोई और चीज ही न होगी। क्योंकि सौंदर्य न तो नाक में है, न आंख में है, न बाल में है; सौंदर्य तो समत्व में है। सौंदर्य तो समग्र की एक अनुपात व्यवस्था में, छंद्धोबद्धता में है। तुम बहुत-सी सुंदर चीजों को इकट्ठा करके सौंदर्य को जन्मा न सकोगे। सौंदर्य को स्मरण रखो--एक छंद है, लयबद्धता है, मात्रा-मात्रा तुली है।

तो शरीर का सौंदर्य होता है; और फिर मन का भी सौंदर्य होता है; और फिर आत्मा का सौंदर्य भी होता है। मन का सौंदर्य तब होता है जब किसी व्यक्ति में गुणों में एक समस्वरता होती है, विरोधाभास नहीं होता। एक चीज दूसरी चीज की विपरीत नहीं होती। सब चीजें एक ही धारा में बहती हैं। एक गहरी संगति और संगीत होता है।

मन का सौंदर्य होता है जब मन एक ही दिशा में गतिमान होता है। ऐसा नहीं कि आधा हिस्सा पूरब जा रहा है, आधा पश्चिम जा रहा; आधा यहीं पड़ा; कुछ कहीं जा रहा, कुछ कहीं जा रहा; कई घोड़ों पर सवार, ऐसा नहीं; अनेक नावों पर सवार, ऐसा नहीं--एक ही यात्रा है, एक ही गंतव्य है; और सारा चित्त एकजुट है। जब भी कभी तुम ऐसा व्यक्ति पाओगे जिसका चित्त एक धारा में बह रहा है, छिन्न-भिन्न नहीं है, तब तुम पाओगे एक मन का सौंदर्य। एक प्रसाद उस व्यक्ति के पास मिलेगा।

फिर आत्मा का सौंदर्य है। आत्मा का सौंदर्य तब है जब आत्मा जागती है और समाधि के करीब आने लगती है।

जनक को अष्टावक्र कहते हैं: "हे सौम्य!" यह वैसी दशा है जैसी कभी-कभी सुबह तुम्हें होती है; अभी जाग भी नहीं गये हो और सोये भी नहीं हो। थोड़े-थोड़े जाग भी गये हो, थोड़े-थोड़े सोये भी हो--अलसाये हो। आवाजें भी सुनाई पड़ने लगीं बाहर की। दूध वाला दस्तक दे रहा है द्वार पर, वह भी पता चल रहा है। बच्चे स्कूल जाने की तैयारी करने लगे, दौड़-धूप कर रहे हैं, वह भी स्मरण में आ रहा है। पत्नी चाय बनाने लगी, केतली की आवाज भी धीमी-धीमी कान में पड़ने लगी, गंध भी नाकों में आने लगी। शायद खिड़की से सूरज की किरण भी आ रही है, वह भी चेहरे पर पड़ रही है और ताप मालूम होने लगा है। फिर भी अभी अलसाये हो। अभी पूरे जाग नहीं गये। नींद सरकती-सरकती विदा हो रही है। ऐसी अवस्था जब आदमी के आत्यंतिक जगत में, आंतरिक जगत में घटती है, तब आदमी सौम्य होता है। अभी आत्मा पूरी जाग नहीं गई है, बस जागने के करीब है। लगने तो लगा है कुछ-कुछ, स्वाद थोड़ा-थोड़ा आने लगा है, खबर मिलने लगी है अपने स्वभाव की; लेकिन अभी पूरा पर्दा नहीं उठा। एक झलक मिली, एक खिड़की खुली है; छलांग नहीं लगी।

"है सौम्य! हे प्रिय...।"

और गुरु के लिए शिष्य तभी प्यारा होता है जब वह सौम्य हो जाता है, जब वह समाधि के करीब आने लगता है।

यही तो गुरु की सारी चेष्टा है कि सोये को जगा दे; कि खोये को उसका स्मरण दिला दे; कि भटके को राह पर ला दे। और जब देखता है कि कोई आने लगा मंजिल के करीब...और जनक ने जैसी अभिव्यक्ति दी है, जैसे उत्तर दिए हैं अष्टावक्र को...किताब में तो सिर्फ उत्तर हैं। उत्तर से भी बहुत खबर मिलती है, लेकिन अष्टावक्र के सामने तो जनक स्वयं मौजूद थे--आंख से, मुख-मुद्रा से, हावभाव से, उठने-बैठने से, हर चीज से खबर मिल रही होगी: समता आ रही; समाधि करीब आ रही।

जैसे तुम किसी बगीचे के करीब जाते हो, अभी दूर से दिखाई नहीं पड़ता बगीचा, फिर भी हवायें ठंडी हो जाती हैं। हवाओं में थोड़ी फूलों की गंध आ जाती है। इत्र तैरने लगता है। तुम्हें अभी बगीचा दिखाई भी नहीं पड़ता, लेकिन तुम कह सकते हो कि ठीक दिशा में हो। ठंडक बढ़ती जाती है, शीतलता बढ़ती जाती है, गंध प्रखर और तीव्र होती जाती है। तुम जानते हो कि बगीचा ठीक करीब है और तुम ठीक दिशा में हो। ऐसी ही दशा होगी। मस्ती छाई जाती होगी, आंखों में खुमार आने लगा होगा। यह परमात्मा की शराब बूंद-बूंद गिरने लगी जनक के हृदय में। यह घड़ी आ गई जब गुरु शिष्य को प्रिय कहे। यह करीब आ गई घड़ी जब गुरु शिष्य को

अपने पास बिठाने के योग्य मानेगा। यह घड़ी आने लगी करीब, जब गुरु और शिष्य में फर्क न रह जायेगा। "प्रिय" उसका सूचक है। "प्रिय" का मतलब होता है: अब मैं तुम्हें अपने हृदय के करीब लेता हूं; अब मैं तुम्हें अपने समान स्वीकार करता हूं; अब तुम मेरे ही तुल्य हो गये, होने लगे; अब मुझमें और तुझमें कोई भेद नहीं। जल्दी ही कौन गुरु, कौन शिष्य--पता लगाना संभव न रह जायेगा।

प्रेम जिससे भी तुम्हें होता है, तुम उसे अपने समान स्वीकार कर लेते हो। यही फर्क है। प्रेम की अनेक कोटियां हैं। बाप का अपने बेटे पर प्रेम होता है, उसे हम कहते हैं वात्सल्य; प्रेम नहीं कहते। वात्सल्य का अर्थ है: बाप बहुत ऊपर, बेटा बहुत नीचे; वहां से उंडेल रहा। बेटा पात्र की तरह है--बहुत नीचे रखा; बाप के प्रेम की धारा पड़ रही है। गुरु के प्रति प्रेम होता है--उसे हम श्रद्धा कहते हैं, आदर कहते हैं, सम्मान कहते हैं, उसे भी हम प्रेम नहीं कहते हैं। क्योंकि गुरु ऊपर बैठा है। और हमारा प्रेम और श्रद्धा जैसे किसी ने धूप बाली हो और धूप का धुआं चढ़ने लगे ऊपर की तरफ, ऐसा ऊपर की यात्रा पर जा रहा है। लेकिन जब तुम किसी के प्रेम में पड़ जाते हो तो प्रेम कहते हो। प्रेम का अर्थ होता है: तुम जिसके प्रेम में हो वह ठीक तुम्हारे ही साथ खड़ा है।

इसीलिए तो ऐसा अक्सर होता है। मेरे पास कोई पति आकर संन्यासी हो जाता है तो वह कहता है: मैं चाहता हूं मेरी पत्नी भी आ जाये; लेकिन मैं लाख उपाय करूं कि वह सुनती नहीं है। मैं उससे कहता हूं: तू भूल कर मत करना उपाय, ऐसा कभी हुआ ही नहीं। तू न ला सकेगा; क्योंकि जिसके साथ प्रेम किया उसके साथ सम-भाव स्वीकार कर लिया। अब वह तुझे गुरु नहीं मान सकती।

ऐसे ही पत्नी भी आ जाती है कभी मेरे पास और संन्यस्त हो जाती है, दीक्षित हो जाती है--चाहती है पति को भी ले आये। वह चाह भी स्वाभाविक है--जो हमें मिला, वह उनको भी मिल जाये जिन्हें हम प्रेम करते हैं। लेकिन यह हो नहीं हो पाता। पति और अकड़ने लगता है। पत्नी को गुरु माने, यह जरा कठिन है।

इसलिए पति और पत्नी एक-दूसरे को कभी भी राजी नहीं कर पाते, बहुत मुश्किल मामला है। जितना राजी करने की कोशिश करेंगे उतनी दूरी बढ़ती जाती है; उतनी नाराजगी बढ़ती जाती है; राजी कोई नहीं होता। तो मैं उनसे कहता हूं; इस झंझट में पड़ना ही मत। जिसको एक बार स्वीकार कर लिया अपने समान, जिसको प्रेम दिया, अब उसके तुम गुरु बनना चाहो...और यह गुरु बनना है। तुम मार्ग दिखाते हो। तुम कहते हो, चलो; कहीं मुझे मिला वहां तुम भी चलो। वह यह मान ही नहीं सकती कि तुम उससे आगे हो सकते हो।

लेकिन एक ऐसी घड़ी आती है, जब गुरु शिष्य से कहता है, "हे प्रिय", जब गुरु का प्यार शिष्य पर बरसता है। वात्सल्य के दिन गये, प्रेम के दिन आ गये। अब गुरु अनुभव कर रहा है कि शिष्य उसी अवस्था में आया जाता है जिसके लिए चेष्टा चलती थी; गुरु की ही अवस्था को उपलब्ध हुआ जाता है। गुरु तभी तृप्त होता है जब शिष्य भी गुरु हो जाता है।

"हे प्रिय! श्रद्धा कर, श्रद्धा कर!"

श्रद्धा का अर्थ समझ लेना। श्रद्धा का अर्थ विश्वास नहीं है, बिलीफ नहीं है। क्योंकि जिस श्रद्धा का अर्थ विश्वास होता है वह तो श्रद्धा ही नहीं है। विश्वास का अर्थ होता है: किसी धारणा में, किसी सिद्धांत में, किसी शास्त्र में भरोसा। श्रद्धा का अर्थ होता है: स्वभाव में, सत्य में, सिद्धांत में नहीं, जीवन में, अस्तित्व में। और यह घड़ी है जब जनक जागने के करीब हो रहे हैं; अगर जरा भी संदेह पैदा हो जाये तो नींद फिर लग जायेगी। अगर जरा भी डर पकड़ जाये कि यह क्या हो रहा है, मैं तो सदा सोया रहा, सब ठीक चल रहा था, अब यह जागना और एक नया काम शुरू हो रहा है और पता नहीं जागने से सुख मिलेगा कि नहीं मिलेगा; जागना उचित है या नहीं; यह जो घट रहा है, यह इतना बड़ा है, इसके साथ जाऊं या लौट पड़ूं; वह अपना पुराना, पहचाना, परिचित लोक ठीक था, यह तो अनजान अपरिचित रास्ता आ गया, कोई नक्शा हाथ नहीं...!

श्रद्धा का अर्थ होता है: जब अज्ञात तुम्हारे द्वार खटखटाये तो साथ चल पड़ना। विश्वास तो अज्ञात होता ही नहीं; विश्वास तो ज्ञात है। तुम हिंदू हो--यह विश्वास है। तुम मुसलमान हो--यह विश्वास है। तुम धार्मिक बनोगे तो श्रद्धा।

विश्वास का अर्थ है: कुरान में विश्वास है, इसलिए तुम मुसलमान हो। महावीर में विश्वास है, इसलिए जैन हो। अभी जीवन में विश्वास नहीं आया, क्योंकि जीवन का विश्वास तो न महावीर से संबंधित है, न कुरान से, न बुद्ध से, न कृष्ण से। जीवन तो यहां घेरे हुए है तुम्हें बाहर-भीतर, सब तरफ। और जीवन के पास कोई सिद्धांत नहीं है, कोई शास्त्र नहीं है। जीवन तो स्वयं ही अपना सिद्धांत है।

ऐसा समझो कि एक आदमी यहां आकर चिल्ला दे: "आग! आग लग गई, आग!" अनेक लोग भाग खड़े होंगे, चाहे आग लगी हो चाहे न लगी हो। उन्होंने शब्द पर भरोसा कर लिया। अब "आग" शब्द जला नहीं सकता। मैं लाख चिल्लाऊं आग आग आग, उससे तुम जलोगे नहीं; लेकिन अंगारा तुम्हारे हाथ पर रख दूं तो जलोगे। तो शब्द "आग" आग नहीं है। और परमात्मा का कोई सिद्धांत परमात्मा नहीं है, कोई शब्द परमात्मा नहीं है।

जीवन के संबंध में जितनी धारणायें हैं, वे सब मनुष्य की भाषायें हैं--अज्ञात को ज्ञात बनाने की चेष्टा है; किसी तरह अपरिभाषित को परिभाषा देने का उपाय है। नाम लगा दिया तो थोड़ी राहत मिलती है कि चलो हमने जान लिया। अब परमात्मा इतनी बड़ी घटना है, किसने कब जाना! कौन जान सकता है! जानने का तो मतलब होगा परमात्मा को आर-पार देख लिया। आर-पार देखने का तो मतलब होगा उसकी सीमा है। जिसकी सीमा है, वह परमात्मा नहीं। जो असीम है, जिसका पारावार नहीं है, न प्रारंभ है न अंत है--तुम उसको पूरा-पूरा कैसे जानोगे? कभी नहीं जानोगे! उसका रहस्य तो रहस्य ही रहेगा।

विज्ञान कहता है: हम दो शब्द मानते हैं--ज्ञात और अज्ञात; नोन और अननोन। विज्ञान कहता है: ज्ञान वह है जो हमने जान लिया और अज्ञात वह है जो हम जान लेंगे। धर्म कहता है: हम तीन शब्द मानते हैं--ज्ञात, अज्ञात और अज्ञेय। ज्ञात वह है जो हमने जान लिया। अज्ञात वह है जो हम जान लेंगे। अज्ञेय, वह जो हम कभी नहीं जान पायेंगे।

परमात्मा अज्ञेय है। उस अज्ञेय में श्रद्धा...। सभी जानने पर समाप्त नहीं हो जाता, इस भाव का नाम श्रद्धा है। जो जान लिया वह तो क्षुद्र हो गया। जो अनजाना रह गया है, वही विराट है। इस बात का नाम श्रद्धा है। अब तक श्रद्धा की बात नहीं उठाई थी अष्टावक्र ने; आज अचानक श्रद्धा की बात आ गई। और एक बार नहीं, दो बार दोहराते हैं, कहते हैं: "श्रद्धा कर, श्रद्धा कर!"

जब कोई छलांग लगाने को हो रहा है तो अतीत पकड़ता है पूरा, रोकता है। अतीत का बड़ा बल है! जन्मों-जन्मों तक तुम जिसके साथ जीये हो, उस आदत का बड़ा बल है। वह आदत खींचती है जंजीर की तरह। वह कहती है: "कहां जाते? किस अनजान रास्ते पर जाते? भटक जाओगे। जाने, परिचित में चलो। ऐसे रास्ते से मत उतरो। यह जो राजमार्ग है, इस पर ही चलो। सभी इस पर चलते रहे हैं। हिंदू हो तो हिंदू रहो। मुसलमान हो तो मुसलमान रहो। कुरान पढ़ते रहे तो कुरान पढ़ते रहो, गीता दोहराते रहे तो गीता दोहराते रहो। यह परिचित है। यह तुम कहां उतरे जाते हो? जीवन! जीवन बहुत बड़ा है। अस्तित्व! अस्तित्व विराट है। तुम बहुत छोटे हो। बूंद की तरह खो जाओगे सागर में; पता भी न चलेगा; लौट भी न सकोगे फिर। सम्हल जाओ!" अतीत पूरे जोर से खींचता है।

इस घड़ी को सामने खड़ा देख कर अष्टावक्र कहने लगे: "श्रद्धत्स्व! श्रद्धा कर, श्रद्धा कर।"

श्रद्धत्स्व तात श्रद्धत्स्व नात्र मोहं कुरुत्स्व भोः।

"हे प्रिय, हे सौम्य! श्रद्धा की घड़ी आ गई, श्रद्धा कर। और मोह मत कर।"

मोह होता है अतीत का और श्रद्धा होती है भविष्य की। मोह होता है उससे जिसके साथ हम रहे हैं। श्रद्धा होती है उसकी जिसके साथ हम कभी नहीं रहे। मोह तो कायर को भी होता है; श्रद्धा केवल साहसी को होती है। मोह तो अज्ञानी को भी होता है; श्रद्धा तो सिर्फ ज्ञान के खोजी को होती है।

तुम कहते हो, मैं हिंदू हूं--यह तुम्हारा मोह है या तुम्हारी श्रद्धा? फर्क करना। समझने की कोशिश करना। अगर तुम हिंदू घर में पैदा न हुए होते, बचपन से ही तुम्हें मुसलमान घर में रखा गया होता तो, तो तुम मुसलमान होते। और मुसलमान होने में तुम्हारा इतना ही मोह होता जितना अभी हिंदू होने में है। अगर हिंदू-मुस्लिम दंगा होता तो तुम मुसलमान की तरफ से लड़ते, हिंदू की तरफ से नहीं। अभी तुम हिंदू की तरफ से लड़ोगे; लेकिन क्या तुमको पक्का है कि तुम हिंदू घर में पैदा हुए थे? मुसलमान घर में पैदा हुए और हिंदू घर में रख दिए गये हो, कौन जाने? यह विश्वास है।

मोह विश्वास है। मोह के कोई आधार नहीं हैं। मोह का तो सिर्फ संस्कार है। बार-बार दोहराया गया तो मोह बन गया। तुम्हें पक्का पता नहीं है। इस मोह में आदत तो है, लेकिन इस मोह में कोई बोध नहीं है। श्रद्धा बड़ी बोधपूर्वक होती है। श्रद्धा का अर्थ है: जो हो चुका हो चुका; जो जा चुका जा चुका। मैं तैयार हूं उसके लिए जो होना चाहिए। संभव के लिए मेरे द्वार खुले हैं और मैं संभावना का सूत्र पकड़ कर बढ़ूंगा--जहां ले जाये परमात्मा, जो दिखाये, जो कराये, खोना हो तो खो जाऊंगा! वह खोना भला श्रद्धा के साथ। मोह के साथ बने रहने में कुछ सार नहीं। रह कर तो देख लिया मोह के साथ बहुत--क्या मिला? कभी हिसाब भी तो लगाओ! कितने विश्वासों से भरे हो--क्या मिला? बस विश्वास ऐसे हैं जैसे "आग" शब्द जलाता नहीं। विश्वास ऐसे हैं जैसे "अमृत" शब्द। अब "अमृत" शब्द को लिखते रहो, घोंट-घोंट कर लिखते रहो, पी जाओ घोंट-घोंट कर, तो भी कुछ अमृत को उपलब्ध नहीं हो जाओगे।

श्रद्धा उसकी तलाश है--जो है। श्रद्धा सत्य की खोज है। श्रद्धा का विश्वास से दूर का भी नाता नहीं है। और विश्वासी अपने को समझ लेता है मैं श्रद्धालु हूं तो बड़ी भ्रांति में पड़ जाता है। विश्वास तो झूठा सिक्का है। यह तो कमजोर की आकांक्षा है। श्रद्धा असली सिक्का है; हिम्मतवर की खोज है।

"हे सौम्य, हे प्रिय! श्रद्धा कर, श्रद्धा कर! इसमें मोह मत कर। तू ज्ञानरूप है, भगवान है, परमात्मा है, प्रकृति से परे है।"

डर मत, सीमा में उलझ मत। जो बीत गया उस सीमा को अपनी सीमा मत मान।

समझें। तुमने अब तक जाना तो अपने को मनुष्य है। मनुष्य भी पूरा कहां! कोई हिंदू है, कोई ईसाई है, कोई जैन है--उसमें भी खंड हैं। फिर हिंदू भी पूरा कहां! उसमें भी कोई ब्राह्मण है, कोई शूद्र है, कोई क्षत्रिय है, कोई वैश्य है। फिर ब्राह्मण भी पूरा कहां! कोई देशस्थ, कोई कोकणस्थ फिर ऐसा कटता जाता, कटता जाता। फिर उसमें भी स्त्री-पुरुष। फिर उसमें भी गरीब-अमीर। फिर उसमें भी सुंदर-कुरूप। फिर उसमें भी जवान-बूढ़ा। कितने खंड होते चले जाते हैं! आखिर में बचते हो तुम--बड़े क्षुद्र, बड़ी सीमा में बंधे, हजार-हजार सीमाओं में बंधे! यह तुमने जाना है। आज अचानक मैं तुमसे कहता हूं, "तुम भगवान हो", श्रद्धा नहीं होती। तुम कहते हो: "भगवान और मैं! कहां की बात कर रहे आप! मैं तो जैसा अपने को जानता हूं, महापापी हूं। हजार पाप करता हूं, चोरी करता हूं, जुआ खेलता हूं, शराब पीता हूं।" फिर भी मैं कहता हूं: तुम भगवान हो! ये तुमने जो सीमायें अपनी मान रखी हैं, ये तुम्हारी मान्यता में हैं। और जिस दिन तुम हिम्मत करके इन सीमाओं के ऊपर सिर उठाओगे, अचानक तुम पाओगे कि सब सीमायें गिर गईं। तुम्हारा वास्तविक स्वरूप असीम है।

जब जागने की घड़ी आती है, तब गुरु को बड़े जोर से यह तुमसे कहना पड़ता है कि तुम भगवान हो। क्योंकि सीमायें पुरानी हैं, उनके संस्कार लंबे हैं, अति प्राचीन हैं--और यह जो नई किरण उतर रही, बड़ी नई और बड़ी कोमल है! अगर अतीत से मोह पकड़ लिया और कहा कि मैं तो पापी हूं, मैंने तो कैसे-कैसे पाप किए हैं...!

मेरे पास कोई आता है। वह कहता है: "मैं संन्यास के योग्य नहीं।" मैं कहता हूं: "तुम फिक्र छोड़ो! मैं तुम्हें योग्य मानता हूं। तुम मेरी सुनो।" वह कहता है कि नहीं, आप कुछ भी कहें, मैं संन्यास के योग्य नहीं। मैं तो सिगरेट पीता हूं। तो मैं कहता हूं: पीयो भी। अगर संन्यास ऐसा छोटा-मोटा हो कि सिगरेट पीने से खराब हो जाये तो दो कौड़ी का है। उसका कोई मूल्य ही नहीं। यह भी कोई संन्यास हुआ कि सिगरेट पी ली तो खत्म हो गया! अगर संन्यास में कुछ बल है तो सिगरेट जायेगी, सिगरेट के बल से संन्यास रोकोगे?

कोई आ जाता है। वह कहता है: "मैं शराब पीता हूं।" मैं कहता हूं: तू फिक्र छोड़, पी। हम कुछ बड़ी शराब तुझे देते हैं, अब देखें कौन जीतता है।

जब भी अतीत और भविष्य में संघर्ष हो, भविष्य की सुनना। क्योंकि भविष्य है--जो होना है। अतीत तो वह है जो हो चुका। अतीत तो वह है जो मर चुका, राख है। अब अंगार वहां नहीं रहा; अब वहां से तो सब जीवन हट गया। अब तो पिटी-पिटाई लकीर रह गई है, जिस पर तुम चले थे कभी। उड़ती धूल रह गई, कारवां तो निकल गया। अतीत की मत सुनना। अतीत की सुनने की वृत्ति होती है, क्योंकि उसे हम जानते हैं।

हमारी हालत करीब-करीब ऐसी है जैसे कोई आदमी कार चलाता हो और आगे देखता ही न हो। वह जो रीयर-व्यू मिरर लगा होता है बगल में, बस उसी में देख कर कार चलाता हो; पीछे की तरफ देखता हो और आगे देखता ही न हो। उसके जीवन में दुर्घटना न होगी तो क्या होगा! हम जीवन को ऐसे ही चला रहे हैं--पीछे की तरफ देखते हैं और आगे की तरफ जा रहे हैं। देख सकते हो पीछे की तरफ, जाना तो आगे की तरफ ही पड़ेगा। तो अगर आंखें पीछे लगी रहीं और जाना आगे हुआ, दुर्घटना न होगी तो क्या होगा! यह तो अंधी हो गई यात्रा।

जहां जा रहे हो, वहीं देखो भी--इसका नाम श्रद्धा है। भविष्य में जा रहे हो। भविष्य है अनजाना, अपरिचित। उस पर श्रद्धा रखो। अगर डांवांडोल हुए, घबड़ाये, तो तुम मोह से भर जाओगे।

जेलखाने से बीस वर्ष के बाद अगर कोई कैदी छूटता है तो अपनी हथकड़ियों की तरफ भी मोह से देखने लगता है। बीस साल कोई छोटा वक्त नहीं होता।

फ्रांस में क्रांति हुई तो फ्रांस का जो सबसे बड़ा किला था बेस्तिले का, वह तोड़ दिया क्रांतिकारियों ने। वहां आजन्म कैदी ही रहते थे। कोई पचास साल से कैद था। एक तो ऐसा कैदी था जो सत्तर साल से कैद था। सत्तर साल तक हथकड़ियां-बेड़ियां! और बेस्तिले में जो कैदी भरती होते थे, उनकी हथकड़ियों में ताला नहीं होता था, क्योंकि वे तो आजन्म कैदी थे; वह तो हथकड़ी बंद कर दी जाती थी, बेड़ी जोड़ दी जाती थी। वे तो मरेंगे तभी पैर काट कर निकलते थे, हाथ काट कर निकलते थे। जिंदा में तो उनको छूटना नहीं है। सत्तर साल तक जो आदमी बेड़ी-हथकड़ियों में बंधा हुआ एक काली कोठरी में पड़ा रहा है, जहां सूरज की रोशनी नहीं आई, उसको तुम सोचो, अचानक तुम छोड़ दो...!

क्रांतिकारियों ने तो सोचा कि हम बड़ी कृपा कर रहे हैं। उन्होंने बेस्तिले का किला तोड़ दिया और सारे कैदियों को--कोई तीन-चार हजार कैदी थे--सबको मुक्त कर दिया। वे तो समझे कि हम बड़े मुक्तिवाहक हो कर आये हैं, कल्याण करने आये हैं, कैदी हमसे प्रसन्न होंगे। लेकिन कैदी प्रसन्न न हुए और कैदियों ने कहा: हमें यह पसंद नहीं है, हम बिलकुल ठीक हैं, हम जैसे हैं ठीक हैं। लेकिन क्रांतिकारी तो जिद्दी होते हैं। वे तो यह सुनते ही नहीं कि तुम्हें क्रांति करवानी है कि नहीं करवानी। उन्होंने तो जबर्दस्ती हथकड़ियां तुड़वा कर बाहर निकाल दिया।

रात चकित हुए, आधी रात होते-होते आधे कैदी वापिस लौट आये और उन्होंने कहा: हमें नींद भी नहीं आ सकती बिना हमारी हथकड़ियों के। पचास साल, साठ साल, सत्तर साल हथकड़ियां हाथ में रहीं, बेड़ियां पैर में रहीं तो ही हम सो पाये, अब तो हमें नींद भी नहीं आ सकती। वह वजन चाहिए, उस वजन के बिना नींद

नहीं आती। उस वजन के बिना हम नंगे-नंगे मालूम होते हैं, कुछ खाली-खाली मालूम होते हैं। और अब जायें कहां? बाहर बहुत डर लगता है। आंखें अंधेरे की आदी हो गई हैं। रोशनी घबड़ाती है।

बेस्तिले की कथा बड़ी महत्वपूर्ण है। यह वास्तविक घटना है और बेस्तिले के कैदी तो सत्तर साल, पचास साल ही रहे थे; मनुष्य की कैद तो बड़ी प्राचीन है, सनातन है। जन्मों-जन्मों से हम सीमा में रहे हैं। कभी वृक्ष की सीमा थी, कभी जानवर की सीमा थी; कभी पक्षी की सीमा थी। अब आदमी की सीमा है। हम सीमा में ही रहे हैं अनंत-अनंत काल से। हम बेस्तिले में कैद हैं अनंत-अनंत काल से, आज अचानक जब घड़ी आयेगी मुक्ति की और कोई अष्टावक्र हमें मुक्त करने आ जायेगा तो स्वाभाविक है कि हमारा मोह प्रबल हो उठे, हमारी पुरानी आदत कहे: "यह क्या करते हो? नहीं, रुक जाओ। अज्ञात में मत रखो चरण। अंधेरे में मत जाओ। अतीत की रोशनी जरूरी है। परंपरा में जीयो।"

ध्यान रखना, श्रद्धा बड़ी क्रांतिकारी घटना है। आमतौर से लोग उल्टा समझते हैं। आमतौर से लोग समझते हैं जो श्रद्धालु है, वह परंपरागत, ट्रेडिशनल है। इससे ज्यादा मूढ़तापूर्ण कोई बात नहीं हो सकती। श्रद्धावान व्यक्ति बिलकुल ही नानट्रेडिशनल होता है; उसकी कोई परंपरा हो ही नहीं सकती। श्रद्धा की--और परंपरा! परंपरा तो होती है अतीत की। अतीत का होता है विश्वास। श्रद्धा तो होती है भविष्य की, उसकी परंपरा कहां! परंपरा तो होती है भीड़ की, समाज की। श्रद्धा तो होती है व्यक्ति की, अकेले की।

"हे सौम्य, हे प्रिय! श्रद्धा कर, श्रद्धा कर! इसमें मोह मत कर। तू ज्ञानरूप है, भगवान है, परमात्मा है, प्रकृति से परे है।"

ये उदघोषणायें बड़ी घबड़ाती हैं। ये हमें बड़ा बेचैन कर देती हैं। किसी को कहो कि तुम भगवान हो तो वह सोचता है शायद मजाक तो नहीं कर रहे, कोई व्यंग्य तो नहीं किया जा रहा है। तुम्हारे धर्मगुरुओं ने तो तुम्हें सिखाया है कि तुम पापी हो। तुम्हारे धर्मगुरुओं ने तो सिखाया है कि तुम नारकीय हो। तुम्हारे धर्मगुरुओं ने तो तुम्हें सिखाया कि तुम मनुष्य होने के भी काबिल नहीं हो; तुम तो पशुओं से गये-बीते हो! लेकिन जिसने तुम्हें ऐसा सिखाया, धर्मगुरु तो दूर, उसे धर्म का कोई भी पता नहीं है। वह तुम्हारी सीमाओं को मजबूत कर रहा है। वह तुम्हारी जंजीरों को मजबूत कर रहा है। वह तुम्हारे कारागृह को मजबूत कर रहा है। वह तुम्हें मुक्त न होने देगा। वास्तविक धर्मगुरु तुमसे कहता है कि तुम मुक्त हो! मुक्ति तुम्हारा स्वभाव है।

"तात, हे सौम्य! भो! हे प्रिय! श्रद्धा कर! श्रद्धा कर!"

अत्र मोहं न कुरुत्स्व।

जरा भी मोह में मत पड़ना अब। पड़ने का भाव उठेगा, पड़ना मत, सजग रहना।

"भगवान" शब्द बड़ा महत्वपूर्ण है। इसका अर्थ होता है: भाग्यवान। इसका अर्थ होता है: भाग्यशाली। तुम भगवान हो, इसका अर्थ तुम भाग्यशाली हो। भाग्य का अर्थ होता है: तुम्हारा भविष्य है। भाग्य का अर्थ होता है: तुम वहीं समाप्त नहीं जहां तुम हो; तुम्हारा भविष्य है।

एक पत्थर है, एक कंकड़ है--उसका कोई भविष्य नहीं। कंकड़ भगवान नहीं। वह कंकड़ ही रहेगा। उसी के पास एक बीज पड़ा है, बीज भगवान है; उसका भविष्य है। कंकड़ को, बीज को, दोनों को मिट्टी में डाल दो, थोड़े दिन बाद कंकड़ तो कंकड़ ही रहेगा, बीज उमग आयेगा, पौधा बन जायेगा। बीज का भविष्य है। जहां भविष्य है, वहीं भगवान छिपा है।

भाग्य का अर्थ होता है: तुम भविष्य के मालिक हो। अतीत पर तुम समाप्त नहीं हो गये हो। जो हुआ है, उस पर तुम चुक नहीं गये हो। अभी बहुत कुछ होने को है। यह मतलब होता है भगवान का। भगवान का अर्थ होता है: समाप्त मत समझ लेना; पूर्ण विराम नहीं आ गया है। अभी कथा आगे जारी रहेगी। सच तो यह है कि कथा कभी समाप्त नहीं होगी। भगवान का अर्थ है: तुम कुछ भी हो जाओ, सदा होने को शेष रहेगा। संभावना

बनी ही रहेगी। बीज फूटता ही रहेगा। वृक्ष बड़ा होता ही रहेगा। फूल लगते ही रहेंगे। फूल पर फूल, फूल पर फूल लगते रहेंगे। कमल पर कमल खिलते चले जायेंगे--जिनका कोई अंत नहीं! अंतहीन है तुम्हारी संभावना। तुम्हारा भविष्य विस्तीर्ण है।

"भगवान" शब्द का अर्थ समझो। ईसाइयों और मुसलमानों के कारण भगवान शब्द का अर्थ बड़ा ओछा हो गया; उसका अर्थ हो गया: जिसने दुनिया को बनाया। निश्चित ही जनक ने दुनिया को नहीं बनाया है। तो अष्टावक्र का भगवान का यह अर्थ तो हो ही नहीं सकता है कि जिसने दुनिया को बनाया। भारत में भगवान के बड़े अनूठे अर्थ थे। उस शब्द की महिमा को समझो। उसका अर्थ होता है: जिसे चुकाया न जा सके; जिसकी संभावना को परिपूर्ण रूप से कभी वास्तविक न बनाया जा सके। क्योंकि जिस दिन संभावना पूरी की पूरी चुक गई। उस दिन बीज कंकड़ हो गया, फिर इसके बाद कुछ नहीं हो सकता है। जिसमें विकास और विकास सदा संभव है, वही भगवान है।

"तू भाग्यवान है।"

भविष्य है तेरा। विकास है तेरा। संभावना है तुझमें छिपी। तू बीज है, कंकड़ नहीं।

एक और शब्द है "ईश्वर"। वह शब्द भी बड़ा अदभुत है। अंग्रेजी के शब्द गॉड में वह मजा नहीं है, वह खूबी नहीं है जो ईश्वर में या भगवान में है। अंग्रेजी का शब्द गॉड बहुत गरीब है। ईश्वर का अर्थ होता है: ऐश्वर्य है जिसका; आनंद है जिसका; सच्चिदानंद की संपदा है जिसकी। ऐश्वर्य से बनता है ईश्वर। जो महा ऐश्वर्य को लिए छिपा बैठा है तुम्हारे भीतर, कि प्रगट होगा तो उसके साम्राज्य की कोई सीमा न होगी, उसका साम्राज्य विराट है--ऐसे तुम ईश्वर हो! ऐश्वर्य तुम्हारा स्वभाव है। भिखारी तुम बन गये--यह तुम्हारी भूल है। ऐश्वर्य तुम्हारा स्वभाव है। भिखमंगे तुम बन गये हो, क्योंकि अतीत से तुमने संबंध जोड़ लिया है; भगवान तुम हो जाओगे अगर भविष्य से संबंध जोड़ लो। सतत गतिमान, सतत प्रवाहमान जो है, वही भगवान है। अगर तुम बढ़ रहे हो तो भगवान है, अगर रुक गये तो तुम पत्थर हो गये।

लेकिन तुमने भगवान की पत्थर की मूर्तियां बना रखी हैं। पत्थर की भूल कर भगवान की मूर्ति मत बनाना, क्योंकि पत्थर में बहाव तो बिलकुल नहीं है। हिंदू बेहतर थे; नदी को पूज लेते थे, सूरज को पूज लेते थे--उसमें कहीं ज्यादा भगवत्ता है। झाड़ को पूज लेते थे, उसमें कहीं ज्यादा भगवत्ता है। तुम जरा फर्क समझना। झाड़ कम-से-कम बढ़ता तो है, गतिमान तो है। नदी बहती तो है, प्रवाहमान तो है। सूरज निकलता तो है, उगता तो है, बढ़ता तो है, वृद्धिमान तो है। तुमने बना ली संगमर्मर की मूर्ति; वह मुर्दा है, उसमें कहीं कोई गति नहीं है। तुमने कंकड़ों की मूर्तियां बना लीं; बीज की मूर्ति बनानी थी।

जब पश्चिम से पहली दफा लोग आये और उन्होंने हिंदुओं को देखा कि वृक्षों की पूजा कर रहे हैं, उन्होंने कहा कि अरे, बड़े अविकसित असभ्य! उन्हें समझ में नहीं आ सका। हिंदुओं को समझने के लिए बड़ी गहराई चाहिए, क्योंकि हिंदू हजारों साल से जीवन की आत्यंतिक गहराई में डुबकी लगाते रहे हैं।

मैं एक ट्रेन में सवार था। प्रयाग के पास से जब ट्रेन गंगा के ऊपर से गुजरने लगी तो ग्रामीण जो डब्बे में बैठे थे, पैसे फेंकने लगे। एक पढ़े-लिखे सज्जन बैठे थे। पीछे पता चला कि बनारस हिंदू विश्वविद्यालय में प्रोफेसर हैं। मुझसे बोले कि क्या गंवारपन है! ये मूढ़ गंगा में पैसे फेंक रहे हैं, इससे क्या सार है! मैंने उनसे कहा, ऊपर से तो दिखता है कि ये मूढ़ हैं और ये शायद मूढ़ हैं भी और इनको कुछ पता भी नहीं है गंगा में पैसा फेंकना...। लेकिन थोड़ा गहरे झांकने की, थोड़ी सहानुभूति से झांकने की कोशिश करो।

गंगा प्रवाहमान है। बहती है हिमालय से महासागर तक। कहीं रुकती नहीं, कहीं ठहरती नहीं। हिंदुओं ने अपने सारे तीर्थ गंगा के किनारे बनाये हैं--या नदियों के किनारे बनाये हैं। वे प्रवाह के प्रतीक हैं। वे जीवंतता के प्रतीक हैं। ये जो गंगा में पैसा फेंक रहे हैं, फेंकने वाला ठीक कर रहा है, यह मैं नहीं कह रहा; लेकिन इसमें भीतर कहीं कुछ राज तो छिपा है। वह इसे चाहे भूल भी गया है; लेकिन जिसने पहली दफा गंगा में पैसा फेंका होगा,

वह यह कह रहा है कि मेरा सब धन तुच्छ है तेरे प्रवाह के सामने। इसका मूल्य तो समझो! मेरा धन तो मुर्दा है, तेरा धन ज्यादा बड़ा है। मैं अपने धन को तेरे धन के सामने झुकाता हूं। मैं अपने धन को तेरे चरणों में रखता हूं।

वृक्ष की पूजा में कहीं ज्यादा भगवत्ता का लक्षण है। ईसाई पूजते हैं क्रॉस को--मरी हुई चीज को! वह बढ़ती नहीं। इससे तो बेहतर वृक्ष है; कम से कम बढ़ता तो है; नये पात तो लगेंगे; नये फूल तो खिलेंगे! वृक्ष का कोई भविष्य तो है! और वृक्ष का कुछ ऐश्वर्य भी है। जब फूल खिलते हैं वृक्ष में तो देखा...।

जीसस ने अपने शिष्यों से कहा कि देखो खेत में खिले लिली के फूलों को! सोलोमन, सम्राट सोलोमन अपनी परिपूर्ण गरिमा में भी इतना सुंदर न था। और ये फूल लिली के न तो श्रम करते, न मेहनत करते, इनकी महिमा कहां से आती है! कौन इन्हें इतना सौंदर्य दे जाता है! कहां से बरसता है यह प्रसाद!

ऐश्वर्य तुम्हारा स्वभाव है। भगवान होना तुम्हारी नियति है। तुम अपने ऐश्वर्य को प्रगट करो। तुम अपनी भगवत्ता की घोषणा करो। और ध्यान रखना, तुम्हारी भगवत्ता की घोषणा में सारे अस्तित्व की भगवत्ता की घोषणा छिपी है। कहीं तुमने अपने भगवान होने की घोषणा की और सोचा कि और कोई भगवान नहीं है, मैं भगवान हूं--तो तुम भूल में पड़ गये, तो यह अहंकार की घोषणा हो गई। तो यह भगवान से तो तुम बहुत दूर चले गये; बिलकुल विपरीत छोर पर पहुंच गये। क्योंकि भगवान होने की घोषणा में तो अहंकार बिलकुल नहीं है। ऐश्वर्य वहीं है जहां तुम नहीं हो। और भगवान वहीं है जहां "मैं" का सारा भाव खो गया। तब तुम भी भगवान जैसे विराट, असीम अनंत!

"गुणों से लिपटा हुआ शरीर आता है और जाता है। आत्मा न जाने वाली है और न आने वाली है। इसके निमित्त तू किसलिए सोच करता है?"

गुणैः संवेष्टितो देहस्तिष्ठत्यायाति याति च।
आत्मा न गंता नागंता किमेनमनुशोचति।।

"गुणों से लिपटा हुआ शरीर आता और जाता है।"

ऐसा समझो कि तुम एक घड़ा बाजार से खरीद कर लाये तो घड़े के भीतर आकाश है--घटाकाश। थोड़ा-सा आकाश घड़े के भीतर है। जब तुम घर की तरफ चल पड़े तो घड़ा तो तुम्हारे साथ आता है, क्या तुम सोचते हो घड़े के भीतर का आकाश वही रहता है? आकाश बदलता रहता है। आकाश तो अपनी जगह है, कहीं आता-जाता नहीं। तुम्हारा घड़ा तुम खींच कर घर ले आते हो। वही आकाश नहीं आता घड़े में जो तुमने बाजार में खरीदा था, तब था! वह आकाश तो वहीं रह गया। आकाश तो अपनी जगह है। तुम घड़े को ले आये घर। भीतर की खाली जगह तो न आती न जाती कहीं।

आत्मा आकाश जैसी है। शरीर का गुणधर्म है। शरीर तो घड़ा है--मिट्टी का घड़ा है। तुम गये, तुम चले--शरीर चलता है; तुम्हारी आत्मा नहीं चलती है।

ऐसा ही समझो, मुल्ला नसरुद्दीन एक ट्रेन में सवार था और तेजी से डब्बे में चल रहा था। किसी ने पूछा कि नसरुद्दीन मामला क्या है? उसने कहा, मुझे जल्दी पहुंचना है। पसीने से लथपथ हो रहा था। अब ट्रेन का डब्बा भागा जा रहा है; तुम उसमें चलो या बैठो, कोई फर्क नहीं पड़ता। और जब ट्रेन चलती है तो तुम्हारे चलने का कोई प्रयोजन ही नहीं है। तुम थोड़े ही चलते हो! ट्रेन चलती है, तुम बैठे रहते हो। तुम तो वही के वही होते हो।

तुम्हारा शरीर जब चलता है, तब भी तुम वही के वही होते हो। भीतर कुछ भी नहीं चलता; भीतर का शून्य आकाश वैसा का वैसा, वही का वही है। तुम यहां से उठे, वहां बैठ गये, वहां से उठे, कहीं और बैठ गये; गरीब थे, अमीर हो गये; कुछ न थे, राष्ट्रपति हो गये; जमीन पर बैठे थे, सिंहासन पर बैठ गये--लेकिन तुम्हारे भीतर जो छिपा है वह तो कहीं आता-जाता नहीं। उसे पहचानो! वह न भोजन करते, भोजन करता; न राह चलते, चलता; न रात सोते, सोता--सदा वैसा का वैसा है! एकरस!

"गुणों से लिपटा हुआ शरीर आता और जाता; आत्मा न जाने वाली है और न आने वाली है।"

इसके लिए सोच का कोई कारण ही नहीं, क्योंकि सोच का कोई अर्थ ही नहीं। यह तो मुल्ला नसरुद्दीन जैसे ट्रेन में चल रहा, ऐसे तुम सोच कर रहे हो। व्यर्थ ही सोच रहे हो। इसका कोई प्रयोजन नहीं है। जैसे ही यह बात समझ में आ जाती है, सोच छोड़ना नहीं पड़ता, सोच छूट जाता है। अगर मुल्ला को यह बात समझ में आ जाए कि तेरे चलने से कुछ अर्थ नहीं होता, ट्रेन चल रही है, उतना ही चलना हो रहा है, तू नाहक अलग से चलने की कोशिश कर रहा है, इससे कुछ जल्दी नहीं पहुंच जायेगा--तो मुल्ला बैठ जायेगा। समझ में आ जाये। बस बात समझ की है; कृत्य की नहीं है, सिर्फ बोध की है।

गुणः संवेष्ठितः देहः तिष्ठति...।

गुणों से लिपटा हुआ शरीर निश्चित आता-जाता, जन्मता, बचपन, जवानी, बुढ़ापा, बीमारी, स्वास्थ्य, हजार घटनायें घटतीं--लेकिन भीतर जो छिपा है घड़े के, वह तो वैसा का वैसा है।

तुमने देखा, मिट्टी का घड़ा खरीद लाओ, उस पर सोने की पर्त चढ़ा दो, हीरे-जवाहरात लगा दो; मगर भीतर का खालीपन तो वैसा का वैसा है। सोने के घड़े के भीतर तुम सोचते हो किसी और तरह का आकाश होता है? मिट्टी के घड़े से भिन्न होता है? भीतर का सूनापन, भीतर का खालीपन सोने के घड़े में हो कि मिट्टी के घड़े में, एक जैसा है। तो कुरूप देह हो कि सुंदर, क्या फर्क पड़ता है! देह ही ऊपर कुरूप और सुंदर होती है। खूब आवेष्ठित गहनों से हो कि नग्न खड़ी हो, कोई फर्क नहीं पड़ता।

आत्मा न गंता न आगंता किं एनं अनुशोचति।

फिर सोच क्या! जब कुछ होता ही नहीं अंतर के जगत में, कुछ कभी हुआ ही नहीं; जैसा है वैसा ही है सब वहां; अंतस्तम पर, आखिरी केंद्र पर न कोई गति है, न कोई खोना, न कोई बढ़ना, न कुछ होना...। आकाश जैसा है--कभी बादल घिरते, वर्षा होती; फिर बादल चले जाते, कभी खुला आकाश होता, कभी मेघाच्छादित होता। रात आती, अंधेरा हो जाता; दिन आता, प्रकाश फैल जाता। लेकिन आकाश वैसा का वैसा है! यह आकाश की दृष्टि है। इसे तुम समय की दृष्टि से मत मेल बिठाना। अन्यथा मुश्किल पड़ेगी।

समय की दृष्टि कहती है: तुमने बुरे कर्म किए, उनको ठीक करो; पाप किये उनको सुधारो; तुमने चोरी की, दान करो; तुमने किसी को दुख दिया, सेवा करो।

समय की दृष्टि कहती है: कर्म को बदलो। आकाश की दृष्टि कहती है: साक्षी को पहचानो। कर्म का कुछ लेना-देना नहीं; कर्म तो स्वप्नवत है।

"देह चाहे कल्प के अंत तक रहे, चाहे वह अभी चली जाये, तुम चैतन्यरूप वाले की कहां वृद्धि है, कहां नाश है!"

क्व वृद्धिः क्व च वा हानिस्तव चिन्मात्ररूपिणः।

तुम तो चैतन्यमात्र हो। तुम्हारी कोई वृद्धि नहीं, कोई ह्रास नहीं!

"तुम अनंत महासमुद्र में विश्वरूप तरंग अपने स्वभाव से उदय और अस्त को प्राप्त होती है; परंतु तेरी न वृद्धि है और न नाश है।"

जो हो रहा है, वह प्रकृति के स्वभाव से हो रहा है। भूख लगती, तृप्ति होती; जवानी आती, वासना जगती; बुढ़ापा आता, वासना तिरोहित हो जाती--न तो तुम्हारी वासना है और न तुम्हारा ब्रह्मचर्य है। यह आकाश की दृष्टि है। कभी तुम चोर बनते, कभी साधु बन जाते। यह सब प्रकृति से हो रहा है। इसमें कुछ करने जैसा नहीं है, कुछ छोड़ने जैसा नहीं है। कुछ चुनाव नहीं करना है। कृष्णमूर्ति जिसे च्वॉइसलेस अवेयरनेस कहते हैं। चुनाव-रहित। निर्विकल्प बोधमात्र।

त्वय्यनंतमहाम्भोधौ विश्ववीचिः स्वभावतः।

"इस संसार-सागर में जो लहरें उठ रही हैं, वह संसार का स्वभाव है।"

उदेतु वास्तुमायातु न ते वृद्धिर्न वा क्षतिः।

"न तो तेरी क्षति है न तेरी वृद्धि है।"

यह अपने से हो रहा है, इसे होने दे। यह नाच चल रहा है, इसे चलने दे। तू देखता रह।

"हे तात, तू चैतन्यरूप है। तेरा यह जगत तुझसे भिन्न नहीं है। इसलिए हेय और उपादेय की कल्पना किसकी और क्यों कर और कहां हो सकती है?"

तात चिन्मात्र रूपोऽसि न ते भिन्नमिदं जगत्।

अथः कस्य कथं कुत्र हेयोपादेय कल्पना।।

"तू चैतन्यरूप है। तेरा यह जगत तुझसे भिन्न नहीं है।"

और यहां हम जो भिन्नतायें देख रहे हैं, वे सब भिन्नतायें ऊपर-ऊपर हैं, भीतर हम अभिन्न हैं। देखा बैलगाड़ी का चाक, आरे लगे होते; परिधि पर तो आरे सब अलग होते, लेकिन केंद्र पर जा कर सब जुड़ गये होते हैं। और एक मजा देखा कि चाक घूमता है, कील नहीं घूमती! कील वैसी ही खड़ी रहती है। जिस पर घूमता है, वह नहीं घूमती। अगर कील घूम जाये तो चाक गिर जाये। कील को नहीं घूमना है।

यह जो सारा जगत गतिमान है--परमात्मा के शून्य, ठहरे होने पर है। यह तुम्हारा जो शरीर चल रहा है--तुम्हारी आत्मा की कील पर, जो ठहरी हुई है। यह जो शरीर का चाक चलता है--बचपन, जवानी, बुढ़ापा, सुख-दुख, हार-जीत, सफलता-असफलता, मान-अपमान--यह चाक घूमता रहता है। इसके आरे घूमते रहते हैं। लेकिन तुम्हारी कील खड़ी है। उस कील को पहचान लेना समाधिस्थ हो जाना है। और यहां कोई भी भिन्न नहीं है।

फर्क देखना।

महावीर कहते हैं: स्वयं के और जगत के भेद को जान लेना ज्ञान है। इसलिए महावीर का शास्त्र कहलाता है: भेद-विज्ञान। ठीक-ठीक जान लेना कि पदार्थ मैं नहीं हूं; वह जो बाहर है, वह मैं नहीं हूं; वह जो जगत है, वह मैं नहीं हूं। अलग हो जाना भेद-विज्ञान है।

तुम चकित होओगे यह जान कर कि महावीर की भाषा में योग का अर्थ ही अलग है। महावीर कहते हैं: अयोग को उपलब्ध होना है, योग को नहीं। इसलिए जो परम अवस्था है, उसको कहते हैं: अयोग केवली। निश्चित ही महावीर किसी और ही भाषा का उपयोग कर रहे हैं। पतंजलि कहते हैं: योग को उपलब्ध होना है। योग यानी दो मिल जायें। और महावीर कहते हैं: अयोग को उपलब्ध होना है कि दो अलग हो जायें। पतंजलि विवाह के लिए चेष्टा कर रहे हैं; महावीर तलाक के लिए। दो टूट जायें। अलग-अलग हो जायें। जहां दो टूट गये, जहां जान लिया--"शरीर और मैं अलग, संसार और मैं अलग"--वहीं ज्ञान है। आकाश की दृष्टि में--जहां जान लिया सब एक, अभिन्न--वहीं ज्ञान है।

इसलिए बड़ी कठिनाई होती है, जो लोग जैन शास्त्र के आदी हैं, उनको अष्टावक्र समझना मुश्किल हो जाता है, क्योंकि बड़ी उल्टी बातें हैं। जो लोग अष्टावक्र के आदी हैं, उनको जैन शास्त्र समझना मुश्किल हो जाता है। पारिभाषिक शब्दावली है। अब हिंदुओं के लिए योग से बड़ा कोई शब्द नहीं है। योग बड़ा मूल्यवान शब्द है, महिमावान शब्द है। महावीर के लिए योग ही पाप है। भोग तो पाप है ही। महावीर तो कहते हैं, भोग ही इसलिए चल रहा है कि योग है; तुम जुड़े हो, इसलिए भोग चल रहा है। जोड़ को तोड़ दो। वह जो आइडेन्टिटी है, जोड़ है, उसको तोड़ दो, उखाड़ दो, अलग हो जाओ, बिलकुल अलग हो जाओ!

हिंदू कहते हैं: तुम अलग हो, यही तुम्हारा अहंकार है। तुम जुड़ जाओ, तुम इस विराट के साथ एक हो जाओ। जरा भी भेद न रह जाये। भेद मात्र खो जाये। अभेद हो जाये।

"हे तात, तू चैतन्यरूप है। तेरा यह जगत तुझसे भिन्न नहीं। इसलिए हेय और उपादेय की कल्पना किसकी, क्यों कर और कहां?"

सुनना इस क्रांतिकारी वचन को। अष्टावक्र कहते हैं: फिर क्या बुरा और क्या भला! हेय क्या, उपादेय क्या! अच्छा क्या! शुभ क्या, अशुभ क्या--जो हो रहा है, हो रहा है। जो हो रहा है, जैसा हो रहा है, वैसा ही होगा। होने दो। न कुछ अच्छा है न कुछ बुरा है। जो हो रहा है, स्वाभाविक है।

अगर ऐसी बात खयाल में आ जाये तो परम शांति उदय हो जायेगी। नहीं तो दो तरह की अशांतियां हैं। एक असाधु की अशांति है; वह सोचता है, साधु कैसे बनें? वह चेष्टा में लगा है। हार-हार जाता है। बार-बार आत्मविश्वास खो देता है। बार-बार फिर डुबकी लग जाती है अंधेरे में। फिर तड़पता है, पछताता है, सोचता है: कैसे साधु बनूं? एक साधु है; वह साधु बन गया है, लेकिन भीतर भाव चलता रहता है कि पता नहीं असाधु मजा लूट रहे हों!

मैंने न मालूम कितने साधुओं से मुलाकात की होगी, न मालूम कितने साधुओं को मिला हूं। सदा यह पाया है कि उनके भीतर कहीं न कहीं भीतर यह भाव बना है: "कहीं ऐसा तो नहीं है कि हम मूर्ख बन गये हों! अपने हाथ से छोड़ बैठे, दूसरे मजा कर रहे हों!"

एक जैन साधु हैं: कनक विजय। एक बार मेरे घर मेहमान हुए। दो-चार दिन जब उन्होंने मुझे समझ लिया और लगा कि मेरे मन में कोई हेय-उपादेय नहीं है, तो उन्होंने कहा: "अब आपसे एक बात कह दूं। किसी और से तो कह ही नहीं सकता। क्योंकि और तो दूसरे तत्क्षण पकड़ लेंगे कि यह साधु और ऐसी बात! आपसे कह दूं कि मैं नौ साल का था, तब मैं साधु हुआ। मेरे पिता साधु हुए, मां मर गई।"

अक्सर तो ऐसे ही साधु होते हैं लोग। पत्नी मर गई तो पिता संन्यासी हो गये। अब एक ही बेटा था घर में। अब वह क्या करे! नौ साल का बच्चा। तो उसका भी सिर मूड़ लिया, उसको भी संन्यासी कर दिया। अब नौ वर्ष का बच्चा संन्यासी हो जाये तो अड़चन तो आने वाली है--और वह भी जैन संन्यासी! तो वे हो तो गये हैं साठ साल के, लेकिन उनकी बुद्धि नौ साल पर अटकी है। अटकी ही रहेगी, क्योंकि जीवन का मौका नहीं मिला। जीवन को जानने का अवसर नहीं मिला। भोग की पीड़ा झेलने की सुविधा नहीं मिली। वह झेलना जरूरी है। बुरा करने का अवसर नहीं मिला तो बुरा अटका रह गया है। वह चुभता है। पता नहीं दूसरे लोग मजा लूट रहे हों! नौ साल का बच्चा!

तुम थोड़ा सोचो, दूसरे बच्चे आइसक्रीम खा रहे हैं, नौ साल का संन्यासी चला जा रहा है, वह आइसक्रीम नहीं खा सकता। जरा दया करो नौ साल के बच्चे पर! सब सिनेमा के बाहर लाइन लगाये खड़े हैं, बड़े-बड़े दिग्गज टिकिट खरीदने खड़े हैं; नौ साल का संन्यासी चला जा रहा है, वह टिकिट नहीं खरीद सकता सिनेमा की!

उन्होंने मुझसे कहा कि अब आपसे मैं कह दूं; किसी और से मैं कह ही नहीं सकता, क्योंकि आपको मैं अनुभव करता हूं कि आप मेरी निंदा न करेंगे। मैंने कहा: तुम कहो, क्या?

उन्होंने कहा कि मुझे सिनेमा देखना है।

"पागल हो गये हो? अब साठ साल की उम्र में सिनेमा!"

कहने लगे कि बस मेरे मन में यह रहता है कि पता नहीं भीतर क्या होता है! इतने लोग जब देखते हैं और लाइनें लगी हैं और लोग लड़ाई-झगड़ा करते हैं, मार-पीट हो जाती है टिकिट के लिए, तो भीतर क्या है!

कभी सिनेमा देखा नहीं। स्वाभाविक जिज्ञासा है। तुम्हें हंसी आती है! क्योंकि तुमने देखा है, इसलिए तुम्हें कुछ अड़चन नहीं मालूम होती कि इसमें मामला क्या है! लेकिन तुम जरा उस आदमी की सोचो, उसकी तरफ से सोचो।

मुझे बात समझ में आई। मैंने कहा कि ठीक है। मेरे पास एक जैन श्रावक आते थे, मैंने उनसे कहा कि देखें, इनको सिनेमा दिखा दें। बेचारे बुढ?ापे में यही भाव ले कर मरे तो अगले जन्म में सिनेमा में चौकीदारी करेंगे! इनको बचा लें! इनको उबार लें!

वे तो जैन थे। वे तो घबरा गये। उन्होंने कहा कि आप मुझे फंसायेंगे। अगर समाज को पता चल गया कि मैं इनको ले गया हूं सिनेमा तो मैं तक झंझट में पड़ूंगा। आप कहते हैं, मेरी बात समझ में आ गई। मैं आपको सुनता हूं, इसलिए समझ में भी आता है; मगर मैं नहीं ले जा सकता।

मैंने कहा, कोई तो ले जाये इनको। किसी तरह तो इनको दिखा ही दो। इनको समझो।

उन्होंने कहा, मेरी समझ में आती है। फिर मैंने कहा, कुछ उपाय करो। उन्होंने कहा, फिर एक ही उपाय कर सकते हैं। तो जो कैनटोनमेंट एरिया है, वहां अंग्रेजी फिल्में चलती हैं वहां कोई जैन वगैरह रहते नहीं और जाते भी नहीं, वहां इनको दिखा सकता हूं। मगर अंग्रेजी इनकी समझ में नहीं आती।

मैंने उनसे पूछा कि कनक विजय जी, क्या विचार है? उन्होंने कहा कि कुछ भी हो, अंग्रेजी हो कि चीनी हो कि जापानी हो, मुझे दिखा दो!

कनक विजय अभी जिंदा हैं, उनसे आप पूछ ले सकते हैं। उनको ले गये वे, दिखा लाये वे। दिखा कर आये, बहुत हल्के हो कर आये। वे कहने लगे कि एक बोझ उतर गया, अब कुछ भी नहीं है वहां। लेकिन अभी तक मैं एक बोझ से दबा था।

जीवन अनभोगा बीत जाये तो बहुत-सा कचरा-कूड़ा इकट्ठा हो जाता है। मैं यह नहीं कह रहा हूं कि भोग से ही तुम मुक्त हो जाओगे। अगर भोगे भी सोये-सोये तो कभी मुक्त न होओगे। ऐसे लोग हैं जो साठ साल से निरंतर सिनेमा देख रहे हैं, फिर भी जा रहे हैं। तो यह नहीं कह रहा हूं कि जिन्होंने देख लिया, वे मुक्त हो गये हैं। जिन्होंने देख लिया, वे मुक्त हो सकते हैं अगर थोड़ी भी समझ हो। जिन्होंने नहीं देखा, उनकी तो बड़ी अड़चन है। समझ भी हो तो भी मुक्त होना कठिन है। क्योंकि जो जाना ही नहीं, उससे मुक्त कैसे होएं? उससे उठें कैसे? उसका अतिक्रमण कैसे हो?

अष्टावक्र कहते हैं: न कुछ बुरा है न कुछ भला है। जो होता हो, उसे हो जाने देना। इसके लिए बड़ी हिम्मत चाहिए! इसके लिए अपूर्व साहस चाहिए! जो होता हो, हो जाने देना। मत रोकना। मत जीवन की धारा के विपरीत लड़ना। बह जाना धारा में। जो होता हो, हो जाने देना। क्या है खोने को यहां? क्या है पाने को यहां? और एक बार तुम अगर हिम्मत से, साहस से बह गये और जागे रहे, देखते रहे जो हो रहा है--एक दिन पाओगे कि तुम साक्षी हो गये। जो हो रहा है वह प्रकृति की लीला है: वह सब स्वभाव है। तरंगें उठ रही हैं!

"हे तात, तू चैतन्यरूप है। तेरा यह जगत तुझसे भिन्न नहीं। इसलिए हेय और उपादेय की कल्पना किसकी, क्यों कर और कहां?"

"तुझ एक निर्मल अविनाशी शांत और चैतन्यरूप आकाश में कहां जन्म है, कहां कर्म है, कहां अहंकार है!"

सुनो इस वचन को!

एकस्मिन्नव्यये शांते चिदाकाशेऽमले त्वयि।
कुतो जन्म कुतः कर्म कुतोऽहंकार एव च।।

एकस्मिन--तू एक! क्योंकि एक ही है। कोई द्वैत नहीं। तेरे एक में ही सब समाया हुआ है। और तू सब में समाया हुआ है। अमले--और तू कभी भी मल को उपलब्ध नहीं हुआ। कभी तू दोषी नहीं हुआ। कभी तुझसे कुछ पाप नहीं हुआ। क्योंकि पाप हो नहीं सकता। क्योंकि तू कर्ता नहीं है; तू केवल साक्षी है। तू तो दर्पण की तरह है। इसके सामने किसी ने किसी की हत्या कर दी तो दर्पण थोड़े ही पापी होता है; दर्पण को थोड़े ही अदालत में ले जाओगे कि इसके सामने हत्या हुई, कि यह दर्पण भी पापी हो गया, कि यह दर्पण भी दूषित हो गया। जो हुआ है, वह प्रकृति में हुआ है। हत्या हुई, साधु बने, असाधु बने--वह सब शरीर की प्रकृति है। और तुम्हारे भीतर जो चैतन्य का दर्पण है--अमलेयं-- उसका कोई मल नहीं है। निर्मल है। अव्यये--अविनाशी है। शांते--शांत है। चिदाकाशे--चैतन्यरूप आकाश है। चिदाकाशे!

यह पूरी की पूरी ब्राह्मणधारा का सार-भाव है--चिदाकाशे।

जन्म कुतः।

कहां तो तेरा जन्म? हो ही नहीं सकता। शरीर ही जन्मता है और शरीर ही मरता है; तू तो न जन्मता है और न मरता है।

कर्म कुतः।

और कर्म भी तुझसे नहीं हो सकता, तो कैसा अच्छा कर्म, कैसा बुरा कर्म? कैसा दुष्कर्म? कर्म तुझसे हो नहीं सकता।

च एव अहंकार कुतः।

और अहंकार भी कैसा? मैं हूं, यह भाव भी तभी हो सकता है जब "तू" हो। जब दो नहीं हैं तो कैसा अहंकार?

"तू एक निर्मल अविनाशी शांत चैतन्यरूप आकाश है। कहां जन्म, कहां कर्म, कहां अहंकार?"

ऐसा जान कर, ऐसा बोध को जगा कर, ऐसी श्रद्धा में डूब कर--समाधि उपलब्ध होती है। समाधि का अर्थ है: समाधान। समाधि का अर्थ है: गईं समस्यायें, खुल गया रहस्य। समाधि का अर्थ है: नहीं रहे प्रश्न, नहीं मिला उत्तर; खो गये प्रश्न। मिलन हो गया अस्तित्व से। क्योंकि उत्तर अगर न मिलें तो फिर नये प्रश्न खड़े हो जायेंगे। हर उत्तर से नये प्रश्नों के पत्ते लगते हैं। समाधि का अर्थ उत्तर नहीं है कि मिल गया तुम्हें उत्तर। समाधि का इतना ही अर्थ है कि सब प्रश्न गिर गये; प्रश्नों के साथ स्वभावतः सब उत्तर भी गिर गये। तुम निर्विकार हुए, निर्विचार हुए! न कोई प्रश्न है न कोई उत्तर है। ऐसा जीवन है। और ऐसे जीवन की सहज स्वीकृति है और साक्षी-भाव है।

जो हो रहा है बाहर, होने दो। चुनो मत। निर्णय मत लो। बुरा-भला विभाजन मत करो। जो हो रहा है, तुम होने दो। तुम सिर्फ देखते रहो।

खयाल में आती है बात? तुम सिर्फ देखते रहो। हमारी सारी शिक्षा इसके विपरीत है। हमारी सारी शिक्षा कहती है: क्रोध हो तो दबाओ, रोको, क्रोध मत करो; क्रोध बुरा है। प्रेम हो तो प्रगट करो, बताओ; प्रेम अच्छा है। हमारी सारी शिक्षा विकल्प में, चुनने की है, चुनाव करने की है।

इसलिए मेरे देखे, दुनिया में ब्राह्मण परंपरा की कोई बहुत गहरी छाप नहीं पड़ी, श्रमण परंपरा की गहरी छाप पड़ी। तुम चकित होओगे, क्योंकि श्रमण परंपरा को मानने वाले बहुत लोग नहीं हैं और ब्राह्मण परंपरा को मानने वाले बहुत लोग हैं--ईसाई हैं, हिंदू हैं, मुसलमान हैं, बड़ी संख्या है! लेकिन फिर भी श्रमण परंपरा की संख्या ज्यादा नहीं है तो भी उसकी छाप बहुत गहरी पड़ी, क्योंकि श्रमण परंपरा का तर्क मनुष्य की बुद्धि में जल्दी समझ में आता है।

भारत में जैनों की कोई संख्या नहीं है; लेकिन फिर भी तुम चकित होओगे कि जैनों का संस्कार भारत पर जितना गहरा है उतना हिंदुओं का नहीं है। महात्मा गांधी बात गीता की करते हैं, लेकिन व्याख्या पूरी जैन की है। बात गीता की है, लेकिन व्याख्या पूरे जैन की है, बात गीता की नहीं है। महात्मा गांधी नब्बे प्रतिशत जैन हैं, दस प्रतिशत हिंदू होंगे। कुछ आश्चर्य की बात है। क्यों ऐसा हुआ है? इसके पीछे कारण साफ है। जैन परंपरा या श्रमण परंपरा का तर्क बहुत स्पष्ट है, गणित बहुत साफ है। और यह जगत गणित का है और तर्क का है। और यह बात समझ में आती है, सभी को समझ में आती है। राजनीतिक को भी समझ में आती है, धर्मगुरु को भी समझ में आती है, पुरोहित-पंडित को भी समझ में आती है कि बुरा छोड़ो, अच्छा करो। फिर भी बुरा छोड़ो, अच्छा करो--यह समझाते-समझाते हजारों सदियां बीत गईं, बुरा हो रहा है और अच्छा नहीं हो रहा है। यह बड़ी हैरानी की बात है। कोई धारणा इस बुरी तरह पराजित नहीं होती, लेकिन फिर भी हावी रहती है, बुरी तरह हार गई है!

तुम अपने जीवन में देखो, तुमने लाख उपाय किए कि बुरा छोड़ें और अच्छा करें, फिर भी करते तुम बुरा हो।

संत अगस्तीन ने कहा है कि हे प्रभु, जो मुझे करना चाहिए वह मैं कर नहीं पाता और जो मुझे नहीं करना चाहिए वही मैं करता हूं। और मैं जानता हूं भलीभांति कि क्या नहीं करना चाहिए, फिर भी वही करता हूं। ऐसा भी नहीं कि मुझे पता नहीं है; मुझे सब मालूम है कि ठीक क्या है, वही नहीं होता। और जो ठीक नहीं है, वही होता है।

हजारों साल के इस शिक्षण के बावजूद भी आदमी वैसा का वैसा है। थोड़ा सोचो। शायद अष्टावक्र के वचन में कोई मूल्य हो।

अष्टावक्र कहते हैं: क्रांति घटित होती है--अच्छे-बुरे में चुनाव करके नहीं, अच्छे-बुरे दोनों के साक्षी हो जाने से। तुम्हें क्रोध आये तो क्रोध के साक्षी हो जाओ। एक प्रयोग करके देख लो। एक साल भर के लिए हिम्मत करके देख लो, श्रद्धा करके देख लो। एक साल भर के लिए क्रोध आये, साक्षी हो जाओ, रोको मत, दबाओ मत, होने दो। और चोरी हो तो चोरी होने दो और साधुता हो तो साधुता होने दो। जो हो होने दो। और जो परिणाम हों, वे होने दो। और तुम शांत भाव से सब स्वीकार किए चले जाओ। साल भर में ही जैसे एक झरोखा खुल जायेगा। तुम अचानक पाओगे: बुरा होना अपने-आप धीरे-धीरे क्षीण हो गया और भला होना अपने-आप थिर हो गया। जैसे-जैसे तुम साक्षी हो जाते हो वैसे-वैसे बुरा अपने-आप विदा हो जाता है; क्योंकि बुरा होने के लिए साक्षी की मौजूदगी बाधा है; भला होने के लिए साक्षी की मौजूदगी खाद है, पोषण है।

तो यह मैं तुमसे आखिरी विरोधाभास कहूं: तुम अच्छा करना चाहते हो, नहीं हो पाता; तुम बुरे से छूटना चाहते हो, नहीं छूट पाते। क्योंकि तुम्हारी धारणा यह है कि तुम कर्ता हो; वहीं धारणा में भूल हो रही है। साक्षी की धारणा कहती है: न तो तुम छोड़ो न तुम पकड़ो; तुम सिर्फ जागे हुए देखते रहो। और एक अदभुत अनुभव आता है कि जागते-जागते बुरा छूटने लगता है और भला होने लगता है।

मेरी तो परिभाषा यही है: साक्षी-भाव से जो हो वही शुभ और साक्षी-भाव में जो न हो, वही अशुभ। ऐसा ही समझो कि अगर तुम मुझसे पूछो कि अंधेरा क्या है तो मैं कहूंगा: दीया जलाने पर जो न बचे वह अंधेरा; और दीया न जलाने पर जो बचे, वह अंधेरा। दीये के जलते ही अंधेरा खो जाता है। कर्ता के मिटते ही बुरापन अपने-आप खो जाता है। तुम्हारे हटाये न हटेगा, तुम्हारे हटाने में तो मौलिक भूल मौजूद बनी है। आकाशवत हो जाओ!

एकस्मिन्नव्यये शांते चिदाकाशेऽमले त्वयि।
कुतो जन्म कुतः कर्म कुतोऽहंकार एव च।।

हरि ॐ तत्सत्!

ब्यालीसवां प्रवचन

श्रद्धा का क्षितिज: साक्षी का सूरज

पहला प्रश्न: श्रद्धा और साक्षित्व में कोई आंतरिक संबंध है क्या? साक्षित्व तो आत्मा का स्वभाव है, क्या श्रद्धा भी? और क्या एक को उपलब्ध होने के लिए दूसरे का सहयोग जरूरी है?

श्रद्धा का अर्थ है मन का गिर जाना। मन के बिना गिरे साक्षी न बन सकोगे। श्रद्धा का अर्थ है संदेह का गिर जाना। संदेह गिरा तो विचार के चलने का कोई उपाय न रहा। विचार चलता तभी तक है जब तक संदेह है। संदेह प्राण है विचार की प्रक्रिया का।

लोग विचार को तो हटाना चाहते हैं, संदेह को नहीं। तो वे ऐसे ही लोग हैं जो एक हाथ से तो पानी डालते रहते हैं वृक्ष पर और दूसरे हाथ से वृक्ष की शाखाओं को उखाड़ते रहते हैं, पत्तों को तोड़ते रहते हैं। वे स्व-विरोधाभासी क्रिया में संलग्न हैं।

जहां संदेह है वहां विचार है। संदेह विचार को उठाता है। संदेह भीतर के जगत में तरंगें उठाता है। इसलिए तो विज्ञान संदेह को आधार मानता है, क्योंकि विचार के बिना खोज कैसे होगी? तो विज्ञान का आधार है संदेह। संदेह करो, जितना कर सको उतना संदेह करो, ताकि तीव्र विचारणा का जन्म हो। उसी विचारणा से खोज हो।

धर्म कहता है: श्रद्धा करो। श्रद्धा का अर्थ है--संदेह नहीं। संदेह गया कि विचार अपने से ही शांत होने लगते हैं। संदेह के बिना विचार करने को कुछ बचता ही नहीं। प्रश्न ही नहीं बचता तो विचार कैसे बचेगा?

जो लोग सोचते हैं विचार को शांत कर लें और श्रद्धा करने को राजी नहीं, वे कभी सफल न होंगे। वे जड़ों को तो बचाये रखना चाहते हैं, पत्तों को तोड़ना चाहते हैं। जड़ें नये पत्ते भेज देंगी। जड़ें यही काम कर रही हैं--नये पत्तों को जन्माने का काम कर रही हैं। जड़ें तो गर्भ हैं, जहां से नये पत्तों का आगमन होता रहेगा।

श्रद्धा का अर्थ है: मेरा कोई प्रश्न नहीं। और प्रश्न नहीं तो विचार की तरंग नहीं उठती। जैसे झील के किनारे तुम बैठे, एक पत्थर उठा कर शांत झील में फेंक दो। फेंकते तो एक पत्थर हो, लेकिन अनंत लहरें उठ आती हैं, लहर पर लहर उठती चली जाती है। एक संदेह अनंत विचारों का जन्मदाता हो जाता है। प्रश्न उठा कि यात्रा शुरू हुई।

श्रद्धा का अर्थ है: प्रश्न को गिरा दो, प्रश्न मत उठाओ। जो है, है; जो नहीं है, नहीं है--इस भाव में राजी हो जाओ। इस राजीपन में ही साक्षी का जन्म होगा। इस परम स्वीकार-भाव में ही साक्षी के भाव का उदय होता है। तो श्रद्धा के क्षितिज पर ही साक्षी का सूरज निकलता है, साक्षी की सुबह होती है। श्रद्धा के बिना तो साक्षी जन्म ही नहीं सकता।

ऐसा समझो: संदेह--तो तुम विचारक हो जाओगे; साक्षी--तो तुम मनीषी हो जाओगे। संदेह--तो तुम तर्कयुक्त हो जाओगे। श्रद्धा--तो तुम तर्कशून्य हो जाओगे। विचार उपयोगी है अगर दूसरे के संबंध में कुछ खोज करनी है। जाना पड़ेगा, यात्रा करनी पड़ेगी, तरंगों पर सवार होना होगा। दूसरा तो दूर है, अपने और उसके बीच सेतु बनाने होंगे। तो विचार के सेतु फैलाने होंगे। लेकिन स्वयं पर आने के लिए तो कोई सेतु बनाने की जरूरत नहीं। स्वयं पर आने के लिए तो कोई मार्ग भी नहीं चाहिए। वहां तो तुम हो ही।

साक्षी का इतना ही अर्थ है: उसे जानने की चेष्टा, जो हम हैं। उसे जानने की चेष्टा में किसी विचार की कोई तरंगों का उपयोग नहीं है। पर ध्यान रखना, जब मैंने श्रद्धा के संबंध में तुम्हें समझाया तो बार-बार कहा कि श्रद्धा विश्वास का नाम नहीं है। विश्वास तो फिर संदेह ही है।

एक आदमी कहता है: मैं ईश्वर में विश्वास करता हूं। अगर इसके भीतर ठीक से छानबीन करोगे तो तुम पाओगे इसका ईश्वर में संदेह है। नहीं तो विश्वास की क्या जरूरत? विश्वास तो संदेह को दबाने का नाम है, छिपाने का नाम है। विश्वास तो ऐसा है जैसे कपड़े। तुम नग्न हो, कपड़ों में ढांक लिया--ऐसा लगने लगता है कि नंगे नहीं रहे। कपड़ों के भीतर नंगे ही हो। कपड़े पहनने से नग्नता थोड़े ही मिटती है; दूसरों को दिखाई नहीं पड़ती। ऐसे ही विश्वास के वस्त्र हैं। इससे संदेह नहीं मिटता। इससे तर्क भी नहीं मिटता। इससे विचार भी नहीं मिटता।

तो तुम अधार्मिक को, नास्तिक को भी विचार करते पाओगे, धार्मिक को भी विचार करते पाओगे। एक ईश्वर के विपरीत विचार करता है, एक ईश्वर के पक्ष में विचार करता है, लेकिन विचार से दोनों का कोई छुटकारा नहीं। एक प्रमाण जुटाता है कि ईश्वर नहीं है, एक प्रमाण जुटाता है कि ईश्वर है। ईश्वर के लिए प्रमाण की जरूरत है? जिसके लिए प्रमाण की जरूरत है वह तो ईश्वर नहीं। और जो मनुष्य के प्रमाणों पर निर्भर है वह तो ईश्वर नहीं। जिसका सिद्ध-असिद्ध होना मेरे ऊपर निर्भर है, वह दो कौड़ी का हो गया। ईश्वर तो है; तुम चाहे प्रमाण पक्ष में जुटाओ, चाहे विपक्ष में जुटाओ, इससे कुछ भेद नहीं पड़ता। ईश्वर के होने में भेद नहीं पड़ता। ईश्वर यानी अस्तित्व। ईश्वर यानी होने की यह जो घटना है; बाहर-भीतर जो मौजूद है यह मौजूदगी, यह उपस्थिति चैतन्य की--यही ईश्वर है। इसके लिए प्रमाण की कोई जरूरत नहीं है।

श्रद्धा विश्वास नहीं है। विश्वास तो प्रमाण जुटाता है; श्रद्धा तो आंख खोल कर देख लेने का नाम है। श्रद्धा दर्शन है। इसलिए जैन परिभाषा में तो दर्शन और श्रद्धा एक ही अर्थ रखते हैं। दर्शन को ही श्रद्धान कहा है महावीर ने और श्रद्धा को ही दर्शन कहा है। श्रद्धा तो आंख खोल कर देख लेना है।

ऐसा समझो कि एक अंधा आदमी है। वह टटोल-टटोल कर रास्ता खोजता है, पूछ-पूछ कर चलता है, हाथ में लकड़ी लिये रहता है। फिर उसकी आंखें ठीक हो गयीं। अब वह लकड़ी फेंक देता है। वह लकड़ी विश्वास जैसी थी। उसके सहारे टटोल-टटोल कर चल लेता था। अब तो आंख हो गयी; अब लकड़ी की कोई जरूरत नहीं है।

श्रद्धा को उपलब्ध व्यक्ति विश्वास को फेंक देता है। वह न हिंदू रह जाता, न मुसलमान, न ईसाई। अब तो आंख मिल गयी। अब तो प्रमाण की कोई जरूरत न रही। आंख काफी प्रमाण है। तुम, सूरज है, इसके लिए तो प्रमाण नहीं देते फिरते। न कोई खंडन करता है, न कोई मंडन करता है। न तो कोई कहता है कि मैं सूरज में मानता हूं, न कोई कहता है कि मैं सूरज में नहीं मानता हूं। सूरज है, मानने न मानने की क्या बात? आंखें खुली हैं, तो सूरज दिखाई पड़ रहा है।

ऐसे ही जब भीतर की आंख खुलती है तो उसका नाम श्रद्धा है। श्रद्धा अंतस-चक्षु है। उस अंतस-चक्षु से जो दिखाई पड़ता है, वही परमात्मा है। तो श्रद्धा विश्वास नहीं है। श्रद्धा तो एक आत्मक्रांति है; विचार से मुक्ति; प्रश्न से मुक्ति; संदेह से मुक्ति--जो है, उसके साथ राजी हो जाना, लयबद्ध हो जाना। और इसी अवस्था में साक्षी का बोध होगा।

अगर कर्ता बनना हो तो विचार की जरूरत है। विचारक बनना हो तो विचार की जरूरत है, क्योंकि विचार भी सूक्ष्म कृत्य है। साक्षी में कर्ता तो बनना नहीं, कुछ करना तो है नहीं। जो है, सिर्फ उसके साथ तरंगित होना है। जो है, उससे भिन्न नहीं; उसके साथ अभिन्न भाव से एक होना है। करने को तो कुछ है नहीं साक्षी में--सिर्फ जागने को है, देखने को है।

पूछा है, "श्रद्धा और साक्षित्व में कोई आंतरिक संबंध है?"

निश्चित ही। श्रद्धा द्वार है; साक्षी--मंदिर में विराजमान प्रतिमा। श्रद्धा के बिना कोई कभी साक्षी तक नहीं पहुंचा, न सत्य तक पहुंचा है। श्रद्धा के बिना तुम पंडित हो सकते हो, ज्ञानी नहीं। श्रद्धा के बिना तुम विश्वासी हो सकते हो, अनुभवी नहीं।

तो दुनिया में दो तरह के भटकते हुए लोग हैं। एक, जिनको हम नास्तिक कहते हैं; एक, जिनको हम आस्तिक कहते हैं। दोनों भटकते हैं। दोनों विश्वास से भरे हैं--एक पक्ष में, एक विपक्ष में। न नास्तिक को पता है कि ईश्वर है, न आस्तिक को पता है कि ईश्वर है।

इसलिए मैं धार्मिक को दोनों से अलग रखता हूं; वह तो न नास्तिक है, न आस्तिक है। उसने तो धीरे-धीरे देखने की चेष्टा की। तुम्हारी धारणाओं की कोई जरूरत ही नहीं है देखने में। तुम्हारी धारणाएं बाधा बनती हैं, तुम्हारे पक्षपात अड़चन लाते हैं। तुम कुछ मान कर चल पड़ते हो, उसके कारण ही देखना शुद्ध नहीं रह जाता।

तुमने अगर पहले से ही मान लिया है तो तुम वैसा ही देख लोगे जैसा मान लिया है। बिना माने, बिना भरोसा किये, बिना विश्वास किये, बिना किसी धारणा में रस लगाये, जो खाली, शांत मौन देखता रह जाता है...। जो है, उसे जानना है। अभी हमें उसका पता नहीं है तो मानें कैसे?

मेरे पास लोग आते हैं, वे कहते हैं: ईश्वर को कैसे मानें? मैं उनसे कहता हूं: तुमसे मैं कहता नहीं कि तुम मानो। इतना तो मानते हो कि तुम हो? इसे कोई मानने की जरूरत ही नहीं है।

वे कहते हैं: यह तो हमें पता है कि हम हैं।

तुमने ऐसा आदमी देखा जो मानता हो कि मैं नहीं हूं? ऐसा आदमी तुम कैसे पाओगे? क्योंकि यह मानने के लिए भी कि मैं नहीं हूं, मेरा होना जरूरी है।

मुल्ला नसरुद्दीन अपने घर में छिपा बैठा है। किसी आदमी ने द्वार पर दस्तक दी। उसने संध से देखा कि आ गया वही दूकानदार जिसको पैसे चुकाने हैं। उसने जोर से चिल्ला कर भीतर से कहा: "मैं घर में नहीं हूं।" वह दूकानदार हंसा। उसने कहा: "हद हो गयी! फिर यह कौन कह रहा है कि मैं घर में नहीं हूं?" मुल्ला ने कहा: "मैं कह रहा हूं कि मैं घर में नहीं हूं, सुनते हो कि नहीं?"

लेकिन यह तो प्रमाण है घर में होने का। मैं घर में नहीं हूं, ऐसा कहा नहीं जा सकता। कौन कहेगा? आज तक दुनिया में किसी ने नहीं कहा कि मैं नहीं हूं। क्यों? क्योंकि "मैं" का तो प्रत्यक्ष अनुभव हो रहा है; इसे इनकारो कैसे, इसे झुठलाओ कैसे! सारी दुनिया भी तुमसे कहे कि तुम नहीं हो, तो भी संदेह पैदा नहीं होगा। तुम कहोगे: पता नहीं, दुनिया कहती है ऐसा! मुझे तो भीतर से स्पर्श हो रहा है, अनुभव हो रहा है, प्रतीति हो रही है कि मैं हूं। और अगर मैं नहीं हूं तो तुम किसको समझा रहे हो? कम से कम समझाने के लिए तो इतना मानते हो कि मैं हूं।

यह जो भीतर "मैं" का बोध है, अभी धुंधला-धुंधला है। जब प्रगाढ़ हो कर प्रगट हो जायेगा तो यही "मैं" का बोध परमात्म-बोध बन जाता है। इसी धुंधले-से बोध को, धुएं में घिरे बोध को प्रगाढ़ करने के लिए श्रद्धा में जाना जरूरी है।

श्रद्धा का अर्थ फिर दोहरा दूं--विश्वास नहीं; जो है, उसको भरी आंख से देखना, खुली आंख से देखना। तुम हो! परमात्मा तुम्हारे भीतर तुम्हारी तरह मौजूद है। कहां भटकते हो? कहां खोजते हो? कहीं खोजना नहीं है। कहीं जाना नहीं है। सिर्फ भरी आंख, भीतर जो मौजूद ही है, उसे देखना है। देखते ही द्वार खुल जाते हैं मंदिर के। साक्षी अनुभव में आता है--श्रद्धा के भाव से।

साक्षी का अर्थ है: मन को लुटाने की कला; मन को मिटाने की कला।

कलियां मधुवन में गंध गमक मुसकाती हैं,
मुझ पर जैसे जादू-सा छाया जाता है।
मैं तो केवल इतना ही सिखला सकता हूं--
अपने मन को किस भांति लुटाया जाता है!

तुमने कभी देखा, बाहर भी जब सौंदर्य की प्रतीति होती है तो तभी, जब थोड़ी देर को मन विश्राम में होता है! आकाश में निकला है पूर्णिमा का चांद, शरद की पूनो, और तुमने देखा और क्षण भर को उस सौंदर्य के

आघात में, उस सौंदर्य के प्रभाव में, उस सौंदर्य की तरंगों में तुम शांत हो गये! एक क्षण को सही, मन न रहा। उसी क्षण एक अपूर्व सौंदर्य का, आनंद का उल्लास-भाव पैदा होता है। फूल को देखा, संगीत को सुना, या मित्र के पास हाथ में हाथ डाल कर बैठ गये--जहां भी तुम्हें सुख की थोड़ी झलक मिली हो, तुम पक्का जान लेना, वह सुख की झलक इसीलिए मिलती है कि कहीं भी मन अगर ठिठक कर खड़ा हो गया, तो उसी क्षण साक्षी-भाव छा जाता है। वह इतना क्षणभंगुर होता है कि तुम उसे पकड़ नहीं पाते--आया और गया।

ध्यान में हम उसी को गहराई से पकड़ने की चेष्टा करते हैं। वह जो सौंदर्य दे जाता है, प्रेम दे जाता है, सत्य की थोड़ी प्रतीतियां दे जाती हैं, जहां से थोड़े-से झरोखे खुलते हैं अनंत के प्रति--उसे हम ध्यान में और प्रगाढ़ हो कर पकड़ने की कोशिश करते हैं।

और यही इस जगत में बड़े से बड़ा कृत्य है। ध्यान रखना मैं कहता हूं, कृत्य। कृत्य यह है नहीं। क्योंकि कर्ता इसमें नहीं है। लेकिन भाषा का उपयोग करना पड़ता है। यह जगत में सबसे बड़ा कृत्य है जो कि बिलकुल ही करने से नहीं होता--होने से होता है।

माना कि बाग जो भी चाहे लगा सकता है
लेकिन वह फूल किसके उपवन में खिलता है?
--जिसके रंग तीनों लोकों की याद दिलाते हैं
और जिसकी गंध पाने को देवता भी ललचाते हैं।

वह है साक्षी का फूल। बगिया तो सभी लगा लेते हैं--कोई धन की, कोई पद की। बगिया तो सभी लगा लेते हैं। लेकिन वह फूल किसके बगीचे में खिलता है, जिसके लिए देवता भी ललचाते हैं? वह तो खिलता है, जब तुम खिलते हो। वह तो तुम्हारा ही फूल है--तुम्हारा ही सहस्र-दल कमल, तुम्हारा ही सहस्रार; तुम्हारे ही भीतर छिपी हुई संभावना जब पूरी खिलती है। साक्षी में खिलती है। क्योंकि कोई बाधा नहीं रह जाती।

जब तक तुम कर्ता हो, तुम्हारी शक्ति बाहर नियोजित रहती है। विचारक हो तो शक्ति मन में नियोजित रहती है। कर्ता हो तो शरीर से बहती रहती है, विचारक हो तो मन से बहती रहती है। ऐसे तुम बूंद-बूंद झरते रहते हो। तुम कभी संग्रह नहीं हो पाते ऊर्जा के। तुम्हारी बाल्टी में छेद हैं--सब बह जाता है।

साक्षी का इतना ही अर्थ है कि न तो कर्ता रहे, न चिंतक रहे; थोड़ी देर को कर्ता, चिंता दोनों छोड़ दीं। कर्ता न रहे तो शरीर से अलग हो गये; चिंतक न रहे तो मन से अलग हो गये। इस शरीर और मन से अलग होते ही तुम्हारी जीवन-ऊर्जा संगृहीत होने लगती है। गहन गहराई आती है। उस गहराई में जो जाना जाता, उसे ज्ञानी साक्षी कहते; भक्त परमात्मा कहते। वह शब्द का भेद है।

दूसरा प्रश्न: आप अष्टावक्र के बहाने इतने ऊंचे आकाश की चर्चा कर रहे हैं कि सब सिर के ऊपर से बहा जा रहा है। आप जरा हमारी ओर तो निहारिये! हम त्रिशंकु की भांति हैं। न धरती पर हमारे पैर जमे हैं, न आकाश में उड़ने की सामर्थ्य है। कृपया हमें देख कर कुछ कहिये!

प्रश्न महत्वपूर्ण है। तुम्हें देख कर ही कह रहा हूं। लेकिन अगर तुमसे पार की कोई बात न कहूं तो कहने में कुछ अर्थ ही नहीं है। अगर उतना ही कहूं जितना तुम समझ सकते हो तो व्यर्थ है। उतना तो तुम समझते ही हो। तुम्हें ही देख कर कह रहा हूं, इसलिए आकाश की बात कर रहा हूं। आकाश की बात करूंगा, तो ही शायद तुम आंखें उठाकर आकाश की तरफ देखो। आकाश तुम्हारा है। तुम मालिक हो। और तुम जमीन पर आंखें गड़ाये चल रहे हो। जमीन पर आंखें गड़ी होने के कारण जगह-जगह टकराते हो, जगह-जगह गिरते हो। जमीन तुम्हारी है, यह भी सच है। आकाश भी तुम्हारा है। तुम्हारी आंख जमीन में ही घिर कर समाप्त न हो जाये, इसलिए आकाश की बात करनी जरूरी है। तुम्हें ही देख कर आकाश की बात कर रहा हूं।

निश्चित ही बहुत कुछ तुम्हारे सिर के ऊपर से बह जायेगा। जब सिर के ऊपर से कुछ बहता हो तभी कुछ संभावना है। अगर तुम्हें जो मैं कहूं पूरा-पूरा समझ में आ जाये तो व्यर्थ हो गया। उतना तो तुम समझते ही थे;

मैंने तुम्हें कुछ बढ़ाया नहीं, कुछ जोड़ा नहीं। तुम्हारी समझ में बिलकुल न आये तो भी मेरा बोलना व्यर्थ गया; तुम्हारी समझ में पूरा आ जाये तो भी व्यर्थ गया। अगर बिलकुल समझ में न आये तो बोला न बोला बराबर हो गया। बिलकुल समझ में आ जाये तो बोलना व्यर्थ ही था, बोलने की कोई जरूरत ही न थी; उतनी तुम्हारी समझ पहले से ही थी।

तो मुझे कुछ इस ढंग से बोलना होगा कि कुछ-कुछ तुम्हारी समझ में आये और कुछ-कुछ तुम्हारी समझ में न आये। जो समझ में आ जाये उसके सहारे उसकी तरफ बढ़ने की कोशिश करना जो समझ में न आये। तो विकास होगा, अन्यथा विकास नहीं होगा।

तुम तो चाहोगे कि मैं वही बोलूं जो तुम्हारी समझ में आ जाये। तो फिर तुम आगे कैसे बढ़ोगे? थोड़ा-थोड़ा तुम्हें आगे सरकाना है। इंच-इंच तुम्हें आगे बढ़ाना है। यह भी मैं ध्यान रखता हूं कि तुम्हें बिलकुल भूल ही न जाऊं। ऐसा न हो कि मैं इतने आगे की बात कहने लगूं कि तुमसे उसका संबंध ही न जुड़ सके। तुमसे संबंध भी जुड़े और तुमसे पार भी जाती हो बात--इस ढंग से ही बोलना होगा।

सदगुरु का यही अर्थ है: तुमसे कहता है, लेकिन तुम्हारी नहीं कहता। तुमसे कहता है और परमात्मा की कहता है। तो सदगुरु के पास थोड़ी अड़चन तो रहेगी। सदगुरु कोई तुम्हारा मनोरंजन नहीं कर रहा है, कि तुमसे कुछ बातें कह दीं, तुम्हें मजा आया, तुम्हें आनंद आया, तुम्हें रस मिला, तुम चले गये। तुमने कहा: "समय ठीक से कटा। और वही कहा जो मैं पहले से समझता हूं।" तुम्हारी अकड़ और गहरी हो गयी। तुम्हारा अहंकार और मजबूत हुआ कि यह तो मैं पहले से ही समझता था।

सदगुरु न तो तुम्हारा मनोरंजन करता है; क्योंकि मनोरंजन क्या करना है? मनोभंजन करना है। मनोरंजन तो बहुत हो चुका। मनोरंजन कर-करके ही तो तुम ने गंवाए न मालूम कितने जन्म, न मालूम कितने जीवन! मनोरंजन कर-करके ही तो तुम भटके हो सपने में। अब तो सपना तोड़ना है। लेकिन इतने झटके से भी नहीं तोड़ना है कि तुम दुश्मन हो जाओ; आहिस्ता-आहिस्ता तोड़ना है; धीरे-धीरे तोड़ना है।

तुम्हें जगाना है। तुम्हें जगाना है, तो यह बात ध्यान रखनी होगी, तुम्हारा ध्यान रखना होगा और जहां तुम्हें जगाना है, जिस परमलोक में तुम्हें उठाना है, उसका भी ध्यान रखना होगा।

जब मैं तुमसे बोल रहा हूं तो तुमसे भी बोल रहा हूं और तुम्हारे पार भी बोल रहा हूं। जब मैं देखता हूं बात बहुत पार जाने लगी तो मुल्ला नसरुद्दीन को निमंत्रण कर लेता हूं। वह तुम्हारे जगत में तुम्हें खींच लाता है। तुम थोड़ा हंस लेते हो, तुम थोड़ा मनोरंजित हो जाते हो। जैसे ही मैंने देखा कि तुम हंस लिये, फिर आश्वस्त हो गये; फिर तुम्हें हिलाने लगता हूं। फिर तुम्हें ऊपर की तरफ ले जाने लगता हूं।

मैं जानता हूं जो तुम्हारे हित में है, वह रुचिकर नहीं; और जो तुम्हें रुचिकर है, वह तुम्हारे हित में नहीं। तुम्हें जहर खाने की आदत पड़ गयी है। तुम्हें गलत के साथ जीने की...वही तुम्हारी जीवन-शैली हो गयी है। उससे तुम्हें हटाने के लिए बड़ी कुशलता चाहिए। और कुशलता का जो महत्वपूर्ण हिस्सा है, वह यही है कि तुमसे बात ऐसी भी न कही जाये कि तुम भाग ही खड़े होओ; और तुमसे बात ऐसी भी न कही जाये कि तुम बिलकुल ही समझ लो। तुम्हें धक्का देना है। तुम्हें आकाश की तरफ ले चलना है।

और मैं पृथ्वी-विरोधी नहीं हूं, ध्यान रखना। पृथ्वी भी आकाश का ही हिस्सा है। पृथ्वी आकाश के अंगों में एक अंग है। तो मैं पृथ्वी विरोधी नहीं हूं। मैं तुम्हें पृथ्वी से उखाड़ नहीं लेना चाहता। मैं तो चाहता हूं, पृथ्वी में भी तुम्हारी जड़ें गहरी जायें, तभी तो तुम्हारा वृक्ष बादलों से बातें कर सकेगा, ऊंचा उठेगा, आकाश की तरफ चलेगा।

इसलिए मैंने संन्यास को संसार के विरोध में नहीं माना है। तुम बाजार में रहो। तुम जहां हो, जैसे हो, जो तुम्हारी पृथ्वी बन गयी है, वहीं रहो। इतना ही ध्यान रखो कि पृथ्वी में जड़ें फैलाने का एक ही प्रयोजन है कि आकाश में पंख फैल जायें। पृथ्वी से रस लो आकाश में उड़ने का। पृथ्वी का सहारा लो। पृथ्वी के सहारे अडिग

खड़े हो जाओ, अचल खड़े हो जाओ। लेकिन सिर तो आकाश में उठना चाहिए। जब तक बादल सिर के पास न घूमने लगें, तब तक समझना कि जीवन अकारथ गया; तुम कृतार्थ न हुए।

मैं तुम्हारी अड़चन समझता हूं, तुम्हारी कठिनाई समझता हूं। लेकिन तुम्हें धीरे-धीरे इस नये रस के लिए राजी करना है। अभी जो तुम्हारे सिर पर से बहा जाता है, एक दिन तुम पाओगे तुम्हारे हृदय से बहने लगा।

छोटा बच्चा स्कूल जाता है, तो उससे हम कोई विश्वविद्यालय की बातें नहीं करते। पहली कक्षा के विद्यार्थी से पहली कक्षा की ही बात करते हैं। लेकिन जैसे-जैसे दूसरी कक्षा में जाने का समय करीब आने लगता है वैसे-वैसे उससे हम थोड़ी-सी दूसरी कक्षा की भी बात करते हैं। वह उसकी समझ में नहीं आती। आती भी है, नहीं भी आती। धुंधली-धुंधली आती है। लेकिन उसकी बात करनी पड़ती है। अब दूसरी कक्षा में जाने का समय आ गया। जो विद्यार्थी उस दूसरी कक्षा में जाने की बात न समझ पायेंगे, उन्हें फिर पहली कक्षा में अगले वर्ष लौट आना पड़ेगा। जो थोड़ा-सा रस दूसरी कक्षा में जाने का उठा लेंगे, वे दूसरी कक्षा में प्रविष्ट हो जायेंगे! ऐसे धीरे-धीरे फिर तीसरी कक्षा है, और कक्षाएं हैं, और कक्षाएं हैं।

तुम्हारे सिर पर से बात निकल जाती है, उसका क्या अर्थ? उसका इतना अर्थ है कि तुमने अब तक उतनी ऊंचाई तक अपने सिर को उठाने की कोशिश नहीं की। अब दो उपाय हैं: या तो मैं अपनी बात को नीचे ले आऊं ताकि तुम्हारे हृदय से निकल जाये...।

तुम्हारे हृदय से फिल्म निकल जाती है, नाटक निकल जाता है; अष्टावक्र नहीं निकलते। फिल्म में बुद्धू से बुद्धू आदमी भी रस-विमुग्ध हो कर बैठ जाता है। तीन घंटे भूल ही जाता है। सब निकल जाता है। देखते हो तुम, फिल्म भी ऊपर नहीं उठ पाती!

"विजयानंद" मेरे पास आते हैं। तो उनको मैंने कहा: कुछ थोड़ा ऊपर इसे खींचो। उन्होंने कहा: ऊपर खींचो तो चलती नहीं। लोग नीची से नीची बात चाहते हैं। फिर भी मैंने उनसे कहा: थोड़ी हिम्मत करो। उन्होंने हिम्मत की, तो दिवाला...डांवांडोल हो गया। दोत्तीन फिल्में बनायीं कि जरा ऊंचा ले जायें, लेकिन वे चलती नहीं। कोई देखने नहीं आता। तुम वही देखना चाहते हो जो तुम हो। तुम अपनी ही प्रतिछवि देखना चाहते हो।

मुल्ला नसरुद्दीन एक फिल्म देखने गया। उसमें एक दृश्य आता है कि एक स्त्री अपने वस्त्र उतार रही है तालाब के किनारे। मुल्ला बड़ी उत्सुकता से देख रहा है। रीढ़ सीधी कर ली। बिलकुल ध्यानस्थ हो गया--जैसा बुद्ध वगैरह बैठते हैं, जब वे परमात्मा के निकट पहुंचते हैं, तब रीढ़ सीधी हो जाती है, श्वास ठहर जाती है, अपलक आंखें नहीं झुकतीं, नहीं हिलतीं। वह बिलकुल अपलक हो गया। वही नहीं हो गया, पूरा सिनेमा हॉल हो गया। सब अपनी सीटों पर सध कर बैठ गये, हठयोगी हो गये एक क्षण को। वह आखिरी वस्त्र उतारने जा रही थी, बस आखिरी वस्त्र रह गया था, तभी एक ट्रेन धड़धड़ाती हुई निकल गयी। वह स्त्री उस तरफ पड़ गयी, तालाब उस तरफ पड़ गया। सब बड़े उदास और थके मन से वापिस अपनी कुर्सियों से टिक कर बैठ गये। लेकिन मुल्ला ने जाने का नाम न लिया। यह पहला शो था। वह दूसरे में भी बैठा रहा। वह तीसरे में भी बैठा रहा। आखिर मैनेजर आया। उसने कहा: "क्या विचार है? क्या यहीं रहने का तय कर लिया?" उसने कहा: कभी तो ट्रेन लेट होगी। मैं जाऊंगा नहीं! कभी...भारतीय ट्रेनें हैं, इनका क्या भरोसा! कभी आधा घड़ी भी लेट हो गयी, क्षण भर की बात है!

वह नग्न स्त्री को देखने का...। ट्रेन तो निकल जाती है, तब तक वह स्त्री तालाब में तैर रही है। तब उसका सिर ही दिखाई पड़ता है, कुछ और दिखाई पड़ता नहीं।

फिल्म तुम्हारे हृदय से निकल जाती है। फिल्मी गाना तुम्हारे हृदय से निकल जाता है। अगर धर्म की बात भी कभी तुम्हारे हृदय से निकलती है तो वह भी जब तक नीचे तल पर न आ जाये तब तक नहीं निकलती है।

इसलिए तो लोग रामायण पढ़ते हैं, अष्टावक्र की गीता नहीं पढ़ते। रामायण पुराने ढंग की फिल्मी बात है। वह पुरानी कथा है। वही ट्राइएंगल सभी फिल्मों में है--दो प्रेमी और एक प्रेयसी।

तुम जरा रामायण की कथा का गणित तो समझो--वही का वही है, जो हर फिल्म का गणित है। दो प्रेमी एक प्रेयसी के लिए लड़ रहे हैं। सारा संघर्ष है, ट्राइएंगल, त्रिकोण चल रहा है। वह जरा पुराने ढंग की शैली है। पुराने दिन में लिखी गयी है। लेकिन मामला तो वही है।

राम, रावण, सीता की कथा खूब लोग देखते रहे सदियों से। राम-कथा चलती ही रहती है। रामलीला चलती रहती है गांव-गांव, अष्टावक्र की गीता कौन पढ़ता है! वहां कोई त्रिकोण नहीं है। कृष्ण की गीता में भी थोड़ा रस मालूम होता है, क्योंकि युद्ध है, हिंसा है और सनसनी है। सनसनीखेज है! महाभारत का पूरा दृश्य बड़ा सनसनीखेज है।

तुमने देखा, जब युद्ध होने लगता है तो तुम ब्रह्ममुहूर्त में उठ कर ही एकदम अखबार पूछने लगते हो, "अखबार कहां? क्या हुआ? भारत-पाकिस्तान के बीच क्या हो रहा है? इजिप्त-इजरायल के बीच क्या हो रहा है?" कहीं युद्ध चल पड़े तो लोगों की आंखों में चमक आ जाती है। कहीं किसी की छाती में छुरा भुंकने लगे तो बस, तुम तल्लीन हो कर रुक जाते हो। राह पर देखा--मां की दवा लेने जाते थे साइकिल पर भागे--दो आदमी लड़ रहे थे। भूल गये मां और सब, टिका दी साइकिल और खड़े हो गये देखने के लिए कि क्या हो रहा है। बड़ा रस आता है!

जहां युद्ध है, हिंसा है, कामवासना है, वहां तुम्हारा रस है। लेकिन इससे जागरण तो नहीं होगा! इससे तुम ऊपर तो नहीं उठोगे। इसी से तो तुम जमीन के कीड़े बन गये और जमीन पर घिसट रहे हो। तुम्हारी रीढ़ ही टूट गयी है।

तो मुझे तुमसे कुछ बात कहनी हो तो दो उपाय हैं: या तो मैं सारी बात को उस तल पर ले आऊं जहां तुम समझ सकते हो। लेकिन तब मुझे कहने में रस नहीं है, क्योंकि क्या प्रयोजन है? वह तो फिल्में तुमसे कह रही हैं; नाटककार तुमसे कह रहे हैं; रामलीलाएं तुमसे कह रही हैं। वह तो कोई भी कह देगा। सारी दुनिया उसे कह रही है। उसके लिए कहीं तुम्हें जाने की जरूरत नहीं है। सारी दुनिया तुम्हें खींच कर बुला रही है कि आओ, यहां कह देंगे। दूसरा उपाय यह है कि तुम्हें मैं समझाऊं कि तुम्हारा सिर इतना नीचा नहीं है जितना तुमने मान रखा है। जरा सीधे खड़े होओ, झुकना छोड़ो। जो अभी सिर के ऊपर से निकला जा रहा है, जरा सिर को ऊंचा करो तो सिर के भीतर से निकलने लगेगा। और एक बार सिर के भीतर से निकलने लगे तो थोड़े और ऊंचे उठो। तुम्हारी ऊंचाई का कोई अंत है! तुम्हारे भीतर भगवान छिपा बैठा है। आखिरी ऊंचाई तुम्हारी मालकियत है--तुम्हारी नियति है, तुम्हारा भाग्य है। तुम इतने ऊंचे हो सकते हो जितनी ऊंचाई हो सकती है--गौरीशंकर पीछे छूट जायें, हिमालय छोटे पड़ जायें! जब बुद्धों के सिर ने आकाश की अंतिम ऊंचाई को छुआ है, तो सब हिमालय छोटे पड़ गये। और हिमालय की शीतलता साधारण हो गयी। तुम इतने ही ऊंचे होने की संभावना लिये बैठे हो। अभी दिखाई नहीं पड़ती, मानता हूं। तुम्हें भी समझ में नहीं आती। कितना ही कहूं, तब भी समझ में नहीं आती।

किसी बीज से कहो कि "घबरा मत, तू छोटा नहीं है, महावृक्ष हो जायेगा; तेरे नीचे हजार बैलगाड़ियां ठहर सकेंगी, ऐसा वट-वृक्ष हो जायेगा। घबरा मत! हजारों पक्षी तुझ पर विश्राम करेंगे। और थके-मांदे यात्री तेरे नीचे छाया में ठहरेंगे, राहत लेंगे, धन्यवाद देंगे।" वह बीज कसमसायेगा। वह कहेगा: छोड़ो भी, किसकी बातें कर रहे हो? मुझे देखो तो, इतना छोटा, जरा-सा कंकड़ जैसा-- क्या होने वाला है?

तुम अभी बीज हो। तुम्हें अपनी ऊंचाई का पता नहीं। तुम वट-वृक्ष हो सकते हो। तो सारी चेष्टा यह है कि तुम वट-वृक्ष होने में लगो। निश्चित ही इतनी दूर की बात भी नहीं करता कि तुम्हें सुनाई ही न पड़े। तुम्हें सुनाई पड़ जाये, इतने करीब लाता हूं; लेकिन बिलकुल समझ में आ जाये, इतने नीचे नहीं लाता। तो बस तुम्हारे सिर के ऊपर से निकालता हूं। इतने करीब है कि तुम्हारा मन होगा कि जरा झपट कर ले ही लें हाथ में। कोई ज्यादा दूर भी नहीं मालूम पड़ती, हाथ बढ़ाया कि मिल जायेगी।

वह देखो, आदमी हाथ बढ़ाता है तो सब मिल जाता है! चांद पर हाथ बढ़ाया तो चांद मिल गया। सपने सच हो जाते हैं। तो मैं तो जो कह रहा हूं उसके लिए किसी उपकरण की जरूरत नहीं है; कोई बड़ी टेक्नालॉजी

की जरूरत नहीं है। अष्टावक्र जो कह रहे हैं, उसका पूरा उपकरण ले कर तुम पैदा हुए हो। जरा-सी आंख को ऊपर उठाओ।

मंसूर को सूली लगायी गयी, तो जब उसे सूली के तख्ते पर लटकाया गया तो वह हंसने लगा। तो भीड़ में से किसी ने पूछा: "मंसूर, हम समझते नहीं, तुम हंस क्यों रहे हो? यह कोई हंसने का वक्त है? लोग पत्थर फेंक रहे हैं, जूते फेंक रहे हैं, सड़े टमाटर फेंक रहे हैं; गालियां दे रहे हैं। और हाथ-पैर तुम्हारे काटे जा रहे हैं और तुम मरने के करीब हो। गर्दन उतार ली जायेगी जल्दी। तुम हंस रहे हो?"

उसने कहा: मैं इसलिए हंस रहा हूं कि मैंने प्रभु से कहा है कि हे प्रभु, ये बेचार--कोई लाख आदमी इकट्ठे हो गये थे--इन्होंने कभी आकाश की तरफ नहीं देखा। चलो मेरे बहाने, मुझे सूली पर लटका देखने के लिए ये ऊपर तो देख रहे हैं! चलो मेरे बहाने इन्होंने जरा ऊपर तो देखा!

अगर तुमने ईसा को सूली पर लटकते समय जरा ऊपर देखा, तो भी तुम पाओगे कि ऊपर तुम देख सकते हो। तुम्हारी गर्दन में लकवा नहीं लगा हुआ है, सिर्फ आदत खराब है।

तो जो तुम्हारी समझ में आ जाये, उसकी तो फिक्र मत करना। जो तुम्हारी समझ में न आये, उससे चुनौती लेना। उसे समझने की कोशिश करना--आयेगा! आ कर रहेगा! आना ही चाहिए! क्योंकि जब अष्टावक्र को आ सकता है तो तुम्हें क्यों नहीं? आठों अंग टेढ़े थे, उनकी अक्ल में आ गया। तुम्हारे तो आठों अंग टेढ़े नहीं हैं। सब तरफ से झुके होंगे, आठ अंग टेढ़े थे, उनको आकाश दिखाई पड़ गया, तो तुम तो सीधे खड़े हो, भले-चंगे, तुम्हें आकाश दिखाई न पड़ेगा? जनक को समझ में आ गया सारे राग-रंग के बीच, सारे वैभव, उपद्रव के बीच, बाजार के बीच--तो तुम्हें समझ में न आयेगा? तुम पर तो प्रभु की बड़ी कृपा है: उतना राग-रंग भी नहीं दिया, उतना बाजार भी नहीं दिया, जितना जनक को था। जनक को भी समझ में आ गया, तुम्हें भी आ सकता है।

जो एक आदमी को हुआ वह सभी को हो सकता है। जो एक आदमी की क्षमता है, वह सभी आदमियों की क्षमता है। आदमी-आदमी एक-सा स्वभाव ले कर आये हैं; एक-सी संभावना ले कर आये हैं।

तो मैं तुम्हारे ऊपर की थोड़ी बात कहूं तो तुम नाराज मत होना। हालांकि यह मैं खयाल रखता हूं कि बात बहुत ऊपर न चली जाये; बिलकुल ही, तुम्हारी समझ के बिलकुल बाहर न हो जाये। थोड़ा तुम्हारी समझ को खनकाती रहे। दूर की ध्वनि की तरह तुम्हें सुनाई पड़ती रहे। पुकार आती रहे। तो तुम धीरे-धीरे इस रस्सी में बंधे...। माना कि यह धागा बड़ा पतला है, मगर इस धागे में अगर तुम बंध गये तो खींच लिये जाओगे।

तुम जहां हो अभी, चाहता हूं कि तुम्हें समझ में आ जाये कि तुम कारागृह में हो।

राजमहल का पाहुन जैसा
तृण-कुटिया वह भूल न पाये
जिसमें उसने हों बचपन के
नैसर्गिक निशि-दिवस बिताये
मैं घर की ले याद कड़कती
भड़कीले साजों में बंदी
तन के सौ सुख सौ सुविधा में
मेरा मन बनवास दिया-सा।
सुभग तरंगें उमग दूर की
चट्टानों को नहला आतीं
तीर-नीर की सरस कहानी
फेन लहर फिर-फिर दोहरातीं
औ" जल का उच्छवास बदल
बादल में कहां-कहां जाता है!
लाज मरा जाता हूं कहते

मैं सागर के बीच प्यासा
तन के सौ सुख सौ सुविधा में
मेरा मन बनवास दिया-सा!

तुम्हें इतनी भर याद आ जाये--तुम्हारे निसर्ग की, तुम्हारे स्वभाव की, तुम्हारे असली घर की! यह जो तुमसे कहे चला जाता हूं, तुम्हारे असली घर की प्रशंसा में है। यह जो तुम्हें आज सपना-सा लगता है, सपना ही सही, लेकिन तुम्हें पकड़ ले; तुम्हें झकझोर दे। इसकी पुकार तुम्हारे प्राणों में यात्रा का एक आवाहन बन जाये--एक उदघोष, एक अभियान! तुम्हें इतनी ही याद आ जाये कि निसर्ग से तुम आनंद को ही उपलब्ध हो; वही तुम्हारा असली घर है। और जहां तुमने घर बना लिया वह परदेश है। धर्मशाला को घर समझ लिया है। सराय को घर समझ लिया है। सराय छोड़ने को भी नहीं कह रहा हूं कि तुम सराय को छोड़ दो। कहता हूं: इतना ही जान लो कि सराय है। इतना जानते ही सब रूपांतरण हो जायेगा।

निश्चित ही अड़चन भी होगी। क्योंकि जब भी कोई जीवन को बदलने की कोशिश करता है तो अड़चन भी होती है। यह सब सुविधा-सुविधा से नहीं भी हो सकता है। रास्ते पर फूल ही फूल नहीं, कांटे भी हैं। और तुम नहीं समझ पाते बहुत-सी बातें--सिर्फ इसीलिए कि तुम नहीं समझना चाहते; नहीं कि तुम्हारी समझ अधूरी है। तुम डरते हो कि अगर समझ लिया तो फिर चलना पड़े।

मैं एक गांव में था। जिनके घर मैं मेहमान था, उनका मुझमें बड़ा रस था। लेकिन मैं चकित हुआ कि उनकी पत्नी कभी आकर बैठी नहीं। उसने, जब मैं आया द्वार पर तो फूलमाला से मेरा स्वागत किया, दीये से आरती उतारी; लेकिन फिर जो गुमी तो पता नहीं चला। तीन दिन वहां था। किसी सभा में नहीं आयी, किसी बैठक में नहीं आयी। घर पर न मालूम कितने लोग आये-गये, लेकिन पत्नी का पता नहीं। चलते वक्त वह फिर फूलमाला ले कर आ गयी, तब मुझे खयाल आया। मैंने पूछा कि आते वक्त तेरा दर्शन हुआ था, अब जाते वक्त हो रहा है; बीच में तू दिखाई नहीं पड़ी। उसने कहा: अब आपसे क्या कहूं, मैं डरती हूं। आपकी बात सुन ली तो फिर करनी पड़ेगी। मैं डरती हूं। अभी मेरे छोटे-छोटे बच्चे हैं। और मैं तो बड़ी भयभीत रहती हूं। मैं तो अपने पति को भी समझाती हूं कि तुम भी सुनो मत। नहीं कि बात गलत है, बात ठीक ही होगी। बात में आकर्षण है, बुलावा है--ठीक ही होगी। मगर मैं अपने पति को भी कहती हूं, तुम सुनो मत! लेकिन पति मानते नहीं।

मैंने कहा: तू उनकी फिक्र मत कर। वे तो मुझे कई साल से सुनते हैं, कुछ हुआ नहीं। वे तो चिकने घड़े हैं, खतरा तेरा है। चिकने घड़े हैं! वे तो आदी हो गये सुनने के। या उलटे रखे हैं; वर्षा होती रहती है, वे खाली के खाली रह जाते हैं।

मैंने कहा: कारण भी है। वे मुझे सुनते हैं, उस सुनने में धर्म की जिज्ञासा नहीं है। साहित्यकार हैं वे। और जो मैं कहता हूं, उसमें साहित्यिक रस है उन्हें।

अब यह बिलकुल अलग बात हो गयी। यह तो ऐसा ही हुआ कि मिठाई रखी है और कारपोरेशन का इंस्पेक्टर आया। उसे मिठाई में रस नहीं है। वह मिठाई के आसपास देख रहा है कि कोई मक्खी-मच्छर तो नहीं चल रहे? ढांक कर रखी गयी है कि नहीं? बिक सकती है कि नहीं? उसका अलग रस है।

एक वनस्पतिशास्त्री बगीचे में आ जाये तो वह ये फूल नहीं देखता जो सुंदर हो कर खिले हैं; कलियां नहीं देखता जो तैयार हो रही हैं, जल्दी ही गंध बिखरेगी। वह यह कुछ नहीं देखता। उसे दिखाई पड़ता है वनस्पति कौन-सी जाति की है? नाम क्या? पता क्या?

अलग-अलग लोगों की अलग-अलग पकड़ है।

एक चमार बैठा रहता है रास्ते पर। वह तुम्हें नहीं देखता, तुम्हारा चेहरा नहीं, वह जूते देखता रहता है, वह जूतों से पहचानता रहता है, कैसा आदमी है। अगर जूते की हालत अच्छी है तो आदमी की आर्थिक हालत अच्छी है। दर्जी कपड़े देखता है, तुम्हें थोड़े ही देखता है! कपड़े देख कर पहचान लेता है।

हर आदमी के अपने देखने के ढंग हैं।

मैंने कहा: वे मुझे सुनते हैं, लेकिन उनके सुनने में कोई धार्मिक अभिरुचि नहीं है। वे किसी जीवन-क्रांति के लिए उत्सुक नहीं हैं। उन्हें सुनने में अच्छा लगता है। सुनने में उन्हें रस है; जो मैं कह रहा हूं, उसमें रस नहीं है। वे कहते हैं कि आपके कहने की शैली मधुर है। शैली में रस है। शैली का क्या खाक करोगे? चाटोगे? ओढ़ोगे, बिछाओगे, खाओगे--क्या करोगे शैली का? थोड़ी देर मंत्र-मुग्ध कर जावेगी, फिर तुम खाली के खाली रह जाओगे। उन्हें सत्य में रस नहीं है, सत्य की अभिव्यक्ति में रस है। इसलिए तू उनके लिए तो घबड़ा मत, लेकिन तू सावधान रहना।

और यही हुआ। जब दोबारा मैं गया तो उनकी पत्नी ने संन्यास लिया। पति तो बोले कि बड़ी हैरानी की बात है, तू तो कभी सुनती नहीं! उसने कहा: मैं चोरी-छिपे पढ़ती हूं। जब कोई नहीं देख रहा होता, तब मैं पढ़ती हूं। मैं डरी-डरी पढ़ती हूं कि ये बातें तो ठीक हैं। लेकिन पिछली बार जब उन्होंने कहा कि तेरे लिए खतरा है, तब से बात चोट कर गयी। पति अभी भी संन्यासी नहीं हैं, पत्नी संन्यासी हो गयी। कभी सुना नहीं, कभी ज्यादा करीब आयी नहीं।

ध्यान रखना, अड़चन है। तुम कई बातें सुनना नहीं चाहते। इसीलिए तुम सिर को झुका लेते हो और ऊपर से निकल जाने देते हो। अगर तुम सुनना चाहो तो तुम सिर को ऊंचा उठा लोगे और सिर में से निकलने दोगे। अगर तुम वस्तुतः सुनना चाहो तो तुम इतने ऊंचे खड़े हो जाओ कि वे ही बातें हृदय से निकलने लगेंगी। और जब तक बातें हृदय से न निकल जायें तब तक क्रांति नहीं आती; यद्यपि हृदय से निकलें तो बड़ा उपद्रव मचता है, अराजकता फैलती है।

ठीक है, मैंने ही तेरा नाम ले कर पुकारा था
पर मैंने यह कब कहा था कि यूं आ कर मेरे दिल में जल?
मेरे हर उद्यम में उघाड़ दे मेरा छल
मेरे हर समाधान में उछाला कर सौ-सौ सवाल अनुपल
नाम? नाम का एक तरह का सहारा था
मैं थकाऱ्हारा था, पर नहीं था किसी का गुलाम
पर तूने तो आते ही फूंक दिया घर-बार
हिया के भीतर भी जगा दिया नया हाहाकार
ठीक है, मैंने ही तेरा नाम ले कर पुकारा था
पर मैंने यह कब कहा था कि यूं आ कर मेरे दिल में जल?

जब तुम सुन लोगे तो जलोगे। जब सुन लोगे तो एक ज्योति उठेगी। जो रोशनी तो बनेगी बहुत बाद में, पहले तो जलन बनेगी।

खयाल किया तुमने, प्रकाश के दो अंग हैं: एक तो है जलाना और एक है रोशन करना। पहले तो जब रोशनी तुम्हारे जीवन में आयेगी तो तुम जलोगे, क्योंकि तुम उससे बिलकुल अपरिचित हो। पहले तो वह सिर्फ गरमी देगी; उबालेगी तुम्हें; वाष्पीभूत करेगी। फिर बाद में जब तुम उससे राजी होने लगोगे तो धीरे-धीरे रोशनी बनेगी। पहले तो किरण अंगार की तरह आती है, दीया तो बहुत बाद में बनती है। तो तुम डरते हो।

तुममें से कई को मैं देखता हूं सिर झुकाये सुन रहे हो। ऊपर से निकल जाने देते हो कि जाने दो, अभी अपना समय नहीं आया है। और सबके अपने-अपने बहाने हैं बचने के। तुम अगर कभी प्रभु का नाम भी पुकारते हो...।

नाम? नाम का एक तरह का सहारा था
मैं थकाऱ्हारा था, पर नहीं था किसी का गुलाम
पर तूने तो आते ही फूंक दिया घर-बार
हिया के भीतर भी जगा दिया नया हाहाकार।

कबीर ने कहा है: जो घर बारे आपना चले हमारे संग। घर जलाने की हिम्मत हो तो ये बातें समझ में आयेंगी। जहां तुम बस गये हो वहां से उखड़ने का साहस हो तो ये बातें समझ में आयेंगी; तो तुम सुनोगे; तो तुम गुनोगे। और गुनते ही तुम्हारे जीवन में क्रांति शुरू हो जायेगी।

ये बातें सिर्फ बातें नहीं हैं; ये क्रांति के सूत्र हैं। लेकिन मैं जानता हूं, बड़ी अड़चन है। अड़चन तुम्हारी तरफ से है। ऊंचे से ऊंचा तुम्हारी पकड़ के भीतर है। पहुंच के भीतर भला न हो, मगर पकड़ के भीतर है। बात को खयाल में ले लेना। जब मैं कहता हूं पहुंच के भीतर नहीं है, तो उसका अर्थ इतना है कि तुमने अब तक प्रयास नहीं किया है। तुम वहां तक अपना पहुंचा नहीं ले गये, नहीं तो पहुंच के भीतर हो जाते। तुम पहुंचा नीचे डाले हो, इसलिए पहुंच के भीतर नहीं है। लेकिन पकड़ के भीतर तो है ही। जब भी तुम पकड़ना चाहोगे, पकड़ लोगे।

इस जगत में ऐसा कोई सत्य कभी नहीं कहा गया है और कहा नहीं जा सकता जो मनुष्य-मात्र की पकड़ के भीतर न हो।

लेकिन बड़ी घबराहटें हैं। बुद्धों की बातें सुननी, समझनी--दांव लगाना है, जुआरी का दांव।

एक व्यक्ति पातक इसलिए करता है
कि सबके भीतर पाप के भाव भरे हैं
जहां भी पुण्य की वेदी है, मैं अगरू का धुआं हूं
मंडप से झूलता फूलों का बंदनवार हूं
और जो पाप करके लौटा है उसके पातक का
मैं बराबर का हिस्सेदार हूं
एक उपकारी सबके गले का हार है
और जिसने मारा या जो मारा गया है
उनमें से हरेक हत्यारा है
और हरेक हत्या का शिकार है
मैं दानव से छोटा नहीं, न वामन से बड़ा हूं
सभी मनुष्य एक ही मनुष्य हैं
सबके साथ मैं आलिंगन में खड़ा हूं
वह जो हार कर बैठ गया,
उसके भीतर मेरी ही हार है
वह जो जीत कर आ रहा है,
उसकी जय में मेरी ही जयजयकार है।

जब बुद्ध कहते हैं, तुम बुद्ध हो--तो यह बात प्रीतिकर लगती है, लेकिन इसका एक दूसरा हिस्सा भी है जो अप्रीतिकर है। वह अप्रीतिकर यह है कि जब बुद्ध कहते हैं तुम बुद्ध हो, तो वे यह भी कह रहे हैं कि तुम महापापी भी हो। क्योंकि हम सब संयुक्त हैं, जुड़े हैं।

कहते हैं, बुद्ध को जब ज्ञान हुआ और जब ब्रह्मा ने उनसे पहली बार पूछा कि आप ज्ञान को उपलब्ध हो गये? तो बुद्ध ने कहा: मैं! मैं ही नहीं, मेरे साथ सारा जगत ज्ञान को उपलब्ध हो गया। वृक्षों के पत्ते और पहाड़ों के पत्थर और नदी-झरने और मनुष्य और पशु-पक्षी सब मेरे साथ मुक्त हो गये, क्योंकि मैं जुड़ा हूं।

ब्रह्मा को बात समझ में न आयी। फिर अंतिम कहानी है। यह तो प्रथम कहानी हुई; बुद्ध को ज्ञान हुआ, तब घटी। फिर अंतिम कहानी है कि बुद्ध जब स्वर्ग के द्वार पर गये, द्वार खोला, ब्रह्मा स्वागत को आया, तो वे वहीं अड़े रह गये। ब्रह्मा ने कहा: भीतर आयें। हम प्रतीक्षा कर रहे हैं।

बुद्ध ने कहा: मैं कैसे भीतर आऊं? जब तक एक भी बाहर है, मेरा भीतर आना कैसे हो सकता है? हम सब साथ हैं। जब सारा जगत भीतर आयेगा तभी मैं भीतर आऊंगा।

ये दो कहानियां दो कहानियां नहीं, एक ही सिक्के के दो पहलू हैं।

तो जब कोई तुमसे कहता है तुम्हारे भीतर भगवान है, तो तुम्हारा अहंकार इसको तो स्वीकार भी कर ले कि ठीक, यह कुछ विपरीत बात नहीं; लेकिन जब कोई कहेगा, तुम्हारे भीतर महापापी से महापापी भी है, तब बेचैनी होती है। जब यह कहा जाता है कि एक ही है, तब तुम बार-बार सोचने लगते हो, राम से अपना संबंध जुड़ गया। रावण से भी जुड़ गया--जब एक ही है! तो तुम रावण भी हो और राम भी हो। जब कहा जाता है कि तुम्हारा जीवन एक सीढ़ी है, तो यह तो सोच लेते हो कि सीढ़ी स्वर्ग पर लगी है। लेकिन एक पाया नीचे नर्क में टिका है और एक पाया स्वर्ग में टिका है। ये दोनों द्वार खुलते हैं।

मनुष्य नीचे भी जा सकता है, ऊपर भी जा सकता है। ऊपर जाने की संभावना इसीलिए है कि नीचे गिर जाने की भी संभावना है। और सीढ़ी तो निरपेक्ष है, निष्पक्ष है। सीढ़ी यह न कहेगी कि नीचे न जाओ; सीढ़ी यह न कहेगी कि ऊपर न जाओ। यह फैलाव बहुत बड़ा है। नीचे-ऊपर दोनों तरफ अतल दिखाई पड़ता है। तुम घबड़ा जाते हो। तुम कहते हो: अपने पायदान पर, अपने सोपान पर बैठे रहो आंख बंद किये, यहीं भले हो। यह तो बड़ा लंबा मामला दिखता है। कहां जाओगे? यहां तो पत्नी है, बच्चे हैं, घर-द्वार है; बैंक में बैलेंस भी है छोटा-मोटा। सब काम ठीक चल रहा है। कहां जाते हो नीचे!

नीचे दिखता है महा अंधकार। वह भी घबड़ाता है। ऊपर...ऊपर दिखता है महा प्रकाश। वह भी आंखों को चौंधियाता है। तुम दोनों से घबड़ा कर अपने ही पायदान को जोर से पकड़ लेते हो। तो तुम सुनना नहीं चाहते। सुनना चाहो तो सिर ऊपर उठने लगेगा। सुनना चाहो...।

इसलिए इस ढंग से कहता हूं कि कुछ-कुछ तुम्हारा मन भी तृप्त होता रहे कि तुम भाग ही न जाओ। लेकिन अगर तुम्हारा मन ही तृप्त करता रहूं तो फिर मैं सदगुरु नहीं। फिर तो एक मनोरंजन हुआ। वही मनोरंजन चल रहा है दुनिया में। लोग कथा सुनने जाते हैं, क्योंकि कथा में रस आता है। यह भी कोई बात हुई? यह तो ऐसा हुआ कि हीरे-जवाहरात ले गये और बाजार में बेच कर कुछ सड़ी मछलियां खरीद लाये, क्योंकि मछलियों में रस आता है। रस-रस की बात है।

मैंने सुना, एक स्त्री गांव से लौटती थी बेचकर अपनी मछलियां; धूप तेज थी, थकी-मांदी थी, गिर गयी, बेहोश हो गयी। भीड़ लग गयी। जहां वह गिर कर बेहोश हुई, वह गंधियों का बाजार था; सुगंध बिकती थी। एक गंधी भागा हुआ आया और उसने कहा कि यह इत्र इसे सुंघा दो, इससे ठीक हो जायेगी। उसने इत्र सुंघाया। बड़ा कीमती इत्र था, राजा-महाराजाओं को मुश्किल से मिलता था। लेकिन गरीब औरत के लिए दया करके वह ले आया। वह तो तड़पने लगी। वह तो हाथ-पैर फेंकने लगी। पास ही भीड़ में कोई एक मछुआ खड़ा था, तो उसने कहा: "महाराज, आप मार डालेंगे। हटाओ इसको! मैं मछुआ हूं, मैं जानता हूं, कौन-सी गंध उसके पहचान की है।"

उसने जल्दी से अपनी टोकरी...वह भी मछलियां बेच कर लौटा था, उसकी टोकरी थी गंदी जिसमें मछलियां लाया था, उसमें उसने थोड़ा-सा पानी छिड़का और उस स्त्री के सिर पर रख दिया, मुंह पर रख दिया। उसने गहरी सांस ली, वह तत्क्षण होश में आ गयी। उसने कहा कि बड़ी कृपा की। किसने यह कृपा की? यह कोई मुझे मारे डालता था! ऐसी दुर्गंध मेरे नाक में डाली...।

सुगंध दुर्गंध हो जाती है अगर आदी न होओ। दुर्गंध सुगंध मालूम होने लगती है अगर आदी होओ।

तो एकदम तुम्हारी नाक के सामने परमात्मा का इत्र भी नहीं रख सकता हूं। और तुम लाख चाहो कि तुम्हारी मछलियां और उनकी गंध और टोकरी पर पानी छिड़क कर तुम्हारे सिर पर रखूं--वह भी नहीं कर सकता हूं। तो धीरे-धीरे तुम्हें परमात्मा की तरफ ले जाना है मछलियों की गंध से।

तुम जिनके आदी हो, उनका मुझे पता है। वहां मैं भी रहा हूं। इसलिए तुमसे मेरा पूरा परिचय है। तुम जहां हो वहां मैं था। तुम्हारी जैसी आकांक्षा, रस है, वैसा मेरा था। अब मैं जहां हूं वहां से मैं जानता हूं कहां तुम्हें भी होना चाहिए। तुम्हारे होने में और तुम्हारे होने चाहिए में फासला है। उस फासले को धीरे-धीरे तय करना है।

चौथा प्रश्न: आप अक्सर कहते हैं कि प्रत्येक आदमी अनूठा है, मौलिक है और यह कि प्रत्येक की जीवनऱ्यात्रा और नियति अलग- अलग है। शुरू में मैं एक सुखी-संपन्न गृहस्थ होने के सपने देखता था। फिर लेखक, पत्रकार, राजनीतिज्ञ बनने के हौसले सामने आये। सर्वत्र सफलता थोड़ी और विफलता अधिक हाथ आयी। और जीवन की संध्या में आकर उस हाथ पर राख ही राख दिखाई देती है। सुखद आश्चर्य है कि देर कर ही सही, भटकते-भटकते आपके पास आ गया हूं और कुछ आश्वस्त मालूम पड़ता हूं। और अब मैं जानना चाहता हूं कि मेरी निजी गति और गंतव्य क्या है?

परमात्मा की बड़ी कृपा है कि तुम्हारे सपने कभी सफल नहीं हो पाते। सफल हो जायें तो तुम परमात्मा से सदा के लिए वंचित रह जाओगे। परमात्मा की बड़ी अनुकंपा है कि तुम इस जगत में वस्तुतः सफल नहीं हो पाते; सफलता का भ्रम ही होता है, असफलता ही हाथ लगती है! हीरे-जवाहरात दूर से दिखाई पड़ते हैं; हाथ में आते-आते सब राख के ढेर हो जाते हैं। यह अनुकंपा है कि इस जगत में किसी को सफलता नहीं मिलती। इसी विफलता से, इसी पराजय से परमात्मा की खोज शुरू होती है। इसी गहन हार से, इसी पीड़ा से, इसी विकलता से सत्य की दिशा में आदमी कदम उठाता है।

अगर सपने सच हो जायें तो फिर सत्य को कौन खोजे? सपने सपने ही रहते हैं, सच तो होते ही नहीं; सपने भी नहीं रह जाते, टूट कर बिखर जाते हैं, खंड-खंड हो जाते हैं। चारों तरफ टुकड़े पड़े रह जाते हैं।

यह तो शुभ हुआ कि होना चाहते थे सफल गृहस्थ, न हो पाये। कौन हो पाता है? तुमने सफल गृहस्थ देखा? अगर सफल गृहस्थ देखा होता तो बुद्ध घर छोड़ कर न जाते। तो महावीर घर छोड़कर न जाते। तुमने सफल गृहस्थ देखा कभी? आशाएं हैं। जब किन्हीं दो व्यक्तियों की शादी होती है, स्त्री-पुरुष की, तो पुरोहित कहता है कि सफल होओ! मगर कोई कभी हुआ? यह तो शुभाकांक्षा है। यह तो पुरोहित भी नहीं हुआ सफल! यह बड़े-बूढ़े तुमको देते हैं आशीर्वाद कि सफल होओ बेटा! इनसे तो पूछो कि आप सफल हुए? कोई सफल हुआ संसार में? सिकंदर भी खाली हाथ जाता है!

अच्छा हुआ गृहस्थी में सफल न हो सके, अन्यथा घर मजबूत बन जाता; फिर तुम मंदिर खोजते ही न। अच्छा हुआ कि प्रसिद्धि में सफल न हुए; लेखक-पत्रकार बन जाते तो अहंकार मजबूत हो जाता। अहंकार जितना मजबूत हो जाये उतना ही परमात्मा की तरफ जाना मुश्किल हो जाता है। पापी भी पहुंच जाये, अहंकारी नहीं पहुंचता है। पापी भी थोड़ा विनम्र होता है; कम से कम अपराध के कारण ही विनम्र हो गया होता है कि मैं पापी हूं। लेकिन जिसने दो-चार किताबें लिख लीं, अखबार में नाम छप जाता है--लेखक हो गया, कवि हो गया, चित्रकार, मूर्तिकार--वह तो अकड़ कर खड़ा हो जाता है।

तुमने कभी खयाल किया कि अक्सर लेखक, चित्रकार, कवि नास्तिक होते हैं--अक्सर! पत्रकार अक्सर क्षुद्र बुद्धि के लोग होते हैं। उनके जीवन में कोई विराट कभी महत्वपूर्ण नहीं हो पाता। बड़ी अकड़...!

अच्छा हुआ, हारे! तुम्हारी हार में परमात्मा की जीत है। तुम्हारे मिटने में ही उसके होने की गुंजाइश है। और फिर राजनीतिज्ञ होना चाहते थे--वह तो बड़ी कृपा है उसकी कि न हो पाये। क्योंकि मैंने सुना नहीं कि राजनीतिज्ञ कभी स्वर्ग पहुंचा हो। और राजनीति स्वर्ग की तरफ ले भी नहीं जा सकती। राजनीति का पूरा ढांचा नारकीय है। राजनीति की पूरी दांव-पेंच, चाल-कपट--सब नर्क का है। नर्क का एक बड़े से बड़ा कष्ट यह है कि वहां तुम्हें सब राजनीतिज्ञ इकट्ठे मिल जायेंगे। आग-वाग से मत डरना--वह तो सब पुरानी कहानी है। आग तो ठीक ही है। आग में तो कुछ हर्जा नहीं है बड़ा। लेकिन सब तरह के राजनीतिज्ञ वहां मिल जायेंगे तुम्हें। उनके दांव-पेंच में सताये जाओगे। नर्क का सबसे बड़ा खतरा यह है कि सब राजनीतिज्ञ वहां हैं। हालांकि जब भी कोई राजनीतिज्ञ मरता है, हम कहते हैं, स्वर्गीय हो गये। अभी तक सुना नहीं।

एक दफा, कहते हैं, एक राजनीतिज्ञ किसी भूल-चूक से स्वर्ग पहुंच गया। चाल-तिकड़म से पहुंच गया हो। जब वह पहुंचा स्वर्ग पर, उसी वक्त दो साधु भी मर कर पहुंचे थे। साधु बड़े हैरान हुए। उन्हें तो हटा कर खड़ा कर दिया गया। और राजनीतिज्ञ का बड़ा स्वागत हुआ। लाल दरियां बिछायी गयीं। बैंड-बाजे बजे! फूल बरसाये गये! साधुओं के हृदय में तो बड़ी पीड़ा हुई कि यह तो हद हो गयी। यही पापी वहां भी मजा कर रहे थे, जमीन पर भी, यही मजा यहां भी कर रहे हैं। और हम तो कम से कम इस आशा में जीये थे, कम से कम स्वर्ग में तो स्वागत होगा; यहां भी पीछे खड़े कर दिये गये। तो वह जो जीसस ने कहा है कि जो यहां अंतिम हैं प्रथम होंगे, सब बकवास है। जो यहां प्रथम हैं वे वहां भी प्रथम रहते हैं--ऐसा मालूम होता है। कम से कम यहां तो इसको पीछे कर देना था, हमें आगे ले लेना था।

लेकिन चुप रहे। अभी नये-नये आये थे। एकदम कुछ बात करनी ठीक भी न थी। बड़ी देर लगी। स्वागत-समारोह, सारंगी और तबले और सब वाद्य बजे और अप्सराएं नाचीं। खड़े देखते रहे दरवाजे पर, उनको तो भीतर भी किसी ने नहीं बुलाया। जब राजनीतिज्ञ चला गया सारे शोर सपाटे के बाद और फूल पड़े रह गये रास्तों पर, तब उन्हें भी अंदर ले लिया। सोचते थे कि शायद अब हमारा भी स्वागत होगा, लेकिन कोई स्वागत इत्यादि न हुआ। न बैंड-बाजे, न कोई फूल-माला लाया। आखिर हद हो गयी। पूछा द्वारपाल से कि यह मामला क्या है? कहीं कुछ भूल-चूक तो नहीं हुई है, ऐसा तो नहीं है, स्वागत का इंतजाम हमारे लिए किया था और हो गया उसका? और अगर भूल-चूक नहीं हुई है, ऐसा ठीक ही हुआ है तो जरा रहस्य हमें समझा दो, यह मामला क्या है?

उस द्वारपाल ने कहा: परेशान मत हों, साधु तो सदा स्वर्ग आते रहे; यह राजनीतिज्ञ पहली दफा आया है, इसलिए स्वागत...! और फिर कभी आयेगा दोबारा, इसकी भी कोई संभावना नहीं है। तो किसी भूल-चूक से हो गयी बात, हो गयी।

राजनीति से बच गये, यह तो शुभ हुआ, यह तो महाशुभ हुआ। इन सब से बच गये, क्योंकि हार गये। हार सौभाग्य है। उसे वरदान समझना। हारे को हरिनाम! वह जो हारा, उसी के जीवन में हरिनाम का अर्थ प्रगट होता है। जीता, तो अकड़ जाता है। तो यह प्रभु की कृपा, सौभाग्य कि हार गये। और शायद उसी हार के कारण यहां मेरे पास आ गये हो।

अब पूछते हो कि "आपके पास आ गया, कुछ आश्वस्त हुआ मालूम पड़ता हूं। और अब जानना चाहता हूं कि मेरी निजी गति और गंतव्य क्या है?"

अब यहां आ गये तो अब यह निजपन भी छोड़ दो। निजपन के छोड़ते ही तुम्हारे गंतव्य का आविर्भाव हो जायेगा। यह मैं-पन छोड़ दो। इस मैं-पन में अभी भी थोड़ी-सी धूमिल रेखा पुराने संस्कारों की रह गयी है। वह जो राजनीतिज्ञ होना चाहता था, वह जो लेखक, पत्रकार, प्रसिद्ध होना चाहता था, वह जो सुखी-संपन्न गृहस्थ होना चाहता था, उसकी थोड़ी-सी रेखा, थोड़ी-सी कालिख रह गयी है। इस निजपन को भी छोड़ दो। इसको भी हटा दो।

यह सब हार गया, अब तक जो तुमने किया; लेकिन अभी भीतर थो॰?ा-सा रस अस्मिता का बचा है, "मैं" का बचा है। वह भी जाने दो। उसके जाते ही प्रकाश हो जायेगा। और तब पूछने की जरूरत न रहेगी कि गंतव्य क्या है? गंतव्य स्पष्ट होगा। तुम्हारी आंख खुल जायेगी। गंतव्य कहीं बाहर थोड़े ही है! गंतव्य कहीं जाने से थोड़े ही...। कल सुना नहीं, अष्टावक्र कहते हैं: आत्मा न तो जाती, न आती। गंता नहीं है आत्मा। तो गंतव्य कैसा? आत्मा वहीं है जहां होना चाहिए। तुम ठीक उसी जगह बैठे हो जहां तुम्हारा खजाना गड़ा है। तुम्हारे स्वभाव में तुम्हारा साम्राज्य है। बस यह थोड़ी-सी जो रेखा रह गयी है, वह भी स्वाभाविक है। इतने दिन तक उपद्रव में रहे तो वह उपद्रव थोड़ी-बहुत छाप तो छोड़ ही जाता है। उस छाप को भी पोंछ डालो। अब यहां तो भूल ही जाओ अतीत को। यह अतीत की याददाश्त भी जाने दो। जो नहीं हुआ, नहीं हुआ। अब तो समग्र भाव से

यहां हो तो बस यहीं के हो रहो। न आगा न पीछा--यही क्षण सब कुछ हो जाये, तो इसी क्षण में परम शांति प्रगट होगी। उस शांति में सब प्रगट हो जायेगा, सब स्पष्ट हो जायेगा।

रस तो अनंत था, अंजुरी भर ही पिया
जी में वसंत था, एक फूल ही दिया
मिटने के दिन आज मुझको यह सोच है
कैसे बड़े युग में कैसा छोटा जीवन जिया!

यहां तो मैं चाहता हूं कि तुम्हारे पूरे जीवन का वसंत खिल उठे। तुम इक्के-दुक्के फूलों की मांग मत करो, नहीं तो पीछे पछताओगे। विराट हो सकता था और तुम छोटे की मांग करते रहे।

तुम्हारी अड़चन भी मैं समझता हूं। मेरे पास लोग आ जाते हैं। एक मित्र आये, संन्यास लिया। संन्यास जब ले रहे थे, तभी मुझे थोड़ा-सा बेबूझ मालूम पड़ रहा था; क्योंकि उनके चेहरे पर संन्यास का कोई भाव न था। पैर भी छुए थे; लेकिन पैर छूने में परंपरागत आदत मालूम पड़ी थी, प्रसाद न था। मांगते थे संन्यास तो मैंने दे दिया। संन्यास लेते ही उन्होंने क्या कहा--कहा कि मैं बड़ी उलझन में पड़ा हूं, उसी लिए आया हूं। मेरी बदली करवा दें। पठानकोट में पड़ा हूं और रांची जाना है। यही सोचकर भगवान आपके चरणों में आ गया हूं कि अगर, इतना आप न करेंगे, ऐसा कैसे हो सकता है! इतना तो आप करेंगे ही।

मैंने उनसे पूछा: सच-सच कहो, संन्यास इसलिए तो नहीं लिया? रिश्वत की तरह तो नहीं लिया कि चलो संन्यास ले लिया तो यह कहने का हक रहेगा?

कहने लगे: अब आप तो सब जानते ही हैं, झूठ भी कैसे कहूं? संन्यास इसीलिए ले लिया है...कि संन्यास लेने से तो मेरे हो गये, अब तो मैं फिक्र करूं!

लेकिन क्या फिक्र करवा रहे हो? पठानकोट से रांची! क्या फर्क पड़ जायेगा? क्या मांग रहे हो? इतने स्पष्ट रूप से शायद बहुत लोगों की मांग नहीं भी होती है, लेकिन गहरे में खोजोगे, अचेतन में झांकोगे तो ऐसी ही मांगें छिपी पाओगे।

विद्यार्थी आ जाते हैं, वे कहते हैं कि ध्यान करना है ताकि स्मृति ठीक हो जाये। तुम्हारी स्मृति से करना क्या है? बड़े-बड़े स्मृति वाले क्या कर पाये हैं? परीक्षा पास करनी है, कि प्रथम आना है, कि गोल्ड मेडल लाना है--तो ध्यान कर रहे हैं!

कोई आ जाता है, शरीर रुग्ण है। वह कहता है, शरीर रुग्ण रहता है। डॉक्टर कहता है कि कुछ मानसिक गड़बड़ है, इसलिए रुग्ण है। तो ध्यान कर रहे हैं!

तुम क्षुद्र मांग रहे हो विराट से। तुम्हें क्षुद्र तो मिलेगा ही नहीं, विराट से भी चूक जाओगे।

रस तो अनंत था, अंजुरी भर ही पिया
जी में वसंत था, एक फूल ही दिया
मिटने के दिन आज मुझको यह सोच है
कैसे बड़े युग में कैसा छोटा जीवन जिया!

पीछे पछताओगे! "मैं" के आसपास खड़ी हुई कोई भी मांग मत उठाओ। "मैं" के पार कुछ मांगो।

आज फिर एक बार मैं प्यार को जगाता हूं,
खोल सब मुंदे द्वार
इस अगरू, धूम, गंध
रुंधे सोने के घर के हर कोने को
सुनहली खुली धूप में नहलाता हूं
आज फिर एक बार तुमको बुलाता हूं

और जो मैं हूं
जो जाना-पहचाना, जीया,
अपनाया है, मेरा है,
धन है, संचय है,
उसकी एक-एक कनी को न्योछावर लुटाता हूं।

जो अब तक जीया, जाना, पहचाना सब न्योछावर करो, लुटा दो! भूलो, बिसरो! अतीत को जाने दो। जो नहीं हो गया, नहीं हो गया। राह खाली करो ताकि जो होने को है, वह हो। यह कूड़ा- कर्कट हटाओ।

आज फिर एक बार तुमको बुलाता हूं
और जो मैं हूं
जो जाना-पहचाना, जीया,
अपनाया है, मेरा है,
धन है, संचय है,
उसकी एक-एक कनी को न्योछावर लुटाता हूं।

प्रभु के द्वार पर तो जब तुम नंगे, रिक्त हाथ, इतने रिक्त हाथ कि तुम भी नहीं, केवल एक शून्य की भांति खड़े हो जाते हो--तभी तुम्हारी झोली भर दी जाती है।

मंदिर तुम्हारा है, देवता हैं किसके?
प्रणति तुम्हारी है, फूल झरे किसके?
नहीं-नहीं मैं झरा, मैं झुका
मैं ही तो मंदिर हूं औ" देवता तुम्हारा
वहां भीतर पीठिका पर टिके
प्रसाद से भरे तुम्हारे हाथ
और मैं यहां देहरी के बाहर ही सारा रीत गया।

जिस दिन तुम देहरी के बाहर ही सारे रीत जाओगे, उस दिन प्रभु के प्रसाद भरे हाथ बस तुम्हारी झोली में ही उंडल जाते हैं।

वहां भीतर पीठिका पर टिके
प्रसाद से भरे तुम्हारे हाथ
और मैं यहां देहरी के बाहर ही सारा रीत गया!

रीतो, यदि भरना चाहो। मिटो, अगर होना चाहो। शून्य को ही पूर्ण का आतिथ्य मिलता है।

आखिरी प्रश्न: आपकी पुस्तकें पढ़ने से ऊब आती है। ध्यान करने की इच्छा भी नहीं होती। और टेपबद्ध प्रवचन सुनने की इच्छा नहीं के बराबर है। आपके प्रवचन में भी मुझे पता चल जाता है कि आप ऐसा ही कहेंगे। फिर भी रूपांतरण नहीं होता, ऐसा क्यों? और रूपांतरण नहीं हुआ है तो फिर पढ़ने, सुनने और ध्यान करने में ऊब क्यों अनुभव होती है? और प्रभु, रोज-रोज एक ही बात दोहराने में क्या आपको ऊब नहीं आती?

ऊब को समझना चाहिए। ऊब क्या है?

ऊब के बहुत कारण हो सकते हैं। पहला कारण: जो तुम्हारी समझ में न आये, और उसे बार-बार सुनना पड़े, तो ऊब स्वाभाविक है। बार-बार सुनने से ऐसा समझ में भी आने लगे कि समझ में आ गया, और समझ में न आये, क्योंकि समझ में आ जाना कि समझ में आ गया--समझ में आ जाना नहीं है। बार-बार सुनने से ऐसा

लगने लगता है, परिचित शब्द हैं, परिचित बात है। मेरी शब्दावली कोई बहुत बड़ी तो नहीं है--मुश्किल से तीन-चार सौ शब्द। मैं कोई पंडित तो हूं नहीं! उन्हीं-उन्हीं शब्दों का बार-बार उपयोग करता हूं।

तो बार-बार सुनने से तुम्हें समझ में आने लगता है कि समझ में आ गया। और समझ में कुछ भी नहीं आया। क्योंकि समझ में आ जाये तो रूपांतरण हो जाये। समझ तो क्रांति है। तो जब तक क्रांति न हो, तब तक समझना अभी समझ में नहीं आया।

और तुम्हें जब तक समझ में न आये, तब तक मुझे दोहराना पड़ेगा। तुम्हें समझ में न आये और मैं आगे का पाठ करने लगूं, तो बात गड़बड़ हो जायेगी। तब तो तुम कभी भी न समझ पाओगे। अभी तो पहला पाठ ही समझ में नहीं आया।

तुमने महाभारत की कथा सुनी होगी। पहला पाठ द्रोण ने पढ़ाया है। अर्जुन पढ़ कर आ गया, दुर्योधन पढ़ कर आ गया, सब विद्यार्थी पढ़ कर आ गये। युधिष्ठिर ने कहा कि अभी मैं नहीं तैयार कर पाया, कल करूंगा। कल भी बीत गया, परसों भी बीत गया, दिन पर दिन बीतने लगे। द्रोण तो बहुत हैरान हुए, क्योंकि सोचा था युधिष्ठिर सबसे प्रतिभाशाली होगा। वह शांत था, सौम्य था, विनम्र था। सब विद्यार्थी आगे बढ़ने लगे। कोई दसवें पाठ पर पहुंच गया, कोई बारहवें पाठ पर पहुंच गया--यह पहले पर अटका है। यह तो बड़ी गड़बड़ हो गयी। एक सप्ताह बीतते-बीतते तो गुरु का धैर्य भी टूट गया। और उन्होंने पूछा कि मामला क्या है? पहले पाठ में ऐसी अड़चन क्या है?

युधिष्ठिर ने कहा: जैसा और करके आये हैं, अगर वैसा ही मुझसे भी करने को कहते हों तो कोई अड़चन नहीं है।

पहला पाठ था, उसमें वचन था: सत्य बोलो। सब याद करके आ गये कि पहला पाठ, सत्य बोलो। युधिष्ठिर ने कहा, लेकिन तब से मैं सत्य बोलने की कोशिश कर रहा हूं, अभी तक सध नहीं पाया, अभी झूठ हो जाता है। तो जब तक सत्य बोलना न आ जाये, दूसरे पाठ पर हटना कैसे?

तब शायद द्रोण को लगा होगा कि कैसी भ्रांत बात उन्होंने सोच ली थी इसके लिए! सब बच्चे याद करके आ गये थे--सत्य बोलो--जैसा तोता याद कर लेता है। तोते को याद करवा दो, सत्य बोलो, सत्य बोलो, तो दोहराने लगेगा। लेकिन सत्य बोलो, यह दोहराने से सत्य बोलना थोड़े ही शुरू होता है! उससे तो मतलब ही न था किसी को। किसी ने पाठ को उस गहराई से तो लिया ही न था। युधिष्ठिर ने कहा कि प्रभु, अगर पूरे जीवन में यह एक पाठ भी आ जायेगा तो धन्य हो गया! अब दूसरे पाठ तक जाने की जरूरत भी क्या है? सत्य बोलो--बात हो गयी। अब तो मुझे इस पहले पाठ में रम जाने दें; रसमग्न हो जाने दें।

तुम सुनते हो--वही शब्द, वही सत्य की ओर इशारे। तुम्हें बार-बार सुन कर लगता है समझ में आ गया। युधिष्ठिर बनो। समझ में तभी मानना जब जीवन में आ जाये। और जब तक तुम्हारे जीवन में न आ जाये, अगर मैं दूसरे पाठों पर बढ़ जाऊं, तो तुमसे मेरा संबंध छूट जायेगा।

और फिर एक और अड़चन की बात है। जो मैं तुम्हें सिखा रहा हूं, उसमें दूसरा पाठ ही नहीं है, बस एक ही पाठ है। इस पुस्तक में कुल एक ही पाठ है। तुम मुझसे जिस ढंग से चाहो कहलवा लो। कभी अष्टावक्र के बहाने, कभी महावीर के, कभी बुद्ध के, कभी पतंजलि के, कबीर के, मुहम्मद के, ईसा के--तुम जिस ढंग से चाहो मुझसे कहलवा लो। मैं तुमसे वही कहूंगा। पाठ एक है। थोड़े-बहुत यहां-वहां फर्क हो जायेंगे तुम्हें समझाने के, लेकिन जो मैं समझा रहा हूं, वह एक है। तुम चाहो किसी भी उंगली से कहो, मैं जो बताऊंगा वह चांद एक है। उंगलियां पांच हैं मेरे पास, दस हैं--कभी इस हाथ से बता दूंगा, कभी इस हाथ से बता दूंगा; कभी एक उंगली से, कभी दूसरी उंगली से; कभी मुट्ठी बांध कर बता दूंगा--लेकिन चांद तो एक है। उस चांद की तरफ ले जाने की बात भी अनेक नहीं हो सकती।

तो जो समझ से भरे हैं, जो थोड़े समझपूर्वक जी रहे हैं, वे तो आह्लादित होंगे कि मैं वही-वही बात बहुत-बहुत रूपों में उनसे कहे जा रहा हूं। जगह-जगह से चोट कर रहा हूं। लेकिन कील तो एक ही ठोकनी है। नये-नये बहाने खोज रहा हूं, लेकिन कील तो एक ही ठोकनी है।

लेकिन जो केवल बुद्धि से सुनेंगे और सुन कर समझ लेंगे समझ में आ गया--क्योंकि सुन तो लिये शब्द, जान तो लिये शब्द--उनको अड़चन होगी, वे ऊबने लगेंगे। तो एक तो ऊब इसलिए पैदा हो जाती है।

दूसरी ऊब का कारण और भी है। जब तुम मेरे पास पहली दफा सुनने आते हो तो अक्सर जो मैं कह रहा हूं, उसमें तुम्हारी उत्सुकता कम होती है; जिस ढंग से कह रहा हूं, उसमें ज्यादा होती है। लोग बाहर जा कर कहते हैं: खूब कहा! क्या कहा, उससे मतलब नहीं है। कहने के ढंग से मतलब है। अब ढंग तो मेरा, मेरा ही होगा। रोज-रोज तुम सुनोगे, धीरे-धीरे तुम्हें लगने लगेगा कि यह शैली तो पुरानी पड़ गयी। यह भी स्वाभाविक है। अगर तुम्हारा शैली में रस था तो आज नहीं कल ऊब पैदा हो जायेगी।

फिर बहुत लोग हैं, जो सिर्फ केवल मैं जो कभी छोटी-मोटी कहानियां बीच में कह देता हूं, उन्हीं को सुनने आते हैं। मेरे पास पत्र तक लिख कर भेज देते हैं कि आपने दोत्तीन दिन से मुल्ला नसरुद्दीन को याद नहीं किया? मैं महावीर पर बोल रहा हूं, वे मुल्ला नसरुद्दीन को सुन रहे हैं। मैं मुहम्मद पर बोल रहा हूं, वे मुल्ला नसरुद्दीन को सुन रहे हैं। मैं मूसा पर बोल रहा हूं, वे मुल्ला नसरुद्दीन को सुन रहे हैं। मैं मनु पर बोल रहा हूं, वे मुल्ला नसरुद्दीन को सुन रहे हैं।

यह तो ऐसे हुआ कि मैंने भोजन तुम्हारे लिए सजाया और तुम चटनी-चटनी खाते रहे। चटनी स्वादिष्ट है, माना; लेकिन चटनी से पुष्टि न मिलेगी। ठीक था, रोटी के साथ लगा कर खा लेते। इसीलिए चटनी रखी थी कि रोटी तुम्हारे गले के नीचे उतर जाये। चटनी तो बहाना थी, रोटी को गले के नीचे ले जाना था। बिना चटनी के चली जाती तो अच्छा, नहीं जाती तो चटनी का उपयोग कर लेते। तुम रोटी भूल ही गये, तुम चटनी ही चटनी मांगने लगे।

तो धीरे-धीरे ऐसा आदमी भी ऊब जायेगा। क्योंकि वह देखेगा यह आदमी तो रोटी खिलाने पर जोर दे रहा है। तुम चटनी के लिए आये, मेरा जोर रोटी पर है। चटनी का उपयोग भी करता हूं तो सिर्फ रोटी कैसे तुम्हारे गले के भीतर उतर जाये। तुम्हारे आने के कारण तुम जानो; मेरा काम मैं जानता हूं, कि तुम्हारे गले के नीचे कोई सत्य उतारना है। बाकी सब आयोजन है सत्य को उतारने का। अगर तुम रूखा-सूखा उतारने को राजी हो--सुविधा, सरलता से हो जायेगा। अन्यथा पकवान बनायेंगे, बहाना खोजेंगे; लेकिन डालेंगे तो वही जो डालना है। तो उससे भी ऊब पैदा हो जाती है।

फिर जिसने पूछा है..."समाधि" ने पूछा है। एक वक्त था, मैं सारे देश में घूम रहा था। मेरे बोलने का ढंग दूसरा था। भीड़ से बोल रहा था। भीड़ मेरे साथ किसी तरंग में बंधी हुई नहीं थी। हजार तरह के लोग थे। तल लोगों का स्वभावतः लोगों का तल था। भीड़ से बोलना हो तो भीड़ की तरह बोलना होता है। सारे देश में घूम रहा था। एक गांव में कभी फिर आता साल भर बाद, दो साल बाद। उस समय जिन लोगों ने मुझे सुना उनको बातें ज्यादा समझ में आ जाती थीं--उनके तल की थीं। लेकिन मैं किसी और प्रयोजन से घूम रहा था। उनके मनोरंजन के लिए नहीं घूम रहा था। मैं तो इस प्रयोजन से घूम रहा था कि कुछ लोगों को इनमें से चुन लूंगा, खोज लूंगा; द्वार-द्वार दस्तक दे आऊंगा। फिर जो सच में ही यात्रा पर राजी है, वह मेरे पास आयेगा। तब मैं तुम्हारे पास आया था। अब मैं तुम्हारे पास नहीं आता; अब तुम्हें मेरे पास आना है।

"समाधि" उन्हीं दिनों में मुझमें उत्सुक हुई थी। उन दिनों जो लोग मुझमें उत्सुक हुए थे, उनमें से बहुत से लोग चले गये। जायेंगे ही, क्योंकि उनकी उत्सुकता का कारण समाप्त हो गया। तब मैं जो बोल रहा था, वह सनसनीखेज था। अब जो मैं बोल रहा हूं, वह अति गंभीर है। तब मैं जो बोल रहा था, वह भीड़ के लिए था; अब जो मैं बोल रहा हूं वह क्लास के लिए है, वह एक विशिष्ट वर्ग के लिए है--संस्कारनिष्ठ। तब जो मैं बोल रहा था,

वह कुतूहल जिनको था, उनके लिए भी ठीक था। आज तो उनके लिए बोल रहा हूं जो जिज्ञासा से भरे हैं। और वस्तुतः उनके लिए बोल रहा हूं जो मुमुक्षा से भरे हैं।

तो फर्क पड़ गया है। तो उन दिनों जो लोग मेरे पास आये थे, उनमें से निन्यानबे प्रतिशत लोग चले गये। मैं जानता ही था कि वे चले जायेंगे। उनके लिए मैं बोला भी न था। वह तो एक प्रतिशत जो बच गये, उन्हीं के कारण मुझे निन्यानबे प्रतिशत से भी बोलना पड़ा था। उन एक को मैंने चुन लिया है।

अब, अब यहां भीड़ से बात नहीं हो रही। अब मैं तुम्हारी तरफ बहुत ध्यान दे कर नहीं बोलता हूं। अब इसकी फिक्र नहीं करता हूं कि तुम्हें रुचेगा, नहीं रुचेगा; तुम्हें जंचेगा, नहीं जंचेगा। अब तुम पर ध्यान रख कर नहीं बोलता। अब तो जो मुझे बोलना है, उस पर ज्यादा ध्यान है।

और मैं धीरे-धीरे चाहूंगा, जिन लोगों को रुचिकर न लगता हो, ऊब आती हो--वे हटें, वे विदा हो जायें। क्योंकि मैं तो धीरे-धीरे और गहरा होता जाऊंगा। जल्दी ही ऐसी घड़ी आयेगी, यहां बहुत थोड़े-से पक्षी रह जायेंगे। और जब वे थोड़े-से पक्षी रह जायेंगे, तो मुझे जो ठीक-ठीक कहना है, वही उनसे कह सकूंगा।

देखा, प्राइमरी स्कूल में तो हजारों, लाखों विद्यार्थी भरती होते हैं; मिडल स्कूल में छंट जाते हैं, हाई स्कूल में और छंट जाते हैं, कालेज में आ कर और छंट जाते हैं; विश्वविद्यालय में और छंट जाते हैं--छंटते जाते हैं। आखिर में तो बहुत थोड़े-से लोग रह जाते हैं।

मेरे बोलने में यह सब सीढ़ियां पार हुई हैं। इसमें कई तरह की झंझटें भी हो गयीं। कुछ प्राइमरी स्कूल के विद्यार्थी भी अटके रह गये। लगाव बन गया उनका मुझसे; रुक गये, जा न सके। कुछ मिडल स्कूल के विद्यार्थी भी रह गये; उनका लगाव बन गया, वे न जा सके। अब उनकी बड़ी अड़चन है। अब उनकी बड़ी फांसी लगी है। अब वे जा नहीं सकते, क्योंकि मुझसे लगाव बन गया है। और अब उनकी समझ में भी नहीं आता कि क्या हो रहा है। यह क्या कहा जा रहा है? यह उनसे बहुत पार पड़ रहा है।

जिसको भी ऊब आती हो--या तो अपने को बदलो या मुझे छोड़ो। दो ही उपाय हैं। मैं बदलने को नहीं हूं। अब मैं कुछ ऐसी बात न कहूंगा जिससे तुम्हारी वह ऊब कम हो। सच तो यह है, जो आखिर में बच जायेंगे उनके लिए मैं इस तरह से बोलूंगा कि उसमें ऊब ही ऊब होगी।

तुम शायद जानते न होओ, लेकिन ऊब ध्यान का एक प्रयोग है। बचकानी आदत है कि सदा नया खिलौना चाहिए; नयी चीज चाहिए; नयी पत्नी चाहिए; नया मकान चाहिए। बचकानी आदत है। यह बचपना है, प्रौढ़ता नहीं है।

सदियों से सदगुरुओं ने प्रयोग किया है ऊब का। झेन आश्रम में जापान में सारी व्यवस्था बोरडम की है, ऊब की है। तीन बजे रात उठ आना पड़ेगा, नियम से, घड़ी के कांटे की तरह। स्नान करना होगा। बंधे हुए मिनिट मिले हुए हैं। चाय मिल जायेगी--वही चाय जो तुम बीस वर्ष से पी रहे हो, उसमें रत्ती भर फर्क नहीं होगा। फिर ध्यान के लिए बैठ जाना है--वही ध्यान जो तुम वर्षों से कर रहे हो, वही आसन। साधुओं के सिर घोंट देते हैं ताकि उनके चेहरों में ज्यादा भेद न रह जाये। घुटे सिर करीब-करीब एक-से मालूम होने लगते हैं--खयाल किया तुमने? अधिकतर चेहरे का फर्क बालों से है। सिर घोंट डालो सबके, तुम्हें अपने मित्र भी पहचानने मुश्किल हो जायेंगे। जैसे मिलिट्री में चले जाओ तो एक-सी वर्दी--ऐसी एक-सी वर्दी साधुओं की।

देखते हैं, मैंने गेरुआ पहना दिया है! उससे व्यक्तित्व क्षीण होता है। तो बौद्ध भिक्षु एक-सा वस्त्र पहनता है, सिर घुटे होते, एक-से कृत्य करता है, एक-सी चाल चलता है। वही रोज। फिर ध्यान चल कर करना है, फिर बैठ कर करना है, फिर चल कर करना है। दिन भर ध्यान...! फिर वही गुरु, फिर वही प्रश्न, फिर वही उत्तर, फिर वही प्रवचन, फिर वही बुद्ध के सूत्र, फिर रात, फिर ठीक समय पर सो जाना है। वही भोजन रोज!

तुम चकित होओगे कि झेन आश्रमों में उन्होंने वृक्ष तक हटा दिये हैं। क्योंकि वृक्षों में रूपांतरण होता रहता है। कभी पत्ते आते, कभी झर जाते; कभी फूल खिलते, कभी नहीं खिलते। मौसम के साथ बदलाहट होती

है। तो इतनी बदलाहट भी पसंद नहीं की। झेन आश्रमों में उन्होंने रेत और चट्टान के बगीचे बनाये हैं। उनके ध्यान-मंदिर के पास जो बगीचा होता है, रॉक गार्डन, वह पत्थर और चट्टान का बना होता है, और रेत। उसमें कभी कोई बदलाहट नहीं होती है। वह वैसा का वैसा प्रतिदिन। तुम फिर आये, फिर आये--वही का वही, वही का वही! क्या प्रयोजन है यह? इसके पीछे कारण है।

जब तुम वही-वही सुनते, वही-वही करते, वही-वही चारों तरफ बना रहता तो धीरे-धीरे तुम्हारी नये की जो आकांक्षा है बचकानी, वह विदा हो जाती है। तुम राजी हो जाते हो। तो मन का कुतूहल मर जाता है और कुछ उत्तेजना खोजने की आदत खो जाती है।

ऊब से गुजरने के बाद एक ऐसी घड़ी आती है जहां शांति उपलब्ध होती है। नये का खोजी कभी शांत नहीं हो सकता। नये का खोजी तो हमेशा झंझट में रहेगा। क्योंकि हर चीज से ऊब पैदा हो जायेगी।

तुम देखते नहीं, एक मकान में रह लिये, जब तक नया था, दो-चार दिन ठीक, फिर पंचायत शुरू। फिर यह कि कोई दूसरा मकान बना लें, कि दूसरा खरीद लें। एक कपड़ा पहन लिया, अब फिर दूसरा बना लें।

स्त्रियां, देखते हो साड़ियों पर साड़ियां रखे रहती हैं। घंटों लग जाते हैं उन्हें, पति हॉर्न बजा रहा है नीचे। ट्रेन पकड़नी, कि किसी जलसे में जाना, कि शादी हुई जा रही होगी और ये अभी यहीं घर से नहीं निकले हैं और पत्नी अभी यही नहीं तय कर पा रही है...एक साड़ी निकालती, दूसरी निकालती। साड़ी का इतना मोह! नये का, बदलाहट का! जो साड़ी एक दफा पहन ली, फिर रस नहीं आता। वह तो दिखा चुकी उस साड़ी में अपने रूप को, अब दूसरा रूप चाहिए। बाल के ढंग बदलो। बाल की शैली बदलो। नये आभूषण पहनो। कुछ नया करो!

यही तो बचकाना आदमी है। यही आग्रह ले कर अगर तुम यहां भी आ गये कि मैं तुमसे रोज नयी बात कहूं, तो तुम गलत जगह आ गये। मैं तो वही कहूंगा। मेरा स्वर तो एक है। सुनते-सुनते धीरे-धीरे तुम्हारे मन की यह चंचलता--नया हो--खो जायेगी। इसके खोने पर ही जो घटता है, वह शांति है। ऊब से गुजर जाने के बाद जो घटता है वह शांति है।

तो यह प्रवचन सिर्फ प्रवचन नहीं है, यह तो ध्यान का एक प्रयोग भी है। इसलिए तो रोज बोले जाता हूं। कहने को इतना क्या हो सकता है? करीब तीन साल से निरंतर रोज बोल रहा हूं। और तीस साल भी ऐसे ही बोलता रहूंगा, अगर बचा रहा। तो कहने को नया क्या हो सकता है? तीन सौ साल भी बोलता रह सकता हूं। इससे कुछ अंतर ही नहीं पड़ता। यह तो ध्यान का एक प्रयोग है। और जो यहां बैठ कर मुझे सच में समझे हैं, वे अब इसकी फिक्र नहीं करते कि मेरे शब्द क्या हैं, मैं क्या कह रहा हूं--अब तो उनके लिए यहां बैठना एक ध्यान की वर्षा है।

फिर अगर तुम पहले से कुछ सुनने का आग्रह ले कर आये हो तो मुश्किल हो जाती है। तुम अगर मान कर चले हो कि ऐसी बात सुनने को मिलेगी, कि मनोरंजन होगा, कि ऐसा होगा, वैसा होगा--तो अड़चन हो जाती है। तुम अगर खाली-खाली आये हो कि जो होगा देखेंगे, तो अड़चन नहीं होती।

एक दिन मुल्ला नसरुद्दीन अपनी पत्नी से झगड़ कर काम पर जा रहा था। गुस्से में था, गुस्से से भरा था कि रास्ते में किसी ने पूछा: बड़े मियां, आपकी घड़ी में समय क्या है? वह बोला: तुमको इससे क्या मतलब?

झगड़े से भरा आदमी! कोई घड़ी में समय भी पूछ ले तो वह कहता है: "तुमको इससे क्या मतलब?" बजा होगा जो बजा होगा मेरी घड़ी में। घड़ी मेरी है, तुम्हें इससे क्या मतलब? एक धुआं है उसकी आंख पर--उससे ही चीजों को देखने की वृत्ति होती है।

तो तुम अगर कुछ धुआं ले कर आ गये हो--किसी भी तरह का धुआं: लगाव का, विरोध का--तो अड़चन होगी। अगर तुम इसलिए भी आ गये हो कि कुछ नया सुनने को मिलेगा तो अड़चन होगी। मैंने कुछ ऐसा आश्वासन दिया नहीं। तुम अगर खाली-खाली आ गये हो कि मेरे पास बैठना मिलेगा। घड़ी भर मेरे पास होने का

मौका मिलेगा। बोलना तो बहाना है। सुनना तो बहाना है। थोड़ी देर साथ-साथ हो लेंगे, एक धारा में बह लेंगे--तो फिर जो भी तुम सुनोगे वही सार्थक होगा। उसी में रसधार बहेगी। तो तुम्हारे सुनने पर निर्भर करता है।

और यह बात तो "समाधि" को भी समझ में आती है कि रूपांतरण नहीं हुआ है।

"तो फिर पढ़ने, सुनने और ध्यान करने में ऊब क्यों अनुभव होती है?"

शायद रूपांतरण तुमने चाहा भी नहीं है अभी। "समाधि" को मैं जानता हूं। शायद रूपांतरण की अभी चाह भी नहीं है। चाह शायद कुछ और है। और वह चाह पूरी नहीं हो रही। किसी को धन चाहिए; धन नहीं मिल रहा है, सोचता है चलो धर्म में ध्यान लगा दें। मगर भीतर तो चाह धन की है। किसी को प्रेम चाहिए; प्रेम नहीं मिल रहा है, वह सोचता है चलो, किसी तरह अपने को धर्म में उलझा लें, ध्यान में लगा लें--लेकिन भीतर तो प्रेम की खटक बनी है। तो अपने भीतर खोजो।

रूपांतरण जिसको चाहिए उसका हो कर रहेगा। लेकिन तुम्हें चाहिए ही न हो, तुम कुछ और चाहते होओ और यह रूपांतरण की बात केवल ऊपर-ऊपर से लपेट ली हो, यह केवल आभूषण मात्र हो, यह केवल बहाना हो कुछ छिपा लेने का--तो अड़चन हो जायेगी। फिर यह न हो सकेगा। फिर तुम वही सुनना चाहोगे जो तुम सुनना चाहते हो।

अभी ऐसा हुआ कि बुद्ध के सूत्रों पर जब मैं बोल रहा था, तो बुद्ध ने तो ऐसी बातें कही हैं जो कि पश्चिम से आने वाले यात्रियों को नहीं जंचती हैं। उसके पहले मैं हसीद फकीरों पर बोल रहा था। तो हसीद फकीर तो ऐसी बात कहते हैं जो पश्चिम के यात्री को जंच सकती हैं। हसीद फकीर तो कहते हैं, परमात्मा का है यह संसार। सब राग-रंग उसका। पत्नी-बच्चे भी ठीक। भोग में ही प्रार्थना को जगाना है। भोग भी प्रार्थना का ही एक ढंग है। तो जम रहा था। फिर बुद्ध के वचन आये। और बुद्ध के वचनों में बुद्ध ने ऐसी बातें कही हैं कि स्त्री क्या है? हड्डी, मांस, मज्जा का ढेर! चमड़े का एक बैग, थैला, उसमें भरा है कूड़ा-कबाड़, गंदगी!

तो अनेक पश्चिमी मित्रों ने पत्र लिख कर भेजे कि बुद्ध की बात हमें जमती नहीं और बड़ी तिलमिलाती है। एक स्त्री ने तो लिख कर भेजा कि मैं छोड़ कर जा रही हूं। यह भी क्या बात है! मैं तो यहां इसलिए आयी थी कि मेरा प्रेम कैसे गहरा हो? और यहां तो विराग की बातें हो रही हैं।

अब अगर तुम प्रेम गहरा करने आये हो तो निश्चित ही बुद्ध की बात बड़ी घबराहट की लगेगी। वह स्त्री तो नाराजगी में छोड़ कर चली भी गयी। यह तो पत्र लिख गयी कि यह बात मैं सुनने आयी नहीं हूं, न मैं सुनना चाहती हूं। शरीर तो सुंदर है और ये कहते हैं, कूड़ा-कर्कट, गंदगी भरी है। बुद्ध के वचन सुनने हों और अगर तुम प्रेम की खोज में आये हो तो बड़ी मुश्किल हो जायेगी।

"समाधि" ने अभी संसार जीया नहीं--जीने की आकांक्षा है। और जीने की हिम्मत भी नहीं।

मेरे पास युवक आ जाते हैं, जो कहते हैं कामवासना से छुटकारा दिलवाइये। ब्रह्मचर्य की बात जंचती है। अभी युवक हैं। अभी कामवासना का दुख भी नहीं भोगा, तो छुटकारा कैसे होगा? और कामवासना में जाने की हिम्मत भी नहीं है। क्योंकि वे कहते हैं उत्तरदायित्व हो जायेगा; शादी कर ली, बच्चे हो जायेंगे, फिर संन्यास का क्या होगा? फिर निकल पायेंगे कि नहीं निकल पायेंगे? झंझट से डरे भी हैं। और झंझट झंझट है, ऐसा अभी स्वयं का अनुभव भी नहीं है।

तो मैं तो उनसे कहता हूं: झंझट उठा लो। धर्म इतना सस्ता नहीं है। धर्म तो जीवन के अनुभव से ही आता है।

तो तुम अगर कुछ सुनने आये हो, तुम्हारी कुछ मान्यता है, कुछ धारणा है, भीतर कोई रस है, उससे मेल न खायेगी बात, तो तुम ऊबोगे, परेशान होओगे। तुम्हें लगेगा व्यर्थ की बकवास चल रही है। लेकिन अगर तुम खाली आये हो, खोज की घड़ी आ गयी है, फल पक गया है, तो हवा का जरा-सा झोंका, और फल गिर जायेगा! यह जो मैं तुमसे कह रहा हूं, तूफानी हवा बहा रहा हूं। अगर फल जरा भी पका है तो गिरने ही वाला है। अगर नहीं गिरता है तो कच्चा है और अभी गिरने का समय नहीं आया है।

पको! जल्दी है भी नहीं। मत सुनो मेरी बात। जहां से ऊब आती हो, सुनना ही क्यों? जाना क्यों? छोड़ो! जहां रस आता हो वहां जाओ। अगर जीवन में रस आता हो तो घबराओ मत। ऋषि-मुनियों की मत सुनो! जाओ जीवन में उतरो! नरक को भोगोगे तो ही नरक से छूटने की आकांक्षा पैदा होगी। दुख को जानोगे तो ही रूपांतरण का भाव उठेगा।

यह क्रांति सस्ती नहीं है। केवल उन्हीं को होती है जिनके स्वानुभव से ऐसी घड़ी आ जाती है, जहां उन्हें लगता है, बदलना है। नहीं कि किसी ने समझाया है, इसलिए बदलना है। जहां खुद ही के प्राण कहते हैं: बदलना है! अब बिना बदले न चलेगा।

मेरी बातें तुम्हें नहीं बदल देंगी। तुम बदलने की स्थिति में आ गये तो मेरी बातें चिनगारी का काम करेंगी; तुम्हारे घर में आग लग जायेगी।

एक आदमी मर गया। स्वर्ग पहुंचा। परमात्मा ने उससे पूछा: नीचे की दुनिया में क्या-क्या किया? उसने कहा: मैं साधु पुरुष था, मैंने कुछ किया नहीं।

परमात्मा ने पूछा: शराब पी?

उसने कहा: आप भी कैसी बातें कर रहे हैं! सदा दूर रहा!

"स्त्रियों से संबंध बनाये?"

उसने कहा: मैं यह सोच भी नहीं सकता कि परमात्मा और ऐसे प्रश्न पूछेगा! अरे रामायण का कोई प्रश्न पूछो कि गीता का, जो मैं कंठस्थ करता रहा। यह भी क्या बात!

परमात्मा ने कहा: अच्छा सिगरेट तो पी ही होगी?

वह आदमी नाराज हो गया। उसने कहा: बंद करो बकवास! मैं साधु-पुरुष...!

तो परमात्मा ने कहा कि भले आदमी! तब तुझे नीचे भेजा ही क्यों था, झख मारने को? तो इतने दिन क्या करता रहा? कहां रहा तू इतने दिन? और करता क्या था? और अगर यह कुछ भी नहीं किया तो तेरी साधुता का कितना मूल्य होगा? तेरी साधुता एक तरह की कायरता है। तू वापिस जा।

साधुता तो फल है--बड़े विकास का! जीवन की सारी पीड़ाओं, सारे संकटों, सारे संघर्षों से गुजर कर साधुता का फल लगता है।

तो मैं जो बातें कह रहा हूं, तभी तुम्हारे हृदय में प्रवेश करेंगी, हृदय उनकी मंजूषा बनेगा--वह तुमने जीवन को जाग कर देखा, भोगा, तपे, भटके, द्वार-द्वार ठोकरें खायीं। हजार द्वारों पर ठोकरें खा कर ही कोई मंदिर के द्वार तक आ पाता है। और फिर तुम कहीं भी हो, फिर उसकी अहर्निश ध्वनि सुनाई पड़ने लगती है।

तन त्रस्त कहीं मन मस्त वहीं
जिस ठौर की मौजें रागों की
रस के सागर से झूल झपट
जीवन के तट पर टकरातीं।
तन त्रस्त कहीं मन मस्त वहीं
जिस ठौर लहरियां रागों की
रस के मानस की गोदी में
चिर सुषमा का सावन गातीं।

फिर तन कहीं भी हो। फिर तुम्हारा शरीर कहीं भी हो, कैसी-ही दशा में हो...।

तन त्रस्त कहीं मन मस्त वहीं
जिस ठौर की मौजें रागों की
रस के सागर से झूल झपट
जीवन के तट पर टकरातीं।
तन त्रस्त कहीं मन मस्त वहीं
जिस ठौर लहरियां रागों की

रस के मानस की गोदी में
चिर सुषमा का सावन गातीं।

लेकिन तन के रास्ते से गुजरना होगा। बिना गुजरे नहीं कुछ मिल सकेगा। क्रांति घटेगी, निश्चित घटेगी; लेकिन सस्ती नहीं घटती--अर्जित करनी है।

यहां दूसरा वर्ग भी है सुनने वालों का, जो पक कर आया है। उसकी बात कुछ और हो जाती है।

एक मित्र ने लिखा है:
तेरे मिलन में एक नशा है गुलाबी
उसी को पी कर के चूर हूं मैं
अब खो गया हूं होश में
बेहोश होने का गरूर है मुझे।

एक दूसरे मित्र ने लिखा है:

हे प्रभु, अहोभाव के आंसुओं में डूबे मेरे प्रणाम स्वीकार करें और पाथेय व आशीष दें कि अचेतन में छिपी वासनाओं के बीज दग्ध हो जायें।

एक और मित्र ने लिखा है:
मैं अज्ञानी मूढ़ जनम से
इतना भेद न जाना
किसको मैं समझूं अपना
किसको समझूं बेगाना
कितना बेसुर था यह जीवन
ढाल न पाया इसको लय में
इन अधरों पर हंसी नहीं थी
चमक नहीं थी इन आंखों में
लेकिन आज दरस प्रभु का पा
सब कुछ मैंने पाया!

निर्भर करता है--तुम्हारी चित्त-दशा पर निर्भर करता है। कुछ हैं जो ऊब जायेंगे; कुछ हैं जिन्हें प्रभु का दरस मिल जायेगा। कुछ हैं जो ऊब जायेंगे; कुछ हैं जिनके लिए मंदिर के द्वार खुल जायेंगे। सब तुम पर निर्भर है।

हरि ॐ तत्सत्!

तिरतालीसवां प्रवचन

प्रभु की प्रथम आहट -- निस्तब्धता में

अष्टावक्र उवाच।

यत्त्वं पश्यसि तत्रैकस्त्वमेव प्रतिभाससे।
किं पृथक भासते स्वर्णात्कट कांगदनूपुरम्।। १३९।।
अयं सोऽहमयं नाहं विभागमिति संत्यज।
सर्वमात्मेति निश्चित्य निःसंकल्पः सुखी भव।। १४०।।
तवैवाज्ञानतो विश्वं त्वमेकः परमार्थतः।
त्वत्तोऽन्यो नास्ति संसारी नासंसारी च कश्चन।। १४१।।
भ्रांतिमात्रमिदं विश्वं न किंचिदिति निश्चयी।
निर्वासनः स्फूर्तिमात्रो न किंचिदिवि शाम्यति।। १४२।।
एक एव भवांभोधावासीदस्ति भविष्यति।
न ते बंधोऽस्ति मोक्षो वा कृतकृत्यः सुखं चर।। १४३।।
मा संकल्पविकल्पाभ्यां चित्तं क्षोभय चिन्मय।
उपशाम्य सुखं तिष्ठ स्वात्मयानंदविग्रहे।। १४४।।
त्यजैव ध्यानं सर्वत्र मा किंचिद्धृदि धारय।
आत्मा त्वं मुक्त एवासि किंविमृश्य करिष्यसि।। १४५।।

पहला सूत्रः

अष्टावक्र ने कहा, "जिसको तू देखता है उसमें एक तू ही भासता है। क्या कंगना, बाजूबंद और नूपुर सोने से भिन्न भासते हैं?"

यत्त्वं पश्यसि तत्रैकस्त्वमेव प्रतिभाससे।

जगत जैसे दर्पण है; हम अपने को ही बार-बार देख लेते हैं; अपनी ही प्रतिछवि बार-बार खोज लेते हैं। जो हम हैं, वही हमें दिखाई पड़ जाता है। साधारणतः हम सोचते हैं, जो हमें दिखाई पड़ रहा है, बाहर है। फूल में सौंदर्य दिखा तो सोचते हैं, सुंदर होगा फूल। नहीं, सौंदर्य तुम्हारी आंखों में हैं। वही फूल दूसरे को सुंदर न भी हो। किसी तीसरे को उस फूल में न सौंदर्य हो, न असौंदर्य हो; कोई तटस्थ भी हो। किसी चौथे को उपेक्षा हो। जो तुम्हारे भीतर है वही झलक जाता है। किसी बात में तुम्हें रस आ जाता है--रस तुम्हीं उंडेलते हो। किसी दूसरे को जरूरी नहीं कि उसी में रस आ जाये। तुम डोल उठते हो किसी गीत को सुनकर और किसी दूसरे प्राण की वीणा जरा भी नहीं बजती।

मनस्विद, तत्वविद, दार्शनिक सदियों से चेष्टा करते रहे हैं परिभाषा करने की--सौंदर्य की, शिवम् की, सत्यम् की। परिभाषा हो नहीं पाती। पश्चिम के बहुत बड़े विचारक जी. ई. मूर ने एक किताब लिखी है, प्रिंसिपिया इथिका। अनूठी किताब है; बड़े श्रम से लिखी गई है। सदियों में कभी ऐसी कोई एक किताब लिखी जाती है। चेष्टा की है शुभ की परिभाषा करने की कि शुभ क्या है। व्हाट इज गुड! दो ढाई सौ पृष्ठों में बड़ी तीव्र मेधा का प्रयोग किया है। और आखिरी निष्कर्ष है कि शुभ अपरिभाष्य है। द गुड इज इनडिफाइनेबल। यह खूब निष्पत्ति हुई!

सौंदर्यशास्त्री सदियों से सौंदर्य की परिभाषा करने की चेष्टा करते रहे हैं, सौंदर्य क्या है? क्योंकि परिभाषा ही न हो तो शास्त्र कैसे बनें! लेकिन अब तक कोई परिभाषा कर नहीं पाया। पूरब की दृष्टि को समझने की

कोशिश करो। पूरब कहता है, परिभाषा हो नहीं सकती। क्योंकि व्यक्ति-व्यक्ति का सौंदर्य अलग है। और व्यक्ति-व्यक्ति का शुभ भी अलग है। व्यक्ति वही देख लेता है जो देखने में समर्थ है। व्यक्ति अपने को ही देख लेता है।

"जिसको तू देखता है उसमें एक तू ही भासता है।"

कृष्णमूर्ति का आधारभूत विचार है: "द आब्जर्वर इज द आबर्जव्ड।" वह जो दृश्य है, द्रष्टा ही है। पीछे हमने अष्टावक्र के सूत्रों में समझने की कोशिश की कि जो दृश्य है वह द्रष्टा कभी नहीं है। अब एक कदम और आगे है। इसमें विरोधाभास दिखेगा।

किसी ने प्रश्न भी पूछा है कि आप कहते हैं, जो दृश्य है वह द्रष्टा कभी नहीं; और कृष्णमूर्ति कहते हैं, दृश्य द्रष्टा ही है। ये दोनों बातें तो विरोधाभासी हैं, कौन सच है?

ये बातें विरोधाभासी नहीं हैं--दो अलग तलों पर हैं। पहला तल है; पहले ज्ञान की किरण जब फूटती है तो वह इसी मार्ग से फूटती है, जान कर कि जो दृश्य है वह मुझसे अलग है। समझने की कोशिश करें। तुम जो देखते हो, निश्चित ही तुम देखने वाले उससे अलग हो गये। जो भी तुमने देख लिया, तुम उससे पार हो गये। तुम, जो दिखाई पड़ गया, वह तो न रहे। दृश्य तो तुम न रहे। दृश्य तो दूर पड़ा रह गया। तुम तो खड़े हो कर देखने वाले हो गये।

तुम यहां मुझे देख रहे हो तो निश्चित ही तुम मुझसे अलग हो गये। तुम मुझे सुन रहे हो, तुम मुझसे अलग हो गये। जो भी तुम देख लेते, छू लेते, सुन लेते, स्पर्श कर लेते, स्वाद ले लेते, जिसका तुम्हें अनुभव होता है, वह तुमसे अलग हो जाता है। यह ज्ञान की पहली सीढ़ी है।

जैसे ही यह सीढ़ी पूरी हो जाती है और तुम द्रश्य से अपने द्रष्टा को मुक्त कर लेते हो, तब दूसरी घटना घटती है। पहला तुम्हें करना होता है, दूसरा अपने से होता है। दूसरी घटना बड़ी अपूर्व है। जैसे ही तुमने दृश्य से द्रष्टा को अलग कर लिया, फिर द्रष्टा द्रष्टा भी नहीं रह जाता। क्योंकि द्रष्टा बिना दृश्य के नहीं रह सकता; वह दृश्य के साथ ही जुड़ा है। जब दृश्य खो गया तो द्रष्टा भी खो गया। तुम द्रष्टा की परिभाषा कैसे करोगे? दृश्य के बिना तो कोई परिभाषा नहीं हो सकती। दृश्य को तो लाना पड़ेगा। और जिस द्रष्टा की परिभाषा में दृश्य को लाना पड़ता है वह दृश्य से अलग कहां रहा? वह एक ही हो गया। दृश्य के गिरते ही द्रष्टा भी गिर जाता है। पहले दृश्य को गिरने दो, फिर दूसरी घटना अपने से घटेगी। तुमने दृश्य खींचा, अचानक तुम पाओगे द्रष्टा भी गया। तब तुम्हें कृष्णमूर्ति का दूसरा वचन समझ में आयेगा: "दि आब्जर्वर इज दि आबर्जव्ड।" वह जो दृश्य है, द्रष्टा ही है।

और आज के सूत्र में अष्टावक्र भी वही कह रहे हैं। यह सूत्र थोड़ा आगे का है, इसलिए अष्टावक्र क्रम से इसकी तरफ बढ़े हैं। पहले उन्होंने कहा, दृश्य से मुक्त कर लो, फिर द्रष्टा से तो तुम मुक्त हो ही जाओगे। दृश्य और द्रष्टा दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू हैं।

यत्त्वं पश्यसि तत्र एका त्वं एव प्रतिभाससे।

"जिसको तू देखता है उसमें एक तू ही भासता है।"

फिर देखते हैं, पूर्णिमा की रात चांद निकला! हजार-हजार प्रतिफलन बनते हैं। कहीं झील पर, कहीं सागर के खारे जल में, कहीं सरोवर में, कहीं नदी-नाले में, कहीं पानी-पोखर में, कहीं थाली में पानी भर कर रख दो तो उसमें भी प्रतिबिंब बनता है। पूर्णिमा का चांद एक, और प्रतिबिंब बनते हैं अनेक। लेकिन क्या तुम यह कहोगे, गंदे पानी में बना हुआ चांद का प्रतिबिंब और स्वच्छ पानी में बना चांद का प्रतिबिंब भिन्न-भिन्न हैं? क्या इसीलिए गंदे पानी में बने प्रतिबिंब को गंदा कहोगे क्योंकि पानी गंदा है? क्या पानी की गंदगी से प्रतिबिंब भी गंदा हो सकता है? प्रतिबिंब तो गंदा नहीं हो सकता।

रवींद्रनाथ ने एक स्मरण लिखा है। जब वे पहली-पहली बार पश्चिम से प्रसिद्ध हो कर लौटे, नोबल प्राइज ले कर लौटे, तो जगह-जगह उनके स्वागत हुए। लोगों ने बड़ा सम्मान किया। जब वे अपने घर आये तो उनके

पड़ोस में एक आदमी था, वह उनको मिलने को आया। उस आदमी से वे पहले से ही कुछ बेचैन थे, कभी मिलने आया भी न था। लेकिन उस आदमी की आंख ही बेचैन करती थी। उस आदमी की आंख में कुछ तलवार जैसी धार थी कि सीधे हृदय में उतर जाये। वह आया और गौर से उनकी आंख में आंख डाल कर देखने लगा। वे तो तिलमिला गये। और उसने उनके कंधे पकड़ लिये और जोर से हिलाकर कहा, तुझे सच में ही ईश्वर का अनुभव हुआ है? क्योंकि गीतांजलि, जिस पर उन्हें नोबल पुरस्कार मिला, प्रभु के गीत हैं, उपनिषद जैसे वचन हैं। उस आदमी ने उनको तिलमिला दिया। कहा, सच में ही तुझे ईश्वर का दर्शन हुआ है? क्रोध भी उन्हें आया। वह अपमानजनक भी लगा। लेकिन उस आदमी की आंखों की धार कुछ ऐसी थी कि झूठ भी न बोल सके और वह आदमी हंसने लगा और उसकी हंसी और भी गहरे तक घाव कर गई। और वह आदमी कहने लगा, तुझे मुझमें ईश्वर दिखाई पड़ता है कि नहीं? यह और मुश्किल बात थी। उसमें तो कतई नहीं दिखाई पड़ता था; और सब में दिखाई पड़ भी जाता। जो फूलमालायें ले कर आये थे, जिन्होंने स्वागत किया था, सम्मान में गीत गाये थे, नाटक खेले थे, नृत्य किये थे--उनमें शायद दिख भी जाता। वे बड़े प्रीतिकर दर्पण थे। यह आदमी! वह आदमी खिलखिलाता, उन्हें छोड़कर लौट भी गया।

रवींद्रनाथ ने लिखा है, उस रात मैं सो न सका। मुझे मेरे ही गाये गये गीत झूठे मालूम पड़ने लगे। रात सपने में भी उसकी आंख मुझे छेदती रही। वह मुझे घेरे रहा। दूसरे दिन सुबह जल्दी ही उठ आया। आकाश में बादल घिरे थे, रात वर्षा भी हुई थी। जगह-जगह सड़क के किनारे डबरे भर गये थे। मैं समुद्र की तरफ गया--मन बहलाने को। लौटता था, तब सूरज उगने लगा। विराट सागर पर उगते सूरज को देखा। फिर राह पर जब घर वापिस आने लगा तो राह के किनारे गंदे डबरों में, जिनमें भैंसें लोट रही थीं, लोगों ने जिनके आस-पास मलमूत्र किया था, वहां भी सूरज के प्रतिबिंब को देखा। अचानक आंख खुल गई। मैं ठिठक कर खड़ा हो गया कि क्या इन गंदे डबरों में जो प्रतिबिंब बन रहा है सूरज का, वह गंदा हो गया? विराट सागर में जो बन रहा है, क्या विराट हो गया? क्षुद्र डबरे में जो बन रहा है, क्या क्षुद्र हो गया? प्रतिबिंब तो एक के हैं।

रवींद्रनाथ ने लिखा है, जैसे सोये से कोई जग जाये, जैसे अंधेरे में बिजली कौंध जाये, ऐसा मैं नाचता हुआ उस आदमी के घर पहुंचा। उसे गले लगा लिया। उसमें भी मुझे प्रभु दिखाई पड़ा। प्रतिबिंब तो उसका ही है। चाहे तेज तलवार की धार क्यों न हो, वह धार तो उसी की है। चाहे फूल की कोमलता क्यों न हो, कोमलता तो उसी की है।

वह आदमी फिर मेरी तरफ गौर से देखा, लेकिन आज मुझे उसमें वैसी पैनी धार न दिखाई पड़ी। आज मैं बदल गया था। और वह आदमी कहने लगा, तो निश्चित तुझे अनुभव हुआ है। अभी-अभी हुआ है, कल तक न हुआ था। अभी-अभी तूने कुछ जाना है, तू जागा है। मैं तेरा स्वागत करता हूं। नोबल पुरस्कार के कारण नहीं, न तेरे गीतों की प्रसिद्धि के कारण--अब तू ज्ञाता बन कर लौटा है; तुझे कुछ स्वाद मिला; तूने कुछ चखा है।

अष्टावक्र कहते हैं: "क्या कंगना, बाजूबंद, नूपुर सोने से भिन्न भासते हैं?"

सोने के कितने आभूषण बन जाते हैं, ऐसे ही परमात्मा के कितने रूप बनते! रावण भी उसका ही रूप। अगर रामकथा पढ़ी और रावण में उसका रूप न दिखा तो रामकथा व्यर्थ गयी। अगर राम में ही दिखा और रावण में न दिखा तो तुमने व्यर्थ ही सिर मारा। तो द्वार न खुले। रामकथा लोग पढ़ते हैं, रामलीला देखते हैं और रावण को जलाये जाते हैं। समझे नहीं। बात ही पकड़ में नहीं आई, चूक ही गए। अगर राम में ही राम दिखाई पड़ें तो तुम्हारे पास आंखें नहीं हैं। जिस दिन रावण में भी दिखाई पड़ जायें, उसी दिन तुम्हारी आंखें खुलीं। शुभ में शुभ दिखाई पड़े, यह कोई बड़ा गुण है। अशुभ में भी शुभ दिखाई पड़ जाये तब...।

सब आभूषण उस एक के ही हैं। कहीं राम हो कर, कहीं रावण हो कर; कहीं कृष्ण, कहीं कंस; कहीं जीसस, कहीं जुदास; कहीं प्रीतिकर, कहीं अप्रीतिकर; कहीं फूल, कहीं कांटा--लेकिन कांटा भी उसका ही रूप है।

और जब कांटा चुभे तब भी उसे स्मरण करना। तो तुम धीरे-धीरे पाओगे, एकरस होने लगे। जो एक को देखने लगता है वह एकरस होने लगता है। जो एकरस होने लगता है, उसे फिर एक दिखाई पड़ने लगता है।

मौन तम के पार से यह कौन मेरे पास आया
मौत में सोये हुए संसार को किसने जगाया,
कर गया है कौन फिर भिनसार, वीणा बोलती है
छू गया है कौन मन के तार, वीणा बोलती है।
मृदु मिट्टी के बने हुए मधुघट फूटा ही करते हैं
लघु जीवन ले कर आये हैं प्याले टूटा ही करते हैं
फिर भी मदिरालय के अंदर मधु के घट हैं, मधु प्याले हैं।
जो मादकता के मारे हैं वे मधु लूटा ही करते हैं
वह कच्चा पीने वाला है जिसकी ममता घट, प्यालों पर
जो सच्चे मधु से जला हुआ, कब रोता है चिल्लाता है
जो बीत गई सो बात गई।
छू गया है कौन मन के तार, वीणा बोलती है!
वह कच्चा पीने वाला है जिसकी ममता घट, प्यालों पर!

रूप में जो उलझ गया, आकृति में जो उलझ गया, अरूप को न पहचाना, आकृति-अतीत को न पहचाना, वह कच्चा पीने वाला है। जिसने राम में देख लिया, रावण में न देखा--वह पक्षपाती है, अंधा है। अंधे के पक्षपात होते हैं; आंख वाले के पक्षपात नहीं होते। आंख वाला तो उसे सब जगह देख लेता है, हर जगह देख लेता है।

अट्ठारह सौ सत्तावन की गदर में एक नग्न संन्यासी को एक अंग्रेज सैनिक ने छाती में भाला भोंक दिया। भूल से! यह नंगा फकीर गुजरता था। रात का वक्त था। यह अपनी मस्ती में था। सैनिकों की शिविर के पास से गुजरता था, पकड़ लिया गया। लेकिन इसने पंद्रह वर्ष से मौन ले रखा था। यह तो उन्हें पता न था। एक तो नंगा, फिर बोले न--लगा कि जासूस है। लगा कि कोई उपद्रवी है। बोले न, चुप खड़ा मुस्कुराये--तो और भी क्रोध आ गया। उसने कसम ले रखी थी कि मरते वक्त ही बोलूंगा, बस एक बार। तो जिस अंग्रेज सैनिक ने उसकी छाती में भाला भोंका, भाले के भोंकने पर वह बोला। उसने कहा: "तू मुझे धोखा न दे सकेगा। मैं तुझे अब भी देख रहा हूं। तत्वमसि!" और वह मर गया। "वह तू ही है! तू मुझे धोखा न दे सकेगा। तू हत्यारे के रूप में आया, आ; लेकिन एक बार तुझे पहचान चुका तो अब तू किसी भी रूप में आ, फर्क नहीं पड़ता।"

उसे अपने हत्यारे में भी प्रभु का दर्शन हो सका। मुक्त हो गया यह व्यक्ति, इसी क्षण हो गया। इसकी मृत्यु न आई--यह तो मोक्ष आया। इस भाले ने इसे मारा नहीं; इस भाले ने इसे जिलाया, शाश्वत जीवन में जगाया।

किं पृथक भासते स्वर्णात्कटकांगदनूपुरम्।

अलग-अलग दिखाई पड़ते हैं तुम्हें स्वर्ण के आभूषण, तो फिर तुम अंधे हो। सबके भीतर एक ही सोना है। ऊपर के आकार से क्या भेद पड़ता है।

तो दो बातें इस सूत्र में हैं। एक, कि जो तुम्हें दिखाई पड़ता है, तुम्हीं हो। सारा जगत दर्पण है और सारे संबंध भी। सारे अनुभव दर्पण हैं और सारी परिस्थितियां भी। तुम ही अपने को झांक-झांक लेते हो अनेक-अनेक रूपों में--पहली बात। दूसरी बात: ये जो अनेक-अनेक रूप दिखाई पड़ रहे हैं, इन सबके भीतर भी एक ही व्याप्त है। ये अनेक रूप भी बस ऊपर-ऊपर अनेक हैं। जैसे सागर पर लहरें हैं, कितनी लहरें हैं, कितने-कितने ढंग की लहरें हैं--छोटी, बड़ी विराट; लेकिन सबके भीतर एक ही सागर तरंगित है! एक ही सागर लहराया है! ये सब एक ही सागर के चादर पर पड़ी हुई सलवटें हैं! इनमें जरा भी भेद नहीं है। इनके भीतर जो छिपा है, एक है। ये दोनों सूत्र इस एक सूत्र में छिपे हैं। दोनों अदभुत हैं!

तुम जरा-जरा रूप को पार करना सीखो, अरूप को खोजो। चेहरे को कम देखो; चेहरे के भीतर जो छिपा हुआ है, उसे जरा ज्यादा देखो। तन को जरा कम देखो; तन के भीतर जो छिपा है, उस पर जरा ज्यादा ध्यान दो। शब्द में जो सुनाई पड़ता है उसे जरा कम सुनो; शब्द के भीतर जो शून्य का भिनसार है, वह जो वीणा शून्य की बज रही, उसे सुनो। ऐसे अगर तुम शांत होते गये...शांत हो ही जाओगे, क्योंकि अशांति है अनेक के कारण। अशांति अनेक की छाया है। जब एक दिखाई पड़ने लगता है तो अशांत होने की सुविधा नहीं रह जाती। एक ही है तो अशांति कैसी! और जब तुम्हीं हो सब तरफ झलकते, कोई दूसरा नहीं, तो भय किसका! जन्म भी तुम्हीं हो, मृत्यु भी तुम्हीं। सुख भी तुम्हीं हो, दुख भी तुम्हीं। फिर भय किसका! फिर सर्व-स्वीकार है। फिर उस सर्व-स्वीकार में ही शांति का फूल खिलता है--अपरिसीम फूल खिलता; अम्लान पारिजात! जो कभी नहीं छुआ गया, ऐसा कोरा कुंवारा फूल खिलता है। कहो सहस्रार, सहस्रदल कमल! लेकिन खिलता है एकत्व की घटना में--जब सब तरफ तुम्हें एक दिखाई पड़ने लगता है। पहले मैं और तू का भेद नहीं रह जाता; फिर बाहर रूप के भेद नहीं रह जाते।

खयाल करना, अगर हम दो शून्य व्यक्तियों को एक कमरे में बिठा दें तो क्या वहां दो व्यक्ति होंगे या एक? वहां दो तो हो नहीं सकते। इतना तो तय है कि दो नहीं हो सकते। क्योंकि दो शून्य मिलने से दो नहीं बनते; दो शून्य मिलने से एक ही बनता है। एक भी हम कहते हैं, क्योंकि कहना पड़ता है। वस्तुतः एक भी वहां नहीं। इसलिए भारत में हम कहते हैं अद्वैत बनता है। दो नहीं बनते, एक की बात हम करते नहीं। क्योंकि एक के लिए भी तो सीमा चाहिए। तुम तीन शून्य ले आओ, चार शून्य ले आओ, सब खोते चले जाते हैं।

ऐसा हुआ, बुद्ध के समय में अजातशत्रु सम्राट बना। उसके पिता तो बुद्ध के भक्त थे, लेकिन वह तो पिता को कारागृह में डाल कर सम्राट बना था। तो बुद्ध के विपरीत था। स्वभावतः एक तो बुद्ध के भक्त थे उसके पिता, फिर दूसरे उसने जो किया था वह इतना अधार्मिक कृत्य था कि बुद्ध के पास जाये तो कैसे जाये! बड़ी अपराध की भावना थी। फिर बुद्ध उसकी नगरी से गुजरे तो उसके आमात्यों ने, उसके मंत्रियों ने कहा: "यह अशोभन होगा। यह उचित न होगा। यह दुर्भाग्यपूर्ण होगा। इसके बड़े परिणाम बुरे होंगे। आप दर्शन को चलें। आप एक ही बार दर्शन करके औपचारिक ही लौट आना। लेकिन बुद्ध गांव में आयें और सम्राट न जाये, प्रजा पर बुरा परिणाम होगा। पिता को कारागृह में डाल देने से जितनी आपकी बेइज्जती नहीं हुई, उससे भी ज्यादा बड़ी बेइज्जती होगी। क्योंकि इस देश में सदा ही सम्राट फकीर के सामने झुकता रहा है। छोड़ें, आप चलें। सिर्फ औपचारिक ही सही।"

बात तो समझ में उसे आई; हिसाब की थी। पिता के साथ जो पाप किया है वह भी पुंछ जायेगा। लोग कहेंगे कि नहीं, ऐसा बुरा नहीं; बुद्ध को सुनने भी गया, चरण भी छुए।

तो वह चला। लेकिन जो आदमी पाप करता है, भयभीत होता है। वह अपने आमात्यों से भी डरा था। जो दूसरे को डराता है वह डरता भी है। जो दूसरे की हत्या करता है वह डरा भी होता है कि कोई उसकी हत्या न कर दे। जो दूसरे को चोट पहुंचाता है उसे आयोजन भी करने पड़ते हैं कि कोई उसे चोट न पहुंचा दे। तो वह डरा था। और जब बुद्ध के पड़ाव के पास पहुंचने लगा--वृक्षों की ओट में पड़ाव है--तो उसने अपने आमात्यों को कहा: "सुनो, तुम कहते थे दस हजार भिक्षु वहां मौजूद हैं, आवाज जरा भी सुनाई नहीं पड़ती। कुछ धोखा मालूम पड़ता है, कोई षडयंत्र।" उसने तलवार खींच ली। आमात्य हंसने लगे। उन्होंने कहा: "आप नासमझी न करें। आपको बुद्ध का पता नहीं। आपको बुद्ध के पास बैठे दस हजार लोगों का भी पता नहीं। थोड़ा धैर्य रखें। कोई षडयंत्र नहीं है, आप आयें।"

वह नंगी तलवार लिए ही चला। जब तक उसने वृक्षों के पार जा कर देख न लिया कि दस हजार भिक्षु मौजूद हैं तब तक उसने तलवार भीतर न रखी। फिर बुद्ध से उसने जो पहला प्रश्न पूछा, वह यही था कि मैं तो

बड़ा हैरान हो रहा हूं। दस हजार लोग बैठे हैं, बाजार मच जाता है, कीचड़ मच जाती है, बड़ा शोरगुल होता है--ये चुप क्यों बैठे हैं?

तो बुद्ध ने कहा: "एक शून्य हो कि दस हजार, इससे कुछ फर्क नहीं पड़ता। शून्य जुड़ते नहीं। शून्य एक-दूसरे में खो जाते हैं। ये ध्यान कर रहे हैं। ये अभी शून्य की दशा में बैठे हैं। अभी ये नहीं हैं।"

जिस क्षण तुम नहीं हो, उसी क्षण तुम्हें फिर कोई भी दिखाई नहीं पड़ता। फिर तो तुम एक ही रह जाते हो; न कोई देखने वाला, न कोई दृश्य, न कोई द्रष्टा। दृश्य और द्रष्टा खो गये, ज्ञाता और ज्ञेय खो गये; जो बच रहता है उसे हम दर्शन कहते हैं। इस बात को खयाल में लेना।

साधारण भाषा में हम दर्शन कहते हैं द्रष्टा और दृश्य के बीच के संबंध को; ज्ञान कहते हैं ज्ञाता और ज्ञेय के बीच के संबंध को। लेकिन यह तो व्यावहारिक परिभाषा है। पारमार्थिक परिभाषा, आत्यंतिक परिभाषा बिलकुल उलटी है: जहां द्रष्टा और दृश्य नहीं रह गये, सिर्फ दर्शन बचा, शुद्ध दर्शन बचा, चिन्मात्ररूपम्; जहां ज्ञाता और ज्ञेय खो गये, बस ज्ञानमात्र बचा। उसी को तो बार-बार अष्टावक्र कहते हैं: इति ज्ञानं! फिर जो बचता है, वही ज्ञान है। और फिर जो बचता है, वही मुक्ति है। ज्ञान मुक्त करता है।

तो ज्ञान के पहले चरण..."जिसको तू देखता है उसमें एक तू ही भासता है।"

यह कोई सिद्धांत नहीं है कि तुम सुन लो और मान लो। ये कोई गणित की परिभाषायें भी नहीं हैं कि सुन लीं और मान लीं। ये तो जीवंत प्रयोग से ही तुम्हें पता चल सकते हैं। तुम जरा जिंदगी में झांकना शुरू करो इस तरह से, इस नये कोण से, कि तुम्हीं दिखाई पड़ रहे। जब कोई तुम्हें गाली देता है और तुम्हें दिखाई पड़ता है कि यह आदमी दुष्ट है, तब तुम जरा गौर से देखना: "इसकी दुष्टता में तुम्हारा ही कुछ तो दिखाई नहीं पड़ा है? तुम्हारा अहंकार ही तो नहीं इसको चोट कर गया, तिलमिला गया? यह तुम्हारे अहंकार की ही लौटती हुई प्रतिध्वनि तो नहीं है?"

अगर अहंकार न हो तो तुम्हारा कोई अपमान नहीं कर सकता है। अपमान का उपाय ही नहीं है। तुमने कभी देखा, पैर में चोट लग जाये तो फिर दिन भर उसी-उसी में चोट लगती है! देहरी से निकले, देहरी की लग जाती है; दरवाजा खोला, दरवाजा लग जाता है; जूता पहनते, जूता लग जाता है। छोटा बच्चा आ कर उसी पर चढ़ जाता है। तुम बड़े हैरान होते हो कि आज क्या सबने कसम खा ली है कि जहां मुझे चोट लगी है वहीं चोट मारेंगे! नहीं, किसी ने कसम नहीं खा ली, किसी को पता भी नहीं है। लेकिन जहां तुम्हें चोट लगी है अगर कल वहां किसी ने पैर रखा होता तो पता न चलता, आज पता चल जाता है, प्रतिध्वनि होती है--क्योंकि चोट है।

अहंकार घाव की तरह है। घाव तुम्हीं लिए चलते हो, जरा धक्का लगा किसी का और चोट वहां पहुंच जाती है। कोई तुम्हें चोट पहुंचाने के लिए आतुर भी नहीं है, फुर्सत किसको है! लोग अपने ही जीवन में इतने उलझे हैं कि किसके पास समय, किसके पास सुविधा है कि तुम्हारा अपमान करें। इसलिए कई बार ऐसा होता है कि तुम अपमानित हो जाते हो और जब तुम कहते हो दूसरे व्यक्ति को कि तूने मेरा अपमान किया, वह चौंकता है। वह कहता है, "क्या कह रहे हैं? मैंने तो ऐसी कोई बात नहीं की।" और यह दुश्मनों की तो छोड़ दें, जिसको हम प्रियजन कहते हैं, मित्र कहते हैं, उनके साथ रोज होता है। पति कुछ कहता है, पत्नी कुछ सुन लेती है। और पति लाख समझाये कि यह मैंने कहा नहीं, तो वह कहती है: "अब बदलो मत! यही तुमने कहा है।" पत्नी कुछ कहती है, पति कुछ अर्थ लगा लेता है। अर्थ तुम अपने भीतर से लगाते हो। जो सुनते हो, वही नहीं सुनते हो। फिर जहां चोट लगी हो, वहां चोट पहुंचती है। लेकिन तुम्हारी चोट के कारण ही ऐसा होता है।

एक छोटा बच्चा डाक्टर से अपने हाथ में हुए फोड़े का आपरेशन कराने गया था। आपरेशन करके जब वह पट्टी बांधने लगा तो बायें हाथ का आपरेशन किया था, उसने बायां हाथ पीछे छिपा लिया और दायां हाथ आगे कर दिया। उसने कहा, पट्टी इस पर बांधें। डाक्टर ने कहा: "तू पागल हुआ है बेटे! स्कूल में जाएगा, चोट लग

जाएगी। यह पट्टी तो चोट से बचाने के लिए ही बांध रहा हूं।" उसने कहा: "आप स्कूल के बच्चों को नहीं जानते हैं; जहां पट्टी बंधी हो, वहीं चोट मारते हैं। आप पट्टी इस हाथ पर बांध दो; उनका उस पर ध्यान ही न जाएगा।"

वह बच्चा भी ठीक कह रहा है, थोड़े-से अनुभव से कह रहा है। क्योंकि जहां पट्टी बंधी हो वहीं चोट लगती है; मारता है कोई, ऐसी बात नहीं। तो वह कहता है, दूसरे हाथ में बांध दो। चोट इसमें लगती रहेगी और जिसमें चोट है वह बचा रहेगा।

तुम जीवन में गौर से देखोगे तो तुम पाओगे यही हो रहा है--यही होता है। जो तुम्हें दिखाई पड़ता है वह तुम्हारी छाया है। तुम अपने को ही देख कर उलझ जाते हो।

और ध्यान रखना कि बाहर ये जो इतने-इतने अनेक रूप दिखाई पड़ रहे हैं, एक ही समुद्र में, एक ही चैतन्य के सागर में अलग-अलग लहरें हैं। तुम भी एक लहर हो और ये भी सब लहरें हैं और जो लहराया है वह लहरों के भीतर छिपा है। वह सभी का आधार है।

"यह वह मैं हूं और यह मैं नहीं हूं, ऐसे विभाग को छोड़ दे। सब आत्मा है, ऐसा निश्चय करके तू संकल्प-रहित हो कर सुखी हो।"

यह मैं हूं, वह मैं हूं; यह मैं नहीं हूं, वह मैं नहीं हूं--ऐसे विभाग को छोड़ दे। हम जीवन भर विभाग ही बनाते हैं। हमारे जीवन भर की अथक चेष्टा यही होती है कि हम ठीक-ठीक परिभाषा कर दें कि मैं कौन हूं।

मेरे पास लोग आते हैं। वे कहते हैं, हमें यह पता नहीं कि हम कौन हैं। कोई रास्ता बताये कि हम जान लें कि हम कौन हैं।

क्या जानना चाहते हो? तुम एक परिभाषा चाहते हो, सीमा चाहते हो, जिसके भीतर तुम कह सको: यह मैं हूं! यही हम कोशिश भी कर रहे हैं। सांसारिक ढंग से या धार्मिक ढंग से, हमारी चेष्टा एक ही है कि साफ-साफ प्रगट हो जाए कि मैं कौन हूं!

तुम देखे, जरा किसी को धक्का लग जाए, वह खड़े हो कर कहता है: आपको मालूम नहीं कि मैं कौन हूं! वह क्या कह रहा है? वह यह कह रहा है: "धक्का मार रहे हो? पता नहीं, मैं कौन हूं? महंगा पड़ेगा यह धक्का! मुश्किल में पड़ जाओगे। क्षमा मांग लो।"

उसे भी पता नहीं कि वह कौन है। किसको पता है! नहीं पता है, इसलिए झूठे-झूठे हमने लेबल लगा रखे हैं। कोई कहता है, मैं हिंदू हूं। यह भी कोई होना हुआ! पैदा हुए थे तो हिंदू की तरह पैदा न हुए थे। गीता साथ लेकर आए न थे, न कुरान लेकर आए थे, न बाइबिल लेकर आए थे। खाली हाथ चले आए थे। सिर पर भी कुछ लिखा न था कि हिंदू हो, कि मुसलमान हो, कि ईसाई हो। बिलकुल खाली, निपट कोरे कागज की तरह आए थे। किसी और ने लिख दिया है कि हिंदू हो। किसी और ने लिख दिया है कि मुसलमान हो। किसी ने किताब खराब कर दी है तुम्हारी। इस दूसरे की लिखावट को तुम अपना स्वभाव-स्वरूप समझ रहे हो? और जिसने लिख दिया है हिंदू, उसको भी पता नहीं है कि वह क्या कर रहा है। उसके बाप-दादे उस पर लिख गये कि हिंदू हो। दूसरों की सुन कर चल रहे हो? अपना अभी कोई अनुभव नहीं है।

फिर कोई कहता है, मैं सुंदर। यह भी लिख दिया किसी और ने। किसी ने कहा, सुंदर! पकड़ लिया तुमने। अब जिसने कहा सुंदर, उसकी धारणा है या उसके अपने कारण होंगे।

दुनिया में सौंदर्य की अलग-अलग धारणाएं हैं। चीन में एक तरह का चेहरा सुंदर समझा जाता है, हिंदुस्तान में कोई वैसे चेहरे को सुंदर न समझेगा। अफ्रीका में दूसरे ढंग का चेहरा सुंदर समझा जाता है; वैसे चेहरे को अमरीका में कोई सुंदर न समझेगा। और जिसको इंग्लैंड में सुंदर समझते हैं, अफ्रीका में लोग उसको बीमार समझते हैं कि ये क्या पीला-सा पड़ गया आदमी! पीत-मुख कहते हैं। यह भी कोई बात हुई! यह कोई सौंदर्य हुआ! जरा-सी धूप नहीं सह सकता है! यह कोई स्वास्थ्य हुआ!

सौंदर्य की बड़ी अलग धारणाएं हैं। कौन सुंदर है? किसकी धारणा सच है? कौन कुरूप है? फिर तुम भी देखते होओगे, तुम्हारा कोई मित्र किसी के प्रेम में पड़ जाता है, तुम सिर ठोक लेते हो: किस औरत के पीछे दीवाने हो! वहां कुछ भी नहीं रखा है। लेकिन वह दीवाना है। वह कहता है: "मिल गई मुझे मेरे हृदय की सुंदरी! जिसकी तलाश थी जन्मों-जन्मों से, उसका मिलन हो गया। हम एक-दूसरे के लिए ही बने हैं। अब तो जोड़ बैठ गया; अब मुझे कोई खोज नहीं करनी; आ गया पड़ाव अंतिम।"

तुम हैरान होते हो कि "तुम्हारी बुद्धि खो गई, पागल हो गये। कुछ तो अकल से काम लो! कहां की साधारण स्त्री को पकड़ बैठे हो!" लेकिन तुम समझ नहीं पा रहे। जो तुम्हें सुंदर दिखाई पड़े वह दूसरे को सुंदर हो, यह आवश्यक तो नहीं। कोई तुम्हें सुंदर कह जाता है, कोई तुम्हें बुद्धिमान कह जाता है। और हर मां-बाप अपने बेटे को समझते हैं कि ऐसा बेटा कभी दुनिया में हुआ नहीं। तो भ्रम पैदा हो जाता है। बेटा अकड़ से भर कर घर के बाहर आता है और दुनिया में पता चलता है, यहां कोई फिक्र नहीं करता तुम्हारी। बड़ी पीड़ा होती है। हर मां-बाप समझते हैं कि बस परमात्मा ने जो बेटा उनके घर पैदा किया है, ऐसा कभी हुआ ही नहीं; अद्वितीय!

तुम देखो जरा, मां-बापों की बातें सुनो। सब अपने बेटे-बच्चों की चर्चा में लगे हैं: बता रहे हैं, प्रशंसा कर रहे हैं। अगर वे निंदा भी कर रहे हों तो तुम गौर से सुनना, उसमें प्रशंसा का स्वर होगा कि मेरा बेटा बड़ा शैतान है। तब भी तुम देखना कि उन्हें रस आ रहा है बताने में कि बड़ा शैतान है; कोई साधारण बेटा नहीं है; बड़ा उपद्रवी है! उसमें भी अस्मिता तृप्त हो रही है।

तो कुछ मां-बाप दे जाते हैं; कुछ स्कूल, पढ़ाई-लिखाई, कालेज-सर्टिफिकेट, इनसे मिल जाता है; कुछ समाज से मिल जाता है--इस सब से तुम अपनी परिभाषा बना लेते हो कि मैं यह हूं! फिर कुछ जीवन के अनुभव से मिलता है।

शरीर के साथ पैदा हम हुए हैं। जब आंख खोली तो हमने अपने को शरीर में ही पाया है। तो स्वभावतः हम सोचते हैं, मैं शरीर हूं। फिर जैसे-जैसे बोध थोड़ा बढ़ा--बोध के बढ़ने का मतलब है मन पैदा हुआ--वैसे-वैसे हमने पाया अपने को मन में। तो हम कहते हैं: मैं मन हूं!

यह कोई भी हम नहीं हैं। हमारा होना इन किन्हीं परिभाषाओं में चुकता नहीं। हम मुक्त आकाश की भांति हैं, जिसकी कोई सीमा नहीं है।

तो दूसरा सूत्र है: "यह वह मैं हूं और यह मैं नहीं हूं, ऐसे विभाग को छोड़ दे।"

विभाग ही भटका रहा है--अविभाग चाहिए।

अयं सोऽहमयं नाहं विभागमिति संत्यज।

सर्वमात्मेति निश्चित्य निःसंकल्पः सुखी भव।।

"इन सबको सम्यकरूपेण त्याग कर दे। संत्यज!"

"संत्यज" शब्द बड़ा महत्वपूर्ण है। सिर्फ त्याग नहीं, सम्यक त्याग। क्योंकि त्याग तो कभी-कभी कोई हठ में भी कर देता है, जिद में भी कर देता है। कभी-कभी तो अहंकार में भी कर देता है। तुम जाते हो न किसी के पास दान लेने तो पहले उसके अहंकार को खूब फुसलाते हो कि आप महादानी, आपके बिना क्या संसार में धर्म रहेगा! खूब हवा भरते हो। जब देखते हो कि फुग्गा काफी फैल गया है, तब तुम बताते हो कि एक मंदिर बन रहा है, अब आपकी सहायता की जरूरत है। वह जो आदमी एक रुपया देता, शायद सौ रुपये दे। तुमने खूब फुला दिया है। लेकिन दान आ रहा है, वह सम्यक त्याग नहीं है। वह तो अहंकार का हिस्सा है। अहंकार से कहीं सम्यक त्याग हो सकता है?

मैंने सुना है कि एक राजनीतिज्ञ अफ्रीका के एक जंगल में शिकार खेलने गया और पकड़ लिया गया। जिन्होंने पकड़ लिया, वे थे नरभक्षी कबीले के लोग। वे जल्दी उत्सुक थे उसको खा जाने को। कढ़ाए चढ़ा दिए गये। लेकिन वह जो उनका प्रधान था, वह उसकी खूब प्रशंसा कर रहा है। और देर हुई जा रही है। ढोल बजने

लगे और लोग तैयार हैं कि अब भोजन का मौका आया जा रहा है। और ऐसा सुस्वादु भोजन बहुत दिन से मिला नहीं था। देर होने लगी तो एक ने आ कर कहा अपने प्रधान को कि इतनी देर क्यों करवा रहे हो? उसने कहा कि तुम ठहरो, यह राजनीतिज्ञ है, मैं जानता हूं। पहले इसको फुला लेने दो, जरा इसकी प्रशंसा कर लेने दो, जरा फूल कर कुप्पा हो जाए तो ज्यादा लोगों का पेट भरेगा। नहीं तो वह ऐसे ही दुबला-पतला है। ठहरो थोड़ा! मैं जानता हूं राजनीतिज्ञ को। पहले उसके दिमाग को खूब फुला दो।

तुम्हारा अहंकार कभी-कभी त्याग के लिए भी तैयार हो जाता है। तुमने देखा न, कभी अगर त्यागी की शोभायात्रा निकलती है कि जैन मुनि आए, शोभायात्रा निकल रही है, राह के किनारे खड़े हो कर तुम्हें भी देख कर मन में उठता है: ऐसा सौभाग्य अपना कब होगा जब अपनी भी शोभायात्रा निकले! एक दफे मन में सपना उठता है कि हम भी इसी तरह सब छोड़-छाड़ कर--रखा भी क्या है संसार में--शोभायात्रा निकलवा लें! लोग उपवास कर लेते हैं आठ-आठ दस-दस दिन के, क्योंकि दस दिन के उपवास के बाद प्रशंसा होती है, सम्मान मिलता है, मित्र-प्रियजन, पड़ोसी पूछने आते हैं सुख-दुख, सेवा के लिए आते हैं। बड़ा काम कर लिया! छोटे-छोटे बच्चे भी अगर घर में उपवास की महिमा हो तो उपवास करने को तैयार हो जाते हैं। सम्मान मिलता है।

अगर अहंकार को सम्मान मिल रहा हो तो त्याग संत्याग नहीं है; फिर वही पुराना रोग जारी है। कोई क्रांति नहीं घटती। क्रांति के लिए भी हमारे पास दो शब्द हैं: क्रांति और संक्रांति। तो जो क्रांति जबर्दस्ती हो जाए, किसी मूढ़तावश हो जाए, आग्रहपूर्वक हठपूर्वक हो जाए, वह क्रांति। लेकिन जब कोई क्रांति जीवन के बोध से निकलती है तो संक्रांति। सहज निकलती है तो संक्रांति।

"संत्यज" का अर्थ होता है: सम्यकरूपेण बोधपूर्वक छोड़ दो। किसी कारण से मत छोड़ो। व्यर्थ है, इसलिए छोड़ दो। धन को इसलिए मत छोड़ो कि धन छोड़ने से गौरव मिलेगा, त्यागी की महिमा होगी या स्वर्ग मिलेगा या पुण्य मिलेगा और पुण्य को भंजा लेंगे भविष्य में। तो फिर सम्यक त्याग न हुआ, असम्यक हो गया। इसलिए छोड़ दो कि देख लिया कुछ भी नहीं है।

तुम एक पत्थर लिए चलते थे सोच कर कि हीरा है, फिर मिल गया कोई पारखी, उसने कहा: "पागल हो? यह पत्थर है, हीरा नहीं।"

एक जौहरी मरा। उसका बेटा छोटा था। उसकी पत्नी ने कहा कि तू अपने पिता के मित्र एक दूसरे जौहरी के पास चला जा। हमारे पास बहुत से हीरे-जवाहरात तिजोरी में रखे हैं, वह उनको बिकवा देगा तो हमारे लिए पर्याप्त हैं।

वह जौहरी बोला: मैं खुद आता हूं। वह आया। उसने तिजोरी खोली, एक नजर डाली। उसने कहा, तिजोरी बंद रखो, अभी बाजार-भाव ठीक नहीं। जैसे ही बाजार-भाव ठीक होंगे, बेच देंगे। और तब तक कृपा करके बेटे को मेरे पास भेज दो ताकि वह थोड़ा जौहरी का काम सीखने लगे।

वर्ष बीता, दो वर्ष बीते, बार-बार स्त्री ने पुछवाया कि बाजार-भाव कब ठीक होंगे। उसने कहा, जरा ठहरो। तीन वर्ष बीत जाने पर उसने कहा कि ठीक, अब मैं आता हूं, बाजार-भाव ठीक हैं। तीन वर्ष में उसने बेटे को तैयार कर दिया, परख आ गई बेटे को। वे दोनों आए, तिजोरी खोली। बेटे ने अंदर झांक कर देखा। हंसा। उठा कर पोटली को बाहर कचरे-घर में फेंक आया। मां चिल्लाने लगी कि पागल, यह क्या कर रहा है? तेरा होश तो नहीं खो गया?

उसने कहा कि होश नहीं, अब मैं समझता हूं कि मेरे पिता के मित्र ने क्या किया। अगर उस दिन वे इनको कहते कि ये कंकड़-पत्थर हैं तो हम भरोसा नहीं कर सकते थे। हम सोचते कि शायद यह आदमी धोखा दे रहा है। अब तो मैं खुद ही जानता हूं कि ये कंकड़-पत्थर हैं। इन तीन साल के अनुभव ने मुझे सिखा दिया कि हीरा क्या है। ये हीरे नहीं हैं। हम धोखे में पड़े थे।

यह सम्यक त्याग हुआ, बोधपूर्वक हुआ।

जब तक तुम त्याग किसी चीज को पाने के लिए करते हो, वह त्याग नहीं, सौदा है, सम्यक त्याग नहीं। सम्यक त्याग तभी है जब किसी चीज की व्यर्थता दिखाई पड़ गई। अब तुम किसी के लिए थोड़े ही छोड़ते हो। सुबह तुम घर का कचरा झाड़-बुहार कर कचरे-घर में फेंक आते हो तो अखबार में खबर थोड़े ही करवाते हो कि आज फिर कचरे का त्याग कर दिया! वह सम्यक त्याग है। जिस दिन कचरे की तरह चीजें तुम छोड़ देते हो उस दिन सम्यक त्याग, बोधपूर्वक, जान कर कि ऐसा है ही नहीं...।

एक आदमी है जो मानता है, मैं शरीर हूं। और एक दूसरा आदमी है जो रोज सुबह बैठ कर मंत्र पढ़ता है कि मैं शरीर नहीं हूं, मैं आत्मा हूं। इन दोनों में भेद नहीं है। यह दोहराना कि मैं शरीर नहीं हूं, इसी बात का प्रमाण है कि तुम्हें अब भी एहसास हो रहा है कि तुम शरीर हो। जिस आदमी को समझ में आ गया कि मैं शरीर नहीं हूं, बात खत्म हो गई। अब दोहराना क्या है? दोहराने से कहीं झूठ को सत्य थोड़े ही बनाया जा सकता है। हां, झूठ सत्य जैसा लग सकता है, लेकिन सत्य कभी बनेगा नहीं।

"यह वह मैं हूं और यह मैं नहीं हूं, ऐसे विभाग को छोड़ दे।"

और छोड़ने में खयाल रखना, सम्यक त्याग हो, संत्यज, बोधपूर्वक छोड़ना। किसी की मान कर मत छोड़ देना। खुद ही पारखी बनना, जौहरी बनना, तभी छोड़ना। खुद के बोध से जो छूटता है, बस वही छूटता है; शेष सब छूटता नहीं; किसी नये द्वार से, किसी पीछे के द्वार से वापस लौट आता है। और ऐसे सब विभाग को...विभागमिति संत्यज!

मन की एक व्यवस्था है कि वह हर चीज में विभाग करता है। देखते हैं, पश्चिम में आज से दो हजार साल पहले सिर्फ एक विज्ञान था जिसको वे फिलासफी कहते थे! फिर विभाग हुए; फिर साइंस अलग टूटी, फिलासफी और साइंस अलग हो गईं; फिर साइंस अलग टूटी, फिजिक्स और केमिस्ट्री और बायोकेमिस्ट्री और बायोलाजी अलग हो गईं, मेडिकल साइंस अलग हो गई, इंजिनीयरिंग अलग हो गई। फिर उनमें भी टूट होने लगी, तो आर्गेनिक केमिस्ट्री, इनार्गेनिक केमिस्ट्री अलग हो गईं। फिर मेडिकल साइंस हजार टुकड़ों में टूट गई। जल्दी ही ऐसा वक्त आ जाएगा कि बाईं आंख का डाक्टर अलग, दाईं आंख का डाक्टर अलग। विभाजन होते चले जाते हैं। हर चीज का स्पेशियलाईजेशन हो जाता है। फिर उसमें भी शाखाएं-प्रशाखाएं निकल आती हैं।

वे पुराने दिन गये जब तुम किसी डाक्टर के पास चले जाते थे, कोई भी बीमारी हो तो वह तुम्हें सहायता दे देता था। वे पुराने दिन गये। अब पूरे आदमी का डाक्टर कोई भी नहीं। अब तो खंड-खंड के डाक्टर हैं। कान खराब तो एक डाक्टर, आंख खराब तो दूसरा डाक्टर, गला खराब तो तीसरा, पेट में कुछ खराबी तो चौथा। और मजा यह है कि तुम एक हो; तुम्हारी आंख, गला, पेट सब जुड़ा है--और डाक्टर सब अलग हैं!

इसलिए कभी-कभी ऐसा हो जाता है, पेट का इलाज करवा कर आ गये, आंख खराब हो गई। आंख ठीक करवा ली, कान बिगड़ गए। कान ठीक हो गये, टांसिल में खराबी आ गई। टांसिल निकलवा लिया, अपेन्डिक्स खड़ी हो गई!

जो लोग आज चिकित्साशास्त्र पर गहरा विचार करते हैं, वे कहते हैं, कि यह तो बड़ा खतरा हो गया। आदमी इकट्ठा है तो चिकित्साशास्त्र भी इकट्ठा होना चाहिए। यह तो खंडों का इलाज हो रहा है। और एक खंड वाले को दूसरे खंडों का कोई पता नहीं है। तो एक खंड वाला जो कर रहा है उसके क्या परिणाम दूसरे खंड पर होंगे, इससे कुछ संबंध नहीं रह गया है। पूरे को जानने वाला कोई बचा नहीं। अब बीमारियों का इलाज हो रहा है, बीमार की कोई चिंता ही नहीं कर रहा है। व्यक्ति की कोई पकड़ नहीं रह गई--अखंड व्यक्ति की। खंड-खंड! और ये खंड बढ़ते जाते हैं। और इनके बीच कोई जोड़ नहीं है।

फिजिक्स एक तरफ जा रही है, केमिस्ट्री दूसरी तरफ जा रही है। और दोनों के जो आत्यंतिक परिणाम हैं उनका संश्लेषण करने वाला भी कोई नहीं है, सिंथीसिस करने वाला भी कोई नहीं है। कोई नहीं जानता कि सब विज्ञानों का अंतिम जोड़ क्या है। जोड़ का पता ही नहीं है। सब अपनी-अपनी शाखा-प्रशाखा पर चलते जाते हैं;

उसमें से और नई फुनगियां निकलती आती हैं, उन पर चलते चले जाते हैं। छोटी-से छोटी चीज को जानने में पूरा जीवन व्यतीत हो रहा है और समग्र चूका जा रहा है।

धर्म की यात्रा बिलकुल विपरीत है। धर्म और विज्ञान में यही फर्क है। विज्ञान खंड करता है, खंडों के उपखंड करता है, उपखंडों के भी उपखंड करता है, और खंड करता चला जाता है। तो विज्ञान पहुंच जाता है परमाणु पर। खंड करते-करते-करते वहां पहुंच जाता है जहां और खंड न हो सकें; या अभी न हो सकें, कल हो सकेंगे तो कल की कल देखेंगे। धर्म की यात्रा बिलकुल दूसरी है। धर्म दो खंडों को जोड़ता-जोड़ता चला जाता है--अखंड की तरफ। फिर ब्रह्म बचता है, एक बचता है। कहो आत्मा, कहो सत्य, निर्वाण, मोक्ष--जो मर्जी।

ऐसा समझो कि विज्ञान चढ़ता है वृक्ष की पीड़ से और विभाजन हो जाते हैं--शाखाएं, प्रशाखाएं, पत्तों-पत्तों पर, डाल-डाल, पात-पात फैल जाता है। एक पत्ते पर बैठे वैज्ञानिक को दूसरे पत्ते पर बैठे वैज्ञानिक का कोई भी पता नहीं। है भी दूसरा, इसका भी पता नहीं। क्या कह रहा है, यह भी कुछ पता नहीं। धर्म चलता है दूसरी यात्रा पर--पत्तों से प्रशाखाएं, प्रशाखाओं से शाखाएं, शाखाओं से पीड़ की तरफ--एक की तरफ। विज्ञान पहुंचता क्षुद्र पर, धर्म पहुंचता विराट पर। विज्ञान पहुंच जाता है अनेक पर, धर्म पहुंच जाता है एक पर।

इसलिए इस सूत्र को खयाल रखना।

विभागमिति संत्यज...।

तू विभाग करना छोड़। तू बांटना छोड़। तू उसे देख जो अविभाजित खड़ा है। अविभाज्य को देख। उस एक को देख जिसके सब रूप हैं। तू रूपों में मत उलझ।

और जब भी हम कहते हैं, मैं यह हूं, तभी हम कोई एक विभाग पकड़ लेते हैं। कोई कहता है, मैं ब्राह्मण हूं। तो निश्चित ही ब्राह्मण पूरा मनुष्य तो नहीं हो सकता। कोई कहता है, मैं शूद्र हूं। तो वह भी पूरा मनुष्य नहीं हो सकता। जिसने कहा, मैं ब्राह्मण हूं, उसने शूद्र को वर्जित किया। उसने अखंडता तोड़ी। जिसने कहा, मैं शूद्र हूं, उसने ब्राह्मण को वर्जित किया, उसने भी अखंडता तोड़ी। जिसने कहा, मैं हिंदू हूं, वह मुसलमान तो नहीं है निश्चित ही, नहीं तो क्यों कहता कि हिंदू हूं! और जिसने कहा, मैं मुसलमान हूं, वह भी टूटा, ईसाई भी टूटा। ऐसे हम टूटते चले जाते हैं। फिर उनमें भी छोटे-छोटे खंड हैं। खंडों में खंड हैं। आदमी ऐसा बंटता चला जाता है।

तुम जब भी कहते हो, यह मैं हूं, तभी तुम एक छोटा-सा घेरा बना लेते हो। सच तो यह है कि यह कहना कि मैं मनुष्य हूं, यह भी छोटा घेरा है। मनुष्य की हैसियत क्या है? संख्या कितनी है? इस छोटी-सी पृथ्वी पर है और यह विराट फैलाव है, इसमें मनुष्य है क्या! कण-मात्र! क्यों तुम मनुष्य से जोड़ते अपने को? क्यों नहीं कहते मैं जीवन हूं? तो पौधे भी सम्मिलित हो जाएंगे, पक्षी भी सम्मिलित हो जाएंगे। फिर ऐसा ही क्यों कहते हो कि मैं जीवन हूं; ऐसा क्यों नहीं कहते कि मैं अस्तित्व हूं? तो सब सम्मिलित हो जाएगा।

"अहं ब्रह्मास्मि" का यही अर्थ होता है कि मैं अस्तित्व हूं, मैं ब्रह्म हूं। सब कुछ जो है, उसके साथ मैं एक हूं, वह मेरे साथ एक है। ऐसे विभागों को छोड़ते जाने वाला व्यक्ति सागर की अतल गहराई को अनुभव करता है। सागर की सतह पर लहरें हैं, गहराई में एक का निवास है।

चट जग जाता हूं
चिराग को जलाता हूं
हो सजग तुम्हें मैं देख पाता हूं
कि बैठे हो
पास नहीं आते हो
पुकार मचवाते हो
तकसीर बतलाओ,
क्यों यह बदन उमेठे हो?
दरस दीवाना

जिसे नाम का ही बाना
उसे शरण विलोकते भी
देव-देव एंठे हो!
सींखचों में घूमता हूं
चरणों को चूमता हूं
सोचता हूं, मेरे इष्टदेव पास बैठे हो!

पास कहना भी ठीक नहीं, क्योंकि पास में भी दूरी आ गई। इष्टदेव भीतर बैठे हैं। पास कहना भी ठीक नहीं।

सींखचों में घूमता हूं
चरणों को चूमता हूं
सोचता हूं, मेरे इष्टदेव पास बैठे हो!
चट जग जाता हूं
चिराग को जलाता हूं
हो सजग तुम्हें मैं देख पाता हूं, बैठे हो!

परमात्मा पास है, ऐसा कहना भी ठीक नहीं। दूर है, यह तो बिलकुल ही भ्रांत है। तुमने जब भी हाथ उठा कर आकाश में परमात्मा को प्रणाम किया है तभी तुमने परमात्मा को बहुत दूर कर दिया है--बहुत दूर! अपने हाथ से दूरी खड़ी कर ली है और विलग हो गये, पृथक हो गये!

देखते हो, इस देश में पुरानी प्रथा है: किसी को, अजनबी को भी तुम गांव में से गुजरते हो तो अजनबी कहता है: "जय राम जी!" मतलब समझे? पश्चिम में लोग कहते हैं, गुड माघनग! लेकिन यह उतना मधुर नहीं है। ठीक है, सुंदर सुबह है! बात मौसम की है, कुछ ज्यादा गहरी नहीं। प्रकृति के पार नहीं जाती। इस देश में हम कहते हैं: जय राम जी! हम कहते हैं: राम की जय हो! अजनबी को देख कर भी...। शहरों में तो अजनबी को कोई अब जय राम जी नहीं करता है। अब तो हम जय राम जी में भी हिसाब रखते हैं--किससे करनी और किससे नहीं करनी! जिससे मतलब हो, उससे करनी; जिससे मतलब न हो, उससे न करनी। जिससे कुछ लेना-देना हो उससे खूब करनी, दिन में दस-पांच बार करनी। जिससे कुछ न लेना-देना हो, या जिससे डर हो कि कहीं तुमसे कुछ न ले-ले, उससे तो बचना, जय राम जी भूल कर न करनी।

"जय राम जी" जैसा सरल मंत्र भी व्यावसायिक हो गया है। लेकिन देहात में, गांव में अब भी अजनबी भी गुजरे तो सारा गांव, जिसके पास से गुजरेगा कहेगा: "जय राम जी! जय हो राम की!" वह तुमसे यह कह रहा है कि तुम अजनबी भला हो लेकिन तुम्हारा राम तो हमसे अजनबी नहीं। तुम ऊपर-ऊपर कितने ही भिन्न हो, हम राम को देखते हैं। वह जो कहने वाला है चाहे समझता भी न हो, लेकिन इस परंपरा के भीतर कुछ राज तो है। लोग प्रकाश को जलाते हैं और लोग हाथ जोड़ लेते हैं; दीया जलाया, हाथ जोड़ लेते हैं। हम सोचते हैं, गांव के गंवार हैं। शहर में भी आ जाए गांव का प्राणी, तुम बिजली की बत्ती जलाओ तो वह हाथ जोड़ता है। तो तुम हंसते हो। तुम सोचते हो: "पागल! अरे यह बिजली की बत्ती है, इसमें अपने हाथ से जलाई-बुझाई, इसमें क्या हाथ जोड़ना है!" लेकिन वह यह कह रहा है: जहां प्रकाश है वहां परमात्मा है। पास है, प्रकाश जैसा पास है।

चट जग जाता हूं
चिराग को जलाता हूं
हो सजग तुम्हें मैं देख पाता हूं कि बैठे हो
सींखचों में घूमता हूं
चरणों को चूमता हूं
सोचता हूं, मेरे इष्टदेव पास बैठे हो!

सींखचों में घूमता हूं! इसीलिए "पास" मालूम होता है। सींखचों का फासला रह गया है।

तुमने देखा, अपने बेटे को छाती से भी लगा लेते हो, फिर भी सींखचे बीच में हैं! अपनी पत्नी को हृदय से लगा लेते हो, फिर भी सींखचे बीच में हैं। मित्र को गले से मिला लेते हो, फिर भी सींखचे बीच में हैं।

पास नहीं है परमात्मा। दूर तो है ही नहीं, पास भी नहीं है। परमात्मा ही है--दूर और पास की भाषा ही गलत है। वही बाहर, वही भीतर। वही यहां, वही वहां। वही आज, वही कल, वही फिर भी आगे आने वाले कल। वही है। एक ही है।

सूर्योदय!
एक अंजुली फूल
जल से जलधि तक अभिराम
माध्यम शब्द अद्र्धोच्चारित
जीवन धन्य है
आभार
फिर आभार
इस अपरिमित में
अपरिमित शांति की अनुभूति
अक्षम प्यार का आभास
समर्पित मत हो त्वचा को
स्पर्श गहरे मात्र
इस से भी श्रेष्ठतर मूर्धन्य सुख
जल बेड़ियों के ऊपर कहीं
कहीं गहरे ठहर कर
आधार, मूलाधार
जीवन हर नये दिन की निकटता
आत्मा विस्तार
सूर्योदय!
एक अंजुली फूल
जल से जलधि तक अभिराम!

एक ही फैला है। छोटी-सी बूंद में भी वही है, बड़े-से सागर में भी वही है। छोटे-से दीये में भी वही है, बड़े-से सूरज में भी वही है। कहे गये शब्दों में भी वही है, अनकहे गये शब्दों में भी वही है। आधे उच्चारित शब्दों में भी वही है।

मंत्र का यही अर्थ है: अद्र्धोच्चारित शब्द। पूरा उच्चार नहीं कर पाते, क्योंकि वह इतना बड़ा है, शब्द में समाता नहीं। बिना उच्चार किए भी नहीं रह पाते, क्योंकि वह इतना प्रीतिकर है--बार-बार मन उच्चार करने का होता है। इसका नाम मंत्र। मंत्र का अर्थ है: बिना बुलाए नहीं रहा जाता; हालांकि शब्दों से तुम्हें बुलाया भी नहीं जाता। अपनी असमर्थता है, इसलिए मंत्र।

माध्यम शब्द अद्र्धोच्चारित
जीवन धन्य है
आभार, फिर आभार!

एक को देखो तो आभार ही आभार फैल जाएगा। अनेक को देखो तो अशांति ही अशांति। तुम धार्मिक आदमी की कसौटी यह बना लो: जिस आदमी के जीवन में आभार हो, वह आदमी धार्मिक। जिसके जीवन में शिकायत हो, वह अधार्मिक। तब तुम जरा मुश्किल में पड़ोगे। अगर मंदिर में जाकर खड़े हो कर देखोगे आते आराधकों को तो अधिक को तो तुम शिकायत करते पाओगे; धन्यवाद देने तो शायद ही कोई आता है। कोई

कहता है, बच्चे को नौकरी नहीं लगी; कोई कहता है, पत्नी बीमार है; कोई कहता है कि बेईमान तो बढ़े जा रहे हैं, हम ईमानदारों का क्या? तुम जरा लोगों के भीतर झांक कर देखना, सब शिकायत करते चले आ रहे हैं। सब मांगते चले आ रहे हैं।

और यह अधार्मिक आदमी का लक्षण है: असंतोष। शिकायत, मांग--अधार्मिक आदमी का लक्षण है। स्वभावतः अधार्मिक अशांत भी होगा।

आभार ही आभार! फिर-फिर आभार! तुम्हें जितना मिला है, तुम्हें प्रतिपल इतना मिल रहा है, द्वार-द्वार रंध्र-रंध्र से फूट कर इतना प्रकाश आ रहा है, सब तरफ से परमात्मा ने तुम्हें घेरा है--और क्या चाहते हो? सूरज की किरणें उसे लातीं, हवाओं के झोंके उसे लाते, फूलों की गंध उसे लाती, पक्षियों की पुकार उसे लाती--सब तरफ से उसने तुम्हें घेरा है, सब तरफ से तुम पर बरस रहा है! सब तरफ से वही तुम्हें स्पर्श कर रहा है।

जीवन धन्य है।

आभार, फिर आभार!

इस "आभार" को ही मैं प्रार्थना कहता हूं। प्रार्थना शब्द अच्छा नहीं, उसमें मांगने का भाव है। शायद लोग मांगते रहे, इसलिए हमने धीरे-धीरे प्रभु की आराधना को प्रार्थना कहना शुरू कर दिया, क्योंकि प्रार्थी वहां पहुंचते, मांगने वाले भिखमंगे वहां पहुंचते। प्रभु की प्रार्थना वस्तुतः धन्यवाद है: इतना दिया है, अकारण दिया है!

इस अपरिमित में

अपरिमित शांति की अनुभूति!

और जैसे ही तुमने मांगना छोड़ा, आभार तो अपरिमित है। उसका कोई ओर-छोर नहीं। धन्यवाद की कोई सीमा थोड़े ही है! धन्यवाद कंजूस थोड़े ही होता है। धन्यवाद ही दे रहे हो तो उसमें भी कोई शर्त थोड़े ही बांधनी पड़ती है। धन्यवाद तो बेशर्त है।

अपरिमित शांति की अनुभूति

अक्षय प्यार का आभास

और तुमने आभार दिया और उधर परमात्मा का प्यार तुम्हें अनुभव होना शुरू हुआ। बह तो सदा से रहा था, बिना आभार के तुम अनुभव न कर पाते थे। आभार प्यार को अनुभव कर पाता है। आभार पात्रता है प्यार को अनुभव करने की।

समर्पित मत हो त्वचा को!

ऊपर-ऊपर चमड़ी-चमड़ी पर मत जा। रूप-रंग में मत उलझ। स्पर्श कर गहरा।

स्पर्श गहरे मात्र

इससे भी श्रेष्ठतर मूर्धन्य सुख

जल बेड़ियों से कहीं ऊपर

यह जो त्वचा का सुख है, यह जो ऊपर-ऊपर थोड़े-से सुख की अनुभूति मिल रही है, इसमें उलझ मत जा। यह तो खिलौना है। यह तो केवल खबर है कि और पीछे छिपा है, और गहरा छिपा है। ये तो कंकड़-पत्थर हैं, हीरे जल्दी आने को हैं। इन कंकड़-पत्थरों में भी थोड़ी-सी आभास, थोड़ी-सी झलक है। तो उस पूर्ण सुख का तो क्या कहना! अगर तू बढ़ा जाए, चला जाए...।

कहीं गहरे ठहर कर

आधार, मूलाधार!

गहरे उतर, त्वचा में मत ठहर। परिधि पर मत रुक, केंद्र की तरफ चल।

जीवन हर नये दिन की निकटता

आत्मा विस्तार।

और इस विस्तार को अनुभव कर लेना ब्रह्म को अनुभव कर लेना है। "ब्रह्म" शब्द का अर्थ ही विस्तार होता है--जो फैला हुआ; विस्तीर्ण; जो फैलता ही चला जाता है।

अलबर्ट आइंस्टीन ने तो अभी इस सदी में आकर यह कहा कि विश्व फैलता चला जाता है-- एक्सपैंडिंग यूनिवर्स! इसके पहले सिर्फ हिंदुओं को यह बोध था, किसी को यह बोध नहीं रहा। सारे जगत के दर्शनशास्त्र, सारे जगत के धर्म ऐसा ही मान कर चले हैं कि विश्व जैसा है वैसा ही है, बड?ा कैसे होगा और? बड़ा है, लेकिन और बड़ा कैसे होगा? पूर्ण है, तो और पूर्ण कैसे होगा? अपनी जगह है। अलबर्ट आइंस्टीन ने इस सदी में घोषणा की कि जगत रुका नहीं है। बढ़ रहा है, फैल रहा है, फैलता चला जा रहा है। अनंत गति से फैलता चला जा रहा है। बढ़ता ही जा रहा है।

हिंदुओं के "ब्रह्म" शब्द में वह बात है। ब्रह्म का अर्थ है: जो फैलता चला जाता है; विस्तीर्ण होता चला जाता है; जिस पर कभी कोई सीमा नहीं आती; जिसके फैलाव का कोई अंत नहीं, अंतहीन फैलाव!

"सब आत्मा है, ऐसा निश्चय करके तू संकल्प-रहित हो कर सुखी हो।"

अयं स अहं अस्मि अयं अहं न इति विभागं संत्यज।

"यह मैं, यह मैं नहीं--ऐसे विभाग को छोड़ दे, बोधपूर्वक छोड़ दे।"

सर्वम् आत्मा--एक ही आत्मा है, एक ही विस्तार, एक ही व्यापक!

इति निश्चित्य--ऐसा निश्चयपूर्वक जान!

त्वं निःसंकल्पः सुखी भव--और तब तेरे सुख में कोई बाधा न पड़ेगी।

क्योंकि जब कुछ और है ही नहीं, तू ही है, तो शत्रु कहां, मृत्यु कहां! जब कुछ भी नहीं, तू ही है, तो फिर और आकांक्षा क्या! फिर पाने को क्या बचता है! फिर भविष्य नहीं है। फिर अतीत नहीं है। फिर तू सुखी हो सकता है।

सुख उस घड़ी का नाम है जब तुमने अपने को सबके साथ एक जान लिया। दुख उस घड़ी का नाम है जब तुम अपने को सबसे भिन्न जानते हो। इसे अगर तुम जीवन की छोटी-छोटी घटनाओं में परखोगे तो पहचान लोगे। जहां मिलन है वहां सुख है। साधारण जीवन में भी। मित्र आ गया अनेक वर्षों बाद, गले मिल गये--सुख का अनुभव है। फिर मित्र जाने लगा, फिर दुख घिर आया। तुमने गौर किया? जहां मिलन है वहां सुख की थोड़ी प्रतीति है और जहां बिछुड़न है वहां दुख की। मिलन में एक होने की थोड़ी-सी झलक आती है; बिछुड़न में फिर हम दो हो जाते हैं। जिसे तुम प्रेम करते थे, वह पति या पत्नी या मित्र मर गया--दुखी हो जाते हो। नाचे-नाचे फिरते थे, प्रिय तुम्हारे पास था; आज प्रिय मृत्यु में खो गया, आज तुम छाती पीटते हो, मरने का भाव उठने लगता। लेकिन गौर किया, मामला क्या है? मिलन में सुख था, विरह में दुख है।

लेकिन ये छोटे-छोटे मिलन-विरह तो होते रहेंगे; एक ऐसा महामिलन भी है, फिर जिसका कोई विरह नहीं। उसी को हम परमात्मा से मिलन कहते हैं।

सब आत्मा है। फिर कोई बिछुड़न नहीं हो सकती। फिर विरह नहीं हो सकता। फिर मिलन शाश्वत हुआ, फिर सदा के लिए हुआ। और जो सदा के मिलन को उपलब्ध हो गये, धन्यभागी हैं।

सुखी भव! अष्टावक्र कहते हैं, फिर सुख ही सुख है। फिर तू सुख है। सुखी भव!

"तेरे ही अज्ञान से विश्व है। परमार्थतः तू एक है। तेरे अतिरिक्त कोई दूसरा नहीं है--न संसारी और न असंसारी।"

"तेरे ही अज्ञान से विश्व है।"

अज्ञान यानी भेद। ज्ञान यानी अभेद। अज्ञानी यानी अपने को अलग मानना। अपने को अलग मानने में ही सारा उपद्रव खड़ा हो जाता है। ज्ञान यानी अपने को एक जान लेना; पहचान लेना कि मैं एक हूं।

तवैवाज्ञानतो विश्वं त्वमेकः परमार्थतः।

और वस्तुतः हम एक हैं, इसलिए एक होने में सुख मिलता है। क्योंकि जो स्वाभाविक है, वह सुख देता है। हम अनेक नहीं हैं, इसलिए अनेक होने में दुख मिलता है। क्योंकि जो स्वभाव के विपरीत है, वह दुख देता है। दुख बोधक है केवल, सूचक है कि कहीं तुम स्वभाव के विपरीत जा रहे हो। सुख संकेतक है कि तुम चलने लगे स्वभाव के अनुकूल। जहां स्वभाव से संगीत बैठ जाता है, वहीं सुख है। जिस व्यक्ति से तुम्हारा स्वभाव मेल खा जाता है, उसी के साथ सुख मिलने लगता है। जिस घड़ी में किसी भी कारण से किसी भी परिस्थिति में तुम जगत के साथ बहने लगते हो, जगत की धारा में एक हो जाते हो, वहीं सुख मिल जाता है।

सुख तुम्हारे हाथ की बात नहीं है। सुख कभी-कभी अनायास भी मिलता है। राह पर तुम चले जा रहे थे, सुबह घूमने निकले थे और अचानक एक घड़ी आ जाती है, एक झरोखा खुल जाता है, एक गवाक्ष, एक क्षण को तुम पाते हो महासुख। फिर खो जाता है, तुम्हारी समझ में नहीं आता हुआ क्या! शायद आकस्मिक रूप से, अकारण, तुम्हारी बिना किसी चेष्टा के, तुम ऐसी जगह थे, चित्त की ऐसी दशा में थे जहां जगत से मेल हो गया; तुम जगत की धारा के साथ बहने लगे। चलते थे; विचार न था, सूरज निकला था, पक्षी गीत गाते थे, सुबह की हवा सुगंध ले आई थी, नासापुट सुगंध से भरे थे, प्राण उत्फुल्ल थे, सुबह की ताजगी थी, तुम नाचे-नाचे थे--एक क्षण को मेल खा गया, अस्तित्व से मेल खा गया, अस्तित्व के साथ तुम लयबद्ध हो गये! तुम्हारे किए न था, अन्यथा तुम सदा लयबद्ध रहो। आकस्मिक हुआ था, इसलिए खो गया। फिर तुम उतर गये। फिर पटरी से गाड़ी नीचे हो गई।

उसी व्यक्ति को हम ज्ञानी कहते हैं, जिसने इसे बोधपूर्वक पहचान लिया और अब जिसकी पटरी नीचे नहीं उतरती। अब तुम लाख धक्का दो, ऐसा-वैसा करो!

तुमने एक जापानी खिलौना देखा? दारुमा गुड्डी कहलाती है। "दारुमा" शब्द आता है बोधिधर्म से। एक भारतीय बौद्ध भिक्षु कोई चौदह सौ वर्ष पहले चीन गया। वह बड़ा अनूठा व्यक्ति था; जिसकी मैं बात कर रहा हूं, ऐसा व्यक्ति था। जीवन से उसका मेल शाश्वत हो गया था, छंदबद्ध था। तुम उसे धक्का नहीं दे सकते थे। तुम उसे गिरा नहीं सकते थे। तुम उसकी लयबद्धता को क्षीण नहीं कर सकते थे। वह हर हालत में अपनी लयबद्धता को पा लेता था। कैसी भी दशा हो, बुरी हो भली हो, रात हो दिन हो, सुख हो दुख हो, सफलता-असफलता हो, इससे कोई फर्क न पड़ता था। उसके भीतर का संगीत अहर्निश बहता रहता था।

बोधिधर्म का जापानी नाम है दारुमा। और उन्होंने एक गुड़िया बना ली है। तुमने गुड़िया देखी भी होगी। उस गुड़िया की एक खूबी है: उसे तुम कैसा ही फेंको, वह पालथी मार कर बैठ जाती है। उसकी पालथी बजनी है; भीतर लोहे का टुकड़ा रखा है, या शीशा भरा है और सारा शरीर पोला है। तो तुम कैसा भी फेंको, तुम चाहो कि सिर के बल गिर जाये दारुमा, वह नहीं गिरता। तुम धक्का मारो, ऐसा करो, वैसा करो, वह फिर अपनी जगह बैठ जाता है। यह गुड़िया बड़ी अदभुत है बच्चों को शिक्षण देने के लिए कि तुम्हारा जीवन भी ऐसा हो जाए--दारुमा जैसा हो जाए। कुछ तुम्हें गिरा न पाये। तुम्हारी पालथी लगी रहे। तुम्हारा सिद्धासन कायम रहे। तुम्हारी छंदबद्धता बनी रहे। इसी को अष्टावक्र स्वच्छंदता कहते हैं।

स्वच्छंदता का अर्थ उच्छृंखलता मत समझ लेना। स्वच्छंदता का अर्थ है: स्वयं के छंद को उपलब्ध हो गये; स्वभाव के साथ एक हो गये; छंदबद्ध हो गये अपनी भीतर की आत्मा से। और जो भीतर है वही बाहर है, तो छंद पूरा हो गया। लयबद्ध हो गए, तुम्हारा सितार बजने लगा। तुमने अस्तित्व के हाथों में दे दिया अपना सितार; अस्तित्व की अंगुलियां तुम्हारे सितार पर फिरने लगीं, गीत उठने लगा।

"तेरे ही अज्ञान से विश्व है। परमार्थतः तू एक है। तेरे अतिरिक्त कोई दूसरा नहीं है--न संसारी और न असंसारी।"

तो कोई भेद मत करना। यह मत कहना कि यह संसारी है और यह संन्यासी है। इसलिए तुम देखते हो, मैंने सारा भेद छोड़ दिया है।

लोग मेरे पास आते हैं। वे कहते हैं, संन्यास लेना है; लेकिन हम तो अभी संन्यासी होने के योग्य नहीं हैं; अभी घर में हैं, पत्नी-बच्चे हैं। मैं कहता हूं: तुम फिक्र छोड़ो। संन्यासी और संसारी में कोई भेद थोड़े ही है--एक ही है। इतना ही फर्क है कि संसारी अभी जिद किए है सोने की और संन्यासी जागने की चेष्टा करने लगा है। भेद थोड़े ही हैं। दोनों एक से ही हैं। संसारी सिर के बल खड़ा है, संन्यासी अपने पैर के बल खड़ा हो गया; मगर दोनों में कुछ फर्क थोड़े ही है। दोनों के भीतर एक ही परमात्मा, एक ही स्फूर्ति!

तन के तट पर मिले हम कई बार पर
द्वार मन का अभी तक खुला ही नहीं।
जिंदगी की बिछी सर्प-सी धार पर,
अश्रु के साथ ही कहकहे बह गये।
ओंठ ऐसे सिये शर्म की डोर से,
बोल दो थे, मगर अनकहे रह गये।
सैर करके चमन की मिला क्या हमें?
रंग कलियों का अब तक घुला ही नहीं।

पूरी जिंदगी गुजर जाती है और कलियों का रंग भी नहीं घुल पाता। पूरी जिंदगी गुजर जाती है, कली खिल ही नहीं पाती। पूरी जिंदगी गुजर जाती है और तार छिड़ते ही नहीं वीणा के।

सैर करके चमन की मिला क्या हमें?
रंग कलियों का अब तक घुला ही नहीं।
तन के तट पर मिले हम कई बार पर
द्वार मन का अभी तक खुला ही नहीं।

तो हम मिलते भी हैं, तो भी मिलते नहीं। अहंकार अकड़ाये रखता है। झुकते हैं तो भी झुकते नहीं। सिर झुक जाता है, अहंकार अकड़ा खड़ा रहता है।

तुम जरा गौर से देखना, जब तुम झुकते हो, सच में झुकते हो? जब हाथ जोड़ते हो, सच में हाथ जोड़ते हो? या कि सब धोखा है? या कि विनम्रता भी औपचारिकता है? या कि सब सामाजिक व्यवहार है? कुछ सत्य है या सब झूठ ही झूठ है? तुम किसी से कहते हो, मुझे तुमसे प्रेम है; लेकिन यह तुम सच में मानते हो? है ऐसा? या किसी प्रयोजनवश कह रहे हो?

मुल्ला नसरुद्दीन की पत्नी उससे कह रही है कि अब तुम्हें मुझसे पहले जैसा प्रेम न रहा। अब तुम घर उस उमंग से नहीं आते जैसे पहले आते थे। अब तुम मुझे देख कर खिल नहीं जाते, जैसे पहले खिल जाते थे।

मुल्ला अपना अखबार पढ़ रहा है। उसके सिर पर सलवटें पड़ती जाती हैं। और पत्नी कहे चली जा रही है, बुहारी लगाये जा रही है और कहे चली जा रही है। फिर वह कहती है कि नहीं, तुम्हें मुझसे बिलकुल प्रेम नहीं रहा; सब प्रेम खत्म हो गया। मुल्ला ने कहा कि है तुझसे, प्रेम मुझे तुझसे ही है और पूरा प्रेम है! अब सिर खाना बंद कर और अखबार पढ़ने दे!

कहे चले जाते हैं हम, जो कहना चाहिए। और जीवन कुछ और कहे चला जाता है। ओंठ कुछ कहते, आंख कुछ कहती है। ओंठ कुछ कहते हैं, पूरा व्यक्तित्व कुछ और कहता है। तुम जरा लोगों की आंखों पर खयाल करना; जब वे तुमसे कहते हैं हमें प्रेम है, तो उनकी आंख में कोई दीये नहीं जलते। सूनी पथराई आंखें! जब तुम्हें वे नमस्कार करते हैं और कहते हैं कि धन्यभाग कि आपके दर्शन हो गये, तब उनके चेहरे पर कोई पुलक नहीं आती। कोरे शब्द, थोथे शब्द! सब झूठा हो गया है।

इस झूठ से जागने का नाम ही संन्यास है। कहीं भागने का नाम संन्यास नहीं है। यहीं तुम सच होना शुरू हो जाओ, प्रामाणिक होना शुरू हो जाओ, और तुम पाओगे कि जैसे-जैसे तुम प्रामाणिक होते हो, वैसे-वैसे जीवन में स्वर, संगीत, सुगंध, सौरभ खिलता है। सत्य की बड़ी गहरी सुगंध है!

तुम मिले तो प्रणय पर छटा छा गई
चुंबनों सांवली-सी घटा छा गई।
एक युग, एक दिन, एक पल, एक क्षण
पर गगन से उतर चंचला आ गई।
प्राण का दान दे, दान में प्राण ले
अर्चना की अधर चांदनी छा गई।
तुम मिले, प्राण में रागिनी छा गई।

थोड़ा सत्य की झलक आनी शुरू हो जाए, थोड़ा उस परम प्रियतम से मिलना शुरू हो जाए, थोड़ा ही उसका आंचल हाथ में आने लगे...।

तुम मिले तो प्रणय पर छटा छा गई!
तुम मिले, प्राण में रागिनी आ गई!

धार्मिक व्यक्ति कोई उदास, थकाऱ्हारा, मुर्दा व्यक्ति नहीं है--जीवंत, उल्लास से भरा, नाचता हुआ! धार्मिक व्यक्ति है मुस्कुराता हुआ। जिसको इस बात का अहसास होने लगा कि परमात्मा ने सब तरफ से मुझे घेरा है, वह उदास रहेगा? जिसके भीतर यह प्रतीति होने लगी कि वही परमात्मा मेरे घर में भी विराजमान है, इस मेरी अस्थिपंजर की देह को भी उसने पवित्र किया है, इस मिट्टी की देह में भी उसी का मंदिर है--वह फिर उदास रहेगा? फिर तुम उसे थकाऱ्हारा देखोगे? उसमें तुम एक उमंग के दर्शन पाओगे। बस उतना ही फर्क है। लेकिन चाहे तुम उमंग से नाचो और चाहे थके, उदास, हारे बैठे रहो, मूलतः, परमार्थतः कोई फर्क नहीं है--न संसारी में न असंसारी में।

परमार्थतः त्वं एकः!

वस्तुतः तो तुम एक ही हो। उदास भी वही है। हंसता हुआ भी वही है। स्वस्थ भी वही, बीमार भी वही। अंधेरे में खड़ा भी वही, रोशनी में खड़ा भी वही। फर्क इतना ही है कि एक ने आंख खोल ली है, एक ने आंख बंद रखी है। फर्क कुछ बहुत नहीं। पलक, जरा-सी पलक का फर्क है। आंख खुल गई--संन्यासी। आंख बंद रही--संसारी।

"यह विश्व भ्रांति मात्र है और कुछ नहीं है, ऐसा निश्चयपूर्वक जानने वाला वासना-रहित और चैतन्य-मात्र है। वह ऐसे शांति को प्राप्त होता है मानो कुछ नहीं है।"

जरा इस भाव में जीयो! जरा इस भाव में पगो! जरा इस भाव में डूबो!

"यह विश्व भ्रांति मात्र है।"

यह ध्यान की एक प्रक्रिया है। यह कोई दार्शनिक सिद्धांत नहीं; जैसा कि हिंदू समझ बैठे हैं कि यह इनका दार्शनिक सिद्धांत है कि यह जगत माया है, भ्रांति है, इसको सिद्ध करना है। यह कोई तर्क की प्रक्रिया नहीं है।

शंकराचार्य के अत्यंत तार्किक होने के कारण एक बड़ी गलत दिशा मिल गई। शंकराचार्य ने बात को कुछ ऐसे सिद्ध करने की कोशिश की है जैसे यह कोई तार्किक सिद्धांत है कि जगत माया है। उसके कारण दूसरे सिद्ध करने लगे कि जगत माया नहीं है। और सच तो यह है कि किसी भी तर्क से सिद्ध नहीं किया जा सकता कि जगत माया है। कोई उपाय नहीं है। इसलिए उपाय नहीं है कि जब तुम सिद्ध करने जाते हो कि जगत माया है, तब भी तुम्हें इतना तो मानना ही पड़ता है कि जगत है; नहीं तो सिद्ध किसको कर रहे हो कि माया है? जब तुम सिद्ध करने जाते हो किसी के सामने कि जगत माया है तो तुम इतना मानते हो कि जिसके सामने तुम सिद्ध कर रहे हो, वह है। इतना तो मानते हो कि किसी की बुद्धि तुम्हें सुधारनी है, रास्ते पर लानी है; कोई गलत चला गया

है, ठीक लाना है। लेकिन यह तो मान्यता हो गई संसार की। यह तो तुमने मान लिया कि दूसरा है। शंकराचार्य किसको समझा रहे हैं? किससे तर्क कर रहे हैं?

नहीं, यह तर्क की बात ही नहीं। मेरा कोण कुछ और है। मैं मानता हूं, यह ध्यान की एक प्रक्रिया है। यह सिर्फ ध्यान की एक विधि, एक उपाय है। इसका तुम प्रयोग करके देखो ध्यान के उपाय की तरह और तुम चकित हो जाओगे।

"यह विश्व भ्रांति मात्र है।"

तुम ऐसा मान कर एक सप्ताह चलो कि जगत सपना है। कुछ फर्क नहीं करना है; जैसा होता है वैसे ही होने देना है। सपना है तो फर्क क्या करना है? सपना है तो फर्क करोगे भी कैसे? होता तो कुछ फर्क भी कर लेते। सपना है तो बदलोगे कैसे? बदलना हो भी कैसे सकता है? यथार्थ बदला जा सकता है, सपना तो बदला नहीं जा सकता। सिर्फ दृष्टि-भेद है। दफ्तर जाना, इतना ही जानना कि सपना है। दफ्तर का काम भी करना, यह मत कहना कि अब फाइलें हटा कर बगल में रख दीं; जैसा कि भारत में लोग किए हैं, फाइलें रखीं हैं, वे टेबल पर पैर पसारे बैठे हैं--जगत सपना है! करना भी क्या है! फाइलों में धरा क्या है!

दो कवि एक कवि-सम्मेलन में गये थे, एक साथ ठहरे थे। जो जवान कवि था, वह कुछ कविताएं लिख रहा था। बूढ़े ने उसको उपदेश दिया। बूढ़े ने कहा: "लिखने में क्या धरा है! अरे पागल, लिखने में क्या धरा है! परमात्मा बाहर खड़ा है।"

जवान ने सुन तो लिया, लेकिन उसे बात अच्छी न लगी। थोड़ी देर बाद बूढ़े ने कहा: "बेटा, सेरीडान बुलवाओ, सिर में दर्द हुआ है।" तो उस जवान कवि ने कहा: "सेरीडान! सेरीडान!! सेरीडान में क्या धरा है? परमात्मा बाहर खड़ा है। और जब सिर में दर्द उठे, बहाना करो, न-न--। न-न करो! सब भ्रांति है गुरुदेव! सिरदर्द इत्यादि में रखा क्या है! जब दर्द उठे, बहाना करो, न-न-न। न-न-न करो। इनकार कर दो, बस खत्म हो गई बात।"

न तो इनकार करने से सिरदर्द जाता और न फाइलें सरकाने से कुछ हल होता। नहीं, यह तो प्रयोग ध्यान का है। दफ्तर जाओ, फाइल पर काम भी करो--सपना ही है, बस इतना जान कर करो। घर आओ, पत्नी से भी मिलो, बच्चों के साथ खेलो भी--सपना ही है, ऐसा ही मान कर चलो। एक सात दिन तुम एक अभिनेता हो, कर्ता नहीं। बस कोई फर्क न पड़ेगा, किसी को कानोंकान खबर भी न होगी। कोई जान भी न पाएगा और तुम्हारे भीतर एक क्रांति हो जाएगी। तुम अचानक देखोगे, कर तुम वही रहे हो, लेकिन अब बोझ न रहा। कर तुम वही रहे हो, लेकिन अब अशांति नहीं। कर तुम वही रहे हो, लेकिन अब तुम अलिप्त, दूर कमल जैसे; पानी में और फिर भी पानी छूता नहीं।

"यह विश्व भ्रांति मात्र है और कुछ नहीं है, ऐसा निश्चियपूर्वक जानने वाला वासना-रहित और चैतन्य मात्र हो जाता है।"

तुम करके देखो। तुम पाओगे कि वासना गिरने लगती है। काम जारी रहता है, कामना गिरने लगती है। कृत्य जारी रहता है, कर्ता विदा हो जाता है। सब चलता है, जैसा चलता था; लेकिन भीतर आपाधापी नहीं रह जाती, तनाव नहीं रह जाता। तुम उपकरण-मात्र हो जाते हो, निमित्त मात्र! और तब तुम्हें अनुभव होता है कि तुम तो सिर्फ चैतन्य हो, साक्षी-मात्र हो।

यह प्रयोग ध्यान का है। अगर जगत सपना है तो कर्ता होने का तो कोई उपाय न रहा। जब यथार्थ है ही नहीं, तो कर्ता हो कैसे सकते हो? रात तुम सपना देखते हो, उसमें कर्ता तो नहीं हो सकते! सुबह जाग कर तुम पाते हो साक्षी थे, कर्ता नहीं। देखा, तुम सुबह उठ कर ऐसा तो नहीं कहते कि सपने में ऐसा-ऐसा किया; तुम कहते हो, रात सपना देखा। तुम जरा भाषा पर खयाल करना। तुम यह नहीं कहते हो सुबह उठ कर कि रात

सपने में चोरी की। तुम कहते हो, रात देखा, सपना आया कि चोरी हो रही है मुझसे। रात देखा, सपना आया कि मैं हत्यारा हो रहा हूं। तुम कहते हो, मैंने देखा। सपना देखा जाता है; किया थोड़े ही जाता है। बस इस भेद को समझो। सपने के साथ करना जुड़ता नहीं है, सिर्फ देखना जुड़ता है।

तो अगर तुम जगत को सपना मात्र मान कर प्रयोग करो तो अचानक तुम पाओगे, तुम चैतन्य मात्र रह गये, द्रष्टा-मात्र, साक्षी-मात्र!

"और ऐसा व्यक्ति ऐसी शांति को प्राप्त हो जाता है मानो कुछ है ही नहीं।"

अशांत होने का उपाय ही नहीं बचता।

भ्रांतिमात्रमिदं विश्वं न किंचिदिति निश्चयी।
निर्वासनः स्फूर्तिमात्रो न किंचिदिव शाम्यति।।

सब सपने भूमिकायें हैं
उस अनदेखे सपने की
जो एक ही बार आएगा
सत्य की भीख मांगने
आंख के द्वार पर।
सब सपने भूमिकायें हैं!

यह सारा जगत, तुम देखने की कला सीख लो, इसकी ही पाठशाला है। ये इतने दृश्य, ये इतने कथापट, इतने नाटक, सिर्फ एक छोटी-सी बात की तैयारी हैं कि तुम द्रष्टा बन जाओ।

सब सपने भूमिकायें हैं
उस अनदेखे सपने की
जो एक ही बार आएगा
सत्य की भीख मांगने
आंख के द्वार पर।

तुम संसार के देखने वाले बन जाओ, एक दिन अचानक परमात्मा तुम्हारे द्वार पर खड़ा हो जाएगा। उसी परम दर्शन के लिए सारी तैयारी चल रही है। यह तो आंखों पर काजल आंजना है--यह संसार जो है। यह तो आंखों को साफ करना है--यह संसार जो है। आंखें स्वच्छ हो जाएं, देखने की कला आ जाए, स्फूर्ति आ जाए, बोध आ जाए, फिर द्वार पर परमात्मा खड़ा है। और एक बार द्वार पर खड़ा हो गया कि सदा के लिए हो गया।

जो एक ही बार आएगा,
सत्य की भीख मांगने
आंख के द्वार पर।

आंखें शून्य हो जाएं तो सत्य मिल जाए! मन मौन हो जाए तो प्रभु की वाणी प्रगट हो उठे। तुम मिट जाओ, तो परमात्मा इसी क्षण जाहिर हो उठे।

मात्र है राजमार्ग अभिव्यक्ति का,

शब्द, छंद, मात्रा,
होती है शुरू मौन के बीहड़ से
अनुभूति की यात्रा।

जब तुम चुप हो जाते हो--सब अर्थों में! आंख जब चुप हो जाती है, तब तुम वही देखते हो जो है। जब तक आंख बोलती रहती है, तुम वही देखते हो जो तुम्हारी वासना दिखलाना चाहती है।

मुल्ला नसरुद्दीन एक राह से जा रहा है। अचानक झपटा। कोई चीज उठाई। फिर बड़े क्रोध से फेंकी और गालियां दीं। मैंने उससे पूछा: "नसरुद्दीन!" मैं उसके पीछे-पीछे ही था। "यह मामला क्या हुआ। झपटे बड़ी तेजी से, कुछ उठाया भी, कुछ फेंका भी!"

उसने कहा: कुछ ऐसे दुष्ट हैं कि अठन्नी जैसी खखार थूकते हैं।

अठन्नी जैसी खखार! वह उनको गाली दे रहा है। जैसे उसके लिए किसी ने अठन्नी जैसी खखार थूंकी। वे खखार को उठा लिए। नाराज हो रहे हैं।

आदमी वही देखता है, जो देखना चाहता है, जो उसकी वासना दिखलाना चाहती है।

तुमने भी कई बार खखार उठा लिया होगा अठन्नी के भ्रम में। वह दिखाई नहीं पड़ता जो है। आंख के पास अपने प्रक्षेपण हैं। आंख वही दिखलाना चाहती है।

तुम कभी ऐसा भी देखो। तुम रोज जिस बाजार में जाते हो, उसमें जब तुम जाते हो अलग-अलग भावनाएं ले कर तुम्हें अलग-अलग चीजें दिखाई पड़ती हैं। अगर तुम भूखे जाओ, तुम्हें होटल, रेस्तरां इसी तरह की चीजें दिखाई पड़ेंगी; जूते की दूकान बिलकुल दिखाई न पड़ेगी। अगर तुम्हारा दिमाग खराब हो तो बात अलग है; नहीं तो जूते की दूकान नहीं दिखाई पड़ेगी। उपवास करके बाजार में जाना, सब तरफ से तुम्हें...बाकी सब चीजें फीकी पड़ जाएंगी, हट जाएंगी, उनका महत्व न रहा। लेकिन जब तुम भरे पेट जाते हो, तब बात अलग हो जाती है। तुम देखने वाले हो। तुम चुनाव कर रहे हो।

इस घड़ी की कल्पना करो, जब तुम सारे जगत को स्वप्नवत मान लेते हो। तब तुम्हें बड़ी हैरानी होती है। वही दिखाई पड़ने लगता है जो है। और जो है वह एक है, अनेक नहीं।

"यह विश्व भ्रांति मात्र है और कुछ नहीं, ऐसा निश्चयपूर्वक जानने वाला वासना-रहित चैतन्य मात्र है। वह ऐसी शांति को प्राप्त होता है मानो कुछ नहीं है।"

जब तुम्हारे भीतर कोई मांग नहीं तो बाहर कुछ नहीं बचता है--एक विराट शून्य फैल जाता है, एक मौन, एक निस्तब्धता! उस निस्तब्धता में ही प्रभु के चरण पहली बार सुने जाते हैं।

"संसाररूपी समुद्र में एक ही था, है, और होगा। तेरा बंध और मोक्ष नहीं है। तू कृतकृत्य होकर सुखपूर्वक विचर!"

देखते हैं इन वचनों की मुक्ति! इन वचनों की उदघोषणा!

एक एव भवांभोधावासीदस्ति भविष्यति।

एक ही है, एक ही था, एक ही रहेगा। इससे अन्यथा जो भी देखा हो, सपना है, झूठा है, मनगढ़ंत है।

न ते बंधोऽस्ति मोक्षो वा कृतकृत्यः सुखं चर।

और न कहीं कोई बंध है, न कोई मोक्ष है। अगर ऐसा तू देख ले तो न कोई बंध है न कोई मोक्ष। तू मुक्त, मुक्त तेरा स्वभाव है।

न ते बंधोऽस्ति मोक्षो वा कृतकृत्यः सुखं चर।

और फिर तू कृतार्थ हुआ। फिर प्रतिपल तेरा धन्य हुआ। फिर तू सुख से विचर।

"हे चिन्मय, तू चित्त को संकल्पों और विकल्पों से क्षोभित मत कर, शांत होकर आनंदपूरित अपने स्वरूप में सुखपूर्वक स्थित हो।"

बैठा है कीचड़ पर जल
चौंका मत!
घट भर और चल
बनाया जा सकता है अंधेरा पालतू
पर मर जाती है बंद करते ही धूप
मुक्ति का द्वार अभिन्न अंग है कारा का
बलि वासनाओं की दो,
नारियल कुंठा का तोड़ो
चंदन अहं का घिसो
बन जाएगा तुम्हारा पशु ही प्रभु
बैठा है कीचड़ पर जल
चौंका मत!

घट भर और चल!

वासनाएं हैं, उन वासनाओं को जगाने, प्रज्वलित करने की कोई जरूरत नहीं। अपना घड़ा भरो और चलो। जल के नीचे बैठी है मिट्टी, बैठी रहने दो। लेकिन हम घड़ा तो भरते नहीं, जीवन के रस से तो घड़ा भरते नहीं; वह जो तलहटी में बैठी मिट्टी है वासनाओं की, उसी की उधेड़बुन में पड़ जाते हैं। और उसके कारण सारा जल अस्वच्छ हो जाता है।

तो अगर जल भरना हो किसी झरने से तो उतर मत जाना झरने में; झरने के बाहर से चुपचाप आहिस्ता से अपना घड़ा भर लेना। झरने में उतर गये, जल पीने योग्य न रह जाएगा। अभी-अभी कैसा स्वच्छ था, स्फटिक मणि जैसा! उतर गये, उपद्रव हो गया। कर्ता बन गये--उतर गये। साक्षी रहे कि किनारे रहे। भर लो घड़ा।

बैठा है कीचड़ पर जल
चौंका मत!
घट भर और चल।
कृतकृत्य हो जा!
बनाया जा सकता है अंधेरा पालतू।
यह तुमने देखा, अंधेरे को तुम बंद कर सकते हो कमरे में, लेकिन धूप को नहीं!
बनाया जा सकता है अंधेरा पालतू
पर मर जाती है बंद करते ही धूप।

जीवन में जो भी श्रेष्ठ है, जो भी सुंदर है, जो भी सत्य है, वह मुक्त ही होता है। उसे बांधा नहीं जा सकता। शास्त्र में बांधा, मर जाता है सत्य। सिद्धांत में पिरोया, निकल जाते हैं प्राण। तर्क में डाला, हो गया व्यर्थ। तर्क तो कब्र है सत्य की। शब्द तो लाश है सत्य की।

बनाया जा सकता है अंधेरा पालतू
पर मर जाती है बंद करते ही धूप।

शब्दों में बंद करने की चेष्टा न करो; मौन में उघाड़ो! विचारों में मत उलझो; शून्य में जागो! आंखों में अगर सपने भरे हुए हो तुम, तो तुम कारागृह में ही रहोगे। आंखों को खाली करो।

मुक्ति का द्वार अभिन्न अंग है कारा का!

यह बड़े मजे की बात है। संसार में ही मुक्ति का द्वार है। होना ही चाहिए। जेलखाने से जब कोई निकलता है तो जिस द्वार से निकलता है वह जेलखाने का ही द्वार होता है।

मुक्ति का द्वार अभिन्न अंग है कारा का।

वह द्वार मुक्ति का कारा से अलग थोड़े ही है। मोक्ष कहीं संसार से अलग थोड़े ही है। मोक्ष संसार में ही एक द्वार है। तुम साक्षी हो जाओ, द्वार खुल जाता है। तुम कर्ता बने रहो, तुम्हें द्वार दिखाई नहीं पड़ता। तुम दौड़-धूप आपाधापी में लगे रहते हो।

"संसाररूपी समुद्र में एक ही था, एक ही है, एक ही होगा। तेरा बंध और मोक्ष नहीं। तू कृतकृत्य हो कर सुखपूर्वक विचर।"

ते बंधः वा मोक्ष न त्वं सुखं चर!

कृतकृत्य हो कर! यह बड़े मजे का शब्द है। कर्ता होने से बचते ही आदमी कृतकृत्य हो जाता है। और हम सोचते हैं: बिना कर्ता बने कैसे कृतकृत्य होंगे; जब करेंगे तभी तो कृतकृत्य होंगे! और करने वाले कभी कृतकृत्य नहीं होते। देखते हो नेपोलियन, सिकंदर! उनकी पराजय देखते हो! संसार जीत लेते हैं और फिर भी पराजय हाथ लगती है। धन भर जाता है और हाथ खाली रह जाते हैं। प्रशंसा मिल जाती है और प्राण सूखे रह जाते हैं।

अष्टावक्र कहते हैं: कृतकृत्य होना है, कर लेना है जो करने योग्य है--तो कर्ता मत बन! तो साक्षी बन! साक्षी बनते ही तत्क्षण परमात्मा तेरे लिए कर देता है जो करने योग्य है। तू नाहक ही परेशान हो रहा है। तू व्यर्थ की दौड़-धूप कर रहा है।

"हे चिन्मय, तू चित्त को संकल्पों और विकल्पों से क्षोभित मत कर। शांत हो कर आनंदपूर्वक अपने स्वरूप में सुखपूर्वक स्थित हो।"

मा संकल्पविकल्पाभ्यां चित्तं क्षोभय चिन्मय।
उपशाम्य सुखं तिष्ठ स्वात्मयानंदविग्रहे।।

"हे चिन्मय! हे चैतन्य! तू चित्त को संकल्पों-विकल्पों से क्षोभित मत कर।"

यह मत सोच: क्या करूं क्या न करूं; क्या मानूं क्या न मानूं; कहां जाऊं कहां न जाऊं! इन संकल्प-विकल्पों में मत पड़। तू तो जहां है वहीं शांत हो जा। जैसा है वैसा ही शांत हो जा। क्या करूं क्या न करूं कि शांति मिले, अगर इस विकल्प में पड़ा तो तू अशांत ही होता चला जाएगा।

शांति के नाम पर भी लोग अशांत होते हैं। शांत होना है, यही बात अशांति का कारण बन जाती है। ऐसे लोग मेरे पास रोज आ जाते हैं। वे कहते हैं, शांत होना है; अब चाहे कुछ भी हो जाए, शांत हो कर रहेंगे। उनको यह बात दिखाई नहीं पड़ती कि उनके ही कर्तापन के कारण अशांत हुए; अब कर्तापन को शांति पर लगा रहे हैं। अब वे कहते हैं, शांत होकर रहेंगे! अभी भी जिद कायम है। अभी भी टूटी नहीं जिद। अहंकार मिटा नहीं, कर्ता गिरा नहीं। रस्सी जल गई, लेकिन रस्सी की अकड़न नहीं गई। अब शांत होना है। अब यह नया कर्तृत्व पैदा हुआ।

इतना ही तुम जान लो कि तुम्हारे किए कुछ भी नहीं होता है। फिर कैसी अशांति! इतना ही जान लो, तुम्हारे किए क्या कब हुआ! कितना तो किया, कभी कुछ हुआ? कभी तो कुछ न हुआ। आशा बंधी और सदा टूटी। निराश ही तो हुए हो। जन्मों-जन्मों में निराशा के अतिरिक्त तुम्हारी संपत्ति क्या है? इसको देख कर जो व्यक्ति कह देता है, अब मेरे किए कुछ न होगा--ऐसे भाव में कि अब मेरे किए कुछ भी न होगा, तो मैं देखूंगा जो होता है, देखूंगा और तो करने को कुछ बचा नहीं; देखूंगा चुपचाप बैठ कर...!

मेरे दादा, मेरे पिता के पिता, बूढ़े हो गए थे। तो उनके पैरों में लकवा लग गया। वे चल भी नहीं सकते थे। लेकिन उनकी पुरानी आदत! तो घसिट कर भी वे दूकान पर पहुंच जाते, मकान के भीतर से दूकान पर आ जाते। अब उनकी कोई जरूरत भी न थी दूकान पर। उनके कारण अड़चन भी होती। लेकिन वे फिर भी...।

मैं एक बार गांव गया था। विश्वविद्यालय में पढ़ता था, लौटा था। उनको मैंने देखा तो मैंने उनको कहा कि अब तुम्हारा करना सब खतम हो गया, अब तुम्हारे पैर भी जाते रहे, अब चलना-उठना भी नहीं होता, अब कोई जरूरत भी नहीं है, तुम्हारे बेटे अच्छी तरह कर भी रहे हैं, अब तुम्हें कुछ अड़चन भी नहीं है, अब तुम शांत क्यों नहीं बैठ जाते?

वे बोले, शांत तो मैं बैठना चाहता हूं। तो मैंने कहा: अब और क्या बाकी है? अब तुम शांत बैठ ही जाओ। तुम मेरी मानो--मैंने उनसे कहा--चौबीस घंटे आज तुम दूकान पर मत जाओ। तुम्हारी वहां कोई जरूरत भी नहीं है। सच तो यह है कि तुम्हारे बेटे परेशान होते हैं तुम्हारी वजह से। काम में बाधा पड़ती है। जमाना बदल गया है। जब तुम दूकान चलाते थे, वह और दुनिया थी; अब दूकान किसी और ढंग से चल रही है।

वे पुराने ढंग के आदमी थे। दस रुपये की चीज बीस रुपये में बताएंगे। फिर खींचतान होगी, फिर ग्राहक मांगेगा, फिर वे समझायेंगे-बुझायेंगे, फिर चल-फिर कर वह दस पर तय होने वाला है। लेकिन आधा घंटा खराब करेंगे, घंटा भर खराब करेंगे। अब दूकान की हालत बदल गई थी। अब दस की चीज है तो दस की बता दी, अब बात तय हो गई। उनको यह बिलकुल जंचता ही नहीं। वे कहते: "यह भी कोई मजा रहा! अरे चार बात होती हैं; ग्राहक कहता कुछ, कुछ तुम कहते; कुछ जद्दोजहद होती, बुद्धि की टक्कर होती।" और वे कहते, "बिगड़ता क्या है? दस से कम में तो देना नहीं है, तो कर लेने दो उसको दौड़-धूप। उसको भी मजा आ जाता है। वह भी सोचता, खूब ठगा! कोई अपन तो ठगे जाते नहीं।" वह उनका पुराना दिमाग था, वे वैसे ही चलते थे। वे दूकान

पर पहुंच जाते तो वे गड़बड़ करते। मैंने उनसे कहा कि तुमसे सिर्फ गड़बड़ होती है। और फिर अब, कब मौत करीब आती है...अब तुम ऐसा करो, कर्तापन छोड़ दो, साक्षी हो जाओ।

मेरी वे सदा सुनते थे कि कुछ कहूंगा तो शायद पते की हो। तो उन्होंने कहा, अच्छा आज चौबीस घंटे प्रयोग करके देखता हूं। अगर मुझे शांति मिली तो ठीक, नहीं मिली तो फिर मैं नहीं झंझट में पड़ूंगा। मुझे जैसा करना है करने दो, कम से कम व्यस्त तो रहता हूं।

वे चौबीस घंटे अपने बिस्तर पर पड़े रहे। दूसरे दिन सुबह जब मैं गया, मैंने ऐसा उनका चेहरा, ऐसा सुंदर भाव कभी देखा ही न था। वे कहने लगे: हद हो गई! मैंने इस पर कभी ध्यान ही न दिया। पैर भी टूट गए, फिर भी मैं दौड़ा जा रहा, मन दौड़ा जा रहा। अब कुछ करने को भी मुझे नहीं बचा; सब ठीक चल रहा है मेरे बिना, और भी अच्छा चल रहा है; फिर भी मैं पहुंच जाता हूं सरक कर। परमात्मा ने मौका दिया कि पैर भी तोड़ दिए, फिर भी अकल मुझे नहीं आती। तुमने ठीक किया। ये चौबीस घंटे! पहले तो चार-छः घंटे बड़ी बेचैनी में गुजरे, कई बार उठ-उठ आया; फिर याद आ गई, कम से कम चौबीस घंटे में क्या बिगड़ता है! फिर लेट गया। कोई दस-बारह घंटे के बाद कुछ-कुछ क्षण सुख के मालूम होने लगे। अब कुछ करने को नहीं बचा। सांझ होते-होते जब सूरज ढलता था और मैंने खिड़की से सूरज को ढलते देखा, तब कुछ मेरे भीतर भी ढल गया। कुछ हुआ है! रात बहुत दिनों बाद मैं ठीक से सोया हूं और सपने नहीं आये।

फिर उस दिन के बाद वे दूकान नहीं गये। फिर दो-चार साल जीये, जब भी मैं घर जाता तो मैं पहली बात पूछता कि वे दूकान तो नहीं गये हैं। उनके बेटे भी परेशान हुए--मेरे पिता, मेरे काका वे सब परेशान हुए कि मामला क्या है, तुमने किया क्या! तो मैंने कहा: मैं कुछ किया नहीं हूं, जो अपने से होना था, सिर्फ एक निमित्त बना। उनको याद दिला दी कि अब पैर भी टूट गये, अब क्यों आपाधापी! अब सब हार भी गये, बात खतम भी हो गई, अब प्राण जाने का क्षण आ गया, श्वास आखिरी आ गई, अब थोड़े साक्षी बन कर देख लो!

आखिरी दिन उनके परम शांति के दिन थे। मरते वक्त मैं घर पर नहीं था जब वे मरे, लेकिन दो दिन बाद जब मुझे खबर मिली और मैं पहुंचा तो सबने कहा कि वे तुम्हारी याद करते मरे। और उनसे पूछा कि क्यों उसकी याद कर रहे हो; और सब तो मौजूद हैं, उसी की क्यों याद कर रहे? तो उन्होंने कहा, उसकी याद करनी है, उसे धन्यवाद देना था! उसने जो मुझे कहा कि अब कर्ता न रहो, मैं कृतकृत्य हो गया! धन्यवाद देना था। मैं तो न दे सकूंगा, लेकिन जब वह आये तो मेरी तरफ से धन्यवाद दे देना कि मैं साक्षी-भाव में मरा हूं और जीवन में जो नहीं मिला था वह मरने के इन क्षणों में मुझे मिल गया है।

"हे चिन्मय, तू चित्त को संकल्पों और विकल्पों से क्षोभित मत कर। शांत होकर आनंदपूर्वक अपने स्वभाव में, अपने स्वरूप में स्थित हो।"

"सर्वत्र ही ध्यान को त्याग कर हृदय में कुछ भी धारण मत कर। तू आत्मा, मुक्त ही है, तू विमर्श करके क्या करेगा?"

ये सुनते हैं सूत्र!

"सर्वत्र ही ध्यान को त्याग कर हृदय में कुछ भी मत धारण कर!"

धन पर ध्यान है, उसको भी त्याग दे! प्रतिमा पर ध्यान है, उसको भी त्याग दे। वासना पर ध्यान है, उसको भी त्याग दे। स्वर्ग पर ध्यान है, उसको भी त्याग दे। कहीं ध्यान ही मत धर। हृदय को कोरा कर ले, सूना कर ले।

त्यजैव ध्यानं सर्वत्र मा किंचिद्धृदि धारय।
आत्मा त्वं मुक्त एवासि किं विमृश्य करिष्यसि।।

और सोच-विचार करने को क्या है? विमर्श करने को क्या है? तू एक, तू आत्मा, तू मुक्त! छोड़ सोच-विचार, बस इतना ही कर ले कि ध्यान को सब जगह से खींच ले!

कृष्ण का सूत्र है गीता में: "सर्व धर्मान् परित्यज्य, मामेकं शरणं व्रज! सब धर्म छोड़ कर तू मेरी शरण में आ जा!" यह मेरी शरण कृष्ण की शरण नहीं है। यह मेरी शरण तो तुम्हारे भीतर छिपे हुए परमात्मा की शरण है। वही कृष्ण हैं।

वही इस सूत्र का अर्थ है: त्यजैव ध्यानं सर्वत्र!

"सर्वत्र ध्यान को त्याग कर दे और हृदय में कुछ भी मत धारण कर।"

यह सूत्र कृष्ण के सूत्र से भी थोड़ा आगे आता है, क्योंकि कृष्ण के सूत्र में एक खतरा है कि तुम सब छोड़ कर कृष्ण के चरणों में ध्यान लगा लो। वह खतरा है। वह तो हो गया कृष्ण-भक्तों को। उन्होंने सब तरफ से ध्यान हटा लिया, कृष्ण के चरण पकड़ लिए। मगर ध्यान कहीं है।

समाधि तब फलित होती है जब ध्यान कहीं भी नहीं रह जाता। ध्यान जब शून्य होता है, तब समाधि। जब तुम्हारे ध्यान में कुछ भी नहीं रह जाता, कोरा प्रकाश रह जाता है, कहीं पड़ता नहीं, किसी चीज पर पड़ता नहीं, कहीं जाता नहीं, बस तुम कोरे प्रकाश रह जाते हो!

ऐसा समझो कि साधारणतः आदमी का ध्यान टार्च की तरह है, किसी चीज पर पड़ता है, एक दिशा में पड़ता है और दिशाओं में नहीं पड़ता। फिर दीये की तरह भी ध्यान होता है; सब दिशाओं में पड़ता है, किसी चीज पर विशेष रूप से नहीं पड़ता। कोई चीज हो या न हो, इससे कोई संबंध नहीं है; अगर कमरा सूना हो तो सूने कमरे पर पड़ता है, भरा हो तो भरी चीजों पर पड़ता है। सब हटा लो तो दीये का प्रकाश शून्य में पड़ता रहेगा। जिस दिन तुम्हारा चैतन्य ऐसा हो जाता है कि शून्य में प्रकाश होता है, उसी घड़ी तू मुक्त है, तू आत्मा है! जिस दिन विचार करने को कुछ शेष नहीं रह जाता, उस दिन तुम तो शांत होओगे ही, दूसरे भी देख कर प्रफुल्लित हो जाएंगे, भरोसा न कर सकेंगे।

नहीं गत, आगत, अनागत,
निर्वधि जिसकी उपलब्धि
वह तथागत।

गया गया, आने वाला भी छूटा। कोई पकड़ न रही। उसको हम कहते हैं तथागत की अवस्था। गया भी गया, आने वाला भी न रहा; जो है बस वही बचा, वही प्रकाशित हो रहा है।

चंदा की छांव पड़ी सागर के मन में
शायद मुख देखा है तुमने दर्पण में।
अधरों के ओर-छोर, टेसू का पहरा
आंखों में बदरी का रंग हुआ गहरा
केसरिया गीलापन, वन में उपवन में
शायद मुख धोया है तुमने जल-कण में।

और तुम्हीं को नहीं अहसास होगा, जिस दिन यह घड़ी घटती है, तुम्हारे आसपास के लोग भी देखेंगे! तुम एक अपूर्व स्वच्छता से, एक कुंवारेपन से भर गये! तुमसे एक सौरभ उठ रहा नया-नया! धो लिया है चेहरा तुमने प्रभु के चरणों में!

यह अमर निशानी किसकी है!

बाहर से जी, जी से बाहर तक
आनी जानी किसकी है!
दिल से आंखों से गालों तक
यह तरल कहानी किसकी है!
यह अमर निशानी किसकी है!

रोते-रोते भी आंखें मुंद जाएं
सूरत दिख जाती है
मेरे आंसू में मुसक मिलाने
की नादानी किसकी है!
यह अमर निशानी किसकी है!

सूखी अस्थि, रक्त भी सूखा
सूखे दृग के झरने
तो भी जीवन हरा
कहो मधुभरी जवानी किसकी है!
यह अमर निशानी किसकी है!
रैन अंधेरी, बीहड़ पथ है
यादें थकीं अकेली,
आंखें मुंदी जाती हैं
चरणों की बानी किसकी है!
यह अमर निशानी किसकी है!

जैसे ही तुम शांत हुए, तुम पाओगे वही आता है श्वास में भीतर, वही जाता श्वास में बाहर! वही आता, वही जाता। वही है, वही था, वही होगा! एक ही है!

हरि ॐ तत्सत्!

चवालीसवां प्रवचन

शूल हैं प्रतिपल मुझे आगे बढ़ाते

पहला प्रश्न: आपके शिष्य वर्ग में जो अंतिम होगा, उसका क्या होगा?

ईसा ने कहा है: जो अंतिम होंगे, वे मेरे प्रभु के राज्य में प्रथम हो जायेंगे। लेकिन अंतिम होना चाहिए। अंत में भी जो खड़ा होता है, जरूरी नहीं कि अंतिम हो। अंत में भी खड़े होने वाले के मन में प्रथम होने की चाह होती है। अगर प्रथम होने की चाह चली गई हो और अंतिम होने में राजीपन आ गया हो, स्वीकार, तथाता, तो जो ईसा ने कहा है, वही मैं तुमसे भी कहता हूं: जो अंतिम हैं वे प्रथम हो जायेंगे।

प्रथम की दौड़ पागलपन है। संसार में तो ठीक, सत्य की खोज में तो बाधा है। संसार तो पागलखाना है। वहां तो दौड़ है, महत्वाकांक्षा है, स्पर्धा है, संघर्ष है। सत्य की यात्रा पर जो निकला है वह दौड़ से मुक्त हो तो ही पहुंचेगा। प्रतिस्पर्धा जाये, प्रतियोगिता मिटे। दूसरे से कोई संघर्ष नहीं है। सत्य कोई ऐसी संपदा नहीं है कि दूसरा ले लेगा तो तुम्हें कुछ कम हो जायेगा। संसार का धन तो ऐसा है कि दूसरे ने ले लिया तो तुम वंचित हो जाओगे; किसी ने कब्जा कर लिया तो तुम दरिद्र रह जाओगे। इसके पहले कि कोई और कब्जा करे, तुम्हें कब्जा कर लेना है। इसलिए दौड़ है।

संसार का धन तो सीमित है। चाहें बहुत हैं, धन बहुत थोड़ा है। चाहक बहुत हैं, धन बहुत थोड़ा है। अब किसी को राष्ट्रपति होना हो तो साठ करोड़ के देश में एक आदमी राष्ट्रपति हो पायेगा। साठ करोड़ को ही राष्ट्रपति होने का नशा है। तो कठिनाई तो होगी, संघर्ष तो होगा, ज्वर तो पैदा होगा, विक्षिप्तता जन्मेगी। इनमें जो सबसे ज्यादा विक्षिप्त होगा, वह राष्ट्रपति हो जायेगा। जो इस दौड़ में बिलकुल पागल हो कर दौड़ेगा, सब होश-हवास गंवा देगा, सब कुछ दांव पर लगा देगा, वही जीत जायेगा। यहां पागल जीतते हैं, बुद्धिमान हार जाते हैं। यहां जीत सिर्फ विक्षिप्तता का प्रतीक है।

जिनके तुम नाम इतिहास में लेते हो, उनके नाम पागलखानों के रजिस्टरों में होने चाहिए। जिनके आसपास इतिहास बुनते हो वही रुग्णतम लोग थे--चंगेज और तैमूर और नेपोलियन और सिकंदर और हिटलर और माओ। एक दौड़ है आदमी की कि सब पर कब्जा कर ले। और खुद न कर पाये तो दूसरा तो कर ही लेगा।

इसलिए देर करनी नहीं। इसलिए तो इतनी आपाधापी है, इतनी जल्दी है। चैन कहां, शांति कहां! बैठ कैसे सकते हो! एक क्षण विश्राम किया तो चूके। सब तो विश्राम नहीं करेंगे। दूसरे तो दौड़े चले जा रहे हैं। तो दौड़े चलो, दौड़े चलो! मरघट में पहुंच कर ही रुकना। कब्र में गिरो, तभी रुकना।

लेकिन सत्य की संपदा तो असीम है। बुद्ध की महावीर से कोई प्रतिस्पर्धा थोड़े ही है, कि बुद्ध को मिल गया तो महावीर को न मिलेगा, कि महावीर को मिल गया तो कृष्ण को न मिलेगा, कि अब कृष्ण को मिल गया तो अब मुहम्मद को कैसे मिले! सत्य विराट है, खुले आकाश जैसा है; तुम्हें जितना पीना हो पीओ; तुम्हें जितना डूबना हो डूबो--तुम चुका न पाओगे।

इसलिए सत्य के जगत में क्या प्रथम क्या अंतिम! प्रथम और अंतिम तो वहां उपयोगी हैं जहां संघर्ष हो।

और शिष्य तो अंतिम ही होना चाहिए। शिष्यत्व का अर्थ ही यही है: अंतिम खड़े हो जाने की तैयारी; पंक्ति में पीछे खड़े हो जाने की तैयारी। गुरु के लिए सर्वाधिक प्रिय वही हो जाता है जो सबसे ज्यादा अंतिम में खड़ा है। और अगर गुरु को वे प्रिय हों केवल जो प्रथम खड़े हैं तो गुरु गुरु भी नहीं। शिष्य तो शिष्य हैं ही नहीं, गुरु भी गुरु नहीं है। जो चुप खड़ा है, मौन प्रतीक्षा करता है, जिसने कभी मांगा भी नहीं, जिसने कभी शोरगुल भी नहीं मचाया, जिसने कभी यह भी नहीं कहा कि बहुत देर हो गई है, कब तक मुझे खड़ा रखेंगे; दूसरों को

मिला जा रहा है और मैं वंचित रहा जा रहा हूं--जिसने यह कोई बात ही न कही; जिसकी प्रतीक्षा अनंत है; और जिसका धैर्य अपूर्व है--ऐसी अंतिम स्थिति हो तो निश्चित ही मैं तुमसे कहता हूं: जो अंतिम हैं वही प्रथम हैं।

लेकिन अंतिम खड़े हो कर भी अगर प्रथम होने का राग मन में हो और प्रथम होने की आकांक्षा जलती हो तो तुम खड़े ही हो अंतिम, अंतिम हो नहीं। ध्यान रखना, अंतिम खड़े होने से अंतिम का कोई संबंध नहीं।

भिखारी के मन में भी तो सम्राट होने की वासना है। तो सम्राट और भिखारी में फर्क क्या है? इतना ही फर्क है कि एक समृद्ध है और एक समृद्धि का आकांक्षी है। भेद बहुत नहीं है। भिखारी को भी मौका मिले तो सम्राट हो जाएगा। मौका नहीं मिला, असफल हुआ, हारा--यह दूसरी बात है; लेकिन मस्त तो नहीं है, जहां है। आकांक्षा तो वही है रुग्ण, घाव की तरह।

तो दरिद्र होना जरूरी नहीं है कि तुम वस्तुतः त्यागी हो। दरिद्र होना सिर्फ पराजय हो सकती है। संसार को छोड़ देना आवश्यक नहीं है कि संन्यास हो। संसार को छोड़ देना विषाद में हो सकता है। थक गये, जीत दिखाई नहीं पड़ती, मन को समझा लिया कि छोड़े देते हैं, हटे ही जाते हैं--कम से कम यह तो कहने को रहेगा कि हम इसलिए नहीं हारे कि हम कमजोर थे; हम लड़े ही नहीं।

देखा, स्कूल में विद्यार्थी परीक्षा देने के करीब आता है तो कई विद्यार्थी परीक्षा देने से बचना चाहते हैं--कम से कम यह तो कहने को रहेगा कि कभी फेल नहीं हुए; बैठे ही नहीं, बैठते तो उत्तीर्ण तो होने ही वाले थे, लेकिन बैठे ही नहीं। परीक्षा के करीब विद्यार्थी बीमार पड़ने लगते हैं।

मैं विश्वविद्यालय में शिक्षक था। एक विद्यार्थी तीन साल तक मेरी कक्षा में रहा। मैं थोड़ा हैरान होने लगा। और हर वर्ष ठीक परीक्षा के दो-चार दिन पहले उसे बड़े जोर से बुखार, सर्दी-जुकाम और सब तरह की कठिनाइयां हो जाती हैं। एक सौ पांच, एक सौ छः डिग्री बुखार पहुंच जाता। मगर यह होता है हर साल परीक्षा के पहले। मैंने तीन साल के बाद उसे बुलाया और मैंने कहा कि यह बीमारी शरीर की मालूम नहीं पड़ती; यह बीमारी मन की है। क्योंकि ठीक तीन-चार दिन पहले परीक्षा के हो जाता है नियम से। और जैसे ही तय हो जाता है कि अब परीक्षा में तुम न बैठ सकोगे, कि बस एकाध पेपर चला गया, वह चंगा हो जाता है, बिलकुल ठीक हो जाता है। शायद उसे भी पता नहीं है, लेकिन मन बड़ा धोखा कर रहा है। मन यह कह रहा है: "अब हम कर भी क्या सकते हैं! बीमार हो गये, इसमें हमारा तो कुछ बस नहीं है। बैठते परीक्षा में तो उत्तीर्ण ही होने थे, स्वर्ण-पदक ही मिलना था; बैठ ही नहीं पाये। तो कम से कम अनुत्तीर्ण होने की बदनामी से तो बचे।

बहुत संन्यासी इसी तरह से संन्यास लेते हैं। जिंदगी में तो दिखाई पड़ता है यहां जीत होगी नहीं; यहां तो हम से बड़े पागल जूझे हुए हैं। यहां तो बड़ा मुश्किल है। बड़ी छीन-झपट है। गला-घोंट प्रतियोगिता है। यहां तो प्राण निकल जाएंगे। यहां जीतने की तो बात दूर, धूल में मिल जाएंगे। लाश पर लोग चलेंगे। यहां से हट ही जाओ। ऐसी पराजय और विषाद की दशा में जो हटता है वह अंतिम नहीं है। उसके भीतर तो प्रथम होने की आकांक्षा है ही। अब वह संन्यासियों के बीच प्रथम होने की कोशिश करेगा; त्यागियों के बीच प्रथम होने की कोशिश करेगा। अगर इस संसार में नहीं सधेगा तो कम से कम परमात्मा के लोक में...।

जीसस की मृत्यु के दिन उनके शिष्य रात जब विदा करने लगे तो पूछा कि एक बात तो बता दें जाते-जाते: जब प्रभु के राज्य में हम पहुंचेंगे तो आप तो निश्चित ही प्रभु के बिलकुल बगल में खड़े होंगे, आपकी बगल में कौन खड़ा होगा? हम बारह शिष्यों में से वह सौभाग्य किसका होगा? आपका तो पक्का है कि आप परमात्मा के ठीक बगल में खड़े होंगे, वह तो बात ठीक। आपके पास कौन खड़ा होगा? हम बारह हैं। इतना तो साफ कर दें, हमारा क्रम क्या रहेगा?

सोचते हैं? इनको संन्यासी कहिएगा? यही जीसस के पैगंबर बने, यही उनका पैगाम ले जाने वाले बने! इन्होंने जीसस की खबर दुनिया में पहुंचाई। ये जीसस को समझे होंगे, जो आखिरी वक्त ऐसी बेहूदी बात पूछने लगे? जुदास तो धोखा दे ही गया है, इन्होंने भी धोखा दे दिया है। जुदास ने तो तीस रुपये में बेच दिया, पर ये

भी बेचने को तैयार हैं; इनकी भी बुद्धि वही की वही है। इस संसार में इनमें से कोई मछुआ था, कोई बढ़ई था, कोई लकड़हारा था; इस दुनिया में ये हारे हुए लोग थे, इस दुनिया को छोड़कर अब ये सपना देख रहे हैं कि वहां दूसरी दुनिया में चखा देंगे मजा--धनपतियों को, सम्राटों को, राजनीतिज्ञों को, कि खड़े रहो पीछे! हम प्रभु के पास खड़े हैं! हमने वहां दुख भोगा!

ऐसी आकांक्षा हो तो तुम अंतिम नहीं। तो अंतिम का अर्थ समझ लेना। अंतिम जो खड़ा है, ऐसा अंतिम का अर्थ नहीं है। जो अंतिम होने को राजी है; जिसकी प्रथम होने की दौड़ शांत हो गई है, शून्य हो गयी है; जिसने कहा, मैं जहां खड़ा हूं, यही परमात्मा का प्रसाद है; मैं जहां खड़ा हूं, बस इससे अन्यथा की मेरी कोई चाह नहीं, मांग नहीं, तृप्त हूं यहां--ऐसा जो अंतिम हो तो प्रथम हो जाना निश्चित है!

दूसरा प्रश्न: अलबर्ट आइंस्टीन ने जगत के विस्तार को जाना, ब्रह्म को जाना। क्या आप उन्हें ब्राह्मण का संबोधन देंगे?

जन्मजात ब्राह्मण से तो ज्यादा ही ब्राह्मण आइंस्टीन को कहना होगा। जो केवल पैदा हुआ है ब्राह्मण के घर में, इसलिए ब्राह्मण, उससे तो आइंस्टीन ज्यादा ही ब्राह्मण हैं। यज्ञोपवीत धारण करके जो ब्राह्मण हो गया है उससे तो आइंस्टीन ज्यादा ही ब्राह्मण हैं।

मरने के दो दिन पहले आइंस्टीन से किसी ने पूछा: "दुबारा अगर पैदा हों तो क्या होना चाहेंगे? फिर वैज्ञानिक बनना चाहेंगे?" आइंस्टीन ने आंख खोली और कहा: "नहीं-नहीं, भूल कर भी नहीं। जो भूल एक बार हो गई, हो गई; दुबारा मैं कुछ भी विशिष्ट न बनना चाहूंगा। प्लंबर बन जाऊंगा, कोई छोटा-मोटा काम, विशिष्ट होना अब नहीं। देख लिया, कुछ पाया नहीं। अब तो साधारण होना चाहूंगा।"

यही तो ब्राह्मण का भाव है--यह विनम्रता! फिर भी उनको मैं पूरा ब्राह्मण नहीं कह सकता, क्योंकि ब्रह्मांड तो उन्होंने जाना, वह जो बाहर था वह तो जाना; लेकिन जो भीतर था उसको नहीं जाना। फिर भी ब्राह्मणों से बेहतर, क्योंकि यह कहा कि जो भीतर है उसका मुझे कुछ पता नहीं। जिन्होंने शास्त्र पढ़ लिया है और शास्त्र से रट लिया है, उस रटन को जो अपना ज्ञान दावा करते हैं उनसे तो ज्यादा ब्राह्मणत्व आइंस्टीन में है--कम से कम कहा तो कि मुझे भीतर का कुछ भी पता नहीं! भीतर मैं कोरा का कोरा, खाली का खाली हूं! इस जगत की बहुत-सी पहेलियां मैंने सुलझा लीं, लेकिन मेरे अपने अंतस की पहेलियां उलझी रह गई हैं।

उपनिषद कहते हैं: जो कहे मैं जानता हूं, जानना कि नहीं जानता। और जो कहे कि मैं नहीं जानता, रुक जाना, शायद जानता हो।

आइंस्टीन कहता है: मुझे कुछ पता नहीं भीतर का। बाहर के ज्ञान ने यह भ्रांति कभी पैदा न होने दी कि भीतर का जान लिया है। बाहर की प्रतिष्ठा ने किसी तरह का भ्रम न पैदा होने दिया। बाहर की प्रतिष्ठा बड़ी थी। मनुष्य-जाति के इतिहास में दो-चार लोग मुश्किल से इतने प्रतिष्ठित हुए हैं जैसा आइंस्टीन प्रतिष्ठित था। लेकिन फिर भी इससे कोई अस्मिता, अहंकार खड़ा न हुआ। इससे मैं-भाव पैदा न हुआ। तो ब्राह्मण से तो ज्यादा ब्राह्मण हैं। लेकिन जो जाना वह बाहर का था। ब्रह्मांड का विस्तार जाना। पदार्थ का विस्तार जाना। दूर-दूर चांदत्तारों की खोज की। लेकिन स्वयं के संबंध में कोई गहरा अनुभव न हुआ। स्वयं के संबंध में कोई यात्रा ही न हुई।

तो ब्राह्मण तो वही है जो स्वयं के भीतर के ब्रह्म को जान ले। ब्राह्मण तो वही है जो स्वयं के भीतर के ब्रह्म को और बाहर के ब्रह्मांड को एक जान ले। ब्राह्मण तो वही है, जो भीतर और बाहर एक का ही विस्तार है, ऐसा जान ले।

और याद रखना, जब मैं कहता हूं, जान ले, तो मेरा मतलब है अनुभव कर ले। सुन कर न जान ले, पढ़ कर न जान ले। पढ़ कर सुना हुआ तो खतरनाक है। उससे भ्रांति पैदा होती है। लगता है जान लिया और जाना कुछ भी नहीं। अज्ञान छिप जाता है, बस ऊपर ज्ञान की पर्त हो जाती है।

उधार ज्ञान, बासा ज्ञान अज्ञान से भी बदतर है।

उद्दालक ने अपने बेटे श्वेतकेतु को कहा है...। जब श्वेतकेतु वापिस लौटा गुरु के घर से सब जान कर--मेरे जानने के अर्थ में नहीं; जानने का जैसा अर्थ शब्दकोश में लिखा है वैसे अर्थ में--सब जान कर, पारंगत हो कर, वेद को कंठस्थ करके जब लौटा तो स्वभावतः उसे अकड़ आ गई। बाप इतना पढ़ा-लिखा न था। जब बेटे विश्वविद्यालय से लौटते हैं तो उनको पहली दफा दया आती है बाप पर कि बेचारा, कुछ भी नहीं जानता! ऐसा ही उद्दालक को देख कर श्वेतकेतु को हुआ होगा। श्वेतकेतु सारे पुरस्कार जीतकर लौट रहा है गुरुकुल से। उसको ऐसी भीतर अकड़ आ गई कि उसने अपने बाप के पैर भी न छुए। उसने कहा: "मैं और पैर छुऊं इस बूढ़े अज्ञानी के जो कुछ भी नहीं जानता!" बाप ने यह देखा तो उसके आंखों में आंसू आ गये। नहीं कि बेटे ने पैर नहीं छुए, बल्कि यह देख कर कि यह तो कुछ भी जान कर न लौटा। इतना अहंकारी हो कर जो लौटा, वह जान कर कैसे लौटा होगा!

तो जो पहली बात उद्दालक ने श्वेतकेतु को कही कि सुन, तू वह जान लिया है या नहीं जिसे जानने से सब जान लिया जाता है? श्वेतकेतु ने कहा: "यह क्या है? किसकी बात कर रहे हो? मेरे गुरु जो सिखा सकते थे, मैं सब सीख आया हूं। मेरे गुरु जो जानते थे, मैं सब जान आया हूं। इसकी तो कभी चर्चा ही नहीं उठी, उस एक को जानने की तो कभी बात ही नहीं उठी, जिसको जानने से सब जान लिया जाता है। यह एक क्या है?"

तो उद्दालक ने कहा: "फिर तू वापिस जा। यह तू जान कर अभी आ गया, इससे तू ब्राह्मण नहीं होगा। और हमारे कुल में हम जन्म से ही ब्राह्मण नहीं होते; हमारे कुल में हम जान कर ब्राह्मण होते रहे हैं। तू जा। तू जान कर लौट। ऐसे न चलेगा। तू शास्त्र सिर पर रख कर आ गया है, बोझ तेरा बढ़ गया है। तू निर्भार नहीं हुआ है, शून्य नहीं हुआ, तेरे भीतर ब्रह्म की अग्नि नहीं जली, अभी तू ब्राह्मण नहीं हुआ। और ध्यान रख, हमारे कुल में इस तरह हम ब्राह्मण होने का दावा नहीं करते कि पैदा हो गये तो बस ब्राह्मण हो गये; अब ब्राह्मण घर में पैदा हो गये तो ब्राह्मण हो गये! ब्रह्म को जान कर ही हमारे पुरखे दावे करते रहे हैं। और जब तक यह जानना न हो जाए, लौटना मत अब।"

गया श्वेतकेतु वापिस। बड़ी कठिन-सी बात मालूम पड़ी। क्योंकि गुरु जो जानते थे, सब जान कर ही आ गया है। जब गुरु को जाकर उसने कहा कि मेरे पिता ने ऐसी उलझन खड़ी कर दी है कि वे कहते हैं, उस एक को जान कर आ, जिसे जानने से सब जान लिया जाता है; और जिसे बिना जाने सब जानना व्यर्थ है। वह एक क्या है? आपने कभी बात नहीं की!

तो गुरु ने कहा: उसकी बात की भी नहीं जा सकती। शब्द में उसे बांधा भी नहीं जा सकता। लेकिन अगर तू तय करके आया है कि उसे जानना है तो उपाय हैं। शब्द उपाय नहीं है। शास्त्र उपाय नहीं, सिद्धांत उपाय नहीं। वह तो मैंने तुझे सब समझा दिया। तू सब जान भी गया। तू उतना ही जानता है जितना मैं जानता हूं। लेकिन अब तू जो बात उठा रहा है, यह बात और ही तल की है, और ही आयाम की है। एक काम कर--जा गौओं को गिन ले आश्रम में कितनी गौएं हैं, इनको ले कर जंगल चला जा। दूर से दूर निकल जाना; जहां आदमी की छाया भी न पड़े, ऐसी जगह पहुंच जाना। आदमी की छाया न पड़े, ताकि समाज का कोई भी भाव न रहे।

जहां समाज छूट जाता है वहां अहंकार के छूटने में सुविधा मिलती है। जब तुम अकेले होते हो तो अकड़ नहीं होती। तुम अपने बाथरूम में स्नान कर रहे हो तब तुम भोले-भाले होते हो; कभी मुंह भी बिचकाते हो आईने के सामने; छोटे बच्चे जैसे हो जाते हो। अगर तुम्हें पता चल जाए, कोई कुंजी के छेद से झांक रहा--तुम

सजग हो गये, अहंकार वापिस आ गया! अकेले तुम जा रहे हो सुबह रास्ते पर, कोई भी नहीं, सन्नाटा है, तो अहंकार नहीं होता। अहंकार के होने के लिए "तू" का होना जरूरी है। "मैं" खड़ा नहीं होता बिना "तू" के।

तो गुरु ने कहा: दूर निकल जाना जहां आदमी की छाया न पड़ती हो। गौओं के ही साथ रहना, गौओं से ही दोस्ती बना लेना। यही तुम्हारे मित्र, यही तुम्हारा परिवार।

निश्चित ही गौएं अदभुत हैं। उनकी आंखों में झांका! ऐसी निर्विकार, ऐसी शांत!

कभी संबंध बनाने की आकांक्षा हो श्वेतकेतु तो गौओं की आंखों में झांक लेना। और तब तक मत लौटना जब तक गौएं हजार न हो जाएं। बच्चे पैदा होंगे, बड़े होंगे।

चार सौ गौएं थीं आश्रम में, उनको सबको ले कर श्वेतकेतु जंगल चला गया। अब हजार होने में तो वर्षों लगे। बैठा रहता वृक्षों के नीचे, झीलों के किनारे, गौएं चरती रहतीं; सांझ विश्राम करता, उन्हीं के पास सो जाता। ऐसे दिन आए, दिन गये; रातें आईं, रातें गईं; चांद उगे, चांद ढले; सूरज निकला, सूरज गया। समय का धीरे-धीरे बोध भी न रहा, क्योंकि समय का बोध भी आदमी के साथ है। कैलेंडर तो रखने की कोई जरूरत नहीं जंगल में। घड़ी भी रखने की कोई जरूरत नहीं। यह भी चिंता करने की जरूरत नहीं कि सुबह है कि सांझ है कि क्या है कि क्या नहीं है। और गौएं तो कुल साथी थीं, कुछ बात हो न सकती थी। गुरु ने कहा था, कभी-कभी उनकी आंख में झांक लेना तो झांकता था; उनकी आंखें तो कोरी थीं, शून्यवत! धीरे-धीरे श्वेतकेतु शांत होता गया, शांत होता गया! कथा बड़ी मधुर है। कथा है कि वह इतना शांत हो गया कि भूल ही गया कि जब हजार हो जाएं तो वापिस लौटना है। जब गौएं हजार हो गईं तो गौओं ने कहा: "श्वेतकेतु, अब क्या कर रहे हो? हम हजार हो गये। गुरु ने कहा था...। अब वापिस लौट चलो आश्रम। अब घर की तरफ चलें।" गौओं ने कहा, इसलिए वापिस लौटा। कथा बड़ी प्यारी है! गौओं ने कहा होगा, ऐसा नहीं। लेकिन इतनी बात की सूचना देती है कि ऐसा चुप हो गया था, मौन कि अपनी तरफ से कोई शब्द न उठे; खयाल भी न उठा। अतीत जा चुका। मन के साथ ही गया अतीत--मन के साथ ही चला जाता है। इस मौन क्षण में एक जाना जाता है।

लौटा! गुरु द्वार पर खड़े थे। देखते थे, गुरु ने अपने और शिष्यों से कहा: "देखते हो! एक हजार एक गौएं लौट रही हैं।"

एक हजार एक! क्योंकि गुरु ने श्वेतकेतु को भी गौओं में गिना। वह तो गऊ हो गया। ऐसा शांत हो गया जैसे गाय। वह उन गऊओं के साथ वैसा ही चला आ रहा था जैसे और गायें चली आ रही थीं। गऊओं और उसके बीच इतना भी भेद नहीं था कि मैं मनुष्य हूं और तुम गाय हो।

भेद गिर जाते हैं शब्द के साथ; अभेद उठता है निःशब्द में। जब वह आकर गुरु के सामने खड़ा हो गया और उसने कहा कि अब कुछ आज्ञा? तो गुरु ने कहा: "अब क्या? तू तो जान कर ही लौटा, अब क्या समझाना है! तेरी मौजूदगी कह रही है कि तू जान कर ही लौटा है, अब तू अपने घर लौट जा सकता है। अब तेरे पिता प्रसन्न होंगे, तू ब्राह्मण हो गया है।"

तो आइंस्टीन को ब्राह्मण इस अर्थ में तो नहीं कह सकते; लेकिन आइंस्टीन ब्राह्मण होने के मार्ग पर था। बाहर को जान लिया था, भीतर को जानने की प्रगाढ़ जिज्ञासा उठी थी। लेकिन फिर भी मैं फिर से दोहरा दूं: तुम्हारे तथाकथित ब्राह्मणों से, पुरी के शंकराचार्य से तो ज्यादा ब्राह्मण थे।

तीसरा प्रश्न: कृष्णमूर्ति बार-बार अपने श्रोताओं से कहते हैं: "सुनो गंभीरतापूर्वक; यह गंभीर बात है! लिसन सीरियसली; इट इज़ ए सीरियस मैटर।" पर आप अपने संन्यासियों से ऐसा नहीं कहते: "सुनो गंभीरतापूर्वक; यह गंभीर बात है!"

पहली तो बात: या तो जो कुछ है सभी गंभीर है, या कुछ भी गंभीर नहीं। ऐसा विशेष रूप से कहना कि यह गंभीर बात है, भेद खड़ा करना होगा; जैसे कि कुछ बात गैर-गंभीर भी हो सकती है! सभी बात गंभीर है या तो, या कोई बात गंभीर नहीं।

बोध हो तो सभी बातें रहस्यपूर्ण हैं। वृक्ष से एक सूखे पत्ते का गिरना भी! क्योंकि कभी ऐसा हुआ है, लाओत्सु जैसा कोई व्यक्ति वृक्ष से सूखे गिरते हुए पत्ते को देखकर ज्ञान को उपलब्ध हो गया है। तो गंभीर बात हो गई। बैठा था नीचे, वृक्ष से पत्ता गिरा, सूखा था, लटका था, जरा हवा का झोंका आया और गिरा। पत्ता ऐसा नीचे गिरने लगा हवा में धीरे-धीरे और लाओत्सु भीतर गिर गया। उसने कहा, यहां तो सब आना-जाना है! आज हैं, कल चले जाएंगे! अब यह पत्ता वृक्ष पर लगा था, अभी-अभी छूट गया; देखते-देखते छूट गया! ऐसे ही एक दिन मैं मर जाऊंगा। इस जीवन का कोई मूल्य नहीं।

बात गंभीर हो गई।

एक झेन साधिका घड़े में पानी भरकर लौटती थी कुएं से। पूर्णिमा की रात थी और घड़े में देखती थी पूर्णिमा के चांद का प्रतिबिंब। अचानक रस्सी टूट गई, कांवर टूट गई, घड़ा गिर, फूट गया, पानी बिखर गया--प्रतिबिंब भी बिखर गया और खो गया। और कहते हैं साध्वी ज्ञान को उपलब्ध हो गयी। नाचती हुई लौटी। एक बात समझ में आ गई: वही मिटता है जो प्रतिबिंब है। इसलिए प्रतिबिंबों में मत उलझो। इस जगत में तो सभी मिट जाता है, इसलिए यह जगत प्रतिछाया है, सत्य नहीं है। घड़ा क्या टूटा, कांवर क्या बिखरी, उसके जीवन की सारी वासना का जाल बिखर गया। तो गंभीर बात हो गई।

जिससे विराट जाना जा सके वही गंभीर बात हो जाती है। और फिर ऐसे भी लोग हैं कि तुम्हारे सामने कोई उपनिषद को दोहराता रहे और तुम ऐसे बैठे रहो जैसे भैंस के सामने कोई बीन बजाये--तो भी गंभीर बात न हुई। लाख दोहराओ उपनिषद, क्या होगा?

बोध हो तो जीवन की प्रत्येक घड़ी संदेश ला रही है। बोध हो तो पत्ते-पत्ते पर उसका नाम लिखा है। जाग सको तो हर बात महत्वपूर्ण है; न जाग सको तो कुछ भी महत्वपूर्ण नहीं है। तुम्हारे सिर पर कोई चोट करके कहता रहे कि बड़ी महत्वपूर्ण बात है, सुनो! सुनने की क्षमता ही नहीं है तो कहने से क्या होगा?

निश्चित, कृष्णमूर्ति का प्रेम प्रगट होता है, क्योंकि वे बार-बार चेष्टा करते हैं कि तुम सुन लो; बार-बार तुम्हें हिलाते, झकझोरते हैं। उनकी करुणा पता चलती है। नाराज भी होते हैं कृष्णमूर्ति कभी। क्योंकि लाख समझाये चले जाते हैं, फिर भी मजा है...।

एक मित्र मुझसे कह रहे थे। गये होंगे सुनने। और एक बूढ़ा आदमी सामने ही बैठा था। और कृष्णमूर्ति समझा रहे थे ध्यान से कुछ भी न होगा; कोई विधि की जरूरत नहीं है; तुम जाग जाओ यहीं और अभी! और फिर उन्होंने कहा, किसी को कोई प्रश्न तो नहीं पूछना है? वह बूढ़ा खड़ा हो गया और बोला कि ध्यान कैसे करें महाराज? उन्होंने अपना सिर ठोंक लिया। यह जो घंटे भर सिर पचाया...। वह आदमी पूछता है कि ध्यान कैसे करें!

ऐसे कृष्णमूर्ति को सुननेवाले तीसत्तीस चालीस-चालीस साल से सुन रहे हैं, बैठे हैं। वे सुनेंगे मरते दम तक, मगर सुना नहीं। इन मुर्दों को हिलाने के लिए बार-बार वे कहते हैं: "सुनो, गंभीर बात है! इसे तो सुन लो कम से कम। और चूके सो चूके, इसे तो सुन लो!" ऐसा बार-बार कहते हैं। मगर वे बैठे जो हैं, बैठे हैं। वे इसको भी कहां सुनते हैं! यह गंभीर बात है, इसे सुनो--इसके लिए भी तो सुननेवाला चाहिए। वे इसको भी नहीं सुनते। वे बैठे जैसे, वैसे बैठे हैं। थोड़े और सम्हल कर बैठ जाते हैं कि ठीक, चलो! मगर सुनने की बात जरा कठिन है।

सुनने के लिए एक तरह का बोध, एक तरह का "अबोध बोध" चाहिए। बुद्धिमान का बोध नहीं, निर्दोष बालक का। "अबोध बोध" कहता हूं। निर्दोष बालक का बोध चाहिए। सजगता चाहिए। शांत भाव चाहिए। भीतर शब्दों की, विचारों की शृंखला न चलती हो। भीतर तर्क का जाल न हो। भीतर पक्षपात न हो।

"सुनो" का क्या अर्थ होता है? "सुनो" का अर्थ होता है: अपनी मत बीच-बीच में डालो, जरा अपने को हटाकर रख दो। सीधा-सीधा सुन लो! सुनने का यह अर्थ नहीं होता है कि मेरी मान लो। सुनने का इतना ही अर्थ होता है: मानने न मानने की फिक्र पीछे कर लेना; अभी सुन तो लो; जो कहा जा रहा है, उसे ठीक-ठीक सुन तो लो।

तुम वही सुनते हो जो तुम सुनना चाहते हो। तुम वही सुनते हो जो तुम्हारे मतलब का है। वहीं तक सुनते हो जहां तक तुम्हारे मतलब का है। तुम बड़ी काट-पीट करके सुनते हो। तुम उतना ही भीतर जाने देते हो जितना तुम्हें बदलने में समर्थ न होगा। तुम उतना ही भीतर जाने देते हो जितना तुम्हारे पुरानेपन को और मजबूत करेगा; तुम्हें और प्रगाढ़ कर जाएगा; तुम्हारे अहंकार को और कठोर, मजबूत, शक्तिशाली बना जाएगा। तुम थोड़े और ज्ञानी हो कर चले जाओगे।

मैं तुमसे यह नहीं कहता। नहीं कहता इसीलिए कि कृष्णमूर्ति चालीस साल कहकर भी किसको सुना पाये! मुझे तो जो कहना है, तुमसे कहे चला जाता हूं। गंभीर है या गैर-गंभीर है, इसको दोहराने से कुछ भी न होगा। सुनने को तुम आये हो तो सुन लोगे। सुनने को तुम नहीं आये हो तो नहीं सुनोगे। तुम पर छोड़ दिया। मेरा काम मैं पूरा कर देता हूं बोलने का। मैं परिपूर्णता से बोल देता हूं। मैं अपनी समग्रता से बोल देता हूं। अगर तुम भी सुनने की तैयारी में हो, कहीं मेरा तुम्हारा मेल हो जाए, तो घटना घट जाएगी। बोलनेवाला अगर परिपूर्णता से बोलता हो और सुननेवाला भी परिपूर्णता से सुन ले तो श्रवण में ही सत्य का हस्तांतरण हो जाता है। जो नहीं दिया जा सकता, वह पहुंच जाता है। जो नहीं कहा जा सकता, वह भी कह दिया जाता है। अव्याख्य की व्याख्या हो जाती है। अनिर्वचनीय एक हाथ से दूसरे हाथ में उतर जाता है। लेकिन बोलनेवाले और सुननेवाले का तालमेल हो जाए, एक ऐसी घड़ी आ जाए, जहां बोलनेवाला भी अपनी परिपूर्णता में, पूरे भाव में और तुम भी अपनी परिपूर्णता में हो, पूरे भाव में। अगर ऐसा मिलन हो जाए न तो बोलनेवाला बोलनेवाला रह जाता है, न सुननेवाला सुननेवाला रह जाता है। गुरु और शिष्य एक-दूसरे में खो जाते हैं, लीन हो जाते हैं!

इसको दोहराना क्या है कि गंभीरता से सुनो!

जो भी मैं कह रहा हूं, या तो सभी गंभीर है, या कुछ भी गंभीर नहीं। दोनों में से मैं किसी भी बात से राजी हूं: या तो तुम मान लो कि सब गंभीर है तो भी मैं राजी हूं, क्योंकि तब गंभीर कहने का कोई अर्थ न रहा, सभी गंभीर है; या तुम कहो कुछ भी गंभीर नहीं, तो भी मैं राजी हूं।

अगर तुम मुझसे पूछो कि क्या है, गंभीर है या नहीं? तो मैं तो तुमसे कहूंगा, सब लीला है। कई बार तो ऐसा होता है कि तुम्हारी गंभीरता के कारण ही तुम नहीं सुन पाते। गंभीर हो कर तुम बोझिल हो जाते हो, हलके नहीं रह जाते; तनाव से भर जाते हो। मैं तुम्हें तनाव से नहीं भरना चाहता।

अगर मैं तुमसे कहूं, गंभीर बात कह रहा हूं, सुनो! तो तुम रीढ़ सीधी करके बैठ जाओगे। क्या करोगे और? तुमने देखा है, स्कूल में शिक्षक कहता है: "बच्चो, एकाग्र हो जाओ! महत्वपूर्ण बात कही जा रही है!" सब बच्चे सम्हलकर बैठ गए। लेकिन बच्चे बच्चे हैं, सम्हलकर बैठ गए तो वे बच्चे सम्हलकर बैठे हैं, आंखें गड़ाते हैं, सिर पर तनाव लाते हैं, सब तरह से दिखलाते हैं कि बड़े गंभीर हो कर देख रहे हैं; मगर उन्हें बोर्ड पर कुछ नहीं दिखाई पड़ रहा है। बाहर एक पक्षी पंख फड़फड़ा रहा है, वह सुनाई पड़ रहा है। बाहर कोई फिल्मी गीत गाता गुजर रहा है, वह सुनाई पड़ रहा है। बैठे हैं आंख गड़ाये बोर्ड पर, कुछ दिखाई नहीं पड़ता। शिक्षक क्या कह रहा है, सुनाई नहीं पड़ता। लेकिन दिखावा कर रहे हैं।

वैसा ही दिखावा फिर जीवन भर चलता है। जब कोई कहता है, गंभीर बात, तो तुम गौर से सुनने लगते हो। लेकिन गौर से तुम सुनोगे! तुम गौर से सुनते हो, ऐसा दिखलाते हो।

नहीं, मैं चाहता हूं कि तुम हलके हो कर सुनो। तुम लीलापूर्वक सुनो। विश्राम में सुनो। तने हो कर मत बैठो। यहां हम एक खेल में लीन हैं। यहां कोई बड़ा काम नहीं हो रहा है। तुम ऐसे सुनो जैसे संगीत को सुनते हो।

संगीत को तुम गंभीर होकर थोड़े ही सुनते हो, लवलीन होकर सुनते हो। गंभीर हो कर संगीत को तुम सुनो तो उसका अर्थ हुआ कि तुमने सुना ही नहीं। लीन हो कर तुम डुबकी लगा लेते हो, भूल ही जाते हो।

यहां सुनते समय तुम ऐसे सुनो कि तुम्हें तुम्हारी याद भी न रहे। गंभीर में तो तुम्हें याद बनी रहेगी। गंभीर में तो तुम स्वचेतन बने रहोगे। गंभीर में तो तुम डरे रहोगे, कुछ चूक न जाए, कोई एकाध शब्द खो न जाए! हलके हो कर, लीलापूर्वक, विश्रांति में सुनो, तो शायद बात हृदय तक ज्यादा पहुंच जाए।

तुम नहीं सुन पाते तो मैं नाराज नहीं हूं। तुम नहीं सुन पाते, यह बिलकुल स्वाभाविक है। कृष्णमूर्ति नाराज हो जाते हैं। उनकी बड़ी आग्रहपूर्वक चेष्टा है कि तुम सुन लो। और कारण भी समझ में आता है--वे चालीस साल से समझाते हैं, कोई समझता नहीं है। एक सीमा होती है। अब उनके जाने के दिन करीब आ गये; अब भी कोई सुनता हुआ नहीं मालूम पड़ता, कोई समझता हुआ मालूम नहीं पड़ता। जो दावा करते हैं कि हम समझते हैं, उनके दावे झूठे हैं। एक व्यक्ति ऐसा नहीं दिखाई पड़ता जिस पर कृष्णमूर्ति को लगे कि हां, यह ठीक-ठीक समझ गया है। तो विदा होने के क्षण आने लगे; जीवन भर की चेष्टा व्यर्थ गई मालूम होती है; कोई सुनता-समझता हुआ नहीं मालूम पड़ता। करुणावश ही नाराज होते हैं; किसी क्रोधवश नहीं।

लेकिन मैं करुणावश भी नाराज होने को राजी नहीं हूं। मेरी मौज थी, मैंने कह दिया; तुम्हारी मौज थी, तुमने सुन लिया; तुम्हारी मौज थी, तुमने नहीं सुना। बात खतम हो गई। नहीं सुनना है, तुम्हारी मर्जी। मैं कौन हूं जो नाराज होऊं! और मैं क्यों यह जुम्मा अपने सिर लूं कि तुम्हें सुनाकर ही जाऊंगा। यह मेरी मौज है कि मुझे सुनाना है; कुछ मुझे मिला है, वह मुझे गुनगुनाना है; कुछ पाया है उसे बांटना है। यह मेरी तकलीफ है, इससे तुम्हें क्या लेना-देना है!

यह बादल की पीड़ा है कि भरा है और बरसना है; अब पृथ्वी उसे स्वीकार करेगी या नहीं, पलक-पांवड़े बिछाकर अंगीकार करेगी या नहीं, चट्टानों पर से जल ऐसे ही बह जाएगा और चट्टानें पहले की जैसी सूखी रह जाएंगी या मरुस्थल में पानी गिरेगा और फिर भाप बनकर आकाश में उठ आयेगा, कहीं कोई हरियाली पैदा न होगी या कहीं कोई भूमि स्वीकार कर लेगी, प्यासे कंठ को, भूमि को तृप्ति मिलेगी, उस तृप्ति से हरियाली जगेगी, फूल खिलेंगे, खुशी होगी, उत्सव होगा--क्या फर्क पड़ता है! बादल को बरसना है तो बादल बरस जाता है--पहाड़ों पर भी, मरुस्थलों में भी, खेत-खलिहानों में भी, सीमेंट की सड़कों पर भी। सब तरफ बादल बरस जाता है। उसे बरसना है। जो ले ले, ले ले; जो न ले, न ले।

मैं इस अर्थ में गंभीर नहीं हूं जिस अर्थ में कृष्णमूर्ति गंभीर हैं। कृष्णमूर्ति अति गंभीर हैं; मैं गंभीर नहीं हूं। इसलिए तुम्हारे साथ हंस भी लेता हूं, तुम्हें हंसा भी लेता हूं। धर्म मेरे लिए कोई ऐसी बात नहीं है कि उसका बड़ा बोझ बनाया जाए। धर्म मेरे लिए सरल बात है। उसके लिए बुद्धि का बहुत तनाव नहीं चाहिए; थोड़ा निर्दोष हलकापन चाहिए। मजाक-मजाक में तुमसे मैं गंभीर बात कहता हूं। जब मुझे जितनी गंभीर बात कहनी होती है उतनी मजाक में कहता हूं। क्योंकि मजाक में तुम हलके रहोगे, हंसते रहोगे; हंसी में शायद गंभीर बात रास्ता पा जाए, तुम्हारे हृदय तक पहुंच जाए। तुमसे यह बात कहना कि गंभीर बात कह रहा हूं, सुनो, तुमको और अकड़ा देना है। तुम्हारी गंभीरता के कारण ही न पहुंच पाएगी।

तुमने देखा, जो बात तुम्हारे भीतर पहुंचानी हो उसको पहुंचाने के लिए कुछ और उपाय होना चाहिए। तुम ऐसे तल्लीन हो कि तुम अपने पहरे पर नहीं हो। जब तुम पहरे पर नहीं हो तब कोई बात पहुंच जाती है।

देखते हो, सिनेमा देखने जाते हो, तब तुम अपने पहरे पर नहीं होते, फिल्म देखने में तल्लीन हो, बीच में विज्ञापन आ जाता है: लक्स टायलेट साबुन! वह जिसने बीच में विज्ञापन रख दिया है, वह जानता है कि अभी तुम गंभीर नहीं हो, अभी तुम इसकी फिक्र भी न करोगे, शायद तुम इसे पढ़ो भी नहीं; लेकिन आंख की कोर में छाप पड़ गई: लक्स टायलेट साबुन! अभी तुम गैर-गंभीर थे। अभी तुम तने न बैठे थे। अभी तुम उत्सुक ही न थे

इस सब बात में। अभी तो तुम डूबे थे कहीं और। इस डुबकी की हालत में यह लक्स टायलेट साबुन चुपचाप भीतर प्रवेश कर गई। पहरेदार नहीं था द्वार पर। यह ज्यादा सुगम है तुम्हारे भीतर पहुंचा देना।

कभी तुमसे मजाक करता हूं; कुछ बात कहता हूं हंसी की; तुम हंसने में लगे हो, तभी कोई एक पंक्ति डाल देता हूं जो तुम्हारे भीतर पहुंच जाये। तुम हंसी में भूल गये थे; उसी बीच तुम्हें थोड़ा-सा देने योग्य दे दिया।

मुझसे कई मित्र पूछते हैं कि कभी भी किसी धर्मगुरु ने इस तरह हंसी में बातें नहीं कही हैं। तो मैं कहता हूं, तुम देखते हो, नहीं कहीं, तो नहीं पहुंचीं। अब मुझे जरा प्रयोग करके देख लेने दो। गंभीर लोगों ने प्रयोग करके देख लिया है, नहीं पहुंचा है; मुझे जरा गैर-गंभीर प्रयोग करके देख लेने दो। तो तुम देखोगे धर्मगुरुओं की सभा में बूढ़े आदमियों को; मेरी सभा में तुम्हें जवान भी मिल जाएंगे, बच्चे भी मिल जाएंगे; उनकी संख्या ज्यादा मिलेगी। क्योंकि जो मैं कह रहा हूं, वह उन्हें गंभीर बनाने की जबर्दस्ती नहीं है।

मेरे साथ जवान भी उत्फुल्ल हो सकता है और बच्चा भी हंस सकता है और बूढ़ा भी उत्सव में सम्मिलित हो सकता है। मेरा अपना प्रयोग है। ऐसा मैं नहीं कह रहा हूं कि कृष्णमूर्ति गलत करते हैं। वे जो करते होंगे, ठीक करते होंगे। वह उनकी जानकारी। वह वे जानें। तुलना नहीं कर रहा हूं। तुलना हो भी नहीं सकती। मैं अपने ढंग से कर रहा हूं, वे अपने ढंग से करते हैं। जो गंभीर हों, उन्हें उनसे सुन कर समझ लेना चाहिए। जो गंभीर न हों, उन्हें मुझसे सुन कर समझ लेना चाहिए। कहीं तो समझो!

चौथा प्रश्न: क्या जल्दी ही आप गद्य को छोड़ कर पद्य में ही हमें समझायेंगे? और क्या फिर मौन में चले जाएंगे?

पद्य निश्चित ही प्रार्थना के ज्यादा करीब है गद्य से। और तुमने अगर मुझे सुना है तो मैं पद्य में ही समझाता रहा हूं, गद्य बोला ही कब? पद्य का अर्थ क्या होता है?--जो गाया जा सके; जो गेय है; जो नाचा जा सके। पद्य का अर्थ क्या है?--जिसमें एक संगीत है, एक लयबद्धता है, एक छंद है। तुम अगर मुझे ठीक से सुन रहे हो, तो जब मैं गद्य बोलता मालूम पड़ता हूं तब भी पद्य ही बोल रहा हूं। क्योंकि सारी चेष्टा यही है कि तुम गुनगुना सको, गा सको, नाच सको, तुम्हारे जीवन में छंद आ सके। कविता के ढांचे में बांधूंगा तभी तुम पहचानोगे?

बुद्ध ने जो बोला है, वह सभी पद्य है। महावीर ने जो बोला है, वह सभी पद्य है। गद्य तो बोला नहीं जा सकता। प्रार्थना के जगत से पद्य ही निकलता है। नहीं कि मैं यह कह रहा हूं बुद्ध कोई कवि हैं; कवि तो जरा भी नहीं हैं। मात्रा और व्याकरण और भाषा का उन्हें कुछ पता नहीं है। लेकिन तुकबंदी को तुम पद्य मत समझ लेना। तुकबंद तो बहुत हैं। तुकबंदी में पद्य नहीं है। पद्य जरा कुछ बड़ी बात है। सभी कविताओं में पद्य नहीं होता; और सभी गद्य में पद्य नहीं है, ऐसा भी नहीं है।

तुम्हें अगर मुझे सुनते समय एक गुनगुनाहट पैदा होती हो, मेरी बात तुम्हारे भीतर जा कर मधुर रस बन जाती हो, मेरी बात तुम्हारे भीतर जा कर एक तरंग का रूप लेती हो, तुम डांवांडोल हो जाते होओ, तो पद्य हो गया। पद्य परमात्मा को प्रगट करने के लिए ज्यादा सुगम है।

इसलिए आश्चर्यजनक नहीं है कि उपनिषद पद्य में हैं, कि वेद पद्य में है, कि कुरान गेय है, कि बाइबिल जैसी पद्यपूर्ण भाषा न कभी पहले लिखी गई है न फिर बाद में लिखी गई। माधुर्य है एक। एक अपूर्व रस है। गद्य होता है सूखा-सूखा, कामचलाऊ, मतलब का, अर्थपूर्ण। पद्य होता है अर्थहीन, अर्थमुक्त, अर्थशून्य; रसपूर्ण जरूर, अर्थपूर्ण नहीं।

फूल खिला। पूछो, क्या अर्थ है? गद्य तो नहीं है वहां। क्योंकि अर्थ क्या है? गुलाब का फूल खिला, क्या अर्थ है? क्या प्रयोजन है? न खिलता तो क्या हानि थी? खिल गया तो क्या लाभ है? नहीं, बाजार की दुनिया में गुलाब के फूल में कुछ भी अर्थ नहीं। लेकिन पद्य बहुत है। गुलाब न खिलता तो सारी दुनिया बिना खिली रह जाती। गुलाब न खिलता तो सूरज उदास होता। गुलाब न खिलता तो चांदत्तारे फीके होते। गुलाब न खिलता तो

पक्षी गुनगुनाते नहीं। गुलाब न खिलता तो आदमी स्त्रियों के प्रेम में न पड़ते; स्त्रियां आदमियों के प्रेम में न पड़तीं। गुलाब न खिलता तो बच्चे खिलखिलाते न, यह सारी खिलखिलाहट के साथ ही है गुलाब। यह गुलाब का खिलना इस महोत्सव का अनिवार्य अंग है। अर्थ कुछ भी नहीं है। गद्य नहीं है यह, पद्य है।

पक्षी गीत गाते हैं; सार तो कुछ भी नहीं है। लेकिन क्या तुम निस्सार कह सकोगे? हाथ में पकड़ कर बाजार में बेचने जाओगे, कोई खरीददार न मिलेगा। लेकिन क्या तुम इसीलिए कह सकोगे कि इनका कोई मूल्य नहीं है? मूल्य बाजार में भला न हो, लेकिन किसी और तल पर इनका मूल्य है--हृदय के तल पर इनका मूल्य है। पक्षी की गुनगुनाहट हृदय के किन्हीं बंद तालों को खोल जाती है।

तो मैं जो बोल रहा हूं, वह पद्य ही है। मैं कोई कवि नहीं हूं निश्चित ही। लेकिन जो मैं तुमसे कहना चाह रहा हूं, वह कविता है। और तुम उसे सुनोगे, तुम उसे हृदय में धारण करोगे, तुम उसे अपने भीतर स्वागत करोगे, तो तुम पाओगे: अनंत-अनंत फूल तुम्हारे भीतर उससे खिलेंगे!

जो मैं तुमसे कह रहा हूं, वह पद्य है और तुम्हारे भीतर प्रार्थना बन सकता है। थोड़ी राह दो। थोड़ा मार्ग दो। तुम्हारे हृदय की भूमि में यह बीज पड़ जाये तो इसमें फूल निश्चित ही खिलने वाले हैं। यह पद्य ऊपर से प्रगट न हो, लेकिन यह पद्य तुम्हारे भीतर प्रगट होगा।

और निश्चित ही जो मैं तुमसे कह रहा हूं, वह मौन से आ रहा है। मौन से ही कहना चाहता हूं, लेकिन तुम सुनने में समर्थ नहीं हो। लेकिन जो मैं तुमसे कह रहा हूं, वह मौन के लिए है; मौन से है और मौन के लिए है। जो शब्द मैं तुमसे कहता हूं वह मेरे शून्य से आ रहा है, शून्य से सरोबोर है। तुम जरा उसे चबाना। तुम उसे जरा चूसना। तुम जरा उसे पचाना। और तुम पाओगे: शब्द तो खो गया, शून्य रह गया। अगर तुमने चबाया न, पचाया न, तो शून्य का तो तुम्हें पता ही न चलेगा, शब्द खटकता रह जाएगा। तो शब्द को तुम इकट्ठे करके पंडित हो जाओगे। अगर मेरे शब्दों में से तुमने शून्य को संगृहीत किया और शब्द की खोल को फेंक दिया तो तुम्हारी प्रज्ञा, तुम्हारा बोध जागेगा, तुम्हारा बुद्धत्व जागेगा। शब्द तो खोल हैं; जैसे कारतूस चल जाए तो चली कारतूस को क्या करोगे? चली कारतूस तो खोल है, असली चीज तो निकल गई।

असली चीज जो मैं तुमसे कह रहा हूं, शून्य है, मौन है। तुम शब्द की खोल को तो फेंक देना। जैसे फल के ऊपर के छिलके को फेंक देते हो और भीतर का रस चूस लेते हो--ऐसे शब्द पर ध्यान मत देना, शून्य पर ध्यान देना। पंक्ति-पंक्ति के बीच में पढ़ना, बीच-बीच में पढ़ना और शब्द-शब्द के बीच जो अंतराल हो वहां ध्यान रखना। जब कभी बोलते-बोलते मैं चुप रह जाता हूं, तब ज्यादा उंड़ेल रहा हूं। तब तुम अपने पात्र को खूब भर लेना।

तुम बरसो, भीगे मेरा तन
तुम बरसो, भीगे मेरा मन
तुम बरसो सावन के सावन
कुछ हलकी छलकी गागर हो
कुछ भीगी भारी हो कांवर
जब तुम बरसो तब मैं तरसूं
जब मैं तरसूं तब तुम बरसो।
हे धाराधर!
कहीं मिलन हो जाये!
जब मैं बरसूं तब तुम तरसो।
जब तुम तरसो तब मैं बरसूं।

कहीं मिलन हो जाये! तुम्हारी प्यास और जो जल ले कर मैं तुम्हारे द्वार पर खड़ा हूं, उसका कहीं मिलन हो जाये।

तुम बरसो, भीगे मेरा तन
तुम बरसो, भीगे मेरा मन
तुम बरसो सावन के सावन
कुछ हलकी छलकी गागर हो
कुछ भीगी भारी हो कांवर
जब तुम बरसो तब मैं तरसूं
जब मैं तरसूं तब तुम बरसो।
हे धाराधर!
शब्द से कुछ न कहूंगा मैं
नयनों के बीच रहूंगा मैं
जो सहना मौन सहूंगा मैं
मेरी धड़कन मेरी आहें
मांगेंगी तुमसे प्रत्युत्तर
जब तुम बरसो तब मैं तरसूं
जब मैं तरसूं तब तुम बरसो।
हे धाराधर!
यह भार तुम्हीं पर भारी है
ऊपर बिजली की धारी है
क्या मेरी ही लाचारी है?
कुछ रिक्त भरा हो जाऊं मैं
कुछ भार तुम्हारा जाये उतर
जब तुम बरसो तब मैं तरसूं
जब मैं तरसूं तब तुम बरसो।
हे धाराधर!

एक अपूर्व घटना घट सकती है; कभी-कभी क्षण भर को घटती भी है; कभी किसी को घटती भी है--जब अचानक संवाद फलित होता है; मेरा पद्य तुम्हें भर लेता है; मेरी आंखें तुम्हारी आंख से मिल जाती हैं, क्षण भर को तुम रिक्त हो जाते हो; तुम्हारी गागर मेरी तरफ उन्मुख हो जाती है। तो रस बहता है। तो संगीत उतरता है। और सारा संगीत और सारा रस शून्य का है। क्योंकि धर्म की सारी चेष्टा यही है कि तुम किसी भांति मिट जाओ ताकि परमात्मा तुम्हारे भीतर हो सके। तुम शून्य हो जाओ तो पूर्ण उतर सके।

पांचवां प्रश्न: आनंद के अनुभव के लिए व्यक्ति का होना अनिवार्य-सा लगता है। लेकिन अगर सब तरफ मेरा ही विस्तार है तो फिर आनंद को अनुभव कौन करेगा? जीवन आनंदित हो सके, इसके लिए जैसे संन्यास अनिवार्य है वैसे ही आनंद के अनुभव के लिए व्यक्ति अनिवार्य नहीं है क्या?

व्यक्ति के कारण ही आनंद नहीं हो पा रहा है। आनंद की अपेक्षा के लिए व्यक्ति अनिवार्य है; आनंद के अनुभव के लिए बाधा है। आनंद की आकांक्षा के लिए व्यक्ति की जरूरत है, आनंद की वासना के लिए व्यक्ति की जरूरत है; लेकिन आनंद की अनुभूति के लिए व्यक्ति की कोई भी जरूरत नहीं है। जब आनंद होता है तो तुम थोड़े ही होते हो! तुम नहीं होते हो तभी आनंद होता है। और इसे तुमने भी कभी-कभी किन्हीं अनायास क्षणों में पाया होगा: जब तुम नहीं होते तब थोड़ी-सी झलक मिलती है। प्रेमी घर आ गया है तुम्हारा, तुम हाथ में हाथ ले कर बैठ गये हो। एक क्षण को प्रेमी की उपस्थिति तुम्हें इतना लीन कर देती है कि तुम मिट जाते, कुछ खयाल नहीं रह जाता अपना। एक बूंद सरक जाती है। रस झरता है।

कभी सूरज को उगते देखा है? बैठ गये नदी तट पर, उठने लगा सूरज। यह सुबह की हवा, यह नदी की शीतलता, यह शांति, यह खुला आकाश, यह सूरज का उठना, यह सूरज की किरणों का फैलता हुआ सौंदर्य का

जाल--क्षण भर को तुम ठगे रह गये! भूल गये कि तुम हो। क्योंकि स्वयं को बनाये रखने के लिए स्वयं को सदा स्मरण रखना जरूरी है, यह खयाल रखना।

अहंकार कोई ऐसी चीज नहीं है कि पत्थर की तरह तुम्हारे भीतर रखी है। अहंकार तो ऐसा ही है जैसा मैं बार-बार कहता: जैसे कोई साइकिल चलाता, पैडल मारो तो साइकिल चलती है; पैडल मारना भूल गये थोड़ी देर को कि साइकिल गिरी। अहंकार कुछ ऐसा थोड़े ही है कि पत्थर की तरह रखा है; तुम जब तक याद रखो तभी तक है। याददाश्त रखने में ही पैडल चलता है। जैसे ही तुमने याददाश्त भूली कि गया।

तो कभी संगीत सुन कर सिर डोलने लगा, तो गया अहंकार। उस क्षण में तुम्हें रस झरता है, आनंद मालूम होता है। सौंदर्य हो, प्रेम हो, ध्यान हो, संगीत हो या कोई और कारण हो--कभी-कभी तो ऐसी चीजों से भी रस झर जाता है कि दूसरों को देख कर आश्चर्य होता है। तुम क्रिकेट का मैच देखने गये, तुम्हें क्रिकेट के मैच में रस है; दूसरे समझेंगे पागल हो गये हो, लेकिन तुम बैठे हो वहां मंत्रमुग्ध, आंखें ठगी रह गई हैं, पलकें नहीं झपकती हैं, भूल ही गये अपने को, मूर्तिवत। जैसे कभी बुद्ध बैठ गये होंगे बोधिवृक्ष के नीचे, ऐसे तुम कभी-कभी क्रिकेट देखते समय, फुटबाल-हाकी देखते समय बैठ जाते हो। वहां से तुम बड़े आनंदित लौटते हो; कहते हो कि बड़ा रस आया! क्या, हो क्या जाता है? तुम थोड़ी देर को अपने को भूल जाते हो। जहां भूले कि मिटे। आत्मविस्मरण अनिवार्यरूपेण अहंकार का विसर्जन हो जाता है।

इधर मुझे सुनते-सुनते कई बार तुम्हें जब भी सुख मिलता हो तो खयाल रखना, वह घड़ी वही होगी जब तुम सुनते-सुनते खो जाते हो, भूल जाते हो, याद नहीं रह जाती।

अहंकार श्वास जैसा नहीं है; साइकिल के पैडल मारने जैसा है। याद न रहे तो भी श्वास चलती है। श्वास प्राकृतिक है। तुम रात सो गये तो भी श्वास चलती है। लेकिन रात नींद में अहंकार रह जाता है? सम्राट को पता रहता है मैं सम्राट हूं? भिखारी को पता रहता है मैं भिखारी हूं? सुंदर को पता रहता है मैं सुंदर हूं? धनी को पता रहता है बैंक-बैलेंस का? जब तुम रात सो जाते हो, तुम्हें याद रहता है तुम्हारी पत्नी भी कमरे में सोई है? कुछ याद नहीं रह जाता। यह मकान तुम्हारा है, यह भी याद नहीं रह जाता। अगर रात नींद में तुम्हें उठा कर स्ट्रेचर पर रखकर अस्पताल में रख दिया जाता है तो तुम्हें पता नहीं रहता है। सुबह तुम आंख खोलते हो तब पता चलता है। लेकिन सांस चलती रहती है। राजमहल में, गरीब के झोपड़े में, नंगे आदमी की, सोने से लदे आदमी की श्वास चलती रहती है। आदमी बिलकुल बेहोश हो जाता है, कोमे में पड़ जाता है, महीनों तक बेहोश पड़ा रहे तो भी श्वास चलती रहती है। श्वास का तुमसे कुछ लेना-देना नहीं है। श्वास प्राकृतिक घटना है।

अहंकार श्वास जैसा नहीं है। जब तक पता चले तभी तक है। जैसे ही पता न चला वैसे ही गया। इस सत्य को समझो। जैसे ही गया, एक क्षण को भी गया, तो एक ही क्षण को द्वार खुल जाता है। सदियों-सदियों का अहंकार भी क्षण भर को भूल जाये तो झरोखा खुल जाता है। तुम वातायन से झांक ले सकते हो।

तो जब भी तुम्हें कभी कोई सुख की झलक मिली है तो मिली ही इसलिए है कि तुम मिट गये हो। काम-संभोग में कभी आदमी मिट जाता है तो सुख की झलक मिलती है। कभी शराब पीने में भी आदमी मिट जाता है तो सुख की झलक मिलती है।

इसलिए शराब का इतना आकर्षण है। सारी दुनिया की सरकारें चेष्टा करती हैं शराब बंद हो। धर्मगुरु लगे रहते हैं कि शराब बंद हो। कानून बनते हैं कि शराब बंद हो। शराब बंद नहीं होती। शराब में कुछ कारण है। आदमी अहंकार से इतना थका-थका है कि भूलना चाहता है। कोई और उपाय नहीं मिलता, ध्यान कठिन मालूम होता है, लंबी यात्रा है; समाधि तक पहुंचेंगे, इसका भरोसा नहीं आता। और समाधि तक पहुंचाने वाला वातावरण खो गया है। लेकिन शराब तो मिल सकती है। थोड़ी देर आदमी शराब पी लेता है।

मैं यह नहीं कह रहा हूं कि शराब पीने लगना। मैं इतना ही कह रहा हूं कि शराब से भी जो घटना घटती है वह यही है कि थोड़ी देर को तुम्हारी अस्मिता खो जाती है। यह तुमने बड़ा महंगा उपाय खोजा। जहर डाला शरीर में अहंकार को भूलने के लिए। अहंकार तो बिना जहर डाले भूला जा सकता है। अहंकार तो भूल जाओ तो

अमृत ढलने लगता है; जहर डालने की तो जरूरत ही नहीं रह जाती। महंगा सौदा कर रहे हो। बड़ा बुरा सौदा कर रहे हो। खो बहुत रहे हो, पा कुछ भी नहीं रहे हो।

लेकिन फिर भी तुमसे मैं कहूंगा कि शराब का आकर्षण भी, अहंकार खोने में जो रस है, उसी का आकर्षण है। तुमने देखा उदास-उदास आदमी, थका-थका आदमी शराब पी कर प्रफुल्लित हो जाता है, अकड़ कर चलने लगता है!

एक सैनिक शराब पीता था। उसका जनरल उससे कह-कह कर थक गया था कि अब बंद करो यह तुम, बहुत हो गया। एक दिन उसे बुलाया कि देख, तू नासमझ; सैनिक ही रह जाएगा जिंदगी भर, अगर यह शराब पीता रहा। अगर शराब न पीता होता तो अब तक कैप्टन हो जाता। और अगर अभी तू शराब पीना बंद कर दे तो मैं तुझे भरोसा दिलाता हूं कि रिटायर होते-होते तक तू कम से कम कर्नल हो जाएगा।

वह आदमी हंसने लगा। उसने कहा, छोड़ो जी, जब मैं पी लेता हूं तो मैं जनरल हो जाता हूं। ये तुम बातें किससे कर रहे हो!

आदमी शराब पी कर जो है वह तो भूल जाता है। वह याद नहीं रह जाती है। मुक्त हो जाता है थोड़ी देर को। यह महंगा सौदा है, खतरनाक सौदा है। यह अपनी आत्मा को बेच कर थोड?ा-सा रस लेने की बात है। यह तो ऐसे ही है जैसे तुमने देखा हो: कुत्ते के मुंह में हड्डी दे दो तो हड्डी को चूसता है और बड़ा रस आता है उसे; लेकिन हड्डी में कुछ रस तो है नहीं, आ कैसे सकता है! हड्डी के कारण उसके मुंह के भीतर जबड़े और चमड़ी कट जाती है, उससे खून बहने लगता है। वह खून का रस उसे आता है। अपना ही खून! लेकिन वह सोचता है, हड्डी से आ रहा है। अब कुत्ते को तुम्हें क्षमा करना पड़ेगा, क्योंकि कुत्ता बेचारा जाने भी कैसे कि कहां से आ रहा है! दिखाई तो उसे कुछ पड़ता नहीं; हड्डी को चूसता है, तभी खून बहने लगता है भीतर। वह प्रसन्न होता है। गले में उतरते खून को देख कर स्वाद लेता है। वह अपना ही खून पी रहा है और घाव पैदा कर रहा है अलग। लेकिन सोचता है, हड्डी से आ रहा है। सूखी हड्डी भी कुत्ता छोड़ने को राजी नहीं होता है।

शराब का सुख ऐसा ही है। लेकिन सचाई उसमें थोड़ी है। सचाई इतनी ही है कि थोड़ी देर को तुम अपने को भूल जाते हो। और मैं यह कहना चाहता हूं: दुनिया से शराब तब तक न जाएगी जब तक हम और ऊंची शराबें न पैदा कर लें। दुनिया से शराब तब तक न जाएगी जब तक लोग ध्यान की शराब में न उतर जायें। दुनिया से शराब तब तक न जाएगी तब तक परमात्मा की शराब उन्हें उपलब्ध न होने लगे। जब मंदिर मधुशाला जैसे हों तब मधुशालाएं बंद होंगी, उसके पहले बंद नहीं हो सकती हैं। लाख उपाय करें सरकारें, इससे कुछ फर्क नहीं पड़ता।

जो उपाय करते हैं, वे खुद पी रहे हैं। यह बड़े आश्चर्य की बात है। जो बंद करवाना चाहते हैं, वे खुद पीते हैं। क्योंकि वे भी बंद करवाने की कोशिश से इतने थक जाते हैं कि फिर विस्मरण तो थोड़ा करना ही पड़े न! राजनीतिज्ञ को भी तो थोड़ा अपने को भूलना पड़ता है। उसकी तकलीफ तो समझो। दिन भर दौड़-धूप, झूठी हंसी, मुंह फैलाये रहता है, अभ्यास करते रहता है, हाथ जोड़े खड़ा है और हजार तरह की गालियां खा रहा है और सड़े टमाटर झेल रहा है और जूते और जूते फेंके जा रहे, और यह सब चल रहा है--और इसको वह हाथ जोड़ कर मुस्कुरा रहा है! इसकी भी तो तुम तकलीफ समझो! और कुछ हल नहीं होता दिखता। बड़ी समस्याएं हैं, बड़े वायदे किए हैं। कोई हल नहीं हो सकता है, क्योंकि समस्यायें बड़ी हैं, वायदे भयंकर हैं; हल होने का कोई उपाय नहीं है। उन्हीं वायदों को कर-करके इस पद पर आ गया है; अब कुछ हल होता दिखाई नहीं पड़ता। अब रात शराब न पीये तो क्या करे!

आदमी अपने को भूलना चाहता है। भूलने में ही कहीं सुख है। लेकिन शराब से क्या भूलना? यह कोई भूलना हुआ? यह तो आदमी से नीचे गिर जाना हुआ। और ऊपर की शराब हम सिखाते हैं।

तुम जरा अहंकार को विस्मरण करने की कला सीखो। बजाय शराब भीतर डालने के, अहंकार को जरा बाहर उतार कर रखो। थोड़ी-थोड़ी देर, घड़ी आधा घड़ी...तेईस घंटे अहंकार को दे दो, एक घंटा अहंकार से

माफी मांग लो। एक घंटा बिना अहंकार के ना-कुछ हो कर बैठ जाओ। यही ध्यान है। इसी ना-कुछ होने में व्यक्ति धीरे-धीरे अपनी सीमा-रेखा खोता है और निराकार का अवतरण होता है। जहां तुम्हारी सीमा धुंधली होती है वहीं से निराकार प्रवेश करता है।

तो आनंद के अनुभव के लिए व्यक्ति का होना बिलकुल भी जरूरी नहीं है, क्योंकि व्यक्ति का अनुभव नहीं है आनंद। व्यक्ति के अभाव में जो घटता है, वही आनंद है। जहां तुम नहीं हो वहीं आनंद है। तुम जहां हो वहीं नर्क है। तुम जहां हो वहीं दुख है। हां, इस दुख के कारण तुम भविष्य में आनंद की अपेक्षा करते हो, आकांक्षा करते हो। तुम होते नर्क में हो और स्वर्ग की योजना बनाते रहते हो। बस यही तुम्हारे जीवन की पूरी कथा है। अथ से लेकर इति तक यही तुम्हारी जीवन-कथा है। हो दुख में, लेकिन अब दुख को कैसे काटो, तो सुख की कल्पना करते रहते हो कि कल होगा, परसों होगा! कभी तो होगा। देर है, अंधेर तो नहीं! कभी तो होगा। कभी तो प्रभु ध्यान देगा! कभी तो फल मिलेगा! प्रतीक्षा व्यर्थ तो न जाएगी! प्रार्थना खाली तो नहीं रहेगी! चेष्टा का कोई तो परिणाम होगा! आज नहीं, कल होगा। आज झेल लो दुख, कल सुख है! ऐसा मन समझाये रखता है। यह तुम्हारा अहंकार है।

और जब वस्तुतः सुख घटता है तो कल नहीं घटता, आज घटता है। लेकिन आज अगर कोई चीज घटानी हो, अभी और यहीं अगर घटानी हो, तो एक ही उपाय है कि अहंकार को हटा कर रख दो। अहंकार समय की यात्रा बन जाता है। अहंकार को हटाते ही आकाश की यात्रा शुरू होती है। यही मैंने पीछे तुमसे कहा। कर्म का सवाल नहीं है। विचार का सवाल नहीं है। आकाश उपलब्ध है अभी और यहीं। तुम जरा पुरानी आदत के ढांचे से हट कर देखो।

तुम हो नहीं, है तो परमात्मा ही। तुमने अपने को मान रखा है। मान रखा है तो तुम झंझट में पड़ गये हो। तुम्हारी मान्यता तुम्हारा कारागृह बन गई है।

क्रांति सिर्फ मान्यता से मुक्ति है; कुछ वस्तुतः बदलना नहीं है, एक गलत धारणा छोड़नी है। यह मामला ठीक ऐसे ही है जैसे कि तुमने दो और दो पांच होते हैं, ऐसा मान रखा है। अब तुम झंझट में पड़े हो। क्योंकि दो और दो पांच होते नहीं और तुमने सारा खाता-बही दो और दो पांच के हिसाब से कर लिया है। अब तुम डरते हो कि सब खाते-बही फिर से लिखना पड़ेंगे। लेकिन जब तक तुम ये खाते-बही बदलोगे न, आगे भी तुम उसी हिसाब से लिखते चले जाओगे, ये खाते-बही बड़े होते जा रहे हैं। यही तो सारे कर्म का जाल है कि दो और दो पांच समझ लिए हैं। दो और दो चार समझते ही क्रांति घट जाती है। तुमने अपने को कर्ता मान लिया है, यही भ्रांति है। तुमने यह मान लिया कि मैं हूं, यही भ्रांति है। तुम जरा सोचो, खोजो--तुम हो?

बोधिधर्म चीन गया तो चीन के सम्राट ने कहा कि मैं बड़ा अशांत रहता हूं, महामुनि, मुझे शांति का कोई उपाय बतायें! बोधिधर्म बड़ा अनूठा संन्यासी था। उसने कहा: "शांत होना है? सच कहते हो, शांत होना है?" सम्राट थोड़ा बेचैन हुआ कि यह भी कोई बात पूछने की है; मैंने कहा आपसे कि बहुत अशांत हूं, शांति का कोई मार्ग बतायें!

तो बोधिधर्म ने कहा: "ऐसा करो रात तीन बजे आ जाओ। अकेले आना! और खयाल रखना, अशांति ले कर आना। खाली हाथ मत चले आना।" तो वह समझा, सम्राट समझा कि यह तो आदमी पागल मालूम होता है। अशांति ले कर आना! खाली हाथ मत आ जाना! रात तीन बजे आना! अकेले में आना! और यह बोधिधर्म एक बड़ा डंडा भी लिए रहता था। और इस एकांत में इसके इस मंदिर में, और पता नहीं यह क्या उलटा-सीधा करना करवाने लगे!

रात भर सम्राट सो न सका। लेकिन फिर उसको आकर्षण भी मालूम होता था इस आदमी में, इसमें थी तो कुछ खूबी! इसके पास कुछ तरंग थी, कोई ज्योति थी। इसके पास ही जाते से कुछ प्रफुल्लता प्रगट होती थी, कुछ उत्सव आने लगता था। तो सोचा क्या करेगा, बहुत-से-बहुत दो चार डंडे मारेगा, मगर यह कोशिश करके देख लेनी ही चाहिए; कौन जाने, आदमी अनूठा है, शायद कर दे! अब तक कितनों से ही पूछा, ऐसा जबाब भी किसी

ने नहीं दिया। और यह जबाब भी बड़ा अजीब है। उसने कहा कि ले ही आना तू अशांति अपनी, शांत कर ही दूंगा; मगर अकेला मत आ जाना। तो किसी ने दावा किया है कि कर दूंगा शांत, ले आना। चलो देख लें।

वह आया डरते-डरते, झिझकते-झिझकते। बोधिधर्म बैठा था वहां डंडा लिए अंधेरे में। उसने कहा: "आ गये! अशांति ले आये?" सम्राट ने कहा: "क्षमा करिये, यह भी कोई बात है! अशांति ले आये! अब अशांति कोई चीज है?"

"तो क्या है अशांति?" बोधिधर्म ने पूछा। "शांत करने के पहले आखिर मुझे पता भी तो होना चाहिए, किस चीज को शांत करूं! क्या है अशांति?"

उन्होंने कहा: "सब मन का ऊहापोह है, मन का जाल है।" तो बोधिधर्म ने कहा: "ठीक, तू बैठ जा, आंख बंद कर ले और भीतर अशांति को खोजने की कोशिश कर; जैसे ही मिल जाये, वहीं पकड़ लेना और मुझसे कहना मिल गई। उसी वक्त शांत कर दूंगा।" और डंडा लिए वह बैठा है सामने। सम्राट ने आंख बंद कर ली। वह खोजने लगा। कोने-कातर देखने लगा। कहीं अशांति मिले न। वह जैसे-जैसे खोजने लगा, वैसे-वैसे शांत होने लगा। क्योंकि अशांति है कहां, मान्यता है! तुम खोज थोड़े ही पाओगे। सूरज उगने लगा, सुबह हो गई। घंटे बीत गये। सूरज की रोशनी में वू का चेहरा ऐसा खिल आया जैसे कमल हो।

बोधिधर्म ने कहा: "अब बहुत हो गया, आंख खोलो। मिलती हो तो कहो; न मिलती हो तो कहो।" वह चरणों पर झुक गया। उसने कहा कि नहीं मिलती। बहुत खोजता हूं कहीं नहीं मिलती, और आश्चर्य कि खोजता अशांति को हूं और मैं शांत होता जा रहा हूं। यह क्या चमत्कार तुमने किया है?

बोधिधर्म ने कहा: "एक बात और पूछनी है, तुम भीतर गये, इतनी खोज बीन की, तुम मिले?"

उसने कहा कि वह भी कहीं कुछ मिलता नहीं। जैसे-जैसे खोज गहरी होती गई वैसे-वैसे पाया कि कुछ भी नहीं है। एक शून्य सन्नाटा है!

तो बोधिधर्म ने कहा: "अब दुबारा यह सवाल मत उठाना। शांत कर दिया। और जब भी अशांति पकड़े, भीतर खोजना कहां है। और जब भी अहंकार पकड़े, भीतर खोजना कहां है। खोजोगे, कभी न पाओगे। माने बैठे हो।"

तुम हो नहीं। तुम्हारा होना एक भ्रांति है। है तो परमात्मा ही। और तुम्हारी भ्रांति के कारण जो है, वह दिखाई नहीं पड़ रहा और जो नहीं है वह दिखाई पड़ रहा है।

अब तुम्हारा प्रश्न मैं समझता हूं। यह भय उठता है। यह भय उठता है कि यह तो मामला, हम शांत होने आये थे, आनंदित होने आये थे और ये कह रहे हैं कि मिट जाओ! तो फिर फायदा क्या! जब मिट ही गये तो फिर कौन शांत होगा! तो फिर कौन आनंदित होगा! यह तुम्हारा प्रश्न तर्कपूर्ण है। इसके पीछे तर्क मेरी समझ में आता है, बात साफ है। तुम पूछते हो कि जब हमीं न बचे तो शांत कौन होगा! और मैं तुमसे कह रहा हूं कि तुम्हारे न बचने का नाम ही शांति है। कोई शांत होता नहीं और कोई आनंदित नहीं होता। आनंदित होना और किसी का होना दो चीजें नहीं हैं। जब तुम नहीं होते तो आनंद होता है। जब तुम नहीं हो तो शांति होती है।

अगर तुम्हारी यह जिद हो कि मैं तो शांति ऐसी चाहता हूं कि मैं भी रहूं और शांति हो, तो तुम अशांत रहोगे; तो तुम कभी शांत नहीं हो सकते। अगर तुम्हारी यह जिद है कि मैं तो रहते हुए आनंद चाहता हूं तो फिर तुम कभी आनंदित न हो सकोगे। फिर तुम्हें दुख से राजी रहना चाहिए। फिर तुम आनंद की तलाश बंद कर दो। तुम अगर यह कहते हो कि मैं तो खुद रहूं और परमात्मा का साक्षात्कार करूं--तो तुम इस भ्रांति में पड़ो मत, यह जाल तुम्हारे लिए नहीं, तुमसे न हो सकेगा। प्रेम गली अति सांकरी तामें दो न समाय! या तो तुम बचोगे या परमात्मा।

हेरत हेरत हे सखी रह्या कबीर हेराई। खोजते-खोजते कबीर खो गया। कबीर ने कहा: यह भी खूब मजा है! जब तक हम थे, तुम नहीं। अब तुम हो, हम नाहिं। खोजते फिरते थे, रोते फिरते थे गली-कूचे, चिल्लाते

फिरते थे--"हे प्रभु कहां हो!" तब तक तुम न थे, हम थे। अब तुम हो, हम नाहिं। यह भी खूब मजा रहा! अब तुम सामने खड़े हो, लेकिन इधर भीतर खोजते हैं तो किसी का पता नहीं चलता। कहां गया यह कबीर! हेरत-हेरत हे सखी रह्या कबीर हेराई।

एक ही होगा। इसलिए तुम्हें यह बात अजीब-सी लगेगी, लेकिन मैं कहना चाहता हूं: आज तक किसी व्यक्ति ने व्यक्ति की हैसियत से परमात्मा को नहीं जाना है। आज तक किसी ने परमात्मा का साक्षात्कार नहीं किया है। साक्षात्कार कौन करेगा? साक्षात्कार करने वाला ही तो बाधा है। इधर तुम मिटे उधर परमात्मा हुआ। तुम्हारे होने के कारण ही परमात्मा नहीं हो पा रहा है।

आखिरी प्रश्न: ऐसा क्यों है कि मेरे पति और स्वजनों को मुझमें प्रगति नहीं दिखती और अभी तक रजनीश के लिए उनके मुंह से गालियां ही गालियां निकलती हैं? क्या इसमें मुझसे कुछ भूल तो नहीं हो रही है?

प्रश्न थोड़ा जटिल है। "मंजू" ने पूछा है। उसे मैं जानता हूं। पति इसीलिए परेशान है कि प्रगति हो रही है। कोई पति बर्दाश्त नहीं करता कि पत्नी आगे निकल जाये। यह बड़ा कठिन है। यह अहंकार को बहुत भारी पड़ता है। पत्नी तक पसंद नहीं करती कि पति आगे निकल जाये, तो पति की तो बात ही छोड़ दो। पति तो परमेश्वर है! उससे आगे!

एक महिला मेरे पास आई और उसने कहा कि अगर मैं ध्यान करूं तो मेरे गार्हस्थ्य जीवन में कोई अड़चन तो न आयेगी? फिर यह देख कर कि यह प्रश्न कुछ अजीब-सा है, उसने कहा कि नहीं-नहीं अड़चन क्यों! खुद ही कहा कि अड़चन क्यों आयेगी! ध्यान कर रही हूं, कोई शराब तो पीने जा नहीं रही। कोई बुरा काम तो कर नहीं रही, अड़चन क्यों आयेगी!

मैंने कहा कि तू गलती कहती है। अड़चन आयेगी। शराब पीने से शायद न भी आये, लेकिन ध्यान करने से निश्चित आयेगी।

वह बहुत चौंकी। उसने कहा, क्या प्रयोजन है आपका कहने का? कोई बुरा काम तो नहीं है?

मैंने कहा, बुरा काम करने से उतनी अड़चन कभी नहीं आती। यह जरा मनुष्य की जटिलता है। अगर पति शराब पीता हो तो पत्नी को इतनी अड़चन कभी नहीं आती, क्योंकि शराब पीने वाले पति से पत्नी बड़ी हो जाती है, ऊपर हो जाती है, और मजा लेती है, एक तरह का रस आता है। डांटती-डपटती है पति को। सुधारने की चेष्टा...सुधारने में बड़ा मजा आता है। किसको मजा नहीं आता! चार के सामने चर्चा करती है, सिर नीचे झुकवा देती है। जहां जाती है, पति वहां डरा-डरा पूंछ दबाये-दबाये चलता है। तो पत्नी बिलकुल मालिक हो जाती है। और क्या चाहिए! लेकिन पति अगर ध्यान करने लगे तो अड़चन आती है, क्योंकि वह तुमसे ऊपर होने लगा। और पत्नी अगर ध्यान करने लगे तो अड़चन और भी गहरी हो जाती है, क्योंकि पुरुष को तो यह मान्यता संभव ही नहीं होती कि स्त्री और आगे!

तुमने देखा, पुरुष अपने से लंबी स्त्री से शादी नहीं करते। क्यों? इसमें क्या अड़चन है? मगर कोई पुरुष बर्दाश्त नहीं करता कि स्त्री लंबी हो। शारीरिक रूप से लंबी बर्दाश्त नहीं करते तो आत्मिक रूप से जरा ऊंची, बिलकुल असंभव! अपने से छोटी पत्नी खोजते हैं लोग। हर हालत में छोटी होनी चाहिए। पुरुष अपने से ज्यादा शिक्षित स्त्री भी पसंद नहीं करता। वह अपने से कम शिक्षित स्त्री खोजता है। तो ही तो परमेश्वर बना रहेगा। नहीं तो परमेश्वर गैर-पढ़े-लिखे और दासी पढ़ी-लिखी, तो बड़ा मुश्किल हो जायेगा! अड़चन आयेगी।

पत्नी अगर ध्यान में थोड़ी गतिमान हो जाये या पति, कोई भी ध्यान में गतिमान हो जाये, तो दूसरा व्यक्ति जो पीछे छूट गया, अड़चन आनी शुरू होती है। तुम एक तरह के व्यक्ति के साथ रहने को राजी हो गये हो। तुमने एक ढंग के व्यक्ति के साथ विवाह किया है। फिर पति ध्यान करने लगा, यह नई बात हो गई। तुमने

ध्यान करने वाले पति से कभी विवाह किया भी नहीं था। तुमने ध्यान करने वाली पत्नी से कभी विवाह किया भी नहीं था। यह कुछ नई बात हो गई। यह तुम्हारे संबंध को डांवांडोल करेगी। इसमें अड़चन आयेगी।

एक पत्नी ने मुझसे आ कर कहा कि मैं और सब सह लेती हूं; लेकिन मेरे पति अब नाराज नहीं होते, यह नहीं सहा जाता। तुम चकित होओगे, यह बात उलटी लगती है। क्योंकि पत्नी को प्रसन्न होना चाहिए। लेकिन तुम मनुष्य के मनोविज्ञान को समझो। वह कहने लगी, मुझे बड़ी हैरानी होती है, बड़ी बेचैनी होती है; वे पहले नाराज होते थे तो कम से कम स्वाभाविक तो लगते थे। अब वे बिलकुल बुद्ध बने बैठे रहते हैं। हम सिर पीटे ले रहे हैं, वे बुद्ध बने बैठे हैं। इधर हम उबले जा रहे हैं, उन पर कोई परिणाम नहीं है। यह थोड़ी अमानवीय मालूम होती है बात और ऐसा लगता है, प्रेम खो गया। अब क्रोध भी नहीं होता तो प्रेम क्या खाक होगा!

पत्नी कहने लगी, अब प्रेम कैसे होगा? वे ठंडे हो गये हैं! यह आपने क्या कर दिया? उनमें थोड़ी गर्मी लाइये। वे बिलकुल ठंडे होते जा रहे हैं। उनको न क्रोध में रस है न अब कामवासना में रस है।

इधर यह भी अनेक पति-पत्नियों से मुझे सुनने को खबर मिलती है कि जैसे ही पति ध्यान करने लगता है, स्वभावतः उसकी काम में रुचि कम हो जाती है। पत्नी, जो इसके पहले कभी भी काम में रुचि नहीं रखती थी बहुत...स्त्रियां साधारणतः रखती नहीं। क्योंकि वह भी एक मजा है लेने का, उसमें भी वह पति को नीचा दिखलाती हैं कि "क्या गंदगी में पड़े हो! तुम्हारी वजह से हम तक को घसिटना पड़ रहा है।" हर स्त्री यह मजा लेती है। भीतर-भीतर चाहती है, ऊपर-ऊपर ऐसा दिखलाती है कि सती- साध्वी है। "तुम घसीटते हो तो हम घसिट जाते हैं, बाकी है गंदगी।" तो स्त्रियां मुर्दे की भांति घसिट जाती हैं कामवासना में और पति की निंदा कर लेती हैं, रस ले लेती हैं, उसको नीचा दिखा लेती हैं।

जैसे ही मैं देखा हूं कि पति की ध्यान में थोड़ी गति होनी शुरू होती है और कामवासना उसकी शिथिल होती है, पत्नियां एकदम हमला करने लगती हैं। वे ही पत्नियां, जो मेरे पास आ कर कह गई थीं कि किसी तरह हमें कामवासना से छुटकारा दिलाइये; पति आपके पास आते हैं, इतना सुनते हैं--मगर यह रोज-रोज की कामवासना, यह तो गंदगी है! जो मुझसे ऐसा कह गई थीं, वही पति के पीछे पड़ जाती हैं कि रोज कामवासना की तृप्ति होनी ही चाहिए। क्योंकि अब उनको खतरा लगता है कि यह तो पति दूर जा रहा, यह तो हाथ के बाहर जा रहा है। अगर यह बिलकुल ही कामवासना से मुक्त हो गया तो निश्चित ही पत्नी से भी मुक्त हो गया। तो पत्नी को लगता है, अब तो मेरा कोई मूल्य न रहा। तो अड़चन आती है।

मंजू को मैं जानता हूं। उसकी प्रगति निश्चित हो रही है। लेकिन यही कठिनाई है। और तुम्हारी प्रगति को तुम्हारे पति या तुम्हारे परिवार के लोग स्वीकार न करेंगे। क्योंकि तुम्हारी प्रगति को स्वीकार करने का अर्थ उनके अहंकार की पराजय है। वे इनकार करेंगे।

मीरा को मीरा के परिवार के लोगों ने स्वीकार किया? जहर का प्याला भिजवाया कि यह मर ही जाये, क्योंकि यह तो बदनामी का कारण हो रही है। राजपरिवार की स्त्री और राजस्थान में, जहां कोई पर्दे के बाहर नहीं आता, इसने सब लोक-लाज छोड़ दी! यह रास्तों पर नाचती फिरती है। भिखारियों से मिलती है, साधु-संतों के पास बैठती है। घर के लोग दुखी थे, परेशान थे। प्रगति नहीं दिखाई पड़ती थी, दीवानापन दिखाई पड़ता था। यह पागल हो गई है!

जीसस अपने गांव गये एक ही बार। फिर गांव से लौट कर उन्होंने अपने शिष्यों को कहा, वहां जाने का कोई अर्थ नहीं। क्योंकि गांव के लोग यह मानने को राजी नहीं होते थे कि बढ़ई का छोकरा और एकदम ईश्वर का पुत्र हो गया।

"छोड़ो भी, किसी और को चराना! किसी और को बताना ये बातें!" गांव के लोग यह मानने को राजी न थे। गांव के लोगों की भी बात समझ में आती है। जिसको उन्होंने लकड़ी को चीरते-फाड़ते देखा, बाप की दूकान पर काम करते देखा, संदूकें बनाते देखा--अचानक एकदम ईश्वर-पुत्र... जोसेफ का बेटा ईश्वर का बेटा हो गया एकदम! किसको समझा रहे हो! किसी और को समझा लेना। गांव के लोग सुनने को राजी नहीं थे।

बुद्ध जब अपने गांव लौटे तो बाप भी राजी नहीं थे बुद्ध को स्वीकार करने को कि तुम्हें ज्ञान हो गया है। बाप ने यह कहा कि छोड़, मैं तुझे बचपन से जानता हूं। मैंने तुझे पैदा किया। तेरा खून मेरा खून है। तेरी हड्डी में मैं हूं। मैं तुझे भलीभांति पहचानता हूं। यह बकवास छोड़ और यह फिजूल के काम छोड़। हो गया बहुत, अब घर लौट आ। और मैं बाप हूं तेरा, मेरे हृदय का द्वार तेरे लिए अभी भी खुला है। क्षमा कर दूंगा; यद्यपि तूने काम जो किया है वह अक्षम्य अपराध है। बुढ़ापे में बाप को छोड़ कर भाग गया, पत्नी को छोड़ कर भाग गया, बेटे को छोड़ कर भाग गया! तू ही हमारी आंख का तारा था!

बुद्ध सामने खड़े हैं और यह बाप यह कह रहा है! थोड़ा सोचो, मामला क्या है! क्या बाप को बिलकुल दिखाई नहीं पड़ रहा है? बाप को दिखाई पड़ने में अड़चन है। जो दूसरों को दिखाई पड़ गया, इसे दिखाई नहीं पड़ रहा है। अहंकार को बड़ी बाधा है। बाप कैसे मान ले कि बेटा आगे चला गया! मान ले तो बड़ी क्रांति होगी।

बहुत कम लोग इतने विनम्र होते हैं कि अपने निकट जनों को आगे जाते देख कर स्वीकार कर लें।

तो प्रगति तो निश्चित हो रही है। उसी प्रगति के कारण वे अड़चन में हैं। अगर प्रगति न हो रही हो तो वे मुझे गालियां देना बंद कर दें; गालियां देने का क्या प्रयोजन है! मैंने उनका कुछ बिगाड?ा नहीं। पर वे देखते हैं कि पत्नी कुछ ऊपर उठती जाती है; कुछ श्रेष्ठतर होती जाती है। यह बर्दाश्त के बाहर है।

मुझे जो गालियां दे रहे हैं, वे बड़ी सूचक हैं। वे मुझसे बदला ले रहे हैं। उनके अहंकार पर जो चोट पड़ रही है, वे मुझसे बदला ले रहे हैं। हालांकि मुझसे उनका कुछ लेना-देना नहीं है।

जब तक वे गालियां देते हैं, शांति से उनकी गालियां सुनना और ध्यान किए जाना। गालियां उनकी उसी दिन बंद होंगी, जिस दिन उनके भीतर यह सदभाव जगेगा, आंख खुलेंगी और वे देखेंगे कि कुछ अंतर हुआ है। उसी दिन गालियां बंद होंगी। लेकिन यह तुम्हारे हाथ में नहीं है। और भूल कर भी यह चेष्टा मत करना कि उनको समझाना है। क्योंकि जितनी ही समझाने की चेष्टा होगी, उतना ही उनका समझना मुश्किल हो जायेगा। यह बात ही छोड़ दो। यह उनका है। न उनकी गालियों को ध्यान दो, न उनकी गालियों में रस लो। तुम जो कर रही हो, किए जाओ। जो हो रहा है, उसे होने दो। तुम चेष्टा भी मत करना भूल कर कि तुम्हें उन्हें राजी करना है या मेरे पास लाना है। भूल कर यह मत करना। तुम जितनी चेष्टा लाने की करोगी, उतनी ही मुश्किल हो जायेगी; उतना ही अहंकार बाधा बनेगा।

एक महिला ने मुझे आ कर कहा--पूना की ही महिला है--उसने कहा कि मेरे पति कहते हैं कि "उनको भूल कर सुनने मत जाना। तुझे जो भी पूछना हो, मुझसे पूछ!" आपकी किताबें फेंक देते हैं। आपका चित्र घर में नहीं रहने देते।

यह ठीक है। पति को ऐसा लगता होगा कि यह तो मामला गड़बड़ हुआ जा रहा है। किसी और की सुनने लगी! अब पत्नी की भी अड़चन समझो। पत्नी और पति से पूछे प्रश्न! पति भला ज्ञानी ही क्यों न हो, हो भी सकता है ज्ञानी ही हो; मगर पत्नी पति से पूछे प्रश्न, यह भी संभव नहीं है! और पति यह बर्दाश्त नहीं कर सकता कि उनकी पत्नी और उनके रहते किसी और से प्रश्न पूछे!

ये अहंकार के जाल हैं! लेकिन इन सबका लाभ उठाया जा सकता है। ये गालियां भी तुम्हारे राह पर फूल बन सकती हैं, अगर इन्हें शांति से स्वीकार कर लो। इनसे उद्विग्न मत होना। इनसे विचलित भी मत होना। इसे स्वाभाविक मानना।

पति का तुम्हारे ऊपर इतना कब्जा था, वह कब्जा खो गया। पति की मालकियत थी, वह मालकियत चली गई। पति चाहता है, तुम यहां मुझे सुनने मत आओ। पति चाहता है, तुम ध्यान मत करो। लेकिन तुम पति की नहीं सुनती, मेरी सुनती हो। ध्यान करती हो। पति को लगता है, कब्जा गया। तो पति मुझ पर नाराज हैं। जिस आदमी के कारण कब्जा चला गया, उस आदमी को गालियां न दें तो बेचारे क्या करें! और कुछ कर भी नहीं सकते तो गालियां दे लेते हैं; कम से कम उनको गालियां तो देने की सुविधा रहने दो! उस पर झगड़ा मत करना।

प्यार की तो भूल भी अनुकूल मेरे
फूल मिलते रोक ही रखते रिझाते
शूल हैं प्रतिपल मुझे आगे बढ़ाते
इस डगर के शूल भी अनुकूल मेरे
प्यार की तो भूल भी अनुकूल मेरे
इन गालियों को भी तुम चाहो तो अनुकूल बना ले सकती हो।
शूल हैं प्रतिपल मुझे आगे बढ़ाते
फूल मिलते रोक ही रखते रिझाते
पत्थर सीढ़ियां बन जाते हैं, अगर स्वीकार कर लो।
प्यार के पल में जलन भी तो मधुर है
जानता हूं दूर है नगरी प्रिया की
पर परीक्षा एक दिन होनी हिया की
प्यार के पथ की थकन भी तो मधुर है
प्यार के पथ में जलन भी तो मधुर है।
आग ने मानी न बाधा शैल-वन की
गल रही बुझ पास में दीवार तन की
प्यार के दर पर दहन भी तो मधुर है
प्यार के पथ में जलन भी तो मधुर है।

यह प्रार्थना, प्रेम, भक्ति, ध्यान, परमात्मा का मार्ग--इस पर बहुत तरह की जलन तो होगी। बहुत तरह की आगों से मुकाबला तो होगा। इसे आनंद से नाचते और गीत गुनगुनाते गुजार देना, तो हर चीज सहयोगी बन जायेगी। ऐसा तो भूल कर मत सोचना कि साधना का पथ फूल ही फूल से भरा है। फूल तो कभी-कभी, शूल ही शूल ज्यादा हैं। और जैसे-जैसे आत्यंतिक घड़ी करीब आने लगेगी, वैसे-वैसे परीक्षाएं तीव्र और प्रगाढ़ होने लगती हैं। आखिरी कसौटी में तो सारी परीक्षायें गर्दन पर फांसी की तरह लग जाती हैं। उस घड़ी में भी जो निर्विकार, उस घड़ी में भी जो शांत, मौन, अहोभाव से भरा रहता है, वही प्रभु के दर्शन को उपलब्ध हो पाता है।

हरि ॐ तत्सत्!

पैंतालीसवां प्रवचन

धर्म एक आग है

अष्टावक्र उवाच।

आचक्ष्व श्रृणु वा तात नानाशास्त्रोण्यनेकशः।
तथापि न तव स्वास्थ्यं सर्वविस्मरणादृते।। १४६।।
भोगं कर्म समाधिं वा कुरु विज्ञ तथापि ते।
चित्तं निरस्तसर्वाशमत्यर्थं रोचयिष्यति।। १४७।।
आयासत्सकलो दुःखी नैनं जानाति कश्चन।
अनेनैवोपदेशेन धन्यः प्राप्नोति निर्वृतिम्।। १४८।।
व्यापारेखिद्यते यस्तु निमेषोत्मेषयोरपि।
तस्यालस्यधुरीणस्य सुखं नान्यस्य कस्यचित्।। १४९।।
इदं कृतमिदं नेति द्वंद्वैर्मुक्तं यदा मनः।
धर्मार्थकाममोक्षेषु निरपेक्षं तदा भवेत।। १५०।।
विरक्तो विषयद्वेष्टा रागी विषयलोलुपः।
ग्रहमोक्षविहीनस्तु न विरक्तो न रागवान्।। १५१।।

आचक्ष्व श्रृणु वा तात नानाशास्त्रोण्यनेकशः।
तथापि न तव स्वास्थ्यं सर्वविस्मरणादृते।।

"अनेक शास्त्रों को अनेक प्रकार से तू कह अथवा सुन, लेकिन सबके विस्मरण के बिना तुझे शांति न मिलेगी, स्वास्थ्य न मिलेगा।"

एक जर्मन विचारक महर्षि रमण के दर्शन को आया। दूर से आया था, बड़ी आशायें ले कर आया था। उसने रमण के सामने निवेदन किया कि बहुत कुछ आशायें ले कर आया हूं। सत्य की शिक्षा दें मुझे। सिखायें, सत्य क्या है?

रमण हंसने लगे। उन्होंने कहा: फिर तू गलत जगह आ गया। अगर सीखना हो तो कहीं और जा। यहां तो भूलना हो तो हम सहयोगी हो सकते हैं। विस्मरण करना हो तो हम सहयोगी हो सकते हैं।

स्कूल है, कालेज है, विश्वविद्यालय है, समाज, सभ्यता, संस्कृति--सभी का जोर सिखाने पर है--सीखो! संस्कार पर। धर्म तो आग है। जला दो सब! भस्मीभूत हो जाने दो सब जो सीखा!

शिक्षा और धर्म में एक मौलिक विरोध है। शिक्षा भरती है संस्कारों से; धर्म करता है शून्य। शिक्षा भरती है स्मृति को; धर्म करता है स्मृति से मुक्त। जब तक कुछ याद है तब तक कांटा गड़ा है। चित्त ऐसा चाहिए कि जिसमें कोई कांटा गड़ा न रह जाये। इसका यह अर्थ नहीं कि ज्ञानी को कुछ याद नहीं रहता, कि उसे अपने घर का पता भूल जाता है या अपना नाम-ठिकाना भूल जाता है; या लौट कर आयेगा तो पहचान न सकेगा कि यह मेरी पत्नी है, यह मेरा बेटा है। स्मृति होती है, लेकिन स्मृति मालिक नहीं रह जाती। स्मृति यंत्रवत होती है।

साधारणतः हालत उल्टी है, स्मृति मालिक हो गई है। स्मृति के अतिरिक्त तुम्हारे पास कोई खुला आकाश नहीं। स्मृति के बादलों ने सब ढांक लिया है। तुम गुलाब के फूल को देखते हो, देख भी नहीं पाते कि तुम्हारी स्मृति सक्रिय हो जाती है; कहती है: गुलाब का फूल है, सुंदर है, पहले भी देखे थे, इससे भी सुंदर देखे हैं। स्मृति ने पर्दे डाल दिये; जो सामने था, चूक गये। यह जो सामने मौजूद था गुलाब का फूल, यह जो उपस्थिति थी परमात्मा की गुलाब के फूल में, इससे संबंध न बन पाया; बीच में बहुत-सी स्मृतियां आ गईं।

कल किसी ने तुम्हें गाली दी थी, आज तुम उसे मिलने गये, राह पर मिल गया या तुम्हारे घर मिलने स्वयं आ गया। कल की गाली अगर बीच में खड़ी हो जाये तो स्मृति के तुम गुलाम हो गये। हो सकता है, यह आदमी क्षमा मांगने आया हो। लेकिन तुम्हारी कल की गाली, इसने कल गाली दी थी, वैसी याद तुम्हें तत्क्षण बंद कर देगी; तुम इस मनुष्य के प्रति मुक्त न रह जाओगे, खुले न रह जाओगे। इसकी क्षमा में भी तुम्हें क्षमा न दिखाई पड़ेगी, कुछ और दिखाई पड़ेगा: "शायद धोखा देने आया। शायद डर गया, इसलिए आया। शायद मैं कहीं बदला न लूं, इसलिए आया।" कल की गाली अगर बीच में खड़ी है तो इस आदमी के भीतर जो क्षमा मांगने का भाव जगा है, वह तुम न देख पाओगे; वह विकृत हो जायेगा। तुम गाली की ओट से देखोगे न, गाली की छाया पड़ जायेगी! कल गाली दे गया था, ऐसा तो ज्ञानी को भी होता है, लेकिन कल की गाली आज बीच में नहीं आती। बस इतना ही फर्क होता है।

शास्त्र पढ़ो, सुनो, लेकिन शास्त्र सत्य के और तुम्हारे बीच में न आये। बीच में आ गया तो स्वास्थ्य तो मिलेगा ही नहीं, तुम और अस्वस्थ हो जाओगे। पंडित और अस्वस्थ हो जाता है; भर जाती है बुद्धि बहुत-से शब्दों-सिद्धांतों से, लेकिन भीतर सब कोरा का कोरा रह जाता है। प्राण खाली रह जाते, खोपड़ी भर जाती है। खोपड़ी वजनी हो जाती है। प्राण में कुछ भी नहीं होता--राख ही राख!

अष्टावक्र के सूत्र अपूर्व हैं! ऐसे दग्ध अंगारों की भांति कहीं और दूसरे सूत्र नहीं हैं। जितनी बार यह दोहराया जाये कि अष्टावक्र के सूत्र महाक्रांतिकारी हैं, उतना ही कम है। सात बार कहो, सतत्तर बार, सात सौ सतत्तर बार, तो भी अतिशयोक्ति न होगी।

इस सूत्र को गहरे से समझें।

"अनेक शास्त्रों को अनेक प्रकार से तू कह अथवा सुन, लेकिन सबके विस्मरण के बिना तुझे शांति नहीं, स्वास्थ्य नहीं।"

जब तक स्मृति मन पर डोल रही है, मन का आकाश विचारों से भरा है, तब तक शांति कहां! विचार ही तो अशांति है! किन्हीं के मन में संसार के विचार हैं और किन्हीं के मन में परमात्मा के--इससे भेद नहीं पड़ता। किन्हीं के मन में हिंदू विचार हैं, किन्हीं के मन में ईसाइयत के--इससे भेद नहीं पड़ता। किसी ने धम्मपद पढ़ा है, किसी ने कुरान--इससे भेद नहीं पड़ता। आकाश में बादल हैं तो सूरज छिपा रहेगा। बादल न तो हिंदू होते हैं न मुसलमान; न सांसारिक न असांसारिक--बादल तो बस बादल हैं, छिपा लेते हैं, आच्छादित कर लेते हैं।

विचार जब बहुत सघन घिरे हों मन में तो तुम स्वयं को न जान पाओगे। स्वयं को जाने बिना स्वास्थ्य कहां है! स्वास्थ्य का अर्थ समझ लेना। स्वास्थ्य का अर्थ है: जो स्वयं में स्थित हो जाये; जो अपने घर आ जाये, जो अपने केंद्र में रम जाये। स्वयं में रमण है स्वास्थ्य। स्व में ठहर जाना है स्वास्थ्य। और अष्टावक्र कहते हैं, तभी शांति है। शांति स्वास्थ्य की छाया है। अपने से डिगा, अपने से च्युत कभी शांत न हो पायेगा, डांवांडोल रहेगा। डांवांडोल यानी अशांत रहेगा!

और हर विचार तुम्हें च्युत करता है। हर विचार तुम्हें अपनी धुरी से खींच लेता है।

इसे देखो। बैठे हो शांत, कोई विचार नहीं मन में, तुम कहां हो फिर? जब कोई विचार नहीं तो तुम वहीं हो जहां होना चाहिए। तुम स्वयं में हो। एक विचार आया, पास से एक स्त्री निकल गई और स्त्री अपने पीछे धुएं की एक लकीर तुम्हारे मन में छोड़ गई। नहीं कि स्त्री को पता है कि तुम इधर बैठे हो; शायद देखा भी न हो। तुम्हारे लिए निकली भी नहीं है। सजी भी होगी तो किसी और के लिए सजी होगी; तुमसे कुछ संबंध भी नहीं है। लेकिन तुम्हारे मन में एक विचार सघनीभूत हो गया--सुंदर है, भोग्य है! पाने की चाह उठी। तुम च्युत हो गये। तुम चल पड़े। यह विचार तुम्हें ले चला कहीं--स्त्री का पीछा करने लगा। मन में गति हो गई। क्रिया पैदा हो गई। तरंग उठ गई। जैसे शांत झील में किसी ने कंकड़ फेंक दिया! अब तक शांत थी, क्षण भर पहले तक शांत थी, अब

कोई शांति न रही। कंकड़ ने तरंगें उठा दीं। एक तरंग दूसरे को उठाती है, दूसरी तीसरी को उठाती है--तरंगें फैलती चली जाती हैं; दूर के तटों तक तरंगें ही तरंगें!

एक छोटा सा कंकड? विराट तरंगों का जाल पैदा कर देता है। यह स्त्री पास से गुजर गई। जरा-सी तरंग थी, जरा-सा कंकड़ था। लेकिन जिन स्त्रियों को तुमने अतीत में जाना उनकी स्मृतियां उठने लगीं। जिन स्त्रियों को तुमने चाहा उनकी याददाश्त आने लगी। अभी क्षण भर पहले झील बिलकुल शांत थी, कोई कंकड़ न पड़ा था: तुम बिलकुल मौन बैठे थे, थिर, जरा भी लहर न थी। लहर उठ गई।

लेकिन ध्यान रखना, यह लहर स्त्री के कारण ही उठती हो, ऐसा नहीं है। कोई परमहंस पास से निकल गया, सिद्ध पुरुष, उसकी छाया पड़ गई, और मन में एक आकांक्षा उठ गई कि हम भी ऐसे सिद्ध पुरुष कब हो पायेंगे। बस हो गया काम। कंकड़ फिर पड़ गया। कंकड़ परमहंस का पड़ा कि पर-स्त्री का पड़ा, इससे कुछ फर्क नहीं पड़ता। फिर चल पड़े। फिर यात्रा शुरू हो गई। मन फिर डोलने लगा। "कब मिलेगा मोक्ष! कब ऐसी सिद्धि फलित होगी!" वासना उठी, दौड़ शुरू हुई। दौड़ शुरू हुई, अपने से तुम चूके।

जैसे ही मन में एक विचार भी तरंगायित होता है वैसे ही तुम अपनी धुरी पर नहीं रह जाते; तुम इधर-उधर हो जाते हो। फिर जितना प्रबल विचार होता है उतने ही दूर निकल जाते हो।

निर्विचार चित्त में ही कोई स्वस्थ होता है। इसलिए निर्विचार होना ही ध्यान है। निर्विचार होना ही समाधि है। निर्विचार होना ही मोक्ष की दशा है। क्योंकि स्वयं में बैठ गये; कहीं कोई जाना-आना न रहा! अष्टावक्र कहते हैं: न आत्मा जाती, न आती; बस मन आता-जाता है। तुम अगर मन के साथ अपना संबंध जोड़ लेते हो तो तुम्हारे भीतर भी आने-जाने की भ्रांति पैदा हो जाती है। तुम तो वहीं बैठे हो जिस वृक्ष के नीचे बैठे थे। स्त्री नहीं गुजरी थी, परमहंस का दर्शन नहीं हुआ था--तब तुम जहां बैठे थे अब भी वहीं बैठे हो। शरीर वहीं बैठा है, आत्मा भी वहीं है जहां थी; लेकिन मन डांवांडोल हो गया। और मन से अगर तुम्हारा लगाव है तो तुम चल पड़े। न चल कर भी चल पड़े। कहीं न गये और बड़ी यात्रा होने लगी।

कोई अपने स्वभाव से कहीं गया नहीं है। हमने सिर्फ स्वप्न देखे हैं अशांत होने के; हम अशांत हुए नहीं हैं। अशांत हम हो नहीं सकते। शांति हमारा स्वभाव है। लेकिन अशांति के सपने हम देख सकते हैं। अशांत होने की धारणा हम बना सकते हैं। अशांत होने का पागलपन हम पैदा कर सकते हैं। फिर एक पागलपन के पीछे दूसरा पागलपन चला आता है। फिर कतार लग जाती है।

"अनेक शास्त्रों को अनेक प्रकार से तू कह अथवा सुन...।"

शास्त्र को कहने और सुनने से भी क्या होगा? नये-नये विचार, नई-नई तरंगें उठेंगी। नये-नये भाव उठेंगे। उन नये-नये भावों को प्राप्त करने की आकांक्षा, अभीप्सा उठेगी। उन्हें पूरा करने की जिज्ञासा, मुमुक्षा होगी। नये स्वर्ग, नये मोक्ष की कल्पना सजग हो जाएगी। दौड़ पैदा होगी। और सत्य तो यहां है, वहां नहीं।

इसलिए कहीं जाने की कोई बात नहीं है। तुम जब कहीं नहीं जाते, तभी तुम सत्य में होते हो।

तो अष्टावक्र कहते हैं: "लेकिन सबके विस्मरण के बिना शांति नहीं।"

तो स्मरण से शांति नहीं होगी, विस्मरण से होगी। जो जाना है, उसे भूलने से होगी। जानने से कोई नहीं जान पाता; भूलने से जान पाता है। और जब भी तुम ऐसी विस्मरण की दशा में होते हो कि कोई विचार नहीं, बिलकुल भूले, बिलकुल खोये, लुप्त, लीन, तल्लीन--वहीं, उसी क्षण प्रकाश की किरण उतरने लगती है।

कल संध्या ही एक संन्यासी से मैं बात कर रहा था। संन्यासी जार्ज गुरजिएफ के विचारों से प्रभावित रहे हैं। पश्चिम से उनका आना हुआ है और गुरजिएफ की साधना-पद्धति से उन्होंने प्रयोग भी किया है वर्षों से। गुरजिएफ की साधना-पद्धति में एक शब्द है: "सेल्फ-रिमेंबरिंग, आत्मस्मरण।" बड़ा कीमती शब्द है। उसका अर्थ वही होता है जो ध्यान का अर्थ होता है। उसका वही अर्थ होता है जो कबीर, नानक और दादू की भाषा में सुरति का होता है। स्वयं की स्मृति यानी सुरति। लेकिन शब्द में खतरा भी है, क्योंकि हम जिन लोगों से बात

कर रहे हैं उनसे अगर कहो स्वयं की स्मृति, सेल्फ-रिमेंबरिंग तो खतरा है; क्योंकि उन्हें स्वयं का तो कोई पता नहीं है, वे स्वयं की स्मृति कैसे करेंगे? वे तो उसी स्वयं की स्मृति कर लेंगे, जिसको वे जानते हैं। उनका "स्वयं" तो उनका अहंकार है। तो सेल्फ-रिमेंबरिंग, आत्मस्मरण, आत्मस्मरण तो न बनेगा, अहंकार की पुष्टि हो जाएगी।

तो मैंने उस संन्यासी को कहा कि तुम कुछ दिन के लिए यह बात ही भूल जाओ। मैं तो तुमसे कहता हूं: आत्मविस्मरण। कुछ दिनों के लिए तो तुम अपने को भूलना शुरू करो। यह याद करने की बात ठीक नहीं है। जब एक बार भी तुम अपने को बिलकुल भूल जाओगे, कोई सुध-बुध न रहेगी, ऐसी मस्ती में आ जाओगे, उसी क्षण किरण उतरेगी और आत्मस्मरण जागेगा। आत्मस्मरण तुम्हारे किए नहीं होगा। आत्मा की स्मृति तो उठेगी तब, जब तुम सब विस्मरण कर दोगे।

यह बात बड़ी विरोधाभासी मालूम पड़ती है और आगे के सूत्र और भी विरोधाभासी हैं, इसलिए विरोधाभास को समझ लेना। जीवन में एक बड़ा गहरा नियम है; और वह नियम यह है कि बहुत ऐसी घटनाएं हैं कि जब तुम जो चाहते हो उसका उल्टा परिणाम होता है।

जैसे एक आदमी रात सोना चाहता है और सोने के लिए बहुत चेष्टा करता है, उसकी हर चेष्टा सोने में बाधा बन जाती है। करता तो कोशिश सोने की है, लेकिन जितनी कोशिश करता है उतनी ही नींद मुश्किल हो जाती है। क्योंकि नींद के लिए सब प्रयास छूट जाना चाहिए, तभी नींद आती है। नींद लाने का प्रयास भी नींद के आने में बाधा है।

तो अक्सर ऐसा हो जाता है कि जिन लोगों को नींद नहीं आती, उनका असली उपद्रव यही है कि वे नींद लाने की बड़ी कोशिश करते हैं। भेड़ें गिनते हैं, मंत्र पढ़ते हैं, न मालूम क्या-क्या उपाय करते हैं; जो जो बता देता है, उसका उपाय करते हैं। लेकिन जितने उपाय करते हैं, उतने ही जागे हो जाते हैं, क्योंकि हर उपाय जगाता है। चेष्टा तो श्रम है। श्रम तो कैसे विराम में जाने देगा?

मेरे पास कोई आ जाता है, जिसे नींद नहीं आती। और जब मैं उसे पहली दफा सलाह देता हूं तो वह चौंक कर कहता है: "आप कह क्या रहे हैं? मैं वैसे ही मरा जा रहा हूं और आपकी बात मान लूंगा तो और झंझट हो जायेगी।" मैं उससे कहता हूं: "नींद नहीं आती तो चार मील का चक्कर लगाओ, दौड़ो।" वह कहता है: "आप कह क्या रहे हैं, वैसे ही तो मैं परेशान हूं, दौड़ से तो और मुश्किल हो जायेगी। थोड़ी-बहुत जो आ भी रही थी, वह भी चली जायेगी; मैं और ताजा हो जाऊंगा।" मैं उससे कहता हूं: "तुम प्रयोग करके देखो।"

जीवन में कई नियम विरोधाभासी हैं। तुम दौड़ कर जब थके-मांदे आओगे, नींद आ जायेगी। इसलिए तो जो दिन भर में थक गया है, उसे रात नींद आ जाती है। जो दिन भर विश्राम करता रहा, उसे नींद नहीं आती। अगर जिंदगी तर्क से चलती होती हो जो दिन भर अपनी आराम कुर्सी पर रहा है, बिस्तर पर लेटा रहा, उसको गहरी नींद आनी चाहिए रात में; क्योंकि दिन भर अभ्यास किया है नींद का तो रात में नींद गहरी हो जानी चाहिए। लेकिन जीवन गणित नहीं है। जीवन बड़ा विरोधाभासी है। जो दिन भर मिट्टी खोदता रहा, पत्थर तोड़ता रहा, वह रात घर्राटे ले कर सोता है। और जिसने दिन भर विश्राम किया, वह रात भर जागा रहता है, नींद आती नहीं। मगर इस विरोधाभास में बात सीधी है। जब तुमने दिन भर विश्राम कर लिया तो विश्राम की जरूरत न रही। जिसने दिन भर विश्राम नहीं किया, उसने विश्राम की जरूरत पैदा कर ली। जीवन उल्टे से चलता है।

तो अगर स्वयं की स्मृति लानी हो तो स्वयं को स्मरण करने का प्रयास भर मत करना, अन्यथा भटक हो जायेगी, भूल हो जायेगी, बड़ी भ्रांति होगी। तुम तो विस्मरण करना। डूब जाना कीर्तन में, कि नृत्य में, कि गान में, कि संगीत में। तुम भूल ही जाना अपने को, बिलकुल भूल जाना, विस्मरण कर देना। यह भी भूल जाना, कौन हो तुम, क्या तुम्हारा पता-ठिकाना, जानते नहीं जानते, पंडित- अपंडित, पुण्यात्मा-पापी--सब भूल जाना। ऐसे

छंदबद्ध हो जाना किसी घड़ी में कि कुछ भी याद न रहे। सब पांडित्य भूल जाये, सब पुण्य एक तरफ रख देना--जहां जूते उतार आये वहीं पुण्य भी, वहीं पांडित्य भी, वहीं छोड़ आना सारी अस्मिता और अहंकार को और डूब जाना। अचानक तुम पाओगे, उसी डुबकी में से कोई चीज उभरने लगी। तुम्हारे भीतर एक नया प्रकाश आने लगा। बादल छंट गये, सूरज दिखाई पड़ने लगा। आत्मस्मरण हुआ।

विस्मरण की प्रक्रिया से होता है आत्मस्मरण। और ज्ञान की भी प्रक्रिया वही है। जो याद करने में लगे रहते हैं, वे भूल जाते हैं। जो जितनी ज्यादा याद करने की चेष्टा करते हैं उतनी ही भूल हो जाती है। जो भूल जाते, उन्हें याद आ जाता है।

यह धर्म की आधारशिला है--यह विरोधाभासी जीवन की प्रक्रिया। इसलिए धर्म के सारे सूत्र पैराडाक्सिकल, विरोधाभासी हैं। और धर्म में तुम तर्क मत खोजना, नहीं तो चूक हो जायेगी।

मुल्ला नसरुद्दीन एक दिन सुबह-सुबह अपने डाक्टर के घर गया, खांसता-खखारता भीतर प्रवेश किया। डाक्टर ने कहा: "आज तो खांसी कुछ ठीक मालूम होती है।" उसने कहा: "होगी क्यों नहीं, सात दिन से अभ्यास जो कर रहा हूं! ठीक मालूम क्यों न होगी? रात भर अभ्यास किया है।"

तुम जो अभ्यास कर रहे हो, तुम्हारे अभ्यास से तुम्हीं तो मजबूत होओगे न! रात भर अगर खांसी का अभ्यास किया है तो खांसी मजबूत हो गई। अगर तुमने आत्मस्मरण का अभ्यास किया तो तुम जिससे आत्मस्मरण का अर्थ लेते हो, वही तो मजबूत हो जायेगा। तुम्हारा तो अहंकार ही तुम समझते हो आत्मा है। तुम्हारा तो अज्ञान ही तुम समझते हो आत्मा है। वही और मजबूत हो कर बैठ गया। तो जितना तुम आत्मस्मरण का अभ्यास करने लगे, वस्तुतः उतना ही वास्तविक आत्मा का विस्मरण हो गया। तुम्हारा यह झूठा स्मरण हटे, यह झूठे का विस्मरण हो, तो सत्य का स्मरण हो जाये। झूठ हटे तो सत्य अपने से प्रगट हो जाये। सूरज तो मौजूद है, बादल हटने चाहिए। बादल हट गये कि सूरज प्रगट हो गया। सूरज को प्रगट थोड़े ही करना है, सूरज प्रगट ही है।

अष्टावक्र कहते हैं कि ज्ञान तो मनुष्य का स्वभाव है, इसलिए शास्त्र में कहां खोजता है! शास्त्र से अगर सीख लेगा कुछ तो पर्तें बन जायेंगी स्मृति की और उन्हीं के नीचे वह तेरा जो स्वाभाविक था वह दब जायेगा। स्वभाव को प्रगट होने दे। बाहर से मत ला, भीतर से आने दे।

ज्ञान, जिसको हम कहते हैं, वह तो बाहर से आता है। समझो कि मैं तुमसे कुछ कह रहा हूं या तुम अष्टावक्र की गीता ही पढ़ो, तो भी बाहर से कुछ आ रहा है। मैंने तुमसे कुछ कहा, बाहर से कुछ आया। इसे तुमने इकट्ठा कर लिया। यह तुम्हारा स्वभाव तो नहीं है। यह तो बाहर से आया, विजातीय है। यह विजातीय अगर बहुत इकट्ठा हो गया तो तुम्हारे भीतर जो पड़ा हुआ था उसके प्रगट होने में अड़चन हो जायेगी। यह बाधा बन जायेगा।

जैसे हम कुआं खोदते हैं तो पानी तो है ही, पानी थोड़े ही हमें लाना पड़ता है कहीं से। पानी तो जमीन के नीचे बह ही रहा है। उसके झरने भरे हैं। हम इतना ही करते हैं कि बीच की मिट्टी की पर्तों को अलग कर देते हैं, पानी प्रगट हो जाता है।

अष्टावक्र कहते हैं, ज्ञान तो स्वभाव है। उसके तो झरने तुम्हारे भीतर हैं ही। तुम बस जो बीच में मिट्टी की पर्तें जम गई हैं, उन्हें अलग कर दो। और मिट्टी की बड़ी से बड़ी पर्तें जम गई हैं ज्ञान के कारण। किसी की पर्त वेद से बनी, किसी की कुरान से, किसी कि बाइबिल से, किसी ने कहीं से सुन कर इकट्ठा किया, किसी ने कहीं से सुन कर इकट्ठा किया। बिना जाने तुमने सुन-सुन कर जो इकट्ठा कर लिया है, उसे भूलो।

तथापि न तव स्वास्थ्यं सर्वविस्मरणादृते।

"जब तक तू सब न भूल जाये तब तक तुझे स्वास्थ्य उपलब्ध न होगा।"

लेकिन हमारा तो शब्द पर बड़ा भरोसा है और हमें शब्द के माधुर्य में बड़ी प्रीति है। शब्द मधुर होते भी हैं। शब्द का भी संगीत है और शब्द का भी अपना रस है। इसलिए तो काव्य निर्मित होता है। इसलिए शब्द की जरा-सी ठीक व्यवस्था से संगीत-निर्माण हो जाता है। फिर शब्द में हमें रस है क्योंकि शब्द में बड़े तर्क छिपे हैं। और तर्क हमारे मन को बड़ी तृप्ति देता है। अंधेरे में हम भटकते हैं, वहां तर्क से हमें सहारा मिल जाता लगता है कि चलो कुछ नहीं जानते; लेकिन कुछ तो हिसाब बंधने लगा; कुछ तो बात पकड़ में आने लगी; एक धागा तो हाथ में आया, तो धीरे-धीरे इसी धागे के सहारे और भी पा लेंगे। और हमारा छपे हुए शब्द पर तो बड़ा ही आग्रह है।

एक मित्र मुझे मिलने आये। वे कहने लगे: "आपने जो बात कही, वह किस शास्त्र में लिखी है?" मैंने कहा: "किसी शास्त्र में लिखी हो तो सही हो जायेगी? सिर्फ लिखे होने से सही हो जायेगी? अगर सही है तो लिखी न हो शास्त्र में तो भी सही है और गलत है तो सभी शास्त्रों में लिखी हो तो गलत है। बात को सीधी क्यों नहीं तौलते?" वे कहने लगे: "वह तो ठीक है, लेकिन फिर भी आप यह बतलायें कि किस शास्त्र में लिखी है?" तो मैंने उसे कहा कि मुल्ला नसरुद्दीन की दुर्घटना हो गई, कार टकरा गई एक ट्रक से, बड़ी चोट लगी। अस्पताल में भर्ती हुआ। डाक्टर ने मरहम-पट्टी की और कहा कि "घबरा मत नसरुद्दीन, कल सुबह तक बिलकुल ठीक हो जाओगे। बड़े मियां, सुबह तशरीफ ले जाना।" लेकिन दूसरे दिन सुबह डाक्टर भागा हुआ अंदर आया और बोला कि बड़े मियां, रुको-रुको, कहां जा रहे हो? अभी-अभी अखबार में मैंने पढ़ा है कि आपका जबर्दस्त ऐक्सीडेन्ट हुआ है, मुझे दुबारा देखना पड़ेगा।

अखबार में जब पढ़ा तब बात और हो गई!

रामकृष्ण कहते थे कि उनका एक शिष्य था, वह सुबह अखबार पढ़ रहा था। उसकी पत्नी बोली: "क्या अखबार पढ़ रहे हो! अरे रात पड़ोस में आग लग गई!" उसने कहा: "अखबार में तो खबर ही नहीं है, बात झूठ होगी।" पड़ोस में आग लगी, मगर वह आदमी अखबार में देख रहा है!

हमें छपी बात पर बड़ा भरोसा है। इसलिए तो बात को छाप कर धोखा देने का उपाय बड़ा आसान है। इसलिए तो विज्ञापन इतना प्रभावी हो गया है दुनिया में। छपा हुआ विज्ञापन एकदम प्रभाव लाता है। बड़े-बड़े अक्षरों में लिखी हुई बात एकदम छाती में प्रवेश कर जाती है। बड़े अक्षर को इंकार कैसे करो! जब इतना छपा हुआ है तो ठीक ही होगा। छपी बात कहीं गलत होती है! और अगर बड़े-बड़े लोग, प्रतिष्ठा है जिनकी, साख है जिनकी, बात को कह रहे हों तब तो फिर गलत होती ही नहीं।

लेकिन सत्य का छपे होने से क्या संबंध है? शब्द से हमारा मोह थोड़ा क्षीण होना चाहिए। सत्य का संबंध शून्य से ज्यादा है, निःशब्द से ज्यादा है। परमात्मा की कोई भाषा तो नहीं, लेकिन सब दुनिया के धर्म दावा करते हैं। हिंदू कहते हैं: "संस्कृत देववाणी है। वह परमात्मा की भाषा है।" यहूदी कहते हैं: "हिब्रू परमात्मा की भाषा है।" मुसलमानों से पूछो तो कहेंगे: "अरबी।" जैनों से पूछो तो कहेंगे: "प्राकृत।" बौद्धों से पूछो तो कहेंगे: "पाली।"

दूसरे महायुद्ध में एक जर्मन और एक अंग्रेज जनरल की बात हो रही थी युद्ध के समाप्त हो जाने के बाद। वह जर्मन जनरल पूछ रहा था कि मामला क्या है, हम हारते क्यों चले गये? हमारे पास तुमसे बेहतर युद्ध की साधन-सामग्री है, ज्यादा वैज्ञानिक। तकनीकी दृष्टि से हम तुमसे ज्यादा विकसित हैं, तो फिर हम हारे क्यों?

तो उस अंग्रेज ने कहा: हार का कारण और है। हम युद्ध के पहले परमात्मा से प्रार्थना करते हैं।

जर्मन बोला: यह भी कोई बात हुई! प्रार्थना तो हम भी करते हैं।

वह अंग्रेज हंसने लगा। उसने कहा कि करते होओगे, लेकिन कभी सुना तुमने कि परमात्मा को जर्मन भाषा आती है? अंग्रेजी में की थी प्रार्थना?

हर भाषा का बोलने वाला सोचता है कि उसकी भाषा परमात्मा की भाषा है, देववाणी! इलहाम की भाषा!

कोई भाषा परमात्मा की नहीं है। सब भाषायें आदमी की हैं। परमात्मा की भाषा तो मौन है। तो परमात्मा-रचित कोई भी शास्त्र तो हो नहीं सकता। सब शास्त्र मनुष्य के रचित हैं। हिंदू कहते हैं, वेद अपौरुषेय हैं, पुरुष ने नहीं बनाये। मुसलमान कहते हैं, कुरान उतरी, बनाई नहीं गई। सीधी उतरी आकाश से! मुहम्मद ने झेली, यह बात और; मगर बनाई नहीं। इलहाम हुआ, वाणी का अवतरण हुआ।

इस तरह के दावे सभी करते हैं। इन दावों के पीछे एक आकांक्षा है कि अगर हम यह दावा कर दें कि हमारा शास्त्र परमात्मा का है तो लोग ज्यादा भरोसा करेंगे। परमात्मा का है तो भरोसे योग्य हो जायेगा। फिर ये सारे दावेदार स्वभावतः यह भी दावा करते हैं कि दूसरे का शास्त्र परमात्मा का नहीं है, क्योंकि अगर सभी शास्त्र परमात्मा के हैं तो फिर दावे का कोई मूल्य नहीं रह जाता। तो कुरान वेद के खंडन में लगा रहता है; वेद कुरान के खंडन में लगे रहते हैं। हिंदू मुसलमान से विवाद करते रहते हैं, ईसाई हिंदू से विवाद करते रहते हैं। यह विवाद चलता रहता है।

शास्त्र से विवाद पैदा हुआ है, सत्य तो पैदा नहीं हुआ। और शास्त्र से संघर्ष पैदा हुआ है, संप्रदाय पैदा हुए हैं, लोग बंटे और कटे और हिंसा और हत्या हुई है।

परमात्मा की भाषा मौन है। इसका यह अर्थ नहीं है कि शब्द कोई शैतान की भाषा है। इसका इतना ही अर्थ है कि सत्य तो तभी अनुभव होता है जब कोई मनुष्य परिपूर्ण मौन को उपलब्ध होता है। लेकिन जब मनुष्य कहना चाहता है तो उसे माध्यम का सहारा लेना पड़ता है। तब जो उसने जाना है, वह उसे शब्द में रखता है; बस रखने में ही अधिक तो समाप्त हो जाता है।

ऐसा ही समझो कि तुम गये समुद्र के तट पर और तुमने उगजे सूरज को देखा, फैली देखी लाली तुमने सारे सागर पर, पक्षियों के गीत, सुबह की ताजी हवा, मदमस्त तुम हो गये! तुमने चाहा कि घर आओ, अपनी पत्नी-बच्चों को भी यह खबर दो। तो तुमने एक कागज पर चित्र बनाया सूरज के उगने का, पानी की लहरों का, वृक्ष हवा में झुके-झुके जा रहे हैं! वह चित्र ले कर तुम घर आये। क्या तुम्हारा चित्र वही खबर लायेगा जो तुम्हें अनुभव हुआ था? तुम्हारा चित्र तो मर गया; यद्यपि तुम्हारा चित्र तुम्हारे अनुभव से पैदा हुआ, तुमने सागर देखा, सुबह का उगता सूरज देखा। लेकिन जैसे ही तुमने इस अनुभव को कागज पर उतारा, यह तो मुर्दा हो गया। या कि तुम एक संदूक में बंद करके ला सकते हो? सागर की हवा, सूरज की किरणें, एक संदूक में बंद कर लेना, घर ले आना ताला लगा कर--जब घर आ कर खोलोगे तो संदूक खाली मिलेगी। न तो ताजी हवा होगी और न धूप की किरणें होंगी।

अंधेरे को तो पालतू बना भी लो, धूप को तो बंद नहीं किया जाता। धूप तो बंद होते ही मर जाती है। सौंदर्य को कैसे बांध कर लाओगे? कविता लिखोगे? गीत बनाओगे?

अब हमारे पास और भी बेहतर साधन हैं, सुंदर से सुंदर और बहुमूल्य से बहुमूल्य कैमरा ले जा सकते हो। रंगीन चित्र ले आ सकते हो। फिर भी चित्र मरा हुआ होगा। चित्र में कोई प्राण तो न होंगे। वह जो सूरज वहां उगा था, बढ़ रहा था, उठा जा रहा था आकाश की तरफ...। तुम्हारे चित्र का सूरज तो रुका हुआ होगा, वह तो फिर बढ़ेगा नहीं। वह जो सूरज तुमने सागर पर देखा था, वह थोड़ी देर बाद दोपहर का सूरज हो जायेगा, थोड़ी देर बाद सांझ का हो जायेगा, डूबेगा, अस्त हो कर अंधेरे में खो जायेगा, विराट अंधकार छा जायेगा। तुम्हारा चित्र तो अटका रह गया। वह तो फिर दोपहर नहीं होगी, सांझ नहीं होगी, अंधेरा नहीं घिरेगा। तुम्हारा चित्र तो मरा हुआ है। वह तो एक क्षण की खबर है। जो तुमने देखा था, वह जीवंत था। उस जीवंत को तुमने सिकोड़ लिया एक मुर्दा फोटोग्राफ में और बंद कर लिया। वह एक क्षण की खबर है! वह वास्तविक नहीं।

तुम्हें कई बार यह अनुभव हुआ होगा--अनेक लोगों को अनुभव होता है। फोटोग्राफर आ कर तुम्हारा फोटो उतारता है और तुम कहते हो: नहीं, जंचता नहीं। अब फोटोग्राफ झूठा तो हो ही नहीं सकता, एक बात। क्योंकि कैमरे को कुछ तुमसे दुश्मनी नहीं है। कैमरा तो वही कहेगा जो था। फिर भी तुम कहते हो, मन भरता

नहीं; नहीं, यह मेरे चेहरे जैसा चेहरा लगता नहीं, बात क्या है? बात इतनी ही है कि तुमने अपने चेहरे को जब भी दर्पण में देखा है तो वह जीवित था। तुम्हारी जो भी याददाश्त है, वह जीवित चेहरे की है और यह फोटोग्राफ तो मरा हुआ है। इससे जीवित और मुर्दे में मेल नहीं बैठता।

जो शून्य में जाना है, जब शब्द में कहा जाता है तो बस इतना ही अंतर हो जाता है। अंतर बड़ा है। यद्यपि निश्चित ही यह चित्र तुम्हारा ही है, तुम्हारे ही चेहरे की खबर देता है, तुम्हारे ही नाक-नक्श की खबर देता है, किसी और का चित्र नहीं है; बिलकुल तुम्हारा है, फिर भी तुम्हारा नहीं है; क्योंकि तुम जीवित हो और यह चित्र मुर्दा है। तो शब्द भी ऐसे तो अनुभव से ही आते हैं, लेकिन शब्द के माध्यम से जब सत्य गुजरता है तो कुछ विकृत हो जाता है।

तुमने देखा, एक सीधे डंडे को पानी में डालो, पानी में जाते ही तिरछा मालूम होने लगता है। पानी का माध्यम, सूरज की किरणों का अलग ढंग से गुजरना, सीधा डंडा तिरछा मालूम होने लगता है पानी में। बाहर खींचो, सीधा का सीधा! फिर पानी में डालो, फिर तिरछा। वैज्ञानिक से पूछो। वह कहता है, किरणों के नियम से ऐसा होता है। किसी नियम से होता हो, लेकिन एक बात पक्की है कि सीधा डंडा पानी में डालने पर तिरछा दिखाई पड़ने लगता है, झुक जाता है।

सत्य को जैसे ही शब्द में डाला, तिरछा हो जाता है, सीधा नहीं रह जाता; हिंदू बन जाता, मुसलमान बन जाता, ईसाई बन जाता, जैन बन जाता, सत्य नहीं रह जाता है। सत्य को जैसे ही शब्द में डालो, संप्रदाय बन जाता है, सिद्धांत बन जाता है, सत्य नहीं रह जाता। और फिर उसको तुम याद कर लो तो अड़चन होती है।

शब्द भी परमात्मा के हैं, इससे कोई इंकार नहीं। शब्द भी उसी के हैं, क्योंकि सभी उसी का है। लेकिन फिर भी शब्द से जिसने परमात्मा की तरफ जाने की कोशिश की वह मुश्किल में पड़ेगा।

ऐसा ही समझो कि तुम राह से गुजर रहे हो, राह पर तुम्हारे पीछे तुम्हारी छाया बन रही है--छाया निश्चित ही तुम्हारी है; लेकिन अगर मैं तुम्हारी छाया को पकडूं तो तुम्हें कभी न पकड़ पाऊंगा। फिर भी मैं यह नहीं कह सकता कि छाया तुम्हारी नहीं है। छाया तुम्हारी ही है। तो भी छाया को पकड़ने से तुम्हें न पकड़ पाऊंगा। हां, उल्टी बात हो सकती है: तुम्हें पकड़ लूं तो तुम्हारी छाया पकड़ में आ जाये।

रामतीर्थ एक घर के सामने से निकलते थे और एक छोटा बच्चा--सर्दी की सुबह होगी, धूप निकली थी और धूप में धूप ले रहा था--उसको अपनी छाया दिखाई पड़ रही थी, उसको पकड़ने को वह बढ़ रहा था और पकड़ नहीं पा रहा था तो बैठ कर रो रहा था। उसकी मां उसे समझाने की कोशिश कर रही थी कि पागल...रामतीर्थ खड़े हो कर देखने लगे। लाहौर की घटना है। खड़े हो कर देखने लगे। देखा कि बच्चे की चेष्टा, मां का समझाना--लेकिन बच्चे की समझ में नहीं आ रहा है। आये अंदर आंगन में और उस बच्चे का हाथ पकड़ कर बच्चे के सिर पर रखवा दिया। जैसा ही बच्चे ने अपने सिर पर हाथ रखा, उसने देखा छाया में भी उसका हाथ सिर पर पड़ गया है। वह खिलखिला कर हंसने लगा। रामतीर्थ ने कहा: तेरे माध्यम से मुझे भी शिक्षा मिल गई। छाया को पकड़ो तो पकड़ में नहीं आती; मूल को पकड़ लो तो छाया पकड़ में आ जाती है। छाया को पकड़ने से मूल पकड़ में नहीं आता।

अगर निःशब्द समझ में आ जाये तो सब शब्द समझ में आ जाते हैं। अगर निःशब्द का अनुभव हो जाये तो सभी शास्त्रों की व्याख्या हो जाती है; सभी शास्त्र सत्य सिद्ध हो जाते हैं। लेकिन शास्त्र को पकड़ने से मूल की पकड़ नहीं आती।

शब्द तुमने रचे
जैसे मेंहदी रची
जैसे बैंदी रखी
शब्द तुमने रचे
प्रेम अक्षर थे ये दो अनर्थ के

अर्थ तुमने दिया
मैं, यह जो ध्वनि थी
अंध बर्बर गुफाओं की
अपने को भर कर
उसे नूतन अस्तित्व दिया
बाहों के घेरे
ज्यों मंडप के फेरे
ममता के स्वर
जैसे वेदी के मंत्र
गुंजरित मुंह अंधेरे
शब्द तुमने रचे
जैसे प्रलयंकर लहरों पर
अक्षयवट का एक पत्ता बचे
शब्द तुमने रचे।
शब्द भी आते तो उसी मूल स्रोत से हैं जहां से मौन आता है।
शब्द तुमने रचे

वे भी प्रभु के हैं। शास्त्र भी उसके हैं। लेकिन ध्यान रहे, शास्त्र से उसकी तरफ जाने का मार्ग नहीं है। उसकी तरफ से आओ तो शास्त्र को समझने की सुविधा है।

इसलिए मैं एक बात तुमसे कहना चाहूंगा: शास्त्र को पढ़ कर किसी ने कभी सत्य नहीं जाना; लेकिन जिसने सत्य जाना उसने सब शास्त्र जान लिए। शास्त्र को पढ़ने का मजा सत्य को जानने के बाद है, यह तुम्हें अनूठा लगेगा। क्योंकि तुम कहोगे, फिर पढ़ने का सार क्या! लेकिन मैं तुमसे फिर कहता हूं, शास्त्र को पढ़ने का मजा सत्य को जानने के बाद है। एक बार तुमने सत्य को जान लिया, थोड़ा स्वाद मिल गया; फिर तुम्हें जगह-जगह उसकी ही झलक मिलेगी। फिर छाया पकड़ में आने लगेगी। फिर तुम पढ़ो गीता को, पढ़ो कुरान को, पढ़ो धम्मपद को--अचानक तुम पाओगे: "अरे, वही! ठीक!" तुम्हारे प्राणों से अचानक स्वीकार का भाव उठेगा कि ठीक यही, यही तो मैंने भी जाना! सब शास्त्र तुम्हारे गवाही हो जायेंगे। शास्त्र साक्षी हैं।

और जिन महामुनियों ने शास्त्रों को रचा, उन्होंने इसलिए नहीं रचा है कि तुम कंठस्थ करके ज्ञानी हो जाओ। उन्होंने इसलिए रचा है कि जब तुम्हें स्वाद लगे तब तुम्हें गवाहियां मिल जायें। तुम अकेले न रहो रास्ते पर। ऐसा न हो कि तुम घबरा जाओ कि यह क्या हो रहा है! यह किसी को हुआ पहले कि नहीं हुआ? जो मुझे हो रहा है, वह कल्पना तो नहीं है? जो मुझे हो रहा है, वह कोई मन का जाल ही तो नहीं है? जो मुझे हो रहा है, वह मैं ठीक रास्ते पर चल रहा हूं या भटक गया हूं?

शास्त्र तुम्हारी गवाहियां हैं। जब तुम अनुभव करने लगोगे तो शास्त्र तुम्हें सहारा देने लगेंगे। और शास्त्र तुम्हें हिम्मत देंगे, पीठ थपथपायेंगे कि तुम ठीक हो, ठीक रास्ते पर हो, ऐसा ही हुआ है, ऐसा ही सदा होता रहा है--और आगे बढ़े चलो! जैसे-जैसे तुम आगे बढ़ोगे सत्य की तरफ, वैसे-वैसे तुम्हें शब्द में भी उसी की छाया और झलक मिलने लगेगी।

ऐसा समझो, अगर मैं तुम्हें जानता हूं तो तुम्हारे फोटोग्राफ को भी पहचान लूंगा। इससे उल्टी बात जरूरी नहीं है। तुम्हारे फोटोग्राफ को पहचानने से तुम्हें जान लूंगा, यह पक्का नहीं है। क्योंकि फोटोग्राफ तो थिर है। तुम्हारे बचपन का चित्र आज तुम्हारे चेहरे से कोई संबंध नहीं रखता। तुम तो जा चुके आगे, बढ़ चुके आगे। और एक ही आदमी के चित्र अलग-अलग ढंग से लिए जायें, अलग-अलग कोण से लिए जायें, तो ऐसा मालूम होने लगता है कि अनेक आदमियों के चित्र हैं।

ऐसा हुआ, स्टेलिन के जमाने की घटना है। एक आदमी ने चोरी की और उसके दस चित्र--उसी एक आदमी के दस चित्र-- एक बांये से, एक दांये से, एक पीछे से, एक सामने से, एक इधर से, एक उधर से, दस चित्र उसके भेजे गये पुलिस स्टेशन में कि इस आदमी का पता लगाओ। सात दिन बाद जब पूछताछ की गई कि पता लगा? तो उन्होंने कहा कि दसों आदमी बंद कर लिए गये। दसों! वे एक आदमी के चित्र थे। उन्होंने कहा कि अब बहुत देर हो चुकी, क्योंकि दसों ने स्वीकार भी कर लिया है अपराध। तो रूस की तो हालत ऐसी है कि जो चाहो स्वीकार करवा लो। अब तो देर हो चुकी है, उन्होंने कहा, कि वे दस स्वीकार भी कर चुके, दस्तखत भी कर चुके कि हां, उन्होंने ही चोरी की है। दस आदमी पकड़ लिए एक आदमी के चित्र से! यह संभव है। इसमें अड़चन नहीं है।

तुम्हीं कभी अपने अलबम को उठा कर देखो। अगर गौर से देखोगे तो तुम्हीं कहोगे, तुम कितने बदलते जा रहे हो! कितने बदलते जा रहे हो! दो-चार-दस साल के बाद तुम्हें मित्र मिल जाता है तो पहचान में नहीं आता।

मुल्ला नसरुद्दीन एक पुल पर से गुजर रहा था। उसने सामने एक आदमी को देखा। जा कर जोर से उसकी पीठ पर धप्पा मारा और कहा: "अरे प्यारे, बहुत दिन बाद दिखे, कई साल बाद दिखे!" वह आदमी बहुत चौंका भी, गिरते-गिरते बचा भी। यह कौन प्रेमी मिल गया! उसने लौट कर देखा, कुछ पहचान में भी नहीं आया। तो उसने कहा कि क्षमा करिए, शायद आप किसी और आदमी के धोखे में हैं।

"अरे", मुल्ला ने कहा, "तुम मुझे मत चराओ! हालांकि यह मैं देख रहा हूं कि तुम बड़े मोटेत्तगड़े थे, एकदम दुबले हो गये। इतना ही नहीं, तुम छः फीट लंबे थे, एकदम पांच फीट के हो गये! मगर तुम मुझे धोखा न दे सकोगे। तुम वही हो न अब्दुल रहमान?"

उस आदमी ने कहा: "क्षमा करिए, मेरा नाम फरीद है।" उसने कहा: "हद हो गई, नाम भी बदल लिया! मगर तुम मुझे धोखा न दे सकोगे।"

दस साल के बाद मित्र को भी पहचानना मुश्किल हो जाता है। दस साल के बाद अपने बेटे को भी पहचानना मुश्किल हो जाता है। दस साल अगर देखो न...। रोज-रोज देखते रहते हो, इसलिए आसानी है; क्योंकि रोज-रोज धीरे-धीरे परिवर्तन होता रहता है और तुम धीरे-धीरे परिवर्तन से राजी होते जाते हो।

नहीं, चित्र से पता लगाना संभव नहीं। हां, असली आदमी पता हो तो चित्रों में उसकी झलक तुम खोज ले सकते हो। असली से छाया का सदा पता मिल जाता है।

इस सूत्र का इतना ही अर्थ है कि तुम शब्दों में मत खो जाना, निःशब्द की तलाश करना। और निःशब्द की तलाश करना हो तो शास्त्र को, सिद्धांत को, फिलासफी को विस्मरण करना।

"हे विज्ञ, भोग, कर्म अथवा समाधि को भला साधे, तो भी तेरा चित्त उस स्वभाव के लिए जिसमें सब आशायें लय होती हैं, अत्यंत लोभायमान रहेगा।"

यह सूत्र बड़ा बहुमूल्य है। अष्टावक्र कहते हैं कि तू चाहे शास्त्र को पढ़ कर कितना ही ज्ञानी हो जा, विज्ञ बन जा, महाज्ञानी हो जा; तू शास्त्र को पढ़ कर कितना ही भोग कर ले, कर्म कर ले; इतना ही नहीं, समाधि को भी साध ले शास्त्र को पढ़ कर--तो भी तू पायेगा कि तेरे भीतर स्वास्थ्य को पाने की आकांक्षा अभी बुझी नहीं; स्वयं होने की आकांक्षा अभी प्रज्वलित है। क्योंकि समाधि को भी तू पा ले शास्त्र को पढ़ कर, सम्हाल ले अपने को, शांत भी बना ले, जर्बदस्ती ठोकपीट कर बैठ जा बुद्ध की तरह आसन में; शरीर को, मन को समझा-बुझा कर, बांध-बांध कर व्यवस्था में, अनुशासन में किसी तरह चुप भी कर ले--तो भी तू स्वस्थ न हो पायेगा।

भोगं कर्म समाधिं वा कुरु विज्ञ तथापि ते।

चाहे तू भोग कर, कर्म कर, चाहे तू समाधि को साध ले, शास्त्रीय ज्ञान के आधार पर...।

चित्तं निरस्तसर्वाशमत्यर्थं रोचयिष्यति।

फिर भी तेरे भीतर तू जानता ही रहेगा कि अभी मूल से मिलन नहीं हुआ; कुछ चूका-चूका है; कुछ खाली-खाली है।

इसलिए पतंजलि भी समाधि के दो विभाग करते हैं। एक को कहते हैं: सविकल्प समाधि। सविकल्प समाधि ऐसी है कि अभी स्मरण समाप्त नहीं हुआ; शास्त्र अभी पुंछे नहीं। मन शांत हो गया है। तुलनात्मक ढंग से मन अब पहले जैसा अशांत नहीं है। घर के करीब आ गये हैं। शायद सीढ़ी पर खड़े हैं। लेकिन अभी भी द्वार के बाहर हैं। सविकल्प समाधि का अर्थ है: अभी विचार शेष है; विकल्प मौजूद है। अभी शास्त्र से छुटकारा नहीं हुआ। अभी सिद्धांतों की जकड़ है। अभी हिंदू हिंदू है, मुसलमान मुसलमान है। अभी ब्राह्मण ब्राह्मण है। शूद्र शूद्र है। अभी मान्यताओं का घेरा उखड़ा नहीं। तो पतंजलि भी कहते हैं, जब तक निर्विकल्प समाधि न हो जाये, विचार-शून्यता न आ जाये, सब न खो जाये, आत्यंतिक रूप से सारे विचार विदा न हो जायें, तब तक अंतर्गृह में प्रवेश न होगा।

इसे समझो! आदमी चेष्टा करके बहुत कुछ साध सकता है। धोखे देने के बड़े उपाय हैं। समझो, ब्रह्मचर्य साधना है, उपवास करने लगो। धीरे-धीरे भोजन कम होगा शरीर में, वीर्य-ऊर्जा कम पैदा होगी। वीर्य-ऊर्जा कम पैदा होगी, वासना कम मालूम पड़ेगी। मगर यह तुम धोखा दे रहे हो। यह वास्तविक ब्रह्मचर्य न हुआ। स्त्रियों से दूर हट जाओ, जंगल में चले जाओ, उपवास करो, रूखा-सूखा भोजन करो, पुष्ट भोजन न लो, शरीर में ऊर्जा न बने, शक्ति न बने, स्त्रियों से दूर रहे, कोई स्मरण न आये, कोई दिखाई न पड़े, कोई उत्तेजना न मिले--थोड़े दिन में तुम्हें लगेगा कि ब्रह्मचर्य सध गया। वह ब्रह्मचर्य नहीं है। फिर भोजन करो, फिर लौट आओ बाजार में--अचानक ऊर्जा पैदा होगी, फिर स्त्री दिखाई पड़ेगी, फिर वासना पैदा हो जायेगी।

यह तो ऐसे ही हुआ जैसे कि सूखे दिनों में, गर्मी के दिनों में नदी का पानी सूख जाता है, सिर्फ पाट पड़ा रह जाता है--सूखा पाट, रेत ही रेत! फिर वर्षा होगी, फिर पानी भरेगा, फिर नदी पूर से आ जायेगी। गर्मी की नदी को देख कर यह मत सोच लेना कि नदी मिट गई। इतना ही जानना कि पानी सूख गया। वर्षा होगी, फिर पानी भर जायेगा।

इसलिए तुम्हारे साधु-संन्यासी डरे-डरे भोजन करते हैं। एक बार भोजन करते हैं। उसमें भी नियम बांधते--यह न खायेंगे, वह न खायेंगे; यह न पीयेंगे, वह न पीयेंगे। रूखा-सूखा, ताकि किसी तरह शरीर में ऊर्जा पैदा न हो। ऊर्जा पैदा होती है तो अनिवार्य रूप से शारीरिक-प्रक्रिया से वीर्य निर्मित होता है। वीर्य निर्मित होता है तो भीतर वासना पैदा होती है। फिर तुम्हारा संन्यासी भागा-भागा फिरता है, छिपा-छिपा रहता है। आंखें नीची रखता है--स्त्री दिखाई न पड़ जाये, कहीं सौंदर्य का पता न चल जाये। यह डर, यह भय, यह भोजन की कमी, यह एक जगह रहना, छिप कर रहना, दूर रहना समाज से--ये सब नदी को सुखा तो देते हैं, मिटाते नहीं।

तुम्हारे संन्यासी को कहो कि एक महीने भर के लिए ठीक से भोजन करो, ठीक से विश्राम करो, ठीक से सोओ, आ कर समाज में रहो--फिर देखेंगे! वर्षा होगी नदी में, फिर पूर आ जायेगा! यह कोई ब्रह्मचर्य न हुआ, यह ब्रह्मचर्य का धोखा हुआ। यह शास्त्र के आधार पर ब्रह्मचर्य हुआ, सत्य के अनुभव पर नहीं। सत्य का अनुभव बड़ा और है। तब कोई इस तरह के आयोजन नहीं करने पड़ते हैं। तुम्हारा बोध ही इतना प्रगाढ़ हो जाता है कि उस बोध के प्रकाश में वासना क्षीण हो जाती है। फिर स्त्री से दूर रहो कि पास, कोई फर्क नहीं पड़ता है। फिर यह भोजन करो कि वह भोजन करो, कोई फर्क नहीं पड़ता।

लेकिन घबराहट बनी रहती है। महात्मा गांधी भैंस का दूध नहीं पी सकते थे। घबराहट थी ब्रह्मचर्य खंडित हो जाने की। फिर तो गाय से भी डरने लगे। फिर तो बकरी का दूध पीने लगे। फिर तो बकरी को साथ ले कर चलने लगे। कारण--बकरी के दूध में वीर्य को उत्पन्न करने की क्षमता बहुत कम है, न के बराबर है। मगर यह कोई बात हुई? यह तो कोई बात न हुई। यह तो भय हुआ। और इस भांति जो ब्रह्मचर्य ऊपर से थोप भी लिया, वह भीतर से तो नहीं आ जायेगा। भीतर तो मौजूद रहेंगे बीज; वर्षा हो जायेगी, फिर अंकुरित होने लगेंगे।

इसी तरह तुम ध्यान भी कर सकते हो। अष्टावक्र कहते हैं, समाधि भी साध लो। समाधि साधने के कई ऊपरी उपाय हैं। जैसे प्राणायाम को अगर कोई ठीक से साधे और धीरे-धीरे श्वास पर नियंत्रण कर ले और श्वास को रोकना सीख जाये तो श्वास के रुकते ही विचार भी रुक जाते हैं, क्योंकि बिना श्वास के विचार तो चल ही नहीं सकते। अब यह झूठी तरकीब है। तुम बैठ गये श्वास को रोक कर तो जितनी देर श्वास रुकी रहेगी, उतनी देर विचार भी रुक जायेंगे। क्योंकि श्वास रुक गई तो मन, शरीर दोनों ही निर्जीववत पड़े रह जाते हैं। लेकिन कब तक श्वास को रोके रहोगे? श्वास लौटेगी, लेनी पड़ेगी। जैसे ही श्वास को लोगे, फिर सारे विचार पुनरुज्जीवित हो जायेंगे। तो आदमी श्वास लेने से डरने लगेगा। यह भी सच है कि इस भांति से एक तरह की शांति भी आ जायेगी; जब विचार नहीं होंगे तो शांति आ जायेगी। लेकिन यह शांति जड़ता की होगी।

इसलिए जिन्होंने जाना है, उन्होंने समाधि के दो रूप कहे। एक रूप को "जड़ समाधि" कहा है। "जड़ समाधि" का अर्थ होता है जो समाधि है नहीं, सिर्फ जड़ता है। और जड़ता के कारण समाधि मालूम पड़ती है।

तुमने देखा, मूढ़ व्यक्ति चिंतित नहीं होता! चिंता होने के लिए भी तो खोपड़ी में कुछ बुद्धि होनी चाहिए न! मूढ़ हैं तो कोई चिंता का सवाल ही नहीं है। तो मूढ़ बैठा रहता है। दुनिया में कुछ भी होता रहे, उसे कोई चिंता नहीं है। घर में आग लग जाये तो वह शांति से बैठा हुआ है। देखो उनकी निर्विकल्प समाधि! उनको कोई विकल्प ही नहीं उठ रहा है।

मगर मूढ़ता समाधि नहीं है, जड़ता समाधि नहीं है। तुम अनेक साधु-संन्यासियों की आंखों में जड़ता पाओगे, चैतन्य का प्रकाश नहीं, आंखों में विभा नहीं; एक तरह की सुस्ती पाओगे, एक तरह की उदासी पाओगे। उन्होंने जीवन-धारा को क्षीण कर लिया है। श्वास कम ले रहे हैं। या श्वास पर नियंत्रण कर लिया है।

शरीर के ऐसे आसन हैं जिन आसनों को ठीक से साधने पर विचार की प्रक्रिया मंद हो जाती है।

तुमने देखा, जब कभी तुम उलझ जाते हो तो सिर खुजलाने लगते हो। एक विशेष मुद्रा में चिंता प्रगट होती है।

एक बहुत बड़े वकील को आदत थी कि जब वह उलझ जाता तो अपने कोट का बटन घुमाने लगता अदालत में विवाद करते वक्त। विरोधी इसको देखते रहे। एक बड़ा मामला था प्रीवी कौंसिल में। जयपुर स्टेट का कोई मुकदमा था। तो विरोधी ने तरकीब की। मिला लिया वकील के शोफर को और उससे कहा कि जब गाड़ी में कोट रखा हो तो तू ऊपर का बटन तोड़ देना, फिर हम निपट लेंगे।

वकील तो अपना कोट ले कर अंदर आ गये, कोट पहन कर अपना काम शुरू कर दिया। जब उलझन का मौका आया और उन्होंने बटन पर हाथ रखा, अचानक सब विचार बंद हो गये; पाया कि बटन नहीं है, घबरा गये! वह धक्का ऐसा लगा--पुरानी आदत, सदा की आदत--एकदम विचार रुक गये!

तुमने देखा, चिंतित हो जाते हो, सिगरेट पीने लगते हो! राहत मिलती है, धुआं बाहर-भीतर करने लगे। पुरानी आदत है। उससे राहत मिलने का संबंध हो गया है। कम से कम मन दूसरी जगह उलझ गया। चिंतित आदमी से कहो, सिगरेट मत पीओ, सिगरेट पीना छोड़ दो--वह बड़ी मुश्किल में पड़ जाता है। क्योंकि सिगरेट पीना तो छोड़ दे, लेकिन जब चिंता पकड़ती है तब क्या करे!

शरीर और मन जुड़े हैं। तो योग में बहुत-सी प्रक्रियाएं खोजी गई हैं कि विशेष आसन में बैठने से मन में विचार कम हो जाते हैं।

तुम देखो, अगर तुम लेट कर पुस्तक पढ़ो तो तुम्हें याद न रहेगी, क्योंकि लेट कर पढ़ने से जब तुम लेट कर पढ़ते हो तो खून की धारा मस्तिष्क में तीव्र होती है, तो जो भी स्मृति बनती है वह पुंछ जाती है। इसलिए लेट कर पढ़ने वाला याद नहीं कर पायेगा, भूल-भूल जायेगा। बैठ कर पढ़ोगे, ज्यादा याद रहेगा। अगर रीढ़ बिलकुल सीधी रख कर बैठ कर पढ़ा तो ज्यादा याद रहेगा, बहुत ज्यादा याद रहेगा।

इसलिए जब भी तुम्हें कोई चीज याद रखनी होती है, तुम्हारी रीढ़ तत्क्षण सीधी हो जाती है। अनजाने! अगर कोई महत्वपूर्ण बात कही जा रही है, तुम रीढ़ सीधी करके सुनते हो। कोई साधारण बात कही जाती है,

तुम फिर अपनी कुर्सी से टिक गये कि ठीक है। रही याद तो ठीक, न रही याद तो ठीक। महत्वपूर्ण बात को तुम अचानक रीढ़ सीधी करके सुनते हो, क्योंकि शरीर की विशेष स्थितियों में मन की विशेष दशायें निर्मित होती हैं।

तो योग ने बड़ी प्रक्रियायें खोजीं। एक विशेष आसन में बैठ जाओ, पद्मासन में, तो शरीर की विद्युत धारा वर्तुलाकार घूमने लगती है। रीढ़ बिलकुल सीधी हो तो शरीर पर गुरुत्वाकर्षण का प्रभाव कम हो जाता है। श्वास बिलकुल शांत और धीमी हो तो विचार क्षीण हो जाते हैं। आंख नाक के नासाग्र पर अटकी हो तो आस-पास से कोई चीज विघ्न नहीं देती। कोई गुजरे, निकले--कुछ पता नहीं चलता। ऐसी दशा का अगर निरंतर अभ्यास किया जाये तो धीरे-धीरे तुम पाओगे, एक तरह की जड़ समाधि पैदा हो गई। शरीर के माध्यम से तुमने मन पर एक तरह का कब्जा कर लिया। बाहर से तुमने भीतर को दबा दिया।

अष्टावक्र कहते हैं: यह सच्ची समाधि नहीं है। यह चेष्टा से पैदा हुई समाधि है।

भोगं कर्म समाधिं वा कुरु विज्ञ तथापि ते।

तू चाहे भोग कर, चाहे कर्म कर, चाहे समाधि लगा...।

चित्तं निरस्तसर्वाशमत्यर्थं रोचयिष्यति।

फिर भी तेरे गहन चित्त में एक बात बनी ही रहेगी कि जो मिलना चाहिए अभी मिला नहीं। ऊपर-ऊपर सब शांत हो जाये, भीतर-भीतर आग का दावानल बहेगा। ऊपर-ऊपर सब मौन मालूम होने लगे, भीतर ज्वालामुखी जलेगा। उस स्वभाव के लिए मन में बार-बार तरंग उठेगी, जिसमें सब आशायें लय हो जाती हैं।

यह समाधि भी एक वासना ही है, जो जबर्दस्ती साध ली गई। यह चेष्टा से जो आ गई है, यह वास्तविक नहीं है। इससे कुछ हल न होगा।

अब सुनना आगे का सूत्र! एक के बाद एक सूत्र और अदभुत होता जाता है!

"प्रयास से सब लोग दुखी हैं!"

सुना तुमने कभी किसी शास्त्र को यह कहते?

"प्रयास से सब लोग दुखी हैं, इसको कोई नहीं जानता! इसी उपदेश से भाग्यवान निर्वाण को प्राप्त होते हैं।"

"प्रयास से सब लोग दुखी हैं!"

तुम्हारी चेष्टा के कारण तुम दुखी हो। इसलिए तुम्हारी चेष्टा से तो तुम कभी सुखी न हो सकोगे। तुम्हारी चेष्टा यानी तुम्हारा अहंकार। तुम्हारी चेष्टा यानी तुम्हारा यह दावा कि मैं यह करके दिखा दूंगा, धन कमा लूंगा, पद कमा लूंगा, समाधि लगा लूंगा, परमात्मा को भी मुट्ठी में ले कर दिखा दूंगा! तुम्हारी चेष्टा यानी तुम्हारी अहंकार की घोषणा कि मैं कर्ता हूं!

आयासत्सकलो दःुखी नैनं जानाति कश्चन।

आयास से, प्रयास से, चेष्टा से दुख पैदा हो रहा है--इसे बहुत...शायद ही कोई विरला जानता हो। जो जान लेता है वह धन्यभागी है।

अनेनैवोपदेशेन धन्यः।

जो ऐसा जान ले, इस उपदेश को पहचान ले, वह धन्यभागी है, वह भाग्यशाली है। क्योंकि निर्वाण उसका है। फिर उसे कोई निर्वाण से रोक नहीं सकता।

इसका अर्थ समझो।

निर्वाण का अर्थ है: सहज समाधि। निर्वाण का अर्थ है: जो समाधि अपने से लग जाये, तुम्हारे लगाने से नहीं; जो प्रसाद-रूप मिले, प्रयास-रूप नहीं। तुम जो भी कमा लाओगे वह तुमसे छोटा होगा। कृत्य कर्ता से बड़ा नहीं हो सकता। तुमने अगर कविता लिखी तो तुमसे छोटी होगी; कविता कवि से बड़ी नहीं हो सकती। और तुमने अगर चित्र बनाया है तो तुमसे छोटा होगा; चित्र चित्रकार से बड़ा नहीं हो सकता। तुम अगर नाचे तो तुम्हारा नृत्य तुम्हारी सीमा से छोटा होगा, क्योंकि नृत्य नर्तक से बड़ा नहीं हो सकता। तो तुम्हारी समाधि,

तुम्हारी ही समाधि होगी, विराट नहीं हो सकती। तुम क्षुद्र हो, तुम्हारी समाधि तुमसे भी ज्यादा क्षुद्र होगी। विराट को बुलाना हो तो चेष्टा से नहीं, समर्पण से; प्रयास से नहीं, सब उसके, अनंत के चरणों में छोड़ देने से।

अष्टावक्र का मार्ग संकल्प का मार्ग नहीं है। इसलिए महावीर, पतंजलि को जो लोग जानते हैं, वे अष्टावक्र को न समझ पायेंगे। अष्टावक्र का मार्ग है समर्पण का। अष्टावक्र कहते हैं: तुम जरा कर्ता न रहो तो परमात्मा अभी कर दे। तुम जरा हटो तो परमात्मा अभी कर दे। तुम बीच-बीच में न आओ तो अभी हो जाये। तुम्हारे आने से बाधा पड़ रही है।

तुम्हारी चेष्टा तुम्हें तनाव से भर देती है, अशांत कर देती है। स्वीकार कर लो; जो है, उसे वैसा ही स्वीकार कर लो। तुम समस्त के साथ संघर्ष न करो; बहने लगो इस धार में। और नदी जहां ले जाये, वहीं चल पड़ो। नदी से विपरीत मत तैरो। उल्टे जाने की चेष्टा मत करो। उसी उल्टे जाने में अशांति पैदा होती है। उसी लड़ने में तुम हारते, पराजित होते, विषाद उत्पन्न होता है और चित्त में संताप घिरता है।

"प्रयास से सब लोग दुखी हैं, इसको कोई नहीं जानता। इसी उपदेश से भाग्यवान निर्वाण को प्राप्त होते हैं।"

आयासात् सकला दुःखी!

सब दुखी हैं प्रयास के कारण। यह बड़ी अनूठी बात है। तुम तो सोचते हो, हम प्रयास पूरा नहीं कर रहे हैं, इसलिए दुखी हैं; चेष्टा पूरी नहीं हो रही, नहीं तो सफल हो जाते। जो पूरी चेष्टा करते हैं, वे सफल हो जाते हैं। जो दौड़ते हैं, वे पहुंच जाते हैं।

अष्टावक्र कह रहे हैं: आयासात् सकला दुःखी। सब दुखी हैं प्रयास के कारण। दौड़े कि भटके। रुक जाओ तो पहुंच जाओ।

लाओत्सु से यह वचन मेल खाता है। अष्टावक्र और लाओत्सु की प्रक्रिया बिलकुल एक है। लाओत्सु कहता है: लड़े कि हारे। हार जाओ कि जीत गये। जो हारने को राजी है, उसे फिर कोई हरा न सकेगा। तुम्हें लोग हरा पाते हैं क्योंकि तुम जीतने को आतुर हो। तो संघर्ष पैदा होता है।

एनं कश्चन न जानाति!

इस महत्वपूर्ण सूत्र को कोई भी जानता हुआ नहीं मालूम पड़ता।

अनेन एव उपदेशेन धन्य निवृत्तिम्!

और इसे जान ले, वह धन्यभागी है। वह निवृत्त हो गया। उसे प्राप्ति हो जाती है।

तुमने मलूकदास का वचन सुना होगा:

अजगर करे न चाकरी पंछी करे न काम।

दास मलूका कह गये सबके दाता राम।।

वह पूरी व्याख्या है अष्टावक्र की महागीता की। वह महासूत्र है।

प्र्रभु सब कर रहा है। तुम सिर्फ उसे करने दो, बाधा न दो। परमात्मा चल ही रहा है, तुम्हारे अलग चलने से कुछ भी होने वाला नहीं। यह धारा बही जा रही है। तुम इसके साथ लीन हो जाओ, तुम तैरो भी मत।

इसके आगे का सूत्र तुम्हें और भी घबड़ायेगा--

"जो आंख के ढंकने और खोलने के व्यापार से दुखी होता है, उस आलसी शिरोमणि का ही सुख है, दूसरे किसी का नहीं।"

अजगर करे न चाकरी पंछी करे न काम।

दास मलूका कह गये सबके दाता राम।।

अष्टावक्र कहते हैं: जो आंख के पलक झपने में भी सोचता है कौन पंचायत करे; जो इतना कर्ता-भाव भी नहीं लेता है कि अपनी आंख भी झपकूं, वह भी परमात्मा पर ही छोड़ देता है कि तेरी मर्जी तो खोल, तेरी मर्जी तो न खोल; जो अपना सारा कर्तृत्व-भाव समर्पित कर देता है...।

व्यापारेखिद्यते यस्तु निमेषोत्मेषयोरपि।

तस्य आलस्य धुरीणस्य सुखं...।।

उसका ही सुख है--उस धुरीण का, जो आलस्य में आत्यंतिक है।

अभी पश्चिम में एक किताब छपी है। उस किताब के लिखने वाले को अष्टावक्र की गीता का कोई पता नहीं, अन्यथा वह बड़ा प्रसन्न होता। लेकिन किताब जिसने लिखी है, अनुभव से लिखी है। किताब का नाम है: "ए लेज़ी मैन्स गाइड टू एनलाइटेनमेन्ट।" आलसियों के लिए मार्गदर्शिका निर्वाण की! उसे कुछ पता नहीं है अष्टावक्र का, लेकिन उसकी अनुभूति भी करीब-करीब वही है।

अष्टावक्र कहते हैं: जो आंख ढंकने और खोलने के व्यापार में भी पंचायत अनुभव करता है कि कौन करे, मैं हूं कौन करने वाला...!

और तुम जरा गौर करो, तुम आंख झपते हो? यह तुम्हारा कृत्य है? आंख अपने से झपक रही है। अगर तुम्हें झपकनी और खोलनी पड़े, बुरी तरह थक जाओ, दिन भर में थक जाओ, करोड़ों बार झपकती है। यह तो अपने से हो रहा है। एक मक्खी आंख की तरफ भागी आती है तो तुम झपते थोड़े ही हो, झपक जाती है। क्योंकि अगर तुम झपो तो देर लग जाये, उतनी देर में तो मक्खी टकरा जाये। इसको तो वैज्ञानिक कहता है: रिफ्लैक्स है। यह अपने से हो रहा है। वैज्ञानिक इसको रिफ्लैक्स कहता है। यह अपने से हो रहा है। यह तुम कर नहीं रहे हो। धार्मिक इसको कहता है: प्रभु कर रहा है।

श्वास तुम थोड़े ही ले रहे हो, चल रही है। इसलिए तो तुम सो जाते हो, तब भी चलती रहती है; नहीं तो किसी दिन भूल गये नींद में तो बस...सुबह फिर न उठे। यह तुम पर छोड़ा ही नहीं है। तुम बेहोश भी पड़े रहो तो भी श्वास चलती रहती है, प्रभु लेता रहता है।

जीवन का जो भी महत्वपूर्ण है, तुम पर कहां छोड़ा है! जन्म तुमसे पूछा था कि लेना चाहते हो? जवानी तुमसे पूछी थी कि अब जवान होने की इच्छा है या नहीं? जन्म हुआ, बचपन हुआ, जवानी आई, हजार-हजार वासनाएं उठीं--तुमसे किसी ने पूछा नहीं कि चाहते भी हो कि नहीं? सब हुआ। बुढ़ापा आ गया, मौत आने लगी, मौत भी आ जायेगी। सब हो रहा है। इस होने में काश तुम अपने को बीच में न डालो तो कैसी अपूर्व शांति न फल जाये! इस होने में तुम कर्ता बनते हो, इससे अशांत हो जाते हो। तुम जितना ही सोचते हो, मुझे करना है, उतनी उलझन बढ़ती है, क्योंकि करने को इतना है!

अब तुम जरा सोचो, तुम भोजन कर लेते हो, फिर अगर तुम्हें पचाना भी हो...। गले के नीचे उतरा कि तुम भूले। और जिसको नहीं भूलता उसका पेट खराब हो जाता है। तुम एक दिन प्रयोग करके देखो, चौबीस घंटे कोशिश करो। भोजन कर लिया, अब याद रखो कि पच रहा है कि नहीं, पक्वाशय में पहुंचा कि आमाशय में पहुंचा कि कहां गया, क्या हो रहा है भीतर! जरा खयाल रखो, पगला जाओगे और पेट खराब हो जायेगा अलग। दूसरे दिन तुम पाओगे गड़बड़ी हो गई, डायरिया हो गया कि कब्जियत हो गई, कि पेट में दर्द उठ आया।

तुम तो जान कर हैरान होओगे कि जब आदमी मर जाता है, तब भी पेट पचाने का काम चौबीस घंटे तक करता रहता है। चौबीस घंटे का मौका मान कर चलता है कि शायद लौट आये, क्या पता! चौबीस घंटा पेट का काम जारी रहता है। सांस बंद हो जाती है। मस्तिष्क तो चार मिनिट के बाद समाप्त हो जाता है। इधर श्वास बंद हुई उधर मस्तिष्क चार मिनिट के भीतर समाप्त हो गया। फिर उसको लौटाया नहीं जा सकता। इसलिए जो लोग अचानक हृदय के धक्के से मरते हैं, अगर चार मिनिट के भीतर जिला लिए जायें तो ही जिलाये जा सकते हैं, अन्यथा गये तो गये। क्योंकि फिर तब तक चार मिनिट के बाद मस्तिष्क की स्मृति डांवांडोल हो गई; मस्तिष्क के तंतु बहुत छोटे हैं, वे टूट गये। मस्तिष्क बहुत कमजोर है।

लेकिन पेट की बड़ी हिम्मत है। चौबीस घंटे बाद भी पेट अपना काम जारी रखता है, पचाता रहता है, रस पहुंचाता रहता है, कि क्या पता! तुम रात सो जाते हो, तब भी पेट पचाता रहता है। कोमा में पड़े हुए आदमी महीनों पड़े रहते बेहोशी में, तब भी पेट पचाता रहता है। मर जाने पर भी चौबीस घंटे तक पचाता है। तुम पर नहीं छोड़ा है। कोई विराट हाथ सब सम्हाले हुए है।

तुम जरा देखो, इन हाथों को जरा पहचानो! कोई विराट हाथ तुम्हारे पीछे खड़े हैं! तुम नाहक परेशान हुए जा रहे हो। तुम्हारी हालत वैसी है जैसे कि एक छोटा बच्चा अपने बाप के साथ जा रहा है और परेशान हो रहा है। उसे परेशान होने की कोई जरूरत ही नहीं। बाप साथ है, परेशानी का कोई कारण नहीं।

बर्नार्ड शा के पिता की मृत्यु हुई तो बर्नार्ड शा ने अपने मित्रों को कहा कि आज मैं बहुत डरा-डरा हुआ हो गया हूं। तब तो उसकी उम्र भी साठ के पार हो चुकी थी। उन्होंने कहा: "डरे-डरे हो गये, मतलब क्या?" उन्होंने कहा: "आज पिता साथ नहीं, यद्यपि वर्षों से हम साथ न थे; पिता अपने गांव पर थे, मैं यहां था। लेकिन फिर भी पिता थे तो मैं बच्चा था, एक भरोसा था कि कोई आगे है। आज पिता चल बसे, आज मैं अकेला रह गया। आज डर लगता है। आज कुछ भी करूंगा तो मेरा ही जुम्मा है। आज कुछ भी करूंगा तो भूल-चूक मेरी है। आज कोई डांटने-डपटने वाला न रहा। आज कोई चिंता करने वाला न रहा। आज बिलकुल अकेला हो गया हूं।"

नास्तिक अशांत हो जाता है, क्योंकि कोई परमात्मा नहीं! तुम नास्तिक की पीड़ा समझो, उसकी तपश्चर्या बड़ी है! वह नरक भोग लेता है। क्योंकि कोई नहीं है; खुद ही को सब सम्हालना है। और इतना विराट सब जाल है और इस विराट जाल में अकेला पड़ जाता है। और सब तरफ संघर्ष ही संघर्ष है, कांटे ही कांटे हैं, उलझनें ही उलझनें हैं और कुछ सुलझाये नहीं सुलझता। बात इतनी बड़ी है, हमारे सुलझाये सुलझेगा भी कैसे!

आस्तिक परम सौभाग्यशाली है। वह कहता है: तुम बनाये, तुम जानो, तुम चलाओ। तुमने मुझे बनाया, तुम्हीं मुझे उठा लोगे एक दिन। तुम्हीं मेरी सांसों में, तुम्हीं मेरी धड़कन में। मैं क्यों चिंता करूं?

"जो आंख के ढंकने और खोलने के व्यापार से दुखी होता है, उस आलसी-शिरोमणि का ही सुख है।"

आलस्य की ऐसी महिमा! अर्थ समझ लेना। तुम्हारे आलस्य की बात नहीं हो रही है। तुम तो अपने आलस्य में भी सिर्फ जी चुराते हो, समर्पण थोड़े ही है। तुम्हारे आलस्य में कर्ता-भाव थोड़े ही मिटता है। यह इसलिए शिरोमणि शब्द का उपयोग किया। आलसियों में शिरोमणि वह है जिसने कर्म नहीं छोड़ा, कर्ता भी छोड़ दिया। अगर कर्म ही छोड़ा तो सिर्फ आलसी, वह शिरोमणि नहीं। कर्म तो छोड़ कर कई लोग बैठ जाते हैं। पत्नी कमाती है तो पति घर में बैठ गये, आलसी हो गये। मगर चिंतायें हजार तरह की करते रहते हैं बैठे-बैठे--ऐसा होगा, वैसा होगा, होगा कि नहीं होगा! सच तो यह है कि काम न करने वाले लोग ज्यादा चिंता करते हैं काम करने वालों की बजाय, क्योंकि काम करने वाला तो उलझा है। फुरसत कहां! आलसी तो बैठा है, कोई काम नहीं! तो वह चिंता ही करता है।

बूढ़े देखे, बहुत चिंतित हो जाते हैं! अब कोई काम नहीं है उन पर। काम था तब तक तो निश्चिंत थे, लगे थे, जुटे थे, जुते थे बैलगाड़ी में, फुरसत कहां थी! अब खाली बैठे हैं!

रस्किन ने अपने संस्मरणों में लिखा है कि मैंने जितने आदमी सुखी देखे, वे वे ही लोग थे जो इतनी बुरी तरह उलझे थे काम में कि उन्हें फुरसत ही न थी जानने की कि सुखी हैं कि दुखी हैं।

उलझा रहता है आदमी तो पता ही नहीं चलता कि सुखी हैं कि दुखी! किसी तरह पिटे-कुटे घर लौटे, रात सो गये, फिर सुबह दौड़े; फुरसत कहां है कि पता लगायें कि कौन सुखी, कौन दुखी; हम सुखी कि दुखी हैं! इतना समय कहां! लेकिन रिटायर हो गये, अब बैठे-ठाले, कुछ काम नहीं है, बस यही सोच रहे हैं कि सुखी कि दुखी! और हजार चिंतायें घेर रही हैं कि दुनिया में ऐसा होगा कि नहीं होगा। सारा संसार इनके लिए समस्या बन जाता है।

आलसी शिरोमणि का अर्थ है: ऐसा व्यक्ति, जिसने कर्म नहीं, कर्ता भी छोड़ दिया। कर्ता के छोड़ते ही सारी चिंता भी छूट जाती है।

मुल्ला नसरुद्दीन एक दफ्तर में काम करता है। मालिक ने उससे कहा कि नसरुद्दीन, तुमने सुना, अब दुनिया में ऐसी-ऐसी मशीनें बन गई हैं जो एक साथ दस आदमियों का काम कर सकती हैं! क्या तुम्हें यह सुन कर डर नहीं लगता? नसरुद्दीन ने कहा: "बिलकुल नहीं सरकार! क्योंकि आज तक कोई मशीन ऐसी नहीं बनी

जो कुछ न करती हो। आदमी का कोई मुकाबला ही नहीं है। जो कुछ न करती हो, ऐसी कोई मशीन बनी ही नहीं है।"

नसरुद्दीन से मैंने एक दिन कहा कि तू कभी छुट्टी पर नहीं जाता, क्या दफ्तर में तेरी इतनी जरूरत है? उसने कहा कि अब सच बात आपसे क्या छिपानी। दफ्तर में मेरी जरूरत बिलकुल नहीं है, इसीलिए तो छुट्टी पर नहीं जाता, छुट्टी पर गया तो उनको पता चल जायेगा कि इसके बिना सब ठीक चल रहा है, कोई जरूरत ही नहीं है। मैं छुट्टी पर जा ही नहीं सकता, तो ही भ्रम बना रहता है कि मेरी वहां जरूरत है।

आदमी कर्म छोड़ दे तो आलसी; और कर्तापन छोड़ दे तो आलसी-शिरोमणि।

तस्यालस्य धुरीणस्य...।

तब तो वह धुरीण हो गया, शिखर हो गया आलस्य का। क्योंकि सब परमात्मा पर छोड़ दिया; अब वह जो करवाये करवाये, जो न करवाये न करवाये। अब अपनी कोई आकांक्षा बीच में न रखी। अब उसकी जो मर्जी!

"यह किया गया और यह नहीं किया गया, ऐसे द्वंद्व से मन जब मुक्त हो, तब वह धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के प्रति उदासीन हो जाता है।"

ये आखिरी चरण हैं। आदमी धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष सबसे मुक्त हो जाता है, क्योंकि फिर कोई बात ही न रही, करने को कुछ रहा ही नहीं। किसी को धन कमाना है, किसी को पुण्य कमाना है। किसी को वासना तृप्त करनी है और किसी को स्वर्ग का सुख लेना है। और किसी को मुक्ति का सुख लेना है। मगर इन सबके पीछे हमारा कर्ता का भाव तो बना ही रहता है कि मुझे कुछ करना है; मेरे बिना किए कुछ भी न होगा।

अष्टावक्र कहते हैं: जिसे यह बात ही भूल गई कि यह किया गया, यह नहीं किया गया, सब बराबर हो गया; हो तो ठीक, न हो तो ठीक; हो गया तो ठीक, न हुआ तो भी उतना ही ठीक--ऐसी जिसकी सरल चित्त-दशा हो गई, उसका सबके प्रति उदासीन भाव हो जाता है। अब मोक्ष भी सामने पड़ा हो तो भी उसे आकांक्षा नहीं होती। और की तो बात ही क्या, स्वर्ग भी उसे निमंत्रण नहीं देता अब। और जिसके लिए कोई वासना का निमंत्रण नहीं है, वही मुक्त है, वही मोक्ष को उपलब्ध है।

"विषय का द्वेषी विरक्त है। विषय का लोभी रागी है। और जो ग्रहण और त्याग दोनों से रहित है, वह न विरक्त है न रागवान है।"

इदं कृतमिदं नेति द्वंद्वैर्मुक्तं यदा मनः।
धर्मार्थकाममोक्षेषु निरपेक्षं तदाभवेत।।

और जो धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष सभी से शांत और मुक्त हो गया, वही वीतराग है। यहां तीन शब्द समझ लेने चाहिए। एक है भोगी, दूसरा है योगी और तीसरा है दोनों के पार। एक है आसक्त, एक है विरक्त, और एक है दोनों के पार।

विरक्तो विषयद्वेष्टा--वह जो विरक्त है, उसकी विषयों में घृणा हो गई है।

रागी विषयलोलुपः--और वह जो रागी है, भोगी है, वह लोलुप है विषय के लिए।

ग्रहमोक्षविहीनस्तु न विरक्तो न रागवान्।

लेकिन परमदशा तो वही है जहां न राग रह गया न विराग; न तो प्रेम रहा वस्तुओं के प्रति, न घृणा। ऐसी वीतराग दशा परम अवस्था है। वही परमहंस दशा है। परम समाधि!

इसे हम समझें। किसी का धन में मोह है; वह पागल है धन के लिए, इकट्ठा करता जाता है बिना फिक्र किए कि किसलिए इकट्ठा कर रहा है, क्या इसका होगा! यह सब चिंता भी नहीं है उसे। बस धन इकट्ठा कर रहा है। एक पागलपन है। फिर एक दिन जागा, लगा कि यह तो जीवन गंवाया; इससे तो कुछ पाया नहीं; धन तो इकट्ठा हो गया, मैं तो निर्धन का निर्धन रह गया। छोड़ दिया धन। भागने लगा छोड़ कर। अब उसने दूसरी उल्टी दिशा पकड़ ली। अब अगर उसके हाथ में पैसा रखो तो वह ऐसे छोड़ कर खड़ा हो जाता है चिल्ला कर कि जैसे

बिच्छू रख दिया। अब वह पैसे की तरफ देखता नहीं। अब वह कहता है: "धन, धन तो पाप है! बचो, कामिनी-कांचन से बचो! भागते रहो!" अब उसने दूसरी दौड़ शुरू कर दी। यह विरक्त तो हो गया, आसक्त न रहा। जो संबंध प्रेम का था, वह घृणा में बदल लिया। लेकिन संबंध जारी है।

घृणा का भी संबंध होता है। प्रेम का भी संबंध होता है। जिसके तुम मित्र हो, उससे तो तुम जुड़े ही हो; जिससे तुम शत्रुता रखते हो, उससे भी जुड़े हो। अष्टावक्र कहते हैं: ये दोनों बंधे हैं। एक पाप से बंधा होगा, एक पुण्य से बंधा है; मगर बंधे हैं। एक की जंजीरें लोहे की हैं, एक की सोने की हैं। मगर जंजीरें दोनों के ऊपर हैं। और ध्यान रखना कभी-कभी सोने की जंजीरें ज्यादा खतरनाक सिद्ध होती हैं; क्योंकि लोहे की जंजीरों से तो कोई छूटना भी चाहता है, सोने की जंजीरों से कोई छूटना नहीं चाहता। सोने की जंजीरें तो आभूषण मालूम होती हैं। लगता है, छाती पर सम्हाल कर रख लो। अगर कारागृह गंदा हो तो हम निकलना भी चाहते हैं; लेकिन कारागृह स्वच्छ, साफ-सुथरा, सजा, सुंदर हो तो कौन निकलना चाहता है! जा कर भी क्या सार है! जाओगे कहां! यहीं बेहतर है।

पाप तो बांधता है, पुण्य और भी गहरे रूप से बांध लेता है। और भोग तो बांधता ही है, योग भी बांध लेता है।

अष्टावक्र कहते हैं: विरक्त और सरक्त, इन दोनों से जो विलक्षण है, वही उपलब्ध है, वही वीतराग पुरुष है। राग का अर्थ होता है: रंग। रागी का अर्थ होता है: जो इंद्रियों के रंग में रंग गया। विरागी का अर्थ होता है: जो इंद्रियों के विरोधी रंग में रंग गया; जो उल्टा हो गया। रागी खड़ा है पैर के बल; विरागी शीर्षासन करने लगा, उल्टा हो गया, लेकिन दौड़ जारी रही। कोई स्त्री के पीछे भागता था, कोई स्त्री से भागने लगा; लेकिन दौड़ जारी रही।

दोनों से जो विलक्षण है, विरक्त-सरक्त से विलक्षण, उस वीतराग पुरुष को ही सत्य का अनुभव हुआ है। और ऐसे सत्य के अनुभव के लिए शास्त्रों की कोई जरूरत नहीं। किसी से पूछने का कोई सवाल ही नहीं है। यह सत्य तुम्हारी संपदा है। यह तुम्हें मिला ही हुआ है। तुम शास्त्रों में खोज रहे हो, उतना ही समय गंवा रहे हो।

मुल्ला नसरुद्दीन एक बार घर लौटा यात्रा से। उसकी पत्नी ने पूछा, सफर कैसा कटा? मुल्ला ने कहा: सफर में बेहद तकलीफ रही। ट्रेन में ऊपर वाली बर्थ पर जगह मिली थी और पेट खराब होने के कारण बार-बार नीचे उतरना पड़ता था।

तो श्रीमती ने कहा: "तो आप नीचे वाले यात्री से कह कर बर्थ क्यों न बदल लिए?"

उसने कहा: "सोचा तो मैंने भी था, पर नीचे वाली बर्थ पर कोई था ही नहीं, पूछता किससे?"

कुछ लोग हैं जो सदा पूछने को उत्सुक हैं--किसी से पूछ लें। और अगर कोई नहीं है तो बड़ी मुश्किल! भीतर से कुछ बोध जैसे उठता ही नहीं! शास्त्र में खोज ले, स्वयं में खोजने की आकांक्षा ही नहीं उठती है।

और जो है, स्वयं में है। ये शास्त्र जो निकले हैं, ये भी उनसे निकले हैं जिन्होंने स्वयं में खोजा। यह कृष्ण की गीता किन्हीं और वेदों को पढ़ कर नहीं निकली है। यह कृष्ण की गीता कृष्ण के अनुभव से निकली है। इसका यह अर्थ नहीं है कि वेद पढ़ना व्यर्थ है। इसका इतना ही अर्थ है: वेद को पढ़ो साहित्य की तरह, बहुमूल्य साहित्य की तरह! लेकिन शब्दों को सत्य मत मान लेना। वेद को पढ़ो महत्वपूर्ण परंपरा की तरह। मनीषियों के वचन हैं--सत्कार से पढ़ो, सम्मान से पढ़ो! मगर उन पर ही रुक मत जाना।

उन पर रुकना ऐसा होगा जैसे कोई पाकशास्त्र की किताब को रख कर बैठ गया और भोजन बनाया ही नहीं। और भोजन बिना बनाये तो पेट भरेगा नहीं, भूख मिटेगी नहीं, क्षुधा तृप्त न होगी।

पढ़ो! रस लो! वेद अदभुत साहित्य हैं! उपनिषद अदभुत साहित्य हैं! कुरान-बाइबिल अनूठी किताबें हैं! पढ़ो! मगर पढ़ने से सत्य मिल जायेगा, इस भ्रांति में मत पड़ना। पढ़ने से तो प्यास मिल जाये तो काफी है; सत्य को खोजने की आकांक्षा बलवती हो जाये तो काफी है।

सदगुरुओं का सत्संग करो। उससे सत्य नहीं मिल जायेगा, लेकिन सदगुरुओं के सत्संग में शायद सत्य को खोजने की आकांक्षा प्रबल हो जाये, प्रज्वलित हो जाये, लपट बन जाये। सत्य तो भीतर ही मिलेगा।

सदगुरु वही है जो तुम्हें तुम्हारे भीतर पहुंचा दे। और शास्त्र वही है जो तुम्हें तुमसे ही जुड़ा दे।

"विषय का द्वेषी विरक्त, विषय का लोभी रागी; पर जो ग्रहण और त्याग दोनों से रहित है, वह न विरक्त है और न रागवान है।"

वही है सत्य को उपलब्ध। वही वीतराग है।

इन प्रवचनों पर खूब मनन करना, ध्यान करना। इन वचनों का सार कबीर के इस वचन में है:

जाको राखे साइयां, मार सके न कोय।

बाल न बांका कर सके जो जग वैरी होय।।

छोड़ दो सब परमात्मा पर! जाको राखे साइयां! तुमने जब नहीं छोड़ा है, तब भी वही रखवाला है; तुम छोड़ दो, तब भी वही रखवाला है। फर्क इतना ही पड़ेगा कि तुम छोड़ दोगे तो तुम्हारी चिंता मिट जायेगी। तुम तो पलक भी न झंपो अपनी तरफ से। तुम सुरक्षा भी न करो। तुम आयोजन भी मत करो। तुम तो वह जो करवाये, करो। इसका यह मतलब नहीं कि तुम चादर ओढ़ कर लेट जाओ। अगर वह चादर ओढ़ कर लेटने को कहे तो ठीक। तुम अपनी तरफ से यह मत करना कि तुम कहो कि फिर करना क्या!

मेरे पास लोग आते हैं। वे कहते हैं, समझ गये अष्टावक्र को तो अब करने को तो कुछ भी नहीं है! अगर तुम समझ गये तो करने को तो बहुत है, कर्ता होने को कुछ भी नहीं है। अगर नहीं समझे तो तुम ऐसा पूछोगे आ कर कि "अब करने को तो कुछ भी नहीं है, तब हम विश्राम करें! तब ध्यान इत्यादि करने से क्या सार है।" तो तुम करने से बचने लगे, तो तुम आलसी हो जाओगे।

ये सूत्र शिरोमणियों के लिए हैं। ये सूत्र उनके लिए हैं जो कहते हैं: अब हम कर्ता न रहे। परमात्मा तुमसे बहुत कुछ करवायेगा जब तुम कर्ता न रह जाओगे। फिर करने का मजा और, रस और। फिर करने में एक उत्सव है, एक नृत्य है। फिर करना ऐसा है जैसा कबीर ने कहा कि मैं तो बांस की पोंगरी हूं! तू गीत गाता है तो मेरे से गीत गुजर जाता है; तू चुप हो जाता है तो चुप्पी प्रगट होती है! अब तो मैं बांस की पोंगरी हूं, खाली पोंगरी! तू जो करवाये!

यही कृष्ण अर्जुन को समझा रहे हैं गीता में कि तू बांस की पोंगरी हो जा! निमित्त-मात्र! अर्जुन चाहता है, कर्म छोड़ दे और भाग जाये जंगल में; वह आलसी होना चाहता है। और कृष्ण कहते हैं, तू आलसियों का शिरोमणि हो जा, कर्ता-भाव छोड़ दे और कर्म तो परमात्मा करवाये तो होने दे। वही तुझे युद्ध के मैदान पर ले आया। अगर वही युद्ध करना चाहता है तो होने दे। तू न भी करेगा तो कोई और करेगा। तू न मारेगा तो कोई और मारेगा। ये हाथ तेरे न उठायेंगे गांडीव को, तो किसी और के उठायेंगे। तू कर्म छोड़ कर मत भाग; सिर्फ कर्ता मत रह जा। कर्ता-भाव छूटते ही जीवन स्वस्थ हो जाता है, शांत हो जाता है।

हरि ॐ तत्सत्!

प्रवचन-क्रम

46. खुदी को मिटा, खुदा देखते हैं.....2
47. साक्षी आया, दुख गया.....25
48. प्रेम, करुणा, साक्षी और उत्सव-लीला.....44
49. सहज ज्ञान का फल है तृप्ति.....64
50. रसो वै सः.....85
51. शून्य की वीणा: विराट के स्वर.....104
52. तू स्वयं मंदिर है.....125
53. धर्म अर्थात सन्नाटे की साधना.....144
54. साक्षी, ताओ और तथाता.....166
55. परमात्मा हमारा स्वभावसिद्ध अधिकार है.....186
56. आलसी शिरोमणि हो रहो.....208
57. तथाता का सूत्र-- सेतु है.....227
58. संन्यास -- सहज होने की प्रक्रिया.....247
59. साक्षी स्वाद है संन्यास का.....267
60. प्रभु-मंदिर यह देह री.....288

छयालीसवां प्रवचन

खुदी को मिटा, खुदा देखते हैं

पहला प्रश्न: बोध की यात्रा में रस, विरस एवं स्व-रस क्या मात्र पड़ाव हैं? कृपा करके समझायें।

रस पड़ाव नहीं है, रस तो गंतव्य है। इसके लिए उपनिषद कहते हैं: रसो वै सः! उस प्रभु का नाम रस है। रस-रूप! रस में तल्लीन हो जाना परम अवस्था है।

पूछने वाले ने पूछा है: रस, विरस और स्व-रस...। शायद जहां रस कहा है, पूछा है, वहां कहना चाहिए पर-रस। पर-रस पड़ाव है। फिर पर-रस से जब ऊब पैदा हो जाती है, तो विरस। विरस भी पड़ाव है। लेकिन विरस तो नकारात्मक स्थिति है; पर-रस की प्रतिक्रिया है। तो कोई विरस में रुक नहीं सकता, वैराग्य में कोई ठहर नहीं सकता। जब राग में ही न ठहर सके तो वैराग्य में कैसे ठहरेंगे! विधायक में न ठहर सके तो नकारात्मक में कैसे ठहरेंगे! भोग में न रुक सके तो योग कैसे रोकेगा!

पर-रस से जब ऊब पैदा हो जाती है, अनुभव में आता है कि नहीं, दूसरे से सुख मिलता ही नहीं, अनुभव में आता है कि दूसरे से दुख ही मिलता है, तो जुगुप्सा पैदा होती है। विरक्ति पैदा होती है, विरस आ जाता है। मुंह में कड़वा स्वाद फैल जाता है। किसी चीज में रस नहीं मालूम होता। विरस पड़ाव है--अंधेरी रात जैसा, नकारात्मक, रिक्त।

जब कोई विरस में धीरे-धीरे धीरे-धीरे डूबता है तो स्व-रस पैदा होता है। स्व-रस पर-रस से बेहतर है। अपने में रस लेना ज्यादा मुक्तिदायी है। कम से कम दूसरे की परतंत्रता तो न रही। पर न रहा तो परतंत्रता न रही। स्व आया तो स्वतंत्रता आई। इतनी मुक्ति तो मिली। लेकिन अभी भी पड़ाव है। अब स्व भी खो जाये और रस ही बचे तो अंतिम उपलब्धि हो गई, मंजिल आ गई। क्योंकि जब तक स्व है तब तक कहीं पास किनारे पर "पर" भी खड़ा होगा, क्योंकि "मैं" "तू" के बिना नहीं रहता। स्व का बोध ही बता रहा है कि पर का बोध अभी कायम है। स्व की परिभाषा पर के बिना बनती नहीं। जब तक ऐसा लग रहा है मैं हूं, तब तक स्वभावतः लग रहा है कि और भी है, अन्य भी है। तो यह तो पर की ही छाया है।

स्व और पर एक ही सिक्के के दो पहलू हैं--साथ रहते, साथ जाते। तो पहले तो स्व-रस बड़ा आनंद देता है। पर-रस में तो सिर्फ सुख की आशा थी, मिला नहीं। विरस तो प्रतिक्रिया थी। पर-रस में मिला नहीं था, इसलिए क्रोध में विपरीत चल पड़े थे, नाराज हो गये थे। वह तो नाराजगी थी। वह तो क्रोध था। वह कोई टिकने वाली भाव-दशा न थी, नकारात्मक दशा थी।

स्व-रस में रस की कुछ झलक मिलती है। परमात्मा के मंदिर के करीब आ गये; करीब-करीब सीढ़ियों पर खड़े हो गये। पर-रस ऐसा है, परमात्मा की तरफ पीठ किये खड़े हैं। विरस ऐसा है कि परमात्मा की तरफ पीठ करने में क्रोध आ गया; मुंह करने की चेष्टा कर रहे हैं परमात्मा की तरफ; सन्मुख होने की चेष्टा शुरू हुई। स्व-रस ऐसा है, सीढ़ियों पर आ गये। लेकिन स्व को सीढ़ियों पर ही छोड़ आना पड़ेगा, जहां जूते छोड़ आते हैं। बस वहीं। तो भीतर प्रवेश है। तो मंदिर में प्रवेश है। मंदिर का नाम है: रसो वै सः! मंदिर का नाम है: रस! वहां न स्व है न पर है; वहां एक ही है। वहां दो नहीं हैं।

इस अवस्था को ही अष्टावक्र ने स्वच्छंद कहा है। यह पर से भी मुक्त है, स्व से भी मुक्त है। यह छंद ही और है। यह अलौकिक बात है। भाषा में कहना पड़ता है तो कुछ शब्दों का उपयोग करना पड़ेगा। इसलिए बुद्ध ने इसे

निर्वाण कहा है; कुछ भी न बचा। जो भी तुम जानते थे, कुछ न बचा। तुम्हारा जाना हुआ सब गया; अज्ञात के द्वार खुले। तुम्हारी भाषा काम नहीं आती। इसलिए बुद्ध निर्वाण के संबंध में चुप रह जाते हैं, कुछ कहते नहीं।

एक ईसाई मिशनरी "स्टेनली जोन्स" काफी प्रसिद्ध, विश्वप्रसिद्ध ईसाई मिशनरी थे। वे रमण महर्षि को मिलने गये थे। वर्षों बाद मेरा भी उनसे मिलना हुआ। रमण महर्षि से उन्होंने बात की। बुद्धिमान आदमी हैं स्टेनली जोन्स। बहुत किताबें लिखी हैं। और ईसाई जगत में बड़ा नाम है। लेकिन वह नाम बुद्धिमत्ता का ही है; वह किसी आत्म-अनुभव का नहीं है। रमण महर्षि से वे इस तरह के प्रश्न पूछने लगे जो कि नहीं पूछने चाहिए। और रमण महर्षि जो उत्तर देते वह उनकी पकड़ में न आता। जैसे उन्होंने पूछा कि क्या आप पहुंच गये हैं? रमण महर्षि ने कहा: "कहां पहुंचना, कहां आना, कहां जाना!" स्टेनली जोन्स ने फिर पूछा: "मेरे प्रश्न का उत्तर दें! क्या आप पहुंच गये हैं? क्या आपने पा लिया?" रमण महर्षि ने फिर कहा: "कौन पाये, किसको पाये! वही है। न पाने वाला है कोई, न पाये जाने वाला है कोई।"

स्टेनली जोन्स ने कहा कि देखिए आप मेरे प्रश्न से बच रहे हैं। मैं आपसे कहता हूं कि मैंने पा लिया है, जबसे मैंने जीसस को पाया। मैंने पा लिया। आप सीधी बात कहें।

तो रमण महर्षि ने कहा: "अगर पा लिया तो खो जायेगा; क्योंकि जो भी पाया जाता है, खो जाता है। जिससे मिलन होता है, उससे बिछुड़न। जिससे शादी होती है उससे तलाक। जन्म के साथ मौत है। अगर पाया है तो कभी खो बैठोगे। उसको पाओ जो पाया नहीं जाता।

स्टेनली जोन्स ने समझा कि यह तो सब बकवास है। यह कोई बात हुई--उसको पाओ जिसको पाया नहीं जाता! तो फिर पाने का क्या अर्थ? फिर तो उसने रमण महर्षि को ही उपदेश देना शुरू कर दिया।

बहुत वर्षों बाद मेरा भी मिलन हो गया। एक परिवार, एक ईसाई परिवार मुझमें उत्सुक था, स्टेनली जोन्स उनके घर मेहमान हुए। तो उन्होंने आयोजन किया कि हम दोनों का मिलना हो जाये। बड़े संयोग की बात कि स्टेनली जोन्स ने फिर वही पूछा: "आपने पा लिया है?" मैंने कहा: "यह झंझट हुई। मैं फिर वही उत्तर दूंगा।" उन्होंने कहा: "कौन-सा उत्तर?" क्योंकि वे तो भूल-भाल चुके थे। मैंने कहा: "कैसा पाना, किसका पाना, कौन पाये!" तब उन्हें याद आया, हंसने लगे और कहा कि: "तो क्या आप भी उसी तरह की बातचीत करते हैं जो रमण महर्षि करते थे। मैं गया था मिलने, लेकिन कुछ सार न हुआ। व्यर्थ समय खराब हुआ। इससे तो बेहतर था मिलना महात्मा गांधी से, बात साफ-सुथरी थी। इससे बेहतर था मिलना श्री अरविंद से, बात साफ-सुथरी थी।"

कुछ बात है जो साफ-सुथरी हो ही नहीं सकती। वही बात है जो साफ-सुथरी नहीं हो सकती। जो साफ-सुथरी है, वह कुछ करने जैसी नहीं है। जो बुद्धि की समझ में आ जाये वह समझने योग्य ही नहीं है। जो बुद्धि के पार रह जाता है, वही...।

पर-रस भी समझ में आता है, विरस भी समझ में आता है, स्व-रस भी समझ में आता है; क्योंकि ये तीनों ही बुद्धि के नीचे हैं। स्व-रस सीमांत पर है; वहां से बुद्धि के पार उड़ान लगती है। विरस परिधि के पास है; पर-रस बहुत दूर है। लेकिन तीनों एक ही घेरे में हैं, बुद्धि के घेरे में हैं। रस अतिक्रमण है। रस में फिर कोई नहीं बचता।

ऐसी कभी-कभी घड़ी तुम्हारे जीवन में आती है--प्रेम के क्षणों में या प्रार्थना के क्षणों में या ध्यान के क्षणों में। किसी से अगर तुम्हारा गहरा प्रेम है तो कभी-कभी ऐसा उत्तुंग शिखर भीतर पैदा होता है जब न तो प्रेमी रह जाता न प्रेयसी रह जाती है। तब रस फलता है। तब रस झरता है। वह रस परमात्मा का रस है। इसलिए प्रेम में परमात्मा के अनुभव की पहली किरण उतरती है; या ध्यान की किसी गहरी तल्लीनता में जहां स्व-पर का भेद मिट जाता है, अभेद का आकाश खुलता है, वहां भी परमात्मा झरता है।

तो पूछने वाले ने प्रश्न तो ठीक पूछा है, लेकिन रस...पूछा रस, विरस, स्व-रस क्या मात्र पड़ाव हैं? रस पड़ाव नहीं है। रस तो स्रोत है और अंतिम मंजिल भी। क्योंकि अंतिम मंजिल वही हो सकता है, जो स्रोत भी

रहा हो। हम अंततः स्रोत पर ही वापिस पहुंच जाते हैं। जीवन का वर्तुल पूरा हो जाता है। जहां से चले थे, वहीं आ जाते हैं। या अगर तुम समझ सको तो जहां से कभी नहीं चले, वहीं आ जाते हैं। जहां से कभी नहीं हटे, वहीं पहुंच जाते हैं। जो हैं, वही हो जाते हैं।

मैं तमोमय, ज्योति की पर प्यास मुझको
है प्रणय की शक्ति पर विश्वास मुझको
स्नेह की दो बूंद भी तो तुम गिराओ
आज फिर से तुम बुझा दीपक जलाओ
कल तिमिर को भेद मैं आगे बढ़ूंगा
कल प्रलय की आंधियों से मैं लड़ूंगा
किंतु मुझको आज आंचल से बचाओ
आज फिर से तुम बुझा दीपक जलाओ

दीपक बुझा नहीं, कभी बुझा नहीं और दीपक सुरक्षित है। परमात्मा का आंचल उसे बचाये ही हुए है। तुम्हारा स्नेह भी, तुम्हारा तेल भी कभी चुका नहीं। वही तो तुम्हारी जीवंतता है, वही तो तुम्हारा स्नेह है। तुम्हारा दीया भरा-पूरा है। न तो ज्योति जलानी है, न दीये में तेल भरना है; सिर्फ तुम अपनी ही ज्योति की तरफ पीठ किए खड़े हो। जो है वही दिखाई नहीं पड़ रहा है। या, तुम आंख बंद किए बैठे हो और जो रोशनी सब तरफ झर रही है, उससे तुम्हारा संपर्क नहीं हो पा रहा है। पलक उठाने की बात है।

बुद्ध से किसी ने पूछा कि ज्ञानी और अज्ञानी में फर्क क्या है? तो बुद्ध ने कहा, पलक मात्र का।

सुनते हो! पलक मात्र का! पलक झपक गई--अज्ञानी। पलक खुल गई--ज्ञानी। इतना ही फर्क है। अंतस्तल पर जाग गये--सब जैसा होना चाहिए वैसा ही है।

तुम तमोमय नहीं हो, ज्योतिर्मय हो! रस से तुम भरे ही हो। रस के सागर हो। गागर भी नहीं। गागर तो तुम शरीर के कारण अपने को मान बैठे हो। रस के सागर हो। जिसकी कोई सीमा नहीं, जो दूर अनंत तक फैलता चला गया है--वही ब्रह्म हो तुम! तत्वमसि! रसो वै सः!

दूसरा प्रश्न: आपने कहीं कहा है कि अत्यंत संवेदनशील होने के कारण आत्मज्ञानी को शारीरिक पीड़ा का अनुभव तीव्रता से होता है; लेकिन वह स्वयं को उससे पृथक देखता है। क्या ऐसे ही आत्मज्ञानी को किसी मानसिक दुख का अनुभव भी होता है? कृपया समझायें!

तिब्बत का महासंत मिलारेपा मरण- शय्या पर पड़ा था। शरीर में बड़ी पीड़ा थी। और किसी जिज्ञासु ने पूछा: "महाप्रभु! क्या आपको दुख हो रहा है, पीड़ा हो रही है?" मिलारेपा ने आंख खोली और कहा: "नहीं, लेकिन दुख है।" समझे? मिलारेपा ने कहा कि नहीं, दुख नहीं हो रहा है, लेकिन दुख है। दुख नहीं है, ऐसा भी नहीं। दुख हो रहा है, ऐसा भी नहीं। दुख खड़ा है, चारों तरफ घेर कर खड़ा है और हो नहीं रहा है। भीतर कोई अछूता, पार, दूर जाग कर देख रहा है।

ज्ञानी को दुख छेदता नहीं। होता तो है। दुख की मौजूदगी होती है तो होती है। पैर में कांटा गड़ेगा तो बुद्ध को भी पता चलता है। बुद्ध कोई बेहोश थोड़े ही हैं। तुमसे ज्यादा पता चलता है, क्योंकि बुद्ध तो बिलकुल सजग हैं। वहां तो ऐसा सन्नाटा है कि सुई भी गिरेगी तो सुनाई पड़ जायेगी। तुम्हारे बाजार में शायद सुई गिरे तो पता भी न चले। तुम भागे जा रहे हो दूकान की तरफ, कांटा गड़ जाये, पता न चले--यह हो सकता है। बुद्ध तो कहीं भागे नहीं जा रहे हैं। कोई दूकान नहीं है। कांटा गड़ेगा तो तुमसे ज्यादा स्पष्ट पता चलेगा। कोरे कागज पर खींची गई लकीर! तुम्हारा कागज तो बहुत गुदा, गंदगी से भरा है; उसमें लकीर खींच दो, पता न चलेगी; हजार लकीरें

तो पहले से ही खिंची हैं। शुभ्र सफेद कपड़े पर जरा-सा दाग भी दिखाई पड़ता है, काले कपड़े पर तो नहीं दिखाई पड़ता है। दाग तो काले पर भी पड़ता है, लेकिन दिखाई नहीं पड़ता।

तुम्हारे जीवन में तो इतना दुख ही दुख है कि तुम काले हो गये हो दुख से। छोटे-मोटे दुख तो तुम्हें पता ही नहीं चलते। तुमने एक बात अनुभव की? अगर छोटे दुख से मुक्त होना हो तो बड़ा दुख पैदा कर लो, छोटा पता नहीं चलता। जैसे तुम्हारे सिर में दर्द हो रहा है और कोई कह दे कि "क्या बैठे, सिरदर्द लिए बैठे हो? अरे, दूकान में आग लग गई।" भागे, भूल गये दर्द-वर्द। सिर का दर्द गया! एस्प्रो की जरूरत न पड़ी। दूकान में आग लग गई, यह कोई वक्त है सिरदर्द करने का! भूल ही जाओगे।

बर्नार्ड शा ने लिखा है कि उसको हार्ट अटैक का हृदय पर दौरा पड़ा, ऐसा खयाल हुआ तो घबरा गया। डाक्टर को तत्क्षण फोन किया और लेट गया बिस्तर पर। डाक्टर आया, सीढ़ियां चढ़ कर हांफता और आ कर कुर्सी पर बैठ कर उसने एकदम अपना हृदय पकड़ लिया। डाक्टर! डाक्टर ने और कहा कि मरे, मरे, गये! घबड?ा कर बर्नार्ड शा उठ आया बिस्तर से। वह भूल ही गया वह जो खुद का हृदय का दौरा इत्यादि पड़ रहा था। भागा, पानी लाया, पंखा किया, पसीना पोंछा। वह भूल ही गया। पांच-सात मिनट के बाद जब डाक्टर स्वस्थ हुआ तो डाक्टर ने कहा, मेरी फीस। तो बर्नार्ड शा ने कहा, फीस मैं आपसे मांगूं कि आप मुझसे! डाक्टर ने कहा, यह तुम्हारा इलाज था। मैंने एक उलझन तुम्हारे लिए खड़ी कर दी, तुम भूल गये तुम्हारा दिल का दौरा इत्यादि। यह कुछ मामला न था; यह नाटक था, यह मजाक की थी डाक्टर ने और ठीक की।

बर्नार्ड शा बहुत लोगों से जिंदगी में मजाक करता रहा। इस डाक्टर ने ठीक मजाक की। बर्नार्ड शा बैठ कर हंसने लगा। उसने कहा: यह भी खूब रही। सच बात है कि मैं भूल गया। ये पांच-सात मिनट मुझे याद ही न रही। वह कल्पना ही रही होगी।

बड़ा दुख पैदा हो जाये तो छोटा भूल जाता है। ऐसी घटनायें हैं, उल्लेख, रिकार्ड पर, वैज्ञानिक परीक्षणों के आधार पर, कि कोई आदमी दस साल से लकवे से ग्रस्त पड़ा था और घर में आग लग गई, भाग कर बाहर निकल आया। और दस साल से उठा भी न था बिस्तर से। जब बाहर आ गया निकल कर और लोगों ने देखा तो लोगों ने कहा कि: "अरे, यह क्या! यह हो नहीं सकता! तुम दस साल से लकवे से परेशान हो।" यह सुनते ही वह आदमी फिर नीचे गिर पड़ा। लेकिन चल कर तो आ गया था। तो लकवा भूल गया।

तुम्हारी अधिक बीमारियां तो सिर्फ इसीलिए बीमारियां हैं कि तुम्हें व्यस्त करने को और कुछ नहीं। छोटी-मोटी बीमारियां तो तुम्हारे खयाल में नहीं आतीं; बड़ी बीमारी व्यस्त कर लेती है। घर में आग लगी है तो लकवा भूल जाता है। कुछ और बड़ी बीमारी आ जाये तो घर में लगी आग भी भूल जाये।

बुद्धपुरुष को तो कोई उलझन नहीं है, कोई व्यस्तता नहीं है--कोरा चैतन्य है। जरा-सी भी सुई गिरेगी तो ऐसी आवाज होगी जैसे बैंड-बाजे बजे। संवेदना इतनी प्रखर है, उस संवेदना के अनुपात में ही बोध होगा! लेकिन फिर भी बुद्धपुरुष दुखी नहीं होता। दुख होता है, लेकिन दुखी नहीं होता। दुखी तो हम तब होते हैं जब दुख के साथ तादात्म्य कर लेते हैं। सिरदर्द हो रहा है, यह तो बुद्ध को भी पता चलता है; लेकिन मेरे सिर में दर्द हो रहा है, यह तुमको पता चलता है। सिर में दर्द हो रहा है, यह तो बुद्ध को भी पता चलता है; क्योंकि सिर सिर है, तुम्हारा हो कि बुद्ध का हो। और सिर में पीड़ा होगी तो तुम्हें हो या बुद्ध को हो, दोनों को पता चलती है। लेकिन तुम तत्क्षण तादात्म्य कर लेते हो। तुम कहते हो, मेरा सिर! बुद्ध का "मेरा" जैसा कुछ भी नहीं है। यह देह मैं हूं, ऐसा नहीं है। तो देह में पीड़ा होती है तो पता चलता है।

पूछा है कि जैसे शरीर की पीड़ा का बुद्धपुरुषों को, ज्ञानियों को, समाधिस्थ पुरुषों को तादात्म्य मिट जाता है, मन के संबंध में क्या है? क्या कोई मानसिक पीड़ा उन्हें होती है?

यह थोड़ा समझने का है।

शरीर सत्य है और आत्मा सत्य है; मन तो भ्रांति है। शरीर की पीड़ा का बुद्ध को पता चलता है, क्योंकि शरीर सत्य है। और आत्मा की तो कोई पीड़ा होती ही नहीं; आत्मा तो शाश्वत सुख में है, सच्चिदानंद है। मन तो धोखा है। मन किस बात से पैदा होता है? मन तादात्म्य से पैदा होता है। तुमने कहा, यह मेरा शरीर, तो मन पैदा हुआ। तुमने कहा, यह मेरा मकान, तो मन पैदा हुआ। तुमने कहा, यह मेरी पत्नी, तो मन पैदा हुआ। तुमने कहा, यह मेरा धन, तो मन पैदा हुआ। मन तो मेरे से पैदा होता है। मन तो मेरे का संग्रह है। इसलिए तो महावीर, बुद्ध, कृष्ण, क्राइस्ट, सभी के उपदेशों में एक बात अनिवार्य है: परिग्रह से मुक्त हो जाओ। "मेरे" से मुक्त हो जाओ। क्योंकि जब तक तुम "मेरे" से नहीं मुक्त हुए तब तक मन से मुक्त न हो सकोगे। "मेरे" को हटा लो तो बुनियाद गिर गई, भवन मन का गिर जायेगा।

तुमने देखा, जितना "मेरा" उतना बड़ा मन। "मेरा" क्षीण हो जाता है, मन क्षीण हो जाता है। तुम जब राजसिंहासन पर बैठ जाते हो तो तुम्हारे पास बड़ा भारी मन होता है। राजसिंहासन से उतर जाते हो, मन सिकुड़ जाता है, छोटा हो जाता है। इसलिए तो इतना बुरा लगता है--पद खो जाये, धन खो जाये--क्योंकि सिकुड़ना पड़ता है। सिकुड़ना किसको अच्छा लगता है! छोटे होना पड़ता है; छोटे होने में अपमान मालूम होता है, निंदा मालूम होती है, दीनता-दरिद्रता मालूम होती है। तुम्हारी जेब में जब धन होता है तो तुम फैले होते हो।

मुल्ला नसरुद्दीन और उसका साथी एक जंगल से गुजर रहे थे। साथी ने छलांग लगाई, एक नाले को पार करना था, वह बीच में ही गिर गया। मुल्ला छलांग लगा गया और उस पार पहुंच गया। साथी चकित हुआ। मुल्ला की उम्र भी ज्यादा, बूढ़ा हो रहा--कैसी छलांग लगाई! उसने पूछा कि तुम्हारा राज क्या है? क्या तुम ओलंपिक इत्यादि में छलांग लगाते रहे हो? कोई अभ्यास किया है? यह बिना अभ्यास के नहीं हो सकता।

मुल्ला ने अपना खीसा बजाया! उसमें कलदार थे, रुपये थे, खनाखन हुए। उसने कहा: "मैं समझा नहीं मतलब।" मुल्ला ने कहा कि अगर छलांग जोर से लगानी हो तो खीसे में गर्मी चाहिए। फोकट नहीं लगती छलांग। तुम्हारा खीसा बताओ। खीसा खाली है, गर्मी ही नहीं है, तो छलांग क्या खाक लगाओगे!

छलांग के लिए गर्मी चाहिए। और धन बड़ा गर्मी देता है।

तुमने खयाल किया, खीसे में रुपये हों तो सर्दी में भी कोट की जरूरत नहीं पड़ती। एक गर्मी रहती है! फिर टटोल कर खीसे में हाथ डाल कर देख लेते हो, जानते हो कि है, कोई फिक्र नहीं; चाहो तो अभी कोट खरीद लो। लेकिन अगर खीसे में रुपये न हों तो जरूरत भी न हो अभी कोट की तो भी खलता है--लगता दीनता, दरिद्रता, छोटापन, सामर्थ्य की हीनता; मन टूटा-टूटा मालूम होता है।

तुम जरा गौर से देखना: मन, तुम्हारी जितनी ज्यादा परिग्रह की सीमा होती है, उतना ही बड़ा होता है। "मेरे" को त्याग दो, मन गया। मन कोई वस्तु नहीं है। मन तो शरीर और आत्मा के एक-दूसरे से मिल जाने से जो भ्रांति पैदा होती है उसका नाम है। मन तो प्रतिबिंब है।

ऐसा समझो कि तुम दर्पण के सामने खड़े हुए। दर्पण सच है, तुम भी सच हो; लेकिन दर्पण में जो प्रतिबिंब बन रहा है वह सच नहीं है। आत्मा और शरीर का साक्षात्कार हो रहा है। शरीर का जो प्र्रतिबिंब बन रहा है आत्मा में, उसको अगर तुमने सच मान लिया तो मन; अगर तुमने जाना कि केवल शरीर का प्रतिबिंब है, न तो मैं शरीर हूं, तो शरीर का प्रतिबिंब तो मैं कैसे हो सकता हूं, तो फिर कोई मन नहीं।

बुद्धपुरुष के पास कोई मन नहीं होता। अ-मन की स्थिति का नाम ही तो बुद्धत्व है। इसलिए कबीर कहते हैं, अ-मनी दशा; स्टेट आफ नो माइंड। अ-मनी दशा! उन्मनी दशा! बे-मनी दशा! जहां मन न रह जाये!

मन केवल भ्रांति है, धारणा है, ऐसी ही झूठ है जैसे यह मकान और तुम कहो "मेरा"! मकान सच है, तुम सच हो; मगर यह "मेरा" बिलकुल झूठ है; क्योंकि तुम नहीं थे तब भी मकान था और तुम कल नहीं हो जाओगे

तब भी मकान रहेगा। और ध्यान रखना, जब तुम मरोगे तब मकान रोयेगा नहीं कि मालिक मर गया। मकान को पता ही नहीं है कि बीच में आप नाहक ही मालिक होने का शोरगुल मचा दिए थे। मकान ने सुना ही नहीं है। तुम नहीं थे, धन यहीं था। तुम नहीं रहोगे, धन यहीं रह जायेगा। सब ठाठ पड़ा रह जायेगा जब लाद चलेगा बनजारा! तो जो पड़ा जायेगा, उस पर तुम्हारा दावा झूठ है। इसलिए तो हिंदू कहते हैं: सबै भूमि गोपाल की! वह जो सब है, परमात्मा का है; मेरा कुछ भी नहीं। जिसने ऐसा जाना कि सब परमात्मा का है, मेरा कुछ भी नहीं, उसका मन चला गया।

मन बीमारी है। मन अस्तित्वगत नहीं है। मन केवल भ्रांति है। तुमने राह पर पड़ी रस्सी देखी और समझ लिया सांप और भागने लगे; कोई दीया ले आया और रस्सी रस्सी दिखाई पड़ गई और तुम हंसने लगे--बस मन ऐसा है। दीये से देख लो जरा--मन नहीं है। जैसे रस्सी में सांप दिख जाये, ऐसी मन की भ्रांति है। मन मान्यता है।

तो बुद्धपुरुषों को मन तो होता नहीं, इसलिए मानसिक दुख का तो कोई सवाल ही नहीं उठता। मानसिक दुख तो उन्हीं को होता है जिनके पास जितना बड़ा मन होता है।

तुम देखो इसे, समझो। गरीब देशों में मानसिक बीमारी नहीं होती। गरीब देश में मनोवैज्ञानिक का कोई अस्तित्व ही नहीं है। जितना अमीर देश हो उतनी ही ज्यादा मनोवैज्ञानिकों की जरूरत है, मनोचिकित्सकों की जरूरत है। अमरीका में तो शरीर का डाक्टर धीरे-धीरे कम पड़ता जा रहा है और मन का डाक्टर बढ़ता जा रहा है। स्वाभाविक! क्योंकि मन बड़ा हो गया है। धन फैल गया। "मेरे" का भाव फैल गया। आज अमरीका में जैसी समृद्धि है वैसी कभी जमीन पर किसी देश में नहीं थी। उस समृद्धि के कारण मन बड़ा हो गया है। मन बड़ा हो गया है तो मन की बीमारी बड़ी हो गई है। तो आज तो हालत ऐसी है कि करीब चार में से तीन आदमी मानसिक रूप से किसी न किसी प्रकार से रुग्ण हैं। चौथा भी संदिग्ध है। मनोवैज्ञानिक कहते हैं कि तीन का तो पक्का है कि चार में से तीन थोड़े अस्तव्यस्त हैं; चौथा भी संदिग्ध है, पक्का नहीं। सच तो यह है कि मनोवैज्ञानिक का भी कोई पक्का नहीं है कि वह खुद भी...। मैं जानता हूं अनुभव से, क्योंकि मेरे पास जितने मनोवैज्ञानिक संन्यासी हुए हैं उतना कोई दूसरा नहीं हुआ है। मेरे पास जिस व्यवसाय से अधिकतम लोग आये हैं संन्यास लेने, वह मनोवैज्ञानिकों का है--थिरैपिस्ट का, मनोविद, मनोचिकित्सकों का। और उनको मैं जानता हूं। उनकी तकलीफ है, भारी तकलीफ है। वे दूसरे की सहायता करने की कोशिश कर रहे हैं। डूबता डूबते को बचाने की कोशिश कर रहा है। वह शायद अपने-आप बच भी जाता, इन सज्जन के सत्संग में और डूबेगा। ऐसा कभी-कभी हो जाता है। कभी-कभी करुणा भी बड़ी महंगी पड़ जाती है।

मैं एक नदी के किनारे बैठा था। सांझ का वक्त था और एक आदमी वहां कुछ चने चुगा रहा था मछलियों को। हम दोनों ही थे और एक लड़का किनारे पर ही तैर रहा था। वह जरा दूर निकल गया और चिल्लाया कि मरा, डूबने लगा! तो वह जो आदमी चने चुगा रहा था, एकदम छलांग लगा कर कूद गया। इसके पहले कि मैं कूदूं, वह कूद गया। मैंने कहा, जब वह कूद गया तब ठीक है। मगर कूद कर ही वह चिल्लाने लगा कि बचाओ-बचाओ! तो मैं बड़ा हैरान हुआ। मैंने कहा, मामला क्या है? उसने कहा कि मुझे तैरना आता ही नहीं। और एक झंझट खड़ी हो गई--उन दो को बचाना पड़ा। अब यह सज्जन अगर उस बच्चे को बचाने...जब मैं निकाल कर उनको किसी तरह बाहर ले आया तो मैंने पूछा कि कुछ होश से चलते हो, जब तुम्हें तैरना ही नहीं आता...! तो उन्होंने कहा, याद ही न रही। जब वह बच्चा डूबने लगा तो यह मैं भूल ही गया कि मुझे तैरना नहीं आता। यह मामला इतनी जल्दी हो गया। डूबते देख कर कूद पड़ा बस।

पर कूदने के पहले यह तो सोच लेना चाहिए कि तुम्हें तैरना आता है!

पश्चिम में मन विक्षिप्त हुआ जा रहा है। जरूरत! बहुत-से लोग डूब रहे हैं, मन की बीमारी में डूब रहे हैं। बहुत-से लोग उन्हें बचाने की कोशिश कर रहे हैं। मैं बड़े से बड़े मनोवैज्ञानिकों का जीवन बहुत गौर से देखता रहा हूं, मैं बहुत हैरान हुआ हूं! खुद सिग्मंड फ्रायड मानसिक रूप से रुग्ण मालूम होता है, स्वस्थ नहीं मालूम

होता। जन्मदाता मनोविज्ञान का! कुछ चीजों से तो वह इतना घबड़ाता था कि अगर कोई किसी की मौत की बात कर दे तो वह कंपने लगता था। यह कोई बात हुई! अगर कोई कह दे कि कोई मर गया...उसने कई दफा चेष्टा करके अपने को सम्हालने की कोशिश की, मगर नहीं, दो दफे तो वह बेहोश हो गया। यह बात ही कि कोई मर गया कि वह घबड़ा जाये! मौत इतना डराये तो मन बड़ा रुग्ण है।

सच तो यह है कि यह कहना कि मन रुग्ण है, ठीक नहीं; मन ही रोग है। फिर जितना मन फैलता है...। आज अमरीका में मन का खूब फैलाव है। धन के साथ मन फैलता है। इसलिए तो मन धन चाहता है। धन फैलाव का ढंग है। धन मन की मांग है कि मुझे फैलाओ, मुझे बड़ा करो, गुब्बारा बनाओ मेरा, भरे जाओ हवा, बड़े से बड़ा करो! फिर बड़ा करने से जैसे गुब्बारा एक सीमा पर जा कर टूटता है, वैसा मन भी टूटता है। वही विक्षिप्तता है। तुम बड़ा किए चले जाते हो, बड़ा किए चले जाते हो, एक घड़ी आती है कि गुब्बारा टूटता है।

इसलिए मैं कहता हूं कि बहुत धनिक समाज ही धार्मिक हो सकते हैं। जब गुब्बारा टूटने लगता है, तब आदमी सोचता है कि कहीं कुछ और सत्य होगा; जिसे हमने सत्य माना था वह तो फूट गया, कि वह तो पानी का बुलबुला सिद्ध हुआ।

बुद्धपुरुष के पास तो कोई मन नहीं है, क्योंकि बुद्धपुरुष के पास "मेरा" नहीं, "तेरा" नहीं, "मैं" नहीं, "तू" नहीं। रस ही बचा। द्वंद्व तो गया। द्वंद्व के साथ ही भीतर बटाव-कटाव भी चला गया।

मनोवैज्ञानिक सीजोफ्रेनिया की बात करते हैं--मनुष्य के भीतर दो खंड हो जाते हैं; जैसे दो व्यक्ति हो गये एक ही आदमी के भीतर। तुमने भी अनुभव किया होगा। अधिक लोग सीजोफ्रेनिक हैं दुनिया में। तुमने कई दफे अनुभव किया होगा। तुम्हारी पत्नी बिलकुल ठीक से बात कर रही थी, सब मामला ठीक था, जरा तुमने कुछ कह दिया--कुछ ऐसा जो उसे न जंचा--बस बात बदल गई। अभी क्षण भर पहले तक बिलकुल लक्ष्मी थी, अब एकदम दुर्गा का रूप ले लिया, महाकाली हो गई! अब वह चाहती है कि तुम्हारी छाती पर नाचे; जैसे कि शिव की छाती पर महाकाली नाच रही है! तुम चौंकते हो कि जरा-सी बात थी, इतनी जल्दी कैसे रूपांतरण हुआ! यह महाकाली भी छिपी है। यह दूसरा हिस्सा है।

मित्र से सब ठीक चल रहा है, जरा-सी कोई बात हो जाये कि सब मैत्री दो कौड़ी में गई। जन्म-जन्म की मेहनत व्यर्थ गई। जरा-सी बात और दुश्मनी हो गई। जो तुम्हारे लिए मरने को राजी था, वह तुम्हें मारने को राजी हो जाता है। यह सीजोफ्रेनिया है। आदमी का कोई भरोसा नहीं, क्योंकि आदमी एक आदमी नहीं है; भीतर कई आदमी भरे पड़े हैं, भीड़ है।

मन तो एक भीड़ है। तुम बहुत आदमी हो। इस भीड़ का कोई भरोसा नहीं। सुबह तुम कहते हो, आपसे मुझे बड़ा प्रेम है। भरोसा मत करना। शाम को ये ही सज्जन जूता मारने आ जायें! भरोसा मत करना। और ऐसा नहीं कि अभी जो ये कह रहे हैं तो धोखा दे रहे हैं; अभी भी पूरे मन से कह रहे हैं और सांझ भी जूता मारेंगे तो पूरे मन से मारेंगे।

तुम जिसको प्रेम करते हो उसी को घृणा करते हो। और तुमने कभी खयाल नहीं किया कि यह मामला क्या है! जिस पत्नी के बिना तुम जी नहीं सकते, उसके साथ जी रहे हो! उसके बिना भी नहीं जी सकते हो, मायके चली जाती है तो बड़े सपने आने लगते हैं! एकदम सुंदर पत्र लिखने लगते हो। पति ऐसे पत्र लिखते हैं मायके गई पत्नी को कि उसको भी धोखा आ जाता है; सोचने लगती है कि यही आदमी है जिसके साथ मैं रहती हूं! लौट कर धोखा टूटेगा। लौट कर आयेगी तो बस पता चलेगा कि ये तो वही के वही सज्जन हैं जिनको छोड़ कर गई थी। ये एकदम कवि हो गये थे, रूमानी हो गये थे, आकाश में उड़े जा रहे थे! और ऐसा नहीं कि ये कोई झूठ लिख रहे थे; पत्र जब लिख रहे थे तो सच ही लिख रहे थे। वह भी मन का एक हिस्सा था। पत्नी के आते ही से वह हिस्सा विदा हो जायेगा; दूसरे हिस्से प्रगट हो जायेंगे।

जिससे प्रेम है उसी से घृणा भी चल रही है। जिससे मित्रता है उसी से शत्रुता भी बनी है। ऐसा द्वंद्व है। इस द्वंद्व में आदमी दुखी है। और इन द्वंद्वों को समेट कर चलने में बड़ी मुसीबत है। इसीलिए तो तुम इतने परेशान हो।

ऐसा कचरा-कूड़ा सब सम्हाल कर चलना पड़ रहा है। एक घोड़ा इस तरफ जा रहा है, एक घोड़ा उस तरफ जा रहा है। कोई पीछे खींच रहा है, कोई आगे खींच रहा है। कोई टांग खींच रहा है, कोई हाथ खींच रहा है। बड़ी फजीहत है। इस बीच तुम कैसे अपने को सम्हाले चले जा रहे हो, यही आश्चर्य है!

सिग्मंड फ्रायड ने लिखा है कि आदमी, सभी आदमी, पागल क्यों नहीं हैं--यह आश्चर्य है! होने चाहिए सभी पागल। अगर देखें आदमी के मन की हालत तो होने चाहिए सभी पागल। कुछ लोग कैसे अपने को सम्हाले हैं और पागल नहीं हैं; यह चमत्कार है।

बुद्धपुरुषों के पास कोई मन नहीं है, इसलिए मानसिक पीड़ा का कोई कारण नहीं।

तीसरा प्रश्न: परमहंस रामकृष्ण के जीवन में दो उल्लेखनीय प्रसंग हैं। एक कि वे एक हाथ में बालू और दूसरे में चांदी के सिक्के रख कर दोनों को एक साथ गंगा नदी में गिरा देते थे। और दूसरा कि जब स्वामी विवेकानंद ने उनके बिस्तर के नीचे चांदी का सिक्का छिपा दिया तो परमहंस देव बिस्तर पर लेटते ही पीड़ा से चीख उठे थे। महागीता के वीतरागता के सूत्र के संदर्भ में इन दो प्रसंगों पर हमें कुछ समझाने की अनुकंपा करें।

रामकृष्ण के जीवन के ये दोनों प्रसंग अब तक ठीक से समझे भी नहीं गये हैं; क्योंकि जिन्होंने इनकी व्याख्या की है, उन्हें परमहंस दशा का कुछ भी पता नहीं है। इनकी व्याख्या साधारण रूप में की गई है। रामकृष्ण एक हाथ में चांदी और एक हाथ में रेत को रख कर गंगा में गिरा देते हैं, तो हम समझते हैं कि रामकृष्ण के लिए चांदी और मिट्टी बराबर है। स्वभावतः, यह सीधा अर्थ हो जाता है। लेकिन अगर यही सच है कि रामकृष्ण के लिए सोना और मिट्टी, चांदी और मिट्टी बराबर है, तो दोनों हाथों में मिट्टी रख कर क्यों नहीं गिरा देते? एक हाथ में चांदी रख कर क्यों गिराते हैं? कुछ फर्क होगा। कुछ थोड़ा भेद होगा। नहीं, यह व्याख्या ठीक नहीं है।

रामकृष्ण के लिए तो कुछ भी भेद नहीं है। और यह गिराना भी रामकृष्ण के लिए अर्थहीन है। रामकृष्ण विरागी नहीं हैं, वीतरागी हैं। यह विरागी के लिए तो ठीक है कि विरागी कहता है मिट्टी-चांदी सब बराबर, सब मेरे लिए बराबर है, यह सोना भी मिट्टी है। यह विरागी की भाषा है। रामकृष्ण वीतरागी हैं। यह परमहंस की भाषा हो नहीं सकती। फिर रामकृष्ण ऐसा क्यों कर रहे हैं? यह उनके लिए कर रहे होंगे जो उनके आसपास थे। यह उनके लिए संदेश है। जो राग में पड़ा है, उसे पहले विराग सिखाना पड़ता है। जो विराग में आ गया, उसे फिर वीतरागता सिखानी पड़ती है। कदम-कदम चलना होता है। और रामकृष्ण कहते थे, हर अनुभव से गुजर जाना जरूरी है।

तुम बहुत चकित होओगे, मैं तुम्हें उनके जीवन का एक उल्लेख बताऊं। शायद तुमने कभी सुना भी न हो, क्योंकि उनके भक्त उसकी बहुत चर्चा नहीं करते। जरा उलझन भरा है।

रामकृष्ण ने एक दिन मथुरानाथ को--उनके एक भक्त को--कहा कि सुन मथुरा, किसी को बताना मत, मेरे मन में रात एक सपना उठा कि सुंदर बहुमूल्य सिल्क के कपड़े पहने हुए हूं, गद्दात्तकिया लगा कर बैठा हूं और हुक्का गुड़गुड़ा रहा हूं। और हुक्का गुड़गुड़ाते मैंने देखा कि मेरे हाथ पर जो अंगूठी सोने की बड़ी शानदार है, उसमें हीरा जड़ा है। अब तुझे इंतजाम करना पड़ेगा, क्योंकि जरूर यह सपना उठा तो जरूर यह वासना मेरे भीतर होगी। इसको पूरा करना पड़ेगा, नहीं तो यह वासना मुझे भटकायेगी। अगली जिंदगी में आना पड़ेगा, हुक्का गुड़गुड़ाना पड़ेगा। तो तू इंतजाम कर दे, किसी को बताना मत। लोग तो समझेंगे नहीं।

तो मथुरा तो उनका बिलकुल पागल भक्त था। उसने कहा कि ठीक। वह गया। वह चोरी-छिपे सब इंतजाम कर लाया। बहुमूल्य हीरे की अंगूठी खरीद लाया। शानदार हुक्का लखनवी! बहुमूल्य से बहुमूल्य रेशमी वस्त्र। और आश्रम के पीछे गंगा के तट पर उसने गद्दात्तकिया लगा दिया और रामकृष्ण बैठे शान से गद्दात्तकिया लगा कर अंगुली में अंगूठी डाल कर हुक्का बगल में ले कर गुड़गुड़ाना शुरू किया। वह पीछे छिपा झाड़ के देख

रहा है कि मामला अब क्या होता है! वे अंगूठी देखते जाते हैं और कहते हैं कि "ठीक, बिलकुल वही है। देख ले रामकृष्ण, ठीक से देख ले। और खूब मजा ले ले प्यारे, नहीं तो फिर आना पड़ेगा।" कपड़ा भी छू कर देखते हैं कि ठीक बड़ा गुदगुदा है। कहते हैं, "रामकृष्ण, ठीक से देख ले, नहीं तो फिर इसी कपड़े के पीछे आना पड़ेगा। भोग ले!" हुक्का गुड़गुड़ाते हैं और कहते हैं, "रामकृष्ण, ठीक से गुड़गुड़ा ले!" बस एक-दोत्तीन-चार मिनट यह चला, पांच मिनट चला होगा। फिर खिलखिला कर खड़े हो गये, अंगूठी गंगा में फेंक दी, हुक्का तोड़ कर उस पर थूका और उसके ऊपर कूदे और कपड़े फाड़ कर...। तो मथुरा घबड़ाया कि अब ये क्या पागल हो रहे हैं। एक तो पहले ही यह पागलपन था--यह हुक्का गुड़गुड़ाना। किसी को पता चल जाये तो कोई माने भी न! अगर मैं हुक्का गुड़गुड़ाऊं तो लोग मान भी लें कि चलो गुड़गुड़ा रहे होंगे, इनका कुछ भरोसा नहीं। लेकिन रामकृष्ण हुक्का गुड़गुड़ायें, मथुरा भी किसी को कहेगा तो कोई मानने वाला नहीं है। और अब यह क्या हो रहा है! और उन्होंने गद्देत्तकिए भी उठा कर गंगा में फेंक दिए। नंग-धड़ंग हो गये, सब कपड़े फाड़ डाले और मथुरा को बुलाये कि खतम! अब आगे आने की कोई जरूरत न रही। देख लिया, कुछ सार नहीं है।

रामकृष्ण का कहना यह था कि जो भी भाव उठे, उसे पूरा कर ही लेना। रामकृष्ण भगोड़ापन नहीं सिखाते थे। विराग उनकी शिक्षा न थी। वे कहते थे, राग में हो तो राग को ठीक से भोग लो, लेकिन जानते रहना: राग से कभी कोई तृप्त नहीं हुआ।

तो यह जो संस्मरण है कि चांदी और मिट्टी को एक साथ में ले कर और गंगा में डाल देते थे, यह जिसके सामने डाली होगी, उस आदमी के लिए इसमें कुछ इशारा होगा। इससे रामकृष्ण की चित्त की दशा का पता नहीं चलता। यह उपदेश है। और जब भी तुम महापुरुषों के, परमज्ञानियों के उपदेश सुनो, तो इस बात का ध्यान रखना कि किसको दिए गये! क्योंकि देने वाले से कम संबंध है; जिसको दिए गये उससे ज्यादा संबंध है। यह किसी धनलोलुप के लिए कही गई बात होगी। कोई धनलोलुप पास में खड़ा होगा। उसको यह बोध देने के लिए किया होगा। रामकृष्ण की चित्त दशा में तो क्या मिट्टी, क्या सोना! इतना भी भेद नहीं है कि अब एक हाथ में सोना और एक हाथ में रेत ले कर याद दिलायें। और अगर विवेकानंद ने उनके तकिए के नीचे चांदी के सिक्के रख दिए और वे पीड़ा से कराह उठे तो विवेकानंद के लिए कुछ शिक्षा होगी। कुछ शिक्षा होगी कि सावधान रहना। कुछ शिक्षा होगी कि तू जा रहा है पश्चिम, वहां धन ही धन की दौड़ है, कहीं खो मत जाना, भटक मत जाना! यह जो पीड़ा से कराह उठे हैं, यह तो सिर्फ विवेकानंद पर एक गहन संस्कार छोड़ देने का उपाय है, ताकि उसे याद बनी रहे, यह बात भूले न, यह एक चांटे की तरह उस पर पड़ गई बात कि रामकृष्ण को चांदी छू कर ऐसी पीड़ा हो गई थी। तो चांदी जहर है। कहने से यह बात शायद इतनी गहरे न जाती। कहते तो वे रोज थे। सुनने से शायद यह बात न मन में प्रविष्ट होती, न प्रवेश करती; लेकिन यह घटना तो जलते अंगारे की तरह छाती पर बैठ गई होगी विवेकानंद के। यह विवेकानंद के लिए संदेश था इसमें। सदगुरुओं के संदेश बड़े अनूठे होते हैं।

ऐसा उल्लेख है कि विवेकानंद--रामकृष्ण तो चले गये देह को छोड़ कर--विवेकानंद पश्चिम जाने की तैयारी कर रहे हैं। तो वे एक दिन शारदा, रामकृष्ण की पत्नी को मिलने गये। आज्ञा लेने, आशीर्वाद मांगने। तो वह चौके में खाना बना रही थी। रामकृष्ण के चले जाने के बाद भी शारदा सदा उनके लिए खाना बनाती रही, क्योंकि रामकृष्ण ने मरते वक्त कहा आंख खोल कर कि मैं जाऊंगा कहां, यहीं रहूंगा। जिनके पास प्रेम की आंख है, वे मुझे देख लेंगे। तू रोना मत शारदा, क्योंकि तू विधवा नहीं हो रही है, क्योंकि मैं मर नहीं रहा हूं; मैं तो हूं, जैसा हूं वैसे ही रहूंगा। देह जाती है, देह से थोड़े ही तू ब्याही गई थी!

तो सिर्फ भारत में एक ही विधवा हुई है शारदा, जिसने चूड़ियां नहीं तोड़ीं, क्योंकि तोड़ने का कोई कारण न रहा। और शारदा रोई भी नहीं। वह वैसे ही सब चलाती रही। अदभुत स्त्री थी। आ कर ठीक समय पर जैसा रामकृष्ण का समय होता भोजन का, वह आ कर कहती कि "परमहंस देव, भोजन तैयार है, थाली लग गई

है, आप चलें।" फिर थाली पर बैठ कर पंखा झलती। फिर बिस्तर लगा देती, मसहरी डाल देती और कहती, "अब आप सो जायें। फिर दोपहर में सत्संगी आते होंगे।" ऐसा जारी रहा क्रम।

तो वह परमहंस के लिए--परमहंस तो जा चुके--भोजन बना रही थी। विवेकानंद गये और उन्होंने कहा कि "मां, मैं पश्चिम जाना चाहता हूं परमहंस देव का संदेश फैलाने। आज्ञा है? आशीर्वाद है?" तो शारदा ने कहा कि "विवेकानंद, वह जो छुरी पड़ी है, उठा कर मुझे दे दे।" सब्जी काटने की छुरी! साधारणतः कोई भी छुरी उठा कर देता है तो मूठ अपने हाथ में रखता है, लेकिन विवेकानंद ने फल तो अपने हाथ में पकड़ा और मूठ शारदा की तरफ करके दी। शारदा ने कहा: "कोई जरूरत नहीं, रख दे वहीं। यह तो सिर्फ एक इशारा था जानने के लिए। तू जा सकता है।" विवेकानंद ने कहा: "मैं कुछ समझा नहीं।" शारदा ने कहा: "आशीर्वाद है मेरा, तू जा सकता है। यह तो मैं जानने के लिए देखती थी कि तेरे मन में महाकरुणा है या नहीं। साधारणतः तो आदमी मूठ अपने हाथ में रखता है कि हाथ न कट जाये और छुरे की धार दूसरे की तरफ करता है कि पकड़ लो, तुम कटो तो कटो, हमें क्या लेना-देना! लेकिन तूने धार तो खुद पकड़ी और मूठ मेरी तरफ की, बस बात हो गई। तू जा। तुझे आशीर्वाद है। तुझसे किसी की कभी कोई हानि न होगी, लाभ होगा।"

याद रखना, जब गुरु बोले तो शिष्य पर ध्यान रखना, क्योंकि गुरु शिष्य के लिए बोलता है। ये दोनों घटनाएं शिष्यों के लिए हैं। रामकृष्ण के तल पर तो क्या अंतर पड़ता है! न मिट्टी मिट्टी है, न सोना सोना है। मिट्टी भी मिट्टी है, सोना भी मिट्टी है, मिट्टी भी सोना है। सब बराबर है। जहां एक रस का उदय हुआ, जहां सब भेद खो गये, जहां एक ही परमात्मा दिखाई पड़ने लगा--फिर सभी उसके ही बनाये गये आभूषण हैं।

रामकृष्ण परम वीतराग दशा में हैं। विरागी नहीं हैं, न रागी हैं--दोनों के पार हैं। अष्टावक्र जिस सूत्र की बात कर रहे हैं--सरक्त-विरक्त के पार--वहीं हैं रामकृष्ण।

चौथा प्रश्न: आप कहते हैं कि "भागो मत, जागो! साक्षी बनो!" लेकिन नौकरी के बीच रिश्वत से और रिश्तेदारों के बीच मांस-मदिरा से भागने का मन होता है। साक्षी बने बिना कोयले की खान में रहने से कालिख तो लगेगी ही। हमें समझाने की मेहरबानी करें!

जब मैं तुमसे कहता हूं, साक्षी बनो, तो इसका अर्थ यह नहीं है कि मैं तुमसे कहता हूं कि तुम जैसे हो वैसे ही बने रहोगे। साक्षी में रूपांतरण है। मैं तुमसे यह नहीं कह रहा हूं कि साक्षी बनोगे तो तुम बदलोगे नहीं। साक्षी तो बदलने का सूत्र है। तुम साक्षी बनोगे तो बदलाहट तो होने ही वाली है। लेकिन वह बदलाहट भगोड़े की न होगी, जागरूक व्यक्ति की होगी।

समझो। तुम डर कर रिश्वत छोड़ दो, क्योंकि धर्मशास्त्र कहते हैं: "नरक में सड़ोगे अगर रिश्वत ली। स्वर्ग के मजे न मिलेंगे अगर रिश्वत ली। चूकोगे अगर रिश्वत ली।" इस भय और लोभ के कारण तुम रिश्वत छोड़ देते हो--यह भगोड़ापन है। और जिस कारण से तुम रिश्वत छोड़ रहे हो, वह कुछ रिश्वत से बड़ा नहीं है। वह भी रिश्वत है। वह तुम स्वर्ग में जाने की रिश्वत दे रहे हो कि चलो, यहां छोड़े देते हैं, वहां प्रवेश दिलवा देना। तुम परमात्मा से कह रहे हो कि देखो तुम्हारे लिए यहां हमने इतना किया, तुम हमारा खयाल रखना। रिश्वत का और क्या मतलब है?...कि हम तुम्हारी प्रार्थना करते हैं।

तुमने देखा, भक्त जाता है मंदिर में, स्तुति करता...स्तुति यानी रिश्वत। "स्तुति" शब्द भी बड़ा महत्वपूर्ण है। इसका मतलब होता है: खुशामद। स्तुति करता है कि तुम महान हो और हम तो दीन-हीन; और तुम पतितपावन और हम तो पापी! अपने को छोटा करके दिखाता है, उनको बड़ा करके दिखाता है। यह तुम किसको धोखा दे रहे हो? यही तो ढंग है खुशामद का। इसी तरह तो तुम राजनेता के पास जाते हो और उसको

फुलाते हो कि "तुम महान हो, कि आपके बाद देश का क्या होगा! अंधकार ही अंधकार है!" पहले उसे फुलाते हो और अपने को कहते हो, "हम तो चरण-रज हैं, आपके सेवक हैं।" जब वह खूब फूल जाता है, तब तुम अपना निवेदन प्रस्तुत करते हो। फिर वह इनकार नहीं कर सकता, क्योंकि इतने महान व्यक्ति से इनकार निकले, यह बात जंचती नहीं। मजबूरी में उसे स्वीकार करना पड़ता है। तुम सीधे जा कर मांग खड़ी कर देते, निकलवा देता दरवाजे के बाहर। खुशामद राजी कर लेती है। तुम परमात्मा के साथ भी वही कर रहे हो।

नहीं, यह कुछ रिश्वत से बेहतर नहीं है। यह रिश्वत ही है। यह एक बड़े पैमाने पर रिश्वत है।

यह तो मेरा आदेश नहीं। मैं तुमसे कहता हूं: जागो! मैं तुमसे यह नहीं कहता कि रिश्वत लेने से नरक में पड़ोगे, क्योंकि कुछ पक्का नहीं है। अगर रिश्वत चलती है तो वहां भी चलती होगी। अगर ठीक से रिश्वत दे पाये तो वहां भी बच जाओगे। अगर शैतान की जेब गरम कर दी तो तुम पर जरा नजर रखेगा; जरा कम जलते कढ़ाए में डालेगा। या तुम्हें कुछ ऐसे काम में लगा देगा कि तुम...कढ़ाए में डालने के लिए भी तो लोगों की जरूरत पड़ती होगी...तुम्हें स्वयं सेवक बना देगा कि तुम चलो, यह काम करो। और पक्का नहीं है कुछ, स्वर्ग के दरवाजे पर भी कोई नहीं जानता कि रिश्वत चलती हो। क्योंकि जो यहां है सो वहां है। जैसा यहां है वैसा वहां है।

इजिप्त का पुराना सूत्र है: "एज़ अबव सो बिलो।" जैसा ऊपर वैसा नीचे। मैं कहता हूं: जैसा नीचे वैसा ऊपर। क्योंकि एक ही तो अस्तित्व है। यह एक ही अस्तित्व का फैलाव है। तो मैं तुमसे नहीं कहता कि तुम रिश्वत इसीलिए छोड़ दो कि नरक में न जाओ। अगर नरक में न ही जाना हो तो मैं मानता हूं कि तुम रिश्वत का अभ्यास जारी रखो, काम पड़ेगा। अगर स्वर्ग में जाने का पक्का ही कर लिया हो तो खूब पुण्य के सिक्के इकट्ठे कर लो, वे काम पड़ेंगे।

और तुम्हारे देवी-देवता कुछ बहुत अच्छी हालत में मालूम नहीं होते। तुम अपने पुराण पढ़ कर देख लो, तो इनसे कुछ ऐसी तुम आशा करते हो कि ये कोई साधु-महात्मा हैं, ऐसा मालूम नहीं पड़ता।

तुम देखते हो, जरा कोई महात्मा महात्मापन में बढ़ने लगता है, इंद्र का सिंहासन कंपने लगता है! यह भी बड़े मजे की बात है। यह इंद्र को इतनी घबड़ाहट होने लगती है। यहां भी प्रतिस्पर्धा है। यहां भी डर है कि दूसरा प्रतियोगी आ रहा है, कि ये चले आ रहे हैं जयप्रकाश नारायण, घबड़ाहट है! उपद्रव है! जैसा यहां है वैसा वहां मालूम पड़ता है। तपस्वी ध्यान कर रहे हैं, इंद्र घबड़ा रहे हैं। और देवताओं के बीच बड़े उपद्रव हैं। कोई किसी की पत्नी ले कर भाग जाता है, कोई किसी को धोखा दे देता है। यहां तक कि देवता आ कर जमीन पर दूसरों की पत्नियों के साथ संभोग कर जाते हैं; ऋषि-मुनियों की पत्नियों को दगा दे जाते हैं। वे बेचारे ध्यान इत्यादि कर रहे हैं, अपनी माला जप रहे हैं। इन पर तो दया करो! इनका तो कुछ खयाल करो। मगर नहीं, कोई इसकी चिंता नहीं है।

तुम अपने पुराण पढ़ो तो तुम पाओगे तुमसे भिन्न तुम्हारे देवता नहीं हैं। तुम्हारा ही विस्तार हैं। तुम्हीं को जैसे और बड़े रूप में पैदा किया गया हो। तुम्हारी जितनी वृत्तियां हैं, सब मौजूद हैं। कोई वृत्ति कम नहीं हो गई है। धन के लिए लोलुप हैं, पद के लिए लोलुप हैं, वासनाओं से भरे हैं--अब और क्या चाहिए! और क्या फर्क होने वाला है!

तो अगर तुम डर कर ही भाग रहे हो तो मैं कहता हूं तुम बड़ी मुश्किल में पड़ोगे। तुम यहां भी चूकोगे, वहां भी चूकोगे। डर कर भागने को मैं नहीं कहता। मैं तो तुमसे कहता हूं: रिश्वत में दुख है। फर्क समझ लेना। नरक मिलेगा, ऐसा नहीं--नरक मिलता है अभी, यहीं। चोरी में दुख है। मैं यह नहीं कहता कि चोरी के फल में दुख मिलेगा। चोरी में दुख है। वह चोर हो जाने में ही पीड़ा है, आत्मग्लानि है, कष्ट है, अग्नि है। कहीं कढ़ाए कोई जल रहे हैं, जिनमें तुम्हें फेंका जायेगा--ऐसा नहीं। चोरी करने में ही तुम अपना कढ़ाहा खुद जला लेते हो। अपनी ही चोरी की आग में खुद जलते हो। झूठ बोलते हो, तुम्हीं पीड़ा पाते हो।

तुमने खयाल नहीं किया कि जब सत्य बोलते हो तो फूल जैसे खिल जाते हो! जब झूठ बोलते हो तो कैसी कालकोठरी में बंद हो जाते हो! एक झूठ बोलो तो दस बोलने पड़ते हैं। फिर एक को बचाने के लिए दूसरा, दूसरे को बचाने के लिए तीसरा--एक सिलसिला है, जिसका फिर कोई अंत नहीं होता।

सच के साथ एक मजा है। सत्य बांझ है, उसकी संतति नहीं होती। सत्य पहले से ही बर्थकंट्रोल कर रहा है। एक दफा बोल दिया, मामला खत्म। उनकी कोई पैदाइश नहीं है कि फिर उनके बच्चे और उनके बच्चे! झूठ बिलकुल हिंदुस्तानी है, लाइन लगा देता है बच्चों की! और बाप पैदा कर रहा है और उनके बेटे भी पैदा करने लगते हैं और उनके बेटे भी पैदा करने लगते हैं--और एक संयुक्त परिवार है झूठ का, उसमें काफी लोग रहते हैं। और एक झूठ दूसरे झूठ को ले आता है। तुम जब झूठ से घिरते हो तो निकलना मुश्किल हो जाता है।

तुम खयाल करना, देखना, एक झूठ दूसरे में ले जाता है। और पहला झूठ छोटा होता है, दूसरा और बड़ा चाहिए; क्योंकि बचाने के लिए बड़ा झूठ चाहिए। फिर झूठ बड़ा होता जाता है। तुम दबते जाते हो झूठ के पहाड़ के नीचे। तुम सड़ने लगते हो।

तुम क्रोध करके देखो। जब तुम प्रेम करते हो तब तुम्हारे भीतर एक सुवास उठती है, एक संगीत! कोई पायल बज उठती है! क्षण भर को तुम स्वर्ग में होते हो। जब तुम क्रोध करते हो, तुम नर्क में गिर जाते हो।

मैं तुमसे कहता हूं कि स्वर्ग और नर्क कहीं भौगोलिक अवस्थाएं नहीं हैं। स्वर्ग और नर्क तुम्हारे चित्त की दशायें हैं। प्रतिक्षण तुम स्वर्ग और नर्क के बीच डोलते हो; जैसे घड़ी का पेंडुलम डोलता है।

मैं कहता हूं: साक्षी बनो, भगोड़े नहीं। भगोड़े में तो लोभ, मोह, भय...। भगोड़ा यानी भय से जो भागा। साक्षी का मतलब है: जो बोध में जागा। तुम जाग कर देखो। फिर जो जाग कर देखने में सुंदर, सत्य, शिवम; जो प्रीतिकर, आह्लादकारी, रसपूर्ण लगे--स्वभावतः तुम उसे भोगोगे। और जो कांटा चुभाये, दुख लाये, नर्क लाये, स्वभावतः तुम्हारे हाथ से गिरने लगेगा।

तुम पूछते हो कि "आप कहते हैं भागो मत, जागो। साक्षी बनो। लेकिन नौकरी के बीच रिश्वत से और रिश्तेदारों के बीच मांस-मदिरा से भागने का मन होता है।"

भागने से क्या होगा? रिश्तेदार तुम्हारे हैं। तुम दूसरी जगह जा कर रिश्तेदार खोज लोगे। जाओगे कहां? तुम सोचते हो, तुम्हारे गांव में ही शराबी हैं! जिस गांव में जाओगे वहां शराबी हैं। एक नौकरी छोड़ोगे, दूसरी नौकरी पर जाओगे, वहां रिश्वत चल रही है। तुम भागोगे कहां? भागने से कुछ भी न होगा। जागो! कौन तुम्हें जबर्दस्ती शराब पिला रहा है? तुम जाग जाओ, तुम पीयोगे नहीं। तुम कभी नहीं कहते कि फलां आदमी नहीं माना, इसलिए जहर पी लिया। कि नहीं, वह बहुत आग्रह कर रहा था, इसलिए पी लिया। तुम जहर को जानते हो तो पीते नहीं। कोई कितने ही आग्रह करे, कोई कितनी ही खुशामद करे, तुम कहोगे: "बंद करो बकवास! यह भी कोई बात हुई! जहर!" शराब अगर तुम्हें जागरण में जहर दिखाई पड़ गई तो कौन पीता है, कौन पिलाता है? शायद तुम्हारी मौजूदगी दूसरों के पीने में भी बाधा बन जाये। कोई तुम्हें पिला नहीं सकता। कोई उपाय नहीं है।

इस जगत में तुम जो हो, दूसरों पर जिम्मेदारी मत डालो। वह तरकीब है बचने की: "क्या करें, रिश्तेदार मांस-मदिरा खाते हैं।" नहीं, तुम खाना चाहते हो, रिश्तेदारों पर टाल रहे हो। तुम जागना नहीं चाहते; तुम कहते हो, मजबूरी है, करना पड़ता है!

लेकिन मैं तुमसे कहता हूं: इस दुनिया में कोई चीज तुम मजबूरी से नहीं कर रहे हो। तुम करना चाहते हो, इसलिए कर रहे हो। मजबूरी तो तरकीब है। वह तो तुम्हारा रैशनालाइजेशन है। वह तो तुम कहते हो: "ऐसी स्थिति है, नहीं करेंगे तो कैसे चलेगा!" न चले, क्या करेंगे रिश्तेदार? तुम्हें निमंत्रण पर नहीं बुलायेंगे। अच्छा है। तुम सौभाग्यशाली! धन्यवाद दे देना कि बड़ी कृपा आपकी कि अब नहीं बुलाते।

रिश्वत न लोगे--थोड़ी गरीबी होगी, थोड़ी मुश्किल होगी--ठीक है। मैं तुमसे कह भी नहीं रहा कि तुम ईमानदार रहोगे तो छप्पर खोल कर परमात्मा तुम्हारे घर में धन बरसा देगा। और जो तुमसे ऐसा कहते हैं वे झूठे हैं। और वे तुम्हें धोखा देते हैं। और उनके कारण दुनिया में बड़ी बेईमानी है।

मेरे पास लोग आते हैं। वे कहते हैं: "हम ईमानदार हैं, लेकिन बेईमान मजा कर रहे हैं!" मैंने कहा: तुमसे कहा किसने कि ईमानदार मजा करेंगे? जिन्होंने कहा, उन्होंने तुम्हें धोखा दे दिया। वह मजे की बात ही तो बेईमान बनने का सूत्र है। बेईमान मजे कर रहे हैं! और तुम ईमानदार हो, तुम मजा नहीं कर रहे! मजा क्या है?

वे कहते हैं: "बेईमानों ने बड़ा मकान बना लिया।" तो अगर बड़ा मकान बनाना है तो तुम बड़ा उपाय कर रहे हो। तुम बेईमानी की तकलीफ भी नहीं भोगना चाहते और बड़ा मकान भी बनाना चाहते हो--ईमानदार रह कर! ईमानदार हो तो मकान छोटा ही रहेगा।

लेकिन छोटे मकान के भी सुख हैं! बड़े मकान में ही सुख होते, यह तुमसे कहा किसने? तुमने बड़े मकान में रहते आदमी को सुखी देखा है? मुश्किल से देखोगे। बहुत धन में सुख होता है, ऐसा तुमसे कहा किसने? बड़े से बड़े सम्राट को सुख की नींद आती है? बड़े से बड़े धनी को शांति है? चैन है? नहीं, लेकिन तुम बाहर का रख-रखाव देखते हो...। तुम्हारा दिल भी तो इन्हीं चीजों पर है कि "मकान तो हमारे पास भी बड़ा हो, कार हमारे पास भी बड़ी हो, धन का अंबार लगे--और लग जाये ईमानदारी से और रिश्वत लेना न पड़े! और हम अपनी माला जपते, ध्यान भी करते रहें और ये सब चीजें भी साथ आ जायें!" तुम असंभव की मांग कर रहे हो। तो फिर बेईमान के साथ अन्याय हो जायेगा। बेचारा बेईमानी भी करे, बेईमानी की तकलीफ भी भोगे, बेईमानी का नरक भी झेले और बड़ा मकान भी न बना पाये! तुम ईमानदारी का भी मजा लो और बड़े मकान का भी--दोनों हाथ लड्डू! एक हाथ उसको भी लेने दो। वह काफी तकलीफ झेल रहा है। और जितनी तकलीफ झेल रहा है उतना उसको मिल नहीं रहा है, इतना मैं तुमसे कहे देता हूं। जो मिल रहा है वह कूड़ा-कर्कट है; तकलीफ वह बहुत बड़ी झेल रहा है; आत्मा बेच रहा है और कचरा इकट्ठा कर रहा है।

लेकिन तुम्हारी नजर भी कचरे पर लगी है। तुम कहते हो, "देखो, उसके पास कचरे का कितना ढेर लग गया है! हमारे पास बिलकुल नहीं है। यहां कोई कचरा डालता ही नहीं है! हम बैठे रहते हैं सड़क के किनारे, यहां कोई कचरा डालता नहीं। बेईमानों के पास लोग कचरा डाल रहे हैं।"

नहीं, तुम्हारी नजर खराब है। तुम बेईमान हो। और कायर हो! तुम बेईमानी की हिम्मत भी नहीं करना चाहते और तुम, बेईमान को जो मिलता है बेईमानी से, वह भी पाना चाहते हो। तुम बिना दौड़े प्रतियोगिता में प्रथम आना चाहते हो। तुम कहते हो: "देखो, हम तो बैठे हैं, फिर भी प्रथम नहीं आ रहे! और ये लोग दौड़ रहे हैं और प्रथम आ रहे हैं!" तो जो दौड़ेंगे, वे प्रथम आयेंगे, लेकिन दौड़ने की तकलीफ, दौड़ने की परेशानी, दौड़ने का पसीना, जद्दोजहद--वे झेलते हैं। तुम बैठे-बैठे प्रथम आना चाहते हो। तुम चाहते हो कि परमात्मा कोई चमत्कार करे। क्यों? क्योंकि तुमने रिश्वत नहीं ली है।

रिश्वत लेना पाप हो, न लेना कोई पुण्य नहीं है। चोरी करना पाप हो, न करना कोई पुण्य नहीं है। इसको खयाल में रखो। इतने से कुछ नहीं होगा कि तुमने चोरी नहीं की। चोरी नहीं की तो ठीक है, तुम चोरी करने की तकलीफ से बच गये। और चोरी करने की तकलीफ से जो थोड़े-बहुत सुख का प्रलोभन मिलता है, आशा बंधती है, उससे भी तुम बच गये। तुम झंझट के बाहर रहे। बस इतना क्या कम है? इतना फल क्या थोड़ा है?

मैं जब तुमसे कहता हूं जागो, तो मेरा मतलब यह है कि तुम जीवन की सारी स्थिति को आंख भर कर देखो। फिर उस देखने से ही क्रांति घटनी शुरू होती है। तुम देखते हो कि जो व्यर्थ है वह दुख देता है। अभी देता है, यहीं देता है, तत्क्षण देता है। धीरे-धीरे उस दुख से तुम्हारा छुटकारा होने लगता है। और जब तुम्हारे जीवन के सारे दुख खो जाते हैं तो सुख का सितार बजता है। सुख का सितार तो तुम्हारे भीतर बज ही रहा है। ये जो

दुख के नगाड़े तुम बजा रहे हो, इनकी वजह से सितार सुनाई नहीं पड़ता; उसकी आवाज धीमी, बारीक है। सूक्ष्म रस तो बह ही रहा है, लेकिन तुम्हारे आसपास दुख के इतने परनाले बह रहे हैं, ऐसी बाढ़ आई है दुख की, कि वह जो रस की क्षीण धार है उसका पता नहीं चलता। वह जो एक किरण है परमात्मा की तुम्हारे भीतर, तुम्हारे कृत्य के अंधकार में खो गई है; तुम्हारे अहंकार की अंधेरी रात में दब गई है।

तुम जरा जागो तो तुम्हारे जीवन में क्रांति अपने-आप आ जायेगी। रिश्तेदार न छोड़ने पड़ेंगे और न नौकरी से भागना पड़ेगा। यह तो मैं पहली बात कहता हूं। लेकिन मैं यह नहीं कह रहा हूं कि तुम्हारे जीवन में रूपांतरण न होगा। हो सकता है, साक्षी-भाव में जागने पर ऐसी स्थिति आ जाये कि तुम्हारा सारा प्राणपण से जंगल जाने का भाव उठे। वह भगोड़ापन नहीं है फिर।

मैं कहता हूं: सब भगोड़े जंगल पहुंच जाते हैं, लेकिन सब जंगल पहुंचने वाले भगोड़े नहीं हैं। कभी-कभी तो कोई सहज स्वभाव से जंगल जाता है। एक सहज आकांक्षा, कोई भगोड़ापन नहीं है। जिंदगी से ऊब कर नहीं, डर कर नहीं, किसी पुण्य पुरस्कार के लिए नहीं--जंगल का आवाहन! वह जंगल की हरियाली किसी को बुलाती है! जंगल का रस किसी को खींचता है।

"कृष्ण मोहम्मद" यहां पीछे बैठे हैं। वे मिलानो में थे, बड़ी नौकरी पर थे, छोड़ कर आ गये। भगोड़े नहीं हैं, जीवन से भागे नहीं हैं। तो जब यहां आये तो जंगल जा रहे थे, इरादा था कि कहीं पंचगनी में दूर जा कर कुटी बना कर बैठ जायेंगे। इधर बीच में उन्हें मैं मिल गया तो मैंने कहा: "कहां जाते हो?" तो वे राजी हो गये। भगोड़े होते तो राजी न होते। उन्होंने कहा: "ठीक है, आप आज्ञा देते हैं तो यहीं रह जाऊंगा।" भगोड़े में तो जिद्द होती है। शांति की तलाश थी। मैंने कहा: "पंचगनी पर क्या होगा? मैं यहां मौजूद हूं, इससे बड़ा पहाड़ तुम्हें मिलना मुश्किल है! तुम यहीं रुक जाओ! तुम्हारी कुटिया यहीं बना लो।" एक बार भी "ना" न कहा। "हां" भर दी कि ठीक, यहीं रुक जाते हैं। भागे नहीं हैं, लेकिन शांति की तरफ एक बुलावा आ गया है, एक निमंत्रण आ गया है--शांत होना है!

तो मैं यह नहीं कहता कि तुम अगर शांत हो जाओ, साक्षी बन जाओ, आनंद से भर जाओ तो जरूरी नहीं कह रहा हूं कि तुम रहोगे ही घर में। हो सकता है तुम चले जाओ; लेकिन उस जाने का गुणधर्म अलग होगा। तब तुम कहीं भाग नहीं रहे हो, कहीं जा रहे हो। फर्क समझ लो। भगोड़ा कहीं से भागता है। उसकी नजर, कहां जा रहा है, इस पर नहीं होती; कहां से जा रहा है, इस पर होती है। घर, परिवार, पत्नी, बच्चे--यह भगोड़ा है। लेकिन अगर तुम साक्षी हो तो कभी हिमालय की पुकार आती है। तब तुम हिमालय की तरफ जा रहे हो। तब एक अदम्य पुकार है, जिसे रोकना असंभव है। तब कोई खींचे लिए जा रहा है; तुम भाग नहीं रहे, कोई खींचे लिए जा रहा है। कोई सेतु जुड़ गया है। पुकार आ गई। स्वभाव से अगर तुम जाओ तो सौभाग्यशाली हो। भाग कर गये तो दुख पाओगे।

मैं तुमसे कहता हूं: अगर तुम कभी भाग जाओ और जंगल में बैठ जाओ झाड़ के नीचे, तुम रास्ता देखोगे कि कोई आता ही नहीं। रिश्वत का रास्ता नहीं देखोगे; अब रास्ता देखोगे कि कोई भक्त आ जाये, पैर पर कुछ चढ़ा जाये। वह मतलब वही है। चढ़ौतरी कहो कि रिश्वत कहो। राह देखोगे कि कोई भक्त आ जाये, कोई मित्र आ जाये, कोई शिष्य बन जाये तो छप्पर डाल दे। अब वर्षा करीब आ रही है, अब यहां झाड़ के नीचे कैसे बैठेंगे! तुम यही सब चिंता-फिक्र में रहोगे। और देर न लगेगी, कोई न कोई बोतल लिए आ जायेगा। क्योंकि जो मांगो इस जगत में, मिल जाता है। यही तो मुश्किल है। एक दिन तुम देखोगे चले आ रहे हैं कोई बोतल लिए, क्योंकि शराब-बंदी हुई जा रही है तो जिनको भी बोतलें भरनी हैं वे भी जंगल की तरफ जा रहे हैं। वहीं जंगल में बनेगी अब शराब। अब तुम कहोगे, यह भी बड़ी मुसीबत हो गई, अब ये आ गये एक सज्जन ले कर बोतल, अब न पीयो तो भी नहीं बनता, शिष्टाचारवश पीनी पड़ती है! साधु-संन्यासी आ जायेंगे गांजा-भांग लिए, तुम वह पीने लगोगे। अब साधु कहे तो इनकार भी तो करते नहीं बनता। और कोई हो तो इनकार भी कर दो; अब साधु ने

चिलम ही भर कर रख दी, अब वह कहता है: "अब एक कश तो लगा ही लो! और बड़ा आनंद आता है! यह तो ब्रह्मानंद है! और भगवान ने ये चीजें बनाईं क्यों? और फिर शिव जी से ले कर अब तक सभी भक्त इनका उपयोग करते रहे हैं। तुम क्या शिव जी से भी अपने को बड़ा समझ रहे हो?" तो मन हो जाता है।

तुम भाग कर न भाग सकोगे--जागोगे तो ही...। जाग कर अगर न गये तो भी गये; गये तो भी ठीक, न गये तो भी ठीक। मगर तब जीवन में एक सहज स्फुरणा होती है।

और मैं तुमसे कहता हूं: अगर तुम जागे रहो तो कालिख से भरी कोठरी से भी निकल जाओगे और कालिख तुम्हें न लगेगी। क्योंकि कालिख शरीर को ही लग सकती है और शरीर तुम नहीं हो; वस्त्रों को लग सकती है, वस्त्र तुम नहीं हो। तुम तो कुछ ऐसे हो जिस पर कालिख लग ही नहीं सकती। तुम्हारा तो स्वभाव ही निर्दोष है। तुम तो सदा से शुद्ध-बुद्ध चिन्मय-मात्र, चैतन्यरूप निराकार हो!

कूटस्थ रहने से कुछ नहीं बनेगा, न तटस्थ रहने से
समष्टि को जीने से, सहने से, जीता है आदमी
अकेला तो सूरज भी नहीं है,
उससे ज्यादा अकेलापन तुम चाहोगे?
मृत्यु तक तटस्थता निभाओगे?
सिमट कर बहते हुए जीवन में उतरो
घाट से हाट तक,
हाट से घाट तक
आओ-जाओ
तूफान के बीच गाओ
मत बैठो ऐसे चुपचाप तट पर
तटस्थ हो या कूटस्थ हो, इससे फर्क नहीं पड़ता।
सिमट कर बहते हुए जीवन में उतरो
घाट से हाट तक,
हाट से घाट तक
आओ-जाओ
तूफान के बीच गाओ
मत बैठो ऐसे चुपचाप तट पर!

परमात्मा इतने गीत गा रहा है, तुम भी सम्मिलित होओ। यह परमात्मा का उत्सव जो चल रहा जगत में, यह जो सृष्टि का महायान चल रहा है, यह महोत्सव जो चल रहा है--इसमें तुम दूर-दूर मत खड़े रहो; नाचो, गुनगुनाओ, भागीदार बनो! और भागीदार बन कर भी द्रष्टा बने रहो, यही मेरी शिक्षा है। क्योंकि द्रष्टा में कुछ भेद नहीं पड़ता है। तुम किनारे पर बैठ कर ही द्रष्टा बनोगे तो यह द्रष्टा बड़ा कमजोर हुआ। नदी की धार में और तूफान से खेलते हुए द्रष्टा बनने में क्या अड़चन है? द्रष्टा ही बनना है न--पहाड़ पर बनोगे, बाजार में नहीं बन सकते? जब द्रष्टा ही बनना है तो बाजार का भय कैसा? देखना ही है और इतना ही जानना है कि मैं देखने वाला हूं, तो तुम पहाड़ देखो कि वृक्ष देखो कि नदी-झरने देखो कि लोग देखो, दूकानें देखो--क्या फर्क पड़ता है? द्रष्टा तो द्रष्टा है, कुछ भी देखे। और जो भी तुम देखो, अगर जानते रहो सपना है--तो फिर क्या अड़चन है?

ऐसा हुआ, रमण महर्षि को अरुणाचल की पहाड़ी से बड़ा लगाव था। वे दिन में कई दफा उठ-उठ कर चले जाते थे पहाड़ी पर। कई दफा! नाश्ता किया और गये! भोजन किया और गये! सो कर उठे और गये। बीच में सत्संग चल रहा और वे कहेंगे, बस! गये पहाड़ी पर! दिन में कई दफा चले जाते थे। फिर भी पहाड़ी तो बड़ी थी, तो पूरी पहाड़ी पर कई हिस्से थे जहां तक नहीं पहुंच पाते थे।

तो एक दिन अपने भक्तों को कहा कि "कल तो मैं उपवास करूंगा ताकि लौटना न पड़े। कल तो दिन भर भूखा रहूंगा और सांझ तक खोज करूंगा; कई जगह खाली रह गई हैं जहां मैं नहीं पहुंचा इस पहाड़ी पर। दूर से कहीं कोई झरना दिखाई पड़ता है, उसके पास नहीं जा पाया। तो कल तो मैं भोजन नहीं करूंगा।"

तो भक्तों ने कहा: "यह बड़ी झंझट की बात है।" तो रात को खूब उनको भोजन करवा दिया, खूब करवा दिया! उन्होंने बहुत रोका कि भई, बस अब रुको; कल मुझे पहाड़ पर जाना है और तुम इतना करवाये दे रहे हो कि चलना मुश्किल हो जायेगा। लेकिन भक्त न माने, तो उन्होंने कर लिया। साक्षी-भाव वाले आदमी की ऐसी दशा है। ठीक, पहले इनकार करते हैं, फिर कोई नहीं मानता तो वे कहते हैं, चलो ठीक। सुबह उठ कर गये तो एक भक्त को मन में भाव रहा कि ये जा तो रहे हैं, लेकिन दिन भर भूखे रहेंगे, तो वह कुछ नाश्ता बना कर दूर जरा रास्ते के बैठ गया था। सुबह जब ब्रह्ममुहूर्त में वे वहां से जाने लगे तो उसने पैर पकड़ लिए। उसने कहा कि नाश्ता ले आया हूं। उन्होंने कहा: "हद हो गई! अरे, मुझे घूमने जाना है, अब तुम देर करवा दोगे!" तो उसने कहा कि जल्दी से कर लें आप! वे नाश्ता करके चले कि थोड़ी दूर पहुंचे थे कि पांच-सात स्त्रियां चली आ रही हैं। वे कहें कि ये रहे हमारे स्वामी। उन्होंने कहा: "क्या मामला?" उन्होंने कहा: "हम भोजन बना कर ले आये।" उन्होंने कहा: "यह तो हद हो गई! अब इनको दुखी करना भी ठीक नहीं, ये न मालूम कितनी रात से आ कर यहां बैठी हैं!" भोजन कर लिया। स्त्रियों ने कहा: "आप घबराना मत। हम दोपहर में फिर आयेंगे, दोपहर का भोजन ले कर।" उन्होंने कहा: "तुम आना मत, क्योंकि मैं दूर निकल जाऊंगा। तुम खोज न पाओगे।" उन्होंने कहा: "आप फिक्र न करो। एक स्त्री आपके पीछे लगी रहेगी।" वह एक स्त्री पीछे लगी रही। उन्होंने कहा: "यह भी मुसीबत हुई!" और दोपहर को वे आ गईं खोज-खाज कर, उनको फिर भोजन करवा दिया। अब तो उनकी ऐसी हालत हो गई कि लौटें कैसे!

लौट कर किसी तरह आये। वहां तक भी न पहुंच पाये जहां रोज पहुंच जाते थे। किसी तरह लौट कर आये तो भक्तों ने खूब भोजन तैयार कर रखा था कि लौट कर प्रभु आयेंगे...। तो उन्होंने कहा: "कसम खाई अब कभी उपवास न करूंगा। यह तो बड़ा...उपवास तो बड़ा महंगा पड़ गया!" फिर कहते हैं, रमण ने कभी उपवास नहीं किया। उन्होंने कहा: "कसम खा ली, यह उपवास बड़ा महंगा है। इससे तो हम जो रोज भोजन करते रहते थे, वही ठीक था।"

एक साक्षी की दशा है: जो होता है होता है। उपवास किया तो भी जिद्द नहीं है। तुमने अगर उपवास किया होता तो तुम कहते: "क्या समझा है तुमने? मेरा उपवास तोड़ने आये! ये मालूम होती हैं, स्त्रियां नहीं हैं, इंद्र की भेजी अप्सरायें हैं। तुम अकड़ कर खड़े हो गये होते, शीर्षासन लगा लिया होता, आंख बंद कर ली होती कि छूना मत मुझे, दूर रहना, उपवास किया है! यह भ्रष्ट करने का उपाय है! लेकिन रमण ने कहा: बेचारी स्त्रियां हैं, इतनी रात आई हैं, अब चलो ठीक है।

एक साक्षी की दशा है, जो देखता चला जाता है। रमण के हाथ में कैंसर हो गया। जो आश्रम का डाक्टर था, कुछ बहुत समझदार नहीं था। आश्रम के ही डाक्टर! उसने उनको बाथरूम में ले जा कर आपरेशन ही कर दिया। उन्होंने कहा भी कि भई तू कुछ खोज-खबर तो कर ले, कि मामला क्या है! उसने कहा: "कुछ नहीं, जरा-सी गांठ है।" उसने भी सोचा नहीं कि कैंसर होगा कि कुछ होगा। गांठ ऊपर-ऊपर थी, उसने निकाल दी; लेकिन फिर और बड़ी गांठ पैदा हो गई। सैप्टिक हुआ अलग, बड़ी गांठ हो गई अलग। फिर गांव के--और वह गांव भी छोटा-मोटा--गांव के डाक्टर ने आ कर आपरेशन कर दिया। फिर मद्रास के डाक्टर आये, ऐसे धीरे-धीरे...कलकत्ते के डाक्टर आये। आपरेशन साल भर चले। कोई चार-पांच दफा आपरेशन हुए। और वे बार-बार कहते कि तुम प्रकृति को अपनी प्रक्रिया पूरी करने दो, तुम क्यों पीछे पड़े हो? मगर उनकी कौन सुनता! उनसे लोग कहते: "तुम चुप रहो! भगवान, तुम चुप रहो! तुम बीच में न बोलो। ये डाक्टर जानते हैं।" वे कहते, ठीक है। साल भर में उनको करीब-करीब मार डाला। साल भर के बाद जब डाक्टर थक गये और उन्होंने कहा, हमारे

किए कुछ न होगा। तो रमण हंसने लगे। उन्होंने कहा: मैं तुमसे पहले कहता था, तुम नाहक परेशान हो रहे हो। जो होना है होने दो। अब साल भर के बाद इतने आपरेशन करके मेरे मुझे बिस्तर पर भी लगा दिया, सब तरफ से काटपीट भी कर दी--अब तुम कहते हो, हमारे किए कुछ भी न होगा! मैं तुमसे तभी कहता था, आदमी के किए कहीं कुछ होता है! जो होता है होता है। होने दो!

मरने के क्षण भर पहले किसी ने पूछा कि आप फिर लौटेंगे? तो रमण ने कहा: "जाऊंगा कहां? आया कब? तो जाऊंगा कैसे? और फिर आने की बात उठा रहे हो! और जिंदगी भर मैंने तुम्हें यही समझाया कि न आत्मा आती और न आत्मा जाती।"

साक्षी-भाव में किसी कृत्य का कोई मूल्य नहीं है। ऐसा भी हो सकता है कि साक्षी-भाव में कोई शराब भी पी ले तो भी कोई अंतर नहीं पड़ता। मैं यह नहीं कह रहा हूं कि तुम पीना, मैं तुमसे यह कह रहा हूं कि आत्यंतिक अर्थों में शराब भी कोई पी ले साक्षी-भाव में तो भी कोई अंतर नहीं पड़ता। लेकिन साक्षी-भाव पर ध्यान रखना। नहीं तो तुम सोचो, चलो ठीक, हम तो साक्षी हो गये, पी लें शराब! पीने की जब तक कामना रहे तब तक तुम साक्षी नहीं हुए। साक्षी का इतना ही अर्थ होता है: जो होता है, उसे हम होने देते हैं और देखते हैं। हम देखने वाले हैं, कर्ता नहीं हैं। भगोड़ा कर्ता हो जाता है।

चांदनी फैली गगन में, चाह मन में
दिवस में सबके लिए बस एक जग है
रात में हरेक की दुनिया अलग है
कल्पना करने लगी अब राह मन में
चांदनी फैली गगन में, चाह मन में
मैं बताऊं शक्ति है कितनी पगों में
मैं बताऊं नाप क्या सकता डगों में
पंथ में कुछ ध्येय मेरे तुम धरो तो!
आज आंखों में प्रतीक्षा फिर भरो तो!
चीर वन घन भेद मरु जलहीन आऊं
सात सागर सामने हों, तैर जाऊं
तुम तनिक संकेत नयनों से करो तो!
आज आंखों में प्रतीक्षा फिर भरो तो!
राह अपनी मैं स्वयं पहचान लूंगा
लालिमा उठती किधर से, जान लूंगा
कालिमा मेरे दृगों की तुम हरो तो!
आज आंखों में प्रतीक्षा फिर भरो तो!
थोड़ी-सी आंख की कालिख हट जाये तो तुम साक्षी हो गये।
तुम तनिक संकेत नयनों से करो तो!
आज आंखों में प्रतीक्षा फिर भरो तो!
प्रभु की जरा प्रतीक्षा शुरू हो जाये तो तुम साक्षी हो गये।

जब तक तुम वासना कर रहे हो वस्तुओं की, तब तक कर्ता रहोगे। जब तुम प्रभु की प्रतीक्षा करने लगोगे, वस्तुओं की कामना नहीं, तब तुम साक्षी होने लगोगे। आंख में जरा प्रतीक्षा आ जाये तो तुम शांत होने लगोगे।

कालिमा मेरे दृगों की तुम हरो तो!
आज आंखों में प्रतीक्षा फिर भरो तो!

जरा-सी आंख की कालिख अलग करनी है! कर्ता से मत उलझो। दृष्टि को सुधार लो, साफ कर लो।

ऐसा ही समझो कि तुम्हारे आंख में एक किरकिरी पड़ गई है, जरा-सा तिनका पड़ गया है। और उसके कारण कुछ दिखाई नहीं पड़ता। किरकिरी अलग हो जाये आंख से, दृष्टि फिर साफ हो जाती है, सब दिखाई

पड़ने लगता है। हिमालय जैसी बड़ी चीज भी आंख में जरा-सा रेत का कण पड़ जाये तो हिमालय भी छिप जाता है। रेत का कण हिमालय को छिपा लेता है। रेत का कण हट जाये, हिमालय फिर प्रगट हो गया।

विराट को छिपा लिया है जरा-सी बात ने कि तुम साक्षी नहीं रह गये। इसे तुम जगाना शुरू करो। जैसे-जैसे तुम जागोगे, तुम्हारे भीतर सब मौजूद है, सब ले कर ही आये हो, उसका स्वाद फैलने लगेगा। तुम्हें कुछ पाना नहीं है।

अष्टावक्र का परम सूत्र यही है कि तुम जैसे हो ऐसे ही परिपूर्ण हो। जैसे तुम यहां बैठे हो इस क्षण, परमात्मा तुम्हारे भीतर विराजमान है, अपनी परिपूर्ण लीलाओं में मौजूद है।

श्री रमण को किसी ने पूछा कि क्या आप दावा करते हैं कि अवतार हैं? तो श्री रमण ने कहा: "अवतार तो आंशिक होता है, ज्ञानी पूर्ण होता है। अवतार का तो मतलब थोड़ा-सा परमात्मा उतरा! ज्ञानी तो पूरा परमात्मा होता है। क्योंकि ज्ञानी जानता है परमात्मा के अतिरिक्त कोई भी नहीं है।"

पूछने वाला तो शायद यही पूछने आया था कि शायद रमण दावा करें कि मैं अवतार हूं। वह तो विवाद करने आया था, पंडित था! और रमण ने कहा: "अवतार! छोटी-मोटी बात क्या उठानी! अवतार नहीं हूं, पूर्ण ही हू!"

मैं तुमसे कहता हूं: तुम भी पूर्ण हो। प्रत्येक पूर्ण है। पूर्ण से पूर्ण ही पैदा होता है। हम परमात्मा से पैदा हुए हैं, अपूर्ण हो भी कैसे सकते हैं!

उपनिषद कहते हैं: पूर्ण से पूर्ण को निकाल लो, फिर भी पीछे पूर्ण शेष रह जाता है। पूर्ण को पूर्ण में डाल दो, फिर भी पूर्ण उतना का ही उतना है।

हम सब पूर्ण हैं और पूर्ण से ही निकले हैं--और निकल कर भी पूर्ण हैं। इस बोध के अनुभव का नाम ब्रह्मज्ञान, बुद्धत्व, कैवल्य या जो तुम चाहो।

पर ध्यान रखना, लड़ने-झगड़ने में मत उलझ जाना। यह छोड़ना, यह त्यागना, इससे भागना, इससे बचना...तुम मरोगे, फांसी लग जायेगी! फिर तो जीवन में बहुत झंझटें हैं। फिर झंझटें बहुत विराट हो जायेंगी। इधर से छूटोगे, उधर फंसा पाओगे। उधर से छूटोगे, इधर फंसा पाओगे। तुम तो जहां खड़े हो, एक ही बात कर लो, शांति से देखने लगो जो हो रहा है। बच्चे, पत्नी, मित्र, प्रियजन, कामधाम, दूकान, बाजार, सबके बीच तुम शांत होने लगो और देखते रहो। जो होता है होने दो। जैसा होता है वैसा ही होने दो। अन्यथा की मांग न करो। प्रभु जो दिखाये देखो। प्रभु जो कराये करो।

अष्टावक्र कहते हैं: धन्यभागी है वह, जो इस भांति सब छोड़ कर समर्पित हो जाता है। छोटी-छोटी चीजों से शुरू करो। बड़ी-बड़ी चीजों को शुरू मत करना। मन बड़ा उपद्रवी है। मन कहता है: बड़ी चीज पर प्रयोग करो। मैं कहता हूं: साक्षी बनो। तुम कहते हो: अच्छा चलो, साक्षी बनेंगे--कामवासना के साक्षी बनेंगे। अब तुमने एक बड़ी झंझट उठा ली शुरू से। यह तो ऐसा हुआ कि जैसे पहाड़ चढ़ने गये तो सीधे एवरेस्ट पर चढ़ने पहुंच गये। थोड़ा पहाड़ चढ़ने का अभ्यास पूना की पहाड़ियों पर करो। फिर धीरे-धीरे जाना। एवरेस्ट भी चढ़ा जाता है; आदमी चढ़ा तो तुम भी चढ़ सकोगे। जहां आदमी पहुंचा वहां तुम भी पहुंच सकोगे। एक पहुंच गया तो सारी मनुष्यता पहुंच गई।

इसलिए तुमने देखा, जब एडमंड हिलेरी पहुंच गया एवरेस्ट पर तो सारी दुनिया प्रसन्न हुई। प्रसन्नता का कारण? तुम तो नहीं पहुंचे। तुम तो जहां थे वहीं के वहीं थे। लेकिन जब एक मनुष्य पहुंच गया तो भीतर सारी मनुष्यता पहुंच गई। इसलिए तो जब कोई बुद्ध हो जाता है तो जिनके पास भी आंखें हैं वे आह्लादित हो जाते हैं--नहीं कि वे पहुंच गये, मगर एक पहुंच गया तो हम भी पहुंच सकते हैं, इसका भरोसा हो गया। अब बात कल्पना की न रही, सपना न रही--सत्य हो गई।

छोटी-छोटी चीजों से शुरू करना। राह पर चलते हो, साक्षी बन जाओ चलने के। इसमें कुछ बड़ा दांव नहीं है। कोई झंझट भी नहीं है। घूमने गए हो सुबह, साक्षी-भाव से घूमो। शरीर चलता है, ऐसा देखो। तुम देखते

हो, ऐसा देखो। भोजन कर रहे हो, साक्षी बन जाओ। बिस्तर पर पड़े हो, अब इसमें तो कुछ अड़चन नहीं है, कोई झंझट नहीं है। आंख बंद करके तकिये पर पड़े हो, नींद नहीं आ रही, साक्षी बन जाओ। पड़े रहो, देखते रहो जो हो रहा है। बाहर राह पर आवाज होती है, कार गुजरती है, हवाई जहाज निकलता है, बच्चा रोता है--कुछ हो रहा है, होने दो; तुम सिर्फ साक्षी बने रहो। ऐसी छोटी-छोटी पहाड़ियां चढ़ो। फिर धीरे-धीरे बड़ी पहाड़ियों पर प्रयोग करना। जैसे-जैसे हाथ में बल आता जायेगा, तुम पाओगे, फिर क्रोध, लोभ, मोह, माया, काम, सब पर प्रयोग हो जायेगा।

लेकिन मैं देखता हूं, लोग क्या करते हैं। उल्टा ही करते हैं। साक्षी की बात मैंने कही। वे जा कर एकदम बड़े पहाड़ से जूझ जाते हैं। हारते हैं! हारते हैं तो फिर साक्षी का भाव उठा कर रख देते हैं। कहते हैं, यह अपने बस का नहीं! यह तुम्हारे मन ने तुम्हें धोखा दे दिया। मन तुमसे हमेशा कहता है: "लड़ जाओ जा कर दारासिंह से।" कुछ थोड़ा अभ्यास करो। नाहक हाथ-पैर तुड़वाने में कुछ सार नहीं। और सीधे दारासिंह से लड़ गये जा कर तो फिर लड़ने की बात ही छोड़ दोगे जिंदगी भर के लिए। फिर कहोगे, यह बड़ा झंझट का है, इसमें हाथ-पैर टूट जाते हैं और मुसीबत होती है। हड्डी-पसली टूट गई, फ्रैक्चर हो गया--अब यह करना ही नहीं। मन तुमसे कहता है: एकदम कर लो बड़ा! मन बड़ा लोभी है। वह कहता है: अच्छा साक्षी में आनंद है, तो फिर चलो कामवासना से छुटकारा कर लें। वह तुमसे न होगा अभी। अभी तुम इतनी बड़ी छलांग मत भरो। अभी कोई छोटी-सी बात चुनो, बड़ी छोटी-सी बात चुनो। इतना बड़ा नहीं।

सिगरेट पीते हो, वह चुन लो। धुआं बाहर-भीतर करते हो, साक्षी-भाव से करो। बैठे, सिगरेट निकाली--साक्षी-भाव से निकालो। आमतौर से सिगरेट पीने वाला बिलकुल बेहोशी में निकालता है। तुम देखो सिगरेट निकालने वाले को, निकालेगा, डब्बी पर बजायेगा, माचिस निकालेगा, जलायेगा। जरा देखते रहो, वह सब आटोमेटिक है, वह सब यंत्रवत हो रहा है। उसे कुछ होश नहीं है। ऐसा सदा उसने किया है, इसलिए कर रहा है। इस सबको तुम होशपूर्वक करो। मैं नहीं कहता, एकदम से सिगरेट पीना छोड़ दो। होशपूर्वक करो। डब्बी को आहिस्ता से निकालो। जितनी जल्दी से निकाल लेते थे, उतनी जल्दी नहीं; थोड़ा समय लो। और तुम चकित होओगे: जितने तुम धीरे से निकालोगे उतने ही तुम पाओगे, धूम्रपान करने की इच्छा क्षीण हो गई। एक दफा ठोंकते हो सिगरेट को, सात दफा ठोंको। धीरे-धीरे ठोंको, ताकि ठीक से देख लो। क्या कर रहे हो! तुम्हें खुद ही मूढ़ता मालूम पड़ेगी कि यह भी क्या कर रहा हूं! आहिस्ता से जलाओ माचिस को। धीरे-धीरे धुआं भीतर ले जाओ, धीरे-धीरे बाहर लाओ। इस पूरी प्रक्रिया को गौर से देखो कि यह तुम क्या कर रहे हो। धुआं भीतर ले गये, खांसे; फिर धुआं बाहर लाये, फिर खांसे--इसमें पैसा भी खर्च किया। डाक्टर कहते हैं, कैंसर का भी खतरा है, तकलीफ भी होती है, फेफड़े भी खराब हो रहे हैं! जरा गौर से देखो, सुख कहां मिल रहा है। फिर धुएं को भीतर ले जाओ, फिर धुएं को बाहर लाओ। और गौर से देखो कि सुख कहां है! है कहीं?

मैं तुमसे नहीं कह रहा हूं कि नहीं है। यही मुझमें और तुम्हारे दूसरे साधु-संतों में फर्क है। वे कहते हैं, नहीं है। और बड़ा मजा यह है कि उन्होंने खुद भी पी कर नहीं देखा है। उनसे पूछो कि "महाराज, आपने सिगरेट पी? तुम्हें कैसा पता चला कि नहीं है?" मैं तुमसे यह कह ही नहीं रहा कि नहीं है। मैं तो कहता हूं: हो सकता है हो, और तुम्हें पता चल जाये तो मुझे बता देना। मगर तुम गौर से देखो पहले--है या नहीं? पहले से निर्णय मत करो। गौर से देखोगे तो तुम हैरान हो जाओगे कि तुम कैसा मूढ़तापूर्ण कृत्य कर रहे हो! यह तुम कर क्या रहे हो? हाथ रुक जायेगा। ठिठक जाओगे। इसी ठिठकाव में क्रांति है। इसी अंतराल में से क्रांति की किरण उतरती है।

ऐसा छोटे-छोटे कृत्यों को करो। जाग कर करो। जल्दी रोकने की मत करना, पहले तो जाग कर करने की करना। फिर रुकना अपने से होता है। रुकना परिणाम है। तुम्हारे करने की बात नहीं; जैसे-जैसे बोध सघन होता है, चीजें बदलती हैं।

जहां से खुद को जुदा देखते हैं
खुदी को मिटा कर खुदा देखते हैं
फटी चिंदियां पहने भूखे भिखारी
फकत जानते हैं तेरी इंतजारी
बिलखते हुए भी अलख जग रहा है
चिदानंद का ध्यान-सा लग रहा है
तेरी बाट देखूं चने तो चुगा जा
हैं फैले हुए पर, उन्हें कर लगा जा
मैं तेरा ही हूं, इसकी साखी दिला जा
जरा चुहचुहाहट तो सुनने को आ जा
जो यूं तू इछुड़ने-बिछुड़ने लगेगा
तो पिंजरे का पंछी भी उड़ने लगेगा

जरा-जरा...! अभी पिंजरे के एकदम बाहर होने की जरूरत भी नहीं है। जरा पिंजरे में ही तड़फड़ाने लगो।

जो यूं तू इछुड़ने-बिछुड़ने लगेगा
तो पिंजरे का पंछी भी उड़ने लगेगा
हैं फैले हुए पर, उन्हें कर लगा जा
मैं तेरा ही हूं, इसकी साखी दिला जा

धीरे-धीरे साक्षी-भाव से तुम्हें परमात्मा की यह आवाज सुनाई पड़ने लगेगी कि तुम मेरे हो, कि मैं ही तुममें समाया हूं, कि तुम मेरे ही फैलाव, मेरे ही विस्तार, कि मैं सागर और तुम मेरी लहर! साक्षी-भाव से परमात्मा तुम्हारा गवाह होने लगेगा। और वहीं है जीवन-रूपांतरण का सूत्र, वहीं है अमृत की धार--जहां से मृत्यु विदा हो जाती है; जहां से देह से संबंध छूट जाते हैं; जहां सपना विसर्जित हो जाता है और उस परम चैतन्य में अलख जग जाती है; उस परम चैतन्य के साथ सदा के लिए संबंध जुड़ जाता है!

आखिरी प्रश्न:

बात भी आपके आगे न जुबां से निकली
लीजिए आई हूं सोच के क्या-क्या दिल में
मेरे कहने से न आ, मेरे बुलाने से न आ
लेकिन इन अश्कों की तो तौहीन न कर।
क्योंकि मैं तो रजनीश की दुलहनियां!

जिसने पूछा है, भाव से पूछा है।

प्रश्न दो तरह के होते हैं--एक तो बुद्धि के और एक हृदय के। बुद्धि के प्रश्नों का तो कोई मूल्य नहीं है--दो कौड़ी के हैं; खुजलाहट जैसे हैं। जैसे खाज खुजलाने का मन होता है ऐसे ही बुद्धि को भी खुजलाने का मन होता है। लेकिन हृदय के प्रश्नों का बड़ा मूल्य है। क्योंकि वे भाव के हैं और आत्मा के ज्यादा करीब हैं। विचार आत्मा से बहुत दूर; कर्म और भी दूर। कर्म सर्वाधिक दूर, विचार उससे कम दूर, भाव उससे कम दूर--और फिर भाव के बाद तो स्वयं का होना है। तो भाव निकटतम है।

जिसने पूछा है, बड़े प्रार्थना के भाव से पूछा है।

"बात भी आपके आगे न जुबां से निकली।"

जिसने पूछा है, मिलने को आया था। पूछा मैंने: "कुछ कहना है?" नहीं कुछ कह सके। आंख से आंसू भर बहे। बस कहना हो गया। जो कहना था, कह दिया। शब्दों से ही थोड़े कहा जाता है; और भी तो कहने के ढंग हैं; और भी तो कहने के महिमापूर्ण ढंग हैं। शब्द तो सबसे सस्ते ढंग हैं। आंसुओं से कह दी!

"बात भी आपके आगे न जुबां से निकली

लीजिए आई हूं सोच के क्या-क्या दिल में!"

पूछा तो है पुरुष ने, लेकिन पंक्तियों से शायद तुम्हें लगे किसी स्त्री का प्रश्न है। लेकिन भाव स्त्रैण है। भाव सदा स्त्रैण है। पुरुष का भाव भी स्त्रैण होता है और स्त्री की बुद्धि भी पुरुष की होती है। तर्क पुरुष का, भाव स्त्री का। तो जब कभी कोई पुरुष भी भाव से भरता है तो भी स्त्रैणता गहन हो जाती है।

इसलिए तो भक्तों ने कहा कि परमेश्वर ही एकमात्र पुरुष है; हम तो सब उसकी सखियां हैं।

"बात भी आपके आगे न जुबां से निकली

लीजिए आई हूं सोच के क्या-क्या दिल में!"

भक्त हजार बातें सोच कर आता है, हजार-हजार ढंग से सोच कर आता है--"ऐसा कह देंगे, ऐसा कह देंगे!" प्रेमी हजार बातें सोचता है कि ऐसा कह देंगे, ऐसा कह देंगे। और प्रेमी के सामने खड़े हो कर जुबान बंद हो जाती है। यही तो प्रेम का लक्षण है। तुमने जो रिहर्सल कर रखे थे, अगर प्रेमी के सामने खड़े हो कर तुम सबको पूरा करने में सफल हो जाओ तो असफल हो गये। तो व्यर्थ गया सब मामला। तो तुम नाटक में ही रहे। फिर तुम अपना रिहर्सल दुहरा लिए; तुम जो-जो याद करके आये थे, पाठ पूरा कर दिया।

इसलिए तो मैं देखता हूं कि अभिनेता अच्छे प्रेमी नहीं हो पाते। उनको अभिनय करने में इतनी कुशलता आ जाती है--इसीलिए। अभिनेता प्रेमी हो ही नहीं पाते। और तुम चकित होओगे, क्योंकि प्रेम का ही धंधा करते हैं, प्रेम का ही अभिनय करते हैं, चौबीस घंटे प्रेम की ही बात करते हैं, लेकिन डायलाग इतने याद हो जाते हैं कि अपनी प्रेयसी के सामने खड़े हो कर वे अपने दिल की कह रहे हैं कि डायलाग ही बोल रहे हैं, कुछ पक्का नहीं होता। अभिनेता प्रेम में बिलकुल असफल हो जाते हैं, क्योंकि प्रेम की बात में बड़े सफल हो जाते हैं। ढंग सीख लेते हैं, आत्मा मर जाती है। यह तो सदा होता है। अगर सच में तुम्हारा प्रेम है तो अचानक तुम सब सोच कर आये, वह कचरा जैसा हो जायेगा। प्रेमी की आंख में आंख डालते ही तुम पाओगे, सोचा-समझा सब बेकार हो गया। नहीं, वह काम नहीं आता; कंकड़-पत्थर हो गये। अब उनकी बात भी उठाना ठीक नहीं है। शब्द छोटे पड़ जाते हैं, प्रेम बड़ा है। इसलिए प्रेम मौन से ही प्रगट होता है।

"बात भी आपके आगे न जुबां से निकली
लीजिए आई हूं सोच के क्या-क्या दिल में!
मेरे कहने से न आ, मेरे बुलाने से न आ
लेकिन इन अश्कों की तौहीन तो न कर!"

आंसुओं की तौहीन कभी होती ही नहीं। आंसुओं का निमंत्रण तो सदा स्वीकार ही हो जाता है। जिन्होंने रोना सीख लिया उन्होंने तो पा लिया। आंसू से बहुमूल्य आदमी के पास कुछ भी नहीं है। तुम प्रभु के मंदिर में जा कर अगर दो आंसू चढ़ा आये तो तुमने सारे संसार के फूल चढ़ा दिए। और तुम्हारे आंसुओं की राह से ही परमात्मा तुममें प्रवेश कर जायेगा।

जान कर अनजान बन जा
पूछ मत आराध्य कैसा
जबकि पूजा-भाव उमड़ा
मृत्तिका के पिंड से कह दे
कि तू भगवान बन जा!
जान कर अनजान बन जा!

तुम किसी भक्त को देखते हो, बैठा है झाड़ के किनारे, पत्थर के एक पिंड से प्रार्थना कर रहा है! तुम्हें हंसी आती है। तुम समझे नहीं। तुम बाहर हो उसके अंतर्जगत के। यह सवाल नहीं है। उसके लिए पत्थर पत्थर नहीं है।

पूछ मत आराध्य कैसा
जबकि पूजा-भाव उमड़ा
मृत्तिका के पिंड से कह दे
कि तू भगवान बन जा!

भक्त का भाव जहां आरोपित हो जाता है, वहां भगवान पैदा हो जाता है। भगवान तो सब जगह है; भाव के आरोपित होते ही प्रगट हो जाता है।

तो अगर तुम्हारी आंखों में आंसू आ गये हैं तो ज्यादा देर न लगेगी। तुम्हारी आंखें आंसुओं से धुल जाने दो। उन्हीं धुली आंखों में, उन्हीं नहाई हुई आंखों में, सद्यःस्नात आंखों में, जिसे तुमने पुकारा है उसका प्रवेश हो जायेगा। तुम्हारी आंखें ही द्वार बन जायेंगी।

रोओ, मन भर कर रोओ!

खयाल रखना, जिसका यह प्रश्न है उसके लिए अष्टावक्र की गीता सहयोगी न होगी। उसके लिए तो नारद के सूत्र हैं। अष्टावक्र की गीता तो आंख से आंसुओं को विदा कर देती है; आंखें बिलकुल सूख जाती हैं आंसुओं से। अष्टावक्र की गीता में भाव को कोई जगह नहीं है। अष्टावक्र की गीता में भक्ति को, प्रेम को, आराध्य को, पूजा को कोई जगह नहीं है।

तो जिसका प्रश्न है, उससे मैं कहता हूं: जो भी मैं कह रहा हूं अष्टावक्र के संबंध में, तुम्हारे लिए नहीं है। तुम्हारी राह और भी दूसरी है। तुम्हारी राह फूलों-भरी है। तुम्हारी राह पर खूब हरियाली है और पक्षियों के गीत हैं। अष्टावक्र की राह तो रेगिस्तान की है। रेगिस्तान का भी अपना सौंदर्य है। विराट शांति! दूर तक सन्नाटा! लेकिन अष्टावक्र के मार्ग पर वैसी हरियाली नहीं है जैसी भक्त के मार्ग पर। वहां कृष्ण की बांसुरी नहीं बजती।

जिसका प्रश्न है, उसके लिए राह नारद के सूत्रों में है, मीरा के भजनों में है, कबीर की उलटबांसियों में है।

"लेकिन इन अश्कों की तौहीन तो न कर
क्योंकि मैं तो रजनीश की दुलहनियां!"

यह जो प्रेम का वचन है, यह तुम्हें बहुत कुछ देगा। लेकिन इसके लिए तुम एक बात खयाल रखना, इस वचन को पूरा करने के लिए तुम्हें बिलकुल मिट जाना पड़ेगा। यही फर्क है भक्ति में और ज्ञान में। ज्ञानी "तू" को बिलकुल भूल जाता है और "तू" के भूलते ही "मैं" मिट जाता है। भक्त "मैं" को भूल जाता है और "मैं" के मिटते ही "तू" मिट जाता है। दोनों एक ही परम शून्य को उपलब्ध हो जाते हैं या परम पुण्य को।

लेकिन दोनों की राहें अलग हैं। भक्त अपने "मैं" को परमात्मा के चरणों में समर्पित करते-करते शून्य हो जाता है। ज्ञानी परमात्मा को भी भूल जाता है; पर को ही भूल जाता है तो परमात्मा की जगह कहां! इसलिए तो बुद्ध और महावीर की भाषा में परमात्मा के लिए कोई जगह नहीं है। परमात्मा यानी पर, दूसरा, अन्य। अन्य तो कोई भी नहीं है। ज्ञानी तो आत्मा में डूबता है और परमात्मा को छोड़ता चला जाता है।

लेकिन आत्यंतिक घड़ी में दोनों रास्ते एक ही जगह पहुंच जाते हैं। या तो तुम इतने "मैं" हो जाओ कि "तू" न बचे, तो पहुंच गये। या "तू" को इतना कर लो कि "मैं" न बचे, तो पहुंच गये। दो में से कोई एक बचे तो पहुंच गये।

जिसका प्रश्न है उससे मेरा कहना है: अष्टावक्र पर बहुत ध्यान मत देना। उससे अड़चन हो सकती है। पीड़ा भी होगी। लेकिन भक्त के मार्ग पर पीड़ा भी मधुर है।

तृप्ति क्या होगी अधर के रस-कणों से
खींच लो तुम प्राण ही इन चुंबनों से
प्यार के क्षण में मरण भी तो मधुर है
प्यार के पल में जलन भी तो मधुर है।
फिर विकल हैं प्राण मेरे!

तोड़ दो यह क्षितिज, मैं भी देख लूं उस ओर क्या है?

जा रहे जिस पंथ से युग-कल्प, उसका छोर क्या है?

फिर विकल हैं प्राण मेरे!

भक्त तो विकल होगा, रोयेगा, विरह की अग्नि में जलेगा, आंसुओं से भरेगा, क्षार-क्षार हो जायेगा, खंड-खंड हो कर बिखर जायेगा। लेकिन इस पीड़ा में बड़ा मधुर रस है। यह पीड़ा दुख नहीं है, यह पीड़ा सौभाग्य है। और अगर तुम राजी रहे तो एक दिन वसंत भी आता है। अगर तुम चलते ही रहे तो पतझड़ से गुजर कर एक दिन वसंत भी आता है।

जब मैंने मरकत पत्रों को पीराते मुरझाते देखा
जब मैंने पतझर को बरबस मधुबन में धंस जाते देखा
तब अपनी सूखी लतिका पर पछताते मुझको लाज लगी
जब मैंने तरु-कंकालों को अपने से भय खाते देखा

पर ऐसी एक बयार बही, कुछ ऐसा जादू-सा उतरा

जिससे विरवों में पात लगे, जिससे अंतर में आह जगी

सहसा विरवों में पात लगे, सहसा विरही की आग लगी

पर ऐसी एक बयार बही, कुछ ऐसा जादू-सा उतरा

एक बार तुम उतर जाओ इस पीड़ा की अग्नि में, भक्ति की अग्नि में, जल जाओ, दग्ध हो जाओ--आता है वसंत, निश्चित आता है। इस पीड़ा को सौभाग्य समझना। धन्यभागी हैं वे जो प्रेम में मिट जाने की सामर्थ्य रखते हैं। परमात्मा उनसे बहुत दूर नहीं है। वे परमात्मा के मंदिर बनने के लिए प्रतिपल तैयार हैं। द्वार खुले और परमात्मा प्रवेश कर जाता है।

नहीं, तुम्हारे आंसुओं की कभी भी तौहीन न होगी--कभी हुई नहीं--कभी भी नहीं हुई है। शब्द चाहे व्यर्थ चले गये हों, आंसू कभी व्यर्थ नहीं गये हैं। और जो परमात्मा के चरणों में आंसू ले कर पहुंचा है, खाली नहीं लौटा है। क्योंकि आंसू ले कर जो गया, वह खाली गया और भर कर लौटा है। जल्दी ही बयार चलेगी, फिर पत्ते लगेंगे, फिर फूल खिलेंगे! वसंत निश्चित आता है!

हरि ॐ तत्सत्!

सैंतालीसवां प्रवचन

साक्षी आया, दुख गया

अष्टावक्र उवाच।

हेयोपादेयता तावत्संसार विटपांकुरः।
स्पृहा जीवति यावद्वै निर्विचार दशास्पदम्।। १५२।।
प्रवृत्तौ जायते रागो निवृत्तौ द्वेष एव हि।
निर्द्वंद्वो बालबद्धीमानेवमेव व्यवस्थितः।। १५३।।
हातुमिच्छति संसारं रागी दुःखजिहासया।
वीतरागो हि निर्दुःखस्तस्मिन्नपि न खिद्यते।। १५४।।
यस्याभिमानो मोक्षेऽपि देहेऽपि ममता तथा।
न च ज्ञानी न वा योगी केवलं दुःखभागसौ।। १५५।।
हरो यद्युपदेष्टा ते हरिः कमलजोऽपि वा।
तथापि न तव स्वास्थ्यं सर्वविस्मरणादृते।। १५६।।

हेयोपादेयता तावत्संसार विटपांकुरः।
स्पृहा जीवति यावद्वै निर्विचार दशास्पदम्।।

"जब तक तृष्णा जीवित है--जो कि अविवेक की दशा है--तब तक हेय और उपादेय, त्याग और ग्रहण भी जीवित हैं, जो कि संसाररूपी वृक्ष का अंकुर हैं।"

तृष्णा मनुष्य की उलझन की मूल भित्ति है। तृष्णा को ठीक से समझ लिया तो सारे धर्मों का अर्थ समझ में आ गया। तृष्णा को समझ लिया तो दुख का कारण समझ में आ गया। और जिसे दुख का कारण समझ में आ जाये, उसे दुख से मुक्त होते क्षण भर भी नहीं लगता। दुख से नहीं मुक्त हो पाते हैं--सिर्फ इसीलिए कि कारण समझ में नहीं आता। और कारण समझ में न आये तो हम लाख उपाय करें, हम दुख को बढ़ाये चले जायेंगे। अंधेरे में तीर चला रहे हैं; निशाना लगेगा, संभव नहीं है। रोशनी चाहिए। और रोशनी कारण को समझने से तत्क्षण पैदा हो जाती है। इस बात को खयाल में लें।

शरीर में कोई बीमारी हो तो पहले हम निदान की फिक्र करते हैं। निदान हो गया तो आधा इलाज हो गया। अगर निदान ही गलत हुआ तो इलाज खतरनाक है, इलाज करना ही मत। क्योंकि दवाएं लाभ पहुंचा सकती हैं, नुकसान भी। जो दवाएं लाभ पहुंचा सकती हैं वे ही नुकसान भी पहुंचा सकती हैं। निदान ठीक न हो, बीमारी पकड़ में न आई हो तो इलाज बीमारी से भी महंगा पड़ सकता है। बीमारी से तो शायद चुपचाप बैठे रहते तो प्राकृतिक रूप से भी छूट जाते, लेकिन अगर गलत औषधि शरीर में पड़ गई तो प्राकृतिक रूप से छुटकारा न हो सकेगा। इसलिए पहले हम चिंता करते हैं निदान की।

शरीर के संबंध में यह सच है कि ठीक निदान हो तो पचास प्रतिशत इलाज हो गया; लेकिन मन के संबंध में तो और अदभुत बात है, वहां तो निदान ही सौ प्रतिशत इलाज है। शरीर के संबंध में पचास प्रतिशत, मन के संबंध में सौ प्रतिशत। क्योंकि मन की बीमारियां तो भ्रांति की बीमारियां हैं; जैसे किसी ने दो और दो पांच गिन लिया, फिर सारा हिसाब गलत हो जाता है। मन की बीमारी कोई वास्तविक बीमारी नहीं है; भ्रांति है, भूल है। समझ में आ गया कि दो और दो चार होते हैं, उसी क्षण सब भ्रांति मिट गई।

मन की बीमारी तो ऐसी है जैसे मरुस्थल में किसी को सरोवर दिखाई पड़ गया। वह धोखा है। वह तुम्हारी प्यास से ही पैदा हुआ है। वह तुम्हारी प्यास का ही देखा गया सपना है। तुम इतने प्यासे थे कि मान लिया। तुम इतने घबराये थे पानी के लिए कि जरा-सा सहारा मिल गया कि तुमने पानी की कल्पना कर ली। भूखा आदमी, कहते हैं, अगर पूर्णिमा के चांद को भी देखे तो उसे लगता है रोटी आकाश में तैर रही है। भूख प्रक्षेपित होती है।

मन की बीमारियां प्रक्षेपण हैं, प्रोजेक्शन हैं। शरीर की बीमारी का तो आधार है; मन की बीमारी निराधार है। एक बार तुम्हें ठीक-ठीक गणित दिखाई पड़ गया तो फिर ऐसा नहीं है कि मन की बीमारी का निदान होने के बाद तुम पूछोगे, अब औषधि क्या? निदान ही औषधि है।

सुकरात का बड़ा प्रसिद्ध वचन है: ज्ञान ही मुक्ति है।

जीसस की भी बड़ी प्रसिद्ध घोषणा है: सत्य को जान लो और सत्य तुम्हें मुक्त कर देगा। फिर ऐसा नहीं कि सत्य को जानने के बाद तुम्हें मुक्ति के लिए कोई उपाय करना पड़ेगा; जानते ही सत्य को, मुक्ति हो जाती है।

इसलिए तो महावीर ने यहां तक कहा है कि अगर तुम सत्य को जानने वाले की बात ठीक से सुन लो तो श्रवण से ही मुक्ति हो जाती है। इसलिए एक तीर्थ का नाम--श्रावक। सुन कर ही जो मुक्त हो जाता है, वह श्रावक है। जो सुन कर मुक्त नहीं होता और जिसे कुछ करना पड़ता है, वह साधु। मेरे हिसाब में साधु श्रावक से नीची स्थिति में है; ऊंची स्थिति में नहीं। सुन कर ही मुक्त न हो सका, कुछ करना भी पड़ा। उसका बोध प्रगाढ़ नहीं है। सुन कर ही न समझ सका, कुछ करना पड़ा, तब समझ में आया। समझ बहुत गहरी नहीं है। समझ गहरी होती तो सुन कर समझ लेता। समझ गहरी होती तो महावीर को देख कर समझ लेता। देखना काफी था। आंख खोल कर महावीर को देख ले, आंख खोल कर बुद्ध को देख ले या आंख खोल कर कृष्ण को देख ले--क्या बाकी रह जाता है? खुली आंख कि सब साफ हो जाता है।

तो पहला सूत्र है: "जब तक तृष्णा जीवित है--जो कि अविवेक की दशा है--तब तक हेय और उपादेय, त्याग और ग्रहण भी जीवित हैं, जो कि संसाररूपी वृक्ष का अंकुर हैं।"

तुम संसार से न छूट सकोगे जब तक तृष्णा है। तृष्णा संसार है।

अब बड़ा मजा होता है, बिना समझे लोग संसार से छूटना चाहते हैं! संसार से भी छूटना चाहते हैं, उसके पीछे भी कारण तृष्णा ही है--स्वर्ग का सुख मिलेगा, कि मोक्ष का परम आनंद बरसेगा, कि समाधि की गहन शांति की दशा में प्रवेश होगा! यह सब तृष्णा है।

मेरे पास लोग आते हैं, वे कहते हैं: "शांत होना है। ध्यान की कोई विधि बता दें कि हम शांत हो जायें।" उनसे मैं कहता हूं: शांत होना हो तो तृष्णा को जानो। ध्यान की विधि से तुम शांत न हो सकोगे। क्योंकि ध्यान की विधि भी करने तुम तृष्णा के कारण ही आये हो। शांत होना है--यह लोभ तुम्हें ले आया है। लोभ के कारण तुम ध्यान करोगे कैसे? जहां तृष्णा का अभाव, वहां ध्यान। फिर ध्यान करना नहीं पड़ता, ध्यान हो जाता है। जो करना पड़े, वह ध्यान ही नहीं। जो हो जाये, वही ध्यान है। जहां तृष्णा न रही, मन की तरंगें अपने-आप शांत हो जाती हैं।

ऐसा समझो कि हवा के झकोरों में, हवा के झोंकों में झील की लहर उठती है, झील की छाती पर लहरें उठती हैं, तुम चेष्टा करते हो एक-एक लहर को शांत करने की, तुम पागल हो जाओगे। हवा रुक जाये तो एक-एक लहर को शांत न करना पड़ेगा, हवा के रुकते ही लहरें अपने से शांत हो जायेंगी। अब मजा यह है कि हवा दिखाई नहीं पड़ती। जो नहीं दिखाई पड़ता, उसको हम भूल जाते हैं। तृष्णा भी दिखाई नहीं पड़ती; हवा जैसी है। है, बहुत गहन है, लेकिन अदृश्य है, हाथ में पकड़ में नहीं आती।

तो जब तुम झील की छाती पर लहरों का तूफान देखते हो तो तुम सोचते हो, लहरों को कैसे शांत करें। और जो मूल कारण है वह अदृश्य है। तुम एक-एक लहर को शांत करने बैठ जाना, एक-एक लहर को लोरी सुनाना कि सो जा, कि प्यारी बिटिया सो जा, मंत्र पढ़ना राम-राम, अल्लाह-अल्लाह या नमोकार और बीच-

बीच में आंख खोल कर देखना कि मंत्र का असर हो रहा कि नहीं--लहरें तुम्हारे मंत्रों को सुनने वाली नहीं हैं। लहरें इसलिए नहीं उठी हैं कि मंत्र का अभाव है। अगर मंत्र के अभाव के कारण उठी होतीं तो मंत्र के बोलते ही चुप हो जातीं, बैठ जातीं। लहरें इसलिए उठी हैं कि उनकी छाती पर एक अदृश्य हवा चल रही है, जो हवा उन्हें कंपा रही है। अब पानी कोई पत्थर थोड़े ही है। पत्थर पर लहरें नहीं उठतीं, पानी पर लहरें उठती हैं। पानी तरल है, तरंगित होता है। अदृश्य हवा के झोंके भी उसे हिला जाते हैं।

तुम्हारे मन में जो तरंगें उठ रही हैं, वे तृष्णा की हवा से उठ रही हैं। अब बहुत लोग हैं जो मन को शांत करना चाहते हैं। एक-एक विचार को शांत करना चाहते हैं। किसी को क्रोध का विचार आता है, वह कहता है, किस तरह शांत हो जाये? किसी को कामवासना उठती है, कहता है, कैसे शांत हो जाये? किसी को लोभ है, किसी को मोह है--सबको शांत करने में लगे हैं। इससे कभी तुम शांत न हो पाओगे। संभावना यही है कि विमुक्त तो न हो, विक्षिप्त हो जाओ।

मेरे देखे सांसारिक आदमी ही ज्यादा शांत होता है तुम्हारे तथाकथित धार्मिक आदमियों की बजाय। तो मेरी बात को जरा गौर से सुनना और जरा फिर से जाकर तुम अपने साधु-संन्यासियों को देखना। तुम्हें शायद बाजार में कुछ लोग शांत मिल जायें, तुम्हारे साधु-संन्यासी शांत नहीं हैं। क्योंकि बाजार में तो आदमी को एक ही अशांति है, क्योंकि संसार की ही लहर उसके ऊपर बह रही है; यह जो मंदिर में बैठा है, यह जो आश्रम में बैठा है, यह जो साधु है, महात्मा है--इस पर एक और अशांति सवार हो गई है, शांत होने की तृष्णा जाग गई, मोक्ष पाने की तृष्णा!

सांसारिक तो ऐसी चीजों के पीछे दौड़ रहा है जो ठीक-से कोशिश करो तो मिल भी जायें। जिसको तुम धार्मिक कहते हो, ऐसी चीजों के पीछे दौड़ रहा है जो दौड़ने से मिलती ही नहीं; दौड़ना ही जहां बाधा है; जो रुकने से मिलती हैं। धन के पीछे अगर ठीक-से दौड़ोगे तो धन मिल जायेगा; ऐसी कुछ अड़चन नहीं है। तुमसे भी ज्यादा बुद्धुओं को मिल गया तो तुम्हें क्यों न मिल जायेगा! ठीक से मेहनत करोगे तो संसार के विजेता हो सकते हो; सिकंदर हो गया है तो तुम क्यों न हो जाओगे! दौड़ते ही रहे पागल की तरह तो कुछ न कुछ पा ही लोगे; कहीं न कहीं बैंक में बैलेंस हो ही जायेगा; कोई न कोई बड़ा मकान बना ही लोगे।

लेकिन परमात्मा तो दौड़ने से मिलता ही नहीं और सत्य तो दौड़ने से मिलता नहीं। शांति तो दौड़ने से मिलती नहीं। क्योंकि दौड़ने में ही अशांति है। समझो! दौड़ने में ही अशांति है। जैसे ही कोई नहीं दौड़ता, तृष्णा चुप हो गई। तृष्णा यानी दौड़। तृष्णा यानी कहीं और है सुख, यहां नहीं; अभी नहीं, कल है, परसों है, अगले जन्म में है, स्वर्ग में है, कहीं और है! "कहीं और है सुख"--यही धारणा तृष्णा है। जब यहां नहीं है, कहीं और है--तो कहीं दौड़ना पड़ेगा। यहां तो है नहीं, बैठने से क्या होगा! दौड़ो, भागो! आपाधापी करो! श्रम करो! नहीं दौड़े तो हार जाओगे। आज को कुर्बान करो कल के लिए। आज को बलिदान करो भविष्य के लिए। आज तो है नहीं।

तुम जैसे हो, ऐसे तो सुखी हो नहीं सकते, तो कुछ और बनने की कोशिश करो। ज्यादा धन हो पास, बड़ा मकान हो पास, प्रतिष्ठा हो या पुण्य हो, चरित्र हो, शील हो, ध्यान हो--कुछ करो!

तृष्णा का अर्थ है: तुम जैसे हो वैसे संतोष नहीं मिल रहा। और तृष्णा छोड़ने का इतना ही अर्थ है कि अभी, यहीं, तुम जैसे हो ऐसे ही आनंदित हो जाओ! तृष्णा छोड़ने का अर्थ है: आनंदित अभी होने की कला! तुम जानते हो आनंदित कभी होने की वासना; अभी नहीं! अभी तो कैसे हो सकता है!

अष्टावक्र की सारी घोषणा यही है। यह महा क्रांतिकारी उदघोषणा है कि तुम अभी जैसे हो ऐसे ही आनंद को उपलब्ध हो सकते हो, क्योंकि आनंद तुम्हारा स्वभाव है। इसे तुमने क्षण भर को खोया नहीं है। इससे तुम च्युत नहीं हुए हो। ये लहरें अभी शांत हो सकती हैं--यहीं! लहर के प्राण अदृश्य हवा में हैं; वह जो अदृश्य हवा दौड़ रही है छाती पर, उसमें हैं।

तुम्हारी छाती पर कौन-सी अदृश्य हवा दौड़ रही है? उसी से तुम कंप रहे हो। वह हवा रुक जाये...और हवा तुम्हीं चला रहे हो। तुम्हीं उस हवा को प्राण दे रहे हो, गति दे रहे हो।

तृष्णा का अर्थ है: असंतोष। तृष्णा का अर्थ है: अतृप्ति। तृष्णा का अर्थ है: भविष्य, वर्तमान नहीं। जिसके जीवन से भविष्य विदा हो जाता है उसके जीवन से तृष्णा विदा हो जाती है। तृष्णा को फैलने के लिए भविष्य चाहिए।

देखो इस सत्य को! मैं जो कह रहा हूं, यह कोई सिद्धांत नहीं है--सीधा तथ्य है।

भविष्य का कोई अस्तित्व नहीं है। जो अभी आया नहीं है, हो कैसे सकता है! आयेगा, तब होगा। जब होगा, तब होगा; अभी तो नहीं है। अतीत जा चुका है, भविष्य आया नहीं--इन दोनों के बीच में जो छोटा-सा क्षण है वर्तमान का, वही अस्तित्ववान है। उसके अतिरिक्त सब कल्पना है। अतीत है स्मृति, भविष्य है सपना। जो है अभी इस क्षण, वर्तमान का जो छोटा-सा क्षण, जो झरोखा खुलता है--वही है। तुम इसमें ही तल्लीन हो जाओ! इसमें ही डुबकी लगा लो। वही डुबकी तुम्हारी परमात्मा में डुबकी बन जाती है। शांत हो जाते हो--कुछ बिना किए! प्रसादरूप!

ऐसे ही मैं शांत हुआ, जैसा मैं तुमसे कह रहा हूं। ऐसे ही तुम शांत हो सकते हो। लेकिन भविष्य की आकांक्षा मत करो। भविष्य की आकांक्षा से तनाव पैदा होता है, खिंचाव पैदा होता है। आज तो दुखी रहते हो, कल की आशा खींचे रखती है। कल भी जब आयेगा आज की तरह आयेगा। कल तो कभी आता नहीं। जब आता है आज आता है। और तुमने एक गलत आदत सीख ली--आज दुखी होने की आदत सीख ली। तुम सदा ही दुखी रहोगे। क्योंकि जब भी आयेगा, आज आयेगा। और आज से तो तुम्हारे संबंध-नाते ही गलत हो गये--दुख के। जो नहीं आयेगा वह कल है--और कल तुम सुखी होना चाहते हो! और जो आता है वह आज है--और आज तुम दुखी होने का अभ्यास कर रहे हो!

तृष्णा का अर्थ है: कल में होना; भविष्य में होना; जहां हो वहां न होना, कहीं और होना। और दुखी तो होओगे ही। यह जो तनाव पैदा होगा, यह जो बेचैनी पैदा होगी, ये जो तरंगें उठेंगी--ये तुम्हारे प्राण को छेद जायेंगी। तुम्हारे जीवन से नृत्य और संगीत खो जाये तो आश्चर्य क्या! तुम्हारी आंखों में शांति न हो और तुम्हारे हृदय में परमात्मा का सितार न बजे तो आश्चर्य क्या! तुम्हारे रग-रोयें में, हृदय की धड़कन में, यह जो विराट महोत्सव चल रहा है, इसके साथ सब संबंध छूट जाये, इसका पता-ठिकाना ही भूल जाये--तो आश्चर्य क्या!

वृक्ष अभी सुखी हैं--इसी क्षण! और पक्षी अभी गीत गा रहे हैं; कल के लिए स्थगित नहीं किया है। सूरज अभी निकला है, कल नहीं निकलेगा। और आकाश अभी फैला है; कल का आकाश को कुछ पता ही नहीं। यह सारा जगत मनुष्य को छोड़ कर अभी है, और मनुष्य कभी है--कभी, कहीं और। बस इस अभी और कभी के बीच जो तनाव है, वहां तृष्णा है।

तृष्णा अशांति लाती है। फिर जितनी बड़ी तृष्णा हो उसी मात्रा में अशांति होती है।

इसलिए मैं तुमसे कहता हूं: सांसारिक आदमी की अशांति धार्मिक आदमी से ज्यादा बड़ी नहीं, कम है। उसकी तृष्णा ही छोटी चीजों की है, क्षुद्र चीजों की है। एक कार खरीदनी है--यह भी कोई बड़ी तृष्णा है! थोड़ा-बहुत अशांत होगा। एक बड़ा मकान बनाना है--यह भी कोई बड़ी बात है! इतने बड़े मकान हैं ही, बनते ही रहे हैं, बनते-गिरते रहे--यह कोई नई बात नहीं, कुछ बड़ी विशेष बात नहीं। इसकी तृष्णा तो बड़ी छोटी है, क्षणभंगुर है। इसकी तृष्णा का तनाव भी भारी नहीं होने वाला है। लेकिन किसी को मोक्ष जाना है, इसकी तृष्णा बड़ी कठिन है।

तुमने कभी किसी को मोक्ष जाते देखा? बड़े मकान बनाते लोग तुमने देखे, संसार को जीत लेने वाले लोग देखे, धन की राशियां लगा देने वाले लोग देखे--तुमने कभी किसी को मोक्ष जाते देखा? असल में मोक्ष जाने की भाषा ही अज्ञानी की भाषा है।

अष्टावक्र कहते हैं: आत्मा न कहीं जाती न आती। जाना कैसा! जाओगे कहां!

रमण मरने लगे तो किसी ने पूछा कि अब आप जा रहे हैं! उन्होंने आंख खोली, कहा: "जाऊंगा कहां! आना-जाना कैसा!" फिर आंख बंद कर ली। पता नहीं सुनने वाले ने समझा कि नहीं। जाना-आना कैसा! जाना-आना होता ही नहीं। आकाश कहीं जाता-आता?

अष्टावक्र ने कहा कि तुम मिट्टी का घड़ा ले आते हो, तो मिट्टी का घड़ा आता-जाता है; मिट्टी के घड़े के भीतर का जो आकाश है वह कहीं आता-जाता? तुम चलते हो, तुम्हारी आत्मा थोड़े ही चलती है!

संसार चलता है, परमात्मा ठहरा हुआ है। परमात्मा कील है संसार के चाक की। सब चलता रहता है, परमात्मा ठहरा हुआ है। मोक्ष जाना नहीं पड़ता। मोक्ष तो अनुभव है इस बात का कि मैं जहां हूं वहीं मोक्ष है; मैं जैसा हूं, ऐसे ही मोक्ष है।

तुम्हें बड़ी अजीब धारणाएं लोगों ने सिखा दी हैं और जिन्होंने सिखाई हैं वे तृष्णातुर लोग हैं। निश्चित ही उन्होंने तृष्णा का पाठ पढ़ा दिया है। ऐसे ही तुम पागल थे, पागलपन को उन्होंने और सजावट दे दी है, और व्याख्या-परिभाषा दे दी है। तुम पागल थे धन पाने को, उन्होंने कहा: "इस धन के पीछे क्या पड़े हो, अरे परम धन को पाओ!" मगर पाने की भाषा जारी है। तुम स्त्रियों के पीछे दौड़ रहे थे, उन्होंने कहा: "इन स्त्रियों में क्या रखा है, आज नहीं कल सूख कर अस्थिपंजर रह जायेंगी!"

मुल्ला नसरुद्दीन एक स्त्री के प्रेम में था। उस स्त्री ने कहा कि विवाह के पहले मैं तुमसे एक बात पूछ लेना चाहती हूं। अभी तो मैं जवान हूं, सुंदर हूं, जब मैं चालीस वर्ष की हो जाऊंगी और मेरे गाल पिचक जायेंगे और बाल सफेद होने लगेंगे और चेहरे पर झुर्रियों के पहले दर्शन होने लगेंगे और मैं बूढ़ी होने लगूंगी, तब भी तुम मुझे प्रेम करोगे?

मुल्ला ने कहा: "अरे तो चालीस वर्ष में तुम्हारा ऐसा होने का इरादा है? तो वह बात ही खत्म करो! इस झंझट में पड़ें ही क्यों! अगर चालीस वर्ष में तुम्हारे ऐसे इरादे हैं--इस चेहरे पर झुर्रियां डाल देने के और बाल सफेद कर लेने के और गाल पिचक जाने के, तो क्षमा करो! अच्छा किया, पहले ही बता दिया शादी के पहले, नहीं तो अभी शादी में उलझ जाते तो और झंझट होती। यह बात ही भूल जाओ।"

तुम्हारा धार्मिक आदमी तुमसे क्या कह रहा है? वह कह रहा है: कहां अस्थिपंजरों के पीछे पड़े हो! स्वर्ग में अप्सरायें हैं, स्वर्ण की उनकी काया है, उन्हें खोजो! पद के पीछे पड़े हो! ये दिल्लियां बनती-बिगड़ती रहती हैं! तुम इस झंझट में न पड़ो। ऊपर एक बड़ी दिल्ली है; वहां जो पहुंच गया, पहुंच गया। यहां की दिल्ली का तो कुछ भरोसा नहीं--आज तख्त पर, कल नीचे! जो तख्त पर है वह गिरता ही है। दिल्ली पहुंच-पहुंच कर होता क्या है--राजघाट पर कब्र बन जाती है! आखिरी परिणाम हाथ में क्या लगता है? एक और दिल्ली है ऊपर--परमपद! वहां पहुंचो।

यह तुम्हारी तृष्णा को फैलाने की बात हो रही है। तुमसे कहा जाता है क्षणभंगुर को छोड़ो, शाश्वत को खोजो! मगर बात वही है, भाषा वही है, दौड़ वही है, तृष्णा वही है। और बड़े अंधड़ चढ़ेंगे तुम्हारी छाती पर, और बड़ी लहरें उठेंगी! तुम और अशांत हो जाओगे।

मेरे पास जब कोई साधु-संन्यासी आ जाता है तो उसे मैं जितना कंपते और परेशान देखता हूं, उतना सांसारिक आदमी को कंपते परेशान नहीं देखता। क्योंकि तुम तो शक्य की खोज में लगे हो, वह तो अशक्य की खोज में लगा है। तुम तो संभव के पीछे पड़े हो, वह असंभव के पीछे पड़ा है। तुम्हारी घटना तो घट सकती है, इसके हजार प्रमाण हैं; उसकी घटना तो कभी घटी, इसका एक भी प्रमाण नहीं है। कौन ने किसको मोक्ष जाते देखा? मैं तुमसे कहता हूं: कोई कभी मोक्ष गया ही नहीं। महावीर मुक्त हुए, मोक्ष थोड़े ही गये। महावीर मोक्ष थोड़े ही गये--जाना कि मुक्त हैं; पहचाना कि मुक्त हैं। इस क्षण में, इस वर्तमान में, इस अस्तित्व के स्वाद में डूब कर पाया कि कैसे पागल थे! उसे खोजते थे जो मिला ही हुआ है!

बुद्ध को जब ज्ञान हुआ और किसी ने पूछा: "क्या पाया?" तो उन्होंने कहा: "मत पूछो! पूछो ही मत। क्योंकि जो पाया, वह मिला ही हुआ था। भूल गये थे, विस्मरण हो गया था, याद न रही थी। अपनी जेब में ही पड़ा था और याददाश्त खो गई थी।"

यह विस्मरण हुआ है, पाना थोड़े ही है! पाया तो हुआ ही है। जानो न जानो, मोक्ष तुम्हारा स्वभाव है। जानो न जानो, तुम परमेश्वर हो, परमात्मा हो!

तो तृष्णा के कारण बाधा पड़ रही है। रुको तो अपने से मिलन हो जाये। तुम भागे-भागे हो, अपने से मिलना नहीं हो पाता। और सबसे मिलना हो जाता है, बस अपने से चूकते चले जाते हो।

हेयोपादेयता तावत्संसार विटपांकुरः।

और तृष्णा में बीज है संसार का। फिर जहां तृष्णा है वहां स्वभावतः चुनाव पैदा होता है--क्या करें, क्या न करें! क्योंकि तृष्णा जिसको करने से भर जाये, वही करें। स्वभावतः भेद पैदा होता है। वही करें, जिससे तृष्णा पूरी हो; वह न करें, जिससे पूरी न हो; उस रास्ते पर चलें, जिससे पहुंच जायेंगे भविष्य की मंजिल पर; उस रास्ते पर न चलें जिससे भटक जायेंगे।

और यहां कोई मार्ग नहीं है। अष्टावक्र कोई मार्ग प्रस्तावित ही नहीं करते। अष्टावक्र तो कहते हैं कि तुम जरा भीतर आंख खोलो; तुम जहां हो, मंजिल पर हो!

रिंझाई, एक झेन फकीर, जापान के एक तीर्थ--पहाड़ पर तीर्थ था--उसके नीचे ही राह के किनारे विश्राम कर रहा था। एक दिन, दो दिन, वर्षों हो गये। यात्री आते-जाते। फिर तो लोग पहचानने लगे, जानने भी लगे कि वह वहीं पड़ा रहता है वृक्ष के नीचे। लोग उससे पूछते कि रिंझाई, तुम पहाड़ पर ऊपर नहीं जाते तीर्थयात्रा को? रिंझाई हंसता और वह कहता: "आये तो हम भी तीर्थयात्रा को थे, लेकिन इस झाड़ के नीचे बैठे-बैठे पता चला कि तीर्थ भीतर है; फिर हम यहीं रुक गये, अब कहीं जाने को न रहा।" लोग कहते कि चलो हम तुम्हें ले चलें वहां। लोगों को दया आती कि कहीं ऐसा तो नहीं कि बूढ़ा हो गया फकीर, पहाड़ चढ़ नहीं सकता। लोग कहते: "कांवर कर दें? कंधे पर उठा लें?" प्यारा आदमी था, लेकिन वह कहता कि नहीं, तुम्हीं जाओ, क्योंकि हम तो वहां हैं ही। तुम जहां जा रहे हो, हम वहीं हैं। और तुम जा कर वहां कभी न पहुंचोगे। अगर तुम्हें भी पहुंचना हो तो कभी लौट कर आ जाना, यहीं बैठ जाना।

तीर्थ भीतर है। सत्य भीतर है, क्योंकि सत्य स्वभाव है। इस बात को जितनी बार दोहराया जाये, उतना कम है। क्योंकि तृष्णा का अर्थ है: सत्य मिला नहीं है, पाना है। और जिन्होंने पाया उनकी घोषणा है: सत्य तुम्हारा स्वभाव है; पाना नहीं है, मिला हुआ है। बस इसकी प्रत्यभिज्ञा, रिकग्नीशन, इसकी पहचान पर्याप्त है।

स्पृहा जीवति यावद्वै निर्विचार दशास्पदम्।

और जब तक तृष्णा रहती है, स्पृहा रहती है, वासना रहती है, तब तक निश्चित ही मनुष्य में विवेक पैदा नहीं होता, बोध पैदा नहीं होता। अविवेक की दशा रहती है।

"अविवेक" शब्द को भी समझ लो। अविवेक का अर्थ है: चंचल मन, आंदोलित मन; लहरों से भरा हुआ चित्त; झील पर लहरें और तरंगें। चंचल अवस्था अविवेक है। अचंचल दशा--लहर खो गई, शांत हो गई, हवा न चली, मौन हो गया, झील दर्पण बन गई--बोध की दशा है, बुद्धत्व की दशा है।

बुद्ध ने कहा है: जिस दिन तुम दर्पण की भांति हो जाओ, कुछ कंपे न, तो फिर जो है वही तुम में झलकने लगेगा; फिर जो है, वही तुम्हारी प्रतीति में आने लगेगा। अभी तो तुम इतने कंप रहे हो कि जो है वह कुछ पकड़ में आता नहीं; कुछ का कुछ पकड़ में आ जाता है।

ऐसा ही समझो कि कोई आदमी कैमरा ले कर दौड़ता चले और चित्र उतारता चले। फिर जब चित्र निकाले जायें, देखे जायें, तो कुछ पकड़ में न आये, सब चीजें गड्ड-बड्ड हों, कुछ साफ न हो--ऐसी हमारी दशा है।

हम दौड़ते हुए, भागते हुए, जीवन को देखने की कोशिश कर रहे हैं। रुको, ठहरो। दौड़ो-भागो मत! ऐसे रुक जाओ कि क्षण भर को सब रुक जाये, सब गति ठहर जाये; अगति का क्षण आ जाये। तो उसी क्षण जो है तुम्हें दिखाई पड़ जायेगा।

संसार की परिभाषा है: भागते-भागते परमात्मा को देखा--संसार। रुक कर संसार को देखा--परमात्मा। ठीक-ठीक चित्र बन जाये, जो है उसका, तो परमात्मा। गलत-सलत चित्र बन जाये, तो संसार।

संसार और परमात्मा दो नहीं हैं। संसार परमात्मा है, परमात्मा संसार है। तुम्हारे देखने के दो ढंग हैं। एक भागते हुए आदमी ने देखा, तृष्णा के पीछे दौड़ते आदमी ने देखा--ठीक से देखा नहीं, देखने की फुरसत भी न थी, उपाय भी न था, अवकाश भी न था। और एक किसी ने शांत बोधिवृक्ष के नीचे बैठ कर देखा, बिलकुल ठहर कर देखा।

तुम देखते हो बुद्धों की प्रतिमा हमने बनाई है, तीर्थंकरों की प्रतिमा बनाई हैं! तुमने किसी की चलती हुई प्रतिमा देखी है, चलते हुए? किसी की बैठी बनाई है, किसी की खड़ी बनाई है; लेकिन एक बात तय है: सब रुके हैं। जाओ जैन मंदिरों में, बौद्ध मंदिरों में, खोजो--सब रुके हैं। ठहरे हैं। इस ठहराव में ही सत्य का अनुभव है।

"प्रवृत्ति में राग, निवृत्ति में द्वेष पैदा होता है। इसलिए बुद्धिमान पुरुष द्वंद्वमुक्त बालक के समान जैसा है वैसा ही रहता है।"

सुनो इस अदभुत वचन को!

प्रवृत्तौ जायते रागो निवृत्तौ द्वेष एव हि।
निर्द्वंदो बालबद्धीमानेवमेव व्यवस्थितः।।

अब अगर तुम्हारे मन में तृष्णा है तो दो बातें पैदा होंगी।

यावत् स्पृहा यावत् निर्विचार दशास्पदम्।

जहां चित्त में तरंगें हैं वहां तुम्हारी बोध की दशा खो गई; तुम गहन अंधकार में भर गये; जो है वह दिखाई नहीं पड़ता; तुम्हारी आंखें सुस्पष्ट न रहीं; स्वच्छता खो गई; आंखों का कुंवारापन खो गया; आंखें दूषित हो गईं। तुम्हारी आंख पर विकृति का चश्मा लग गया। तुम्हारी आंखें अब वही नहीं दिखलातीं जो है; या तो वह दिखलाती हैं जो तुम चाहते हो, या दौड़ के कारण जो विकृति छलकती है वह दिखलाती हैं। छाया दिखाई पड़ती है, अब सत्य दिखलाई नहीं पड़ता। परछाइयां घूमती हैं अब, प्रतिबिंब उठते हैं; लेकिन इन प्रतिबिंबों से सत्य का कोई भी पता लगाना संभव नहीं है। शोरगुल पैदा होता है, लेकिन संगीत खो गया।

संगीत और शोरगुल में तुमने कोई बहुत फर्क देखा? इतना ही फर्क है कि शोरगुल में व्यवस्था नहीं है और संगीत में व्यवस्था है। शोरगुल में व्यवस्था आ जाये तो संगीत हो जाता है; संगीत की व्यवस्था खो जाये तो शोरगुल हो जाता है। संगीत का इतना ही अर्थ है कि स्वर लयबद्ध हो गये; सब स्वरों के बीच एक सामंजस्य आ गया, एक समवेतता आ गई। अगर सभी स्वर अनर्गल हों, असंगत हों, एक-दूसरे के विपरीत हों, एक द्वंद्व चला रहे, एक कोलाहल पैदा हो--तो संगीत पैदा नहीं होगा; सिर खाने की अवस्था हो जायेगी; विक्षिप्त करने लगेगा, पागल कर देगा।

परमात्मा इस जगत के शोरगुल में संगीत की खोज है; उसे जान लेना है जो इस सबके बीच समस्वर है; जो एक स्वर सारे स्वरों के बीच व्याप्त है।

यावत् स्पृहा यावत् निर्विचार दशास्पदम्।

और जहां-जहां जब तक तृष्णा है तब तक अविवेक रहेगा।

तावत् जीवति च हेयोपादेयता संसार विटपांकुरः।

और तब तक वह जो संसार का मूलबीज है, अंकुर जिससे पैदा होता है, वह भेद करने की बुद्धि भी रहेगी कि यह ठीक और यह गलत।

नीति और धर्म का यही भेद है। नीति कहती है: यह ठीक, यह गलत। और धर्म कहता है: जो है सो है; न कुछ गलत न कुछ ठीक।

अक्सर तुम नैतिक आदमी को धार्मिक आदमी समझ लेते हो और बड़ी भूल में पड़ जाते हो। नैतिक आदमी सज्जन है, संत नहीं। सज्जन का अर्थ है जो ठीक ठीक है, वही करता है। संत का अर्थ है जिसे अब ठीक और गलत कुछ भी न रहा; जो होता है, वही होने देता है। अब कुछ करता नहीं। सज्जन तो कर्ता है, संत अकर्ता है। अक्सर सज्जन को ही संत समझने की भूल हो जाती है। इसलिए तुम सज्जनों को महात्मा कहने लगते हो। महात्मा बड़ी और बात है।

पश्चिम का एक बहुत बड़ा विचारक लेन्झा देलवास्तो पूरब आया--गुरु की खोज में। सुनी थी उसने खबर रमण महर्षि की तो वहां गया, लेकिन वहां कुछ उसे बात जंची नहीं। उसने अपने संस्मरणों में लिखा है कि मैं वहां गया, लेकिन वहां मुझे कुछ बात जंची नहीं। क्योंकि वहां कुछ भेद ही न मालूम पड़ा कि अच्छा क्या है, बुरा क्या है; क्या होना चाहिए, क्या नहीं होना चाहिए। रमण से उसने पूछा भी कि मैं क्या करूं, क्या न करूं--तो रमण ने यह कहा: "देखो करने में मत पड़ो, साक्षी बनो!" साक्षी! फिर-फिर उसने पूछा कि मुझे कुछ ठीक-ठीक दिशा-निर्देश दें कि मैं चरित्र को कैसे निर्माण करूं, शुभ वृत्ति कैसे बढ़े? क्योंकि शुभ हुए बिना तो कोई कभी परमात्मा तक पहुंच नहीं सकता।

और रमण ने कहा: परमात्मा की बात ही छोड़ो। वहां तुम पहुंचे ही हुए हो। शुभ भी पहुंचा हुआ है, अशुभ भी पहुंचा हुआ है। सब वहीं पहुंचे हुए हैं; क्योंकि अशुभ भी उसके बिना जी नहीं सकता; शुभ भी उसके बिना जी नहीं सकता। बुरे में भी वही बैठा है। रावण में भी वही और राम में भी वही। तो तुम तो साक्षी बनो और कर्ता छोड़ो।

उसने लिखा कि आदमी तो भले लगे, लेकिन जमे नहीं। वहां से वह गया वर्धा, वहां महात्मा गांधी उसे जमे। उसने लिखा कि यह है गुरु कि एक-एक बात को कहता है कि चाय न पीयो, कि सिगरेट न पीयो, कि कितने बजे उठो, कि कितने बजे बैठो, कि कितने कपड़े पहनो और कितने कपड़े न पहनो, कैसा भोजन करो, कैसा भोजन न करो--छोटी-छोटी चीज से ले कर, चटनी से ले कर ब्रह्म तक सारा विचार! चटनी भी नीम की खाना, गांधी जी कहते थे, ताकि स्वाद मरे। यह बात जंची। भोजन में स्वाद मत लेना, रस मत लेना। इसलिए किसी चीज में सुख मत लेना। तो बिना नमक की खा लेना। अगर उसमें भी थोड़ा स्वाद आता हो तो नीम की चटनी मिला लेना।...ये जंचे। गुरु बना लिया गांधी को।

रमण को छोड़ कर गांधी को गुरु बना लिया! तो आश्चर्य मत करना; तुम्हारी भी संभावना यही है। लेन्झा देलवास्तो ने ही कुछ ऐसा नहीं कर लिया; तुम्हारे भी मन की समझ इतनी ही है। तुम भी रमण को न पहचान सकोगे। रमण की तस्वीरें कितने घरों में लगी हैं? रमण की कौन चिंता करता है! गांधी की तस्वीरें कितने घरों में हैं? घर-घर में हैं, दफ्तर-दफ्तर में हैं! गांधी महात्मा हैं!

तुम तो चकित होओगे यह जान कर कि एक आदमी ने जहां रमण बैठे रहते थे वहां भी उनके पीछे गांधी की तस्वीर टांग दी थी। रमण तो उनमें से थे कि उन्होंने यह भी न कहा कि यह क्या कर रहे हो! उन्होंने कहा, ठीक है, टांग रहे हो तो टांग दो। रमण के पीछे भी गांधी की तस्वीर टंगी थी!

सज्जन हमें पहचान में आ जाता है। वह हमारी भाषा बोलता है। तुम्हें भोजन में रस है, वह विरस की भाषा बोलता है--एकदम समझ में आ जाता है। तुम्हें स्त्री में रस है, वह ब्रह्मचर्य की बात करता है--एकदम समझ में आ जाता है। तुम्हें धन की पकड़ है, वह त्याग की बात करता है--एकदम समझ में आ जाता है। भाषा वही है, जरा भी भेद नहीं है। तुम्हारी और सज्जन की भाषा में जरा भेद नहीं है। तुम्हारी दुर्जन की भाषा; उसकी सज्जन की। तुम इधर को जा रहे हो, वह तुमसे विपरीत जा रहा है; लेकिन रास्ता एक ही है। तुम सीढ़ी पर नीचे

की तरफ जा रहे हो, वह सीढ़ी पर ऊपर की तरफ जा रहा है; लेकिन सीढ़ी एक ही है। संत तुम्हें बिलकुल समझ में नहीं आता। संत बेबूझ है।

प्रवृत्तौ जायते रागो...।

पहले तो लोग प्रवृत्ति में राग रखते हैं--यह कर लें, यह कर लें, यह कर लें! फिर जब बार-बार करके पाते हैं कि सुख नहीं मिलता तो सोचने लगते हैं, निवृत्ति कर लें। वह भी प्रवृत्ति की आखिरी सरणी है। पहले सोचते हैं, भोग लें; और जब भोग में कुछ नहीं मिलता तो सोचते हैं, चलो अब त्याग कर लें, अब त्याग को भोग लें! देख लिया संसार में, कुछ न पाया; अब संन्यासी हो जायें, अब त्यागी हो जायें; स्त्रियों के पीछे दौड़ कर देख लिया, अब स्त्रियों के विपरीत दौड़ कर देख लें; शायद सुख वहां हो। भोजन की खूब-खूब आकांक्षा करके देख ली, कुछ भी न मिला, देह जीर्ण-जर्जर हो गई, अब उपवास करके देख लें!

"प्रवृत्ति में राग और निवृत्ति में द्वेष...।"

जिस-जिससे राग था प्रवृत्ति में, जहां-जहां हार हो गई, विषाद आया, जीवन का स्वाद खराब हुआ--वहां-वहां द्वेष पैदा हो गया।

तो तुम देखो, तुम्हारा साधु स्त्री को गाली देता रहता है, स्वाद को गाली देता रहता है, भोग को गाली देता रहता है। यह हुआ क्या? यह द्वेष हो गया। जहां राग था, वहां द्वेष हो गया। पहले आग में हाथ डालने का मन होता था; डाल कर देख लिया, हाथ जल गये--अब आग से दुश्मनी हो गई। पहले आकर्षण था, अब विकर्षण हो गया। लेकिन संबंध जुड़ा है, संबंध नहीं जाता।

संत वही है जिसका संबंध ही गया। भोग तो व्यर्थ हुआ ही हुआ, त्याग भी व्यर्थ हुआ। भोग के साथ ही त्याग भी व्यर्थ हो जाये तो तुम्हारे जीवन में क्रांति घटित होती है। अनीति के साथ ही साथ नीति भी व्यर्थ हो जाये और अशुभ के साथ साथ शुभ भी व्यर्थ हो जाये; क्योंकि वे दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू हैं, उनमें भेद नहीं है। दुर्जन और सज्जन एक-दूसरे के साथ खड़े हैं। दुर्जन और सज्जन सहयोगी हैं, एक ही दुकान में पार्टनर हैं।

तुम जरा एक ऐसी दुनिया की कल्पना करो जिसमें कोई दुर्जन न हो, क्या वहां सज्जन होंगे? एक ऐसी दुनिया की कल्पना करो कि जहां राम ही राम हों और रावण न हों--राम बचेंगे? राम के बचने के लिए रावण का होना एकदम जरूरी है। रावण के बिना राम हो नहीं सकते। यह भी क्या राम होना हुआ! यह तो बड़ी मजबूरी हुई। यह तुम थोड़ा सोचो। यह तो राम रावण पर निर्भर है। रावण भी न हो सकेगा राम के बिना। ये दोनों ही पात्र रामलीला में जरूरी हैं।

तुम जरा रामलीला खेल कर दिखा दो बिना रावण के! लीला चलेगी नहीं, इंच भर आगे न चलेगी। कथा पहले से ही गिर जायेगी। और जनता पहले से उठ जायेगी कि फिजूल की बकवास है, जब रावण ही नहीं है तो रामलीला होगी कैसे! सीता चुराई जानी चाहिए, युद्ध होना चाहिए--यह कुछ भी नहीं होने वाला है। रामचंद्र जी बैठे हैं वहां, थोड़ी देर भक्त बैठे रहेंगे, राह देखेंगे कि कुछ हो; कुछ भी नहीं होगा, क्योंकि होने के लिए द्वंद्व चाहिए।

शुभ और अशुभ एक साथ हैं। रामलीला में दोनों सहयोगी हैं। और तुम्हें अगर ठीक-ठीक देखना हो तो कभी-कभी रामलीला देख कर रामलीला के पीछे भी जा कर देखना--पर्दे के पीछे--तुम राम-रावण को, दोनों को चाय पीते पाओगे, गपशप करते। इधर लड़ रहे थे पर्दे के इस पार, पीछे गपशप कर रहे हैं। ये सब एक ही नाटक-मंडली के सदस्य हैं।

अष्टावक्र का सूत्र यह कह रहा है कि तुम्हें अगर नाटक के बिलकुल बाहर होना है तो तुम्हें सदस्यता छोड़नी पड़ेगी, तुम्हें यह मंडली ही छोड़ देनी पड़ेगी--न राम न रावण। तुम्हें दोनों के द्वंद्व के पार होना पड़ेगा।

प्रवृत्तौ जायते रागो...।
प्रवृत्ति तो है राग।
निवृत्तौ द्वेष एव ही...।

और निवृत्ति है द्वेष। मगर द्वेष भी तो बंधन है। जिस चीज से द्वेष होता है उससे हम बंधे रह जाते, अटके रह जाते हैं। एक खटक बनी रह जाती है। यह कोई मुक्ति तो न हुई।

निर्द्वंद्वो बालबद्धीमानेवमेव व्यवस्थितः।

यह सूत्र अदभुत है, स्वर्णसूत्र है।

"बुद्धिमान पुरुष द्वंद्वमुक्त बालक के समान है; जैसा है वैसा ही है।"

कुछ बनने की चेष्टा नहीं है। बालक का अर्थ होता है: जो जैसा है वैसा है। जब उसे क्रोध आ जाता है तो बालक यह नहीं सोचता, करूं कि न करूं! जब उसे प्रेम आ जाता है तो भी यह नहीं सोचता कि प्रगट करना उचित कि नहीं। वह हिसाब नहीं लगाता।

एक अंग्रेज साधक चाडविक ने रमण के संस्मरणों में लिखा है कि वह बड़ा हैरान हुआ। एक दिन ऐसा हुआ कि एक संन्यासी, पुराणपंथी संन्यासी, विवाद करने आ गया। रमण ने उसे, जो वह पूछता था बार-बार, कहा। लेकिन वह तो सुनने को राजी न था, वह तो अपनी बुद्धि से भरा था, अपने शास्त्र से भरा था। वह तो बड़े उल्लेख, शास्त्रों के उदाहरण दे रहा था और बड़ी तर्क-वितण्डा फैला रहा था। रमण सीधे-साधे! वे उसे सुनते, आधा घंटा उसे सुनते, फिर कहते कि साक्षी-भाव रखो! विवाद में उतरे नहीं। वह संन्यासी और जलने लगा, और क्रोध से भरने लगा। वह खींचना चाहता था विवाद में! शिष्य थोड़े परेशान हुए कि यह व्यर्थ की बात हो रही है, व्यर्थ का समय खराब हो रहा है और व्यर्थ को महर्षि को परेशान किया जा रहा है। लेकिन करें क्या! वह अपने तकिए से टिके महर्षि उसे सुनते। जब बहुत देर हो गई, उन्होंने उसे बार-बार कहा कि मेरी बात थोड़ी-सी है, वह मैंने तुमसे कह दी। जब वह न हुआ सुनने को राजी तो उन्होंने उठा लिया अपना डंडा, भागे उसके पीछे! वह तो घबड़ा कर बाहर निकल गया। उसने सोचा कि यह तो मारपीट की नौबत...। उसने सोचा न था कि ज्ञानी पुरुष ऐसा करेगा! लौट कर, डंडा रख कर वह फिर अपना लेट गये। और कोई दूसरे भक्त ने कुछ पूछा, उसका उत्तर देने लगे।

चाडविक ने लिखा है: उस दिन उनका रूप देख कर मन मोह गया! बालवत! छोटे बच्चे जैसे! यह भी न सोचा कि लोग क्या कहेंगे, कि आप और क्रोधित! क्रोधित हुए भी नहीं, क्योंकि क्रोध अगर हो जाये तुम्हें, तो सरकता है। घटना तो बीत जाती है, लेकिन क्रोध का धुआं एकदम से थोड़े ही चला जाता है; घड़ियों रहता है, दिनों रहता है, कभी तो वर्षों रहता है। डंडा ले कर दौड़ भी गये, वापिस आ कर फिर बैठ गये। वह आदमी चला भी गया। वे फिर वैसी बात करने लगे जैसी बात चल रही थी, जैसे कुछ हुआ ही नहीं है।

गुरजिएफ के संबंध में ऐसे बहुत-से उल्लेख हैं, जब वह बिलकुल पागल हो जाता और एक क्षण में ऐसा ठंडा हो जाता कि भरोसा ही नहीं आता लोगों को कि एक क्षण में कोई इतना उत्तप्त हो सकता है और इतना ठंडा हो सकता है! छोटे बच्चे की भांति!

जीसस का बड़ा प्रसिद्ध उल्लेख है। वे तो कहते थे कि सभी को क्षमा करो, किसी का निर्णय न करो, दुश्मन को भी प्रेम करो। यही उन्होंने अपने शिष्यों को समझाया था। और एक दिन उन्होंने अचानक कोड़ा उठा लिया मंदिर में और मंदिर में जो लोग रुपये-पैसे ब्याज पर देने का धंधा करते थे उनके तख्ते उलट दिये। और अकेले आदमी, ऐसे पागल की तरह हो गये कि भीड़ की भीड़ को बाहर खदेड़ दिया--एक आदमी ने! शिष्य तो बड़े हैरान हुए, क्योंकि वे तो सुनते रहे थे: "दुश्मन को प्रेम करो और जो तुम्हारे गाल पर एक चांटा मारे, दूसरा उसके सामने कर देना!" यह जीसस को हो क्या गया! और जब इन सबको खदेड़ कर जीसस मंदिर के बाहर वृक्ष के नीचे आ कर बैठ गये तो वे वैसे के वैसे थे, जैसे कोई रेखा नहीं खिंची। ईसाई इसको समझा नहीं पाये। ईसाइयों को बड़ी अड़चन रही है इस घटना को समझाने में; क्योंकि अगर यह सच है तो फिर ईसा के वचनों का क्या हो? अगर वचन सच हैं तो फिर ईसा के इस व्यवहार का क्या हो?

एक वृक्ष के नीचे ईसा रुके। भूखे थे। वृक्ष पर देखा कि शायद फल लगे हों; वृक्ष पर फल नहीं थे। तो ईसा ने कहा कि देख, हम आये और तूने फल न दिये तो तू सदा-सदा के लिए बे-फल रहेगा, अब तुममें फल पैदा न

होंगे। बर्ट्रेंड रसेल ने लिखा है जीसस के खिलाफ, कि यह आदमी बातें तो करता है शांति की, लेकिन वृक्ष पर नाराज हो गया! अब वृक्ष का क्या कसूर है? अगर फल नहीं लगे तो वृक्ष का कोई कसूर है? इसमें नाराज हो जाना और इतना नाराज हो जाना कि सदा के लिए कह देना अभिशाप कि कभी तुझ पर फल न लगेंगे! यह तो बात ठीक नहीं मालूम पड़ती।

रसेल का तर्क भी ठीक है। रसेल ने एक किताब लिखी है: "व्हाय आइ एम नाट ए क्रिश्चियन? मैं ईसाई क्यों नहीं?" उसमें जो दलीलें गिनाई हैं, उनमें एक दलील यह भी है कि जीसस का व्यवहार उच्छृंखल है और जीसस के व्यवहार में शांति नहीं है, अशांति है। निश्चित ही ऐसे उल्लेख हैं जो कि कहते हैं कि अशांति मालूम होती है। इसमें तो नाराजगी क्या होनी?

लेकिन अगर तुम पूरब के मनीषियों से पूछो तो वे कहेंगे: वृक्ष पर नाराज कोई बच्चा ही हो सकता है। थोड़ा सोचना। छोटे बच्चे को देखो, टेबल से धक्का लग जाता है तो टेबल को एक चांटा लगा देता है कि अपनी जगह रह, अगर ज्यादा गड़बड़ किया तो बहुत पिटाई हो जायेगी! दीवाल से सिर टकरा जाता है तो दीवाल को मारने लगता है। यह छोटे बच्चे का व्यवहार है।

रसेल की बात बड़ी विचारपूर्ण है, लेकिन रसेल को कोई पता नहीं है कि एक ऐसी भी दशा है परम मुक्ति की, एक ऐसी दशा है परम कैवल्य की जहां व्यक्ति पुनः बच्चे की भांति हो जाता है। और जीसस का तो प्रसिद्ध वचन है कि जो छोटे बच्चों की भांति होंगे, वे ही मेरे प्रभु के राज्य में प्रवेश कर सकेंगे, दूसरे नहीं। बहुत कठिन है यह बात स्वीकार करनी, क्योंकि हम संत से तो बहुत संयोजित व्यवहार की आशा रखते हैं। संत से तो हम आशा रखते हैं कि उसके व्यवहार में कोई कमी-खामी न होगी, कोई त्रुटि न होगी। संत से तो हम पूर्ण होने की आशा रखते हैं। क्योंकि संत तो हमारे लिये आदर्श हैं, उसका तो हम अनुकरण करेंगे।

लेकिन तुम सुनो, अष्टावक्र कहते हैं कि परम संत वही है जो बालवत है। पूर्ण नहीं है, समग्र है। पूर्ण और समग्र के भेद को समझ लेना। बच्चा सदा समग्र होता है, पूर्ण कभी नहीं होता। एक समग्रता होती है। बच्चा जब क्रोध करता है तो क्रोध हो जाता है। फिर कुछ नहीं बचता है उसमें, वह आग होता है। इसलिए बच्चे को क्रोधित देखो तो एक सौंदर्य होता है बच्चे में। तुमने न देखा हो, गौर करके देखना। तुम अपने छोटे-मोटे और दूसरे विचार एक तरफ रख देना। जब एक छोटा बच्चा नाराज होता है तो छोटा-सा प्राण, लेकिन ऐसा लगता है सारी दुनिया को हिला देगा। पैर पटकता है पृथ्वी पर जोर से। उसकी नाराजगी में एक बल है, एक सौंदर्य है, एक कौमार्य है, एक कोमलता-- और फिर भी एक महाशक्ति! और क्षण भर बाद भूल गया। क्षण भर पहले तुम पर क्रोधित हुआ था और कहता था: "अब कभी तुम्हारी शक्ल न देखेंगे, दोस्ती खत्म!" कट्टी कर ली थी। क्षण भर बाद तुम्हारी गोद में बैठा है। याद ही न रही। बड़ा असंगत व्यवहार है बच्चे का! लेकिन समग्र है। जब क्रोध में था तो पूरा क्रोध में था; जब प्रेम में है तो पूरा प्रेम में है। उसके प्रेम को उसका क्रोध आ कर खराब नहीं करता और उसके क्रोध को उसका प्रेम आ कर खराब नहीं करता; जब होता है तब समग्र होता है, पूरा-पूरा होता है। जो होता है वही होता है; उससे अन्यथा नहीं होता। उसके जीवन में एक प्रामाणिकता है।

बच्चा बिलकुल चरित्रहीन होता है; उसका कोई चरित्र नहीं होता। चरित्र होने के लिए तो बड़ी चालाकी चाहिए। चरित्र होने के लिए तो आयोजन चाहिए, व्यवस्था चाहिए। चरित्र होने के लिए तो बड़ी कुशलता चाहिए, होशियारी चाहिए, तर्क चाहिए, गणित चाहिए। चरित्र का तो अर्थ होता है: सम्हल-सम्हल कर चलो। चरित्र का तो अर्थ होता है: देख-देख कर करो; जो करना हो वही करो, जो न करना हो वह मत करो। सोच कर करो कि कल इसका क्या परिणाम होगा? परसों क्या परिणाम होगा? आज तुम ऐसा कहोगे तो क्या प्रतिक्रिया होगी? आज तुम ऐसा करोगे तो क्या प्रतिक्रिया होगी?

तो चरित्रवान व्यक्ति कभी समग्र नहीं होता; हिसाबी होता है, किताबी होता है। उसके बही-खाते होते हैं। छोटा बच्चा चरित्रहीन है। "चरित्र-मुक्त" कहना चाहिए; "हीन" कहना ठीक नहीं, चरित्र-मुक्त। अभी चरित्र पैदा ही नहीं हुआ। अभी समग्र है। अभी तो जो भीतर की सचाई है वही बाहर प्रगट होती है। अगर भीतर क्रोध है तो बाहर क्रोध है। अगर भीतर प्रेम है तो बाहर प्रेम है। अभी भीतर और बाहर में द्वंद्व पैदा नहीं हुआ। अभी भीतर और बाहर में एकरसता है।

संत पुनः बच्चे की भांति हो जाता है। अब फिर बाहर और भीतर में एकरसता है। संत का कोई चरित्र नहीं होता। चौंकना मत जब मैं ऐसा कहता हूं! संत का कोई चरित्र हो ही नहीं सकता। सज्जन का चरित्र होता है, दुर्जन में दुश्चरित्रता होती है। संत तो चरित्र के पार होता है--चरित्रातीत।

"बुद्धिमान पुरुष द्वंद्वमुक्त है।"

उसके पास दो का भाव नहीं रह जाता। यह ठीक और यह सही; यह हेय, यह उपादेय; यह शुभ, यह अशुभ; यह माया, यह ब्रह्म--ऐसा कुछ नहीं रह जाता। जो है, है।

"...द्वंद्व मुक्त बालक के समान जैसा है वैसा ही रहता है।"

संत होना सहज होना है।

तुमने तीन शब्द सुने हैं--सविकल्प समाधि; निर्विकल्प समाधि; सहज समाधि। सविकल्प समाधि में विचार रहता है। निर्विकल्प समाधि में विचार चला जाता है; लेकिन विचार चला गया है, इसका बोध रहता है। सहज समाधि में वह बोध भी चला जाता है; न विचार रहता, न निर्विचार रहता। सहज समाधि का अर्थ है: आ गये अपने घर, हो गये स्वाभाविक; अब जैसा है वैसा है; जो है वैसा है; उससे अन्यथा की न कोई चाह है न कोई मांग है। इस "जैसे हो वैसे ही" के साथ राजी हो जाने में ही तृष्णा का पूर्ण विसर्जन है। फिर तृष्णा कैसी! फिर तृष्णा नहीं बच सकती है।

निर्द्वंद्वो बालवत धीमान् एवं एव व्यवस्थितः।

वही है बुद्धिमान जो निर्द्वंद्व बालक की भांति हो गया। वही है धीमान, उसी के पास प्रतिभा है। जैसा है वैसा ही उसमें ही स्थित, अन्यथा की कोई मांग नहीं, जरा भी तरंग नहीं उठती अन्यथा की!

बहुत कठिन है यह बात समझनी। है तो बहुत सरल, लेकिन समझनी कठिन है। क्योंकि हमें जो समझाया गया है वह इसके बिलकुल विपरीत पड़ता है। हमें तो समझाया गया है चोरी छोड़ो, अचोर बनो; झूठ छोड़ो, सच बोलो। यह सच के ऊपर जा रही है बात।

कबीर के जीवन में ऐसा उल्लेख है, कि वे रोज उनके घर भजन करने लोग इकट्ठे होते थे। कबीर तो सहज समाधि में थे, बालवत थे। जब लोग इकट्ठे हो जाते और भोजन का समय होता तो वे उनसे कहते: "चलो भोजन करके जाना! अब कहां जाते हो, भोजन कर जाओ!" पति तो ऐसा कहे, लेकिन पत्नी बड़ी मुश्किल में पड़ गई। अब यह कहां से रोज-रोज भोजन लाओ! इतना भोजन! कबीर तो गरीब आदमी थे, कपड़ा बुन कर बेच लेते थे जो थोड़ा-बहुत, वह भी जो भजन इत्यादि से समय बच जाता कभी तो बुन लेते--उसी में काम चलाना था। तो पत्नी ने कहा कि मैं तो न कह सकूंगी, क्योंकि मैं कैसे कहूं कि घर में कुछ भी नहीं है, मैं कैसे खिलाऊं, कहां से लाऊं! उधारी बढ़ती जाती है। बेटे को कहा--कमाल को--कि तू अपने बाप को समझा कि अब यह कहना बंद कर दो, हमारे पास सुविधा नहीं है। लोग भजन करें, जायें, तो जाने दो, उनको रोको मत। हाथ पकड़-पकड़ कर रोकते हो कि बैठो, भोजन करके जाना, कहां जाते हो! लोग जाना भी चाहते हैं, क्योंकि लोगों को पता है कि घर में भोजन की सुविधा नहीं है।

तो कमाल ने कबीर से कहा, एक दफा कहा, दो दफा कहा, तीन दफा कहा, चौथी दफा कमाल नाराज हो गया। कमाल भी कमाल का ही बेटा था। उसने कहा: अब बंद करते हो कि नहीं? क्या हम चोरी करने लगें?

उधारी चढ़ गई सिर पर, चुकती नहीं। अब तो एक ही उपाय बचा है। अगर तुमने यह जारी रखा तो हम चोरी करने लगेंगे।

कबीर तो खिल गये जैसे कमल खिल जाये। कबीर ने कहा: अरे पागल तो पहले क्यों न सोचा! इतने दिन खुद परेशान, तू परेशान, तेरी मां परेशान! और इतने दिन मुझे भी परेशान कर रहे हो! तो पहले क्यों न सोचा?

कमाल तो चौंका। उसने कहा: हद हो गई! इसका क्या अर्थ हुआ! क्या चोरी के लिए भी स्वीकृति! लेकिन कमाल भी कमाल था। उसने कहा: "तो ठीक। तो आज चोरी करने जायेंगे। लेकिन आपको मेरे साथ चलना पड़ेगा।" उसने सोचा कि यह मजाक ही होगी; जब बात मुद्दे की आयेगी और चोरी करने की बात उठेगी तो शायद इनकार कर जायेंगे। लेकिन कबीर ने कहा: "हां-हां, चलूंगा।"

कमाल भी कमाल ही था! रात आ गया उठ कर आधी रात, कहा कि चलो। अभी भी सोचता था कि आखिरी वक्त में वे नट जायेंगे कि चोरी और कबीर! बात कुछ मेल खाती नहीं। लेकिन कबीर उठ गये, हाथ-मुंह धो कर चल पड़े। कहने लगे: "कहां चलना है, चल।" मगर कमाल भी कमाल ही था। उसने जाकर सेंध लगा दी एक मकान में। उसने कहा, हो सकता है अब रुक जायें। वह भी आखिरी दम तक देखना चाहता था कि मामला कहां तक जाता है। सेंध भी खुद गई। उसने कहा: "तो मैं अंदर चला जाऊं?" कबीर ने कहा: "अब इधर आये किसलिए! तो पागल, आधी रात नींद वैसे ही खराब की! तो जल्दी कर, क्योंकि ब्रह्म-मुहूर्त हुआ जाता है और थोड़ी देर में भजन करने वाले लोग आते होंगे!"

बड़ी अनूठी कहानी है। अनूठी, क्योंकि उसके फिर मुकाबले में कोई कहानी पूरे संत-साहित्य में नहीं है। तो कमाल भीतर चला गया। कमाल भी कमाल ही था। उसने कहा कि ठीक है; शायद जब मैं ले आऊंगा धन तब वे इनकार कर देंगे। वह भी आखिरी दम तक देख लेना चाहता था। बाप का ही बेटा था। कबीर का ही बेटा था। कहा कि तुम अगर आखिरी दम तक कस रहे हो तो मैं भी...। वह ले आया खींच कर अशर्फियों से भरी एक बोरी। बोरी बाहर निकाल रहा था, तभी कबीर ने कहा कि "सुन, घर के लोगों को जगा दिया कि नहीं, बता दिया कि नहीं?" तो उसने कहा: "क्या मतलब?" कहा: "घर के लोगों को बता तो दे भाई कम से कम। सुबह भटकेंगे, यहां-वहां खोजेंगे, उनको पता तो होना चाहिए, कौन ले गया! शोरगुल कर दे!" तो कमाल तो कमाल ही था, उसने शोरगुल कर दिया। और जब कबीर कह रहे हैं तो कर दो शोरगुल! शोरगुल कर दिया तो पकड़ लिया गया। सेंध में से निकल रहा था, घर के लोगों ने पीछे से पैर पकड़ लिए। तो उसने पूछा कबीर से: "अब क्या करना? लोगों ने पैर पकड़ लिए हैं।" तो कबीर ने कहा: "पकड़े रहने दे पैर। पैर का करना भी क्या है! सिर मैं तेरा लिए जाता हूं।" कहते हैं सिर काट लिया, सिर ले गये। घर के लोगों ने पीछे खींच लिया कमाल को। बिना सिर का था तो पहचानना मुश्किल हो गया कि कौन है, क्या है। लेकिन कुछ रंग-ढंग से लगता था कि अपूर्व व्यक्ति है! गंध कुछ ऐसी थी, हाथ-पैर का सौंदर्य ऐसा था, शरीर का अनुपात ऐसा था, कोमलता ऐसी थी, प्रसाद ऐसा था! बिना सिर के भी था तो भी!

किसी ने कहा कि हमें तो ऐसा लगता है कि कबीर का बेटा कमाल है, तो इसे बाहर खंभे पर लटका दें, पहचान हो जायेगी। क्योंकि थोड़ी ही देर में कबीर की मंडली निकलेगी भजन करते, कोई न कोई पहचान लेगा। तो उन्होंने खंभे पर लटका दिया बाहर। थोड़ी देर बाद मंडली निकली कबीर की भजन करते। पकड़े गये, क्योंकि कमाल का शरीर वहां लटका था। रोज की आदत, पुरानी आदत, ऐसी जल्दी तो छूटती नहीं--जब लोगों को भजन करते देखा तो वह ताली बजाने लगा! वह जो लाश लटकी थी, वह ताली बजाने लगी।

कहानी तो कहानी ही है; सच होनी चाहिए, ऐसा नहीं है। लेकिन बड़ी प्रतीकात्मक है कि कबीर चोरी को भी राजी हो गये; बेटे का सिर काटने को भी राजी हो गये; न चोरी से डरे न हिंसा से डरे। ऐसा हुआ है, ऐसा मैं कह नहीं रहा; लेकिन ऐसा भी हो तो भी आश्चर्य नहीं है। क्योंकि हमारे जो द्वंद्व हैं--चोरी बुरी और अचोरी

अच्छी, और हिंसा बुरी और अहिंसा अच्छी--ये हमारे चंचल चित्त की लहरों से उठी हुई धारणायें हैं। हेयोपादेय! यह अच्छा, यह बुरा; यह शुभ, यह अशुभ! कहीं तो कोई एक दशा होगी, न जहां कुछ शुभ रह जाता, न अशुभ। कहीं तो कोई एक दशा होगी निर्द्वंद्व! कहीं तो एक सरलपन होगा, जहां भेद नहीं रह जाता! कहीं तो कोई एक स्थान होना चाहिए, एक स्थिति होनी चाहिए--जहां सब द्वंद्व खो जाते हैं, द्वैत लीन हो जाता है, अद्वैत का जन्म होता है! उसी अद्वैत की बात है।

निर्द्वंद्वो बालवत धीमान् एवं एव व्यवस्थितः।
हो जाये जो बच्चे जैसा निर्द्वंद्व, द्वंद्व के पार...।

एक बात और यहां समझ लेना। बच्चे जैसा कहा है; बच्चा ही नहीं कहा है। क्योंकि अगर ऐसा हो तो सभी बच्चे संतत्व को उपलब्ध हो गये। लेकिन बच्चे संतत्व को उपलब्ध नहीं हैं। बच्चे तो अभी भटकेंगे। बच्चे तो भटकने की पहली दशा में हैं, भटकने के पूर्व। संत है भटकने के बाद। वर्तुल पूरा हो जाता है। जहां से चले थे, वहीं आ जाते हैं। अगर तुम्हारा जीवन ठीक-ठीक विकासमान हो, ठीक-ठीक वर्द्धमान हो, अगर तुम्हारा जीवन ठीक से चले--तो जब तुम पैदा हुए, जैसे तुम बच्चे थे वैसे ही मरते वक्त पुनः तुम्हें बच्चे हो जाना चाहिए। तो वर्तुल पूरा हो गया। जहां से चले थे वहीं वापस आ गये; मूलस्रोत उपलब्ध हो गया।

यह अंतिम बालपन की बात हो रही है। बच्चों जैसे का अर्थ है: बच्चे नहीं; जो गुजर चुके जीवन के सारे अनुभवों से और फिर भी बच्चे जैसी सरलता को उपलब्ध हो गये हैं! बच्चे तो बिगड़ेंगे, बच्चे तो बिगड़ने को बने हैं। बच्चे तो अभी तैयार हो रहे हैं बिगड़ने के लिए। अभी निकाले जायेंगे बहिश्त के बाहर। अभी स्वर्ग खोयेगा। अभी उनकी जो निर्दोषता है, वह कोई उपलब्धि नहीं है, वह प्रकृति की भेंट है। सभी बच्चे सुंदर, सभी बच्चे शांत, सभी बच्चे समग्र पैदा होते हैं। फिर धीरे-धीरे विसंगतियां पैदा होती हैं, विरोध पैदा होते हैं। धीरे-धीरे बच्चे का बचपन खोता चला जाता है। पाप पैदा होता है। पाप का इतना ही अर्थ है: भेद शुरू हो गया। कपट पैदा होता है। कपट का इतना ही अर्थ है: हिसाब आ गया। सरलता चली गई। जैसे थे वैसे न रहे। जैसे नहीं हैं, वैसा बतलाने लगे। राजनीति आ गई। कूटनीति आ गई।

बच्चा तो भटकेगा। बच्चे को भटकना ही पड़ेगा, क्योंकि बिना भटके जगत के अनुभव से गुजरने का कोई उपाय नहीं। इस जगत के बीहड़ बन में भटकना पड़ेगा। संत वह है जो इस बीहड़ बन से गुजर गया; इस सबको देख लिया--अच्छे को भी, बुरे को भी--और दोनों को असार पाया। जिन्होंने बुरे में सार देखा, वे दुर्जन; जिन्होंने अच्छे में सार देखा, वे सज्जन; जिन्होंने दोनों में सार नहीं देखा, वे संत। जो दोनों के पार हो गये, जिन्होंने दोनों को देख लिया, दोनों को देखा, खूब देख लिया, भरपूर देख लिया--और दोनों को थोथा पाया...!

मैंने ऐसी दुनिया जानी।
इस जगती के रंगमंच पर
आऊं मैं कैसे क्या बन कर
जाऊं मैं कैसे क्या बन कर
सोचा, यत्न किया जी भरकर
किंतु कराती नियति-नटी है
मुझसे बस मनमानी।
मैंने ऐसी दुनिया जानी।
आज मिले दो, यही प्रणय है
दो देहों में यही हृदय है
एक प्राण है एक श्वास है
भूल गया मैं यह अभिनय है
सबसे बढ़ कर मेरे जीवन
की थी यह नादानी।

मैंने ऐसी दुनिया जानी।

देखा बुरा, भूल गये कि नाटक है। देखा भला, भूल गये कि नाटक है। बुरे में जो भटक गया, हो गया रावण। भले में जो भटक गया, हो गया राम। जिसने बुरे को ओढ़ लिया, हो गया पापी। जिसने भले को ओढ़ लिया, हो गया पुण्यात्मा। जिसने बुरे में जड़ें जमा लीं, हो गया हीनात्मा। और जिसने भले में जड़ें जमा लीं, हो गया महात्मा। लेकिन जिसने दोनों में जाना--

सोचा, यत्न किया जी भरकर
किंतु कराती नियति-नटी है
मुझसे बस मनमानी।
मैंने ऐसी दुनिया जानी।
भूल गया मैं यह अभिनय है
सबसे बढ़ कर मेरे जीवन
की थी यह नादानी।
मैंने ऐसी दुनिया जानी।

और जिसने देखा कि सब नाटक है--बुरा भी, भला भी; रावण भी रामलीला के पात्र, राम भी! जिसने जीवन को अभिनय जाना; जो साक्षी हो कर पार खड़ा हो गया; जिसने कहा, न मैं रावण हूं न मैं राम हूं--वह पार हो गया!

मेरे पास बहुत मित्र पत्र लिख कर भेज देते हैं कि आप कृष्ण पर बोले, बुद्ध पर बोले, जीसस पर बोले, कबीर, नानक, दादू, सहजो, फरीद, सूफियों पर बोले, झेन फकीरों पर बोले; राम को क्यों छोड़ जाते हैं? तुलसी की रामायण को क्यों छोड़ जाते हैं? तुलसीदास पर क्यों नहीं बोलते? राम पर क्यों नहीं बोलते?

कारण है। सज्जन में मेरी बहुत रुचि नहीं है। संत में मेरी रुचि है। राम मर्यादापुरुषोत्तम हैं। मर्यादा के जो पार है, उसमें मेरी रुचि है। कृष्ण में मेरी रुचि है, क्योंकि कृष्ण मर्यादा-शून्य हैं। कृष्ण से ज्यादा चरित्रहीन व्यक्ति पाओगे संसार में! कृष्ण से ज्यादा गैर-भरोसे योग्य व्यक्ति पाओगे कहीं! किसी बात का पक्का नहीं है। छोटे बच्चे जैसा व्यवहार है। कसम खा ली थी कि शस्त्र न उठाऊंगा, फिर उठा लिया! कसमों का कोई हिसाब रखे! किसको याद रहे कसम! छोटे बच्चे जैसा व्यवहार है!

मुझसे लोग पूछते हैं कि कृष्ण के इस व्यवहार में आप क्या देखते हैं? कुछ भी नहीं देखता हूं--यह सीधा-सरल व्यवहार है। खा ली थी कसम किसी क्षण में; अब वह क्षण गया, नया क्षण आ गया। अब इस नये क्षण की नई स्थिति है। इस नये क्षण का नया संवेग है! इस नये क्षण के लिए नया उत्तर चाहिए! पुरानी कसम से बंधे रहते तो मर्यादा होती। बंधे न रहे। अस्तित्व के नये ढंग के साथ नये हो लिए।

तुमने कृष्ण का एक नाम सुना रणछोड़दास जी! भगोड़ादास जी! भाग खड़े हुए! किसी मौके पर देखा कि भागने में ही सार है तो फिर ऐसा नहीं कि जिद की तरह अड़े रहेंगे कि चाहे जान रहे कि जाये, झंडा ऊंचा रहे हमारा! भाग गये, कि देखा कि परिस्थिति भागने की है, तो इसमें अकड़ न रखी। उनके भक्तों ने भी खूब नाम बना लिया--रणछोड़दास जी!

कृष्ण में एक मर्यादा-पार की प्रभा है। कृष्ण को समझना थोड़ा कठिन है। राम सीधे-साफ हैं। राम में कुछ विशिष्ट नहीं। महिमापूर्ण हैं, मगर विशिष्ट नहीं। महात्मा हैं, लेकिन संत नहीं। इसलिए जान कर छोड़ता रहा हूं। जब परम की ही बात करनी हो तो राम वहां नहीं आते। और इसी की सूचना हिंदुओं ने भी दी। उन्होंने भी राम को अंशावतार कहा; पूर्णावतार कहने की हिम्मत नहीं की, क्योंकि बात गलत हो जायेगी। कृष्ण को पूर्णावतार कहा। कहा कि यह पूरा-पूरा परमात्मा। पूरा-पूरा परमात्मा का अर्थ हुआ: अब मर्यादा भी नहीं। मर्यादा भी आदमी की होती है। सीमा आदमी की होती है। तो ठीक है राम के लिए मर्यादापुरुषोत्तम नाम, कि पुरुषों में उत्तम मर्यादा वाले, सबसे बड़ी मर्यादा वाले। लकीर के बिलकुल फकीर हैं। यह किसी धोबी ने कह दिया अपनी पत्नी से कि "तू रात भर कहां रही? तू मुझे राम समझी है कि वर्षों रह गई सीता रावण के घर और फिर ले

आये? छोड़ ये बातें, निकल घर से।" बस यह बात काफी हो गई कि यह तो मर्यादा टूटती है। तो मर्यादा टूटती है, सीता की अग्नि-परीक्षा भी ले ली, सब तरह उसे कोरा, उसको पूरा पक्का-खरा पाया, फिर भी उसे जंगल छुड़वा दिया। मर्यादा टूटती है!

कृष्ण बड़े और ढंग के हैं। कोई मर्यादा नहीं है। मर्यादा मात्र शून्य है। इसलिए कृष्ण को पूर्णावतार कहा है; परमात्मा जैसे पूरा-पूरा उतरा! परमात्मा संत में पूरा-पूरा उतरता है; महात्मा में बंधा-बंधा उतरता है। और दुर्जन में तो पड़ गया गड्ढे में, कीचड़-कबाड़ में। जैसे शराबी पड़ा होता है नाली में, ऐसा दुर्जन में परमात्मा नाली में पड़ जाता है; सज्जन में खड़ा हो जाता है; संत में उड़ने लगता है। संत की ही बात मैंने की है अब तक--इस आशा में कि जहां जाना है, जो होना है, उसकी ही बात करनी उचित है; बीच के पड़ावों की क्या बात करनी!

राम एक सराय हैं, मंजिल नहीं। रुक जाना रात भर, अगर कृष्ण समझ में न आते हों तो राम पर रुक जाना, बिलकुल ठीक है। बाहर पड़े रहने की बजाय खुले आकाश के नीचे, धर्मशाला में ठहर जाना, लेकिन धर्मशाला मंजिल नहीं है। इसलिए तुलसी का मेरे मन में कोई बहुत मूल्य नहीं है। स्थिति-स्थापक हैं। कबीर की बात और! कबीर क्रांति हैं! तुलसी--परंपरा। पिटा-पिटाया है। कुछ नया नहीं। कोई मौलिक नहीं। कोई क्रांति का स्वर नहीं है। क्रांति के स्वर सुनने हों तो कबीर में सुनो या नानक में सुनो या फरीद में या अष्टावक्र में सुनो। अष्टावक्र तो महास्रोत हैं क्रांति के। जगत में जितने भी आध्यात्मिक क्रांतिकारी हुए, सब की मूल सूचनायें अष्टावक्र में मिल जायेंगी। अष्टावक्र जैसे मूल स्रोत हैं, हिमालय हैं, जहां से सारी क्रांति की गंगायें निकलीं।

"रागवान पुरुष दुख से बचने के लिए संसार को त्यागना चाहता है, लेकिन वीतराग दुख-मुक्त हो कर संसार के बीच भी खेद को प्राप्त नहीं होता है।"

"रागवान पुरुष दुख से बचने के लिए संसार को त्यागना चाहता है!"

हातुमिच्छति संसारं रागी दुःखजिहासया।

पहले तो रागी व्यक्ति दुख से बचने के लिए संसार को पकड़ता है; धन को पकड़ता है ताकि दुख से बच जाये; मित्र को पकड़ता है, दुख से बच जाये; परिवार को पकड़ता है, दुख से बच जाये। पहले तो कोशिश करता है संसार की चीजों को पकड़ कर दुख से बचने की; फिर पाता है कि यह पकड़ से तो दुख ही पैदा हो रहा है, दुख से बचना नहीं हो रहा--तो फिर संसार की चीजों को त्यागने लगता है, लेकिन कामना पुरानी अब भी वही है कि दुख से बच जाऊं। पहले पकड़ता था, अब त्यागता है; लेकिन दुख से बचने की वासना वही की वही है।

"रागवान पुरुष दुख से बचने के लिए संसार को त्यागना चाहता है, लेकिन वीतराग पुरुष दुख-मुक्त हो कर संसार के बीच में भी रहे तो भी खेद को उपलब्ध नहीं होता।"

रागी दुख से ही भागता रहता है--संसार में भागे तो, मंदिर जाये तो, दुकान जाये तो, मस्जिद जाये तो--दुख से ही भागता रहता है। वीतरागी जाग कर दुख से मुक्त हो जाता है; साक्षी बन कर दुख से मुक्त हो जाता है। दुख से भागता नहीं; दुख को देख लेता है भर आंख और दुख खो जाता है।

मुल्ला नसरुद्दीन को उसके मालिक ने एक दिन कहा कि जरा बाहर जा कर देख, सूरज निकला कि नहीं? वह बाहर गया, फिर भीतर आया और कुछ करने लगा जा कर कमरे में। मालिक ने पूछा: "क्या हुआ? सूरज निकला कि नहीं?" उसने कहा: "मैं लालटेन जला रहा हूं। बाहर बहुत अंधेरा है, दिखाई कुछ पड़ता नहीं।"

अब सूरज को देखने के लिए कोई लालटेन जलानी पड़ती है! और जो सूरज लालटेन जला कर दिखाई पड़े, वह सूरज होगा?

जैसे ही व्यक्ति को दुख को देखने की क्षमता आ जाती है, दुख खो जाता है। सूरज उगा, रात गई, अंधेरा गया। साक्षी जागा, दुख गया। दुख पैदा ही इसलिए हो रहा है कि हम तादात्म्य के अंधकार में खो गये हैं। सोचते

हैं--मैं शरीर, मैं मन, मैं यह, मैं वह--इस वजह से सारी तकलीफ है। जैसे ही साक्षी जागा, मैं न देह रहा, न मैं मन रहा, मैं तो चिन्मात्र हो गया, चैतन्यमात्र हो गया। उसी क्षण दुख गया।

"वीतराग दुख-मुक्त हो कर संसार के बीच बना रहता है और किसी खेद को प्राप्त नहीं होता है।"

वीतरागो हि निर्दुःखस्तस्मिन्नपि न खिद्यते।

फिर कहीं भी रहे वीतराग पुरुष, संसार में कि संसार के बाहर...और संसार के बाहर कहां जाओगे! जहां है, वहां संसार ही है। आश्रम में भी संसार है, मंदिर में भी संसार है, हिमालय पर भी संसार है--संसार से जाओगे कहां! जो है, संसार है। इसलिए भागने से तो कोई राह नहीं है। तुम जहां हो वहीं जागने से राह है।

"जिसका मोक्ष के प्रति अहंकार है और वैसा ही शरीर के प्रति ममता है, वह न तो ज्ञानी है और न योगी है। वह केवल दुख का भागी है।"

यस्याभिमानो मोक्षेऽपि देहेऽपि ममता तथा।

जिसकी ममता लगी है देह में वह दुख पायेगा।

यस्याभिमानो मोक्षेऽपि...।

और जिसका अहंकार मोक्ष से जुड़ गया, वह भी दुख पायेगा।

देहेऽपि ममता तथा...।

और जो शरीर से जुड़ा वह भी दुख पायेगा। धन को तुमने समझा मेरा है, तो दुख पाओगे। धर्म को समझा कि मेरा है, तो दुख पाओगे। संसार को कहा कि जीत लूंगा, तो दुख पाओगे। कहा कि परमात्मा को पा कर रहूंगा, तो दुख पाओगे। तुम हो तो दुख है। तुम दुख के साकार रूप हो। अहंकार दुख की गांठ है। अहंकार कैंसर है; गड़ता रहेगा, चुभता रहेगा, सड़ता रहेगा।

न च योगी न वा ज्ञानी केवलं दुःख भागसौ।

ऐसा व्यक्ति जिसका शरीर से मोह लगा है या मोक्ष से मोह लग गया, संसार से लगा मोह या परमात्मा से--ऐसा व्यक्ति न तो योगी है, न ज्ञानी है, केवल दुख का भागी है।

अष्टावक्र कह रहे हैं: तुम शरीर से तो छूट ही जाओ, परमात्मा से भी छूटो। संसार की तो भाग-दौड़ छोड़ ही दो, मोक्ष की दौड़ भी मन में मत रखो। तृष्णा के समस्त रूपों को छोड़ दो। तृष्णा मात्र को गिर जाने दो। तुम तृष्णा-मुक्त हो कर खड़े हो जाओ। इसी क्षण परम आनंद बरस जायेगा। बरस ही रहा है; तुम तृष्णा की छतरी लगाये खड़े हो तो तुम नहीं भीग पाते।

"यदि तेरा उपदेशक शिव है, विष्णु है अथवा ब्रह्मा है, तो भी सबके विस्मरण के बिना तुझे स्वास्थ्य नहीं होगा।"

सुनते हो इस क्रांतिकारी वचन को! छोटे-मोटे गुरुओं की तो बात छोड़ो, स्वयं अगर शिव भी उपदेश कर रहे हों और ब्रह्मा और विष्णु, तो भी कुछ न होगा--जब तक तुम जागोगे नहीं। स्वयं परमात्मा भी खड़े हो कर तुम्हें समझाये तो भी तुम समझोगे नहीं, क्योंकि बाहर से समझ आती ही नहीं। समझ का तो भीतर अंकुरण होना चाहिए। कोई दूसरा थोड़े ही तुम्हें जगा सकता है! जागोगे तो तुम जागोगे।

तुम्हारी हालत ऐसी है जैसे जागा हुआ आदमी बन कर पड़ा है कि सो रहा है; अब उसको तुम हिलाओ-डुलाओ, वह करवट बदल लेता है। सोया होता तो शायद जाग भी जाता; मगर वह जागा हुआ पड़ा है, आंख बंद किए हुए पड़ा है, उठना नहीं चाहता है, उठने की आकांक्षा नहीं है--तो तुम कैसे जगाओगे? जो सोने का धोखा दे रहा है वह कैसे जागेगा? और तुम सोने का धोखा दे रहे हो। तुम्हारे भीतर का जो आत्यंतिक केंद्र है वह जागा ही हुआ है; वह कभी सोया नहीं; सोना वहां घटता नहीं, घट नहीं सकता; उसका स्वभाव जागना है। चैतन्य का अर्थ जागना है। तो तुम सोने का बहाना कर रहे हो। अब बहाने कर रहे हो, तुम्हारी मर्जी!

अष्टावक्र कहते हैं:

हरो यद्युपदेष्टा ते हरिः कमलजोऽपि वा।
तथापि न तव स्वास्थ्यं सर्वविस्मरणादृते।।

जब तक तू सब न भूल जाये जो बाहर से सीखा, तब तक स्वास्थ्य, शांति, सत्य का अनुभव न होगा।

शिव का अर्थ है: जिनके हाथ में जगत के विध्वंस की क्षमता है। विष्णु का अर्थ है: जिनके हाथ में जगत को चलाने की क्षमता है। ब्रह्मा का अर्थ है: जिनके हाथ में जगत को बनाने की क्षमता है। जिसने जगत बनाया वह भी सत्य को नहीं बना सकता तुम्हारे लिए। जगत तो माया है, सपना है--सपना बना लिया ब्रह्मा ने, लेकिन सत्य न बना सकेंगे। और जो इस सपने को चला रहा है, सम्हाले हुए है, साधे हुए है, विष्णु, इस विराट लीला को जो चला रहा है--वह भी सत्य को जगाने में समर्थ न हो सकेगा। इतना विस्तार जिसके वश में है, तुम्हारे ऊपर उसका कोई वश नहीं। तुम उसके पार हो। और जो सारे जगत को नष्ट कर सकता है, वह भी तुम्हारे अज्ञान को नष्ट नहीं कर सकता--शिव भी तुम्हारे अज्ञान को नष्ट नहीं कर सकता। अष्टावक्र यह कह रहे हैं कि तुम्हें बाहर से सब भांति मुक्त हो जाना पड़ेगा।

सदगुरु वही है जो तुम्हें बाहर से मुक्त कर दे; जो तुम्हें तुम्हारे ऊपर फेंक दे; जो तुम्हें तुम्हारे ऊपर छोड़ दे; जो तुमसे कहे, भूल जाओ जो बाहर से सीखा, छोड़ दो शास्त्र जो बाहर के हैं, छोड़ दो सिद्धांत जो बाहर के हैं, न रहो हिंदू न मुसलमान न ईसाई न जैन न बौद्ध। तुम तो भीतर उतर जाओ, जहां कोई सिद्धांत नहीं, कोई शास्त्र नहीं, कोई शब्द नहीं। तुम तो उस निर्विचार में डूब जाओ। तुम तो वहां जागो जहां तुम्हारी आत्यंतिक प्रज्ञा का दीया जल रहा है। वहीं से--केवल वहीं से और केवल वहीं से--रूपांतरण संभव है।

यह सुनते हैं! इसलिए मैं कहता हूं बार-बार कि कृष्णमूर्ति जो आज कह रहे हैं वह अष्टावक्र की प्रतिध्वनि है। कृष्णमूर्ति कहते हैं: कोई गुरु नहीं! अनेक लोगों को लगता है कि यह तो बड़ी शास्त्र-विपरीत बात है! कहां शास्त्र-विपरीत बात है? शास्त्रों का शास्त्र कह रहा है: "कोई गुरु नहीं! ब्रह्मा, विष्णु, महेश भी नहीं।"

लेकिन इसका यह अर्थ मत समझ लेना कि अष्टावक्र की गीता का कोई उपयोग नहीं। यही उपयोग है। शास्त्र वही जो तुम्हें शास्त्र से भी मुक्त करा दे। गुरु वही जो तुम्हें गुरु से भी मुक्त करा दे।

फ्रेडरिक नीत्शे के महाग्रंथ "दस स्पेक जरथुस्त्रा" में, जब जरथुस्त्र अपने शिष्यों से विदा होने लगा तो उसने कहा: "आखिरी संदेश! जो मुझे कहना था कह चुका; जो तुम्हें समझाना था समझा चुका। आखिरी बात याद रखना। इस महामंत्र को कभी मत भूलना। जो मैंने कहा उसे भूल जाना, मगर इसे मत भूलना।"

वे सब चौंक कर खड़े हो गये। उन्होंने कहा: "क्या शेष रहा है बताने को?" तो उसने कहा: "एक बात--बिवेयर आफ जरथुस्त्रा! मैं जा रहा हूं, मुझसे सावधान!" यह सदगुरु का लक्षण है। जो भी मैंने तुमसे कहा, भूल जाना, कोई चिंता नहीं; लेकिन यह बात कभी भूल कर मत भूलना कि खतरा है कहीं जरथुस्त्र से मोह-आसक्ति न बन जाये; नहीं तो तुम फिर बाहर से उलझ गये। कोई बाहर की स्त्री से उलझा, कोई बाहर के धन से उलझा, कोई बाहर के परमात्मा से उलझा, कोई बाहर के गुरु से उलझ गया--उलझन जारी रही।

मुक्ति है भीतर। मुक्ति है स्वयं में। तुम्हारा स्वभाव मुक्ति है।

हरो यद्युपदेष्टा ते हरिः कमलजोऽपि वा।

ब्रह्मा, विष्णु, महेश जैसे गुरु भी मिल जायें तो भी...

तथापि न तव स्वास्थ्यं सर्वविस्मरणादृते।

...तो भी जब तक सब न भूल जाये जो सीखा, शब्द न भूल जाये, सिद्धांत न भूल जाये, विचार न भूल जाये; जब तक निर्विचार निःशब्द मौन में प्रतिष्ठा न हो जाये--तब तक स्वास्थ्य की उपलब्धि नहीं है। स्वास्थ्य यानी मोक्ष। स्वास्थ्य यानी निर्वाण या कहो परमात्मा, परात्पर ब्रह्म, मोक्ष, मुक्ति--जो भी नाम देना चाहो। नाम का कोई मूल्य नहीं है। लेकिन जो है तुम्हारे भीतर है और बाहर से दबा है। बाहर को हटा दो तो भीतर का जो दबा हुआ फूल है, प्रगट हो जाये। बाहर की कीचड़ में दबा तुम्हारा कमल है। कीचड़ को हटा दो तो कमल खिल जाये। उस खिलने में ही तृप्ति है, संतोष है, महातोष है। उसके बिना असंतोष है।

हरि ॐ तत्सत्!

अड़तालीसवां प्रवचन

प्रेम, करुणा, साक्षी और उत्सव-लीला

पहला प्रश्न: क्राइस्ट का प्रेम, बुद्ध की करुणा, अष्टावक्र का साक्षी और आपकी उत्सव- लीला, इन चारों में क्या फर्क है? क्या ये अलग-अलग चार मार्ग हैं?

अलग-अलग मार्ग नहीं, वरन एक ही घटना की चार सीढ़ियां हैं, एक ही द्वार की चार सीढ़ियां हैं।

क्राइस्ट ने जिसे प्रेम कहा है वह बुद्ध की ही करुणा है, थोड़े से भेद के साथ। वह बुद्ध की करुणा का ही पहला चरण है। क्राइस्ट का प्रेम ऐसा है जिसका तीर दूसरे की तरफ है। कोई दीन है, कोई दरिद्र है, कोई अंधा है, कोई भूखा है, कोई प्यासा है, तो क्राइस्ट का प्रेम बन जाता है सेवा। दूसरे की सेवा से परमात्मा तक जाने का मार्ग है; क्योंकि दूसरे में जो पीड़ित हो रहा है वह प्रभु है। लेकिन ध्यान दूसरे पर है। इसलिए ईसाइयत सेवा का मार्ग बन गई।

बुद्ध की करुणा एक सीढ़ी और ऊपर है। इसमें दूसरे पर ध्यान नहीं है। बुद्ध की करुणा में सेवा नहीं है; करुणा की भाव-दशा है। यह दूसरे की तरफ तीर नहीं है, यह अपनी तरफ तीर है। कोई न भी हो, एकांत में भी बुद्ध बैठे हैं, तो भी करुणा है। फर्क समझ लेना।

राह से तुम गुजरे। एक अंधा आदमी भीख मांग रहा है तो तुमने जो दो पैसे दिए वह करुणा नहीं है; सेवा है। क्षण भर पहले, जब तक तुमने अंधे भिखारी को नहीं देखा था तब तक तुम्हारे मन में कोई करुणा का उदय न हुआ था। अंधे भिखारी को देख कर हुआ, यह तुम्हारी अवस्था नहीं है; सांयोगिक घटना है। अगर अंधा भिखारी न मिलता तो सेवा का भाव पैदा न होता, सहानुभूति पैदा न होती। यह प्रेम दूसरे पर निर्भर है; यह दया है। बुद्ध ने करुणा उस दशा को कहा है जब कोई हो न हो, तुम्हारे भीतर करुणा की तरंग उठती ही रहती है। अंधे को देख कर तो उठती ही है, आंख वाले को देख कर भी उठती है; बीमार को देख कर तो उठती ही है, स्वस्थ को देख कर भी उठती है; गरीब को देख कर तो उठती ही है, अमीर को देख कर भी उठती है।

इस फर्क को खयाल में ले लेना। अमीर को देख कर दया नहीं उठती; स्वस्थ आदमी को देख कर दया उठने का क्या कारण है? शायदर् ईष्या उठती है, जलन उठती है, द्वेष उठता है। अंधे को देख कर दया उठती है। बुद्ध कहते हैं, करुणा होनी चाहिए चैतन्य की दशा; इसका दूसरे से संबंध न हो। और इस भेद को समझना। यही भेद पूरब और पश्चिम का भेद बन गया।

ईसाई को समझ में नहीं आता कि पूरब के धर्म सेवा-उन्मुख क्यों नहीं हैं? जैसा ईसा ने अंधों को आंखें दीं, कोढ़ियों के पैर दबाये, भूखों को रोटी दी, ऐसा बुद्ध या महावीर करते दिखाई नहीं पड़ते। ईसाई को लगता है कि कुछ चूक हो रही है; बुद्ध और महावीर में कुछ कमी मालूम पड़ती है ईसाई को। सचाई और है। सचाई यह है कि बुद्ध और महावीर के लिए करुणा किसी के प्रसंग में नहीं है; अप्रासंगिक है। करुणा भाव-दशा है। अंधा हो तो, न हो तो, आदमी हो तो, वृक्ष हो तो, पहाड़ हो पर्वत हो तो, कोई न हो तो, शून्य में भी करुणा बरसती रहेगी। जैसे कि एकांत में, निर्जन में किसी वृक्ष पर एक फूल खिला, न कोई यात्री वहां से गुजरता, न कोई प्रशंसक आता, न कोई संभावना है कि चित्रकार आएगा और चित्र बनायेगा, न कोई गायक आएगा और गीत गाएगा, लेकिन फिर भी फूल की सुरभि तो फैलती ही रहेगी, शून्य एकांत में फैलती रहेगी। बुद्ध की करुणा

एकांत में खिले फूल जैसी है। कोई आये तो ठीक, न आये तो ठीक। बुद्ध की करुणा में किसी का पता-ठिकाना नहीं लिखा है; वह किसी की तरफ उन्मुख नहीं है। वह चित्त की दशा है। यह एक कदम ऊपर है।

क्योंकि जो करुणा दूसरे से बंधी हो, वह करुणा बहुत गहरी नहीं है। समझो, अगर दुनिया में कोई दुख न रह जाए तो फिर ईसाई मिशनरी क्या करेगा? उसकी करुणा तिरोहित हो जायेगी। तो यह तो बड़ी उलझन की बात हुई। इसका मतलब हुआ कि तुम्हें करुणावान बनाये रखने के लिए अंधों और कोढ़ियों का होना जरूरी है। तब तो तुम्हारी करुणा बड़ी महंगी हो गई। तब तो तुम्हारी सेवा के लिए बीमार चाहिए, नहीं तो अस्पताल कैसे खोलोगे? तब तो तुम्हारे परमात्मा तक जाने के लिए अंधे-लूले-लंगड़े भिखारी सीढ़ी की तरह काम कर रहे हैं। नहीं, बुद्ध की करुणा एक कदम ऊपर है। इसका कोई संबंध किसी के दुख से नहीं है। इसका कोई संबंध ही किसी से नहीं है। यह असंबंधित है, असंग है। इसके लिए दूसरे की जरूरत ही नहीं है। इसलिए यह ऊपर है।

जहां तक दूसरे की जरूरत है वहां तक हम संसार के बहुत करीब हैं; बहुत दूर नहीं गये। जहां दूसरे से संबंध मुक्त हो गया, असंग हुए, वहां हम उड़ने लगे आकाश में, पृथ्वी से नाता टूटा। मगर थोड़ी सूक्ष्म है। जीसस की दया, जीसस का प्रेम, जीसस की करुणा सभी की समझ में आ जायेगी; जो बिलकुल अंधे हैं उनको भी समझ में आ जाएगी। कम्युनिस्ट को भी समझ में आ सकती है। जिसके पास बोध की कोई धारणा नहीं है; जिसके पास ध्यान की कोई किरण नहीं है--उस भौतिकवादी को भी समझ में आ सकती है। क्योंकि बुद्ध की करुणा तो बड़ी अभौतिक है, और जीसस की करुणा बड़ी भौतिक है। इसलिए ईसाई मिशनरी अस्पताल बनायेगा, स्कूल खोलेगा, दवा बांटेगा।

बौद्ध भिक्षु कुछ और बांटता है; वह दिखाई नहीं पड़ता। वह जरा सूक्ष्म है। वह ध्यान बांटेगा, समाधि की खबर लायेगा। वह भी आंखें खोलता है, लेकिन कहीं गहरी; बाहर की नहीं। और वह भी स्वास्थ्य के विचार को तुम तक लाता है, लेकिन आंतरिक स्वास्थ्य के, असली स्वास्थ्य के। क्योंकि वह जानता है, शरीर तो बीमार हो कि स्वस्थ, शरीर तो बीमारी ही है। इसे तुम स्वस्थ भी रखो तो वह भी तो बीमारी है। और आज नहीं कल जाएगा। मौत आने को है। इसलिए पानी पर लकीरें खींचने का कोई बहुत प्रयोजन नहीं है। लिखना ही हो कुछ तो आत्मा पर लिखो। अस्पताल क्या बनाना; बनाना हो कुछ तो मंदिर बनाओ; बनाना हो कुछ तो चैत्यालय बनाओ। ध्यान की कोई लकीरें खींचो जो साथ जायेंगी, जिनको मौत मिटा न पायेगी।

तो प्रेम...क्राइस्ट जिसे प्रेम कहते हैं, वह पहली सीढ़ी है।

बुद्ध जिसे करुणा कहते हैं वह दूसरी सीढ़ी है। लेकिन अभी भी करुणा है। गंध का पता नहीं है अब किस पते पर जा रही है, लेकिन जा रही है। किस तक पहुंचेगी, इसका पता नहीं है; लेकिन किसी तक पहुंचेगी, फैल रही है, बिखर रही है।

अष्टावक्र का साक्षी और एक कदम आगे है। अब कहीं कुछ आता-जाता नहीं, सब ठहर गया है, सब शांत हो गया है। जाने में थोड़ी-सी लहर तो होगी ही। अष्टावक्र कहते हैं: आत्मा न जाती है न आती है; अब गंध अपने में ही रम गई है। यह जो आत्मरमण है। क्राइस्ट की करुणा दूसरे के प्रति निवेदित है; बुद्ध की करुणा अनिवेदित, असंग है, लेकिन फिर भी उड़ती हुई हवाओं में किसी नासापुट तक पहुंच जायेगी। न भी पहुंचे, लेकिन उड़ रही है। साक्षी-भाव जाता ही नहीं, ठहर गया, सब शून्य हो गया। क्राइस्ट के प्रेम में दूसरा महत्वपूर्ण है; बुद्ध की करुणा में स्वयं का होना महत्वपूर्ण है; साक्षी में न दूसरा रहा न स्वयं रहा; मैंत्तू दोनों गिर गये। जाग कर देखा कि मैं भी झूठ है, तू भी झूठ है।

और पूछा है कि "और आपकी उत्सव-लीला में...?"

वह आखिरी बात है। साक्षी में सब ठहर गया, लेकिन अगर यह ठहरा रहना ही आखिरी अवस्था हो तो परमात्मा सृजन क्यों करे? परमात्मा तो ठहरा ही था! तो यह लीला का विस्तार क्यों हो? तो यह नृत्य, यह

पक्षियों की किलकिलाहट, ये वृक्षों पर खिलते फूल, ये चांदत्तारे, यह विराट विस्फोट! परमात्मा तो साक्षी ही है! तो जो साक्षी पर रुक जाता है वह मंदिर के भीतर नहीं गया। सीढ़ियां पूरी पार कर गया, आखिरी बात रह गई। अब न तू बचा न मैं बचा, अब तो नाच होने दो। अब तो नाचो। कभी तू के कारण न नाच सके, कभी मैं के कारण न नाच सके। अब तो दोनों न बचे, अब तुम्हें नाचने से कौन रोकता है? अब कौन-सा बंधन है? कौन-सी कारागृह की दीवाल तुम्हें रोकती है? अब तो नाचो; अब तो रचाओ रास; अब तो होने दो उत्सव! अब क्यों बैठे हो? अब लौट आओ!

यह लौट आना बिलकुल नये ढंग का है। वहीं लौट आओ जहां से गये थे--उसी बाजार में। लेकिन अब तुम शून्य की भांति आ रहे हो। साक्षी तुम्हारे भीतर है, बुद्ध की करुणा तुम्हारे भीतर है, क्राइस्ट का प्रेम तुम्हारे भीतर है। और एक नई घटना घट गई है: अब तुम्हारे भीतर दुख है ही नहीं, अशांति है ही नहीं, अब तो नाचो। पहले तो नाचने से थक जाते थे और नाचने में भी ज्वर था, ताप था, अब तो सब शीतल हो गया है, अब तो सब चंदन हो गया है, अब तो नाचो! यह जो विराट नृत्य चल रहा है परमात्मा का, इसमें सम्मिलित हो जाओ। अब किनारे क्यों बैठे हो? जरूरी था एक दिन किनारे बैठ जाना, नहीं तो तुम पागल ही बने रहते। एक दिन किनारे बैठ जाना जरूरी था--तटस्थ हुए, कूटस्थ हुए। लेकिन अब!

बहुत-से धर्म रुके हैं। जैसे ईसाइयत जीसस के प्रेम पर रुक जाती है; बहुत गहरी नहीं जाती। बुद्ध का धर्म करुणा पर रुक जाता है। जैन कूटस्थ भाव पर रुक जाते हैं, साक्षी पर रुक जाते हैं। इसलिए तुम पूछो कि जैनों के मोक्ष में क्या हो रहा है? सब पहुंचे हुए सिद्ध पुरुष अपनी-अपनी सिद्धशिलाओं पर बैठे हैं। मगर जरा सोचो इस हालत को, कब से बैठे हैं, और बैठे ही हैं, बैठे ही हैं...।

बर्ट्रेंड रसेल ने बड़ा मजाक उड़ाया है; उसने कहा है कि अगर ऐसा सदा बैठे रहना हो अनंत काल तक तो मैं नहीं जाता। इसको तुम थोड़ा विचार करो, सिद्धशिला पर पहुंच गये, आखिरी अवस्था आ गई, अब बैठे हैं, न कोई तरंग उठती है, न कोई गीत, न कोई गुनगुनाहट, न कोई नृत्य, न कोई वीणा बजती है, कुछ भी नहीं होता है। अब कुछ होता ही नहीं है। अब बस बैठे हैं; अब बस बैठे हैं। और यह अब रहेगा अनंत काल तक, अब इससे लौटना संभव नहीं है। यह तो हो गई बात।

जैन कहते हैं, बस पहुंच गये। अब लौटना संभव नहीं है। यह तो फांसी लग गई। अगर इसे गौर से देखोगे तो यह तो संसार से क्या छूटे, और मुश्किल में पड़ गये। रसेल ने ठीक लिखा है कि इससे तो मैं नरक जाना पसंद करूंगा; कम से कम वहां से छूटने का उपाय तो है। कम से कम वहां कुछ तो होता होगा; गपशप तो चलती होगी; समाचार-पत्र तो निकलते होंगे; कुछ होता तो होगा! लेकिन यह मोक्ष तो बड़ा जड़ मालूम पड़ता है।

इसलिए मैं तुमसे कहता हूं, मोक्ष के बाद भी एक अवस्था है; वही परमात्मा की पूरी अवस्था है। वही कृष्ण की दशा है; वहां लीला-उत्सव शुरू हो जाता है। तुम्हारी धारणा यह है कि लीला-उत्सव तो अज्ञानी के लिए है। यह तो अज्ञानी है जो अभी राग-रंग कर रहा है। तो तुमने अभी राग-रंग का पूरा अर्थ नहीं जाना। अज्ञानी करने की कोशिश करता हो भला, हो कहां पाता है? राग-रंग में ही तो कांटे चुभ जाते हैं; फूल खिलते कहां? आशा है, सपना है; होता कहां है? देखते हो भोगी को, कुछ सुखी दिखाई पड़ता है? चेष्टा कर रहा है; चेष्टा में ही दबा जा रहा है, टूटा जा रहा है, बिखरा जा रहा है। नाचना चाहता है, नाच कहां पाता है? हजार बाधायें आ जाती हैं। सोचता है, कल नाचूंगा, परसों नाचूंगा। बाधाओं का अंत नहीं होता; रोज बाधायें बढ़ती जाती हैं। और आखिर में पाता है कि यह तो मौत द्वार पर खड़ी हो गई। नाचने का समय ही न मिला; तैयारी ही करने में समय बीत जाता है। तैयारी कभी हो नहीं पाती। भोगी भोग कहां पाता?

उपनिषद कहते हैं: तेन त्यक्तेन भुंजीथा; उन्होंने ही भोगा जिन्होंने छोड़ा। यह किसी भोग की नई धारणा की बात है। जिसने पकड़ा वह क्या खाक भोगेगा? वह भोगता कहां दिखाई पड़ता है?

फिर योगी हैं; वे डर गये भोग से और भाग कर खड़े हो गये। अब वे चलते ही नहीं; हिलते ही नहीं। उनको तुम टस से मस नहीं कर सकते; वे अपनी जगह पत्थर हो कर बैठ गये हैं। वे कहते हैं, हिलने में डर है; हिल गये, कंप गये, लहर आ गई; फिर क्या होगा? फिर संसार शुरू हो जायेगा। यह तो भयभीत अवस्था है और भय में अगर कोई ठहर भी गया है तो इस ठहरने में बहुत आनंद नहीं हो सकता। हो सकता है सांसारिक दुख न हो, सांसारिक अशांति न हो, लेकिन इस ठहरने में तो एक तरह की जड़ता होगी। गत्यात्मकता खो गई, गति खो गई। धार नहीं बहती अब, रस नहीं बहता अब।

नहीं, आखिरी अवस्था में जब तुम सबसे पार हो गये, तब फिर एक नृत्य की दशा है--वह जो भोगी चाहता है और नहीं कर पाता और वह जो योगी चाहता है और भोग में कहीं उतर न जाये, इस डर से रुका रहता है, और नहीं कर पाता है। भोगी और योगी के पार कोई दशा होनी चाहिए जहां योगी और भोगी दोनों की आकांक्षाएं पूरी हो जाती हैं। अन्यथा जगत में कोई अर्थ न होगा, अर्थहीन होगा जगत। भोगी अकड़ा खड़ा है डर के मारे, वह भी नहीं भोग पाता; योगी अकड़ा खड़ा है। भोगी भाग-दौड़ में है, ज्वर में है; वह भी नहीं भोग पाता; भाग-दौड़ के कारण नहीं भोग पाता। फुरसत कहां? और योगी डर के मारे नहीं भोग पाता है। फुरसत तो बहुत है। चौबीस घंटे खड़ा है। समझ में नहीं आता क्या करें। माला फेरता है; कुछ समझ में नहीं आता तो माला ही फेरता रहता है। कुछ न कुछ करता रहता है, जिसमें उलझा रहे। राम, राम, राम, राम जपता रहता है। दोनों नहीं कर पाते।

होना तो चाहिए किसी घड़ी में; नहीं तो जगत अर्थहीन है। फिर इसमें कोई प्रयोजन नहीं है; फिर यह एक वितण्डा-जाल है। ए टेल टोल्ड बाय एन इडिएट; फुल आफ फ्यूरी एंड न्वाइज़, सिग्निफाइंग नथिंग। कोई मूर्ख कहता है कहानी; शोरगुल बहुत मचाता है, हाथ-पैर बहुत तड़फड़ाता है, लेकिन अर्थ कुछ नहीं निकलता। फिर इस जगत में कोई परमात्मा नहीं, फिर कोई सत्य नहीं।

इसलिए चौथी बात: उत्सव-लीला। पहुंच गये। योगी रुकने के कारण नहीं नाच पाता था, भोगी भागने के कारण नहीं नाच पाता था। अब न तो भागना रहा, न रुकना रहा। अब न तो तू रहा, न मैं रहा। अब तो सिर्फ ऊर्जा रही; अब इस ऊर्जा को नाचने से कौन रोके? क्यों रोके? कौन है रोकने वाला? अब एक नये ढंग का नृत्य शुरू होता है। इस नृत्य को ही हमने रास कहा है। यह नृत्य बड़ा अनूठा है। इसमें नाचने वाला होता ही नहीं, सिर्फ नाच होता है। इसमें भोगने वाला होता ही नहीं, भोग ही होता है; सिर्फ रस बहता है शुद्ध। और ऐसी दशा में ही तुम परमात्मा हुए। तो जीवन सार्थक हुआ; यात्रा कहीं पहुंची, कोई मंजिल मिली।

मगर ये चारों एक-दूसरे से जुड़े हुए हैं। तुम्हारी जितनी हिम्मत हो उतना चलना। सबसे कमजोर के लिए ईसाइयत है। वह वहां रुक जाये, दबाता रहे हाथ-पैर मरीजों के, गरीबों को रोटी बांटता रहे; उस तरह के काम में लगा रहे। इसलिए ईसाइयत राजनीति से बहुत दूर नहीं जा पाती, क्योंकि संसार के बहुत करीब है। ईसाइयत वस्तुतः एक तरह की राजनीति ही हो गई है--संसार से बहुत दूर नहीं। बस एक ही कदम तो; संसार बहुत करीब है। खिंच-खिंच आती है संसार में। इसलिए ईसाइयत धन भी बांटती, दवा भी बांटती, सेवा भी करती और इसी तल पर जीती है। ईसाइयत के पास ध्यान जैसी कोई प्रक्रिया नहीं बची। खो गया ध्यान; समाज-सेवा रह गई। समाज-सेवा बुरी बात नहीं है, लेकिन जो समाज-सेवा में ही समाप्त हो गया, उस पर दया करना। वह बहुत कुछ पा सकता था; नहीं पाया; बहुत कुछ हो सकता था, नहीं हुआ। वह क्षुद्र से तृप्त हो गया।

और तुम्हें ऐसा व्यक्ति महात्मा भी मालूम पड़ेगा; क्योंकि तुम्हें भी लगेगा कितना काम कर रहा है। गरीबों के लिए कितना काम कर रहा है, बीमारों के लिए! अशिक्षितों को शिक्षित कर रहा है, रुग्णों का इलाज कर रहा है; अस्पताल खोल रहा है; स्कूल खोल रहा है; धर्मादय चला रहा है; प्याऊ खोल रहा है; प्यासों को पानी मिला रहा है। सीधी बात है; अच्छा काम कर रहा है।

अच्छा काम निश्चित ही है, लेकिन धर्म अच्छे काम पर समाप्त नहीं हो जाता। धर्म जरा ऊंची उड़ान है; अच्छे के भी पार है। इसलिए अगर तुम्हारी महात्मा की यही धारणा हो गई तो तुम्हारा महात्मा बस ईसाई मिशनरी के तल का हो जाएगा, इससे ज्यादा नहीं। तुमने गांधी को महात्मा कहा इसी अर्थ में।

तुम्हें जान कर यह हैरानी होगी कि गांधी ने कई बार अपने जीवन में यह सोचा कि ईसाई हो जायें। जब वे अफ्रीका में थे तो एक बार तो बिलकुल ही तैयार हो गये थे ईसाई होने को। उनके ऊपर ईसाइयत का बड़ा प्रभाव था। वे कहते भला हों कि गीता उनकी माता है, वह सच नहीं है बात। अगर उनके जीवन की धारणा को पूरा समझा जाये तो वे ईसाई ही हैं। क्योंकि उनके जीवन की सारी धारणा ईसाइयत से ही पैदा हुई है। उनके असली गुरु टालस्टाय, रस्किन, थोरो तीनों ईसाई हैं। इन तीन को उन्होंने गुरु कहा है। उनके ऊपर ईसाइयत का भारी प्रभाव है।

बुरा नहीं है ईसाइयत में कुछ भी। यह मैं कह नहीं रहा हूं। ध्यान से सुनना। लेकिन यात्रा वहां समाप्त नहीं होती; शुरू होती है। और जिसने समझ लिया कि यहां समाप्त हो गई, वह अटक गया। खूब करो सेवा, लेकिन सेवक बनकर अगर समाप्त हो गये तो तुमने कुछ पाया नहीं। ध्यानी कब बनोगे?

गांधी के शिष्य विनोबा कहते हैं, सेवा धर्म है। यह जरा गलत पर्याय है। यह तो गलत जोड़ है, गलत गणित है। मैं कहता हूं, धर्म सेवा है, पर सेवा धर्म नहीं। धार्मिक व्यक्ति सेवा कर सकता है, लेकिन सेवा ही करने से कोई धार्मिक नहीं हो जाता। सेवा बड़ी छोटी बात है। तो धार्मिक व्यक्ति के जीवन में सेवा भी हो, यह ठीक है। समझ में आती है बात। लेकिन कोई सिर्फ सेवक हो गया हो तो धार्मिक हो गया तो तुमने धर्म को बड़े संकीर्ण दायरे में बंद कर दिया। तब तो फिर नास्तिक भी अगर सेवा करता हो तो धार्मिक हो गया। क्योंकि सेवा करने के लिए ईश्वर को मानना तो जरूरी नहीं है। बीमार के पैर दाबने में कोई ईश्वर की मान्यता बाधा डालती है? कि ईश्वर को मानोगे तब दाबोगे पैर! तब तो कम्यूनिस्ट भी धार्मिक है, शायद ज्यादा धार्मिक है। अगर सेवा ही धर्म है तो माक्र्स, एंजिल्स, लेनिन, स्टेलिन, माओ, ये बड़ी धार्मिक लोग हैं।

लेकिन सेवा पर धर्म को समाप्त करने की बात ही भ्रांत है। धर्म बड़ा है; सेवा एक छोटा अंग बन सकती है। और धर्म के बड़े विस्तार के साथ सेवा जुड़ी हो तो सेवा में भी एक सुगंध होती है। अन्यथा सेवा में भी कोई अर्थ नहीं रह जाता। बड़े के साथ जुड़ कर छोटा भी महत्वपूर्ण हो जाता है, लेकिन छोटे को ही बड़े करने का दावा करना तो बड़े को भी व्यर्थ कर देना है।

बुद्ध की करुणा सेवा से विराट है, बड़ी है। एक और कदम आगे उठा। अब तुम दूसरे से नहीं बंधे हो; अब तुम मुक्त हो। और तुम्हारे भीतर से मुक्त अहर्निश वर्षा होती है। लेकिन इतने पर ही समाप्त धर्म नहीं हो जाता। आधी यात्रा हो गई, लेकिन अभी आधी बाकी है।

फिर तीसरा चरण है--जो कि करीब-करीब लगता है कि धर्म की अंतिम मंजिल आ गई; लेकिन फिर भी अंतिम नहीं है--साक्षी-भाव। अब न तो दूसरा न मैं, बस दोनों को देखने वाला, दोनों के पार जो अतिक्रमण कर जाता, अनुभवातीत साक्षी, वही रहा। यहां लगता है कि धर्म की आखिरी पराकाष्ठा हो गई। नहीं हुई; अभी एक कदम और बाकी है। अभी वर्तुल पूरा नहीं हुआ। जहां से चले थे, अभी वहीं वापिस नहीं आये तो वर्तुल पूरा नहीं हुआ। स्रोत ही मंजिल है। बीज चला, पौधा बना, वृक्ष बना, फूल लगे, फल लगे, फिर बीज आये; तब वर्तुल पूरा हुआ, तब यात्रा पूरी हुई। जहां से चले वहीं आ गये। बच्चा पैदा हुआ, जवान हुआ, बूढ़ा हुआ, हजार-हजार उपद्रवों में पड़ा, और फिर बालवत हो गया; यात्रा पूरी हो गई।

स्रोत ही मंजिल है। जहां से चले थे वहीं पहुंच जाना है। कहां से चलती है यात्रा? संसार से, बाजार से, भीड़-भाड़ से। फिर एक दिन तुम उसी भीड़-भाड़ में आ जाओ। भीड़-भाड़ वही रहेगी, तुम वही नहीं रह गये। फिर तुम नाचो।

अब यह नाच गुणात्मक रूप से और है। इसको मैं उत्सव-लीला कहता हूं। लीला का यही अर्थ होता है। और परमात्मा नाच रहा है। अगर साक्षी पर परमात्मा रुक गया होता तो जगत में इतना नृत्य नहीं हो सकता था। इस रासलीला को देखते हो? चांद नाच रहा, सूरज नाच रहे, पृथ्वी नाच रही, तारे नाच रहे, पूरा ब्रह्मांड नाच रहा है। किसी गहन अहोभाव में लीन, किसी प्रार्थना में डूबा सारा अस्तित्व नाच रहा है। सुनो इसकी झनकार, जगत के पैरों में बंधे घूंघर की आवाज सुनो! तो मीरा ठीक कहती है: पद घुंघरू बांध नाची!

यह चौथी अवस्था हुई। चैतन्य नाचने लगे; मीरा नाचने लगी। बाउल नाचते हैं, पागल हो कर नाचते हैं। भीतर कोई बचा नहीं, भीतर शून्य हो गये। साक्षी तो शून्य पर ले आता है: जब तुम नाचोगे तब पूर्ण होओगे। साक्षी तो तुम्हें कोरा कर देता है, खाली कर देता है। तुम गये। अब परमात्मा उतरेगा तो नाचेगा।

ध्यान रखना। या फिर परमात्मा को रोकना, उतरने मत देना। इसलिए जैन परमात्मा को इनकार करते हैं। वह लीला से बचने की व्यवस्था है। नहीं तो तुम शून्य हो गये; अब क्या करोगे? अब परमात्मा उतरेगा, और जैसा कि उसकी आदत है नाचने की, वह नाचेगा। वह गीत गायेगा; वह हजार खेल करेगा। लीला उसका स्वभाव है। वह माया रचेगा। माया उसकी छाया है। तो अगर तुम डर गये तो अटक गये। साक्षीभाव में एक तरह का सूखापन रह जायेगा; रसधार न बहेगी, फूल न खिलेंगे, हरियाली न उगेगी, नये-नये अंकुर न आएंगे, वसंत की ऋतु न आएगी।

साक्षी तो एक तरह का पतझड़ है; वह पतझड़ की अवस्था है। फिर वसंत तो आने दो। पतझड़ तो उसी की तैयारी थी; उस पर रुक मत जाना। हां, पतझड़ में भी कभी-कभी वृक्ष सुंदर लगते हैं। नग्न खड़े वृक्ष, आकाश की पृष्ठभूमि में, कभी नग्न वृक्षों के पीछे उगता सूरज, उनकी नंगी शाखायें फैली आकाश में, कभी सुंदर लगती हैं। माना, उनका भी अपना सौंदर्य है। लेकिन वह सौंदर्य रुकने जैसा नहीं है। आने दो पत्ते, उगने दो नये पल्लव, फिर गाने दो पक्षियों को, बनाने दो घोंसलों को, लेकिन अब बड़े और ढंग से बनेगी बात। अब कोई चिंता न होगी, अब कोई तनाव न होगा। यह सब सहज होगा।

मेरी सीमायें बतला दो
यह अनंत नीला नभमंडल
देता मूक निमंत्रण प्रतिपल
मेरे चिर चंचल पंखों को
इनकी परिमिति परिधि बता दो
मेरी सीमायें बतला दो

आदमी सदा सीमा चाहता है; कहीं न कहीं सीमा आ जाये। यह आदमी की चाह सीमा की उसे रोक लेती है। मैं तुमसे कहता हूं; तुम असीम हो, तुम्हारी कोई सीमा नहीं है। आकाश की सीमा ही तुम्हारी सीमा है--अगर आकाश की कोई सीमा हो। आकाश की कोई सीमा नहीं है; तुम्हारी भी कोई सीमा नहीं है। तुम कहीं रुकना मत। तुम जहां रुके वहीं सीमा बन जाएगी! तुम चलते ही रहना, तुम बहते ही रहना। तुम्हारी कोई सीमा नहीं है। तुम असीम से असीम की ओर, पूर्ण से पूर्ण की ओर चलते ही रहना।

यह यात्रा अनंत है। परमात्मा यात्रा है। इसमें बहुत पड़ाव पड़ते हैं, पर यात्रा रुकती नहीं। और आगे, और आगे! और जो आखिरी घटना है वह घटना है लीला की। जब तुम्हें यह दिखाई पड़ता है कि सब खेल है तो तनाव खो जाता है। फिर तुम खेल की तरह लीन हो जाते हो। फिर तुम्हारे भीतर कोई गंभीरता नहीं रह जाती, तुम बालवत हो जाते हो, छोटे बच्चे की तरह खेलने लगते हो।

वह जो साक्षी पर रुक गया, खतरा है उस रुकने में। उस रुकने में अहंकार फिर खड़ा हो सकता है। मेरे देखे तुम जहां रुके वहीं अहंकार खड़ा हो जाएगा। रुकने का नाम अहंकार है। अहंकार का अर्थ है: सीमा बन गई। यह आ गई जगह, पहुंच गये। जहां तुमने कहा पहुंच गये, वहीं अहंकार है। तुमने कहा नहीं पहुंचे, पहुंचना होता ही नहीं यहां, चलो-चलो, बहो, पहुंचना होता ही नहीं, तो फिर अहंकार निर्मित नहीं हो सकता।

सोचते हो, कोई तुम्हें इस हरी घास पर अकेला बैठा हुए देखे?
सारी दुनिया से तुमको कुछ अलग लेखे!
उठो इस एकांत से दामन छुड़ाओ, इस महज शांत से
चलो उतर कर नीचे की सड़क पर
जहां जीवन सिमट कर बह रहा है साहस की दिशा में
जहां अतर्कित प्रेम कठोरताओं पर तरल है
सबके बीच में जीवन सरल है
उठो इस एकांत से दामन छुड़ाओ, इस महज शांत से
जो न शक्ति देता है, न श्रद्धा, सिर्फ उदास बनाता है।

तुमने देखा, जो आदमी साक्षी पर अटका, वह उदास हो जाएगा, सूखे लक्कड़ की भांति हो जाएगा। पल्लव उसमें नहीं फूटते, गीत उसमें नहीं पैदा होते, उसके प्राणों में कोई रुनझुन नहीं रह जाती। मुर्दे की भांति महज शांत है, लेकिन शांति में कोई संगीत नहीं है। शांति निर्जीव है। जीवन नहीं है। कब्र की शांति, मरघट की शांति। ऐसी शांति नहीं जो बोलती है; ऐसी शांति नहीं जो नाचती है। क्या तुम मरघट की भांति शांत होना चाहते हो?

कन्फ्यूशियस से उसके एक शिष्य ने पूछा कि मुझे शांत होना है। तो कन्फ्यूशियस ने पूछा: कैसी शांति चाहता है, मरघट की शांति? तो वह तो तू मर कर हो ही जाएगा, उसकी जल्दी क्या है? वह तो हो ही जायेगा। अपनी कब्र में जब पड़ जायेगा तो शांत हो जायेगा, उसकी जल्दी क्या है? ऐसी क्या जल्दी मरने की? अभी दूसरी शांति खोज, जीवंत!

इस भेद को समझना। मुर्दा शांति को तुम वास्तविक शांति मत समझ लेना। मुर्दा शांति तो एक जड़ अवस्था है। भय के कारण तुमने अपने को सब भांति सिकोड़ लिया; हिलते-डुलते भी नहीं। कभी-कभी तुमने भय में देखा, ऐसा हो जाता है। अक्सर ऐसा होता है कि जब सिंह किसी जानवर पर हमला करता है तो वह जानवर वैसे का वैसा ठिठुर कर खड़ा हो जाता है, जैसे बर्फ जम गई। जो लोग इसका अध्ययन करते रहे हैं वे बड़े हैरान होते हैं कि मामला क्या है। यह मौका तो भागने का था और इस वक्त तो जड़ हो जाना खतरनाक है। लेकिन भय इतना है कि भागने में घबड़ाहट है; भय इतना है कि जड़ हो गया है।

कभी तुमने भी देखा होगा, गहरे भय में तुम एकदम ठहरे रह जाते हो, अवाक; हिलडुल भी नहीं पाते। कभी भय इतना जोर से पकड़ लेता है जैसे पक्षाघात लग गया, लकवा मार गया; खड़े रह गये, हिल भी नहीं पाते। जो लोग भयभीत हो गये हैं संसार की अशांति से, वे भय के कारण खड़े रह जाते हैं। तुम्हारे तथाकथित साधु-संन्यासी भय के कारण बैठे रह गये हैं; पद्मासन में बैठे हैं। उसे तुम पद्मासन मत समझना; उस पद्मासन में पद्म तो है ही नहीं--पद्म यानी कमल--वह खिलाव तो है ही नहीं, फूल तो है ही नहीं, सुवास तो है ही नहीं, कहने को पद्मासन है, कमल कहां खिल रहा! कमल के खिलने से तो वे घबड़ा गये हैं; उन्होंने सब पंखुड़ियां समेट ली हैं।

एक साधु मेरे पास मेहमान हुए। सुबह तीन बजे उठ कर वे पद्मासन में ध्यान करने बैठ गये। मैंने उनसे पूछा: क्या कर रहे हैं? उन्होंने कहा कि पद्मासन में बैठ कर ध्यान कर रहा हूं। मैंने कहा: यह पद्मासन है ही नहीं। तुमने कभी किसी कमल को किसी आसन में बैठे देखा है? डोलता है हवा के साथ, सूरज की किरणों के साथ खुलता, जीवंत होता है। आसन में देखा किसी कमल को कभी? आसन में चट्टानें होती हैं; फूल कहीं आसन

में होते हैं; डोलते हैं। तो मैंने कहा, अगर कमल जैसा होना है तो डोलो थोड़ा, नाचो थोड़ा, गीत गुनगुनाओ, ऐसे जड़ हो कर मत बैठ जाओ। अगर ऐसा जड़ हो कर ही बैठना है तो कम से कम पद्मासन तो मत कहो, कुछ और नाम खोज लो--जड़ासन।

उठो इस एकांत से दामन छुड़ाओ, इस महज शांत से।

महज शांत भी कोई शांति है? तुम फर्क समझते हो? एक हरियाली शांति होती है--हरी-भरी, फुदकती-नाचती, धड़कती, श्वास चलती। जगत को देखो, यहां शांति बहुत है! ये वृक्ष शांत खड़े हैं, लेकिन फिर भी जड़ नहीं हैं। हवायें निकलेंगी इनके बीच से और ये डोलेंगे मस्ती में। अस्तित्व शांत है, फिर भी एक गुनगुन है, एक गीत है। झरने शांत हैं, फिर भी एक नाद है, एक नृत्य है। तुम्हारी शांति अगर मुखर न हो, तुम्हारा मौन अगर बोले नहीं, तो सावधान रहना कि यह तुमने एक नई जड़ता पकड़ी। फिर तुम अकड़ कर बैठते हो। उस बैठने में भी तुम बैठे नहीं हो; तुम प्रतीक्षा कर रहे हो कि तुम्हें कोई विशिष्ट समझे।

सोचते हो कोई तुम्हें इस हरी घास पर अकेला बैठा हुआ देखे?

सारी दुनिया से तुमको कुछ अलग लेखे!

इसलिए मैं कहता हूं, जब तक संन्यासी वापिस संसार में न आ जाये, भूल ही जाये अलग होना कि कोई अलग लेखे, यह बात ही मिट जाये, तब तक परम संन्यासी न हुआ। इसलिए महावीर की मैं तुमसे बात करता हूं, लेकिन कृष्ण की प्रशंसा करता हूं। महावीर को तुम्हें समझाता हूं, लेकिन अभीप्सा यही करता हूं कि किसी दिन तुम कृष्ण जैसे हो सकोगे। बाकी सब पड़ाव हैं। वहां से डेरा उखाड़ लेना पड़ेगा; वहां तंबू बांध कर सदा के लिए घर मत बांध लेना। तंबू गड़ा लेना, रात रुक जाना, थक जाओ विश्राम कर लेना; लेकिन चल पड़ना।

चलो उतर कर नीचे की सड़क पर
जहां जीवन सिमट कर बह रहा है साहस की दिशा में
जहां अतर्कित प्रेम कठोरताओं पर तरल है।
सबके बीच में जीवन सरल है।

वह जो दूर-दूर भाग कर बैठा है जंगल में, वह सरल नहीं हो सकता। वह तो जटिल है। उसकी जटिलता ही उसे यहां ले आई है। अब वह यहां जो अकड़ कर बैठा है, यह भी अहंकार है। लौट चलो वहां जहां साधारण जन हैं--सीधे-साधे, जरा भी विशिष्ट नहीं।

आदमी विशिष्टता खोज रहा है। कोई विशिष्टता खोजता है धन के द्वारा कि मेरे पास करोड़ों रुपये हैं तो विशिष्ट हो जाता है--स्वभावतः। क्योंकि करोड़ों रुपये बहुत लोगों के पास नहीं हैं, कुछ लोगों के पास हैं। आकांक्षा होती है धनी की कि वह इतना धनी हो जाये कि आखिरी हो जाये, उसके ऊपर कोई न रहे।

एण्ड्रू कारनेगी की आत्मकथा मैं पढ़ता था। वह अमरीका का सबसे बड़ा धनपति आदमी था। वह अपने सेक्रेटरी से एक दिन पूछता है कि मैं बार-बार सुनता हूं कि यह निजाम का हैदराबाद दुनिया में सबसे बड़ा धनी है, इससे मुझे चोट लगती है। तुम पता लगाओ, इसके पास है कितना?

अब यह जरा मुश्किल बात थी। क्योंकि निजाम हैदराबाद के पास धन तो नहीं था, हीरे-जवाहरात थे; उनका कोई हिसाब-किताब नहीं कि वे कितने के हैं। एण्ड्रू कारनेगी कहता है, जरा पता लगाओ कि कितना है इसके पास तो मैं इसे भी हरा कर बता दूं। मगर कुछ पता तो चले कि है कितना! बस यह कोरी बात चलती है कि सबसे ज्यादा है।

दस अरब रुपया छोड़ कर मरा एण्ड्रू कारनेगी, लेकिन फिर भी उसके मन में एक जरा-सी खटक रह गई थी कि निजाम हैदराबाद, पता नहीं इसके पास ज्यादा हो!

आदमी धन की चेष्टा करता है ताकि विशिष्ट हो जाये। कोई पद की चेष्टा करता है कि राष्ट्रपति हो जाऊं, प्रधानमंत्री हो जाऊं, तो विशिष्ट हो जाऊं। साठ करोड़ के देश में राष्ट्रपति एक ही होगा तो विशिष्ट हो जाता है।

कोई ज्ञान इकट्ठा करता है और विशिष्ट हो जाता है। कोई नोबल प्राइज पा लेता है और विशिष्ट हो जाता है। तुम इतना तो कर ही सकते हो न कि किसी पहाड़ पर जा कर आंख बंद करके बैठ जाओ, पद्मासन लगा लो। इतना तो कर ही सकते हो, तो भी विशिष्ट हो जाते हो। और कभी-कभी तो ऐसा होता है, मजेदार है यह दुनिया, राष्ट्रपति तुम्हारे चरण छूने आ सकते हैं, और एण्ड्रू कारनेगी तुम्हारी प्रशंसा कर सकते हैं।

साक्षी होने में भी कहीं विशिष्ट होने का ही भाव न बना रहे। इसलिए मैं तुमसे आखिरी बात कहता हूं: लौट आओ। साक्षी तक जाओ, फिर तो कोई डर न रहा लौटने का। अब तो तुमने जान लिया कि तुम्हारी निष्कलुषता परम है, उसमें कलुष हो ही नहीं सकता। अब तो तुमने जान लिया कि तुम्हारी पवित्रता आत्यंतिक है, तुम पापी हो ही नहीं सकते। अब तो तुमने जान लिया कि तुम किसी कालकोठरी से भी गुजरो तो भी कालिख तुम्हें लग नहीं सकती। अब तो तुम जानते हो; अब तो तुमने देख लिया भीतर का खुला निरभ्र आकाश; अब तो तुमने परम से पहचान कर ली; अब तो तुम्हें स्वास्थ्य के दर्शन हो गये, स्वयं के दर्शन हो गये; अब क्या भय है? अगर तुम रुके हो अभी भी तो शक है कि तुम्हें अभी भी भय है और अभी भी तुमने स्वभाव को पूरा नहीं देखा। अभी भी कहीं कुछ डर किसी कोने-कातर में बैठा है जो कहता है, जाना मत वहां, कहीं उलझ न जाओ, कहीं फिर जंजाल में, संसार में न पड़ जाओ। तो मैं परम ज्ञानी उसी को कहता हूं जिसका यह भी भय चला गया। अब जो लौट आता है जगत में वह सरल हो जाता है, सहज हो जाता है।

जापान का एक सम्राट किसी ज्ञानी की तलाश करता था अपनी वृद्धावस्था में। तो वह गया, जिन-जिन के बड़े नाम थे उन-उन के दर्शन करने गया। लेकिन कहीं उसे तृप्ति न हुई। उसका बूढ़ा वजीर उसके साथ जाता था। एक दिन उसने कहा कि ऐसे तो आप भटकते रहेंगे और कभी भी तृप्ति न होगी, क्योंकि जिनके पास आप जाते हैं इनमें से कोई भी सरल नहीं है। ये सब चेष्टारत हैं, प्रयास अभी भी इनका जारी है, भय अभी भी मौजूद है। मैं एक आदमी को जानता हूं, लेकिन मैंने कभी आपसे कहा नहीं है क्योंकि शायद आप मानेंगे भी न। वह राजधानी में ही रहता है, आपके पड़ोस में ही। आपके महल में कई दफे काम भी कर गया है। गरीब आदमी है, मगर मैं कहता हूं कि अगर तुम सच में ही गुरु की तलाश में हो तो उसके चरण गहो।

सम्राट ने कहा, तो मुझे अब तक पता कैसे नहीं चला? और उसकी किसी को खबर क्यों नहीं है?

उस वजीर ने कहा, वह इतना सरल है कि खबर भी कैसे हो! और वह संसार में लौट आया है, इसलिए भोगी तो उसको गिनती में ही नहीं लेते और योगी उसकी निंदा करते हैं। वह वापिस आ गया है। अब योगी होने का भी दंभ नहीं है उसके पास।

सम्राट उसके पास गया। उसे तो कुछ भी दिखाई न पड़े कि इसमें खूबी क्या है! क्योंकि वह बिलकुल वैसा साधारण आदमी दिखाई पड़ा जैसे साधारण आदमी होते हैं। वह अपने वजीर से कहने लगा, मुझे कुछ खूबी नहीं दिखाई पड़ती है।

वजीर ने कहा, यही खूबी है। तुम इसी खूबी को जरा गौर से देखो। तुमने कभी आदमी देखा है जो बिलकुल साधारण हो? साधारण से साधारण आदमी भी चेष्टा तो यही करता है कि मैं असाधारण हूं। साधारण से साधारण आदमी भी दंभ तो यही पालता है कि मैं साधारण नहीं हूं। यह आदमी बिलकुल साधारण है। इसकी साधारणता आत्यंतिक है। इसके भीतर विशिष्ट होने की धारणा नहीं रही है। यही इसका संतत्व है।

सबके बीच में जीवन सरल है
उठो इस एकांत से दामन छुड़ाओ, इस महज शांत से,
जो न शक्ति देता है, न श्रद्धा, सिर्फ उदास बनाता है,
न, तटस्थ होने लायक कमजोर तुम अभी नहीं हुए
लहरें गिनने के दिन भी आ सकते हैं
मगर हाथ जब तक पतवार उठा सकते हैं
कंठ-स्वर जब तक हैया-हो गा सकते हैं

तब तक ऐसी अनंत तटस्थता शर्मनाक है
तटस्थता की तुम्हारे मन पर कैसी बुरी धाक है
उठो सिमट कर बहते हुए जीवन में उतरो
घाट से हाट तक, हाट से घाट तक आओ-जाओ
तूफान के बीच में गाओ
मत बैठो ऐसे चुपचाप तट पर
परमात्मा हैयाऱ्हो गा रहा है
तुम्हें उसकी आवाज सुनाई नहीं पड़ती!
माना कि तुम बहरे हो मगर इतने तो नहीं,
और अंधे हो मगर इतने तो नहीं,
परमात्मा सब तरफ हैयाऱ्हो गा रहा है
पतवार चला रहा है।

और मैं तुमसे कहता हूं--इस कविता के लेखक ने तो कहा: न, तटस्थ होने लायक कमजोर तुम अभी नहीं हुए--मैं तुमसे कहता हूं, कभी नहीं होओगे।

लहरें गिनने के दिन भी आ सकते हैं,
मगर हाथ जब तक पतवार उठा सकते हैं

मैं तुमसे कहता हूं, कभी नहीं ऐसा होता है कि लहरें गिनने के दिन आयें। तुम सदा ही ऊर्जा से भरे हो; तुम परमात्म-स्वरूप हो; लहरें गिनने के दिन आते ही नहीं।

किनारे पर बैठने का भी एक मजा है। मैं तुमसे कहता नहीं कि उसे तुम मत लो; लेकिन किनारे पर बैठे मत रह जाना। जब किनारे पर बैठ कर तुम अपने स्वभाव को पहचान लो, तटस्थ हो कर जब तुम अपने को जान लो, कूटस्थ हो कर जब भीतर की प्रत्यभिज्ञा हो जाये, तो लौट आना, उठा लेना पतवार!

मगर हाथ जब तक पतवार उठा सकते हैं,
कंठ-स्वर जब तक हैयाऱ्हो गा सकते हैं,
तब तक ऐसी अनंत तटस्थता शर्मनाक है।

और मैं तुमसे कहता हूं, सदा ही हाथ पतवार उठा सकते हैं। और अगर साक्षी के हाथ न उठा सके तो किसके उठायेंगे? क्योंकि साक्षी नहीं उठाता--साक्षी तो देखता है--परमात्मा उठाता है। साक्षी नहीं नाचता--साक्षी तो देखता है--परमात्मा नाचता है। लेकिन अब वह परमात्मा को रोक नहीं रखता है। वह कहता है, नाचो; हैयाऱ्हो करना है हैयाऱ्हो करो। अब जैसा हो हो। इसी को अगर तुम ठीक से समझो तो अष्टावक्र बार-बार कहते हैं: जो होता है हो; जैसा होता है वैसा हो--बालवत। खयाल रखना, छोटे बच्चे जैसा होना साक्षी के पार चले जाना है। फिर लीला में उतर आना है।

चलो प्रेम से; रुको करुणा पर; बढ़ो साक्षी तक। साक्षी-भाव में रुक जाने की, ठहर जाने की बड़ी प्रबल आकांक्षा पैदा होती है। खयाल रखना। क्योंकि बड़ा सुखद है साक्षी-भाव; परम शांत है; कोई लहर नहीं उठती; जन्मों-जन्मों का सताया हुआ आदमी जब वहां पहुंचता है तो सोचता है आ गये! मगर मैं तुमसे कहता हूं, अभी भी नहीं आये। अगर सोचा कि आ गये तो अभी भी नहीं आये।

यह आने का जो भाव पैदा होता है, यह बहुत-बहुत जन्मों की पीड़ा, चक्कर, उपद्रव, शोरगुल के कारण होता है। यह उसकी प्रतिक्रिया है। थोड़ी देर जब बैठोगे साक्षी की छाया में, विश्राम कर लोगे थोड़ा--अष्टावक्र कहते हैं चित्तविश्रांति--जब चैतन्य में विश्राम कर लोगे, विराम कर लोगे, फिर ऊर्जा उठेगी। विश्राम का अर्थ ही होता है कि तुम फिर श्रम करने को तैयार हो गये। जिस विश्राम से श्रम करने की क्षमता न आये वह विश्राम नपुंसक है। वह विश्राम ही नहीं है। तुम रात भर सोये, तुम कहते हो रात गहरी नींद आई, बड़ा विश्राम हुआ।

इसका प्रमाण क्या है? इसका प्रमाण है कि सुबह तुम गड्ढा खोदने लगे, कि लकड़ियां काटने लगे। तुम कहते हो रात भर खूब विश्राम किया, अब ऊर्जा भर गई, अब कुछ करने का मन होता है।

साक्षी विश्राम है। लेकिन विश्राम का प्रमाण क्या कि तुम वस्तुतः विश्राम को उपलब्ध हुए? जो आदमी रात विश्राम को उपलब्ध होता है, सुबह काम पर चला जाता है, और जो आदमी रात भर करवट बदलता है, सुबह भी उठने का मन नहीं करता; वह आदमी कहता है विश्राम हो ही नहीं पाया, कैसे जाऊं काम पर? आज तो पूरे दिन बिस्तर में पड़े रहने का मन होता है। जो आदमी सुबह बिस्तर में ही पड़ा रहे, क्या तुम यह कहोगे कि इसने विश्राम कर लिया! तुम भी मानोगे यह बात कि इसका विश्राम पूरा नहीं हो पाया, इसीलिए पड़ा है। जो उठ गया सुबह, उठा ली कुदाली, उठा लिया फावड़ा, चल पड़ा काम पर, तुम भी कहोगे कि रात खूब विश्राम कर लिया मालूम होता है। गीत गुनगुनाते हो और गड्ढा खोदने चले हो!

साक्षी तो विश्राम है। इसका प्रमाण कहां मिलेगा? तुम्हारी लीला में; तुम्हारे जगत में फिर वापिस लौट आने में। तुम्हारा नृत्य सबूत होगा, गवाही होगा कि साक्षी का भाव उपलब्ध हुआ। और वर्तुल पूरा हो जाता है।

दूसरा प्रश्न: बाल-बोध और सम्यक बोध को कृपा करके समझाइये।

तीन शब्द खयाल में लो: अबोध, सम्यक बोध और बाल-बोध।

छोटा बच्चा अबोध है; उसके पास अभी कोई बोध नहीं है। अभी उसे होश नहीं है, बेहोश है। अभी उसका यह अबोध उसे खतरे में ले जाएगा, झंझटें पालेगा; झंझटें पालने के दिन करीब हैं। धन कमायेगा; महत्वाकांक्षा में दौड़ेगा; पागल होगा पद के लिए। प्रेम में पड़ेगा; विवाह करेगा। हजार तरह की झंझटें आने वाली हैं, क्योंकि अबोध है। अभी कुछ बोध तो नहीं है।

फिर जैसे-जैसे झंझटें गहरी होने लगेंगी, वैसे-वैसे समझ बढ़ेगी, प्रौढ़ता आयेगी और धीरे-धीरे यह दिखाई पड़ेगा कि क्या करने से झंझट हो जाती है ज्यादा और क्या करने से झंझट कम होती है। तो सम्यक बोध पैदा होगा। तब वह चुनाव करने लगेगा। वह कहेगा: यह करूं और यह न करूं; यह शुभ है, यह अशुभ है; यह ठीक, यह गलत। सम्यक का अर्थ है ठीक, जो ठीक है वह करूं। ठीक क्या है? जिससे झंझट नहीं बढ़ती, शांति रहती है, सुख रहता है। गैर ठीक क्या है? जिससे झंझट बढ़ती है, उपद्रव बढ़ते हैं और जीवन की शांति छिन जाती है, चैन छिन जाता है। तो सम्यक बोध पैदा हुआ।

सम्यक बोध ऐसा हो गया गहन कि अब चुनाव भी नहीं करना पड़ता। अब तो जो ठीक है वह सहज ही होता है। अब सम्यक बोध ऐसे गहरे उतर गया प्राणों में, रोएं-रोएं में समा गया, श्वास-श्वास में भिद गया कि अब तो जो ठीक है वही होता है। अब गलत होता ही नहीं। अब चुनाव नहीं करना पड़ता है कि यह गलत और यह ठीक; यह ठीक है इसको करूं और यह गलत इसको न करूं। जब तक चुनाव करना पड़े तब तक सम्यक बोध; जब तक चुनाव की क्षमता ही न हो तब तक अबोध; और जब चुनाव के बिना ठीक होने लगे, सहज ही ठीक होने लगे, तब स्व-बोध, या बाल-बोध, या सहज बोध--जो भी नाम देना चाहो।

तब एक खयाल में ले लेना। जैसा छोटा बच्चा है, उसे कुछ पता नहीं है कि क्या करना क्या नहीं करना, ऐसे ही संत को भी कुछ पता नहीं है कि क्या करना और क्या नहीं करना। इसलिए दोनों में एक समानता है। मगर एक बड़ा भेद भी है। छोटे बच्चे को पता नहीं है कि क्या करना और क्या नहीं करना, क्योंकि वह अबोध है, अभी बुद्धि जागी नहीं है, अभी भेद आया नहीं है। संत को भी पता नहीं कि क्या करना और क्या नहीं करना; बुद्धि जाग भी गई और गई भी। अब जागरण ऐसा स्वाभाविक हो गया है कि जो होता है होता है, जो होता है वही ठीक होता है। सम्यक बोध में हमें ठीक करना पड़ता है और सहज बोध में ठीक होता है।

जैसे तुमने देखा कि दरवाजा है, निकल गये; ऐसा सोचते थोड़े ही हो खड़े हो कर कि निकलें दरवाजे से कि दीवाल से निकलें, कि दीवाल से निकलेंगे तो याद है पहले निकले थे तो सिर में ठोकर खाई थी और निकल

भी न पाये थे, और दरवाजे से जब भी निकले तो निकल भी गये, ठोकर भी न खाई, इसलिए चलो दरवाजे से ही निकलना ठीक है। ऐसा तुम इतना हिसाब थोड़े ही करते हो दरवाजे के सामने खड़े हो कर! और जो ऐसा हिसाब करे उस पर तुम्हें शक होगा कि यह निकलेगा दरवाजे से कि नहीं? निकल पाएगा कि नहीं? क्योंकि यह बात ही ऐसी सोच रहा है जिससे शक होता है, इसके मन में दीवाल से निकलने का अभी आकर्षण है।

यह समझा रहा है। यह कहता है, क्रोध बुरा है, पाप है, नरक जाना पड़ता है, क्रोध करना ठीक नहीं है। लेकिन जिसका बोध परिपूर्ण हो गया, वह ऐसा थोड़े ही कहता है कि क्रोध करना ठीक नहीं, कि क्रोध करने से नरक जाना पड़ता है, वह क्रोध करता नहीं है; जैसे दीवाल से नहीं निकलता। वहां सिर्फ सिर टकराता है, कुछ सार नहीं है। सारे अनुभवों का निचोड़ हाथ आ गया है, कुंजी मिल गई है। तुम सुनते हो इस तरह की बातें कि बुद्ध ने कभी क्रोध नहीं किया, कि महावीर ने कभी क्रोध नहीं किया, मगर ये हमारे वक्तव्य हैं। ऐसा कहना कि महावीर ने कभी क्रोध नहीं किया, ठीक नहीं है। इससे तो ऐसा लगता है, क्रोध करना चाहते थे और नहीं किया। जैसे कि करने का दिल था और रोक लिया, सम्हाल लिया। अगर रोक लिया, सम्हाल लिया, तो महावीर अभी कहीं पहुंचे ही नहीं। नहीं, क्रोध हुआ नहीं। ऐसी चैतन्य की एक दशा है जहां क्रोध होता नहीं है, जहां तुम्हारा चैतन्य ही इतना गहरा होता है कि यह असंभव हो जाता है कि क्रोध करो या सोचो भी या विचार भी करो।

अबोध; बोध; सहज बोध। अबोध अज्ञान की अवस्था है; बोध मध्य की, ज्ञान और अज्ञान मिश्रित; सहज बोध शुद्ध ज्ञान की। और जहां से चीजें चलती हैं वहीं पहुंच जाती हैं। फिर संत छोटे बच्चे जैसा हो जाता है--बड़े नये अर्थों में।

तुम कभी पहाड़ गये? पहाड़ कभी चढ़े? गोल-गोल चढ़ता है रास्ता। कई दफे तुम उसी जगह फिर आ जाते हो--थोड़ी ऊंचाई पर आते। वही दृश्य, वही खाई, लेकिन थोड़ी ऊंचाई पर। नीचे तुम देख सकते हो रास्ता। तुम ट्रेन से जाते हो माथेरान, चढ़ने लगती तुम्हारी छोटी-सी गाड़ी; कई बार तुम्हें नीचे की पटरियां दिखाई पड़ती हैं जहां से तुम अभी गुजर गये थोड़ी देर पहले। थोड़े ऊपर आ गये, मगर जगह वही, ऊंचाई बदल गई।

संत शिखर पर पहुंच जाता है, बच्चा खाई में खड़ा होता है; लेकिन दृश्य दोनों एक ही देखते हैं। बच्चा अज्ञान के कारण देखता है; संत ज्ञान के कारण देखता है।

जान सकता हूं अगर साहस करूं
शृंखला वह जो पवन में वह्नि में तूफान में है
और चल उत्ताल सागर में
जान सकता हूं अगर साहस करूं
चेतना का रूप वह
जिसमें वृक्ष से झर कर
मही पर पत्ते गिरते हैं
सातवें के बाद और पहले के रंग के पहले
अंधेरा ही अंधेरा है
शब्द के उपरांत केवल स्तब्धता है
गूंज उसकी जतुक सुनते हैं
कि सुनते मीन सागर के हृदय के
इंद्रियों की स्पर्श रेखा के पार
घूमते हैं चक्र अणुओं तारकों परमाणुओं के
जिंदगी जिनसे बुनी जाती
जिन अगम गहराइयों से भागते हैं
छोड़ कर उनको कहीं आश्रय नहीं मिलता।

भागना भर मत। बचपन से भागना भर मत। जीवन की अबोध अवस्था से भागना भर मत। जाग कर देखना, अनुभव करना; भागना किसी चीज से मत। जिस चीज से भी भागोगे उससे कभी मुक्त न हो पाओगे।

क्योंकि जिससे भी भाग जाओगे अधूरा अनुभव होगा, अपरिपक्व अनुभव होगा, कच्चा अनुभव होगा। तुम तो जो जीवन दिखाये उसे पूरा-पूरा देख लेना, पूरा कर लेना, पक जाना। और फिर तुम्हें लौट कर देखने की जरूरत न रहेगी; फिर तुम जब छोड़ दोगे एक जगह तो छोड़ दोगे, लौट कर देखोगे भी नहीं। कुछ बचा ही नहीं, तुमने सब सार-सार ले लिया। जो छूट गई जगह, अब वहां कुछ बचा ही न था पीछे लौटने को, देखने की कोई बात नहीं। उसकी तुम्हें याद भी न आएगी, स्मरण भी न होगा।

तो हर जीवन की स्थिति को ठीक-ठीक देख लेना। अंततः हाथ में, जो तुम बार-बार ठीक-ठीक देखते रहे, ठीक-ठीक देखते रहे तो ठीक देखना बच रहता है, और सब चला जाता है। ठीक देखने की कला बच रहती है और सब चला जाता है। वही ठीक देखने की कला का नाम सम्यक बोध है। लेकिन उसको भी तभी तक हम ठीक कहते हैं जब तक गलत होने की थोड़ी-सी संभावना शेष है। जिस दिन गलत होने की संभावना गिर गई, पूरी की पूरी गिर गई, अब गलत की वासना उठती ही नहीं, उस दिन तो सिर्फ बोध रह गया। सहज बोध, सहज समाधि--बालवत!

तीसरा प्रश्न: इस देश में राम की लीला को रामलीला कहते हैं और कृष्ण की लीला को रासलीला। रामलीला और रासलीला में क्या भेद है?

रामलीला में राम महत्वपूर्ण हैं; रासलीला में कोई महत्वपूर्ण नहीं। रामलीला राम का चरित्र है; राम की गरिमा है वहां; राम मध्य में हैं, केंद्र पर हैं। वे मर्यादा, अनुशासन, धर्म, संस्कार, संस्कृति--इन सबसे घिरे बीच में खड़े हैं। कृष्ण की लीला में कृष्ण नहीं हैं--कोई नहीं है। कृष्ण की लीला में परमात्मा है; राम की लीला में राम हैं। कृष्ण की लीला रासलीला है। यह जो अनंत रास चल रहा है परमात्मा का, यह जो अनंत रस बह रहा है, यह जो अनंत नृत्य चल रहा है--इस नृत्य में राम की तो अपनी पसंदगियां-नापसंदगियां हैं; कृष्ण की कोई पसंदगी-नापसंदगी नहीं है।

इसलिए मैं फिर से दोहराऊं: राम का चरित्र है; कृष्ण का कोई चरित्र नहीं। चरित्र का अर्थ होता है: योजना, व्यवस्था, चुनाव। राम ने एक ढंग से जीवन को बनाना चाहा है और सफल हुए; जीवन को वैसा बना कर दिखा दिया है। लाख कठिनाइयां थीं, लाख कुर्बानी करनी पड़ी, कुर्बानी कर दी। पिता का घर छोड़ना पड़ा, तो पिता का घर छोड़ दिया। लेकिन पिता ने आज्ञा दी तो आज्ञा का उल्लंघन न किया। जानते हुए भी कि अन्याय हो रहा है, फिर भी अन्याय का प्रतिकार न किया।

राम परंपरागत हैं। रघुकुल रीत सदा चली आई, प्राण जायें पर वचन न जाई! दे दिया वचन तो पूरा करना है। जैसा सदा होता रहा है वैसा ही करना--कुल के अनुसार चलना! राम के पास एक समादृत व्यक्तित्व है--परंपरागत! राम में कोई बगावत नहीं है, कोई क्रांति नहीं है। राम ट्रेडिशनल हैं। राम परंपरा हैं; जैसा होना चाहिए वैसा ही किया है। जो समाज को स्वीकार है वैसा ही किया है, उससे अन्यथा नहीं गये--चाहे कुछ भी, कितनी ही पीड़ा भीतर झेलनी पड़ी हो। सीता को छोड़ा होगा जंगल में जिस दिन तो पीड़ा हुई होगी, लेकिन स्वयं को कुर्बान किया है समाज के लिए। इसलिए समाज ने भी खूब मूल्य चुकाया! समाज ने भी खूब याद किया। जैसा राम का समादर है वैसा किसी का समादर नहीं है। राम ने समाज को समादर दिया, समाज ने राम को समादर दिया।

मुझसे लोग पूछते हैं कि राम के प्रति लोगों का इतना भाव क्यों है? करोड़-करोड़ जनों का राम के प्रति इतना भाव क्यों है? यह पारस्परिक है। राम ने भीड़ के प्रति समादर दिखाया, भीड़ राम के प्रति समादर दिखा रही है। यह लेन-देन है, यह सीधा हिसाब है, यह सौदा है। इसमें कुछ खूबी नहीं है। राम ने अपने को समर्पित कर दिया समाज के लिए। सही और गलत की भी बात न उठाई। यह भी न पूछा कि समाज जो कहता है, वह

ठीक है? ठीक की बात उठाओ तो समाज नाराज होता है। राम ने समाज को नाराज किया ही नहीं। उनमें क्रांति का कोई स्वर नहीं--मर्यादा है, व्यवस्था है, शील है।

तो राम की लीला में राम बहुत महत्वपूर्ण हैं, चरित्र है। ठीक ही तुलसी ने अपनी राम की कथा को नाम दिया है: रामचरितमानस। वह राम के चरित्र की कथा है। चरित्र का अर्थ होता है: लोगों की मान्यता के अनुसार।

कृष्ण का कोई चरित्र नहीं है। कृष्ण तो मान्यताओं के बिलकुल विपरीत हैं; किसी मान्यता को मानने का कोई आग्रह नहीं है। राम ने अपनी पत्नी छोड़ दी जंगल में; कृष्ण दूसरे की पत्नियों को भी ले आये--जो अपनी थीं भी नहीं! तो समाज इसको क्षमा तो कर नहीं सकता। तो कृष्ण का लोग नाम भी लेते हैं--तो भी कभी श्री कृष्ण भारत की अंतर्धारा नहीं बन पाये; कभी भीड़ कृष्ण के प्रति बहुत आदर नहीं रखती। और अगर कभी तुम कृष्ण को थोड़ा-बहुत आदर भी देते हो तो वह इसीलिए कि राम उबाने वाले हैं। तो कृष्ण...राम हैं भोजन; कृष्ण चटनी हैं। थोड़ा...। मगर रस राम में है, पुष्टि उन्हीं से लेते हो। ऐसा कृष्ण का भी थोड़ा रस ले लेते हो कभी-कभी, लेकिन ये राह के किनारे हैं, ये राह पर नहीं पड़ते। राजपथ तो राम का है। कृष्ण तो ऐसा है--पगडंडी जंगल में खो जाने वाली; कभी-कभी टहलने चले जाते हो, कभी रस भी ले लिया। लेकिन खतरनाक हैं कृष्ण!

और जो कृष्ण को मानता है, वह भी कभी ध्यानपूर्वक नहीं देखता कि कृष्ण का जीवन क्या कह रहा है। कृष्ण का जीवन कह रहा है: चरित्र से मुक्त होने की सूचना। कृष्ण के सारे जीवन की प्रस्तावना इतनी है कि चरित्र से मुक्त हो जाओ। चरित्र बंधन है। इसको तो कौन समाज मानेगा! कृष्ण का भक्त भी नहीं मान सकता। वह तो तुम कृष्ण की पूजा कर लेते हो घर में मोर-मुकुट बांध कर और सब...लेकिन कृष्ण अगर आ जायें एक दिन अचानक तो तुम एकदम घबड़ा जाओगे। राम आयेंगे तो तुम बिलकुल स्वागत कर लोगे, पैर पर गिर पड़ोगे; कृष्ण आ जायेंगे तो तुम थोड़े दिग्भ्रमित हो जाओगे, किंकर्तव्यविमूढ़ कि अब क्या करना, इस आदमी को घर में ले चलना कि नहीं! क्योंकि तुम्हारी पत्नी को ले कर भाग जाये...। यह भरोसे का नहीं है। तुम दफ्तर जाओ और यह रास रचाने लगे। एक मूर्ति बना कर पूजा कर लेना एक बात है। लेकिन तुम थोड़ा सोचो, कृष्ण तुम्हारे घर आ जायें तो तुम ठहरा सकोगे? तुम कहोगे: "महाराज आप ब्लू डायमंड में ठहर जाइये, खर्चा हम उठा लेंगे। मगर हमें बक्शो! बाल-बच्चे वाले हैं! अब आप...।"

पूजा एक बात है। राम की पूजा से तुम्हारा मेल है। राम से तुम्हारा मेल है। राम परंपरागत हैं; सामाजिक हैं; भीड़ के पीछे हैं। तो भीड़ ने राम का खूब आदर किया। राम ने भीड़ का खूब आदर किया। राम में कोई क्रांति नहीं है। राम क्रांतिविरोधी हैं। और स्वभावतः जब कोई व्यक्ति अपने को समाज के लिए बलिदान कर देता है तो समाज उसके व्यक्तित्व को खूब ऊपर उठाता है। तुम्हारे लिए जो मर जाये, स्वभावतः तुम कहोगे शहीद है। तुम भरोसा दिलाते हो लोगों को कि "अगर तुम समाज के लिए मरे तो स्वर्ग निश्चित है। शहीदों की चिताओं पर जुड़ेंगे हर बरस मेले! तुम घबड़ाओ मत, मर जाओ, हम मेला चलाते रहेंगे! कुंभ मेला भर देंगे तुम्हारी चिता पर।" सदियों-सदियों तक तुम उन्हें चुकाते हो।

लेकिन कृष्ण कोई शहीद नहीं हैं। और कृष्ण ने तुम्हारे लिए कोई कुर्बानी नहीं की है। तुम उनको पूजते हो जो तुम्हारे लिए मरने को राजी हैं। कृष्ण जीये हैं। कृष्ण जीये हैं। जैसा जीवन सहज भाव से प्रगटा है; जो हुआ है होने दिया है। तुम्हारी दो कौड़ी की धारणाओं का कोई मूल्य नहीं माना है। तुम्हारी सब धारणायें तोड़ दी हैं। तुम्हारी धारणा तुम्हारी है, कृष्ण उसके लिए झुके नहीं। तुम्हारी लकीर पर चलने के लिए कृष्ण राजी नहीं हुए। अमर्याद हैं। उनकी लीला व्यक्ति की लीला नहीं है; उनकी लीला प्रभु-लीला है; वह रासलीला है।

दो ही बातें हैं--या तो कृष्ण लंपट हैं, या तो कृष्ण अपराधी हैं; और या कृष्ण स्वयं परमात्मा हैं। दो के बीच में तुम कहीं नहीं रख सकते उनको। राम बीच में हैं। निश्चित ही बुरे तो हैं ही नहीं। लेकिन तुम ठीक परमात्मा की जगह भी नहीं रख सकते। इसलिए हिंदुओं ने उन्हें कभी पूर्ण अवतार नहीं कहा, कह भी नहीं

सकते; क्योंकि पूर्ण अवतार हमारी धारणाओं को मान कर चलेगा? पूर्ण की कोई सीमा होती है? पूर्ण पर कोई हम अपना ढांचा बिठा सकेंगे? पूर्ण तो बहेगा बाढ़ की तरह, हमें तोड़ देगा। पूर्ण कोई नहर थोड़े ही है--बाढ़ आई गंगा है!

राम तो नहर हैं--सरकारी नहर! जितना पानी चाहो, बहाओ; और जहां बहाना चाहो वहां बहाओ। वे आज्ञा के अनुसार चलते हैं। सरकार भी प्रसन्न, समाज भी प्रसन्न! व्यवस्था, स्थिति-स्थापक हैं। जो व्यवस्थित है, जिसके हाथ में स्वार्थ है, न्यस्त स्वार्थ है, उसके पक्ष में हैं। वह कोई भी हो...।

तो राम की तो अस्मिता है। राम अहंकार के पार नहीं हैं। क्योंकि अहंकार के अगर पार हों तो कौन मान कर चले, किसकी मान कर चले! अहंकार के जो पार हो उसका कैसा चरित्र होगा? बिंदु ही नहीं, केंद्र ही नहीं, तो उसके आसपास चरित्र का चाक कैसे चलाओगे? उसकी कील ही टूट गई तो चाक कैसे चलेगा?

कृष्ण अहंकार-शून्य हैं। अपूर्व हैं! बहुत पार के हैं! बहुत दूर हैं! तुम जब तक अपनी क्षुद्र धारणाओं से मुक्त न होओ--चरित्र की, शुभ की, अशुभ की, द्वंद्व की, द्वैत की; जब तक तुम्हारी तार्किक धारणा न छूटे; जब तक तुम जीवन जैसा है उसको वैसा ही न देखने को समर्थ हो जाओ--तब तक कृष्ण तुम्हारी पकड़ में न आयेंगे। इसलिए कृष्ण की लीला को रासलीला कहा है। वह परमात्मा की लीला है। वह अबूझ है, रहस्यमय है।

राम बिलकुल बूझ के भीतर हैं। राम बिलकुल गणित और तर्क की तरह साफ-सुथरे हैं। तुम इंच भर गलत न पाओगे और इंच भर बेबूझ न पाओगे। राम की कथा बहुत साफ कथा है--स्वच्छ, धुआं बिलकुल नहीं है। कृष्ण की कथा बड़ी रहस्यपूर्ण है, सब उलझा-उलझा है। कृष्ण की कथा तो जैसे परमात्मा की ही छोटी-सी झलक है।

तुम परमात्मा को देखो, परमात्मा में तुम्हें कोई चरित्र दिखाई पड़ता है? अगर परमात्मा में चरित्र हो तो बुरे आदमी दुनिया में जीने ही नहीं चाहिए।

एक सूफी फकीर बायजीद हुआ। उसके गांव में एक बड़ा दुष्ट आदमी था। सारा गांव उससे परेशान था और फकीरों को तो वह खास तौर से सताता था। एक दिन बायजीद ने रात प्रार्थना की कि "हे प्रभु, किसी चीज की सीमा होती है! इतनों को उठाता है, भलों को उठा लिया, अच्छे-भले आदमी हट गये, उठ गये, नर्क चले गये, कहां गये कुछ पता नहीं--यह कहीं नहीं जाता! तू इसको भेज। इसको क्यों रोक रखा है? और भले सताये जा रहे हैं और यह बुरा फल रहा है। एक सीमा होती है।"

कहते हैं, बायजीद ने आवाज सुनी हृदय के अंतर्तम से आती कि बायजीद, मैं उसे साठ साल से बर्दाश्त कर रहा हूं और जब मैं उसे बर्दाश्त कर रहा हूं तो तू शिकायत करने वाला कौन? तू भी उसे स्वीकार कर।

अगर परमात्मा बुरों के विपक्ष में हो तो बुरे मिट जाने चाहिए, क्योंकि उसकी तो मर्जी काफी है। तुम कहते हो न कि उसकी बिना मर्जी के पत्ता नहीं हिलता, तो रावण कैसे सीता चुरा ले गया? पत्ता नहीं हिलता उसकी बिना मर्जी के तो रावण के पीछे उन्हीं की सांठगांठ रही, उन्हीं का इशारा रहा कि रावण चला जा। इशारा कर दिया होगा कि...। अगर उसकी बिना मर्जी के कुछ भी नहीं होता तो बुरा भी उसकी मर्जी से हो रहा है, यह तो मानोगे न! इसको कैसे इनकार करोगे?

इससे बचने के किए धर्मों ने बड़ी तरकीबें खोजी हैं। पारसियों ने दो तत्व मान लिए हैं: एक शुभ का तत्व--परमात्मा; एक अशुभ का तत्व, वह परमात्मा का विरोधी है। वह कर रहा बुरे काम। लेकिन वह जो परमात्मा का विरोधी तत्व है, वह परमात्मा की बिना मर्जी के है? तब तो परमात्मा की सर्वशक्तिमत्ता खत्म हो गई। यह कोई तरकीब हुई बचने की?

ईसाई कहते हैं: यह जो बुरा काम हो रहा है, यह शैतान कर रहा है। यही मुसलमान कहते हैं कि बुरा काम शैतान कर रहा है और भले काम परमात्मा कर रहा है। अगर तुमने चोरी की तो यह शैतान ने तुम्हारे दिमाग में रख दिया! मगर शैतान को किसने इस अस्तित्व में रखा है? चलो यह भी मान लो कि शैतान ने

तुम्हारे दिमाग में रख दिया, उन्होंने यह दफ्तर उनके हाथ में छोड़ दिया होगा; लेकिन शैतान को किसने इस अस्तित्व में रखा दिया है? शैतान को रखा जाना चाहिए, परमात्मा की खोपड़ी में यह किसने रख दिया है?

तुम इससे भाग न सकोगे। कहीं तो तुम्हें परमात्मा की आत्यंतिक जिम्मेदारी स्वीकार करनी पड़ेगी। तुम्हें यह मानना ही पड़ेगा कि किसी न किसी अर्थ में--या तो परमात्मा सर्वशक्तिमान नहीं है, उसकी शक्ति सीमित है; और अगर उसकी शक्ति सीमित है तो पूजा इत्यादि बंद करो। फिर तो बेहतर है शैतान को ही राजी कर लो, क्योंकि हजारों-हजारों साल, करोड़ों-करोड़ों साल से शैतान अभी तक हारा नहीं है; हारेगा कभी, दिखाई नहीं पड़ता। और दुनिया में राम को मानने, परमात्मा को मानने वाला तो एक चलता होगा; शैतान को मानने वाले करोड़ों हैं। उसके अनुयायी ज्यादा हैं निश्चित। उसका धर्म बड़ा है। उसकी शक्ति भी बड़ी दिखाई पड़ती है। फिर तो कोई सार नहीं है परमात्मा की पूजा करने में। अगर सब शक्ति उसकी नहीं है तो जगत में द्वंद्व है, द्वैत है; और दूसरा जो है शैतान, वह बड़ा शक्तिशाली है। या तो यह मानो कि परमात्मा शक्तिशाली नहीं। अगर मानते हो कि परमात्मा शक्तिशाली है, सर्वशक्तिशाली है, सर्वशक्तिमान है तो फिर यह स्वीकार करो कि उसका कोई चरित्र नहीं।

कृष्ण की लीला में उसी परमात्मा की चरित्रहीनता का पूरा प्रतिबिंब है। शुभ को भी वही जिला रहा, अशुभ को भी वही जिला रहा। दिन भी वही बनाता रात भी वही। और जन्म भी वही देता और मौत के द्वार से भी वही तुम्हें ले जाता है। सुख भी वही बरसाता और दुख भी वही। फूल भी उसके हैं और कांटे भी उसके। समग्र उसका है। मगर यह बड़ी खतरनाक बात हो गई। इसका मतलब यह हुआ कि तुम्हारी सब धारणायें--शुभ और अशुभ की--व्यर्थ हैं। अगर परमात्मा को जानना है तो धारणाओं से मुक्त हो जाना जरूरी है।

कृष्ण का पूरा जीवन धारणा-मुक्त है। और जिसको कृष्ण के पीछे चलना हो, उसको सारी धारणाओं से मुक्त हो जाना जरूरी है। धारणा-शून्य हो कर ही तुम आह्लाद से भर सकोगे। और तब तुम देखोगे कि जो हो रहा है, ठीक है। बुरा भी ठीक है अपनी जगह। वह भी चाहिए। उसके बिना भी जीवन विरस हो जायेगा। उसके बिना भी जीवन नहीं हो सकेगा। कांटे भी चाहिए। कांटों के बिना फूल इतने सुंदर न रह जायेंगे। कांटों के कारण ही फूल इतने सुंदर हैं। फूल ही फूल हों तो बेस्वाद हो जायेंगे। कुरूपता भी चाहिए, तो ही सौंदर्य में कुछ अर्थ है। संसार भी चाहिए, तो ही मोक्ष में कुछ रस है, अन्यथा कोई रस न रह जायेगा अगर मोक्ष ही मोक्ष हो। जीवन में जो संगीत है वह विपरीत स्वरों के बीच सामंजस्य से है।

कृष्ण की लीला कृष्णलीला नहीं कही जाती, रासलीला कही जाती है। वह परम सत्य है। उसमें कृष्ण का कोई चरित्र नहीं है, इसलिए कृष्ण को बीच में नहीं रखा जा सकता। उसमें कृष्ण के नाम से परमात्मा ही बीच में है।

मगर कृष्ण को स्वीकार करना बड़ा कठिन मामला है--उतना ही कठिन मामला है जितना परमात्मा को स्वीकार करना कठिन है। इसलिए तो तुमने छोटी-छोटी मूर्तियां बना ली हैं परमात्मा की--अपने-अपने हिसाब से, क्योंकि पूरे परमात्मा को तो स्वीकार करना बहुत कठिन है। सबने अपने-अपने घर-घूले बना लिए हैं। अपना-अपना घर में ग्रामोद्योग खोल लिया है भगवान बनाने का। अपना बना लिया, मिट्टी के गणेश जी रख लिए, पूजा इत्यादि कर ली, सिरा भी आये, झंझट मिटाई। तुमने अपना भगवान बना लिया है, क्योंकि पूरा भगवान तुम्हें घबड़ाता है, तुम्हें कंपाता है, तुम्हारे प्राण संकट में पड़ जाते हैं!

गांधी कहते थे, गीता उनकी मां है। लेकिन कृष्ण को वे कभी पूरा स्वीकार नहीं कर पाये। और उन्होंने कभी गीता के अलावा कृष्ण की कोई बात नहीं की। चुन लिया। भागवत के कृष्ण नहीं, क्योंकि वहां तो बड़ा उपद्रव है, वहां तो गांधी को बड़ी अड़चन होगी। वहां तो मोर-मुकुट बांधे हुए बांसुरी बजाते कृष्ण से गांधी का क्या मेल होगा! जरा गांधी के ओठों पर बांसुरी रख कर देखो, तो तुम खुद ही कहोगे कि आप कृपा कर बांसुरी वापस दें--या तो आप बांसुरी को नहीं जंचते या आपको बांसुरी नहीं जंचती, मगर बांसुरी वापिस करिए।

गांधी के साथ बांसुरी का कोई मेल नहीं होगा। गीता की वे बात करते थे, लेकिन वह राजनीतिक चाल थी। क्योंकि गीता पर इतने लोगों का भाव है, इसलिए उसे छोड़ नहीं सकते थे। कहते थे "गीता-माता"! लेकिन जब मरे तो मुंह से जो नाम निकला, वह था: हे राम! उस वक्त कृष्ण नहीं निकला। कृष्ण की कोई जगह नहीं थी हृदय में।

अब तुम थोड़ा सोचो, जीवन भर कहा: अल्ला ईश्वर तेरे नाम। मरते वक्त अल्लाह भी नहीं निकला--निकला: हे राम! जिन्ना ने फौरन सोचा होगा: "देख लो! यही तो मैं कह रहा था जिंदगी भर से कि "अल्लाह ईश्वर तेरे नाम", यह सब राजनीति है, क्योंकि मरते वक्त अल्लाह क्यों न निकला? "हे राम" क्यों निकला?"

मरते वक्त आदमी में राजनीति नहीं रह जाती। मरते क्षण में तो वही निकल आता है जो भीतर था। राजनीति तो जिंदा होने का खेल है, हिसाब-किताब है--अब गोली लग गई, अब कहां फुरसत सोचने की कि क्या निकले! सोचने का मौका मिलता अगर गांधी खाट पर मरते, बीमारी से मरते, साधारणतः मरते--तो "अल्ला ईश्वर तेरे नाम" कहते हुए मरते। लेकिन गोली ने सब मामला गड़बड़ कर दिया। हिंदू की गोली थी और वहां भी हिंदू को प्रगट कर गई: हे राम! अनजाने क्षण में निकल गया। उस वक्त कृष्ण भी नहीं निकला। क्यों राम?

गांधी की पकड़ भी मर्यादा की थी--ऐसी छोटी-छोटी चीज में मर्यादा! ऐसी छोटी-छोटी चीज में मर्यादा कि तुम कभी हंसोगे भी। उनके सेक्रेटरीज़ को यह भी खयाल रखना पड़ता था छोटी-छोटी चीजों का। जिस सेविका ने उनके कपड़े धोये, चादर धोई, वह रस्सी पर डाल आती तो वह पीछे जा कर बता आते कि इसको कैसा डालो। चादर रस्सी पर कैसी डालनी, इरछी-तिरछी न हो--उसकी भी मर्यादा है! उसको सीधा करके डालो। किचिन में पहुंच जाते और समझाते कि सब्जी भी कैसे काटो--उसकी भी मर्यादा है।...टमाटर को ऐसा सीधा नहीं काट देना चाहिए, क्योंकि हो सकता है जहां से टमाटर वृक्ष से जुड़ा होता है वहां कोई छोटा-मोटा कीड़ा-मकोड़ा छिपा हो, हत्या हो जायेगी! तो पहले उस हिस्से को अलग काट कर करो।...ऐसी छोटी-मोटी मर्यादा। हर चीज का हिसाब। चिट्ठी आये तो लिफाफे को फेंक मत दो; खोल कर उलटा जोड़ कर फिर लिफाफा बना लो!

ये बातें लोगों को खूब जंचीं। जंचने वाली हैं, क्योंकि यही तुम्हारी बुद्धि है। लगा कि यह आदमी तो बड़ा गजब का है! कैसा चरित्र!

कृष्ण बेबूझ हैं। गांधी में सीधा तर्क है--वे राम की ही शृंखला में हैं। वे उसी परंपरा में आते हैं। कृष्ण बेबूझ हैं। कृष्ण की लीला परमात्मा की लीला का छोटा-सा प्रतिबिंब है। अगर तुम कृष्ण को समझ पाये तो तुम सारे अस्तित्व की कथा को समझ लोगे। अगर राम को समझ पाये तो तुम इतना ही समझ पाओगे कि अच्छे आदमी का जीवन कैसा होता है। रावण को समझो तो बुरे आदमी का जीवन कैसा होता है, यह समझ में आ जायेगा। राम को समझो तो अच्छे आदमी का जीवन कैसा होता है, यह समझ में आ जायेगा। कृष्ण को अगर समझो तो तुम समझोगे पारमात्मिक जीवन कैसा होता है, भागवत जीवन कैसा होता है! अच्छा-बुरा दोनों वहां मिलते हैं। अच्छा-बुरा दोनों ही किनारे की तरह हैं; परमात्मा की नदी दोनों के बीच बहती है, दोनों को छूती बहती है। कृष्ण के जीवन में अच्छा भी है, बुरा भी है। कृष्ण का जीवन समग्र है, खंडित नहीं, चुना हुआ नहीं, पूरा का पूरा है, कच्चा है! इसमें चुनाव नहीं है, अनगढ़ है।

इसलिए कृष्ण के चरित्र को हम चरित्र भी नहीं कहते--रासलीला, खेल! और खेल भी कृष्ण का नहीं; जिसका सारा रास चल रहा है, उसी का! उसी बड़ी रासलीला की यह छोटी-सी अनुकृति है।

आखिरी प्रश्न: प्रभु आप मिले और "किती सांगू मी सांगू तुम्हाला, आज आनंदी आनंद झाला!" कितना बताऊं, आज आनंद ही आनंद घटित हुआ है!

यह तो बस शुरुआत है। बढ़े चलें तो जो अभी बूंद की तरह घटा है, कल सागर की तरह हो सकता है। इतने से तृप्त मत हो जाना, राजी मत हो जाना। यह तो केवल भूमिका है। जो मैं तुमसे कह रहा हूं उसे सुन कर तुम्हें जो आनंद होता है, यह तो केवल भूमिका है; असली किताब तो अभी शुरू ही नहीं हुई है। असली किताब तो अनुभव की है। मेरे शून्य को सुनोगे तो समझ में आयेगी। मेरे शब्द को सुनने से इतना ही हो जाये कि तुम्हें भरोसा बैठे कि हां, इस आदमी के साथ थोड़ी देर चलें, कि चलें देखें थोड़ी देर इस आदमी की आंखों से, कि जिन दृश्यों की यह बात कर रहा है शायद सच हों! इतना भी पैदा हो जाये तुम्हारे भीतर तो भी महाआनंद मालूम होगा, क्योंकि एक किरण उतरी, एक बूंद गिरी। लेकिन यह शुरुआत है।

और जल्दी से अपने को बंद मत कर लेना, क्योंकि बहुत, मैं जानता हूं, शब्द में ही उलझे रह गये हैं। उन्हें आनंद हुआ था, फिर वे सुनने में ही आनंद ले रहे हैं। मेरे पास आते हैं। वे कहते हैं कि हमें तो आपको सुनने में आनंद आता है; ध्यान इत्यादि में हमारा कोई रस नहीं है।

अब यह बड़े मजे की बात हो गई। यह तो ऐसा हुआ कि तुम डाक्टर के पास गये और तुमने कहा: "आप जो प्रिस्क्रिप्शन लिखते हैं, आपके हस्ताक्षर बड़े प्यारे हैं! बड़ा मजा आ जाता है। सम्हाल कर फाइल में रखते हैं। दवा इत्यादि लेने में हमें कोई रस है ही नहीं।" तो डाक्टर भी सिर फोड़ लेगा। तो क्यों मेहनत करवा रहे? प्रिस्क्रिप्शन सम्हाल कर रख लेते हैं, फाइल में जड़वा लेते हैं फोटो। तुम कहते हो: दवा इत्यादि में हमें कोई रस नहीं।

मैं तुमसे बोल रहा हूं सिर्फ इसलिए, ताकि तुम ध्यान कर सको। मैं तुमसे बोल रहा हूं सिर्फ इसलिए, ताकि तुम प्रेम कर सको। मैं बोलने के लिए नहीं बोल रहा हूं। यह बात जरूर सच है कि जब डाक्टर किसी बीमार को देखने आता है तो डाक्टर को देखते ही बीमार पचास प्रतिशत ठीक हो जाता है। वे हमारे डाक्टर ललित बैठे हैं, उनसे तुम पूछ सकते हो। मरीज डाक्टर को देखने से पचास प्रतिशत ठीक हो जाता है। डाक्टर का आना ही पर्याप्त है, भरोसा आ गया।

गुरु के मिलते ही पचास प्रतिशत तो सब ठीक हो जाता है--मिलते ही! मगर यहीं मत रुक जाना। जब शब्द सुन कर ऐसा हो सकता है तो सत्य के अनुभव से कैसा होगा! याद रखना, भूलना मत। अनेक शब्द में ही उलझ कर रह जाते हैं, इसलिए तुम्हें चेताता हूं।

यह एक रश्मि!
पर छिपा हुआ है इसमें ही
ऊषा बाला का अरुण रूप
दिन की सारी आभा अनूप
जिसकी छाया में सजता है
जग राग-रंग का नवल साज
यह एक रश्मि!
यह एक बिंदु!
पर छिपा हुआ है इसमें ही
जल श्यामल मेघों का वितान
विद्युत बाला का बज्र गान
जिसको सुन कर फैलाता है
जग पर पावस निज सरस राज
यह एक बिंदु!

जो कहा जा रहा है, वह तो एक बूंद है। जिसकी तरफ बूंद इशारा कर रही है, वह महासागर है। बूंद तो निमंत्रण है, बुलावा है। अगर बूंद का बुलावा तुम्हें सुनाई पड़ गया तो चल पड़ना नाचते हुए सागर की तरफ--

अनुभव के सागर की तरफ! तब बहुत होगा, अपार होगा। तुम सम्हाल न सकोगे, इतना होगा। इतना होगा कि तुम उसमें बह जाओगे। तुम बचोगे ही नहीं, इतना होगा।

और एक बूंद भी सुख देती है। गर्मी के उत्ताप के बाद, जब भूमि फट गई होती है, दरारें पड़ गई होती हैं, और प्रतीक्षा होती है आषाढ़ की और आकाश में पहले बादल घिरते हैं और छोटी-सी बूंदा-बांदी हो जाती है, तो भी एक तृप्ति की लहर फैल जाती है। अभी प्राणों तक पहुंच भी तो नहीं सकती बूंद, क्योंकि बूंद अभी नई-नई आई, थोड़ी-सी आई; अभी तो ऊपर की धूल को भी गीला न कर पायेगी; अभी तो पृथ्वी के प्राणों तक कैसे पहुंचेगी! लेकिन खबर आ गई, वर्षा करीब है।

यह भूमि भली
यह बहुत जली
यह और न अब
जल को तरसे
घन बरसे
घन बरसे
भीग धरा गमके
घन बरसे
पर्वत भीगे
घर छत भीगे
भीगे बन
खेत कुटी झरसे
घन बरसे
घन बरसे
भीग धरा गमके
घन बरसे!

बूंद पर रुकना मत। बूंद की आहट सुन कर खोल देना अपने प्राण मेघों के लिए, घनों के लिए। बूंद आ गई है तो मेघ करीब हैं। हो जाना नग्न, ताकि दूर-दूर तक, गहरे-गहरे तक, तुम्हारे अंतरतम तक प्रवेश हो जाये!

जो भेंट चला था मैं ले कर
हाथों में, कबकी कुम्हलाई
नैनों ने सींचा उसे बहुत
लेकिन वह फिर भी मुरझाई
तब से पथ पुष्पों से निर्मित
कितनी मालायें सूख चुकीं
जिस पग से मैं आया उस पर
पाओगे बिखरी बिखराई
कुम्हला न सकी मुरझा न सकी
लेकिन अर्चन की अभिलाषा!
मैं चुनता हूं हर फूल
अटल विश्वास लिए
ये पूज न पायें प्रेय चरण
लेकिन दुनिया इनकी श्रद्धा को
एक समय पूजेगी ही!

बहुत-बहुत जन्मों से तुम न मालूम कितने पूजा के थाल बना कर चल रहे हो, सजा कर चल रहे हो! बहुत जन्मों से न मालूम कितनी जलती आकांक्षाएं ले कर तुम खोज रहे हो! जब कभी प्रभु का कोई मंदिर करीब तुम्हें दिखाई पड़ेगा, मंदिर का घंटनाद सुनाई पड़ेगा, मंदिर से उठती हुई धूप की धुएं की रेखा तुम्हारी नासापुटों को

छुएगी--तुम नाच उठोगे! तुम्हारी सदा से अर्चना की जो अभिलाषा थी--हारी बहुत बार, पर हार न पाई--पुनरुज्जीवित हो उठेगी; नये प्राण पड़ जायेंगे।

लेकिन वहीं रुक मत जाना। मंदिर के बाहर बहुत रुक गये हैं, इसलिए कहता हूं। मंदिर के भीतर प्रवेश करना। बाहर इतना है तो भीतर कितना न होगा! शब्द में इतना है तो निःशब्द में कितना न होगा! शब्द तो उधार है। मैं कितना ही कहूं, लाख तुम्हें ठीक से कहूं, तो भी ठीक-ठीक तुम तक पहुंचेगा नहीं। शब्द मार डालता है। शब्द सीमा दे देता है असीम को। शब्द के भीतर सिकुड़ना पड़ता है सत्य को। लेकिन अगर तुम आनंदित होने लगो मेरे साथ; सच ही मेरे और तुम्हारे बीच एक रास रचने लगे; मेरा शून्य तुम्हारे शून्य से मिलने लगे; मेरे शून्य के हाथ में तुम हाथ डाल कर नाचने लगो--तो अपूर्व आनंद घटित होगा! महाआनंद होगा!! सच्चिदानंद घटित होगा!!!

छोटे से तृप्त मत होना। इस सूत्र को सदा याद रखना: संसार में तृप्ति; परमात्मा में अतृप्ति। संसार में जो मिले राजी हो जाना। यहां कुछ परेशान होने को है नहीं। रोटी-रोजी मिल जाये, छप्पर मिल जाये--बहुत! खूब प्रसन्न हो जाना। तृप्त हो जाना। और परमात्मा में कितना ही मिले, राजी मत होना, क्योंकि और-और मिलने को है। तुम जहां राजी हो जाओगे, वहीं रुक जाओगे। परमात्मा में तो अतृप्त ही बने रहना। संसार में तृप्त और परमात्मा में अतृप्त--ऐसी साधक की परिभाषा है। परमात्मा में तृप्त और संसार में अतृप्त--ऐसी संसारी की परिभाषा है।

लोग परमात्मा में बिलकुल तृप्त मालूम होते हैं। इतने लोग हैं दुनिया में, उनको परमात्मा से कुछ लेना-देना नहीं। वे कहते हैं: "बिलकुल तृप्ति है। आप वहां भले, हम यहां भले! सब ठीक चल रहा है। परमात्मा ऊपर, हम पृथ्वी पर; सब ठीक चल रहा है। अब और करना क्या है। आप भले हम भले।" कभी जरूरत पड़ती है तो मंदिर में दो फूल चढ़ा देते हैं--औपचारिक कि कोई झंझट खड़ी न करना। सब ठीक ही चल रहा है आपकी कृपा से। लेकिन परमात्मा से कोई अतृप्ति नहीं है कि और मिले कि और मिले; कि बूंद बरसी, अब सागर बरसे! नहीं, कोई जरूरत ही नहीं है।

संसार में बड़ी अतृप्ति है। हजार हैं तो दस हजार हों; दस हजार हों तो लाख हों; लाख हों तो करोड़ हों--वहां अतृप्ति की कोई सीमा नहीं है। कितना ही हो जाये, तो और हो!

तुमसे मैं कहता हूं: साधक का लक्षण है--संसार में तृप्ति और परमात्मा में निरंतर अतृप्ति। ऐसा दिव्य असंतोष तुममें जग जाये तो परमात्मा तुमसे ज्यादा देर दूर नहीं रह सकता। जो इतने प्राणों से पुकारता है, उससे मिलना ही होगा, मिलना ही होता है!

हरि ॐ तत्सत्!

उनन्चासवां प्रवचन

सहज ज्ञान का फल है तृप्ति

अष्टावक्र उवाच।

तेन ज्ञानफलं प्राप्तं योगाभ्यासफलं तथा।
तृप्तः स्वच्छेन्द्रियो नित्यमेकाकी रमते तु यः।। १५७।।
न कदाचिज्जगत्यस्मिंस्तत्त्वज्ञो हन्त खिद्यति।
यत एकेन तेनेदं पूर्णं ब्रह्मांडमंडलम्।। १५८।।
न जातु विषयाः केऽपि स्वारामं हर्षयन्त्यमी।
सल्लकीपल्लवप्रीतिमिवेमं निम्बपल्लवाः।। १५९।
यस्तु भोगेषु भुक्तेषु न भवत्याधिवासितः।
अभुक्तेषु निराकांक्षी तादृशो भवदुर्लभः।। १६०।।
बुभुक्षुरिह संसारे मुमुक्षुरपि दृश्यते।
भोगमोक्षनिराकांक्षी विरलो हि महाशयः।। १६१।।
धर्मार्थकाममोक्षेषु जीविते मरणे तथा।
कस्याप्युदारचित्तस्य हेयोपादेयता न हि।। १६२।।
वांछा न विश्वविलये न द्वेषस्तस्य च स्थितौ।
यथा जीविकया तस्माद्धन्य आस्ते यथासुखम्।। १६३।।
तेन ज्ञानफलं प्राप्तं योगाभ्यासफलं तथा।
तृप्तः स्वच्छेन्द्रियो नित्यमेकाकी रमते तु यः।।

"जो पुरुष तृप्त है, शुद्ध इंद्रिय वाला है और सदा एकाकी रमण करता है, उसी को ज्ञान और योगाभ्यास का फल प्राप्त हुआ है।"

एक-एक शब्द को ध्यानपूर्वक समझना।

पहली बात: साधारणतः लोग सोचते हैं, एकाकी रमेंगे तो ज्ञान उपलब्ध होगा। यह सूत्र उलटा है। यह कहता है: जो एकाकी रमने में सफल हो गया उसे ज्ञान का फल मिल गया। एकाकी रमने से कोई ज्ञान को नहीं पाता; ज्ञान को पाने से एकाकी होने की क्षमता आती है। अकेले भाग जाने से तुम ज्ञान को उपलब्ध न हो जाओगे; हिमालय की कंदराओं में बैठ कर ज्ञान को उपलब्ध न हो जाओगे। तुम तो तुम ही रहोगे; जो बाजार में था वही हिमालय की गुफा में बैठ जायेगा। बाहर की स्थिति को बदलने से भीतर कोई क्रांति न हो जायेगी। घर में हो कि मंदिर में हो, क्या फर्क पड़ेगा? और भीड़ में हो कि अकेले, क्या फर्क पड़ेगा? तुम तो तुम ही रहोगे। यह तुम्हारा होना इतनी आसानी से नहीं बदलता। तो कोई संसार को छोड़ कर चला गया है; सोचता है, संसार को छोड़ने से बदलाहट हो जायेगी। बदलाहट हो जाये तो संसार छूट जाता है; लेकिन संसार को छोड़ने से बदलाहट नहीं होती।

यह सूत्र अत्यधिक महत्वपूर्ण है। मेरी पूरी देशना यही है। लोगों ने अक्सर कारण को कार्य समझ लिया है, कार्य को कारण समझ लिया है। लोग सोचते हैं: भोग छूट जाये तो त्याग फलित हो जायेगा। नहीं, ऐसा नहीं है। त्याग फलित हो जाये तो भोग छूट जाता है। त्याग का रस आ जाये तो भोग विरस हो जाता है। जिसके हाथों में हीरे-जवाहरात आ गये, वह कंकड़-पत्थर नहीं बीनता। लेकिन तुम सोचते हो कि कंकड़-पत्थर बीनना बंद कर देने से हीरे-जवाहरात हाथ में आ जायेंगे, तो तुम बड़ी गलती में पड़े हो। कंकड़-पत्थर न बीनने से केवल कंकड़-पत्थर न हाथ में रहेंगे; हीरे-जवाहरातों के आने का क्या संबंध है?

तुमसे कोई कहता है: धन छोड़ दो तो ज्ञान उपलब्ध हो जायेगा। जैसे कि धन ज्ञान को रोक सकता है! धन की सामर्थ्य क्या? कोई कहता है: परिवार, बच्चे, पत्नी-पति को छोड़ दो तो परमात्मा उपलब्ध हो जायेगा। जैसे पति, परिवार, घर, ये परमात्मा और तुम्हारे बीच आड़ बन सकते हैं! परमात्मा को ऐसी क्षुद्र चीजें रुकावट डाल सकती हैं? ऐसी व्यर्थ की बातों में मत पड़ना। हां, परमात्मा मिल जाये तो तुम्हारा रस इन चीजों से छूट जाता है। छूट जाता है; छोड़ना नहीं पड़ता। फल का अर्थ होता है: अपने से हो जाता है; करना नहीं पड़ता।

वृक्ष पर फल लगते हैं, कोई लगाता है? लगते हैं, अपने से लगते हैं। तुम्हारी किसी चेष्टा का परिणाम नहीं हैं। तुम खींच-खींच कर फल नहीं लाते हो। और बाजार से ला कर तुम फल वृक्षों पर लटका दो तो तुम किसको धोखा दे रहे हो? वे फल सत्य नहीं हैं। तो कोई आदमी संसार से चला जाये, बैठ जाये गुफा में, ऊपर से दिखे बड़ा शांत है--फल बाजार से खरीद लाया है--भीतर तो बाजार का कोलाहल होगा।

बायजीद के पास एक युवक आया और उसने कहा कि मुझे अपने चरणों में ले लें; मैं सब छोड़ कर आ गया हूं। बायजीद ने कहा: "चुप, बकवास बंद! भीड़ तू पूरी साथ ले आया है।" वह युवक चौंका। उसने अपने चारों तरफ देखा, पीछे देखा--कोई भी नहीं है, भीड़ कहां है? यह बायजीद पागल तो नहीं है! उसने कहा: "कैसी भीड़? किस भीड़ की बात कर रहे हैं? मैं सब छोड़ आया, भीड़ भी छोड़ आया। वे लोग मुझे पहुंचाने आये थे गांव के बाहर तक, मेरे परिवार के लोग रोते भी थे, पत्नी छाती पीटती थी; पर कड़ा जी करके सबको छोड़ आया हूं।" बायजीद ने कहा: "इधर-उधर मत देख; आंख बंद कर, भीतर देख! वे सब वहीं के वहीं खड़े हैं।"

उस युवक ने आंख बंद की, भीड़ मौजूद थी। पत्नी अभी भी रो रही थी भीतर। अभी भी वह अपने को समझा रहा था; कड़ा कर रहा था जी; बच्चों की याद आ रही थी; मित्रों के चेहरे, जिनको पीछे छोड़ आया है, वे खींच रहे थे। तब उसकी समझ में आया। यहां-वहां भीड़ नहीं थी, आगे-पीछे भीड़ नहीं थी--भीड़ भीतर है।

तुम भाग जाओ जंगल में। भीड़ अगर बाहर ही होती तो तुम अकेले हो जाते, लेकिन भीड़ भीतर है। भीड़ तुम्हारे चित्त में है। तुम्हारा चित्त ही भीड़ है। तो कभी ऐसा भी होता है कि कोई भीड़ में भी अकेला होता है और कभी ऐसा भी कि कोई अकेला बैठा भी भीड़ में होता है। इसलिए ऊपर-ऊपर की बातों में बहुत आग्रह मत करना; बात भीतर की है; बात गहरे की, गहराई की है।

"जो पुरुष तृप्त है, शुद्ध इंद्रिय वाला है और सदा एकाकी रमण करता है, उसी को ज्ञान का और योगाभ्यास का फल प्राप्त हुआ है!"

यह फल है--कान्सिक्वेन्स। कारण नहीं, कार्य है। सहज फल जाता है। तो जीवन की अंतर्दृष्टि बदलनी चाहिए।

तेन ज्ञानफलं प्राप्तं...।

उसे मिल गया ज्ञान का फल, उसे मिल गया योग का फल! किसे? तो परिभाषा की है: तृप्तः! जो तृप्त है! सब भांति तृप्त है! जिसके जीवन में अतृप्ति का कोई स्वर न रहा! जिसके मन में किसी चीज की कोई आकांक्षा न रही! ऐसा कब घटेगा?

तुमने कहावत सुनी है: "संतोषी सदा सुखी।" उससे भी ज्यादा महत्वपूर्ण बात है: "सुखी सदा संतोषी।" "संतोषी सदा सुखी" से ऐसा लगता है कि किसी तरह संतोष कर लो तो सुखी हो जाओगे। किसी तरह किया गया संतोष पहले तो संतोष ही नहीं। किसी तरह किया गया संतोष, संतोष का धोखा है। समझा लिया, बुझा लिया मन को, कह दिया कि क्या रखा है संसार में! जब तुम समझाते हो मन को कि क्या रखा है संसार में, तो एक बात पक्की है कि तुम्हारा मन अभी कहता है कि कुछ रखा है संसार में, अन्यथा समझाते किसे? समझाते किसलिए? समझाना सूचक है कि मन अभी कहता है: रखा है बहुत कुछ संसार में।

तुम अपने को समझाते हो: "क्या रखा कामिनी-कांचन में? कुछ भी नहीं है, सब मिट्टी है!" मगर यह क्यों दोहराते हो? यह तुम्हारा बोध है? ऐसा तुमने देख लिया? ऐसी तुम्हारी दृष्टि का अनुभव हो गया? ऐसी तुम्हारी प्रतीति हो गई? तो अब क्या दोहराना कामिनी-कांचन! बात खत्म हो गई।

सुबह जाग कर तुम ऐसा थोड़े ही बार-बार दोहराते हो कि जो सपना देखा है, झूठ है; जो सपना देखा है, झूठ है। और ऐसा तुम दोहराओ तो स्वभावतः शक होगा कि तुम्हें सपने पर बहुत भरोसा आ गया। अभी तक, अभी तक तुम कहे चले जा रहे हो कि सपना झूठ है! अभी तक सच होने की लकीर तुम्हारे भीतर मौजूद है। अभी तक तुम्हारे भीतर सपने पर भरोसा है। उस भरोसे को काटने के लिए तुम कह रहे हो सपना झूठ है।

हम उन्हीं बातों को समझाते हैं जिनके विपरीत हमारी दशा होती है। तुम समझाते हो कि स्त्री के शरीर में क्या रखा है, सब मल-मूत्र है! मगर यह क्यों समझाते हो? यह किसको कह रहे हो? किसलिए कह रहे हो? थोड़ा इसमें झांक कर देखो, तुम्हें जरूर स्त्री के शरीर में रूप दिखाई पड़ रहा है, सौंदर्य दिखाई पड़ रहा है। वह सौंदर्य तुम्हें बुला रहा है। वह रूप तुम्हें निमंत्रण दे रहा है। उस निमंत्रण से तुम घबड़ा गये हो, डर गये हो। उस निमंत्रण को काटने के लिए तुम समझा रहे हो कि सब...जरा गौर से देखो मल-मूत्र भरा है!

अब यह बड़े आश्चर्य की बात है कि तुम्हारे जो ऋषि-मुनि शास्त्रों में लिख गये कि स्त्री के शरीर में मल-मूत्र भरा है, इनमें से कोई भी यह नहीं लिखता कि मेरे शरीर में भी मल-मूत्र भरा है! जैसे कि इनके पास कुछ सोने का शरीर है! और बड़े मजे की बात है कि इनमें से कोई भी नहीं लिखता कि स्त्री के शरीर से ही ये पैदा हुए हैं। तो मल-मूत्र से ही पैदा हुए हैं--और गये-बीते मल-मूत्र होंगे। क्योंकि मल-मूत्र से कोई सोना नहीं आ जाता। इनमें से कोई भी नहीं लिखता कि मेरे शरीर में मल-मूत्र भरा है! स्त्री के शरीर में मल-मूत्र भरा है!

स्त्री के शरीर में आकर्षण है, उस आकर्षण को काटने के लिए ये उपाय कर रहे हैं। ये उपाय सब झूठे हैं। इस तरह आकर्षण कटता नहीं। ऐसे तुम समझा-बुझाकर संतोष कर लो, यह संतोष बस माना हुआ है। इस संतोष से क्रांति न होगी; दीया न जलेगा; तुम रूपांतरित न हो जाओगे; तुम्हारे जीवन में प्रकाश न छा जाएगा; और न ही अमृत की वर्षा होगी।

"तृप्तः!"

देखो जीवन को गौर से! यहां अतृप्त होने का कारण ही नहीं है। इस क्षण देखो, अभी देखो! यही अष्टावक्र का जोर है कि जो देखना है, अभी देखो, इस क्षण देखो।

अभी तुम मेरे सामने बैठे हो। इस क्षण जरा गौर से अपने भीतर झांको: "कहीं कोई अतृप्ति है? कहीं कोई आकांक्षा है? कहीं कोई और होने का मन है? कुछ और होने का मन है?" अगर शांत हो कर भीतर देखोगे तो पाओगे कि तृप्ति ही तृप्ति लहरें ले रही है। जिसने भी भीतर झांका, उसने पाया कि तृप्ति का सागर है! गहन परितोष! सब भरा-पूरा है! जो चाहिए, मिला हुआ है! जैसा होना चाहिए वैसा है। इससे अन्यथा की मांग में उपद्रव शुरू होता है। तुम जितनी चीज से तृप्त हो सकते थे उतनी परमात्मा ने दी है, उससे ज्यादा दी है। जितने से तुम आनंदित हो सकते थे उतना सारा आयोजन तुम्हारे लिए है। अब तुम देखो ही न और तुम कहीं दौड़े चले जाओ, भागे चले जाओ, तुम्हारी आंखें कोल्हू के बैल की तरह एक दिशा में देखती रहें, और तुम चारों तरफ न देखो, और यह जो महोत्सव चल रहा है इससे तुम्हारा कोई संबंध ही न बने--तो तुम अभागे हो, और कारण तुम्हीं हो!

"तृप्तः!"

तृप्ति सहज ज्ञान का फल है, जागरण का फल है। जाग कर जिसने देखा, उसने अपने को तृप्त पाया। सोये-सोये जिसने अपने को टटोला, उसने अपने को अतृप्त पाया।

मेरे पास लोग आते हैं। वे कहते हैं: "हम तृप्त कैसे हो जायें? संतुष्ट कैसे हो जायें?" मैं कहता हूं: यह गलत सवाल न पूछो। संतुष्ट और तृप्त होने की तुम चेष्टा कर ही रहे हो, करते ही रहे हो, वह नहीं हो पाया। मैं तुमसे

कहता हूं, यह बात छोड़ो। तुम इतना तो देखो कि तुम कौन हो? क्या हो? बस! पहली बात पहले, प्रथम प्रथम। फिर दूसरे को हम दूसरा सोच लेंगे। तुम एक बात से परिचित हो जाओ कि तुम कौन हो।

रमण महर्षि के पास पाल ब्रंटन जब गया तो वह बहुत-से प्रश्न लेकर गया था। लेकिन रमण ने कहा: "बस एक ही प्रश्न सार्थक है। यही पूछना सार्थक है कि मैं कौन हूं। बाकी सब प्रश्न अपने से हल हो जायेंगे। तू एक ही प्रश्न पूछ ले।" तो उसने कहा: "अच्छी बात, यही पूछता हूं कि मैं कौन हूं!" रमण ने कहा, "यह भी तू मुझसे पूछता है! आंख बंद कर और अपने से पूछ ले कि मैं कौन हूं। पूछता जा, खोजता जा। तू है, इतना तो पक्का है। तू है और चेतन है, इतना भी पक्का है। नहीं तो मुझसे पूछने कैसे आता! जीवित है, चैतन्य है, अब और क्या चाहिए? दो महाघटनाओं का मिलन तेरे भीतर हो रहा है।"

चैतन्य और जीवन मिला, अब और क्या चाहिए तृप्ति के लिए! तुम्हें जीवन के वरदान का कोई स्मरण नहीं है। तुम भूल ही गये हो कि तुम्हारे पास क्या है। जीवन है!

सिकंदर जब भारत से वापस लौटता था, एक फकीर को मिलने गया। और फकीर से उसने कहा कि "जानते हैं, मैं कौन हूं? सिकंदर महान! सारी दुनिया का विजेता!" वह फकीर हंसने लगा। उसने कहा: "कभी ऐसे ही सपने मैंने भी देखे थे, मगर मैं समय के पहले जाग गया। तू अभी जागा कि नहीं?"

कौन सपने नहीं देखता सिकंदर होने के! उस फकीर ने कहा: "यह कोई नई बात है! हर आदमी यही सपना ले कर पैदा होता है।" सिकंदर ने कहा: "मैं समझा नहीं।" उस फकीर ने कहा: "ऐसा सोच, रेगिस्तान में तू खो जाये और प्यास लगे जोर से और कोई आदमी कहे कि एक गिलास जल मैं तुझे दे सकता हूं, कितना साम्राज्य तू देने को राजी होगा एक गिलास जल के लिए?" उसने कहा: "आधा दे दूंगा उस क्षण में तो।" फकीर ने कहा: "और वह जिद्दी हो और कहे कि मैं तो पूरा लूंगा, तो तू पूरा साम्राज्य देने को राजी होगा एक गिलास के लिए?" सिकंदर ने थोड़ा सोचा और उसने कहा कि ऐसी घड़ी होगी, मरुस्थल में भटका होऊंगा तो पूरा साम्राज्य भी दे दूंगा। वह फकीर खूब खिलखिला कर हंसने लगा। उसने कहा: "तो तुमने कमाया क्या, एक गिलास पानी! मौका पड़ जाये तो एक गिलास पानी खरीद लेना। यह साम्राज्य, इसका कुल मूल्य कितना है? गला जरा अतृप्त होगा तो उसको भी तृप्त न कर पायेगा, तो आत्मा को तो तृप्त कैसे करेगा? गले की प्यास भी न बुझ पायेगी इससे, तो हृदय की प्यास तो कैसे बुझेगी! देह की क्षुधा भी न मिटेगी तो आत्मा की क्षुधा तो कैसे मिटेगी!

उस फकीर ने कहा: "बहुत हो गया पागलपन! अब उतर नीचे सपने से! जाग!"

एक ही प्रश्न महत्वपूर्ण है--और वह पूछना है कि मैं कौन हूं। और ऐसा मत सोचना कि तुम पूछते रहोगे मैं कौन हूं, मैं कौन हूं, तो उत्तर आ जायेगा; जैसे कि परीक्षा की कापियों में उत्तर आते हैं! नहीं, जब तुम पूछते ही रहोगे, पूछते ही रहोगे, उत्तर तो नहीं आयेगा, एक दिन प्रश्न भी रुक जायेगा। अनुभूति आयेगी, उत्तर नहीं। अनुभव आयेगा! जीवन और चैतन्य, तुम्हारे भीतर जो मिल रहे हैं, जो महामिलन हो रहा; जीवन और चैतन्य हाथ में हाथ डाल कर जो नाच कर रहे हैं, जो नृत्य चल रहा है--उसकी प्रतीति आयेगी, उसका साक्षात्कार होगा। उसी साक्षात्कार में तृप्ति है।

तेन ज्ञानफलं प्राप्तं योगाभ्यासफलं तथा।

जानना कि उन्होंने ही पा लिया ज्ञान का फल और जानना कि उन्होंने ही पा लिया योग का फल...।

तृप्तः स्वच्छेन्द्रियो।

जो तृप्त हो गये और जिनकी इंद्रियां स्वच्छ हो गईं।

यह भी समझने जैसा है। स्वच्छेन्द्रिय! फर्क को खयाल में लेना। अक्सर तुम्हारे धर्मगुरु तुम्हें समझाते हैं: "इंद्रियों की दुश्मनी। तोड़ो, फोड़ो, इंद्रियों को दबाओ, मिटाओ! किसी भांति इंद्रियों से मुक्त हो जाओ!" अष्टावक्र का वचन सुनते हो: स्वेच्छेन्द्रियः! इंद्रियां स्वच्छ हो जायें, और भी संवेदनशील हो जायेंगी।

ज्ञान का फल! यह वचन अदभुत है। नहीं, अष्टावक्र का कोई मुकाबला मनुष्य-जाति के इतिहास में नहीं है। अगर तुम इन सूत्रों को समझ लो तो फिर कुछ समझने को शेष नहीं रह जाता है। इन एक-एक सूत्र में एक-एक वेद समाया है। वेद खो जायें, कुछ न खोयेगा; अष्टावक्र की गीता खो जाये तो बहुत कुछ खो जायेगा।

स्वच्छेन्द्रिय! ज्ञान का फल है: जिसकी इंद्रियां स्वच्छ हो गईं; जिसकी आंखें साफ हैं!

तुमने सुना, सूरदास की कथा है! मैं मानता नहीं कि सच होगी। मानता इसलिए नहीं कि सूरदास से मेरा थोड़ा लगाव है। कि एक स्त्री को देखकर उन्होंने आंखें फोड़ लीं--इस भय से कि आंखें गलत रास्ते पर ले जाती हैं। अगर सूरदास ने ऐसा किया हो तो दो कौड़ी के हो गये। हां, जिन्होंने कहानी गढ़ी है, उनकी बुद्धि ऐसी ही रही होगी। आंखें फोड़ लोगे, इससे स्त्री के रूप से छुटकारा हो जायेगा? रात सपने में तो आंख बंद होती है तो क्या स्त्री के रूप से छुटकारा हो जाता है? स्त्री तो और रूपवान हो कर प्रगट होती है। सपने में जैसी सुंदर होती हैं स्त्रियां वैसी कहीं जाग कर तुमने पाईं? यही तो जिंदगी की तकलीफ है कि सपने में मिल जाती हैं और जिंदगी में नहीं मिलतीं। और जिंदगी में जो भी मिलती है वह सपने की स्त्री से छोटी पड़ती है, इसलिए तृप्त नहीं कर पाती। या पुरुष जीवन में जो मिलता है, वह सपने के पुरुष से छोटा पड़ता है। सपने हमारे बड़े और यथार्थ बड़ा छोटा है। यथार्थ बड़ा फीका है; सपने हमारे बड़े रंगीन हैं, बड़े रुपहले! इंद्रधनुषी हैं सपने; और जिंदगी बस काली-सफेद, इसमें कुछ बहुत रंग नहीं है!

आंख बंद कर लेने से कोई रूप मिटेगा? आंख फोड़ लेने से कुछ रूप की कल्पना खो जायेगी? काश, इतना सस्ता होता तो आंख फोड़ लेते, कान फोड़ लेते, हाथ काट देते! और ऐसा लोगों ने किया है। रूस में ईसाइयों का एक संप्रदाय था जो जननेंद्रियां काट लेता था। अब यह भी कोई बात हुई! स्त्रियां स्तन काट लेती थीं। यह भी कोई बात हुई! जननेंद्रियां काट लेने से कामवासना चली जायेगी? काम की क्षमता चली जायेगी, लेकिन क्षमता जाने से कहीं वासना गई है? तो तुम बूढ़ों से पूछ लो, जिनकी क्षमता चली गई है--वासना चली गई है? सच तो यह है कि बुढ़ापे में वासना जैसा सताती है वैसा जवानी में भी नहीं सताती। क्योंकि जवानी में तो तुम कुछ कर सकते हो वासना के लिए; बुढ़ापे में कुछ कर भी नहीं सकते, सिर्फ तड़फते हो। बूढ़े मन में जिस बुरी तरह वासना पीड़ा बन कर आ जाती है, कांटे की तरह चुभती है, वैसे जवान मन में नहीं चुभती। शरीर तो बूढ़ा हो जाता है, वासना थोड़े ही बूढ़ी होती है कभी! वासना तो जवान ही रहती है। उसका स्वभाव जवानी है। शरीर थक जाता है; वासना थोड़े ही रुकती है, वह तो दौड़ती ही रहती है। तुम जब थक कर भी गिर जाते हो राह पर, तब भी तुम्हारी वासना अनंत-अनंत यात्राओं पर निकलती रहती है। अगर ऐसा न होता तो दुबारा जन्म ही क्यों होता! अगर बूढ़े की वासना भी बूढ़ी हो गई, शरीर भी क्षीण हो गया, वासना भी क्षीण हो गई, तो मुक्त हो जायेगा, दुबारा जन्म नहीं होगा।

दुबारा जन्म क्यों होता है? वह जो वासना जवान है, वह नये शरीर की मांग करती है। वह कहती है: "खोजो नई देह! यह देह तो गई, खराब हुई। अब कुछ नया माडल खोजो। यह पुराना माडल अब काम का न रहा। लेकिन अभी मैं नहीं मरी हूं। नई देह पकड़ो! नई देह के सहारे चलो। लेकिन चलो! फिर से खोजो! इस जीवन में तो नहीं पा पाये, अगले जीवन में शायद मिलन हो जाये, शायद तृप्ति मिले, सुख मिले। फिर खोजो।"

इधर बूढ़ा मरा नहीं कि उधर जन्मा नहीं। मरने और जन्मने में जरा-सी देर नहीं लगती। अक्सर तो ऐसा होता है कि तुम जब बूढ़े आदमी की लाश ले कर मरघट जा रहे हो तब तक वह किसी गर्भ में प्रवेश कर चुका; तुम जिसकी अब अर्थी सजा रहे हो, वह पैदा हो चुका। इतनी फुरसत कहां है! वासना इतनी प्रगाढ़ है कि तुम्हारी राह थोड़े ही देखेंगे कि अब तुम अर्थी सजाओ, फूल-पत्ती बांटो, मोहल्ले-पड़ोस के लोगों को इकट्ठा करो, बैंड-बाजा बजाओ, मरघट ले जाओ--तुम्हें तो कुछ वक्त तो लगेगा! रोने-धोने में, उपद्रव करने में, तुम्हें कुछ तो समय लगेगा! पहुंचते-पहुंचते...लेकिन बूढ़े को इतनी फुरसत कहां है कि तुम्हारी राह देखे! तुम सड़ी-सड़ाई लाश

को ही जला रहे हो। वहां अब कोई नहीं है। वह तो किसी नये गर्भ में प्रविष्ट हो चुका। वासना क्षण भर की देर नहीं मांगती।

तुमने देखा, जब वासना तुम्हें पकड़ती है, तुम क्षण भर रुक सकते हो? जब क्रोध तुम्हें पकड़ता है, तब तुम यह कहते हो कि चलो कल कर लेंगे? जब क्रोध तुम्हें पकड़ता है, तुम उसी क्षण आगबबूला हो जाते हो। और जब वासना तुम्हें पकड़ती है तो तुम सोचते हो कि चलो, कल, परसों, अगले जन्म में, जल्दी क्या है? जब वासना तुम्हें पकड़ती है तो तुम उतावले हो जाते हो। उसी क्षण होना चाहिए! क्षण में होना चाहिए! एक क्षण की भी देरी सालती है, खटकती है। इधर बूढ़ा मरा, उधर उसकी वासना उसे नई यात्रा पर ले गई।

तो साधु-संत तुम्हें समझाते रहे हैं: "इंद्रियों को काटो, जलाओ, खराब करो।" नहीं, ज्ञानी ऐसा नहीं कहते। "स्वच्छेन्द्रियः!" तुम्हारी इंद्रियां और सेंसिटिव और संवेदनशील हो जायेंगी। तुमसे लोगों ने कहा है: स्वाद को मार डालो।

महात्मा गांधी के आश्रम में व्रतों में एक व्रत था: अस्वाद! स्वाद को मार डालो! अष्टावक्र के वचन का क्या अर्थ होगा? स्वच्छेन्द्रिय का अर्थ अस्वाद हो सकता है? स्वच्छेन्द्रिय का अर्थ होगा: परम स्वाद। ऐसा स्वाद कि भोजन में भी ब्रह्म का अनुभव होने लगे--स्वच्छेन्द्रिय का अर्थ होता है। स्वाद मार डालो! तो जीभ से, रसना से, जो परमात्मा की अनुभूति हो सकती थी वह मर जायेगी।

पश्चिम का बड़ा विचारक लुई फिशर गांधी जी को मिलने आया। वह उनके ऊपर किताब लिख रहा था। अपने साथ ही उसे उन्होंने भोजन पर बिठाया। वे नीम की चटनी खाते थे, उसकी थाली में भी नीम की चटनी रख दी--स्वाद खराब करने को! अस्वाद का व्रत चल रहा है तो नीम की चटनी, ताकि थोड़ा-बहुत स्वाद अगर भोजन में से आ जाये तो नीम की चटनी उसको खराब कर दे। फिशर ने सौजन्यतावश जरा-सा चख कर देखा कि यह चीज क्या है! कड़वा जहर! उसने सोचा कि अब कुछ कहना ठीक नहीं। उसको किसी ने चेताया भी था कि सावधान रहना, वे नीम की चटनी देंगे! तो यही है नीम की चटनी! उसने यह सोचा कि बजाय पूरा भोजन खराब करने के इसको एक ही दफा, इस अंटे को गटक जाओ, तो फिर कम से कम पूरा भोजन तो ठीक से हो जायेगा, यह झंझट मिटेगी। तो वह पूरी चटनी एक साथ गटक गया। गांधी जी ने कहा कि और लाओ, फिशर को चटनी बहुत पसंद आई!

तुम स्वाद को मार ले सकते हो। कभी-कभी स्वाद अपने से भी मर जाता है, लेकिन तुमने उसमें कुछ महिमा देखी? बुखार के बाद तुम्हारी रसना क्षीण हो जाती है, क्योंकि रसना के जो स्वाद को देने वाले छोटे-छोटे अंकुर हैं वे रोग में शिथिल हो जाते हैं। तो तुम मिठाई भी खाओ तो मीठी नहीं मालूम पड़ती, भोजन में कोई स्वाद नहीं आता, सब तिक्त-तिक्त मालूम होता है, उदास-उदास! लेकिन उससे कुछ महिमा आती है? उससे कुछ आत्मा का अनुभव होता है? और अगर इतना सस्ता हो तो जीभ पर ऐसिड डलवा कर खराब ही कर लो एक बार, बार-बार नीम की चटनी क्या खानी! एक दफा साफ करवा लो, चले जाओ डाक्टर से, वह छील कर अलग कर देगा! बहुत थोड़े-से स्वाद के अनुभव को लेने वाले बिंदु हैं जीभ पर, वह अलग कर देगा। आपरेशन करवा लो। मगर इससे क्या तुम किसी आत्म-अनुभव को उपलब्ध हो जाओगे?

नहीं, न तो आंख के फूटने से रूप में रस जाता, न स्वाद के मिटने से स्वाद में रस जाता। स्वाद ऐसा गहन हो जाये कि भोजन तो मिट जाये और परमात्मा का स्वाद आने लगे। "अन्नं ब्रह्म"--उपनिषद कहते हैं कि अन्न ब्रह्म है। तो स्वाद को बढ़ाओ, स्वच्छ करो। स्वाद को विराट करो। स्त्री को देखा, आंख मत फोड़ो; और जरा गौर से देखो कि स्त्री में ब्रह्म दिखाई पड़ने लगे--तो आंख स्वच्छ हो गई। ब्रह्म के अतिरिक्त जब तक तुम्हें कुछ और दिखाई पड़ रहा है, उसका अर्थ इतना ही है कि आंख अभी पूरी स्वच्छ नहीं हुई। जब आंख पूरी स्वच्छ हो जायेगी तो ब्रह्म ही दिखाई पड़ेगा, एक ही दिखाई पड़ेगा। जब सारी इंद्रियां स्वच्छ होती हैं तो सभी तरफ से उसी एक का अनुभव होता है। छुओ तो वही हाथ में आता है। चखो तो वही जीभ पर आता है। देखो तो उसी के

दर्शन होते हैं। सुनो तो उसी की पगध्वनि सुनाई पड़ती है। कुछ भी करो...श्वास लो, तो वही तुम्हारी श्वास में भीतर जाता। सूरज उगता तो वही उगता। रात आकाश तारों से भर जाता तो उसी से आकाश भर जाता है। फूल खिलते हैं तो वही खिलता है। पक्षी चहचहाते हैं तो उसी की चहचहाट है।

जब सारी इंद्रियां स्वच्छ होती हैं तो सभी तरफ से उस एक का अनुभव होने लगता है। जितनी इंद्रियां अस्वच्छ होती हैं उतना ही अनुभव नहीं हो पाता।

यह सूत्र खयाल रखना:

तृप्तः स्वच्छेन्द्रियो नित्यमेकाकी रमते तु यः।

और जिस व्यक्ति की इंद्रियां स्वच्छ हो गईं और जिसे उस एक का सब तरफ अनुभव होने लगा, वही एकाकी रमण कर सकता है, क्योंकि अब दूसरा बचा ही नहीं।

इस एकाकी रमण का अर्थ भी समझो। एकाकी का अर्थ अकेलापन नहीं होता। एकाकी का अर्थ होता है: एक-पन; अकेलापन नहीं। अकेलेपन का अर्थ होता है: लोनलीनेस। एकाकी का अर्थ होता है: अलोननेस। अकेलेपन का अर्थ होता है: दूसरे की याद आ रही है; दूसरा होता तो अच्छा होता। अकेलेपन का अर्थ होता है: दूसरे की मौजूदगी नहीं है, खल रही है, खाली-खाली लग रही है कोई जगह, बेचैनी हो रही है। बैठे हैं अकेले, लेकिन दूसरे की पुकार उठ रही है। तुम जंगल भाग जाओगे, किसी से बात करने को न मिलेगा तो भगवान से ही बात करोगे; मगर वह तुमने दूसरा पैदा कर लिया। तुम अकेले न रहे। अकेलेपन में आदमी भगवान से ही बात करने लगेगा। उसी को तो तुम प्रार्थना कहते हो। वह बातचीत है। तुमने फिर एक कोई पैदा कर लिया, जिससे बातचीत होने लगी। एक तरह का पागलपन है यह बातचीत।

तुमने पागलखाने में जा कर देखा! तुम देखोगे कि कोई पागल बैठा है अकेला और बात कर रहा है। तुम हंसते हो; लेकिन जब कोई प्रार्थना करता है तब तो तुम नहीं हंसते! यह किससे बात कर रहा है? पागल पर तुम हंसते हो क्योंकि तुम्हें कोई दिखाई नहीं पड़ता और यह किसी से बात कर रहा है। और तुम जब मंदिर में हाथ जोड़ कर कहते हो कि "हे पतितपावन, मुझ पर कृपा करो"--तुम किससे बात कर रहे हो? जब तक तुम जानते हो कि परमात्मा दूसरा है, दूजा है जिससे बात हो सकती है, वार्ता हो सकती है--तब तक तो तुम्हें परमात्मा का पता ही नहीं। परमात्मा दूजा नहीं है--तुम्हारा होना है। तुम हो! अहं ब्रह्मास्मि!

तो जब ऐसा अनुभव होता है कि एक ही है, मैं और तू का विभाजन गिर गया--तब जो घटना घटती है, वह जो फूल खिलता है, वह है एकाकी, अलोननेस! तब वहां दूसरे की गैर-मौजूदगी नहीं खलती; वहां अपनी मौजूदगी में रस आता है। अपनी मौजूदगी में उत्सव होता है। तुम कुछ बोलते ही नहीं--बोलने को कौन बचा? किससे बोलना है? कौन बोले? सब बोल खो जाता है। अबोल हो जाते हो।

तुमने ऐसे वचन सुने होंगे जिनमें कहा गया है कि प्रभु की कृपा हो जाये तो जो बोलते नहीं वे बोलने लगते हैं और जो लंगड़े हैं वे दौड़ने लगते हैं। हालत बिलकुल उलटी है। अष्टावक्र से पूछो, अष्टावक्र कुछ और कहते हैं। अष्टावक्र का सूत्र तुम्हें याद है? कुछ ही दिन पहले हम पढ़ रहे थे। सूत्र है कि जो पहुंच जाता है तो बोलने वाला भी चुप हो जाता है और चलने वाला भी गिर पड़ता है। जो बड़ा उद्यमी था, महाआलसी हो जाता है। आलस्य शिरोमणि! सब दौड़-धाप गई! दौड़ना कहां! जाना कहां! हैं वहीं! वहीं हैं। तो कोई चंचलता न रही। बोलना किससे है! कहना किससे है!

प्रार्थना तभी है--जब कहने को कुछ भी न बचा, कहने वाला न बचा, जिससे कहना था वह भी न बचा। उस मौन के क्षण का नाम है प्रार्थना। बोलकर प्रार्थना को खराब मत कर लेना। कुछ कह कर बात बिगाड़ मत लेना। कुछ कहा कि चूके, क्योंकि कहने में तुमने मान ही लिया कि दो हैं, कि तू है पतितपावन और हम हैं पापी। तुम्हारे भीतर वही बैठा है जिसको तुम पापी कह रहे हो; वही, जिसको तुम पतितपावन कह रहे हो! यह विभाजन तुमने जो खड़ा कर लिया है कि तू ऊपर और हम नीचे; और तू महान और हम क्षुद्र--तुम किसको क्षुद्र

कह रहे हो? वही तुम्हारे भीतर, वही तुम्हारे बाहर। एक का ही वास है। एक का ही विस्तार है। इस एक के विस्तार की जब गहन प्रतीति होती है तो एकाकी रमण!

इसका यह मतलब मत समझना कि तुमको हिमालय की गुफा ही में बैठे रहना पड़ेगा। अब तुम जहां भी रहो, तुम एक की गुफा में बैठ गये; अब तुम जहां भी रहो, तुम एकाकी हो! तुम भीड़ में जाओ तो, बाजार में जाओ तो, एकांत में जाओ तो--वही है! एक ही सागर की लहरें हैं, तुम भी उसमें एक लहर हो।

"जो पुरुष तृप्त है, शुद्ध इंद्रिय वाला है और सदा एकाकी रमण करता है...।"

अब खयाल रखना--सदा एकाकी रमण! तुम अगर गुफा में बैठे हो तो सदा तो एकाकी हो ही नहीं सकते। गांव से कोई भोजन तो लायेगा तुम्हारे लिए? तब उतनी देर को तुम एकाकी न रह जाओगे। और कोई कौआ आ कर बैठ गया है गुफा पर और कांव-कांव करने लगा है तो तुम एकाकी नहीं रह गये। अब कौओं का क्या करो! कौए कोई बहुत आध्यात्मिक तो हैं नहीं। संत-पुरुषों का समादर करते हों, ऐसा भी मालूम नहीं पड़ता। संत-असंत में भेद करते हों, ऐसा भी नहीं मालूम पड़ता है। कौए परमज्ञानी हैं; भेद करते ही नहीं; परमहंस की अवस्था में हैं। वे यह थोड़े ही देखेंगे कि आप बड़ा ध्यान कर रहे हैं, माला जप रहे हैं। इसकी जरा भी चिंता न करेंगे। कोई कुत्ता आकर और गुफा में विश्राम करने लगा तो क्या करोगे? अकेले न रहे। अकेले सदा तो कैसे रहोगे? सदा तो अकेले तभी रह सकते हो जब अकेलापन उस परम एकाकी से जुड़ जाये। फिर तुम कहीं भी रहो, कैसे भी रहो--कौआ आये तो भी तुम्हारा ही स्वभाव है और कुत्ता आये तो भी तुम्हारा ही स्वभाव है; कोई न आये तो भी वह मौजूद है, कोई आये तो भी वह मौजूद है; कोई न हो तो अरूप की तरह मौजूद है, कोई हो तो रूप की तरह मौजूद है--मगर हर हालत में एक ही मौजूद है। बाहर-भीतर, ऊपर-नीचे, सब आयामों में, दसों दिशाओं में, एक की ही गूंज चल रही है!

"...और सदा एकाकी रमण करता है, उसी को ज्ञान का और योगाभ्यास का फल प्राप्त हुआ है।"

ज्ञान फल है; कांसिक्वेंस; परिणाम। तो तुम शास्त्र को कितना ही पढ़ लो, इकट्ठा कर लो--ज्ञान न हो जायेगा। खुद के पन्ने उलटो! जरा भीतर चलो। खुद की किताब खोलो। इसको तो कब से बांध कर रखा है, खोला ही नहीं तुमने। जन्म-जन्म हो गये, यह किताब तुम लिए चलते हो, लेकिन कभी खोला नहीं तुमने। तुम दूसरों से पूछते फिर रहे हो कि मैं कौन हूं! तुम हो और तुम्हें पता नहीं, तो दूसरे को क्या खाक पता होगा! तुम्हीं को पता नहीं चल रहा है कि तुम कौन हो, तो दूसरा क्या उत्तर देगा! तुम तो निकटतम हो अपने अस्तित्व के, तुम्हीं चूके जा रहे हो, तो किसी और को तो कैसे पता होगा! दूसरा तो तुम्हें बाहर से देखेगा। भीतर से तो बस अकेले तुम्हीं समर्थ हो तुमको देखने में, कोई दूसरा नहीं। दूसरा तो तुम्हें दृश्य की तरह देखेगा; द्रष्टा की तरह देखने में तो तुम अकेले ही समर्थ हो। और द्रष्टा ही तुम्हारा स्वभाव है।

तो पूछो: "मैं कौन हूं?" यह एक ही बात ध्यान बन जाती है अगर तुम पूछते रहो: "मैं कौन हूं?" और ऐसा भी नहीं है कि तुम इसको शब्द में ही पूछो कि मैं कौन हूं। आंख बंद करके यह भाव रहे कि मैं कौन हूं। इस अन्वेषण पर निकल जाओ। उतरो गहरे-गहरे और देखते चलो; जो-जो चीज तुम्हें दिखाई पड़े और लगे कि यह मैं नहीं हो सकता, उसको भूल जाओ--और गहरे उतरो।

सबसे पहले शरीर मिलेगा, लेकिन शरीर तुम नहीं हो सकते। हाथ कट जाता है तो भी तुम नहीं कटते; तुम्हारा होने का भाव पूरा का पूरा रहता है। तुम बच्चे थे, जवान हो, बूढ़े हो गये, लेकिन तुम्हारे होने में कोई फर्क नहीं पड़ता; तुम्हारे होने का भाव ठीक वैसा का वैसा है। शरीर में झुर्रियां पड़ गईं, बूढ़ा हो गया, थक गया, डांवाडोल होने लगा, अब गिरेगा तब गिरेगा; लेकिन भीतर, आंख बंद करते ही तुम्हारे चैतन्य में कोई झुर्रियां पड़ीं? वह तो उतना ही ताजा है जैसा बचपन में था, वैसा का वैसा है। वहां तो कोई समय की रेखा नहीं पड़ी।

समय ने वहां कोई चिह्न ही नहीं छोड़े। समय की छाया ही नहीं पड़ी। समयातीत, कालातीत! तुम वैसे के वैसे हो जैसे तुम आये थे। उसमें जरा भी भेद नहीं पड़ा। तुम शाश्वत हो।

शरीर तुम नहीं हो सकते। शरीर तो क्षणभंगुर है--बदल रहा, बदलता जा रहा, प्रतिपल बदल रहा है! शरीर तो नदी की धार है; घूमता हुआ चाक है। तुम तो ठहरी हुई कील हो।

और एक बात निश्चित है: जो भी हम दृश्य की भांति देख लेते हैं, हम उससे अलग हो गये। शरीर को तो तुम दृश्य की भांति देख लेते हो, तुम उससे अलग हो गये। तुम दर्पण के सामने खड़े होते हो, दर्पण में तुम्हारा दृश्य बनता है, तुम्हारा चित्र बनता है--क्या तुम यह कह सकते हो बस यही तुम हो, इससे ज्यादा नहीं? यह शरीर का चित्र बन रहा है, तुम्हारी चेतना का तो जरा भी नहीं बन रहा। ऐसा कोई दर्पण ही नहीं जिसमें चेतना का चित्र बन जाये। हो भी नहीं सकता ऐसा कोई दर्पण। शरीर सामने खड़ा है; शरीर का प्रतिबिंब दर्पण में खड़ा है; दोनों को देखने वाला दोनों से पार है। तुम शरीर को भी देख रहे हो झुक कर, तुम दर्पण में अपना प्रतिबिंब भी देख रहे हो--तुम कौन हो जो दोनों को देख रहा है? तुम भिन्न हो! तुम इससे अलग हो।

और थोड़े भीतर सरको, फिर विचारों की तरंगें हैं। उनको भी गौर से देखो। पूछो: "यह हूं मैं?" विचार आया गया, एक आया, दूसरा आया, तीसरा आया, सतत शृंखला लगी है, धारा बही है--इनमें से कोई भी तुम नहीं हो सकते, क्योंकि तुम तो बने ही रहते हो। विचार आता है, जाता है--कभी सुंदर कभी असुंदर; कभी शुभ कभी अशुभ; कभी उठता है कि सारी दुनिया को प्रेम कर लूं और कभी उठता है कि सारी दुनिया को नष्ट कर दूं; कभी होता है मन करुणा का और कभी होता है मन क्रोध का; क्रोध का धुआं भी उठता है, करुणा की सुगंध भी उठती है--लेकिन तुम तो इन दोनों के पार खड़े देखते ही रहते हो। तुम तो साक्षी हो! नहीं, मन भी तुम नहीं।

और भीतर चलो! ऐसे चलते, चलते, चलते, एक घड़ी आती है जहां जो तुम नहीं हो वह छूट गया; अब वही बच रहता है जो तुम हो, जिसमें से अब कुछ भी इनकार नहीं किया जा सकता। नेति-नेति कहते-कहते--नहीं यह, नहीं यह--आ गये तुम अपने घर में भीतर! अब वही बचा जो अब तक कह रहा था: "नेति-नेति; नहीं यह, नहीं यह!" यही तुम हो। कोई उत्तर नहीं मिल जायेगा लिखा हुआ। कहीं कोई भीतर नेमप्लेट रखी नहीं है, एक शिलापट्ट नहीं है कोई जिस पर लिखा है कि यह तुम हो। लेकिन अब तुम्हें अनुभव होगा। हो जायेगी वर्षा अनुभव की। अस्तित्व तुम्हें घेर लेगा। जीवन और चैतन्य दोनों की गहन प्रगाढ़ प्रतीति होगी, साक्षात्कार होगा।

और यही ज्ञान का फल है। इसके होते ही तुम्हारी इंद्रियां स्वच्छ हो जायेंगी। इसके होते ही जीवन तृप्त हो जायेगा। इसके होते ही तुम अकेले हो गये; मगर अकेलापन नहीं--एकाकी। एकाकी का पन, एकाकीपन। अब परमात्मा ही बचा!

तैर रहीं लहरें
डूब गया सागर
जाग उठे तारे
निंदियाया अंबर
पड़ी रही माटी
चली गई गागर
मुस्का दी बिजुरी
अंसुआया बादर
मुंदे नयन सपने
खुली दीठ दर्पण
फलित हुआ चिंतन
अंखुआया दर्शन।
मुंदे नयन--सपने,
खुली दीठ--दर्पण!

तुम अभी आंख बंद किए-किए जी रहे हो। तुम्हें बड़ी हैरानी होगी। तुम तो कहते हो, हम आंख खोल कर जी रहे हैं। तुम्हारी बाहर आंख खुली है तो भीतर आंख बंद है। जिस दिन तुम बाहर से आंख बंद करोगे, भीतर आंख खुलेगी। इस उलटे गणित को खयाल में ले लेना। अगर बाहर ही आंख खुली रही तो भीतर आंख बंद है; भीतर तुम अंधे हो। थोड़ी बाहर आंख बंद करो तो दृष्टि भीतर मुड़े। वही दृष्टि जो बाहर संलग्न है, भीतर मुक्त हो जाती है। अभी तो भीतर सपने ही सपने हैं। अभी भीतर सच कुछ भी नहीं है।

मुंदे नयन--सपने!

यह जो बाहर खुली आंख है, भीतर तो आंख मुंदी है।

मुंदे नयन--सपने!

खुली दीठ--दर्पण।

जरा बाहर से आंख बंद करो ताकि भीतर आंख खुले। इस ऊर्जा को भीतर बहने दो। यह जो बाहर देखने का चाव है इसी चाव को जरा भीतर की तरफ मोड़ो; समझाओ-बुझाओ, फुसलाओ, राजी करो, कहो कि चल जरा भीतर भी देखें। बाहर बहुत देखा, आंखें थक गईं, पथरा गईं--कुछ मिलता तो नहीं। थोड़ा भीतर भी देखें, थोड़ा अपने भीतर भी देखें!

जिसे हम खोज रहे हैं, कौन जाने भीतर ही पड़ा हो! इसके पहले कि तुम सारी दुनिया में खोजने निकल जाओ, अपने घर में खोज लेना। क्योंकि दुनिया बहुत बड़ी है, खोजते-खोजते-खोजते कहीं न पहुंचोगे; कहीं ऐसा न हो कि अंत में पता चले, जिसे हम खोजने चले थे वह घर में ही पड़ा था। और ऐसा ही है। जिन्होंने भीतर खोजा उन्होंने पा लिया और जिन्होंने बाहर खोजा उन्होंने कभी नहीं पाया। निरपवाद रूप से जिन्होंने अब तक खोजा है, पाया है, वे भीतर के खोजी हैं। निरपवाद रूप से जिन्होंने खोजा बहुत और पाया कभी नहीं, वे बाहर के खोजी हैं।

पहली आषाढ़ की संध्या में
नीलांजन बादल बरस गये
फट गया गगन में नील मेघ
पथ की गगरी ज्यों फूट गई
बौछार ज्योति की बरस गई
झर गई बेल से किरण जुही
मधुमयी चांदनी फैल गई
किरणों के सागर बिखर गये।
जरा भीतर चलो--होती है अपूर्व वर्षा।
पहली आषाढ़ की संध्या में
नीलांजन बादल बरस गये
फट गया गगन में नील मेघ
पथ की गगरी ज्यों फूट गई
बौछार ज्योति की बरस गई
झर गई बेल से किरण जुही
मधुमयी चांदनी फैल गई
किरणों के सागर बिखर गये।

तुम्हारे भीतर, तुम्हारे ही भीतर तुम महासूर्यों को छिपाये चल रहे हो। जरा खोलो भीतर की गांठ, जरा भीतर की गठरी खोलो, जरा भीतर की गगरी फोड़ो--किरणें ही किरणें बरस जायेंगी! उन किरणों की वर्षा में ही स्वच्छ हो जाती हैं इंद्रियां। उन किरणों की वर्षा में ही तृप्त हो जाते हैं प्राण। मिल गया फल!

"हंत, तत्वज्ञानी इस जगत में कभी खेद को नहीं प्राप्त होता है, क्योंकि उसी एक से यह ब्रह्मांड-मंडल पूर्ण है।"

दत्तात्रेय के जीवन में उल्लेख है। भीख मांगने एक द्वार पर दस्तक दी। घर में कोई न था; एक क्वांरी लड़की थी। माता-पिता खेत पर काम करने गये थे। उस कन्या ने कहा: "आप आए हैं, माता-पिता यहां नहीं, आप दो क्षण रुक जायें तो मैं चावल कूट कर आपको दे दूं, और तो घर में कुछ है नहीं। चावल कूट दूं, साफ-सुथरे कर दूं, और आपकी झोली भर दूं।" तो दत्तात्रेय रुके। उस कन्या ने चावल कूटने शुरू किए तो उसके हाथ में बहुत चूड़ियां थीं, वे बजने लगीं। उसे बड़ा संकोच हुआ। यह शोरगुल, यह छन-छन की आवाज, साधु द्वार पर खड़ा--तो उसने एक-एक करके चूड़ियां उतार दीं। धीरे-धीरे आवाज कम होने लगी। दत्तात्रेय बड़े चौंके। आवाज धीरे-धीरे बिलकुल कम हो गई, क्योंकि एक ही चूड़ी हाथ पर रही। फिर जब वह उन्हें देने आई चावल तो उन्होंने पूछा कि एक बात पूछनी है: "पहले तूने चावल कूटने शुरू किए तो बड़ी आवाज थी, फिर धीरे-धीरे आवाज कम होती गई, हुआ क्या? फिर आवाज खो भी गई!" तो उस लड़की ने कहा कि सोच कर कि आप द्वार पर खड़े हैं, आपकी शांति में कोई बाधा न पड़े, मुझे बड़ा संकोच हुआ, चूड़ियां हाथ में बहुत थीं तो आवाज होती थी, फिर एक-एक करके मैं निकालती गई। आवाज तो कम हुई, लेकिन रही। फिर जब एक ही चूड़ी बची तो सब आवाज खो गई।

तो दत्तात्रेय ने यह वचन कहा:

वासो बहूनां कलहो भवेद्द्वावात्ता द्वयोरपि।
एकाकी विचरेद्विद्वान कुमार्या इव कंकणः।।

कहा कि जैसे कुंवारी लड़की के हाथ पर चूड़ियों का बहुत होना शोरगुल पैदा करता है, ऐसे ही जिसके चित्त में भीड़ है, बड़ी आवाज होती है। जैसे कुंवारी लड़की के हाथ पर एक ही चूड़ी रह गई और शोरगुल शांत हो गया, ऐसे ही जो अपने भीतर एक को उपलब्ध हो जाता है, भीड़ के पार, भीड़ जिसकी विसर्जित हो जाती है--वह भी ऐसी ही शांति को उपलब्ध हो जाता है।

कहा: "बेटी तूने अच्छा किया! मुझे बड़ा बोध हुआ।"

जिसे बोध की तलाश है, उसे कहीं से भी मिल जाता है। जिसे बोध की तलाश नहीं है, वह बुद्ध-वचनों को भी सुनता रहे, ठीक बुद्ध के सामने बैठा रहे, तो भी कुछ नहीं है। बांसुरी बजती रहती है, भैंस पगुराती रहती है; उसे कुछ मतलब नहीं है।

न कदाचिज्जगत्यस्मिंस्तत्त्वज्ञो हंत खिद्यति।
यत एकेन तेनेदं पूर्ण ब्रह्मांडमंडलम्।।

"हंत, शिष्य! तत्वज्ञानी इस जगत में कभी खेद को नहीं प्राप्त होता, क्योंकि उसी एक से यह ब्रह्मांड-मंडल पूर्ण है।"

यह वचन सीधा-सादा है, लेकिन बड़ा गहरा!

शायद तुमने ज्यां पाल सार्त्र का प्रसिद्ध वचन सुना हो जिसमें सार्त्र कहता है। "दि अदर इज हेल।" दूसरा नरक है। दूसरे के कारण नरक है। जहां दूसरा है वहां कलह है। दूसरे की मौजूदगी ही कलह है। तो एक तो उपाय है, सस्ता उपाय, कि तुम दूसरे को छोड़कर भाग जाओ; लेकिन यह बड़ा सस्ता उपाय है, कहीं ज्यादा भाग न सकोगे!

मैंने सुना है एक आदमी भाग गया। वह जा कर बैठा एक झाड़ के नीचे बड़ा निश्चिंत कि अब यहां पत्नी भी नहीं, बेटे भी नहीं, अब कोई सताने वाला नहीं, अब परम ध्यान करूंगा! एक कौए ने आ कर बीट कर दी। वह खड़ा हो गया नाराजगी में। उसने कहा: "हद हो गई! घर-द्वार छोड़ कर आये, यह कौआ आ गया।"

दूसरा तो कहीं भी मौजूद हो जायेगा। जब तक कि दूसरे का भाव ही न मिट जाये, जब तक कि दूसरे में दूसरा दिखाई पड़ना ही बंद न हो जाये--तब तक नरक जारी रहेगा।

तुमने कभी खयाल किया, तुम अकेले बैठे हो अपने कमरे में--निश्चिंत भाव से, विश्राम की एक दशा में--अचानक किसी ने द्वार पर दस्तक दी, दस्तक होते ही तनाव पैदा हो जाता है। वह विश्राम गया। कोई मेहमान

आ गये। अब तुम कहते जरूर हो कि देखकर आपको बड़े दर्शन हुए, बड़ा आनंद हुआ, गदगद हो गये! मगर तुम्हारे चेहरे से गदगदपन बिलकुल पता नहीं चलता, न तुम्हारी आंखों में कुछ स्वागत दिखाई पड़ता है। कहते हो लोकाचार के लिए। बिठा भी लेते हो।

मुल्ला नसरुद्दीन के घर ऐसे ही एक दिन एक मेहमान आ गये। बकवासी हैं। वे घंटों बकवास करते हैं। मुल्ला ऊबने लगा। कई तरह से बहाने किए, कई दफा घड़ी देखी; मगर वे कुछ...! कई दफा जम्हाई ली। मगर जो दूसरों को उबाने में कुशल हो जाते हैं वे इन बातों की चिंता ही नहीं करते। वे तो प्राणपण से अपने कार्य में लगे रहते हैं। वह तो लगा ही रहा, लगा ही रहा। आखिर मुल्ला ने कहा कि अब रात हुई जा रही है, आपको घर पहुंचने में देर होगी। तो बड़ी मजबूरी में वह उठा। उसने कहा कि हां, बात तो ठीक है, पत्नी भी राह देखती होगी, अब मैं चलूं। मुल्ला बड़े प्रसन्न हुए। वह उठा, दो कदम लिए, टेबल के पास पहुंच कर एक किताब उठाकर देखने लगा। मुल्ला ने कहा, फिर एक झंझट! किताब उलट-पुलट कर उसने वहां रखी किताब, फिर पैंतरा बदला और वापिस लौट आया और उसने कहा कि याद आता है कुछ कहना चाहता था! मुल्ला ने कहा: "शायद नमस्ते तो नहीं कहना चाहते?"

लोग हैं, जिन्हें इसकी जरा भी चिंता नहीं, जिन्हें इसका बोध ही नहीं कि कोई अकेला हो तो उसका अकेलापन मत छेड़ो, मत खराब करो। पूरब में तो यह धारणा ही नहीं है। पश्चिम में थोड़ा बोध पैदा हुआ है कि कोई अकेला हो तो उसका अकेलापन मत छेड़ो। यह अत्याचार है, अतिक्रमण है। यहां तो कोई इस बात का खयाल ही नहीं है।

क्यों किसी के अकेलेपन को खंडित करना अनाचार है, अनीति है? इसलिए कि अकेलेपन में ही थोड़ा विश्राम है। जैसे ही दूसरा आया कि विश्राम गया। जैसे ही दूसरा मौजूद हुआ कि दूसरे की मौजूदगी तनाव की तरंगें पैदा करने लगती है। तुम स्वस्थ नहीं रह जाते। तुम सरल नहीं रह जाते। कभी-कभी तुम्हारे बाथरूम में तुम थोड़े सरल होते हो--अकेले! लेकिन अगर तुम्हें पता चल जाये कि कोई कुंजी के छेद से झांक रहा है तो तत्क्षण सब सरलता खो जाती है। हो सकता है क्षण भर पहले तुम आईने में मुंह बिचका रहे थे और मजा ले रहे थे या कोई बचपन की धुन गुनगुना रहे थे; मगर पता चल जाये कि कोई, तुम्हारा बेटा ही, छोटा बेटा ही झांक रहा है कुंजी के छेद से, तो भी तुम रुक गये, तुम सरल न रहे, स्वाभाविक न रहे।

हमारे जीवन का अधिकतम तनाव यही है कि दूसरे की आंख हमें बेचैन कर देती है और दूसरे की आंख हमें मुखौटा ओढ़ने के लिए मजबूर कर देती है। तो जो हम नहीं हैं वह दिखलाना पड़ता है। जैसे हम नहीं हैं वैसा बतलाना पड़ता है। मुस्कुराहट नहीं आ रही है तो खींच-खींच कर लानी पड़ती है। जो नहीं कहना है, कहना पड़ता है। जो भीतर की सरलता और सहजता है, उसे रोकना पड़ता है। और हम भीड़ में ही जीते हैं चौबीस घंटे, तो धीरे-धीरे हमें अपना वास्तविक चेहरा ही भूल जाता है; यही मुखौटे याद रह जाते हैं। दफ्तर जाओ तो मालिक के सामने एक मुखौटा ओढ़ो।

तुमने खयाल किया कि जब तुम दफ्तर जाते हो और चपरासी को पार करते हो, तब तुम एक मुखौटा ओढ़े होते हो चपरासी के पास से गुजरते वक्त! और जब मालिक के कमरे में प्रवेश करते हो, तत्क्षण मुखौटा बदला! अब तो प्रक्रिया इतनी यंत्रवत हो गई है कि तुम्हें पता ही नहीं चलता; जैसे आदमी, होशियार ड्राइवर, गेयर बदलता है, कुछ पता नहीं चलता, बैठने वाले यात्री को भी पता नहीं चलता। तुम गेयर बदलते रहते हो। चेहरा बदल लिया। चपरासी के पास से ऐसे अकड़ कर निकले थे जैसे वह कोई तुच्छ कीड़ा-मकोड़ा है। तब एक चेहरा था। मालिक के सामने खुद ही कीड़े-मकोड़े हो गये, पूंछ हिलाने लगे। एकदम चेहरा बदल लिया।

मुल्ला नसरुद्दीन के पास एक आदमी मिलने आया। नसरुद्दीन को पता नहीं, कौन हैं। तो उसने यह भी नहीं कहा कि बैठिए। हर किसी से तो कोई नहीं कह देता कि बैठिए। लोग तो हिसाब से चलते हैं। उस आदमी ने कहा, शायद आपको पता नहीं कि मैं कांग्रेस का नेता हूं, एम. पी. हूं। मुल्ला ने कहा: "अरे बैठिए, कुर्सी पर बैठिए।" उठ कर खड़ा हो गया। "आइये, बड़ी खुशी हुई!" वह आदमी बोला कि आपको यह भी पता नहीं कि

शीघ्र ही मैं कैबिनेट में लिया जाने वाला हूं। तो मुल्ला ने कहा: "अरे दो कुर्सी पर बैठिए! एक से कैसे काम चलेगा!"

आदमी को देख कर चौबीस घंटे हम चेहरे बदलते हैं। घर आये तो पत्नी को देख कर एक चेहरा, बेटे को देखकर एक चेहरा। इन सब चेहरों की भीड़ में हमें भूल ही जाता है कि असली चेहरा क्या है।

झेन फकीर अपने साधकों को कहते हैं: सबसे पहले अपना असली चेहरा खोजो, ओरिजिनल फेस! तब काम शुरू होगा। ये झूठे चेहरों से काम नहीं चलेगा, क्योंकि झूठे चेहरों से तुम परमात्मा तब नहीं पहुंच सकते हो। असली चेहरा खोजो। असली चेहरा--जो जन्म के पहले तुम्हारे पास था और मौत के बाद फिर तुम्हारे पास होगा! यह बीच की भीड़ हटाओ।

असली चेहरा! असली चेहरा तो सिर्फ एकांत में ही खुलता है। लेकिन हम एकांत को बिलकुल भूल गये हैं और परम एकांत तो तभी उपलब्ध होता है जब हमें यह पता चल जाये कि एक ही है। फिर कोई चेहरा नहीं बदलना पड़ता। इसलिए संत पुरुष बालवत हो जाता है, छोटे बच्चे जैसा हो जाता है। यहां कोई दूसरा है ही नहीं, छिपाना किससे है! बचाना किससे है! धोखा किसको देना, कपट किससे करना! कूटनीति कैसी! राजनीति कैसी! यहां एक ही है।

यह तो ऐसे हुआ कि अपने बांयें हाथ से दायें हाथ को कोई धोखा दे। ऐसे लोग भी हैं कि बायें हाथ से दायें हाथ को धोखा दे लें।

तुमने कभी किसी को ट्रेन में देखा। मैं अक्सर यात्रा करता था तो मुझे कई दफे ऐसा मौका आ जाता कि सज्जन अकेले ही ताश खेल रहे हैं, दोनों तरफ से चाल चल रहे हैं और इसमें भी सोच रहे हैं कि जीत़हार होगी। अब हद हो गई। अब तुम्हीं खेल रहे हो दोनों तरफ से, तुम्हें दोनों चालें पता हैं--तुम किसको धोखा दे रहे हो? और बायां हाथ जीता कि दायां हाथ जीता, क्या फर्क पड़ेगा! कौन जीता, कौन हारा! लेकिन व्यस्त हैं।

जीवन हमारा एक प्रवंचना है। और प्रवंचना का मूल कारण यह है--दूसरे की मौजूदगी। अब दूसरे की मौजूदगी हटाने के दो उपाय हैं। सस्ता उपाय है कि तुम जंगल भाग जाओ, वह काम नहीं आता है। अष्टावक्र कहते हैं: एक गहरा उपाय है और वह है कि तुम अपने को पहचान लो और अपनी पहचान से तुम्हें पता चल जाये कि तुम्हीं सबके भीतर व्याप्त हो। एक ही है। यह मैं और तू में जो प्रगट हो रहा है, बायें-दायें हाथ की तरह है। ये एक ही अस्तित्व के दो पंख हैं। फिर कोई धोखा नहीं है। फिर तुम निर्दोष हो जाओगे।

"हंत, तत्वज्ञानी इस जगत में कभी खेद को नहीं प्र्राप्त होता, क्योंकि उसी एक से यह ब्रह्मांड-मंडल पूर्ण है।"

फिर खेद कैसा! खेद है दूसरे से। दुख है दूसरे की मौजूदगी में; क्योंकि दूसरे की मौजूदगी हमें सीमित करती है, और दूसरे की मौजूदगी हमें झूठे व्यवहार के लिए मजबूर करती है, और दूसरे की मौजूदगी हमारी छाती पर पत्थर की तरह पड़ जाती है।

दूसरा है तो दुख है। अब दूसरे को कैसे मिटा दें! हम उपाय करते हैं जिंदगी में कई तरह से दूसरे को मिटाने के। तुम चाहे जान कर करते हो, चाहे अनजाने। तुमने देखा, पति चेष्टा करता है पत्नी को बिलकुल मिटा दे; उसका कोई अस्तित्व न रह जाये; दासी बना दे। पतियों ने समझाया है सदियों से कि हम परमेश्वर हैं, तुम दासी! पत्नियां भी कहती हैं कि ठीक। चिट्ठी वगैरह लिखती हैं तो उसमें लिखती हैं आपकी दासी। मगर उसका जो बदला लेती हैं, चौबीस घंटे पति को दिखलाती रहती हैं कि समझ लो कौन है दास! कि आप तो परमेश्वर हो, कहती यही हैं और खींचती रहती हैं टांग।

एक दिन मुल्ला और उसकी पत्नी में झगड़ा हो गया। भागी पत्नी मुल्ला के पीछे; जैसी उसकी आदत है मार दे, चीजें फेंक दे। तो वह घबड़ा कर जल्दी से बिस्तर के नीचे घुस गया। तो पत्नी ने कहा: "निकल बाहर, कायर कहीं का!" मुल्ला ने कहा: "छोड़, कौन मुझे निकाल सकता है! इस घर का मालिक मैं हूं, जहां मर्जी होगी वहां बैठेंगे। देखें कौन मुझे निकालता है!" पत्नी है जरा मोटीत्तगड़ी, वह बिस्तर के नीचे घुस नहीं सकती।

पत्नी की पूरी चेष्टा है पति को मिटा दे। क्यों? यह चेष्टा क्यों है? इसके पीछे बड़ा गहरा कारण है। दूसरे की मौजूदगी खतरनाक है और दूसरा है तो डर है कि कहीं वह मालिक न हो जाये; इसके पहले कि वह मालिक हो जाये, उसे गुलाम बना दो, उसकी गर्दन दबा दो!

बच्चा तुम्हारे घर में पैदा होता है, कहते हो तुम बच्चे को तुम प्रेम करते हो; लेकिन मां-बाप दोनों मिल कर बच्चे को मिटाने में लग जाते हैं। जल्दी लीप-पोत कर इसको खत्म कर दो--इसके पहले कि यह उदघोषणा करे अपने स्वातंत्र्य की, अपनी स्वच्छंदता की! तुम कहते हो, हम प्रेम करते हैं; लेकिन तुम्हारे प्रेम में कुछ बहुत सचाई नहीं है। तुम प्रेम के नाम पर ही जहर पिलाते हो। पत्नी भी पति से कहती है कि हमें तुमसे प्रेम है। अगर प्रेम है तो मुक्त करो! प्रेम सदा मुक्त करता है। पति भी कहता है कि मुझे तुमसे प्रेम है। यह प्रेम तो लगता है कि ओट है, इस ओट में ही जहर का सारा खेल चलता है। यह तो ऐसा लगता है कि प्रेम की शक्कर में भीतर जहर छिपाया हुआ है। गटक जाओ प्रेम के नाम से और मरो! बच्चे को हम मार डालते हैं। बाप कोशिश करता है, मां कोशिश करती है, परिवार कोशिश करता है, कि बस बच्चे में कोई स्वतंत्रता न हो। इसलिए हम आज्ञाकारिता को बड़ा मूल्य देते हैं। आज्ञाकारिता का अर्थ: "तुम अपने जैसे मत होना; हम जैसे कहें वैसे होना!" तुम्हारे बाप तुम्हें मार गये, तुम इनको मार डालना। ये अपने बेटों को मारेंगे। ऐसे सदियां-सदियां, पीढ़ियां एक-दूसरे को मारती चली जाती हैं और आदमी बिलकुल मुर्दा है। पीछा ही नहीं छूटता।

अगर तुम्हें बच्चे से प्रेम है, सच में प्रेम है, तो तुम बच्चे को स्वीकार करोगे कि तेरी स्वतंत्रता स्वीकार है, अंगीकार है। और यह अन्याय तुम न करोगे क्योंकि तुम जरा ताकतवर हो तो इसकी गर्दन घोट दो।

खलील जिब्रान ने कहा है: प्रेम देना, मगर अपने सिद्धांत मत देना। प्रेम देना, मगर अपना शास्त्र मत देना। प्रेम करना, लेकिन स्वतंत्रता मत छीन लेना। क्योंकि स्वतंत्रता छीन ली तो प्रेम हो ही नहीं सकता। प्रेम स्वतंत्रता देता है। प्रेम का सबूत ही एक है: स्वतंत्रता। प्रेम दूसरे को स्वीकार करता है अपने ही जैसा। प्रेम दूसरे में अपने को ही देखता है।

अपने को तो तुम सदा स्वतंत्र देखना चाहते हो या नहीं? अपने को तो तुम चाहते हो परम स्वातंत्र्य मिले। तो जिससे तुम्हारा प्रेम है उसको भी तुम परम स्वतंत्रता देना चाहोगे। मगर हम हजार तरह से मिटाने की कोशिश करते हैं, क्योंकि हम डरे हुए हैं। इसके पहले कि हमने अगर न मिटाया, कहीं दूसरा हमें न मिटाने लगे! कहीं दूसरा हमारी छाती पर सवार न हो जाये!

हम कंप रहे हैं। हमारे कंपन का कारण क्या है? क्योंकि दूसरा है। और दूसरे को मिटाने का एक उपाय तो यह है कि दूसरे की गर्दन दबा दो। एक तो उपाय हिटलर का है कि मार डालो दूसरे को, मिटा दो बिलकुल, हत्या कर दो; न रहेगा दूसरा, न दूसरे की कोई अड़चन रहेगी। एक उपाय बुद्ध का है कि दूसरे में झांक कर देख लो और अपने को ही पा लो। न तो मिटाना पड़ता है, न हिंसा करनी पड़ती है, न विध्वंस करना पड़ता है। दूसरे में अपनी ही झलक मिल जाती है। फिर दूसरा नहीं रह गया। और जिसके जीवन में दूसरा नहीं रहा--अष्टावक्र कहते हैं--उसके जीवन में खेद नहीं रहा, उसके जीवन में कोई दुख न रहा।

अगर तुम इस एक की हवा को थोड़ा चलने दो, तुम्हारे जीवन में वसंत आ जाये, तुम्हारे जीवन में बड़ी सुरभि आ जाये!

चल पड़ी चुपचाप
सन सन सन हुआ
डालियों को यों
चितानी-सी लगी
आंख की कलियां
अरी खोलो जरा
हिल स्व-पत्तियों को
जगानी-सी लगी

पत्तियों की चुटकियां
झट दीं बजा
डालियां कुछ
ढुलमुलाने-सी लगीं
किस परम आनंद
निधि के चरण पर
विश्व सांसें, गीत
गाने-सी लगीं
जग उठा
तरु-वृंद जग
सुन घोषणा
पंछियों में चहचहाहट
मच गई
वायु का झोंका
जहां आया वहां
विश्व में क्यों
सनसनाहट मच गई!

जैसे सुबह हवा आती है, फूलों को जगा देती है, पत्तियों को छेड़ देती है, हजार गीत उठा देती है, सोयेपन को गिरा देती है, सपने बिखेर देती है--एक जाग आ जाती है सारे जगत में! ठीक ऐसी ही, अगर तुम एक को देख लो तो तुम्हारे जीवन में एक अपूर्व गंध उठेगी, एक अपूर्व पवन आ जायेगा! तुम्हारी गंदगी, तुम्हारी बंधी हुई हवा, सड़ी हुई हवा से छुटकारा हो जायेगा। तुम्हारी सीमा गई। जहां तुमने एक को देखा, असीम आने लगा, असीम की लहरें आने लगीं। उन असीम की लहरों में ही सुख है, शांति है, चैन है।

चिति क्षिति है अद्वैत
द्वैत में केवल उनका दर्शन
रूप-अरूप नहीं प्रतिद्वंद्वी
बंधा बिंब से दर्पण
अचिर भूत में
व्यक्त भूति में
चिर अवधूत निरंजन
शब्द-मुक्त पर शब्द-युक्त है
चिंत्य अचिंत्य चिरंतन
सत्य शिवम् है
सत्य सुंदरम्
संज्ञा स्वयं विशेषण
व्यर्थ व्याकरण
नांत शांत का
क्या होगा संबोधन
अचिर भूत में,
व्यक्त भूति में,
चिर अवधूत निरंजन!
एक ही छिपा है!
रूप-अरूप नहीं प्रतिद्वंद्वी
बंधा बिंब से दर्पण!

हम और तुम ऐसे बंधे हैं जैसे बिंब का दर्पण, दर्पण का बिंब। तुम खड़े हो जाते हो दर्पण के सामने, तुम अलग दिखाई पड़ते हो, दर्पण में बनता प्रतिबिंब अलग दिखाई पड़ता है; तुम हट जाओ, प्रतिबिंब हट गया! तुम और तुम्हारा प्रतिबिंब दो नहीं हैं; एक ही है।

रूप-अरूप नहीं प्रतिद्वंद्वी
बंधा बिंब से दर्पण!

जैसे तुम्हारा प्रतिबिंब तुमसे बंधा है, ऐसे ही परमात्मा संसार से बंधा है; देह आत्मा से बंधी है; मैं तू से बंधा है। यहां जहां तुम्हें द्वैत दिखाई पड़ रहा है--रात दिन से बंधी है, जीवन मौत से बंधा है। यहां सब बंधा है, इकट्ठा है। थोड़े गौर से देखोगे तो तुम एक को ही पाओगे। उस एक को पा लेने वाला व्यक्ति ही खेद के बाहर हो जाता है।

"जैसे सल्लकी के पत्तों से प्रसन्न हुए हाथी को नीम के पत्ते नहीं हर्षित करते हैं, वैसे ही ये कोई भी विषय आत्मा में रमण करने वाले को कभी नहीं हर्षित करते हैं।"

न जातु विषयाः केऽपि स्वारामं हर्षयन्त्यमी।
सल्लकी पल्लव प्रीतमिवेमं निम्बपल्लवाः।।

जैसे सल्लकी के मीठे पत्तों को हाथी ने चबा लिया हो तो अब तुम लाख उपाय करो; तुम नीम के कड़वे पत्ते चबाने को उसे राजी न कर सकोगे। जिसने स्वाद ले लिया ऊपर का वह नीचे से फिर राजी नहीं होता। जिसने थोड़ा राम का रस ले लिया, काम में उसे रस नहीं आता। जिसे थोड़ी समाधि की झलक मिलने लगी, संभोग व्यर्थ होने लगता है। जिसे थोड़ी ध्यान की हवा आने लगी, धन की पकड़ छूटने लगती है। लेकिन खयाल रखना, विराट पहले आता है, क्षुद्र पीछे जाता है।

"जैसे सल्लकी के पत्तों से प्रसन्न हुए हाथी को नीम के पत्ते नहीं हर्षित करते...।"

अब हमारी हालत उलटी हो गई है। तुम्हारे तथाकथित साधु-महात्मा तुम्हें समझाते हैं: छोड़ो संसार को अगर परमात्मा को पाना है। मैं तुमसे कहता हूं: परमात्मा को पाओ अगर संसार को छोड़ना है। फर्क ठीक से समझ लेना। तुमसे कहा जाता है कि व्यर्थ को छोड़ो अगर सार्थक को पाना है। मैं तुमसे कहता हूं: सार्थक का थोड़ा अनुभव करो अगर व्यर्थ को छोड़ना है। व्यर्थ को छोड़ने को तुम्हें राजी किया ही नहीं जा सकता। जिसने सिर्फ नीम के पत्ते ही चखे हों और सल्लकी के स्वादिष्ट पत्तों का जिसे कुछ पता न हो, उससे तुम लाख कहो, उसे भरोसा नहीं आता। उसने तो एक ही स्वाद जाना है; दूसरा हो भी सकता है, यह बात मन में बैठती ही नहीं, श्रद्धा नहीं उपजती। तुम कितना ही कहो, उसे ऐसा ही लगता है कि "लगता है तुम्हारी नीम के पत्तों पर नजर है, मुझसे छीन कर तुम कब्जा कर लोगे या कुछ...क्या इरादा है तुम्हारा भगवान जाने! क्यों मेरे पीछे पड़े हो?" और अगर वह छोड़ भी दे नीम के पत्ते, तो भी नीम के पत्तों की जो उसकी आदत पड़ गई है, कड़वेपन का जो अभ्यास हो गया वह इतनी आसानी से न छूट जायेगा। नीम के पत्ते छोड़ भी देगा तो रात सपने में नीम के पत्ते ही खायेगा, विचार में नीम के पत्ते छाया डालेंगे, बच न सकेगा। ऊपर-ऊपर से भागा रहेगा तो भीतर-भीतर से जुड़ा रहेगा। नहीं, क्रांति ऐसे नहीं घटती।

मेरे पास लोग आते हैं। वे कहते हैं: "हम तो भोगी हैं। हम कैसे संन्यास में उतरें?" मैं उनसे कहता हूं: तुम फिक्र छोड़ो, भोग तुम जानो। तुम संन्यास में उतरो, संन्यास में अगर स्वाद लग जायेगा, अगर सल्लकी के पत्तों में रस आने लगा तो फिर तुम सोच लेना। फिर नीम के पत्ते तुम्हें छोड़ने या नहीं छोड़ने, वह भी तुम जानो; मैं क्यों तुम्हारी पंचायत में पड़ूं! तुम्हें नीम के पत्ते छोड़ने चाहिए, यह भी मैं क्यों कहूं! अगर सल्लकी के पत्तों का स्वाद छुड़ा दे तो ठीक; अगर न छुड़ाये तो ठीक। लेकिन ऐसा कभी हुआ नहीं। जैसे ही तुम्हें स्वादिष्ट का अनुभव हो जाता है वैसे ही कड़वे को तुम छोड़ने लगते हो। मैं तुम्हारी झोली हीरे-मोतियों से भर देना चाहता हूं। मैं यह नहीं कहता कि तुम्हारी झोली में तुम जो कंकड़-पत्थर सम्हाले हो, उनको फेंको। तुम खुद ही फेंकने लगोगे। एक

बार तुम्हें दिखाई भर पड़ जायें हीरे-जवाहरात, तुम एकदम झोली खाली कर दोगे; क्योंकि वही जगह तो फिर हीरे-जवाहरात से भरनी होगी। तुम कंकड़-पत्थर पकड़े बैठे न रहोगे।

परमात्मा को पहले पुकारो--संसार अपने से चला जाता है। उसकी तुम चिंता ही न लो। संसार को छोड़ने में लगे तो बड़ी झंझट में पड़ जाओगे। सुख तो मिलेगा ही नहीं; वह जो दुख मिल रहा था, वह भी न मिलेगा। और ध्यान रखना, आदमी खाली रहने से दुखी रहना पसंद करता है। यह तुम्हें बहुत हैरानी का लगेगा, लेकिन आधुनिक मनोविज्ञान की गहरी निष्पत्तियों में एक निष्पत्ति यह भी है कि आदमी खाली होने की बजाय दुखी होना पसंद करता है, कम से कम कुछ तो है। कुछ तो है, भरे तो हैं--दुख से सही!

तुमने कभी खयाल किया, अगर जीवन में कोई समस्या न हो तो तुम बड़े उदास होने लगते हो। तुम कोई समस्या पैदा कर लेते हो। समस्या पैदा हो जाती है तो तुम उलझ जाते हो; कुछ काम मालूम पड़ता है, व्यस्तता मालूम पड़ती है। लगे तो हो! खाली बैठे आदमी घबड़ाने लगता है--कुछ भी नहीं! कुछ भी नहीं हो तो ऐसा लगने लगता है: मैं भी कुछ नहीं! करने से, कृत्य से अपनी कुछ परिभाषा बनती है, अपना कुछ व्यक्तित्व निर्मित होता है। चलो यह हर्जा नहीं, अस्पताल में पड़े हैं, बीमार हैं, दुखी हैं, पागल हैं--मगर कुछ तो हैं।

मनोवैज्ञानिक कहते हैं कि खालीपन की बजाय आदमी पागलपन पसंद कर लेता है, क्योंकि पागलपन में आखिर कुछ तो रूपरेखा है, सब खो तो नहीं गया। लोग इतना तो कहते हैं कि यह आदमी पागल है। पागलखाने में तो हैं। डाक्टर आकर फिक्र तो करता है। मित्र आकर संवेदना तो बतलाते हैं। लोग बात तो गौर से सुनते हैं। कुछ भी नहीं, ना-कुछ, शून्यवत--स्थिति बहुत घबड़ाती है! प्राण बहुत तड़पते हैं।

मैं इसलिए तुमसे कहता हूं: दुख तुम छोड़ न सकोगे, जब तक तुम्हें सुख का स्वाद न लग जाये। सुख का स्वाद न लगा तो मैं तुमसे दुख छीनना भी नहीं चाहता, क्योंकि दुख तुम्हारी संपदा है अभी। अभी उसको छाती से लगाये तुम बैठे हो। अभी कुछ तो है, तुम एकदम खाली तो नहीं। तुम एकदम शून्य में तो नहीं पड़ गये, रिक्त तो नहीं हो गये हो। चलो धन सही, मकान सही, परिवार सही--कुछ तो पकड़े बैठे हो! हाथ में कुछ तो है। राख ही सही--तुम चाहे उसको विभूति कहो--राख ही सही, विभूति कह लो उसको, अच्छे नाम रख लो उसके, मगर हाथ में कुछ तो है! नाव कागज की सही, मगर नाव तो है; नाव जैसी तो लगती है कम से कम! डूबेगी तब डूबेगी, मगर अभी तो नाव का भरोसा है। सपना सही, जब टूटेगा तब टूटेगा; मगर अभी तो सहारा है, अभी तो इसके सहारे को पकड़ कर तैरे चले जाते हैं। अभी तो मत छीनो।

जब तक तुम्हें सत्य न मिल जाये, सपना तुमसे छीना भी नहीं जाना चाहिए। और परम ज्ञानी सदा यही चेष्टा करते रहे हैं: सत्य पहले, फिर असत्य अपने से चला जायेगा।

ऐसा समझो कि कमरे में अंधेरा है। एक तो उपाय है कि अंधेरे को धक्के दे-दे कर निकालो तुम, पगला जाओगे, निकलेगा न अंधेरा। दूसरा उपाय है: दीया लाओ, जलाओ रोशनी, अंधेरा अपने से निकल जाता है।

"जो भोगे हुए भोगों में आसक्त नहीं होता है और अनभोगे भोगों के प्रति निराकांक्षी है, ऐसा मनुष्य संसार में दुर्लभ है।"

दुनिया में दो चीजें आदमी को पकड़े हुए हैं--एक तो भोगे हुए भोग। जो तुमने भोग लिया उसका स्वाद लग जाता है। जो तुमने भोग लिया उसकी पुनरुक्ति करने की आकांक्षा पैदा होती है--फिर मिले सुख, फिर मिले सुख, फिर से ऐसा हो! तो एक तो भोगा हुआ सुख पकड़ता है। भोगा हुआ सुख यानी अतीत। और एक अनभोगे सुख की आकांक्षा पकड़े रहती है। अनभोगा सुख यानी भविष्य। जो भोग लिया उसकी पुनरुक्ति चाहता है मन और जो अभी भोगा नहीं वह भी भोगने को मिले; इसकी वासना है। इन दो के बीच आदमी पिसता है। दो पाटन के बीच--ये दो पाट हैं--साबित बचा न कोय! एक तो जो भोग लिया है, वह बार-बार पीछा करता है कि फिर भोगो। और एक जो अभी नहीं भोग पाये, उसकी प्रबल आकांक्षा है कि मरने के पहले एक बार भोग लें।

"जो भोगे हुए भोगों में आसक्त नहीं और अनभोगे भोगों के प्रति निराकांक्षी है, ऐसा मनुष्य संसार में दुर्लभ है।"

यस्तु भोगेषु भुक्तेषु न भवत्यधिवासितः।
अभुक्तेषु निराकांक्षी तादृशो भव दुर्लभः।।

ऐसा मनुष्य संसार में खोजना बहुत दुर्लभ है जो दोनों पाटों से बच गया हो। और जो बच गया, उसने ही जीवन का सत्य जाना, उसने ही ज्ञान का फल चखा।

तो अतीत से छूटो, अतीत को समझो। जो भोग लिया, उसकी पुनरुक्ति में कुछ सार नहीं। क्योंकि भोग लिया, तब क्या मिला? भोग तो चुके, फिर कुछ मिला तो नहीं; हाथ तो खाली के खाली रहे। अब फिर उसी को भोगना चाहते हो! यह तो बड़ी बेहोशी है। और भोगने से कुछ नहीं मिला। जो आज भोगा हुआ हो गया है, वह भी कल अनभोगा हुआ था--उसको भोग कर देख लिया, कुछ नहीं पाया। अब दूसरे अनभोगे सुख के पीछे भाग रहे हो! बड़ा मकान बना लिया, अब उसमें कुछ सुख नहीं पा रहे हो, अब और बड़े मकान की सोच रहे हो!

मैंने सुना कि मुल्ला नसरुद्दीन एक सम्राट के घर नौकरी पर था। कमरा साफ कर रहा था सम्राट का। उसकी सुंदर शैया देखकर कई दफे मन लुभा जाता था उसका, कि एक दफा तो लेटकर देख लें! कैसा मजा सम्राट न लेता होगा! ऐसी गुदगुदी थी, मखमली थी, बहुमूल्य थी! सोने-चांदी से जड़ी थी! हीरे-जवाहरात लटके थे चारों तरफ। और उस दिन सम्राट दरबार में व्यस्त था तो उसने सोचा कि एक पांच मिनट लेट लें। लेट गया। लेटा तो झपकी लग गई। सम्राट आया कमरे में तो उसे बिस्तर पर लेटे देखा तो वह बहुत नाराज हुआ। उसे पचास कोड़े मारने का हुक्म दिया गया। कोड़े पड़ने लगे। हर कोड़े पर मुल्ला खूब जोर से खिलखिला कर हंसने लगा।

सम्राट बड़ा हैरान हुआ कि यह पागल है या क्या मामला है! होना चाहिए पागल। एक तो बिस्तर पर लेटा, जानते हुए कि यह अपराध है; और अब हंस रहा है! कोड़े पड़ने लगे और खून की धारें बहने लगीं, चमड़ी उखड़ने लगी और वह खिलखिला कर हंस रहा है! आखिर सम्राट ने पूछा कि "रुको, मामला क्या है? कोड़े पड़ते हैं, तू हंसता क्यों है?"

उसने कहा कि मैं इसलिए हंस रहा हूं कि मैं तो मुश्किल से पंद्रह मिनिट सोया, आपकी क्या गति होगी! पंद्रह मिनिट में पचास कोड़े! हिसाब तो लगाओ, मैं वही हिसाब लगा रहा हूं भीतर कि इस बेचारे की तो सोचो, आखिर में इसकी क्या गति होगी!

तुम जो सुख भोग लिए हो उनमें से कुछ पाया नहीं--सिवाय दुख के! जरा लौट कर देखो, तुम्हारे अतीत के चिह्नों को जरा गौर से देखो। घाव ही घाव हैं, पाया क्या? रस की आकांक्षा की थी, मिला कहां? अंगारे मिले! जल गये हो जगह-जगह, सारे प्राण जले पड़े हैं, छिदे पड़े हैं--और अब तुम उन भोगों की भी आकांक्षा कर रहे हो जो अभी नहीं भोगे। उनको तो देखो जो भोग रहे हैं! तुम उनको देखकर जरा चौंको, जागो। क्योंकि ऐसा तो कभी नहीं होगा कि कुछ अनभोगा न बचे। अगर तुम यह सोचते हो कि सब भोग लेंगे, सब, तभी जागेंगे तो तुम कभी नहीं जागोगे। क्योंकि जगत तो अनंत है। यहां तो ऐसा कभी नहीं हो सकता कि तुम कह सको: सब भोग लिए! थोड़ी तो बुद्धि का उपयोग करना होगा। थोड़ा विचार, थोड़ा ध्यान, थोड़ा देखना सीखना होगा!

"इस संसार में भोग की इच्छा रखने वाले और मोक्ष की इच्छा रखने वाले दोनों देखे जाते हैं। लेकिन भोग और मोक्ष दोनों के प्रति निराकांक्षी कोई विरला महाशय ही है!"

मेरे साथ अत्याचार!
प्यालियां अगणित रसों की सामने रख राह रोकी,
पहुंचने दी अधर तक बस आंसुओं की धार।
मेरे साथ अत्याचार!

हर आदमी यही कह रहा है कि मेरे साथ अत्याचार हो रहा है। इतने रस पड़े हैं और मुझे भोगने का मौका नहीं! इतने रस पड़े हैं और हर जगह दीवाल खड़ी है। और संतरी खड़े हैं, पहरा लगा है। हर जगह रुकावट है।

मेरे साथ अत्याचार!

प्यालियां अगणित रसों की सामने रख राह रोकी,

पहुंचने दी अधर तक बस आंसुओं की धार।

मेरे साथ अत्याचार!

नहीं, कोई तुम्हारे साथ अत्याचार नहीं कर रहा है। और ऐसा भी नहीं है कि प्यालियों को तुम तक कोई नहीं पहुंचने देता। हर रस की प्याली पहुंचते-पहुंचते आंसुओं की धार हो जाती है। कोई कर नहीं रहा है। असल में प्यालियों में आंसू ही भरे हैं। दूर से तुम्हारी वासना के कारण रसधार मालूम पड़ती है। जब पास आते हो, अनुभव में उतरते हो, तो सब आंसू हो जाते हैं। अपने जीवन को जरा देखो, तलाशो। तुम आंसुओं की धार ही धार पाओगे। और किसी ने कोई अत्याचार नहीं किया; किया है तो तुमने ही किया है।

उस दिन सपनों की झांकी में
मैं क्षण भर को मुस्काया था
मत टूटो अब तुम युग युग तक
हे खारे आंसू की लड़ियो!
बदला ले लो सुख की घड़ियो!
मैं कंचन की जंजीर पहन
क्षण भर सपने में नाचा था
अधिकार सदा को तुम जकड़ो
मुझको लोहे की हथकड़ियो!
बदला ले लो सुख की घड़ियो!

एक-एक छोटा-छोटा सुख कितने गहन दुख में उतार जाता है। जरा-जरा सा स्वर्ग कितने नरक दे जाता है।

उस दिन सपनों की झांकी में
मैं क्षण भर को मुस्काया था
सपनों की झांकी में!
मैं क्षण भर को मुस्काया था
मत टूटो अब तुम युग युग तक
हे खारे आंसू की लड़ियो!
बदला ले लो सुख की घड़ियो!

एक-एक सुख गहन बदला लेता मालूम पड़ता है। एक-एक सुख जब टूटता है तो गहरा विषाद छोड़ जाता है।

मैं कंचन की जंजीर पहन
क्षण भर सपने में नाचा था
अधिकार सदा को तुम जकड़ो
मुझको लोहे की हथकड़ियो!
बदला ले लो सुख की घड़ियो!

तुमने जो-जो सुख सोचा, वही-वही तुमसे बदला ले रहा है। तुमने जो-जो चाहा, मिल गया। मिल गया तो दुख है, नहीं मिला तो दुख है। तुमने चाहा तो बस दुख ही चाहा। मिले तो दुख, न मिले तो दुख। तुम अमीर हो जाओ तो दुखी रहोगे। अमीरों को देख लो! तुम गरीब रह जाओ तो दुखी होओगे। तुम कुंवारे रह जाओ तो दुखी होओगे, तुम विवाहित हो जाओ तो दुखी होओगे। तुम विवाहितों को देख लो! जीवन में तुम जरा हारे हुओं को देखो, जीते हुओं को देखो--सबको दुखी पाते हो। अगर तुमने कभी किसी आदमी को सुखी पाया होगा तो वह

वही आदमी है जो हार-जीत दोनों को छोड़ कर अलग खड़ा हो गया; जो द्रष्टा और साक्षी हो गया। न तो हारने वाले सुखी हैं, न जीतने वाले सुखी हैं--दोनों के पार जो अतिक्रमण कर जाता, वही सुखी है।

बुभुक्षुरिह संसारे मुमुक्षुरपि दृश्यते।
भोगमोक्ष निराकांक्षी विरलो हि महाशयः।।

ऐसा कोई विरला ही महाशय है! यह "महाशय" शब्द बड़ा प्यारा है। हमें इसके साथ-साथ एक और शब्द बना लेना चाहिए: क्षुद्राशय। अगर तुम्हारे मन में कोई वासना है तो तुम क्षुद्राशय हो गये; क्योंकि तुम्हारी वासना तुम्हें संकीर्ण कर देती है, तुम्हारा आशय छोटा हो गया, क्षुद्र आशय हो गये। जिसने धन चाहा, वह छोटा हो गया। उसकी चाह ही तो उसकी परिभाषा होगी। उसको तुम कैसे याद करोगे? ऐसे याद करोगे न--धनाकांक्षी! उसकी आकांक्षा धन की है, वह धन से भी छोटा हो गया। धन तो है ठीकरा; वह ठीकरे से गया-बीता हो गया। ठीकरों से गया-बीता ही तो ठीकरों को चाहेगा! किसी ने कुर्सी चाही, वह कुर्सी से छोटा हो गया। क्षुद्राशय! कुर्सी ही चाही न, तो कुर्सी से छोटा ही होगा, तो ही चाहेगा।

मनस्विद कहते हैं: पदाकांक्षी हीन-गं्रंथि से पीड़ित होते हैं। सभी राजनीतिज्ञ हीन-ग्रंथि से पीड़ित होते हैं। कभी अच्छी दुनिया होगी तो राजनीतिज्ञ राजधानियों में नहीं होंगे, पागलखानों में होंगे। उनका इलाज होगा। मैं तुमसे कहता हूं कि अगर पागल पागलखानों से छोड़ दिए जायें और राजनीतिज्ञ पागलखानों में रख दिए जायें, दुनिया बेहतर हो। क्योंकि किन्हीं पागलों ने इतना भयंकर नुकसान कभी नहीं किया; कोई पागल इतना पागल नहीं है जितना पदाकांक्षी पागल होता है।

मनस्विद कहते हैं: जितनी ही भीतर हीनता की ग्रंथि होती है, जितना ही इनफीरियारिटी काम्प्लेक्स होता है, जैसे ही लगता है कि मैं कुछ भी नहीं, उतना ही आदमी कम्पंसेट करना चाहता है, उतना ही आदमी जोर से दावा करना चाहता कि मैं यह, मैं यह! राष्ट्रपति! प्रधानमंत्री! मंत्री! कुछ न कुछ! गवर्नर! कुछ न कुछ मैं हूं! यह दावा करना चाहता है। यह दावा जब तक वह कर न ले, तब तक उसे चैन नहीं मिलता; उसकी हीन-ग्रंथि उसको कीड़े की तरह काटती रहती है। क्षुद्राशय!

महाशय कौन है? महाशय वही है जिसके जीवन में कोई ऐसी वासना नहीं है जो संकीर्ण कर दे; जो सभी आयामों में खुला है! महा-आशय: जिसका आशय महान है! और तुम चकित होओगे, अष्टावक्र कहते हैं: मोक्ष को भी चाहा तो भी क्षुद्राशय हो गये, क्योंकि मोक्ष की चाह भी तो चाह ही है। धन से बड़ी, माना; पद से बड़ी, माना--लेकिन मोक्ष की चाह भी आखिर चाह है। अचाह ही तुम्हें महाशय बनायेगी।

"कोई उदारचित्त ही धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, जीवन और मृत्यु के प्रति हेय और उपादेय का भाव नहीं रखता।"

कोई उदारचित्त! महाशय यानी उदारचित्त। क्षुद्राशय यानी संकीर्णचित्त। तुम उतने ही संकीर्ण हो जितनी संकीर्ण तुम्हारी वासना है। तुम्हारे हाथ में है। तुम उतना ही छोटा कारागृह बना सकते हो जितनी तुम्हारी वासना है। अगर तुम्हें मुक्त होना हो तो तुम सारी वासना को जाने दो। चाहो ही मत कुछ। तुम इसी क्षण मुक्त हो! मोक्ष की चाह नहीं होती; जब कोई चाह नहीं होती तब जो होता है वही मोक्ष है। मोक्ष वासना का बिंदु नहीं है; वासना का विषय नहीं है। वासना के तीर से तुम मोक्ष के लक्ष्य को संधान न कर सकोगे। मोक्ष कोई लक्ष्य ही नहीं है। मोक्ष तो महाशय होने की अवस्था है। विराट हो गया आशय, कुछ चाह न रही--जिस दिन चाह न रही उसी दिन तुम प्रभु हो गये। प्रभु विराजमान हो गया तुम्हारे भीतर। उस परम तृप्ति में स्वच्छ इंद्रियां हो जाती हैं। उस परम तृप्ति में तुम घर लौट आये, यात्रा समाप्त हुई।

जिसमें न धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, जीवन-मृत्यु के प्रति भी कोई हेय-उपादेय का भाव नहीं, वह कोई उदारचित्त विरला...।

धर्मार्थकाममोक्षेषु जीविते मरणे तथा।
कस्याप्युदारचित्तस्य हेयोपादेयता न हि।।

"जिसमें विश्व के नाश की इच्छा नहीं है और उसकी स्थिति के प्रति द्वेष नहीं है, वह धन्य पुरुष इसीलिए यथाप्राप्त आजीविका से सुखपूर्वक जीता है।"

वांछा न विश्वविलये न द्वेषस्तस्य च स्थितौ।
यथाजीविकया तस्माद्धन्य आस्ते यथासुखम्।।

वह धन्य है व्यक्ति जिसको कोई भी आकांक्षा नहीं है--न तो संसार रहे, इसकी; न संसार न रहे, इसकी। संसार के विनाश के लिए भी उत्सुक नहीं है।

अब तुम खयाल करना, जो आदमी मोक्ष की आकांक्षा कर रहा है वह संसार के विनाश में उत्सुक हो गया है। वह चाहता है: संसार न रहे; यह सब छूटे, यह जाल मिटे; यह सपना टूटे!

"जिसमें विश्व के नाश की इच्छा नहीं और उसकी स्थिति के प्रति द्वेष भी नहीं...।"

जैसा है ठीक है। जैसा है वैसा ही रहे, अन्यथा की कोई मांग नहीं है। ऐसा पुरुष धन्य है। जो मिल जाता है उसमें ही धन्य है। जो प्रभु दे देता है, उसमें ही धन्य है। जो मिला है, उसको प्रसादरूप ग्रहण कर लेता है। जो मिल गया है, वह पर्याप्त है।

"...इसलिए यथाप्राप्त से सुखपूर्वक रहता है।"

वह यह सोचता ही नहीं कि इससे ज्यादा मिले, और ढंग से मिले, थोड़ा भिन्न मिले। जो मिला है, उससे अन्यथा की पाने की कोई वासना नहीं है। ऐसी अवस्था है ज्ञानी की। ऐसी अवस्था है साक्षी की।

और इस साक्षी होने में कोई चीज साधनरूप नहीं है। इस साक्षी होने में साक्षी होना ही साधनरूप है। इस साक्षी होने के लिए तुम्हें कुछ आयोजन नहीं करना है। तुम जैसे हो, आयोजन पूरा है; बस आंख बंद करनी है। भीतर उठाना है इस गहन जिज्ञासा को: मैं कौन हूं? उस सबसे संबंध तोड़ते जाना है भीतर जो मैं नहीं हूं। अंततः वही बच रहेगा जो तुम हो और एक बार उसका स्वाद आ गया, वे स्वादिष्ट फल चख लिए, फिर नीम के कड़वे फलों की चखने की कोई आकांक्षा पैदा नहीं होती। जीवन का परम स्वीकार है इसमें।

अष्टावक्र की वाणी में निषेध नहीं है, नकार नहीं है। जो है, यही परिपूर्ण है। जो है, यही ब्रह्मरूप है। जो है, इसमें ब्रह्म का ही विस्तार है। तुम भी इस विस्तार के अंग बन जाओ। तुम भी अपनी सीमा छोड़ो, त्यागो, लीन बनो, एक बनो। एक बनो तो एकाकी। फिर तुम जहां भी रहो, जैसे भी रहो, जो यथाप्राप्त होगा, वही तुम्हारे लिए उत्सव ले आयेगा। तुम धन्य, तुम कृतज्ञ रहोगे! तुम्हारे जीवन से अहर्निश धन्यवाद उठता रहेगा। वैसे धन्यवाद के सतत उठते रहने से ही पहचाना जाता है कि कोई आदमी धार्मिक है। जैसे फूल से सुगंध उठती रहती है, दीये से प्रकाश झरता रहता है--ऐसे ही धार्मिक व्यक्ति के जीवन में धन्यवाद बरसता रहता है।

हरि ॐ तत्सत्!

पचासवां प्रवचन

रसो वै सः

पहला प्रश्न: काम, क्रोध, लोभ, मोह क्या समय की ही छायाएं हैं? समय का सार क्या है? कृपा करके हमें समझायें।

समय को दो ढंग से सोचा जा सकता है। एक तो घड़ी का समय है, वह तो बाहर है। उससे तुम्हारा कुछ लेना- देना नहीं है। एक तुम्हारे भीतर समय है। उस भीतर के समय से घड़ी का कुछ लेना-देना नहीं है। तो जब भी मैं कहता हूं कि वासना समय है, कामना समय है, तृष्णा समय है--तो तुम घड़ी का समय मत समझना। तुम्हारे भीतर एक समय है। जब हम कहते हैं, बुद्ध और महावीर कालातीत हो गये, तो ऐसा नहीं है कि घड़ी चलती होती है तो उनके लिए बंद हो जाती है। घड़ी तो चलती रहती है--भीतर की घड़ी बंद हो गयी। ध्यान में, समाधि में, भीतर का समय शून्य हो जाता है।

तो भीतर के समय को थोड़ा हम पहचान लें।

तुम जब सुख में होते हो तब तुमने देखा होगा घड़ी तो पुरानी ही चाल से चलती है, लेकिन तुम्हारे भीतर का समय जल्दी-जल्दी भागने लगता है। किसी प्रियजन से मिलना हो गया तो घंटे ऐसे बीत जाते हैं जैसे पल बीते। घड़ी तो अब भी वैसी ही चल रही है। जब तुम आनंद में होते हो तो समय सिकुड़ जाता है। जब तुम दुख में होते हो तो समय फैल जाता है। जैसे तुम्हारी मां मृत्यु-शैया पर पड़ी है और तुम उसके पास बैठे हो तो घड़ी-घड़ी ऐसी बीतती है जैसे सालों लंबी हो गयी। पल-पल सरकते मालूम पड़ते हैं, घसिटते मालूम पड़ते हैं। सुख में तो समय भागता मालूम पड़ता है। दुख में समय घसिटता मालूम पड़ता है; जैसे लंगड़ी चाल चलता हो। दुख में समय लंगड़ाता है, सुख में ओलंपिक के दौड़ने वालों की चाल से चलता है।

इसका अर्थ हुआ: अगर महासुख की घड़ी आ जाये तो समय इतना तेज हो जाता है कि पता ही नहीं चलता है कि चला। महासुख की घड़ी आ जाये तो समय का परिवर्तन पता नहीं चलता। दुख की घड़ी में, महादुख की घड़ी में बड़ी लंबाई हो जाती है।

कहते हैं, नरक अनंतकालीन है। वहां क्षण भी अनंत काल जैसा लगता होगा, क्योंकि बहुत कठिनाई से गुजरता होगा। स्वर्ग में सभी जल्दी भाग रहा होगा; क्षण भर में बीत जाता मालूम होता होगा। इतनी तेज चाल होगी। अगर महासुख की घड़ी आ जाये...।

महासुख का अर्थ है: जहां दुख भी न रह जाये और सुख भी न रह जाये। आनंद की घड़ी आ जाए--जहां दुख भी न रहा, सुख भी न रहा--तो न तो समय चलता, न दौड़ता। समय होता ही नहीं--कालातीत, समयातीत! समय-शून्य घड़ी आ जाती है। सब ठहर जाता है।

इस भीतर के समय को ही समझने की बात है। बाहर की घड़ी तो वैसे ही चलती रहेगी--तुम ज्ञानी हो जाओ, अज्ञानी हो जाओ; सुख में, दुख में; समाधि में। तुम ध्यान में बैठो, घंटों बीत जायें, आंख खोलो तो तुम्हें लगे कि कोई समय बीता ही नहीं; लेकिन घड़ी तो बतायेगी कि तीन घंटे बीत गये।

रामकृष्ण ध्यान में, गहरी समाधि में चले जाते थे। छह घंटे बीत गये। भक्त तो घबराने लगते, क्योंकि उनका शरीर बिलकुल ऐसा हो जाता जैसे पत्थर हो गया। वे किसी भीतर के लोक में खो गये। भक्त घबराने लगते कि लौटेंगे कि नहीं लौटेंगे, लौट पायेंगे कि नहीं लौटेंगे! एक बार तो छह दिन तक ऐसी ही दशा बनी रही। श्वास भी ऐसी लगे जैसे ठहर गयी। सब शून्य हो गया मालूम पड़ने लगा। भक्तों ने तो आशा छोड़ दी। जब वे लौटे तो भक्तों ने कहा: आपको पता है, छह दिन...? तो उन्होंने कहा: आश्चर्य है, क्योंकि मुझे तो ऐसा लगा अभी-अभी गया था, अभी-अभी लौट आया, क्षण भर भी नहीं बीता।

यह जो भीतर की प्रतीति है समय की, यह तृष्णा के कारण है। तुम्हारी जितनी तृष्णा होती है, भीतर समय का उतना ही विस्तार होता है। तृष्णा के फैलने के लिए समय की जगह चाहिए, नहीं तो तृष्णा फैलेगी कहां? बाहर जो घड़ी का समय है उसमें तो एक ही पल मिलता है एक बार; दो पल साथ नहीं मिलते। एक पल में क्या तृष्णा करोगे? एक पल में तो सिर्फ जी सकते हो, वासना नहीं कर सकते। वासना की कि पल तो गया। गीत गुनगुना सकते हो, लेकिन तैयारी नहीं कर सकते कि गीत गुनगुनायेंगे। क्योंकि अगर गीत गुनगुनाने की तैयारी की तो यह तो समय गया। इतनी देर रुकता कहां है! वह पल तो आया नहीं कि गया नहीं। इतनी फुर्सत कहां है! वर्तमान में तुम जी सकते हो, लेकिन जीने की योजना नहीं बना सकते।

इसलिए समस्त ध्यानियों ने कहा है: वर्तमान में जीओ, अभी और यहीं! इसके पार तुम्हारी कोई वासना न हो तो समय समाप्त हो गया। समय की जरूरत पड़ती है, क्योंकि हमें कल तो चाहिए ही। कल न होगा तो कैसे काम चलेगा? फिर कहां, किस कैनवास पर हम अपनी तृष्णा के चित्र फैलायेंगे? कल सुख होगा। आज दुख है, कल की आशा रखते हैं। कल सपना पूरा होगा। कल भी आज की तरह आयेगा; तब तुम फिर और आगे कल पर सपने को फैला दोगे। ऐसे तुम्हारा सपना फैलता जाता है--शून्य आकाश में!

भविष्य है थोड़े ही। जो है, वह तो वर्तमान है। जो गया, वह गया। जो आया नहीं, आया नहीं। अभी जो है, भविष्य और अतीत के बीच में जो छोटा-सा सेतु है, एक पल का--वही है। उस पल में डूब जाओ। जी सकते हो, लेकिन जीने की योजना नहीं बना सकते। सत्य को पा सकते हो, लेकिन सपना नहीं फैला सकते। सत्य तो यहीं खड़ा है द्वार पर, लेकिन तुम्हारी आंखें अगर सपनीली हैं और तुम सपने देख रहे हो, तो तुम्हें समय चाहिए। सपने को देखने के लिए समय चाहिए। सत्य को देखने के लिए समय की कोई भी जरूरत नहीं है। तो जितना बड़ा सपना होगा उतना ही ज्यादा समय चाहिए, उतना ही लंबा समय चाहिए।

तो जितनी वासना होती है उतना ही आदमी मौत से घबराता है। मौत से घबराने का क्या अर्थ होता है? मौत करती क्या है? मौत समय छीन लेती है। मौत करती क्या है? मौत भविष्य का दरवाजा बंद कर देती है। मौत मौका नहीं देती कि अब आगे और समय है। होशियार आदमियों ने और आगे की भी तरकीब निकाल ली है। वे कहते हैं, फिर जन्म होगा; फिर वासना फैलने लगी। इस जन्म में जो नहीं हुआ, अगले जन्म में कर लेंगे! क्या जल्दी है? फिर वासना ने नये अंकुर ले लिये, नये पत्ते खिलने लगे। उन्होंने मौत को भी झुठला दिया। वह जो मौत घबराहट लाती थी, वह भी मिटा दी। उन्होंने मौत में से भी रास्ता निकाल लिया। मौत का डर इसी बात का डर है कि मौत कहती है: अब आगे कल नहीं। जो कल को मिटा दे, उसी को तो हम काल कहते हैं। काल यानी मृत्यु। अब कल नहीं। प्राण घबड़ाने लगे। आज तो कुछ मिला नहीं। आज तो कभी मिला नहीं। आज तो ऐसे ही खाली गया। कल की ही आशा में जीते थे, वह आशा भी मौत ने छीन ली।

मौत तुमसे कुछ भी नहीं छीनती--सिवाय तुम्हारी आशाओं के। इसलिए जिस आदमी ने आशाएं छोड़ दी हैं, उससे मौत कुछ भी नहीं छीनती। फिर उसके पास छीनने को कुछ है ही नहीं। वह मौत के सामने खड़ा हो जाता है। जिस आदमी ने सपने छोड़ दिये, मौत का उस पर कोई प्रभाव नहीं है। क्योंकि मौत सिर्फ सपनों को मार सकती है, सत्य को नहीं; झूठ को मार सकती है, सच को नहीं। तो जिस आदमी के सपने नहीं हैं उसके लिए मौत का कोई भय न रहा; मौत समाप्त हो गयी, वह आदमी अमृत हो गया।

जैसे ही तुम सपने से छूटे, समय से छूटे। समय से छूटे कि अमरत्व को उपलब्ध हुए।

अब यहां भी खयाल रखना, साधारण वासनाग्रस्त आदमी की जो अमरता की धारणा है, वह भी गलत है। उसकी अमरता की धारणा है: खूब लंबा जीवन, कभी खतम न होने वाला जीवन! यह उसकी अमरता की धारणा है। वह कहता है: जीयेंगे, जीयेंगे; मरेंगे कभी नहीं। और आगे, और आगे, और आगे! उसकी अमरता की धारणा समय का फैलाव है। ज्ञानी जब अमरत्व की बात करता है तो उसका मतलब यह नहीं होता। उसका अर्थ यह नहीं होता कि लंबाई समय की। उसका अर्थ होता है समय की समाप्ति।

इसलिए ज्ञानी और अज्ञानी कभी-कभी एक ही भाषा बोलते हैं, लेकिन उनके अर्थ बिलकुल अलग-अलग होते हैं। ज्ञानी जब कहता है, अमर हो गये तुम, तो वह यह नहीं कह रहा है कि अब तुम सदा रहोगे। अब वह यह कह रहा है बस, वर्तमान ही तुम्हारा रहना है, और कोई रहना नहीं। इस क्षण में तुम हो। बस इतना काफी है। इससे ज्यादा की कोई जरूरत नहीं है। यह क्षण ही शाश्वत हो गया। कोई लंबाई नहीं है, गहराई है। इस क्षण में से ही तुम गहरे उतर गये। उस गहराई का कोई ओर-छोर नहीं है, पारावार नहीं है!

पूछा है तुमने: "काम, क्रोध, लोभ, मोह क्या समय की ही छायाएं हैं?"

समय की छाया सिर्फ काम है। चाहे काम को समय की छाया कहो या समय को काम की छाया कहो। ज्यादा उचित होगा कि समय काम की छाया है। अगर काम गिर जाता है तो समय गिर जाता है। अगर समय गिर जाये तो काम भी गिर जाता है। लेकिन प्रयास तुम्हें काम को गिराने से ही करना पड़ेगा। क्योंकि बहुत मूल में काम है, कामना है; कुछ चाहिए! जैसा मैं हूं वैसे से राजी नहीं हूं; कुछ और होना चाहिए! बस इसी में काम का बीज है। जो मुझे मिला, काफी नहीं; कुछ और मिलना चाहिए! जैसा जगत है वैसा नहीं; कुछ और अन्यथा होना चाहिए! मेरे सपनों के अनुकूल नहीं है। मेरा मन प्रफुल्लित नहीं।

रत्ती भर भी अतृप्ति है तो कामना उठ गयी। उसी कामना के फैलाव में समय भी उठ गया। ज्यादा अच्छा होगा कि हम कहें कि समय और काम एक ही सिक्के के दो पहलू हैं।

जब काम में, तुम्हारी कामना में कोई बाधा डालता है तो क्रोध पैदा होता है। तो क्रोध बहुत मौलिक नहीं है। काम बहुत मौलिक है। क्रोध तो उप-उत्पत्ति, बाइप्रोडक्ट है। तुम जो पाना चाहते थे, किसी ने बाधा डाल दी। तुम भागे चले जा रहे थे धन कमाने, कोई दुश्मन बीच में अड़कर खड़ा हो गया, किसी ने दीवाल बना दी या कोई तुमसे पहले झपट कर ले लिया, जो तुम लेने चले थे--क्रोध पैदा हुआ।

खयाल करना, क्रोध कब पैदा होता है? जब तुम्हारी काम की दौड़ में कहीं कोई अड़चन आ जाती है, कोई अड़चन डाल देता है। तो कभी-कभी तुम्हें ऐसी चीजों पर क्रोध आ जाता है कि तुम हंसोगे, खुद ही हंसोगे। तुम पत्र लिखने बैठे थे और फाउंटेन पेन ठीक नहीं चल रहा था, क्रोध में पटक दिया। फाउंटेन पेन को क्रोध में पटक रहे हो, पीछे खुद ही पछताओगे कि यह पारकर कलम खराब हो गयी, नुकसान लग गया। इसको पटकने से क्या अर्थ था? लेकिन बात तो प्रतीकात्मक है। तुम पत्र लिखने बैठे थे, अपनी प्रेयसी को पत्र लिख रहे थे, बड़ी कामना का जाल था, बड़े शब्द उतर रहे थे, कविताएं तैर रही थीं मन में--और यह कलम बीच में बाधा डालने लगी? यह कलम दुश्मन बनने लगी?

मैं एक सज्जन को जानता हूं जो क्रिकेट के दीवाने हैं। क्रिकेट का कहीं मैच चलता था, वे रेडियो पर बैठे सुन रहे थे। उनकी पार्टी हार गयी, रेडियो उठा कर पटक दिया! अब तुम्हारी पार्टी के हारने से और रेडियो के पटकने से कोई भी तो लेना-देना नहीं है। रेडियो का कोई कसूर भी नहीं है, मगर गुस्सा आ गया। कुछ और सूझा नहीं, वहां कुछ और था भी नहीं।

जो तुम चाहते हो वैसा न हो तो तुम अंधे हो जाते हो। फिर तुम यह देखते ही नहीं कि तुम क्या कर रहे हो। लोग वस्तुओं को गालियां देते हैं। कार स्टार्ट नहीं हो रही है, उसको गाली देते हैं। सोचते भी नहीं क्या कर रहे हैं। जैसे कि कार जान-बूझकर...तुम तो जा रहे हो दूकान और कार बीच में खड़ी हो गयी, चलती नहीं, गुस्सा आता है।

तुम अपने गुस्से को गौर से देखना। गुस्सा मौलिक नहीं है। कामवासना जहां भी अड़चन पाती है वहां क्रोध आ जाता है। कामवासना जो पा लेती है, उस पर मोह आ जाता है--कहीं छूट न जाये!

इसलिए मोह भी मौलिक नहीं है। तुमने धन पा लिया, फिर तुम उसको तिजोरी में बंद करके बैठ जाते हो। कहते हैं, लोग मर जाते हैं तो भी फिर धन पर सांप बन कर कुंडली मार कर बैठ जाते हैं। मर कर बैठते हों न बैठते हों, जिंदा में बैठे हुए हैं। कुंडली मार कर! कोई ले न जाये! मर जायेंगे मगर खर्च न करेंगे।

मुल्ला नसरुद्दीन का बेटा नदी में डूब रहा था--बाढ़ आयी नदी में। एक पुलिस वाले ने अपनी जान को जोखिम में डाल कर उसे बचाया। उसे लेकर घर गया। बेटा दौड़ता हुआ भीतर गया, पुलिस वाला खड़ा रहा कि शायद मां-बाप में से कोई आकर...कम से कम धन्यवाद तो देगा। नसरुद्दीन भीतर से आया और उस लड़के ने इशारा किया पुलिस वाले की तरफ। नसरुद्दीन ने कहा: क्या आपने ही मेरे बेटे को नदी में बचाया? पुलिस वाला प्रसन्न हुआ कि अब धन्यवाद देगा या कुछ भेंट देगा या कुछ पुरस्कार। उसने कहा: जी हां, मैंने ही बचाया, बड़ी खतरनाक हालत थी। उसने कहा: छोड़ो जी खतरनाक हालत, बेटे की टोपी कहां है?

वह टोपी कहीं बह गयी है। अब बेटे को बचाया, इसकी चिंता नहीं है, टोपी का मोह...।

कामवासना जो पा लेती है उस पर मोह मार कर बैठ जाती है। उसे छीन न ले कोई! बड़ी मुश्किल से तो पाया, बड़े द्वार-दरवाजे खटकाये, भीख मांगी, दर-दर भटके, राह-राह की धूल फांकी, किसी तरह से पाये, अब कहीं छूट न जाये! तो जो मिल जाता है, उसे आदमी भोगता तक नहीं, उस पर कुंडली मार कर बैठ जाता है।

इसलिए तुम अमीर से ज्यादा गरीब आदमी न पाओगे। गरीब तो भोग भी लेता है। उसके पास ज्यादा है नहीं कुंडली मारने को। कुंडली मारने के लिए कुछ चाहिए। मिल जाता है, रुपये-दो रुपये कमा लिये, मजा कर लेता है। है ही नहीं बचाने योग्य तो बचाना क्या? बचकर भी क्या बचेगा? लेकिन अमीर, जिसके पास है; वह नहीं भोग पाता; कृपणता पैदा होती है। और बचा लो, और बचा लो! यह भूल ही जाता है कि बचाया किसलिए था। जैसे बचाना ही लक्ष्य हो जाता है!

तो मोह भी बाइ-प्रोडक्ट, वह भी मौलिक नहीं है। फिर जो मिल गया, उतने से तृप्ति कहां होती है! तृप्ति तो होती ही नहीं। अतृप्ति का जाल तो फैलता ही चला जाता है। हजार मिल गये तो दस हजार चाहिए। दस हजार मिल गये तो लाख चाहिए। तुम्हारे और तुम्हारे मिलने के बीच अनुपात सदा वही रहता है। उसमें फर्क नहीं पड़ता। एक रुपया तो दस रुपया चाहिए; एक लाख तो दस लाख चाहिए। दोनों के बीच का अनुपात वही का वही है। दस का अनुपात है।

तुम कभी अपने जीवन के गणित को देखना। तुम बड़े चकित होओगे। जब तुम्हारे पास रुपया था तब तुम दस मांग रहे थे। तुम्हारा दुख इतना का इतना था। क्योंकि नौ की कमी थी। अब तुम्हारे पास लाख रुपये हैं, अब तुम दस लाख मांग रहे। अब भी दुख उतना का उतना ही है, क्योंकि नौ लाख की कमी है। वह नौ की कमी बनी ही रहती है। करोड़ हो जायेंगे तो दस करोड़ मांगने लगोगे। तुम्हारी मांग कभी तुम्हारे पास जो है उसके साथ तालमेल नहीं खाती। उसके आगे झपट्टा मारती रहती है। इस झपट्टा मारते हुए कामवासना के दौड़ते हुए रूप का नाम लोभ है।

तो क्रोध, मोह, लोभ, ये मौलिक नहीं हैं। इसलिए इनसे सीधे मत लड़ना। कुछ लोग इनसे सीधे लड़ते हैं और इसलिए कभी नहीं जीत पाते। जब भी लड़ना हो तो बीज से लड़ना, पत्तों से मत लड़ना। जब भी लड़ना हो, जड़ काटना, शाखाएं-प्रशाखाएं मत काटना; अन्यथा कभी कोई लाभ न होगा। तुम क्रोध को काटते रहो, कुछ फर्क न होगा। तुम्हारी वासना के वृक्ष पर नये पत्ते लगने लगेंगे। सच तो यह है, जितना तुम काटोगे उतना वृक्ष घना होने लगेगा। इसलिए इनसे तो उलझना ही मत। यह तो गलत निदान हो जायेगा। मूल को पकड़ना।

काम को काटने से क्रोध, मोह, लोभ तीनों अपने-आप क्षीण होते चले जाते हैं। और काम को काटने से धीरे-धीरे समय भी क्षीण हो जाता है। और एक ऐसी दशा आने लगती है जब तुम जहां हो वहां परिपूर्ण रूप से हो; तुम जैसे हो वैसे परम तृप्त, एक गहरा संतोष, लहर भी नहीं उठती! कुछ और होने का भाव भी नहीं उठता। जैसे हैं वैसे! और वैसे ही ठीक! और एक धन्यवाद, एक अहोभाव, प्रभु के प्रति एक अनुकंपा! ऐसी घड़ी में समय नहीं रह जाता। ऐसी घड़ी में तुम कालातीत हो जाते हो।

इसलिए मैं तुमसे कहता हूं बार-बार: तुम जो भी करो, ऐसी तल्लीनता से करना कि उस समय समय मिट जाये। वही ध्यान हो गया। अगर तुम जमीन में गड्ढा खोद रहे हो बगीचे में तो इतनी तल्लीनता से खोदना कि खोदना ही रह जाये। खोदने में ऐसा रस आ जाये, ऐसी तृप्ति मिलने लगे कि जैसे इसके पार कुछ करने को

नहीं है, न कुछ होने को है। तो फिर यह गङ्ढा खोदना ही ध्यान हो गया। यहीं तुम समय के बाहर हो गये और गङ्ढा खोदते-खोदते ही तुम पाओगे ध्यान की रसधार बहने लगी।

जहां समय गया, वहीं ध्यान। जहां समय शून्य हुआ, वहीं समाधि।

दूसरा प्रश्न: आप बार-बार कहते हैं: "जो है है। उसके स्वीकार में ही सुख है, शांति है, भगवत्ता है।" मुझे भौतिक तल पर अपने "जो है" को बुढ़ापे को छोड़ कर स्वीकारना बहुत कठिन नहीं लगता। लेकिन मानसिक तल पर मेरे पास महत्वाकांक्षा और तज्जनित द्वेष, अप्रेम, हिंसा, विध्वंसात्मक वृत्ति के सिवाय और क्या है! क्या मुझसे अधिक संकीर्ण चित्तवाला और मुझसे बढ़ कर क्षुद्र आशय वाला कोई और हो सकता है? क्या उसे भी स्वीकारूं? और क्या यह संभव है?

पहली बात: जो है, है; स्वीकारो या न स्वीकारो। जो है, है। उसमें कुछ फर्क नहीं पड़ता। तुम्हारे अस्वीकार से भी फर्क नहीं पड़ता। अगर बुढ़ापा आ गया, आ गया। तुम्हारे अस्वीकार से क्या फर्क पड़ता है? इतना ही फर्क पड़ेगा कि बुढ़ापे का जो मजा ले सकते थे वह न ले पाओगे। बुढ़ापे में जो एक शालीनता हो सकती थी, वह न हो पायेगी। बुढ?ापे में जो एक प्रसाद हो सकता था, वह खंडित हो जायेगा। बुढ़ापा तो नहीं हट जायेगा। जो है, है। तुम्हारे अस्वीकार करने से मिटता कहां? बदलता कहां? तुम्हारे अस्वीकार करने से कुछ भी तो नहीं होता! तुम्हीं खुद कुछ और गंवा देते हो अस्वीकार में, पाते क्या हो?

जिस व्यक्ति ने अपने वार्धक्य को, अपने बुढ़ापे को परिपूर्ण भाव से स्वीकार कर लिया है, तुम उसके चेहरे पर एक सौंदर्य देखोगे जो कि जवान के चेहरे पर भी नहीं होता। जवानी के सौंदर्य में एक तरह का बुखार है, उत्ताप है। बुढ़ापे के सौंदर्य में एक शीतलता है। जवानी के सौंदर्य में वासना की तरंगें हैं, उद्वेलित चित्त है, चंचलता है। जवानी के सौंदर्य में एक तरह की विक्षिप्तता है, ज्वर है। होगा ही। एक तरह का तूफान है, आंधी है।

बुढ़ापे का सौंदर्य ऐसा है जैसे तूफान आया और चला गया; और तूफान के बाद जो शांति हो जाती है, जो गहन शांति छा जाती है। कभी देखा, बादल घुमड़े, आंधी आयी, बिजली चमकी, फिर सब चला गया। उसके बाद जो विराम होता है! सब चुप! सारी प्रकृति मौन! वैसी ही शांति बुढ़ापे की है।

अगर स्वीकार कर लो तो बुढ़ापे में प्रसाद है। वह जो बूढ़े आदमी के सिर के सफेद हो गये बाल हैं, अगर उनको परिपूर्ण भाव से अंगीकार किया गया हो तो जैसे हिमालय के शिखरों पर जमी हुई सफेद बर्फ होती है, ऐसा ही उनका सौंदर्य है।

तो बुढ़ापा तो रहेगा, तुम चाहे इनकार करो चाहे स्वीकार करो। इनकार करने से इतना ही हो जायेगा--एक तनाव फैल जायेगा बुढ़ापे पर, एक विकृति आ जायेगी, दरारें पड़ जायेंगी बुढ़ापे में। बुढ़ापा और भी कुरूप हो जायेगा, बदतर हो जायेगा। जब मैं तुमसे कहता हूं, जो है उसे स्वीकार करो, तो मैं यह नहीं कह रहा हूं कि तुम अगर स्वीकार करोगे तो उसे बदल पाओगे। बदल तो कोई कभी नहीं पाया। बदलाहट तो होती ही नहीं। और अगर कोई बदलाहट होती है तो स्वीकार से होती है। क्योंकि दंश चला जाता है, विष चला जाता है और अमृत हो जाता है।

प्राण में जब क्लांति, जीवन में थकन जब व्यापती है।
स्वप्न सारे टूट कर उड्डीण हो जाते
रूख के पत्ते यथा पतझाड़ में
स्वप्न मेरे भी चतुर्दिक टूट कर उड़ने लगे हैं
और मैं दुबली भुजाओं पर उठाये
व्योम का विस्तार, एकाकी खड़ा हूं
इस भरोसे में नहीं कि कोई बड़ा पुरुषार्थ है यह

किंतु केवल इसलिए अब और चारा ही नहीं है।

फिर स्वीकार में एक बात और खयाल रखना। स्वीकार का यह अर्थ नहीं होता कि अब और कोई चारा ही नहीं है। तो फिर स्वीकार नहीं है। फिर तो मजबूरी है। फिर तुमने धन्यभाव से स्वीकार न किया।

जिस स्वीकार में स्वागत नहीं है, उसे तुम स्वीकार मत समझ लेना। जब मैं स्वीकार कहता हूं तो स्वीकार का प्राण है स्वागत। स्वीकार का अर्थ ही है कि "मैं धन्यभागी हूं, कि प्रभु तुमने बुढ़ापा भी दिया! तुमने सौंदर्य की आंधी भी दी जवानी में, तुमने यह बुढ़ापे का शांत प्रसादपूर्ण सौंदर्य भी दिया, यह गरिमा भी दी! बचपन की अबोध दशा दी, जवानी की बोध और अबोध की मिश्रित दशा दी; यह बुढ़ापे का शुद्ध बोध भी दिया!

अगर जीवन ऐसे स्वीकार-भाव से चले, जो मिले उसे स्वीकार कर ले, गहरा धन्यवाद हो भीतर, तो तुम पाओगे: तुम्हारे हाथ में एक कुंजी लग गयी जो सभी बंद द्वारों को खोल लेगी। जीवन का कोई रहस्य तुमसे छिपा न रह जायेगा। नाहक सिर मारने से, शोरगुल मचाने से कुछ भी नहीं होता। शोरगुल मचाने वाला अगर किसी दिन स्वीकार भी करता है तो वह हारा-थका। कहता है: ठीक है, अब कोई चारा ही नहीं है।

हमारे पास एक शब्द है "समर्पण"। अंग्रेजी में भी शब्द है "सरेंडर", लेकिन समर्पण का ठीक-ठीक पर्यायवाची नहीं है। मुझे बड़ी अड़चन होती है जब मैं पश्चिम से आये किसी खोजी को समर्पण समझाना चाहता हूं, क्योंकि उनके पास ठीक-ठीक शब्द नहीं है। सरेंडर का अर्थ तो समर्पण होता है, लेकिन गलत होता है; ऐसे ही होता है जैसे कि कोई देश किसी से हार जाये तो सरेंडर कर देता है। एक सैनिक दूसरे से हार जाये तो अपने शस्त्र सरेंडर कर देता है। यही समर्पण का अर्थ है अंग्रेजी में या पश्चिम की किसी भी भाषा में।

भारत की भाषा में समर्पण का कुछ और भी अर्थ है। प्रेम में भी समर्पण होता है, युद्ध में ही नहीं। युद्ध में भी हार होती है; लेकिन वह सिर्फ हार है। प्रेम में भी हार होती है; लेकिन प्रेम की हार जीत है। प्रेम में जिसने हारना जान लिया उसने जीतने की कला सीख ली।

शिष्य गुरु के पास समर्पण करता है, यह ऐसा नहीं है जैसे कि दुश्मन दुश्मन के पास समर्पण करता है। जैसे पोरस ने सिकंदर के पास समर्पण किया या जर्मनी ने इंग्लैंड के सामने समर्पण किया--यह वैसा समर्पण नहीं है। तो जब मैं किसी पाश्चात्य खोजी को कहता हूं "सरेंडर", तो वह थोड़ा चौंकता है, सरेंडर! सरेंडर के साथ ही गलत संबंध जुड़े हैं। सरेंडर का मतलब ही यह है कि "नहीं"। हारने को कौन राजी है! पूरब में जब हम कहते हैं "समर्पण", तो बड़ा और अर्थ है। उसका अर्थ होता है: अब एक ऐसी जगह आ गयी जहां विश्राम करो। अब लड़ो मत। अब लड़ने से हारोगे। अब तो अगर हार जाओ तो जीत जाओ।

लाओत्सु कहता है: मुझे कोई हरा नहीं सकता, क्योंकि मैं हारा हुआ हूं। तुम मुझे जीत न सकोगे, क्योंकि मेरी जीतने की कोई आकांक्षा नहीं है। तुम मुझे हरा न सकोगे, क्योंकि मैंने पहले ही समर्पण कर दिया है।

और लाओत्सु का सौंदर्य! जीवन जैसा है और जीवन जो दिखाये, और जीवन जो ले आये, उसके लिए पूरा खुला हृदय है। कहीं कोई प्रतिरोध नहीं है, विरोध नहीं है। किसी तल पर किसी तरह का संघर्ष नहीं है।

पूछा है: "आप कहते हैं, जो है, है। उसके स्वीकार में ही सुख है।"

उसका स्वीकार ही सुख है। स्वीकार में ही सुख है, ऐसा नहीं। उसमें तो ऐसा भाव है कि स्वीकार करेंगे, फिर सुख होगा। नहीं, स्वीकार ही सुख है। स्वीकार किया नहीं कि सुख हुआ नहीं। साथ ही साथ घट जाता है। करो और देखो। किसी भी चीज को स्वीकार करके देखो।

अस्वीकार में दुख है। अस्वीकार का मतलब ही है कि वासना का जाल फैल गया। अस्वीकार का अर्थ ही है कि हम कुछ और चाहते थे प्रभु और यह तूने क्या करवा दिया? हमने कुछ और मांगा था, यह तूने क्या दे दिया? अस्वीकार का अर्थ है: शिकायत हो गयी। अस्वीकार का अर्थ है: गलत हो गया, यह हमने घोषणा कर दी। स्वीकार का अर्थ है: इस परमात्मा के जगत में गलत होता ही नहीं। गलत हो ही नहीं सकता। उसके रहते गलत हो कैसे सकता है?

एक बहुत बड़े नास्तिक दिदरो ने लिखा है: संसार में इतना गलत हो रहा है कि परमात्मा हो नहीं सकता। यह बात भी जंचती है। मुझे भी जंचती है। अगर तुम मानते हो कि संसार में गलत हो रहा है तो तुम्हारी परमात्मा में श्रद्धा हो ही नहीं सकती। क्योंकि परमात्मा के होते गलत हो कैसे सकता है? दिदरो की दलील यह है कि या तो परमात्मा है तो फिर गलत नहीं हो सकता। या गलत हो रहा है तो कम से कम इतना तो मानो कि परमात्मा नहीं है।

तो जो आदमी कहता है, परमात्मा है और गलत हो रहा है, समझ लेना कि वह झूठा आस्तिक है। उसका परमात्मा बिलकुल झूठा है। अभी गलत तो मालूम हो रहा है। उसी को मैं आस्तिक कहता हूं जो कहता है: गलत तो हो ही कैसे सकता है, परमात्मा है! गलत असंभव है। अगर मुझे गलत दिखाई पड़ता है तो मेरे देखने की कहीं कोई भूल हो रही है। मेरी दृष्टि का, मेरी आंख पर कोई पर्दा है। मेरा देखना साफ-सुथरा नहीं है। मैं कुछ का कुछ देख रहा हूं। मगर गलत हो नहीं सकता। अगर हत्यारा भी मुझे मारने चला आया है, तो कुछ ठीक ही हो रहा होगा, क्योंकि गलत हो कैसे सकता है? उसकी मर्जी से हो रहा है। उसकी मर्जी के बिना कुछ हो नहीं सकता।

तो मैं तुमसे कहता हूं: स्वीकार ही सुख है। स्वीकार ही शांति है। और जिस दिन तुम ऐसा स्वीकार कर लोगे कि हत्यारे में भी परमात्मा का ही हाथ है, उस दिन क्या तुम यह सोच पाओगे कि तुम्हारे भीतर परमात्मा के अतिरिक्त कोई और है? जब हत्यारे में भी वही दिखाई पड़ेगा, तो तुम अपने में भी उसे देख पाओगे। इसलिए स्वीकार ही भगवत्ता है। तुम भगवान होते हो स्वीकार करके।

पूछा है: "मुझे भौतिक तल पर अपने "जो है" को स्वीकार करना कठिन नहीं, लेकिन मानसिक तल पर महत्वाकांक्षा, तज्जनित द्वेष, अप्रेम, हिंसा, विध्वंसक वृत्ति के सिवाय और क्या है? क्या मुझसे अधिक संकीर्ण चित्त वाला और मुझसे बढ़ कर क्षुद्र आशय कोई और हो सकता है?"

अहले-दिल और भी हैं अहले-वफा और भी हैं
एक हम ही नहीं, दुनिया से खफा और भी हैं।
हम पे ही खत्म नहीं मसलके शोरिदासरी
चाक दिल और भी हैं चाक कबा और भी हैं।
सर सलामत है तो क्या संगे-मलामत की कमी
जान बाकी है तो पैकाने-कजा और भी हैं।

नहीं, ऐसा तो भूल कर भी मत सोचना कभी कि तुमसे क्षुद्र आशय कौन होगा! यह सारा संसार, ये सभी लोग कितने ही परमात्मा की बात कर रहे हों, लेकिन इनका परमात्मा बातचीत का है। इनका आशय क्षुद्र है।

विवेकानंद के घर में खाना-पीना नहीं था। बाप मर गये। मां भूखी, खुद भूखे। तो रामकृष्ण ने कहा: "तू ऐसा कर जाकर प्रभु को क्यों नहीं कह देता? जा मंदिर में, तेरी जरूर सुनेंगे। मुझे पक्का भरोसा है। तू जा और कह। जो मांगेगा, मिल जायेगा।"

विवेकानंद भीतर गये। आधा घंटा बाद आंसुओं से भरे मग्न भाव से डोलते जैसे नशा किया हो, बाहर आये। रामकृष्ण ने कहा: "मांगा?" विवेकानंद ने कहा: "क्या?" रामकृष्ण ने कहा: "तुझे भेजा था कि मांग ले जो तुझे चाहिए। यह दुख-दारिद्रय अलग कर।" विवेकानंद ने कहा: "मैं तो भूल ही गया। उनके सामने खड़े हो कर मांगना कैसा! उनके सामने खड़े हो कर तो डोलने लगा। उनके सामने खड़े हो कर मांगना कैसा?"

कहते हैं, रामकृष्ण ने तीन बार भेजा और तीनों बार यही हुआ। फिर रामकृष्ण खूब खिलखिला कर हंसने लगे। विवेकानंद ने पूछा कि मैं समझा नहीं परमहंसदेव, आप हंसते क्यों हैं? रामकृष्ण ने कहा: अगर आज तू मांग लेता तो मुझसे तेरे सब संबंध छूट जाते। आज न मांग कर तू मेरे हृदय के बहुत करीब आ गया। क्योंकि यही भक्त का लक्षण है।

सब मांगें क्षुद्र हैं। मांग के साथ जीने वाला मन क्षुद्राशय है। फिर मांग हमारी क्या है, इससे फर्क नहीं पड़ता। यह सारा जगत भिखमंगों से भरा है। हरेक मांग रहा है। कोई धन मांग रहा है, कोई ध्यान मांग रहा है।

मगर मांग जारी है। कोई कहता है, अच्छा मकान हो। कोई कहता है, मकान-वकान में कुछ फर्क नहीं पड़ता; अच्छा मन दे दो, जिसमें द्वेष न हो,र् ईष्या न हो! मगर बात तो वही रही।

जब मैं कहता हूं स्वीकार, तो मेरा अर्थ परम स्वीकार से है, जो है! अगर उसने द्वेष दिया,र् ईष्या दी, वह भी स्वीकार! इसी स्वीकार में तुम एक चमत्कार देखोगे। इस स्वीकार में एक चमत्कार छिपा है। जैसे ही तुम स्वीकार करोगे, तुम चकित हो जाओगे। इस स्वीकार के दीये के जलते ही द्वेष कहां खो गया, पता न चलेगा। क्योंकि द्वेष औरर् ईष्या और जलन तो मांग की ही छायाएं हैं। जैसे ही तुम्हारे जीवन में स्वीकार आ गया, तुम अचानक पाओगे अप्रेम कहां चला गया, पता न चला। दीया स्वीकार का जले तो अप्रेम, हिंसा और घृणा का अंधेरा अपने-आप मिट जाता है।

अप्रेम का अर्थ क्या है? इतना ही अर्थ है कि जैसा मैं चाहता था वैसा आदमी नहीं है यह, तो अप्रेम हो गया।

जिनको हम प्रेम करते हैं, उनको भी हम कहां पूरा प्रेम कर पाते हैं, क्योंकि उनमें भी हजारों भूलें दिखाई पड़ती हैं, हजार कमियां दिखाई पड़ती हैं। क्षण भर पहले प्रेम करते हैं, क्षण भर में क्रोध आ जाता है, क्योंकि कोई कमी आ गयी। पूर्ण तो कहीं कुछ दिखाई पड़ता नहीं। पूर्ण की हमारी ऐसी असंभव कल्पना है, असंभव धारणा है। कोई उसे पूरा कर नहीं सकता। परमात्मा भी तुम्हारे सामने खड़ा हो तो तुम मेरी मानो, तुम कुछ न कुछ भूल-चूक उसमें निकाल लोगे। तुम जरूर निकाल लोगे कुछ न कुछ भूल-चूक। असंभव है। शायद इसी डर से वह तुम्हारे सामने खड़ा नहीं होता है। तुम लाख चिल्लाते कि साक्षात्कार हो, लेकिन छिपा है। छिपता रहता है। तुम्हें जानता है, तुम्हारे सामने प्रगट हो कर सिर्फ उपद्रव होगा। तुम हजार कमियां निकाल लोगे।

तुमने कभी इस तरह सोचा कि अगर परमात्मा तुम्हारे सामने खड़ा हो तो तुम क्या-क्या कमियां निकाल लोगे? बुद्ध तुम्हारे पास से गुजरे, तुमने कमियां निकाल लीं। महावीर तुम्हारे बीच से गुजरे, तुमने कमियां निकाल लीं। कृष्ण तुम्हारे बीच रहे, तुमने कमियां निकाल लीं। क्राइस्ट में तो तुमने इतनी कमियां निकाल लीं कि सूली लगा दी। सुकरात से तो तुम ऐसे नाराज हुए कि जहर पिला दिया। मंसूर को तुमने काट डाला। फकीरों को, संतों को, तुमने कैसा व्यवहार किया है!

परमात्मा बहुत बार प्रगट भी हुआ है और हर बार उसने पाया कि तुम कमी निकाल लेते हो।

एक कहानी मैं पढ़ता था कि ईश्वर स्वर्ग में बैठे-बैठे थक गया है। और उसके किसी सलाहकार ने कहा कि आप कहीं थोड़े दिन के लिए छुट्टी पर क्यों नहीं चले जाते? उसने कहा: "कहां जाऊं? छुट्टी पर कहां जाऊं?" तो उन्होंने कहा: "बहुत दिन से आप जमीन पर नहीं गये, वहीं चले जायें।" तो उसने कहा: "न बाबा! जमीन की भूल गये इतनी जल्दी? दो हजार साल पहले मैंने अपने बेटे को भेजा था, जीसस को, क्या हाल किया? वही वे मेरे साथ भी करेंगे!"

तुम भूल निकाल ही लोगे, जब तक कि तुम्हारे जीवन में पूर्ण स्वीकार न हो। और पूर्ण स्वीकार हो तो तुम क्या कोई ऐसी जगह खोज सकते हो जहां परमात्मा दिखाई न पड़े? तब फूल में भी वही खिलता हुआ मालूम होगा। तब झरने में भी वही बहता मालूम होगा। तब आकाश में भटकते एक शुभ्र बादल में भी तुम उसी को तिरते हुए पाओगे। तब पक्षी की गुनगुनाहट में तुम उसी का उच्चार अनुभव करोगे।

अगर तुम्हारे भीतर स्वीकार है तो तत्क्षण उस स्वीकार की क्रांति में सारा जगत रूपांतरित हो जाता है। तुम बचोगे रूपांतरण से? तुम भी रूपांतरित हो जाते हो।

तो मैं तो तुमसे कहता हूं, यह तुम्हें बहुत कठिन लगेगा, क्योंकि तुम्हारे संतों ने यह तो कहा है कि धन न हो तो स्वीकार कर लेना। तुम्हारे संतों ने तुमसे यह तो कहा है, झोपड़ा हो, महल न हो, तो स्वीकार कर लेना। तुम्हारे संतों ने यह तो कहा है कि बेटा घर में पैदा न हो तो स्वीकार कर लेना। लेकिन तुम्हारे संतों ने तुमसे यह नहीं कहा कि क्रोध को भी स्वीकार कर लेना,र् ईष्या को भी स्वीकार कर लेना, घृणा को भी स्वीकार कर लेना।

मैं तुमसे यह भी कहता हूं। क्योंकि मेरा स्वीकार परिपूर्ण है। मैं तुमसे कहता हूं, जो हो उसे स्वीकार कर लेना। बाहर की ही स्वीकृति अधूरी स्वीकृति होगी।

मैं तुमसे कहता हूं, तुम अपने को भी क्षमा कर दो। तुम्हारे संतों ने कहा है, दूसरों को क्षमा करना। मैं तुमसे कहता हूं, तुम कृपा करो, तुम अपने को भी क्षमा कर दो। और ध्यान रखना, जिसने अपने को क्षमा न किया, वह किसी को क्षमा न कर सकेगा। इस सूत्र को समझो।

अगर तुम अपने पर कठोर हो तो तुम दूसरे पर भी कठोर रहोगे। अगर तुम्हारे भीतर द्वेष है और तुम जानते हो कि द्वेष बुरा है, नहीं होना चाहिए, तो तुम दूसरे आदमी में जब द्वेष देखोगे तो उसे क्षमा कैसे करोगे? कहो, कैसे यह संभव होगा? यह तो गणित में बैठेगा नहीं। अगर तुम्हारे भीतर क्रोध है और तुम अपने क्रोध को क्षमा नहीं कर सकते तो जब तुम किसी दूसरे आदमी में क्रोध की झलक देखोगे तो कैसे क्षमा करोगे?

तुम्हारे संत तुमसे बड़ी व्यर्थ की बात कह रहे हैं। वे कह रहे हैं, क्षमा कर दो दूसरे को।

महात्मा गांधी अपने शिष्यों को कहते थे: अपने साथ कठोर रहना, दूसरे के साथ नम्र। यह असंभव है। यह बात ही गलत है। जो अपने साथ कठोर है, वह जाने-अनजाने दूसरे के साथ भी कठोर होगा। सच तो यह है, जो अपने साथ कठोर है, वह दूसरे के साथ और भी ज्यादा कठोर होगा।

तुम जो अपने साथ करोगे, वही तुम दूसरे के साथ भी करोगे। इससे अन्यथा तुम कर नहीं सकते। तो छोटी-छोटी बातों पर तुम दूसरे की निंदा अपने मन में ले आओगे--बड़ी छोटी बातों पर, जिनका कोई मूल्य नहीं! तुम क्षमा न कर सकोगे।

मैं तुम्हें कुछ और ही बात कह रहा हूं। मैं तुमसे कहता हूं: क्षमा करो स्वयं को भी। क्योंकि स्वयं के भीतर भी वही परमात्मा विराजमान है। क्षमा करो! एक बार करो, दो बार करो, हजार बार करो, क्षमा करो! और तुम जैसे हो वैसा ही परमात्मा ने तुम्हें चाहा, ऐसा स्वीकार करो। उसकी यही मर्जी कि तुममें क्रोध हो। अब तुम क्या करोगे? तुम इसे भी स्वीकार कर लो।

और तुम जरा समझना। जैसे ही तुम स्वीकार कर लोगे क्रोध को भी, तुम्हारे भीतर क्रोध बच सकेगा? क्रोध तो अस्वीकार करने से ही पैदा होता है। क्रोध तो तनाव है, बेचैनी है; जब तुम अस्वीकार करते हो तो पैदा होता है।

तुमने फर्क देखा? जिस चीज को तुम स्वीकार कर लो, उसमें क्रोध नहीं होता। एक आदमी आया, उसने जोर से एक धौल तुम्हारी पीठ पर जमायी। क्रोध आ ही रहा था, तुमने लौट कर देखा अपना मित्र है, बात खत्म हो गयी। क्रोध आ ही रहा था, आ ही गया था, नाक पर खड़ा था। लौट कर देखा होता कि कोई अजनबी है तो तुम जूझ ही पड़े होते। धौल तो धौल है, मित्र ने मारी कि दुश्मन ने मारी, उसमें कुछ फर्क नहीं है। तुम भी फर्क नहीं कर सकते जब तक पीछे लौट कर न देखो। क्या कर सकते हो? कि तुम ऐसे ही खड़े रहो और तुम तय करो कि दुश्मन ने मारी कि दोस्त ने, कैसे फर्क करोगे? क्रोध उठेगा। लौटकर देखोगे दोस्त है, तो बात बदल गयी। क्या हो गया? स्वीकार हो गया। मित्र है, प्रेम में मारी है। दुश्मन है, अस्वीकार हो गया। क्रोध उबलने लगा। चोट तो वही की वही है।

तुमने देखा, मित्र एक-दूसरे को गाली देते हैं, कोई नाराज नहीं होता। सच तो यह है, मित्रता तब तक मित्रता ही नहीं होती जब तक गाली का लेन-देन न होने लगे। तब तक कोई मित्रता है? किसी से पूछो, कैसी मित्रता है? अगर वह कहे गाली का लेन-देन है, तब फिर समझो कि पक्की है। होना भी चाहिए ठीक यही। क्योंकि पक्की मित्रता का अर्थ ही यह है कि जिन बातों से साधारणतः शत्रुता हो जाती थी, उनसे भी अब शत्रुता नहीं होती। गाली भी दे देता है तो भी अपना है। कोई अड़चन नहीं है। स्वीकार है। सच तो यह है, मित्र गाली

देता है, उसमें भी रस आता है कि मित्र ने गाली दी। ध्यान रखता है। भूल नहीं गया। अभी भी मैत्री कायम है। वही गाली, वे ही शब्द, किसी और ओंठ से आते हैं तो बस अड़चन हो जाती है।

जहां तुम स्वीकार कर लेते हो, वहां फूल खिल जाते हैं। जहां अस्वीकार कर देते हो, वहीं कांटा चुभ जाता है। मैं तुमसे कहता हूं, परम स्वीकार, आत्यंतिक स्वीकार। तुम छोड़ो यह बकवास बदलने की कि यह हो, यह हो, यह न हो। तुम हो कौन? तुम कह दो परमात्मा को: "अब जो तेरी मर्जी हो वैसा हो!" तुम बदल-बदल कर बदल कहां पाये? एक और यह मजा है...।

एक बूढ़े सज्जन मेरे पास आये, वे कहने लगे कि मुझे क्रोध बड़ा होता है।

मैंने कहा, उम्र कितनी है?

"अठहत्तर साल!"

"कितने दिन से क्रोध से लड़ रहे हो?"

उन्होंने कहा, "पूरे जीवन से लड़ रहा हूं।"

मैंने कहा, "अब तो समझो। अठहत्तर साल लड़ने के बाद भी क्रोध नहीं गया है, इसका मतलब क्या है? इसका मतलब है कि लड़ने से कुछ भी नहीं जाता। तुम अब मरते दम तो स्वीकार कर लो, समर्पण कर दो। इससे साफ जाहिर है कि परमात्मा चाहता है तुममें क्रोध हो और तुम चाहते हो न हो। तो तुम हारोगे, परमात्मा जीत रहा है। अठहत्तर साल हो गये हारते-हारते। अब कब तक इरादा है?"

मैंने कहा, "तुम मेरी मानो। इसे स्वीकार कर लो। लड़कर तुमने अठहत्तर साल देख लिया, मेरी मान कर एक साल देख लो।" कुछ बात चोट पड़ गयी। बात कुछ लगी। गणित साफ-साफ लगा: अठहत्तर साल! खुद भी सोचा। शायद इस तरह कभी सोचा न होगा पहले कभी।

आदमी सोचता ही कहां है! चलता जाता है, भागता जाता है, करता जाता है। वही-वही करता रहता है जो बार-बार किया है। कुछ परिणाम नहीं होता, फिर भी करता रहता है। निचोड़ता रहता है रेत को कि तेल निकल आयेगा।

"अठहत्तर साल हो गये", मैंने कहा, "छोड़ो भी, यह रेत है। इससे तेल निकलता ही नहीं। नहीं तो तुम जीत जाते, मजबूत आदमी हो! कितनी दफा अदालत में तुम पर मुकदमे चल चुके हैं?"

वे कहते हैं, कई दफे चल चुके हैं इस क्रोध की वजह से। झगड़ा-झांसा मेरी जिंदगी में ही रहा। जहां-जहां जो करूं, झगड़ा-झांसा। हर बात में उपद्रव। घर में भी नहीं बनती। बेटों से भी नहीं बनती। भाई से भी नहीं बनती। बाप से भी नहीं बनी कभी। बाप चले भी गये, झगड़े में ही गये। जब बाप मरे तो बोलचाल बंद था। पत्नी ऐसे ही मर गयी रो-रो कर। मगर कुछ है कि बात जाती नहीं।

मैंने कहा, "तुमने अपनी पूरी चेष्टा भी कर ली है। एक साल अब तुम मेरी मान लो। स्वीकार कर लो।"

साल भर बाद वे मेरे पास आये तो उनको पहचानना मुश्किल था। उनके चेहरे पर ऐसा प्रसाद था...वे कहने लगे, अपूर्व हुई घटना। स्वीकार मैंने कर लिया और सबको मैंने कह दिया कि मैं क्रोधी आदमी हूं और मैंने अब अन्यथा होने का भाव भी त्याग दिया। मैं वहां से कसम ले कर आ गया हूं कि एक साल तो अब मैं जो हूं सो हूं। अपने बेटों को कह दिया, अपने भाइयों को कह दिया कि अब मुझे स्वीकार कर लो जैसा हूं; मैंने भी स्वीकार कर लिया। और कुछ ऐसा हुआ कि साल तो बीत गया, क्रोध की खबर नहीं आ रही है।

क्या हो गया? तुम जब स्वीकार कर लेते हो, तनाव चला गया। जब तुमने ही मान लिया कि मैं क्रोधी हूं तो तुमने समर्पण कर दिया। अन्यथा हम घूमते रहते हैं एक ही वर्तुल में, जैसे कोल्हू का बैल चलता है; फिर वही, फिर वही, कहीं पहुंचना नहीं होता।

दिशाएं बंद हैं

आकाश उड़ता-फड़फड़ाता है
वहीं फिर लौट आता है।
आंधियां कल जो इधर से जा रही थीं
जा नहीं पायीं
हांफती है बंद बोझिल कुहासे-सी
एक परछाईं
दिशाएं बंद हैं
दीवार को उस पार से कोई हिलाता है
थका फिर लौट आता है
धूप जलता हुआ सागर द्वीप छांहों के
सरक जाते पिघल कर
मछलियां जैसे मरे पल-छिन
उतर आ रोज जाते हैं सतह पर
जाल कंधों पर धरे
दिन सुबह आता है
हर शाम खाली लौट जाता है
दिशाएं बंद हैं
आकाश उड़ता-फड़फड़ाता है
वहीं फिर लौट आता है

तुम्हारी पूरी जिंदगी एक वर्तुल में घूमता हुआ चाक है। इसलिए हिंदुओं ने जीवन को जीवन-चक्र कहा।

देखते हैं, भारत के ध्वज पर जो चक्र बना है, वह बौद्धों का चक्र है। बौद्धों ने जीवन को एक गाड़ी का चक्का माना; घूमता रहता है उसी कील पर, वहीं का वहीं। एक आरा ऊपर आता, फिर नीचे चला जाता; फिर थोड़ी देर बाद वही आरा ऊपर आ जाता है।

तुम जरा चौबीस घंटे अपने जीवन का विश्लेषण करो। तुम पाओगे: क्रोध आता, पश्चात्ताप आता, फिर क्रोध आ जाता। प्रेम होता, घृणा होती, फिर प्रेम हो जाता। मित्रता बनती, शत्रुता आती, फिर मित्रता। ऐसे ही चलते रहते, आरे घूमते रहते, जीवन का चाक घूमता रहता है। चाक का अर्थ है: जीवन में पुनरुक्ति हो रही है।

कब जागोगे इस पुनरुक्ति से? कुछ तो करो! एक काम करो: अब तक बदलना चाहा, अब स्वीकार करो! स्वीकार होते ही एक नया आयाम खुलता है। यह तुमने कभी किया ही नहीं था। यह बिलकुल नयी घटना तुम करोगे। और मैं नहीं कह रहा हूं कि लाचारी...। मैं कह रहा हूं, धन्यभाव से! प्रभु ने जो दिया है उसका प्रयोजन होगा। क्रोध भी दिया है तो प्रयोजन होगा। तुम्हारे महात्मा तो समझाते रहे कि क्रोध न हो, लेकिन परमात्मा नहीं समझता है। फिर बच्चा आता है, फिर क्रोध के साथ आता है। अब कितनी सदियों से महात्मा समझाते रहे! न तुम समझे न परमात्मा समझा। कोई समझते ही नहीं महात्माओं की। महात्मा मर कर सब स्वर्ग पहुंच गये होंगे। वहां भी परमात्मा की खोपड़ी खाते होंगे कि अब तो बंद कर दो--क्रोध रखो ही मत आदमी में।

लेकिन तुम जरा सोचो, एक बच्चा अगर पैदा हो बिना क्रोध के, जी सकेगा? उसमें बल ही न होगा। उसमें रीढ़ न होगी। वह बिना रीढ़ का होगा। तुम एक धप्प लगा दोगे उसको, वह वैसे ही का वैसा मिट्टी का लौंदा जैसा पड़ा रहेगा। जी सकेगा? उठ सकेगा? चल सकेगा? गोबर के गणेश जी होंगे। किसी काम के न सिद्ध होंगे।

तुमने कभी खयाल किया, जिस बच्चे में जितनी क्रोध की क्षमता होती है उतना ही प्राणवान होता है, उतना ही बलशाली होता है। और दुनिया में जो महानतम घटनाएं घटी हैं व्यक्तित्व की, वे सभी बड़ी ऊर्जा वाले लोग थे।

तुमने महावीर की क्षमा देखी? महावीर के क्रोध की हमें कोई कथा नहीं बतायी गयी। लेकिन मैं तुमसे यह कहता हूं कि अगर इतनी महाक्षमा पैदा हुई तो पैदा होगी कहां से? महाक्रोध रहा होगा। जैन डरते हैं, उसकी कोई बात करते नहीं। लेकिन यह मैं मान नहीं सकता कि महाक्षमा महाक्रोध के बिना हो कैसे सकती है।

अगर इतना बड़ा ब्रह्मचर्य पैदा हुआ है तो महान कामवासना रही होगी, नहीं तो होगा कहां से? नपुंसक को कभी तुमने ब्रह्मचारी होते देखा? और नपुंसक के ब्रह्मचर्य का क्या अर्थ होगा? सार भी क्या होगा?

तुम यह जरा देखो! जैनों के चौबीस तीर्थंकर ही क्षत्रिय हैं और बुद्ध भी क्षत्रिय हैं! और सभी ने अहिंसा का उपदेश दिया है, यह जरा सोचने जैसी बात है, क्षत्रिय घरों में पैदा हुए, तलवारों के साये में जीवन बना, वही शिक्षण था उनका। मार-काट उनकी व्यवस्था थी। खून ही उनका खेल था। और फिर सब एकदम अहिंसक हो गये!

कभी तुमने सुना कि कोई ब्राह्मण अहिंसक हुआ हो? अभी तक तो नहीं सुना। ब्राह्मण में जो बड?ा से बड़ा ब्राह्मण हुआ है, परशुराम, वह बड़े से बड़ा हिंसक था। उसने सारी दुनिया से, कहते हैं, क्षत्रियों को अट्ठारह दफा नष्ट कर दिया। गजब का आदमी रहा होगा! ब्राह्मण के घर में पैदा हुआ। क्षत्रियों में से तो अहिंसा का सूत्र आया। और परशुराम फरसा लिये आये। कुछ सोचने जैसा है।

कुछ सोचने जैसा है। जहां क्रोध है, हिंसा है, वहीं से अहिंसा पैदा होती है। अहिंसा कायर की नहीं है। कायर की हो भी नहीं सकती। अहिंसा तो उसकी है जिसके पास प्रज्वलित अग्नि है।

परमात्मा क्रोध देता है, क्योंकि यह तुम्हारी ऊर्जा है--कच्ची ऊर्जा है। इसी ऊर्जा को निखारते- निखारते, इसी उर्जा को स्वीकार करके, इस ऊर्जा को समझकर, बूझकर, जागकर तुम एक दिन पाओगे कि यही ऊर्जा क्षमा बन गयी।

क्रोध करुणा बन जाता है--स्वीकार की कीमिया चाहिए। और कामवासना ब्रह्मचर्य बन जाती है--स्वीकार की कीमिया चाहिए। कामवासना से लड़ कर कोई कभी ब्रह्मचर्य को उपलब्ध नहीं होता। कामवासना को समझ कर, कामवासना को परिपूर्ण भाव से बोधपूर्वक जी कर कोई ब्रह्मचर्य को उपलब्ध होता है।

बस एक ही चीज तुम्हारी साथी है--और वह है स्वीकार-भाव में जो सूझ पैदा होती है, जो समझ पैदा होती है। लड़ने वाले के पास समझ होती नहीं। क्रोध से लड़ोगे, उसी लड़ने में समझ गंवा दोगे। काम से लड़ोगे, उसी लड़ने में समझ खो दोगे। लड़ने में कहां समझ? समझ के लिए तो बड़ा स्वीकार-भाव चाहिए। स्वीकार की शांति में समझ का दीया जलने लगता है।

सूझ का साथी मौम दीप मेरा!
कितना बेबस है यह, जीवन का रस है यह
क्षण-क्षण पल-पल बल-बल छू रहा सवेरा
अपना अस्तित्व भूल सूरज को टेरा
मौम दीप मेरा!
कितना बेबस दीखा, इसने मिटना सीखा
रक्त-रक्त बिंदु-बिंदु झर रहा प्रकाश सिंधु
कोटि-कोटि बना व्याप्त छोटा-सा घेरा
मौम दीप मेरा!
जी से लग जेब बैठ, तंबल पर जमा पैठ
जब चाहूं जाग उठे, जब चाहूं सो जावे
पीड़ा में साथ रहे, लीला में खो जावे
मौम दीप मेरा!
सूझ का साथी मौम दीप मेरा!

छोटा-सा दीया है--मोमबत्ती जैसा। लेकिन इसी से सूरज को पुकारा जाता है। इसी ने सूरज को टेरा। इस छोटी-सी मोमबत्ती की ज्योति में जो जल रहा प्रकाश, वह सूरज का ही है। तुम स्वीकार करो।

परमात्मा ने इस सारे अस्तित्व को स्वीकार किया है, अन्यथा यह हो ही न। यह परमात्मा ने सारा खेल अंगीकार किया है, अन्यथा यह हो ही न। इसलिए तो हम इसे लीला कहते हैं। परमात्मा अपनी लीला में कैसा

तल्लीन है! कहीं कोई अस्वीकार नहीं है। तुम कितने ही बुरे होओ, फिर भी तुम परमात्मा को अंगीकार हो। तुम कितने ही बुरे, कितने ही पापी, कितने ही दूर चले गये होओ, फिर भी परमात्मा को अंगीकार हो।

जीसस कहते थे: जैसे कोई गड़रिया सांझ अपने भेड़ों को ले कर लौटता है, अचानक गिनती करता है और पाता है कि एक भेड़ कहीं खो गयी, तो निन्यानबे भेड़ों को असहाय जंगल में अंधेरे में छोड़कर उस एक भेड़ को खोजने निकल जाता है। लेकर लालटेन, घाटियों में आवाजें देता है और जब वह भेड़ मिल जाती है तो क्या करता है, पता है? जीसस कहते हैं: उस भेड़ को कंधे पर रखकर लौटता है।

परमात्मा, जो दूर से दूर चला गया है, उसको भी कंधे पर रखे हुए है। भटके को तो और प्यार से रखे हुए है। जैसे परमात्मा ने सबको अंगीकार किया है, ऐसे तुम भी अंगीकार कर लो। तो तुम्हारे भीतर का दीया जलेगा और तुम्हारे भीतर की छोटी-सी ज्योति सूरज को पुकारेगी। तुम सूरज जैसे हो जाओगे। छोटे से घेरे में सही, लेकिन विराट उतरेगा! तुम्हारे आंगन में आकाश उतरेगा!

तीसरा प्रश्न: रोज सुनता हूं, आंसुओं में स्नान होता है, हृदय धड़कता है--चाहे आप भक्ति पर बोलें चाहे ध्यान पर। जब गहराई में ले जाते हैं तो गंगा-यमुना स्नान हो जाता है। आपको साकार और निराकार रूप में देखकर आनंद से भर जाता हूं, धन्य हो जाता हूं। प्रेम और ध्यान तब दो नहीं रह जाते। दोनों से उस एक की ही झलक आती है। अनुगृहीत हूं। कोटि-कोटि प्रणाम!

प्रेम और ध्यान यात्रा की तरह दो हैं, मंजिल की तरह एक। जब भी ध्यान घटेगा, प्रेम अपने-आप घट जायेगा। और जब भी प्रेम घटेगा, ध्यान अपने-आप घट जायेगा। तो जो चलने वाला है अभी, वह चाहे प्रेम चुन ले चाहे ध्यान चुन ले, लेकिन जब पहुंचेगा तो दूसरा भी उसे मिल जायेगा। यह तो असंभव है कि कोई ध्यानी हो और प्रेमी न हो। ध्यान का परिणाम प्रेम होगा। जब तुम परिपूर्ण शांत हो जाओगे तो बचेगा क्या तुम्हारे पास सिवाय प्रेम की धारा के? प्रेम बहेगा।

इसलिए जीसस ने कहा है, प्रेम परमात्मा है। अगर तुम प्रेमी हो तो अंततः ध्यान के अतिरिक्त बचेगा क्या? क्योंकि प्रेमी तो खो जाता है, प्रेमी तो डूब जाता है, अहंकार तो गल जाता है। जहां अहंकार गल गया और तुम डूब गये, वहां जो बच रहता है, वही तो ध्यान है, वही तो समाधि है।

दुनिया में दो तरह के धर्म हैं--एक ध्यान के धर्म और एक प्रेम के धर्म। ध्यान के धर्म--जैसे बौद्ध, जैन। प्रेम के धर्म--जैसे इस्लाम, हिंदू, ईसाई, सिक्ख। मगर अंतिम परिणाम पर कहीं से भी तुम गये...जैसे पहाड़ पर बहुत-से रास्ते होते हैं, कहीं से भी तुम चलो, शिखर पर सब मिल जाते हैं; पूरब से चढ़ो कि पश्चिम से। चढ़ते वक्त बड़ा अलग-अलग मालूम पड़ता है; कोई पूरब से चढ़ रहा है, कोई पश्चिम से चढ़ रहा है। अलग-अलग दृश्यावली, अलग-अलग घाटियां, अलग-अलग पत्थर-पहाड़ मिलते हैं, सब अलग मालूम होता है। पहुंच कर, जब शिखर पर पहुंचते हो, आत्यंतिक शिखर पर, तो एक पर ही पहुंच जाते हो। मार्ग हैं अनेक; जहां पहुंचते हो, वह एक ही है।

शुभ हुआ कि ऐसा लगता है कि प्रेम और ध्यान एक ही बात है। एक ही हैं।

और अगर मुझे प्रेम से और ध्यान से सुना तो करने को कुछ बच नहीं जाता। सुनने में ही हो सकता है। सुनने में न हो पाये तो करने को बचता है। अगर ठीक-ठीक सुन लिया, अगर सत्य की उदघोषणा को ठीक-ठीक सुन लिया तो उतनी उदघोषणा काफी है। कहो, क्या करने को बचता है अगर ठीक से सुन लिया? तो सुनने में ही घटना हो जाती है। क्योंकि कुछ पाना थोड़े ही है; जो पाना है वह तो मिला ही हुआ है। सिर्फ याद दिलानी है।

इसलिए संत कहते हैं, नामस्मरण! बस उसका नाम याद आ जाये, बात खत्म हो गयी। खोया तो कभी है नहीं। अपने घर में ही बैठे हैं, बस खयाल बैठ गया है कि कहीं और चले गये। याद आ जाये कि अपने घर में ही

बैठे हैं--बात हो गयी। जैसे सपना देख रहा है कोई आदमी, अपने घर में सोया और सपना देख रहा है कि टोकियो पहुंच गया, कि टिंबकटू पहुंच गया। आंख खुलती है, पाता अपने घर में है; न टिंबकटू है न टोकियो है। तुम कहीं गये नहीं हो; वहीं हो।

तो अगर किसी की उदघोषणा, जो जाग गया हो...। ऐसी ही दशा है, मैं तुम्हें सोया देखता अपने पास और देखता तुम करवट बदल रहे और तुम्हारी आंखें झपक रही हैं। लगता है सपना देख रहे हो, कुछ बुदबुदाते भी हो--तो मैं तुमसे कहता हूं, जागो! अगर तुम ठीक से मेरी सुन लो और जाग जाओ तो फिर करने को और क्या बचता है! बात खत्म हो गयी।

जो सुनने में समर्थ नहीं हैं, वे पूछते हैं: "हम क्या करें? कुछ विधि बतायें। कुछ उपाय बतायें।" मगर जो सो रहा है, उसको तुम विधि भी बता दो तो क्या करेगा? वह टिंबकटू में है, तुम उसको कहो कि घर लौट आओ तो वह कहता है: "किस ट्रेन से लौटें?" अब और एक झंझट है। वह घर में ही है। "हवाई जहाज पकड़ें कि ट्रेन से आयें कि जहाज पकड़ें?" अब इसको क्या कहा जाये? ट्रेरन पकड़ ले? उसमें और खतरा है कि ट्रेन में बैठ कर न मालूम और कहां जायेगा! वैसे ही टिंबकटू पहुंच गया है बिना ट्रेरन के। अब यह टिंबकटू से ट्रेन में सवार हो जाये तो यह कहीं और चला। यह घर तो नहीं लौट सकता।

ट्रेरन की जरूरत ही नहीं है घर लौटने के लिए। विधि की जरूरत नहीं है, उपाय की जरूरत नहीं है--बोध मात्र काफी है। अबोध में चले गये हो, बोध में लौट आओगे। सो गये, चले गये; जाग गये, लौट आये।

मौन यामिनी मुखरित मेरी
मधुर तुम्हारी पग पायल सी
इस पायल की लय में मेरी
श्वासों ने निज लय पहचानी
इस पायल की ध्वनि में मेरे
प्राणों ने अपनी ध्वनि जानी
ताल दे रहा रोम-रोम है
तन का उसकी रुनक-झुनक पर
इस अधीर मंजीर मुखर से
आज बांध लो मेरी वाणी
मौन यामिनी मुखरित मेरी
मधुर तुम्हारी पग पायल से

जो मैं तुमसे कह रहा हूं, उसमें कुछ सिद्धांत नहीं है; बस एक संगीत है। संगीत है कि तुम जाग जाओ। एक तो संगीत होता है जो सुलाता है। लोरी गाती है मां तो बच्चा सो जाता है। फिर एक और संगीत है जो जगाता है। घड़ी का अलार्म बजता है और नींद टूट जाती है।

मैं तुमसे जो कह रहा हूं, उसमें कुछ सिद्धांत नहीं है। उसमें केवल एक संगीत है, एक स्वर है--जो तुम सुन पाओ तो तुम जागने लगो। उसी स्वर की धारा को पकड़ कर तुम वहां पहुंच जाओगे जहां से तुम कभी हटे नहीं हो। तुम वही हो जाओगे जो तुम हो, जो तुम्हें होना चाहिए। तुम अपने स्वभाव को पहचान लोगे--उसी संगीत की झलक में! और तब निश्चित ही तुम पाओगे कि सुन कर ही गंगा-यमुना में स्नान हो गया।

निश्चित ही, यह जो मैं तुमसे कह रहा हूं, तुम्हारे द्वार पर गंगा-यमुना को ले आया हूं। तुम किनारे मत खड़े रहो, डुबकी ले लो! बहुत हैं ऐसे अभागे--तुममें भी बहुत हैं, जिनके सामने भी गंगा आ जायेगी तो भी वे प्यासे ही खड़े रहेंगे। इतना भी न हो सकेगा उनसे कि झुककर अंजुली भर लें; कंठ जो प्यासे हैं, उन्हें तृप्त कर लें। किनारे पर ही खड़े रह जायेंगे। अगर जरा तुम झुको...तुम जरा झुको, तो हर जगह तुम प्रभु को पाओ।

तेरे रूप की धूप उजागर पनघट पनघट
छलके रस की गागर पनघट पनघट
तेरी आशाएं बसती हैं बस्ती बस्ती

तेरी मस्ती सागर सागर पनघट पनघट

तुम जरा झुको, तो तुम मदमस्त हो जाओ। तुम जरा अपनी गागर को खोलो तो सागर उतर आये।

मैं तुमसे जो कह रहा हूं, वह कोई सिद्धांत नहीं, कोई दर्शनशास्त्र नहीं। मैं तुम्हें हिंदू, मुसलमान, ईसाई, सिक्ख, जैन नहीं बनाता चाहता। मैं तुम्हें सिर्फ जगाना चाहता हूं--उसमें, जो तुम हो। मैं तुम्हें कुछ भी नहीं बनाना चाहता। मैं तुम्हें वही दे देना चाहता हूं जो तुम्हारा ही है और तुम्हें विस्मरण हो गया है। मैं तुम्हें वही दे देना चाहता हूं जो तुम्हारे भीतर ही पड़ा है। सिर्फ याद दिला देने की बात है। और अगर तुम मेरे स्वर में थोड़े बंध जाओ तो रास रच जाये!

तो जो भी बंध जाता है स्वर में थोड़ी देर को, वह जरूर गंगा-यमुना में पहुंच जायेगा। आंसुओं की धार लग जायेगी! एक नृत्य शुरू होता है, जो बाहर से किसी को दिखाई न पड़ेगा; जो उसका ही भीतरी आंतरिक अनुभव होगा। तुम चाहोगे भी किसी और को समझाना तो समझा न पाओगे। समझाने की कोशिश भी मत करना; क्योंकि उसमें खतरा है कि दूसरा ही तुम्हें समझा देगा कि "तुम पागल हो गये हो। कहीं ऐसा हुआ है? सुनकर कहीं सत्य मिला है?" मैं तुमसे कहता हूं, सुनकर ही मिल जाता है; क्योंकि खोया तो है ही नहीं। खोया होता तो सुनकर भी नहीं मिल सकता था। खोया होता तो खोजना पड़ता।

कोई मुझसे आ कर कहता है, ईश्वर को खोजना है। मैं कहता हूं, तू खोज, तुझे कभी मिलेगा नहीं। क्योंकि खोया कब, पहले यह तो पूछ! खोया हो तो खोजा जा सकता है। खोया ही न हो तो कैसे खोजेगा?

तो तुम्हें अगर मस्ती आने लगे और तुम्हारे भीतर कोई द्वार खुलने लगे, कोई झरोखा और तुम्हारे भीतर एक शराब ढलने लगे तो तुम किसी को कहना मत, गुपचुप पी जाना! कोई इसे समझेगा नहीं। दूसरे हंसेंगे। कहेंगे: "सम्मोहित हो गये हो, कि पागल हो गये, कि खोया तुमने अपनी बुद्धि से हाथ अब। किस चक्कर में पड़ गये हो?" किसी से कहना मत, चुपचाप पी लेना। क्योंकि जो दूसरों का अनुभव नहीं है, वह दूसरे समझ न पायेंगे।

फगुनाये क्षण में अनगायी गजल उगी
बौराये मन में गीतों की फसल उगी
खुलते भिनसारे बनजारे सपन हुए
नयनों की भाषा अनयारे नयन हुए
श्याम साथ राधा दोपहरी सांझ हुई
अब न रही बाधा, हुई हुई छुई मुई
बौराये मन में गीतों की फसल उगी।

जब तुम करीब-करीब मस्ती में पागल होते हो तभी गीतों की फसल उगती है।

फगुनाये क्षण में अनगायी गजल उगी

जो तुमने अभी तक गायी नहीं, वैसी गजल प्रतीक्षा कर रही है। जो गीत तुमने अभी गुनगुनाया नहीं, वह तुम्हारे बीज में पड़ा है, फूटना चाहता है, तड़प रहा है। उसे मौका दो। अगर मेरे साथ, मेरे संग बैठ तुम थोड़ा नाच लो, गुनगुना लो, तुम थोड़े डोल लो...।

श्याम साथ राधा दोपहरी सांझ हुई
अब न रही बाधा, हुई हुई छुई मुई।

किसी क्षण जब तुम मेरे साथ डोल उठते हो, जिन दूर की ऊंचाइयों पर मैं तुम्हें उड़ा ले चलना चाहता हूं, कभी तुम क्षण भर को भी पंख मार लेते हो, उसी क्षण आंसू बहते हैं। उसी क्षण तुम्हारे भीतर कोई मधुर स्वाद फैलने लगता है। तुम्हारे कंठ में कोई तृप्ति आने लगती है। कहो इसे प्रेम का क्षण, ध्यान का क्षण--एक ही बात को कहने के दो ढंग हैं।

चौथा प्रश्न: मुझे जैसा मौका मिलता है वैसा ही ध्यान या कीर्तन या कर्म करके रस ले लेता हूं। इनमें कम या ज्यादा रस का फर्क भी नहीं कर पाता। हरेक परिस्थिति से मन सध जाता है। और इस कारण अपने लिए कोई एक मार्ग नहीं चुन पाता हूं। कृपया मार्गदर्शन करें।

अब मार्ग की जरूरत नहीं है। अगर तुम हर स्थिति में मन के सधने का मजा लेने लगे हो, अब मार्ग की जरूरत नहीं। औषधि उनके लिए है जो बीमार हों। अगर स्वास्थ्य आने लगा तो अब औषधि की बात ही मत करो। अब तो भूल कर औषधि के पास मत जाना। क्योंकि औषधि, बीमार हो तो लाभ करती है; और अगर स्वस्थ हो तो औषधि नुकसान करती है। औषधि जहर है।

तुम पूछते हो, "अब तो हर कहीं कीर्तन में, ध्यान में या कर्म करके रस ले लेता हूं!"

बस तो बात हो गयी। जहां रस आने लगा वहां परमात्मा की ध्वनि आने लगी।

रसो वै सः। उस प्रभु का रूप-रंग रस का है। उस प्रभु का नाम रस है। सुंदरतम नाम रस है। रस ही उसे कहो। जहां रस मिल जाये वहां प्रभु मौजूद है। रस मिले तो समझना कि पास ही कहीं मौजूद है। द्वार-दरवाजे खोल कर स्वागत को तैयार हो जाना: आ गया है! रस उसके पैरों की भनक है, उसके पायल की झनक है। रस उसकी मौजूदगी की खबर है। तो अगर काम में, ध्यान में, प्रार्थना, कीर्तन, भजन में, संगीत में, नाच में, सबमें रस आने लगा तो बात हो गयी। अब तुम्हें कोई जरूरत मार्ग चुनने की नहीं है। ऐसे ही चले चलो।

"हरेक परिस्थिति में मन सध जाता है।"

तो अब इसको समस्या मत बनाओ। यह तो समस्या का समाधान होने लगा। ऐसा ही होना चाहिए। ऐसा ही तो होना चाहिए।

अब तुम पूछते हो: "इस कारण अपने लिए कोई एक मार्ग नहीं चुन पाता।"

अब तुम्हें कोई जरूरत नहीं है। रस तुम्हारा मार्ग है। अब सब तरफ से रस को चुनते चलो।

कैसी है पहचान तुम्हारी
राह भूलने पर मिलते हो!
कैसी है पहचान तुम्हारी
राह भूलने पर मिलते हो!
पथरा चलीं पुतलियां, मैंने
विविध धुनों में कितना गाया!
दायें बायें ऊपर नीचे
दूर-पास तुमको कब पाया!
धन्य कुसुम पाषाणों पर ही
तुम खिलते हो तो खिलते हो
कैसी है पहचान तुम्हारी
राह भूलने पर मिलते हो!

रस तुम्हारी राह है। और रस का अर्थ होता है: डूबना। रस का अर्थ होता है: भूलना। रस का अर्थ होता है: ऐसे लवलीन हो जाना, ऐसे तल्लीन हो जाना कि मिट ही जाओ।

रस यानी शराबी का मार्ग। और जिसने रस को जान लिया उसके लिए सारा जगत मधुशाला हो जाता है। और तब तुम एक दिन पाओगे कि परमात्मा ही साकी बन कर ढाल रहा है; वही तुम्हें पिला रहा है। वही है पिलाने वाला। वही है पीने वाला। उसी की है प्याली, उसी के रस से भरी है। उसी का रस है सुराही में। वही ढाल रहा है। सब कुछ उसी का है।

रस तुम्हारा मार्ग है। अब और मार्ग खोजने की कोई जरूरत नहीं। बस इतना ही स्मरण रखना: जहां भूल जाओगे वहीं उससे मिलन होने लगेगा।

रच सकते हैं अच्युत ही महा रास
बंधी हुई है उनके ही स्थिर से गोपिकाओं की च्युति
गूंजता है रागिनियों के वैविध्य में उनका ही ओंकार

व्यक्त है उनकी ही लीला में अव्यक्त ऋतंभरा।

यह जो सारा रसमुग्ध संसार है--यह जो कहीं रस हरा हो कर वृक्षों में बह रहा, कहीं चांदत्तारों में ज्योति बन कर झर रहा; यह जो रस से भरा संसार है--कहीं मोर नाच रहा, कहीं बादल घुमड़ आये; यह जो रस से भरा संसार है--पानी के झरनों में, पत्थरों-चट्टानों में या आंखों में--एक ही सब तरफ से सब रूपों में प्रगट हो रहा है! यह जो रास चल रहा है, यह जो लीला है, यह जो खेल है, इसमें तुम तल्लीन होना सीख गये, इसमें डुबकी लगाने लगे, इसमें ऐसे मंत्रमुग्ध होने लगे कि तुम बचे ही नहीं पीछे, मंत्रमुग्धता ही रही, तल्लीनता ही रही, तुम न रहे; नाच तो बचा, नाचने वाला न बचा--तो रस उपलब्ध होगा। गीत तो बचा, गानेवाला न बचा...!

यहां मैं बोल रहा हूं; अगर बोलने वाला भी पीछे है तो इस बोलने में कुछ बहुत सार नहीं है। यहां तुम सुन रहे हो; अगर सुनने वाला भी मौजूद है तो सुनने में कुछ रस नहीं। इधर बोलने वाला नहीं है, उधर सुनने वाला न हो--तब दोनों की एक गांठ बन जाती है; दोनों बंध जाते हैं, भांवर पड़ जाती है! न बोलने वाला बोलने वाला है, न सुनने वाला सुनने वाला है। जब न गुरु गुरु होता न शिष्य शिष्य होता, जब दोनों एक-दूसरे में ऐसे लीन हो जाते हैं कि पता नहीं चलता कि कौन कौन है; जब सीमाएं एक-दूसरे के ऊपर छा जातीं, सीमाएं टूट जातीं, बिखर जातीं--वहीं, वहीं रस है। रस तुम्हारा मार्ग है!

पांचवां प्रश्न: भगवान बुद्ध को किसी ने गाली दी तो उन्होंने कहा, मैं यह भेंट नहीं लेता, इसे वापिस ले जाओ। रमण महर्षि हठी-विवादी के पीछे लाठी ले कर भागे। और आप पर जब किसी ने जूता फेंका तो आपने उसे एक हाथ में ले कर उसके जोड़े जूते की मांग की। आत्मोपलब्ध पुरुषों के व्यवहार में यह जो भिन्नता दिखती है, क्या उस पर कुछ प्रकाश डालने की अनुकंपा करेंगे?

भिन्नता दिखती ही है, है नहीं। भिन्नता दिखती ही है, क्योंकि परिस्थितियां भिन्न-भिन्न हैं। बुद्ध को जिसने गाली दी, वही आदमी मुझ पर जूता नहीं फेंका। मैं तो ठीक वहीं हूं। रमण को जिस आदमी ने अपमानित किया, वही आदमी मेरे ऊपर जूता नहीं फेंका।

तो जो फर्क पड़ रहा है, वह बुद्धों में नहीं पड़ रहा है। जो फर्क पड़ रहा है वह जूता फेंकने वाले, गाली देने वाले, अपमानित करने वाले से पड़ रहा है। इस भेद को ठीक से समझना।

अगर मुझ पर जूता फेंकने वाला भी वही आदमी होता जिसने बुद्ध को गाली दी थी तो मैं भी उससे कहता कि मैं यह भेंट नहीं लेता। जिसने रमण का अपमान किया था, अगर वही आदमी होता तो मैं भी उसके पीछे लाठी ले कर दौड़ता।

जाग्रत चैतन्य का तो इतना ही अर्थ है कि जैसी परिस्थिति हो उस परिस्थिति में बिना पूर्व-नियोजन के, बिना पूर्व-आयोजन के जो घटे उसे घटने देना। बुद्धपुरुष तो दर्पण की भांति होते हैं।

मैंने सुना, मुल्ला नसरुद्दीन को राह के किनारे एक दर्पण पड़ा हुआ मिल गया। उसने उसमें अपना चेहरा देखा: "चमत्कार हुआ कि बिलकुल पिता जी जैसे लगते हैं। मगर पिता जी ने फोटो कब उतरवायी? यह भी हद हो गयी! हमको पता ही न चला कि पिता जी ने फोटो कब उतरवा ली! और पिता जी तो मर भी चुके। तो उसने कहा, अच्छा हुआ मिल गयी पड़ी हुई। चलो घर ले चलें, सम्हाल कर रख लें।" उसने जा कर छिपा कर ऊपर रख दिया।

अब पत्नियों से कोई दुनिया में चीज छिपा तो सकता ही नहीं। ऐसी दबी आंख पत्नी देखती रही कि कुछ लाया है छिपा कर। कुछ छिपा रहा है--रुपये-पैसे हैं या क्या मामला है कि कोई हीरा-जवाहरात लग गया! जब सब सो गये दोपहर में तो वह ऊपर गयी। खोज-खाज कर उसने दर्पण निकाला। देखा। "अरे", उसने कहा, "तो इस रांड के पीछे पड़ा है?" वह समझी कि किसी औरत की फोटू ले आया है।

दर्पण तो दर्पण है। तुम्हारी ही तस्वीर उसमें दिखाई पड़ती है। बुद्धत्व यानी दर्पण। तो बुद्ध जो करते हैं या उनसे जो होता है, ठीक से सोचना, वे करते नहीं, सिर्फ तुम्हारी तस्वीर झलकती है। इसलिए अलग-अलग मालूम होता है। अलग-अलग कुछ भी नहीं है; अलग-अलग हो नहीं सकता। लेकिन परिस्थिति अलग है। क्योंकि एक पात्र बदल गया। असली पात्र तो बदल गया। बुद्ध तो दर्पण मात्र हैं। कृत्य तो उस आदमी का है जो गाली दिया; जो जूता फेंका; जिसने अपमान किया। करने वाला तो वह है। ये बुद्ध तो न करने वाले हैं। तो इनसे तो जो प्रतिबिंब बनता है, वह बनता है। जो बन जाता है, बन जाता है।

अगर तुम इस तरह देखोगे तो तुम चकित हो जाओगे। तब तुम्हें एक बात और भी समझ में आ जायेगी, प्रसंगवशात उसे भी समझ लो।

कृष्ण ने कुछ कहा, अष्टावक्र कुछ कह रहे हैं, बुद्ध ने कुछ कहा, क्राइस्ट ने कुछ कहा--इसमें भी इन्होंने भिन्न-भिन्न बातें नहीं कही हैं। यह भिन्न-भिन्न शिष्यों के कारण ऐसा मालूम पड़ता है। अगर अर्जुन उपलब्ध होता अष्टावक्र को तो गीता ही पैदा होती; कुछ और पैदा नहीं हो सकता था। और अगर कृष्ण को जनक मिलता तो यह अष्टावक्र की महागीता पैदा होती, कुछ और पैदा नहीं हो सकता था। अगर जीसस भारत में बोलते, हिंदुओं से बोलते, तो बुद्ध जैसे बोलते; लेकिन यहूदियों से बोल रहे थे तो फर्क पड़ गया। दर्पण बदला। दर्पण बदला--अपने कारण नहीं। दर्पण बदला--जो उसके सामने पड़ा, उसके कारण। दर्पण के भीतर तो कोई चित्र है नहीं। कोई न हो तो दर्पण खाली हो जाये।

इसलिए अगर बुद्ध और जीसस, नानक और कबीर और मुहम्मद और जरथुस्त्र का मिलना हो जाये तो ऐसा ही होगा, वहां कुछ भी न होगा।

जैसे दर्पण के सामने दर्पण रख दो, क्या होगा? कुछ न बनेगा। दर्पण में दर्पण झलकता रहेगा। ये सब बैठे रहेंगे चुपचाप। ये एक-दूसरे में अपने को ही पायेंगे। यहां कुछ भेद ही न होगा। भेद पैदा होता है--शिष्य के कारण, सुनने वाले के कारण। क्योंकि असली वही है। बुद्ध तो खो गये। वे तो परम शून्य हो गये हैं।

आखिरी प्रश्न--पूछा है स्वामी आनंद भारती, हिम्मत भाई जोशी ने। प्रश्न तो है भी नहीं, इतना ही लिखा है: हम्मा के प्रणाम!

मगर कुछ कहने का मन उनका हुआ होगा। कई बार ऐसा होता है, कुछ कहने का मन होता है और कहने को भी कुछ नहीं होता। कुछ गाने का मन होता है, गीत कुछ बनता भी नहीं। कुछ धुंधला-धुंधला होता है, साफ पकड़ में नहीं आता, शब्द में बंधता नहीं। सच तो यह है कि जब भी कुछ महत्वपूर्ण होता है तो शब्द में बंधना मुश्किल हो जाता है। तो उस क्षण आदमी क्या करे? कभी रोता है; आंख से आंसू गिरा देता है। वह भी कुछ कह रहा है। कभी हंसता; हंसी से कुछ कह रहा है। कभी चुप रह जाता, अवाक रह जाता; चुप्पी से कुछ कह रहा है। कभी अपने प्रणाम ही निवेदित कर देता, और क्या करे?

हजारों-हजारों सालों से बुद्धपुरुषों के चरणों में लोगों ने सिर रखे हैं--किसी और कारण से नहीं। कुछ करने को सूझता नहीं। कुछ और क्या करें?

पश्चिम में पैरों पर सिर रखने की कोई परंपरा नहीं है। क्योंकि बहुत बुद्धपुरुष नहीं हुए। यह तो बुद्धपुरुषों के कारण पैदा हुई परंपरा। क्योंकि सब खाली मालूम पड़ता है, क्या कहें? धन्यवाद भी देते है तो धन्यवाद शब्द थोथा मालूम पड़ता है। तब एक ही उपाय है कि पूरा सिर चरणों पर रख दें।

तुमने कभी खयाल किया, क्रोध आ जाता है तो तुम जूता उतार कर किसी के सिर पर मार देते हो। क्या कर रहे हो तुम? तुम यह कह रहे हो कि हम अपने पैर तुम्हारे सिर पर रखते हैं--प्रतीकात्मक रूप से। सिर पर पैर रखना बड़ा कठिन काम है--उछलना-कूदना पड़े, हाथ-पैर टूट जायें--तो संकेत के रूप में जूता रख देते हैं सिर पर; कि लो, तुम्हारा सिर और हमारा जूता!--जब क्रोध होता है। और जब कोई बहुत गहन श्रद्धा पैदा हो तब

तुम क्या करोगे? तब तुम किसी के चरणों पर अपना सिर रख देते हो कि अब हम और क्या करें। अब कुछ कहने को नहीं।

हिम्मत भाई वर्षों से मेरे साथ जुड़े हैं--बहुत ढंग से जुड़े हैं। कभी दोस्ती में, कभी दुश्मनी में; कभी श्रद्धा, कभी अश्रद्धा; कभी मेरे पक्ष में, कभी विपक्ष में--सब रंग में जुड़े हैं! बुरी तरह जुड़े हैं! कच्चा काम नहीं है। सब रंगों से जुड़े हैं। अब तो धीरे-धीरे सब रंग भी चले गये। अब सिर्फ जोड़ रह गया है।

क्या मेरा है जो आज तुम्हें दे डालूं!

मिट्टी की अंजलि में मैंने जोड़ा स्नेह तुम्हारा
बाती की छाती दे तुमने मेरा भाग्य संवारा
करूं आरती तो भी दिखते हैं वरदान तुम्हारे
अपने प्राणों के दीप कहां जो बालूं!
क्या मेरा है जो आज तुम्हें दे डालूं!
छंदों में जो लय लहराती वह पदचाप तुम्हारी
पायल की रुन-झुन पर मेरा राग मुखर बलिहारी
शब्दों में जो भाव मचलते उन पर क्या वश मेरा
अपने को ही बहलाना है तो गा लूं!
क्या मेरा है जो आज तुम्हें दे डालूं!

सब तरह से वे मेरे करीब आये हैं। और इसी तरह कोई करीब आता है--सब ऋतुओं से गुजर कर करीब आता है।

गुरु और शिष्य का संबंध एक रंग का नहीं है, सतरंगा है। एक रंग का हो तो बेस्वाद हो जाये। जिसके साथ श्रद्धा जोड़ी है उस पर कई बार अश्रद्धा भी आती है--स्वाभाविक है। जिसके साथ लगाव बांधा है उस पर कभी नाराजगी भी होती है--स्वाभाविक है। जिसको सब दे डालना चाहा है, कभी ऐसा लगता है धोखा तो नहीं हो गया, भूल तो नहीं हो गयी, चूक तो नहीं हो गयी। कभी चिंता भी उठती है, संदेह भी उठता है। यह बिलकुल स्वाभाविक है। ऐसे ही धूप-छांव में मन पकता है।

हिम्मत भाई पके और उनका फल गिर गया। अब धूप-छांव का खेल नहीं रहा है। अब वे परम विश्रांति में मेरे पास बैठ गये हैं। इसी भाव को प्रगट करने के लिए उनके मन में यह बात उठी होगी कि लिख कर भेज दें: हम्मा के प्रणाम! मुझे पता है। लिख कर न भी भेजो तो भी पता है। बहुत हैं जो कभी लिख कर कुछ नहीं भेजते, उनका भी पता है। यह घटना कुछ ऐसी है, जब घट जाती है तो पता चल ही जाता है। यह घटना इतनी बड़ी है। जब तुम वस्तुतः झुक जाते हो तो तुम्हारी तरंगत्तरंग कहने लगती है, तुम्हारा उठना-बैठना, तुम्हारी आंख का पलक का झपना, तुम्हारे हृदय की धड़कन-धड़कन कहने लगती है कि घटना घट गयी, मिलन हो गया है!

हरि ॐ तत्सत्!

इन्कावनवां प्रवचन

शून्य की वीणा: विराट के स्वर

अष्टावक्र उवाच।

कृतार्थोऽनेन ज्ञानेनेत्येवं गलितधीः कृती।
पश्यंच्छृण्वन्स्पृशजिं घ्रन्नश्नन्नास्ते यथासुखम्।। १६४।।
शून्या दृष्टिर्वृथा चेष्टा विकलानीन्द्रियाणि च।
न स्पृहा न विरक्तिर्वा क्षीण संसार सागरे।। १६५।।
न जागर्ति न निद्राति नोन्मीलति न मीलति।
अहो परदशा क्वापि वर्तते मुक्तचेतसः।। १६६।।
सर्वत्र दृश्यते स्वस्थः सर्वत्र विमलाशयः।
समस्तवासनामुक्तो मुक्तः सर्वत्र राजते।। १६७।।
पश्यंच्छृण्वनन्स्पृर्शाग्ज घ्रन्नश्नन्गृह्यन्वदन्व्रजन्।
ईहितानीहितैर्मुक्तो मुक्त एव महाशयः।। १६८।।
न निन्दति न च स्तौति न हृष्यति न कुप्यति।
न ददाति न गृहणाति मुक्तः सर्वत्र नीरसः।। १६९।।

कृतार्थोऽनेन ज्ञानेनेत्येवं गलितधीः कृती।
पश्यंच्छृण्वन्स्पृशजिं घ्रन्नश्नन्नास्ते यथासुखम्।।

"इस ज्ञान से कृतार्थ अनुभव कर गलित हो गयी है बुद्धि जिसकी, ऐसा कृतकार्य पुरुष देखता हुआ, सुनता हुआ, स्पर्श करता हुआ, सूंघता हुआ, खाता हुआ, सुखपूर्वक रहता है।"

यह जो ज्ञान है कि मैं साक्षी हूं, यह जो बोध है कि मैं कर्ता नहीं हूं--यही कृतार्थ कर जाता है। बड़ा विरोधाभासी वक्तव्य है। क्योंकि कृतार्थ का तो अर्थ होता है--करके जो तृप्ति मिलती है; कृति से जो अर्थ मिलता; कुछ कर लिया। एक चित्रकार ने चित्र बनाया; चित्र बन गया, तो जो तृप्ति होती है। कृतार्थ का तो अर्थ ऐसा है: तुम एक भवन बनाना चाहते थे, बना लिया। उसे देख कर प्रफुल्लित होते हो कि जो करना चाहा था कर लिया; हजार झंझटें थीं, रुकावटें थीं, बाधाएं थीं--पार कर गये, विजय मिली, वासना पूरी हुई।

तो कृतार्थ शब्द का तो साधारणतः ऐसा अर्थ होता है--करने से जो सुख मिलता है। अकृतार्थ वही है जिसने किया और न कर पाया; हारा, पराजित हुआ, गिर गया--तो विषाद से भर जाता है। लेकिन अष्टावक्र की भाषा में, ज्ञानियों की भाषा में कृतार्थ वही है जिसने यह जाना कि कर्ता तो मैं हूं ही नहीं। जो कर्ता बन कर ही दौड़ता रहा वह लाख कृतार्थ होने की धारणाएं कर ले--कभी कृतार्थ होता नहीं। एक चीज बन जाती है, दूसरी को बनाने की वासना पैदा हो जाती है। एक वासना जाती नहीं, दस की कतार खड़ी हो जाती है। एक प्रश्न मिटता नहीं, दस खड़े हो जाते हैं। एक समस्या से जूझे कि दस समस्याएं मौजूद हो जाती हैं। इसे कहा है संसार-सागर। लहर पर लहर चली आती है। तुम एक लहर से जूझो, किसी तरह एक को शांत करो, दूसरी आ रही है। लहरों का अनंत जाल है। इस भांति तुम जीत न सकोगे।

एक-एक समस्या से लड़ कर तुम कभी जीत न सकोगे--यह बहुमूल्य सूत्र है।

साधारणतः मनुष्य की बुद्धि ऐसा सोचती है, एक-एक समस्या से सुलझ लें।

मेरे पास लोग आते हैं। कोई कहता है, क्रोध की बड़ी समस्या है; क्रोध को जीत लूं तो बस सब हो गया। कोई कहता है, कामवासना से पीड़ित हूं, जाती नहीं; उम्र भी गयी, देह भी गयी, लेकिन वासना अभी भी मंडराती है; बस इससे छुटकारा हो जाये तो मुझे कुछ नहीं चाहिए। कोई लोभ से पीड़ित है, कोई मोह से पीड़ित है, किसी की और समस्याएं हैं। लेकिन अधिकतर ऐसा होता है कि जब भी कोई एक समस्या लेकर आता है तो वह एक खबर दे रहा है--वह खबर दे रहा है कि वह सोचता है: समस्या एक है। एक दिखाई पड़ रही है अभी; पीछे लगी कतार तुम्हें तभी दिखाई पड़ेगी जब यह एक हल हो जाये। क्यू लगा है। तो तुम किसी तरह क्रोध को हल कर लो, तो तुम अचानक पाओगे कि कुछ और पीछे खड़ा है। क्रोध ने नया रूप ले लिया, नया ढंग ले लिया।

पश्चिम में मनस्विद इसी चेष्टा में संलग्न हैं: एक-एक समस्या को हल कर लो। जैसे कि समस्याएं अलग-अलग हैं! वैसी दृष्टि ही गलत है। सब समस्याएं इकट्ठी जुड़ी हैं--एक जाल है।

देखा मकड़ी का जाला? एक धागे को हिला दो, पूरा जाल हिलता है! ऐसा समस्याओं का जाल है, संयुक्त है। क्रोध लोभ से जुड़ा है, लोभ मोह से जुड़ा है, मोह काम से जुड़ा है--सब चीजें संयुक्त हैं। तुम एक को हल न कर पाओगे। एक को हल करने चलोगे, कभी न हल कर पाओगे, क्योंकि अनेक हैं समस्याएं; एक-एक करके चले, कभी हल न होगा। यह तो ऐसा ही होगा जैसे कोई चम्मच-चम्मच पानी सागर से निकाल कर सागर को खाली करने की चेष्टा करता हो। यह तो तुमने बहुत छोटा मापदंड ले लिया। इस विराट को तुम हल न कर पाओगे।

इसलिए पूरब ने एक नयी दृष्टि खोजी: क्या कोई ऐसा उपाय है कि हम सारी समस्याओं को एक झटके में समाप्त कर दें। इंच-इंच नहीं, टुकड़ा-टुकड़ा नहीं, पूरी समस्या को हल कर दें। समस्या मात्र उखड़ जाये। लहर से न लड़ें; उस हवा को ही बहना बंद कर दें, जिसके कारण हजारों लहरें उठती हैं।

वही सूत्र है साक्षी का: तुम समस्याओं को हल मत करो; तुम समस्याओं के पीछे खड़े हो जाओ। तुम बस देखो। तुम्हारी दृष्टि अगर थिर हो गयी तो समस्याएं गिर जायेंगी। क्योंकि समस्याएं पैदा होती हैं तुम्हारी दृष्टि की अथिरता से। तुम्हारी दृष्टि का कंपन ही समस्याओं को पैदा करता है।

तो गहरे में एक ही समस्या है कि तुम अंधे हो। गहरे में एक ही समस्या है कि तुम्हारी दृष्टि थिर नहीं। गहरे में एक ही समस्या है कि तुम्हारी आंखों में अंधेरा है, या तुमने पलक खोलने की कला नहीं सीखी। उस एक को हल कर लो।

तो पूरब में हम कहते हैं: "एक साधे सब सधे, सब साधे सब जाये।" यह सदियों की अनुभूति का निचोड़ है इन सीधे-सादे वचनों में: एक साधे सब सधे, सब साधे सब जाये। तो तुम खंड-खंड मत साधना, नहीं तो कभी जीत न पाओगे; पत्ती-पत्ती मत काटना, अन्यथा वृक्ष कभी गिरेगा नहीं। जड़ को काट डालना। जड़ है अहंकार। जड़ है तादात्म्य। जड़ है इस बात में कि मैंने मान रखा है कि मैं देह हूं, जो कि सच नहीं। मैं देह नहीं हूं। मैंने मान रखा है कि मैं मन हूं, जो कि सच नहीं है। इन झूठों की मान्यताओं के कारण फिर हजार झूठों की कतार खड़ी हो गयी है। तुम मूल झूठ को हटा लो, तुम आधारशिला को खींच लो--यह ताशों का भवन जो खड़ा है, तत्क्षण गिर जायेगा। तुम आधार से जूझ लो। तुम अनेक से मत लड़ो। यह अनेक गुरियों के बीच पिरोया हुआ एक ही धागा है। तुम एक-एक गुरिये से सिर मत मारो। तुम उस एक धागे को खींच लो, यह माला बिखर जायेगी। यह माला बचेगी नहीं। और तुम एक-एक गुरिये से लड़ते रहे और भीतर का धागा मजबूत रहा, तो तुम जीत न पाओगे। गुरिये अनंत हैं। तुम्हारी सीमा है। तुम्हारा समय है। तुम्हारी क्षमता...। गुरिये अनंत हैं। क्या-क्या हल करोगे? मनुष्य-जाति हल करने में लगी है।

दुनिया में दो ही तरह के लोग हैं। एक, जो समस्याओं को अलग-अलग हल कर रहे हैं; और एक, जो समस्याओं के मूल के प्रति जाग रहे हैं। जो मूल के प्रति जागता है, जीत जाता है। देख लो खड़े हो कर। जरा भी चुनाव मत करो। क्रोध है--सही, रहने दो; तुम दूर खड़े हो कर क्रोध को देखने वाले बन जाओ। कभी द्रष्टा का थोड़ा स्मरण करो। काम है, लोभ है--द्रष्टा का स्मरण करो। तुम चकित होओगे। तुम धन्य-भाव से भर जाओगे।

जैसे ही तुम क्रोध को गौर से देखोगे, क्रोध जाने लगा। तुम्हारे देखते-देखते क्रोध का धुआं विलीन हो जाता है और अक्रोध की परम शांति छूट जाती है। तुम्हारे देखते-देखते वासना कहां खो गयी, पता नहीं चलता--और एक निर्वासना का रस बहने लगता है।

"साक्षी के ज्ञान से कृतार्थ अनुभव कर गलित हो गयी है बुद्धि जिसकी...।"

यह शब्द "गलितधीः" बड़ा महत्वपूर्ण है। यह ध्यान की परिभाषा है। यह अनिर्वचनीय का निर्वचन है। जो नहीं कहा जा सकता है, उसकी तरफ बड़ा गहरा संकेत है। गलितधीः--जिसकी बुद्धि गल गयी। ध्यान यानी गलितधीः--जिसकी बुद्धि गल गयी।

बुद्धि क्या है? सोच-विचार, ऊहापोह, प्रश्न-उत्तर, चिंतन-मनन, तर्क-वितर्क, गणित-भाग। बुद्धि का अर्थ है: मैं हल कर लूंगा। "बुद्धि गल गयी" का अर्थ है: मेरे हल किये हल नहीं होता है। सच तो यह है जितना मैं हल करना चाहता हूं उतना उलझता है। मेरे हल करने से हल तो होता ही नहीं; मेरे हल करने से ही उलझन बढ़ी जा रही है।

गलितधीः का अर्थ है कि मैं अपने को हटा लेता हूं; मैं हल न करूंगा; जो है, जैसा है, रहने दो। मैं बीच से हटा जाता हूं। और चमत्कार घटित होता है: तुम्हारे हटते ही सब हल हो जाता है। क्योंकि मौलिक रूप से तुम्हीं कारण हो उलझाव के।

कभी तुमने देखा कि जिस समस्या के साथ तुम जुड़ जाते हो वहीं हल मुश्किल हो जाता है!

ऐसा समझो, किसी डाक्टर की पत्नी बीमार है। आपरेशन करना है। बड़ा सर्जन है डाक्टर, लेकिन अपनी पत्नी का आपरेशन न कर सकेगा। क्या अड़चन आ गयी? न मालूम कितनी स्त्रियों का आपरेशन किया है! कभी हाथ न कंपे। अपनी पत्नी को टेबल पर लिटाते ही हाथ कंपते हैं। क्यों? अपनी है! जुड़ गया। एक तादात्म्य बन गया: "यह स्त्री मेरी पत्नी है, कहीं मर न जाए! कहीं भूल-चूक न हो जाए! आखिर मैं आदमी ही हूं! बचा पाऊंगा, न बचा पाऊंगा!" दूसरी स्त्रियों के आपरेशन किए थे, तब ये सब बातें नहीं थीं। तब वह शुद्ध सर्जन था। तब कोई तादात्म्य न था। तब बड़ी तटस्थता थी। तब वह सिर्फ अपना काम कर रहा था। कुछ लेना-देना न था। बचेगी न बचेगी, बच्चों का क्या होगा, क्या नहीं होगा--यह सब कोई चिंता न थी। वह बाहर था। उसने अपने को जोड़ा नहीं था। इस पत्नी के साथ उसने अपने को जोड़ लिया: "यह मेरी है।" बस, यह मेरे के भाव ने समस्या खड़ी कर दी।

तो बड़े से बड़े सर्जन को भी अपने बच्चे या अपनी पत्नी का आपरेशन करना हो, तो किसी और सर्जन को बुलाना पड़ता है, चाहे नंबर दो के सर्जन को बुलाना पड़े, उससे कम हैसियत का हो सर्जन; लेकिन खुद हट जाना पड़ता है, क्योंकि तादात्म्य है।

जिस चीज से तुम जुड़ जाते हो वहीं समस्या खड़ी हो जाती है। जिस चीज से तुम हट जाते हो वहीं समस्या हल हो जाती है। इसे तुम अपने जीवन में पहचानना, परखना। जहां समस्या खड़ी हो, वहां गौर से देखना। तुम जुड़ गए हो। जरा छिटको। जरा अलग होओ। इस अलग हो जाने का नाम ही साक्षी है। और जुड़ कर फिर तुम हल करना चाहते हो! आदमी की बड़ी सीमा है। जगत विराट है। समस्या बड़ी है। और हमारे पास बड़ी छोटी बुद्धि है। है ही क्या हमारे पास बुद्धि के नाम पर? कुछ विचारों का संग्रह। इसी के आधार पर हम जीवन की इस महालीला को हल करने चले हैं।

ऐसा समझो कि एक चींटी आदमी के जीवन को समझना चाहे, तो तुम हंसोगे। तुम कहोगे, पागल हो जाएगी। ऐसा समझो कि एक चींटी गीता पर सरक रही है और गीता को समझने की चेष्टा करना चाहे, तो तुम हंसोगे। तुम कहोगे, पागल हो जाएगी। लेकिन अपनी तो सोचो। हमारी हैसियत इस विराट विश्व पर चींटी से कुछ ज्यादा है? शायद चींटी तो गीता को समझ भी ले, क्योंकि गीता और चींटी में बहुत बड़ा अंतर नहीं है। अनुपात, बहुत बड़ा भेद नहीं है। लेकिन हममें और विराट विश्व में तो अनंत भेद है। इतना विराट है यह विश्व और हम इतने छोटे हैं! हम इससे ही नापने चले हैं। हम अपने छोटे-छोटे विचारों को लेकर कल्पना कर रहे हैं

कि जगत के रहस्य को हल कर लेंगे। यहीं भूल हुई जा रही है। हल तो कुछ भी नहीं होता, उलझन बढ़ती जाती है।

हमने जितना हल किया है उतनी उलझन बढ़ गयी है। एक तरफ से हल करते हैं, दूसरी तरफ से उलझन बढ़ जाती है।

पश्चिम में एक नया आंदोलन चलता है, इकॉलॉजी--कि प्रकृति को नष्ट मत करो, अब और नष्ट कत करो। हालांकि हमने कोशिश की थी हल करने की। हमने डी. डी. टी. छिड़का, मच्छर मर जायें। मच्छर ही नहीं मरते, मच्छरों के हटते ही वह जो जीवन की शृंखला है उसमें कुछ टूट जाता है। मच्छर किसी शृंखला के हिस्से थे। वे कुछ काम कर रहे थे।

हमने जंगल काट डाले। सोचा कि जमीन चाहिए, मकान बनाने हैं। लेकिन जंगल ही काटने से जंगल ही नहीं कटते, वर्षा होनी बंद हो गयी। क्योंकि वे वृक्ष बादलों को भी निमंत्रण देते थे, बुलाते थे। अब बादल नहीं आते, क्योंकि वृक्ष ही न रहे जो पुकारें। उन वृक्षों की मौजूदगी के कारण ही बादल बरसते थे; अब बरसते भी नहीं; अब ऐसे ही गुजर जाते हैं। हमने जंगल काट डाले, कभी हमने सोचा भी नहीं कि जंगल के वृक्षों से बादल का कुछ लेना-देना होगा। यह तो बाद में पता चला जब हम जंगल साफ कर लिये। अब वृक्षारोपण करो। जिन्होंने वृक्ष कटवा दिये वही कहते हैं, अब वृक्षारोपण करो। अब वृक्ष लगाओ, अन्यथा बादल न आयेंगे। हमने तो सोचा था अच्छा ही कर रहे हैं; जंगल कट जायें, बस्ती बस जाये।

हमने आदमी के जीवन की अवधि को बढ़ा लिया, मृत्यु-दर कम हो गयी। अब हम कहते हैं, बर्थ-कंट्रोल करो। पहले हमने मृत्यु-दर कम कर ली, अब हम मुश्किल में पड़े हैं, क्योंकि संख्या बढ़ गयी। अब आदमी बढ़ते जाते हैं, पृथ्वी छोटी पड़ती जाती है। अब ऐसा लगता है अगर यह संख्या बढ़ती रही तो इस सदी के पूरे होते-होते आदमी अपने हाथ से खतम हो जायेगा।

तो जिन्होंने दवाएं ईजाद की हैं और जिन्होंने आदमी की उम्र बढ़ा दी है, पच्चीसत्तीस साल की औसत उम्र को खींच कर अस्सी साल तक पहुंचा दिया--इन्होंने हित किया? अहित किया?--बहुत कठिन है तय करना। क्योंकि अब बच्चे पैदा न हों, इसकी फिक्र करनी पड़ रही है। लाख उपाय करोगे तो भी झंझट मिटने वाली नहीं है। अब अगर बच्चों को तुम रोक दोगे तो तुम्हें पता नहीं है कि इसका परिणाम क्या होगा।

मेरे देखे, अगर एक स्त्री को बच्चे पैदा न हों तो उस स्त्री में कुछ मर जायेगा। उसकी "मां" कभी पैदा न हो पायेगी। वह कठोर और क्रूर हो जायेगी। उसमें हिंसा भर जायेगी। बच्चे जुड़े हैं। जैसे वृक्ष बादल से जुड़े हैं, ऐसे बच्चे मां से जुड़े हैं--और भी गहराई से जुड़े हैं। फिर क्या परिणाम होंगे, मां को किस तरह की बीमारियां होंगी, कहना मुश्किल है। क्योंकि अब तक स्त्रियां अनेक बच्चे पैदा करती रही हैं, तो हमें पता नहीं है। अब हम कहते हैं: "दो या तीन बस।" अब यह "दो या तीन बस" कहने पर स्त्री पर क्या परिणाम होंगे, इसका हमें कुछ पता नहीं। अभी हम कहते हैं कि संतति-नियमन की टिकिया ले लो। यह टिकिया स्त्री के शरीर में क्या परिणाम लायेगी, इसका भी हमें कुछ पता नहीं है। कितनी स्त्रियां पागल होंगी, कितनी स्त्रियां कैंसर से ग्रस्त होंगी, क्या होगा--कुछ भी नहीं कहा जा सकता। अभी हमें पता नहीं है।

इंग्लैंड में एक दवा ईजाद हुई, जिससे कि स्त्रियों को बच्चे बिना दर्द के पैदा हो सकते हैं। उसका खूब प्रयोग हुआ। लेकिन जितने बच्चे उस दवा को लेने से पैदा हुए--सब अपंग, कुरूप, टेढ़े-मेढ़े...। मुकदमा चला अदालत में। लेकिन तब तक तो भूल हो गयी थी; अनेक स्त्रियां ले चुकी थीं। बिना दर्द के बच्चे पैदा हो गये, लेकिन बिना दर्द के बच्चे बिलकुल बेकार पैदा हो गये, किसी काम के पैदा न हुए। तब कुछ खयाल में आया कि शायद स्त्री को जो प्रसव-पीड़ा होती है, वह भी बच्चे के जीवन के लिए जरूरी है। अगर एकदम आसानी से बच्चा पैदा हो जाये तो कुछ गड़बड़ हो जाती है। शायद वह संघर्षण, वह स्त्री के शरीर से बाहर आने की चेष्टा और पीड़ा, स्त्री को और बच्चे को--शुभ प्रारंभ है।

पीड़ा भी शुभ प्रारंभ हो सकती है। अगर फूल ही फूल रह जायें जगत में और कांटे बिलकुल न बचें, तो लोग बिलकुल दुर्बल हो जायेंगे; उनकी रीढ़ टूट जायेगी; बिना रीढ़ के हो जायेंगे।

जीवन ऐसा जुड़ा है कि कहना मुश्किल है कि किस बात का क्या परिणाम होगा! कौन-सी बात कहां ले जायेगी! मकड़ी का जाला, एक तरफ से हिलाओ, सारा जाला हिलने लगता है।

नहीं, आदमी बुद्धि से कहीं पहुंचा नहीं। बुद्धि के नाम से जिसको हम प्रगति कहते हैं, वह हुई नहीं। वहम है। भ्रांति है। आदमी पहले से ज्यादा सुखी नहीं हुआ है, ज्यादा दुखी हो गया है। आज भी जंगल में बसा आदिवासी तुमसे ज्यादा सुखी है। हालांकि तुम उसे देख कर कहोगे: "बेचारा! झोपड़े में रहता है या वृक्ष के नीचे रहता है। यह कोई रहने का ढंग है? भोजन भी दोनों जून ठीक से नहीं मिल पाता, यह भी कोई बात है? कपड़े-लत्ते भी नहीं हैं, नंगा बैठा है! दरिद्र, दीन, दया के योग्य। सेवा करो, इसको शिक्षित करो। मकान बनवाओ। कपड़े दो। इसकी नग्नता हटाओ। इसकी भूख मिटाओ।"

तुम्हारी नग्नता और भूख मिट गयी, तुम्हारे पास कपड़े हैं, तुम्हारे पास मकान हैं--लेकिन सुख बढ़ा? आनंद बढ़ा? तुम ज्यादा शांत हुए? तुम ज्यादा प्रफुल्लित हुए? तुम्हारे जीवन में नृत्य आया? तुम गा सकते हो, नाच सकते हो? या कि कुम्हला गये और सड़ गये? तो कौन-सी चीज गति दे रही है और कौन-सी चीज सिर्फ गति का धोखा दे रही है, कहना मुश्किल है।

लेकिन पूरब के मनीषियों का यह सारभूत निश्चय है, यह अत्यंत निश्चय किया हुआ दृष्टिकोण है, दर्शन है कि जब तक बुद्धि से तुम चलोगे तब तक तुम कहीं न कहीं उलझाव खड़ा करते रहोगे।

गलितधीः...!

छोड़ो बुद्धि को! जो इस विराट को चलाता है, तुम उसके साथ सम्मिलित हो जाओ। तुम अलग-थलग न चलो। यह अलग-थलग चलने की तुम्हारी चेष्टा तुम्हें दुख में ले जा रही है।

आदमी कुछ अलग नहीं है। जैसे पशु हैं, पक्षी हैं, पौधे हैं, चांदत्तारे हैं, ऐसा ही आदमी है--इस विराट का अंग। लेकिन आदमी अपने को अंग नहीं मानता। आदमी कहता है: "मेरे पास बुद्धि है। पशु-पक्षियों के पास तो बुद्धि नहीं। ये तो बेचारे विवश हैं। मेरे पास बुद्धि है। मैं बुद्धि का उपयोग करूंगा और मैं जीवन को ज्यादा आनंद की दिशा में ले चलूंगा।" लेकिन कहां आदमी ले जा पाया! जितना आदमी सभ्य होता है, उतना ही दुखी होता चला जाता है। जितनी शिक्षा बढ़ती, उतनी पीड़ा बढ़ती चली जाती है। जितनी जानकारी और बुद्धि का संग्रह होता है, उतना ही हम पाते हैं कि भीतर कुछ खाली और रिक्त होता चला जाता है!

गलितधीः का अर्थ है: इस धारणा को ही छोड़ दो कि हम अलग-थलग हैं। हम इकट्ठे हैं। सब जुड़ा है। हम संयुक्त हैं। इस संयुक्तता में लीन हो जाओ, तो गलितधीः। तो तुमने बुद्धि को जाने दिया। यही ध्यान है। बुद्धि के साथ चलना तनाव पैदा करना है। बुद्धि को छोड़ कर चलने लगना विश्राम में हो जाना है।

"इस ज्ञान से कृतार्थ अनुभव कर गलित हो गयी है बुद्धि जिसकी, ऐसा कृतकार्य पुरुष देखता हुआ, सुनता हुआ, स्पर्श करता हुआ, सूंघता हुआ, खाता हुआ, सुख-पूर्वक रहता है।"

अष्टावक्र कहते हैं: फिर उसे न कुछ छोड़ना है, न कुछ पकड़ना है। जो मिल जाता है, स्वीकार है। जो नहीं मिलता तो नहीं मिलना स्वीकार है। जो होता है, वह होने देता है। उसका जीवन सहज हो जाता है।

इस सूत्र को खयाल में लेना।

तुम जिनको साधु कहते हो, उनको साधु कहना नहीं चाहिए, क्योंकि उनका जीवन सहज नहीं है। तुम्हारा जीवन असहज है, उनका जीवन भी असहज है। तुम्हारा जीवन एक दिशा में असहज है, उनका जीवन दूसरी दिशा में। तुम ज्यादा खा लेते हो, वे उपवास कर लेते हैं। मगर दोनों में कोई भी सहज नहीं। तुम जब टेबल पर बैठे हो भोजन करने तो तुम भूल ही जाते हो कि शरीर अब कह रहा कि "कृपा करो, रुको, अब ज्यादा हुआ जाता है। अब स्थान और नहीं है पेट में। अब मत लो। अब तो पानी पीने को भी जगह न रही।" लेकिन तुम खाये

चले जा रहे हो। सुनते ही नहीं। असहज हो। फिर तुमसे विपरीत तुम्हारा साधु है। साधु तुमसे विपरीत का ही नाम है। तुम एक भूल कर रहे हो, वह विपरीत भूल करता है। वह बैठा है आसन जमाये। वह कहता है, भोजन करेंगे नहीं, आज उपवास है। शरीर कहता है, भूख लगी है, पेट में आग पड़ती है। पर वह नहीं सुनता। वह कहता है: "मैं शरीर थोड़े ही हूं। मैं तो शरीर का विजेता हो रहा हूं। मैं जीत कर रहूंगा। यहीं तो मेरा सारा अहंकार दांव पर लगा है कि कौन जीतता है--शरीर जीतता है कि मैं जीतता!" यह भी असहज हो गया। एक का शरीर कह रहा था, बस करो और उसने बस न की। और एक का शरीर कह रहा था, थोड़ी कृपा करो, भूख लगी है, जल्दी पानी ले आओ, कुछ रोटी मांग लाओ। वह कहता है, नहीं जायेंगे। अपनी जिद पर अड़ा है। एक ने ज्यादा खाने की जिद की थी, एक ने न खाने की जिद कर ली--दोनों हठी हैं। दोनों में कोई भी सहज नहीं। दोनों असहज हैं।

लेकिन साधु तुम्हें सहज मालूम पड़ता है, क्योंकि तुम समझ नहीं पा रहे हो कि असहज का अर्थ क्या होता है। साधु तुम्हें संयमी मालूम पड़ता है। तुम्हें संयम का अर्थ नहीं मालूम। संयम का अर्थ होता है--संतुलित, मध्य में, अति पर जो नहीं गया। संतुलित आदमी तो तुम्हें साधु ही न मालूम पड़ेगा। जब तक अति पर न जाये तब तक तुम्हें दिखाई ही न पड़ेगा। तुम अति की ही भाषा समझते हो। अगर संयमी आदमी हो--जैसा मैं संयम का अर्थ कर रहा हूं, जैसा अष्टावक्र करते हैं--संतुलित आदमी हो तो तुम्हें पता ही न चलेगा कि इसकी विशेषता क्या है। अगर कोई आदमी उतना ही भोजन करता हो जितना उसके शरीर को जरूरत है, तो तुम्हें पता कैसे चलेगा? उपवास न करे तो पता ही नहीं चलेगा। कोई आदमी उतना ही सोये जितनी शरीर को जरूरत है, तो तुम्हें पता कैसे चलेगा--जब तक वह तीन बजे उठ कर और राम-भजन न करे! जब तक वह मुहल्ले की नींद खराब न कर दे, तब तक तुम्हें पता ही नहीं चलेगा कि कोई आदमी धार्मिक है। जब तक वह सिर के बल खड़ा न हो जाये, शीर्षासन न करे, तब तक तुम मानोगे नहीं कि योगी है। कुछ उल्टा करे। कुछ ऐसा करे जो विशिष्ट मालूम पड़े, असाधारण मालूम पड़े।

मैं तुमसे कहता हूं, अगर ठीक सहज आदमी हो, तुम्हारी पहचान में ही नहीं आयेगा। सहज आदमी इतना शांत होगा कि तुम्हारे पास से भी निकल जायेगा, तुम्हें पता भी न चलेगा कि कोई निकल गया। तुम्हें पता ही असहज का चलता है। या तो आदमी बहुमूल्य हीरे-जवाहरातों से लदा हो, राज-सिंहासन पर बैठा हो, तो तुम्हें पता चलता है। या सड़क पर नग्न खड़ा हो जाये तो तुम्हें पता चलता है। नग्न खड़ा हो जाये तो भी पता चलता है। क्योंकि यह भी विशिष्ट हो गया। सिंहासन पर हो तो भी पता चल जाता है, क्योंकि यह भी विशिष्ट है। सामान्य, सीधा-सादा आदमी, सहज--पता ही न चलेगा। क्योंकि जो चाहिए, वह वही कपड़े पहनेगा; जितना भोजन चाहिए, भोजन करेगा; जितनी नींद चाहिए, नींद लेगा। उसके जीवन में इतना संयम और संतुलन होगा कि वह तुम्हें चुभेगा नहीं, किसी भी कारण से चुभेगा नहीं। तुम्हें उसका बोध ही न होगा। तुम्हें उसका स्मरण ही न आयेगा।

और मैं तुमसे कहता हूं, जिस दिन तुम ऐसे हो जाओ कि किसी को तुम्हारा पता न चले; कब आये, कब गये, पता न चले; कैसे आये, कैसे गये, पता न चले--तभी जानना कि तुम सहज हुए। सहज यानी साधु।

अष्टावक्र कहते हैं: "ऐसा कृतकार्य हुआ पुरुष देखता हुआ, सुनता हुआ, स्पर्श करता हुआ, सूंघता हुआ, खाता हुआ, सुखपूर्वक रहता है।"

न तो उपवास के पीछे पड़ता है, न त्याग के पीछे पड़ता है, न शीर्षासन लगा कर खड़ा होता है, न शरीर पर कोड़े मारता है।

ईसाई फकीर हुए हैं, जो रोज सुबह उठ कर कोड़े मारते थे। कौन फकीर कितने कोड़े मारता है, उतना ही बड़ा फकीर समझा जाता था। उनके घाव कभी मिटते ही न थे। क्योंकि रोज कोड़े मारेंगे सुबह, तो घाव भरेंगे कैसे? उनसे लहू बहता ही रहता था। और भक्त आ कर देखते कि किसने कितने मारे। जिसने सौ मारे वह उससे

बड़ा है जिसने नब्बे कोड़े मारे। तुम भी अपने साधुओं की जांच कैसे करते हो! किसी ने दस दिन का उपवास किया; किसी ने तीस दिन का किया--तीस दिन करने वाला बड़ा। उसने तीस कोड़े मारे, किसी ने दस कोड़े मारे।

तुमने कभी यह भी सोचा कि जो लोग इन साधुओं को कोड़े मारते हुए देखने जाते थे, ये बीमार हैं; रुग्ण हैं। एक तरह की विक्षिप्तता है। और ये दुष्ट हैं। और ये कारणभूत हैं। क्योंकि जब साधु कोड़े मार रहे हों और भीड़ देखने आयी, और भीड़ उसकी प्रशंसा करती है जो ज्यादा कोड़े मार लेता है--तो स्वभावतः जो दस मार सकता था वह भी बारह मार लेगा। दो कोड़े तुम्हारे कारण मार लेगा। और प्रतियोगिता पैदा हो जायेगी कि कौन ज्यादा मारता है। वहां भी अहंकार का संघर्ष शुरू हो जायेगा। तुमको भी समझ में आ जाये, क्योंकि हिंदुस्तान में कोड़े मारनेवालों का संप्रदाय नहीं है, तो तुम भी मान लोगे कि यह बात ठीक है, ये लोग कुछ दुखवादी हैं जो देखने जाते हैं। लेकिन तुम जब कोई मुनि, जैन मुनि उपवास करता है और तुम चरण स्पर्श करने जाते हो, तो तुम क्या करने जाते हो? यह भी कोड़ा मारना है। शायद कोड़े मारने से भी ज्यादा खतरनाक है। क्योंकि कोड़ा तो ऊपर मारा जाता है चमड़ी के, यह उपवास भीतर गहरे में कोड़ा मारना है। तुम कहते हो: "हमारे महाराज ने तीन महीने का उपवास किया। तुम्हारे महाराज ने कितने दिन का उपवास किया?" जिस-जिसके महाराज जरा पीछे पड़ गये हैं, वह जरा दीन हो जाता है।

मैं एक दिगंबर घर में बहुत दिन तक रहा--एक दिगंबर जैन के परिवार में। तो मेरे पास कभी-कभी श्वेतांबर साधु-साध्वियां मिलने आते, तो वह दिगंबर परिवार उनको नमस्कार भी नहीं करता था। मैंने पूछा, "मामला क्या है? ये लोग जैसे साधु हैं...।" उन्होंने कहा, "ये भी कोई साधु हैं? साधु होते हैं हमारे, नग्न रहते हैं! ये कोई साधु हैं! कपड़े पहने--जैसे हम पहने हैं, ऐसे ये पहने हैं। फर्क क्या है? साधु देखना है तो हमारे देखो, जो नग्न रहते हैं। धूप हो, ताप हो, नग्न रहते हैं। ये कोई साधु हैं! इनको क्या नमस्कार करना! ये तो गृहस्थ ही हैं।"

श्वेतांबर साधु की दिगंबर जैन के मन में कोई प्रतिष्ठा नहीं है। हो भी कैसे? क्योंकि सब दुखवादी हैं। और सब देख रहे हैं, कौन कितना दुख झेल रहा है--उतना ही। उतना ही। और जांच रख रहे हैं कि कहीं कोई किसी तरह से बच तो नहीं रहा है। आंख गड़ाये बैठे हैं। यह दुष्टों की जमात है। और ये दुष्ट जिसको भी जितना सताने में सफल हो जाते हैं उसकी उतनी प्रशंसा करते हैं स्वभावतः। यह प्रशंसा सौदा है।

तुम किसका आदर करते हो? कांटे पर कोई साधु लेटा है, तुम आदर करते हो। अगर कोई साधारण दरी बिछाकर बिछौना करके लेटा है, तो तुम कहोगे, "आदर की बात ही क्या है? ऐसे तो हम भी लेटते हैं।" मामला ऐसा है कि तुम्हारा अपने प्रति भी कोई आदर नहीं है। क्योंकि तुम जब तक कांटों पर न लेटोगे, आदर करोगे कैसे? तुम्हारा आदर ही विक्षिप्त है।

रूस में ईसाइयों का एक संप्रदाय था जो अपनी जननेंद्रियां काट लेता था। उसका आदर था। उसके मानने वाले दूसरों के साधु को दो कौड़ी का समझते थे--कि तुम्हारा साधु किस मतलब का? पक्का क्या कि यह ब्रह्मचारी है? कहीं धोखा दे रहा हो! साधु तो हमारा पक्का है, क्योंकि उसके ब्रह्मचर्य में धोखा देने का कोई कारण ही नहीं है।

यह किस तरह के रुग्ण लोगों की जमात है! इसमें तुम असहज की पूजा करते हो और सहज का तुम्हें पता ही नहीं चलता।

किसी ने पूछा है कि अष्टावक्र ने इतना महत्वपूर्ण ग्रंथ जगत को दिया, लेकिन उनका संप्रदाय क्यों नहीं बना? अष्टावक्र का संप्रदाय तभी बन सकता है जब जगत में स्वस्थ लोग होंगे। अस्वस्थ लोगों में अष्टावक्र का संप्रदाय बन नहीं सकता। क्योंकि अष्टावक्र कहते हैं: "खाओ, पीओ, सूंघो, स्पर्श करो! जो सहज है वैसे जीओ। न यहां असहज, न वहां असहज। साक्षी भर रहो।"

तुम कहोगे: "साक्षी! इसमें तो बड़ा धोखा है। क्या पता यह आदमी साक्षी हो या न हो। मजे से खा रहा है, सो रहा है, बैठ रहा है और कहता है, हम साक्षी हैं! इसका पक्का क्या? ऐसे तो कुछ पता चलता नहीं। साक्षी तो

भीतर है, बाहर कैसे पता चले?" तुम्हें बाहर प्रमाण चाहिए कि कोई आदमी साधु हुआ कि नहीं। और प्रमाण क्या है? तुम जो कर रहे हो उससे विपरीत करे तो प्रमाण है। तुम पागल हो। वह तुमसे विपरीत दिशा में पागल हो जाए तो प्रमाण है।

इस सूत्र का एक और अर्थ भी हो सकता है--इससे भी ज्यादा गहरा।

कृतार्थः अनेन ज्ञानेन इति एवम् गलितधीः कृती।

--मैं अद्वैत आत्मज्ञान द्वारा कृतार्थ हुआ हूं, ऐसी बुद्धि भी जिस ज्ञानी को उत्पन्न नहीं होती, वही कृतकार्य हुआ, वही कृतार्थ हुआ।

फिर वह देखता हुआ देखता, सुनता हुआ सुनता, स्पर्श करता, सूंघता, खाता हुआ सुखपूर्वक रहता है।

इस वचन का यह अर्थ भी हो सकता है कि जिसको यह भाव भी नहीं उठता अब कि मैं ज्ञान को उपलब्ध हो गया हूं--जिसकी ऐसी बुद्धि भी गलित हो गई।

कृतार्थः अनेन ज्ञानेन इति एवम् गलितधीः कृती।

--ऐसी बुद्धि भी नहीं रही अब भीतर कि मैं ज्ञान को उपलब्ध हो गया हूं।

क्योंकि जिसको ऐसी बुद्धि हो भीतर कि मैं ज्ञान को उपलब्ध हो गया, अभी द्वंद्व और द्वैत के बाहर नहीं गया। अभी अज्ञानी और ज्ञानी में फर्क बना है। अभी वह कहेगा, तुम ज्ञान को उपलब्ध नहीं हुए, मैं ज्ञान को उपलब्ध हो गया हूं। तो अभी "मैं" मिटा नहीं। "मैं" ने नया रूप ले लिया। कल कहता था, तुम गरीब हो, मैं अमीर हूं; तुम गैर-पढ़े-लिखे, मैं पढ़ा-लिखा; तुम कुरूप, मैं सुंदर; तुम कमजोर, मैं सबल। अब कहता है, मैं ज्ञानी, आत्मज्ञानी; तुम अज्ञानी। मगर फर्क बना हुआ है। मैंत्तू का फर्क मौजूद है।

इसलिए दूसरा अर्थ और भी गहरा है। पहला ठीक; दूसरा बहुत-बहुत ठीक। ऐसी बुद्धि भी अब पैदा नहीं होती। उपनिषद कहते हैं: जो कहे कि मैंने जान लिया, जानना कि अभी जाना नहीं। क्योंकि ज्ञानी यह भी घोषणा नहीं करेगा कि मैंने जान लिया। यह घोषणा भी अस्मितापूर्ण है। ज्ञानी तो इतना भी नहीं कहेगा कि पा लिया। क्योंकि फिर भेद खड़ा हो गया: जिन्होंने नहीं पाया, उनसे हम ऊपर हो गये। फिर हमने खड़ी कर ली पुरानी धारणा। अब दूसरे नीचे रह गये, अब हम ऊपर हो गये। पहले धन के कारण ऊपर थे, अब आत्मज्ञान के कारण ऊपर हो गये। लेकिन अहंकार नये खेल रचाने लगा, नयी लीला करने लगा।

"मैं अद्वैत आत्मज्ञान द्वारा कृतार्थ हुआ हूं, ऐसी बुद्धि भी जिस ज्ञानी को उत्पन्न नहीं होती...।"

जिसमें बुद्धि ही उत्पन्न नहीं होती; जिसमें विचार ही उत्पन्न नहीं होता--वही कृतार्थ हुआ है। जो अवक्तव्य है। जो इस तरह की कोई घोषणा नहीं करता।

बुद्ध से लोग जा कर पूछते हैं कि ईश्वर है? बुद्ध चुप रह जाते हैं। बुद्ध से किसी ने एक दिन सुबह आ कर पूछा, आपको ज्ञान हुआ? बुद्ध चुप रह गये। उस आदमी ने कहा, आप साफ-साफ कह दें। हुआ हो तो हां कह दें; न हुआ हो तो ना कह दें। उलझन में क्यों डालते हैं?

बुद्ध फिर भी चुप रहे। वह आदमी चला गया। वह यही सोच कर गया कि हुआ नहीं है, तो कहने की हिम्मत नहीं है। उसने बुद्ध के शिष्यों को कहा कि अभी कुछ हुआ नहीं ज्ञान इत्यादि, क्योंकि मैं पूछ कर आ रहा हूं। अगर हुआ होता तो कहते कि हुआ है। शिष्य हंसने लगे। उन्होंने कहा, तुम पागल हो। हुआ है इसीलिए चुप रह गये। कहने को क्या है?

और तब एक बड़ा उपद्रव संसार में खड़ा होता है। तुम उन्हीं की सुनते हो जो दावेदार हैं। जो जितने जोर से दावा करता है, उसकी ही तुम मान लेते हो। और परम ज्ञान की अवस्था में कोई दावा नहीं होता--कोई दावा नहीं है। परम ज्ञानी के पास तो तुम तभी टिक पाओगे जब तुम गैर-दावेदार को समझने में सफल और कुशल हो जाओगे। परम ज्ञानी के पास तो तुम तभी टिक पाओगे जब ज्ञानी तुमसे कहे कि मैं अज्ञानी हूं और तो भी तुम समझने में सफल रहो। ज्ञानी तुमसे कभी न कहे कि मैं जानता हूं, तो भी तुम उसकी सन्निधि के लिए आतुर रहो-

-तो ही तुम किसी ज्ञानी का सत्संग पा पाओगे। अन्यथा तुम किसी धोखेधड़ी में पड़ जाओगे; किसी दावेदार की उलझन में आ जाओगे।

दावेदार बहुत हैं। जिनकी उपलब्धि है, वे बहुत थोड़े हैं। और तुम्हारे पास एक ही उपाय है जानने का: "कौन जोर से चिल्ला रहा है। कौन पीट रहा टेबल को जोर से?" जो जितने जोर से चिल्लाता है, तुम कहते हो जरूर...अगर हुआ न होता तो इतने जोर से कैसे चिल्लाता?

जिसको हो जाता है, वह चिल्लाता ही नहीं। निवेदन करता है, दावा नहीं करता। उसके प्राणों में प्रार्थना होती है, आग्रह नहीं होता।

इसलिए मैं निरंतर कहता हूं कि "सत्याग्रह" शब्द अच्छा नहीं है। सत्य का कोई आग्रह होता ही नहीं। सब आग्रह असत्य के होते हैं। इसलिए तो महावीर जैसे परम ज्ञानी ने स्यादवाद को जन्म दिया। स्यादवाद का अर्थ होता है, अनाग्रह। तुम पूछो उनसे ईश्वर है? वे कहते हैं: "स्यात्। हो, न हो।" स्यात्! यह तो अज्ञानी की भाषा मालूम पड़ती है। यही तो महावीर के विरोधियों ने उन पर आरोप लगाया है कि यह तो अज्ञानी की भाषा हो गयी। तुमको पक्का पता नहीं! तुम कहते हो: "स्यात्। शायद।" अरे पता हो तो हां कह दो, न पता हो तो ना कह दो। यह "शायद" क्या बात हुई? या तो ईश्वर है या नहीं है।

महावीर कहते हैं कि शायद है, शायद नहीं है।

कठिन हो गयी बात। तुम वैसे ही डांवांडोल हो, और ये महापुरुष डांवांडोल किये दे रहे हैं। तुम वैसे ही अनिश्चित थे, अब यह और महा अनिश्चय की घोषणा हो गयी। तुम इस आशा में आये थे कि महावीर के पास निश्चय हो जायेगा, पकड़ लेंगे किसी धारणा को, घर लौटेंगे संपत्ति लेकर--ये और मुश्किल में डाले दे रहे हैं। थोड़े-बहुत मजबूती से आये थे, वह भी डांवांडोल कर दिया। ये कहते हैं, "शायद!" आत्मा है? ये कहते हैं, "शायद है, शायद नहीं है।"

महावीर का विचार बड़ा अदभुत है! महावीर यह कह रहे हैं, मुझसे निश्चय न मांगो। निश्चय तो तुम्हारे अनुभव से आयेगा। तुम उधार अनुभव मत मांगो। मैं तुम्हें निश्चित करने वाला कौन? और मैंने अगर तुम्हें निश्चित कर दिया तो मैं तुम्हारा दुश्मन।

मेरे पास लोग आ जाते हैं। एक सज्जन वर्षों से आते हैं। मैं उनसे कहता हूं: "आते हैं आप, सुनते हैं, कभी ध्यान करें।" वे कहते हैं: "क्या ध्यान करना? अब आपको तो मिल ही गया। तो जो आप कह देंगे, हम तो मानते ही हैं आपको। हमें कोई संदेह थोड़े ही है। जिनको संदेह हो वे ध्यान इत्यादि करें। हमें तो स्वीकार है। आपको हो गया। और आप जो कहते हैं, हम मानते हैं। इतना काफी है कि आपके चरण छू जाते हैं। आपका आशीर्वाद चाहिए, और क्या चाहिए!"

मेरा निश्चय तुम्हारा निश्चय कैसे हो सकता है? मैंने जाना, यह तुम्हारा जानना कैसे बनेगा? और मैंने जाना कि नहीं जाना, यह तुम कैसे जानोगे? मेरा दावा ही कुल भरोसे का कारण हो सकता है? लेकिन दावा...दावा सत्य का कोई होता ही नहीं।

लेकिन तुम सत्य को खोजना नहीं चाहते। तुम मुफ्त चाहते हो। तुम श्रम नहीं उठाना चाहते। तुम कहते हो, कोई कह दे तो झंझट मिटे। कोई पक्का कह दे, प्रमाण दे दे, तो हम इस खोजबीन के उलझाव से बच जायें। ये पहाड़ी रास्ते और यह दूर की यात्रा और यह हमसे हो नहीं सकता। आप हो कर आ गये हैं, आप बता दें कि मानसरोवर कैसा है? सुंदर है, ठीक है! हमें आप पर श्रद्धा है। हम श्रद्धालु हैं।

यह जगत श्रद्धालुओं से भरा हुआ है। इन झूठे श्रद्धालुओं के कारण जगत में धर्म नहीं है। कोई हिंदू बन कर बैठ गया है, कोई मुसलमान, कोई जैन, कोई बौद्ध, कोई ईसाई; सब श्रद्धालु बने बैठे हैं। मंदिर, मस्जिद, गिरजाघर, सब झूठों से भरे हैं। इनमें से कोई जाना नहीं चाहता। ईसाई कहते हैं, बस, जीसस ने कह दिया तो ठीक। अब कोई झूठ थोड़े ही कहेंगे! जैन कहते हैं, महावीर ने कह दिया तो बस हो गयी बात।

तुम क्या कर रहे हो? अपने को धोखा दे रहे हो।

परम ज्ञानी का तो कोई दावा नहीं है। परम ज्ञानी का तो आमंत्रण है। आग्रह नहीं है, अनाग्रह। परम ज्ञानी तो कहता है: "देखो मुझे, आओ मेरे पास। चखो मुझे, स्वाद लो मेरा। और यात्रा को तत्पर हो जाओ।" परम ज्ञानी की मौजूदगी यात्रा पर भेजेगी तुम्हें, निश्चय नहीं दे देगी--उस यात्रा पर भेजेगी जहां अंतिम निर्णय में, अंतिम निष्कर्ष में निश्चय होगा। निश्चय तुम्हारे भीतर जन्मेगा।

कृतार्थोऽनेन--वही हुआ कृतार्थ।

ज्ञानेन इति एवम्--जिसे "मैं ज्ञानी हो गया" ऐसी बुद्धि भी नहीं पैदा होती।

गलितधीः कृती--उसकी ऐसी बुद्धि भी गल गयी।

यह आखिरी बात गिर गयी। अब कोई भेद न रहा। ज्ञान-अज्ञान में भी भेद न रहा। संसार और मोक्ष में भी भेद न रहा। बंधन-मुक्ति में भी भेद न रहा। सब भेद गिर गये। अभेद उपलब्ध हुआ। अभेद में कैसा विचार? विचार में हमेशा भेद आ जाता है। जहां विचार आया, दीवाल उठी। जहां विचार आया, रेखा खिंची। भेद शुरू हुआ। निर्विचार में तो कोई भेद नहीं।

"जिसका संसार-सागर क्षीण हो गया है, ऐसे पुरुष में न तृष्णा है, न विरक्ति है। उसकी दृष्टि शून्य हो गयी है, चेष्टा व्यर्थ हो गयी है और उसकी इंद्रियां विकल हो गयी हैं।"

शून्या दृष्टिर्वृथा चेष्टा विकलानीन्द्रियाणि च।
न स्पृहा न विरक्तिर्वा क्षीण संसार सागरे।।

दृष्टिः शून्या--उस परम दशा में दृष्टि शून्य हो जाती है।

तुम्हारी आंखें बहुत भरी हुई हैं, हजार-हजार विचारों से भरी हुई हैं। तुम कुछ भी निर्विचार नहीं देखते, खाली आंख से नहीं देखते। तुम जब भी देखते हो पक्षपात से देखते हो, निष्पक्ष नहीं देखते। तुम कुछ भी देखने जाते हो, देखने के पहले ही कोई निर्णय करके जाते हो।

यहां मेरे पास तुम सुनने आये। कोई निर्णय करके आ जाता है कि यह आदमी बुरा है। कोई निर्णय करके आ जाता है कि आदमी अच्छा है। आये बिना, आने के पहले निर्णय कैसे किया अच्छे का या बुरे का? कोई निर्णय करके न आते तो ही निर्णय हो सकता था। तुम निर्णय करके पहले ही आ गये, अब निर्णय बहुत मुश्किल होगा। अब बहुत संभावना यह है कि तुम अपने ही निर्णय को पक्का कर के लौट जाओगे। जो आदमी तय कर के आ गया है कि यह आदमी भला है, वह उतनी-उतनी बातें चुन लेगा जिनसे उसका निर्णय मजबूत होता है। वह चुनाव कर लेगा। जो आदमी तय कर के आ गया है कि आदमी बुरा है, वह भी निर्णय कर के जायेगा कि पक्का है, ठीक सोच कर आये थे: आदमी बुरा है। वह अपने हिसाब से निर्णय कर लेगा। वह अपनी बातें चुन लेगा--अपने पक्ष में। जो उसके पक्ष को मजबूत करे, वह चुन लेगा। और दोनों यह सोच कर जायेंगे, वे मेरे पास हो कर गये। वे आये ही नहीं। उनका पक्षपात आने कैसे देगा? पक्षपात बीच में खड़ा था, वे मुझे देख ही न पाये। पक्षपात ने सब रंग दिया। उनकी आंख पर चश्मा था।

तुम्हारी हालत करीब-करीब ऐसी है कि चश्मा ही चश्मा है, आंख तो है ही नहीं। चश्मे पर चश्मे हैं और आंख भीतर है ही नहीं। क्योंकि आंख तो शून्य की ही होती है।

दृष्टिः शून्या।

बड़ी अपूर्व बात है। आंख तो होती ही तब है जब शून्य होती है; जिस पर कोई राग-रंग नहीं होता; जिस पर कोई पक्ष नहीं होता, कोई धारणा नहीं होती, कोई सिद्धांत, कोई शास्त्र, कुछ भी नहीं होता।

एक ईसाई वृद्धा ने मुझे आ कर कहा कि "आपके वचन सुन कर मैं बहुत प्रसन्न हुई। आपने ईसाइयत में मेरी श्रद्धा को मजबूत कर दिया। आपने जो कहा वही तो जीसस ने कहा है।"

इस महिला को हुआ क्या? यह भरी है जीसस से। खयाल सब तैयार है। इसने वही-वही चुन लिया जिससे मेल खाता था; वह सब छोड़ दिया होगा जो मेल नहीं खायेगा। वह प्रसन्न हो गयी। वह मुझे धन्यवाद देने आयी। मैंने कहा कि तू आयी ही नहीं यहां। तेरा पहुंचना ही नहीं हुआ। तूने मुझे सुना कहां?

उसने कहा कि आप गलती में हैं। आपने देखा न होगा, मैं पंद्रह दिन से सुनती हूं।

मैंने कहा कि तू पंद्रह साल भी सुन तो भी तू मुझे सुनेगी नहीं। खाली आंख हो कर आ। ईसाई बन कर मत सुन। हिंदू बन कर मत सुन। मुसलमान बन कर मत सुन। कुछ बन कर मत सुन, अन्यथा सुनना कैसे होगा? सिर्फ सुन। और मैं तुझसे कहता नहीं कि मुझसे राजी हो जा। राजी की भी क्या जल्दी है? सुन ले पहले, फिर तू अपना निर्णय कर लेना। लेकिन सुन तो ले। सुनने के पहले ही निर्णय कर लिया तो बहुत मुश्किल हो जायेगा।

मुल्ला नसरुद्दीन गांव का काजी हो गया था। पहला ही मुकदमा आया। उसने एक पक्ष को सुना और उसने कहा कि बिलकुल ठीक है। क्लर्क ने कहा कि महानुभाव, यह तो अभी एक ही पक्ष है; अभी आप दूसरा तो सुनें। उसने कहा कि दूसरा सुनूंगा तो बड़ा डांवांडोल हो जायेगा चित्त। फिर निर्णय करना मुश्किल हो जायेगा। अभी आसानी है। अभी कर लेने दो।

उस क्लर्क ने कहा कि यह अन्याय हो जायेगा। आपको पता नहीं अदालत के नियम का।

तो उसने कहा, अच्छा ठीक है। दूसरे को सुन लिया। दूसरे से भी बोला कि बिलकुल ठीक है। उसके क्लर्क ने कहा कि आप होश में हैं? इतनी जल्दी न करें। दोनों ठीक कैसे हो सकते हैं?

उसने कहा कि भाई, तू भी बिलकुल ठीक है। इस झंझट में हमें पड़ना ही नहीं था।

आदमी जल्दी निर्णय करने में लगा है--जल्दी हो जाये! तुम ईसाई घर में पैदा हुए; हिंदू घर में पैदा हुए--तुमने एक ही पक्ष सुना है। इस संसार में तीन सौ धर्म हैं। और तुमने निर्णय कर लिया! तुम हिंदू बन गये। तुम जैन बन गये! और तुमने एक ही पक्ष सुना है। और यहां तीन सौ पक्ष थे। इतनी जल्दी! नहीं, घबड़ाये हुए हो तुम कि कहीं तीन सौ पक्ष सुन कर ऐसा न हो कि निर्णय करना मुश्किल हो जाये। जल्दी कर लो!

छोटा बच्चा पैदा नहीं होता कि मां-बाप उस पर संस्कार डालने शुरू कर देते हैं। "खतना करो।" अभी बच्चे की जान में जान नहीं, मुसलमान बनाने लगे, उसका खतना कर दो। शुरुआत की उन्होंने उपद्रव की। कि मुंडन-संस्कार कर दो, कि जनेऊ पहना दो। आ गया ब्राह्मण, पंडित, पुरोहित-- पूजा-पाठ, सब शुरू हो गया। अभी इस बच्चे को बोध भी नहीं है। अभी इसकी आंख भी ठीक से नहीं खुली है। अभी इसे कुछ पता भी नहीं है। मगर तुम ढालने लगे। इसके पहले कि इसका बोध जगे, तुम इसको बना डालोगे। तुम इसको संस्कारित कर दोगे। तो इसका बोध कभी जगेगा ही नहीं।

इस दुनिया में इतना उपद्रव इसीलिये है कि यहां बोध नहीं है; बोध जगने का मौका नहीं है। मां-बाप बड़े उत्सुक हैं, बड़े जल्दी में हैं। सारे धर्मगुरु सिखाते रहते हैं कि धर्म की शिक्षा दो, धर्म की शिक्षा होनी चाहिए।

धर्म की कभी शिक्षा नहीं होनी चाहिए! ध्यान की शिक्षा होनी चाहिए, धर्म की नहीं। ध्यान सिखा दो। लोगों को शांत होना सिखा दो। लोगों को निर्विचार होना सिखा दो। फिर उनका निर्विचार उन्हें जहां ले जाये, वहीं उनका धर्म होगा। फिर उनका निर्विचार जहां ले जाये...।

और मैं तुमसे कहता हूं, निर्विचार कभी किसी को हिंदू नहीं बनायेगा और मुसलमान नहीं बनायेगा। निर्विचार व्यक्ति को धार्मिक बनायेगा।

दुनिया में धर्म हो सकता है, अगर बच्चों के मन हम पहले से ही विकृत न करें, जहर न डालें। लेकिन हम बड़ी जल्दी में होते हैं, हम बड़े घबड़ाये होते हैं कि इसके पहले कि कहीं कोई और बात मन में घुस जाये, अपनी बात घुसा दो।

इस जगत में जो बड़े से बड़े अनाचार हुए हैं मनुष्य-जाति पर, उनमें सबसे बड़ा अनाचार है बच्चों के ऊपर। अबोध, असहाय, तुम्हारे हाथ में पड़ गये हैं। तुम जो चाहो--खतना करो, चोटी रखवाओ, चोटी कटवाओ, जनेऊ पहनाओ--जो चाहो करो। बच्चा कुछ भी तो नहीं कह सकता। क्योंकि अभी कुछ पता ही नहीं है उसे कि

क्या हो रहा है। अभी हां-ना कहने का उपाय भी नहीं है। और इसके पहले कि वह हां-ना कहे, तुम वर्षों तक इतना दीक्षित कर दोगे उसे कि हां-ना कहना मुश्किल हो जायेगा।

गलितधीः का अर्थ होता है, यह जो संस्कार तुम्हें दूसरों ने दिये हैं, इन सबका त्याग।

शून्याः दृष्टि--तब तुम शून्य-दृष्टि हो जाते हो।

चेष्टा वृथा...।

और जो साक्षी हो गया उसे दिखाई पड़ता है कि चेष्टा करने की कोई जरूरत नहीं है--जो होना है अपने से हो रहा है। नदी चेष्टा थोड़े ही कर रही है सागर जाने की। जा रही है जरूर, मगर चेष्टा नहीं कर रही है। वृक्ष बड़े होने की चेष्टा थोड़े ही कर रहे हैं--बड़े हो रहे हैं जरूर। बादल बरसने की चेष्टा थोड़े ही कर रहे हैं--बरस रहे हैं जरूर। चांदत्तारे घूमने की चेष्टा थोड़े ही कर रहे हैं--घूम रहे हैं जरूर। घूमने की चेष्टा हो तो किसी दिन सूरज सुबह देर से उठे--कि हो गया बहुत, आज आराम करेंगे। सारी दुनिया में छुट्टी होती है। रविवार...सूरज का दिन है रविवार। सारी दुनिया छुट्टी मना रही है, मगर सूरज को छुट्टी नहीं। वह कह दे कि आज रविवार है, आज नहीं आते, आज आराम करेंगे। फिर कभी तो थक जाये, अगर चेष्टा हो। कभी तो विश्राम करना पड़े। नहीं, चेष्टा है ही नहीं। थकान कैसी? छुट्टी कैसी? अवकाश कैसा? कोई कुछ कर थोड़े ही रहा है, सब हो रहा है।

जिसकी दृष्टि शून्य हो जाती है, जिसकी बुद्धि गल जाती--वह अचानक जाग कर देखता है: मैं नाहक ही पागल बना! क्या-क्या करने की योजनाएं कर रहा था, क्या-क्या बनाने की योजनाएं कर रहा था! सब अपने से हो रहा है। मैं व्यर्थ ही बोझ ढोता था। कर्ता बन कर नाहक तनाव और चिंता ले ली थी। विक्षिप्त हुआ जा रहा था।

"जिसका संसार-सागर क्षीण हो गया, ऐसे पुरुष में न तृष्णा है, न विरक्ति; उसकी दृष्टि शून्य हो गयी, चेष्टा व्यर्थ हो गयी, और उसकी इंद्रियां विकल हो गयीं।"

इंद्रियाणि विकलानी...।

अभी जो ऊर्जा है हमारी, जीवन की ऊर्जा, वह सारी की सारी इंद्रियों के साथ जुड़ी है। जैसे ही व्यक्ति शांत होता, शून्य होता, साक्षी बनता, ऊर्जा इंद्रियों से मुक्त होकर ऊपर की तरफ उठनी शुरू होती है। इंद्रियां ऊर्जा को नीचे की तरफ लाने के उपाय हैं।

जिसके भीतर ऊर्जा ऊपर नहीं उठ रही है उसके लिए प्रकृति ने उपाय दिया है कि ऊर्जा इकट्ठी न हो जाये, नहीं तो तुम फूट जाओगे। तो ऊर्जा नीचे से निकल जाये। जिस दिन ऊर्जा ऊपर उठने लगती है, इंद्रियां अपने-आप शांत हो जाती हैं। इंद्रियों की जो प्रबल चेष्टा है वह शांत हो जाती है। देखते हो फिर तुम तब भी, लेकिन आंख कहती नहीं कि देखो सौंदर्य को, चलो देखो सौंदर्य को! सुनते हो तुम तब भी, पर कान कहते नहीं कि चलो सुनो, सुंदर मधुर संगीत को। स्वाद तुम तब भी लेते हो, लेकिन जिह्वा तुम्हें पीड़ित नहीं करती, परेशान नहीं करती, सपने नहीं उठाती, वासना नहीं जगाती कि चलो, भोजन करो; अगर भोजन नहीं तो कम से कम सपने में ही बैठ कर भोजन करो; कल्पना ही करो स्वादिष्ट भोजनों की। नहीं, सब काम चलते रहते हैं। लेकिन इंद्रियों से जो पुराना पैशन, वह जो पुरानी वासना थी, वह जो बल था, वह विलीन हो जाता है।

कृष्ण ने अर्जुन को कहा है: "या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी। यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः।" संपूर्ण भूतों की जो आत्म-अज्ञानरूपी रात्रि है और जिसमें सब भूत सोये हुए हैं उसमें ज्ञानी जागता है। और जिस अज्ञानरूपी दिन में सब भूत जागते हैं, उसमें ज्ञानी सोया हुआ है।

अज्ञानी जहां जागता है वहां ज्ञानी सो जाता है। और जहां अज्ञानी सोया है, वहां ज्ञानी जाग जाता है। तुम इंद्रियों में जागे हुए हो, स्वयं में सोये हुए; ज्ञानी स्वयं में जाग जाता, इंद्रियों में सो जाता है। उसकी इंद्रियां शांत हो कर शून्य हो जाती हैं। उसका साक्षी जागता है।

ऊर्जा तो वही है। जब साक्षी जागता है तो इंद्रियों के जागने की कोई जरूरत नहीं रह जाती। उनमें ऊर्जा नहीं बहती। साक्षी सारी ऊर्जा को अपने में लीन कर लेता है। तुम जहां जागे हो, वहां ज्ञानी सो जाता है; तुम जहां सोये हो, वहां ज्ञानी जाग जाता है। जो तुम्हारा दिन, उसकी रात्रि। जो तुम्हारी रात्रि, उसका दिन।

"वह न जागता है, न सोता है। न पलक को खोलता है और बंद करता है। अहो, मुक्तचेतस की कैसी उत्कृष्ट परम दशा रहती है!"

समझना।

न जागर्ति न निद्राति नोन्मीलति न मीलति।
अहो परदशा क्वापि वर्तते मुक्तचेतसः।।
न जागर्ति...।

ज्ञानी कुछ करता ही नहीं। इसलिए यह भी कहना ठीक नहीं कि वह जागता है। यह भी कहना ठीक नहीं कि वह सोता है। जब कर्तृत्व ही खो गया तो परमात्मा ही जागता है, और परमात्मा ही सोता है--ज्ञानी नहीं। इस भेद को खयाल रखना।

तुम बड़ी कोशिश करते हो, नींद नहीं आ रही है। तुम सोने की कोशिश करते हो। तुम सोचते हो शायद सोने की कोशिश से नींद आ जायेगी। कोशिश से नींद का कोई संबंध है? जब आती है, तब आती है। जब परमात्मा सोना चाहता है, तब सोता है; तुम्हारे सुलाने से नहीं। परमात्मा कोई छोटा बच्चा नहीं है कि तुमने लोरी गा दी, थपकी मार दी और सुला दिया। तुम्हारे भीतर जब सोने की जरूरत होती है, तो नींद आ जाती है।

मेरे पास कोई आकर कहता है कि नींद नहीं आती है, तो उससे मैं कहता हूं, न आने दो। शांत बिस्तर पर पड़े रहो। तुम कुछ करो भी मत। तुम्हारी चेष्टा से कुछ हल होगा भी नहीं। चेष्टा से नींद का कोई संबंध नहीं है। सच तो यह है कि चेष्टा के कारण ही नींद नहीं आ रही है। तुम्हारी चेष्टा ही बाधा बन रही है। नहीं आती तो ठीक है, जरूरत नहीं होगी।

अब बूढ़े आदमी हैं, वे भी चाहते हैं कि आठ घंटे सोयें। बूढ़े आदमी को आठ घंटे सोने की जरूरत नहीं रह गयी। तीन-चार घंटा बहुत है। उनको चिंता होती है। क्योंकि पहले वे आठ घंटा सोते थे। वे यह भूल ही गये कि पहले वे जवान थे। जरूरतें अलग थीं। मां के पेट में बच्चा चौबीस घंटे सोता है, तो क्या बुढ़ापे में भी चौबीस घंटे सोओगे? बच्चा पेट से पैदा हो जाता है तो अठारह घंटे सोता है, बीस घंटे सोता है, तो क्या तुम अठारह-बीस घंटे सोओगे? बच्चे की जरूरत अलग है। जैसे-जैसे तुम्हारी उम्र बढ़ने लगी, नींद की जरूरत कम होने लगी।

लेकिन हमारी अड़चनें हैं। पैंतीस साल के पहले आदमी जितना भोजन करता है, पैंतीस साल के बाद भी करता चला जाता है। वह यह याद ही नहीं करता कभी कि अब ढलान शुरू हो गयी। तो फिर भोजन सारा पेट में इकट्ठा होने लगता है। अब वह कहता है: "मामला क्या है? इतना ही भोजन हम पहले करते थे, तब कुछ गड़बड़ न होती थी।" चालीस के आसपास ही पेट बड़ा होना शुरू होता है। कारण कुल इतना है कि पैंतीस तक तो तुम चढ़ाव पर थे। अब उतार पर हो। सत्तर साल में मरना है, तो उतरोगे भी न? पैंतीस साल लगेंगे उतरने में। चढ़ तो गये पहाड़, अब उतरेगा कौन? अब तुम उतरने लगे। अब इतने पेट्रोल की जरूरत नहीं। सच तो यह है कि पेट्रोल की जरूरत ही नहीं है। अब तुम पेट्रोल की टंकी बंद कर दे सकते हो, कार उतरेगी। अब कम भोजन की जरूरत है। अल्प भोजन की जरूरत है। अल्प निद्रा की जरूरत है। लेकिन पुरानी आदत को हम खींचते चले जाते हैं।

हम सुनते ही नहीं प्रकृति की। और प्रकृति परमात्मा की आवाज है। तो हम मरते दम तक भी जीवन से जकड़े रहते हैं। अगर हम चुपचाप प्रकृति को सुनते चलें तो प्रकृति हमें सब चीजों के लिए राजी कर लेती है। जब नींद कम हो जायेगी तो हम जानेंगे कि अब जरूरत कम हो गयी।

ज्ञानी का अर्थ है, जो अपनी तरफ से कुछ भी नहीं करता। आ गयी नींद तो ठीक, नहीं आयी तो पड़ा रहता है। आंख खुल गयी तो ठीक, नहीं खुली तो भी पड़ा रहता है। न तो ज्ञानी कर्मठ होता, और न आलसी

होता। ज्ञानी कुछ होता ही नहीं। ज्ञानी उपकरण, निमित्तमात्र होता है। परमात्मा जो करवा लेता है, कर देता है। नहीं करवाता तो प्रतीक्षा करता है; जब करवायेगा तब कर देंगे।

न जागर्ति न निद्राति...।

वह न तो अपने से सोता, न अपने से जागता। यहां तक कि--

नोन्मीलति न मीलति।

पलक भी नहीं झपकता अपने से। झपकी तुमने भी कभी नहीं है, खयाल ही तुमको है कि तुम झपक रहे हो। अभी कोई एक जोर से हाथ तुम्हारे पास ले आयेगा, पलक झपक जायेगी। अगर तुम सोच-विचार करोगे, तब तो दिक्कत हो जायेगी। तब तक तो आंख मुश्किल में पड़ जायेगी। पलक तो अपने से झपकती है। प्राकृतिक है। वैज्ञानिक कहते हैं: "रिफ्लेक्स ऐक्शन।" अपने से हो रहा है, तुम कर नहीं रहे हो।

तुमने नींद में देखा, कीड़ा चढ़ रहा हो, तुम झटक देते हो। तुम्हें पता ही नहीं है। सुबह तुमसे कोई पूछे कि कीड़ा चढ़ रहा था चेहरे पर, तुमने झटका? तुम कहोगे, हमें याद नहीं। किसने झटका? तुम्हें याद ही नहीं है! लेकिन कोई तुम्हारे भीतर जागा हुआ था, झटक दिया। रात गहरी से गहरी नींद में भी तुम्हारा कोई नाम पुकार देता है कि राम! तुम करवट ले कर बैठ जाते हो कि कौन उपद्रव करने आ गया? सारा घर सोया है। किसी को सुनाई नहीं पड़ा, तुम्हें सुनाई पड़ गया। तुम्हारा नाम है, तो तुम्हारे अचेतन से कोई ऊर्जा उठ गयी। नींद में भी तुम सुन लेते हो। मां सोती है, तूफान उठे, बादल गरजें, बिजली चमके, उसे सुनाई नहीं पड़ता। लेकिन उसका बच्चा जरा कुनमुना दे, वह तत्क्षण उठ जाती है। तुम्हारे भीतर कोई सूत्रधार है।

अष्टावक्र कहते हैं: अहो परदशा क्वापि वर्तते मुक्त चेतसः।

धन्य है! अहो! कैसी है मुक्तचेतस की उत्कृष्ट परमदशा कि न तो पलक झपकता, न पलक खोलता; न सोता, न जागता। अपने से कुछ करता ही नहीं। कर्ता-भाव सारा समाप्त हो गया।

तुम जरा सोचो तो इस परमदशा की बात। सोच कर ही तुम आह्लादित होने लगोगे। काश तुम्हारा कर्ता विसर्जित हो जाये, तो कैसी चिंता! चिंता पैदा कैसे होगी? चिंता कर्ता की छाया है। कर्ता गया कि चिंता गयी। चिंता तो तुम छोड़ना चाहते हो, कर्ता नहीं छोड़ना चाहते। इसलिए चिंता कभी छूटती नहीं। और एक नयी चिंता पकड़ जाती है कि चिंता कैसे छूटे। और चिंता में नया जोड़ हो जाता है।

पूर्वीय मनोविज्ञान मनुष्य की चेतना की चार दशाएं मानता है। पहली दशा जागृति, जिसको हम जागृति कहते हैं। जागृति में अहंकार होता, कर्ता का भाव होता, मैं की बड़ी पकड़ होती।

दूसरी अवस्था को स्वप्न कहता है। स्वप्न में अहंकार क्षीण हो जाता है। रोज तुम जब रात सो जाते, सपने में तुम्हारा अहंकार क्षीण हो जाता है। ब्राह्मण ब्राह्मण नहीं रह जाता, शूद्र शूद्र नहीं रह जाता। राष्ट्रपति को पता नहीं रहता, राष्ट्रपति हूं; चपरासी को पता नहीं रहता कि चपरासी हूं। अस्मिता क्षीण हो जाती है। बिलकुल समाप्त नहीं हो जाती--कुछ-कुछ झलक मारती रहती है। धूमिल हो जाती है। अहंकार तो नहीं रहता, लेकिन अहंकार का प्रतिबिंब रह जाता है। यह स्वप्न दूसरी दशा है।

तीसरी दशा है सुषुप्ति--जब स्वप्न भी खो गये, कुछ भी न बचा। तब अहंकार का अभाव हो जाता है। तब तुम्हें पता ही नहीं रहता कि मैं हूं। कर्ता का भी अभाव हो जाता है। तुम करने वाले नहीं रह जाते। श्वास चलती है, चलती है। भोजन पचता है, पचता है। खून बहता है, बहता है। तुम कुछ करने वाले नहीं रह जाते। तुम कुछ नहीं करते सुषुप्ति में। मैं की छाया भी नहीं रह जाती, जैसी सपने में थी। जागृति में मैं बहुत मजबूत था, सपने में छाया थी, सुषुप्ति में छाया भी खो गयी। एक अंधकार फैल जाता है। सुषुप्ति एक नकारात्मक दशा है, निगेटिव। कुछ भी नहीं होता। जैसे तुम नहीं रहे, ऐसा हो जाता है।

फिर चौथी दशा है, परमदशा, अहोदशा। उसका नाम है: तुरीय। तुरीय जागृति जैसी जाग्रत और सुषुप्ति जैसी शांत। तुरीय का अर्थ है, जैसी गहरी नींद में शांति होती है ऐसी शांति। लेकिन गहरी नींद में अंधकार होता

है, तुरीय में प्रकाश होता है। गहरी नींद में अहंकार खो जाता है, तुरीय में भी अहंकार खो जाता है। लेकिन गहरी नींद में निरहंकार पैदा नहीं होता। गहरी नींद में सिर्फ अहंकार खो जाता है। वह नकारात्मक स्थिति है। तुरीय की अवस्था में निरहंकार-भाव पैदा होता है। वह विधायक स्थिति है। बोध जगता है। होश जगता है। अकर्ता का भाव स्पष्ट हो जाता है। तुरीय अवस्था में व्यक्ति परमात्मा का संपूर्ण रूप से निमित्त हो जाता है। व्यक्ति मिट जाता है और परमात्मा ही शेष रहता है।

यह चौथी ही अवस्था का वर्णन है, तुरीय अवस्था का वर्णन है--

अहो क्वापि परदशा मुक्तचेतसः वर्तते।

कैसी धन्य दशा है मुक्त चैतन्य की! कैसी उत्कृष्ट, कैसी परम! जहां न तो वह जागता, न सोता, न पलक को खोलता, न बंद करता--और सब अपने से होता है। सब नैसर्गिक! सब सहज!

"मुक्त पुरुष सर्वत्र स्वस्थ, सर्वत्र विमल आशय वाला दिखायी देता है और वह सब वासनाओं से रहित सर्वत्र विराजता है।"

सर्वत्र दृश्यते स्वस्थः!

वह जो मुक्त पुरुष है तुम उसे हर स्थिति में, हर परिस्थिति में स्वयं में स्थित पाओगे। तुम उसे कभी विचलित होते न देखोगे। तुम उसे कभी अपने केंद्र से च्युत होते न देखोगे। यह तुरीय अवस्था में ही संभव है--जहां केंद्र उपलब्ध हो जाता है और केंद्र पर पैर जम जाते हैं। जैसे वृक्ष ने जड़ें जमा लीं जमीन में, ऐसा ही मुक्त पुरुष अपनी तुरीय अवस्था में जड़ें फैला देता है।

सर्वत्र दृश्यते स्वस्थः...।

तुम उसे हर जगह स्वस्थ पाओगे। दुख हो या कि सुख हो; सफलता हो कि विफलता हो; जीवन आये कि मृत्यु आये--तुम उसे स्वस्थ पाओगे। तुम उसे मृत्यु में भी स्वस्थ पाओगे। तुम उसे डांवांडोल न देखोगे।

सर्वत्र विमलाशयः...।

और हर जगह तुम पाओगे उसका आशय निर्मल है। उसके आशय को तुम कहीं भी कठोर न पाओगे। उसके आशय को कहीं विकृत न पाओगे। उसका आशय सदा ही शुभ होगा। ऐसा नहीं कि वह शुभ करना चाहता है। वह तो बात गयी। करने इत्यादि की तो बात गयी। ऐसा नहीं कि वह नैतिक बनने की चेष्टा करता है। वह तो बात गयी। अनीति नहीं बची, नीति नहीं बची। अब तो उसका जो शुद्ध सहज व्यवहार है, वही उसका विमल आशय है। तुम उसके पास एक सुगंध पाओगे। तुम उसके पास एक शांत वातावरण पाओगे। तुम अगर जरा राजी हो, तो तुम उसके वातावरण में डुबकी ले सकते हो; जैसे कोई गंगा में स्नान कर ले, ताजा हो जायेगा।

ज्ञानी पुरुष ही असली तीर्थ है। इसलिए जैनों ने महावीर को तीर्थंकर कहा। नदियों के किनारे नहीं हैं तीर्थ, ज्ञानियों के आसपास हैं। क्योंकि ज्ञानियों के भीतर बह रही है असली गंगा। जल की गंगा से तो ठीक है, तुम्हारी देह धुल जायेगी; लेकिन चैतन्य की गंगा से धुलेगा तुम्हारा चैतन्य, तुम्हारी आत्मा भी स्नान कर लेगी।

समस्त वासनामुक्तो।

वह समस्त वासनाओं से मुक्त हो गया है।

मुक्तः सर्वत्र राजते।

और तुम उसे हमेशा पाओगे राज सिंहासन पर। चाहे वह धूल में बैठा हो, लेकिन तुम उसकी बादशाहत पहचान लोगे। उसका सम्राट होना सिंहासनों पर निर्भर नहीं है; उसका सम्राट होना बड़ा आंतरिक है। वह चाहे नग्न फकीर की तरह खड़ा हो रास्ते पर, तुम पहचान लोगे कि उसका साम्राज्य है। जीसस ने इसी साम्राज्य की बात की है: "किंगडम ऑफ गॉड"; प्रभु का राज्य!

जीसस को बहुत बार उनके दुश्मन पकड़ने आये। लेकिन पास आ कर बदल गये। एक बार पुरोहितों ने आदमी भेजे, दुष्ट से दुष्ट आदमी भेजे कि जीसस को पकड़ लाओ। वे आकर उनकी बात सुनने लगे, मंत्रमुग्ध हो गये। जब लौट कर आये और पुरोहितों ने पूछा: तुम लाये नहीं? तो उन्होंने कहा, बड़ा मुश्किल है। यह आदमी बड़ा अदभुत है। इसके पास एक गरिमा है, कि हम एकदम दब गये। यह बादशाहत है इसके पास कोई, कि हम

एकदम दीन-हीन मालूम होने लगे। कैसे तो इसके हाथ में हथकड़ियां डालें? हमने अपनी हथकड़ियां छुपा लीं। यह आदमी बहुत अदभुत है। ऐसा आदमी कभी हुआ नहीं।

इसलिए फिर जीसस को अंधेरी रात में पकड़ा। दिन में पकड़ने की फिर कोशिश नहीं की; क्योंकि दिन में कोशिशें कीं, वे व्यर्थ गयीं।

तुम देखते हो, महावीर नग्न खड़े हैं। लेकिन फिर भी क्या कोई बादशाह इनसे बड़ी बादशाहत को कभी उपलब्ध हुआ है?

स्वामी राम अपने को बादशाह कहते थे। उन्होंने एक किताब लिखी है: राम बादशाह के छः हुक्मनामे। था तो उनके पास कुछ नहीं--लंगोटी। छः हुक्मनामे! उसमें छः आदेश दिये हैं दुनिया के नाम, फरमान--कि ऐसा करो। जब वे अमरीका गये तो वहां भी अपने को बादशाह राम ही कहते रहे! लोगों ने उनसे पूछा कि आप फकीर हैं, अपने को बादशाह क्यों कहते हैं? उन्होंने कहा: इसीलिए, क्योंकि मेरे पास सब है। जिस दिन मैंने छोटा घर छोड़ा, यह सारा ब्रह्मांड मेरा घर हो गया। मैंने क्षुद्र क्या छोड़ा, विराट मेरी संपदा हो गयी। अब मेरे पास सब है, सारी संपदा है। सारे जगत की संपदा मेरी है। चांदत्तारे मेरे लिए चलते हैं। सूरज मेरे लिए उगता है। यह सब मेरे इशारे पर हो रहा है।

लोग समझते कि दिमाग इनका थोड़ा कुछ खराब है। तुम्हारे इशारे पर हो रहा है! लेकिन राम ठीक कह रहे हैं। एक ऐसी घड़ी है: जब तुम मिट जाते हो, तब तुम्हारे भीतर से परमात्मा ही बोलता है।

किसी ने उनसे पूछा, आपके इशारे से हो रहा है? उन्होंने कहा, और किसके इशारे से होगा? मेरे अतिरिक्त कोई है नहीं। मैंने ही इनको चलाया। जब पहली दफा मैंने इनको धक्का दिया, तो मैं ही था। ये चांदत्तारे मैंने बनाये। मेरे इशारे से चल रहे हैं। पहले ही से मेरे इशारे से चल रहे हैं।

यह किसी और महत लोक की बात है। राम में बादशाहत थी।

समस्त वासना मुक्तो मुक्तः सर्वत्र राजते।

सर्वत्र...जिसकी वासना शून्य हो गयी है वह अपने आंतरिक सिंहासन पर विराजमान है। जो ऐसे सिंहासन पर विराजमान है वही विराजमान है, शेष सब तो भिखारी हैं।

"देखता हुआ, सुनता हुआ, स्पर्श करता हुआ, सूंघता हुआ, खाता हुआ, ग्रहण करता हुआ, बोलता हुआ, चलता हुआ, प्रयास और अप्रयास से मुक्त महाशय निश्चय ही जीवन-मुक्त है।"

सब करता है और फिर भी कुछ नहीं करता। चलता है और चलता नहीं। बोलता है और बोलता नहीं। खाता है और खाता नहीं।

जैन शास्त्रों में एक उल्लेख है। एक जैन मुनि का आगमन हुआ। वह यमुना के उस पार ठहरे। यमुना में बाढ़ आयी है। और रुक्मिणी ने कृष्ण से पूछा कि मुनि ठहरे हैं उस पार, नाव लगती नहीं, कौन उन्हें भोजन पहुंचायेगा? भोजन हमें पहुंचाना चाहिए।

कृष्ण ने कहा, तो पहुंचाओ। पर उसने कहा: पार कैसे जायें? नाव लगती नहीं।

उन्होंने कहा: इतना ही कह देना कि अगर मुनि सदा से उपवासे हैं तो यमुना राह दे दे। अगर मुनि उपवासे हैं तो यमुना राह दे देगी।

बड़ी मीठी कहानी है। रुक्मिणी ने थाल सजाये। वह अपनी सखियों के साथ पहुंची। उसने जा कर कहा नदी को कि हे नदी, मुनि उस तरफ भूखे हैं और अगर वे सदा के उपवासे हों तो तू राह दे दे।

और कहते हैं, नदी ने राह दे दी। चकित, नदी से रुक्मिणी गुजर गयी। उस तरफ जा कर मुनि को भोजन कराया। तब याद आयी कि यह तो बड़ी मुश्किल हो गयी। लौट कर नदी से क्या कहेंगे? क्योंकि अब तो मुनि ने भोजन कर लिया। अब तो वे उपवासे नहीं हैं। और कृष्ण से हमने पूछा ही नहीं। आने की बात तो पूछ ली थी, जाने की नहीं पूछी। आने तक तो ठीक था कि मुनि सदा के उपवासे हैं--तो रहे होंगे, नदी ने राह दे दी। प्रमाण हो गया। लेकिन अब तो मुनि को हमने अपनी आंख के सामने खुद ही भोजन करवा दिया है। अब कैसे उपवासे

हैं? और वे बहुत थाल सजा कर लायी थीं। मुनि सारे थाल समाप्त कर गये। अब वे बड़ी घबड़ाने लगीं। उन्हें बेचैन देख कर मुनि ने कहा, तुम बड़ी चिंतित मालूम पड़ती हो, बात क्या है? उन्होंने कहा कि ऐसा-ऐसा मामला है। कृष्ण ने कहा था, यह सूत्र बोल देना। हमने बोला भी, काम भी पड़ गया। नदी ने राह भी दे दी। अब हम क्या करें? हम लौटने की बात पूछना भूल गये।

मुनि ने कहा: पागल हुई हो! वही बात फिर कहना नदी से कि मुनि अगर सदा के उपवासे हों तो राह दे दो।

अब तो उन्हें भरोसा भी नहीं था इस बात पर। भरोसा होता भी कैसे? लेकिन कोई चारा भी न था। जाकर कहा, गैर-भरोसे से कहा, लेकिन नदी ने फिर राह दे दी। कृष्ण से आकर उन्होंने पूछा कि अब हमारे बिलकुल सूझ-बूझ के बाहर बात हो गयी। तो कृष्ण ने कहा: मुनि सदा ही उपवासा है। भोजन करने न करने से कोई संबंध नहीं। उपवास का अर्थ जानती हो? उपवास का अर्थ होता है, जो अपने भीतर विराजमान है। अपने पास बैठा--उपवास। इसका भोजन लेने-देने से संबंध ही नहीं। भोजन नहीं किया, तो अनशन। उपवास का क्या संबंध है? उपवास का अर्थ होता है: जो अपने पास है; जो अपने निकटतम बैठा है; जो वहां से हटता नहीं। यह मतलब है उपवास का।

जो अपने भीतर विराजमान हो गया है, वह भोजन करते हुए भी भोजन नहीं करता है; क्योंकि भोजन तो शरीर में ही जाता, उसमें नहीं जाता। वह साक्षी ही बना रहता है। वह चलते हुए चलता नहीं, क्योंकि चलता तो शरीर है।

तुम कभी चले हो आज तक? चलोगे कैसे? तुम्हारे कोई हाथ-पैर हैं? शरीर चलता है। तुम बोलोगे कैसे? शरीर बोलता है। तुम सोचोगे कैसे? मन सोचता है। तुम इन सब के पार, सारी क्रियाओं के पीछे साक्षी-रूप हो।

"देखता हुआ, सुनता हुआ, स्पर्श करता, सूंघता, खाता हुआ, ग्रहण करता हुआ, बोलता हुआ, चलता हुआ, प्रयास और अप्रयास से मुक्त...।"

न तो वह ऐसा करता, न ऐसा नहीं करता। जो होता है, होने देता है। सबको मार्ग देता है। जो प्रभु करवा ले, वही ठीक। उसकी अपनी कोई इच्छा नहीं रही। वह अपना हिसाब नहीं रखता। वह हर हालत में प्रभु के साथ है। उसने तैरना बंद कर दिया। वह नदी के साथ बहा जाता है। इस बहाव का नाम जीवन-मुक्ति है।

"ऐसा महाशय निश्चय ही जीवन-मुक्त है।"

ईहितानीहितैः मुक्तः मुक्तः एव महाशयः।

"मुक्त पुरुष सर्वत्र रसरहित है। वह न निंदा करता, न स्तुति करता, न हर्षित होता, न क्रुद्ध होता, न देता और न लेता है।"

न निंदति न च स्तौति न हृष्यति न कुप्यति।
न ददाति न गृहणाति मुक्तः सर्वत्र नीरसः।।

इसे समझना। नीरस से कुछ गलत अर्थ मत ले लेना। मुक्त पुरुष नीरस है, क्योंकि उसे परम रस मिल गया। इस जगत में अब उसका रस नहीं रहा। मुक्त पुरुष नीरस है, क्योंकि उसे वह मिल गया है जिसको हम कहते हैं: "रसो वै सः"। उसने परम धन पा लिया। तुम्हारे ठीकरों में उसे धन नहीं दिखाई पड़ता। इसलिए नहीं कि ठीकरे उसने छोड़ दिये, त्याग दिये। त्यागने योग्य भी उनमें कोई मूल्य नहीं है। उसमें कुछ है ही नहीं जो त्यागा जा सके, कि भोगा जा सके। तुम जिन-जिन चीजों में रस लेते, उसका रस खो जाता। तुम जहां जागे, वहां वह सो जाता है। तुम जहां सोये, वहां वह जाग जाता है। एक परम रस पैदा हुआ है। अब अहर्निश अमृत की धार बरस रही है। अब जहर को कौन पीये, किसलिए पीये!

तुम जिसे रस कह रहे हो, वह रस नहीं है। क्योंकि अगर रस होता तो तुम्हारे जीवन में रसमुग्धता आ गयी होती। तुम रसपूर्ण हो गये होते। तुम्हारे जीवन में महोत्सव फलता, फूल खिलते, नाच होता, उत्सव होता।

कुछ भी तो नहीं है। तुम रूखे-सूखे, मरुस्थल जैसे पड़े हो। थके-हारे, सर्वहारा, सब खोये पड़े हो। तुम्हारे जीवन में कहीं भी तो कोई फूल खिलता मालूम नहीं होता। कांटे ही कांटे तुम्हारे जीवन में फैल गये हैं। तुम्हारी सारी कथा कांटों की कथा है। दुख ही दुख और दंश ही दंश। और तुम कहते हो रस! तुम जरूर किसी गलत चीज को रस कह रहे हो। जहां रस नहीं है वहां तुम रस देख रहे हो। इस रस का तो विसर्जन हो जाता है।

इसलिए यह सूत्र कहता है "नीरसः"। वैसा परम ज्ञानी नीरस हो जाता है। तुम्हारे रस की दृष्टि से, तुम्हारी भाषा में नीरस हो जाता है। लेकिन अगर तुम दूसरी तरफ से देखो, ज्ञानी की तरफ से देखो तो वह पहली दफा रस से भरता है। वह रस का सागर हो जाता है। उसके जीवन में महाकाव्य पैदा होता है। उसके जीवन में बड़ा संगीत जन्म लेता है। उसके जीवन में विराट की वीणा बजती है और परमात्मा के प्रसून खिलते हैं। उस अर्थ में वह नीरस नहीं है।

यह मैं तुम्हें स्पष्ट कर दूं, क्योंकि तुम्हारे साथ सदा खतरा है। तुम्हारे साथ खतरा यह है कि तुम नीरस आदमियों को ज्ञानी समझ सकते हो। तुमने ऐसे बहुत से ज्ञानी बना बिठा रखे हैं चारों तरफ, जिनके भीतर कुछ भी नहीं है; जो बिलकुल सूखे हैं। बाहर का छोड़ दिया, भीतर का हुआ नहीं। और तुमने यह सोच कर कि बाहर का छोड़ दिया, नीरस हो गये, त्यागी हो गये, विरक्त हो गये। नहीं, असली विरक्ति की यही पहचान है, कि बाहर के सारे रस चले गये हों और भीतर से अहर्निश रस की धार बह रही हो। तुम जहां रस देखते हो, वहां रस न दिखाई पड़ता हो और फिर भी जीवन में एक परम रस हो। बुद्ध ने तो इस अवस्था को धर्म-मेघ समाधि कहा है। जैसे मेघ बरसता है, रस से भर जाता है, ऐसे।

कबीर ने बार-बार कहा है कि खूब घने मेघ घिर गये हैं। अमृत की वर्षा हो रही है और कबीर मगन हो कर नाच रहा है।

तुम्हारा रस निश्चित खो जाता है। तुम्हारा रस रस ही नहीं है, पहली बात। तो तुम्हारे रस के खोने से आदमी नीरस नहीं होता है। तुम्हारे रस के खोने से ही आदमी के परम रस का द्वार खुलता है। अब दो बातें हैं। या तो तुम परम रस का द्वार खोल लो, तो इस जीवन से रस चला जाये। या तुम इस जीवन का रस छोड? दो, तो पक्का नहीं है कि परम द्वार खुलेगा या नहीं खुलेगा।

अष्टावक्र की पूरी प्रक्रिया और मेरा पूरा उपदेश यही है कि तुम पहले उस परम द्वार को खोल लो। तुम बड़े रस को पा लो, छोटा रस अपने से छूट जायेगा।

क्षुद्र छूट ही जाता है जब विराट हाथ में आता है। व्यर्थ छूट ही जाता है जब सार्थक की गंध मिलती है। जिसको बड़ी संपदा मिल जाती है, वह फिर छोटी संपदा की चिंता कहां करता! तब त्याग में एक मजा है। तब त्याग में एक सहजता है। बिना किये हो जाता है, करना नहीं पड़ता है। जो त्याग करना पड़े वह झूठा है। उसमें कर्ता तो बच ही जायेगा और अहंकार निर्मित होगा।

न निंदति न च स्तौति न हृष्यति न कुप्यति।

ऐसा पुरुष तुम्हारे सब रसों से रहित है। वह न निंदा करता है, न स्तुति करता है।

तुम जरा हैरान होना; रस की चर्चा में निंदा-स्तुति की बात अष्टावक्र ने क्यों उठा दी? निंदा तुम्हारा रस है। तुम जब निंदा का मजा लेते हो, तुम जब किसी की निंदा करते हो, तब तुम्हारा चेहरा देखो, कैसा रसपूर्ण मालूम होता है! जीवन में बड़ी ऊर्जा मालूम होती है। निंदा करते लोगों को देखो, कैसे प्रसन्न मालूम होते हैं! दिखता है, यही उनकी एकमात्र प्रसन्नता है। तुम्हें अगर निंदा करने को न मिले तो तुम बड़े विरस हो जाओगे।

तुम निंदा क्यों करते हो? आखिर लोग निंदा में इतना-इतना मजा क्यों लेते हैं? काव्यशास्त्र ने नौ रस गिनाये हैं, पता नहीं वह निंदा को क्यों छोड़ गये हैं, क्योंकि वह महारस मालूम होता है। कविता वगैरह तो लोग कभी-कभी पढ़ते-सुनते हैं। और रस तो ठीक ही हैं, निंदा बिलकुल सार्वलौकिक रस है, सार्वभौम। अगर कोई तुम्हारे पास बैठ कर कुछ कहने लगे, किसी की निंदा करने लगे, तुम लाख काम छोड़ देते हो। यह मौका छोड़ते नहीं बनता। अगर वह आदमी बीच में रुक जाये, कहे कि अब कल कह देंगे, तो बड़ी मुश्किल हो जाती है।

कल तक समय बिताना मुश्किल हो जाता है। तुम कहते हो: अरे भाई, कह ही दो, निपटा ही दो, नहीं तो मन में अटका रहेगा।

आखिर निंदा में इतना रस क्या है? रस है! निंदा का अर्थ होता है दूसरे को छोटा दिखाना। दूसरे के छोटे दिखाने में तुम्हें अपने बड़े होने का मजा आता है। तुम बड़े तो हो नहीं। सीधे-सीधे तो तुम बड़े हो नहीं। दूसरे की निंदा करके तुम एक छोटा-सा मजा ले लेते कि तुम बड़े हो।

सुनी तुमने कहानी अकबर की कि एक लकीर खींच दी उसने दरबार में और कहा: इसे बिना छुए कोई छोटा कर दे। सोचा बहुत, बिना छुए कैसे छोटी होगी। छूना तो पड़ेगा, तभी छोटी होगी। लेकिन बीरबल ने उठ कर एक बड़ी लकीर उसके नीचे खींच दी। बीरबल को निंदा-रस का पता होगा। उसने बिना छुए एक लकीर खींच दी बड़ी--छोटी हो गयी लकीर, पहली लकीर छोटी हो गयी।

तुम जब किसी की निंदा में रस लेते हो तो तुम उसकी लकीर छोटी कर रहे हो। उसकी छोटी होती लकीर के कारण तुम्हारी लकीर बड़ी हो रही है। तुम प्रफुल्लित होते हो कि अरे, तो हम से भी बुरे लोग हैं दुनिया में, कोई हम ही बुरे नहीं! और हम तो फिर कुछ भी बुरे नहीं, इतने बुरे लोग हैं। धीरे-धीरे तुम कहते हो, तो हम तो भले ही हैं। बुरे लोगों का संसार है, इसमें हम नाहक परेशान हो रहे थे।

तुमने एक बात खयाल की, अगर कोई किसी की निंदा करता हो तो तुम प्रमाण कभी नहीं मांगते। तुम यह नहीं कहते कि प्रमाण क्या? लेकिन कोई अगर किसी की प्रशंसा करता हो तो तुम प्रमाण मांगते हो। कोई कहे कि फलां आदमी परम ज्ञान को उपलब्ध हो गया, तुम कहते, प्रमाण? तुम्हारे कहने से न मान लेंगे। सबूत क्या है? कोई प्रत्यक्ष प्रमाण लाओ, कहने से क्या होता है?

लेकिन कोई अगर कहे कि फलां परम ज्ञानी भ्रष्ट हो गया, तो तुम प्रमाण नहीं मांगते। तुम कहते हो, हमको तो पहले से ही पता था, यह होना ही था। वह भ्रष्ट था ही।

तुम अपने मन को जरा गौर करना। कोई अगर किसी की बुराई करे तो तुम बिना तर्क मान लेते हो। कोई किसी की भलाई करे तो तुम हजार तर्क खड़े करते हो। क्यों? क्योंकि दूसरे की भलाई का मतलब है, उसकी लकीर बड़ी हो रही है, तुम्हारी छोटी हो रही है। बुराई का अर्थ है, उसकी लकीर छोटी हो रही है, तुम्हारी बड़ी हो रही है। यह भीतर का हिसाब है।

ऐसा नहीं है कि तुम सदा निंदा में ही रस लेते हो; कभी-कभी तुम स्तुति में भी रस लेते हो। तब भी तुम खयाल रखना कि वहां भी कुछ गणित काम करता है। तुम स्तुति किसकी करते हो? जिसके साथ तुम अपना तादात्म्य कर लेते हो, उसकी स्तुति करते हो। तुम्हारा गुरु, तो तुम उसकी स्तुति करते हो। तुम कहते हो, हमारा गुरु महागुरु! दूसरे कहते हैं, गुरुघंटाल; तुम कहते हो महागुरु। तुम क्यों कहते हो महागुरु? क्योंकि महागुरु हो तो ही तुम महाशिष्य। अब तुमने उसकी लकीर के साथ अपनी लकीर जोड़ दी। उसकी जितनी लकीर बड़ी होती जाये उतनी तुम्हारी होती है; नहीं तो तुम भी गये। अब तुम तो रेल के डब्बे हो, वह इंजिन। अब वह चले तो तुम चले, नहीं तो तुम भी गये।

तो जिनके साथ तुम अपना तादात्म्य कर लेते हो, उनकी तुम प्रशंसा करते हो। तुम्हारा बेटा--तुम कहते हो: "अरे, लाखों में एक!" और ये सब लाखों में एक बेटे कहां खो जाते हैं, पता नहीं चलता। हरेक अपने बेटे की तारीफ कर रहा है। क्योंकि लाखों में एक बेटा तभी होता है जब करोड़ों में एक बाप हो। क्योंकि फल से ही वृक्ष तो पहचाना जाता है। तो जब बेटा सिद्ध नहीं होता लाखों में एक, तो तुम्हें बड़ी पीड़ा होती है। जो बेटा तुम्हारे अहंकार को बड़ा नहीं करता, तुम उसकी चर्चा नहीं करते।

मेरे एक मित्र थे, उनके दो बेटे थे। एक मिनिस्टर हो गया और एक साधारण दूकानदार। वे जब भी आते अपने मिनिस्टर बेटे की चर्चा करते। मैंने उनसे कहा कि आपका दूसरा भी बेटा है, आप उसकी कभी चर्चा नहीं करते। वे बोले: उसकी क्या चर्चा करना? मैंने कहा कि यह भी कोई बात हुई? मिनिस्टर की ही चर्चा करते हैं।

मिनिस्टर से उनको बड़ी आशाएं थीं। वे सोचते थे कि उनका बेटा जो मिनिस्टर है, वह कभी न कभी प्राइम मिनिस्टर होने वाला है; वह पंडित जवाहरलाल नेहरू की जगह लेने वाला है। उनकी कल्पना में...। और वे मोतीलाल थे। वह उनके दिमाग में बैठा था। अब वे दूकानदार की तो बात ही नहीं करते, क्योंकि दूकानदार...। अब किराने की दूकान कोई चलाये, उस बेटे के बाप होने में सार ही क्या है!

फिर उनका जो बेटा मिनिस्टर था और जवाहरलाल होने वाला था मर गया बीच में। वह मरा मिनिस्ट्री की वजह से। चिंता-भार...विक्षिप्त हो गया। फिर विक्षिप्तता में प्राण भी चले गये। तो वे बहुत-बहुत रोये। आत्महत्या करने को उतारू हो गये। मैंने उनसे पूछा कि अगर तुम्हारा दूसरा बेटा मर जाता तो तुम इस तरह के उपद्रव करते? तो वे रो रहे थे; आंखों से उनके आंसू रुक गये। उन्होंने कहा: आप हमेशा दूसरे बेटे की बात क्यों उठाते हैं? मैंने कहा कि मैं इसलिए उठाता हूं कि मुझे पता तो चले कि यह बाप का हृदय है या सिर्फ अहंकार ही काम कर रहा है।

फिर संयोग की बात, जब पहला बेटा मर गया, तो दूसरे बेटे को उन्होंने धीरे-धीरे धक्का दिया, उसको मिनिस्टर बनवा दिया। तब से वे दूसरे बेटे की बात करने लगे। तब से वह दूसरा बेटा भी सार्थक मालूम होने लगा।

तुम जिसके साथ अपना अहंकार जोड़ देते हो, बस उसके साथ तो तुम्हारी स्तुति जुड़ जाती है। इसलिए जैन कहता है कि महावीर, बस इनसे बड़ा कोई ज्ञानी कभी नहीं हुआ। ईसाई कहता है जीसस, वे ईश्वर के इकलौते बेटे। "इकलौते" पर जोर देता है। क्योंकि अगर दूसरा भी बेटा हो तो झंझट खड़ी होगी। फिर कोई दूसरा धर्म दावा कर दे कि यह दूसरा बेटा है और जीसस के बड़े भाई हैं ये। तो इकलौते पर जोर देते हैं कि इकलौता बेटा! तो दूसरे का उपाय ही नहीं छोड़ते।

मुसलमान कहते हैं: मुहम्मद आखिरी पैगंबर, उनके बाद अब कोई नहीं। ईश्वर ने आखिरी पैगाम भेज दिया, अब इसमें कोई तरमीम नहीं, कोई सुधार नहीं। भेज दी आखिरी बात, आखिरी किताब आ चुकी। अब कोई किताब नहीं आयेगी। क्योंकि अगर ऐसा आगे भी दरवाजा खुला रखें तो फिर हजारों लोग हैं, हर कोई दावा कर देगा कि हम दूसरी किताब ले आये। यह आ गयी किताब दूसरी। फिर इलहाम हो गया हमें। यह सब रोकना पड़ेगा। मुहम्मद को अप्रतिम बनाना होगा, आखिरी बनाना होगा। इनके ऊपर फिर किसी को जाने न देना होगा। फिर इससे तुमने जोड़ लिया कि हम मुसलमान और हमारा पैगंबर आखिरी पैगंबर।

हिंदुओं से पूछो। वे कहते हैं कि वेद परमात्मा की किताब, और कोई किताब परमात्मा की नहीं। और वेद परमात्मा का पहला इलहाम।

एक आर्यसमाजी मुझसे मिलने आये। वे कहने लगे कि आप बाइबिल की इतनी प्रशंसा करते हैं और जीसस की इतनी प्रशंसा करते हैं; लेकिन आप हमारी बात पर ध्यान दें। परमात्मा ने सबसे पहले तो वेद उतारा। तो वेद सबसे ज्यादा प्राचीन है। और परमात्मा कुछ गलती थोड़े ही करता है--जो एक दफे भेज दिया, भेज दिया। फिर उसमें सुधार की कोई जरूरत ही नहीं है। फिर सारे धर्म तो बाद में आये। तो ये सब आदमियों की ईजाद है। परमात्मा तो कोई भूल कर ही नहीं सकता। ऐसा थोड़े ही है कि एक भेजा, फिर दस-पचास साल बाद उसने सोचा कि अरे, इसमें कुछ भूल हो गई, फिर दूसरा भेजें, फिर तीसरा भेजें।

तो वे कहने लगे कि हमारी किताब सबसे पहले आयी--वह सबूत है इस बात का कि फिर बाकी किताबें सब आदमियों की हैं।

उनकी दलील...वेद से अपने को जोड़ लिया। सनातन धर्म, सबसे पुराना धर्म, सबसे प्राचीन। परमात्मा की पहली किताब।

ईसाई कहते हैं कि समय के साथ रोज, जीवन के साथ रोज बदलाहट होती है। मुसलमान कहते हैं, समय के साथ बदलाहट होती है। तो पुरानी किताब तो सड़ चुकी। वह जिनके लिए भेजी थी, वे भी अब नहीं हैं। वह बात गयी। वह तो पहली क्लास की किताब थी। अब मनुष्यता पहुंच गयी है विश्वविद्यालय में। अब तुम वही क ख ग पढ़ते रहोगे?

सबकी अपनी दलीलें हैं--अपनी को श्रेष्ठतम सिद्ध करने की दलीलें हैं। लेकिन पीछे बहुत गहरे में यह भाव छिपा है कि हम श्रेष्ठतम से जुड़े हैं, तो हम श्रेष्ठतम हो गये हैं।

स्तुति में भी तुम रस लेते हो। ध्यान रखना, न निंदा में रस लेना, न स्तुति में रस लेना। दोनों रुग्ण रस हैं, बीमार हैं। दोनों को तुम छोड़ दो तो तुम्हारा अहंकार बेसहारा हो जाये। धीरे-धीरे तुम्हारे अहंकार की लकीर पूरी की पूरी विलुप्त हो जायेगी। और जब अहंकार खो जाता है तो जो शेष रह जाता है, वही पाने योग्य है। फिर न तो कुछ देने को है, न कुछ लेने को है। जो है, है।

न ददाति न गृहणाति मुक्तः सर्वत्र नीरसः।

फिर न तो मुक्त पुरुष को कुछ लेना है किसी से, न किसी को कुछ देना है। सब उसका है और कुछ भी उसका नहीं है। सब उसे मिला है और किसी की उसे आकांक्षा नहीं है। वह समस्त के साथ एक हो गया; सर्व के साथ एक हो गया, सर्व-रस में लीन हो गया--इसलिए नीरस है।

इन सूत्रों पर ध्यान करना। और इन सूत्रों को सिर्फ सिद्धांत की तरह मत समझना। ये तुम्हारे जीवन के लिए स्पष्ट निर्देश हैं। इनका जरा उपयोग करोगे तो तुम्हारा अनगढ़ पत्थर गढ़ा जाने लगेगा। तुम्हारे अनगढ़ पत्थर में तुम्हारी प्रतिमा उकरने लगेगी। धीरे-धीरे रूप प्रकट होगा। प्रत्येक व्यक्ति अपने भीतर परमात्मा को छिपाये बैठा है। थोड़े निखार की जरूरत है। थोड़े स्नान की जरूरत है। धूल बह जाये। गलितधीः--विचार गिर जायें--तो परम आनंद तुम्हारा स्वभाव है।

हरि ॐ तत्सत्!

बावनवां प्रवचन

तू स्वयं मंदिर है

पहला प्रश्न: आपने कहा कि संसार के प्रति तृप्ति और परमात्मा के प्रति अतृप्ति होनी चाहिए। और आपने यह भी कहा कि कोई भी आकांक्षा न रहे; जो है उसका स्वीकार, उसका साक्षी-भाव रहे। इन दोनों वक्तव्यों के बीच जो विरोधाभास है, उसे स्पष्ट करने की अनुकंपा करें।

विरोधाभास दिखता है, है नहीं। और दिखता इसलिए है कि तुम जो भाषा समझ सकते हो वह सत्य की भाषा नहीं। और सत्य की जो भाषा है वह तुम्हारी समझ में नहीं आती।

जैसे समझो...जो तुम समझ सको वहीं से समझना ठीक होगा।

कहते हैं, प्रेम में हार, जीत है। दिखता है विरोधाभास है। क्योंकि हार कैसे जीत होगी? जीत में जीत होती है। और अगर प्रेम को न जाना हो तो तुम कहोगे, यह तो बात उलटबांसी हो गयी, यह तो पहेली हो गयी। हार में कैसे जीत होगी? लेकिन अगर प्रेम की एक बूंद भी तुम्हारे जीवन में आयी हो, जरा-सा झोंका भी प्रेम का आया हो, एक लहर भी उठी हो, तो तुम तत्क्षण पहचान लोगे विरोधाभास नहीं है।

प्रेम में हार जाना ही जीत जाना है। जो हारा वही जीता। प्रेम में समर्पण विजय का मार्ग है। लेकिन प्रेम जाना हो तो यह प्रेम की भाषा समझ में आ जायेगी; न जाना हो तो समझने का कोई उपाय नहीं। अगर तुमने तलवार की ही भाषा जानी है, हिंसा से ही परिचय है, दबा-दबा कर ही लोगों को जीता है, तो तुम्हें कोई पता नहीं हो सकता कि झुक कर भी जीता जा सकता है।

ठीक ऐसी ही बात है। परमात्मा के लिए अतृप्ति, महातृप्ति है। संसार में तो तृप्ति भी तृप्ति नहीं है। संसार में तो अतृप्ति ही अतृप्ति है। संसार का स्वभाव जलना है, जलाना है--लपटें ही लपटें हैं।

बुद्ध ने जब अपना राजमहल छोड़ा और उनका सारथी उन्हें समझाने लगा कि आप कहां जाते हैं? कहां भागे जाते हैं? पीछे लौट कर देखें महल--ये स्वर्णमहल, यह सब सुख-शांति, यह तृप्ति का साम्राज्य, यह पत्नी सुंदर, यह बेटा, यह पिता--ये कहां मिलेंगे? ये सब सुख-चैन! बुद्ध ने लौट कर देखा और कहा: मैं तो वहां केवल लपटों के अतिरिक्त कुछ भी नहीं देखता हूं। सब जल रहा है। न कोई स्वर्णमहल है, न कोई पत्नी है, न कोई पिता है। सब जल रहा है। सिर्फ लपटें ही लपटें हैं!

सारथी, बुद्ध ने कहा, तुम लौट जाओ। मैं अब इन लपटों में वापिस न जाऊंगा।

सारथी ने बड़ी कोशिश की। बूढ़ा आदमी था और बचपन से बुद्ध को जाना था, बड़े होते देखा था; लगाव भी था। समझाया-बुझाया, चुनौती दी। आखिर में कुछ न बना तो उसने चोट की। उसने कहा: यह पलायन है। यह भगोड़ापन है। कहां भागे जा रहे हो? यह कोई क्षत्रिय का गुण-धर्म नहीं।

बुद्ध हंसे और उन्होंने कहा: घर में आग लगी हो तो घर के बाहर आते आदमी को तुम भगोड़ा कहोगे? और वह जो आग के बीच में बैठा है उसको तुम बुद्धिमान कहोगे?

तो उस सारथी ने कहा: लेकिन आग लगी हो तब न?

बुद्ध ने कहा: वही कठिन है, मुझे दिखाई पड़ता है कि आग लगी है; तुम्हें दिखाई नहीं पड़ता आग लगी है। हमारी भाषाएं अलग हैं। मैं कुछ कह रहा हूं, तुम कुछ समझ रहे हो। तुम कुछ कहते हो, उससे मेरे संबंध टूट गये हैं।

संसार में तृप्ति भी कहां तृप्ति है? सब झूठ है यहां। तुमसे कोई पूछता है, कहो कैसे हो? तुम कहते हो, सब ठीक है। कभी तुमने गौर किया? इस "सब ठीक" के भीतर कुछ भी ठीक है? कहते हो: सब चंगा। इसमें कुछ भी चंगा है? कहने को कह देते हो, लेकिन कभी गौर से देखा, जो कह रहे हो उसमें जरा-सा भी सत्य है, सत्य की झलक भी है?

नहीं, यहां तुमने जो भी जाना है उसमें तृप्ति नहीं है। तृप्ति यहां हो नहीं सकती।

तो जब मैंने तुमसे कहा, संसार के प्रति तृप्ति, तो मैंने यह कहा कि संसार पर बहुत ध्यान ही मत दो; ध्यान देने योग्य नहीं है। यहां तो जो है, ठीक है। क्योंकि यहां ठीक कुछ भी नहीं है। इसलिए तुमसे कहता हूं: जो है सो ठीक है। अब इसमें बहुत दौड़-धूप मत करो। दौड़-धूप करके भी ठीक न हो सकेगा। संसार का स्वभाव ही ठीक होना नहीं है।

सुना है मैंने, एक महिला अमरीका के एक सुपर मार्केट में खिलौने खरीद रही थी। बच्चों का एक खिलौना है, जिसमें टुकड़े-टुकड़े हैं और बच्चे को जमाना है। वह जमा-जमा कर देखती है, लेकिन वह जमता नहीं। उसका पति भी खड़ा है, वह गणित का प्रोफेसर है। वह भी जमाने की कोशिश करता है, लेकिन वह जमता नहीं। आखिर उन दोनों ने सिर-पच्ची करने के बाद दूकानदार से पूछा कि यह मामला क्या है? मैं गणित का प्रोफेसर हूं, मैं इसे जमा नहीं पा रहा, मेरा छोटा बेटा कैसे जमायेगा?

वह दूकानदार हंसने लगा। उसने कहा, यह खिलौना बनाया ही इस तरह गया है कि यह जम नहीं सकता। जमाने के इरादे से बनाया नहीं है। यह तो खिलौना इस आधुनिक जगत का सबूत है, प्रतीक है, कि कितनी ही कोशिश करो, जमेगा नहीं। न तुमसे जमेगा, न तुम्हारे बेटे से। जम ही नहीं सकता, क्योंकि यह बनाया ही नहीं गया है जमने के लिए।

संसार जमने के लिए बना नहीं है। जम जाता तो तुम परमात्मा को खोजते ही नहीं। परमात्मा की खोज क्यों पैदा होती है? क्योंकि संसार नहीं जमता। अगर जम जाता तो बुद्ध खोजते? अगर जम जाता तो महावीर खोजते? जम जाता तो अष्टावक्र खोजते? अगर संसार जम जाये तो परमात्मा गैर-अनिवार्य हो गया!

इसे तुम समझो। अगर संसार में तृप्ति संभव हो सके तो धर्म व्यर्थ हो गया। फिर धर्म का अर्थ क्या है? संसार में तृप्ति नहीं हो सकती है, इसलिए धर्म की सार्थकता है। तो हम तृप्ति को कहीं और खोजते हैं।

इसलिए मैंने तुमसे कहा कि जो भी है यहां--थोड़ा या ज्यादा--इससे राजी हो जाओ। राजी होने का मतलब यह नहीं है कि इससे तृप्ति मिल जायेगी। इससे राजी होने का मतलब यह है कि अब इसमें और दौड़-धूप मत करो। अब इस खिलौने को और मत जमाओ; यह जमने वाला नहीं है। और परमात्मा के लिए अतृप्त हो जाओ। वहां अतृप्ति ही तृप्ति है। वहां प्यास ही प्यास का बुझ जाना है। वहां प्यास जितनी प्रबल होगी उतना ही सरोवर निकट आ जाता है। जिस दिन प्यास इतनी गहरी होती है कि प्यास ही बचती है, तुम नहीं बचते--उसी क्षण वर्षा हो जाती है। तुम जिस दिन सिर्फ एक लपट रह जाते हो, एक प्यास...।

शेख फरीद एक नदी के किनारे बैठा था और एक आदमी ने उससे आकर पूछा कि परमात्मा को कैसे खोजें? फरीद ने उस आदमी की तरफ देखा। फरीद थोड़ा अजीब फकीर था। उसने कहा, मैं स्नान करने जा रहा हूं, तू भी स्नान कर ले। या तो स्नान के बाद तुझे बता देंगे, अगर मौका लग गया तो स्नान में ही बता देंगे।

वह आदमी थोड़ा डरा भी: स्नान में बता देंगे! यहां तक तो बात समझ में आती है कि स्नान के बाद बता देंगे--स्नान कर लो, फिर जिज्ञासा करना--मगर स्नान में बता देंगे! उसने सोचा कि फकीरों की बातें हैं, सधुक्कड़ी भाषा है, कुछ मतलब होगा। उतर पड़ा वह भी। फरीद तो मजबूत आदमी था। जैसे ही उसने नदी में डुबकी लगायी--उस आदमी ने--फरीद ने उसकी गर्दन पानी के भीतर पकड़ ली और छोड़े न। वह आदमी बड़ी ताकत लगाने लगा। फरीद से बहुत कमजोर था, लेकिन एक ऐसा वक्त आया कि उसने इतनी जोर से ताकत लगायी कि

वह फरीद के फंदे के बाहर हो गया। बाहर निकल कर तो वह आगबबूला हो गया। उसने कहा: हम आये ईश्वर को खोजने, आत्महत्या करने नहीं। तुम हमें मारे डालते हो!

फरीद ने कहा: यह बात पीछे, एक सवाल पूछना है। जब पानी में मैंने तुझे डुबा दिया, तो कितनी वासनाएं तेरे मन में थीं?

उसने कहा: कितनी वासनाएं! एक ही वासना बची थी कि एक श्वास हवा किसी तरह मिल जाये। फिर तो वह भी खो गयी। फिर तो उसका भी होश न रहा। फिर तो मुझमें और मेरी श्वास को पाने की आकांक्षा में भेद ही न रहा। मैं ही वही आकांक्षा हो गया। उसी वक्त तो मैं तुम्हारे पंजे के बाहर निकल पाया।

फरीद ने कहा: बस यह मेरा उत्तर है। जिस दिन परमात्मा को इस भांति चाहेगा कि चाहने वाले में और चाह में भेद न रह जायेगा, उसी दिन मिलना हो जायेगा। अब तू जा।

जब मैंने तुमसे कहा कि परमात्मा के लिए अतृप्ति, तो मेरा अर्थ है, संसार के लिए तृप्त हो जाओ, यहां तृप्ति मिलती नहीं है; परमात्मा के लिए अतृप्त हो जाओ, वहीं तृप्ति मिलती है।

प्यास गहरी ही स्वयं में तृप्ति है
तृप्ति बाहर से कहीं आती नहीं।

प्रश्न का उत्तर मिलेगा तब कि जब
तुम पूछने में प्रश्न खुद बन जाओगे
और वह संगीत जन्मेगा तभी
गीत बन कर गीत जब तुम गाओगे
साधना तो सिद्धि का पर्याय ही है
सिद्धि बाहर से कहीं आती नहीं।
प्यास गहरी ही स्वयं में तृप्ति है
तृप्ति बाहर से कहीं आती नहीं।

आत्मदर्शन द्वार पूरा खोल दे
प्राप्ति की प्रेयसी उसी से आयेगी
छोड़ दे ओढ़े अहं के आवरण को
मुक्ति तेरी अंकिनी हो जायेगी
तू स्वयं मंदिर स्वयं ही वंदना है
मूर्ति बाहर से कहीं आती नहीं।
प्यास गहरी ही स्वयं में तृप्ति है
तृप्ति बाहर से कहीं आती नहीं।

पूर्ण एवं शून्य में अंतर नहीं कुछ
एक ही स्थिति के प्रगट दो रूप हैं
एक ही सागर समाया है अतल में
दूर से देखो तभी दो कूप हैं
दृश्य द्रष्टा में नहीं मध्यस्थ कोई
दृष्टि बाहर से कहीं आती नहीं
प्यास गहरी ही स्वयं में तृप्ति है
तृप्ति बाहर से कहीं आती नहीं।

तो जब मैं तुमसे कहता हूं परमात्मा के लिए परिपूर्ण रूप से अतृप्त हो जाओ, प्यासे--उसी प्यास में से तृप्ति उमगेगी। वही प्यास बीज बन जायेगी। उसी बीज से तृप्ति का वृक्ष पैदा होगा। ऐसा नहीं है कि प्यासे तुम होओगे तो तृप्ति कहीं बाहर से आयेगी। तुम्हारी प्यास में ही तृप्ति का जन्म है। प्यास गर्भ है। तृप्ति उसी गर्भ में बड़ी होती है। तुम्हारे प्यास के गर्भ से ही तृप्ति का जन्म होता है।

रमण महर्षि अपने साधकों को कहते थे: एक प्रश्न पूछते रहो, मैं कौन हूं? मैं कौन हूं? मैं कौन हूं? ऑसबर्न नाम का विचारक उनके पास आया और उसने पूछा कि क्या यह पूछते रहने से उत्तर मिल जायेगा? क्या ऐसी घड़ी आयेगी कभी जब कि उत्तर मिलेगा?

रमण ने कहा: उत्तर? उत्तर इस प्रश्न में ही छिपा है! तुम इसे जिस दिन इस प्रगाढ़ता से पूछोगे कि तुम अपना सब कुछ उस पूछने में दांव पर लगा दोगे, बस यही प्रश्न उत्तर बन जायेगा। उत्तर कहीं बाहर से आता नहीं। तुम्हें जो मिलने वाला है, तुम्हारे भीतर छिपा है।

परमात्मा की अतृप्ति का इतना ही अर्थ है कि जो बाहर है, अब बहुत खोज चुके, उसे मत खोजो। अब जो भीतर है उसे खोजो।

"आपने कहा कि संसार के प्रति तृप्ति और परमात्मा के प्रति अतृप्ति होनी चाहिए। और आपने यह भी कहा कि कोई भी आकांक्षा न रहे।"

परमात्मा कोई आकांक्षा नहीं है, क्योंकि परमात्मा तुम्हारा स्वभाव है। आकांक्षा मात्र पर की होती है। परमात्मा पर है ही नहीं। इसलिए कुछ ज्ञानियों ने तो "परमात्मा" शब्द का उपयोग ही नहीं किया; सिर्फ "आत्मा" शब्द का उपयोग किया है, क्योंकि परमात्मा में पर आ जाता है। शब्द में तो आ जाता है, कि जैसे कोई दूसरा। आकांक्षा सदा पर की है; कुछ और की, जो नहीं मिला है, उसकी है। परमात्मा तो तुम्हें मिला ही हुआ है। वह तुम्हारा स्वभाव है। तुम उसे खो भी नहीं सकते; सिर्फ भूल सकते हो या याद कर सकते हो। अतृप्ति तुम्हें याद दिला देगी। जो सदा से तुम्हारे भीतर मौजूद था उसकी प्रतीति और साक्षात्कार हो जायेगा। आकांक्षा का तो अर्थ होता है, जो मेरे पास नहीं है।

एक युवक ने मुझसे आकर पूछा कि आप मुझे क्या देंगे अगर मैं संन्यस्त हो जाऊं? तो मैंने उससे कहा, मैं तुम्हें वही दे दूंगा जो तुम्हारे पास है ही और तुमसे वही छीन लूंगा जो तुम्हारे पास नहीं है।

कुछ चीजें हैं जो तुम्हारे पास नहीं हैं और तुम सोचते हो तुम्हारे पास हैं। और कुछ चीजें हैं जो तुम्हारे पास हैं और तुमने भूल कर भी नहीं सोचा कि तुम्हारे पास हैं। मैं तुम्हें वही दे दूंगा जो तुम्हारे पास है। और तुमसे वही ले लूंगा जो तुम्हारे पास नहीं है। जो नहीं है, वह छीन लूंगा; जो है, वह दे दूंगा।

अंतरतम की इस अतृप्ति में तुम्हें सिर्फ अपना ही साक्षात्कार होगा।

अब इस साक्षात्कार के दो मार्ग हैं, जैसा मैं बार-बार कहता हूं। एक मार्ग प्रेम का है, एक मार्ग ध्यान का। अगर तुम प्रेम के मार्ग से चल रहे हो तो तुम साक्षी की बात ही भूल जाओ। "साक्षी" शब्द प्रेम के मार्ग पर नहीं आता। वह प्रेम के भाषा-कोष में नहीं है। प्रेमी साक्षी थोड़े ही होता है, भोक्ता होता है। प्रेमी भगवान को भोगता है, साक्षी थोड़े ही! प्रेमी भगवान को जीता है, पीता है; साक्षी थोड़े ही। "साक्षी" शब्द प्रेम की भाषा का हिस्सा नहीं है। इसलिए तुम्हें अड़चन हो गयी। अगर प्रेम की भाषा का उपयोग करते हो, अगर प्रेम के मार्ग पर चलते हो, तो तुम अतृप्त हो जाओ, जैसे पागल प्रेमी। जैसे मजनू। ऐसे तुम पागल हो जाओ। भूलो, साक्षी इत्यादि का फिर कोई प्रयोजन नहीं है। अगर तुम प्रेम के मार्ग पर नहीं चल सकते, अगर प्रेम तुम्हारा स्वाभाविक गुणधर्म नहीं है और ध्यान के मार्ग पर चलते हो, तो फिर अतृप्ति नहीं। फिर साक्षी। फिर तुम जागो। जो है उसे देखो।

प्रेम का अर्थ है: जो है उसमें डूबो। साक्षी का अर्थ है: जो है उसे देखो।

साक्षी का अर्थ है: किनारे बैठ जाओ। प्रेम का अर्थ है: सागर में डुबकी लगाओ।

अब यह तुम्हें कठिन होगा एकदम से समझना कि जिसने सागर में डुबकी लगा ली प्रेम के, वह किनारे पर बैठ जाता है। अब यह विरोधाभास मालूम होगा। और जो किनारे पर बैठ गया साक्षी हो कर, उसकी डुबकी लग जाती है। ये दोनों उपाय एक ही जगह पहुंचा देते हैं। उपाय की तरह भिन्न हैं, अंतिम निष्पत्ति की तरह भिन्न नहीं हैं। मगर तुम उस उलझन में अभी न पड़ो। या तो किनारे पर बैठ जाओ। और जिस दिन किनारे पर बैठे-बैठे अचानक पाओगे डुबकी लग गयी, बैठे-बैठे लग गयी, किनारे पर ही मंझधार पैदा हो गयी--उस दिन तुम

समझोगे कि अरे, विरोधाभास नहीं था। अलग- अलग भाषावली थी। अलग-अलग कहने का ढंग था। या, सागर में डुबकी लगा कर जब तुम अचानक आंख खोलोगे और पाओगे किनारे पर बैठे हो--जल छूता भी नहीं, कमलवत--तब तुम समझोगे कि वह जो साक्षी की बात कर रहे थे वे भी ठीक ही बात कर रहे थे।

ध्यान और प्रेम अंतिम चरण में मिल जाते हैं। लेकिन अंतिम चरण में ही मिलते हैं, उसके पहले नहीं। उसके पहले दोनों के रास्ते बड़े अलग-अलग हैं। प्रेमी रोता है--रसविभोर, पुकारता है, विकल हो कर। ध्यानी शांत हो कर बैठ जाता है--न पुकार, न विरह। ध्यानी तो बिलकुल शून्य होकर बैठ जाता है; कहीं जाता ही नहीं, कुछ खोजता ही नहीं; सब आकांक्षा से शून्य हो जाता है। प्रेमी सारी आकांक्षाओं को एक ही आकांक्षा में बदल देता है--प्रभु को पाने की। ध्यानी शून्य हो जाता; प्रेमी परमात्मा को अपने में भरने लगता है। और शून्य और पूर्ण आखिरी स्थिति में एक ही चीज सिद्ध होते हैं--एक ही चीज को देखने के दो ढंग।

तुम इस उलझाव में मत पड़ना। मुझे सुनने वाले इस उलझाव में पड़ सकते हैं। ऐसी झंझट पहले न थी। कम से कम दूसरे गुरुओं के साथ न थी। मीरा कहती तो प्रेम की ही बात कहती थी; साक्षी की बात ही न उठाती थी। और अष्टावक्र कहते तो साक्षी की ही बात कहते; प्रेम की बात न उठाते। सुनने वालों को सुविधा थी। मैं कभी तुमसे प्रेम की बात कहता हूं, कभी साक्षी की--इससे विरोधाभास पैदा हो जाता है।

लेकिन मैं तुमसे यह कहना चाहता हूं कि अष्टावक्र आधी मनुष्यता के लिए बोले और मीरा भी आधी मनुष्यता के लिए बोली--मैं पूरी मनुष्यता के लिए बोल रहा हूं; पूरे मनुष्य के लिए बोल रहा हूं। इससे अड़चन आती है। और इस बोलने के पीछे कुछ प्रयोजन है। प्रयोजन यह है कि अब तक जितने धर्म पैदा हुए सब अधूरे हैं। जैसे जैन धर्म है, वह साक्षी का धर्म है। उसमें स्त्री को जगह नहीं। उसमें प्रेमी को जगह नहीं। उसमें भक्ति-भाव को जगह नहीं।

दुनिया में आधी स्त्रियां हैं, आधे पुरुष हैं। तुम जान कर हैरान होओगे, जैन शास्त्र कहते हैं कि स्त्री-पर्याय से मोक्ष नहीं। अगर किसी स्त्री को कभी मोक्ष मिलेगा तो पहले पुरुष-पर्याय में होना पड़ेगा, तब मोक्ष मिलेगा। क्यों? बुद्ध का मार्ग भी साक्षी का मार्ग है। बुद्ध ने वर्षों तक इंकार किया, स्त्रियों को दीक्षा नहीं देंगे। टालते रहे। क्यों? दुनिया में आधी स्त्रियां हैं। अगर जैन धर्म जीत जाये तो आधी ही दुनिया धार्मिक हो पायेगी। और इस बात को खयाल रखना, अगर स्त्रियां अधार्मिक रहें तो पुरुष धार्मिक हो न पायेंगे। क्योंकि उनका आधा अंग अधार्मिक रहेगा। बहुत कठिन हो जायेगी बात। यात्रा बहुत दूर तक न हो पायेगी। टूटा-फूटा धर्म होगा, खंडित धर्म होगा।

मीरा है, चैतन्य हैं, कबीर हैं--वे प्रेम की बात करते हैं। अगर उनकी बात सही है तो ध्यान का क्या होगा? अगर उनकी ही बात सही है तो उन लोगों का क्या होगा जो प्रेम करने में समर्थ नहीं? जिनके हृदय में मरुस्थल जैसा सन्नाटा है, शून्य है--वे भी हैं। उनका क्या होगा? उनकी भी संख्या आधी है।

मेरे हिसाब में, इस जगत में एक गहरा संतुलन है। जैसे आधी स्त्रियां, आधे पुरुष; आधा दिन, आधी रात; धूप और छाया का मेल है--ऐसे हर चीज आधी-आधी है। यहां आधे लोग ध्यान के मार्ग से पहुंचेंगे और आधे लोग भक्ति के मार्ग से पहुंचेंगे।

अब तक दुनिया के जितने धर्म थे, वे अधूरे-अधूरे थे। और किसी धर्म ने मनुष्य की पूर्णता को छूने की चेष्टा नहीं की। खतरा था। वह खतरा मैं उठा रहा हूं। खतरा यह है कि अगर मनुष्य की पूर्णता को ध्यान में रखा जाये तो बातें बड़ी विरोधाभासी हो जाती हैं। साधक को साफ-सुथरापन नहीं मालूम होता। उसे लगता है: "क्या करें, क्या न करें? यह भी ठीक है, यह भी ठीक है--हम क्या चुनें?"

तुम चाहते हो कोई निश्चयपूर्वक कह दे कि यही ठीक है, और सब गलत है। यही तुमसे तुम्हारे धर्मगुरु कहते रहे कि यही ठीक है, बस यही ठीक है, और सब गलत है। इसलिए नहीं कि और सब गलत है; सिर्फ इसलिए ताकि तुम निश्चित हो जाओ; ताकि तुम्हारे संदेह से भरे मन में निश्चय की किरण पैदा हो जाये।

नहीं, मगर यह निश्चय की किरण बड़ी महंगी पड़ी। मुसलमान समझते हैं, मुसलमान ठीक हैं, हिंदू गलत है। हिंदू समझते हैं हिंदू ठीक, मुसलमान गलत है। इस निश्चय की किरण से धर्म तो आया नहीं, युद्ध आये। इस निश्चय की किरण से संघर्ष हुआ, हिंसा हुई, खूनपात हुआ।

नहीं, मैं तुम्हें यह निश्चय की किरण नहीं देना चाहता। मैं तुम्हें समझ की किरण देना चाहता हूं। मेरे देखे, जितना समझदार आदमी होगा उतना ही "मुझसे विपरीत भी सही हो सकता है" इसकी उदारता उसमें होगी। वही उदारचित्त "महाशय" है। वह यह जानेगा कि मैं ही ठीक हूं, ऐसा नहीं; मुझसे विपरीत भी ठीक हो सकता है। क्योंकि परमात्मा बड़ा है। वह मुझसे विपरीत को भी सम्हाल सकता है। परमात्मा में विरोधाभास लीन हो सकते हैं, एक-दूसरे में समाहित हो सकते हैं। परमात्मा विरोधों के बीच संगीत है।

इसलिए जो ज्ञान समझपूर्वक पैदा हो--निश्चय के कारण नहीं, अंधी श्रद्धा के कारण नहीं, जबर्दस्ती आंख बंद करके नहीं...। नहीं तो फिर मैं ठीक हूं, तुम गलत हो। क्योंकि तब तो ऐसा लगता है: या तो तुम ठीक हो या मैं ठीक हूं। दोनों कैसे ठीक हो सकते हैं?

मैं तुमसे कहता हूं: दोनों ठीक हैं। इसका यह मतलब नहीं है कि मैं तुमसे कह रहा हूं, तुम दोनों मार्ग पर चलो। दोनों पर चलोगे तो मुश्किल में पड़ोगे। कोई दो नाव पर सवार हो सकता है? या कोई दो घोड़ों पर बैठ सकता है? मैं तुमसे यह कह रहा हूं: दूसरा घुड़सवार भी पहुंच जायेगा; तुमसे नहीं कह रहा हूं कि तुम दो घोड़ों पर बैठो। तुमसे इतना ही कह रहा हूं, उदार चित्त रखो, दूसरा भी पहुंच जायेगा। दूसरे की निंदा मत करो। यह मत कहो कि स्वर्ग सिर्फ हमारा है और तुम्हारे लिए सब नर्क है।

स्वर्ग सबके लिए है। स्वर्ग सबका है; किसी की मालकियत नहीं है। और तुम्हें जिस भांति सहज होने में सुविधा मिले, तुम उसी घोड़े पर सवार हो जाओ। एक पर ही सवार होना होगा। चलते समय तो एक ही रास्ता चुनना होगा। तुम्हें पता है कि पहाड़ पर सभी रास्ते ऊपर पहुंच जाते हैं, फिर भी कोई आदमी दो रास्तों पर साथ-साथ तो नहीं चल सकता। जानते हुए कि सभी रास्ते पहाड़ के ऊपर पहुंच जाते हैं, चोटी पर, फिर भी तो तुम्हें एक ही रास्ते पर चलना होगा। तुम दो पर तो चल न सकोगे। तुम अपने पर चलो। लेकिन दूसरे रास्तों वाले लोग भी पहुंच जाते हैं, यह बोध तुम्हें बना रहे। इसलिए मैं सारे मार्गों की इकट्ठी बात कर रहा हूं।

तुम्हें विरोधाभास लगेगा, क्योंकि चित्त को उदार होने में बड़ी कठिनाई होती है। चित्त उदार नहीं है, चित्त बहुत संकीर्ण है। और इस बात का मजा भी तुम्हारा खो जाता है कि हम ही सत्य हैं और दूसरे गलत हैं। लोगों को सत्य की उतनी चिंता नहीं है जितने अहंकार का रस लेने की चिंता है कि मैं ठीक! ठीक की कोई चिंता नहीं है कि ठीक क्या? इसकी चिंता ज्यादा है कि मैं ठीक। यह मजा कि मैं ठीक हूं और तुम गलत हो!

दूसरे को गलत सिद्ध करने में हम बड़े उत्सुक हैं। मैं तुमसे कह रहा हूं: दूसरे को दूसरे पर छोड़ो। अगर उसे मंदिर में बैठ कर मूर्ति पूजनी है, कहो कि प्रभु तुम्हारे मार्ग से तुम्हें मिले, निश्चित मिले। अगर मैं भी पहुंच सका अपने मार्ग से तो अंत में मिलेंगे। फिलहाल के लिए नमस्कार! मगर मेरी शुभकामनाओं के साथ तुम यात्रा करो। और मेरे लिए भी प्रार्थना करना तुम्हारे प्रभु से, तुम्हारे मंदिर की मूर्ति से कि मैं भी पहुंच जाऊं।

इतना उदार चित्त पृथ्वी पर पैदा हो तो पृथ्वी धार्मिक हो पायेगी। मैं चाहता हूं कि दुनिया में न हिंदू हों, न मुसलमान, न सिक्ख, न ईसाई, न पारसी--दुनिया में धार्मिक आदमी हों।

दूसरा प्रश्न: मैंने सुना है कि साधक को साधना के चार चरणों से गुजरना पड़ता है: तरीकत, शरीअत, मारिफत और हकीकत। अंतिम है हकीकत, जहां साधक अपने सनम से मिलता है और सत्य के साथ उसका साक्षात्कार हो जाता है। भगवान, कृपया पहली तीन स्थितियों को समझायें।

ये शब्द सूफियों के हैं। बड़े महत्वपूर्ण हैं। बहुत सीधे-साफ भी हैं। पहला है तरीकत। तरीकत का अर्थ होता है: तौरत्तरीका, विधि-विधान, उपाय, योग। तरीकत का अर्थ होता है: कुछ करना है, तो उसे पा सकेंगे; बिना किये तो न मिलेगा। कुछ रास्ता चलना है; मार्ग खोजना है; पगडंडी बनानी है। कुछ जीवन में अनुशासन लाना है, व्यवस्था देनी है। तरीकत का अर्थ होता है, उसके योग्य हो सकें, इसका तौरत्तरीका सीखना है।

तुम किसी सम्राट के दर्शन करने जाते हो, तो तुम उसके दरबार का तौरत्तरीका सीखते हो। ऐसे ही तो नहीं चले जाते। ऐसे ही तो स्वीकार न हो सकोगे। तुम सीखोगे कि कैसे वहां बैठेंगे, कैसे वहां उठेंगे, कैसे वहां झुकेंगे। सम्राट से मिलने जा रहे हो तो सम्राट के जीवन का जो ढंग है उस ढंग का कुछ स्वाद तुम्हें लेना होगा।

परमात्मा से मिलने चले हैं तो परमात्मा की थोड़ी-सी सुगंध अपने में बसा लें।

तुम्हारे घर कोई मेहमान आता है तो तुम घर को तैयार करते हो। परमात्मा जैसे मेहमान को बुलाया है तो तैयारी तो करोगे न, कुछ इंतजाम तो करोगे, नयी चादर तो बिछाओगे पलंग पर, कमरे साफ तो करोगे, रंग-रोगन तो करोगे! तौरत्तरीका!

बड़ा प्यारा शब्द है तरीकत। इसका अर्थ है: जाओ, सदगुरु के चरणों में बैठो। सीखो उससे: कैसे बैठना, कैसे उठना?

अर्जुन ने कृष्ण से पूछा है: मुझे बतायें प्रभु, स्थितिधी कैसे चलता? कैसे उठता? कैसे बैठता? कैसे बोलता? वह, जिसकी प्रज्ञा थिर हो गयी है, उसके उठने, बैठने, चलने का तौरत्तरीका मुझे बतायें। तो मैं भी उस ढंग से उठूं, उस ढंग से बैठूं; थोड़ा उस मार्ग की व्यवस्था को समझूं। अनुशासन, डिसिप्लिन।

दूसरा है: शरीअत। शरीअत का अर्थ है तल्लीनता--जब साधक और साधना एक हो जाये। पहले में तो तरीका रहता है। और तुम जरा सावधानीपूर्वक तरीके का व्यवहार करते हो, क्योंकि अभी नये-नये हो। नया-नया टाइपराइटर चलाते हो या नयी-नयी कार सीखते हो, तो बड़ा हिसाब रखना पड़ता है। नयी कभी कार चलाना सीखा? तो कई चीजें एक साथ संभालनी पड़ती हैं। रास्ता भी देखो, स्टेअरिंग भी खयाल में रखो, ऐक्सीलरेटर पर भी पैर जमाये रखो, ब्रेक का भी ध्यान रखो। गेयर बदलना हो तो क्लिच को दबाना भी न भूल जाओ--सारी फिक्र! सिक्खड़ को बड़ी मुश्किल होती है। इतनी चीजें, अकेली जान! एक तरफ ध्यान देता है, दूसरा चूक जाता है। नीचे की तरफ देखता है तो रास्ता भूल जाता है, रास्ते की तरफ देखता है तो पैर ब्रेक से फिसल जाता है। ऐक्सीलरेटर ज्यादा दब जाता है, क्लिच लगाना भूल जाता है--यह सब होता है। लेकिन धीरे-धीरे जैसे-जैसे तुम पारंगत होते, कुशल होते, फिर...फिर तुम गपशप करते रहते, गाना गाते रहते, रेडिओ सुनते रहते और कार चलती रहती है। अब तौरत्तरीका तौरत्तरीका न रहा, अब तुम्हारे साथ तालमेल हो गया। अब तुम अलग नहीं हो।

मनोवैज्ञानिक तो कहते हैं कि कभी-कभी ऐसी घड़ी आ जाती है रात में, तीन और चार के बीच, कि ड्राइवर को झपकी भी लग जाती है। क्षण भर को आंखें बंद हो जाती हैं, मगर गाड़ी चलती रहती है। उसी वक्त सबसे ज्यादा एक्सीडेंट होते हैं--तीन और चार के बीच। अगर रात भर कोई ड्राइवर गाड़ी चला रहा है तो सबसे ज्यादा खतरनाक समय तीन और चार के बीच है। क्योंकि उस वक्त सबसे ज्यादा गहरी नींद का समय है। उस वक्त कभी-कभी ऐसा हो जाता है कि ड्राइवर सोचता है कि आंख खुली है और आंख बंद हो जाती हैं। ऐसा भी हो जाता है कि आंख बंद हो जाती हैं और मन धोखा देता है; रास्ता भी दिखाई देता है। वह सपना है रास्ते का! रास्ता अब है नहीं। और गाड़ी चलती रहती है।

शराब पी कर भी ड्राइवर ठीक-ठीक चला लेता है। सच तो यह है कि अगर किसी ड्राइवर की परीक्षा लेनी हो कि ठीक-ठीक ड्राइवर है कि नहीं, तो पिला कर ही चलवा कर देख लेना। अगर पीकर भी चला ले तो ठीक ड्राइवर है। तो अब इसमें और इसकी ड्राइविंग में फासला नहीं रहा है।

शरीअत का अर्थ होता है, अब अनुशासन अलग नहीं रह गया, खून में एक हो गया--हड्डी, मांस-मज्जा में समा गया। ऐसा नहीं है कि अब तुम्हें चेष्टा करके करना पड़ता है। अब तुमसे होता है। अब तुम न भी ध्यान दो तो भी वैसा ही होता है जैसा होना चाहिए।

एक तो प्रार्थना है जो याद रख कर करनी पड़ती है। एक तो ब्रह्ममुहूर्त में उठना है कि अलार्म भरो तो उठ सकते हैं। फिर, एक घड़ी आती है जब ब्रह्ममुहूर्त का आनंद इतना लीन कर लेता है तुम्हें कि ब्रह्ममुहूर्त में तुम सोना भी चाहो तो नहीं सो सकते; नींद खुल ही जाती है। तब तरीकत शरीअत बन गयी।

तरीकत में उपाय है, विधि है और मैं का भाव है, सेल्फ कांशस। जो आदमी तरीकत में जी रहा है वह अभी अहंकार के बाहर नहीं गया है। अहंकार से बाहर जाने का आयोजन कर रहा है, लेकिन अभी अहंकार के भीतर है। शरीअत में तल्लीनता आ गयी: साधक और साधना में भेद न रहा। अहंकार विसर्जित होने लगा। शरीअत में मैं खो जाता है।

फिर तीसरी स्थिति है: मारिफत। पहले में मैं रहता, दूसरे में मैं खो जाता और तीसरे में परमात्मा की झलक मिलनी शुरू होती है। पहले में सिर्फ तौरत्तरीका था; दूसरे में साधना जीवन का अनुषंग बन गयी, लीनता आ गयी; तीसरे में परमात्मा की झलक मिलनी शुरू होती है। क्योंकि जहां मैं मिटा, वहीं झलक आयी, झरोखा खुला। लेकिन अभी झलक जैसे दूर से आ रही है; जैसे हजारों मील दूर से किसी दिन सुबह उगते हुए सूरज में--आकाश खुला हो--तो तुमने हिमालय का शिखर देखा हो। चमकता हुआ धूप में, हजारों मील दूर से दिखाई पड़ जाता है। लेकिन अभी फासला बहुत है। अभी झलक मिली है परमात्मा की!

चौथे में, जिसको सूफी हकीकत कहते...। हकीकत बनता है "हक" शब्द से। हक का मतलब होता है सत्य। तुमने सुना होगा, अलहिल्लाज मंसूर का प्रसिद्ध वचन: "अनलहक"--मैं सत्य हूं। हकीकत पर पहुंच गया। जिसको भारत में ब्रह्मज्ञान कहते हैं--हकीकत। ब्रह्मज्ञान से भी अच्छा शब्द है हकीकत। क्योंकि सत्य, सिर्फ सत्य की बात है। अब परमात्मा की भी बात न रही। जब तक परमात्मा है तब तक तुम और परमात्मा थोड़े अलग-अलग, फासला है। झलक मिली। तुम्हारा "मैं"-भाव मिट गया है, लेकिन अभी परमात्मा में "तू"-भाव मौजूद है।

तो ऐसा समझो, तरीकत में "मैं" मौजूद है; शरीअत में "मैं" नहीं; मारिफत में "तू" उदय हुआ-- परमात्मा प्रगट हुआ। और हकीकत में न "तू" रहा न "मैं"; सिर्फ सत्य रह गया--अद्वैत, एक। "मैं" और "तू" के सारे फासले गिर गये।

यह साधक की यात्रा है। तीन पड़ाव हैं, चौथी मंजिल है। तीन पर कहीं बीच में मत रुक जाना। बहुत लोग तौरत्तरीके में ही रुक जाते हैं। वे सदा यही सीखते रहते हैं कि बायें नाक को दबा कर दायें से सांस लें, कि दायें को दबा कर बायें से सांस लें, कि नौली-धोती करें, कि शीर्षासन लगायें। सब अच्छा है। बुरा कुछ भी नहीं। लेकिन जिंदगी भर यही करते रहे, सदा इसी में रम गये...। ऐसे बहुत लोग हैं। जिनको तुम योगी कहते हो वे अक्सर इसी में उलझ गये होते हैं। इसका ही फैलाव फैल जाता है। बस वे शरीर की ही शुद्धि में लगे रहते हैं। कभी उपवास करेंगे, कभी जल लेंगे; कभी फलाहार करेंगे--बस इसी में सारा, चौबीस घंटे, जीवन का क्रम इसी में उलझ गया।

तरीकत की आवश्यकता है, लेकिन तरीकत कोई लक्ष्य नहीं है। यह ठीक है कि घर को सजाओ, लेकिन सजाते ही मत रहो। यह ठीक है कि मेहमान आता है तो तैयारी करो, लेकिन मेहमान को भूल ही मत जाओ, कि मेहमान आकर द्वार पर भी खड़ा हो जाये और तुम तैयारी में ही लगे हो। और तुम्हारी तैयारी ऐसी हो गयी है कि तुम अब उसकी भी फिक्र नहीं करते, तुम उससे भी कहते हो: "रुको जी! तैयारी हो जाने दो! बीच-बीच में बाधा मत डालो!"

रामतीर्थ ने कहा है कि एक युवक परदेस गया। उसकी प्रेयसी उसकी बहुत दिन तक राह देखती रही। पत्र उसके आते रहे। वह कहता, अब आऊंगा, तब आऊंगा, लेकिन आता-करता नहीं। आखिर प्रेयसी थक गयी। और

वह पहुंच गयी परदेस। वह पहुंच गयी उसके द्वार पर। वह कुछ लिख रहा था। तो वह बैठ गयी देहली पर, कि वह लिखना पूरा कर ले। वह बड़ी तल्लीनता से लिख रहा है। उसके आंसू बह रहे हैं। वह बड़े भाव में निमग्न है। उसको पता ही नहीं चला कि यह आ कर बैठी है। आधी रात होने लगी। तब उस प्रेयसी ने कहा कि अब रुको भी, कब तक लिखते रहोगे? मैं कब तक बैठी रहूं? वह तो घबड़ा कर उसने आंख खोली। उसको तो भरोसा न आया। उसने तो समझा कोई भूत-प्रेत है, कि मर गयी मेरी प्रेयसी, या क्या हुआ! "तू यहां कैसे?" वह तो एकदम थरथराने लगा।

उसने कहा: अरे घबराओ मत, मैं यहां बड़ी देर से बैठी हूं।

तो उसने कहा: तूने पहले क्यों नहीं कहा?

तो उसने कहा: मैंने सोचा कि आप कुछ लिख रहे हैं।

उसने कहा: क्या खाक लिख रहा हूं, पत्र लिख रहा हूं तुझी को। तू पहले ही कह दी होती!

तो कुछ लोग ऐसे हैं: बहियां रखे बैठे हैं। राम-राम, राम-राम लिख रहे हैं। अगर राम भी आ कर खड़े हो जाएं, वे कहेंगे: ठहरो, हमारी बही पूरी होने दो! कोई मंत्र पढ़ रहा है, तो मंत्र में ही लगा है। वह सुनेगा भी नहीं। तो वह भगवान की भी नहीं सुनेगा।

तरीकत में उलझ मत जाना। बहुत लोग उलझ गये हैं। क्रियाकांडी हो जाते हैं। उनका काम ही यही होता है।

मैं एक सज्जन को जानता था। उनकी बड़ी प्रतिष्ठा थी। गांव के लोग कहते बड़े धार्मिक हैं। मैं कभी-कभी उस गांव जाता था। मैंने पूछा कि मामला क्या है, इनके धार्मिक होने का राज? तो उन्होंने कहा कि ये बड़े शुद्धि से जीते हैं। तो मैं एक दिन चौबीस घंटे उनका खयाल रखा कि वे किस तरह जीते, क्या करते हैं। उनकी शुद्धि अदभुत थी। वे पानी भरने जायें नल से--गरीब आदमी थे, घर में नल भी न था, सड़क के नल से पानी भर कर लायें--मगर अगर स्त्री दिखाई पड़ जाये तो वे फौरन उलट दें। अशुद्ध हो गया पानी! फिर मल कर वह अपनी गगरी को साफ करें। अब स्त्रियों का कोई ठिकाना है! रास्ता चल रहा है, फिर कोई स्त्री निकल गयी। वह फिर उनका उलट गया। कभी पचास दफे भी! मगर चाहे सांझ हो जाये, मगर वे शुद्ध पानी ले कर ही लौटें। फिर खुद ही अपने हाथ से भोजन बनाना। फिर खुद ही कपड़े धोना।

मैंने उनसे पूछा कि तुम्हें और कुछ करने को फुर्सत मिलती है? उन्होंने कहा: फुर्सत कहां? शुद्धि में ही सब समय चला जाता है। और शुद्धि हर चीज की। घी भी खुद बनाना। तीन घंटे से ज्यादा पुराना हो जाये घी, अशुद्ध हो गया। आटा रोज पीसना। रखा कल का आटा बासा हो गया।

मैंने उनसे पूछा कि तुम भगवान का कब ध्यान करोगे? वे कहने लगे कि कभी-कभी मुझे भी सोच आता है कि यह मैं किस जाल में पड़ा हूं! मगर अब पड़ गया हूं और इसी में मेरी प्रतिष्ठा है! यह गांव भर मुझे पूजता है। लोग गेहूं दे जाते, चावल दे जाते, दूध दे जाते--यही मेरी प्रतिष्ठा है। मगर मैं मर गया शुद्धि में! मेरी जिंदगी ऐसे बीत गयी। अब मुझे भी डर लगता है कि स्त्री निकल जाये...कभी-कभी मैं भी सोचता हूं भर लो, कौन देख रहा है। मगर यह भी डर रहता है कि किसी ने देख लिया! अब एक जाल में फंस गया हूं। अब निकलना मुश्किल हो रहा है।

तुम अपने साधुओं को देखो, मुनियों को देखो--एक जाल है जिसमें फंस गये हैं।

एक जैन मुनि ने मुझे कहा कि फुर्सत ही नहीं मिलती कि कभी ध्यान कर लें। और साधु इसीलिए हुए थे कि ध्यान करना है। मगर फुर्सत मिले तब न! क्रियाकांड ऐसा है, उस क्रियाकांड में ही सब समय चला जाता है। फिर थोड़ा-बहुत समय बचता है तो श्रावक आ जाते हैं, उनके साथ सत्संग करना पड़ता है। सत्य अभी खुद भी मिला नहीं। उस सत्य को बांटना पड़ता है, सत्संग करना पड़ता है! जो बात खुद भी पता नहीं चली वह दूसरों को समझानी पड़ती है। और ज्यादा से ज्यादा परिणाम यही होगा कि इनमें से कोई श्रावक फंस जायेगा तो जो दुर्दशा इनकी हुई वही उसकी होगी। ऐसे जाल चलता है।

हमारे पास एक शब्द है "गोरखधंधा"। अगर तरीकत में उलझ गये तो गोरखधंधा हो जाता है। गोरखधंधा आया है संत गोरखनाथ से। गोरखनाथ ने इतनी विधि-विधियां खोजीं, इतनी नौली-धोती, ऐसा करो वैसा करो, कि उससे ही यह शब्द बन गया "गोरखधंधा"--कि जो फंस गया गोरखधंधे में, वह फिर निकल नहीं पाता। विधियों का तो अनंत जाल है। तुम उससे कभी बाहर न आ सकोगे। बाहर आने का कोई उपाय ही न पाओगे। एक विधि में से दूसरी निकलती जाती है। दूसरी में से तीसरी निकलती आती है।

तरीकत की एक सीमा है। सीमा का ध्यान रहे। एक मर्यादा है। मर्यादा की सूझ रहे, समझ रहे। फिर शरीअत है। तो ही शरीअत आयेगी। अगर तरीकत से ऊपर उठे, अगर गोरखधंधे में न खो गये, तो ही दूसरी घड़ी आयेगी। दूसरी घड़ी बड़ी आवश्यक है--तल्लीनता की। विधि-विधान से छूटे, जीवन थोड़ा सहज हुआ। अब बोध से जीयो, विधि-विधान से नहीं। अब ब्रह्ममुहूर्त में ही उठना है, ऐसी जिद्द मत करो। अब जब उठ आओ तब ब्रह्ममुहूर्त समझो। और तुम धीरे-धीरे पाओगे कि ब्रह्ममुहूर्त में ही उठने लगे। अब ऐसी क्षुद्र बातों पर मत उलझे रहो कि किसने भोजन बनाया, ब्राह्मण ने बनाया कि गैर-ब्राह्मण ने बनाया। इन क्षुद्र बातों पर बहुत मत उलझे रहो। पार जाना है। थोड़ी तैयारी कर लो।

तुमने देखा हवाई जहाज उड़ता थोड़ी दूर, तो रास्ते पर चलता है--वह तरीकत। दौड़ता थोड़ा रन वे पर। फिर इसके बाद उठता है। अब दौड़ता ही रहे और कभी उठे ही नहीं, तो हवाई जहाज खाक हुआ। फिर एअर बस न हुई, बस ही हो गयी। फिर अपने बस में ही बैठ जाते, वही बेहतर थी। इसमें झटके ज्यादा होंगे और ज्यादा उपद्रव लगेगा। हवाई जहाज उड़ने को है। एक सीमा है, जहां तक वह दौड़ता है; फिर आ गयी सीमा रेखा, फिर वहां पर रुकता है, गति को पूरा कर लेता है; फिर उस गति के सहारे ऊपर उठ जाता है।

तरीकत की सीमा है। उसके पार जाना है। शरीअत तभी पैदा होगी। साधना तभी सुगंधित होगी, जब तुम विधि-विधान भूल जाओगे।

एक सूफी फकीर यात्रा पर जा रहा था--तीर्थ-यात्रा पर। उसने कसम खायी थी कि एक महीने का उपवास रखेंगे, यह पूरी यात्रा उपवासी-अवस्था में करेंगे। तीन-चार दिन बीते, एक गांव में आया। गांव में आया तो आते ही खबर मिली कि तुम्हारा एक भक्त है, अदभुत भक्त है। गरीब आदमी है। उसने अपना झोपड़ा जमीन सब बेच दी और तुम्हारे स्वागत में भोज का आयोजन किया है। और सारे गांव को निमंत्रित किया है।

फकीर के शिष्यों ने कहा: यह कभी नहीं हो सकता। हमने कसम खायी है, एक महीने उपवास रहेगा। हम अपने व्रत से कभी डांवांडोल नहीं हो सकते।

लेकिन जब उन्होंने आ कर फकीर को कहा, फकीर ने कहा, फिर ठीक है। कसम का क्या, कोई हर्जा नहीं।

शिष्य तो बड़े हैरान हुए कि जिस पर इतना भरोसा किया...यह तो पाखंडी मालूम होता है। कसम खायी और चार दिन में बदल गया! भोजन के प्रति इसकी लोलुप दृष्टि मालूम होती है। मगर अब सबके सामने कुछ कह भी न सके। लेकिन जब गुरु ही भोजन कर रहा था तो उन्होंने कहा, अब हम भी क्यों छोड़ें। जब यही सज्जन भ्रष्ट हो गये तो हम तो इन्हीं के पीछे चल रहे थे, अब हमें क्या मतलब!

सब ने भोजन किया। रात जब लोग विदा हो गये तो शिष्यों ने गुरु को पकड़ लिया और कहा कि क्षमा करें, आप यह बतायें, यह क्या मामला है? यह तो बात ठीक नहीं।

गुरु ने कहा: क्या बात ठीक नहीं?

"कि हमने एक महीने की कसम खायी थी और आपने चार दिन में तोड़ दी।"

गुरु ने कहा: कौन तुम्हें रोक रहा है। चार दिन छोड़ो, आगे का एक महीना उपवास कर लेंगे। एक महीने की कसम खायी थी न, जिंदगी पड़ी है, घबड़ाते क्यों हो? मगर इस गरीब को तो देखो! अब इससे यह कहना कि हमने एक महीने की कसम खायी है...इसने जमीन बेच दी, मकान बेच दिया। इसके पास कुछ भी नहीं है। इसने सारे गांव को निमंत्रित किया...इसका गुरु गांव में आता है। इसको तो पता नहीं हमारी कसम का। अब कसम

की बात उठानी जरा हिंसात्मक हो जायेगी। इस गरीब के प्रेम को भी तो देखो। हमारी कसम का क्या है? एक महीना अभी आगे कर लेंगे। तुम इतने घबड़ाते क्यों हो?

इसको मैं कहता हूं, यह आदमी तरीकत से ऊपर उठा। इसके पास अब बोध है; समझपूर्वक जीता है। अब ऐसा कोई तौरत्तरीके में बंध जाने का पागलपन नहीं है। कोई तौरत्तरीका जेलखाना नहीं है, कि ऐसा ही होना चाहिए।

अक्सर तुम पाओगे कि लोग अपने आपको जेलखाने में रूपांतरित कर लेते हैं, खुद ही अपने हाथ से! उससे सावधान रहना। जब भी तुम्हें कोई धार्मिक आदमी ऐसा मालूम पड़े कि गहरी परतंत्रता में जी रहा है, तो समझना कि वह चूक गया, उसने पड़ाव को मंजिल समझ लिया।

तल्लीनता इतनी गहरी हो जाये कि "मैं" बिलकुल डूब जाये। तो तीसरी घड़ी आयेगी जब तुम्हारा "मैं" बिलकुल शून्य हो जाता है। तब प्रभु की किरण तुम्हारे गहन अंधकार में उतरती है और तुम्हें रूपांतरित करती है। तो जब तक प्रभु की किरण न उतरे तब तक समझना कि "मैं" अभी बाकी है--कहीं न कहीं छिपा होगा। कहीं किसी कोने में बैठ कर देख रहा होगा, राह देख रहा होगा, कि अरे अभी तक आये नहीं, प्रभु का आगमन नहीं हुआ! अगर ऐसा कोई तुम्हारे भीतर छिपा हुआ देख रहा हो तो प्रभु का आगमन होगा भी नहीं। कोई अपेक्षा कर रहा हो...कोई बैठा, वहां बैठा हो और कह रहा हो कि अभी तक नहीं आये, बड़ी देर हो गयी--और मैंने इतना किया, इतना किया; कितनी साधना की, कितने व्रत-उपवास किये, कितनी प्रार्थना की। अन्याय हो रहा है प्रभु अब। मुझसे जो पीछे चले थे वे पहुंच गये और मैं अभी तक नहीं पहुंचा। अब आओ!

नहीं, इतना भी भाव रह जाये तो "मैं" मौजूद है। जब "मैं" पूरा तल्लीन हो जाता है, तो आदमी प्रतीक्षा करता है--अपेक्षा-शून्य। वह कहता है, जब आना हो आ जाना, मुझे तुम तैयार पाओगे। मैं द्वार पर बैठा रहूंगा। तुम्हारी प्रतीक्षा भी प्रीतिकर है। तुम्हारी प्रतीक्षा है न, तो प्रीतिकर है। तुम्हारी ही तो राह देख रहा हूं, तो प्रीतिकर है। माना कि मेरे मन में बड़ी गहरी प्यास है। लेकिन प्यासा बैठा रहूंगा इस द्वार पर, दरवाजे बंद न करूंगा, रात-दिन न देखूंगा। तुम जब आओगे तब तुम मुझे तैयार पाओगे।

जीसस ने कहा है अपने शिष्यों को कि एक धनपति तीर्थयात्रा को गया। उसने अपने नौकरों को कहा कि ध्यान रखना, चौबीस घंटे दरवाजे पर रहना, क्योंकि मेरा कुछ पक्का नहीं है मैं किस समय वापिस लौट आऊं। दरवाजा बंद न मिले।

तो चौबीस घंटे चाकरों को, नौकरों को दरवाजा खोल कर रखना पड़ता और वहां बैठे रहना पड़ता। दो-चार दिन, पांच दिन, सात दिन बीते, उन्होंने कहा: अब यह भी हद हो गई, अभी तक तो आना नहीं हुआ! उन्होंने कहा, छोड़ो भी, अब मजे से दरवाजा बंद करके सो जाओ। जब आयेगा तब देख लेंगे।

जिस रात वे दरवाजा बंद करके सोये, वह आ गया।

जीसस कहते थे: ऐसी ही भूल तुम मत कर लेना। तुम दरवाजा खोलकर बैठे रहना। जब भी आये, जब उसकी मर्जी हो--आये। जब तैयारी होगी तभी आयेगा।

कहते हैं, जब शिष्य तैयार होता है, गुरु आ जाता है। जब भक्त तैयार होता है, भगवान आ जाता है। तुम्हारी तैयारी अनिवार्य रूप से फल ले आयेगी। अगर परमात्मा न आता हो तो परमात्मा पर नाराज मत होना, शिकायत मत करना। इतना ही अर्थ समझना कि तुम्हारी तल्लीनता अभी परिपूर्ण नहीं हुई है। तो और तल्लीन हो जाना, और डुबकी लगाना। और गुनगुनाना, और नाचना, और अपने को विस्मरण करना। जिस क्षण भी विस्मरण पूरा हो जाता है, उसी क्षण, तत्क्षण, एक क्षण बिना खोये परमात्मा की किरण उतर आती है। तीसरी स्थिति पैदा हो जाती है: मारिफत। धन्यभाग की स्थिति है। दूर से ही सही, प्रभु के दर्शन हुए। किरण तो आयी! हृदय को गुदगुदाया। नये फूल खिले। स्वाद मिला। अब, अब कोई डर नहीं। अब पहली दफा साफ हुआ

कि परमात्मा है। अब तक श्रद्धा थी--अंधेरे में टटोलती-सी, भटकती-सी। अब श्रद्धा परिपूर्ण हुई। अब आस्था समग्र हुई। अब तो परमात्मा भी भूल जायेगा। अब तो उसकी भी याद रखने की जरूरत न रही।

हम याद तो उसी की रखते हैं जिसे भूल जाने का डर होता है। यह तुमने कभी सोचा?

एक प्रेमी विदा होता था और उसने अपनी प्रेयसी को कहा कि मुझे भूल मत जाना, याद रखना। उसने कहा: तुम पागल हुए हो? याद रखने की जरूरत तो तब पड़ेगी जब मैं तुम्हें भूल जाऊं। याद तो कैसे करूंगी, क्योंकि मैं तुम्हें भूल ही न सकूंगी।

याद तो तब करनी पड़ती है जब तुम भूल-भूल जाते हो, तो याद करनी पड़ती है। इसे समझना। याद करने का मतलब ही यह होता है कि तुम भूल जाते हो। कोई कहता है कि परमात्मा को याद कर रहे हैं। इसका मतलब हुआ कि तुम भूल-भूल जाते हो। याद क्या करोगे? अगर भूलना मिट गया तो याद सतत हो जाती है। याद जैसी भी नहीं रह जाती।

कबीर से किसी ने पूछा है कि कैसी करें याद? तो कबीर ने कहा है: ऐसी करो याद जैसे कि कोई पनघट से पानी भर कर पनिहारिन घर की तरफ चलती है, सिर पर घड़े रख लेती है। हाथ भी छोड़कर गपशप करती है अपनी सहेलियों के साथ, बातचीत करती है, राह पर चलती है, राह को भी देखती है; लेकिन फिर भी भीतर गहरे में घड़े को संभाले रखती है। वे घड़े गिरते नहीं। बात करती है, राह चलती है, सब चलता है; लेकिन भीतर घड़े संभाले रहती है।

ऐसे ही भक्त सब करता रहता है। अब भगवान को बैठ कर अलग से याद भी नहीं करता, लेकिन भीतर गहरे में याद बनी रहती है। सतत उसकी धार हो जाती है।

दो तरह की धार होती है। तुमने कभी एक बर्तन से दूसरे बर्तन में पानी डाला, तो धार बीच-बीच में टूट जाती है। तेल डाला, तो तेल की सतत होती है। तो कबीर कहते हैं, तेल की धार की तरह हो जाती है याद, टूटती नहीं। याद भी नहीं आती अब। विस्मरण ही नहीं होता। ऐसा कहो कि याद सतत हो जाती है, श्वास-श्वास में पिरो जाती है, धड़कन-धड़कन में बस जाती है।

श्वास की तुम याद रखते हो? चलती रहती है तुम्हारी याद के बिना। कहां याद करते हो? हां, कभी अड़चन आती है तो याद करते हो। खांसी आ जाये, कोई सर्दी-जुकाम हो जाये, श्वास में कोई अड़चन हो, अस्थमा हो, तो याद आती है। अन्यथा याद नहीं आती, श्वास चलती रहती है।

ऐसी ही प्रभु की याद हो जाती है जब, तो चौथी घटना घटती है। मैं भी भूल गया, तुम भी भूल गये। अब जो शेष रह गया, मैंत्तू के पार, वही है हकीकत।

तीसरा प्रश्न: कबीर, मीरा और अष्टावक्र तीनों समर्पण की बात करते हैं। कृपया बतायें कि उनके समर्पण के भाव में फर्क क्या है?

भक्त जब समर्पण की बात करता है तो वह कहता है: परमात्मा के प्रति। भक्त के समर्पण में पता है--प्रति। उसमें ऐड्रेस है। और जब ज्ञानी समर्पण की बात करता है तो उसमें कोई के प्रति नहीं है, शुद्ध समर्पण है। फर्क समझना।

भक्त का समर्पण भगवान के प्रति है; ज्ञानी का समर्पण सिर्फ समर्पण है, किसी के प्रति नहीं है। ज्ञानी का समर्पण संघर्ष का अभाव है। वह कहता है, लड़ाई बंद। अब लड़ना नहीं। ज्ञानी ने हथियार डाल दिये; किसी के समक्ष नहीं, बस हथियार डाल दिये--हथियारों से ऊब कर। संघर्ष से ऊब कर ज्ञानी संघर्ष छोड़ देता है।

भक्त परमात्मा के प्रति समर्पण करता है। भक्त के समर्पण में समर्पण की पूर्णता नहीं है; अभी कोई मौजूद है, जिसके प्रति समर्पण है। आखिर में ऐसी घड़ी आयेगी जब भक्त और भगवान भी दोनों एक-दूसरे में लीन हो जायेंगे, समर्पण ही बचेगा--वैसा ही जैसा साक्षी-भाव में अष्टावक्र का समर्पण है।

एक समर्पण है जो बोध से पैदा होता है और एक समर्पण है जो प्रेम से पैदा होता है। इसलिए ज्ञानी नहीं समझ पाता भक्त के समर्पण को। भक्त कहीं पत्थर की मूर्ति रख लेता है...।

तुम देखते इस देश में, झाड़ के नीचे कोई अनगढ़ पत्थर ही रखा है, उसको ही रंग लिया, सिंदूर लगा दिया, उसी के सामने बैठ कर फूल चढ़ा कर भक्ति शुरू हो गयी। ज्ञानी हंसता है। ज्ञानी कहता है, यह क्या कर रहे हो? खुद ही भगवान बना लिया, अब खुद ही उसकी पूजा करने लगे!

लेकिन भक्त को समझने की कोशिश करो। भक्त यह कह रहा है: पूजा करनी है, अब बिना किसी सहारे कैसे पूजा करें? कोई आलंबन चाहिए। कोई बहाना चाहिए। यह पत्थर बहाना हो गया। असली बात तो पूजा है। असली बात तो पूजा का भाव है। यह पत्थर तो बहाना है। इसके बहाने पूजा आसान हो जाती है। यह तो सहारा है। जैसे हम छोटे बच्चों को सिखाते हैं ग गणेश का या ग गधे का। यह तो बहाना है। बच्चा एक दफा सीख जायेगा ग गणेश का, फिर हम छोड़ देंगे यह बात। फिर ग को बार-बार थोड़े ही दोहरायेंगे कि ग गणेश का। जब भी पढ़ेंगे तो थोड़े ही दोहरायेंगे ग गणेश का। वह तो बात गयी! वह तो एक सहारा था, ले लिया था। बात भूल गयी। आ आम का। अब आ किसी का भी नहीं रहता बाद में।

पूजा के लिए शुरू-शुरू में, पहले-पहले कदम रखने के लिए कोई सहारा चाहिए। भक्त कहता है: बिना सहारे हम न जा सकेंगे। भक्त कहता है: हमें कोई चाहिए जिस पर हम प्रेम को उंडेल दें। पत्थर ही सही! जिस पर भी भक्त अपने प्रेम को उंडेल देता है वही भगवान हो जाता है।

ज्ञानी को पत्थर दिखाई पड़ता है, भक्त को पत्थर नहीं दिखाई पड़ता, क्योंकि भक्त ने अपना प्रेम उंडेल दिया।

तुमने कभी फर्क देखा, अपने जीवन में भी तुम्हें मिल जाता होगा। कोई मित्र तुम्हें एक रूमाल भेंट दे गया है, चार आने का है। इकट्ठा थोक में खरीदो तो दो ही आने में मिल जाये। लेकिन तुम संभाल कर रख लेते हो, जैसे कोई बड़ी थाती है, कोई बहुत बहुमूल्य हीरा है! कोई दूसरा देखेगा तो कहेगा चार आने के रूमाल को ऐसा क्या सम्हाले फिरते हो? क्या पागल हुए फिरते हो? क्यों छाती के पास इसे रखा हुआ है? तुम कहोगे, यह सिर्फ रूमाल नहीं, एक मित्र की भेंट है। इस रूमाल में तुम्हारे लिए कुछ भावनात्मक जुड़ा है जो दूसरे को दिखाई नहीं पड़ेगा। क्योंकि भावना दिखाई तो नहीं पड़ती। भावना तो बड़ी अदृश्य है।

जब तुम किसी भक्त को पत्थर की मूर्ति के सामने पूजा करते देखो तो तुम्हें पत्थर दिखाई पड़ रहा है; तुम्हें पत्थर पर भक्त की तरफ से बरसती जो भावना है वह दिखाई नहीं पड़ रही है। वही भावना असली भगवान है। लेकिन भक्त यह मानता है कि हम अभी क ख ग पढ़ रहे हैं। हम अबोध हैं। हमें सहारा चाहिए। धीरे-धीरे सहारे से चलेंगे, बैसाखी से चल कर एक दिन इस योग्य हो जायेंगे, तो बैसाखी छोड़ देंगे। एक घड़ी आती है जब भक्त और भगवान दोनों मिट जाते हैं। लेकिन भक्ति की यात्रा में वह अंत में आती है और साक्षी की यात्रा में प्रथम आती है।

साक्षी कहता है: कोई भगवान नहीं। इसलिए तो बुद्ध और महावीर कहते हैं: कोई परमात्मा नहीं। ये साक्षी के धर्म हैं। इसलिए हिंदू और ईसाई को बड़ी अड़चन होती है, मुसलमान को बड़ी अड़चन होती है कि यह बौद्ध धर्म भी कैसा धर्म है! यह कोई धर्म हुआ जिसमें भगवान नहीं? वे साक्षी के धर्म हैं। वहां भगवान को पहले कदम पर छोड़ देना है। बुद्ध कहते हैं: जो अंतिम कदम पर होना है उसको पहले से क्यों पकड़ना? वे कहते हैं: इसे अभी छोड़ दो।

कुछ के लिए वह भी बात जमती है। अगर तुम इतने हिम्मतवर हो कि अभी ही सहारा छोड़ सकते हो तो अभी छोड़ दो।

तुमने देखा, छोटे बच्चे घसिटते हैं, चलते हैं। कोई बच्चा दो साल में चलने लगता है, कोई तीन साल में चलता है, कोई चार साल में चलता है, किसी को और भी देर लग जाती है। बच्चे-बच्चे में फर्क है।

जिनकी हिम्मत है वे अभी छोड़ दें। जिनको लगे हम न छोड़ पायेंगे या जिनको लगे छोड़ना हमारा धोखे का होगा, या जिनको लगे कि छोड़ना तो हमारा केवल बहाना है न खोजने का...बेईमानी मत करना अपने साथ। क्योंकि बहुत हैं ऐसे जो कहेंगे, "क्यों लें सहारा? हम तो बिना सहारा चलेंगे!" और चलते ही नहीं। बैठे हैं, चलते इत्यादि नहीं। लेकिन सहारे की बात कहो तो वे कहते हैं, "क्यों लें सहारा? क्यों किसी का सहारा?"

कहीं ऐसा न हो कि न सहारा लेना अहंकार हो। अगर अहंकार के कारण तुम कहते हो, क्यों लें सहारा, तो तुम बड़े खतरे में पड़ोगे। साक्षी के कारण अगर कहते हो कोई सहारे की जरूरत नहीं, तब ठीक है। इन दोनों में भेद करना। अहंकार की अगर यह घोषणा हो...।

अधिक अहंकारी ईश्वर को मानने को राजी नहीं होते। यही फर्क है। महावीर ईश्वर को नहीं मानते, चार्वाक भी ईश्वर को नहीं मानते। माक्र्स भी ईश्वर को नहीं मानते, बुद्ध भी ईश्वर को नहीं मानते। पर इनमें कुछ फर्क है। माक्र्स या नीत्शे या चार्वाक--इनका अस्वीकार अहंकार के कारण है। ये कहते हैं: मैं हूं, परमात्मा हो कैसे सकता है? बुद्ध और महावीर कहते हैं: मैं तो हूं ही नहीं, परमात्मा की जरूरत क्या है? जब मैं ही नहीं हूं...। मैं को मिटाने के लिए परमात्मा का सहारा लिया जाता है। अगर मैं नहीं हूं तो फिर परमात्मा के सहारे की भी कोई जरूरत नहीं है। बीमारी ही नहीं तो औषधि की क्या जरूरत?

तो खयाल से देख लेना, अगर बीमारी हो तो औषधि की जरूरत है।

"समर्पण"--दोनों एक ही शब्द का उपयोग करते हैं। लेकिन दोनों के अर्थ अलग हैं। जब भक्त कहता है समर्पण, तो वह कहता है किन्हीं चरणों में। और जब ज्ञानी कहता है समर्पण, तो वह कहता है, यहां कोई नहीं, किससे लड़ रहे? लड़ना बंद करो। छोड़ो लड़ना। जो है, जैसा है, वैसे में राजी हो जाओ।

ज्ञानी के समर्पण का अर्थ है: तथाता। जैसा है उसके साथ राजी हो जाओ। भक्त के समर्पण का अर्थ है: अपने को मिटा दो। जो है उसमें लीन हो जाओ। अंतिम घड़ी में दोनों मिल जाते हैं।

भेद भाषा का है। भक्त की भाषा रसपूर्ण है।

आ मेरी आंखों की पुतली
आ मेरे जी की धड़कन
आ मेरे वृंदावन के धन
आ ब्रज-जीवन मनमोहन
आ मेरे धन, धन के बंधन
आ मेरे जन, जन की आह
आ मेरे तन, तन के पोषण
आ मेरे मन, मन की चाह!

भक्त प्रेम की भाषा बोलता है; प्रार्थनापूर्ण भाषा बोलता है।

भक्त का अर्थ है: स्त्रैण हृदय। साक्षी का अर्थ है: पुरुष हृदय। और जब मैं कहता हूं स्त्रैण हृदय, तो तुम यह मत समझना कि स्त्रैण हृदय सिर्फ स्त्रियों के पास होता है। बहुत पुरुषों के पास स्त्रैण हृदय है। और जब मैं कहता हूं पुरुष हृदय, तो तुम ऐसा मत सोचना कि सिर्फ पुरुषों के पास होता है। बहुत स्त्रियों के पास पुरुष का हृदय होता है। पुरुष हृदय और स्त्रैण हृदय का संबंध शरीर से नहीं के बराबर है।

मैं कल एक चित्र देखता था। चीन में एक प्रतिमा पूजी जाती है: क्वानइन। क्वानइन बुद्ध की ही एक प्रतिमा है--लेकिन बड़ी अनूठी प्रतिमा है! प्रतिमा स्त्री की है। तो मैंने खोजबीन की कि मामला क्या हुआ? यह बुद्ध की प्रतिमा स्त्री की कैसे हो गयी? जब पहली दफा बुद्ध की खबर चीन में पहुंची तो चीन के मूर्तिकारों को वहां के सम्राट ने कहा कि प्रतिमा बनाओ बुद्ध की। तो उन्होंने बुद्ध का जीवन जानना चाहा, उनका आचरण जानना

चाहा, उनके गुण जानना चाहे--क्योंकि प्रतिमा कैसे बनेगी? जब उन्होंने सारे गुण और सारे आचरण की खोजबीन कर ली, तो उन्होंने कहा: यह आदमी पुरुष तो हो ही नहीं सकता! भला पुरुष शरीर में रहा हो, लेकिन यह आदमी पुरुष नहीं हो सकता। इसमें ऐसी करुणा है, ऐसी ममता है, ऐसा प्रेम है--स्त्री ही होगा। तो उन्होंने जो प्रतिमा बनायी वह क्वानइन के नाम से अब भी बनी है, मौजूद है। बड़ी गहरी सूचना है। हमने भी जो प्रतिमा बुद्ध की बनायी है, अगर गौर से देखो तो चेहरे पर स्त्रैण भाव ज्यादा है, पुरुष भाव कम है। कुछ कारण होगा। गुणों की बात है। शरीर का उतना सवाल नहीं है, जितना भीतरी गुणों की बात है।

तो खयाल रखना, जब मैं कहता हूं स्त्रैण, तो स्त्री से मेरा मतलब नहीं है। और पुरुष तो पुरुष से मेरा मतलब नहीं है। पुरुष चित्त से मेरा अर्थ है, जो समर्पण करने में असमर्थ है। स्त्री से मेरा अर्थ है जो समर्पण के बिना जी ही नहीं सकती। स्त्री तो ऐसे ही है जैसे लता--वृक्ष पर छा जाती है; पूरे वृक्ष को घेर लेती है--लेकिन वृक्ष के सहारे ।

तुमने किसी वृक्ष को लता के सहारे देखा? कोई वृक्ष लता के सहारे नहीं होता। लता वृक्ष के सहारे होती है। वृक्ष धन्यभागी हो जाता है, लता उसे घेर लेती है तो--प्रफुल्लित होता है, आनंदित होता है। किसी ने उसे घेरा अपनी बाहों में, प्रफुल्लित क्यों न हो! लेकिन लता सहारे होती है। वृक्ष अपने सहारे होता है।

पुरुष चित्त का लक्षण है अपने सहारे होना। इसलिए पुरुष चित्त ने जो धर्म पैदा किये हैं उन धर्मों में साक्षी पर जोर है--सिर्फ जाग जाओ! कृष्णमूर्ति जिस धर्म की बात कर रहे हैं वह पुरुष चित्त का धर्म है--सिर्फ जाग जाओ। कुछ और नहीं। होश से अपने भीतर केंद्रित हो कर खड़े हो जाओ। अष्टावक्र कहते हैं: स्वस्थ हो जाओ, स्वयं में स्थित हो जाओ। कहीं जाना नहीं। कहीं झुकना नहीं। कोई मंदिर नहीं, कोई मूर्ति नहीं, कोई पूजा नहीं, कोई प्रार्थना नहीं। लेकिन यह बात स्त्री चित्त को तो बड़ी बेबूझ मालूम पड़ेगी। यह तो धार्मिक ही न मालूम पड़ेगी। स्त्री चित्त को तो इसमें कुछ रस आता मालूम न पड़ेगा। स्त्री तो मीरा की तरह नाचना चाहेगी। स्त्री तो लता है, तो कृष्ण के वृक्ष पर छा जाना चाहेगी। वह तो किसी के सहारे डूब जाना चाहेगी।

तो स्त्री चित्त के लिए अलग भाषा है।

इस पुरातन प्रीति को नूतन कहो मत!
की कमल ने सूर्य-किरणों की प्रतीक्षा
ली कुमुद की चांद ने रातों परीक्षा
इस लगन को प्राण, पागलपन कहो मत!
इस पुरातन प्रीति को नूतन कहो मत!
मेह तो प्रत्येक पावस में बरसता
पर पपीहा आ रहा युग-युग तरसता
प्यार का है, प्यास का क्रंदन कहो मत!
इस पुरातन प्रीति को नूतन कहो मत!
प्यार का है, प्यास का क्रंदन कहो मत!

स्त्री के प्यार से ही उठती है प्रार्थना। स्त्री के प्यार से ही उठती है पूजा। स्त्री की प्यार की ही सघनीभूत स्थिति है परमात्मा।

इन दोनों में मैं नहीं कह रहा हूं कि इसको चुनो और इसको छोड़ो। मैं इतना ही कह रहा हूं कि जो तुम्हें रुचिकर लगे, जो मन भावे, जो तुम्हें रुचे, जो तुम्हें स्वादिष्ट मालूम हो, उसमें डूब जाओ। अगर स्त्री-शरीर में हो तो इस कारण यह मत सोचना कि तुम्हें भक्ति में ही डूबना है। जरूरी नहीं है।

कश्मीर में एक स्त्री हुई, लल्लाह। कश्मीर में लोग लल्लाह का बड़ा आदर करते हैं। कश्मीर में तो लोग कहते हैं, कश्मीर दो नामों को ही जानता है: अल्लाह और लल्लाह। लल्लाह बड़ी अदभुत औरत थी। शायद मनुष्य-जाति के इतिहास में महावीर से टक्कर ले कोई स्त्री, तो लल्लाह। वह नग्न रही। पुरुष का नग्न रहना तो इतना कठिन नहीं। बहुत पुरुष रहे। यूनान में डायोजनीज रहा। और भारत में बहुत पुरुष नग्न रहे हैं। नंगे साधुओं

की बड़ी परंपरा है, पुरानी परंपरा है। लेकिन लल्लाह अकेली औरत है जो नग्न रही। बड़ी पुरुष चित्त की रही होगी। स्त्रैण भाव ही न रहा होगा।

स्त्री तो छुई-मुई होती है। स्त्री तो छुपाती है, अवगुंठित होती है। स्त्री तो अपने को प्रगट नहीं करना चाहती। स्त्री को प्रगट करने में लाज आती है। स्त्री तो घूंघट में होना चाहती है। चाहे ऊपर का घूंघट चला भी जाये, वस्त्र का घूंघट चला भी जाये, तो भी प्राणों पर घूंघट में रहने की ही आकांक्षा होती है स्त्री की। वह हर किसी के सामने उघड़ नहीं जाना चाहती। वह तो किसी एक के सामने उघड़ेगी, जिससे प्रेम बन जायेगा।

लेकिन लल्लाह नग्न खड़ी हो गयी। बड़ी हिम्मतवर स्त्री रही होगी। स्त्री ही न रही होगी। लल्लाह की गिनती पुरुषों में होनी चाहिए।

और जैनों ने वैसा ही किया भी है। जैनों के चौबीस तीर्थंकरों में एक स्त्री थी, मल्लीबाई। लेकिन जैनों ने उसका नाम भी बदल दिया। वे कहते हैं: मल्लीनाथ। वह नग्न रही। जैन ठीक कहते हैं। अब उसको स्त्री गिनना ठीक नहीं है। स्त्रैण चित्त ही नहीं है। मल्लीबाई क्या खाक कहो! मल्लीनाथ ठीक। पुरुष का भाव है।

ऐसा स्मरण बना रहे और तुम अपने को ठीक से कस लो तो तुम्हारा मार्ग साफ हो जायेगा। अगर तुम्हें लगता हो, बिना सहारे तुम अपने को समर्पित न कर सकोगे तो भक्ति। अगर तुम्हें लगे सहारे की कोई जरूरत नहीं, तुम अपने पैरों पर खड़े हो सकते हो...। इतना ही खयाल रखना कि यह अपने पैरों पर खड़ा होना अहंकार की घोषणा न हो। इसमें अहंकार न बोले। बस फिर ठीक।

अहंकार तो फूटी गागर है। तुम उसे कितना ही भरो, कभी भर न पाओगे। कुएं में डालोगे, शोरगुल बहुत होगा। जब गागर वापिस लौटेगी तो खाली आयेगी।

जगह-जगह से गागर फूटी
राम, कहां तक ताऊं रे!
ताऊं रे, भाई ताऊं रे!
पार करूं पनघट की दूरी
चलूं गगर भर-भर कर पूरी
जब घर की चौखट पर पहुंचूं
बिलकुल छूंछी पाऊं रे
जगह-जगह से गागर फूटी
राम, कहां तक ताऊं रे!

अहंकार फूटी गागर है। कभी भरता नहीं। किसी का कभी भरा नहीं। अहंकार के कारण अगर अकड़ कर खड़े रहे तो खाली रह जाओगे। अगर साक्षी-भाव के कारण खड़े हुए...।

क्या फर्क है? फर्क है: अहंकार में कर्ता का भाव होता है और साक्षी में कर्ता का कोई भाव नहीं होता। अहंकार में लगता है मैं खड़ा हूं: अपने पैरों पर। साक्षी में लगता है: मैं कौन हूं? परमात्मा ही खड़ा है। मैं हूं ही नहीं। अस्तित्व खड़ा है।

अहंकार तो सदा रोता ही रहता है।

जैसा गाना था गा न सका।
गाना था वह गायन अनुपम
क्रंदन दुनिया का जाता थम
अपने विक्षुब्ध हृदय को भी मैं
अब तक शांत बना न सका
जैसा गाना था गा न सका।
जग की आहों को उर में भर
कर देना था मुझको सस्वर
निज आहों के आशय को भी मैं
जगती को समझा न सका
जैसा गाना था गा न सका।

अहंकार को तो सदा लगता है कि आंगन टेढ़ा है और नाचना हो नहीं पा रहा है। आंगन टेढ़ा नहीं है। अहंकार ही टेढ़ा है और नाच सकता नहीं। गीत तो हो सकता है, अहंकार ही कंठ को दबाये है। अहंकार ही फांसी की तरह लगा है। गीत को पैदा नहीं होने देता। कंठ से स्वर निकलने नहीं देता।

जितना ही तुम्हें लगता है मैं हूं, उतने ही तुम बंधे-बंधे हो। जितना ही तुम्हें लगेगा मैं नहीं, वही है--फिर इस "वही" को तुम परमात्मा कहो, सत्य कहो, जो तुम्हें नाम देना हो। भक्त कहेगा परमात्मा, ज्ञानी कहेगा सत्य। ज्ञानी कहेगा हकीकत। लेकिन वही है। ऐसी भाव-दशा में समर्पण हो गया--बिना किसी के चरणों में झुके और समर्पण हो गया।

आखिरी प्रश्न: यदि अहंकार, अचुनाव, "च्वायसलेसनेस" का निर्णय कर ले तो उसकी क्या दशा होगी?

अहंकार ऐसा निर्णय कर ही नहीं सकता। अचुनाव, "च्वायसलेसनेस" तो जब अहंकार नहीं होता, उस चित्त की दशा का नाम है। अहंकार ऐसा चुनाव नहीं कर सकता कि चलो, अब हम चुनावरहित हो गये। यह तो चुनाव ही हुआ। यह तो फिर तुमने चुन लिया। तुम चुनने वाले बने ही रहे।

मेरे पास लोग आते हैं। वे कहते हैं, मन शांत नहीं होता, ध्यान की बड़ी कोशिश करते हैं, मन शांत नहीं होता। मैं उनसे कहता हूं, तुम शांति की फिक्र ही छोड़ दो। तुम सिर्फ ध्यान करो, शांत हो जायेगा। वे कहते हैं: "तो फिर शांत हो जाएगा?" मैं तुमसे कह रहा हूं कि तुम फिक्र छोड़ो। वे कहते हैं: हम राजी हैं फिक्र भी छोड़ने को, मगर फिर शांत होगा कि नहीं? वे फिक्र छोड़ते ही नहीं। अगर वे राजी भी हो जाते हैं तो भी राजी कहां हैं? महीने-पंद्रह दिन बाद फिर आ जाते हैं। वे कहते हैं: आपने कहा था फिक्र छोड़ दो, हमने छोड़ भी दी, मगर अभी तक शांत नहीं हुआ। अब वे यह भी नहीं सोचते कि क्या कह रहे हैं। "छोड़ भी दी।" अगर छोड़ ही दी तो अब कौन कह रहा है कि शांत नहीं हुआ? छोड़ दी तो छोड़ दी--अब हो या न हो। अब बात ही खतम हुई। नहीं, लेकिन छोड़ी नहीं। यह भी तरकीब थी। उन्होंने सोचा: चलो, यह तरकीब शायद काम कर जाये। शांति की फिक्र छोड़ने से शायद शांति हो जाये। तो ऐसे पास में सरका कर रख दी। मगर नजर उसी पर लगी हुई है।

अहंकार तो कैसे चुनाव करेगा अचुनाव का? अहंकार ही तो सब चुनाव कर रहा है। वह कहता है: ऐसा होना चाहिए, ऐसा नहीं होना चाहिए; इसमें सुख है, इसमें दुख है; यह शुभ, यह अशुभ; यह पुण्य, यह पाप; ऐसा करो, ऐसा मत करो। अहंकार तो प्रतिपल भेद खड़े कर रहा है।

अब तुमने मेरी बात सुनी या अष्टावक्र को सुना। और तुमने सुना कि निर्विकल्प हो जाओ, चुनाव-रहित। छोड़ दो चुनाव करना। द्वंद्व को भूल जाओ। तुमने कहा: चलो ठीक, यह भी कर लें। तुमने सुने अष्टावक्र के वचन कि जो द्वंद्वरहित हो जाता है, परम आनंद को उपलब्ध हो जाता है। लोभ पैदा हुआ। तुमने कहा: परम आनंद तो हमको भी होना ही चाहिए। अष्टावक्र कहते हैं, सच्चिदानंद ब्रह्म की प्राप्ति हो जाती है, और हम अभी बैठे क्या करते रहे--तो चलो, यह भी करके देख लें, अचुनाव कर लें। लोभ है यह। और लोभ तो अहंकार का ही हिस्सा है।

बहुत लोग लोभ के कारण धार्मिक हो जाते हैं। सोचते हैं स्वर्ग मिलेगा, अप्सराएं मिलेंगी, शराब के चश्मे मिलेंगे, मजा करेंगे!

तुम्हारा स्वर्ग कहीं बाहर नहीं है। तुम्हारा स्वर्ग कुछ ऐसा नहीं है कि कहीं राह देख रहा है तुम्हारी और तुम वहां पहुंचोगे। और न ही नर्क कहीं और है।

दिनेश ने एक छोटी-सी कहानी भेजी है, महत्वपूर्ण है।

अरबी रवायत है कि एक सदगुरु ने अपने शिष्य को चिलम सुलगाने के लिए आग लाने को कहा। शिष्य ने प्रयास किया, लेकिन वह कहीं भी आग न पा सका। उसने गुरु को आ कर कहा, आग नहीं मिलती। तो सदगुरु ने झल्लाने का अभिनय करते हुए कहा: जहन्नुम में मिल जाएगी। वहां तो मिलेगी न, वहां से ले आ!

और कथा कहती है कि वह शिष्य जहन्नुम पहुंच गया--दोजख की आग लाने। द्वारपाल ने उससे कहा: भीतर जाओ और ले लो, जितनी चाहिए उतनी ले लो। शिष्य जब अंदर गया तो बड़ा हैरान हुआ, वहां भी आग न मिली! जहन्नुम से भी खाली हाथ लौटना पड़ेगा! लौट कर उसने द्वारपाल से कहा: हमने तो सुना था वहां आग ही आग है, और यहां तो आग का कोई पता नहीं! यहां भी आग नहीं मिली तो अब क्या होगा? अब कहां आग खोजेंगे?

द्वारपाल ने कहा: यहां आने वाला हर इंसान अपनी आग अपने साथ लाता है!

नर्क भीतर है और स्वर्ग भी। नर्क भविष्य में नहीं है और न स्वर्ग भविष्य में है। अभी और यहीं! तुम्हारी दृष्टि...! तुम जहां जाते हो, अपना स्वर्ग अपने साथ ले जाते हो। तुम जहां जाते हो, अपना नर्क अपने साथ ले जाते हो। तुम्हारी मर्जी, नर्क में रहना हो तो तुम कहीं भी रहोगे, नर्क में रहोगे। स्वर्ग में भी रहे तो भी नर्क में रहोगे। और ऐसे महाशय भी हैं कि उनको नर्क में भी डाल दो तो भी स्वर्ग में रहेंगे। उनका स्वर्ग उनके भीतर है।

जिस सुख की लालसा से तुम धार्मिक होने की चेष्टा करते हो वह सुख कहीं और नहीं है। वह लोभ के अंत में नहीं है। वह लोभ के पूर्व है, लोभ के बाद में नहीं। लोभ गिर जाये तो अभी है।

अचुनाव का अर्थ होता है: तुम कर्ता न रहो। तुम कौन हो? तुम क्या कर पाओगे? तुम्हारी सामर्थ्य कितनी है! न जन्म तुमने लिया, न मौत तुम कर पाओगे, न जीवन तुम्हारा है। श्वास जब तक आती, आती; न आयेगी तो क्या करोगे? एक श्वास भी तो न ले पाओगे जब न आयेगी। न आयी तो न आयी। तुम्हारा होना तुम्हारे हाथ में है? तुम इसके नियंता हो? इस छोटे-से सत्य को समझ लो कि तुम इसके नियंता नहीं।

तुम्हारा होना तुम्हारी मालकियत नहीं है। तुम क्यों हो, इसका भी तुम्हें पता नहीं है। तुम क्या हो, इसका भी तुम्हें पता नहीं है। तो जिसने तुम्हें जन्म दिया और जो तुम्हारे जीवन को अभी भी संभाले हुए है; जो तुम्हारे भीतर श्वास ले रहा है और एक दिन श्वास नहीं लेगा--वही है! उसी पर सब छोड़ दो। तुम कर्ता न रहो, तो चुनाव समाप्त हो गया।

अब प्रश्न तुमने पूछा है कि यदि अहंकार अचुनाव का निर्णय कर ले, तो क्या होगा?

अहंकार तो निर्णय कर ही नहीं सकता। अगर करे भी तो अहंकार का निर्णय अचुनाव नहीं हो सकता। वह तो निर्णय ही इसलिए करेगा कि "अचुनाव के पीछे लोग कह रहे हैं, बड़ा रस भरा है, आनंद भरा है, ब्रह्म-रस बह रहा है; चलो, लूट लो इसको। कर लो अचुनाव।" यह तो चुनाव ही हुआ। अचुनाव का चुनाव कर लो! मगर यह चुनाव ही हुआ।

इस भेद को खूब गहरे में समझ लेना। यह जो विराट अस्तित्व चल रहा है: चांदत्तारे, सूरज, यह इतना जो गहन विस्तार है, जो इसे चला रहा है, वह तुम्हारे छोटे-से जीवन को न चला पायेगा? इतना विराट संभला है, तुम नाहक मेहनत कर रहे हो खुद को संभालने की। जिसके सहारे सब संभला है उसके सहारे तुम भी संभले हुए हो। लेकिन तुम बीच-बीच में सोचकर अपने लिए बड़ी चिंता पैदा कर रहे हो कि "क्या होगा, क्या नहीं होगा? मैं मर जाऊंगा तो क्या होगा? मैं अगर न रहा तो दुनिया का क्या होगा?" ऐसी चिंता करनेवाले लोग भी हैं।

तुम्हारे बिना कोई कमी न पड़ेगी। तुम नहीं थे तब भी दुनिया थी। तुम नहीं रहोगे, तब भी दुनिया होगी। सब ऐसे ही चलता रहेगा। तुम्हारे होने से रत्ती भर भेद नहीं पड़ता, तुम्हारे न होने से भेद नहीं पड़ता। तुम तो एक तरंग मात्र हो। सागर पर एक तरंग को यह खयाल आ जाये कि अगर मैं न रही तो सागर का क्या होगा? तो वह तरंग पागल हो जायेगी। तरंग के न रहने से सागर का क्या होता है? सारी तरंगें भी शांत हो जायें तो भी सागर होगा। और तरंग है भी नहीं--सागर ही है। सागर ही तरंगायित है। सब लहरें सागर की हैं।

तुमने एक बात खयाल की, सागर तो बिना लहरों के हो सकता है, लेकिन लहरें बिना सागर के नहीं हो सकतीं! यह अस्तित्व तो मेरे बिना था, मेरे बिना होगा। लेकिन मैं इस अस्तित्व के बिना नहीं हो सकता, एक

क्षण नहीं हो सकता। तो निश्चित ही मेरा होना अलग-थलग नहीं है। मैं इस विराट के साथ एक हूं, इसी की एक तरंग हूं!

ऐसा जान लेता है जो, उसमें अचुनाव पैदा हो जाता है। वह अकर्ता हो जाता है। उसके भीतर साक्षी का जन्म होता है। और साक्षी हो जाना इस जगत में महत्तम से महत्तम घटना है, चैतन्य का ऊंचा से ऊंचा शिखर है।

जब तक वैसा शिखर न मिले, तुम दुख में रहोगे। जब तक वैसा कमल तुम्हारे सहस्रार में न खिले तब तक तुम दुखी रहोगे। दुख यही है कि जो हम हो सकते हैं, हम नहीं हो पा रहे हैं। और नहीं हो पा रहे हैं हम अपने ही...अपने ही उपद्रव के कारण। चिंता में शक्ति जा रही है, फूल खिलें कैसे? विषाद में प्राण अटके हैं, फूल खिलें कैसे? रोने में तो सारी योजना डूबी जा रही है, मुस्कुराहट आये कैसे? सारा जीवन तो आंसुओं से बहा जा रहा है, फूल ढलें तो ढलें कैसे?

तुम अगर चुनाव छोड़ दो, तुम सिर्फ साक्षी हो जाओ, देखते रहो, और जो प्रभु कराये करते रहो, कर्ता न बनो, ऐसा न कहो कि मैंने किया--उसने करवाया। बुरा तो बुरा, भला तो भला। न पीछे के लिए पछताओ, न आगे के लिए योजना बनाओ। इसको अष्टावक्र ने कहा है: आलसी शिरोमणि। वह जो आलस्य के परम शिखर पर पहुंच गया। इसका यह अर्थ नहीं है कि उसके कर्म शून्य हो जाते हैं। सिर्फ कर्ता शून्य हो जाता है, कर्म की विराट लीला तो चलती ही रहती है। नाच चलता रहता है, नाचनेवाला खो जाता है। गीत चलता रहता है, गायक खो जाता है। यात्रा चलती रहती है, यात्री खो जाता है।

और ध्यान रखना, तीर्थयात्रा का यही अर्थ है: यात्रा चलती रहे, यात्री खो जाये। यात्री न बचे, यात्रा बचे--बस तीर्थयात्रा आ गयी। तुम तीर्थयात्रा बन गये। तुम स्वयं तीर्थ बन गये। अब तीर्थंकर होने में ज्यादा देर नहीं है।

हरि ॐ तत्सत्!

तिरपनवां प्रवचन

धर्म अर्थात सन्नाटे की साधना

अष्टावक्र उवाच।

सानुरागां स्त्रियं दृष्ट्वां मृत्युं वा समुपस्थितम्।
अविह्वलमना स्वस्थो मुक्त एव महाशयः।। १७०।।
सुखे दुःखे नरे नार्यां संपत्सु च विपत्सु च।
विशेषो नैव धीरस्य सर्वत्र समदर्शिनः।। १७१।।
न हिंसा नैव कारुण्यं नौद्धत्यं न च दीनता।
नाश्चर्यं नैव च क्षोभः क्षीणसंसरणे नरे।। १७२।।
न मुक्तो विषयद्वेष्टा न वा विषयलोलुपः।
असंसक्तमना नित्यं प्राप्ताप्राप्तमुपाश्नुते।। १७३।।
समाधानासमाधानहिताहितविकल्पनाः।
शून्यचित्तो न जानाति कैवल्यमिव संस्थितः।। १७४।।
निर्ममो निरहंकारो न किंचिदिति निश्चितः।
अंतर्गलित सर्वाशः कुर्वन्नपि करोति न।। १७५।।
मनः प्रकाशसंमोहस्वप्नजाडयविवर्जितः।
दशां कामपि संप्राप्तो भवेद्गलितमानसः।। १७६।।

पहला सूत्र:

सानुरागां स्त्रियं दृष्ट्वां मृत्युं वा समुपस्थितम्।
अविह्वलमनाः स्वस्थो मुक्त एव महाशयः।।

"प्रीतियुक्त स्त्री और समीप में उपस्थित मृत्यु को देख कर जो महाशय अविचलमना और स्वस्थ रहता है, वह निश्चय ही मुक्त है।"

यह मुक्त पुरुष की परिभाषा--किसे हम मुक्त कहें?

जीवन के बंधन दो हैं। एक तो बंधन है राग का और एक बंधन है भय का। तुम जिन हथकड़ी-बेड़ियों में बंधे हो, वे राग और भय की हैं। राग है जीवन के प्रति; भय है मृत्यु के प्रति। दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। क्योंकि जीवन से राग है, इसलिए मृत्यु से भय है। अगर जीवन से राग चला जाए, जीवेषणा चली जाए, तो मृत्यु का भय भी गया। यदि मृत्यु का भय चला जाए, तो जीवन का राग भी गया। वे साथ-साथ जुड़े हैं। इसे खयाल में लेना, तो सूत्र बहुत साफ हो जाएगा।

हम जीना चाहते हैं। हम बिना जाने कि क्यों जीना चाहते हैं, जीना चाहते हैं। हजार विपदाएं हों, जीवन से कुछ सार न मिले, तो भी जीने की आकांक्षा प्रबल रहती है, मिटती ही नहीं है। हाथ-पैर टूट जायें, अंधे हो जायें, बूढ़े हो जायें; शरीर सड़ने लगे, गलने लगे, नाली में पड़े हों, दुर्गंध में डूबे हों--तो भी जीना चाहते हैं। जैसे इससे कुछ फर्क ही नहीं पड़ता कि हमारी दशा कैसी है!

तुम्हें कभी खयाल आया राह के किनारे किसी भिखारी को देख कर--हाथ-पैर टूटे हैं, अपंग है, अंधा है, घसिट रहा है, एक-एक पैसा मांग रहा है, दुत्कारा जा रहा है--कभी ऐसा विचार नहीं उठता कि आखिर यह आदमी जीना क्यों चाहता है? जीने से मिलेगा क्या? अब मिलने को क्या है? आंखें चली गयीं, हाथ-पैर चले गये, देह कृश हो गयी, कीड़े-मकोड़ों की जिंदगी जी रहा है, सब तरफ से अपमान है, सब तरफ से दुर्दशा है; फिर

भी जीये जा रहा है! क्यों जीना चाहता है? ऐसा प्रश्न उठता है कभी? लेकिन तब तुम अपने को उस आदमी की जगह रख कर देखना कि अगर तुम अंधे हो, हाथ-पैर टूट गये हों, भीख मांग कर जीना पड़े, तो जीयोगे या मर जाना चाहोगे? जल्दी मत करना। उस आदमी पर कठोर मत हो जाना। तुम भी जीना चाहोगे। वह भी तुम्हारे जैसा ही आदमी है।

जीवेषणा बड़ी प्रबल है! बड़ी अंधी वासना है जीने की! अकारण हम जीना चाहते हैं। कुछ नहीं मिलता तो भी जीना चाहते हैं। ऐसी पकड़ क्यों होगी जीवन पर? ऐसी पकड़ का कारण है।

जीवन में हमने कुछ पाया नहीं; आशा कल पर लगी है। कल होगा तो शायद मिल जाये; आज तक तो मिला नहीं। आज तक तो हम खाली के खाली रहे हैं। आज तक तो हमारा जीवन राख ही राख है। कोई फूल खिला नहीं; एक आशा से जी रहे हैं कि शायद कल खिल जाये। इसलिए मरें कैसे?

अब मैं तुमसे एक विरोधाभास कहना चाहता हूं: जो आदमी ठीक से जी लेता है, उसकी जीवेषणा मिट जाती है। जो आदमी नहीं जी पाता, वही जीना चाहता है। जो आदमी जितना कम जीया है, उतना ही ज्यादा जीना चाहता है। और जो आदमी ठीक-ठीक जी लिया है और जीवन को भर-आंख देख लिया है, वह आदमी जीवन की वासना से मुक्त हो जाता है। उसकी मौत अभी आये तो वह स्वागत करेगा। वह उठ कर तैयार हो जाएगा। वह कहेगा, मैं तैयार ही था। वह क्षण भर की देरी न लगाएगा। वह तैयारी के लिए समय भी न मांगेगा। वह यह भी न कहेगा कि कुछ अधूरे काम पड़े हैं, वे निबटा लूं; घड़ी भर में आया। कुछ भी अधूरा नहीं है। जीवन जिसने सीधा-सीधा देख लिया, आंख मिला कर देख लिया...! मगर आशा के कारण आंख हमारी कहीं और है।

कल रात मैं एक किताब पढ़ रहा था। जिसने लिखी है उससे अधिक लोग राजी होंगे। किताब बहुत बिकी है। किताब का नाम है: "होप फॉर दि टर्मिनल मैन" (आशा, अंतिम आदमी के लिए)। पुस्तक के कवर पर ही उसने लिखा है: "बिना भोजन के आदमी चालीस दिन जी सकता है; बिना पानी के तीन दिन; बिना श्वास के आठ मिनट; बिना आशा के एक सेकेंड भी नहीं।"

अधिक लोग राजी होंगे। बिना आशा के कैसे जीयोगे एक सेकेंड? आशा जिला रही है। अभी तक नहीं हुआ, कल हो जाएगा! कल तक और जी लो! कल तक और गुजार लो! थोड़ी घड़ियां दुख की हैं, इन्हें बिता दो! रात है, सुबह तो होगी! कभी तो होगी!...इससे मौत से डर है।

मौत क्या करती है? मौत तलवार की तरह आती है और कल को मिटा डालती है। मौत के बाद फिर कोई कल नहीं है। मौत तुम्हें आज पर छोड़ देती है। एक झटके में रस्सी काट देती है कल की। भविष्य विसर्जित हो जाता है। मौत तुम्हें थोड़े ही मारती है; मौत भविष्य को मार देती है। मौत तुम्हें थोड़े ही मारती है; मौत आशा को जहर बन जाती है। अब तो कोई आशा न रही।

इसलिए आदमी ने पुनर्जन्म के सिद्धांत में बड़ी श्रद्धा रखी। फिर हमने नयी आशा खोज ली: कोई हर्जा नहीं, इस जीवन में नहीं हुआ, अगले जीवन में होगा। मैं यह नहीं कह रहा हूं कि पुनर्जन्म का सिद्धांत सही है या गलत--यह मैं कुछ नहीं कह रहा हूं। मैं इतना ही कह रहा हूं कि अधिक लोग जो पुनर्जन्म के सिद्धांत में मानते हैं, वे जानने के कारण नहीं मानते। उनकी मान्यता तो बस आशा का ही विस्तार है। मौत को भी झुठला रहा है उनका सिद्धांत। वे कहते हैं: कोई फिक्र नहीं; मौत आती है, कोई फिक्र नहीं; आत्मा तो रहेगी! जो अभी नहीं कर पाये हैं, अगले जन्म में कर लेंगे।

जीवन की आकांक्षा का अर्थ है: जीवन से हम अपरिचित रह गये हैं। जीवन की आकांक्षा का अर्थ है: जीवन मिला तो, लेकिन पहचान न हो पायी।

तुम्हें पता ही नहीं, तुम कौन हो! तुमने कभी गहन में यह पूछा ही नहीं कि मैं कौन हूं! तुमने कभी यह जानने की चेष्टा ही न की, यह जीवन जो घटा है, यह क्या है? इसका अर्थ, इसका रहस्य, इसका प्रयोजन, इसके

पीछे क्या छिपा है? यह रोज उठ आना, भोजन कर लेना, दफ्तर भागे जाना, दफ्तर से भागे आ जाना, फिर भोजन कर लेना, फिर थोड़ी कलह पत्नी से, फिर थोड़ा सो जाना, फिर सुबह...यह तुम करते रहे हो--इसे तुम जीवन कह रहे हो? और इसी को तुम आगे भी लंबाना चाहते हो! तो तुमने शायद जाग कर देखा भी नहीं कि तुम क्या जी रहे हो। कुछ भी तो नहीं जी रहे हो, फिर भी जीवन की आशा है। इसलिए जीवन की आशा है। इसलिए जीवन की बड़ी पकड़ है। तुम अंधे भिखमंगे पर सोचना मत कि यह क्यों जी रहा है।

यह जान कर तुम हैरान होओगे, गरीब जातियों में, गरीब देशों में आत्महत्या कम होती है। जंगली आदिवासियों में तो आत्महत्या होती ही नहीं। कोई पागल है जो अपने को मारे! आत्महत्या की संख्या बढ़ने लगती है जैसे-जैसे समाज समृद्ध होता है। धनी ही आत्महत्या करते हैं, गरीब नहीं। भिखमंगों ने कभी आत्महत्या की है, सुना तुमने? भिखमंगा तो जीवन को इतने जोर से पकड़ता है; तुम कह रहे हो आत्महत्या! सोच भी नहीं सकता, सपना भी नहीं देख सकता।

जिसने जीवन जितना कम जीया है उतना ही जीवन को जोर से पकड़ता है। यह बात अगर तुम्हें स्पष्ट हो जाये तो रास्ते पर बड़ी सुविधा हो जायेगी। तुम भी जीवन को पकड़े हुए हो, बहुत जोर से पकड़े हुए हो! पुनर्जन्म के सिद्धांत को पकड़े हुए हो कि कोई हर्जा नहीं, यह तो गया मालूम पड़ता है अब, अब अगले में भरोसा रखो! लेकिन इस भरोसे का, इस अगले की आशा का आधारभूत कारण क्या है? इतना ही कि तुम जीवन को देख नहीं पाये। देख लेते तो मृगमरीचिका थी।

पहला सूत्र कहता है: "जो व्यक्ति जीवन और मृत्यु के बीच अविचलमना है...!"

जिसका मन विचलित नहीं होता है; जो स्वस्थ रहता है; जीवन आये तो ठीक, जाये तो ठीक; मृत्यु आये तो ठीक, न आये तो ठीक; जिसके लिए अब जीवन और मृत्यु से कोई भेद नहीं पड़ता।

"वही निश्चय रूप से मुक्त है।"

अब यहां एक प्रतीक-शब्द है, जो समझना:

"प्रीतियुक्त स्त्री और समीप में उपस्थित मृत्यु को देखकर...!"

तुम्हें थोड़ी हैरानी होगी कि स्त्री और मृत्यु को एक ही वचन में और एक तराजू के दो पलड़े की तरह रखने का कारण क्या होगा? कारण है।

पूरब में जितना ही हमने गौर से समझ पायी, उतना ही हमें दिखाई पड़ा, कुछ बातें दिखाई पड़ीं। एक, जन्म मिलता है स्त्री से तो निश्चित ही मृत्यु भी स्त्री से ही आती होगी। क्योंकि जहां से जन्म आता है वहीं से मृत्यु भी आती होगी। स्त्री से जब जन्म मिलता है तो मृत्यु भी वहीं से आती होगी। जहां से जन्म आया है, वहीं से जन्म खींचा भी जायेगा।

तुमने देखा, काली की प्रतिमा देखी! काली को मां कहते हैं। वह मातृत्व का प्रतीक है। और देखा गले में मनुष्य के सिरों का हार पहने हुए है! हाथ में अभी-अभी काटा हुआ आदमी का सिर लिए हुए है, जिससे खून टपक रहा है। "काली खप्पर वाली!" भयानक, विकराल रूप है! सुंदर चेहरा है, जीभ बाहर निकाली हुई है! भयावनी! और देखा तुमने, नीचे अपने पति की छाती पर नाच रही है! इसका अर्थ समझे? इसका अर्थ हुआ कि मां भी है और मृत्यु भी। यह कहने का एक ढंग हुआ--बड़ा काव्यात्मक ढंग है। मां भी है, मृत्यु भी! तो काली को मां भी कहते हैं, और सारा मृत्यु का प्रतीक इकट्ठा किया हुआ है। भयावनी भी है, सुंदर भी है!

स्त्री प्रतीक है। स्त्री से तुम "स्त्री" मत समझ लेना, अन्यथा सूत्र का अर्थ चूक जाओगे। स्त्री से तुम यह महत्वपूर्ण बात समझना कि स्त्री जन्मदात्री है। तो जहां से वर्तुल शुरू हुआ है वहीं समाप्त होगा।

ऐसा समझो, वर्षा होती है बादल से। पहाड़ों पर वर्षा हुई, हिमालय पर वर्षा हुई; गंगोत्री से जल बहा, गंगा बनी, बही, समुद्र में गिरी। फिर पानी भाप बन कर उठता है, बादल बन जाते हैं। वर्तुल वहीं पूरा होता है जहां से शुरू हुआ था। बादल बन कर ही वर्तुल पूरा होता है।

पूरब में हमने हर चीज को वर्तुलाकार देखा है। सब चीजें वहीं आ जाती हैं। बूढ़ा फिर बच्चे जैसा असहाय हो जाता है। जैसे बच्चा बिना दांत के पैदा होता है, ऐसा बूढ़ा फिर बिना दांत के हो जाता है। जैसा बच्चा असहाय था और मां-बाप को चिंता करनी पड़ती थी--उठाओ, बिठाओ, खाना खिलाओ--ऐसी ही दशा बूढ़े की हो जाती है। वर्तुल पूरा हो गया।

जीवन की सारी गति वर्तुलाकार है, मंडलाकार है। स्त्री से जन्म मिलता है तो कहीं गहरे में स्त्री से ही मृत्यु भी मिलती होगी। अब अगर स्त्री शब्द को हटा दो तो चीजें और साफ हो जायेंगी। क्योंकि हमारी पकड़ यह होती है: स्त्री यानी स्त्री।

हम प्रतीक नहीं समझ पाते; हम काव्य के संकेत नहीं समझ पाते। स्त्रियों को लगेगा, यह तो उनके विरोध में वचन है। और पुरुष सोचेंगे, हमें तो पहले ही से पता था, स्त्रियां बड़ी खतरनाक हैं! यहां स्त्री से कुछ लेना-देना नहीं है, तुम्हारी पत्नी से कोई संबंध नहीं है। यह तो प्रतीक है, यह तो काव्य का प्रतीक है, यह तो सूचक है--कुछ कहना चाहते हैं इस प्रतीक के द्वारा।

कहना यह चाहते हैं कि काम से जन्म होता है और काम के कारण ही मृत्यु होती है। होगी ही। जिस वासना के कारण देह बनती है, उसी वासना के विदा हो जाने पर देह विसर्जित हो जाती है। वासना ही जैसे जीवन है। और जब वासना की ऊर्जा क्षीण हो गयी तो आदमी मरने लगता है। बूढ़े का क्या अर्थ है? इतना ही अर्थ है कि अब वासना की ऊर्जा क्षीण हो गयी; अब नदी सूखने लगी; अब जल्दी ही नदी तिरोहित हो जायेगी। बचपन का क्या अर्थ है?--गंगोत्री। नदी पैदा हो रही है। जवानी का अर्थ है: नदी बाढ़ पर है। बुढ़ापे का अर्थ है: नदी विदा होने के करीब आ गयी; समुद्र में मिलन का क्षण आ गया; नदी अब विलीन हो जायेगी।

कामवासना से जन्म है। इस जगत में जो भी, जहां भी जन्म घट रहा है--फूल खिल रहा है, पक्षी गुनगुना रहे हैं, बच्चे पैदा हो रहे हैं, अंडे रखे जा रहे हैं--सारे जगत में जो सृजन चल रहा है, वह काम-ऊर्जा है, वह सेक्स-एनर्जी है। तो जैसे ही तुम्हारे भीतर से काम-ऊर्जा विदा हो जायेगी, वैसे ही तुम्हारा जीवन समाप्त होने लगा; मौत आ गयी।

मौत क्या है? काम-ऊर्जा का तिरोहित हो जाना मौत है। इसलिए तो मरते दम तक आदमी कामवासना से ग्रसित रहता है, क्योंकि आदमी मरना नहीं चाहता।

तुम चकित होओगे जान कर, पुराने ताओवादी ग्रंथों में इस तरह का उल्लेख है--और उल्लेख महत्वपूर्ण है--कि सम्राट चाहे कितना ही बूढ़ा हो जाये, सदा नयी-नयी जवान लड़कियों से विवाह करता रहे। कारण? क्योंकि जब भी सम्राट नयी लड़कियों से विवाह करता है तो थोड़ी देर को भ्रांति पैदा होती है कि मैं जवान हूं। सम्राट जब बूढ़ा हो जाये तो दो जवान लड़कियों को अपने दोनों तरफ सुला कर रात बिस्तर पर सोये। जवान लड़कियों की मौजूदगी उसके भीतर से वासना को तिरोहित न होने देगी, और मौत को टाला जा सकेगा। मौत को दूर तक टाला जा सकेगा। इसमें कुछ राज है। बात में कुछ सचाई है।

तुमने कभी खयाल किया, तुम्हारी उम्र पचास साल है और अगर तुम बीस साल की युवती के प्रेम में पड़ जाओ तो अचानक तुम ऐसे चलने लगोगे जैसे तुम्हारी उम्र दस साल कम हो गयी; जैसे तुम थोड़े जवान हो गये; फिर से एक पुलक आ गयी; फिर से वासना ने एक लहर ली; फिर तरंगें उठीं। बूढ़ा आदमी भी किसी के प्रेम में पड़ जाये तो तुम पाओगे उसकी आंख में बुढ़ापा नहीं रहा, वासना तरंगित होने लगी, धूल हट गयी बुढ़ापे की। धोखा ही हो हट जाना, लेकिन हटती है। जवान आदमी को भी कोई प्रेम न करे तो वह जवानी में ही बूढ़ा होने लगता है; ऐसा लगने लगता है, बेकार हूं, व्यर्थ हूं! इसलिए तो प्रेम का इतना आकर्षण है और मरते दम तक आदमी छोड़ता नहीं; क्योंकि छोड़ने का मतलब ही मरना होता है।

इसलिए कामवासना के साथ हम अंत तक ग्रसित रहते हैं। उसी किनारे को पकड़ कर तो हमारा सहारा है। न स्त्रियां उपलब्ध हों तो लोग नंगे चित्र ही देखते रहेंगे; फिल्म में ही देख आयेंगे जा कर; राह के किनारे खड़े हो जायेंगे; बाजार में धक्का-मुक्की कर आयेंगे। कुछ जीवन को गति मिलती मालूम होती है।

मुल्ला नसरुद्दीन अपने छज्जे पर बैठा था और अचानक अपने नौकर को कहा कि जल्दी कर, जल्दी कर, मेरे दांत उठा कर ला। वह जब तक आया दांत ले कर, उसने कहा: बहुत देर कर दी। नौकर ने कहा: अभी दांत की अचानक जरूरत क्या पड़ी? अभी तो कोई भोजन आप कर नहीं रहे? उसने कहा: पागल! अभी एक जवान लड़की निकलती थी; सीटी बजाने का मन हुआ!

जब बूढ़ा आदमी सीटी बजाता है, तब उसकी उम्र उसे भूल जाती है। तब मौत करीब है, यह भी भूल जाता है। बूढ़े को दूल्हा बना कर, घोड़े पर बिठा कर देखो, तुम पाओगे वह बूढ़ा नहीं रहा। गठिया इत्यादि था, वह सब शिथिल हो गया है; चल पाता है ठीक से अब। वह जो लकवा लग गया था, उसका पता नहीं चलता। वह जो लंगड़ाने लगा था, अब लंगड़ाता नहीं है। जैसे जीवन की ज्योति में एक नया प्राण पड़ गया; दीये में किसी ने तेल डाल दिया!

वासना, काम जीवन है। जीवन का पर्याय है काम। और काम का खो जाना है मृत्यु। इसलिए इन दोनों को एक साथ रखा है।

"प्रीतियुक्त स्त्री और समीप में उपस्थित मृत्यु को देख कर जो महाशय अविचलमना और स्वस्थ रहता है, वह निश्चय ही मुक्त है।"

अगर मरता हुआ आदमी स्त्री को देख कर वासना से भर जाये तो मौत को खड़ी देख कर भी कंपेगा। अगर मरता हुआ व्यक्ति स्त्री को ऐसा देख ले जैसे कुछ भी नहीं तो मौत को भी देख कर कंपेगा नहीं। और जो स्त्री के संबंध में सच है, वह स्त्रियों के लिए पुरुष के संबंध में सच है। चूंकि ये किताबें पुरुषों ने लिखी हैं और उनको कभी खयाल नहीं था कि स्त्रियों के संबंध में भी कुछ कहें, स्त्रियों के लिए निवेदित नहीं थीं, इसलिए बात भूल गयी। लेकिन मैं यह तुम्हें याद दिला दूं: जो पुरुष के संबंध में सही है वही स्त्री के संबंध में सही है। मरते क्षण स्त्री अगर पुरुष को देख कर--प्रीतियुक्त पुरुष को देख कर, जिसका सौंदर्य लुभाता, जिसका स्वास्थ्य आकर्षित करता, जिसकी स्वस्थ बलशाली देह, जिसकी भुजाएं, जिसका वक्ष निमंत्रण देते और जो तुम्हारे प्रति प्रेम से भरा है--ऐसे पुरुष को देखकर अगर मन में कोई विचलन न हो, तो ऐसी स्त्री मृत्यु को भी स्वीकार कर लेगी।

कहने का अर्थ इतना है: जिस दिन तुम कामवासना से अविचलित हो जाते हो, उसी दिन तुम मृत्यु से भी अविचलित हो जाते हो। यह सूत्र बड़ा महत्वपूर्ण है। तो मृत्यु तो कभी आयेगी, उसका तो आज पक्का पता नहीं है। और मृत्यु की तुम तैयारी भी नहीं कर सकते, क्योंकि मृत्यु कोई रिहर्सल भी नहीं करती कि आये और कहे कि अब पंद्रह दिन बाद आयेंगे, अब तुम तैयार हो जाओ। अचानक आ जाती है। कोई संदेशा भी नहीं आता। कोई नोटिस भी नहीं निकलते कि नंबर एक का नोटिस, नंबर दो, नंबर तीन--जैसा इनकम टैक्स आफिस से आते हैं, ऐसा नहीं होता। सीधी अचानक खड़ी हो जाती है--कोई खबर किये बिना! मरने वाले को क्षण भर पहले तक भी आशंका नहीं होती कि मर जाऊंगा। क्षण भर पहले तक भी मरने वाला आदमी जीवन की ही योजनाएं बनाता रहता है। सोचता रहता है--बिस्तर से उठूंगा तो क्या करना? किस धंधे में लगना? कैसे कमाना? कहां जाना? मरता हुआ आदमी भी जीवन की योजनाओं में व्यस्त रहता है। अधिकतर लोग तो जीवन की योजना में व्यस्त रहते-रहते ही मर जाते हैं; उन्हें पता ही नहीं चलता कि मौत आ गयी।

तो मौत का तो साक्षात्कार एक ही बार होगा, अनायास होगा, अचानक होगा, बिना बुलाये मेहमान की तरह द्वार पर खड़ी हो जायेगी। मृत्यु को अतिथि कहा है पुराने शास्त्रों ने। अतिथि का अर्थ होता है जो बिना तिथि को बताये आ जाये। मृत्यु अतिथि है!

लेकिन एक उपाय है फिर। और वह उपाय है कामवासना। अगर कामवासना के प्रति तुम सजग होते जाओ और कामवासना की पकड़ तुम पर छूटती जाये तो जिस मात्रा में कामवासना की पकड़ छूट रही है, उसी मात्रा में तुम्हारे ऊपर मृत्यु का भय भी छूट रहा है। तो जीवन भर तुम मृत्यु की तैयारी कर सकते हो। और मृत्यु का साक्षात्कार बिना भय के जिसने कर लिया वह अमृत हो गया। उसकी फिर कोई मृत्यु नहीं है।

तुम बार-बार सुनते हो, आत्मा अमर है। अपनी मत सोच लेना। तुम्हारी तो अभी आत्मा है भी कहां! आत्मा तो तभी है जब वासना गिर जाती है। और वासना के गिरने के बाद तुम्हारे भीतर सिर्फ चैतन्य शेष रह जाता है। वही आत्मा है। अभी तो तुम्हारी आत्मा इतनी दबी है कि तुम्हें उसका पता भी नहीं हो सकता। अभी तो जिसको तुम अपनी आत्मा समझते हो वह बिलकुल आत्मा नहीं है। अभी तो किसी ने शरीर को आत्मा समझ लिया है, किसी ने मन को आत्मा समझ लिया है, किसी ने कुछ और आत्मा समझ ली है। आत्मा का तुम्हें अभी साक्षात्कार हुआ नहीं है। वासना की धुंध में आत्मा खोयी है; दिखाई नहीं पड़ती। वासना की धुंध छंटे तो आत्मा का सूरज निकले। वासना का धुआं हटे तो आत्मा की ज्योति प्रगट हो!

आत्मा निश्चित अमर है। लेकिन इसे तुम मत सोच लेना कि तुम्हारे भीतर जो तुम जानते हो वह अमर है। उसमें तो कुछ भी अमर नहीं है। अभी अमर से तो तुम्हारी पहचान ही नहीं हुई है। अगर पहचान अमर से हो जाये तो तुम मृत्यु से डरोगे नहीं। क्योंकि तब तुम जानोगे: कैसी मृत्यु! किसकी मृत्यु! जो मरता है वह मैं नहीं हूं। शरीर मरेगा, क्योंकि शरीर पैदा हुआ था। मन मरेगा, क्योंकि मन तो केवल संयोगमात्र है। लेकिन जो शरीर और मन के पार है, दोनों का अतिक्रमण करता है, वह साक्षी बचेगा। पर साक्षी को जानोगे तब न!

और साक्षी को जानने का जो गहरे से गहरा प्रयोग है, वह कामवासना के प्रति साक्षी हो जाना है। क्योंकि वही हमारी सबसे बड़ी पकड़ है। उससे ही छूटना कठिन है। उसका वेग अदम्य है। उसका बल गहन है। उसने हमें चारों तरफ से घेरा है। और घेरने का कारण भी है।

तुम्हारा शरीर निर्मित हुआ है काम-अणु से--पिता का आधा, मां का आधा। ऐसा दान है तुम्हारे शरीर में। दोनों के काम-अणुओं ने मिल कर पहला तुम्हारा अणु बनाया। फिर उसी अणु से और अणु पैदा होते रहे। आज तुम्हारे शरीर में, वैज्ञानिक कहते हैं, कोई सात करोड़ कामाणु हैं। ये जो सात करोड़ कामाणुओं से बना हुआ तुम्हारा शरीर है, इसके भीतर छिपा है तुम्हारा पुरुष। पुरुष यानी इस नगर के भीतर जो बसा है; इस पुर के भीतर जो बसा है। यह जो सात करोड़ की बस्ती है, इसके भीतर तुम कहीं हो। निश्चित ही सात करोड़ अणुओं ने तुम्हें घेरा हुआ है; सब तरफ से घेरा हुआ है। और उनकी पकड़ गहरी है। तुम उस भीड़ में खो गये हो। उस भीड़ में तुम्हें पता ही नहीं चल रहा है कि मैं कौन हूं? भीड़ क्या है? किसने मुझे घेरा है? तुम्हें अपनी याद ही नहीं रह गयी है। और इन सात करोड़ के प्रवाह में तुम खिंचे जाते हो। जैसे घोड़े, बलशाली घोड़े रथ को खींचे चले जायें, ऐसा तुम्हारे जीवन की छोटी-सी ज्योति को ये बलशाली सात करोड़ जीवाणु खींचे चले जाते हैं। तुम भागे चले जाते हो। यही मौत में गिरेंगे, क्योंकि जन्म के समय इनका ही कामवासना से निर्माण हुआ था।

ऐसा समझो: जो कामवासना से बना है वही मृत्यु में मरेगा। तुम तो बनने के पहले थे; तुम मिटने के बाद भी रहोगे। लेकिन यह प्रतीति तभी तुम्हारी स्पष्ट हो सकेगी--शास्त्र को सुन कर नहीं; स्वयं को जान कर; जाग कर।

सानुरागां स्त्रियं दृष्टवां मृत्युं वा समुपस्थितम्।

पास खड़ी हो प्रेम से भरी हुई स्त्री, युवा, सुंदर, सानुपाती, रागयुक्त, तुम्हारे प्रति उन्मुख, तुम्हारे प्रति आकर्षित, और खड़ी हो मृत्यु, इन दोनों के बीच अगर तुम अविचलमना, जरा भी बिना हिले-डुले खड़े रहे, जैसे हवा का झोंका आये और दीये की लौ न कंपे, ऐसे तुम अकंप बने रहे, तो ही जानना कि तुम मुक्त हुए हो। जीवन-मुक्ति की यह भीतर की कसौटी है।

मुझसे लोग आकर पूछते हैं, हम कैसे समझें कि कोई आदमी मुक्त हुआ या नहीं? दूसरे को समझने का उपाय भी नहीं है, क्योंकि दूसरे को तो तुम कैसे समझोगे? बस, स्वयं को समझने का उपाय है। और यह प्रश्न ही

गलत है कि तुम समझने की कोशिश करो कि दूसरा मुक्त हुआ या नहीं। तुम्हारा प्रयोजन? और बाहर से तुम समझोगे कैसे? बाहर से तो जो मुक्त हुआ है वह भी वैसा ही है जैसे तुम हो। भूख लगती है तो खाना खाता है, तुम्हारे जैसा ही। नींद आती तो सो जाता है, तुम्हारे जैसा ही! हां, कुछ फर्क भी है। लेकिन फर्क भीतरी है, उसका बाहर से कोई पता नहीं चलता। वह जब भोजन करता है तो होशपूर्वक करता है। मगर वह होश तो बाहर दिखाई नहीं पड़ेगा। वह जब सो जाता है, तब भी भीतर उसके कोई जागा रहता है। लेकिन उसे तो तुम भीतर जाओगे तो जानोगे। अभी तो तुम अपने भीतर नहीं गये तो दूसरे के भीतर जाने की तो बात ही छोड़ो। वह तुमसे न हो सकेगा।

यह तो पूछो ही मत कि मुक्त का लक्षण क्या है? अगर लक्षण पूछते हो तो अपने लिए पूछो। यह सूत्र तुम्हारे लिए है। इससे तुम दूसरे को जांचने मत चले जाना। नहीं तो तुम कहोगे, कृष्ण अभी मुक्त नहीं हुए। देखो, सखियां नाच रहीं और कृष्ण बांसुरी बजा रहे और डोल रहे हैं! तो ये तो विचलित होते मालूम होते हैं। डोल रहे हैं, देखो! जैसा बीन बजाने से सांप डोलता है, ऐसे कृष्ण डोल रहे हैं। ये तो विचलित मालूम होते हैं। तो ये फिर मुक्त नहीं हैं।

जो डोल रहा है, वही अगर कृष्ण होते तो तुम्हारी बात सही थी। इस डोलने के बीच में कोई अनडोला खड़ा है। यह बांसुरी बज रही है और भीतर कोई बांसुरी नहीं बज रही। इस नृत्य के बीच में कोई बिलकुल शांत है। इन लहरों के बीच में कोई बिलकुल मौन है। मगर उसे तुम कैसे देखोगे? उसे तो तुमने अपने भीतर देख लिया हो तो ही तुम पहचान पाओगे। तो तत्क्षण तुम्हें कृष्ण के भीतर भी दिखाई पड़ जाएगी वह ज्योति, वह लपट। जिन्होंने कृष्ण को पहचाना वे पहले अपने को पहचाने, तो ही।

बुद्ध से कोई पूछता है एक दिन कि हम कैसे आपको पहचानें? आपकी घोषणा हमने सुनी कि आप बुद्धत्व को उपलब्ध हो गये हैं, कि आपको महाज्ञान फलित हुआ है, कि आपकी मुक्ति हो गई, कैवल्य हो गया। हम आपको कैसे पहचानें? हमें कुछ आधार दें। बुद्ध ने कहा: मुझे पहचानने चलोगे तो भटक जाओगे। तुम अपने को पहचानने में लगो। जिस दिन तुम अपने को पहचान लोगे उस दिन क्षण भर की भी देर न लगेगी, तुम मुझे भी पहचान लोगे।

इन सूत्रों को तुम दूसरों के लिए उपयोग मत करना। आदमी बड़ा बेईमान है! आदमी को कुछ भी समझ में आये तो समझ का भी दुरुपयोग ही करता है। फिर वह कहने लगता है कि अच्छा, तो फलां आदमी फिर अभी मुक्ति को उपलब्ध नहीं हुआ।

तुम अपने भीतर इस कसौटी को संभाल कर रखो। राह से निकलते हो, एक सुंदर स्त्री पास से गुजर गयी या सुंदर पुरुष पास से गुजर गया; तुम्हारे भीतर कुछ कंपता है? अगर नहीं कंपता तो प्रसन्न हो जाओ। थोड़ा-सा तुम्हें जीवन का स्वाद मिला! अकंप है जीवन! तुम थोड़े बाहर हुए धुएं के! खुशी मनाओ! कुछ तुम्हें मिल गया!

धीरे-धीरे यही अभ्यास सघन होता जायेगा तो किसी दिन मौत आयेगी। कामवासना का अंतिम परिणाम मृत्यु में ले जायेगा। शरीर चूंकि बना ही कामवासना से है, इसलिए मृत्यु तो होगी। अगर तुम कामवासना के प्रति जागते रहे तो एक दिन मृत्यु में भी जाग जाओगे। और जो जाग कर मर जाता है, फिर उसका लौटना नहीं है; फिर उसका पुनरागमन नहीं है। तुमने बार-बार सुना है यह कि कैसे आवागमन मिटे। यह है रास्ता आवागमन के मिटने का।

जीते-जी तुम मुक्त हो सकते हो। जीते-जी, जीवन-मुक्त का अर्थ होता है: जो काम से मुक्त हुआ; जिसे अब स्त्री या पुरुष का आकर्षण नहीं खींचता। और सब आकर्षण छोटे हैं। धन का आकर्षण है, गौण है। पद का आकर्षण है, वह भी गौण है। काम का आकर्षण सबसे गहरा है। वस्तुतः हम धन भी इसीलिए चाहते हैं ताकि कामवासना को तृप्त करना सुगम हो जाये और पद भी इसीलिए चाहते हैं ताकि कामवासना को तृप्त करना सुगम हो जाये।

तुमने देखा, राजाओं को हजारों स्त्रियां रखने की सुविधा थी! मन तो सभी का है। मन तो सभी के राजा के हैं। लेकिन रख नहीं सकते, क्योंकि एक ही रखना महंगा पड़ जाता है; एक के साथ ही मुश्किल खड़ी हो जाती है। सम्राटों की हजारों स्त्रियों की कथा तुम पढ़ते हो, वे झूठी नहीं हैं। उनके पास सुविधा थी, धन था, पद था, प्रतिष्ठा थी। वे समाज, नीति-नियम सबको तोड़ सकते थे; मर्यादा के बाहर जा सकते थे। कौन उनका क्या बिगाड़ लेगा! कोई उनका कुछ बिगाड़ न सकता था।

फ्रायड ने कहा है कि लोग धन खोजते, पद खोजते, लेकिन गहरे में खोज यही है कि जब बल होगा धन का, पद का, तो कामवासना को तृप्त कर लेंगे। फिर जैसा करना चाहेंगे वैसा कर लेंगे। लेकिन सबसे गहरे में कामवासना है।

अविह्वलमना स्वस्थो मुक्त एव महाशयः।

"अविह्वलमना", जिसका मन अब विह्वल नहीं होता, कंपता नहीं, निष्कंप हो गया है।

स्त्री से प्रयोग करो, पुरुष से प्रयोग करो। जीवन इसी का अवसर है। थोड़े-थोड़े जागते-जागते एक दिन महाजाग भी आयेगी। रत्ती-रत्ती प्रकाश इकट्ठा करते-करते एक दिन महासूर्य भी प्रगट होगा।

साथ चलो तो मैं खड़ा चलने को तैयार
सन्नाटे के बीच से--सन्नाटे के पार।

जब तुम पैदा हुए, सन्नाटे से आये थे। जब तुम मृत्यु में जाओगे, फिर सन्नाटे में जाओगे। झेन फकीर कहते हैं: अपने उस चेहरे को खोज लो जो जन्म के पहले तुम्हारा था और मृत्यु के बाद फिर तुम्हारा होगा। यह बीच का चेहरा उधार है। यह चेहरा तो तुम्हारे मां और पिता से मिला है; यह चेहरा तुम्हारा नहीं। यह मौलिक नहीं।

साथ चलो तो मैं खड़ा चलने को तैयार
सन्नाटे के बीच से--सन्नाटे के पार।

इसलिए समस्त धर्म सन्नाटे की साधना है--शून्य की, मौन की, ध्यान की।

तुमको चिंता राह की, मुझको चिंता और
यहीं न हमको रोक ले कोई मंजर-मौर।

राह की बहुत फिक्र मत करो। सब राहें परमात्मा की तरफ जाती हैं। एक ही फिक्र करना कि रास्ते पर कोई अटकाव में अटक मत जाना; किसी पड़ाव को मंजिल मत समझ लेना। सब पहुंच जाते हैं, अगर चलते रहें, अगर चलते रहें। रुके कि अटक जाते हैं। तुम कहीं भी रुकना मत--धन पर, पद पर, मोह पर, लोभ पर, राग पर। कहीं रुकना मत। चलते ही जाना। जागते ही जाना।

चढ़ो न मन की पालकी चलो न अपनी छांव
बटमारों का देश है, नहीं सजन का गांव।

सबमें सबकी आत्मा, सबमें सबका योग
ऐसे भी थे दिन कभी, ऐसे भी थे लोग।

तुम भी ऐसे ही हो सकते हो। जो अष्टावक्र को हुआ, तुम्हें हो सकता है। जो मुझे हुआ, तुम्हें हो सकता है। जो एक को हुआ, सभी को हो सकता है।

सबमें सबकी आत्मा, सबमें सबका योग
ऐसे भी थे दिन कभी, ऐसे भी थे लोग।

नहीं, यह बात समाप्त नहीं हो गयी है। ऐसा नहीं है कुछ कि बुद्धपुरुष होना बंद हो गये। कभी बंद नहीं होते। जहां सोये लोग हैं वहां कोई न कोई, कभी न कभी जागता ही रहेगा। नींद में जागने के कमल खिलेंगे ही। जहां पाप है, वहां पुण्य भी प्रगट होगा। और जहां रात है, सुबह भी होगी। अंधेरा है तो प्रकाश भी कहीं पास ही होगा। घबड़ाओ मत!

गोरी अपने गांव में पनपा ऐसा रोग

हमसे परिचय पूछते हमीं हमारे लोग।

भारी रोग फैला है। रोग एक ही है: पता नहीं अपना ही, कि हम कौन हैं! तुमसे जब कोई पूछता है आप कौन हैं, तो कभी तुमने ईमानदारी से कहा कि मुझे पता नहीं। तुम जो भी पता देते हो सब झूठा है, सब कामचलाऊ है। तुम कहते हो, राम कि रहीम; कि इस गांव रहते कि उस गांव रहते, कि इस मोहल्ले रहते कि उस मोहल्ले रहते; कि यह मेरे मकान का नंबर है। यह सब ठीक है, और फिर भी कुछ ठीक नहीं। तुम्हें अपना पता ही नहीं है।

गोरी अपने गांव में पनपा ऐसा रोग
हमसे परिचय पूछते हमीं हमारे लोग।

दूसरे तो पूछते ही हैं, यह ठीक ही है; तुम खुद भी तो पूछ रहे हो यही कि मैं कौन हूं! जन्म की जो पहली जिज्ञासा है वह यही है। और आखिरी जिज्ञासा भी यही है।

मनोवैज्ञानिक कहते हैं कि बच्चे को जो पहला प्रश्न उठता है, सबसे पहला प्रश्न, वह यही है कि मैं कौन हूं। होना भी यही चाहिए। हालांकि इसका कोई पक्का प्रमाण नहीं है, क्योंकि बच्चे बोलते नहीं। और बच्चों में क्या पहला प्रश्न उठता है, कहना कठिन है। लेकिन सब हिसाब से यह मालूम पड़ता है, यही प्रश्न उठता होगा। और कोई प्रश्न उठने के पहले यही प्रश्न उठता होगा कि मैं कौन हूं! चाहे इस तरह के शब्द न भी बनते हों, सिर्फ भावमात्र होता हो; लेकिन बच्चे को यह तो खयाल होता होगा कि मैं कौन हूं। कभी-कभी बच्चे पूछते भी हैं कि मैं कौन हूं? मैं यहां क्यों हूं? मैं कहां से आया हूं? मैं ऐसा ही क्यों हूं जैसा कि मैं हूं? हम सब टाल देते हैं उनके प्रश्न कि ठहरो, जब बड़े हो जाओगे पता चलेगा।

बड़े हो कर तुमको भी पता नहीं चला है। बड़े हो कर किसी को पता नहीं चलता। बड़े होने से पता चलने का क्या संबंध है? बड़े हो कर पता चलना और मुश्किल हो जायेगा, क्योंकि और कूड़ा-कर्कट तुम्हारी खोपड़ी पर इकट्ठा हो जायेगा। अभी तो बच्चे की बुद्धि निर्मल थी, अभी बेईमान न था; बड़ा हो कर तो बेईमान हो जायेगा।

पहला प्रश्न, मनस्विद कहते हैं, होना यही चाहिए गहरे से गहरे में कि मैं कौन हूं? स्वभावतः और प्रश्न पैदा हों, इसके पहले यह जिज्ञासा तो उठेगी ही कि यह मैं कौन हूं! और अंतिम प्रश्न भी मरते समय यही होता है। होगा भी। जो पहला है, वही अंतिम भी होगा। जहां से चलते हैं, वहीं पहुंच जाते हैं। मरते क्षण भी यही प्रश्न होता है कि मैं कौन हूं। जी भी लिया, सुख-दुख भी झेले, सफल-असफल भी हुआ, खूब शोरगुल भी मचाया, झंझटें, झगड़े-झांसे भी किये; कभी जमीन से उलझे, कभी आसमान से उलझे; सब किया-धरा, सब मिट्टी भी हो गया; अब मैं जा रहा हूं, और यह भी पता नहीं चला कि मैं कौन हूं!

मैं कौन हूं, इसका उत्तर उसी को मिलता है, जो अविचलमना हो गया। जब तक मन विचलित होता है, इसका पता नहीं चलता। क्योंकि विचलन के कारण तुम्हें अपनी ठीक-ठीक छवि दिखाई नहीं पड़ पाती। ऐसा नहीं है कि कहीं कोई उत्तर लिखा रखा है। इतना ही है कि अगर तुम बिलकुल शांत हो जाओ, एक तरंग न उठे चित्त में, तो उस निस्तरंग दशा में जिसे तुम देखोगे, जानोगे, वही तुम हो। नाच उठोगे! ऐसा भी नहीं है कि तुम दूसरों को बता सकोगे कि मैं कौन हूं। नहीं, गूंगे का गुड़! लेकिन तुम जानोगे! और तुम्हें अगर कोई गौर से देखेगा, तुम्हारे पास बैठेगा, तुम्हारी धारा में थोड़ा बहेगा, तो उसे भी थोड़ा-थोड़ा रस मिलेगा, उसे भी थोड़ी-थोड़ी सुगंध आयेगी। अज्ञात लोक उसे भी खींचने लगेगा!

लेकिन जिंदगी भर तो हम रेत के घर बनाने में बिताते हैं। जिंदगी भर तो हम कागज की नावें तैराते हैं! जिसको तुम जिंदगी कहते हो, सिवाय कागज की नाव बनाने के और क्या है?

कुछ अंधेरे रोशनी के साथ आते हैं
कुछ उजाले हैं कि साये छोड़ जाते हैं
एक वे हैं पांव कल की सीढ़ियों पर हैं

एक हम इतिहास पर जिल्दें चढ़ाते हैं
जो समय के साथ समझौता नहीं करते
एक उपजाऊ धरातल छोड़ जाते हैं
जिंदगी का अर्थ हमने यों लगाया है
हम नदी में रेत के टीले बनाते हैं
कुछ हवाएं हैं कि इतनी तेज चलती हैं
पत्थरों के आदमी भी थरथराते हैं
हम हजारों व्यक्तियों से मिल चुके होंगे
सब हथेली पर यहां सरसों उगाते हैं
यहां बड़े पागलपन में लोग उलझे हैं।
हम हजारों व्यक्तियों से मिल चुके होंगे
सब हथेली पर यहां सरसों उगाते हैं
जिंदगी का अर्थ हमने यों लगाया है
हम नदी में रेत के टीले बनाते हैं

मरते वक्त तुम्हें लगेगा, सब किया अनकिया हो गया; सब बना, मिट रहा है। तुम्हीं मिट रहे हो! जहां तुम्हारा ही रहना तय नहीं है, वहां तुम्हारा बनाया हुआ क्या रहेगा? जहां से तुम ही हटा लिये जाते हो, वहां तुम्हारे कर्तृत्व के, तुम्हारे कर्ता होने के क्या चिह्न रह जाएंगे!

अष्टावक्र कहते हैं: तुम अगर अविचल हो जाओ तो तुम उसे जान लो जो न पैदा होता, न मरता; तुम उसे जान लो जो न करता--जो बस है! उस है-पन में डूब जाना परम शांति है, परम मुक्ति है।

"समदर्शी धीर के लिए सुख और दुख में, नर और नारी में, संपत्ति और विपत्ति में कहीं भी भेद नहीं है।"

सुखे दुःखे नरे नार्यां संपत्सु च विपत्सु च।
विशेषो नैव धीरस्य सर्वत्र समदर्शिनः।।
सुखे दुःखे...!

सुख और दुख हमें दो दिखाई पड़ते हैं। हमें दो दिखाई पड़ते हैं, क्योंकि हम सुख को चाहते हैं और दुख को नहीं चाहते। हमारे चाहने और न चाहने के कारण दो हो जाते हैं। तुम एक दफा चाह और न-चाह दोनों छोड़ कर देखो, तुम अचानक पाओगे सुख और दुख का भेद खो गया, उनमें कुछ भेद न रहा। उनकी सीमा-रेखा हमारी चाह बनाती है। इसे समझो।

कभी-कभी ऐसा होता है कि जिस चीज को तुम नहीं चाहते थे क्षण भर पहले तक, उसमें दुख था, और फिर तुम चाहने लगे तो उसी में सुख हो गया। जो आदमी सिगरेट नहीं पीता, उसको सिगरेट पिला दो--आंख में आंसू आ जाएंगे, खांसी उठेगी, घबरायेगा, चेहरा तमतमा जाएगा, सिगरेट फेंक देगा। कहेगा कि पागल हो गये हो, यह क्या भला-चंगा था और तुमने यह कहां का रोग लगा दिया! दुखी होता है। लेकिन उससे कहो कि धीरे-धीरे अभ्यास करो, यह बड़ा योगाभ्यास है; यह कोई ऐसे नहीं सधता, साधने से सधता है, और बड़ी कठिन बात है, तुम थोड़ा अभ्यास करोगे तो सध जायेगा। थोड़ा अभ्यास करेगा तो निश्चित सध जायेगा। सध क्या जायेगा, अभ्यास करने से वह जो अब तक शरीर के संवेदनशील तंतु विरोध किये थे, विरोध नहीं करेंगे। शरीर की संवेदनशीलता ने जो इंकार किया था, वह इंकार नहीं आएगा। शरीर राजी हो जाएगा कि ठीक है, तुम्हारी मर्जी, जो करना हो करो। खांसी नहीं उठेगी, आंख में आंसू नहीं आएंगे। और यह आदमी कहने लगेगा, अब सुख मिलने लगा।

तुमने शराब चखी? चखोगे तो तिक्त और कड़वी, स्वादहीन, लेकिन चखते ही चले जाओ तो सब स्वाद व्यर्थ हो जाते हैं, शराब का स्वाद ही फिर एकमात्र स्वाद रह जाता है।

मुल्ला नसरुद्दीन की पत्नी उससे बहुत परेशान थी। रोज पी कर चला आए। एक दिन सब समझा कर हार चुकी थी तो मधुशाला पहुंच गयी--सिर्फ डरवाने। मुल्ला भी घबराया, क्योंकि वह यहां कभी नहीं आयी थी। घर

ही घर बात करती थी। आ गयी मधुशाला, आकर उसकी टेबल पर बैठ गई और कहा: आज तो मैंने भी तय किया कि मैं भी पीना शुरू करती हूं। तुम तो रुकते नहीं; मैं भी शुरू करती हूं। मुल्ला थोड़ा घबराया भी कि यह क्या मामला हो रहा है! एक ही पीने वाला घर में काफी है। अब उसको यह भी डर लगा कि कहीं यह भी पीने लगे तो जो बदतमीजी मैं इसके साथ करता रहा, वही बदतमीजी अब यह मेरे साथ करेगी। मगर अब कोई यह भी नहीं कह सकता कि मत पीओ, क्योंकि अब किस मुंह से कहे मत पीओ! यही तो पत्नी समझाती रही।

और इसके पहले कि वह कुछ कहे पत्नी ने अपनी गिलास में शराब ढाल ली। पहला ही घूंट लिया कि हाथ से गिलास पटक दिया और उसने कहा: अरे, यह तो जहर है! थू-थू किया। मुल्ला ने कहा: देखो! और तुम समझती थी कि मैं मजे लूट रहा हूं! हजार बार समझाया कि यह बड़ी कठिन चीज है। और तुम यही सोचती थी सदा कि मैं बड़े मजे लूट रहा हूं!

अभ्यास करो तो दुख सुख जैसा मालूम होने लगता है। चाह पैदा हो जाए तो दुख सुख हो जाता है। तुमने यह देखा? एक स्त्री को तुम चाहते; एक पुरुष को तुम चाहते--जब तक चाह है तब तक सुख है! विवाह कर लिया, दोनों साथ रह लिये; चाह क्षीण हो गयी। अब चाह तो खतम हो गयी। अब सुख नहीं मालूम पड़ता। तुमने किसी पति को किसी पत्नी के साथ सुखी देखा? अगर रास्ते से तुम देख लो कि पति-पत्नी दोनों सुख से चले जा रहे हैं तो समझ लेना कि ये पति-पत्नी नहीं हैं।

मैं एक ट्रेन में सवार था और एक महिला मेरे सामने ही सीट पर बैठी थी। हर स्टेशन पर एक आदमी उससे मिलने आता--हर स्टेशन पर। फिर भाग कर अपने डब्बे में जाता, फिर आता। कभी शर्बत लाता, कभी कुछ। मैंने उससे पूछा कि तुम्हारे पति मालूम होते हैं। उसने कहा: हां। मैंने पूछा: कितने दिन हुए विवाह हुए? उसने कहा कि सात साल हो गये। मैंने कहा: झूठ तो मत बोल। सात साल! तो तू विवाहित भी नहीं है इनके साथ। सात साल बाद कोई पति दूसरे डब्बे में से हर स्टेशन पर...शर्बत और चाय और कॉफी और आइसक्रीम कभी ले कर आए, सुना है? ऐसा हुआ कहीं? कलियुग में तो नहीं होता। सतयुग में भी होता था, ऐसा भी कोई उल्लेख किसी पुराण में नहीं है। तू झूठ बोल ही मत। तू सच-सच कह दे, मैं किसी से कहूंगा नहीं। उसने कहा: "आपने कैसे पहचाना? हम तो विवाहित नहीं हैं।"

इसमें पहचानने की बात ही क्या है? पति तो एक दफा बिठा कर जो नदारद होता, फिर पूरी यात्रा उसका पता नहीं चलना था। ऐसा सौभाग्य तो कभी-कभी मिलता है।

तुमने देखा, पति-पत्नी साथ बैठे हों, कैसे उदास और गंभीर मालूम होते हैं! कोई मेहमान आ जाता है तो दोनों प्रफुल्लित हो जाते हैं कि चलो, कोई आ गया तो कुछ थोड़ा रस तो आएगा।

मेरे एक मित्र हैं; हिम्मतवर आदमी हैं। ऐसा एक दिन मुझसे बात करते थे। मैंने उनसे पूछा कि अब कब तक धंधे में पड़े रहोगे? खूब कमा लिया। उन्होंने कहा कि जिस दिन मैं पैंतालीस साल का हो जाऊंगा, उसी दिन छोड़ दूंगा। सच में हिम्मत के आदमी हैं। पैंतालीस साल के हो गये तो उन्होंने उसी दिन सब बंद कर दिया। मुझसे पूछने लगे कि अब बोलो क्या करें, क्योंकि अब मैं खाली हूं! तो मैंने कहा, अब अच्छा है, तुम किसी पहाड़ी जगह पर चले जाओ। सब तुम्हारे पास सुविधा है। अब शांति से रहो। उन्होंने कहा, वह तो ठीक है; लेकिन यह भी तो देखो कि पत्नी से, जब मेरी उम्र पंद्रह साल की थी, तब मेरा विवाह हुआ। तीस साल से हम साथ हैं। अब तो हम दोनों अगर संग रह जाते हैं तो एकदम संकट हो जाता है। आप चलोगे हमारे साथ पहाड़ पर रहने? क्योंकि हमें कोई एक तो चाहिए ही, तो थोड़ा रस रहता है। हम तो किसी सफर पर भी नहीं जाते बिना मित्र को लिये।

तुमने देखा, पति-पत्नी कहीं जा रहे हैं तो किसी मित्र को या मित्र की पत्नी को या मित्र के परिवार को साथ लेना चाहते हैं! कारण? अगर पति-पत्नी अकेले छूट गये तो वे एक-दूसरे को उबाते हैं, और कुछ भी नहीं। जो कहना था कह चुके बहुत बार, जो करना था कर चुके बहुत बार, जो देखना था देख चुके बहुत बार; अब तो सिर्फ ऊब हाथ रह गयी है। अब तो कोई उपाय नहीं रह गया है। अब तो कोई रस नहीं रह गया है। शायद इसी

स्त्री के लिए दीवाने थे, इसी पुरुष के लिए दीवाने थे। और अब मिल गये तो सब शांत हो गया है। दुख हो जाता है।

सुख को तुमने दुख में बदलते देखा या नहीं? जिस दिन तुम यह देख लोगे कि दुख सुख में बदल जाता है, सुख दुख में बदल जाता है, उस दिन तुम्हें एक बात साफ हो जायेगी कि दोनों अलग-अलग नहीं हैं। तुम्हारी चाह का ही भेद है। चाहो तो सुख, चाहो तो दुख। जैसा तुम चाह लेते, बस उसके अनुकूल सुख-दुख की सीमा-रेखा खिंच जाती है। लेकिन जिसकी कोई चाह नहीं, उसकी सोचो। उसके लिए सुख और दुख दोनों विसर्जित हो गये।

अष्टावक्र कहते हैं:

सुखे दुःखे नरे नार्यां संपत्सु च विपत्सु च।

न तो संपत्ति में न विपत्ति में, न नर में न नारी में, न सुख में न दुख में--ऐसे व्यक्ति को कोई भेद नहीं रह जाता।

विशेषो नैव धीरस्य सर्वत्र समदर्शिनः।

ऐसा व्यक्ति सब जगह एक ही दर्शन में, एक ही दृष्टि में स्थिर रहता है। उसे कुछ भेद नहीं दिखाई पड़ता। उसका मतलब यह मत समझ लेना कि वह स्त्री से कहने लगता है कि आप कहां जा रहे, या पुरुष से कहने लगता है कि अच्छी आ गयीं, बैठिये! इसका यह मतलब नहीं है कि उसे भेद नहीं दिखाई पड़ता। भेद सब ऊपरी रह जाते हैं, व्यावहारिक रह जाते हैं; आंतरिक भेद नहीं रह जाता।

आंतरिक भेद तुम्हारी देह में है ही नहीं; आंतरिक भेद तो तुम्हारी चाह में है। जब भीतर कामवासना प्रगाढ़ होती है तो स्त्री अलग मालूम पड़ती है, पुरुष अलग मालूम पड़ता है। जब भीतर की कामवासना गिर गयी तो अब स्त्री और पुरुष बाहर अलग हैं, यह अंतर नहीं रह जाता।

इसका यह मतलब नहीं है कि तुम्हें स्त्री स्त्री नहीं दिखाई पड़ती। स्त्री अब भी स्त्री दिखाई पड़ती है। लेकिन यह भेद औपचारिक है, सामाजिक है, शारीरिक है। इस भेद में वस्तुतः कोई भेद नहीं है। भिन्नता मालूम होती है; भेद नहीं मालूम होता है। दोनों अलग-अलग ढंग से बने हैं, लेकिन दोनों में एक का ही वास है। ऊपर का ढांचा थोड़ा भिन्न है, शरीर और रासायनिक भिन्नता है; लेकिन भीतर आत्मा एक ही जैसी है। न कोई पुरुष है न कोई स्त्री है। सब आत्मा है। जो स्वयं आत्मवान होता है, उसे सब तरफ आत्मा का ही दर्शन होता है।

"क्षीण हो गया है संसार जिसका, ऐसे मनुष्य में न हिंसा है न करुणा है, न उद्दंडता और न दीनता, न आश्चर्य न क्षोभ।"

न हिंसा नैव कारुण्यं नौद्धत्यं न च दीनता।
नाश्चर्यं नैव च क्षोभः क्षीणसंसरणे नरे।।

क्षीणसंसरणे नरे--जिसका संसार क्षीण हो गया ।

खयाल करना, संसार से मतलब यह नहीं है जो तुम्हारे चारों तरफ फैला है; यह तो कभी क्षीण नहीं होता। कितने बुद्धपुरुष हो गये, यह तो चलता जाता है। "संसार क्षीण हो गया" का अर्थ है: जिसके भीतर अब संसार के प्रति कोई आकर्षण-विकर्षण न रहा। हो तो ठीक, न हो तो ठीक। जैसा है वैसा है। इसमें अन्यथा करने की कोई वासना नहीं है। आज खो जाये तो ठीक; चलता रहे अनंत-काल तक तो ठीक। संसार बाहर का तो रहेगा ही, लेकिन भीतर का संसार खो जाता है।

भीतर के संसार का अर्थ है: विचारों का, वासनाओं का संसार।

क्षीणसंसरणे नरे--जिस व्यक्ति का यह अंतर-संसार शांत हो गया।

न हिंसा नैव कारुण्यं--ऐसे व्यक्ति में न तो हिंसा रह जाती, न करुणा।

यह समझने जैसी बात है।

हम कहते हैं: महावीर महाकरुणावान हैं। वह हमारी गलती है। हमारी तरफ से ठीक लगता है। लेकिन महावीर की तरफ से सोचने पर गलती है। जिसका क्रोध ही चला गया, उसमें करुणा कैसे बचेगी? जिसमें क्रोध ही न रहा, उसमें करुणा का क्या उपाय है? और जिसमें हिंसा न बची, उसमें अहिंसा कैसे होगी? जो दूसरे को दुख नहीं देना चाहता, वह दूसरे को सुख कैसे देना चाहेगा? उसे तो सुख-दुख बराबर हो गये। जो दूसरे को मारना नहीं चाहता, वह दूसरे को बचाना भी क्यों चाहेगा? क्योंकि वह जानता है, अब न तो कुछ मरता है, न कुछ बचाया जाता है।

लेकिन हमारी तरफ से ठीक लगता है, क्योंकि हम देखते हैं, महावीर का क्रोध खो गया, हिंसा खो गयी। तो तत्क्षण हम नाम देते हैं: अहिंसक, महाकरुणावान! ये नाम हमारे हैं; और भ्रांत हैं। हम भ्रांत हैं तो हमारी दी हुई सारी व्याख्याएं भी भ्रांत होती हैं।

महावीर की तरफ से देखने पर द्वंद्व चला गया--हिंसा-अहिंसा का, प्रेम-घृणा का, राग-द्वेष का। सारा द्वंद्व चला गया। जहां-जहां द्वंद्व है वहां-वहां निर्द्वंद्वता की स्थिति आ गयी।

तो सूत्र कहता है: ऐसे मनुष्य में न हिंसा है न करुणा; न उद्दंडता है और न दीनता है।

ऐसा व्यक्ति न तो अहंकारी होता है और न निरहंकारी होता है। ऐसा व्यक्ति विनम्र भी नहीं होता, दंभी भी नहीं होता। इसलिए तुम्हें बड़ी कठिनाई होगी ऐसे व्यक्ति को पहचानने में। ऐसा व्यक्ति न तो किसी को दबाता और न किसी से दबता।

तुम दो तरह के आदमी जानते हो: दबाने वाले और दबने वाले। तुम आदमी जानते हो: आज्ञाकारी और उद्दंड, परंपरा को मानने वाले और परंपरा का खंडन करने वाले, आस्तिक और नास्तिक। ऐसे तुम आदमी जानते हो।

बुद्ध या महावीर न तो आस्तिक हैं न नास्तिक; न तो परंपरा के अंधे अनुयायी हैं, न क्रांतिकारी हैं; न तो आज्ञा मान कर चलते समाज की, न अवज्ञा करते हैं। ये बातें ही व्यर्थ हो गयीं। ये तो अपने भीतर की सहजता से जीते हैं। इस सहजता से तुम्हारा मेल खा जाये तो तुम्हें लगेगा, समाज की आज्ञा मानते हैं। इससे मेल न खाए तो तुम्हें लगेगा समाज की अवज्ञा करते हैं। लेकिन ये तुम्हारी धारणाएं हैं। ऐसे व्यक्ति तो अपनी मौज से जीते हैं--स्वच्छंद जीते, सहज भाव से! उनकी स्फुरणा आंतरिक है। बहुत मौकों पर तुमसे मेल खा जाता है; बहुत मौकों पर तुमसे मेल नहीं खाता। लेकिन तुमसे न तो मेल बिठाने की चिंता है और न तुमसे तालमेल तोड़ने की चिंता है। यहीं तुम फर्क समझ लेना।

परंपरावादी वह है, जो हमेशा कोशिश करता है: जो सब चल रहे हैं, भेड़चाल, वैसी ही चाल मेरी रहे; जरा भी अन्यथा न हो जाऊं। अन्यथा अड़चन आती है; लोग चौंक कर देखने लगते हैं। जैसे कपड़े लोगों ने पहने हैं, वैसे ही मैं पहनूं; जैसे बाल उन्होंने कटाये वैसे मैं कटाऊं; जो बातें वे करते हैं वही बातें मैं करूं; जिस ब्रांड की सिगरेट पीते हैं वही मैं पीऊं; जिस फिल्म को देखने जाते हैं वही मैं देखूं; जो किताब पढ़ते हैं वही मैं पढ़ूं। लोगों से अलग होना ठीक नहीं, क्योंकि भीड़ नाराज होती है कि अच्छा, तो तुम व्यक्ति होने की चेष्टा कर रहे, तो तुम विशिष्ट होने की चेष्टा कर रहे! भीड़ पसंद नहीं करती।

भीड़ कहती है: तुम भीड़ के साथ रहो। भीड़ को इससे बड़ी तृप्ति मिलती है कि सब उसके साथ हैं। भीड़ बड़ी डरी है। देखा भेड़ों को चलते--घसर-पसर एक-दूसरे के साथ! ऐसा आदमी चलता है। अगर कोई भेड़ अलग चलने लगे तो पूरी भीड़ उसके विपरीत हो जाती है। यह एक बात हुई।

फिर एक दूसरा आदमी है, जो इस भेड़चाल से घबरा जाता है और जो प्रतिक्रिया में वही करने लगता है, जो भीड़ कहती है मत करो; वही करने लगता है जिसका भीड़ में विरोध है। भीड़ से विपरीत करने लगता है। खयाल करना, यह दूसरा आदमी भी भीड़ से ही प्रभावित हो रहा है; जैसा भीड़ कहती है, उससे विपरीत करने लगता है, लेकिन भीड़ के ही अनुसार चलता है। अनुकूल नहीं करता, प्रतिकूल करता है। भीड़ कहती है, शराब

मत पीयो तो वह शराब पीयेगा। भीड़ कहती है, लंबे बाल मत बढ़ाओ तो वह लंबे बाल बढ़ा लेगा। भीड़ कहती है, स्नान करो तो वह स्नान न करेगा।

हिप्पियों को देख रहे हैं! उन्होंने सारे भीड़ के मापदंड तोड़ दिये। वे ऐसे जीएंगे जैसा भीड़ चाहती है कोई न जीए; मगर अभी भी भीड़ से ही प्रभावित हैं। उनका भी आदेश आता है भीड़ से ही। भीड़ स्नान करती है तो वे स्नान नहीं करते; भीड़ सुंदर कपड़े पहनती है तो वे गंदे कपड़े पहनते हैं।

मैंने ऐसा भी सुना है कि अमरीका में ऐसी दूकानें भी खुल गयी हैं जहां कपड़े गंदे तैयार करके बेचे जाते हैं। क्योंकि हिप्पियों की भी तो मांग है! नया कपड़ा तो हिप्पी पहन नहीं सकता, क्योंकि वह ताजा, साफ-सुथरा मालूम पड़ता है। तो दूकानें हैं जहां उनको गंदे करके, चीर-फाड़ कर, खराब करके, पुराना ढंग दे कर बेचते हैं। उनके विज्ञापन मैंने पढ़े हैं। तब खरीदेगा हिप्पी कि ठीक, अब ठीक है। बासा, पुराना, गंदा, कई मौसम देख चुका, घिसा-पिटा, तब!

मेरे एक मित्र हैं; नेपाल में उनकी फैक्टरी है। उस फैक्टरी में वे एक ही काम करते हैं: नयी मूर्तियां बनाते हैं, एसिड डाल कर उनको खराब करके जमीन में गड़ा देते हैं। साल-छः महीने बाद उनको जमीन से निकाल लेते हैं। कोई पांच सौ साल पुरानी बताते हैं, कोई हजार साल पुरानी। जो मूर्ति पांच रुपये में नहीं बिकती, वह पांच हजार में बिकती है। उनका धंधा ही यही है।

उनके घर एक बार मेहमान हुआ तो मैंने कहा कि तुम इतनी पुरानी मूर्तियां ले कहां से आते हो? उन्होंने कहा: "लाता कौन है? पागल हुए हैं आप? हम बनाते हैं।" मैंने कहा: पुरानी मूर्ति कैसे बनाते होओगे? उन्होंने कहा: आपकी समझ में न आयेगा। इसमें बड़ा राज है। सन इत्यादि सब हम लिखते हैं इसमें पुराना। पुरानी भाषा आंकते हैं। फिर एसिड डालकर खराब करते हैं। किसी का हाथ तोड़ दिया, किसी की नाक तोड़ दी, फिर उसको जमीन में गड़ा दिया। वह जमीन में गड़ी साल-छः महीने में पुरानी शक्ल ले लेती है। उसको बड़े से बड़े पारखी ही पहचान सकते हैं कि वह पुरानी नहीं है। वैसे पांच रुपये में बिकती; अब वह पांच हजार में बिक सकती है। एंटीक हो गयी! अब उसकी कीमत बहुत बढ़ गयी। बहुत पुरानी है!

हिप्पी विपरीत जीता है। लेकिन ज्ञानी न तो समाज के अनुकूल जीता है न प्रतिकूल। ज्ञानी तो स्वानुकूल जीता है; स्वच्छंद--स्वयं के छंद से जीता है। तुमसे मेल खा जाये तो ठीक, तुमसे मेल न खाये तो ठीक। तुम्हारी चिंता नहीं करता; तुम्हारे हिसाब से नहीं चलता।

तो न तो तुम उससे कह सकते कि वह उद्दंड है, न तुम कह सकते वह दीन है। न तो वह परंपरावादी है और न क्रांतिकारी है। ज्ञानी तो अपने आत्मबोध से जीता है।

"उसके जीवन में न तो क्षोभ है और न आश्चर्य।"

यह बहुत महत्वपूर्ण बात है। क्षोभ कब होता है? तुम दस हजार रुपये पाना चाहते थे और दस न मिले तो क्षोभ होता है। तुम्हें दस भी मिलने की आशा न थी और दस हजार मिल गये तो आश्चर्य होता है। जो नहीं होना था हो जाता है, तो बड़ा आश्चर्य से भर जाता है मन। जो होना था और नहीं होता, तो बड़ा क्षोभ होता है। तुम्हारी अपेक्षा के प्रतिकूल हो जाता है तो तुम दुखी होते हो। और छप्पर फोड़ कर वर्षा हो जाती है स्वर्ण-अशर्फियों की, तो तुम गदगद हो जाते हो।

ज्ञानी के जीवन में न तो आश्चर्य है न क्षोभ है। ज्ञानी तो जो होता है उससे अन्यथा चाहता ही नहीं था। उसने अन्यथा सोचा नहीं था, विचारा नहीं था। उसने और कोई सपने न देखे थे। उसने पहले से कोई धारणा ही न बनायी थी। पांच मिलें तो ठीक, पचास मिलें तो ठीक, पचास करोड़ मिल जायें तो ठीक; न मिलें तो ठीक। पास हैं जो वे भी खो जायें तो ठीक। उसके जीवन में किसी चीज से कोई लहर नहीं उठती है--न क्षोभ की, न आश्चर्य की।

ज्ञानी प्रतिपल बिना किसी अतीत को अपने मन में लिये जीता है। इसलिए तुलना का उसके पास कोई स्थान नहीं होता। तुम ज्ञानी को न तो क्षुब्ध कर सकते हो और न आश्चर्यचकित। ऐसी कोई घटना नहीं है जिस

पर ज्ञानी को आश्चर्य हो। क्योंकि ज्ञानी मानता है, यह जगत इतना महान रहस्यपूर्ण है कि आश्चर्य हो तो इसमें आश्चर्य क्या? इस बात को खयाल में रखना--आश्चर्य हो तो इसमें आश्चर्य क्या? यह सारा जगत आश्चर्यों से भरा है। एक-एक पत्ती पर आश्चर्य ही आश्चर्य लिखा है। एक-एक फूल रहस्य की कथा है। यहां सभी चीजें अनजानी हैं। फिर इसमें आश्चर्य क्या?

किसी ने हाथ से भभूत निकाल दी, तुम बड़े आश्चर्यचकित हो गये। इतना विराट संसार शून्य से निकल रहा है और तुम आश्चर्यचकित नहीं हो! और किसी मदारी ने हाथ से भभूत निकाल दी और तुम आश्चर्यचकित हो गये! और तुम एकदम बाबा के पैर में गिर पड़े कि चमत्कार!

चमत्कार प्रतिपल हो रहे हैं। एक छोटा-सा बीज तुम डालते हो जमीन में; एक विराट वृक्ष बन जाता है। बीज को फोड़ते, कुछ भी न मिलता; न वृक्ष मिलता, न फूल मिलते, न फल मिलते; कुछ भी न था, खाली था, शून्य था। उस शून्य से इतना बड़ा विराट वृक्ष पैदा हो गया। इस पर करोड़ों बीज लग जाते हैं। एक बीज से करोड़ों बीज लग जाते! वनस्पतिशास्त्री कहते हैं कि एक बीज सारी दुनिया को जंगलों से भर सकता है। सिर्फ एक बीज! और चमत्कार क्या चाहते हो?

तुम्हारे घर बच्चा पैदा हो जाता है--तुमसे पैदा हो जाता है! और तुम्हें चमत्कार नहीं होता! तुम जैसा मुर्दा आदमी! तुम्हें अपने ही पैरों में गिरना चाहिए कि धन्य बाबा! मुझ जैसा मुर्दा आदमी और एक जीवित बच्चा पैदा हो गया। नहीं, तुम चमत्कार क्षुद्र बातों में देखते हो, क्योंकि तुम्हें विराट चमत्कार दिखाई नहीं पड़ रहे। इस जीवन में देखते हो, उदास से उदास, मुर्दा से मुर्दा आदमी में भी परमात्मा मौजूद है--और तुम्हें चमत्कार नहीं दिखाई पड़ता! हर आंसू के पीछे मुस्कुराहट छिपी है और तुम्हें चमत्कार नहीं दिखाई पड़ता! हर जीवन के पीछे मृत्यु खड़ी है और तुम्हें चमत्कार दिखाई नहीं पड़ता!

यहां जो हो रहा है, वह सभी चमत्कारपूर्ण है। यहां ऐसा कुछ हो ही नहीं रहा है जिसमें चमत्कार न हो। इसलिए ज्ञानी को कोई चीज आश्चर्य नहीं करती; क्योंकि सभी आश्चर्य है तो अब आश्चर्य क्या करना! आश्चर्य ही आश्चर्य घट रहे हैं। प्रतिपल अनंत आश्चर्यों की वर्षा हो रही है। इस बोध के कारण ज्ञानी को कोई चीज आश्चर्य नहीं करती।

और, किसी चीज से क्षोभ नहीं होता है। क्योंकि ज्ञानी जानता है कि मेरे किये कुछ नहीं होता है। मेरे मांगे कुछ नहीं होता। मैं तो सिर्फ देखने वाला हूं; जो होता है उसे देखता रहूंगा। उसका रस तो एक बात में है, साक्षी में, कि जो होता है देखता रहूंगा। जो भी हो, इससे क्या फर्क पड़ता है, क्या होता है! कभी दुख होता है, कभी सुख होता है; कभी धन मिलता है, कभी निर्धनता मिलती है; कभी सम्मान, कभी अपमान--वह देखता रहता है। उसने तो देखने में ही सारा रस पहचान लिया। अब क्षुब्ध नहीं होता है।

हम तो आगे-पीछे का बड़ा पागल हिसाब ले कर चलते हैं। हम तो किसी घड़ी को स्वतंत्र नहीं छोड़ते। हम तो परमात्मा को जरा भी मौका नहीं देते कि तुझे जैसा होना हो वैसा हो जा। हम तो कहते हैं: ऐसा करो, ऐसा हो। फिर नहीं होता तो दुखित होते हैं। हो जाता है तो बड़े आनंदित होते हैं। और ध्यान रखना, जो होना है वही होना है। जो होना था वही होता है। और जो हुआ वही होना था। तुम्हारे चाहने इत्यादि से कुछ अंतर नहीं पड़ता, जरा भी अंतर नहीं पड़ता! मगर तुम बीच में नाहक सुखी-दुखी हो लेते हो।

टेलिफोन की घंटी बजी। रिसीवर उठाया तो दूसरी ओर से आवाज आयी: "बहन कैसी तबीयत है?" "बेहद परेशान हूं"--जवाब मिला। "मेरे सिर में दर्द हो रहा है। टांगों और कमर में तीव्र पीड़ा है। घर में सभी चीजें बिखरी पड़ी हैं। बच्चों ने मुझे पागल बना दिया है।" "सुनो"--दूसरी ओर से आवाज आयी--"तुम लेट जाओ, मैं तुम्हारे पास आ रही हूं। दोपहर का खाना तैयार कर दूंगी। घर साफ कर दूंगी और बच्चों को नहला भी दूंगी। तुम थोड़ी देर आराम करना। पर महेश आज कहां है?"

"महेश? कौन महेश?"--जवाब मिला।

"तुम्हारा पति, महेश।"

"मेरे पति का नाम महेश नहीं।"

पहली महिला ने लंबी सांस ली और बोली: "फिर नंबर गलत मिल गया। क्षमा करें।" काफी देर खामोशी रही। फिर दूसरी महिला ने उदास स्वर में कहा: "तो तुम अब न आओगी?"

आदमी जो नहीं हो सकता, उसकी भी आकांक्षा करता है। अब आने का कोई कारण ही नहीं रहा। यह फोन ही गलत मिल गया। मगर आशा इसमें भी बांध ली कि अब आयेगी, भोजन भी बना देगी, कपड़े-लत्ते भी सुधार देगी, बच्चों को नहला भी देगी।..."तो तुम अब नहीं आओगी!"

क्षोभ है। जो नहीं होना है, उसके लिए भी हम क्षुब्ध होते हैं। और जो होना ही है उसके लिए हम नाहक आनंदित होते हैं। जो होना ही है होता है; जो नहीं होना है नहीं होता है।

"मुक्त मनुष्य न विषय से द्वेष करने वाला है और न विषयलोलुप है। वह सदा आसक्ति-रहित मन वाला हो कर प्राप्त और अप्राप्त वस्तु का उपभोग करता है।"

यह बड़ी अदभुत बात है। समझो।

न मुक्तो विषयद्वेष्टा न वा विषयलोलुपः।
असंसक्तमना नित्यं प्राप्ताप्राप्तमुपाश्नुते।।

न तो द्वेष करता है किसी चीज से और न किसी चीज से उसका कोई लोलुपता का संबंध है। राग-द्वेष नहीं है। मांग नहीं है। किसी चीज से बचने की आकांक्षा नहीं है। और कोई चीज मिल जाये, ऐसी आकांक्षा नहीं है। और एक बड़ी महत्वपूर्ण बात है कि प्राप्त और अप्राप्त वस्तु का उपभोग करता है। इसे कैसे समझोगे? प्राप्त का उपभोग तो समझ में आता है। अप्राप्त का उपभोग! इसे समझने के लिए तुम्हारी तरफ से चलना पड़े।

तुम ऐसे हो कुछ कि तुम प्राप्त से भी दुखी होते हो और अप्राप्त से भी दुखी होते हो। तुम्हें प्राप्त भी पीड़ा देता है और अप्राप्त भी पीड़ा देता है। तब तुम समझ लोगे कि ज्ञानी की स्थिति तुमसे बिलकुल विपरीत है। तुमने खयाल किया? तुम्हें जो नहीं मिला है, जो नहीं हुआ है, उसकी भी कितनी चिंता मन में चलती है! कितनी परेशानी मन में होती है!

मैंने सुना है, एक आदमी था, उसका जहाज डूब गया। वह बड़ा आर्किटेक्ट था। वह एक जंगली टापू पर लग गया। वहां कोई भी न था। यहूदी था वह आर्किटेक्ट। वर्षों बीत गये। कुछ काम तो था नहीं वहां। लकड़ियां खूब उपलब्ध थीं, पत्थर के खूब ढेर लगे थे--तो उसने कई मकान बना डाले। बैठे-बैठे करता क्या? वही कला जानता था। सड़क बना ली।

कोई बीस वर्ष बाद कोई जहाज किनारे लगा। उस आदमी को देख कर उन्होंने कहा कि तुम आ जाओ, हम तुम्हें ले चलें वापिस। उसने कहा, इसके पहले कि आप मुझे ले चलें, मैं सभी को निमंत्रित करता हूं कि मैंने जो बीस वर्षों में बनाया उसे देख तो लें! उसे देखने फिर कभी कोई नहीं आयेगा।

वे सब देखने गये। वे बड़े चकित हुए। उसने एक मंदिर बनाया--सिनागॉग। उसने कहा कि यह मंदिर है जिसमें मैं रोज प्रार्थना करता हूं। और सामने एक मंदिर और था। तो उन यात्रियों ने पूछा कि यह तो ठीक है; तुम अकेले ही हो इस द्वीप पर; तुमने एक मंदिर बनाया; पूजा करते हो। यह दूसरा मंदिर क्या है? उसने कहा: "यह वह मंदिर है जिसमें मैं नहीं जाता।"

अब अकेला मंदिर जिसमें हम जाते हैं, उसमें तो कुछ मजा ही नहीं। मस्जिद भी तो चाहिए न, जिसमें तुम नहीं जाते! गिरजा भी तो चाहिए, जिसमें तुम नहीं जाते! उसने वह मंदिर भी बना लिया है, जिसमें नहीं जाता है! काम पूरा कर लिया है। जाने के लिए भी मंदिर बना लिया है; न जाने के लिए भी मंदिर बना लिया है।

न जाने के लिए मंदिर! लगेगा व्यर्थ तुमने श्रम किया; लेकिन तुम अपने मन में तलाश करना। तुम वे भी योजनाएं करते हो जो तुम्हें करना है; तुम उनकी भी योजनाएं करते हो जो तुम्हें नहीं करना है। तुम नहीं करने की भी योजना करते हो। तुम उन चीजों से भी जुड़े हो जो तुम्हारे पास हैं। तुम उनसे भी जुड़े हो जो तुम्हारे पास

नहीं हैं। दूसरे के पास हैं जो चीजें, उनसे भी तुम जुड़े हो। पड़ोसी के गैरेज में जो कार रखी है उससे भी तुम जुड़े हो। उससे तुम्हारा कुछ लेना-देना नहीं है; उससे भी तुम जुड़े हो। उससे भी तुमने नाता बना लिया है।

और अप्राप्त के कारण भी तुम बड़े सुख-दुख पाते हो।

मेरे एक मित्र थे; डाक्टर हैं। उनको एक ही पागलपन था: पहेलियां भरना। डाक्टरी-वाक्टरी चले न। चलने की सुविधा ही नहीं उनको, क्योंकि पहेलियां इतनी उनको भरनी पड़ें कि मरीज आया, मरीज से कहें कि बैठो अभी, अभी बीच में बोलना मत। अभी पहेली बिलकुल आ ही रही थी कि तू कहां से बीच में आ गया! बिलकुल शब्द जबान पर रखा था, तूने गड़बड़ कर दिया।

धीरे-धीरे मरीज भी उनके पास आने बंद हो गये। मगर उनको चिंता भी न थी। उनको चिंता एक ही थी कि इस महीने पचास हजार आ रहा है; इस महीने लाख आ रहा है। मगर वह कभी आये न। जब भी मैं जाऊं तो वे हमेशा कहें: अगले महीने...पुरस्कार बिलकुल निश्चित है इस बार!

मैंने उनसे कहा कि देखो, बरसों हो गए सुनते, पुरस्कार तुम्हें मिलता नहीं। तुम एक काम करो तो शायद मिल जाये। तुम मेरे भाग्य को अपने साथ जोड़ लो।

उन्होंने कहा, "ऐसी क्या तरकीब?" वे बड़े खुश हुए; बोले: "बताओ। पहले क्यों नहीं कहा? जरूर मेरे भाग्य में खराबी तो है, तभी तो नहीं मिलता। पर तुम्हारे भाग्य को कैसे जोड़ लूं?"

मैंने कहा, ऐसा काम करो। तुम इसमें से कितना पैसा दान कर दोगे, वह तुम मुझसे कह दो। फिर पक्का मिलना है।

खुशी में उन्होंने कहा, आधा दान कर दूंगा। एक लाख की संभावना है। पचास हजार दान कर दूंगा।

मैंने कहा, पक्का हुआ! यह पचास हजार तुम मुझसे मत पूछना कि मैंने क्या किये। यह मैं इनको बांट दूंगा। कहीं भी कुछ भी उपयोग हो जायेगा। इसमें मेरा हिस्सा हो गया पचास हजार का।

मैं तो घर चला गया। यह तो मजाक की बात थी। वे ग्यारह बजे रात करीब घर आ गये। दरवाजे पर खटखट की। गर्मी के दिन थे। मैं ऊपर छत पर सोया था। मैंने नीचे झांक कर पूछा, क्या मामला है? उन्होंने कहा कि देखो, पचास बहुत ज्यादा हो जाएंगे! पच्चीस से न चलेगा?

अभी कुछ मिले नहीं! मैंने कहा: तुम ठीक से सोच लो; नहीं तो रात तुम फिर मुझे जगाओगे। पच्चीस में मैं राजी हूं, मगर तुम ठीक से सोच लो। उन्होंने कहा: अगर ऐसा ही है तो ऐसा है कि पहली दफे मुझे मिल रहा है। सच तो यह है कि पच्चीस भी मुझे बहुत कठिन पड़ेगा। तो मैंने कहा कि तुम पक्का करके सुबह मुझे बता देना। जितना तुम कहोगे, मैं राजी हो जाऊंगा। मगर अभी तुम कृपा करो और जाओ।

सुबह जब मैं निकला उनके घर के पास से तो उनकी पत्नी ने कहा कि वे रात भर सो नहीं सके। वे इसी उधेड़बुन में पड़े हैं। आपने भी कहां की...एक पहेली उनकी जान लिये ले रही थी; आपने और यह अपना भाग्य जुड़वा दिया! अब वे इसमें पड़े हैं! पहेली की तो फिक्र ही नहीं है। अब तो फिक्र यह है कि वह पैसा कितना देना! उठ-उठ कर बैठ गये रात में, पूछने लगे मुझसे: तेरा क्या खयाल है?

मैंने उनसे कहा कि देखो, मैं तुम्हें मुक्त कर देता हूं। तुम लाख ही रखो। मगर मेरा भाग्य अलग हो जाता है, फिर तुम जानो। उन्होंने कहा: इस बार भर। अगले महीने जोड़ लूंगा आपसे भाग्य। इस महीने तो ऐसा लग रहा है कि बिलकुल मिलने वाला है।

आदमी को जो नहीं मिला है, उसके साथ भी संबंध बनाये हुए है; उसके साथ भी सुख-दुख जोड़ा हुआ है। जो मिला है उसके साथ तो जोड़ा हुआ ही है। और मजा यह है कि अज्ञानी दुख ही पाता है। जो है उससे दुख पाता है; जो नहीं है उससे दुख पाता है। अज्ञानी के देखने का ढंग ही ऐसा है कि उससे दुख ही निर्मित होता है। वह सुखी तो कभी होता ही नहीं; सुख की कला ही उसे नहीं आती।

यहां अष्टावक्र महा आनंद की कला का सूत्र दे रहे हैं। वे कह रहे हैं: प्राप्त और अप्राप्त वस्तु का उपभोग करता है। जो मिला है उसमें भी आनंदित है; जो नहीं मिला है उसमें भी आनंदित है। दोनों में आनंदित है।

मैंने बार-बार तुम्हें कहा है। एक सूफी फकीर रोज कहता था। हे प्रभु, धन्यवाद! मेरी जो जरूरत होती है तू सदा पूरी कर देता है; तेरा बड़ा अनुगृहीत हूं! शिष्यों को जंचती नहीं थी यह बात, क्योंकि कई बार अनुगृहीत होने का कोई कारण ही न था। उनको लगता था, पुरानी आदत हो गयी है बूढ़े की, कहे चला जाता है।

एक दिन तो ऐसा हुआ कि शिष्यों से बर्दाश्त न हुआ। तीन दिन से भूखे थे: हज की यात्रा पर जा रहे थे। राह में कोई भोजन देने वाला न मिला। जिन गांवों में गये, वे दूसरे संप्रदाय के गांव थे। उन्होंने इंकार कर दिया, ठहरने भी न दिया। भूखे-प्यासे तीसरे दिन एक वृक्ष के नीचे बैठे हैं। और सुबह की जब उसने नमाज पढ़ी, फकीर ने, तो उसने कहा: हे प्रभु--उसी प्रफुल्लता से कहा--धन्यभाग, हमारी जो भी जरूरत होती है, तू सदा पूरी कर देता है।

फिर शिष्यों से न रहा गया। उन्होंने कहा: रुको, हर चीज की सीमा होती है। तीन दिन से भूखे मर रहे हैं; पानी तक मुश्किल से मिलता है। छप्पर मिला नहीं सोने को; धूप में मर रहे हैं; गर्मी भारी है। रात जंगल में सोना पड़ता है, जंगली जानवरों का डर है। अब किस बात का धन्यवाद दे रहे हो? तीन दिन से भिखमंगे की तरह भटक रहे हैं और तुम्हें धन्यवाद देने की सूझी है! और तुम कह रहे हो: जो मेरी जरूरत होती है, सदा दे देता है!

वह फकीर हंसने लगा। उसने कहा: पागलो, तीन दिन से मेरी यही जरूरत थी कि भूखा रहूं, पानी न मिले, छप्पर न मिले। जो मेरी जरूरत है, वह सदा पूरी कर देता है। जो वह पूरी करता है, वही मेरी जरूरत होनी चाहिए। उसमें, दोनों में, भेद ही नहीं है। अगर तीन दिन उसने भूखा रखा तो मेरी जरूरत न होती तो क्यों रखता? कैसे रखता?

इस बात को खयाल में लो। ज्ञान की जो गहरी से गहरी दशा है, उसमें ऐसा ही रस बहता है। जो है वह ठीक; जो नहीं है वह भी बिलकुल ठीक। मिल जाये, वह भी ठीक है; न मिले, वह भी ठीक है। वह दोनों को भोग लेता है; तुम दोनों से चूक जाते हो।

न मिले, उसकी तो बात छोड़ो; जो मिल गया है, उससे चूके जा रहे हो। जो थाली तुम्हारे सामने परोसी रखी है उसका भी तुम्हें स्वाद नहीं मिल रहा है। ज्ञानी उसका भी स्वाद ले लेता है जो थाली कभी परोसी ही नहीं गयी। वह हर चीज का स्वाद ले लेता है। उसे स्वाद लेने की कला आ गयी है। उसके पास कीमिया है। उसके पास एक जादू है--जादू की छड़ी है। वह हर चीज को छूता है और सोना हो जाती है; जो है वह तो हो ही जाती है; जो नहीं है वह भी सोना हो जाती है।

हम तो रोते ही रहते हैं--जो पीछे छोड़ आये उसके लिए...।

तुमने देखा, किसी आदमी ने बीस साल पहले तुम्हें गाली दी थी, वह अभी भी खटकती है। किसी ने अपमान कर दिया था, वह अब भी भारी है। कोई नाराज हो गया था, वह चेहरा भूलता नहीं, आंख से हटता नहीं। किसी से बदला लेना चाहा था, अभी भी मवाद मौजूद है, घाव हरा है। बरसों बीत गये; पीछे लौट-लौट कर तुम फिर ताजा कर लेते हो। जो नहीं है अब, अतीत तो जा चुका, उसका भी कष्ट भोग रहे हो। हो सकता है दुश्मन मर चुका हो, फिर भी तुम पीड़ा झेल रहे हो। और भविष्य, जिसका तुम्हारे हाथ में कोई उपाय नहीं है, उसके हजार गणित बिठा रहे हो, उनमें बेचैन हो। और जो मिला है अभी वर्तमान के क्षण में, वह चूका जाता है।

छोड़ आये थे जिसे हम खेत में
पक गयी होगी सुनहली धान
महकती होगी हवा घर-गांव की हर देह
और हंसियों को छुआ होगा कुंआरी उंगलियों का नेह
तोड़ आये थे जहां हम बांसुरी
सिसकती होगी अकेली तान
डबडबायी आंख में घुल गया होगा छोह

खंडहर-सी याद की पुर गयी होगी
सांवली मिट्टी तहा कर खोह
जोड़ आये थे जिन्हें हम नाम से
पुल हुए होंगे अचीन्हें बाण
तोड़ आये थे जहां हम बांसुरी
सिसकती होगी अकेली तान।

वे तोड़ी बांसुरियां हैं अतीत की, लेकिन तुम्हें लगता है, अब भी वहां स्वर सिसकता होगा। वहां कुछ भी नहीं है।

झेन फकीर रिंझाई अपने गुरु के पास पहुंचा तो गुरु ने जो उससे पहली बात पूछी, उसने पूछा: तू किस गांव से आता है? तो रिंझाई ने अपने गांव का नाम दिया कि फलां-फलां गांव से आता हूं। उसके गुरु ने पूछा: वहां चावल के दाम कितने हैं? रिंझाई हंसा और उसने कहा: जिसे मैं पीछे छोड़ आया पीछे छोड़ आया, और जो अभी आया नहीं, आया नहीं; मुझसे अभी की बात करो। गुरु हंसने लगा। उसने कहा: तूने ठीक किया। अगर तू चावल के दाम बता देता, निकाल तुझे आश्रम के बाहर कर देता। ऐसे आदमी की क्या जरूरत? जिस गांव को छोड़ आया, वहां चावल के क्या दाम हैं, उनकी याद रखे हुए है! बात गयी सो गयी, हुई सो हुई।

हमें पुल तोड़ देने चाहिए। हमें अतीत की सिसकती हुई बांसुरियों के स्वर नहीं ढोने चाहिए। और न ही हमें भविष्य के अजन्मे का आग्रह रखना चाहिए। जो है, है। जो है वह भी, और जो नहीं है वह भी। जो उपस्थित है वह भी और जो अनुपस्थित है वह भी।

ज्ञानी जो है उसे भोग लेता है; जो नहीं है, उसे भी भोग लेता है। बात के कहने का कुल इतना ही अर्थ है कि ज्ञानी भोगता और अज्ञानी सिर्फ रोता-झींखता है। यह तुम्हें बड़ी उल्टी लगेगी बात। तुम तो साधारणतः सोचते हो: अज्ञानी का नाम भोगी और ज्ञानी का नाम त्यागी। मैं तुमसे कहना चाहता हूं: ज्ञानी ही असली भोगी है। अज्ञानी कहां भोग पाता! उसको क्यों व्यर्थ भोगी कहे चले जाते हो? भोग की आशा है; भोगा कहां है?

उपनिषद कहते हैं: तेन त्यक्तेन भुंजीथाः। उन्होंने ही भोगा जिन्होंने छोड़ा; उन्होंने ही भोगा जिन्होंने त्यागा। महावीर ने भोगा; बुद्ध ने भोगा; अष्टावक्र ने भोगा; मुहम्मद ने भोगा; जरथुस्त्र ने भोगा। जिनको तुम भोगी कहते हो उनको तो कृपा करो, मत कहो भोगी। कहां भोग है? जीवन में कोई तो रस नहीं है। सब रेगिस्तान है। सब सूखा-सूखा है। कहीं तो कोई हरियाली नहीं है। कहीं तो कोई गान नहीं। वीणा छिड़ती कहां है? राग उठता कहां है? नाच कहां है? आंसू ही आंसू हैं। इनको तुम भोगी कहते हो?

रामकृष्ण के पास एक आदमी आया और उसने उनके सामने हजारों रुपये की ढेरी लगा दी और कहा: यह आप स्वीकार कर लें। रामकृष्ण ने कहा: बड़ी मुश्किल है। मैं स्वीकार न कर सकूंगा। तू ऐसा कर, इन्हें गंगा में फेंक आ। उस आदमी ने कहा: आप महात्यागी! रामकृष्ण ने कहा: यह झूठ मत बोल। त्यागी तू है, भोगी हम हैं। वह आदमी बोला: हम समझे नहीं। आप पहेली बुझा रहे हैं! रामकृष्ण ने कहा: हमने संसार छोड़ा और परमात्मा पाया। तुमने परमात्मा छोड़ा और संसार पाया। इसमें भोगी कौन है? इसमें होशियार कौन है? हमने शाश्वत भोगा; तुम क्षणभंगुर में मरे जा रहे हो। भोग कहां रहे हो? फांसी लगी है। जरा मेरी शक्ल देख, अपनी शक्ल देख। भोगी हम, त्यागी तुम! परमात्मा को छोड़ बैठे हो, इससे बड़ा त्यागी और कोई मिलेगा संसार में? सबको जिसने छोड़ दिया और क्षुद्र को पकड़ लिया!

नहीं, ज्ञानी भोग की कला जानता है। जो है और जो नहीं है...।

असंसक्तमना नित्यं प्राप्ताप्राप्तमुपाश्नुते।

दोनों को भोग लेता है।

"शून्यचित्त पुरुष समाधान और असमाधान के, हित और अहित के विकल्प को नहीं जानता है। वह तो कैवल्य जैसा स्थित है।"

समाधानासमाधानहिताहितविकल्पनाः।

शून्यचित्तो न जानाति कैवल्यमिव संस्थितः।।

जो अपने में ठहर गया वह तो मुक्त हो गया, स्थित हो गया। जो अपने में ठहर गया वह शून्य हो गया। और जो शून्य हो गया वही मोक्ष में है; कैवल्य जैसा स्थित है। ऐसा व्यक्ति न तो समाधान जानता है, न असमाधान; न तो कोई प्रश्न उठते हैं, न कोई उत्तर। न तो कुछ हित है, न कुछ अहित। दर्पण जैसा जो खड़ा है, उसे क्या हित? क्या अहित? जो होता है, झलकता रहता है। कुछ नहीं झलकता है तो भी ठीक। कुछ झलकता है तो भी ठीक।

तुम सोचते हो दर्पण प्रसन्न होता होगा जब कोई सुंदर स्त्री दर्पण के सामने खड़ी हो जाती है? या दर्पण अप्रसन्न होता होगा जब कोई कुरूप स्त्री दर्पण के सामने खड़ी हो जाती है? दर्पण को क्या लेना-देना है? दर्पण का क्या बनता-बिगड़ता है? सुंदर हो या कुरूप--दोनों झलक जाते हैं। दोनों के विदा होने पर दर्पण फिर खाली हो जाता है। सच तो यह है, जब दर्पण में प्रतिबिंब बनता है, तब भी दर्पण खाली ही होता है। प्रतिबिंब में कुछ बनता थोड़े ही है। प्रतिबिंब तो सिर्फ आभासमात्र है। साक्षीभाव दर्पण की दशा है--मुक्त, कैवल्य, शांत! जो भी होता है आसपास, देखता रहता है।

"भीतर से गलित हो गयी हैं सब आशाएं जिसकी और जो निश्चयपूर्वक जानता है कि कुछ भी नहीं है--ऐसा ममता-रहित, अहंकार-शून्य पुरुष कर्म करता हुआ भी नहीं करता है।"

निर्ममो निरहंकारो न किंचिदिति निश्चितः।
अंतर्गलित सर्वाशः कुर्वन्नपि करोति न।।

ऐसा व्यक्ति सब करता रहता है; जो परमात्मा करवाता, करता रहता है; जो परमात्मा दर्पण के सामने ले आता है, उसका प्रतिबिंब बनाता रहता है; लेकिन कुछ करते हुए भी कर्ता नहीं होता। सब कुछ करते हुए भी कर्ता नहीं होता।

कुर्वन्नपि करोति न...।

करता है, फिर भी कर्तृत्व का भाव नहीं होता। उपकरणमात्र, निमित्तमात्र!

"जिसका मन गलित हो गया है और जिसके मन के कर्म, मोह, स्वप्न और जड़ता सब समाप्त हो गये हैं, वह पुरुष कैसी अनिर्वचनीय अवस्था को प्राप्त होता है।

मनः प्रकाशसंमोहस्वप्नजाडयविवर्जितः।
दशां कामपि संप्राप्तो भवेद्गलितमानसः।।

जिसका मन गल गया--गलितमानसः! जिसकी आकांक्षा न रही, वासना न रही, कामना न रही, जो कुछ चाहता नहीं, जो है उसके साथ परिपूर्ण तृप्त है--ऐसे व्यक्ति का मन गल गया। ऐसा व्यक्ति अ-मन की दशा को उपलब्ध हो गया; कबीर ने जिसको "अ-मनी दशा" कहा है। ऐसे व्यक्ति के सारे सम्मोहन, सारे स्वप्न, सारी जड़ता समाप्त हो गयी। ऐसा व्यक्ति स्वप्न नहीं देखता है।

जिस दिन तुम्हारे भीतर सारे स्वप्न समाप्त हो जाएंगे, जागते-सोते, उस दिन तुम्हारे भीतर जो निर्मल दशा पैदा होगी; जिस दिन तुम्हारे भीतर एक भी विचार का धुआं न उठेगा और आकाश बादलों से बिलकुल खाली होगा, उस दिन तुम्हारे भीतर जो कैवल्य की दशा उत्पन्न होगी...अष्टावक्र कहते हैं: वह पुरुष कैसी अनिर्वचनीय दशा को प्राप्त होता है! उस दशा का कोई निर्वचन नहीं, कोई व्याख्या नहीं। उस दशा के लिए कोई शब्द नहीं--अतिक्रमण कर जाती है सभी शब्दों का। भाषा असमर्थ है उसे कहने में; वाणी नपुंसक है उसे प्रगट करने में। नहीं, उस गीत को कभी गाया नहीं गया है। बहुत चेष्टा की गयी है उसे कहने की, उसे नहीं कहा जा सकता। उसे तो सिर्फ हुआ जा सकता है।

तुम अगर उस अनिर्वचनीय दशा को जानना चाहो तो चलो साक्षीभाव में। स्वाद से ही जानोगे। अनुभव से ही प्रगट होगी। और तुम अनुभव के हकदार हो। तुमने अब तक अपना हक मांगा नहीं; यह तुम्हारी

जिम्मेवारी है। तुम्हारे भीतर मैं उस दर्पण को देखता हूं निखालिस, अभी मौजूद! तुम जरा भीतर झांक लो, वह दर्पण तुम्हें भी दिखाई पड़ जाये, तो तुम अचानक पाओगे: रहते संसार में संसार के बाहर हो गये; प्राप्त को तो भोगने ही लगे, अप्राप्त को भी भोगने लगे; दृश्य को तो भोगने ही लगे, अदृश्य के भी भोक्ता हो गये। संसार तो तुम्हारा है ही, परमात्मा भी तुम्हारा हो गया। सब तुम्हारा हो गया! लेकिन सब तुम्हारा तभी होता है जब तुम बिलकुल गलित हो जाते हो, तुम बचते ही नहीं।

यही दुविधा है। तुम जब तक हो, कुछ भी तुम्हारा नहीं; जब तुम नहीं, तब सब तुम्हारा। वह अनिर्वचनीय दशा है--उपनिषद जिसकी तरफ दशारा करते हैं, गीताएं जिसका गीत गातीं, कुरान जिस तरफ इंगित करता, बाइबिल जिस तरफ ले चलने के लिए मार्गदर्शिका है, और सारे ज्ञानियों ने उसी की यात्रा पर तुम्हें पुकारा है, चुनौती दी है।

ये जो अष्टावक्र के सूत्र हैं, इन्हें तुम ऐसा मत समझ लेना कि कुछ थोड़ी जानकारी बढ़ गयी, समाप्त हुई बात। नहीं, इससे तुम्हारा जीवन बढ़े, जानकारी नहीं, तुम्हारा अस्तित्व बढ़े, तो ही समझना कि तुमने सुना। तुम्हारा अस्तित्व फैले। तुम विराट हो, तुम्हें उसकी याद आये। यह सारा आकाश तुम्हारा है: तुम्हें उसकी स्मृति आये। तुम सम्राट हो। उसका बोधमात्र--और सारा भिखमंगापन सदा के लिए समाप्त हो जाता है।

बीच जल में कंपकंपाती हैं
लौह सांकल में बंधी नावें!
एक हमला रोज होता है
काठ की कमजोर पीठों पर
घेरता हर ओर से आ कर
एक अजनबी भंवर का डर
जल-महल में थरथराती हैं
पांव पायल में बंधी नावें!
नाव का तो धर्म है तिरना
है जिसे रुकना नहीं आता
रुक गयी तो कांपती है खुद
चल पड़ी तो नीर थर्राता
मीन-सी अब छटपटाती हैं
जाल से जल में बंधी नावें!

तुमने देखा, नाव बंधी हो, जंजीर से बंधी हो किनारे से, लहर आती है तो नाव थरथरा जाती है! ऐसी तुम्हारी दशा है। बंधे हो वासना की जंजीर से, क्षुद्र के किनारे से। चल पड़ो तो विराट तुम्हारा। बंधे रहो तो बस किनारे की दरिद्रता तुम्हारी; चल पड़ो तो सारा सागर तुम्हारा।

नाव का तो है धर्म तिरना
है जिसे रुकना नहीं आता
रुक गयी तो कांपती है खुद
चल पड़ी तो नीर थर्राता।

रुक गये तो तुम खुद कंपोगे। चल पड़े तो तुम्हारे कंपने की तो बात ही क्या, सारा अस्तित्व तुम्हारे चारों तरफ कंपता रहे--तुम निष्कंप बने रहोगे। तुम्हारे चलने में, तुम्हारी गति में, तुम्हारी गत्यात्मकता में, तुम्हारी जीवंतता में उपलब्धि है।

चुनौती स्वीकार करो। यह आवाहन है विराट के शिखर को छूने का। और जब तक तुम्हारे भीतर का हिमालय, तुम्हारे भीतर के हिमालय के शिखर अनजीते पड़े हैं, तब तक और सब जीत व्यर्थ है। वहीं जीतना है! आत्मविजेता बनना है।

हरि ॐ तत्सत्!

चौवनवां प्रवचन

साक्षी, ताओ और तथाता

पहला प्रश्न: अष्टावक्र के साक्षी, लाओत्सु के ताओ और आपकी तथाता में समता क्या है और भेद क्या है?

समता बहुत है; भेद बहुत थोड़ा।

लाओत्सु ने जिसे ताओ कहा है वह ठीक वही है जिसे वेदों में ऋत कहा है--ऋतंभरा; या जिसे बुद्ध ने धम्म, धर्म कहा; जो जीवन को चलाने वाला परम सिद्धांत है, जो सब सिद्धांतों का सिद्धांत है, जो इस विराट विश्व के अंतरतम में छिपा हुआ सूत्र है। जैसे माला के मनके हैं और उनमें धागा पिरोया हुआ है; एक ही धागा सारे मनकों को संभाले हुए है। हजार-हजार नियम हैं जगत में, इन सब नियमों को संभालने वाला एक परम नियम भी होना चाहिए; अन्यथा सब बिखर जायेगा, माला टूट जायेगी। मनके दिखाई पड़ते हैं; भीतर छिपा धागा दिखाई नहीं पड़ता। दिखाई पड़ना भी नहीं चाहिए; नहीं तो माला ठीक से बनायी नहीं गयी।

जो दिखाई पड़ता है, उसकी खोज विज्ञान करता है। तो ग्रेविटेशन का सिद्धांत, जमीन की कशिश, गुरुत्वाकर्षण, प्रकाश का नियम, मैगनेटिक, चुंबकीय क्षेत्रों का नियम, और हजार-हजार नियम विज्ञान खोजता है। लेकिन इन सारे नियमों के मनकों के भीतर कोई एक महानियम भी होना चाहिए। नहीं तो इन सभी नियमों को कौन संभाले रखेगा? उस महानियम को लाओत्सु कहता है ताओ; वेद कहते हैं ऋत्, ऋतंभरा; बुद्ध कहते हैं धर्म। भक्त भगवान कहता, परमात्मा कहता, ब्रह्म कहता है। यह तो नाम की बात है।

तो लाओत्सु का ताओ है परम नियम। और अष्टावक्र का साक्षी है उस परम नियम को जानने की विधि। जब तुम जागोगे, ऐसे जागोगे कि तुम्हारे भीतर जाग ही जाग की आग रह जाएगी; तुम्हारे भीतर एक विचार भी न रह जाएगा, जो उस आग को ढांक ले, छिपा ले; राख जरा भी न रह जाएगी, तुम धधकते अंगारे हो जाओगे; क्योंकि राख तो ढांक लेती है, जब तुम्हारे भीतर कोई ढांकने वाली चीज न रहेगी, तुम बिलकुल अनढंके हो जाओगे, खुले, जागे, होशपूर्वक, तो तुम जान पाओगे उस परम नियम को, ताओ को, ऋत् को।

लाओत्सु का ताओ है परम नियम जीवन का; साक्षी है उसे जानने की प्रक्रिया, साधन, विधि, मार्ग।

और जिसे मैं तथाता कहता हूं, वह है जिसने पा लिया उसे, जो ताओ के साथ एक हो गया, जो उस परम नियम के साथ निमज्जित हो गया। जिसमें और उस परम नियम में अब कोई भेद न रहा; जिसने जाना कि वह जो परम नियम है, उसका ही मैं अंग हूं, उससे भिन्न नहीं।

तो तथाता है मंजिल।

ऐसा समझो। लाओत्सु का ताओ है सिद्धांत, साक्षी है साधन, तथाता है सिद्धि। तीनों जुड़े हैं। तीनों साथ-साथ हैं। इसे कहो त्रिवेणी। इसे कहो संगम। इसे कहो ईसाइयों का ट्रिनिटी का सिद्धांत, कि तीन हैं। या कहो हिंदुओं की त्रिमूर्ति, कि प्रभु के तीन रूप हैं। यह महानतम त्रिकोण है जो अस्तित्व के भीतर छिपा है। तथाता उपलब्धि है; पहुंच गये। साक्षी मार्ग पर है। और जहां पहुंचना है, वह है ताओ।

तो तीनों में भेद तो थोड़ा-थोड़ा है; अभेद बहुत है। क्योंकि तीनों एक ही चीज से जुड़े हैं। और तीनों को समझो, यह अच्छा है; किसी एक में मत उलझ जाना। क्योंकि जो ताओ की तरफ आंख न रखेगा, वह कभी तथाता को उपलब्ध न हो सकेगा। खोज तो ताओ की करनी है; जो मिलेगा वह तथाता है। क्योंकि जब मिलते हो तुम, उस परम स्थिति में जब नदी गिरती है सागर में, तो ऐसा थोड़े ही रह जाता है कि सागर अलग और

नदी अलग। जब सागर से मिलन होता है नदी का तो नदी सागर हो जाती है। खोजती थी सागर को; खो देती है स्वयं को। जिस दिन खोज पूरी होती है उस दिन नदी खो जाती है और सागर ही बचता है।

ताओ की खोज है। सत्य की खोज कहो; सत्य की खोज है। ऋत् की खोज है। धर्म की खोज है। लेकिन जिस दिन तुम जान लोगे उस दिन तुम धर्ममय हो जाओगे। उस दिन तुम सत्यमय हो जाओगे।

कैसे तुम जानोगे?

जानने की प्रक्रिया साक्षी है। जागोगे तो जानोगे। सोये रहे तो न जान पाओगे। इसलिए तीनों जुड़े हैं, और तीनों में थोड़ा-थोड़ा भेद है। भिन्नता कहनी चाहिए, भेद नहीं।

दूसरा प्रश्न: मैं कब तक भटकता रहूंगा? दिल की लगी पूरी होगी या नहीं?

जब तक मैं है, तब तक भटकना पड़े। जब तक हो, तब तक भटकन है। तुम्हीं हो भटकन। कोई और नहीं भटका रहा है। मिटो तो मिलन हो जाये। बने रहे, अटके रहोगे। गांठ यही तो खोलनी है। और ग्रंथि क्या है? निर्ग्रंथ होना है। यही तो ग्रंथि है, यही तो गांठ है कि मैं हूं। इस गांठ को जाने दो। इस गांठ के विसर्जन पर तुम अचानक पाओगे: जिसे तुम खोजते थे वह तुम्हारे भीतर सदा से विराजमान था।

खोज के कारण ही खोये बैठे थे। खोज के लिए दौड़ते थे, तो जो भीतर था, दिखाई न पड़ता था। दौड़ के कारण आंखें अंधी थीं, धुएं से भरी थीं। दौड़ के कारण दूर तो देखते थे, पास का दिखाई न पड़ता था। दौड़ के कारण बाहर तो दिखाई पड़ता था, लेकिन भीतर न दिखाई पड़ता था। भीतर के लिए तो जरा आंख बंद करके बैठना पड़े।

अष्टावक्र ने कहा है: आंख खुली रहे तो भीतर आंख बंद रहती है। आंख बंद हो जाये तो भीतर आंख खुल जाती है। ये बाहर की पलकें परदा बन जायें, तुम्हारी आंख बाहर से थोड़ी देर के लिए बंद हो जाये, तो भीतर जिसे तुम तलाशते हो, जिसकी प्यास है, वह मौजूद है। सरोवर दूर नहीं है।

कबीर ने कहा है: मुझे बड़ी हंसी आती है, मछली सागर में प्यासी! जिन्होंने भी जाना है वे हंसे हैं। तुम पर ही नहीं, अपने पर भी हंसे हैं; अपने अतीत पर हंसे हैं। क्योंकि अतीत में यही भूल उनसे भी हुई। कबीर की मछली भी पहले प्यासी रही है। आज हंसी आती है। जान कर हंसी आती है कि मैं कैसा पागल था, सागर में था और प्यासा था! सागर में था और सागर को खोजता था!

लेकिन इसके पीछे कुछ कारण भी है। मछली सागर में ही पैदा होती है, सागर में बड़ी होती है; सागर से दूर जाने का कभी मौका नहीं मिलता, तो पता ही नहीं चलता कि सागर क्या है। फिर मछली तो कभी-कभी सागर से दूर भी चली जाती है। मछुए हैं, किनारे पर बैठे जाल फेंकते हैं; मछली को कभी खींच भी लेते हैं। कभी मछली भी छलांग मार कर रेत पर गिर जाती है, तट पर गिर जाती है, तड़पती है और अनुभव कर लेती है कि सागर कहां है, तृप्ति कहां है। वापिस सरक आती है, लौट कर गिर जाती है सागर में। लेकिन परमात्मा के बाहर तो कोई किनारा नहीं है। और परमात्मा के किनारे पर बैठे कोई मछुए नहीं हैं। परमात्मा के बाहर कुछ भी नहीं है। इसलिए तुम्हारी मछली परमात्मा के बाहर तो गिर नहीं सकती। गिर जाये तो पता चल जाये। गिर जाये तो पता चल जाये कि कैसी हंसी की स्थिति है! कैसी हास्यजनक है कि जिससे हम घिरे थे, उसको खोजते थे। लेकिन बाहर तुम जा नहीं सकते। तो भीतर रह कर ही जानना पड़ेगा।

इसलिए तो इतनी देर लग जाती है, जन्म-जन्म की देर लग जाती है। क्योंकि दूर को समझना आसान है, बुद्धू भी समझ लेता है; पास को समझना कठिन है, बहुत बुद्धिमान चाहिए। तुमने सुना न, दूर के ढोल सुहावने होते हैं! जो पास है उसका पता ही नहीं चलता; उसका बोध ही मिट जाता है। उसका खयाल ही मिट जाता है। जो मिला ही है उसकी याद भी हम क्यों रखें! और जिसे हमने कभी खोया ही नहीं है उसकी याद भी कैसे आये?

वह तो हमारा स्वभाव है। इसलिए इतनी देर लग जाती है। अगर परमात्मा कहीं दूर होता, गौरीशंकर पर बैठा होता, शिखर पर, तो हमने खोज लिया होता। हमारे हिलेरी और तेनसिंग वहां पहुंच गये होते। चांद पर होता, हम पहुंच जाते। नहीं, न चांद पर है, न गौरीशंकर पर है, न मंगल पर मिलेगा, न और तारों पर मिलेगा। दूर होता तो हम पहुंच ही जाते। दूर पर हमारी बड़ी पकड़ है। हम कितने उपाय करते हैं!

आदमी अपने भीतर जाने के इतने उपाय नहीं करता जितने चांद पर जाने के उपाय करता है। और ऐसा नहीं है कि बाद में करता है; बच्चा पैदा नहीं हुआ कि चांद की तरफ हाथ बढ़ाने लगता है। चांद पकड़ना है! बच्चे रोते हैं कि मां, चांद को पकड़ा दे। शुरू से ही हम दूर की यात्रा पर निकल जाते हैं। क्योंकि आंख हमारी जैसे ही खुली, जो दूर है वह दिखाई पड़ जाता है। और आंख बंद करने का तो हमें स्मरण ही नहीं है। जब आंख बंद करते हैं तो हम नींद में सो जाते हैं। आंख खुली तो दौड़-धूप, आपाधापी; आंख बंद तो सो गये। इन्हीं दो के बीच जीवन चल रहा है।

आंख कभी बंद करके जागे रहो तो ध्यान हो जाये। आंख तो बंद हो और जागरण न खोये, तो ध्यान हो जाये। ध्यान का और अर्थ क्या है! इतना ही अर्थ है कि थोड़ा-सा जागरण से ले लो और थोड़ा-सा नींद से ले लो--दोनों से मिल कर ध्यान बन जाता है। जागरण से जागरण ले लो और नींद से शांति ले लो, सन्नाटा ले लो, शून्यता ले लो; दोनों को मिला लो, पक गयी रोटी तुम्हारी। अब तुम तृप्त हो सकोगे।

पूछते हो, "मैं कब तक भटकता रहूंगा?"

जब तक तुम्हारी मर्जी! भटकना चाहते हो तो कोई उपाय नहीं है। भटकने में मजा ले रहे हो, तब तो फिर कोई बात ही क्या उठानी? भटकने में मजा भी है थोड़ा। मजा है इस बात का...।

तुमने खयाल किया? जैसे ही बच्चा थोड़ा बड़ा होता है, वह मां-बाप की बात को इंकार करने लगता है। वह कहता है: नहीं, नहीं करेंगे। मां-बाप कहते हैं, सिगरेट मत पीयो; वह कहता है, पी कर रहेंगे, दिखा कर रहेंगे। मां-बाप कहते हैं, सिनेमा मत जाओ; वह जरूर जाता है।

मुल्ला नसरुद्दीन का एक बगीचा है। उसमें सेव और नासपातियां और अमरूद इतने लगते हैं कि वह बेच भी नहीं पाता। क्योंकि गांव में उतने खरीददार भी नहीं हैं। सड़ जाते हैं वृक्षों पर, या खुद मोहल्ले-पड़ोस में मुफ्त बांट देता है। एक दिन मैंने देखा कि पांच-सात बच्चे उसके बगीचे में घुस गये हैं और वह उनके पीछे गाली देता हुआ और बंदूक लिये दौड़ रहा है। मैंने कहा कि नसरुद्दीन, तुम वैसे ही इतने फलों का कुछ उपयोग नहीं कर पाते, न कोई खरीददार है, न तुम्हें जरूरत है बेचने की, तुम बांटते हो; इन बच्चों ने अगर दो-चार-दस फल तोड़ भी लिये तो ऐसी क्या परेशानी? बंदूक ले कर कहां दौड़े जा रहे हो? उसने कहा, अगर बंदूक ले कर न दौड़ूंगा तो ये दुबारा फिर आएंगे ही नहीं। यह तो निमंत्रण है। बंदूक ले कर दौड़ता हूं; तुम कल देखना। आज पांच-सात हैं, कल चौदह-पंद्रह होंगे। कल तो मैं हवाई फायर भी करूंगा। फिर ये पूरे स्कूल को ले आएंगे।

छोटा बच्चा भी, जहां नहीं जाना चाहिए, वहां जाने में आतुर हो जाता है; जो नहीं करना चाहिए उसे करने में उत्सुक हो जाता है।

भटकने में कुछ मजा है। समझो। भटकने में मजा है अहंकार का। भटकने पर ही पता चलता है कि मैं हूं; नहीं तो पता कैसे चले? अगर तुम हमेशा "हां" कहो तो तुम्हें अपने अहंकार का पता कैसे चले? "नहीं" कहने से अहंकार के चारों तरफ रेखा बनती है। तो जैसे-जैसे बच्चा बड़ा होने लगता है, वह नहीं कहने लगता है। वह कहता है नहीं, ये तो माता-पिता मुझे लील ही जाएंगे। ये कहें बैठो तो बैठ जाऊं, ये कहें खड़े हो तो खड़ा हो जाऊं--तो फिर मैं कहां हूं? तो फिर मैं कौन हूं? तो फिर मेरी परिभाषा क्या है? उसकी परिभाषा बनाता है वह इंकार करके। सिगरेट न पीओ, पिता कहता है; वह कहता है ठीक, इसीलिए पीता है। पी कर दिखा देता है दुनिया को कि मैं हूं, मेरा होना है!

मनोवैज्ञानिक कहते हैं कि हर बच्चे को अपने अहंकार की तलाश है। इसलिए ईसाइयों की पहली कहानी है कि ईश्वर ने कहा कि ज्ञान के वृक्ष के फल मत खाना--अदम को। और अदम ने खाये। वह हर बच्चे की कहानी है। यह कहानी बड़ी सच है। यह हर अदम की कहानी है। यह आदमी मात्र की कहानी है। तुम अपनी तरफ गौर से देखो, तुमने वे ही फल चखे जो इंकार किये गये थे। जहां-जहां लगी थी तख्ती, "भीतर आना मना है", वहां-वहां तुम गये। तुमने हर तरह की जोखिम उठायी और तुम गये। जाना ही पड़ा। क्योंकि बिना जोखिम उठाये तुम्हारा अहंकार कैसे निर्मित होता? अगर तुम "हां" ही "हां" कहते चले जाओ, अगर तुम आज्ञाकारी ही बने रहो, तो अहंकार कैसे निर्मित होगा?

अहंकार का मजा है। भटकने में मजा है। तुम ईश्वर से मिलना नहीं चाहते, क्योंकि मिलने का मतलब तो लीन हो जाना होगा। तुम डरते हो। तुम कहते जरूर हो, "कब तक भटकता रहूंगा?" पूछते भी हो कि कोई रास्ता है? वह शायद इसीलिए पूछ रहे हो कि रास्ता अगर पक्का पता चल जाये तो उस रास्ते पर कभी न जाएं। कहीं ऐसा न हो कि भूले-भटके, हम तो सोच रहे हों भटक रहे हैं, और चले जा रहे हैं उसी की तरफ!

रवींद्रनाथ की एक कहानी है, गीत है, कि मैं खोजता था परमात्मा को जन्मों-जन्मों से, बहुत जगह-जगह खोजा, हर जगह खोजा और वह न मिला। हां, कभी-कभी उसकी झलक मिलती थी। बहुत दूर किसी तारे के किनारे से गुजरता हुआ दिखाई पड़ता उसका रथ, कभी सूरज की किरणों के रथ पर सवार, कभी चांद के पास, कभी तारों के पास; मगर सदा दूर, पास कभी नहीं। और जब तक मैं उस तारे के पास पहुंचता खोजता-खोजता, मुझे जन्मों लग जाते, जब तक मैं वहां पहुंचता तब तक वह वहां से जा चुका होता। फिर कहीं दूर। ऐसा खेल चलता रहा; ऐसी छिया-छी चलती रही।

फिर एक दिन ऐसा हुआ कि अंततः मैं जीता। मेरी विजय-यात्रा पूरी हुई। मैं उसके द्वार पर पहुंच गया जहां तख्ती लगी थी कि परमात्मा का भवन आ गया। सीढ़ियां चढ़ गया खुशी में। कुंडी हाथ में ले कर खटकाने ही जा रहा था कि एक विचार मन में उठा कि अगर वह मिल गया तो फिर क्या करोगे? अब तक तो खोज ही सहारा थी; खोज के सहारे ही जीते थे। वही एक मजा था, वही एक धुन थी। अगर मिल ही गया, फिर क्या करोगे? थोड़ा सोच लो। क्योंकि फिर करने को कुछ भी न बचेगा। अब तक करना यही तो था कि परमात्मा को खोजना था। फिर परमात्मा मिल गया तो अब क्या करोगे?

तो रवींद्रनाथ ने उस गीत में कहा है कि मैंने आहिस्ता से सांकल छोड़ दी कि कहीं आवाज न हो जाये। डर के कारण अपने जूते पैर से निकाल लिये कि कहीं सीढ़ियों पर पगध्वनि न हो जाये। और फिर मैं जो भागा हूं, तो मैंने पीछे लौट कर नहीं देखा। और अब मुझे पता है कि उसका घर कहां है। बस वहां छोड़ कर सब जगह खोजता हूं।

तुम्हारे कर्ता होने का मजा समाप्त हो जायेगा जिस क्षण प्रभु से मिलन हुआ। क्योंकि प्रभु से मिलन का अर्थ है: महामृत्यु। इस शब्द को तुम खयाल में ले लो तो तुम्हें समझ में आ जाएगा कि क्यों भटके हुए हो। अगर भटकने में अहंकार है तो मिलने में मौत है। क्योंकि यह अहंकार जाएगा; समर्पण करना होगा। इसे रख देना होगा उसके चरणों में। धोखे न चलेंगे वहां कि कुछ फूल-पत्ते तोड़ लाये और चढ़ा दिये पैरों पर। नहीं, अपने को ही तोड़ कर चढ़ाना होगा। अपना ही फूल चढ़ाना होगा। यह अहंकार तुम्हारा फूल है। यह अस्मिता तुम्हारा फूल है। ऐसे बाजार से खरीदे गये फूल-पत्ते न चलेंगे। और दूसरों की बगिया से तोड़ लाये, ये न चलेंगे। तुम्हीं को चढ़ाना होगा अपने को। कर्ता-भाव को चढ़ाना होगा; वही बनेगा नैवेद्य, अर्चन। अगर उतनी हिम्मत नहीं है तो फिर हम भटकते रहते हैं, और हम पूछते भी रहते हैं। इस पूछने में एक मजा भी है। मजा यह है कि खोज तो रहे हैं, अब और क्या करें?

"मैं कब तक भटकता रहूंगा", पूछते हो तुम।

एक क्षण भी ज्यादा भटकने की जरूरत नहीं है। जिस क्षण तुम चाहोगे कि अब तैयार हूं समर्पण को, उसी क्षण मिलन हो जाएगा। तत्क्षण मिलन हो जाएगा।

"दिल की लगी पूरी होगी या नहीं?"

दिल की लगी...! अब पूछने जैसा है: यह दिल क्या है? किस दिल की बात कर रहे हो? कहीं यह अहंकार की धड़कन को ही तो तुम दिल नहीं कह रहे हो? अगर अहंकार की धड़कन को दिल कह रहे हो, यह "मैं" होने को दिल कह रहे हो, तो यह लगी पूरी कभी न होगी। क्योंकि यह दिल तो मिटेगा। यह धड़कन तो बंद होगी।

हां, एक और गहरी बात है। अहंकार के पीछे भी छिपा तुम्हारा अस्तित्व है। उसकी लगी पूरी होगी। मगर ये दोनों साथ-साथ नहीं हो सकतीं।

आदमी की आकांक्षा यही है कि अहंकार भी तृप्त हो जाए और परमात्मा से मिलन भी हो जाए। आदमी असंभव की मांग कर रहा है। मिटना भी नहीं चाहता और मिटने से जो मजा मिलता है वह भी लेना चाहता है। खोना भी नहीं चाहता और खोने में जो अपूर्व अमृत की वर्षा होती है, उस सौभाग्य को भी पाना चाहता है। खाली भी नहीं होना चाहता, भरा रहना चाहता, और खालीपन में जो भराव आता है, उसकी भी मांग करता है। ऐसी दुविधा में आदमी है। इस दुविधा में पिसता है। दो पाटन के बीच में...! ये पाट तुम्हीं चला रहे हो दोनों। फिर पिस रहे हो। साफ-साफ समझ लो।

मेरे देखे, अगर तुम्हें अहंकार में रस अभी बाकी हो तो छोड़ो परमात्मा की बकवास; अहंकार को पूरा कर लो। नास्तिक हो जाने में बुराई नहीं है। आस्तिक हो जाने में बुराई नहीं है। यह डांवांडोल चित्त-दशा बड़ी विकृत है। और अधिक लोग मुझे ऐसे ही लगते हैं: एक पांव नास्तिक की नाव पर सवार; एक पांव आस्तिक की नाव पर सवार। दोनों में से कुछ भी नहीं खोना चाहते हैं। दोनों जहान बच जायें, ऐसी चेष्टा में पिस जाते हैं। कुछ भी नहीं मिलता; कुछ हाथ नहीं लगता। तुम्हारे भीतर तुम अभी तैयार नहीं हो। तैयार नहीं हो तो साफ-साफ कह दो।

एक छोटे स्कूल में पादरी ने पूछा बच्चों से--रविवार की धार्मिक शिक्षा दे रहा था--कि जो-जो स्वर्ग जाना चाहते हैं वे हाथ ऊपर उठा दें। सब बच्चों ने उठा दिये, एक बच्चे को छोड़ कर। उसने उससे पूछा: तुमने सुना नहीं? जो स्वर्ग जाना चाहते हैं हाथ ऊपर उठा दें। तुम क्या स्वर्ग जाना नहीं चाहते? उसने कहा, जाना तो मैं चाहता हूं, लेकिन इस गिरोह के साथ नहीं। अगर यही स्वर्ग में भी जाने वाले हैं तो क्षमा। यही यहां सता रहे हैं, यही वहां सतायेंगे। इससे तो नर्क जाने को भी तैयार हूं।

तुम भी स्वर्ग जाना चाहते हो, लेकिन तुम्हारी शर्तें हैं। और तुम्हारी कुछ ऐसी शर्त है जो पूरी नहीं की जा सकती। तुम अहंकार को भी "स्मगल" करना चाहते हो; उसको भी ले चलो अंदर, कहीं पोटली वगैरह में छिपा कर। क्योंकि इसके बिना मजा क्या होगा? प्राप्ति का सारा मजा अहंकार को मिलता है। और अहंकार ही--तुम कहते हो--छोड़ आओ बाहर, तो मजा कौन लेगा?

मेरे पास लोग आकर कहते हैं: आप कहते हैं, मिट जाओ; अगर मिटने पर शांति मिलेगी तो फिर सार ही क्या? उनकी बात भी मैं समझता हूं। वे कह रहे हैं यह कि हम शांत होने आये हैं; आप मिटना सिखाते हो। हम आये थे बीमारी मिटाने; आप कहते हैं मरीज को ही मिटा दो। मरीज ही मिट गया तो फिर सार क्या है?

लेकिन आध्यात्मिक जगत में बीमार ही बीमारी है। वहां बीमारी अलग नहीं है। तुम ही बीमारी हो। तो आदमी इस बात के लिए भी राजी है कि अगर दुख में भी रहना पड़े तो रहेंगे, मगर रहेंगे! इस जिद्द में तुम अटके हो। दिल की लगी तो पूरी हो सकती है, लेकिन किस दिल की बात कर रहे हो?

हाथ से छूट सड़क पर गिरा
धूप का भेंट-सुदा चश्मा
हमारे संबंधों की तरह
किरच सब बिन जीवन हो गये
स्वर्ण दिन आये क्या, लो गये
समय का खलनायक जीता

त्रासदी की फिल्में हो गयीं
मुट्ठियों को खालीपन थाम
पकेपन में स्याही बो गयीं
ना लौटे सपनों के अनुमान
खोजने हरियाली जो गये
कांच के परदे के इस पार
सांस की घुटन सजीवन हुई
दृष्टि में आलेखों को बांध
अस्मिता कांपी छुई-मुई
भरे मौसम तक पहुंचे हाथ
अचानक पिघल हवा हो गये।

ये तुम्हारे जो हाथ हैं, ये परमात्मा तक पहुंचते-पहुंचते पिघल कर हवा हो जाएंगे। अगर इन्हीं हाथों से तुम परमात्मा को पाना चाहते हो तो परमात्मा नहीं मिलेगा। इन हाथों से तो वस्तुएं ही मिल सकती हैं; क्योंकि ये हाथ पदार्थ के बने हैं, मिट्टी, हवा, पानी के बने हैं। मिट्टी, हवा, पानी पर इनकी पकड़ है। अगर परमात्मा को पाना है तो चैतन्य के हाथ फैलाने होंगे। कुछ और हाथ। अगर इन्हीं आंखों से परमात्मा देखना चाहते हो तो ये आंखें तो अंधी हो जाएंगी। वह रोशनी बड़ी है; पथरा जाएंगी ये आंखें। ये तो चमड़े की बनी आंखें हैं, चमड़े को ही देख सकती हैं; उससे पार नहीं। अगर परमात्मा को देखना है तो कोई और आंख खोलनी होगी--कोई और आंख, जो चमड़े से नहीं बनी हैं। अगर इन्हीं पैरों से पहुंचना है परमात्मा तक तो छोड़ो, यह मंजिल पूरी होने वाली नहीं है। ये पैर तो जमीन पर चलने को बने हैं; जमीन से बने हैं। ये जमीन के ही हिस्से हैं; जमीन से पार नहीं जाते। कोई और पैर खोजने होंगे--ध्यान के। तन के नहीं, मन के नहीं, ध्यान के।

अभी तो तुमने जो भी जाना है इन हाथों से, वह ऐसा है जो आता है और चला जाता है।

स्वर्ण दिन आये क्या, लो गये!

सुख आ भी नहीं पाता और चला जाता है। मिट्टी की इस देह से तो जो भी पकड़ में आता है, वह क्षणभंगुर है।

स्वर्ण दिन आये क्या, लो गये!

इधर आये नहीं कि उधर गये नहीं। मेहमान टिकता कहां है? एक द्वार से आता, दूसरे द्वार से निकल जाता है।

लेकिन परमात्मा ऐसा मेहमान है जो आया तो आया; फिर जाता नहीं। तो उसके लिए कुछ नये द्वार बनाने पड़ें। ये तुम्हारे द्वार जिनसे तुमने संसार के मेहमानों का स्वागत किया है, आते-जाते स्वागत और विदा दी है, ये द्वार काम न आएंगे। चैतन्य का कोई नया द्वार खोजना पड़े।

न लौटे सपनों के अनुमान
खोजने हरियाली जो गये

इस जगत में तुम जिस हृदय से धड़क रहे हो, उसमें कभी हरियाली मिली? उससे कभी हरियाली मिली?

न लौटे सपनों के अनुमान
खोजने हरियाली जो गये

कभी कुछ लौटा? मरुस्थल ही हाथ आता है।

परमात्मा परम हरियाली है, शाश्वत हरियाली है। उस शाश्वत के स्वाद के लिए तुम्हें भी शाश्वत को जन्माना पड़ेगा। तुम थोड़े परमात्मा जैसे होने लगो, तो ही परमात्मा को पा सकोगे। और परमात्मा जैसा होने का अर्थ है, तुम्हारा अहंकार-भाव विसर्जित हो, तुम्हारी सीमा टूटे, तुम्हारी परिधि बिखरे, तुम्हारा केंद्र मिटे।

तुम ऐसे हो जाओ जैसे नहीं हो। तुम्हारे भीतर से "नहीं" समाप्त हो जाये। तुम्हारे भीतर "हां" का स्वर एकमात्र रह जाये।

आस्तिक का मैं यही अर्थ करता हूं। आस्तिक का मेरा यह अर्थ नहीं है कि जो ईश्वर को मानता है। क्योंकि करोड़ों लोग ईश्वर को मानते हैं, और मैंने उनमें कोई आस्तिकता नहीं देखी। मंदिर जाते, मस्जिद जाते, गुरुद्वारा जाते--और आस्तिकता से उनका कोई संबंध नहीं है। मैंने कुछ ऐसे नास्तिक भी देखे हैं जो आस्तिक हैं; जिन्होंने ईश्वर की बात ही कभी नहीं उठायी। फिर आस्तिक की परिभाषा ईश्वर से नहीं करनी चाहिए। मैं आस्तिक की परिभाषा करता हूं जिसने जीवन को "हां" कह दिया, और "ना" कहना बंद कर दिया। कहो तथाता, कहो साक्षी भाव, कहो स्वीकार, परम स्वीकार। जिसने जीवन को "हां" कहना सीख लिया। उसका "ना" जैसे-जैसे गिरता है, वैसे-वैसे अहंकार गिरता है। तुम्हारा अहंकार तुम्हारे कहे गये नकारों का ढेर है। तुमने जहां-जहां "ना" कहा है, वहीं-वहीं अहंकार की रेखा खिंची है। "नहीं" यानी नास्तिकता; "हां" यानी आस्तिकता।

तुम जीवन को "हां" कहो, बेशर्त "हां" कहो। और तुम पाओगे, दिल की लगी पूरी होती है, निश्चित होती है। होने के ही लिए लगी है। नहीं तो लगती ही न।

यह जो प्यास तुम्हारे भीतर है परमात्मा को पाने की, यह होती ही न, अगर परमात्मा न होता। तुमने जीवन में कभी देखा, ऐसी किसी चीज की प्यास देखी, जो न हो? प्यास लगती है तो पानी है; प्यास के पहले पानी है। भूख लगती है तो भोजन है; भूख के पहले भोजन है। प्रेम उठता है तो प्रेयसी है, प्रेमी है; प्रेम के पहले मौजूद है। इस जगत में जो भी तुम्हारे भीतर है प्यास, उसको तृप्त करने का कहीं न कहीं उपाय है। अगर परमात्मा की प्यास है तो प्रमाण हो गया कि परमात्मा भी कहीं है। तुम्हारी प्यास प्रमाण है। तुम प्यास पर भरोसा करो। प्यास को "हां" कहो। आस्था रखो। और प्यास में सब भांति अपने को डुबा दो--इस भांति, कि प्यास ही बचे और तुम न बचो। तुम गये नहीं कि परमात्मा आया नहीं। तुम्हारा जाना ही उसका आना है।

तीसरा प्रश्न: मैंने अपनी माला पर तीस मिनट ध्यान किया। मैंने आपके चित्र को देखा किया। कुछ देर में आपकी आंखें मेरी ओर उन्मुख हुईं और मैंने कहा: भगवान, समूह साधना मैं कैसे करूं जब कि मेरे पास रुपया ही नहीं है? इस पर आपने उत्तर में कहा: चिंता मत करो, तुम्हारा रुपया मैं दे दूंगा। तब मैंने पूछा: यह भ्रम तो नहीं है? और आपने कहा: हां, भ्रम ही है।

हां भ्रम ही है, यह उत्तर इतना सच है कि भ्रम हो नहीं सकता। इस उत्तर की सचाई को समझो। अगर यह सपना ही होता तो ऐसा उत्तर आने वाला नहीं था। यह तुम्हारे मन से तो नहीं आया।

तुम्हारे मन की कामना तो स्वभावतः यही होती कि जो तुम देख रहे हो वह सच हो। सपना मधुर था; सपना मनचाहा था, मनचीता था। और क्या तुम चाह सकते थे? सपना तुम्हारी चाह का ही फैलाव था। तुम्हारी तो पूरी मर्जी यही होती है कि जो हो रहा है वह सच हो; मैंने सच में ही आंखें उठायी हों चित्र से, तुम्हारी तरफ देखा हो, और तुमने जो मांगा था, तुम्हें देने का वचन दिया हो; इससे अन्यथा तुम और क्या चाह सकते थे!

तो जो अंतिम उत्तर है वह तुम्हारी चाह से तो नहीं आया। तुम तो चौंक गये होओगे, जब वह उत्तर आया। जैसा अभी सुननेवाले हंस उठे। इनको भी भरोसा नहीं था कि ऐसा उत्तर आयेगा। उत्तर इतना सच है कि तुम्हारा तो नहीं हो सकता। मैं नहीं कहता कि मेरा है। इतना ही कहता हूं, तुम्हारा तो नहीं हो सकता। तुम जहां हो उस जगह से तो नहीं आया; उसके पार से आया है। तुम्हारी किसी गहराई से आया है जिससे तुम अपरिचित हो।

मेरा चित्र तो प्रतीक हुआ। तुम मेरे चित्र पर आंखें लगाये थे, यह तो बहाना हुआ। मूर्तियां सभी बहाने हैं। उनके बहाने तुम अपने ही अचेतन में डुबकी लगाते हो। मूर्ति को सतत देखते-देखते, देखते-देखते तुम्हारा जो साधारण चेतन मन है, वह शांत हो जाता है और तुम्हारे अचेतन से खबरें आनी शुरू हो जाती हैं। स्वभावतः वे खबरें तुम्हें ऐसी लगती हैं जैसे कहीं और से आयी हैं। क्योंकि तुम इन गहराइयों से परिचित ही नहीं हो कि ये तुम्हारी हैं। तुम्हारा ही अंतःकरण बोला है। तुम ही बोले हो। मगर ऐसी जगह से बोले हो जिस जगह से तुमने अब तक अपना कोई परिचय नहीं बनाया।

तुम्हारे भीतर ही बहुत से प्रदेश अछूते पड़े हैं जिन तक तुम कभी नहीं गये। तुमने अपने पूरे भवन को कभी जांचा-परखा नहीं; पोर्च में ही डेरा डाले पड़े हो। सोचते हो यही भवन है। भीतर द्वार पर द्वार खुलते हैं। गहराइयों पर गहराइयां हैं। तलघरों पर तलघरे हैं। यह तुम्हारे ही भीतर से आयी आवाज है। जब भक्त मूर्ति के सामने तल्लीन हो कर खड़ा हो जाता है और आवाज सुनता है। सूफी फकीर कहते हैं: परमात्मा बोला। परमात्मा नहीं बोलता है। लेकिन एक अर्थ में परमात्मा ही बोलता है। तुम्हारे भीतर की अंतरतम गहराई परमात्मा ही है।

यह मूर्ति तो बहाना है। यह कीर्तन और भजन और प्रार्थना तो बहाना है। यह तो सिर्फ इस बात के लिए सहारा है कि तुम्हारा सक्रिय मन निष्क्रिय हो जाये। क्योंकि तुम्हारे सक्रिय मन के कारण तुम्हारी गहराई की आवाज आती भी है तो भी तुम तक पहुंच नहीं पाती--तुम इतने शोरगुल से भरे हो! वह धीमी सी आती हुई आवाज तुम्हारे तूतीखाने में खो जाती है। वहां नगाड़े बज रहे हैं। प्रभु फुसफुसाता है; चिल्लाकर नहीं आवाज देता। और चिल्लाकर भी दे, तो भी तुम सुनोगे नहीं। क्योंकि तुम्हारे कान इतने शोरगुल से भरे हैं, तुम्हारे भीतर इतने विचारों की तरंगें चल रही हैं; तुम इतने व्यस्त हो!

तुमने कभी खयाल किया, कभी अचानक तुम शांत हो कर बैठो तो दीवाल पर लगी घड़ी की टिक-टिक सुनाई पड़ने लगती है, अपने हृदय की धड़कन सुनाई पड़ने लगती है। श्वास का आना-जाना दिखाई पड़ने लगता है। शांत बैठे हो तो सूई भी गिर जाये तो सुनाई पड़ती है। सांप भी सरक जाये बगिया में कहीं, तो सरसराहट मालूम हो जाती है। हवा का जरा-सा झोंका पत्तियों को कंपा जाये तो उसका कंपन भी तुम्हें बोध में आ जाता है। लेकिन जब तुम व्यस्त हो, चिंता से घिरे हो, विचारों के बादलों में दबे हो, तब पहाड़ भी बिखर जायें, आकाश में गर्जन होता रहे बिजलियों का, तो भी तुम्हें पता नहीं चलता।

तुम्हें पता उसी मात्रा में चलता है, जिस मात्रा में तुम शांत होते हो।

तो ये तीस मिनट तक तुम मेरे चित्र पर ध्यान करते रहे, तुम शांत हो गये। तुम एकटक बंधे रह गये। तुम्हारे चित्त से और सारे विचार दूर हो गये; मेरा चित्र ही रह गया। तुम उसी में मंत्रमुग्ध डूबे रहे, डूबे रहे, डूबे रहे, तब तुम्हारे भीतर तुम्हारे ही गहरे अचेतन से कुछ आवाज उठनी शुरू हो गयी। लेकिन वह लगेगी बाहर से आ रही है। और चूंकि तुम इतने जोर से व्यस्त थे मेरे चित्र में कि उस आवाज ने उस चित्र का सहारा ले लिया; उसी चित्र के सहारे वह तुम पर प्रकट हो गयी। यह सिर्फ सहारा है। मैं नहीं बोला हूं। तुम्हीं बोले हो।

और प्रमाण है कि तुम जो बोले ठीक जगह से बोले हो। क्योंकि तुमने पूछा कि "यह भ्रम तो नहीं है? और आपने कहा: हां, भ्रम ही है।" अगर मैं कह देता कि हां, सच है, भ्रम नहीं, तो डर था कि तुम्हारी चाह बोली; तो डर था कि तुम्हारी कल्पना बोली; तो डर था कि जैसा तुम चाहते थे वैसा तुमने बोल लिया। वह भ्रम होता। यह तुम्हें बड़ा विरोधाभासी लगेगा।

मैं कहता हूं, अगर मैंने कहा होता कि हां, यह सच है, तो भ्रम होता। और चूंकि मैंने कहा कि हां, यह भ्रम ही है; इसलिए सच है। समझने की कोशिश करना।

तुम्हारे सपने भी एकदम भ्रम नहीं होते हैं। तुम्हारे सपने में भी तुम्हीं बोलते हो। इसलिए तो मनोवैज्ञानिक सपनों की बड़ी छानबीन करता है। वह तुम्हारे जागरण की चिंता नहीं करता; वह तुमसे पूछता है, सपने क्या देख रहे हो तुम? क्योंकि जागरण में तुम इतने बेईमान हो गये हो, तुम्हारे जागरण का कोई

भरोसा ही नहीं है। तुम दूसरे को ही धोखा देते हो, ऐसा थोड़े ही है; धोखा वहां थोड़े ही रुक गया है; धोखा तुम अपने को दे रहे हो। तो ऐसा थोड़े ही है कि तुमने दूसरों को समझा दिया कि तुम बहुत भले आदमी हो; तुमने अपने को भी समझा लिया कि तुम बहुत भले आदमी हो। चोर भी ऐसा मान कर चलता है कि वह चोरी भी कर रहा है तो किसी भले कारण से कर रहा है; शायद संपत्ति का समान वितरण करने की कोशिश कर रहा है, समाजवादी है। आदमी अपने बुरे से बुरे काम के लिए अच्छे से अच्छा कारण खोजने में कुशल है।

हिटलर ने लाखों लोग मार डाले, लेकिन हिटलर भीतर से बड़ा साधुपुरुष था। साधुपुरुष, यानी अपने को मना लिया था कि मैं साधुपुरुष हूं। और मनाने के सब उपाय भी उसके पास थे। तुम जरा सोच लेना, उसके उपाय क्या थे? हिटलर सिगरेट नहीं पीता था, यह तो साधुपुरुष का लक्षण है। मांस नहीं खाता था। अब और क्या चाहिए? पक्का जैन, शाकाहारी, ब्राह्मणों से भी बड़ा ब्राह्मण। क्योंकि ब्राह्मण भी--बहुत ब्राह्मण तो मांसाहारी हैं ही, कहीं मछली खाते हैं, कहीं मांस खाते हैं। कश्मीरी ब्राह्मण...नेहरू से तो ज्यादा ही ब्राह्मण था। बंगाली ब्राह्मण मछली खाता है। हिटलर मांसाहार नहीं करता था, सिगरेट नहीं पीता था, शराब नहीं पीता था। नियम से ब्रह्ममुहूर्त में उठता था। कभी देर तक नहीं सोता था। अब और क्या चाहिए? अब लाइसेंस मिल गया: मारो! अब साधु हो गया। अब और क्या? और क्या प्रमाण-पत्र चाहिए?

और मार भी इसलिए रहा है कि सारी दुनिया का हित करना है। उसने समझा लिया अपने को कि जब तक यहूदी हैं, दुनिया में बुराई रहेगी, और यहूदियों के मिटते ही बुराई समाप्त हो जायेगी। यहूदी पाप हैं; संसार की छाती पर कोढ़ का दाग हैं, इनको साफ कर देना है। दूसरों को भी समझा लिया; अपने को भी समझा लिया।

तुम थोड़े चौंकोगे, क्योंकि तुम इससे बहुत दूर रहे। न तुम यहूदी हो और न तुम यहूदी-विरोधी हो। तो तुम्हें यह लगेगा कि क्या बेवकूफी की बात है। लेकिन तुम भी ऐसा ही अपने को समझा लेते हो। हिंदू सोचते हैं, जब तक मुसलमान हैं तब तक दुनिया बुरी रहेगी। मुसलमान सोचते हैं, जब तक ये हिंदू हैं तब तक दुनिया बुरी रहेगी। दोनों ने अपने को समझा लिया है।

आदमी जो समझाना चाहे समझा लेता है। आदमी जो करना चाहे कर लेता है और अच्छे बहाने खोज लेता है। जहर के ऊपर शक्कर चढ़ा लेता है; फिर गटकना आसान हो जाता है। फिर जहर की गोली भी गटक जाओ, मीठी-मीठी लगती है। कम से कम थोड़ी देर तो लगती है; फिर पीछे जो परिणाम होगा, होगा।

मनोवैज्ञानिक कहते हैं, तुम्हारे जागरण पर तो भरोसा नहीं किया जा सकता है; तुम्हारी नींद में उतरना पड़ेगा। क्योंकि वहां तुम्हारा नियंत्रण शिथिल हो जाता है, वहां तुम्हारे दोहराये गए झूठों का प्रभाव कम हो जाता है। तो एक आदमी हो सकता है जागा हुआ तो साधु बन कर चलता है, जमीन पर आंख रखता है, स्त्री को आंख उठा कर नहीं देखता है; लेकिन इसके सपने में खोजो। सपने में हो सकता है यह नग्न स्त्रियों को देखता हो। सपने में साधु अक्सर स्त्रियों को देखते हैं। असाधु नहीं देखते। असाधु तो ऐसे ही बाहर इतना देख रहे हैं कि ऊब गये हैं। असाधु तो सपने में देखते हैं कि संन्यास ले लिया, भिक्षापात्र ले कर भजन-कीर्तन कर रहे हैं, कि मंजीरा पीट रहे हैं। असाधु ऐसा देखते हैं, क्योंकि असाधुओं की यही वासना अतृप्त पड़ी है।

जो अतृप्त वासना है, वही स्वप्न बनती है। स्वप्न भी तुम्हारा ही है। तुमने जो-जो दबा रखा है, वह सपने में उभर कर आ जाता है। सपने की भी बड़ी सचाई है। झूठा सपना भी एकदम झूठा नहीं है, क्योंकि तुम्हारे संबंध में कुछ संकेत देता है।

अब हो सकता है कि तुम बाहर के जीवन में तुम बहुत सादगी से रहते हो, और सपने में सम्राट हो जाते हो। तो सपने पर जरा विचार करना। तुम्हारी सादगी धोखा है। तुम बाहर के जीवन में बड़े अहिंसक हो; पानी छान कर पीते हो; रात भोजन नहीं करते। मांसाहार नहीं करते और रात सपने में उठा कर किसी की गर्दन काट

देते हो। तो सपने पर ध्यान रखना। वह सपना ज्यादा सच कह रहा है। वह कह रहा है: असलियत यह है; वह जो तुमने ऊपर से ओढ़ लिया है, वह बहुत काम का नहीं है।

स्वामी सरदार गुरुदयाल ने एक सपना मुझे कहा कि गुरुदयाल और स्वामी आनंद स्वभाव सपने में एक घने जंगल में भटक गये। बड़े प्यासे हैं, भूखे हैं। और बड़े आनंदित हो गये। एक झोपड़े पर तख्ती लगी है: अन्नपूर्णा होटल! यहां जंगल में! जहां आदिवासी नंगे घूम रहे हैं, यहां कहां की अन्नपूर्णा होटल! और उसमें नीचे लिखा है: तुरंत सेवा। भागे, भीतर घुसे। एक नग्न आदिवासी स्त्री ने स्वागत किया। थोड़े चौंके भी कि यह किस प्रकार की होटल है। अमरीका में हैं होटलें जहां टॉपलेस वेट्रेस हैं। लेकिन यहां तो कपड़े ही नहीं हैं। ऊपर का कपड़ा ही नदारद नहीं, कपड़े ही नदारद हैं। ये नग्न हैं। कहा, दो कप चाय। तत्क्षण दो कप चाय प्रगट हो गयी।

स्वभाव ने एक घूंट प्याली से लिया और कहा, दूध की कमी है। और उस स्त्री ने क्या किया, उसने अपने स्तन से दूध की धार लगा दी। और गुरुदयाल के मुंह से निकल गया: वाह गुरुजी की फतह, वाह गुरु जी का खालसा! और उसी में उसकी नींद टूट गयी।

वह जब मुझे सपना सुनाने आया तो मैंने कहा: और तो सब ठीक है, यह वाह गुरुजी की फतह, वाह गुरु जी का खालसा, यह तूने क्यों कहा? उसने कहा: अब आप समझें। गुरु ने बचाया, क्योंकि अगर स्वभाव ने न मांगा होता दूध तो मैं गरम पानी मांगने जा रहा था।

मतलब समझे? गुरु ने बचाया!

तुम्हारे सपने तुम्हारे हैं। तुम्हारे सपने तुम्हारी सचाइयां हैं। वह जो तुम्हारे मन में सब सरकता रहता है, वह सपनों में रूप लेता है, आकृति ग्रहण करता है। अपने सपनों पर थोड़ा विचार करना। आध्यात्मिक साधक को अपने सपनों पर बहुत विचार करना चाहिए। तुम जागरण की डायरी न रखो तो चलेगा, सपने की डायरी बड़ी कीमती है। रोज सुबह उठ कर अपना सपना लिख लिये। चाहे एकदम अर्थ साफ भी न हो कि क्या अर्थ है। धीरे-धीरे अर्थ साफ होगा। अर्थ साफ अगर न हो, तो उसका इतना ही अर्थ है कि तुमने अपने को इस भांति झुठला लिया है कि अब तुम्हें अपने सपने का अर्थ भी साफ नहीं दिखाई पड़ता। तुम्हारी आंखें इतनी विकृत हो गयी हैं। मगर लिखते जाना। धीरे-धीरे सफाई होगी। धीरे-धीरे बिंब और उभरकर आएंगे।

और अगर तुम सपनों को धीरे-धीरे समझने लगो तो तुम्हारा अपने व्यक्तित्व के संबंध में बोध गहन हो जाएगा। सपने को समझते-समझते एक ऐसी स्थिति आ सकती है कि तुम सपने में भी थोड़ा सा होश रख सको कि यह सपना चल रहा है। जिस दिन यह होश आ जाता है कि यह सपना चल रहा है, उसी दिन सपने बंद हो जाते हैं। और सपने का बंद हो जाना बड़ी क्रांति है।

सपने जिसके बंद हो गये, गलितधी, उसकी बुद्धि गल गयी। फिर रात जिसके सपने बंद हो जाते हैं, उसके दिन में विचार बंद हो जाते हैं। जड़ें कट गयीं। दिन के विचार तो पत्तों जैसे हैं; रात के सपने जड़ों जैसे हैं। जब सपने और विचार दोनों खो जाते हैं, तब जो है वही सत्य है।

यह ठीक ही हुआ जो तुम्हें उत्तर मिला कि हां, भ्रम ही है। यह उत्तर बड़ी गहराई से आया है। मेरी सलाह है--पूछा है देव निरंजन ने--मेरी सलाह है, तुम इस प्रयोग को जारी रखो। तुम चित्र पर तीस मिनट रोज ध्यान जारी रखो। तुम्हारा अचेतन तुमसे बोला है। तुम्हारे हाथ अचानक एक कुंजी लग गयी है। इसको ऐसे ही गंवा मत देना। और बहुत कुछ अचेतन तुमसे बोलेगा। और धीरे-धीरे तुम कुशल हो जाओगे समझने में अचेतन की भाषा। और वह कुशलता अध्यात्म के मार्ग पर बड़ा सहारा है, बड़ा सहयोग है।

इतना ही तुमसे कहना चाहता हूं कि जो अंतिम चरण है तुम्हारे इस स्वप्न का--इसको मैं स्वप्न ही कह रहा हूं; तुमने जागते-जागते देखा है तो भी स्वप्न ही कह रहा हूं--वह बहुत महत्वपूर्ण है।

मैंने सुना है, जैसे हिंदी भाषी क्षेत्रों में अकबर-बीरबल के किस्से बहुत प्रसिद्ध हैं, वैसे ही आंध्र प्रदेश में विश्वनाथ सत्यनारायण को ले कर ऐसी ही कहानियां चल पड़ी हैं। तेलगु के एक बड़े लेखक ने अपनी वृहत आकार की पुस्तक विश्वनाथ सत्यनारायण को समर्पित की है। उन्होंने पुस्तक को इधर से उधर देखा और कहा:

बहुत मामूली पुस्तक है। लेखक उदास-मन अपने घर लौटा। उसने सत्यनारायण के विचार अपनी पत्नी को सुनाये। पत्नी ने पूछा: सत्यनारायण ने तुम्हारी पुस्तक का अवलोकन कितनी देर तक किया? लेखक ने बताया: पांच-छः मिनट। पत्नी ने कहा: तुम्हारी पुस्तक निश्चित रूप से महत्वपूर्ण है। जिस पुस्तक की निरर्थकता को समझने में सत्यनारायण को पांच-छः मिनट लगे, वह पुस्तक साधारण नहीं हो सकती।

जिस स्वप्न के पीछे यह उत्तर आया कि यह सब भ्रम है, वह सपना साधारण नहीं है, असाधारण है। क्योंकि यह सत्य की घोषणा है। जिस स्वप्न ने अपने को स्वप्न कह दिया है, वह सपना बड़ा संदेश ले कर आया है। उससे तुम्हें कुछ मार्गनिर्देश मिला है। अब तुम रोज इसको ध्यान ही बना लो। रोज-रोज गहराई बढ़ेगी। रोज-रोज नये तल खुलेंगे।

कभी-कभी ऐसा होता है कि आकस्मिक रूप से ध्यान की कोई विधि हाथ लग जाती है। और जो विधि आकस्मिक रूप से तुम्हारे हाथ लग जाती है, वह ज्यादा कारगर है। क्योंकि उससे तुम्हारे स्वभाव का ज्यादा तालमेल है। वह तुमने ही खोज ली है। जो विधि कोई बाहर से देता है वह बैठे न बैठे, तालमेल पड़े न पड़े; लेकिन जो विधि तुम्हारे भीतर से आ गयी है वह विधि तो निश्चित ही तालमेल रखती है।

अमरीका में एक बहुत अदभुत आदमी हुआ इस सदी में: कायसी। उसे धीरे-धीरे एक विधि सध गयी; अचानक सधी।

एक आदमी बीमार था। और यह छोटा बच्चा था कायसी। और वह आदमी मरने के करीब था। और उस आदमी से इसे बड़ा प्रेम था--पड़ोसी था और इस बच्चे को खिलाता रहता था, इसको साथ घुमाने ले जाता था। उससे बड़ा लगाव था। और चिकित्सकों ने कह दिया कि यह आदमी बचेगा नहीं। तो यह छोटा बच्चा बड़ा दुखी हुआ। यह क्या करे?

यह उस आदमी की खाट के पास बैठ कर रोने लगा। रोते-रोते उसको झपकी लग गयी। वह करीब-करीब बेहोश हो गया। और बेहोशी में कुछ बोला। वह आदमी खाट पर पड़ा सुन रहा था। वह जो बेहोशी में बोला, वह बड़ी अजीब बात थी। उसने एक दवाई का नाम लिया बेहोशी में। यह छोटा बच्चा, इसको दवाई का तो कोई पता ही नहीं था। और ऐसी दवाई का नाम लिया कि वह जो आदमी पड़ा था, उसको भी पता नहीं था। और उसने उस बेहोशी की हालत में कहा: यह दवा लेने से तू ठीक हो जाएगा।

वह आदमी तो उठ कर बैठ गया। उसने अपने डाक्टरों को पूछा। डाक्टरों ने कहा: इस तरह की दवा हमने सुनी नहीं, लेकिन पता करना चाहिए, हो सकता है। वह दवा मिल गयी। वह अमरीका में तो न मिली, इंग्लैंड में मिली। और वह दवा लेने से वह आदमी ठीक हो गया।

तो कायसी के हाथ में कुंजी लग गयी। उसके बाद तो उसने जीवन भर करोड़ों लोगों का इलाज किया। और दवा वगैरह का तो कोई उसे पता ही नहीं था। बस, वह बैठ जायेगा मरीज के पास, आंख बंद कर लेगा, थोड़ी देर में उसका शरीर कंपेगा, गिर पड़ेगा। और तब तुम उससे पूछ लो कि यह आदमी बीमार है, यह क्या लेने से ठीक होगा? कभी-कभी तो उसने ऐसी दवाएं बतायीं जो कि अभी पैदा ही नहीं हुई थीं, जो अभी बनी ही नहीं थीं; दो साल बाद बनीं; साल भर बाद बनीं। लेकिन जैसे ही वह दवा ली, बीमार ठीक हो गये।

कायसी से लोग पूछते थे, तुम कैसे करते हो? वह कहता: मुझे कुछ पता नहीं। मैं तो करता ही नहीं हूं। मैं तो बिलकुल बेहोश हो जाता हूं। उस बेहोशी में कुछ होता है।

कायसी अपने अचेतन में उतर जाता था। आकस्मिक यह घटना घटी। लेकिन इसने कायसी का पूरा जीवन बदल दिया। और न केवल कायसी का जीवन बदल दिया, लाखों-करोड़ों लोगों का जीवन बदल दिया। इससे हजारों लोगों को सहायता मिली; हजारों प्रकार से सहायता मिली।

यह तुम्हें जो घटा है, एक कुंजी हाथ लगी है। इसका उपयोग करो। हो सकता है, यही तुम्हारी आत्म-उपलब्धि का मार्ग बनने को हो।

चौथा प्रश्न: दुनिया करे सवाल तो हम क्या जवाब दें? मैं लापता हो गया हूं मेरे प्रभु, मुझे मेरा पता बतायें। पूछते हैं लोग कि मैं कहां से हूं?

ईमानदारी बरतना। अगर उत्तर भीतर से न आ रहा हो तो कह देना: मुझे कुछ पता नहीं। सचाई से इंच भर डगमगाना मत। जो पता न हो तो कह देना, पता नहीं है। जो पता नहीं है, नहीं है--करोगे क्या? और मैं अगर तुम्हें उत्तर दे दूं तो तुम्हें पता थोड़े ही हो जायेगा। वह उत्तर मेरा होगा। मैं तुमसे कह दूं कि तुम ब्रह्म हो, परमात्मा हो--इससे क्या होगा? ये सब बातें तो तुमने सुनी हैं। रोज तो मैं तुम्हें कहता हूं: तुम आत्मा हो! इससे क्या होगा?

नहीं, यह उत्तर काम न आयेगा, क्योंकि यह उत्तर किसी और से आया है। शुभ घड़ी आयी है तुम्हारे जीवन में कि तुम लापता हो गये। आधी घटना तो घट गयी। आधी घटना तो यही है और बड़ी महत्वपूर्ण घटना घट गयी, कि तुम्हें अपना पुराना पता-ठिकाना थोड़ा भूल गया है। अच्छा हुआ। कचरा तो हटा! अब जो वास्तविक उत्तर है वह तुम्हारे भीतर पैदा होगा। थोड़ी प्रतीक्षा करो। क्योंकि अगर तुमने जल्दी की तो तुम फिर बाहर से कोई उत्तर ले लोगे। अभी बाहर के उत्तरों से ही तो छुटकारा हुआ है, इसीलिए तो लापता हो गये।

तुम्हारे पिता ने कहा था तुम्हारा नाम यह है। तुम्हारी मां ने कुछ कहा था कि तुम्हारा पता-ठिकाना यह है। तुम्हारे स्कूल, तुम्हारे शिक्षक, तुम्हारे मित्र, प्रियजनों ने तुम्हारा पता तुम्हें बताया था कि तुम कौन हो। उन्होंने तुम्हारी परिभाषा की थी। वह उधार थी। वह बाहर से थी। तुम्हें कुछ पता न था। बाहर से लोगों ने समझा दिया नाम, धर्म, जाति, देश--सब समझा दिया; ठोक-ठोक कर समझा दिया। सब लेबिल बाहर से चिपका दिये और तुम भीतर कोरे के कोरे हो। तुम्हें कुछ पता नहीं कि तुम कौन हो। किसी ने कह दिया राम तुम्हारा नाम है, हिंदू तुम्हारी जाति है, ब्राह्मण तुम्हारा वर्ण है--चतुर्वेदी, कि द्विवेदी, कि त्रिवेदी--सब बता दिया। सब तरह के लेबिल चिपका दिये डब्बे के ऊपर से। डब्बा भीतर खाली है। उसे कुछ पता नहीं। भीतर शून्य है। इन लेबलों के पीछे तुम लड़े भी, मरे भी; झगड़ा-झांसा भी किया; किस-किस से न उलझ गये! किसी ने धक्का दे दिया और तुम्हें पता चल गया कि शूद्र है, तो मारपीट हो गयी। तुम ब्राह्मण! लेबिल का ही फर्क है। उसके ऊपर शूद्र का लेबिल लगा है, तुम्हारे ऊपर ब्राह्मण का लेबिल लगा है। लेबिल के भ्रम में आ गये। खूब धोखा खाया। किसी ने बता दिया हिंदू हो तो हिंदू हो गये; मुसलमान हो, तो मुसलमान हो गये। जिसने जैसा बता दिया वैसा मान लिया।

ध्यान के प्रयोग से, इधर मेरे पास बैठ-बैठ कर, सत्संग में, धीरे-धीरे तुम्हारा कूड़ा-कर्कट हट गया, लेबिल हट गये। अब घबराहट हो रही है। क्योंकि अब तुम्हें लगता है, तुम खाली हो। खाली तो तुम तब भी थे जब लेबिल लगे थे। अब लेकिन पता चला कि तुम खाली हो। तो तुम बड़ी जल्दी में हो। तुम कहते हो मुझसे कि आप कुछ लिख दें इस डब्बे पर। फिर मैं लिख दूंगा, फिर वही हो जायेगा। फिर लिखा बाहर से होगा।

इस बार ठहरो। जल्दी मत करो। प्रतीक्षा करो। आने दो उत्तर को भीतर से जैसे बीज टूटता और अंकुर भीतर से आता है--ऐसे ही तुम टूटो और अंकुर को भीतर से आने दो। खिलने दो तुम्हारे वृक्ष को। लगने दो फूल। वही फूल तुम्हारा उत्तर होगा। उसके पहले कोई उत्तर नहीं है। उसके पहले सब उत्तर व्यर्थ हैं।

पूछते हो: "दुनिया करे सवाल तो हम क्या जवाब दें?"

वही जवाब दो जो तुम्हारी वास्तविकता है। कहो कि लेबिल तो सब उखड़ गये; न अब मैं हिंदू हूं, न हिंदुस्तानी, न जैन, न बौद्ध, न सिक्ख, न पारसी। मेरा नाम भी कामचलाऊ है। राम कहो कि रहीम कहो--चलेगा। मेरा नाम कामचलाऊ है।

देखते हैं, संन्यास मैं देता हूं तो नाम बदल देता हूं! नाम सिर्फ इसलिए बदल देता हूं ताकि तुम्हें पता चल जाये कि नाम तो सिर्फ कामचलाऊ है। किसी भी नाम से काम चल जाता है। कामचलाऊ है, काम चलाने के लिए है। कोई नाम चाहिए, नहीं तो दुनिया में जरा मुश्किल होगी। पोस्टमैन कहां तुम्हें खोजेगा बिना नाम के?

कोई चिट्ठी कैसे लिखेगा बिना नाम के? बैंक में जाओगे तो खाता कैसे खोलोगे बिना नाम के? मुश्किल होगी। व्यावहारिक है। नाम एक व्यावहारिक सत्य है, पारमार्थिक सत्य नहीं। तो नाम बदल देता हूं--सिर्फ यही याद दिलाने को कि देखो यह पुराना नाम ऐसे बदल जाता है क्षण में। इसमें कुछ मूल्य नहीं है। यह नया दे दिया। नये से काम चला लेना। यह तो पुराने का लंबे, तीस-चालीस साल तुमने उपयोग किया था, तुम उसके साथ तादात्म्य कर लिये थे। उसे खिसका दिया। यह तो सिर्फ इसलिए, ताकि तुम्हें पता चल जाये कि अरे, नाम तो कोई भी काम दे देता है। कोई फर्क नहीं पड़ता। अ, ब, स, द से भी काम चल जायेगा। नंबर से भी काम चल जायेगा।

और इस बात का खतरा है कि जिस तरह संख्या दुनिया में बढ़ रही है, जल्दी ही नाम से काम न चलेगा, नंबर ही रखने पड़ेंगे, जैसा मिलिट्री में रखते हैं। क्योंकि नाम बहुत पुनरुक्त होते हैं। नामों की सीमा है। वही नाम, वही नाम--उससे झंझट बढ़ती है। थोड़ी संख्या थी तब ठीक था। अब इतनी विराट संख्या के लिए नये नाम कहां से लाओगे? तो नंबर...।

नंबर से भी काम चल जायेगा। बी-३००१--चलेगा। ए-२००५--चलेगा। क्या कठिनाई है? एक लिहाज से अच्छा भी होगा। बी-१०००३ ज्यादा सुखद है। न हिंदू का पता चलता, न मुसलमान का, न ईसाई का। कुछ पता नहीं चलता कि हिंदुस्तानी है कि चीनी है, कि जापानी है। ज्यादा शुद्ध है, कम विकृत है। ब्राह्मण है कि शूद्र है--कुछ पता नहीं चलता। अच्छा होगा।

नाम इसीलिए मैं बदल देता हूं ताकि तुम्हें स्मरण आ जाये कि नाम कोई बड़ी मूल्यवान चीज नहीं है, कोई संपत्ति नहीं है। खेल है। खेल-खेल में बदल देता हूं। इसलिए बहुत आयोजन भी नहीं करता।

मेरे पास कुछ लोग आकर कहते हैं। वे कहते हैं, संन्यास आप ऐसे ही दे देते हैं! और कहीं तो दीक्षा होती है तो कितना बैंड-बाजा बजता और स्वागत-समारोह, रथ-यात्रा निकलती, महोत्सव होता, भीड़-भाड़ इकट्ठी होती। आप ऐसे ही दे देते हैं!

मैं उनसे कहता हूं: संन्यास को मैं खेल बनाना चाहता हूं, गंभीर नहीं! तुम्हारे अहंकार का आभूषण नहीं बनाना चाहता। नहीं तो संन्यास संन्यास ही न रहा। बैंड-बाजे बजे, तो जिसको बैंड-बाजे बजवाने हों, वह संन्यास ले लेगा। जुलूस निकला, लोगों ने आ कर चरण छुए, फूलमालाएं पहनायीं और लोगों ने कहा, तुम धन्यभागी हो, किस महापुण्य का परिणाम कि तुम इस यात्रा पर निकल गये। हम हैं दीन-हीन पापी कि हम अभी भी संसार में सड़ रहे हैं; नाली के कीड़े! तुम तो देखो आकाश में उड़ने लगे। हो गये हंस!--जिनको इस तरह के अहंकार की पूजा करवानी है वे जरूर उस मार्ग पर चले जायेंगे जहां पूजा होती है।

मेरे देखे अगर लोग संन्यासियों को बहुत सम्मान देना बंद कर दें तो तुम्हारे सौ में से निन्यानबे संन्यासी वापिस दुनिया में लौट आयें। वे सम्मान के कारण वहां अटके हैं। इसलिए मैं संन्यासियों को बिलकुल सामान्य, खेल की तरह--कोई स्वागत नहीं, कोई समारंभ नहीं, चुपचाप तुम्हारा नाम बदल दिया। किसी को कानोंकान खबर न हुई। तुम्हारे कपड़े बदल दिये, कानोंकान खबर न हुई। और तुमसे मैं कोई विशिष्ट आचरण की भी आकांक्षा नहीं रखता। क्योंकि विशिष्ट आचरण हमेशा अहंकार का आभूषण बन जाता है। मैं तुमसे कहता हूं, कोई हर्जा नहीं। होटल में बैठ कर खाना खा लिया, कोई हर्जा नहीं। संन्यासी कहता है: हम होटल में बैठ कर खाना खायें! कभी नहीं! हमारे लिए विशेष भोजन बनना चाहिए। ब्राह्मणी पीसे, फिर बनाये। सब शुद्ध हो, तब हम लेंगे। हम कोई साधारण व्यक्ति थोड़े ही हैं!

नहीं, मैं तुम्हें बिलकुल साधारण बनाना चाहता हूं। तुम्हें मैं ऐसा साधारण बना देना चाहता हूं कि तुम्हारे भीतर अहंकार की रेखा न बने। तुम ऐसे ही जीना जैसे और सब लोग जी रहे हैं। कुछ विशिष्टता नहीं।

इसीलिए तुम्हें लग रहा है कि लापता हो गया। पुराना नाम गया। पुराना ठिकाना गया। पुरानी जात-पांत गयी। और नयी कुछ मैंने बनायी नहीं। नया तुम्हें कुछ दिया नहीं। खाली तुम्हें छोड़ दिया। क्योंकि इसी

खालीपन में फूटेगा तुम्हारा बीज और अंकुर उठेगा। तुम चाहते हो मैं तुम्हें कुछ दे दूं। मगर मैं तुम्हें कुछ दे दूं तो मैं तुम्हारा दुश्मन। फिर मैंने जो तुम्हें दिया वह तुम्हारी छाती पर पत्थर बन कर बैठ जायेगा। फिर तुम उसको पकड़ लोगे। फिर वह तुम्हारा पता हो गया। फिर तुम चूके। फिर आत्मज्ञान से चूके।

आत्मज्ञान के लिए प्रतीक्षा चाहिए। जब तक पता न हो, कोई पूछे तो उससे कहना: क्षमा करें, जो-जो मुझे पता था वह गलत सिद्ध हुआ और जो-जो ठीक है उसकी मैं राह देख रहा हूं। जब आयेगा, आ कर आपको खबर कर दूंगा--अगर कभी आया। अगर कभी न आया तो क्षमा करें। मुझे स्वीकार कर लें ऐसा ही जैसा मैं हूं--लापता।

ईमानदार रहना। प्रामाणिक रहना।

हमें प्रामाणिक रहना किसी ने सिखाया नहीं। हम ऐसी बातों के उत्तर देते हैं जिनका उत्तर हमें पता ही नहीं। बाप बेटे से कहता है: झूठ कभी मत बोलना। और बेटा पूछता है कि ईश्वर है और बाप कहता है: हां, है! अब इससे बड़ी झूठ तुम कुछ बोलोगे? तुम्हें पता है ईश्वर के होने का? किस अकड़ से तुम कह रहे हो? इस भोले-भाले बेटे के प्रश्न को किस बुरी तरह मार रहे हो! इसके प्रश्न में तो एक सचाई थी, तुम्हारा उत्तर सरासर झूठ है। तुम्हें कुछ भी पता नहीं है। और आज नहीं कल इस बेटे को भी पता चल जायेगा कि तुम्हें कुछ पता नहीं। तब इसकी श्रद्धा टूट जायेगी।

मेरे देखे अगर बच्चे अपने मां-बाप को श्रद्धा नहीं दे पाते तो बच्चे इसके लिए अपराधी नहीं हैं; मां-बाप अपराधी हैं। तुम श्रद्धा के योग्य ही नहीं हो। तुम इतनी झूठें बोले हो...।

मेरे एक शिक्षक थे। वे स्कूल में तो सिखाते कि सच बोलना चाहिए। एक दिन मैं उनके घर बैठा कुछ...गणित उन्होंने दिया था, वह कर रहा था। एक आदमी ने द्वार पर दस्तक दी। उन्होंने मुझे कहा कि जा कर कह दो कि वे अभी घर में नहीं हैं। मैं बड़े सोच में पड़ा कि अब करना क्या? कहते हैं सच बोलो, आज कह रहे हैं कि कह दो कि घर में नहीं हैं! तो स्वभावतः मैंने दोनों के बीच कोई रास्ता निकाला। मैंने जा कर उनसे कहा कि सुनिये, हैं तो घर में, लेकिन कहते हैं कि घर में नहीं हैं। अब आप समझ लें। क्योंकि उन्होंने मुझे सच बोलने को भी कहा है, तो मैं झूठ भी नहीं बोल सकता। और जो उन्होंने कहा है वह भी मुझे कहना ही चाहिए। क्योंकि वही उन्होंने कहा है, मैंने उसमें कुछ जोड़ा नहीं। इसलिए बात पूरी आपके सामने रख दी, अब आप समझ लो।

वे शिक्षक मुझ पर बड़े नाराज हुए। उन्होंने कहा: तुमसे कहा था न कि कह दो घर में नहीं हैं। मैंने कहा: मैंने कहा। वे बोले: तुमसे यह किसने कहा था कि कह दो कि यह भी मैं ही कह रहा हूं घर में बैठा हुआ। मैंने कहा: आप स्कूल में सदा कहते हैं कि सच बोलो। आप कह दो कि झूठ बोलो, तो मैं उसका पालन करने लगूंगा।

वे बड़ी बेचैनी में पड़े। वे मुझे कभी क्षमा न कर सके। उस दिन के बाद मुझे स्कूल में भी मैं उनको देखता तो इधर-उधर आंख करते।

श्रद्धा कैसे उत्पन्न हो? बाप बेटे से कहता है झूठ मत बोलो। और ऐसी सरासर झूठें बोलता है! शायद सोचता है, बेटे के हित में ही बोल रहा हूं। शायद इसीलिए कह रहा है कि हां, ईश्वर है कि कहीं बेटा अनीश्वरवादी न हो जाये। बेटे के हित में ही बोल रहा है। लेकिन झूठ किसी के हित में हो सकती है? कितनी ही दिखाई पड़े हित में, लेकिन हित में हो नहीं सकती। जो हित में है वह सच है। जो सच है वही हित में है। सत्य के अतिरिक्त और कोई कल्याण नहीं है। सत्य के अतिरिक्त और कोई मंगल नहीं है।

तो तुम्हें जो स्थिति है उससे अन्यथा मत कहना। कहना: खाली-खाली लग रहा हूं। पता-ठिकाना खो गया। अभी नये का पता नहीं चल रहा। चलेगा तो निवेदन कर दूंगा। नहीं चला तो मैं क्या कर सकता हूं?

इस सचाई से जीने का नाम ही संन्यास है। जो है उससे अन्यथा न करने का नाम संन्यास है। जैसा है वैसा ही स्वीकार करने का नाम संन्यास है।

खतरा क्या है, इसमें गड़बड़ क्या है? तुम्हें तकलीफ क्या हो रही है? तकलीफ यह हो रही है कि लोग समझेंगे, अज्ञानी हो। अरे, तुम्हें यह भी पता नहीं कि तुम कौन हो? वह जो पूछने वाला है वह इसीलिए पूछ रहा है कि बताओ कहां से आये हो? कौन हो? कहां जा रहे हो? वह तुम्हें देखता है गैरिक वस्त्रों में तो सोचता है कि महात्मा आ रहे हैं। उसे पता नहीं, ये मेरे महात्मा बहुत भिन्न प्रकार के हैं! यह पुराने ढंग का ढकोसला नहीं

है। पुराने संन्यासी को तो मैं सत्यानाशी कहता हूं। यह और ही ढंग का संन्यासी है। यह परम स्वतंत्रता और स्वच्छंदता में जीने वाला संन्यासी है। इसके ऊपर कोई बाह्य आरोपण नहीं है। इसका भीतर का छंद ही इसके जीवन की व्यवस्था है। इसका आंतरिक अनुशासन ही एकमात्र अनुशासन है।

मैंने तुम्हें संन्यास दिया है--इसलिए नहीं कि तुम संन्यासी रहोगे तो कभी मुक्त हो जाओगे। मैंने तुम्हें संन्यास देने में ही तुम्हें मुक्त कर दिया है। यह एक मुक्त चित्त की दशा है। इसे लोग नहीं समझेंगे। कोई चिंता भी नहीं है। लोग समझें, इसकी जरूरत भी क्या है? लोगों के समझने पर निर्भर भी क्यों रहना?

तुम्हारी अड़चन मैं समझता हूं। जब लोग तुमसे पूछते हैं, "आप कौन? आपका स्वरूप क्या? कहां से आ रहे? कहां जा रहे?" तो वे बड़ी ज्ञान की, ब्रह्मज्ञान की बातें पूछ रहे हैं। तुम्हारा भी दिल होता है, ब्रह्मज्ञान का ही उत्तर दें। क्योंकि ज्ञानी बनने का मजा किसको नहीं होता! और तुम्हें अड़चन भी आती है, क्योंकि ब्रह्मज्ञान अभी हुआ नहीं है।

तो तुम मुझसे पूछ रहे हो: "दुनिया करे सवाल तो हम क्या जवाब दें?"

यह सवाल दुनिया का नहीं है जो तुम्हें कांटे की तरह चुभ रहा है। कांटे की तरह यह बात चुभ रही है कि जवाब दोगे तो झूठ होगा। और न जवाब दो तो अज्ञानी सिद्ध होते हो।

मैं तुमसे कहता हूं: स्वीकार कर लेना कि मैं अज्ञानी हूं। मैं अपने संन्यासियों को इतना हिम्मतवर चाहता हूं कि वे स्वीकार कर सकें कि मैं अज्ञानी हूं। मैं अपने संन्यासी को इतना हिम्मतवर चाहता हूं कि वह स्वीकार कर सके कि मैं पापी हूं। मैं अपने संन्यासी को इतना हिम्मतवर चाहता हूं कि वह स्वीकार कर सके कि जो साधारण मनुष्य की सीमाएं हैं वे ही मेरी सीमाएं भी हैं; मैं विशिष्ट नहीं।

और यही तुम्हारी विशिष्टता बनेगी। यही तुम्हारा नवीन रूप होगा। तुम अज्ञानी हो तो कह दो कि अज्ञानी हूं; मुझे पता नहीं, मैं बिलकुल अज्ञानी हूं। अज्ञान में दंश कहां है? सच तो यह है कि अज्ञान तुम्हारे तथाकथित ज्ञान से ज्यादा निर्मल, ज्यादा निर्दोष है। तुम्हारा तथाकथित ज्ञान तो उधार और बासा है; दूसरे से लिया है। अज्ञान तुम्हारा है। कम से कम तुम्हारा तो है! कम से कम अपना, निजी तो है! अंधेरा सही, पर अपना तो है। यह रोशनी तो किसी और के हाथ के दीये की है। यह तो दूसरे के हाथ में रोशनी है। इसका बहुत भरोसा मत करना। यह कब फूंक देगा या कब रास्ते पर अलग चल पड़ेगा...। अंधेरा तुम्हारा है। जो अपना है उससे अन्यथा का दावा मत करना।

और फिर एक और तुमसे गहन बात कहना चाहता हूं। कुछ बातें हैं जिनका ज्ञान कभी नहीं होता। इसीलिए तो जीवन रहस्यमय है। जैसे परम सत्य कभी भी ज्ञान नहीं बनता--अनुभव तो बनता है, ज्ञान नहीं बनता। तुम जान तो लेते हो, लेकिन जना नहीं सकते। तुम्हें तो पता चल जाता है, लेकिन तुम दूसरे को पता नहीं बता सकते। वह जो परम अवस्था है सत्य की--ऋत्, तथाता, ताओ, साक्षी--उसका तुम्हें अनुभव तो हो सकता है, लेकिन तुम दूसरे को न कह सकोगे, क्या है। वह गूंगे का गुड़ है। गूंगे केरी सरकरा! स्वाद तो आ जायेगा, ओंठ बंद हो जायेंगे।

तो घबराना मत। शांत, मौन खड़े रह जाना। अगर कुछ भी कहने को न आता हो तो यही तुम्हारा कहना है कि शांत और मौन खड़े रह जाना।

बुद्ध बहुत बार चुप रह जाते थे। लोग प्रश्न पूछते। वैसा तो कभी न घटा था। भारत तो ज्ञानियों का देश है। यहां तो पंडितों की भरमार है। यहां तो पान की दूकान पर बैठा हुआ आदमी भी ब्रह्मज्ञान से नीचे नहीं उतरता। यहां तो सभी ब्रह्मज्ञान पर सवार हैं। यहां तो कोई नीचे है ही नहीं। ब्रह्मज्ञान तो यहां ऐसी साधारण बात है कि जिसका कोई हिसाब नहीं है। बुद्ध बड़े हिम्मतवर आदमी थे। पंडितों के इस देश में, ज्ञानियों के इस देश में, धार्मिकों के इस तथाकथित देश में बुद्ध चुप रह गये। बहुत मामलों में चुप रह जाते थे। कोई पूछता, ईश्वर है? वे चुप रह जाते। जरा हिम्मत देखते हो बुद्ध की! इसको मैं साहस कहता हूं। कितनी बड़ी उत्तेजना न रही होगी। कुछ भी उत्तर दे सकते थे। आखिर मूढ़ उत्तर दे रहे हैं तो बुद्ध को उत्तर देने में क्या अड़चन थी? कुछ भी उत्तर दे सकते थे। लेकिन बुद्ध बिलकुल चुप रह जायेंगे। देखते रहेंगे उस आदमी की तरफ। वह कहेगा, "आपने सुना

नहीं? मैं पूछता हूं ईश्वर है या नहीं? पता हो तो कह दें। अगर न पता हो तो वैसा कह दें।" लेकिन बुद्ध फिर भी चुप हैं।

वह आदमी के ऊपर ही छोड़ दिया कि जो तुझे सोचना हो सोच लेना, लेकिन यह बात ऐसी है कि कही नहीं जा सकती। और इतना भी कहने को राजी नहीं हैं कि यह बात ऐसी है कि कही नहीं जा सकती। क्योंकि बुद्ध कहते हैं जो नहीं कही जा सकती उसके संबंध में यह कहना भी व्यर्थ है कि नहीं कही जा सकती। फायदा क्या? यह भी तो कहना हो गया न, थोड़ा-सा तो कह ही दिया। एक गुण तो बता ही दिया। उसका एक गुण तो यह हो गया कि उसे कहा नहीं जा सकता। तो परिभाषा थोड़ी तो बनी! नकारात्मक सही; लेकिन इशारा तो हुआ। सीधा न सही, घूम-फिर कर सही, कान पकड़ा तो, उल्टी तरफ से सही। यह कहा कि नहीं कहा जा सकता उस संबंध में कुछ--तो तुमने इतना तो कह दिया उस संबंध में।

बुद्ध बड़े ईमानदार हैं। वे चुप रह जाते हैं। उनमें से कोई होता समझदार तो बुद्ध के इस मौन को समझता। चरण छूता। आनंद-विभोर हो जाता। लेकिन वैसा तो सौ में कभी एकाध होता। निन्यानबे तो यही सोच कर जाते कि अरे, तो अभी इसको पता नहीं चला! तो बेचारा अभी भी भटक रहा है। इससे तो हमारे गांव का पंडित अच्छा। दिन-दहाड़े चिल्ला कर तो कहता है कि हां, ईश्वर है और ईश्वर ने संसार बनाया। और न मानो तो वेद से प्रमाण लाता हूं। और ज्यादा गड़बड़ की तो लकड़ी उठा कर खड़ा हो जाता है। सिर तोड़ देगा। तर्क से मानो तर्क से, नहीं तो लट्ठ से मना देगा।

आखिर हिंदू-मुसलमान लड़ कर क्या कर रहे हैं? जो तर्क से सिद्ध नहीं होता वह गर्दन काट कर सिद्ध कर रहे हैं। कहीं गर्दन काटने से सत्य सिद्ध होता है? तुम किसी को मार डालोगे, इससे क्या यह सिद्ध होता है कि तुम जो कहते थे वह सही था। सत्य का इससे क्या संबंध है?

मगर सौ में कभी एक जरूर ऐसा होता जो बुद्ध के मौन के उत्तर को स्वीकार कर लेता, समझता, शांत हो जाता। देखता इस अपूर्व घटना को। यह बड़ी महत्वपूर्ण घटना घटी कि बुद्ध चुप रह गये। ऐसा इसके पहले कभी न हुआ था।

बुद्ध ने मनुष्य-जाति के इतिहास में एक नया अध्याय जोड़ा। वह अध्याय यह था कि जो नहीं कहा जा सकता, मत कहो। चुप रह कर ही कहो। मौन से ही कह दो। फिर दूसरे पर छोड़ दो। अगर वह तुम्हें अज्ञानी समझता है तो वह जाने, यह उसकी समस्या है। तुम क्यों इससे परेशान?

लेकिन मैं तुम्हारी अड़चन समझता हूं। तुम अगर उत्तर नहीं दे पाते तो लोग समझते हैं: अरे, तो तुम अभी भी अज्ञानी! संन्यासी होकर भी अज्ञानी! गेरुवा वस्त्र पहन लिया और अज्ञानी!

तुम कहना कि मैं अज्ञानी ही हूं। और ज्ञानी का कोई दावा मत करना। और मैं तुमसे कहता हूं: अज्ञान का यह स्वीकार खाद बन जायेगा तुम्हारे बीज को तोड़ने में। अज्ञान का यह स्वीकार वर्षा हो जायेगी तुम्हारे ऊपर। आखिर दूसरे के सामने सिद्ध करने की कोशिश कि मैं जानता हूं, क्या अर्थ रखती है? इतना ही अर्थ रखती है कि मेरा अहंकार दूसरे की मान्यता पर निर्भर होता है। अहंकार दूसरे का सहारा चाहता है। तुम अकेले में ज्ञानी नहीं हो सकते। कोई कहे तो ही ज्ञानी हो सकते हो। जंगल में बैठ जाओ अकेले तो तुम ज्ञानी कि अज्ञानी? पशु-पक्षी तो कुछ कहेंगे नहीं कि महाराज, ज्ञान उपलब्ध हुआ कि नहीं? अभी ब्रह्म का पता चला कि नहीं? वे फिक्र ही न करेंगे। दूसरा मनुष्य चाहिए जो कहे कि ज्ञानी, कि अज्ञानी? अगर कोई अज्ञानी कहे तो स्वीकार कर लेना कि ठीक कहते हैं, यही तो मेरी दशा है। कुछ भी तो मुझे पता नहीं है। अगर कोई ज्ञानी कहे तो उससे कहना कि तुम्हें कुछ भूल हो रही होगी, क्योंकि मुझे कुछ पता नहीं है।

उपनिषद कहते हैं: जो कहे मैं जानता, जान लेना कि नहीं जानता।

सुकरात ने कहा है: जानकर मैंने एक ही बात जानी कि मैं कुछ भी नहीं जानता हूं।

बनो सुकरात! सीखो एक रहस्य कि दूसरों की मान्यताओं पर ठहरने की कोई भी जरूरत नहीं है। और जिस दिन तुमने दूसरों की मान्यताओं की चिंता छोड़ दी उसी दिन तुम समाज से मुक्त हो गये। समाज से भाग कर थोड़े ही कोई मुक्त होता है! वह जो समाज से भाग जाता है वह भी जंगल में बैठ कर सोचता है कि समाज

उसके संबंध में क्या सोच रहा है। राहगीर आते-जाते हैं तो उनसे भी वह घूम-फिर कर बात निकलवा लेता है कि गांव में क्या इरादा है? लोग क्या कह रहे हैं? पता चल गया कि नहीं कि मैं बिलकुल ब्रह्मज्ञान को उपलब्ध हो गया हूं? कुछ गांव में सनसनी फैली कि नहीं, क्योंकि मैंने तो सुना था जब ज्ञान को कोई उपलब्ध हो जाता है तो जंगल में भी बैठा रहे तो वहां भी लोग चले आते हैं, खोजते। सत्य के खोजी कब तक आयेंगे, कुछ बताओ तो!

वहां बैठा-बैठा भी भीतर तो रस समाज में ही लेता रहता है। वहां भी खबर लगाता रहता है कि कोई राष्ट्रपति ने इस वर्ष पद्मश्री या भारतरत्न की उपाधि की घोषणा मेरे लिए तो नहीं की। क्योंकि यहां मैं महर्षि हुआ बैठा हूं और अभी तक कुछ खबर नहीं आयी।

वहां भी बैठे-बैठे अचेतन मन यही गुनतारा बिठाता रहता है।

नहीं, यह कोई समाज से जाना न हुआ। और अगर कोई आदमी आ कर तुमसे कह दे कि अरे, तुम क्या नाहक बैठे हो, वहां तुम्हारी बड़ी बदनामी हो रही है। तो तुम बड़े दुखी हो जाओगे कि हम यहां अकेले भी बैठे हैं, और बदनामी हो रही है! हमने सब छोड़ दिया, और बदनामी हो रही है! हम यहां ध्यान कर रहे हैं, अब तो कुछ हम किसी का बिगाड़-बना भी नहीं रहे हैं, और बदनामी हो रही है! तो तुम्हारा दिल होगा कि दुर्वासा बन जाओ और दे दो अभिशाप इस सारे समाज को कि सब नर्क में पड़ें।

समाज की मान्यता से जो चिंता नहीं लेता; समाज अच्छा सोचता है कि बुरा सोचता, वह फिक्र ही नहीं करता। वह कहता है: तुम्हारी मर्जी। यह तुम्हारा मजा। अच्छा सोचो तो, बुरा सोचो तो। जिसमें तुम्हें मजा आये वैसा सोचो। जो समाज की मान्यता पर जरा भी ध्यान नहीं देता--ऐसा व्यक्ति समाज से मुक्त है। फिर जंगल जाने की कोई जरूरत नहीं है, बीच बाजार में बैठे रहो, समाज तुम्हें छुएगा नहीं: तुम कमलवत हो गये।

तो मैं तुमसे कहूंगा: प्रतीक्षा करो। थोड़ा और कसे जाओगे। थोड़ा और कसे जाने की जरूरत है।

और कसो तार, तार-सप्तक मैं गाऊं।
ऐसी ठोकर दो मिजराब की अदा से
गूंज उठे सन्नाटा सुरों की सदा से
ठंडे सांचों में मैं ज्वाल ढाल पाऊं।
और कसो तार, तार-सप्तक मैं गाऊं।
खूंटियां न तड़कें यदि मीड़ूं मैं ऐठूं
मंजिल नियराये जब पांव तोड़ बैठूं
मुंदी-मुंदी रातों को धूप मैं उगाऊं।
और कसो तार, तार-सप्तक मैं गाऊं।
न बाहर-भीतर के द्वंद्वों का मारा
चिपकाये शनि चेहरे पर मंगल तारा
क्या बरसा परती धरती निहार आऊं।
और कसो तार, तार-सप्तक मैं गाऊं।
ढीले संबंधों को आपस में कस दूं
सूखे तर्कों को मैं श्रद्धा का रस दूं
पथरीले पंथों पर दूब मैं उगाऊं।
और कसो तार, तार-सप्तक मैं गाऊं।
तुम मुझसे उत्तर न मांगो। तुम तो मुझसे कहो:
और कसो तार, तार-सप्तक मैं गाऊं।

पांचवां प्रश्न: कल कहा गया कि ज्ञान के आगमन पर बुद्धि (धी) गलित हो जाती है। क्या ज्ञान और बुद्धि विरोधी आयाम हैं? बुद्धत्व और बुद्धि में क्या थोड़ा-सा भी मेल नहीं? हिंदुओं का जो प्रसिद्ध गायत्री मंत्र है वह इसी बुद्धि (धी) के लिए प्रार्थना-सा लगता है। इस उलझन को दूर करने की अनुकंपा करें।

जहां बुद्धि शून्य हो जाती है वहां बुद्धत्व पैदा होता है। बुद्धि और बुद्धत्व विरोधी आयाम नहीं हैं। बुद्धि की सीढ़ी से जहां तुम ऊपर पैर रखते हो वहां बुद्धत्व शुरू होता है। तो विरोधी मत समझ लेना, सहयोगी है। विरोधी तो तब बनते हैं जब तुम बुद्धि की सीढ़ी को जोर से पकड़ लो और तुम कहो सब मिल गया। तो फिर अड़चन हो गयी। तो जो आगे की सीढ़ी है उसका विरोध हो गया। बुद्धि के कारण विरोध नहीं होता है, बुद्धि को पकड़ लेने के कारण विरोध होता है।

तुम सीढ़ियां चढ़ रहे हो। तुमने नंबर एक की सीढ़ी पर पैर रखा और तुमने कहा कि बस, आ गया घर, अब आगे नहीं जाना। तो तुम्हारी नंबर एक की सीढ़ी नंबर दो की सीढ़ी के विरोध में हो गयी। थी तो नहीं विरोध में; थी तो पक्ष में, थी तो सहयोग में। पहली सीढ़ी बनी ही इसलिए थी कि तुम दूसरी सीढ़ी पर जाओ। लेकिन अब तुमने जो पकड़ बिठा ली, जो आसक्ति बना ली उससे अड़चन हो गयी। सीढ़ी विरोध में नहीं, तुम्हारी आसक्ति विरोध में हो सकती है।

बुद्धि जहां शांत होती, शून्य होती, जहां बुद्धि की रेखा समाप्त होती, वहीं से बुद्धत्व शुरू होता। बुद्धि बड़ी सीमित है, बुद्धत्व विराट है। बुद्धि तो ऐसी है जैसे कोई खिड़की पर खड़ा आकाश को देखे। तो आकाश पर भी खिड़की का चौखटा लग जाता है। आकाश पर कोई चौखटा नहीं है। लेकिन खिड़की के पीछे खड़े हो कर देखते हैं तो आकाश ऐसा लगता है, फ्रेम किया हुआ, चौखटे में जड़ा हुआ। फिर तुम खिड़की से छलांग लगा कर बाहर आ जाओ। खिड़की कहती थोड़े ही है कि रुको। खिड?की तो द्वार खोलती है। खिड़की तो बुलाती कि आओ बाहर; थोड़ा-सा आकाश दिखा दिया, अब भीतर किसलिए खड़े हो? यह थोड़ा-सा आकाश तो स्वाद के लिए था। यह थोड़ा-सा स्वाद दे दिया, अब भीतर किसलिए खड़े हो? तो खिड़की ने तो निमंत्रण दिया कि खिड़की को छोड़ो, बाहर आओ। अब बड़ा आकाश है। इतने में इतना रस पाया तो उतने में कितना न पाओगे।

तुम जब मुझे सुनते हो तो बुद्धि थोड़ा-सा खिड़की खोलती है। उस पर रुक मत जाना। सुन कर इतना रस पाया तो जान कर कितना न पाओगे। शब्द से इतना रस पाया तो निःशब्द से कितना न पाओगे! किसी को मिला, उसके पास बैठ कर मस्त हो गये तो खुद के भीतर जब खुलेगा द्वार तो कैसी मस्ती न आयेगी! मधुशाला पूरी की पूरी मिल जायेगी। मैं तो जैसे प्याली में ढाल-ढाल कर दे रहा हूं!

मुल्ला नसरुद्दीन ने एक मधुशाला खरीद ली--यह सोच कर कि क्या ऐसा बार-बार दूसरे की दूकान पर जा कर पीना! तीन पियक्कड़ों ने विचार किया कि यह तो बात ठीक नहीं, रोज पीते हैं आकर और नुकसान भी होता, और यह कमाई भी कर रहा है! तो हम खरीद ही क्यों न लें! तीनों ने अपनी संपत्ति इकट्ठी करके मधुशाला खरीद ली। और जिस दिन उन्होंने मधुशाला खरीदी उन्होंने तख्ती वगैरह निकाल दी दूकान पर से। और दूकान पर एक बड़ा बोर्ड लगा दिया कि दूकान सदा के लिए बंद है। और पियक्कड़ आये, उन्होंने कहा: यह मामला क्या है? तो मुल्ला ने खिड़की खोली और उसने कहा: क्या समझा, तुम्हारे लिए खरीदी दूकान? अब हम तीनों मजा करेंगे। हो गया बहुत! अब यह दूकान बंद है। खरीदी ही इसलिए कि अब हम तीनों अंदर मजा करेंगे। अब कोई बेचना-बाचना नहीं है।

जब तुम्हारे भीतर मधुशाला के तुम पूरे मालिक हो जाओ...। उसकी तुम आज कल्पना भी नहीं कर सकते। अभी तो एक किरण भी तुम्हारे भीतर उतर जाती है तो पुलकित कर जाती है। कभी मेरे तार से तुम्हारा तार मिल जाता है--क्षण भर को ही मिलता--तुम डोल जाते। लेकिन जब तुम्हारी वीणा पूरी की पूरी प्रभु से मिल कर बजने लगेगी, तब की सोचो! हजारों गुना, हजार-हजार गुना, कल्पना करो!

तो बुद्धि तो थोड़ी सी झलक दे सकती है। वहां रुक मत जाना। बुद्धि निश्चित झलक देती है। विरोध तो तब पैदा होता है जब तुम रुक गये और पकड़ कर बैठ गये और तुमने कहा: आ गये! तो तुम--ऐसा समझो--मील का पत्थर पकड़ कर बैठ गये, जिस पर लिखा है: दिल्ली, और तीर बना आगे कि चलो आगे। तुम पकड़ कर बैठ गये कि यह रही दिल्ली; साफ तो लिखा है दिल्ली! और तीर देखा नहीं। या समझा है कि तीर किसी ने सजावट के लिए बनाया होगा। दिल्ली यह रही। बैठ गये लाल पत्थर को लग कर। ऐसे दिल्ली नहीं आती। दिल्ली दूर है।

तीर पर ख्याल रखना। हर सीढ़ी पर तीर लगा है आगे के लिए। क्योंकि हर सीढ़ी आगे के लिए तैयार करती है। बुद्धि तुम्हें बुद्धि के पार जाने के लिए तैयार करती है।

दूसरी बात पूछी है कि हिंदुओं का जो प्रसिद्ध गायत्री मंत्र है वह इसी बुद्धि (धी) के लिए प्रार्थना-सा लगता है।

अब इस संबंध में समझना होगा कि संस्कृत, अरबी जैसी पुरानी भाषाएं बड़ी काव्य-भाषाएं हैं। उनमें एक शब्द के अनेक अर्थ होते हैं। वे गणित की भाषाएं नहीं हैं। इसलिए तो उनमें इतना काव्य है। गणित की भाषा में एक बात का एक ही अर्थ होता है। दो अर्थ हों तो भ्रम पैदा होता है। इसलिए गणित की भाषा तो बिलकुल चलती है सीमा बांधकर। एक शब्द का एक ही अर्थ होना चाहिए। संस्कृत, अरबी में तो एक-एक के अनेक अर्थ होते हैं।

अब "धी" इसका एक अर्थ तो बुद्धि होता है: पहली सीढ़ी। और धी से ही बनता है ध्यान--वह दूसरा अर्थ, वह दूसरी सीढ़ी। अब यह बड़ी अजीब बात है। इतनी तरल है संस्कृत भाषा। बुद्धि में भी थोड़ी सी धी है; ध्यान में बहुत ज्यादा। ध्यान शब्द भी "धी" से ही बनता है, धी का ही विस्तार है। इसलिए गायत्री मंत्र को तुम कैसा समझोगे, यह तुम पर निर्भर है, उसका अर्थ कैसा करोगे।

यह रहा गायत्री मंत्र:

ॐ भू भुवः स्वः तत्सवितुर् देवस्य वरेण्यं भगोः धीमहिः याः न धियः प्र चोदयात्।

"वह परमात्मा सबका रक्षक है--ॐ! प्राणों से भी अधिक प्रिय है--भूः। दुखों को दूर करने वाला है--भुवः। और सुख रूप है--स्वः। सृष्टि का पैदा करनेवाला और चलानेवाला है, सर्वप्रेरक-- तत्सवितुर्। और दिव्य गुणयुक्त परमात्मा के--देवस्य। उस प्रकाश, तेज, ज्योति, झलक, प्राकटय या अभिव्यक्ति का, जो हमें सर्वाधिक प्रिय है--वरेण्यं भगोः। धीमहिः--हम ध्यान करें।"

अब इसका तुम दो अर्थ कर सकते हो: धीमहिः--कि हम उसका विचार करें। यह छोटा अर्थ हुआ, खिड़कीवाला आकाश। धीमहिः--हम उसका ध्यान करें: यह बड़ा अर्थ हुआ। खिड़की के बाहर पूरा आकाश।

मैं तुमसे कहूंगा: पहले से शुरू करो, दूसरे पर जाओ। धीमहिः में दोनों हैं। धीमहिः तो एक लहर है। पहले शुरू होती है खिड़की के भीतर, क्योंकि तुम खिड़की के भीतर खड़े हो। इसलिए अगर तुम पंडितों से पूछोगे तो वे कहेंगे धीमहिः का अर्थ होता है विचार करें, चिंतन करें, सोचें। अगर तुम ध्यानी से पूछोगे तो वह कहेगा धीमहिः, अर्थ सीधा है: ध्यान करें। हम उसके साथ एकरूप हो जायें। अर्थात वह परमात्मा--याः, ध्यान लगाने की हमारी क्षमताओं को तीव्रता से प्रेरित करे--न धियाः प्र चोदयात्।

अब यह तुम पर निर्भर है। इसका तुम फिर वही अर्थ कर सकते हो--न धियाः प्र चोदयात्--वह हमारी बुद्धियों को प्रेरित करे। या तुम अर्थ कर सकते हो कि वह हमारी ध्यान की क्षमताओं को उकसाये। मैं तुमसे कहूंगा, दूसरे पर ध्यान रखना। पहला बड़ा संकीर्ण अर्थ है, पूरा अर्थ नहीं।

फिर ये जो वचन हैं गायत्री मंत्र जैसे, ये बड़े संगृहीत वचन हैं। इनके एक-एक शब्द में बड़े गहरे अर्थ भरे हैं। यह जो मैंने तुम्हें अर्थ किया यह शब्द के अनुसार। फिर इसका एक अर्थ होता है भाव के अनुसार। जो मस्तिष्क से सोचेगा, उसके लिए यह अर्थ कहा। जो हृदय से सोचेगा उसके लिए दूसरा अर्थ कहता हूं।

वह जो ज्ञान का पथिक है, उसके लिए यह अर्थ कहा। वह जो प्रेम का पथिक है, उसके लिए दूसरा अर्थ। वह भी इतना ही सच है। और यही तो संस्कृत की खूबी है। यही अरबी, लैटिन और ग्रीक की खूबी है। जैसे कि अर्थ बंधा हुआ नहीं है। ठोस नहीं, तरल है। सुनने वाले के साथ बदलेगा। सुनने वाले के अनुकूल हो जायेगा। जैसे तुम पानी ढालते, गिलास में ढाला तो गिलास के रूप का हो गया। लोटे में ढाला तो लोटे के रूप का हो गया। फर्श पर फैला दिया तो फर्श जैसा फैल गया। जैसे कोई रूप नहीं है, अरूप है, निराकार है।

अब तुम भाव का अर्थ समझो:

"मां की गोद में बालक की तरह मैं उस प्रभु की गोद में बैठा हूं--ॐ। मुझे उसका असीम वात्सल्य प्राप्त है--भूः। मैं पूर्ण निरापद हूं--भुवः। मेरे भीतर रिमझिम-रिमझिम सुख की वर्षा हो रही है। और मैं आनंद में गदगद हूं--स्वः। उसके रुचिर प्रकाश से, उसके नूर से मेरा रोम-रोम पुलकित है तथा सृष्टि के अनंत सौंदर्य से मैं परम मुग्ध हूं--तत्स् वितुर्, देवस्य। उदय होता हुआ सूर्य, रंग-बिरंगे फूल, टिमटिमाते तारे, रिमझिम-रिमझिम वर्षा, कलकलनादिनी नदियां, ऊंचे पर्वत, हिमाच्छादित शिखर, झरझर करते झरने, घने जंगल, उमड़ते-घुमड़ते बादल, अनंत लहराता सागर--धीमहिः। ये सब उसका विस्तार है। हम इसके ध्यान में डूबें। यह सब परमात्मा है। उमड़ते-घुमड़ते बादल, झरने, फूल, पत्ते, पक्षी, पशु--सब तरफ वही झांक रहा है। इस सब तरफ झांकते परमात्मा के ध्यान में हम डूबें; भाव में हम डूबें। अपने जीवन की डोर मैंने उस प्रभु के हाथ में सौंप दी--याः न धियाः प्र चोदयात्। अब मैं सब तुम्हारे हाथ में सौंपता हूं, प्रभु। तुम जहां मुझे ले चलो मैं चलूंगा।

भक्त ऐसा अर्थ करेगा।

और मैं यह नहीं कह रहा हूं कि इनमें कोई भी एक अर्थ सच है और कोई दूसरा अर्थ गलत है। ये सभी अर्थ सच हैं। तुम्हारी सीढ़ी पर, तुम जहां हो वैसा अर्थ कर लेना। लेकिन एक खयाल रखना, उससे ऊपर के अर्थ को भूल मत जाना, क्योंकि वहां जाना है, बढ़ना है, यात्रा करनी है।

आखिरी प्रश्नः "हरि ॐ तत्सत्" को समझाने की कृपा करें।

कुछ तो छोड़ दो बिना समझा हुआ।

हरि ॐ तत्सत्!

पचपनवां प्रवचन

परमात्मा हमारा स्वभावसिद्ध अधिकार है

अष्टावक्र उवाच।

यस्य बोधोदये तावत्स्वप्नवद्भ्रुवति भ्रमः।
तस्मै सुखैकरूपाय नमः शांताय तेजसे।। १७७।।
अर्जयित्वाऽखिलानार्थान् भोगानाप्नोति पुष्कलान्।
नहि सर्वपरित्यागमंतरेण सुखी भवेत।। १७८।।
कर्तव्यदुःखमार्तंडज्वालादग्धांतरात्मनः।
कुतः प्रशमपीयूषधारा सारमृते सुखम्।। १७९।।
भवोऽयं भावनामात्रो न किंचित्परमार्थतः।
नात्स्यभावः स्वभावानां भावाभार्वावभाविनाम्।। १८०।।
न दूरं न च संकोचाल्लब्धमेवात्मनः पदम्।
निर्विकल्पं निरायासं निर्विकारं निरंजनम्।। १८१।।
व्यामोहमात्रविरतौ स्वरूपादानमात्रतः।
वीतशोका विराजंते निरावरणदृष्टयः।। १८२।।
समस्तं कल्पनामात्रमात्मा मुक्तः सनातनः।
इति विज्ञाय धीरो हि किमभ्यस्यति बालवत्।। १८३।।

यस्य बोधोदये तावत्स्वप्नवद्भ्रुवति भ्रमः।
तस्मै सुखैकरूपाय नमः शांताय तेजसे।।

"जिसके बोध के उदय होने पर समस्त भ्रांति स्वप्न के समान तिरोहित हो जाती है, उस एकमात्र आनंदरूप, शांत और तेजोमय को नमस्कार है।"

परमात्मा को, सत्य को, अस्तित्व को हम तीन रूपों में देख सकते हैं।

एक--तू के रूप में; जैसा भक्त देखता है: स्वयं को मिटाता है, मैं को गिराता है और परमात्मा को पुकारता है। जैसे प्रेमी अपनी प्रेयसी को देखता है। जैसे मां अपने बेटे को देखती है। खुद को भूल जाता है; परमात्मा "तू" की तरह प्रगट होता है।

फिर एक रास्ता है ज्ञानी का: अहं ब्रह्मास्मि! परमात्मा "मैं" की भांति प्रगट होता है।

और एक रास्ता है--कहें कि न ज्ञानी का, न भक्त का--अत्यंत संतुलन का। वह परमात्मा को "वह" के रूप में देखता है--न मैं न तू। क्योंकि मैं और तू में तो द्वंद्व है। कहो तू, कितना ही मैं को मिटाओ, तू कहने के लिए मैं तो बना रहेगा। तू में अर्थ ही न होगा अगर मैं न हो। कितना ही कहो मैं नहीं हूं, यह कहते ही तुम तो हो जाओगे; मैं बन जायेगा। अपने को पोंछ दो बिलकुल, कहो कि पैरों की धूल हूं, तब भी रहोगे। "नहीं हूं," ऐसी घोषणा में भी तुम्हारे होने की घोषणा ही होगी।

जब तक तू है जब तक मैं से बचना संभव नहीं है। क्योंकि मैं और तू एक ही सिक्के के दो पहलू हैं; अलग किये नहीं जा सकते। तू का अर्थ ही यही है कि जो मैं नहीं। तू की परिभाषा ही न हो सकेगी अगर मैं बिलकुल गिर जाये।

जलालुद्दीन रूमी की प्रसिद्ध कविता है। प्रेमी ने द्वार पर दस्तक दी प्रेयसी के और पीछे से पूछा गया: "कौन आया है? कौन है?" और प्रेमी ने कहा: "मैं हूं तेरा प्रेमी।" और भीतर सन्नाटा छा गया। प्रेमी ने दुबारा

दस्तक दी और कहा: "क्या मुझे पहचाना नहीं? मेरी आवाज, मेरे पदचाप पहचाने नहीं? मैं हूं तेरा प्रेमी!" प्रेयसी ने कहा: "सब पहचान गयी, लेकिन यह घर बहुत छोटा है। प्रेम का घर बड़ा छोटा है--इसमें दो न समा सकेंगे; इसमें एक ही समा सकता है।"

कबीर ने कहा है न, प्रेमगली अति सांकरी, तामें दो न समाय।

और जलालुद्दीन अपनी कविता में कहता है कि प्रेमी चला गया। यह सूफियों की बड़ी मूलभूत धारणा है। प्रेमी चला गया। उसने वर्षों मेहनत की। चांद आये-गये। सूरज उगे-डूबे! उसने सब फिक्र छोड़ दी। उसने अपने मैं को बिलकुल मिटा डाला। फिर आया वर्षों के बाद; द्वार पर दस्तक दी। वही प्रश्न: कौन है? इस बार उसने कहा: तू ही है, और कोई नहीं। और रूमी कहता है, द्वार खुल गये।

अगर मुझसे पूछो तो मैं कहूंगा, द्वार अभी खुलने नहीं चाहिए। अगर उपनिषदों से पूछो तो उपनिषद भी कहेंगे कि द्वार अभी खुलने नहीं चाहिए। जरा जल्दी खुल गये। यह कविता थोड़ी और आगे जानी चाहिए। क्योंकि जब प्रेमी ने कहा, तू ही है, तब कितना ही अप्रगट सही लेकिन मैं तो हो गया। नहीं तो तू कौन कहेगा? सन्नाटा नहीं है अभी। अभी तू की आवाज उठती है। तो तू की आवाज बिना मैं के तो उठ सकती नहीं। कहीं छिपा मैं मौजूद है। किसने दिया उत्तर?

अगर जलालुद्दीन रूमी कहीं मुझे मिल जाये तो उसे कहूंगा: कविता पूरी कर दो; यह अधूरी है। अगर मुझे कविता पूरी करनी हो तो मैं कहूंगा: प्रेयसी ने फिर कहा वही कि इस घर में दो न समा सकेंगे। यह घर बड़ा संकरा है। माना कि तुम अप्रगट हो कर आये हो, लेकिन अभी भी तुम हो; छिप कर आये हो, मगर अब भी तुम हो; परदा करके आये हो, परदे की ओट में आये हो, मगर अब भी तुम हो; घूंघट डाल कर आये हो, मगर अब भी तुम हो। बुरके से धोखा न होगा।

और मैं कहूंगा, प्रेमी फिर वापिस चला गया। और तीसरी बार आता ही नहीं है। क्योंकि कैसे आएगा? आने के लिए तो मैं चाहिए। तीसरी बार तो प्रेमी आता नहीं, प्रेयसी उसे खोजने जाती है--जिस दिन उसका मैं बिलकुल मिट जाता है।

तो मैं तुमसे कहता हूं: परमात्मा को पाने तुम्हें जाने की जरूरत नहीं है। तुम अगर बिलकुल न हो जाओ तो परमात्मा आता है। आना ही चाहिए; तुमने शर्त पूरी कर दी। तुम जाओगे भी खोजने कहां? तुम किसे खोजोगे? तुम जब तक खोजोगे, तुम रहोगे। खोजनेवाले में तो मैं छिपा ही रहेगा। खोजी तो रहेगा! और जब तक तुम खोजोगे, तुम्हारी नजर रहेगी। किसको खोजोगे? तुम्हारी कोई धारणा रहेगी। तुम्हारा कोई मन में छिपा हुआ भाव रहेगा। तुम वही तो खोजोगे न जो "तुम" खोज सकते हो! परमात्मा को कैसे खोजोगे? तुम्हारी धारणा का परमात्मा होगा। जब तक तुम हो, तुम्हारी धारणा का जाल रहेगा।

और अगर कभी तुम्हें कोई परमात्मा मिल भी जाए तो वह तुम्हारा स्वप्न ही होगा। इसलिए हिंदू कृष्ण से मिल जाएगा; ईसाई क्राइस्ट के दर्शन कर लेगा; बौद्ध बुद्ध की प्रतिमा के सामने खड़े होते-होते धीरे-धीरे एक दिन अंतरप्रतिमा पैदा कर लेगा। वह कल्पना का ही जाल है; भावनामात्रम्; भावना से ज्यादा कुछ भी नहीं है। बड़ी प्यारी भावना है। लेकिन है तो भावना ही। है तो अपनी ही कल्पना का विस्तार। है तो आत्मसम्मोहन ही, ऑटोहिपनोसिस। इससे ज्यादा नहीं है। सुंदर है, शुभ है, प्रीतिकर है; फिर भी सत्य नहीं।

सत्य न तो सुंदर है, न असुंदर। सत्य न तो कड़वा है, न मीठा। सत्य न तो फूल है, न कांटा। सत्य तो द्वंद्व के अतीत है। तो सत्य न तो मैं है न तू। सत्य तो "वह" है। इसलिए उपनिषद कहते हैं: तत्वमसि श्वेतकेतु। हे श्वेतकेतु, तू वह है। वह बड़ी निष्पक्ष धारणा है--न मैं न तू; दोनों के पार।

पहला सूत्र है आज अष्टावक्र का, बड़ा अदभुत: यस्य बोधोदये--जिसके उदय से।

नहीं कहा प्रभु के उदय से। क्योंकि प्रभु कहो तो तू आ जाता है। नहीं कहा आत्मोदय से। क्योंकि आत्मोदय कहो, मैं आ जाता है। कहा, यस्य बोधोदये, जिसके उदय से। कोई नाम नहीं दिया; कोई सीमा नहीं बांधी। सिर्फ इशारा है; कोई परिभाषा नहीं।

यस्य बोधोदये तावत्स्वप्नवद्भ्रुवति भ्रमः।

"उसके उदय से...।"

जैसे सुबह सूरज निकलता और ओस-कण जो अभी-अभी क्षण भर पहले तक मोतियों के जैसे झलकते थे घास की पत्तियों पर, तिरोहित होने लगते हैं--ऐसे ही उसके उदय से, उस महासूर्य के तुम्हारे चैतन्य में प्रवेश करने से, वे जो तुम्हारे अब तक के मनोभाव थे, कल्पना के जाल थे, आकांक्षाएं थीं, वासनाएं थीं, तृष्णा थी, मोह था, क्रोध था, लोभ था, वे सब मोती जिन्हें तुमने संजो कर रखा था, ओस की बूंदों की तरह तिरोहित होने लगते हैं। सब भ्रम विसर्जित हो जाते हैं--उसके उदय मात्र से, उसकी मौजूदगी से।

अब इसमें फर्क समझना। साधारणतः आदमी सोचता है कि मैं मोह को मिटाऊं, क्रोध को मिटाऊं, लोभ को मिटाऊं, ये सारी बीमारियां मिटा डालूं, तब प्रभु का दर्शन होगा। यहां बात उल्टी है। प्रभु के दर्शन से ये सब मिटते हैं। सूरज के उदय होते ही सारे ओस-कण तिरोहित हो जाते हैं। और देखा, अंधेरा कैसा भागता है! और तुम अगर ओस-कणों को एक-एक मिटाने लगोगे तो क्या मिटा पाओगे? और अगर तुम अंधेरे को काटने लगोगे तो क्या काट पाओगे? उदय होते ही सूर्य के, अंधेरा नहीं रह जाता है। ओस-कण तिरोहित होने लगते हैं, विदा होने लगते हैं। उनकी घड़ी गयी; उनकी मृत्यु का क्षण आ गया। लेकिन अगर तुम ओस-कणों को मिटाने लगो तो कभी इस पृथ्वी से तुम ओस-कण न मिटा पाओगे। और अगर तुम अंधेरे को जलाने लगो, तलवारों से काटने लगो, धक्के दे कर हटाने लगो; तुम्हीं मिट जाओगे, अंधेरा न मिटेगा।

इस सूत्र में यह बात भी छिपी है कि असली सवाल तुम्हारे लोभ, क्रोध, मोह के मिटाने का नहीं है; असली सवाल उसके उदय का है। इसलिए मेरे पास लोग आते हैं। वे कहते हैं कि आप सिर्फ ध्यान के लिए कहते हैं! आप अपने शिष्यों को यह नहीं कहते कि कामवासना छोड़ो, क्रोध छोड़ो, मोह छोड़ो, लोभ छोड़ो। आप उनको संसार से भी अलग नहीं करते हैं; घर-गृहस्थी से भी अलग नहीं करते हैं। इस सब प्रपंच में पड़े रहने देते हैं। मैं कहता हूं: "यस्य बोधोदये--उसके उदय से।"

और उसके उदय के लिए हम एक ही उपाय कर सकते हैं, वह है कि शांत चित्त, शून्य चित्त, विचार शून्य हो जाएं। अगर तुम विचार शून्य होने लगे तो उसके उदय के लिए तुमने जगह खाली कर दी। बस इतना ही तुम कर सकते हो। इससे अन्यथा आदमी के बस में नहीं है।

परमात्मा को पाना आदमी के बस में नहीं है। आदमी सिर्फ अपनी प्यास की अभिव्यक्ति कर सकता है। पुकार दे सकता है, लेकिन खींच लेना आदमी के बस में नहीं है। और जो परमात्मा आदमी के खींचने से जाए, वह परमात्मा नहीं है। वह तुमसे भी क्षुद्र हो गया जो तुम्हारी बाल्टी में भरकर चला आया; जो तुम्हारी मुट्ठी में आ गया। वह तुमसे भी गया-बीता हो गया जो तुम्हारी तिजोरी में बंद हो गया, जिसकी चाबी तुम्हारे हाथ में हो गयी।

नहीं, परमात्मा को तुम कभी खींच नहीं सकते; तुम सिर्फ पुकार सकते हो। तुम रो सकते हो। तुम गीत गा सकते हो। तुम नाच सकते हो। तुम सिर्फ जगह खाली कर सकते हो। तुम सिर्फ कह सकते हो: घर तैयार है, अब तू आ जा! तुम दरवाजा खोल सकते हो। तुम सूरज की किरणों को भीतर थोड़े ही खींच कर ला सकते हो। दरवाजा खोल कर बैठ जाओ; जब आना होगा आ जाएगा। जब घड़ी पकेगी, मौसम पूरा होगा, समय आएगा--आ जाएगा।

वस्तुतः जो खोजी है वह कुछ भी नहीं करता है। वह सिर्फ अपने को ध्यान में उतारता है। ध्यान का अर्थ है: खाली हो कर बैठ जाता है, दरवाजा खोल कर बैठ जाता है। ध्यान का अर्थ है: तुम आओगे तो मुझे भरा न

पाओगे; तुमने अगर द्वार पर दस्तक दी तो मैं सुन लूंगा, मैं अपने विचारों में उलझा न रहूंगा। नहीं तो बहुत बार होता है, द्वार पर वह दस्तक देता है...शायद रोज ही देता है। देता ही होगा, क्योंकि तुम्हीं तो उसे नहीं खोज रहे, वह भी तुम्हें खोज रहा है। यह खेल एकतरफा नहीं है। यह आग एकतरफा लगी नहीं है। यह दोनों तरफ लगी है। तो ही तो मजा है। तुम ही अगर प्रेयसी को खोज रहे हो, प्रेयसी तुममें उत्सुक ही नहीं है, तो यह प्रेम का फूल कभी खिलेगा नहीं। जब प्रेमी और प्रेयसी दोनों खोजते हैं, तभी प्रेम का फूल खिलता है। जब दोनों पागल हैं, तभी प्रेम का फूल खिलता है। परमात्मा भी तुम्हें खोज रहा है। आता भी है।

रवींद्रनाथ का एक गीत है कि एक रात एक महामंदिर में मंदिर के बड़े पुजारी ने स्वप्न देखा कि प्रभु ने कहा है कि कल मैं आता हूं। पुजारी को भरोसा न आया।

पुजारी तो जगत में सबसे ज्यादा नास्तिक होते हैं। क्योंकि धंधे के भीतरी राज उनको मालूम होते हैं। वे आस्तिक हो नहीं सकते। आस्तिकता तो उनके लिए शोषण का उपाय है। तुम कभी किसी वैज्ञानिक को तो आस्तिक पा सकते हो; शायद कभी किसी कवि में तुम्हें झलक मिल जाए आस्तिकता की, कभी-कभी ऐसा भी हो सकता है कि कोई दार्शनिक भी अपने ऊहापोह से उठ कर एक दफा आंख खोले और आकाश की तरफ देखे। लेकिन पुरोहित नहीं। क्योंकि पुरोहित को तो पता ही है यह सब जाल है। वह तो जाल के भीतर बैठा है।

ऐसा ही समझो कि मदारी सबको धोखा दे देता; अपने को थोड़े ही धोखा दे सकता है। वह तो जानता है कि कहां छिपा रखी है चीज और कैसे निकलती है। वह तो जानता है कि पत्थर की मूर्ति है, बाजार से खरीद लाये हैं। वह तो जानता है कि रात चूहे भी चढ़ जाते हैं इस मूर्ति के ऊपर और मूर्ति कुछ नहीं कर पाती। और भोग वगैरह कितना ही लगाओ, यह मूर्ति कुछ लेती नहीं है; यह खुद ही ले जाता है सब भोग। पैसे इस पर चढ़ते हैं, पहुंचते उसकी जेब में हैं। वह सब जानता है कि खेल क्या है।

उस बड़े पुजारी को सपना तो आया, लेकिन भरोसा न आया। शायद परमात्मा ने सपने में दस्तक दी। लेकिन डरा भी, भयभीत भी हुआ कि कहीं ऐसा न हो कि आ ही जाए! कभी आया न था। मंदिर हजारों वर्ष पुराना था। बड़ी प्रतिष्ठा का था। सौ तो पुजारी थे मंदिर में। तो थोड़ा बेचैन भी हुआ। बेचैनी दो तरह की थी। किसी को कहे, पुजारियों को कहे तो वे हंसेंगे; क्योंकि वे भी जानते हैं कि कभी आया कि कभी गया, सब बकवास है! लेकिन अगर न कहे और कहीं आ जाये तो फिर मैं ही फंसूंगा मुसीबत में। इसलिए दोपहर होते-होते उसने बात खोल दी। उसने सब पुजारियों को इकट्ठा किया, कहा कि मुझे भरोसा तो नहीं आता, भरोसे की बात भी नहीं है, सपना ही है, लेकिन तुम्हें कह दूं कि रात मैंने सपना देखा कि वह कहता है कि मैं आ रहा हूं; कल तैयारी कर रखना। पुजारी पहले तो हंसे। उन्होंने कहा: पागल हो गये हैं आप? बुढ़ापे में दिमाग खराब हुआ है! जिंदगी हो गयी पूजा करते, हमारे बाप-दादे भी करते रहे, उनके बाप-दादे भी यही करते थे; सदियों पुराना यह मंदिर है, कभी परमात्मा आया नहीं। और आज अचानक बिना किसी कारण के, अकारण! लेकिन फिर वे भी चिंतित हुए। तो बड़े पुजारी ने कहा, अब तुम सोच लो; फिर जिम्मेवारी तुम्हारी रही। अगर आ जाए तो मुझे जिम्मेवार मत ठहराना। तब वे भी डरे। उन्होंने कहा, हर्ज भी क्या है, हम तैयारी कर लें। न आया तो चलेगा। मंदिर साफ-सुथरा हो जायेगा। और भोग जो हम बनाएंगे, जैसा रोज हम बनाते हैं, आज भी बना लें। लगायेंगे तो हम ही। आने वाला तो कोई है नहीं। तो ठीक है, चलो, एक उत्सव हो जायेगा।

उन्होंने सारा मंदिर घिसा, सारा मंदिर साफ किया। धूप-दीप जलाये; इत्र छिड़का, फूल सजाये, जानते हुए कि कोई आ नहीं रहा है, अच्छा पागलपन कर रहे हैं! जानते हुए कि यह सब मजाक हुई जा रही है एक सपने के पीछे। सांझ हो गई। उसके आने का कोई पता नहीं है। रात भी होने लगी। फिर तो वे कहने लगे कि हम भी बिलकुल पागल हैं; सपने के पीछे दिन भर मेहनत करते-करते बिलकुल थक गये; अब भोग लगा लें और सो जाएं। तो उन्होंने खूब भोजन कर लिया। दिन भर के थके-मांदे खूब भोजन कर लिया। स्वादिष्ट और गरिष्ठ भोजन बनाया था। फिर पड़ गये गहरी नींद में।

रात परमात्मा आया। उसका रथ। गड़गड़ाहट की आवाज। एक पुजारी ने नींद में सुना कि गड?गड़ाहट की आवाज है, जैसे रथ के पहिये हों। उसने कहा, सुनो, लगता है कि कोई आया है; रथ की गड़गड़ाहट है। लेकिन दूसरे पुजारी ने कहा, बंद करो यह बकवास! एक के सपने के पीछे दिन भर परेशान हुए, अब तुम्हें सपना आ रहा है! कोई गड़गड़ाहट नहीं, आकाश में बादल गरजते हैं। फिर वे सो गये।

फिर द्वार पर रथ आ कर रुका। वह उतरा; सीढ़ियां चढ़ा। उसने दरवाजे पर दस्तक दी। फिर किसी पुजारी को स्वप्न में ऐसा लगा कि कोई दस्तक दे रहा है। उसने फिर कहा कि सुनो भाई, लगता है कि कोई दस्तक दे रहा है। तब तो फिर बड़ा पुजारी भी चिल्लाया कि हर चीज की सीमा होती है। यद्यपि मैंने ही यह नासमझी शुरू की; लेकिन अब सोने भी दो। कोई कहता है, रथ गड़गड़ा रहा है; कोई कहता है कि द्वार पर दस्तक दी। कुछ नहीं, हवा का झोंका है। सो जाओ चुपचाप।

सुबह जब वे उठे, द्वार पर जब वे गये, रथ आया था, रथ के चिह्न थे। कोई सीढ़ियां चढ़ा था; किसी के पैरों के चिह्न थे। किसी ने द्वार पर दस्तक दी थी; किसी के हाथ की छाप थी। तब वे बहुत रोने लगे।

रवींद्रनाथ की कविता का शीर्षक है: अवसर चूक गया।

शायद प्रभु आता भी है। यह कविता कविता नहीं है, गहरी सूझ है इसमें। लेकिन तुम कुछ व्याख्या कर लेते हो। तुम्हारा मन कुछ व्याख्या कर लेता है। तुम्हारा मन तुम्हें कुछ उत्तर दे देता है। तुम इतने भरे हो, तुम्हारे भीतर इतने विचारों का जाल है कि उस जाल को पार करके कोई सत्य तुम तक पहुंच नहीं पाता है। इसलिए मैं कहता हूं ध्यान। ध्यान का कुछ और अर्थ नहीं है। ध्यान का इतना ही अर्थ है: तुम जरा विचार को शिथिल करो; तुम अपनी व्याख्याएं जरा छोड़ो; तुम अपनी धारणाओं को बहुत मूल्य मत दो; तुम जरा द्वार खोलो, कपाट खोलो मंदिर के; तुम मंदिर के द्वार पर बैठो, राह देखो, प्रतीक्षा करो। इतना ही काफी है कि तुम खाली आंख देखो ताकि वह आए तो तुम पहचान लो। तुम्हारा मन कोई व्याख्या करके तुम्हें च्युत न कर दे।

यस्य बोधोदये तावत्स्वप्नवद् भवति भ्रमः।

उसके अनुभव के आते ही, तुम्हारे चैतन्य के क्षितिज पर उसकी किरणों के फूटते ही तुमने अब तक जो जीवन जाना था सब भ्रम हो जाता है, सब स्वप्न हो जाता है।

तुम सुनते हो, तथाकथित पंडित, साधु-संत लोगों को समझाते रहते हैं, जगत माया है। जगत इतने सस्ते में माया नहीं है। महंगा सौदा है। ऐसे वह माया नहीं होता! जब तक ईश्वर सच न हो जाए, तब तक भूल कर जगत को माया मत कहना। अन्यथा तुम एक झूठ दोहरा रहे हो। वह तुम्हारा अनुभव नहीं है। माया कोई दार्शनिक सिद्धांत नहीं है--एक अनुभूति, एक प्रत्यक्ष साक्षात्कार है। यह तो ऐसा ही है कि अंधेरे में तो बैठे हो, प्रकाश से तो कभी आंखों का मिलन न हुआ, प्रकाश से तो कभी भांवर न पड़ी और अंधेरे में बैठे-बैठे कहते हो: अंधेरा सब असत्य है। और उसी अंधेरे के कारण लड़खड़ाते हो, बार-बार गिर जाते हो, हाथ-पैर तोड़ लेते हो, हड्डी-पसलियां टूट जाती हैं, गड्ढों में पड़ जाते हो, नालियों में गिर जाते हो और कहे चले जाते हो कि अंधेरा नहीं है। तुम्हारी हालत देखकर पता चलता है कि सिर्फ अंधेरा है, और कुछ भी नहीं है। और तुम्हारे वचन सुन कर लगता है कि अंधेरा कुछ भी नहीं है, सब भ्रम-जाल है, असली में तो प्रकाश है। लेकिन वह प्रकाश कहां है? और अगर प्रकाश हो तो तुम गड्ढों में न गिरो, दीवालों से न टकराओ; तुम्हारे जीवन में राह हो, तुम्हारे जीवन में शांति हो, चैन हो, आनंद हो।

जब कोई आदमी तुमसे कहे, जगत माया है, तो जरा गौर से देखना, क्या उस आदमी की आंखों में प्रभु का प्रकाश है? क्या उस आदमी की वाणी में शून्य का स्वर है? क्या उस आदमी के चलने-बैठने में प्रसाद है? जरा गौर से देखना। क्या वह कहता है, इसका कोई मूल्य नहीं है।

संसार तभी माया होता है जब "उसका" उदय हो जाता है; उसके पहले नहीं। उसके पहले संसार ही सच है, परमात्मा माया है। तुम्हारे लिए परमात्मा झूठ है, संसार सच है। और अगर तुम ऐसा मान कर चलो तो शायद किसी दिन परमात्मा सच हो जाए और संसार झूठ हो जाए।

लेकिन तुम झूठ में खूब खोये हो। तुम मानते संसार को सच हो, जानते भी संसार को सच हो, और दोहराते हो कि संसार माया है। यह झूठा पाखंड है। पांडित्य अक्सर पाखंड ही होता है। तुमने उधार सत्य सीख लिया। सुन लिया तुमने अपनी नींद में किसी और का वचन, किसी बुद्ध की वाणी सुन ली नींद में पड़े-पड़े, और नींद में तुम उसे दोहराने लगे। उसका कोई संस्पर्श नहीं हुआ तुम्हारे जीवन में; वह छुई नहीं; तुम्हारे प्राण उससे बदले नहीं। अब कोई कितना ही लाख चिल्लाये कि सुबह हो गयी, सूरज निकला, अंधेरा झूठ है और हाथ में लालटेन लिये चल रहा हो, तो तुम क्या कहोगे? तुम कहोगे अगर सूरज निकल गया, अंधेरा झूठ है, तो यह लालटेन किसलिए लिये हो?

तुमने साधु-संन्यासियों को देखा? एक तरफ कहते हैं संसार माया है, दूसरी तरफ समझाते हैं कि छोड़ो, त्याग करो। अब माया है तो माया का कोई त्याग कर सकता है? जो है ही नहीं, उसका त्याग कैसे? एक तरफ कहते हैं, संसार है ही नहीं; और दूसरी तरफ कहते हैं, सावधान, कामिनी-कांचन से बचना! जरा इनकी वाणी तो सुनो। लालटेन लटकाये हुए हैं हाथ में और कहते हैं, लालटेन सम्हाल कर रखना और तेल लालटेन में डालते रहना, हालांकि सूरज निकला हुआ है और अंधेरा झूठ है। इनका पागलपन तो देखो।

अगर वस्तुतः ईश्वर है और संसार माया है तो तुम्हारे जीवन में स्वच्छंदता होगी; नियम नहीं हो सकता। यही तो अष्टावक्र का महासूत्र है कि सत्य की सुगंध स्वच्छंदता है। और ध्यान रखना, स्वच्छंदता का अर्थ उद्दंडता नहीं है। स्वच्छंदता का अर्थ है: जो स्वयं के आंतरिक छंद से जीने लगा। अब कोई नियम नहीं रहे; अब बोध ही नियम है। अब जागरूकता ही एकमात्र अनुशासन है; अब बाहर का कोई अनुशासन नहीं है। अब ऐसा करना चाहिए और ऐसा नहीं करना चाहिए, ऐसी कोई मर्यादा नहीं है। अब तो जो उठता है, होता है। क्योंकि परमात्मा ही है तो अब तो ऐसा हो ही नहीं सकता कि क्या नहीं करना चाहिए और क्या करना चाहिए। उसके अतिरिक्त कोई है ही नहीं।

सच तो यह है: जैसे ही तुम्हें लगा कि संसार माया है, तुम्हें यह भी पता चल जाता है कि तुम भी माया हो। तो अब कौन नियम पाले? कौन मर्यादा सम्हाले? अब तो वही है--वही अमर्याद, वही स्वच्छंद; उसका ही रास है।

यस्य बोधोदये तावत्स्वप्नवद् भवति भ्रमः।

तब उसके बोधोदय पर, उसके जागरण पर...!

और इस "बोधोदय" का क्या अर्थ हुआ? इसका अर्थ हुआ: वह तुम्हारे भीतर सोया पड़ा है, जाग जाये बस, जरा करवट लेकर उठ आये बस! कहीं जाना नहीं है, थोड़ी जाग लानी है। जैसे हो तुम, ऐसे ही थोड़ी आंख खोलनी है, थोड़े होश से भरना है। ऐसे मूर्च्छित-मूर्च्छित, सोये-सोये न चलो, थोड़े जाग कर चलने लगो।

तस्मै सुखैकरूपाय नमः शांताय तेजसे।

"उस एकमात्र आनंदरूप, शांत और तेजोमय को नमस्कार है।"

सुनते हैं? नमस्कार राम के लिए नहीं है, नमस्कार अल्लाह के लिए नहीं है, नमस्कार उस तेजोमय, आनंदरूप, शांतिधर्मा के लिए है। नमस्कार उस बोध के लिए, नमस्कार उस सूर्य के लिए, जिसके प्रगट होते ही सब अंधकार तिरोहित हो जाता है।

अष्टावक्र के ये वचन किसी संप्रदाय और किसी धर्म के लिए नहीं हैं। अष्टावक्र के इन वचनों का कोई नाता किसी जाति, किसी देश, किसी समाज से नहीं है। और जब तक तुमने अल्लाह को नमस्कार किया, तब तक तुम्हारा नमस्कार व्यर्थ जा रहा है--याद रखना। और जब तक तुमने राम को नमस्कार किया, तब तक तुम

हिंदुओं को नमस्कार कर रहे हो, राम को नहीं। और जब तक तुमने बुद्ध के चरणों में सिर झुकाये, तब तक तुम बौद्ध हो; धार्मिक नहीं। जिस दिन तुम्हारा नमस्कार जागरण मात्र को, बोध मात्र को, उस दिन तुम्हारा नमस्कार सारे अस्तित्व के प्रति हो जाएगा। उस दिन तुम्हारे ऊपर किसी मंदिर, मस्जिद, गुरुद्वारे की कोई सीमा न रह जाएगी। उस असीम को नमस्कार करते ही तुम भी असीम हो जाओगे। होना भी ऐसा ही चाहिए। असीम को नमस्कार करो और तुम सीमित रह जाओ तो नमस्कार व्यर्थ गया।

नमस्कार का अर्थ क्या होता है?

नमस्कार का अर्थ होता है: झुक जाना; नमन; लीन हो जाना; अपने को डुबा देना। नमस्कार का अर्थ वही होता है जो अगर तुम नदी के साथ भागते हुए जाओ और जब नदी सागर में गिरती है, वहां जो घटता है, उसे देखो गौर से: नदी नमस्कार कर रही है सागर को; सागर में लीन हुई जा रही है। अगर नमस्कार के बाद तुम बच रहे तो नमस्कार नहीं। तो तुमने धोखा कर दिया। तो तुमने औपचारिक जय राम जी कर ली। तुम डूबे नहीं, तुम मिटे नहीं। नमस्कार के बाद बचोगे कैसे?

भट्टो जी दीक्षित बंगाल के एक बहुत अदभुत व्याकरणाचार्य हुए हैं। वे साठ वर्ष के हो गये। उनके पिता उन्हें बार-बार कहते कि तू व्याकरण में ही उलझा रहेगा? अरे, अब मंदिर जा, अब प्रभु को नमस्कार कर, पुकार प्रभु को! अब तू भी बूढ़ा होने लगा। बाप तो कोई अस्सी साल के हो गये थे। लेकिन यह बेटा सुनता न था। यह सुन लेता, हंस लेता, टाल जाता। लेकिन एक दिन बाप ने कहा कि सुन, अब मुझे लगता है कि मेरी आखिरी घड़ी करीब आ रही है। और मेरे मन में एक दुख रह जाएगा कि तू मेरे देखते-देखते कभी मंदिर न गया, तूने कभी प्रभु का स्मरण न किया। छोड़ यह बकवास, यह व्याकरण में क्या रखा है? इस लिखने-पढ़ने में क्या धरा है? तू प्रभु को तो याद कर!

भट्टो जी दीक्षित ने कहा कि अब आप मानते नहीं तो मुझे आपसे कहना पड़े। आपको मैं भी देख रहा हूं वर्षों से मंदिर जाते, लेकिन मैंने अभी तक देखा नहीं कि आपने नमस्कार किया हो। क्योंकि आप रोज वैसे के वैसे वापिस लौट आते हैं। नमस्कार के बाद कोई वापिस लौटता है? वैसा का वैसा वापिस लौटता है? पहले तो वापिस ही नहीं लौटना चाहिए, अगर नमस्कार हो गया है। और अगर लौटे भी तो कुछ दूसरा होकर लौटना चाहिए। चालीस-पचास साल से तो मुझे भी याद है, जब से मैंने होश संभाला है, आपको देख रहा हूं सुबह-शाम मंदिर जाते; मगर कोई क्रांति की किरण नहीं दिखी। तो मैंने सोचा, ऐसा नमस्कार करके मैं भी क्या कर लूंगा? मेरे पिता कुछ न कर पाये तो मैं क्या कर लूंगा? जाऊंगा एक दिन, लेकिन तुमसे कहे देता हूं, बस एक बार याद करूंगा। और आप तो जानते हैं, मैं व्याकरण के पीछे पागल हूं। तो उसने कहा कि राम-राम क्या कहना, एक बार रामाः बहुवचन कह देंगे, खतम हुआ। बार-बार राम-राम, राम-राम कहते रहना, जिंदगी भर एकवचन कहने से क्या सार है? बहुवचन में ही एक दफा कह देंगे। समझ लेगा समझ लेगा; नहीं समझा, बात खतम हो गयी। दुबारा कुछ कहने को बचा नहीं।

और कहते हैं, वह गया और एक बार रामाः कहा और वहीं गिर गया। उड़ गये प्राण-पखेरू। घड़ी भर बाद लोगों ने आ कर घर खबर दी पिता को कि आप क्या बैठे कर रहे हैं, आपका बेटा तो जा चुका। सारा गांव इकट्ठा हो गया कि जो कभी मंदिर में न आया था, एक बार आ कर राम को एक बार पुकार कर अनंत यात्रा पर निकल गया! मामला क्या हुआ?

पिता रोने लगे। पिता ने कहा, वह ठीक ही कहता था कि एक ही बार कहूंगा, लेकिन प्राण-पण से कह दूंगा। पूरा-पूरा कह दूंगा, सब लगा कर कह दूंगा। ऐसा रत्ती-रत्ती, रोज-रोज दोहराना--क्या सार है!

और अक्सर ऐसा होता है कि रोज-रोज दोहराने से, रत्ती-रत्ती दोहराने से तुम्हारी दोहराने की आदत हो जाती है। तुम यंत्रवत दोहराये चले जाते हो। लोग बिलकुल यंत्रवत झुकते हैं; मंदिर देखा, झुक गये। इसमें कुछ

भी अर्थ नहीं है। कोई प्रयोजन नहीं है। बचपन से बंधी एक यांत्रिक आदत है: हिंदू-मंदिर आ गया, झुक गये; जैन-मंदिर आ गया; झुक गये।

मैं एक यात्रा पर था। और एक दिगंबर जैन महिला मेरे साथ यात्रा पर थी। उसने कसम खा रखी थी कि जब तक वह मंदिर में जा कर नमस्कार न कर ले महावीर को, तब तक भोजन न करेगी। बड़ी झंझट खड़ी होती। सभी गांव में जैन मंदिर नहीं भी हैं। एक गांव में मैं गया तो मैंने देखा जैन मंदिर है, तो मैं भागा हुआ आया। मैंने उससे कहा, आज बड़े शुभ का समय है, तू जल्दी जा, मंदिर है। वह गयी वहां। वहां से उदास लौटी। उसने कहा कि वह हमारा मंदिर नहीं है; वह श्वेतांबर जैन मंदिर है। दिगंबर जैन मंदिर चाहिए। मैं तो नग्न महावीर को नमस्कार करती हूं। ये कोई महावीर, सजे-बजे, ये महावीर नहीं हैं! महावीर तो वीतराग रूप हों तो ही।

महावीर में भी फर्क है--श्वेतांबर का महावीर, दिगंबर का महावीर।

जबलपुर में मैं वर्षों तक था। वहां गणेशोत्सव पर गणेश का जुलूस निकलता था। तो वहां नियम है कि ब्राह्मण का गणेश, ब्राह्मण टोले का गणेश पहले, फिर दूसरा टोला; ऐसे जैसा कि वर्ण-व्यवस्था से होना चाहिए। एक बार ऐसा हुआ कि ब्राह्मणों के टोले के गणेश के आने में थोड़ी देर हो गयी और चमारों के गणेश पहले पहुंच गये। तो ब्राह्मणों ने तो बर्दाश्त नहीं किया। उन्होंने तो जुलूस रुकवा दिया। उन्होंने कहा, हटाओ चमारों के गणेश को। चमारों के गणेश! हद हो गयी! आगे चले जा रहे हैं चमारों के गणेश! जैसे गणेश भी चमार हो गये। सत्संग का परिणाम तो होता ही है। चमारों की दोस्ती करोगे, चमार हो जाओगे। हटवा दिया। दंगा-फसाद की नौबत आ गयी। जब तक हटवा न दिया पीछे ब्राह्मणों ने गणेश को, अपने गणेश को आगे न कर लिया, तब तक जुलूस आगे न बढ़ सका।

ईश्वर की तुम्हारी धारणा भी बड़ी संकीर्ण है। तुम नमस्कार करते हो तो उसमें भी हिसाब रखते हो। नमस्कार का तो अर्थ ही होता है बेहिसाब। यह जो चारों तरफ विराट मौजूद है, इसमें झुको, इसमें नदी की तरह लीन हो जाओ; जैसे नदी सागर में खो जाती है।

तस्मै सुखैकरूपाय...।

उस सुख-रूप में झुकता हूं।

नमः शांताय तेजसे।

उस तेजस्वी में झुकता हूं। उस शांति के सागर में झुकता हूं।

बुद्ध के पास लोग आते थे तो उनके चरणों में झुक कर कहते: बुद्धं शरणं गच्छामि। किसी ने बुद्ध से पूछा कि आप तो कहते हैं कि किसी के चरण में मत झुको, लेकिन लोग आपके चरणों में झुकते हैं और कहते हैं: बुद्धं शरणं गच्छामि। आप रोकते नहीं? तो बुद्ध ने कहा, मैं रोकने वाला कौन? वे मेरी शरण थोड़े ही झुकते हैं, बुद्ध की शरण झुकते हैं। बुद्धत्व कुछ मुझमें सीमित थोड़े ही है। बुद्धत्व यानी जागरण की दशा। मुझसे पहले हजारों बुद्ध हुए हैं, मेरे बाद हजारों बुद्ध होंगे। जो आज बुद्ध नहीं हैं; वे भी बुद्धत्व को तो भीतर संभाले हुए हैं। किसी दिन प्रगट होगा। अभी बीज हैं, कभी वृक्ष बनेंगे! अभी कली हैं; कभी फूल बनेंगे। अभी छुपे हैं; कभी प्रगट हो जाएंगे। बुद्धं शरणं गच्छामि। वे बुद्ध की शरण जाते हैं, उसका अर्थ यह नहीं है कि मेरी शरण जाते हैं। मैं कौन हूं? अगर मेरी शरण जाते हैं तो गलत जाते हैं। अगर बुद्धत्व की शरण जाते हैं तो ठीक जाते हैं। मैं रोकने वाला कौन? मैं बीच में आने वाला कौन?

नमन तुम्हारा उसके प्रति हो--प्रकाशरूप, शांतिरूप, सुखरूप--जिसके उदय से सारा संसार भ्रममात्र हो जाता है।

संसार में तो हमारे ऐसे लगाव हैं कि मरते दम तक नहीं छूटते। मरता-मरता आदमी भी नहीं छोड़ता है।

मैंने सुना, एक सेठ नदी में डूब रहा था। एक गरीब भिखमंगे ने दौड़ कर बचाया। कठिन था बचाना, क्योंकि सेठ भारी-वजनी था। बड़ा पेट, बड़ा सेठ! गरीब भिखमंगा, हड्डी-पसली सूखी; मगर किसी तरह खींच कर लाया। उनको बचाने में अपनी भी जान दांव पर लगा दी। सेठ ने जब आंखें खोलीं, थोड़ा होश संभाला, तो

एक रुपये का नोट दिया उसे और कहा, तूने मुझे बचाया, यह रुपया ले, किसी दूकान से जा कर भुना ला; आठ आने तू रख लेना, आठ आना मुझको दे देना। उस भिखमंगे ने कहा, सेठ, यहां तो कोई आसपास दूकान दिखाई नहीं पड़ती और अब आठ आने के पीछे क्या पंचायत करनी? आप संभाल कर रखो। जब दुबारा डूबो तब पूरा नोट ही दे देना।

आदमी मरते दम तक भी पकड़ता है, छोड़ता नहीं। स्वाभाविक है एक अर्थ में, क्योंकि जिसमें हम मूल्य मानते हैं, उसको पकड़ते हैं। हमारा सारा मूल्य धन में है, पद में है, प्रतिष्ठा में है; चूंकि हमने मूल्य सब वहां रख दिया। हमारा परमात्मा धन में है तो हम धन को पकड़ते हैं। हमारा परमात्मा पद में है तो हम पद को पकड़ते हैं। जहां तुमने परमात्मा को मान लिया, उसी को तुम पकड़ते हो। तुमने संसार में परमात्मा को मान लिया। परमात्मा यानी सुख।

तुमने यह परिभाषा तो बहुत सुनी कि लोग कहते हैं, ब्रह्म जो है, परमात्मा जो है वह सच्चिदानंद- रूप, आनंद-रूप है। लेकिन तुम उल्टी तरफ से भी सोचो। जहां तुम आनंद मान लेते हो वहीं तुम्हें परमात्मा के दर्शन होने लगते हैं। धन में मान लिया तो धन में होने लगे। फिर तुम धन के दीवाने हो जाते हो। फिर तुम धन की पूजा करते हो। देखते न दीवाली आती है तो लोग धन की पूजा करते हैं! धन का उपयोग तक भी ठीक था; कम से कम पूजा तो मत करो। कहते हैं लक्ष्मी-पूजा कर रहे हैं। धन की पूजा! इसका अर्थ क्या हुआ? इसका अर्थ हुआ कि धन परमात्मा हो गया। अब तो धन की पूजा भी हो रही है! धन का उपयोग करते; धन साधन था, उपयोगी था। मैं यह नहीं कहता कि धन उपयोगी नहीं है। धन बड़ा उपयोगी है; विनिमय का माध्यम है; हजार सुविधाएं उससे आती हैं। लेकिन पूजा! तो तुमने फिर धन में परमात्मा को देखना शुरू कर दिया। फिर तो रुपया जो है रुपया न रहा, प्रभु की प्रतिमा हो गयी। अब तुम इसकी पूजा कर रहे, इसको नमन कर रहे हो।

लोग जिस चीज को नमन करें, खयाल करना कि वहीं उनका परमात्मा है। राजनेता गांव में आ जाये तो लाखों लोग इकट्ठे हो जाते हैं। यह नमन किसलिए हो रहा है? पद में पूजा है। पद में परमात्मा दिखाई पड़ता है। जिसके पास ताकत है...! यही राजनेता कल पद पर न रह जाएगा तो स्टेशन पर लेने कुत्ते भी नहीं जाते! आदमी की तो बात छोड़ो, खुद का कुत्ता भी पूंछ नहीं हिलाएगा कि छोड़ो भी; जब थे तब थे! और लोग सलाह देने आते हैं: अब छोड़ो भी अकड़! रस्सी जल गयी, अकड़ रह गयी। अब है ही क्या पास में? लेकिन अगर राजनेता पद पर है, या संभावना भी हो कि कल पद पर हो सकता है, तो भीड़ इकट्ठी हो जाती है।

तुम्हारा परमात्मा पद में है।

बुद्ध एक गांव में आए। उस गांव के राजा से उस गांव के मंत्री ने कहा कि बुद्ध आते हैं, हम उनके स्वागत को चलें। राजा अकड़ीला था। उसने कहा, हम क्यों जाएं? है क्या बुद्ध के पास? भिखारी ही हैं न आखिर! और मैं कोई उनसे पीछे तो हूं नहीं, तो मैं जाऊं क्यों? आना होगा, खुद आ जायेंगे महल। मिलना होगा, खुद मिल जायेंगे। उस मंत्री ने कहा, तो मेरा इस्तीफा लें। वह मंत्री बड़ा उपयोग का था। उसके हाथ में सारी कुंजियां थीं राज्य की। राजा घबराया। वह तो लंपट किस्म का राजा था। उसको तो कुछ पता भी न था, कैसे राज्य चलता है, क्या होता है। वह तो सिर्फ नाममात्र को था; असली तो वजीर था। उस वजीर ने कहा, फिर मुझे छोड़ें। वह राजा कहने लगा, इसमें नाराज होने की बात क्या है? छोड़ने की जरूरत क्या है।

उसने कहा कि नहीं, अब आपके पास बैठना ठीक नहीं है। गांव में बुद्ध आते हों और जो उनको नमस्कार करने न जाये, उसके पास बैठना ठीक नहीं है। इसके पास रहने में तो खतरा है। यह तो बीमारी लगने का डर है। मैं अब आपके पास रुक नहीं सकता। अब आप चाहे चलो भी तो भी नहीं रुक सकता। याद रखना कि बुद्ध के पास यह राज्य था और उन्होंने छोड़ दिया; तुम्हारी अभी भी छोड़ने की हिम्मत नहीं पड़ी है। वे तुमसे आगे हैं। यह बुद्ध का भिखमंगापन साधारण भिखमंगापन नहीं है। यह बुद्ध का भिखमंगापन बड़ा समृद्ध है; साम्राज्यों से ऊपर है; सम्राटों से पार है। और अगर तुम यहां नमन करने को नहीं जाते तो तुम्हारे जीवन में फिर नमन कहां

से आयेगा? और जिसके जीवन में नमन नहीं है, नमस्कार नहीं है, उसके पास रुकना ठीक नहीं। क्योंकि उसके जीवन में सिवाय अहंकार के जहर के और कुछ भी नहीं हो सकता। नमस्कार तो अमृत है।

"सारे धन कमा कर मनुष्य अतिशय भोगों को पाता है, लेकिन सबके त्याग के बिना सुखी नहीं होता।"

अर्जयित्वाऽखिलानार्थान् भोगानाप्नोति पुष्कलान्।
नहि सर्व परित्यागमंतरेण सुखी भवेत।।

दूसरा सूत्र: "सारे धन कमा कर...।"

खयाल रखना--"सारे धन"। सारे धन का अर्थ हुआ, जिस चीज में भी तुम्हें लगता है सुख मिलेगा, वह कोई भी हो चीज, वही धन हो गयी। जिसको भी तुम सुख का माध्यम समझते हो, वही धन है। तो कोई आदमी रुपये इकट्ठा करता है, कोई आदमी डाक टिकटें इकट्ठी करता है। जो रुपये इकट्ठा करता है, वह कहता है, क्या मूढ़ता कर रहे हो, डाक टिकटें इकट्ठी कर रहे हो, होश संभालो! क्या करोगे इनका? लेकिन उसे उसमें सुख है तो उसके लिए धन हो गया। धन का अर्थ ही यही होता है, जिसमें तुम्हें सुख है। कोई आदमी कुछ इकट्ठा करता है, कोई आदमी कुछ। कोई आदमी ज्ञान इकट्ठा करता है, वह उसके लिए धन हो गया। और कोई आदमी बिलकुल व्यर्थ की चीजें इकट्ठी करता हो सकता है। तुम्हें व्यर्थ की लगती हैं। अगर उसे उनमें सुख की आशा है तो वह उसके लिए धन हो गया।

सूत्र कहता है: सारे धन कमा कर--अर्जयित्वा अखिलान् अर्थान्--सारे धन इकट्ठे कर लिए, भोगान् आप्नोति पुष्कलान्--और अतिशय भोगों को भी पाता है, लेकिन सबके त्याग के बिना सुखी नहीं होता।

अष्टावक्र भोग और सुख में फर्क कर रहे हैं।

अब इसे समझो। साधारणतः तो तुम सोचते हो: भोग यानी सुख। लेकिन भोग को अगर तुम गौर से देखो तो तुम पाओगे कि भोग में कभी सुख होता नहीं। भोग में तो एक तनाव है, उत्तेजना है। भोग में तो एक ज्वरग्रस्त दशा है, शांति नहीं। और शांति के बिना सुख कहां! जो आदमी धन इकट्ठा कर रहा है, वह सोचता है कि इकट्ठा कर लूंगा तो सुख होगा। उसका सुख सदा भविष्य में होता है। कभी होता नहीं, वह कितना ही इकट्ठा कर ले, इकट्ठा करने में दुख बहुत होता है, क्योंकि चिंता करनी पड़ती है, बेचैन रहना पड़ता है, नींद खो जाती है, अल्सर पैदा हो जाते हैं, सिरदर्द बना रहता है, रक्तचाप बढ़ जाता है, हृदय के दौरे पड़ने लगते हैं।

अमरीका में तो वे कहते हैं कि जिस आदमी को चालीस साल की उम्र तक हृदय का दौरा न पड़े वह असफल आदमी है। सफल आदमी को तो पड़ना ही चाहिए। क्योंकि चालीस साल और सफल आदमी को हृदय का दौरा न पड़े!

मेरे गांव में ऐसा समझा जाता था कि मारवाड़ी जब एक-दूसरे के यहां विवाह करते हैं तो वे पता लगा लेते हैं कि कितनी बार दिवाला डाला। क्योंकि दिवाले डालने से पता चलता है कि कितना धन होगा। धनी आदमी का लक्षण है: कितनी बार दिवाला डाला। अगर दिवाला नहीं डाला तो हालत खराब है, खस्ता है।

ठीक ऐसा अमरीका में कुछ दिन में लोग जरूर पूछने लगेंगे कि कितने हार्ट-अटैक हुए? नहीं हुए तो क्या भाड़ झोंकते रहे? करते क्या रहे? नाम-धाम, पद-प्रतिष्ठा...हार्ट-अटैक तो होना ही चाहिए। रक्तचाप कितना है? साधारण, तो जिंदगी गंवा रहे हो! कुछ कमाना नहीं है? यह साधारण रक्तचाप तो आदिम, आदिवासियों का होता है! और असफल आदमी या भिखमंगे, आवारागर्द लोग, इनको नहीं होते हृदय के दौरे वगैरह।

चिंतातुर आदमी, जो बड़ी महत्वाकांक्षा से भरा है, उसके पेट में अल्सर तो हो ही जाने चाहिए। घाव तो हो ही जाने चाहिए। क्योंकि चिंता घाव बनाती है; चिंता एसिड की तरह गिरती है पेट में और घाव बनाती है। तो सभी महत्वाकांक्षी अल्सर से तो ग्रस्त होंगे ही। तो जो आदमी धन के लिए दौड़ता है, वह सुख तो कभी नहीं पाता। हां, सुख की आशा में दौड़ता है, यह सच है। सुख की आशा में दुख बहुत पाता है। पाता दुख है; सुख की आशा रखता है। और सुख की आशा के कारण सब दुख झेल लेता है। कहता है, कोई हर्जा नहीं; आज अल्सर है,

आज हृदय का दौरा पड़ा, आज रक्तचाप बढ़ गया, कोई फिक्र नहीं, कल तो सब ठीक हो जाएगा। कल सब ठीक हो जाएगा; नहीं तो अगले महीने, नहीं तो अगले वर्ष! कभी न कभी तो सब ठीक हो जाएगा। लोग कहते हैं कि देर हो सकती है, अंधेर थोड़े ही है। कभी न कभी तो प्रभु प्रसन्न होगा। कभी तो हमारे भाव को समझेगा, हमारी चेष्टा को समझेगा; कभी तो पुरस्कार मिलेगा।

अष्टावक्र कहते हैं: "सारे धन कमा कर मनुष्य अतिशय भोगों को पाता है।"

तो भोग का फिर क्या अर्थ हुआ? ऐसा समझो।

मैं एक घर में मेहमान हुआ। कलकत्ता के बड़े से बड़े धनी व्यक्ति थे। मैं ग्यारह बजे रात सो जाता हूं। तो जब मैं सोने के लिए जाने लगा तो वे बोले कि आप सोएंगे अब? तो मैंने कहा, क्या इरादा है? उन्होंने कहा, नहीं, मुझे तो नींद ही नहीं आती। तो मैं तो सोचता था, कुछ और देर बैठेंगे, बात करेंगे। मैंने कहा: नींद नहीं आती, क्या तकलीफ है? अच्छा बिस्तर उपलब्ध नहीं है, अच्छी शैय्या नहीं है? उन्होंने कहा, अच्छी शैय्या तो है; इससे अच्छी और क्या हो सकती है!

"तुम्हारे पास कमी क्या है? न बेटा है न बेटी है! और धन बहुत है।"

तुमने देखा कि अक्सर धनियों को बेटे-बेटी भी गोद लेने पड़ते हैं! जीवन-ऊर्जा इस तरह विकृत हो जाती है, जीवन-ऊर्जा इस तरह नष्ट हो जाती है! धन इकट्ठे करने में लग गयी तो अब बेटा पैदा करना मुश्किल हो जाता है।

खूब धन कमा लिया है। अब नींद में अड़चन क्या है? सो क्यों नहीं जाते?

और उन्होंने धन अपने ही हाथ से कमाया; बपौती से नहीं मिला है। और मैंने कहा, कमाया किसलिए इतना अगर नींद गंवा दी?

उन्होंने कहा, मैं यही सोचता था कमाई की दौड़ में कि एक दिन जब सब ठीक हो जाएगा! चलो, कुछ दिन न सोये तो चलेगा। धीरे-धीरे न सोना आदत का हिस्सा हो गया। चिंताएं इतनी हैं भाग-दौड़ की, अब हालांकि चिंता का कोई कारण नहीं है, लेकिन अब पुरानी आदत पड़ गयी। अब घाव में हाथ डाल कर आदमी पुराने घाव को ही उघाड़ता रहता है। कुछ न बचे चिंता को, तो भी मस्तिष्क चलता रहता है, मशीन चलती रहती है। अब वह चुप नहीं होता मस्तिष्क। पचास साल तक निरंतर जिस तरह दौड़ाया, वैसी दौड़ने की आदत हो गयी। अब वह विक्षिप्त हो गया है। तो अच्छी शैय्या है, लेकिन नींद खो गयी। भोग का साधन उपलब्ध है, लेकिन भोग की सुविधा न रही। अच्छा भोजन उपलब्ध है, लेकिन खाना पड़ता है साग-भाजी; इससे ज्यादा कुछ खा नहीं सकते। दाल का पानी पीते हैं। भोग का सब साधन उपलब्ध है, लेकिन अब भूख खो गयी। जीवन गंवा दिया इकट्ठा करने में।

सुख तो तुम्हारी संवेदनशीलता पर निर्भर है।

ऐसा समझो कि फूल इकट्ठे करने में तुम्हारी नाक कट गयी। जब तक फूल इकट्ठे हो पाये, तब तक नाक न बची। अब सुगंध लेने की क्षमता न रही। महल बनाया था कि इसके भीतर शांति से विश्राम करेंगे। महल तो बन गया, लेकिन महल बनाने में जो श्रम करना पड़ा, जो दौड़-धूप करनी पड़ी, वह आदत अब एकदम नहीं छूट सकती। अब मकान तो बन गया, अब भीतर बैठे हैं, लेकिन विश्राम नहीं कर सकते।

विश्राम करना कोई छोटी-मोटी बात थोड़े ही है कि जब चाहा कर लिया। उसका भी जीवन में एक तारतम्य होना चाहिए। हर कोई थोड़े ही विश्राम कर सकता है। विश्राम के लिए एक गहरी कला होनी चाहिए कि तुम अपने को विराम दे सको। तुम अपने मन को जब चाहो तब कह सको कि बस ठहर और मन ठहर जाये, तो विश्राम हो सकता है। मन को कभी ठहराया नहीं, ध्यान का कभी एक क्षण न जाना, प्रेम का कभी एक क्षण न जाना। प्रेम की फुर्सत कहां है? जिसको धन की दौड़ लगी है, उसको प्रेम की फुर्सत नहीं है। और धन का पागल प्रेम से बचता भी है। क्योंकि प्रेम में खतरा है।

मैं एक घर में कुछ दिनों तक रहता था। वे जो सज्जन थे, जिनका घर था, उनको मैं गौर से देखता था। न तो वे कभी अपनी पत्नी से बात करते दिखाई पड़ते, न अपने बच्चों के साथ खेलते दिखाई पड़ते। वे एकदम तीर की तरह घर में आते, सीधा देखते जमीन की तरफ, और तीर की तरह जाते। मैंने एक दिन उन्हें रोका। मैंने कहा, मामला क्या? बात क्या है। आप कभी पत्नी के पास बैठे दिखाई नहीं पड़ते कि गपशप करते हों। कभी आपके घर मेहमान दिखाई नहीं पड़ते आते हुए। कभी यह भी नहीं होता कि मैं आपको बच्चों के साथ बगीचे में देखूं। कभी आपको बगीचे में भी नहीं देखता। बगीचा बहुत सुंदर है, लेकिन आप कभी वहां दिखाई नहीं पड़ते। मामला क्या है?

उन्होंने कहा कि मामला यह है: अगर बच्चे से जरा ही मीठा बोलो, वह फौरन रुपये की मांग कर देता है। मीठा बोले नहीं कि फंसे। वह जेब में हाथ डालता है। पत्नी से जरा ही मीठा बोलो कि समझो कोई हार खरीदना, कि कोई गहना बाजार में आ गया है, कि नयी साड़ी आ गयी। तो धीरे-धीरे मैंने यह देख लिया कि मुस्कुराहट तो बड़ी कीमती है, महंगी पड़ती है। तो मैं अपने को बिलकुल दूर रखता हूं; मैं बातचीत में पड़ता ही नहीं। क्योंकि बातचीत में पड़ने का मतलब उलझाव है।

अब यह आदमी धन कमा रहा है, लेकिन प्रेम इसके जीवन से खो गया। जो अपने बेटे से बोल नहीं सकता पास बैठ कर, घड़ी दो घड़ी बाप और बेटे के बीच चर्चा नहीं हो सकती दिल खोल कर; क्योंकि डर है इसे कि बेटा जेब में हाथ डाल देगा। जो अपनी पत्नी के पास बैठ कर बात नहीं करता, भयभीत है कि जब भी कुछ कहो महंगा पड़ जाता है, जो हमेशा सख्त और तना हुआ रहता है--यह इसकी सुरक्षा का उपाय है। धन तो इकट्ठा हो जाएगा; लेकिन जिस जीवन से प्रेम खो गया, वहां सुख कहां?

तो हम करीब-करीब साधन तो इकट्ठे कर लेते हैं, साध्य खो जाता है। और फिर जब सुख नहीं मिलता तो लोग बड़े हैरान होते हैं। वे कहते हैं, सब तो है, और सुख क्यों नहीं?

सुख का कोई संबंध धन से नहीं है; सुख का संबंध जीवन की किन्हीं और गहराइयों से है। तुम्हारी क्षमताएं प्रखर होनी चाहिए; तुम्हारा बोध गहरा होना चाहिए। जीने की कला आनी चाहिए। तब कभी रूखी रोटी में भी इतना स्वाद हो सकता है! नहीं तो मिष्ठान्न भी, बहुमूल्य से बहुमूल्य भोजन भी व्यर्थ है। कभी रूखी-सूखी रोटी भी ऐसी तृप्ति दे सकती है, लेकिन तृप्ति की कला आनी चाहिए। वह बड़ी और बात है। धन के इकट्ठे करने से उसका कोई संबंध नहीं है।

अक्सर तो मैं देखता हूं कि धनी अविकसित रह जाता है। उसके जीवन की कलियां खिल नहीं पातीं, पंखुड़ियां खिल नहीं पातीं। एक ही दिशा में दौड़ने के कारण वह करीब-करीब और सब दिशाओं के प्रति अंधा हो जाता है। वह हर चीज में धन ही देखता है।

मेरे पास लोग आते हैं, वे कहते हैं कि ध्यान तो करें, लेकिन ध्यान से फायदा क्या है? सुन रहे हैं उनका प्रश्न! वे सोचते हैं, ध्यान से भी कुछ बैंक-बैलेंस बढ़े। फायदा, लाभ, इससे होगा क्या? उनके जीवन में ऐसी कोई चीज नहीं रह जाती जो वे स्वांतः सुखाय कर सकें, जो वे कह सकें कि सुख के लिए कर रहे हैं। वे पूछते हैं नाचने से फायदा क्या है? अब नाचने से फायदा क्या? पक्षी अगर पूछने लगें, गीत गुनगुनाने से फायदा क्या, तो सारी दुनिया सूनी हो जाये। मगर रोज उठ आते हैं, सूरज के स्वागत में नाचते हैं, गाते हैं, आनंदित हैं, सुखी हैं। धन बिलकुल नहीं है पक्षियों के पास, लेकिन सुख है। वृक्ष फूले चले जाते हैं। कोई वृक्ष पूछता ही नहीं। अभी तक कोई अर्थशास्त्री वृक्षों में पैदा ही नहीं हुआ, जो उनको समझाये कि क्यों रे नासमझो, व्यर्थ फूले चले जा रहे हो, फायदा क्या? एक बार वृक्षों को कोई यह खयाल डाल दे उनके दिमाग में कि फायदा कुछ भी नहीं है फूलने से, फायदा क्या है, तो वृक्ष फूलने बंद हो जाएं। चांदत्तारे रुक जायें--फायदा क्या? सूरज ठहर जाये--यह रोशनी बरसाने से फायदा क्या है?

यह सारा जगत अर्थशास्त्रियों की बिना सलाह के चल रहा है, सिर्फ आदमी को छोड़ कर। और आदमी अर्थशास्त्रियों की सलाह के कारण बड़े अनर्थ में पड़ गया है। उसके जीवन से सारा अर्थ खो गया है। बस एक ही बात वह पूछता है: फायदा?

स्वांतः सुखाय तुलसी रघुनाथगाथा। किसी ने पूछा तुलसी को: क्यों गायी तुमने राम की कथा? तो कहा: स्वांतः सुखाय। कुछ पाने के लिए नहीं; कुछ राम को रिझाने के लिए भी नहीं। वे तो रीझे ही हुए हैं। कोई रिश्वत भी नहीं दी उनको कि तुम्हारी स्तुति गायेंगे तो जरा मुझे स्वर्ग में अच्छी, ठीक-सी जगह दे देना। नहीं, किसीलिए नहीं। गाने में मजा आया; स्वांतः सुखाय, सुख आया।

तुम खयाल करना, जब भी तुम कोई काम बिना कुछ पाने की आकांक्षा के करते हो, तभी सुख आता है। और जहां भी कुछ पाने की आकांक्षा है, वहीं दुख है, वहीं तनाव है। धन से तो सुख मिल नहीं सकता, क्योंकि धन का मतलब ही यह है कि धन साधन है और सुख बाद में आएगा। रुपया हाथ में रखने से तो सुख किसी को भी आता नहीं। कितने ही रुपये के ढेर लग जायें तो भी सुख नहीं आता, सुख मिलेगा धन के इकट्ठे होने से, पहले हम धन इकट्ठा कर लें, फिर सुख मिलेगा--ऐसे लोग तैयारियां ही करते रहते हैं और तीर्थयात्रा पर कभी नहीं निकलते। टाइम-टेबिल ही देखते रहते हैं कि जाना है; जाते नहीं। क्योंकि तैयारी ही कभी पूरी नहीं हो पाती तो जायें कैसे!

तुम चकित होओगे, इस जगत के बड़े से बड़े धनी लोग भी निर्धन से भी ज्यादा निर्धन होते हैं। उनका बाहर का धन तुम देखोगे तो पाओगे बहुत धनी हैं, उनके भीतर जरा झांकोगे तो पाओगे राख ही राख है। वहां अंगार भी नहीं है। वहां जरा भी ज्योति नहीं जलती। मुर्दा ही मुर्दा। धनी आदमी को जीवित तुम मुश्किल से पाओगे। कारण? क्योंकि जीवन ही बेच-बेच कर तो धन इकट्ठा कर लिया। जीवन की सारी संवेदनाएं, जीवन की सारी क्षमताएं, जीवन का सारा काव्य तो बेच डाला और धन इकट्ठा कर लिया--इस आशा में कि फिर कुछ मिलेगा।

इसे मैं तुम्हें कह दूं: इस क्षण में है सुख। और अगर तुमने अगले क्षण में सोचा तो तुम धन- लोलुप हो। इसलिए मैं तुमसे यह भी नहीं कहता कि सिर्फ धनी ही पागल है; जो सोच रहा है स्वर्ग में मिलेगा, वह भी उतना ही पागल है। जो सोच रहा है परमात्मा को पा लूंगा, फिर सुख मिलेगा, वह भी पागल है। क्योंकि सबका तर्क एक ही है। तर्क यह है कि कुछ होगा, मिलेगा, फिर सुख। सुख जैसे परिणाम में आएगा। नहीं, सुख या तो अभी या कभी नहीं।

तुम यहां बैठे हो। अगर तुम सोच रहे हो कि मुझे सुनकर तुम समझ लोगे, समझ में सारे निचोड़ लोगे, फिर अपने जीवन का वैसा व्यवस्थापन करोगे, तब तुम सुख को पाओगे--तुम चूक गये। तब यही तुमने धन बना लिया। फिर यह भी धन हो गया। फिर यहां भी लोभ आ गया।

लोग आते हैं। एक डाक्टर हैं। उनको मैंने कहा कि तुम बैठे-बैठे नोट क्यों लेते रहते हो? उन्होंने कहा कि नोट इसलिए लेता हूं कि बाद में काम पड़ेंगे। मैंने कहा, हद हो गयी। मैं समझा-समझा कर परेशान हुआ जाता हूं कि बाद की फिक्र मत करो। बाद काम पड़ेंगे! अभी मैं तुम्हारे सामने कुछ मौजूद कर रहा हूं, तुम सुख ले लो। तुम सुखी हो जाओ। सुखी भवेत। अभी और यहीं। तुम यह क्षण जो सुख का बह रहा है मेरे और तुम्हारे बीच, इसे नोट ले कर खराब कर रहे हो। तुम धन इकट्ठा कर रहे हो फिर। नोट यानी धन। फिर पीछे काम पड़ेंगे। फिर देख लेंगे उल्टा कर कापी, फिर संभाल कर रख लेंगे। फिर इसके अनुसार जीवन को बनाएंगे। यह टाइम-टेबिल बन जाएगा, लेकिन यात्रा कभी न होगी।

एक गांव में रामलीला हो रही थी। लंका से लौटते हैं राम, सीता, हनुमान तो उतरता है पुष्पक विमान। रामलीला का विमान तो एक रस्सी से बांध कर एक डोला नीचे उतारा हुआ था। वे उसमें बैठते और रस्सी खींच ली जाती। अब ऊपर जो चढ़ा था, अंधेरे में बैठा हुआ, उसको कुछ ठीक समय का बोध न रहा। इसके पहले कि

रामचंद्र जी चढ़ते, उसने डोला खींच लिया। तो खड़े रह गये रामचंद्र जी, लक्ष्मण जी, हनुमान जी। हनुमान जी ने थोड़ी उछल-कूद भी की, मगर फिर भी न पहुंच पाये। डोला एकदम चला ही गया। छोटे-छोटे बच्चे थे गांव के, जो बने थे राम-लक्ष्मण। तो लक्ष्मण ने पूछा अपने भाई रामचंद्र जी से कि बड़े भइया, अगर आपके सूटकेस में टाइम-टेबिल हो तो देख कर बतायें, दूसरा हवाई जहाज कब छूटेगा?

कुछ लोग तो छिपाये हुए हैं टाइम-टेबिल सब जगह। टाइम-टेबिल का भी अध्ययन लोग ऐसे करते हैं जैसे कुरान-बाइबिल का कर रहे हों।

मैं ट्रेन में बहुत दिनों तक सफर करता था तो मैं देखता था, लोग टाइम-टेबिल ही लिए बैठे हैं, उसका अध्ययन कर रहे हैं! मैं कभी कहता भी कि आप घंटों से टाइम-टेबिल का अध्ययन कर रहे हैं; इसमें अध्ययन करने जैसा है भी क्या? वे कहते, तो बैठे-बैठे क्या करें? तो टाइम-टेबिल का ही अध्ययन कर रहे हैं। योजना ही बना रहे होंगे मन में कुछ; ट्रेनों का इंतजाम बिठा रहे होंगे कुछ।

तुम अपने जीवन को गौर से देखना। कहीं तुम्हारा जीवन समय-सारिणी का अध्ययन ही तो नहीं हो गया है? धन होगा, पद होगा, प्रतिष्ठा होगी, बड़ा मकान होगा, बड़ी कार होगी, तब तुम सुख से रहोगे? तो तुम कभी सुख से न रहोगे। सुख से रहना हो तो अभी, अन्यथा कभी नहीं।

"सारे धन कमा कर मनुष्य अतिशय भोगों को पाता है, लेकिन सबके त्याग के बिना सुखी नहीं होता।"

और ध्यान रखना, अष्टावक्र के त्याग का यह अर्थ नहीं है कि तुम सब छोड़ कर जंगल भाग जाओ। क्योंकि वह जो सब छोड़ कर जंगल भागता है, उसकी भी दृष्टि अभी भ्रांत है। वह सोच रहा है कि अब जंगल पहुंच कर सुखी होऊंगा। फिर धन की यात्रा शुरू हो गयी। अष्टावक्र का सूत्र यही है: तत्क्षण, अभी, यहीं, जहां हो वहीं सुखी हो जाओ!

तुम त्याग भी धन की ही भाषा में करते हो। एक आदमी त्याग करता है तो वह सोचता है, भीतर गणित बिठाता है: इतना त्याग करेंगे तो कितना मोक्ष मिलेगा? वहां भी सौदा है। इतने उपवास करेंगे तो स्वर्ग की किस सीढ़ी पर पहुंचेंगे? कितने उपवास करने से और कितना शरीर को गलानेत्तपाने से सिद्धशिला पर विराजमान होंगे? हिसाब लगा रहा है। दूकानदार ही है यह। इसकी दूकानदारी बंद न हुई। इसने दूकानदारी नये आयाम में फैला दी।

नहीं, धार्मिक व्यक्ति वही है जो कहता है: सुख पाने के लिए कोई जरूरत नहीं है। सुख हमारा स्वभाव है। उसे कल नहीं पाना है; अभी उपलब्ध है। अभी इसी क्षण उसमें हम डूब सकते हैं, लीन हो सकते हैं।

"कर्तव्य से पैदा हुए दुखरूप सूर्य के ताप से जला है अंतर्मन जिसका, ऐसे पुरुष को शांतिरूपी अमृतधारा की वर्षा के बिना सुख कहां है?"

कर्तव्यदुःखमार्तण्डज्वालादग्धान्तरात्मनः।
कुतः प्रशमपीयूषधारासारमृते सुखम्।।

"कर्तव्य से पैदा हुए दुखरूप सूर्य के ताप से जला है अंतर्मन जिसका!"

खयाल करना, तुम जो भी धन इकट्ठा करते हो, इसीलिए इकट्ठा करते हो कि तुम सोचते हो कि तुम इकट्ठा कर सकते हो, तुम कर्ता हो। जो है वह मिला है; उसे इकट्ठा करने की जरूरत ही नहीं है। परमात्मा मिला है; उसे अर्जित नहीं करना है। वह तुम्हारा स्वभाव है। सच्चिदानंद तुम हो। लेकिन आदमी सोचता है, अर्जित करना होगा, कमाई करनी होगी, सुख के लिए इंतजाम करना होगा, तो आदमी कर्ता बन जाता है। वह कहता है, ऐसा करूंगा, ऐसा करूंगा, इतना-इतना कर लूंगा--फिर तुम कर्ता बने कि तुम जले।

यह वचन सुनो: "कर्तव्य से पैदा हुए दुखरूप सूर्य के ताप से जला है अंतर्मन जिसका।"

जो कर्ता के कारण ही दग्ध हुआ जा रहा है कि मुझे करना है। यह इतना विराट विश्व चल रहा है; तुम कभी आंख खोल कर नहीं देखते कि कोई कर्ता नहीं दिखाई पड़ता और सब हो रहा है!

जीसस ने अपने शिष्यों को कहा है: देखो खेत में लगे फूलों को। लिली के ये छोटे-छोटे फूल न तो श्रम करते हैं, न अर्जन करते हैं, फिर भी कैसे सुंदर हैं! कैसे मनमोहक! सम्राट सोलोमन भी अपनी सारी साज-सज्जा में इतना सुंदर न था।

क्या अर्थ हुआ इसका?

इसका अर्थ हुआ, जरा गौर से देखो, इतना विराट अस्तित्व चला जा रहा है, चल रहा है। तो जो इस विराट को चला रहा है, वही मुझको भी चला लेगा। ऐसा भाव जिसे आ गया, नमस्कार हो गया। ऐसा भाव जिसे आ गया, उसने अपनी सीमा छोड़ दी; असीम के साथ गठबंधन बांध लिया। उसने कहा: कर्ता है परमेश्वर, मैं कर्ता नहीं। उसने अपने मैं का जो केंद्र था, उसे विसर्जित कर दिया। उसने कहा: तूने ही पैदा किया; तू ही श्वास ले रहा है; तू ही भोजन पचाता है; तू ही भोजन को खून बनाता है; तू ही जवान करता है; तू ही बूढ़ा करता है; एक दिन तू ही उठा ले जाएगा। जब सभी तू कर रहा है तो बीच में हम कर्ता क्यों बनें? तू सभी कर! हम सिर्फ होने देंगे। हम कर्ता न रहेंगे। हम केवल उपकरण हो जाएंगे--निमित्त मात्र। तेरी धारा हमसे बहे; जैसे बांसुरीवादक की धारा बहती है बांस की पोंगरी से। बांस की पोंगरी सिर्फ खाली स्थान है जहां से स्वर बह सकते हैं। हम बांस की पोंगरी होंगे।

कबीर ने कहा है यही कि मैं बास की पोंगरी हूं। तुम गाओ तो गीत बहे; तुम न गाओ तो गीत चुप रहे। मैं न गाऊंगा। मैं न गुनगुनाऊंगा। मैं बीच में न आऊंगा। ऐसी जो भावदशा है, वही नमस्कार है, वही नमन है। वही समर्पण है। कहो श्रद्धा, कहो प्रार्थना, भक्ति, आस्तिकता, जो भी कहना हो। लेकिन सार-सूत्र की बात इतनी है कि कर्ता परमात्मा है, हम कर्ता नहीं हैं।

"कर्तव्य से पैदा हुए दुखरूप सूर्य से जला है जिसका अंतर्मन, ऐसे पुरुष को शांतिरूपी अमृतधारा की वर्षा के बिना सुख कहां है?"

नहीं, तुम्हारे कमाये सुख न कमाया जा सकेगा। शांतिरूपी वर्षा तुम्हारे ऊपर बरसे। तुम्हारी कमाई नहीं है शांति। तुम केवल द्वार दे दो और प्रभु बरसे, तुम्हारे भीतर भर जाये।

देखा तुमने, वर्षा होती है पहाड़ पर, पहाड़ खाली का खाली रह जाता है; क्योंकि पहले से ही भरा है। फिर वही वर्षा नीचे आती है, गड्ढों में भर जाती है और झीलें बन जाती हैं, मानसरोवर निर्मित हो जाते हैं। क्यों? झील भर जाती है, क्योंकि झील खाली थी। जो खाली है वह भर जाएगा; जो भरा है वह खाली रह जाएगा।

तो अगर तुम अपने अहंकार से बहुत भरे हो कि मैं कर्ता, मैं कर्ता, मैं धर्ता, मैं यह, मैं वह, अगर तुम्हारे भीतर ये सब बातें भरी हैं, तो तुम खाली रह जाओगे। परमात्मा बरसता है, लेकिन तुम झील न बन पाओगे। तुम खाली हो तो उसकी अमृतधारा तुम्हें भर दे। और तभी है शांति।

कुतः प्रशमपीयूषधारा सारमृते सुखम्।

उसकी अमृतधारा की वर्षा के बिना किसको शांति मिलती है! शांति तुम्हारे करने का परिणाम नहीं है; तुम्हारे अकर्ता हो जाने की सहज दशा है।

"यह संसार भावना मात्र है। परमार्थतः यह कुछ भी नहीं है। भावरूप और अभावरूप पदार्थों में स्थित स्वभाव का अभाव नहीं।"

"यह संसार भावना मात्र है...!"

इस संसार में तुम जो देख रहे हो, वैसा नहीं है। क्योंकि तुम्हारे पास देखने वाली कोरी आंख नहीं है। तुम्हारी आंख किन्हीं भावनाओं से भरी है। तो तुम्हारी भावना प्रक्षेपित हो जाती है। संसार के परदे पर तुम वही देख लेते हो जो तुम देखना चाहते हो, या देखने को आतुर हो। इसे थोड़ा समझने की कोशिश करना।

तुम वही नहीं देखते, जो है। जो है, उसे तो वही देखता है जिसके भीतर बोधोदय हुआ, जिसके भीतर परमात्मा की किरण उतरी, जो जागा। तुम तो अभी वही देखते हो जो देखना चाहते हो।

ऐसा समझो। एक आदमी भूखा सो गया, तो रात सपना देखता है कि राजमहल में भोजन पर आमंत्रित हुआ है। न कोई राजमहल है, न कोई भोजन है। लेकिन भूखा आदमी भोजन के सपने देखता है। देखेगा। तुमने अगर कभी उपवास किया हो तो तुम्हें पता होगा; न किया हो तो करके देखना। महत्वपूर्ण अनुभव है; उपवास का नहीं, रात सपने में भोजन का। जो भी तुम्हारे जीवन में वंचित रह गया है और वासना बनी रह गयी है, तुम रात सपने में उसे दोहरा लेते हो।

लेकिन तुम्हारा दिन भी तुम्हारी रात से बहुत भिन्न नहीं है। होगा भी नहीं। तुम्हारी रात है; तुम्हारा दिन है। वही मन रात में है; वही मन दिन में है। दिन में जरा तुम होशियारी करते हो; रात में बिलकुल होशियारी छोड़ देते हो। मगर दोनों में कोई गुणात्मक भेद नहीं है; परिमाण का भेद है। तुम वही देख लेते हो, जो तुम देखना चाहते हो।

मैं एक मित्र के साथ गंगा के किनारे बैठा था। अचानक मित्र उठा और उसने कहा कि रुकें, मुझसे न रहा जायेगा। यह स्त्री जो तट के किनारे बाल संवार रही है, उसे मैं देख कर आऊं। सुंदर मालूम होती है। मैंने कहा, देख आओ; क्योंकि भाव उठा है तो अब रुकना ठीक नहीं। वह वहां गया; वहां से सिर पीटता लौटा। मैंने कहा, मामला क्या है? वह कहने लगा, वह तो एक साधु है। पीठ थी हमारी तरफ, साधु महाराज के बड़े बाल थे, सुंदर देह थी। वह सिर पीटता लौट आया। मैंने कहा, क्या मामला हुआ? क्या स्त्री कुरूप निकली? उसने कहा, स्त्री ही न निकली। कुरूप भी निकलती तो भी ठीक था। मगर स्त्री ही न निकली। कोई साधु महाराज हैं। इन साधुओं के कारण भी बड़ी झंझट है, वह कहने लगा। मैंने कहा, अब साधु का इसमें क्या कुसूर है? तुम्हारी धारणा तुम आरोपित कर लेते हो। साधु को तो बेचारे को पता भी नहीं है। तुम्हारे लिए उसने यह आयोजन भी नहीं किया है।

इस संसार में तुम्हारी जो वासना है, उसका प्रक्षेपण होता रहता है। यह संसार तुम्हारी वासना, तुम्हारी भावना का प्रक्षेपण है। जिस दिन तुम भावना-शून्य हो जाते हो, उसी दिन दिखाई पड़ता है वह, जो है। तब तुम बड़े चकित होओगे। अनंत-अनंत चीजें जो कल तक दिखाई पड़ती थीं, एकदम खो गयीं; अब दिखाई ही नहीं पड़तीं।

एक महिला ने संन्यास लिया। एक महिला जैसी होनी चाहिए वैसी महिला। उनके घर मैं रुकता था कभी-कभी। और नहीं तो कम से कम तीन सौ साड़ियां तो उसकी अलमारी में होंगी ही। बहुत दिन तक वह रुकती रही। बार-बार कहती कि और तो मुझे कोई अड़चन नहीं है, साड़ियों का क्या होगा? मैंने उससे कहा कि देख, अगर यही भाव रहा तो मर कर साड़ी होगी। साड़ियों का क्या होगा? साड़ियों का जो होना होगा, होगा। तू नहीं थी तब साड़ियों का कुछ हो रहा था? तू नहीं होगी तब भी साड़ियों का कुछ होगा। बांट दे।

आखिर उसने हिम्मत कर ली, संन्यास ले लिया। अब तो गैरिक वस्त्र बचा। अब इतनी साड़ियों का कोई उपाय न रहा। कोई तीन महीने बाद उसने मुझे आ कर कहा कि एक बड़ी हैरानी की बात है। पहले मैं बाजार से निकलती थी तो मुझे हजार कपड़े की दूकानें दिखाई पड़ती थीं, अब नहीं दिखाई पड़तीं। पहले कपड़े की दूकान दिखाई पड़ जाती तो मैं फिर जा ही नहीं सकती थी। हजार काम छोड़ कर भीतर जाती थी। जब तक देख न लूं कि कोई नयी साड़ी तो नहीं आ गयी, कोई नया कपड़ा तो नहीं आ गया...। लेकिन अब अचानक कुछ ऐसा हो गया है।

मैंने कहा, अचानक नहीं हो गया; कारण से हुआ है। अब गैरिक वस्त्र ही पहनना है तो और वस्त्र पहनने का भाव गिर गया। बचा नहीं भाव तो उसकी खोज बंद हो गयी। खोज बंद हो गयी तो अब कपड़े की दूकान में क्या अर्थ है?

चमार को बिठा दो सड़क के किनारे, वह सिर्फ तुम्हारे जूते देखता है; वह तुम्हारा चेहरा देखता ही नहीं। उसको सारी दुनिया जूतों से भरी है। जूते चल रहे हैं; जूते आ रहे हैं, जूते जा रहे हैं। अच्छे जूते, बुरे जूते, गरीब जूते, अमीर जूते, पढ़े-लिखे, गैर-पढ़े-लिखे, सब जूते! उसे कुछ और दिखाई नहीं पड़ता।

मुल्ला नसरुद्दीन पकड़ लिया गया; हवालात में बंद कर दिया गया। मैं गया उसे देखने। मैंने कहा: बड़े मियां, यह मामला क्या है? कैसे पकड़े गये? उसने कहा, सर्दी-जुकाम के कारण। मैंने कहा: सर्दी-जुकाम के कारण? सर्दी-जुकाम से तो मैं परेशान हूं; मुझे पकड़ा जाना था। तुम्हें किसने पकड़ा? उसने कहा कि अब समझो बात पूरी। एक आदमी की जेब में मैंने हाथ डाला; सर्दी-जुकाम के कारण पड़ाक से छींक आ गयी। धरपकड़ा; वहीं पकड़ा गया।

चोरी के कारण नहीं पकड़ा गया है वह! सर्दी-जुकाम के कारण।

आदमी अपने हिसाब से कारण भी खोजता है। कारण भी सत्य नहीं होते। कारण में भी और कारण होते हैं। कारण के भीतर कारण होते हैं। तुम जो कारण बताते हो, वह सच नहीं होता है। तुम बेटे पर नाराज हो रहे हो। कोई तुमसे पूछता है: मत हो नाराज। तुम कहते हो: नाराज न होंगे तो यह सुधरेगा कैसे? लेकिन कारण के भीतर कारण होंगे। जरा गौर से देखना, इसको सुधारने में सच में तुम उत्सुक हो? या कि तुमने कुछ कहा था और उसने माना नहीं, इसलिए अहंकार को चोट लग गयी। अब तुम अहंकार का बदला ले रहे हो, मगर छिपा कर ले रहे हो, आड़ में ले रहे हो। कहीं ऐसा तो नहीं है कि सुधारने से कोई संबंध ही नहीं है। दफ्तर में मालिक तुम पर नाराज हो गया था और मालिक से तुम नाराज न हो सके; क्योंकि वह जरा महंगा सौदा था। क्रोध भरा चला आया; अब घर में कमजोर बच्चे को देख कर निकल रहा है। जो मालिक पर निकलना था वह बच्चे पर निकल रहा है। जरा गौर से देखना, कारण के भीतर कारण है।

मुल्ला नसरुद्दीन एक दिन रात दो बजे सड़क से निकल रहा है। एक पुलिस वाले ने उसे पकड़ा और कहा कि महानुभाव, रात के दो बजे तुम कहां जा रहे हो? तो उसने कहा, भाषण सुनने। कमाल है, उस कॉन्सटेबुल ने कहा, रात के दो बजे भाषण सुनने? कौन बैठा है भाषण देने को यहां दो बजे रात? होश की बातें करो! पी-पा कर तो नहीं चल रहे हो?

नसरुद्दीन ने कहा: आपको मेरी पत्नी का पता नहीं है हुजूर, दो बजे क्या, पूरी रात बैठी रहेगी, जब तक मैं न जाऊं; जब तक मुझे भाषण न सुनाये, तब तक वह सो नहीं सकती। भाषण सुनने जा रहा हूं।

कारण के भीतर कारण है। अपने-अपने कारण हैं। तुम जरा गौर से देखना। तुम जीवन की पर्त-दर-पर्त में ऐसा पाओगे।

"यह संसार भावना मात्र है।"

भवोऽयं भावनामात्रो न किंचित्परमार्थतः।

"इसकी कोई पारमार्थिक सत्ता नहीं है।"

तुमने जो संसार अब तक देखा है वह तुम्हारी भावनाओं का ही संसार है। तुमने वह तो देखा ही नहीं, जो है। जिसे कृष्णमूर्ति कहते हैं, दैट व्हिच इज, वह जो है, वह तो तुमने देखा ही नहीं। तुमने वही देख लिया है जो तुम देखना चाहते थे। तुमने वही देख लिया है जो तुम देख सकते थे अपने अंधेपन में। तुमने वही देख लिया है जो तुम देख सकते थे अपनी बेहोशी में। तुमने वही देख लिया है जो तुम देख सकते थे अपनी विक्षिप्तता में। तुमने कुछ का कुछ देख लिया है।

देखा तुमने, रास्ते पर रस्सी पड़ी है, तुमने सांप देख लिया! भागे, हांफने लगे, कि गिर पड़े।

मेरे गांव में एक कबीरपंथी साधु थे। अब तो चल बसे। उनका व्याख्यान सुनने मैं सदा जाता था। वे व्याख्यान में कुछ ऐसी बातें कहते थे जिनका उनके जीवन से कोई तालमेल नहीं था। मैं यही सुनने जाता था कि आदमी कितना गजब कर सकता है। वे कहते, संसार माया है, और एक-एक पैसे पर उनकी पकड़ थी। अब वे

कहते थे कि यहां रखा क्या है? यह सब तो जैसे रेत में बच्चे मकान बनाते हैं। और उनको मैं देखता था कि वे चौबीस घंटे छाता लिये भर दुपहरी में खड़े हैं और आश्रम बनवा रहे हैं। सोचता, बड़े मजे की बात है। भर दुपहरी में खड़े रहते और पसीना चूता रहता और ये रेत के घर बना रहे हैं जो गिर जाने वाले हैं। मामला क्या है? इतने परेशान क्यों हो रहे हैं? कहते, पैसे-लत्ते में तो कुछ भी नहीं है। लेकिन एक-एक पैसे पर उनकी पकड़ ऐसी थी कि गांव में उनसे ज्यादा कंजूस आदमी नहीं था। उनकी बातें मैं सुनने जाता था--यही देखने कि आदमी कितनी दूर की बातें कह सकता है। वे सदा कहते थे कि यह संसार तो ऐसा है जैसे रस्सी में सांप दिखाई पड़ जाये।

यह मैंने इतनी बार सुना...। करीब-करीब वे रोज ही कहते थे: रज्जू में सर्प दिखाई पड़ जाये, ऐसा। सुन-सुन कर मुझे एक खयाल आया। मैंने कहा, इन पर प्रयोग करना चाहिए। वे रोज मेरे मकान के सामने से ही सांझ को निकलते थे। तो एक रस्सी में पतला धागा बांध कर रस्सी को दूसरी तरफ सड़क की नाली में डाल कर मैं एक खाट के पीछे मकान में जा कर छिप कर बैठ गया। और धागा हाथ में रख लिया। जब वे आ रहे थे वहां से, तो मैंने वह धागा खींचा। रस्सी नाली से बाहर निकली। वे तो ऐसे भागे कि कोई पांच-सात कदम पर उनकी लुंगी फंस गयी और गिर पड़े। इतना मैंने भी न सोचा था। और मैं पकड़ भी लिया गया, क्योंकि सारी भीड़ इकट्ठी हो गयी। और मेरे पिता ने मुझसे पूछा, यह तुमने किया क्यों? बूढ़े आदमी हैं, हाथ-पैर टूट जायें, कुछ हो जाये; यह कोई मजाक की बात है? मैंने कहा, मैंने किया भी नहीं, इन्होंने सुझाव दिलवाया। ये रोज कहे जाते हैं। आखिर एक सीमा होती है सुनने की भी। मैं सुनते-सुनते थक गया तो मैंने यह सोचा कि कम से कम इनको तो न दिखाई पड़ेगा। इनको दिखाई पड़ गया। ये भूल ही गये।

रस्सी में सांप दिखाई पड़ता है--भय के कारण। वह भय का प्रक्षेपण है। जो हमें दिखाई पड़ रहा है वह हमारा प्रक्षेपण है। जब अष्टावक्र जैसे मनीषी कहते हैं कि संसार भ्रमवत है, माया है, तो तुम यह मत समझना कि वे यह कह रहे हैं कि यह झूठ है। वे इतना ही कह रहे हैं: जैसा है वैसा तुमने नहीं जाना; कुछ का कुछ जान लिया; कुछ का कुछ दिखाई पड़ गया। क्योंकि भय है, लोभ है, मोह है, क्रोध है,र् ईष्या है, जलन है। हजार तुम्हारे भीतर परदे हैं; उन परदों में से सब विकृत हो जाता है। कुछ सीधा-सीधा दिखाई नहीं पड़ता। आंख साफ-सुथरी नहीं है; बहुत धुएं से भरी है।

भवोऽयं भावनामात्रो न किंचित्परमार्थतः।

यह संसार, जो तुम जानते हो, तुम्हारे पास है, यह सिर्फ तुम्हारी भावना है। किसी को पत्नी मान लिया है, किसी को बेटा मान लिया है; किसी को अपना, किसी को शत्रु, किसी को मित्र। सब मान्यता है। कौन तुम्हारी पत्नी? बीस-पच्चीस वर्ष तक एक-दूसरे से अपरिचित जीये; फिर एक दिन किसी पंडित ने बिठा दी कुंडली तुम्हारी दोनों की। ये पंडित अपनी ही कुंडली बिठा नहीं पाये हैं। इनके और इनकी पत्नी के जरा दर्शन तो करो जा कर कि क्या चल रहा है। और ये हजारों की कुंडली बिठाये जा रहे हैं। उस आधार पर विवाह हो गया। हवन-यज्ञ करके सात चक्कर लगवा दिये।

एक सज्जन मेरे पास आये और उन्होंने कहा कि बड़ी मुश्किल में पड़ गया हूं। अब विवाह हो गया, भांवर पड़ गयीं, सात चक्कर लग गये; अब बनती तो बिलकुल नहीं है। ऐसा कष्ट झेल रहे हैं दोनों कि जिसका कोई हिसाब नहीं है। तो मैंने कहा कि तुम उल्टे चक्कर क्यों नहीं लगा लेते सात? खतम करो मामला। यह चक्कर ही का मामला है न? ऐसे लगाये थे, अब वैसे लगा लो। गांठ बंध गयी, गांठ खोल लो। करना क्या है? इसमें इतने परेशान क्यों हुए जा रहे हो? दो जीवन क्यों खराब किये ले रहे हो?

नहीं, वे कहते हैं, अजी, यह कैसे हो सकता है?

अब जब बंध सकते हैं सात फेरे डालने से, तो खुल क्यों नहीं सकते; मेरी समझ में नहीं आता।

तुम्हारे जीवन के जो राग, संबंध, आसक्तियां, द्वेष हैं, उन सब का जो जाल है, उसको ही संसार कह रहे हैं।

"यह संसार भावनामात्र है। परमार्थतः यह कुछ भी नहीं है। भावरूप, अभावरूप पदार्थों में स्थित स्वभाव का अभाव नहीं है।"

बस, एक चीज यहां सच है। और वह है तुम्हारा साक्षी-भाव, तुम्हारा स्वभाव। कुछ है; कुछ नहीं भी है। कुछ नहीं को तुमने है जैसा मान लिया है; कुछ "है" को तुमने "नहीं है" जैसा मान लिया है। यह सब तो ठीक है, लेकिन इन सब के बीच अगर एक ही कोई चीज सत्य है, पारमार्थिक रूप से, आत्यंतिक रूप से सत्य है, सत्य थी, सत्य है, और सत्य रहेगी, तो वह तुम्हारा साक्षी-भाव है। इसलिए उसको ही खोज लो। बाकी उलझाव में कुछ भी बहुत अर्थ नहीं है। दौड़-धूप होगी बहुत, पहुंचोगे कहीं भी नहीं। हाथ कुछ भी न लगेगा। मुट्ठी खाली की खाली रह जाएगी।

देखते हो, दुनिया में बड़ा अदभुत होता है। बच्चे आते तो बंधी मुट्ठी आते हैं; जाते तो खुली मुट्ठी चले जाते हैं। ऐसा लगता है आदमी कुछ लेकर आता है और गंवा कर लौट जाता है। बच्चों में तो कुछ मालूम भी होता है कि कुछ होगा आनंद, कुछ पुलक, कोई रस; बूढ़े बिलकुल सूख जाते हैं। होना तो उल्टा चाहिए। कुछ और जान कर लौटते। यह संसार तो एक पाठशाला थी; कुछ सीख कर लौटते, कुछ और होश से भर कर लौटते। लेकिन और बेहोश हो कर लौट जाते हैं।

"आत्मा का स्वभाव दूर नहीं है। वह समीप या परिच्छिन्न भी नहीं है। वह निर्विकल्प, निरायास, निर्विकार और निरंजन है।"

न दूरं न च संकोचाल्लब्धमेवात्मनः पदम्।

न तो आत्मा दूर है और न पास है; क्योंकि आत्मा भीतर है। दूर और पास तो परायी चीज होती है। वस्तुतः जिसको हम पास कहते हैं वह भी तो दूर है। थोड़ी कम दूर है, लेकिन दूर तो है ही। कोई मेरे से पांच फीट दूर बैठा, कोई दस फीट दूर बैठा, कोई पंद्रह फीट, कोई हजार फीट, कोई हजार मील, कोई करोड़ मील, मगर दूर तो सभी हैं। जिसको हम पास कहते हैं वह भी तो दूर ही है। पास भी तो दूर को ही नापने का ढंग हुआ। पास होकर भी कौन पास हो पाता है? ज्ञानी तो कहते हैं, यह देह भी दूर है। बहुत पास है, पर इससे क्या फर्क पड़ता है? सिर्फ चैतन्य, तुम्हारा साक्षी-भाव ,तुम्हारे भीतर जलती बोध की अग्नि, वही मात्र तुम हो। वह न तो दूर है न पास।

न दूरं न च संकोचात् लब्धं एव आत्मनः पदम्।

वह जो आत्मा है, वह जो स्वभाव है आत्मा का या आत्मा में छिपा जो परमात्मा है, न दूर न पास, न प्रगट न अप्रगट है।

निर्विकल्पं निरायासं निर्विकारं निरंजनम्।

वह निर्विकल्प है। विचार खो जायें, अभी तुम जान लो। निर्विकल्प हो जाओ, अभी तुम जान लो। निरायास, उसको जानने के लिए आयास भी नहीं करना, प्रयास भी नहीं करना, प्रयत्न भी नहीं करना है। निरायास, वह तो मिला ही हुआ है। तुमने उसे कभी गंवाया नहीं। इसलिए तुम जरा जाग जाओ तो पता चल जाये कि खजाना सदा से पड़ा है। निर्विकार। और वहां कोई विकार कभी गये नहीं। लाख तुम्हारे साधु-संन्यासी तुम्हें समझाएं कि पापी हो; भूल में मत पड़ना। और लाख तुम्हें कोई समझाये, पुण्यात्मा हो; भूल में मत पड़ना। न तो पुण्य है वहां, न पाप है वहां। वहां निर्विकार है। तुमने क्या किया और क्या नहीं किया, सब सपने की बकवास है। उस एक को जानते ही सब किया-अनकिया सब खो जाता है, भ्रममात्र हो जाता है।

और निरंजन। उस पर कोई चीज रंग नहीं चढ़ा सकती। अलिप्त है। तुम चाहे कितनी ही काल-कोठरियों से गुजरो, उस पर कालिख नहीं लग सकती। और तुम चाहे नर्क की यात्रा करो तो भी नर्क उस पर छाया नहीं डाल सकता। तुम्हारे भीतर ऐसा परमधन ले कर तुम चल रहे हो जो छीना नहीं जा सकता, विकृत नहीं किया जा सकता, चोर चुरा नहीं सकते। मगर तुम्हें उसकी याद नहीं है। तुम बाहर देख रहे हो। तुम्हें उसकी याद नहीं है।

तुमने कभी-कभी देखा न कि आदमी चश्मा लगाये रहता और चश्मे को खोजता है! चश्मा ही लगाये है और चश्मे को खोजता है। जल्दी में ट्रेन पकड़नी, कि बस पकड़नी, कि कुछ काम आ गया है तो भूल जाता है एकदम। देखा कि आदमी कान पर पेंसिल खोंसे रहता और सारी टेबल खोज डालता है। ऐसी ही कुछ भूल हो गयी है। बस ऐसी ही भूल हो गयी है। भीतर पड़ा है और तुम यहां-वहां खोज रहे हो। फिर जब नहीं मिलता यहां-वहां तो बेचैनी बढ़ती है। बेचैनी में और भूल होती है। फिर जब बिलकुल नहीं मिलता, कितने ही दौड़ते हो, मीलों की यात्रा करते हो, जन्मों-जन्मों की यात्रा और नहीं मिलता, तो बहुत घबड़ा जाते हो। उस घबड़ाहट में और होश खो जाता है।

जरा बैठो। ध्यान का इतना ही अर्थ है: जरा बैठो। दौड़ो मत, खोजो भी मत; जरा शांत होकर बैठ जाओ। शायद जो तुम्हारे तल में पड़ा है, वह प्रगट हो जाये। शायद शांत अवस्था में तुम्हें अपने स्वभाव का स्मरण हो जाये।

मैंने सुना है, एक पुरानी कथा है। तुमने भी सुनी होगी। थोड़े-से फर्क उसमें करना चाहता हूं। पुरानी कथा है। दस मूढ़ व्यक्ति नदी पार किए। नदी पूर पर थी--वर्षा की नदी। उस पार जा कर उन्होंने सोचा कि गिनती कर लें, कहीं कोई खो न गया हो। तो उन्होंने गिनती की। जिसने भी गितनी की उसने नौ ही गिने, क्योंकि अपने को छोड़ गया। एक, दो, तीन, चार, पांच, छह, सात, आठ, नौ। सब ने गिना और सबने पाया कि बात बिलकुल सही है; एक खो गया है। क्योंकि सभी अपने को छोड़ कर गिनती करते थे। वे तो बैठकर रोने लगे। वे तो छाती पीटने लगे कि साथी खो गया। पुरानी कथा कहती है कि कोई पंडित, बुद्धिमान पुरुष पास से गुजरा। उसने देखा, पूछा, क्यों रोते हो? कहा कि दस आये थे, नदी पार किये, नौ रह गये, एक खो गया। उसने नजर डाली, देखा दस के दस हैं, मूढ़ मालूम होते हैं। उसने कहा: खड़े होओ, मैं गिनती करता हूं। उसने गिनती की। पहले उसने गिनती करवायी देखने लिए कि ये किस तरह की गिनती करते हैं। देखा। तो एक आदमी ने गिनती की--एक, दो, तीन, चार, पांच, छह, सात, आठ, नौ। और उसने अपने को छोड़ दिया। तो उसने उसकी छाती पर हाथ रख कर जोर से कहा: पागल, दसवां तू है। तब उन्हें होश आ गया। वे दसों बड़े प्रसन्न हुए, उसे बड़ा धन्यवाद देने लगे कि आपने बड़ी कृपा की कि दसवां साथी मिल गया। नहीं तो खो ही गया था बिलकुल, गंवा बैठे थे।

अब यह कहानी बड़ी महत्वपूर्ण है। लेकिन इसमें कहानी कहती है कि दस मूढ़ व्यक्ति थे। मैं तुमसे कहूंगा, दस पंडित व्यक्ति नदी के पार गये। इतना फर्क करूंगा। क्योंकि मूढ़ कहीं गिनती की फिक्र करते हैं? सुना तुमने, कहीं मूढ़ और गिनती की फिक्र करें? मूढ़ का मतलब ही होता है: जिसको गिनती नहीं आती। नौ तक जिसको आती है वह कोई मूढ़ है? उसको तो सारी गिनती आ गयी। नहीं, दस पंडित व्यक्तियों ने नदी पार की। बड़े ज्ञानी थे, वेद के ज्ञाता थे। कोई चतुर्वेदी, कोई त्रिवेदी, कोई द्विवेदी। बड़ी खोपड़ी में गिनती भरी थी! सारे सिद्धांत, विचार, सब; उनके मालिक थे वे। उन्हें खयाल आया, पंडित थे, सोचा कि कहीं कोई खो तो नहीं गया। और पंडित हों तो सीधे रास्ते तो जाते नहीं। पंडित तो तिरछा जाता है। वह तो कान भी पकड़ता है तो घूम कर, उल्टी तरफ से पकड़ता है। तो उन्होंने गिनती की। और स्वभावतः जैसा कि पंडित करेगा, वह अपने को छोड़ जाता है। वह दूसरे को सलाह देता है, अपने को छोड़ जाता है। वह दूसरे को ज्ञान बांटता है, खुद अज्ञानी रह जाता है। वह सारी दुनिया को बदलने में लगा रहता है, खुद नहीं बदलता है; जैसा कि पंडित की आदत होती है। उसने गिनती की। नौ तक तो गिन लिया, दसवां चूक गया। रोने लगे।

वहां से कोई सीधा-साधा आदमी आता था। कहता हूं सीधा-साधा; न पंडित, न मूढ़। क्योंकि मूढ़ हो तो गिनती नहीं जानता है, पंडित हो तो गिनती गड़बड़ा जाती है। सीधा-साधा, सरल चित्त आदमी। न इतना मूढ़ कि गिनती न कर सके, न इतना पंडित कि गिनती गड़बड़ कर ले। दोनों अतियों से मुक्त, कोई बुद्धपुरुष, मध्य में ठहरा हुआ, दोनों अतियों के पार, मज्झिम निकाय पर, ठीक संतुलित, न पंडित न मूढ़। ये दोनों तो असंतुलन हैं।

मूढ़ बिलकुल नहीं जानता है और पंडित जरूरत से ज्यादा जान लेता है। दोनों बीमारियां हैं। एक बायें झुक गया, एक दायें। दोनों गिरेंगे। ठीक तो वही है जो रस्सी पर बीच में सम्हला है। कोई सीधा-सीधा आदमी आता था। उसे देख कर बड़ी हंसी आयी कि पागल, क्यों रोते हो? और यह देख कर और भी हंसी आयी कि सब बड़े पंडित हैं।

इतना फर्क कहानी में कर देना चाहता हूं। कहानी महत्वपूर्ण है।

और तुम्हारा गुरु इससे ज्यादा कुछ भी नहीं कर सकता कि तुम्हारी छाती पर हाथ रखकर कहे कि दसवां तू है! बस इससे ज्यादा गुरु और क्या कर सकता है? खोया नहीं है किसी को। जिसे तू खोज रहा है, वह तू है। तत्वमसि श्वेतकेतु।

"मोह मात्र के निवृत्त होने पर और अपने स्वरूप के ग्रहण मात्र से वीतशोक और निरावृत्त दृष्टिवाले पुरुष शोभायमान होते हैं।"

व्यामोहमात्रविरतौ स्वरूपादानमात्रतः।
वीतशोका विराजंते निरावरण दृष्टयः।।

जिसका यह सपनों में मोह छूट गया। जिसने ये मन में उठती रागात्मक वृत्तियों को जाग कर देख लिया और इनका विचार छोड़ दिया और जो चीजों को सीधा-सीधा देखने लगा।

व्यामाोहमात्रविरतौ...।

मोहमात्र जिसका निवृत्त हुआ। जो अब ऐसा नहीं कहता है कि यह मेरा है और यह मेरा नहीं है। क्या मेरा है, और क्या तेरा है?

व्यामोहमात्रविरतौ स्वरूपादानमात्रतः।

और जिसने अपने स्वरूप को ग्रहण कर लिया। शब्द का अर्थ समझना।

स्वरूप को पाना थोड़े ही है--है ही। लेकिन तुम भूल गये हो। भूल को सुधार लिया। दो और दो पांच जोड़ रहे थे, दो और दो चार जोड़ लिये। दो और दो चार ही थे। जब तुम पांच जोड़ते थे तब भी चार ही थे। तुम पचास जोड़ो तो भी चार ही रहेंगे। तुम कुछ भी जोड़ो, इससे कोई फर्क नहीं पड़ता। तुम न भी जोड़ो तो भी दो और दो चार ही हैं।

स्वरूपादानमात्रतः।

और जिसने अब अपने स्वरूप को अंगीकार कर लिया; जो था उसे स्वीकार कर लिया, जो था उसकी स्मृति से भर गया।

वीतशोका विराजंते निरावरण दृष्टयः।

वह सारे दुख के पार हो जाता है। और एक ऐसे सिंहासन पर विराजमान हो जाता है जहां निर्मल दृष्टि है; जहां सब निर्मल है, निर्विकार है। ऐसी निर्विकार दृष्टि वाला व्यक्ति ही शोभायमान है।

हमने इस देश में ऐसे व्यक्ति की ही महिमा गायी है। धन की नहीं, पद की नहीं, सम्राटों की नहीं, साम्राज्यों की नहीं। हम तो एक ही साम्राज्य पर भरोसा करते हैं, वह है भीतर का, स्वभाव का, स्वच्छंद, स्वयं के गीत का। ऐसा ही व्यक्ति केवल शोभायमान है।

वीतशोका विराजंते निरावरणदृष्टयः।

जिसकी दृष्टि निरावरण हो गयी। जिसकी आंख पर कोई परदा न रहा, कोई आवरण न रहा। जो देखने लगा सीधा-सीधा। जिसकी देखने की कोई आकांक्षा न रही कि ऐसा देखूं, कि ऐसा हो; जो सीधा-सीधा देखने लगा। ऐसी निरावरण दृष्टि को उपलब्ध व्यक्ति ही एकमात्र जगत में शोभायमान है।

"समस्त जगत कल्पना मात्र है और आत्मा मुक्त और सनातन है, ऐसा जानकर धीरपुरुष बालकों की भांति क्या चेष्टा करता है!"

यह बड़ा अदभुत सूत्र--आखिरी सूत्र आज के लिए।

समस्तं कल्पनामात्रमात्मा मुक्तः सनातनः।
इति विज्ञाय धीरो हि किमभ्यस्यति बालवत्।।

सारा जगत कल्पना मात्र है, ऐसा जिसने जाना, ऐसा जानते ही दूसरी बात भी जान ली साथ ही साथ, युगपत, कि आत्मा सनातन और मुक्त है। जब तक संसार सत्य है, आत्मा बंधन में मालूम होती है। जैसे ही संसार मालूम हुआ मिथ्या--आत्मा मुक्त है। संसार की भ्रांति ही बंधन है। बंधन वास्तविक नहीं है। तुमने मान रखा है कि बंधन है, इसलिए है। तुम छोड़ दो मान्यता, छूट जाता है।

"ऐसा जान कर धीरपुरुष क्या बालकों की भांति चेष्टा करता है!"

बच्चे अभ्यास करते हैं। भाषा सीखनी है तो अभ्यास करना पड़ता है। भाषा भूलनी हो तो भी क्या अभ्यास करना पड़ेगा? कुछ कमाना हो तो अभ्यास करना पड़ता है। कुछ गंवाना हो तो अभ्यास करना पड़ेगा?

रामकृष्ण के पास एक आदमी ने पांच सौ मोहरें ला कर रख दीं, कहा कि आप को दान करना है। रामकृष्ण ने कहा: तू एक काम कर, दान तो हम ले लिये, हमने स्वीकार कर लिया; अब हमारी तरफ से इनको गंगा में फेंक आ। वह आदमी बड़ी मुश्किल में पड़ा। इंकार ही कर देते तो अपने घर तो ले जाता; यह और उपद्रव कर दिया। स्वीकार भी कर लिया और अब कहते हैं: गंगा में फेंक आ। और अब कहते हैं मेरी तरफ से, इसलिए अब मेरा कोई वश भी नहीं है। वह गया। बड़ी देर लगा दी। तो रामकृष्ण ने कहा: पता लगाओ, गया कि नहीं गया? कहां है? कितनी देर लगा दी? इतनी देर की जरूरत क्या?

कोई गया तो देखा, उसने वहां भीड़ इकट्ठी कर रखी थी। वह एक-एक अशर्फी को पटकता सीढ़ी पर, बजाता, खनखनाता, फिर फेंकता और गिनती करता। तो देर लग रही थी।

रामकृष्ण भागे गये और कहा: पागल, जब कमाना हो तो गिनती करनी पड़ती है; जब फेंकना है तो गिनती किसलिए कर रहा है? यह खनखना किसलिए रहा है? अब तुझे क्या फिक्र पड़ी है कि सही है कि खोटी है, कि असली है कि नकली है। कमाते वक्त की तेरी आदत है। मगर गंवाने में? फेंक, इकट्ठा फेंक!

अभ्यास करना पड़ता है, जब हम कमाते हैं। भोग का अभ्यास करना पड़ता है; त्याग का अभ्यास नहीं करना पड़ता। त्याग तो एक क्षण में घट जाता है। भोग तो जन्मों-जन्मों में नहीं घटता और त्याग एक क्षण में घट जाता है। त्याग के लिए समय की जरूरत ही नहीं है। ज्ञान के लिए अभ्यास की जरूरत नहीं है, क्योंकि ज्ञान तुम्हारा स्वभाव है। अभ्यास तो उसका करना पड़ता है जो स्वभाव नहीं है। बच्चा पैदा होता है तो कोई भाषा ले कर तो पैदा नहीं होता। न जर्मन, न जापानी, न हिंदी, न मराठी, न गुजराती--कोई भाषा तो ले कर पैदा नहीं होता। बच्चा तो बिना भाषा के आता है। तो भाषा स्वभाव नहीं है। लेकिन मौन तो स्वभाव है। मौन तो लेकर सभी बच्चे आते हैं। जापान में पैदा हों कि चीन में, कि जर्मनी में, कि महाराष्ट्र में, कि गुजरात में, क्या फर्क पड़ता है? मौन तो सभी बच्चे ले कर आते हैं। तो जिस दिन तुम मौन होना चाहो, क्या मौन का अभ्यास करना पड़ेगा?

यह सूत्र बड़ा अदभुत है। यह यह कह रहा है कि जो स्वाभाविक है, उसका अभ्यास नहीं करना पड़ता। तुम अगर मौन होना चाहते हो, वस्तुतः होना चाहते हो, इसी क्षण हो सकते हो। भाषा सीखी हुई है, मौन तो अनसीखा हुआ है; तुम्हारा स्वभाव है।

अष्टावक्र की इस सारी महागीता का सार-सूत्र इतना है कि जो तुम्हें पाना है वह मिला हुआ है। तुम बस जागो और मालिक हो जाओ। दावा करो और मालिक हो जाओ। परमात्मा तुम्हारा स्वभावसिद्ध अधिकार है।

हरि ॐ तत्सत्!

छप्पनवां प्रवचन

आलसी शिरोमणि हो रहो

पहला प्रश्न:

बड़ी जहमतें उठायीं तेरी बंदगी के पीछे
मेरी हर खुशी मिटी है तेरी हर खुशी के पीछे
मैं कहां-कहां न भटका तेरी बंदगी के पीछे!
अब आगे मैं क्या करूं, यह बताने की अनुकंपा करें।

करने में भटकन है। फिर पूछते हो, आगे क्या करूं! तो मतलब हुआ: अभी भटकने से मन भरा नहीं। करना ही भटकाव है। साक्षी बनो, कर्ता न रहो।...तो फिर मेरे पास आ कर भी कहीं पहुंचे नहीं। फिर भटकोगे। किया कि भटके। करने में भटकन है। कर्ता होने में भटकन है। लेकिन मन बिना किये नहीं मानता। वह कहता है, अब कुछ बतायें, क्या करें?

न करो तो सब हो जाये। करने की जिद्द किये बैठे हो। कर-कर के हारे नहीं? कर-कर के क्या कर लिया है? इतना तो किया, जन्मों-जन्मों किया--परिणाम क्या है? लेकिन मन यही कहे चला जाता है कि शायद अभी तक ठीक से नहीं किया, अब ठीक से कर लें तो सब हो जाये। मन वहीं धोखा देता है।

मैंने सुना, जूतों की एक दूकान पर एक ग्राहक ने जूते की जोड़ी पसंद करके कीमत पूछी। तो मुल्ला नसरुद्दीन, जो वहां सेल्समैन का काम करता है, उसने दाम बतलाये--चालीस रुपया। ग्राहक ने कहा, मेरे पास दस रुपये कम हैं, बाद में दे जाऊंगा। तो नसरुद्दीन ने कहा, मालिक से कह दें, वे मान लें तो ठीक है। ग्राहक ने मालिक के पास जा कर निवेदन किया। मालिक "ना" कहने जा ही रहा था कि नसरुद्दीन ने जूते की जोड़ी डब्बे में बांध कर ग्राहक को देते हुए कहा मालिक से: "दे दीजिये साहब, ये दस रुपया दे जायेंगे। भरोसा रखिये।" जब ग्राहक जूता ले कर चला गया और मालिक ने पूछा, क्या तुम उसे जानते हो नसरुद्दीन? नसरुद्दीन ने कहा: "जानता तो नहीं, पहले कभी देखा भी नहीं। इस गांव में भी रहता है, इसका भी कुछ पक्का नहीं। लेकिन इतना जानता हूं कि वह वापिस आयेगा, दस रुपये लेकर जरूर वापिस आयेगा, आप घबड़ायें मत। क्योंकि मैंने दोनों जूते एक ही पैर के बांध दिये हैं।"

अब लाख उपाय करो, एक ही पैर के दो जूते बैठेंगे नहीं। परमात्मा ने तुम्हें जब इस संसार में भेजा है, तो एक ही पैर के दो जूते बांध दिये हैं, ताकि तुम संसार में भटक न जाओ और लौट आओ। संसार एक प्रशिक्षण है। यहां जागना सीखना है। कर-कर के इसीलिए तो कुछ परिणाम नहीं होता। कर-कर के हार ही हाथ लगती है। कर-कर के टूटते हो, पराजित होते हो। करने का फैलाव संसार है। और जो जागने लगा इस फैलाव में, उसका धर्म में प्रवेश हुआ। और जो जाग गया, वह परमात्मा के घर वापिस लौट गया।

तुम कहते हो: "बड़ी जहमतें उठायीं तेरी बंदगी के पीछे!"

इसमें थोड़ी भ्रांति है। तुमने बंदगी के पीछे जहमतें नहीं उठायीं। तुम जहमतें उठाना चाहते थे, इसलिए उठायीं। जहमतें उठाने में अहंकार को तृप्ति है। तुमने कष्ट झेले--प्रार्थना के लिए नहीं। क्योंकि प्रार्थना के लिए तो जरा-सा भी कष्ट झेलने की जरूरत नहीं है। प्रार्थना में तो कांटा है ही नहीं; प्रार्थना तो फूल है। प्रार्थना तो कमल जैसी कोमल है। जहमतें! प्रार्थना में! तो फिर स्वर्ग कहां होगा? फिर सुख कहां होगा? फिर आनंद कहां होगा?

नहीं, ये बंदगी के कष्ट नहीं हैं जो तुमने झेले। तुमने बंदगी के नाम से झेले हों, यह हो सकता है; लेकिन ये कष्ट अहंकार के ही हैं। तुमने परमात्मा को खोजने में तकलीफ पायी, ऐसा तो हो ही नहीं सकता। परमात्मा को खोजने में कोई कैसे तकलीफ पायेगा! तुम खोजने में तकलीफ पाये। कोई धन खोजने में पा रहा है, कोई पद खोजने में पा रहा है, तुमने परमात्मा खोजने में पायी। तुम्हारे खोजने के अलग-अलग बहाने हैं, मगर खोजने का जो मजा है, जो अहंकार की तृप्ति है, उसके कारण तुमने जहमत उठायी।

"मेरी हर खुशी मिटी है तेरी हर खुशी के पीछे।"

उसकी खुशी का तो तुम्हें पता नहीं और तुम्हारे पास कभी खुशी थी जो मिटा दोगे? खुशी ही होती तो कौन परेशान होता परमात्मा को खोजने के लिए! तुमने सुखी आदमी को परमात्मा की याद भी करते देखा? मैं गवाह हूं, मैं कभी याद नहीं करता। याद किसलिए करनी है? दुख...दुख में ही तुम याद करते हो। खुशी तो थी ही नहीं। कविताएं बना कर अपने आपको धोखा मत दो।

कविताएं सुंदर हो सकती हैं, इससे सच नहीं हो जातीं। सत्य निश्चित सुंदर है; लेकिन जो-जो सुंदर है, सभी सत्य नहीं है। सत्य महासुंदर है। लेकिन कोई चीज सुंदर है, इसीलिए सत्य मत मान लेना। क्योंकि तुम तो न-मालूम क्या-क्या चीजों को सुंदर मानते हो! तुम तो हड्डी-मांस-मज्जा की देह को भी सुंदर मान लेते हो, जो कि बिलकुल असत है। तुम तो आकाश में उठ गये इंद्रधनुष को भी सुंदर मान लेते हो, जो कि है ही नहीं! तुम तो रात सपने को भी सुंदर मान लेते हो--और हजार बार जाग कर पाया है कि झूठ है! तुम्हारे सौंदर्य में कुछ बहुत सत्य नहीं है, हो नहीं सकता! सत्य तुममें हो, तो ही हो सकता है।

कविता तो सुंदर चुनी है तुमने। वह भी तुम्हारी नहीं है, वह भी उधार है।

"मेरी हर खुशी मिटी है तेरी हर खुशी के पीछे।"

नहीं, परमात्मा तुमसे किसी तरह का बलिदान तो चाहता ही नहीं। और जिन्होंने तुम्हें सिखाया है कि परमात्मा बलिदान चाहता है, वे बेईमान हैं। उन्होंने परमात्मा के नाम से तुमसे किसी और वेदी पर बलिदान करवा लिया है। हजार लोग उत्सुक हैं तुम्हारा बलिदान हो जाये, तुम शहीद हो जाओ। कोई कहता है, राष्ट्र के नाम पर शहीद हो जाओ। कोई कहता है, धर्म के नाम पर शहीद हो जाओ, जेहाद में शहीद हो जाओ! अगर धर्म के युद्ध में मरे तो स्वर्ग मिलगा, बहिश्त मिलेगी! लेकिन धर्म का कोई युद्ध होता है? अगर धर्म का भी युद्ध होता है, तो फिर अधर्म का क्या होगा? धार्मिक व्यक्ति का भी कोई राष्ट्र होता है? अगर धार्मिक व्यक्ति भी राष्ट्रों में बंटा है, तो राजनीतिज्ञ है। धार्मिक व्यक्ति की कोई राष्ट्र-भक्ति होती है? जमीन के टुकड़ों के प्रति भक्ति? असंभव है! धार्मिक व्यक्ति का इतना नीचा बोध नहीं होता।

तुम्हारे बोध तो बड़े अजीब हैं! तुम तो झंडा कोई नीचा कर दे तो जान देने को तैयार हो। और उसने कुछ नहीं किया। डंडे में एक कपड़ा लटका रखा है, उसको तुम झंडा कहते हो। और झंडा ऊंचा रहे हमारा!

तुम कभी अपनी मूढ़ताओं का विश्लेषण किये हो? और इन पर तुम कुर्बान होने को तैयार हो, मरने को तैयार हो! असल में तुम्हारी जिंदगी में कुछ भी नहीं है। तुम्हारी जिंदगी बिलकुल खाली है। तुम चले-चलाये कारतूस हो--कहीं भी लगा दो! चलो इसी में थोड़ा हो जाये!

लेकिन मैं तुमसे यह कहना चाहता हूं, परमात्मा तुमसे बलिदान नहीं मांगता। परमात्मा तुमसे उत्सव मांगता है। मुझे तुम अगर समझना चाहते हो, तो इस शब्द "उत्सव" को ठीक से समझ लेना। परमात्मा नहीं चाहता कि तुम रोते हुए उसकी तरफ आओ--गिड़गिड़ाते, दावे करते हुए, कि मैंने कितना बलिदान किया! परमात्मा चाहता है कि तुम नाचते हुए आओ, गीत गाते, सुगंधित, संगीतपूर्ण, भरे-पूरे! तुम्हारा उत्सव ही उस तक पहुंचता है। उत्सव के क्षण में ही तुम उसके पास होते हो।

तो ये तो तुम बातें छोड़ दो कि तुमने अपनी खुशियां लुटा दीं! खुशियां थीं कहां? होतीं तो तुम लुटा देते? खुशियां तो कभी थीं ही नहीं! दुख ही दुख था। उसी दुख के कारण तो तुम खोजने निकले। लेकिन आदमी अपने को भी धोखा देने की कोशिश करता है।

तुमने देखा, जवान आदमी कहता है, बचपन में बड़ी खुशी थी! बूढ़ा कहता है, जवानी में बड़ी खुशी थी। मरता हुआ आदमी कहता है, जीवन में बड़ी खुशी थी। ऐसा लगता है कि जहां तुम होते हो वहां तो खुशी नहीं होती, जहां से तुम निकल गये वहां खुशी होती है। बच्चों से पूछो! बच्चे खुश इत्यादि जरा भी नहीं। यह बूढ़ों की बकवास है! ये बुढ़ापे में लिखी गयी कविताएं हैं कि बचपन में बड़ी खुशी थी। बच्चों से तो पूछो। बच्चे बड़े दुखी हो रहे हैं। क्योंकि बच्चों को सिवाय अपनी असहाय अवस्था के और कुछ समझ में नहीं आता। और हरेक डांट रहा है, डपट रहा है। इधर बाप है, इधर मां है; इधर बड़ा भाई है, उधर स्कूल में शिक्षक है, और सब तरह के डांटने-डपटने वाले--और बच्चे को लगता है, किसी तरह बड़ा हो जाऊं बस, तो इन सबको मजा चखा दूं!

एक छोटा बच्चा स्कूल में, शिक्षक उसे कह रहा था...शिक्षक ने उसे मारा। वह बच्चा रो रहा था। तो शिक्षक ने कहा: "रोओ मत, समझो। मैं तुम्हें प्रेम करता हूं, इसीलिए तुम्हें मारता हूं--ताकि तुम सुधरो, तुम्हारे जीवन में कुछ हो जाये, कुछ आ जाये।" बच्चे ने कहा: "प्रेम तो मैं भी आपको करता हूं, लेकिन प्रमाण नहीं दे सकता!"

प्रमाण बाद में देना पड़ता है। बच्चा कैसे प्रमाण दे अभी!

छोटे बच्चे को पूछो, छोटा बच्चा खुश नहीं है। हर बच्चा जल्दी से बड़ा हो जाना चाहता है। इसीलिए तो कभी बाप के पास भी कुर्सी पर खड़ा हो जाता है और कहता है, देखो मैं तुमसे बड़ा हूं! हर बच्चा चाहता है बताना कि मैं तुमसे बड़ा हूं! रस लेना चाहता है इसमें कि मैं भी बड़ा हूं, मैं छोटा नहीं हूं! छोटे में निश्चित ही दुख है। कहां का सुख बता रहे हो तुम बच्चे को? हर चीज पर निर्भर रहना पड़ता है--मिठाई मांगनी तो मांगनी, आइसक्रीम चाहिए तो मांगनी। और मांगे आइसक्रीम, मिलती कहां है? हजार उपदेश मिलते--कि दांत खराब हो जायेंगे, कि पेट खराब हो जायेगा।

और बच्चों की कभी समझ में नहीं आता कि भगवान भी खूब है, बेस्वाद साग-भाजी में सब विटामिन रख दिये और आइसक्रीम में कुछ नहीं; सिर्फ बीमारियां ही बीमारियां! जो स्वादिष्ट लगता है उसमें बीमारी है और जो स्वादिष्ट नहीं लगता--पालक की भाजी--उसमें सब लोहा और विटामिन और सब ताकत की चीजें भरी हैं। परमात्मा भी पागल मालूम पड़ता है। यह तो सीधी-सी बात है कि विटामिन कहां होने चाहिए थे!

बच्चा कोई सुखी नहीं है। लेकिन जब तुम जवान हो जाओगे और जवानी के दुख आयेंगे, तब तुम अपने मन को समझाने लगोगे, बचपन कितना सुखपूर्ण था! यह झूठ है। यह तुम अपने को समझा रहे हो। आज तो सुख नहीं है, तो दो ही उपाय हैं अपने को समझाने के: पीछे सुख था और आगे सुख होगा। आगे का तो इतना पक्का नहीं है, क्योंकि आगे क्या होगा, क्या पता! लेकिन पीछे, पीछे का तो अब मामला खतम हो चुका, वहां से तो गुजर चुके। जिस राह से आदमी गुजर जाता है उस राह के सुखों की याद करने लगता है। वे सब कंकड़-पत्थर, कांटे, कंटकाकीर्ण यात्रा, सब भूल जाती है; धूल-धवांस, धूप, वह सब भूल जाती है। जब किसी वृक्ष की छाया में बैठ जाता है तो याद करने लगता है, कैसी सुंदर यात्रा थी!

मैं एक सज्जन के साथ पहाड़ पर था। वे जब तक पहाड़ पर रहे, गिड़गिड़ाते ही रहे, शिकायत ही करते रहे कि क्या रखा है, इतनी चढ़ाई और कुछ सार नहीं दिखाई पड़ता। और थक जाते और हांफते और कहते, अब कभी दुबारा न आऊंगा। मैं उनकी सुनता रहा। फिर हम पहाड़ से नीचे उतर आये। गाड़ी में बैठ कर वापिस घर लौटते थे कि ट्रेन में एक सज्जन ने पूछा कि क्या आप लोग पहाड़ से आ रहे हैं? उन्होंने कहा, "अरे बड़ा आनंद आया!" मैंने कहा, "सोच समझ कर कहो, फिर तो तैयारी नहीं कर रहे आने की? किससे कह रहे हो? और मेरे सामने कह रहे हो कि बड़ा आनंद आया!"

वे थोड़ा झिझके! क्योंकि ऐसा तो सभी यात्री कहते हैं लौट कर कि बड़ा आनंद आया। हज़्यात्री से पूछो, कहेगा, बड़ा आनंद आया! बातों में मत पड़ जाना। यह तो यात्री यह कह रहा है कि अब अपनी तो कट ही गयी, दूसरों की भी कटवा दो। अब यात्री यह कह रहा है कि कट तो गयी, अब और स्वीकार करना कि वहां दुख पाया और मूढ़ बने, अब यह और बदनामी क्यों करवानी? बड़ा आनंद आया! सभी यात्री लौट कर यही कहते हैं कि बड़ा आनंद, गजब का आनंद! कैसा सौंदर्य! स्वर्गीय सौंदर्य! ऐसी भ्रांति पलती है।

बूढ़ा आदमी जवानी के सौंदर्य और सुख की बातें करने लगता है। और जवान सिर्फ बेचैन है। जवान सिर्फ परेशान है, ज्वरग्रस्त है, वासना से दग्ध है, अंगारे की तरह वासना हृदय को काटे जाती है, चुभती है धार की तरह। कहीं कोई सुख-चैन नहीं है। हजार चिंताएं हैं--व्यवसाय की, धंधे की, दौड़-धाप है। मरता हुआ आदमी सोचने लगता है, जीवन में कैसा सुख था!

मैं तुमसे इसलिए यह कह रहा हूं ताकि तुम्हें खयाल रहे। जहां सुख नहीं है वहां सुख मान मत लेना। दुख को दुख की तरह जानना। दुख को जो दुख की तरह जान लेता है, वह सुख को पाने में समर्थ हो जाता है। और जो अपने को मना लेता है, झूठी सांत्वनाओं में ढांक लेता है अपने को, ओढ़ लेता है चादरें असत्य की--वह भटक जाता है।

"मैं कहां-कहां न भटका तेरी बंदगी के पीछे!"

अब बंदगी करनी हो तो कहीं भटकने की जरूरत है? कोई मक्का, मदीना, काशी, गिरनार, कि सारनाथ, कि बोधगया जाने की जरूरत है? बंदगी करनी हो तो यहीं नमन हो जाये। बंदगी तो झुकने का नाम है; जहां झुक गये बंदगी हो गयी। तुम जहां झुके, वहीं परमात्मा मौजूद हो जाता है--तुम्हारे झुकने में मौजूद हो जाता है। उसको खोजने कहां जाओगे? कुछ पता-ठिकाना मालूम है? जाओगे कहां? जहां भी जाओगे, तुम तुम ही रहोगे। अगर झुकना था तो यहीं झुक जाते। काबा जाते हो झुकने? अगर पत्थरों के सामने ही झुकने में लगाव है तो यहां कोई पत्थरों की कमी है? कोई भी पत्थर रख कर झुक जाओ। काशी जाते हो? काशी में जो रह रहे हैं, तुम समझते हो उनको बंदगी उपलब्ध हो गयी है?

कबीर तो मरते दम तक काशी में थे। आखिरी घड़ी बीमार जब पड़ गये, अपने बेटे से कहा कि अब मुझे यहां से हटा; मुझे मगहर ले चल। अब मगहर! कहावत है काशी में, काशी के लोगों ने ही गढ़ी होगी कि मगहर में जो मरता है, वह नर्क जाता है या गधा होता है, और काशी में जो मरता है--काशीकरवट--वह तो सीधा स्वर्ग जाता है। कबीर उठ कर खड़े हो गये अपने बिस्तर से और कहा कि मुझे मगहर ले चल। लड़के ने कहा, बुढ़ापे में आपका दिमाग खराब हो रहा है? मगहर से तो लोग मरने काशी आते हैं। मगहर में मरें तो गधे हो जाते हैं। तो कबीर ने कहा, वह गधा हो जाना मुझे पसंद है, लेकिन काशी का ऋण नहीं लूंगा। यह अहसान नहीं लूंगा। अगर अपने कारण स्वर्ग पहुंचता हूं तो ठीक है। काशी के कारण स्वर्ग गया, यह भी कोई बात हुई? किस मुंह से भगवान के सामने खड़ा होऊंगा? वे कहेंगे, काशी में मरे कबीर, इसलिए स्वर्ग आ गये; मगहर में मरते तो गधा होते। मैं तो मगहर में ही मरूंगा। अगर मगहर में मर कर स्वर्ग पहुंचूं तो शान से प्रवेश तो होगा। यह कह तो सकूंगा, अपने कारण आया, काशी के कारण नहीं आया।

तुम कहां खोजते फिर रहे हो? तुम कारण खोज रहे हो कि किसी बहाने, किसी पीछे के दरवाजे से परमात्मा मिल जाये। मैं तुमसे यह कहता हूं, तीर्थयात्रा पर तुम इसीलिए जाते हो कि तुम झुकना नहीं चाहते, तुम बंदगी करना नहीं चाहते। तुम्हें बड़ी उल्टी बात लगेगी। क्योंकि तुम तो सोचते हो बंदगी के लिए तीर्थयात्रा कर रहे हैं। बंदगी के लिए कहीं जाने की भी जरूरत है? तुम जहां हो वहीं झुक जाओ। तुम्हें अब तक समझाया गया है कि वहां जाओ जहां परमात्मा है, वहां झुकोगे तो मोक्ष मिलेगा। मैं तुमसे कहता हूं: तुम जहां झुक जाओ वहां परमात्मा के चरण मौजूद हो जाते हैं। तुम्हारे झुकने में ही--वही कला है--तुम्हारे झुकने में ही परमात्मा के

चरण मौजूद हो जाते हैं। तुम झुके नहीं कि परमात्मा मौजूद हुआ नहीं। तुम झुके नहीं कि परमात्मा तुम्हारे भीतर उंडला नहीं।

तुम भटकते रहे अपने कारण। नहीं, इसको परमात्मा के कारण मत कहो। परमात्मा के कारण कोई कभी भटका है?

और अब तुम फिर पूछते हो कि "अब आगे मैं क्या करूं, यह बताने की अनुकंपा करें।"

अनुकंपा! मैं तुम्हारा दुश्मन नहीं हूं कि अब तुम्हें और कुछ बताऊं कि अब तुम यह करो! मैं तुमसे कहूंगा: बहुत हो गया करना, अब "न-करने" में विराजो। अब न-करने के सिंहासन पर बैठो। अब साक्षी बनो। अब देखो। कर्ता नहीं--द्रष्टा। अब तो सिर्फ बैठो; जो परमात्मा दिखाये, देखो; जो कराये, कर लो--लेकिन कर्ता मत बनो। भूख लगाये तो भोजन खोज लो। प्यास लगाये तो सरोवर की तलाश कर लो। नींद लगाये तो सो जाओ। नींद तोड़ दे तो उठ आओ। मगर साक्षी रहो। सारा कर्तापन उसी पर छोड़ दो।

अष्टावक्र का सार-सूत्र यही है कि तुम देखने में तल्लीन हो जाओ, द्रष्टा हो जाओ। भूख लगे तो देखो। ऐसा मत कहो, मुझे भूख लगी है। कहो, परमात्मा को भूख लगी। उसी को लगती है! नींद लगे तो कहो उसको नींद आने लगी, वह मेरे भीतर झपकने लगा, अब सो जाना चाहिए, मैं बाधा न दूं। प्यास लगे, पानी पी लो। जब तृप्ति हो तो पूछ लो उससे कि "तृप्त हुए न? तुम्हारा कंठ अब जल तो नहीं रहा प्यास से?" मगर तुम देखने वाले ही रहो। बस, इतना सध जाये तो सब सध गया। इक साधे, सब सधै। तुम हजार-हजार काम करते रहो, कुछ भी न होगा। तुम एक छोटी-सी बात साध लो: साक्षी हो जाओ।

मैंने सुना, एक डाक्टर के क्लीनिक में कंपाउंडर एक छोटे-से बच्चे के पैर में पट्टी बांध रहा था। पर बच्चा उछलता-कूदता था, शोरगुल मचाता था, चीखता-चिल्लाता था। अंततः डाक्टर ने गुस्से में आ कर कहा, हटो, मैं बांधता हूं। और उस लड़के से कहा, सीधे खड़े रहना बच्चू, वरना इंजेक्शन लगा दूंगा। बीच में बच्चे ने कुछ कहना भी चाहा तो डाक्टर ने फिर कहा कि अगर जरा बोले तो इंजेक्शन लगा दूंगा बच्चू, शांत खड़े रहो। अब ऐसी हालत थी तो बच्चा बिलकुल योगासान साधे खड़ा रहा। "ड्रेसिंग" हो जाने के बाद डाक्टर ने पूछा, बोलो बीच में क्या कह रहे थे? उसने कहा, यही कह रहा था डाक्टर साहब, कि चोट दायें पैर में है और आपने पट्टी बायें पैर में बांध दी।

कर्ता होने में चोट ही नहीं है, वहां तुम पट्टी बांध रहे हो। वह असली भ्रांति वहां नहीं है। बीमारी वहां नहीं है और पट्टी तुम वहां बांध रहे हो। बीमारी है तुम्हारी साक्षी-भाव में। तुम्हारा बोध खो गया है। तुम्हारा होश खो गया है। तुम्हारा ध्यान खंडित हो गया है। तुम्हारी जागृति धूमिल हो गयी है। प्रश्न वहां है, समस्या वहां है। तुम कहते हो, क्या करें? किया कि भटके। चले कि भटके। बैठ जाओ, करो मत! देखो और पहुंच गये।

पहुंचने का सूत्र--कहीं चल कर नहीं पहुंचना है। पहुंचे हुए तुम हो। यही तो अष्टावक्र की उदघोषणा है। यह महावाक्य है कि तुम वहीं हो जहां तुम्हें होना चाहिए। तुम जरा आंख खोलो।

मैं झेन फकीर रिंझाई का जीवन कल रात पढ़ रहा था। किसी ने पूछा आ कर रिंझाई को कि आप तो ज्ञान को उपलब्ध हो गये, आप मुझे समझायें कैसे उपलब्ध हुए और मैं क्या करूं? तो रिंझाई ने कहा, "करूं! तुम शांत हो कर मुझे देखो मैं क्या करता हूं।" और रिंझाई ने झट से आंख बंद कर ली, थोड़ी देर आंख बंद किये बैठा रहा, फिर आंख खोली। और उस आदमी से कहा, समझे? उस आदमी ने कहा, "क्या खाक समझे--तुमने जरा आंख बंद कर ली, आंख खोल ली--इसमें कुछ समझना है?" उन्होंने कहा, "तो फिर तुम न समझ पाओगे। बस बात इतनी है--आंख खोलने और बंद करने की है। इससे ज्यादा करने को कुछ भी नहीं है। पहले मैं बंद आंख किये था, अब मैंने आंख खोल ली। इतना ही फर्क पड़ा है। जो मैं पहले था, वही मैं अब हूं। पहले सोया-सोया था, अब जागा-जागा हूं। पहले होश का दीया न जलता था, अब होश का दीया जलता है। घर वही है, सब कुछ वही है। सिर्फ एक दीया भीतर जल गया है।

कुछ भी बदलता नहीं बुद्धपुरुष में। तुम्हारे जैसे ही हैं बुद्धपुरुष। जरा-सा भेद है। बड़ा छोटा-सा भेद है। तुम आंख बंद किये बैठे हो, उन्होंने आंख खोली ली। बस पलक का भेद है।

तो अब मत पूछो कि और क्या करें। करने से संसार बनता है, न करने से प्रभु मिलता है। अब तो तुम साक्षी हो जाओ। अब मेरे पास आ ही गये हो, तो अब तो बैठ जाओ--आलसी शिरोमणि! जैसा अष्टावक्र कहते हैं। यह शब्द मेरा नहीं है। मेरा होता तो तुम जरा हैरान होते। अष्टावक्र कहते हैं, आलसी शिरोमणि हो जाओ। करो ही मत।

और ध्यान रखना, फर्क क्या करते हैं साधारण आलसी और आलसी शिरोमणि में? साधारण आलसी करता तो नहीं, कर्म तो नहीं करता, पड़ा रहता है बिस्तर पर, लेकिन कर्म की योजनाएं बनाता है। आलसी शिरोमणि करता है बहुत कुछ जो परमात्मा करवाता है, लेकिन कर्ता का भाव नहीं है, न कोई कर्म की योजना है। जो करवा लिया क्षण में, कर देता है, फिर बैठ गया। जब आज्ञा आ गयी, कर देता है; जब आज्ञा न आयी, तब विश्राम करता है। साधारण आलसी कर्म छोड़ देता है। और कर्ता छोड़ देता है जो, वही है आलसी शिरोमणि। तुम आलस्य के परम शिखर को छू लो। बस मेरी शिक्षा भी यही है।

दूसरा प्रश्न: ऐसा लगता है कि मेरा सब कुछ झूठ है--हरेक बात, हरेक विचार, हरेक भाव, प्रेम, प्रार्थना और हंसना और रोना भी। मैं जीता-जागता झूठ हूं। ऐसे में अब क्या हो भगवान? अब खुद पर भरोसा नहीं आता। यह लिखना भी झूठ है शायद।

पूछा है "कृष्णप्रिया" ने।

यह तो बड़ी सत्य की किरण उतरी। अगर ऐसा समझ में आ जाये कि मेरा सब झूठ है, तो आधा काम पूरा हो गया; निर्वाण दूर न रहा। आधा काम पूरा हो गया। ऐसा समझ में आ जाये कि मेरा सब झूठ है तो हम सच के करीब सरकने लगे। क्योंकि सच के करीब सरकते हैं, तभी यह समझ में आता है कि मेरा सब झूठ है। झूठे आदमी को थोड़े ही समझ में आता कि मेरा सब झूठ है। झूठा आदमी तो सब तरह के प्रमाण जुटाता है कि "मैं और झूठा! सारी दुनिया होगी झूठ, मैं सच्चा हूं!" झूठा आदमी दूसरों को ही नहीं समझाता है, अपने को भी समझाता है कि मैं सच्चा हूं। असल में झूठा आदमी दूसरे को इसीलिए समझाता है कि दूसरा समझ ले तो मुझे भी समझ में आ जाये कि मैं सच्चा हूं। दूसरों की आंखों में झांकता रहता है: "अगर सब लोग मुझे सच्चा मानते हैं तो मैं सच्चा होऊंगा ही। अगर मेरी हंसी झूठ होती तो दूसरे लोग मेरे साथ कैसे हंसते? अगर मेरा रोना झूठ होता तो दूसरों की आंखें गीली कैसे होतीं। नहीं, मैं सच होऊंगा ही। देखो, दूसरों में परिणाम दिखाई पड़ रहा है।" झूठा आदमी सारे उपाय करता है इस बात के ताकि उसे खुद भरोसा आ जाये कि मैं सच हूं।

कृष्णप्रिया को अगर समझ में आने लगा कि मेरा सब कुछ झूठ है, तो बड़ी शुभ घड़ी करीब आ गयी।

"हरेक बात, हरेक विचार, हरेक भाव, प्रेम, प्रार्थना, हंसना-रोना भी...।"

इस बात को भी खयाल में लेना कि जब झूठ होता है तो सभी झूठ होता है, और जब सच होता है तो सभी सच होता है, मिश्रण नहीं होता। वह भी भ्रांति है झूठे आदमी की। झूठा आदमी कहता है: माना कि कुछ बातें मुझमें झूठ हैं, लेकिन बाकी तो सच हैं। ऐसा होता नहीं। या तो झूठ या सच। ऐसा बीच-बीच में नहीं होता कि कुछ झूठ और कुछ सच। यह धोखा है। सच और झूठ साथ रह नहीं सकते। यह तो ऐसा हुआ कि आधे कमरे में अंधेरा और आधे कमरे में प्रकाश है। यह होता नहीं। अगर रोशनी है तो पूरे कमरे में हो जायेगी। अगर अंधेरा है तो पूरे कमरे में रहेगा। तुम ऐसा थोड़े ही कह सकते हो कि बीच में एक रेखा खींच दी, लक्ष्मण-रेखा खींच दी कि "अब इसके पार मत होना अंधेरे! तू उसी तरफ रहना, इधर रोशनी जल रही है।" रोशनी होती है तो कमरा पूरा रोशनी से भर जाता है। और अंधेरा होता है तो पूरा भर जाता है।

तुम जब झूठे होते हो तो पूरे ही झूठ होते हो। जब भी कोई आदमी मुझसे आ कर कहता है, कुछ-कुछ शांत हूं, तो मैं कहता हूं ऐसी बातें मत करो। कुछ-कुछ शांत! सुना नहीं कभी। अशांत लोग देखे हैं, शांत लोग भी देखे हैं, लेकिन कुछ-कुछ शांत! यह तुम क्या बात कर रहे हो? यह तो ऐसा हुआ कि पानी हमने गरम किया और पचास डिग्री पर कुछ-कुछ पानी भाप होने लगा और कुछ-कुछ पानी पानी रहा! ऐसा नहीं होता। सौ डिग्री पर जब भाप बनना शुरू होता है--सौ डिग्री पर। ऐसा नहीं कि पचास डिग्री पर थोड़ा बना, फिर साठ डिग्री पर थोड़ा बना, फिर सत्तर डिग्री पर थोड़ा बना--ऐसा नहीं होता। छलांग है, विकास नहीं है। सीढ़ियां नहीं हैं--रूपांतरण है, क्रांति है।

जिस दिन यह समझ में आ जाये कि मैं बिलकुल अंधेरा, बिलकुल असत्य--शुभ घड़ी करीब आयी। यह साधक की तैयारी है। इससे घबड़ाना मत। इससे घबड़ाहट होती है स्वभावतः, क्योंकि यह बात मानने का मन नहीं होता कि सब झूठ--मेरा हंसना भी, रोना भी; मेरा कुछ भी सच नहीं है, मेरा प्रेम, मेरी प्रार्थना...।

यह प्रश्न लिखा है और यह भी भरोसा नहीं आता कि यह भी सच है। यह भी झूठ है!

ऐसा जब होता है तब स्वभावतः बड़ी बेचैनी पैदा होती है। उस बेचैनी से बचने के लिए आदमी किसी झूठ को सच बनाने में लग जाता है, तो सहारा बन जाता है। नहीं, तुम बनाना ही मत।

कृष्णप्रिया को मेरा संदेश: झूठ है सब, ऐसा जान कर इस पीड़ा को झेलना। इसमें जल्दबाजी मत करना, लीपापोती मत करना। किसी झूठ को रंग-रोगन करके सच जैसा मत बना लेना। सब झूठ है तो सब झूठ है। सब झूठ का अर्थ हुआ कि पूरा व्यक्तित्व व्यर्थ है। अगर इस व्यर्थता के बोध को थोड़ा सम्हाले रखा तो व्यर्थ गिर जायेगा, क्योंकि व्यर्थ तुम्हारे बिना सहारे के नहीं जी सकता। झूठ तुम्हारे बिना सहारे के नहीं जी सकता। झूठ के पास अपने पैर नहीं हैं--तुम्हारे पैर चाहिए। इसीलिए तो झूठ सच होने का दावा करता है। झूठ जब सच होने का दावा करता है तभी चल पाता है, झूठ की तरह कहीं चलता है!

अगर तुम किसी से कहो कि यह जो मैं कह रहा हूं झूठ है, आप मान लो। तो वह कहेगा, "तुम पागल हो गये हो? तुम खुद ही कह रहे हो कि झूठ है तो मैं कैसे मान लूं? तो झूठे आदमी को सिद्ध करना पड़ता है कि यह सच है, यह झूठ नहीं है। क्योंकि लोग सच को मानते हैं, झूठ को नहीं मानते। सच को मानते हैं, इस कारण अगर झूठ भी, सच जैसा दावा किया जाये, तो मान लिया जाता है। मगर चलता सच है।

तुमने देखा, खोटे सिक्के चलते हैं, लेकिन चलते हैं असली सिक्के के नाम से! खोटा सिक्का खोटा मालूम पड़ जाये, फिर नहीं चलता, फिर उसी क्षण अटक गया। जहां खोटा सिद्ध हुआ, वहीं अटका। जब सच्चा मालूम पड़ता था, चलता था। खोटे सिक्के के पास अपनी कोई गति नहीं है। गति सच्चे से उधार मिली है।

अब थोड़ा सोचो, झूठ तक चल जाता है सच्चे से थोड़ी-सी आभा उधार ले कर! तो सच की तो क्या गति होगी! जब सच पूरा-पूरा सच होता है तो तुम्हारे जीवन में गत्यात्मकता होती है। तुम जीवंत होते हो। तुम्हारे जीवन में लपटें होती हैं, रोशनी होती है। तुम्हारे जीवन में प्राण होते हैं, परमात्मा होता है।

झूठ तो उधार है। उसमें जो थोड़ी-बहुत चमक दिखाई पड़ती है, वह भी किसी और की है-- किसी सच से ले ली है। तो जब तुम्हें समझ में आ जाये कि मेरा सब झूठ है, अर्थात मैं झूठ हूं, क्योंकि "मैं" तुम्हारे सबका ही जोड़ है।

ये जितनी बातें कृष्णप्रिया ने लिखी हैं, इन सबका जोड़ ही अहंकार है। सब झूठों के जोड़ का नाम है अहंकार। अगर ऐसा दिखाई पड़ गया तो अहंकार बिखर जायेगा। ताश के पत्ते जैसे मकान बनाया हो, महल बनाया हो ताश के पत्तों का, हवा का झोंका लगे और गिर जाये। कागज की नाव चलायी हो और जरा-सा झोंका लगे, उलट जाये, डूब जाये। यह झूठ का घर अहंकार है। यह गिर जायेगा। अगर मेरा रोना झूठ है, तो मेरा "मैं" का एक हिस्सा गिर गया। अगर मेरा हंसना भी झूठ है, "मैं" का दूसरा हिस्सा गिर गया। अगर मेरी प्रार्थना भी झूठ है, तो परमात्मा और मेरे बीच में जो "मैं" खड़ा था वह भी गिर गया। अगर मेरा प्रेम भी झूठ है, तो मेरे

और मेरे प्रेमी के बीच जो खड़ा था अहंकार वह भी गिर गया। विचार भी झूठ हैं, भाव भी झूठ हैं। हरेक बात, हरेक ढंग, भाव-भंगिमा... तो अहंकार के सब आधार गिरने लगे, सब स्तंभ गिरने लगे। अचानक तुम पाओगे खंडहर रह गया। और उसी खंडहर से उठती है आत्मा। उसी अहंकार के खंडहर पर जन्म होता है तुम्हारे वास्तविक स्वरूप का।

सत्य पैदा होता है असत्य की राख पर। हो जाने दो। पीड़ा होगी। बड़ा संताप होगा। क्योंकि यह बात मानने का मन नहीं होता कि मेरा सब झूठ है। कुछ तो सच होगा! लेकिन स्मरण रखना कुछ सच नहीं होता। सच होता है तो पूरा होता है, या नहीं होता।

हम झूठ के सहारे जी रहे हैं, क्योंकि सच का हमें पता नहीं। और बिना किसी सहारे के जीना संभव नहीं है। सच का हमें कुछ पता नहीं है क्या है। और जीने के लिए कुछ तो सहारा चाहिए। जीने के लिए कुछ तो बहाना चाहिए। तो हम झूठ के साथ जी रहे हैं। हमने झूठ को सच मान लिया है।

मैं एक कविता पढ़ रहा था--

प्रेम के सघन कुंजों में
उदासी की गहरी छांव तले
आओ पल दो पल बैठ संतप्त मन को
थोड़ा-सा बांट लें
श्वासों के गांव में छाये हुए यादों के कोहरे को
आपसी मिलापों से आओ हम छांट लें
भूले अनुबंधों को, बिखरे संबंधों को
आंसू के धागों में फिर से हम गांठ लें
वीरानी पलकों में सपनों का दर्प कहां
उजड़े-से जीवन में मधुमासी पर्व कहां
पता नहीं फिर हम मिलें, या न मिलें
कम-से-कम अपने ही सायों में
आओ घड़ी दो घड़ी ही काट लें।

अपने ही सायों में! अपनी ही छाया में बैठ कर विश्राम करने तक की हालत आ जाती है। कुछ पता नहीं सत्य का। जीना तो है, तो चलो असत्य को ही सत्य मान कर जी लें!

एक बड़ी महत्वपूर्ण घटना इस सदी में घटी है। नीत्शे ने घोषणा की सौ वर्ष पहले कि ईश्वर मर गया और मनुष्य स्वतंत्र है। लेकिन नीत्शे यह न समझ पाया कि आदमी को कोई न कोई बहाना चाहिए। अगर ईश्वर न हो तो आदमी ईश्वर गढ़ेगा। आदमी झूठा ईश्वर बना लेगा अगर ईश्वर न हो, लेकिन बिना ईश्वर के कैसे रहेगा! बहुत कठिन हो जायेगा। खुद नीत्शे न रह सका। वह आखिर-आखिर में पागल हो गया। बात तो उसने कह दी किसी विचार के गहरे क्षण में कि ईश्वर मर चुका और आदमी स्वतंत्र है। लेकिन स्वतंत्र होने की क्षमता तो चाहिए। सत्य को झेलने की क्षमता तो चाहिए। नीत्शे बुद्ध न हो सका, पागल हो गया। प्रबुद्ध होना तो दूर, प्रक्षिप्त हुआ, विक्षुब्ध हुआ, पागल हुआ! क्या था उसके पागलपन का कारण? बिना सहारे! अपने पागलपन में उसने जो डायरी लिखी उसमें लिखा है कि मुझे ऐसा लगता है: आदमी बिना झूठ के नहीं जी सकता। कोई-न-कोई झूठ चाहिए। मैंने सब झूठ छोड़ दिये, इसलिए लगता है कि मैं पागल हुआ जा रहा हूं।

अगर तुम सब झूठ छोड़ दो और तुम्हारी ऐसी धारणा हो कि सच तो है ही नहीं, तो तुम पागल हो ही जाओगे। यही फर्क है बुद्ध और नीत्शे में। बुद्ध ने भी सब झूठ छोड़ दिये; लेकिन बुद्ध को पता है: जहां झूठ होता है वहां सच भी होगा। सच के बिना तो झूठ हो ही नहीं सकते। झूठ कोई चीज होती ही इसीलिए है कि सच भी होता है, हो सकता है।

तुम जब कहते हो, मेरी हंसी झूठ, तो इसका अर्थ हुआ, तुम्हें भी कहीं-न-कहीं थोड़ा-सा अहसास है कि सच हंसी भी हो सकती है। नहीं तो झूठ कहने का क्या प्रयोजन रह जायेगा? तुम कहते हो मेरा प्रेम झूठ--इसका

अर्थ है, किसी अचेतन तल पर, किसी गहराई में तुम्हें भी अहसास तो होता है, साफ-साफ पकड़ न बैठती हो, धुंधला-धुंधला है सब, कुहासा छाया है बहुत, रोशनी नहीं है भीतर, अंधेरा है, अंधेरे में टटोलते हो, लेकिन लगता है कि सच प्रेम भी हो सकता है। नहीं तो इस प्रेम को झूठ कैसे कहोगे? अगर किसी समाज में सब सिक्के झूठ हों और असली सिक्का होता ही न हो, तो झूठे सिक्कों को झूठा कैसे कहोगे? झूठा कहने के लिए असली चाहिए। असली के बिना झूठा झूठा नहीं रह जाता।

नीत्शे ने कह दिया कि सच तो होता नहीं, और जो भी आदमी ने माना है, सब झूठ है।...पागल हो गया। उसने सत्य की राह भी रोक दी; झूठ को गिरा दिया और सत्य को आने न दिया। "सत्य तो होता नहीं। सत्य तो हो ही नहीं सकता; जो होता झूठ ही है।" आधी दूर तक ठीक गया। कहा कि संसार माया है, यहां तक तो ठीक था, यह तो सभी ज्ञानी कहते रहे; लेकिन संसार इसीलिए माया है कि इस माया के कुहासे के पीछे छिपा ब्रह्म भी बैठा है। संसार असत्य है, सपना है; क्योंकि इस सपने के पीछे एक जाग्रत द्रष्टा भी छिपा है। नीत्शे ने उसे स्वीकार न किया। तो झूठ तो छोड़ दिया, झूठ की बैसाखियां गिर गयीं और अपने पैरों का तो उसे भरोसा ही नहीं कि होते हैं। बैसाखी भी गिर गयी और पैर तो होते ही नहीं। नीत्शे गिर पड़ा, खंडहर हो गया। झूठ के साथ खुद ही खंडहर हो गया।

फिर सौ साल में नीत्शे के पीछे जो हुआ, वह सोचने जैसा है। जिन-जिन समाजों ने नीत्शे की बात मान ली, वहां-वहां उपद्रव हुआ। जैसे जर्मनी में नीत्शे की बात मान ली गयी कि कोई ईश्वर नहीं है, ईश्वर झूठ है, तो जर्मनी ने हिटलर पैदा किया। आदमी को कोई तो चाहिए भरोसे के लिए। जीसस झूठे हो गये, ईश्वर झूठा हो गया, तो अडोल्फ हिटलर में भरोसा किया। अब यह बड़ा महंगा सौदा था। इससे जीसस बेहतर थे, जीसस में भरोसा बेहतर था। लेकिन आदमी बिना भरोसे के नहीं रह सकता। तो जगह खाली हो गयी, "वैक्यूम" हो गया, उसमें अडोल्फ हिटलर पैदा हो गया। और लोग तो चाहते थे, कोई किसी के चरण पकड़ लें। लोग तो चाहते थे, कोई सहारा मिल जाये--अडोल्फ हिटलर उनका मसीहा हो गया। वह उन्हें गहन विध्वंस में ले गया।

माक्र्स ने कह दिया कि कोई धर्म नहीं है, धर्म अफीम का नशा है। रूस में माक्र्स की बात मानी गयी, जो परिणाम हुआ वह यह कि राज्य, "स्टेट" ईश्वर हो गयी। राज्य सब कुछ हो गया। अब सब नमन कर रहे हैं राज्य के सामने। स्टैलिन बैठ गया सिंहासन पर। ईश्वर तो हटा, ईश्वर की जगह स्टैलिन आ गया। इससे तो ईश्वर बेहतर था, कम-से-कम धारणा में कुछ सौंदर्य तो था; कुछ लालित्य तो था। कम-से-कम धारणा में कुछ ऊंचाई तो थी, कुछ खुला आकाश तो था, कहीं जाने की संभावना तो थी, विकास का उपाय तो था! स्टैलिन! मगर आदमी खाली नहीं रह सकता। आदमी को कुछ चाहिए।

प्रिया से मैं कहना चाहता हूं: इस घड़ी में तुझे लगेगा कि कुछ सहारा पकड़ लो, कुछ भी सच मान लो। जल्दी मत करना। सच है! तुम झूठ को गिर जाने दो और प्रतीक्षा करो, सच उतरेगा। सच नहीं है--ऐसा नहीं। सच है। सच ही है, और सब तरफ मौजूद है। तुम जरा झूठ को हट जाने दो और तुम्हारे भीतर जो खाली रिक्त आकाश बनेगा, उसी में चारों तरफ से दौड़ पड़ेंगी धारायें सच की। तुम आपूरित हो सकोगी। तुम भरोगी। लेकिन कुछ देर खाली रहने की हिम्मत...। इस खाली रहने की हिम्मत का नाम ही ध्यान है। इस शून्य रहने की हिम्मत का नाम ही ध्यान है।

ध्यान का अर्थ है: असत्य को गिरा दिया, सत्य की प्रतीक्षा करते हैं। ध्यान का अर्थ है: विचार छोड़ दिये, निर्विचार की प्रतीक्षा करते हैं। ध्यान का अर्थ है: अहंकार को हटा दिया, अब उस निर्विकार, निरंजन की राह देखते हैं। द्वार खोल दिया है, अब जब मेहमान आयेगा, स्वागत की तैयारी है।

तीसरा प्रश्न: आपने कहा, मैं तो संन्यास देते ही तुम्हें तत्काल मुक्त कर देता हूं। तो फिर "संचित" का क्या भविष्य बनता है? क्या वह क्षीण हो जाता है। और अगर संन्यास लेने के तुरंत बाद ही मुक्ति नहीं होती तो क्या उसका अर्थ है कि संचित की चादर अभी मोटी है? फिर आपके तत्काल मुक्त कर देने का क्या तात्पर्य है?

महत्वपूर्ण प्रश्न है। गौर से सुनना और समझना। मैं फिर दोहराता हूं कि मुक्ति तुम्हारा स्वभाव है; मैं मुक्त कर देता हूं, ऐसा थोड़े ही। मुक्ति तुम्हारा स्वभाव है। तुमने याद कर ली, मुक्त हो गये। स्मरण भर की बात है, सुरति। याददाश्त लौटानी है। मैं तुम्हें याददाश्त दिला सकता हूं, मुक्त कैसे कर सकता हूं? तुम पर जंजीरें ही नहीं हैं। तुमने जंजीरें मान रखी हैं। मान्यता की जंजीरें हैं। मैं तुम्हें झकझोर देता हूं; कहता हूं, जरा गौर से देखो, तुम्हारे हाथ पर जंजीर नहीं है; खयाल है जंजीर का। तुमने आंख खोल कर कभी गौर से देखा ही नहीं कि हाथ पर जंजीरें नहीं हैं, पैर में बेड़ियां नहीं हैं, तुम मुक्त हो। मुक्त होना तुम्हारा स्वभाव है, तुम्हारी संपदा है।

इसलिए मैं कहता हूं कि मैं तो संन्यास देते ही तुम्हें तत्काल मुक्त कर देता हूं। संन्यास का मतलब: तुमने मुझे मौका दिया कि आप मुझे झकझोरेंगे तो मैं नाराज न होऊंगा। इतना ही मतलब है। संन्यास का इतना ही मतलब कि मैं राजी हूं, अगर आप मुझे जगायेंगे तो नाराज न होऊंगा। संन्यास का मतलब कि मैं उपलब्ध हूं, अगर आप कुछ चोट करना चाहें मेरे ऊपर, मेरे हृदय पर कुछ आघात करना चाहें तो मैं आपको दुश्मन न लेखूंगा। बस इतना ही मतलब संन्यास का।

और जब मैं कहता हूं, मैं तुम्हें संन्यास देते ही मुक्त कर देता हूं, तो मेरा अर्थ यह है कि मुक्ति कोई वस्तु नहीं कि अर्जित करनी हो, कि जिसका अभ्यास करना हो--तुम्हारा स्वभाव है। मुक्त तुम पैदा हुए हो। मुक्त ही तुम जी रहे हो। मुक्त ही तुम मरोगे। बीच में तुमने बंधन का एक स्वप्न देखा।

ऐसा समझो कि एक रात तुम सोये और तुमने सपना देखा कि तुम पकड़ लिये गये, तस्करी में पकड़ लिये गये, मीसा के अंतर्गत जेल में बंद कर दिये गये, हथकड़ियां डाल दी गयीं। अब तुम बड़े घबराने लगे रात नींद में कि अब क्या होगा, क्या नहीं होगा, कैसे बाहर निकलेंगे? और सुबह नींद खुली तो तुम हंसने लगे। क्या तुम सुबह यह कहोगे कि रात जब तुम जेलखाने में पड़े थे, हथकड़ियां लग गयी थीं, तब तुम सच में ही जेलखाने में पड़ गये थे? नहीं, सुबह तो तुम यह कहोगे: सच में तो मैं अपने बिस्तर पर आराम कर रहा था; झूठ में जेलखाने हो गया था। लेकिन बिस्तर पर तुम आराम कर रहे थे, तुम्हें याद नहीं रह गयी इस बात की। सपना बहुत भारी, हावी हो गया। तुम्हारी आंखें सपने से बोझिल हो गयीं। तुम सपने के द्वारा ग्रसित हो गये। सपने ने तुम्हें सम्मोहित कर लिया। सपना ऐसा था कि तुम भूल ही गये कि यह सपना है। सपने में जकड़ गये। रात भर तकलीफ पायी। लेकिन सुबह उठ कर तुम यह तो मानोगे कि तकलीफ हुई नहीं थी वस्तुतः, मानी हुई थी।

मैं तुमसे कहता हूं: मुक्त तुम पैदा हुए हो, मुक्त तुम अभी हो, इस क्षण! मैं अमुक्तों से नहीं बोल रहा हूं, मुक्तपुरुषों से बोल रहा हूं। क्योंकि अमुक्त कोई है ही नहीं। जिस दिन मैंने जाग कर देखा कि मैं मुक्त हूं, उसी दिन मेरे लिए सारा संसार मुक्त हो गया। तुम सपना देख रहे हो--वह तुम्हारा सपना है, मेरा सपना नहीं है। तुम अगर सपने में खोये हो--तुम खोये हो, मैं नहीं खोया हूं। तुम्हारा सपना तुम्हें धोखा देता होगा, मुझे धोखा नहीं दे रहा है।

जब मैं तुम्हें संन्यास देता हूं तो मैं इतना ही कहता हूं कि जैसा मैं जागा हूं, वैसे तुम जाग जाओ। अभी जाग जाओ, इसी क्षण जाग जाओ! तुम चाहते हो मैं तुम्हें कुछ उपाय बताऊं कि कैसे मुक्त हों। अगर मैं तुम्हें उपाय बताऊं तो उसका अर्थ हुआ कि मैं भी मुक्त नहीं हूं। अगर मैं तुम्हें उपाय बताऊं तो उसका अर्थ हुआ कि मुझे भी यह स्वीकार नहीं है कि तुम मुक्त हो। मैं भी मान रहा हूं कि तुम बंधन में पड़े हो, जंजीरें काटनी हैं, हथौड़ियां लानी हैं, बेड़ियां खोलनी हैं, बड़ी कठिन मेहनत करनी है, जेलखाने की दीवालें गिरानी हैं, बड़ी साधना करनी है, बड़ा अभ्यास करना है।

अष्टावक्र का वचन था कल कि जिसने यह जान लिया, वह फिर छोटे बच्चों की तरह अभ्यास नहीं करता है। अभ्यास नहीं करता है! और तुमने तो सारा योग ही अभ्यास बना रखा है: अभ्यास करो, साधन का अभ्यास करो!

अष्टावक्र कहते हैं: तुम सिद्ध हो! साधन की जरूरत उसे हो जो सिद्ध नहीं। यह तुम्हारा स्वभाव है। मैं जब कहता हूं कि मैं तुम्हें संन्यास देते ही तत्काल मुक्त कर देता हूं, तो मैं तुमसे यह कह रहा हूं कि मुक्ति की जरूरत ही नहीं है, तुम मुक्त हो। सिर्फ तुम्हें याद दिला देता हूं।

एक आदमी ने शराब पी ली। वह अपने घर आया, लेकिन शराब के नशे में समझ न पाया कि अपना घर है। उसने दरवाजा खटखटाया। उसकी मां ने दरवाजा खोला। उसने अपनी मां से पूछा कि हे बूढ़ी मां, क्या तू मुझे बता सकती है कि मैं कौन हूं और मेरा घर कहां है? क्योंकि मैं घर भूल गया हूं, मैंने नशा कर लिया है।

वह मां हंसने लगी। उसने कहा, "पागल, किससे तू पता पूछ रहा है? यह तेरा घर है।" उस शराब में बेहोश आदमी ने आंखें मींड़ कर फिर से देखा और उसने कहा कि नहीं, यह घर मेरा नहीं है। मेरा घर है जरूर, कहीं आसपास ही है, ज्यादा दूर भी नहीं है। मुझे मेरे घर पहुंचा दो।

मुहल्ले के लोग इकट्ठे हो गये। लोग कहने लगे, "तू पागल हुआ है? यह तेरा घर है! यह तेरी मां खड़ी है!" वह रोने लगा। वह कहने लगा कि मुझे इस तरह उलझाओ मत। मेरी मां राह देखती होगी। रात हुई जा रही है, देर हुई जा रही है। वह बड़ी तड़फती होगी। मुझे मेरे घर पहुंचा दो।

एक दूसरा शराबी शराब पी कर अपनी बैलगाड़ी लिये चला आता था। वह भी खड़ा हो कर सुन रहा था। उसने कहा, "सुन भाई, आ जा बैठ जा बैलगाड़ी में। मैं तुझे पहुंचा दूंगा।" लोग चिल्लाये कि पागल हो गया है, वह भी पीये बैठा है। वह तुझे ले जा रहा है, और तुझे ले जा रहा है तेरे घर से दूर!

मैं तुमसे यह कहना चाहता हूं: तुम जहां हो, जैसे हो, ठीक वैसे ही होना है। तुम्हारा जो अंतरतम है, इस क्षण भी मोक्ष में है। तुम्हारे बाहर जो धूल-धवांस इकट्ठी हो गयी है, दर्पण पर जो धूल इकट्ठी हो गयी है, उसके कारण तुम पहचान नहीं पा रहे। दर्पण धुंधला हो गया है। लेकिन तुम्हें कहीं और कुछ और होना नहीं है। मुक्ति तुम्हारा स्वभाव है।

इसलिए कहता हूं कि मैं संन्यास देते ही तुम्हें तत्काल मुक्त कर देता हूं--मेरी तरफ से कर देता हूं, फिर तुम्हारी मर्जी। फिर तुम्हें सपना देखना हो तो तुम एक नया सपना देखोगे। तुम्हें अगर सपना ही देखना है तो तुम सपने का सिलसिला जारी रखोगे। मगर वह तुम्हारी भूल है, उसमें मेरी जिम्मेवारी नहीं है। तुम मुझे दोषी न ठहरा सकोगे। मैंने तो अपनी तरफ से घोषणा कर दी कि तुम मुक्त हो।

इस घोषणा को अंगीकार करो। इस घोषणा को स्वीकार करो। हालांकि तुम्हारा मन कहेगा: मैं और मुक्त! तुम्हें सदा निंदा सिखायी गई है--"तुम पापी, जन्म-जन्म के कर्मों से दबे, भ्रष्ट!"

"मैं और मुक्त! नहीं, नहीं। मुक्त तो महावीर होते, बुद्ध होते, कृष्ण होते। यह तो अवतारी पुरुषों की बात है। मैं और मुक्त! मेरे तो पत्नी है, बच्चे हैं, दफ्तर है, दूकान है। मैं और मुक्त! नहीं, नहीं!" यह दावा करने की तुम्हारी हिम्मत नहीं होती। तुम कहते हो: "मेरी तो पत्नी है, मेरे बच्चे हैं, मेरा घर-द्वार है।"

तुम सपने का हिसाब बता रहे हो; मैं तुम्हारा स्वभाव खोल रहा हूं। तुम अपने सपने का हिसाब बता रहे हो कि ये इतने पत्नी-बच्चे, यह सब कुछ मामला है, मैं कैसे मुक्त हो सकता हूं? मैं तुमसे कहता हूं, यह सारा जो तुम्हारा सपना है, सपना है। कौन तुम्हारा है? किसके तुम हो? कौन तुम्हारा हो सकता है? किसके तुम हो सकते हो? तुम बस अपने हो। इसके अतिरिक्त सब मान्यता है, सब धारणा है।

तुमसे यह भी नहीं कह रहा कि भाग जाओ घर छोड़ कर, क्योंकि कौन पत्नी, कौन बेटा! वह जो भागता है, वह भी सपने में है। मैं तुमसे कह रहा हूं: जाग जाओ, भागना कहां है! होशपूर्वक देख लो। संसार जैसा चलता है, चलता रहने दो। कुछ अड़चन नहीं है। तुम्हारे जागने से संसार नहीं जाग जायेगा, लेकिन तुम जाग कर एक

अनूठे अनुभव को उपलब्ध हो जाओगे। तुम हंसोगे भीतर ही भीतर कि जागे हुए लोग कैसे सोये-सोये चल रहे हैं! जिनका स्वभाव मुक्ति है, वे कैसे बंधन में पड़े हैं! तुम आश्चर्यचकित होओगे। बड़ी लीला चल रही है। परमात्मा बंधन में है! मुक्त स्वभाव जंजीरों में है! जो हो नहीं सकता, वैसा होता मालूम पड़ रहा है!

मैं तो तुम्हें मुक्त कर देता हूं, लेकिन तुम्हारा मन नहीं मानता। तुम कहते हो: "कुछ करना पड़ेगा, तब मुक्ति होगी। ऐसे कहीं मुक्ति होती है?" तुम मुक्ति अर्जित करना चाहते हो। खयाल रखना, अर्जन करने की सब आकांक्षा अहंकार की है। अहंकार कहता है: "अर्जित करूंगा! जैसे धन कमाया, ऐसे ध्यान कमाऊंगा। जैसे मकान बनाया, ऐसे मंदिर बनाऊंगा! जैसे संसार रचाया, ऐसे मोक्ष भी रचाऊंगा!"

जो रचाया जाता है, वह संसार है। जो रचा ही हुआ है और केवल जाग कर देखा जाता है, वही मोक्ष है। तुम कहते हो, जैसे मैंने पद-पदवियां पायीं, ऐसे ही परमात्मा को भी पाऊंगा। तुम कहते हो, परमात्मा परम पद है। तुमने अपनी भाषा में उसको भी पद बना रखा है; जैसे वह जरा राष्ट्रपति, प्रधानमंत्री से और जरा ऊपर। "वहां पहुंच कर रहूंगा।" लेकिन पद है!

परमात्मा पद नहीं है--तुम्हारा स्वभाव है। तुम वहां हो। तुम वहां से रत्ती भर हट नहीं सकते। तुम लाख चाहो तो तुम वहां से गिर नहीं सकते। गिरने की कोई सुविधा नहीं है। तुम कहीं भी रहो, परमात्मा ही रहोगे। नर्क में रहो, स्वर्ग में रहो, तुम परमात्मा ही रहोगे। तुम्हारा भीतर का स्वभाव बदलता नहीं, बदला जा सकता नहीं। स्वभाव हम कहते ही उसी को हैं जो बदला न जा सके; जिसमें कोई बदलाहट न होती हो; जो शाश्वत है; जो सदा है और सदा एकरस है।

अब तुम पूछते हो: "तो फिर संचित का क्या भविष्य बनता है?"

तुम संचित का हिसाब लगा रहे हो। संचित क्या है? एक सपना अभी देखा, एक सपना कल देखा था, एक सपना परसों देखा था--कल और परसों के सपनों को तुम संचित कहते हो? जब यही जो तुम देख रहे हो, सपना है, तो जो कल देखा था वह भी सपना हो गया, जो परसों देखा था वह भी सपना हो गया। संचित यानी क्या? अगर तुम्हें यह सपना सपना समझ में आ गया, जो तुम अभी देख रह हो, तो सारे जन्मों-जन्मों के सपने सपने हो गये। बात खतम हो गयी। तुम सुबह उठ कर यह थोड़े ही कहोगे कि "सपने में एक आदमी से रुपये उधार ले लिये, वापिस तो करना पड़ेंगे न? आप तो कहते हो मुक्त हो गये, मान लिया, मगर अदालत पकड़ बैठेगी। वापिस तो करना पड़ेंगे न जिससे रुपये ले लिये हैं सपने में?" सपने में रुपये ले लिये वापिस करने पड़ेंगे! कि सपने में किसी को रुपये दे दिये, वापिस लेने पड़ेंगे! कि सपने में किसी को मार दिया, क्षमा मांगनी पड़ेगी! कि सपने में किसी ने अपमान कर दिया तो बदला लेना पड़ेगा! संचित क्या?

अब इसे समझना। संचित का अर्थ होता है कि तुम्हारी यह धारणा है कि तुमने कुछ किया। तुम कर्ता थे, तो कर्म बना।

ऐसा समझो, तुम साधारणतः सोचते हो कि कर्म हमें पकड़े हुए हैं। अष्टावक्र जैसों की उदघोषणा कुछ और है। वे कहते हैं, कर्ता का भाव तुम्हें पकड़े हुए है, कर्म नहीं। कर्ता के भाव के कारण फिर कर्म पकड़े हुए हैं। अगर कर्ता का भाव छूट गया तो मूल से बात कट गयी; कर्म का तो अर्थ ही न रहा। फिर परमात्मा ने जो किया, किया; जो करवाया, करवाया। जो उसकी मर्जी थी, हुआ।

इधर तो तुम कहते हो, उसकी बिना मर्जी के पत्ता नहीं हिलता--और फिर भी संचित कर्म तुम करते हो! पुण्य-पाप तुम करते हो, उसकी मर्जी के बिना पत्ता नहीं हिलता! तुम कौन हो? तुम बीच में क्यों आ गये हो? तुम कह दो: "जो हुआ उसके द्वारा हुआ। जो नहीं हुआ उसके द्वारा हुआ। अगर मैंने किसी को मारा तो उसने ही किया होगा। और अगर किसी ने मुझे मारा तो उसकी मर्जी रही होगी। न अब कोई नाराजगी है, न कोई लेन-देन है। दिया-लिया सब बराबर हो गया।" ऐसी अनुभूति का नाम मुक्ति है।

मुक्ति में संचित का कोई हिसाब नहीं है। संचित में तो पुरानी धारणा तुम फिर खींच रहे हो। कर्म किया, तो उसका तो कुछ करना पड़ेगा न! पाप किये तो पुण्य करने पड़ेंगे। पुण्य से पाप को संतुलित करना पड़ेगा, तब कहीं मुक्ति होगी।

तुम बड़े हिसाबी-किताबी हो। तुम दूकानदार हो। तुम्हें परमात्मा समझ में नहीं आता। परमात्मा जुआरी है, दूकानदार नहीं। परमात्मा खिलाड़ी है, दूकानदार नहीं। तुम्हें यह बात ही समझ में नहीं आती कि यह बात तो बेबूझ है। तुम यह मान ही नहीं सकते कि पुण्यात्मा भी वैसा ही है जैसा पापी। दोनों ने सपना देखा। तुम कहते हो, "पुण्यात्मा ने भी सपना देखा, पापी ने भी। दोनों में कुछ फर्क तो होगा!" कुछ फर्क नहीं है। रात तुम साधु बन गये सपने में कि चोर बन गये, क्या फर्क है! सुबह उठ कर क्या कुछ फर्क रह जायेगा? सुबह उठ कर दोनों सपने सपने हो गये--एक से सपने हो गये। अच्छा भी, बुरा भी।

शुभ और अशुभ के जो पार हो गया, वही मुक्त है। पाप और पुण्य के जो पार हो गया, वही मुक्त है। और पार होने के लिए तुम क्या करोगे? क्योंकि करने से तुम बंधे हो। इसलिए पार होने के लिए एक ही उपाय है कि तुम करो मत, करने को देखो! जो हो रहा है होने दो। निमित्त तुम हो जरूर। सपना तुमसे बहा जरूर।

"तो फिर संचित का क्या भविष्य बनता है?"

न संचित कभी था। अतीत भी नहीं है, भविष्य तो क्या खाक होगा! संचित का न कोई अतीत है, न कोई वर्तमान है, न कोई भविष्य है। सपने का कोई अतीत होता है? कोई भविष्य होता है? कोई वर्तमान होता है? सपना होता मालूम पड़ता है, होता नहीं--सिर्फ भास मात्र, आभास भर।

"क्या वह क्षीण हो जाता है?"

तुम अपनी भाषा दोहराये चले जा रहे हो। सुबह जब तुम जागते हो तो सपना क्षीण होता है? समाप्त होता है। क्षीण का तो मतलब यह है कि अभी थोड़ा-थोड़ा जा रहा है। तुम जाग भी गये, सपना दस इंच चला गया, फिर बीस इंच गया, फिर गज भर गया, फिर दो गज, फिर मील भर, ऐसा धीरे- धीरे...तुम जागे बैठे अपनी चाय पी रहे और सपना जो है वह रत्ती-रत्ती जा रहा है, क्षीण हो रहा है।

एक कोई धक्का दे दे तुमको सोते में, तुम्हारी एकदम से आंख खुल जाये, तो भी सपना गया-- पूरा-का-पूरा गया। सपना बच कैसे सकता है?

नहीं, तुम्हारा फुटकर में बहुत भरोसा है; यहां थोक की यह बात हो रही है। तुम फुटकर व्यापारी मालूम पड़ते हो। तुम कहते हो, क्षीण होगा धीरे-धीरे, धीरे-धीरे...। एक-एक सीढ़ी चढ़ेंगे। तुम्हारी मर्जी! अगर तुम्हारा इतना ही लगाव है कि धीरे-धीरे सरकोगे, तुम सरको। मगर मैं तुमसे कहता हूं कि तुम धीरे-धीरे कितना ही सरको, तुम सपने के बाहर न आ पाओगे। क्योंकि सरकना भी सपने का हिस्सा है। "धीरे-धीरे" भी सपने का हिस्सा है। समय मात्र सपने का हिस्सा है।

तत्क्षण जागो! इसलिए कहता हूं: मैं तो संन्यास देते ही तुम्हें तत्काल मुक्त कर देता हूं। फिर अगर तुम कंजूस हो, तुम्हारी मर्जी।

बड़े कृपण लोग हैं! मुक्ति तक में कृपण हैं! देने की तो बात दूर, यहां मैं कह रहा हूं, ले लो पूरा! वे कहते हैं कि इकट्ठा कैसे लें, धीरे-धीरे लेंगे! थोड़ा-थोड़ा दें, इतना ज्यादा मत दें।

तुम देने में तो कंजूस हो ही गये हो, लेने में भी कंजूस हो गये हो। तुमने हिम्मत ही खो दी। तुम्हारा साहस ही नहीं बचा।

"और अगर संन्यास लेने के तुरंत बाद ही मुक्ति नहीं होती तो क्या उसका अर्थ है कि संचित की चादर अभी मोटी है?"

छोड़ो भी यह चादर! यह चादर कहीं है ही नहीं।

एक रात मुल्ला नसरुद्दीन सोया। बीच रात में उठ कर बैठ गया। किसी ग्राहक से बात करने लगा। कपड़े की दूकान है। और जल्दी से चादर उसने फाड़ी। पत्नी चिल्लायी कि यह क्या कर रहे हो? उसने कहा कि तू चुप रह, दूकान पर तो कम-से-कम आ कर बाधा न दिया कर।

तब उसकी नींद खुली--अपनी चादर फाड़ बैठा। न वहां कोई ग्राहक है, न कोई खरीदार है।

कैसी चादर? मोटी, पतली--कैसी चादर? मुक्त होने में तुम इतने ज्यादा भयभीत क्यों हो? तुम किसी-न-किसी तरह से बंधन को बचा क्यों रखना चाहते हो? डर का कारण है। डर का कारण है, क्योंकि मुक्ति तुम्हारी नहीं है। मुक्ति "तुम" से मुक्ति है।

मुक्ति का अर्थ यह नहीं होता कि तुम मुक्त हो गये। तुम बचे तो मुक्ति कहां? मुक्ति का अर्थ होता है: तुम गये, मुक्ति रही। इसलिए घबड़ाहट है। इसलिए तुम कहते हो: "थोड़ा-थोड़ा, धीरे-धीरे करेंगे। नहीं तो एकदम से खो गये...!" खोने से तुम डरे हो। "मिट गये...!"

नदी भी डरती होगी सागर में उतरने के पहले, झिझकती होगी, लौट कर पीछे देखती होगी। इतनी लंबी यात्रा हिमालय से सागर तक की! इतने-इतने लंबे संस्मरण, इतने सपने, इतने वृक्षों के नीचे से गुजरना, इतने सूरज, इतने चांद, इतने लोग, इतने घाट, इतने अनुभव! सागर में गिरने के पहले सोचती होगी: "मिट जाऊंगी। रोक लूं।" ठिठकती होगी, झिझकती होगी। पीछे मुंह करके देखती होगी, जिस राह से गुजर आयी। ऐसी ही तुम्हारी गति है। तुम एकदम छोड़ नहीं देना चाहते। तुम बचा लेना चाहते हो कुछ। और तुम जब तक बचाना चाहोगे तब तक बचा रहेगा। तुम तुम्हारे मालिक हो। इधर मैं जगाता रहूंगा, तुम बचाते रहना।

मगर मैं अपनी तरफ से तुम्हें साफ कर दूं: कोई चादर नहीं है--न पतली, न मोटी। तुम बिलकुल उघाड़े बैठे हो। तुम बिलकुल नग्न हो, दिगंबर! कोई चादर वगैरह नहीं है। आत्मा पर कैसी चादर?

कबीर ने कहा है: "ज्यों की त्यों धरि दीन्हीं चदरिया। खूब जतन कर ओढ़ी रे चदरिया।"

मैं तुमसे कहता हूं कि ज्यों की त्यों इसीलिए धर दी, क्योंकि चादर है ही नहीं। होती तो ज्यों की त्यों कैसे धरते? थोड़ा सोचो। होती चादर तो ज्यों की त्यों धर सकते? कुछ-न-कुछ गड़बड़ हो ही जाती। जिंदगी भर ओढ़ते तो गंदी भी होती, कूड़ा-कर्कट भी लगता। धोते तो कभी! तो अस्तव्यस्त भी होती, रंग भी उतरता। धूप-धाप भी पड़ती। जीर्ण-शीर्ण भी होती। और कबीर कहते हैं: "ज्यों की त्यों धरि दीन्हीं चदरिया! खूब जतन कर ओढ़ी रे।"

चादर है ही नहीं। इसलिए ज्यों की त्यों धर दी। और चादर होती तो तुम लाख जतन से ओढ़ो, गड़बड़ हो ही जायेगी। है ही नहीं।

तो फिर...मैं तुमसे कहता हूं: चादर नहीं है। तुम हो चादर। और जब तक तुम बचना चाहते हो तब तक चादर बची है। जिस दिन तुम राजी हो मिटने को, फिर कुछ नहीं बचता, मुक्ति बचती है।

मुक्ति तुम्हारी नहीं है, फिर दोहरा दूं। मुक्ति तुमसे बड़ी है, तुमसे विराट है। मुक्ति सागर जैसी है, तुम नदी जैसे संकीर्ण हो।

पांचवां प्रश्न: आप कहते हैं कि सिर्फ सुन कर प्रभु को उपलब्ध हो सकते हो। आपको सुनते समय मुझे ऐसा लगता है कि सब जान लिया और सुन कर आनंद में डूब जाता हूं। लेकिन कुछ काल के अंतर पर पहले ही जैसा हो रहता हूं। तब ऐसा लगता है कि जाने कैसी मुसीबत में फंस गया! पहले ही मजे में था। अब हालत है कि छोड़े छूटता नहीं और पकड़ में भी आने से रहा। इस तड़पन से बचाओ भगवान!

समझो।

पहली बात, तुम कहते हो: "आप कहते हैं कि सिर्फ सुन कर प्रभु को उपलब्ध हो सकते हो।"

निश्चित ही। क्योंकि खोया होता तो कुछ और करना पड़ता। सिर्फ सुन कर उपलब्ध हो सकते हो। ऐसा ही मामला है, तुमने दो और दो पांच जोड़ रखे हैं और मैं आया और मैंने कहा कि पागल हुए हो, दो और दो पांच नहीं होते, दो और दो चार होते हैं। तो तुम क्या कहोगे कि "बस क्या सुन कर ही दो और दो चार हो जायें? अब मेहनत करनी पड़ेगी, शीर्षासन लगायेंगे, भजन-कीर्तन करेंगे, तपश्चर्या करेंगे, उपवास करेंगे--तब दो और दो चार होंगे।" दो और दो चार होते हैं! तुम्हारे उपवास इत्यादि से नहीं होंगे। दो और दो चार ही हैं। तुम जब दो और दो पांच लिख रहे हो, तब भी दो और दो चार ही हैं। पांच तुम्हारी ही गलती, तुम्हारी भ्रांति है।

संसार माया है--अर्थ: संसार तुम्हारी भ्रांति है, है नहीं। तो सुनने से ही हो सकता है।

"सुनने से ही तुम उपलब्ध हो सकते हो, ऐसा आप कहते हैं। आपको सुनते समय मुझे लगता है कि सब जान लिया।"

बस वहीं भूल हो गयी। तुम समझे कि सब जान लिया, तो तुम ज्ञाता बन गये, ज्ञानी बन गये, पंडित बन गये। जान लिया! तो चूक हो गयी। अहंकार ने फिर अपने को बचा लिया--जानने में बचा लिया।

अगर तुमने मुझे ठीक से समझा तो तुम जानोगे कि जानने को कुछ भी नहीं है। जानने को है क्या? अगर तुमने ठीक से मुझे सुना और समझा, तो तुम जानने से मुक्त हो जाओगे। जानने को क्या है? जीवन परम रहस्य है--गूढ़ रहस्य है। जानने में नहीं आता। जाना नहीं जाता। जीया जाता है। कोई समस्या नहीं है कि समाधान हो जाये। जीवन कोई प्रश्न नहीं है कि उत्तर बन जाये।

मैं तुम्हें कोई उत्तर नहीं दे रहा हूं, तुम्हें सिर्फ जगा रहा हूं। तुम उत्तर पकड़ रहे हो, मैं तुम्हें जगा रहा हूं। बस वहीं चूक हुई जा रही है। तुम सुन लेते हो मुझे, तुम थोड़ा-सा संग्रह कर लिये बातों का। तुमने कहा कि बिलकुल ठीक, बात तो जंच गयी। बस यहीं चूक गये। यह कोई बात थोड़े ही है जो मैं तुमसे कर रहा हूं। यह तो तुम्हें थोड़ा-सा धक्के दे रहा हूं कि तुम थोड़ी आंख खोलो। तुम ज्ञानी बन कर मत लौट जाना।

मैं चाह रहा हूं कि तुम समझ लो कि सब ज्ञान मिथ्या है। ज्ञान मात्र मिथ्या है। ज्ञान का अर्थ ही हुआ कि तुम अलग हो गये। जिसे तुमने जाना उससे जानने वाला अलग हो गया। भेद खड़ा हो गया। अभेद टूट गया। अद्वैत मिट गया, द्वैत हो गया। दुई आ गयी। परदा पड़ गया। बस उपद्रव शुरू हो गया।

मैं तुम्हें जगा रहा हूं--उसमें, जो एक है, अद्वैत है। तुम उस महासागर में जागो! ज्ञानी मत बनो। अन्यथा ज्ञानी बन कर जाओगे, दरवाजे से निकलते-निकलते ज्ञान हाथ से खिसक जायेगा। ज्ञान काम नहीं आयेगा।

मैं तुमसे कहता हूं: अपने अज्ञान की आत्यंतिकता को स्वीकार कर लो। यह तुम्हें बड़ा कठिन लगता है। क्योंकि सब बातें अहंकार के विपरीत जाती हैं। अहंकार कहता है: कर्ता बनो। वह मैं कहता हूं, कर्ता मत बनो। अहंकार कहता है: "चलो अच्छा तो ज्ञानी बन जाओ, पंडित तो बन सकते हैं न! इसमें तो कुछ हर्जा नहीं।" और मैं तुमसे कहता हूं: पंडित से ज्यादा मूढ़ कोई होता ही नहीं। पांडित्य मूढ़ता को बचाने का एक उपाय है। तुम तो सहज हो जाओ। तुम तो कह दो: "जानने को क्या है? क्या जान सकता हूं?" आदमी ने कुछ जाना अब तक? तुम क्या जानते हो, तुमने कभी इस पर सोचा? तुम कहते हो, यह स्त्री मेरे साथ तीस साल से रहती है, मेरी पत्नी है। तुम इसको जानते हो? क्या जानते हो? तीस साल के बाद भी क्या जानते हो? छोड़ो, यह तो तीस साल से रहती है; तुम कितने जन्मों से अपने साथ हो, स्वयं को जानते हो? क्या पता है तुम्हें? आईने में जो तस्वीर दिखाई पड़ती है, वही तुम अपने को समझे बैठे हो। कि बाप ने एक नाम दिया, वह तुम हो! कौन हो तुम?

वैज्ञानिक कहते हैं कि वे जानते हैं। गलत खयाल है। वैज्ञानिक से पूछो, पानी क्या है? वह कहता है, हाइड्रोजन और आक्सीजन से मिल कर बना है। हाइड्रोजन और आक्सीजन क्या हैं? फिर अटक गये। एक तरफ से सरके थोड़े-बहुत, मगर वह कोई जानना हुआ? पानी पर अटके थे। पानी पूछा, क्या? कहा, हाइड्रोजन, आक्सीजन। हाइड्रोजन क्या? फिर अटक गये। फिर थोड़ा-बहुत धक्कम- धुक्की की तो कहा कि ये इलेक्ट्रॉन और न्यूट्रॉन और पॉजीट्रॉन। और ये क्या? तो वह कहता है, इनका कुछ पता नहीं चलता। तो साफ क्यों नहीं कहते

कि पता नहीं चलता! ऐसा गोल-गोल जा कर, पता नहीं चलता! जब इलेक्ट्रॉन न्यूट्रॉन का पता नहीं चलता, तो हाइड्रोजन का पता नहीं चला, और हाइड्रोजन का पता नहीं चला तो पानी का पता नहीं चला। मामला तो सब गड़बड़ हो गया।

यह तो ऐसा ही हुआ कि मैं स्टेशन पर आऊं और तुमसे पूछूं कि श्री रजनीश आश्रम कहां है? और तुम कहो कि कोरेगांव पार्क में। और मैं तुमसे पूछूं कि कोरेगांव पार्क कहां है? और तुम कहो कि ब्लू डायमंड के पास। मैं पूछूं ब्लू डायमंड कहां है? तुम कहो, इसका कुछ पता नहीं। तो मामला क्या हुआ? जब ब्लू डायमंड का पता नहीं है तो कोरेगांव गड़बड़ हो गया। कोरेगांव गड़बड़ हो गया तो आश्रम...! तो वहां पहुंचें कैसे? तुम कहोगे, अब यह आप समझो। बाकी यहां तक हमने बता दिया, ब्लू डायमंड तक। लेकिन ब्लू डायमंड क्या है, इसका किसी को कोई पता नहीं। तो यह कुछ जानना हुआ?

विज्ञान भी धोखा है। जानना तो होता ही नहीं। आज तक कोई बात जानी तो गयी ही नहीं। यह सारा विराट अनजान है, अपरिचित है, अज्ञात है, अज्ञेय है। यहां जानना भ्रम है।

ज्ञान के भ्रम से तुम मुक्त हो जाओ, यह मेरी चेष्टा है। और तुम कहते हो कि "आपको सुन कर मजा आ जाता है। जान लिया, ऐसा लगता है जान लिया। आयी मुट्ठी में बात।" बस यहीं चूक गये तुम। धुआं पकड़ रहे हो। कुछ आयेगा नहीं हाथ में। बाहर जा कर जब मुट्ठी खोलोगे, तुम कहोगे यह तो मामला गड़बड़ हो गया। मुट्ठी में तो कुछ भी नहीं है। एकदम पकड़ लिया था उस वक्त और सब छिटक गया। तुम भ्रांति में पड़ रहे हो।

मैं तुम्हें ज्ञान नहीं दे रहा हूं। मैं तुम्हें जाग दे रहा हूं। जाग का अर्थ है कि ज्ञान न तो कभी हुआ है, न हो सकता है, न होगा। जाग का अर्थ है: जीवन परम रहस्य है।

वेदों में एक बड़ी अनूठी बात है। "यह सब क्या है?"--ऋषि ने पूछा है।

"शायद परमात्मा जिसने इसे बनाया वह जानता हो, या कौन जाने वह भी न जानता हो!"

यह बड़ी अदभुत बात है। परमात्मा! वेद का ऋषि कहता है: "यह सब क्या है?"

"शायद! शायद, परमात्मा जानता हो जिसने यह सब बनाया, या कौन जाने वह भी न जानता हो!"

बड़े हिम्मतवर लोग रहे होंगे। इसका सार अर्थ हुआ कि परमात्मा को भी पता नहीं है।

असल में जिस चीज का पता हो जाये, वह व्यर्थ हो जाती है। पता ही हो गया तो फिर क्या बचा? पता चल गया तो परिभाषा हो गयी। इस अस्तित्व की अब तक कोई परिभाषा नहीं हो सकी। कोई कह सका, क्या है? इसलिए तो बुद्ध चुप रह गये। जब तुम उनसे पूछो ईश्वर है? वे चुप रह जाते हैं। आत्मा है? वे चुप रह जाते हैं। यह ठीक-ठीक उत्तर दिया बुद्ध ने! वे कहते हैं: यह बकवास बंद करो आत्मा, ईश्वर की! कौन जान पाया? जागो! जानने की चिंता छोड़ो।

तो एक तो कर्ता की दौड़ है, वह अहंकार की दौड़ है। फिर एक ज्ञान की दौड़ है, वह भी अहंकार की दौड़ है। कर्ता कहता है: अच्छा करो, बुरा मत करो। ज्ञानी कहता है: सत्य को जानो, असत्य को मत जानो। लेकिन दोनों भेद करते हैं। धार्मिक व्यक्ति तो कहता है: जाना ही नहीं जा सकता।

अगर मुझे सुन कर तुम्हें यह समझ में आ जाये कि जाना ही नहीं जा सकता, फिर तुम कैसे खो पाओगे, बताओ! फिर तुम यहां से चले जाओगे, क्या तुमने यह जो जाना कि नहीं जाना जा सकता, इसे तुम कभी भी खो सकोगे? फिर यह तुम्हारी संपदा हो गयी। फिर तुम मुट्ठी खोलो कि बंद करो, तुम हिलाओ-डुलाओ हाथ, मुट्ठी खोल कर या बंद करके, यह गिरेगा नहीं। यह तुम्हारी संपदा हो गयी। फिर तुम इसे कैसे छोड़ पाओगे? कोई उपाय है छोड़ने का? जानना तो छूट सकता है, भूल सकता है; लेकिन यह अज्ञान का गहन भाव कि नहीं कुछ पता है...।

उपनिषद कहते हैं: जो जानता है, जान लेना कि नहीं जानता। जो नहीं जानता, जानना कि वही जानता है।

और सुकरात ने कहा है: मुझे एक ही बात पता है कि मुझे कुछ भी पता नहीं।

ये परम ज्ञानियों की उदघोषणाएं हैं।

जानो कि जानने में जानना नहीं है। जानो कि न जानने में ही जानना है। तुम अगर मेरे पास से न जानने का यह अहोभाव लेकर विदा होओ, तो फिर तुमसे कोई भी इसे छीन न सकेगा। डाकू लूट न सकेंगे। जेबकतरे काट न सकेंगे। कोई तुम्हारे जीवन में संदेह पैदा न कर सकेगा। जहां ज्ञान है वहां संदेह की संभावना है। कोई दूसरा विपरीत ज्ञान ले आये, तो झंझट खड़ी कर देगा। तर्क ले आये, तो झंझट खड़ी कर देगा।

मैं तुम्हें ज्ञान नहीं दे रहा हूं। मैं तुम्हें कुछ और बहुमूल्य दे रहा हूं, जो तुम्हारी समझ में नहीं पड़ रहा है। जिस दिन जिसको समझ में पड़ जायेगा, वह उसी क्षण मुक्त हो गया। और जो अज्ञान में मुक्त हो गया, उसकी मुक्ति महान है, गहन है! उसका निर्वाण फिर छीना नहीं जा सकता।

तुमने क्या जाना? इसे सोचो। अब तक कुछ भी जान पाये? कुछ भी तो नहीं जान पाये। कूड़ा-कर्कट इकट्ठा कर लेते हो, सूचनाएं इकट्ठी कर लेते हो--सोचते हो जान लिया? किसी ने पूछा, यह वृक्ष जानते हो? तुमने कहा: हां, अशोक का वृक्ष है। यह कोई जानना हुआ? अशोक का वृक्ष तुमने कह दिया। अशोक के वृक्ष को पता है कि उसका नाम अशोक है? तुमने क्या खाक जान लिया! तुमने ही नाम दे दिया, अशोक। तुमने ही बता दिया कि अशोक का वृक्ष है। तुम्हीं ने तख्ती लगा दी, तुम्हीं ने पढ़ ली। वृक्ष को भी तुम अभी तक नहीं समझा पाये कि तुम अशोक हो। तुम जानते क्या हो?--कामचलाऊ बातें, ऊपरी-ऊपरी, "लेबिल" चिपका दिये हैं।

ज्ञान यहां कहीं भी नहीं है। न तो शास्त्रों में ज्ञान है, न वैज्ञानिकों के पास ज्ञान है। किसी के पास ज्ञान नहीं है। ज्ञान होता ही नहीं।

ऐसा भाव जब तुम्हारे भीतर स्पष्ट हो जायेगा, तब तुमसे कौन छीन सकेगा तुम्हारे बोध को! कैसे छीन सकेगा! तब तुम एक शाश्वतता में जीओगे--कालातीत, क्षेत्रातीत। तुम्हारी शांति प्रगाढ़ होगी। उसी क्षण उसका उदय होता है, जिसके प्रति नमन हो सकता है। वह उदय रहस्यपूर्ण है--ज्ञानपूर्ण नहीं।

और आखिरी प्रश्न--आखिरी में रखा है, क्योंकि प्रश्न नहीं है, उत्तर है। जैसे मैंने पूछा हो और कोई ज्ञानी आ गये हों, उन्होंने उत्तर दे दिया: "मैंत्तू-वह ये वास्तविक भेद नहीं हैं, शाब्दिक हैं। रुचि या स्थिति-विशेष में इनके द्वारा परमात्मा को पुकारा जाता है।"

अब यह तो उत्तर है, यह कोई प्रश्न नहीं है। अगर यह उत्तर तुम्हें मिल गया है, तो तुम यहां किसलिए आये हो? यहां क्या कर रहे हो? बात खतम हो गयी। और अगर यह उत्तर तुम्हें अभी मिला नहीं है, तो तुम किसको यह उत्तर दे रहे हो और किस कारण?

आदमी को अपना ज्ञान बताने की बड़ी आकांक्षा होती है। जितना कम हो, उतनी ज्यादा आकांक्षा होती है। इसलिए तो कहते हैं: थोड़ा ज्ञान बड़ा खतरनाक। यह भी तुमने जाना नहीं है कि तुम क्या कह रहे हो? क्यों कह रहे हो? मैंने तुमसे पूछा नहीं। तुम्हें यह उत्तर देने की कोई जरूरत नहीं है। लेकिन फिर भी बिना पूछे तुमने दिया तो धन्यवाद! ऐसे ही तुम मुझे देते रहे तो कभी-न-कभी मैं भी ज्ञानी हो जाऊंगा! ऐसी कृपा बनाये रखना!

एक व्यक्ति आधी रात को सड़क पर घूम रहा था। एक सिपाही ने उसे रोक कर पूछा, श्रीमान, आपके पास इतनी रात गये सड़क पर घूमने का कोई कारण है? उस व्यक्ति ने सिर ठोंक कर कहा कि यदि मेरे पास कोई कारण ही होता तो मैं कभी का घर पहुंच कर अपनी बीबी के सामने पेश कर चुका होता; कारण नहीं है, इसीलिए तो घूम रहा हूं।

अगर तुम्हें पता ही चल गया है, जो तुमने कहा है अगर तुम्हें पता चल गया है, तो तुम परमात्मा के सामने उपस्थित हो जाते, तब तो मंदिर का द्वार खुल जाता। इन शाब्दिक समझदारियों में मत उलझो।

"मैं, तू, वह--ये वास्तविक भेद नहीं हैं।"

कहा किसने कि ये वास्तविक भेद हैं? तुम सोचते हो कोई भेद वास्तविक होते हैं? भेद मात्र अवास्तविक हैं। तुमको यह खयाल किसने दे दिया कि भेद वास्तविक भी होते हैं?

और तुम कहते हो कि "मैं, तू, वह--सब शाब्दिक भेद हैं।"

ये शब्द ही हैं, स्वभावतः भेद शाब्दिक होंगे। तुम समझा किसको रहे हो? किसने कहा कि ये शब्द नहीं हैं? और अगर शब्द न होते तो मैं कैसे बोलता, तुम कैसे लिखते? सब शब्द हैं।

"रुचि या स्थिति-विशेष में इनके द्वारा परमात्मा को पुकारा जाता है।"

तुम्हें परमात्मा का पता है? और जब तक स्थिति-विशेष रहे और रुचि-विशेष रहे तब तक परमात्मा से किसी का कभी संबंध हुआ है? अष्टावक्र कहते हैं: "दृष्टि-शून्यः।" जब दृष्टि शून्य हो जाये, कोई दृष्टि न बचे! जब कोई स्थिति न बचे, कोई अवस्था न बचे, तुम स्थिति और अवस्थाओं के पार हो जाओ--तभी परमात्मा का प्रागटय होता है।

तो अगर कोई रुचि है अभी शेष, तो तुम जिसको पुकार रहे हो वह परमात्मा नहीं है। वह तुम्हारी पुकार है, तुम्हारी रुचि की पुकार है। परमात्मा से उसका क्या लेना-देना? निश्चित ही अलग-अलग रुचि के लोग परमात्मा को अलग-अलग नाम देते रहते हैं। लेकिन क्या इससे परमात्मा को नाम मिलते हैं? जैसे मैंने तुमसे कहा, अशोक के वृक्ष को भी पता नहीं है कि वह अशोक का वृक्ष है। और परमात्मा को भी पता नहीं है कि तुम किस-किस तरह के पागलपन उसके नाम से कर रहे हो।

सूफी पुकारते हैं परमात्मा को स्त्री मान कर, प्रेयसी मान कर। कोई हैं जो परमात्मा को पिता मान कर पुकारते हैं; जैसे ईसाई। कोई कुछ मान कर पुकारते हैं, कोई कुछ मान कर पुकारते। इससे तुम्हारी रुचि भर का पता चलता है, या तुम्हारी बीमारी का पता चलता है। इससे परमात्मा तक पुकार नहीं पहुंचती; क्योंकि परमात्मा न पिता है, न माता है, न भाई है, न बेटा है, न पत्नी है, न प्रेयसी है।

परमात्मा कोई संबंध थोड़े ही है तुम्हारे और किसी के बीच! परमात्मा तो ऐसी घड़ी है जहां तुम न बचे; जहां पुकारने वाला न बचा। तुम जब पुकार रहे हो तब तक परमात्मा तक पुकार न पहुंचेगी। जब पुकारने वाला ही मिट गया, जब पुकार न बची, जब कोई न बचा पुकारने को, जब गहन सन्नाटा घिर गया, जब शून्य उतरा, शून्यादृष्टिः, सब शून्य भाव हो गया--तभी।

हेरत हेरत हे सखी रह्या कबीर हेराई! जब कबीर खो गया खोजते-खोजते, तब, तब हुआ मिलन।

कबीर ने कहा है: जब तक मैं था तब तक तू नहीं, अब तू है मैं नाहिं।

तो तुम पुकारो विशेष-स्थिति में, रुचि में, परमात्मा को नाम दो, ये सब तुम्हारे संबंध में खबर देते हैं, इससे परमात्मा का कुछ पता नहीं चलता।

मगर यह उत्तर चाहा किसने था? तुम्हारे भीतर दिखता है ज्ञान खड़बड़ा रहा है, प्रगट होना चाहता है। तुम बड़ी खतरनाक स्थिति में हो। जब तुम मुझे तक नहीं बख्शे, तो दूसरों की क्या हालत कर रहे होओगे। तुम्हारे पंजे में जो पड़ जायेगा, तुम उसी के गले में घोंटने लगोगे ज्ञान। तुम जरूर अत्याचार कर रहे होओगे लोगों पर। जिन पर भी कर सकते होओगे, तुम मौका न छोड़ते होओगे।

ध्यान रखना, ऐसा ज्ञान किसी के भी काम नहीं आता। जब तक कोई तुम्हारे पास पूछने न आया हो, तब तक मत कहना। क्योंकि जो बिना पूछे कहा जाता है, उसे कोई स्वीकार नहीं करता। जब कोई प्यास से पूछने आता है, तब मुश्किल से लोग स्वीकार करते हैं; तब भी मुश्किल से स्वीकार करते हैं। खुद ही आये थे पूछने, तो

भी बड़े झिझक से स्वीकार करते हैं, तब भी स्वीकार कर लें तो धन्यभाग! लेकिन जब तुम्हीं उनकी तलाश में घूमते हो ज्ञान ले कर कि कहीं कोई मिल जाये तो उंडेल दें ज्ञान उसके ऊपर, तब तो कोई स्वीकार करने वाला नहीं है। लोग सिर्फ नाराज होंगे। इसलिए ज्ञानियों से लोग बचते हैं कि चले आ रहे हैं पंडित जी! वे भागते हैं, कि पंडित चले आ रहे हैं, यहां से बचो, नहीं तो वे सिर खायेंगे!

जो नहीं मांगा है वह देने की कोशिश कभी नहीं करना।

कहा जाता है कि दुनिया में जो चीज सबसे ज्यादा दी जाती है और सबसे कम ली जाती है, वह सलाह है। सलाह इतनी दी जाती है, इतनी दी जाती है--और लेता कोई भी नहीं! क्योंकि मुफ्त तुम देते हो--कौन लेगा? अकारण, बिना मांगे तुम देते हो--कौन लेगा?

नहीं, इस तरह के ज्ञान को उछालते मत फिरो। कोई तुम्हारे पास जिज्ञासा करने आये कभी, उसको बता देना। कोई तुमसे पूछता हो तो उसको बता देना। लेकिन कोई पूछे न, किसी ने जिज्ञासा न की हो, तो ऐसी आतुरता मत रखो। ऐसी आतुरता खतरनाक है, हिंसात्मक है। ऐसे ज्ञानियों ने लोगों के मन में ज्ञान के प्रति बड़ी अरुचि पैदा कर दी है। ऐसे ज्ञानियों के कारण जीवन की परम गुह्य बातें भी उबाने वाली हो गयी हैं। उनसे रस समाप्त हो गया।

चुप रहो! अगर किसी को पता चलेगा कि तुम्हें ज्ञान मिल गया, तुम्हें कुछ जागरण आ गया, लोग अपने-आप आने लगेंगे। कोई पूछे, तब कह देना।

यहां तो कोई भी तुमसे पूछ नहीं रहा था, कम-से-कम मैंने तो नहीं पूछा था।

लेकिन अहंकार रास्ते खोजता है, नये-नये रास्ते खोजता है। किसी भी तरह से अहंकार अपने को प्रतिस्थापित करना चाहता है कि मैं कुछ हूं, विशिष्ट हूं। और वही विशिष्टता तुम्हारा कारागृह है।

(वह तो आखिरी प्रश्न नहीं था, क्योंकि उत्तर था।)

आखिरी प्रश्न: आपने कहा कि कृष्ण भरोसे के नहीं थे; उनसे अधिक गैर-भरोसे का आदमी खोजना कठिन है। लेकिन मैं समझती हूं कि एक हैं जो उनसे भी अधिक गैर-भरोसे के हैं। क्या आप उन पर बोलना पसंद करेंगे, क्योंकि वे स्वयं भगवान श्री रजनीश हैं?

उन पर बोलने का खतरा तो मैं भी नहीं लूंगा। उनके संबंध में पूछो तो इतना ही कहूंगा:

हरि ॐ तत्सत्!

सन्तावनवां प्रवचन

तथाता का सूत्र-- सेतु है

अष्टावक्र उवाच।

आत्मा ब्रह्मेति निश्चित्य भावाभावौ च कल्पितौ।
निष्कामः किंविजानाति किंब्रूते च करोति किम्।। १८४।।
अयं सोऽहमयं नाहमिति क्षीणा विकल्पनाः।
सर्वमात्मेति निश्चित्य तूष्णीभूतस्य योगिनः।। १८५।।
न विक्षेपो न चैकाग्र्यं नातिबोधो न मूढता।
न सुखं न च वा दुःखमुपशांतस्य योगिनः।। १८६।।
स्वराज्ये भैक्ष्यवृत्तौ च लाभालाभे जने वने।
निर्विकल्पस्वभावस्य न विशेषोऽस्ति योगिनः।। १८७।।
क्व धर्मः क्व च वा कामः क्व चार्थः क्व विवेकिता।
इदं कृतमिदं नेति द्वंद्वैर्मुक्तस्य योगिनः।। १८८।।
कृत्यं किमपि नैवास्ति न कापि हृदि रंजना।
यथा जीवनमेवेह जीवनमुक्तस्य योगिनः।। १८९।।

आत्मा ब्रह्मेति निश्चित्य भावाभावौ च कल्पितौ।
निष्कामः किं विजानाति किं ब्रूते च करोति किम्।।

पहला सूत्र: "आत्मा ब्रह्म है और भाव और अभाव कल्पित है। यह निश्चयपूर्वक जान कर निष्काम पुरुष क्या जानता है, क्या कहता है और क्या करता है?"

समझना: "आत्मा ब्रह्म है ऐसा निश्चयपूर्वक जान कर...।"

जो भी किसी और के माध्यम से जाना वह कभी भी निश्चयपूर्वक नहीं होगा। भरोसा दूसरे पर किया तो भीतर गहरे में गैर-भरोसा बना ही रहेगा। विश्वास के अंतस्तल में संदेह सदा मौजूद रहता है। तुम लाख विश्वास करने की चेष्टा करो, संदेह से छुटकारा नहीं है। विश्वास का अर्थ ही होता है कि संदेह है और संदेह को दबाने की तुम चेष्टा में संलग्न हो। दबा सकते हो, मिटा नहीं सकते। भुला सकते हो, मिटा नहीं सकते।

और जितना संदेह दब जायेगा, एक बड़ी विपरीत स्थिति पैदा होती है: ऊपर-ऊपर विश्वास होता है, भीतर-भीतर संदेह होता है। शब्दों में विश्वास होता है, प्राणों में संदेह होता है। कहने की बात एक रह जाती है, होना बिलकुल ही विपरीत हो जाता है। इसी का नाम पाखंड है।

इसीलिए लोग कहते कुछ हैं, करते कुछ हैं, सोचते कुछ हैं, जीवन में एकरसता नहीं। और जहां एकरसता न हो वहां संगीत कैसा! जहां वीणा के सब तार अलग-अलग जा रहे हों वहां संगीत कैसा! वहां शोरगुल होगा, संगीत नहीं हो सकता। लयबद्धता नहीं होगी, शांति नहीं होगी। सुख कहां!

पहला सूत्र है: "जिसने निश्चित रूप से जाना कि आत्मा ब्रह्म है...।"

किसने निश्चित रूप से जाना? कौन निश्चित रूप से जान लेता है?

इति निश्चित्यं...।

किसको हम कहेंगे कि इसे निश्चय हो गया? जिसे अनुभव हुआ। अनुभव में संदेह नहीं है। अनुभव ही संदेह से मुक्ति है।

मेरे पास लोग आते हैं, वे कहते हैं: हमारा आपमें दृढ़ विश्वास है। मैं कहता हूं, दृढ़? दृढ़ का अर्थ ही हुआ कि बड़ा सघन संदेह मौजूद है भीतर; नहीं तो दृढ़ता से किसको दबा रहे हो?

कोई जब कहता है कि मुझे तुमसे पूरा-पूरा प्रेम है तो जरा सावधान होना, क्योंकि पूरा प्रेम, तो पीछे क्या छिपा रहे हो? इस "पूरे" में क्या छिपा है? इतना आग्रह करके क्यों कह रहे हो कि मुझे पूरा-पूरा प्रेम है, मुझे पूरा-पूरा विश्वास है, मुझे दृढ़ श्रद्धा है? इस आग्रह के पीछे, परदे के पीछे विपरीत मौजूद है। जितना बड़ा संदेह हो उतनी ही दृढ़ता चाहिए विश्वास की। मगर फिर भी संदेह मिटता नहीं।

इसलिए तो नास्तिक और आस्तिक में ऊपर से कितना ही फर्क हो, भीतर से फर्क नहीं होता। क्या भीतर से फर्क है? नास्तिक मंदिर नहीं जाता, नास्तिक परमात्मा को नमस्कार नहीं करता। तुम मंदिर जाते हो, पहुंचे कभी? तुमने नमस्कार किया, लेकिन नमस्कार उसके चरणों तक पहुंचा? तुम करते हो, नास्तिक नहीं करता है, लेकिन तुम्हारा करना भी कहां पहुंचता है? जीवन-व्यवहार में तो तुम बिलकुल एक जैसे हो। जीवन-व्यवहार में जरा भी भेद नहीं है। मुसलमान है, हिंदू है, ईसाई है, जैन है--जीवन-व्यवहार में जरा भी भेद नहीं है। ये सब श्रद्धाएं थोथी हैं, क्योंकि उधार हैं। निश्चित श्रद्धा किसकी होती है? जिसे अनुभव हुआ।

रामकृष्ण के पास केशवचंद्र मिलने गये। और केशवचंद्र ने कहा कि मेरा ईश्वर में भरोसा नहीं है! मैं विवाद करने आया हूं। मैं आपके भरोसे को खंडित कर दूंगा। आप मेरी चुनौती स्वीकार करें।

रामकृष्ण ने कहा: बहुत मुश्किल है। तुम यह कर न पाओगे। तुम्हारी हार निश्चित है। नहीं कि मैं विवाद कर सकता हूं। नहीं कि मेरे पास कोई तर्क है। मेरे पास कोई तर्क नहीं, लेकिन मैंने प्रभु को जाना है। तुम लाख खंडन करो, क्या फर्क पड़ता है? मैं फिर भी जानता हूं कि परमात्मा है। यह मेरा अपना निजी अनुभव है, तुम इसे छीन न सकोगे। यह मेरी श्वास-श्वास में समाया है। यह मेरे हृदय की धड़कन-धड़कन में व्यापा है। यह मेरे रोएं-रोएं की पुकार है, इसे तुम छीन न सकोगे। तुम्हारे तर्क का उत्तर मैं न दे पाऊंगा, केशवचंद्र। तुम बुद्धिमान हो, शास्त्रज्ञ हो, ज्ञानी हो, पंडित हो; मैं अपढ़ गंवार हूं--रामकृष्ण ने कहा। लेकिन उलझोगे तो गंवार से जीतोगे नहीं, क्योंकि मेरे कोई सिद्धांत थोड़े ही हैं, कोई विश्वास थोड़े ही हैं। ऐसा मेरा अनुभव है। तुम मेरे अनुभव को कैसे खंडित करोगे? जो मैंने जाना है उसे तुम कैसे अनजाना करवा दोगे? मैंने इन आंखों से देखा है। लाख दुनिया कहे, सारी दुनिया एक तरफ हो जाये और कहे कि ईश्वर नहीं है, तो भी मैं कहता रहूंगा, है। क्योंकि मैंने तो जाना है!

केशव तो नहीं माने, उन्होंने तो बड़ा विवाद किया। और रामकृष्ण उनके विवाद को सुनते रहे, एक भी तर्क का उत्तर न दिया। बीच-बीच में जब केशवचंद्र कोई बहुत गंभीर तर्क उठाते तो वे खड़े हो?हो कर केशवचंद्र को गले लगा लेते। केशवचंद्र बहुत बेचैन होने लगे, वह जो भीड़ इकट्ठी हो गयी थी देखने, केशवचंद्र के शिष्य आ गये थे कि बड़ा विवाद होगा, वे भी जरा बेचैन होने लगे। और केशवचंद्र को भी पसीना आने लगा। और केशवचंद्र ने कहा, यह मामला क्या है? आप होश में हैं? मैं आपके विपरीत बोल रहा हूं!

रामकृष्ण ने कहा कि तुम सोचते हो कि मेरे विपरीत बोल रहे हो। तुम्हें देख कर मुझे परमात्मा पर और भरोसा आने लगा है। जब ऐसी प्रतिभा हो सकती है संसार में तो बिना परमात्मा के कैसे होगी? तुम्हारी प्रतिभा अनूठी है। तुम्हारे तर्क बहुमूल्य हैं--बड़ी धार है तुम्हारे तर्कों में। यह प्रमाण है कि प्रभु है। यह तुम्हारा चैतन्य, यह तुम्हारा तर्क, ये तुम्हारे विचार, यह तुम्हारी प्रणाली--इस बात का सबूत है कि परमात्मा है। जब फूल लगते हैं तो सबूत है कि वृक्ष होगा। फूल लाख उपाय करें, वृक्ष को खंडित न कर पायेंगे। उनका होना ही वृक्ष का सबूत हो जाता है। फूल लाख गवाही दें अदालत में जा कर कि वृक्ष नहीं होते हैं, लेकिन फूलों की गवाही ही बता देगी कि वृक्ष होते हैं, अन्यथा फूल कहां से आयेंगे?

रामकृष्ण ने कहा: मैं तो गंवार हूं, मेरे पास तो कोई प्रतिभा का फूल नहीं है; तुम्हारे पास तो प्रतिभा का कमल है। मैं हजार-हजार धन्यवाद से भरा हूं। इसलिए उठ-उठ कर तुम्हें गले लगता हूं कि हे प्रभु, तूने खूब

किया, केशवचंद्र को मेरे पास भेजा! तेरी एक झलक और मिली! तुझसे मेरी एक पहचान और हुई! एक नये द्वार से तुझे फिर देखा! अब तो कोई लाख उपाय करे केशव, तुम्हें देख लिया, अब तो कभी मान न सकूंगा कि ईश्वर नहीं है।

केशवचंद्र ने अपने स्मरणों में लिखा है कि जिस एक आदमी से मैं हार गया, वे रामकृष्ण हैं। इस आदमी से जीतने का उपाय न था। उस रात मैं सो न सका और बार-बार सोचने लगा, जरूर इस आदमी को कोई अनुभव हुआ है। कोई ऐसा प्रगाढ़ अनुभव हुआ है कि कोई तर्क उसे डगमगाते नहीं। इतना प्रगाढ़ अनुभव हुआ है कि तर्कों के माध्यम से भी, जो विपरीत तर्क हैं उनसे भी वही अनुभव सिद्ध होता है। नहीं, इस आदमी के चरणों में बैठना होगा। इस आदमी से सीखना होगा। इसे जो दिखाई पड़ा है वह मुझे भी देखना होगा। इसके पास आंख है, मेरे पास तर्क है। तर्क काफी नहीं। तर्क से कब किसी की भूख मिटी है! और तर्क से कब किसका कंठ तृप्त हुआ!

निश्चित जानने का अर्थ है रामकृष्ण की भांति जानना। निश्चित जानने का अर्थ है--विश्वास नहीं; अनुभव से आती है जो श्रद्धा, वही।

और जिसने विश्वास बना लिया, उसके भीतर श्रद्धा पैदा होने में बाधा पड़ जाती है। इसलिए उधार को तो काटो। बासे को तो हटाओ। पराये को तो त्यागो। कोई चिंता न करो। अगर सारे विश्वास हाथ से छूट जायें तो घबड़ाओ मत, क्योंकि उनके हाथ में होने से भी कुछ लाभ नहीं है। जाने दो। तुम उस शून्य में खड़े हो जाओ जहां कोई विश्वास नहीं होता, कोई विचार नहीं होता। और वहीं से बजेगी धुन। वहीं से उठेगा एक नया स्वर। उसी शून्य से व्याप्त होता है कुछ अनुभव जो तुम्हें घेर लेता है। उसी अनुभव में जाना जाता है।

आत्मा ब्रह्मेति निश्चित्य...।

आत्मा ब्रह्म है, ऐसा उस अनुभव में जाना जाता है जहां तुम्हारी सीमाएं गिर जाती हैं और असीम और तुम्हारे बीच कोई भेद-रेखा नहीं रह जाती। आत्मा ब्रह्म है, इसका अर्थ हुआ: बूंद सागर है। लेकिन यह कैसे बूंद जानेगी? बूंद गिरे नहीं तो जान सकेगी? बूंद सागर में गिरे तो ही जानेगी। बूंद कितनी ही पंडित हो जाये, महापंडित हो जाये; लेकिन जिस बूंद ने सागर में गिर कर नहीं देखा, उसे कुछ पता नहीं चलेगा कि बूंद सागर है। बूंद तो जब मिटती है तभी पता चलता है कि सागर है। तुम मिटते हो तभी ब्रह्म का पता चलता है। तुम तिरोहित हो जाते हो, तो ही ब्रह्म मौजूद होता है। तुम्हारी गैर-मौजूदगी उसकी मौजूदगी है। तुम्हारी मौजूदगी उसकी गैर-मौजूदगी है। तुम्हारे होने में ही ब्रह्म "नहीं" हो गया है; तुम्हारे बिखरते ही पुनः हो जायेगा।

"आत्मा ब्रह्म है, ऐसा निश्चित रूप से जिसने जान लिया...।"

इस निश्चित रूप से जानने के लिए शास्त्र में मत जाओ, शून्य में जाओ। शब्द में मत जाओ, निःशब्द में उतरो। विचारों के तर्कजाल में मत उलझो। मौन। मौन ही द्वार है। चुप्पी साधो। घड़ी दो घड़ी को रोज बिलकुल चुप हो जाओ। जब तुम्हारे मन में कोई भी बोलने वाला न बचेगा, तब जो बोलेगा वही ब्रह्म है। जब तुम अपने भीतर पाओगे सन्नाटा ही सन्नाटा है, कोई पारावार नहीं है सन्नाटे का, कहीं शुरू नहीं होता, कहीं अंत नहीं होता--सन्नाटा ही सन्नाटा है, उसी सन्नाटे में पहली दफे प्रभु की पगध्वनि तुम्हें सुनाई पड़ेगी, पहली दफा तुम उसका स्पर्श अनुभव करोगे। वह पास से भी पास है। तुम जब तक विचार से भरे हो, वह दूर से भी दूर।

उपनिषद कहते हैं: परमात्मा दूर से भी दूर और पास से भी पास। दूर से भी दूर, अगर तुम विचार से भरे हो। क्योंकि तुम्हारे विचार आंखों को ढांक लेते हैं। जैसे दर्पण पर धूल जम जाये और दर्पण पर कोई प्रतिबिंब न बने। या जैसे झील में बहुत लहरें हो जायें और चांद की झलक न बने। ऐसा जब तुम विचार से भरे हो तो तुम्हारे भीतर "जो है" उसका प्रतिबिंब नहीं बनता।

निश्चित जानने का अर्थ है: तुम इतने शांत हो गये, दर्पण बन गये, झील मौन हो गयी, विचार सो गये, धूल हट गयी--तो जो है, उसका दर्पण में चित्र बनने लगा। वही है निश्चित जानना--जब तुम प्रतिबिंब बनाते हो और उस प्रतिबिंब में तुम जानते हो: बूंद सागर है।

आत्मा ब्रह्मेति निश्चित्य भावाभावौ च कल्पितौ।

उस क्षण तुम्हें यह भी पता चलेगा कि भाव और अभाव मेरी कल्पनाएं थीं। कुछ मैंने सोचा था है, कुछ मैंने सोचा था नहीं है--दोनों झूठ थे। जो है उसका तो मुझे पता ही न था। मैं ही झूठ था, तो जो मैंने सोचा कि है, वह भी झूठ था; जो मैंने सोचा नहीं है, वह भी झूठ था।

ऐसा समझो कि एक रात तुमने सपना देखा। सपने में तुमने देखा कि सम्राट हो गये। बड़ा साम्राज्य है, बड़े महल हैं, स्वर्णों के अंबार हैं। और दूसरी रात तुमने सपना देखा कि तुम भिखारी हो गये, सब गंवा बैठे, राज्य खो गया, सब हार गये, जंगल-जंगल भटकने लगे, भूखे-प्यासे। एक रात तुमने सपना देखा राज्य है, एक रात तुमने सपना देखा राज्य नहीं है--क्या दोनों सपनों में कुछ भी भेद है? दोनों तुम्हारी कल्पनाएं हैं। भाव भी तुम्हारी कल्पना है, अभाव भी तुम्हारी कल्पना है। और जो है वह तुम्हें दिखाई ही न पड़ा। जिस रात तुमने सपना देखा सम्राट होने का, सपना तो झूठा था; लेकिन जो देख रहा था सपना, वह सच है। दूसरी रात सपना देखा भिखारी होने का। सपना तो फिर भी झूठा था, जो दिखाई पड़ रहा था वह तो झूठा था; लेकिन जिसने देखा, वह अब भी सच है। साम्राज्य देखा कि भिखमंगापन, देखनेवाला दोनों हालत में सच है। जो दिखाई पड़ा--भाव और अभाव--वे दोनों तो कल्पित हैं। सिर्फ द्रष्टा सच है, सिर्फ साक्षी सच है। और सब सपना है।

जैसे ही तुम शांत होओगे, ये दोनों प्रतीतियां एक ही साथ घट जाती हैं कि मैं नहीं हूं, ब्रह्म है। क्योंकि साक्षी एक ही है। मेरा साक्षी अलग और तुम्हारा साक्षी अलग, ऐसा नहीं। मेरा सपना अलग, तुम्हारा सपना अलग--निश्चित ही। लेकिन मेरा साक्षी और तुम्हारा साक्षी तो बिलकुल एकरूप हैं। साक्षी में कोई भेद नहीं।

ऐसा समझो, तुम यहां बैठे हो, अगर तुम सभी शांत और मौन हो कर बैठ गये हो कि किसी के भीतर विचार की कोई लहर नहीं उठती--तो यहां कितने आदमी बैठे हैं? यहां फिर आदमियों की गिनती नहीं की जा सकती। फिर तो यहां एक ही शून्य बैठा है। तुम एक शून्य में कितने ही शून्य जोड़ते जाओ, संख्या थोड़े ही बढ़ती है। दो शून्य भी मिल कर एक ही शून्य, तीन शून्य भी मिल कर एक ही शून्य, चार शून्य भी मिल कर एक ही शून्य। अनंत शून्य भी जोड़ते जाओ तो भी शून्य एक ही रहता है। शून्य में कहीं संख्या थोड़े ही बढ़ती है। लेकिन तुम बोले, दूसरा बोला, तो दो हो गये। बोले कि दो हुए, चुप हुए कि एक हुए। तुमने कुछ कहा कि तुम अलग हुए, किसी दूसरे ने कुछ कहा कि अलग हुआ। विचार आया कि भेद आया। शब्द आये कि शत्रुता आयी। तुमने कहा कि मैं हिंदू, मैंने कहा कि मैं मुसलमान--फर्क हो गया। तुमने कहा मैं बाइबिल मानता, मैंने कहा मैं कुरान--फर्क हो गया, विवाद आ गया। जहां विवाद आ गया वहां हम अलग-अलग हो गये। जहां निर्विवाद हम बैठे हैं चुप, वहां हम अलग नहीं; वहां एक ही बैठा है। जब तुम दौड़ते हो तो अलग-अलग, जब तुम बैठते हो तो एक ही रह जाता है। जब तुम सपने में होते हो तो भिन्न-भिन्न...।

तुमने एक मजा देखा! सपने में तुम अपने मित्र को निमंत्रित नहीं कर सकते, इतने अकेले हो जाते हो। रात सपना देखते हो, खूब अच्छा सपना भी देखो तो भी तुम अपनी पत्नी को अपने सपने में नहीं ले जा सकते। यह नहीं कह सकते कि तू भी आ जा, बड़ा सुंदर सपना है। कोई उपाय नहीं है। सपने में साझेदारी नहीं की जा सकती। दो आदमी एक ही सपना नहीं देख सकते। सपना इतना भिन्न कर देता है हमें! दो आदमी एक ही सपना नहीं देख सकते। कितना ही प्रेम उनके भीतर हो और कितना ही एक-दूसरे के साथ उनकी आत्मीयता हो, तो भी सपने में अलग हो जाते हैं। जैसे दो आदमी एक साथ सपना नहीं देख सकते, ऐसे ही साक्षी में दो आदमी दो नहीं रह सकते, एक हो जाते हैं। उस एक का नाम ब्रह्म है।

आत्मा ब्रह्मेति निश्चित्य भावाभावौ च कल्पितौ।

और जो तुमने मान रखा है "है" और जो तुमने मान रखा है "नहीं है"--वे दोनों ही कल्पना-जाल हैं। वह तुम्हारी कल्पना है। तुम सच हो, तुम्हारा होना परम सत्य है, लेकिन शेष सब कल्पना का जाल है। अब इसे तुम

अष्टावक्र को सुन कर मान लोगे तो यह निश्चित ज्ञान न होगा। इसको तुम प्रयोग कर के जानोगे तो निश्चित ज्ञान हो जायेगा।

धर्म उतना ही प्रयोगात्मक है जितना विज्ञान। इस बात को ठीक से समझ लेना चाहिए।

वैज्ञानिक कहते हैं: विज्ञान बड़ा प्रयोगात्मक, एक्सपेरिमेंटल है। मैं तुमसे कहता हूं: धर्म भी उतना ही प्रयोगात्मक है। विज्ञान और धर्म में प्रयोग को ले कर विवाद नहीं है। जो विरोध है वह प्रयोगशाला को लेकर है। विज्ञान की प्रयोगशाला बाहर है; धर्म की प्रयोगशाला भीतर है। विज्ञान प्रयोग करता है अन्य पर, धर्म प्रयोग करता है स्वयं पर। वैज्ञानिक टेबिल पर बिछा देता है किसी चीज को, उसका परीक्षण, उसका विश्लेषण करता है। धार्मिक अपने ही भीतर जाता है, अपने को ही बिछा देता है टेबिल पर, अपना ही परीक्षण करता है। धर्म है स्व-परीक्षा; विज्ञान पर-परीक्षा। विज्ञान है दूसरे को जानना, धर्म है स्व-ज्ञान--लेकिन प्रयोगात्मक है, एकदम प्रयोगात्मक है।

और तुमने अगर बिना प्रयोग किये कुछ मान लिया है तो उस कूड़े-कर्कट को हटाओ। उससे कुछ सार नहीं है। उससे तुम बोझिल हो गये हो। उससे तुम्हारा सिर भारी हो गया है। उससे पांडित्य तो मिल गया, मूढ़ता नहीं मिटी।

"यह निश्चयपूर्वक जान कर निष्काम पुरुष क्या जानता है, क्या कहता है और क्या करता है?"

यह वचन बड़ा अनूठा है। सुनो--

निष्कामः किंविजानाति किं ब्रूते च करोति किम्।

जिस व्यक्ति ने ऐसा जान लिया कि ब्रह्म ही है, मैं नहीं हूं, उसकी सब वासना चली जाती है। चली ही जायेगी, चली ही जानी चाहिए।

पहली बात: तुम्हें साधारणतः समझाया गया है कि जब तुम्हारी वासना चली जायेगी, तब ब्रह्म तुम्हें मिलेगा। नहीं, बात थोड़ी उल्टी हो गयी। जब ब्रह्म मिल जाता है, तो ही वासना जाती है। तुमने जरा बैलगाड़ी में बैल पीछे बांध दिये, गाड़ी के पीछे बैल बांध दिये। वासना तो तब तक रहेगी जब तक तुम हो। रूप बदल ले, नये रास्ते पकड़ ले, यहां तक भी हो सकता है कि ब्रह्म को जानने की वासना बन जाये कि मैं ब्रह्म को जानूं, कि मैं मोक्ष को पाऊं--मगर यह भी वासना है। धन पाऊं--वासना। ध्यान पाऊं--वासना। संसार मिल जाये, मेरी मुट्ठी में हो--वासना। परमात्मा मिल जाये, मेरी मुट्ठी में हो--वासना। इस जीवन में सुख मिले--वासना। परलोक में सुख मिले, बहिश्त में, स्वर्ग में--वासना। वासना नये रूप ले सकती है, नये आयाम ले सकती है, नयी दिशाएं पकड़ सकती है, नये विषयों पर आधारित हो सकती है। मिटेगी नहीं। जब तक तुम हो, वासना रहेगी। क्योंकि तुम्हारी मौजूदगी में वासना की तरंगें उठती हैं। तुम्हारी मौजूदगी वासनाओं की तरंगों के लिए स्रोत है। जब तुम ही खो जाते हो तभी वासना खोती है।

तुम तो एक ही उपाय से खो सकते हो और वह यह है कि तुम मौन हो कर, यह भीतर कौन तुम्हारे विराजमान है इसको आंख में आंख डाल कर देखने लगो। तो जिन्होंने तुमसे कहा है, वासना को पहले खोओ, उन्होंने तुम्हें झंझट में डाल दिया; उन्होंने तुम्हारे जीवन में नयी वासनाओं को जन्म दे दिया--धार्मिक वासनाएं। मैं तुमसे कहता हूं, वासना तुम नहीं खो सकते, लेकिन विचार तुम खो सकते हो। और विचार को खो दिया तो तुम जानोगे कि मैं कहां, मैं कौन; वही है। जब वही है तो फिर वासना के लिए कोई कारण नहीं रह गया। जब मैं हूं ही नहीं तो बांस मिट गया, अब बांसुरी नहीं बज सकती। बांस ही न बचा तो बांसुरी कैसी!

वासना तो छाया है; जैसे तुम रास्ते पर चलते हो और छाया बनती है। तुम जा कर बैठ गये शांत, वृक्ष के नीचे, धूप में नहीं चलते, छाया बननी बंद हो गयी। जिस दिन अहंकार शांत हो कर बैठ जाता है, बैठते ही गिर जाता है, क्योंकि अहंकार दौड़ने में ही जीता है; बैठने में कभी जीता नहीं। अहंकार महत्वाकांक्षा में जीता है, भाग-दौड़, आपाधापी में जीता है, ज्वर में जीता है। अहंकार शांत बैठने में तो बिखर जाता है। तुम बैठ गये शांत

छाया में, मौन हो गये, विचार न रहे, तुम न रहे, वासना भी गयी। इस घड़ी में अष्टावक्र का सूत्र कहता है: निष्काम हुआ पुरुष क्या जानता है?

तुम शायद सोचते होओगे: जब हम बिलकुल शांत हो जायेंगे तो कुछ जानेंगे। तो फिर जाननेवाला बना रहा। तो अभी तुम बिलकुल शांत नहीं हुए, पूरे शांत नहीं हुए, समग्र रूपेण शांत नहीं हुए। अब तुमने कुछ और बचा लिया; भोक्ता न रहे तो ज्ञाता बन गये।

अष्टावक्र कहते हैं, ऐसा पुरुष क्या जानेगा? जाननेवाला ही नहीं बचा तो अब जानने को क्या है? भेद नहीं बचा तो किसको जानेगा? क्या कहता है? ऐसा पुरुष क्या बोलेगा? ऐसा थोड़े ही है कि परमात्मा तुम्हें मिल जायेगा तो तुम कुछ बोलोगे और परमात्मा तुमसे कुछ बोलेगा। बोल खो जायेगा। अबोल हो जाओगे।

तुलसीदास और दूसरे कवियों ने कहा है कि परमात्मा जो मूक हैं उन्हें वाचाल कर देता; जो पंगु हैं उन्हें दौड़ने की सामर्थ्य दे देता है। अष्टावक्र ने उल्टी बात कही है और ज्यादा सही बात कही है। अष्टावक्र ने कहा है: जो बोलते हैं उन्हें मूक कर देता है; जो दौड़ते हैं उन्हें पंगु कर देता है; जो कर्मठ थे वे आलसी शिरोमणि हो जाते हैं।

वचन है: मूकं करोति वाचालम्। मूक को वाचाल कर देता है। पर इसी वचन को उल्टी तरफ से पढ़ा जाता है, पढ़ा जा सकता है। हम कह सकते हैं: मूक को वाचाल कर देते; मूकं करोति वाचाल। हम ऐसा भी पढ़ सकते हैं: मूकं, करोति वाचाल। वह जो वाचाल है उसको मूक कर देता है। वही ज्यादा सही है। वह जो बोलता है चुप हो जाता है। वह जो चलता है, रुक जाता है। वह जो आता-जाता है, अब कहीं आता-जाता नहीं, बिलकुल पंगु हो जाता है। कर्ता खो जाता, कर्म खो जाता।

"समस्त तरह की लहरें स्थूल या सूक्ष्म विसर्जित हो जातीं। ऐसा पुरुष न तो कुछ जानता, न कुछ कहता, न कुछ करता।"

किं विजानाति किं ब्रूरते च किं करोति।

और यही परम ज्ञान की दशा है: जहां कुछ भी जाना नहीं जाता। क्योंकि न जानने वाला है, न कुछ जाना जाने वाला है। सुनते हैं यह विरोधाभासी वक्तव्य! यही परम ज्ञान की दशा है।

किं विजानाति किं ब्रूते...।

न कुछ कहा जाता, न कुछ कहा जा सकता।

किं करोति...।

करने को भी कुछ बचता नहीं। जो होता है होता है। जो हो रहा है होता रहता है।

कहते हैं, बुद्ध बयालीस साल तक लोगों को समझाते रहे। गांव-गांव जाते रहे। इतना बोले, सुबह से सांझ तक समझाते रहे। और एक दिन आनंद कुछ पूछता था तो आनंद से उन्होंने कहा कि आनंद तुझे पता है, बयालीस साल से मैं एक शब्द भी नहीं बोला हूं? आनंद ने कहा कि प्रभु किसी और को आप कहते तो शायद मान भी लेता। मैं बयालीस साल से आपके साथ फिरता हूं, मैं आपकी छाया की तरह हूं; मुझसे आप कह रहे हैं कि आप कुछ नहीं बोले! सुबह से सांझ तक आप लोगों को समझाते हैं।

बुद्ध ने कहा: आनंद, फिर भी मैं कहता हूं, तू स्मरण रखना, कि बयालीस साल से मैं एक शब्द नहीं बोला। आनंद ने कहा: गांव-गांव भटकते हैं, घर-घर, द्वार-द्वार पर दस्तक देते हैं। तो बुद्ध ने कहा: आनंद, मैं फिर तुझसे कहता हूं कि बयालीस साल से मैं कहीं आया-गया नहीं। आनंद ने कहा: आप शायद मजाक कर रहे हैं। मुझे छेड़ें मत।

लेकिन आनंद समझ नहीं पाया। यह तो आनंद जब स्वयं बुद्ध के विसर्जन के बाद, बुद्ध के निर्वाण के बाद ज्ञान को उपलब्ध हुआ तब समझा, तब रोया। तब रोते समय उसने कहा कि हे प्रभु, तुमने कितना समझाया और मैं न समझा। आज मैं जानता हूं कि बयालीस साल तक न तुम कहीं गये, न आये। और आज मैं जानता हूं कि बयालीस साल तक तुमने एक शब्द नहीं बोला।

किं विजानाति किं ब्रूते किं करोति।

तुमने कुछ भी नहीं किया।

जब अहंकार चला जाता है तो सब क्रियाएं चली जाती हैं। क्रिया मात्र अहंकार की है। जानना भी क्रिया है, बोलना भी क्रिया है, चलना भी क्रिया है, करना भी क्रिया है। सब चला जाता है।

तुम्हें भी अड़चन होगी, अगर मैं तुमसे कहूं कि मैं एक शब्द भी नहीं बोला। अभी बोल ही रहा हूं। और अगर कहूं कि एक शब्द भी नहीं बोल रहा हूं तो तुम्हें भी अड़चन होगी। तुम्हारी अड़चन भी मैं समझता हूं। क्योंकि तुमने अब तक जो भी किया है वह "किया" है; तुमने जीवन में कुछ होने नहीं दिया। ये शब्द बोले जा रहे हैं; इन शब्दों को कोई बोल नहीं रहा है। जैसे वृक्षों पर पत्ते लगते हैं और वृक्षों पर फूल लगते हैं, ऐसे ये शब्द भी लग रहे हैं। इन्हें कोई लगा नहीं रहा। इनके पीछे कोई चेष्टा नहीं है, कोई प्रयास नहीं है, कोई आग्रह नहीं है। ये न लगें तो कुछ फर्क न पड़ेगा। ये लगते हैं तो कुछ फर्क नहीं पड़ता है। अचानक बोलते-बोलते अगर बीच में ही मैं रुक जाऊं तो कुछ फर्क न पड़ेगा। अगर शब्द न आया तो न आया।

कूलरिज मरा--अंग्रेजी का महाकवि--तो हजारों अधूरी कविताएं छोड़ कर मरा। मरने के पहले उसके एक मित्र ने पूछा कि इतनी कविताएं अधूरी छोड़े जा रहे हो! इन्हें पूरा क्यों न किया? तो कूलरिज ने कहा, मैं कौन था पूरा करने वाला! जितनी आयी उतनी आयी; उससे ज्यादा नहीं आयी तो नहीं आयी। तीन पंक्तियां उतरीं तो मैंने तीन पंक्तियां लिख दीं। मैं तो उपकरण था। चौथी पंक्ति नहीं आयी। पूरी चौपाई भी न बनी तो मैं क्या कर सकता था? जितना आया, आया।

केवल सात कविताएं पूरी करके कूलरिज ने जीवन भर में...सात कविताएं। लेकिन सात कविताओं के आधार पर महाकवि है। सात-सात हजार कविताएं लिखने वाले लोग भी महाकवि नहीं हैं। कुछ बात है कूलरिज की कविता में, कुछ पार की बात है, कुछ बड़े दूर की ध्वनि है। कोई अज्ञात उतरा है। कूलरिज नहीं बोला; परमात्मा बोला है।

यही अर्थ है जब हम कहते हैं कि वेद अपौरुषेय हैं, या हम कहते हैं कुरान उतरी। इसका मतलब समझ लेना। हिंदू-मुसलमान क्या दावे करते हैं, उससे मुझे मतलब नहीं है। उनके दावे का मैं समर्थन भी नहीं कर रहा हूं। लेकिन इसका अर्थ यही है। कुरान उतरी। मुहम्मद ने खुद बनायी नहीं; उतरता हुआ पाया। जब पहली दफा कुरान मुहम्मद पर उतरी तो वे बहुत घबरा गये। क्योंकि वे तो गैर-पढ़े-लिखे आदमी थे। उन्होंने तो कभी सोचा भी नहीं था कि ऐसा अपूर्व काव्य, और उतर आयेगा। इसकी कभी कल्पना भी न की थी, सपना भी न देखा था। यह तो उनके हिसाब-किताब के बाहर था। यह तो ऐसा ही समझो कि तुमने जिंदगी भर मूर्ति न बनायी हो और एक दिन अचानक तुम पाओ कि तुमने छैनी उठा ली है, हथौड़ी उठा ली है और तुम संगमरमर खराद रहे हो, संगमरमर को छैनी से काट रहे हो और तुम चौंको कि मैं यह क्या कर रहा हूं, मैं कोई मूर्तिकार नहीं हूं, मैंने कभी सोचा भी नहीं! मगर विवश, कोई अदम्य तुम्हें खींचे ले जाये और तुम न केवल इतना पाओ कि मूर्ति खोद रहे हो, तुम एक जगत की श्रेष्ठतम मूर्ति खोद दो, तो क्या तुम यह कह सकोगे कि मैंने खोदी? तुमने न तो कभी सीखा न तुमने सपना देखा। तुम्हारे मन में मूर्तियां तैरती ही न थीं।

मुहम्मद तो साधारण व्यक्ति थे, गैर-पढ़े-लिखे थे, काम से काम था। यह तो कभी सोचा भी न था। जब पहली दफा मुहम्मद पर कुरान उतरी और किसी अंतरआकाश में उन्हें सुनाई पड़ा कि गुनगुना, गा! तो वे बहुत घबरा गये। लिख! तो वे बहुत घबरा गये। क्योंकि वे तो लिखना भी नहीं जानते थे। भीतर आवाज आयी: नहीं लिख सकता, पढ़! तो उन्होंने कहा, मैं पढ़ना भी नहीं जानता। वे तो दस्तखत भी नहीं कर सकते थे। वे इतने घबरा गये कि उन्हें बुखार आ गया। समझा कि कोई भूत-प्रेत है या क्या मामला है? वे तो घर आ कर रजाई ओढ़ कर सो गये। पत्नी ने बोला, क्या हुआ? भले-चंगे गये थे, क्या हो गया? उन्होंने कहा, मत पूछ कुछ तू। वे तो दुबके पड़े रहे रजाई में, कंपते रहे और वह आवाज गूंजती रही, और वह आवाज रूप लेने लगी और कुरान की पहली आयत उतरने लगी। इसे मुहम्मद ने उतरते देखा। यह मुहम्मद से बिलकुल अलग है। इसका मुहम्मद

से कुछ लेना-देना नहीं है। मुहम्मद तो जैसे बांस की पोंगरी हैं; कोई इसमें से गीत गाने लगा; किसी के स्वर इसमें भरने लगे। मुहम्मद ने तो जगह दे दी और जगह भी आश्चर्यचकित भाव में दी, कुछ पता ही नहीं कि यह क्या हो रहा है। इसके लिए कोई तैयारी न थी। यह महान कुरान उतरी। यह महाकाव्य उतरा।

इस अर्थ में कुरान अपौरुषेय है, मनुष्य की बनायी हुई नहीं है। ऐसे ही वेद उतरे। ऐसे ही बाइबिल उतरी। ऐसे ही उपनिषद उतरे। ऐसे ही धम्मपद उतरा। ऐसे ही महावीर की वाणी उतरी। नहीं, किसी ने कहा नहीं है। अस्तित्व बोला। विराट बोला। अज्ञात बोला।

निष्कामः किं विजानाति किं ब्रूरते च करोति किम्।

ऐसी वासनामुक्त दशा में जहां जान लिया गया कि आत्मा ब्रह्म है, फिर न तो कुछ कोई बोलता, न कुछ कोई जानता, न कुछ कोई करता; यद्यपि सब होता है--बोला भी जाता, किया भी जाता, जाना भी जाता।

"सब आत्मा है ऐसा निश्चयपूर्वक जान कर शांत हुए योगी की ऐसी कल्पनाएं कि यह मैं हूं और यह मैं नहीं हूं, क्षीण हो जाती हैं।"

अयं सोऽहमयं नाहमिति क्षीणा विकल्पनाः।
सर्वमात्मेति निश्चित्य तूष्णीभूतस्य योगिनः।।
सर्वं आत्मा!

ब्रह्म का अर्थ है: एक ही है। और सबमें एक ही है। पत्थर से ले कर परमात्मा तक एक का ही विस्तार है, एक की ही तरंगें हैं। जड़ से ले कर चैतन्य तक एक ही प्रगट हुआ है। अनेक-अनेक रूप धरे हैं, अनेक-अनेक भाव-भंगिमाएं हैं--मगर जिसकी हैं वह एक है।

सर्वं आत्मा!
सब आत्मा है।
इति निश्चित्य...।

ऐसा जिसने निश्चयपूर्वक जाना, अनुभव किया, स्वाद लिया! सिर में ही न घूमी ये बातें, हृदय में उतर गयीं; ऊपर-ऊपर से न चिपकायी गयीं, भीतर से अंकुरण हुआ, उदभव हुआ!

तूष्णीभूतस्य योगिनः।

ऐसा व्यक्ति परम शांति को उपलब्ध हो जाता है, परम विश्राम को।

तुमने खयाल किया? मेरे पास लोग आते हैं। वे कहते हैं कि "बड़ी अशांति है, शांत कैसे हो जायें? कोई शांति का रास्ता बता दें।" वे कोई सस्ता रास्ता चाहते हैं। वे कुछ ऐसा रास्ता चाहते हैं कि जैसे वे हैं वैसे बने भी रहें और शांत हो जायें। धन के पीछे दौड़ रहे हैं तो दौड़ते रहें। सच तो यह है शायद शांत इसीलिए होना चाहते हैं ताकि धन के पीछे और ठीक से दौड़ सकें। रात नींद नहीं आती तो सुबह से दूकान में दौड़-धूप उतनी नहीं हो पाती जितनी हो सकती थी; विश्राम ही नहीं हो पाया तो श्रम कैसे हो?

आदमी शांत भी होना चाहता है तो सिर्फ इसीलिए ताकि वह जो अशांति का व्यापार चला रहा है, व्यवसाय चला रहा है, उसको वह ठीक से चला सके।

अगर मैं उनसे कहता हूं कि शांत तो तुम तब तक न हो सकोगे जब तक तुम हो, तो वे कहते हैं कि फिर अपने वश के बाहर है! शांति वे चाहते हैं किसी वस्तु की तरह उनमें जुड़ जाये। वे जैसे हैं, वैसे के वैसे रहें; शांति और आ जाये और उनमें जुड़ जाये। जैसे हम एक वस्तु खरीद लाते हैं बाजार से। नयी टेबिल खरीद लाये कि टेलिविजन खरीद लाये। पुराना मकान है, पुराना घर, पुरानी पत्नी, पुराने बच्चे, सब पुराना, हम पुराने, सब पुराना, एक टेलिविजन खरीद लाये, उसको भी उसी कमरे में रख दिया। लोग चाहते हैं ऐसी शांति आ जाये, कि ऐसा ज्ञान आ जाये।

नहीं, सब पुराना जायेगा तो ही शांति आ सकती है। शांति तो तुम्हारे चले जाने की अवस्था है। जहां से तुम तिरोहित हो गये। जब तक तुम हो, तुम उपद्रव करते ही रहोगे। उपद्रव तुम्हारा स्वभाव है। उपद्रव अहंकार का स्वभाव है। अहंकार रोग है।

तूष्णीभूतस्य योगिनः।

जिसने जान लिया कि एक ही है, वही शांत हो पाता है; वही उस परम विश्रांति को उपलब्ध होता है जहां कोई तनाव नहीं रह जाता।

तनाव क्या है? तनाव यह है...तनाव को समझें। दूसरा दुश्मन है--यह तो तनाव पहला। दूसरा है, यह मान लेने से ही उपद्रव शुरू हो गया। तो फिर दूसरा छीन-झपट करेगा, प्रतिस्पर्धा करेगा, संघर्ष करना होगा। दूसरा है तो युद्ध है और दूसरा है तो दुश्मनी है। दूसरा है तो तुम अकेले नहीं हो। तुम जिन वासनाओं के पीछे दौड़ रहे, दूसरे भी दौड़ रहे हैं। तुम्हीं थोड़े ही राष्ट्रपति होना चाहते हो, साठ करोड़ भारतवासी राष्ट्रपति होना चाहते हैं। पद एक है और साठ करोड़ उम्मीदवार हैं, तो हर एक आदमी के खिलाफ बाकी साठ करोड़ जो बचे हैं, वे इसके दुश्मन हैं। जहां दूसरा है वहां दुश्मनी है। और जब दूसरा है तो फिर अपनी आत्मरक्षा का उपाय भी करना होगा। तो भय है, घबड़ाहट है, सुरक्षा करनी है। तुम सुरक्षा करते हो तो दूसरा भी डर जाता है।

तुमने देखा, पाकिस्तान खरीद ले अमरीका से हवाई जहाज कि हिंदुस्तान घबड़ाया कि बस शोरगुल मचा। तो खरीदो रूस से जल्दी या कुछ इंतजाम करो। इधर हिंदुस्तान ने खरीदा कि उधर पाकिस्तान घबराया कि अरे, और इंतजाम करो! कोई इसकी फिक्र ही नहीं करता कि जब तुम दूसरे से घबड़ा कर इंतजाम करने लगते हो तो दूसरा भी तुमसे घबरा कर इंतजाम करने लगता है। दुष्ट चक्र पैदा होता है।

मुल्ला नसरुद्दीन एक राह से गुजर रहा था। सांझ का वक्त था, धुंधलका था। और उसने एक किताब पढ़ी थी और किताब में डाकुओं और हत्यारों की बात थी। कुछ होगी पुराने जासूसी ढंग की किताब, भूत-प्रेत, तिलिस्मी। वह घबड़ाया हुआ था, किताब की छाया उसके सिर पर थी। और उसने देखा कि लोग चले आ रहे हैं। उसने कहा, मालूम होता है दुश्मन। और बैंड-बाजे भी बजा रहे हैं, हमला हो रहा है। घोड़े पर चढ़ा आ रहा है कोई आदमी और तलवार लटकाये हुए। वह तो एक बारात थी। मगर वह बहुत घबड़ा गया। उसने देखा, यहां तो कुछ उपाय भी नहीं है। पास ही एक कब्रिस्तान था, तो घबड़ा कर दीवाल छलांग कर कब्रिस्तान में पहुंच गया। वहां एक नयी-नयी कब्र खुदी थी। अभी मुर्दा लाने लोग गये होंगे कब्र खोदकर, तो वह उसी में लेट गया। उसने सोचा कि मुर्दे की कौन झंझट करता है।

लेकिन उसको ऐसा छलांग लगा कर देख कर, छाया को उतरते देख कर बाराती भी घबड़ा गये कि मामला क्या है! अचानक एक आदमी छलांग लगाया, भागा--वे भी देख रहे हैं। वे भी घबड़ा गये, उन्होंने भी बैंड-बाजे बंद कर दिये। जब बैंड-बाजे बंद कर दिये तो मुल्ला ने कहा मारे गये! देखे गये! वह बिलकुल सांस रोक कर पड़ा रहा। वे भी आहिस्ता से धीरे-धीरे दीवाल के ऊपर आ कर झांके। जब बारातियों ने दीवाल के ऊपर झांका, उसने कहा: हो गया खात्मा समझो! अब पत्नी-बच्चों का मुंह दुबारा देखने न मिलेगा। और जब उसको उन्होंने देखा कि वह आदमी, बिलकुल जिंदा आदमी अभी गया और नयी-नयी खुदी कब्र में बिलकुल मुर्दे की तरह लेटा। उन्होंने कहा, कोई जालसाजी है। यह आदमी हमला करेगा, बम फेंकेगा या क्या करेगा! तो वे सब आये लालटेनें ले कर, मशालें जला कर खड़े हो गये चारों तरफ।

अब मुल्ला कब तक सांस रोके रहे! आखिर सांस सांस ही है। थोड़ी देर रोके रहा, फिर उठ कर बैठा गया। उसने कहा, अच्छा भाई कर लो जो करना है। उन्होंने कहा, क्या करना, क्या मतलब? तुम क्या करना चाहते हो? तब उसकी समझ में आया। उन बारातियों ने पूछा कि तुम यहां क्या कर रहे हो? तुम इस कब्र में क्यों लेटे हुए हो? तो नसरुद्दीन ने कहा, हद हो गयी। मैं तुम्हारी वजह से यहां हूं और तुम मेरी वजह से यहां हो! और

बेवजह सारा मामला है। जब उसने देखा लालटेन वगैरह, ज्योति में कि यह तो बारात है, दूल्ला-वूल्हा सजाये है, कहीं कोई हमला करने नहीं जा रहे हैं। अपना वहम है।

तुमने देखा? पड़ोसी कुछ करने लगे तो तुम तैयारी करने लगते हो। तुम कुछ करने लगे तो पड़ोसी तैयारी करने लगता है। दुनिया में आधे संघर्ष तो इसीलिए हो रहे हैं कि भय है। तुम घर लौटते--ऐसा कोई राष्ट्रों में हो रहा है, ऐसा नहीं है--तुम घर लौटते, तुम रास्ते में ही तैयारी करने लगते कि पत्नी क्या कहेगी, जवाब क्या देना है! तुम तैयारी करने लगे। पत्नी भी घर तैयारी कर रही है कि अच्छा, पांच बज रहा है, पति लौटते होंगे; देखें क्या उत्तर ले कर आ रहे हैं! वह भी तैयारी करने लगी। दोनों तैयार हैं।

दूसरे से बचने का भय तुम्हें और सिकोड़ जाता है, तनाव से भर जाता है, असुरक्षित कर जाता है। सारा जीवन इस कलह में बीत जाता है। छोटी कलह, बड़ी कलह, जातियों की, धर्मों की, राष्ट्रों की--मगर कलह एक ही है।

"सब आत्मा है ऐसा जिसने निश्चयपूर्वक जाना, वह हो गया शांत।"

तूष्णीभूतस्य योगिनः।

वही है योगी। जिसने यह जान लिया कि एक ही है, फिर क्या भय है! तुममें भी मैं ही हूं, तो फिर क्या प्रश्न, फिर किससे संघर्ष?

डार्विन का सिद्धांत है: संघर्ष। और पूरब के समस्त ज्ञानियों का सिद्धांत है: समर्पण। और डार्विन कहता है: जो सबलतम हैं वे बचे रहते हैं। सरवाइवल ऑफ दि फिटेस्ट। और पूरब के ज्ञानी कुछ और कहते हैं। पूछो लाओत्सु से, पूछो अष्टावक्र से, पूछो बुद्ध से, महावीर से; वे कुछ और कहते हैं। वे कहते हैं: जो कोमल है वही बच रहता है। जो प्रेमपूर्ण है वही बच रहता है। स्त्रैण तो बच रहता है, कठोर तो हार जाता है।

लाओत्सु कहता है: गिरती है जल की धार पहाड़ से कठोर चट्टान पर। ऊपर से तो देखने में यही लगेगा कि चट्टान जीतेगी, धार हारेगी। धार तो कोमल है, चट्टान तो मजबूत है। अगर डार्विन सच था तो धार हारनी थी, चट्टान जीतनी थी। लेकिन लाओत्सु सच मालूम होता है। धार जीत जाती है, चट्टान हार जाती है। कुछ वर्षों बाद तुम पाओगे चट्टान तो रेत हो कर बह गयी, धार अपनी जगह है।

कोमल जीतता है, कठोर हारता है। निरहंकारी जीतता है, अहंकारी हारता है। अहंकारी चट्टान की तरह है, निरहंकारी जल की धार है।

इसे ऐसा कहें, जो लड़ता वह हारता। जो हारता वही जीतता। जो हारने को राजी है उसका अर्थ ही यह है कि वह कहता है तुम भी मैं ही हो।

कभी तुमने देखा, अपने छोटे बेटे से तुम कुश्ती लड़ते हो तो तुम जीतते थोड़े ही हो। बेटे से जीतोगे तो मुहल्ले के लोग भी हंसेंगे, यह क्या नासमझी की बात की तुमने! जरा-से बेटे से जीत कर उसकी छाती पर बैठ गये। नहीं, बाप जब बेटे से लड़ता है तो बस हारने के लिए लड़ता है। ऐसा थोड़ा...ऐसा भी नहीं कि एकदम से लेट जायें, नहीं तो बेटे को भी मजा नहीं आयेगा। वह कहेगा, यह क्या मामला है! क्या धोखा दे रहे? तो थोड़ा हाथ-पैर चलाता है, बल दिखलाता है, धमकाता है, लेकिन फिर लेट जाता है। बेटा छाती पर बैठ कर प्रसन्न होता है और कहता है जीत गये! बेटा अपना है तो हारने में डर क्या। अपने बेटे से कौन नहीं हारना चाहेगा!

उपनिषद के गुरुओं ने कहा है: गुरु तभी प्रसन्न होता है जब शिष्य से हार जाता है। अपने शिष्य से कौन नहीं हारना चाहेगा? कौन गुरु न चाहेगा कि शिष्य मुझसे आगे निकल जाये--वहां पहुंच जाये जहां मैं भी नहीं पहुंच पाया! जब अपना ही है तो हार का मजा है। पराये से हम जीतना चाहते हैं, अपने से थोड़े ही जीतना चाहते हैं। अगर यह मेरा ही विस्तार है, अगर मैं इस विस्तार का ही एक हिस्सा हूं, अगर तुम और मेरे बीच कोई फासला नहीं है, एक ही चेतना का सागर है, तो फिर कैसी हार, कैसी जीत, फिर कैसा संघर्ष! और जहां संघर्ष न रहा वहां शांति है। शांति लायी नहीं जाती; संघर्ष के अभाव का नाम शांति है।

तूष्णीभूतस्य योगिनः।

और वही है योगी जो इस भांति शांत हुआ। ऐसे बैठ गये पालथी मार कर, आंख बंद करके, जबर्दस्ती अपने को किसी तरह संभाल कर शांत किये बैठे हैं--यह कोई शांति नहीं है। यह तो सिकुड़ जाना है। मुर्दे की तरह बैठ गये अकड़ कर, किसी तरह अपने को समझा-बुझा कर, बांध-बूंध कर शांत कर लिया--यह कोई शांति नहीं है। वास्तविक योगी तो विश्राम को उपलब्ध हो जाता है, विराम को उपलब्ध हो जाता है। वह तो अपने को छोड़ देता, निमज्जित कर देता, बूंद सागर में गिर जाती है।

इति विकल्पनाःअयं सः अहं अयं न क्षीणाः।

"यह मैं हूं, यह मैं नहीं हूं--ऐसी सब कल्पनाएं योगी की सदा के लिए क्षीण हो जाती हैं।"

यह कहना कि यह मैं हूं और यह मैं नहीं हूं, भेद खड़ा करना है, जब कि एक ही है, तो किसी को कहना मैं और किसी को कहना तू, भेद खड़ा करना है; विकल्पना है, तुम्हारी धारणा है। और देखना, भय से भूत खड़े हो जाते हैं। खयाल पैदा हो जाये तो बस...।

मेरे गांव में मैं जब कभी-कभी जाता, तो एक सज्जन को मैं जानता था जो सदा बात करते कि मैं भूत-प्रेत से बिलकुल नहीं डरता। उनसे मैं इतनी दफे सुन चुका--स्कूल में शिक्षक हैं--कि मैंने उनसे कहा कि तुम जरूर डरते होओगे। तुम बार-बार कहते हो कि मैं भूत-प्रेत से नहीं डरता। कोई कारण भी नहीं होता तब भी तुम कहते हो कि भूत-प्रेत से नहीं डरता। तुम जरूर डरते होओगे। मैंने कहा कि मैं भूत-प्रेत जानता हूं, एक जगह हैं। अगर तुम्हारी सच में हिम्मत हो तो तुम चले चलो। अब वे सदा कहते थे। तो घबड़ाये तो बहुत। उनके चेहरे से तो बहुत घबड़ाहट मालूम पड़ी। लेकिन अब अहंकार का मामला था। उन्होंने कहा, मैं डरता ही नहीं, कहां है?

तो मेरे पड़ोस में ही एक गोडाउन, जहां एक कैरोसिन तेल बेचने वाले के टीन के डब्बे इकट्ठे रहते थे। खाली डब्बे गर्मी के दिन में सिकुड़ते और आवाज करते। और डब्बों की कतार लगी है उस घर में। तो मैंने उनसे कहा, बस तुम इसमें रात भर रह जाओ। घबड़ाये तो वे बहुत, क्योंकि उसमें वर्षों से कोई नहीं रहा है। उसमें डब्बे ही भरे रहते हैं वहां। कहने लगे, क्या आपको पक्का है कि यहां भूत-प्रेत हैं? मैंने कहा, पक्का है ही और तुम खुद अनुभव करोगे कि जब भूत-प्रेत एक डब्बे में से दूसरे में जाने लगेंगे, तब तुम्हें पता चलेगा। घबड़ाना मत। और अगर कोई बहुत घबड़ाहट की बात हो जाये तो मैं एक घंटा टांग जाता हूं, इसको तुम बजा देना। तो मैं आ जाऊंगा और पास-पड़ोस के लोग आ जायेंगे, तुम्हें बचा लेंगे, तुम घबड़ाना मत।

उन्होंने कहा, घबड़ाता ही नहीं मैं। तो मैंने कहा, फिर घंटा ले जाने की जरूरत नहीं है। उन्होंने कहा, घंटा तो रख ही लेना चाहिए।

"तुम घबड़ाते ही नहीं तो घंटे का क्या करोगे?"

"अब वक्त-बेवक्त की कौन जानता है!"

मगर उनके हाथ-पैर कंपने लगे। मैं उन्हें छोड़ कर ही आया, कोई आधा ही घंटा नहीं हुआ होगा, शाम ही थी, साढ़े आठ-नौ बजे होंगे, कि उन्होंने जोर से घंटा बजाया। क्योंकि जैसे ही सांझ होती है और तापमान बदलता है तो दिन भर के तपे हुए डब्बे फैल जाते हैं और रात को सिकुड़ते हैं। जैसे ही सिकुड़ते कि आवाज होनी शुरू होती। अब उनको कल्पना तो पक्की थी और अकेले थे वहां, तो उन्होंने खूब कल्पना कर ली होगी अपने को संभालने के लिए, कि कोई कुछ नहीं कर सकता है, यह...। और जब उन्होंने सुना निकलने लगे भूत, एक डब्बे में से दूसरे में जाने लगे, घंटा बजाया। मैं पहुंचा। मुझे पता ही था कि घंटा बजेगा ही थोड़ी-बहुत देर में। ज्यादा देर नहीं लग सकती, क्योंकि वे भूत-प्रेत तो निकलेंगे ही। वे छज्जे पर खड़े हैं। उनको मैं कहूं कि आप अंदर से आ कर दरवाजा खोलो, क्योंकि दरवाजा भीतर से तुम ही लगा गये हो। मगर उनकी इतनी हिम्मत नहीं कि वे उस कमरे में से गुजर सकें जहां से भूत-प्रेत निकल रहे हैं। और उनकी घिग्घी भी बंद हो गयी। वे बोल भी न सकें। सीढ़ी लगा कर उनको नीचे उतारना पड़ा।

मैंने उनसे पूछा, बोलते क्यों नहीं? उन्होंने कहा, क्या खाक बोलूं? किसी तरह आधा घंटा बर्दाश्त किया है। अब भूल कर कभी नहीं यह कहूंगा कि...। भूत-प्रेत होते हैं। अपना प्रत्यक्ष अनुभव अब मुझे हुआ। मैंने उन्हें लाख समझाया कि कोई भूत-प्रेत नहीं हैं। चलो मैं तुम्हारे साथ चलता हूं। तुम्हें सब राज समझाये देता हूं। उन्होंने कहा, छोड़ो, अब इस मकान में मैं दुबारा नहीं जा सकता हूं।

मैं फिर गांव जब भी जाता हूं उनसे पूछता हूं कि क्या खयाल है? उन्होंने कहा कि मैंने वह बात ही छोड़ दी।

तुम्हारी कल्पना तुम आरोपित कर ले सकते हो--किसी भी चीज पर आरोपित कर ले सकते हो। और विकल्पना का बड़ा बल है। तुम एक स्त्री को सुंदर मान लेते हो, बस वह सुंदर हो जाती है। तुम धन में कुछ देखने लगते हो, दिखाई पड़ने लगता है। तुम पद में कुछ लोलुप हो जाते हो, वासना वहां जुड़ जाती है, विकल्पना जाल फैलाने लगती है। तुम कितनी बार नहीं बैठे-बैठे कल्पना करने लगते हो कि सफल हो गये, चुनाव जीत गये, अब जुलूस निकल रहा है, अब लोग फूलमालाएं पहना रहे हैं! बैठे अपने-अपने घर में हैं, लेकिन यह कल्पना चल रही है। कितनी बार नहीं तुम शेखचिल्ली हो जाते हो! ज्ञानी कहते हैं कि हमारा सारा जीवन शेखचिल्लीपन है। हमने कुछ कल्पनाएं बना रखी हैं। उन कल्पनाओं को हमने इतना बल दे दिया है, अपने प्राण उनमें उंडेल दिये हैं, उन पर इतना भरोसा कर लिया है कि वे वास्तविक मालूम होती हैं। वास्तविक हैं नहीं।

बच्चा जब पैदा होता है तो शून्य की तरह पैदा होता है। उसे कुछ पता नहीं होता। हम उसे सिखाते हैं कि यह तेरा शरीर। मान्यता पैदा होती है। वह सीख लेता है कि यह मेरा शरीर। हम उसे सिखाते हैं चरित्र, हम उसे सिखाते हैं अहंकार कि "देख तू किस कुल में पैदा हुआ! देख, स्कूल में प्रथम आना। इसमें कुल की प्रतिष्ठा है। सबसे आगे रहना! चरित्र बनाना, अपने को विभूषित करना सुंदर गुणों से।" धीरे-धीरे धीरे-धीरे यह निरंतर जो सम्मोहन चलता है, बच्चा भी मानने लगता है कि मैं कुछ विशिष्ट हूं, मैं कुछ हूं, विशेष घर में पैदा हुआ, विशेष परिवार में पैदा हुआ, विशेष धर्म में पैदा हुआ, विशेष देश में पैदा हुआ, राष्ट्र का गौरव हूं, और-और इस तरह की सब बातें--देह हूं, मन हूं--ये सब बातें गहन होती चली जाती हैं।

निरंतर पुनरुक्ति से झूठ भी सच हो जाते हैं। बार-बार दोहराने से कोई भी बात सच मालूम होने लगती है। और एक बार तुम्हें सच मालूम होने लगे कि बस तुम उसके गिरफ्त में आ गये।

"सब आत्मा है, ऐसा निश्चयपूर्वक जान कर शांत हुए योगी की ऐसी कल्पनाएं कि यह मैं हूं और यह मैं नहीं हूं, क्षीण हो जाती हैं।"

तुम न तो देह हो, न तो मन हो। तुम इन दोनों के पार हो। न तुम हिंदू, न मुसलमान, न ईसाई, न जैन, न तुम स्त्री, न तुम पुरुष, न तुम भारतीय, न तुम चीनी, न तुम जर्मन। न तुम गोरे न तुम काले। न तुम जवान न तुम बूढ़े। तुम इन सबके पार हो। वह जो इन सब के पार छिपा देख रहा है--वही हो तुम। उस साक्षी के सत्य को जितना ही तुम अनुभव कर लो, जितना निश्चयपूर्वक अनुभव कर लो, उतने ही शांत हो जाओगे।

"उपशांत हुए योगी के लिए न विक्षेप है और न एकाग्रता है, न अतिबोध है और न मूढ़ता है, न सुख है न दुख है।"

इस सूत्र को खयाल में लेना: "उपशांत"। इस तरह शांत हो गये योगी के लिए। जिसने अहंकार की विकल्पनाएं छोड़ दीं। जिसने अपने सब तरह के तादात्म्य छोड़ दिये हैं। जो अब नहीं कहता कि यह मैं हूं और जो तू से अपने को अलग नहीं करता, ऐसे उपशांत हुए योगी के लिए न विक्षेप है, अब उसे कोई चीज "डिस्ट्रेक्ट" नहीं करती। अब कैसे उसे कोई चीज विक्षेप बन सकती है?

तुम बैठे। तुम कहते हो, मैं ध्यान करने बैठा और पत्नी ने बर्तन गिरा दिया चौके में और विक्षेप हो गया। ध्यान भंग हो गया। यह ध्यान नहीं था अगर यह भंग हो गया। कि बच्चा चिल्ला दिया, कि राह से कोई ट्रक निकल गया, कि हवाई जहाज गुजर गया ऊपर से--इससे बड़ी विघ्न-बाधा पड़ गयी। अगर विघ्न-बाधा पड़ गयी

तो यह ध्यान नहीं था। तुम किसी तरह अपने को संभाल कर बैठे थे जबर्दस्ती; जरा-सी चोट, कि तुम्हारी जबर्दस्ती टूट गयी। यह कोई ध्यान नहीं था।

ध्यान की अवस्था तो शून्य की अवस्था है; विक्षेप हो कैसे सकता है? शून्य में कहीं कोई विक्षेप होता है? कोई विघ्न-बाधा पड़ती है? तुम अगर शांत बैठे थे, वस्तुतः उपशांत हो कर बैठे थे तो पत्नी गिरा देती बर्तन, बर्तन की आवाज गूंजती, तुम्हें सुनाई पड़ती, लेकिन कोई प्रतिक्रिया नहीं होती। सुनाई पड़ती जरूर, क्योंकि कान तो हैं तुम्हारे, कान तो नहीं समाप्त हो गये। शायद और भी अच्छी तरह से सुनाई पड़ती, क्योंकि तुम बिलकुल शांत बैठे थे, सूई भी गिरती तो सुनाई पड़ती। लेकिन आवाज गूंजती। जैसे खाली मकान में आवाज गूंजती है, फिर विलीन हो जाती है--ऐसे तुम्हारे खालीपन में आवाज आती, गूंजती, विदा हो जाती; तुम जैसे थे वैसे ही बैठे रहते। तुम्हारा शून्य जरा भी न कंपता। शून्य कंपता ही नहीं; सिर्फ अहंकार कंपता है। सिर्फ अहंकार पर चोट लगती है। अहंकार तो एक तरह का घाव है, उस पर चोट लगती है। जरा कोई छू दे तो चोट लगती है। इसको खयाल में लेना।

"न तो कोई विक्षेप है और न कोई एकाग्रता है।"

यह बड़ा अनूठा वचन है! साधारणतः तुम सोचते हो ध्यान का अर्थ: एकाग्रता। ध्यान का अर्थ एकाग्रता या कनसंट्रेशन नहीं है। क्योंकि अगर एकाग्रता करोगे तो विक्षेप होगा, बाधा पड़ेगी। तुम अगर बैठे थे अपना ध्यान लगाये राम जी की प्रतिमा पर और कोई कुत्ता भौंक गया, बस गड़बड़ हो गयी। क्योंकि वह कुत्ते का भौंकना तुम्हें सुनाई पड़ेगा न! जितनी देर कुत्ते का भौंकना सुनाई पड़ा, उतनी देर राम पर से ध्यान हट गया। एक क्षण को भूल गये। तुम अपनी माला फेर रहे थे और फोन की घंटी बजने लगी। एक सेकेंड को चित्त फोन की घंटी पर चला गया, माला हाथ से चूक गयी। चाहे हाथ फेरता भी रहे, लेकिन भीतर तो चूक गयी। तुम दुखी हो गये कि यह तो विक्षेप हो गया, बाधा पड़ गयी।

ध्यान एकाग्रता नहीं है। ध्यान तो जागरूकता है।

तुम बैठे थे, कुत्ता भौंका तो वह भी सुनाई पड़ा। घंटी बजी टेलीफोन की, वह भी सुनाई पड़ी। जब कुत्ता भौंका तो ऐसा विचार नहीं पैदा हुआ भीतर कि कुत्ते को नहीं भौंकना चाहिए। तुम कौन हो कुत्ते को रोकने वाले? तुम्हें कुत्ता नहीं रोक रहा ध्यान करने से! कुत्ता नहीं कहता कि तुम्हारे ध्यान करने से बड़ा विक्षेप पड़ता है, कि हमें भौंकने में बाधा आती है। बंद करो ध्यान इत्यादि, क्योंकि इससे हमें भौंकने में थोड़ा अपराध भाव मालूम पड़ता है कि भौंकते हैं तो विक्षेप पड़ेगा। तुम हमारी स्वतंत्रता पर बाधा डाल रहे हो यहां बैठ कर, आंख बंद करके, आसन लगा कर।

नहीं, कुत्ते को तुम्हारे ध्यान से कुछ मतलब नहीं है। तुम्हारे ध्यान को कुत्ते से क्या मतलब है? कुत्ता भौंका, भौंका। आवाज गूंजी, गूंजी। कोई प्रतिक्रिया पैदा नहीं हुई। तुम्हारे भीतर ऐसा नहीं हुआ कि नहीं, इस कुत्ते को नहीं भौंकना चाहिए था। कि यह पड़ोसी का कुत्ता और यह पड़ोसी, ये मेरे दुश्मन हैं, ये मेरी जान के पीछे पड़े हैं। कि देखो, मैं ध्यान करने बैठा हूं और यह पड़ोसी अपने कुत्ते को भुंकवा रहा है! साजिश है। षडयंत्र है। चल पड़ा मन कि इसका बदला चुका कर रहूंगा। कि खरीद कर लाऊंगा इससे भी मजबूत कुत्ता, अलसेशियन, और इसको बदला चुकवा कर रहूंगा। कि यह कारपोरेशन क्या कर रहा है, आवारा कुत्ते घूम रहे हैं, इनको गोली क्यों नहीं दे देता? चल पड़ा मन। प्रतिक्रिया शुरू हो गयी। तो विक्षेप...।

विक्षेप कुत्ते के भौंकने से नहीं होता, विक्षेप तुमने जो कुत्ते के भौंकने के साथ प्रतिक्रिया की, जो विचार करने लगे...। अब विचार तुम्हारा है। तुम विचार न करो। कुत्ता भौंका, भौंका। तुम शांत भाव से बैठे रहो। टेलीफोन की घंटी बजने लगी, तुम बेचैन हो जाते हो।

मैं कलकत्ते में एक सटोरिया के घर ठहरता था। वे बड़े सटोरिया थे। कमरा ही नहीं था कोई जहां उन्होंने टेलीफोन न लगा रखे हों। बाथरूम में भी दो-दो तीनत्तीन टेलीफोन रखे हुए थे। बाथरूम की दीवाल पर भी सब

वह गूद डाला था उन्होंने। लिख देते थे वहीं। क्योंकि बाथरूम में नहा रहे हैं और कोई सौदा कर लिया, वहीं फोन उठा कर टब में बैठे-बैठे, कि टायलेट पर बैठे-बैठे, पता नहीं...तो वहीं लिख देते। जब मैं उनके बाथरूम में स्नान किया तब मैंने देखा कि सब दीवालों पर पेंसिल से लिखा हुआ है। एक पेंसिल भी रखी है। मैंने उनसे पूछा कि मामला क्या है। उन्होंने कहा, अब सट्टे का मामला ही ऐसा है कि इसमें क्षण भर की देर नहीं होनी चाहिए। तो मैंने कहा बाथरूम तो समझ में आ गया, तुम्हारा पूजा घर देखना चाहता हूं। वह भी उन्होंने बना कर रखा है। वहां भी फोन लगा है। मैंने कहा, यह मामला क्या है? तुम यहां तो...। उन्होंने कहा, यह सट्टे का मामला ही ऐसा है। भगवान रुक सकता है थोड़ी देर। यह सट्टे का मामला ही ऐसा है कि जरा सी देर हो गयी तो सब गड़बड़ हो जाये, लाखों यहां के वहां हो जायें। तो यहां तो उसी वक्त निपटाना पड़ता है। माला चलती रहती है। निपटा देता हूं जल्दी से। एक सेकेंड में निपटा दिया, फिर अपनी माला फेरने लगे।

पर मैंने कहा, यह तो विक्षेप हुआ।

घंटी बजी टेलीफोन की तो तुम सोचने लगे, कौन फोन कर रहा होगा! कहीं कोई सौदा तो नहीं है! विचार उठ गया। ख्याल करना, टेलीफोन की घंटी बाधा नहीं डाल रही है, तुम्हारे भीतर जो विचार पैदा हो गया उससे बाधा पड़ रही है।

अब मैं भी उनके बाथरूम में नहाता था। तो मैंने कहा, घंटी बजती रहती है हमें क्या लेना-देना! अपना कोई सौदा ही नहीं है। तो घंटी कोई बाधा नहीं डालती। घंटी बजती रहती है, हम उसका मधुर संगीत सुनते, कि अपने को कोई लेना-देना नहीं है।

मैं एक रेस्ट हाउस में मेहमान था। और एक मंत्री भी वहां रुके थे। और रात मंत्री सो न सके, क्योंकि कुछ दस-बारह कुत्ते रेस्ट हाउस के कंपाउंड में भौंके। वे आये मेरे पास कमरे में, उन्होंने कहा कि आप तो बड़े मजे से सो रहे हैं। मुझे हिलाया। मैंने कहा, क्या मामला है? उन्होंने कहा, आपको देख कर्र् ईष्या होती है। आप मजे से सो रहे हैं, ये कुत्ते भौंक रहे हैं। ये मुझे सोने नहीं देते।

मैंने कहा कि आप देख ही रहे हैं कि मैं सो रहा हूं। अगर आप नहीं सो पा रहे हैं तो गड़बड़ कुछ आपमें होगी, कुत्तों में नहीं हो सकती। फिर कुत्तों को तो पता भी नहीं है कि नेता जी आये हैं। न अखबार पढ़ें, न रेडियो सुनें। ये कुत्ते हैं, इनको कुछ पता ही नहीं है कि आपका यहां आगमन हुआ है। ये कोई आदमी थोड़े ही हैं कि आपके स्वागत में कुछ शोरगुल कर रहे हैं, कि कोई आपके स्वागत में व्याख्यान कर रहे हैं। इनको कुछ लेना-देना नहीं है, अपने काम में लगे हैं।

पर उन्होंने कहा, मैं सोऊं कैसे यह बतायें। तो मैंने कहा, आप एक काम करें। कुत्ते नहीं भौंकना चाहिए, यह बात आपको बाधा डाल रही है। आप बिस्तर पर लेट जायें और कहें कि "भौंको कुत्तो, तुम्हारा काम भौंकना है, मेरा काम सोना है। तुम भौंको, हम सोते हैं।" और शांति से सुनें। कुत्तों के भौंकने में भी एक रस है।

उन्होंने कहा, क्या कह रहे हैं! मैंने कहा, आप कोशिश करके देख लें। आप अपनी कोशिश करके देख लिये, उससे कुछ हल नहीं हो रहा है, आधी रात हो गयी। कुत्तों के भौंकने में भी एक रस है। वहां भी परमात्मा ही भौंक रहा है। यह भी परमात्मा का एक रूप है। इसको स्वीकार कर लें। इसके साथ विरोध छोड़ दें। इसे अंगीकार कर लें कि ठीक है तुम भी भौंको और हम भी सोयें। दुनिया बड़ी है। तुम्हारे लिए भी जगह है, मेरे लिए भी जगह है। परमात्मा बहुत बड़ा है, सबको संभाले है।

उन्होंने कहा, अच्छा चलो करके देख लेते हैं। राजी तो वे नहीं दिखाई पड़े। लेकिन कोई उपाय भी न था, तो करके देख लिया। कोई आधा घंटे बाद वे तो घुर्राने लगे। मैं गया। मैंने उनको हिलाया। मैंने कहा, क्या मामला है? बोले, हद हो गयी, अब आपने फिर जगा दिया। किसी तरह मेरी नींद लगी थी।

मैंने कहा, अब तो आपको तरकीब हाथ में लग गयी, अब कोई अड़चन नहीं है। मगर नींद लग गयी थी, यह मैं जान लेना चाहता हूं। क्योंकि आप घुर्रा रहे थे। उन्होंने कहा, काम तो की बात, क्योंकि जैसे ही मैं शिथिल हो कर पड़ गया हूं...मैंने कहा ठीक है। कुत्ते भौंकते हैं, भौंकते हैं।

ऐसी सहज स्वीकृत दशा है ध्यान। तुम जाग कर देखो: जो हो रहा है हो रहा है। हवाई जहाज भी चलेंगे, ट्रेन भी गुजरेगी, मालगाड़ियां शंटिंग भी करेंगी, ट्रक भी गुजरेंगे, बच्चे रोएंगे भी, स्त्रियां बर्तन भी गिरायेंगी, पोस्टमैन दरवाजा भी खटखटाएगा--यह सब होगा।

एकाग्रता के कारण लोग जंगल भाग-भाग कर गये। उनको ध्यान का पता नहीं था; नहीं तो ध्यान तो यहीं हो जायेगा।

मैं एक अमरीकी मनोवैज्ञानिक का जीवन पढ़ रहा था। वह पूरब आना चाहता था विपस्सना ध्यान सीखने। तो बर्मा में सबसे बड़ा विपस्सना का स्कूल है--बौद्धों के ध्यान का। तो उसने तीन सप्ताह की छुट्टी निकाली। बड़ी तैयारियां करके रंगून पहुंचा। बड़ी कल्पनाएं ले कर पहुंचा था कि किसी पहाड़ की तलहटी में, कि घने वृक्षों की छाया में, कि झरने बहते होंगे, कि पक्षी कलरव करते होंगे, कि फूल खिले होंगे--एकांत में तीन सप्ताह आनंद से गुजारूंगा। यह न्यूयार्क का पागलपन...! तीन सप्ताह के लिए बड़ा प्रसन्न था। लेकिन जब उसकी टैक्सी जा कर आश्रम के सामने रुकी तो उसने सिर पीट लिया। वह रंगून के बीच बाजार में था, मछली बाजार में। बास ही बास और उपद्रव ही उपद्रव, सब तरफ शोरगुल और मक्खियां भिनभिना रही हैं और कुत्ते भौंक रहे और आदमी सौदा कर रहे हैं और स्त्रियां भागी जा रही हैं, और बच्चे चीख रहे हैं। यह आश्रम की जगह है? उसके मन में तो हुआ कि इसी वक्त सीधा वापिस लौट जाऊं। लेकिन तीन दिन तक कोई लौटने के लिए हवाई जहाज भी न था। तो उसने सोचा अब आ ही गया हूं तो कम से कम इन सदगुरु के दर्शन तो कर ही लूं! यह किन सदगुरु ने यह आश्रम खोल रखा है यहां? यह कोई जगह है आश्रम खोलने की?

भीतर गया तो बड़ा हैरान हुआ। सांझ का वक्त था और कोई दो सौ कौए आश्रम पर लौट रहे, क्योंकि सांझ को बौद्ध भिक्षु भोजन करके उनको कुछ फेंक देते होंगे चावल इत्यादि। तो वे सब वहां...बड़ा शोरगुल। कौए, महाराजनीतिज्ञ, बड़े विवाद में लगे। शास्त्रार्थ चल रहा है। और कौए तो शिकायत ही करते रहते हैं। उनको कभी किसी चीज से शांति तो मिलती नहीं। भ्रष्ट योगी हैं। शिकायत उनका धंधा है। वे एक-दूसरे से शिकायत में लगे हुए, चीख-चीत्कार मच रहा है।

उसने कहा...। और वहीं भिक्षु ध्यान करते हैं। कोई टहल रहा, जैसा बौद्ध टहल कर ध्यान करते हैं। कोई वृक्ष के नीचे शांत बैठा ध्यान कर रहा है। खड़ा हो कर एक क्षण देखता रहा, बात कुछ समझ में नहीं आयी, बड़ी विरोधाभासी लगी। लेकिन भिक्षुओं के चेहरों पर बड़ी शांति भी है। जैसे यह सब कुछ हो ही नहीं रहा है, या जैसे ये कहीं और हैं, किसी और लोक में हैं जहां ये सब खबरें नहीं पहुचतीं या पहुंचती हैं तो कोई विक्षेप नहीं है। इन भिक्षुओं के चेहरों को देख कर उसने सोचा तीन दिन तो रुक ही जाऊं।

वह गुरु के पास गया तो गुरु से उसने यही कहा कि यह क्या मामला है? यह कहां जगह चुनी आपने? तो गुरु ने कहा: रुको, तीन सप्ताह बाद अगर तुम फिर यही प्रश्न पूछोगे तो उत्तर दूंगा। तीन सप्ताह रुक गया। पहले तो तीन दिन के लिए रुका, लेकिन तीन दिन में लगा कि बात में कुछ है। एक सप्ताह रुका। एक सप्ताह रुका तो पता चला कि धीरे-धीरे यह बात कुछ अर्थ नहीं रखती कि बाजार में शोरगुल हो रहा है, ट्रक जा रहे हैं, कारें दौड़ रहीं, कौए कांव-कांव कर रहे, कुत्ते भौंक रहे, मक्खियां भिनभिना रहीं, ये सब बातें कुछ अर्थ नहीं रखतीं। तुम कहीं दूर लोक में जाने लगे। तुम कहीं भीतर उतरने लगे, कोई चीज अटकाव नहीं बनती।

दूसरे सप्ताह होते-होते तो उसे याद ही नहीं रहा। तीसरे सप्ताह तो उसे ऐसे लगा कि अगर ये कौए यहां न होते, ये कुत्ते यहां न होते, यह बाजार न होता, तो शायद ध्यान हो ही नहीं सकता था। क्योंकि इसके कारण एक पृष्ठभूमि बन गयी। तब उसने गुरु को कहा कि मुझे क्षमा करें। मैंने जो शिकायत की थी वह ठीक न थी। वह मेरी जल्दबाजी थी।

गुरु ने कहा: बहुत सोच कर ही यह आश्रम यहां बनाया है। जान कर ही यहां बनाया है। क्योंकि विपस्सना का प्रयोग ही यही है कि जहां बाधा पड़ रही हो वहां बाधा के प्रति प्रतिक्रिया न करनी। प्रतिक्रिया-शून्य हो जाये चित्त, तो शांत हो जाता है।

"उपशांत हुए योगी के लिये न विक्षेप है और न एकाग्रता है। न अतिबोध है और न मूढ़ता है।"

यह सुनो अदभुत वचन! कि जो सच में शांत हो गया है वह कोई महाज्ञानी नहीं हो जाता, क्योंकि वह भी अतिशयोक्ति होगी। वह भी अतिशय हो जायेगा। जो शांत हो गया है वह तो संतुलित हो जाता है। वह तो मध्य में ठहर जाता है। न तो मूढ़ रह जाता है और न ज्ञानी। तो न तो अतिबोध और न अति मूढ़ता; वह दोनों के मध्य में शांत चित्त खड़ा होता है। तुम उसे मूढ़ भी नहीं कह सकते, उसे पंडित भी नहीं कह सकते। वह तो बड़ा सरल, संतुलित होता है, मध्य में होता है। उसके जीवन में कोई अति नहीं रह जाती। कोई अति नहीं रह जाती! न तुम उसे हिंसक कह सकते न अहिंसक। ये दोनों अतियां हैं। न तुम उसे मित्र कह सकते न शत्रु। ये दोनों अतियां हैं। वह अति से मुक्त हो जाता है। और अति से मुक्त हो जाना ही मुक्त हो जाना है। उसे न सुख है न दुख है। वह द्वंद्व के पार हो जाता है।

साधारणतः लोग सोचते हैं: जब ज्ञान उत्पन्न होगा तो हम महाज्ञानी हो जायेंगे। नहीं, जब ज्ञान उत्पन्न होगा, तब न तो तुम ज्ञानी रह जाओगे और न मूढ़। जब ज्ञान उत्पन्न होगा तो तुम इतने शांत हो जाओगे कि ज्ञान का तनाव भी न रह जायेगा। तुम ऐसा भी न जानोगे कि मैं जानता हूं। यह बात भी चली जायेगी। तुम जानोगे भी और जानने का कोई अहंकार भी न रह जायेगा। तुम जानते हुए ऐसे हो जाओगे जैसे न जानते हुए हो। मूढ़ और ज्ञानी के मध्य हो जाओगे। कुछ-कुछ मूढ़ जैसे--जानते हुए न जानते हुए से। कुछ-कुछ ज्ञानी जैसे--न जानते हुए में जानते हुए से। ठीक बीच में खड़े हो जाओगे। इस मध्य में खड़े हो जाने का नाम संयम। इस मध्य में खड़े हो जाने का नाम सम्यकत्व। इस मध्य में खड़े हो जाने का नाम संगीत।

बुद्ध ने कहा है कि अगर वीणा के तार बहुत ढीले हों तो संगीत पैदा नहीं होता। और अगर वीणा के तार बहुत कसे हों तो वीणा टूट जाती है, तो भी संगीत पैदा नहीं होता। एक ऐसी भी दशा है वीणा के तारों की कि जब न तो तार कसे होते, न ढीले होते; ठीक मध्य में होते हैं। वहीं उठता है संगीत। जीवन की वीणा के संबंध में भी यही सच है।

"निर्विकल्प स्वभाव वाले योगी के लिए राज्य और भिक्षावृत्ति में, लाभ और हानि में, समाज और वन में फर्क नहीं है।"

न विक्षेपो न चैकाग्रयं नातिबोधो न मूढ़ता।
न सुखं न च वा दुःखमुपशांतस्य योगिनः।।
स्वराज्ये भैक्ष्यवृत्तौ च लाभालाभे जने वने।
निर्विकल्पस्वभावस्य न विशेषोऽस्ति योगिनः।।

ऐसा जो शांत हो गया, मध्य में ठहर गया, संतुलित हो गया, ऐसे अंतरसंगीत को जो उपलब्ध हो गया--ऐसे निर्विकल्प स्वभाव वाले योगी के लिए फिर न राज्य में कुछ विशेषता है, न भिक्षावृत्ति में। ऐसा योगी अगर भिक्षा मांगते मिल जाये तो भी तुम सम्राट की शान उसमें पाओगे। और ऐसा व्यक्ति अगर सम्राट के सिंहासन पर बैठा मिल जाये तो भी तुम भिक्षु की स्वतंत्रता उसमें पाओगे।

ऐसा व्यक्ति कहीं भी मिल जाये, तुम अगर जरा गौर से देखोगे तो तुम उसमें दूसरा छोर भी संतुलित पाओगे। सम्राट होकर वह सिर्फ सम्राट नहीं हो जाता; वह किसी भी क्षण छोड़ कर चल सकता है। और भिक्षु हो कर वह भिक्षु नहीं हो जाता, दीन नहीं हो जाता। भिक्षु में भी उसका गौरव मौजूद होता है और सम्राट में भी उसका शांत चित्त मौजूद होता है। भिक्षु और सम्राट से कुछ फर्क नहीं पड़ता। ऐसे व्यक्ति को "विशेष न अस्ति" कोई चीज विशेष नहीं है। फिर वह समाज में हो कि वन में, कोई भेद नहीं, तुम ऐसे व्यक्ति को भीड़ में भी अकेला पाओगे। और तुम ऐसे व्यक्ति को जंगल में बैठा हुआ पाओगे तो भीड़ से दूर न पाओगे, विपरीत न पाओगे। दुश्मन न पाओगे। ऐसा व्यक्ति भीड़ से डर कर नहीं चला गया है जंगल में। ऐसे व्यक्ति को तुम जंगल से

भीड़ में ले आओ कि भीड़ से जंगल में ले जाओ, कोई फर्क न पड़ेगा। ऐसा व्यक्ति अब अपने भीतर ठहर गया है। कोई चीज कंपाती नहीं।

स्वराज्ये भैक्ष्यवृत्ता...।
चाहे राज्य हो चाहे भिक्षा।
लाभालाभे...।
चाहे लाभ हो चाहे हानि।
जने वा वने...।
चाहे जंगल चाहे भीड़।
निर्विकल्पस्वभावस्य योगिनः।
योगी तो निर्विकल्प बना रहता है।

उसका कोई चुनाव नहीं है। वह ऐसा भी नहीं कहता कि ऐसा ही हो। हो जाये तो ठीक, न हो जाये तो ठीक। ऐसा हो तो ठीक, अन्यथा हो तो ठीक। उसने सारी प्रतिक्रिया छोड़ दी। वह अब वक्तव्य ही नहीं देता। वह जो घटता है, उसे घट जाने देता है। उसकी अब कोई शिकायत नहीं है। सब उसे स्वीकार है। तथाता। सब उसे अंगीकार है।

"यह किया है और यह अनकिया है, इस प्रकार के द्वंद्व से मुक्त योगी के लिए कहां धर्म है, कहां काम है, कहां अर्थ, कहां विवेक?"

क्व धर्मः क्व च वा कामः क्व चार्थः क्व विवेकिता।
इदं कृतमिदं नेति द्वंद्वैर्मुक्तस्य योगिनः।।

हम तो इसी में पड़े रहते हैं कि क्या किया और क्या नहीं किया; क्या कर पाये और क्या नहीं कर पाये--हिसाब लगाते रहते हैं। गणित बिठाते रहते हैं: इतना कमा लिया, इतना नहीं कमा पाये; यह-यह विजय कर ली, यह-यह बात में हार गये; यहां-यहां सफलता मिल गयी, यहां-यहां असफल हो गये। चौबीस घंटे चिंतन चल रहा है--क्या किया, क्या नहीं किया! मरते-मरते दम तक आदमी यही सोचता रहता है: क्या किया, क्या नहीं किया।

एंड्रू कारनेगी, अमरीका का बहुत बड़ा करोड़पति, मर रहा था तो मरते वक्त उसने आंख खोली और कहा कि मुझे ठीक-ठीक बता दो कि मैं कितनी संपत्ति छोड़ कर मर रहा हूं। उसके सेक्रेटरी ने, जल्दी से भागा, फाइलों में से हिसाब लगाया, और ऐसा लगता है एंड्रू कारनेगी अटका रहा, उसकी सांस अटकी रही। जब उसने आ कर कह दिया कि कोई दस अरब रुपये छोड़ कर आप मर रहे हैं तो एंड्रू कारनेगी मरा, और वह भी बहुत सुख से नहीं। क्योंकि उसने कहा: "मैंने तो सोचा था कम से कम सौ अरब रुपये कमा कर जाऊंगा। मैं एक हारा हुआ आदमी हूं।"

दस अरब रुपये छोड़ कर मरने वाला आदमी भी सोचता है हारा हुआ हूं! ठीक है, अगर सौ अरब कमाने थे तो नब्बे अरब से हार हो गयी। हार भारी है! ऐसा लगता है दस अरब रुपये जैसे दस रुपये भी नहीं हैं। ऐसा विषाद से भर कर गया यह आदमी। और जीवन भर दौड़ता रहा।

उसके सेक्रेटरी ने लिखा है कि अगर मुझे भगवान कहे कि तुम्हें एंड्रू कारनेगी होना है कि एंड्रू कारनेगी का सेक्रेटरी, तो मैं सेक्रेटरी ही होना पसंद करूंगा। क्यों? क्योंकि मैंने इससे ज्यादा परेशान व्यस्त आदमी नहीं देखा। चौबीस घंटे लगा है।

कहते हैं कि एंड्रू कारनेगी एक दफा अपने बेटे को न पहचान पाया। दफ्तर में बैठा था और एक युवा निकला तो उसने अपने सेक्रेटरी को पूछा कि यह कौन है?

"आपने हद कर दी...आपका बेटा!"

"अरे, मुझे फुर्सत कहां?"

कभी अपने बेटों के पास बैठने की, बात करने की, चीत करने की, कभी उनके साथ खेलने की, छुट्टियों में किसी पहाड़ पर जाने की फुर्सत कहां। धन ही धन, एक ही दौड़। धन से आंख अंधी। अपना बेटा भी नहीं दिखाई पड़ता।

मुल्ला नसरुद्दीन अदालत में खड़ा था और मजिस्ट्रेट ने उससे कहा: नसरुद्दीन, यह अजीब बात है कि तुमने बॉक्स तो चुराया, मगर पास ही में जो नोट रखे हुए थे उनको नहीं लिया। इसका राज क्या है?

नसरुद्दीन ने कहा: खुदा के लिए इस बात का जिक्र न कीजिए। मेरी बीबी इसी गलती के लिए सप्ताह भर मुझसे लड़ती रही है। अब आप फिर वही उठाये दे रहे हैं।

बॉक्स तो चुरा लिया, उसके पास जो रुपये रखे थे, बीबी लड़ती रही सात दिन तक कि वह क्यों नहीं लाये? वह मजिस्ट्रेट से कह रहा है। खुदा के लिए यह बात फिर मत उठाइए। अब हो गयी भूल हो गयी। बॉक्स चुराया, यह कोई भूल नहीं; वे जो रुपये पास में रखे थे, वह नहीं चुराया। भूल हो गयी, क्षमा करिये, अब दोबारा यह बात मत उठाइये। सात दिन सुन-सुन कर सिर पक गया। पत्नी यही बार-बार कहती है, बार-बार उठाती है कि वे रुपये क्यों छोड़ कर आये?

तुम्हारी जिंदगी इसी तरह के हिसाब में लगी है: क्या कर लिया, क्या नहीं किया। पूरी जिंदगी तुम यही जोड़ते रहोगे? और जब जाओगे, खाली हाथ जाओगे। सब किया, सब अनकिया, सब पड़ा रह जायेगा। किया तो व्यर्थ हो जाता है, न किया तो व्यर्थ हो जाता है।

"यह किया यह अनकिया, इस प्रकार के द्वंद्व से मुक्त योगी के लिए कहां धर्म!"

उसके लिए तो धर्म तक का कोई अर्थ नहीं रह जाता। क्योंकि धर्म का तो अर्थ ही होता है: जो करना चाहिए, वही धर्म। अधर्म का अर्थ होता है: जो नहीं करना चाहिए!

सुनते हो इस क्रांतिकारी वचन को? ऐसे व्यक्ति के लिए धर्म का भी कोई अर्थ नहीं है, क्योंकि अब करने, न करने से ही झंझट छुड़ा ली। अब तो साक्षीभाव में आ गये। ऐसे व्यक्ति के लिए कहां धर्म, कहां काम, कहां अर्थ, कहां विवेक! विवेक तक की कोई जरूरत नहीं है। अब ऐसा व्यक्ति डिसक्रिमिनेशन भी नहीं करता कि क्या अच्छा, क्या बुरा; क्या कर्तव्य, क्या अकर्तव्य; कौन-सी बात नीति, कौन-सी बात अनीति। ये सब बातें व्यर्थ हुईं। द्वंद्व गया और इस द्वंद्व के जाने पर जो पीछे शेष रह जाती है शांति, वही शांति है, वही संपदा है।

इदं कृतं इदं न कृतं द्वंद्वैर्मुक्तस्य योगिनः।

यह किया, यह नहीं किया, ऐसे द्वंद्व से जो मुक्त हो गया वही योगी है। जो किया उसने किया और जो नहीं किया उसने किया--परमात्मा जाने! जो साक्षी हो गया वही योगी है।

कृत्यं किमपि न एव न कापि हृदि रंजना।
यथा जीवनमेवेह जीवन्मुक्तस्य योगिनः।।

"जीवनमुक्त योगी के लिए कर्तव्य कर्म कुछ भी नहीं है।"

देखते हैं आग्नेय वचन, जलते हुए अग्नि के अंगारों जैसे वचन! इनसे ज्यादा क्रांतिकारी उदघोष कभी नहीं हुए।

"जीवनमुक्त योगी के लिए कर्तव्य कर्म कुछ भी नहीं है और न हृदय में कोई अनुराग है। वह इस संसार में यथाप्राप्त जीवन जीता है।"

जैसा जीवन है, वैसा है। जो मिला, मिला। जो नहीं मिला, नहीं मिला। जो हुआ, हुआ; जो नहीं हुआ, नहीं हुआ। वह हर हाल खुश है, हर हाल सुखी है।

यथा जीवनमेवेह...।

जैसा जीवन है उससे अन्यथा की जरा भी आकांक्षा नहीं है। जैसा जीवन है वैसा ही जीवन है।

तुम अन्यथा की आकांक्षा किये चले जाते हो। तुम्हारे पास दस रुपये हैं तो चाहते हो बीस हो जायें। बीस रुपये हैं, तो चाहते हो चालीस हो जायें। कुछ फर्क नहीं पड़ता; चालीस होंगे, तुम चाहोगे अस्सी हो जायें। निन्यानबे का फेर तो तुम जानते ही हो। मगर यह धन के संबंध में ही लागू होता तो भी ठीक था।...तुम्हारा चेहरा सुंदर नहीं है, सुंदर हो जाये। तुम्हारा चरित्र सुंदर हो जाये, सुशील हो जाये। तुम महात्मा हो जाओ। बात वही की वही है। तुम जैसे हो वैसे में राजी नहीं; महात्मा होना है। यह क्या क्षुद्रात्मा! यह क्या पड़े घर-गृहस्थी में। तुम्हें तो बुद्ध-महावीर होना है! कुछ होना है! कुछ हो कर रहना है! जो तुम हो उसमें तुम राजी नहीं।

और खयाल रखना, जो तुम हो उसमें अगर राजी हो जाओ, तो ही तुम बुद्ध होते हो, तो ही तुम महावीर होते हो। महात्मा कोई लक्ष्य नहीं है जिसे तुम पूरा कर लोगे। महात्मा का अर्थ है जो जैसा है वैसे में राजी हो गया। ऐसी परम तृप्ति, कि अब इससे अन्यथा कुछ भी नहीं होना है। जो उसने बनाया, जैसा उसने बनाया। जो वह दिखा दे, देख लेंगे। जो वह करा दे, कर लेंगे। जब उठा ले, उठ जायेंगे। जब तक रखे, रहे रहेंगे। जैसा खेल खिला दे, खेलेंगे। ऐसी जो भावदशा है वही महात्मा की, महाशय की दशा है।

यह सूत्र बहुत मनन करना। ध्यान करना।

कृत्यं किमपि न एव।

नहीं कोई कृत्य है।

न कापि हृदि रंजना।

और न हृदय में कुछ आकांक्षा है कि ऐसा ही हो, ऐसा कोई राग नहीं, ऐसा कोई अनुराग नहीं, ऐसा कोई मोह नहीं, ऐसी कोई ममता नहीं, आकांक्षा नहीं।

यथा जीवनमेवेह।

जैसा जीवन है, है। बस, ऐसे ही जीवन से मैं राजी हूं। इस राजीपन का नाम: योग।

जीवन्मुक्तस्य योगिनः।

और ऐसा व्यक्ति ही जीवन के सारे जाल से मुक्त हो जाता है।

इस एक सूत्र से सारा जीवन रूपांतरित हो सकता है। इस एक सूत्र में सब समाया है--सब वेदों का सार, सब कुरानों का सार। इस एक छोटे से सूत्र में सारी प्रार्थनाएं, सारी साधनाएं, सारी अर्चनाएं समाहित हैं। इस एक छोटे-से सूत्र का विस्फोट तुम्हारे जीवन को आमूल बदल सकता है।

बस जैसे हो वैसे ही प्रभु को समर्पित हो जाओ। कह दो कि बस, जैसी तेरी मर्जी। जैसा रखेगा, रहेंगे। जो करायेगा, करेंगे। भटकायेगा, भटकेंगे। नर्क में डाल देगा, नर्क में रहेंगे। मगर शिकायत न करेंगे।

जैसे ही शिकायत से तुम मुक्त हो गये, प्रार्थना का जन्म होता है। और जैसे ही जो है उससे तुम राजी हो गये कि फिर तुम्हारे जीवन में सच्चिदानंद के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं बचता। फिर परमात्मा ही परमात्मा का स्वाद है। फिर उसी-उसी की रसधार बहती है। फिर परम मंगल का क्षण आ गया।

इस सूत्र पर ध्यान करना। इस सूत्र का थोड़ा-थोड़ा स्वाद लेने की कोशिश करना। चौबीस घंटे जब भी याद आ जाये, इस सूत्र का थोड़ा उपयोग करना। चौबीस घंटे में हजारों मौके आते हैं जब यह सूत्र कुंजी बन सकता है। जहां शिकायत उठे वहीं इस सूत्र को कुंजी बना लेना। सब शिकायत के ताले इस सूत्र से खुल जा सकते हैं। और शिकायत गिर जाये तो मंदिर के द्वार खुले हैं, प्रभु उपलब्ध है। तुम अपनी आकांक्षाओं, शिकायतों, अभिरुचियों, अनुरागों के कारण देख नहीं पा रहे, अंधे बने हो।

यथा जीवनं एव--बस ऐसा है जीवन, ऐसा है; इससे रत्ती भर भिन्न नहीं चाहिए।

जीसस ने सूली पर मरते वक्त यही सूत्र उदघोष किया है। आखिरी वचन में जीसस ने कहा: दाई विल बी डन। तेरी मर्जी पूरी हो, प्रभु! सूली तो सूली, मारे तो मारे। तेरी मर्जी से अन्यथा मेरी कोई मर्जी नहीं है। तेरी मर्जी के साथ मैं राजी हूं।

इसी क्षण जीसस समाप्त हो गये और क्राइस्ट का जन्म हुआ। इसी क्षण जीसस का मनुष्य रूप विदा हो गया, प्रभु-रूप पैदा हुआ। पुनरुज्जीवन हुआ। जीसस द्विज बने। जीसस ब्रह्मज्ञानी हो गये। इसी क्षण!

मंसूर को सूली लगायी गयी, हाथ-पैर काटे गये, तब भी वह हंस रहा था। आकाश की तरफ देख कर हंस रहा था। और किसी ने भीड़ में से पूछा कि तुम क्यों हंसते हो मंसूर, तुम्हें इतनी पीड़ा दी जा रही है?

उसने कहा: मैं इसलिए हंस रहा हूं कि ईश्वर यह हालत पैदा करके भी मेरे भीतर शिकायत पैदा नहीं कर पाया। मैं हंस रहा हूं। मैं ईश्वर की तरफ देख कर हंस रहा हूं कि कर ले तू यह भी, मगर मैं राजी हूं। तू किसी भी रूप में आये, तू मुझे धोखा न दे पायेगा। मैं तुझे पहचान गया। तू मौत की तरह आया है, स्वीकार है। मैं हंस रहा हूं ईश्वर की तरफ देख कर कि तूने धोखा तो खूब दिया, डर था कि शायद इसमें मैं धोखा खा जाता; लेकिन नहीं, तू धोखा नहीं दे पाया। मैं राजी हूं! अहोभाग्य है यह भी मेरा: तू आया तो सही, मृत्यु की तरह सही! तूने मेरी परीक्षा तो ली!

अग्निपरीक्षा तो उन्हीं की ली जाती है जो वस्तुतः योग्य हैं। तो कठिनाई को परीक्षा समझना। संकट को संकट मत समझना, चुनौती समझना और इस सूत्र को याद रखना। इस सूत्र के सहारे तुम जहां हो वहां से परमात्मा तक सेतु बन सकता है।

देखा न लक्ष्मणझूला--रस्सियों का झूला! ऐसा यह सूत्र बहुत पतला धागा है, लेकिन इस धागे के सहारे तुम अंतिम यात्रा कर ले सकते हो।

हरि ॐ तत्सत्!

अन्ठावनवां प्रवचन

संन्यास -- सहज होने की प्रक्रिया

पहला प्रश्न: आपने संन्यास देते ही मुक्त करने की बात कही, लेकिन मुक्त होते ही संन्यासी का जीवन आमूल रूप से परिवर्तित क्यों नहीं हो पाता है? हालत ऐसी है कि संन्यास के बाद भी वह अपनी पुरानी मनोदशा में ही जीता है। कभी-कभी तो सामान्य सतह से भी नीचे गिर जाता है। मुक्ति का सुवास उसे तत्क्षण एक ईमानदार महामानव क्यों नहीं बना पाता? क्या इससे "संचित" का संकेत नहीं मिलता कि सब कुछ पूर्व-कर्म से बंधा है, नियत है?

पहली बात: मैंने कहा, मैं संन्यास देते ही तुम्हें मुक्त कर देता हूं; मैंने यह नहीं कहा कि तुम मुक्त हो जाते हो। मेरे मुक्त करने से तुम कैसे मुक्त हो जाओगे? मेरी घोषणा के साथ जब तक तुम्हारा सहयोग न हो, तुम मुक्त न हो पाओगे। तुमने अगर अपने बंधनों में ही प्रेम बना रखा है और जंजीरें तुम्हें आभूषण मालूम होने लगी हैं और कारागृह को तुम घर समझते हो, तो मैंने कह दिया कि तुम मुक्त हो गये, लेकिन इससे तुम खुले आकाश के नीचे न आ जाओगे। मेरी घोषणा काफी नहीं है; तुम्हारा सहयोग जरूरी है।

मेरी तरफ से तो तुम मुक्त ही हो। मेरी तरफ से तो कोई व्यक्ति अमुक्त है ही नहीं, अमुक्त हो ही नहीं सकता। अमुक्ति एक स्वप्न है; आंख खोलने की बात है, समाप्त हो जायेगा। लेकिन तुम मेरी घोषणा मात्र से मुक्त नहीं हो जाते। तुम नये-नये बहाने खोजते हो।

अब तुम यह बहाना खोज रहे हो कि क्या इससे "संचित" का संकेत नहीं मिलता कि सब कुछ पूर्व-कर्म से बंधा है, नियत है?

तुम चाहते हो किसी तरह तुम अपनी जिम्मेवारी, अपना दायित्व टाल दो; तुम कह दो, "हमारे किए क्या होगा! सब बंधा हुआ है।" तुम बचना चाहते हो। तुम सहयोग तक करने से बचना चाहते हो। तुम आंख तक खोलने से बचना चाहते हो। तुम अपनी बंद आंख के लिए हजार बहाने खोजते हो।

प्रश्न महत्वपूर्ण है, सभी के काम का है: "आपने संन्यास देते ही मुक्त करने की बात कही...।"

मैं इसीलिए कहता हूं कि मैंने मुक्त कर दिया, क्योंकि तुम मुक्त हो; मेरे किए से नहीं मुक्त हो जाते। मुक्ति तुम्हारा स्वभाव है। मैं तुम्हारे स्वभाव की घोषणा कर रहा हूं। तुम मेरे वक्तव्य को गलत मत समझ लेना। तुम यह मत समझ लेना कि मैं तुम्हें मुक्त कर रहा हूं। मुक्त तो तुम थे ही; भूल गये थे, याद दिला दी।

सदगुरु सिवाय स्मरण दिलाने के और कुछ भी नहीं करता है। जो तुम्हारा है वही तुम्हें दे देता है। जो तुमने मान रखा था, जगा देता है और कह देता है मान्यता थी, भ्रम था, झूठ था। तुमने रस्सी में सांप देख लिया था, मैं दीया ले कर तुम्हारे पास खड़ा हूं; कहता हूं गौर से देख लो। मैं तुम्हें सांप से मुक्त किए दे रहा हूं। क्या इसका यह अर्थ हुआ कि सांप था और मैं तुम्हें मुक्त कर रहा हूं सांप से? इसका इतना ही अर्थ हुआ कि सांप तो था ही नहीं, इसीलिए मुक्त कर रहा हूं, अन्यथा मुक्त तुम होते कैसे? दीया लाने से भी क्या होता था? अगर सांप था तो था। अंधेरे में शायद थोड़ा शक-शुबा भी रहता कि शायद रस्सी हो; दीया लाने से तो और साफ हो जाता कि नहीं सांप ही है। दीया लाने से तुम कैसे मुक्त हो सकते थे?

सदगुरु के पास आने से तुम मुक्त नहीं हो सकते, क्योंकि सदगुरु दीया है--एक रोशनी। उस रोशनी में तुम्हारे जीवन का पुनरावलोकन कर लेना। रस्सी दिखाई पड़ जाये तो क्या कहना चाहिए अब: तुम सांप से मुक्त

हो गये? कि जाना कि सांप था ही नहीं? तुम एक झूठे सांप से भयभीत हो रहे थे, जो नहीं था उससे घबड़ा गये थे।

इसलिए मैंने कहा कि मैं संन्यास देते ही तुम्हें मुक्त कर देता हूं। मेरा काम पूरा हो गया। लेकिन इससे तुम्हारा काम पूरा हो गया, ऐसा मैंने नहीं कहा। तुम्हारा भी सहयोग अगर परिपूर्ण हो तो बात घट जाये। जहां सदगुरु और शिष्य संपूर्ण सहयोग में मिल जाते हैं, वहीं क्रांति घट जाती है। लेकिन तुम जब राजी होओगे तब न!

तुम स्वतंत्र होना ही नहीं चाहते। तुम बंधन के लिए नये-नये तर्क खोज लेते हो। तुम बहाने ईजाद करने में बड़े कुशल हो।

अब तुम पूछ रहे हो: "लेकिन मुक्त होते ही संन्यासी का जीवन आमूल रूप से परिवर्तित क्यों नहीं हो पाता?"

अब यह और भी महत्वपूर्ण बात समझो। संन्यास का या मुक्ति का परिवर्तन से कोई संबंध नहीं है। क्योंकि यह परिवर्तन की आकांक्षा भी अमुक्त मन की आकांक्षा है। तुम अपने को बदलना चाहते हो। क्यों बदलना चाहते हो? यह बदलने की चाह कहां से आती है? तुम परमात्मा हो, इससे श्रेष्ठ कुछ हो नहीं सकता अब। जो श्रेष्ठतम था, हो चुका है, घट चुका है। तुम बदलना चाहते हो। तुम परमात्मा में भी थोड़ा शृंगार करना चाहते हो। तुम थोड़ा रंग-रोगन करना चाहते हो। तुम कहते हो कि बदलाहट क्यों नहीं होती?

मुक्ति का बदलाहट से कोई संबंध नहीं है। मुक्ति की तो घोषणा ही यही है कि अब बदलने को कुछ बचा नहीं; जैसा है वैसा है। अष्टावक्र के वचन तुम सुन नहीं रहे हो?--जैसा है वैसा है। अब बदलना किसको? बदले कौन? बदले किसलिए? बदले कहां?

अब तुम पूछते हो कि परिवर्तन क्यों नहीं हो पाता? तो तुम मुक्ति का अर्थ ही नहीं समझे।

परिवर्तन तो अहंकार की ही आकांक्षा है। तुम अपने में चार चांद लगाना चाहते हो। धन मिले तो तुम अकड़ कर चल सको। पद मिले तो अकड़ कर चल सको। पद नहीं मिला, धन नहीं मिला, या मिला भी तो सार नहीं मिला--अब तुम चाहते हो कम से कम ध्यान की अकड़ हो, योग की अकड़ हो, संतत्व की अकड़ हो, कम से कम महात्मा तो हो जायें! लेकिन परिवर्तन नहीं हो रहा! अभी तक महात्मा नहीं हुए। अभी भी जीवन की छोटी-छोटी चीजें पकड़ती हैं। भूख लगती, प्यास लगती, नींद आती--और कृष्ण तो गीता में कहते हैं कि योगी सोता ही नहीं। और भूख लगती, प्यास लगती, पसीना आता, धूप खलती। तो तुम पाते हो कि अरे, अभी तक महात्मा तो बने नहीं; कांटों की शैय्या पर तो सो नहीं सकते अभी तक--तो फिर कैसी मुक्ति?

तुम मुक्ति का अर्थ ही न समझे। मुक्ति का अर्थ है: तुम जैसे हो परिपूर्ण हो, इस भाव का उदय। भूख तो लगती ही रहेगी लेकिन अब तुम्हें न लगेगी, शरीर को ही लगेगी, बस इतना फर्क होगा। फर्क भीतरी होगा। बाहर से किसी को पता भी न चलेगा, कानों-कान खबर न होगी। जिस मुक्ति की बाहर से खबर होती है, समझना कि कहीं कुछ गड़बड़ हो गई; अहंकार फिर प्रदर्शन कर रहा है, फिर शोरगुल मचा रहा है कि देखो, मैं महात्मा हो गया! मुक्ति की तो कानों-कान खबर नहीं पड़ती। मुक्ति तो तुम्हारी साधारणता को अछूता छोड़ देती है।

अब तुम्हारी घबराहटें अजीब हैं! एक सज्जन आये, वे कहने लगे कि संन्यास तो ले लिया लेकिन चाय अब तक नहीं छूटी। यहां हम चाह को छोड़ने की बात कर रहे हैं, वे चाय छोड़ने की बात कर रहे हैं। दरिद्रता की कोई हद है! और चाय छोड़ भी दी तो क्या पा लोगे? चाय ही छूटेगी न! तुम पा क्या लोगे? लेकिन तुम्हें मूढ़ों ने समझाया है कि चाय छोड़ने से मोक्ष मिल जाता। काश! मोक्ष इतना सस्ता होता कि चाय छोड़ने से मिल जाता, कि तुम धूम्रपान न करते और मोक्ष मिल जाता! कितने तो लोग हैं जो धूम्रपान नहीं करते हैं, मोक्ष पा लिया? तुम भी उन जैसे ही हो जाओगे, नहीं करोगे तो। मैं यह नहीं कह रहा हूं कि धूम्रपान करना। मैं यह भी नहीं कह रहा हूं कि धूम्रपान करने से मोक्ष मिलता है। मैं इतना ही कह रहा हूं, धूम्रपान करने और न करने से मोक्ष का

कोई संबंध नहीं। करो, तुम्हारी मर्जी; न करो, तुम्हारी मर्जी। ये असंगत बातें हैं। चाय पीते हो कि नहीं पीते, इससे कुछ संबंध नहीं है। चाय पीते हो कि कॉफी पीते हो, इससे कुछ संबंध नहीं है। मोक्ष तो जागरण है। पहले तुम चाय पीते थे, सोये-सोये पीते थे; अब तुम जाग कर पीओगे। और अगर जागरण में चाय छूट जाये अनायास, छोड़नी न पड़े, तुम्हें अचानक लगे कि बात खतम हो गई, रस न रहा अब, तो गई, तो छोड़ने का भाव भी पैदा नहीं होगा कि मैंने कुछ त्याग कर दिया।

क्षुद्र को त्याग कर क्षुद्र त्यागी ही तो बनोगे न, महाशय कैसे बनोगे? क्षुद्र आशय हैं तुम्हारे। कोई धूम्रपान छोड़ना चाहता, कोई चाय छोड़ना चाहता, कोई कुछ छोड़ना चाहता। तुम्हारे आशय क्षुद्र हैं। इनको तुम छोड़ भी दो तो तुम क्षुद्र रहोगे। फिर तुम सड़क पर अकड़ कर चलोगे कि अब कोई आये और चरण छुए, क्योंकि महात्मा ने चाय छोड़ दी।

तुम जरा अपनी क्षुद्रता का हिसाब तो समझो! पूछते हो कि जीवन आमूल रूप से परिवर्तित क्यों नहीं होता है? जीवन में खराबी क्या है जो परिवर्तित हो? मैंने तो कुछ खराबी नहीं देखी। भूख लगनी चाहिए। भूख न लगे तो बीमार हो तुम। भूख लगनी स्वाभाविक है। प्यास लगनी चाहिए। प्यास न लगे तो बीमार हो तुम। सोओगे भी। और स्वभावतः जो कांटों का बिस्तर बना कर सो रहा है, वह पागल है, विक्षिप्त है। यह देह तुम्हारी है, तुम्हारा मंदिर है; इसे कांटों पर सुला रहे हो?

और जो अपनी देह के प्रति कठोर है, वह दूसरों की देहों के प्रति भी सदय नहीं हो सकता, असंभव। जो अपने के प्रति सदय न हो सका, वह दूसरे के प्रति कैसे सदय होगा? तुम हिंसक हो। तुम दुष्ट प्रकृति के हो। तुम कांटे बिछा कर लेट रहे हो। अब तुम्हारी मर्जी होगी कि सारी दुनिया कांटों पर लेटे। अगर सारी दुनिया न लेटे कांटों पर तो तुम हजार तरह के उपाय करोगे, उपदेश करोगे, समझाओगे कि कांटों पर लेटने से मोक्ष मिलता है, देखो मैं लेटा! देखो मेरी कट गई, तुम भी कटवा लो! इससे बड़ा आनंद मिलता है!

कांटों पर लेटने से बड़ा आनंद मिलता है! किसको तुम धोखा दे रहे हो? हां, कांटों पर लेटने से इतना ही हो सकता है कि तुम्हारी संवेदनशीलता धीरे-धीरे क्षीण हो जाये, तुम्हारी चमड़ी पथरीली हो जाये, तुम चट्टान जैसे हो जाओ। और जीवन का रहस्य तो फूल जैसे होने में है, चट्टान जैसे होने में नहीं है। जीवन का रहस्य तो कोमलता में है। जीवन का रहस्य तो स्त्रैणता में है। परुष हो गये, अति पुरुष हो गये--उतने ही कठोर हो जाओगे; उतना ही तुम्हारे जीवन से काव्य खो जायेगा, माधुर्य खो जायेगा, संगीत खो जायेगा, गीत खो जायेगा, तुम्हारे भीतर का छंद समाप्त हो जायेगा।

तो तुमने कांटों पर लेटे आदमी को कभी कोई प्रतिभाशाली आदमी देखा? तुम जा कर काशी में अनेक को पा सकते हो कांटों पर लेटे, लेकिन कभी तुम्हें प्रतिभा के दर्शन होते हैं वहां? तुमने कांटों पर लेटे किसी आदमी को अलबर्ट आइंस्टीन की प्रतिभा जैसा देखा? कांटों पर लेटे आदमी को तुमने कभी बीथोवन या तानसेन या कालीदास या भवभूति, एन्स, ऐसी किसी ऊंचाइयों को छूते देखा? तुमने इन कांटों पर लेटे आदमियों से उपनिषद पैदा होते देखे, वेद की ऋचाओं का जन्म होते देखा?

ये कांटों पर लेटे आदमियों को जरा गौर से तो देखो, इनका सृजन क्या है? इनकी सृजनात्मकता क्या है? इनसे होता क्या है? बस कांटे पर लेटे हैं, यही गुणवत्ता है! इतना ही काफी है परमात्मा का सौभाग्य? और परमात्मा के प्रति अहोभाव प्रगट करने के लिए कांटों पर लेट जाना काफी है? यह भी खूब धन्यवाद हुआ कि परमात्मा जीवन दे और तुम कांटों पर लेट गये! और परमात्मा फूल जैसी देह दे और तुम उसे पथरीला करने लगे!

नहीं, इससे होगा क्या? किस बात को तुम आमूल क्रांति चाहते हो?

जीवन तो जैसा है वैसा ही रहेगा; वैसा ही रहना चाहिए। हां, इतना फर्क पड़ेगा...और वही वस्तुतः आमूल क्रांति है। आमूल का मतलब होता है मूल से। चाय पीना मूल में तो नहीं हो सकता, न सिगरेट पीना मूल

में हो सकता है और न बिस्तर पर सोना और न कांटों पर सोना मूल में हो सकता है। न भोजन करना और न उपवास करना मूल में हो सकता है। मूल में तो साक्षी-भाव है।

आमूल क्रांति का अर्थ होता है: जो अब तक सोये-सोये करते थे, अब जाग कर करते हैं। जागने के कारण जो गिर जायेगा गिर जायेगा, जो बचेगा बचेगा; लेकिन न अपनी तरफ से कुछ बदलना है, न कुछ गिराना, न कुछ लाना। साक्षी है मूल।

शब्दों के अर्थ भी समझना शुरू करो। "आमूल" कहते हो, आमूल क्रांति नहीं हुई। आमूल क्रांति का क्या मतलब है? अब सिर के बल चलने लगोगे सड़क पर, तब आमूल क्रांति हुई? क्योंकि पैर के बल तो साधारण आदमी चलते हैं; तुम सिर के बल चलोगे तो आमूल क्रांति हो गई। लोग तो भोजन खाते हैं, तुम कंकड़-पत्थर खाने लगोगे, तब आमूल क्रांति हो गई?

आमूल क्रांति का अर्थ है: लोग सोये हैं, मूर्च्छित हैं, तुम जाग गये, तुम साक्षी हो गये। अब देह को भूख लग आती है तो लगती है, और देह भोजन कर लेती है, तृप्त हो जाती है; तुम पीछे खड़े देखते हो शांत भाव से। भूख लगी, भोजन का आयोजन कर देते; तृप्ति हो जाती, तुम देखते रहते। तुम द्रष्टा हुए।

लेकिन तुम किन्हीं छोटी-छोटी क्रांतियों को करने में लगे हुए हो। तुम्हारे तथाकथित महात्माओं ने तुम्हें बड़े क्षुद्र आशय दिए हैं। उन क्षुद्र आशयों के कारण मैं तुम्हें महा सूत्र दे देता हूं कि तुम मुक्त हुए, फिर भी तुम दीन बने रहते हो, दरिद्र बने रहते हो। तुम्हें इतनी बड़ी संपदा दे देता हूं, फिर भी तुम आते हो, कहते हो कि यह नहीं छूट रहा, वह नहीं छूट रहा। तुमसे कहा किसने कि तुम छोड़ो? मैंने नहीं कहा। किसी और ने कहा होगा। तो तुम्हारे जीवन में बड़ी कीचड़ मची है, साफ-सुथरा नहीं! तुम मेरे भी संन्यासी हो, तो भी वस्तुतः मेरे नहीं हो; हजार स्वर तुम्हारे भीतर पड़े हैं। जिन बातों का मैं निरंतर खंडन कर रहा हूं वे भी तुम्हारे भीतर पड़ी हैं, और तुम्हारे भीतर अभी भी मूल्यवान हैं और महत्वपूर्ण हैं। इसलिए तुम्हारे मन में बार-बार उठने लगता है प्रश्न: अभी तक क्रांति नहीं हुई?

तुम एक दफा इस क्रांति की लिस्ट बनाओ। क्या तुम चाहते हो क्रांति में? तब तुम बड़े हैरान होओगे कि तुम बड़ी अजीब-अजीब बातें लिस्ट में लिखने लगे। ऐसी अजीब बातें लिखने लगे जिनका कोई मूल्य नहीं है।

एक सज्जन मेरे पास आये। वे कहने लगे: "इतना ध्यान करता हूं, लेकिन शरीर तो बूढ़ा होता जा रहा है। ध्यानी का तो शरीर बूढ़ा नहीं होना चाहिए।" ये आमूल क्रांतियां हैं! ध्यानी का शरीर बूढ़ा नहीं होना चाहिए! बुढ़ापे में कुछ खराबी है? जो जवान हुआ बूढ़ा होगा। ध्यानी भी बूढ़ा होगा। ध्यानी भी मरेगा। फर्क इतना ही रहेगा कि ध्यानी जब बूढ़ा होगा तब भी साक्षी रहेगा कि जो बूढ़ा हो रहा है वह मैं नहीं हूं, इतना फर्क होगा। और ध्यानी जब मरेगा तो जागता मरेगा और जानता मरेगा कि जो मर रहा है, वह मेरी देह थी, वह मैं नहीं हूं। मृत्यु तो होगी। नहीं तो बुद्ध, महावीर, कृष्ण, मोहम्मद, क्राइस्ट, कोई मरते ही नहीं। क्योंकि ध्यानी थे, मरेंगे कैसे? ध्यानी तो अमृत को उपलब्ध हो जाता है! तो मर नहीं सकते थे। बूढ़े भी न होते।

तुम झूठी बातों में पड़े हो और तुमने व्यर्थ की बातें अपने भीतर इकट्ठी कर ली हैं। मैं लाख चेष्टा करता हूं तुम्हारी व्यर्थ की बातें छीन लूं, तुम कहीं कोने-कातर में छिपा लेते हो।

मैं वस्तुतः तुम्हें मुक्त कर रहा हूं। मैं तुम्हें क्रांति से भी मुक्त कर रहा हूं, परिवर्तन से भी मुक्त कर रहा हूं, मैं तुम्हें मूलतः मुक्त कर रहा हूं। मैं तुमसे यह कह रहा हूं: ये सब कुछ करने की बातें ही नहीं हैं; तुम जैसे हो भले हो, चंगे हो, शुभ हो, सुंदर हो। तुम इसे स्वीकार कर लो। तुम अपने जीवन की सहजता को व्यर्थ की बातों से विकृत मत करो। विक्षिप्त होने के उपाय मत करो, पागल मत बनो!

तुम्हारे सौ में से निन्यानबे महात्मा पागलखानों में होने चाहिए और अगर तुम पागल बनने को क्रांति कहते हो तो कम से कम मेरे पास मत आओ। मैं तुम्हें पागल बनाने में जरा भी उत्सुक नहीं हूं।

"हालत ऐसी है कि संन्यास के बाद भी वह अपनी पुरानी मनोदशा में ही जीता है।"

और किस दशा में जीओगे? इधर तुमने संन्यास लिया, उधर तुम्हारी देह एकदम स्वर्णकाया हो जायेगी? इधर तुमने संन्यास लिया और वहां तुम्हारे पास मन एकदम बुद्ध का, महावीर का, कृष्ण का, क्राइस्ट का हो जायेगा? मन तो मन ही है। मन तो मन जैसा ही रहेगा। फर्क क्या पड़ेगा? फर्क इतना ही पड़ेगा कि अब तक मन मालिक था, अब तुम मालिक हो जाओगे। अब तक देह चलाती थी, अब तुम चलाओगे। अब तक देह खींचती थी, तुम मजबूरी में खिंचे जाते थे; अब तुम मजबूरी में न खिंचोगे, अब तुम होशपूर्वक, बोधपूर्वक जाओगे।

मन तो मन ही है। मन तो कंप्यूटर है, यंत्र है। एकदम कैसे बदल जायेगा? तुम्हारा मन है क्या? तुम्हारे अब तक के जीवन-अनुभवों का सार है। जैसे कि तुम आत्मकथा लिख रहे हो, और तुम अपनी आत्मकथा में सब बातें लिखते जाओ और फिर तुम एक दिन संन्यास ले लो और फिर तुम किताब खोल कर देखो, तुम कहो कि मेरी आत्मकथा तो वही की वही है! तुम क्या पागलपन की बात कर रहे हो? तुम्हारे संन्यास से तुम्हारी लिखी गई आत्मकथा थोड़े ही बदल जायेगी।

मन तो अतीत है; हो चुका। मन तो अतीत की धूल है। वह जो कल बीत गया, उसके चिह्न हैं। तुम्हारे संन्यास लेने से वह चिह्न थोड़े ही मिट जायेंगे; वे तो बने रहेंगे। वह तो हो चुका। जो हो चुका हो चुका; अब उसमें कुछ फर्क होने वाला नहीं है। वह तो बन गई अमिट लकीर। इतना ही होगा कि अब तुम चौंक कर जानोगे कि मैंने भ्रांति से मन के साथ अपना तादात्म्य कर लिया था। यह मन मैं नहीं हूं। यह मन मेरे पास एक यंत्र है। इसकी जब जरूरत हो, उपयोग कर लूंगा। गणित करना होगा तो मन का उपयोग करना होगा। महावीर भी मन का उपयोग किए बिना गणित नहीं हल कर सकते।

अगर मैं तुमसे बोल रहा हूं तो मन का उपयोग कर रहा हूं; बिना मन का उपयोग किए तुमसे बोल नहीं सकता। क्योंकि वाणी तो मन का संग्रह है। भाषा तो मन में अंकित है। जो भी तुमसे कह रहा हूं, वह कह नहीं सकूंगा अगर मन का उपयोग न करूं। तो मन का उपयोग तो जारी है। और वही कह सकूंगा तुमसे जो मन ने अतीत में जाना है, जो मन ने अतीत में पहचाना है। मन तो संपदा है। लेकिन फर्क इतना पड़ गया कि जब मैं खाली बैठा हूं और किसी से बोल नहीं रहा हूं, तो चुप होता हूं, मन शांत होता है। ऐसे ही जैसे जब तुम कहीं नहीं जा रहे, अपनी कुर्सी पर बैठे हो, तुम्हारे पैर नहीं चलते रहते। कुछ लोगों के चलते रहते हैं; बैठे हैं कुर्सी पर तो पैर ही हिलाते रहते हैं। इसका मतलब? इसका मतलब: या तो चलो या बैठो, दो में से कुछ एक करो। यह क्या धोबी के गधे, घर के न घाट के। यह बैठे हो कुर्सी पर, पैर क्यों हिला रहे हो? अगर चलना है तो चलो, वह भी शुभ है; बैठना है तो बैठो। मगर बीच में तो मत अटके रहो, त्रिशंकु तो न बनो। जब तुम बैठे हो, तब तुम पैर नहीं चलाते, क्योंकि तुम जानते हो कि अभी पैर का कोई उपयोग नहीं है। पैर मौजूद हैं, लेकिन तुम चलाते नहीं। कुछ उठाना है तो हाथ हिलाते हो; कुछ उठाना नहीं है तो हाथ नहीं हिलाते।

जब कुछ सोचना है तो मन का उपयोग करते हो; जब कुछ सोचना नहीं तो मन का उपयोग नहीं करते। कुछ बोलना है तो मन का उपयोग करते हो। कुछ निवेदन करना है तो मन का उपयोग करते हो। जब कुछ संवाद नहीं है, कोई संबंध नहीं जोड़ना, किसी से कुछ कहना नहीं, तब मन शांत होता है। तब मन नहीं होता; बंद होता है। तुम निपट सन्नाटे में होते हो। एक गहरी प्रशांति तुम्हें घेरे होती है। तुम जागे होते हो। तुम परिपूर्ण होश में होते हो।

मन तो तुम्हारा वही रहेगा, सिर्फ मन के साथ तादात्म्य छूट जायेगा। अब तुम ऐसा न कहोगे कि मैं यह मन हूं और ऐसा भी न कहोगे कि मैं यह देह हूं।

और तुम कहते हो: "कभी-कभी तो सामान्य सतह से भी नीचे गिर जाता है।"

किसको तुम सामान्य कहते हो? तुम्हारे मन में बड़ी निंदायें भरी हैं। "सामान्य आदमी" निंदा का शब्द है, गाली दे रहे हो तुम। तुम यह कह रहे हो: "सामान्य से भी नीचे गिर जाता है!" ये सामान्य आदमी चाय पी रहे, धूम्रपान कर रहे, सिनेमा जा रहे! अब अगर तुम सिनेमा चले गये तो तुम्हारे मन में भाव उठा कि सामान्य से

नीचे गिर गये। मैंने तुम्हें इतना मुक्त किया है कि मैं तुमसे कहता हूं तुम गिर सकते ही नहीं, गिरने का कोई उपाय नहीं है।

"सामान्य" किसको कहते हो? ये जो अनंत-अनंत कोटि लोग हैं, इनके प्रति तुम्हारे मन में बड़ी गहन निंदा है। क्यों तुम चाहते हो कि इनसे तुम विशिष्ट हो जाओ? यह विशिष्ट होने की आकांक्षा अहंकार ही तो है, और क्या है? इस विशिष्ट होने की आकांक्षा में तुम अध्यात्म समझे बैठे हो, कि संन्यास तुमने समझा है!

मेरे पास आते हैं पुराने ढब के संन्यासी। वे कहते हैं: यह आप क्या कर रहे हैं, सामान्य आदमियों को संन्यास दिए दे रहे हैं!

मैंने कहा: परमात्मा नहीं झेंपता सामान्य आदमी बनाने से तो मैं क्यों परेशान होऊं संन्यास देने से? और परमात्मा सामान्य आदमी ज्यादा बनाता है, तुम देख रहे हो। तुम्हारे जैसे विशिष्ट आदमी तो कभी-कभी बनाता है और मुझे शक है कि वह बनाता भी है! क्योंकि मैंने अभी तक कोई संन्यासी पैदा होते नहीं देखा, सब सामान्य आदमी पैदा होते हैं; संन्यासी तो तुम बन जाते हो।

अब्राहम लिंकन जब अमरीका का प्रेसिडेंट हुआ, उसका चेहरा बहुत सुंदर नहीं था, घरेलू ढंग का था। किसी ने पूछ लिया उससे कि तुम अमरीका के प्रेसिडेंट भी हो गये, लेकिन तुम्हारा चेहरा इतना कुरूप क्यों है? अब्राहम लिंकन ने कहा कि जहां तक मैं समझता हूं, परमात्मा कुरूप आदमियों को पसंद करता है, क्योंकि सुंदर कम बनाता और कुरूप ज्यादा बनाता है। यह परमात्मा की पसंदगी मालूम होती है। इतना ही कह सकता हूं, और तो मुझे कुछ पता नहीं। लाख में एकाध को सुंदर बनाता है, बाकी को तो साधारण बनाता है। तो परमात्मा साधारण को पसंद करता है, इसीलिए।

मगर सुंदर तो शायद परमात्मा बनाता भी होगा; तुमने किसी को देखा कि परमात्मा किसी को संन्यासी बनाता है? सब सामान्य बच्चों की तरह पैदा होते हैं। बुद्ध हों कि महावीर हों कि कृष्ण हों कि क्राइस्ट हों, सब सामान्य बच्चों की तरह पैदा होते हैं।

परमात्मा सामान्य का प्रेमी है--सहज का, साधारण का। आदमी का अहंकार है जो विशिष्ट होना चाहता है।

झेन फकीर रिंझाई अपने झोपड़े में बैठा था और एक शिष्य ने उससे कहा कि तीन साल आपके चरणों की सेवा करते हो गये, अभी तक मैं आप जैसा क्यों नहीं हो पाया? रिंझाई ने कहा: देखो, सामने देखो। चीड़ के दो वृक्ष खड़े हैं; एक छोटा है, एक बड़ा है। एक को परमात्मा ने ऐसा बनाया, एक को परमात्मा ने ऐसा बनाया। लेकिन मैं तुमसे कहता हूं कि मैंने इन दोनों वृक्षों में कभी कोई प्रतिस्पर्धा नहीं देखी। छोटे ने कभी कहा नहीं कि मैं छोटा क्यों बनाया गया और बड़े ने कभी अकड़ कर नहीं कहा कि ऐ छोटे, अपनी हैसियत से रह! मुझे देख, मैं कितना बड़ा हूं! इनमें मैंने कभी विवाद नहीं सुना। मुझे मेरे जैसा बनाया, तुम्हें तुम जैसा बनाया।

छोटे-बड़े की धारणा आदमी की है। साधारण-असाधारण की धारणा आदमी की है। सब एक जैसे हैं। सब एकरस हैं। अगर एक ही ब्रह्म सब में विराजा है, तो कौन विशिष्ट, कौन सामान्य?

यह तुम्हारे भीतर जो भाव है कि कभी-कभी सामान्य सतह से भी नीचे गिर जाता है, तुम कुछ धारणायें लेकर चल रहे हो कि संन्यासी को ऐसा होना चाहिए; संन्यासी को कभी क्रोध नहीं करना चाहिए। अब कभी हो गया क्रोध, किसी ने धक्का मार दिया, अब क्रोध हो गया, अब तुम घर लौट कर बैठे उदास कि यह मामला क्या है, सामान्य से नीचे गिर गये, क्रोध हो गया! संन्यासी को तो क्रोध होना नहीं चाहिए! तो तुम मेरे संन्यास को समझे नहीं। मैं तुमसे कह रहा हूं कि संन्यासी अहंकार का विसर्जन कर दे, तो ही संन्यासी है। अब यह एक नया अहंकार तुम पाल रहे हो कि संन्यासी को क्रोध नहीं होना चाहिए। क्यों नहीं होना चाहिए? हो जाये तो ठीक, न हो जाये तो ठीक है। जो परमात्मा करवा ले, ठीक है। अगर तुम इतनी परम स्वीकृति को जीने लगो तो ये

सामान्य-असामान्य, विशिष्ट- साधारण, ये सब कोटियां तुम्हारी गिर जायेंगी। और तब तुम अचानक चौंक कर एक दिन पाओगे: क्रोध भी खो गया। क्योंकि क्रोध जीता ही इन्हीं कोटियों के कारण है कि मैं विशिष्ट!

तुम्हें जब कोई धक्का मार देता है, तुम क्या कहते हो? जानते नहीं, मैं कौन हूं! क्या मतलब हुआ: "जानते नहीं मैं कौन हूं? होश सम्हालो!"

यह अहंकार ही तो क्रोध पैदा कर रहा है। फिर एक नया अहंकार तुमने पैदा कर लिया कि मैं संन्यासी हूं, क्रोध नहीं करूंगा चाहे कुछ भी हो जाये। अब यह एक नया अहंकार है। फिर तुम विशिष्ट हुए। क्रोध तो होगा, अब भीतर सरकेगा।

उस आदमी के जीवन में विकृतियां खो जाती हैं जिस आदमी के जीवन में मूल्य तिरोहित हो जाते हैं। इसलिए अष्टावक्र बार-बार कहते हैं: न कुछ शुभ है, न कुछ अशुभ है; न कुछ कर्तव्य न कुछ अकर्तव्य; न कुछ नीति न कुछ अनीति। ये वचन बड़े क्रांतिकारी हैं। मुझे पक्का भरोसा नहीं है कि तुम समझ पा रहे हो, क्योंकि तुम्हारे भीतर सदियों से बैठा हुआ धारणाओं का जाल है। वह उधर बैठा सोच रहा है कि अच्छा ऐसा...ऐसा तो हो नहीं सकता। तुम्हें यह घबड़ाहट लगी है कि तुम्हारी कोटियों का क्या होगा!

तुम संन्यासी भी होना चाहते हो तो विशिष्ट होने को। और मैं तुम्हें संन्यासी बना रहा हूं ताकि तुम अति सामान्य हो जाओ, सहज हो जाओ। तुम्हारा पुराना संन्यासी विशिष्ट था--घर में नहीं रहेगा, जंगल में रहेगा; किसी के साथ नहीं उठेगा-बैठेगा, साधारण बोलचाल में नहीं उतरेगा, दूर-दूर, पृथक-पृथक, अलग-अलग, हर बात में भेद प्रगट करेगा; सामान्य से अपने को अलग करने की हर चेष्टा करेगा। मैंने तुम्हें संन्यास दिया है और तुम्हें जीवन से दूर करने की कोई चेष्टा नहीं की। तुम पति हो, पत्नी हो, बेटे हो, बाप हो, घर है, द्वार है, दूकान भी चलाओगे, नौकरी भी करोगे--तुम्हें मैंने संन्यास दिया है, तुम जैसे हो वैसे ही। तुम्हें मैं अन्यथा नहीं देखना चाहता।

अगर तुम मेरी बात समझ गये तो मैंने तुम्हें मुक्ति दे दी है। अब तुम्हारे ऊपर कोई बोझ नहीं है--कुछ होने का बोझ नहीं है।

"मुक्ति का सुवास उसे तत्क्षण एक ईमानदार महामानव क्यों नहीं बना पाता?"

महामानव बनने की आकांक्षा पागलपन है। "महामानव"--मतलब क्या होता है? दूसरे मानव पीछे पड़ जायें; तुम झंडा लिए आगे चले जा रहे हो--"झंडा ऊंचा रहे हमारा!" महामानव! आदमी होना काफी नहीं, पर्याप्त नहीं? तुम किसी न कसी तरफ महान हो कर रहोगे?

सहज मानव कहो, महामानव नहीं। और सहज मानव ही वस्तुतः महामानव है। जिसको तुम महामानव कहते हो वह तो अहंकार की एक नई यात्रा है। इससे सावधान रहो। अहंकार के रास्ते बड़े सूक्ष्म हैं, बड़े बारीक हैं। वह हर जगह से अपनी तरकीब खोज लेता है।

मुल्ला नसरुद्दीन की पत्नी अपने मायके गई। बार-बार नसरुद्दीन को लिखती कि कुछ दिनों के लिए आप भी बनारस आ जायें। लेकिन मुल्ला नसरुद्दीन पूना छोड़ता नहीं। आखिरकार उनकी श्रीमती ने पत्र के साथ एक चित्र भी भेजा जिसमें एक पार्क की बेंच पर एक जोड़ा बैठा हुआ है--पति-पत्नी एक-दूसरे का हाथ पकड़े हुए, एक-दूसरे की आंखों में आंखें डाले हुए। और पास के ही एक बेंच पर उनकी श्रीमती जी अकेली बैठी हैं--चिंतित, उदास अवस्था में, खोई-खोई, जैसे सब संपत्ति खो गई है। साथ के पत्र में लिखा था: "देखो, तुम्हारे बिना मैं कितनी अकेली हो गई हूं!"

मुल्ला ने चित्र को देखा और गुस्से से भर कर तार किया: "यह सब तो ठीक है, पर यह लिखो कि फोटो किसने खींची?"

आदमी के मन में अगर संदेह है तो कोई रास्ता खोज ही लेगा। अहंकार अगर है तो कोई रास्ता खोज ही लेगा। तुम इधर से दबाओगे उधर से निकल आयेगा। तुम इधर से बचोगे, कोई और नया मार्ग खोज कर आ जायेगा।

साधक को स्मरण रखना है कि अहंकार के सारे मार्ग पहचान लिए जायें।

मैं तुमसे अहंकार छोड़ने को नहीं कह रहा हूं, क्योंकि अहंकार छोड़ना भी अहंकार बन जाता है। मैं तुमसे इतना ही कह रहा हूं: तुम कृपा करके अहंकार के मार्ग पहचानो--कहां-कहां से आता है, कैसे-कैसे आता है, कैसी सूक्ष्म प्रक्रियाएं लेता है, कैसे वेश पहनता है? तुम पहचान भी नहीं पाते। कभी विनम्रता बन कर आ जाता है। अब महामानव बन कर आ रहा है। अब वह कह रहा है कि तुम, अरे तुम कोई साधारण मानव हो! तुम महामानव हो। तुम्हें कुछ करके दिखाना है दुनिया में। तुम्हें नाम छोड़ जाना है दुनिया में। अभी धन कमाना था, अभी चुनाव जीतना था; अब किसी तरह वहां से छूटे तो अब महामानव होना है। लेकिन जो है, उससे तुम राजी नहीं; कुछ हो कर दिखाना है।

मैं तुमसे कह रहा हूं: तुम जो हो ऐसे ही तुम सुंदर हो। तुम जैसे हो इसी में विश्राम को उपलब्ध हो जाओ।

तुम जरा मेरी बात को समझो, गुनो! थोड़ा इसका रस लो। तुम जैसे हो वैसे में ही राजी हो जाओ। क्रोध आये तो कहना कि मैं क्रोधी हूं, तो आता है। किसी से झंझट-झगड़ा हो जाये तो कह देना कि मैं झंझटी आदमी हूं, तो झंझट होती है। ऐसा मैं हूं! अपने हृदय को खोल कर रख दो, सहज, जैसे हो। और तब तुम्हारे भीतर सहज मानव पैदा होगा, जिसको बाउल कहते हैं: आधार-मानुष, सहज मनुष्य। उस सहज की तलाश हो रही है। साधो, सहज समाधि भली!

तुम कुछ असहज करके दिखाना चाहते हो। तुम कुछ ऐसा करके दिखाना चाहते हो जो किसी ने न किया हो, ताकि तुम ऊपर दिखाई पड़ो; ताकि तुम सबसे पृथक, श्रेष्ठ मालूम पड़ो।

तुम्हारे तथाकथित महात्माओं में और तुम्हारे राजनीतिज्ञों में बहुत फर्क नहीं होता, क्योंकि राजनीति का मौलिक अर्थ इतना ही होता है कि दूसरों को नीचे दिखाना है; अपने को ऊपर, दूसरे को नीचे। जहां ऐसी वृत्ति है वहां राजनीति है। और जहां ऐसा भाव आ गया कि हम सब एक ही के हिस्से हैं और एक ही हममें विराजमान, कौन ऊपर कौन नीचे, एक की ही लीला है, बुरा भी वही भला भी वही, छोटा भी वही बड़ा भी वही, राम भी वही रावण भी वही--जिस दिन ऐसा भाव आ गया उस दिन तुम धार्मिक हो गये।

और अंततः पूछा है, "क्या इससे "संचित" का संकेत नहीं मिलता?"

इससे सिर्फ इस बात का संकेत मिलता है कि मैं तुमसे जो कह रहा हूं उसमें से तुम कुछ भी न समझे। कुछ और बात का संकेत नहीं मिलता। इससे इतना ही संकेत मिलता है कि मैं यहां बीन बजाये जाता हूं, तुम वहां पगुराये जाते हो। तुम समझ नहीं पाते जो मैं कह रहा हूं। तुम अपनी ही धुन गाये जाते हो। मेरे और तुम्हारे प्रयोजन अलग-अलग मालूम होते हैं। तुम कुछ विशिष्ट होने आये हो, और मेरी सारी चेष्टा है कि तुम्हें जमीन पर ले आऊं, साधारण, सहज। तुम्हारी आकांक्षा है कि तुम अहंकार में सजावटें कर लो और मेरी इच्छा है कि तुम्हारा अहंकार नग्न दिगंबर छूट जाये, जैसा है वैसा है।

अगर मेरे पास रहना है तो मुझे समझ कर रहो, अन्यथा तुम मुझे भी चूकोगे। और तुम्हारे जीवन में कुछ सुलझाव आने की बजाय उलझाव आ जायेंगे। क्योंकि द्वंद्व खड़ा हो जायेगा। अगर तुम्हें महामानव होना है, तुम कोई और महात्मा खोजो जो तुम्हें शिक्षा देगा--शुभ की अशुभ की, क्या करना क्या नहीं करना; अनुशासन देगा; ब्रह्ममुहूर्त में उठने से लेकर रात सोने तक तुम्हारे जीवन को कैदी का जीवन बना देगा, सारी व्यवस्था दे देगा। तुम कोई महात्मा खोजो।

मैं साधारण आदमी हूं और मैं तुम्हें साधारण ही बना सकता हूं। मेरे जीवन में कुछ भी विशिष्टता नहीं है। विशिष्टता का आग्रह भी नहीं है। मैं बस तुम्हारे जैसा हूं। फर्क अगर कुछ होगा तो इतना ही है कि मुझे इससे अन्यथा होने की कोई आकांक्षा नहीं है। मैं परम तृप्त हूं। मैं राजी हूं। मैं अहोभाग्य से भरा हूं; जैसा है सुंदर है, सत्य है। जो भी हो रहा है, उससे इंच भर भिन्न करने की कोई आकांक्षा नहीं है, कोई योजना नहीं है। मेरे पास कर्ता का भाव ही नहीं है। देखता हूं। जो दृश्य परमात्मा देता है, वही देखता हूं। अगर तुम भी द्रष्टा होने को राजी

हो और कर्ता का पागलपन तुम्हारा छूट गया है, तो ही मेरे पास तुम्हारे जीवन में कोई सुगंध, कोई अनुभूति का प्रकाश फैलना शुरू होगा। अन्यथा तुम मुझे न समझ पाओगे। मैं तो आलसी शिरोमणि हूं; तुम्हें भी वहीं ले चलना चाहता हूं जहां कर्तापन न रह जाये; जहां प्रभु जो कराये तुम करो, जो बुलवाये बोलो, जो न करवाये न करो; जहां तुम बीच-बीच में आओ ही न; जहां तुम मार्ग से बिलकुल हट जाओ।

मैं बिलकुल मार्ग से हट गया हूं; जो होता है होता है। ऐसा ही तुम्हारे भीतर भी हो जाये, ऐसे आधार-मानुष को पुकारा है मैंने; ऐसे सहज मनुष्य को पुकार दी है।

संन्यास यानी सहज होने की प्रक्रिया। और सहज होने की प्रक्रिया का आधार भाव यही है कि मुक्त तुम हो, इसलिए कुछ और होना नहीं है। अपनी सहजता में डूब गये कि मुक्त हो गये।

इसलिए मैं तो घोषणा करता हूं तुम्हारी मुक्ति की। अगर तुम्हारी भी हिम्मत हो तो स्वीकार कर लो। साहस की जरूरत है।

दूसरा प्रश्न: कोई बीस वर्षों से आप हम लोगों से बोल रहे हैं और आपके अनेक वक्तव्य एक-दूसरे का खंडन करते हैं; लेकिन आश्चर्य कि आज तक आपने अपना एक भी वक्तव्य वापिस नहीं लिया और न किसी वक्तव्य में कुछ संशोधन करने की जरूरत मानी। और आपके समस्त वक्तव्य अब सार्वजनिक संपत्ति बन गये हैं। क्या आप जान-बूझ कर ऐसा कर रहे हैं और इसके पीछे क्या राज है कोई? और क्या यह खतरा नहीं है कि कालांतर में लोग संदेह करें कि ये सारे वक्तव्य एक ही महापुरुष के हैं?

मैं जो भी बोलता हूं, बोल दिया कि मेरा संबंध छूट गया उससे। फिर मेरा क्या रहा उसमें? जो बात मैंने तुमसे कह दी, तुम्हारी हो गई। दूसरे क्षण में जो बात मैं कहूंगा, वह हो सकता है पहली के विपरीत दिखाई पड़ती हो; लेकिन अब पहली को बदलने वाला मैं कौन हूं? जिस क्षण में पहली बात उठी थी, वह क्षण न रहा। उस क्षण के न रह जाने से अब उसे वापिस करने का भी कोई उपाय नहीं रह गया है। इसलिए मैं पीछे लौट कर देखता ही नहीं। उस क्षण में वही सत्य था जो मैंने कहा। वह उस क्षण का सत्य था।

और संगति में मेरी श्रद्धा नहीं है। मेरी श्रद्धा सत्य में है। मैं जो भी कहूं वह एक-दूसरे से संगत हो, ऐसा मेरा कोई आग्रह नहीं है। क्योंकि अगर एक-दूसरे से मैं जो भी कहूं, वे सब वक्तव्य संगत होने चाहिए तो मैं असत्य हो जाऊंगा। क्योंकि सत्य स्वयं बहुत विरोधाभासी है। कभी सुबह है, कभी रात है। और कभी धूप है और कभी छांव है। और कभी जीवन है और कभी मृत्यु है। सत्य के मौसम बदलते हैं। सत्य बड़ा विरोधाभासी है। राम में भी है, रावण में भी है। शुभ में भी है, अशुभ में भी है। सत्य के अनेक रूप हैं। सत्य अनेकांत है।

इसलिए जो मैंने एक क्षण में कहा वह सत्य का एक पहलू था; दूसरे क्षण में जो कहा वह सत्य का दूसरा पहलू होगा; तीसरे क्षण में जो कहा वह सत्य का तीसरा पहलू होगा। वे सभी सत्य के पहलू हैं, लेकिन सत्य विराट है। शब्द में तो छोटा-छोटा ही पकड़ में आता है, पूरा तो कभी पकड़ में नहीं आता। नहीं तो एक बार कह कर बात खतम कर देता। पूरा नहीं आता पकड़ में। पूरा आ नहीं सकता। शब्द बड़े संकीर्ण हैं। सत्य तो है आकाश जैसा और शब्द हैं छोटे-छोटे आंगन।

तो जितना आंगन में समाता है उतना उस बार कह दिया। कल के आंगन में कुछ और समायेगा, परसों के आंगन में कुछ और।

तो मैं पीछे लौट कर नहीं देखता। और पीछे लौट कर देखने का अर्थ भी क्या है? न मैं आगे की फिक्र करता, न मैं पीछे की फिक्र करता। इस क्षण में जो घटता है घट जाने देता हूं। फिक्र नहीं करता, क्योंकि मैं कोई कर्ता नहीं हूं। मैं अगर कहूं कि दस साल पहले जो मैंने कहा था, अब मैं वापिस लेता हूं--तो उसका तो अर्थ यह हुआ कि उसका कर्ता मैं था। और अब मैं अनुभव कर रहा हूं कि उससे झंझट आ रही है; अब मैं जो कह रहा हूं

वह उसके विपरीत पड़ता है, इसलिए साफ-सुथरा कर लेना, उसे वापिस ले लेना। लेकिन जो दस साल पहले कहा गया था, किसी संदर्भ में, किसी परिस्थिति में, किसी व्यक्ति की मौजूदगी में, किसी चुनौती में, वह उस क्षण का सत्य था। उसे वापिस लेने का मुझे कोई अधिकार नहीं। उसे मैंने बोला भी नहीं था, तो वापिस लेने का मेरा क्या अधिकार है? मैं उसका मालिक नहीं हूं। जो मुझसे बोला था उस क्षण वही मुझसे अब भी बोल रहा है--इतना मैं जानता हूं। उस क्षण उसने ऐसा बोलना चाहा था, इस क्षण ऐसा बोल रहा है। अगर इसमें किसी को संगति बिठानी हो तो परमात्मा, वह फिक्र करे। मैंने अपने को बांसुरी की तरह छोड़ दिया है।

अब बांसुरी यह थोड़े ही कहेगी कि "कल तुमने एक गीत गाया और आज तुम दूसरा गाने लगे? हे वेणु-वादक, रुको! यह असंगति हुई जाती है। कल तुम कोई और राग छेड़े थे, आज तुमने कोई राग छेड़ दिया। नहीं-नहीं, या तो जो कल गाया था वही गाओ, या फिर आज जो तुम गा रहे हो तो कल के लिए क्षमा मांग लो।" बांसुरी ऐसा कहेगी: जिसने कल गाया था, वही आज भी गा रहा है। कल उसने उस राग को पसंद किया था, आज उसने कोई और राग चुना है।

मैं बीच में पड़ने वाला कौन? इसलिए मुझे चिंता नहीं सताती।

तुम्हारा प्रश्न भी ठीक है। कोई दूसरा व्यक्ति इतने वक्तव्य देता तो या तो पागल हो जाता... क्योंकि अगर इतना बोझ अपने सिर पर रखता तो विक्षिप्त हो जाता। इन सबके बीच कैसे हिसाब बिठाता, कितने गीत गाये गये? मगर मैं तो जो गीत इस क्षण गाया जा रहा है, उससे ही संबंधित हूं। उससे अन्यथा का मुझे कुछ हिसाब नहीं है।

संगति बिठाने में मेरी रुचि नहीं है। और तुम भी इस फिक्र में मत पड़ना। तुम्हारी तकलीफ मैं समझता हूं। तुम भी इस फिक्र में मत पड़ना। तुम भी यह हिसाब मत लगाना कि मेरे सारे वक्तव्यों में कुछ संगति खोज लो। संगति है, लेकिन तुम जिस दिन बांसुरी बनोगे उस दिन पता चलेगी, उसके पहले पता नहीं चलेगी। वक्तव्यों में संगति नहीं है; जो ओंठ मेरी बांसुरी पर रखे हैं, वे एक के ही ओंठ हैं, उसमें संगति है। वक्तव्य अलग-अलग, गीत अलग-अलग, छंद अलग-अलग; लेकिन यह तो तुम्हें उसी दिन पता चलेगा जब तुम भी बांस की पोंगरी हो जाओगे। तब तुम अचानक देख पाओगे: अरे, सब जो विपरीत दिखाई पड़ता था, संयुक्त हो गया! वह जो सब खंड-खंड दिखाई पड़ता था, अखंड हो गया। वह जो सब टुकड़े-टुकड़े मालूम पड़ता था और तालमेल नहीं बैठता था, वह किसी एक विराट व्यवस्था का अंग था, उसमें एक अनुशासन था। वह तुम्हें उसी दिन दिखाई पड़ेगा जिस दिन परमात्मा बोलने लगेगा तुम्हारे ओंठ से और तुम्हारे ओंठ से गाने लगेगा, तुम बांसुरी हो जाओगे।

मैं कोई दार्शनिक नहीं हूं। इसलिए किसी वक्तव्य को न तो कहने की इच्छा है न उसे वापिस लेने की इच्छा है। जो जिस क्षण में हो जाये, मैं राजी हूं।

तुम मुझे एक कवि समझो। तुम कवि से आकांक्षा नहीं करते कि उसकी दो कविताओं में संगति हो। या तुम मुझे एक चित्रकार समझो। तुम चित्रकार से आशा नहीं करते कि उसके दो चित्रों में एक संगति हो। सच तो यह है चित्रकार से तुम्हारी अपेक्षा होती है कि उसका दूसरा चित्र बिलकुल अनूठा हो, पहले से बिलकुल मेल न खाये। अगर कोई चित्रकार अपने उन्हीं-उन्हीं चित्रों को दोहराये चला जाये तो तुम कहोगे यह चित्रकार मुर्दा है।

ऐसा पिकासो के जीवन में उल्लेख है, कोई मित्र पिकासो की एक पेंटिंग खरीदा। कई लाख रुपये में खरीदी। वह पिकासो के पास लाया और उसने कहा कि यह पेंटिंग मौलिक रूप से तुम्हारी ही है न, किसी ने कोई नकल तो नहीं की, कोई धोखाधड़ी तो नहीं है? इसके पहले कि मैं खरीदूं, मैं तुमसे पूछ लेना चाहता हूं।

पिकासो ने पेंटिंग की तरफ देखा और कहा कि झंझट में पड़ना मत, यह सब नकल है, यह असली नहीं है।

पिकासो की प्रेयसी पास बैठी थी, वह बड़ी चौंकी। उसने कहा: "रुको! तुम होश में हो?" पिकासो से कहा: "यह चित्र तुमने मेरी आंखों के सामने बनाया, मुझे भली-भांति याद है, यह चित्र तुम्हारा ही बनाया हुआ है।"

पिकासो ने कहा: "मैंने कब कहा कि मैंने नहीं बनाया, लेकिन यह नकल है।"

अब और उलझन हो गई। पत्नी ने कहा: "तुमने ही बनाया और नकल! तुम कह क्या रहे हो?"

पिकासो ने कहा: "मैं इसलिए कह रहा हूं कि मैं ऐसा चित्र पहले भी बना चुका, फिर यह दुबारा बनाया। यह दुबारा मैंने बनाया कि किसी और ने बनाया, क्या फर्क पड़ता है? यह मौलिक नहीं है। यह पुनरुक्ति है। मेरे हाथ से ही हुई पुनरुक्ति, लेकिन यह मौलिक नहीं है। ऐसा चित्र मैं पहले बना चुका हूं। यह फिर पुनरुक्ति है। पुनरुक्ति तो मौलिक नहीं होती।"

तो हम पिकासो से आशा करते हैं कि वह जो हर चित्र बनाये, वह ऐसा अनूठा हो कि पुराने चित्रों से भिन्न हो। कवि से हम आशा करते हैं, एक ही गीत न गाये चला जाये।

मेरे गांव में एक कवि हैं। एक ही कविता उन्होंने लिखी है, वह भी पता नहीं चुराई या क्या किया। क्योंकि जो एक ही लिखता है, वह संदिग्ध है। अगर कवि थे तो कभी तो दूसरी लिखते। एक ही कविता जानते हैं वे: "हे युवक!" बस कुछ युवक के संबंध में एक कविता है। और उनसे पूरा गांव परेशान है। क्योंकि ऐसा हो ही नहीं सकता कि वे कवि-सम्मेलन में उपस्थित न हो जायें और उनको वह "हे युवक" कविता सुननी ही पड़ेगी।

गांव की यह परेशानी जब मैं छोटा था तभी मुझे समझ में आ गई। तो कोई भी कवि-सम्मेलन हो, मैं उनके घर जा कर खबर कर आता कि कवि-सम्मेलन हो रहा है और आपको बुलाया है। ऐसा बार-बार जब मैंने किया, कहीं भी कवि-सम्मेलन हो, कुछ भी हो, मैं उनको बुला आता। और कभी-कभी तो ऐसी जगह भी कि जहां कोई कवि-सम्मेलन नहीं, कोई सभा हो रही, कुछ हो रही, मैं उनको निमंत्रण कर आता कि आप आइये और लोगों को बड़ी कविता की इच्छा है। एक दिन मुझसे कहने लगे कि तुम मालूम होते हो, मेरे बड़े प्रेमी हो, तुम्हीं आते हो हमेशा! और ऐसी सभाओं में उनकी कविता पढ़वा देता जहां कि लोग सिर ठोंक लेते, क्योंकि वे आये नहीं थे यह सुनने।

मैं पहले उनको निमंत्रण दे आता, फिर मंच के पास--छोटा गांव--मंच के पास खड़ा हो जाता। जैसे ही वे आते, मैं उनसे कहता: "वकील साहिब, आइये-आइये!" मंच पर चढ़ा देता। अब कोई गांव में कह भी नहीं सकता। वे थे वकील, तो कोई झगड़ा-झांसा भी नहीं कर सकता। उनको मंच पर चढ़ा कर बिठा देता। फिर भीड़ में जा कर वहां से चिट लिख कर भेजने लगता कि एक कविता होनी चाहिए, वकील साहिब की एक कविता होनी चाहिए। सारा गांव जानता कि मेरे अलावा उस कविता को कोई नहीं सुनना चाहता है। अगर सभापति मेरी चिटों पर कोई ध्यान न देते तो मैं बीच में खड़ा हो जाता कि जनता वकील साहिब की कविता सुनना चाहती है। अब जनता यह कह भी नहीं सकती कि कोई नहीं सुनना चाहता, क्योंकि वकील साहिब, झगड़ा-झंझट की बात है। और जनता चिट लिख-लिख कर भेज रही है। सभापति को मजबूरन कहना पड़ता कि वकील साहिब, आपकी कविता सुनाइये। वे "हे युवक"...वह शुरू कर देते।

जब ऐसा बहुत बार हुआ तो एक दिन मुझसे वे बोले कि मामला क्या है, तुम्हीं क्यों आते हो? सब कवि-सम्मेलन, सब सभायें, धर्म की सभा कि राजनीति की, कुछ भी हो, तुम क्या सभी के संयोजक हो?

मैंने कहा: नहीं, वे संयोजक तो सब अलग-अलग हैं, लेकिन वे जानते हैं कि मैं आपका भक्त हूं तो मुझे भेज देते हैं। धीरे-धीरे तो उनको शक होने लगा कि मैं...क्योंकि कोई उनकी कविता सुनना न चाहे, वह समझ में भी आये उन्हें कि कोई सुनना नहीं चाहता, सब लोग ऐसे उदास हो कर बैठ जायें, इधर-उधर देखने लगें कि फिर आ गये ये। नौबत यहां तक पहुंची कि मुझे जो अध्यक्ष इत्यादि सभाओं के होते वे मुझे पहले बुला कर कहते कि भाई, वकील साहिब को न बुला आना। हम तुम्हें मिठाई खिलायेंगे, अगर वकील साहिब को न लाये।

अब एक ही कविता, वह जरूर उन्होंने चुराई होगी।

कवि से हम आशा करते हैं कि वह नई कवितायें कहे; चित्रकार से कि नये चित्र बनाये; मूर्तिकार से कि नई मूर्तियां गढ़े। दार्शनिक से हम आशा करते हैं कि उसने जो कहा है, बस उसी को कहता रहे।

नहीं, मैं कोई दार्शनिक नहीं हूं। मैं कोई पंडित नहीं हूं। मेरे वक्तव्य तुम कविताओं की तरह लेना। जिसको मैंने बांधना चाहा है, वह तो एक है; लेकिन उसे बहुत-बहुत अलग-अलग दिशाओं से बांधना चाहा है। जो मैं प्रगट करना चाहता हूं वह तो एक है; लेकिन बहुत-बहुत अलग-अलग रंगों में मैंने वे चित्र बनाये हैं। तुम समझ पाओगे यह बात तभी, जब तुम भी ऐसे खाली हो जाओगे जैसा खाली मैं हूं।

तो मैं तुमसे यह कहना चाहता हूं कि मैंने अब तक कोई ऐसा वक्तव्य नहीं दिया है जिसको मैं समझता हूं कि विरोधाभासी है। भिन्न-भिन्न वक्तव्य दिए हैं, अलग-अलग बातें कही हैं, अलग- अलग ढंग से गीत को बांधा है; लेकिन जो मैंने कहा है, वह एक ही है। बहुत अलग-अलग माध्यमों में बांधा है।

एक गीत को हम कविता की तरह कागज पर लिख सकते हैं और उसी गीत को हम संगीत की तरह वीणा पर बजा सकते हैं। अब कागज पर लिखी कविता में और वीणा के बजते-हिलते तारों में कोई भी संगति नहीं है। उसी कविता को हम चित्र की तरह चित्रित भी कर सकते हैं। तुमने देखा होगा, रागिनियों के चित्र देखे होंगे। हर रागिनी का चित्र भी बनाया जा सकता है। क्योंकि हर राग का रंग भी है। "राग" शब्द का अर्थ ही रंग होता है। राग का अर्थ ही होता है रंग। हर राग का रंग है।

तो अगर मैं शांति की कोई कविता कहूं तो शांति की वीणा पर धुन भी बजाई जा सकती है कि उस धुन को सुन कर शांत भाव पैदा होने लगे। और शांत चित्र भी बनाया जा सकता है नीले-हरे रंगों में, कि चित्र को देख कर शांति पैदा होने लगे। और शांति की प्रतिमा भी बनाई जा सकती है--बुद्ध की प्रतिमा कि उसे तुम गौर से देखते रहो तो तुम्हारे भीतर अशांति खोने लगे। ये अलग-अलग माध्यम हैं। लेकिन जो मैं कहना चाहता हूं, वह तो एक ही है।

इसलिए मुझे तो कोई विरोधाभास दिखाई भी नहीं पड़ा कि पश्चात्ताप करूं, कि वापिस ले लूं। हां, तुम्हारी तकलीफ मैं समझता हूं। तुम्हें बहुत बार लगता होगा कि कभी मैं कुछ कह देता हूं, कभी कुछ कह देता हूं। क्योंकि तुम इतने विस्तीर्ण सत्य को लेने को तैयार नहीं हो। तुम बहुत संकीर्ण सत्य को लेने को तैयार हो। जब मैं कहता हूं भक्ति से भगवान मिल जायेगा, तो जो भक्त है वह कहता है ठीक। और जब मैं ज्ञान पर बोल रहा होता हूं, तो मैं कहता हूं, भक्ति से कैसे भगवान मिलेगा? वह भक्त घबड़ाया, उसने कहा: "मामला गड़बड़ हो गया! हम तो कल राजी हो गये थे, हम तो बिलकुल तैयार हो गये थे कि अब संन्यास ले लें इस आदमी से, यह अपनी ही बात कह रहा है और आज ये कह रहे हैं कि भक्ति से कैसे भगवान मिलेगा?" क्योंकि भक्त जब तक है तब तक कैसे भगवान मिलेगा? जब तक मैं है तब तक तो तू बना रहेगा। और जब तक तू है तब तक मैं भी बना रहेगा। साक्षी से मिलेगा, भक्ति से नहीं। भक्ति में तो राग है।

तो तुम घबड़ाये। लेकिन जो साक्षी को मानने वाला था, वह चौंक कर बैठ गया। उसने कहा, अब बात ठीक हुई; यह आदमी अब तक गलत-सलत बोल रहा था, लेकिन आज पते की कही।

लेकिन मैं एक ही बात कह रहा हूं। ये अलग-अलग माध्यम हैं। ये अलग-अलग मार्ग हैं। इन सबसे उसी एक शिखर पर हम पहुंच जाते हैं।

और मैंने ऐसा चुना है कि मैं सभी मार्गों की तुमसे बात करूंगा। ऐसा पहली दफा हो रहा है। बुद्ध ने एक मार्ग की बात कही, महावीर ने एक मार्ग की बात कही, नारद ने एक मार्ग की, अष्टावक्र ने एक मार्ग की। इसका दुष्परिणाम हुआ। इसका दुष्परिणाम यह हुआ कि जिसने अष्टावक्र को माना वह नारद के विपरीत हो गया; जिसने नारद को माना वह बुद्ध के विपरीत हो गया; जिसने बुद्ध को माना वह महावीर के विपरीत हो गया। और मेरा जानना है कि ये कोई भी विपरीत नहीं हैं; ये सब एक ही तरफ इशारा कर रहे हैं। अंगुलियां अलग-अलग; जिस चांद की तरफ इशारा है, वह चांद एक है। तुम चांद को देखो, अंगुली को पकड़ कर मत बैठ जाओ। इस सत्य को उजागर करने के लिए मैंने तय किया कि मैं सब पर बोलूंगा। और जब मैं एक पर बोलता हूं तो मैं सब भूल जाता हूं जो मैं पहले बोला; तभी तो इस पर बोल सकता हूं, नहीं तो बोल न पाऊंगा। तब न्याय न हो सकेगा।

अगर, समझो कि अष्टावक्र पर बोलते वक्त मैं जरा भीतर नारद का राग भी रखूं कि कहीं ऐसा न हो, नारद गलत न हो जायें, तो फिर लीपा-पोती हो जायेगी। फिर अष्टावक्र पर मैं पूरे रूप से न बोल सकूंगा। जब अष्टावक्र पर बोलता हूं तो नानक समझें अपनी, नारद समझें अपनी, कबीर-मीरा अपनी फिक्र कर लें; मैं फिक्र नहीं करता। फिर मेरी फिक्र एक ही है कि अष्टावक्र के साथ प्रामाणिक रूप से उनकी बात पूरी की पूरी तुम तक पहुंचा दूं। फिर मैं अष्टावक्र के साथ पूरा लीन हो जाता हूं। फिर मैं नहीं बोलता, फिर मैं अष्टावक्र को बोलने देता हूं। इसलिए तुम्हें विरोधाभास दिखाई पड़ते हैं। मगर तुम कहीं से भी चल पड़ो, तुम किसी भी मार्ग को पकड़ लो। जिस दिन पहुंचोगे उस दिन जानोगे कोई विरोधाभास नहीं है।

"कोई बीस वर्षों से आप हम लोगों से बोल रहे हैं। आपके अनेक वक्तव्य एक-दूसरे का खंडन करते हैं।"

इसलिए भी मेरा रस है इस बात में कि हर वक्तव्य का खंडन हो जाये, ताकि तुम वक्तव्य से बंधे न रह जाओ। मैं अवक्तव्य की तरफ तुम्हें ले चल रहा हूं, अनिर्वचनीय की तरफ ले चल रहा हूं। मेरा वक्तव्य तुम्हारी छाती पर पत्थर बन कर न बैठ जाये। इसके पहले कि तुम पकड़ो, मैं उसे तोड़ भी देता हूं। मैं तुम्हें मुक्त करना चाहता हूं, बांधना नहीं। तुम मेरे वक्तव्यों में न बंध जाओ। तुम बंध भी न सकोगे। मैं मौका ही नहीं देता। तुम तो कई दफा तैयारी कर लेते हो। तुम तो बिलकुल बैठ जाते हो कि ठीक है आ गया घर। अब अपना सम्हाल लें, अब कहीं जाना-आना नहीं, यह हो गई बात पक्की। लेकिन इसके पहले कि तुम सम्हलो, मैं छीनना शुरू कर देता हूं। एक हाथ से देता हूं, दूसरे से छीन लेता हूं। क्योंकि मैं चाहता हूं कि तुम एक ऐसी दशा में आ जाओ जहां कोई वक्तव्य तुम्हारे ऊपर न हो। अवक्तव्य, अनिर्वचनीय, शून्य रह जाये। मेरे वक्तव्य सत्य के मार्ग में बाधा न बनें, क्योंकि सभी वक्तव्य बाधा बन जाते हैं। वक्तव्य को पकड़ा कि तुम सांप्रदायिक हो गये।

इसी तरह तो मुसलमान मुसलमान है; उसने कुरान का वक्तव्य पकड़ लिया। बौद्ध बौद्ध है; उसने बुद्ध का वक्तव्य पकड़ लिया। जैन जैन है; उसने महावीर का वक्तव्य पकड़ लिया। मैं तुम्हारे लिए कोई वक्तव्य नहीं छोड़ जाना चाहता। मैं तुम्हें अवक्तव्य, अनिर्वचनीय दशा में छोड़ जाना चाहता हूं। सब कहूंगा और सब छीन लूंगा। इधर एक हाथ से दूंगा, दूसरे हाथ से अलग कर लूंगा। कभी तो तुम समझोगे कि यह खाली दशा, जब तुम्हारे हाथ में कुछ भी नहीं होता, यही सत्य की दशा है। जब पकड़ने को कुछ भी नहीं होता तभी तुम मुक्त हो। जहां तुमने कुछ पकड़ा कि तुम पकड़े गये। पकड़ने वाला पकड़ा जाता है। जिसे तुम पकड़ते हो वह तुम्हें पकड़ लेता है।

वक्तव्य को पकड़ने वाला सांप्रदायिक हो जाता है। अवक्तव्य में जीने वाला धार्मिक है। फिर अवक्तव्य में जीने वाला सब वक्तव्यों को समझ लेता है, तो भी किसी वक्तव्य से ग्रसित नहीं होता, परिभाषित नहीं होता।

"आपके अनेक वक्तव्य एक-दूसरे का खंडन करते हैं। लेकिन आश्चर्य कि आज तक आपने अपना एक भी वक्तव्य वापिस नहीं लिया है।"

लेने की कोई जरूरत नहीं है। अगर किसी वक्तव्य को मैं वापिस लूं तो उसका अर्थ यह होगा कि किसी वक्तव्य के पक्ष में वापिस ले रहा हूं। कल कोई बात कही थी, उसे वापिस लेता हूं; क्योंकि आज कुछ कहना चाहता हूं और चाहता हूं कि कल की बात बाधा न बने; आज की बात तुम्हें पूरी तरह पकड़ ले, इसलिए कल की बात वापिस लेना चाहता हूं। नहीं, वापिस तो मैं सभी लेना चाहता हूं, इसलिए कोई भी वापिस न लूंगा। जाल तो मैं पूरा वापिस समेट लेना चाहता हूं, लेकिन मेरे समेटने से न होगा, तुम्हारे समझने से होगा। मैं ऐसा ही खंडन करता जाऊंगा।

तुमने महावीर का स्यादवाद समझा? महावीर से कोई पूछता, ईश्वर है, तो महावीर सात वक्तव्य देते। ईश्वर है? तो महावीर कहते: हां है, "स्याद अस्ति"। और इसके पहले कि वह आदमी पकड़ ले, महावीर कहते हैं: शायद नहीं है, "स्याद नास्ति"। और उसके पहले कि वह आदमी इस वक्तव्य को पकड़ ले, महावीर कहते हैं कि शायद दोनों है "अस्ति, नास्ति"। और इसके पहले कि वह आदमी इस वक्तव्य को पकड़ ले, महावीर कहते हैं:

शायद दोनों नहीं है। ऐसा महावीर चलते जाते। छः वक्तव्य देते हैं। और इसके पहले कि आदमी इनमें से कोई भी वक्तव्य पकड़ ले, महावीर कहते हैं: अवक्तव्य, कहा नहीं जा सकता। वह सातवां है।

सब वक्तव्यों के बाद याद रखना, मैं तुमसे कहना चाहता हूं: अवक्तव्य। जो मैं कहना चाहता हूं, वह कहा नहीं जा सकता। कहने की कोशिश कर रहा हूं, क्योंकि तुम अनकहे को अभी समझ न सकोगे। इसलिए कभी कहता हूं ईश्वर है, यह भी एक वक्तव्य है--ईश्वर के संबंध में। कभी कहता हूं ईश्वर नहीं है, यह भी एक वक्तव्य है--ईश्वर के संबंध में। पहले वक्तव्य में "हां" के द्वारा ईश्वर को समझाया गया, दूसरे वक्तव्य में "नहीं" के द्वारा समझाया गया। पहले वक्तव्य में दिन के द्वारा, दूसरे वक्तव्य में रात के द्वारा। पहले वक्तव्य में भाव के द्वारा, दूसरे वक्तव्य में अभाव के द्वारा। पहले वक्तव्य में आस्तिकता के सहारे, दूसरे वक्तव्य में नास्तिकता के सहारे।

अब तुम बड़े हैरान होओगे कि नास्तिक का वक्तव्य भी ईश्वर के संबंध में है। और ईश्वर में दोनों मिले हैं "है" भी और "नहीं" भी। तभी तो चीजें होती हैं और "नहीं" हो जाती हैं।

तुम देखते हो, एक वृक्ष है; कल नहीं था, फिर बीज फूटा, फिर वृक्ष हो गया; आज है, कल फिर नहीं हो जायेगा। अगर परमात्मा का स्वभाव सिर्फ "है" ही हो तो वृक्ष "नहीं" कैसे होगा? परमात्मा के स्वभाव में दोनों बात होनी चाहिए। वृक्ष का होना भी परमात्मा को राजी है, वृक्ष का न होना भी राजी है। जब वृक्ष "नहीं" हो जाता तब भी परमात्मा को कोई बाधा नहीं पड़ती; वृक्ष हो जाता है तो भी बाधा नहीं पड़ती। तो परमात्मा में "हां" भी है, "नहीं" भी है। अभाव भी, भाव भी। यह जरा कठिन है।

आस्तिक का वक्तव्य सरलतम है। वह कहता है "है"। नास्तिक का वक्तव्य थोड़ा कठिन है, लेकिन बहुत कठिन नहीं । वह कहता "नहीं" है। लेकिन खयाल करते हैं, दोनों वक्तव्यों में "है" तो है ही। कोई कहता है परमात्मा "है"; कोई कहता है परमात्मा "नहीं है"! पर "है" तो दोनों में ही मौजूद है। है-पन तो है ही। महावीर फिर तीसरा वक्तव्य बनाते हैं कि दोनों है; अलग-अलग मत कहो; अलग-अलग कहने में बात अधूरी रह जाती है; पूरा कह दो। ऐसा बढ़ते जाते हैं और अंत में असली बात कहते हैं कि अवक्तव्य है, कहा नहीं जा सकता।

ये सब कहने के उपाय हुए। इस बहाने कहना चाहा। लेकिन जो भी कहा वह छोटा-छोटा रहा; जिसे कहा जाना था वह बहुत बड़ा है, समाया नहीं, अटा नहीं, कह नहीं पाये। तो आखिर में असली बात कहे देते हैं कि मौन से ही उसे कहा जा सकता है।

"आश्चर्य कि आपने आज तक अपना एक भी वक्तव्य वापिस नहीं लिया है।"

सभी वक्तव्य उसी एक की तरफ इशारे हैं।

"और न किसी वक्तव्य में कोई संशोधन करने की जरूरत समझी।"

संशोधन का तो मतलब होता है अहंकार।

ऐसा हुआ कि गुजरात के एक पुराने गांधीवादी आनंद स्वामी एक रात मेरे साथ रुके। बैठ कर गपशप होती थी। तो उन्होंने मुझसे कहा कि मैं गांधी जी का पुराना से पुराना रिपोर्टर हूं। जब गांधी जी अफ्रीका से भारत आये, तो जो वक्तव्य उन्होंने पहला दिया था उसकी रिपोर्ट अखबारों में मैंने ही दी थी। लेकिन उस वक्तव्य में गांधी जी ने कुछ अपशब्द उपयोग किए थे, अंग्रेजों के प्रति कुछ गालियां उपयोग की थीं, वे मैंने छोड़ दी थीं। और जब दूसरे दिन गांधी जी ने रिपोर्ट पढ़ी अखबारों में तो उन्होंने पता लगवाया कि यह रिपोर्ट किसने दी है। मुझे बुलवाया, मुझे गले लगा लिया और कहा: रिपोर्टर ऐसा होना चाहिए! तुमने गालियां छोड़ दीं, यह अच्छा किया। क्योंकि दे कर तो पीछे मैं भी पछताया। अपशब्द बोले नहीं जाने चाहिए। ऐसा ही करना। यह सही-सही रिपोघटग है। और उन्होंने मेरी पीठ थपथपाई, ऐसा स्वामी आनंद ने मुझसे कहा।

मैंने कहा कि आप एक काम और किए कभी कि गांधी जी गाली न दें और आप एकाध रिपोर्ट में गाली जोड़ देते, फिर देखते क्या होता है! वे कहते, क्या मतलब? मैंने कहा, पहली रिपोर्ट भी हो तो गई गलत, हो तो गई झूठ; जो कहा था वह आपने छोड़ दिया; जो कहा था वह कहा गया था। और गांधी जी ने पीठ थपथपाई,

इसका तो मतलब यह हुआ कि गांधी जी पीछे पछताये जो कहा था। तो जो कहा था, बेहोशी में कहा होगा। अगर होश में कहा था तो पछताने का क्या सवाल है? बेहोशी में कहा होगा। फिर जब होश आया, पीछे से लौट कर जब देखा, तो लगा कि यह तो मेरे अहंकार को चोट लगेगी, यह मेरे महात्मापन का क्या होगा! लोग कहेंगे, गाली दे दी! तो डरे होंगे कि कहीं अखबार में रिपोर्ट न निकल जाये, नहीं तो वह इतिहास की संपत्ति हो जायेगी। तो तुम्हें बुलाया। तुम्हारी पीठ थपथपाई। तुमने उनके अहंकार को बचाया, उन्होंने तुम्हारे अहंकार को बचाया। तुम इससे बड़े खुश हुए। यह झूठ, और गांधी कहते हैं कि सत्य पर मेरा आग्रह है और सत्याग्रह को मानते हैं। और सत्य, कहते हैं, सबसे ऊपर है। मगर यह तो सत्य न हुआ। और अगर यह सत्य है तो फिर गांधी जी एक दिन गाली न दें, तुम उसमें गाली जोड़ देना, फिर वह क्यों असत्य होगा? वह भी सत्य है। गाली हटाओ कि जोड़ो, बराबर।

मैंने कहा: अगर मैं होता तो तुमसे कहता तुम्हें रिपोघटग आती नहीं है, यह धंधा तुम छोड़ो, तुमने झूठ किया। हालांकि झूठ गांधी जी के अहंकार के समर्थन में था, इसलिए वे राजी हो गये। अगर असमर्थन में होता तो? तो गांधी जी वक्तव्य देते अखबारों में कि यह रिपोर्ट झूठी है। झूठी तो यह थी ही, पर उन्होंने कोई वक्तव्य अखबारों में तो दिया ही नहीं कि मैंने गालियां दी थीं, उनका क्या हुआ? उल्टे तुम्हारी पीठ थपथपाई। यह तो बड़ा लेन-देन हो गया, यह तो पारस्परिक हिसाब हो गया। तुमने उन्हें बचाया, उन्होंने तुम्हें बचाया। और अगर वे तुम्हें कहें कि तुम बड़े से बड़े रिपोर्टर हो, तो आश्चर्य क्या? महात्मापन पर थोड़ी चोट लगती, वह तुमने बचा ली। और तुमने सदियों के लिए धोखा दिया, क्योंकि अब कोई निश्चिंत रूप से कह सकेगा कि गांधी ने कभी गाली नहीं दी, जो कि झूठ होगी बात। और गांधी की कथाओं में लिखा जायेगा, उन्होंने कभी गाली नहीं दी। और उन्होंने गाली दी थी, मैंने कहा, अभी तुम लिख जाओ इसको कम-से-कम।

वे मुझसे इतने नाराज हो गये, क्योंकि वे सोचते थे कि मैं भी उनकी पीठ थपथपाऊंगा। मैंने कहा, यह तो तुमने बेईमानी की। फिर मुझे कभी नहीं मिले।

मैंने जो कहा, कहा है। बदलना क्या है? कहते वक्त होश से कहा है। बदलेगा कौन? जितने होश से कहा है, उससे ज्यादा होश से कहा ही नहीं जा सकता है, इसलिए बदलने का कोई सवाल नहीं है। जो हुआ, हुआ। अब उससे मेरी बदनामी हो कि नाम हो, उससे मैं महात्मा समझा जाऊं कि दुरात्मा समझा जाऊं, ये बातें गौण हैं। जो कहा गया, वह कहा गया। क्या तुम समझोगे, तुम्हारे ऊपर है। इसलिए कभी किसी बात में संशोधन करने की मैंने जरूरत नहीं मानी। संशोधन का कोई अर्थ ही नहीं है।

"क्या आप जानबूझ कर ऐसा करते हैं और इसके पीछे क्या कोई राज है?"

नहीं, जानबूझ कर नहीं करता हूं; ऐसा हो रहा है; ऐसा होते देखता हूं। और यही सहज मालूम होता है। इसमें कोई असहजता नहीं है। पीछे से क्या लीपा-पोती करनी? जो क्षण जैसा था वैसा था। उस क्षण के संबंध में मेरा वक्तव्य गवाही रहेगा। मेरा कोई वक्तव्य मेरे संबंध में झूठ नहीं कहेगा।

हां, तुम्हारी तकलीफ मैं समझता हूं कि तुम्हें अड़चन होती है समझने में; लेकिन यह तुम्हारी समस्या है, मेरी नहीं। यह उलझन तुम्हारी है, इसमें तुम कुछ रास्ता निकालो। तुम्हारी उलझन को बचाने के लिए मैं सच को झूठ करूं, झूठ को सच करूं, यह मुझसे न हो सकेगा।

"और क्या यह खतरा नहीं है कि कालांतर में लोग संदेह करें कि सारे वक्तव्य एक ही महापुरुष के हैं?"

हर्जा क्या है? अगर लोग ऐसे ही समझेंगे कि बहुत-से लोगों की ये बातें हो सकती हैं, एक की नहीं हो सकतीं, तो हर्जा क्या है? यह लोग जानें। और पीछे का हम क्या हिसाब रखें आज से कि कल लोग क्या सोचेंगे! भविष्य को हम अज्ञात ही रहने दें।

मैं जानता हूं कि मेरे वक्तव्य अड़चन देंगे। कोई व्यक्ति जो मेरे वक्तव्यों के आधार पर पी एच. डी. लेना चाहेगा, इतनी आसानी से न ले पायेगा। लाख सिर मारेगा तो भी उसकी सूझ-बूझ में न पड़ेगा। यह कोई नहर नहीं है जो मैंने तुमसे कही; यह उद्दाम वेग में बाढ़ में आई हुई नदी है, इसको तुम पी एच. डी. के हिसाब से न बांध सकोगे। लेकिन पी एच. डी. मिले किसी को, न मिले, इसकी परेशानी मैं क्यों लूं?

एक जगह आधुनिक कला की प्रदर्शनी हो रही थी। अब आधुनिक कला तो आप जानते हैं, कुछ भी समझ में नहीं आता।

कहते हैं एक बार पिकासो का चित्र उल्टा टांग दिया किसी ने प्रदर्शनी में, तो वह उल्टा ही टंगा रहा और लोग उसकी प्रशंसा करते रहे और आलोचकों ने उसकी प्रशंसा में लेख लिख मारे। और जब पिकासो पहुंचा उसने कहा: किसने यह बदतमीजी की, मेरा चित्र उल्टा लटका हुआ है!

मगर उल्टा-सीधे का पता लगाना मुश्किल है।

एक बार पिकासो के पास एक आदमी आया, वह दो पेंटिंग खरीदना चाहता था और एक ही तैयार थी। वह अरबपति आदमी था। उसने कहा, जो पैसे चाहिए, लेकिन अभी इसी वक्त...। पिकासो भीतर गया, उसने कैंची से पेंटिंग के दो टुकड़े कर दिए, दो पेंटिंग हो गईं। अब पिकासो की पेंटिंग ऐसी है कि तुम चार टुकड़े भी कर दो तो भी पता नहीं चलेगा कि बीच से काटी कि क्या हुआ।

एक बार तो कहते हैं एक आदमी ने अपना पोर्ट्रेट बनवाया। पिकासो ने बनाया। कई हजार डालर मांगे। उस आदमी ने कहा, और सब तो ठीक है, लेकिन मेरी नाक ठीक नहीं। पिकासो ने कहा, अच्छा ठीक है, झंझट तो बहुत होगी, लेकिन हम ठीक कर देंगे। जब वह आदमी चला गया तो पिकासो बड़ा उदास बैठा है। उसकी प्रेयसी ने पूछा, इतने उदास क्यों हो? उसने कहा कि मुझे ही पता नहीं कि नाक बनाई कहां है! अब कहां ठीक कर दो!

यह आधुनिक कला तो ऐसी है। तो आधुनिक चित्रों की एक प्रदर्शनी होती थी। लोग बड़े हैरान हुए, क्योंकि प्रदर्शनी में जो पुरस्कार बांटने के लिए न्यायाधीश नियुक्त किया था, एक ज्योतिषी...। लोगों ने पूछा: ज्योतिषी महाराज को कला का क्या पता? इनको हमने भूत-प्रेत उतारते भी देखा, हाथ, कुंडली पढ़ते भी देखा, ज्योतिषशास्त्र भी, मगर कला का इनको कुछ पता है, यह तो हमें पता ही नहीं था। आज तक ये कहां छिपे रहे?

तो संयोजकों ने कहा, इन्हें कला का कुछ पता भी नहीं है, लेकिन यह कला ऐसी है कि इसमें पता होने का सवाल कहां है? और सच तो यह है कि यह कला ऐसी उलझन-भरी है कि सिर्फ ज्योतिषी ही पता लगा सकता है कि इसमें कौन-सा ठीक है, कौन-सा गलत है।

मैं जो कह रहा हूं, जब इकट्ठा तुम उसे फैलाओगे तो बहुत कठिन हो जायेगा, यह सच है। उसमें पता लगाना कि मैंने क्या कहा, क्या नहीं कहा, क्यों ऐसा कहा, फिर क्यों ऐसा खंडन कर दिया। चलो अच्छा ही है, भविष्य के लिए थोड़ा बौद्धिक अभ्यास होगा।

ये वक्तव्य मैं पंडितों के लिए छोड़ भी नहीं जा रहा हूं; ये तो उनके लिए छोड़ जा रहा हूं जो ध्यानी हैं। ध्यानी को समझ में आयेंगे, पंडित को समझ में नहीं आयेंगे।

तो इनके पीछे एक राज है और वह राज यह है कि ध्यानी को ही समझ में आ सकते हैं ये, पंडित को बिलकुल समझ में नहीं आयेंगे। पंडित तो कहेगा कि यह आदमी या तो पागल था या बहुत तरह के आदमी थे। ये एक आदमी के वक्तव्य नहीं हैं, कई आदमियों के वक्तव्य एक-दूसरे से मिल गये हैं, डांवांडोल हो गये हैं, गड्डमगड्ड हो गये हैं। यह कोई एक आदमी की बात नहीं हो सकती, एक आदमी इतनी बातें कैसे कह सकता है?

राज है--ये वक्तव्य पंडित के लिए छोड़े नहीं जा रहे हैं। ये वक्तव्य ध्यानी के लिए छोड़े जा रहे हैं। हां, जो ध्यान और प्रेम में डूब कर इनको पढ़ेगा, वह समझ लेगा। नहीं कि वक्तव्य समझ लेगा; समझ लेगा उसको जिसने

ये दिए थे; समझ लेगा उस चैतन्य की दशा को जिसमें ये दिए गये थे; समझ लेगा उस साक्षी-भाव को जिसमें इनका अवतरण हुआ था।

मेरे एक-एक शब्द में मेरे शून्य की थोड़ी-सी झलक रहेगी। और मेरे शब्द के आसपास खाली जगह में मेरी मौजूदगी रहेगी।

राज इनमें है; लेकिन तर्क और विचार का नहीं--ध्यान और शून्य का।

आखिरी प्रश्न: कल आपने भय की चर्चा की कि सब कुछ भय से ही हो रहा है। वेद भी ऐसा ही कहते हैं। वेदों में भी आदमी को डराया ही गया है। यह भय क्यों और कैसे पैदा हुआ जिसके कारण मैं बहुत परेशान हूं? भय के अतिरिक्त मुझमें कोई वासना नहीं है। इस भय मात्र को मिटाने के उपाय बताने की अनुकंपा करें।

पहली बात: जब तक तुम भय को मिटाना चाहोगे, भय न मिटेगा। तुम्हारे मिटाने में ही भय छिपा है। तुम न केवल भयभीत हो, तुम भय से भी भयभीत हो। इसलिए तो मिटाना चाहते हो। तुम मिटा न सकोगे। तुम मिटोगे तो भय चला जायेगा। तुम भय को न मिटा सकोगे। भय ही तुम्हारे अहंकार की छाया है।

समझो कि भय क्या है।

तुम जानते हो मौत होगी, इसे तुम झुठला नहीं सकते। रोज कोई मरता है। हर मरने वाले में तुम्हारे ही मरने की खबर आती है। जब भी कोई अरथी निकलती है, तुम्हारी ही अरथी निकलती है। और जब भी कोई चिता जलती है, तुम्हारी ही चिता जलती है। कैसे भुलाओगे? तुम जानते हो कि तुम भी मरोगे। जन्म गये तो मरोगे तो ही। यह देह तो मरण-शैय्या पर धरी है। यह तो चढ़ी है चिता पर। यह तो तुम रोज मरते जा रहे हो। भयभीत कैसे न होओगे? यह डर तो खायेगा। यह तो घबड़ायेगा कि मौत करीब आ रही है, पता नहीं कब आ जाये! कभी भी आ जाये, किसी भी क्षण आ सकती है।

इस जीवन में एक ही चीज निश्चित है--मृत्यु; और तो कुछ निश्चित नहीं है। इस निश्चित मृत्यु से तुम घबड़ाओगे कैसे न? घबड़ाओगे तो ही। यह बिलकुल स्वाभाविक है। तुमने शरीर को समझ लिया मैं, तो मौत होने वाली है। मौत होगी तो भय होगा। तुमने मन को समझ लिया मैं। और मन तो शरीर से भी ज्यादा अस्थिर है; क्षण भर भी वही नहीं रहता, बदलता ही जाता है; पानी की धार है, अभी कुछ, अभी कुछ। सुबह प्रेम से भरा था, दोपहर घृणा से भर गया। अभी-अभी श्रद्धा उमग रही थी, अभी-अभी अश्रद्धा पैदा हो गई। अभी-अभी बड़ी करुणा दर्शा रहे थे, अभी-अभी क्रोध में आ गये। अभी जिसके लिए मरने को तैयार थे, अभी उसको मारने को तत्पर हो गये।

यह मन तो भरोसे का नहीं है; यह तो बिलकुल कंप रहा है। यह तो पानी की लहर है। इस पर तो खींचो कुछ, खिंचता नहीं है, मिट जाता है। इस मन के साथ तुमने अपने को एक समझा है! क्षणभंगुर मन के साथ तुमने अपने को एक समझा है। मृत्यु के मुख में चले जा रहे शरीर के साथ तुमने अपने को एक समझा। तुम भयभीत कैसे न होओगे? और तुम पूछते हो: भय से छुटकारा कैसे हो?

भय स्वाभाविक है। भय तुम्हारे भ्रांत तादात्म्य की छाया है। जिस दिन तुम जानोगे कि मैं शरीर नहीं, मैं मन नहीं, उसी दिन तुम जानोगे कि भय गया। लेकिन उस दिन तुम यह भी जानोगे कि मैं भी नहीं; न शरीर मैं हूं, न मन मैं हूं। तब जो शेष रह जाता है वहां तो मैं खोजे भी मिलता नहीं। वहां तो मैं की कोई धारणा ही नहीं बनती। मैं तो पैदा ही तादात्म्य से होता है। किसी चीज से जुड़ जाओ तो मैं पैदा होता है। शरीर से जुड़ जाओ तो मैं। मन से जुड़ जाओ तो मैं। धन से जुड़ जाओ तो मैं। धर्म से जुड़ जाओ तो मैं। कहीं भी जोड़ लो अपने को तो मैं। जब सब जोड़ छूट गये तो मैं बचता नहीं। तब भीतर रह जाता है शून्य स्वभाव। उस शून्य स्वभाव में कोई भय की रेखा भी पैदा नहीं होती।

तो तुम पूछते हो कि भय से कैसे छुटकारा हो?

नहीं, भय से छुटकारे की चेष्टा न करो; भय को समझो कि भय क्यों है? छुटकारे के तो तुम उपाय कर ही रहे हो। तो कोई भगवान के चरणों को पकड़े पड़ा है कि हे प्रभु, बचाओ, तुम्हारी शरण आया हूं। लेकिन भय के कारण ही पड़ा है। तुम भगवान को याद ही करते हो जब तुम भयभीत हो जाते हो।

एक नाव डूबी-डूबी हो रही थी और मुल्ला नसरुद्दीन और उसका मित्र दोनों कंप रहे हैं। नसरुद्दीन का मित्र घुटने टेक कर बैठ गया, नमाज पढ़ने लगा। उसने कहा, "हे अल्लाह, हे परम पिता, अगर तूने मुझे बचा लिया तो मैं अब कभी भी शराब न पीऊंगा। अगर तूने मुझे आज बचा लिया तो मैं कभी धूम्रपान न करूंगा।" वह बड़े त्याग करने लगा। आखिर में वह यह कहने ही जा रहा था कि अगर तूने मुझे बचा लिया तो मैं संन्यासी हो जाऊंगा, फकीर हो जाऊंगा--तभी मुल्ला बोला, "ठहर-ठहर! रुक! इतनी जल्दी मत कर, किनारा दिखाई पड़ रहा है।" और वह आदमी उठ कर खड़ा हो गया और भूल गया सब बकवास। जब किनारा ही दिखाई पड़ रहा है तो फिर कौन फिक्र करता है!

मुल्ला एक बार चढ़ रहा था वृक्ष पर, खजूर लगे थे। लंबा वृक्ष। पैर खिसके, तो कहने लगा, "हे प्रभु अगर आज वृक्ष तक पहुंचा दो, खजूर तोड़ लूं, तो पूरा नगद एक रुपया चढ़ाऊंगा। पक्का मानो। हालांकि अतीत में मैंने ऐसा कुछ भी नहीं किया कि तुम भरोसा करो, मगर इस बार करो।" चढ़ गया। जब खजूर के बिलकुल पास पहुंचने लगा फलों के, तो उसने सोचा, यह तो तुम भी मानोगे कि इतने से खजूर के लिए एक रुपया ज्यादा है। जब खजूर पर हाथ ही रख दिया तो उसने कहा कि चढ़ें तो हम और पैसा तुम्हें चढ़ायें! इसी बीच पैर खिसका और धड़ाम से जमीन पर गिरा। खजूर भी छूट गये। नीचे गिरा, जल्दी कपड़े झाड़ कर ऊपर देख कर बोला, "यह भी क्या बात हुई। अरे जरा मजाक भी नहीं समझे! अगर आज गिराया न होता तो एक नगद कलदार चढ़ाते।"

बस आदमी जब भय में होता है तब भगवान; जैसे ही भय के जरा बाहर हुआ कि भगवान इत्यादि सब भूल जाता है। तुम्हारा भगवान तुम्हारे भय का ही रूप है।

और लोग मानते हैं कि आत्मा अमर है। यह भी तुम्हारे भय की ही धारणा है। मैं यह नहीं कह रहा कि आत्मा अमर नहीं है। लेकिन तुम्हारा मानना कि आत्मा अमर है--भय की धारणा है। डरे हो मौत से, तो कहते हो, आत्मा अमर है। कंप रहे हो। आत्मा का कोई पता नहीं, अमरता की तो बात ही छोड़ो। मगर आत्मा अमर है! इन सिद्धांतों में अपने को छिपाने की कोशिश मत करो।

भय से मुक्ति संभव है--भय को जानने के द्वारा। भय का साक्षात्कार करो। जहां भी तुम्हें लगे भय है, वहां भय पर ध्यान करो। समझने की कोशिश करो--क्यों है? कहां है? किस कोने में छिपा? मन के किस अचेतन में बैठा? कहां से उठता यह धुआं? क्यों उठता?

जिन मित्र ने पूछा है, मुझे लगता है कि उन्होंने भय का कभी साक्षात्कार नहीं किया। भय ने उन्हें पंगु कर दिया है। तुम इस पंगुता को तोड़ो। जब भय लगे, बैठ कर शांति से ध्यानपूर्वक भय को पहचानो कहां है। लगता है शरीर मर जायेगा, तो शरीर तो मरना ही है; इसमें भय की क्या बात है? यह तो होना ही है। इसमें भय करने से प्रयोजन क्या है?

सुकरात मरता था, एक शिष्य ने पूछा, आप भयभीत नहीं हैं? तो सुकरात ने आंख खोली और उसने कहा, भय? दो ही संभावनायें हैं: या तो जैसा नास्तिक कहते हैं कि मैं मर जाऊंगा, बिलकुल मर जाऊंगा, कुछ भी न बचेगा; जब कुछ बचेगा ही नहीं तो भय किसका, किसको होगा? बात खतम हो गई। सुकरात न रहा, खतम हो गई बात। रह कर भी क्या करना था? इतने दिन रहे तो भी क्या कर लिया? जन्म के पहले भी नहीं थे, तब तो कोई तकलीफ नहीं थी; मौत के बाद फिर नहीं हो जायेंगे, तो तकलीफ क्या है?

तुमसे मैं पूछता हूं: जन्म के पहले तुम नहीं थे, अगर नास्तिक सही हैं, तो जन्म के पहले तुम नहीं थे; कौन सी तकलीफ थी नहीं होने में? कोई याद आती है तकलीफ? जन्म के पहले की कोई तकलीफ याद है? जब थे ही

नहीं तो तकलीफ कैसी? जब कोई था ही नहीं तो तकलीफ किसको? मरने के बाद फिर नहीं हो गये, तो अब घबड़ाना क्या है? फिर वैसे ही होगा जैसे जन्म के पहले थे, ऐसे ही समझो।

तो सुकरात ने कहा: अगर नास्तिक सही हैं, कि आत्मा समाप्त हो जायेगी मृत्यु में, कुछ भी न बचेगा, तो भय क्या? जैसे जन्म के पहले नहीं थे वैसे फिर नहीं हो गये, बात खतम हो गई, आई-गई हो गई। एक लहर उठी, खो गई। या हो सकता है, आस्तिक सही हों। अगर आस्तिक सही हैं और आत्मा बचेगी, तो फिर भय कैसा? शरीर ही गया, हम तो बचे ही रहे। हम तो शरीर थे ही नहीं।

तो सुकरात ने कहा: दो ही संभावनायें हैं या तो आस्तिक सही हों या नास्तिक सही हों। और सुकरात बड़ा हिम्मत का आदमी है। वह यह भी नहीं कहता है कि मैं मानता हूं इसमें कौन सही है। वह कहता है: मुझे कुछ पता नहीं है। मगर भय कैसा? दो में से कोई एक ही ठीक हो सकता है। दोनों हालत में भय व्यर्थ है।

तो अगर शरीर का जाने का भय लगता है तो क्या डर है? शरीर तो जायेगा।

एक फकीर के दो बेटे थे, मर गये एक दुर्घटना में। जब वह फकीर घर आया नमाज पढ़ कर मस्जिद से तो उसकी पत्नी ने कहा, पहले तुम भोजन कर लो, फिर तुम्हें एक बात कहनी है। उसने भोजन कर लिया। लेकिन वह बार-बार पूछने लगा, बेटे कहां हैं? क्योंकि उसको बेटों से बड़ा लगाव था। जुड़वां बेटे थे। और कहने लगा कि वे सदा मस्जिद पहुंच जाते थे, आज मस्जिद भी नहीं पहुंचे, बात क्या है? पत्नी ने कहा, पीछे बताऊंगी, आप पहले भोजन कर लें। उसने भोजन कर लिया, हाथ-पैर धो कर बैठ गया। तो उसने कहा, अब दूसरे कमरे में आयें, लेकिन पहले एक बात कहनी है। बीस साल पहले एक आदमी कुछ हीरे-जवाहरात मेरे पास रख गया था अमानत के तौर पर, आज वापिस मांगने आया, तो मैं उसे लौटा दूं? फकीर ने कहा, यह भी कोई पूछने की बात है? जो उसकी है चीज, उसे लौटा दो। इसमें मेरे पूछने के लिए रुकने की जरूरत ही न थी। तुमने लौटाए क्यों न? क्या कुछ मन में बेईमानी आ गई?

उसने कहा, बस फिर सब ठीक है, अंदर आयें। उसने चादर उठा दी, दोनों लड़के मुर्दा पड़े थे। फकीर तो सन्नाटे में आ गया। लेकिन तब समझा बात। बीस साल पहले दोनों पैदा हुए थे; जिसने दिया था, वह आज वापिस ले गया। हंसने लगा। उसने पत्नी से कहा, तूने ठीक किया। तूने यह बात मुझसे ठीक ही पूछी। और फिर देख मजे की बात, बीस साल पहले ये दोनों जब पैदा नहीं हुए थे तब भी सब ठीक था, अब ये दोनों चले गये तो गलत होने का क्या कारण है! तब भी तो हम मजे में थे जब ये नहीं थे। जैसे तब थे वैसे अब होंगे। एक सपना था, देखा और टूट गया।

तो अगर शरीर के कारण भय लगता है तो यह शरीर तो जायेगा। इसे बचाने का कोई उपाय नहीं। अगर मन के कारण भय लगता है तो मन तो तुम हो ही नहीं। थोड़े जागो! ध्यान करो! होश से भरो। जैसे-जैसे जागने लगोगे, चैतन्य की ज्योति जलने लगेगी, शरीर-मन से अलग होने लगोगे, वैसे-वैसे भय विसर्जित हो जायेगा।

लेकिन तुम भय के खिलाफ मत लड़ो। खिलाफ लड़ोगे तो तुम भीतर तो कंपते ही रहोगे। हालत उल्टी बनी रहेगी।

भय से मुक्त हो कर अपूर्व जीवन के फूल खिलते हैं। भय से दबे रह कर सब जीवन की कलियां बिन खिली रह जाती हैं, पंखुड़ियां खिलती ही नहीं। भय तो जड़ कर जाता है। तो मैं जानता हूं तुम्हारी तकलीफ। लेकिन तुम भय से बचने के लिए उत्सुक हो तो कभी न बच पाओगे। मैं तुमसे कहता हूं: भय को जानो, देखो--है; जीवन का हिस्सा है। आंख गड़ा कर भय को देखो, साक्षात्कार करो। जैसे-जैसे तुम्हारी आंख खुलने लगेगी और भय को तुम ठीक से देखने लगोगे, पहचानने लगोगे--कहां से भय पैदा होता है--उतना ही उतना भय विसर्जित होने लगेगा, दूर हटने लगेगा। और एक ऐसी घड़ी आती है अभय की, जब कोई भय नहीं रह जाता। मृत्यु तो रहेगी, शरीर मरेगा, मन बदलेगा, सब होता रहेगा; लेकिन तुम्हारे अंतस्तल में कुछ है शाश्वत-सनातन छिपा, जिसकी

कोई मृत्यु नहीं। उसका थोड़ा स्वाद लो। साक्षी में उसका स्वाद मिलेगा। उसके स्वाद पर ही भय विसर्जित होता है; और कोई उपाय नहीं है।

हरि ॐ तत्सत्!

उनसठवां प्रवचन

साक्षी स्वाद है संन्यास का

अष्टावक्र उवाच।

क्व मोहः क्व च वा विश्वं क्व ध्यानं क्व मुक्तता।
सर्वसंकल्पसीमायां विश्रांतस्य महात्मनः।। १९०।।
येन विश्वमिदं दृष्टं स नास्तीति करोति वै।
निर्वासनः किं कुरुते पश्यन्नपि न पश्यति।। १९१।।
येन दृष्टं परं ब्रह्म सोऽहं ब्रह्मेति चिंतयेत्।
किं चिंतयति निश्चिन्तो द्वितीयं यो न पश्यति।। १९२।।
दृष्टो येनात्मविक्षेपो निरोधं कुरुते त्वसौ।
उदारस्तु न विक्षिप्तः साध्याभावात्करोति किम्।। १९३।।
धीरो लोकविपर्यस्तो वर्तमानोऽपि लोकवत्।
न समाधिं न विक्षेपं न लेपं स्वस्थ पश्यति।। १९४।।
भावाभावविहीनो यस्तृप्तो निर्वासनो बुधः।
नैव किंचित्कृतं तेन लोकदृष्टया विकुर्वता।। १९५।।
प्रवृत्तौ वा निवृत्तौ वा नैव धीरस्य दुर्ग्रहः।
यदा यतर्कत्तुमायाति तत्कृत्वा तिष्ठतः सुखम्।। १९६।।

एक मित्र ने बड़े क्रोध में पत्र लिखा है। लिखा है कि अष्टावक्र जो कहते हैं, आप जो समझाते हैं, वैसा अगर लोग मान लेंगे तो संसार-चक्र बंद ही हो जायेगा।

सुनें। एक तो संसार-चक्र चले, इसका मैंने कोई जुम्मा नहीं लिया। आपने लिया हो, आपकी आप जानें। फिर संसार-चक्र आप नहीं थे तब भी चल रहा था, आप नहीं होंगे तब भी चलता रहेगा। संसार-चक्र आप पर निर्भर है, इस भ्रांति में पड़ें मत। जो चलाता है, चलायेगा, और न चलाना चाहेगा तो तुम्हारे चलाये न चलेगा। तुम अपने को ही चला लो, उतना ही बहुत है। बड़ी चिंतायें सिर पर मत लो। छोटी चिंतायें हल नहीं हो रही हैं। ऐसी चिंताओं में मत उलझ जाना जिन पर तुम्हारा कोई बस ही न हो।

अष्टावक्र को हुए कोई पांच हजार साल होते हैं। अष्टावक्र कह गये, संसार-चक्र चल रहा है। और मेरे पांच हजार साल बाद अगर तुम आओगे, तो भी तुम पाओगे संसार सब चल रहा है। संसार-चक्र के चलने का मेरे या तुम्हारे कुछ कहने या होने से कोई संबंध नहीं है। हां, इतना ही है कि अगर तुम समझ जाओ तो तुम संसार-चक्र के बाहर हो जाते हो। तुम्हारे लिए चलना बंद हो जाता है। आवागमन से छूटने की बात, मुक्ति की आकांक्षा और क्या है?--संसार-चक्र के मैं बाहर हो जाऊं।

तुम्हें संसार-चक्र की चिंता भी नहीं है; तुम छिपे ढंग से कुछ और कह रहे हो। शायद तुम्हें होश भी न हो कि तुम क्या कह रहे हो। तुम इस संसार के चक्र को छोड़ना नहीं चाहते। बात तुम कर रहे हो: कहीं यह बंद तो न हो जाये! तुम भीतर से पकड़ना चाहते हो। पकड़ने के लिए बहाने खोज रहे हो। बहाना तुम कितना ही करो, तुम मुझे धोखा न दे पाओगे। तुम्हें चिंता भी क्या है संसार की? कौड़ी भर चिंता नहीं है तुम्हें--कल का मिटता आज मिट जाये। फिक्र तुम्हें कुछ और है। तुम्हारी वासनाओं का एक जाल है। उस वासना के जाल को तुम छिपाना चाहते हो। वह वासना का जाल नई-नई तरकीबें खोजता है। वह सीधा-सीधा हाथ में आता भी नहीं,

क्योंकि सीधा-सीधा हाथ में आ जाये तो बड़ी शर्म लगेगी। तुम अपनी भ्रांति और मूढ़ता को बचाना चाहते हो, नाम बड़ा ले रहे हो। नाम तुम कह रहे हो संसार-चक्र; जैसे तुम कुछ इस चक्र के रक्षक हो!

मैंने सुना है, एक प्रोफेसर हैं पोपट लाल। दादर के एक प्राइवेट सिंधी कालेज में प्रोफेसर हैं। एक तो प्राइवेट कालेज--और फिर सिंधियों का! तो प्रोफेसर की जो गति हो गई वह समझ सकते हो। असमय में मरने की तैयारी है। समय के पहले आंखों पर बड़ा मोटा चश्मा चढ़ गया है, कमर झुक गई है। पिता तो चल बसे हैं; बूढ़ी मां, वह पीछे पड़ी थी कि विवाह करो, विवाह करो पोपट! पोपट ने बहुत समझाया, बहुत तरह के बहाने खोजे। कहा कि मैं तो विवेकानंद का भक्त हूं और मैं तो ब्रह्मचर्य का जीवन जीना चाहता हूं। लेकिन मां कहीं इस तरह की बातें सुनती है! मां ने समझाया कि संसार-चक्र कैसे चलेगा? ऐसे में तो संसार-चक्र बंद हो जायेगा। फिर मां पर दया करके पोपट लाल विवाह को राजी हुए।

बंबई में तो कोई लड़की उनसे विवाह करने को राजी थी नहीं। सच तो यह है कि जब से वे प्रोफेसर हुए, जिस विभाग में प्रोफेसर हुए उसमें लड़कियों ने भर्ती होना बंद कर दिया। तो कोई गांव की, देहात की लड़की खोजी गई। वह विवाह करके आ भी गई। प्रोफेसर तो सुबह ही से निकल जाते दूर, उपनगर में रहते हैं, सुबह से ही निकल जाते हैं। दिन भर पढ़ाना। प्राइवेट कालेज और सिंधियों का! फिर प्रिंसिपल की भी सेवा करनी, प्रिंसिपल की पत्नी को भी सिनेमा दिखाना, बच्चों को चौपाटी घुमाना-- सब तरह के काम। रात कुटे-पिटे लौटते, तो सो जाते।

बूढ़ी को बहू पर दया आने लगी। एक दिन बंबई भी नहीं दिखाया ले जा कर, तो एक दिन वह बंबई दिखाने ले गई। जैसे ही बस पर पहुंचे स्टेशन पर, तो वहां कोई किसी सांड को पकड़ का बधिया बनाते थे। तो उस बहू ने बूढ़ी से पूछा कि इस सांड को यह क्या कर रहे हैं? बूढ़ी शर्माई भी, किन शब्दों में कहे! लेकिन बहू न मानी तो उसे कहना पड़ा कि ये इसे खस्सी करते हैं। तो उसने कहा, इतनी मेहनत क्यों करते हैं--दादर के सिंधी कालेज में प्रोफेसर ही बना दिया होता!

जो मन में छिपा हो वह कहीं न कहीं से निकलता है। तुम्हारे दबाये-दबाये नहीं दबता--नई-नई शक्लों में प्रगट हो जाता है। कहीं से तो निकलेगा। तुम संसार-चक्र के बंद होने से घबड़ाये हुए हो! परमात्मा ने तुमसे पूछ कर संसार-चक्र चलाया था? और अगर बंद करना चाहेगा तो तुमसे सलाह लेगा? तुम्हारी सलाह चलती है कुछ? अपने पर ही नहीं चलती, दूसरे पर क्या चलेगी? और सर्व पर तो चलने का कोई उपाय नहीं है। लेकिन तुम ऐसी चिंतायें लेते हो। ऐसी बड़ी चिंताओं में तुम छोटी चिंताओं को छिपा लेते हो। असली चिंता भूल जाती है। और इस भांति तुम एक पर्दा डाल लेते हो अपनी आंख पर और आंख नहीं खुलने देते।

छोड़ो! यह रुकता हो रुक जाये।

यह तो ऐसे ही हुआ कि तुम किसी चिकित्सक के पास जाओ और उससे कहो कि दवाइयां खोजना बंद करो, अगर ऐसी दवाइयों को खोजते रहे तो फिर बीमारियों का क्या होगा, बीमारियों का चक्र बंद ही हो जायेगा!

संसार-चक्र--जिसे तुम कहते हो--सिवाय बीमारियों के और क्या है? सिवाय दुख और पीड़ा के क्या जाना? जीवन में घाव ही घाव तो हो गये हैं, कहीं फूल खिले? मवाद ही मवाद है! कहीं कोई संगीत पैदा हुआ? दुर्गंध ही दुर्गंध है। कहीं तो कोई सुगंध नहीं। फिर भी संसार-चक्र बंद न हो जाये, इसकी चिंता है। गटर में पड़े हो; लेकिन कहीं गटर की गंदगी समाप्त न हो जाये, इसकी चिंता है। कहीं गटर बहना बंद न हो जाये, इसकी चिंता है। पाया क्या है? अन्यथा सारे ज्ञानी संसार से मुक्त होने की आकांक्षा क्यों करते?

तुम्हारा संसार सिवाय नर्क के और कुछ भी नहीं है। इस संसार से तुम थोड़े जागो तो स्वर्ग के द्वार खुलें। यह तुम्हारा सपना है। यह सत्य नहीं है जिसे तुम संसार कहते हो। सत्य तो वही है जिसे ज्ञानी ब्रह्म कहते हैं।

अब इस बात को भी तुम खयाल में ले लेना: जब अष्टावक्र या मैं तुमसे कहता हूं कि संसार से जागो, तो मैं यह नहीं कह रहा हूं कि जब तुम जाग जाओगे तो ये वृक्ष वृक्ष न रहेंगे, कि पक्षी गीत न गायेंगे, कि आकाश में

इंद्रधनुष न बनेगा, कि सूरज न निकलेगा, कि चांदत्तारे न होंगे। सब होगा। सच तो यह है कि पहली दफा, पहली दफा प्रगाढ़ता से होगा। अभी तो तुम्हारी आंखें इतने सपनों से भरी हैं कि तुम इंद्रधुनष को देख कैसे पाओगे? तुम्हारी आंख का अंधेरा इतना है कि इंद्रधनुष धुंधले हो जाते हैं। तुम फूल का सौंदर्य पहचानोगे कैसे? भीतर इतनी कुरूपता है, फूल पर उंडल जाती है। सब फूल खराब हो जाते हैं। पक्षियों के गीत तुम्हारे हृदय में कहां पहुंच पाते हैं? तुम्हारा खुद का शोरगुल इतना है कि पक्षियों सारे गीत बाहर के बाहर रह जाते हैं।

जब ज्ञानी कहते हैं संसार के बाहर हो जाओ, तो वे यह नहीं कह रहे हैं कि यह जो वस्तुतः है इससे तुम बाहर हो जाओगे। इससे तो बाहर होने का कोई उपाय नहीं। इसके साथ तो तुम एकीभूत हो, एकरस हो। यह तो तुम्हारा ही स्वरूप है। तुम इसके ही हिस्से हो। फिर किससे बाहर हो जाओगे? वह जो तुमने मान रखा है और है नहीं; वह जो रस्सी में तुमने सांप देख रखा है। सांप से मुक्ति हो जायेगी, रस्सी तो रहेगी। तुम्हारा सपनों का एक जाल है। तुम कुछ का कुछ देख रहे हो।

एक मित्र हैं। वे हमेशा मुझसे कहते हैं कि मुझे नींद में, रात सपने में बड़े काव्य का स्फुरण होता है। मैंने उनसे कहा कि तुम्हें मैं जानता हूं, तुम्हें मैं देखता हूं, तुम्हारे जागरण में भी काव्य का स्फुरण नहीं होता, तो नींद में कैसे होगा! आखिर नींद तो तुम्हारी ही है न! जागरण तुम्हारा इतना कोरा और रेगिस्तान जैसा है, इसमें कहीं कोई मरूद्यान नहीं दिखाई पड़ता, तो नींद में काव्य पैदा होता होगा!

वे कहने लगे कि आप मानो, जब मैं रोज सुबह उठता हूं तो मुझे ऐसा थोड़ी-थोड़ी भनक रहती है कि रात बड़ी कविता पैदा हुई। और आपसे क्या कहूं, आप न मानोगे; हिंदी में तो होती ही है, अंग्रेजी तक में होती है।

तो मैंने कहा, तुम ऐसा करो कि आज रात अपने बिस्तर के पास ही टेबल रख कर कापी और पेंसिल रख कर सो जाओ और सोते वक्त यह खयाल रख कर सोओ कि आज कोई भी कविता भीतर पैदा होगी तो उसी क्षण मेरी नींद खुल जाये। ऐसा दोहराते रहो। दोहराते-दोहराते ही सो जाओ। हजार बार दोहराकर और सो जाओ। और जब तक ऐसा हो न जाये तब तक रोज यह करते रहो, एक न एक दिन नींद टूट जायेगी। तुम उठ कर तत्क्षण लिख लेना और सुबह मेरे पास ले आना, ईमानदारी से, जो भी लिखो।

वे दूसरे दिन कापी लेकर आ गये, बड़े उदास थे। मैंने पूछा, क्या मामला है? वे कहने लगे, शायद आप ठीक ही कहते थे। मैं ऐसा ही किया रात में और बीच में मेरी नींद टूट भी गई और मैंने लिख भी लिया और मैं ले आया हूं, लेकिन बताने में शर्म लगती है।

मैंने कहा, फिर भी दिखा तो दो। उन्होंने कहा, आप क्षमा करो, न देखो तो ठीक। फिर भी मैंने आग्रह किया तो उन्होंने बड़े डरते-डरते और संकोच से अपनी कापी दे दी। आड़े-तिरछे अक्षरों में नींद में लिखा गया था, आधी नींद में रहे होंगे। जो लिखा था, वह उनके दरवाजे के बाहर गोल्ड स्पॉट का एक बड़ा विज्ञापन लगा है: लिव्वा लिटल हॉट, सिप्पा गोल्ड स्पॉट! यह अंग्रेजी और इसका हिंदी में तरजुमा भी लिखा है: जी भर के जीयो, गोल्ड स्पॉट पीयो। यह कविता उतरी। इसी को रोज पढ़ते रहे होंगे। सामने ही लगा है बोर्ड। यही मन में बैठ गई होगी। यही रात सपने में डोलने लगी।

तुम्हारा जो संसार है, वह तुम्हारी नींद में है। जो भ्रांतियां हो रही हैं, उनका ही नाम है। तो जब भी अष्टावक्र "संसार" शब्द का उपयोग करते हैं कि ज्ञानी संसार से जाग जाता है, संसार से मुक्त हो जाता है, तो तुम संसार से यह मत समझना कि जो है उससे मुक्त हो जाता है। जो है, उससे कैसे मुक्त हो जाओगे? जो है, उसमें तो मुक्त होना है। जो नहीं है, उससे मुक्त होना है। और जो नहीं है, उससे मुक्त हो जाता है वही जो है, उसमें मुक्त हो जाता है।

मुक्ति के दो पहलू हैं। झूठ से मुक्त होना है, सच में मुक्त होना है। झूठ के बंधन के कारण सच में हम अपने पंख नहीं खोल पाते। झूठ की जंजीरों के कारण सच के आकाश में नहीं उड़ पाते।

नहीं! अगर ज्ञानियों की बात तुम ठीक से समझे तो तुम्हारा जीवन और भी सुंदर हो जायेगा, सुंदरतम हो जायेगा--सत्यम् शिवम् सुंदरम् होगा।

यह संसार बड़ा स्वर्णिम हो जाये अगर तुम जाग जाओ; तुम्हारी नींद के कारण बहुत गंदा हो गया है। तुम्हारी बेहोशी के कारण विक्षिप्त दशा है यह। इस विक्षिप्त दशा को तुम संसार कह रहे हो! लोग दौड़े जा रहे, भागे जा रहे--यह भी नहीं जानते कहां जा रहे; यह भी नहीं जानते क्यों जा रहे। सब जा रहे, इसलिए वे भी जा रहे; सब दिल्ली जा रहे, इसलिए वे भी दिल्ली जा रहे। सबको पद चाहिए तो उनको भी पद चाहिए। सबको धन चाहिए तो उनको भी धन चाहिए। बाकी सबसे भी पूछो तो वे कहते हैं कि बाकी सबको चाहिए, इसलिए हमको भी चाहिए। लोग धक्कम-धुक्की में हैं; एक-दूसरे का अनुकरण कर रहे हैं। लोग कार्बन कापियां हैं; छाया की तरह जी रहे हैं। वास्तविक नहीं हैं, ठोस नहीं हैं, प्रामाणिक नहीं हैं। इस दौड़-धाप को, इस आपा-धापी को बीमारी कहना चाहिए।

मनोवैज्ञानिक कहते हैं, दुनिया में चार आदमियों में करीब-करीब तीन पागल हैं। और चौथे के संबंध में वे कहते हैं कि हम इतना ही कह सकते हैं कि संभव है कि न हो पागल, पक्का नहीं। और ऐसा होना ही चाहिए। जिनको हमने बुद्धपुरुष कहा है, ठीक यह होगा कि हम कहें कि ये वे थोड़े-से लोग हैं जो हमारे पागलपन के घेरे के बाहर हो गये। भीड़ तो पागल है।

धन जोड़ते हो और जीवन गंवा देते हो। कंकड़-पत्थर इकट्ठे कर लेते हो, आत्मा बेच डालते हो। पागल नहीं तो और क्या हो? कांटे बटोर रहे हो, छाती से लगाये बैठे हो और फूलों का खयाल कर रहे हो। या कि कांटों पर फूलों के लेबिल लगा रखे हैं। कांटे चुभ भी रहे हैं, पीड़ा भी हो रही है, फिर भी छोड़ते नहीं। और अगर कोई कहे, तो तुम कहते हो संसार-चक्र बंद हो जायेगा; जैसे कि तुमने कुछ ठेका लिया है संसार-चक्र को चलाने का!

संसार-चक्र तो परमात्मा का ही आयोजन है। संसार-चक्र तो परमात्मा की ही यात्रा है। ये संसार के चक्के तो उसके ही रथ के चक्के हैं। यह तो चलता रहेगा। अभी तुम घसीटे जा रहे हो, फिर तुम रथ पर सवार हो जाओगे--इतना ही फर्क है। इस फर्क को मैं फिर दोहरा दूं। अभी तुम ऐसी हालत में हो, जैसे कि चाक से बंधे और सड़क पर घसिट रहे हो; सारी धूल-धवांस तुम्हारे ऊपर पड़ रही है; हड्डी-पसली टूटी जा रही है; जीर्ण-जर्जर हुए जा रहे हो--चक्के से बंधे हो।

रथ तो चलता रहेगा। सूरज तो उगेगा। चांद तो आयेंगे। तारे तो चलेंगे। पृथ्वी तो हरी होगी। पक्षी तो गीत गायेंगे। प्रेम तो होगा। सत्य की वर्षा तो होती रहेगी। अमृत तो उगेगा। यह सब तो होगा। लेकिन तुम रथ पर सवार होओगे सम्राट की तरह--रथ के चक्के से गुलाम की तरह बंधे हुए नहीं।

घबड़ाओ मत। जागने में कुछ भी खोता नहीं। वही खोता है जो कभी था ही नहीं और तुमने सोच रखा था कि है। जागने में मिलता ही मिलता है। और वही मिलता है जो तुम्हारे पास ही था, लेकिन तुमने कभी अपनी गांठ ही न खोली, तुमने कभी भीतर झांका ही नहीं।

तो मैं अपने संन्यासियों को निरंतर कहता हूं: मैं तुम्हें वही देना चाहता हूं जो तुम्हारे पास है और तुमसे वही ले लेना चाहता हूं जो तुम्हारे पास नहीं है।

मुझसे कोई पूछता है: हम संन्यास ले रहे हैं तो अब हम क्या त्यागें? तो मैं उनसे कहता हूं: वही त्याग दो जो तुम्हारे पास नहीं है। वही त्याग दो जो तुम्हारे पास नहीं है। जो तुमने मान रखा है कि है और है नहीं। अहंकार है नहीं जरा भी; खोजने जाओगे तो पाओगे नहीं। जितना खोजोगे उतना ही कम पाओगे। ठीक-ठीक खोजोगे, बिलकुल नहीं पाओगे। भीतर आंख बंद करके जाओगे पता लगाने कि अहंकार कहां है, तो कहीं भी जरा-सी भी छाया न मिलेगी। पर है। और उसी के लिए हम जी रहे और मर रहे और मार रहे हैं। मान रखा है कि यही हूं मैं।

"मेरा-तेरा" झूठ है। यहां कुछ भी मेरा नहीं है और कुछ भी तेरा नहीं है। सब था, हम नहीं थे; सब होगा, हम नहीं हो जायेंगे। तो यहां "मेरा-तेरा" झूठ है। सब है प्रभु का। तो जहां तुमने कहा मेरा वहां तुमने झूठ खड़ा

कर दिया। झूठ जितने तुम खड़े कर लेते हो उतना ही सत्य से मिलन असंभव हो जाता है। तुम अगर कभी सत्य की तरफ उन्मुख भी होते हो तो सत्य की खोज के कारण नहीं।

किसी की पत्नी मर गई, वह आ जाता है कि अब क्या रखा संसार में, अब तो मुझे संन्यास दे दें! मैं कहता हूं: थोड़ी देर रुक, अभी इस दुख में संन्यास मत ले। क्योंकि दो महीने बाद जब दुख चला जायेगा तो फिर तू पत्नी की तलाश करने लगेगा। यह तो दुखावेश है। इस आवेश में संन्यास मत ले।

किसी का दिवाला निकल जाता है; वह कहता है अब तो संन्यास लेना है। अभी एक क्षण पहले तक संसार-चक्र को चलाने का आग्रह था; अब दिवाला निकल गया तो एकदम संसार-चक्र को बंद कर देने की इच्छा हो रही है। लेकिन अभी खबर आ जाये कि घर में खजाना दबा पड़ा था, पिता रख गये थे, वह मिल गया, तो यह सोचेगा कि छोड़ो, अभी कहां संन्यास की बात करनी, फिर देखेंगे!

तुम तो जब हारते हो और टूटते हो, तभी तुम संन्यास की सोचते हो, संसार से हटने की सोचते हो। यह कोई समझपूर्वक बात नहीं हो रही।

मैंने सुना, एक जहाज पर मुल्ला नसरुद्दीन यात्रा कर रहा था। एक बच्चा गिर पड़ा, रेलिंग से झुक रहा था, गिर पड़ा। कौन कूदे समुद्र में! लोग खड़े होकर देखने लगे और तभी अचानक लोगों ने देखा कि मुल्ला कूदा और बच्चे को निकाल कर बाहर आया। जयजयकार होने लगा: मुल्ला नसरुद्दीन जिंदाबाद! और लोग बड़ी फूलमालायें ले आये और उन्होंने कहा: गजब कर दिया! मुल्ला ने कहा: बंद करो बकवास! पहले यह बताओ, मुझे धक्का किसने दिया? चमड़ी उधेड़ दूंगा जिसने धक्का दिया है, पता भर चल जाये।

ऐसा तुम्हारा संन्यास है--कोई धक्का दे दे।

तुम संसार से हटो भी, तो खुद नहीं हटते, इज्जत से नहीं हटते, बेइज्जती से। जब तक काफी जूते न पड़ जायें, तुम हटते ही नहीं।

कहावत है: सौ सौ जूते खायें, तमाशा घुस कर देखें। कौन फिक्र करता है, तमाशा जब हो रहा हो तो कितने ही जूते पड़ जायें!

संसार का इतना मोह क्या है? पाया क्या है? क्यों इतने जोर से पकड़े हुए हो? अगर इसके विश्लेषण में जाओगे तो तुम्हें दिखाई पड़ेगा: इतने जोर से इसीलिए पकड़े हुए हो कि कुछ भी नहीं पाया है। तुम्हारा जीवन खाली है। आशा में पकड़े हुए हो, शायद संसार से कुछ मिल जाये, आज नहीं कल, कल नहीं परसों। अब तक तो नहीं मिला, कल शायद मिल जाये! पकड़े हो। छोड़ते नहीं।

देखो जरा गौर से, तुम रेत को निचोड़ कर तेल निकालना चाहते हो, यह निकलेगा नहीं! सब समय व्यर्थ जायेगा। कभी कोई नहीं जीत पाया इस तरह। कितने मनुष्य पृथ्वी पर रहे हैं! अरबों-खरबों आदमी तुमसे पहले आ चुके हैं और यही सब कर चुके हैं, यही तमाशा देख चुके हैं। और फिर, खाली हाथ वापिस विदा हो गये हैं। इसके पहले कि तुम्हारा भी विदा का क्षण आ जाये, तुम स्वेच्छा से जाग उठो। जो मौत करेगी, वह जिस दिन तुम स्वयं करने को राजी हो जाते हो उसी दिन सत्य उपलब्ध होना शुरू हो जाता है। मौत तुमसे छीनेगी; तुम खुद ही कह दो: इसमें कुछ है नहीं, मैं पकड़ता नहीं।

फिर मैं तुमसे यह भी नहीं कह रहा हूं, न अष्टावक्र कह रहे हैं कि तुम भाग जाओ जंगल-पहाड़ों पर। क्योंकि भगोड़ापन कोई ज्ञानी नहीं सिखायेगा। जो भाग कर भी गये हैं, जब उन्हें ज्ञान उपलब्ध हो गया तो वापिस लौट आये। बुद्ध और महावीर भाग कर गये थे, लेकिन जब ज्ञान उपलब्ध हुआ तब समझ में आ गई बात, वापिस लौट आये।

रवींद्रनाथ की एक बड़ी प्यारी कविता है। बुद्ध जब वापिस लौटते हैं छः वर्ष के बाद और उनकी पत्नी से मिलन होता है, यशोधरा मिलने आती है, तो यशोधरा उनसे एक सवाल पूछती है कि मुझे सिर्फ एक सवाल पूछना है; इन वर्षों में जब आप मुझे छोड़ कर चले गये तो एक ही सवाल मुझे पीड़ित करता रहा है, मैं उसके

लिए ही जीवित रही हूं, वही पूछ लूं, तो बस। बुद्ध ने कहा कि क्या सवाल है तेरा? यशोधरा ने कहा: मुझे यही पूछना है कि जो तुम्हें जंगल में जा कर मिला, क्या यहीं इसी महल में रहते हुए नहीं मिल सकता था?

रवींद्रनाथ बुद्ध के भागने के पक्ष में नहीं थे। भागने के पक्ष में कोई भी नहीं हो सकता। इसलिए उन्होंने यह कविता लिखी है और यशोधरा से अपना मंतव्य कहलवा दिया है। पूछती है यशोधरा: अगर तुम, जंगल में जो तुमने पाया, माना कि पाया जंगल में, अगर तुम यहीं रहते तो पा सकते थे या नहीं? और रवींद्रनाथ कहते हैं कि बुद्ध चुप रह गये। क्या कहें? अगर यह कहें कि यहीं रह कर मिल सकता था तो यशोधरा कहेगी, क्या पागलपन किया, फिर किसलिए भागे-दौड़े? और यह तो कह ही नहीं सकते कि यहां नहीं मिल सकता था जो वहां मिला। क्योंकि जो वहां मिला वह कहीं भी मिल सकता था। वह तो भ्रांति ही थी।

भगोड़ापन, अष्टावक्र की शिक्षा नहीं है। निश्चित ही मेरी तो बिलकुल नहीं है। आज के सूत्र तुम्हें साफ करेंगे।

संसार में रहते हुए जागरण की कला ही धर्म है। तब तुम इस भांति हो जाते हो जैसे जल में कमल। होते हो जल में, लेकिन जल छूता नहीं। मजा भी तभी है। गरिमा भी तभी, गौरव भी तभी है। महिमा भी तभी है, जब तुम भीड़ में खड़े और अकेले हो जाओ। बाजार के शोरगुल में और ध्यान के फल लग जायें। जहां सब व्याघात हैं और सब विक्षेप हैं, वहां तुम्हारे भीतर समाधि की सुगंध आ जाये। क्योंकि हिमालय पर तो डर है, तुम अगर चले जाओ तो हिमालय की शांति धोखा दे सकती है। हिमालय शांत है, निश्चित शांत है। वहां बैठे-बैठे तुम भी शांत हो जाओगे, लेकिन इसका पक्का पता नहीं चलेगा कि तुम शांत हुए कि हिमालय की शांति के कारण तुम शांत मालूम हुए। यह वातावरण के कारण है शांति या तुम्हारा मन बदला, इसका पता न चलेगा। यह तो पता तभी चलेगा जब तुम बाजार में वापिस आओगे।

और मैं तुमसे कहता हूं: हिमालय पर जो उलझ जाता है वह फिर बाजार में आने में डरने लगता है। डरता है इसलिए कि बाजार में आया कि खोया। और बाजार में आता है, तभी परीक्षा है, तभी कसौटी है। क्योंकि यहीं पता चलेगा। जहां खोने की सुविधा हो वहां न खोये, तो ही कुछ पाया। जहां खोने की सुविधा ही न हो वहां अगर न खोये तो कुछ भी नहीं पाया। अगर हिमालय के एकांत में अपनी गुफा में बैठ कर तुम्हें क्रोध न आये तो कुछ मूल्य है इसका? कोई गाली दे तब पता चलता है कि क्रोध आया या नहीं। कोई गाली ही नहीं दे रहा है, तुम अपनी गुफा में बैठे हो, कोई उकसा नहीं रहा है, कोई भड़का नहीं रहा है, कोई उत्तेजना नहीं है, कोई शोरगुल नहीं है, कोई उपद्रव नहीं है--ऐसी घड़ी में अगर शांति लगने लगे तो यह शांति उधार है। यह हिमालय की शांति है जो तुममें झलकने लगी। यह तुम्हारी नहीं! तुम्हारी शांति की कसौटी तो बाजार में है।

इसलिए अष्टावक्र भागने के पक्ष में नहीं हैं, न मैं हूं; जागने के पक्ष में जरूर हैं। भागना कायरता है। भागने में भय है। और भय से कहां विजय है!

यह सूत्र समझो। पहला सूत्र:

क्व मोहः क्व च वा विश्वं क्व ध्यानं क्व मुक्तता।
सर्वसंकल्पसीमायां विश्रांतस्य महात्मनः।।

"संपूर्ण संकल्पों के अंत होने पर विश्रांत हुए महात्मा के लिए कहां मोह है, कहां संसार है, कहां ध्यान है, कहां मुक्ति है?"

सुनो यह अपूर्व वचन। अष्टावक्र कहते हैं: जिसके संपूर्ण संकल्पों का अंत आ गया; जिसके मन में अब संकल्प-विकल्प नहीं उठते; जिसके मन में अब क्या हो क्या न हो, इस तरह के कोई सपने जाल नहीं बुनते; जिसके मन में भविष्य की कोई धारणा नहीं पैदा होती; जिसकी कल्पना शांत हो गई है और जिसकी स्मृति भी सो गई; जो सिर्फ वर्तमान में जीता है।

सर्व संकल्प सीमायां विश्रांतस्य महात्मनः।

और इन सब संकल्पों का जहां सीमांत आ गया है, वहां जो विश्राम को उपलब्ध हो गया वही महात्मा है।

महात्मा का अर्थ--जिसके जीवन में अब कोई आकांक्षा की दौड़ न रही; अब जो कुछ भी नहीं चाहता, परमात्मा को भी नहीं चाहता, ब्रह्म को भी नहीं चाहता, मोक्ष को भी नहीं चाहता--जो चाहता ही नहीं, चाह मात्र विसर्जित हो गई। अब तो जो है, उसमें रस-मुग्ध। जो है, उसके काव्य में डूबा। अब तो जो है उसमें परम तृप्त। अब तो जैसा है उसमें ही महोत्सव को उपलब्ध।

"संपूर्ण संकल्पों के अंत होने पर विश्रांत हुए महात्मा के लिए कहां मोह!"

अब किसको कहे मेरा? मैं ही न बचा। इसे समझो।

संकल्पों और विकल्पों के जोड़ का नाम ही मैं है। सोचो एक धारणा: अगर कोई तुमसे तुम्हारा अतीत छीन ले तो तुम यह बता न सकोगे कि तुम कौन हो। क्योंकि अतीत के छिनते ही तुम बता न सकोगे, कौन तुम्हारा पिता, कौन तुम्हारी मां, किस कुल से आते, किस देश के वासी, किस भाषा को बोलते, हिंदू हो कि मुसलमान कि ईसाई कि जैन, ब्राह्मण कि शूद्र, कुछ भी न बता सकोगे। अगर कोई एक झटके में तुम्हारा अतीत छीन ले तो तुम्हारे पास "मैं" की कोई परिभाषा बचेगी? एकदम तुम पाओगे परिभाषा खो गई।

मेरे एक मित्र हैं, डाक्टर हैं। ट्रेन से जाते थे, भीड़ थी ट्रेन में, दरवाजे पर खड़े थे। थोड़े झक्की स्वभाव के हैं। भूल गये होंगे कि डंडे को पकड़े रहना है जोर से। खड़े-खड़े कुछ विचार में खो गए होंगे, गिर पड़े। ट्रेन से बाहर गिर गये, सिर में बड़ी चोट लगी। ऐसे ऊपर से कोई खास चोट नहीं लगी। ऊपर से कोई घाव नहीं हुआ। कोई हड्डी-पसली नहीं टूटी। लेकिन स्मृति खो गई। याददाश्त खो गई। मस्तिष्क तो यंत्र है, बड़ा बारीक यंत्र है--कुछ चोट भीतर पहुंच गयी और स्मृति के धागे टूट गये। बस भूल गये। वे यह भी न बता सके कि उनका नाम क्या है। वे यह भी न बता सके कि वे कहां से आ रहे हैं। उनकी टिकिट वगैरह देख कर उनको गांव वापिस भेजा गया। तीन वर्ष तक उन्हें कुछ भी याद न रही। मेरे साथ पढ़े, बचपन से मेरे दोस्त, मैं उन्हें देखने गया। वे मेरी तरफ देखते रहे। वे मुझे पहचान ही न सके। सब खो गया। वे अपनी पत्नी न पहचान सके, अपने बाप को न पहचान सके। फिर से अ ब स से सीखना शुरू किया।

अगर तुम्हारी स्मृति हट जाये तो तुम कौन हो? तुम्हारा मैं तुम्हारी स्मृति का संग्रहीभूत सार-संचय है। और अगर तुम्हारे भविष्य की योजनायें तुमसे छूट जायें, तब तो तुम बिलकुल ही खो गये। तुम्हारा अतीत भी तुम्हारे "मैं" को बनाता है। तुम कहते हो, मैं फलां का बेटा, इतना धन मेरे पास, मैं ब्राह्मण। और आगे की योजना-कल्पना भी तुम्हें बनाती है। तुम कहते हो, आज नहीं कल चीफ मिनिस्टर होने वाला, कि प्राइम मिनिस्टर होने वाला, कि जरा ठहरो, देखो करोड़ों रुपये कमा देने वाला हूं। तो तुम्हारा अतीत भी तुम्हारे "मैं" को बनाता है और तुम्हारा भविष्य भी तुम्हारे "मैं" को बनाता है। इन दोनों के बीच में "मैं" खड़ा है। ये दो बैसाखियां तुम्हारे "मैं" के पैर हैं। ये दोनों गिर जायें, तुम्हारा "मैं" गिर गया।

संकल्प-विकल्प के अंत हो जाने पर व्यक्ति की चेतना परम विश्राम में पहुंच जाती है। न तो पीछे का कोई धक्का रहता है, न आगे का कोई खिंचाव रहता है। तुम वर्तमान क्षण में रह जाते शांत, विश्रांति को उपलब्ध। ऐसे महात्मा के लिए कहां मोह है और कहां संसार!

क्या तुम समझते हो ऐसे महात्मा के लिए ये सब वृक्ष, चांदत्तारे, आकाश, बादल खो जायेंगे? अगर ऐसा होता तो अष्टावक्र बोल किससे रहे हैं? जनक तो है ही नहीं फिर, समझा किसको रहे हैं? नहीं; "कहां संसार" का अर्थ है: कहां सपना! "संसार" शब्द का अर्थ है तुम्हारे भीतर चलते हुए सपनों की दौड़--ऐसा हो जाये, ऐसा पा लूं, ऐसा कर लूं। वह जो तुम्हारे भीतर शेखचिल्ली बैठा है, उस शेखचिल्ली की ही यात्रा का नाम संसार है।

इसे मैं तुम्हें बार-बार समझा देना चाहता हूं, नहीं तो तुम्हें बड़ी भ्रांति होती है। तुम सोचते हो संसार छोड़ने का अर्थ घर-द्वार छोड़ो। संसार छोड़ने का अर्थ है: भविष्य छोड़ो! संसार छोड़ने का अर्थ है: अतीत छोड़ो। संसार छोड़ने का अर्थ है: कल्पना-विकल्पना छोड़ो।

"कहां संसार!"

और बड़ा अदभुत सूत्र है! अष्टावक्र कहते हैं: "ऐसे व्यक्ति को कहां ध्यान और कहां मुक्ति!"

सब गया। जब बीमारी गई तो औषधि भी गई। तुम्हारी जब बीमारी चली जाती है तो तुम औषधि की बोतलें थोड़े ही टांगे फिरते हो कि इनका बड़ा धन्यवाद, कि इन्हीं के कारण बीमारी गई, अब इनको कैसे छोड़ें, कि अब तो इनको हम सदा टांगे फिरेंगे! ये पेन्सिलिन का इंजेक्शन, इसी के कारण बीमारी गई, तो अब इसकी पूजा करेंगे! जिस दिन बीमारी गई उसी दिन तुम कचरे-घर में फेंक आते हो सब दवाइयां, बात खतम हो गई।

ध्यान तो औषधि है। विचार बीमारी है; ध्यान औषधि है। संसार बीमारी है; मोक्ष औषधि है। जब संसार ही न रहा तो कहां मोक्ष, कैसा मोक्ष! जिससे बंधे थे वही न रहा, तो अब कैसा छुटकारा!

यह तुम्हें बड़ा कठिन मालूम पड़ेगा, क्योंकि तुमने यह तो सुना है कि संसार नहीं रह जायेगा, तब तुमने मान रखा है कि मोक्ष होगा। लेकिन अष्टावक्र ठीक कह रहे हैं, बिलकुल ठीक कह रहे हैं। अष्टावक्र के वचन ऐसे सत्य हैं अध्यात्म के जगत में, जैसे गणित के जगत में आइंस्टीन के वचन सत्य हैं। बड़ी गहरी आंख है। ये कह रहे हैं कि जब बीमारी चली गई तो औषधि भी गई। जब संसार ही न बचा तो अब मोक्ष की बात ही क्या उठानी।

सर्वसंकल्पसीमायां विश्रांतस्य महात्मनः।

अब तो सबसे विश्रांति हो गई--संसार से, मोक्ष से, विचार से, ध्यान से।

क्व मोहः क्व विश्वं क्व ध्यानं क्व मुक्तता।

अब कैसा संसार, कैसी मुक्ति, कैसा बंधन, कैसी स्वतंत्रता! सब गये, साथ ही साथ गये।

हमारे जीवन के सभी द्वैत साथ ही साथ जाते हैं। तुम बहुत हैरान होओगे: जिस दिन तुम्हारे जीवन से दुख चला जाता है उसी दिन सुख भी चला जाता है। और उस दशा को ही हमने आनंद कहा है। जिस दिन तुम्हारे जीवन से संसार जाता है, उसी दिन मोक्ष भी चला जाता है। और उसी दशा को हमने स्वभाव कहा है, सत्य कहा है।

"जिसने इस जगत को देखा है, वह भला उसे इंकार भी करे"--सुनना--"लेकिन वासनारहित पुरुष को क्या करना है; वह देखता हुआ भी नहीं देखता है।"

"जिसने इस संसार को देखा है, वह भला उसे इंकार भी करे...।"

वह जो भाग रहा है संसार से, उसको अभी भी संसार दिखाई पड़ रहा है, नहीं तो भागेगा क्यों? भाग कहां रहा है? किससे भाग रहा है? अगर कोई डर कर भाग रहा है स्त्री से, तो स्त्री में उसकी वासना अभी शेष है। डर कर भाग रही है कोई स्त्री पति से, तो पति में उसकी वासना शेष है। जिसमें हमारा लगाव है उसी से हम भागते हैं। जहां हमारी चाह है उसी से हम अपने को रोकते हैं।

तो जिसको तुम त्यागी कहते हो, वह भोगी का ही विपरीत रूप है; भोगी का ही शीर्षासन करता हुआ रूप है। त्यागी और भोगी में कुछ बहुत बुनियादी फर्क नहीं। हां, एक-दूसरे के उल्टे खड़े हैं। एक-दूसरे की तरफ पीठ किए खड़े हैं। लेकिन दोनों की नजर एक ही बात पर है। भोगी धन चाहता है, त्यागी धन से डरा हुआ है। डर का मतलब ही है चाह अभी मौजूद है। भोगी कहता है: धन न मिलेगा तो मर जाऊंगा। त्यागी कहता है: धन मेरे सामने मत लाना, धन देख कर ही मुझे ऐसा होता है जैसे कोई सांप-बिच्छू ले आया। धन मेरे सामने मत लाना, धन जहर है!

भोगी कहता है कामनी और कांचन जीवन का लक्ष्य है। और त्यागी समझाता है लोगों को, कामिनी-कांचन से बचो। मगर दोनों की नजर एक ही बात पर लगी है, भेद नहीं है। ज्ञानी को न तो कामिनी-कांचन में कोई रस है न कोई त्याग है।

येन विश्वमिदं दृष्टं स नास्तीति करोति वै।

जिसको संसार दिखाई पड़ रहा है, वह अगर इंकार करे संसार का, त्याग करे, चल सकता है।

निर्वासनः किं कुरुते...।

लेकिन जिसकी सब वासना ही शून्य हो गई, अब क्या करेगा, त्याग करेगा? कैसे करेगा? भोग ही नहीं बचा तो त्याग कैसे बचेगा? त्याग तो भोग के ही सिक्के का दूसरा पहलू है।

निर्वासनः किं कुरुते पश्यन्नपि न पश्यति।

ऐसा व्यक्ति तो देखता है, फिर भी उसे कुछ दिखाई कहां पड़ता है! संसार दिखाई नहीं पड़ता उसे; देखता है। वस्तुतः उसी के पास देखने वाली आंखें हैं, जो देखते हुए संसार नहीं देखता है।

धन पड़ा है। तुम पास से गुजरे। तुम अगर भोगी हो तो जल्दी से कब्जा कर लेना चाहोगे। तुम अगर त्यागी हो, छलांग लगा कर भाग खड़े होओगे, क्योंकि धन पड़ा है; कहीं ऐसा न हो कि तुम जरा देर रुक जाओ और लोभ पकड़ ले; कहीं ऐसा न हो किसी को आसपास न देख कर दिल हो कि उठा ही लो, कोई भी तो नहीं देख रहा, वक्त-बे-वक्त काम पड़ जायेगा। तुम एकदम छलांग लगा कर भागोगे। तुम्हारी छलांग बता रही है कि तुम्हारे भीतर अभी भी वासना शेष है। एक तीसरा आदमी है वह चलता है, जैसा चल रहा था वैसे ही चलता है। धन पड़ा है; न तो उठाता उसे, न भागता।

ईश्वरचंद्र विद्यासागर को गवर्नर जनरल ने एक उपाधि देने का आयोजन किया था। तो गरीब आदमी थे और दीन-हीन वस्त्र थे उनके। मित्रों ने कहा कि वायसराय के भवन में जाओगे, स्वागत- समारोह होगा, बड़े-बड़े लोग होंगे, पदाधिकारी होंगे--इन कपड़ों में? नहीं, यह ठीक नहीं। हम तुम्हें अच्छे कपड़े बना देते हैं।

ईश्वरचंद्र ने बहुत मना किया कि मेरे ही कपड़े...जो भी हैं, मेरे ही हैं; तुम्हारे बनाये उधार होंगे। लेकिन मित्र न माने तो वे राजी हो गये। एक ही दिन पहले सांझ को घूमने निकले थे और सामने ही एक मुसलमान लखनवी कपड़े पहने हुए, हाथ में छड़ी लिए हुए, लखनवी चाल से चलता हुआ टहल रहा था--आगे ही उनके। और तभी एक आदमी भागा हुआ आया और उसने कहा उस मुसलमान को कि मीर साहिब, आपके मकान में आग लग गई, चलिए, जल्दी चलिए! सब जला जा रहा है! यह सुन कर विद्यासागर तक उत्तेजित हो गये और भागने को खड़े हो गये कि कहां लग गई आग! लेकिन वह आदमी वैसा ही चलता रहा जैसा चल रहा था। उस नौकर ने फिर कहा: मालिक सुना नहीं, आप होश में हैं? मकान में आग लग गई है, सब जला जा रहा है! और आपकी चाल वही चले जा रहे हैं आप! लखनवी चाल का यह मौका नहीं।

ईश्वरचंद्र विद्यासागर ने लिखा है कि उस आदमी ने मुस्कुरा कर कहा: चाल मेरी जिंदगी भर की है, मकान के जलने न जलने से चाल को नहीं बदल सकता। फिर जो जल रहा है, जल रहा है; मेरे दौड़ने से भी क्या होगा! यह मेरी जिंदगी भर की चाल है, इसको इतनी आसानी से नहीं बदल सकता। तुझे भागना हो, तू भाग; मैं आता हूं। यह मेरे टहलने का समय है। फिर मकान जल ही रहा है; मेरे भागने से क्या होगा! मेरे भागने से कुछ बचने वाला नहीं है।

और वह आदमी उसी चाल से चलता रहा। विद्यासागर ने लिखा है कि मुझे होश हुआ। मैंने कहा, हद हो गई बात, यह एक आदमी है जिसे कोई फर्क न पड़ा। और एक मैं हूं कि वायसराय की सभा में जा रहा हूं पुरस्कार लेने, तो मित्रों के उधार कपड़े ले लिए! और यह आदमी अपनी चाल नहीं बदल रहा है, मकान में आग लग गई तो भी! और मैं अपने कपड़े बदल रहा हूं!

वे दूसरे दिन अपने पुराने गरीब के कपड़े ही पहने हुए वायसराय के भवन में पहुंच गये। वायसराय भी थोड़ा चिंतित था। उसने पूछा भी कि ईश्वरचंद्र मैंने तो सुना था मित्रों ने कपड़ों की व्यवस्था कर दी। उन्होंने कहा: कर दी थी, लेकिन इन मीर साहिब ने सब गड़बड़ कर दी। नहीं; इतनी आसानी से क्या जिंदगी भर की चालें बदली जाती हैं!

जीवन में ऐसा हो कि वैसा हो, अगर तुम्हारी चाल वैसी की वैसी बनी रहे, जरा भी फर्क न पड़े, भोग में कि त्याग में, सुख में कि दुख में, सफलता में कि विफलता में, तुम ठीक वैसे ही अकंप बने रहो, तो ही विश्राम उपलब्ध हुआ।

निर्वासनः किं कुरुते पश्यन्नपि न पश्यति।

तब तुम्हें संसार दिखाई भी पड़ता है और नहीं भी दिखाई पड़ता है। जो है वही दिखाई पड?ता है। जो नहीं है वह नहीं दिखाई पड़ता। तब तुम्हारे लिए वस्तुतः यथार्थ प्रगट होता है। तुम उस यथार्थ पर अपने प्रक्षेपण नहीं करते हो।

जो जैसा है उसे वैसा ही देख लेना परम आनंद है, परम विश्राम है।

"जिसने परमब्रह्म को देखा है, वह भला "मैं ब्रह्म हूं" का चिंतन भी करे, लेकिन जो निश्चिंत हो कर दूसरा नहीं देखता है, वह क्या चिंतन करे!"

सुनो उपनिषद से भी ऊंची उड़ान! उपनिषद आखिरी उड़ान मालूम होते हैं। उपनिषद के पार भी कोई उड़ान हो सकती है, इसकी संभावना नहीं मालूम होती है, लेकिन अष्टावक्र उपनिषद से भी ऊंची उड़ान भरते हैं। यह सूत्र कह रहा है:

येन दृष्टं परं ब्रह्म सोऽहं ब्रह्मेति चिंतयेत्।

जिसको ब्रह्म दिखाई पड़ता हो वह शायद ऐसा सोचे भी कि मैं ब्रह्म हूं...।

किं चिंतयति निश्चिंतो द्वितीयं यो न पश्यति।

लेकिन जिसे दूसरा दिखाई ही नहीं पड़ता, जिसका सारा चिंतन और चिंतायें समाप्त हो गई हैं, वह क्या सोचे! वह क्या करे! वह तो यह भी नहीं कह सकता: अहं ब्रह्मास्मि! क्योंकि अहं और ब्रह्म का कोई भेद ही नहीं बचा है।

उपनिषद का महावाक्य है: अहं ब्रह्मास्मि! मैं ब्रह्म हूं!

अष्टावक्र कहते हैं: मैं कौन, ब्रह्म कौन! अभी तो दो बचे हैं। अभी तुम दो के बीच संबंध जोड़ रहे हो, मगर दो मिटे नहीं; अभी दूसरा दिखाई पड़ता है।

प्रसिद्ध झेन फकीर रिंझाई का एक शिष्य उसके पास आया और उसने कहा कि ध्यान फल गया है, फूल लग गये हैं, मैं शून्य को उपलब्ध हुआ हूं। रिंझाई कुछ काम कर रहा था, कुछ चित्र बना रहा था। उसने आंख भी न उठाई। शिष्य बड़ा दुखी हुआ--इतनी बड़ी घटना की खबर ले कर आया कि मैं शून्य को उपलब्ध हो गया हूं और यह एक गुरु है, यह अपना चित्र बना रहा है, आंख भी नहीं उठाई! उसने फिर कहा: आपने सुना नहीं, मैं समाधि को उपलब्ध हो कर आया हूं! रिंझाई ने वैसे ही चित्र बनाते कहा कि समाधि इत्यादि फेंक कर आ, शून्य इत्यादि बाहर फेंक कर आ, भीतर मत ला। क्योंकि जब तक तुझे लगता है कि मैं शून्य को उपलब्ध हुआ हूं तब तक तू मौजूद है, फिर कैसा शून्य!

शून्य को जो उपलब्ध हुआ वह यह कह ही नहीं सकता कि मैं शून्य को उपलब्ध हुआ हूं। कैसे कहोगे! कौन कहेगा! शून्य और मैं दो तो नहीं, एक ही हो गये।

तो रिंझाई ठीक कह रहा है कि इसे भी तू बाहर फेंक कर आ। वर्षों बीत गये, पहले ध्यान करने में वर्षों बीते थे, फिर ध्यान को फेंकने में वर्षों बीते। हमारा मन ऐसा है कि हम जो पकड़ लें सो पकड़ लेते हैं; पहले संसार पकड़ लेते हैं, फिर त्याग पकड़ लेते हैं। संन्यास पकड़ लेते हैं। शून्य तक को पकड़ लेते हैं। हमें पकड़ने की ऐसी आदत है कि शून्य पर भी मुट्ठी बांधने की कोशिश करते हैं।

वर्षों बीत गये, तब शिष्य एक दिन वापिस आया। रिंझाई खड़ा हो गया। तो उसने कहा: अच्छा, तो अब बात हो गई! शिष्य ने कुछ कहा भी नहीं था, लेकिन रिंझाई खड़ा हो गया। उसने शिष्य को गले लगा लिया। उसने कहा: "तो बात हो गई!" पर शिष्य ने कहा: आज तो मैंने कुछ निवेदन भी नहीं किया है। रिंझाई ने कहा: इसीलिए, इसीलिए! निवेदन तो किया नहीं जा सकता। आज तू शून्य हो कर आया है, निवेदन करने वाला मौजूद नहीं है।

"मैं ब्रह्म हूं"--तो थोड़ा-सा भेद शेष है। सुनो इस वचन को:

"जिसने परमब्रह्म को देखा है वह भला "मैं ब्रह्म हूं" का चिंतन भी करे, लेकिन जो निश्चिंत हो कर दूसरा नहीं देखता है वह क्या चिंतन करे!"

किं चिंतयति निश्चिंतो द्वितीयं यो न पश्यति।

यह परम ज्ञान की अवस्था है। यह ज्ञान के भी पार परमज्ञान की अवस्था है। शायद इसीलिए बुद्ध और महावीर ने परमात्मा की बात नहीं की। हिंदुओं ने समझा नास्तिक हैं, कि बुद्ध परमात्मा की बात नहीं करते, महावीर भी परमात्मा की बात नहीं करते। लेकिन मैं तुम्हें याद दिलाना चाहता हूं: यह परम अवस्था है जहां परमात्मा की बात की नहीं जा सकती। परमात्मा की बात करने के लिए भी थोड़ा नीचे उतरना पड़ता है। तो बुद्ध ने तो आत्मा तक की बात नहीं की, क्योंकि ये तो अनुभव हैं, इनकी बातें नहीं हो सकती हैं। इनके विचार...इनको विचार में नहीं बांधा जा सकता। ये तो चिंतन के पार की प्रतीतियां हैं। चिंतन में इनकी छाया भी नहीं बनती। और जो भी चिंतन में बनता है वह विकृत हो जाता है।

"जो आत्मा में विक्षेप देखता है, वह पुरुष भला चित्त का निरोध करे...।"

देखें एक-एक सूत्र! पहला सूत्र त्यागियों के विरोध में कि त्यागी भी भोगी जैसे हैं; दूसरा सूत्र उपनिषद के पार जाता है, उपनिषद के विरोध में, कि "मैं ब्रह्म हूं" ऐसी घोषणा करने वाला भी अभी एक सीढ़ी नीचे है। तीसरा सूत्र पतंजलि के विरोध में है:

"जो आत्मा में विक्षेप देखता है, वह पुरुष भला चित्त का निरोध करे...।"

पतंजलि ने कहा: योग का अर्थ है चित्त-वृत्ति निरोध।

"लेकिन विक्षेप-मुक्त उदार पुरुष साध्य के अभाव में क्या करे!"

जब तक मन में विक्षेप हैं तब तक कोई निरोध भी करे, लेकिन विक्षेप न रहे तो कैसा निरोध, किसका निरोध और कौन करे!

दृष्टो येनात्मविक्षेपो निरोधं कुरुते त्वसौ।

हां, जिसके मन में बेचैनियां हैं, वह संयम साधे। जिसके मन में तनाव हैं, वह विश्रांति साधे। और जिसके मन में हजार-हजार तरंगें उठती हैं वासना की, वह निरोध साधे।

उदारस्तु न विक्षिप्तः साध्याभावात्करोति किम्।

लेकिन, जिसका मन सच में शांत हुआ, चैतन्य सच में ही विश्रांति को उपलब्ध हुआ, वह किस बात का निरोध करे! निरोध करने को कुछ बचा नहीं।

"विक्षेप-मुक्त उदार पुरुष साध्य के अभाव में क्या करे!"

उसके लिए कोई साध्य भी नहीं बचा। न साध्य बचा न साधन बचा। ऐसी ही घड़ी परममुक्ति की घड़ी है: जब न कुछ पाने को बचा न कुछ खोने को बचा। तब तुम आ गये घर। तब तुम आ गये उस जगह जहां आने के लिए सदा से दौड़ रहे थे। और यह जगह कुछ ऐसी है कि तुम्हारे भीतर सदा मौजूद थी; तुम कभी भी भीतर मुड़ जाते तो इसे पा लेते। इसे खोजने के लिए खोजना जरूरी ही न था; वस्तुतः खोजने के कारण ही भटके रहे। यह तुम्हारा स्वभाव है। साध्य नहीं; तुम्हारा स्वभाव है। इसे पाने के लिए कुछ करना नहीं है; इसे तुमने पाया ही हुआ है! यह प्रभु-प्रसाद है। यह तुम्हें मिला ही हुआ है। यह तुम्हारे भीतर ही मौजूद है। लेकिन भीतर तुम जरा आंख तो करो।

"जो लोगों की तरह बरतता हुआ भी लोगों से भिन्न है, वह धीरपुरुष न अपनी समाधि को न विक्षेप को और न दूषण को ही देखता है।"

धीरो लोकविपर्यस्तो वर्तमानोऽपि लोकवत्।

और परम ज्ञानी की परिभाषा करते हैं: "जो लोगों की तरह बरतता हुआ भी लोगों से भिन्न है।"

अब तुम खयाल करना, जैसे ही तुम्हारे जीवन में त्याग आना शुरू होता है, तुम तत्क्षण कोशिश करते हो कि भोगियों जैसे न बरतो। विशिष्ट होने की कोशिश करते हो।

कल ही किसी ने पूछा था कि मुझे रास्ता बतायें कि मेरे भीतर महामानव कैसे पैदा हो, मैं महात्मा कैसे बनूं? यह तो अहंकार ही है। अब यह महात्मा की आड़ में बचना चाहता है। तुम सहज हो जाओ। यह महान

बनने की चेष्टा बीमार है। इस चेष्टा में ही रोग के सारे बीज छिपे हैं, कीटाणु छिपे हैं। तुम तो ऐसे ही बरतो जैसा सामान्य जन बरतता है। तुम भिन्न होने की चेष्टा ही मत करो।

इसलिए मैं संन्यास के बाद यह नहीं तुमसे कहता कि तुम विशिष्ट होने की चेष्टा करो। मैं तुमसे कहता हूं: तुम जैसे हो वैसे ही रहो; जैसे साधारण जन हैं, वैसे ही रहो। अंतर आना है भीतर। घटना घटनी है भीतर। तुम भीतर साक्षी हो जाओ, क्रांति हो जायेगी। तुम वही करो जो तुम कल तक करते थे; बस अब साक्षी का सूत्र जोड़ दो।

संन्यास किसी चीज का त्याग नहीं, बल्कि किसी नई भाव-दशा का ग्रहण है। संन्यास किसी चीज को तोड़ नहीं देना है, बल्कि तुम्हारे जीवन में एक नये साक्षी-भाव को जोड़ लेना है। ऋण नहीं है संन्यास, धन है।

"जो लोगों की तरह बरतता हुआ भी लोगों से भिन्न है, वह धीरपुरुष न अपनी समाधि को न विक्षेप को और न दूषण, बंधनलिप्त होने को ही देखता है।"

धीरो लोकविपर्यस्तो वर्तमानोऽपि लोकवत्।
न समाधिं न विक्षेपं न लेपं स्वस्थ पश्यति।।

ऐसा पुरुष न तो दावा करता कि मैं समाधिस्थ हूं, न दावा करता है कि मैं अलिप्त हूं, न दावा करता कि मैं वीतराग हूं--दावा ही नहीं करता। लेकिन तुम अगर उसके पास जाओगे तो तुम अनुभव करोगे। उसकी तरंगत्तरंग में दावा है; उसमें कोई दावा नहीं है। उसकी मौजूदगी में दावा है। तुम उसके पास अनुभव करोगे कुछ हुआ है, कुछ अपूर्व घटा है, कुछ अद्वितीय घटा है; कुछ ऐसा घटा है जो घटता नहीं है साधारणतः। और फिर भी तुम चकित होओगे कि वह तुम्हारे जैसा ही व्यवहार करता है।

कबीर ज्ञान को उपलब्ध हो गये तो उनके भक्तों ने कहा कि अब आप ये कपड़े बुनना बंद कर दें; यह शोभा नहीं देता। कबीर तो जुलाहे थे। अब यह बैठे-बैठे दिन भर कपड़े बुनना, फिर बाजार में कपड़े बेचने जाना--और आप तो इतने बड़े महात्मा हैं, आपके इतने शिष्य हैं, यह आप बंद कर दें! लेकिन कबीर ने कहा कि नहीं; जो था जैसा था वैसा ही रहने दो। और फिर बहुत रूपों में राम आते हैं बाजार में कपड़े खरीदने और मैं कपड़ा न बनाऊंगा उनके लिए, तो इतने ढंग से कोई कपड़े उनके लिए बनायेगा नहीं। देखते मैं कितने जतन से बुनता हूं! इतने जतन से कोई बुनेगा नहीं। नहीं, काम जारी रहेगा।

तो कबीर जुलाहे ही बने रहे; मरते दम तक कपड़ा बुनते रहे और बेचते रहे। यह परम ज्ञानी की अवस्था है। अगर जरा भी अहंकार होता तो यह मौका छोड़ने जैसा नहीं था।

गोरा कुम्हार ज्ञान को उपलब्ध हो गया लेकिन घड़े तो बनाता ही रहा और घड़े तो बेचता ही रहा। कहते हैं किसी ने उससे कहा भी कि यह भी क्या धंधा कर रहे हो कुम्हार का!

तो उसने कहा, मैंने तो सुना है कि परमात्मा भी कुम्हार है, उसने संसार को बनाया। जब उसे भी शर्म न आई तो मुझे क्या शर्म! हम छोटे-छोटे घड़े बनाते हैं, उसने बड़े-बड़े घड़े बनाये। अब निश्चित ही वह बड़ा है, हम छोटे हैं।

मगर जो चलता था वह चलता रहा।

सेना नाई लोगों के बाल ही काटता रहा। भक्त उससे कहते कि बंद करो। कोई भक्त बाल बनवाने आया था, वह कहता हमें संकोच लगता है कि आप जैसे महात्मा से हम बाल बनवायें! तो सेना ने कहा, तुम बाल बनवा लो! घोंटते-घोंटते सिर भी घोंट देंगे, सफा कर देंगे सब। सफाई ही करना है न! महात्मा का काम ही यही है कि सफाई करता रहे। हजामत ही करनी है न, तो महात्मा का काम ही यह है। तुम आते भर रहो, बाल कटाते-कटाते किसी दिन सिर भी कटा बैठोगे।

मगर सेना नाई बाल ही बनाता रहा। रैदास चमार का काम करते रहे। ये अनूठे पुरुष हैं; इनमें ही ठीक-ठीक "महाशय" प्रगट हुआ है!

"जो लोगों की तरह बरतता हुआ भी लोगों से भिन्न है।"

वर्तन तो लोगों जैसा है, लेकिन भेद भीतर है। लोग मूर्च्छित बरत रहे हैं, वह जाग्रत। उसी राह पर चल रहा है जिस पर और लोग भी चल रहे हैं; लेकिन लोग नशे में चल रहे हैं, वह होश में चल रहा है। वही कर रहा है जो लोग कर रहे हैं! लेकिन लोगों को करने का कोई पता नहीं कि क्या हो रहा है, किए जा रहे हैं, वासनाओं की धुंध में चले जा रहे हैं, दौड़े जा रहे हैं। ज्ञानी भीतर दीये को जलाये है। भेद भीतर के दीये में है।

और ध्यान रखना, व्यवहार में जो भेद दिखाना चाहता है, शायद उसके भीतर दीया नहीं जला है; इसलिए जो दीये से पता चलना चाहिए था, वह भेद से दिखलाना चाहता है। दीया तो नहीं है; दीया तो खाली है, घर सूना पड़ा है। तो वह फिर ऊपर के आयोजन करता है। नंगा खड़ा हो जाता है। भीतर निर्दोष होता तो नंगे खड़े होने की कोई ऐसी आवश्यकता न थी। भीतर तो निर्दोष नहीं है। भीतर तो अभी बालवत नहीं हुआ। लेकिन बाहर से दावा तो कर ही सकता है। नंगे खड़े हो जाने से तो कुछ हल नहीं होता। नंगे तो पागल भी खड़े हो जाते हैं। नंगे खड़ा हो जाना तो बड़ी छोटे-से अभ्यास की बात है। इससे तुम्हारे भीतर रूपांतरण नहीं होगा।

मैं यह भी नहीं कह रहा हूं कि अगर तुम्हारे भीतर रूपांतरण हो जाये और तुम्हें सहज यही लगे नग्न होना, तो मैं यह नहीं कह रहा हूं कि रुकना। जो सहज हो करना। लेकिन चेष्टा से नहीं हो।

तुम देखते अपने साधु-महात्मा को! वह सब तरह की कोशिश करता है तुमसे विशिष्ट होने की।

एक साधु मेरे साथ ही यात्रा को गये। उनके साथ मैं बड़ी मुश्किल में पड़ा क्योंकि उनका सब काम तीन बजे रात। तो वे उठ आयें। मैंने कहा कि दूसरे के घर में ठहरे हैं, दूसरे का भी तो खयाल करो। उन्होंने कहा, मैं कोई गृहस्थ थोड़े ही हूं; मैं तो तीन ही बजे उठूंगा। मैंने कहा, चलो कोई बात नहीं तीन बजे उठ आओ, लेकिन इतने जोर-जोर से तो राम-राम न करो, घर के लोग जगते हैं, मुहल्ले के लोग जगते हैं। उन्होंने कहा, वह तो मैं सदा से करता रहा हूं। मैंने कहा, धीरे-धीरे कर लो, मन में करने में क्या बिगड़ता है? राम तो सुन लेंगे। कोई राम बहरे तो नहीं हैं। कहा नहीं है कबीर ने कि बहरा हुआ खुदाय! क्या तेरा खुदा बहरा है जो इतने जोर से अजान कर रहा है? इतने जोर से क्या चिल्लाना!

लेकिन लगता ऐसा है, मैंने उनसे कहा कि तुम्हें ईश्वर से कोई मतलब नहीं है, तुम पूरे मुहल्ले को, गांव को खबर करना चाहते हो कि स्वामी जी उठ गये, कि देखो स्वामी जी तीन बजे ब्रह्म-मुहूर्त में उठ गये हैं! फिर तो बड़ी झंझटें उनके साथ: घी ताजा चाहिए तीन घंटे पहले बना, नहीं तो वे ले नहीं सकते। और गाय का दूध चाहिए, भैंस का नहीं। मैंने पूछा, मामला क्या है? वे कहने लगे कि भैंस का दूध लो तो भैंस जैसी बुद्धि हो जाती है। तो मैंने कहा, तरबूज-खरबूज मत खाना, नहीं तो तरबूज-खरबूज जैसी बुद्धि हो जायेगी। साग-भाजी मत खाना, नहीं तो साग-भाजी हो जाओगे। और गाय भी सफेद चाहिए, काली गाय नहीं! वे इतना उपद्रव खड़ा कर देते, मगर जल्दी से प्रसिद्ध हो जाते। पूरा गांव जान जाता कि महात्मा जी आ गये। पूरा गांव मुश्किल में पड़ जाता। मगर इतना ही सारा खेल था। इससे ज्यादा कुछ भी नहीं।

जितना बाहर तुम प्रगट करना चाहते हो उसका कुल मतलब इतना ही होता है, भीतर का दीया नहीं जला; उसका परिपूरक कोई ढंग खोज रहे हो तुम कि लोगों को पता चल जाये। भीतर का दीया जल जाता है, तब तो लोगों को पता चलता है। वह पता चलना बड़ा सूक्ष्म है। तुम्हारी तरंगें लोगों के हृदय को छूने लगती हैं। तुम्हारे पास से उठती हुई तरंगें धीरे-धीरे लोगों के हृदय को घेर लेती हैं। बड़ा कोमल स्पर्श है। बड़ी स्त्रैण छाया है महाशय की, महात्मा की। आक्रमण नहीं है किसी के ऊपर।

अहंकार आक्रमक है। अहंकार पुरुष है। निरहंकारिता तो बड़ी प्रेमपूर्ण है।

भीतर का दीया मौजूद हो तो तुम बाहर की चिंता नहीं करते; लेकिन भीतर का दीया मौजूद न हो तब तो बाहर की ही चिंता पर निर्भर रहना पड़ता है। तो उपवास करोगे, शीर्षासन कर लोगे, आसन करोगे, व्यायाम करोगे, हजार तरह की मूढ़तायें करोगे। और पीछे खयाल रखना कि कुल आयोजन इतना ही हो रहा है कि लोगों को पता चल जाये कि तुम विशिष्ट हो; तुम कोई साधारण आदमी नहीं, बड़े विशिष्ट आदमी हो।

तुम अगर अपने महात्माओं की जीवन-चर्या गौर से देखो तो निन्यानबे प्रतिशत इस तरह की बातें पाओगे जिनका कुल आयोजन अहंकार की पुष्टि है। किसी भी तरह सिद्ध कर देना है कि हम सामान्य नहीं हैं, विशिष्ट हैं। और जो विशिष्ट है वह कभी इस तरह की आकांक्षा नहीं करता। वह विशिष्ट है; सिद्ध करने की कोई जरूरत नहीं है। उसकी विशिष्टता इतनी प्रगाढ़ है कि वह सामान्य होने की हिम्मत कर सकता है।

इस बात को तुम खयाल में लेना। जिसकी विशिष्टता सुनिश्चित है, वही केवल सामान्य होने का साहस कर सकता है। जिसकी विशिष्टता सुनिश्चित नहीं है, वह विशिष्ट होने की चेष्टा करता है। असाधारण पुरुष साधारण हो सकता है। साधारण पुरुष असाधारण होने की योजना करता है।

"जो लोगों की तरह बरतता हुआ भी लोगों से भिन्न है...।"

भिन्नता आंतरिक है, आत्मिक है। भिन्नता भीतर के प्रकाश की है; बाहर के व्यवहार की नहीं।

"वह धीर पुरुष न अपनी समाधि को, न विक्षेप को और न दूषण को ही देखता है।"

उसे फिर कुछ भी नहीं दिखाई पड़ता। न अपनी समाधि दिखाई पड़ती है और न दूसरों की गैर-समाधि दिखाई पड़ती है। वह तुम्हारी तरफ ऐसे नहीं देखता कि तुम कोई हीन, पापी, नारकीय, कि तुम नरक की यात्रा पर जा रहे हो। वह ऐसा नहीं देखता। जिसको अपने भीतर विश्रांति मिल गई वह तुम्हारे भीतर भी कुछ दूषण नहीं देखता।

बुद्ध का बड़ा अदभुत वचन है। बुद्ध ने कहा कि जिस क्षण मैं ज्ञान को उपलब्ध हुआ, मेरे लिए सारा संसार ज्ञान को उपलब्ध हो गया; उसके बाद मैंने अज्ञानी देखा ही नहीं। यह मत समझ लेना कि तुम ज्ञान को उपलब्ध हो गये इस कारण। बुद्ध यह कह रहे हैं कि जिसकी आंख में ज्ञान आ जाता है वह तुम्हारे भीतर भी छिपे हुए रत्न को देख लेता है। वह तुम्हारे स्वभाव को भी देख लेता है। तो बुद्ध ने किसी के भीतर अज्ञानी नहीं देखा। और जब भी कोई महात्मा तुम्हारे साथ ऐसा व्यवहार करने लगे कि मैं पवित्र, तुम अपवित्र; मैं ऊपर, तुम नीचे; मैं महात्मा, तुम साधारण पुरुष, सांसारिक--तब समझ लेना कि इस आदमी को अभी दिखाई नहीं पड़ा, इसकी आंखें नहीं खुलीं, यह अंधा है। ये अंधे के ढंग हैं। यह अंधे की तरह अभी भी टटोल रहा है। इसके पास आंख नहीं है। अन्यथा तुम्हारे भीतर बैठा परमात्मा भी इसको दिखाई पड़ जाता--उतना ही जितना अपने भीतर का दिखाई पड़ जाता है।

ऐसा समझो कि जितना तुम अपने भीतर जाते हो उतना ही तुम दूसरे के भीतर भी चले गये, क्योंकि तुम और दूसरे का भीतर अलग-अलग नहीं है। मेरा अंतस्तल और तुम्हारा अंतस्तल अलग-अलग नहीं है। अंतरतम में हम एक हैं; बाहर-बाहर भिन्न हैं। तो जिसको सिर्फ बाहर की सूझ है उसको भेद दिखाई पड़ता है। जिसको भीतर की सूझ होती है उसे कोई भेद नहीं दिखाई पड़ता है। तो न तो वह अपनी समाधि को देखता है।

न समाधिं न विक्षेपं।

और तुम उसके लिए विक्षेप भी पैदा नहीं कर सकते।

कहावत है कि घर में एक आदमी धार्मिक हो जाये तो पूरा घर परेशान हो जाता है। तुमने देखा, एकाध धार्मिक आदमी तुम्हारे घर में पैदा हो जाये, घर भर की मुसीबत आ गई! वे नहा कर चले आ रहे हैं: कोई छू न दे! किसी ने छू दिया कि उपद्रव हो गया, विक्षेप हो गया।

मेरी नानी थी--सीधी-साधी ग्रामीण, पुरानी परंपरागत, जैन ढांचे में पली थी। कोई इतना भी नाम ले दे, मांसाहार का नाम ले दे भोजन करते वक्त कि विक्षेप हो गया। अब "मांसाहार" शब्द में तो मांसाहार नहीं है। मांसाहार की तो दूर छोड़ो, कोई कह दे टमाटर, तो वह नाराज हो जाती। जब तक वह जीवित रही, घर में टमाटर नहीं आ सकता था, क्योंकि टमाटर से थोड़ा-थोड़ा मांस का खयाल आता है। जैसे ही मुझे समझ आ गया, मैं बचपन में काफी दिन तक उनके साथ रहा, तो मैं कुछ भी नहीं कहता था; मैं एकदम से अपने मुंह पर ऐसा उंगली रख लेता। तो वह कहती, क्या कर रहे हो? मैं कहता, गलत चीज आ रही है। बस विक्षेप हो गया।

वह कहती, विक्षेप हो गया। अब मैंने कुछ कहा ही नहीं है अभी, टमाटर भी नहीं कहा है, मगर उंगली रख लेना काफी था। अभी जो कहा ही नहीं है, उसके कारण विक्षेप हो गया।

विक्षेप का क्या अर्थ होता है? विक्षेप का अर्थ होता है: हम विक्षुब्ध होने को तत्पर हैं, तैयार हैं; हम मौका ही देख रहे हैं; कोई भी कारण मिल जाये, हम विक्षुब्ध हो जायेंगे। फिर कारण मिल जायेगा। फिर कारण ज्यादा दूर नहीं है। जब तुम्हीं तैयार बैठे हो तो कोई न कोई कारण मिल जायेगा। कुछ न कुछ हो जायेगा। न होगा तो तुम खोज लोगे।

अष्टावक्र कहते हैं: न समाधिं न विक्षेपं।

जो व्यक्ति सच में ही शांत हुआ, विश्राम को उपलब्ध हुआ, तुम उसे विक्षुब्ध नहीं कर सकते। उसके लिए कोई विक्षेप नहीं रहा। वह ध्यान कर रहा हो, शांत बैठा हो, तुम बैंड-बाजे बजाओ तो भी कोई विक्षेप नहीं होगा। तुम शोरगुल मचाओ तो भी कोई विक्षेप नहीं होगा। उसकी शांति में कोई बाधा नहीं पड़ेगी। शांति है तो बाधा पड़ती ही नहीं है। शांति नहीं है तो ही बाधा पड़ती है। जिसको तुम जबर्दस्ती आरोपित कर लेते हो, उसमें बाधा पड़ती है। जो भीतर से विकसित होता है, आता है अंतरतम से, जिसका आविर्भाव होता है, उसमें कोई बाधा नहीं पड़ती।

शंकराचार्य गंगा से स्नान करके लौट रहे हैं सुबह, ब्रह्म-मुहूर्त, और एक शूद्र ने उनको धक्का मार दिया। नाराज हो गये कि तूने मेरा स्नान खराब कर दिया। शूद्र हो कर! खयाल नहीं रखता कि ब्राह्मण को देख कर चले?

उस शूद्र ने बड़ी अदभुत बात कही। उस शूद्र ने कहा: मैं एक बात पूछना चाहता हूं। आप कहते हैं संसार माया, तो देह माया है, झूठ है; है नहीं, भासती है। तो जो देह भासती है उसके कारण आप अपवित्र हो गये? या तो ऐसा हुआ, या फिर मेरी आत्मा शूद्र है और आपकी आत्मा ब्राह्मण है। तो फिर आत्मा में भी शूद्र और ब्राह्मण हैं। तो आत्मा फिर मेरी ब्रह्म कैसे होगी? तो फिर आत्मा भी निर्विकार नहीं है। तो या तो मेरी देह को छूने के कारण आप भ्रष्ट हो गये--देह जो कि है ही नहीं आपके हिसाब से; या फिर मेरी आत्मा ही भ्रष्ट है। आप मुझे कह दें।

शंकर को कहते हैं बोध हुआ। झुक कर चरण छू लिए और कहा कि मैं अब तक शब्दों के जाल में ही खोया रहा।

यह विक्षेप कि शूद्र ने मुझे छू दिया, तुम्हारी धारणा के कारण है।

एक दफा मैं ट्रेन में सवार हुआ। बंबई से बैठा। तो मेरे डब्बे में एक ही सज्जन और थे। बहुत लोग मुझे छोड़ने आये थे तो उन्होंने सोचा जरूर कोई महात्मा हैं। तो भारत में तो ऐसा है कि महात्मा हो कि फिर पैर में गिरना। तो जैसे ही मैं दरवाजा बंद करके, गाड़ी चली, भीतर आया, वे एकदम साष्टांग मेरे पैर में गिर पड़े। मैंने उनसे पूछा, भाई पहले पूछ तो लेते कि मैं कौन हूं। वे बोले, क्या मतलब? वे एकदम चौंक कर उठ आये। मैंने कहा, मैं मुसलमान हूं। वे बोले, धत तेरे की! पहले क्यों न कहा? मैंने कहा कि तुमने मौका ही नहीं दिया, तुम एकदम पैर छू लिए। तुम मौका भी तो देते, पूछ तो लेते।

फिर उन्हें कुछ शक हुआ, मेरे चेहरे की तरफ देखा कि नहीं-नहीं। और मैंने कहा कि तुम अपने को समझाना चाहो तो तुम्हारी मर्जी, हालांकि तुमने छू लिए पैर। वे बोले, मैं ब्राह्मण हूं और मैं तो यही समझा कि कोई महात्मा हैं, इतने लोग छोड़ने आये थे।

मैंने कहा, ये कोई लोग भले लोग नहीं थे। ये सब बंबई के सटोरिया, स्मगलर इस तरह के लोग हैं। ये कोई सज्जन नहीं हैं। तुम बड़ी भूल में पड़ गये।

दोनों हम बैठे हैं एक ही कमरे में, वे बार-बार मेरे चेहरे की तरफ देखें गौर से, पता लगायें कि आदमी मुसलमान है कि हिंदू। थोड़ी देर बाद बोले कि नहीं-नहीं, मालूम तो आप मुसलमान नहीं पड़ते। मैंने कहा, भई

तुम्हारी मर्जी, तुम्हें समझाना हो तुम समझा लो। कहो तो मैं लिख कर दे दूं कि मैं मुसलमान नहीं हूं, लेकिन अब मैं हूं तो हूं। तुमने भूल तो कर ली।

जब उनको बहुत बेचैन देखा तो मैंने कहा, अरे मजाक कर रहा हूं। उन्होंने फिर मेरे पैर छूए कि अरे, आप भी, ऐसी मजाक की जाती है? मैंने कहा, मैं अभी भी मजाक कर रहा हूं। वह तो टिकिट कलक्टर आया तो उससे कहा कि मेरा कमरा बदल दो, मैं दूसरे कमरे में जाना चाहता हूं। और जाते वक्त ऐसे देखते गये कि यह आदमी पागल है या क्या मामला!

तुम्हारी धारणा! अगर मैं मुसलमान हूं, विक्षेप हो गया। अब मैं मैं ही हूं, चाहे मुसलमान कहो चाहे हिंदू कहो। अगर मैं नहीं हूं मुसलमान, फिर पैर छू लिए, फिर ठीक हो गई बात।

तुर्गनेव की एक बड़ी प्रसिद्ध कहानी है कि दो पुलिस वाले एक रास्ते से गुजर रहे हैं, एक होटल के सामने भीड़ लगी है और एक आदमी ने कुत्ते की दोनों टांगें पकड़ रखी हैं, वह उसको पछाड़ने को खड़ा है और चिल्ला रहा है कि इसको मार ही डालूंगा, इसने मुझे काटा। एक पुलिस वाले ने भी कहा कि अच्छा है, मार ही डालिए; हम पुलिस वालों को भी बहुत भौंकता है।

कुत्ते कुछ अजीब ही होते हैं। पुलिस वाले, पोस्टमैन, संन्यासी, जहां भी यूनीफार्म देखा कि वे भौंके।

...मार ही डालो इसको। मगर दूसरे पुलिस वाले ने उसके कान में कहा कि ठहरो, यह इंस्पेक्टर साहिब का कुत्ता मालूम होता है। बस बात बदल गई, वह आदमी एकदम झपट पड़ा। वह पुलिस वाला उस आदमी को पकड़ लिया, कहा कि तुम क्या हंगामा मचा रहे हो सड़क पर, तमाशा कर रहे हो? छोड़ो, जानते हो यह कुत्ता कौन है, किसका है? और जल्दी से उसने कुत्ते को अपने कंधे में ले लिया और पुचकारने लगा। बात बदल गई और उसने दूसरे पुलिस वाले से कहा कि पकड़ो इस आदमी को, हवालात ले चलो। बलवा करवायेगा!

मगर दूसरे ने कहा कि भाई, यह कुत्ता लगता तो वैसा है लेकिन है नहीं। उसने तत्क्षण कुत्ता पटक दिया। और उसने कहा, स्नान करना पड़ेगा। पहले क्यों ऐसा कह दिया कि कुत्ता वही है। और उस आदमी से कहा, पकड़ इस कुत्ते को, मार ही डाल इसको।

ऐसे कहानी चलती है। वह फिर कह देता है पुलिस वाला कि भई मैं पक्का नहीं कह सकता, क्योंकि लगता तो बिलकुल ऐसे ही है इंस्पेक्टर साहिब का कुत्ता, अपन झंझट में न पड़ें। फिर कहानी बदल जाती है।

तुम्हारे विक्षेप तुम्हारी धारणायें हैं। तुम मान लेते हो तो विक्षेप। शूद्र हो गया कोई, कोई मुसलमान हो गया, कोई हिंदू हो गया, कोई ब्राह्मण हो गया। फिर हर चीज से उपद्रव होने लगा। तुम्हारी धारणायें छूट जायें, तुम शांत हो जाओ, निर्धारणा को उपलब्ध हो जाओ, फिर कैसा विक्षेप! फिर तो पास में कोई चिल्लाता भी रहे, शोरगुल भी मचाये तो भी शोरगुल तुम्हारे भीतर कोई तनाव पैदा नहीं करता। शोरगुल भी तुम सुन लोगे। यह भी स्वीकार है।

स्वीकार में एक क्रांति घट जाती है। रूप बदल जाता है।

"जो लोगों की तरह बरतता हुआ भी लोगों से भिन्न है, वह धीरपुरुष न अपनी समाधि को, न विक्षेप को और न दूषण को ही देखता है।"

न समाधिं न विक्षेपं न लेपं स्वस्थ पश्यति।

और जीवन में उसके ऊपर कोई भी चीज लेप नहीं बनती। कोई चीज उसे लिप्त नहीं कर पाती। तुम उसे काली कोठरी में से भी भेज दे सकते हो, तो भी वह साफ-सुथरा का साफ-सुथरा बाहर आ जायेगा। और तुम कितने ही साफ-सुथरे सफेद वस्त्र पहने बैठे रहो, इससे कुछ फर्क नहीं पड़ता।

मुल्ला नसरुद्दीन ने राह पर एक सुंदर स्त्री को देख कर एकदम उसे धक्का मार दिया। वह स्त्री नाराज हो गई। नये जमाने की स्त्री, उसने मुल्ला का एकदम हाथ पकड़ लिया और कहा कि शर्म नहीं आती, बाल सफेद हो गये! मुल्ला ने कहा: अरे बाल सफेद हो गये तो क्या हुआ, दिल तो अभी भी काला का काला है!

कपड़े कितने ही सफेद पहन लो, इससे क्या हो सकता है; दिल काला है तो काला है। मुल्ला ने कहा, बाल से धोखा मत खा, दिल अभी काला का काला है।

एक तो आवरण है जिसमें हम भीतर कुछ छिपाये हुए हैं। जो छिपाये हैं, वह विपरीत है। लेकिन ज्ञानीपुरुष को कोई चीज लिप्त नहीं करती, इसका अर्थ हुआ कि हर घड़ी में उसका जागरण अविच्छिन्न बना रहता है। वह संसार से गुजर जायेगा और यह संसार की कोई चीज उसे छुएगी नहीं। और ऐसा भी नहीं कि डरा-डरा गुजरेगा। ऐसा भी नहीं भागा-भागा गुजरेगा। ऐसा भी नहीं कि अपने को छिपा कर और कंबल ओढ़ कर गुजरेगा। नहीं, ऐसे गुजरेगा जैसे तुम गुजरते हो। लेकिन तुम बार-बार लिप्त हो जाओगे और वह लिप्त न होगा। बस वहीं भेद है।

एक फकीर को--जापान की पुरानी कथा है--एक सम्राट ने कहा कि आपको मैं सदा इस वृक्ष के नीचे बैठे देखता हूं, मेरे मन में बड़ी श्रद्धा जन्मती है। आपके प्रति मुझे बड़ा भाव पैदा होता है। जब भी मैं यहां से गुजरता हूं, कुछ घटता है। आप महल चलें। आप यहां न बैठें। आप मेरे मेहमान बनें। आप जैसे महापुरुष यहां वृक्ष के नीचे बैठे हैं! धूप-धाप, वर्षा-गर्मी! आप चलें।

वह फकीर उठ कर खड़ा हो गया। उसने कहा, अच्छा। सम्राट थोड़ा झिझका, क्योंकि हमारी तो परिभाषा ही त्याग की यही होती है...। सम्राट ने भी सोचा होगा कि संन्यासी कहेगा, "अरे कहां तू मुझे ले जाता है कचरे में, महल इत्यादि सब कूड़ा-कर्कट! मैं संसारी नहीं हूं, मैं संन्यासी हूं।" तो सम्राट बिलकुल पैर में गिर गया होता। लेकिन यह संन्यासी खड़ा हो गया। यह कुछ अष्टावक्र की धारणा का आदमी रहा होगा। उसने कहा, ठीक, यहां नहीं तो वहां। तुझे दुखी क्यों करें! चल।

लेकिन सम्राट दुखी हो गया। उसने सोचा: यह कहां की झंझट ले ली सिर! यह तो कोई ऐसे ही भोगी दिखाई पड़ता है, बना-ठना बैठा था, रास्ता ही देख रहा था कि कोई बुला ले कि चल पड़ें। फंस गये इसके जाल में। लेकिन अब कह चुके तो एकदम इंकार भी नहीं कर सकते।

ले आया। उसे महल में रख दिया। सुंदरतम जो भवन था महल का, उसमें रख दिया। वह अच्छे से अच्छा भोजन करता, शानदार गद्देत्तकियों पर सोता। छः महीने बाद सम्राट ने उससे कहा, महाराज, अब मुझे एक बात बतायें कि अब मुझमें और आपमें भेद क्या? अब तो हम एक ही जैसे हैं। बल्कि आपकी हालत मुझसे भी बेहतर है कि न कोई चिंता न फिक्र। हम धक्के खाते चौबीस घंटे, परेशान होते; आप मजा कर रहे! यह तो खूब रही। फर्क क्या है? अब मुझे फर्क बता दें। मेरे मन में यह बार-बार सवाल उठता है।

उस फकीर ने कहा: यह सवाल उसी वक्त उठ गया था जब मैं उठ कर खड़ा हुआ था झाड़ के नीचे। इसका तेरे महल में आने से कोई संबंध नहीं है। वह तो जब मैं उठ कर खड़ा हो गया था और मैंने कहा चलो चलता हूं, तभी यह सवाल उठ गया था। ठीक किया, तूने इतनी देर क्यों लगाई? छः महीने क्यों खराब किए? वहीं पूछ लेता। फर्क जानना चाहता है तो कल सुबह बताऊंगा। कल सुबह हम उठ कर गांव के बाहर चलेंगे।

सम्राट उसके साथ हो लिया, गांव के बाहर निकले। सूरज उग आया। सम्राट ने कहा, अब बता दें। उसने कहा, थोड़े और आगे चलें। दोपहर हो गई, साम्राज्य की सीमा आ गई; नदी पार होने लगे। सम्राट ने कहा, अब क्यों घसीटे जा रहे हैं? कहना हो तो कह दें। जो कहना है बता दें। कहां ले जा रहे हैं?

उस फकीर ने कहा: यह है मेरा उत्तर कि अब मैं तो जाता हूं; तुम भी मेरे साथ आते हो? मैं पीछे लौटने वाला नहीं हूं।

सम्राट ने कहा, यह कैसे हो सकता है? मैं कैसे आ सकता हूं? पीछे राज्य है, पत्नी-बच्चे, धन-दौलत, सारा हिसाब-किताब है, मेरे बिना कैसे चलेगा?

तो फकीर ने कहा: फर्क समझ में आया? मैं जा रहा हूं और तुम नहीं जा सकते।

सम्राट को एकदम फिर श्रद्धा उमड़ी। एकदम पैर पर गिर पड़ा कि नहीं महाराज। मैं भी कैसा मूढ़ कि आपको छोड़े दे रहा हूं। आप जैसे हीरे को पाकर और गंवा रहा हूं। नहीं-नहीं महाराज, आप वापिस चलिए।

उस फकीर ने कहा, मैं तो चल सकता हूं, लेकिन फिर सवाल उठ आयेगा। तू सोच ले। मैं तो अभी चल सकता हूं कि मुझे क्या फर्क कि इस तरफ गया कि इस तरफ गया! तू सोच ले।

सम्राट फिर संदिग्ध हो गया। फकीर ने कहा, बेहतर यही है, तेरे सुख-चैन के लिए यही बेहतर है कि मैं सीधा जाऊं, लौटूं न, तो ही तू फर्क समझ पायेगा।

फर्क एक ही है संन्यासी और संसारी में कि संसारी लिप्त है, ग्रस्त है, पकड़ा हुआ है, जाल में बंधा है। संन्यासी भी वहीं है, लेकिन किसी भी क्षण जाल के बाहर हो सकता है। पीछे लौट कर नहीं देखेगा। संन्यासी वही है जो पीछे लौट कर नहीं देखता। जो हुआ, हुआ। जो नहीं हुआ, नहीं हुआ। जहां से हट गया, हट गया।

संसारी ग्रसित हो जाता है, बंध जाता है। नहीं कि महल किसी को बांधते हैं; महल क्या बांधेंगे? तुम्हारा मोह तुम्हें बांध लेता है। इतना ही भेद है। भेद बहुत बारीक है और भेद बहुत आंतरिक है। बाहर से भेद करने में मत पड़ना, अन्यथा संसार और संन्यास में तुम एक तरह का द्वंद्व खड़ा कर लोगे। वही द्वंद्व सम्राट के मन में था। वह सोचता था संन्यासी तो त्यागी और संसारी भोगी।

नहीं, त्यागी-भोगी दोनों संसारी। संन्यासी तो साक्षी। त्याग में भी साक्षी रहता, भोग में भी साक्षी रहता। सुख में भी साक्षी रहता, दुख में भी। साक्षी स्वाद है संन्यास का।

बुद्ध ने कहा है: तुम कहीं से मुझे चखो, मेरा स्वाद तुम एक ही पाओगे। जैसे कोई सागर को कहीं से भी चखे, खारा पाता है--ऐसे बुद्ध को तुम कहीं से भी चखो, बुद्धत्व, साक्षी, जागरूकता।

"जो तृप्त हुआ ज्ञानीपुरुष भाव और अभाव से रहित है और निर्वासना है, वह लोक-दृष्टि में कर्म करता हुआ भी कुछ नहीं करता है।"

भावाभावविहीनो यस्तृप्तो निर्वासनो बुधः।

वही है बुद्धपुरुष। वही है जागा हुआ। वही है ज्ञानी। जो भाव से भी रहित है, अभाव से भी रहित है। न तो उसका कोई पक्ष है न कोई विपक्ष है। न तो वह कहता है ऐसा ही हो और न वह कहता कि ऐसा होगा तो मैं दुखी हो जाऊंगा। न कोई भाव न कोई अभाव।

भावाभावविहीनो यस्तृप्तो निर्वासनो बुधः।

और ऐसा भाव-अभाव में शून्य हो कर जो अपने स्वभाव में तृप्त हो गया, वही है बुद्धपुरुष।

नैव किंचित कृतं तेन लोकदृष्टया विकुर्वता।

ऐसा व्यक्ति सांसारिक दृष्टि से तो सांसारिक ही मालूम होगा। वही कर रहा जो और कर रहे। वैसा ही कर रहा जैसा और कर रहे।

पूछा है किसी ने बोकोजू को कि तुम तो ज्ञानी हो, तुम्हारी साधना क्या है? तो बोकोजू ने कहा: जब भूख लगती है भोजन कर लेता; जब नींद आती है तब सो जाता।

तो उस आदमी ने कहा, यह भी कोई साधना हुई? यह तो हम सभी करते हैं। जब भूख लगती है, खा लेते हैं; जब नींद आती, सो जाते।

बोकोजू ने कहा कि नहीं, तुम जब भोजन करते हो तब और हजार काम भी मन में करते हो, मैं सिर्फ भोजन करता। और तुम जब सोते हो, तब तुम हजार सपने भी देखते हो; मैं सिर्फ सोता हूं। तुम जागते हो तो भी पूरे जागते नहीं; सोते हो तो भी पूरे सोते नहीं। तुम बंटे-बंटे हो, हजार खंडों में हो। तुम एक भीड़ हो। मैं भीड़ नहीं हूं। मेरा सोना शुद्ध है। तुम्हारा सोना भी अशुद्ध, जागने की तो बात ही छोड़ दो।

क्या कह रहा है बोकोजू? बोकोजू यही कह रहा है कि लोक-दृष्टि में कर्म करता हुआ भी कुछ नहीं करता है; भीतर अकर्ता बना रहता है। कर्म की रेखा भी नहीं खिंचती। भीतर तो जानता रहता है, मैं सिर्फ द्रष्टा हूं।

"जब कभी जो कुछ कर्म करने को आ पड़ता है उसको करके धीरपुरुष सुख-पूर्वक रहता है और प्रवृत्ति अथवा निवृत्ति में दुराग्रह नहीं रखता।"

सुनते हो!

प्रवृत्तौ वा निवृत्तौ वा नैव धीरस्य दुर्ग्रहः।

उसका कोई आग्रह नहीं है, क्योंकि सभी आग्रह दुराग्रह हैं। सत्याग्रह तो कोई होता ही नहीं। आग्रह मात्र दुराग्रह है। जहां तुमने कहा ऐसा ही हो, वैसे ही चिंता तुमने बुला ली। जहां तुमने कहा ऐसा ही होना चाहिए, वहीं तुम अड़चन में पड़ गये। अगर वैसा न होगा तो दुखी होओगे। और वैसा होने का कोई पक्का नहीं है।

यह जगत किसी की आकांक्षायें तृप्त नहीं करता। इस जगत ने कोई ठेका नहीं लिया है किसी की आकांक्षायें तृप्त करने का। तुम्हारी निजी आकांक्षायें इस पूरे विश्व की आकांक्षाओं से मेल खा जाती हैं कभी तो तृप्त हो जाती हैं; कभी मेल नहीं खाती हैं तो तृप्त नहीं होतीं। और अधिकतर तो मेल नहीं खाती हैं। क्योंकि इस विराट आयोजन का तुम्हें पता ही नहीं है। तुम तो अपना छोटा-छोटा खयाल लिए चल रहे हो।

हमारी हालत वैसे ही है जैसे तुम्हारे चौके में घूमती हुई चींटियों की हालत है। वह शायद यही सोचती हैं कि वह जो भोजन इत्यादि गिर जाता है, उसी के लिए तुम भोजन बनाने का आयोजन करते हो। वे जो शक्कर के दाने नीचे पड़े रह जाते हैं फर्श पर, शायद उसी के लिए दूकान चलाते, दफ्तर जाते, रोटी-रोजी कमाते, भोजन बनाते, इतना सब आयोजन करते हो। ये सब आदमी जो घर में घूमते-फिरते दिखाई पड़ते हैं, ये सब इसी काम के लिए घूम रहे हैं कि चौके में कुछ शक्कर के दाने गिर जायें और चींटियां उनका मजा ले लें।

हमारी हालत भी ऐसी है। यह जो विराट विश्व है, हम सोचते हैं हमारे लिए चल रहा है; हमारी इच्छा की तृप्ति के लिए चल रहा है।

प्रवृत्तौ वा निवृत्तौ वा नैव धीरस्य दुर्ग्रहः।

यदा यत् कर्तुमायाति तत्कृत्वा तिष्ठतः सुखम्।।

जब कभी जो कुछ कर्म करने को आ पड़ता है--बुलाता भी नहीं कि ऐसा आये--जो आ पड़ता है, उसको करके धीरपुरुष सुखपूर्वक रहता है। सफल हो असफल, इसकी भी फिक्र नहीं है। कर देता है, अपने से जो बनता है कर देता है। जो स्थिति आ जाती है, जैसी चुनौती आ जाती है वैसा कर देता है। और प्रवृत्ति अथवा निवृत्ति में कोई दुराग्रह नहीं रखता है। न तो वह यह कहता है कि मैं संन्यासी हूं, यह मैं कैसे करूं!

तेरापंथ जैनों का एक संप्रदाय है। अगर कोई रास्ते के किनारे मर रहा हो और तेरापंथी साधु निकल रहा हो और वह आदमी चिल्लाता हो कि मुझे प्यास लगी, मुझे पानी पिला दो, तो भी तेरापंथी साधु पानी नहीं पिलायेगा। क्योंकि वह संन्यासी है, वह कैसे पानी पिला सकता है! और उन्होंने बड़े तर्क-जाल खोज लिए हैं। वे कहते हैं, यह आदमी तड़फ रहा है किसी पिछले जन्म के पाप के कारण। इसने कुछ पाप किया होगा, किसी को तड़फाया होगा, इसलिए तड़फ रहा है। अब इसके कर्म में हम बाधा क्यों डालें? हम अगर पानी पिला दें तो हम बाधा हो गये। हमने इसको इसका कर्मफल न भोगने दिया, फिर बेचारा भविष्य में भोगेगा। भोगना तो पड़ेगा ही, तो हमने और इसका जाल बढ़ा दिया। इसी जन्म में छूट जाता, अब अगले जन्म में भोगेगा। तो बेहतर है हम कुछ बाधा न दें, हम अपने रास्ते चले जायें।

यह तो बड़ी कठोर बात हो गई। यह तो बड़ी हिंसक बात हो गई। और बड़े तर्क आदमी खोज सकता है। तेरापंथियों ने बड़े तर्क खोजे हैं। वे कहते हैं, कोई आदमी कुएं में गिर पड़ा है तो उसे निकालना मत, क्योंकि अगर मान लो उसे तुमने निकाला और वह जाकर गांव में किसी की हत्या कर दे, तो तुम भी जुम्मेवार हुए हत्या में। क्योंकि न तुम निकालते न वह हत्या करता। तो असली जुम्मेवार तो तुम्हीं हो गये। तुम भी साझीदार हो गये। पाओगे फल इसका। सड़ोगे नरकों में।

इसलिए कोई आदमी गिर गया है, कुएं में गिर गया है, चिल्ला रहा है, तुम चुपचाप गुजर जाना। तुम दखल मत देना।

लेकिन यह साक्षी-पुरुष की बात न हुई। साक्षी-पुरुष की तो बात यही है: "जब कभी जो कुछ कर्म करने को आ पड़ता है।" कोई कुएं में गिर पड़ा है तो वह बचा लेगा। ऐसा भी नहीं सोचता कि मेरे बचाने से यह बचता है। न ऐसा ही सोचता है कि यह कल हत्या कर देगा किसी की, तो मैं जुम्मेवार होता हूं। कर्ता तो वह अपने को मानता ही नहीं। उसने तो सारा कर्तृत्व परमात्मा पर छोड़ दिया है। अगर उसकी मर्जी होगी तो बच रहा है। उसकी मर्जी है, इसीलिए मैं कुएं के किनारे आ गया हूं। सामने स्थिति आ गई है, जो बन पड़े कर देता है--जो हो परिणाम हो।

यदा यत्कर्तुमायाति तत्कृत्वा तिष्ठतः सुखम्।

और ऐसा जो हो जाये जब, वैसा करके सुख में प्रतिष्ठित रहता है। उसके सुख को कोई छीन नहीं सकता। उसके कोई आग्रह नहीं हैं। वह ऐसा नहीं कहता है कि मैं संन्यासी हूं, इसलिए इतना ही व्यवहार करूंगा; कि मैं गृहस्थ हूं, इसलिए ऐसा व्यवहार करूंगा; कि मैं ब्राह्मण हूं तो मैं ऐसा व्यवहार करूंगा। नहीं, उसके कोई आग्रह नहीं हैं। मुक्त भाव से जो परिस्थिति उत्पन्न हो जाती है, जो उस परिस्थिति में उसके चैतन्य में सहज स्फुरणा होती है, वैसा कर देता है। बात खतम हो गई। उसका कुछ लेखा-जोखा भी नहीं रखता। प्रभु जो करवा लेता कर देता। जिस बात में उपकरण बना लेता उसी में उपकरण बन जाता। लेकिन सदा याद रखता कि मैं निमित्त मात्र हूं।

यदा यत् कर्तुम् आयाति...।

जो आ जाये उसे कर लेना। जो स्फुरणा उठे, उसे हो जाने देना। सहज भाव से जीना। जीने के लिए कोई पहले से योजना मत रखना। जीवन पर कोई जबर्दस्ती का ढांचा मत बिठाना। जीवन में "ऐसा कर्तव्य है और ऐसा कर्तव्य नहीं है" यह भी सोच कर मत चलना। मुक्त रहना। क्षण के लिए खुले रहना। क्षण जो जगा दे, जो उठा दे, उसको कर लेना और फिर भूल जाना और आगे बढ़ जाना। बोझ भी मत ढोना। इसको खींचना भी मत अपने सिर पर कि देखो मैंने एक आदमी को कुएं से बचा लिया; मर रहा था, मैंने बचाया! अतीत का बोझ मत ढोना, भविष्य की योजना मत रखना; वर्तमान में जो हो जाये।

यह "वर्तमान" शब्द देखते हो, वर्तन से बना है! "जो यहां वर्तन में आ जाये"। अतीत तो वह है जो जा चुका, अब है नहीं। भविष्य वह है जो अभी आया नहीं। वर्तमान वही है जो वर्तन में आ रहा है। जो इस क्षण वर्तन हो रहा है, वही वर्तमान है।

सिर्फ साक्षी-पुरुष का ही वर्तमान होता है। तुम तो पीछे से चलते हो। तुम तो अतीत से प्रभावित होते हो। वह वर्तमान नहीं है। या तुम भविष्य से प्रभावित होते हो। तुम तो किसी आदमी को जयराम जी भी करते हो तो सोच लेते हो कि करना कि नहीं, यह किसी मतलब का है, मेयर होने वाला है कि मिनिस्टर होने वाला है, कभी काम पड़ेगा! तो तुम नमस्कार करते हो। नमस्कार भी तुम आगे की योजना से करते हो, या पीछे के हिसाब से, कि इसने पीछे साथ दिया था; वक्त पड़ा था, काम आया था--नमस्कार कर लो! तुम तो नमस्कार भी शुद्ध वर्तमान में नहीं करते।

साक्षी का पूरा जीवन वर्तमान में है। जो होता है बिना किसी कारण के, सहज भाव से।

यदा यत् कर्तुम् आयाति तत् सुखं कृत्वा।

और तब स्वभावतः सहज भाव में सुख उत्पन्न होता है। सहज भाव सुख है। सहज भाव में सुख के फूल लगते हैं।

तिष्ठतः धीरस्य।

और ऐसा जो धीरपुरुष है उसकी अपने में प्रतिष्ठा हो जाती है। उसका अपने में आसन जम जाता है। वह सम्राट हो जाता है, सिंहासन पर बैठ जाता है। सुख के सिंहासन पर, स्वयं के सिंहासन पर, शांति के, स्वर्ग के सिंहासन पर।

प्रवृत्तौ वा निवृत्तौ।

न तो प्रवृत्ति में उसे रस है न निवृत्ति में। न तो वह कहता है कि मैं संसारी हूं, न वह कहता मैं त्यागी हूं।

मेरे संन्यास का यही अर्थ है: न त्यागी न भोगी। सहज। मध्य में। कभी भोगी जैसा व्यवहार करना पड़े तो भोगी जैसा कर लेना, कभी त्यागी जैसा व्यवहार करना पड़े तो त्यागी जैसा कर लेना। लेकिन सदा मध्य को मत खोना, बीच में आ जाना। वह जो सम्यक दशा है मध्य की, उसी का नाम संन्यास है। "सम्यक न्यास" अर्थात संन्यास। बीच में ठहर जाना। संतुलित हो जाना। सहज भाव में संतुलन संन्यास है। क्योंकि सहज भाव ही मध्य भाव है। वही स्वर्ण-सूत्र है।

ऐसे ये अनूठे सूत्र हैं। सुन कर ही मत समझ लेना पूरे हो गये। सुनने से तो यात्रा शुरू होती है। गुनना! खूब-खूब चूसना इन सूत्रों को। इनका स्वाद लेना। चबाना। पचाना। ये धीरे-धीरे तुम्हारे रक्त-मांस-मज्जा में मिल जायेंगे। और तब इनसे अपूर्व सुगंध उठेगी। ऐसी सुगंध, जो तुमने पहले नहीं जानी। और ऐसी सुगंध, जो तुम्हारे भीतर छुपी है। कस्तूरी कुंडल बसै! तुम्हारी कस्तूरी खुल जाये, तुम्हारी कस्तूरी प्रगट हो जाये कि परमात्मा फिर विजयी हुआ, तुममें फिर से जीता। फिर एक फूल खिला। फिर परमात्मा के लिए एक उत्सव का क्षण आया।

इन सूत्रों को सुनने में भी रस है, गुनने में तो बहुत महारस होगा। और जब तुम इन्हें जीयोगे तब तुम पाओगे जीवन का पूरा अर्थ, जीवन की पूरी निर्झरणी तुम्हें उपलब्ध हो जायेगी।

अमृत के द्वार खुल सकते हैं। और तुम द्वार पर खड़े हो, दस्तक देने की ही बात है।

जीसस ने कहा है: खटखटाओ और द्वार खुल जायेंगे।

फकीर हसन एक मस्जिद के सामने खड़ा चिल्ला रहा था कि प्रभु द्वार खोलो, मैं कब से बुला रहा हूं! एक दूसरी फकीर औरत राबिया निकलती थी पास से, उसने कहा: "हसन, बंद कर बकवास! द्वार बंद कहां हैं? द्वार खुले हैं, आंख खोल!"

राबिया ठीक कहती है। जीसस से भी ज्यादा ठीक है उसका वचन। जीसस कहते हैं: खटखटाओ और द्वार खुल जायेंगे। हसन वही तो कर रहा था। वह कह रहा था: हे प्रभु द्वार खोलो। और राबिया ने कहा: बंद कर बकवास, हसन। द्वार खुले हैं, आंख खोल। खटखटाने की भी कोई जरूरत नहीं है।

तुम मंदिर में विराजमान ही हो, भीतर जाने की भी कोई जरूरत नहीं। भीतर तुम हो। तुम जहां हो, वहीं सब उपलब्ध है। थोड़े जागो। तो द्वार खटखटाओ, इसका अर्थ अपने को थोड़ा खटखटाओ, अपने को थोड़ा झकझोरो। जैसे सुबह नींद से उठ कर झकझोरते हो, ऐसे इस संसार की नींद से अपने को झकझोरो। नहीं तो दुख ही दुख है; सार जरा भी नहीं। जागे तो ही सार है।

हरि ॐ तत्सत्!

साठवां प्रवचन

प्रभु-मंदिर यह देह री

पहला प्रश्न: अष्टावक्र-गीता में जीवन-मुक्त की चर्चा कई बार हुई है। जीवन-मुक्त पर कुछ प्रकाश डालने की अनुकंपा करें।

जीवन जैसा है वैसी ही मृत्यु होगी। जो उस पार है वैसा ही इस पार होना पड़ेगा। जैसे तुम यहां हो वैसे ही वहां हो सकोगे। क्योंकि तुम एक सिलसिला हो, एक तारतम्य हो। ऐसा मत सोचना कि मृत्यु के इस पार तो अंधेरे में जीयोगे और मृत्यु के उस पार प्रकाश में। जो यहां नहीं हो सका, वह केवल शरीर छूट जाने से नहीं हो जायेगा। तुम तुम ही रहोगे। मौत से कुछ भेद नहीं पड़ता है। तुम आनंदित थे जीवन में, तो मृत्यु के पार भी आनंदित रहोगे; मृत्यु के मध्य भी आनंदित रहोगे। तुम दुखी थे तो मृत्यु तुम्हें सुख न दे पायेगी। अगर तुम जीवन में नर्क में हो तो जीवन के पार भी नर्क ही तुम्हारी प्रतीक्षा करेगा। इसे तुम ठीक से समझ लो।

आदमी बहुत बेईमान है। टालने की बड़ी इच्छा होती है। वह सोचता है: कर लेंगे। मुक्त भी होना है तो मृत्यु के बाद, अभी तो कुछ जल्दी नहीं है। प्रभु स्मरण भी करना है तो कर लेंगे मरते समय, कर लेंगे तीर्थ-यात्रा, मरते समय सुन लेंगे पाठ। बुढ़ापे में संन्यास।

कल पर हम छोड़ते हैं; आज तो जी लें उसी ढांचे में, जिसमें हम जीते रहे हैं। आज तो कर लें बुरा, कल अच्छा कर लेंगे। अच्छे को हम टालते हैं, बुरे को हम कभी नहीं टालते। तो बंधन तो आज, मुक्ति कल--ऐसा हमारा गणित है। इस गणित को तोड़ने का उपाय है जीवनमुक्त सत्य में।

जीवन में ही मुक्ति हो, तो ही मुक्ति होगी। जीते-जी जागोगे, तो ही जागोगे। सोचो, जीते-जी जो न जाग सका, वह मरने में कैसे जागेगा? मृत्यु तो जीवन का चरम निष्कर्ष है। मृत्यु तो कसौटी है। तुम्हारे जीवन भर का सारा सार-संचित मृत्यु के क्षण में तुम्हारी आंखों के सामने प्रगट हो जायेगा। मृत्यु तो निर्णायक है। वह तो सारे जीवन की कथा का सार-निचोड़ है।

मृत्यु में जीवन समाप्त नहीं होता, तुम सारे जीवन को इकट्ठा करके नई यात्रा पर निकल जाते हो। अगर तुम क्रोधित थे तो तुम्हारी मृत्यु में भी क्रोध होगा। अगर तुम दुखी थे तो दुख की घनी अमावस होगी। अगर तुम्हारे जीवन का प्रत्येक पल प्रफुल्ल था, आनंदमग्न थे, नृत्य था, गीत था, संगीत था, सुगंध थी--तो मृत्यु महोत्सव हो जायेगी।

व्यक्ति जैसा जीता वैसा ही मरता। हम अलग-अलग जीते ही नहीं, हम अलग-अलग मरते भी हैं। हमारी जीवन-शैली ही भिन्न नहीं होती, हमारी मृत्यु-शैली भी भिन्न होती है। तुम न तो ठीक से जीते न तुम ठीक से मरते। तुम अंधे की तरह जीते हो, अंधे की तरह मरते हो। इसलिए मृत्यु का पूरा दर्शन नहीं हो पाता।

जर्मनी का महाकवि गेटे मरण-शैय्या पर पड़ा था। उसने आंख खोली, उसके चेहरे पर एक मुस्कुराहट फैल गई। और उसने कहा: ये दीये बुझा दो। उसके आसपास दीये जल रहे थे। उसने कहा: ये दीये बुझा दो, क्योंकि अब मुझे महाप्रकाश दिखाई पड़ने लगा है। आंख बंद कर ली और मर गया। अब इन दीयों की कोई जरूरत नहीं है। अब मिट्टी के दीये आवश्यक नहीं। अब चैतन्य का दीया जल उठा है।

ऐसी प्रतीति तो तभी हो सकती है जब तुमने जीवन की रत्ती-रत्ती स्वर्णमय बना ली हो। जब प्रकाश तुम्हारे जीवन के कण-कण से झरा हो, तो ही मृत्यु के क्षण में महासूर्य प्रगट होगा।

इसलिए मृत्यु का अनुभव सभी का अलग-अलग है। और जब तक मृत्यु तुम्हें मुक्ति जैसी अनुभव न हो, समझना जीवन व्यर्थ गया। जब तक मृत्यु तुम्हें प्रभु के द्वार पर खड़ा न कर दे, मृत्यु में तुम्हें प्रभु की भुजायें

स्वागत करती हुई न मिलें, उसकी बांहें फैली हुई तुम्हारे आलिंगन को तत्पर न हों--तब तक समझ लेना कि जीवन व्यर्थ गया। मृत्यु ने प्रमाण-पत्र नहीं दिया। तुम्हें फिर आना पड़ेगा।

मुक्त का अर्थ होता है: जो फिर न आयेगा, जो दुबारा न आयेगा। बुद्ध ने उसके लिए शब्द दिया है: "अनागामिन", जो फिर नहीं आयेगा, जो दुबारा नहीं लौटेगा। मुक्त का अर्थ है, जिसने जीवन का पाठ सीख लिया; अब इस पाठशाला में दुबारा आने की जरूरत नहीं होगी।

मृत्यु में अगर तुम्हें मुक्ति अनुभव हो जाये तो बस फिर कोई जन्म नहीं है। लेकिन मृत्यु में मुक्ति अनुभव कैसे होगी? जीवन में ही अनुभव नहीं हुई तो मृत्यु में कैसे अनुभव होगी? जब सब सुविधा थी, जब आंखें साबित थीं, हाथ-पैर स्वस्थ थे, मन में बल था, भीतर ऊर्जा थी; जब तरंग थी मौजूद; जब तुम चढ़ सकते थे लहर पर और दूर के किनारों तक यात्रा कर सकते थे; जब पाल भर खोल देने की जरूरत थी और जीवन की हवायें तुम्हें दूर की यात्रा पर ले जातीं--तब तुम इंच भर न हिले। तो मृत्यु के क्षण में जब सब शिथिल हो जायेगा, पाल फट जायेगा, हवायें सो जायेंगी, ऊर्जा खो जायेगी, सब तरफ गहन सन्नाटा होने लगेगा, तुम थके-हारे गिरने लगोगे कब्र में--तब! तब तुम कैसे कर पाओगे? तब बहुत मुश्किल हो जायेगा।

टालो मत। जो करना है उसे आज कर लो। कल पर भी मत टालो; क्योंकि कल मृत्यु है, जीवन आज है। जीवन सदा आज है। मृत्यु सदा कल है। अभी तक तुम मरे नहीं। आज तो जीवन है। अभी तो जीवन है। क्षण भर के बाद की कौन कहे! क्षण भर बाद तुम हो या न हो, इस जीवन का उपयोग कर लो।

इस जीवन का उपयोग तुम करते हो क्षुद्र में, व्यर्थ में; और सोचते हो: कल, जब सब काम चुक जायेगा, जीवन की दूकान बंद करने का समय आ जायेगा, तब फिर याद कर लेंगे परमात्मा को। तुम धोखा दे रहे हो, अपने को धोखा दे रहे हो।

मुक्त होना है तो अभी होना है। ध्यान करना है तो अभी करना है। प्रार्थना से भरना है तो अभी भरना है। एक-एक क्षण में तुम धीरे-धीरे प्रार्थना के मनके पिरोते चले जाओ तो मृत्यु के समय तक तुम्हारे जीवन की माला तैयार हो जायेगी।

जीवन-मुक्त का अर्थ होता है, जिसने स्थगन नहीं किया; जो बाट नहीं जोह रहा; जो आज अपने को रूपांतरित कर रहा है; इस क्षण का उपयोग कर रहा है; इस अवसर को खाली नहीं जाने दे रहा है। इस अवसर की जो क्षमता है उसका पूरा सदुपयोग कर लो।...यह एक आयाम।

दूसरा आयाम जीवन-मुक्त का होता है: भगोड़े मत बनो। जीवन से भाग कर मुक्ति नहीं है। पहला अर्थ: मृत्यु की आशा मत करो। जो जीवन में नहीं मिलेगा वह मृत्यु में भी नहीं मिलेगा। दूसरा अर्थ: जीवन से भागो मत, भगोड़े मत बनो। हिमालय की गुफा-कंदराओं में नहीं है मुक्ति। यहां, जहां जीवन का संघर्ष है, बाजार में, ठेठ भीड़-भाड़ में, यहीं मुक्ति है। कहीं जाओ मत। कहीं जाने से कुछ हल न होगा। तुम तुम ही रहोगे। तुम जैसे हो वैसे ही रहोगे। तुम हिमालय की गुफा में बैठ जाओगे, इससे क्या फर्क पड़ेगा? न बैठे अपने घर में, बैठ गये हिमालय की गुफा में--इससे क्या फर्क पड़ेगा? तुम्हारा चित्त तो न बदल जायेगा। तुम्हारी चैतन्य की धारा तो अविच्छिन्न वही की वही रहेगी। इतना ही होगा कि गुफा और अपवित्र हो जायेगी तुम्हारी मौजूदगी से। तुम गुफा में भी बाजार की दुर्गंध ले आओगे।

जीवन-मुक्त का अर्थ होता है: भागो मत; जहां हो वहीं बदलो। बदलाहट असली सवाल है; भगोड़ापन नहीं; पलायन नहीं। तो घर में हो...तो घर में पति हो तो पति, पत्नी हो तो पत्नी, बाप हो तो बाप, दूकानदार कि मजदूर, जहां हो, जैसा है।

अष्टावक्र ने बार-बार कहा है: जीवन जैसा मिले उसे वैसा ही जी लेना; अन्यथा की मांग न करना। जीवन जैसा मिले उसे परम स्वीकार से जी लेना। प्रभु ने जो दिया है उसमें राज होगा। प्रभु ने जो दिया है उसमें प्रयोजन होगा; उसमें कुछ कीमिया होगी; तुम्हें बदलने का कोई उपाय छिपा होगा। दुख दिया है तो तुम्हें

निखारने को दिया होगा। दुख में आदमी निखरता है; सुख में तो जंग खा जाता है। सुख ही सुख में तो आदमी मुर्दा-मुर्दा, थोथा हो जाता है।

तुम देखते, जिसको तुम तथाकथित सुखी आदमी कहते हो, वह कैसा पोचा हो जाता है! उसके जीवन में कोई गहराई नहीं होती। संघर्ष ही न हो तो गहराई कहां! और जीवन में दुख न झेला हो तो निखार कहां! सोना तो आग से गुजर कर ही स्वच्छ होता है, सुंदर होता है, शुद्ध होता है। जीवन की आग से ही गुजर कर आत्मा भी शुद्ध होती है, निखरती है, स्वर्ण बनती है।

तो जो हो, जैसा हो, उससे भागना मत, वहीं जागना। असली प्रक्रिया जागने की है। जो करो, होशपूर्वक करना। दुख आ जाये, दुख को भी होशपूर्वक झेलना, अंगीकार कर लेना। इंकार जरा भी न करना। स्वीकार-भाव से मान कर कि जरूर कोई प्रयोजन होगा--और निश्चित तुम पाओगे प्रयोजन है। दुख तुम्हें बदलेगा, मांजेगा, निखारेगा, ताजा करेगा, और किसी बड़े सुख के लिए तैयार करेगा। जीवन तपश्चर्या है।

जीवन-मुक्त का दूसरा आयाम, दूसरा अर्थ: जीवन में ही मुक्ति है, इससे भिन्न नहीं।

और तीसरा अर्थ। साधारणतः तथाकथित धर्मगुरुओं ने मोक्ष को और जीवन को विपरीत बना दिया है। जैसे अगर तुम्हारा जीवन में रस है तो परमात्मा में तुम विरस हो गये। साधारणतः जीवन और परमात्मा के बीच एक विरोध खड़ा कर दिया, एक द्वंद्व खड़ा कर दिया है। और बड़े आश्चर्य की बात है, यह उन्हीं लोगों ने जो अद्वैत की बात करते हैं; उन्हीं लोगों ने जो कहते हैं निर्द्वंद्व हो जाओ, जिनकी सारी शिक्षा निर्द्वंद्व की है, उन्हीं ने यह भेद खड़ा कर दिया है। तो तुम्हें बड़ी फांसी लग गई है, तुम्हारे गले में। ऐसा लगता है जीवन में रस लिया तो अपराध हो गया और जीवन में रस न लो, तभी परमात्मा मिलेगा।

अब जीवन में रस बिलकुल स्वाभाविक है--परमात्मा का ही दिया हुआ है। वह रसधार उसी ने बहाई है। तुम्हारा हाथ नहीं है जीवन के रस में। तुम्हारा हाथ होता तो तुम अलग भी कर लेते। तुम्हारे हाथ में परमात्मा का ही हाथ पिरोया हुआ है। तुम अलग न कर पाओगे। यह कोई तुम्हारी मर्जी थोड़े ही है कि जीवन में रस है, कि फूल सुंदर लगते हैं, कि संगीत मस्ती से भर देता है, कि नीले आकाश को देख कर मन शांत होता है, कि सौंदर्य को देख कर मन पुलकित होता है। यह रस बहता है; यह तुम्हारा कुछ अपना निर्णय थोड़े ही है। ऐसा तुमने पाया है। ऐसी प्रभु की मर्जी है।

जार्ज गुरजिएफ कहा करता था कि अब तक जमीन पर जो धर्म रहे हैं, करीब-करीब सभी परमात्मा-विरोधी हैं। यह बात बहुत अजीब-सी लगती है; क्योंकि धर्म तो परमात्मा की पूजा करते हैं और गुरजिएफ कहता है, परमात्मा-विरोधी! और गुरजिएफ कहता है, तुम्हारे जो अब तक के महात्मा हैं, वे सब परमात्मा के दुश्मन हैं। क्योंकि वे सब उस चीज के विपरीत तुम्हें ले जाते हैं जो परमात्मा ने दी है। परमात्मा ने दिया है नाच, यह सारा जीवन उत्सव से भरा है। यहां फूल-फूल पत्ती-पत्ती पर नृत्य की छाप है। यहां सब तरफ इंद्रधनुषी रंग हैं। तुम्हारे महात्मा में कोई इंद्रधनुष होता ही नहीं, तुम्हारे महात्मा में कोई फूल खिलता ही नहीं। तुम्हारा महात्मा करीब-करीब मुर्दा है--जीवन से क्षीण और रिक्त। नदी कभी वहां बहती थी, अब नदी बहती नहीं। सब सूख गया है; सिर्फ रेत का पाट भर पड़ा रह गया है, सूखी धार रह गई है। नदी बहती थी, इसका स्मरण रह गया है। नदी अब बची नहीं।

परमात्मा सब जगह हरा है। इस हरियाली के विपरीत जाने की कोई जरूरत नहीं। इस हरियाली में ही उसे खोज लेना है। तो जो सच में परम ज्ञानी हुए--अष्टावक्र कि कबीर कि नानक कि मुहम्मद कि लाओत्सु--उन सबकी शिक्षा का एक बहुत महत्वपूर्ण सार है, और वह यह है कि जहां-जहां जीवन है वहां-वहां परमात्मा छिपा है। तुम्हें दिखाई न पड़े तो अपनी आंख आंजो, अपनी आंख पर ध्यान का काजल लगाओ। तुम्हें दिखाई न पड़े तो समझना कि पर्दा तुम्हारे ऊपर है। अपना पर्दा हटाओ। अपने हृदय के किवाड़ खोलो। घूंघट हटाओ। लेकिन जीवन में ही परमात्मा है। जीवन में ही मोक्ष है।

जापान के बहुत बड़े फकीर रिंझाई ने कहा है: संसार और निर्वाण एक ही हैं। जीवन-मुक्त में दोनों मिल जाते हैं। जीवन-मुक्त अद्वैत की परम अवस्था है: जीवन भी मिल गया, मोक्ष भी मिल गया। जहां जीवन और मोक्ष का संगम होता है वहां जीवन-मुक्त।

साधारणतः तुम्हें जीवित आदमी मिलेंगे, उनमें मोक्ष नहीं है। और तुम्हें मुर्दा आदमी मिलेंगे, उनमें मोक्ष है, लेकिन जीवन नहीं है। दोनों चूक गये।

तुमने पुरानी कहानी सुनी है? एक जंगल में आग लग गई और एक अंधा और एक लंगड़ा दोनों उस जंगल में थे, दोनों ने विचार किया कि बचने का एक ही उपाय है कि लंगड़ा अंधे के कंधों पर सवार हो जाये। अंधे को दिखाई नहीं पड़ता, पैर साबित हैं, चल सकता है। लेकिन अंधा अगर अपने ही पैर से चले और अपनी ही अंधी आंखों से देखे तो जल मरेगा; जंगल चारों तरफ लपटों से भरा है, निकलना बहुत मुश्किल है। टटोल न सकेगा, रास्ता खोज न सकेगा। लंगड़े को दिखाई पड़ता है, लेकिन पैर नहीं हैं। मालूम है कि कहां लपटें नहीं हैं; दौड़ सकता है, लेकिन दौड़े कैसे!

उन दोनों ने निर्णय कर लिया और एक आपसी समझौता किया। लंगड़ा अंधे के कंधों पर सवार हो गया। वे दोनों उस आग लगे जंगल से बाहर निकल आये। दोनों अलग-अलग मर जाते। दोनों साथ हो कर बाहर निकल आये। एक संगम हुआ। एक बड़ी अदभुत घटना घट गई। लंगड़े ने अंधे को आंखें दे दीं; अंधे ने लंगड़े को पैर दे दिए।

जीवन-मुक्त ऐसी ही दशा है--जहां जीवन के कंधों पर परमात्मा सवार हो जाता है; जहां जीवन की साधारणता में परमात्मा की असाधारणता प्रगट होती है। इसलिए तो अष्टावक्र कहते हैं: जीवन-मुक्त ऊपर से देखने पर तो साधारण जैसा ही मालूम पड़ता, साधारण आदमी जैसा ही मालूम पड़ता है। उसका वर्तन, उसका व्यवहार ऊपर से तो साधारण आदमी जैसा होता है, लेकिन भीतर बड़ी असाधारणता होती है, बड़ी भिन्नता होती है। क्या भिन्नता होती है? रहता है जगत में, लेकिन लिप्त नहीं होता। जीता है जगत में, लेकिन बंधनग्रस्त नहीं होता। चलता है, उठता है, बैठता है, काम करता है, परमात्मा जो करवाये करता है--लेकिन कर्ता नहीं बनता, निमित्त मात्र रहता है। जो हो, हो। जो न हो, न हो। न तो कुछ होना चाहिए, ऐसा उसका आग्रह है; न ऐसा नहीं होना चाहिए, ऐसा उसका कोई आग्रह है। ऐसा व्यक्ति संसार में रहता है और फिर भी संसार में नहीं रहता।

अष्टावक्र कहते हैं: ऐसा व्यक्ति देखता है और नहीं देखता; होता है और नहीं होता। यह अपूर्व घटना है। इस जगत में जो सबसे महत्वपूर्ण घटना है, सबसे उत्कृष्ट, वह है जीवन-मुक्ति--जहां जीवन और मोक्ष का मिलन हो गया; जहां जीवन के कंधों पर, जीवन की ऊर्जा पर मोक्ष सवार हो गया।

तुम दो तरह के लोग तो साधारणतः देख लोगे, वे तुम्हारे पहचाने हुए हैं। एक है भोगी, वह अंधा है। वह टकराता फिरता है, टटोलता फिरता है और जलता रहता है, दुख भोगता रहता है। और एक है तुम्हारा महात्मा, वह लंगड़ा है। वह बैठा है मुर्दे की तरह। उसे दिखाई तो पड़ता है कि रास्ता कहां है, लेकिन चल नहीं पाता, क्योंकि लंगड़ा चले कैसे! परमज्ञानी दोनों का जोड़ है। संसार से भागता नहीं; संसार में ही परमात्मा को उपलब्ध कर लेता है। जीवन ही साधना बन जाती है। जीवन ही मंदिर बन जाता है। देह ही मंदिर बन जाती है।

प्रभु-मंदिर यह देह री!
क्षिति की क्षमता जल की समता
पावक दीपक जाग्रत ज्योतित
निशि-दिन प्रभु का नेह री!
प्रभु-मंदिर यह देह री!
गगन असीमित पवन अलक्षित
प्रभु कर उनसे पल-पल रक्षित

यह पंचमहला गेह री!
प्रभु-मंदिर यह देह री।!
अतिथि पधारो, भाग्य संवारो
क्षण भर को कंचन छवि पाये
चरण बिछी यह खेह री!
प्रभु-मंदिर यह देह री!

यह देह जब प्रभु-मंदिर बन जाती और यह संसार जब परमात्मा का ही विस्तार हो जाता है और पदार्थ में भी जब परमात्मा की झलक दिखाई पड़ने लगती है, तब जीवन-मुक्त। या अगर तुम विरोधाभास में कहना चाहो, क्योंकि विरोधाभास धर्म की भाषा है: जहां कारागृह ही घर हो जाता है और जहां बंधन ही आभूषण मालूम होने लगते हैं, वहीं जीवन-मुक्त फलित होता है।

जीवन-मुक्त जैसा है, जहां है, उससे रत्ती भर अन्यथा होने की आकांक्षा नहीं है। सब असंतोष गया। एक महातृप्ति उदित हुई। सब भांति परितुष्ट।

जीवन-मुक्त को जगत परिपूर्ण है; जैसा होना चाहिए ठीक वैसा है। इससे श्रेष्ठतर हो नहीं सकता। उसकी शिकायत नहीं है। और अगर ऐसा संगम सध जाये तो मौत फिर तुम्हें नष्ट न कर पायेगी। क्योंकि यह मौत से ऊपर कुछ तुमने पा लिया जिसको मौत नहीं मिटा सकती। फिर मौत की लपटें तुम्हें जला न पायेंगी। अगर तुम्हारे भीतर अंधे और लंगड़े का मिलन हो गया; अगर तुम्हारे भीतर देह और आत्मा का मिलन हो गया, संसार और मोक्ष का मिलन हो गया; अगर तुम्हारे भीतर साधारण और असाधारण का मिलन हो गया; अगर तुम्हारे भीतर बाहर और भीतर का मिलन हो गया; कोई भेद न रहा बाहर और भीतर में, बाहर भीतर हो गया, भीतर बाहर हो गया, सब संयुक्त हो गया--ऐसी संयुक्त घटना अगर तुम्हारे भीतर घट गई तो फिर मृत्यु की लपटें कितनी ही जलती रहें, चिता कितनी ही धधके, तुम्हें न धधका सकेगी। तुम पार हो गये। जंगल में आग लगी रहे, चिता जलती रहे, तुम्हारा अंधा और तुम्हारा लंगड़ा, तुम्हारे खंड अखंड हो गये। जुड़ गये। इस जोड़ का नाम योग है। इस जोड़ की स्थिति को ही हम योगी की दशा कहते हैं।

यह समझना कठिन मालूम होता। संसार में तुम जीते हो, भोगी तुम हो, भोग का कष्ट तुमने देखा है। और तुम्हारे आस-पास महात्मा हैं जो तुम्हें समझा रहे हैं कि छोड़ दो यह सब, भाग जाओ इस सब से। उनकी बात भी जंचती है, क्योंकि तुमने दुख तो पाया है, सच कहते हैं। और ऐसा लगता है कि अब इस दुख से छूटने का और कोई उपाय नहीं, छोड़ कर भाग जाओ।

लेकिन तुम कभी इन साधु-महात्माओं की आंख में झांको तो, थोड़े इनका हाथ हाथ में ले कर देखो--तो इनके भीतर जीवन बचा है या सिर्फ खंडहर हैं? इनकी आंख में झांको, कोई गहराई है? इनके पास बैठो, इनके पास कोई प्रेम की वर्षा है? अमृतधार बहती है?

नहीं, तुम्हारी धारणायें तुम अगर बना कर बैठ गये हो तो बात अलग है। तुम्हारी धारणा है कि महात्मा होने का अर्थ कि जो दिन में एक बार भोजन करे। तो फिर ठीक है, यह आदमी दिन में एक बार भोजन करता है--महात्मा होना चाहिए। तुमने महात्मा की बड़ी सस्ती व्याख्या कर ली है। यही आदमी मुसलमान को महात्मा न मालूम पड़ेगा, जैन को महात्मा मालूम पड़ता है। मुसलमान का फकीर मुसलमान को महात्मा मालूम पड़ता है, जैन को बिलकुल महात्मा नहीं मालूम पड़ता। अब यह भी क्या पागलपन है कि दिन भर उपवास किया, रमजान रखा और रात भोजन कर रहे हो! यह कोई महात्मापन हुआ? रात में तो अज्ञानी भोजन करते हैं, अज्ञानी तक नहीं करते। ये सूफी फकीर हैं? ये दिन भर तो उपवास किए हैं, अब रात भोजन कर रहे हैं सूरज ढलने के बाद! इनका दिमाग खराब हो गया है! लेकिन मुसलमान को इसमें फकीर दिखाई पड़ता है। उसकी धारणा है।

दिगंबर जैन का मुनि अगर खड़ा हो तो सारी दुनिया को पागल मालूम पड़ेगा--नंगा सड़क पर खड़ा हो गया। और दिगंबर जैन मुनि जब उसके बाल बढ़ जाते हैं तो केश-लुंच करता है, अपने केश नोच लेता है, उखाड़ देता है। तुम भी जानते हो, कभी-कभी स्त्रियां क्रोध में आ जाती हैं तो बाल उखाड़ने लगती हैं। तो मनोवैज्ञानिक कहते हैं, यह तो कुछ पागलपन का लक्षण है। आदमी कहता है कि ऐसा हो रहा है कि अपने बाल नोच डालूं, क्रोध की हालत में ऐसा हो जाता है। तो यह तो पागलपन है। और पागलखानों में ऐसे पागल हैं जो बाल नोच लेते हैं अपने। अब ये जैन मुनि, दिगंबर को तो लगेगा अहा! जब जैन मुनि केश-लुंच करते हैं तो सारे जैनी इकट्ठे होते हैं, उत्सव मनाते हैं। बीच में मुनि केश लोंचता है और वे सारे उत्सव मनाते हैं कि कैसी महान घटना का दर्शन कर रहे हैं! लेकिन दूसरे सब हंस रहे हैं। दूसरे सब समझ रहे हैं कि ये दिमाग खराब होने की बातें हैं। यह कोई बात हुई?

तुम्हारी धारणा से अगर तुम चल रहे हो, तब तो तुम्हें महात्मा दिखाई पड़ जायेगा, क्योंकि तुमने एक बंधा हुआ दृष्टिकोण बना रखा है। लेकिन निर्धारणा हो कर जाओ। धारणा छोड़ कर जाओ। किसी धारणा से मत देखो। सहज देखो। तो तुम अड़चन में पड़ जाओगे। तब तुम्हें जो महात्मा दिखाई पड़ते थे वे महात्मा न दिखाई पड़ेंगे। और हो सकता है, जिनमें तुम्हें कभी महात्मा नहीं दिखाई पड़ा था उनमें कहीं महात्मा के दर्शन हो जायें।

महात्मा का अर्थ ही यही होना चाहिए कि जिसके जीवन में और परमात्मा में तालमेल हो गया, संगीत बैठ गया, सुर एक हो गया; जो भोजन करते वक्त ध्यान मग्न है और दूकान पर बैठा हुआ प्रभु का स्मरण कर रहा है; जिसके प्रभु-स्मरण में और जीवन-कृत्य में जरा भी भेद नहीं रह गया है।

कबीर ने कहा है: "उठूं-बैठूं सो सेवा!" मेरा उठना-बैठना ही प्रभु की सेवा है। "चलूं-फिरूं सो परिक्रमा!" अब मंदिर में जाकर परिक्रमा नहीं करता। क्या फायदा? ऐसा चलता-फिरता हूं, उसमें प्रभु की ही परिक्रमा हो रही है; किसी और की तो परिक्रमा हो नहीं सकती, क्योंकि प्रभु ही तो है, कोई और तो है नहीं। उसके अतिरिक्त तो कुछ भी नहीं है। "खाऊं-पीऊं सो सेवा।" मंदिर में लोग जब भगवान को भोग लगाते हैं, तो कहते हैं, सेवा कर रहे हैं। और कबीर कहते हैं कि मैं खुद ही खा पी लेता हूं वह सेवा है; क्योंकि भीतर बैठा तो भगवान ही है, उसी के लिए भोग लगा रहा हूं।

जब जीवन के साधारण से कृत्य भी असाधारण की महिमा से मंडित हो जाते हैं; जब क्षुद्रतम दिखाई पड़ने वाली बात में भी विराट की झलक आ जाती है; जब अणु में ब्रह्मांड झलकने लगता-- तब जीवन-मुक्ति।

और तुमसे मैं यही कह रहा हूं। मेरी सारी देशना यही है। इसलिए मैं तुमसे कहता हूं: संन्यास तो ले लो लेकिन घर छोड़ कर भाग मत जाना। तुम संन्यास को अपने घर में लाओ। संन्यास इतनी बड़ी महाक्रांति है कि तुम उसे अपने घर में लाओ; जहां हो वहीं खींचो, वहीं पुकारो। तुम्हारा घर मंदिर बने। तुम्हारा जीवन का जो सहज क्रम है, उसको असहज मत करो। उल्टा-सीधा करने से कुछ सार नहीं है। परमात्मा सीधे-सीधे उपलब्ध है। परमात्मा बहुत सरलता से उपलब्ध है। तुम जरा सरल हो जाओ। जटिलता तुम्हारी है; परमात्मा की नहीं है। परमात्मा बहुत पास है, पास से भी पास है। मुहम्मद कहते हैं कि वह जो गले की नस है, जिसे काटने से आदमी मर जाता है, वह भी दूर है; परमात्मा उस पास से भी ज्यादा पास है। हृदय की धड़कन से भी ज्यादा पास है। सच तो यह है, यह कहना कि परमात्मा पास है, ठीक नहीं; क्योंकि परमात्मा और तुम में जरा भी फासला नहीं है। पास में भी तो फासला हो जाता है। तुम मेरे पास बैठे तो भी हो तो अलग ही; कि दूर बैठे कि पास बैठे--क्या फर्क पड़ता है! थोड़ी दूरी कम है, लेकिन दूरी तो है ही। लेकिन परमात्मा तुम्हीं हो।

इस बात की उदघोषणा है संन्यास कि परमात्मा तुम हो। तुम जैसे हो, यही प्रभु-पूजा, यही प्रभु-सेवा, यही परिक्रमा। तुम्हारा सामान्य व्यवहार प्रार्थना है, ध्यान है। बस इतना ही करो कि तुम प्रत्येक कृत्य को होश से, साक्षी-भाव से करने लगो।

दूसरा प्रश्न: जब कभी कोई आपसे पूछता है कि ध्यान में ऐसा-ऐसा अनुभव हो रहा है और आप कह देते हैं ऐसा होना शुभ है, तब तो अहंकार और बड़ा होने लगता है। और सब समय तो अहंकार ही सिर उठाता रहता है। यह प्रश्न लिखते समय भी अहंकार ने बहुत सोच-विचार किया, फिर भी।...?

अहंकार के संबंध में एक बात समझो। अहंकार छोटा हो तो उससे मुक्त होना असंभव है। बात तुम्हें बड़ी उल्टी लगेगी, पर मैंने उल्टी बातें कहने का तय ही कर रखा है।

अहंकार छोटा हो तो छोड़ना बहुत मुश्किल। अहंकार जितना बड़ा हो उतना ही जल्दी छूट सकता है। जैसे पका फल गिर जाता है, ऐसे ही पका अहंकार गिरता है; कच्चा फल नहीं गिरता। जैसे कोई बच्चा गुब्बारे में हवा भरता जाये, भरता जाये, फुग्गा बड़ा होता जाता, होता जाता, फिर फड़ाक से फूट जाता। ऐसा कभी-कभी मैं तुम्हारे अहंकार में हवा भरता हूं। तुम कहते हो, ध्यान; मैं कहता हूं, अरे कहां ध्यान, तुम तो समाधिस्थ हो गये! तुम कहते हो, कमर में दर्द होता है; मैं कहता, दर्द नहीं, यह तो कुंडलिनी-जागरण है! तुम कहते हो, सिर में बड़ी पीड़ा बनी रहती है; मैंने कहा, कहां की बातों में पड़े हो, यह तो तीसरा नेत्र, शिव-नेत्र खुल रहा है।

सावधान रहना! यह फुग्गे में हवा भरी जा रही है। फिर फूटेगा। जब फूटेगा तब तुम समझोगे।

अहंकार के संबंध में एक बात बहुत आवश्यक है समझ लेनी। इधर मेरे पास पश्चिम से बहुत लोग आते हैं, पूरब के बहुत लोग आते हैं। एक बात देख कर मैं हैरान हुआ हूं: पूर्वीय व्यक्ति को समर्पण करना बहुत सरल है। वह आ कर चरणों में एकदम गिर जाता है। पश्चिमी व्यक्ति को समर्पण करना बहुत कठिन है; चरण छूना ही संभव नहीं मालूम होता, बड़ा कठिन! लेकिन एक और चमत्कार की बात है कि जब पश्चिम का आदमी झुकता है तो निश्चित झुकता है। और पूरब का जब झुकता है तो पक्का भरोसा नहीं। पूरब का आदमी झुकता है तो हो सकता है महज उपचारवश झुक रहा है; झुकना चाहिए, इसलिए झुक रहा है; झुकने की आदत ही हो गई है; बचपन से ही झुकाये जा रहे हैं।

मेरे पिता मुझे कहीं ले जाते थे बचपन में, वे फौरन बता देते कि जल्दी छुओ इनके पैर। तो मैं उनसे कहता कि आप कहते हैं तो मैं छू लेता हूं, बाकी इन सज्जन में मुझे छूने योग्य, पैर छूने योग्य कुछ दिखाई नहीं पड़ता। वे कहते, तुम यह बात ही मत करो। यह मामला रिश्तेदारी का है, औपचारिकता का है; तुम यह विवाद में मत पड़ो। मैं तो जहां तुम्हें कहूं, तुम पैर छुओ।

"तुम जहां कहो मैं छू लूंगा। मुझे कोई अड़चन नहीं है। लेकिन एक बात आप खयाल रखना, मैं छू नहीं रहा हूं।"

औपचारिकता है। पूर्वीय आदमी को अभ्यास कराया गया है सदियों से: झुक जाओ, विनम्र रहो। अहंकार को बढ़ने का मौका नहीं दिया गया। तो झुक तो जाता है, लेकिन झुकने में कुछ बल नहीं है। बल तो अहंकार से ही आता है और अहंकार तो बढ़ा ही नहीं कभी। पहले से ही पिटी-पिटाई हालत है। पश्चिम का आदमी आता है; झुकने की बात उसे कभी सिखाई नहीं गई; किसी के चरणों में झुकने की बात ही बेहूदी मालूम पड़ती है, संगत नहीं मालूम पड़ती। क्यों? क्यों किसी के चरणों में झुकना? अपने पैर पर खड़े होने की बात समझाई गई। संकल्प को बढ़ाओ। मनोबल को बढ़ाओ। आत्मबल को बढ़ाओ। पश्चिम के आदमी को अहंकार को मजबूत करने का शिक्षण दिया गया है। लेकिन जब भी पश्चिम का कोई आदमी झुकता है तो तुम भरोसा कर सकते हो कि यह झुकना वास्तविक है। नहीं तो वह झुकेगा ही नहीं, क्योंकि औपचारिक तो झुकने का कोई कारण ही नहीं है। पूरब के आदमी का कुछ पक्का नहीं है। कभी-कभी पूरब का आदमी जब नहीं झुकता है, तब सुंदर मालूम पड़ता है, क्योंकि कम से कम इतनी हिम्मत तो है कि उपचार के, परंपरा के, झूठे शिष्टाचार के विपरीत खड़ा हो सकता है; यह कह सकता है कि नहीं, मेरा झुकने का मन नहीं है।

मैं तुमसे यह कहना चाहता हूं कि झुकने के लिए पहले कुछ अहंकार तो होना चाहिए जो झुके। अगर दुनिया की शिक्षा ठीक रास्ते पर चले तो हम पहले अहंकार को बढ़ाने का शिक्षण देंगे। हम प्रत्येक बच्चे को उसके पैर पर खड़ा होना सिखायेंगे। और कहेंगे, संकल्प ही एकमात्र जीवन है। लड़ो! जूझो! संघर्ष करो! झुको मत! टूट जाओ, मिट जाओ, मगर झुको मत! हारना ठीक नहीं, मिट जाना ठीक है। जूझो! जब तक बने, जूझो! और अपने अहंकार को जितनी धार दे सकते हो, धार दो।

यह जीवन का पूर्वार्ध, कम से कम पैंतीस साल की उम्र तक तो अहंकार को परिपक्व करने का शिक्षण मिलना चाहिए। फिर पैंतीस साल के बाद जीवन का दूसरा अध्याय शुरू होता है--उत्तरार्ध। फिर समर्पण की शिक्षा शुरू होनी चाहिए। फिर आदमी को सिखाया जाना चाहिए कि अब तुम्हारे पास है चरणों में रखने को कुछ, अब झुकने का मजा है। पहले तो फल को कहना चाहिए कि "तू लटका ही रहना, छोड़ना मत झाड़ को; जल्दी मत छोड़ देना, नहीं तो कच्चा रह जायेगा। पक! जितना रस ले सके ले।" लेकिन फिर जब फल पक जाये तब भी अटका रहे तो सड़ेगा। जब फल पक जाये तो छोड़ दे झाड़ को, अब बात खतम हो गई।

जीवन का यह अनिवार्य हिस्सा है कि जीवन को हमें विरोध से ले चलना पड़ता है।

एक सूफी फकीर बायजीद अपने गुरु के साथ नदी पार कर रहा था। वह उससे पूछने लगा, अपने गुरु से, कि आप सदा कहते हैं: संकल्प भी चाहिए, समर्पण भी चाहिए। दोनों बातें विपरीत हैं। कोई एक कहें; आप उलझा देते हैं।

गुरु पतवार चला रहा था नाव की। उसने एक पतवार उठा कर नाव में रख ली और एक ही पतवार से नाव चलाने लगा। नाव गोल-गोल घूमने लगी। बायजीद ने कहा, आप यह क्या कर रहे हैं? कहीं एक पतवार से नाव चली? यह तो गोल-गोल ही घूमती रहेगी। यह कभी उस पार जाएगी ही नहीं।

तो उसके गुरु ने कहा: एक पतवार का नाम है संकल्प और एक पतवार का नाम है समर्पण। दोनों से ही उस तरफ जाने की यात्रा हो पाती है। दो पंख से पक्षी उड़ता है। दो पैर से आदमी चलता है।

और तुम तो चकित होओगे यह जान कर कि मस्तिष्क की जो खोजबीन हुई है उससे पता चला है कि तुम्हारे पास दो मस्तिष्क हैं दोनों तरफ, उसके कारण ही सोच-विचार संभव होता है; चिंतन, मनन, ध्यान संभव होता है।

यह सारा जगत दिन और रात, जीवन और मौत, अंधेरा-उजाला, प्रेम और घृणा, करुणा और क्रोध--ऐसे विराधों से बना है। यह जगत विरोधों का संगम है। स्त्री और पुरुष। साथ भी नहीं रह पाते, अलग भी नहीं रह पाते। अलग रहें तो पास आने की इच्छा होती है; पास आयें तो फांसी लग जाती है, अलग होने की इच्छा होती है। और दोनों के बीच जीवन की धारा बहती है। दो किनारे, उनके बीच जीवन की सरिता बहती है।

ठीक वैसी ही संकल्प और समर्पण की बात है। विनम्रता तो तभी आयेगी जीवन में जब तुम्हारे पास अपने पैरों पर खड़े होने का बल हो।

तो मैं तुमसे जल्दी करने को नहीं कहता। मैं नहीं कहता कि जल्दी से तुम जल्दबाजी में और अहंकार छोड़ दो। कच्चा अहंकार छोड़ दिया तो भीतर घाव छूट जायेगा। और वह घाव कभी भरेगा नहीं। अहंकार को मजबूत होने दो, घबड़ाते क्या हो? पहले "मैं" को घोषणा करने दो कि मैं हूं। जब घोषणा पूरी हो जाये और पक जाये, तब एक दिन मैं को परमात्मा के चरणों में चढ़ा देना। पका फल चढ़ाना, खिला फूल चढ़ाना; कच्चा फल मत चढ़ा देना, कच्चा फूल मत चढ़ा देना। पक जाये जब अहंकार तो चढ़ा देना। तब तुम्हारे पीछे कोई रेखा भी नहीं छूटेगी। तब एक अदभुत घटना तुम्हें अनुभव होगी: अहंकार हट जायेगा और निर-अहंकारिता की अकड़ न आयेगी। नहीं तो अहंकार हट जाता है और विनम्र होने की अकड़ आ जाती है कि मैं विनम्र हूं, कि मैं दासों का दास! मगर पकड़ वही है। अभी भी घोषणा वही चल रही है। अभी भी तुम यही कह रहे हो कि "मुझसे ज्यादा विनम्र और कौन है! दिखा दो कोई और जो हो मुझसे ज्यादा विनम्र!" दौड़ अभी भी वही है, प्रतिस्पर्धाएं अभी भी वही हैं। दूसरों से ऊपर होने की पहले दौड़ थी; अब भी वही दौड़ जारी है। फर्क नहीं पड़ा। तुम्हारे मूल गणित में जरा भी फर्क नहीं पड़ा।

तुमने देखे विनम्र आदमी, तथाकथित विनम्र आदमी! उनकी आंखों में कैसा अहंकार झांकता है! वास्तविक विनम्र आदमी में न तो विनम्रता होती और न ही अहंकार होता, दोनों नहीं होते। झूठे विनम्र आदमी में विनम्रता का बड़ा आरोपण होता है और भीतर छिपा हुआ अहंकार होता है। तुम जरा खरोंच दो और तुम पाओगे अहंकार निकल आया।

और रही बात यह कि मेरे कहने न कहने से कुछ भी न होगा। आदमी इतना होशियार है कि हर चीज से अपने अहंकार को भरने के उपाय खोज लेता है। अगर मैं तुम्हारे प्रश्न का उत्तर दूं तो तुम सोचते हो कि जरूर मेरा प्रश्न बहुत महत्वपूर्ण था, इसलिए उत्तर दिया; आखिर मेरा प्रश्न था! अगर तुम्हारे प्रश्न का उत्तर न दूं तो तुम सोचते हो, क्या उत्तर देंगे वे! प्रश्न मेरा था! बड़े-बड़े उत्तर देने वाले देख लिए, कोई उत्तर नहीं दे सकता!

आदमी ऐसा चालाक है, ऐसा कुशल है!

मैंने सुना कि मुल्ला नसरुद्दीन ने पूना के सब पहलवानों को हरा दिया। फिर तो उसके दिल में योजना बनने लगी कि वह भारत केसरी हो जाये, लंगोटा घुमा दे सारे भारत में। और तभी उसको पता चला कि घोड़नदी में एक गंवार पहलवान है और वह कहता है, अरे ऐसे देख लिए! अपने घोड़े पर सवार होकर घोड़नदी गया। नदी के किनारे ही वह गंवई पहलवान...वह कोई पहलवान नहीं था, गंवार था, मगर था मजबूत आदमी, वह अपने खेत में कुछ काम कर रहा था। नसरुद्दीन ने घोड़ा उसके बगल में खड़ा किया और कहा: भई सुनते हो, कि मैंने सुना, तुमने ऐसा कहा कि कौन है पहलवान! मैं हूं पहलवान। मुझसे लड़ोगे?

उस आदमी ने एक नजर देखा, दोनों पैर पकड़ कर मुल्ला को उठाया, घुमाया और नदी के उस तरफ फेंक दिया। कपड़े झाड़ कर मुल्ला खड़ा हुआ और बोला: भई, अगर नहीं लड़ना है तो साफ क्यों नहीं कहते! यह कोई बात हुई? नहीं लड़ना है, मत लड़ो। और अब कृपा करके मेरे घोड़े को भी इस तरफ फेंक दो, क्योंकि मुझे शहर वापिस लौटना है।

मगर आदमी ऐसा है। तुम हर स्थिति में जो चाहते हो कर लोगे। तुम अपने अहंकार को सजाते ही रहते हो, किस-किस भांति सजाते हो! कभी तुम अपनी इन सब कलाबाजियों को देखोगे तो बड़े चकित हो जाओगे। और अहंकार से मुक्त होना है तो इन सारी कलाबाजियों का ठीक-ठीक दर्शन करना होगा। इनका साक्षी बनना होगा।

मैं तुम्हें तुम्हारे अहंकार से मुक्त नहीं करवा सकता--कोई तुम्हें नहीं करवा सकता। तुम चाहो तो हो सकते हो। तुम न चाहो तो कोई उपाय नहीं है। तुम चाहो तो जरूर हो सकते हो। लेकिन चाह को बड़ी गहरी क्रांति से गुजरना होगा।

पहला नियम है अहंकार से मुक्त होने का कि तुम पहले मुक्त होने की चेष्टा न करो; इस चेष्टा के बजाय अपने अहंकार की सारी सूक्ष्म गतिविधियों को पहचानो कि कहां-कहां से अहंकार मजबूत होता है; कैसे-कैसे मजबूत होता है; कैसे-कैसे तर्क खोजता है; कैसी-कैसी तरकीबें निकालता है। उन सारी तरकीबों को अगर तुम जाग कर देखने लगो तो धीरे-धीरे तुम पाओगे: जैसे-जैसे तुम जागने लगे वैसे-वैसे अहंकार क्षीण होने लगा।

अहंकार कुछ है नहीं। तुम अपने को धोखा दे रहे हो। अब तुम ही अपने को धोखा देना चाहते हो तो बड़ी कठिनाई है। कोई सोया हो तो जगा दो; लेकिन कोई पड़ा हो जागा हुआ और सोने का बहाना कर रहा हो तो कैसे जगाओगे! तुम धक्का दो, वह करवट लेकर फिर पड़ा रहेगा। सोये आदमी को जगाया जा सकता है; जागे हुए को, जो सोने का बहाना कर रहा है, कैसे जगाओगे! कोई उपाय नहीं है।

अहंकार कुछ है थोड़े ही--सिर्फ धारणा है। वास्तविक होता तो आपरेशन हो सकता था; काट कर अलग कर देते। लेकिन वास्तविक है नहीं। तुम भी अपने भीतर जा कर खोजोगे तो कहीं न पाओगे।

बोधिधर्म चीन गया तो चीन का सम्राट उससे मिलने आया और उसने कहा: और सब तो ठीक है, यह अहंकार मुझे बहुत अशांत किए रहता है। बोधिधर्म ने कहा: ऐसा करो, सुबह तीन बजे आ जाओ और अहंकार को साथ लेकर आना। मैं बिलकुल शांत ही कर दूंगा।

वह थोड़ा डरा। तीन बजे रात! और यह आदमी कह रहा है अहंकार को साथ ही ले आना। और मैं बिलकुल शांत ही कर दूंगा, एकबारगी में निपटारा कर दूंगा! यह आदमी पागल तो नहीं है! यह क्या कह रहा है! लेकिन यह आदमी था बड़ा प्रभावशाली--बोधिधर्म। इसकी प्रतिभा बड़ी अदभुत थी। इसके आसपास की हवा में बात थी। तो सम्राट आकर्षित तो हुआ। और ऐसा किसी ने कभी कहा भी नहीं था कि बस आ जाओ, खतम कर देंगे एक बार में, यह क्या बार-बार लगा रखना!

जब वह लौटने लगा, सीढ़ियां उतर रहा था, तब बोधिधर्म ने फिर डंडा बजा कर कहा कि सुनो, भूल मत जाना, तीन बजे आ जाना और यह मत भूल जाना कि अहंकार साथ ले आना, नहीं तो कहीं घर छोड़ आओ! सम्राट सोचने लगा, यह क्या पागल है आदमी! घर छोड़ आऊंगा! अहंकार कोई चीज है जो घर छोड़ आऊंगा! रात भर सो न सका। कई बार सोचा कि न जाये, क्योंकि उस अंधेरी रात में, तीन बजे रात उस मंदिर में, एकांत में, यह आदमी कुछ भरोसे का नहीं, डंडा मारने लगे या कुछ करने लगे! इसकी बात-चीत ऐसी है। लेकिन आकर्षण अदम्य था, रुक भी न पाया; तीन बजे उठ ही आया। उसके वजीरों ने भी कहा कि यह उचित नहीं है, क्योंकि यह आदमी कुछ अभी नया-नया आया है...कुछ देर रुकें। यह कुछ भरोसे का नहीं है। इसकी बातें उल्टी हैं। और भी लोगों से इसने कुछ इसी तरह की अनर्गल बातें कही हैं। आप थोड़े ठहरें।

लेकिन सम्राट ने कहा कि नहीं, उसने बुलाया और ऐसा किसी ने कभी कहा भी तो नहीं था, आश्वासन भी किसी ने नहीं दिया था; मैं जाऊंगा, देखूं क्या होता है।

सम्राट गया। कंपता-कंपता, डरता-डरता सीढ़ियां चढ़ा। बोधिधर्म बैठा था वहां डंडा लिए। उसने कहा: बैठे जाओ सामने। ले आये अहंकार?

सम्राट ने कहा: आप कैसी बातें करते हैं! अहंकार कोई चीज थोड़े ही है, मैं ले आऊं!

तो बोधिधर्म हंसा। उसने कहा: तो पचास प्रतिशत काम तो हल ही हो गया। चीज नहीं है अहंकार, वस्तु नहीं है, कुछ है नहीं!

सम्राट ने कहा: कोई वस्तु थोड़े ही है; सिर्फ खयाल है।

तो उसने कहा: चलो आधा तो मामला हल ही हुआ। अब खयाल ही रह गये, खयाल को ही हटाना है, आंख बंद कर लो और खयाल को खोजो कि कहां है! भीतर जाओ, ठीक से जांच-पड़ताल करो कि अहंकार कहां छिपा बैठा है। और मैं यहां डंडा लिए बैठा हूं; जैसे तुम पकड़ लो भीतर, सिर हिला देना, उसी वक्त खात्मा कर दूंगा।

अब तो सम्राट बहुत घबड़ाया। आंख तो बंद कर ली और इस डर में और घबड़ाहट में गया भी भीतर, सब तरफ झांकने भी लगा। अहंकार का तो कहीं पता भी न चला। घंटे बीत गये वह एक गहरे ध्यान में लीन हो गया। सूरज उगने लगा सुबह का और वह तल्लीन हो गया। इस अहंकार को खोजने के लिए इतनी आतुरता से गया कि विचार तो बंद हो गये।

जब तुम वस्तुतः त्वरा और तीव्रता से भीतर जाओगे, विचार बंद हो जायेंगे। मेरे पास लोग आते हैं। वे कहते हैं, क्या करें, ध्यान नहीं होता, विचार-विचार चलते रहते हैं! तुम कभी...भीतर जाने की त्वरा ही नहीं तुम्हारे भीतर। मुर्दे-मुर्दे जाते हो कि चलो देखें, शायद! इस "शायद" से काम नहीं होता कि चलो ये कहते हैं, जरा आंख बंद करके देख लें एक सेकेंड कि क्या होता है!

और बोधिधर्म सामने बैठा था डंडा लिए और वह डंडा मार सकता है। सम्राट गया। उसने सब तरफ खोजा। कहीं कोई अहंकार नहीं। अहंकार की तो बात दूर, अहंकार की छया भी नहीं। "मैं" का भाव ही कहीं भीतर नहीं है। तुम हो; "मैं" नहीं है। अस्तित्व है; "मैं" नहीं है। "मैं" का कोई कांटा ही नहीं गड़ा है कहीं भीतर।...शांत होने लगा। फिर तो बोधिधर्म ने, जब सूरज उगने लगा, उसे हिलाया और कहा कि बस आंख खोलो, अब मुझे उत्तर दे दो।

सम्राट पैरों पर गिर पड़ा। उसने कहा: आपने ठीक वचन दिया था, आपने निश्चित ही मिटा दिया। मैं कभी भीतर गया ही नहीं। मैं बाहर ही तलाश करता रहा कि अहंकार से कैसे छुटकारा हो। और अहंकार तो केवल धारणा मात्र है।

कोई भी बच्चा अहंकार लेकर थोड़े ही पैदा होता है; हम सिखा देते हैं। सीखी हुई बात है। सिर्फ सीखी हुई बात को भूलना है। कुछ है नहीं।

तुम कभी शांत बैठ कर खोजो: क्या है अहंकार? तुम कुछ नहीं पाओगे। जो वू, सम्राट वू ने नहीं पाया, तुम भी नहीं पाओगे। अहंकार सिर्फ एक खयाल है, एक सपना है कि मैं कुछ हूं। इसीलिए तो हर कोई तोड़ देता है तुम्हारे अहंकार को। रास्ते पर चले जा रहे हैं, किसी ने धक्का दे दिया...।

मुल्ला नसरुद्दीन मुझसे बोला कि जिंदगी बड़ी अजीब है। पहले मैं अपनी प्रेयसी को लेकर चौपाटी जाता था तो उधर बैठता था; एक आदमी आया, होगा कम से कम डेढ़ सौ किलो वजन का आदमी। उसने ऐसा लात मार कर...और रेत मेरी आंख में फेंक दी। अब प्रेयसी के सामने बड़ी बदनामी हो गई। अब मैं दुबला-पतला आदमी। मैंने सोचा, यह हड्डी-पसली तोड़ देगा। तो मैंने दो साल तो प्रेम इत्यादि एक तरफ रख दिया, बस दंड-बैठक, दंड-बैठक। जब तक डेढ़ सौ किलो वजन नहीं हो गया, तब तक फिर मैं चौपाटी नहीं गया। फिर अपनी प्रेयसी को लेकर चौपाटी पहुंचा; एक आदमी आ गया, वह कोई होगा दो सौ किलो वजन का। उसने फिर पैर मारा और रेत मेरी आंखों में उछाल दी। फिर मेरी प्रेयसी के सामने भद्द हो गई।

पर मुझसे वह कहने लगा: अब मैं करूं क्या? अगर ऐसे ही चलता रहा तो मैं जिंदगी भर दंड-बैठकें मार-मार कर मर जाऊंगा। और कोई न कोई हमेशा मौजूद है। कोई न कोई आंख में रेत फेंक ही सकता है।

तुमने देखा, तुम जिंदगी भर करते क्या हो! तुमने बामेहनत, मुश्किल कर-करा कर किसी तरह फिएट खरीदी, तुम्हारा पड़ोसी एंबेसेडर खरीद लाया। फिर किसी ने आंख में धूल फेंक दी! तुम किसी तरह दंड-बैठक लगा-लगा कर एंबेसेडर खरीद लाये, फिर पड़ोसी ने इंपाला खरीद ली। तुमने किसी तरह मकान बनाया, किसी ने और बड़ा मकान बना लिया। जिंदगी ऐसे ही दुख में बीत जाती है।

अहंकार कभी तृप्त नहीं हो सकता, क्योंकि अहंकार तो तुम्हारा खयाल मात्र है और कोई भी उसे तोड़ देता है। कोई भी जरा अकड़ कर खड़ा हो गया कि तुम्हारा अहंकार दो कौड़ी का हो जाता है। तुम्हारा अहंकार तुम्हारा खयाल है--दूसरों की तुलना में। तुम सोचते हो, मैं बड़ा हूं, विशिष्ट हूं! यही सब सोच रहे हैं। यह बीमारी सभी की एक जैसी है।

यहां करोड़ों-करोड़ों लोग हैं और सभी एक ही बीमारी से परेशान हैं कि मैं बड़ा। और सब यह सिद्ध करने की कोशिश कर रहे हैं कि मैं बड़ा, मैं तुमसे बड़ा!

कोई यहां बड़ा नहीं है, कोई यहां छोटा नहीं है। सब बस अपने जैसे हैं। यहां प्रत्येक व्यक्ति अद्वितीय है। अहंकार की दौड़ भ्रांत है। तुम जैसा न कोई कभी हुआ है, न कोई कभी फिर होगा। तुम जैसे बस तुम हो। तुलना का कोई उपाय नहीं है। तुलना की कोई जरूरत नहीं है। तुलना में अहंकार है।

तुम थोड़ा सोचो, सारी दुनिया मर जाये, सब लोग मर जायें, अकेले तुम बचे, बैठे अपने वृक्ष के तले--उस वक्त अहंकार होगा? क्या मतलब होगा अहंकार का? कोई और है ही नहीं। कोई और लकीर ही नहीं है, जिसके सामने तुम अपनी लकीर बड़ी करो। तुम अकेले हो तो फिर कैसा अहंकार!

और मैं तुमसे कहता हूं: यही घटना घटी सम्राट वू को; जब वह भीतर गया और विचार शून्य हो गये तो बिलकुल अकेला रह गया, दुनिया मिट गई।

गहरी नींद में देखते हो, रोज क्या होता है! फिर भी तुम्हें समझ नहीं आती। गहरी नींद में अहंकार रह जाता है? सम्राट की गहरी नींद में और भिखारी की गहरी नींद में तुम समझते हो कुछ फर्क रह जाता है? सम्राट भी गहरी नींद में सम्राट नहीं रह जाता; भिखारी भिखारी नहीं रह जाता। गहरी नींद में याद ही नहीं रह जाती कि तुम हिंदू कि मुसलमान कि ईसाई, कि महात्मा कि गृहस्थ, कुछ याद नहीं रह जाता। किसके पति, किसकी

पत्नी, किसके बेटे, किसके बाप--कुछ याद नहीं रह जाता। कितने सर्टिफिकेट, कितनी उपाधियां--कुछ याद नहीं रह जाता। गहरी नींद में तुम्हारा अहंकार कहां होता है? गहरी नींद में विचार नहीं होता तो अहंकार नहीं होता। इसका अर्थ हुआ कि विचारों का संग्रह ही अहंकार है, भाव मात्र है।

ऐसी ही एक और दशा है गहरी नींद जैसी, सुषुप्ति जैसी एक और दशा है, जिसको हम समाधि कहते हैं। फर्क थोड़ा ही है। सुषुप्ति में भी विचार खो जाते, अहंकार खो जाता, परम शांति रह जाती, लेकिन बेहोशी होती है। समाधि में भी विचार खो जाते, अहंकार खो जाता, लेकिन मूर्च्छा नहीं होती, होश होता है। बस इतना ही फर्क है। इसलिए पतंजलि ने तो योगसूत्र में कहा है: समाधि सुषुप्ति जैसी है--थोड़े-से फर्क के साथ। और वह थोड़ा-सा फर्क है होश का।

ऐसा ही समझो कि तुम्हारे कमरे में दीया नहीं जला है, सब फर्नीचर निकाल लिया गया, दीवालों से तस्वीरें निकाल ली गईं, कुछ सामान कमरे में नहीं, कमरा बिलकुल खाली है, लेकिन अंधेरा है, दीया नहीं जला--यह सुषुप्ति। फिर तुमने दीया जला लिया, कमरा अब भी खाली है, लेकिन अब दीया जल रहा है--यह समाधि। इन दोनों के बीच में कमरा भरा है, बहुत फर्नीचर--उसी फर्नीचर के इकट्ठे उपद्रव का नाम अहंकार, विचार--विचार, भाव, मैं यह, मैं वह, मैं ऐसा! कहीं भीतर तुम पूरे वक्त इसी चेष्टा में लगे हो कि सिद्ध कर दो कि तुम कौन हो। पता है ही नहीं कि तुम कौन हो और सिद्ध करने में लगे हो!

देखते हो, कोई आदमी का पैर पैर पर पड़ जाता है तो तुम कहते हो: "जानते नहीं हो मैं कौन हूं!" तुम्हें खुद पता है?

ऐसा हुआ एक बार मैं एक स्टेशन पर ट्रेन में सवार हो रहा था। भीड़-भाड़ थी डब्बे के बाहर। लोग बड़ा धक्कम-धुक्की कर रहे थे। एक आदमी के पैर पर मेरा पैर पड़ गया। वह बोला कि "आप देखते नहीं, अंधे हैं? देखते नहीं मैं कौन हूं?" मैंने कहा: मैं एक ज्ञानी की तलाश में ही था, आप मुझे बतायें कौन हैं? छोड़ें यह ट्रेन, जाने दें।

मैंने कहा: यह बिस्तर रहा नीचे, आप बैठें। आप कृपा करके विराजें। अब और तो यहां कुछ है नहीं, सूटकेस पर ही बैठ जायें और मैं यहां स्टेशन पर प्लेटफार्म पर बैठ कर आपसे निवेदन करता हूं, आप मुझे समझा दें कि कौन हैं।

वे कहने लगे कि आप पागल हैं।

"तुम्हीं कहे कि आपको पता है कि मैं कौन हूं, तो मैं समझा कि कम से कम आपको तो पता होगा ही।"

तुम्हें पता नहीं तुम कौन हो। सारी दुनिया को पता करवाना चाह रहे हो कि पता चल जाये कि मैं कौन हूं! पहले खुद तो पता लगा लो। जिसने खुद पता लगाया वह तो हंसने लगता है। वह तो कहता है: मैं हूं ही नहीं। अब यह बड़े मजे की बात है। यह खूब मजाक रही: जिसको पता चल जाता है कि मैं कौन हूं, वह तो कहता मैं हूं ही नहीं; और जिसको पता नहीं, वह लाख उपाय कर रहा है सिद्ध करने के कि मैं कौन हूं, मैं यह हूं, मैं वह हूं! हजार उपाधियां इकट्ठी कर रहा है, लेबिल चिपका रहा है, रंग-रोगन कर रहा है--मैं यह हूं! अज्ञानी सिद्ध करने की कोशिश में लगा है कि मैं हूं और ज्ञानी जानता है कि मैं हूं ही नहीं, केवल परमात्मा है।

कोई हर्जा नहीं। अगर अभी अज्ञान है तो अज्ञान है। तुम जरा भीतर जाओ। जरा खोजो। इस अंधेरे में कहीं परमात्मा बैठा है; तुम जरा दीया जलाओ।

हम ऐसे मूर्च्छित हैं कि हमें पता नहीं।

मुल्ला नसरुद्दीन ने एक दिन अपने फेमिली-डाक्टर को फोन करके बुलाया। डाक्टर साहब आये। गप्पें होती रहीं। ताश खेला गया। जब शाम होने लगी तो डाक्टर उठे, बोले अब चलता हूं, घर में सब ठीक-ठाक तो है न? मुल्ला ने सिर पीट लिया। बोला: अरे दोपहर से पत्नी बेहोश पड़ी है, इसलिए तो आपको बुलाया था। लेकिन होश मुल्ला को भी कहां! पत्नी बेहोश पड़ी, यह तो ठीक है; ये बेहोश बैठे हैं। डाक्टर आया तो गपशप

होने लगीं, तो ताश खेलने लगे, तो शराब ढाली गई होगी। पुराने दोस्त, पुराने यार मिल बैठे, तो गपशप हुई। भूल ही गये। अब याद आई कि पत्नी बेहोश पड़ी है।

पत्नी बेहोश पड़ी है, क्या मुल्ला होश में है? होश में यहां बहुत कम लोग दिखाई पड़ते हैं। करीब-करीब लोग बेहोश हैं। कभी-कभी क्षण भर को तुम्हें होश आता है। उसी क्षण भर में तुम्हें याद आती है परमात्मा की। फिर होश खो जाता है।

गुरजिएफ कहता था कि मैंने सैकड़ों लोगों के जीवन का अध्ययन किया तो पाया कि अगर एक आदमी के सत्तर साल के जीवन में सात क्षण के लिए भी होश आ जाता हो तो बहुत है। सात क्षण के लिए--सत्तर साल के जीवन में!

एक क्षण के लिए भी होश आ जाये तो तुम अचानक पाओगे: अरे, तुम जिसे अब तक जीवन समझ रहे थे, वह सपना; और जो जीवन था वास्तविक, उस तरफ तुमने देखा ही नहीं! कंकड़-पत्थर बीनते रहे; हीरे-जवाहरात ऐसे ही पड़े रहे। कूड़ा-कर्कट इकट्ठा करते रहे; खजाना जो मिला था, वह ऐसा ही पड़ा रहा। गंवाते रहे जीवन को; कमाया कुछ भी नहीं। कमाना तो दूर, जो अपना था उसको भी नहीं भोगा। जो मिला ही था, उसका भी रस न लिया, स्वाद न लिया।

बुद्ध के पास एक दिन एक आदमी आया और उसने कहा कि मुझे बड़ी दया आती है लोगों पर, मैं कुछ सेवा करना चाहता हूं, आप मुझे निर्देश दें। कहते हैं, बुद्ध उसकी तरफ गौर से देखते रहे और उनकी आंख में एक आंसू टपक आया। वह आदमी तो घबड़ा गया और उसने कहा कि आपकी आंख में आंसू, बात क्या है! आप मुझमें क्या देख रहे हैं? आप ऐसी क्या तलाश कर रहे हैं मुझमें?

वह थोड़ा बेचैन भी हो गया। बुद्ध ने कहा कि मुझे तुम पर दया आती है। तुम दूसरों पर दया करने चले हो। तुमने अभी अपने पर भी दया नहीं की। तुम पहले अपने पर तो दया करो!

वह आदमी कहने लगा: क्या मतलब आपका? मेरे पास सब है--धन-संपत्ति, सुविधा, घर-द्वार, मकान। मैं सेवा कर सकता हूं, मैं दान भी दे सकता हूं। आप जरा आज्ञा दें।

बुद्ध ने कहा: उसकी मैं बात ही नहीं कर रहा; वह सब पड़ा रह जायेगा। तुम्हें अपनी भीतरी संपत्ति का कुछ पता है? मुझे उस पर दया आ रही है कि यह आदमी इतनी भीतर संपत्ति लिए बैठा है और ऐसे ही मर जाएगा!

मैं भी तुमसे कहता हूं: मुझे तुम पर दया आ रही है। इसलिए नहीं कि तुम्हारे पास कुछ भी नहीं है; इसलिए कि तुम्हारे पास सब कुछ है और तुम पीठ किए बैठे हो। जो तुम्हारा है उस पर भी तुमने दावा नहीं किया। जिसके तुम मालिक हो, उसको भी नहीं देख रहे। जो बस मांगने से तुम्हारा हो सकता है, जरा आंख खोलने से तुम्हारा हो सकता है; जो साम्राज्य तुम्हारा है; जो प्रभु का साम्राज्य तुम लेकर ही पैदा हुए थे--वह ऐसा ही पड़ा सड़ रहा है और तुम क्षुद्र के पीछे भागे जा रहे हो। विराट को छोड़ कर क्षुद्र के पीछे भाग रहे हो। सार्थक को छोड़ कर व्यर्थ के पीछे भाग रहे हो। आत्मा को खो कर तुम हो क्या गये हो? सिर्फ छाया मात्र!

जर्मनी में एक लोक कथा है कि एक आदमी पर एक भूत नाराज हो गया, एक प्रेत नाराज हो गया और उस प्रेत ने अभिशाप दे दिया उस आदमी को कि आज से तेरी छाया खो जायेगी। वह आदमी तो हंसने लगा। उसने कहा कि यह भी कोई अभिशाप हुआ, इससे मेरा क्या बनेगा-बिगड़ेगा? उसने कहा: तू देखना। उस आदमी ने बहुत सोचा: इससे मेरा क्या बनेगा-बिगड़ेगा? छाया से कुछ ले-दे भी नहीं रहा था। काम भी क्या था छाया का! लेकिन आया शहर में तो पता चला झंझट हो गई। गांव में खबर फैल गई। लोग देखने लगे, इसकी छाया नहीं बनती! उन्होंने कहा: यह तो खतरा है। ऐसा कभी सुना? कथायें हैं कि भूत-प्रेत की छाया नहीं बनती; यह आदमी भूत-प्रेत हो गया है। उसके पहले कि वह घर पहुंचता, घर खबर पहुंच गई। पत्नी तो ताला लगा कर भाग गई पड़ोस में, मित्र कन्नी काटने लगे। जहां जाये...दूकान पर पहुंचे तो लोग दूकान बंद कर लें कि बाबा, क्षमा

करो। कोई भोजन देने को तैयार नहीं। अपने घर में शरण न मिले। उसने कहा: यह तो बड़ी मुश्किल हो गई। तो मैं तो सोचता था, छाया खोने से क्या बिगड़ेगा? छाया खोने से इतना बिगड़ गया!

और मैं तुमसे कहता हूं: तुम सिर्फ छाया ही बचे हो, आत्मा खो दी है। तो तुम्हारी दुर्गति कैसी होती होगी! छाया खोने से इतनी मुसीबत हो गई; तुमने आत्मा खो दी है और छाया ही बचा ली है। लेकिन मुसीबत ज्यादा नहीं होती मालूम पड़ती, क्योंकि जिनके बीच तुम रहते हो उन सबने भी अपनी आत्मा खो दी है। सच तो यह है, अगर तुम आत्मा पा लो तो अड़चन शुरू होगी। क्योंकि वे, जिनके पास आत्मा नहीं है, वे तत्क्षण तुम्हारे दुश्मन हो जायेंगे। अन्यथा लोग क्यों महावीर को पत्थर मारें, क्यों बुद्ध का तिरस्कार करें, क्यों मंसूर को सूली लगायें, क्यों सुकरात को जहर पिलायें, क्यों जीसस की हत्या करें! ये जिनकी आत्मायें खो गई हैं इनकी भीड़ है। जब भी कोई आत्मवान आदमी इनके बीच खड़ा होता है, इनको बड़ी बेचैनी होती है।

कैसी मूढ़ता है! आत्मवान आदमी से सीखनी थी कला कि हम भी कैसे आत्मवान हो जायें। लेकिन आत्मवान आदमी को देख कर इन्हें बेचैनी होती है। इनको घबड़ाहट होती है। ये कहते हैं कि यह आदमी खड़ा है मौजूद, इससे सिद्ध होता है कि हम जो होना चाहिए थे वह नहीं हो पाये हैं। हम हार गये। इससे चिंता पैदा होती है कि अरे, हमारा जीवन व्यर्थ है! हटाओ इस आदमी को, इसकी मौजूदगी उपद्रव करती है।

तुमने सुनी एक स्त्री की बात? सुना है, एक स्त्री बड़ी कुरूप थी। वह कभी दर्पण में नहीं देखती थी। क्योंकि वह कहती थी कि सब दर्पण साजिश कर रहे हैं। दर्पण कोई उसके सामने ले आता तो दर्पण तोड़ देती थी, क्योंकि उसका खयाल था कि दर्पण उसको कुरूप बना रहे हैं। अब, दर्पण किसी को कुरूप नहीं बनाता। दर्पण तो तुम जैसे हो वैसे बतला देता है तुम्हें, तुम्हारी छवि प्रगट कर देता है।

बुद्ध, महावीर, कृष्ण, क्राइस्ट दर्पण हैं। तुम्हारी कुरूपता दिखाई पड़ती है, तुम नाराज हो जाते हो। तुम दर्पण तोड़ने को तैयार हो जाते हो। तुम अपना चेहरा बदलने को राजी नहीं होते। तुम बड़े दया योग्य हो।

मैं तुमसे कहना चाहूंगा: जागो! धीरे-धीरे मूर्च्छा छोड़ो। अभी तुम उठते भी हो नींद-नींद में, चलते भी हो नींद-नींद में, बात भी कर लेते हो, उत्तर भी दे देते हो। लेकिन तुमने कभी खयाल किया कि तुम होश से कर रहे हो यह? कोई तुम्हें गाली देता है तो तुम फिर होशपूर्वक क्रोध करते हो या क्रोध हो जाता है? जैसे किसी ने बटन दबा दी, बिजली की बटन दबा दी, पंखा चल पड़ा। पंखा यांत्रिक है। किसी ने तुम्हारी बटन दबा दी और तुम क्रोधित हो गये। यह भी यांत्रिक है। यह भी यंत्रवत है। इसमें तुम्हें होश कहां, तुम्हारा होश कहां, तुम्हारी जागृति कहां?

जब कोई गाली दे, तब शांत खड़े हो जाना। एक क्षण सोचना, ध्यान करना। हो सकता है गाली ठीक ही हो। तो धन्यवाद दे देना आदमी को। या हो सकता है गाली बिलकुल गलत हो, तब हंस कर अपने रास्ते पर चले जाना, क्योंकि गलत से क्या झगड़ना! या तो ठीक होगी गाली या गलत होगी गाली। ठीक हो तो इस आदमी ने बड़ी कृपा की, कष्ट उठाया और तुम्हारा सत्य तुम्हें बताने आया। गलत हो तो यह आदमी बेचारा नाहक झंझट में पड़ा, नाहक जनता की सेवा कर रहा है! कोई इसकी सेवा चाहता भी नहीं, मगर यह मेहनत कर रहा है। तो धन्यवाद दे कर अपने रास्ते पर बढ़ जाना, कि भाई तुम अपनी जनसेवा जारी रखो; मगर तुम जो कहते हो वह मुझ पर लागू नहीं होता, हो सकता है किसी और पर लागू होता हो, या हो सकता है तुम्हें लगता हो कि मुझ पर लागू होता हो, फिर भी तुमने कृपा की, इतना श्रम उठाया, उसके लिए धन्यवाद है। तब तुम अचानक पाओगे तुम्हारे जीवन में होश की एक किरण आई। और उस होश की किरण के साथ ही अहंकार विदा होने लगता है।

तीसरा प्रश्न: एक बार आपके चित्र के सामने बैठे-बैठे मन में कई तरह के द्वंद्व-जाल पैदा हुए। एक भाव आया कि यह तो खतम नहीं होगा, खोपड़ी चलती ही रहेगी, इसलिए आप ही सम्हालें। तत्क्षण एक हलकापन

महसूस हुआ और मैं मस्ती में डूब गया। और तब आपका वह गंभीर मुद्रावाला चित्र खिलखिला कर हंस पड़ा। आज तक उसका स्मरण बना है। भगवान, आपको प्रणाम!

ऐसा ही सरल है। इतनी ही सरल है बात। खोपड़ी चलाते रहो तो चलती रहेगी। खोपड़ी तुम्हारी है। तुम इसको सहयोग देते हो तो चलती है; पैडल मारते रहते हो तो चलती है। तुम एक बार भी तय कर लो कि ठीक, हो गया बहुत; छोड़ दो गुरु पर, छोड़ दो प्रभु पर, छोड़ दो किसी पर--कि अब ठीक है, चलाना हो तो चला, न चलाना हो तो न चला; लेकिन मैं अब इसमें उत्सुक नहीं हूं; न इसके पक्ष में हूं न इसके विपक्ष में हूं। यही बात महत्वपूर्ण है। जब तक तुम विपक्ष में हो, तब तक तुम्हारी खोपड़ी चलती ही रहेगी। क्योंकि विपक्ष का भी मतलब यह होता है कि तुम अभी रस ले रहे हो।

सच तो यह है, विपक्ष से खोपड़ी और भी चलती है। अगर तुम्हारे मन में कोई विचार आता और तुम चाहते हो यह न आये तो और भी आयेगा। तुम्हारे न लाने की चेष्टा बार-बार स्मरण बन जायेगी। तुम चाहते हो न आये, हट जाये--इसी से घाव पैदा हो जायेगा। और-और आयेगा, बार-बार आयेगा। तुम जिस विचार से मुक्त होना चाहोगे वही विचार तुम्हारा पीछा करेगा। इसके पीछे गणित है। मनस्विद कहते हैं: विपरीत का नियम।

तुम कोशिश करके देखो। जिस चीज को तुम भुलाना चाहोगे, उसकी याद और आयेगी। क्योंकि भुलाने में भी तो याद आती है। भुलाने में भी तो याद हो रही है। तुम चाहते हो पत्नी भूल जाये, मायके गई है, वह नहीं भूलती है। और याद आती है। तुम चाहते हो बेटा चल बसा, शरीर छोड़ गया, भूल जाये। तुम जितना भूलने की कोशिश करते हो उतनी ही याद आती है।

भूलने का मतलब क्या है? यह भी याद करने का एक ढंग है। तो याद मजबूत होती है। चाहते हो कुछ, होता कुछ है। विपरीत का परिणाम होता रहता है। विपरीत परिणाम होता रहता है।

नहीं, अगर खोपड़ी को सच में ही चाहते हो कि बंद हो जाये तो यह चाहत भी छोड़ दो कि खोपड़ी बंद हो जाये। कहना: चलना हो चल, न चलना हो न चल; हमारी तरफ से अब कोई फर्क नहीं पड़ता। यही अर्थ है समर्पण का। इसलिए यह घटना घट गई होगी।

"खयाल आया कि यह तो खोपड़ी चलती ही रहेगी, इसलिए आप ही सम्हालें!"

बस इस खयाल में घटना घट गई होगी। "आप ही सम्हालें" यह महासूत्र बन सकता है। तुमसे जो न सम्हले, मुझ पर छोड़ कर देखो। नहीं कि मैं सम्हाल लूंगा। इसकी फिक्र मत करो। तुम्हारे छोड़ने से सम्हल जाता है; मेरे सम्हालने का कहां सवाल है! मुझे तो पता भी नहीं यह कब हुआ! मैं किस-किस खोपड़ी का हिसाब रखूं! इतनी खोपड़ियां हैं!

तो मैंने कुछ किया, ऐसा तो मत सोचना। वह तो गलती हो जायेगी। तुम ने ही कुछ किया। तुमने छोड़ा। तुमने समर्पण किया। तुमने कहा, आप सम्हालें! यह तुम्हारा भाव ही गजब कर गया।

लोग मुझसे पूछते हैं: हम अगर आपको समर्पण करें तो कुछ होगा? मैं उनसे कहता हूं कि मेरे करने का कोई सवाल ही नहीं है। तुम्हारा समर्पण है, तुम्हारे करने से कुछ होता है। समर्पण करने से होता है। इसलिए कभी पत्थर की मूर्ति के सामने भी बैठ कर अगर तुम समर्पण कर दोगे तो वहां भी हो जायेगा। यह मत सोच लेना कि पत्थर की मूर्ति कुछ करती है। पत्थर तो पत्थर ही है। पत्थर क्या करेगा? लेकिन तुमने अगर समर्पण कर दिया तो पत्थर की मूर्ति तो बहाना हो गई, निमित्त हो गई; इस बहाने तुमने अपनी खोपड़ी उतार कर रख दी। तुमने कहा: अब ठीक, तू सम्हाल।

तुम किसी भी बहाने अगर अपने को खाली कर सकते हो, कर तुम्हीं रहे हो। बहाना चाहिए। बिना बहाना मुश्किल होता है, कठिनाई होती है। इसलिए ये सब बहाने हैं। गुरु एक बहाना है। और पतंजलि ने तो योगसूत्र में कहा कि परमात्मा भी एक बहाना है। तुम बहुत घबड़ाओगे। मगर बात तो सही है। परमात्मा भी

एक विधि है। परमात्मा के बहाने तुम्हें छोड़ना आसान हो जाता है। तुम कहते हो: अब प्रभु तुम सम्हालो। ऐसा नहीं कि कोई वहां झपट कर सम्हाल लेता है। कोई वहां नहीं है। कोई वहां नहीं है। कोई सम्हालने वाला नहीं है। लेकिन जिस क्षण तुम छोड़ पाते हो, उसी क्षण क्रांति घट जाती है। तुम्हारे छोड़ते ही बोझ हलका हो जाता है।

"जैसे ही कहा आप ही सम्हालें, तत्क्षण एक हलकापन महसूस हुआ और मैं मस्ती में डूब गया।"

वही ऊर्जा जो खोपड़ी में चल रही थी, मुक्त हो गई, मस्ती बन गई। न तो मैंने तुम्हें सम्हाला, न मैंने तुम्हें मस्ती दी। मस्ती उसी ऊर्जा से बन गई। वे ही अंगूर जो विचारों और शब्दों में खोये जा रहे थे, मुक्त हो गये विचार-शब्दों से। क्षण भर में मदिरा तैयार हो गई, तुम मस्त हो गये, लवलीन हो गये। तुम्हारी मस्ती तुम्हारे भीतर। तुम्हारी मधुशाला तुम्हारे भीतर।

गुरु तो तुम्हें तुम्हारे ही भीतर पहुंचा देता है। गुरु तो गुरुद्वारा है। वह तो दरवाजा है। वह तो तुम्हें तुम्हारे ही भीतर पहुंचा देता है।

तुम अगर सचाई की बात पूछो तो मैं तुम्हें वही दे सकता हूं जो तुम अपने को देने को राजी हो। उससे ज्यादा नहीं।

तो यहां कोई आता है, परम आनंद से भर जाता है और कोई आ कर वैसे का वैसा ही लौट जाता है। जो वैसा का वैसा ही लौट जाता है, वह कहता है कि हमें तो कुछ भी न हुआ। जो परम आनंद से भर कर लौटा, वह कहता है कि बड़ी गुरु-कृपा हुई! जो आनंद से भर कर नहीं लौटा, वह समर्पण न कर पाया। जो आनंद से भर कर लौटा, वह समर्पण कर पाया। समर्पण करने से घटना घटी।

मैं कुछ भी नहीं कर रहा हूं। इसलिए तो मैं तुमसे कहता हूं कि मेरे जाने के बाद भी तुम अगर समर्पण करोगे तो काम जारी रहेगा, क्योंकि अभी भी मैं कुछ नहीं कर रहा हूं। तो जाने से भी कोई फर्क नहीं पड़ेगा। इसीलिए तो क्राइस्ट को गये दो हजार साल हो गये, कोई फर्क नहीं पड़ता: अब भी जो क्राइस्ट को प्रेम करता है, घटना घट जाती है। बुद्ध को गये ढाई हजार साल हो गये, कोई फर्क नहीं पड़ता। जो बुद्ध की मूर्ति के सामने आज भी भावपूर्ण हो कर डूब जाता है, घटना घट जाती है। वह सोचता है कि अदभुत, ढाई हजार साल हो गये, फिर भी प्रभु तुम अभी तक कृपा किए जा रहे हो! प्रभु तब भी कृपा नहीं करते थे। तब भी बहाना थे। तब भी मूर्ति ही थे।

इसे तुम समझो तो तुम्हारे पास अपनी मालकियत आ जाये। गुरु तुम्हें निर्भर नहीं बनाना चाहता। और जो बनाना चाहे वह गुरु नहीं है। गुरु तुम्हें आत्मनिर्भर करना चाहता है, तुम्हें मुक्त करना चाहता है। गुरु तुम्हें बांध ले तो दुश्मन हो गया।

मैं तुम्हें परिपूर्ण रूप से मुक्त करना चाहता हूं। मैं तुम्हें हर स्थिति में मुक्त करना चाहता हूं। मैं तुम्हें अपने से भी मुक्त करना चाहता हूं। तभी मुक्ति की मदिरा तुम्हारे जीवन में पूरी-पूरी उतरेगी।

तो मैं फिर से दोहरा दूं। मैं तुम्हें वही देता हूं जो तुम अपने को देने को राजी हो जाते हो। लेकिन तुम अभी इतने कुशल नहीं हो कि सीधे-सीधे एक हाथ से अपने दूसरे हाथ को दे दो; पहले तुम मुझे देते हो, फिर मैं तुम्हें देता हूं। ऐसे जिस दिन तुम समर्थ हो जाओगे, तुम सीधा-सीधा दे लोगे। तुम कहोगे: आपको क्यों कष्ट दें! जब तक ऐसा नहीं हुआ है, तुम मजे से मुझे कष्ट दिए चले जाओ; मुझे कोई कष्ट नहीं हो रहा है।

चौथा प्रश्न: आपने मुझे वीणा दी, मैंने बहुत कुछ बजाना भी चाहा--जैजैवंती, भैरवी, भैरव, मेघमल्हार, क्या-क्या नहीं! लेकिन शोरगुल के अतिरिक्त कुछ भी न हुआ। अब रखता हूं आपकी वीणा आपके ही चरणों में, आप ही बजायें!

बस अब वीणा बजेगी। अब वीणा बजेगी--बिना मेरे बजाये बजेगी। तुम रखो भर। तुम समर्पण भर करो।

तुम गा दो,
मेरा गान अमर हो जाये।

मेरे वर्ण-वर्ण विशृंखल
चरण-चरण भरमाये
गूंज-गूंज कर मिटने वाले
मैंने गीत बनाये
कूक हो गई हूक गगन की
कोकिल के कंठों पर
तुम गा दो,
मेरा गान अमर हो जाये।
दुख से जीवन बीता फिर भी
शेष अभी कुछ रहता
जीवन की अंतिम घड़ियों में भी
तुमसे यह कहता
सुख की एक सांस पर होता
है अमरत्व निछावर
तुम छू दो,
मेरा प्राण अमर हो जाये।
तुम गा दो,
मेरा गान अमर दो जाये।

तुम रखो बांसुरी प्रभु के चरणों में। तुम रख दो वीणा। तुम अपना कंठ भी उसे दे दो।

कूक हो गई हूक गगन की
कोकिल के कंठों पर
तुम गा दो,
मेरा गान अमर हो जाये।

तुम जब तक गाओगे, शोरगुल ही होगा, क्योंकि तुम शोरगुल ही हो। तुम्हारा हर प्रयास तनाव लायेगा। तुम्हारी यह धारणा ही कि मेरे किए कुछ हो सकता है, तुम्हारे जीवन की सबसे बड़ी दुविधा है। तुम्हारा यह खयाल ही कि मेरा प्रयास मुझे पहुंचायेगा, तुम्हें प्रभु के प्रसाद से वंचित किए है। तुम हलके हो लो। तुम रखो, उतार दो सब बोझ। तुम कह दो: "तू चल मेरे भीतर। तू गा मेरे भीतर। तू बोल मेरे भीतर। या तुझे चुप होना हो तो चुप रह मेरे भीतर। अब मैं न चलूंगा, तू चल।

तुम गा दो,
मेरा गान अमर हो जाये।

और निश्चित ही तुम्हारे रखते ही, वीणा में स्वर उठने शुरू होते हैं। अनूठे स्वर! अज्ञात के स्वर! ऐसे--जो कभी नहीं सुने गये! ऐसे--जो किन्हीं मर्त्य अंगुलियों से पैदा नहीं होते!

लेकिन फिर भी मैं तुमसे कहना चाहता हूं: कोई प्रभु आ कर बजाता नहीं है, तुम ही बजाते हो। लेकिन जैसे ही तुम अपने को छोड़ देते हो, तुम प्रभु हो जाते हो। तुम्हारी सीमा उसी क्षण मिट जाती है जिस क्षण तुमने कहा, अब मैं नहीं, तू! बस तुम्हारे भीतर वही बहने लगा। वही पहले भी बह रहा था, लेकिन तुम्हारी तूत्तू के कारण शोरगुल मचता था; तुम्हारी मैं-मैं तूत्तू के कारण उपद्रव होता था। अब तुमने सब हटा कर रख दिया। तत्क्षण उसकी धार बहने लगती है।

सहज हो जाओ और निर्भार।

"अब रखना चाहता हूं आपकी वीणा आपके ही चरणों में, आप ही बजायें!"

बजेगी वीणा। तुम अगर रख दो तो तुम्हारे कारण जो बाधा पड़ती थी, न पड़ेगी अब। बस बाधा न पड़ी, सब होने लगेगा। धार बहेगी, सागर में उतरेगी। सीमा चलेगी, असीम से मिलेगी। तुम्हारे कारण, तुम्हारी चेष्टा

के कारण अड़चन पैदा हो रही है। तुम्हारी सब चेष्टायें धार के विपरीत ले जाती हैं। चेष्टा का मतलब ही होता है: नदी के विपरीत बहना। निश्चेष्टा का अर्थ होता है: नदी के साथ बहना।

मुल्ला नसरुद्दीन अपने घर के बाहर बैठा था और लोग दौड़े आये, उन्होंने कहा कि सुनो, तुम्हारी पत्नी नदी में गिर गई और पूर आया है। तो मुल्ला भागा। एकदम नदी में कूद पड़ा। और बड़े तेजी से उल्टी धार की तरफ हाथ-पैर मार कर तैरने लगा। लोग घाट से चिल्लाये कि नसरुद्दीन, यह क्या कर रहे हो? तुम्हारी पत्नी बह गई और तुम ऊपर की तरफ जा रहे हो!

उसने कहा: तुम चुप रहो। तीस साल से उसके साथ रहता हूं; अगर सब स्त्रियां नीचे की तरफ जाती हैं तो वह ऊपर की तरफ गई होगी। उसे मैं तुमसे भलीभांति जानता हूं। तुम क्या खाक मुझे समझा रहे हो। मेरी पत्नी और धार के साथ बह जाये, कभी हो नहीं सकता। वह ऊपर की तरफ गई होगी।

अगर तुम लोगों को देखो तो तुम उनको पाओगे: सब अहंकार धार के विपरीत बहने की चेष्टायें कर रहे हैं। जो नहीं होता, वह हो जाये! जो नहीं हुआ है, हो जाये! किसी तरह परमात्मा की धार मोड़ दें हम!

हम मालिक होना चाहते हैं अस्तित्व के। बस वहीं सारी अड़चन है। वीणा वही खंडित हो जाती है, तार टूट जाते हैं! तुम नदी के साथ बहो। नदी तो जा रही है महासागर की तरफ, तुम क्यों व्यर्थ शोरगुल मचाते हो?

रामकृष्ण ने कहा है: पतवारें बंद करो, पाल खोलो! प्रभु की हवायें तो बह ही रही हैं, वे तुम्हें ले जाएंगी।

तैरो मत, बहो!

वीणा बोलेगी, गान उठेगा। और ऐसा गान उठेगा, जिसको अनाहत कहते हैं। एक तो आहत है, जो चोट करने से पैदा होता है; एक अनाहत है, जो चोट करने से पैदा नहीं होता। उसी को हमने नादब्रह्म कहा है।

तुम भर चेष्टा मत करो। तुम शांत हो कर बैठ जाओ, रख दो वीणा को। और अचानक तुम पाओगे: शून्य से उठने लगा संगीत--शून्य का संगीत! नीरव है। कहीं स्वर भी सुनाई नहीं पड़ता, फिर भी मस्त होने लगोगे, डोलने लगोगे! रोआं-रोआं एक अपूर्व पुलक से भर जायेगा!

पांचवां प्रश्न: ध्यान में रोती हूं, आपका चित्र देख कर विभोर होती हूं और आपकी याद से भी भीतर बहुत कुछ घटित होता है। क्या करूं?

पूछा है धर्मरक्षिता ने।

अगर ध्यान में रोना आता है तो इससे सुंदर और कुछ भी नहीं हो सकता। रोओ! आंसुओं से ज्यादा बहुमूल्य मनुष्य के पास कुछ भी नहीं प्रभु के चरणों में चढ़ाने को। और सब फूल फीके हैं--आंसुओं के फूल जीवंत फूल हैं; तुम्हारे प्राणों से आ रहे हैं; तुम्हारे हृदय से आ रहे हैं।

रोओ! रोने में बाधा मत डालना। ऐसा मत सोचना, संकोच मत करना। ऐसा मत सोचना कि क्या रो रही हूं, ठीक नहीं। दिल खोल कर रोओ। आनंदित हो कर रोओ। मगन हो कर रोओ।

रोने का अर्थ ही यही है: हृदय बहने लगा। रोने का अर्थ क्या होता है?

साधारणतः हमने रोने के साथ बड़े गलत संबंध जोड़ लिए हैं। हम सोचते हैं, लोग दुख में ही रोते हैं। गलत बात। हां, दुख में भी रोते हैं; सुख में भी रोते हैं। और जब महासुख बरसता है तो ऐसे रोते हैं जैसे कि कभी नहीं रोये थे।

रोने का कोई संबंध सुख-दुख से नहीं है। रोने का संबंध किसी और बात से है। वह बात है: जब भी तुम्हारे हृदय में कोई भाव इतना हो जाता है कि समाता नहीं, अटता नहीं, सम्हाले नहीं सम्हलता, तब आंसुओं की धार लगती है। दुख ज्यादा हो तो भी आदमी रोता है; महासुख हो जाये तो भी रोता है। गहन शांति में भी आंसू उतर आते हैं। बड़े प्रेम में भी आंखें झरने लगती हैं, झड़ी लग जाती है।

"ध्यान में रोती हूं। आपका चित्र देख कर विभोर होती हूं। आपकी याद से भी बहुत कुछ घटित होता है। अब क्या करूं?"

अब कुछ करने की बात ही नहीं है। करना तो उन्हीं के लिए है जो रोने में असमर्थ हैं। करना तो उन्हीं के लिए है जिनके हृदय कठोर हो गये हैं और आंसुओं के फूल नहीं लगते हैं। करना तो उन्हीं के लिए है जिनके जीवन की भक्ति सूख गई है, भाव सूख गया है, बहाव सूख गया है। जो रो सकता है उसके लिए तो परमात्मा का रास्ता खुला है।

तुम्हारे लिए तो द्वार मंदिर के खुल गये। रोओ! आनंद-मग्न होकर रोओ! ऐसे भाव से रोओ कि रोना ही रह जाये। तुम्हारा अपना यह खयाल ही मिट जाये कि मेरे भीतर कोई रोने वाला है; रोना ही रोना रह जाये। बस, ध्यान पूरा हो जायेगा। वहीं से समाधि उतरेगी।

एक रास्ता है ध्यान का, एक रास्ता है प्रेम का। और प्रेम का रास्ता बड़ा रसपूर्ण है। ध्यान का रास्ता बड़ा सूखा-सूखा है। जिसे प्रेम का रास्ता मिल जाये, वह भूले ध्यान की बात, भूले। बिसारो यह बात। प्रेम ही तुम्हारे लिए पर्याप्त है।

पिया खोलो किवाड़
पिया खोलो किवाड़!
कोयल की गूंजी पुकारें
बगिया में मरमर
दुनिया में जगहर
उतरी किरण की कतारें
पिया खोलो किवाड़
पिया खोलो किवाड़!
कोयल की गूंजी पुकारें
कलियों में गुनगुन
गलियों में रुन-झुन
अंबर से गाती बहारें
पतझर को भूली
हर डाली फूली
बीती को हम भी बिसारें
गूंगी थीं घड़ियां
गीतों की कड़ियां
वीणा को फिर झनकारें
माना कि दुख है
विधना विमुख है
आओ उसे ललकारें
पिया खोलो किवाड़
पिया खोलो किवाड़!
कोयल की गूंजी पुकारें।

जो रो उठा, उसने तो प्रभु के द्वार पर दस्तक दे दी। उसने तो कह दिया: पिया खोलो किवाड़! पिया खोलो किवाड़!

रोने से ज्यादा बेहतर कोई दस्तक मंदिर के द्वार पर कभी दी ही नहीं गई है। वह तो श्रेष्ठतम दस्तक है। उससे श्रेष्ठतर फिर कुछ भी नहीं है।

तो तुम अगर रो सकते हो तो प्रभु की तुम पर बड़ी कृपा है, अनंत कृपा है।

आंसुओं को प्रार्थना बनने दो। कुछ और करने को नहीं है। कुछ और करने की बात ही मत उठाना। क्योंकि करने में तो कर्ता आ जायेगा। रोने में कर्ता बड़ी सरलता से पिघल जाता है। रोना तो एक तरह का पिघलना है। इसीलिए तो रोने में आदमी डरते हैं।

पुरुषों ने तो रोना छोड़ ही दिया है। वे तो भूल ही गये रोने की कला।

तुम्हें पता है, दुनिया में पुरुष स्त्रियों से दो गुने ज्यादा पागल होते हैं! और हर दस साल में महायुद्ध चाहिए पुरुषों को। अगर दुनिया में महायुद्ध अगर बंद हो जायें तो मैं समझता हूं पुरुष सब के सब पागल हो जायेंगे, बच ही नहीं सकते फिर वे। लड़ाई-झगड़े में निकाल लेते हैं पागलपन, दुश्मनी, दंगा-फसाद, हिंदू-मुसलमान का दंगा, गुजराती-मराठी का दंगा। कोई भी बहाना, मरने-मारने को तैयार हैं।

और पुरुषों को बचपन से सिखलाया जाता है। बच्चों को हम कहते हैं: "रोना मत, मर्द रोते नहीं!" क्या पागलपन की बात है! मर्द की आंखों में उतनी ही आंसू की ग्रंथियां हैं जितनी स्त्री की आंखों में। परमात्मा ने भेद नहीं किया है। परमात्मा ने मर्द को भी रोने के लिए आंखें दी हैं, आंसू दिए हैं; नहीं तो आंसू देते ही नहीं। अगर मर्द रोते ही नहीं, मर्द को रोना ही नहीं चाहिए तो परमात्मा ने आंसू दिये ही क्यों? तो परमात्मा ने तुम्हारी आंख में आंसू न भरे होते। लेकिन उतनी ही ग्रंथियां हैं। कोई पुरुष रोने लगे तो लोग कहते हैं अरे, अरे बंद करो, क्या गैर-मर्दानी बात कर रहे हो!

ये पागलपन की बातें हैं। इनके कारण आदमी जड़ हो गया है। स्त्रियां अब भी थोड़ी बेहतर हालत में हैं। रो सकती हैं, कोई उन्हें रोकता नहीं। कहते हैं: स्त्रियां हैं, चलो रोने दो! स्त्रियां सौभाग्यशाली हैं इस दृष्टि से। और सब तो उनसे छिन गया है, लेकिन आंसू कम से कम उनके पास हैं। यह उनकी बड़ी धरोहर है।

घबड़ाओ मत। कुछ और करने की जरूरत नहीं है। रोओ और पुकारो! पुकारो और रोओ! धीरे-धीरे पुकार भी बंद हो जाये, फिर आंसू ही पुकारेंगे। पुकारने वाला भी खो जाये, फिर आंसू ही एकमात्र बात रह जायेगी। और तुम पाओगे इन्हीं आंसुओं से मंजिल करीब आने लगी।

पंथ जीवन का, चुनौती दे रहा है हर कदम पर
आखिरी मंजिल नहीं होती कहीं भी दृष्टिगोचर
धूल से लद, स्वेद से सिंच, हो गई है देह भारी
कौन-सा विश्वास मुझको खींचता जाता निरंतर
पंथ क्या, पद की थकन क्या, स्वेद-कण क्या?
दो नयन मेरी प्रतीक्षा में खड़े हैं!
एक भी संदेश आशा का नहीं देते सितारे
प्रकृति ने मंगल-शकुन पथ में नहीं मेरे संवारे
विश्व का उत्साहवर्धक शब्द भी मैंने सुना कब
किंतु बढ़ता जा रहा हूं लक्ष्य पर किसके सहारे
विश्व की अवहेलना क्या, अपशकुन क्या?
दो नयन मेरी प्रतीक्षा में खड़े हैं!

रोओ! रोने से तुम्हारी आंखें साफ होंगी। और तुम्हारी आंखों के साफ होते ही तुम पाओगे कि दो और नयन प्रगट होने लगे तुम्हारे आंसुओं में।

दो नयन मेरी प्रतीक्षा में खड़े हैं!

वे प्रभु के नयन! वे परमात्मा की आंखें!

तुम्हारे आंसू तुम्हारी आंखों से सारे घूंघट को हटा देंगे। आंखों के सारे धूलिकण बह जायेंगे। आंखों की सारी कालिख बह जायेगी। जन्मों-जन्मों का उपद्रव आंखों पर इकट्ठा है, वह बह जायेगा। तत्क्षण, जब तुम आंसुओं से भीगी आंखों को ऊपर उठाओगे, तुम पाओगे:

पंथ क्या, पद की थकन क्या, स्वेद कण क्या?
दो नयन मेरी प्रतीक्षा में खड़े हैं!
किंतु बढ़ता जा रहा हूं लक्ष्य पर किसके सहारे
विश्व की अवहेलना क्या, अपशकुन क्या?
दो नयन मेरी प्रतीक्षा में खड़े हैं!

वे दो नयन उसी क्षण दिखाई पड़ने शुरू होते हैं जब तुम्हारे दो नयन शुद्ध, साफ, निर्दोष हो जाते हैं। आंसुओं से बड़ी आंख को साफ करने की कोई कला नहीं है। शरीर के तल पर भी यही सही है और आत्मा के तल पर भी यही सही है। तुम जा कर आंख के डाक्टर से पूछना। वह कहता है: आंसू आंख की सारी बीमारियों को शुद्ध करते हैं। आंख पर कोई भी कीटाणु आ जाये, बीमारी का कोई इन्फेक्शन आ जाये, आंसू उसे मार डालते हैं। एक-एक आंसू लाख-लाख कीटाणुओं को मारने में सफल हो जाता है।

यह तो शरीर की बात हुई। मैं कोई शरीर का डाक्टर नहीं हूं। लेकिन मैं तुमसे कहता हूं: आंसू तुम्हारे भीतर के भी बहुत-से रोगों को मार डालते हैं। जो दिल खोल कर रो सकता है उसका क्रोध समाप्त हो जायेगा। जो दिल खोल कर रो सकता है उसका अहंकार पिघल जायेगा। जो दिल खोल कर रो सकता है, वह अचानक पायेगा निर्बोझ हो गया, निर्भार हो गया, उड़ने को तैयार हो गया। गुरुत्वाकर्षण कम हो जाता है। तुम्हारी आत्मा आकाश की यात्रा पर निकल सकती है।

आखिरी प्रश्न: कल आपका जन्म-दिवस है। आपके प्रेमी, आपके शिष्य, आपके संन्यासी बड़ी-बड़ी भावपूर्ण भेंट लाये हैं। मेरे पास कुछ भी नहीं है। मेरे पास भेंट करने के लिए शून्य के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। क्या आप इसे स्वीकार करेंगे?

शून्य से बड़ी और क्या भेंट हो सकती है! शून्य ही तुम ले आओ, इसी की तो मैं प्रतीक्षा करता हूं, तुम कुछ और लाये, व्यर्थ। तुम शून्य ले आये, सार्थक। शून्य यानी समाधि। शून्य यानी ध्यान। शून्य यानी पूर्ण को पाने का द्वार।

और यह सवाल नहीं है कि तुम कुछ लाओ। तुम आ गये, इतना काफी है। प्रेम अपने में पर्याप्त है। कोई और भेंट आवश्यक नहीं है।

कोकिला अपनी व्यथा जिससे जताये
सुन पपीहा पीर अपनी भूल जाये
वह करुण उदगार तुमको दे सकूंगा
प्राण! केवल प्यार तुमको दे सकूंगा
प्राप्त मणि-कंचन नहीं मैंने किया है
ध्यान तुमने कब वहां जाने दिया है
आंसुओं का हार तुमको दे सकूंगा
प्राण! केवल प्यार तुमको दे सकूंगा
फूल ने खिल मौन माली को दिया जो
बीन ने स्वरकार को अर्पित किया जो
मैं वही उपहार तुमको दे सकूंगा
प्राण! केवल प्यार तुमको दे सकूंगा
आ उजेली रात कितनी बार भागी
सो उजेली रात कितनी बार जागी
पर छटा उसकी कभी ऐसी न छाई
हास में तेरे नहाई यह जुन्हाई
ओ अंधेरे-पाख क्या मुझको डराता
अब प्रणय की ज्योति के मैं गीत गाता
प्राण में मेरे समाई यह जुन्हाई
हास में मेरे नहाई यह जुन्हाई
प्राण! केवल प्यार तुमको दे सकूंगा

तुम प्रेम ले आये, सब ले आये! तुम शून्य ले आये तो समर्पण ले आये, समाधि ले आये। कुछ और चाहिए नहीं। इससे और बड़ी कोई भेंट हो नहीं सकती है।

यही तुम्हें सिखा रहा हूं कि किस भांति प्रेम बन जाओ, किस भांति शून्य बन जाओ। तुम शून्य बन जाओ तो परमात्मा तुम्हारे भीतर उतर आये।

धन्य हैं वे जो मिट जाते हैं, क्योंकि प्रभु को पाने के वे ही अधिकारी हो जाते हैं। अभागे हैं वे जो नहीं मिट पाते, क्योंकि वे भटकेंगे और प्रभु को कभी पा न सकेंगे। मिटो--पाना हो तो।

वर्षा होती है पहाड़ों पर, पहाड़ खाली रह जाते हैं, क्योंकि पहले से ही भरे हैं। झीलें भर जाती हैं, क्योंकि खाली हैं।

तुम अगर खाली हाथ ले कर आ गये हो तो तुम भरे हाथ ले कर लौटोगे। भरे हाथ लाने की कोई जरूरत नहीं है। भरे हाथ आने की कोई जरूरत नहीं है।

तो घबड़ाओ मत। शून्य ले आये, सब ले आये। प्रेम ले आये, सब ले आये।

हरि ॐ तत्सत्!

प्रवचन-क्रम

61. शुष्कपर्णवत जीयो 2
62. घन बरसे 20
63. महाशय को कैसा मोक्ष! 39
64. एकाकी रमता जोगी 59
65. जानो और जागो! 79
66. अपनी बानी प्रेम की बानी 99
67. दृश्य से द्रष्टा में छलांग 118
68. मन तो मौसम-सा चंचल 137
69. स्वातंत्र्यात् परमं पदम् 159
70. दिल का देवालय साफ करो 181
71. निराकार, निरामय साक्षित्व 200
72. सदगुरुओं के अनूठे ढंग 221
73. मूढ़ कौन, अमूढ़ कौन! 242
74. अवनी पर आकाश गा रहा 262
75. मन का निस्तरण 282

इकसठवां प्रवचन

शुष्कपर्णवत जीयो

अष्टावक्र उवाच

निर्वासनो निरालंबः स्वच्छंदो मुक्तबंधनः।
क्षिप्तः संसारवातेन चेष्टते शुष्कपर्णवत्।। १९७।।
असंसारस्य तु क्वापि न हर्षो न विषादता।
स शीतलमना नित्यं विदेह इव राजते।। १९८।।
कुत्रापि न जिहासाऽस्ति नाशो वापि न कुत्रचित्।
आत्मारामस्य धीरस्य शीतलाच्छतरात्मनः।। १९९।।
प्रकृत्या शून्यचित्तस्य कुर्वतोऽस्य यदृच्छया।
प्राकृतस्येव धीरस्य न मानो नावमानता।। २००।।
कृतं देहेन कर्मेदं न मया शुद्धरूपिणा।
इति चिंतानुरोधी यः कुर्वन्नपि करोति न।। २०१।।
अतद्वादीव कुरुते न भवेदपि बालिशः।
जीवन्मुक्तः सुखी श्रीमान् संसरन्नपि शोभते।। २०२।।
नानाविचारसुश्रांतो धीरो विश्रांतिमागतः।
न कल्पते न जानाति न शृणोति न पश्यति।। २०३।।

नर्वासनो निरालंबः स्वच्छंदो मुक्तबंधनः।
क्षिप्तः संसारवातेन चेष्टते शुष्कपर्णवत्।।

इन छोटी-सी दो पंक्तियों में ज्ञान की परम व्याख्या समाहित है। इन दो पंक्तियों को भी कोई जान ले और जी ले तो सब हो गया। शेष करने को कुछ बचता नहीं।

अष्टावक्र के सूत्र ऐसे नहीं हैं कि पूरा शास्त्र समझें तो काम के होंगे। एक सूत्र भी पकड़ लिया तो पर्याप्त है। एक-एक सूत्र अपने में पूरा शास्त्र है। इस छोटे-से लेकिन अपूर्व सूत्र को समझने की कोशिश करें।

"वासनामुक्त, स्वतंत्र, स्वच्छंदचारी और बंधनरहित पुरुष प्रारब्धरूपी हवा से प्रेरित होकर शुष्क पत्ते की भांति व्यवहार करता है।"

लाओत्सु के जीवन में उल्लेख है: कि वर्षों तक खोज में लगा रहकर भी सत्य की कोई झलक न पा सका। सब चेष्टाएं कीं, सब प्रयास, सब उपाय, सब निष्फल गये। थककर हारा-पराजित एक दिन बैठा है--पतझड़ के दिन हैं--वृक्ष के नीचे। अब न कहीं जाना है, न कुछ पाना है। हार पूरी हो गई। आशा भी नहीं बची है। आशा का कोई तंतुजाल नहीं है जिसके सहारे भविष्य को फैलाया जा सके। अतीत व्यर्थ हुआ, भविष्य भी व्यर्थ हो गया है, यही क्षण बस काफी है। इसके पार वासना के कोई पंख नहीं कि उड़े। संसार तो व्यर्थ हुआ ही, मोक्ष, सत्य, परमात्मा भी व्यर्थ हो गये हैं।

ऐसा बैठा है चुपचाप। कुछ करने को नहीं है। कुछ करने जैसा नहीं है। और तभी एक पत्ता सूखा वृक्ष से गिरा। देखता रहा गिरते पत्ते को--धीरे-धीरे, हवा पर डोलता वृक्ष का पत्ता नीचे गिर गया। हवा का आया अंधड़, फिर उठ गया पत्ता ऊपर, फिर गिरा। पूरब गई हवा तो पूरब गया, पश्चिम गई तो पश्चिम गया।

और कहते हैं, वहीं उस सूखे पत्ते को देखकर लाओत्सु समाधि को उपलब्ध हुआ। सूखे पत्ते के व्यवहार में ज्ञान की किरण मिल गई। लाओत्सु ने कहा, बस ऐसा ही मैं भी हो रहूं। जहां ले जायें हवाएं, चला जाऊं। जो

करवाये प्रकृति, कर लूं। अपनी मर्जी न रखूं। अपनी आकांक्षा न थोपूं। मेरी निजी कोई आकांक्षा ही न हो। यह जो विराट का खेल चलता, इस विराट के खेल में मैं एक तरंग मात्र की भांति सम्मिलित हो जाऊं। विराट की योजना ही मेरी योजना हो और विराट का संकल्प ही मेरा संकल्प। और जहां जाता हो यह अनंत, वहीं मैं भी चल पड़ूं; उससे अन्यथा मेरी कोई मंजिल नहीं। डुबाये तो डूबूं, उबारे तो उबरूं। डुबाये तो डूबना ही मंजिल; और जहां डुबा दे वहीं किनारा।

और कहते हैं, लाओत्सु उसी क्षण परम ज्ञान को उपलब्ध हो गया।

यह सूत्र, पहला सूत्र अष्टावक्र का--निर्वासनो। हिंदी में अनुवाद किया गया: वासनामुक्त। उतना ठीक नहीं। निर्वासना का अर्थ होता है, वासनाशून्य; वासनामुक्त नहीं। क्योंकि मुक्त में तो फिर भाव आ गया कि जैसे कुछ चेष्टा हुई है। मुक्त में तो भाव आ गया, जैसे कुछ संयम साधा है। मुक्त में तो भाव आ गया अनुशासन का, योग का, विधि-विधान का। मुक्त का तो अर्थ हुआ, जैसे कि बंधन थे और उनको तोड़ा है। जैसे कि कारागृह वास्तविक था और हम बाहर निकले हैं।

नहीं, वासनाशून्य--निर्वासनो। वासना-रहित; मुक्त नहीं, वासनाशून्य। जिसने वासना को गौर से देखा और पाया कि वासना है ही नहीं। ऐसे वासना के अभाव को जिसने अनुभव कर लिया है। फर्क को समझ लेना। फर्क बारीक है।

यहीं योग और सांख्य का भेद है। यहीं साधक और सिद्ध का भेद है। साधक कहता है, साधूंगा, चेष्टा करूंगा; बंधन है, गिराऊंगा, काटूंगा, लडूंगा। उपाय से होगा। विधि-विधान, यम-नियम, ध्यान-धारणा--विस्तार है प्रक्रिया का; उससे तोड़ दूंगा बंधन को।

सिद्ध की घोषणा है कि बंधन है नहीं। उपाय की जरूरत नहीं है। आंख खोलकर देखना भर पर्याप्त है। जो नहीं है उसे काटोगे कैसे?

तो दुनिया में दो तरह के लोग हैं: एक, संसार में बंधन है ऐसा मानकर तड़फ रहे हैं। एक, संसार का बंधन तोड़ना है ऐसा मानकर लड़ रहे हैं। और बंधन नहीं है। ऐसा समझो कि रात के अंधेरे में राह पर पड़ी रस्सी को सांप समझ लिया है। एक है, जो भाग रहा है; पसीना-पसीना है। छाती धड़क रही है, घबड़ा रहा है कि सांप है। भागो! बचो! और दूसरा कहता है, घबड़ाओ मत। लकड़ियां लाओ, मारो। एक भाग रहा है, एक सांप को मार रहा है। दोनों ही भ्रांति में हैं। क्योंकि सांप है नहीं; सिर्फ दीया जलाने की बात है। न भागना है, न मारना है। रोशनी में दिख जाये कि रस्सी पड़ी है तो तुम हंसोगे।

अष्टावक्र की सारी चेष्टा तीसरी है: रोशनी। आंख खोलकर देख लो। थोड़े शांत बैठकर देख लो। थोड़े निश्चल-मन होकर देख लो। कहीं कुछ बंधन नहीं है। वासना है नहीं, प्रतीत होती है। फिर प्रतीति को अगर सच मान लिया तो दो उपाय हैं: संसारी हो जाओ या योगी हो जाओ; भोगी हो जाओ या योगी हो जाओ। भोगी हो गये तो भागो सांप को मानकर; तड़फो। योगी हो गये तो लड़ो।

अष्टावक्र कहते हैं, इन दोनों के बीच में एक तीसरा ही मार्ग है, एक अनूठा ही मार्ग है--न भोग का, न त्याग का; देखने का, द्रष्टा का, साक्षी का। जागो!

इसलिए मैं निर्वासना का अनुवाद वासनामुक्त न करूंगा। निर्वासना में जो व्यक्ति है वह वासनामुक्त है यह सच है, लेकिन अनुवाद "वासनामुक्त" करना ठीक नहीं। क्योंकि वह भाषा योगी की है--वासनामुक्त। वासनाशून्य, वासनारिक्त, निर्वासना--जिसने जान लिया कि वासना नहीं है। जागकर देखा और पाया कि कारागृह नहीं है; नहीं था, नहीं हो सकता है। जैसे रात सपना देखा था--पड़े थे कारागृह में, हथकड़ियां पड़ी थीं, और सुबह आंख खुली। जाना कि झूठ था सब। जाना कि सपना था। अपना ही माना था। अपना ही निर्मित किया था।

लेकिन लोग सपनों में खो जाते हैं। अपने सपनों की तो छोड़ो, दूसरों के सपनों में खो जाते हैं। अपना पागलपन प्रभावित करता है यह तो ठीक ही है, दूसरा भी पागल हो रहा हो तो तुम आवेष्टित हो जाते हो।

मैंने सुना है कि मुल्ला नसरुद्दीन अपने एक मित्र के साथ, कड़ी धूप है और वृक्ष की छाया में बैठा है। झटके से उठकर बैठ गया और कहने लगा कि प्रभु करे कभी वे दिन भी आयें। आयेंगे जरूर। देर है, अंधेर तो नहीं है। जब अपना भी महल होगा, सुंदर झील होगी, घने वृक्षों की छाया होगी। विश्राम करेंगे वृक्षों की छाया में। झील पर तैरेंगे। और ढेर की ढेर आइसक्रीम!

मित्र भी उठकर बैठ गया। उसने कहा, एक बात बड़े मियां, अगर मैं आऊं तो आइसक्रीम में मुझे भी भागीदार बनाओगे या नहीं? मुल्ला ने कहा, इतना ही कह सकते हैं कि अभी कुछ न कह सकेंगे। अभी कुछ नहीं कह सकते। अभी तुम बात मत उठाओ। उस आदमी ने कहा, चलो छोड़ो आइसक्रीम। वृक्ष की छाया में तो विश्राम करने दोगे, झील पर तो तैरने दोगे। मुल्ला सोच में पड़ गया। उसने कहा कि नहीं, अभी तो इतना ही कह सकते हैं कि अभी हम कुछ नहीं कह सकते।

वह आदमी बोला, अरे हद हो गई! वृक्षों की छाया में विश्राम भी न करने दोगे? नसरुद्दीन ने कहा, आदमी कैसे हो? आलस्य की भी सीमा होती है। अरे, अपनी कल्पना के घोड़े दौड़ाओ, मेरे घोड़ों पर क्यों सवार होते हो? न कोई महल है, न कोई झील है, अपने घोड़े भी नहीं दौड़ा सकते? इसमें भी उधारी? इसमें भी तुम मेरे घोड़ों पर सवार हो रहे हो?

आदमी पर खुद की कल्पना तो चढ़ ही जाती है, दूसरों की भी चढ़ जाती है। आदमी इतना बेहोश है। तुम पर अपनी महत्वाकांक्षा तो चढ़ ही जाती है, दूसरे की महत्वाकांक्षा भी चढ़ जाती है। महत्वाकांक्षी के पास बैठो, कि तुम्हारे भीतर भी महत्वाकांक्षा सरसरी लेने लगेगी। संक्रामक है। हम बेहोश हैं।

निर्वासना का अर्थ होता है: अब कल्पना के रंग चढ़ते नहीं। अब आकांक्षायें प्रभावित नहीं करतीं। अब महत्वाकांक्षाओं के झूठे सतरंगे महल प्रभाव नहीं लाते। टूट गये वे इंद्रधनुष। कितने ही रंगीन हों, जान लिये गये, पहचान लिये गये। झूठे थे। अपनी ही आंखों का फैलाव थे। अपनी ही वासना की तरंगें थे। कहीं थे नहीं; और हम नाहक ही उनके कारण सुखी और दुखी होते थे।

निर्वासना का अर्थ है: वासना नग्न देख ली गई और पाई नहीं गई। शून्य हो गया चित्त।

निर्वासनो निरालंबः।

निरालंब के लिए हिंदी में अनुवाद किया जाता है: स्वतंत्र; वह भी ठीक नहीं है। निरालंब का अर्थ होता है निराधार। स्वतंत्र में थोड़ी भनक है लेकिन सच नहीं है, पूरी-पूरी नहीं। स्वतंत्र का अर्थ होता है: अपने ही आधार पर, अपने ही तंत्र पर। निरालंब का अर्थ होता है: जिसका कोई आधार नहीं--न अपना, न पराया। आधार ही नहीं; जो निराधार हुआ।

अष्टावक्र कहते हैं कि जब तक कुछ भी आधार है तब तक डगमगाओगे। बुनियाद है तो भवन गिरेगा। देर से गिरे, मजबूत होगी बुनियाद तो; कमजोर होगी तो जल्दी गिरे, लेकिन आधार है तो गिरेगा। सिर्फ निराधार का भवन नहीं गिरता। कैसे गिरेगा, आधार ही नहीं! आधार है तो आज नहीं कल पछताओगे, साथ-संग छूटेगा। सिर्फ निराधार नहीं पछताता। है ही नहीं, जिससे साथ छूट जाये, संग छूट जाये। कोई हाथ में ही हाथ नहीं।

परमात्मा तक का आधार मत लेना; ऐसी अष्टावक्र की देशना है। क्योंकि परमात्मा के आधार भी तुम्हारी कल्पना के ही खेल हैं। कैसा परमात्मा? किसने देखा? कब जाना? तुम्हीं फैला लोगे। पहले संसार का जाल बुनते रहे, निष्णात हो बड़ी कल्पना में; फिर तुम परमात्मा की प्रतिमा खड़ी कर लेते हो। पहले संसार में खोजते रहे, संसार से चूक गये, नहीं मिला। नहीं मिला क्योंकि वह भी कल्पना का जाल था, मिलता कैसे? अब परमात्मा का कल्पना-जाल फैलाते हो। अब तुम कृष्ण को सजाकर खड़े हो। अब उनके मुंह पर बांसुरी रख दी है। गीत तुम्हारा है। ये कृष्ण भी तुम्हारे हैं, यह बांसुरी भी तुम्हारी, यह गुनगुनाहट भी तुम्हारी। ये मूर्ति तुम्हारी है और

फिर इसी के सामने घुटने टेक कर झुके हो। ये शास्त्र तुमने रच लिये हैं और फिर इन शास्त्रों को छाती से लगाये बैठे हो। ये स्वर्ग और नर्क, और यह मोक्ष और ये इतने दूर-दूर के जो तुमने बड़े वितान ताने हैं, ये तुम्हारी ही आकांक्षाओं के खेल हैं।

संसार से थक गये लेकिन वस्तुतः वासना से नहीं थके हो। यहां से तंबू उखाड़ दिया तो मोक्ष में लगा दिया है। स्त्री के सौंदर्य से ऊब गये, पुरुष के सौंदर्य से ऊब गये तो अप्सराओं के सौंदर्य को देख रहे हो। या राम की, कृष्ण की मूर्ति को सजाकर शृंगार कर रहे हो। मगर खेल जारी है। खिलौने बदल गये, खेल जारी है। खिलौने बदलने से कुछ भी नहीं होता। खेल बंद होना चाहिए।

अष्टावक्र कहते हैं, "निर्वासनो, निरालंबः।"

जिसकी वासना गिर गई उसका आश्रय भी गिर गया। अब आश्रय कहां खोजना है? वह खड़े होने को जगह भी नहीं मांगता। वह इस अतल अस्तित्व में शून्यवत हो जाता है। वह कहता है मुझे कोई आधार नहीं चाहिए।

आधार का अर्थ ही है कि मैं बचना चाहता हूं, मुझे सहारा चाहिए। ज्ञानी ने तो जान लिया कि मैं हूं कहां? जो है, है ही। उसके लिए कोई सहारे की जरूरत नहीं है। यह जो मेरा मैं है इसको सहारे की जरूरत है क्योंकि यह है नहीं। बिना सहारे के न टिकेगा। यह लंगड़ा-लूला है; इसे बैसाखी चाहिए।

निरालंब का अर्थ होता है: अब मुझे कोई बैसाखी नहीं चाहिए। अब कहीं जाना ही नहीं है, कोई मंजिल न रही तो बैसाखी की जरूरत क्या? पैर भी नहीं चाहिए। अब कोई यान नहीं चाहिए। अब तो डूबने की भी मेरी तैयारी है उतनी ही, जितनी उबरने की। अब तो जो करवा दे अस्तित्व, वही करने को तैयार हूं। तो अब नाव भी नहीं चाहिए। अब डूबते वक्त ऐसा थोड़े ही, कि मैं चिल्लाऊंगा कि बचाओ।

ज्ञानी तो डूबेगा तो समग्रमना डूब जायेगा। डूबते क्षण में एक क्षण को भी ऐसा भाव न उठेगा कि यह क्या हो रहा है? ऐसा नहीं होना चाहिए। जो हो रहा है, वही हो रहा है। उससे अन्यथा न हो सकता है, न होने की कोई आकांक्षा है। फिर आश्रय कैसा?

तुम परमात्मा का आश्रय किसलिए खोजते हो, कभी तुमने खयाल किया? कभी विश्लेषण किया? परमात्मा का भी आसरा तुम किन्हीं वासनाओं के लिए खोजते हो। कुछ अधूरे रह गये हैं स्वप्न; तुमसे तो किये पूरे नहीं होते, शायद परमात्मा के सहारे पूरे हो जायें। तुम तो हार गये; तो अब परमात्मा के कंधे पर बंदूक रखकर चलाने की योजना बनाते हो। तुम तो थक गये और गिरने लगे; अब तुम कहते हो, प्रभु अब तू सम्हाल। असहाय का सहारा है तू। दीन का दयाल है तू। पतित-पावन है तू। हम तो गिरे। अब तू सम्हाल।

लेकिन अभी सम्हलने की आकांक्षा बनी है। इसे अगर गौर से देखोगे तो इसका अर्थ हुआ, तुम परमात्मा की भी सेवा लेने के लिए तत्पर हो अब। यह कोई प्रार्थना न हुई। यह परमात्मा के शोषण का नया आयोजन हुआ। वासना तुम्हारी है, वासना की तृप्ति की आकांक्षा तुम्हारी है। अब तुम परमात्मा का भी सेवक की तरह उपयोग कर लेना चाहते हो। अब तुम चाहते हो, तू भी जुट जा मेरे इस रथ में। मेरे खिंचे नहीं खिंचता, अब तू भी जुट जा। अब तू भी जुते तो ही खिंचेगा। हालांकि तुम कहते बड़े अच्छे शब्दों में हो। लफ्फाजी सुंदर है।

तुम्हारी प्रार्थनायें, तुम्हारी स्तुतियां अगर गौर से खोजी जायें तो तुम्हारी वासनाओं के नये-नये आडंबर हैं। मगर तुम मौजूद हो। तुम्हारी स्तुति में तुम मौजूद हो। और तुम्हारी स्तुति परमात्मा की स्तुति नहीं, परमात्मा की खुशामद है, ताकि किसी वासना में तुम उसे संलग्न कर लो; ताकि उसके सहारे कुछ पूरा हो जाये जो अकेले-अकेले नहीं हो सका।

मेरे पास लोग आ जाते हैं, वे कहते हैं कि संन्यास दे दें। मैं पूछता हूं किसलिए? वे कहते हैं, अपने से तो कुछ नहीं पा सके; अब आपके सहारे...मगर पाकर रहेंगे। जीवन को ऐसे ही थोड़े चले जाने देंगे।

पाने की दौड़ कायम है। नहीं पा सके तो साधन बदल लेंगे, सिद्धांत बदल लेंगे, शास्त्र बदल लेंगे, लेकिन पाकर रहेंगे। हिंदू मुसलमान हो जाते हैं, मुसलमान ईसाई हो जाते हैं, ईसाई बौद्ध हो जाते हैं--पाकर रहेंगे। शास्त्र बदल लेंगे, साधन बदल लेंगे, लेकिन पाकर रहेंगे।

ज्ञानी वही है, जिसने जागकर देखा कि पाने को यहां कुछ नहीं है। जिसे हम पाने चले हैं वह पाया हुआ है। फिर आश्रय की भी क्या खोज! फिर आदमी निराश्रय, निरालंब होने को तत्पर हो जाता है। उस निरालंब दशा का नाम ही संन्यास है।

निर्वासनो निरालंबः स्वच्छंदो...।

और जो स्वयं के छंद को उपलब्ध हो गया है।

इस शब्द को खूब-खूब समझ लेना; क्योंकि इस शब्द के साथ बड़ा अनाचार हुआ है। शब्द भी हैं संसार में जिनके साथ बड़ा अनाचार हो जाता है। स्वच्छंद उन शब्दों में से एक है, जिसके साथ लोगों ने बड़ा दर्ुव्यवहार किया है।

स्वच्छंद का लोग अर्थ ही करते हैं, स्वेच्छाचारी। स्वच्छंद का लोग अर्थ ही करते हैं, उच्छृंखल। ऐसा भाषाकोशों में देखोगे तो मिल जायेगा। स्वच्छंद बड़ा प्यारा शब्द है। इसका अर्थ उच्छृंखल नहीं होता। इसका अर्थ इतना ही होता है: जिसने अपने भीतर के छंद को पा लिया, गीत को पा लिया। जो स्वयं के छंद को उपलब्ध हो गया। जो अब किसी और का गीत गाने में उत्सुक नहीं। जो शरीर का गीत भी गाने में उत्सुक नहीं, मन का गीत भी गाने में उत्सुक नहीं; जिसने स्वयं के गीत को पा लिया। जिसने अपने अंतरतम के गीत को पा लिया। जिसे अंतरतम की लय उपलब्ध हो गई। जो अब उस लय के साथ नाच रहा है।

हममें से कुछ शरीर का गीत गा रहे हैं। दुखी हम होंगे ही। क्योंकि वह हमारा गीत नहीं। हममें से कुछ शरीर की ही वासनाओं को पूरा करने में लगे हैं। वे कभी पूरी नहीं होतीं। वे कभी पूरी हो नहीं सकतीं। क्योंकि शरीर का स्वभाव क्षणभंगुर है। आज भूख लगती है, भर दो पेट, कल फिर भूख लगेगी। कोई एक दफा पेट भर देने से भूख थोड़े ही मिट जायेगी! भूख तो फिर-फिर लगेगी। आज प्यास है, पानी पी लो, फिर घड़ी भर बाद प्यास लगेगी। आज कामवासना जगी है, कामवासना में डूब लो, फिर घड़ी भर बाद कामवासना जगेगी।

शरीर का स्वभाव क्षणभंगुर है। वहां तृप्ति कभी स्थिर हो नहीं सकती। अतृप्ति वहां बनी ही रहेगी। लाख तुम करो उपाय, तुम्हारे उपाय से कुछ न होगा। शरीर का स्वभाव नहीं है।

यह तो ऐसे ही है जैसे कोई आदमी आग को ठंडा करने में लगा हो; कि रेत से तेल निचोड़ने में लगा हो। तुम कहोगे पागल है। आग कहीं ठंडी हुई? आग का स्वभाव गर्म होना है। कि रेत से कहीं तेल निचुड़ा? रेत में तेल है ही नहीं। पागल मत बनो।

शरीर से जो तृप्ति की आकांक्षा कर रहा है वह नासमझ है। उसने शरीर के स्वभाव में झांककर नहीं देखा। शरीर क्षणभंगुर है। बना ही क्षणभंगुर से है। भंगुरता शरीर का स्वभाव है। जिन-जिन चीजों से मिला है वे सभी चीजें बिखरने को तत्पर हैं; बिखरेंगी। शाश्वत जब तक न हो तब तक तृप्ति कहां? सनातन न मिले तब तक सुख कहां?

नहीं, शरीर के छंद को जिसने अपना छंद मान लिया, जिसने ऐसा गलत तादात्म्य किया वह भटकेगा, वह रोयेगा, वह तड़फेगा। और शरीर के छंद को अपना छंद मान लिया तो अपना छंद जो भीतर गूंज रहा है अहर्निश, सुनाई ही न पड़ेगा। शरीर के नगाड़ों में, बैंडबाजों में, क्षणभंगुर की चीख-पुकार में, शोरगुल में, बाजार में, वह जो भीतर अहर्निश बज रही वीणा स्वयं की, वह सुनाई ही न पड़ेगी।

वह सुर बड़ा धीमा है। वह सुर शोरगुलवाला नहीं है। उसे सुनने के लिए शांति चाहिए; निश्चल चित्त चाहिए; मौन अवधारणा चाहिए; निगूढ़ वासनाशून्यता चाहिए। आना-जाना न हो, आपाधापी न हो, भागदौड़ न हो; बैठ गये हो, कुछ करने को न हो, ऐसी निष्क्रिय दशा में, ऐसे शांत प्रवाह में उसका आविर्भाव होता है।

फूटती है भीतर की किरण। आती है सुगंध। जब आती है तो खूब आती है। एक बार द्वार-दरवाजा खुल जाये तो रग-रग रोआं-रोआं आनंदित हो उठता है।

उस भीतर के गीत के फूटने का नाम है स्वच्छंद। स्वच्छंद का अर्थ है: जो अपने गीत से जीता। न तो समाज के गीत से जीता, न राष्ट्र के गीत से जीता। राष्ट्रगीत उसका गीत नहीं। समाज का गीत उसका गीत नहीं। संप्रदाय, मंदिर, मस्जिद, पंडित-पुरोहित उसका गीत नहीं।

ये तो दूर की बातें हैं, अपने शरीर की भी लय में लय नहीं बांधता। शरीर को कहता है, तू ठीक, तेरा काम ठीक। भूख लगे, रोटी ले। प्यास लगे, पानी ले। लेकिन इतना मैंने जान लिया कि तेरे साथ शाश्वत का कोई संबंध नहीं है।

शरीर की भी छोड़ें, मन का गीत भी नहीं गुनगुनाता। क्योंकि देख लिया कि मन भी क्षण-क्षण बदल रहा है। एक क्षण ठहरता नहीं। जो ठहरता ही नहीं वह सुख को कैसे उपलब्ध होगा? बिना ठहराव के सुख कैसे संभव है? जो रुकता ही नहीं, जो भागा ही चला जाता है, वह कैसे विश्रांति पायेगा? भागना जिसका गुणधर्म है। मन का गुणधर्म भागना है। मन ठहरा कि मरा। जब तक भागता है तभी तक जीता है। मन तो साइकिल जैसा है--बाइसिकल। पैडल मारते रहे, चलती रहती है। पैडल रुके, कि गिरे। मन दौड़ता रहे तो चलता रहता है। रुके कि गिरा। जो रुकने से मिट जाता है वहां विश्राम कैसे होगा? वहां विराम कैसे होगा?

स्वच्छंद का अर्थ है: अब मन का छंद भी अपना छंद नहीं। अब तो हम उस छंद को गाते, जो हमारे आत्यंतिक स्वभाव से उठ रहा है। वही है अनाहत नाद, ओंकार। नाम उसे कुछ भी दो। बुद्ध उसे निर्वाण कहते हैं, महावीर उसे कैवल्यदशा कहते हैं। अष्टावक्र का शब्द है, स्वच्छंदता। और बड़ा प्यारा शब्द है।

निर्वासनो निरालंबः स्वच्छंदो...।

स्वच्छंद को जो उपलब्ध हो गया।

...मुक्तबंधनः।

वही, केवल वही बंधन से मुक्त है।

इस बात को भी खयाल में लेना। बंधनमुक्ति कोई नकारात्मक बात नहीं है, विधायक बात है। स्वयं के छंद को जो उपलब्ध हो गया वही बंधनमुक्त है। बंधनमुक्ति जंजीरों का टूटना नहीं है मात्र। क्योंकि ऐसा भी हो सकता है कि तुम किसी व्यक्ति को कारागृह से खींचकर बाहर ले आओ; जबर्दस्ती खींचकर बाहर ले आओ; वह आना भी न चाहे और खींचकर बाहर ले आओ; उसकी जंजीरें तोड़ दो; उसे धक्के देकर कारागृह के बाहर कर दो; लेकिन क्या तुम सोचते हो, इससे वह स्वतंत्रता को उपलब्ध हो गया, मुक्त हो गया?

जो आना भी न चाहता था, जो जंजीरें तोड़ना भी न चाहता था, जिसे कारागृह के बाहर लाने में भी धक्के देने पड़े। यह तो करागृह के बाहर लाना न हुआ। क्योंकि जहां धक्के देकर लाना पड़े उसी का नाम तो कारागृह है। यह तो बड़ा कारागृह आ गया। इसमें धक्के देकर ले आये। पहले धक्के देकर छोटे कारागृह में लाये थे, अब धक्के देकर जरा बड़े कारागृह में ले आये। दीवालें जरा दूर हैं, इससे क्या फर्क पड़ता है? लेकिन जहां धक्के देकर लाना पड़ता है वहीं तो कारागृह है। जबर्दस्ती में बंधन है।

अब तुम देखते हो, कोई आदमी जबर्दस्ती उपवास कर रहा है इससे थोड़े ही स्वच्छंदता मिलेगी। और जितना ही तड़फता है भूख से उतनी ही जबर्दस्ती करता है; क्योंकि सोचता है, लड़ रहा हूं, धक्के दे रहा हूं, आत्मज्ञान की यात्रा कर रहा हूं। कोई आदमी कांटों पर लेटा है, कोई कोड़े मार रहा है शरीर को। कोई रात सोता नहीं, जागा है, खड़ा है। धूपत्ताप में खड़ा है। सता रहा है। अनाचार कर रहा है। स्वयं को पीड़ा दे रहा है, इस आशा में कि इसी तरह तो मुक्ति होगी।

नहीं, अष्टावक्र कहते हैं, यह मुक्त होने का उपाय नहीं। यह तो मुक्ति बंधन से भी बदतर हो जायेगी। जबर्दस्ती कहीं मुक्ति हुई?

तो मुक्ति नकारात्मक नहीं है। मुक्ति बंधन के टूटने में ही नहीं है। मुक्ति स्वातंत्र्य की उपलब्धि में है, स्वच्छंदता की उपलब्धि में है। जो स्वच्छंद को उपलब्ध हो जाता है उसके बंधन ऐसे ही गिर जाते हैं, जैसे कभी थे ही नहीं।

ठीक से समझें तो इसका अर्थ होता है कि हम बंधे हैं क्योंकि हमें अपनी आंतरिक स्वतंत्रता का कोई पता नहीं। आंतरिक स्वतंत्रता का पता चल जाये, बंधन गिर जाते हैं। बांधा हमें किसी और ने नहीं है इसलिए लड़ने का कोई सवाल नहीं है। बंधे हैं हम क्योंकि हमने स्वयं को जाना नहीं। हमने अपने को ही बांधा है। किसी ने हमें बांधा नहीं है। यह हमारी धारणा है।

तुमने कभी देखा किसी सम्मोहनविद को किसी व्यक्ति को सम्मोहित करते? सम्मोहनविद जब किसी व्यक्ति को सम्मोहित कर देता है तो उससे जैसा कह देता है, सम्मोहित व्यक्ति वैसा ही मान लेता है। अगर पुरुष को कहे कि तू स्त्री हो गया, अब तू चल मंच पर, तो वह स्त्री की तरह चलता है। कठिन है स्त्री की तरह चलना। पुरुष स्त्री की तरह चले, बहुत कठिन है। क्योंकि स्त्री की तरह चलने के लिए भीतर पूरे शरीर की रचना भिन्न होनी चाहिए। गर्भाशय होना चाहिए तो ही स्त्री की तरह कोई चल सकता है। नहीं तो बहुत मुश्किल है। बड़े अभ्यास की जरूरत है।

लेकिन यह आदमी तो कभी अभ्यास किया भी नहीं। अचानक इसको सम्मोहित करके कह दिया कि तू स्त्री है, चल। और वह स्त्री की तरह चलता है। क्या हो गया?--एक मान्यता।

तुम चकित होओगे, आधुनिक मनस्विद सम्मोहन पर बड़ी खोजें कर रहे हैं। अगर सम्मोहित व्यक्ति के हाथ में साधारण-सा कंकड़ उठाकर रख दिया जाये, ठंडा कंकड़, और कह दिया जाये अंगारा है तो हाथ में फफोला आ जाता है। अंगारा तो रखा नहीं, फफोला आता कैसे?

इसी सूत्र के आधार पर लंका में बौद्ध भिक्षु अंगार पर चलते हैं। इससे उल्टा सूत्र। अगर तुमने मान रखा है कि अंगार नहीं जलायेगा, तो नहीं जला सकेगा। तुम्हारी मान्यता चीन की दीवाल बन जाती है। तुमने अगर मान लिया है कि कंकड़ भी अंगारा है तो कंकड़ से भी फफोला आ जाता है। तुम्हारी मान्यता!

सूफियों में कहानी है कि बगदाद के बाहर खलीफा उमर शिकार को गया था। और उसने एक बड़े अंधड़ की तरह एक काली छाया को आते देखा। तो उसने रोका। उसने कहा, रुक! मैं खलीफा उमर हूं। और बगदाद में प्रवेश के पहले मेरी आज्ञा चाहिए। तू है कौन? उसने कहा, क्षमा करें मैं मृत्यु हूं। और पांच हजार लोगों को मरना है बगदाद में। और मृत्यु किसी की आज्ञा नहीं मानती। खलीफा आप होंगे। क्षमा करें। पांच हजार लोग मरने को हैं, इतना आपको कह देती हूं।

महाप्लेग फैली। और कहते हैं, पचास हजार लोग मरे। खलीफा बहुत नाराज हुआ। वह बाहर राह देखता रहा। जब प्लेग खतम होने लगी और गांव से बीमारी समाप्त होने लगी तो वह बाहर आकर खड़ा रहा। फिर अंधड़ की तरह निकली मौत और उसने पूछा, रुक। आज्ञा न मान, ठीक; लेकिन मौत होकर झूठ बोलना कब से सीखा? तूने कहा, पांच हजार मारने हैं, पचास हजार मर गये। उसने कहा, क्षमा करें, मैंने पांच हजार ही मारे। बाकी पैंतालीस हजार अपने ही भय से मर गये। मैंने उनको छुआ ही नहीं है।

आदमी की हजार बीमारियों में नौ सौ निन्यानबे अपनी ही पैदा की होती हैं। मान लेता है। मान लेता है तो घटना घट जाती है। तुम्हारी मान्यता छोटी-मोटी बात नहीं है।

नागार्जुन एक बौद्ध भिक्षु हुआ। एक युवक ने आकर नागार्जुन को कहा कि मुझे भी मुक्ति का कुछ स्वाद दें। तो नागार्जुन ने कहा, इसके पहले कि मुक्ति का स्वाद ले सको, एक सत्य को जानना पड़ेगा कि बंधन तुमने पैदा किये हैं। उसने कहा, मैं और अपने बंधन करूंगा पैदा? आप भी क्या बात कर रहे हैं! कोई अपने बंधन अपने हाथ से पैदा करता? यह बात तर्कयुक्त नहीं है। बंधन कौन डालना चाहता है? सब मुक्ति चाहते हैं।

नागार्जुन ने कहा, तू भूल यह बात। मेरे देखे मुक्ति शायद ही कोई चाहता है। लोग बंधन ही चाहते हैं। लोग बंधनों से प्रेम करते हैं। पर वह युवक न माना तो नागार्जुन ने कहा, फिर तू एक काम कर, यह सामने गुफा

है, तू इसमें भीतर चला जा। और तीन दिन अब न तो पानी, न भूख; बस तीन दिन तू एक ही बात का विचार करता रह कि तू आदमी नहीं है, भैंस है। उसने कहा, इससे क्या होगा? तीन दिन बाद नागार्जुन ने कहा, हम देखेंगे। अगर तीन दिन तू टिक गया तो बात हो जायेगी।

युवक जिद्दी था। युवक था। चला गया गुफा में। लग गया रटन में। न दिन देखा, न रात; न भूख देखी, न प्यास। बाहर आया नहीं। आंख नहीं खोली। दोहराता रहा कि मैं भैंस हूं, मैं भैंस हूं...। पहले तो पागलपन लगा। घंटे-दो घंटे तो बिलकुल व्यर्थ की बकवास लगी। लेकिन धीरे-धीरे हैरान होना शुरू हुआ। भैंस भीतर से प्रकट होने लगी। भाव आने लगा। आंख खोलकर देखी तो आदमी जैसा आदमी है। आंख बंद करे तो कुछ-कुछ भैंस की धारणा। स्थूल देह...वजन होने लगा।

तीन दिन पूरे होते-होते...तीसरे दिन सुबह जब नागार्जुन ने उसके पास जाकर द्वार पर खड़े होकर कहा कि बाहर आ, तो उसने निकलने की कोशिश की और उसने कहा, क्षमा करें, सींग के कारण निकल नहीं सकता हूं। सींग अटकते हैं।

नागार्जुन ने जोर से उसे चांटा मारा और कहा, आंख खोल। कैसे सींग? आंख खोली तिलमिला कर--न कोई सींग हैं, न कोई बात है, लेकिन क्षणभर पहले निकल नहीं पा रहा था। नागार्जुन ने कहा, मान्यता...। यह सम्मोहन का एक प्रयोग था।

हम अपने बंधन स्वयं माने बैठे हैं।

मुक्तबंधन का अर्थ होता है: हमने स्वयं के छंद को अनुभव किया। हमने स्वतंत्रता का स्वाद और रस लिया। रस लेते ही फिर हम बंधन अपने निर्मित नहीं करते। कोई और तुम्हारा कारागृह नहीं बना रहा है, तुम ही अपने कारागृह के निर्माता हो। तुम्हीं कैदी हो, तुम्हीं जेलर। तुम्हीं पड़े हो सीखचों के भीतर और सीखचे तुमने ही ढाले हैं। हथकड़ियां, बेड़ियां जरूर तुम्हारे पैरों पर हैं लेकिन किसी और के द्वारा निर्मित नहीं हैं: उन हथकड़ियों-बेड़ियों पर तुम्हारे ही हस्ताक्षर हैं।

एक बड़ी प्रसिद्ध सूफी कथा है। एक बहुत बड़ा लोहार था। बड़ा प्रसिद्ध लोहार था। वह जो भी बनाता था, सारे संसार में उसकी बनाई गई चीजों की ख्याति थी। वह जो भी बनाता था उस पर अपने हस्ताक्षर कर देता था। फिर एक बार उसकी राजधानी पर हमला हुआ। वह पकड़ लिया गया। गांव के सभी प्रमुख प्रतिष्ठित लोग पकड़ लिये गये, उनमें वह भी पकड़ लिया गया। उसके हाथ में जंजीरें डाल दी गईं, पैर में बेड़ियां डाल दी गईं और पहाड़ी खंदकों में उसे फिंकवा दिया गया और प्रतिष्ठित नागरिकों के साथ।

और सब तो बड़े रो रहे थे और घबड़ा रहे थे लेकिन वह निश्चिंत था। उस नगर के वजीर ने उससे कहा कि भाई, हम सब घबड़ा रहे हैं कि अब क्या होगा, लेकिन तू निश्चिंत है? उसने कहा, मैं लोहार हूं। जीवन भर हथकड़ियां मैंने ढालीं; तोड़ भी सकता हूं। ये हथकड़ियां मुझे कुछ रोक न पायेंगी। आप घबड़ायें मत। अगर मैंने अपनी हथकड़ियां तोड़ लीं तो तुम्हारी भी तोड़ दूंगा। एक दफा इनको हमें फेंककर चले जाने दें।

वजीर भी हिम्मत से भर गया, राजा भी हिम्मत से भर गया। जब दुश्मन उन्हें खंदकों में फेंककर लौट गये तो वजीर ने कहा, अब क्या विचार है? लेकिन अचानक लोहार उदास हो गया और रोने लगा। उसने कहा, क्या मामला है? तू अब तक तो हिम्मत बांधे था, अब क्या हुआ? उसने कहा, अब मुश्किल है। मैंने हथकड़ी गौर से देखी, इस पर तो मेरे हस्ताक्षर हैं। यह तो मेरी ही बनाई हुई है। यह नहीं टूट सकती। यह असंभव है। मैंने कमजोर चीज कभी बनाई ही नहीं। मैं हमेशा मजबूत से मजबूत चीज ही बनाता रहा हूं। वही मेरी ख्याति है। यह किसी और की बनाई होती तो मैंने तोड़ दी होती। अब यह टूटनेवाली नहीं। क्षमा करें। इस पर मेरे हस्ताक्षर हैं।

मैं तुमसे कहता हूं, तुम्हारी हर हथकड़ी पर तुम्हारे हस्ताक्षर हैं। कोई और तो ढालेगा भी कैसे? और मैं तुमसे यह कहना चाहता हूं कि रोने की कोई जरूरत नहीं है। कितनी ही मजबूत हो, तुम्हारी ही बनाई हुई है। और बनानेवाले से बनाई गई चीज कभी भी बड़ी नहीं होती। हो नहीं सकती।

कितना ही बड़ा चित्र कोई बनाये चित्रकार, लेकिन चित्रकार चित्र से बड़ा रहता है। और कितना ही बड़ा गीत कोई गाये गीतकार, लेकिन गायक गीत से बड़ा रहता है। और कितना ही मधुर कोई नाचे नर्तक, लेकिन नर्तक नृत्य से बड़ा रहता है। इसीलिए तो परमात्मा संसार से बड़ा है। और इसीलिए तो आत्मा शरीर से बड़ी है।

चिंता न लेना। यह बात, कि जीवन के सारे बंधन हमारे ही बनाये हुए हैं, घबड़ानेवाली नहीं है, मुक्तिदायी है। हम तोड़ सकते हैं।

और मजा तो यह है कि बंधन काल्पनिक हैं। वस्तुतः नहीं हैं, स्वप्नवत हैं, सम्मोहन के हैं।

निर्वासनो निरालंबः स्वच्छंदो मुक्तबंधनः।

क्षिप्तः संसारवातेन चेष्टते शुष्कपर्णवत्।।

"वासनामुक्त, वासनाशून्य, स्वतंत्र, निरालंब, स्वयं के छंद को उपलब्ध बंधनरहित जो पुरुष है"--फिर अनुवाद में थोड़ी भूल है--"प्रारब्धरूपी हवा से प्रेरित होकर शुष्क पत्ते की भांति व्यवहार करता है।"

मूल है: संसारवातेन--संसार की हवा से--प्रारब्ध का कोई सवाल नहीं है। भाग्य का कोई सवाल नहीं है। संसार की गति है, उस संसार की गति में सूखे पत्ते की तरह...हवा में जैसे सूखा पत्ता पूरब-पश्चिम जाता, ऊपर-नीचे गिरता; ऐसे ही पूर्ण ज्ञानी पुरुष बहुत-से व्यवहारों में संलग्न होता मालूम पड़ता है, लेकिन तुम यह नहीं कह सकते कि वह करता है।

जब सूखा पत्ता पूरब की तरफ जाता है तो तुम यह थोड़े ही कहोगे कि सूखा पत्ता पूरब की तरफ जा रहा है। सूखा पत्ता तो कहीं नहीं जा रहा है, हवा पूरब की तरफ जा रही है। हवा दिखाई नहीं पड़ती, सूखा पत्ता दिखाई पड़ता है। लेकिन सूखा पत्ता तो कहीं नहीं जा रहा है। हवा न चले, सूखा पत्ता गिर जायेगा। ज्ञानी अपने को छोड़ देता अस्तित्व के सागर में जहां ले जाये। उसकी अपनी कोई निजी आकांक्षा नहीं है।

और इस सूत्र में समाधि का सारा सार है। चलो, उठो, बैठो--संसारवातेन। तुम अपनी आकांक्षा से नहीं। जो होता हो, जैसा होता हो, वैसा होने दो। दुकान करते हो, दुकान करते रहो। युद्ध के मैदान में खड़े हो तो युद्ध के मैदान में जूझते रहो। जैसे हो, जहां हो, छोड़ दो अपने को वहीं। वहीं समर्पित हो जाओ। बहने दो संसार की हवाएं; तुम सूखे पत्ते हो जाओ।

क्षिप्तः संसारवातेन चेष्टते शुष्कपर्णवत्।

बस, फिर सब अपने से हो जायेगा। फिर कुछ और करने को नहीं है। तुम सूखे पत्ते क्या हुए, तुम्हारे जीवन में सारे अमृत की वर्षा हो जायेगी।

जहां अपनी कोई आकांक्षा नहीं रहती वहां कोई दुख नहीं रह जाता। वहां कोई पराजय नहीं, विषाद नहीं। वहां कोई मान नहीं, सम्मान नहीं, अपमान नहीं। वहां कोई हार नहीं, जीत नहीं। क्षण-क्षण वहां परमात्मा बरसता है। उस परमात्मा का नाम ही स्वयं का छंद है। वह तुम्हारा ही गीत है जो तुम भूल बैठे। गुनगुनाओगे, फिर याद आ जायेगा।

असंसारस्य तु क्वापि न हर्षो न विषादता।

और जो सूखे पत्ते की भांति हो गया, ऐसे जिसके भीतर संसार न रहा--असंसारस्य।

स शीतलमना नित्यं विदेह इव राजते।

"संसारमुक्त पुरुष को न तो कभी हर्ष है और न विषाद। वह शांतमना सदा विदेह की भांति शोभता है।"

अनुवाद में कुछ खो जाता लगता है। असंसारस्य--अनुवाद में कहा है संसार-मुक्त पुरुष को। असंसारस्य का अर्थ होता है, जिसके भीतर संसार न रहा; या जिसके लिए संसार न रहा।

संसार का अर्थ ही क्या है? ये वृक्ष, ये चांदत्तारे, ये थोड़े ही संसार हैं! संसार का अर्थ है, भीतर बसी वासनाएं, कामनाएं, इच्छाएं--उनका जाल। कुछ पाने की इच्छा संसार है। कुछ होने की इच्छा संसार है। महत्वाकांक्षा संसार है।

असंसारस्य--जिसके भीतर संसार न रहा, जिसमें संसार न रहा; या जो संसार में रहकर भी अब संसार का नहीं है। ऐसे व्यक्ति को कहां हर्ष, कहां विषाद!

स शीतलमना नित्यं विदेह इव राजते।

ऐसे पुरुष का मन हो गया शीतल--शीतलमना।

इसे भी समझना। जब तक जीवन में हर्ष और विषाद है तब तक तुम शीतल न हो सकोगे। क्योंकि हर्ष और विषाद, सुख और दुख, सफलता-असफलता ज्वर लाते हैं, उत्तेजना लाते हैं, उद्वेग लाते हैं। जब तुम दुखी होते हो तब तो बीमार होते ही हो, जब तुम सुखी होते हो तब भी बीमार होते हो। सुख भी बीमारी है, क्योंकि उत्तेजक है। सुख में शांति कहां? तुमने एक बात तो जान ली है कि दुख में शांति कहां? दूसरी बात जाननी है कि सुख में भी शांति कहां? सुख में भी उत्तेजना हो जाती है। चित्त में खलल हो जाती है।

तुमने देखा न? आदमी दुख में तो बच जाता है, कभी-कभी सुख में मर जाता है।

मैंने सुना, एक आदमी को दस लाख रुपये मिल गये लाटरी में। खबर आयी तो पत्नी घबड़ा गई। पत्नी ने कहा, पति आते ही होंगे...दस लाख! दस रुपये का नोट भी कभी इकट्ठा इनके हाथ में नहीं पड़ा। दस लाख! सह न सकेंगे इस सुख को। बहुत डर गई। ईसाई थी। पास में ही पादरी था, भागी गई। कहा कि आप कुछ उपाय करिये। पति आयें, इसके पहले कुछ उपाय करिये। दस लाख! अचानक! हृदय की गति बंद हो जायेगी। मेरे पति को बचाइये।

पुरोहित ने कहा, घबड़ाओ मत। पादरी ने कहा, मैं आता हूं। सब सम्हाल लेंगे। पादरी आकर बैठ गया। आया पति घर, तो पादरी ने हिसाब से बात की। उसने कहा कि सुनो, तुम्हें लाटरी मिली, एक लाख रुपया जीते...धीरे-धीरे उसने सोचा, ऐसा हिसाब करके धीरे-धीरे कहेंगे। लाख सह लेगा तो फिर लाख और बतायेंगे; फिर लाख सह लेगा तो फिर लाख और बतायेंगे। वह आदमी बड़ा प्रसन्न हो गया। उसने कहा कि अगर लाख रुपये मुझे मिले तो पचास हजार चर्च को दान करता हूं।

कहते हैं, पादरी वहीं गिर पड़ा, हार्ट फेल हो गया। पचास हजार...! कभी देखे नहीं, सुने नहीं।

सुख भी गहरी उत्तेजना लाता है। सुख का भी ज्वर है। दुख का तो ज्वर है ही; और दुख को तो हम झेल भी लेते हैं, क्योंकि दुख के हम आदी हो गये हैं। और सुख को तो हम झेल भी नहीं पाते, क्योंकि सुख का हमें कोई अभ्यास ही नहीं है। मिलता ही कहां सुख कि अभ्यास हो जाये?

तो न तो आदमी दुख को झेल पाता, न सुख को झेल पाता है। और दोनों ही स्थिति में आदमी का चित्त उत्तेजना से भर जाता है। उत्तेजना यानी गर्मी। शीतलता खो जाती है। और शीतलता में शांति है।

असंसारस्य तु क्वापि न हर्षो न विषादता।

स शीतलमना नित्यं विदेह इव राजते।।

और जो शीतलमन हो गया, अब जहां सुख-दुख नहीं आते, अब जहां सुख और दुख के पक्षी बसेरा नहीं करते; ऐसा जो अपनी स्वच्छंदता में शीतल हो गया है; जिसके भीतर बाहर से अब कोई उत्तेजना नहीं आती; हार और जीत की कोई खबरें अब अर्थ नहीं रखतीं; सम्मान कोई करे और अपमान कोई करे, भीतर कुछ अंतर नहीं पड़ता। भीतर एकरसता बनी रहती है। ऐसा जो शीतलमन हो गया है, वह व्यक्ति शांतमना सदा विदेह की भांति शोभता है। वह तो राजसिंहासन पर बैठ गया।

नित्यं विदेह इव राजते।

वह तो देह नहीं रहा अब, विदेह हो गया। क्योंकि सुख और दुख से जो प्रभावित नहीं होता है वह देह के पार हो गया। सुख और दुख से देह ही प्रभावित होती है। ये सब देह के ही गुणधर्म हैं: सुख और दुख से आंदोलित हो जाना। विदेह हो गया। देह के पार हो गया, अतिक्रमण हो गया।

कुत्रापि न जिहासाऽस्ति नाशो वापि न कुत्रचित्।

आत्मारामस्य धीरस्य शीतलाच्छतरात्मनः।।

"आत्मा में रमण करनेवाले और शीतल तथा शुद्ध चित्तवाले धीरपुरुष की न कहीं त्याग की इच्छा है और न कहीं पाने की इच्छा है।"

अब न कुछ पकड़ना है, न कुछ छोड़ना है। अब तो उसे जान लिया जो है। पकड़ना-छोड़ना तो तभी तक है जब तक हमें अपना पता नहीं। अपना पता हो गया तो क्या पकड़ना है? क्या छोड़ना है? क्योंकि पकड़ने से अब कुछ बढ़ेगा नहीं और छोड़ने से अब कुछ घटेगा नहीं। अब जिसे अपना पता हो गया उसे तो सब मिल गया। अब सब पकड़ना-छोड़ना व्यर्थ है।

अब तो ऐसा ही है, जैसे सारे जगत का साम्राज्य मिल गया, वह कंकड़-पत्थर बीनता फिरे। जो सारे साम्राज्य का मालिक हो गया, विराट के सिंहासन पर बैठ गया, अब वह चुनाव में खड़ा हो जाये, कि म्युनिसपल में मेंबर बनना है! बेमानी बातें हैं। अब उसका कुछ अर्थ न रहा।

जिसे अंतर की प्रतिष्ठा मिल गई अब वह किसी और की प्रतिष्ठा चाहे, यह बात ही खतम हो गई। सच तो यह है, दूसरे के द्वारा दी गई प्रतिष्ठा कोई प्रतिष्ठा थोड़े ही है। क्योंकि दूसरे के हाथ में है। जब चाहे तब खींच लेगा। दूसरे के द्वारा मिली प्रतिष्ठा तो एक तरह की गुलामी है। अगर तुमने मुझे प्रतिष्ठा दी तो मैं तुम्हारा गुलाम हुआ। क्योंकि तुम किसी दिन खींच लोगे तो मैं क्या करूंगा? तुम्हारी दी थी, तुम्हारा दान था, मैं तो भिखारी था। तुम्हारा दिल बदल गया, तुम्हारा मन बदल गया, हवा बदल गई, मौसम बदल गया। तुम और ढंग से सोचने लगे। दूसरे के द्वारा दी गई प्रतिष्ठा तो भीख है।

स्वच्छंद में जो जीता है उसकी एक और ही प्रतिष्ठा है। वह एक और ही सिंहासन है। वह अपना ही सिंहासन है। उसे कोई छीन नहीं सकता। उसे कोई चोर चुरा नहीं सकता, डाकू लूट नहीं सकते, आग जला नहीं सकती। मृत्यु भी उसे नहीं छीन सकती, औरों की तो बात ही क्या!

और ऐसा व्यक्ति आत्मा में रमण करनेवाला हो जाता है। स्वच्छंद आत्मा में रमण करने वाला--आत्मारामस्य।

हम सब दूसरे में रमण कर रहे हैं। कोई धन में रमण कर रहा है। सोचता है और लाख, दस लाख, और करोड़ हो जायें। उसका रमण धन में चल रहा है। कोई पद में रमण कर रहा है: इससे बड़ी कुर्सी, उससे बड़ी कुर्सी, कुर्सियों पर कुर्सियां चढ़ता चला जाता है।

अलग-अलग तरह के लोग हैं, लेकिन एक बात में समान हैं कि रमण अपने से बाहर हो रहा है--पर-संभोग। यह संसारी का लक्षण है। स्व-संभोग, आत्मरति, आत्मा में रमण, यह धार्मिक का लक्षण है। धार्मिक वही है, जिसे यह कला आ गई कि अपना रस अपने भीतर है; और जो अपने ही रस को चूसने लगा।

अब यह बड़े मजे की बात है कि जब हम दूसरे का रस भी चूसते हैं, तब भी वस्तुतः हम दूसरे का रस नहीं चूसते, तब भी रस तो अपना ही होता है।

जैसे कुत्ता सूखी हड्डी चूसता है और बड़ा प्रसन्न होता है। तुम हड्डी छुड़ाओ, छोड़ेगा नहीं। हालांकि हड्डी में कुछ भी नहीं है, रस तो है नहीं। हड्डी में रस कहां? लेकिन कुत्ते को कुछ मिलता जरूर है। मिलता यह है कि सूखी हड्डी उसके मुंह में घाव बना देती है। खुद का ही खून बहने लगता है। खुद के ही खून का स्वाद आने लगता है। वही खुद का खून कंठ में उतरने लगता है, कुत्ता सोचता है रस हड्डी से आ रहा है।

सब रस तुमने जो अब तक जाने हैं, तुमसे ही आये। और हड्डी के कारण नाहक तुमने घाव बनाये। हड्डी छोड़ दो, घाव से छुटकारा हो जायेगा। रस तो तुम्हारा है। रस बाहर से आता ही नहीं।

एक अमीर आदमी अपनी तिजोड़ी में सोने की ईंटें रखे था। रोज खोलकर देख लेता था। अंबार लगा रखा था सोने की ईंटों का। फिर बंद कर देता था। बड़ा प्रसन्न होता था। उसका बेटा यह देखता था। सारा घर परेशान था। लोग जरूरत की चीजें भी पा नहीं सकते थे और वह ईंटें जमाये बैठा था। घर के लोग ही दरिद्रता में जी रहे थे।

आखिर बेटे ने धीरे-धीरे करके एक-एक ईंट खिसकानी शुरू कर दी और ईंट की जगह पीतल की ईंटें रखता गया--सोने की ईंट की जगह। बाप की प्रसन्नता जारी रही। धीरे-धीरे सब ईंटें नदारद हो गईं। लेकिन बाप रोज खोल लेता तिजोड़ी, देखता ईंटें रखी हैं, प्रसन्न होकर ताला बंद कर देता। जिस दिन मर रहा था, उस दिन बेटे ने कहा, एक बात आपसे कहनी है। यह मजा आप भीतर ही भीतर का ले रहे हैं। ईंटें वहां हैं नहीं, क्योंकि ईंटें तो हम खिसका चुके हैं बहुत पहले। तत्क्षण बाप दुखी हो गया; छाती पीटने लगा। जिंदगी गुजर गई मजे में, अब यह मरते वक्त दुखी हो गया।

सोने की ईंट में थोड़े ही सुख है, तुम्हारी मान्यता, कि सोने की ईंट है, बहुमूल्य है, अपनी है, मैं मालिक, अपने पास है, इसमें सुख है। सुख तो तुम्हारा भीतर है, हड्डी तुम कोई भी चुन लो।

धार्मिक व्यक्ति वही है जिसने हड्डी छोड़ दी, क्योंकि हड्डी के कारण घाव बनते हैं। और जिसने कहा, जब सुख भीतर ही है तो सीधा-सीधा ही क्यों न ले लें? बैठेंगे आंख बंद करके; डूबेंगे। नाचेंगे भीतर। बजायेंगे वीणा भीतर की। गुनगुनायेंगे भीतर। डुबकी लेंगे प्रेम में। डूबेंगे भीतर रस में।

इतना ही फर्क है संसारी और असंसारी में। संसारी सोचता है, बाहर कहीं है। जब तुम किसी सुंदर स्त्री को देखकर प्रसन्न होते हो तब भी प्रसन्नता तुम्हारे भीतर से ही आती है। और जब तुम, लोग तुम्हें फूलमालायें पहनाते हैं तब तुम प्रसन्न होते हो, तब भी प्रसन्नता तुम्हारे भीतर से ही आती है। और जब कोई तुम्हें किसी भी तरह का सुख देता है, तब जरा गौर से देखना, सुख वहां से आता है कि कहीं भीतर से ही झरता? बाहर तो निमित्त हैं, स्रोत भीतर है। बाहर तो बहाने हैं, मूल स्रोत भीतर है।

बहानों से मुक्त होकर जो व्यक्ति रस लेने लगता है उसको अष्टावक्र कहते हैं, "आत्मारामस्य"। आत्मा में ही अब अपना रस लेने लगा। अब इसके ऊपर कोई बंधन न रहा। अब दुनिया में कोई इसे दुखी नहीं कर सकता। और अब इसकी सारी भ्रांतियां टूट गईं। इसने मूल स्रोत को पा लिया।

यह स्रोत भीतर है। हम जरा चक्कर लगाकर पाते हैं। और चक्कर लगाने के कारण बहुत-सी उलझनें खड़ी कर लेते हैं। कभी-कभी तो ऐसा हो जाता है कि जिन निमित्तों के कारण हम इस सुख को पाना चाहता हैं, वे निमित्त ही इतने बड़े बाधा बन जाते हैं कि हम इस तक पहुंच ही नहीं पाते।

प्रकृत्या शून्यचित्तस्य कुर्वतोऽस्य यदृच्छया।
प्राकृतस्येव धीरस्य न मानो नावमानता।।

"स्वाभाविक रूप से जो शून्यचित्त है और सहज रूप से कर्म करता है, उस धीरपुरुष के सामान्य जन की तरह न मान है और न अपमान है।"

"स्वाभाविक रूप से जो शून्यचित्त है...।"

क्या अर्थ हुआ, स्वाभाविक रूप से शून्यचित्त? चेष्टा से नहीं, प्रयास से नहीं, अभ्यास से नहीं, यत्न से नहीं; स्वभावतः, समझ से, बोध से, जागरूकता से जिसने इस सत्य को समझा कि सुख मेरे भीतर है। इसे तुम देखो। इसे तुम पहचानो। इसे तुम जगह-जगह जांचो, परखो। इसके लिए कसौटी सजग रखो।

देखा तुमने? रात पूर्णिमा का चांद है, तुम बैठे हो, बड़ा सुख मिल रहा है। तुम जरा आंख बंद करके खयाल करो, चांद निमित्त है या चांद से सुख आ रहा? क्योंकि तुम्हारे पड़ोस में ही दूसरा आदमी भी बैठा है और उसको चांद से बिलकुल सुख नहीं मिल रहा। उसकी पत्नी मर गई है, वह रो रहा है। चांद को देखकर उसे क्रोध आ रहा है, सुख नहीं आ रहा। चांद पर उसे नाराजगी आ रही है। वह कह रहा है कि आज ही पूर्णिमा होनी थी? यह भी कोई बात हुई? इधर मेरी पत्नी मरी और आज ही तुम्हें पूरा होना था? और आज ही रात ऐसी चांदनी से भरनी थी? यह व्यंग हो रहा है मेरे ऊपर, यह मजाक हो रहा है मेरे ऊपर। यह कोई वक्त था? चार दिन रुक जाते तो कुछ हर्ज था?

जिसकी प्रेयसी मिल गई है, उसको अमावस की रात में भी पूर्णिमा मालूम पड़ती है और जिसकी प्रेयसी खो गई है, पूर्णिमा की रात भी अमावस हो जाती है। कहते हैं भूखा आदमी अगर देखता हो आकाश में तो चांद भी रोटी जैसा लगता है, जैसे रोटी तैर रही है।

जर्मनी के एक बहुत बड़े कवि हेनरिक हेन ने लिखा है कि वह तीन दिन के लिए जंगल में खो गया एक बार। इतना भूखा, इतना भूखा, कि जब पूर्णिमा का चांद निकला तो उसे लगा कि रोटी तैर रही है। वह बड़ा हैरान हुआ। उसने कवितायें पहले बहुत लिखी थीं, कभी भी नहीं सोचा था कि चांद में और रोटी दिखाई पड़ेगी। हमेशा किसी सुंदरी का मुख दिखाई पड़ता था। आज एकदम रोटी दिखाई पड़ने लगी। उसने बहुत चेष्टा भी की कि सुंदरी का मुख देखे, लेकिन जब पेट भूखा हो, तीन दिन से भूखा हो, पांव में छाले पड़े हों और जान जोखिम में हो, कहां की सुंदर स्त्री! ये सब तो सुख-सुविधा की बातें हैं। चांद दिखता है कि रोटी तैर रही है। आकाश में रोटी तैर रही है।

तुम्हें बाहर से जो मिलता है वह भीतर का ही प्रक्षेपण है। रस भीतर है। जीवन का सारा सार भीतर है।

"स्वाभाविक रूप से जो शून्यचित्त है--प्रकृत्या शून्यचित्तस्य।"

और जबर्दस्ती चेष्टा मत करना। जबर्दस्ती की चेष्टा काम नहीं आती। तुम जबर्दस्ती अपने को बिठाल लो पद्मासन लगाकर, आंख बंद करके, पत्थर की तरह मूर्ति बनकर बैठ जाओ, इससे कुछ भी न होगा। तुम भीतर उबलते रहोगे, आग जलती रहेगी। भागदौड़ जारी रहेगी। वासना का तूफान उठेगा, अंधड़ उठेंगे। कुछ भी बदलेगा नहीं।

प्रकृत्या--तुम्हें धीरे-धीरे समझपूर्वक, चेष्टा से नहीं, जबर्दस्ती आरोपण से नहीं। कबीर कहते हैं, साधो सहज समाधि भली। सहजता से। समझो जीवन को। देखो। जहां-जहां सुख मिलता हो वहां-वहां आंख बंद करके गौर से देखो--भीतर से आ रहा, बाहर से? तुम सदा पाओगे, भीतर से आ रहा है। और जहां-जहां जीवन में दुख मिलता हो वहां भी गौर से देखना; तुम सदा पाओगे, दुख का अर्थ ही इतना होता है, भीतर से संबंध छूट गया।

सुख का इतना ही अर्थ होता है, भीतर से संबंध जुड़ गया। किस बहाने जुड़ता है यह बात महत्वपूर्ण नहीं है। भीतर से जब भी संबंध जुड़ जाता है, सुख मिलता है। और भीतर से जब भी संबंध छूट जाता है, दुख मिलता है।

किसी ने गाली दे दी, दुख मिलता है। लेकिन तुम समझना, गाली केवल इतना ही करती है कि तुम भूल जाते हो अपने को। तुम्हारा भीतर से संबंध छूट जाता है। गाली तुम्हें इतना उत्तेजित कर देती है कि तुम्हें याद ही नहीं रह जाती कि तुम कौन हो। एक क्षण में तुम बावले हो जाते! उद्विग्न, विक्षिप्त। टूट गया संबंध भीतर से।

मित्र आ गया बहुत दिन का बिछुड़ा, वर्षों की याद! हाथ में हाथ ले लिया, गले से गले लग गये। एक क्षण को भीतर से संबंध जुड़ गया। इस मधुर क्षण में, इस मित्र की मौजूदगी में तुम अपने से जुड़ गये। एक क्षण को भूल गईं चिंतायें, दिन के भार, दिन के बोझ खो गये। एक क्षण को तुम अपने में डूब गये। यह मित्र केवल बहाना है। यह केवल निमित्त हो गया।

जिस घड़ी में भी तुम अपने से जुड़ जाते, सुख बरस जाता। जिस घड़ी तुम अपने से टूट जाते, दुख बरस जाता।

इस सत्य को धीरे-धीरे पहचानने लगता है जब कोई, तो धीरे-धीरे निमित्त को त्यागने लगता है। फिर बैठ जाता है अकेला। इसी का नाम ध्यान है। फिर वह यह फिक्र नहीं करता कि मित्र आये तब सुखी होंगे। ऐसे रोज मित्र आते नहीं। और रोज आने लगें तो सुख भी न आयेगा; वे कभी-कभी आते हैं तो ही आता है। ऐसे घर में ही ठहर जायें तो फिर बिलकुल न आयेगा।

फिर ऐसा व्यक्ति इसकी चिंता नहीं करता कि चांद जब निकलेगा तब सुखी होंगे; कि जब बसंत आयेगा और फूल खिलेंगे तब सुखी होंगे। ऐसी भी क्या कंजूसी? जब सुख भीतर ही है तो धीरे-धीरे बिना निमित्त के

व्यक्ति अपने को अपने से जोड़ने लगता है। इसी का नाम ध्यान। ऐसे बैठ जाता है शांत, अपने से जोड़ लेता है--बिना निमित्त के। निमित्तशून्यता में अपने से जोड़ लेता।

और जब कभी एक बार भी बिना निमित्त के तुम अपने से जुड़ जाते हो, तो घटना घट गई। कुंजी मिल गई। अब तुम जानते हो, अब किसी पर निर्भर रहने की जरूरत नहीं है। जब चाहो तब ताला खुलेगा। जब चाहो तब भीतर का द्वार उपलब्ध है। बीच बाजार में तुम आंख बंद करके खड़े हो सकते हो और डूब जा सकते हो अपने में।

फिर धीरे-धीरे आंख बंद करने की भी जरूरत नहीं रह जाती, क्योंकि वह भी निमित्त ही है। फिर आंख खुली रखे तुम अपने में डूब जाते हो। फिर तुम काम करते-करते भी डूब जाते हो। फिर ऐसा भी नहीं है कि पद्मासन में ही बैठना पड़े, कि पूजागृह में बैठना पड़े, कि मंदिर-मस्जिद में बैठना पड़े। फिर तुम बाजार में, खेत में, खलिहान में काम करते-करते भी अपने में डूब जाते हो।

धीरे-धीरे यह तुम्हारा इतना सहज भाव हो जाता कि इसमें बाहर आना, भीतर आना जरा भी अड़चन नहीं देता। एक घड़ी ऐसी आती कि तुम अपने भीतर के स्रोत में डूबे ही रहते हो। करते रहते हो काम, चलता रहता है बाजार, दुकान भी चलती है, ग्राहक से बात भी चलती, खेत-खलिहान भी चलता, गड्ढा भी खोदते जमीन में, बीज भी बोते, फसल भी काटते, बात भी करते, चीत भी सुनते, सब चलता रहता है और तुम अपने में डूबे खड़े रहते हो। ऐसे रसलीन जो हो गया वही सिद्ध-पुरुष है।

"स्वाभाविक रूप से जो शून्यचित्त है और सहज रूप से कर्म करता है, उस धीरपुरुष के सामान्य जन की तरह न मान है न अपमान।"

कृतं देहेन कर्मेदं न मया शुद्धरूपिणा।
इति चिंतानुरोधी यः कुर्वन्नपि करोति न।।

"यह कर्म शरीर से किया गया है, मुझ शुद्धस्वरूप द्वारा नहीं, ऐसी चिंतना का जो अनुगमन करता है, वह कर्म करता हुआ भी नहीं करता है।"

और अब तो जब तुम अपने स्वरूप में डूब जाते हो तो तुम्हें पता चलता है, जो हो रहा है, या तो शरीर का है या मन का है; या शरीर और मन के बाहर फैली प्रकृति का है। मेरा किया हुआ कुछ भी नहीं। मैं अकर्ता हूं। मैं केवल साक्षी मात्र हूं। ऐसी चिंतना की धारा तुम्हारे भीतर बह जाती। ऐसा सूत्र, ऐसी चिंतामणि तुम्हारे हाथ लग जाती।

जब तुम देखते हो कि भूख लगी तो शरीर में घटना घटती है और तुम देखनेवाले ही बने रहते हो। तुम्हारी सुखधार में जरा भी भेद नहीं पड़ता। इसका यह अर्थ नहीं कि तुम भूखे मरते रहते हो। तुम उठते हो, तुम शरीर को कुछ भोजन का इंतजाम करते हो। प्यास लगती है तो शरीर को पानी देते हो। यह तुम्हारा मंदिर है। इसमें तुम्हारे देवता बसे हैं। तुम इसकी चिंता लेते, फिक्र लेते, लेकिन अब तुम तादात्म्य नहीं करते। अब तुम ऐसा नहीं कहते कि मुझे भूख लगी है। अब तुम कहते हो, शरीर को भूख लगी है। अब तुम चिंता करते हो लेकिन चिंता का रूप बदल गया। अब शरीर तृप्त हो जाता है, तो तुम कहते हो शरीर तृप्त हुआ। शरीर को प्यास लगी, पानी दिया। शरीर को नींद आ गई, शरीर को विश्राम दिया। लेकिन तुम अलिप्त, अलग-अलग, दूर-दूर, पार-पार रहते।

तुम फिक्र कर लेते हो, जैसे कोई अपने घर की फिक्र करता है। जिस घर में तुम रहते हो, स्वच्छ भी करते हो, कभी रंग-रोगन भी करते हो, दीवाली पर सफेदा भी पुतवाते हो, कपड़े भी धुलवाते हो, परदे भी साफ करते हो, फर्नीचर भी बदल लेते हो; यह सब...लेकिन इससे तुम यह भ्रांति नहीं लेते कि मैं मकान हूं। तुम मकान के मालिक ही रहते हो; निवास करते हो। तुम कभी इसके साथ इतने ज्यादा संयुक्त नहीं हो जाते कि मकान गिर

जाये तो तुम समझो कि मैं मर गया; कि छप्पर गिर जाये तो तुम समझो कि अपने प्राण गये; कि मकान में आग लग जाये तो तुम चिल्लाओ कि मैं जला।

ऐसी ही घटना घटती है ज्ञानी की। जैसे-जैसे भीतर का रस स्पष्ट होता, भीतर का साक्षी जागता, वैसे देह तुम्हारा गृह रह जाती।

अगर ठीक से समझो तो गृहस्थ का यही अर्थ है: जिसने देह को अपना होना समझ लिया, वह गृहस्थ। और जिसने देह को देह समझा और अपने को पृथक समझा, वही संन्यस्त।

"यह कर्म शरीर से किया गया, मुझ शुद्धस्वरूप द्वारा नहीं, ऐसी चिंतना का जो अनुगमन करता, वह कर्म करता हुआ भी नहीं करता है।"

और यह महाघोष--कि फिर उस व्यक्ति के कोई कर्म नहीं हैं। उसे कोई कर्म छूता नहीं। वह अकर्ता हो गया। करते हुए अकर्ता हो गया।

"जीवन्मुक्त उस सामान्य जन की ही तरह कर्म करता है, जो कहता कुछ है और करता कुछ और है"--इस सूत्र को समझना--"तो भी वह मूढ़ नहीं होता है। और वह सुखी श्रीमान संसार में रहकर भी शोभायमान होता है।"

अतद्वादीव कुरुते न भवेदपि बालिशः।
जीवन्मुक्तः सुखी श्रीमान् संसरन्नपि शोभते।।

यह सूत्र थोड़ा जटिल है; फिर से सुनें।

"जीवनमुक्त उस सामान्य जन की तरह ही कर्म करता है, जो कहता कुछ है और करता कुछ और है...।"

सामान्य आदमी का क्या लक्षण है? हम कहते हैं, बेईमान है; कहता कुछ, करता कुछ। अष्टावक्र कहते हैं, यही हालत मुक्त पुरुष की भी है--कहता कुछ, करता कुछ। मगर एक बड़ा फर्क है; और फर्क बड़ा बुनियादी है।

अज्ञानी कहता कुछ, करता कुछ। अज्ञानी जो करता, वही उसकी सचाई है; जो कहता वह झूठ। फर्क समझ लेना। अज्ञानी जो कहता, वह झूठ। वह धोखा दे रहा है। कहने में मामला उसका सच नहीं है, वह झूठ बोल रहा है। जो करता है, वही उसकी सचाई है। तुम उसके कर्म से ही उसे पहचानना।

ज्ञानी के मामले में सिक्का बिलकुल उल्टा है। ज्ञानी जो कहता, बिलकुल सच; जो करता, वह झूठ। फर्क खयाल में आया? ज्ञानी जो कहता, बिलकुल सच कहता। कहने में जरा भी भूलचूक नहीं होती उसकी। लेकिन वह जो करता है, उस पर तुम ज्यादा जोर मत देना। क्योंकि भूख लगेगी तो वह भी भोजन करेगा। आग लगेगी मकान में तो वह भी निकलकर बाहर आयेगा।

वह भी कुछ कहेगा और करेगा कुछ। पूछने जाओगे तो वह कहेगा कि मैं कहां जल सकता? "नैनं छिंदन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।" कहां आग जला सकती और कहां शस्त्र मुझे छेद सकते! लेकिन मकान में आग लगेगी तो तुम उसे भागते बाहर देखोगे। इससे तुम यह मत सोचना कि यह आदमी बेईमान है। वह जो कहता है, सच कहता है। उसके करने पर ध्यान मत देना, उसके कहने पर ध्यान देना। यह सच है, वह जो कह रहा है कि कहां मुझे कौन जला सकता? उसे कोई जलाता भी नहीं। देह जलेगी, वह नहीं जलेगा। लेकिन देह में जब तक तुम हो, देह तुम्हारा मंदिर है; तुम्हारे देवता का आवास, उसकी चिंता लेना।

अज्ञानी की हालत भी ऐसी ही लगती है कि कुछ कहता, कुछ करता। लेकिन उसके करने पर ध्यान देना। वह जो करता है वही उसकी सचाई है; वह कहे कुछ भी। उसके करने में तुम सत्य को पाओगे, ज्ञानी के ज्ञान में तुम सत्य को पाओगे। ज्ञानी ज्ञान में जीता, कर्म में नहीं। अज्ञानी कर्म में जीता, ज्ञान में नहीं।

"जो धीरपुरुष अनेक प्रकार के विचारों से थककर शांति को उपलब्ध होता है, वह न कल्पना करता है, न जानता है, न सुनता है, न देखता है।"

नानाविचारसुश्रांतो धीरो विश्रांतिमागतः।

न कल्पते न जानाति न शृणोति न पश्यति।।

"जो धीरपुरुष अनेक प्रकार के विचारों से थककर शांति को उपलब्ध होता है...।"

और जल्दी मत करना। जल्दबाजी खतरनाक है, महंगी है। अधैर्य मत करना। अगर अभी विचारों में रस हो तो विचार खूब कर लेना, थक जाना। अगर संसार में रस हो तो जल्दी नहीं है कुछ। परमात्मा प्रतीक्षा कर सकता है अनंत काल तक। घबड़ाओ मत। जल्दी मत करना। संसार में रस हो तो थका लेना रस को। अगर बिना थके संसार से आ गये भागकर और छिप गये संन्यास में तो मन दौड़ता रहेगा। शांति न मिलेगी।

अगर विचारों में मन अभी लगा था और मन डांवांडोल होता था, और तुम किसी तरह बांधकर ले आये जबर्दस्ती तो भाग-भाग जायेगा। सपने उठेंगे। कल्पनाजाल उठेगा। मोह फिर पैदा होंगे। नये-नये ढंगों से पुरानी विकृतियां फिर वापिस आयेंगी; पीछे के दरवाजों से आ जायेंगी, बाहर के दरवाजे बंद कर आओगे तो। इससे कुछ लाभ न होगा।

अष्टावक्र कहते हैं, जीवन को ठीक-ठीक जान लो। थक जाओ। जहां-जहां रस हो, वहां-वहां थक जाओ। जाओ। गहनता से जाओ। भय की कोई जरूरत नहीं है। खोना कुछ संभव नहीं। तुम कुछ खो सकते नहीं। जो तुम्हारा है, सदा तुम्हारा है। तुम कितने ही गहन संसार में उतर जाओ, तुम्हारी आत्मा अलिप्त रहेगी। जाओ। खोज लो अंधेरी रात को। इसमें रस है, इसे पूरा कर लो। इसे विरस हो जाने दो। तुम्हारे ओंठ ही तुमसे कह दें, तुम्हारी जीभ तुमसे कह दे कि बस, अब तिक्त हो गया स्वाद। किसी और की सुनकर मत भाग खड़े होना।

कोई बुद्धपुरुष मिल जाये और कह दे कि संसार सब असार है...और जब बुद्धपुरुष कहते हैं तो उनकी बात में बल तो होता ही है। उनकी बात में चमत्कार तो होता ही है। उनकी बात के पीछे उनके प्राण तो होते ही हैं। उनकी बात के पीछे उनकी पूरी ऊर्जा होती है, जीवन का अनुभव होता है। तो जब कोई बुद्धपुरुष कुछ कहता है तो उसके वचन तीर की तरह चले जाते हैं। मगर इससे काम न होगा। तुम किसी बुद्धपुरुष की मानकर पीछे मत चले जाना, नहीं तो तुम भटकोगे, पछताओगे। फिर-फिर लौटोगे। इस संसार की प्रक्रिया को ठीक से थका ही डालो। जहां तुम्हारा रस हो वहां चले ही जाओ। उसे भोग ही लो।

जब विचार स्वयं थक जाते हैं और मन स्वयं ही थककर क्षीण होने लगता है तभी...।

"जो धीर पुरुष अनेक प्रकारों के विचारों से थककर"--थककर, खयाल रखना--"शांति को उपलब्ध होता है, वह न कल्पना करता है, न जानता है, न सुनता है, न देखता है।"

फिर कोई अड़चन नहीं रह जाती। जो थककर आया है वह बैठते ही शांत हो जाता है। जिसका रस अभी कहीं अटका रह गया है वह शांत नहीं हो पाता। वह मंदिर में भी चला जायेगा तो दुकान की सोचेगा। वह प्रार्थना भी करेगा, पूजा भी करेगा तो दूसरे विचारों की तरंगें आती रहेंगी। ऊपर-ऊपर होगी प्रार्थना, भीतर-भीतर होगी वासना। ऊपर-ऊपर होगा राम, भीतर-भीतर होगा काम। उससे कुछ लाभ न होगा, क्योंकि जो भीतर है वही सच है। जो ऊपर है वह किसी मूल्य का नहीं। दो कौड़ी उसका मूल्य है। तुम कितना ही राम-राम दोहराओ इससे कुछ भी नहीं होता। तुम्हारे दोहराने का सवाल नहीं है, तुम्हारे अनुभव का; अनुभवसिक्त हो जाने का।

नानाविचारसुश्रांतो धीरो विश्रांतिमागतः।

तभी मिलती है विश्रांति, विराम, जब नाना विचारों में दौड़कर थक गये तुम। जीवन का अनुभव लेकर लौट आये घर। बाजार, दुकान, व्यर्थ। सबको खोज डाला, कहीं पाया नहीं। सब तरह से हारकर लौटे। हारे को हरिनाम! और तब हरि का जो नाम उठता है, जो हरिकीर्तन उठता है, उसकी सुगंध और, उसकी सुवास और।

जब तक हार न गये हो, आधी यात्रा से मत लौट आना। नहीं तो मन तो यात्रा करता ही रहेगा। इस जीवन में बड़े से बड़े संकटों में एक संकट है, अपरिपक्व अवस्था में ध्यान, समाधि, धर्म में उत्सुक हो जाना। ऐसे, जैसे कच्चा फल कोई तोड़ ले। पका नहीं था अभी। जब पक जाता है फल तो अपने से गिरता है। उसमें एक सौंदर्य है, एक लालित्य है, एक प्रसाद है। न तो वृक्ष को पता चलता है कि कब फल गिर गया। न फल को पता चलता

है कि कब गिर गया। न कोई चोट फल को लगती, न वृक्ष को लगती। चुपचाप अलग हो जाता है। बिना किसी संघर्ष के अलग हो जाता है। सहज, प्रकृत्या--चुपचाप अलग हो जाता है।

पको! पककर ही गिरो।

और इसीलिए मेरा जोर इस बात पर है कि संसार से भागो ही मत। क्योंकि भागने में बड़ा आकर्षण है। क्योंकि संसार में दुख है यह सच है। संसार में सुख भी है यह भी सच है। दुख देखकर तुम भाग जाओगे, लेकिन जब कुटी में बैठोगे जाकर जंगल की तो सुख याद आयेगा।

बड़ी पुरानी कथा है: ईश्वर ने आदमी को बनाया। आदमी अकेला था। उसने प्रार्थना की कि मैं अकेला हूं, मन नहीं लगता, तो ईश्वर ने स्त्री को बनाया। सब काम पूरा हो चुका था, ईश्वर सारी बनावट पूरी कर चुका था। सामान बचा नहीं था बनाने को तो उसने कई-कई जगह से सामान लिया। थोड़ी चांदनी चांद से ले ली, थोड़ी रोशनी सूरज से ले ली, थोड़े रंग मोर से ले लिये, थोड़ी तेजी सिंह से ले ली। ऐसा सामान चारों तरफ से, सब तरफ से इकट्ठा करके उसने स्त्री बनाई, क्योंकि सब काम पूरा हो चुका था। वह आदमी बना चुका था, तब आखिर में ये सज्जन आये, कहने लगे, अकेले में मन नहीं लगता।

तो स्त्री बना दी उसने लेकिन स्त्री उपद्रव थी। क्योंकि कभी-कभी वह गीत गाती तो कोयल जैसा! और कभी-कभी सिंहनी जैसी दहाड़ती भी। कभी-कभी चांद जैसी शीतल, और कभी-कभी सूरज जैसी उत्तप्त हो जाती। जब क्रोध में होती तो सूरज हो जाती, जब प्रेम में होती तो चांदनी हो जाती। तीन दिन में आदमी थक गया। उसने कहा, यह तो मुसीबत है। इससे तो अकेले बेहतर थे। तीन दिन स्त्री के साथ रहकर पता चला कि एकांत में बड़ा मजा है। एकांत का मजा बिना स्त्री के चलता ही नहीं पता। ब्रह्मचर्य का आनंद गृहस्थ हुए बिना पता चलता ही नहीं।

वह भागा, वापिस गया। उसने ईश्वर से कहा, कि क्षमा करें, भूल हो गई। मैंने जो मांगा, वह गलती हो गई। आप यह स्त्री वापिस ले लें, मुझे नहीं चाहिए। यह तो बड़ा उपद्रव है। और यह तो मुझे पागल कर छोड़ेगी। और यह भरोसे योग्य नहीं है। कभी गाती और कभी क्रोधित हो जाती। और कब कैसे बदल जाती यह कुछ समझ में नहीं आता। यह अतर्क्य है। यह आप ही सम्हालें।

ईश्वर ने कहा, जैसी मर्जी।

तीन दिन छोड़ गया ईश्वर के पास स्त्री को। घर जाकर लेटा, बिस्तर पर पड़ा, याद आने लगी। उसके मधुर गीत! उसका गले में हाथ डालकर झूलना! उसकी सुंदर आंखें! तीन दिन बाद भागा पहुंचा। उसने कहा कि क्षमा करें, वह स्त्री मुझे वापिस दे दें। सुंदर थी। गीत गाती थी। घर में थोड़ी गुनगुन थी। सब उदास हो गया। अब जंगल से लौटता हूं हारा-थका, लकड़ी काटकर, जानवर मारकर, कोई स्वागत करने को नहीं। घर थी तो चाय-कॉफी तैयार रखती थी। द्वार पर खड़ी मिलती थी। प्रतीक्षा करती थी। नहीं, बड़ी उदासी लगती है। क्षमा करें, भूल हो गई। मुझे वापिस दे दें।

ईश्वर ने कहा, जैसी तुम्हारी मर्जी।

तीन दिन में फिर हालत खराब हो गई। तीन दिन बाद वह फिर आ गया। ईश्वर ने कहा, अब बकवास बंद। तुम न स्त्री के बिना रह सकते हो, न स्त्री के साथ रह सकते हो। तो अब जैसे भी हो, गुजारो।

तब से आदमी जैसे भी हो वैसे गुजार रहा है!

तुम अगर बाजार में हो तो आश्रम बड़ा प्रीतिकर लगेगा। अगर तुम आश्रम में हो तो बाजार की याद आने लगेगी। अगर तुम बंबई में हो तो कश्मीर, अगर कश्मीर में हो तो बंबई।

संसार में सुख और दुख मिश्रित हैं। वहां चांद भी है और सूरज भी। और मोर भी नाचते हैं और सिंह भी दहाड़ते हैं। तो जब तुम मौजूद होते हो संसार में तो सब उसका दुख दिखाई पड़ता है; वह उभरकर आ जाता है। जब तुम दूर हट जाते हो तो सब याद आती हैं सुख की बातें।

इसलिए मैं कहता हूं मेरे संन्यासी को, भागना मत। वहीं रहना। पकना। भागना मत, पकना। पककर गिरना। थक जाने देना। अपने से होने देना। तुम जल्दी मत करना।

जो सहज हो जाये वही सुंदर है।

साधो सहज समाधि भली।

आज इतना ही।

बासठवां प्रवचन

घन बरसे

पहला प्रश्न: आप कहते हैं कि समझ पैदा हो जाये तो कुछ भी करने की जरूरत नहीं है। आप जिस समझ की तरफ इशारा करते हैं, क्या वह बुद्धि की समझ से भिन्न है? असली समझ पर कुछ प्रकाश डालने की अनुकंपा करें।

बुद्धि की समझ तो समझ ही नहीं। बुद्धि की समझ तो समझ का धोखा है। बुद्धि की समझ तो तरकीब है अपने को नासमझ रखने की। बुद्धि का अर्थ होता है: जो तुम जानते हो उस सबका संग्रह। जाने हुए के माध्यम से अगर सुना तो तुम सुनोगे ही नहीं। जाने हुए के माध्यम से सुना तो तुम ऐसे ही सूरज की तरफ देख रहे हो, जैसे कोई आंख बंद करके देखे।

जो तुम जाने हुए बैठे हो--तुम्हारा पक्षपात, तुम्हारी धारणाएं, तुम्हारे सिद्धांत, तुम्हारा शास्त्र, तुम्हारे संप्रदाय--अगर तुमने उनके माध्यम से सुना तो तुम सुनोगे कैसे? तुम्हारे कान तो बहरे हैं। शब्द तो भरे पड़े हैं। कुछ का कुछ सुन लोगे। वही सुन लोगे जो सुनना चाहते हो।

बुद्धि का अर्थ है: तुम्हारा अतीत--अब तक तुमने जो जाना, समझा, गुना है।

समझ का अतीत से कोई संबंध नहीं। समझ तो उसे पैदा होती है जो अतीत को सरका कर रख देता है नीचे; और सीधा वर्तमान के क्षण को देखता है--अतीत के माध्यम से नहीं, सीधा-सीधा, प्रत्यक्ष, परोक्ष नहीं। बीच में कोई माध्यम नहीं होता।

तुम अगर हिंदू हो और मुझे सुनते वक्त हिंदू बने रहे तो तुम जो सुनोगे वह बुद्धि से सुना। मुसलमान बने रहे तो जो सुना, बुद्धि से सुना। गीता भीतर गूंजती रही, कुरान भीतर गुनगुनाते रहे और सुना, तो बुद्धि से सुना। गीता बंद हो गई, कुरान बंद हो गया, हिंदू-मुसलमान चले गये, तुम खाली हो गये निर्मल दर्पण की भांति, जिस पर कोई रेखा नहीं विचार की, अतीत की कोई राख नहीं; तुमने सीधा मेरी तरफ देखा खुली आंखों से, कोई पर्दा नहीं, और सुना तो एक समझ पैदा होगी।

उस समझ का नाम ही प्रज्ञा, विवेक। वही समझ रूपांतरण लाती है। बुद्धि से सुना तो सहमत हो जाओगे, असहमत हो जाओगे। बुद्धि को हटाकर सुना, रूपांतरित हो जाओगे; सहमति-असहमति का सवाल ही नहीं।

सत्य के साथ कोई सहमत होता, असहमत होता? सत्य के साथ बोलो कैसे सहमत होओगे? सत्य के साथ सहमत होने का तो यह अर्थ होगा कि तुम पहले से ही जानते थे। सुना, राजी हो गये। तुमने कहा, ठीक; यही तो सच है। यह तो प्रत्यभिज्ञा हुई। यह तो तुम मानते थे पहले से, जानते थे पहले से। गुलाब का फूल देखा, तुमने कहा गुलाब का फूल है। जानते तो तुम पहले से थे ही; नहीं तो गुलाब का फूल कैसे पहचानते?

सत्य को तुम जानते हो? जानते होते तो सहमत हो सकते थे। जानते होते और कोई गेंदे के फूल को गुलाब कहता तो असहमत हो सकते थे। जानते तो नहीं हो। जानते नहीं हो इसीलिए तो खोज रहे हो। इस सत्य को समझो कि जानते नहीं हो। तुमने अभी गुलाब का फूल देखा नहीं। इसलिए कैसे तो सहमति भरो, कैसे असहमति भरो? न तो सिर हिलाओ सहमति में, न असहमति में। सिर ही मत हिलाओ। बिना हिले सुनो।

और जल्दी क्या है? इतनी जल्दी हमें रहती है कि हम जल्दी से पकड़ लें--क्या ठीक, क्या गलत। उसी जल्दी के कारण चूके चले जाते हैं। निष्कर्ष की जल्दी मत करो। सत्य के साथ ऐसा अधैर्य का व्यवहार मत करो। सुन लो। जल्दी नहीं है सहमत-असहमत होने की।

और जब मैं कहता हूं सुन लो, तो तुम यह भ्रांति मत लेना कि मैं तुमसे कह रहा हूं, मुझसे राजी हो जाओ। बहुतों को यह डर रहता है कि अगर सुना और अपनी बुद्धि एक तरफ रख दी तो फिर तो राजी हो जायेंगे। बुद्धि एक तरफ रख दी तो राजी होओगे कैसे? बुद्धि ही राजी होती, न-राजी होती। बुद्धि एक तरफ रख दी तो सिर्फ सुना।

पक्षियों की सुबह की गुनगुनाहट है--तुम राजी होते? सहमत होते? असहमत होते? निर्झर की झरझर है, कि हवा के झोंके का गुजर जाना है वृक्षों की शाखाओं से--तुम राजी होते? न राजी होते? सहमत-असहमति का सवाल नहीं। तुम सुन लेते। आकाश में बादल घुमड़ते, तुम सुन लेते। ऐसे ही सुनो सत्य को, क्योंकि सत्य आकाश में घुमड़ते बादलों जैसा है। ऐसे ही सुनो सत्य को, क्योंकि सत्य जलप्रपातों के नाद जैसा है। ऐसे ही सुनो सत्य को क्योंकि सत्य मनुष्यों की भाषा जैसा नहीं, पक्षियों के कलरव जैसा है।

संगीत है सत्य; शब्द नहीं।

निःशब्द है सत्य; सिद्धांत नहीं।

शून्य है सत्य; शास्त्र नहीं।

इसलिए सुनने की बड़ी अनूठी कला सीखनी जरूरी है। जो ठीक से सुनना सीख गया उसमें समझ पैदा होती। तुम ठीक से तो सुनते ही नहीं।

मुल्ला नसरुद्दीन से एक दिन पूछा कि तू पागल की तरह बचाये चला जाता है। रद्दी-खद्दी चीजें भी फेंकता नहीं। कूड़ा-करकट भी इकट्ठा कर लेता है। सालों के अखबारों के अंबार लगाये बैठा है। कुछ कभी तेरे घर से बाहर जाता ही नहीं। यह तूने बचाने का पागलपन कहां से सीखा? उसने कहा, एक बुजुर्ग की शिक्षा से। मैं थोड़ा चौंका। क्योंकि मुल्ला नसरुद्दीन ऐसा आदमी नहीं कि किसी से कुछ सीख ले। तो मैंने कहा, मुझे पूरे ब्योरे से कह; विस्तार से कह। किस बुजुर्ग की शिक्षा से?

उसने कहा, मैं नदी के किनारे बैठा था। एक बुजुर्ग पानी में गिर गये और जोर-जोर से चिल्लाने लगे, "बचाओ! बचाओ!" उसी दिन से मैंने बचाना शुरू कर दिया।

तुम वही सुन लोगे जो सुनना चाहते हो।

कवि जी को आयी जम्हाई
बोले, हे मां!
सुनकर कविपत्नी भभकी
बोली, होकर तीन बच्चों के बाप
नाम रट रहे हेमा का?
सत्यानाश हो सिनेमा का

हम जो सुनना चाहते हैं, सुन लेते हैं। वही थोड़े ही सुनते हैं जो कहा जाता है। हमारा सुनना शुद्ध नहीं है, विकृत है।

बुद्धि से सुना गया, सुना ही नहीं गया। सुनने का धोखा हुआ, आभास हुआ। लगता था, सुना। तुम्हारे विचार बीच में आ गये। तुम्हारी बुद्धि ने आकर सब रूपांतरित कर दिया; अपना रंग उंडेल दिया। काले को पीला कर दिया, पीले को काला कर दिया। फिर तुम तक जो पहुंचा, वह वही नहीं था जो दिया गया था। वह बिलकुल ही विनष्ट होकर पहुंचा, विकृत होकर पहुंचा।

इसलिए पहली बात: बुद्धि की समझ कोई समझ नहीं है। एक और समझ है, वही समझ रूपांतरण लाती है। उसको कहो ध्यान की समझ। बुद्धि की नहीं, विचार की नहीं, निर्विचार की समझ। तर्क की नहीं, शांत भाव की; विवाद की नहीं, संवाद की।

तुम मुझे सुनो बुद्धि से तो सतत विवाद चलता है। ठीक कह रहे, गलत कह रहे, अपने शास्त्र के अनुसार कह रहे कि विपरीत कह रहे, मैं राजी होऊं कि न राजी होऊं, अब तक मेरी मान्यताओं के तराजू पर बात तुलती है या नहीं तुलती है, ऐसी सतत भीतर तौल चल रही है।

यह विवाद है। तुम राजी भी हो जाओ तो भी दो कौड़ी का है तुम्हारा राजी होना। क्योंकि विवाद से कहीं कोई सहमति आयी? विवाद की सहमति दो कौड़ी की है; उसका कोई मूल्य नहीं।--संवाद! संवाद का अर्थ है, जब मैं कह रहा हूं तब तुम मेरे साथ लीन हो गये। तुमने दूर खड़े रहकर न सुना, तुम मेरे पास आ गये। तुम मेरे हृदय के पास धड़के। तुम मेरे हृदय की तरह धड़के। तुमने अपने हिसाब-किताब को एक तरफ हटा दिया और तुमने कहा, थोड़ी देर झरोखे को खाली रखेंगे। थोड़ी देर दर्पण बनेंगे।

दर्पण बनकर जो सुनता है वही सुनता है। और दर्पण बनकर जो सुनता है उसमें समझ अनायास पैदा होती है। दर्पण बनकर जो सुनता है वही शिष्य है; वही सीखने में समर्थ है। जो दर्पण बनकर सुनता है वह ज्ञान के आधार से नहीं सुनता। वह तो इस परम भाव से सुनता है कि मुझे कुछ भी पता नहीं। मैं अज्ञानी हूं। मुझे क, ख, ग भी पता नहीं है। इसलिए क्या विवाद?

पंडित तो कभी सुनता ही नहीं। पंडित का तो अपना ही शोरगुल इतना है कि सुनेगा कैसे? मीन-मेख निकालता, आलोचना में लीन रहता भीतर। अगर राजी भी होता है तो मजबूरी में राजी होता है। और जब राजी भी होता है तो वह अपने से ही राजी होता है। जो सुना गया उससे राजी नहीं होता।

अगर मैंने कुछ बात कही, जो कुरान से मेल खाती थी, मुसलमान राजी हो गया। वह मुझसे थोड़े ही राजी हुआ! वह कुरान से राजी था, कुरान से राजी रहा। वह मुसलमान था, मुसलमान रहा। इतना ही उसने मान लिया कि यह आदमी भी कुरान की ही बात कहता है। तो ठीक है, कुरान ठीक है, यह इसलिए आदमी भी ठीक है।

जो मुझे सुनेगा उसकी प्रक्रिया बिलकुल उल्टी होगी। वह मुझे सुनेगा। सुनते वक्त विचार नहीं करेगा। सुनते वक्त तो सिर्फ पीयेगा, आत्मसात करेगा। और यह मजा है आत्मसात करने का कि जब कोई सत्य आत्मसात हो जाता है, अगर ठीक होता है तो मांस-मज्जा बन जाता है। तुम्हें सहमत नहीं होना पड़ता, तुम्हारे प्राणों का प्राण हो जाता है। तुम्हें राजी नहीं होना होता, तुम्हारी श्वास-श्वास में बस जाता है।

और अगर सत्य नहीं होता तो यह चमत्कार है...सत्य की यह खूबी है: अगर सत्य हो और तुम सुन लो तो तुम्हारे प्राणों में बस जाता है। अगर सत्य न हो और तुम मौन और ध्यान से सुन रहे हो, तुमसे अपने आप बाहर निकल जाता है। असत्य पचता नहीं। अगर शांत कोई सुनता हो तो शांति में असत्य पचता नहीं। शांति असत्य को छोड़ देती है। असहमत होती है ऐसा नहीं--इस बात को खयाल में ले लेना--शांति असहमत-सहमत होना जानती ही नहीं। शांति के साथ सत्य का मेल जुड़ जाता है, गठबंधन हो जाता, भांवर पड़ जाती है। और अशांति के साथ असत्य की भांवर पड़ जाती है।

अशांति के साथ सत्य की भांवर पड़नी कठिन है और शांति के साथ असत्य की भांवर पड़नी असंभव है। इसलिए असली सवाल है: शांति से सुनो। जो सत्य होगा उससे भांवर पड़ जायेगी। जो असत्य होगा उससे छुटकारा हो गया। तुम्हें ऐसा सोचना भी न पड़ेगा, क्या ठीक है, क्या गलत है। जो ठीक-ठीक है वह तुम्हारे प्राणों में निनाद बन जायेगा।

और ध्यान रखना, जब सत्य तुम्हारे भीतर गूंजता है तो वह मेरा नहीं होता। अगर तुम उसे गूंजने दो, तुम्हारा हो गया। सत्य किसी का थोड़े ही होता है। जिसके भीतर गूंजा उसी का हो जाता है। असत्य व्यक्तियों के होते हैं; सत्य थोड़े ही किसी का होता है! सत्य पर किसी की बपौती नहीं। सत्य का कोई दावेदार नहीं।

असत्य अलग-अलग होते हैं। तुम्हारा असत्य तुम्हारा, मेरा असत्य मेरा। असत्य निजी होते हैं। झूठ हरेक का अलग होता है। इसलिए सब संप्रदाय झूठ। धर्म का कोई संप्रदाय नहीं, क्योंकि सत्य का कोई संप्रदाय नहीं हो सकता। सत्य तो एक है, अनिर्वचनीय है। सत्य तो किसी का भी नहीं--हिंदू का नहीं, मुसलमान का नहीं, सिक्ख

का नहीं, पारसी का नहीं। सत्य तो पुरुष का नहीं, स्त्री का नहीं। सत्य तो वेद का नहीं, कुरान का नहीं। सत्य तो बस सत्य का है।

तुम जब शांत हो तब तुम भी सत्य के हो गये। उस घड़ी में भांवर पड़ जाती। उस भांवर में ही क्रांति है। सम्यक श्रवण, शांतिपूर्वक सुनना; और निष्कर्ष की जल्दी नहीं--तो तुम्हारे भीतर वह समझ पैदा होगी जिसकी मैं बात करता हूं।

तुम्हारी बुद्धि के निखार में कुछ सार नहीं है। तुम्हारा तर्क कितना ही पैना हो जाये, तुम कितनी ही धार रख लो, इससे कुछ भी न होगा। विवाद करने में कुशल हो जाओगे, थोड़ा पांडित्य का प्रदर्शन करने की क्षमता आ जायेगी, किसी से झगड़ोगे, लड़ोगे तो दबा दोगे, किसी को चुप करने की कला आ जायेगी, लेकिन कुछ मिलेगा नहीं।

मिलता तो उसे है, जो चुप होकर पीता है।

दूसरा प्रश्न: आपको पाने के बाद मुझमें बहुत कुछ रूपांतरण हुआ; और ऐसा भी लगता है कि कुछ भी नहीं हुआ है। इस विरोधाभास को स्पष्ट करने की कृपा करें।

स्वाभाविक है। ऐसा ही होगा। ऐसा ही प्रत्येक को लगेगा। क्योंकि जिस रूपांतरण की हम चेष्टा कर रहे हैं, इस रूपांतरण में कुछ अनूठी बात है, जो समझ लेना। यहां तुम्हें वही बनाने का उपाय किया जा रहा है जो तुम हो। यहां तुम्हें अन्यथा बनाने की चेष्टा नहीं चल रही है। तुम्हें तुम्हारे स्वाभाविक रूप में ले जाने का उपाय हो रहा है। तुम्हें वही देना है जो तुम्हारे पास है।

तो जब मिलेगा तो एक तरफ से तो लगेगा कि अपूर्व मिलन हो गया, क्रांति घटी। अहोभाव! और दूसरी तरफ यह भी लगेगा कि जो मिला वह कुछ नया तो नहीं है। वह तो कुछ पहचाना लगता है। वह तो कुछ अपना ही लगता है। वह तो जैसे था ही अपने भीतर, और याद न रही थी।

बुद्ध को जब ज्ञान हुआ और देवताओं ने उनसे पूछा कि क्या मिला? तो कथा कहती है, बुद्ध हंसे और उन्होंने कहा, मिला कुछ भी नहीं। जो मिला ही हुआ था उसका पता चला। जो प्राप्त ही था लेकिन भूल बैठे थे।

जैसे कभी आदमी चश्मा लगाये और अपने चश्मे को खोजने लगता है। और चश्मे से ही खोज रहा है। आंख पर चश्मा लगाये है और खोज रहा कि चश्मा कहां गया है। विस्मरण! याददाश्त खो गई है। सत्य नहीं खोया है सिर्फ याद खो गई है।

तो जब याद जागेगी तो ऐसा भी लगेगा कि कुछ मिला, अपूर्व मिला; क्योंकि इसके पहले याद तो नहीं थी। तो भिखारी बने फिर रहे थे। सम्राट थे और अपने को भिखारी समझा था। और ऐसा भी लगेगा कि कुछ भी तो नहीं मिला। सम्राट तो थे ही। इसी की याद आ गई।

विरोधाभास नहीं है। अगर तुम्हें ऐसा लगे कि कुछ एकदम नवीन मिला है तो समझना कि कुछ झूठ मिल गया। ऐसा लगे कि कुछ नवीन मिला है जो अति प्राचीन भी है, तो ही समझना कि सच मिला। अगर ऐसा लगे कि सनातन और चिर नूतन; सदा से है और अभी-अभी ताजा घटा है, ऐसी दोनों बातें एक साथ जब लगें तभी समझना कि सत्य के पास आये। सत्य के द्वार में प्रवेश मिला है।

तुम्हें अन्यथा बनाने की चेष्टा बहुत की गई है। कोई नहीं चाहता कि तुम वही हो जाओ, जो तुम हो। कोई चाहता है तुम कृष्ण बन जाओ, कोई चाहता है तुम क्राइस्ट बन जाओ, कोई चाहता है महावीर बनो, कोई चाहता है बुद्ध बनो। लेकिन तुमने खयाल किया? कभी दुबारा कोई आदमी बुद्ध बन सका? एक बार एक आदमी बुद्ध बना, बस। एक बार एक आदमी कृष्ण बना, बस। अनंत काल बीत गया, दुबारा कोई कृष्ण नहीं बना।

इससे तुम्हें कुछ समझ नहीं आती? इससे कुछ बोध नहीं होता? कि तुम लाख उपाय करो कृष्ण बनने के--रासलीला में बनना हो, बात अलग; असली कृष्ण न बन सकोगे। लाख उपाय करो राम बनने के, रखो

धनुषबाण, चले जंगल की तरफ, ले लो सीता को भी साथ और लक्ष्मण को भी; रामलीला होगी, असली राम न बन सकोगे।

असली तो तुम एक ही चीज बन सकते हो, जो अभी तक तुम बने नहीं। और कोई नहीं बना है। असली तो तुम एक ही चीज बन सकते हो जो तुम्हारे भीतर पड़ी है; जो तुम्हारी नियति है; जो तुम्हारा अंतरतम भाग्य है; जो तुम्हारे बीज की तरह छिपा है और वृक्ष की तरह खिलने को आतुर है। और तुम्हें कुछ भी पता नहीं कि वह क्या है। क्योंकि जब तक तुम बन न जाओ, कैसे पता हो? तुमने जिनकी खबरें सुनी हैं उनमें से कोई भी तुम बननेवाले नहीं हो।

बुद्ध, बुद्ध बने। बुद्ध को भी तो राम का पता था। राम नहीं बने बुद्ध। बुद्ध को कृष्ण का पता था, कृष्ण नहीं बने बुद्ध। बुद्ध, बुद्ध बने। तुम, तुम बनोगे। तुम तुम ही बन सकते हो, बस। और कुछ बनने की कोशिश की, झूठ हो जायेगा, विकृति हो जायेगी। आरोपण हो जायेगा। पाखंड बनेगा फिर। परमात्मा तो दूर, और दूर हो जायेगा। तुम पाखंडी हो जाओगे।

मेरी सारी चेष्टा एक है: तुम्हें इस बात की याद दिलानी, कि तुम तुम ही बन सकते हो।

तो मैं यहां तुम्हें कुछ अन्यथा बनाने की कोशिश या उपाय नहीं कर रहा हूं। मेरी कोई चेष्टा ही नहीं कि तुम्हें कुछ और बना दूं। मेरी सिर्फ इतनी ही चेष्टा है कि तुम्हें इतना याद दिला दूं कि तुम कुछ और बनने की चेष्टा में मत उलझ जाना, अन्यथा चूक जाओगे। समय खोयेगा। शक्ति व्यय होगी। और तुम्हारा जीवन संकट और दुख और दारिद्रय से भरा रह जायेगा।

तुम्हारे भीतर एक फूल छिपा है। और कोई भी नहीं जानता कि वह फूल कैसा होगा। जब खिलेगा तभी जाना जा सकता है। जब तक बुद्ध न हुए थे, किसी को पता न था कि यह गौतम सिद्धार्थ कैसा फूल बनेगा। हां, कृष्ण का फूल पता था, राम का फूल पता था। लेकिन बुद्ध का फूल तो तब तक हुआ न था। अब हमें पता है। लेकिन तुम्हारा फूल अभी भी पता नहीं है। तुम्हारे भीतर कैसा कमल खिलेगा, कितनी पंखुड़ियां होंगी उसकी, कैसा रंग होगा, कैसी सुगंध होगी। नहीं, कोई भी नहीं जानता।

तुम्हारा भविष्य गहन अंधेरे में पड़ा है। तुम्हारा भविष्य बीज में छिपा है। बीज टूटे, बीज की तंद्रा मिटे, बीज जागे, अंकुरित हो, खिले, तो तुम भी जानोगे और जगत भी जानेगा। उसी जानने में जानना हो सकता है। उसके पहले जानने का कोई उपाय नहीं।

इसलिए मैं तुमसे यह भी नहीं कह सकता कि तुम क्या बन जाओगे। भविष्यवाणी नहीं हो सकती। और यही आदमी की महिमा है कि उसके संबंध में कोई भविष्यवाणी नहीं हो सकती। आदमी कोई मशीन थोड़े ही है कि भविष्यवाणी हो सके। मशीन की भविष्यवाणी होती है। सब तय है। मशीन मुर्दा है। आदमी परम स्वातंत्र्य है; स्वच्छंदता है।

और एक आदमी बस अपने जैसा अकेला है, अद्वितीय है। दूसरा उस जैसा न कभी हुआ, न कभी होगा, न हो सकता है। इस महिमा पर ध्यान दो। इस महिमा के लिए धन्यभागी समझो। परमात्मा ने तुम जैसा कभी कोई नहीं बनाया। परमात्मा दोहराता नहीं। तुम अनूठी कृति हो।

लेकिन जब तुम्हारे भीतर फूल खिलना शुरू होगा तो यह विरोधाभास तुम्हें मालूम होगा। तुम्हें यह लगेगा...पूछा है: "आपको पाने के बाद मुझमें बहुत-बहुत रूपांतरण हुआ। और ऐसा भी लगता है कि कुछ भी नहीं हुआ।"

बिलकुल ठीक हो रहा है; तभी ऐसा लग रहा है। रूपांतरण भी होगा। महाक्रांति भी घटित होगी। तुम बिलकुल नये हो जाओगे। और उस नये होने में ही अचानक तुम पाओगे, "अरे! यह तो मैं सदा से था। यह खजाना मेरा ही है।" यह सितार तुम्हारे भीतर ही पड़ा था, तुमने इसके तार न छेड़े थे। मैं तुम्हें तार छेड़ना सिखा रहा हूं। जब तुम तार छेड़ोगे तो तुम पाओगे कि कुछ नया घट रहा है संगीत। लेकिन तुम यह भी तो पाओगे कि यह सितार मेरे भीतर ही पड़ा था। यह संगीत मेरे भीतर सोया था। छेड़ने की बात थी, जाग सकता था।

और शायद किन्हीं अनजाने क्षणों में, धुंधले-धुंधले तुमने यह संगीत कभी सुना भी हो। क्योंकि कभी-कभी अंधेरे में भी, अनजाने भी तुम इन तारों से टकरा गये हो और संगीत हुआ है। कभी बिना चेष्टा के भी, अनायास ही तुम्हारे हाथ इन तारों पर घूम गये हैं। हवा का एक झोंका आया है और तार कंप गये हैं और तुम्हारे भीतर संगीत की गूंज हुई है।

अब तुम अचानक जब तार बजेंगे तब तुम पहचान पाओगे, जन्मों-जन्मों में बहुत बार कभी-कभी सपने में, कभी-कभी प्रेम के किसी क्षण में, कभी सूरज को उगते देखकर, कभी रात चांद को देखकर, कभी किसी की आंखों में झांककर, कभी मंदिर के घंटनाद में, कभी पूजा का थाल सजाये...ऐसा कुछ संगीत, नहीं इतना पूरा, लेकिन कुछ ऐसा-ऐसा सुना था। सब यादें ताजी हो जायेंगी। सब स्मृतियां संगृहीत हो जायेंगी।

अचानक तुम पाओगे कि नहीं, नया कुछ भी नहीं हुआ है। जो सदा से हो रहा था, धीमे-धीमे होता था। सचेष्ट नहीं था मैं। जाग्रत नहीं था मैं। जैसे नींद में किसी ने संगीत सुना हो, कोई सोया हो और कोई उस कमरे में गीत गा रहा हो या तार बजा रहा हो, नींद में भनक पड़ती हो, कान में आवाज आती हो। कुछ साफ न होता हो। फिर तुम जागकर सुनो और पहचान लो कि ठीक, यही मैंने सुना था, नींद में सुना था। तब पहचान न थी, अब पहचान पूरी हो गई।

ऐसा ही होगा। जब तुम्हारे भीतर की स्मृति जागेगी, सुगंध बिखरेगी, तुम्हारे नासापुट तुम्हारी ही सुवास से भरेंगे तो तुम निश्चित पहचानोगे, नया भी हुआ है और पुरातन से पुरातन। नित नूतन और सनातन। शाश्वत घटा है क्षण में।

विरोधाभास जरा भी नहीं है।

तीसरा प्रश्न: एक ओर आप कहते हैं कि वासना स्वभाव से दुष्पूर है। वह सदा अतृप्त की अतृप्त बनी रहती है। और दूसरी ओर आप यह भी कहते हैं कि यदि संसार में रस बाकी रह गया हो तो उसे पूरा भोग लेना भी अपेक्षित है। इस विरोधाभास को दूर करने की अनुकंपा करें।

विरोधाभास दिखाई पड़ते हैं, क्योंकि तुम्हें दिखाई नहीं पड़ता। विरोधाभास मालूम पड़ते हैं, क्योंकि तुम्हारी आंख खुली हुई नहीं है। अंधेरे में टटोलते हो, इसलिए विरोधाभास दिखाई पड़ते हैं। अन्यथा कोई विरोधाभास नहीं है। समझो।

निश्चित ही वासना दुष्पूर है; ऐसा बुद्ध का वचन है। ऐसा समस्त बुद्धों का वचन है। वासना दुष्पूर है, इसका अर्थ होता, वासना को भरा नहीं जा सकता। तुम लाख उपाय करो।

दस रुपये हैं तो बीस रुपये चाहिए। दस हजार हैं तो बीस हजार चाहिए। और दस लाख हैं तो बीस लाख चाहिए। जो अंतर है दस और बीस का; कायम रहता है। वासना दुष्पूर है, इसका अर्थ हुआ कि तुम्हारी अतृप्ति का जो अनुपात है, सदा कायम रहता है। उसमें कोई फर्क नहीं पड़ता। तुम कितना कमा लोगे इससे कोई फर्क नहीं पड़ता। तुम्हारी वासना उतनी ही आगे बढ़ जायेगी। वासना क्षितिज की भांति है। दिखाई पड़ता है यह दस मील, बारह मील दूर मिलता हुआ पृथ्वी से। भागो, लगता है घड़ी में, दो घड़ी में पहुंच जायेंगे। भागते रहो जन्मों-जन्मों तक, कभी न पहुंचोगे। तुम जितने भागे उतना ही क्षितिज आगे हट गया। तुम्हारे और क्षितिज के बीच का फासला सदा वही का वही।

वासना दुष्पूर है इसका अर्थ, कि वासना को भरने का कोई उपाय नहीं।

यह सत्य है। अब तुम्हें विरोधाभास लगता है क्योंकि दूसरी बात मैं कहता हूं, कि जब तक रस बाकी रह गया हो तब तक कठिनाई है। रस को पूरा ही कर लेना। मैं तुमसे कहता हूं वासना दुष्पूर है; मैंने तुमसे यह नहीं कहा कि रस समाप्त नहीं होगा। रस विरस हो जायेगा। वासना तो दुष्पूर है। तुम्हारा रस सूख जायेगा।

सच तो यह है, वासना दुष्पूर है ऐसा जान कर ही रस विरस हो जायेगा। विरोधाभास नहीं है। जिस दिन तुम जानोगे कि वासना भर ही नहीं सकती। दौड़-दौड़ थकोगे, दौड़-दौड़ गिरोगे। सब उपाय कर लोगे, वासना भरती नहीं। कोई उपाय नहीं दिखाई पड़ता। असंभव है। हो ही नहीं सकता। तो धीरे-धीरे तुम पाओगे कि जो हो ही नहीं सकता, जो कभी हुआ ही नहीं है, उसमें रस विक्षिप्तता है।

जैसे कोई आदमी दो और दो को तीन करना चाहता हो और कहता हो, मुझे बड़ा रस है, मैं दो और दो को तीन करना चाहता हूं। तो हम कहेंगे, करो। दो और दो तीन होंगे नहीं। तुम करो। दो और दो तीन होंगे नहीं तुम्हारे करने से, एक दिन तुम ही जागोगे और तुम्हारा रस ही मूढ़तापूर्ण सिद्ध हो जायेगा। और तुम ही कहोगे कि यह होनेवाला नहीं, क्योंकि यह हो ही नहीं सकता। मेरे रस में ही मूढ़ता है। तुम्हारा रस ही खंडित हो जायेगा।

जब तुम्हारा रस खंडित होगा, तब भी तुम यह मत सोचना कि दो और दो तीन हो जायेंगे। तब भी दो और दो तीन नहीं होते लेकिन अब तुम्हारा रस न रहा। रस का अर्थ ही है कि तुम्हें आशा है कि शायद कोई विधि होगी, कोई तरकीब होगी, कोई जादू होगा, कोई चमत्कार होगा जिससे दो और दो तीन हो सकेंगे। दूसरों को पता न होगा। सिकंदर हार गया माना, नेपोलियन हार गया माना, लेकिन मैं भी हारूंगा यह क्या पक्का है? शायद कोई तरकीब रह गई हो, जो उन्होंने काम में न लाई हो। सच है कि बुद्ध हार गये और महावीर हार गये, लेकिन यह कहां पक्का पता है कि उन्होंने सभी उपाय कर लिये थे और सभी विधियां खोज ली थीं? अगर एक हजार विधियां खोजी हों और एक भी बाकी रह गई हो, कौन जाने उस एक से ही द्वार खुलता हो! उस एक में ही कुंजी छिपी हो।

रस का अर्थ है, आशा बाकी है। रस का अर्थ है, शायद हो जाये। कभी नहीं हुआ सच है, लेकिन कभी नहीं होगा यह क्या जरूरी है? जो कल तक नहीं हुई थीं चीजें, आज हो रही हैं। जो कभी नहीं हुई थीं वह कभी हो सकती हैं। अतीत में नहीं हुईं, भविष्य में नहीं होंगी ऐसा क्या पक्का है? आदमी और भी महत्वपूर्ण विधियां खोज ले सकता है। नये तकनीक, नये कौशल, नये उपाय; या नई तालियां गढ़ ले या ताले को तोड़ने का उपाय कर ले।

आशा! रस का अर्थ है, आशा। रस का अर्थ है, अभी मैं थका नहीं। अभी मैं थोड़ी और चेष्टा करूंगा। अभी लगता है कि कहीं से कोई न कोई मार्ग मिल जायेगा।

वासना दुष्पूर है, यह तो पक्का। और रस भी विरस हो जाता है यह भी पक्का। लेकिन रस विरस तभी होता है जब तुम रस में पूरे जाओ; नहीं तो विरस नहीं होता। जैसे बीच से कोई भाग आये, अधूरा भाग आये, जंगल में बैठ जाये तो मुश्किल खड़ी होगी। बार-बार मन में होगा, शायद एक बार और चुनाव लड़ लेता। कौन जाने जीत जाता!

कहानियां हैं, गौरी अठारह दफे हारा, उन्नीसवीं बार जीत गया। और कैसे जीता पता है? भाग गया था। छिपा था एक जंगल में एक खोह में, गुफा में। और बैठा था थका हुआ, घबड़ाया हुआ कि अब क्या होगा? सब हार गया। और एक मकड़ी को जाला बुनते देखा। मकड़ी जाला बुनती रही, सत्रह बार गिरी और अठारहवीं बार जाला पूरा हो गया।

गौरी उठकर खड़ा हो गया। उसने कहा, जो मकड़ी के लिए हो सकता है, मुझे क्यों नहीं हो सकता? एक बार और कोशिश कर लूं। और गौरी कोशिश किया और जीत गया।

तुम अगर अधूरे भाग गये तो कोई न कोई मकड़ी को गिरते देखकर, जाला बुनते देखकर तुम लौट आओगे। कौन जाने! उपाय पूरा नहीं हो पाया था इसलिए हार गया। जाऊं, उपाय पूरा कर लूं।

और तुम न भी लौटे तो भी मन तुम्हारा लौटता रहेगा। तुम चाहे बैठे रहो गुफा में, मन तुम्हारा बाजारों में भरमेगा, धन-तिजोड़ियों की चिंता करेगा, स्त्रियों-पुरुषों के सपने देखेगा, पद-प्रतिष्ठा के रस में तल्लीन होगा।

गुफा में बैठने से क्या फर्क होता है? मन को गुफा में बिठा देना इतना आसान थोड़े ही है! शरीर को बिठा देना आसान है। जंजीरें डाल दो, कहीं भी बैठ जायेगा।

मैंने सुना है, एक ईसाई फकीर के दर्शन करने लोग आते थे बड़े दूर-दूर से। वह मिस्र के पास एक रेगिस्तान में, एक गुफा में रहता था। हजारों मील से लोग उसके दर्शन करने आते थे। लोग बड़े चकित होते थे उसकी तपश्चर्या, उसका त्याग देखकर। एक दिन एक फकीर भी उसके दर्शन को आया था, वह देखकर हंसने लगा। उसने पूछा, मैं समझा नहीं। आप हंस क्यों रहे हैं? उस फकीर ने कहा कि मैं यह देखकर हंस रहा हूं कि तुमने अपने हाथ में जंजीरें और पैरों में बेड़ियां क्यों डाल रखी हैं?

वह जो फकीर था गुफा में रहनेवाला, उसने अपने पैरों में जंजीरें डाल रखी थीं और गुफा के साथ जोड़ रखी थीं जंजीरें; और हाथ में जंजीरें थीं। मैं इसलिए हंस रहा हूं कि तुमने ये जंजीरें क्यों डाल रखी हैं? उस फकीर ने कहा, इसलिए कि कभी-कभी मन में कमजोरी के क्षण आते हैं और भाग जाने का मन होता है। संसार में लौट जाने की इच्छा प्रबल हो जाती है। तब ये जंजीरें रोक लेती हैं। थोड़ी देर ही रुकती है वह कमजोरी; फिर अपने को सम्हाल लेता हूं। उतनी देर के लिए जंजीरें काम दे जाती हैं क्योंकि जंजीरें खोलना आसान नहीं। ये मैंने सदा के लिए बंद करवा दी हैं। तो कमजोरी के क्षण में सहारा मिल जाता है।

लेकिन यह भी कोई बात हुई? जंजीरों के सहारे अगर रुके रहे गुफा में...। और ऐसा नहीं है कि सभी संन्यासी इस तरह की स्थूल जंजीरें बांधते हैं, सूक्ष्म जंजीरें हैं। कोई जैन मुनि हो गया; अब बीस साल प्रतिष्ठा, तीस साल प्रतिष्ठा, सम्मान, चरणस्पर्श, लोगों का मान, पूजा, आदर...। अब आज अचानक अगर लौटना चाहे तो यह सारा पूजा-आदर जो तीस साल मिला है, यह जंजीर बन जाता है। आज हिम्मत नहीं होती कि लौटकर जाऊं संसार में, लोग क्या कहेंगे? अहंकार बाधा बन जाता है। यह बड़ी सूक्ष्म जंजीर है।

इसलिए तो त्यागी को आदर दिया जाता है। यह संसारी की तरकीब है उसको गुफा में रखने की। भाग न सको। बच्चू, एक दफा आ गये गुफा में, निकलने न देंगे। ऐसी सूक्ष्म जंजीरें हैं। इतना शोरगुल मचायेंगे, इतना बैंडबाजा बजायेंगे, शोभा यात्रा निकालेंगे, लाखों खर्च करेंगे। लगा दी उन्होंने मुहर। अब तुम्हें भागने न देंगे। क्योंकि ध्यान रखना, जितना सम्मान दिया इतना ही अपमान होगा।

सम्मान की तुलना में ही अपमान होता है। इसलिए जैन मुनि भागना बहुत मुश्किल पाता है। हिंदू संन्यासी इतना मुश्किल नहीं पाता, क्योंकि इतना सम्मान कभी किसी ने दिया भी नहीं। तो उसी मात्रा में अपमान है। मेरे संन्यासी को तो कोई दिक्कत नहीं। वह किसी भी दिन संन्यास छोड़ दे। क्योंकि किसी ने कोई सम्मान दिया नहीं था; अपमान कोई देगा नहीं। अपमान का कोई कारण नहीं है। अपमान उसी मात्रा में मिलता है जिस मात्रा में सम्मान ले लिया। सम्मान जंजीर बन जाता है।

अगर तुम सच में समझदार हो तो कभी अपने ध्यान, अपने संन्यास के लिए किसी तरह का सम्मान मत लेना। क्योंकि जो सम्मान दे रहा है वह तुम्हारा जेलर बन जायेगा। उससे कह देना, सम्मान नहीं। क्षमा करो। धन्यवाद। क्योंकि कल अगर मैं लौटना चाहूं तो मैं कोई जंजीरें नहीं रखना चाहता अपने ऊपर। मैं जैसा मुक्त संन्यास में आया था उतना ही मुक्त रहना चाहता हूं अगर संन्यास के बाहर मुझे जाना हो।

तो कुछ तो गुफाओं में स्थूल जंजीरें बांध लेते हैं, कुछ सूक्ष्म जंजीरें; मगर जंजीरें हैं। और ये जंजीरें रोके रखती हैं। यह कोई रुकना हुआ? जंजीरों से रुके, यह कोई रुकना हुआ?

आनंद से रुको, जंजीरों से नहीं। अहोभाव से रुको, अपमान के भय से नहीं। सम्मान की आकांक्षा से नहीं, समाधि के रस से।

लेकिन यह तभी संभव होगा जब संसार का रस चुक गया हो। इसलिए मेरा जोर है कि कच्चे मत भागना। अधूरे-अधूरे मत भागना। बीच से मत उठ आना महफिल से। महफिल पूरी हो जाने दो। यह गीत पूरा सुन ही लो। इसमें कुछ सार नहीं है। घबड़ाना कुछ है भी नहीं। यह नाच पूरा हो ही जाने दो। कहीं ऐसा न हो कि घर जाकर सोचने लगो कि पता नहीं...। यह कहानी पूरी हो जाने दो। अंतिम परदा गिर जाने दो। कहीं ऐसा न हो

कि बीच से उठ जाओ और फिर मन पछताये। और मन सोचे कि पता नहीं, असली दृश्य देखने को रह ही गये हों। अभी तो कहानी शुरू ही हुई थी। पता नहीं अंत में क्या आता है।

इसलिए मैं कहता हूं कि जीवन को जीयो। भरपूर जीयो। डर कुछ भी नहीं है, क्योंकि वासना दुष्पूर है। तुम मेरा मतलब समझो। मैं तुमसे यह कह रहा हूं कि चूंकि वासना दुष्पूर है, तुम लाख जीयो, आज नहीं कल तुम संन्यासी बनोगे। संन्यास से बचने का उपाय नहीं है।

संन्यास संसार के अनुभव का नाम है।

जिसने संसार का ठीक अनुभव ले लिया वह करेगा क्या और? संन्यास संसार के अनुभव की निष्पत्ति है, सार है। मैं संन्यास को संसार का विरोधी नहीं मानता हूं। यह उसी जीवन की सारी अनूभूति का सार-निचोड़ है। जीकर देखा कि वहां कुछ भी नहीं है। जीकर देखा कि वासना भरती नहीं है। जीकर देखा कि वासना भूखा का भूखा रखती है, तृप्त नहीं होने देती। जीकर देखा कि दुख ही दुख है; नर्क ही नर्क है। इसी अनुभव से आदमी ऊपर उठता और इसी अनुभव से जीवेषणा विसर्जित हो जाती; जीने की आकांक्षा चली जाती।

जीने की आकांक्षा के चले जाने का नाम ही मुमुक्षा है: मोक्ष की आकांक्षा। मोक्ष का क्या अर्थ होता है? अब और नहीं जीना चाहता। बहुत जी लिया। नहीं, अब और नहीं जीना चाहता। देख लिया सब, जो देखने को था। सब नाटक पूरे हुए। सब कथायें पूरी पढ़ लीं। जीवन का पाठ अपने अंतिम निष्कर्ष पर आ गया।

संन्यास संसार के प्रगाढ़ अनुभव का नाम है।

इसलिए कहता हूं कि अनुभव से कच्चे मत भागना। संसार से कच्चे भागे तो संन्यास भी कच्चा रह जायेगा। और कच्चा संन्यास दो कौड़ी का है। यह संसार की आग में तुम्हारा घड़ा पके। तुम पककर बाहर आओ।

पूछते हो, "वासना स्वभाव से दुष्पूर है, ऐसा आप कहते हैं। और फिर यह भी कहते हैं कि रस को पूरा भोग लो, इनमें विरोधाभास दिखाई पड़ता है।"

दिखाई पड़ता है, क्योंकि तुम्हें दिखाई नहीं पड़ता। ये दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। वासना दुष्पूर है, इसीलिए रस से मुक्त हुआ जा सकता है।

और जब रस से मुक्त हुआ जा सकता है और वासना भरती ही नहीं तो जल्दी क्या है? घबड़ाहट क्या है? इतना अधैर्य क्या है? इस संसार में कितने ही गहरे जाओ, कुछ हाथ न लगेगा। इसलिए मैं कहता हूं, दिल भरकर जाओ।

वे जो तुमसे कहते हैं कि मत जाओ, संसार में जाने में खतरा है, मुझे लगता है, उन्हें अभी पक्का पता नहीं। उन्हें एक डर है कि कहीं ऐसा न हो कि तुम भरम जाओ। उन्हें भय है। उन्हें लगता है, कहीं ऐसा न हो कि तुम्हारी वासना तृप्त ही न हो जाये; कहीं फिर तुम मोक्ष की आकांक्षा ही न करो। उन्हें डर है कि कहीं यह क्षितिज मिल ही न जाये। मिल गया तो फिर तुम न लौटोगे।

उनका भय तुम समझते हो? उनका भय उनका अज्ञान है। मैं तुमसे कहता हूं, जाओ। जहां जाना हो जाओ। भोगो। भटको। लौट आओगे। भटकने में कंजूसी मत करो। तो जब तुम लौटोगे, पूरे लौटोगे। फिर तुम पीछे लौटकर भी न देखोगे। फिर संसार ऐसे गिर जाता है, जैसे सांप अपने पुराने वेश को छोड़ देता है; अपनी पुरानी चमड़ी को छोड़ देता है। सरक जाता। बाहर निकल जाता। पीछे लौटकर भी नहीं देखता।

ठीक ऐसा ही जब संन्यास सहज घटता है तब उसकी अपूर्व महिमा है।

चौथा प्रश्न: किसी व्यक्ति-विशेष के प्रति समर्पण करना क्या निजी अस्तित्व और स्वतंत्रता को खो देना नहीं है? व्यक्तित्व की पूजा न कर व्यक्ति की पूजा करना कहां तक उचित है?

पहली बात: तुम वही खो सकते हो, जो तुम्हारे पास हो। उसे तो तुम कैसे खोओगे जो तुम्हारे पास नहीं है? इसे समझना।

अक्सर ऐसा हो जाता है। कहावत है कि नंगा नहाता नहीं क्योंकि वह कहता है, नहाऊंगा तो निचोड़ूंगा कहां? निचोड़ने को कुछ है ही नहीं। भिखमंगा रात भर जागता रहता है कि कहीं चोरी न हो जाये। चोरी हो जाये ऐसा कुछ है ही नहीं।

तुम पूछते हो "किसी व्यक्ति-विशेष के प्रति समर्पण करना क्या निजी अस्तित्व और स्वतंत्रता को खो देना नहीं है?"

अगर है स्वतंत्रता तो, तो कोई जरूरत ही नहीं है किसी के प्रति समर्पण करने की। प्रयोजन क्या है? तुम स्वतंत्रता को उपलब्ध हो गये हो, निजी अस्तित्व तुम्हारा हो गया है, उसी का नाम तो आत्मा है। अब तुम्हें समर्पण की जरूरत क्या है?

लेकिन अक्सर ऐसा होता है, न तो स्वतंत्रता है, न कोई निजी अस्तित्व है और घबड़ा रहे हैं कि कहीं समर्पण करने से खो न जाये। नंगा नहाये तो डर रहा है कि निचोड़ूंगा कहां? कपड़े सुखाऊंगा कहां?

पहले तो तुम यही सोच लो ठीक से कि तुम्हारे पास स्वतंत्रता है? तुम्हारे पास तुम्हारा अस्तित्व है? तुमने आत्मा का अनुभव किया है? तुमने उस स्वच्छंदता को जाना है, जिसकी अष्टावक्र बात कर रहे हैं? अगर जान लिया तो अब समर्पण करने की जरूरत क्या है? किसको समर्पण करना है? किसके लिए करना है? समर्पण आदमी इसी स्वतंत्रता की खोज में करता है।

और अगर तुम्हारे पास यह स्वतंत्रता नहीं है तो समर्पण सहयोगी है। फिर समर्पण में तुम वही खोओगे जो तुम्हारे पास है--अहंकार है तुम्हारे पास; आत्मा तुम्हारे पास अभी है नहीं। और समर्पण में आत्मा नहीं खोती, अहंकार ही खोता है।

और अहंकार ही तरकीबें निकालता है बचने की। वह कहता अरे, यह क्या करते हो, समर्पण कर रहे? इसमें तो निजता खो जायेगी। यह निजता नाम है अहंकार का। इसे साफ समझ लेना। अगर तुमने अपने को जान लिया, अब कोई जरूरत ही नहीं है। तुम यह प्रश्न ही न पूछते। अगर तुम्हें अपनी स्वतंत्रता मिल गई है, तुम अपनी स्वतंत्रता के मालिक हो गये हो, यह संपदा तुमने पा ली, तो यह प्रश्न तुम किसलिए करते?

मैं तो नहीं करता यह प्रश्न। मैं तो किसी के पास नहीं जाता कहने कि समर्पण करने से मेरी स्वतंत्रता खो जायेगी। समर्पण करना ही किसलिए? कोई प्रयोजन नहीं रहा है।

तुम पूछते हो। साफ है, तुम्हें स्वतंत्रता की कोई सुगंध नहीं मिली है अब तक, सिर्फ शब्द तुमने सीख लिया है। शब्द सीखने में क्या धरा है? तुम्हें आत्मा का कुछ भी पता नहीं है। जिन मित्र ने पूछा है, नये हैं। नाम है उनका "दौलतराम खोजी।" अभी खोज रहे हो। अभी मिला नहीं है। और दौलतराम भी नहीं हो। दौलत और राम...जरा भी नहीं; खोजी हो, इतना सच है। अभी दौलत है नहीं। और राम के बिना दौलत होती कहां? अभी तुम्हें भीतर के राम का पता नहीं है।

लेकिन डर है कि कहीं समर्पण किया तो खो न जाये। क्या खो जायेगा? दौलत है नहीं दौलतराम! सिर्फ अहंकार का धुआं है। खो जाने दो। इसके खोने से लाभ होगा। यह खो जाये तो तुम्हारे भीतर, इस धुएं के भीतर छिपी जो दौलत पड़ी है उसके दर्शन होने लगेंगे।

समर्पण तुम्हें स्वतंत्रता देगा अहंकार से। स्वतंत्रता का क्या अर्थ होता है? हम किसी दूसरे से थोड़े ही बंधे हैं; अपनी ही अस्मिता से बंधे हैं। अपने ही अहंकार से बंधे हैं। किसी और ने हमें थोड़े ही बांधा है। अपना ही दंभ हमें बांधे हुए है। समर्पण का अर्थ है, दंभ किसी के चरणों में रख दो, जहां प्रेम जागा हो। किसी के पास अगर परमात्मा की थोड़ी-सी झलक मिली हो तो चूको मत मौका। रख दो वहीं चरणों में। यह बहाना अच्छा है। इस आदमी के बहाने अपना अहंकार रख दो। इस अहंकार के रखते ही तुम्हारे भीतर जो छिपा है वह प्रकट हो जायेगा। यह आवरण उतार दिया। तुम नग्न हो जाओगे। उस नग्नता में तुम्हें अपनी आत्मा की पहली झलक मिलेगी।

और उस आत्मा का ही स्वभाव स्वतंत्रता है। अहंकार का स्वभाव स्वतंत्रता नहीं है। इसलिए समर्पण में तो आदमी आत्मवान बनता है, स्वतंत्र बनता है। समर्पण से किसी की स्वतंत्रता थोड़े ही खोती है।--एक बात।

दूसरी बात: जो स्वतंत्रता समर्पण से खो जाये वह दो कौड़ी की है। वह बचाने योग्य ही नहीं है। जो स्वतंत्रता समर्पण करने पर भी बचे वही बचाने योग्य है। इस बात को समझना।

स्वतंत्रता कोई ऐसी कमजोर, लचर चीज थोड़े ही है कि तुमने समर्पण किया, किसी के पैर छू लिये और गई! इतनी सस्ती चीज को बचाकर भी क्या करोगे? जो पैर छूने से चली जाये, जो कहीं सिर झुकाने से चली जाये, इसको बचाकर भी क्या करोगे? इसमें कुछ मूल्य भी नहीं है। यह बड़ी कमजोर है, नपुंसक है।

स्वतंत्रता तो ऐसी अदभुत घटना है कि तुम सारे संसार के चरण छुओ तो भी न जायेगी। तुम कंकड़-पत्थरों के चरण छुओ, झाड़-झाड़, पत्थर-पत्थर सिर झुकाओ तो भी न जायेगी। जा ही नहीं सकती। स्वतंत्रता यानी स्वभाव। जा कैसे सकता है? अपना है जो, उसे खोओगे कैसे? सिर झुक जायेगा, तुम झुक जाओगे और तुम पाओगे, तुम्हारे भीतर स्वतंत्रता प्रगाढ़ होकर जल रही है दीये की भांति। अकंप उसकी लौ है। अकंप उसका प्रकाश है। जितने झुकोगे उतना पाओगे, तुम अचानक पाओगे कि विनम्रता से स्वतंत्रता का विरोध नहीं है। स्वतंत्रता विनम्रता में पलती है, पुसती है, बड़ी होती है, फलती है। विनम्रता स्वतंत्रता के लिए खाद है।

समर्पण तो द्वार है स्वतंत्रता का।

लेकिन मैं तुम्हारा मतलब समझता हूं। तुम्हारी तकलीफ मेरे खयाल में है। तकलीफ है अहंकार की। अपने को कुछ मान बैठे हो, तो कैसे किसी के चरणों में झुका दें? तुम्हें परमात्मा भी मिल जाये तो भी तुम बचाओगे।

बचाने की बहुत तरकीबें हैं। पहले तो तुम यह मानने को राजी न होगे कि यह परमात्मा है। परमात्मा कहीं ऐसे मिलता है? वे पहले जमाने की बातें गईं जब परमात्मा जमीन पर आया करता था। अब थोड़े ही आता है। तुम कुछ न कुछ परमात्मा में भूल-चूक खोज लोगे, जिससे समर्पण करने से बच सको। तुमने राम में भी भूल-चूक खोज ली थी, तुमने कृष्ण में भी खोज ली थी, तुमने बुद्ध में भी खोज ली थी। तुम कुछ न कुछ खोज ही लोगे। तुम अपने को बचा लोगे।

अपने को बचाये-बचाये तुम जन्मों-जन्मों से चले आ रहे हो। यह गांठ जिसे तुम बचा रहे हो, तुम्हारा रोग है। यह गांठ छोड़ो। यह कैंसर की गांठ है। इसी से तो तुम व्याधिग्रस्त हो।

समर्पण का कोई और अर्थ नहीं है। समर्पण तो एक बहाना है। किसी के बहाने तुमने अपनी गांठ उतारकर रख दी। खुद तो उतारने में तुमसे नहीं बनता। खुद तो उतारते नहीं बनता। आदत पुरानी हो गई इसको ढोने की। किसी के बहाने, किसी के सहारे उतारकर रख देते हो। जैसे ही उतार कर रखोगे, तुम पाओगे, अरे! बड़ा पागलपन था। तुम व्यर्थ ही इसे ढो रहे थे। तुम चाहते तो बिना समर्पण के भी उतारकर रख सकते थे। लेकिन यह तुम्हें समर्पण के बाद ही पता चलेगा।

समर्पण तो बहाना है। गुरु तो बहाना है। ऐसा कुछ है नहीं कि बिना गुरु के तुम उतार नहीं सकते। चाहो तो तुम बिना गुरु के भी उतार सकते हो, लेकिन संभावना कम है। तुम तो गुरु से भी बचने की कोशिश कर रहे हो। तो अकेले में तो तुम बच ही जाओगे। अकेले में तुम भूल ही जाओगे उतारने की बात।

यह तो ऐसा ही है, तुम्हें सुबह पांच बजे उठना है, ट्रेन पकड़नी है, तो दो उपाय हैं: या तो तुम अपने पर भरोसा करो कि उठ आऊंगा पांच बजे, या अलार्म घड़ी भरकर रख दो। उठ सकते हो खुद भी। थोड़ा संकल्प का बल चाहिए। अगर तुममें थोड़ी हिम्मत हो तो तुम अपने को रात कहकर सो जा सकते हो कि पांच बजे से एक मिनट भी ज्यादा नहीं सोना है दौलतराम! ऐसा अगर जोर से कह दिया, और तुमने गौर से सुन लिया और धारण कर ली इस बात को, तो पांच बजे से रत्ती भर भी आगे नहीं सो सकोगे। पांच बजे ठीक आंख खुल जायेगी।

अगर अपनी ही बात मान सकते हो, तब तो बहुत ही अच्छा। अगर दौलतराम पर भरोसा न हो, और डर हो कि जब कह रहे हैं तभी जान रहे हैं कि यह कुछ होने वाला थोड़े ही है! कह रहे हैं कि दौलतराम, पांच बजे

सुबह उठ आना। लेकिन कहते वक्त भी जान रहे हैं कि यह कहीं होनेवाला थोड़े ही! ऐसे तो कई दफे कह चुके। कभी हुआ?

विवेकानंद अमरीका में एक जगह बोलते थे। तो उन्होंने बाइबिल का उल्लेख किया, जिसमें जीसस ने कहा है, अगर श्रद्धा हो तो पहाड़ भी हट जायें। अगर श्रद्धा से कह दो, "हट जाओ पहाड़ो" तो पहाड़ भी हट जायें।

एक बूढ़ी औरत सामने ही बैठी थी, वह भागी। वह अपने घर भागी। उसके पीछे एक छोटी पहाड़ी थी, जिससे वह बहुत परेशान थी। उसने कहा अरे, इतनी सरल तरकीब! और मुझे अब तक पता नहीं थी। और बाइबिल मेरे घर में पड़ी है। ईसाई थी। और उसने कहा, मैं तो ईसाई हूं और मुझमें श्रद्धा भी है ईसा पर। जाकर अभी निपटा देती हूं इस पहाड़ी को। खिड़की खोलकर उसने आखिरी बार देख ली पहाड़ी कि एक बार और देख लूं। फिर तो यह चली जायेगी। खिड़की बंद करके उसने कहा, हट जा पहाड़ी! श्रद्धा से कहती हूं। ऐसा तीन बार दोहराया। फिर खिड़की खोलकर देखी, हंसने लगी। कहा, मुझे पता ही था, ऐसे कहीं हटती है! पता ही था, ऐसे कहीं हटती है। यह कोई मजाक है कि कह दो, पहाड़ी हट जाये।

मगर अगर पता ही था तो नहीं हटती। भीतर तुम पहले से ही जान रहे हो कि नहीं होनेवाला, नहीं होनेवाला। यह अपने से नहीं हो सकता है। तो फिर नहीं होगा। तो फिर अलार्म घड़ी भरकर रख दो। या किसी पड़ोसी को कह दो कि पांच बजे उठा देना। कोई उपाय करो।

गुरु के पास समर्पण का केवल इतना ही अर्थ है कि तुमसे नहीं होता तो अलार्म भर दो। गुरु तो अलार्म है। जगा देगा। तुमसे नहीं बनता तो वह तुम्हें जगा देगा।

एमेन्युएल कांट हुआ जर्मनी का बहुत बड़ा विचारक; वह अकेला रहा जिंदगी भर, शादी नहीं की। लेकिन एक नौकर को अपने पास रखता था। वह धीरे-धीरे नौकर उसका मालिक हो गया। क्योंकि नौकर पर निर्भर रहना पड़ता। और एमेन्युएल कांट बिलकुल पागल था समय के पीछे। मिनट-मिनट, सेकेंड-सेकेंड का हिसाब रखता था। अगर ग्यारह बजे खाना खाना है तो ग्यारह ही बजे खाना खाना। दो मिनट देर हो गई तो मुश्किल। रात दस बजे सोना है तो दस बजे सो जाना है। कभी-कभी तो ऐसा हुआ कि कोई मिलने आया था, वह बात ही कर रहा है और वह उचककर अपना कंबल ओढ़कर सो गया। क्योंकि दस बज गया। घड़ी में देखा। वह इतना भी नहीं कह सकता कि अब मेरे सोने का वक्त हो गया, क्योंकि इसमें भी तो समय लग जायेगा। वह सो ही गया। नौकर आकर कहेगा, अब आप जाइये। मालिक सो गये।

और सुबह तीन बजे उठता था। और तीन बजे उठने में उसे बड़ी अड़चन थी। मगर जिद्दी था। उठता भी था और अड़चन भी थी। अड़चन इतनी थी कि नौकर से मारपीट हो जाती थी। नौकर उठाता था; और मारपीट हो जाती। तो नौकर टिकते नहीं थे। क्योंकि नौकर कहते यह भी अजीब बात है। आप कहते हैं कि तीन बजे उठाना। हम उठाते हैं, आप गाली बकते हो। मारने को खड़े हो जाते हो। मगर वह कहता कि यही तो तुम्हारा काम है। तुम चाहो मुझे मारो, तुम चाहो मुझे गाली दो, मगर उठाना। छोड़ना मत; चाहे कुछ भी हो जाये।

तो एक ही नौकर टिकता था उसके पास। वह उसका मालिक हो गया था। वह तो उसकी पिटाई भी कर देता था।

गुरु तो केवल एक उपाय है। कभी जरूरत होगी तो वह तुम्हारी पिटाई भी करेगा। कभी खींचेगा भी नींद से।

समर्पण का इतना ही अर्थ है कि तुम गुरु से कहते हो कि मुझे पक्का पता है कि मैं तीन बजे उठ न सकूंगा। और मुझे यह भी पता है कि तीन बजे मैं करवट लेकर सो जाऊंगा। मुझे यह भी पता है कि तुम भी उठाओगे तो मैं नाराज होऊंगा। फिर भी तुम कृपा करना और उठाना।

समर्पण का और क्या अर्थ है? समर्पण का इतना-सा सीधा-सा अर्थ है कि मैं तुम्हारे चरणों में निवेदन करता हूं कि मुझसे तो उठना हो नहीं सकता। और यह भी मुझे पक्का है कि तुम भी मुझे उठाओगे तो मैं बाधा डालूंगा। यह भी मैं नहीं कहता कि मैं बाधा नहीं डालूंगा। मैं सहयोगी होऊंगा यह भी पक्का नहीं है। मगर प्रार्थना है मेरी: तुम मेरी बाधाओं पर ध्यान मत देना। मेरी नासमझियों का हिसाब मत रखना। मैं गाली-गलौज भी बक

दूं कभी, क्षमा कर देना। यह मैं तुमसे प्रार्थना कर रहा हूं लेकिन मुझे उठाना। मुझे उठना है। और तुम्हारे सहारे के बिना न उठ सकूंगा।

समर्पण का इतना ही अर्थ है कि तुम अपना अहंकार किसी के चरणों में रख देते हो और उससे निवेदन कर देते हो कि वह तुम्हें खींच ले, उठा ले, जगा ले। तुम्हारी नींद गहरी है; जन्मों-जन्मों की।

अगर तुम स्वयं उठ सको, बड़ा शुभ। कोई जरूरत नहीं। किसी गुरु को कष्ट देने की कोई जरूरत नहीं। कोई गुरु उत्सुक नहीं है। क्योंकि किसी को भी तीन बजे उठाना कोई सस्ता मामला नहीं है, उपद्रव का मामला है। कोई धन्यवाद थोड़े ही देता है!

फिर तुम पूछ रहे हो, "व्यक्तित्व की पूजा न कर व्यक्ति की पूजा कहां तक उचित है?"

समर्पण और व्यक्ति की पूजा का कोई संबंध नहीं है। जिसके प्रति तुमने समर्पण कर दिया उसके साथ तुम एक हो गये। पूजा कैसी? कौन आराध्य और कौन आराधक? गुरु और शिष्य के बीच पूजा का भाव ही नहीं है। शिष्य ने तो गुरु के साथ अपने को छोड़ दिया। यह तो गुरु के साथ एक हो गया। इसमें पूजा इत्यादि कुछ भी नहीं है। अगर पूजा कायम रह गई तो समझना कि समर्पण पूरा नहीं है।

समर्पण का तो अर्थ ही यह होता है कि मैंने जोड़ दी अपनी नाव तुम्हारी नाव से। मैं अपने को पोंछ लेता हूं; तुम मेरे मालिक हुए। अब तुम ही हो, मैं नहीं हूं। अब पूजा किसकी, कैसी? यह कोई व्यक्ति-पूजा नहीं है।

और इसमें एक बात और समझ लेने की जरूरत है। पूछा है, "व्यक्तित्व की पूजा न कर व्यक्ति की पूजा कहां तक उचित है?"

आदमी बहुत बेईमान है। आदमी की बेईमानी ऐसी है कि वह तरकीबें खोजता है। अगर तुम उससे कहो, आदमी को प्रेम करो; तो वह कहता है, आदमियत को प्रेम करें तो कैसा? अब आदमियत को खोजोगे कहां? जब भी प्रेम करने जाओगे, आदमी मिलेगा; आदमियत कभी भी न मिलेगी। अब तुम कहो, हम तो आदमियत को प्रेम करेंगे। तो आदमियत कहां...मनुष्यता को कहां पाओगे?

मनुष्यता तो एक शब्द मात्र है, कोरा शब्द। ठोस तो आदमी है। मगर तरकीब काम कर जायेगी। तुम आदमियों को तो घृणा करोगे और मनुष्यता की पूजा करोगे। ऐसा भी हो सकता है कि मनुष्यता के प्रेम के पीछे मनुष्यों की हत्या करनी पड़े तो कर दो। ऐसा ही तो कर रहे हैं लोग। ईश्वर के भक्त हिंदू मुसलमान को मार डालते हैं, मुसलमान हिंदुओं को मार डालते हैं। वे कहते हैं ईश्वर की सेवा कर रहे हैं। ईश्वर कोरा शब्द है। और जो ठोस है उसे तुम विनाश कर रहे हो। और शाब्दिक प्रत्यय मात्र के लिए, धारणा मात्र के लिए। आदमी बहुत बेईमान है।

अब तुम कहते हो, व्यक्ति की पूजा न करके व्यक्तित्व की पूजा करें। व्यक्तित्व का मतलब क्या होता है? कहां पाओगे व्यक्तित्व को? व्यक्ति से अलग कहीं व्यक्तित्व होता?

तुम कहते हो, नर्तक की हम फिक्र नहीं करते; हम तो नृत्य की पूजा करेंगे। लेकिन नर्तक के बिना नृत्य कहीं होता? और जब भी तुम नृत्य की पूजा करने जाओगे तो तुम नर्तक को पाओगे। भाव-भंगिमायें नर्तन की, नर्तक की भाव-भंगिमायें हैं।

व्यक्तित्व की पूजा का क्या अर्थ होता है? लेकिन मैं तुमसे कह नहीं रहा कि तुम व्यक्ति की पूजा करो। मैं तुमसे इतना ही कह रहा हूं, शब्दों से बचो, ठोस को ग्रहण करो। ठोस है वास्तविक, यथार्थ। शाब्दिक जाल में मत पड़ो।

अगर बुद्ध तुम्हें मिल जायें तो तुम यह मत कहना कि हम तो बुद्धत्व की पूजा करेंगे। बुद्धत्व को कहां पाओगे? जब भी पाओगे बुद्ध को पाओगे। और बुद्धत्व अगर कहीं मिलेगा तो बुद्ध की छाया की तरह मिलेगा। तुम कहते हो हम छाया की पूजा करेंगे; मूल की पूजा न करेंगे। तुम कहते हो हम तो जिनत्व की पूजा करेंगे, महावीर से हमें क्या लेना-देना!

लेकिन जरा गौर करना, कहीं अहंकार तुम्हें धोखा तो नहीं दे रहा है? अहंकार तर्क तो नहीं खोज रहा है? अहंकार यह तो नहीं कर रहा है इंतजाम, कि देखो पूजा से बचा दिया, समर्पण से बचा दिया, विनम्र होने से बचा दिया। अब तुम खोजते रहो बुद्धत्व को, जिनत्व को। कहीं मिलेगा नहीं, तो झुकने का कोई सवाल ही न आयेगा।

अब यह बड़े मजे की बात है, जीवन के सामान्य तल पर तुम ऐसा नहीं करते। जब तुम किसी स्त्री के प्रेम में पड़ते हो तो तुम स्त्रीत्व को प्रेम नहीं करते, तुम स्त्री के प्रेम में पड़ते हो। तब तुम यह धोखा नहीं करते। तुम यह नहीं कहते कि हम तो स्त्रीत्व को प्रेम करेंगे; स्त्री को क्या करना! कहते हो? तब तुम यह नहीं कहते। तब तो तुम स्त्री के प्रेम में पड़ते हो। तब तुम नहीं शब्द की बात करते, तब तुम सत्य को पकड़ते हो।

जहां तुम पकड़ना चाहते हो वहां तुम सत्य को पकड़ते हो; जहां तुम नहीं पकड़ना चाहते, जहां तुम बचना चाहते हो, वहां तुम शब्दों के जाल फैलाते हो।

जब प्रेम करोगे तो स्त्री को प्रेम करना होगा, स्त्रीत्व को प्रेम नहीं किया जाता। जब प्रेम करना होगा तो गुरु को प्रेम करना होगा, गुरुत्व को प्रेम नहीं किया जाता। और जब करना होगा समर्पण तो बुद्ध को करना होगा, बुद्धत्व को समर्पण नहीं किया जाता।

ये शब्द-जाल हैं। और अहंकार बड़ा कुशल है इन जालों में अपने को छिपा लेने के लिए। तुम इस अहंकार से सावधान रहना।

टूटा सिलसिला
फुनगी पर फूल खिला
झरा तो गहरा
अपना ही मूल मिला

वह जो फुनगी पर फूल खिला है, अगर गिर जाये, झर जाये तो अपनी ही जड़ें पा लेगा। तुम अगर झुक जाओ तो अपना ही मूल पा लोगे।

टूटा सिलसिला
फुनगी पर फूल खिला
झरा तो गहरा
अपना ही मूल मिला

झुको, समर्पण करो तो तुम स्वयं को ही पा लोगे। माध्यम होगा कोई, पाओगे तुम अपने को ही--किसी के द्वार से। गुरु द्वार है। गुरुद्वारा। उसके द्वार से तुम अपने पर ही लौट आओगे।

पांचवां प्रश्न:

मैं किसी को पुकारता हूं, जिसे जानता नहीं
मैं हूं किसी के प्यार में, जिसे पहचानता नहीं
यह क्या, इंतजार के बाद भी आता है इंतजार
या समझूं कि मैं ही तुझे पुकारता नहीं?

सत्य की खोज या सत्य का प्रेम या सत्य की जिज्ञासा उसकी ही खोज है, जिसे हम जानते नहीं। उसकी ही पुकार है, जिसे हम पहचानते नहीं।

जिसे तुम पहचानते हो वह तो झूठा हो गया। जिसे तुम जानते हो उससे तो कुछ भी न पाया। उसे तो जान भी लिया और क्या पाया? अनजान की तलाश है। अपरिचित की खोज है। अज्ञात की यात्रा है।

ऐसा ही है। स्मरण रखना, रोज-रोज जो जान लो उसे छोड़ देना है, ताकि यात्रा दूषित न हो पाये और यात्रा शुद्ध रूप से अनजान, अपरिचित, अज्ञात की बनी रहे। जो जान लो उसे झाड़ देना। वह कचरा हो गया। ज्ञात को इकट्ठा मत करना। ज्ञात से ही तो बुद्धि बनती है। ज्ञात को इकट्ठा ही मत करना। ज्ञात की धूल इकट्ठी मत होने देना, ताकि तुम्हारा चित्त का दर्पण अज्ञात को झलकाता रहे; अज्ञात को पुकारता रहे। अज्ञात का आवाहन और चुनौती आती रहे।

ठीक ऐसा ही है। और यह भी खयाल रखना, यह जो परमात्मा की खोज है यह शुरू तो होती है, पूरी कभी नहीं होती। पूरी हो भी नहीं सकती, क्योंकि परमात्मा अनंत है। इसे तुम पूरा कैसे करोगे? इसे चुकाओगे कैसे? इसे तौलते रहो, तौलते रहो, तौल न पाओगे। अमाप है।

इसलिए रोज-रोज लगेगा पास आये, पास आये; और फिर भी तुम पाओगे, दूर के दूर रहे। रोज-रोज लगेगा मंजिल यह आयी, यह आयी, और फिर भी लगेगा इंतजार जारी है। मगर इंतजार में बड़ा मजा है। मिलने से भी ज्यादा मजा है।

यह जो सतत खोज है और सतत कशिश और खिंचाव है, और यह सतत पुकार है, इसका मजा तो देखो। इसका रस तो अनुभव करो। अगर परमात्मा मिल जाये तो फिर क्या करोगे? बुलाता रहे, दौड़ाता रहे, छिपता रहे। यह छिया-छी चलती रहे। इंतजार जारी रहे।

लेकिन हम बड़े सीमित हैं। हम कहते हैं, अब जल्दी मिल जाओ। इंतजार नहीं चाहिए। हमें पता नहीं हम क्या मांग रहे हैं। अगर यात्रा पूर्ण हो जाये तो फिर मृत्यु के अतिरिक्त कुछ बचता नहीं। पूर्णता तो मृत्यु है। इसलिए यात्रा अपूर्ण रहेगी। क्योंकि मृत्यु है ही नहीं जगत में। अस्तित्व मृत्युविहीन है। यह यात्रा शाश्वत है।

परमात्मा मंजिल नहीं है, यात्रा है। इस तरह सोचना शुरू करो। उसे तुम मंजिल की तरह सोचो ही मत; अन्यथा भ्रांति खड़ी होती है। यात्रा की तरह सोचो। और तब एक नया...नया ही रूप प्रकट होता है। तब कल नहीं है रस; आज है, अभी है, यहीं है। तब ऐसा नहीं है कि किसी दिन पहुंचेंगे और फिर मजा करेंगे, परमात्मा में डूबेंगे और रस लेंगे। प्रतिपल मार्ग पर, राह पर, पक्षियों के गीत में, हवा के झोंकों में, चांदत्तारों में, राह की धूल में--सब जगह परमात्मा लिप्त है। सब जगह मौजूद है।

यात्रा है परमात्मा, मंजिल नहीं।

इंतजार बड़ा मधुर है। और यह इंतजार अनंत है। हमारा मन तो मांगता है, जल्दी हो जाये। हमारा मन बड़ा अधीर है।

इतना मत दूर रहो गंध कहीं खो जाये
आने दो आंच रोशनी न मंद हो जाये

देखा तुमको मैंने कितने जन्मों के बाद
चंपे की बदली-सी धूप-छांह आसपास
घूम-सी गई दुनिया यह भी न रहा याद
बह गया है वक्त लिये सारे मेरे पलाश
ले लो ये शब्द, गीत भी न कहीं सो जाये
आने दो आंच रोशनी न मंद हो जाये

उत्सव से तन पर सजा ललचाती महराबें
खींच ली मिठास पर क्यों शीशे की दीवारें
टकराकर डूब गईं इच्छाओं की नावें
लौट-लौट आयी हैं मेरी सब झनकारें
नेह फूल नाजुक न खिलना बंद हो जाये
आने दो आंच रोशनी न मंद हो जाये

क्या कुछ कमी थी मेरे भरपूर दान में?
या कुछ तुम्हारी नजर चूकी पहचान में
या सब कुछ लीला थी तुम्हारे अनुमान में
या मैंने भूल की तुम्हारी मुस्कान में
खोलो देहबंध, मन समाधि-सिंधु हो जाये
आने दो आंच रोशनी न मंद हो जाये

हम बड़े डरे हैं। हम बड़े भयभीत हैं। हम जल्दी मुट्ठी बांध लेना चाहते हैं। हमारा मन बड़ा आतुर है, अशांत है--जल्दी हो।

और कहीं ऐसा न हो कि हम खोजते ही रह जायें, मिलना ही न हो और यह जीवन खो जाये। कहीं ऐसा न हो कि हम राह की धूल में ही दबे रह जायें और तेरे द्वार तक कभी पहुंच ही न पायें। कहीं ऐसा न हो कि हम भटकते ही रहें चांदत्तारों में और तेरा घर ही न मिले।

हमारी परमात्मा को देखने की मौलिक दृष्टि भ्रांत है। परमात्मा कहीं और है जहां हमें पहुंचना है, इसमें ही भूल हो रही है। परमात्मा यहां है, अभी है, यहीं है; कहीं और नहीं। यह हमारा ध्यान--"कहीं और" हमें चूका रहा है। परमात्मा यहां है, अभी है, यहीं है। चारों ओर घना है। उसी की रोशनी है। उसी की छाया है। उसी के हरे वृक्ष हैं। उसी के नदी-झरने हैं। उसी के पर्वत-पहाड़ हैं। वही झांक रहा तुम्हारी आंखों से। वही बोलता मुझमें, वही सुनता तुममें। कहीं दूर नहीं है, कहीं पार नहीं है, कहीं और नहीं है; यहीं है, अभी है।

तुम जागो। डूबो इस रस में। इस उत्सव को भोगो। और प्रतिपल क्षुद्र में भी उसे देखो। भोजन करो तो याद रखो, अन्नं ब्रह्म। पानी पीयो, याद रखो, झरने सर-सरितायें सब उसकी हैं। कंठ में तृप्ति हो, याद रखो वही तृप्त हुआ। गले मिलो प्रियजन के, स्मरण रखो वही आलिंगन कर रहा। ऐसे दूर मंजिल की तरह देखोगे तो दुखी होओगे, परेशान होओगे। और उस परेशानी में जो मौजूद है चारों तरफ, उससे चूकते चले जाओगे।

फिर दोहराता हूं--परमात्मा मंजिल नहीं, मार्ग है; गंतव्य नहीं, गति है; आखिरी पड़ाव नहीं, सभी पड़ाव उसके हैं। आखिरी कोई पड़ाव ही नहीं है। यात्रा ही यात्रा है। अनंत यात्रा है।

खुलता है हरेक रहस्य का दरवाजा दूसरे रहस्य में
प्रत्येक वर्तमान की इति है अशेष भविष्य में

और हर रहस्य का दरवाजा खोलकर जब तुम गहरे उतरोगे, फिर पाओगे नया एक दरवाजा। एक पहाड़ के उत्तुंग शिखर को लांघोगे, सोचोगे आ गये घर, अब और चलना नहीं; पहुंचोगे शिखर पर, पाओगे और बड़ा शिखर प्रतीक्षा कर रहा है। और बड़े शिखर की पुकार आ गई।

और ऐसा ही सदा होता रहेगा। शुभ है। सौभाग्य है कि यात्रा थकती नहीं, चुकती नहीं, अंत नहीं आता। यह खेल शाश्वत है, अनवरत है।

तूफान और आंधी हमको न रोक पाये
वो और थे मुसाफिर जो पथ से लौट आये
संकल्प कर लिया तो संकल्प बन गये हम
मरने के सब इरादे जीने के काम आये
कुछ कल्पनायें जोड़ीं, कुछ भावनायें तोड़ीं
दीवानगी में हमने क्या-क्या न गुल खिलाये
आबाद हो गई हैं दुख-दर्द की सभायें
एक साज की बदौलत सौ तार थरथराये
जाने कहां बसेंगे, जाने कहां लुटेंगे
बादल ने बाग सींचे, बिजली ने घर जलाये

संतोष को सफर में संतोष मिल रहा है
हम भी तो हैं तुम्हारे, कहने लगे पराये
संतोष को सफर में संतोष मिल रहा है
हम भी तो हैं तुम्हारे, कहने लगे पराये

जिस दिन तुम यात्रा को ही गंतव्य मान लोगे उस दिन कोई पराया नहीं, कोई अन्य नहीं, सभी अनन्य हैं। जिस दिन प्रतिपग मंजिल मालूम होने लगेगी उस दिन धन्यभागी हुए; उस दिन प्रभु तुम पर बरसा; उस दिन तुमने पहचाना; उस दिन प्रत्यभिज्ञा हुई।

आखिरी प्रश्न: प्यारे भगवान श्री, हम्मा को बिना सवाल किये जो जवाब दिया, उसे सुनकर मुझे कितनी खुशी हुई यह मैं शब्दों में नहीं कह सकती। आपका आशीर्वाद बरस रहा है।

पूछा है जसु ने।

पहली बात: सवाल हो तो तुम पूछो या न पूछो, जवाब मैं देता हूं। सवाल न हो तो तुम कितना ही पूछो, जवाब मैं नहीं देता। सवाल पूछने से ही जरूरी नहीं है कि सवाल हो। कुछ लोगों को पूछने की बीमारी है। वे बिना पूछे रह नहीं सकते। जैसे खाज खुजलाती है, ऐसी उनकी बीमारी है। वे पूछते चले जाते हैं। उनको इतनी भी फुरसत नहीं होती कि वे सुनें कि उत्तर क्या दिया। जब मैं उत्तर दे रहा होता हूं तब वे दूसरे प्रश्न बनाते। तब वे सोचते हैं, कल क्या पूछना है। वे आगे पूछने में लग जाते हैं।

कुछ हैं, जिनका धंधा पूछना है। उन्हें उत्तर से कोई प्रयोजन नहीं है। उन्हें प्रश्न पूछना है। उन्हें प्रश्न पूछने में ही सारा रस है।

कुछ हैं, जो उत्तर के लिए प्यासे हैं और पूछते नहीं। उनके लिए भी मैं उत्तर देता हूं। सच तो यह है, वे ही उत्तर पाने के लिए ज्यादा योग्य पात्र हैं। जो पूछते भी नहीं और प्रतीक्षा करते हैं। उत्तर की आकांक्षा है लेकिन प्रश्न पूछने की खुजलाहट नहीं। राह देखते हैं। समय होगा जब, ऋतु आयेगी, ठीक-ठीक घड़ी होगी तो भरोसा है उनका कि मैं उत्तर दूंगा।

इसलिए कभी-कभी मैं उनके भी उत्तर देता हूं, जिन्होंने नहीं पूछा। और रोज ही उन बहुतों के उत्तर नहीं देता हूं जो पूछते चले जाते हैं।

असली सवाल पूछना नहीं है, असली सवाल उत्तर को ग्रहण करने की क्षमता। असली सवाल उत्तर को स्वीकार करने की हिम्मत, साहस।

हम्मा ने पूछा नहीं था, उत्तर मैंने दिया। हम्मा को पूछने का कोई आग्रह नहीं है। सुनते हैं। वर्षों से सुनते हैं। चुपचाप सुनते रहते हैं। सुनते हैं--कभी रोते देखता हूं उनको आंसुओं से भरे, कभी हंसते देखता हूं। कभी प्रफुल्लित, कभी आनंदित। लेकिन गहरे सुनते हैं।

ऐसे जो भी सुननेवाले हैं, उनका कोई भी प्रश्न होगा, वे पूछें या न पूछें, मैं उत्तर दूंगा। उनका प्रश्न हो, बस इतना काफी है। ठीक समय पर उन्हें उनका उत्तर मिल जायेगा।

जसु ने कहा कि उसे सुनकर यह बहुत खुश हुई। जसु जानती है। हम्मा उसके पति हैं। जसु उन्हें पहचानती है। वह चौंकी होगी, मैंने जो उत्तर दिया। क्योंकि उसे खयाल है कि हम्मा की जरूरत क्या है। हम्मा को निकट से उसने जाना है। उनकी छाया से परिचित है। उनसे लंबे जीवन का संबंध है।

तो सुनकर चौंकी होगी जब मैंने उत्तर दिया, क्योंकि पूछा नहीं था और दिया। और जो उत्तर दिया वह वही था, जिसकी उन्हें जरूरत थी। और यह भी मैं आपको कहूं--हम्मा ने तो नहीं पूछा था, जसु ने भी नहीं पूछा था, लेकिन जसु पूछना चाहती थी। कहना चाहती थी कि मैं हम्मा को कुछ कहूं। वह उसके प्राणों में था; इसलिए आनंदित हुई।

निश्चित ही शब्दों में कहना मुश्किल है। उसने कहा, आपका आशीर्वाद बरस रहा है।

जब तुम मेरे उत्तर को ग्रहण करने में समर्थ हो जाओगे तो तुम अचानक पाओगे कि आशीर्वाद बरसा। मैं उत्तर नहीं दे रहा हूं, आशीष ही दे रहा हूं। जो इन्हें उत्तर समझते हैं, वे चूक गये। ये कोई शाब्दिक सिद्धांत और शास्त्र की बातें नहीं हैं, जो यहां हो रही हैं। यहां कोई शब्दजाल नहीं है। यहां किन्हीं सिद्धांतों की रचना नहीं की जा रही है और न कोई संप्रदाय गढ़े जा रहे हैं। यहां कोई बौद्धिक उत्तर नहीं खोजे जा रहे।

अगर तुमने मेरा उत्तर ग्रहण कर लिया, अगर तुमने हृदय में उसे जाने दिया, तीर की तरह चुभने दिया तो तुम अनुभव करोगे कि आशीर्वाद की वर्षा हुई। तुम पर निर्भर है।

वर्षा होती है, तुम उल्टे घड़े की तरह भी हो सकते हो। घड़ा रखा रहे खुले आंगन में, वर्षा होती रहे, पानी न भरेगा। तुम फूटे घड़े की भांति भी हो सकते हो। सीधा भी रखा रहे, वर्षा भी होती रहे, पानी भरता भी रहे, फिर भी बचे न।

तुम सीधे और बिन फूटे घड़े की भांति जब स्वीकार करोगे, तुम्हारे मन और मन के विचारों के छिद्र, जब जो मैं तुम्हें दे रहा हूं उसे बहा न ले जायेंगे, जब तुम मुझे निर्विचार होकर सुनोगे तो अछिद्र होकर सुनोगे; उस समय तुम्हारे घड़े में कोई छेद नहीं है। और जब तुम मुझे प्रेम, समर्पण से सुनोगे, श्रद्धा से सुनोगे तो तुम्हारा घड़ा सीधा है। तो वर्षा भर जायेगी। तुम्हें आशीर्वाद का अनुभव होगा।

ये उत्तर नहीं हैं, आशीष ही हैं।

ढोलक ठनके रूठी मन के
रूठे प्रीतम के ढिग बेंसे
घन बरसे
घन बरसे, भीग धरा गमके
घन बरसे
रसधार गिरे, दिन सरस फिरे
पपीहा तरसे न पिया तरसे
घन बरसे
घन बरसे, भीग धरा गमके
घन बरसे

और घन बरस रहा है। रसधार बह रही है। तुम्हारे हाथ में है, कितना पी लो।

तुम मुझे दोषी न ठहरा सकोगे। न पीया तो तुम्हीं जिम्मेवार हो। तुम मुझे उत्तरदायी न ठहरा सकोगे। तुम यह न कह सकोगे कि घन नहीं बरसे थे; कि रसधार नहीं बही थी। यह उपाय तुम्हारे लिए नहीं है। तुम यह न कह सकोगे कि हम बुद्ध के समय में नहीं थे और क्राइस्ट के समय में नहीं थे, और कृष्ण की बांसुरी को हमने नहीं सुना, क्या करें! तुम यह न कह सकोगे। बांसुरी बज रही है। नहीं सुने तो तुम ही सिर्फ जिम्मेवार हो। सुन लिया तो निश्चित ही आशीर्वाद की वर्षा हो जायेगी। और आशीर्वाद मुक्ति है। आशीष में निर्वाण है।

प्रार्थना में शक्ति है ऐसी
कि वह निष्फल नहीं जाती
जो अगोचर कर चलाते हैं जगत को
उन करों को प्रार्थना नीरव चलाती

प्रार्थना से सुनो। प्रार्थनापूर्ण होकर सुनो।

जो अगोचर कर चलाते हैं जगत को
उन करों को प्रार्थना नीरव चलाती

अगर तुमने प्रार्थनापूर्वक सुन लिया तो तुम्हारे प्राणों से जो भी उठेगा वह परमात्मा को चलाने लगता है। वही तो आशीर्वाद का अर्थ है। उसकी तरफ से आशीर्वाद बरसने लगते हैं।

प्रार्थना में शक्ति है ऐसी

कि वह निष्फल नहीं जाती
जो अगोचर कर चलाते हैं जगत को
उन करों को प्रार्थना नीरव चलाती

कहना भी नहीं पड़ता। बिन कहे भी प्रार्थना पहुंच जाती। बस, हृदय प्रार्थना भरा हो, समर्पित हो, श्रद्धा से आपूर हो, बाढ़ आयी हो प्रेम की तो अनंत आशीषों की वर्षा उपलब्ध होगी। आशीष तो बरस ही रहे हैं; तुम्हारा हृदय खुला होगा और तुम उन्हें पाने में समर्थ हो जाओगे।

इसे याद रखना। यहां कोई बौद्धिक निर्वचन नहीं चल रहा है। यहां तो अनिर्वचनीय की बात हो रही है। उसे पाने के लिए भाव ही एकमात्र पात्रता देता है, विचार नहीं। भाव से समझोगे तो ही समझोगे। विचार से समझा तो चूक सुनिश्चित है।

आज इतना ही।

तिरसठवां प्रवचन

महाशय को कैसा मोक्ष!

असमाधेरविक्षेपान्न मुमुक्षुर्न चेतरः।
निश्चित्य कल्पितं पश्यन् ब्रह्मैवास्ते महाशयः।। २०४।।
यस्यांतः स्यादहंकारो न करोति करोति सः।
निरहंकारधीरेण न किंचिद्धि कृतं कृतम्।। २०५।।
नोद्विग्नं न च संतुष्टमकर्तृस्पंदवर्जितम्।
निराशं गतसंदेहं चित्तं मुक्तस्य राजते।। २०६।।
निर्ध्यातुं चेष्टितुं वापि यच्चित्तं न प्रवर्तते।
निर्निमित्तमिदं किंतु निर्ध्यायति विचेष्टते।। २०७।।
तत्त्वं यथार्थमाकर्ण्य मंदः प्राप्नोति मूढ़ताम्।
अथवाऽऽयाति संकोचममूढ़ः कोऽपि मूढ़वत्।। २०८।।
एकाग्रता निरोधो वा मूढैरभ्यस्यते भृशम्।
धीराः कृत्यं न पश्यन्ति सुप्तवत् स्वपदे स्थिताः।। २०९।।

असमाधेरविक्षेपान्न मुमुक्षुर्न चेतरः।
निश्चित्य कल्पितं पश्यन् ब्रह्मैवास्ते महाशयः।।

पहला सूत्रः "महाशय पुरुष विक्षेपरहित और समाधिरहित होने के कारण न मुमुक्षु है, न गैर-मुमुक्षु है; वह संसार को कल्पित देख ब्रह्मवत रहता है।"

अत्यंत क्रांतिकारी सूत्र है।

साधारण जन परमात्मा के संबंध में कुछ पूछते हैं तो मात्र कुतूहल होता है। कुतूहल से कोई कभी सत्य तक पहुंचता नहीं। कुतूहल तो बड़ी ऊपर-ऊपर की बात है; बचकाना है। जैसे छोटे बच्चे पूछते हैं। जो सामने आ गया उसी के संबंध में प्रश्न पूछ लेते हैं। उत्तर मिले तो ठीक, न मिले तो ठीक। क्षण भर बाद प्रश्न भी भूल जाता है, उत्तर भी भूल जाता है। हवा की तरंग थी, आयी और गई। उत्तर दिया तो ठीक, न दिया तो भी कोई चिंता नहीं। उत्तर की कोई गहरी चाह न थी। ऐसे ही प्रश्न उठ गया था। प्रश्न उठाना मन का स्वभाव है।

कुतूहल से कोई कभी सत्य तक नहीं पहुंचता।

कुतूहल से गहरी जाती है जिज्ञासा। जिज्ञासा खोजी बनाती है। जिज्ञासा का अर्थ है, खोजकर रहूंगा। प्रश्न मूल्यवान है। और जब तक इस प्रश्न का उत्तर न मिले तब तक जीवन में अर्थ न होगा।

सुकरात ने कहा है, अपरीक्षित जीवन जीने योग्य नहीं है। जिस जीवन का ठीक से परीक्षण न किया हो और जिस जीवन का अर्थबोध न हो, उसे भी क्या जीना! फिर आदमी और पशु के जीवन में भेद क्या? ठीक विश्लेषण, ठीक अर्थबोध, ठीक प्रयोजन का पता चल जाये कि क्यों हूं, तभी जीने का कुछ सार है।

कुतूहल ऊपर-ऊपर है। जिज्ञासा गहरे जाती है, लेकिन फिर भी पूरे प्राणों तक नहीं जाती। अगर जीवन दांव पर लगाना हो तो जिज्ञासु दांव पर नहीं लगाता। उससे भी गहरी जाती है मुमुक्षा।

मुमुक्षा का अर्थ होता हैः प्रश्न का उत्तर जीवन से भी ज्यादा मूल्यवान है।

जिज्ञासा का अर्थ होता हैः जीवन को जीने के लिए प्रश्न का उत्तर जरूरी है, लेकिन जीवन से ज्यादा मूल्यवान नहीं। अगर कोई कहे कि जीवन को देकर उत्तर मिल सकता है तो क्या सार रहा? जीने के लिए ही उत्तर चाहिए था। अगर जीवन ही गंवाकर उत्तर मिले, उस उत्तर का क्या करेंगे?

मुमुक्षा का अर्थ होता है: मोक्ष की आकांक्षा, परम स्वातंत्र्य की प्रबल अभीप्सा। अब अगर जीवन भी दांव पर लग जाये तो कुछ हर्ज नहीं। इतना महत्वपूर्ण है प्रश्न का उत्तर कि जीवन भी गंवाया जा सकता है; जीवन को भी दांव पर लगाया जा सकता है।

मुमुक्षा और गहरे जाती है। लेकिन यह सूत्र कहता है...ऐसा सूत्र दूसरे किसी शास्त्र में उपलब्ध नहीं है। इसलिए मैं कहता हूं, सूत्र बड़ा क्रांतिकारी है। अष्टावक्र के सूत्र कुछ ऐसे हैं कि किसी शास्त्रकार ने कभी इतने गहरे जाने का साहस नहीं किया।

अष्टावक्र कहते हैं, "महाशय पुरुष विक्षेपरहित और समाधिरहित होने के कारण न मुमुक्षु है और न गैर-मुमुक्षु है।"

लेकिन एक ऐसी भी दशा है, जहां मुमुक्षा भी नहीं ले जाती। वहां जाने के लिए मुमुक्षा भी छोड़ देनी पड़ती है। तो समझें।

मुमुक्षा का अर्थ होता है: स्वतंत्र होने की आकांक्षा, मोक्ष की आकांक्षा। लेकिन मोक्ष का स्वभाव ऐसा है कि कोई भी आकांक्षा हो तो मोक्ष संभव न हो पायेगा। मोक्ष की आकांक्षा भी बाधा बन जायेगी। आकांक्षा मात्र बंधन बन जाती। धन की आकांक्षा तो बंधन बनती ही है, प्रेम की आकांक्षा तो बंधन बनती ही है, लेकिन मोक्ष की आकांक्षा, परमात्मा को पाने की आकांक्षा भी अंतिम बंधन है; आखिरी बंधन है। बड़ा स्वर्णनिर्मित है बंधन; हीरे-जवाहरातों जड़ा है। धन्यभागी हैं वे जिनके हाथों में मोक्ष का बंधन पड़ा हो, लेकिन है तो बंधन ही। यह खयाल कि मैं मुक्त हो जाऊं, बेचैनी पैदा करेगा। और यह खयाल कि मैं मुक्त हो जाऊं, वर्तमान से अन्यथा ले जायेगा, भविष्य में ले जायेगा। यह तो वासना का फैलाव हो गया। नई वासना है, पर है वासना। सुंदर वासना है, पर है वासना।

और बीमारी कितनी ही बहुमूल्य हो, हीरे-जवाहरातों जड़ी हो, इससे क्या फर्क पड़ता है? चाहे चिकित्सा-शास्त्री कहते हों कि बीमारी साधारण बीमारी नहीं है राजरोग है, सिर्फ राजाओं-महाराजाओं को होता है तो भी क्या फर्क पड़ता है? राजरोग भी रोग ही है।

मोक्ष की वासना भी वासना है। इसे समझने की थोड़ी चेष्टा करें। आदमी बंधा क्यों है? बंधन कहां है? बंधन इस बात में है कि हम जो हैं, उससे हम राजी नहीं, कुछ और होना है। तो जो हैं उसमें हमारी तृप्ति नहीं। जहां हम हैं, जैसे हम हैं, वहां हमारा उत्सव नहीं। कहीं और होंगे तो नाचेंगे। यहां आंगन टेढ़ा है। आज तो नहीं नाच सकते। आज तो सुविधा नहीं है, कल नाचेंगे, परसों नाचेंगे। कल आता नहीं। कल ही नहीं आता तो परसों तो आयेगा कैसे? रोज जब भी समय मिलता है वह आज होता है। और जो भी पास आ जाता है वही आंगन टेढ़ा हो जाता है।

हमारे जीवन की धारा भविष्योन्मुख है। कल स्वर्ग में, मोक्ष में, कहीं और सुख है; यहां तो दुख है। वासना का अर्थ है: यहां दुख, सुख कहीं और। सुख सपने में, यथार्थ में दुख। तो हम सपने को उतार लाने की चेष्टा करते हैं। स्वर्ग को उतारना है पृथ्वी पर या अपने को ले जाना है स्वर्ग में। लेकिन आज और अभी और यहीं तो महोत्सव नहीं रच सकता। आज तो बांसुरी नहीं बजेगी। और जिसकी बांसुरी आज नहीं बज रही वही बंधन में है। उसकी बांसुरी कभी नहीं बजेगी। या तो आज, या कभी नहीं। या तो अभी, या कभी नहीं।

बंधन का अर्थ है, हम भविष्य से बंधे हैं। बंधन का अर्थ है, भविष्य की वासना की डोर हमें खींचे लिये जाती है और हम आज मुक्त नहीं हो पाते। भविष्य हमें बांधे है। वर्तमान मुक्त करता है। वर्तमान मुक्ति है। मोक्ष अभी है और संसार कल है।

तुमने अक्सर उल्टी बात सुनी है। तुमने सुना है, संसार यहां है और मोक्ष वहां है। मैं तुमसे कहना चाहता हूं मोक्ष यहां है, संसार वहां है। अभी जो मौजूद है यही मुक्ति है। अगर तुम इस क्षण में लीन हो जाओ, तल्लीन

हो जाओ, डुबकी लगा लो, तुम मुक्त हो गये। तुम अगर कल की डोर में बंधे खिंचते रहो तो तुम्हारे पैर में जंजीरें पड़ी रहेंगी। तुम कभी नाच न पाओगे। तुम्हारे जीवन में कभी आभार का, आशीष का क्षण न आ पायेगा।

अष्टावक्र कहते हैं, इसका अर्थ हुआ कि मुमुक्षा भी बंधन है। मोक्ष की आकांक्षा भी तो कल में ले जाती है। मोक्ष तो कभी होगा, मरने के बाद होगा, मृत्यु के बाद होता है। अगर जीवन में भी होगा तो आज तो नहीं होना है। बड़ी साधना करनी होगी, बड़े हिमालय के उत्तुंग शिखर चढ़ने होंगे। गहन अभ्यास, महायोग, तप, जप, ध्यान, फिर कहीं अंतिम फल की भांति आयेगा मोक्ष। प्रतीक्षा करनी होगी। धीरज रखना होगा। श्रम करना होगा। मोक्ष फल की तरह आयेगा।

मोक्ष फल नहीं है, मोक्ष तुम्हारा स्वभाव है। इसलिए मोक्ष कल नहीं है, मोक्ष अभी है, यहीं है। तो मुमुक्षा बाधा बनेगी। जो मुमुक्षा से भरा है वह कुतूहल से तो बेहतर है, जिज्ञासा से भी बेहतर है, लेकिन उससे भी ऊपर एक दशा है। मुमुक्षु के पार, वीत-मुमुक्षा की भी एक दशा है; जहां अब यह भी आकांक्षा न रही कि मोक्ष हो, स्वतंत्रता हो; जहां सारी आकांक्षाएं आमूल गिर गईं। संसार की तो मांग रही ही नहीं, परमात्मा की भी मांग न रही; मांग ही न रही।

उस घड़ी तुम्हारे भीतर जो घटता है वही मोक्ष है। उस घड़ी तुम जिसे जानते हो वही परमात्मा है। उस घड़ी तुम्हारे भीतर जो प्रकाश फैलता है--क्योंकि अब उस प्रकाश को बाधा डालनेवाली कोई दीवाल न रही--वही प्रकाश तुम्हारा स्वभाव है।

तो मुमुक्षा के भी ऊपर जाना है।

"महाशय पुरुष...।"

महाशय का अर्थ होता है, जिसका आशय विराट हो गया, महा-आशय। जिसका आशय आकाश जैसा हो गया, जिसके आशय पर कोई सीमा न रही।

हम तो साधारणतः किसी को भी महाशय कहते हैं। शिष्टाचार तो ठीक है, लेकिन महाशय तो कभी किसी बुद्ध को, अष्टावक्र को, क्राइस्ट को, कृष्ण को, लाओत्सु को ही कहा जा सकता है। सभी को महाशय नहीं कहा जा सकता। कहते हैं, शिष्टाचार है--इस आशा में कि शायद जो आज महाशय नहीं है, कल हो जायेगा। यह हमारी शुभाकांक्षा है, लेकिन सत्य नहीं है।

महाशय का अर्थ होता है: जिसके ऊपर आकांक्षा की कोई सीमा न रही। आकांक्षा से मुक्त जिसका आकाश हो गया वही महाशय है। जिसको अब आकांक्षा का क्षितिज बांधता नहीं। जिस पर अब कोई सीमा ही नहीं है, असीम है। जिसके भीतर की चैतन्य-दशा अब किसी चीज की प्रतीक्षा नहीं कर रही है।

क्योंकि जिसकी तुम प्रतीक्षा कर रहे हो उसी से अटके हो। जिसकी तुम प्रतीक्षा कर रहे हो उसी पर तुम्हारा सुख-दुख निर्भर है। जिसकी तुम प्रतीक्षा कर रहे हो, मिलेगा तो प्रसन्न हो जाओगे, नहीं मिलेगा तो विषाद से भर जाओगे। पर-निर्भरता जारी रहेगी। मोक्ष का अर्थ है, अब मैं पर-निर्भर नहीं। अब मैं अपने में पूरा हूं, समग्र हूं। अब किसी भी बात की जरूरत नहीं है। जो होना था, जो चाहिए था, है; सदा से है। ऐसी महाशय की दशा।

"महाशय पुरुष विक्षेपरहित...।"

फिर विक्षेप का कोई कारण ही नहीं है। विक्षेप तो पड़ता ही इसलिए है कि हमारी कोई आकांक्षा है। तुम्हें धन चाहिए तो विक्षेप पड़ेगा, क्योंकि और लोगों को भी धन चाहिए। संघर्ष होगा, प्रतिस्पर्धा होगी, दुश्मनी होगी, प्रतियोगिता होगी। पक्का नहीं है कि तुम पा पाओगे। क्योंकि और भी प्रतियोगी हैं, बलशाली प्रतियोगी हैं। यह कोई सहज होनेवाला नहीं है। तुम्हें पद चाहिए तो भी उपद्रव होगा, विक्षेप खड़े होंगे। हजार बाधायें आ जायेंगी।

तुम्हें अगर मोक्ष चाहिए तो भी तुम पाओगे कि हजार बाधायें हैं। शरीर बाधायें खड़ी करता है, मन बाधायें खड़ी करता है। वासनायें उत्तुंग हो जाती हैं, कामनायें दौड़ती हैं। हजार-हजार विक्षेप खड़े हो जाते हैं। बांधो, सम्हालो, गांठ बंधती नहीं, खुल-खुल जाती है। इधर से सम्हालो, उधर से बिखर जाता। एक तरफ से बसा पाते हो कि दूसरी तरफ से उजड़ जाता है। ऐसे उधेड़बुन में जीवन बीतता।

जब तक तुम्हारे मन में आकांक्षा है तब तक विक्षेप भी रहेगा। विक्षेप तो ऐसा ही है जैसे कि आकांक्षा की आंधी चलती हो तो शांत झील पर लहरें उठती हैं। वे लहरें विक्षेप हैं। जब तुम्हारे चित्त पर आकांक्षा की आंधी चलती है तो लहरें उठती हैं। लहरों से मत लड़ो। लहरों से लड़कर कुछ सार न होगा। यहीं फर्क है अष्टावक्र और पतंजलि का।

पंतजलि कहते हैं, "चित्तवृत्तिनिरोध।" चित्त की वृत्तियों का निरोध करने से योग हो जाता है। यही उनकी समाधि की परिभाषा है--वृत्तियों का निरोध। वृत्ति का मतलब हुआ: तरंग, लहर।

अष्टावक्र कहते हैं, वृत्तियों का कैसे निरोध करोगे? आंधी चल रही है, अंधड़ उठा है, तूफान, बवंडर है। तुम छोटी-छोटी ऊर्मियों को शांत कैसे करोगे? एक-एक लहर को शांत करते रहोगे, अनंत काल तक भी न हो पायेगा। आंधी चल ही रही है, वह नई लहरें पैदा कर रही है।

अष्टावक्र कहते हैं, लहरों को शांत करने की फिक्र छोड़ो, आंधी से ही छुटकारा पा लो। और आंधी तुम ही पैदा कर रहे हो, यह मजा है। आकांक्षा की आंधी, वासना की आंधी, कामना की आंधी। कामना की आंधी चल रही है तो लहरें उठती हैं। अब तुम लहरों को शांत करने में लगे हो। मूल को शांत कर दो, तरंगें अपने से शांत हो जायेंगी। तुम वासना छोड़ दो।

यह तो तुमसे औरों ने भी कहा है, वासना छोड़ दो। लेकिन अष्टावक्र का वक्तव्य परिपूर्ण है। और कहते हैं वासना छोड़ दो, वे कहते हैं संसार की वासना छोड़ दो, प्रभु की वासना करो। तो आंधी का नाम बदल देते हैं। सांसारिक आंधी न रही, असांसारिक आंधी हो गई। धन की आंधी न रही, ध्यान की आंधी हो गई; पर आंधी चलेगी। लेबल बदला, नाम बदला, रंग बदला, लेकिन मूल वही का वही रहा। पहले तुम मांगते थे इस संसार में पद मिल जाये, अब परमपद मांगते हो। मगर मांग जारी है। और तुम भिखमंगे के भिखमंगे हो।

अष्टावक्र कहते हैं छोड़ ही दो। संसार और मोक्ष, ऐसा भेद मत करो। आकांक्षा आकांक्षा है; किसकी है, इससे भेद नहीं पड़ता। धन मांगते, पद मांगते, ध्यान मांगते, कुछ फर्क नहीं पड़ता। मांगते हो, भिखमंगे हो। मांगो मत। मांग ही छोड़ दो।

और मांग छोड़ते ही एक अपूर्व घटना घटती है; क्योंकि जो तुम्हारी ऊर्जा मांग में नियोजित थी, हजारों मांगों में उलझी थी वह मुक्त हो जाती है। वही ऊर्जा मुक्त होकर नाचती है। वही नृत्य महोत्सव है। वही नृत्य है परमानंद, सच्चिदानंद।

कुछ ऊर्जा धन पाने में लगी है, कुछ पद पाने में लगी है, कुछ मंदिर में जाती है, कुछ दूकान पर जाती है। कुछ बचता है थोड़ा-बहुत तो ध्यान में लगाते हो, गीता-कुरान पढ़ते हो, पूजा-प्रार्थना करते हो; ऐसी जगह-जगह उलझी है तुम्हारी ऊर्जा।

अष्टावक्र कहते हैं, महाशय हो जाओ, सब जगह से छोड़ दो। आकांक्षा का स्वभाव समझ लो। आकांक्षा का स्वभाव ही तरंगें उठा रहा है।

कभी तुमने खयाल किया? एक घड़ी को बैठ जाओ, कुछ भी न चाहते हो, उस क्षण कोई तरंग उठ सकती है? कुछ भी न चाहते हो, कोई मांग न बचे तो लहर कैसे उठेगी? तुम कहते हो हम ध्यान करने बैठते हैं लेकिन विचार चलते रहते हैं। उसका कारण यही है कि तुम ध्यान करने तो बैठे हो लेकिन तुम आकांक्षा का स्वरूप नहीं समझे हो। हो सकता है तुम ध्यान करने इसीलिए बैठे होओ कि कुछ आकांक्षायें पूरी करनी हैं, शायद ध्यान से पूरी हो जायें।

मेरे पास लोग आते हैं, वे पूछते हैं, अगर ध्यान करेंगे तो सुख-संपत्ति मिलेगी? सुख-संपत्ति मिलेगी, अगर ध्यान करेंगे? अब यह आदमी ध्यान कैसे करेगा? यह तो सुख-संपत्ति चाहने के लिए ही ध्यान करना चाहता है। अब जब यह ध्यान करने बैठे और सुख-संपत्ति के विचार उठने लगें तो आश्चर्य क्या है? फिर यह कहेगा कि ध्यान नहीं होता क्योंकि विचार चलते हैं। जब ध्यान करने बैठता है तो विचार चलते हैं, तो सोचता है विचार नहीं चलने चाहिए, तो विचारों को रोकता है। और ध्यान करने बैठा ही आकांक्षा से है। क्षुद्र आशय--सुख-संपत्ति!

कोई कहता है ध्यान करेंगे तो स्वास्थ्य मिलेगा? कोई कहता है ध्यान करेंगे तो सफलता हाथ लगेगी? अभी तो विफलता ही विफलता लगती है। ध्यान से जीवन का ढंग बदल जायेगा? सफलता हाथ लगेगी?

अब यह जो आदमी सफलता की आकांक्षा से बैठा पालथी मारकर, आंख बंद करके, इसके भीतर सफलता की तरंगें तो चल ही रही हैं। उलझा रहता था बाजार में तो शायद इतना पता भी न चलता था। अब खाली बैठ गया है सिद्धासन लगाकर, अब कोई काम भी न रहा, तरंगें और शुद्ध होकर चलेंगी। उलझन भी न रही कोई। मगर आंधी तो बह रही है। अंधड़ तो जारी है।

अष्टावक्र कहते हैं, आकांक्षा की आंधी तुम्हें अंधा बनाये हुए है। आकांक्षा की आंधी ने तुम्हें सीमा दे दी है। तुम वही हो गये हो, जो तुमने आकांक्षा पाल ली है। अगर तुम वस्तुओं को संग्रह करने में लगे हो तो अंततः तुम पाओगे, तुम वस्तुओं जैसे ही गये-बीते हो गये हो। किसी कचरेघर में फेंक देने योग्य हो गये। अगर तुमने धन चाहा तो तुम एक दिन पाओगे, कि तुम भी धन के ठीकरे हो गये। जो तुम चाहोगे वैसे ही हो जाओगे। क्योंकि चाह तुम्हारी सीमा बनती है। और चाह का रंग-रंगत तुम पर चढ़ जाती है। तुम वैसे ही हो जाते हो।

तुमने कभी देखा--कंजूस आदमी की आंखें देखीं? उनमें वैसी ही गंदी घिनौनी छाया दिखाई पड़ने लगती है जैसे घिसे-पिटे सिक्कों पर होती है। तुमने कंजूस, कृपण आदमी का चेहरा देखा? उसमें वैसा ही चिकनापन दिखाई पड़ने लगता है घिनौना जैसा सिक्कों पर होता है। घिसते हैं एक हाथ, दूसरे हाथ, उधार चलते रहते हैं, वैसा ही घिनौनापन उसके चेहरे पर आ जाता है।

तुम जो चाहोगे, तुम्हारी जो चाह होगी वही तुम्हारी मूर्ति बन जायेगी। कामी की आंख देखी? उसका चेहरा देखा? उसके चेहरे पर कामवासना प्रगाढ़ होकर मौजूद हो जाती है। उसके मन की भी पूछने की जरूरत नहीं, उसका चेहरा ही बता देगा। क्योंकि चित्त पूरा का पूरा चेहरे पर उंड़ला आता है। चेहरा तो दर्पण है। जो आकांक्षा भीतर चलती है, चेहरे पर उसके चिह्न बन जाते हैं, मिटते नहीं।

बड़ी पुरानी सूफी कथा है। एक सम्राट ने--जो मूसा का भक्त था--अपने चित्रकार को कहा, राज्य के बड़े से बड़े चित्रकार को, कि मूसा की एक तस्वीर बना दो मेरे दरबार में लगाने को। वह चित्रकार गया। मूसा जीवित थे। वह मूसा के पास रहा, महीनों में तस्वीर पूरी की, फिर वह आया। और वह तस्वीर दरबार में लगी तो राजा नाखुश हुआ। उसने कहा, यह तस्वीर मूसा की नहीं मालूम पड़ती। चेहरे पर तो ऐसे लगता है, जैसे कोई हत्यारा हो। चेहरे पर तो ऐसे लगता है जैसे कोई कामी हो। चेहरे पर शांति की, ध्यान की, समाधि की झलक नहीं है। कुछ भूल हो गई।

चित्रकार ने कहा, मैंने कुछ भूल नहीं की है। जैसा चेहरा था वैसा ही अंकित कर दिया है। सम्राट मूसा को मिलने गया और उसने मूसा को कहा कि मुझे बड़ी बेचैनी होती है उस चित्र को देखकर। वह आपका चित्र नहीं मालूम पड़ता। उस पर तो ऐसा लगता है, जैसे किसी हत्यारे की छाया हो। आंख में जैसे किसी गहन वासना का रोग हो। चेहरे पर आपकी परम आभा और दीप्ति नहीं है।

मूसा हंसने लगे। और मूसा ने कहा, चित्रकार ठीक है। वह मेरे पहले दिनों की कथा है। वे चिह्न गहरे पड़ गये हैं, मिटते नहीं। मैं बदल गया लेकिन चेहरे पर जो चिह्न पड़ गये हैं वे मिटते नहीं। वह मेरे आधे जीवन की कहानी है। अब मैं ध्यान भी करता हूं, अब मैं शांत भी हूं, अब कोई वासना भी नहीं रही है, अब कोई संघर्ष भी

नहीं है, हिंसा, क्रोध भी नहीं है लेकिन वह सब था। चित्रकार ने ठीक पकड़ा। उसने चमड़ी के भीतर पकड़ लिया। मैं भी जानता हूं। जब मैं गौर से आईने में अपने को देखता हूं, गौर से देखता हूं तो मुझे भी दिखाई पड़ती हैं वे छायायें, जो कभी थीं; जिनके चिह्न पड़े रह गये हैं। सांप निकल गया है लेकिन राह पर लकीर पड़ी रह गई है। रस्सी जल गई है, एंठ रह गई है।

तुम जो हो--तुम्हारी वासना की छाप, वही हो तुम।

महाशय का अर्थ है, जिसने अंतिम वासना भी छोड़ दी। मोक्ष को पाने की वासना भी छोड़ दी। ऐसा व्यक्ति विक्षेपरहित। और अनूठी बात सुनते हो?

अष्टावक्र कहते हैं, "और समाधिरहित।"

जब विक्षेप ही न रहा तो समाधि की क्या जरूरत? समाधि तो ऐसी है जैसे औषधि। रोग है तो औषधि की जरूरत है। रोग ही न रहा तो औषधि की क्या जरूरत? समाधि का अर्थ होता है समाधान। समस्या है तो समाधान चाहिए। समस्या ही न रही तो समाधान की क्या जरूरत! तो यह बड़ा अनूठा सूत्र है--

असमाधेरविक्षेपान्न मुमुक्षुर्न चेतरः।

न तो मुमुक्षा है, न न-मुमुक्षा है। न समाधि है, न विक्षेप।

"ऐसा जो महाशय है वह संसार को कल्पित देखकर ब्रह्मवत रहता है।"

इसे भी खयाल रखना। अष्टावक्र कहते हैं, एक ही बात घटती है उस व्यक्ति को, इस महाशय की अवस्था में--संसार स्वप्नवत हो जाता है। नहीं कि मिट जाता है; खयाल रखना, मिट नहीं जाता। अनेकों को भ्रांति है कि ज्ञानी के लिए संसार मिट जाता है। मिट नहीं जाता, स्वप्नवत हो जाता है। होता है, लेकिन एक बात निश्चित हो जाती है ज्ञानी के भीतर कि आभास मात्र है।

तुमने देखा? एक सीधी लकड़ी को पानी में डाल दो, तिरछी दिखाई पड़ने लगती है। तुम जानते हो सीधी है। खींचकर निकालो, सीधी है। फिर पानी में डालो, अब तुम भलीभांति जानते हो कि पानी में जाकर तिरछी होती नहीं, सिर्फ दिखाई पड़ती है; फिर भी तिरछी ही दिखाई पड़ती है। पानी में हाथ डालकर लकड़ी को छूकर देख लो, सीधी की सीधी है; मगर दिखाई तिरछी पड़ती है। अब तुम जानते हो कि लकड़ी सीधी है, तिरछी नहीं, सिर्फ आभास होता है। किरण के नियमों के कारण, प्रकाश के नियमों के कारण तिरछी दिखाई पड़ती है। हवा के माध्यम और पानी के माध्यम में फर्क है, इसलिए तिरछी दिखाई पड़ती है।

ज्ञानी को संसार मिट नहीं जाता, स्वप्नवत हो जाता है।

निश्चित्य कल्पितं...।

एक ही बात निश्चित हो जाती है कि कल्पना मात्र है।

पश्यन् ब्रह्मैवास्ते महाशयः।

और ऐसा देखकर...।

पश्यन् ब्रह्मैव आस्ते।

और ऐसा देखकर महाशय, ज्ञानी ब्रह्म में ठहर जाता। अपने ब्रह्मस्वरूप में लीन हो जाता।

पश्यन् ब्रह्मैवास्ते।

डुबकी लगा लेता है। ठहर जाता। केंद्र पर आ जाता। कल्पना है संसार, ऐसा जानकर अब कल्पना के पीछे दौड़ता नहीं।

राम की कथा में तुमने देखा? स्वर्णमृग के पीछे दौड़ गये। कथा मधुर है। कोई भी जानता है कि मृग सोने के होते नहीं। कल्पना ही होगी। धोखा ही होगा। सपना ही होगा। भ्रांति ही होगी। फिर भी राम स्वर्णमृग को खोजने चले गये। ऐसे गये स्वर्णमृग को खोजने, जो नहीं था उसे खोजने गये, सीता को गंवा बैठे।

यह कथा मधुर है, अर्थपूर्ण है। ऐसे ही प्रत्येक व्यक्ति के भीतर का राम स्वर्णमृगों को खोजने चला गया है। और ऐसे ही प्रत्येक व्यक्ति के भीतर के राम ने अपनी सीता को गंवा दिया, अपने स्वभाव को गंवा दिया। जो अपना था वह गंवा दिया। उसके पीछे चले गये हैं, जो नहीं है; जो सिर्फ दिखाई पड़ता है। जिस दिन तुम्हें दिखाई पड़ जायेगा कि स्वर्णमृग वास्तविक नहीं है, धोखा है, भ्रमजाल है, उसी क्षण तुम लौट आओगे। उसी क्षण अपने में ठहर जाओगे।

पश्यन् ब्रह्मैव आस्ते।

उसी क्षण तुम अपने में खड़े हो जाओगे। थिर! स्वस्थ! अब तुम कहीं नहीं जाते। अब तुम जानते हो। ऐसा नहीं है कि स्वर्णमृग अब दिखाई न पड़ेंगे; अब भी दिखाई पड़ेंगे। सुबह की धूप में उनका स्वर्ण चमकेगा। उनका बुलावा अब भी आता रहेगा लेकिन अब तुम जानते हो, एक बात निश्चित हो गई कि संसार कल्पना मात्र है।

जब भी किसी नये सांचे में हम अपने को ढाल रहे हैं
सोना-मढ़े दांत के नीचे जैसे कीड़े चाल रहे हैं

गंगा-जमनी चमक दांत की सिरज रही उन्मुक्त ठहाका
र्‌ा की चंचल आंखों में काजल-सा है चिह्न धुआं का
विज्ञापन परिचय के सिगरेटों के दौर उछाल रहे हैं

ये सारे संदर्भ स्वयं में अर्थहीन हो गये जतन के
जैसे रत्नजड़ी तलवारें शयनकक्ष में राजभवन के
हीन ग्रंथियों के विषरस को कंचन के घट पाल रहे हैं

अपने को अभिव्यक्त न कर पाने का दर्द और बढ़ जाता
जब कोई मुसकान व्यथा की सोने का पानी चढ़ जाता
राजा के लक्षण हों जिसमें, हम ऐसे कंगाल रहे हैं
राजा के लक्षण हों जिसमें, हम ऐसे कंगाल रहे हैं

लक्षण तो राजा के हैं, भीख मांग रहे हैं। भिक्षापात्र हाथ में लिये खड़े हैं सम्राट। राम सोने के मृगों में भटक गये हैं और गंवा रहे हैं अपनी सीता को, अपनी आत्मा को।

इतना ही ज्ञानी को हो जाता है। बस इतनी ही घटना घटती है--छोटी कहो, बड़ी कहो, इतनी ही घटना घटती है कि वासना मात्र, कामना मात्र मेरी ही कल्पना का जाल है, ऐसा निश्चय हो जाता है। ऐसा निश्चय होते ही अब न कोई समाधि की जरूरत है, न कोई मुमुक्षा की जरूरत है, न कोई चित्त की तरंगों को शांत करने की। अब चित्तवृत्ति-निरोध नहीं करना है। हो गया निरोध अपने से। मूल को हटा दिया। आंधी को हटा दिया।

और खयाल रखना, आंधी दिखाई नहीं पड़ती, तरंगें दिखाई पड़ती हैं। जो दिखाई पड़ता है उससे लड़ने का मन होता है। जो दिखाई नहीं पड़ता उसकी तो याद ही नहीं आती। इसलिए अष्टावक्र पतंजलि से गहरे जाते हैं। पतंजलि की बात सीधी-साफ है। लहरें दिखाई पड़ रही हैं चित्त की, इनको शांत करो। यम से, नियम से, आसन से, धारणा से, ध्यान से, समाधि से इन्हें शांत करो। इनके शांत हो जाने से कुछ होगा। योग का मार्ग है चित्त के साथ संघर्ष का।

पतंजलि पूरे होते हैं समाधि पर; और अष्टावक्र की यात्रा ही शुरू होती है समाधि को छोड़ने से। जहां अंत आता है पतंजलि का वहीं प्रारंभ है अष्टावक्र का। अष्टावक्र आखिरी वक्तव्य हैं। इससे ऊपर कोई वक्तव्य कभी दिया नहीं गया। यह इस जगत की पाठशाला में आखिरी पाठ है। और जो अष्टावक्र को समझ ले, उसे फिर कुछ समझने को शेष नहीं रह जाता। उसने सब समझ लिया। और जो अष्टावक्र को समझकर अनुभव भी कर ले, धन्यभागी है। वह तो फिर ब्रह्म में रम गया।

जब तक तुम आशय में बंधे हो तब तक तुम्हारी सीमा है। जिस दिन तुम आशय से मुक्त हुए उसी दिन सीमा से मुक्त हुए। सीमा तुम्हारी धारणा में है। तुमने खींच रखी है। यह जो लक्ष्मण रेखा तुमने खींच रखी है, किसी और ने नहीं खींची है, तुम्हीं ने खींच रखी है। और अब तुम निकल नहीं पाते। अब तुम कहते हो, लक्ष्मण रेखा के बाहर कैसे जायें? डर लगता है। घबड़ाहट होती है।

गुरजिएफ ने लिखा है कि वह अपने युवावस्था के दिनों में मध्य एशिया के बहुत-से देशों में यात्रा करता रहा सत्य की खोज में। कुर्दिस्तान में उसने एक अनूठी बात देखी। पहाड़ी इलाका है। स्त्रियों को, पुरुषों को बड़ी मेहनत करनी पड़ती है तब कहीं दो जून रोटी जुटा पाते हैं। तो बच्चों को घर छोड़ जाते हैं। जंगल-पहाड़ में लकड़ी काटने जाते हैं, काम करने जाते हैं। तो उन्होंने एक तरकीब निकाल रखी है। वे बच्चों के चारों तरफ चॉक की मिट्टी से एक लकीर खींच देते हैं, गोल घेरा बना देते हैं। और बच्चे को कह देते हैं, बाहर तू निकल न सकेगा, चाहे कुछ भी कर।

छोटे बचपन से यह बात कही जाती है। धीरे-धीरे बच्चा इसका अभ्यस्त हो जाता है। बस लकीर खींच दो कि वह उसके भीतर बैठा रहता है। जब गुरजिएफ ने यह देखा तो वह बड़ा हैरान हुआ कि दुनिया में यह कहीं नहीं होता, लेकिन कुर्दिस्तान में होता है। और मां-बाप बड़े निश्चिंत जंगल चले जाते हैं अपना काम करने दिन भर। बच्चा रोये, गाये, कुछ भी करे, लेकिन लकीर के बाहर नहीं निकलता।

और बच्चे की तो बात छोड़ दो, जो कि इसी का अभ्यास बचपन से किया जाता है; अगर किसी बड़े आदमी के आसपास भी तुम लकीर खींच दो और कह दो, तुम बाहर न जा सकोगे तो वह भी एकदम खड़ा रह जाता है। वह चेष्टा भी करता है तो ऐसा लगता है, कोई अदृश्य दीवाल उसे धक्के दे रही है।

कहीं कोई दीवाल नहीं है, धारणा की दीवाल है। वह निकलने नहीं देती। कभी-कभी कोई चेष्टा भी करता है तो धक्का खाकर गिर पड़ता है। और धक्का खाने को कुछ भी नहीं है, अपना ही भाव--कि निकलना हो नहीं सकता।

यह तुम चकित होओगे जानकर, लेकिन सम्मोहन के ये सामान्य नियम हैं। और इसी तरह तुम्हारा जीवन भी न मालूम कितनी लकीरों से ग्रसित है। वे लकीरें तुमने खींची हैं--तुम्हारे मां-बाप ने, समाज ने, व्यवस्था ने। मगर वे लकीरें सब झूठी हैं। पर एक बार खींच दी तो बस, खिंच गई।

किसी ने लकीर खींच दी कि तुम हिंदू हो। अब तुम हिंदू हो गये। अब तुम हिंदू से इधर-उधर हिल न पाओगे। दीवाल खड़ी है। निकलने की कोशिश की तो चोट खाकर गिरोगे। किसी ने लकीर खींच दी कि तुम मुसलमान हो, तुम मुसलमान हो गये। किसी ने लकीर खींच दी कि जैन हो तो जैन हो गये। ये सब लकीरें हैं। और इन सबके कारण तुम क्षुद्र आशय हो गये हो। तुम्हारा महाशय रूप खो गया। लोग जो कह देते हैं वही तुम हो गये हो।

मनोवैज्ञानिक कहते हैं, अगर किसी बच्चे को घर में भी कहा जाये कि तू गधा है; स्कूल में भी कहा जाये कि तू गधा है, वह गधा हो जाता है। जब इतने लोग कहते हैं तो ठीक ही कहते होंगे। धारणा मजबूत हो जाती है। धारणा एक बार गहरी बैठ जाये तो उखाड़ना बहुत मुश्किल हो जाता है।

तुम जरा जांचना; कितनी-कितनी धारणाओं से तुम भरे हो। और इन धारणाओं को तुमने ही सम्हाल रखा है। अब कोई पकड़े भी नहीं है। तुम्हारे मां-बाप भी तुम्हारे पास नहीं होंगे। समाज भी अब तुम्हें कोई रोज तुम्हारे आसपास लकीरें नहीं खींच रहा है। खींच चुका; बात आयी-गई हो गई। लेकिन अब तुम जीये चले जा रहे हो। अब तुम अपनी ही लकीरों में बंद हो। और तब तुम्हारे जीवन में वह महाक्रांति नहीं घट पाती तो आश्चर्य नहीं।

फूल डाली से गुंथा ही झर गया
घूम आयी गंध पर संसार में
फूल तो बंधा है; गंध मुक्त है।
फूल डाली से गुंथा ही झर गया

घूम आयी गंध पर संसार में

गंध जैसे बनो। महाशय बनो। फूल जैसे मत रहो, सीमित मत रहो।

था गगन में चांद, लेकिन चांदनी
व्योम से लाई उसे भू पर उतार
बांस की जड़ बांसुरी को एक स्वर
कर गया गुंजित जगत के आरपार
और मिट्टी के दिये को एक लौ
दे गई चिर ज्योति चिर अंधियार में
घूम आयी गंध पर संसार में
फूल डाली से गुंथा ही झर गया
बद्ध सीमा में समुंदर था मगर
मेघ बन उसने छुआ जा आसमान
तृप्ति बंधी एक जल-कण में रही
विष अमृत का दे गई पर प्यासदान
कूल जो लिपटा हुआ था धूल से
संग लहर के तैर आया धार में
घूम आयी गंध पर संसार में
फूल डाली से गुंथा ही झर गया

तुम पर निर्भर है। फूल बने-बने ही गिर जाओगे, सूख जाओगे या असीम बनोगे--महाशय! गंध की तरह मुक्त! कि घूम आओ सारे संसार में।

गंध बन जाओ तो मैं कहता हूं संन्यासी हो गये। फूल रह जाओ तो गृहस्थ। फूल यानी सीमा है, घर है। फूल यानी परिभाषा है, बंधन है, दीवाल है। संन्यास यानी गंध जैसे मुक्त। सब दिशायें खुल गईं। सारी हवाएं तुम्हारी हुईं। सारा आकाश तुम्हारा हुआ।

"जिसके अंतःकरण में अहंकार है, वह जब कर्म नहीं करता है तो भी करता है। और अहंकाररहित धीरपुरुष जब कर्म करता है तो भी नहीं करता है।"

यस्यांतः स्यादहंकारो न करोति करोति सः।
निरहंकारधीरेण न किंचिद्धि कृतं कृतम्।।

अहंकार है तो तुम कुछ न करो तो भी कर्म हो रहा है। क्योंकि अहंकार का अर्थ ही यह भाव है कि मैं कर्ता हूं। और अगर अहंकार गिर गया तो तुम लाख कर्म करो तो भी कुछ नहीं हो रहा है। क्योंकि अहंकार के गिरने का अर्थ है कि परमात्मा कर्ता है, मैं नहीं।

इस बात को खयाल में लेना। ऊपर-ऊपर से भागने से कुछ भी नहीं होता।

मुझे एक गांव में जाना पड़ा। गांव में एक बाबाजी आये हुए थे। लोगों ने कहा कि देखिये, बाबाजी कुछ भी नहीं करते, बस दिन भर बैठे रहते हैं। मैंने भी देखा, बैठे थे भभूत इत्यादि लगाये हुए, बड़े-बड़े टीका लगाये हुए, धूनी रमाये हुए। तो मैंने कहा, भभूत तो लगाते होंगे, टीका इत्यादि तो लगाते होंगे, तुम कहते, बाबाजी कुछ भी नहीं करते? कुछ तो करते ही होंगे। कुछ न करना तो असंभव है। पालथी मारकर बैठे हैं, यह भी कर्म हो गया। जंगल भागकर जाओ तो भागना कृत्य हो गया। उपवास करो तो कृत्य हो गया। रात सोओ मत, जागते रहो तो कृत्य हो गया। जीने का नाम कृत्य है। जब तक जी रहे हो, कुछ तो करोगे।

और मैंने कहा, यह भभूत इत्यादि किसलिए रमाये बैठे हैं? ये तुम्हारी राह देख रहे हैं। ये उनकी राह देख रहे हैं कि जो भभूत की पूजा करते हैं वे आते होंगे। चरण छुएंगे, पैसे चढ़ायेंगे। ये तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहे हैं। और कोई आ जायेगा धनीमानी तो गांजा-भांग का भी इंतजाम करेगा।

वे आदमी चौंक गये, जो मुझसे कह रहे थे। कहने लगे, आपको कैसे पता चला कि बाबाजी गांजा पीते हैं? पीते तो हैं। मैंने कहा, करेंगे क्या यहां बैठे-बैठे? यह धूनी रमाये बैठे हैं, करेंगे क्या? किसलिए रमाये बैठे हैं! कुछ तो कर ही रहे हैं। तुम कहते, बाबाजी कुछ भी नहीं करते।

जब तक जीवन है तब तक कृत्य है: एक बात तो खयाल में ले लेना। कर्म से भागने का तो कोई उपाय नहीं। जो भी करोगे वही कर्म होगा। इसलिए कर्म से तो भागने की चेष्टा करना ही मत। उसमें तो धोखा बढ़ेगा। असली काम दूसरा है: अहंकार से मुक्त होना। कर्ता के भाव को गिराना। कर्म को गिराने से कुछ अर्थ नहीं है, कर्ता को जाने दो; फिर जो परमात्मा तुमसे करवायेगा, करवा लेगा। नहीं करवायेगा, नहीं करवायेगा। खाली बिठाना होगा, खाली बिठा देगा। चलाना होगा, चलाता रहेगा। लेकिन तुम न अपने हाथ से चलोगे, न अपने हाथ से बैठोगे।

इसको ही तो अष्टावक्र ने कहा, सूखे पत्ते की भांति। हवायें जहां ले जायें, सूखा पत्ता चला जाता है। वह नहीं कहता है कि मुझे पूरब जाना है, यह क्या अत्याचार हो रहा है कि तुम मुझे पश्चिम लिये जा रहे हो? मुझे पूरब जाना है। सूखा पत्ता कहता ही नहीं कि मुझे कहां जाना है। पूरब तो पूरब, पश्चिम तो पश्चिम। ले जाओ तो ठीक, न ले जाओ तो ठीक। छोड़ दो राह पर तो वहीं घर। उठा लो आकाश में तो गौरवान्वित नहीं होता, गिरा दो कूड़े-करकट में तो अपमानित नहीं होता।

सूखे पत्ते की भांति जो हो गया वही ज्ञानी है। और इस दशा को ही निरहंकार कहा है।

यस्यांतः स्यादहंकारो न करोति करोति सः।

"जिसके अंतःकरण में अहंकार है, वह जब कर्म नहीं करता तो भी करता है।"

तुम अगर खाली बैठोगे अहंकार से भरे हुए तो तुम्हारे मन में यह भाव उठेगा कि देखो, कुछ भी नहीं कर रहे हैं। तुम्हारे मन में यह भाव उठेगा कि देखो, सारी दुनिया मरी जा रही है आपाधापी में; हमको देखो कैसे शांत बैठे हैं! ध्यान कर रहे हैं। जब कि सारी दुनिया धन के पीछे मरी जा रही है, हम ध्यान कर रहे हैं; हमको देखो! यह नया कर्ता का भाव पैदा हुआ।

अष्टावक्र कहते हैं, अगर अहंकार है तो कर्म है। कर्ता है तो कर्म है। और अगर अहंकाररहित धीरपुरुष बन गये तुम, तो फिर कर्म भी हो तो भी कर्म नहीं।

निरहंकारधीरेण न किंचिद्धि कृतं कृतम्।

फिर तुम करते रहो तो भी कर्म नहीं होता।

मूल ध्यान रखना: कर्म को अकर्म में नहीं बदलना है, कर्ता को अकर्ता में बदलना है।

कर्म को अकर्म में बदलने के कारण इस देश में बड़ी मूढ़ता पैदा हुई। जमाने भर के काहिल, सुस्त, अपंग महात्मा हो गये। जिनके जीवन में कोई ऊर्जा न थी और जिनके जीवन में कोई मेधा न थी ऐसे व्यर्थ के लोग परमहंस मालूम होने लगे। इस देश में बड़ी दुर्घटना घटी है। प्रतिभाहीन, सृजनशून्य, जड़बुद्धि लोग समादर को उपलब्ध हो गये। क्योंकि कर्म छोड़ दिया। और कर्म छोड़ने से यह पूरा देश दीन और दरिद्र हो गया। और कर्म छोड़ने से इस देश की सारी महिमा खो गई।

तुम अगर गरीब हो, भूखे हो, बीमार हो, परेशान हो, सारी दुनिया में दीन-हीन हो तो तुम्हीं जिम्मेदार हो, कोई और नहीं। तुम्हारे महात्मा जिम्मेवार हैं और तुम्हारे तथाकथित पंडित जिम्मेवार हैं, पुरोहित जिम्मेवार हैं, जिन्होंने गलत व्याख्या दी। और जिन्होंने समझाया कि कर्म छोड़ दो। जिन्होंने कहा, संन्यास अकर्म का नाम है।

संन्यास अकर्म का नाम नहीं है। सुनो अष्टावक्र को। काश, तुमने अष्टावक्र को सुना होता तो इस देश की कथा दूसरी होती। करो; सिर्फ अहंकार न भरे बस, मैं-भाव न रहे। परमात्मा को करने दो तुम्हारे भीतर से। तुम बांस की पोंगरी हो जाओ। गाने दो उसे गीत। गुनगुनाने दो। जो वह गुनगुनाना चाहे, गुनगुनाने दो। छोड़ दो उसे पूरा स्वतंत्र। कहो कि मैं राजी हूं। तू जो गुनगुनाये, गुनगुनाऊंगा। तुझे जो करवाना हो, करूंगा।

जीवन कर्म है, ऊर्जा है। इसलिए अकर्म तो ठीक नहीं। अकर्म तो आत्मघात है। हां, अकर्ता बन जाओ तो तुम्हारे कर्म में परमात्मा की महिमा प्रवाहित होने लगती है। तुम्हारा कर्म भी दैदीप्यमान हो जाता है। तुम्हारे कर्म में एक ओज, एक दूसरे ही आयाम की झलक आ जाती है। तुम्हारे छोटे-से कर्म के आंगन में परमात्मा का आकाश झांकने लगता है।

ऐसा व्यक्ति सारी स्थितियों में परमात्मा को देखने लगता है। सारे कृत्यों में उसकी ही छाया पाने लगता है। और जो भी करता है, अनुभव करता है, उसी के लिए समर्पित है।

यह कलियों की आनाकानी
यह अलियों की छीनाजोरी
यह बादल की बूंदाबांदी
यह बिजली की चोराचोरी
यह काजल का जादूटोना
यह पायल का सादीगोना
यह कोयल की कानाफूसी
यह मैना की सीनाजोरी
हर क्रीड़ा तेरी क्रीड़ा है
हर पीड़ा तेरी पीड़ा है
मैं कोई खेलूं खेल
दांव तेरे ही साथ लगाता हूं
हर दर्पण तेरा ही दर्पण है
मैं कोई खेलूं खेल
दांव तेरे ही साथ लगाता हूं
हर दर्पण तेरा ही दर्पण है

फिर सारा रहस्य, सारी लीला परमात्मा की है। फिर न भागना है, न कुछ वर्जना है, न कुछ त्यागना है। त्यागना है एक बात; उसे तो हम त्यागते नहीं। हम सब त्यागने को तैयार हैं। धन छोड़ने को तैयार हैं, पद छोड़ने को तैयार हैं, पत्नी-बच्चे छोड़ने को तैयार हैं। एक चीज छोड़ने को तैयार नहीं--मैं को छोड़ने को तैयार नहीं।

इसलिए तुम बड़े चकित होओगे; आदमी ने धन छोड़ दिया, पद छोड़ दिया, मकान छोड़ दिया, घर-गृहस्थी छोड़ दी, वस्त्र छोड़ दिये, नग्न खड़ा हो गया। और देखो भीतर--दहकता अंगारा अहंकार का। वह नहीं छूटा जो छूटना था। तुम्हारे संन्यासी में जैसा अहंकार प्रकट होता है वैसा किसी में प्रकट नहीं होता। अगर तुम्हें असली शुद्ध अहंकारी देखने हों तो साधु-संन्यासी, मुनि-महाराजों में देखना। संसार में तो तुम्हें अशुद्ध अहंकारी मिलेंगे। मिलावट है संसार में बहुत। शुद्ध अहंकारी तुम्हें मंदिरों में, पूजागृहों में मिलेंगे। वहां मिलावट भी नहीं है। वहां बिलकुल शुद्ध अहंकार है, जहर ही जहर है।

छोड़ना है अहंकार, लोग छोड़ते हैं कर्म। कर्म छोड़ना आसान है। कौन नहीं छोड़ना चाहता? सचाई तो यह है, कर्म से तो सभी भागना चाहते हैं। कौन नहीं चाहता कि छुटकारा मिले कर्म से? कर्ता को कोई नहीं छोड़ना चाहता। जिसको कोई नहीं छोड़ना चाहता उसी को छोड़ने में गौरव है।

और आदमी ऐसा है कि हर जगह से अहंकार को बनाने के बहाने खोज लेता है।

मुल्ला नसरुद्दीन को लाटरी में पहला इनाम मिल गया। स्वयं तो पढ़ा-लिखा है नहीं। तो जो स्वयं पढ़े-लिखे नहीं होते उनको अपने बेटे-बच्चों को पढ़ाने की बड़ी धुन होती है। उनके बहाने ही कम से कम पढ़े-लिखों के मां-बाप हो जायें। लाटरी में पैसा हाथ लग गया तो उसको एकदम धुन सवार हुई कि सुपुत्र को खूब पढ़ाना है। किसी ने सलाह दी कि जब पढ़ा ही रहे हो तो विदेशी भाषायें पढ़ाओ। तो मुल्ला ने कहा, यह बिलकुल ठीक सुझाव है। अतः विदेशी भाषा सिखानेवाले विश्वविद्यालय में पहुंचा। उपकुलपति से बोला, मैं अपने पुत्र को विदेशी भाषा सिखाना चाहता हूं। खर्च की फिक्र न करें। जो खर्च होगा, दूंगा। उपकुलपति ने पूछा, महानुभाव,

कौन-सी विदेशी भाषा सिखाना चाहते हैं--फ्रेंच, जर्मन, स्पेनिश, इटालियन? मुल्ला नसरुद्दीन ने कहा, इस सब विस्तार में मत पड़ो। इनमें जो भी सबसे ज्यादा विदेशी हो वही सिखाना चाहता हूं। मेरा बेटा ऐसी-वैसी विदेशी भाषा नहीं सीखेगा, सबसे ज्यादा विदेशी...!

अब सबसे ज्यादा विदेशी क्या होता है? लेकिन अहंकार रास्ते खोजता है। अहंकार को हर जगह प्रथम होना चाहिए। तो एक बड़ी मजे की घटना घटती है, आदमी विनम्रता तक में अहंकार खोज लेता है। वह कहता है, मुझसे विनम्र कोई भी नहीं। मुझसे विनम्र कोई भी नहीं! तो यहां भी अहंकार मजे ले रहा है। यहां भी प्रतिस्पर्धा जारी है।

बस, तुम एक बात छोड़ दो तो संन्यास घट गया। तुम यह मैं-भाव छोड़ दो।

और मजा तो यह है, इसको छोड़कर कुछ छूटेगा नहीं, इसको छोड़कर तुम बहुत कुछ पाओगे। इसको पकड़ने के कारण सब छूटा हुआ है। इसको पकड़ने के कारण तुम दीन-दरिद्र बने हो। इसको पकड़ने के कारण तुम्हें सीमा मिल गई है। इसको छोड़ते ही फूल मुक्त हो जायेगा, गंध हवाओं में उड़ेगी। इसको छोड़ते ही बूंद सागर बनेगी। इसको छोड़ते ही तुम परमात्मा के आवास हो जाओगे।

तीसरा सूत्र--पुनः अत्यंत क्रांतिकारी।

"मुक्त पुरुष का उद्वेगरहित, संतोषरहित, कर्तृत्वरहित, स्पंदरहित, आशारहित और संदेहरहित चित्त ही शोभायमान है।"

नोद्विग्नं न च संतुष्टमकर्तृस्पंदवर्जितम्।
निराशं गतसंदेहं चितं मुक्तस्य राजते।।

एक-एक शब्द को समझने की चेष्टा करें।

"मुक्त पुरुष का उद्वेगरहित...।"

यह तो समझ में आता है। यह तो और शास्त्र भी कहते हैं कि मुक्त पुरुष में कोई उद्वेग न होगा, परम शांति होगी। लेकिन तत्क्षण अष्टावक्र कहते हैं: संतोषरहित।

हम तो आमतौर से सोचते हैं कि जो शांत है वह संतुष्ट होगा। हमारा तो संतोष का अर्थ ही होता है, शांत व्यक्ति को हम कहते हैं, बड़ा संतुष्ट, बड़ा शांत, बड़ा सुखी। संतोषी सदा सुखी। अष्टावक्र कुछ गहरी बात कह रहे हैं। अष्टावक्र कहते हैं, संतोष भी उद्वेग की छाया है। जो उद्विग्न होता है वह कभी-कभी संतुष्ट भी होता है। लेकिन जिसका उद्वेग ही चला गया, अब कैसा संतोष! जहां असंतोष न रहा वहां कैसा संतोष! जब असंतोष ही न रहा तो संतोष भी गया।

तुम जरा ऐसा समझो; जो आदमी सदा से स्वस्थ रहा है, जो कभी बीमार नहीं हुआ, उसे स्वस्थ होने का पता भी नहीं चलता। चल भी नहीं सकता। पता चलने के लिए बीमारी जरूरी है। बीमारी खटके, बीमारी दुख दे तो स्वास्थ्य का पता चलता है। अगर बीमारी हो ही न तो स्वास्थ्य कैसा। जिस दिन बीमारी गई उसी दिन स्वास्थ्य भी गया। स्वास्थ्य और बीमारी साथ-साथ; एक ही सिक्के के दो पहलू। असंतोष-संतोष साथ-साथ। अशांति-शांति साथ-साथ। सुख-दुख साथ-साथ; एक ही सिक्के के दो पहलू।

इसलिए पहली बात जब वे कहते हैं उद्वेगरहित, तो उन्होंने बड़ी महत्वपूर्ण बात कह दी। आगे के लिए अब वे साफ करते हैं, संतोषरहित। क्योंकि कहीं भूल न हो जाये। कहीं तुम यह न समझ लो कि उद्वेगरहित आदमी का अर्थ होता है संतोषी। संतोष वहां कहां? संतोष तो असंतुष्ट आदमी की लक्षणा है।

जब कोई आदमी मेरे पास आकर कहता है कि मैं तो बिलकुल संतुष्ट हूं, तभी मुझे लगता है यह आदमी असंतुष्ट होना चाहिए। नहीं तो यह संतोष की बात ही क्यों कर रहा है? खोज-बीन करता हूं तो फौरन पता चल जाता है, है तो असंतुष्ट, अपने को मना-बुझाकर संतुष्ट कर लिया है। ठोंक- पीटकर, जमा-जमूकर बैठ गये हैं। है

तो असंतोष गहरा, लेकिन अब करें क्या? असहाय हैं। जो कर सकते थे, करके देख लिया; उससे कुछ होता नहीं। उछलकूद बहुत कर ली, अंगूरों तक पहुंच नहीं पाये। अब कहते हैं, खट्टे हैं। अब कहते हैं, हम तो संतुष्ट हैं।

हमें धन ज्यादा नहीं चाहिए। ऐसा नहीं कि नहीं चाहिए, अगर आज पड़ा मिल जाये राह के किनारे तो उठा लेंगे। कहते हैं, हमें कोई पद नहीं चाहिए, लेकिन अगर आज छींका टूटे बिल्ली के भाग्य से और कोई पद सिर पर आ बैठे तो मगन हो जायेंगे। प्रतीक्षा ही कर रहे थे। वह संतोष इत्यादि सब समाप्त हो जायेगा। अगर कुछ मिल जाये तो अभी तैयार हैं। लेकिन सब चेष्टा करके देख ली, मिलता नहीं। अब अहंकार को बचाने का एक ही उपाय है: संतोष।

इसे थोड़ा समझना। संतोष कहीं तुम्हारे अहंकार को बचाने के लिए उपाय न हो। अक्सर तो होता है। क्योंकि दौड़ते हैं और हर बार हारते हैं। तो हर बार पीड़ा होती है और अहंकार टूटता है, बिखरता है। अब दौड़ना ही छोड़ दिया। अब कहने लगे, हमें दौड़ में रस ही नहीं है। हम तो संतोषी आदमी। हमें क्या दौड़ में लेना-देना! यह तो पागलों का काम है कि दौड़ते रहो

यह तरकीब न हो। यह कहीं उपाय न हो। यह आड़ न हो। जानते तो हैं कि दौड़ेंगे तो गिरेंगे। जानते हैं, कि दौड़ेंगे तो जीत न सकेंगे। तो अब दौड़ते ही नहीं। लेकिन मन को समझाने के लिए कोई उपाय तो चाहिए। दूसरों को समझाने के लिए कोई उपाय तो चाहिए--कोई रैशनलाइजेशन, कोई तर्क। अब उन्होंने तर्क खोज लिया है कि हमें रस ही नहीं है।

तुम अपने संन्यासियों में, मुनियों में, साधु-महाराजों में निन्यानबे प्रतिशत ऐसे लोग देखोगे जो हारे हुए लोग हैं। जो जीवन में जीत नहीं सकते थे; जिनके पास प्रतिभा जीतने योग्य थी भी नहीं। वे बैठ गये। वे कहते हैं, अंगूर खट्टे हैं। अब वे दूसरों को समझा रहे हैं। जो दौड़ रहे हैं उनको समझा रहे हैं कि दौड़ो मत। इसमें कुछ सार नहीं है, सब असार है। दौड़ना वे खुद भी चाहते हैं, मगर जानते हैं कि अपनी सामर्थ्य नहीं, अपनी सीमा नहीं। इसलिए अब निंदा करो।

संसार की जो निंदा कर रहा हो, खूब गौर से देखना, कहीं न कहीं उसका संसार में रस अटका होगा। नहीं तो निंदा भी क्यों करेगा? मैं तो तुमसे कहता हूं कि जाओ संसार में, दिल खोलकर जाओ। जूझ लो। देख ही लो, अगर कुछ हो देखने को। पा ही लो अगर कुछ पाने को हो। ऐसे अधूरे मत लौट आना।

अधूरे लौटने का आकर्षण है। बीच में रुक जाने का आकर्षण है। जब देखो कि हारने लगे, और लोग जीतने लगे, जब देखो कि दूसरे पहुंचने लगे, तब बहुत मन होता है ऐसा कि अब यही कह दो कि दौड़ ही बेकार है। कम से कम कुछ तो बचाव हो जायेगा, सुरक्षा हो जायेगी, निंदा कर दो संसार की।

इसलिए अष्टावक्र कहते हैं, ऐसा पुरुष उद्वेगरहित है और संतोषरहित। तत्क्षण जोड़ दिया उन्होंने एक शब्द, जो बड़ा बहुमूल्य है। ऐसे व्यक्ति को तुम यह मत सोच लेना कि उसने संतोष कर लिया है। नहीं, उसने जान ही लिया कि संतोष भी व्यर्थ है, असंतोष भी व्यर्थ है। उसने बीमारी तो फेंकी ही फेंकी, साथ-साथ औषधि और डॉक्टर का प्रिस्क्रिप्शन भी फेंक दिया है। अब उसको रखने की कोई जरूरत नहीं है।

ऐसा व्यक्ति निरुद्विग्न है। अब उसके भीतर कोई उद्वेग नहीं है। अब कोई द्वंद्व नहीं उठता। शांति-अशांति, सुख-दुख, सफलता-असफलता, धर्म-अधर्म, संसार-मोक्ष, ऐसे कोई द्वंद्व नहीं उठते। सारे द्वंद्वों के बाहर। ऐसा व्यक्ति परम आनंद में लीन है।

"कर्तृत्वरहित...।"

और ऐसा व्यक्ति अब नहीं देखता कि मेरा कोई कर्तत्व है, कि मुझे कुछ करना है। जो अस्तित्व करा लेता, हवा का झोंका जहां ले जाता सूखे पत्ते को, चला जाता। अब वह कर्तव्य की भाषा में नहीं बोलता। अब वह यह नहीं कहता, यह मेरा कर्तत्व है। मुझे करना है। मुझे करना ही होगा। मैं नहीं करूंगा तो कौन करेगा? मैं नहीं करूंगा तो संसार का क्या होगा? इस तरह की भाषा नहीं बोलता। वह कहता है, मैं नहीं करूंगा, कोई और

करेगा। क्योंकि जिसको करवाना है, इस विराट का जो लीलाधर है, इस विराट के पीछे छिपी हुई जो ऊर्जा शक्ति है, वह मुझसे नहीं तो किसी और से करा लेगी।

यही तो कृष्ण ने अर्जुन से कहा, तू मत भाग क्योंकि अगर उसे मारना ही है...और तू जान कि जिनको तू यहां खड़े देखता है युद्ध में, वे मर ही चुके हैं। तू सिर्फ निमित्त मात्र है। तू नहीं मारेगा, कोई और मारेगा। यह धनुष गांडीव का अगर तेरे कंधे न चढ़ेगा, किसी और के कंधे चढ़ेगा। तेरे भागने से कुछ भी न होगा। जो होना है, होकर रहेगा। जो होना है वही होगा। इसलिए तू भाग, न भाग, कुछ अंतर नहीं पड़ता। नाहक भागने में तेरा अहंकर निर्मित होगा। तू परमात्मा को समर्पित न हो सका। तूने सब न छोड़ दिया। तूने यह न कह दिया कि जो करवाओ, करूंगा। तूने अपने को बचा लिया। तेरा कर्तापन छोड़ दे।

"संतोषरहित, कर्तृत्वरहित, स्पंदरहित...।"

स्पंद उठते ही हैं वासना के कारण, आकांक्षा के कारण। नये-नये स्पंद उठते हैं।

तुमने देखा, अगर कभी जीवन में स्पंद नहीं उठते तो तुम धीरे-धीरे मुर्दा होने लगते हो। तुम्हें नये स्पंद चाहिए। एक धंधा किया, अब ठीक है। अब कोई नया धंधा चाहिए ताकि फिर से स्पंदन उठे, फिर से जीवन-धार बहे। एक दिशा में सफलता पा ली, अब दूसरी दिशा में भी सफलता चाहिए। धन कमा लिया, अब राजनीति में भी पद चाहिए। राजनीति कमा ली, अब ध्यान भी करना है।

नये-नये स्पंदन उठते हैं। वासना नये-नये अंकुर फोड़ती है। वासना तुम्हें कभी ठहरने नहीं देती। इधर एक से चुके नहीं कि दूसरी यात्रा शुरू। एक यात्रा पूरी भी नहीं होती कि दूसरे का आयोजन तैयार हो जाता है।

महाशय व्यक्ति स्पंदनरहित होता है। उसके जीवन में अब कोई स्पंदना नहीं है, कोई उत्तेजना नहीं है। अब कुछ पाने को नहीं है, कुछ जाने को नहीं है, कहीं पहुंचने को नहीं है। पहुंच गया! जहां है वहीं उसकी मंजिल है।

इस सत्य की उदघोषणा अगर तुम्हें समझ में आ जाये तो तुम इसी क्षण नाच उठोगे। तुम जहां हो, ठीक ऐसे ही परिपूर्ण हो। सब स्पंदन मन के धोखे हैं। और स्पंदनों के कारण तुम वह नहीं देख पाते, जो तुम हो। जरा गौर से देखो। और जरा समझपूर्वक अपने भीतर उतरो। क्या कमी है? नाचना है, आनंदित होना है? कुछ भी तो कमी नहीं है। परमात्मा बरस रहा है। इस घड़ी जितना बरस रहा है, इससे ज्यादा कभी भी नहीं बरसेगा। इतना ही बरसता रहा है सदा से, इतना ही सदा बरसेगा। इसलिए कल की प्रतीक्षा मत करो।

"आशारहित...।"

सुनते हैं? अष्टावक्र कहते हैं, ऐसा व्यक्ति आशारहित है। वह कोई आशाएं नहीं बांधता। जब आकांक्षा ही न रही तो आशा कैसी!

निराशं गतसंदेहम्...।

संदेहरहित है। अब उसको कोई संदेह नहीं है कि क्या सच है और क्या झूठ है। एक बात साफ हो गई है, देखनेवाला सच है और जो भी दिखाई पड़ रहा है, सब झूठ है। बस इतना ही सत्य है। इतना ही सारे शास्त्रों का सार है: जो भी दिखाई पड़ रहा है, झूठ है; और जो देख रहा है, सच है।

अभी हमारी हालत उलटी है। जो दिखाई पड़ता है वह सच मालूम पड़ता है और जो देख रहा है उसका तो हमें पता ही नहीं। झूठ ही समझो। लोग पूछते हैं, आत्मा कहां है? जो पूछ रहा है वह आत्मा है। लोग पूछते हैं, आत्मा का दर्शन कैसे हो? आत्मा का कहीं दर्शन हो सकता है? जो दर्शन करेगा वही आत्मा है। आत्मा कभी दृश्य नहीं हो सकती। संसार पर तो भरोसा है, अपने पर कोई भरोसा नहीं है। जो दिखाई पड़ रहा है उसके पीछे तो दौड़ रहे हैं और जो देख रहा है उसको छुआ भी नहीं; उसके हाथ में हाथ डालकर कभी दो क्षण को शांत बैठे नहीं।

इतना ही सारे शास्त्रों का सार है: जो दिखाई पड़ता है, कल्पनावत है; और जो देख रहा है, वही सत्य है।

रात तुम सपना देखते हो। सपने में सपना भी सच मालूम होता है, क्योंकि तुम्हारी आदत खराब हो गई है। तुम्हें जो दिखाई पड़ता है वही सच मालूम होता है। तुमने अभ्यास कर लिया है। जो दिखाई पड़ता है वही सच मालूम होता है। तुमने इस पर कभी विचार किया, कि सपना तक सच मालूम होता है! मूढ़ता की और कोई सीमा होगी? पागलपन और क्या होगा?

और ऐसा नहीं है कि सपना तुमने पहली दफे देखा है इसलिए धोखा खा गये। जिंदगी भर से देख रहे हो। अनेक जिंदगियों से देख रहे हो। रोज सुबह उठकर पाते हो, झूठ था। और फिर रात, दूसरे दिन फिर...फिर खो गये। आज भी सुबह उठकर पाया था कि रात जो देखा, झूठ था। क्या तुम पक्का विश्वास दिला सकते हो कि फिर रात आ रही है, फिर सपना आयेगा, याद रख सकोगे? इतनी-सी बात याद नहीं रहती। इतनी बार दोहराकर याद नहीं रहती। फिर नींद पकड़ती है, फिर भ्रांति हो जाती है, फिर भूल हो जाती है, फिर सपना सच मालूम होता है।

इसका कारण है। इसका कारण है कि तुम जो देखते हो वही सच मानने की आदत है। गुरजिएफ अपने शिष्यों को कहता था कि अगर तुम्हें सपने को सपने की तरह देखना हो तो सपने के साथ कुछ नहीं करना है, जागरण में कुछ करना पड़ेगा। और वह एक अभ्यास करवाता था। वह अभ्यास बड़ा कीमती है। वह कहता था कि दिन भर--तीन महीने तक कम से कम--जो भी दिखाई पड़े, होश से समझना कि झूठ है।

जैसे अभी मैं बोल रहा हूं यहां। अब तुम यह सोच सकते हो कि कोई नहीं बोल रहा। यह सब अपना सपना है। कठिन होगा। सच भी नहीं है, मगर यह तीन महीने का अभ्यास। वृक्ष दिखाई पड़ रहे हैं, तुम खयाल रखना कि सपना है, झूठ है। जो भी दिखाई पड़ रहा है, झूठ है।

तीन महीने तक अगर तुम जो भी दिन में देखो, उसे झूठ मानते रहो तो तीन महीने के बाद एक दिन अचानक रात में तुम देखोगे कि सपना दिखाई पड़ रहा है और तुम जान रहे हो कि झूठ है। अभ्यास हो गया। नई बात का अभ्यास हो गया।

यही तो हिंदुओं के माया के सिद्धांत का सारा अर्थ है। गुरजिएफ का जो प्रयोग है वह माया का प्रयोग है। हिंदुओं का यह कहना कि संसार माया है, सिर्फ इतना ही अर्थ रखता है कि तुम अगर जागते में याद कर लो, अभ्यास कर लो तो एक दिन नींद में भी पक्का हो जायेगा कि सपना झूठ है। और रात सपने खो जायें, दिन में विचार खो जायें, तो धीरे-धीरे तुम्हें उसकी याद आने लगेगी, जो देख रहा है। अभी तो हम इतने ग्रसित हैं दृश्य के साथ कि द्रष्टा की स्मृति नहीं आती। और वही मूल सत्य है; स्रोत सत्य है। वही हमारी वास्तविक संपदा है। वहीं छिपा है महाशय। वहीं हमारा आकाश छिपा है।

"आशारहित, संदेहरहित चित्त ही शोभायमान है।"

तुम्हारी आशाएं तुम्हारे अतीत का ही प्रक्षेपण है। तुमने जो अतीत में जाना है उसी को छांट-छांट कर, बुरे को काटकर, भले को बचाकर, कतरन जोड़-जोड़कर तुम भविष्य की आकांक्षायें बनाते हो। जो-जो दुखद था वह छोड़ देना चाहते हो, जो-जो सुखद था उसको बढ़ा-बढ़ाकर भविष्य में पाना चाहते हो। भविष्य तुम्हारे अतीत की प्रतिध्वनि है।

अंजुरी के फूल झर गये, गंध है अंगुलियों में शेष
अतीत तो गया, जा चुका, लेकिन उसकी यादें रह गई हैं बसी।
अंजुरी के फूल झर गये, गंध है अंगुलियों में शेष

गुजर रहे लोग भीड़ से अपने में खोये-खोये
सहमे-से सोच रहे हम कहां तलक खुद को ढोयें
एक उम्र काटी हमने स्मृति के चुनते अवशेष

रिश्तों के बीच ही कहीं कुचल नहीं जायें इसलिए
पूछ थके हर अपने से इतने संबंध किसलिए?
क्यों यह असुरक्षा का भय? क्यों यह संबंधों के क्लेश?

कुछ अपने साथ है बची भोगें अनुभव की पूंजी
जिस पर प्रतिध्वनित हो रही कोई अनगूंजन गूंजी
और हम भविष्य की तरफ टकटकी लगाये अनिमेष

अनुभव की पूंजी में से ही हम छांट रहे हैं। फूल तो गये, अंगुलियों में थोड़ी गंध रह गई, स्मृति बची रह गई। स्मृति का ही फिर से फैलाव आशा है। अतीत का ही फिर-फिर फैलाव आशा है।

अतीत को भी छोड़ देना है। जो नहीं है, नहीं हो जाने दो। और अतीत की पुनरुक्ति की आशा भी मत करो। जब अतीत और भविष्य दोनों न होंगे तभी तुम वर्तमान में जागोगे। वही जागरण ध्यान का पहला अनुभव होगा। वही जागरण समाधि की पहली सुगंध होगी।

समाधि यानी वर्तमान। मन यानी अतीत और भविष्य।

मन वर्तमान में होता ही नहीं। वर्तमान में होगी तुम्हारी आत्मा, होगा तुम्हारा परमात्मा। अतीत भी नहीं, भविष्य भी नहीं, दोनों छूट गये। न स्मृति और न कल्पना का जाल। न अतीत के अनुभवों का बोझ, न भविष्य की आशा। किसी क्षण में जब तुम ऐसे वर्तमान में अडिग खड़े हो जाते हो, वहीं--ठीक वहीं सत्य से मिलन होता। अस्तित्व से पहली परख होती। आलिंगन में बंधते हो तुम उसके, जो है।

"मुक्त पुरुष का चित्त ध्यान या कर्म में प्रवृत्त नहीं होता है, लेकिन वह निमित्त या हेतु के बिना ही ध्यान करता और कर्म करता है।"

"मुक्त पुरुष का चित्त ध्यान या कर्म में प्रवृत्त नहीं होता है...।"

अब एक और अनूठी बात अष्टावक्र कहते हैं, न तो उसे कर्म की कोई आकांक्षा है, न ध्यान की कोई आकांक्षा है। आकांक्षा ही नहीं है। न तो वह अशांत होना चाहता है, न वह शांत होना चाहता है। वह कुछ होना ही नहीं चाहता। वह तो जो है उसके साथ राजी है। उसका राजीपन परिपूर्ण है, समग्र है। वह किसी तरह की वासना से ग्रसित नहीं है। उसके भीतर न कोई निमित्त है, न कोई हेतु है। जो प्रभु करवा लेता है, जब। कभी कर्म करवा लेता तो वह कर्म करता, कभी ध्यान करवा लेता तो वह ध्यान करता।

तुम कभी इस अनुभव से थोड़ा गुजरो। एक बार ऐसा कर लो कि तीन महीने के लिए तुम कुछ करोगे ही नहीं अपनी तरफ से। जो प्रभु करवा लेगा, कर दोगे। फिर प्रतीक्षा करने लगोगे। कभी मौन ला देगा तो तुम मौन बैठ जाओगे। कभी वाणी मुखर कर देगा तो तुम बोलोगे, कभी कोई गीत आयेगा तो गाओगे और कभी चुप्पी आ जायेगी तो चुप रह जाओगे।

शुरू-शुरू में कठिन होगा क्योंकि बड़ी बिबूचन होगी। कोई बोलने आया है और प्रभु तुम्हारे भीतर बोलता नहीं तो तुम्हें क्षमा मांगनी होगी। तुम कहोगे, भीतर प्रभु अभी बोलते नहीं। शुरू-शुरू अड़चन होगी। कभी कोई काम का बड़ा जाल सिर पर खड़ा होगा और भीतर से प्रेरणा न उठेगी प्रभु की, तो तुम नहीं करोगे, चाहे कुछ भी हो। कुछ भी खोये, कुछ भी हानि हो। और कभी-कभी व्यर्थ के काम को प्रभु करवाना चाहेगा। ऊर्जा उठेगी, बड़ी प्रेरणा आयेगी कि जाओ, सड़क साफ कर डालो; तो तुम सड़क साफ कर डालोगे। लोग पागल कहेंगे। लेकिन अगर तुम तीन महीने भी इस प्रक्रिया से गुजर जाओ तो तुम्हारे जीवन में कुंजी हाथ आ जायेगी।

उसी कुंजी की तरफ अष्टावक्र के सारे सूत्र इशारा हैं। और एक बार तुम्हें आनंद आ जाये...और ऐसा आनंद आयेगा, ऐसा अनिर्वचनीय आनंद आयेगा जैसा तुमने कभी जाना नहीं। फिर तुम लौट न सकोगे। तीन महीने तुम करो, फिर यह कभी समाप्त होनेवाला नहीं है। तीन महीने के बाद तुम इसे बदल न सकोगे। तुम्हें स्वाद लग जायेगा। और यह स्वाद अनूठा है।

इसी को कबीर ने सहज समाधि कहा है। उठूं-बैठूं सो परिक्रमा, खाऊं-पिऊं सो सेवा। अब जो प्रभु करवाता, जैसा करवाता बस वैसा; उससे अन्यथा नहीं।

"मंदमति यथार्थत्व को सुनकर मूढ़ता को ही प्राप्त होता है, लेकिन कोई ज्ञानी मूढ़वत होकर संकोच या समाधि को प्राप्त होता है।"

निर्ध्यातुं चेष्टितुं वापि यच्चित्तं न प्रवर्तते।
निर्निमित्तमिदं किंतु निर्ध्यायति विचेष्टते।।
तत्वं यथार्थमाकर्ण्य मंदः प्राप्नोति मूढ़ताम्।
अथवाऽऽयाति संकोचममूढ़ः कोऽपि मूढ़वत्।।

वह जो मंदबुद्धि है, यथार्थत्व को सुनकर भी मूढ़ता को ही प्राप्त होता है। और जो ज्ञानी है, वह मूढ़वत होकर संकोच या समाधि को प्राप्त होता है।

तुम पर निर्भर है। इन सूत्रों में तो बड़े रहस्य की कुंजियां छिपी हैं लेकिन क्या तुम करोगे, तुम पर निर्भर है। तुम इनके गलत अर्थ कर सकते हो, और बड़ी आसानी से। और जितना महान सूत्र हो। उतनी ही गलत अर्थ करने की संभावना बढ़ जाती है। और अष्टावक्र का एक-एक सूत्र अंगारे की तरह है। चाहो तो तुम्हारे जीवन में ज्योति हो जाये। और अगर मंदबुद्धि से काम लिया तो बुरी तरह जलोगे।

अब जैसे अष्टावक्र कहते हैं, परमात्मा पर छोड़ दो सब। होने दो, जो हो। अब अगर मंदबुद्धि आदमी हुआ तो वह सोचेगा, चलो अब चादर तानकर सोओ। अब कुछ करने को क्या है? परमात्मा को करने दो। जो करना होगा, करेगा। चादर तानकर सोओ। आलसी व्यक्ति, मंदबुद्धि व्यक्ति इससे आलस्य का सूत्र निकाल लेगा। अकर्ता तो नहीं बनेगा, कर्म छोड़ देगा। वह कहेगा, अभी अपना करने जैसा कुछ है ही नहीं।

अष्टावक्र कहते हैं, समाधि के भी पार चला जाता है महाशय। मूढ़ जो होगा वह कहेगा, अब ध्यान करने से क्या सार! जब समाधि के पार ही जाना है तो क्या सार! ध्यान के भी पार चला जाता है? तो वह कहेगा, छोड़ो ध्यान। मूढ़ व्यक्ति कहेगा कि जब मुमुक्षा भी व्यर्थ है तो क्यों खोजें सत्य को? क्यों खोजें आत्मा को, क्यों परमात्मा को? आदमी पर निर्भर है।

मैंने सुना है, मुल्ला नसरुद्दीन की पत्नी उसे मनोचिकित्सक के पास ले गई और उसने कहा, मेरे पति को हमेशा कुछ न कुछ भूल आने की आदत है। कभी छाता, कभी फाउंटेन पेन, कभी जूते...बात यहां तक हो जाती है कि अगर चश्मा और रूमाल ये ही चीजें भूलते रहें तो भी ठीक है, कभी-कभी मुझे तक भूल आते हैं। साथ ले जाते हैं क्लब में और खुद नदारद हो जाते हैं, घर पहुंच जाते हैं। फिर पीछे कहते हैं, मुझे याद ही न रही।

मनोचिकित्सक ने कहा, घबड़ाओ मत, इलाज हो जायेगा। फिर उसने मुल्ला की तरफ गौर से देखा। मुल्ला को जानता है भलीभांति। उसने कहा, लेकिन एक बात खयाल रखना कि इलाज के बाद कहीं प्रवृत्ति उलट न जाये और यह कहीं कुछ का कुछ घर लाना शुरू न कर दे। छाता ले आये, किसी दूसरे के जूते उठा लाये। पत्नी ने थोड़ा सोचा, फिर बोली तो फिर रहने दें; ऐसे ही ठीक है। अगर दूसरे की पत्नी ले आये! अभी तो भूल आता है, वहां तक ठीक है।

मूढ़ व्यक्ति जो भी करेगा उसमें कुछ न कुछ मूढ़ता रहेगी ही। इसलिए बहुत सावधानी से...इसलिए गुरु का बड़ा अर्थ है। नहीं तो तुम्हारी मूढ़ता से तुम्हें कौन बचाये? ये सारे अनूठे प्रयोग अगर किसी गुरु के सान्निध्य में किये तो खतरा नहीं होगा। कोई नजर रखेगा, कोई खयाल रखेगा कि तुम्हारी मूढ़ता कहीं विपरीत परिणाम न लाने लगे। कोई तुम्हारे ऊपर ज्योतिस्तंभ की तरह खड़ा रहेगा। कोई दर्पण की तरह तुम्हारे चेहरे की सारी आकृतियों को प्रकट करता रहेगा।

एक दिन मुल्ला नसरुद्दीन ने मुझसे पूछा कि आपकी घड़ी में कितने बजे हैं? मैंने कहा, ग्यारह। ग्यारह बजे थे। उसने बहुत हैरानी से मेरी तरफ देखा, अपने माथे पर जोर से हाथ मारा और कहा कि लगता है मैं

पागल हो जाऊंगा। मैं भी थोड़ा हैरान हुआ। मैंने कहा इसमें पागल होने की क्या बात है? ग्यारह बजने से तेरे पागल होने का क्या संबंध? उसने कहा, है; संबंध क्यों नहीं है? आज दिन भर से पूछ रहा हूं, न मालूम कितने लोगों से पूछ चुका, सबने अलग-अलग समय बतलाया। मैं पागल हो जाऊंगा अगर...कोई एक समय बतलाता ही नहीं। कोई दस बतलाता, कोई नौ, कोई आठ, कोई साढ़े आठ! आखिर आदमी पागल न हो जाये तो करे क्या?

"मंदमति यथार्थ तत्व को सुनकर भी मूढ़ता को ही प्राप्त होता है।"

इसलिए अपनी बुद्धि पर बहुत ध्यान रखना। अगर जरा भी अपनी बुद्धि पर संदेह हो तो किसी सदगुरु का साथ पकड़ लेना। जरा-सा भी अगर बुद्धि में शक हो कि अपने पैर से, अपने ही हाथ से हम कुछ गलत कर लेंगे, तो बचना।

"और कोई ज्ञानी मूढ़वत होकर संकोच या समाधि को प्राप्त होता है।"

ऐसी उलटी दुनिया है। यहां मूढ़ तत्व की बात सुनकर भी और मूढ़ हो जाता है और यहां ज्ञानी तो ऐसा कुशल होता कि ज्ञान की बात सुनकर मूढ़वत हो जाता है। संसार में ऐसा व्यवहार करने लगता जैसे मैं कुछ जानता ही नहीं; मूढ़वत हो जाता। और इस तरह संसार से अपने बहुत से व्यर्थ के संबंध छुड़ा लेता है। मूढ़वत हो जाता है तो लोग उसका पीछा ही छोड़ देते। मूढ़वत हो जाता है तो लोग उसकी चिंता नहीं करते। मूढ़वत हो जाता है तो लोग उसे उलझनों में नहीं डालते। मूढ़वत हो जाता है तो कोई उसे किसी काम में नहीं उलझाता।

कहते हैं, महावीर जब संन्यस्त होना चाहते थे तो उन्होंने आज्ञा मांगी। लेकिन मां ने कहा, जब तक मैं जीवित हूं, संन्यास नहीं। तो वे रुक गये। फिर मां चल बसी। मरघट से लौटते थे, भाई से कहा, कि अब मैं संन्यास ले लूं? क्योंकि मां से वादा किया था, वह भी बात हो गई, वह भी चल बसी। भाई ने कहा, यह कोई वक्त है? इधर हम मां के मरने की पीड़ा से मरे जा रहे हैं कि मां चल बसी और तू छोड़ जाने की बात करता है? भूलकर यह बात मत करना।

तो वे चुप हो रहे। लेकिन फिर उन्होंने जीवन का एक ऐसा ढंग अख्तियार किया कि घर में किसी को पता ही नहीं चलता कि वे हैं भी कि नहीं। वे ऐसे चुप हो गये, ऐसे संकोच को उपलब्ध हो गये कि साल-दो साल में घर के लोगों को ऐसा लगने लगा कि उनका घर में रहना-न रहना बराबर है। आखिर घर के लोगों ने ही कहा कि अब हम आपको रोकें, यह ठीक नहीं। आप तो जा ही चुके। देह मात्र यहां है, प्राण-पखेरू तो जा चुके। आपकी आत्मा तो जा चुकी जंगल। अब हम रोकेंगे नहीं। घर के किसी काम में, घर के किसी व्यवस्था में कोई मंतव्य न देते। धीरे-धीरे सरक गये; शून्यवत हो गये। इसका नाम है संकोच।

"लेकिन कोई ज्ञानी मूढ़वत होकर संकोच या समाधि को प्राप्त होता है।"

संकोचममूढ़ः कोऽपि मूढ़वत्।

कोई धीरे-धीरे अपने व्यर्थ के फैलाव को सिकोड़ लेता है, अपने व्यर्थ के व्यापार को सिकोड़ लेता है। जैसे मछुआ अपने जाल को सिकोड़ लेता है, जैसे सांझ सूरज अपने जाल को सिकोड़ लेता, ऐसा कोई ज्ञानी तत्व की बात सुन लेता है तो मूढ़वत हो जाता है। संसार से अपने को ऐसे तोड़ लेता है जैसे मूढ़ हो गया। अब संसार से कुछ लेना-देना नहीं। और समाधि को प्राप्त हो जाता है।

"अज्ञानी चित्त की एकाग्रता अथवा निरोध का बहुत-बहुत अभ्यास करता है, लेकिन धीरपुरुष सोये हुए व्यक्ति की तरह अपने स्वभाव में स्थित रहकर कुछ करने योग्य नहीं देखता है।"

यह सूत्र भी खूब ध्यानपूर्वक सुनना।

एकाग्रता निरोधो वा मूढ़ैरभ्यस्यते भृशम्।
धीराः कृत्यं न पश्यंति सुप्तवत् स्वपदे स्थिताः।।

अज्ञानी चित्त तो बड़ी एकाग्रता और निरोध का बहुत-बहुत अभ्यास करता है। अज्ञानी को अगर धुन पकड़ जाती है...अज्ञानी बड़ा धुनी होता है, पागल होता है। धन की धुन पकड़ जाये तो धन के पीछे लग जाता

है, ध्यान की धुन पकड़ जाये तो ध्यान के पीछे लग जाता है। अज्ञानी जिद्दी होता है, हठी होता है। अज्ञानियों ने ही तो हठ योग पैदा किया है। पागल की तरह लग जाता है। फिर सारा अहंकार उसी में लगा देता है।

"अज्ञानी चित्त की एकाग्रता अथवा निरोध का बहुत-बहुत अभ्यास करता है, लेकिन धीरपुरुष सोये हुए व्यक्ति की तरह अपने स्वभाव में स्थित रहकर कुछ करने योग्य नहीं देखता।"

सुप्तवत् स्वपदे...।

ज्ञानी तो धीरे-धीरे अपने में विश्रांति को पहुंच जाता है। जैसे नींद में, गहरी नींद में तुम्हारा अहंकार कहां होता है? गहरी नींद में जब स्वप्न भी खो जाते हैं तब तुम्हारे विचार कहां होते हैं? गहरी नींद में, जब मन में कोई तरंग नहीं होती, तुम्हारी कौन-सी सीमा होती है? गहरी सुषुप्ति में तुम महाशय हो जाते हो। न तुम पति रह जाते न पत्नी, न हिंदू न मुसलमान, न ईसाई न बौद्ध, न स्त्री न पुरुष, न बाप न बेटे, न गरीब न अमीर, न जवान न बूढ़े, न सुंदर न कुरूप। गहरी प्रसुप्ति में तुम्हारे सब विशेषण समाप्त हो जाते हैं। तुम होते हो जरूर लेकिन बड़े विराट हो जाते हो।

अष्टावक्र कह रहे हैं कि ज्ञानी पुरुष ऐसे जीने लगता है जैसे प्रतिपल गहरी सुषुप्ति में है। न अहंकार, न हिंदू न मुसलमान, न ईसाई न बौद्ध, न सुंदर न कुरूप, न धनी न गरीब, न नैतिक न अनैतिक, न साधु न असाधु--कोई भी नहीं।

धीराः कृत्यं न पश्यंति सुप्तवत् स्वपदे स्थिताः।

जैसे गहरी नींद में कोई अपने स्वपद में लीन हो जाता है, ऐसे ही ज्ञानी अपने स्वभाव में लीन हो जाता है। और फिर स्वभाव से जो होता है सहज, वही होने देता है। करने योग्य...कुछ करना है ऐसी कोई धुन, कुछ करना है ऐसा कोई आग्रह, कुछ करके दिखाना है, कुछ होना है, ऐसी कोई हठवादिता उस में नहीं रह जाती।

और ऐसी अवस्था में तुम सब जगह परमात्मा को पाओगे। अपने स्वपद को जिसने पा लिया उसने सब जगह परमात्मा को पाया है--फूल-फूल, पत्ती-पत्ती में, झरने में, हर आंख में।

तपसिन कुटिया बैरन बगिया
निर्धन खंडहर धनवान महल
शौकीन सड़क गमगीन गली
टेढ़े-मेढ़े गढ़ गेह सरल
रोते दर हंसती दीवारें
नीची छत ऊंची मीनारें
मरघट की बूढ़ी नीरवता
मेलों की क्वांरी चहल-पहल
हर देहरी तेरी देहरी है
हर खिड़की तेरी खिड़की है
मैं किसी भवन को नमन करूं
तुझको ही शीश झुकता हूं
हर दर्पण तेरा दर्पण है

अपने स्वपद में बैठ गया जो, वह परमात्मा में आ गया। वह घर आ गया। उसे मिल गया जो मिला ही हुआ था। उसने पा लिया, जो उसके भीतर छिपा ही हुआ था। सम्राट हो गया। भिखारीपन गया। गये भिखमंगेपन के दिन।

उसकी गरिमा महान है, उसका आशय महान है। उसकी कोई सीमा नहीं। उसका चैतन्य अमाप है। उसका जीवन अमृत है।

हर देहरी तेरी देहरी है
हर खिड़की तेरी खिड़की है
मैं किसी भवन को नमन करूं

तुझको ही शीश झुकता हूं
हर दर्पण तेरा दर्पण है

आज इतना ही।

चौसठवां प्रवचन

एकाकी रमता जोगी

पहला प्रश्न: भीड़ में मन नहीं रमता है और निपट एकाकीपन से भी जी घबड़ाता है। क्या यह विक्षिप्तता का लक्षण है? समझाने की अनुकंपा करें।

एकांत के संबंध में कुछ बातें समझ लेनी चाहिए। एकांत के तीन रूप हैं। पहला: जिसे हम अकेलापन कहते हैं, एकाकीपन। दूसरा: एकांत। और तीसरा: कैवल्य।

अकेलापन नकारात्मक है। अकेलापन वास्तविक अकेलापन नहीं है; दूसरे की याद सता रही है; दूसरा होता तो अच्छा होता; दूसरे की गैर-मौजूदगी खलती है, कांटा चुभता है, दूसरे में मन उलझा है। देखने को अकेले हो, भीतर नहीं; भीतर भीड़ मौजूद है। कोई आयेगा तो पायेगा अकेले बैठे हो। लेकिन तुम जानते हो कि तुम अकेले नहीं हो; किसी की याद आती है; किसी में मन लगा है। किसी को बुलावा भेज रहे हो; किसी का स्वप्न संजो रहे हो; किसी की पुकार चल रही है--कोई होता, अकेले न होते! अकेलेपन से राजी नहीं हो। आनंद तो दूर, इस अकेलेपन में शांति भी नहीं। अशांत हो, उद्विग्न हो। जल्दी ही कुछ न कुछ उलझाव खोज लोगे। चले जाओगे मित्र के घर, क्लब में, बाजार में, अखबार पढ़ने लगोगे, रेडियो सुनने लगोगे, कुछ करोगे, कुछ उलझाव बना लोगे। यह अकेलापन नीरस है। यह अकेलापन भौतिक है, मानसिक नहीं; आध्यात्मिक तो बिलकुल ही नहीं।

एकांत दूसरे प्रकार का अकेलापन है। एकांत का अर्थ है: रस आने लगा; अकेले होने में मजा आने लगा; अकेलापन एक गीत की तरह है अब; दूसरे की याद भी नहीं आ रही; अपने होने का मजा आ रहा है; दूसरे की याद भी भूल गई है; दूसरे का कोई प्रयोजन भी नहीं है; व्यस्त होने की कोई आकांक्षा भी नहीं; बड़ी शांति है।

पहला नकारात्मक है; दूसरा विधायक। पहले में दूसरे की अनुपस्थिति खलती है; दूसरे में अपनी उपस्थिति में रस आता है। पहले में तुम अपने से नहीं जुड़े हो; दूसरे में तुम अपने से जुड़े हो। पहले में मन भटक रहा है हजार-हजार स्थानों पर; दूसरे में मन-पंछी अपने घर आ गया।

दूसरा एकांत गहन शांति लाता है--ध्यान की अवस्था है।

फिर तीसरा एकांत है: कैवल्य। पहले अकेलेपन में अपना तो पता ही नहीं है, दूसरे की याद है। दूसरे एकांत में अपनी याद है, दूसरा भूल गया है। कैवल्य में दूसरा भी भूल गया, स्वयं भी भूल गये, कोई भी न बचा--न दूसरा, न स्व; न पर, न स्व। क्योंकि जब तक स्व का भाव बचा है तब तक कहीं कोने-कातर में दूसरा छिपा होगा। क्योंकि स्वयं की लकीर दूसरे की मौजूदगी के बिना खिंच ही नहीं सकती। "मैं" और "तू" साथ-साथ होते हैं। पहले में "तू" प्रगाढ़ है, "मैं" छिपा है। दूसरे में "मैं" प्रगाढ़ है, "तू" छिपा है। ये एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। पहले में "तू" ऊपर, "मैं" नीचे; दूसरे में "मैं" ऊपर, "तू" नीचे। तीसरे में पूरा सिक्का खो गया--न "मैं" बचा, न "तू" बचा; कैवल्य बचा, चैतन्य बचा। यह परम एकांत है--समाधि की अवस्था! भीड़ तो गई ही गई, तुम भी गये भीड़ के साथ! तुम भी भीड़ के ही हिस्से थे। तुम भी भीड़ के ही एक अंग थे।

पहली अवस्था में अशांति है; दूसरी अवस्था में शांति; तीसरी अवस्था में आनंद। पहली नकारात्मक, दूसरी विधायक, तीसरी महोत्सव की। सिर्फ विधायक नहीं। सिर्फ विधायक काफी नहीं है। अब विधायकता नाचती हुई है, गीत गाती हुई है। अब विधायकता बड़ी रंगीन है।

इस फर्क को ऐसा समझना। एक आदमी बीमार है; वह नकारात्मक स्थिति में है। दूसरा आदमी बीमार नहीं है। डॉक्टर के पास जाता है तो वह निरीक्षण करके कहता है कि कोई बीमारी नहीं, स्वस्थ हो। लेकिन उस आदमी के भीतर स्वास्थ्य का कोई उत्सव नहीं है। वह कहता है: "आप कहते हैं तो मान लेता हूं, लेकिन मुझे कुछ मजा नहीं आ रहा; स्वास्थ्य की ऊर्जा नाचती हुई नहीं है। बीमारी नहीं है तो आप कहते हैं, स्वस्थ हूं। परिभाषा से स्वस्थ हूं; लेकिन अभी स्वास्थ्य का कोई आंदोलन नहीं है, ऐसा तरंगायित नहीं हूं।

तो एक तो बीमारी है, दूसरा डॉक्टर का स्वास्थ्य है--डॉक्टर के निदान से मिला स्वास्थ्य। जांच कर ली, सब जांच-परख कर ली, कहीं कोई बीमारी नहीं। घर भेज दिया कि कोई बीमारी नहीं, इलाज की कोई जरूरत नहीं है। लेकिन तुम नाचते हुए घर नहीं आ रहे हो। तुम्हारे भीतर उमंग नहीं है, उत्सव नहीं है, हर्षोन्माद नहीं है।

तीसरा एक और स्वास्थ्य है, जब तुम डॉक्टर से पूछने ही नहीं जाते; जब तुम्हारा स्वास्थ्य ही ऐसा अहर्निश बरसता है। किससे पूछना है! बीमारी भी गई, डॉक्टर का स्वास्थ्य भी गया; अब तुम स्वस्थ हो! तुम इतने स्वस्थ हो कि अब स्वास्थ्य का खयाल भी नहीं आता। स्वास्थ्य का खयाल भी बीमार आदमी को आता है। अब तुम इतने स्वस्थ हो कि विदेह हो गये।

ये तीन अवस्थाएं हैं अकेलेपन की।

पूछा है: "भीड़ में मन नहीं लगता।"

यह शुभ है। यह यात्रा का पहला सूत्रपात है। जिसका भीड़ में मन लगता है, वह तो बुरी तरह भटका है। वही पागल है। भीड़ में मन लगता है, इसका अर्थ हुआ: अपने में मन नहीं लगता। उसके तो भीतर के मंदिर के द्वार बंद हैं। अच्छा है, तुम्हारा भीड़ में मन नहीं लगता। यह ठीक हुआ। एक कदम ठीक उठा।

दूसरी बात, पूछा है: "लेकिन निपट एकाकीपन से भी जी घबड़ाता है।"

वह भी स्वाभाविक है। जन्मों-जन्मों तक भीड़ में रहे हो, भीड़ का अभ्यास है; अब बोध तो आ गया है कि भीड़ व्यर्थ है, लेकिन अभ्यास कायम है। बोध से ही अभ्यास मिट नहीं जाता। अभ्यास गहरे उतर गया है, रोएं-रोएं में समा गया है, श्वास-श्वास में भिद गया है। अभ्यास तो भीड़ का है। समझ भी आ गई देखकर कि भीड़ में कुछ सार नहीं, बहुत देख लिया, अब अकेले बैठना चाहते हो; लेकिन अभ्यास बल मारता है। जब अकेले बैठते हो तो एकाकीपन में जी घबड़ाता है। जी तो भीड़ से मिला है। वह भीड़ का हिस्सा है। जिसको तुम जी कहते हो, जिसको तुम मन कहते हो, वह तुम्हारा नहीं है। तुम इस भ्रांति में मत रहना कि मन के तुम मालिक हो। मन का मालिक तो भीड़ है; भीड़ ने ही दिया है। इसलिए तो मन को छोड़कर ही कोई भीड़ के बाहर जा सकता है। जी नहीं लगता, यह बात तो समझ में आ जाती है। जी लगेगा कैसे? जी तो भीड़ का है। जी तो भीड़ के ही अभ्यास से ही निर्मित हुआ है। इस जी को भी छोड़ना पड़ेगा तो ही एकांत में रस आयेगा।

इसलिए तो ध्यान का अर्थ होता है: मन से मुक्ति। भीड़ से मुक्ति शुभ आरंभ है; मन से मुक्ति भी चाहनी होगी। क्योंकि मन भीड़ का ही हिस्सा है तुम्हारे भीतर बैठा हुआ।

तुम जरा अपने मन की जांच करो। तुम्हारे मन में जो भी है, सब भीड़ का ही दिया हुआ है। भीड़ ने कहा कि तुम हिंदू हो तो तुम हिंदू हो। और भीड़ ने कहा कि तुम सुंदर हो तो तुम सुंदर हो। और भीड़ ने कहा कि तुम बड़े बुद्धिमान हो तो बुद्धिमान हो। ये सब भीड़ की ही मान्यताएं हैं। इन्हीं को इकट्ठा कर लिया, यही तुम्हारा जी है। इस जी को भी छोड़ देना होगा। तुम जी से पार हो। तुम्हारा वास्तविक होना मन के पार है। तुम्हारा वास्तविक होना परमात्मा से आता है, भीड़ से नहीं आता। भीड़ ने तो जो परमात्मा से आया है, उसके ऊपर एक रंग-रोगन की दीवाल खड़ी कर दी है, पर्दा डाल दिया है। उस पर्दे को तुम पकड़े हो।

तो भीड़ से मन ऊब गया, ठीक हुआ। अब यह भी समझो कि भीड़ ने जो-जो दिया है, वह भी छोड़ देना होगा; नहीं तो अकेले में मन न लगेगा। मन कहेगा, वहीं चलो जहां मेरे प्राण हैं। जहां मेरा मूल उदगम है, जहां

मेरा स्रोत है, जहां मेरी जड़ें हैं--वहां चलो। मन तो भीड़ में ही ले जायेगा। अ-मन में चलना होगा। इसलिए तो कबीर कहते हैं: अ-मनी दशा! भीड़ से जिसे वस्तुतः मुक्त होना है, वह बिना मन से मुक्त हुए न हो पायेगा।

इसलिए तो मैं तुमसे कहता हूं: जंगल जाने से न होगा। अगर तुम्हें जरा-सी समझ हो तो भीड़ में खड़े-खड़े अकेले हो सकते हो। मन छूट जाये बस!

समझो, तुम हिंदुओं की भीड़ में खड़े हो, लेकिन तुमने यह भाव छोड़ दिया कि मैं हिंदू हूं। चारों तरफ हिंदुओं की भीड़ सागर की तरह लहरा रही है या मुसलमानों की या ईसाइयों की; लेकिन तुम उस भीड़ में खड़े हो और तुम्हारे मन में यह भाव नहीं रहा कि मैं हिंदू हूं, मुसलमान हूं, ईसाई हूं। क्या तुम इस भीड़ के हिस्से हो? भीड़ में खड़े हो, दिखाई पड़ते हो; लेकिन बड़े अदृश्य मार्ग से तुम मुक्त हो गये। भीड़ कहती है कि तुम सुंदर हो और तुम यह समझ गये कि दूसरे की बातों से कैसे पता चलेगा कि मैं कौन हूं--सुंदर कि असुंदर, कि स्वस्थ कि अस्वस्थ, कि ईमानदार कि बेईमान, कि नैतिक कि अनैतिक--दूसरे से कैसे पता चलेगा! यह दूसरे के आधार पर मैं अपने को कैसे जानूंगा! ये दूसरे अपने को ही नहीं जानते, ये मुझे ज्ञान दे रहे हैं! आत्मज्ञान को तो सीधे-सीधे पाना होगा, किसी के माध्यम से नहीं। ये उधार बातें आत्मज्ञान नहीं बनेंगी। ऐसा तुम जाग गये और धीरे-धीरे तुमने उधार बातें छोड़ दीं। अब तुम भीड़ में खड़े हो, जहां लोग तुम्हें बुद्धिमान मानते हैं या बड़ा नैतिक पुरुष मानते हैं; लेकिन तुम्हारे मन में अब यह कोई धारणा न रही। तुम जानते हो कि भीड़ को बीच में नहीं लेना है। अब तुम भीड़ के भीतर भी खड़े भीड़ के बाहर हो।

कभी इसका प्रयोग करना। बीच बाजार में खड़े-खड़े खयाल करना कि बाहर हो। क्षण भर को झलक मिलेगी, झरोखा खुलेगा। एक लहर की तरह दौड़ जायेगी तुम्हारे जीवन में एक नई धारा। वही धारा एकांत में ले जायेगी।

ठीक हो रहा है। जी घबड़ाता है, जी को भी छोड़ो। जी को पकड़ा तो जी भीड़ में ले जायेगा। जी भीड़ का गुलाम है, तुम्हारा नहीं। तुम्हारी इस पर कोई मालकियत नहीं है। यह तो बड़ी सूक्ष्म तरकीब है भीड़ की। उसने तुम्हारे मन को संस्कारित कर दिया है। वस्तुतः उसने जो-जो संस्कार तुम्हारे भीतर रख दिये हैं, उन्हीं के जोड़ का नाम मन है। इसे भी जाने दो। हिम्मत करो। पहला कदम उठाया, अब दूसरा भी उठाओ। दूसरा कदम यही होगा कि घबड़ाने दो जी को और तुम जानो कि मैं जी नहीं हूं, मैं मन नहीं हूं, मैं पार हूं। धीरे-धीरे जैसे भीड़ से ऊब गये हो, ऐसे ही अपने मन से भी ऊब जाओगे। तब दूसरा एकांत पैदा होगा। तब तुम्हें बड़ी शांति मिलेगी। अपूर्व वर्षा हो जायेगी शांति की। जन्मों-जन्मों से जो प्राण प्यासे थे, तृप्त होंगे।

मगर यहां भी रुक मत जाना, क्योंकि बहुत-से लोग शांति पर रुक जाते हैं। वे सोचते हैं, आ गया घर। शांति पड़ाव है, मंजिल नहीं। शांति सेतु है, अंत नहीं। अशांति से जाना है, शांति पर पहुंचना नहीं। अशांति से जाना है, शांति से होकर गुजरना है, आनंद पर पहुंचना है। जब तक आनंद न हो जाये...।

शांति बड़ी मुर्दा-सी चीज है; अशांति के मुकाबले बड़ी कीमती। अगर अशांति और शांति में चुनना हो, शांति चुनना। लेकिन शांति भी कुछ चुनने जैसी बात है? अगर आनंद और शांति में चुनना हो तो आनंद चुनना। अभी एक और यात्रा बाकी है। दूसरों को तो छोड़ ही दिया, अब अपने को भी छोड़ दो। दूसरे को तो विस्मरण कर दिया, अब अपने को भी विस्मरण कर दो। इस आत्मविस्मरण में, इस अहंकार के त्याग में ही परम घटना घटेगी। तब तुम सुनोगे पहली बार उस बांसुरी को जो आदमी की नहीं है, जो परमात्मा की है। तब तुम पहली बार निमित्त बनोगे--परम ऊर्जा के वाहक! तुम्हारा रोआं-रोआं पुलकित होगा, उमंग से भरेगा। तब कैवल्य की दशा है। चल पड़े हो--रुकना मत, लौटना मत!

दूसरा प्रश्न: जब कोई व्यक्ति अपने जीवन को किसी दिशा विशेष में ले चलने की कोशिश करता है तो इतर दिशाओं का बुलावा विक्षेप बन जाता है। लेकिन क्या यह संभव है कि कोई व्यक्ति अपने जीवन को उसकी सभी दिशाओं में बहने को छोड़ दे और तब क्या विक्षेपरहितता की अवस्था में जीवन के बिखराव का खतरा नहीं खड़ा होगा?

यह प्रश्न स्वाभाविक है, उठेगा ही; एक न एक दिन प्रत्येक के सामने खड़ा होगा ही। अब तक तुम चुनकर जीये हो। जो तुमने चुन लिया है, उससे एक दिशा मिल जाती है; बाकी सब दिशाएं छूट जाती हैं। जो तुमने चुना है उससे तुम्हें अपनी परिभाषा मिल जाती है। तुम्हें पता चल जाता है कि मैं कौन हूं। अगर तुम सत्य को खोज रहे हो तो तुम सत्यार्थी। अगर तुम ध्यान को खोज रहे हो तो ध्यानी। अगर धर्म की यात्रा पर निकले हो तो धार्मिक। अगर पुण्य कर रहे हो तो पुण्यात्मा। एक परिभाषा मिलती है दिशा से। कुछ चुन लिया, चुनाव के साथ ही साथ तुम्हें लगता है कि तुम कुछ हो। स्पष्ट प्रतीत होने लगता है। और तुम्हारे चुनाव के कारण तुम्हारा अहंकार सघन होता है। इससे खतरा पैदा होगा।

जब अष्टावक्र कहते हैं, चुनाव ही छोड़ दो, सारे चुनाव छोड़ दो, सारा कर्तृत्व छोड़ दो, कर्ता का भाव छोड़ दो, तो तुम घबड़ाओगे: "इससे बिखराव तो न पैदा हो जायेगा?" बिखराव पैदा होगा। अहंकार के तल पर निश्चित होगा। क्योंकि अहंकार के तल पर तो बिखराव चाहिए ही।

अभी तुमने जिसको आत्मा कहा है, वह तुम्हारी आत्मा नहीं, वह तो तुम्हारे कर्मों, चुनावों का जोड़ है, अहंकार है। अहंकार तो बिखरेगा। अगर तुम सब दिशाओं में अपने को मुक्त छोड़ दो, स्वच्छंद--वही तो देशना है अष्टावक्र की--स्वच्छंद! मत चुनो, मत भविष्य का विचार करो। मत तय करो कि क्या होना है! जीयो क्षण-क्षण। जहां ले जाये जीवन वैसे जीयो। सूखे पत्ते की तरह हो जाओ अंधड़-आंधी में। यह जो जीवन का अंधड़ चल रहा है, इसमें तुम सूखे पत्ते हो जाओ। अब सूखे पत्ते को तो बिखराव होगा ही। सूखे पत्ते का अहंकार बच तो सकता ही नहीं। सूखा पत्ता जा रहा था पूर्व को और आंधी बहने लगी पश्चिम को--तो सूखे पत्ते के अहंकार का क्या होगा? और सूखा पत्ता तड़पेगा: "यह तो गलत हो रहा है! जो नहीं चाहिए था, वह हो रहा है! मैं कुछ और चाहता था। यह तो असफलता हो रही है, यह तो विषाद का क्षण आ गया। तो मैं हार गया।" तो अहंकार टूटेगा। और सूखे पत्ते इतने चालाक भी नहीं हैं कि अपने अहंकार को बचाने के लिए नई-नई तरकीबें खोजते रहें। आदमी तो बड़ा चालाक है।

मैंने सुना, मुल्ला नसरुद्दीन एक राह से गुजर रहा था और एक बड़े पहलवान जैसे दिखाई पड़नेवाले आदमी ने जोर से उसकी पीठ पर धक्का मारा, धौल जमा दी। वह चारों खाने चित्त जमीन पर गिर पड़ा। उठकर खड़ा हुआ। बड़ा नाराज था। लेकिन नाराजगी एक क्षण में हवा हो गई--देखा कि पहलवान खड़ा है, एक झंझट की बात है। फिर भी लेकिन आदमी तो कुशल है, चालाक है। उसने कहा: "महानुभाव! यह आपने मजाक में किया है या गंभीरता से?" उस पहलवान ने कहा: मजाक में नहीं, गंभीरता से किया है। मुल्ला ने कहा फिर ठीक है, क्योंकि ऐसी मजाक मुझे पसंद नहीं। अगर गंभीरता से किया है, फिर कोई हर्जा नहीं। और चल पड़ा। अब झंझट लेनी ठीक नहीं है। इतना बहाना काफी है अपने अहंकार को बचाने को।

आदमी चालाक है बहुत। मजा यह है कि अहंकार को तो रोज ही बिखराव के क्षण झेलने पड़ते हैं। तुम गौर करो! तुम कुछ चाहते हो, कुछ होता है। फिर भी तुम समझा लेते हो। कह देते हो: "दूसरा बेईमान था, इसलिए जीत गया; हम ईमानदार थे, इसलिए हार गए।" अहंकार की हार तुम कभी स्वीकार नहीं करते। तुम कहते हो: "सारी दुनिया मेरे खिलाफ है, इसलिए। अकेला पड़ गया हूं, इसलिए। या मैंने पूरा उपाय ही कहां किया था; मैं तो ऐसे ही गैर-गंभीरता में ले रहा था।" तुम कुछ न कुछ मार्ग खोज लेते हो और अहंकार को बचा लेते हो।

अगर तुम जीवन को गौर से पढ़ो, जीवन के पाठ को ठीक से पढ़ो, तो जीवन रोज तोड़ रहा है। क्योंकि जीवन को तुम्हारे चुनावों से कुछ लेना-देना नहीं। तुम्हारे चुनाव वैयक्तिक हैं; इस समग्र को उनसे कोई प्रयोजन नहीं है। तुम्हारे चुनाव अगर कभी-कभी हल भी हो जाते हैं तो संयोग समझना। यह संयोग की बात है कि तुमने कुछ ऐसी बात चुन ली जिस तरफ अस्तित्व अपने-आप जा रहा था, बस। भाग्यवशात! बिल्ली निकलती थी और छींका टूट गया। यह संयोग की बात समझना; कोई बिल्ली के लिए छींका नहीं टूटता है। यह बिलकुल सांयोगिक था कि तुमने चुन ली ऐसी बात जो होने जा रही थी। लेकिन जब तुम्हारी चुनी हुई बात हो जाती है, तब तुम बड़ी अकड़ से भर जाते हो कि देखा, करके दिखा दिया! और जब तुम्हारी बात टूटती है...और तुम्हारी बात सौ में निन्यानबे मौकों पर टूटती है! क्योंकि संयोग तो कभी सौ में एकाध हो सकते हैं, अपवाद हो सकते हैं। उन निन्यानबे मौकों पर तुम कुछ न कुछ तर्कजाल फैलाकर अपने को समझा लेते हो। कहीं दोष देकर किसी तरह अपने को निवृत्त कर लेते हो।

जीवन को कोई ठीक से देखेगा तो अहंकार निर्मित ही नहीं हो सकता; बिखराव का तो सवाल ही दूर है। और अगर तुमने अष्टावक्र की बात मानकर चुनावरहितता का प्रयोग किया तो निश्चित बिखराव होगा। लेकिन एक बात खयाल रखना, तुम्हारा नहीं है बिखराव। तुम्हें जैसा परमात्मा ने बनाया है, वैसे का तो कोई बिखराव नहीं है। परमात्मा ने तुम्हें अहंकार शून्य बनाया; अहंकार तुम्हारा ही निर्मित किया हुआ है। वही टूटेगा। जो तुमने बनाया है, वही टूटेगा। जो तुमने नहीं बनाया है, वह कभी टूटनेवाला नहीं है। हां, अहंकार बिखर जायेगा। और जब अहंकार बिखरेगा तभी तुम्हें आत्मा का पहली दफे पता चलेगा। और वही वास्तविक बात है।

तो पूछते हो--ठीक पूछते हो--कि "तब क्या विक्षेपरहितता की अवस्था में जीवन के बिखराव का खतरा नहीं खड़ा होगा?"

अष्टावक्र कहते हैं कि ज्ञान की जो परम अवस्था है, विक्षेपरहित है। विक्षेपरहित का अर्थ होता है, वहां कोई "डिस्ट्रेक्शन" नहीं। इसका मतलब ही यह हुआ कि अब तुम कुछ चुनाव ही नहीं करते। नहीं तो विक्षेप होगा ही।

समझो, तुम ध्यान करने बैठ गये और एक कुत्ता आकर भौंकने लगा--विक्षेप पैदा होगा। क्योंकि तुम एकाग्र होने की चेष्टा कर रहे थे, अब यह कहां बेवक्त कुत्ता आ गया! अब तुम समझाते हो कि न मालूम किस जन्म में कौन-सा कर्म किया है, इस कुत्ते के साथ कौन-सा दर्ुव्यवहार किया था कि मैं ध्यान करने बैठता हूं तब इन सज्जन को भौंकने की याद आयी है। अब कभी और भौंक लेते, चौबीस घंटे पड़े हैं! तुम ध्यान करने बैठे कि बच्चा रोने लगा। तुम्हें बड़ी हैरानी होती है कि बच्चे को पता कैसे चल जाता है कि जब मैं ध्यान करने बैठता हूं तभी रोने लगता है। अबोध बच्चा, झूले में पड़ा हो, वह रोने लगता है। यह तुम्हारे लिए नहीं रो रहा है। लेकिन अभी तुम ध्यान करने बैठे, तुमने एक चुनाव कर लिया कि मैं एकाग्र रहूंगा। एकाग्रता के कारण ही विक्षेप पैदा हो रहा है। तुमने चाहा एकाग्र रहूंगा; और इस जगत में हजारों घटनाएं घट रही हैं! सड़क पर तांगे-घोड़े दौड़ रहे, कारें आवाज कर रहीं, ट्रक जा रहे, हवाई जहाज उड़ रहे, पत्नी चौके में खाना बना रही, बर्तन गिर रहे, बच्चे रो रहे, शोरगुल बच्चे कर रहे, कुत्ते भौंक रहे, कौवे चिल्ला रहे--सब तरफ हजार-हजार चीजें हो रही हैं। तुमने जैसे ही तय किया कि मैं ध्यान में बैठूंगा, अब मैं कोई अपने मन में विकल्प न आने दूंगा, अपने मन में किसी चीज से बाधा न पड़ने दूंगा, निर्बाधा घड़ी भर बैठूंगा--बस बाधा आनी शुरू हो गई! कैसे बाधा आ रही है?

अष्टावक्र कहते हैं: उसने निर्बाधा रहने का जो तय किया, उससे आ रही है।

इसलिए अष्टावक्र एकाग्रता के पक्षपाती नहीं हैं, न मैं हूं। एकाग्रता का मेरा कोई पक्षपात नहीं। एकाग्रता अहंकार का ही फैलाव है। और वास्तविक ध्यान का एकाग्रता से कोई संबंध नहीं है। क्योंकि एकाग्रता से तो विक्षेप पैदा होता है, डिस्ट्रेक्शन पैदा होता है। इससे तो और अशांति बढ़ती है। फिर ध्यान का क्या अर्थ है? साधारण किताबों में--उन लोगों ने जो किताबें लिखी हैं, जिन्होंने ध्यान को बिलकुल जाना नहीं--तुम यही

पाओगे, वे लिखते हैं: ध्यान यानी एकाग्रता। उन्हें कुछ भी पता नहीं है। उन्हें क, ख, ग भी पता नहीं है। ध्यान यानी एकाग्रता! बिलकुल नहीं, कभी नहीं, हजार बार नहीं! ध्यान का अर्थ ही होता है: विक्षेपरहितता। एकाग्रता तो कैसे हो सकता है? एकाग्रता का तो अर्थ होगा: विक्षेप पैदा हुए।

ध्यान का अर्थ होता है: अनेकाग्र। ध्यान का अर्थ होता है: जो होगा होने देंगे। बच्चा रोयेगा, रोने देंगे। कुत्ता भौंकेगा, भौंकने देंगे। हम हैं कौन बाधा डालनेवाले? इस विराट अस्तित्व में हम विराम लगानेवाले कौन हैं? मैं कौन हूं जो कहूं कि कुत्ता अभी न भौंके और कौवे अभी कांव-कांव न करें और बच्चे अभी रोयें नहीं, गाड़ियां अभी रास्ते पर न चलें, हवाई जहाज आकाश में न उड़ें? मैं कौन हूं विराम लगानेवाला? यह तो बड़े अहंकार की घोषणा है कि मैं विराम लगा दूं। नहीं, मैं कोई भी नहीं हूं! जो होगा मैं उसे स्वीकार करूंगा। कुत्ता भौंकता रहेगा, मैं राजी रहूंगा। कुत्ते के भौंकने की आवाज सुनाई पड़ेगी, गूंजेगी मेरे अंतस्तल में, सुनता रहूंगा, लेकिन मेरा चूंकि कोई विरोध नहीं है तो विक्षेप पैदा नहीं होगा। मेरी कोई मांग नहीं है कि कुत्ता न भौंके, तो मुझे कोई चोट न लगेगी।

जैसे ही तुमने एकाग्र होना चाहा कि तुमने घाव बना लिया। देखा तुमने, कभी पैर में घाव हो जाता है तो दिन भर उसी पर चोट लगती है। बच्चा आकर पैर पर चढ़ जाता है। तुम चकित होते हो कि इतने दिन हो गये, जिंदगी हो गई, कभी यह बच्चा पैर पर नहीं चढ़ता था, आज पैर पर चढ़ गया! राह से निकलते हो, किसी का धक्का लग जाता है। दरवाजे का धक्का लग जाता है। चीजें गिर पड़ती हैं। ये रोज ही गिरती थीं और यह बच्चा अनेक बार चढ़ा था; लेकिन कभी पता न चला था, क्योंकि घाव न था। आज घाव है तो पता चलता है। कोई ऐसा थोड़े ही है कि तुम्हारा घाव देखकर सारी दुनिया तुम्हारे पैर पर गिरी पड़ रही है। घाव का किसी को पता नहीं है। जब तुम एकाग्र होने को बैठ गये और तुमने चेष्टा की, बस घाव पैदा हो गया। अब छोटी-छोटी चीजें बाधा डालने लगेंगी।

तुमने खयाल किया होगा, ध्यान करने बैठो, कहीं चींटी सरकने लगती है--अभी तक नहीं सरक रही थी, जिंदगी भर नहीं सरकी थी--कहीं खुजलाहट उठती है, कहीं लगता है कि सिर में कोई चींटी चढ़ गई, कहीं पैर सो जाता है। हजार काम एकदम शुरू हो जाते हैं; जैसे सारा संसार तुम्हारे ध्यान के विपरीत है। ध्यान के विपरीत नहीं है, एकाग्रता के विपरीत है। संसार विपरीत है, ऐसा कहना ठीक नहीं; एकाग्रता में तुमने संसार के विपरीत होने की घोषणा कर दी। एकाग्रता की चेष्टा में तुमने कह दिया: मैं दुश्मन हूं। तुमने कह दिया कि अब मैं नहीं चाहता, न चींटियां चलें, न हवाएं चलें, न पक्षी बोलें, न रास्ते पर कोई चले, न बर्तन गिरें--तुमने सारी दुनिया को कह दिया कि अभी मैं ध्यान कर रहा हूं, सब ठहर जाये! तुमने घोषणा कर दी वैपरित्य की। विक्षेप पैदा होगा। हजार-हजार विक्षेप पैदा होंगे। इससे सिर्फ क्रोध पैदा होगा। अशांति पैदा होगी।

ध्यान का वास्तविक अर्थ है: "अनेकाग्रता! नान कंसेनट्रेशन! शांत होकर, शिथिल होकर बैठ गये। जो होता है, होता है। स्वीकार कर लिया।"

इस स्वीकार की दशा में एक चीज बिखरेगी, वह अहंकार है; और एक चीज सम्हलेगी, वह तुम हो। एक चीज जायेगी, वह अहंकार है; एक चीज आयेगी--तुम जाओगे, परमात्मा आयेगा; या तुम्हारा झूठा रूप जायेगा और तुम्हारा वास्तविक रूप आयेगा।

जब तुम्हारा कोई चुनाव नहीं तब जीवन में एक सहजता आती है। साधुओं को कबीर ने कहा है: साधो सहज समाधि भली।

यह कौन-सा मुकाम है!

फलक नहीं, जमीं नहीं

कि शब नहीं, सहर नहीं

कि गम नहीं, खुशी नहीं

कहां यह लेकर आ गई
हवा तेरे दयार की!

अगर तुम ऐसे चुप होकर बैठ गये, अनेकाग्र होकर बैठ गये, तो एक दिन पाओगे--

यह कौन-सा मुकाम है!
फलक नहीं, जमीं नहीं
कि शब नहीं, सहर नहीं
कि गम नहीं, खुशी नहीं
कहां यह लेकर आ गई
हवा तेरे दयार की!
तुम्हीं थे मेरे रहनुमां
तुम्हीं थे मेरे हमसफर
तुम्हीं थे मेरी रोशनी
तुम्हीं ने मुझको दी नजर
बिना तुम्हारे जिंदगी
शमा है एक मजार की!

तुम छोड़ दो अपने को परमात्मा के हाथों में। निश्चित कुछ बिखरेगा। जो बिखरेगा वह बिखरने ही के लिए है, बिखरना ही चाहिए। वह बिखरे, यही शुभ है। और कुछ सम्हलेगा। जो सम्हलना चाहिए, वही सम्हलेगा।

अभी गलत तो सम्हला है, सही सोया है। गलत को जाने दो, ताकि सही जाग सके। और सही तभी जागता है जब गलत हट जाये। असार को असार की तरह देख लेने में सार का जन्म है। असत्य को असत्य की तरह पहचान लेने में सत्य की पहली किरण है।

तीसरा प्रश्न: प्रभु को पाने का मार्ग क्या है? प्यास तो है, पर पथ नहीं मिलता। पथ-प्रदर्शन करें!

प्यास हो नहीं सकती। कहते हो प्यास है; है नहीं! क्योंकि प्यास ही तो पथ है। प्यास हो तो पथ मिल ही गया। प्यास से अलग पथ कहां! ये पथ इत्यादि की बातें तो प्यास की कमी के कारण ही पैदा होती हैं। प्यास नहीं तो हम पूछते हैं: पथ कहां है? प्यास हो, ज्वलंत प्यास हो, रोआं-रोआं जलता हो, आग लगी हो विरह की, लपटें उठी हों खोज की--कोई पथ नहीं पूछता। प्यास पथ बना देती है।

ऐसा समझो, घर में आग लग गई हो, तब तुम थोड़े ही पूछते हो कि द्वार कहां, मुख्य द्वार कहां, कहां से निकलूं, कहां से न निकलूं? खिड़की से कूद जाते हो। फिर तुम यह थोड़े ही देखते हो कि यह मुख्य द्वार नहीं है--जब घर में आग लगी हो--यह खिड़की से कूद रहा हूं, यह शिष्टाचार के विपरीत है! तुम फिर नक्शा थोड़े ही पूछते हो कि नक्शा कहां है? तुम फिर मार्गदर्शन थोड़े ही चाहते हो। तुम फिर रुकते थोड़े ही हो किसी से पूछने को। घर में आग लगी हो तो तुम्हारे प्राण ऐसे आकुल हो जाते हैं निकलने को बाहर कि तुम राह खोज लेते हो। तुम्हारी आकुलता राह बन जाती है।

राह इत्यादि की बातें तो लोग फुरसत में पूछते हैं; असल में जब निकलना नहीं होता तब पूछते हैं, तब वे कहते हैं: "कैसे निकलें, पहले राह तो पता हो। मार्गदर्शन तो हो।" फिर मार्गदर्शन भी मिल जाये तो वे पूछते हैं: "क्या पक्का है कि यह मार्गद्रष्टा सही है? फिर और भी तो मार्गद्रष्टा हैं, अकेले यही तो नहीं। कौन सही है? पहले यह तो तय हो जाये। बुद्ध सही कि महावीर सही कि कृष्ण कि क्राइस्ट कि मुहम्मद--कौन सही है? कुरान सही कि वेद सही, कौन सही है? पहले यह तो पक्का हो जाये। निकलेंगे जरूर। निकलना है। लेकिन जब तक मार्ग साफ न हो, सुनिश्चित न हो, तब तक कैसे चलें?" तब तक तुम घर में बैठे हो मजे से, अपना काम-धाम जारी रखे हो।

ये तरकीबें हैं बचाव की।

तुम कहते हो: "प्रभु को पाने का मार्ग क्या है? प्यास तो है, पर पथ नहीं मिलता।"

नहीं, जरा अपनी प्यास को फिर से टटोलना। जरा खोलकर फिर देखना--प्यास नहीं होगी। प्यास होती तो मार्ग क्यों न मिलता? प्यास होती तो तुम दांव लगा देते। प्यास होती तो तुम मार्ग खोज लेते। क्योंकि मार्ग तो है; तुम जहां खड़े हो वहीं से मार्ग जाता है। लेकिन जब तक प्यास नहीं, तब तक तुम्हारा उस मार्ग से संबंध नहीं हो पाता है।

तो पहली बात मैं कहना चाहूंगा: बजाय मार्ग खोजने के प्यास को गहरा करो। गहराओ। प्यास को जलाओ। ईंधन बनो कि प्यास की लपटें जोर से उठें। जब तक प्यास विक्षिप्त न हो जाये, जब तक ऐसी घड़ी न आ जाये कि तुम सब दांव पर लगाने को राजी हो, तब तक समझना प्यास नहीं है। अगर मैं तुमसे पूछूं कि क्या दांव पर लगाने को राजी हो, प्यास है तो...?

सिकंदर भारत से वापस लौटता था, तब वह एक फकीर को मिलने गया। और उस फकीर ने सिकंदर को देखा और वह हंसने लगा। तो सिकंदर ने कहा: "यह अपमान है मेरा। जानते हो मैं कौन हूं? सिकंदर महान!" वह फकीर और जोर से हंसने लगा। उसने कहा कि "मुझे तो कोई महानता दिखाई नहीं पड़ती। मैं तो तुम्हें बड़ा दीन-दरिद्र देखता हूं।" सिकंदर ने कहा कि "या तो तुम पागल हो और या तुम्हारी मौत आ गई। सारी दुनिया को मैंने जीत लिया है।" उस फकीर ने कहा, "छोड़ यह बकवास! मैं तुझसे पूछता हूं, अगर मरुस्थल में तू भटक जाये और प्यास तुझे जोर की लगी हो और चारों तरफ आग बरसती हो और कहीं हरियाली न दिखाई पड़ती हो, कहीं किसी मरूद्यान का पता न चलता हो--उस समय एक गिलास पानी के लिए तू इस राज्य में से कितना दे सकेगा?"

सिकंदर ने थोड़ा सोचा। उसने कहा: "आधा राज्य दे दूंगा।" फकीर ने कहा: "लेकिन आधे में मैं बेचने को राजी न होऊंगा।" सिकंदर ने फिर सोचा। उसने कहा कि ऐसी हालत अगर होगी तो पूरा राज्य दे दूंगा। तो वह फकीर हंसने लगा। उसने कहा: "एक गिलास पानी कुल जमा मूल्य है तेरे राज्य का। और ऐसे ही अकड़ा जा रहा है। वक्त पड़ जाये तो एक गिलास पानी में निकल जायेगी सब अकड़। यह राज्य तेरी प्यास भी तो न बुझा सकेगा उस क्षण में। चिल्लाना खूब--महान सिकंदर, महान सिकंदर! कुछ न होगा। मरुस्थल बिलकुल न सुनेगा।"

एक गिलास पानी में राज्य चला जाता हो...! अगर तुमसे कोई कहे कि परमात्मा मिलने को तैयार है, तुम क्या खोने को तैयार हो? तुम क्या दांव पर लगाने को तैयार हो? सिकंदर फिर भी हिम्मतवर था, उसने कहा, आधा राज्य दे दूंगा एक गिलास पानी के लिए। तुम एक गिलास परमात्मा के लिए क्या देने को राजी हो? तुम शायद आधी दुकान भी न दोगे। तुम शायद आधा मकान भी न दोगे। तुम शायद अपनी आधी तिजोड़ी भी न दोगे। तुम कहोगे: "प्रभु, अभी और बहुत काम करने हैं, तिजोड़ी अभी कैसे दे दूं? अभी लड़की की शादी करनी है, अभी लड़का युनिवर्सिटी में पढ़ रहा है। दे दूंगा एक दिन, लेकिन अभी नहीं दे सकता।" तुम क्या देने को राजी हो?

कभी अपने मन में पूछना, अगर प्रभु द्वार पर खड़ा हो और कहे कि मैं मिलने को राजी हूं, तुम क्या देने को राजी हो? तब तुम क्या दे दोगे निकालकर? तुम्हारे हाथ डरेंगे, खीसे में न जायेंगे।

रवींद्रनाथ की एक बड़ी प्रसिद्ध कविता है। एक भिखारी, जैसा रोज भिक्षा मांगने जाता था वैसा ही भिक्षा मांगने निकला। पूर्णिमा का दिन है, धर्म का कोई दिन है और उसे बड़ी आशा है। और जैसे भिखारी जब भिक्षा मांगने जाते हैं तो घर से थोड़ा-सा अपनी झोली में डालकर निकलते हैं--स्वाभाविक है, जरूरी है। झोली में कुछ पड़ा हो तो लोग दे देते हैं, नहीं तो देते भी नहीं। झोली में पड़ा हो तो उनको जरा संकोच आता है कि दूसरों ने दे दिया है तो हम भी दे दें। जरा बदनामी का भी तो डर लगता है। मंदिर में पुजारी तक जब आरती के बाद पैसे के लिए थाली फिराता है तो उसमें कुछ पैसे डाल रखता है। क्योंकि अगर थाली खाली हो तो तुम्हारी हिम्मत बिलकुल टूट जायेगी; तुम एक पैसा भी न डाल पाओगे। तुम कहोगे: किसी ने भी नहीं डाला तो हमीं

कोई बुद्धू हैं! अगर और भी बुद्धू बन चुके हैं, कुछ पैसे पड़े हैं, तो फिर तुम्हें ऐसा लगता है कि अब न डालें तो जरा कंजूसी मालूम होगी। तो एकाध पैसा तुम डाल देते हो। वह भी खोटे पैसे लेकर लोग मंदिर आते हैं। छोटी से छोटी चिल्लड़ मांगते हैं।

निकला था थोड़े-से पैसे डालकर--थोड़े चने के दाने, थोड़े गेहूं, थोड़े चावल और राह पर आया है कि देखा, राजा का रथ आ रहा है धूल उड़ाता। सुबह सूरज निकला है और उसका स्वर्ण-रथ चमक रहा है। वह तो बड़ा गदगद हो गया। उसने कहा, ऐसा कभी सौभाग्य न मिला था, क्योंकि राजा के महल में तो कभी प्रवेश ही नहीं मिलता था, भिक्षा मांगने का सवाल ही न था। आज राजा राह पर मिल गया है तो खड़ा हो जाऊंगा बीच में झोली फैलाकर, धन्यभाग हैं मेरे! कुछ न कुछ आज मिलने को है।

रथ आया, रुका भी। रुका तो भिखारी घबड़ाया भी। कभी राजा के साथ साक्षात्कार भी न हुआ था। और राजा नीचे उतरा भी। उतरा तो भिखारी बिलकुल ही कंप गया। और इसके पहले कि भिखारी होश जुटा पाता, अपनी झोली फैला पाता, राजा ने अपनी झोली उसके सामने फैला दी। और उसने कहा: "क्षमा करो, ज्योतिषियों ने कहा है कि अगर मैं भिक्षा मांगूं तो राज्य बच सकता है, अन्यथा राज्य पर बड़ा संकट आ रहा है। और ज्योतिषियों ने कहा है, आज सुबह मैं रथ पर निकलूं और जो आदमी पहले मिले, उससे भिक्षा मांग लूं। क्षमा करो, माना कि तुम भिखारी हो और तुम्हें देने में बड़ी कठिनाई होगी, लेकिन अब कोई उपाय नहीं है, राज्य को बचाने का सवाल है। कुछ न कुछ दे दो, इंकार मत कर देना।"

तो भिखारी बड़ा घबड़ाया। कभी उसने दिया तो था ही नहीं, मांगा ही मांगा था। देने की कोई आदत ही न थी, याद ही न आती थी कि कभी उसने कुछ दिया हो।

तुम जरा उसका संकट देखो। ऐसे ही संकट में तुम पड़ जाओगे, परमात्मा अगर झोली फैलाकर सामने खड़ा हो जाये। तुमने भी मांगा ही मांगा है। प्रार्थना जो भी तुमने की हैं अब तक, सब मांगों से भरी थीं। तुमने देने के लिए कभी प्रार्थना की? तुम कभी प्रभु के द्वार पर गये कि प्रभु, मैं अपने को देना चाहता हूं, तू ले ले, कृपा करना और मुझे स्वीकार कर ले! तुम कुछ देने गये? तुम सदा मांगने गये। तुम भिखमंगे की तरह गये।

वह भिखमंगा बहुत घबड़ा गया। इंकार भी न कर सका क्योंकि राज्य पर संकट है और राजा अगर नाराज हो जाये...। तो उसने झोली में हाथ डाला। हाथ डालता है, मुट्ठी भरके दे सकता था, लेकिन मुट्ठी भरने की आदत ही न थी। मजबूरी में एक चावल का दाना निकालकर उसने डाला। डालना कुछ था, डालना पड़ रहा था--राजा सामने खड़ा था। एक चावल का दाना!

बात आई-गई हो गई। राजा ने झोली बंद की, बैठा रथ पर और चला गया। धूल उड़ती रह गई। तब उसे होश आया कि अरे, मैं तो मांगना ही भूल गया; यह तो उलटा ही हो गया! बड़ा दुखी! दिन भर में खूब भीख मिली, क्योंकि जो देता है वह खूब पाता भी है। हालांकि उसने बहुत कुछ न दिया था, मगर फिर भी दिया तो था ही। भिखमंगे के लिए उतना ही बहुत था। उस दिन खूब भीख मिली; लेकिन फिर भी वह उदास था। एक दाना तो कम था! लाख मिल जाये, इससे क्या फर्क पड़ता है, एक दाना तो कम ही रहेगा! और यह भी कैसा दुर्भाग्य का क्षण कि राजा के साथ मुलाकात हुई तो मांगने की जगह उलटा देना पड़ा। बड़ी पीड़ा थी। बड़े बोझ से भरा था। झोला बहुत भर गया था उसका, लेकिन वह खुशी न थी। वह घर लौटा। पत्नी दौड़ी। ऐसा झोला कभी भरकर न आया था। पत्नी बड़ी खुश हो गई। और उसने कहा: "धन्यभाग, आज बहुत कुछ मिला है।" उसने कहा: "छोड़ पागल, तुझे पता नहीं आज क्या गंवाया है! यह कुछ भी नहीं है। एक तो अपने पास का एक दाना गया और इतना ही नहीं, जो मिलना था वह तो मिल ही न पाया। राजा के साथ मिलन हो गया और कुछ मांग न पाया। आज जैसा दुर्भाग्य का क्षण मेरे जीवन में कभी था ही नहीं।"

बड़ी उदासी से उसने झोली उलटायी और तब वह छाती पीटकर रोने लगा, क्योंकि उस झोली में उसने देखा कि एक चावल का दाना सोने का हो गया था। तब वह छाती पीटकर रोने लगा कि मैंने सब क्यों न दे दिया, तो सब सोने का हो जाता।

देने से सोने का होता है। मांगने से तो सोना भी मिट्टी हो जाता है। देने से मिट्टी भी सोना हो जाती है। इसलिए तो शास्त्र दान की इतनी महिमा गाते हैं।

अगर प्यास है तो देने की तैयारी करो; और छोटी-मोटी चीजें देने से न चलेगा, स्वयं को देना पड़ेगा। क्योंकि छोटी-मोटी चीजें तो मौत तुमसे छीन लेगी, उनको देकर तुम कोई परमात्मा पर आभार नहीं कर रहे हो। जो मौत तुमसे न छीन सकेगी वही देने की तैयारी हो तो परमात्मा अभी मिल जाये, इसी क्षण मिल जाये। वह द्वार पर खड़ा है, दस्तक भी दे रहा है; लेकिन तुम डरते हो कि कहीं कोई भिखमंगा न खड़ा हो! तुम अपने बेटे को भेज देते हो कि कह दो कि पिता जी बाहर गये हैं।

तुम कहते हो कि प्यास है। मैं मान नहीं सकता। क्योंकि जिसको भी कभी प्यास पैदा हुई, परमात्मा प्यास के पीछे-पीछे चला आया है।

ओ गीले नयनोंवाली ऐसे आंज नयन
जो नजर मिलाये तेरी मूरत बन जाये
ओ प्यासे अधरों वाली इतनी प्यास जगा
बिन जल बरसाये यह घनश्याम न जा पाये

रेशम के झूले डाल रही है झूल धरा
आ-आ कर द्वार बुहार रही है पुरवाई
लेकिन तू धरे कपोल हथेली पर बैठी
है याद कर रही जाने किसकी निठुराई!
जब भरी नदी, तू रीत रही
जी उठी धरा, तू बीत रही
ओ सोलह सावनवाली ऐसे सेज सजा
घर लौट न पाये जो घूंघट से टकराये
ओ प्यासे अधरोंवाली इतनी प्यास जगा
बिन जल बरसाये यह घनश्याम न जा पाये

बादल खुद आता नहीं समुंदर से चलकर
सुनो--
बादल खुद आता नहीं समुंदर से चलकर
प्यास ही धरा की उसे बुलाकर लाती है
जुगनू में चमक नहीं होती केवल तम को
छूकर, उसकी चेतना ज्वाला बन जाती है
सब खेल यहां पर है धुन का
जग ताना-बाना है गुण का
ओ सौ गुणवाली ऐसी धुन की गांठ लगा
सब बिखरा जल सागर बन-बनकर लहराये
ओ प्यासे अधरोंवाली इतनी प्यास जगा
बिन जल बरसाये यह घनश्याम न जा पाये

घनश्याम तो घिरे हैं, बादल तो उमड़-घुमड़ रहे हैं, मेघ तो सदा से मौजूद रहे हैं--तुमने पुकारा नहीं। तुम वस्तुतः प्यासे नहीं। तुम्हारी धरा अभीप्सा से डांवाडोल नहीं। तुम्हारे हृदय में ऐसी पुकार नहीं उठी है कि उस पर सब न्योछावर हो। इसीलिए चूक हो रही है।

मार्ग की पूछते हो? पथ की पूछते हो? ये सब गणित के हिसाब हैं।

बुद्ध से किसी ने पूछा है कि आप कहते हैं, बुद्धपुरुष केवल मार्ग दिखाते हैं; तो फिर बुद्धपुरुषों के सान्निध्य और सत्संग का वस्तुतः लाभ क्या है? तो बुद्ध ने कहा: "लाभ है कि प्यास लग जाये; लाभ है कि उनके पास धुन जग जाये।"

बुद्ध को देखकर अगर तुम्हारे भीतर प्यास जग जाये, तुम्हारे भीतर एक अभीप्सा का आरोहण हो कि यही मैं भी हो सकता हूं, दांव पर लगाना है! कंजूसी से न चलेगा, आधे-आधे न चलेगा--दांव पर पूरा ही लगाना होगा। परमात्मा के साथ होशियारी न चलेगी।

मैंने सुना है, इनकमटैक्स दफ्तर में एक आदमी का पत्र आया। एक अमरीकन अखबार में मैं कल ही पढ़ रहा था। उस आदमी ने लिखा है कि क्षमा करें, बीस साल पहले मैंने कुछ धोखाधड़ी की थी इनकमटैक्स देने में और तब से मैं ठीक से सो नहीं पाया। तो ये पचास डॉलर भेज रहा हूं। अब क्षमा करो और मुझे सोने दो। अगर नींद न आयी तो शेष पचास डॉलर भी भेज दूंगा।

ऐसे आधे-आधे न चलेगा। किसको धोखा दे रहे हो? अब इनकमटैक्स दफ्तर को तो पता भी नहीं है, बीस साल हो गये। बात भी आयी-गई हो गई; पता तो तुम्हीं को है, लेकिन फिर भी पचास डॉलर भेज रहे हो! और अगर नींद न आयी तो बाकी पचास भी भेज देंगे। तुम्हें तो पता ही है।

देखो, धोखा और सबको दे देना, परमात्मा को मत देना। क्योंकि परमात्मा को दिया गया धोखा फिर तुम्हें सोने न देगा, जागने भी न देगा; उठने न देगा, बैठने न देगा। यह परमात्मा को दिया गया धोखा तो अपने ही भविष्य को दिया गया धोखा है। यह तो अपने ही अंतरतम को दिया गया धोखा है। और हम सब यह धोखा देते हैं। फिर हम पूछते हैं, राह नहीं मिलती। और राह आंख के सामने है। तुम जहां खड़े हो वहीं राह है। सच तो यह है कि राहें बहुत हैं, तुम अकेले हो चलनेवाले। इतनी राहें हैं। प्रेम से चलो, ध्यान से चलो, भक्ति से चलो, ज्ञान से चलो, योग से चलो--कितनी राहें हैं! इतनी तो राहें हैं! इतने तो उपाय हैं! मगर तुम चलते नहीं; तुम बैठे हो चौरस्ते पर, जहां से सब राहें जाती हैं।

पुराने शास्त्र कहते हैं: आदमी चौरस्ता है। जैन शास्त्रों में बड़ा महत्वपूर्ण एक सिद्धांत है आदमी के चौरस्ता होने का। कहते हैं कि देवता को भी अगर मोक्ष जाना हो तो फिर आदमी होना पड़ता है, क्योंकि आदमी चौरस्ते पर है। देवताओं ने तो एक रास्ता पकड़ लिया, स्वर्ग पहुंच गये। स्वर्ग तो टर्मिनस है--विक्टोरिया टर्मिनस। वहां तो गाड़ी खतम। वहां से आगे जाना का कोई उपाय नहीं है, वहां तो रेल की पटरी ही खतम हो जाती है। अब अगर कहीं और जाना हो, मोक्ष जाना हो, तो लौटना पड़ेगा आदमी पर। आदमी जंक्शन है। तो अदभुत बात कहते हैं जैन शास्त्र कि देवताओं को भी अगर मोक्ष जाना हो...। किसी न किसी दिन जाना ही होगा। क्योंकि जैसे आदमी दुख से ऊब जाता है, वैसे ही सुख से भी ऊब जाता है। पुनरुक्ति उबा देती है। जैसे आदमी दुख से ऊब जाता है--ध्यान रखना--सुख ही सुख मिले, उससे भी ऊब जाता है। सच तो यह कि दुख-सुख दोनों मिलते रहें तो इतनी जल्दी नहीं ऊबता, थोड़ा कंधे बदलता रहता है--कभी सुख, कभी दुख--फिर स्वाद आ जाता है। दुख आ गया, फिर सुख की आकांक्षा आ जाती है। फिर सुख आया, फिर थोड़ा स्वाद लिया, फिर दुख आ गया, ऐसी यात्रा चलती रहती है। लेकिन स्वर्ग में तो सुख ही सुख है। स्वर्ग में तो सभी को सुख के कारण डायबिटीज हो जाता होगा--शक्कर ही शक्कर, शक्कर ही शक्कर! तुम जरा सोचो कैसी मितली और उलटी नहीं आने लगती होगी! सुख ही सुख, शक्कर ही शक्कर! लौटकर आना पड़ता है एक दिन।

आदमी चौराहा है। सब रास्ते तुमसे जाते हैं--नर्क, स्वर्ग, मोक्ष, संसार! सब रास्ते तुमसे जाते हैं। और तुम बैठे चौरस्ते पर पूछते हो कि रास्ता कहां है? न जाना हो न जाओ, कम से कम ऐसे उलटे-सीधे सवाल तो न पूछो। न जाना हो तो कोई तुम्हें भेज भी नहीं सकता। न जाना हो तो कम से कम ईमानदारी तो बरतो; यह कहो कि हमें जाना नहीं है इसलिए नहीं जाते; जब जाना होगा जायेंगे।

लेकिन आदमी बेईमान है। आदमी यह भी मानने को तैयार नहीं है कि मैं ईश्वर की तरफ अभी जाना नहीं चाहता। आदमी बड़ा बेईमान है! हाथ फैलाता संसार में है और कहता है, जाना तो ईश्वर की तरफ चाहते हैं, लेकिन करें क्या, रास्ता नहीं मिलता!

तो पतंजलि ने क्या दिया है? तो अष्टावक्र ने क्या दिया है? तो बुद्ध-महावीर ने क्या दिया? रास्ते दिये हैं। सदियों से तीर्थंकर और बुद्धपुरुष रास्ते दे रहे हैं; तुम कहते हो, रास्ता क्या है! इतने रास्तों में से तुमको नहीं मिलता; एकाध रास्ता मैं और बता दूंगा, तुम सोचते हो, इससे कुछ फर्क पड़ेगा? यही तुम बुद्ध से पूछते रहे, यही तुम महावीर से पूछते रहे, यही तुम मुझसे पूछ रहे हो, यही तुम सदा पूछते रहोगे। समय के अंत तक तुम यही पूछते रहोगे, रास्ता नहीं है।

लेकिन बेईमानी कहीं गहरी है: तुम जाना नहीं चाहते। पहले वहीं साफ-सुथरा कर लो। पहले प्यास को बहुत स्पष्ट कर लो।

मेरे अपने अनुभव में ऐसा है: जो आदमी जाना चाहता है, उसे पूरा संसार भी रोकना चाहे तो नहीं रोक सकता। तुम खोजना चाहो, खोज लोगे। और जब तुम्हारी प्यास बलवती होती है, लपट की तरह जलती है तो सारा अस्तित्व तुम्हें साथ देता है। अभी तुम खोजते तो धन हो और बातें परमात्मा की करते हो; खोजते तो पद हो, बातें परमात्मा की करते हो, खोजते कुछ हो, बातें कुछ और करते हो। बातों के जरिए तुम एक धुआं पैदा करते हो अपने आसपास, जिससे दूसरों को भी धोखा पैदा होता है, खुद को भी धोखा पैदा होता है। दूसरों को हो, इसकी मुझे चिंता नहीं; लेकिन खुद को धोखा पैदा हो जाता है। तुमको खुद लगने लगता है कि तुम बड़े धार्मिक आदमी हो, कि देखो कितनी चिंता करते हो, सोच-विचार करते हो!

मैंने सुना है कि लंका में एक बौद्ध भिक्षु हुआ। उसके बड़े भक्त थे, हजारों भक्त थे। जब वह मरने को हुआ, आखिरी दिन उसने खबर भेज दी अपने सारे भक्तों को कि तुम आ जाओ, अब मैं जाने को हूं। काफी उम्र, नब्बे वर्ष का हो गया था। कोई बीस हजार उसके भक्त इकट्ठे हुए। और उसने खड़े होकर पूछा कि देखो, अब मैं जाने को हूं, अब दुबारा मेरात्तुम्हारा मिलना न होगा, इसलिए अगर कोई मेरे साथ निर्वाण में जाना चाहता हो तो खड़ा हो जाये। लोग एक-दूसरे की तरफ देखने लगे। जो जिसको निर्वाण में भेजना चाहता था उसकी तरफ देखने लगा। लोग इशारा करने लगे कि चले जाओ। जो जिसको हटाना चाहता था, उससे कहने लगा: "अब क्या बैठे देख रहे हो! भई हमें तो अभी दूसरी झंझटें हैं, अभी और काम हैं; मगर तुम क्या कर रहे हो! तुम चले जाओ!"

कोई उठा नहीं। सिर्फ एक आदमी ने हाथ उठाया। वह भी उठा नहीं, हाथ उठाया। तो उस बौद्ध भिक्षु ने पूछा कि मैंने कहा, उठकर खड़े हो जायें, हाथ उठाने को नहीं कहा।

उसने कहा: "इसी डर से तो मैं सिर्फ हाथ उठा रहा हूं। मैं सिर्फ यह पूछना चाहता हूं कि रास्ता क्या है स्वर्ग जाने का, मोक्ष जाने का या निर्वाण जाने का? रास्ता बता दें आप। क्योंकि अभी इसी वक्त जाने की मेरी तैयारी नहीं है। मगर रास्ता पूछ लेता हूं, क्योंकि दुबारा आप मिलें न मिलें। रास्ता काम आयेगा; जब जाना चाहूंगा, रास्ते का उपयोग कर लूंगा।"

उस बौद्ध भिक्षु ने कहा कि रास्ता तो मैं आज कोई पचास साल से बता रहा हूं, कोई चलता नहीं। इसलिए मैंने सोचा कि अब जाते वक्त अगर कोई जाने को राजी हो तो लेता जाऊं। अब भी कोई राजी नहीं है।

तुम कहते हो: परमात्मा से मिलना है, प्यास है!

नहीं, अपनी प्यास को फिर जांचना। प्यास नहीं है, अन्यथा तुम मिल गये होते। परमात्मा और तुम्हारे बीच प्यास की कमी ही तो बाधा है। जलती प्यास ही जोड़ देती है। ज्वलंत प्यास ही पथ बन जाती है।

चौथा प्रश्न: मैं देख रहा हूं कि जब स्वामी आनंद तीर्थ अंग्रेजी में सूत्र-पाठ करते हैं तब आप उसे बड़े गौर से सुनते हैं और जब मा कृष्ण चेतना महागीता के सूत्र पढ़ती हैं, तब आप आंखें बंद कर लेते हैं! ऐसा फर्क क्यों?

उसका राज क्या है? ऐसा तो नहीं है कि मा चेतना के अशुद्ध पाठ और उच्चारण के कारण उन्हें नहीं सुनते? कृपापूर्वक इसके संबंध में हमें समझायें।

अंग्रेजी मैं ज्यादा जानता नहीं; सो गौर से सुनता हूं कि कहीं चूक न जाये, और संस्कृत मैं बिलकुल नहीं जानता; सो आंख बंद करके सुनने का मजा ले सकता हूं; चूकने को कुछ है नहीं।

"चेतना" के पाठ में कोई भूल-चूक नहीं, क्योंकि मैं भूल-चूक निकाल ही नहीं सकता; जानता ही नहीं हूं।

फिर, संस्कृत कुछ ऐसी भाषा है कि आंख बंद करके ही सुननी चाहिए। वह अंतर्मुखी भाषा है। अंग्रेजी बहिर्मुखी भाषा है; वह आंख खोलकर ही सुननी चाहिए।

अंग्रेजी पश्चिम से आती है। पश्चिम है बहिर्मुखी। पश्चिम ने जो भी पाया है वह आंख खोलकर पाया है।

संस्कृत पूरब के गहन प्राणों से आती है। पूरब ने जो भी पाया है, आंख बंद करके पाया है। पश्चिम का उपाय है: आंख खोलकर देखो। पूरब का उपाय है: अगर देखना है, आंख बंद करके देखो। क्योंकि पश्चिम देखता है पर को; पूरब देखता है स्व को। दूसरे को देखना हो, आंख खुली चाहिए; स्वयं को देखना हो, खुली आंख बाधा है। स्वयं को देखना हो, आंख बंद चाहिए।

संस्कृत तो स्वयं को देखनेवालों की भाषा है।

फिर अंग्रेजी, मौलिक रूप से अर्थ-निर्भर है। संस्कृत मौलिक रूप से ध्वनि-निर्भर है। अंग्रेजी में कोई संगीत नहीं। संस्कृत में संगीत ही संगीत है। पुरानी भाषायें काव्य की भाषायें हैं। संस्कृत, अरबी काव्य की भाषायें हैं। अगर कुरान को पढ़ना हो तो गाकर ही पढ़ा जा सकता है। कुरान काव्य है। संस्कृत काव्य है। उसे सुनना हो तो आंख बंद करके, मौन में, संगीत की भांति सुनना चाहिए। अर्थ-निर्भर नहीं है, ध्वनि-निर्भर है। अंग्रेजी अर्थ-निर्भर है।

अंग्रेजी विज्ञान की भाषा है। संस्कृत धर्म की भाषा है। अंग्रेजी में चेष्टा है प्रत्येक शब्द का साफ-साफ, स्पष्ट-स्पष्ट अर्थ हो। अंग्रेजी बड़ी गणितिक है। संस्कृत में एक-एक शब्द के अनेक अर्थ हैं। बड़ी तरलता है। बड़ा बहाव है! बड़ी सुविधा है।

अगर गीता अंग्रेजी में लिखी गई होती तो एक हजार टीकायें नहीं हो सकती थीं। कैसे करते! शब्दों के अर्थ तय हैं, सुनिश्चित हैं। गीता संस्कृत में है; एक हजार क्या, एक लाख टीकायें हो सकती हैं। क्योंकि शब्द तरल हैं। उनके अनेक अर्थ हैं। एक-एक शब्द के दस-दस बारह-बारह अर्थ हैं। जो मर्जी हो।

अंग्रेजी जैसी भाषायें सुननेवाले, पढ़नेवाले को बहुत मौका नहीं देतीं। तुम्हारे लिए कुछ छोड़तीं नहीं। जो है वह साफ बाहर है। संस्कृत-अरबी जैसी भाषायें पूरा नहीं कहतीं; बस शुरुआत मात्र है, फिर बाकी सब तुम पर छोड़ देती हैं। बड़ी स्वतंत्रता है। फिर तुम सोचो। पूरा तुम करो। प्रारंभ है संस्कृत में, पूरा तुम्हें करना होगा। सूत्रपात है। इसीलिए तो इनको हम "सूत्र" कहते हैं। इन संस्कृत के वचनों को हम "सूत्र" कहते हैं। सिर्फ धागा। सब साफ नहीं है, जरा-सा इशारा है। फिर इशारे का साथ पकड़कर तुम चल पड़ना। फिर पूरा अर्थ तुम अपने भीतर खोजना। अर्थ बाहर से तैयार चबाया हुआ उपलब्ध नहीं है। तुम्हें पचाना होगा, तुम्हें अर्थ अपने भीतर जन्माना होगा।

पश्चिम की भाषायें गणित और विज्ञान के साथ-साथ विकसित हुई हैं। इसलिए पाश्चात्य विचारक बड़े हैरान होते हैं कि संस्कृत के एक-एक वचन के कितने ही अर्थ हो सकते हैं, यह कोई भाषा है! भाषा का मतलब होना चाहिए: अर्थ सुनिश्चित हो। नहीं तो गणित और विज्ञान विकसित ही नहीं हो सकते। अगर गणित और विज्ञान में भी भाषा अनिश्चित हो तो बहुत कठिनाई हो जायेगी। सब साफ होना चाहिए। हर शब्द की परिभाषा होनी चाहिए। संस्कृत में कुछ भी परिभाष्य नहीं है! अपरिभाष्य है। एक तरंग दूसरी तरंग में लीन हो जाती है। एक तरंग दूसरी तरंग को पैदा कर जाती है।

इसलिए अंग्रेजी को तो मैं आंख खोलकर सुनता हूं; वह अंग्रेजी का समादर है। संस्कृत को आंख बंद करके सुनता हूं; वह संस्कृत का समादर है। और उच्चारण और पाठ इन सब में मेरा बहुत रस नहीं है, क्योंकि मैं कोई भाषाशास्त्री नहीं हूं। और व्याकरण और पाठ और उच्चारण सब गौण बातें हैं। मुझे रस है संस्कृत के संगीत में। वह जो ध्वनियों का आघात है चेतना पर; वह जो ध्वनियों से पैदा होता हुआ मंत्रोच्चार है; उच्चारण नहीं, उच्चार; व्याकरण नहीं, शब्दों में छिपा हुआ जो संगीत है--उसे पकड़ने की चेष्टा करता हूं।

मैं भाषाशास्त्री नहीं हूं, यह सदा याद रखना।

इसलिए कभी-कभी मैं शब्दों के ऐसे अर्थ करता हूं, जो कि भाषाशास्त्री राजी नहीं होगा। न हो राजी, वह उसका दुर्भाग्य! मुझे कुछ भाषा से लेना-देना नहीं है।

फिर यह जो मैं कह रहा हूं यहां सूत्रों के ऊपर, यह कोई व्याख्या, टिप्पणी-टीका नहीं है। जो मुझे कहना है वह मैं जानता हूं। जो मुझे कहना है, वह मुझे हो गया है। जो मुझे कहना है, उसका मैं स्वयं गवाह हूं। जब मैं एक संस्कृत का सूत्र सुनता हूं तो कुछ ऐसा नहीं है कि इस सूत्र पर व्याख्या करने जा रहा हूं। नहीं, जो मुझे हुआ है, वह और इस सूत्र का संगीत दोनों को मिल जाने देता हूं--फिर उससे जो पैदा हो जाये। इसको टीका कहनी ठीक नहीं है, इसको व्याख्या कहनी भी ठीक नहीं है। यह तो मेरे भीतर हुई अनुगूंज है।

जैसे कि तुम पहाड़ों में गये और तुमने जोर की आवाज की और घाटियों में गूंज हुई--तुम क्या कहोगे, घाटियों ने व्याख्या की? घाटियां क्या व्याख्या करेंगी? घाटियों ने क्या किया? तुमने एक आवाज की थी, घाटियों ने अपने प्राणों में उस आवाज को ले लिया और वापिस बरसा दिया। घाटियों ने अपनी सुगंध उसमें मिला दी, घाटियों ने अपनी शांति उसमें डाल दी, घाटियों ने अपनी नीरवता उसमें प्रवष्टि कर दी। घाटियों ने अपना इतिहास उसमें जोड़ दिया। घाटियों ने अपनी आत्मकथा उसमें सम्मिलित कर दी, बस।

इन सूत्रों के माध्यम से मैं अपनी आत्मकथा इनमें उंडेल देता हूं। जब मैं बोलता हूं तो जो मैं बोलता हूं वह मेरे संबंध में ही है। ये सूत्र तो बहाना हैं, खूंटियां हैं, जिन पर मैं अपने को टांग देता हूं। लेकिन तुमने पूछा, ठीक।

चेतना बड़े प्रेम से गुनगुनाती है। उसका प्रेम देखो! पाठ इत्यादि व्यर्थ की बातें हैं। व्याकरण वगैरह की कोई भूल करती हो तो जो मूढ़ ही यहां होंगे, उनको खटकेगी। मूढ़ों को व्यर्थ की बातें खटकती हैं। तुम उसका प्रेम देखो, उसका भाव देखो, उसका समर्पण देखो! गदगद होकर गाती है, हृदय से गाती है, अपने हृदय को उंडेल देती है।

पांचवां प्रश्न: शास्त्रों में संसार को विषवत कहा है। और आप कहते हैं, संसार से भागो मत! इससे मन में बड़ी उलझन पैदा होती है।

शास्त्रों ने संसार को क्या कहा है, शास्त्र पढ़कर तुम न जान सकोगे। संसार में जाकर ही जान सकोगे कि शास्त्र सच कहते कि झूठ कहते। कसौटी कहां है? परीक्षा कहां होगी?

शास्त्र संसार को विषवत कहते हैं, ठीक। शास्त्र कहते हैं, इतना तो जान लिया। ठीक कहते हैं कि गलत कहते हैं, यह कैसे जानोगे? शास्त्र में लिखा है, इससे ही ठीक थोड़े ही हो जायेगा। सिर्फ लिखे मात्र होने से कोई चीज ठीक थोड़े ही हो जाती है। लिखे शब्द के दीवाने मत बनो। कुछ पागल ऐसे हैं कि लिखे शब्द के दीवाने हैं; जो चीज लिखी है, वह ठीक होनी चाहिए।

एक सज्जन एक बार मेरे पास आये। उन्होंने कहा, जो आपने कहा, वह शास्त्र में नहीं लिखा है, ठीक कैसे हो सकता है? तो मैंने कहा: मैं लिखकर दे देता हूं। और क्या करोगे? लिखे पर भरोसा है, तो छपवाओ। छपवाकर दे दूं, कहो। हस्तलिखित पर भरोसा हो तो हस्तलिखित लिखकर दे दूं। और क्या चाहते हो? शास्त्र कैसे बनता है? किसी के लिखने से बनता है। किसी ने तीन हजार साल पहले लिख दिया, इसलिए ठीक हो गया

और मैं आज लिख रहा हूं, इसलिए गलत हो जायेगा? तीन हजार साल के फासले से कुछ गलत-सही होने का संबंध है? फिर तो तीन हजार साल पहले चार्वाकों ने भी शास्त्र लिखा है, फिर तो वह भी ठीक हो जायेगा। तीन हजार साल पहले से थोड़े ही कोई चीज ठीक होती है।

मुल्ला नसरुद्दीन, चुनाव आया तो बड़ा नाराज हुआ। उसकी पत्नी का नाम वोटर-लिस्ट में नहीं था। लिया पत्नी को साथ और पहुंचा ऑफिसर के पास--चुनाव ऑफिसर के पास। और उसने कहा कि देखें, मेरी पत्नी जिंदा है और वोटर-लिस्ट में लिखा है कि मर गई। झगड़ने को तैयार था। पत्नी भी बहुत नाराज थी। ऑफिसर ने वोटर-लिस्ट देखी और कहा, भई लिखा तो है कि मर गई। तो पत्नी बोली कि जब लिखा है तो ठीक ही लिखा होगा। अरे लिखनेवाले गलत थोड़े ही लिखेंगे! घर चलो।

जब लिखा है तो ठीक ही लिखा होगा!

कुछ लोग लिखे पर बिलकुल दीवाने की तरह भरोसा करते हैं। शास्त्र में लिखा है, इससे क्या होता है? इससे इतना ही पता चलता है कि जिसने शास्त्र लिखा होगा, उसने जीवन का कुछ अनुभव किया था, अपना अनुभव लिखा है। तुम भी जीवन के अनुभव से ही जांच पाओगे कि सही लिखा है कि गलत लिखा है। कसौटी तो सदा जीवन है। वहीं जाना पड़ेगा। आखिरी परीक्षा तो वहीं होगी।

इसीलिए मैं तुमसे कहता हूं: भागो मत! शास्त्र की सुनकर मत भाग जाना, नहीं तो तुम्हारा शास्त्र कभी पैदा न होगा। अपना शास्त्र जन्माओ। अपने अनुभव को पैदा करो। क्योंकि तुम्हारा शास्त्र ही तुम्हारी मुक्ति बन सकता है। किसी ने तीन हजार साल पहले लिखा था, उसकी मुक्ति हो गई होगी। इससे तुम्हारी थोड़े ही हो जायेगी। उधार थोड़े ही होता है ज्ञान। इतना सस्ता थोड़े ही होता है ज्ञान। जलना पड़ता है, कसना पड़ता है। हजार ठोकरें खानी पड़ती हैं। तब कहीं जीवन के गहन अनुभव से पककर, निखरकर प्रतीतियां जगती हैं।

तो जाओ जीवन में, भागो मत! शास्त्र कहता है, खयाल में रखो। मगर शास्त्र को मान ही मत लेना; नहीं तो जीवन में जाने का कोई प्रयोजन न रह जायेगा। जरा-सी कोई कठिनाई आयेगी, तुम कहोगे: देखो शास्त्र में लिखा है कि जीवन विषवत। इतनी जल्दबाजी मत करना। जीवन में गहरे जाओ। जीवन के सब रंग परखो। जीवन बड़ा सतरंगा है। उसकी सब आवाजें सुनो। सब कोणों से जांचो-परखो, सब तरफ से पहचानो। जब तुम जीवन को पूरा देख लो, तब तुम भी जानोगे कि हां, जीवन विषवत है और उस जानने में ही तुम्हारा रूपांतरण हो जायेगा। अभी तुमने शास्त्र से पकड़ लिया, इससे क्या हुआ? तुमने जान लिया जीवन विषवत है, लेकिन इससे हुआ क्या? सुन लिया, पढ़ लिया, याद कर लिया, दोहराने लगे। हुआ क्या? क्या छूटा? क्या बदला? क्रोध वहीं का वहीं है। काम वहीं का वहीं है। लोभ वहीं का वहीं है। धन पर पकड़ वहीं की वहीं है। सब वहीं के वहीं हैं। और जीवन विषवत हो गया। और तुम वैसे के वैसे खड़े हो--बिना जरा से रूपांतरण के।

नहीं, इतनी जल्दी मत करो। और फिर मैं तुमसे यह भी कहता हूं कि यह बात सच है कि जीवन विषवत है। एक और बात भी है जो तुमसे मैं कहता हूं, वह भी शास्त्रों में लिखी है कि जीवन अमृत है। वेद कहते हैं: "अमृतस्य पुत्रः। तुम अमृत के पुत्र हो!" जीवन अमृत है। शास्त्रों में यह भी लिखा है कि जीवन प्रभु है, परमात्मा है।

तो जरूर जीवन और जीवन में थोड़ा भेद है। एक जीवन है जो तुमने अंधे की तरह देखा वह विषवत है; और एक जीवन है तो तुम आंख खोलकर देखोगे, वह अमृत है। एक जीवन है जो तुमने माया, मोह, मद, मत्सर के पर्दे से देखा। और एक जीवन है जो तुम ध्यान और समाधि से देखोगे। जीवन तो वही है। एक जीवन है जो तुमने एक विकृति का चश्मा लगाकर देखा। जीवन तो वही है। चश्मा उतारकर देखोगे तो अमृत को पाओगे। इसी जीवन में परमात्मा को छुपे भी तो लोगों ने देखा। यहां पत्ते-पत्ते में वही है, ऐसा कहनेवाले वचन भी तो शास्त्र में हैं। यहां कण-कण में वही है। यहां सब तरफ वही है। पत्थर-पहाड़ उससे भरे हैं, कोई स्थान उससे खाली नहीं है। वही पास है, वही दूर है। यह भी तो शास्त्र में लिखा है।

अब मजा है कि तुम शास्त्र में से भी वही चुन लेते हो, जो तुम चुनना चाहते हो। तुम्हारी बेईमानी हद्द की है। तुम शास्त्रों से भी वही कहलवा लेते हो जो तुम कहना चाहते हो। अभी तुमने पूरा जीवन कहां देखा! अभी कंकड़-पत्थर बीने हैं। जैसे कोई आदमी कुआं खोदता है तो पहले कंकड़-पत्थर हाथ लगते हैं, कूड़ा-कबाड़ हाथ लगता है, कचरा हाथ लगता है; फिर खोदता चला जाये तो धीरे-धीरे अच्छी मिट्टी हाथ लगती है; फिर खोदता चला जाये तो गीली मिट्टी हाथ लगती है; फिर खोदता चला जाये तो जल के स्रोत आ जाते हैं, गंदा जल हाथ लगता है; फिर खोदता चला जाये तो स्वच्छ जल हाथ आ जाता है। ऐसा ही जीवन है। खोदो!

तुमने कहा: "जीवन विषवत है।" अभी तुमने ऊपर-ऊपर खोदा है। यह कूड़ा-कर्कट जो लोग फेंक जाते हैं सड़कों पर, वही इकट्ठा है जमीन पर। उसी को खोद लिया, कहने लगे: "जीवन विषवत है।" आ गये घर!

जरा गहरे जाओ।

तुमने कहानी तो पढ़ी है न पुराणों में सागर-मंथन की! पहले विष निकला, फिर अमृत निकला। तुम पढ़ते भी हो, लेकिन अंधे हो। जहां से विष निकला, वहीं से अमृत निकला। पहले विष निकला, फिर अमृत निकला। अंततः अमृत का घट निकला।

खोजे जाओ। जीवन तो सागर-मंथन है। विष से ही थककर मत बैठ जाना। नहीं तो जीवन की तुमने अधूरी तस्वीर ले ली, झूठी तस्वीर ले ली। और अगर तुमको जीवन में विष ही मिला, तो फिर परमात्मा को कहां खोजोगे? जीवन के अतिरिक्त और तो कोई स्थान नहीं है। कहां जाओगे? फिर तुम्हारा परमात्मा झूठा होगा। नहीं, खोदो! गहरे खोदो! खोदते जाओ। जब तक अमृत का घट न निकल आये, तब तक खोदते जाना।

सच कहते हैं शास्त्र: जीवन में विष है। और सच कहते हैं शास्त्र: जीवन में अमृत है। लेकिन तुम्हारे जीवन के अनुभव से दोनों का तुम्हें साक्षी बनना है।

अभी तुम जो जीवन जानते हो वहां विष ही विष है। लेकिन उसका कारण जीवन नहीं, उसका कारण तुम्हारी गलत जीवन-दशा है; तुम्हारी गलत चैतन्य की दशा है।

नभ की बिंदिया चंदावाली
भूखी अंगिया फूलोंवाली
सावन की ऋतु झूलोंवाली
फागुन की ऋतु भूलोंवाली
कजरारी पलकें शरमीली
निंदियारी अलकें उरझीली
गीतोंवाली गोरी ऊषा
सुधियोंवाली संध्या काली
हर चूनर तेरी चूनर है
हर चादर तेरी चादर है
मैं कोई घूंघट छुऊं
तुझे ही बेपरदा कर आता हूं
हर दर्पण तेरा दर्पण है।
पानी का स्वर रिमझिम-रिमझिम
माटी का रुख रुनझुन-रुनझुन
बातून जनम की कुनुन-मुनुन
खामोश मरण की गुपुन-चुपुन
नटखट बचपन की चलाचली
लाचार बुढ़ापे की थमथम
दुख का तीखात्तीखा क्रंदन
सुख का मीठा-मीठा गुंजन
हर वाणी तेरी वाणी है

हर वीणा तेरी वीणा है
मैं कोई छेड़ूं तान
तुझे ही बस आवाज लगाता हूं
हर दर्पण तेरा दर्पण है!

खोजो, थोड़ा गहरा खोजो। तुम अपनी पत्नी में ही विष पाओगे और अपनी पत्नी में ही परमात्मा भी, अमृत भी। तुम अपने ही भीतर विष भी पाओगे और अपने ही भीतर अमृत भी। विष ऊपरी पर्त है। शायद सुरक्षा है। शायद सुरक्षा के लिए है। अमृत भीतर छिपा है; अमृत को सुरक्षा चाहिए। विष सुरक्षा करता है।

जैसे देखा न, गुलाब की झाड़ी पर एक फूल और कितने कांटे! कांटे रक्षा करते हैं। कांटे और फूल एक ही स्रोत से आते हैं। कांटों से ही उलझकर रोकर मत लौट आना; अन्यथा गुलाबों से अपरिचित रह गये तो बहुत पछताओगे। कांटे हैं जरूर, निश्चित; मगर जहां कांटे हैं, वहीं छिपे गुलाब के फूल भी हैं। और कांटे केवल रक्षक हैं।

विष है जीवन में बहुत, पर रक्षक है। और जिस दिन तुम ऐसा देखोगे उसी दिन तुम आस्तिक हुए। जिस दिन विष भी रक्षक मालूम हुआ और कांटे भी फूल के मित्र, संगी-साथी मालूम हुए, उसी दिन तुम आस्तिक हुए। उस दिन तुमने परमात्मा को "हां" कहा।

आखिरी प्रश्न: जब कभी परिवार के लोग मेरे सामने मेरी शादी का प्रस्ताव रखते हैं तो अनायास मेरे मुंह से निकलता है कि मेरी शादी तो भगवान रजनीश से हो चुकी है; वे ही मेरे गुरु और सब कुछ हैं। इस पर परिवार के लोग मुझ पर हंसते हैं और कहते हैं: "क्या तुम पागल हो जो ऐसी बातें बोलते हो?" इसे समझाने की अनुकंपा करें!

इसमें समझाने का क्या है? पागल तो तुम हो ही। लेकिन पागल होना शुभ है, सौभाग्य है। सभी पागलपन बुरे नहीं होते और सभी समझदारियां अच्छी नहीं होतीं। कुछ समझदारियां तो सिर्फ अभागे लोगों को ही मिलती हैं और कुछ पागलपन केवल सौभाग्यशीलों को ही...।

अगर तुम मेरे प्रेम में पागल हो तो समझना क्या है? तुम्हारे घर के लोग भी ठीक कहते हैं। और तुम बिलकुल ठीक हो। तुम्हारे घर के लोग ठीक कहते हैं, इसका यह अर्थ नहीं है कि तुम गलत हो। तुम्हारे घर के लोग ठीक कहते हैं; मगर तुम भी बिलकुल ठीक हो। यह मामला ही पागलपन का है।

सत्य को खोजने समझदार थोड़े ही जाते हैं--समझदार दुकान चलाते हैं, धन कमाते हैं, दिल्ली जाते हैं। समझदार ऐसी उलझनों में नहीं पड़ते हैं। यह तो पागलों के लिए ही यह है।

मीरा ने कहा है: सब लोक-लाज खोई। घर के लोग मीरा के भी, चिंतित हो गये। जहर इसीलिए तो भेजा कि यह मर ही जाये। क्योंकि घर की बदनामी होने लगी। राजघराने की महिला रास्तों पर नाचने लगी। यह बात घर के लोगों को न जंची। घर के लोगों को कष्ट मालूम होने लगा। यह तो कुल की सारी प्रतिष्ठा गंवा देगी। राह-राह नाचने लगी। साधु-सधुक्कड़ों के साथ बैठने लगी। भीड़-भाड़ में खड़ी हो गई। पर्दा उठ गया। कभी नाचते हुए वस्त्र सरक जाते होंगे। संस्कार, संस्कृति, सभ्यता, सब गंवाने लगी। घर के लोगों ने जहर भेजा होगा, निश्चित भेजा होगा--सिर्फ इसीलिए कि यह उपद्रव मिटे। उनके अहंकार को चोट लगने लगी होगी।

मेरे पास तुम हो, लोक-लाज तो गंवानी ही होगी। जिसने पूछा है, संन्यासी हैं: स्वामी रामकृष्ण भारती। तो संन्यासी का तो अर्थ ही यही होता है कि रंग गये अब तुम पागलपन में। ये गैरिक वस्त्र पागलपन के वस्त्र हैं--सदा से, सनातन से। ये मस्तों के वस्त्र हैं। ये धुनियों के वस्त्र हैं--जिन्होंने संसार से पीठ फेर ली और जिन्होंने कहा, हम प्रभु की यात्रा पर जाते हैं और सब दांव पर लगाने के लिए तत्पर हैं। अब ऐसी कोई बात नहीं है जो परमात्मा मांगेगा और हम इनकार करेंगे। यह पागलपन तो है ही। यह कोई दुकानदारी थोड़े ही है। यह तो जुआ है। यह तो जुआरियों का काम है।

इसमें समझाने की फिक्र मत करो। घर के लोग ठीक ही कहते हैं। हंसना और नाचना और गाना। घर के लोग गलत नहीं कहते। उनके देखने के अपने मापदंड हैं--शादी करो, नौकरी करो, बच्चे पैदा करो; जो उन्होंने किया वह तुम भी करो। और तुम भी अपने बच्चों को यही समझाना कि यही समझदारी है और यह पहिया चलाते रहना। तुम बच्चे पैदा करना, बच्चों के लिए जीना। बच्चों को कहना: तुम बच्चे पैदा करो, उनके लिए जीयो। और ऐसा ही चलता रहे। न उनमें से कोई जीया है--तुम्हारे मां-बाप में से; न तुम्हारे मां-बाप के मां-बाप में से कोई जीया है। सब स्थगित कर दिये हैं जीवन को।

तो जब भी कोई इस भीड़ में से जीने के लिए तत्पर होता है, भीड़ को लगता है: यह पागल हुआ। अरे, कहीं कोई जीता है, कहीं कोई ध्यान करता है! ये बातें शास्त्रों में लिखी हैं, ठीक हैं। शास्त्र पढ़ लो! बहुत हो, पूजा के दो फूल चढ़ा दो! अगर ऐसा कोई मिल जाये और बहुत भाव हो जाये तो झुककर पैर छू लेना और अपने घर आ जाना और भूल जाना। ये बातें पढ़ने की नहीं हैं।

तुमने देखा, तुम्हारे पड़ोसी के बेटे को अगर संन्यास का पागलपन चढ़ जाये तो तुम भी उसके पैर छूने चले जाते हो; लेकिन तुम्हारा बेटा अगर संन्यासी हो जाये तो बड़े नाराज होते हो।

बचपन में मेरे घर संन्यासियों का आवागमन होता रहता था। मेरे पिता को उनमें रस था। एक संन्यासी आये थे। वह मेरी पहली याद है संन्यासियों के बाबत। मेरे पिता उनके पैर छूने गये, तो मैंने उनसे पूछा कि अगर मैं संन्यास ले लूं तो आप आनंदित होंगे? उन्होंने कहा: "क्या पागलपन की बात है!" तो मैंने कहा: "इस पागल के पैर छूने आप गये! अगर संन्यासी होना पागलपन है तो पागल के पैर छूना...। इसमें कौन-सा तर्क है?" वे थोड़े चौंके। वे थोड़ा सोचने लगे। वे सीधे-सरल आदमी हैं। उन्होंने दूसरे दिन मुझसे कहा कि जरूर इसमें अड़चन है, इसमें असंगति है। मैंने इस पर कभी सोचा नहीं इस भांति। तुम अगर संन्यास लोगे तो मैं बाधा डालूंगा। यह भी तो किसी का बेटा होगा और मैं पैर छूने गया! अगर मेरी निष्ठा सच है तो तुम्हारे संन्यास लेने से मुझे प्रसन्न होना चाहिए। तो यह पैर छूना औपचारिक है; इसमें सचाई नहीं।

दूसरा संन्यासी हो जाये तो तुम प्रसन्न हो। तुम्हारे घर कोई संन्यासी हो जाये तो अड़चन आती है। मीरा से तुम्हें क्या अड़चन! तुम थोड़े जहर का प्याला भेजते हो; वह तो राणा ने भेजा! तुम तो कहते हो: "मीरा, अरे महाभगत! पहुंची हुई!" राणा से पूछो--पागल! कुल-मर्यादा गंवा दी!

तुम्हारे घर के लोग भी ठीक कहते हैं। वे भी संन्यासी के पैर छूने जाते होंगे और कभी-कभी मीरा की भजन-लहरी सुनकर आनंदित होते होंगे और कहते होंगे: कैसा भावपूर्ण भजन है! लेकिन तुम ऐसा भावपूर्ण भजन गाओगे तो वे पागल कहेंगे। वही मीरा के घर के लोगों ने भी कहा था। सोये हुए लोग हैं। न उन्होंने अपना जीवन जीया है, न उन्हें पता है कि कोई और भी जीवन जी सकता है। जैसा वे रहे हैं, उसी को वे मानते हैं, रहना समझदारी है। उनसे अन्यथा तुम रहोगे, अड़चन होगी। उस अड़चन को ही जाहिर करने के लिए वे कहते हैं: तुम पागल हो।

अब उनकी बात सुनकर तुम घबड़ाना मत और तुम कोई व्याख्याएं भी मत खोजो। तुम यह भी मत पूछो कि इसको कैसे समझायें! यह समझाने का काम नहीं। यह समझ के थोड़े बाहर जाने की ही बात है। यह समझ से थोड़े ऊपर है बात। तुम उनसे कह दो कि मैं पागल हूं। तुम इसे स्वीकार कर लो।

छिन-छिन ऐसा लगे कि कोई
बिना रंग के खेले होली
यूं मदमाये प्राण कि जैसे
नई बहू की चंदन डोली
जेठ लगे सावन मन भावन
और दुपहरी सांझ बसंती
ऐसा मौसम फिरा, धूल का
ढेला एक रतन लगता है।

तुम्हें देख क्या लिया कि कोई
सूरत दिखती नहीं पराई
तुमने क्या छू दिया बन गई
महाकाव्य गीली चौपाई
कौन करे अब मठ में पूजा
कौन फिराये हाथ सुमिरनी
जीना हमें भजन लगता है
मरना हमें हवन लगता है।
तुम्हें चूमने का गुनाह कर
ऐसा पुण्य कर गई माटी
जनम-जनम के लिए हरी
हो गई प्राण की बंजर घाटी
पाप-पुण्य की बात न छेड़ो
स्वर्ग-नरक की करो न चर्चा
याद किसी की मन में हो तो
मगहर वृंदावन लगता है।

तुम्हारे जीवन में एक स्पर्श हुआ है, तुमने हिम्मत की है। एक किरण तुम्हें छू गई है। तुम्हारे जीवन में वृंदावन उतर रहा है। तुम पागल होने के लिए तैयार रहो और तुम स्वीकार कर लो कि मैं पागल हूं। इस स्वीकृति से तुम्हें भी लाभ होगा; तुम्हारे परिवार के लोगों को भी लाभ होगा।

तुम समझाने को कोशिश मत करना कि मैं सूझदार हूं। समझदार तुम हो ही नहीं। समझदार होते तो संन्यासी बनते? समझदार दुकानें चलाते, धन कमाते, दिल्ली जाते, पदों पर होते, राजनीति करते। समझदार संन्यासी बनते? यह तो थोड़े-से पागलों का काम है।

लेकिन तुम सौभाग्यशाली हो। समझदार अभागे हैं; क्योंकि एक दिन पाते हैं दुकान तो खूब चली, लेकिन खुद चुक गये; एक दिन पाते हैं पद तो मिला, खुद खो गये; एक दिन पाते हैं धन तो जुड़ गया, लेकिन परम धन नहीं जुड़ पाया। एक दिन मौत आती है, दिल्ली छिन जाती है; मरघट ही हाथ लगता है। खाली हाथ आते, खाली हाथ जाते--क्या उनको समझदार कहो! लेकिन संख्या उनकी ज्यादा है। और निश्चित, संख्या जिनकी ज्यादा है वे अपने को समझदार कहेंगे; उनके पास संख्या का बल है।

बुद्ध भी नासमझ समझे गये। इसलिए तो अब भी हम बुद्ध के नाम पर एक गाली चलाते हैं: बुद्धू! बुद्ध को लोगों ने बुद्धू समझा। यह बुद्धू शब्द बुद्ध से बना। लोगों ने कहा: "यह भी क्या बात हुई! राजमहल छोड़ा, धन-द्वार, साम्राज्य, सुंदर पत्नी, सब छोड़ा। यह आदमी कैसा है!" फिर इस तरह और लोग भी जाने लगे तो लोग कहने लगे: "ये बुद्धू हुए जा रहे हैं! ये भी बुद्धू हुए अब!" ऐसे तुम्हें याद भी भूल गई कि "बुद्धू" शब्द बुद्ध से बना।

लेकिन सदा से ऐसा हुआ है। जो सत्य की खोज में गया है, इस भीड़ में निश्चित ही उसे पागल समझा गया है। यह स्वाभाविक है। तुम भीड़ से सन्मान पाने की आशा मत करो। तुमने अगर यह चाहा कि भीड़ तुम्हें समझदार कहे तो एक बात खयाल में रख लो: मेरे संन्यासी मत बनो, फिर तुम और तरह के संन्यासी बनो! जैन संन्यासी बन जाओ, हिंदू संन्यासी बन जाओ! तो भीड़ तुम्हें कम पागल कहेगी; आदर भी देगी। क्योंकि जैन संन्यासी ने संन्यास तो कभी का छोड़ दिया है; वह तो भीड़ की पूजा लेने में ही तल्लीन है। उसने भीतर के अंतर्जगत को तो कभी का छोड़ दिया है; वह तो बाहर की औपचारिकता ही पूरी कर रहा है।

एक महिला मेरे पास आयी--जैन है। उसने कहा: "मेरे पति को आप छुटकारा दें। आपने संन्यास दे दिया! अगर संन्यास ही लेना है तो वे जैन धर्म का संन्यास लें। यह कोई संन्यास है--आपका संन्यास! यह तो झंझट हो गई! संन्यासी होकर और घर में रह रहे हैं, यह कैसे हो सकता है! वह रो रही थी और मुझसे कहने लगी कि आप

उनका संन्यास से छुटकारा करवा लें, इतनी मुझ पर कृपा करें! मैंने कहा कि तुझे तो खुश होना चाहिए; अगर जैन संन्यासी होते तो घर से चले जाते। वह कहती है: "उसके लिए मैं राजी हूं। वे घर से चले जायें, उसके लिए मैं राजी हूं। मैं सम्हाल लूंगी बच्चों को। उसकी चिंता नहीं है।"

पति खो जाये, इसकी चिंता नहीं है। घर पर मुसीबत आयेगी, उसकी चिंता नहीं। लेकिन लोक-सम्मत होगा। समाज को स्वीकृत होगा। लोग आकर समादर तो करेंगे कि धन्यभाग, तेरे पति मुनि हो गये! तूने किन जन्मों में कैसे पुण्य किये थे!

रोयेगी भीतर, परेशान होगी; क्योंकि बच्चों को पढ़ाना है, पैसे का इंतजाम करना है, वह सब परेशानी होगी। लेकिन झेलने योग्य है परेशानी; अहंकार तो तृप्त होगा। अब वह मुझसे कहती है: यह आपका संन्यास तो झंझट है। और लोग आकर मुझसे कहने लगे कि तेरे पति का दिमाग खराब हो गया, पागल हो गया! अरे बचा! अभी मौका है, अभी खींच ले हाथ, नहीं तो गड़बड़ हो जायेगा।

पति छोड़ने को वह राजी है; लेकिन पति पागल समझे जायें, इसके लिए राजी नहीं है। जैन मुनि के होने का तो मतलब होगा कि पति मर गये; वह विधवा हो गई। उसके लिए राजी है!

तुम जरा सोचो, आदमी का मन कैसे अहंकार से चलता है। मेरे संन्यासी का तो अर्थ स्वाभाविक रूप से पागल है। यह तो एक मस्ती है, एक धुन है। और मैं तुम्हें कहता भी नहीं कि तुम समझदार होने की या समझदार सिद्ध करने की चेष्टा करना। तुम इसे स्वीकार कर लेना। तुम आनंद-भाव से स्वीकार कर लेना। तुम स्वयं ही घोषणा कर देना। अच्छा यही है कि तुम स्वयं ही घोषणा कर दो कि मैं पागल हूं।

तुम्हें देख क्या लिया कि कोई
सूरत दिखती नहीं पराई
तुमने क्या छू दिया, बन गई
महाकाव्य गीली चौपाई
कौन करे अब मठ में पूजा
कौन फिराये हाथ सुमिरनी
जीना हमें भजन लगता है,
मरना हमें हवन लगता है!

आज इतना ही।

पैंसठवां प्रवचन

जानो और जागो!

अप्रयत्नात् प्रयत्नाद्वा मूढो नाप्नोति निर्वृतिम्।
तत्वनिश्चयमात्रेण प्राज्ञो भवति निर्वृतः।। २१०।।
शुद्धं बुद्धं प्रियं पूर्णं निष्प्रपंचं निरामयम्।
आत्मानं तं न जानन्ति तत्राभ्यासपरा जनाः।। २११।।
नाप्नोति कर्मणा मोक्षं विमूढोऽभ्यासरूपिणा।
धन्यो विज्ञानमात्रेण मुक्तस्तिष्ठत्यविक्रियं◌ः।। २१२।।
मूढो नाप्नोति तद्ब्रह्म यतो भवितुमिच्छति।
अनिच्छन्नपि धीरो हि परब्रह्मस्वरूपभाक्।। २१३।।
निराधारा ग्रहव्यग्रा मूढाः संसारपोषकाः।
एतस्यानर्थमूलस्य मूलच्छेदः कृतो बुधैः।। २१४।।
न शांतिं लभते मूढो यतः शमितुमिच्छति।
धीरस्तत्वं विनिश्चित्य सर्वदा शांतमानसः।। २१५।।

पहला सूत्र:

अप्रयत्नात् प्रयत्नाद्वा मूढो नाप्नोति निर्वृतिम्।
तत्वनिश्चयमात्रेण प्राज्ञो भवति निर्वृतः।।

अष्टावक्र ने कहा, "अज्ञानी पुरुष प्रयत्न अथवा अप्रयत्न से सुख को प्राप्त नहीं होता है। और ज्ञानी पुरुष केवल तत्व को निश्चयपूर्वक जानकर सुखी हो जाता है।"

महत्वपूर्ण सूत्र है। और प्रत्येक साधक को गहराई से समझ लेना जरूरी है। प्राथमिक है। यहां भूल हुई तो फिर आगे भूल होती चली जाती है। यहां भूल न हुई तो आधा काम ठीक हो गया। ठीक प्रारंभ यात्रा का आधा हो जाना है।

यह सूत्र बुनियाद का है। अज्ञानी पुरुष बड़े प्रयत्न करता है सुख को पाने के, पाता है दुख। प्रयत्न करता है सुख के, पाता है दुख। सफल होता जरूर है, सुख को पाने में नहीं, दुख को पाने में सफल हो जाता है। कौन नहीं जाना चाहता स्वर्ग? पहुंच सभी नर्क जाते हैं। चेष्टा सभी स्वर्ग की तरफ करते हैं, अंत में जो फल हाथ में आते हैं वे नर्क के हैं।

इन फलों से तुम परिचित हो। ये फल ही तो तुम्हारे जीवन का सार है। यही फल तो तुम्हारा विषाद है। चाहा था अमृत और विष मिला। चाहा था प्रेम और घृणा मिली। सपने देखे थे सफलता के और केवल विषाद ही विषाद प्राणों में भरा रह गया है। जीवन के अंत होते-होते, जीवन के पूरे होते-होते ऐसा प्रतीत होने लगता है कि जैसे सारी प्रकृति तुम्हारे विरोध में काम कर रही है। तुम जीत न सकोगे। तुम्हारी हार सुनिश्चित है।

सुख कौन नहीं चाहता? और सुख मिलता किसको है? यह बहुत आश्चर्यजनक है। सभी सुख चाहते हों और कोई भी सुख उपलब्ध न कर पाता हो तो सोचना पड़ेगा, कहीं कोई बड़ी गहरी भूल हो रही है। कुछ ऐसी गहरी भूल हो रही है, बुनियादी भूल हो रही है; एक से नहीं हो रही है, सभी से हो रही है। वह भूल यही है कि सुख को जिसने सोचा कि पा लूंगा, इस सोचने में ही चूक हो गई।

सुख हमारा स्वभाव है। उसे हम लेकर ही पैदा हुए हैं। सुख के बिना हम पैदा ही नहीं हुए हैं। हमारे जन्म के पूर्व से भी सुख की धारा हमारे भीतर बह रही है।

स्वभाव का अर्थ है: जो हमारा है ही।

जैसे आग जलाती, यह उसका स्वभाव, ऐसे सुखी होना चैतन्य का स्वभाव। सच्चिदानंद हमारे भीतर बसा है। भूल यही हो रही है कि हम सोचते हैं, उसे पा लेंगे बाहर। जो भीतर है उसे हम बाहर खोजते हैं। जो मिला ही हुआ है उसे हम सोचते हैं, उपाय करके पा लेंगे। उपाय से ही सब नष्ट हो जाता है। उपाय में हम इतने उलझ जाते हैं कि जो है उसके दर्शन बंद हो जाते हैं।

ऐसा ही समझो कि तुम्हारे सामने ही धन पड़ा हो और तुम्हारी आंखें दूर आकाश में चांदत्तारों में धन को खोज रही हैं। धन सामने पड़ा है लेकिन आंख तो सामने नहीं पड़ती। आंख तो दूर जा रही है। आंख तो दूर का उपाय कर रही है। तुम दूर की यात्रा पर निकले हो और जिसे तुम खोज रहे हो वह पास है। तुम जिसे प्रयत्न से खोज रहे हो वह स्वभाव से सिद्ध है। सुख किसी को मिलता नहीं। जो प्रयत्न छोड़ देता है, जो दौड़ना छोड़ देता है, जो आंख बंद करके बैठ जाता है, जो थोड़ी देर अपने भीतर रमता है, आत्माराम बनता है; जो कहता है जरा भीतर तो देख लूं, जिसे मैं बाहर खोजने चला हूं। कहीं ऐसा तो नहीं है कि वह बाहर हो ही न, और मैं खोजूं और खोजूं, थकूं और हारूं।

तर्क ऐसा है जीवन का कि जब तुम खोजते हो बाहर, और नहीं मिलता तो और जोर से खोजते हो। स्वभावतः मन में विचार उठते हैं कि शायद मैं पूरे भाव से नहीं खोज रहा हूं, पूरे हृदय से नहीं खोज रहा, पूरी ऊर्जा संलग्न नहीं हो रही है। दौड़ तो रहा हूं लेकिन जितना दौड़ना चाहिए उतना नहीं दौड़ रहा हूं। और बढ़ाओ दौड़ को, और तेज करो।

यह तर्क स्वाभाविक है। अगर दौड़ने से नहीं मिल रहा है तो दौड़ में कहीं कोई कमी होगी। या कि दूसरे लोग ज्यादा बाधा डाल रहे हैं; इसलिए हटाओ बाधाओं को। नष्ट कर दो दूसरों को। जूझ जाओ संघर्ष में। मिटाना पड़े तो मिटा दो दूसरों को, लेकिन अपने सुख को खोज लो। तो एक गलाघोंट प्रतियोगिता शुरू होती है। दूसरे भी उसी नाव में सवार हैं, जिसमें तुम सवार हो। उन्हें भी नहीं मिल रहा। वे भी बड़े नाराज हैं। वे भी सोचते हैं कि तुम शायद बाधा डाल रहे हो। शायद तुम बीच-बीच में आ जाते हो। वे तुम्हें मिटाने में तत्पर हो जाते हैं। इसीलिए जीवन में इतना संघर्ष है, इतना द्वंद्व है, इतनी हिंसा है।

और जब तक तुम भीतर के सुख को न पहचानोगे तब तक अहिंसक न हो सकोगे। कैसे होओगे अहिंसक? पानी छानकर पी लेने से कोई अहिंसक होता? पानी छानकर पी लोगे लेकिन बाजार में दूसरों का खून बिना छाने पी जाओगे। रात भोजन न करोगे इससे कोई अहिंसक होता? ये छोटी-छोटी तरकीबें हैं। किसको धोखा दे रहे हो तुम?

समझना होगा कि हिंसा क्यों है?

हिंसा इसलिए है कि मुझे सुख नहीं मिल रहा और मुझे आभास होता है कि तुम बाधा डाल रहे हो। पड़ोसी बाधा डाल रहा है। और बहुत प्रतियोगी हैं। सभी दिल्ली जा रहे हैं। और मैं दिल्ली नहीं पहुंच पा रहा हूं। भीड़ बहुत है। और आगे लोग, पीछे लोग, चारों तरफ लोग। और इतना घमासान मचा है कि जब तक नहीं उठाऊंगा तलवार हाथ में, रास्ता साफ होनेवाला नहीं है। और लगता है कि शायद दूसरे पहुंच गये हैं। तो संघर्ष पैदा होता है, हिंसा पैदा होती है।

हिंसा का मूल है कि जीवन में सुख नहीं मिल रहा है इसलिए हिंसा पैदा होती है। सिर्फ सुखी आदमी हिंसक नहीं होता। क्यों होगा? कोई कारण न रहा। जो चाहिए था मिल गया, फिर हिंसा कैसी!

हिंसा दुखी आदमी का लक्षण है।

इसलिए तुम हिंसा को छोड़कर सुखी न हो सकोगे। तुम सुखी हो जाओ तो हिंसा छूट जायेगी। यह मौलिक दृष्टि है--आधारभूत। तुम सुखी हो जाओ तो संघर्ष छूट गया। अब संघर्ष क्या करना है! सुख तुम्हारे भीतर लहरें ले रहा है--सुख का सरोवर। किसी से झगड़ा नहीं है, इसे तुम लेकर ही आये हो। इसे कोई छीनना चाहे, छीन नहीं सकता। कोई मिटाना चाहे, मिटा नहीं सकता। इसका दूसरे से कुछ लेना-देना ही नहीं है।

तो दूसरा अर्थहीन हो गया। अब तुम जब चाहो तब आंख बंद करो, डुबकी लगा लो। जब चाहो तब तार छेड़ दो और संगीत उठे। जब चाहो तब क्षीरसागर में शय्या पर विश्राम करो। विष्णु बनो।

और भीतर तुम्हारे है। कहीं जाना नहीं है। इंच भर यात्रा नहीं करनी है। यात्रा के कारण खो रहे हो। दौड़ रहे हो इसलिए खो रहे हो। पाना हो तो दौड़ना छोड़ना होगा। जो दौड़ना छोड़ देता है उसी को हम संन्यासी कहते हैं। जो कहता है दूर नहीं है, पास है। जो कहता है, इतना निकट है कि हाथ भी बढ़ाना नहीं पड़ता। हाथ में ही रखा है। आंख ही खोलने की बात है। जरा-सी होश की चिनगारी बस काफी है।

अष्टावक्र कहते हैं, "अज्ञानी पुरुष प्रयत्न या अप्रयत्न से सुख को प्राप्त नहीं होता।"

पहले तो प्रयत्न से सुख को प्राप्त नहीं होता। बहुत दौड़-धूप करता है। जब प्रयत्न से सुख नहीं मिलता तो अज्ञानी सोचता है, दौड़-धूप बहुत कर ली, मिलता ही नहीं; तो अब अप्रयत्न भी करके देख लें; क्योंकि ज्ञानी कहते हैं, अप्रयत्न से मिलता है।

अज्ञानी फिर भूल कर जाता। अज्ञानी ज्ञानी की भाषा समझने में भूल कर जाता है। क्योंकि अज्ञानी की भूल उसकी दृष्टि में है। तुम उसे सत्य दे दो, वह उसके हाथ में पहुंचते ही असत्य हो जाता है। तुम उसे सोना दे दो, उसने छुआ कि मिट्टी हुआ।

अज्ञानी की मौलिक दृष्टि ऐसी भ्रांत है, ऐसी विकृत है--पहले वह दौड़ता है, भागदौड़ करता है, उससे नहीं मिलता तो वह पूछने लगता है, खोजने लगता है, ज्ञानियों के पास जाता है, बुद्धपुरुषों की शरण बैठता है कि कैसे पा लूं? वहां उसे सुनाई पड़ता है कि प्रयत्न से तो मिलता ही नहीं कभी; अप्रयत्न से मिलता है।

अज्ञानी अप्रयत्न का कैसा अनुवाद करता है वह समझो। अप्रयत्न का अज्ञानी के लिए अनुवाद होता है आलस्य। वह कहता है, तो कुछ नहीं करना? वह करने की भाषा जानता है, दौड़ने की भाषा जानता है। तो वह कहता है, कुछ नहीं करना? कुछ नहीं करने से मिलता है? चलो यह तो अच्छा हुआ। तो चादर ओढ़कर सो जाता है।

ध्यान रखना, न तो दौड़ने से मिलता है न सोने से मिलता है; बिना दौड़े और जागे रहने से मिलता है। ये दोनों बातें खयाल में ले लेना। दौड़ने में जागना बिलकुल आसान है; क्योंकि दौड़ रहे हो, सोओगे कैसे? और सो गये तो दौड़ना छूट जाता है। वह भी आसान है। सो गये तो दौड़ोगे कैसे? अज्ञानी दो रास्ते जानता है: या तो दौड़ता है या सो जाता है। दिन भर दौड़ता है, रात भर सो जाता है। सुबह उठकर फिर दौड़ने लगता है, फिर रात सो जाता है।

ज्ञानी जब कहता है अप्रयत्न, तो वह यह नहीं कह रहा है कि तुम सो जाओ। वह आलस्य की बात नहीं कह रहा है। अष्टावक्र ने ज्ञानी के लिए बड़ा अनूठा शब्द चुना है: आलस्य शिरोमणि। ज्ञानी को अष्टावक्र कहते हैं आलस्य शिरोमणि, वह आलसियों में शिरोमणि है। लेकिन आलस्य का अर्थ समझ लेना; इसलिए शिरोमणि शब्द जोड़ा है। वह कोई साधारण आलसी नहीं है, तुम जैसा आलसी नहीं है, बड़ा विशिष्ट आलसी है। दौड़ता नहीं, सोता भी नहीं। दौड़ना और सोना तो जुड़े हैं। वे एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। जो दौड़ेगा वह सोयेगा; जो सोयेगा वह दौड़ेगा। क्योंकि सोकर फिर शक्ति इकट्ठी होगी, करोगे क्या? और दौड़कर शक्ति चुक जायेगी तो सोओगे नहीं तो शक्ति पाओगे कहां?

तो जागना, दौड़ना, सोना जुड़े हैं। इसलिए तुमने देखा? जो आदमी दिन में ठीक-ठीक मेहनत करता है वह रात बड़ी गहरी नींद सोता है। होना तो नहीं चाहिए ऐसा। तर्क के विपरीत है यह बात। गणित के अनुकूल नहीं है। गणित तो यह होना चाहिए कि जिस आदमी ने दिन भर तकिये-गद्दों पर आराम का अभ्यास किया उसको रात गहरी नींद आनी चाहिए। दिन भर अभ्यास किया बेचारे ने, उसको फल मिलना चाहिए। लेकिन जो दिन भर विश्राम करता है, रात सो ही नहीं पाता।

आखिर धनी व्यक्तियों की नींद क्यों खो जाती है? अगर तर्क से जीवन चलता होता तो धनी आदमी को ही नींद आनी चाहिए; गरीब को तो आनी ही नहीं चाहिए। लेकिन जैसे-जैसे कोई धनी होता है वैसे कुछ चीजें खोती हैं, उनमें से एक नींद अनिवार्य रूप से खो जाती है। उसकी कोई जरूरत नहीं रह जाती। नींद तो श्रम का हिस्सा है। दौड़ो, भागो तो नींद। अगर अमरीका सबसे ज्यादा अनिद्रा से पीड़ित है तो कुछ आश्चर्य नहीं। और अगर अमरीका में सबसे ज्यादा ट्रैंक्विलाइजर बिकता है तो भी कुछ आश्चर्य नहीं।

आलस्य अनिवार्य है श्रम के साथ। आलस्य श्रम से विपरीत नहीं है, श्रम का परिपूरक है।

तो जब ज्ञानी कहता है अप्रयत्न, नो एफर्ट, तो अज्ञानी क्या समझता है? अज्ञानी समझता है, बिलकुल ठीक, तो दौड़ने से नहीं मिलता। और बुद्ध कहते हैं, महावीर कहते हैं, अष्टावक्र कहते हैं, बैठ जाओ, दौड़ छोड़ो। दौड़ छोड़ देता है। वह तो खुद ही थक गया। दौड़ छोड़ने को तो राजी ही है। वह चादर ओढ़कर सो जाता है। फिर भी नहीं मिलता।

न तो अज्ञानी को प्रयत्न से मिलता, न अप्रयत्न से मिलता। अज्ञानी को मिलता ही नहीं, क्योंकि अज्ञानी के देखने का ढंग भ्रांत है। तो अज्ञानी ज्ञानी के पास आकर भी गलत व्याख्याएं कर लेता है। कुछ का कुछ समझ लेता है। कहो कुछ, पकड़ कुछ लेता है।

मेरे पास पत्र आ जाते हैं। एक पत्र मेरे पास आया। पत्र लिखनेवाले ने पूछा है कि अष्टावक्र तो कहते हैं, कुछ भी न करो और आप इतना ध्यान करवा रहे हैं। जब कुछ नहीं करना है तो यह ध्यान, नाचना-कूदना, इसकी क्या जरूरत है?

अब यह आदमी क्या कह रहा है? यह आदमी यह कह रहा है, जब अप्रयत्न से मिलता है तो चादर दे दो, हम ओढ़कर सो जायें। जब अष्टावक्र कहते हैं, आलस्य शिरोमणि हो जाओ तो अब जरूरत क्या है? ध्यान करने का श्रम कौन उठाये?

फिर तुम भूल कर लिये। पहले प्रयत्न की भूल की, अब अप्रयत्न की भूल की। ज्ञानी की भाषा को बहुत होशपूर्वक सुनना; उसका अनुवाद मत होने देना। तुम अनुवाद मत करना अपनी भाषा में। तुम अपने को तो किनारे रख देना। तुम तो ज्ञानी की भाषा सुनना वैसी ही, जैसी वह कह रहा है--बड़ी समझपूर्वक, बड़ी ईमानदारी से।

एक बात का स्मरण रखना, अपने को मत मिलाना। अपनी भाषा में अनुवाद किया कि तुम चूक जाओगे। फिर तुम जो भी नतीजे लोगे वे नतीजे तुम्हारे हैं, वे ज्ञानी ने नहीं कहे।

इसलिए अष्टावक्र कहते हैं, अज्ञानी पुरुष प्रयत्न और अप्रयत्न दोनों से ही सुख को नहीं पाता है। प्रयत्न में दौड़-धूप रहती है इसलिए चूक जाता है, अप्रयत्न में आलस्य हो जाता है, गहन तंद्रा छा जाती है इसलिए चूक जाता है। दोनों के मध्य में है मार्ग।

आसान है मैंने कहा, दौड़ने में जागना। और आसान है मैंने कहा, सोने में न दौड़ना। दोनों के मध्य मार्ग है। ऐसे जागे रहो जैसा दौड़नेवाला जागता है और ऐसे विश्राम में रहो जैसे सोनेवाला रहता है, तो तुमने ज्ञानी की भाषा समझी। जागे रहो ऐसा, जैसा संसारी--कितनी भागदौड़ में लगा है! और इतने विश्राम में, इतने गहन विश्राम में, जैसा सोया हुआ आदमी। चैतन्य जागा रहे, शरीर सो जाये। मन सो जाये, चैतन्य जागा रहे। चेतना की लौ जरा भी मद्धिम न हो।

इसलिए पतंजलि ने समाधि को सुषुप्ति जैसा कहा है--नींद जैसा। लेकिन ध्यान रखना, नींद नहीं कहा है, नींद जैसा। थोड़ा-सा फर्क है। नींद जैसा कहा है, क्योंकि नींद जैसा ही गहरा विश्राम है समाधि में; लेकिन बिलकुल नींद नहीं कहा है। जागने की किरण मौजूद है।

इसलिए कृष्ण गीता में कहते हैं, "या निशा सर्व भूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।"

जो सबके लिए नींद है वहां भी संयमी जागा हुआ। जहां सब भूत सो गये, जहां सब सो जाते हैं वहां भी संयमी की चेतना दीये की तरह जलती रहती है। सब तरफ अंधेरा, सब तरफ निद्रा, सब तरफ विश्राम, लेकिन अंतरतम में, गहन प्रकोष्ठ में, गहरे भीतर के मंदिर में दीया जलता रहता। दीया क्षण भर को भी नहीं बुझता।

तो दौड़ो, नहीं पाओगे। सो जाओ, नहीं पाओगे। दौड़ने से जागरण को बचा लो, सोने से विश्राम को बचा लो। जागरण और विश्राम को जोड़ दो तो समाधि बनती है।

बुद्ध ने इसीलिए कहा है, मध्य मार्ग है--मज्झिम निकाय। बीच से चलो। न बायें डोलो, न दायें डोलो। न इस अति पर जाओ, न उस अति पर जाओ। अतियों में संसार है, मध्य में निर्वाण है।

अप्रयत्नात् प्रयत्नाद्वा मूढ़ो नाप्नोति निर्वृतिम्।

अभागा है मूढ़। मूढ़ शब्द को भी समझ लेना। मूढ़ का अर्थ बुद्धिहीन नहीं होता, मूढ़ का अर्थ: सोया-सोया आदमी, तंद्रा में डूबा आदमी, मूर्च्छित आदमी।

मूढ़ बुद्धिमान हो सकता है। इसलिए तुम ऐसा मत सोचना कि मूढ़ सदा बुद्धू होता है। मूढ़ बड़ा पंडित हो सकता है। अक्सर तो मूढ़ ही पंडित होते हैं। शास्त्र का बड़ा ज्ञान हो सकता है मूढ़ को। शब्द का बाहुल्य हो सकता है। सिद्धांतों का बड़ा तर्कजाल हो सकता है। तर्क-प्रवीण हो सकता है, कुशल हो सकता है विवाद में; लेकिन फिर भी मूढ़, मूढ़ है।

मूढ़ का अर्थ यहां खयाल ले लेना। मूढ़ का अर्थ मनोवैज्ञानिक अर्थों में नहीं है। जिसको मनोवैज्ञानिक इंबेसाइल कहते हैं, वह मतलब नहीं है मूढ़ से। यहां मूढ़ का बड़ा आध्यात्मिक अर्थ है। मूढ़ का आध्यात्मिक अर्थ है: ऐसा आदमी, जो जागा हुआ लगता है लेकिन जागा हुआ है नहीं। आभास देता है कि जानता है, और जानता नहीं। भ्रांति खुद को भी पैदा कर ली है, दूसरों को भी पैदा करवा दी है कि मैं जानता हूं, और जानता नहीं।

मूढ़ का अर्थ है, अहंकारी। अहंकार की शराब पीये बैठा है। मूढ़ का अर्थ है, सोया-सोया; तंद्रिल। चलता है लेकिन होशपूर्वक नहीं। बोलता है लेकिन होशपूर्वक नहीं। सुनता है लेकिन होश पूर्वक नहीं। पढ़ता है लेकिन होशपूर्वक नहीं।

तुमने कभी खयाल किया? तुम कुछ पढ़ रहे हो; पूरा पेज पढ़ गये तब अचानक खयाल आता है कि अरे! पढ़ तो गये, लेकिन एक शब्द भी पकड़ में नहीं आया। पढ़ा तुमने जरूर, आंख शब्दों पर चलती थी। एक-एक शब्द पढ़ लिया। विराम, पूर्णविराम, सब पढ़ लिये। कुछ शब्द छूटा नहीं। लेकिन पेज के अंत पर आकर अचानक तुम्हें खयाल आया, अरे! पढ़ तो लिया लेकिन याद कुछ भी नहीं आता।

क्या हुआ? इस घड़ी तुम मूढ़ थे। मूढ़ता का अर्थ समझा रहा हूं। इस घड़ी तुमने मूढ़ता को ग्रहण कर लिया था। तुम होश में नहीं थे। तुम बेहोश थे। पढ़ भी गये, आंख ने भी काम किया, बुद्धि ने भी काम किया, लेकिन आत्मा के तल पर गहरी मूर्च्छा थी। लगा, कोई देखनेवाला होता तो देखता कि बड़े तल्लीनता से पढ़ रहे हो। लेकिन तुम जानते हो कि तल्लीनता तो दूर, जरा-सा हाथ नहीं लगा है। सब ऐसे बह गया। फिर से पढ़ोगे, तब शायद थोड़ा-बहुत हाथ लगे।

तुमने कभी खयाल किया? चौबीस घंटे गुजर जाते हैं--सुबह होती, सांझ होती, यूं ही उम्र तमाम होती। तुम कभी ऐसा पाते हो कि कभी थोड़ी-बहुत देर के लिए जागते हो कि नहीं? ऐसे सोये-सोये ही चलते रहते हो। बोल भी देते हो, झगड़ भी लेते हो, प्रेम भी कर लेते हो, शादी-विवाह भी कर लेते हो, धन भी कमा लेते हो। ऐसे सब चलता जाता है। लेकिन कभी तुमने होश से सोचा, यही तुम करना चाहते थे? यही करने को तुम आये थे? यही था प्रयोजन? यही थी तुम्हारी नियति?

तो तुम कंधे बिचकाओगे। तुम कहोगे, कुछ पक्का पता नहीं कि इसीलिए आये थे। किसलिए आये थे? कहां जाना था? कहां नहीं जाना था? धन कमाना था कि नहीं कमाना था? क्या कमाना था इसका भी कुछ पता

नहीं है। क्या गंवाना था इसका भी कुछ पता नहीं है। क्या गंवा दिया, क्यों गंवा दिया, क्यों कमा लिया, इसका भी कुछ हिसाब-किताब नहीं है। चल पड़े धक्के में। भीड़ जा रही थी, तुम भी चल पड़े।

तुमने कभी देखा? भीड़ एक तरफ भागी जा रही हो तो तुम हजार काम छोड़कर भीड़ के साथ जाने लगते हो। अगर हिंदुओं की भीड़ मस्जिद पर हमला कर रही हो तो तुम भी चल पड़ते हो। तुम हजार काम छोड़ देते हो। तुम्हें कुछ खयाल ही नहीं रहता। जाकर मंदिर को तोड़ देते हो या मस्जिद को जला देते हो। और पीछे अगर कोई तुमसे पूछे कि क्या अकेले तुम ऐसा कर सकते थे? तो तुम कहोगे, अकेला तो मैं नहीं कर सकता था। वह तो भीड़ कर रही थी इसलिए मैं कर गुजरा। वह तो भीड़ ने करवा लिया। तो तुम होश में हो या बेहोश हो?

कोई आदमी गाली दे देता है, और तुम उबल गये; और तुम कुछ कर गुजरे। पीछे अदालत में लोग कहते हैं, हत्यारे भी कहते हैं कि हमने किया नहीं, हो गया। तुमने किया नहीं और हो गया? तो किसने किया? तो हत्यारे कहते हैं, हमारे बावजूद हो गया। होश न रहा। बेहोशी में हो गया। क्रोध आ गया। नशा छा गया क्रोध का और घटना घट गई। करना भी नहीं चाहते थे। उठा लिया पत्थर और इस आदमी के सिर पर मार दिया। सोचा भी नहीं कि यह मर जायेगा।

इसने जो गाली दी है वह क्या इतनी मूल्यवान है कि इसका जीवन ले लो? यह हिसाब-किताब ही न लगाया। असल में यह खयाल ही न था कि यह मर जायेगा। न मारने के लिए पत्थर उठाया था। बस, हो गया। जब मर गया तब तुम घबड़ाये कि यह क्या हो गया? यह मैंने क्या कर लिया? जब हाथ पर खून दिखाई पड़ा।

सौ में से निन्यानबे हत्याएं बेहोशी में होती हैं। हत्यारा वस्तुतः जिम्मेवार नहीं होता। और अगर तुम अपने भीतर गौर से देखोगे तो तुम्हारे भीतर भी यह हत्यारा बैठा हुआ है और कभी भी प्रकट हो सकता है। तुम यह भरोसा मत करना कि तुमने अभी तक हत्या नहीं की है तो कल नहीं करोगे। तुम भी कर सकते हो। बेहोश आदमी का क्या भरोसा! कुछ भी कर सकता है।

न तुमने प्रेम होश में किया है, न घृणा होश में की है। न मित्र होश में बनाये, न शत्रु होश में बनाये। ऐसी बेहोश अवस्था का नाम मूढ़ता है। महावीर ने इस अवस्था को प्रमाद कहा है, बुद्ध ने मूर्च्छा कहा है, अष्टावक्र मूढ़ता कहते हैं।

मूढ़ जरूरी रूप से अज्ञानी नहीं है। अज्ञानी से मेरा मतलब, पंडित हो सकता है मूढ़, बड़ा ज्ञानी हो सकता है, बड़ा जानकार हो सकता है, बड़ी सूचनाओं का धनी हो सकता है, लेकिन फिर भी मूर्च्छित है।

तत्वनिश्चयमात्रेण प्राज्ञो भवति निर्वृतः।

"और ज्ञानी पुरुष केवल तत्व को निश्चयपूर्वक जानकर सुखी हो जाता है।"

कुछ करता नहीं। न तो प्रयत्न करता है, और न अप्रयत्न करता है; करता ही नहीं। इतना जानकर कि सुख मेरा स्वभाव है, बस इतना निश्चयपूर्वक जानकर, ऐसी जानने की एक किरण मात्र-- तत्वनिश्चयमात्रेण; बस इतनी-सी बात, और ज्ञान को उपलब्ध हो जाता है।

रिंझाई के संबंध में उल्लेख है--एक जापानी झेन फकीर के--वह एक मंदिर के पास से गुजरता था और मंदिर में बौद्धों का एक सूत्र पढ़ा जा रहा था। ऐसे मंदिर के द्वार से गुजरते हुए, सुबह का समय है, अभी पक्षी गुनगुना रहे, सूरज निकला है, सब तरफ शांति और सब तरफ सौंदर्य दिख रहा है। उस मठ के भीतर होती हुई मंत्रों की गूंज! उसे एक मंत्र सुनाई पड़ गया--ऐसे ही निकलते। सुनने भी नहीं आया था, कहीं और जा रहा था, सुबह घूमने निकला होगा। मंत्र था, जिसका अर्थ था कि "जिसे तुम बाहर खोज रहे हो वह भीतर है।"

साधारण-सी बात। ज्ञानी सदा से कहते रहे हैं, प्रभु का राज्य तुम्हारे भीतर है, आनंद तुम्हारे भीतर है, आत्मा तुम्हारे भीतर है। ऐसा ही सूत्र, कि जिसे तुम बाहर खोज रहे हो वह तुम्हारे भीतर है।

कुछ झटका लगा। जैसे किसी ने नींद में चौंका दिया। ठिठककर खड़ा हो गया। जिसे तुम बाहर खोज रहे हो, तुम्हारे भीतर है? बात तीर की तरह चुभ गई। बात गहरी उतर गई। बात इतनी गहरी उतर गई कि रिंझाई रूपांतरित हो गया। कहते हैं, रिंझाई ज्ञान को उपलब्ध हो गया। समाधि उपलब्ध हो गई।

खोजने भी न गया था। समाधि की कोई चेष्टा भी नहीं थी। सत्य की कोई जिज्ञासा भी नहीं थी। मंदिर से ऐसे ही अनायास गुजरता था। और ये शब्द कोई ऐसे विशिष्ट नहीं हैं। हर मंदिर में ऐसे सूत्र दोहराये जा रहे हैं। और तुम चकित होओगे जानकर, जो पुजारी दोहराता था वह वर्षों से दोहरा रहा था; उसे कुछ भी न हुआ। वह पुजारी ज्ञानी था लेकिन मूढ़ था। वह दोहराता रहा; तोते की तरह दोहराता रहा। जैसे तोता राम-राम, राम-राम रटता रहे। तुम जो सिखा दो वही रटता रहे। इससे तुम यह मत सोचना कि तोता मोक्ष चला जायेगा क्योंकि राम-राम रट रहा है, प्रभुनाम स्मरण कर रहा है।

यह भी हो सकता है--उस दिन हुआ तो नहीं, लेकिन यह हो सकता है--कि मंदिर में कोई पुजारी न रहा हो, ग्रामोफोन रेकॉर्ड लगा हो, और ग्रामोफोन रेकॉर्ड दोहरा रहा हो कि जिसे तुम बाहर खोजते हो वह तुम्हारे भीतर है। ग्रामोफोन रेकॉर्ड को सुनकर भी कोई ज्ञान को उपलब्ध हो सकता है। तुम पर निर्भर है। तुम कितनी प्रज्ञा से सुनते हो। तुम कितने होश से सुनते हो।

उस सुबह की घड़ी में, सूरज की उन किरणों में, जागरण के उस क्षण में अनायास यह व्यक्ति जागा हुआ होगा; होश से भरा हुआ होगा। एक छोटी-सी बात क्रांति बन गई। रिंझाई महाज्ञानी हो गया। वह घर लौटा नहीं। वह मंदिर में जाकर दीक्षित होकर संन्यस्त हो गया। पुजारी ने पूछा भी, कि क्या हुआ है? उसने कहा, बात दिखाई पड़ गई। जिसे मैं बाहर खोजता हूं वह भीतर है। निश्चयमात्रेण!

पुजारी कहने लगा, मैं जीवन भर से पढ़ रहा हूं, मुझे नहीं हुआ और तुम्हें कैसे हो गया? उसने कहा, यह मैं नहीं जानता। तुम किस ढंग से पढ़ रहे हो तुम जानो। लेकिन यह मैंने सुना, मेरी आंख बंद हुई और मैंने देखा कि ऐसा है। भीतर सुख का सागर लहरें ले रहा है। मैंने कभी देखा नहीं था। दिखाई पड़ गया। सूत्र बहाना बन गया। सूत्र के बहाने बात हो गई।

रिंझाई जब ज्ञान को उपलब्ध हो गया और रिंझाई का जब खुद बड़ा विस्तार हुआ और हजारों उसके संन्यासी हुए तो उसके मठ में वह सूत्र रोज पढ़ा जाता था, लेकिन फिर ऐसी घटना न घटी। और रिंझाई बड़ा हैरान होता कि इसी सूत्र को पढ़कर...पढ़कर भी नहीं, सुनकर मैं ज्ञान को उपलब्ध हुआ, लोग क्यों चूके जाते हैं?

तुम्हारे ऊपर निर्भर है, कैसे तुम सुनते हो। अगर तुम शांत, जाग्रत, होश से भरे सुन रहे हो तो इसी क्षण घटना घट सकती है। फिर न ध्यान करना है, न तप, न जप। फिर कुछ भी नहीं करना है। फिर तो न करना भी नहीं करना है। फिर तो न प्रयत्न और न अप्रयत्न। जो है उसका बोध पर्याप्त है।

तत्वनिश्चयमात्रेण।

वह जो तत्वतः है, वह जो सत्य है, उसका निश्चय मात्र बैठ जाये प्राणों में; हो गई क्रांति, हो गया मूल रूपांतरण।

प्राज्ञो भवति निर्वृतः।

"निश्चय मात्र हो जाने से जो प्रज्ञावान है...।"

मूढ़ के विपरीत प्रज्ञा। मूढ़ के ठीक विपरीत। मूढ़ सोया हुआ; प्रज्ञावान जागा हुआ।

"केवल तत्व को निश्चयपूर्वक जानकर सुखी हो जाता है।"

पाना नहीं है सुख, सिर्फ जानना है। खोजना नहीं है, पहचानना है। कहीं जाना नहीं है, अपने घर आना है। बहुत दूर तुम निकल गये हो अपने से, यही तुम्हारी अड़चन है। जन्मों-जन्मों यात्रा करके तुम बहुत दूर निकल गये हो। लौटो! वापिस आओ!

और यह मत पूछना कि कैसे लौटें। क्योंकि तुम्हें सिर्फ खयाल है कि तुम दूर निकल गये हो। दूर निकल कैसे सकते हो? ऐसे ही जैसे तुम अपने घर में बैठे हो और एक कल्पना उठी कि कलकत्ते चले जायें। चले गये कल्पना में। मगर जा थोड़े ही रहे हो, वस्तुतः थोड़े ही पहुंच गये हो; सिर्फ कल्पना उठी। हो सकता है, कलकत्ते में कलकत्ते के किसी चौरस्ते पर खड़े--स्वप्न में, कल्पना में। अब अगर मैं तुमसे कहूं कि लौट आओ घर अपने तो क्या तुम मुझसे पूछोगे कि कैसे लौटें? कौन-सी ट्रेन पकड़ें? कौन-सा हवाई जहाज पकड़ें? क्योंकि कलकत्ते के चौरस्ते पर खड़े हैं। लौटना, तो कुछ उपाय तो करना होगा।

नहीं, तुम यह सुनकर कि "लौट आओ, लौट आओ घर अपने"--लौट आये, अगर तुमने सुन लिया। तुम यह न पूछोगे, कैसे? क्योंकि गये तुम कभी भी न थे। जाने का सिर्फ आभास है। भ्रांति है संसार। माया है संसार। आभास है कि तुम संसार में हो। तुम हो तो बाहर ही। तुम लाख उपाय करो तो भी संसार में हो नहीं सकते।

"इस संसार में अभ्यास-परायण पुरुष उस आत्मा को नहीं जानते हैं, जो शुद्ध-बुद्ध, प्रिय, पूर्ण प्रपंचरहित और दुखरहित है।"

शुद्धं बुद्धं प्रियं पूर्णं निष्प्रपंचं निरामयम्।
आत्मानं तं न जानन्ति तत्राभ्यासपरा जनाः।।

बड़ी अदभुत बात कहते हैं अष्टावक्र। कि जो अभ्यास में पड़ गये हैं, जो अभ्यास में उलझ गये हैं, वे कभी भी उस शुद्ध-बुद्ध आनंदमयी आत्मा को नहीं जान पाते।

बड़ी आश्चर्य की बात। क्योंकि लोग तो पूछते हैं, क्या अभ्यास करें ताकि आत्मज्ञान हो जाये? और अष्टावक्र कहते हैं:

आत्मानं तं न जानन्ति तत्राभ्यासपरा जनाः।

जो व्यक्ति अभ्यास में डूब गये हैं वे कभी आत्मा को नहीं जान पाते। समझना।

अभ्यास का अर्थ ही होता है कुछ, जो तुम नहीं हो, होने की चेष्टा। जो तुम हो उसकी होने की चेष्टा तो नहीं करनी होती न! जो तुम हो वह तो तुम हो ही। अभ्यास तो ऊपर से कुछ ओढ़ने का नाम है। अभ्यास का तो अर्थ ही है विकृति। अभ्यास का तो अर्थ ही है झूठ, धोखा, प्रपंच, पाखंड। अभ्यास का तो अर्थ ही यह है कि तुम कुछ आयोजन से, चेष्टा से अपने ऊपर आरोपित कर रहे हो। जो है वह तो है; उसके अभ्यास की कोई जरूरत नहीं।

गुलाब का फूल अभ्यास तो नहीं करता गुलाब का फूल होने के लिए। न चमेली, न चंपा, न जूही, कोई भी तो अभ्यास नहीं करता। कोयल कोयल है, कौवा कौवा है। कौवा अभ्यास थोड़े ही करता कौवा होने के लिए। कोयल अभ्यास तो नहीं करती कोयल होने के लिए। जो है, जैसा है, उसके लिए तो कोई अभ्यास नहीं करना पड़ता।

लेकिन अगर कोई कौवा पागल हो जाये...होते नहीं कौवे पागल; पागलपन सिर्फ आदमियों में होता है। पागलपन की घटना मनुष्य को छोड़कर कहीं और घटती ही नहीं। अगर कोई कौवा पागल हो जाये और कोयल होने की चेष्टा करने लगे तो उपद्रव, अभ्यास करना होगा। तो फिर शीर्षासन लगाना होगा, योगाभ्यास करना होगा, आसन-व्यायाम साधने होंगे। कौवा कोयल होना चाहता है। और यह सब अभ्यास ऊपर ही ऊपर रहेगा, क्योंकि स्वभाव को कोई अभ्यास कभी बदल नहीं सकता। समय पड़ने पर कौवा प्रकट हो जायेगा। अभ्यास कर ले, चला जाये किसी संगीत-विद्यालय में, और वहां धीरे-धीरे अभ्यास करके अपने कंठ को भी साध ले, कोकिलकंठी हो जाये, लेकिन किसी मौके पर, जहां अभ्यास को साधने का खयाल न रहेगा--किसी मौके पर बात गड़बड़ हो जायेगी।

ऐसा है कालिदास के जीवन में उल्लेख कि वे जिस राजा भोज के दरबार में थे, एक महापंडित आया। उस महापंडित को तीस भाषाएं आती थीं। और उसने सम्राट भोज के दरबारियों को चुनौती दी कि अगर कोई मेरी मातृभाषा पहचान ले तो मैं एक लक्ष स्वर्ण मुद्राएं भेंट करूंगा। और अगर कोई पहचानने में भूल हुई तो एक लक्ष स्वर्ण मुद्राएं उस व्यक्ति को मुझे भेंट करनी पड़ेंगी।

सम्राट भोज को यह चुनौती बड़ी अखरी। क्या मेरे दरबार में ऐसा कोई भी आदमी नहीं, जो इसकी मातृभाषा पहचान ले? चुनौती स्वीकार कर ली गई। एक के बाद एक दरबारी हारते गये। और भोज बड़ा दुखी होने लगा। अंततः उसने कालिदास से कहा कि कुछ करो। कालिदास ने कहा कि मुझे जरा निरीक्षण करने दो। आदमी गहन अभ्यासी है। जो भाषा बोलता है, ऐसी लगती है कि इसकी मातृभाषा है। वही भूलें करता है, जो सिर्फ मातृभाषा बोलनेवाले लोग करते हैं। उसी ढंग से बोलता है, उसी लहजे में बोलता है, जो मातृभाषावाले बोलते हैं। और सभी भाषाएं! बड?ा मुश्किल है। लेकिन जरा मुझे देखने दो।

ऐसा दो-चार दिन कालिदास उसका निरीक्षण करते रहे। पांचवें दिन सीढ़ियों से उतरता था राजमहल की फिर एक लक्ष मुद्राएं जीतकर और कालिदास ने उसे धक्का दे दिया। राजमहल की सीढ़ियां...धक्का खाया, सीढ़ियों से लौटता हुआ नीचे जा पहुंचा। खड़ा होकर चिल्लाया, नाराज हो गया। कालिदास ने कहा, क्षमा करें, और कोई और उपाय न था। यही आपकी मातृभाषा है।

उस क्षण भूल गया। उस क्षण कौवा प्रकट हो गया। अब जब कोई गाली देता है तो थोड़े ही किसी दूसरे की भाषा में गाली देता है। गाली देने का मजा ही नहीं दूसरे की भाषा में।

मेरे एक मित्र एक अमरीकन युवती से विवाह कर लिये। वे मुझसे कहने लगे, दो बातों में बड़ी अड़चन होती है। झगड़ो, तब गड़बड़ होती है; तब मजा नहीं आता। तब तो दिल होता है कि अपनी मातृभाषा में ही...। मगर वह मजा नहीं आता। और या प्रेम की कुछ गहराइयों में उतरो, तब फिर अड़चन हो जाती। जब कोई प्रेम की गहराई हो तब कोई चाहता है उसी भाषा में बोलो, जो तुम्हारी श्वास-श्वास में रम गई है। या जब क्रोध की गहराई हो तब भी। प्रेम में और युद्ध में मातृभाषा। बीच में कोई भी भाषा चल सकती है।

कालिदास ने कहा, और कोई उपाय न था, क्षमा करें। धक्का देना पड़ा। आप को चोट लग गई हो तो माफ करें, लेकिन यही आपकी मातृभाषा है। और वही मातृभाषा थी।

अभ्यास से हम स्वभाव के ऊपर आरोपण करते हैं।

अष्टावक्र कह रहे हैं, स्वभाव में डूब जाना ही सुख है। इसलिए सुख का तो कोई अभ्यास नहीं हो सकता। तुम जो भी अभ्यास करोगे उससे दुख ही पाओगे। अभ्यास मात्र दुख लाता है, क्योंकि अभ्यास मात्र पाखंड लाता है। इसलिए बड़ा अदभुत सूत्र है:

आत्मानं तं न जानन्ति।

उन अभागों के लिए क्या कहें! वे कभी आत्मा को नहीं जान पाते।

तत्राभ्यासपरा जनाः।

जिनके जीवन में अभ्यास की बीमारी पकड़ गई। जो अभ्यास के रोग से पीड़ित हो गये हैं; जो सदा-सदा अभ्यास ही करते रहते हैं, वे झूठे ही होते चले जाते हैं। मुखौटे ही रह जाते हैं उनके पास।

प्रत्यग्चित भौहों के आगे
समझौते, केवल समझौते

भीतर चुभन सुई की, बाहर
संधिपत्र पर पढ़तीं मुसकानें
जिस पर मेरे हस्ताक्षर हैं
कैसे हैं, ईश्वर ही जाने
आंधी से आतंकित चेहरे
गर्दखोर रंगीन मुखौटे

जी होता आकाश-कुसुम को
एक बार बाहों में भर लें

जी होता एकांत क्षणों में
अपने को संबोधित कर लें
लेकिन भीड़-भरी गलियां हैं
कागल के फूलों के न्यौते

झेल रहा हूं शोभायात्रा में
चलते हाथी का जीवन
जिसके माथे मोती की झालर
लेकिन अंकुश का शासन
अधजल घट-से छलक रहे हैं
पीठ चढ़े जो सजे कठौते
समझौते, केवल समझौते

प्रत्यग्चित भौहों के आगे
समझौते, केवल समझौते

अभ्यास तुम्हें झूठ कर जाता है। अभ्यास समझौता है पर से; स्व के विपरीत। अभ्यास का अर्थ है, भीतर अगर आंसू हैं तो ओठों पर मुसकान। अभ्यास का अर्थ है, भीतर कुछ, बाहर कुछ। धीरे-धीरे भीतर और बाहर दो अलग दुनिया हो जाती हैं।

मनोवैज्ञानिक इसी को स्क्रीजोफ्रेनिया कहते हैं। आदमी दो हो गया--भीतर कुछ, बाहर कुछ। दोनों के बीच ऐसी खाई हो गई कि पुल भी नहीं बन सकता; सेतु भी नहीं बन सकता। अपने से ही संबंध छूट जाता है। क्योंकि धीरे-धीरे तुम अपना मौलिक चेहरा तो भूल जाते हो, मुखौटे को ही अपना चेहरा समझ लेते हो। हाथी के दांत दिखाने के और, खाने के और। तुम्हारे जीवन में ऐसी अड़चन हो जाती। तुम स्वाभाविक न रहे, बस वहीं सुख छिन जाता। सुख है स्वभाव की सुगंध।

ये वृक्ष सुखी हैं। क्योंकि गुलाब का फूल कमल होने की चेष्टा नहीं कर रहा। क्योंकि चंपा चंपा है, चमेली चमेली है। कोई किसी के साथ प्रतिस्पर्धा में नहीं है। कोई कुछ और होने का उपाय नहीं कर रहा है। आदमी पागल है। स्वस्थ आदमी खोजना ही कठिन है। स्वस्थ का अर्थ भी समझ लेना। स्वस्थ शब्द बड़ा कीमती है। इसका मतलब है, स्वयं में स्थित। वही स्वस्थ है जो स्वयं में स्थित है। जो स्वभाव में है वही स्वस्थ है। स्वस्थ आदमी खोजना मुश्किल है। घाव पर घाव, समझौते पर समझौते, मुखौटों पर मुखौटे।

तुमने कभी गौर किया कि तुम कितने मुखौटे ओढ़े हुए हो! पत्नी के सामने एक मुखौटा ओढ़ लेते, बेटे के सामने एक, नौकर के सामने और, मालिक के सामने और--दिन भर बदलते रहते। ऐसे हजारों चेहरे हैं तुम्हारे। अभ्यास ऐसा हो गया है बदलने का कि तुम्हें पता भी नहीं चलता कैसे बदल लेते। चुपचाप बदल लेते।

पति-पत्नी लड़ रहे हैं, कोई मेहमान ने द्वार पर दस्तक दे दी--मुखौटे बदल गये। मेहमान को पता ही न चलेगा। शायदर् ईष्या से भर जाये कि कितना एक-दूसरे को प्रेम करते हैं। मैं कुछ चूक रहा हूं। मेरे जीवन में ऐसी बात नहीं। मेरी पत्नी क्यों नहीं ऐसा प्रेम करती जैसा यह पत्नी कर रही है? उसे पता नहीं कि घड़ी भर पहले, क्षण भर पहले क्या हो रहा था। उसने जब दस्तक दी थी उसके पहले क्या हो रहा था उसे पता नहीं।

दूसरों को हंसते देखकर हरेक को ऐसा लगता है कि शायद मुझसे ज्यादा दुखी आदमी दुनिया में कोई नहीं। क्योंकि तुम्हें अपने भीतर की असलियत पता है, दूसरों को तो सिर्फ तुम्हारा मुखौटा पता है। तुम सबको धोखा दे लो, अपने को कैसे धोखा दे पाओगे? कितना ही दो, लाख करो उपाय, तुम्हारी असलियत बीच-बीच में उभरती रहेगी और बताती रहेगी कि तुम झूठ हो।

और जब तक तुम झूठ हो तब तक तुम दुखी हो। सच होते ही आदमी सुखी होता है; प्रामाणिक होते ही सुखी होता है।

"इस संसार में अभ्यास-परायण पुरुष उस आत्मा को नहीं जानते हैं, जो शुद्ध है, जो बुद्ध है, जो प्रिय है, जो पूर्ण है, जो प्रपंचरहित है और जो दुखरहित है।"

जिसे तुम लेकर आये हो, जिस संपदा को तुम अपने भीतर लिये बैठे हो उस तिजोड़ी को तुमने खोला ही नहीं। तुमने तिजोड़ी के ऊपर और न मालूम क्या-क्या रंग-रोगन चढ़ा दिया। तुमने तिजोड़ी खोली ही नहीं। तुम्हारे रंग-रोगन के कारण यह भी हो सकता है कि अब ताली भी न लगे। तुमने इतना रंग-रोगन कर दिया हो कि ताली का छेद भी बंद हो गया हो। और तुम जिसे खोज रहे हो वह तुम्हारे भीतर बंद है। तुम उसे लेकर आये हो।

यह विरोधाभास लगेगा, लेकिन इसे याद रखना। इस पृथ्वी पर तुम उसी को खोजने के लिए भेजे गये हो, जो तुम्हें मिला ही हुआ है। इस पृथ्वी पर तुम उससे ही परिचित होने आये हो, जो तुम हो। कुछ और होना नहीं है। जो तुम हो उससे ही पहचान बढ़ानी है; उसके ही आंख में आंख डालनी है; उसका ही हाथ में हाथ लेना है; उसका ही आलिंगन करना है।

और तब तुम पाओगे, तुम कभी अशुद्ध हुए ही नहीं। तुम शुद्ध हो। और तुम कभी बुद्ध से क्षण भर नीचे नहीं उतरे। तुम्हारे भीतर की आत्मा परम बुद्ध की स्थिति में है; परम ज्ञानी की स्थिति में है। वहां रसधार बह रही। वहां अमृत बरस रहा। वहां प्रकाश ही प्रकाश है; अंधकार वहां प्रवेश ही नहीं कर पाया। वहां अंधकार प्रवेश कर भी नहीं सकता। तुम महाचैतन्य के स्रोत हो। तुम्हारे भीतर प्रभु विराजमान है--शुद्ध, बुद्ध, प्रिय, पूर्ण, प्रपंचरहित और दुखरहित।

"अज्ञानी पुरुष अभ्यासरूपी कर्म से मोक्ष को नहीं प्राप्त होता है। क्रियारहित ज्ञानी पुरुष केवल ज्ञान के द्वारा मुक्त हुआ स्थित रहता है।"

मोक्ष कोई लक्ष्य नहीं है, कोई गंतव्य नहीं है। मोक्ष आगे नहीं है, तुम्हारे पीछे है। मोक्ष को हाथ फैलाकर नहीं खोजना है, मोक्ष को आंख भीतर डालकर खोज लेना है। मोक्ष तुम्हारी गहराई में पड़ा हुआ हीरा है। घूमो तटत्तट, बीनो शंख-सीपी, हीरा न मिलेगा। हीरा तो लगाओगे डुबकी, जाओगे गहरे अपने में, स्व के सागर में, तो पाओगे।

"अज्ञानी पुरुष अभ्यासरूपी कर्म से मोक्ष को नहीं प्राप्त होता...।"

नाप्नोति कर्मणा मोक्षं विमूढोऽभ्यासरूपिणा।

कितना ही करो अभ्यास--जपो, तपो, उपवास करो; कितना ही करो अभ्यास--छोड़ो संसार, त्याग करो, भाग जाओ हिमालय; कितना ही करो अभ्यास, मोक्ष न पाओगे। क्योंकि तुम्हारी मौलिक दृष्टि तो अभी खुली नहीं कि मोक्ष मेरा स्वभाव है। फिर कहां जाना हिमालय? जो यहां नहीं हो सकता, हिमालय पर भी नहीं होगा। और जो यहां हो सकता है, उसके लिए हिमालय जाने की क्या जरूरत है?

धन ने तुम्हें नहीं रोका है। धन क्या रोकेगा? चांदी के ठीकरे क्या रोक सकते हैं? न मकान ने तुम्हें रोका है, न दुकान ने तुम्हें रोका है, न बच्चे, न पत्नी, न पति ने तुम्हें रोका है। कोई दूसरा तुम्हें कैसे रोक सकता है? तुम रुके हो अपनी मूढ़ता से। मूढ़ता तोड़ो। और कहीं मत जाओ, और कुछ मत छोड़ो, सिर्फ मूढ़ता तोड़ो।

और जिस दिन मूढ़ता टूटेगी और तुम अपने भीतर देखोगे परमात्मा को विराजमान, परात्परब्रह्म को विराजमान, उस दिन तुम पाओगे पत्नी में भी वही विराजमान है। तुम्हारे बेटे में भी वही विराजमान है। उस दिन पत्नी पत्नी न रहेगी, यह सच है। पत्नी भी परमात्मा हो जायेगी। उस दिन बेटा, बेटा न रहेगा; वह भी परमात्मा हो जायेगा। उस दिन यह सारा जगत वही हो जाता है जो तुम हो। तुम्हारे रंग में रंग जाता है। और उस दिन जो उत्सव होता है, जो रास रचता है, उस दिन जो आनंद मंगल के गीत गाये जाते हैं, वही मोक्ष है।

मोक्ष का अर्थ है: स्वयं की पहचान।

नाप्नोति कर्मणा मोक्षं विमूढोऽभ्यासरूपिणा।

धन्यो विज्ञानमात्रेण मुक्तस्तिष्ठत्य विक्रियः।।

अष्टावक्र कहते हैं, धन्य हैं वे लोग--धन्यो विज्ञानमात्रेण--जो केवल बोध मात्र से, चैतन्य मात्र से मोक्ष को उपलब्ध हो जाते हैं। जरा भी क्रिया नहीं करते। क्रिया करने की बात ही नहीं है।

क्रिया से तो वही मिलता है जो बाहर है। अक्रिया से वही मिलता है जो भीतर है। अक्रिया आलस्य का नाम नहीं है, याद रखना। अक्रिया से मतलब अकर्मण्यता मत समझ लेना। अक्रिया का अर्थ है, क्रिया की शांत दशा। अक्रिया का अर्थ है, क्रिया की अनुद्विग्न दशा। अक्रिया का अर्थ है, जैसे झील शांत है और लहर नहीं उठती। झील है, लहर नहीं उठती। क्रिया में जो ऊर्जा लगती है, शक्ति लगती है वह तो है, लेकिन झील की तरह भरी, भरपूर, लेकिन तरंग नहीं उठती। वासना की तरंग नहीं है और वासना की दौड़ नहीं है। उस भरी हुई ऊर्जा में तुम्हें पहली बार दर्शन होते हैं।

धन्यो विज्ञानमात्रेण।

उस घड़ी को कहो धन्यता, जब तुम्हें बोधमात्र से परमात्मा से मिलन हो जाता है।

मुक्तस्तिष्ठत्य विक्रियं◌ः।

और मुक्त...मोक्ष को खोजने से थोड़े ही कोई मुक्त होता है। मुक्त यह जान लेता है कि मैं मुक्त हूं। उसकी उदघोषणा हो जाती है।

उपनिषद कहते हैं, "अहं ब्रह्मास्मि": मैं ब्रह्म हूं। मंसूर ने कहा है, अनलहक: मैं सत्य हूं। यह कुछ पाने की बात थोड़े ही है। यह सत्य तो मंसूर था ही; आज पहचाना। यह उपनिषद के ऋषि ने कहा, "अहं ब्रह्मास्मि"--ऐसा थोड़े ही है कि आज हो गये ब्रह्म। जो नहीं थे तो कैसे हो जाते? जो तुम नहीं हो, कभी न हो सकोगे। जो तुम हो वही हो सकोगे। वही हो सकता है। इससे अन्यथा कुछ होता ही नहीं।

अगर तुम देखते हो कि एक दिन बीज फूटा, वृक्ष बना, आम के फल लगे, तो इसका केवल इतना ही अर्थ है कि आम बीज में छिपा ही था; और कुछ अर्थ नहीं है। जो प्रकट हुआ वह मौजूद था। ऐसा नहीं है कि कोई भी बीज बो दो और आम हो जायेगा। आम के ही बीज बोने पड़ेंगे। आम ही बोओगे तो आम मिलेगा।

अगर एक दिन उपनिषद के ऋषि को पता चला, "अहं ब्रह्मास्मि: मैं ब्रह्म हूं;" और एक दिन गौतम सिद्धार्थ को पता चला कि मैं बुद्ध हूं; और एक दिन वर्धमान महावीर को पता चला कि मैं जिन हूं, तो जो आज पता चला है, आज जो फल लगे हैं, वे सदा से मौजूद थे। पहचान हुई। बीज में छिपे थे, प्रकट हुए। गहरे अंधेरे में हीरा पड़ा था, प्रकाश में लाये। बस, इतनी ही बात है।

धन्यो विज्ञानमात्रेण।

"अज्ञानी जैसे ब्रह्म होने की इच्छा करता है, वैसे ही ब्रह्म नहीं हो पाता है।"

इस बात की इच्छा करना कि मैं ब्रह्म हो जाऊं, इस बात की खबर है कि तुम्हें अभी भी अपने ब्रह्म होने का पता नहीं चला। इच्छा ही सबूत है।

जैसे कोई पुरुष इच्छा करे कि मैं पुरुष हो जाऊं, तो तुम क्या कहोगे? तुम कहोगे, तू पागल है। तू पुरुष है। इसकी इच्छा क्या करनी! वह कहे कि मुझे कुछ रास्ता बताओ कि मैं कैसे पुरुष हो जाऊं? तो तुम क्या करोगे ज्यादा से ज्यादा? आईना दिखा सकते हो कि देख आईना।

सदगुरु इतना ही करता है, एक आईना सामने रख देता है।

पुरानी कथा है: एक सिंहनी छलांग लगाती थी। और छलांग के बीच में ही उसको बच्चा हो गया। वह तो छलांग लगाकर चली भी गई एक टीले से दूसरे टीले पर; बच्चा नीचे गिर गया। नीचे भेड़ों की एक कतार गुजरती थी। वह बच्चा भेड़ों में मिल गया। भेड़ों ने उसे पाला, पोसा; बड़ा हुआ। सिंह था तो सिंह ही हुआ, लेकिन अभ्यासवश अपने को भेड़ मानने लगा। अभ्यास तो भेड़ का हुआ। भेड़ों के साथ था। भेड़ों के बीच ही

पाया पहले दिन से ही। अन्यथा तो कोई सवाल ही न था। भेड़ों का ही मिमियाना देखकर खुद भी मिमियाना सीख गया। भेड़ों जैसा ही घसर-पसर चलने लगा भीड़ में।

और सिंह तो अकेला चलता है। "सिंहों के नहीं लेहड़े।" कोई सिंहों की भीड़ थोड़े होती है। भेड़ों की भीड़ होती है। भीड़ में तो वही चलते हैं, जो डरपोक हैं। भीड़ में चलते ही इसलिए हैं कि कायर हैं। डर लगता है, अगर मैं हिंदुओं की भीड़ से निकला तो क्या होगा; मुसलमानों की भीड़ से निकला तो क्या होगा? रहे आओ भीड़ में। कम से कम इतने लोग तो साथ हैं। बीस करोड़ हिंदू साथ हैं। हिम्मत रहती है।

संन्यासी वही है, जो भीड़ के बाहर निकलता है। संन्यासी सिंह है। "सिंहों के नहीं लेहड़े।" इसलिए संन्यासी की कोई जात नहीं होती। कबीर ने कहा है, संतों की जात मत पूछना। जात होती ही नहीं संत की कोई। जात तो कायरों की होती। संत की क्या जात?

भेड़ों में गिरा, भेड़ों में बड़ा हुआ। भेड़ों की भाषा सीख ली। भेड़ों की भाषा यानी भय। जरा-सी घबड़ाहट हो जाये, भेड़ें कंप जायें तो वह भी कंपे। फिर एक दिन ऐसा हुआ कि एक सिंह ने भेड़ों पर हमला किया। वह सिंह तो देखकर चकित हो गया। वह तो हमला ही भूल गया, उसने जब भेड़ों के बीच में एक दूसरे सिंह को भागते देखा। और भेड़ें उसके साथ घसर-पसर जा रही हैं। वह सिंह तो भूल ही गया भेड़ों को। उसको तो यह समझ में ही नहीं आया कि यह चमत्कार क्या हो रहा है!

वह तो भागा। उसने भेड़ों की तो फिक्र छोड़ दी। बामुश्किल पकड़ पाया इस सिंह को। पकड़ा, तो सिंह मिमियाया, रोने लगा, गिड़गिड़ाने लगा। कहने लगा, छोड़ दो मुझे। मुझे जाने दो। मेरे सब संगी-साथी जा रहे हैं। उसने कहा, नालायक, सुन! ये तेरे संगी-साथी नहीं हैं। तेरा दिमाग फिर गया? तू पागल हो गया? पर वह तो सुने ही नहीं। तो भी उस बूढ़े सिंह ने उसे घसीटा, जबर्दस्ती उसे ले गया नदी के किनारे।

दोनों ने नदी में झांका। और उस बूढ़े सिंह ने कहा कि देख दर्पण में। देख नदी में। अपना चेहरा देख, मेरा चेहरा देख। पहचान! फिर कुछ करना न पड़ा। बड़े डरते-डरते...वह मजबूरी थी। अब यह मानता ही नहीं बूढ़ा सिंह। और ज्यादा झंझट करनी भी ठीक नहीं। उसने देखा। देखा, पाया, हम दोनों तो एक जैसे हैं। तो मैं भेड़ नहीं हूं? एक क्षण में गर्जना हो गई। एक क्षण में ऐसी गर्जना उठी उसके भीतर से, जीवन भर की दबी हुई सिंह की गर्जना--सिंहनाद! पहाड़ कंप गये। बूढ़ा सिंह भी कंप गया। उसने कहा, अरे! इतने जोर से दहाड़ता है? उसने कहा कि जन्म से दहाड़ा ही नहीं। कैसे अभ्यास में पड़ गया! बड़ी कृपा तुम्हारी, जो मुझे जगा दिया।

सदगुरु का इतना ही अर्थ है कि तुम्हें पकड़ ले भेड़ों के झुंड से। तुम बहुत नाराज होओगे। तुम गिड़गिड़ाओगे। तुम कहोगे, यह क्या करते महाराज? छोड़ो मुझे, जाने दो। मैं हिंदू हूं, मैं मुसलमान हूं। मैं ईसाई हूं, मुझे चर्च जाना है--रविवार का दिन! आप कहां ले जाते हो? मुझे जाने दो।

मगर एक बार तुम सदगुरु के चक्कर में पड़ गये तो वह तुम्हें बिना नदी में झुकाये छोड़ेगा नहीं। और एक बार तुमने देख लिया कि जो बुद्ध में है, जो महावीर में है, जो सदगुरु में है, जो अष्टावक्र में है, कृष्ण में है, मोहम्मद में है, जीसस-जरथुस्त्र में है, वही तुममें है--गर्जना निकल जायेगी: "अहं ब्रह्मास्मि।" मैं ब्रह्म हूं। गूंज उठेंगे पहाड़। कंप जायेंगे पहाड़।

तुम भेड़ नहीं हो। भीड़ में हो इसलिए भेड़ मालूम पड़ रहे हो। भीड़ से उठो। भीड़ से जगो। भीड़ ने तुम्हें खूब अभ्यास करवा दिया है। स्वभावतः भीड़ वही अभ्यास करवा सकती है, जो जानती है। भेड़ों का कसूर भी क्या? भेड़ों ने कुछ जानकर तो कुछ किया नहीं। जो जानती थीं वही सिंह के शावक को भी समझा दिया, करवा दिया।

जो तुम्हारे मां-बाप जानते थे वही तुम्हें सिखा दिया। न वे जानते थे, न तुम जान पा रहे हो। जो उनके मां-बाप जानते थे, उन्हें सिखा गये थे कि पढ़ते रहना तोते की तरह राम-राम। तो वे भी पढ़ते रहे। वे तुम्हें सिखा गये हैं कि देख, कभी राम-राम मत चूकना; जरूर पढ़ लेना। रोज सुबह उठकर पढ़ लेना; कि सूरज को

नमस्कार कर लेना; कि कुंभ मेला भरे तो हो आना। तो करोड़ भेड़ें इकट्ठी...। भीड़ वही तो सिखा सकती है, जो जानती है। भीड़ का कसूर भी क्या?

"अज्ञानी जैसे ब्रह्म होने की इच्छा करता है वैसे ही ब्रह्म नहीं हो पाता।"

इस बात को समझो। यह भी अज्ञान है कि मैं इच्छा करूं कि मुझे ब्रह्म होना है, कि मुझे मुक्त होना है। इस इच्छा में ही एक बात सम्मिलित है कि तुम सोचते हो, तुम मुक्त नहीं हो।

थोड़ा सोचो। वह सिंह जो भेड़ों में खो गया था, पूछने लगता उस बूढ़े सिंह से कि मुझे भी सिंह होना है, रास्ता बताओ। और वह बता देता उसको रास्ता कि देख बेटा, सिर के बल खड़ा हुआ कर, शीर्षासन किया कर, इससे धीरे-धीरे सिंह हो जायेगा। या रोज बैठकर अभ्यास किया कर, सोचा कर कि मैं सिंह हूं, मैं सिंह हूं। ऐसे धीरे-धीरे सोचने से, अभ्यास करने से, चिंतन-मनन-निदिध्यासन से हो जायेगा।

तो बात चूक जाती। वह सिंह अगर बैठ-बैठकर अभ्यास करता रहता, आसान-व्यायाम इत्यादि करता, और बार-बार सोचता और शास्त्र पढ़ता और दोहराता कि मैं सिंह हूं, और हिम्मत बांधता, तो झूठ अभ्यास होता। सिंह होने की जरूरत नहीं है,

सिंह होने का बोध जगना चाहिए। अभ्यास नहीं, बोध।

धन्यो विज्ञानमात्रेण।

धन्य हैं वे, जो सुनकर जाग जाते हैं। जिन्होंने देखा चेहरा अपना दर्पण में और पहचाना।

मूढ़ो नाप्नोति तद्ब्रह्म यतो भवितुमिच्छति।

यह होने की आकांक्षा ही फिर न होने देगी। तुम जो हो--होना नहीं है, सिर्फ जागना है। इसलिए धार्मिक व्यक्ति मैं उसको नहीं कहता, जो धार्मिक होना चाहता है। पाखंडी हो जायेगा। धार्मिक व्यक्ति मैं उसको कहता हूं जो उसे देख लेता है, जो है। जो होना चाहता है, यह बात ही गलत है। बिकमिंग, भवितुमिच्छति, कुछ होना, यह धार्मिक आदमी का लक्षण नहीं है; बीइंग, जो है, उसे जान लेना। होने की दौड़ संसार है और जो है, उसके प्रति जागना धर्म है।

मूढ़ो नाप्नोति तद्ब्रह्म यतो भवितुमिच्छति।

अनिच्छन्नपि धीरो हि परब्रह्मस्वरूपभाक्।।

"और धीर पुरुष नहीं चाहता हुआ भी निश्चित ही परब्रह्मस्वरूप को भजनेवाला होता है।"

और धीर पुरुष, बोध को उपलब्ध व्यक्ति, जिसका सिंहनाद हो गया, जिसने अपने वास्तविक चेहरे को पहचान लिया, वह न चाहता हुआ भी...।

बूढ़ा सिंह जब उस युवा सिंह को नदी के तट पर ले गया तो उस युवा सिंह के मन में सिंह होने की कोई आकांक्षा भी न थी, कोई इच्छा भी न थी। वह तो बचना चाहता था। वह कहता था, बाबा मुझे छोड़ो। मुझे क्यों पकड़े हो? मैं भेड़ हूं। और मैं भेड़ रहना चाहता हूं। और मैं बड़े मजे में हूं। और मेरी कोई आकांक्षा इससे अन्यथा होने की नहीं है। मेरा संसार बड़े सुख से चल रहा है। आप यह क्या कर रहे हैं? मुझे कहां घसीटे ले जा रहे हो? मुझे मेरे परिवार में जाने दो।

उसकी कोई इच्छा न थी। वह कुछ होना भी न चाहता था। लेकिन जब अपने वास्तविक चेहरे को देखा झील के दर्पण में, या नदी के पानी में तो क्या करोगे? जब दिखाई पड़ जायेगा सत्य तो कैसे बचोगे? तो उदघोषणा हो गई--"अहं ब्रह्मास्मि।"

अनिच्छन्नपि धीरो हि परब्रह्मस्वरूपभाक्।

न चाहते हुए भी। जो जाग्रत, थोड़ा-सा भी जाग्रत है, जरा-सी भी किरण जागने की जिसके भीतर उतरी है वह निश्चय ही परब्रह्मस्वरूप का भजनेवाला हो जाता है।

फिर स्वरूपभाक् शब्द को समझना चाहिए। परब्रह्मस्वरूप को भजनेवाला। भजन शब्द बड़ा अनूठा है। भजन का अर्थ होता है, अविच्छिन्न जो बहे। अविच्छिन्न जो बहे, अखंड जो बहे।

तुम कभी-कभी सुनते हो; धार्मिक पगले कभी-कभी इकट्ठे हो जाते हैं, वे कहते हैं, अखंड भजन, अखंड कीर्तन। और चौबीस घंटे मोहल्ले भर को परेशान कर देते हैं, माइक इत्यादि लगा लेते हैं। न किसी को सोने देते, न खुद सोते। यह नहीं है अखंड।

अखंड भजन किया नहीं जा सकता। क्योंकि तुम जो भी करोगे वह तो खंडित ही होगा। कोई भी क्रिया अखंड नहीं हो सकती; विश्राम तो करना ही होगा।

अभी मैं बोल रहा हूं। तो हर दो शब्दों के बीच में खाली जगह है--खंडन हो गया। तुमने कहा, "राम-राम-राम", तो हर राम के बीच में खाली जगह खंडित हो गई। जब दो राम के बीच में खाली जगह न रह जाये तब भजन। यह तो बड़ा मुश्किल मामला है। फिर तो एक राम दूसरे राम पर चढ़ जायेंगे। यह तो मालगाड़ी के डब्बे जैसा एक्सिडेंट हो गया। यह तो तुम भूल भी न सकोगे, अगर तुम भूलना भी चाहो तो। कितने ही जोर से, कितनी ही त्वरा से बोलो "राम-राम-राम-राम-राम"। इतने जोर से जैसा वाल्मिकी ने बोला कि राम-राम मरा-मरा हो गया। इतने जोर से बोले कि मालगाड़ी के डब्बे सब एक-दूसरे पर चढ़ गये और अस्तव्यस्त हो गया मामला; सीधा-उलटा हो गया।

लेकिन फिर भी कितने ही जोर से बोलो, दो राम के बीच में जगह खाली रहेगी। अखंड तो भजन किया हुआ हो ही नहीं सकता। इसलिए स्वरूपभाक् शब्द का अर्थ समझ लेना।

परमात्मा का भजन तो अखंड तभी हो सकता है, जब तुम्हें यह याद आ जाये कि मैं परमात्मा हूं। बस, फिर अखंड हो गया। फिर सतत हो गया। फिर जागते-उठते-बैठते-सोते भी तुम जानते हो कि मैं परमात्मा हूं।

जब उस सिंह को दिखाई पड़ गया कि मैं सिंह हूं तो अब इसे दोहराना थोड़े ही पड़ेगा कि चौबीस घंटे वह दोहरायेगा कि मैं सिंह हूं। बात हो गई। खतम हो गई बात। उदघोषणा हो गई। अब दोहराने की कोई जरूरत ही नहीं। उसका व्यवहार सिंह का होगा। वही है स्वरूपभाक्। उठेगा-चलेगा सिंह की तरह, बैठेगा सिंह की तरह, सोयेगा सिंह की तरह, देखेगा सिंह की तरह। यह सब होगा अखंड भजन। श्वास लेगा सिंह की तरह। जो कुछ करेगा, सिंह की तरह करेगा। उसका व्यवहार होगा उसका भजन।

वास्तविक धार्मिक व्यक्ति शब्दों से नहीं होता, उसकी जीवन-धारा से। उसकी जीवन-धारा में एक सातत्य है, एक अनिर्वचनीय शांति है, आनंद की एक धारा है, प्रभु की मौजूदगी है। वह बोले तो प्रभु की बात बोलता; न बोले तो उसके मौन में भी प्रभु मौजूद होता। तुम उसे जागते भी पाओगे तो प्रभु को पाओगे। तुम उसे सोते भी पाओगे तो भी प्रभु को पाओगे।

बुद्ध सोते हुए भी तो बुद्ध ही हैं। उनके सोने में भी बुद्धत्व होगा। आनंद बुद्ध के पास वर्षों रहा, चालीस साल रहा। वह उनका निकट सहचर था, छाया की तरह लगा रहा। रात जिस कमरे में बुद्ध सोते, आनंद वहीं सोता उनकी चिंता में--कभी जरूरत पड़ जाये। वह बड़ा हैरान हुआ। दो-चार वर्ष निरंतर देखने के बाद कभी-कभी...बुद्ध जैसे पुरुष के पास तुम रहो तो कभी ऐसा भी मन होता है, रात जागकर बुद्ध का चेहरा देखूं। तो कभी वह जागकर बैठ जाता, रात सोये बुद्ध को देखता। वैसी अनिर्वचनीय शांति!

तुम्हें तो कोई रात अगर सोते में भी देखे तो कहां शांति? अल्लबल्ल बकोगे, मुंह बिचकाओगे, करवटें लोगे, हाथ-पैर पटकोगे, शोरगुल मचाओगे, कुछ न कुछ करोगे। वह दिन भर की जो बेचैनी है, वह दिन भर की जो आपाधापी है, वह एकदम थोड़े ही छोड़ देगी। वह नींद में भी साथ रहेगी। भजन चलेगा। रात में रुपये गिनोगे। निन्यानबे का चक्कर जारी रहेगा। फेर ऐसे थोड़े ही छूटता है कि तुमने बस आंख बंद कर ली और सो गये तो फेर छूट गया। फिर दुकान पर बैठोगे रात में। फिर कपड़ा बेचोगे।

मुल्ला नसरुद्दीन एक रात अपनी चादर फाड़ दिया। और जब पत्नी ने कहा कि यह क्या कर रहे हो...यह क्या कर रहे हो? तो उसने कहा, तू बीच में मत बोल। अब दुकान पर भी आना शुरू कर दिया? तब उसकी नींद खुली। वह किसी ग्राहक को कपड़ा बेच रहा था।

दुकान दिन भर चलती है, रात भी चलेगी। भेड़ अगर दिन में हो तो रात में भी भेड़ रहोगे। संसार का भजन चलेगा। सिंह अगर दिन में हो तो रात भी सिंह ही रहोगे। तब सिंहत्व का भजन चलेगा। तुम जो हो वह तुम्हारे जागने में भी प्रकट होगा और नींद में भी।

आनंद कभी-कभी बैठ जाता और बुद्ध को सोया देखता और परम उल्लास से भर जाता। उनकी गहरी निद्रा! और फिर भी निद्रा में ऐसा शांत भाव कि कहीं भी मूर्च्छा नहीं। बुद्ध जैसे सोते वैसे ही सोये रहते रात भर--उसी करवट। जहां हाथ रख लेते वहीं हाथ रहता। रात भर बदलते न। जहां पैर रख लेते वहीं रखा रहता। आनंद बहुत हैरान हुआ कि क्या रात में भी खयाल रखते हैं कि पैर हिलाना नहीं है, हाथ हिलाना नहीं? दिन में खैर होश से बैठते हैं, रात...?

आखिर उससे न रहा गया। उसने कहा, मुझे पूछना नहीं चाहिए। पहली तो बात यह, मुझे देखना ही नहीं चाहिए था, यह तो आपकी निजी बात है। लेकिन मुझसे भूल तो हो गई कि मैं कई रातें जागकर देखता रहा। और आपके उस सौंदर्य को देखना रात, बड़ा अदभुत था। एक प्रश्न मन में उठता बार-बार कि क्या आप रात भी होश रखते हैं?

तो बुद्ध ने कहा, सागर को कहीं से भी चखो, खारा पाओगे। बुद्ध को कहीं से भी चखो, बुद्धत्व पाओगे। सोते में भी बुद्धत्व कहां जायेगा? होश कहां जायेगा? दीया जलता रहेगा।

यह हुआ स्वरूपभाक्। यह हुआ स्वरूप का भजन।

बुद्ध रात सपने में भी हिंसा नहीं करेंगे। तुम दिन में भी हिंसा करोगे। तुम रात में भी हिंसा करोगे। असल में दिन में जो-जो हिंसायें बच जायेंगी, न कर पाओगे, वह रात में करोगे। बचा-खुचा रात निपटाना पड़ेगा न! हिसाब-किताब तो पूरा करना पड़ता है। खाते-बही तो सब ठीक रखने पड़ते हैं। दिन में किसी को चांटा मारा, दिल तो गर्दन काट देने का था। चांटा मारा, क्योंकि समझौते करने पड़ते हैं। ऐसे गर्दन रोज काटोगे तो अपनी भी ज्यादा देर बचेगी नहीं। मगर रात सपने में तो कोई कानून नहीं है, कोई बाधा नहीं है। रात सपने में तो गर्दन काट सकते हो; तो काट दोगे।

तुम अपने सपनों को देखना। वह तुम्हारे दिन का ही बचा-खुचा है। जो दिन में नहीं कर पाये वह तुम रात में करोगे। बुद्ध को तो कुछ करने को बचा नहीं है। दिन में ही कुछ नहीं कर रहे हैं तो रात में करने को कुछ बचता नहीं। दिन में भी खाली, रात में भी खाली।

सागर को कहीं से भी चखोगे, खारा ही पाओगे, बुद्ध कहते हैं। मुझे कहीं से चखोगे, बुद्धत्व ही पाओगे, बुद्ध कहते हैं।

रात बुद्ध को सपने नहीं आते। सपने तो उन्हीं को आते हैं जो वासना में जीते हैं। सपने तो उन्हीं को आते हैं जो भविष्य में जीते हैं। सपने तो उन्हीं को आते हैं जो बिकमिंग--भवितुमिच्छति। जो कहते हैं यह होना है, यह होना है, ऐसा होना है, वैसा होना है; जिनको होने का पागलपन सवार है; जिनको बुखार सवार है--कुछ होकर रहना है--दिल्ली पहुंचना, कि राष्ट्रपति होना, कि प्रधानमंत्री होना। दिन में नहीं हो पाते। दिन में सभी तो नहीं हो पाते। अच्छा ही है। एकाध ही प्रधानमंत्री के होने से काफी उपद्रव होता है; सभी हो जायें तो बड़ी मुश्किल हो जाये। बाकी नींद में हो जाते हैं। बड़ी कृपा है।

दो आदमी चुनाव में खड़े हुए थे। मैंने मुल्ला से पूछा, किसको वोट देने के इरादे हैं? उसने कहा, बस एक ही सौभाग्य है कि दो में से एक ही जीत सकता है। और तो सब दुर्भाग्य ही है। मगर एक ही सौभाग्य की बात है कि दो में से एक ही जीत सकता है। दोनों जीत जाते तो दोहरी मुश्किल होती। दोनों शैतान हैं। अब कम जो शैतान है उसको वोट दे देंगे। मगर एक अच्छा लक्षण है चुनाव का कि एक ही जीतता है। अगर दोनों जीत जाते तो क्या होता?

बहुत सपनों में दिल्ली पहुंचते हैं। कुछ जागे-जागे पहुंच जाते हैं। जागे-जागे पहुंचते हैं वे भी काफी उपद्रव करते हैं। तुम्हारी राजधानियों में जितने लोग हैं, ये सब पागलखानों में होने चाहिए।

अगर राजधानियों के आसपास दीवालें खड़ी करके पागलखाने का तख्ता लगा दिया जाये, दुनिया बेहतर हो।

ये पागल...! सभी होना चाहते हैं लेकिन। तो जो नहीं हो पाते वे सपनों में हो जाते हैं। तुम सपनों में वही हो जाते हो जो दिन में नहीं हो पाते। दिन की बेचैनियां, दिन के अधूरे ख्वाब, अधूरी वासनायें, दमित कामनायें, सब सपनों में उभर आती हैं।

ज्ञानी को तो कुछ होना नहीं है। धन्यभागी है ज्ञानी। वह तो जान लिया, जो है। "जो है" में इतना प्रसन्न है। कुछ और होना नहीं है, अन्यथा की कोई मांग नहीं है। जैसा है तृप्त है, परम तृप्त है। शुद्ध को जान लिया, बुद्ध को जान लिया, प्रिय को जान लिया, पूर्ण को जान लिया, अब और होने को क्या है? उसके सब सपने खो गये। उसकी रात स्वप्नशून्य है। उसके दिन कामनाशून्य हैं। उसके भीतर एक ही भजन चलता।

ऐसा भी नहीं है कि वह शब्द दोहराता है। बुद्धपुरुष कहीं दोहराते हैं "राम-राम राम-राम"? ये तो तोतों की बातें हैं। लेकिन जो अहर्निश नाद चल रहा है भीतर, वह जो ओंकार चल रहा है भीतर, वह दोहराना थोड़े ही पड़ता है! वह जो वीणा बज रही भीतर प्राणों की; वह जो प्रभु गीत गा रहा है भीतर, वह जो तुम्हारे प्राणों का प्राण है वह तो चलता है, अपने से चलता है।

इसीलिए तो उसको हम ओंकार नाद कहते हैं, अनाहत नाद कहते हैं। वह तुम्हारे पैदा किये नहीं पैदा होता, तुम जब कुछ भी पैदा नहीं करते, तब सुनाई पड़ता है। अहर्निश चल रहा है। स्वरूपभाक्!

अनिच्छन्नपि धीरो हि परब्रह्मस्वरूपभाक्।

"आधाररहित और दुराग्रही मूढ़ पुरुष संसार के पोषण करनेवाले हैं। इस अनर्थ के मूल संसार का मूलोच्छेद ज्ञानियों द्वारा किया गया है।"

ज्ञानी वही है जो स्वरूप को उपलब्ध हो गया; जिसने अपने भीतर की नैसर्गिक प्रकृति को पा लिया। जैसे कोयल प्राकृतिक है और गुलाब। और जैसे कमल प्राकृतिक है और यह पक्षियों की चहचहाहट। जिस दिन तुम भी अपने स्वरूप में हो जाते हो उस दिन ज्ञान।

शहरों के छोड़कर मुहावरे
आओ हम जंगल की भाषाएं बोलें
जिसमें हैं चिड़ियों के धारदार गीत
खरगोशों का भोलापन
कोंपल की सुर्ख पसलियों में
दुबका बैठा फूलों जैसा कोमल मन
कम से कम एक बार और सही
हम आदिम गंधों के हो लें
पेड़ों से पेड़ों का गहरा भाईचारा
उकडूं बैठे हुए पहाड़
जेठ की अगिनगाथा पर छा जानेवाला
पोर-पोर हरियल आषाढ़
बंद हो गई हैं जो छंदों की
जंग लगी खिड़की हम खोलें
शहरों के छोड़कर मुहावरे
आओ हम जंगल की भाषाएं बोलें

ज्ञानी अपने स्वभाव की भाषा बोलता है। वही उसका भजन है। वह फिर जंगल का हुआ। वह फिर परमात्मा का हुआ, वह फिर प्रकृति का हुआ। अब अभ्यास गया सब। गये पाखंड, गये मुखौटे, गये समझौते। अब नहीं ओढ़ता ऊपर की बातें। अब तो भीतर को बहने देता।

निराधारा ग्रहव्यग्रा मूढाः संसारपोषकाः।

और जो दुराग्रही हैं, मूढ़ हैं, और जिनके पास कुछ आधार भी नहीं, फिर भी अपनी मान्यताओं को पकड़े रहते हैं अहंकार के कारण।

"आधाररहित और दुराग्रही मूढ़ पुरुष संसार के पोषण करनेवाले हैं।"

तुमने कभी खयाल किया, तुम जिन धारणाओं को पकड़े हो, सिवाय अहंकार के और क्या है? तुम्हें पता है? तुमने जाना है? तुमने अनुभव किया है? तुमसे कोई पूछता है, ईश्वर है? और तुम धड़ल्ले से कह देते हो, हां। तुमने कभी जाना? तुम्हारा ईश्वर से कुछ मिलना हुआ? कभी किसी सुबह ईश्वर के हाथ में हाथ डालकर बैठे हो? किन्हीं आंखों में ईश्वर दिखाई पड़ा? कहीं उसकी छाया भी तुम्हारे आसपास से गुजरी?

कुछ पता नहीं है। मगर लड़ने-मरने को तैयार हो जाओगे।

कोई कहता है, नहीं है। उसको भी कुछ पता नहीं है। सुनी-सुनी बातें मत दोहराओ। गुनो; अनुभव करो। आग्रह मत दोहराओ, निराग्रही बनो। आधाररहित बातें हैं ये। क्योंकि एक ही आधार है जीवन में--अनुभव; और कोई आधार नहीं। जो तुमने जाना, बस उतना ही कहो। जो तुमने नहीं जाना, कहो मुझे पता नहीं है। इतनी तो ईमानदारी बरतो। कम से कम इतने बड़े झूठ तो मत बोलो। छोटे-मोटे झूठ बोलो, चलेगा। छोटे-मोटे झूठों से कुछ बड़ा फर्क नहीं पड़ता। लेकिन तुम बड़े-बड़े झूठ बोल रहे हो।

और बड़ा मजा यह है, जो छोटे-छोटे झूठों को इंकार करवा रहे हैं, वे तुम्हें बड़े-बड? झूठ सिखला रहे हैं। मंदिर का पुजारी है, पंडित है, ज्ञानी है, मुनि है, साधु है, वे कहते हैं, झूठ छोड़ो; और तुमसे कहते हैं, ईश्वर को मानो। तुम्हारा अनुभव नहीं है। तो तुम कैसे मानो? तुमने जाना नहीं है तो तुम कैसे मानो? तुम इतना ही कहो कि जानूंगा तो मानूंगा। पहले कैसे मान लूं?

यह नहीं कह रहा हूं मैं, कि तुम कहो कि मैं नहीं मानता हूं। क्योंकि वह भी मानना हो गया। विपरीत मानना हो गया। इतना ही कहो कि मुझे पता नहीं। खुले रहो। द्वार-दरवाजा खुला रखो। "नहीं" में भी दरवाजा बंद हो जाता है। नास्तिक भी बंद, आस्तिक भी बंद।

धार्मिक मैं उसको कहता हूं, जिसका दरवाजा खुला है। जो कहता है, मेरा कोई आग्रह नहीं, ईश्वर होगा। द्वार मैंने खुले रखे हैं, तुम आना। मैं पलक-पांवड़े बिछाये बैठा हूं। तुम नहीं होओगे तो मैं क्या कर सकता हूं? द्वार खुला रहेगा और तुम नहीं आओगे। मैं बाधा न दूंगा। तुम आओगे तो स्वागत करूंगा। तुम हो तो मैं राजी हूं तुम्हारे साथ नाचने को। तुम नहीं हो तो मैं क्या कर सकता हूं? पैदा तो नहीं कर सकता।

"आधाररहित और दुराग्रही मूढ़ पुरुष संसार के पोषण करनेवाले हैं। इस अनर्थ के मूल संसार का मूलोच्छेद ज्ञानियों द्वारा किया गया है।"

जिन्होंने जाना है--ज्ञानी--उन्होंने ही समस्त निराधार मान्यताओं, आग्रहों, पक्षपातों का मूलोच्छेद कर दिया है। ये अनर्थ की जड़ें हैं।

काश, दुनिया में लोग अपने अज्ञान को स्वीकार करें और झूठे आग्रह न करें, तो खोज फिर शुरू हो, फिर झरना बहे, फिर हम यात्रा करें, फिर सत्य की...।

लेकिन कोई हिंदू बनकर बैठा है, कोई मुसलमान बनकर बैठा है। कोई कुरान पकड़कर बैठा है, कोई गीता पकड़कर बैठा है। न तुम्हारा गीता से कुछ संबंध है, न कुरान से कुछ संबंध है। न तुम कृष्ण को पहचानते, न तुम मोहम्मद को; लेकिन तलवारें निकाल लेते हो।

बड़ा अनर्थ हुआ है। मंदिर-मस्जिद के नाम पर जितने पाप हुए हैं, किसी और चीज के नाम पर नहीं हुए। और पंडित-पुरोहितों ने तुम्हें जितना लड़वाया उतना और किसने लड़वाया? जमीन खून से भरी। और मजा यह है कि भाईचारे की बातें चलती हैं। प्रेम के उपदेश दिये जाते और प्रेम के नाम पर युद्ध पलते।

अष्टावक्र बड़ी महत्वपूर्ण बात कहते हैं--

निराधारा ग्रहव्यग्रा मूढाः संसारपोषकाः।
एतस्यानर्थ मूलस्य मूलच्छेदः कृतो बुधैः।।

वे जो बुद्धपुरुष हैं, जाग्रत, ज्ञानी, उन्होंने इस अनर्थ के मूल को काटा है। उन्होंने कहा है, अनाग्रह; आग्रह नहीं, हठ नहीं, पक्षपात नहीं। खोजी की दृष्टि, खुला मन, खुले द्वार, खुली खिड़कियां, खुले वातायान। आने दो हवाओं को, लाने दो खबर। आने दो सूरज की किरणों को, लाने दो खबर। परमात्मा है। तुम जरा द्वार तो खोलो!

तुम द्वार-दरवाजे बंद किये भीतर बैठे हिंदू-मुसलमान बने, आस्तिक-नास्तिक बने। दरवाजा खोलते ही नहीं। परमात्मा द्वार पर दस्तक देता है तो तुम कहते हो, होगा हवा का झोंका। हवा का झोंका नहीं है; क्योंकि सभी झोंके उसी के हैं। परमात्मा की पगध्वनि सुनाई पड़ती है तो तुम कहते हो, होंगे सूखे पत्ते। हवा खड़खड़ाती होगी।

कोई सूखी पत्तियां नहीं खड़खड़ा रही हैं, क्योंकि सभी पत्ते उसी के हैं--सूखे भी और हरे भी। ये उसके ढंग हैं आने के। कभी सूखे पत्तों की आवाज में आता, कभी हवा के झोंके में आता। कभी बादल की तरह घुमड़ता। कभी वर्षा की तरह बरसता। कभी चांद में, कभी सूरज में, हजार-हजार उपाय से आता। तुम जरा आंख खोलो।

आग्रह मत रखो। सिद्धांतों की आड़ में मत बैठो। सिद्धांतों को फेंको। दो कौड़ी के हैं सिद्धांत। सत्य को चुनो। और सत्य को चुनने का एक ही उपाय है--अनुभव। अनुभव एकमात्र आधार है, और कोई आधार नहीं। तर्क सिद्ध नहीं कर सकता, सिर्फ अनुभव ही सिद्ध करता है। अनुभव स्वयंसिद्ध है।

"अज्ञानी जैसे शांत होने की इच्छा करता है, वैसे ही वह शांति को नहीं प्राप्त होता है। लेकिन धीरपुरुष तत्व को निश्चयपूर्वक जानकर सर्वदा शांत मनवाला है।"

न शांतिं लभते मूढो यतः शमितुमिच्छति।

शांति की इच्छा से शांति नहीं मिलती। क्योंकि इच्छा मात्र अशांति का कारण है। तो शांति की इच्छा तो हो ही नहीं सकती। यह तो विरोधाभासी इच्छा हो गई।

मेरे पास लोग आते हैं, वे कहते हैं, शांत होना है। मैं उनसे कहता हूं, जब तक कुछ होना है, शांत न हो सकोगे। होने में ही तो अशांति है। जब कुछ होना है तो कैसे शांत होओगे? खिंचाव रहेगा--कुछ होना है। कल कुछ होना है, परसों कुछ होना है, शांति लानी है। अब तुम शांति के नाम पर अशांत होओगे। तुम बड़े अदभुत हो। अभी धन के नाम पर अशांत थे, बाजार के नाम पर अशांत थे, किसी तरह उससे छुटकारा मिला, अब तुम शांति के नाम पर अशांत होओगे। लेकिन दौड़ जारी है। अब शांति पानी है। पहले धन पाना था, पद पाना था, अब शांति पानी है। तुम महत्वाकांक्षा से कभी छूटोगे या नहीं?

शांत होने का अर्थ है: कुछ नहीं पाना। शांत हो गये। जहां पाना गया वहां शांति आयी। इस दरवाजे से पाना गया, उस दरवाजे से शांति आयी। दोनों साथ-साथ कभी नहीं होते। इस सूत्र पर ध्यान रखना। इस पर खूब ध्यान करना, मनन करना।

न शांतिं लभते मूढो यतः शमितुमिच्छति।

मूढ़ व्यक्ति कभी शांत नहीं हो पाते, क्योंकि वे शांति की कामना करते हैं।

धीरस्तत्वं विनिश्चित्य सर्वदा शांतमानसः।

और जो ज्ञानी हैं, धीर हैं, वे तत्व को निश्चयपूर्वक जानकर सर्वदा शांत मनवाले हो जाते हैं।

इस बात को जान लिया कि मांगने में अशांति है। इस बात को जान लिया, दौड़ने में अशांति है। इस बात को जान लिया, होने में अशांति है। फिर अब क्या बचा करने को? इसके जानने में ही दौड़ गिर गई। इस बोध की प्रगाढ़ता में ही होना भस्मीभूत हो गया। अब तुम जो हो, परम तृप्त, शुद्ध, बुद्ध, पूर्ण, प्रिय। बैठे, चलते, उठते, बैठते, प्रतिक्षण, प्रतिपल तुम जो हो, परम तृप्त।

ऐसा घट सकता है मात्र बोध से। सुनना इस महाघोषणा को। ऐसा घटने के लिए कुछ भी करना जरूरी नहीं है, क्योंकि ऐसा घटा ही हुआ है। ऐसा तुम्हारे भीतर का स्वभाव है।

धन्यो विज्ञानमात्रेण।

धन्यभागी बनो। इसी क्षण चाहो...एक पल भी गंवाना आवश्यक नहीं है। अगर तुम पतंजलि को समझो तो जन्मों-जन्मों तक प्रतीक्षा करनी पड़ेगी। अभ्यास बड़ा है। अष्टांगिक योग। फिर एक-एक अंग के बड़े भेद हैं। यम हैं, नियम हैं, आसन हैं, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, फिर समाधि। फिर समाधि में भी सविकल्प समाधि, निर्विकल्प समाधि, सबीज समाधि, निर्बीज समाधि, तब कहीं...इस जन्म में तो तुम सोच लो पक्का कि होने वाला नहीं। यम ही न सधेंगे; समाधि-वमाधि तो बहुत दूर है। नियम ही न सधेंगे। इसीलिए तो तुम्हारे तथाकथित योगी ज्यादा से ज्यादा आसनों में अटके रह जाते हैं। उससे आगे नहीं जाते। उससे आगे जायें कैसे? आसान ही नहीं सध पाते पूरे। आसन ही इतने हैं। आसन ही साधते-साधते जिंदगी बीत जाती है। प्राणायाम साधते-साधते जिंदगी बीत जाती है।

फिर यम-नियम कुछ छोटी-मोटी बातें नहीं हैं। अहिंसा साधो, सत्य साधो, अपरिग्रह साधो, अचौर्य साधो, ब्रह्मचर्य साधो--गये! कभी कुछ होनेवाला नहीं है। यह ब्रह्मचर्य ही ले डूबेगा। यह सत्य ही ले डूबेगा। इससे पार तुम निकल ही न पाओगे। यह फैलाव बड़ा है।

अष्टावक्र कहते हैं, इसी क्षण हो सकता। एक क्षण भी प्रतीक्षा अगर करनी पड़ती है तो किसी को दोष मत देना, तुम्हारे कारण ही करनी पड़ती है। जन्मों तक तो प्रतीक्षा का सवाल ही नहीं है; तुम्हें करना हो तो तुम्हारी मौज। हो अभी सकता है।

धन्यो विज्ञानमात्रेण मुक्तस्तिष्ठत्यविक्रियः।

क्योंकि मुक्ति में जो प्रतिष्ठा है, उसके लिए किसी क्रिया की कोई जरूरत नहीं; सिर्फ समझ, सिर्फ बोध, सिर्फ प्रज्ञान।

इन सूत्रों पर खूब मनन करना, सोचना, उथलना-पुथलना, चबाना, चूसना, पचाना। ये तुम्हारे रक्त-मांस-मज्जा बन जायें तो इससे अदभुत कोई शास्त्र पृथ्वी पर दूसरा नहीं है।

आज इतना ही।

छियासठवां प्रवचन

अपनी बानी प्रेम की बानी

पहला प्रश्न: चार-पांच वर्षों से आपको सुन रहा हूं। कभी-कभी संन्यास लेने की इच्छा प्रगाढ़ हो जाती है, इसलिए इस बार आपके पास संन्यास लेने के लिए आया हूं। लेकिन जब से घर से निकला हूं तब से शरीर में कंपन और मन में कुछ घबड़ाहट का अनुभव हो रहा है। और मन संन्यास के लिए राजी नहीं मालूम होता। यह क्या है और अब क्या करूं?

मन कैसे राजी होगा संन्यास के लिए? संन्यास तो मन की मृत्यु है। संन्यास तो मन का आत्मघात है। तो मन तो बेचैन हो, यह स्वाभाविक है। मन तो डरे, कंपे, यह स्वाभाविक है। मन तो हजार बाधायें खड़ी करे, यह स्वाभाविक है। मन चुपचाप राजी हो जाये तो चमत्कार है। मन तो छोटी-मोटी बातों में भी राजी नहीं होता, दुविधा-द्वंद्व खड़ा करता है। छोटी-मोटी बातों में, जहां कुछ भी दांव पर नहीं है--यह कपड़ा पहनूं या यह पहनूं; मन वहां भी द्वंद्वग्रस्त हो जाता है। यह करूं या वह करूं, वहां मन डांवाडोल होने लगता है।

मन का स्वभाव दुविधा है। मन की प्रक्रिया दुई को पैदा करना है, द्वैत को पैदा करना है। जहां मन है वहां द्वंद्व है। मन गया, निर्द्वंद्व हुए। मन गया तब स्वच्छंद हुए।

संन्यास तो पूरा प्रयोग ही है मन को धीरे-धीरे मिटा देने का, पोंछ डालने का, अ-मनी दशा में प्रवेश करने का। तो मन डरता है, कंपता है। मन अपना काम कर रहा है।

पूछते हो, "अब मैं क्या करूं?"

मन की तो बहुत मानकर चले, पहुंचे कहां? मन की ही मानकर तो यह दुर्गति हुई। ये जन्मों-जन्मों के फेरे, यह चक्र जीवन-मरण का, यह फिर-फिर आना और फिर-फिर जाना, यह झूले से लेकर मरघट तक की अंतहीन दौड़, अर्थहीन दौड़, यह सब तो बहुत हुआ। मन को ही मानकर हुआ। अब कब तक मन की मानते रहोगे?

कभी तो जागो। कभी तो मन से कहो कि ठीक, तू अपनी कहता, कह; मैं अपनी करूंगा। अब तो अपनी करो। अब तो थोड़ा मन के पार से कुछ होने दो। थोड़े मन के ऊपर उठो। नहीं तो जीवन ऐसे ही बीत जायेगा। हाथ खाली के खाली रह जायेंगे।

स्वप्न झरे फूल से मीत चुभे शूल से
लुट गये सिंगार सभी बाग के बबूल से
और हम खड़े-खड़े बहार देखते रहे
कारवां गुजर गया गुबार देखते रहे
नींद भी खुली न थी कि हाय धूप ढल गई
पांव जब तलक उठे कि जिंदगी फिसल गई
पात-पात झर गये कि शाख-शाख जल गई
चाह तो निकल सकी न पर उमर निकल गई
गीत अश्क बन गये छंद हो दफन गये
साथ के सभी दिये धुआं-धुआं पहन गये
और हम झुके-झुके मोड़ पर रुके-रुके
उम्र के चढ़ाव का उतार देखते रहे
कारवां गुजर गया गुबार देखते रहे

जल्दी ही वक्त आ जायेगा। कारवां तो गुजर ही गया है, गुजर ही रहा है, गुबार ही हाथ रह जायेगी। कारवां गुजर गया गुबार देखते रहे। इसके पहले कि हाथ में सिर्फ गुबार रह जाये, गुजरे हुए कारवां की धूल रह जाये, जागो।

और जागने का एक ही अर्थ होता है: मन की न मानो। मन से लड़ने की भी जरूरत नहीं है, यह भी खयाल रखना। मैं तुमसे कह नहीं रहा कि मन से लड़ो। मैं तो कह रहा हूं सिर्फ मन की न मानो। फर्क है दोनों बातों में; बड़ा गहरा फर्क है। चूके अगर फर्क को समझने में तो भूल हो जायेगी। लड़े मन से तो मन से बाहर कभी भी न जा सकोगे। मानो मन की, या लड़ो मन से, हर हालत में मन के भीतर रहोगे। क्योंकि जिससे हम लड़ते हैं उससे दूर नहीं जा सकते।

मित्र से भी पास होते हैं हम शत्रु के। मित्र को तो भूल भी जायें, शत्रु भूलता नहीं। और जिससे तुम लड़ोगे, और जिसकी छाती पर बैठ जाओगे, छोड़कर हटोगे कैसे फिर? हटे तो डर लगेगा, दुश्मन मुक्त हुआ, फिर पछाड़ न दे।

तो जिसने दबाया, जो लड़ा, वह हारा।

लड़ने की नहीं कह रहा हूं। लड़ने की कोई जरूरत भी नहीं है। मालिक अपने गुलाम से लड़ता थोड़े ही! कह देता, "नहीं मानते"; बात खतम हो गई। अब मालिक कुश्तमकुश्ती करे गुलाम से, तो गये! तो तुम मालिक ही न रहे। लड़ने में ही तुमने जाहिर कर दिया कि तुम मालिक नहीं हो। मालिक सुन लेता गुलाम की। कह देता, ठीक, तूने सहायता दी, सुझाव दिया, धन्यवाद। करता अपनी।

तो मन से लड़ना भी मत। नहीं तो शुरू से ही संन्यास विकृत हो जायेगा। मन से लड़कर लिया तो चूक गये, ले ही न पाये। आये-आये करीब-करीब, चूक गये। किनारे-किनारे आते थे कि फिर किनारा छूट गया। तीर लगते-लगते ही लग नहीं पाया; ठीक जगह पहुंच नहीं पाया।

न तो मन की मानो, न तो मन से हारो और न मन के ऊपर जीतने की कोई चेष्टा करो। मालिक तुम हो। इसकी घोषणा करनी है। लड़कर सिद्ध थोड़े ही करना है! लड़ने में तो तुम जाहिर कर रहे हो कि तुम मालिक नहीं हो, तुम्हें शक है; लड़कर सिद्ध करना पड़ेगा। मालिक तुम हो। स्वभाव से तुम मालिक हो। मन से कह दो, ठीक, पुराना चाकर है तू, तेरी बात सुन लेते हैं। तेरी अब तक सुनी भी, सार कुछ पाया नहीं। अब अपनी करेंगे बिना लड़े, बिना झगड़े।

उतर जाओ संन्यास में। सरक जाओ। अगर न लड़े तो मन ऐसे विदा हो जाता है जैसे था ही नहीं।

चार-पांच वर्षों से सोच रहे हो! और कहते हो, कभी-कभी संन्यास लेने की इच्छा बड़ी प्रगाढ़ भी हो जाती है। तो जब इच्छा प्रगाढ़ भी हो जाती है तब भी चूक-चूक जाते हो? तो जरा उनकी सोचो, जिनकी इच्छा प्रगाढ़ भी नहीं है। अब और क्या करोगे? अब और इससे ज्यादा क्या होगा? इच्छा प्रगाढ़ हो गई, अब इससे ज्यादा और क्या होगा? अगर इच्छा के प्रगाढ़ होने पर भी मन जीत-जीत जाता है तब तो तुम्हारी मुक्ति की कोई संभावना नहीं। अब और ज्यादा क्या होगा?

और अब तो यहां आ भी गये हो यह निर्णय करके कि संन्यास ले लेना है। अब कहते हो कि यहां आ भी गया हूं इस बार तो संन्यास लेने; पर जब से घर से निकला हूं, शरीर कंपता है और मन में कुछ घबड़ाहट अनुभव होती है।

स्वाभाविक। बिलकुल स्वाभाविक। ऐसा न होता तो कुछ गलत होता। इससे चिंता मत बनाओ। शरीर कंपता है, अनजानी बात होने जा रही है। पता नहीं क्या होगा फिर? परिचित-प्रियजन कैसे लेंगे? वही गांव, वे ही लोग! स्वीकार करेंगे, अस्वीकार करेंगे? लोग हंसेंगे कि पागल समझेंगे? लोग विरोध करेंगे, अपमान करेंगे? पत्नी कैसे लेगी? बच्चे कैसे लेंगे? सारी चिंतायें उठती हैं।

नये पर जाते समय चिंतायें स्वाभाविक हैं। पुराना तो परिचित है, उस पर तुम सदा चले हो। उस पर तो तुम रेलगाड़ी के डब्बे की तरह पटरी पर दौड़ते रहे हो यहां से वहां। आज तुम लीक से उतरकर चल रहे, लकीर की फकीरी छोड़ रहे। चिंता उठती है। राजपथ से हटकर पगडंडी पर जा रहे। राजपथ पर भीड़ है। आगे भी, पीछे भी लोग हैं, किनारे-बगल में भी लोग हैं। सब तरफ भीड़ जा रही है; वहां भरोसा है। इतने लोग गलत थोड़े ही जा रहे होंगे।

और मजा यह है कि सभी यही सोच रहे हैं कि इतने लोग गलत थोड़े ही जा रहे होंगे। तुम जिनकी वजह से जा रहे हो वे तुम्हारी वजह से जा रहे हैं। तुम बगलवाले की वजह से चल रहे हो, बगलवाला तुम्हारी वजह से चल रहा है। भीड़ एक-दूसरे को थामे है, और चलती जाती है। जो पीछे हैं वे सोचते हैं, आगेवाले जानते होंगे। जो आगे हैं वे सोचते हैं, इतने लोग पीछे आ रहे हैं, न जानते होते तो आते क्यों? नेता सोचता है अनुयायी जानते होंगे; नहीं तो क्यों आते? अनुयायी सोचते हैं कि नेता जानता होगा, नहीं तो आगे क्यों चलता?

ऐसे एक-दूसरे पर निर्भर भीड़ सरकती जा रही है। कहां जा रही है? क्यों जा रही है? कुछ भी पता नहीं है।

आज तुम अगर संन्यास लेते हो तो उतरे भीड़ से। भीड़ छोड़ी। भेड़ होना छोड़ा। चले पगडंडी पर। अब न कोई आगे है, अब न कोई पीछे। अब तुम अकेले हो। अकेले में भय लगता। रात होगी, अंधेरी होगी, भटकोगे, क्या होगा? पहुंचोगे, क्या पक्का?

इससे कंपन होता। कंपन स्वाभाविक है। कंपन इस बात का लक्षण है कि जीवन में पहली बार नयी दिशा में कदम उठाया है तो कदम थर्राता है। और मन कहता है, यह तो कभी किया न था। यह क्या कर रहे हो?

मन की...ध्यान रखना, मन बड़ा रूढ़िवादी है: आर्थोडाक्स। वह वही करना चाहता है, जो कल भी किया था, परसों भी किया था, पहले भी किया था। मन तो यंत्र है। तुम यंत्र से नया काम करने को कहो तो यंत्र कहेगा, यह क्या कहते हो? मन तो कुशल है उसी को करने में, जो सदा करता रहा है। उसकी लकीर बन गई। उसी लकीर पर चलता रहता है। जरा तुम लकीर से हटे तो मन कहता है, इसमें मैं कुशल नहीं हूं। यह मैंने कभी किया नहीं है, अभ्यास नहीं है। यह तुम क्या करते हो? और अब इतनी उम्र तो गुजर गई, थोड़े दिन और गुजार लो पुराने में ही रहकर, निश्चिंतता से। कहां असुरक्षा में जाते हो? इसलिए मन भी डरता है।

मगर न सुनो तन की, न सुनो मन की। क्योंकि न तुम तन हो और न तुम मन हो। तुम चैतन्य हो। तुम साक्षी हो। यह जिसको पता चल रहा है कि शरीर कंप रहा है, वही हो तुम। शरीर का कंपन नहीं, जिसको बोध हो रहा है कि शरीर कंप रहा है, उस बोध में ही तुम्हारा होना है। जिसे पता चल रहा है कि मन चिंतित हो रहा है, दुविधा में पड़ रहा है: करूं न करूं?

मन नहीं हो तुम। जो इन सबके पीछे खड़ा देख रहा है। तन का कंपना, मन की दुविधा, इन दोनों का जहां अंकन हो रहा है, उस साक्षीभाव में तुम्हारा होना है। और साक्षी बन गये, संन्यासी बन गये।

संन्यासी बनकर करोगे क्या? साक्षी ही तो बनोगे। संन्यास का अर्थ ही इतना है कि अब हम तोड़ते नाता तन से, मन से। जोड़ते नाता उससे, जो दोनों के पार है।

डरो मत। हिम्मत करो। जिन्होंने हिम्मत की उन्होंने पाया है। जो डरे रहे वे किनारे पर ही अटके रहे। वे कभी गहरे सागर में न उतरे। और अगर मोतियों से वंचित रह गये तो कोई और जिम्मेवार नहीं।

दूसरा प्रश्न:

किसी ने माला जपी किसी ने जाम लिया
सहारा जो मिला जिसको उसी को थाम लिया
और अजब हाल था हरसूं नकाब उठने पर

किसी ने दिल को किसी ने जिगर को थाम लिया
भगवान, कृपा कर इस पर कुछ प्रकाश डालें।

सत्य कैसा है, इसकी कोई कल्पना नहीं हो सकती। सत्य कैसा है, अनुभव के पूर्व इसकी कोई धारणा नहीं हो सकती। सत्य कैसा है? किसी शब्द में कभी समाया नहीं और किसी चित्र में कभी आंका नहीं गया। सत्य कैसा है? अपरिभाष्य है, अनिर्वचनीय है।

इसलिए जब सत्य पर पर्दा उठता है तो हिंदू भी रोयेगा, मुसलमान भी रोयेगा। कोई हृदय थाम लेगा, कोई जिगर थाम लेगा। जब सत्य पर पर्दा उठेगा तो जिन्होंने भी मान्यताएं कर रखी थीं, वे सब चौंककर अवाक खड़े रह जायेंगे। क्योंकि वे सभी पायेंगे कि सत्य उनकी किसी की भी मान्यता जैसा नहीं है। जिन्होंने सोचा था त्रिमुखी है, त्रिमूर्ति है, वे भी खड़े रह जायेंगे। जिन्होंने कोई और रंग-ढंग सोचे थे, वे भी खड़े रह जायेंगे। क्योंकि सत्य जैसा है वैसा कभी कहा ही नहीं गया; कहा नहीं जा सकता। सत्य जैसा है वैसा किसी भी शास्त्र में लिखा नहीं है; लिखा नहीं जा सकता।

सत्य जैसा है वैसा तो जाना ही जाता है बस। गूंगे का गुड़ है। जो जान लेता है वह गूंगे की तरह रह जाता है। कहने की कोशिश भी करता है लेकिन फिर भी कह नहीं पाता। और जो-जो कहता है वह सभी कहने के कारण असत्य हो जाता है। सत्य को कहा नहीं कि असत्य हुआ नहीं। सत्य इतना विराट है, किन्हीं मुट्ठियों में नहीं बांधा जा सकता। और हमारी धारणाएं मुट्ठियां हैं। और हमारे शब्दजाल, सिद्धांत, शास्त्र मुट्ठियां हैं।

तो हिंदू, मुसलमान, ईसाई, जैन, बौद्ध, ईश्वर को माननेवाले, ईश्वर को न माननेवाले, सभी जिगर थामकर रह जायेंगे, जब पर्दा उठेगा। तब पता चलेगा कि अरे, हम जो मानते रहे, वैसा तो कुछ भी नहीं है। और जैसा है वैसा तो हमारे स्वप्न में भी कभी नहीं उतरा था। जैसा है इसका तो हमें कभी भी अनुमान भी न हुआ था।

और तब वे रोयेंगे भी। क्योंकि अब उन्हें पता चलेगा कि हमारी मान्यताओं ने हमें भटकाया, पहुंचाया नहीं। संप्रदायों ने भटकाया है तुम्हें सत्य से; पहुंचाया नहीं। लेकिन पता तो तभी चलेगा जब सत्य पर से पर्दा उठे। इसके पहले तो तुम एक नींद में हो, एक बेहोशी में चले जा रहे हो। इसके पहले तो तुम जो मानते हो, लगता है ठीक है। जब सत्य से तुम्हारी मान्यता की टकराहट होगी और तुम्हारी मान्यता कांच के टुकड़ों की तरह चूर-चूर हो जायेगी, तब तुम रोओगे कि कितने-कितने जन्मों तक मान्यतायें बांधकर रखीं, संजोकर रखीं। कितनी पूजा, कितनी अर्चना की, कितनी मालायें जपीं, सब व्यर्थ गईं। कितने चिल्लाये "राम-राम," कितना नहीं पुकारा "अल्लाह-अल्लाह!" और अब जो सामने खड़ा है, न अल्लाह है न राम।

महात्मा गांधी के आश्रम में वे भजन गाते थे: अल्लाह-ईश्वर तेरा नाम। न उसका अल्लाह नाम है और न ईश्वर उसका नाम है। उसका कोई नाम नहीं। जब पर्दा उठेगा तब तुम देखोगे, अनाम खड़ा है। न अल्लाह जैसा, न ईश्वर जैसा। न अरबी में लिखा है उसका नाम, न संस्कृत में; अनाम है। न शंकराचार्य की मान्यता जैसा है, न पोप की मान्यता जैसा। किसी की मान्यता जैसा नहीं है। आंख पर जब तक पर्दा पड़ा है तब तक माने रहो, जो मानना है। पर्दा उठते से ही सारी मान्यतायें टूट जायेंगी। सत्य जब नग्न प्रकट होता है तो तुम्हारी सारी धारणाओं को बिखेर जाता है।

ऐसा ही समझो...तुमने जो कहानी सुनी है, पांच अंधे एक हाथी को देखने गये थे। हाथी को छुआ भी; अंधे थे, देख तो सकते न थे, छू-छूकर पहचाना। जिसने पैर छुआ, उसने कहा कि अरे, खंभे की तरह मालूम होता है। उसने एक धारणा बनाई--अंधे की धारणा: खंभे की तरह मालूम होता। जिसने कान छुआ उसने कहा, सूपे की तरह मालूम होता। उसने भी एक धारणा बनाई।

ऐसे वे सभी धारणाएं बनाकर लौट आये। और उनमें बड़ा विवाद हुआ। वे पांचों अंधे बड़े दार्शनिक थे। सभी दार्शनिक अंधे हैं। उन्होंने बड़ा विवाद किया, अपनी-अपनी धारणा के लिए बड़े तर्क जुटाये। और बेचारे गलत भी न कहते थे, क्योंकि जैसा अंधा जान सकता था वैसा उन्होंने जाना था। और एक-दूसरे पर खूब हंसे भी। उन्होंने कहा, यह भी हद मजाक हो गई। मैं खुद देखकर आ रहा हूं। छुआ, सब तरह टटोला, खंभे की तरह है। तू पागल हो गया है? तू कहता है सूप की तरह है? जिसने सूप की तरह अनुभव किया था वह भी हंसा। उसने कहा, तुम्हारा दिमाग फिर गया है या मजाक कर रहे हो?

और उनमें गलत कोई भी न था और सब गलत थे। और उनमें सही कोई भी न था और सब सही थे। यही तो मुश्किल है। सही थे थोड़े-थोड़े।

ध्यान रखना, असत्य से भी ज्यादा खतरनाक होता है थोड़ा-सा सच। थोड़ा सच बड़ा खतरनाक होता है; असत्य से ज्यादा खतरनाक होता है। क्योंकि असत्य पर तो तुम्हें भरोसा भी नहीं आता। तुम खुद भी भीतर जानते हो कि है नहीं ठीक। लेकिन थोड़े सच पर तुम्हें भरोसा होता है। भरोसे की वजह से तुम जोर से पकड़ते हो, तुम लड़ने को तैयार होते हो।

अब कोई इन पांचों की आंख खोल दे। कोई डाक्टर मोदी इनका आपरेशन कर दे, और ये पांचों आंख खोलकर हाथी को देखें तो क्या होगा? पांचों अपने जिगर को थाम लेंगे। वे कहेंगे, क्षमा करो भाई। बड़ी भूल हो गई। जो जाना था वैसा नहीं है। जो जाना था वह अंश था। और अब जो पूरा जान रहे हैं उसमें अंश तो है, लेकिन पूरा अंश जैसा नहीं है।

इसलिए जितनों ने भी मानकर रखा है उनकी मान्यता में एक छवि का प्रतिफलन हुआ है, छाया पड़ी है, प्रतिध्वनि हुई है। लेकिन जब तुम मूल ध्वनि सुनोगे तब तुम पाओगे, तुमने जो जाना था वह कहीं थोड़े से अंश की तरह मौजूद है--पर अंश की तरह। और तुम्हारा दावा था कि यही सत्य है, यही पूरा सत्य है। वहीं भूल हो गई।

"किसी ने माला जपी किसी ने जाम लिया
सहारा जो मिला जिसको उसी को थाम लिया
और अजब हाल था हरसूं नकाब उठने पर
किसी ने दिल को, किसी ने जिगर को थाम लिया"

अंधेरे में तुमने जो पकड़ लिया--किसी ने माला और किसी ने जाम; और किसी ने राम और किसी ने रहीम; और किसी ने कुरान और किसी ने पुराण। तुमने जो पकड़ लिया है अंधेरे में, जब रोशनी होगी तो तुम बड़े तड़फोगे, बड़े रोओगे। और तब तुम्हें बड़ी बेचैनी भी होगी।

इसलिए मैं तुमसे कहता हूं, कोई धारणा न पकड़ना। कोई धारणा ही न पकड़ना। क्योंकि अगर धारणा पकड़ ली तो पर्दा उठने में कठिनाई हो जायेगी। धारणाएं पर्दे को उठने नहीं देतीं, क्योंकि तुम्हारा न्यस्त स्वार्थ हो जाता है। तुमने जो मान्यता मान रखी है जन्मों से, उसको छोड़ने में बड़ी कठिनाई होती है। इसका अर्थ हुआ कि अब तक तुम मूढ़ थे? यह मानने का मन नहीं होता। अहंकार इसके विपरीत खड़ा होता। मैं और मूढ़? असंभव। इससे बेहतर है अंधा होना। आदमी अंधा होने में बुरा नहीं मानता। एक आदमी अंधा है तो उसे हम कहते हैं, सूरदास। और कोई मूर्ख, कोई मूढ़, उसको तो हम कोई सुंदर नाम नहीं देते। अंधे को सूरदास कहते हैं। मूढ़ को? मूढ़ के लिए हमने कोई सुंदर नाम नहीं चुना। मूढ़ के लिए तो सिर्फ गाली है। ये अहंकार के हिसाब हैं।

आदमी अंधा होना पसंद करेगा बजाय गलत होने के। इसको खयाल रखना। आंख न खोलेगा। क्योंकि आंख खोलने से कहीं ऐसा न हो, जो दिखाई पड़े वह मेरे अब तक के दर्शनशास्त्र को गलत कर जाये। तो फिर मैं मूढ़ सिद्ध हो जाऊंगा। इससे तो सूरदास होना अच्छा है। कम से कम लोग सूरदासजी तो कहते हैं।

तुममें से अधिक ने आंखें बंद कर रखी हैं, मींच रखी हैं। खोलने से डरते हो। शुतुरमुर्गी न्याय! शुतुरमुर्ग दुश्मन को देखकर रेत में अपने मुंह को छिपा लेता है। और जब रेत में उसका मुंह छिप जाता, आंख बंद हो जाती तो वह शांत खड़ा हो जाता है। जब दुश्मन दिखाई नहीं पड़ता तो शुतुरमुर्ग का तर्क है कि होगा नहीं, इसलिए दिखाई नहीं पड़ता।

यही तो बहुत लोगों का तर्क है। वे कहते हैं, ईश्वर अगर है तो दिखाई क्यों नहीं पड़ता? जब दिखाई नहीं पड़ता तो नहीं है। जो दिखाई पड़ता है, वही है। और जो दिखाई नहीं पड़ता वह नहीं है। यही तो शुतुरमुर्ग का तर्क है। शुतुरमुर्ग बड़ा नास्तिक मालूम होता है। सिर छिपाकर खड़ा हो जाता है रेत में। दुश्मन सामने खड़ा है लेकिन अब उसे दिखाई नहीं पड़ता। डर खतम हो गया। जब दुश्मन दिखाई नहीं पड़ता तो नहीं होगा। जो दिखाई नहीं पड़ता वह हो कैसे सकता है?

और इस भांति शुतुरमुर्ग दुश्मन के हाथ में पड़ जाता है। आंख खुली रहती तो बचाव भी हो सकता था। भाग भी सकता था, लड़ भी सकता था, छिप भी सकता था। कुछ किया जा सकता था। आंख बंद करके रेत में सिर गड़ाकर खड़े हो गये, अब तो कुछ भी नहीं किया जा सकता। अब तो दुश्मन के हाथ में पूरी तरह पड़ गये। अब तो कमजोर दुश्मन भी हरा देगा। अब तो छोटा-मोटा दुश्मन भी नष्ट कर देगा।

आंख खोलो। और आंख खोलनी हो तो धारणाओं में अपना रस मत लगाओ। धारणाओं से मत चिपटो। हिंदू, मुसलमान, ईसाई मत बनो। ईश्वर को माननेवाले, ईश्वर को न माननेवाले मत बनो। सत्य ऐसा है, सत्य वैसा है ऐसी बकवास में मत पड़ो। इतना ही कहो कि मुझे कुछ पता नहीं। मैं अज्ञानी हूं और चित्त मेरा हजार-हजार विचारों से भरा है। तो इतना ही करो कि मैं चित्त का उपाय कर लूं कि विचार शांत हो जायें, निर्विचार हो जाऊं। तो शायद मेरी आंखों पर विचारों का धुआं न होगा तो मैं देख सकूं, जो है। उसे वैसा ही देख सकूं जैसा है। जस का तस, जैसे का तैसा देख सकूं। अभी तो विचार बीच-बीच में आकर सब गड़बड़ कर जाते हैं। विचार का ही तो पर्दा है। और कौन-सा पर्दा है आंख पर?

इस बात को दोहरा दूं। पर्दा परमात्मा पर नहीं पड़ा है, और न सत्य पर पड़ा है। परमात्मा नग्न खड़ा है। परमात्मा दिगंबर है। पर्दा तुम्हारी आंख पर पड़ा है। आंख पर पर्दा है, परमात्मा पर पर्दा नहीं है। इसीलिए तो ऐसा होता है, एक की आंख का पर्दा हटता है तो सबको थोड़े ही परमात्मा दिखाई पड़ता है। अगर परमात्मा पर पर्दा होता तो उठा दिया एक ने पर्दा, सबको दिखाई पड़ जाता।

बुद्ध आये, उठा दिया पर्दा; तो बुद्धुओं को भी दिखाई पड़ गया। पर्दा अगर परमात्मा पर होता तो एक के उठाने से सबके लिए उठ जाता। सीधी बात है। लेकिन पर्दा हरेक की आंख पर पड़ा है। इसलिए बुद्ध जब पर्दा उठाते हैं तो उनकी ही आंख खुलती है, किसी और की नहीं खुलती। मैं पर्दा उठाऊंगा मेरी आंख खुलती है, तुम्हारी नहीं खुलती। तुम पर्दा उठाओगे, तुम्हारी आंख खुलेगी किसी और की नहीं खुलेगी।

आंख पर पर्दा है। और पर्दा किस बात का है? पर्दे का तानाबाना किससे बना है? धारणाएं, पक्षपात, शास्त्र, सिद्धांत, जो तुमने मान रखी हैं बातें, उनसे पर्दा बना है। पर्दा तुम्हारी मान्यता से बुना गया है। रंग-बिरंगी मान्यतायें तुमने इकट्ठी कर लीं बिना जाने।

सोवियत रूस में कोई आस्तिक नहीं, क्योंकि सरकार नास्तिक है। स्कूल, कालेज, विश्वविद्यालय नास्तिकता पढ़ाते हैं। नास्तिक होने में लाभ है। आस्तिक होने में नुकसान ही नुकसान है रूस में। आस्तिक हुए कि कहीं न कहीं जेल में पड़े। आस्तिक हुए कि झंझट में पड़े। नास्तिक होने में लाभ ही लाभ है।

जैसे यहां भारत में आस्तिक होने में लाभ ही लाभ है, नास्तिक होने में हानि ही हानि है, ऐसी ही हालत वहां है। कुछ फर्क नहीं है। यहां बैठे हैं दूकान पर माला लिये, लाभ ही लाभ है। जेब काट लो ग्राहक की, उसको पता ही नहीं चलता। वह माला देखता रहता है। वह कहता है, ऐसा भला आदमी! तो मुंह में राम-राम, बगल में छुरी चलती। और राम-राम से छुरी पर खूब धार रख जाती। ऐसी चलती कि पता भी नहीं चलता। जिसकी

गर्दन कट जाती है वह भी राम-राम सुनता रहता। उसको पता ही नहीं चलता। वह राम-राम जो है, अनेस्थेशिया का काम करता है। गर्दन काट दो, पता ही नहीं चलता।

यहां तो आस्तिक होने में लाभ है। यहां नास्तिक होने में हानि ही हानि है, इसलिए लोग आस्तिक हैं। यह धंधा है। यह सीधे लाभ की बात है। रूस में लोग नास्तिक हैं। तुम पक्का समझना, अगर तुम रूस में होते, तुम नास्तिक होते। तुम आस्तिक नहीं हो सकते थे। क्योंकि जिस बात में लाभ है यहां, वही तुम हो। वहां जिस बात में लाभ होता वही तुम होते।

रूस बड़ा आस्तिक देश था उन्नीस सौ सत्रह के पहले। जमीन पर थोड़े-से आस्तिक देशों में एक आस्तिक देश था। लोग बड़े धार्मिक थे। पंडा, पुजारी, पुरोहित, चर्च...। अचानक उन्नीस सौ सत्रह में क्रांति हुई और पांच-सात साल के भीतर सारा मुल्क बदल गया। छोटे बच्चे से लेकर बूढ़े तक सब नास्तिक हो गये। यह भी खूब हुआ! जैसे यह भी सरकार के हाथ में है। यह भी जिसके हाथ में ताकत है वह तुम्हारी धारणा बदल देता है।

ये धारणाएं दो कौड़ी की हैं। ये तुम्हारे अनुभव पर निर्भर नहीं हैं। इनके पीछे चालबाजी है। दूसरों की चालबाजी, तुम्हारी चालबाजी। इनके पीछे चालाकी है। इनके पीछे कोई अनुभव नहीं है।

धारणाएं छोड़ो। मैं तुमसे न नास्तिक बनने को कहता, न आस्तिक। मैं कहता हूं, धारणाएं छोड़ो। यह तानाबाना धारणाओं का अलग करो। खुली आंख! कहो कि मुझे पता नहीं। घबड़ाते क्यों हो? यह बात कहने में बड़ा डर लगता है आदमी को कि मुझे पता नहीं। इस बात से बचने के लिए वह कुछ भी मानने को तैयार है।

किसी से पूछो, ईश्वर है? तुम शायद ही ऐसा हिम्मतवर आदमी पाओ, जो कहे कि नहीं, मैं अज्ञानी हूं, मुझे कुछ पता नहीं। मैं इसी आदमी को धार्मिक कहता हूं। यह ईमानदार है। दूसरे तुम्हें मिलेंगे। कोई कहेगा कि हां, मुझे पता है ईश्वर है। पूछो, कैसे पता है? तो वह कहता है, मेरे पिताजी ने कहा है। पिताजी का पता लगाओ, उनके पिताजी कह गये हैं। ऐसे तुम पता लगाते जाओ, तुम बड़े हैरान होओगे। तुम कभी उस आदमी को न खोज पाओगे जिसने कहा है, जिसको अनुभव हुआ है। सुनी बात है।

इसलिए तो शास्त्रों को हिंदुओं ने अच्छे नाम दिये हैं। शास्त्रों के दो नाम हैं: श्रुति, स्मृति। श्रुति का अर्थ है सुना गया। तुम्हारे सब शास्त्र या तो श्रुति हैं--सुने गये। किसी ने कहा, तुमने सुना। या स्मृति--याद किये गये, कंठस्थ कर लिये। बैठ गये तोता बनकर। श्रुति-स्मृति बड़े अच्छे शब्द हैं।

यही तुम्हारी सब धारणाएं हैं--श्रुतियां और स्मृतियां। छोड़ो दोनों। न तो कोई श्रुति से सत्य को पाता है, न कोई स्मृति से सत्य को पाता है। छोड़ो दोनों। उनके दोनों के छोड़ते ही पर्दा गिर जाता है। सत्य सामने खड़ा है। सत्य सदा सामने खड़ा है। सत्य तुम्हें घेरे हुए खड़ा है। सत्य इन वृक्षों में, सत्य इन हवाओं में, सत्य इन मनुष्यों में, पशु-पक्षियों में खड़ा है। परमात्मा हजार-हजार रूपों में प्रगट हो रहा है। और तुम बैठे अपनी सड़ी-गली किताब खोले। तुम बैठे अपना कुरान-बाइबिल लिये। तुम उसमें देख रहे हो कि सत्य कहां है। और सत्य यहां सूरज की किरणों में नाच रहा। और सत्य तुम्हारे द्वार पर हवाओं में दस्तक दे रहा। और सत्य हजार-हजार नूपुर बांधकर मदमस्त है।

सत्य चारों तरफ खड़ा है; आंख पर पर्दा है। पर्दा शब्दों, सिद्धांतों, शास्त्रों का है; श्रुति-स्मृति का है। हटा दो। कह दो, मैं नहीं जानता। जिस दिन तुम यह कहने में समर्थ हो जाओगे...ध्यान रखना, बड़े साहस की बात है। थोड़े ही लोग समर्थ हो पाते हैं जो कहते हैं, मैं नहीं जानता। जिस दिन तुम यह कहने में समर्थ हो पाओगे कि मैं नहीं जानता, तुम तैयार हुए जानने के लिए। पहला कदम उठाया। तुमने कम से कम व्यर्थ को तो छोड़ा। अंधेपन में जो मान्यतायें मानी थीं, वे तो छोड़ीं।

तो कम से कम ऐसे अंधे तो बनो, जो कहता है कि मैंने हाथ तो फेरा लेकिन क्या था, मैं ठीक से नहीं जानता। खंभे जैसा मालूम पड़ता था। लेकिन अंधे के मालूम पड़ने का क्या भरोसा! मैं अंधा हूं। स्वीकार कर लो कि मैं अज्ञानी हूं और ज्ञान की पहली किरण उतरेगी। सिर्फ उनके ही जीवन में ज्ञान की किरण उतरती है, जो इतने विनम्र हैं; जो कह देते हैं कि मुझे पता नहीं। परमात्मा उन्हीं के हृदय को खटखटाता है।

पंडितों पर यह किरण कभी नहीं उतरती। पापियों पर उतर जाये, पंडितों पर नहीं उतरती। पंडित होना इस जगत में सबसे बड़ा पाप है।

तीसरा प्रश्न:
मैं तुम्हारी रहमत का उम्मीदवार आया हूं
मुंह ढांपे कफन से शर्मसार आया हूं
आने न दिया बारे-गुनाह ने पैदल
ताबूत में कंधे पर सवार आया हूं

ऐसी ही हालत है। परमात्मा के सामने कौन-सा मुंह लेकर खड़े होओगे? दिखाने के लिए कौन-सा चेहरा है तुम्हारे पास? तुम्हारे सब चेहरे तो मुखौटे हैं। ये तो छोड़ देने होंगे। तुम्हारे पास क्या है परमात्मा को अर्पण करने को? जिसको तुम जीवन कहते हो वह तो बड़ा बेसार मालूम पड़ता। तुम्हारे पास फूल कहां हैं जो तुम चढ़ाओगे?

वृक्षों के फूलों को चढ़ाकर तुम सोचते हो, तुमने पूजा कर ली? पूजा हो रही थी, उसमें तुमने बाधा डाल दी। वृक्ष के ऊपर फूल पूजा में लीन थे। परमात्मा के चरणों में चढ़े थे जीवंत रूप से, सुगंधित हो रहे थे, हवाओं में नाच रहे थे। बिखेर रहे थे अपनी सुवास। तुम तोड़कर उनको मार डाले। गंध बिखर गई, फूल के प्राण खो गये। इस मुर्दा फूल को तुम जाकर चढ़ा आये परमात्मा के चरणों में। तुम्हारे परमात्मा मिट्टी-पत्थर के हैं, मुर्दा; और जहां तुम जीवन देखते हो उसको भी तत्क्षण मुर्दा कर देते हो।

फूल चढ़ाना अपने चैतन्य का, सहस्रार का। तुम्हारा कमल जब खिले भीतर, खिलें उसकी हजारों पंखुड़ियां, तब चढ़ाना। बुद्ध ने ऐसा कमल चढ़ाया, अष्टावक्र ने ऐसा कमल चढ़ाया, कबीर-नानक ने ऐसा कमल चढ़ाया। जिस दिन ऐसा कमल चढ़ाओगे, उस दिन चढ़ाया। और उसे तोड़कर नहीं चढ़ाना पड़ेगा। तुम चढ़ जाओगे। तुम प्रभु के हो जाओगे। तुम प्रभुमय हो जाओगे।

अभी तो हालत बुरी है। अभी तो बड़ी लज्जा की स्थिति है। ठीक है यह पद किसी कवि का:

"मैं तुम्हारी रहमत का उम्मीदवार आया हूं।"

अभी तो परमात्मा से तुम सिर्फ करुणा मांग सकते हो, दया। अभी तो तुम भिखारी की तरह आ सकते हो। और ध्यान रखना, मैं तुमसे कहता हूं कि परमात्मा के द्वार पर जो भिखारी की तरह जायेगा वह कभी जा ही नहीं पाता। सम्राट की तरह जाना होता है। जो मांगने गया है वह परमात्मा तक पहुंचता ही नहीं। जो परमात्मा को देने गया है वही पहुंचता है।

कुछ लेकर जाओ। कुछ पैदा करके जाओ। कुछ सृजन हो तुम्हारे जीवन में। कुछ फूल खिलें। कुछ सुगंध बिखरे। कुछ होकर जाओ। उत्सव, संगीत, नृत्य, समाधि, प्रेम, ध्यान, कुछ लेकर जाओ। खाली हाथ परमात्मा के दरबार में मत पहुंच जाना। झोली लेकर तो मत जाओ भिखारी की। यह झोली ही तो तुम्हारी वासना है। इस झोली के कारण ही तो तुम भटके हो जन्मों-जन्मों। मांग रहे, मांग रहे, मांग रहे। कुछ मिलता भी नहीं, मांगे चले जाते। अभ्यस्त हो गये हो भीख के।

"मैं तुम्हारी रहमत का उम्मीदवार आया हूं।"

नहीं, परमात्मा के द्वार पर करुणा मांगने मत जाना; दया के पात्र होकर मत जाना। मगर ऐसा ही आदमी जाता है।

"मुंह ढांपे कफन से शर्मसार आया हूं।"

और अपना मुंह ढांके हूं कफन से। शर्म और लज्जा में दबा हुआ आया हूं।

"आने न दिया बारे-गुनाह ने पैदल।"

और इतने गुनाह किये हैं कि पैदल आने की हिम्मत न जुटा सका। और इतने गुनाह किये कि उनका बोझ इतना है मेरे सिर पर कि पैदल आता भी तो कैसे आता? गठरी गुनाहों की बड़ी है, बोझिल है।

"ताबूत में कंधे पर सवार आया हूं"

इसलिए ताबूत में, अरथी में, दूसरों के कंधे पर सवार होकर आ गया हूं।

यही तुम्हारी जिंदगी की कथा है। तुम यहां चल थोड़े ही रहे हो, ताबूत में जी रहे हो। तुम यहां अपने पैरों से थोड़े ही चल रहे हो, दूसरों के कंधों पर सवार हो। और जरा अपने चेहरे को गौर से देखना आईने में, तुम पाओगे कफन तुमने डाल रखा है चेहरे पर। मुर्दगी है। मौत का चिह्न है तुम्हारे चेहरे पर। जीवन का अभिसार नहीं, जीवन का आनंद-उल्लास नहीं, मौत की मातमी छाया है; मौत का अंधेरापन है।

तुम कर क्या रहे हो यहां सिवाय मरने के? रोज-रोज मर रहे हो, इसी को जीवन कहते हो। जबसे पैदा हुए, एक ही काम कर रहे हो: मरने का। रोज-रोज मर रहे हो, प्रतिपल मर रहे हो, और इसको जीना कहते हो। इससे ज्यादा और जीने से दूर क्या होगा? यह जीने के बिलकुल विपरीत है। नाचे? गुनगुनाये? गीत प्रगट हुआ? प्रसन्न हुए?

नहीं, अभी जीवन से अभिसार नहीं हुआ। अभी जीवन से संबंध ही नहीं जुड़ा। अभी जीवन से संभोग नहीं हुआ। बस, ऐसे ही धक्के-मुक्के खा रहे हो। ठीक है। ऐसी स्थिति है आदमी की। होनी नहीं चाहिए। बदली जा सकती है।

बदलने के लिए कुछ करना पड़े। और बदलने के लिए सिर्फ प्रार्थना करने से कुछ भी न होगा। क्योंकि प्रार्थना में फिर वही मांग, फिर वही भिखमंगापन। बदलने के लिए तुम्हें अपने जीवन की आमूल-दृष्टि बदलनी होगी।

परमात्मा के सहारे जीने की फिक्र मत करो, अपने को रूपांतरित करो, अपने को अपने हाथ में लो। और तुम यह कर सकते हो। कोई कारण नहीं है, कोई बाधा नहीं है। जो नर्क की यात्रा कर सकता है वह स्वर्ग की यात्रा क्यों नहीं कर सकता? जो पाप निर्मित कर सकता है वह पुण्य को जन्म क्यों नहीं दे सकता? क्योंकि वही ऊर्जा पाप बनती है और वही ऊर्जा पुण्य बनती है। जिस ऊर्जा के दुरुपयोग से तुम आज अपना चेहरा प्रकट करने में डर रहे हो, उसी ऊर्जा का सदुपयोग, सृजनात्मक उपयोग-- और तुम्हारे चेहरे पर एक आभा आ जायेगी। एक सूरज प्रगट होगा। एक चांद खिलेगा, एक चांदनी बिखरेगी।

ऊर्जा वही है। जरा भी फर्क नहीं करना है। क्रोध करुणा बन जाता है, जरा समझदारी और जागरूकता की जरूरत है। काम राम बन जाता है, जरा-सी समझ की जरूरत है। और संभोग समाधि बन जाती है।

जीवन को अपने हाथ में लो। कहीं ऐसा न हो कि प्रार्थना भी तुम्हारा बचने का ही उपाय हो। कर ली प्रार्थना, कह दिया प्रभु, बदलो; फिर नहीं बदला तो अब हम क्या करें? तुमने प्रभु पर जिम्मा छोड़ दिया। तुमने कहा बदलो, अब नहीं बदलते तो तुम्हीं जिम्मेवार हो। अब तुमने अपना दायित्व भी हटा लिया। अब तुम अपराधी भी अनुभव न करोगे अपने को। तुम कहोगे, अब मैं क्या करूं? इतना कर सकता था कि तुमसे कह तो दिया कि बदलो। और तुम अपने पुराने ढर्रे को जारी रखे हो। और तुम बदलना जरा भी नहीं चाहते।

तुम्हारी प्रार्थनायें अक्सर तुम्हारी बदलाहट की आकांक्षा की सूचक नहीं होतीं। तुम्हारी प्रार्थनायें केवल इस बात की सूचक होती हैं कि हम तो यह करने को तैयार नहीं हैं, अब तुझे करना हो तो देखें कैसे करता! दिखा दे चमत्कार। तुम चमत्कार के आकांक्षी हो। ऐसे चमत्कार होते नहीं, हुए नहीं कभी; होंगे भी नहीं। तुम्हें परम स्वतंत्रता मिली है। तुम्हें अपने जीवन का गीत गुनगुनाने की पूरी आजादी मिली है।

यही शब्द गालियां बन जाते हैं और यही शब्द मधुर गीत। तुमने खयाल किया? वर्णमाला वही की वही है। गाली दो कि गीत बना लो, वर्णमाला वही की वही है। पूजा करो कि पाप कर लो, वर्णमाला वही की वही

है। संभोग में उतर जाओ कि समाधि में उठ जाओ, वर्णमाला वही की वही है। सिर्फ संयोजन बदलता है, सिर्फ आयोजन बदलता है, सिर्फ व्यवस्था बदलती है।

संन्यास व्यवस्था को बदलने का प्रयोग है।

संसारी की तरह रहकर देख लिया, अब थोड़े संन्यासी की तरह रहकर देखो। बदलो आयोजन को। और मैं तुमसे यह कहता हूं कि तुम्हारे पास जो भी है उसमें गलत कुछ भी नहीं है; भला तुमने गलत उपयोग किया हो। जो भी तुम्हारे पास है, गलत कुछ भी नहीं है; सिर्फ व्यवस्थित करना है।

ऐसा ही समझो कि एक हार्मोनियम रखा है और एक आदमी जो संगीत नहीं जानता, हार्मोनियम बजा रहा है। अंगुलियां भी ठीक हैं, हार्मोनियम भी ठीक है, हार्मोनियम की चाबियों पर अंगुलियां चलाना भी ठीक है, स्वर भी पैदा हो रहे हैं, लेकिन मुहल्ले-पड़ोस के लोग पुलिस में रिपोर्ट कर देंगे कि यह आदमी पागल किये दे रहा है।

मैंने सुना है, मुल्ला नसरुद्दीन एक रात ऐसा ही हार्मोनियम बजा रहा था। आखिर पड़ोसी के बर्दाश्त के बाहर हो गया तो पड़ोसी ने खिड़की खोली और उसने कहा कि नसरुद्दीन, अब बंद करो नहीं तो मैं पागल हो जाऊंगा। मुल्ला ने कहा, भाई, अब व्यर्थ है बकवास करना। घंटा भर हुआ मुझे बंद किये। पागल तुम हो चुके!

हार्मोनियम ठीक, अंगुलियां स्वस्थ, बजानेवाला ठीक, सब ठीक है, जरा सीख चाहिए। जरा स्वरों का बोध, ज्ञान चाहिए। जरा स्वरों में मेल बिठाने की कला चाहिए। वही हामर्ोनियम, वही अंगुलियां, वही आदमी, और पागल भी सुनकर स्वस्थ हो सकते हैं।

संगीत पर प्रयोग चल रहे हैं पश्चिम में। और इस बात के आसार हैं कि आनेवाली सदी में संगीत पागलों के इलाज का अनिवार्य उपाय हो जायेगा। क्योंकि संगीत को सुनकर तुम्हारे भीतर के स्वर भी शांत हो जाते हैं। उनमें भी तालमेल हो जाता है। बाहर के संगीत की छाया तुम्हारे भीतर भी पड़ने लगती है। बड़े प्रयोग चल रहे हैं। संगीत मनुष्य के स्वास्थ्य का उपाय हो सकता है। विक्षिप्त जो हो गया है, उसे वापिस स्वस्थ करने में खींच ला सकता है। और अगर नहीं जानते तो वही स्वर उन्माद पैदा कर सकते हैं। बस इतना ही फर्क है।

संसारी और संन्यासी में इतना ही फर्क है। जीवन की वीणा को जिसने बजाना सीख लिया उसे मैं संन्यासी कहता हूं। और जो संन्यासी है, जीवन की वीणा को बजाने में कुशल हो गया--ध्यान करो, उसे परमात्मा के पास नहीं जाना पड़ेगा, परमात्मा उसके पास आता है। ताबूत में चढ़कर तो जाने की बात छोड़ो, जाना ही नहीं पड़ेगा। परमात्मा खुद उसकी तरफ बहता है। आना ही पड़ता परमात्मा को। जब तुमने पूरी की पूरी व्यवस्था जुटा दी, जैसा होना चाहिए वैसे तुम हो गये, ध्यान की सुरभि फैलने लगी, तुम्हारे रोएं-रोएं में संगीत आपूरित हो गया, तुममें एक बाढ़ आ गई आनंद की, उल्लास की, तो परमात्मा रुकेगा कैसे?

जब फूल खिलता है तो भौंरे चले आते हैं। जब तुम खिलोगे, परमात्मा चला आयेगा। तुम्हें जाने की भी जरूरत नहीं है। और जिस दिन परमात्मा तुम्हें चुनता है...तुम्हारे चुनने से कुछ भी नहीं होता। तुम तो चुनते रहते हो। तुम्हारे चुनने से कुछ भी नहीं होता, जिस दिन परमात्मा तुम्हें चुनता है उस दिन, बस उस दिन क्रांति घटती है। उस दिन तुम्हारा साधारण-सा लोहा उसके पारस-स्पर्श से स्वर्ण हो जाता है।

तुम कुछ ऐसा करो कि वह चला आये; उसे आना ही पड़े; वह रुक ना सके। तुम्हारा बुलावा शब्दों में न हो, तुम्हारा बुलावा अस्तित्व में हो जाये।

मेरा जीवन बिखर गया है
तुम चुन लो, कंचन बन जाऊं

तुम पारस मैं अयस अपावन
तुम अमृत मैं विष की बेली
तृप्ति तुम्हारी चरणन चेरी

तृष्णा मेरी निपट सहेली
तन-मन भूखा जीवन भूखा
सारा खेत पड़ा है सूखा
तुम बरसो घनश्याम तनिक तो
मैं आषाढ़ सावन बन जाऊं
मेरा जीवन बिखर गया है

यश की बनी अनुचरी प्रतिभा
बिकी अर्थ के हाथ भावना
काम-क्रोध का द्वारपाल मन
लालच के घर रहन कामना
अपना ज्ञान न जग का परिचय
बिना मंच का सारा अभिनय
सूत्रधार तुम बनो अगर तो
मैं अदृश्य दर्शन बन जाऊं
मेरा जीवन बिखर गया है
तुम चुन लो, कंचन बन जाऊं

बिन धागे की सुई जिंदगी
सिये न कुछ बस चुभ-चुभ जाये
कटी पतंग समान सृष्टि यह
ललचाये पर हाथ न आये
रीती झोली जर्जर कंथा
अटपट मौसम दुस्तर पंथा
तुम यदि साथ रहो तो फिर मैं
मुक्तक रामायण बन जाऊं
मेरा जीवन बिखर गया है
तुम चुन लो, कंचन बन जाऊं

बुदबुद तक मिटकर हिलोर इक
उठ गया सागर अकूल में
पर मैं ऐसा मिटा कि अब तक
फूल न बना न मिला धूल में
कब तक और सहूं यह पीड़ा
अब तो खतम करो प्रभु क्रीड़ा
इतनी दो न थकान कि जब तुम
आओ, मैं दृग खोल न पाऊं
मेरा जीवन बिखर गया है
तुम चुन लो, कंचन बन जाऊं

प्रभु चुनता है, योग्यता अर्जित करो। प्रभु चुनता है, संगीत को जन्माओ। प्रभु चुनता है, तुम समाधिस्थ बनो। प्रार्थना छोड़ो। मांगना छोड़ो। योग्य बनो। पात्र बनो। तुम जिस दिन पात्र बन जाओगे, अमृत बरसेगा। और अपात्र रहकर तुम कितनी ही प्रार्थना करते रहो, अमृत बरसनेवाला नहीं। क्योंकि अपात्र में अमृत भी पड़ जाये तो जहर हो जाता है।

चौथा प्रश्न: मुझे मेरे घर-गांव के लोग पागल कहते हैं तब से, जब से मैंने ध्यान करना शुरू किया। और मैं कभी-कभी द्वंद्व में पड़ जाता हूं, बहुत असमंजस में; क्योंकि लोगों की बात पर चलने से मेरी शांति भंग हो जाती है। प्रभु, मेरा पथप्रदर्शन कर मेरा जीवन सफल करें।

पूछा है स्वामी अरविंद योगी ने।

अब तो और मुश्किल होगी। अब तुम संन्यासी भी हो गये। लोग पागल कहते हैं इससे तुम्हारे मन में चोट क्यों लगती है? तुम्हारी भी धारणा लोगों के ही जैसी है। तुम्हें भी लगता है कि पागल होना कुछ गलत है। लोग जब कहते हैं, पागल हो गये तो तुम्हारी शांति भंग होती है। तुम्हारे मन में चिंता जागती है। तुम्हारे मूल्य में और लोगों के मूल्य में फर्क नहीं है।

मैं तुमसे कहता हूं, धन्यभागी हो कि तुम पागल हो। जब लोग पागल कहें तो उन्हें धन्यवाद देना, उनका अनुग्रह मानना। तुम धन्यभागी हो कि तुम पागल हो, क्योंकि तुम परमात्मा के लिए पागल हुए हो। वे भी पागल हैं। उनका पागलपन पद के लिए है, धन के लिए है। उनका पागलपन सामान्य व्यर्थ की चीजों के लिए है। तुम सार्थक के लिए पागल हुए हो।

तुम घबड़ाओ मत। और तुम इससे परेशान भी मत होओ। और अगर तुम्हारी शांति खंडित हो जाती है तो इसका इतना ही अर्थ हुआ कि शांति अभी बहुत गहरी नहीं, छिछली है। किसी के पागल कहने से तुम्हारी शांति खंडित हो जाये? तो इसका अर्थ हुआ, शांति बड़ी ऊपर-ऊपर है।

और शांत बनो, कि सारा जगत तुम्हें पागल कहे तो भी तुम्हारे भीतर लहर पैदा न हो। ऐसे पागल बनो कि कोई तुम्हारी शांति खंडित न कर पाये, कोई तुम्हारी मुसकान न छीन सके। सारी दुनिया भी विपरीत खड़ी हो जाये तो भी तुम्हारा आनंद अखंडित हो और तुम्हारी धारा, अंतर्धारा निर्बाध बहे। ऐसे पागल बनो।

अपने गांव के लोगों से कहना, आपकी बड़ी कृपा है, मुझे याद दिलाते हैं। अभी हूं तो नहीं, होने के मार्ग पर हूं। धीरे-धीरे हो जाऊंगा। सब मिलकर आशीर्वाद दो कि हो जाऊं। चल पड़ा हूं, तुम सबके आशीर्वाद साथ रहे तो मंजिल पूरी हो जायेगी।

और तुम चकित होओगे, अगर तुम अशांत न होओ, व्यग्र न होओ, उद्विग्न न होओ तो गांव के लोग जो तुम्हें पागल कहते हैं, वही तुम्हें पूजेंगे भी। उन्होंने सदा पागलों को पूजा।

पहले पागल कहते हैं, पत्थर मारते हैं, नाराज होते हैं। अगर तुम उतने में ही डगमगा गये तो फिर बात खतम हो गई। तुम अगर डटे ही रहे, तुम अपना गीत गुनगुनाये ही गये, उनके पत्थर भी बरसते रहें, उनके अपमान भी बरसते रहें, और तुम फूल बरसाये ही गये तो आज नहीं कल उनको भी लगने लगता है। आखिर उनके भीतर भी प्राण हैं, उनके भीतर भी चैतन्य सोया है। कितनी देर ऐसा करेंगे? उनको भी लगने लगता है कि कहीं हम कुछ भूल तो नहीं कर रहे? यह पागल कोई साधारण पागल नहीं मालूम होता। तुम्हारी प्रतिभा, तुम्हारी आभा, तुम्हारा वातावरण धीरे-धीरे उन्हें छुएगा। तुम संक्रामक बन जाओगे। उनमें से कुछ छुपे अंधेरे इधर-उधर आकर तुम्हारे पास बैठने लगेंगे। उनमें से कुछ, जब कोई न होगा, तुम्हारे पैर छूने लगेंगे। फिर धीरे-धीरे उनकी भी हिम्मत बढ़ेगी, फिर तुम्हारे पास पागलों का एक समूह इकट्ठा होने लगेगा।

वे जो तुम्हारे विरोध में थे, अब धीरे-धीरे तुम्हारी उपेक्षा करने लगेंगे। वे जो तुम्हारी उपेक्षा करते थे, अब धीरे-धीरे तुममें उत्सुक होने लगेंगे। वे जो तुममें उत्सुक थे, धीरे-धीरे तुम्हारी पूजा में संलग्न होने लगेंगे।

ऐसा ही सदा हुआ है। तुम घबड़ाओ मत।

और अगर तुम मुझसे पूछते हो तो गांववालों का ऐसा कहना तुम्हारे लिए एक अवसर है। वे तुम्हारे लिए एक मौका जुटा रहे हैं, एक कसौटी खड़ी कर रहे हैं, जिस पर तुम अगर खरे उतरे तो तुम धन्यभागी हो जाओगे।

रोम-रोम में खिले चमेली
सांस-सांस में महके बेला
पोर-पोर से झरे मालती
अंग-अंग जुड़े जूही का मेला
पग-पग लहरे मान सरोवर
डगर-डगर छाया कदंब की
तुमने क्या कर दिया? उमर का
खंडहर राजभवन लगता है
जाने क्या हो गया कि हर दम
बिना दीये के रहे उजाला
चमके टाट बिछावन जैसे
तारों वाला नील दुशाला
हस्तामलक हुए सुख सारे
दुख के ऐसे ढहे कगारे
व्यंग-वचन लगता था कल तक
वह अब अभिनंदन लगता है

तुम ऐसे जीयो कि तुम्हारे पोर-पोर से महके बेला। सांस-सांस में खिले चमेली। अंग-अंग में जूही का मेला। तुम ऐसे जीयो। तुम फिक्र छोड़ो वे क्या कहते हैं। वे तुम्हारे हित में ही कहते हैं। अनजाने तुम्हारे हित का ही आयोजन कर रहे हैं। तुम उनकी परीक्षा में खरे उतरो। अगर उतर सके तो किसी दिन तुम कहोगे:

जाने क्या हो गया कि हर दम
बिना दीये के रहे उजाला!

पत्थर फूल बन जाते हैं अगर तुम सच में पागल हो गये हो। सच में पागल हो जाओ। कदम पहले उठा लिये हैं, अब लौट मत पड़ना। कायर होते हैं, लौट जाते हैं; साहसी डटे रहते हैं।

और संन्यास से बड़ा साहस संसार में दूसरा नहीं है। क्योंकि भीड़ सांसारिकों की है। उसमें संन्यासी हो जाना अचानक भीड़ से अलग हो जाना है। भीड़ राजी नहीं होती किसी को अलग होने से। भीड़ चाहती है तुम वैसा ही वर्तन करो जैसा वे करते हैं। वैसे ही कपड़े पहनो, वैसे ही उठो-बैठो, वैसी ही चलो, वही रीति-रिवाज। भीड़ बर्दाश्त नहीं करती कि तुम उनसे अन्य हो जाओ। क्योंकि अन्य होने का यह अर्थ होता है: तो तुम भीड़ को गलत कह रहे हो? अन्य होने का यह मतलब होता है: तो हम सब गलत हैं, तुम सही हो?

जब जीसस को लोगों ने देखा तो सवाल उठा कि अगर जीसस सही हैं तो हमारा क्या? हम सब गलत? तो जीसस को उन्होंने सूली दे दी--मजबूरी में; अपने को बचाने में। कोई जीसस को सूली देने में उनका रस न था। रस इस बात में था कि अगर जीसस सही हैं तो हम सब गलत होते हैं। और यह जरा महंगा सौदा है कि हम सब गलत हों। इतनी बड़ी भीड़! यह जरा लोकतंत्र के विपरीत है। तो जीसस को सूली दे दो, झंझट मिटाओ। इस आदमी की मौजूदगी उपद्रव लाती है।

मगर जीसस सूली पर भी खरे उतरे। जीसस ने सूली पर से भी प्रभु से कहा, हे प्रभु! इन्हें क्षमा कर देना क्योंकि ये जानते नहीं कि ये क्या कर रहे हैं। और जब लोगों ने सूली पर से ये वचन सुने तब उन्हें याद आयी कि हम चूक गये। हमने उसे मार डाला जो हमें जिलाने आया था। फिर पूजा, फिर अर्चना के दीप जले। आज जमीन पर जीसस को पूजनेवालों की संख्या सबसे बड़ी है। कारण? पश्चात्ताप!

महावीर को पूजनेवालों की संख्या बहुत बड़ी नहीं है, क्योंकि महावीर के साथ हमने कोई बहुत दुराचार किया नहीं, पश्चात्ताप का कारण नहीं है। इसे तुम समझना। महावीर को हमने कोई सूली नहीं दी। तो जब सूली नहीं दी तो पश्चात्ताप क्या खाक करें! जीसस को सूली लगी। तो जिन्होंने सूली दी, अपराध का भाव गहरा हो गया। अपराध इतना गहरा हो गया कि कुछ करना ही होगा। अपराध से बचने के लिए अब उन्होंने पूजा की,

चर्च खड़े किये। जीसस की पूजा सबसे बड़ी पूजा है जगत में, क्योंकि जीसस के साथ सबसे बड़ा दर्ुव्यवहार हुआ।

ठीक है, हम महावीर को भी पूज लेते हैं, राम और कृष्ण को भी पूज लेते हैं; लेकिन जीसस जैसी पूजा हमारी नहीं है; हो नहीं सकती। हमने इतना दर्ुव्यवहार ही कभी नहीं किया। जीसस की ईसाइयत दुनिया में जीतती चली गई उसका कुल कारण क्रास पर लगी सूली है। अपराध इतना घना हो गया लोगों के चित्त में कि अब कुछ करना ही पड़ेगा इसके विपरीत, ताकि अपराध के भाव से छुटकारा हो जाये। पश्चात्ताप करना होगा।

घबड़ाओ मत। लोग पत्थर मारें, अहोभाव से स्वीकार कर लेना। वही प्रार्थना मन में रखना कि ये जानते नहीं, क्या कर रहे हैं। या शायद परमात्मा इनके माध्यम से मेरे लिए कसौटियां जुटा रहा है।

तुम पूरे पागल हो जाओ। तुम इतने पागल हो जाओ कि कौन क्या कहता है इससे तुम्हारे मन में कोई क्षोभ और कोई अशांति पैदा न हो। ऐसे मतवाले ही प्रभु की मधुशाला में प्रवेश करते हैं।

पांचवां प्रश्न: शास्त्रों और संतों का कहना है कि परस्त्रीगमन करने से साधक का पतन होता है और साधना में उसकी गति नहीं होती। इस मूलभूत विषय पर प्रकाश डालने की अनुकंपा करें।

पूछा है फिर दौलतराम खोजी ने। वे बड़ी गहरी बात खोजकर लाते हैं! खोजी हैं! इसको मूलभूत विषय बता रहे हैं! अब इससे ज्यादा कूड़ा-करकट का और कोई विषय नहीं। जिस शास्त्र में लिखा हो वह भी किसी बड़े ज्ञानी ने न लिखा होगा, किसी टुटपुंजे ने लिखा होगा। ज्ञानी, और इसका हिसाब रखे कि कौन किसकी स्त्री के साथ गमन कर रहा है! तो ये ज्ञानी न हुए, पुलिस के दरोगा!

और तुम कहते हो, संतों का कहना है? संत ऐसी बात बोलें तो सिर्फ इससे इतना ही पता चलता है, अभी संतत्व का जन्म नहीं हुआ। अभी दूर है; अभी बहुत दूर है मंजिल।

पहली तो बात यह कि परस्त्री कौन? तुमने सात चक्कर लगा लिये, बस स्त्री तुम्हारी हो गई? इतना सस्ता मामला! मगर इस देश में इस तरह की मूढता रही है। स्त्री को स्त्री-धन कहते हैं; उस पर मालकियत कर लेते हैं। कौन किसका है यहां? कौन अपना, कौन पराया? ज्ञानी तो यही कहते हैं, न कोई अपना न कोई पराया। संत तो यही कहते हैं, अपना-पराया छोड़ो।

तो जिन्होंने यह कहा होगा वे संत के वेश में कोई और रहे होंगे--पंडित, पुजारी, राजनीतिज्ञ, समाज के कर्ता-धर्ता; लेकिन संत नहीं। संत तो यही कहते हैं कि अपनी स्त्री भी अपनी नहीं है, परायी की तो बात ही छोड़ो। यह तो तुमने खूब होशियारी की बात बताई: कि परस्त्री-गमन से साधक का पतन होता है। और अपनी स्त्री के गमन से नहीं होता? और अपना कौन है? जिसको कुछ मूढ़ जनों ने खड़े होकर और ताली बजाकर और तुम्हें चक्कर लगवा दिये वह अपना है?

एक सज्जन मेरे पास आते हैं। वे कहते हैं, बड़ी उलझन में पड़ गया हूं इस पत्नी से विवाह करके। मैंने उनसे कहा कि फिर छुटकारा कर लो। जब इतना...बार-बार तुम आते हो और एक ही झंझट; तुम्हारी पत्नी भी दुखी, तुम भी दुखी। तो उन्होंने कहा, अब कैसे छुटकारा करें? सात चक्कर पड़ गये। तो मैंने कहा, उल्टे चक्कर लगा लो। अब इससे ज्यादा और क्या करना है? खुल जायेंगे चक्कर। जैसे बंध गये वैसे खोल लो। हर गांठ खुल सकती है। यह गांठ भी खुल सकती है। अगर गांठ बहुत दुख दे रही है तो खोल ही लो। जो चीज बंध सकती है, खुल सकती है। जो बांधी है वह कृत्रिम है।

संत तो तुमसे कहते हैं, कोई अपना नहीं। बस तुम ही अपने हो। तो अगर संतों से तुम पूछो तो वे कहेंगे, पर-गमन से पतन होता है। स्त्री इत्यादि का कोई सवाल नहीं; पर-गमन, दूसरे में जाने से, दूसरे के साथ संबंध जोड़ने से, दूसरे को अपना-पराया मानने से, दूसरे को महत्वपूर्ण मानने से पतन होता है।

स्व महत्वपूर्ण है, पर पतन है। तो स्वात्माराम बनो। अपनी आत्मा में लीन हो जाओ।

संत तो ऐसा कहेंगे। और जिन्होंने परस्त्री इत्यादि का हिसाब लगाया हो वे संत नहीं हैं। संत तो इतना ही कहेंगे, पर-गमन से पतन होता है इसलिए स्व-गमन करो। बाहर जाने से पतन होता है, भीतर आओ। दूसरे के साथ संबंध जोड़ने से तुम अपने से टूटते हो तो संबंध मत जोड़ो। रहो सबके बीच, अकेले रहो, बिना जुड़े रहो। रहो भीड़ में लेकिन एकांत खंडित न हो पाये। दूसरा मौजूद हो, दूसरा पास भी हो तो भी तुम्हारे स्व पर उसकी छाया न पड़ पाये, उसका रंग न पड़ पाये। तुम्हारा स्व मुक्त रहे।

मगर न मालूम कितने लोग, जिनका संतत्व से कोई संबंध नहीं है, संतों के नाम से चलते हैं। मूढ़ों की बड़ी भीड़ है। तो मूढ़ों के भी महात्मा होते हैं। होंगे ही। जिनकी इतनी बड़ी भीड़ है उनके महात्मा भी होंगे। उनके महात्मा भी उन जैसे होते हैं।

मैंने सुना, एक बार एक महात्मा मस्त होकर भजन गाते हुए एक रास्ते से गुजर रहे थे। थोड़ी दूर चलकर उन्होंने देखा, तो देखा कि पीछे एक सांड़ उनके लगा चला आ रहा है। शायद उनकी मस्ती से प्रभावित हो गया, या उनके डोलने से। महात्मा घबड़ाये। मस्ती ऊपरी-ऊपरी थी, कोई दिल की तो बात न थी। वे तो ऐसे ही भक्तों की तलाश में मस्त हो रहे थे कि कोई मिल जाये। मिल गया सांड़! उन्होंने डर के मारे रफ्तार बढ़ा दी। थोड़ी दूर पहुंचने पर फिर पलटकर देखा--अब तो उनकी मस्ती वगैरह सब खो गई--सांड़ बड़ी तेजी से पीछे चला आ रहा है। अब तो उन्होंने भागना शुरू कर दिया। सांड़ भी पीछे भागने लगा। सांड़ भी खूब था, बड़ा भक्त! शायद महात्मा की तलाश में था, कि गुरु की खोज कर रहा था। खोजी था।

अब तो महात्मा बहुत भयभीत हो गये और अपनी जान बचाने के उद्देश्य से एक ऊंचे चबूतरे पर चढ़ गये। सांड़ भी चढ़ गया। भक्त जब पीछे लग जायें तो ऐसे आसानी से नहीं छोड़ देते, आखिर तक पीछा करते हैं। घबड़ाकर महात्मा झाड़ पर चढ़ गये तो देखा, सांड़ नीचे खड़ा होकर फुफकार रहा है। अब वे महात्मा झाड़ से उतर न सकें। थोड़ी देर में तमाशा देखने के लिए खासी भीड़ इकट्ठी हो गई। बड़ा शोरगुल मचने लगा। कई व्यक्तियों ने प्रयास भी किया कि सांड़ को किसी तरह हटा दें, किंतु सांड़ वहां से टस से मस न हो।

अंत में खोजबीन कर सांड़ के मालिक को बुलाया गया। उसने भी सांड़ को मनाने की बहुत कोशिश की, किंतु सांड़ अपनी जगह वैसा का वैसा खड़ा रहा। महात्मा अटके झाड़ पर, कंप रहे और सांड़ नीचे फुफकार रहा है। अब सांड़ का मालिक भी चिंता में पड़ गया कि मामला क्या है? ऐसा तो कभी न हुआ था।

एकाएक उसकी बुद्धि के फाटक खुले और भीड़ को संबोधित करके वह कहने लगा, भाइयो! असल बात यह है कि यह सांड़ बड़ा समझदार जानवर होता है। इसे इस बात का पता लग गया है कि इन महात्मा के दिमाग में भूसा भरा है, और जब तक यह इस भूसे को खा न लेगा, यहां से जायेगा नहीं।

तुम जिनको महात्मा कहते हो उनमें से अधिक के दिमाग में भूसा भरा है। और वह भूसा तुम्हारे ही जैसा है। तुम्हें जंचता भी बहुत है। तुम्हारी जो मान्यतायें हैं उनको जो भी स्वीकार कर ले और उनको जो सही कहे, उसको तुम कहते हो महात्मा।

संत तो विद्रोही होते हैं। संत कुछ ऐसे लीक के अनुयायी नहीं होते; लकीर के फकीर नहीं होते। संत तो कुछ निश्चित ही मूलभूत बात कहते हैं। यह कोई मूलभूत बात है?

मैं तुमसे इतना ही कहना चाहता हूं: पर-गमन पतन है। स्त्री-पुरुष का कोई सवाल नहीं है। अपने से हटना पतन है। स्व से च्युत होना पतन है। स्व में लीन होना, स्वात्माराम होना, स्व में ऐसे तल्लीन होना कि स्व ही सब संसार हो गया तुम्हारा; स्व के बाहर कुछ भी नहीं। वही तुम्हारा संगीत, वही तुम्हारा सुख। स्व तुम्हारा सर्वस्व हो गया, फिर कोई पतन नहीं है।

लेकिन लोग हिसाब-किताब में पड़े हैं। तुम धन के पागल हो, कोई महात्मा कहता है कि धन पाप है। तुम्हें जंचता है। तुम्हारी और महात्मा की भाषा एक है। यद्यपि विपरीत बात कहता लगता है, लेकिन तुम्हें भी जंचती

है बात कि पाप है। जानते तो तुम भी हो कि धन इकट्ठा ही पाप से होगा। चूसोगे तो ही इकट्ठा होगा। इकट्ठा कैसे होगा? और धन चिंता लाता है यह भी तुम्हें पता है। और धन की दौड़ में तुम न मालूम कितने अमानवीय हो जाते हो यह भी तुम्हें पता है। और धन पाकर भी कुछ मिलता नहीं यह भी तुम्हें पता है।

तो जब कोई महात्मा कहता है धन व्यर्थ, धन में कुछ सार नहीं; तुम्हें भी लगता है कि बड़ी ठीक बात कह रहा है। तब महात्मा समझाता है कि अब दान कर दो। दान महात्मा को कर दो। धन में कुछ सार नहीं है, धन असार है। और जब तुम महात्मा को दान कर देते हो तो महात्मा कहता है, तुम दानवीर हो, पुण्यात्मा हो--उसी धन के कारण, जो असार है। और जब तुम दुबारा आओगे तो तुम्हें आगे बैठने का मौका होगा। तुम्हें विशेष मौका होगा।

मैं एक महात्मा को सुनने गया--बचपन की बात है--तो वे ब्रह्मज्ञान की बातें कर रहे हैं और बीच में एक सेठ आ गये, सेठ कालूराम, तो ब्रह्मज्ञान छोड़ दिया: "आइये सेठजी।" मैं बड़ा हैरान हुआ कि ये ब्रह्मज्ञान में सेठजी कैसे आ गये? तो जैसी मेरी आदत थी, मैं बीच में खड़ा हो गया। मैंने कहा, अब ब्रह्मज्ञान छोड़ें। पहले यह सेठजी का क्या अध्यात्म है? सेठ शब्द का अध्यात्म पहले समझा दें।

उन्होंने कहा, "मतलब?"

मैंने कहा, "मतलब यह कि आप ब्रह्मज्ञान में डूबे थे, सेठजी आये कि नहीं आये, कि अमीर आया कि गरीब आया, यह हिसाब आपने क्यों रखा? इतने लोग आकर बैठे, किसी को आपने नहीं कहा कि आकर बैठ जाओ। एकदम ब्रह्मज्ञान रुक गया। और ब्रह्मज्ञान में यही आप समझा रहे थे कि धन में क्या रखा है। अरे, मिट्टी है। अरे, सोना मिट्टी है। इन सेठ के पास सिवाय उसी मिट्टी के और कुछ भी नहीं है। और वैसी मिट्टी सभी के पास है। तो इन सेठ में आपने क्या देखा, मुझे साफ-साफ समझा दें, जिसकी वजह से बीच में आप रुके और कहा, आयें सेठजी; और सामने बिठाया।"

नाराज हो गये महात्मा बहुत; बड़े क्रोधित हो गये। इतने नाराज हो गये कि आगबबूला हो गये। कहा कि हटाओ इस बच्चे को यहां से। तो मैंने कहा, महाराज, अभी आप समझा रहे थे कि क्रोध पाप है।

धीरे-धीरे ऐसी हालत हो गई कि जब भी गांव में कोई महात्मा आयें तो मुझे घर में लोग बंद कर दें: "तुम जाना ही मत।" हालत ऐसी हो गई कि मेरी नानी, जिनके पास मैं बचपन से रहा, वे तो इतनी परेशान रहने लगीं कि जब मैं बड़ा भी हो गया और युनिवर्सिटी में प्रोफेसर भी हो गया तब भी जब मैं घर जाऊं और जाने लगूं घर से तो वे कहें, बेटा, किसी महात्मा से झगड़ा-फसाद मत करना। क्योंकि अब तू घर में रहता भी नहीं। अब वहां तू क्या करता है, पता भी नहीं हमें।

जब मैं गया आखिरी वक्त, उनकी आखिरी सांस टूट रही थी, उनको मिलने गया तो उन्होंने जो आखिरी बात कही, वह यही कही। आंख खोलकर उन्होंने कहा कि देख, अब मैं तो चली। तू एक बात का वचन दे दे कि महात्माओं से मत उलझना। आखिरी मरते वक्त! उनको एक ही फिकर लगी रही। क्योंकि बचपन में उनके पास था तो उनके पास बड़ी शिकायतें आतीं कि मैंने महात्मा से विवाद किया, महात्मा नाराज हो गये, कि उन्होंने डंडा उठा लिया, कि सब सभा गड़बड़ हो गई। और इस बच्चे को घर में रखो। और मैंने कभी कोई गलत सवाल नहीं पूछा। सीधी बात थी कि ब्रह्मज्ञान में सेठजी कैसे आते हैं?

लेकिन तुम्हारे गणित एक जैसे हैं। तुम्हारा महात्मा और तुम मौसेरे-चचेरे भाई हैं।

एक गणित के अध्यापक नाई के पास पहुंचे और पूछा नाई से, क्या हमारी हजामत कर सकते हो? नाई ने कहा, महाराज, क्यों नहीं? दूसरों की हजामत करना ही मेरा धंधा है। करूंगा। गणित के शिक्षक ने पूछा, हजामत का कितना लेते हो? नाई ने कहा, इसकी कुछ न पूछिये महाराज। जैसा काम वैसा दाम। एक रुपये से लेकर दस रुपये तक की बनाता हूं। गणित के शिक्षक! उन्होंने कहा, अच्छा तो एक रुपयेवाली बनाओ। नाई ने बाल काटे, हजामत बना दी एक रुपयेवाली। और उसने कहा, लीजिये बन गई। निकालिये रुपया।

गणित के शिक्षक ने कहा, एक रुपयेवाली बन गई तो अब दो रुपयेवाली बनाओ। अब जरा नाई घबड़ाया। अब तो हजामत बन चुकी। अब वह दो रुपयेवाली कैसे बनाये? और गणित के शिक्षक! उन्हें तो गणित का हिसाब। यह सुनकर जब नाई घबड़ा गया तो गणित के शिक्षक ने कहा, अरे घबड़ाता क्यों है, अबे घबड़ाता क्यों है? अभी तो दस रुपयेवाली तक बनवाऊंगा।

आदमी के गणित होते हैं।

मेरे स्कूल में जो ड्राइंग के शिक्षक थे वे किसी अपराध में पकड़ लिये गये। छह महीने की सजा हो गई। जब वे छूटने को थे तो मैं भी उनको जेल के द्वार पर लेने गया। प्यारे आदमी थे और ड्राइंग में बड़े कुशल थे। मैंने उनसे पहली ही जो बात पूछी निकलते ही उनके जेल से कि कैसा रहा जेल में? सब ठीक-ठाक तो रहा? उन्होंने कहा, और सब तो ठीक था लेकिन जेल का कमरा--नब्बे डिग्री के कोने नहीं थे।

नब्बे डिग्री के कोने! वे बड़े पक्के थे उस मामले में। कुल बात जो उनकी खोपड़ी में आयी जेल में छह महीने रहने के बाद, वह यह आयी कि जो जेल की कोठरी के कोने थे वे नब्बे डिग्री के नहीं थे। ड्राइंग के शिक्षक! वह नब्बे डिग्री का कोना होना ही चाहिए। वह उनको बहुत अखरा। अब मैं जानता हूं कि छह महीने उनको जो सबसे बड़ा कष्ट रहा होगा वह यही रहा कि ये जो कोने हैं, नब्बे डिग्री के नहीं हैं। जेल की तकलीफ न थी। जेल तो सह लिया, मगर नब्बे डिग्री के कोने न हों यह उनको बर्दाश्त के बाहर रहा होगा। चौबीस घंटे यही बात उनको सताती रही होगी।

आदमी अपने ढंग से चलता, अपने ढंग से सोचता। साधारण आदमी की भाषा यही है। साधारण आदमी परस्त्री में उत्सुक है। साधारण आदमी अपनी स्त्री में तो उत्सुक है ही नहीं। अपनी स्त्री से तो ऊबा हुआ है। अपनी स्त्री का तो सोचता है, किस तरह इससे छुटकारा हो। दूसरे की स्त्री में रस है। दूसरे की स्त्री बड़ी मनमोहक मालूम होती है। जो अपने पास है वह व्यर्थ मालूम पड़ता है, जो दूसरे के पास है वह मनमोहक मालूम पड़ता है।

ऐसी मनोदशा के व्यक्तियों को महात्मा भी मिल जाते हैं उनकी मनोदशा के। वे कहते हैं परस्त्री का ध्यान किया कि पाप हुआ। वह उनको बात जंचती है, क्योंकि वे परस्त्री का ही ध्यान कर रहे हैं। इस महात्मा में और उनकी भाषा में कोई भी भेद नहीं है। गणित एक है।

अब जो महात्मा परस्त्री इत्यादि की बातें कर रहा है यह कोई महात्मा है? महात्मा मौलिक बात कहेगा, आधारभूत बात कहेगा। वास्तविक संत वही कहेगा जो बहुत सारभूत है। इतनी बात जरूर संत कहेगा: स्वगमन, स्वसंभोग, स्वयं में डूब जाना, स्व-स्मृति, स्वास्थ्य मार्ग है। पररुचि, पर पर दृष्टि अस्वास्थ्य है। क्योंकि पर में जैसे ही तुम उत्सुक हुए कि तुम अपने केंद्र से च्युत होते हो। तुम्हारा केंद्र छूटने लगता है। तुम अपने से दूर जाने लगते हो।

आखिरी प्रश्न: आपकी बातें अनेकों को अप्रिय क्यों लगती हैं?

सुननेवाले पर निर्भर है। तुम अगर सच में ही सत्य की खोज में मेरे पास आये हो तो मेरी बातें तुम्हें प्रिय लगेंगी। और तुम अगर अपने मताग्रहों को सिद्ध करने आये हो कि मैं वही कहूं जो तुम मानते हो, तो अप्रिय लगेंगी। तुम अगर पक्षपात से भरे आये हो तो अप्रिय लगेंगी। तुम अगर खाली मन से सुनने आये हो, सहानुभूति से, प्रेम से तो बहुत प्रिय लगेंगी।

तुम पर निर्भर है। तुम्हारे मन में क्या चल रहा है इस पर निर्भर है। अगर तुम्हारे मन में कुछ भी नहीं चल रहा है, तुम परम तल्लीनता से सुन रहे हो, तो ये बातें तुम्हारे भीतर अमृत घोल देंगी। और अगर तुम उद्विग्नता से सुन रहे हो, हिंदू, मुसलमान, ईसाई होकर सुन रहे हो कि अरे, यह बात कह दी! हमारे महात्मा के खिलाफ यह बात कह दी। तो फिर तुम बेचैन हो जाओगे, तुम नाराज हो जाओगे। अप्रिय लगने लगेंगी। तुम पर निर्भर है।

अब जैसे, अभी मैंने दौलतराम खोजी की बात कही; तुम सब हंसे, सिर्फ दौलतराम खोजी को छोड़कर। मैं उनको जानता नहीं, लेकिन अब पहचानने लगा। क्योंकि इतने लोगों में सिर्फ एक आदमी नहीं हंसता है। अब दौलतराम खोजी को अप्रिय लग सकती है बात। क्योंकि नाम से मोह होगा कि मेरे खिलाफ कह दी। मैं उनके खिलाफ कुछ भी नहीं कह रहा हूं।

मैं तुमसे यह कहता हूं कि तुम न दौलतराम हो, न खोजी हो। नाम से तुम्हारा क्या लेना-देना! यह नाम तो सब दिया हुआ है। तुम अनाम हो।

अब अगर दौलतराम खोजी इस तरह सुनें कि अनाम हूं मैं, तो वे भी हंसेंगे। मगर वे पकड़कर सुन रहे हैं कि अच्छा, तो अब मेरे नाम के खिलाफ फिर कह दिया कुछ! तो उनको लग रहा होगा, जैसे मैं उनका दुश्मन हूं। आखिर उनके नाम के खिलाफ क्यों हूं? खिलाफ होने का मेरा कारण है; क्योंकि न तुम्हारे पास दौलत है न तुम्हारे पास राम है।

एक ही तो दौलत है दुनिया में: वह राम है। राम हो तो दौलत है। राम न हो तो कुछ दौलत नहीं। और राम मिल जाये तो फिर खोज क्या करोगे? फिर खोजी नहीं हो सकते। राम जब तक नहीं मिला तब तक खोजी हो।

उनका नाम मुझे प्यारा लग गया इसलिए इतनी चर्चा कर रहा हूं। मगर वे नाराज हो सकते हैं, और बात अप्रिय लग सकती है। मगर देखने की बात है।

अपनी बानी प्रेम की बानी घर समझे न गली समझे
लगे किसी को मिश्री सी मीठी कोई नमक की डली समझे

इसकी अदा पर मर गई मीरा मोहे दास कबीर
अंधरे सूर को आंखें मिल गईं खाकर इसका तीर
चोट लगे तो कली समझे इसे सूली चढ़े तो अलि समझे
अपनी बानी प्रेम की बानी...।

बोली यही तो बोले पपीहा घुमड़े जब घनश्याम
जल जाये दीपक पे पतंगा लेकर इसी का नाम
पंछी इसे असली समझे पर पिंजरा इसे नकली समझे
अपनी बानी प्रेम की बानी...।

जिसने इसे ओठों पे बिठाया वह हो गया बेदीन
तड़पा उमर भर ऐसे कि जैसे तड़पे बिन जल मीन
बुद्धि इसे पगली समझे पर मन रस की बदली समझे
अपनी बानी प्रेम की बानी...।

मस्ती के बन की है यह हिरनिया घूमे सदा निर्द्वंद्व
रस्सी से इसको बांधो न साधो घर में करो न बंद
हम जो अरथ समझे इसका वह फूंकके बाती जली समझे
अपनी बानी प्रेम की बानी...।

समझो।

हम जो अरथ समझे इसका वह फूंकके बाती जली समझे

जो अपने अहंकार की बाती को फूंक देगा वही समझेगा। तुमने अगर अपने अहंकार से समझना चाहा तो तुम्हें चोट लगेगी।

हम जो अरथ समझे इसका वह फूंकके बाती जली समझे

अहंकार को जब बुझा दोगे फूंककर, तब तुम्हारे भीतर जो ज्योति जलेगी वही इसे समझेगी।

बुद्धि इसे पगली समझे पर मन रस की बदली समझे

बुद्धि से मत सुनना, हृदय से सुनना। विचार और विवाद से मत सुनना। तर्क और सिद्धांत से मत सुनना, प्रेम और लगाव से सुनना।

...मन रस की बदली समझे

पंछी इसे असली समझे पर पिंजरा इसे नकली समझे

अगर तुम अपने पिंजरे से बहुत-बहुत मोहग्रस्त हो, अगर तुमने अपने कारागृह को अपना मंदिर समझा है तो फिर तुम मुझसे नाराज हो जाओगे। तुम्हें बड़ी चोट लगेगी।

पंछी इसे असली समझे पर पिंजरा इसे नकली समझे

लेकिन अगर तुमने मेरी बात सुनी और पिंजरे से अपना मोह न बांधा, और अपने पंछी को पहचाना जो पीछे छिपा है, पिंजरे के भीतर छिपा है, तो मेरी बातें तुम्हारे लिए फिर से पंख देनेवाली हो जायेंगी; आकाश बन जायेंगी। तुम्हारा पंछी फिर उड़ सकता है खुले आकाश में।

तुम पर निर्भर है।

आज इतना ही।

सड़सठवां प्रवचन

दृश्य से द्रष्टा में छलांग

क्वात्मनो दर्शनं तस्य यद्दृष्टमवलंबते।
धीरास्तं तं न पश्यंति पश्यंत्यात्मानमव्ययम्।। २१६।।
क्व निरोधो विमूढस्य यो निर्बंधं करोति वै।
स्वारामस्यैव धीरस्य सर्वदाऽसावकृत्रिमः।। २१७।।
भावस्य भावकः कश्चिन्न किंचिद्भावकोऽपरः।
उभयाभावकः कश्चिदेवमेव निराकुलः।। २१८।।
शुद्धमद्वयमात्मानं भावयंति कुबुद्धयः।
न तु जानन्ति संमोहाद्यावज्जीवमनिर्वृताः।। २१९।।
मुमुक्षोर्बुद्धिरालंबमंतरेण न विद्यते।
निरालंबैव निष्कामा बुद्धिर्मुक्तस्य सर्वदा।। २२०।।

क्वात्मनो दर्शनं तस्य यद्दृष्टमवलंबते।
धीरास्तं तं न पश्यंति पश्यंत्यात्मानमव्ययम्।।

"उसको आत्मा का दर्शन कहां है, जो दृश्य का अवलंबन करता है? धीरपुरुष दृश्य को नहीं देखते हैं और अविनाशी आत्मा को देखते हैं।"

इस एक सूत्र में पूरब के समस्त दर्शन का सार है। दर्शन शब्द का भी यही अर्थ है। यह सूत्र दर्शन की व्याख्या है।

दर्शन का अर्थ सोच-विचार नहीं होता। दर्शन का वैसा अर्थ नहीं है, जैसा फिलासफी का। दर्शन का अर्थ है: उसे देख लेना जो सब देख रहा है। दृश्य को देखना दर्शन नहीं है, द्रष्टा को देख लेना दर्शन है।

मनुष्य को हम दो विभागों में बांट सकते हैं। एक तो वे, जो दृश्य में उलझे हैं। कहो उन्हें, अधार्मिक। फिर चाहे वे परमात्मा की मूर्ति सामने रखकर उस मूर्ति में ही क्यों न मोहित हो रहे हों, दृश्य में ही उलझे हैं। चाहे आकाश में परमात्मा की धारणा कर रसलीन हो रहे हों तो भी दृश्य में ही उलझे हैं। परमात्मा भी उनके लिए एक दृश्य मात्र है।

दूसरा वर्ग है, जो द्रष्टा की खोज करता है। मैं तुम्हें देख रहा हूं, तुम दृश्य हो। जो मेरे भीतर से तुम्हें देख रहा है, द्रष्टा है। तुम मुझे देख रहे हो, मैं तुम्हारे लिए दृश्य हूं। जो तुम्हारे भीतर छिपा मुझे देख रहा है, आंख की खिड़कियों से, कान की खिड़कियों से जो मुझे सुन रहा है, देख रहा है, वह कौन है? उसकी तलाश में जो निकल जाता है वही धार्मिक है।

परमात्मा को अगर दृश्य की भांति सोचा तो तुम मंदिर-मस्जिद बनाओगे, गुरुद्वारे बनाओगे, पूजा करोगे, प्रार्थना करोगे, लेकिन वास्तविक धर्म से तुम्हारा संबंध न हो पायेगा। वास्तविक धर्म की तो शुरुआत ही तब होती है जब तुम द्रष्टा की खोज में निकल पड़े; तुम पूछने लगे मौलिक प्रश्न कि मैं कौन हूं! यह जाननेवाला कौन है? जानना है जाननेवाले को। देखना है देखनेवाले को। पकड़ना है इस मूल को, इस स्रोत को। इसके पकड़ते ही सब पकड़ में आ जाता है।

उपनिषद कहते हैं, जिसने जाननेवाले को जान लिया उसने सब जान लिया। महावीर कहते हैं, एक को जान लेने से सब जान लिया जाता है। और वह एक प्रत्येक के भीतर बैठा है।

परमात्मा को दृश्य की तरह सोचना बंद करो। परमात्मा को द्रष्टा की तरह देखना शुरू करो। इसीलिए तो कहते हैं, आत्मा ही परमात्मा है। पहचान ली तो परमात्मा हो गई, न पहचानी तो आत्मा बनी रही। अगर तुम अपने ही भीतर गहरे उतर जाओ और अपनी ही गहराई का आखिरी केंद्र छू लो तो कहीं खोजने नहीं जाना। तुम मंदिर हो। परमात्मा तुम्हारे भीतर विराजमान है।

लेकिन यात्रा की दिशा बदलनी पड़ेगी। दृश्य है बाहर, द्रष्टा है भीतर। दृश्य है पर, द्रष्टा है स्व। दृश्य को देखना हो तो आंख खोलकर देखना पड़ता है। द्रष्टा को देखना हो तो आंख बंद कर लेनी पड़ती है। दृश्य को देखना हो तो विचार की तरंगें सहयोगी होती हैं। और द्रष्टा को देखना हो तो निर्विचार, अकंप दशा चाहिए। दृश्य को देखना हो तो मन उपाय है, और द्रष्टा को देखना हो तो ध्यान।

ध्यान का अर्थ है, मन से मुक्ति। मन का अर्थ है, ध्यान से मुक्ति। जिसने ध्यान खोया वह मन बना और जिसने मन खोया वह ध्यान बना। जरा-सी ही बात है: बाहर न देखकर भीतर देखना।

सूफी फकीर औरत हुई राबिया। अनूठी औरत हुई राबिया। जमीन पर बहुत कम वैसी औरतें हुई हैं। बैठी है अपनी झोपड़ी में, सुबह का ध्यान कर रही है। उसके घर एक मुसलमान फकीर ठहरा हुआ था, हसन। वह भी बड़ा प्रसिद्ध फकीर था। तुम्हें फर्क समझ में आ जायेगा, जो फर्क मैं समझा रहा हूं। सुबह हुआ था, सूरज निकला था, पक्षी गीत गाने लगे। सुंदर सुबह थी। आकाश में शुभ्र बदलियां तैरती थीं। ठंडी हवा चलती थी। हसन बाहर आया, उसने देखा यह सौंदर्य। उसने जोर से पुकारा, राबिया, तू भीतर क्या करती? अरे बाहर आ! परमात्मा ने बड़ी सुंदर सुबह को जन्म दिया है। पक्षियों के प्यारे गीत हैं, सूरज का सुंदर जाल है, ठंडी हवा है। तू बाहर आ, भीतर क्या करती है?

और राबिया खिलखिलाकर हंसी। और कहा, हसन, बाहर कब तक रहोगे? तुम ही भीतर आ जाओ। क्योंकि बाहर परमात्मा की बनी हुई सुबह को तुम देख रहे, भीतर मैं स्वयं उसे देख रही जिसने सुबह बनाई। सुबह सुंदर है, लेकिन सुबह के मालिक के मुकाबले क्या? सूरज सुंदर है, रोशन है, लेकिन जिसके हाथ के इशारे से रोशनी सूरज में पैदा हुई उसके मुकाबले क्या! और पक्षियों के गीत बड़े प्यारे हैं, लेकिन मैं उस मालिक का गीत सुन रही हूं जिसने सारे गीत रचे; जो सभी पक्षियों के कंठों से गुनगुनाया है। हसन, तुम्हीं भीतर आ जाओ।

हसन तो चौंककर रह गया। हसन ने न सोचा था कि बात ऐसा मोड़ ले लेगी। लेकिन राबिया ने ठीक कहा।

ये हसन और राबिया, ये आदमियत के दो प्रतीक हैं। हसन बाहर की तरफ खोज रहा है, राबिया भीतर की तरफ खोज रही है। हसन दृश्य में खोज रहा है। दृश्य भी सुंदर है; नहीं कि दृश्य सुंदर नहीं है। पर दृश्य का सौंदर्य ऐसे ही है जैसे चांद को किसी ने झील में झलकते देखा हो। छाया है झील में तो। प्रतिबिंब है झील में तो। वास्तविक चांद झील में नहीं है।

जिसने चांद को देख लिया। वह झील में देखनेवाले को कहेगा पागल, तू कहां उलझा है दृश्य में! मूल को खोज। यह तो छाया है। यह तो प्रतिबिंब है।

जो हम बाहर देखते हैं वह हमारा ही प्रतिबिंब है। संसार दर्पण से ज्यादा नहीं है। जब तुम्हारा मन रस से भरा होता है तो बाहर भी रस दिखाई पड़ता है। जब तुम गीत से भरे होते हो तो बाहर भी गीत सुनाई पड़ते हैं। जब तुम आनंदित होते हो तो लगता है, सारा जगत महोत्सव है। जब तुम दुखी हो जाते हो, सारा जगत दुखी हो जाता है। जब तुम पीड़ा से भर जाते हो तो फूल दिखाई नहीं पड़ते, कांटे ही कांटे हाथ आते हैं।

जो तुम्हारे भीतर हो रहा है वही बाहर झलकता है। तुम बाहर की व्याख्या तो भीतर से ही करोगे न! व्याख्या तो भीतर से आयेगी। व्याख्या तो द्रष्टा से आयेगी। दृश्य में तुम्हें जो दिखाई पड़ रहा है वह भी द्रष्टा की ही छाया है।

एक कवि इस बगीचे में आ जाये और एक संगीतज्ञ इस बगीचे में आ जाये और एक चित्रकार इस बगीचे में आ जाये और दूकानदार इस बगीचे में आ जाये और एक लकड़हारा इस बगीचे में आ जाये; सभी एक ही बगीचे में दिखाई पड़ते हैं लेकिन एक ही बगीचे में होंगे नहीं।

लकड़हारा सोचता होगा कौन-कौन से वृक्ष काट डाले जायें। कौन-सी लकड़ी बिक सकेगी। कौन-सी लकड़ी फर्नीचर बन सकेगी, कौन-सी लकड़ी जलाऊ हो सकेगी।

शायद दूकानदार को वृक्ष दिखाई ही न पड़ें। या इतना ही दिखाई पड़े कि इनके फल बिक जायें तो कितने दाम हाथ आ सकेंगे। दूकानदार रुपये ही गिनते रहे।

कवि को कुछ और दिखाई पड़ेगा। फूल दिखाई पड़ेंगे, फूलों में छाई हुई आभा दिखाई पड़ेगी। कवि के भीतर, जैसे बाहर फूल खिले हैं वैसे भीतर गीत फूटने लगेंगे।

चित्रकार को रंगों का दर्शन होगा। उसे ऐसे रंग दिखाई पड़ेंगे जो तुम्हें साधारणतः दिखाई नहीं पड़ते। तुम तो जब देखते हो, तो सभी वृक्ष हरे मालूम होते हैं। चित्रकार जब देखता है तो एक-एक वृक्ष अलग-अलग ढंग से हरा मालूम होता है। हरे में भी कितने भेद हैं। हरे में भी कितने हरेपन छिपे हैं। हरे में भी कितने ढंग हैं। सब हरा हरा नहीं है, हरे और हरे में बड़ा फर्क है। व?ह तो चित्रकार को दिखाई पड़ेगा।

जो तुम्हारे भीतर है उसकी छाया तुम्हें बाहर दिखाई पड़ती है। और अगर कोई एक संत आ जाये, राबिया आ जाये उस बगीचे में तो फूल के सौंदर्य को देखकर उसकी आंखें बंद हो जायेंगी। फूल का सौंदर्य उसकी आंखों को झपका देगा, क्योंकि फूल के सौंदर्य से उसे परमात्मा के सौंदर्य की याद आ जायेगी। बाहर का सौंदर्य उसे भीतर फेंक देगा। वह आंख बंद कर लेगी। बाहर का फूल तो भूल जायेगा, निमित्त हो गया, भीतर का फूल दिखाई पड़ने लगेगा। बाहर के गीत सुनकर राबिया किसी अंतर्यात्रा पर निकल जायेगी। बाहर का गीत तो बहुत दूर रह जायेगा।

दृश्य, हर दृश्य द्रष्टा की खबर लायेगा--लाता ही है, हम अंधे हैं। भीतर की तरफ अंधे हैं इसलिए हम वस्तुओं में उलझे रह जाते हैं।

पहला सूत्र आज का है:

क्वात्मनो दर्शनं तस्य यद्दृष्टमवलंबते।

उसको आत्मा का दर्शन कहां, कैसे--असंभव है--जो दृश्य का अवलंबन करता है। जो दृश्य के पीछे भागा चल रहा है, वह अपने से दूर निकलता जायेगा। जैसे-जैसे दृश्य के पीछे भागेगा वैसे-वैसे अपने केंद्र से च्युत हो जायेगा। दृश्य तो मिलेगा नहीं, क्योंकि दृश्य तो मृग-मरीचिका है। वह जो झील में दिखाई पड़ता है चांद, तुम अगर डुबकी लगा लिये झील में चांद को पकड़ने को तो क्या तुम पा सकोगे? छाया भी खो जायेगी तुम्हारे डुबकी लगाने से। पानी की सतह हिल जायेगी। वह जो प्रतिबिंब बनता था वह भी खंड-खंड होकर पूरी झील पर बिखर जायेगा। पूरी झील पर चांदी फैल जायेगी, लेकिन तुम पकड़ न पाओगे। तुम पगला जाओगे।

ऐसे ही तो सारा जगत पागल है। दिखाई पड़ता है दूर क्षितिज पर सौंदर्य, दौड़ते हो तुम; जब तक मुट्ठी में आता है, तब तक सब बिखर जाता है। सुंदर से सुंदर स्त्री तुम्हारे मुट्ठी में आते ही कुरूप हो जाती है। सुंदर से सुंदर पुरुष तुम्हारे हाथ में आते ही कुरूप हो जाता है। इसलिए तो अपनी स्त्री किसको सुंदर दिखाई पड़ती है? सदा दूसरे की स्त्री सुंदर दिखाई पड़ती है। इसीलिए तो अपना घर किसको महल मालूम पड़ता है? सदा दूसरे का घर महल मालूम पड़ता है। जो नहीं है मुट्ठी में वही सुंदर लगता है; मुट्ठी में आते ही सब बिखर जाता है।

छायायें हैं इस जगत में। प्रतिबिंब हैं इस जगत में। दूर से बड़े लुभावने। दूर के ढोल बड़े सुहावने। पास आते-आते सब खो जाता है। सत्य की परिभाषा है: जो पास आने पर और सत्य हो जाये। असत्य की परिभाषा है: जो दूर से सत्य मालूम पड़े, पास आने पर खो जाये। महापुरुष की परिभाषा है: जिसके पास आओ तो और बड़ा होने लगे। महापुरुष के नाम से जो धोखा देता है उसके पास आओगे, छोटा होने लगेगा। जैसे-जैसे पास आओगे वैसे-वैसे छोटा हो जायेगा। जब बिलकुल पास जाओगे, तुम्हारे ही कद का हो जायेगा। शायद तुमसे भी छोटे कद का साबित हो। दूर से दिखाई पड़ता है बड़ा।

इसीलिए तो राजनेता किसी को बहुत पास नहीं आने देते। कहते हैं अडोल्फ हिटलर ने किसी से कभी मैत्री नहीं बनाई। एक भी आदमी ऐसा न था जो उसके कंधे पर हाथ रखकर मित्र की तरह व्यवहार कर सके। अडोल्फ हिटलर ने कभी किसी स्त्री को इस तरह से प्रेम नहीं किया कि वह करीब आ जाये। अडोल्फ हिटलर के

कमरे में कभी कोई नहीं सोया। कोई स्त्री भी नहीं सोयी। कारण? अडोल्फ हिटलर बरदाश्त नहीं करता था किसी का पास आना। उसका बड़प्पन दूर के ढोल का सुहावनापन था। वह बड़ा था दूर होकर; पास आकर छोटा हो जाता। जानता था। सभी राजनेता जानते हैं।

तुम जब राजपदों की आकांक्षा करते हो तो तुम क्या आकांक्षा कर रहे हो? तुम यही आकांक्षा कर रहे हो, तुम तो छोटे हो, कुर्सियों पर खड़े होकर बड़े हो जाओगे। तुम बचकाने हो। कभी-कभी छोटे बच्चे करते हैं। बाप के पास मूढ़े पर खड़े हो जाते हैं और कहते हैं, देखो पिताजी, तुमसे बड़ा हो गया। राजनीति बस इसी तरह का बचकानापन है। कुर्सी पर बैठकर लोग बड़े हो जाते हैं। राष्ट्रपति के पद पर बैठकर आदमी राष्ट्रपति मालूम होने लगता है, पद से उतरते ही खो जाता है। फिर कोई फिकर नहीं लेता, कोई जयरामजी करने नहीं आता।

इसीलिए तो जो आदमी पद पर पहुंच जाता है, पद से हटता नहीं। लाख सरकाओ, लाख उपाय करो, वह टस से मस नहीं होता। वह चाहता है उसी पद पर रहते-रहते मर जाये। अब पद से नीचे न उतरे। क्योंकि वह जानता है, वह जो बड़प्पन अनुभव हो रहा है वह झूठ है। वह पद के कारण है; वह कुर्सी से मिला है। अपना नहीं है, आत्मगौरव नहीं है, पदगौरव है।

जिस व्यक्ति को आत्मा का थोड़ा रस आने लगता है वह पदों में उत्सुक न रह जायेगा।

फिर पद का एक फायदा है कि तुम जैसे ही पद पर होते हो, दूसरे पास नहीं आ सकते। यही धन का भी फायदा है। जितनी बड़ी धन की ढेरी पर तुम खड़े होते हो, लोग उतने दूर छूट जाते हैं। कोई पास नहीं आ सकता।

ये छोटे आदमियों की दौड़ें हैं। हीन ग्रंथियों से पीड़ित आदमियों की दौड़ें हैं। लेकिन अधिक लोग इसमें व्यस्त होते हैं।

दृश्य की तलाश में आत्मा का दर्शन कहां? अष्टावक्र कहते हैं, दृश्य का जो अवलंबन करता है वह कभी अपने को न पा सकेगा। और जिसने अपने को न पाया वह सब भी पा ले तो उस पाने का सार क्या है? जीसस ने कहा है, तुम सारी दुनिया भी पा लो और स्वयं को खो दो, यह कोई सौदा हुआ? इसको जीत समझते हो? यह तो महाऱ्हार हो गई। इससे बड़ी और पराजय क्या होगी? अपने को गंवा दिया, सब कमा लिया।

कमाने योग्य तो एक ही बात है: वह, जो तुम्हारे भीतर छिपा बैठा है। वही है परम धन, वही है परम पद। उसे नहीं पाया तो समझना, तुम भिखमंगे रहे और भिखमंगे मरे। फिर तुम कितनी ही बड़ी कुर्सियों पर चढ़ जाओ; तुम कितनी ही सीढ़ियां चढ़ जाओ, और तुम कितने ही धन के ढेर लगा लो, और तुम सारी पृथ्वी के मालिक हो जाओ, अगर तुम अपने मालिक नहीं हो तो तुम दीन हो, तुम दरिद्र हो। और अगर तुम अपने मालिक हो और तुम्हारे पास कुछ भी न हो तो भी तुम्हारी समृद्धि अपूर्व है; तुम सम्राट हो।

स्वामी राम अपने को बादशाह कहते थे। था तो नहीं उनके पास कुछ भी। बोलते थे तो भी वे अपने को राम बादशाह ही कहते थे। कि आज सुबह राम बादशाह घूमने गया तो वृक्ष झुक-झुककर सलाम बजाने लगे। आज रात राम बादशाह जा रहा था तो चांदत्तारे परिक्रमा करने लगे।

इस देश में तो ऐसी बात चलती है। इस देश में कोई इसमें अड़चन नहीं लेता; हम इसके आदी हैं। लेकिन जब वे अमरीका गये तो लोगों को यह बात न जंची। लोगों ने कहा, आप कह क्या रहे हैं? क्योंकि अमरीका में तो यह पागलपन का लक्षण हो जाये। चांदत्तारे और आपका चक्कर लगाने लगे? और वृक्ष झुक-झुककर सलाम बजाने लगे? होश में हैं? और आप अपने को राम बादशाह कहते हैं, और दो लंगोटी आपके पास हैं।

और राम बादशाह ने कहा, इसीलिए तो कहता हूं कि मैं बादशाह हूं, क्योंकि मेरे पास ऐसा कुछ भी नहीं है, जो छीना जा सके। और मेरे पास ऐसा कुछ भी नहीं है जो मौत मेरे हाथों से छुड़ा लेगी। मेरी मालकियत ऐसी है कि मौत भी हार जायेगी। और मेरी मालकियत ऐसी है कि कोई छीन न सकेगा। इसलिए तो बादशाह कहता हूं अपने को। मेरी हंसी देखो, मेरी आंखों में झांको। मेरी बादशाहत भीतरी है। मेरी बादशाहत वही है

जिसको जीसस ने किंगडम आफ गाड: प्रभु का राज्य कहा है। मेरी आंखों में आंखें डालो और देखो, मेरी बादशाहत भीतर है। मैंने अपने को पा लिया है इसलिए कहता हूं कि मैं बादशाह हूं। और तुम सब गरीब हो, दीन-दरिद्र हो। होंगे करोड़ों रुपये तुम्हारे पास, धन-वैभव होगा, फिर भी मैं तुमसे कहता हूं, तुम दीन-दरिद्र हो।

इन्हीं अमीरों के लिए, जिनके पास बाहर का सब कुछ है और भीतर का कुछ नहीं है, जीसस का प्रसिद्ध वचन है: सुई के छेद से भी ऊंट निकल सकता है लेकिन ऐ अमीर लोगो! तुम प्रभु के राज्य में प्रवेश न पा सकोगे।

सुई के छेद से ऊंट भी निकल सकता है--यह असंभव है। सुई के छेद से कैसे ऊंट निकलेगा? लेकिन जीसस कहते हैं, यह असंभव भी शायद किसी तरकीब से संभव हो जाये। सुई के छेद से भी ऊंट निकल जाये, लेकिन ऐ अमीर लोगो! तुम प्रभु के राज्य में प्रवेश न पा सकोगे। कारण? कारण कि तुम अमीर ही नहीं हो। कारण कि तुम तो अत्यंत दीन हो, अत्यंत दरिद्र हो। तुम्हारे भीतर तो कुछ भी नहीं, खालीपन, सूखा-सूखा मरुस्थल। एक भी मरूद्यान नहीं तुम्हारे भीतर। तुम भीतर तो कोरे-कोरे। तुमने तो भीतर की संपदा जगाई ही नहीं।

दृश्य के पीछे जो भागता रहेगा, दृश्य तो मिलेंगे ही नहीं और द्रष्टा खो जायेगा। यह दौड़ बड़ी महंगी है। और अधिकतर लोग इसी दौड़ में हैं। बहुत बार अनुभव में भी आता है कि जिसकी तलाश करते थे, जब मिलता है तो कुछ भी मिलता नहीं। लेकिन फिर मन के जाल बड़े गहरे हैं। मन कहता है: शायद इस बार चूक गये, अगली बार हो जाये। फिर वासनायें आ जाती हैं, फिर नये प्रलोभन आ जाते हैं।

फिर आ गये राजाधिराज चाबुक घुमाते
सफेद घोड़े दौड़ाते, सूरज का मुकुट झिलमिलाते
फिर बच्चे फूल बीनने लगे
क्या मैं कभी जाड़े की सुगंध से छूटूंगी नहीं?
बंधी ही रहूंगी गरमाहट की इच्छा से?
हर बार हर साल धूप की भाप बर मोम-सी घुलूंगी?
खोदूंगी स्पर्श-निरपेक्ष स्व?
इस असहायता से मुक्त हो जाऊं,
विदेह हो आऊं
फिर आ गये राजाधिराज चाबुक घुमाते
सफेद घोड़े दौड़ाते, सूरज का मुकुट झिलमिलाते?

वासना पीछा नहीं छोड़ती। कई बार लगता है, कई बार गहन अभीप्सा उठती है, कब मुक्त हो जाऊं? कब छूटे यह जाल? कब छूटे यह जंजाल? कब होगी मुक्ति? कब होगा खुला आकाश? जहां कोई मांग परिधि न बनेगी, और जहां कोई वासना दूषित न करेगी, जहां चैतन्य का दीया निर्धूम जलेगा, जहां भिखमंगापन जरा भी न होगा, जहां अपने में तृप्ति परिपूर्ण होगी और उससे बाहर जाने की कोई कल्पना भी न उठेगी, जहां स्वप्न थरथरायेंगे नहीं, जहां अकंप होगी चैतन्य की शिखा--कब आयेगा वैसा क्षण?

ऐसा बहुत बार बोध भी आता, लेकिन फिर आ जाते वासना के घोड़े दौड़ाते।

फिर आ गये राजाधिराज चाबुक घुमाते?

फिर पकड़ लेता मन। फिर कोई कहता है, एक बार और। थोड़ा और दौड़ लो।

टालस्टाय की बड़ी प्रसिद्ध कहानी है: कितनी जमीन एक आदमी को जरूरी है? एक संन्यासी, एक घुमक्कड़, एक साधारण सुखी परिवार में ठहरा। साधारण सुखी परिवार, खाता-पीता, मस्त था। सीधे-सादे लोग थे। लेकिन इस घुमक्कड़ ने रात को कहा, तुम क्या कर रहे हो यहां? तुम जिंदगी भर इसी छोटी-सी जमीन में खेती-बाड़ी करते रहोगे, कभी अमीर न हो पाओगे।

यह आदमी, जिसके घर यह घुमक्कड़ मेहमान था, गरीब था ही नहीं, क्योंकि इसे कभी अमीर होने का खयाल ही न उठा था। उस रात गरीब हो गया। उस घुमक्कड़ ने कहा, इसमें ही पड़े रहोगे, कभी अमीर न हो पाओगे। अमीरी का खयाल उठा कि गरीब हो गया। रात सो न सका। रोज निश्चिंत सोता था, उस रात बड़ी उधेड़बुन रही। सुबह उठकर घुमक्कड़ से पूछा कि तुम तो सारी जमीन पर घूमते हो, कोई ऐसी जगह है जहां मैं अमीर हो जाऊं? उसने कहा, ऐसी जगह है साइबेरिया में। वहां अजीब लोग हैं, अभी भी जंगली। उनको अभी भी कुछ अक्ल नहीं है। वहां तुम चले जाओ। इतनी जमीन बेच दो यहां। इतने पैसे में तो वहां तुम जितनी जमीन चाहो, ले लो।

फिर तो क्या था, वासना जाग गई। उस आदमी ने जमीन-मकान सब बेच दिया। बच्चे-पत्नी बहुत रोये। उसने कहा, तुम घबड़ाओ मत, जल्दी ही हम अमीर हो जायेंगे। अमीर वे थे ही, क्योंकि कभी गरीबी का खयाल ही न उठा था। मस्त थे, लेकिन बड़ी बुरी तरह से गरीब हो गये।

वह सब बेच-बाचकर पहुंचा दूर साइबेरिया में। वहां जाकर पता चला कि घुमक्कड़ ने ठीक कहा था। अजीब लोग थे। घुमक्कड़ ने कहा था, तुम बस किसी भी कबीले के प्रमुख को प्रसन्न कर लेना। और प्रसन्न वे छोटी-छोटी बातों से हो जाते हैं। हुक्का ले जाना, तमाखू ले जाना, शराब ले जाना, बस भेंट कर देना। वह खुश हो जाये तो तुम कहना, थोड़ी जमीन चाहिए। उसने खुश कर लिया एक प्रमुख को। प्रमुख ने कहा, तो ले लो जितनी जमीन...कितनी चाहिए? तो वह कुछ सोच न पाया। तो उसने कहा, ऐसा करो, प्रमुख ने कहा, कल सुबह सूरज उगते तुम निकल पड़ना। और जितनी जमीन तुम घेर लो सांझ सूरज डूबने तक, सब तुम्हारी। जितने का चक्कर लगा लो।

वह आदमी तो दीवाना हो गया कि इतनी जमीन, जितने का दिन भर में मैं चक्कर लगा लूं? फिर रात भर सो न सका। रात भर चक्कर लगाता रहा। रात भर सपने में दौड़ता रहा, दौड़ता रहा। सुबह उठा तो बड़ा थका-मांदा था। नींद ही न हुई थी और रात भर दौड़ा था। एक दुखस्वप्न था। लेकिन उसने कहा, कोई हर्जा नहीं। उसने सुबह नाश्ता भी न किया, क्योंकि पेट भारी होगा तो शायद ज्यादा चक्कर न लगा पाये। सिर्फ उसने पानी की एक थर्मस लटका ली।

और वह तो भागा। इतनी तेजी से भागा, जीवन में कभी भागा नहीं था। एकदम तीर की तरह भागा। एक क्षण खोना खतरनाक था। उसने तय कर रखा था मन में कि ठीक बारह बजते-बजते जब सूरज सिर पर होगा तो लौटना शुरू कर दूंगा, क्योंकि फिर लौटना भी है। लेकिन जब सूरज सिर पर था तो मन मोहने लगा कि थोड़ा और। कई मील चल चुका था। इतना विराट घेर लिया था और इतनी सुंदर जमीन थी। जब सूरज सिर पर आया तो उसने कहा, थोड़ा और घेर लूं। जरा जोर से दौड़ना पड़ेगा, और क्या! एक दिन की ही बात है, और दौड़ लूंगा।

उसने रुककर पानी भी न पीया, क्योंकि प्यास तो लगी थी लेकिन रुककर पानी पीये, उतना समय खो जाये। उतनी देर में तो एकड़-दो एकड़ घेर ले। सूरज ढलने लगा लेकिन मन लौटने का न हो। सोचा उसने, जीवन दांव पर लगा लूं। एक ही दिन की तो बात है।

फिर लौटा; अब बड़ी मुश्किल हो गई। अब वह भाग रहा है, भाग रहा है, दिन भर का थका-मांदा। सूरज ढलने-ढलने को होने लगा; वह भाग रहा है, वह भाग रहा है। सारा गांव खड़ा है देखने के लिए। और लोग उसे उत्साहित कर रहे कि दौड़, क्योंकि सूरज डूब रहा है। अगर सूरज डूबते तक न लौटा तो सब गया। डूबते तक लौट आना चाहिए, यह शर्त थी। उसने सारा जीवन दांव पर लगा दिया। अब तो बहुत ही करीब रह गया है और सूरज बिलकुल क्षितिज छू रहा है। उसने सारी शक्ति आखिरी बार इकट्ठी की; बची भी नहीं थी शक्ति, सब दांव पर लगा दी। भागा। लेकिन जो रेखा खींची गई थी उस पर पहुंचते-पहुंचते गिर पड़ा। सूरज ढल ही रहा था। पहुंच गया ठीक वक्त पर, लेकिन गिरते ही मर गया।

और गांव भर के लोग खूब हंसे। और उन्होंने उसकी कब्र बना दी और कब्र पर लिख दिया: एक आदमी को कितनी जमीन चाहिए। छह फीट! छह फीट कब्र बनी। मीलों घेर ली थी, वह सब व्यर्थ चली गई।

यह टालस्टाय की बड़ी प्रसिद्ध कहानी है: "हाऊ मच लैंड डज ए मैन रिक्वायर।" कितनी जमीन? छह फीट काफी हो जाती है। वासना बढ़ती चली जाती। वासना कोई छोर नहीं मानती। तुम दौड़ते ही चले जाते।

मेरे एक मित्र हैं, मुझसे उन्होंने कहा कि आप कहते हैं कि आदमी को अंतिम समय में प्रभु में ध्यान लगा देना चाहिए। तो उनकी उम्र है कोई साठ साल। तो मैंने कहा, अब अंतिम समय तो आ ही गया। अब और क्या राह देख रहे? उन्होंने कहा, बस ऐसा करें, पांच साल का मुझे और वक्त दें। मैंने कहा, तुम्हारी मर्जी। क्योंकि वक्त तुम्हारा, उम्र तुम्हारी, ध्यान तुम्हारा; मेरी तो कुछ इसमें जबर्दस्ती चल नहीं सकती। तुम्हारी मौज। लेकिन पांच साल का पक्का है कि बचोगे? वे हंसने लगे। कहने लगे कि आप भी कैसी बात करते हैं। अरे आपके आशीर्वाद से बचेंगे। क्यों नहीं बचेंगे! मैंने कहा, मेरे आशीर्वाद से तुम्हारा क्या लेना-देना! न मेरे आशीर्वाद से तुम पैदा हुए, न मेरे आशीर्वाद से तुम जी रहे हो, न मेरे आशीर्वाद से बचोगे। इन धोखों में मत पड़ो।

वे जरा दुखी भी हो गये। कहने लगे, ऐसी बात तो नहीं कहनी चाहिए। आप तो कम से कम आशीर्वाद दें। मैंने कहा कि मुझे आशीर्वाद देने में कुछ खर्च नहीं लगता। इसीलिए तो साधु-महात्मा आशीर्वाद देते हैं। कुछ हर्जा ही नहीं है। आशीर्वाद देने में मेरा क्या बिगड़ता है? आशीर्वाद लो। लेकिन पांच साल में पक्का है, अगर बच गये तो फिर? उन्होंने कहा, फिर तो संन्यास ले लेना है। सब बंद कर दूंगा। हो गया!

पांच साल भी पूरे हो गये। जब मैं दुबारा उनके घर मेहमान हुआ तो वे बड़े बेचैन थे। वे अकेले में मेरे पास न बैठें, इधर-उधर घूमें। मैंने कहा कि घूमने से क्या होगा? पांच साल पूरे हो गये। कहा, आप कहते तो ठीक हैं। पांच साल का और वक्त दे दें। तो मैंने उन्हें टालस्टाय की यह कहानी सुनाई: "हाऊ मच लैंड डज ए मैन रिक्वायर।" तो तुम कहे थे पैंसठ साल, अब बदलते हो? नहीं, वे कहने लगे बदलता नहीं हूं। अपनी बात पर रहूंगा लेकिन कई काम उलझे पड़े हैं, धंधे अधूरे पड़े हैं, बच्चे युनिवर्सिटी में हैं, आते हैं, उलझनें हैं, सब इनको निपटा लूं।

पांच साल में मैंने कहा, उलझनें निपट जायेंगी? क्योंकि उलझनें किसी की कभी नहीं निपटीं। पांच साल तो क्या, पचास साल और जीयो तो भी नहीं निपटेंगी। क्योंकि पांच साल में उलझनें निपटाओगे तो जरूर, लेकिन उलझनें खड़ी भी तो करोगे।

उन्होंने कहा कि नहीं, इस बार बिलकुल पक्का कहता हूं। कहो तो लिखकर दे दूं। मैंने कहा, आप लिखकर ही दे दो। तो डरने लगे। कहा, नहीं आप भी क्या बात करते हैं। बात कह दी, लिखना क्या? मैंने कहा, तुम लिख ही दो। शायद पांच साल बाद तुम फिर बदल जाओ। लिखकर उन्होंने मुझे दिया। जब पांच साल फिर निकल गये तो मैंने उन्हें तार किया कि पांच साल पूरे हो गये। वे आये और कहने लगे, क्षमा करें। यह मुझसे न हो सकेगा। और अब आपसे दुबारा पांच साल मांगूं इसकी भी हिम्मत नहीं पड़ती। लेकिन यह मुझसे हो न सकेगा।

मैंने कहा, मरोगे या नहीं मरोगे? मरते वक्त क्या करोगे? मौत द्वार पर खड़ी हो जायेगी...मुझे तो तुम कहते हो कि नहीं हो सकेगा; मौत से क्या कहोगे? वे कहने लगे, कौन आज मरा जाता हूं। जब आयेगी मौत तब देख लेंगे।

ऐसे आदमी सरकाता चलता। ऐसे आदमी हटाता चलता। जीवन ऐसे रत्ती-रत्ती हाथ से रिक्त होता जाता। एक-एक बूंद टपकती है इस गागर से और गागर खाली होती जा रही है। और तुम कहते हो कल, और तुम कहते हो परसों। दृश्य के पीछे दौड़ते रहो, कभी कोई सुख संभव नहीं है।

जागते में जागता भागता हूं
अंधेरी गुफा में खोजता हुआ दरार
चौड़ाने को
झांकने को पार

जागने को
यह तुम जिसको जागरण कहते हो यह जागरण नहीं है।
जागते में जागता भागता हूं
अंधेरी गुफा में खोजता हुआ दरार
चौड़ाने को
झांकने को पार
जागने को

तुम अभी जागे कहां? अभी तो अंधेरी गुफा में दौड़ रहे। अभी तो तुम दरार ही खोज रहे हो कि कहीं से दरार मिल जाये, थोड़ी रोशनी मिल जाये, थोड़ा सुख मिल जाये। अभी तो तुम चेष्टा कर रहे हो कि थोड़ा कहीं से द्वार मिल जाये तो जाग जाऊं।

यह तुम्हारा जागरण वास्तविक जागरण नहीं है। जागता तो वही है जो भीतर की तरफ चलता है। बाहर की तरफ चलनेवाला आदमी तो सोता ही चला जाता है। दरार मिलेगी नहीं, दरार होगी तो भी खो जायेगी। और यह अंधेरी गुफा और बड़ी हो जायेगी। ऐसे तो कभी सूरज मिला ही नहीं। बाहर चलकर तो आदमी अंधेरे और अंधेरे में चला गया है। बाहर अंधेरा है, भीतर रोशनी है। भीतर है ज्योतिपुंज। भीतर अहर्निश जल रहा है दीया। और तुम कहां भटक रहे?

जो देखा, सपना था
अनदेखा अपना था

जो-जो तुमने देखा है, सब सपना है। दृश्यमात्र सपना है। यही तो पूरब की अपूर्व धारणा है माया की। माया का अर्थ है:

जो देखा, सपना था
अनदेखा अपना था

बस एक चीज अनदेखी है, वह तुम स्वयं हो। उसको तुमने कभी नहीं देखा। और तो तुमने सब देख डाला, सारा संसार देख डाला। दूसरे तो तुमने खूब देख लिये। एक चीज अनदेखी रह गई है: तुम्हारा स्वयं का स्वरूप।

अष्टावक्र कहते हैं:

धीरास्तं तं न पश्यंति पश्यंत्यात्मानमव्ययम्।

"धीरपुरुष दृश्य को नहीं देखते हैं, अविनाशी आत्मा को देखते हैं।"

और जिसने इस अविनाशी, अव्यय आत्मा को देख लिया उसने दृश्यों का दृश्य देख लिया। जो पाने योग्य था, पा लिया। जो सार था, उसके हाथ आ गया; जो असार था, उसने छोड़ दिया।

तुम्हारे भीतर अमृत विराजमान है। जिसके लिए तुम तरस रहे हो वह तुम्हारे भीतर छिपा पड़ा है। जिस धन को तुम खोजने निकले हो उस धन का अंबार तुम्हारे भीतर लगा है। संपत्ति भीतर है, बाहर तो विपत्ति है। संपदा भीतर है, बाहर तो विपदा है। उलझन बढ़ती है, घटती नहीं। समस्यायें गहरी होती हैं, हल नहीं होतीं।

समाधि और समाधान तो भीतर हैं। बाहर तो सिर्फ समस्याओं का जाल फैलता चला जाता है। एक समस्या में से दस समस्याओं के अंकुर निकल आते हैं। एक उलझन को सुलझाने चलो, दस उलझनें खड़ी हो जाती हैं। फिर इनको ही सुलझाते-उलझाते जीवन बीतता। एक दिन मौत द्वार पर खड़ी आ जाती। और तब एक क्षण का भी समय नहीं मिलता। तुम फिर लाख सिर पटको कि थोड़ा और समय मुझे मिल जाये, जरा-सा भी समय मिल जाये, चौबीस घंटे का समय मिल जाये, जरा ध्यान कर लूं, सदा टालता रहा, लेकिन फिर एक क्षण भी नहीं मिलता।

और आश्चर्य की बात तो यही है कि इतनी अपूर्व राशि को तुम लिये चलते हो। बुद्ध कहते हैं, कृष्ण कहते हैं, क्राइस्ट कहते हैं, नानक-कबीर-दादू कहते हैं; सारे जगत के रहस्यमय पुरुष, सारे जगत के संत एक ही बात कहते हैं कि तुम्हारे भीतर अपरंपार संपदा पड़ी है। प्रभु का राज्य तुम्हारे भीतर है, फिर भी तुम सुनते नहीं। और

बाहर तुम देखते हो अनेकों को तड़फते। सारा संसार तड़फता। जिनके पास बहुत है वे भी वैसे ही उदास; फिर भी तुम जागते नहीं।

निरपवाद रूप से अगर कोई बात कही जा सकती है तो एक है--जिन्होंने बाहर खोजा, कभी नहीं पाया। एक भी अपवाद नहीं हुआ इसका। आज तक मनुष्य-जाति में एक आदमी ने ऐसा नहीं कहा कि मैंने बाहर खोजा और पा लिया। और अब तक जिसने भी पाया उसने भीतर खोजकर पाया। वह भी निरपवाद। जिसने भी कहा, मुझे मिला, उसने कहा भीतर मिला।

ये सत्य के दो पहलू हैं; एक ही सत्य के। बाहर कभी किसी को नहीं मिला। अनंत-अनंत लोगों ने खोजा। और जिन थोड़े-से लोगों को मिला उन्हें भीतर खोजकर मिला। और क्या प्रमाण चाहते हो? धर्म निरपवाद विज्ञान है--इस अर्थ में। एक भी बार इसमें चूक नहीं हुई। फिर भी हम बाहर भागते हैं। फिर भी हम भीतर नहीं जाते।

हम वे लोग हैं जो घोल दें खुशबू हवा में
जो काल के निष्ठुर हृदय पर
उंगलियों से लिख दें अमिट लेख
हम वे लोग हैं जो मौत की ठंडी उंगलियों में
भर दें जिंदगी के गीत
हम हवाओं में तैरते
इस पार से उस पार तक अनिर्बंध
हम वे लोग हैं जिन्हें छांट दो तो
अमरबेल-सा उग आयें
जिन्हें बांध दो तो गंध-सा बस जायें
जिन्हें जला दो तो आकाश में छा जायें
हम तुम्हारी आत्माओं की प्रज्वलित शिखाएं
तुम्हारी आवाज के आधार का मूलतत्व
तुम्हारी मुट्ठियों में रची-बसी आस्थायें
हम वे लोग हैं जो हवा में भर जाते हैं
अवाम में छा जाते हैं
होठों पर भा जाते हैं
चेहरों पर आ जाते हैं
हम वे लोग हैं जो घोल दें खुशबू हवा में
जो काल के निष्ठुर हृदय पर
उंगलियों से लिख दें अमिट लेख

शाश्वत तुम्हारे भीतर पड़ा है। तुम अमरबेल हो। कितने बार जन्मे, कितने बार मरे, फिर भी मिटे नहीं। मिटना तुम्हारा स्वभाव नहीं। अव्यय! तुम कभी व्यतीत नहीं होते। तुम्हारा कभी व्यय नहीं होता। अमृत! तुम कितने ही भागते रहे हो जन्मों-जन्मों में, फिर भी तुम्हारी संपदा अक्षुण्ण तुम्हारे भीतर पड़ी है। जिस दिन जागोगे उसी दिन स्वामी हो जाओगे। जागते ही स्वामी और सम्राट हो जाओगे। घोषणा भर करनी है।

अष्टावक्र की महिमा यही है कि वे तुमसे यही कह रहे हैं कि कुछ करना नहीं है, सिर्फ जरा आंख का कोण बदलना है। देखना है और घोषणा करनी है। तुम्हारे भीतर से सिंहनाद हो जायेगा।

"जो हठपूर्वक चित्त का निरोध करता है उस अज्ञानी को कहां चित्त का निरोध है? स्वयं में रमण करनेवाले धीरपुरुष के लिए यह चित्त का निरोध स्वाभाविक है।"

यह सूत्र अत्यंत आधारभूत है। ध्यानपूर्वक समझना।

क्व निरोधो विमूढस्य यो निर्बंधं करोति वै।
स्वारामस्यैव धीरस्य सर्वदाऽसावकृत्रिमः।।

जो हठपूर्वक चित्त का निरोध करता है, जो जबर्दस्ती चित्त का निरोध करता है, उस अज्ञानी का चित्त कभी भी निरोध को उपलब्ध नहीं होता।

समझो। हठपूर्वक अगर तुम चित्त का निरोध करोगे तो निरोध करेगा कौन? वही चित्त। मन ही तो मन से लड़ता, और चित्त ही तो चित्त का निरोध करता। चित्त के ही द्वारा तो तुम चित्त से लड़ोगे।

तुम वेश्या के घर जा रहे, तुम जबर्दस्ती अपने को मंदिर ले जाते। यह कौन है जो जबर्दस्ती तुम्हें मंदिर ले जा रहा है? यह भी मन है। वेश्या के घर जो जा रहा था वह भी मन था। मन भीड़ है बहुत-सी वासनाओं की। मन कोई एक नहीं है, मन अनेक है। उसी मन में यह भी वासना है कि वेश्या के घर जाऊं, उसी मन में यह भी वासना है कि मंदिर जाऊं। तुम जब मंदिर जाते हो तो तुम सोचते हो मन को जीता। नहीं, यह भी मन का ही एक अंग है। तुम जब वेश्या के घर जाते हो तो सोचते हो मन से हार गये। नहीं, यह भी मन की जीत है। मंदिर जाना भी मन की जीत है। दोनों में तुम्हारी हार है।

तुम जो भी करोगे--कृत्य मात्र मन से होता है। सिर्फ अगर तुम्हें अपने में जाना हो तो एक ही उपाय है: कृत्य का अभाव। करो मत। करना न हो। न वेश्या की तरफ जाना हो और न मंदिर जाना हो; जाना ही न हो तो मन हार जाता है। मन को कृत्य चाहिए। कृत्य मन का भोजन है। कुछ करने को हो तो मन जीता है।

फिल्मी गीत गाओ, मन को कोई अड़चन नहीं। भजन गुनगुनाओ, मन को कोई अड़चन नहीं। वह कहता है, चलो यही कर लेंगे। लेकिन कुछ कर लेंगे। तुम बैठकर "राम-राम-राम-राम" जपो, चलेगा। गाली बको कि भजन, मन दोनों से अपने को भर लेगा।

मेरे पास लोग आते हैं। वे कहते हैं, आप कहते हैं, बस चुपचाप बैठ जाओ। कुछ आलंबन तो दें। कुछ सहारा तो चाहिए। ऐसे कैसे चुप बैठ जाओ? माला फेरें कि राम-राम जपें। गुरुमंत्र दे दें। कान फूंक दें, वे कहते हैं। कुछ लोग मुझसे संन्यास लेते हैं। वे संन्यास के बाद कहते हैं, और गुरुमंत्र? सहारा तो चाहिए।

जब तक सहारा है तब तक मन रहेगा। सहारा मन को ही चाहिए। आत्मा को किसी सहारे की जरूरत नहीं है। मन लंगड़ा है; इसको बैसाखियां चाहिए। तुम बैसाखी किस रंग की चुनते हो इससे कुछ फर्क नहीं पड़ता। मन को कुछ उपद्रव चाहिए, व्यस्तता चाहिए, आक्युपेशन चाहिए। किसी बात में उलझा रहे। माला ही फेरता रहे तो भी चलेगा। रुपयों की गिनती करता रहे तो भी चलेगा। काम से घिरा रहे तो भी चलेगा। रामनाम की चदरिया ओढ़ ले, राम-राम बैठकर गुनगुनाता रहे तो भी चलेगा। लेकिन कुछ काम चाहिए। कुछ कृत्य चाहिए। कोई भी कृत्य दे दो, हर कृत्य की नाव पर मन यात्रा करेगा और संसार में प्रवेश कर जायेगा।

कृत्य की नाव मत दो; बस, मन गया। बैठे रहो। मन बहुत मांग करेगा, बहुत छीना-झपटी करेगा। सदा तुमने दिया है, आज अचानक न दोगे तो मन एकदम से नहीं चुप हो जायेगा। लेकिन तुम बैठे रहो। तुम कहो कि अब तय ही कर लिया। अब कृत्य नहीं करेंगे। कुछ भी नहीं करेंगे। एक घड़ी बैठे ही रहेंगे, लेटे ही रहेंगे, खाली रहेंगे। सो मत जाना, क्योंकि मन वही सुझाव देगा। वह कहता है तो फिर क्या पड़े खाली-खाली? सो ही जाओ। कम से कम इतना ही करो।

सोना भी कृत्य है। सोना भी क्रिया है। तो अगर कुछ नहीं कर रहे हो तो मन कहता है, अब ऐसे बैठे-बैठे क्या फायदा? चलो झपकी ले लो। इतना तो करो। झपकी ले लोगे तो मन सपना देखने लगेगा। फिर काम शुरू हो गया। मन को काम चाहिए।

तुमने कहानियां सुनी होंगी, बच्चों की किताबों में लिखी हैं कि किसी आदमी ने एक भूत को प्रसन्न कर लिया। उस भूत ने कहा कि प्रसन्न तो हो गया तुम पर, अब तुम जो कहोगे करूंगा, लेकिन एक खराबी है मेरी कि मैं बिना काम के नहीं रह सकता। मुझे काम देते रहना। अगर एक क्षण भी काम नहीं हुआ तो मैं मुश्किल में पड़ जाता हूं। फिर मैं तुम्हारी गर्दन दबा दूंगा। मुझे तो काम चाहिए ही। वह आदमी बोला, अरे यही तो...इससे

अच्छा क्या होगा? नौकर-चाकर रखते हैं, उल्टी झंझट है। उनके पीछे लगे रहो तो भी काम नहीं करते। तू तो बड़ा भला है, यही तो चाहिए।

उस आदमी को पता नहीं था कि वह किस झंझट में पड़ रहा है। भूत को घर जाकर...उसके जिंदगी में कई काम थे जो हो नहीं रहे थे। उसने भूत से कहा, चल एक महल बना दे। सोचा कि चलो दो-चार साल तो निपटे। वह घड़ी भर बाहर गया, भीतर आया, उसने कहा महल बन गया। महल खड़ा था। भूत का काम था। "एक सुंदर स्त्री ले आ।" वह बाहर गया और ले आया। तब तो वह आदमी घबड़ाया। तिजोड़ी भर दे। उसने कहा, भर दी।

थोड़ी देर में, मिनट दो मिनट में सब काम चुक गये। तब वह आदमी अपनी गर्दन के लिए घबड़ाया कि मुश्किल हो गई। अब उसे कुछ सूझे नहीं कि क्या करना। वह बोला कि ठहर, मैं अभी आता हूं। वह आदमी भागा घर के बाहर।

एक फकीर गांव के बाहर था, उसके पास गया और कहा कि एक झंझट में पड़ गया हूं, एक भूत को जगा लिया। अब मेरी गर्दन मुश्किल में है। अब मुझे कुछ सूझता नहीं, क्योंकि जो-जो मैं सोचता था, वह क्षण में कर लाता है। अगर ऐसे ही रहा तो जीना मुश्किल है।

फकीर ने कहा, तू एक काम कर, यह नसैनी पड़ी है, ले जा। भूत से कहना, इस पर चढ़-उतर। उसने कहा, इससे क्या होगा? उसने कहा, इसमें होगा क्या? कुछ करने की जरूरत ही नहीं। जब तेरे पास कोई दूसरा काम हो, बता देना, नहीं तो कहना चढ़-उतर। वह आदमी बोला, बात तो ठीक है लेकिन आप कैसे समझे? उसने कहा, यही तो मन की सारी प्रक्रिया है। यह मन के भूत को समझकर ही मैं समझ गया। फकीर ने कहा, मन के भूत को समझकर...।

अब एक आदमी बैठा माला जप रहा है; वह क्या कर रहा है? सीढ़ी चढ़-उतर रहा है। एक आदमी राम-राम जप रहा है, वह सीढ़ी चढ़-उतर रहा है।

लगा दी सीढ़ी उसने जाकर। भूत से उसने कहा, तू चढ़-उतर। जब चढ़ जाये तो उतर, जब उतर जाये तो चढ़। तब से भूत चढ़-उतर रहा है, आदमी निश्चिंत है।

मन काम चाहता है। मन भूत है। जब भी मन खाली होता है तभी मुश्किल खड़ी हो जाती है; तत्क्षण मन कहता है, कुछ करो। छुट्टी के दिन भी छुट्टी कहां? तुमने देखा, छुट्टी के दिन और झंझट हो जाती है। रोज का काम होता नहीं, दफ्तर गये नहीं, दूकान गये नहीं, अब छुट्टी है, अब क्या करना? तो कोई अपनी कार खोलकर बैठ जाता है, उसी की सफाई करने लगता है। लगा ली नसैनी! कोई रेडिओ खोलकर बैठ जाता है, उसी को सुधारने लगता है। वह सुधरा ही हुआ था। कुछ न कुछ करो। या चले, पिकनिक को चले। सौ-पचास मील कार दौड़ाई, पहुंचे, भागे, फिर वापिस लौटे।

कहते हैं कि लोग छुट्टी के दिन इतने थक जाते हैं जितने काम के दिन नहीं थकते। खाली बैठ नहीं सकते। छुट्टी का मतलब है खाली बैठो, लेकिन खाली बैठना संभव कहां है? खाली बैठना तो केवल ध्यानी को संभव है। और जिसको ध्यान आता है वह तो काम करते भी खाली होता है; इस बात को समझ लेना। और जिसको ध्यान नहीं आता वह खाली बैठा भी सीढ़ियां चढ़ता-उतरता है। और जिसको ध्यान आता है वह काम करते हुए भी खाली होता है।

खाली होना चैतन्य का स्वभाव है। मन को सहारा चाहिए।

"जो हठपूर्वक चित्त का निरोध करता है उस अज्ञानी को चित्त का निरोध कहां?"

हठ कौन करेगा? आग्रह कौन करेगा? जबर्दस्ती कौन करेगा? हिंसा कौन करेगा अपने ही ऊपर? ये उपवास करनेवाले, जपत्तप करनेवाले, शीर्षासन करनेवाले, धूनी लगाये बैठे हुए लोग-- यह कौन कर रहा है सब? यह मन ही कर रहा है।

अष्टावक्र के आधारभूत इस सूत्र को खयाल में लेना:

क्व निरोधो विमूढस्य यो निर्बंधं करोति वै।

कितना ही करो, कुछ भी करो, मूढ़ व्यक्ति चित्त के निरोध को उपलब्ध नहीं होता। इसलिए नहीं कि वह चित्त का निरोध नहीं करता, चित्त का निरोध करता है इसीलिए मुक्त नहीं होता। फिर मुक्ति का उपाय क्या है?

"स्वयं में रमण करनेवाले धीरपुरुष के लिए यह चित्त का निरोध स्वाभाविक है।"

चित्त का निरोध करना नहीं होता। आत्मरमण, आत्मरस में विभोरता--चित्त निरुद्ध हो जाता है। चित्त का निरोध सहज हो जाता है; अपने से हो जाता है। चित्त का निरोध परिणाम है।

तुमने भी खयाल किया होगा, जब भी तुम आनंदित होते हो--क्षण भर को ही सही--उसी क्षण चित्त का निरोध हो जाता है। रात देखा, आकाश में निकला चांद और क्षण भर को तुम आनंदित हो गये। उस क्षण में चित्त निरुद्ध हो जाता है। विचार बंद हो जाते हैं। आनंद में कहां विचार को सुविधा? जहां आनंद है वहां विचार कैसे बचेगा? विचार तो दुख में ही होता है।

संगीत सुन रहे थे, डोल गये, मस्त हो गये, एक भीतरी शराब पैदा हो गई; तब कहां मन? तब क्षण भर को मन अपने आप अवरुद्ध हो गया।

इधर तुम मुझे सुन रहे हो...मुझसे अनेक लोग आते हैं, मैं उनसे पूछता हूं कि कौन-सा ध्यान सबसे ज्यादा ठीक लगता है? वे कहते हैं, सुबह आपका बोलना। मैं कहता, बोलना! क्यों? वे कहते, बोलते-बोलते चित्त निरुद्ध हो जाता है। आपको सुनते-सुनते। आप बोलते उधर, इधर हम सुनते; मन ठहर जाता।

ठीक कहते हैं। अगर शांति से सुना, अगर मुझसे विवाद न रखा, संवाद किया, मेरे साथ चले, मेरे हाथ में हाथ ले लिया, बाधा न डाली, सहयोग किया, जिस दिशा में ले चला उस दिशा में चलने लगे, बहने लगे--चित्त निरुद्ध हो जाता है। एक क्षण को जब सुनना प्रगाढ़ होता है, तब कहां चित्त? कहां मन? सब खो गया। उस क्षण तुम आत्मा में होते हो।

इसलिए महावीर ने तो यहां तक कहा है कि अगर कोई सम्यक श्रवण को जान ले, ठीक-ठीक श्रावक हो जाये तो वहीं से मोक्ष का द्वार खुल जाता है। महावीर ने कहा है, चार तीर्थ हैं: श्रावक, श्राविका, साधु, साध्वी; जिनसे आदमी मोक्ष जाता है। लेकिन तुम खयाल रखना, साधुओं ने बड़े उल्टे अर्थ किये हैं इसके।

अब महावीर कहते हैं, चार तीर्थ हैं। तीर्थ का अर्थ होता है, जिस घाट से उतरा जा सकता है। लेकिन साधुओं से पूछो, साधु यह नहीं कहते कि श्रावक मोक्ष जा सकता है। वे तो कहते हैं, साधु हुए बिना कैसे जाओगे? और महावीर ने चार तीर्थों का निर्माण किया। और श्रावक को साधु नमस्कार नहीं करता है, क्योंकि श्रावक को कैसे नमस्कार करे? साधु श्रावक का नमस्कार लेता है और आशीर्वाद देता है। लेकिन नमस्कार नहीं करता। साधु अपने को ऊपर मानता है।

असलियत उल्टी है। मेरे देखे--और अगर कहीं तुम्हें महावीर मिल जायें तो उनसे भी पूछ लेना, वे भी तुमसे यही कहेंगे--साधु दोयम है, नंबर दो है; श्रावक प्रथम है। असल में अगर श्रावक पूरी तरह से सुनने में समर्थ हो गया तो साधु होने की जरूरत ही नहीं, श्रवण काफी है। अगर श्रवण पूरा न हो पाया तो फिर साधना की जरूरत है; इस बात को खयाल में लेना।

साधु यानी साधना। कुछ करना पड़ेगा, सुनने से नहीं हो सका। इतनी बुद्धि न थी कि सुनने मात्र से हो जाता। सुनने के लिए प्रगाढ़ प्रतिभा चाहिए। जिनका सुनने से ही नहीं हो पाता उनको फिर कुछ कृत्य करना पड़ता है। उपवास करो, जप करो, तप करो, कुछ करो। जो कमी रह गई है बुद्धि की, वह कृत्य से पूरी करो। साधु नंबर दो है। परम अवस्था तो सुनकर ही पैदा हो जाती है। हां, जिसकी न हो पाये उसको फिर साधना भी करनी होती है।

महावीर उस पर भी दया करते हैं जिसको सुनकर न हो पाये। तो वे कहते हैं, तू कुछ कर। खयाल करना, अगर प्रगाढ़ प्रतिभा हो, बुद्धि निखार में हो, मलिन न हो, धूल-धवांस से भरी न हो, होशपूर्वक हो तो केवल सुनकर ही मोक्ष मिल जाता है। तुमने किसी सदगुरु को सुन लिया, हृदय भरकर सुन लिया, सब तरह से अपने को हटाकर सुन लिया, उस सुनने के क्षण में ही मुक्त हो गये तुम। कुछ और करना न पड़ेगा। हां, अगर सुन न पाये, सुनने तो गये लेकिन बुद्धि में तुम्हारा जो कूड़ा-कचरा है वह भरा रहा; उसकी वजह से सुन न पाये तो फिर कुछ करना पड़ेगा। श्रावक प्रथम, साधु दोयम।

होना भी ऐसा ही चाहिए। अगर तीस विद्यार्थियों की कक्षा में शिक्षक बोलता है तो तुम सबसे ज्यादा प्रतिभाशाली किसे कहते हो? जो सुनकर ही समझ गया। जो सुनकर नहीं समझा, फिर उसको तख्ते पर लिख-लिखकर, कर-करके समझाना पड़ता है। जो उससे भी नहीं समझा उसको घर पर टयूटर भी लगाना पड़ता है। जो उससे भी नहीं समझा वह परीक्षा में उत्तर चोरी करके ले जाता है। मगर प्रतिभा न हो तो कुछ भी काम नहीं आता। सब गड़बड़ हो जाता है।

मैं विश्वविद्यालय में शिक्षक था; एक परीक्षा चल रही थी, मैं निरीक्षक था। तो मैंने देखा, सब तो लिख रहे हैं, एक विद्यार्थी बैठा है, बड़ा बेचैन है, कुछ नहीं लिख रहा। तो मैं उसके पास गया, मैं चिंतित हो गया। मैंने पूछा कि क्या बात है, कुछ समझ में नहीं आता? उत्तर पकड़ में नहीं आ रहे? प्रश्न समझ में नहीं आ रहे? क्या अड़चन है? तू पसीना-पसीना हुआ जा रहा है, कुछ लिख भी नहीं रहा। उसने कहा, अब आपसे क्या छिपाना! उत्तर तो मैं रखे हूं, मगर किस खीसे में किस प्रश्न का उत्तर है यह भूल गया। दोनों खीसे में रखे हैं उत्तर। प्रतिभा न हो तो खीसे में उत्तर हों तो भी क्या काम आता है!

रूस में उन्होंने बड़ा ठीक किया है, चोरी का उपाय खतम कर दिया है। विद्यार्थी किताबें ला सकते हैं। चोरी का कोई उपाय न रहा। विद्यार्थी परीक्षा में अपनी सारी किताबें ला सकते हैं। या बीच परीक्षा में उठकर कालेज की लायब्रेरी में जा सकते हैं और अपना उत्तर खोज सकते हैं। चोरी का कोई उपाय नहीं रहा।

और बड़ी हैरानी की बात है, फिर भी बुद्धिमान बुद्धिमान सिद्ध होते हैं, मूढ़ मूढ़ सिद्ध होते हैं। क्योंकि उत्तर भी तो खोजना पड़ेगा। किताबें ले आकर क्या करोगे? लायब्रेरी में भी जाओगे तो आखिर किताब तो खोजनी पड़ेगी, उसमें से उत्तर तो निकालना पड़ेगा। प्रश्न तो समझना पड़ेगा कम से कम पहले, फिर उसका ठीक-ठीक उत्तर खोजना होगा। चोरी का उपाय भी खतम कर दिया उन्होंने और फर्क कुछ भी नहीं पड़ा है। अब भी पता चल जाता है कौन प्रथम कोटि का, कौन द्वितीय कोटि का, कौन तृतीय कोटि का। आज नहीं कल सारी दुनिया में यही होगा। किताबें लाने की आज्ञा दे देनी चाहिए, कोई अड़चन नहीं है। आखिर वह अपनी बुद्धि से ही खोजेगा न उत्तर! उससे ही पता चल जायेगा कि कैसा उत्तर उसने खोजा है। उसकी बुद्धि का ही पता लगाना है।

जो सुनकर ही समझ ले...। बुद्ध कहते थे, कुछ घोड़े होते हैं, जिनको मारो तब चलते हैं। कुछ घोड़े होते हैं जिनको कोड़ा फटकारो, चलते हैं। कुछ घोड़े होते हैं जो कोड़ा हाथ में देख लेते हैं तो चलते हैं; फटकारने की जरूरत नहीं होती। और कुछ घोड़े होते हैं कुलीन, वस्तुतः जिनको हम घोड़े कहें, वे कोड़े की छाया देखकर भी काफी अपमानित हो जाते हैं। कोड़ा तो दूर, कोड़े की छाया काफी होती है। इशारा बहुत होता है।

एक आदमी बुद्ध के पास आया, उसने बुद्ध के चरण छुए और बुद्ध से उसने कहा, शब्द में मुझे न कहें। शब्द मैं बहुत सुन चुका। और चुप रहकर भी मुझे मत कहें, क्योंकि चुप को मैं समझ पाऊं ऐसी मेरी अभी सामर्थ्य नहीं। अब तुम कहोगे, बड़ी उलझन में डाल दिया होगा बुद्ध को। शब्द में मत कहें, क्योंकि शब्द मैं बहुत सुन चुका, कुछ पकड़ में आता नहीं। और चुप रहकर भी न कहें, क्योंकि चुप मैं समझ पाऊं ऐसी मेरी सामर्थ्य कहां?

बुद्ध मुस्कुराये। बुद्ध ने आंखें बंद कर लीं। वह आदमी भी आंख बंद करके बैठा रहा। घड़ी आधा-घड़ी बीती, वह आदमी उठा, उसने बुद्ध के चरण छुए और कहा, धन्यवाद। आपने मार्ग दिखा दिया। वह आदमी चला गया।

बुद्ध के पास जो शिष्य बैठे थे वे तो बड़े हैरान हुए, यह हुआ क्या? इन दोनों के बीच घटा क्या? चालीस साल से साथ रहनेवाला आनंद भी बैठा था, उसने कहा, यह तो हद हो गई। चालीस साल से मैं आपके साथ हूं, न तो सुनकर समझ आया कि आप जो कहते हैं वह क्या कह रहे हैं; और आपको चुप भी बैठे देखता हूं तो भी समझ में नहीं आता। और इस आदमी को क्या हुआ? यह धन्यवाद देकर चला गया।

तो बुद्ध ने कहा, घोड़े कुछ होते हैं, मारो तो मुश्किल से चलते हैं। कुछ होते हैं, कोड़ा फटकारो, चल जाते हैं। कुछ होते हैं, कोड़ा देखकर ही चल जाते हैं और कुछ होते हैं जो कोड़े की छाया से ही चल जाते हैं। यह आखिरी किस्म का घोड़ा है। कोड़े की छाया काफी है। यह चल पड़ा। इसकी यात्रा शुरू हो गई। यह पहुंचकर रहेगा आनंद।

महावीर कहते हैं, अगर सम्यक श्रवण हो तो बस काफी है। कृत्य की तो जरूरत तब पड़ती है जब श्रवण से न हो सके। तो फिर कोड़े मारने पड़ते हैं। उपवास से मारो, आग जलाकर मारो, ठंड में, धूप में खड़े होकर मारो, कांटों पर लेटकर मारो। कैसे मारते हो यह अलग बात, लेकिन फिर कोड़े मारने पड़ते हैं।

महावीर तो कहते हैं, साधु जा सकता है। अष्टावक्र और भी ज्यादा शुद्ध हैं। वे तो कहते हैं, साधु जा ही नहीं सकता। तुम इसे समझना। इसीलिए तो मैं कहता हूं, अष्टावक्र जैसा क्रांतिकारी द्रष्टा नहीं हुआ। अष्टावक्र कह रहे हैं:

क्व निरोधो विमूढ़स्य यो निर्बंधं करोति वै।

कितना ही करो निरोध, निरोध से निरोध नहीं होता। कितना ही साधो, साधने से कुछ नहीं सधता। चेष्टा से कुछ हाथ नहीं आता।

"स्वयं में रमण करनेवाले धीरपुरुष के लिए यह चित्त का निरोध स्वाभाविक है।"

यह तो उसी को होता है जो केवल समझ, इशारे से रूपांतरित हो जाता है--बोधमात्र से; प्रज्ञामात्र से; और अपने में रमण करने लगता है।

तो बैठ जाओ कभी-कभी; निरोध की कोई जरूरत नहीं है। मन आयेगा, मन पुराने जाल फैलायेगा। फिर आ गये राजाधिराज चाबुक घुमाते? वह आयेगा। तुम देखते रहना। लड़ना मत, लड़ने में निरोध है। हटाना मत, हटाने में निरोध है। विरोध मत करना, विरोध ही तो निरोध है। तुम देखना। घुमाने दो चाबुक। आने दो मन को, लाने दो सब जाल। फैलाने दो पुरानी सब व्यवस्थायें, करने दो अपना इंतजाम। तुम शांत बैठे रहना। तुम सिर्फ साक्षी रहना। तुम कहना, हम देखेंगे। बस देखेंगे और कुछ न करेंगे। तू खड़ी कर अप्सरायें सुंदर, हम देखेंगे। तू फैला लोभ-काम के जाल, हम देखेंगे। हम कुछ करेंगे नहीं। हम अडिग देखते रहेंगे। हम नजर पैनी रखेंगे। हम नजर साफ रखेंगे। न तो तेरे साथ चलेंगे, न तुझसे लड़ेंगे।

ऐसी दशा में धीरे-धीरे मन अपने आप हार जाता है, अपने आप सो जाता है, अपने आप खो जाता है। और ऐसी ही साक्षी दशा में तुम्हारा स्वयं में पदार्पण होता है, आत्मरमण शुरू होता है।

स्वारामस्यैव धीरस्य सर्वदाऽसावकृत्रिमः।

और तब एक निरोध पैदा होता है जो अकृत्रिम है, जो स्वाभाविक है, जो सहज है; जो तुम्हारी छाया की तरह तुम्हारे पीछे आता।

ऐसा समझो, निरोध करनेवाला निषेधात्मक है, वह लड़ता है। स्वभाव का अर्थ है, बिना लड़े अपने भीतर के सुख में डूब जाना। वह सुख ऐसा प्रीतिकर है कि उस सुख को जान लेने के बाद मन का कोई प्रलोभन काम नहीं करता। अब जिसके हाथ में हीरे-जवाहरात आ गये वह कंकड़-पत्थर के लोभ में थोड़े ही पड़ेगा। और जिसने

अमृत चख लिया, अब वह विष के धोखे में थोड़े ही आयेगा। और जिसने परम सौंदर्य जान लिया, अब वह हड्डी, मांस, मज्जा के सौंदर्य में थोड़े ही उलझेगा। और जो अपने परम पद पर विराजमान हो गया, अब तुम्हारी छोटी-मोटी कुर्सियों के लिए थोड़े ही लड़ेगा। और जिसने राज्यों का राज्य पा लिया, साम्राज्य पा लिया स्वयं का, अब वह तुम्हारे पदों के लिए थोड़े ही आकांक्षा करेगा, तुम्हारे धन की थोड़े ही चाह करेगा। बात खतम हो गई।

निरोध होगा, लेकिन सहज, अकृत्रिम।

"कोई भाव को माननेवाला है और कोई कुछ भी नहीं है ऐसा माननेवाला है; वैसे ही कोई दोनों को नहीं माननेवाला है। और वही स्वस्थचित्त है।"

भावस्य भावकः कश्चिन्न किंचिद्भावकोऽपरः।
उभयाभावकः कश्चिदेवमेव निराकुलः।।

कोई है, जो कहता है, ईश्वर है। कोई है, जो कहता है, ईश्वर नहीं है। अष्टावक्र कहते हैं, दोनों अज्ञानी हैं। क्योंकि जो है, न तो "है" में समाता है, और न "नहीं है" में समाता है; न भाव में न अभाव में; न ऐसा कहने में न वैसा कहने में; न स्वीकार में न अस्वीकार में। जो है वह इतना विराट है कि सिर्फ शून्य में समाता है, सिर्फ मौन में समाता है। बोले कि चूके। कहा कि गया। सत्य अभिव्यक्त किया कि विकृत हुआ।

लाओत्सु ने कहा है, सत्य को कहा कि फिर सत्य न रहा। कहते ही असत्य हो गया।

तुमने कहा हां, तुमने कहा ना, विभाजन शुरू हो गया। नहीं हां नहीं ना; न आस्तिकता न नास्तिकता। ऐसा भी कोई है, अष्टावक्र कहते हैं, जो न हां में पड़ता, न ना में पड़ता, दोनों के पार खड़ा है, वही स्वस्थचित्त है।

हां कहा, चल पड़े। उपद्रव शुरू हुआ। तुमने कहा, ईश्वर है तो अब तुम लड़ने लगे उससे, जो कहता है ईश्वर नहीं है। लड़ाई शुरू हो गई। और तुमने कहा, ईश्वर है तो तुमने मन का एक वक्तव्य दिया। क्योंकि हां और ना मन की घोषणायें हैं। और इससे विवाद पैदा होगा। सिद्धांत, संप्रदाय, शास्त्र पैदा होगा। उलझन शुरू हुई। तुम्हें तर्क जुटाने पड़ेंगे कि ईश्वर है। और अब तक कोई तर्क नहीं जुटा पाया; एक बात ध्यान रखना। न तो ईश्वरवादी तर्क जुटा पाये कि ईश्वर है, और न अनीश्वरवादी तर्क जुटा पाये कि ईश्वर नहीं है। कोई सिद्ध नहीं कर पाया। न नास्तिक सिद्ध कर पाया न आस्तिक।

एक गांव में ऐसा हुआ कि एक महाआस्तिक में और एक महानास्तिक में विवाद हो गया। आस्तिक और नास्तिक दोनों महान थे और बड़े प्रकांड विवादी थे। सारा गांव विवाद देखने इकट्ठा हुआ और सारा गांव खुश भी था कि किसी तरह निपटारा हो जाये। क्योंकि उन दोनों की वजह से गांव भी परेशान था। दोनों के बीच जो कशमकश थी उसमें गांव के लोग भी पिसे जाते थे, क्योंकि इधर खींचे जाते, उधर खींचे जाते। आस्तिक अपनी तरफ खींच लेता तो नास्तिक अपनी तरफ खींचने की कोशिश करता। ऐसे गांव में दलबदली होती रहती। और गांव में बड़ा विवाद था और झगड़ा-फसाद था।

गांव पूरा खुश हुआ, उसने कहा, ये दोनों निपट लें। कुछ भी तय हो जाये तो हमारी झंझट मिटे। तुम सोचो न! अगर मुसलमान और हिंदुओं के पंडित-पुरोहित निपट लें तो तुम्हारी तो झंझट मिटे। यह मंदिर-मस्जिद का झगड़ा तो मिटे। एक बार सारे धर्मगुरु इकट्ठे हो जायें और फैसला कर लें, विवाद कर लें, जो जीत जाये सो ठीक; तो बाकी दुनिया भर की परेशानी तो कटे।

तो गांव के लोग बड़े खुश थे, वे सब इकट्ठे हुए। मगर खुशी ज्यादा देर न टिकी। सुबह होते-होते सब गड़बड़ हो गई। गड़बड़ यह हुई, आस्तिक ने ऐसे तर्क दिये कि नास्तिक राजी हो गया और नास्तिक ने ऐसे तर्क दिये कि आस्तिक राजी हो गया। फिर वही झंझट! आस्तिक नास्तिक हो गया, नास्तिक आस्तिक हो गया, मगर झंझट जारी रही। गांव ने सिर पीट लिया। उसने कहा, यह इसका कोई हल नहीं है। इतनी बड़ी बदलाहट हो गई कि नास्तिक आस्तिक हो गया, आस्तिक नास्तिक हो गया, मगर गांव की मुसीबत वही की वही रही।

आज तक दुनिया में न तो कोई ईश्वर को सिद्ध कर पाया है और न असिद्ध कर पाया है। जो लड़ते हैं, मूढ़ हैं। आस्तिक भी और नास्तिक भी, दोनों मंदबुद्धि हैं।

अष्टावक्र कहते हैं, "वैसे ही कोई दोनों को नहीं माननेवाला है। वही स्वस्थचित्त है।"

जो कहता है, इन झंझटों में मुझे कुछ रस नहीं है। हां और ना में मेरा कोई विवाद नहीं। पक्ष और विपक्ष में मैं पड़ता नहीं। मैं अपने में रमा हूं और मेरा रस वहां बह रहा है; बस काफी है। मैं अपने में डूबा हूं और मस्त हूं अपनी मस्ती में। मेरा गीत मुझे मिल गया। मेरा नृत्य मुझे मिल गया। मेरी रसधार बह पड़ी। अब कौन पड़ता है इस फिजूल की बकवास में कि ईश्वर है या नहीं! यह नासमझ तय करते रहें।

"दुर्बुद्धि पुरुष शुद्ध अद्वैत आत्मा की भावना करते हैं लेकिन मोहवश उसे नहीं जानते हैं, इसलिए जीवन भर सुखरहित हैं।"

शुद्धमद्वयमात्मानं भावयंति कुबुद्धयः।
न तु जानन्ति संमोहाद्यावज्जीवमनिर्वृताः।।

"दुर्बुद्धि पुरुष शुद्ध अद्वैत आत्मा की भावना करते हैं लेकिन मोहवश उसे नहीं जानते, और जीवन भर सुखरहित रहते हैं।"

बुद्धि की तीन संभावनायें हैं: बुद्धि, अबुद्धि, कुबुद्धि। जो अबुद्धि में है वह बड़े खतरे में नहीं है। उसकी बुद्धि सोयी हुई है, जगायी जा सकती है। जो अज्ञानी है वह खतरे में नहीं है। कम से कम विनम्र होगा कि मुझे पता नहीं है। खोज करेगा।

कुबुद्धि कौन है? कुबुद्धि वह है, जिसे पता नहीं है और जो मानता है कि मुझे पता है। पंडित कुबुद्धि है। शास्त्र का जाननेवाला, सूचनाओं को इकट्ठा कर लेनेवाला कुबुद्धि है। अबुद्धि इतनी बुरी बात नहीं है। अबुद्धि से बुद्धि तक जाने में अड़चन नहीं है। कुबुद्धि बड़ी अड़चन में है। वह अबुद्धि में है अभी, और सोचता है कि बुद्धि में पहुंच गया--यह उसकी कुबुद्धि है। अज्ञानी है और मान लेता है कि ज्ञानी हो गया हूं। बीमार है और सोचता है कि स्वस्थ हूं, इसलिए औषधि भी नहीं लेता। और चिकित्सक के पास भी नहीं जाता। जाये क्यों? किसलिए जाये? इसलिए सबसे ज्यादा खतरनाक स्थिति कुबुद्धि की है। और तुम ध्यान रखना, अधिक लोग कुबुद्धि की स्थिति में हैं। इसलिए परमात्मा से मिलन नहीं हो पाता, सत्य की खोज नहीं हो पाती।

पहले तो कुबुद्धि को लौटना पड़ता है अबुद्धि में। अबुद्धि से रास्ता जाता है। इसलिए मेरी चेष्टा यहां है कि तुम्हें जो भी आता है वह विस्मरण हो जाये। तुमने जो-जो पाठ सीख लिये हैं वे भूल जायें। तुम्हारा ज्ञान का चोगा उतर जाये। तुम्हारी यह ज्ञान की झूठी पर्त टूट जाये। तुम्हें स्मरण आ जाये कि तुम्हें पता नहीं है। फिर यात्रा शुरू होती है; फिर तुम साफ हुए; फिर तुम बच्चे की भांति हो।

कुछ बुरा नहीं है अबुद्धि में। अबुद्धि का इतना ही मतलब है कि मुझे पता नहीं और मैं तैयार हूं यात्रा पर जाने को। कुबुद्धि का अर्थ है कि पता तो नहीं है, भीतर तो मालूम है पता नहीं है, क्योंकि खुद को कैसे धोखा दोगे? लेकिन ऊपर से अहंकार स्वीकार नहीं करने देता कि मुझे पता नहीं है। अहंकार कहता है, पता है। मुझे और पता न हो? यह हो कैसे सकता है? अगर मुझे पता नहीं तो फिर किसी को पता नहीं।

इस कुबुद्धि की स्थिति को उतारना। इस कुबुद्धि को हटाना। घबड़ाहट लगेगी। क्योंकि कुबुद्धि को हटाओगे तो अबुद्धि मालूम पड़ेगी, मगर अबुद्धि में कुछ भी बुरा नहीं है। अबुद्धि में तो तुम सिर्फ अबोध अवस्था में आ गये, जो कि स्वाभाविक है। अबोध से बोध की तरफ जाना बिलकुल सुगम है, एक ही छलांग में हो सकता है। लेकिन कुबोध से तो बोध की तरफ जाने का कोई उपाय ही नहीं। रास्ता जाता ही नहीं। वहां से कोई मार्ग ही नहीं है।

"दुर्बुद्धि पुरुष शुद्ध अद्वैत आत्मा की भावना करते हैं"--कल्पना करते हैं, विचार करते हैं, चिंतन-मनन करते हैं, चर्चा करते हैं--"लेकिन मोहवश उसे जानते नहीं।"

वह जो मोह है अहंकार का, अपना, मेरे का वह छोड़ने नहीं देता। मोह का अर्थ होता है: ममत्व, मेरा, मैं। वह जो मैं के आसपास परिधि खिंची है, वही मोह।

"मोह के कारण उसे जानते नहीं और जीवन भर सुखरहित रहते हैं।"

दुख को बहुत सहेजकर रखना पड़ा हमें
सुख तो किसी कपूर की टिकिया-सा उड़ गया
अब सबसे पूछता हूं बताओ तो कौन था
वह बदनसीब शख्स जो मेरी जगह जीया!

तुम जीवन के अंत में एक दिन पूछोगे। जीवन के अंत में एक दिन तुम कहोगे। ये पंक्तियां तुम्हारे जीवन का अंतिम सार-निचोड़ हो जायेंगी, अगर चौंके नहीं, समय पर जागे नहीं।

दुख को बहुत सहेजकर रखना पड़ा हमें

और कुछ है ही नहीं तो रखोगे भी क्या सहेजकर? जो है उसी को तो रखोगे। दुख ही दुख है, उसी को सहेजकर रखते हो। किसी ने गाली दी थी बीस साल पहले, अभी भी सहेजकर रखे हुए हो। पागलपन की भी कोई सीमा होती! गाली भी कोई सहेजकर रखने की बात है? कोई दुख हो गया था, भूलते ही नहीं। घाव को कुरेदते रहते हो ताकि घाव हरा बना रहे। और कुछ है भी नहीं, सहेजकर क्या रखोगे?

कुछ न हो तो आदमी तिजोड़ी में कंकड़-पत्थर ही रख लेता है। कम से कम अहसास तो होता है कि कुछ है। बजता तो रहता। आवाज तो होती रहती। खोलकर देखता है तो भरापन तो मालूम होता।

दुख को बहुत सहेजकर रखना पड़ा हमें
सुख तो किसी कपूर की टिकिया-सा उड़ गया

सुख तो है ही इतना क्षणभंगुर। झलक दिखती है और चला जाता है। कपूर की टिकिया-सा उड़ गया।

अब सबसे पूछता हूं बताओ तो कौन था
वह बदनसीब शख्स जो मेरी जगह जीया

जीवन के अंत में तुम पूछोगे कि वह कौन था जो मेरी जगह जीया? क्योंकि तुम तो कभी जीये भी नहीं। तुम तो कभी वस्तुतः प्रगट ही न हुए। तुम तो धोखे में रहे। तुम तो जो नहीं थे वह तुम मान लिये और जो तुम थे उसको छिपाकर रखा।

अब सबसे पूछता हूं बताओ तो कौन था
वह बदनसीब शख्स जो मेरी जगह जीया

ऐसा दुर्भाग्य का क्षण न आये इसके लिए अभी से सजग हो जाओ। जो-जो झूठ है, काट दो। जो-जो तुमने नहीं जाना है, अपने अनुभव से नहीं जाना है, उसे उतार दो। बासे को, उधार को हटा दो। जो किसी और से आया है और तुम्हारे अनुभव से नहीं जन्मा है, उससे मोह छोड़ दो। तुम जैसे हो वैसे ही अपने को जानो; चाहे यह कितना ही कष्टकर हो। और चाहे कितने ही कांटे चुभें, लेकिन सत्य, प्रामाणिक ईमानदारी से तुम जो हो वही अपने को स्वीकार कर लो। अज्ञानी हो अज्ञानी, क्रोधी हो क्रोधी, बेईमान हो बेईमान, झूठे हो झूठे, चोर हो चोर--जो हो उसे स्वीकार कर लो।

हो तो चोर, और अचौर्य का व्रत लिये हो। हो तो कामी, और ब्रह्मचर्य की बातें कर रहे हो। हो तो लोभी, और छोटा-मोटा दान करके अपने को धोखा दे रहे हो। लाख तो कमा लेते हो, दो-चार हजार दान कर देते हो और महादानी और दानवीर बन जाते हो। हो तो अज्ञानी लेकिन तोते की तरह किताबें रट ली हैं और सोचते हो, ज्ञानी हो गये। कभी झुके नहीं परमात्मा के चरणों में, झुकना आता ही नहीं। एक पुजारी रख लिया उधार, वह रोज आकर तुम्हारी तरफ से परमात्मा के चरणों में झुक जाता है।

किसको धोखा दे रहे हो? यह धोखा महंगा पड़ेगा। एक दिन जब मौत द्वार पर खड़ी होगी तब तुम चौंककर पूछोगे, वह कौन था शख्स जो मेरी जगह जीया? क्योंकि तुम तो कभी जीये नहीं।

मैं तुमसे कहता हूं, अगर तुम अपने सत्य की उदघोषणा कर दो--दुखद हो, कष्टपूर्ण हो, अपमानजनक हो, फिर भी घोषणा कर दो, बदलाहट शुरू हो जायेगी। जो चोर यह कहने की हिम्मत जुटा ले कि मैं चोर हूं, ज्यादा देर चोर न रह सकेगा। चोर रहने के लिए अचौर्य का व्रत लेना अनिवार्य रूप से जरूरी है। इसीलिए तो अणुव्रत लेते हैं। चोर हैं, छटे चोर हैं, अचौर्य का व्रत ले लेते हैं। झूठे हैं, मंदिर में कसम खा लेते हैं समाज के सामने कि सच बोलने की कसम लेता हूं। इससे झूठ बोलने में बड़ी सुविधा हो जाती है। क्योंकि जब लोग जान लेते हैं कि इस आदमी ने कसम खाई, सच बोलता है तो लोग मानते हैं कि सच बोलता होगा। झूठे को इस बात की बड़ी जरूरत है कि लोग मानें कि मैं सच बोलता हूं। इसीलिए तो झूठ चलता है। झूठ सच के सहारे चलता है। झूठ के अपने पैर नहीं; सच के कंधों पर चढ़कर चलता है। अगर तुम्हें झूठ बोलना हो तो समाज में प्रचार करो कि तुम सच्चे हो। तो ही तो लोग धोखे में पड़ेंगे; नहीं तो धोखे में पड़ेगा कौन?

मुल्ला नसरुद्दीन ने गांव के एक सीधे-सादे आदमी को धोखा दे दिया। मजिस्ट्रेट को भी बड़ी हैरानी हुई। मजिस्ट्रेट ने उससे कहा, नसरुद्दीन, तुम्हें और कोई नहीं मिला धोखा देने को? यह बेचारा इस गांव का सबसे सीधा सरलचित्त आदमी, इसको तुम धोखा देने गये? नसरुद्दीन ने कहा, हुजूर और किसको देता? यही मेरी मान सकता था। और तो गांव में सब लफंगे हैं, वे तो मुझे धोखा दे जायें। यही है एक बेचारा, जिसको मैं धोखा दे सकता था। अब और किसको देता? आप ही कहिये।

बात तो ठीक है। बेईमान को खबर फैलानी पड़ती है कि मैं ईमानदार हूं; प्रचार करना पड़ता है कि मैं ईमानदार हूं। उसकी ईमानदारी की हवा जितनी फैलती है उतनी ही बेईमानी की सुविधा हो जाती है। तुम्हें पता चल जाये कि आदमी बेईमान है, फिर बेईमानी करनी बहुत मुश्किल हो जाती है; असंभव हो जाता है।

"मुमुक्षु पुरुष की बुद्धि आलंबन के बिना नहीं रहती। मुक्त पुरुष की बुद्धि सदा निष्काम और निरालंब रहती है।"

मुमुक्षोर्बुद्धिरालंबमंतरेण न विद्यते।

"मुमुक्षु की बुद्धि आलंबन के बिना नहीं रहती।"

मन बिना आलंबन के नहीं रहता। मन को कोई सहारा चाहिए। मन अपने बल खड़ा नहीं हो सकता। मन को उधार शक्ति चाहिए--किसी और की शक्ति। मन शोषक है।

इसलिए जब तक तुम सहारे से जीयोगे, मन से जीयोगे। जिस दिन तुम बेसहारा जीयोगे उसी दिन तुम मन के बाहर हो जाओगे। और इस बात को खयाल में लेना कि मन इतना कुशल है, उसने मंदिर के भी सहारे बना लिये हैं। पूजा, पाठ, यज्ञ-हवन, पंडित, पुरोहित, शास्त्र। परमात्मा भी तुम्हारे लिए एक आलंबन है। उसके सहारे भी तुम मन को ही चलाते हो। तुम मन की कामनाओं के लिए परमात्मा का भी सहारा मांगते हो कि हे प्रभु! अब इस नये धंधे में काम लगा रहे हैं, खयाल रखना। शुभ मुहूर्त में लगाते हो, ज्योतिषी से पूछकर चलते हो कि प्रभु किस क्षण में सबसे ज्यादा आशीर्वाद बरसायेगा, उसी क्षण शुरू करें। मुहूर्त में करें।

तुम परमात्मा का भी सहारा अपने ही लिए ले रहे हो। खयाल करो, जब तक तुम परमात्मा को सहारा बनाने की कोशिश कर रहे हो, तुम परमात्मा से दूर रहोगे। जिस दिन तुमने सब सहारे छोड़ दिये उस दिन परमात्मा तुम्हारा सहारा है। बेसहारा जो हो गया, परमात्मा उसका सहारा है। निर्बल के बल राम। जिसने सारी बल की दौड़ छोड़ दी, जिसने स्वीकार कर लिया कि मैं निर्बल हूं, असहाय हूं और कहीं कोई सहारा नहीं है। सब सहारे झूठे हैं और सब सहारे मन की कल्पनायें हैं। ऐसी असहाय अवस्था में जो खड़ा हो जाता है उसे इस अस्तित्व का सहारा मिल जाता है।

"मुमुक्षु पुरुष की बुद्धि आलंबन के बिना नहीं रहती।"

मुमुक्षोर्बुद्धिरालंबमंतरेण न विद्यते।
निरालंबैव निष्कामा बुद्धिर्मुक्तस्य सर्वदा।।

"लेकिन मुक्त पुरुष की बुद्धि सदा निष्काम और निरालंब है।"

मुक्ति का अर्थ ही है, निरालंब हो जाना, निराधार हो जाना। मुक्ति का अर्थ ही है, अब मैं कोई सहारा न खोजूंगा।

और जैसे ही सहारे हटने लगते हैं वैसे ही मन गिरने लगता है। इधर सहारे गये, उधर मन गया। मन सभी सहारों का जोड़ है, संचित रूप है। सारे सहारे हट जाते हैं, बस मन का तंबू गिर जाता है। मन के तंबू के गिर जाने पर जो शेष रह जाता है, बिना किसी सहारे के जो शेष रह जाता है, वही है शाश्वत; वही है अमृत; वही है तुम्हारा सच्चिदानंद। वही है तुम्हारे भीतर छिपा हुआ परमात्मा, विराट। परात्पर ब्रह्म तुम्हारे भीतर मौजूद है।

ऐसा समझो कि तुम्हारा आंगन है, दीवाल उठा रखी है। दीवाल के कारण आकाश बड़ा छोटा हो गया आंगन में। दीवाल गिरा दो, आकाश विराट हो जाता है। सारा आकाश तुम्हारा हो जाता है।

मन तो आंगन है। छोटी-छोटी दीवालें चुन ली हैं, उसके कारण आकाश बड़ा छोटा हो गया है। गिरा दो दीवालें। हटा दो दीवालें। तोड़ दो परिधि। गिरा दो परिभाषायें। तत्क्षण तुम्हारा आकाश विराट हो जाता है। तत्क्षण सारा आकाश तुम्हारा है।

इस आकाश के उपलब्ध हो जाने का नाम ही मोक्ष है।

ये सारे सूत्र मुक्ति के सूत्र हैं। एक-एक सूत्र मुक्ति की एक-एक अपूर्व कुंजी है। इन पर खूब ध्यान करना। इनको बार-बार सोचना, विचारना, ध्यान करना। इन पर बार-बार मनन करना। किसी दिन, किसी क्षण में इनका प्रकाश तुम्हारे भीतर प्रवेश हो जायेगा। उसी क्षण खुल जाते हैं द्वार अनंत के, अज्ञात के। उसी क्षण तुम मेजबान हो जाते, प्रभु तुम्हारा मेहमान हो जाता है।

बनो आतिथेय। अतिथि आने को तैयार है।

आज इतना ही।

अड़सठवां प्रवचन

मन तो मौसम-सा चंचल

पहला प्रश्न: आपने कहा कि ज्ञानी स्पंदरहित हो जाता है और आपने यह भी कहा कि जिस में स्पंदन नहीं है वह चीज मृत है। कृपापूर्वक समझायें कि स्पंदनरहित होकर ज्ञानी पुरुष कैसे जीवित रहते हैं।

एक और भी स्पंदन है, और एक और भी जीवन है, जहां अस्मिता तो नहीं है लेकिन अस्तित्व है; जहां मैं तो नहीं हूं, परमात्मा है। जहां अहंकार तो मर गया, जा चुका, अतीत हो गया, लेकिन अहंकार के पार भी एक जीवन है, एक स्पंदन है। वस्तुतः तो वही जीवन है।

तो ज्ञानी एक अर्थ में तो मृत हो जाता है, और एक अर्थ में परम रूप से जीवित हो जाता है। इस अर्थ में मृत हो जाता है कि अब अपने ही माध्यम से परमात्मा को जीता है, स्वयं को नहीं। इस अर्थ में मृत हो जाता है कि अब अहंकार की तो कब्र बन गई। अब खुदी तो न रही, खुदा है। और खुदा भरपूर है। अब परमात्मा बहता है।

ज्ञानी तो बांस की पोंगरी हो गया। प्रभु गाता है तो गीत पैदा होता है। बांसुरी खुद नहीं गाती, लेकिन बांसुरी का भी गीत है। बांसुरी से गीत पैदा होता है। बांसुरी माध्यम बनती है, बाधा नहीं डालती।

जीसस के जीवन में इस बात की ठीक-ठीक व्याख्या है। इस तरफ सूली लगी, उस तरफ नवजीवन मिला। एक हाथ सूली लगी, एक हाथ मृत्यु लगी, दूसरे हाथ महाजीवन मिला, पुनरुज्जीवन मिला। यही समस्त ज्ञानियों की कथा है।

प्रश्न स्वाभाविक है। अष्टावक्र कहते हैं, स्पंदनशून्य हो जाता है ज्ञानी। अपनी कोई स्पंदना नहीं रह जाती। अपनी कोई कामना न रही तो स्पंदन कैसे होगा? अपनी कोई वासना न रही तो अब बुलबुले कैसे उठेंगे? अपना कोई भाव ही न रहा, कोई दौड़ न रही, कोई आपाधापी न रही, कहीं पहुंचना न रहा, कहीं जाना न रहा तो अब कैसा स्पंदन! लेकिन परमात्मा जा रहा है। परमात्मा गतिमान है, परमात्मा गति है, गत्यात्मकता है।

ज्ञानी तो मिट गया अपने तईं, अब परमात्मा हुआ। जब बीज टूट जाता है तभी तो अंकुर पैदा होता है। तो बीज की मृत्यु पौधे का जीवन है। अगर बीज बचा रहे तो पौधा नहीं पैदा हो सकेगा। ज्ञानी मिटता है, पिघलता है, खो जाता है तो परमात्मा के लिए मार्ग बनता है।

साधो, हम चौसर की गोटी!
कोई गोरी कोई काली
कोई बड़ी कोई छोटी!

इस खाने से उस खाने तक
चमराने से ठकुराने तक
खेले काल खिलाड़ी
सबकी गहे हाथ में चोटी!
साधो, हम चौसर की गोटी!

कोई पिटकर कोई बसकर
कोई रोकर कोई हंसकर

सभी खेलें ढीठ खेल यह
चाहे मिले न रोटी!

कभी पट हर कौड़ी आवे

कभी अचानक पौ पड़ जावे
नीड़ बनाये एक फेंक
तो दूजी हरे लंगोटी!

एकेक दांव कि एकेक फंदा
एकेक घर है गोरखधंधा
हर तकदीर यहां है जैसे
कूकर के मुंह बोटी!

बिछी बिछात जमा जब तक फड़
तब तक ही यह सारी भगदड़
फिर तो एक खलीता
सबकी बांधे गठरी मोटी!
साधो, हम चौसर की गोटी!

जैसे ही दिखाई पड़ना शुरू होता है, जो भीतर छिपा है, जिसका असली स्पंदन है, जो वस्तुतः हमारे माध्यम से जी रहा है, तो हम चौसर की गोटी हो जाते हैं। कोई छोटी, कोई बड़ी, कोई गरीब, कोई अमीर, कोई ज्ञानी, कोई अज्ञानी; लेकिन हम चौसर की गोटी हो जाते हैं। खेल किसी और का चल रहा है, बिछात किसी और ने बिछायी है। हारेगा कोई, जीतेगा कोई। हम तो चौसर की गोटी हैं। न हमारी कोई हार है, न हमारी कोई जीत है।

ज्ञानी ऐसे जीने लगता है जैसे सूखा पत्ता हवा में। जहां ले जाये हवा। पूरब तो पूरब, पश्चिम तो पश्चिम। साधो, हम चौसर की गोटी! अब अपनी कोई आकांक्षा नहीं है। कहीं जाने का अपना कोई मंतव्य नहीं है, कोई योजना नहीं है। इसलिए न कोई विषाद है, न कोई हर्ष का उन्माद है। एक परम शांति है। स्पंदन कहां? अपना स्पंदन गया। अपने ही साथ गया।

अब वे दिन गये, जब अहंकार सपने बुनता था। और अहंकार हार-जीत की बड़ी योजनायें बनाता था। और अहंकार डरता था, घबड़ाता था, सुरक्षा के आयोजन करता था। वे दिन गये। वहां तो मौत हो गई। अहंकार तो अब राख है। वह ज्योति तो हमने फूंक दी और बुझा दी।

अब तो एक ऐसी ज्योति का अवतरण हुआ जो न बुझती, न कभी जन्मती। शाश्वत का अवतरण हुआ। अब शाश्वत का स्पंदन है।

तो ज्ञानी एक अर्थ में मर जाता और एक अर्थ में केवल ज्ञानी ही जीता है, तुम सब मरे हो। कबीर ने कहा है, "साधो ई मुर्दन के गांव।" ये सब मुर्दे हैं यहां। इनमें कोई जिंदा नहीं है।

जीसस ने एक सुबह झील पर एक मछुए के कंधे पर हाथ रखा और कहा कि कब तक मछलियां पकड़ता रहेगा? अरे, कुछ और भी पकड़ना है कि मछलियां ही पकड़ते रहना है? मेरे पास आ, मेरे साथ चल। मैं तुझे कुछ बड़े फंदे फेंकना सिखा दूं जिनमें मछलियां तो क्या, आदमी फंस जाये। आदमी तो क्या, परमात्मा फंस जाये।

मछुआ भोला-भाला आदमी था; न पढ़ा न लिखा। उसने जीसस की आंखों में देखा, भरोसा आ गया। पढ़ा-लिखा होता तो संदेह उठता। सोच-विचार का आदमी होता तो कहता विचारूंगा, यह क्या बात है, कंधे से हाथ हटाओ! ऐसे कहीं कोई किसी के पीछे चलता? लेकिन जीसस की आंखों में झांका सरलता से; भरोसा आ गया। ये आंखें झूठ बोल नहीं सकतीं। यह चेहरा प्रमाण था। जाल फेंक दिया वहीं। जीसस के पीछे हो लिया।

वे गांव के बाहर भी न निकले थे कि एक आदमी भागा हुआ आया और उसने मछुए से कहा, पागल! कहां जा रहा है? तेरे पिता की मृत्यु हो गई। पिता बीमार थे, कभी भी जा सकते थे। उस आदमी ने जीसस से कहा, क्षमा करें, मैं तो आता था लेकिन भाग्य ने अड़चन डाल दी। मुझे थोड़े दिन की आज्ञा दे दें--एक सप्ताह, आधा सप्ताह। पिता का अंतिम संस्कार कर आऊं और आ जाऊं। जीसस ने कहा, छोड़। गांव में काफी मुर्दे हैं, वे मुर्दे को जला लेंगे। तू मेरे पीछे आ।

साधो ई मुर्दन के गांव! एक अर्थ में तुम बिलकुल मरे हुए हो। तुम्हारा जीवन भी क्या जीवन! है क्या वहां? मुट्ठी जब तक बांधे हो तब तक लगता है, है कुछ। जरा खोलकर तो देखो। लोग कहते हैं, बंधी लाख की, खुली खाक की। ठीक ही कहते हैं। बांधे रहो तो भरोसा रहता है, कुछ है। तिजोड़ी खोलकर मत देखना। और कभी इधर-उधर झांकना मत अपने जीवन में, अन्यथा घबड़ाहट होगी। है तो कुछ भी नहीं। व्यर्थ ही शोरगुल मचाये हो: गौर से देखोगे तो पाओगे, क्या है जीवन? यह रोज उठ आना, रोज भोजन कर लेना, रोज कपड़े बदल लेना, रोज दफ्तर हो आना, दूकान हो आना, कारखाने हो आना; फिर सांझ लौट आना, फिर सो जाना, फिर सुबह वही।

इस चके में घूमने का नाम जीवन है? यह भी कोई जीवन है? ऐसा जीवन तो पशु भी जी रहा है। और तुमसे बेहतर जी रहा है। और ऐसा जीवन तो वृक्ष भी जी रहे हैं। वे भी भोजन कर लेते हैं, पानी पी लेते हैं, रात सो जाते हैं, सुबह फिर जाग आते हैं। और तुमसे बेहतर जी रहे हैं--निश्चिंत। तुमसे ज्यादा हरे-भरे हैं। कभी-कभी उनमें फूल लगते हैं, तुममें तो कभी फूल भी नहीं लगते। कभी-कभी उनसे अपूर्व सुगंध उठती है, तुमसे तो सिवाय दुर्गंध के और कुछ भी नहीं उठता। क्रोध उठता है, घृणा उठती है, हिंसा उठती है। प्रेम की तो तुम बातें करते हो, उठता कहां है? करुणा तो शास्त्रों में लिखी है, अनुभव कहां है? परमात्मा तो सुना हुआ कोरा शब्द है, पहचान कहां? मुलाकात कहां है? जीवन तुम्हारा जीवन कहां है?

यह जो जीवन जैसा दिखाई पड़ता और जीवन नहीं है, यही मिट जाता है। फिर एक और जीवन पैदा होता है जो अभी दिखाई भी नहीं पड़ता, अभी अदृश्य है। वही जीवन जीवन है।

ठीक पूछते हो। एक भांति तो साधु मर जाता है, एक भांति साधु जी जाता। तुम्हारी तरह मर जाता, और एक नये, बिलकुल अभिनव रूप में जीवन का पदार्पण होता है। कहो उसे परमात्मा, मोक्ष, निर्वाण--जो मर्जी हो।

दूसरा प्रश्न: अनेक बुद्धपुरुष हुये, जैसे बुद्ध, महावीर, नानक, रामकृष्ण परमहंस, रमण महर्षि और स्वयं आप, इन सबके कोई गुरु नहीं थे। ऐसा क्यों? इस पर कुछ समझाने की कृपा करें।

इनके गुरु नहीं थे, ऐसा कहना शायद ठीक नहीं। यही कहना उचित है कि सारा अस्तित्व इनका गुरु था। जिनकी हिम्मत इतनी नहीं है कि सारे अस्तित्व को गुरु बना सकें, उनको फिर एकाध आदमी को गुरु बनाना पड़ेगा; वह कंजूसी के कारण। न सबको बना सको, कम से कम एक को बना लो। शायद एक से ही झरोखा खुले। फिर धीरे-धीरे हिम्मत बढ़े, स्वाद लग जाये, साहस बढ़े तो तुम औरों को भी बना लो।

ऊपर से देखने में ऐसा लगता है कि बुद्ध का कोई गुरु नहीं था। लेकिन अगर गहरे से देखोगे तो ऐसा पता चलेगा, बुद्ध ने किसी को गुरु नहीं बनाया क्योंकि जब सारा अस्तित्व ही गुरु हो तब किसको गुरु बनाना! नदी-पहाड़, चांदत्तारे, पौधे, पशु-पक्षी सभी गुरु हैं।

सूफी फकीर हुआ हसन; मरते वक्त किसी ने पूछा कि तेरे गुरु कौन थे? उसने कहा, मत पूछो। वह बात मत छेड़ो। तुम समझ न पाओगे। अब मेरे पास ज्यादा समय भी नहीं है। मैं मरने के करीब हूं, ज्यादा समझा भी न सकूंगा। उत्सुक हो गये लोग। उन्होंने कहा, अब जा ही रहे हो, यह उलझन मत छोड़ जाओ, वरना हम सदा पछतायेंगे। जरा-से में कह दो। अभी तो कुछ सांसें बाकी हैं।

उसने कहा, इतना ही समझो कि एक नदी के किनारे बैठा था और एक कुत्ता आया। बड़ा प्यासा था, हांफ रहा था। नदी में झांककर देखा, वहां उसे दूसरा कुत्ता दिखाई पड़ा। घबड़ा गया। भौंका, तो दूसरा कुत्ता भौंका। लेकिन प्यास बड़ी थी। प्यास ऐसी थी कि भय के बावजूद भी उसे नदी में कूदना ही पड़ा। वह हिम्मत करके...कई बार रुका, कंपा, और फिर कूद ही गया। कूदते ही नदी में जो कुत्ता दिखाई पड़ता था वह विलीन हो गया। वह तो था तो नहीं, वह तो केवल उसकी ही छाया थी।

नदी के किनारे बैठे देख रहा था, मैंने उसे नमस्कार किया। वह मेरा पहला गुरु था। फिर तो बहुत गुरु हुए। उस दिन मैंने जान लिया कि जीवन में जहां-जहां भय है, अपनी ही छाया है। और प्यास ऐसी होनी चाहिए कि भय के बावजूद उतर जाओ।

मेरे पास लोग आते हैं; वे कहते हैं, संन्यास तो लेना है लेकिन भय लगता है। जब भय न लगेगा तब लेंगे। फिर कभी न लेंगे। ऐसी कभी घड़ी आयेगी, जब भय न लगेगा? भय के बावजूद लेंगे तो ही लेंगे। तुम सोचते हो, जिन्होंने लिया उनको भय नहीं लगता? वे भी तुम जैसे आदमी हैं, उन्हें भी भय लगता है। लेकिन इतना ही फर्क है कि उन्होंने कहा, ठीक है, भय लगता रहे, लेंगे; लेकर रहेंगे। उनकी प्यास गहरी है। डर तो लगता है, लेकिन प्यास इतनी गहरी है कि करो भी क्या? डरो या प्यासे मरो; दो में चुनाव करना है। प्यास इतनी गहरी है कि भय को एक तरफ रख देना पड़ता है। और जो भय को एक तरफ रख देता है उसका ही भय मिटता है। भय अनुभव से मिटेगा। और तुम कहते हो, अनुभव हम तभी लेंगे जब भय मिट जाये। तब बड़ी मुश्किल हो गई। तुमने एक ऐसी शर्त लगा दी जो कि कभी पूरी नहीं हो सकती।

मुल्ला नसरुद्दीन तैरना सीखना चाहता था। तो किसी पड़ोसी ने कहा, यह कोई बड़ी बात नहीं। इतना शोरगुल क्यों मचाते हो? आओ मेरे साथ, मैं सिखा देता हूं। गये नदी के किनारे। सीढ़ी पर ही काई जमी थी, मुल्ला का पैर फिसल गया और धड़ाम से गिरा। गिरते ही उठा और भागा घर की तरफ। वह जो सिखाने ले गया था--जो उस्ताद--उसने कहा, अरे, कहां भागे जा रहे हो? सीखना नहीं है? मुल्ला ने कहा, अब जब तैरना सीख लूंगा तभी नदी के पास आऊंगा। यह तो झंझट है। पैर फिसल गया, चारों खाने चित्त हो गये, और कहीं नदी में गिर जाते तो जान से हाथ धो बैठते। तेरा क्या भरोसा! वक्त पर काम आये, न आये। अब आऊंगा नदी के पास, लेकिन तैरना सीखकर।

अब तैरना कोई गद्देत्तकियों पर थोड़े ही सीखता है। कितना ही हाथ-पैर पटको अपने गद्दे पर लेटकर--सुविधा तो है, खतरा कोई भी नहीं है, लेकिन जहां खतरा नहीं वहां सीख कहां? खतरे में ही सीख है। खतरे में ही अनुभव है। जितना बड़ा खतरा है, जितनी बड़ी चुनौती है उतनी ही बड़ी संपदा छिपी है।

अब तुमने अगर यह कसम ले ली कि जब तक तैरना न सीख लेंगे, नदी न आयेंगे, तुम तैरना कभी सीखोगे ही नहीं। तैरना सीखना हो तो बिना तैरना जाने नदी में उतरने की हिम्मत रखनी पड़ती है। और किसी पर भरोसा करना पड़ता है। जो भी तुम्हें सिखाने जायेगा उस पर भरोसा करना पड़ेगा। भरोसे का कोई कारण नहीं है; क्योंकि क्या पता, जब तुम डूबने लगो, यह आदमी बचाये कि भाग जाये। जब तुम डूबने लगो तो यह आदमी काम आये कि न आये! यह तो तुम जब तक डूबो न, तब तक पता कैसे चलेगा? हो सकता है दूसरों को भी इसने

बचाया हो लेकिन तुमको बचायेगा इसकी क्या कसौटी है? दूसरे ठीक ही कहते हैं इसका क्या सबूत है? और दूसरे इसके ही नौकर-चाकर नहीं हैं इसका क्या पक्का प्रमाण है? यह तुम्हें ही फंसाने को सारा जाल फैलाया हो, तुम्हें ही डुबाने को, इसके संबंध में तुम कैसे निश्चित हो सकते हो?

भय तो रहेगा। और फिर नदी तो दिखाई पड़ती है, नदी में तैरना सिखानेवाला जो उस्ताद है, तुम उसके संबंध में प्रमाणपत्र भी इकट्ठे कर सकते हो। तुम नदी के किनारे जाकर भी देख सकते हो, औरों को सिखा रहा है, और भी सीख गये हैं। लेकिन जीवन की जो नदी है वह तो बड़ी अदृश्य है। और परमात्मा का जो सागर है वह तो दिखाई नहीं पड़ता। उस अनदेखे, अनजाने में, अपरिचित में तो कोई प्रमाण भी काम नहीं आनेवाला। वहां तो कोई अकेला-अकेला जाता है। तुम किसी जाते हुए को देख तो न पाओगे।

मेरे पास इतने लोग हैं, उनमें से जो जा रहे हैं उन्हें तुम पहचान तो न पाओगे। उनमें से जो नहीं जा रहे हैं उन्हें भी तुम न पहचान पाओगे। वह तो तुम जाओगे तभी पहचान होगी। तुम जाओगे तो ही पहली दफा तुम किसी को जाते हुए देखोगे। हां, खुद के जाने के बाद तुम दूसरों को भी पहचानने लगोगे कि कौन-कौन गये। क्योंकि जो सुवास तुम्हारे भीतर उठेगी वही सुवास तुम्हें उनमें भी दिखाई पड़ने लगेगी। जो आभा तुम्हारी आंखों में आ जायेगी, जो गुंजन तुम्हारे प्राणों में होने लगेगा, एक दफा वहां सुन लिया तो फिर किसी के भी हृदय के पास से सुनाई पड़ने लगेगा। जो हमने अपने भीतर नहीं जाना है वह हम कभी भी न जान सकेंगे।

हसन ने कहा, कुत्ते को देखकर मैं यह समझ गया कि भय को एक तरफ रखना होगा। एक बात समझ में आ गई कि अगर परमात्मा मुझे नहीं मिल रहा है तो एक ही बात है, मेरी प्यास काफी नहीं है। मेरी प्यास अधूरी है। और कुत्ता भी हिम्मत कर गया तो हसन ने कहा, मैंने कहा, उठ हसन, अब हिम्मत कर। इस कुत्ते से कुछ सीख।

किसी ने बायजीद को पूछा--एक दूसरे सूफी फकीर को--कि तुम्हारा गुरु? तो बायजीद ने कहा, एक गांव से गुजरता था। एक छोटा-सा बच्चा एक दीये को जलाकर ले जा रहा था मजार पर चढ़ाने। दिन भर से मुझे कोई मिला नहीं था जिसको मैं कुछ समझाता, जिसको मैं कुछ ज्ञान देता। ज्ञान मेरे पास भी नहीं था।

जिनके पास नहीं होता उनको देने की बड़ी आकांक्षा पैदा होती है। क्योंकि देने में उनको थोड़ा-सा भरोसा आता है कि है; और तो कुछ पक्का नहीं है। जब वे किसी दूसरे को सलाह देते हैं तभी बुद्धिमान होते हैं, बाकी समय तो बुद्धू होते हैं। उस सलाह को देते वक्त ही थोड़ी-सी झलक मिलती है कि हां, मैं भी कुछ जानता हूं।

तो पकड़ लिया सूफी फकीर ने उस लड़के को और फूंक मारकर उसका दीया बुझा दिया। और बायजीद ने कहा, मैंने पूछा उस लड़के को कि बेटे, बता, अभी-अभी दीया जलता था, ज्योति कहां गई अब? उस लड़के ने कहा, जलायें दीया; जलाकर देखें। वह भागा और माचिस ले आया और उसने दीया जलाया और कहा, मुझे बतायें, ज्योति अब कहां से आ गई? जहां से आती वहीं चली जाती। न तो आते वक्त पता चलता कि कहां से आती, न जाते वक्त पता चलता कि कहां जाती।

बायजीद ने कहा कि उस छोटे-से बच्चे ने मुझे बोध दे दिया कि मुझे अभी कुछ भी पता नहीं। इस छोटे बच्चे को भी सिखाने की मेरी कोई योग्यता नहीं। हार गया इससे। उस दिन से सिखाना बंद कर दिया। अब तो जान लूंगा तभी सिखाऊंगा। वह छोटा बच्चा मेरा गुरु हो गया।

जिनमें इतना साहस है कि सारे अस्तित्व को गुरु बना लें, उनके लिए फिर एक गुरु बनाने की जरूरत नहीं। लेकिन तुममें तो इतना भी साहस नहीं है कि तुम एक को गुरु बना सको, सबको तो तुम कैसे गुरु बना सकोगे?

और धोखा मत देना अपने को। क्योंकि धोखा बड़ा आसान है और मन बड़ा चालाक है। मन कह सकता है, हम एक को गुरु इसीलिए नहीं बनाते क्योंकि हम तो सबको गुरु मानते हैं। यह कहीं एक गुरु से बचने की तरकीब न हो, बस इतना तुम खयाल रखना। जिंदगी तुम्हारी है; गंवाओ या पाओ, तुम जिम्मेवार हो। धोखा दो या बचो, तुम्हारा काम है, किसी और का इसमें कुछ लेना-देना नहीं है। इतना ही खयाल रखना कि यह एक को

गुरु न बनाने के पीछे कहीं ऐसा न हो कि बचना चाह रहे हो। बहाना अच्छा खोज लिया कि हमारे तो सब गुरु हैं। अगर हों, तो इससे शुभ कुछ भी नहीं। अगर न हों तो यह धारणा बड़ी खतरनाक हो जायेगी।

साहस हो तो हर जगह से शिक्षण मिल जाता है। सीखने की कला आती हो तो हर द्वार से मंदिर मिल जाता है और हर मार्ग से मंजिल मिल जाती है। सीखना न आता हो, शिष्य होने की कला न आती हो, सीखने लायक मन मुक्त न हो, पक्षपात से घिरा हो, सिद्धांतों से दबा हो तो फिर तो तुम्हें सदगुरु मिल जाये बुद्ध और अष्टावक्र जैसा भी, तो भी तुम बच जाओगे। तो भी तुम रास्ता काटकर निकल जाओगे। कोई न कोई तरकीब तुम खोज लोगे।

शायद इसीलिए प्रश्न मन में उठा है कि बुद्ध के कोई गुरु नहीं, महावीर के कोई गुरु नहीं, नानक के कोई गुरु नहीं तो हम ही क्यों गुरु बनायें?

हां, अगर नानक और बुद्ध और महावीर जैसे गुरु बना सको, फिर कोई जरूरत नहीं। यह सारा विराट अस्तित्व--क्षुद्र से लेकर विराट तक सब तुम्हारे लिए गुरु हो जाये, सब चरण तुम्हारे लिए प्रभु के चरण हो जायें, फिर कोई अड़चन नहीं।

यह न हो सके तो कम से कम एक झरोखा खोलो। कम से कम एक खिड़की खोलो। खिड़की से कोई बहुत बड़ा आकाश दिखाई नहीं पड़ेगा, छोटा-सा आकाश दिखाई पड़ेगा। लेकिन छोटा-सा आकाश स्वाद बनेगा। खिड़की खोली तो आकाश का निमंत्रण मिलेगा। आकाश का विराट फैलाव खिड़की के चौखटे में कसा हुआ दिखाई पड़ेगा। वह चौखटा खिड़की का है, आकाश का नहीं। आकाश पर कोई फ्रेम नहीं है। कोई चौखटा नहीं जड़ा है। आकाश तो बिना चौखटे के है। थोड़ी-सी झलक तो आयेगी आकाश की खिड़की से। सूरज की किरणें उतरेंगी, हवा के नये झोंके आयेंगे, फूलों की गंध आयेगी, आकाश में उड़ते पक्षियों का दर्शन होगा, शायद तुम भी अपने पिंजड़े को छोड़कर उड़ने के लिए आतुर हो जाओ। प्यास जागे।

बस, गुरु के पास इतना ही तो होना है। गुरु यानी परमात्मा में एक झरोखा। गुरु के माध्यम से तुम परमात्मा को देखने में कुशल हो जाओगे। एक बार कुशल हो गये तो सारा अस्तित्व तुम्हारा गुरु हो जायेगा। फिर तुम एक ही खिड़की से क्यों देखोगे? फिर कंजूसी क्या? फिर तुम सब खिड़कियां खोलोगे, फिर तुम सब द्वार खोलोगे। फिर तुम पूरब में ही क्यों अटके रहोगे? फिर पश्चिम की खिड़की भी खोलोगे। फिर तुम पश्चिम में ही क्यों उलझे रहोगे? फिर तुम दक्षिण की भी खिड़की खोलोगे। क्योंकि जब पूरब इतना सुंदर है तो पश्चिम भी होगा, तो दक्षिण भी होगा, तो उत्तर भी होगा।

तब सब आयाम तुम खोलोगे। फिर एक दिन तो तुम कहोगे, इस घर के बाहर चलें। खिड़कियों से काम नहीं चलता। जब घर के भीतर से आकाश इतना सुंदर है तो ठीक आकाश के नीचे जब खड़े होंगे तब अपूर्व सौंदर्य की वर्षा होगी। उस दिन पूरा अस्तित्व तुम्हारा गुरु हो गया। मगर सौ में निन्यानबे मौकों पर तुम्हें पहले एक खिड़की खोलनी पड़ेगी।

तीसरा प्रश्न: आप कहते हैं कि जिस चीज में भी रस हो उसे पूरा भोग लेना चाहिए। लेकिन रस तो अंधा बनाता है।

रस कैसे अंधा बनायेगा?

उपनिषद कहते हैं, परमात्मा का रूप रस: "रसो वै सः।" वह तो रसरूप है। रस कैसे अंधा बनायेगा?

नहीं, कुछ और बात होगी। तुम अंधे हो। तुम कहीं भी बहाना खोजते हो, किसने अंधा बना दिया। कोई अंधा नहीं बना रहा तुम्हें। तुम आंख बंद किये बैठे हो। न रस अंधा बना रहा है, न धन अंधा बना रहा है, न संसार अंधा बना रहा है। कोई अंधा नहीं बना रहा। कोई कैसे अंधा बनायेगा? अंधे तुम हो, आंख बंद किये बैठे हो।

लेकिन यह मानने की हिम्मत भी तुममें नहीं है कि मैं आंख बंद किये बैठा हूं। तो तुम बहाने खोज रहे हो। तुम कहते हो क्या करें, कामवासना ने अंधा कर दिया है। क्या करें, धन की वासना ने अंधा कर दिया। क्या करें, यह संसार में उलझे हैं, इससे अंधे हुए जा रहे हैं। बात उल्टी है, तुम अंधे हो इसलिए संसार में उलझे हो। धन अंधा नहीं कर रहा है, तुम अंधे हो इसलिए धन को पकड़े बैठे हो। रस अंधा नहीं कर रहा है, रस तो तुम्हें अभी मिला ही कहां? जरा पूछो फिर से अपने से, रस पाया है? हां ऐसा दूर-दूर झलक दिखाई पड़ी है। कभी किसी सुंदर स्त्री में--दूर से; पास आकर तो विरस हो जाता है सब।

एक आदमी अकेला था। ऊब गया अकेलेपन से तो उसने प्रभु से प्रार्थना की कि एक सुंदर स्त्री भेज दो। सच में सुंदर हो, साधारण स्त्री नहीं चाहिए। क्लियोपैट्रा हो कि मरलिन मनरो हो, सच में सुंदर हो। कि सोफिया लॉरेन हो, सच में सुंदर हो। लेकिन प्रभु ने भी खूब मजाक की। प्रभु ने कहा, फांसी का फंदा न भेज दूं? आदमी नाराज हो गया, उसने कहा यह भी कोई बात हुई? हम मांगते हैं सुंदर स्त्री, तुम कहते हो, फांसी का फंदा। ऐसा न शास्त्रों में लिखा, न कभी तुमने ऐसा किसी भक्त को कहा। यह तुम बात क्या कहते हो? मैं तो कहता हूं सिर्फ सुंदर स्त्री भेज दो। फांसी का फंदा क्या करना? कोई मुझे फांसी लगानी!

खैर, सुंदर स्त्री आ गई। लेकिन तीन दिन के भीतर ही उस आदमी को पता चला कि यह तो फांसी का फंदा हो गया। प्रभु ठीक ही कहते थे। मैं मांग तो स्त्री रहा था, लेकिन मांग फांसी का फंदा ही रहा था। समझा नहीं। बात उन्होंने बड़ी सधुक्कड़ी भाषा में कही थी, उलटबांसी कही थी। घबड़ाने लगा। सात दिन में ही परेशान हो गया। सात दिन बाद तो याद आने लगे वे दिन, जब अकेला था, कितने सुंदर थे! कितने सुखद थे!

आदमी अदभुत है। जो खो जाता है वह सुंदर मालूम पड़ता है। जो नहीं मिलता वह सुंदर मालूम पड़ता है। जो मिल जाता है वह तो कांटे की तरह गड़ता है। आखिर उसने प्रभु से कहा क्षमा करें, भूल हो गई। अज्ञानी हूं, माफ कर दें। एक तलवार भेज दें। सोचा मन में, इस स्त्री का खातमा कर दूं तो फिर पुराने दिनों की शांति, वही एकांत, वही मौज, वही मस्ती। फिर निश्चिंत होकर रहेंगे।

लेकिन फिर प्रभु ने कहा, तलवार? अरे तो फांसी का फंदा ही न भेज दूं? वह आदमी फिर नाराज हो गया। उसने कहा, यह एक भेज दिया फांसी का फंदा, अभी भी तुम्हारा मन नहीं भरा? मैं कहता हूं सिर्फ एक अच्छी तलवार भेज दो धारवाली।

खैर नहीं माना, तलवार आ गई। उसने पत्नी को मार डाला। सोचता था वह तो, पत्नी को मारकर आनंद से रहेगा लेकिन पकड़ा गया। फांसी की सजा हुई। जब फांसी के तख्ते पर उसे ले जाने लगे तब वह हंसने लगा खिलखिलाकर। जल्लादों ने पूछा, बात क्या है? दिमाग खराब हो गया? फांसी के तख्ते पर कोई हंसता? उसने कहा, अरे हंस रहा हूं इसलिए कि यह भी खूब मजा रहा। परमात्मा तो पहले ही से कह रहा था बार-बार: फांसी का फंदा भेज दूं? फांसी का फंदा भेज दूं? मैंने समझा नहीं। मान लेता पहले ही तो इतनी झंझटों से तो बच जाता।

जो मिल जाये वही फांसी का फंदा हो जाता है। आस्कर वाइल्ड ने कहा है, धन्यभागी हैं वे जिन्हें उनकी चाहत की स्त्री नहीं मिलती। मिल गई कि मुश्किल हो गई। मजनू अभी भी चिल्ला रहे हैं, "लैला, लैला।" चिल्लाते रहेंगे। और बड़ी मस्ती में हैं। मिल जाती तो पता चलता। जिनको लैला मिल गई उनसे पूछो।

जो तुम्हें मिल जाता है वहीं से रस खो जाता है। धनी से पूछो, धन में रस है? गरीब को है रस यह बात सच है। गरीब को एक ही रस है: धन। नहीं मिला; दूर है। अमीर से पूछो जिसको मिल गया है। वह बड़ा हैरान होता है कि लोग इतने पागल क्यों हैं? आखिर बुद्ध और महावीर अपने राजमहल छोड़कर चले क्यों गये? रस नहीं था, नहीं मिला। जो पद पर नहीं है, उसे बड़ा रस होता है कि किसी तरह पद पर हो जाऊं। जो पद पर हैं उनसे पूछो, फांसी लग गई है। लौट भी नहीं सकते। किस मुंह से लौटें? बड़ी जद्दोजहद करके तो चढ़े, अब उतरने

में भी दिक्कत मालूम होती है कि लोग कहेंगे, अरे! इतनी मेहनत से गये थे, अब क्या मामला है? यह भी स्वीकार करने का मन नहीं होता कि हम मूढ़ थे, अज्ञानी थे, इसलिए पद की आकांक्षा की।

रस है कहां? रस तुमने जाना? उपनिषद कहते हैं: "रसो वै सः।" प्रभु का स्वभाव रसपूर्ण है। रस ही वह है। रस उसका दूसरा नाम है। और तुम कहते हो, रस तो अंधा बनाता है। नहीं, रस तो हृदय की भी आंखें खोल देता है। रस हो तब!

रस तो मिलता ही तब है जब मन चला जाता है। मन कहां रस पैदा होने देगा? मन तो हर चीज को विरस कर रहा है। रस तो मिलता ही तब है जब ध्यान का पात्र तैयार हो जाता है। रस तो आंखवालों को ही मिलता है। रस अंधा नहीं बनाता, तुम अंधे हो इसलिए रस नहीं मिलता। आंख खोलो, रस ही रस है। रस का सागर भरा है। सब तरफ रस ही लहरें ले रहा है। इन वृक्षों की हरियाली में, चांदत्तारों की रोशनी में, इन पक्षियों के कलरव में रस ही लहरें ले रहा है। रसो वै सः।

नहीं, तुमने कुछ गलत बातें पकड़ रखी हैं। और जिनने तुम्हें समझाया है वे तुम जैसे ही अंधे हैं। न उन्हें रस मिला है, न तुम्हें रस मिला है। अंधे अंधों का नेतृत्व कर रहे हैं। "अंधा अंधा ठेलिया, दोनों कूप पड़ंत।" मगर अंधे भी क्या करें? किसी न किसी का हाथ पकड़ लेते हैं।

मैंने सुना, एक अंधी स्त्री न्यूयॉर्क के एक रास्ते पर रास्ता पार करने के लिए खड़ी थी। प्रतीक्षा कर रही थी कि कोई आ जाये और राह पार करवा दे। तभी किसी ने उसके कंधे पर हाथ रखा। और जिसने कंधे पर हाथ रखा उसने कहा, क्या हम दोनों साथ-साथ रास्ता पार कर सकते हैं? उस स्त्री ने कहा, मैं प्रतीक्षा ही कर रही थी। आओ।

दोनों ने हाथ में हाथ डाला और पार हुए। जब उस तरफ पहुंच गये तो स्त्री ने कहा, बहुत-बहुत धन्यवाद कि आपने मुझे रास्ता पार करवाया। वह आदमी घबड़ाया। उसने कहा, क्या मतलब? धन्यवाद तो मुझे देना चाहिए। मैं अंधा हूं, रास्ता तो तुमने मुझे पार करवाया। तब तो दोनों घबड़ा गये, पसीना आ गया। रास्ता तो पार हो गये थे, लेकिन तब पता चला, दोनों अंधे थे।

अंधों को पता भी कैसे चले कि हम किसी अंधे के पीछे चल रहे हैं? कतारें लगी हैं। क्यू लगे हुए हैं। तुम अपने आगेवाले को पकड़े हो, आगेवाला अपने आगेवाले को पकड़े हुए है। सबसे आगे कोई महाअंधा महात्मा की तरह चल रहा है। चले जा रहे हैं। न तुम्हें पता है, न तुम्हारे आगेवाले को पता है।

मुल्ला नसरुद्दीन नमाज पढ़ने गया था। होगा ईद का उत्सव या कोई धार्मिक त्यौहार। हजारों लोग नमाज पढ़ रहे थे। उसकी कमीज उसके पाजामा में उलझी थी। तो पीछेवाले आदमी को जरा अच्छा नहीं लगा तो उसने झटका देकर कमीज को ठीक कर दिया। उसने सोचा कि मामला कुछ है। उसने सामनेवाले आदमी को...। उसकी कमीज में झटका दिया। उस आदमी ने पूछा, क्या बात है? झटका क्यों देते हो? उसने कहा, भाई मेरे पीछेवाले से पूछो। मैं तो समझा कि रिवाज होगा। इस मस्जिद में पहले कभी आया नहीं।

हम कर रहे हैं एक-दूसरे का अनुकरण। रस तो पाया कहां है? रस से तो तुम्हारी पहचान कहां हुई है? रस मिले तो प्रभु मिले। रस पा लिया तो सब पा लिया।

नहीं, आखें खोलो। और कोई तुम्हें अंधा नहीं बना रहा है। कोई तुम्हें अंधा बना नहीं सकता है। किसी की सामर्थ्य नहीं तुम्हें अंधा बनाने की। सिर्फ तुम्हारी सामर्थ्य है। तुम चाहो तो अनंतकाल तक अंधे रह सकते हो। यह तुम्हारा निर्णय है। तुमने तय कर रखा है आंख न खोलने का, तुम्हारी मर्जी। लेकिन दोष किसी और को मत दो। ये तरकीबें छोड़ो।

तुम क्रोधी हो, दूसरे को दोष देते हो कि इस आदमी ने क्रोध करवा दिया। इसने एक ऐसी बात कही कि हमको क्रोध आ गया। अगर तुम अक्रोधी होते, यह कितनी ही बात कहता तो भी क्रोध न आता। तुम जरा खाली कुएं में डालो रस्सी बांधकर बालटी, और खूब खड़खड़ाओ, और खूब खींचो जितनी मर्जी हो, पानी भरकर न

आयेगा। बालटी खाली जायेगी, खाली लौट आयेगी। जिसके भीतर क्रोध नहीं उसे गाली दो, डालो बालटी, खूब खड़खड़ाओ गाली को, खाली लौट आयेगी। जिसके भीतर क्रोध भरा है उसमें से ही क्रोध आता। गाली ज्यादा से ज्यादा निमित्त हो जाती।

और अगर तुम मनोवैज्ञानिकों से पूछो तो वे तो कुछ और बड़ी बात कहते हैं। वे तो यह कहते हैं कि अगर तुम्हें कोई क्रोध न दिलवाये और क्रोध तुम्हारे भीतर भरा हो तो तुम कुछ न कुछ बहाना खोजकर उसे बाहर निकाल कर रहोगे। बालटी भी कोई न डाले तो भी कुआं जो भरा है वह उछल रहा है। वह तरकीब खोजेगा कोई न कोई। किसी बहाने चढ़कर पानी बाहर आयेगा।

तुमने भी कई दफा देखा होगा, खुजलाहट उठती है कि हो जाये किसी से टक्कर। अब यह भी कोई...! कुछ भीतर से उमगने लगता है, लड़ने को फिरने लगते हो। वही घड़ी तुम्हें पता होगी, जब तुम चाहते हो कि कहो, आ बैल सींग मार। कोई बैल सींग न मारे तो नाराजगी होती है।

मुल्ला नसरुद्दीन शांत बैठा था अपने घर में। और पत्नी एकदम उस पर टूट पड़ी और कहा कि अब तुम मुझे और न भड़काओ। अरे, नसरुद्दीन ने कहा, हद हो गई। मैं अपना शांत बैठा अपना हुक्का गुड़गुड़ा रहा हूं, एक शब्द नहीं बोला। शब्द न निकले इसलिए हुक्के को मुंह में डाले बैठा हूं, और तू कहती है और न भड़काओ। बात क्या है? उसने कहा, इसीलिये तो! इसीलिये कि तुम इतने चुप बैठे हो कि इससे भड़कावा पैदा होता है। बोलो कुछ। चुप बैठने का मतलब? बैठे-बैठे हुक्का गुड़गुड़ा रहे हो और मैं यहां मौजूद हूं!

आदमी न बोले तो फंसता, बोले तो फंसता। लोग तैयार हैं। लोग उबले बैठे हैं, कोई भी बहाना चाहिए। बहाना न मिले तो बहाने की तलाश में निकलते हैं। अगर बिलकुल भी बहाना न मिले, कोई बहाने का उपाय भी न हो, अगर तुम उन्हें एक कमरे में बिठा दो तो तुम भी चकित हो जाओगे...।

मनोवैज्ञानिकों ने प्रयोग किये हैं। किसी आदमी को सात दिन के लिए एकांत में रख दिया। भोजन सरका देते हैं दरवाजे से, कोई बोलता नहीं, कोई चालता नहीं। सब इंतजाम है। शांति से रहे, स्नान करे, भोजन करे, विश्राम करे। मगर उस आदमी से कहा है कि वह रोज लिखता रहे कि कब उसे क्रोध आया। अब क्रोध का कोई कारण ही नहीं है, लेकिन आदमी डायरी में लिखता है कि क्रोध आया आज शाम को। कोई कारण न था तो अतीत में से कोई कारण खोज लिया, कि तीस साल पहले फलां आदमी ने गाली दी थी। वह अभी भी जल उठता है।

तुम बहाने खोज रहे हो। अंधे तुम हो। अंधे तुम होना चाहते हो। अंधे होने में तुम्हारा स्वार्थ तुमने समझ रखा है। तुमने न्यस्त स्वार्थ बना रखा है। तुम सोचते हो यही एक होने का ढंग है। फिर तुम कभी कहते, रस ने अंधा बना दिया। क्या करें, इस स्त्री ने अंधा बना दिया। क्या करें, इस पुरुष ने अंधा बना दिया। क्या करें, रास्ते पर धन पड़ा था इसलिए चोरी का मन हो गया।

क्या बातें कर रहे हो? चोरी का मन था इसलिए रास्ते पर पड़ा धन दिखाई पड़ा, अन्यथा दिखाई भी न पड़ता। पड़ा रहता। चोर न होते तो दिखाई भी न पड़ता। चोर हो। रास्ते पर पड़े धन ने तो भीतर जो पड़ा था उसको उभार दिया। और जरा देखो, रास्ते पर पड़ा हुआ धन निर्जीव है। निर्जीव ने तुम्हें चलायमान कर दिया? तो तुम निर्जीव से भी गये-बीते हो गये।

एक दिन मुल्ला नसरुद्दीन मेरे साथ राह पर चल रहा था। एकदम दौड़ा, किनारे पर जाकर झुका, कुछ उठाया और फिर बड़ा गुस्सा होकर उसे फेंका और गालियां देने लगा। मैंने पूछा, बात क्या हुई बड़े मियां? तो उसने कहा, अगर यह आदमी मुझे मिल जाये जो अठन्नी की तरह थूकता है तो इसकी गर्दन काट दूं। किसी ने खखारकर थूका है, वह उनको अठन्नी मालूम पड़ रही है। अब वह उसकी गर्दन काटने को तैयार है!

तुम अंधे हो। कोई तुम्हें अंधा नहीं बना रहा है। रस प्रभु का स्वभाव है, परमात्मा का जीवन है। रस अभी तुम्हें मिला नहीं।

खोलो आंख, रस मिलेगा। और जब रस मिलता है तो जीवन धन्य होता है।

चौथा प्रश्न: न तो कोई प्रश्न निर्धारित कर पाता हूं और न कोई उत्तर पाने की ही लालसा है। आपको सुन-सुनकर तथा कुछ अपने अनुभव से मुझे लगता है कि सारे प्रश्नोत्तर, अध्यात्म, संन्यास, बौद्धिकता, गुरुडम, सब व्यर्थ की बकवास है क्योंकि सब कुछ उसी की इच्छा से होता है। फिर भी मन में एक अजीब-सी बेचैनी बनी रहती है। कृपया मार्गदर्शन करें।

अब यह बेचैनी भी उसी की इच्छा से हो रही होगी! इतनी-सी बात समझ में नहीं आती? बड़ी-बड़ी बातें समझ में आ गईं: संन्यास, अध्यात्म, ध्यान, सब बकवास है। इतने बड़े ज्ञानी हो गये, और यह जो मन में बेचैनी बनी है, यह समझ में नहीं आती!

यह सब उसी की इच्छा से हो रहा है तो यह बेचैनी भी उसी की इच्छा से हो रही होगी, इसको स्वीकार कर लो। इस बेचैनी से बेचैन होने का क्या कारण है? कहते हो, सब उसी की इच्छा से हो रहा है। तो फिर क्या बचा? अब जो करवाये वह करो। जो हो उसे देखो।

नहीं, लेकिन तुम हो चालबाज। ध्यान तो करना नहीं चाहते, तो कहते, जब उसकी इच्छा से होगा, होगा। संन्यास तो तुम लेने में डरते हो, कायर हो। तो कहते हो, यह सब तो बकवास। लेकिन यह मन की बेचैनी कैसे मिटे इसकी तरकीब खोज रहे हो। इन बेईमानियों का ठीक-ठीक साक्षात्कार करो।

मन की बेचैनी मिटाने को ही संन्यास है। मन की बेचैनी मिटाने का ही उपाय ध्यान है। मन मिटे इसी का नाम तो अध्यात्म है। और इनको तुम बकवास कह रहे हो। अब तुम्हारी मर्जी। तो फिर मन की बेचैनी को हटाने का कोई उपाय नहीं। औषधि को तो बकवास कह रहे हो, फिर कहते हो बीमारी है, अब इसका क्या करें? अब बीमारी को सम्हालो। पूजा करो इसकी। मंदिर बनाओ; उसमें रखकर मन की बेचैनी, घंटे बजाओ, आरती उतारो। क्या करोगे और? "औषधि तो बकवास है! और औषधि का प्रयोग किया? प्रयोग करके कह रहे हो? ध्यान करके कह रहे हो? अध्यात्म में उतर कर कह रहे हो? संन्यास का कोई अनुभव है?

बच्चों जैसी बातें न करो। बिना अनुभव के तो कुछ मत कहो। जिसका अनुभव नहीं उस संबंध में तो वक्तव्य मत दो। जिसका अनुभव नहीं है उस संबंध में चुप रहो। अपने अनुभव की सीमा के बाहर जाकर कोई बात मत कहो, अन्यथा वही बात तुम्हारी गर्दन पर फांसी बन जायेगी।

अब तुम पूछते हो, "फिर भी मन में एक अजीब-सी बेचैनी बनी रहती है। कृपया मार्गदर्शन करें।"

अब क्या खाक! मार्गदर्शन का उपाय नहीं छोड़ा तुमने कोई। क्योंकि जो भी मैं कहूंगा वह सब बकवास है। क्योंकि वह या तो अध्यात्म की कोटि में आयेगा, या ध्यान की कोटि में, या संन्यास की कोटि में। जो भी मैं कहूंगा...।

जरा प्रश्न करनेवाले का प्रश्न ठीक से समझें, क्योंकि ऐसी स्थिति बहुत लोगों की है।

"न तो कोई प्रश्न निर्धारित कर पाता हूं और न कोई उत्तर पाने की लालसा है। फिर भी मार्गदर्शन...।"

तुम्हें अगर कोई उत्तर भी दे तो भी तुम धन्यवाद देने को भी तैयार नहीं हो, इसलिए कह रहे हो यह बात: कि न कोई उत्तर पाने की लालसा है। तो जब उत्तर पाने की लालसा ही न रही तो तुम मार्गदर्शन कैसे लोगे? उत्तर पाने की लालसा हो, अभीप्सा हो, मुमुक्षा हो, गहरी प्यास हो, तो ही उत्तर लोगे; नहीं तो उत्तर कैसे लोगे? मेरा दिया उत्तर व्यर्थ जायेगा। तुमसे कहीं संबंध न बनेगा।

और तुम कहते हो, "आपको सुन-सुनकर तथा कुछ अपने अनुभव से...।"

मुझे तो तुमने सुना ही नहीं है। यहां बैठे भला होओ तुम, मगर अगर मुझे सुना होता तो जीवन रूपांतरित हो जाता। यह मन की बेचैनी अपने आप चली गई होती। मुझे सुना होता तो ध्यान लग जाता। मुझे सुना होता

तो अध्यात्म का रस आ जाता। मुझे सुना होता तो संन्यास उतर आता। मुझे तो तुमने सुना नहीं है। हां, तुमने कुछ सुन लिया होगा, जो तुम सुनना चाहते हो।

मन बड़ा चालबाज है। और उसकी चालबाजियां बड़ी सूक्ष्म हैं। वह वही सुन लेता है जो सुनना चाहता है। मतलब की बात सुन लेता है। जो नहीं सुनना है, नहीं सुनता।

मुल्ला नसरुद्दीन से मैंने एक दिन पूछा कि नसरुद्दीन, तू कुरान रोज पढ़ता है फिर भी तू शराब पीये चला जाता है? कुरान में तो साफ लिखा है शराब के खिलाफ। उसने कहा, बिलकुल लिखा है। लेकिन अपनी-अपनी सामर्थ्य से जितना कर सकता हूं, करता हूं। मैंने कहा, मैं कुछ समझा नहीं। तो उसने कहा कि देखें, कुरान में लिखा है: "शराब पीयोगे यदि तो दोजख में पड़ोगे।" तो अभी मैं आधे ही वचन तक पहुंचा हूं--"शराब पीयोगे...।" इससे आगे अभी मेरी सामर्थ्य नहीं है। धीरे-धीरे जाऊंगा। आगे भी जाऊंगा मगर अभी तो "शराब पीयोगे" इतने तक...इतने तक रस आ रहा है। यह भी कुरान की ही आज्ञा है। मैं कोई कुरान के विपरीत नहीं चल रहा हूं।

आदमी बड़ा चालबाज है। तुम यहां सुन रहे हो अष्टावक्र को। अष्टावक्र कहते हैं, न संन्यास की जरूरत, न ध्यान की जरूरत, न अध्यात्म की जरूरत, न शास्त्र की, न गुरु की। तुम बड़े प्रसन्न हो रहे होओगे। तुम कह रहे होओगे, वाह! यह तो हम सदा ही कहते थे कि किसी चीज की कोई जरूरत नहीं। लेकिन तुम अष्टावक्र को नहीं समझ रहे।

अष्टावक्र की बात बड़ी ऊंची है। अष्टावक्र कह रहे हैं, सीढ़ी की कोई जरूरत नहीं है क्योंकि छत पर पहुंच गये हैं। और तुम खड़े हो नीचे, तलघरे में। और तुम सुनकर बड़े प्रसन्न हो रहे हो कि सीढ़ी की कोई जरूरत नहीं है। तुम्हें तो सीढ़ी की जरूरत है। हां, एक दिन सीढ़ी की जरूरत नहीं रह जायेगी। वह सौभाग्य का दिन भी आयेगा कभी, लेकिन सीढ़ी से गुजर कर ही आयेगा; और कोई उपाय नहीं है।

तुम तो अभी वहां पड़े हो जहां ध्यान भी दुस्तर है। ध्यान के अतीत जाना तो अभी कल्पना के बाहर है। अभी तो तुम विचार में पड़े हो, विकृत विचार में पड़े हो। अष्टावक्र निर्विचार की अवस्था से बोल रहे हैं कि विचार की कोई जरूरत नहीं। विचार की कोई जरूरत नहीं इसलिए ध्यान की भी कोई जरूरत नहीं।

समझने की कोशिश करना। वे कह रहे हैं कि विचार जब होता है तो ध्यान की जरूरत होती है। विचार बीमारी है, ध्यान औषधि। जब विचार की ही कोई जरूरत नहीं है ऐसा समझ गये तो फिर ध्यान की भी कोई जरूरत नहीं। लेकिन तुम क्या करोगे? विचार में तो रहे आओगे और ध्यान की जरूरत नहीं है उतना समझ लोगे। विचार इससे मिटेगा नहीं।

अगर ध्यान की जरूरत नहीं है, ऐसा तुम्हारी समझ में पूरा-पूरा उतर गया तो इसका अर्थ है, इसके पहले यह तुम्हारी समझ में उतर चुका होगा कि विचार की कोई जरूरत नहीं। जब विचार की कोई जरूरत नहीं तो फिर ध्यान की भी कोई जरूरत नहीं। इतना खयाल रखना। इसको कसौटी मानकर रखना। इसलिए झंझट आ रही है।

"ध्यान, अध्यात्म, संन्यास, सब व्यर्थ की बकवास हैं, और मन में फिर भी एक अजीब-सी बेचैनी बनी रहती है।"

वह बनी ही रहेगी। क्योंकि तुम बड़ी ऊंची बात ले उड़े। जमीन पर सरक रहे हो। आकाश का सपना देख लिया। कह दिया, पंखों की कोई जरूरत नहीं। उड़ न पाओगे, फिर घसिटते ही रहोगे।

इसलिए मैं तुमसे कहता हूं, विचार की कोई जरूरत नहीं है। लेकिन विचार से कैसे छूटोगे? अगर समझ इतनी गहरी हो, इतनी प्रगाढ़ हो, ऐसी धारवान हो कि इतनी बात सुनकर ही तुम विचार को छोड़ दो, तब तो फिर ध्यान की भी कोई जरूरत नहीं, बात खतम हो गई। लेकिन तब मन में बेचैनी न रहेगी। बात ही समाप्त हो गई। मन ही समाप्त हो गया, बेचैनी कहां होगी? न रहा बांस, न बजेगी बांसुरी।

लेकिन अगर इतनी बात सुनकर हल न हो और मन में बेचैनी बनी रहे तो तुम्हारे लिए ध्यान की जरूरत है। तुम ध्यान के माध्यम से ही एक दिन मन की बेचैनी के पार होओगे। और मन के जब पार होओगे तब ध्यान की बोतल और विचार की बीमारी, दोनों कचरेघर में फेंक देना। फिर दवाइयां अपने साथ लिये मत फिरना। फिर इनकी कोई जरूरत न रह जायेगी। तब तुम्हारे लिए अष्टावक्र का अर्थ प्रकट होगा।

कल मैंने तुमसे कहा कि दो तरह की संभावनायें हैं: श्रावक और साधु। जो सुनकर ही पहुंच जाये, सुनते ही पहुंच जाये, सुनने में और पहुंचने में क्षण भर का जिसे फर्क न रहे, इधर बात समझी कि हो गई--जिसके पास ऐसी प्रगाढ़ मेधा हो उसके लिए तो साधु बनने की कोई जरूरत नहीं। वह तो साधु हो ही गया। लेकिन ऐसा न हो पाये, मन में बेचैनी बनी रहे तो फिर साधु की प्रक्रिया से गुजरना पड़ेगा। फिर धीरे-धीरे काटना पड़ेगा। जो एक ही तलवार की चोट में नहीं कटता है, वह फिर धीरे-धीरे काटना पड़ेगा। उस धीरे-धीरे काटने का नाम ही साधना है।

तुम अपने को समझ लेना। तुम्हारी मन की बेचैनी ही खबर देती है कि तुम्हें धीरे-धीरे काटना पड़ेगा। अध्यात्म, संन्यास, ध्यान, गुरु, सबसे तुम्हें गुजरना पड़ेगा।

और देर मत करो। क्योंकि कुछ पक्का नहीं है, आज हो, कल न हो जाओ। देर मत करो, समय का कुछ भरोसा नहीं है। और जो गया समय वह तो लौटता नहीं। और जो आ रहा है आगे वह आयेगा, नहीं आयेगा, इसकी कोई सुनिश्चितता नहीं है। यही क्षण तुम्हारे हाथ में है। चाहे बेचैन हो लो, चाहे ध्यान में उतर जाओ। चाहे संसार में भटक लो, चाहे संन्यास में उठ जाओ। यही क्षण तुम्हारे हाथ में है; या तो अभी या कभी नहीं। कल के लिए मत सोचना कि सोचेंगे, कल कर लेंगे।

क्या शबाब था कि फूल-फूल प्यार कर उठा
क्या सुरूप था कि देख आईना सिहर उठा
इस तरफ जमीन और आसमां उधर उठा
थामकर जिगर उठा कि जो मिला नजर उठा
एक दिन मगर यहां ऐसी कुछ हवा चली
लुट गई कली-कली कि घुट गई गली-गली
और हम लुटे-लुटे वक्त से पिटे-पिटे
सांस की शराब का खुमार देखते रहे
कारवां गुजर गया गुबार देखते रहे

जल्दी ही पिट जाओगे। वक्त सभी को पीटकर रख देता है। जल्दी ही लुट जाओगे। वक्त का लुटेरा किसी की चिंता नहीं करता, सभी को लूट लेता है। वक्त का लुटेरा न कोई कानून मानता, न कोई राज्य मानता, न कोई सरकार मानता। वक्त का लुटेरा लूट ही रहा है, काट ही रहा है तुम्हारे जीवन की जड़ों को।

और हम लुटे-लुटे वक्त से पिटे-पिटे
सांस की शराब का खुमार देखते रहे
कारवां गुजर गया गुबार देखते रहे

जल्दी ही यह जीवन का कारवां जा चुका होगा। राह पर केवल धूल के गुबार रह जायेंगे। अर्थी उठेगी जल्दी। और तब तुम यह न कह सकोगे कि अर्थी इत्यादि बकवास, खयाल रखना। तब तुम यह न कह सकोगे कि अर्थी इत्यादि बकवास। तब तुम यह न कह सकोगे, यह मौत इत्यादि बकवास। तब तुम्हारी बड़ी दुर्गति हो जायेगी।

इसके पहले कि समय चुक जाये, इसके पहले कि अवसर चुक जाये, कुछ कर लो, कुछ भर लो। यह झोली खाली की खाली न रह जाये।

और मैं तुमसे कहता हूं कि अगर तुम ध्यान में उतर सको--ज्ञान में उतर जाओ सीधे, बड़ा शुभ। सौ में कोई एकाध उतर पाता है सीधा, निन्यानबे को ध्यान से ही जाना पड़ता। इसलिए तो अष्टावक्र का इतना महिमावान शास्त्र कभी भी बहुत लोगों के काम नहीं आ सका; आ नहीं सकता। वह बहुत चुनिंदा लोगों के लिए

है। वह सामान्य रूप से किसी काम का नहीं है। कोई अलबर्ट आइंस्टीन, कोई गौतम बुद्ध, कोई कृष्ण, कोई मोहम्मद, कोई जीसस, बस ऐसे लोगों के काम का है। इने-गिने उंगलियों पर गिने जा सकें जो, ऐसे थोड़े-से लोगों के काम का है।

इसलिए शास्त्र अनूठा है लेकिन बहुत लोग इस शास्त्र का शस्त्र न बना पाये कि जिससे जीवन का जाल कट जाता। जीवन का जाल काटने के लिए तुम्हें अपनी सामर्थ्य से ही चलना पड़ेगा। तुम्हें अपने को ही देखकर चलना पड़ेगा। अष्टावक्र को सुनते-सुनते तुम ज्ञान को उपलब्ध हो जाओ, तुम्हारे मन की बेचैनी मिट जाये, शुभ हुआ। फिर किसी संन्यास की कोई जरूरत नहीं। मगर कसौटी समझना मन की बेचैनी को। अगर बेचैनी न कटे तो समझ लेना कि अकेले ज्ञान से कुछ तुम्हारे लिए होनेवाला नहीं है। तुम्हें ध्यान से जाना पड़ेगा। फिर बचाव मत करना; फिर ध्यान में उतरना।

अगर ध्यान में उतर सके तो एक दिन विचार कट जायेंगे। जिस दिन विचार कट गये उस दिन ध्यान भी व्यर्थ हुआ। पैर में कांटा लग जाता है, दूसरे कांटे से हम उसे निकाल लेते हैं। फिर दोनों कांटों को फेंक देते हैं। फिर दूसरे कांटे से जो हमने निकाला है उसे सम्हालकर थोड़े ही खीसे में रख लेते हैं। उसकी पूजा थोड़े ही करते हैं कि यह कांटा बड़ा उपकारी है। त्राता! तारणहार! फिर उसको भी फेंक देते हैं। कांटा तो कांटा ही है। इसको भी पास रखने में खतरा है। यह भी गड़ सकता है। और खीसे में रखा तो छाती में गड़ेगा। दोनों को फेंक देते हैं।

विचार कांटा है, ध्यान भी कांटा है। ध्यान के कांटे से विचार के कांटे को निकाल लेते हैं, फिर दोनों को विदा कर देते हैं--नमस्कार। अगर ध्यान घट सका तो विचार और ध्यान दोनों चले जायेंगे। फिर उस दिन तुम जानोगे कि संन्यास क्या है, अध्यात्म क्या है।

जहां मन नहीं वहां अध्यात्म के फूल खिलते हैं, कमल खिलते हैं। जहां मन नहीं वहां संन्यास की सुवास बिखरती है। अभी तुम ऐसी बातें न कहो। ये बातें छोटे मुंह बड़ी बातें हो जाती हैं। अष्टावक्र कहते हैं ठीक; तुम मत कहो। तुम्हें अगर कहनी हैं तो अपने मन को जांचकर कहो। फिर बेचैनी बीच में मत लाओ; और फिर मार्गदर्शन मत पूछो।

पांचवां प्रश्न: कल आपने कहा, "निर्बल के बल राम। हारे को हरिनाम।" परंतु कुछ दिन पूर्व आपने कहा था कि परमात्मा के सामने भिखारी की तरह नहीं, वरन सम्राट की तरह ही जाया जा सकता है। कृपया विरोधाभास को स्पष्ट करें।

विरोधाभास तुम्हें दिखाई पड़ते हैं, क्योंकि तुम्हारे पास अविरोध को देखने की समझ नहीं है। तुम्हारे पास वैसी आंख नहीं है जो अविरोध को देख ले। तो तत्क्षण हर चीज विरोधाभासी हो जाती है। तुमने देखी नहीं कि चीज विरोधाभासी हुई नहीं।

समझने की कोशिश करो: निर्बल के बल राम। लेकिन निर्बल का मतलब भिखारी नहीं होता। और निर्बल के बल राम--जिस निर्बलता में राम मिल जाते हों वह निर्बलता भिखमंगापन नहीं हो सकती। वह निर्बलता तो साम्राज्य का द्वार हुई। निर्बल के बल राम का अर्थ है, जिसने अपने अहंकार के बल को छोड़ दिया। जिसने कहा, अब मेरा कोई बल नहीं।

इससे कुछ बल थोड़े ही मिट जाता है। इससे ही पहली दफा बल पैदा होता है।

तुम्हारा अहंकार ही तो तुम्हें मारे डाल रहा है। वही तो तुम्हारी छाती पर बंधा हुआ पत्थर है, गर्दन में बंधी फांसी है। बल कहां है तुम्हारे अहंकार में? सिर्फ बल का दंभ है। बल कहां है? क्या कर लोगे तुम्हारे अहंकार से? सिकंदर और नेपोलियन और चंगीज और तैमूर क्या कर पाते हैं? सारा बल धरा रह जाता है। सारा बल पड़ा रह जाता है। मौत का झोंका आता है और सब हवा निकल जाती है। गुब्बारा फूट जाता है।

जितना बड़ा अहंकार उतने ही जल्दी गुब्बारा फूट जाता है। देखा, छोटे बच्चे फुग्गे को हवा भरते जाते, भरते जाते। गुब्बारा बड़ा होता जाता। जैसे-जैसे गुब्बारा बड़ा होता है वैसे-वैसे फूटने के करीब आ रहा है। जब गुब्बारा पूरा बड़ा हो जाता है तो फूट जाता है। नेपोलियन और सिकंदर फूले हुए गुब्बारे हैं।

तुम्हारा अहंकार है क्या? बल क्या है तुम्हारे अहंकार में? तुम्हारे अहंकार से होता क्या है? कुछ भी तो नहीं होता।

निर्बल के बल राम का अर्थ है, जिस व्यक्ति ने अपनी अस्मिता का दंभ छोड़ा, अहंकार का भाव छोड़ा। इस तरफ से निर्बल हुआ। क्योंकि अब तक जिसको बल माना था वह बल गया। लेकिन वस्तुतः थोड़े ही निर्बल हुआ। यही तो अर्थ है निर्बल के बल राम। जैसे ही अपना बल गया कि राम का बल पैदा हुआ। राम का बल तुम्हारे भीतर छिपा है, तुम्हारे प्राणों में दबा है। इधर ऊपर से तुमने अहंकार का गुब्बारा छोड़ा कि बस आया।

रवींद्रनाथ ने एक कविता लिखी है, प्यारी है। लिखा है अपनी कविता में कि एक रात बजरे पर था। पूर्णिमा की रात, पूरा चांद आकाश में। बड़ी लुभावनी रात। चांद की बरसती रात। और वे अपनी नाव पर अपने बजरे में अंदर बैठे हैं। कोई किताब पढ़ रहे हैं। सौंदर्य के संबंध में सौंदर्यशास्त्र की कोई किताब पढ़ रहे हैं। एक छोटी-सी मोमबत्ती जला रखी है, उसका पीला टिमटिमाता प्रकाश--उसी में वे पढ़ रहे हैं। आधी रात गये किताब पूरी हुई। फूंक मारकर मोमबत्ती बुझा दी। मोमबत्ती बुझाते ही चकित खड़े रह गये। द्वार से, खिड़की से, रंध्र-रंध्र से बजरे की, चांद की रोशनी भीतर आ गई। अपूर्व! नाच उठे। फिर रोने लगे। क्योंकि तब याद आया कि सौंदर्य बाहर बरस रहा है। चांद द्वार पर खड़ा है। और मैं इस मोमबत्ती को जलाये, इसके गंदे-से प्रकाश में सौंदर्यशास्त्र पढ़ रहा हूं। सौंदर्य द्वार पर खड़ा है और मैं किताब में सौंदर्य खोज रहा हूं। और इस मोमबत्ती के धीमे-से प्रकाश ने चांद की रोशनी को भीतर आने से रोक दिया है।

तुमने कभी देखा? छोटा-सा प्रकाश मोमबत्ती का, चांद भीतर नहीं आता। मोमबत्ती बुझ गई, भर गया चांद भीतर, सब तरफ से दौड़ आया। रवींद्रनाथ ने लिखा है, वह घड़ी मेरे जीवन में बड़ी शुभ घड़ी हो गई। उस दिन मैंने जाना, ऐसी ही अहंकार की मोमबत्ती है। जब तक जलती रहती है तब तक प्रभु का प्रकाश द्वार पर खड़ा रहता है, भीतर नहीं आ पाता। फूंक मारकर बुझा दो यह मोमबत्ती, दौड़ा चला आता प्रभु। निर्बल के बल राम।

इसका मतलब यह नहीं है कि जब तुम निर्बल हो जाते हो तो तुम भिखारी हो जाते हो। निर्बल होते ही तुम सम्राट हो जाते हो। जीसस के वचन हैं: "ब्लेसेड आर द मीक, फॉर दे शैल इनहेरिट द अर्थ; फॉर देअर्स इज द किंगडम ऑफ गॉड।" धन्यभागी हैं निर्बल। उन्हीं का है सारा जगत और वे ही हैं प्रभु के राज्य के मालिक। सम्राट हो जाता है आदमी निर्बल होकर।

तो मैं तुमसे फिर कहता हूं, भिखारी की तरह परमात्मा के द्वार पर मत जाना। भिखारी का मतलब है, अहंकारी की तरह परमात्मा के द्वार पर मत जाना। अहंकार भिखमंगा है। मांग ही मांग तो है अहंकार के पास; और क्या है? धन दो, पद दो, प्रतिष्ठा दो, कुर्सी दो। अहंकार के पास और क्या है? दो, दो, दो! मांगता ही चला जाता। और मिले, और मिले, और मिले। मांगता ही चला जाता। मंगना है, भिखमंगा है।

सम्राट कौन? जिसकी मांग चली गई, जो मांगता नहीं, वही सम्राट है। और मांगेगा कौन नहीं? जिसको राम मिल जायें वही नहीं मांगेगा; बाकी तो मांगते ही रहेंगे। राम को पाकर फिर क्या मांगने को बचा? और राम मिलते केवल उसी को, जो निर्बल है। धन्यभागी हैं निर्बल। सम्राट हो जाते हैं वे। उनकी निर्बलता बल है--निर्बल के बल राम।

लेकिन तुम जरूर विरोधाभास देख लिये होओगे। क्योंकि जब मैंने कहा, सम्राट की तरह जाओ तो तुम्हारे अहंकार ने कहा कि सुनो! सुनते हो? अकड़कर चलना है अब। कोई भिखमंगे की तरह नहीं जाना है। झंडा ऊंचा रहे हमारा! अब अकड़कर जाना है। अब परमात्मा पर हमला बोलना है, कोई ऐसे भिखारी की तरह नहीं जाना। बैंड-बाजे लेकर जाना है। उसको भी बता देना है कि कोई आ रहा है।

तुम यह समझे होओगे, जब मैंने कहा कि सम्राट की तरह जाओ। सम्राट की तरह जाने का अर्थ है, कोई मांग लेकर मत जाओ। मांग छोड़कर जाओ। और मांग अगर सब छूट जाये तो अहंकार नहीं बचेगा। क्योंकि अहंकार मांग पर ही जीता है। अहंकार मंगना है, भिखारी है।

लेकिन तुम कुछ का कुछ समझ लेते हो यह मैं जानता हूं। तुम कुछ का कुछ समझने के लिए मजबूर हो। जैसे ही मैंने कहा, सम्राट की तरह जाओ, तुम्हारी रीढ़ सीधी हो गई होगी। तुम अकड़कर बैठ गये होओगे। तुमने कहा कि बात कही पते की। अरे, मैं और भिखमंगे की तरह जाऊं? अब रास्ता मिल गया।

तुम तबसे ही अकड़कर चल रहे हो। कृपा करके रीढ़ जरा ठीक करो। यह मैंने कहा नहीं है। तुम जो सुन लेते हो, जरूरी नहीं है कि मैंने कहा हो। जो मैंने कहा है, जरूरी नहीं है कि तुमने सुना हो। इसलिए जल्दी मत करना निष्कर्ष लेने की। बहुत सोच-विचार कर लेना। बार-बार सुन लेना। सब तरह से जांच-परख कर लेना। अन्यथा तुम धोखा खा जाओगे।

निर्बल के बल राम, हारे को हरिनाम। जो हार गया है, उसका ही हरिनाम। अब हारे से तुम क्या अर्थ लेते हो? हारे से यह मतलब नहीं है कि लोमड़ी उछली और अंगूरों का गुच्छा न पा सकी। उसने चारों तरफ देखा, कोई नहीं देख रहा है, चल पड़ी। एक खरगोश छिपा देख रहा था एक झाड़ी में। उसने कहा, मौसी, क्या मामला है? उछलीं, पहुंच नहीं पाईं? अब यह तो अहंकार को चोट लगती थी लोमड़ी को। लोमड़ी ने कहा, अरे कुछ भी नहीं। कुछ मामला नहीं। अंगूर खट्टे हैं, पहुंचने योग्य ही नहीं हैं।

एक तो यह हार है। इस हार की बात नहीं कर रहा हूं। कि तुमने धन पाना चाहा और पहुंच नहीं सके तो तुमने कहा, मार दी लात। था ही नहीं धन तो लात क्या खाक मारी! लात मारने का हकदार तो वही है जिसके पास हो।

इस विफलता को नहीं कह रहा हूं हारना कि होना तो चाहते थे राष्ट्रपति, न हो पाये म्युनिसिपल के मेंबर, सोचा कि अरे, कुछ नहीं रखा पद इत्यादि में। एकदम शास्त्र पढ़ने लगे, सत्संग करने लगे। कहने लगे कि इसमें कुछ नहीं रखा। यह सब दौड़-धाप व्यर्थ की बकवास है। मैं तो आध्यात्मिक हो गया। दौड़ते थे स्त्री के पीछे, नहीं पा सके स्त्री को क्योंकि और भी प्रतियोगी थे तो सोच लिया कि कुछ रखा नहीं। स्त्रियां हैं क्या? हड्डी-मांस-मज्जा का ढेर है; खून-कफ इत्यादि भरा पड़ा है; ऐसी-ऐसी बातें सोचने लगे। ऐसा सोचकर मन को समझा लिया, अंगूर खट्टे हैं। शास्त्रों में लिखी हैं ऐसी बातें।

ये पहले तरह के, इन हारे लोगों ने लिखी होंगी। इनके लिए नहीं कह रहा हूं हारे को हरिनाम। ये तो हार ही गये। ये तो हरिनाम भी क्या खाक लेंगे! इनको तो जीवन का स्वाद ही नहीं मिला। यह जो लोमड़ी चली गई है उचककर और नहीं पहुंच सकी अंगूरों तक, क्या तुम सोचते हो इसके मन में अंगूरों की याद न आयेगी? खरगोश को धोखा दे दे। शायद खरगोश ने मान भी लिया हो। खरगोश भोले-भाले धार्मिक लोग! मान लिया हो। श्रद्धालु जन! स्वीकार कर लिया हो कि ठीक कहती है, अंगूर खट्टे हैं। लेकिन खुद को कैसे धोखा देगी? खुद तो जानती है उछली थी, पहुंच न सकी। स्वाद ही नहीं लिया तो खट्टे होने का पक्का कैसे हो सकता है? रात सपने में फिर उछलेगी। ये अंगूर इसके मन में चक्कर काटेंगे।

वही तो तुम्हारे साधु-संन्यासियों का होता है। स्त्री छोड़कर भाग गये, स्त्री चक्कर काट रही है। जितने सपने तुम्हारे साधु-संन्यासी स्त्रियों के देखते हैं उतना कोई नहीं देखता। गृहस्थ तो देखते ही नहीं। गृहस्थों को कहां फुरसत स्त्री का सपना देखने की! दिन भर सताती है, रात तो छुटकारा मिले।

जिनके पास धन है वह धन का सपना नहीं देखते, भिखमंगे देखते हैं। जिनके पास पद है वे पद का सपना नहीं देखते, पदहीन देखते हैं। जो नहीं है उसका सपना देखा जाता है। जिसका स्वाद नहीं लिया उसकी आकांक्षा बनी रहती है।

नहीं, इस तरह के हारे हुए लोगों के लिए नहीं कह रहा हूं। फिर किस तरह के हारे हुए लोग? एक और तरह की हार है। एक तो विफलता है जो विफलता से मिलती है। और एक ऐसी विफलता है जो सफलता से

मिलती है। जब एक आदमी सफल हो जाता है; और अचानक पाता है सफलता तो मिल गई और हाथ में राख है। अंगूर पहुंच गये हाथ, तोड़ लिये, चख भी लिये, और कुछ भी न पाया। प्लास्टिक के अंगूर थे। अंगूर थे ही नहीं, धोखा था। धन पा लिया, ढेर लगा लिया और अचानक पाया, कुछ भी नहीं है। भीतर तो हम निर्धन के निर्धन रह गये हैं। बड़े पद पर बैठ गये और पाया कि क्या हुआ? हम तो वही के वही हैं। जमीन पर बैठे थे तो वही थे, कुर्सी पर बैठ गये तो वही हैं। कुछ फर्क तो हुआ नहीं। सारी दुनिया में नाम फैल गया, सब लोग जानने लगे, क्या हुआ? कुछ भी तो न मिला। यह वाहवाही मिली, लेकिन न इससे पेट भरता, न आत्मा भरती। यह सब ऊपर-ऊपर हो गया, भीतर तो हम खाली के खाली रह गये।

एक विफलता है जो विफलता से मिलती है, उसकी मैं बात नहीं कर रहा। वह भी कोई विफलता है? वैसा विफल आदमी जब संन्यास ले लेता है तो वह नपुंसक का ब्रह्मचर्य है। नपुंसक कसम खा ले कि ब्रह्मचर्य ले लिया। वह ऐसा नपुंसक का ब्रह्मचर्य है। नहीं, उसकी मैं बात नहीं कर रहा। मैं कोई और ही बात कर रहा हूं।

ऐसी विफलता जो सफलता से मिलती है। ऐसी निर्धनता जो धन के पाने पर पता चलती है। सब पा लिया और अचानक लगता है, सब असार। स्वाद ले लिया और पाया कि अंगूर खट्टे हैं। और खट्टे ही रहते हैं, पकते ही नहीं। इस संसार का कोई अंगूर कभी नहीं पकता, खट्टा ही रहता है।

इस स्वाद के बाद फिर सपना नहीं आता; फिर वासना नहीं जागती। इस स्वाद के बाद संसार छोड़ना नहीं पड़ता, छूट जाता है। पहले हारेपन में छोड़ना पड़ता है, चेष्टा करनी पड़ती है। दूसरे हार में छूट जाता है बिना चेष्टा के, बिना प्रयत्न के, अकृत्रिम रूप से, सहज रूप से छूट जाता है। जान लिया, छूट गया। जानना ही क्रांति बन जाती है।

ऐसे व्यक्ति को मैं कहता हूं: हारे को हरिनाम। और तब हरिनाम उठता है। इस हार में हरिनाम उठता है। अहंकार तो गिर गया हार में, संसार तो गिर गया हार में, अब उठता हरिनाम। ऐसा आदमी विषाद में नहीं लेता हरि का नाम। ऐसा आदमी संसार व्यर्थ हो गया इस आनंदभाव से डोलकर हरि का नाम लेता है। ऐसे आदमी का हरिनाम रसविमुग्धता से उठता है। देख लिया, बाहर कुछ भी नहीं है, अब भीतर लौटता है। और रस ही रस की धार बहती है।

इसी को मैं सम्राट कहता हूं। लेकिन तुम्हारी कठिनाई भी मैं समझता हूं। तुम्हें विरोधाभास दिखाई पड़ता है क्योंकि तुम बुद्धि से सुनते हो। बुद्धि हर चीज में विरोधाभास देखती है। क्योंकि बुद्धि का उपाय ही हर चीज को टुकड़ों में तोड़ देना है। जैसे कांच के टुकड़े के प्रिज्म से गुजरकर किरण सात रंगों में टूट जाती है, ऐसे ही बुद्धि से हर चीज गुजरकर दो में टूट जाती है, द्वैत हो जाता है, दुई पैदा हो जाती है। बुद्धि से कोई भी चीज निकली तो दो पैदा हुए, तत्क्षण पैदा हुए। है तो एक, बुद्धि हर चीज को दो कर देती है।

जीवन को देखने-समझने का एक और ढंग है बुद्धि से अतिरिक्त--हृदय का; विचार के अतिरिक्त प्रेम का।

प्यार अगर थामता न पथ में
उंगली इस बीमार उमर की
हर पीड़ा वेश्या बन जाती
हर आंसू आवारा होता

मन तो मौसम-सा चंचल है
सबका होकर भी न किसी का
अभी सुबह का अभी शाम का
अभी रुदन का अभी हंसी का

जीवन क्या है? एक बात जो
इतनी सिर्फ समझ में आये

कहे इसे वह भी पछताये
सुने इसे वह भी पछताये

मगर यही अनबूझ पहेली
शिशु-सी सरल-सहज बन जाती
अगर तर्क को छोड़, भावना
के संग किया गुजारा होता

हर घर आंगन रंगमंच है
और हरेक सांस कठपुतली
प्यार सिर्फ वह डोर कि जिस पर
नाचे बादल नाचे बिजली

तुम चाहे विश्वास न लाओ
लेकिन मैं तो यही कहूंगा
प्यार न होता धरती पर तो
सारा जग बंजारा होता

प्यार अगर थामता न पथ में
उंगली इस बीमार उमर की
हर पीड़ा वेश्या बन जाती
हर आंसू आवारा होता

खयाल करो, बुद्धि वेश्या है। उसका कोई भरोसा नहीं। कभी यह कहती, कभी वह कहती है। बुद्धि से कभी कोई निश्चय होता ही नहीं। बुद्धि आवारा है। बुद्धि पतिव्रता नहीं है। कभी सुबह के साथ, कभी शाम के साथ। कभी एक, कभी दो--बुद्धि डोलती ही रहती है। बुद्धि डांवांडोलपन है। बुद्धि कभी थिर नहीं होती। तो बुद्धि एक में से भी दो अर्थ निकाल लेती है, तभी तो डोल सकती है; नहीं तो डोल न सकेगी।

एक और भी ढंग है जीवन को देखने का, वह है प्रेम; वह है हृदय। तुम मुझे सुनते हो, तुम बुद्धि से सुनोगे तो तुम्हें रोज-रोज विरोधाभास मिलेंगे। तुम्हें पंक्ति-पंक्ति पर विरोधाभास मिलेंगे। तुम्हें कदम-कदम पर, पग-पग पर विरोधाभास मिलेंगे। अगर तुमने बुद्धि से सुना तो तुम विक्षिप्त हो जाओगे। एक और ढंग है प्रेम से सुनने का। प्रेम का अर्थ है, जहां दो एक हो जाते हैं। जहां सब विरोधाभास खो जाते हैं। जहां एक स्वर बजता, एक नाद रह जाता। जहां एक ही अर्थ गूंजता।

और मैं एक ही बात कह रहा हूं--कितने ही ढंग से कहूं और कितने ही शब्दों में कहूं। कभी भक्ति के नाम से कहूं, कभी ज्ञान के नाम से कहूं, कभी ध्यान के नाम से, कभी योग के नाम से, लेकिन मैं एक ही बात कह रहा हूं। तुमने अगर प्रेम से सुना तो तुम उस एक को ही सुन पाओगे। और तब तुम्हारे सामने अर्थ जैसे होने चाहिए वैसे प्रकट होंगे।

अब सीधी-सीधी बात है कि मैं हर बार कहता हूं, हारे को हरिनाम। और कितनी बार तुमसे मैंने कहा है, निर्बल के बल राम। और कितनी बार तुमसे मैंने कहा है, भिखारी की तरह मत जाना, सम्राट की तरह जाना। तुमने काश, इसे हृदय से सुना होता तो तुम्हारे सामने अर्थ प्रगट हो जाता। जो अर्थ मैंने तुमसे अभी कहा वह तुम भी खोज ले सकते थे अगर प्रेम से सुना होता। लेकिन तुम सुनते हो खोपड़ी से। तुम तैयार ही रहते हो कि कोई चीज ऐसी दिखाई पड़ जाये जिसमें विरोध है। तो फिर तुम जरा भी चेष्टा नहीं करते सेतु बनाने का, कि दोनों के बीच कोई सेतु जरूर होगा। जब मैंने कहा है तो जरूर कोई सेतु होगा।

सेतु को खोजें। सेतु को खोजने में लगो। पहले अपने भीतर सेतु को खोजो। जब न खोज सको तब पूछो। और मैं तुमसे कहता हूं, सेतु तुम धीरे-धीरे खोजने लगोगे और तुम्हें विरोध समाप्त होने लगेंगे। तुम्हें मेरी असंगतियों में संगति का स्वर सुनाई पड़ने लगेगा। क्योंकि असंगति हो नहीं सकती। मैं जहां से बोल रहा हूं वहां एक का ही वास है। कभी एक रंग में ढालता, कभी दूसरे रंग में ढालता। कभी एक गीत में गुनगुनाता, कभी दूसरे गीत में गुनगुनाता।

ये भेद शब्दों के होते हैं। मेरे भीतर एक का ही निवास है। वही एक अनेक शब्दों में प्रगट हो रहा है। इसे तुम स्मरण रखो। इसे बार-बार भूल मत जाओ। और हर विरोध के बीच जब तुम्हें विरोध दिखाई पड़े तो बड़े ध्यान को पुकारो। शांत होकर बैठो, खोजो, कहीं सेतु होगा। और तुम सेतु को पा लोगे। और उस सेतु को पा लेने से तुम्हारे भीतर एक और तरह की समझ का दीया जलेगा, जिसको हम प्रेम कहते हैं।

आखिरी प्रश्न:

हे री सखि बतलाओ मुझे
पी की मनभावन की बतिया
गुणहीन मलिन शरीर मेरा
कुछ हार-सिंगार किया ही नहीं
नहीं जानूं मैं प्रेम की बात कोई
मेरी कांपत है डर से छतिया
पिया अंदर महल विराज रहे
घर-काजन मैं अटकाय रही
नहीं एक घड़ी-पल संग किया
बिरथा सब बीत गई रतिया
पिया सोवत ऊंची अटारिन में
जहां जीव परीत की गम ही नहीं
किस मारग होय के जाय मिलूं
किस भांति बनाये लिखूं पतिया
मैं इस भजन के साथ खो जाता हूं। कृपा कर मुझे इसका भावार्थ समझायें।

खोजाने में ही भावार्थ है। समझने की बात नहीं है, खो जाने की ही बात है। समझोगे तो अर्थ खो जायेगा। समझो ही मत। डूबो।

जिसने पूछा है, विचार की जगह भावपूर्ण व्यक्ति हैं। जिसने पूछा है, ध्यान की जगह भजन उनके लिए मार्ग होगा। डुबकी लगाओ। समझ इत्यादि की बकवास छोड़ो। जिसको डूबना आता हो वह फिक्र छोड़ सकता है समझने की। जिसको डूबना न आता हो वह समझे। क्योंकि फिर वह समझ-समझकर ही डूब सकेगा; वह इंच-इंच बढ़ेगा।

इसका अर्थ मत पूछो। लेकिन इसका सार समझने जैसा है।

"हे री सखि बतलाओ मुझे

पी की मनभावन की बतिया।"

प्रेमी सदा यही पूछ रहा है; एक ही बात पूछ रहा है कि उस प्रिय की कुछ खबर दो, कहां है? कहां छिपा है? कहां खोजें? उसका पता क्या है? उसके संबंध में कुछ बात करो।

सत्संग का यही अर्थ होता है: जहां उस परमप्रिय की बात चलती हो। जहां बैठकर चार दीवाने उस परमप्रिय के गीत गाते हों, स्तुति करते हों। जहां चार दीवाने मिल बैठते हों वहीं मंदिर बन जाता है। जहां चार दीवाने परमात्मा की चर्चा करते हों वहीं शास्त्र जन्मने लगते हैं। मंदिर ईंट-पत्थर के मकानों में नहीं है, मंदिर तो वहां है जहां चार पागल बैठकर प्रभु की चर्चा करते हैं, आंसू बहाते हैं।

"हे री सखि बतलाओ मुझे
पी की मनभावन की बतिया
गुणहीन मलिन शरीर मेरा
कुछ हार-सिंगार किया ही नहीं"

और प्रेमी को तो सदा ऐसा लगता है कि मैं अपात्र हूं। क्या तो गुण है मेरा? स्वच्छ भी नहीं हूं, बड़ा मलिन हूं। प्रेमी का कोई अहंकार तो नहीं होता। अहंकार तो पंडित का, ज्ञानी का होता है। वह कहता है इतने शास्त्र जानता हूं, इतनी पूजा की, इतना पाठ किया, इतने मंत्रजाप किये, इतनी माला फेरी, वह हिसाब रखता है। भक्त तो कहता है, मैंने कुछ भी नहीं किया।

"गुणहीन मलिन शरीर मेरा
कुछ हार-सिंगार किया ही नहीं
नहीं जानूं मैं प्रेम की बात कोई
मेरी कांपत है डर से छतिया"

और भक्त तो कहता है कि अगर प्रभु मुझे मिल जायेगा तो मैं घबड़ाता हूं। क्या कहूंगा? क्योंकि मुझे प्रेम का तो कुछ पता ही नहीं। प्रेमी सदा ही यही कहता है कि मुझे प्रेम का पता नहीं। और ज्ञानी सदा कहता है कि मुझे प्रेम का पता है। जिसको पता नहीं है वह कहता है पता है, और जिसको पता है वह कहता है पता नहीं।

उपनिषद कहते हैं, जो कहे कि मैं ईश्वर को जानता हूं, जानना कि नहीं जानता। सुकरात ने कहा है, जब मैंने जाना तो जाना कि मैं कुछ भी नहीं जानता हूं। प्रेम सदा अनुभव करता है कि मैं कुछ भी नहीं जानता।

"नहीं जानूं मैं प्रेम की बात कोई
मेरी कांपत है डर से छतिया
पिया अंदर महल विराज रहे
घर-काजन मैं अटकाय रही"

और यह भी प्रेमी जानता है कि परमात्मा दूर नहीं है।

"पिया अंदर महल विराज रहे।"

यहीं छिपा है। भीतर ही छिपा है। दूर हो कैसे सकता है? प्राणों के प्राण में बसा है, रचा है, पचा है। दूर हो कैसे सकता है? श्वास-श्वास में वही है। फिर उलझन क्या है? उलझन इतनी ही है--

"घर-काजन मैं अटकाय रही"

मैं बाहर अटका हूं, प्रभु भीतर बसा है। प्रभु अपने ही घर में बैठा है और मैं घर के बाहर के कामों में उलझा हूं। हजार व्यस्ततायें हैं, उनमें उलझा हूं।

"पिया अंदर महल विराज रहे
घर-काजन मैं अटकाय रही
नहीं एक घड़ी-पल संग किया
बिरथा सब बीत गई रतिया"

जीसस के जीवन में एक उल्लेख है, वे एक घर में मेहमान हुए, मैरी और मार्था के घर--दो बहनें। मार्था तो काम में लग गई। घर की सफाई करनी, भोजन बनाना, जीसस घर में मेहमान हैं। और मैरी जीसस के चरणों में बैठ रही, उनके पैर दबाने लगी। मार्था बार-बार उसे बुलाने लगी कि मैरी, तैयारी करो, मेहमान घर में हैं। इतना बड़ा मेहमान आया, भोजन बनाओ। और भी मेहमान आते होंगे, जीसस के शिष्य आते होंगे, तैयारी करो। लेकिन वह तो विमुग्ध बैठी। वह तो जीसस के पैर दबा रही है।

आखिर जब बार-बार मार्था ने कहा तो जीसस ने कहा, मार्था सुन। तू तैयारी कर, मैरी तैयारी न कर सकेगी। तू उलझ, मैरी न उलझ सकेगी। जब मेहमान घर में है तो मैरी और कहीं नहीं हो सकती। वह भी घर में है, वह भी भीतर है। मैं उसकी आंखों में देख रहा हूं। अब उसकी सुध-बुध नहीं है उसे। अब ये सारी बातें कि घर की तैयारी करनी, भोजन बनाना, लोग आते होंगे, यह करना, सब्जी काटनी, बिस्तर लगाने, ये सब बातें उससे न हो सकेंगी।

यह जो जीसस के जीवन में उल्लेख है...और जीसस ने कहा, तू उसे छोड़। तू तैयारी कर। जो तुझे ठीक लगता है, तू कर। जो उसे ठीक लग रहा है उसे करने दे। तुम अपने-अपने हिसाब से जीयो।

ये मैरी और मार्था परमात्मा की तरफ दो दृष्टिकोण हैं। एक तो है, हम बाहर उलझे हैं, तैयारी कर रहे हैं, कामधाम में लगे हैं। वह तैयारी भी परमात्मा से ही मिलने की तैयारी है। वह भी मेहमान के लिए ही हो रही है। लेकिन तैयारी में इतने व्यस्त हो गये हैं कि मेहमान ही भूल गया। वह मार्था आकर बैठी ही नहीं जीसस के पास। वह काम में ही उलझी रही। वह मेहमान का स्वागत तो करती रही लेकिन मेहमान से वंचित रही। जीसस घर में आये और चले गये, और मार्था सूखी की सूखी रही। मैरी भर गई। उसने पी लिया। उसने पूरा रस पी लिया।

"पिया अंदर महल विराज रहे
घर-काजन मैं अटकाय रही
नहीं एक घड़ी-पल संग किया
बिरथा सब बीत गई रतिया"

और भक्त कहता है कि मैं जानता हूं कि तुम भीतर ही बैठे हो और मैं बाहर उलझा हूं। व्यर्थ है मेरा यह सारा उलझना। तुमसे संग-साथ कर लिया होता तो यह रात सुहागरात हो गई होती। लेकिन यह रात अंधकारपूर्ण हो गई, विषाद की हो गई, संताप की हो गई। इस रात में केवल दुखस्वप्न देखे। और तुम घर में ही विराजे थे।

एक दिन पछताता है भक्त। प्रेमी पछताता है। इस पछतावे का ही उल्लेख है।

"पिया सोवत ऊंची अटारिन में
जहां जीव परीत की गम ही नहीं
किस मारग होय के जाय मिलूं
किस भांति बनाय लिखूं पतिया"

भक्त पूछता है, ऊंची अटारी पर प्रभु का वास है, बड़े ऊंचे आयाम में।

"जहां जीव परीत की गम ही नहीं"

जहां जाने का जीव को कोई रास्ता नहीं सूझता। जीव जा भी नहीं सकता उस ऊंचाई पर। जीव रहता ही नीचाई पर है। उस ऊंचाई पर जाना हो तो जीव को छोड़ देना पड़ता। वह त्याग जरूरी है।

जीव यानी मैं-भाव। मैं-भाव में बंध गया परमात्मा ही जीव कहलाता। परिभाषित परमात्मा जीव। आंगन में बंध गया आकाश जीव। दीवाल में घिर गया सूरज का प्रकाश जीव।

नहीं, जीव तो जा नहीं सकता। परिधि तोड़नी पड़ेगी। घड़े को फोड़ना पड़ेगा ताकि घड़े के भीतर का आकाश बाहर के आकाश से मिल जाये। जीव ही बाधा है। इसलिए कहा कि जीव परीत की गम ही नहीं। कोई रास्ता नहीं मिलता जीव को, कोई उपाय नहीं।

"किस मारग होय के जाय मिलूं
किस भांति बनाय लिखूं पतिया"

मिलने का एक ही मार्ग है और वह है, मिटना। कभी मनुष्य परमात्मा से मिलता नहीं। इसे ठीक से सुन लेना। कभी मनुष्य परमात्मा से मिलता नहीं। जब परमात्मा होता है तो मनुष्य नहीं होता, जब मनुष्य होता है तो परमात्मा नहीं होता। दोनों कभी आमने-सामने खड़े नहीं होते।

कबीर ने कहा है, "जब तक मैं था, तू नहीं, अब तू है, मैं नाहिं।" यह भी खूब मजा हुआ, कबीर ने कहा, मैं खोजने निकला था तुझे, जब तक मैं था, तू न मिला। और अब तू मिला है तो मैं नहीं हूं। यह मिलन कैसा हुआ? यह मिलन तो हुआ ही नहीं। मिलन हुआ लेकिन दो का नहीं, एक का ही।

"प्रेम गली अति सांकरी", कबीर ने कहा है, "ता में दो न समाय।" यह परमात्मा से जो मिलन है, यह ऐसा मिलन नहीं है जैसे कि तुम एक आदमी से मिल लिये, मित्र से मिल लिये। पत्नी पति से मिल गई, पति पत्नी से मिल गया, मां बेटे से मिल गई। ऐसा मिलन नहीं है परमात्मा से। यह परमात्मा से मिलन ऐसा है जैसे नदी सागर से मिल गई। नदी मिटती तो मिलती।

"किस मारग होय के जाय मिलूं"

नहीं, तुम तो न मिल सकोगे। इसलिए मैंने तुमसे कहा कि अगर तुम भजन करते-करते खो जाते हो तो बस अर्थ मिल जायेगा वहीं। तुम फिक्र छोड़ो। अब कुछ और जानना जरूरी नहीं है। खो जाओ। इतने भी मत बचो। अर्थ जानने को भी मत बचो। बिलकुल खो जाओ। डुबकी लगा लो।

एक दिन ऐसा होगा कि भजन करने के पहले तुम थे, भजन करने में खो गये, कई बार भजन होगा, फिर तुम वापिस लौटकर हो जाओगे। फिर-फिर खोओगे, फिर-फिर हो जाओगे। एक दिन ऐसा भी होगा, खोओगे, भजन तो समाप्त हो जायेगा, तुम खोये ही रहोगे। तुम लौट न सकोगे। बस, उस दिन मिलना हो जाता है। उस दिन लिख दी पाती। उस दिन पता मिल गया।

डूबते रहो। डूबने का अभ्यास करते रहो, डुबकी लगाते रहो। आज नहीं कल, कल नहीं परसों, किसी न किसी दिन वह सौभाग्य की घड़ी आ जायेगी, जब तुम डूबोगे एक बार और फिर उबरोगे नहीं। तुम जहां बिलकुल न बचोगे, वहीं तुम पाओगे, जो बच रहा है वही परमात्मा है।

तन से तो सब भांति बिलग तुम
लेकिन मन से दूर नहीं हो
हाथ न परसे चरण सलोने
पांव न जानी गैल तुम्हारी
दृगन न देखी बांकी चितवन
अधर न चूमी लट कजरारी
चिकने खुदरे गोरे काले
छलकन ओ बेछलकनवाले
घट को तो तुम निपट निगुण पर
पनिहारिन से दूर नहीं हो
तन से तो सब भांति बिलग तुम
लेकिन मन से दूर नहीं हो

प्रभु बहुत पास है, जरा भी दूर नहीं। प्रेम में ही छिपा है। तुम प्रेम को उघाड़ लो और प्रभु को पा लोगे। और जिस दिन तुमने अपने भीतर प्रभु को पा लिया उस दिन तुम आंख खोलकर पाओगे कि सब जगह वही है। सब जगह, जगह-जगह वही है। कोई और दूसरा नहीं है।

हर दर्पण तेरा दर्पण है
हर चितवन तेरी चितवन है
मैं किसी नयन का नीर बनूं
तुझको ही अर्ध्य चढ़ाता हूं
काले तन या गोरे तन की
मैले मन या उजले मन की
चांदी सोने या चंदन की
औगुन गुन की या निर्गुन की
पावन हो या कि अपावन हो

भावन हो या कि अभावन हो
पूरब की हो या पश्चिम की
उत्तर की हो या दक्षिण की
हर मूरत तेरी मूरत है
हर सूरत तेरी सूरत है
मैं चाहे जिसकी मांग भरूं
तेरा ही ब्याह रचाता हूं
हर दर्पण तेरा दर्पण है
हर चितवन तेरी चितवन है
मैं किसी नयन का नीर बनूं
तुझको ही अर्ध्य चढ़ाता हूं

आज इतना ही।

उन्हत्तरवां प्रवचन

स्वातंत्र्यात् परमं पदम्

विषयद्वीपिनो वीक्ष्य चकिताः शरणार्थिनः।
विशंति झटिति क्रोडं निरोधैकाग्र्यसिद्धये।। २२१।।
निर्वासनं हरिं दृष्ट्वा तूष्णीं विषयदंतिनः।
पलायंते न शक्तास्ते सेवंते कृतचाटवः।। २२२।।
न मुक्तिकारिकां धत्ते निःशंको युक्तमानसः।

पश्यन्श्रृण्वन्स्पृशन्जिघ्रन्नश्नन्नास्ते यथासुखम्।। २२३।।
वस्तुश्रवणमात्रेण शुद्धबुद्धिर्निराकुलः।
नैवाचारमनाचारमौदास्यं वा प्रपश्यति।। २२४।।
यदा यत्कर्तुमायाति तदा तत्कुरुते ऋजुः।
शुभं वाप्यशुभं वापि तस्य चेष्टा हि बालवत्।। २२५।।
स्वातंत्र्यात् सुखमाप्नोति स्वातंत्र्याल्लभते परम्।
स्वातंत्र्यान्निर्वृतिं गच्छेत् स्वातंत्र्यात् परमं पदम्।। २२६।।

विषयद्वीपिनो वीक्ष्य चकिताः शरणार्थिनः।
विशंति झटिति क्रोडं निरोधैकाग्र्यसिद्धये।।

"विषयरूपी बाघ को देखकर भयभीत हुआ मनुष्य शरण की खोज में शीघ्र ही चित्त-निरोध और एकाग्रता की सिद्धि के लिए पहाड़ की गुफा में प्रवेश करता है।"

जीवन कठिन है। जीवन सरल नहीं है। बड़ी समस्यायें हैं; हल होती मालूम नहीं पड़तीं। जल्दी ही आदमी थक जाता और हार जाता। और हारे को पलायन है। हारा हुआ भागने लगता है। समस्याएं भागने से भी हल नहीं होतीं। लेकिन भगोड़े को एक आश्वासन, एक सांत्वना मिलती है कि कम से कम समस्याओं से दूर हो गया। लेकिन जो व्यक्ति समस्याओं से दूर हो गया, यह व्यक्ति, समस्याओं के मध्य में जो विकास हो सकता था उससे भी वंचित हो जाता है।

इस सत्य को खूब मनःपूर्वक समझ लेना। क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति के मन में भगोड़ापन छिपा बैठा है। भय छिपा है तो भगोड़ापन छिपा है। भय है तो भीतर हम कायर हैं। जहां देखते हैं कि जीत होना मुश्किल है वहीं से भागने का मन होने लगता है। भागने को हम खूब सुंदर बनाने की कोशिश करते हैं। भागने को हम संन्यास कहते हैं। भागने को हम बड़ा समादर देते हैं। भगोड़ों की हम पूजा करते हैं, उनके चरण छूते हैं। भगोड़ों को हम महात्मा कहते हैं। हमारे भीतर जो भगोड़ा बैठा है, यह सब उसी भगोड़े के लिए ऊपर साज-शृंगार बिठाना है। हमारे भीतर जो भय बैठा है, कायर बैठा है उस कायर के लिए आभूषण पहनाने हैं।

ये तरकीबें हैं हमारे मन की। लेकिन एक बात खयाल रखना, भगोड़ों ने कभी कुछ पाया नहीं। मिलेगा जो भी, वह मिलेगा चुनौतियों के स्वीकार से। जीवन में कठिनाइयां हैं जरूर, लेकिन कठिनाइयां सप्रयोजन हैं। समस्यायें हैं जरूर, जटिल जाल है समस्याओं का, लेकिन वहीं तो चुनौती है। उसी जाल को सुलझाने में तो तुम्हारी प्रज्ञा का जन्म होगा। भाग गये तो प्रज्ञा से वंचित रह जाओगे।

इसलिए तो तुम्हारे भगोड़े संन्यासी गुफाओं में भला बैठ जायें, लेकिन उनके जीवन में तुम प्रतिभा, मेधा, सृजनात्मकता, तेजस्विता नहीं पाओगे। उनको देखना हो तो तुम अभी कुंभ मेले जा सकते हो, वहां तुम्हें सब

तरह के मूढ़ों की जमात मिल जायेगी। प्रकार-प्रकार के मूढ़ प्रकार-प्रकार की वेशभूषा में मिल जायेंगे। उनकी पूजा करनेवालों की भी लाखों की भीड़ मिल जायेगी। पूजा करनेवालों के पास भी कोई प्रतिभा नहीं है और जिनकी पूजा की जा रही है उनकी भी कोई क्षमता नहीं है।

हम सबके भीतर यह संभावना है इसलिए अष्टावक्र सावधान करते हैं। यह सूत्र तुम्हें सावधान बनाने को है। मन बहुत बार करता है कि जहां जीत न होती हो वहां से हट जाना अच्छा।

तुमने देखा, लोग ताश खेलते हैं; अगर हारने की नौबत आ जाये तो बाजी उलट देते हैं। क्रोध में आ जाते, तख्ता उलट देते हैं। खेलना ही नहीं है, धोखा हो गया। कुछ भी अनर्गल बोलने लगते हैं। ताश के पत्ते खेल रहे थे, कोई बहुत बड़ा काम भी न कर रहे थे, लेकिन वहां भी हारने की सामर्थ्य नहीं है।

और जो हारने को तैयार नहीं है वह कभी जीत भी न सकेगा। हार से गुजरने की जिसकी तैयारी है वही जीत के सूत्र सीख पाता है। हार के रास्ते पर ही जीत के सूत्र बिखरे पड़े हैं। ये जो हार के कांटे हैं इन्हीं के बीच विजय के फूल भी खिले हैं। तुम गुलाब के कांटों से भाग गये तो तुम गुलाब के फूलों से भी वंचित रह जाओगे। एक बात पक्की है कि कांटों से भाग गये तो कांटों से जो पीड़ा होती थी वह तुम्हारे जीवन में न होगी, लेकिन फूलों से जो सुख की वर्षा होती थी उससे भी वंचित रह जाओगे।

चूंकि इस जगत में अधिक लोग दुखी हैं इसलिए जब किसी आदमी को देखते हैं दुखी नहीं है, इसके जीवन में कांटे नहीं चुभे, तो पूजा करने लगते हैं। लेकिन यह भी कोई उपलब्धि हुई? कांटों का न होना कोई उपलब्धि है? फूल खिलते तो उपलब्धि थी। कांटों का न होना तो केवल नकारात्मक है, विधायक कहां है? परमात्मा की उपस्थिति नहीं है यहां। संसार अनुपस्थित हो गया है लेकिन परमात्मा की उपस्थिति नहीं है।

परमात्मा की उपस्थिति तो उसी को उपलब्ध होती है जो संसार की सीढ़ियां चढ़ता है। वे सीढ़ियां जटिल हैं, अंगारों से पटी हैं, जलाती हैं, लेकिन उसी जलने में से तो निखार आता है। आग से गुजरकर ही तो सोना कुंदन बनता है। आग से भाग जाये जो सोना, उसको तुम संन्यासी कहोगे?

भगोड़ा संन्यासी हो ही नहीं सकता। पलायनवादी संन्यासी हो ही नहीं सकता। संन्यासी तो वही है जो संसार में हो और संसार का न हो। यही अष्टावक्र की मूल धारणा है, यही मेरी मूल धारणा है।

मुझसे लोग आकर कहते हैं, आप संन्यास दे देते हैं और लोगों को संसार छोड़ने को नहीं कहते? मैं कहता हूं, संसारी थे तब, संन्यास नहीं लिया था तब अगर संसार छोड़ भी देते तो क्षमा योग्य थे। अब तो छोड़ने का उपाय न रहा। संन्यास का अर्थ ही है भगोड़ेपन का त्याग। अब तो जूझेंगे। अब तो गहरी डुबकी लगायेंगे संसार में। क्योंकि यह संसार के सागर में डुबकी लगाकर ही मिलते हैं हीरे-मोती। जो इस सागर से भागा डरकर कि कहीं डूब न जायें, वह रेत में पड़ी हुई शंखियां और सीप बीन ले भला, हीरे-मोती नहीं पायेगा। उतने सस्ते में मिलते ही नहीं हीरे-मोती। मूल्य तो चुकाओगे न! मूल्य तो चुकाना ही पड़ेगा।

यह संसार परमात्मा को पाने के लिए चुकाया गया मूल्य है। इसकी हर समस्या समाधि के लिए चुकाई गई व्यवस्था है। समस्या से गुजरकर समाधान उपलब्ध होगा। समस्या तो केवल अवसर है, परीक्षा है, कसौटी है। कोई विद्यार्थी परीक्षा से भाग जाये तो तुम उसकी पूजा तो नहीं करते।

यह जीवन तो परीक्षा है। इससे जो भाग गये हैं, छोड़ो, उन भगोड़ों का आदर छोड़ो। क्योंकि उस आदर के कारण तुम्हारे भीतर का भगोड़ा भी मरता नहीं। वह आदर तुम्हारे भीतर के भगोड़े को भी जगाये रखता है, जिंदा रखता है। तुम आदर उसी का करते हो जैसे तुम होना चाहते हो, इस पर खयाल रखना। आदर ऐसे ही थोड़े ही करता है कोई किसी का! जैसे तुम होना चाहते हो उसी का तुम आदर करते हो। अगर तुम भगोड़ों का आदर करते हो तो भगोड़ा तुम्हारे भीतर बैठा है, प्रतीक्षा में है ठीक अवसर की। मौका पाकर भाग खड़ा होगा।

लेकिन यह भागना भय पर आधारित है। भय यानी कायरता।

सूत्र है:

विषयद्वीपिनो वीक्ष्य चकिताः शरणार्थिनः।

विषयरूपी बाघ को देखकर भयभीत हुआ मनुष्य शरण की खोज में शरणार्थी हो जाता।

शरणार्थी होना कोई सुखद बात नहीं है। ये जो गुफाओं में बैठे हैं, रिफ्यूजी हैं। भाग गये। शरणार्थी हैं। दया के पात्र हैं। पूजा के पात्र जरा भी नहीं। इनकी चिकित्सा की जरूरत है। इन्हें फिर कोई हिम्मत दे। इनकी बुझती ज्योति को फिर कोई जलाये। इनके चुकते स्नेह को फिर कोई भरे। इनका दीया फिर जगमगाये। इन्हें फिर कोई खींचकर लाये कि आओ, जहां परीक्षा है वहीं कसौटी है। भागो मत। जूझो। उतरो जीवन के संग्राम में। डर क्या है? खोने को क्या है? तुम्हारे भीतर जो छिपा है वह खोया नहीं जा सकता।

तुम हो क्या मूलतः? चैतन्य। तो चैतन्य को तो खोया नहीं जा सकता। और चैतन्य को जगाना हो तो असुविधा में ही जगाया जा सकता है, सुविधा में तो सो जाता है। जंगल में चले गये जहां कोई अशांति नहीं है, बैठ गये गुफा में। जहां कोई विषय तुम्हारी वासना को प्रज्वलित नहीं करते, प्रलोभित नहीं करते, उत्तेजित नहीं करते। धीरे-धीरे वासना सो जायेगी; मिटेगी नहीं। जिस दिन लौटोगे उसी दिन तुम पाओगे वासना फिर जाग गई। बीज पड़े रहेंगे, समय पाकर फिर, मौसम पाकर फिर अंकुरित हो जायेंगे।

तो जो एक दफे भाग गया वह फिर लौटने में घबड़ाता है। उसे कोलाहल परेशान करता है। यह कोई ध्यान हुआ कि कोलाहल परेशान करने लगे? ध्यान तो वही है कि कोलाहल में भी अखंडित रहे। ध्यान तो वही है कि बीच बाजार में भी अखंडित रहे। चले शोरगुल, चले संसार, और तुम्हारे भीतर कुछ भी न चले। सब चुप और मौन रहे।

शरणार्थी मत बनना।

"विषयरूपी बाघ को देखकर भयभीत हुआ...।"

अब यह जो विषयरूपी बाघ है, यह जो कामना, वासना का बाघ है, यह तुम्हारे बाहर होता तो भाग भी जाते; इसे थोड़ा समझना। यह तुम्हारे भीतर है, भागोगे कहां? अपने से कैसे भागोगे?

यह तो ऐसे ही हुआ जैसे कोई अपनी ही छाया से भाग रहा हो। वह जहां जायेगा, छाया वहां रहेगी; कितनी ही तेजी से भागो। ऐसा हो सकता है कि तुम किसी वृक्ष की छाया में बैठ जाओ तो छाया दिखाई न पड़े। यह हो सकता है, लेकिन जब धूप में उतरोगे तब छाया दिखाई पड़ने लगेगी। जब तुम वृक्ष की छाया में विश्राम कर रहे हो तब छाया भी विश्राम कर रही है। धूप में आते ही फिर प्रकट हो जायेगी। छाया तो तुम्हारे साथ लगी है।

छाया भी लेकिन बाहर है, यह विषय का जो ज्वर है, यह तो तुम्हारे भीतर है। इससे तुम भागोगे कहां? तुम स्त्री से भाग सकते हो, पुरुष से भाग सकते हो। लेकिन कामवासना से कैसे भागोगे? कामवासना तो तुम्हारे अंतस्तल में बैठी है। हां, यह हो सकता है, स्त्री से भाग जाओ तो कामवासना को उठने का अवसर न मिले; सोयी पड़ी रहे, बीजरूप में पड़ी रहे। जब भी कभी स्त्री से मिलन होगा तभी फिर जाग जायेगी। इसीलिए तो तुम्हारे साधु-संन्यासी स्त्रियों से इतने घबड़ाते हैं। घबड़ाने का कारण है। अभी भी बीज दग्ध नहीं हुआ।

धन से हट जाओ तो वासना पड़ी रह जायेगी। उपकरण चाहिए वासना के प्रगट होने के लिए। खूंटी चाहिए जहां वासना टंग सके। खूंटी तोड़ दी तो वासना को टंगने को जगह न रही। लेकिन जब भी कहीं खूंटी मिलेगी वहीं घबड़ाहट आ जायेगी; वहीं मन डांवाडोल होने लगेगा। इसलिए तुम्हारे साधु-संत रुपये-पैसे से डरते हैं। अब यह मूढ़ता देखते हो? रुपये-पैसे से डरना! रुपये-पैसे में कुछ भी नहीं है यह भी कहते, और डरते भी। अगर कुछ भी नहीं तो डर कैसा?

एक तरफ कहते हैं, कि स्त्री में क्या रखा! और डरते भी। अगर कुछ भी नहीं रखा है तो डर कैसा? डर तो बताता है कि कुछ होगा। डर तो बताता है, भीतर प्रलोभन है, भीतर वासना है।

यह जो विषयरूपी शत्रु है, यह तुम्हारे बाहर होता तो बड़े उपाय थे। भाग जाते दूर। छोड़ जाते इसे यहीं। यह तुम्हारे बाहर नहीं, पहली बात। यह तुम्हारे भीतर है। अपने से कैसे भागोगे? अपने को बदलो; भागने से कुछ भी न होगा। जागो; भागने से कुछ भी न होगा।

इसलिए मैं कहता हूं भागो मत, जागो। जागने से मिटेगा। भीतर की ज्योति जब जलेगी प्रगाढ़ता से तो तुम अचानक पाओगे, वह जो विषयरूपी बाघ था, बाघ था ही नहीं। भय थे। व्यर्थ के भय थे। कल्पना के जाल थे। कहीं कुछ था ही नहीं।

सच में जो ज्ञान को उपलब्ध होता है वह ऐसा नहीं कहता, स्त्री में कुछ नहीं; वह ऐसा कहता है, वासना में कुछ नहीं। फर्क को खयाल में रखना। इसको कसौटी समझ लेना। जब कोई कहे, स्त्री में कुछ नहीं, तो समझ लेना अभी स्त्री में कुछ है। जब कोई कहे, पुरुष में क्या रखा है? तो समझ लेना, पुरुष में कुछ रखा है। जब कोई कहे, धन में क्या रखा है? तो समझ लेना कि धन में अभी भी कुछ बचा है। यह समझा रहा है अपने को। लेकिन जब कोई कहे, वासना में क्या रखा है? तब मुक्त हुआ।

वासना भीतर है, स्त्री बाहर है। पुरुष बाहर है, कामना भीतर है। जब कोई कहे, कामना में क्या रखा है? देख लिया, कुछ भी न पाया। दीया जलाकर देख लिया। खोज लिया कोना-कोना मन का। एक-एक कातर में, कोने में रोशनी ले जाकर देख ली, कुछ भी न पाया। तब...।

मैंने सुना है, एक गुफा एक पहाड़ की कंदरा में छिपी थी--सदियों से, सदियों-सदियों से; अनंतकाल से। गुफाओं की आदत छिपा होना होता है। अंधेरे में ही रही थी। कुछ ऐसी आड़ में छिपी थी पत्थरों और चट्टानों के, कि सूरज की एक किरण भी कभी भीतर प्रवेश न कर पाई थी। सूरज रोज द्वार पर दस्तक देता लेकिन गुफा सुनती न।

सूरज को भी दया आने लगी कि बेचारी गुफा जन्मों-जन्मों से बस अंधेरे में रही है। इसे रोशनी का कुछ पता ही नहीं। एक दिन सूरज ने जोर से आवाज दी। ऐसी सूरज की आदत नहीं कि जोर से आवाज दे। लेकिन बहुत दया आ गई होगी। जन्मों-जन्मों से गुफा अंधेरे में पड़ी है। तो सूरज ने कहा, बाहर निकल पागल! देख, बाहर कैसी रोशनी है। फूल खिले, पक्षी गीत गाते, किरणों का जाल फैला है। और मैं तेरे द्वार पर खड़ा हूं और बार-बार दस्तक देता हूं। तू बहरी है? बाहर आ।

गुफा ने कहा, मुझे विश्वास नहीं आता। किस गुफा को कब विश्वास आया सूरज की आवाज पर? जब मैं तुम्हारे द्वार पर दस्तक देता हूं, तुम भी कहते हो विश्वास नहीं आता। कौन जाने कोई धोखा देने आया हो, कोई लूटने आया हो। गुफा के पास कुछ है भी नहीं और लूटे जाने का डर है!

लेकिन सूरज रोज दस्तक देता रहा। आखिर एक दिन गुफा को आना ही पड़ा। सोचा, एक दिन चलकर जरा झांककर देख लें। न तो फूलों का भरोसा था कि फूल हो सकते हैं; क्योंकि जो देखा न हो उसका भरोसा कैसे? न रोशनी का भरोसा था; क्योंकि रोशनी जानी ही न थी। तो रोशनी का अनुभव न हो, आभास भी न हुआ हो तो प्रत्यभिज्ञा कैसे हो? पहचान कैसे हो? आकांक्षा कैसे जगे? उसी को तो हम चाहते हैं जिसका थोड़ा स्वाद लिया हो। न भरोसा था कि पक्षियों के गीत होते हैं। पक्षियों का ही पता न था। गुफा तो बस अपने अंधेरे...अपने अंधेरे...अपने अंधेरे में डूबी रही थी। उस दिन बाहर आयी डरती-डरती, सकुचाती।

तुम्हें जब मैं देखता हूं संन्यास में उतरते तो मुझे उस गुफा की याद आती है--डरते-डरते, सकुचाते। ऐसे आते हो कि अगर जरा लगे कि बात गड़बड़ है तो खिसक जाओ। सम्हाल-सम्हालकर कदम रखते हो। लौटने का उपाय तोड़ते नहीं। लौटने की पूरी व्यवस्था रखते हो कि अगर कुछ धोखा- धड़ी हो तो लौट जायें।

ऐसी गुफा आयी, आयी तो चौंक गई। आयी तो रोने लगी। आयी तो आंख आंसुओं से भर गई। छाती पीटने लगी कि जनम-जनम मैंने अंधेरे में गुजारा। तुमने दया पहले क्यों न की? तुमने पहले क्यों न पुकारा?

देखते हो? सूरज रोज दस्तक दे रहा था, अब गुफा सूरज को ही उत्तरदायी ठहराती है कि पहले क्यों न पुकारा?

सूरज ने कहा, छोड़, जो गया सो गया। बीता सो बीता। अभी भी बहुत पड़ा है। अनंतकाल बाकी है, तू सुख से जी। अब बाहर आ। गुफा ने कहा, आऊंगी बाहर लेकिन तुम भी कभी मेरे भीतर आओ। जैसे मैंने प्रकाश

नहीं जाना, हो सकता है, जिस अंधेरे को मैंने जाना, तुमने न जाना हो। सूरज ने उसका निमंत्रण माना, वह उसकी गुफा में गया। गुफा तो चौंककर रह गई। वहां अंधेरा था नहीं।

गुफा कहने लगी, यह हुआ क्या? यह हुआ कैसे? क्योंकि अंधेरा सदा था। एक दिन, दो दिन की बात नहीं, जन्मों-जन्मों से मैंने अंधेरा जाना। यह हुआ क्या? आज अंधेरा गया कहां? सूरज जब बाहर विदा हो गया तब फिर अंधेरा था। गुफा ने फिर उसे निमंत्रण दिया। सूरज ने कहा, पागल! तू मुझे अंधेरे से मुकाबला न करवा सकेगी, क्योंकि जहां मैं हूं वहां अंधेरा नहीं है। मैं आया कि अंधेरा गया। अंधेरा कुछ है थोड़े ही, मेरा अभाव है। तो मेरा भाव और मेरा अभाव साथ-साथ थोड़े ही हो सकते हैं। अंधेरा मेरी अनुपस्थिति है। तो मेरी उपस्थिति और मेरी अनुपस्थिति साथ-साथ थोड़े ही हो सकती है। मैं जब भी आऊंगा, अंधेरा नहीं होगा।

वासना बोध की अनुपस्थिति है। बोध आया, वासना गई। जब तक बोध नहीं है तब तक वासना है। वासना से मत भागो। इसलिए कहता हूं, भागो मत, जागो। जगाओ, भीतर जो सोया है उसे। मन से घबड़ाओ मत। मन की मौजूदगी कुछ भी खंडित नहीं कर सकती है। शरणार्थी मत बनो, विजेता बनो। जगाओ अपने को। लेकिन आदमी सोया ही चला जाता। मरते दम तक, मौत भी आ जाती है तो भी आदमी सोया ही रहता।

मैंने सुना, मुल्ला नसरुद्दीन बहुत बूढ़ा हो गया। सिर गंजा हो गया तो दवाइयों की तलाश करता फिरता था कि किसी तरह बाल उग आयें। किसी महात्मा के प्रसाद से, जड़ी-बूटी के उपयोग से बामुश्किल चार बाल निकल आये--चार बाल! वह पहुंच गया नाईबाड़े हजामत बनवाने। नाई चौंका। उसने कहा, बड़े मियां, बाल गिनूं या काटूं? मुल्ला नसरुद्दीन ने बहुत शरमाते हुए कहा, काले कर दो।

चार बाल उग आये हैं उनको भी काले करने का मन है! आदमी अंत तक भी छोड़ नहीं पाता। मौत द्वार पर आ जाती है और मोह नहीं छूटता। यमदेवता द्वार पर दस्तक देने लगते हैं और कामदेवता के साथ दोस्ती नहीं छूटती। जागो!

और दो तरह के लोग हैं दुनिया में। एक हैं, जो कामवासना में पड़े रहते हैं नाली में पड़े कीड़ों की तरह। सड़ते रहते हैं। और एक हैं जो भागते हैं। न भागनेवाला पहुंचता है और न डूबनेवाला पहुंचता है; जागनेवाला पहुंचता है। जागनेवाला जहां भी हो वहीं से पहुंच जाता है। जागने की सीढ़ी तुम जहां खड़े हो वहीं से परमात्मा से जुड़ जाती है।

"विषयरूपी बाघ को देखकर भयभीत हुआ मनुष्य शरण की खोज में शीघ्र ही चित्त-निरोध और एकाग्रता की सिद्धि के लिए पहाड़ की गुफा में प्रवेश करता है।"

अगर किसी गुफा में जाना हो तो अंतर्गुफा में जाना। और चित्त-निरोध में मत पड़ना। क्योंकि जबर्दस्ती चित्त का निरोध किया जाये...जो तुम जबर्दस्ती करोगे वह कभी भी नहीं होगा। जीवन जबर्दस्ती मानता ही नहीं। जीवन तो केवल सरलता और सहजता का निमंत्रण मानता है। जबर्दस्ती कुछ भी नहीं होता यहां।

तुम क्रोध को जबर्दस्ती दबा लो, मुस्कुराहट को ऊपर से पोत दो, मुखौटा ओढ़ लो खुशी का, इससे क्या फर्क पड़ता है? भीतर क्रोध उबलता रहता है, जलता रहता है। ब्रह्मचर्य की कसमें खा लो लेकिन भीतर आंधी वासना की चलती रहती है। तुम जितना संयम करोगे ऊपर से, तुम भीतर उतना ही पाओगे उतनी ही झंझट बढ़ती जाती है। संयम से कोई झंझट से मुक्त नहीं होता। यह सस्ता उपाय काम नहीं आता। ये तरकीबें कभी काम नहीं आयीं। लेकिन ये सुगम मालूम पड़ती हैं। जबर्दस्ती आदमी को सुगम मालूम पड़ती है क्योंकि आदमी बहुत हिंसक है। दूसरों के साथ तुमने हिंसा की है। फिर जिस दिन तुम अपने को बदलने की आकांक्षा से भरते हो तो अपने साथ हिंसा शुरू कर देते हो; उसी का नाम चित्त-निरोध है। ऐसी हिंसा से कुछ भी न होगा।

मैंने सुना है, बरसात की एक रात में रेल के फाटक पर पार करते वक्त एक व्यक्ति दुर्घटना से बाल-बाल बच गया। उसने गुस्से में आकर रेल्वे पर मुकदमा दायर कर दिया। सिग्नल-मैन ने गवाही में कहा, मैंने तो खूब बत्ती हिलाई थी। जब मुकदमा जीतकर सिग्नल-मैन बाहर आया तो स्टेशन- मास्टर ने उसकी पीठ ठोंकी और कहा, शाबास। मैंने तो समझा था कि तुम वकील की जिरह से घबड़ा जाओगे। लेकिन तुम गजब के हिम्मत के

आदमी हो। तुम कहते ही गये बार-बार कि मैंने तो बत्ती खूब हिलाई थी, मैंने तो बत्ती खूब हिलाई थी। तुम डटे रहे अपनी बात पर। सिग्नल-मैन बोला, नहीं साहब। मैं जरा भी नहीं घबड़ाया यह बात तो ठीक है। हां, अगर वकील ने पूछा होता कि बत्ती जल रही थी या नहीं? तब उस समय जवाब देना मेरे लिए कठिन हो जाता।

अब तुम बिना जली बत्ती हिलाते रहो, इससे कुछ होनेवाला नहीं है। निरोध बिना जली बत्ती का हिलाना है। भीतर कुछ भी नहीं है। बोध में बत्ती हिलानी भी न पड़ेगी; प्रकाश काफी है। प्रकाश के साथ ही क्रांति घटती है। निरोध से प्रकाश तो आता नहीं। समझो इस बात को।

कहीं उल्टी तरफ से जीवन को पकड़ना शुरू किया तो चूकते चले जाओगे। मगर उल्टी तरफ से पकड़ने के पीछे कारण है। क्योंकि जब भी हमने किसी व्यक्ति के जीवन में संयम का महापर्व घटते देखा तो हमसे भूल हो गई। हमारे तर्क में भूल है। हमारे गणित में भूल है।

महावीर को हमने देखा तो देखा, महाशांति को उपलब्ध, परम शांति को उपलब्ध। और साथ में हमने देखा, जीवन में बड़ा संयम है। तो हमने सोचा कि संयम करने से शांति मिली होगी। हम अशांत हैं; शांति हम भी चाहते हैं। कैसे शांति को पायें इसकी तलाश करते हैं। महावीर को देखा, देखा शांति है, संयम है। शांति हमें चाहिए। संयम की तो हमें भी चिंता नहीं है, शांति हमें चाहिए। तो अब साफ बात हो गई कि शांति तो हमारे जीवन में नहीं है और संयम भी हमारे जीवन में नहीं है। तो गणित हमारा बैठा कि महावीर के जीवन में शांति है और संयम; संयम से ही शांति घटी होगी।

बात बिलकुल उल्टी है। शांति पहले घटी है, संयम पीछे आया है। शांति कारण है, संयम परिणाम है। हमने समझा, शांति परिणाम है, संयम कारण है। यहां भूल हो गई। और इस भूल हो जाने के पीछे भी कारण है। क्योंकि संयम ऊपर से दिखाई पड़ता है, पकड़ में आता है। महावीर चलते हैं तो बड़े होशपूर्वक चलते हैं। बैठते हैं तो होशपूर्वक बैठते हैं। करवट भी नहीं बदलते रात; कि कहीं करवट बदलने से कोई कीड़ा-मकौड़ा पीछे आ गया हो तो दबकर मर न जाये। हर काम बड़े बोधपूर्वक करते हैं।

हमें क्या दिखाई पड़ा? हमें दिखाई पड़ा, महावीर करवट नहीं बदलते। महावीर के भीतर जो बोध है वह तो हमें दिखाई पड़ता नहीं, करवट नहीं बदलते यह दिखाई पड़ता है। यह ऊपरी बात है। यह दिखाई पड़ जाती है। रात भर महावीर करवट नहीं बदलते। तो हमने सोचा, हम भी करवट न बदलें। तो तुम भी करवट बिना बदले पड़े हो। तुम्हें सिर्फ तकलीफ होती है करवट न बदलने में और कुछ नहीं होता। करवट न बदलने का तुम सिर्फ अभ्यास कर लेते हो--एक तरह की कसरत। तुम सर्कसी हो जाते हो। इससे और कुछ नहीं होता। अभ्यास रोज-रोज करोगे तो ठीक है, बिना करवट बदले पड़े रहोगे। यह कोई बड़ी बात थोड़े ही है!

लेकिन क्या करवट न बदलने से बोध का जन्म होगा? तुम बिना जली बत्ती के लालटेन हिला रहे हो। महावीर के जीवन में बोध पहले घटा है। बोध घट जाने से करवट नहीं बदलते। बोध घट जाने से रात भोजन नहीं करते। बोध के घटने से! तुम भी रात भोजन नहीं करते, बोध तो नहीं घटता। जैन कितने समय से रात भोजन नहीं कर रहे हैं। कौन-सा बोध घटा है?

तुमने बाहर की तरफ से पकड़ा। तुमने बाहर से सोचा, बाहर से पकड़ेंगे तो भीतर पहुंच जायेंगे। बात और थी; भीतर पहले घटता है, तब बाहर घटता है। बाहर गौण है, भीतर प्रमुख है। केंद्र पर पहले घटता है, तब परिधि पर घटता है। वह जो रोशनी तुम देखते हो लालटेन के आसपास, वह आसपास पहले नहीं घटती। पहले भीतर दीया जलता है, ज्योति जलती है। ज्योति में पहले घटती है, फिर बाहर फैलती है। अंतःकरण पहले बदलता है, फिर आचरण बदलता है। लेकिन आचरण हमें दिखाई पड़ता है। अंतःकरण तो महावीर के भीतर छिपा है। वह तो महावीर जानते हैं या महावीर जैसे जो होंगे वे जानते हैं। हमें लालटेन के भीतर जलती हुई ज्योति तो दिखाई नहीं पड़ती, बाहर पड़ता हुआ प्रकाश दिखाई पड़ता है। वह आचरण है, संयम है, नियम, व्रत, उसको हम पकड़ लेते हैं। वहीं चूक हो जाती।

क्रांति भीतर से बाहर की तरफ है, बाहर से भीतर की तरफ नहीं। तुम कारण और कार्य की ठीक-ठीक बात समझ लेना। कहीं ऐसा न हो कि तुम कार्य को कारण समझ लो और कारण को कार्य समझ लो। तो फिर जीवन भर भटकोगे और कभी भी ठीक जगह न पहुंच पाओगे।

"विषयरूपी बाघ को देखकर भयभीत हुआ मनुष्य शरण की खोज में शीघ्र ही चित्त-निरोध और एकाग्रता की सिद्धि के लिए पहाड़ की गुफा में प्रवेश करता है।"

चित्त के निरोध के लिए, दबाने के लिए, चित्त को बांधने के लिए, व्यवस्था में लाने के लिए, चित्त को जंजीरें पहनाने के लिए, चित्त को कारागृह में धकाने के लिए, लेकिन कुछ इससे होता नहीं। चित्त बंध भी जाता है तो भी तुम मुक्त नहीं होते। चित्त बंध जाता है तो तुम भी बंध जाते हो, खयाल रखना। तुम जिसको संन्यासी कहते हो वह तुमसे ज्यादा बंधन में पड़ा है।

तुम जरा आंख खोलकर तो देखो। तुम जरा जाकर जैन मुनि को तो देखो। वह तुमसे ज्यादा बंधन में पड़ा है। तुम्हारी तो थोड़ी-बहुत स्वतंत्रता भी है। उसकी तो कोई स्वतंत्रता नहीं है। होना तो उल्टा चाहिए कि संन्यासी परम स्वतंत्र हो। स्वतंत्रता ही तो संन्यासी का स्वाद होना चाहिए। स्वतंत्रता ही तो संन्यासी की परिभाषा होनी चाहिए। और क्या परिभाषा होगी? परम स्वातंत्र्य! लेकिन तुम्हारे तथाकथित साधु-मुनि स्वतंत्र हैं? तुमसे ज्यादा परतंत्र हैं। तुम्हारे हाथों में परतंत्र हैं।

जैन मुनि मुझे खबर भेजते हैं कि मिलने आना चाहते हैं लेकिन श्रावक नहीं आने देते। कहते हैं कि श्रावक नहीं आने देते। क्या करें? हद हो गई! मुनि को श्रावक नहीं आने देते। तो गुलाम कौन हुआ, मालिक कौन हुआ? मुनि के पीछे श्रावक जायें यह तो समझ में आता है लेकिन मुनि श्रावक के पीछे जा रहे हैं। और डरते हैं, क्योंकि रोटी-रोजी उन पर निर्भर, मान-सम्मान उन पर निर्भर, पद-प्रतिष्ठा उन पर निर्भर। उनकी मर्यादा से जरा यहां-वहां हुए कि सब गई पद-मर्यादा, सब प्रतिष्ठा। वे जो कल तक तुम्हारे पैर छूते थे, तुम्हारा सिर काटने को उतारू हो जायेंगे।

अनुयायी देखते रहते हैं कि अपना साधु, अपने महाराज व्यवस्था से चल रहे हैं न! आंख रखते हैं। कुछ भूल-चूक तो नहीं कर रहे हैं न! कुछ नियम व्रतभंग तो नहीं हो रहा? सब तरफ से जांच-पड़ताल रखते हैं।

अनुयायी कारागृह बन जाते हैं। और इन्होंने चित्त-निरोध किया; ये दोहरी झंझट में पड़ गये। एक तो उन्होंने अपने चित्त को बांध-बांधकर खुद को बांध लिया। क्योंकि इन्हें अभी पता ही नहीं कि चित्त के पार भी इनका कोई होना है। अभी आत्मा को तो इन्होंने जाना नहीं। आत्मा को जान लेते तो फिर चित्त को बांधने की जरूरत ही नहीं पड़ती। आत्मा के जानते ही चित्त बांधना नहीं पड़ता, चित्त अनुगत हो जाता है। आत्मा के उदभव के साथ ही चित्त झुक जाता है। ये जबर्दस्ती के झुकाव काम नहीं पड़ेंगे।

यह सारा जिस्म झुक कर बोझ से दोहरा हुआ होगा
मैं सजदे में नहीं था, आपको धोखा हुआ होगा

अब कोई दुख और पीड़ा में झुक जाये और तुम समझो कि नमाज पढ़ रहा है, कि पूजा कर रहा है।

यह सारा जिस्म झुक कर बोझ से दोहरा हुआ होगा
मैं सजदे में नहीं था, आपको धोखा हुआ होगा

ये अधिक लोग जो प्रार्थनाओं में झुक रहे हैं, गौर से देखना, दुख के कारण बोझ से दोहरे हुए जा रहे हैं। ये प्रार्थनायें नहीं हैं। इनमें प्रार्थनाओं का कोई जरा-सा भी स्फुरण नहीं है। प्रार्थनाओं की जरा-सी भी गंध नहीं है। दुख और पीड़ा में झुके हैं। डर, भय, कंपते हुए झुके हैं।

यह आनंद-अनुभूति नहीं है। और न आनंद में हुआ समर्पण है, न अहोभाव में झुक गये सिर हैं ये। गौर से देखना, शरीर ही झुका है, मन अभी भी अकड़ा खड़ा है। और जबर्दस्ती मन को भी झुका दो तो भी कुछ न होगा; जब तक कि आत्मा का जागरण न हो। उस जागरण के सूत्र हैं ये।

निर्वासनं हरिं दृष्ट्वा तूष्णीं विषयदंतिनः।
पलायंते न शक्तास्ते सेवंते कृतचाटवः।।

"वासनारहित पुरुषसिंह को देखकर विषयरूपी हाथी चुपचाप भाग जाते हैं, या वे असमर्थ होकर उसकी चाटुकार की तरह सेवा करने लगते हैं।"

यह...यही पकड़ लेने जैसी बात है।

"वासनारहित पुरुषसिंह को देखकर विषयरूपी हाथी चुपचाप भाग जाते हैं।"

विषयरूपी हाथी कहा अष्टावक्र ने। क्योंकि दिखाई बहुत बड़े पड़ते हैं, बड़े हैं नहीं।

एक लोमड़ी सुबह-सुबह निकली अपनी गुफा से। उगता सूरज! उसकी बड़ी छाया बनी। लोमड़ी ने सोचा, आज तो नाश्ते में एक ऊंट की जरूरत पड़ेगी। छाया देखी अपनी तो स्वभावतः सोचा कि ऊंट से कम में काम न चलेगा। खोजती रही ऊंट को। ऊंट को खोजते-खोजते दोपहर हो गई। अब कहीं लोमड़ियां ऊंट को खोज सकती हैं! और खोज भी लें तो क्या करेंगी?

दोपहर हो गई, सूरज सिर पर आ गया तो उसने सोचा, अब तो दोपहर भी हुई जा रही है, नाश्ते का वक्त भी निकला जा रहा है। नीचे गौर से देखा, छाया सिकुड़कर बिलकुल नीचे आ गई। तो उसने सोचा, अब तो एक चींटी भी मिल जाये तो भी काम चल जायेगा।

ये छायायें जो तुम्हारी वासना की बन रही हैं, ये बहुत बड़ी हैं। हाथी की तरह बड़ी हैं। और इनको तुम पूरा करने चले हो, ऊंट की तलाश कर रहे हो। एक दिन पाओगे, समय तो ढल गया, नाश्ता भी न हुआ, ऊंट भी न मिला। तब गौर से नीचे देखोगे तो पाओगे, छाया बिलकुल भी नहीं बन रही है।

वासना सिर्फ एक भुलावा है, एक दौड़ है। दौड़ते रहो, दौड़ाये रखती है। रुक जाओ, गौर से देखो, थम जाती है। समझ लो, विसर्जित हो जाती है।

"वासनारहित पुरुषसिंह को देखकर विषयरूपी हाथी चुपचाप भाग जाते हैं। या वे असमर्थ होकर उसकी चाटुकार की तरह सेवा करने लगते हैं।"

यही मेरा अर्थ था, जब मैंने तुमसे कहा, अनुगत हो जाती है वासना, अनुगत हो जाता है मन। तुम जागो तो जरा! फिर मन को कब्जा नहीं करना पड़ता, मन खुद ही झुक जाता है। मन कहता है, हुकुम! आज्ञा! क्या कर लाऊं? आप जो कहें। मन तुम्हारे साथ हो जाता है। मालिक आ जाये...।

देखा? बच्चे क्लास में शोरगुल कर रहे हों, उछलकूद कर रहे हों और शिक्षक आ जाये, एकदम सन्नाटा हो जाता है, किताबें खुल जाती हैं। बच्चे किताबें पढ़ने लगे, जैसे अभी कुछ हो ही नहीं रहा था। एक क्षण पहले जो सब शोरगुल मचा था, सब खो गया। शिक्षक आ गया।

ऐसी ही घटना घटती है। नौकर बकवास कर रहे हों, शोरगुल मचा रहे हों और मालिक आ जाये, सब बकवास बंद हो जाती है। ऐसी ही घटना घटती है भीतर भी। अभी मन मालिक बना बैठा है, सिंहासन पर बैठा है। क्योंकि सिंहासन पर जिसको बैठना चाहिए वह बेहोश पड़ा है। जिसका सिंहासन है उसने दावा नहीं किया है। तो अभी नौकर-चाकर सिंहासन पर बैठे हैं और उनमें बड़ी कलह मच रही है। क्योंकि एक-दूसरे को खींचतान कर रहे हैं कि मुझे बैठने दो, कि मुझे बैठने दो। मन में हजार वासनायें हैं। सभी वासनायें कहती हैं, मुझे सिंहासन पर बैठने दो। मालिक के आते ही वे सब सिंहासन छोड़कर हाथ जोड़कर खड़े हो जाते हैं, चाटुकार की तरह सेवा करने लगते हैं।

पलायंते न शक्तास्ते सेवंते कृतचाटवः।

या तो भाग ही जाती हैं ये छायायें, या फिर सेवा में रत हो जाती हैं। असली बात है, वासनारहित पुरुषसिंह।

लेकिन क्या करें? यह वासनारहित पुरुषसिंह कैसे पैदा हो? यह सोया हुआ सिंह कैसे जागे? कैसे हुंकार करे? यह सिंहनाद कैसे हो?

भगोड़ों से न होगा। क्योंकि भगोड़ों ने तो मान ही लिया, हम कमजोर हैं। जिसने मान लिया कमजोर हैं, वह कमजोर रह जायेगा। तुम्हारी मान्यता तुम्हारा जीवन बन जाती है। जैसा मानोगे वैसे हो जाओगे। बुद्ध ने कहा है, सोच-विचारकर मानना क्योंकि तुम जो मानोगे वही हो जाओगे।

पुरानी बाइबल कहती है, एज ए मैन थिंकेथ--जैसा आदमी सोचता, बस वैसा ही हो जाता। सोच-समझकर मानना। इसलिए मैं कहता हूं, भागना मत। क्योंकि भागने में यह मान्यता है कि मैं कमजोर हूं, लड़ न सकूंगा। धन जीत लेगा, पद जीत लेगा, शरीर जीत लेगा। यह संसार बड़ा है, विराट है। यह जाल बहुत बलवान है, मैं बहुत कमजोर हूं। इसलिए तो आदमी भागता है। भागे कि तुमने अपने को कमजोर मान लिया। मान लिया कमजोर, हो गये कमजोर। फिर तुम्हारी धारणा ही तुम्हारा जीवन बन जायेगी। और गुफाओं में बैठकर तुम अपने को क्षमा न कर पाओगे। क्योंकि हमेशा यह बात खलेगी कि भाग आये। हमेशा यह बात चुभेगी कि जीत न पाये। हमेशा यह बात मन को काटेगी कि तुम डरपोक, कायर। साहस काफी न था।

नहीं, लड़ो। घबड़ाओ मत। यह संसार तुमसे छोटा है। और यह मन तुम्हारा नौकर है। और ये वासनायें जितनी बड़ी तुमने समझ रखी हैं बड़ी नहीं हैं, सुबह लोमड़ी की बनी छाया है। दोपहर होते-होते छाया सिकुड़ जायेगी। समझ आते-आते, दोपहर आते-आते, प्रौढ़ता आते-आते यह छाया बड़ी छोटी हो जाती, विलीन हो जाती।

यह पुरुषसिंह कैसे जागे? पहली तो बात यह है कि भीतर छिपी हुई इस आत्मा के सिंहत्व को स्वीकार करो। इसकी उदघोषणा करो कि मालिक मैं हूं। तुम जरा देखो यह उदघोषणा करके कि मालिक मैं हूं। और इस तरह जीना शुरू करो कि मालिक तुम हो। मन फिर भी खींचेगा पुरानी आदत के वश, लेकिन मन से कह देना कि मालिक मैं हूं। मन से लड़ना भी मत, क्योंकि लड़ने का मतलब है कि तुम मालिक न रहे।

एक सिंह को एक गधे ने चुनौती दे दी कि मुझसे निपट ले। सिंह चुपचाप सरक गया। एक लोमड़ी छुपी देखती थी, उसने कहा कि बात क्या है? एक गधे ने चुनौती दी और आप जा रहे हैं? सिंह ने कहा, मामला ऐसा है, गधे की चुनौती स्वीकार करने का मतलब मैं भी गधा। वह तो गधा है ही। उसकी चुनौती से ही जाहिर हो रहा है। किसको चुनौती दे रहा है? पागल हुआ है, मरने फिर रहा है। फिर दूसरी बात भी है कि गधे की चुनौती मानकर उससे लड़ना अपने को नीचे गिराना है। गधे की चुनौती को मानने का मतलब ही यह होता है कि मैं भी उसी तल का हूं। जीत तो जाऊंगा निश्चित ही, इसमें कोई मामला ही नहीं है। जीतने में कोई अड़चन नहीं है। एक झपट्टे में इसका सफाया हो जायेगा। मैं जीत जाऊंगा तो भी प्रशंसा थोड़े ही होगी कुछ! लोग यही कहेंगे क्या जीते, गधे से जीते! और कहीं भूलचूक यह गधा जीत गया तो सदा-सदा के लिए बदनामी हो जायेगी, इसलिए भागा जा रहा हूं। इसलिए चुपचाप सरका जा रहा हूं कि इस...यह चुनौती स्वीकार करने जैसी नहीं है।

मैं सिंह हूं यह स्मरण रखना जरूरी है। मन खींचेगा। मन चुनौतियां देगा। तुमने अगर अपने मालिक होने की घोषणा कर दी, तुम कहना कि ठीक है, तू चुनौती दिये जा, हम स्वीकार नहीं करते। न हम लड़ेंगे तुझसे, न हम तेरी मानेंगे। तू चिल्लाता रह। कुत्ते भौंकते रहते हैं, हाथी गुजर जाता है। तू चिल्लाता रह।

और तुम चकित होओगे, थोड़े दिन अगर तुम मन को चिल्लाता छोड़ दो, धीरे-धीरे उसका कंठ सूख जाता। धीरे-धीरे वह चिल्लाना बंद कर देता। और जिस दिन मन चिल्लाना बंद कर देता है उस दिन...उस दिन ही अंतर्गुफा में प्रवेश हुआ। बाहर की कोई गुफा काम न आयेगी। बाहर शरण लेने से कुछ अर्थ नहीं होगा।

महावीर ने कहा है, अशरण हो जाओ। बाहर शरण लेना ही मत। अशरण हुए तो ही आत्मशरण मिलती है।

"वासनारहित पुरुषसिंह को देखकर विषयरूपी हाथी चुपचाप भाग जाते हैं, या वे असमर्थ होकर उसकी चाटुकार की तरह सेवा करने लगते हैं।"

"शंकारहित और युक्त मनवाला पुरुष यम-नियमादि मुक्तिकारी योग को आग्रह के साथ नहीं ग्रहण करता है, लेकिन वह देखता हुआ, सुनता हुआ, स्पर्श करता हुआ, सूंघता हुआ, खाता हुआ सुखपूर्वक रहता है।"

इस सूत्र को खूब ध्यान करना।

न मुक्तिकारिकां धत्ते निःशंको युक्तमानसः।
पश्यन्श्रृण्वन्स्पृशन्जिघ्रन्नश्नन्नास्ते यथासुखम्।।

जिसको अपने सिंह होने में शंका न रही, जिसको अपने आत्मा होने में शंका न रही, जिसने जरा-सा इस भीतर के अंतर्जगत का स्वाद लिया, जो थोड़ा-सा भी जागा--विवेक में, ध्यान में, समाधि में। शंकारहित--जो निःशंक हुआ।

निःशंको युक्तमानसः।

और जिसका मन युक्त हुआ।

ये दो बातें समझना। एक तो हमें अपने होने पर ही शंका है। भला हम कितना ही कहते हों कि मैं आत्मा हूं, कि मेरी कोई मृत्यु नहीं, मगर हमें इस पर भरोसा नहीं। हम कहते जरूर हैं; कहते भी हैं, मान भी लेना चाहते हैं। भरोसा करना चाहते हैं, भरोसा है नहीं। भरोसा करना चाहते हैं क्योंकि मौत से डर लगता है। मृत्यु से घबड़ाहट होती है। तो हम मान लेते हैं, आत्मा अमर है। जहां हम पढ़ते हैं किसी शास्त्र में, आत्मा अमर है--हिम्मत आती है कि ठीक; होनी चाहिए आत्मा अमर। मगर निःशंक नहीं है यह बात।

मैं एक पड़ोस में बहुत दिनों तक रहा। एक घर में कोई मर गया तो मैं गया। वहां मैंने देखा कि एक दूसरे पड़ोसी समझा रहे हैं लोगों को कि क्या रोते हो, क्या घबड़ाते हो? किसी की पत्नी मर गई है, वे समझा रहे हैं कि आत्मा तो अमर है। मैं बड़ा प्रभावित हुआ कि यह आदमी जानकार होना चाहिए। संयोग की बात, तीन-चार महीने बाद उनकी पत्नी चल बसी। पत्नियों का क्या भरोसा, कब चल बसें! तो मैं बड़ी उत्सुकता से उनके घर गया कि अब तो यह आदमी प्रसन्नता से बैठा होगा, या खंजड़ी बजा रहा होगा। पत्नी को विदा दे रहा होगा। लेकिन वे रो रहे थे सज्जन। मैंने कहा, भई बात क्या है? दूसरे की पत्नी मर गई तब तुम समझा रहे थे, आत्मा अमर है। वे कहने लगे अपने आंसू पोंछकर, अरे ये समझाने की बातें हैं। जब अपनी मर जाये तब पता चलता है।

मैं बैठा रहा। थोड़ी देर बाद देखा कि जिन सज्जन की पत्नी मर गई थी पहले, वे आ गये और इनको समझाने लगे कि क्या रोते हो? आत्मा तो अमर है।

ऐसा चलता लेन-देन। पारस्परिक सांत्वना! तुम हमको समझा देते, हम तुम्हें समझा देते। न तुम्हें पता, न हमें पता। लोग मान लेते हैं। लेकिन मान लेने का अर्थ निःशंक हो जाना नहीं है। मान तो हम वही बात लेते हैं जो हम मान लेना चाहते हैं।

इस फर्क को खयाल में रखना। यह देश है, इस देश में आत्मा की अमरता का सिद्धांत सनातन से चला आ रहा है। और इस देश से ज्यादा कायर देश खोजना मुश्किल है। अब यह बड़े आश्चर्य की बात है। यह होना नहीं चाहिए। क्योंकि जिस देश में आत्मा की अमरता मानी जाती हो, उस देश को तो कायर होना ही नहीं चाहिए। लेकिन पश्चिम के लोग आकर हुकूमत कर गये, जो आत्मा को नहीं मानते, नास्तिक हैं। जो मानते हैं कि एक दफे मरे तो मरे; फिर कुछ बचना नहीं है। वे आकर आत्मवादियों पर हुकूमत कर गये। और आत्मवादी डरकर अपने-अपने घर में छिपे रहे। वहीं बैठकर अपने उपनिषद पढ़ते रहे कि आत्मा अमर है।

आत्मा अमर है तो फिर भय क्या है? जिस आदमी को निःशंक रूप से पता चल गया आत्मा अमर है, उसके तो सब भय निरसन हो गये। उसके तो सारे भय गये। अब क्या भय है? अब तो मौत भी आये तो कोई भय नहीं है। ऐसे आदमी को परतंत्र तो बनाया ही नहीं जा सकता। ऐसे देश को तो परतंत्र बनाया ही नहीं जा सकता जो मानता हो, आत्मा अमर है।

लेकिन मामला कुछ और है। हम मानते ही इसलिए आत्मा को अमर हैं कि हम कायर हैं। हममें इतनी भी हिम्मत नहीं कि हम सीधी-सीधी बात मान लें, भई, हमें पता नहीं। जहां तक दिखाई पड़ता है वहां तक तो यही

मालूम पड़ता है कि आदमी मरा कि खतम हुआ। और हम भी मरेंगे तो खतम हो जायेंगे। इतनी भी हिम्मत नहीं है हममें स्वीकार करने की। हम बचना चाहते हैं। आत्मा की अमरता हमारे लिए शरण बन जाती है। हम कहते हैं, नहीं, शरीर मरेगा, मन मरेगा, मैं तो रहूंगा। हम किसी तरह अपने को बचा लेते हैं। लेकिन यह कोई निःशंक अवस्था नहीं है। इसलिए इसका जीवन में कोई परिणाम नहीं होता।

तो पहली तो बात है, शंकारहित--निःशंको। यह तुम्हारा अनुभव होना चाहिए, उपनिषद की सिखावन से काम न चलेगा। दोहरायें लाख कृष्ण, और दोहरायें लाख महावीर, इससे कुछ काम न चलेगा। बुद्ध कुछ भी कहें, इससे क्या होगा? जब तक तुम्हारे भीतर का बुद्ध जागकर गवाही न दे। जब तक तुम न कह सको कि हां, ऐसा मेरा भी अनुभव है। जब तक तुम न कह सको कि ऐसा मैं भी कहता हूं अपने अनुभव के आधार पर, अपनी प्रतीति के, अपने साक्षात के आधार पर कि मेरे भीतर जो है, वह शाश्वत है।

लेकिन तब तुम यह भी पाओगे कि जो शाश्वत है वह तुम नहीं हो। तुम तो अहंकार हो। तुम तो मरोगे। तुम तो जाओगे। तुम बचनेवाले नहीं हो। तुम्हारा शरीर जायेगा, तुम्हारा मन जायेगा। इन दोनों के पार कोई तुम्हारे भीतर छिपा है जिससे तुम्हारी अभी तक पहचान भी नहीं हुई। वही बचेगा। और वह तुमसे बिलकुल अन्यथा है, तुमसे बिलकुल भिन्न है। तुम्हें उसकी झलक भी नहीं मिली है। तुमने सपने में भी उसका स्वप्न नहीं देखा है।

शंकारहित कैसे होओगे? कैसे यह निःशंक अवस्था होगी? कठिन तो नहीं होनी चाहिए यह बात, क्योंकि जो भीतर ही है उसको जानना अगर इतना कठिन है तो फिर और क्या जानना सरल होगा? कठिन तो नहीं होनी चाहिए। तुमने शायद भीतर जाने का उपाय ही नहीं किया। शायद तुम कभी घड़ी भर को बैठते ही नहीं। घड़ी भर को मन की तरंगों को शांत होने नहीं देते। जलाये रहते हो मन में आग, ईंधन डालते रहते हो। दौड़ाये रखते हो मन के चाक को। चलाये रखते हो मन के चाक को। कभी मौका नहीं देते कि चाक रुके और तुम कील को पहचान लो। वह जो कील है, जिस पर चाक घूमता है, वह नहीं घूमती।

देखते? हिंदुस्तान में बड़ा अदभुत नाम है। कहते हैं, चलती का नाम गाड़ी। अब गाड़ी का मतलब होता है, गड़ी हुई। चलती का नाम गाड़ी? चलती का नाम तो गाड़ी नहीं होना चाहिए। गाड़ी का मतलब गड़ी हुई। गड़ी हुई चीज तो चलती नहीं। चलती हुई चीज तो गाड़ी नहीं हो सकती। लेकिन फिर भी चलती को गाड़ी कहते हैं।

कारण? क्योंकि चाक असली चीज नहीं है गाड़ी में; असली चीज कील है, और कील गड़ी है। चाक चलता है, कील नहीं चलती। चाक हजारों मील चल लेगा, कील जहां की तहां है, जैसी की तैसी। उस कील के कारण गाड़ी को गाड़ी कहते हैं, चाक के कारण नहीं कहते। चाक तो गौण है। असली चीज तो कील है, उस पर ही चाक घूमता है। कील केंद्र है, चाक परिधि है।

तुम्हारे भीतर भी कील है जिस पर जीवन का चाक घूमता है, जीवन-चक्र चलता। जीवन-चक्र के बहुत से आरे हैं, वे ही तुम्हारी वासनायें हैं। लेकिन सब के भीतर छिपी हुई एक कील है--अचल, कभी चली नहीं; अकंप, कभी कंपी नहीं। वही कील तुम्हारी आत्मा है।

जरा बैठो कभी। थोड़ा समय निकालो अपने लिए भी। सब समय औरों में मत गंवा दो। धन में कुछ लगता है, काम में कुछ लगता है, पत्नी-बच्चों में कुछ लगता है; हर्ज नहीं, लगने दो। कुछ तो अपने लिए बचा लो। घड़ी भर अपने लिए बचा लो। तेईस घंटे दे दो संसार को, एक घंटा अपने लिए बचा लो। और एक घंटा सिर्फ एक ही काम करो कि आंख बंद करके चाक को ठहरने दो। मत दो इसको सहारा। तुम्हारे सहारे चलता है। तुम ईंधन देते हो तो चलता है। तुम हाथ खींच लोगे, रुकने लगेगा। शायद थोड़ी देर चलेगा--मोमेंटम, पुरानी गति के कारण, लेकिन फिर धीरे-धीरे रुकेगा।

दो-चार महीने अगर तुम एक घंटा सिर्फ बैठते ही गये, बैठते ही गये--जल्दी भी मत करना, धैर्य रखना। सिर्फ एक घंटा रोज बैठते गये, आंख बंद करके बैठ गये दीवाल से टिककर और कुछ भी न किया, कुछ भी न किया--दो-चार-छः महीने के बाद तुम अचानक पाओगे, चाक अपने आप ठहरने लगा। एक दिन साल-छः महीने

के बाद तुम पाओगे...। और साल-छः महीने कोई वक्त है इस अनंतकाल की यात्रा में? कुछ भी तो नहीं। क्षण भर भी नहीं। साल-छः महीने में किसी दिन तुम पाओगे कि चाक ठहरा है और कील पहचान में आ गई। उसी दिन निःशंक हुए। उसी दिन जान लिया जो जानने योग्य है, पहचान लिया जो पहचानने योग्य है। फिर चलाओ खूब चाक। अब कील भूल नहीं सकती। अब चलते चाक में भी पता रहेगा। अब दौड़ो, भागो, यात्रायें करो संसारों की; और तुम जानते रहोगे कि भीतर कील ठहरी हुई है।

"शंकारहित और युक्त मनवाला...।"

उसी कील के अनुभव से तुम्हारे भीतर संयुक्तता आती है, योग आता है, इंटिग्रेशन आता है। जिसने अपनी कील नहीं देखी वह तो भीड़ है। एक मन कुछ कहता है, दूसरा मन कुछ कहता है, तीसरा मन कुछ कहता है। महावीर ने विशेष शब्द उपयोग किया है इस अवस्था के लिए: बहुचित्तवान। आधुनिक मनोविज्ञान एक शब्द उपयोग करता है: पॉलीसाइकिक। इस शब्द का ठीक-ठीक अनुवाद बहुचित्तवान है, जो महावीर ने दो हजार साल पहले, ढाई हजार साल पहले उपयोग किया।

जब तक तुमने अपनी कील नहीं देखी, जब तक तुमने एक को नहीं देखा है अपने भीतर तब तक तुम अनेक के साथ उलझे रहोगे। मन अनेक है, आत्मा एक है। उस एक को जानकर ही व्यक्ति संयुक्त होता है।

न मुक्तिकारिकां धत्ते निःशंको युक्तमानसः।

"और ऐसा जो युक्त मनवाला पुरुष है, शंकारहित, यम-नियमादि मुक्तिकारी योग को आग्रह के साथ नहीं ग्रहण करता।"

यह खयाल में रखना। ऐसे व्यक्ति के जीवन में यम-नियम पाओगे तुम, लेकिन आग्रह न पाओगे। चेष्टा करके यम-नियम नहीं साधता। यम-नियम सधते हैं सहज, बिना किसी आग्रह के। कोई हठ नहीं, कोई जबर्दस्ती नहीं।

ऐसा ही समझो कि आंखवाला आदमी कमरे के बाहर जाना चाहता है तो दरवाजे से निकल जाता है। ऐसा पहले खड़े होकर कसम थोड़े ही खाता है कि आज मैं कसम खाता हूं कि दरवाजे से ही निकलूंगा और दीवाल से निकलने की कोशिश न करूंगा। ऐसी कोई कसम थोड़े ही खाता है! दरवाजे से चुपचाप निकल जाता है। अंधा आदमी जब उठता है तो तय करता है कि दरवाजे से निकलना है। दरवाजे से ही निकलना है। पूछता है, दरवाजा कहां है? पूछकर भी फिर अपनी लकड़ी से टटोलता है कि दरवाजा कहां है। क्योंकि डर है, अंधा है, कहीं दीवाल से न निकलने की कोशिश कर ले; कहीं दीवाल से न टकरा जाये।

अंधा आदमी आग्रहपूर्वक दरवाजे से निकलने का प्रयास करता है। आंखवाला आदमी चुपचाप निकल जाता है। सोचता भी नहीं कि दरवाजा कहां है। जिसको दिखाई पड़ता है वह सोचेगा क्यों? सिर्फ अंधे सोचते हैं। आंखवाले सोचते ही नहीं। सोचने की जरूरत क्या है? सोचना तो अंधों के हाथ की लकड़ी है; उससे टटोलते हैं।

कोई बैठा है और कहता है, ईश्वर के संबंध में सोच रहे हैं। क्या खाक सोचोगे! ईश्वर कोई सोचने की बात है? ईश्वर तो देखने की बात है। इसलिए तो हम ईश्वर की तरफ जो यात्रा है उसको दर्शन कहते हैं, विचार नहीं कहते। पश्चिम में जो शब्द है फिलॉसफी, वह ठीक-ठीक शब्द नहीं है दर्शन के लिए। भारतीय दर्शन को भारतीय फिलॉसफी नहीं कहना चाहिए। क्योंकि फिलॉसफी का अर्थ होता है सोच-विचार, चिंतन-मनन। दर्शन का अर्थ होता है, देखना। ये शब्द बड़े अलग हैं। दर्शन का अर्थ होता है, आंख का खुल जाना, दृष्टि का मिल जाना, द्रष्टा का जाग जाना।

हां, जब तक दर्शन नहीं हुआ तब तक सोच-विचार है। जब तक सोच-विचार है तब तक शंकायें-कुशंकायें हैं। जब तक शंकायें-कुशंकायें हैं तब तक तुम एक भीड़ हो, बहुचित्तवान हो, तुम एक नहीं, संयुक्त नहीं।

"...यम-नियमादि योग को आग्रह के साथ नहीं ग्रहण करता है।"

ग्रहण करता ही नहीं; आग्रह का प्रश्न ही नहीं उठता है।

"...लेकिन वह देखता हुआ, सुनता हुआ, स्पर्श करता हुआ, सूंघता हुआ, खाता हुआ सुखपूर्वक रहता है।"

वह जीवन की सब छोटी-छोटी क्रियाओं में सरलता से जीता है। देखता हुआ देखता है, सुनता हुआ सुनता है।

देखना, झेन फकीर जो कहते हैं...। बोकोजू से किसी ने पूछा कि तुम्हारी साधना क्या है? तो उसने कहा, जब भूख लगती है तब भोजन करता और जब नींद आती है तब सो जाता। तो उस आदमी ने कहा, यह कोई साधना हुई? यह तो हम भी करते हैं, यह तो सभी करते हैं, नींद आयी तब सो गये, भूख लगी तब खा लिया। बोकोजू ने कहा कि नहीं, कभी-कभी कोई बिरला करता है। तुम भोजन करते हो और हजार काम साथ में और भी करते हो। भोजन कर रहे हो और दुकान भी चला रहे हो खोपड़ी में। भोजन कर रहे और बाजार में भी हो। भोजन कर रहे और किसी को रिश्वत भी दे रहे हो। भोजन कर रहे और हजार विचार कर रहे हो। भोजन तो डाले जा रहे हो यंत्रवत, और भीतर मन हजार दुनियाओं में दौड़ रहा है, हजार योजनायें बना रहा है।

जब तुम सोते हो तब सोते भी कहां? सपने देखते हो। न मालूम कितनी भाग-दौड़, कितनी आपाधापी नींद में भी चलती रहती है। नींद में भी तुम अपने घर नहीं आते। दिन में भागे रहते, रात में भी भागे रहते। तुम्हारा मन तो सदा चलायमान ही रहता है।

बोकोजू ने कहा, नहीं जब मैं भोजन करता तो बस भोजन करता। और बोकोजू ने कहा, जब भूख लगती तब भोजन करता। तुम्हें भूख भी नहीं लगती तो भी भोजन करते। समय हो गया तो भोजन करते। करना चाहिए भोजन तो भोजन करते। भूख का कोई संबंध नहीं है तुम्हारे भोजन से, तुम्हारी व्यवस्था का संबंध है। कभी भूख भी लगती तो भोजन नहीं करते, क्योंकि उपवास कर रहे हो। तुम प्रकृति की थोड़े ही सुनते! कभी बिना जरूरत के भोजन डालते, कभी जरूरत होती तो भोजन नहीं डालते। बड़े अजीब हो। कभी कहते पर्यूषण आ गये, अभी व्रत करना है। अब यह पेट को भूख लगती है, तुम भोजन नहीं करते। और रोज ऐसा करते कि पेट को भूख नहीं लगी तो भी भोजन डाले जाते। पेट भर जाता है तो भी नहीं सुनते। पेट कहने भी लगता है, अब क्षमा करो। दर्द भी होने लगता है, कहता है क्षमा करो, लेकिन तुम कहते, थोड़ा और।

मैंने सुना है मथुरा के एक पंडे के संबंध में; किसी के घर भोजन करने गये। इतना भोजन कर गये, इतना भोजन कर गये कि गाड़ी पर डालकर उनको घर लाना पड़ा। जब घर आये तो उनकी पत्नी ने कहा कि चलो कोई बात नहीं। ऐसा तो मेरे पिता के साथ भी होता था। यह कोई नयी बात नहीं। यह गोली ले लो। तो उन्होंने कहा, अरे पागल, अगर गोली ही खाने की जगह होती तो एक लड्डू और न खा जाते? जगह है कहां? एक गोली की भी जगह नहीं छोड़ी।

तो तुम इतना भी कर लेते हो। मेरे एक मित्र हैं, लेखक हैं। उनकी शादी हुई तो जिस घर में गये--देहाती हैं--जिस घर में शादी हुई, वह बड़ा संस्कारशील, कुलीन घर है। छोटी-छोटी पूड़ी! तो वे एक पूड़ी का एक ही कौर कर जायें। उनकी पत्नी को शर्म आने लगी। पहली ही दफा विवाह के बाद आये थे पत्नी को लेने। तो उसने ऐसा कोने से छिपकर इशारा किया दो अंगुलियों का। इशारा किया कि दो टुकड़े करके तो कम से कम खाओ। वे समझे कि शायद इस घर में दो पूड़ी एक साथ खाई जाती हैं। सो उन्होंने दो पूड़ियों का एक कौर बना लिया। मुझे कहते थे कि बड़ी बदनामी हुई।

बोकोजू कहता है, जब भूख लगती है तब भोजन करता हूं; और तब सिर्फ भोजन करता हूं। और जब नींद आती है तब, और केवल तब ही सोता हूं। और तब केवल सोता हूं।

यही इस सूत्र का अर्थ है। यह सूत्र बड़ा अदभुत है।

"...लेकिन वह देखता हुआ देखता, सुनता हुआ सुनता, स्पर्श करता हुआ स्पर्श करता, सूंघता हुआ सूंघता, खाता हुआ खाता सुखपूर्वक रहता है।"

उसके जीवन में कोई दमन नहीं है, कोई जबर्दस्ती नहीं है, कोई आत्महिंसा नहीं है, कोई कठोरता नहीं है, कोई तपत्तपश्चर्या नहीं है। न तो भोग है उसके जीवन में, न योग है उसके जीवन में। उसके जीवन में बड़ी सरलता है।

पश्यन्शृण्वन्स्पृशन्जिघ्रन्नश्नन्नास्ते यथासुखम्।

ऐसा सब क्रियाओं में होता हुआ सुखपूर्वक जीता है। डोलता नहीं अपनी कील से। चाक चलता रहता, वह अपनी कील पर थिर रहता। वह अपने में ठहरा रहता।

और यह भी खयाल रखना कि उसकी सारी प्रक्रिया बोध मात्र है। जब देखता तो बेहोशी में नहीं देखता, होशपूर्वक देखता। फर्क समझो! भगोड़ा कहता है, स्त्री को देखना मत। ज्ञानी कहता है, होशपूर्वक देखना।

बुद्ध के जीवन में एक उल्लेख है। एक भिक्षु यात्रा को जा रहा है। उस भिक्षु ने बुद्ध को कहा कि प्रभु, मार्ग के लिए कोई निर्देश हों तो मुझे दे दें; क्योंकि महीनों दूर रहूंगा, पूछ भी न सकूंगा। तो बुद्ध ने कहा, एक काम करना। रास्ते पर स्त्री मिले तो देखना मत, आंख नीचे करके निकल जाना। वह भिक्षु बोला, जैसी आज्ञा।

लेकिन बुद्ध का दूसरा शिष्य आनंद बैठा था। और आनंद की बड़ी कृपा है मनुष्य जाति पर। क्योंकि उसने बड़े अनूठे, वक्त-बेवक्त, बेबूझ, कभी असंगत-अनर्गल प्रश्न भी पूछे। उसने कहा, प्रभु रुकें। कभी-कभी ऐसा भी हो सकता है कि देखना पड़े या देखकर ही तो पता चलेगा कि स्त्री है, फिर आंख झुकानी। पहले से तो पता कैसे चल जायेगा? आखिर...पहले तो देख ही लेंगे कि स्त्री आ रही है। अब तो देख ही चुके। आप कहते हैं, स्त्री को देखकर आंख नीचे झुका लेना, मगर देख तो चुके ही, उस हालत में क्या करना?

तो बुद्ध ने कहा, अगर देख चुके हो, कोई हर्ज नहीं, छूना मत। आनंद ने कहा, और कभी ऐसा भी हो सकता है कि छूना पड़े। अब एक स्त्री गिर गई हो रास्ते पर और हमारे सिवाय कोई नहीं। उसे उठायें, न उठायें? आप कहते हैं, करुणा, दया--क्या हुआ करुणा-दया का? तो बुद्ध ने कहा, ठीक, ऐसी कोई घड़ी आ जाये तो छू लेना, मगर होश रखना।

बुद्ध ने कहा, असली बात तो होश रखना है। यह भिक्षु कमजोर है, इससे मैंने कहा, देखना मत। थोड़ा हिम्मतवर आदमी हो तो उससे मैं यह भी नहीं कहता कि देखना मत। और थोड़ा हिम्मतवर हो, उससे मैं यह भी नहीं कहता कि छूना मत। और थोड़ा हिम्मतवर हो तो उसे मैं कुछ भी आज्ञा नहीं देता। लेकिन एक ही बात--होश रखना।

ऐसा हुआ, एक बार वर्षाकाल शुरू होने के पहले एक भिक्षु राह से गुजर रहा था और एक वेश्या ने उससे निवेदन किया कि इस वर्षाकाल मेरे घर रुक जायें। उस भिक्षु ने कहा, मैं अपने गुरु को पूछ लूं। उसने यह भी न कहा कि तू वेश्या है। उसने यह भी न कहा कि तेरे घर और मेरा रुकना कैसे बन सकता है? उसने कुछ भी न कहा। उसने कहा, मेरे गुरु को मैं पूछ आऊं। अगर आज्ञा हुई तो रुक जाऊंगा।

वह गया और उसने भरी सभा में खड़े होकर बुद्ध से पूछा कि एक वेश्या राह पर मिल गई और कहने लगी कि इस वर्षाकाल मेरे घर रुक जायें। आपसे पूछता हूं। जैसी आज्ञा! बुद्ध ने कहा, रुक जाओ। बड़ा तहलका मच गया। बड़े भिक्षु नाराज हो गये। यह तो कई की इच्छा थी। इनमें से तो कई आतुर थे कि ऐसा कुछ घटे। वे तो खड़े हो गये। उन्होंने कहा, यह बात गलत है। सदा तो आप कहते हैं, देखना नहीं, छूना नहीं और वेश्या के घर में रुकने की आज्ञा दे रहे हैं?

बुद्ध ने कहा, यह भिक्षु ऐसा है कि अगर वेश्या के घर में रुकेगा तो वेश्या को डरना चाहिए; इस भिक्षु को डरने का कोई कारण नहीं है। खैर, चार महीने बाद तय होगी बात, अभी तो रुक।

वह भिक्षु रुक गया। रोज-रोज खबरें लाने लगे दूसरे भिक्षु कि सब गड़बड़ हो रहा है। रात सुनते हैं, दो बजे रात तक वेश्या नाचती थी, वह बैठकर देखता रहा। कि सुनते हैं कि वह खान-पान भी सब अस्तव्यस्त हो

गया है। कि सुनते हैं, एक ही कमरे में सो रहा है। ऐसा रोज-रोज बुद्ध सुनते, मुस्कुरा कर रह जाते। उन्होंने कहा, चार महीने रुको तो! चार महीने बाद आयेगा।

चार महीने बाद भिक्षु आया, उसके पीछे वेश्या भी आयी। वेश्या, इसके पहले कि भिक्षु कुछ कहे, बुद्ध के चरणों में गिरी। उसने कहा कि मुझे दीक्षा दे दें। इस भिक्षु को भेजकर मेरे घर, आपने मेरी मुक्ति का उपाय भेज दिया। मैंने सब उपाय करके देख लिये इसे भटकाने के, मगर अपूर्व है यह भिक्षु। मैंने नाच देखने को कहा तो इसने इंकार न किया। मैं सोचती थी कि भिक्षु कहेगा, मैं संन्यासी, नाच देखूं? कभी नहीं! जो कुछ मैंने इसे कहा, यह चुपचाप कहने लगा कि ठीक। मगर इसके भीतर कुछ ऐसी जलती रोशनी है कि इसके पास होकर मुझे स्मरण भी नहीं रहता था कि मैं वेश्या हूं। इसकी मौजूदगी में मैं भी किसी ऊंचे आकाश में उड़ने लगती थी। मैं इसे नीचे न उतार पाई, यह मुझे ऊपर ले गया। मैं इसे गिरा न पाई, इसने मुझे उठा लिया। इस भिक्षु को मेरे घर भेजकर आपने मुझ पर बड़ी कृपा की। मुझे दीक्षा दे दें, बात खतम हो गई। यह संसार समाप्त हो गया। जैसी जागृति इसके भीतर है, जब तक ऐसी जागृति मेरे भीतर न हो जाये तब तक जीवन व्यर्थ है। यह दीया मेरा भी जलना चाहिए।

बुद्ध ने अपने और भिक्षुओं से कहा, कहो क्या कहते हो? तुम रोज-रोज खबरें लाते थे। मैं तुमसे कहता था, थोड़ा धीरज रखो। इस भिक्षु पर मुझे भरोसा है। इसका जागरण हो गया है। यह जाग्रत रह सकता है। असली बात जागरण है। गहरी बात जागरण है। आखिरी बात जागरण है।

तो अष्टावक्र कहते हैं:

न मुक्तिकारिकां धत्ते निःशंको युक्तमानसः।
पश्यन्श्रृण्वन्स्पृशन्जिघ्रन्नश्नन्नास्ते यथासुखम्।।

देखो, सुनो, खाओ, पीयो, रहो संसार में--जागे हुए, सुखपूर्वक। भागो मत, भोगो मत। भोगो मत, त्यागो मत। जागो! उसी जागरण से परम सिद्धि फलित होती है।

भाग गये तो भी कल्पना पीछा करेगी। जाग गये तो फिर कल्पना बचती ही नहीं।

तुमको निहारता हूं सुबह से ऋतंभरा
अब शाम हो रही है मगर मन नहीं भरा
या धूप में अठखेलियां हर रोज करती है
एक छाया सीढ़ियां चढ़ती-उतरती है
मैं तुम्हें छूकर जरा-सा छेड़ देता हूं
और गीली पांखुरी से ओस झरती है
तुम कहीं पर झील हो, मैं एक नौका हूं
इस तरह की कल्पना मन में उभरती है

तुम दूर बैठ गये जाकर, कुछ फर्क न पड़ेगा। नई-नई कल्पनायें मन में उभरेंगी।

तुमको निहारता हूं सुबह से ऋतंभरा

दूर बैठे पहाड़ पर भी तुम उसको ही निहारोगे जिसको छोड़कर भाग गये। उसी को निहारोगे, और क्या करोगे? जिसे छोड़कर भागे हो वही तुम्हारा पीछा करेगा।

तुमको निहारता हूं सुबह से ऋतंभरा
अब शाम हो रही है मगर मन नहीं भरा
या धूप में अठखेलियां हर रोज करती है
एक छाया सीढ़ियां चढ़ती-उतरती है

नहीं कोई वास्तविक रहा तो छायायें सीढ़ियां चढ़ेंगी-उतरेंगी, सपने उठेंगे, कल्पनायें जगेंगी।

मैं तुम्हें छूकर जरा-सा छेड़ देता हूं

और तुम कल्पनाओं को छूने लगोगे। तुमने ऋषि-मुनियों की कथायें पढ़ी हैं, अप्सरायें सताती हैं। अप्सरायें कहां से आयेंगी? अप्सरायें होती नहीं। ये ऋषि-मुनि जिनको भाग गये हैं छोड़कर, उनकी ही कल्पनायें हैं।

छायायें सीढ़ियां चढ़ती-उतरती हैं। कोई नहीं सता रहा। अप्सराओं को क्या पड़ी तुम्हारे विश्वामित्रों को सताने के लिए! अप्सराओं को फुरसत कहां? देवताओं से फुरसत मिले तब तो वे इन...और ऋषि-मुनियों को बेचारों को! नाहक सूख गये जिनके देह, हड्डी-मांस सब खो गया, अस्थि-पंजर रह गये जो, इन पर अप्सराओं को इतना क्या मोह आता होगा! अप्सरायें इन्हें देखकर डरें, यह तो समझ में आता--कि बाबा आ रहे हैं! मगर अप्सरायें इनको सताने आयें, नग्न होकर इनके आसपास नाचें...।

मगर बात में रहस्य है। ये अप्सरायें इनके मन की ही छायायें हैं। स्त्रियों को छोड़कर भाग गये हैं, स्त्रियां मन में बसी रह गई हैं।

एक छाया सीढ़ियां चढ़ती-उतरती है
मैं तुम्हें छूकर जरा-सा छेड़ देता हूं
और गीली पांखुरी से ओस झरती है
तुम कहीं पर झील हो, मैं एक नौका हूं
इस तरह की कल्पना मन में उभरती है

और कल्पनाओं पर कल्पनायें उभरती रहेंगी। जिससे तुम भागे हो उससे तुम कभी छूट न पाओगे। उससे तुम सदा के लिए बंधे रह जाओगे। भागने में ही बंधन हो गया। भागने में ही गांठ बंध गई। भागने में ही तुमने बता दिया कि जीत नहीं सके, हार गये। जिससे हार गये उससे हारे रहोगे; बार-बार हारना होगा।

अष्टावक्र उस पक्ष में नहीं हैं। वे कहते हैं, "यथार्थ सत्य के श्रवण मात्र से शुद्ध-बुद्धि और स्वस्थ चित्त हुआ पुरुष न आचार को, न अनाचार को, न उदासीनता को देखता है।"

वस्तुश्रवणमात्रेण...।

मैं तुमसे रोज कहता रहा हूं, प्रज्ञा प्रखर हो तो सुनने मात्र से, श्रवणमात्रेण।

वस्तुश्रवणमात्रेण शुद्धबुद्धिर्निराकुलः।

जिसकी बुद्धि शुद्ध हो, निराकुल हो, तरंगें न उठ रही हों; वस्तुश्रवणमात्रेण--बस सुन लिया सत्य को कि हो गई बात, घट गई बात। कुछ करने को शेष नहीं रह जाता है।

नैवाचारमनाचारमौदास्यं वा प्रपश्यति।

और ऐसे व्यक्ति के जीवन में, जहां चित्त स्वस्थ है, शुद्ध है बुद्धि, सत्य के श्रवण मात्र से, सिर्फ सत्य के आघात मात्र से, सत्य के संवेदन मात्र से जो मुक्त हुआ है; किसी आग्रह, हठ, योग, नियम, व्रत इत्यादि से नहीं, बोध मात्र से जो मुक्त हुआ है; ऐसे व्यक्ति के जीवन में न तो आचार होता, न अनाचार होता। इतना ही नहीं, उदासीनता भी नहीं होती।

ये तीन बातें हैं साधारणतः। एक आदमी है अनाचार में भरा हुआ, जिसको हम कहते हैं भोगी। दूसरा व्यक्ति है आचार से भरा हुआ, उसको हम कहते हैं योगी। इन दोनों के ऊपर एक व्यक्ति है उदासीन जिसके जीवन में अब न आचार रहा, न अनाचार रहा; जो दोनों से हटकर एकदम उदासीन हो गया है। यह तीसरी अवस्था है। अष्टावक्र कहते हैं, एक चौथी अवस्था भी है: उदासीन भी नहीं। यह चौथी अवस्था बड़ी अपूर्व है।

समझें। अनाचार में जो पड़ा है, वह जो गलत है उसको भोग रहा है। आचार में जो पड़ा है, वह जो ठीक है उसको भोग रहा है। दोनों का चुनाव है। अनाचारी आधे को चुन लिया, आधे को छोड़ दिया। आचारी ने दूसरे आधे को चुन लिया, पहले आधे को छोड़ दिया। लेकिन पूरा सत्य दोनों के हाथ में नहीं है। इस बात को देखकर उदासीन ने दोनों को छोड़ दिया; लेकिन उसके हाथ में भी पूरा सत्य नहीं है। उदासीन तो नकारात्मक अवस्था है। वह बैठ गया तटस्थ होकर। उसने धारा में बहना छोड़ दिया।

एक चौथी अवस्था है--न आचार, न अनाचार, न उदासीनता। जीवन में खड़ा है व्यक्ति। न तो तय करता है कि आचरण से रहूंगा, न तय करता है कि अनाचरण में ही अपने जीवन को डालकर रहूंगा। तुमने खयाल

किया, साधुओं के भी संकल्प होते हैं, असाधुओं के भी। साधु कहता है, जो शुभ है वही करूंगा। और असाधु कहता है, देखें कौन क्या बिगाड़ता है, अशुभ को करके रहेंगे।

अगर तुम कारागृह में जाओ तो तुम्हें पता चलेगा। कारागृह में बंद लोग अपने अपराधों को भी बढ़ा-चढ़ाकर बताते हैं। क्योंकि वहां तो अपराधी ही अपराधी हैं। वहां तो अहंकार को तृप्त करने का एक ही उपाय है। कोई कहता है, मैंने दो आदमी मारे। वह कहता, यह क्या रखा! अरे ऐसे बीसों मार चुका। कोई कहता है, लाख रुपये का डाका डाला। वह कहता है, यह भी कोई डाका है? अरे यह तो हमारे घर में बच्चे कर लेते हैं। ऐसे करोड़ का डाका डाला है।

मैंने सुना है, एक कारागृह में एक आदमी प्रविष्ट हुआ। एक कोठरी में उसे ले जाया गया। कोठरी में जो पहले से ही कारागृह में बंद आदमी था, उसने पूछा, कितने दिन की सजा हुई? इस आदमी ने कहा, दो साल की। उसने कहा, तू वहीं दरवाजे के पास अपना डेरा रख। जल्दी तेरे को निकल जाना है। इधर हमको तीस साल रहना है। उसकी अकड़! वहीं रख डेरा दरवाजे के पास। ऐसे ही कोई सिक्खड़ मालूम होता। नौसिखुआ! चले आये! करना-धरना नहीं आता कुछ। अभी वहीं रह। तेरे जाने का वक्त तो जल्दी आ जायेगा। दो साल ही हैं न कुल? इधर तीस साल रहना है। तो दादा गुरु...।

कारागृह में लोग अपने पाप का भी बखान करते हैं जोर से। बड़ा करके बढ़ा-चढ़ाकर अतिशयोक्ति करते। ठीक वैसा ही जैसा कि तुम रुपया दान दे आते तो हजार बताते हो।

एक सज्जन मेरे पास आये, पत्नी उनके साथ थी। पत्नी ने अपने पति की प्रशंसा में कहा कि बड़े दानी हैं। शायद आपने इनका नाम सुना हो, न हो, एक लाख रुपया दान कर चुके अब तक। पति ने ऐसा धक्का मारा हाथ से और कहा, एक लाख दस हजार। यह कोई बात है! वह दस हजार की चोट लग गई उनको कि दस हजार भूले जा रही है, क्या मामला है?

आदमी शुभ की भी घोषणा करके अहंकार को भर लेता है, अशुभ की घोषणा करके भी अहंकार को भर लेता है। शुभ के भी जिद्दी हैं और अशुभ के भी जिद्दी हैं। फिर इन दोनों को छोड़कर भी बैठ गये उदासीन लोग हैं जिनके चेहरे पर मक्खियां उड?ने लगती हैं। उदासी आ गई। वे कहते हैं कि अब कुछ रस नहीं है। अच्छे-बुरे में कुछ रस नहीं है। बैठ गये, तटस्थ हो गये।

लेकिन अष्टावक्र कहते हैं, इन तीनों के पार एक वास्तविक चित्तदशा है। उदासीनता तो अच्छी बात नहीं। अस्तित्व तो उत्सव है। इस उत्सव में उदासीनता तो प्रभु का अपमान है। यहां फूल खिले हैं, सूरज उगा है, पक्षी गीत गा रहे हैं, नाचो। यहां उदासीन होना तो प्रभु ने यह जो जगत दिया, उस प्रभु का अपमान है। इस अस्तित्व ने जो इतना अवसर दिया इसमें उदासीन न होकर बैठ गये? यह तो तौहीन है। यह बात ठीक नहीं। उत्सव चाहिए जीवन में, उदासीनता नहीं। और उत्सव ऐसा चाहिए कि जिसमें कोई आग्रह न हो।

क्षण-क्षण जीयो निराग्रह से। न तो तय करो कि शुभ करेंगे, न तय करो कि अशुभ करेंगे; जो परमात्मा करवा ले। जो उसकी मर्जी। उसकी मर्जी पर छोड़ दो। जो भी करेंगे, बोधपूर्वक करेंगे। और जो वह करवा लेगा उसमें राजी रहेंगे। ऐसी परम राजीपन की दशा चौथी दशा है।

"धीरपुरुष, जब जो कुछ शुभ अथवा अशुभ करने को आ पड़ता है उसे सहजता के साथ करता है...।"

खयाल रखना, शुभ या अशुभ। अष्टावक्र का मुकाबला नहीं। अष्टावक्र की क्रांति का कोई मुकाबला नहीं। अष्टावक्र अतुलनीय हैं।

"धीरपुरुष, जब जो कुछ शुभ अथवा अशुभ करने को आ पड़ता है उसे सहजता के साथ करता है, क्योंकि उसका व्यवहार बालवत है।"

शुभ आ जाये, शुभ करवा ले प्रभु तो शुभ; अशुभ करवा ले तो अशुभ। वह चुनाव नहीं करता।

यही तो कृष्ण अर्जुन से कह रहे हैं कि अगर प्रभु की मर्जी है कि युद्ध हो तो तू लड़। अब तू कौन है बीच में कहनेवाला कि यह अशुभ है, हिंसा हो जायेगी, पाप हो जायेगा? तू कौन बीच में आनेवाला? तू निमित्त मात्र है। अर्जुन से कृष्ण कहते हैं, ये जो सामने खड़े लोग हैं, मैं देखता हूं, ये मारे जा चुके हैं। तू तो निमित्त मात्र है। इनकी मौत तो घट चुकी। मैं जरा आगे की देख रहा हूं, इनकी मौत हो चुकी है। घड़ी-दो घड़ी की बात है। ये मारे जा चुके हैं। तू निमित्त मात्र है। तेरे कंधे पर रखकर गांडीव चला कि किसी और के कंधे पर रखकर चला, कुछ फर्क नहीं पड़ता। ये मारे जा चुके। तू यह मत सोच कि तू इन्हें मारनेवाला है। तू कर्ता मत बन।

और तू कौन है बीच में सोचे कि क्या शुभ, क्या अशुभ? यह भी जरा समझने की बात है। क्योंकि तुम कभी शुभ करो और हो जाता है अशुभ। और तुम कभी अशुभ करो और हो जाता है शुभ।

चीन में ऐसा हुआ कि एक आदमी के सिर में दर्द था--कोई चार हजार साल पुरानी कथा है--बड़ा दर्द था और जीवन भर से दर्द था। और एक दुश्मन ने छिपकर उसे तीर मार दिया। उसके पैर में तीर लगा और दर्द चला गया। बड़ी हैरानी हुई। तीर तो निकल गया, वह आदमी बच भी गया, लेकिन दर्द चला गया। इसी आदमी के अनुभव से चीन में एक शास्त्र का जन्म हुआ: अकुपंक्चर। इससे यह पता चला कि दर्द तो उसके सिर में था लेकिन असली उलझन उसके पैर में थी। उसके पैर में विद्युत का प्रवाह अटक गया था, उसका परिणाम सिर में हो रहा था। सिर के इलाज करने से कुछ भी नहीं हो सकता था। उसके पैर में जो विद्युत का प्रवाह अटक गया था वह तीर के लगने से संयोगवशात खुल गया। तब से अकुपंक्चर पैदा हुआ।

अकुपंक्चर बड़ी अनूठी औषधि है। तुम्हारे बायें हाथ में दर्द हो, वे दायें हाथ का इलाज करें। तुम्हारे सिर में दर्द है, वे पैर के अंगूठे का इलाज करें और ठीक कर दें। और इलाज भी कुछ नहीं है सिर्फ थोड़ा-सा एक सुई चुभा दी। उस सुई के चुभाने से जीवन की ऊर्जा का जो प्रवाह है, उसको बदल देते हैं।

अब इस आदमी ने तो तीर मारा था अशुभ के लिए, लेकिन हो गया शुभ। न केवल उस आदमी के जीवन में शुभ हो गया, उसका सिरदर्द चला गया, चार हजार साल में करोड़ों लोगों ने लाभ लिया अकुपंक्चर से। वह सब लाभ उसी आदमी के ऊपर जाता है जिसने तीर मारा था। लेकिन उसकी आकांक्षा तो बुरी थी, वह तो अशुभ करने चला था।

कभी तुम शुभ करने जाते हो और अशुभ हो जाता है। तुम सब अच्छा कर रहे थे और सब गड़बड़ हो जाता है। अक्सर ऐसा होता है कि बाप बेटे को बहुत अच्छा बनाना चाहता है इसी कारण बेटा बुरा हो जाता है। तुम्हारी ज्यादा चेष्टा खतरनाक होती है।

गांधी जैसा अच्छा बाप पाना मुश्किल है। गांधी ने अपने पहले बेटे को बरबाद कर दिया, हरिदास को। गांधी ने ही बरबाद किया। उसको इतना अच्छा बनाने का...उनको तो महात्मा होने की धुन सवार थी, उसको भी महात्मा बनाना है। तुम्हें महात्मा बनना है, तुम बनो। कोई मना नहीं कर रहा है। लेकिन दूसरे पर तो मत थोपो। दूसरे का मौका आने दो। जब उसको मौका आयेगा, आयेगा।

वे हरिदास को जबर्दस्ती महात्मा बनाने में लग गये। हरिदास को इस तरह महात्मा बनाया उन्होंने कि हरिदास के भीतर बगावत पैदा हो गई। उसने बुरी तरह बदला लिया। बदला लेने में अपने को भी नष्ट कर लिया। जो-जो गांधी कहते थे उससे उल्टा करने लगा। शराब पीने लगा, वेश्यागामी हो गया और आखिर में मुसलमान हो गया। क्योंकि गांधी कहते थे, हिंदू-मुस्लिम सब एक; तो उसने कहा, अब यह आखिरी चोट भी करके देख लें। वह मुसलमान हो गया। हरिदास गांधी से अब्दुल्ला गांधी हो गया। और जब गांधी को खबर मिली कि हरिदास मुसलमान हो गया तो उनको बड़ा सदमा पहुंचा। जब यह खबर हरिदास को मिली तो वह हंसा, उसने कहा कि अरे, सदमा! हिंदू-मुस्लिम सब एक, अल्ला-ईश्वर तेरे नाम--इसमें सदमा क्या? तो बात सब बकवास थी, ऊपर-ऊपर थी! सदमे की क्या बात है? मैं मुसलमान हो गया तो कुछ बुरा हो गया? तो वह जो हिंदू-मुस्लिम एक है, सब राजनीति ही थी? वह कुछ गहरी बात नहीं थी।

गांधी ने अच्छा बनाने की कोशिश की। लेकिन कोई किसी के अच्छा बनाने से थोड़े ही अच्छा बनता है! अक्सर ऐसा होता है, अच्छे बाप के बेटे बिगड़ जाते हैं। अक्सर ऐसा होता है। क्योंकि चारों तरफ से उनकी गर्दन

कसने की कोशिश की जाती है कि अच्छे बनो। जबर्दस्ती दुनिया में कहीं अच्छाई होती है? अच्छाई तो स्वतंत्रता में फलती है।

तो तुम अच्छा करो, बुरा हो जाता है। बुरा करो, कभी अच्छा हो जाता है। तो तुम्हारे करने का क्या भरोसा? परमात्मा पर छोड़ दो।

फिर जो अभी अच्छा लगता है, क्षण भर बाद बुरा हो सकता है। क्योंकि जगत की कथा तो चलती चली जाती है। इसमें हर चीज बदलती रहती है। तुम एक कुएं के पास से निकलते थे, कोई गिर पड़ा, तुमने उसको निकालकर बचा लिया। वह आदमी गया गांव में, किसी की हत्या कर दी। अब तुम जिम्मेवार हो या नहीं? न तुम बचाते, न यह हत्या होती। अब यह बड़ी मुश्किल हो गई। तुमने हत्या के लिए बचाया भी नहीं। तुम तो बड़ी दया कर रहे थे।

इसलिए तेरापंथी जैन कहते हैं, बचाना ही मत। वह जो कुएं में पड़ा है, पड़ा रहने दो, तुम अपने रास्ते जाओ। क्योंकि बचाया और कहीं उसने जाकर किसी की हत्या कर दी। फिर? कोई प्यासा मर रहा है और तुम्हारे पास पानी है तो तेरापंथी कहते हैं, पानी भी मत पिलाना। क्योंकि क्या पता? पानी पिलाकर ठीक हो जाये, रात किसी के घर डाका डाल दे। फिर कौन जिम्मेवार? इसलिए तुम उदासीन रहना। तुम अपने चले जाना अपने रास्ते पर। वह अपना कर्म भोग रहा है, तुम अपना कर्म भोगो। बीच में बाधा डालो मत।

लेकिन यह तो बड़ी कठोरता हो जायेगी। और यह तो आदमियत से बड़ा नीचे गिरना हो जायेगा। तो फिर क्या उपाय है? अष्टावक्र का सुझाव ज्यादा कारगर है।

अष्टावक्र कहते हैं, जो जिस क्षण में प्रभु करवा ले वह कर लो। तुम कर्ता मत बनो। तुम कह दो, निमित्त मात्र हूं। योजना भी मत रखो कि मैं यही करूंगा और यह न करूंगा। यह ठीक, यह गलत, ऐसा हिसाब भी मत रखो। यह जगत इतना रहस्यपूर्ण है कि क्या गलत, क्या ठीक! और यह कथा इतनी लंबी है कि जो अभी गलत मालूम होता है, क्षण भर बाद ठीक हो जा सकता है। और जो क्षण भर पहले ठीक मालूम होता था, क्षण भर बाद गलत हो सकता है। कुछ कहा नहीं जा सकता। इसलिए इस अनजान विराट लीला में तुम निमित्त मात्र रहो।

"धीरपुरुष जब जो कुछ शुभ अथवा अशुभ करने को आ पड़ता है उसे सहजता के साथ करता है...।"

वह उसमें अड़चन नहीं लेता। वह निमित्त बन जाता है। वह कहता है, ठीक।

"क्योंकि उसका व्यवहार बालवत है।"

यदा यत्कर्तुमायाति तदा तत्कुरुते ऋजुः।

सरलता से, ऋजुता से, सहजता से, बिना कोई बोझ लिये--कि शुभ कर रहा हूं, इसकी अकड़ लिये, कि अशुभ कर रहा हूं, इसकी अकड़ लिये, कि पुण्य किया कि पाप किया--किसी तरह का अहंकार बिना लिये और किसी तरह का पश्चात्ताप बिना लिये। प्रभु ने जो करवाया, किया। जो हुआ, हुआ। न पीछे लौटकर देखता है, न आगे की योजना करता है। क्षण में जो हो जाता है, हो जाता है।

यदा यत्कर्तुमायाति तदा तत्कुरुते ऋजुः।
शुभं वाप्यशुभं वापि तस्य चेष्टा हि बालवत्।।

और छोटे बच्चे की तरह सरल। छोटे बच्चे में देखा? क्षण-क्षण जीता है। वही उसका सौंदर्य है। क्षण में तुमसे नाराज हो गया और कहने लगा, अब तुम्हारा चेहरा भी कभी न देखेंगे। कट्टी हो गई। बात खतम हो गई। और क्षण भर बाद तुम्हारी गोदी में आ बैठा और हंस रहा है। और बात ही भूल गया।

ऐसा बालवत। शुभ-अशुभ में हिसाब नहीं है। क्रोध और प्रेम में भी हिसाब नहीं है। जो क्षण में होता है, पूरे भाव से कर लेता है। फिर क्षण के साथ ही विदा हो जाती है बात। ऐसा क्षण-क्षण रूपांतरित, क्षण-क्षण

प्रवाहमान, क्षण-क्षण सरितवत, ऐसा जो व्यक्ति है उसको ही अष्टावक्र साधु कहते हैं। उसी को सरल। साधु यानी सरल, ऋजु।

"धीरपुरुष स्वतंत्रता से सुख को प्राप्त होता है, स्वतंत्रता से परम को प्राप्त होता है, स्वतंत्रता से नित्य सुख को प्राप्त होता है, और स्वतंत्रता से परमपद को प्राप्त होता है।"

स्वतंत्रता अष्टावक्र का सारसूत्र है; अष्टावक्र की कुंजी।

कृष्णमूर्ति की एक किताब है: "द फर्स्ट एंड लास्ट फ्रीडम", पहली और अंतिम स्वतंत्रता। इस एक सूत्र की व्याख्या है पूरी किताब। या पूरी किताब को इस एक सूत्र में समाया जा सकता है। यह सूत्र अदभुत है।

स्वातंत्र्यात्सुखमाप्नोति स्वातंत्र्यात् लभते परम्।
स्वातंत्र्यान्निर्वृतिं गच्छेत् स्वातंत्र्यात् परमं पदम्।।

"धीरपुरुष स्वतंत्रता से सुख को प्राप्त होता है...।"

पराधीनता में तो सुख कहां? फिर पराधीनता दूसरे की हो या अपनी ही थोपी हुई, पराधीनता में तो सुख कहां? पराधीनता में तो दुख ही है। जंजीरें दूसरे ने पहनाई हों कि खुद पहन ली हों, इससे कुछ फर्क नहीं पड़ता। पंख किसी और ने काटे हों कि खुद कटवा दिये हों, इससे कुछ फर्क नहीं पड़ता। परतंत्रता में दुख है, क्योंकि परतंत्रता में सीमा बंध जाती है। असीम में सुख है।

इसलिए अष्टावक्र कहते हैं, स्वातंत्र्यात्सुखमाप्नोति। एक ही सुख है जगत में, वह है स्वतंत्र हो जाना। तो समस्त मर्यादाओं से, समस्त सीमाओं से, समस्त यम-नियम, समस्त जपत्तप, साधना मात्र से स्वतंत्र हो जाना है।

यह तो आधा हुआ स्वतंत्रता का हिस्सा--नकारात्मक हिस्सा: किस-किस चीज से स्वतंत्र हो जाना है। और फिर किसमें स्वतंत्र हो जाना है--बोध में। बंधनों से स्वतंत्र हो जाना है, यह तो स्वतंत्रता का नकारात्मक हिस्सा है। फिर बोध में, जागृति में, साक्षीभाव में स्वतंत्र हो जाना, यह स्वतंत्रता का विधायक हिस्सा है।

नकारात्मक स्वतंत्रता ही अगर हो तो तुम स्वच्छंद हो जाओगे, उच्छृंखल के अर्थ में। जब तक विधायक स्वतंत्रता न हो तब तक तुम स्वच्छंद न हो पाओगे, अष्टावक्र के अर्थ में। तो स्वतंत्रता के दो पहलू खयाल रखना--जिससे स्वतंत्र होना है और जिसके लिए स्वतंत्र होना है। दोनों बातें अगर मिल जायें तो तुम्हारे भीतर का स्वयं का छंद प्रगट होगा। स्वच्छंदता प्रगट होगी। तुम्हारे भीतर छिपा गीत फूटेगा। तुम्हारा झरना बहेगा। तुम्हारा कमल खिलेगा।

स्वातंत्र्यात्सुखमाप्नोति स्वातंत्र्यात् लभते परम्।

और इसी स्वतंत्रता में परम ज्ञान का जन्म होता है। उस परम का, अल्टिमेट का, आखिरी का, जिसके पार फिर कुछ जानने को नहीं रह जाता, उसका बोध होता है। वह ज्ञान कोई बाहर नहीं है, वह तुम्हारा आत्म-साक्षात्कार है। जहां कोई बंधन न रहे, जहां सब बंधन विसर्जित हुए और जहां तुम्हारे भीतर की ज्योति मुक्त हुई और तुम्हारी ज्योति प्रकट हुई, वहां तुम्हारे भीतर परम ज्ञान की घटना घटी। परम कैवल्य कहो, परम सत्य कहो, आत्मा कहो, परात्पर ब्रह्म कहो, जो नाम देना हो। लेकिन परम है उसका नाम। परम का अर्थ है, इसके पार अब कुछ भी नहीं। चरम आ गया। आखिरी आ गया। इसके पार न पाने को कुछ है, न जानने को कुछ है। और जब तक यह परम न जान लिया जाये तब तक जीवन की दौड़ नहीं मिटती।

स्वातंत्र्यान्निर्वृतिं गच्छेत्...।

और स्वतंत्रता में ही व्यक्ति निर्वाण में प्रवेश करता। स्वतंत्रता में ही स्वयं से मुक्ति हो जाती। स्वतंत्रता में ही अहंकार जलता और बुझ जाता। मोमबत्ती बुझ जाती, सूरज प्रगट हो जाता।

स्वातंत्र्यान्निर्वृतिं गच्छेत् स्वातंत्र्यात् परमं पदम्।

और स्वतंत्रता में ही व्यक्ति परमपद पर विराजमान हो जाता, परमात्मा हो जाता।

इसी घड़ी में अलहिल्लाज मंसूर ने घोषणा की थी: अनलहक। मैं सत्य हूं। इसी घड़ी में जीसस ने कहा: मैं और मेरा परमात्मा एक है। इसी घड़ी में उपनिषदों ने कहा, "अहं ब्रह्मस्मि।" इसी घड़ी की ओर इशारा किया है उद्दालक ने, जब अपने बेटे श्वेतकेतु को कहा, "तत्वमसि। वह तू ही है। तू ही वह है।"

यह परमपद है, जहां व्यक्ति अपने भीतर छिपे परमात्मा को प्रकाशमान हो जाने देता। जहां अपने भीतर जो छिपी संपदा थी जन्मों-जन्मों की, अनंत काल की, वह खजाना खुलता है। जहां भीतर का कोहिनूर प्रकट होता है। वहां तुम मनुष्य नहीं रह जाते, वहां तुम विभु हो जाते, प्रभु हो जाते।

इस स्वतंत्रता के अर्थ को ठीक से गृहीत कर लेना, क्योंकि लोग केवल स्वतंत्रता का अर्थ नकारात्मक मानते हैं। वे कहते हैं, मत मानो कुछ, स्वतंत्रता हो गई। इतने से नहीं होती। इतने से उच्छृंखलता होती। मत मानो कुछ, यह स्वतंत्रता का अनिवार्य चरण है, इतना काफी नहीं है। इतना जरूरी तो है, लेकिन इससे आगे जाओ। आगे का अर्थ है, भीतर प्रकाश को उपलब्ध होओ।

दूसरों ने जो प्रकाश दिये हैं उनको तो छोड़ दो; क्योंकि उनके कारण स्वयं के प्रकाश को पाने में बाधा पड़ रही है, लेकिन सिर्फ उनको बुझाकर मत बैठ जाना। नहीं तो कुछ थोड़ी-बहुत रोशनी थी, वह भी गई। अपनी तो जागी न, बाहर से जो मिलती थी वह भी गई।

खुद का बोध जब तक पैदा न हो जाये तब तक तुम बाहर से जो बोध मिल रहा है, मजबूरी में उसको मानकर चलना ही पड़ेगा; अन्यथा तुम और बुरी तरह भटक जाओगे। ये दोनों बातें साथ-साथ घटती हैं। ये एक ही सिक्के के दो पहलू हैं।

बाहर की मानो मत, भीतर की जानो। जिस दिन भीतर की जानने लगोगे, उस दिन बाहर की मानने की जरूरत ही न रह गई। और ऐसा नहीं है कि उस घड़ी में तुम अपराधी हो जाओगे। ऐसा भी नहीं है कि उस घड़ी में तुम समाज-विपरीत हो जाओगे। ऐसा भी नहीं कि उस घड़ी में तुम सारी मर्यादायें तोड़ दोगे। लेकिन अब मर्यादायें नये ढंग से पूरी होंगी। अब तुम्हारे अपने अनुभव से पूरी होंगी।

तुम अब भी वही अपने को करते हुए पाओगे जो वस्तुतः शुभ है। लेकिन अब समाज की धारणाओं के अनुसार नहीं, अब परमात्मा को अपने में बहने दोगे। कभी-कभी ऐसा होता है कि जो इस घड़ी में अशुभ मालूम होता है वह आगे की घड़ी में शुभ हो जाता है। अब तुम परमात्मा को अपने से बहने दोगे। तुम कहोगे, जो तेरी मर्जी। तू अंत को जानता, तू प्रथम को जानता। हमें न प्रथम का पता, न अंत का पता। हमें तो कहानी की बीच की थोड़ी-सी झलक है। इस थोड़ी-सी झलक के आधार पर हम पूरा निर्णय नहीं कर सकते। तू पूरा निर्णय जानता है। तू जानता है कहां से आना हो रहा है चैतन्य का, कहां जाना हो रहा है। तुझे पूरे का पता है। उस पूरे के संदर्भ में तू जो करवाये, शुभ है; फिर चाहे इस क्षण में अशुभ ही क्यों न मालूम पड़ता हो।

ऐसी प्रतीति जब गहन हो जाती और व्यक्ति समर्पित हो जाता समष्टि को, तब जीवन में परम क्रांति का क्षण आता। इस आमूल क्रांति को ही धर्म कहते हैं। धर्म शास्त्रों में नहीं है, स्वयं के संगीत के साथ बहने में है। धर्म का अर्थ ही स्वभाव है।

और इस स्वभाव को पाने की व्यवस्था स्वतंत्रता है।

अपने को बांधो मत, खोलो। पिंजरों के सींखचों से अपने को जकड़ो मत। उड़ो। खुला आकाश तुम्हारा है। तुम आकाश हो। इससे कम पर राजी मत हो जाना। जब तक पूरे आकाश पर तुम्हारे पंख न फैल जायें तब तक बढ़ते ही जाना है, तब तक चलते ही जाना है।

बुद्ध ने कहा है अपने भिक्षुओं को: "चरैवेति, चरैवेति।"

चलते जाओ, चलते जाओ, जब तक परमपद न आ जाये। जब तक आखिरी मंजिल न आ जाये तब तक कोई पड़ाव नहीं। रुक लेना, रात भर विश्राम कर लेना, लेकिन ध्यान रखना, सुबह चल पड़ना। और किसी

पड़ाव से इतना मोह मत बना लेना कि उसी को मंजिल मानने लगो। ऐसे हर पड़ाव से स्वतंत्र होते, हर नियम से मुक्त होते, एक दिन परम मुक्ति फलित होती है। स्वतंत्रता प्रथम चीज है और स्वतंत्रता अंतिम।

स्वातंत्र्यात्सुखमाप्नोति स्वातंत्र्यात् लभते परम्।
स्वातंत्र्यान्निर्वृतिं गच्छेत् स्वातंत्र्यात् परमं पदम्।।

आज इतना ही।

सत्तरवां प्रवचन

दिल का देवालय साफ करो

पहला प्रश्न: आप अकर्ता होने को कहते हैं। लेकिन कोई भी निर्णय या चुनाव करते समय कर्ता फिर-फिर खड़ा हो जाता है। अकर्ता कैसे होवें? कैसे बनें उसकी बांसुरी? कैसे हटायें "मैं-भाव" को? कैसे पहचानें कि यह निर्णय उसका ही है?

पहली बात, तुम अकर्ता न बन सकोगे। तुम्हारे कुछ किये अकर्ता न सधेगा। तुम जो भी करोगे, कर्ता ही निर्मित होगा उससे। करोगे तो कर्ता निर्मित होगा। तुम मिटने की भी कोशिश करोगे, तो भी कर्ता ही निर्मित होगा। विनम्रता भी अहंकार का ही आभूषण बन जाती है। मैं नहीं हूं, ऐसी घोषणा भी मैं से ही उठ आयेगी। ऐसे तो तुम धोखे में पड़ोगे। ऐसे तो बड़ा जाल उलझ जायेगा। सुलझा न सकोगे।

अकर्ता कोई बन नहीं सकता। अकर्ता बनने की बात नहीं है। क्योंकि जो भी बनेगा, वह तो कर्ता ही रहेगा। कृत्य मात्र कर्ता को ही निर्माण करता है। अब तुम जो भी प्रश्न पूछ रहे हो, वह मौलिक रूप से गलत है। प्रश्न की दिशा ही गलत है। मैं क्या करूं? मैं कैसे अकर्ता होऊं? कैसे बनूं उसकी बांसुरी? कैसे हटाऊं "मैं-भाव" को? कैसे पहचानूं कि यह निर्णय उसका है? इस सब के पीछे तुम मौजूद हो। यह कौन है जो उसकी बांसुरी बनना चाहता है? यह कौन है जो कहता है, कैसे "मैं-भाव" को छोड़ूं? यही तो कर्ता है।

फिर क्या करें? करने को तो कुछ बचता नहीं। फिर क्या करें? बस कर्ता कैसे निर्मित होता है इस बात को समझ लेने से, धीरे-धीरे कर्ता अपने-आप तिरोहित हो जाता है। कुछ करना नहीं पड़ता। तुम पूछते हो, कैसे बनें उसकी बांसुरी? बांसुरी तुम हो। यह बनने का प्रश्न ही नहीं। यह तुमने मान रखा है कि तुम बांसुरी नहीं हो। बांसुरी तो तुम अभी भी हो। इस क्षण भी वही सुन रहा है तुम्हारे भीतर, वही बोल रहा है। एक क्षण को भी इससे अन्यथा होने का उपाय नहीं है। जब तुमने पाप भी किया है तो उसी ने किया है। और जब तुमने पुण्य भी किया है तो उसी ने किया है। जब तुम चोर थे तब भी वही था। और जब तुम साधु बने तब भी वही था। एक क्षण को भी अन्यथा होने का उपाय नहीं है। तुम उससे भिन्न हो कैसे सकोगे?

तुम पूछते हो, हम उसकी बांसुरी कैसे बनें? इसमें भ्रांति भीतर पड़ी ही है। भ्रांति यह पड़ी है कि हम उससे अलग हैं, अब हमें उसकी बांसुरी बनना है। बांसुरी तुम हो, इतना ही जानना है। तुम पूछते हो कैसे पहचानें कि यह निर्णय उसका है? सब निर्णय उसके हैं। पहचान की बात ही नासमझी की है। ऐसा कोई निर्णय ही नहीं है जो उसका न हो। ऐसा हो ही कैसे सकता है कि उसका निर्णय न हो और हो जाये! जो भी हुआ है, जो भी हो रहा है, जो भी होगा, उसी से है। तुम नाहक बीच में आ जाते हो। लहरों को देखो सागर में। अलग-अलग मालूम पड़ती हैं। अगर लहरों को भी थोड़ी बुद्धि आ जाये तुम्हारे जैसी, तो प्रत्येक लहर पूछने लगेगी कि मैं सागर के साथ एक कैसे हो जाऊं? लहर सागर के साथ एक है। लहर सागर से अलग कैसे हो सकती है, पहले यह तो पूछो! लहर सागर से अलग होकर जी कैसे सकेगी? कभी तुमने लहर को सागर से अलग करके देखा? बचेगी कैसे?

लहर को भी बुद्धि आ जाये और लहर भी सत्संग करने लगे और साधु-संतों के पास बैठने लगे, तो पूछेगी कि बात तो समझ में आ गई, अब इतना और बता दें कि सागर से एक कैसे हो जाऊं? तो क्या कहेंगे लहर को हम कि पागल, तू एक है ही! तेरी यह भ्रांति है कि तू अलग है। अलग तू कभी हुई नहीं। और जब कभी तू गंदी

थी तो सागर ही गंदा था। और जब कभी तुझमें मिट्टी उठी थी, सागर से ही उठी थी। और जब कभी तुझमें सूखे पत्ते तैरे थे, तो सागर में ही तैरे थे। जब कभी तू बड़ी होकर उठी थी कि बड़े जहाजों को डुबो दे, तब भी सागर ही उठा था। और जब तू छोटी-सी होकर उठी थी, तब भी सागर ही उठा था। छोटी हो कि बड़ी, गंदी हो कि उजली, सुंदर हो कि कुरूप, हर हाल, हर स्थिति में सागर ही तेरे भीतर बोला था, सागर ही तेरे भीतर प्रकट हुआ था; अन्यथा कोई उपाय नहीं है।

इस विराट चैतन्य के सागर में हम लहरें हैं। हमारा अलग होना नहीं है। इसलिए तुम यह तो पूछो ही मत कि कैसे हम एक हो जायें, क्योंकि तुम अलग कभी हुए नहीं। और यह तुम पूछो ही मत कि कौन-से निर्णय हमारे हैं और कौन-से उसके हैं। सभी निर्णय उसके हैं। इस अनुभव, इस प्रतीति, इस साक्षात्कार का नाम ही समर्पण है। बांसुरी बननी नहीं पड़ती, बांसुरी तुम हो। इतनी याद भर करनी है।

स्वामी अरविंद योगी ने कबीर का एक प्यारा पद भेजा है। इस प्रश्न के उत्तर में उसे याद रखना--

धोबिया जल बिच मरत पियासा
जल में ठाढ़ पीवे नहीं मूरख जल है अच्छा-खासा
अपने घर का मर्म न जाने करे धुबियन की आसा
छिन में धोबिया रोवे-धोवे छिन में रहत उदासा
आप पैर करम की रस्सी आपन धरहि फांसा
सच्चा साबुन ले नहीं मूरख है संतों के पासा
दाग पुराना छूटत नहीं धोवे बारह मासा
एक रत्ती को जोर लगावत छोड़ दियो भरि मासा
कहत कबीर सुनो भई साधो धोबिया जल बिच मरत पियासा

तुम पूछ रहे हो, प्यास कैसे बुझायें? "धोबिया जल बिच प्यासा।" और तुम जहां खड़े हो, चारों तरफ जल-ही-जल है। "जल है अच्छा-खासा, धोबिया जल बिच प्यासा।"

प्रश्न गलत हो, तो सही उत्तर की कोई संभावना नहीं। तुम्हारा यह प्रश्न गलत है। और जो तुम्हें मार्ग दिलानेवाले, दिखानेवाले मिल जायेंगे, जरा सावधान रहना! क्योंकि ऐसे लोग हैं जो तुम्हें बताएंगे कि हां, यह रही तरकीब। इस भांति तुम प्रभु की बांसुरी बन सकते हो। ऐसे लोग हैं जो तैयार बैठे हैं कि तुम आओ, पूछो, और वे बता देंगे कि ये रहे विधि, उपाय, मार्ग; इस भांति प्रभु से मिलन हो सकता है। लेकिन मैं तुम्हारे किसी गलत प्रश्न का उत्तर देने में उत्सुक नहीं हूं। तुम्हारा प्रश्न गलत है, यह जरूर मैं तुमसे कहना चाहता हूं। और गलत प्रश्न को लेकर चलना मत, अन्यथा पूरी यात्रा गलत हो जायेगी।

इधर हम कुछ और ही बात कह रहे हैं। इतनी-सी बात कह रहे हैं कि परमात्मा ही है और तुम नहीं हो। अब तुम पूछते हो कि हम नहीं कैसे हो जायें? मैं कह रहा हूं कि तुम हो ही नहीं, तुम कभी थे ही नहीं; तुमने कुछ सपना देख लिया है, तुम किसी भ्रम में पड़ गये हो।

झेन फकीर बोकोजू एक रात सोया, उसने सपना देखा नहीं देखा, पता नहीं, कहानी यह है कि सुबह उठकर उसने अपने एक शिष्य से कहा कि सुनो जी, रात मैंने एक सपना देखा है, व्याख्या करोगे? शिष्य ने कहा रुकें, मैं जल ले आऊं, आप जरा हाथ-मुंह धो लें। वह एक बालटी भरकर पानी ले आया, गुरु का हाथ-मुंह धुलवा दिया खूब रगड़-रगड़ कर। गुरु ने कहा, मैं पूछता हूं सपने की व्याख्या, तू यह क्या कर रहा है? उसने कहा, यह सपने की व्याख्या है। सपना था ही नहीं, उसकी क्या खाक व्याख्या करनी है! जो नहीं था, नहीं था। नहीं की कहीं कोई व्याख्या होती है! गुरु बहुत प्रसन्न हुआ। उसने कहा, खुश हूं। अगर आज तूने व्याख्या की होती, तो कान पकड़कर तुझे बाहर निकाल दिया होता।

तभी एक दूसरा शिष्य गुजर रहा था, उससे कहा कि सुनो जी, रात एक सपना देखा है, उसकी व्याख्या करोगे? उसने हाल-चाल देखे--पानी रखा है, धोया गया है; उसने कहा, रुकें, मैं जरा एक कप चाय ले आता हूं,

आप चाय पी लें। वह एक कप चाय ले आया। गुरु चाय पीने लगा, उसने कहा, यह क्या व्याख्या हुई! शिष्य ने कहा, अब हाथ-मुंह धो लिया, अब चाय पी लें, जागें, सुबह हो गई, सपना समाप्त हुआ। रात की बातें सुबह कोई पूछता! पूछने में सार क्या है! आप भी जानते हैं, नहीं था; सपना खुद ही कह रहे हैं। सत्य की व्याख्या हो सकती है, सपने की क्या कोई व्याख्या होती है!

तुमने एक सपना देखा है कि तुम अलग हो, अब तुम पूछते हो, उससे एक कैसे हो जायें? मैं कहूंगा, जागो, जरा हाथ-मुंह धोओ, चाय पी लो। तुम अलग कभी हुए नहीं, एक भ्रम पोसा है। और जब मैं तुमसे यह कहता हूं कि सभी निर्णय उसके हैं, तो समझना, यही क्रांति मैं तुम्हारे जीवन में प्रविष्ट कराना चाहता हूं। तुम्हारे पास साधु-संत हैं जो तुमसे कहते हैं, अच्छी-अच्छी बातें उसकी हैं, बुरी-बुरी तुम्हारी हैं। यह भी क्या कंजूसी! जब दिया तो पूरा ही दे दो। और तुम थोड़ा सोचो, जब बुरी-बुरी तुम्हारी हैं, तो अच्छी-अच्छी तुम कैसे दे पाओगे? साधु-संत कहते हैं, बुरी-बुरी तुम्हारी, अच्छी-अच्छी उसकी। तुम मन-ही-मन में उल्टा सोचते हो। तुम सोचते हो, अच्छी-अच्छी अपनी, बुरी-बुरी उसकी। यह जो तुम्हारे भीतर चलता है हिसाब-किताब, यह हिसाब-किताब तोड़ो, एकतरफा तोड़ो, एक दफा तोड़ो। और एक ही चोट में तोड़ो। यह भी क्या हिसाब!

और जब तुम सोचते हो कि बुरी मेरी, तो भली उसकी कैसे हो सकती है? तुम सोचते हो चोरी तुम्हारी और दान उसका! असंभव! यह तो गणित की बात न रही फिर। जब चोरी तुम्हारी, तो दान भी तुम्हारा, यही तुम समझोगे। और तुम्हारा अहंकार तुम्हें यह समझायेगा कि चोरी तो मजबूरी में कर ली, भाग्य ने करा दी, परिस्थिति ने करा दी, दान मैंने किया है। तो चोरी तो तुम किसी पीछे के रास्ते से उसी पर छोड़ दोगे--परिस्थिति, भाग्य; पत्नी बीमार थी, दवा न थी घर में, इसलिए चोरी करनी पड़ी। चाहे सीधे तुम कहो न कि तूने करवा दी, तुम कहोगे परिस्थिति! पत्नी को बीमार किसने किया? भूखे मरते थे, किसने मारा? ऐसी अड़चन में, ऐसी कठिनाई में अगर चोरी कर ली--भूखे भजन न होहिं गोपाला--हे गोपाल, जब भूखे भजन न होते थे तो कर ली, तेरे भजन के लिए भी जरूरी थी।

तो तुम किसी-न-किसी पीछे के दरवाजे से उसी पर छोड़ दोगे चोरी। और जब दान करोगे-- चोरी करोगे लाख की, दान करोगे दो-चार-दस रुपये का--जब दान करोगे तो छाती फुला लोगे। देखा न, मुर्गे कैसे छाती फुलाकर चलते हैं। ऐसे दानी चलने लगते हैं। दानवीर! यह उन्होंने किया है। तब तुम न कहोगे, तूने किया है। क्योंकि अहंकार यह तो कह ही नहीं सकता। जो शुभ-शुभ है उसको बचा लेता है, उससे अपना शृंगार बना लेता है। फूलों को तो सजा लेता है, कांटों को उस पर छोड़ देता है। लेकिन यह स्वाभाविक है। भूल तुम्हारी नहीं, तुम्हारे साधु-संतों की है जो तुमसे कहते हैं कि आधा तुम्हारा, आधा उसका। या तो सब उसका, या सब तुम्हारा।

दो तरह के ज्ञानी हुए हैं संसार में। एक कहते हैं, सब तुम्हारा। वे भी सच कहते हैं। और एक कहते हैं, सब उसका। वे भी सच कहते हैं। बाकी बीच में जो कहते हैं--कुछ तुम्हारा, कुछ उसका, ये अज्ञानी हैं। इन्हें कुछ भी पता नहीं है।

महावीर कहते हैं, सब तुम्हारा। यह भी सच है बात। अष्टावक्र कहते हैं, सब उसका। यह भी सच है बात। एक बात तो दोनों में सच है कि पूरा-पूरा रहता है, काट-काट कर हिसाब नहीं होता। कोई श्रम-विभाजन नहीं है कि तुम कुछ करो, कुछ मैं करूंगा।

महावीर कहते हैं, पूरा मनुष्य का। तो उसमें बुरा भी आ जाता है, अच्छा भी आ जाता है। अच्छे और बुरे एक-दूसरे को काट देते हैं। जैसे ऋण और धन एक-दूसरे को काट देते हैं। तुम शून्य रह जाते हो। वही शून्य होना ध्यान है। शून्य हो गये, नहीं हो गये, बांसुरी बन गये। महावीर की भाषा नहीं है बांसुरी बन जाना, क्योंकि महावीर की भाषा में परमात्मा शब्द का उपयोग नहीं है। शून्य हो गये, ध्यानी हो गये, कैवल्य को उपलब्ध हो

गये। लेकिन बात वही है। अष्टावक्र की भाषा में तुमने दोनों परमात्मा पर छोड़ दिये, तुम शून्य हो गये। महावीर की तरकीब में तुम कहते हो, धन भी मेरा, ऋण भी मेरा। दोनों एक-दूसरे को काट देते हैं। तुम खाली रह जाते हो।

बुराई और भलाई को अगर तुम गौर से देखोगे तो तुम बड़े चकित हो जाओगे, बुराई और भलाई का अनुपात बिलकुल बराबर होता है। तुल जाते हैं तराजू पर। एक-दूसरे से कट जाते हैं। तुम उतनी ही बुराई करते हो जितनी भलाई करते हो। इधर तुम्हारी भलाई बढ़ेगी, उधर तुम्हारी बुराई भी बढ़ेगी। ऐसे, जैसे वृक्ष ऊपर उठता है, वैसे जड़ें नीचे जाती हैं। जितना वृक्ष ऊपर जायेगा उतनी जड़ें नीचे जायेंगी। ऐसा नहीं हो सकता कि वृक्ष तो सौ फीट ऊपर उठ जाये और जड़ें दो-चार फीट नीचे जायें। गिर जायेगा। वृक्ष बच नहीं सकता।

नीत्शे का बहुत प्रसिद्ध वचन है और बहुत बहुमूल्य कि जिसे स्वर्ग जाना हो, उसे नर्क में पैर अड़ाने पड़ते हैं। ठीक कहता है नीत्शे, स्वर्ग जाना हो तो नरक में जड़ें फैलानी पड़ती हैं।

तुम जितना अच्छा करोगे उतना ही बुरा होगा। अनुपात बराबर रहेगा। तुम देखते नहीं बुराई को, तुम बुराई से आंख चुराते हो, इसलिए तो तुम्हें लगता है भलाई खूब की। लेकिन कुछ इस जगत में संतुलन टूटता ही नहीं। संतुलन बराबर बना है। संतुलन इस जगत का परम नियम है। सब चीजें एक गहरे "बैलेंस", संतुलन में चल रही हैं।

तो महावीर कहते हैं, तुम बुरे और भले दोनों को स्वीकार कर लो, तुम्हारे हैं, क्योंकि और कोई परमात्मा नहीं है। कोई उपाय नहीं है किसी पर छोड़ने का, बस तुम्हीं हो। बुरे और भले संतुलित हो जाते हैं। अच्छा-बुरा मिलकर एक-दूसरे को काट देते हैं। उनके कट जाने पर जो हाथ-लायी हाथ आती है, शून्य। कुछ बचता नहीं। उस शून्य में कैवल्य है, निर्वाण है।

अष्टावक्र कहते हैं, दोनों उस पर छोड़ दो। यह ज्यादा सुगम तरकीब है। महावीर की तरकीब से ज्यादा कारगर। महावीर की तरकीब जरा चक्करवाली है, लंबी है, अनावश्यक रूप से कठिन है। लेकिन किन्हीं को कठिन में चलने में रस आता है, वे चलें। अष्टावक्र की बात बड़ी सीधी-साफ है। अष्टावक्र कहते हैं दोनों उस पर छोड़ दो, कह दो सब निर्णय तेरे हैं। मैं भी तेरा हूं, तो मेरे निर्णय भी तेरे ही होंगे। जब मैं ही अपना नहीं हूं तो मेरे निर्णय मेरे कैसे हो सकते हैं! तूने दिया जन्म, तू देगा मौत, तो जीवन भी तेरा है; दोनों के बीच जो घटेगा, वह मेरा कैसे हो जायेगा!

तुमने जन्म तो अपने हाथ से लिया नहीं, तुम एकदम छलांग लगाकर तो नहीं जनम गये हो। तुमने अचानक पाया कि जन्म हो गया। एक दिन अचानक पाओगे कि मौत हो गई। दोनों के बीच में जीवन है। न शुरू का छोर तुम्हारे हाथ में है, न अंत का छोर तुम्हारे हाथ में है, तो मध्य भी तुम्हारे हाथ में हो नहीं सकता। अष्टावक्र कहते हैं, सभी उसके हाथ में है। ऐसा जानकर तुम शून्य हो गये। यह शून्य समर्पण हो गया। परम दशा घट गई। तब मिटता है कर्ता।

कर्ता तो मान्यता है। दो अवस्थाओं में मिटता है--या तो महावीर के ढंग से, या अष्टावक्र के ढंग से। लेकिन मिटाये नहीं मिटता। मिटाने का कोई उपाय ही नहीं है। जब बोध होता है इस भीतर की आत्यंतिक दशा का, तो तुम वहां कर्ता को नहीं पाते हो।

तो मुझसे मत पूछो कि कैसे पहचानें कि यह निर्णय उसका है? इसमें तो धोखा-धड़ी हो जायेगी। पहचाननेवाले तो तुम्हीं रहोगे न! तो पहचाननेवाले की आड़ में छिप जायेगा कर्ता। अब वह वहां से काम शुरू करेगा। अब वह कहेगा, यह मेरा, यह उसका। लेकिन यह मेरा तो बच गया फिर! नया नाम हो गया, नये वेश, नये रूप-रंग, मगर बच गया फिर। इसे बचाओ ही मत। यह भ्रांति है तुम्हारी।

दूसरा प्रश्न: अस्तित्व को स्वीकार कर लिया तो शब्द क्यों? उपदेश क्यों? समर्पण है तो विरोध की व्याख्या क्यों? जीवन की खोज को अधूरा छोड़कर संन्यास में प्रवेश क्या पलायन नहीं? क्या कायरता नहीं?

पहली बात, "अस्तित्व को स्वीकार कर लिया तो शब्द क्यों?"

तुमसे कहा किसने कि शब्द अस्तित्व नहीं है? जितना शून्य अस्तित्व है, उतना ही शब्द भी अस्तित्व है। चुप रहने में जितना यथार्थ है, उतना ही बोलने में भी यथार्थ है। बीज में जितना सत्य छिपा है, उतना ही फूल के प्रकट हो जाने में भी छिपा है।

झेन कवि बासो ने कहा है, फूल बोलते नहीं। मुझे कभी झंझट नहीं होती किसी को गलत कहने में, लेकिन बासो को गलत कहने में मुझे भी पीड़ा होती है। बासो से मेरा लगाव है। लेकिन फिर भी मैं कहना चाहता हूं कि फूल भी बोलते हैं। बासो कहता है, फूल बोलते नहीं; मैं तुमसे कहना चाहता हूं, फूल भी बोलते हैं। बासो फूलों की भाषा नहीं समझता रहा होगा। पूछो मधुमाखी से, फूल बोलते हैं या नहीं? मीलों दूर तक खबर पहुंच जाती है। सुगंध, सुवास, मिठास हवा में तैर जाती है। तार खिंच जाते हैं। निमंत्रणों के जाल फैल जाते हैं। मीलों दूर के मधुछत्ते पर खबर पहुंच जाती है, फूल खिल गया है। भाग मच जाती है, दौड़ मच जाती है, मधुमक्खियां चलीं कतारबद्ध! तितलियों से पूछो, फूल बोलते हैं या नहीं? सूरज की किरणों से पूछो, फूल बोलते हैं या नहीं? अपने नासापुटों से पूछो, फूल बोलते हैं या नहीं? अपनी आंखों से पूछो, फूल के रंग, गंध से पूछो।

फूल भी बोलते हैं। उनकी भाषा मनुष्य की भाषा नहीं। हो भी क्यों? फूल की भाषा फूल की भाषा है। अगर फूल सोचते होंगे, तो वे सोचते, मनुष्य बोलते ही नहीं। क्योंकि उनकी भाषा में तो नहीं बोलते। फूल भी बोलते हैं। यह अस्तित्व बहुत मुखर है। सब कुछ बोल रहा है।

तुम पूछते हो, "अस्तित्व को स्वीकार कर लिया तो शब्द क्यों?"

अस्तित्व को स्वीकार कर लिया तो शब्द से बचने का उपाय कहां? शून्य भी अपना, शब्द भी अपना। मौन भी अपना, मुखरता भी अपनी। अस्तित्व तो सारे विरोधों का सम्मिलन है। लेकिन आदमी हमेशा चुनाव में लगा रहता है। या तो शब्द, तो कभी शून्य को न चुनेगा। अब शून्य को चुन लिया, तो अब शब्द से घबड़ायेगा। कुछ हैं जो बोले ही चले जाते हैं और कुछ हैं जिन ने कसम खा ली है कि नहीं बोलेंगे। ये दोनों ही गलत हैं। दोनों ने ही हठ किया। दोनों ने आग्रह कर लिया है।

मेरा कोई आग्रह नहीं है। जब जैसी प्रभु की मर्जी! जब बोलना चाहे, बोले। जब चुप रहना चाहे, चुप रहे। तुम्हारा आग्रह, तो तुम ही मौजूद रह जाओगे।

अब तुम पूछते हो, "उपदेश क्यों?"

उपदेश क्यों नहीं? समझना। तुम सोचते हो, उपदेश दिया जाता है, तो तुम गलती में हो। जो देते हैं, वे वस्तुतः उपदेष्टा नहीं। उपदेश होता है। जैन शास्त्रों में बड़ा ठीक वचन है। महावीर बोले, ऐसा जैन शास्त्र नहीं कहते। जैन शास्त्र कहते हैं: महावीर से वाणी झरी। यह बात ठीक है। यह बात पकड़ आती है। बोले, ऐसा नहीं; क्योंकि बोले में ऐसा लगता है जैसे कुछ किया। तो जैन शास्त्र ठीक अभिव्यक्ति देते हैं: महावीर से वाणी झरी। जैसे सूरज से रोशनी झरती है, जैसे फूल से गंध झरती है, ऐसी महावीर से वाणी झरी।

अब फूल कैसे रोके गंध को? और सूरज कैसे रोके प्रकाश को? जब भीतर का दीया जल गया, तो रोशनी झरेगी। कभी शून्य से झरेगी, कभी शब्द से झरेगी, लेकिन रोशनी झरेगी। कभी शब्द से बोलेगी, कभी शून्य से बोलेगी, लेकिन बोलेगी। बोलकर रहेगी।

तुम पूछते हो, "उपदेश क्यों?"

तुम्हें अभी उपदेष्टा मिला नहीं। तुमने उपदेशक देखे होंगे, तुमने व्याख्यान करनेवाले देखे होंगे, तुमने उपदेष्टा नहीं जाना। तुम्हें उपदेश की गहराई का कुछ पता नहीं है।

फर्क क्या है उपदेश में और व्याख्यान में?

यही फर्क है। महावीर ने कहा है, मैं उपदेश देता हूं, आदेश नहीं। दो फर्क समझ लो। व्याख्यान और उपदेश में फर्क है। एक, व्याख्यान में तुम चेष्टारत हो, तुम आग्रहपूर्वक कुछ थोपने के उपाय कर रहे हो किसी के ऊपर। व्याख्यान में चेष्टा है, श्रम है, थकान है। दूसरा राजी हो जाये तो प्रसन्नता है। दूसरा राजी न हो तो अप्रसन्नता है। व्याख्यान में सफलता है, असफलता है; सुख-दुख है। उपदेश में न कोई सफलता है, न कोई विफलता है। जो बात भीतर उमगी थी, वह कही गई। जो बात भीतर उठी थी, वह झरी। जो झरना भीतर फूटा, बहा। किसी ने पी लिया ठीक; किसी ने न पीया, उसकी मर्जी। वह जाने! उसका भाग्य!

उपदेश बड़ी नैसर्गिक प्रक्रिया है। इसलिए महावीर एक और भेद करते हैं, वे कहते हैं, मैं उपदेश देता हूं, आदेश नहीं। आदेश का मतलब होता है, जो मैं कहता हूं, ऐसा करो। उपदेश का यह अर्थ नहीं होता है कि जो मैं कहता हूं, ऐसा करो। उपदेश का अर्थ होता है, जो मुझे हुआ है, वह बांट रहा हूं। जंच जाये, कर लेना; न जंचे, फेंक देना। काम आ जाये ठीक; काम न आये, भूल जाना। आदेश नहीं है कि करना ही। ऐसी आज्ञा नहीं है उपदेश में कि करना ही। पक्षी गीत गाते हैं; तुम्हें सुनना हो सुन लिया। फूल खिले, तुम्हें देखना है देख लिया। रात चांद उगा, आदेश नहीं है कि देखो, सारी दुनिया देखो, खड़े हो जाओ सावधान और मेरी तरफ देखो--नहीं, चांद खिला, चांद चला, चांद अठखेलियां करने लगा, आकाश में उसका विलास चला! कोई देख ले, धन्यभागी; न देखे, उसकी मौज। कोई भी न देखे पृथ्वी पर, तो भी चांद को इससे फर्क नहीं पड़ता। उपदेश निर्झर है।

तुम पूछते हो, "उपदेश क्यों?"

तुम्हें उपदेश का पता ही नहीं कि उपदेश का अर्थ क्या होता है। शब्द को भी समझने की कोशिश करो, क्योंकि संस्कृत, प्राकृत, पाली, इनके जो शब्द हैं, वे साधारण शब्द नहीं हैं। ये भाषाएं ज्ञानियों की निर्झरनी से इस तरह भरी हैं कि इनके एक-एक शब्द में बड़ा अर्थ है। उपदेश का अर्थ क्या होता है--शाब्दिक अर्थ? देश का अर्थ होता है, "स्पेस"। देश का अर्थ होता है, विस्तार, आयाम। उपदेश का अर्थ होता है, उस विस्तार के निकट होना। जो उपनिषद का अर्थ होता है...। उपनिषद का अर्थ होता है, जिसको घट गया है, उसके पास बैठ जाना। गुरु के पास होना--उपनिषद। उपवास का अर्थ होता है, वह जो भीतर बसा है, उसके पास हो जाना। वह जो तुम्हारे भीतर आत्मा है, उसके निकट आ जाने का नाम उपवास।

अनशन को उपवास मत समझना। भूखे मरने का नाम उपवास नहीं है। हां कभी-कभी ऐसा होता--आत्मा में इतना रस झरता है, तुम इतने भीतर ऐसे भरे-पूरे होते हो कि भोजन की याद नहीं आती; भोजन चूक जाता है। वह बात अलग है। उपवास हुआ। अनशन उपवास नहीं है, क्योंकि तुमने भोजन चेष्टा से न किया। तो भोजन की याद आती रही। यह कोई उपवास हुआ! इससे तो तुम भोजन कर लेते वही ज्यादा उपवास था। कम-से-कम दिन में दो बार कर लिया, निपट गये। अब दिन में हजार बार करना पड़ रहा है। याद आ रही है, फिर याद आ रही है, फिर याद आ रही है। उपवास का अर्थ है, शरीर भूल जाये, आत्मा के निकट हो गये। उपनिषद का अर्थ है, स्वयं को भूल जाओ, गुरु के निकट हो गये।

उपदेश का क्या अर्थ है? जिसके भीतर वह परम आकाश घटा है--कोई महावीर, कोई बुद्ध, कोई कृष्ण, कोई मुहम्मद, कोई अष्टावक्र, कोई क्राइस्ट--जिसके भीतर महाआकाश प्रगट हुआ है, उसके पास हो गये। उसके उस महाआकाश से झर रही हैं कुछ किरणें, उनको झरने दिया। उनको पीया, उनको आत्मसात किया। जैसे प्यासा जल पीता है, ऐसे पीया।

उपदेश सभी के लिए नहीं है। उन्हीं के लिए है, जो दीक्षित हैं। इधर मुझसे लोग पूछते हैं कि यहां इतनी बाधा क्यों डालते हैं लोगों के आने पर? यहां कोई व्याख्यान नहीं हो रहा है। यहां भीड़ की आकांक्षा नहीं है। यहां उन्हीं के लिए आने का उपाय है, जो सच में ही उस महाआकाश के निकट होना चाहते हैं जो मेरे भीतर घटा है। जो यहां मेरे आकाश के हिस्से बनना चाहते हैं, बस उनके लिए। यहां बाजार नहीं भर लेना है। यहां कुतूहल से भरे लोगों को नहीं इकट्ठा कर लेना है। जो ऐसे ही चले आये कि चलो देखें क्या है? जैसे सिनेमा देखने चले जाते हैं, वैसे यहां आ गये। उनके लिए नहीं है जगह यहां। उन पर हजार तरह का नियंत्रण है। यहां तो सिर्फ प्यासों के लिए...।

उपदेश का अर्थ होता है, जो मेरे भीतर महादेश प्रकट हुआ है, उसमें तुम भी भागीदार हो जाओ। इसलिए बोलता हूं। और तुम खयाल रखो, अगर ज्ञानी न बोले होते तो उपनिषद न होते, गीता न होती, अष्टावक्र की महागीता न होती, बाइबिल न होती, कुरान न होता, धम्मपद न होता। जरा सोचो, अगर ज्ञानी न बोले होते, तुम कहां होते? तुम जंगलों में होते। तुम मनुष्य न होते। यह जो बोला गया है--यद्यपि तुमने सुना नहीं, सुन लेते तब तो तुम स्वर्ग में होते--यह जो बोला गया है, यह जो तुमने ऊपर-ऊपर से सुन लिया, वह भी तुम्हें बहुत दूर ले आया है। तुम्हारे अनजाने ले आया है। तुम्हें पता भी नहीं चला और ले आया है। काश, सुन लेते! उपदेश दिये तो गये हैं, तुमने लिये नहीं हैं। बिना तुम्हारे लिये भी तुम खिंच गये हो, बहुत दूर खिंच गये हो जंगलों से। पशुओं के बहुत पार आ गये हो। काश सुन लेते, तो तुम परमात्मा में प्रविष्ट हो जाते।

उपदेश देने तक मेरी क्षमता, लेना तो तुम्हारे हाथ में है। अब जो सज्जन पूछते हैं, उपदेश क्यों, असल में यह पूछ रहे हैं कि मैं लूं क्यों? क्योंकि मुझसे तुम्हारा क्या लेना-देना! मैं बोलूं, न बोलूं, इससे तुम्हारा क्या लेन-देन है! तुम हो कौन! मुझ पर किसी तरह का नियंत्रण और सीमा लगाने वाले तुम हो कौन? इतना ही तुम कर सकते हो, तुम न आओ। मैंने तुम्हें बुलाया भी नहीं। अपनी मर्जी से आ गये हो। तुम न होओगे और मुझे बोलना होगा, वृक्षों से बोल लूंगा, पहाड़ों से बोल लूंगा, पत्थरों से बोल लूंगा, सूने आकाश से बोल लूंगा। तुम मुझे बोलने से तो न रोक सकोगे।

लेकिन असल में तुम बात कुछ और कह रहे हो। तुम उपदेश लेना नहीं चाहते। तुम्हें उपदेश जहर जैसा मालूम पड़ रहा है। तुम्हें लग रहा है कि यह बात किसी से लेनी पड़े, यह तुम्हारे अहंकार को बड़ा कष्ट देती मालूम पड़ रही है। मत लो, तुम्हारी मर्जी।

देने में मेरी आतुरता नहीं है। कह दिया, मेरा कर्तव्य पूरा हो गया। परमात्मा मुझसे न कह सकेगा कि जो तुम्हें मिला था, वह तुमने कहा नहीं। वह जिम्मेवारी मैंने पूरी कर दी। तुमने नहीं लिया, वह तुम्हारे और तुम्हारे परमात्मा के बीच का निपटारा है। उससे मेरा कुछ लेना-देना नहीं। तुम्हें न लेना हो उपदेश, न लो। यह कोई आदेश नहीं है कि तुम्हें लेना ही पड़ेगा। लेकिन कृपा करके यह तो मत कहो कि मैं उपदेश क्यों दूं? तुम मुझे तो छोड़ो! मैं तुम्हें छोड़ रहा हूं--आदेश नहीं दे रहा--तुम इतनी दया मुझ पर भी करो।

तुम पूछते हो, "समर्पण है तो विरोध की व्याख्या क्यों?"

बिना विरोध की व्याख्या समझे तुम समर्पण समझोगे कैसे? कोई तुमसे पूछे कि प्रकाश क्या है, तो तुम यही कहोगे न कि अंधेरा नहीं है! और क्या कहोगे? कोई तुमसे पूछे जीवन क्या है, तो तुम यही कहोगे न कि मृत्यु नहीं है! कोई तुमसे पूछे कि ध्यान क्या है, तो यही लिखा है न सारे शास्त्रों में कि विचार नहीं है! बिना विपरीत के व्याख्या नहीं होती। समर्पण की व्याख्या करनी हो तो विरोध की व्याख्या करनी पड़ती है। विरोध समझ में आ जाये, विरोध गिर जाये, समझ में आकर, तो जो शेष रह जाता है वही समर्पण है। इसलिए व्याख्या है। सत्य को जानने के लिए असत्य को भी समझना पड़ता है। ठीक को पहचानने के लिए गैर-ठीक को पहचानना

पड़ता है। सही रास्ते पर जाने के लिए गलत-गलत रास्ते कौन-से हैं, वे भी पहचान लेने पड़ते हैं। नहीं तो वहीं भटकते रहोगे।

एडीसन एक प्रयोग कर रहा था। सात सौ बार असफल हो गया प्रयोग करने में। तीन साल लग गये। उसके शिष्य, उसके अनुयायी, उसके साथी सब परेशान हो गये कि यह तो पागलपन हुआ जा रहा है। सात सौ बार असफल हो गया है, लेकिन यह थकता नहीं। और रोज सुबह वह ताजा चला आये--प्रसन्न, उत्साह से भरा हुआ, फिर प्रयोग शुरू।

आखिर उसके साथियों ने एक दिन उसे घेर लिया और कहा कि बहुत होता है, एक सीमा होती है, हर चीज की सीमा होती है, अब ठहरें। सात सौ बार हम हार चुके हैं, अब यह कब तक चलेगा? कुछ और नहीं करना है? जिंदगी भर यही करते रहना है? एडीसन ने कहा, पागलो, सात सौ बार हार चुके इसका मतलब है, सात सौ गलत रास्तों से हमारी पहचान हो गई, अब ठीक रास्ता करीब ही आता होगा। कितने होंगे गलत रास्ते? अगर हजार गलत रास्ते हैं, तो सात सौ तो हम पहचान चुके कि गलत हैं, अब तीन सौ ही बचे। दो सौ निन्यानबे और पहचान लेने हैं कि गलत हैं, फिर मिल जायेगा ठीक। हम ठीक के रोज करीब हो रहे हैं, तुम उदास क्यों हो! क्योंकि गलत को जाने बिना ठीक को जानोगे कैसे?

अपने घर आने के लिए बहुत दूसरों के घरों पर दस्तक देनी पड़ती है। सदगुरु को पाने के पहले न मालूम कितने असदगुरुओं के पास भटकना पड़ता है। स्वाभाविक है। इसमें कुछ अस्वाभाविक नहीं है। गलत भी कुछ नहीं है। ठीक नियम के अनुसार है। टटोलना है अंधेरे में।

तो मैं तुम्हें विरोध की भी व्याख्या देता हूं, क्या गलत है वह भी कहता हूं; क्योंकि तुमसे कहना चाहता हूं वह जो कि सही है। सच तो यह है कि सही को सीधा-सीधा कहने का कोई उपाय ही नहीं है। नेति-नेति उसका मार्ग है। यह नहीं है सत्य, यह नहीं है सत्य, यह नहीं है सत्य, ऐसा एक-एक असत्य को बताते-बताते, बताते-बताते जब सब असत्य चुक जाते हैं, तो गुरु कहता है, अब जो शेष रहा, यही है सत्य। सीधा कोई उपाय नहीं है कि उंगली रख दी जाये--यह है सत्य।

सत्य इतना बड़ा है कि उंगली रखी नहीं जा सकती। असत्य छोटे-छोटे हैं, उन पर उंगली रखी जा सकती है। तो असत्य पर उंगली रखी जाती है--यह असत्य, यह असत्य, यह असत्य, चले; आखिर एक घड़ी तो आयेगी जब असत्य चुक जायेंगे! सत्य तो असीम है, असत्य सीमित हैं। तो असत्य तो चुक जायेंगे। एक न एक दिन गलत की तो गणना हो जायेगी। फिर जो गणना के बाहर रह गया, फैला आकाश की तरह, वही शेष रह गया, वही सत्य है। नेति-नेति उपाय है। यह भी नहीं, यह भी नहीं। तब तुम किसी दिन जान लोगे, क्या है।

असार को पहचान लिया, तो सार का द्वार खुल जाता है। संसार को समझ लिया, तो मोक्ष का द्वार खुल गया। इसीलिए तो संसार है, नेति-नेति का उपाय करने को। धन के मोह में पड़े, फिर पाया कि नहीं मिलता सुख, कहा--नेति, नहीं। स्त्री के प्रेम में पड़े, पुरुष के प्रेम में पड़े, पाया कि कुछ पाया नहीं, कहा--नेति। पद पाया, प्रतिष्ठा पायी और पाया कि कुछ न मिला, हाथ में राख लगी, कहा--नेति। ऐसा कहते गये, नेति-नेति, एक दिन पूरा संसार जो-जो दे सकता था सब पहचान लिया, अचानक सब संसार व्यर्थ हो गया और गिर गया, तब जो शेष रह जाता है, वही निर्वाण है।

और फिर पूछते हो कि "जीवन की खोज को अधूरा छोड़कर संन्यास में प्रवेश क्या पलायन नहीं? क्या कायरता नहीं?"

यही तो मैं रोज कह रहा हूं कि जीवन की खोज को अधूरा छोड़कर संन्यास में प्रवेश मत करना, वह पलायन होगा। इसीलिए तो मैं अपने संन्यासी को भी जीवन की खोज से तोड़ता नहीं। उससे कहता हूं, जीवन की खोज भी जारी रहने दो और संन्यास के संगीत को भी धीरे-धीरे आत्मसात करने लगो। क्योंकि तुम कैसे जानोगे कि अब जीवन की खोज पूरी हो गई, मुझे बताओ! तुम कैसे जानोगे कि अब आ गया वक्त संन्यास में

प्रवेश का? धीरे-धीरे अभ्यास करते रहो संन्यास का--संसार को भी चलने दो, संन्यास का अभ्यास भी करते रहो। क्योंकि अगर अचानक एक दिन पता चला कि संसार तो व्यर्थ हो गया और तुम्हारे पास अगर संन्यास की कोई भी धारणा न रही, संन्यास का कोई सूत्र हाथ में न रहा, तो तुम आत्महत्या कर लोगे बजाय संन्यास में जाने के।

तुम्हें खयाल है, पश्चिम में आत्महत्याएं बड़ी मात्रा में घटती हैं, पूरब में नहीं घटती हैं। और कारण? कारण संन्यास है। पश्चिम में जब एक आदमी जीवन से बिलकुल हार जाता है और पाता है कुछ सार नहीं, तो एक ही बात समझ में आती है--खतम करो अपने को, क्योंकि अब क्या करने को बचा! पूरब में आदमी आत्महत्या नहीं करता। जब जीवन व्यर्थ हो जाता है तो संन्यस्त हो जाता है। पूरब ने आत्महत्या का विकल्प खोजा है। पश्चिम के पास विकल्प नहीं है, इसलिए पश्चिम में आत्महत्या रोज बढ़ती जाती है। बढ़ती रहेगी, जब तक संन्यास न पहुंच जायेगा पश्चिम में। जब तक गैरिक रंग नहीं फैलता पश्चिम के आकाश पर, तब तक पश्चिम में आत्महत्या जारी रहेगी और बढ़ती जायेगी। रोज-रोज बढ़ती जायेगी। क्योंकि लोगों को समझ में आता जाता है कि जीवन व्यर्थ, जीवन व्यर्थ। फिर करना क्या? फिर उठना क्यों? फिर रोज सुबह जागना क्यों? फिर जाना क्यों दफ्तर? किसलिए? उसी दुख को फिर-फिर झेलने के लिए! वही उपद्रव जारी रखने के लिए! अपने ही जीवन के नरक को रोज-रोज पानी देने की जरूरत क्या है? खतम करो, समाप्त करो।

पश्चिम के बहुत बड़े-बड़े विचारकों ने भी आत्मघात किया है। यह सोचने जैसा है। पूरब के किसी महाविचारक ने कभी आत्मघात नहीं किया। बुद्ध, महावीर, कृष्ण, राम, नागार्जुन, शंकर, रामानुज, निंबार्क, वल्लभ, कबीर, नानक, दादू, हजारों महापुरुषों की धारा है, इनमें से एक ने भी आत्मघात नहीं किया। इनमें से एक भी पागल नहीं हुआ। पश्चिम में बड़ी उल्टी बात है। पश्चिम में कोई बड़ा विचारक बिना पागल हुए बचता नहीं। हो ही जाता है पागल। अगर बच जाये तो इसका एक ही अर्थ है कि कोई बड़ा विचारक नहीं है वह। अभी दूर तक नहीं गया विचार में। अन्यथा विचार एक जगह लाकर खड़ा कर देता है, जिसके आगे कोई गति नहीं रहती। ध्यान का उपाय नहीं है। जहां विचार समाप्त हुआ, वहां अब क्या करना! आदमी विक्षिप्त होने लगता है। ध्यान का तो उपाय नहीं है। जहां संसार व्यर्थ हुआ, वहां आदमी आत्महत्या की सोचने लगता है। संन्यास का तो उपाय नहीं है, विकल्प नहीं है।

मैं जब तुमसे कहता हूं संसार में रहो, तो इसीलिए कहता हूं कि कहीं ऐसा न हो कि तुम कच्चे संसार के बाहर निकल आओ। लेकिन पता कैसे चलेगा कि कब तुम पक गये? और जिस दिन पक जाओगे, जिस दिन घर में आग लगेगी, उसी दिन कुआं खोदोगे? कुआं तो खोदना शुरू करो; जब आग लगेगी, लगेगी। कुआं तो तैयार रहे; जब आग लगेगी तो पानी कुएं का तैयार रहेगा, बुझा लेंगे। अब जिस दिन घर में आग लगेगी उसी दिन कुआं खोदने अगर बैठे, तो घर बचनेवाला नहीं है।

इसीलिए मैं कहता हूं, संसार को चलने दो और साथ ही साथ संन्यास के संगीत को भी जन्मने दो। और इन दोनों में कोई विरोध नहीं है। क्योंकि संन्यास भी परमात्मा का है और संसार भी परमात्मा का है। सब उसका है। संन्यास संसार का विपरीत नहीं है, इसलिए कहीं भागने की जरूरत नहीं है।

अब तुम मुझसे पूछते हो कि जीवन की खोज को अधूरा छोड़कर संन्यास में प्रवेश क्या पलायन नहीं है? वही तो मैं कह रहा हूं। तुम किससे पूछ रहे हो? तुम पुरी के शंकराचार्य से पूछते तो बात ठीक थी। मुझसे तो मत पूछो। तुम जाकर आचार्य तुलसी से पूछो, बात ठीक है। मुनि देशभूषण महाराज से पूछो, बात सही है। मुझसे पूछ रहे हो! यही तो मेरी क्रांति है संन्यास में कि संसार के साथ चल सकता है। मंदिर और दूकान को करीब लाने की कोशिश चल रही है कि जिस दिन दूकान चल जाये, मंदिर इतना दूर न हो कि तुम पहुंच न पाओ। मंदिर करीब होना चाहिए; पास ही होना चाहिए। एक कदम रखा कि मंदिर में पहुंच गये। तो तुम आत्मघात से बच सकोगे।

फिर ध्यान रखना कि संन्यास एक तरह का आत्मघात है। बड़ा प्यारा आत्मघात है। अहंकार का विसर्जन है। तुम तो मरे! तुम तो गये। वस्तुतः संन्यास को ही ठीक-ठीक आत्मघात कहना चाहिए; क्योंकि और कोई आदमी जो आत्महत्या कर लेता है, उसका शरीर तो मिटा देता है लेकिन मन तो मिटता नहीं, अहंकार तो मिटता नहीं। इधर शरीर मिटा नहीं कि नया जन्म हुआ नहीं। फिर गर्भ, फिर दौड़ शुरू। वही फिर शुरू हो जायेगा जो चल रहा था। संन्यास ही वास्तविक आत्मघात है, क्योंकि जो ठीक-ठीक संन्यस्त हो जाये, अहंकार विसर्जित हो जाये, तो फिर दुबारा लौटकर आने की जरूरत नहीं। तुम अनागामिन हो गये। अब तुम दुबारा न आओगे। अब तुम प्रभु में समाहित हो गये।

लेकिन मैं जानता हूं, पूछनेवाले का कारण कुछ और है। संन्यास लेने की हिम्मत नहीं, तो अपने को समझा रहे हैं कि यह संन्यास तो पलायन है। कहते हैं, क्या संन्यास कायरता नहीं? सच बात उल्टी है--संन्यास लेने की हिम्मत नहीं। तुम जरा मेरा संन्यास लेकर देखो, तब तुम्हें पता चलेगा कि कायरता लेने में थी कि न लेने में थी। तुम जरा लेकर देखो। जरा गैरिक वस्त्र पहनकर, यह माला पहनकर बाजार जाकर देखो, घर जाकर देखो, परिवार-प्रियजन के पास जाकर देखो, तब तुम्हें पता चलेगा कायरता कहां थी। सारी दुनिया विरोध में खड़ी मालूम होगी। हां, अगर मैं तुमसे कहता पहाड़ पर भाग जाओ, तो कायरता थी। मैं तो तुमसे कहता हूं, भागना ही मत। तुम तो जमकर खड़े रहना संसार में।

एक मित्र आये। कहने लगे संन्यास तो लेता हूं, लेकिन एक झंझट है कि मैं शराब पीता हूं। मैंने कहा, मजे से पीयो। संन्यास तो लो, फिर देखेंगे। वे बहुत चौंके। उन्होंने कहा, क्या आप कहते हैं कि शराब भी पीऊं! मैंने कहा, वह तुम्हारी मर्जी। मुझे इन छोटी बातों में लेना-देना नहीं, क्या तुम पीते, क्या नहीं पीते! मैं कोई जैन-मुनि थोड़े ही हूं कि इन सबका हिसाब रखूं कि शराब छानकर पीते कि बिना छनी पीते। तुम पीयो; तुम पीते हो, तुम्हारी जिम्मेवारी। मैं तुम्हें ध्यान देता हूं, संन्यास देता हूं, फिर देखेंगे।

कोई पंद्रह दिन बाद वे आये और कहने लगे कि फांसी लगा दी! अब शराबघर की तरफ जाते डर लगता है। संन्यास लेने के दूसरे दिन गया, एक आदमी पैर पर गिर पड़ा और कहने लगा स्वामी जी, आप यहां कैसे! मैंने कहा, अब तुम्हारी मर्जी! हिम्मत हो तो जाओ। नहीं, वे कहने लगे, अब न हो सकेगा। उस आदमी ने इतने भाव से कहा कि स्वामी जी, आप यहां कैसे! शायद उसने सोचा कि कोई भूल-भटक गये हैं स्वामी जी। यह मधुशाला है, यह कोई मंदिर नहीं है, आप कहां आ गये!

तुम पूछते हो, संन्यास कायरता! तुम जरा लेकर देखो। नहीं, उस आदमी की शराब गई। संन्यास लेने के बाद तुम्हें पता चलना शुरू होगा।

एक युवक ने संन्यास लिया, कल्याण में रहते हैं। पंद्रह दिन बाद अपनी पत्नी को लेकर आ गये कि इसको भी संन्यास दे दें। मैंने कहा, बात क्या? कहने लगे, झंझट खड़ी होती है। ट्रेन में लोगों ने मुझे पकड़ लिया कि तुम किसकी पत्नी लेकर भागे जा रहे हो? संन्यासी होकर, यह स्त्री किसकी है? इसको भी संन्यास दे दें, नहीं तो यह तो किसी दिन झंझट होगी! पांच-सात दिन बाद अपने छोटे बेटे को लेकर आ गये, इसको भी संन्यास दे दें। मैंने कहा, हुआ क्या? बोले कि हम दोनों को लोगों ने रोक लिया ट्रेन में, कहा यह किसका बच्चा उठा लाये? अपना बच्चा! मगर अब यह संन्यासी का बच्चा कैसे!

संन्यास की एक धारणा थी पुरानी, उसमें भगोड़ापन था। मैं तुमसे कह रहा हूं, पति भी रहना, पत्नी भी रहना, मां भी रहना, पिता भी रहना। मैं तो तुम्हें एक संघर्ष दे रहा हूं, एक चुनौती दे रहा हूं। तुम्हारी चुनौतियां बढ़ जायेंगी, घटेंगी नहीं। तुम्हारा संघर्ष गहरा हो जायेगा। यह पलायन नहीं है।

लेकिन तुम बचना चाहते हो। बचना चाहते हो बचो, लेकिन झूठे शब्दों की आड़ मत लो। कायर तुम हो। और चाह रहे हो अपने आपको समझा लेना कि संन्यास कायरता है। सो अपने मन में तुम मान रखो कि तुम बड़े

बहादुर हो। बहादुर हो तो डुबकी लो, डरो मत! संसारी रहकर तो देख लिया है, अब साथ ही संन्यासी रहकर संसार में रहकर देख लो, तब तुम्हें पता चलेगा कि संघर्ष किसका बड़ा है, चुनौती किसकी महान है!

और देखना, तुम कहते हो जब पक जायेंगे...। मैं तुम्हें कहे देता हूं कि पकने के पहले मौत आ जायेगी। क्योंकि मरते दम तक आदमी नहीं सोचता कि मैं पक गया। मरते दम तक वासनाएं पीछा करती हैं। मरते दम तक भी सपने जकड़े रहते हैं। मरते दम तक योजनायें पीछे पड़ी रहती हैं। मरते दम तक खयाल रहता है कुछ करके दिखा दें, कुछ हो जायें, अभी कुछ देर और बाकी है।

बिखर गये सब मोती मेरे!
क्रूर समय ने असमय तोड़ी
सांसों की वह रेशम डोरी
जिसमें रोज पिरोये मोती
आशाओं ने सांझ-सवेरे
बिखर गये सब मोती मेरे!

आयी तेज हवा मतवाली
तोड़ गई वह कोमल डाली
जिस पर हर पंछी ने अपने
बना लिये थे रैन-बसेरे
बिखर गये सब मोती मेरे!

काली रात लगी गहराने
बुझने दीप लगा सिरहाने
घिर आये आंखों के आगे
चारों ओर अपार अंधेरे
बिखर गये सब मोती मेरे!

लेकिन तब समय न बचेगा--जब मोतियों की माला टूटकर बिखरेगी, जब सपनों की माला टूटकर बिखरेगी और जब चारों तरफ अंधेरा घिरने लगेगा!

एक महिला संन्यास लेना चाहती थी। कई बार आयी, कई बार पूछा, कई बार समझा, फिर कहती है कि कल आऊंगी। एक दिन खबर आयी--और उसके एक ही दिन पहले वह कह कर गई थी कि कल आऊंगी--कि वह कार में "एक्सीडेंट" हो गया है। वह कोई छः घंटे सात घंटे बेहोश रही, फिर उसे होश आया। होश आया तो उसने पहली बात कही कि दौड़ो, अपने लड़के से कहा कि दौड़ो, मुझे संन्यास लेना है, और मैं कितने दिन से टाल रही--उसकी उम्र थी कोई सत्तर वर्ष--कितने दिन से टाल रही; और आज तो, कल मैं कहकर आयी थी कि आज संन्यास ले लूंगी, आज मौत आ गई, अब भागो! लेकिन लड़का जब तक मेरे पास आया, उसकी सांस टूट चुकी थी।

मैंने लड़के को कहा, उसकी इतनी इच्छा थी, जिंदगी में तो न ले सकी, मर गई, कोई फिक्र नहीं, यह माला उसको पहना देना। यह नाम उसकी छाती पर रख देना। गैरिक वस्त्रों में लपेटकर उसको जला देना। अब और क्या करोगे!

यही मैं तुमसे कहता हूं। जीते-जी ले लेना। क्योंकि मरकर गैरिक वस्त्रों में दफनाये गये कि और वस्त्रों में, कुछ भेद नहीं पड़ता है। संन्यास का मूल्य ही यही है कि तुमने परम जागरूकता में, होश में लिया, चुना, उतरे।

हाथ थे मिले कि जुल्फ चांद की संवार दूं
ओंठ थे खुले कि हर बहार को पुकार दूं
दर्द था दिया गया कि हर दुखी को प्यार दूं
और सांस यूं कि स्वर्ग भूमि पर उतार दूं

हो सका न कुछ मगर, शाम बन गई सहर
वो उठी लहर कि ढह गये किले बिखर-बिखर
और हम डरे-डरे नीर नैन में भरे
ओढ़ कर कफन पड़े मजार देखते रहे,
कारवां गुजर गया गुबार देखते रहे।

मांग भर चली थी एक जब नयी-नयी किरण
ढोलकें घुमुक उठीं ठुमुक उठे चरण-चरण
शोर मच गया कि लो चली दुल्हन, चली दुल्हन
गांव सब उमड़ पड़ा बहक उठे नयन-नयन,
पर तभी जहर भरी गाज एक वह गिरी
पुछ गया सिंदूर तारत्तार हुई चुनरी
और हम अजान से दूर के मकान से
पालकी लिये हुए कहार देखते रहे,
कारवां गुजर गया गुबार देखते रहे।

इसके पहले कि कारवां गुजर जाये और सिर्फ गुबार छूट जाये तुम्हारी राह पर, और तुम्हारी आंखें अपनी ही मजार को देखती रहें और कहार को देखती रहें जो तुम्हारी अर्थी को ले चले, कुछ कर लेना। ऐसी होशियारी की बातों में अपने को छिपाना मत। शब्द-जाल मत बुनना, सत्य को सीधा-सीधा देखना। न ले सको संन्यास, तो जानना कि मैं कायर हूं इसलिए नहीं ले रहा हूं। तो किसी दिन ले सकोगे। क्योंकि कौन कायर होना चाहता है! लेकिन तुमने अगर समझा कि कायर संन्यास ले रहे हैं, मैं बहादुर हूं इसलिए नहीं ले रहा हूं, तो फिर तुम कभी भी न ले सकोगे।

कारवां गुजर गया गुबार देखते रहे।
फिर तुम्हारी यही दशा होने को है।

तीसरा प्रश्न: प्यारे भगवान, क्या आपने अपनी जिंदगी में कभी कोई गलती की है?

जब तक मैं था, तब तक गलती ही गलती थी। जबसे मैं नहीं हूं, तबसे गलती का कोई उपाय न रहा। गलती एक ही है, "मैं" का होना। फिर उस "मैं" से हजार गलतियां पैदा होती हैं। जब तक मैं था, गलती ही गलती थी। ठीक हो कैसे सकता था! जो सही दिखायी पड़ता था, वह भी सही नहीं था। वह भी आभास था। वह भी प्रतीति थी। वह भी मान लेना था, समझा लेना था। तब तो सब गलती ही गलती थी। जबसे मैं न रहा, तबसे गलती करनेवाला ही न रहा। करनेवाला ही न रहा, तो गलती कैसे होगी? तबसे सब ठीक ही ठीक है। क्योंकि तबसे परमात्मा ही परमात्मा है।

तुम जब तक हो, तब तक गलती है। तुम मिटे कि गलती भी गई। और खयाल रखना, जब तक तुम हो, तब तक जो ठीक लगता है वह भी अंतिम निर्णय में गलत सिद्ध होता है। और यह भी खयाल रखना कि जब तुम न बचे, तब जो गलत भी मालूम पड़े वह भी अंतिम निर्णय में सही सिद्ध होता है। जो परमात्मा से होता है, वही ठीक। जो हम अपनी अकड़ में सोचते हैं हमने किया, वही गलत। बस हमारी अकड़ गलत है। और कुछ गलती नहीं। एक ही पाप है। फिर एक पाप के अनेक रूपांतरण हैं, अनेक रूप हैं। एक पाप--मेरा होना, "मैं" का होना।

लुट गये तन के रतन सब
छुट गये मन के सपन सब
तुम मिलो तो जिंदगी फिर

आंख में काजल लगाए
गांव भर रूठा हुआ है
दुश्मनी पर है जमाना
तैश में है रात
हाथों का दिया करता बहाना
हर नजर में है अदावत
हर अधर पर है बगावत
सौंप दूं किस गोद को जा
आंसुओं का यह खजाना
पांव जर्जर, पथ अपरिचित
है चला जाता न किंचित
तुम चलो यदि साथ
तो हर एक छाला मुस्कुराए
तुम मिलो तो जिंदगी फिर
आंख में काजल लगाए
तुम तो हो जब तक, तब तक छाले ही छाले हैं। प्रभु मिल जाये...।
तुम चलो यदि साथ
तो हर एक छाला मुस्कुराए
तुम मिलो तो जिंदगी फिर
आंख में काजल लगाए

प्रभु के मिलन के साथ ही छाले भी फूल बन जाते हैं। शूल भी फूल बन जाते हैं। भूल भी फूल बन जाती है। और जब तक तुम हो, तुम्हारी अकड़ है, दंभ है, दर्प है, यह "मैं" का जहर है, तब तक फूल भी फूल नहीं, कांटे ही हैं। तब तक भूलें तो भूलें हैं ही, जिनको तुम भूलें नहीं समझते वे भी भूलें हैं।

इसे खयाल में रखना, क्योंकि मेरे हिसाब में एक ही भूल है और एक ही सुधार है। मैंने तुम्हारी जिंदगी के गणित को सीधा-साफ और सरल कर दिया है। तुम्हारे गुरुओं ने तुमसे कहा है अब तक कि हजारों भूलें हैं, सब ठीक करनी हैं। एक-एक भूल को ठीक करने बैठोगे, कभी ठीक न कर पाओगे। क्रोध को ठीक करो, तो मोह बचा है। मोह को ठीक करो, तो लोभ बचा है। लोभ को ठीक करो, तो काम बचा है। और जब तक काम को ठीक करने पहुंचे, वर्षों गुजर गये, तब तक क्रोध जो दबा दिया था वह उभर आया। ऐसे चक्कर में घूमते रहोगे। भूलें बहुत हैं, तो फिर आदमी के छुटकारे का कोई उपाय नहीं। आदमी की सामर्थ्य, सीमा है, भूलें अनंत हैं।

नहीं, इस तरह काम न होगा। हमें कुछ गहरा विश्लेषण करना होगा। उस मूल भूल को पकड़ना होगा, जिसके आधार पर सारी भूलों का जाल फैलता है। जड़ को काटना होगा, पत्तों को नहीं। तुम पत्ते काटते रहो, तुम्हारे पत्ते काटने से वृक्ष नष्ट नहीं होता। तुम्हारे पत्ते काटने से तो हो सकता है वृक्ष और सघन हो जाये, क्योंकि वृक्ष के पत्ते काटो, कलम होती है। एक पत्ते की जगह तीन निकल आते हैं।

मैं तुमसे कहता हूं, जड़ काटो। और जड़ अहंकार है। काम, लोभ, मद, मोह, मत्सर, सब अहंकार की जड़ पर खड़े हैं। और मजा यह है कि जैसे जड़ें जमीन में छिपी होती हैं, ऐसा ही अहंकार जमीन में छिपा है, पत्ते सब बाहर हैं। भूलें दिखायी पड़ती हैं, अहंकार दिखायी नहीं पड़ता। जड़ें इसीलिए तो जमीन में छिपी रहती हैं ताकि दिखायी न पड़ें, कोई काट न दे। वृक्ष को काट डालो, कोई फिक्र नहीं, फिर अंकुर आ जायेंगे। जीवन ऐसे नष्ट नहीं होता है। इसीलिए तो वृक्ष होशियारी से अपनी जड़ों को जमीन में छिपाये बैठे हैं।

तुमने बच्चों की कहानियां पढ़ीं, जिनमें यह बात आती है कि किसी राजा ने अपने प्राण तोते में रख दिये। फिर तुम राजा को कितना ही मारो, वह नहीं मरता। जब तक कि तोते की गर्दन न मरोड़ो। अब यह पता कैसे

चले कि किसमें रख दिये हैं प्राण, तोते में रखे हैं, कि मैना में रखे हैं, कि कोयल में रखे हैं, कि कहां रखे हैं! तो तुम राजा को मारते रहो, मरता नहीं। क्योंकि उसके प्राण वहां हैं नहीं।

ऐसे ही तुम्हारी सारी बीमारियों ने अपने प्राण अहंकार में रख दिये हैं। जब तक तुम अहंकार की गर्दन न मरोड़ दो, कुछ भी न मरेगा।

तुम पूछते हो, भूलें? भूलें मैंने बहुत कीं। जब तक मैं था, भूलें ही भूलें थीं। तब मैंने एक भी ठीक बात नहीं की। कर ही न सकता था। मूल भूल मौजूद थी, उसी में पत्ते लगते थे। जबसे मैं न रहा, तबसे कोई भूल नहीं हुई। अब हो नहीं सकती। अब करना भी चाहूं तो नहीं हो सकती। पहले ठीक करना भी चाहा था तो गलत हुआ था। अब गलत भी करना चाहूं तो भी ठीक ही होता है। अब गलत होने का उपाय ही न रहा। मूल कट गया। जड़ कट गई।

जड़ पर ही ध्यान देना, जड़ को ही काटना है।

चौथा प्रश्न: बड़ा प्रसिद्ध पद है कबीर का, "प्रेमगली अति सांकरी तामें दो न समाय।" लेकिन प्रेमगली क्या इतनी चौड़ी नहीं है कि "तामें सर्व समाय"? कृपया समझाएं।

दोनों का एक ही अर्थ है। जहां दो न बचे, वहीं सर्व बचता है। एक और सर्व एक ही अर्थ रखते हैं। जैसे ही एक बचा, वैसे ही सर्व बचा।

तो कबीर का यह कहना कि "प्रेमगली अति सांकरी तामें दो न समाय," वही अर्थ रखता है। इसको ऐसा भी कह सकते हैं कि प्रेम की गली बहुत विशाल है, तामें सर्व समाय।

लेकिन कबीर ने वैसा कहा नहीं, कारण है। क्योंकि तुम्हारे लिए दूसरा वक्तव्य किसी मतलब का नहीं है। तुम्हारे लिए तो पहला वक्तव्य ही मतलब का है। तुम अभी दो में हो और एक को गिराना है। कबीर जैसे सत्पुरुष जो बोलते हैं, अकारण नहीं बोलते। जिनसे बोलते हैं, उनके लिए कुछ सूत्र है, कुछ इशारा है। कबीर ने जिनसे कहा है, वे दो में खड़े हैं। अभी उनसे सर्व की बात करनी फिजूल है। अभी तो एक ही नहीं हुआ तो सर्व का तो पता ही न चलेगा। अभी तो इतना ही कहना ठीक है कि तुम अभी दो हो और प्रेम की गली बड़ी संकरी है, ये "दो-भाव" छोड़ दो। एक को गिरा दो, एक ही बच रहे। जब एक ही बच रहेगा, तब तुम्हें स्वयं ही पता चलेगा कि यह तो सर्व हो गया। यह तो खोना न हुआ, पाना हो गया। जब बूंद सागर में गिरती है, तो पहले तो यही सोचती होगी कि मिटी, गई, खोयी; गिर कर पाती है कि मैं तो सागर हो गई। पहले लगता था खोना, अब लगता है पाना।

तो दूसरा पद कबीर ने नहीं कहा, जानकर। और दोनों में विरोध नहीं है। दोनों एक ही की तरफ इशारा हैं।

पांचवां प्रश्न: "रसो वै सः।" परमात्मा रसरूप है। यह कथन कृष्ण के मार्ग पर सही है। लेकिन अष्टावक्र के मार्ग पर यह कहां तक मौजूं है?

यह कथन मार्ग से संबंधित नहीं है।

यह कथन परम सत्य का निवेदन है। यह कथन कबीर, कृष्ण, मुहम्मद या महावीर, अष्टावक्र या जरथुस्त्र, इनसे कुछ संबंध नहीं है इस वक्तव्य का। यह वक्तव्य साधनों से संबंधित नहीं है। यह तो साध्य का निर्वचन है--रसो वै सः। वह रसरूप है।

और ध्यान रखना, रसो वै सः, इसका अर्थ यह नहीं है कि परमात्मा रसरूप है, वह रसरूप है। क्योंकि परमात्मा तो सांप्रदायिक शब्द है। जैन राजी न होंगे, बौद्ध राजी न होंगे। फिर परमात्मा के तो अलग-अलग रूप-रंग होंगे। ईसाइयों का परमात्मा कुछ अलग रंग-ढंग का है, मुसलमानों का कुछ अलग रंग-ढंग का, हिंदुओं के तो फिर हजार रंग-ढंग हैं परमात्मा के। परमात्मा में फिर झगड़े खड़े होंगे। और मूल शब्द है--रसो वै सः। वह रसरूप है। वह शब्द ठीक है। वह निर्विकार शब्द है। "दैट", वह, तत्। इसमें फिर किसी मार्ग का कोई संबंध नहीं। सिर्फ इंगित है। और इंगित है परम दशा का कि वह परम दशा रसरूप है।

अब तुम कहते हो, कृष्ण के मार्ग पर सही है, तो तुम गलत समझे। तुम फिर रस का अर्थ ही नहीं समझे। तुम समझे कि कृष्ण वे जो बांसुरी बजाकर गोपियों के साथ नाच रहे हैं, वे रस हैं। तो तुम समझे ही नहीं फिर। यह उस रस की चर्चा नहीं हो रही है। तो तुम्हारे मन में कहीं बांसुरी बजाकर गोपियों को नचाने का भाव होगा। तुम कहीं अपने को धोखा देने में पड़े हो। तो तुमने कहा कि कृष्ण के मार्ग पर सही है। अष्टावक्र के मार्ग पर सही नहीं है। अष्टावक्र तो वैसे ही किसी गोपी को न नचा सकेंगे, नाच भी नहीं सकते, आठ तरफ से अंग टेढ़े हैं--अष्टावक्र! बांसुरी बजेगी भी नहीं और गोपियां आनेवाली भी नहीं। गोपियां तो छोड़ो, गोप भी न आयेंगे। तुम गलत समझे।

यह बांसुरी बजाकर जो नाच चलता, रासलीला होती, उस रस से इसका कोई संबंध नहीं है। स्वभावतः अगर तुम ऐसा समझोगे तो फिर बुद्ध के मार्ग पर क्या होगा? बुद्ध तो बैठे हैं वृक्ष के तले, आंख बंद किये, यहां कैसा रस होगा! महावीर तो खड़े हैं नग्न, न मोर-मुकुट बांधे, न बांसुरी हाथ में, यहां कैसे रस होगा! और चलो इनको भी किसी तरह का होगा; ईसा तो सूली पर लटके, हाथों में खीले ठुके, प्राण जा रहे, यहां कैसे रस होगा! नहीं, तुम समझे नहीं रस का अर्थ।

रस का अगर तुम अर्थ समझो, तो जीसस जिसको कहते हैं "किंग्डम ऑफ गॉड", वह रस की परिभाषा है। जिसको बुद्ध कहते हैं निर्वाण, जहां मैं बिलकुल नहीं बचा, वह रस की परिभाषा है। जिसको महावीर कहते हैं कैवल्यम्, मोक्ष, वह रस की परिभाषा है। परम मुक्ति।

जिसको कबीर कहते हैं आनंद की वर्षा, अमृत की वर्षा, अमि रस बरसे, वह रस की व्याख्या है। रस का अर्थ है, वह परम दशा नीरस नहीं है, वह परम दशा बड़ी रससिक्त है। वह परम दशा उदास नहीं है, उत्सवपूर्ण है, वह परम दशा नाचती हुई है।

लेकिन नाचने का मतलब यह मत समझना कि तुम्हारा शरीर नाचे तो ही। वह परम दशा गुनगुनाती हुई है। भीतर नाच ही नाच है। मीरा बाहर भी नाच रही है, बुद्ध भीतर ही नाच रहे हैं, पर नाच चल रहा है। कृष्ण बांसुरी बजाकर नाच रहे, महावीर बिना बांसुरी, बिना मोरपंख के नाच रहे। कृष्ण का नृत्य तुम्हारी चर्म आंखों से भी देखा जा सकता है, महावीर का नृत्य देखना हो तो भीतर की आंखें खोलनी जरूरी हैं। वहां तुम्हें महावीर नाचते हुए दिखाई पड़ेंगे।

वह परम दशा उत्सव की है, महोत्सव की है। परम प्रेम, परम अमृत, परम आनंद की है; सच्चिदानंद रूप है, इतना ही अर्थ है।

यह परम दशा का इंगित है। यह परम दशा की निर्वचना है। इसका मार्ग से कोई भी संबंध नहीं है। कोई किसी मार्ग से आये, कैसी ही विधियों का उपाय करके आये--पतंजलि से गुजरकर आये कि अष्टावक्र से गुजरकर आये, लेकिन पहुंच गया जो, सिद्ध जो हुआ, वह कहेगा: रसो वै सः, वह रसरूप है।

छठवां प्रश्न:
यही है जिंदगी मेरी
यही है बंदगी मेरी

कि तेरा नाम आया
और गर्दन झुक गई मेरी

ठीक है, शुभ है। जैसा कहा है इस पद में, वैसा ही प्रभु करे तुम्हारे भीतर भी हो। यह पद ही न रहे। पद लिखने की मौज में ही न लिख दिया हो। सुंदर है, सुंदर को कहने का मन होता है। लेकिन स्मरण रखना, सुंदर को कहना तो सुखद है ही, सुंदर हो जाना महासुखद है। रसो वै सः। ऐसा हो जाये--

"यही है जिंदगी मेरी
यही है बंदगी मेरी
कि तेरा नाम आया
और गर्दन झुक गई मेरी"

झुकना आ जाये, तो सब आ गया। झुकना सीख लिया तो कुछ और सीखने को न बचा।

राम, तुम्हारा नाम कंठ में रहे
हृदय जो कुछ भेजो वह सहे
दुख से त्राण नहीं मांगूं
मांगूं केवल शक्ति दुख सहने की
दुर्दिन को भी मान तुम्हारी दया
अकातर ध्यानमग्न रहने की
देख तुम्हारे मृत्युदूत को डरूं नहीं
न्योछावर होने में दुविधा करूं नहीं
तुम चाहो, दूं वही
कृपण हो प्राण नहीं मांगूं
राम, तुम्हारा नाम कंठ में रहे
हृदय जो कुछ भेजो वह सहे
दुख से त्राण नहीं मांगूं

ऐसा हो। इसका स्मरण रखना। क्योंकि अच्छे-अच्छे शब्दों में खो जाने का डर है। कविताएं मधुर होती हैं। कविताओं का अपना एक रस है, अपना मनोरंजन है। लेकिन जब तक हृदय वैसा न हो जाये--काव्यसिक्त--तब तक रुकना मत।

तुमने कभी देखा, किसी की कविता पढ़कर मन डांवांडोल हो जाता है। डोल-डोल उठता है। लेकिन उस कवि से मिलने जाओ और बड़ी बेचैनी होती है। वह कोई साधारण आदमी से भी गया-बीता आदमी मालूम होता है। तुम चकित होते हो, कैसे इस अभागे को ऐसी कविता का दान मिला! ऐसा अक्सर हो जाता है। क्योंकि कवि जो कह रहा है, उसकी झलकें भर आती हैं उसे, कभी-कभी छलांग लगती है आकाश में, फिर जमीन पर पड़ जाता है।

यही तो कवि और ऋषि का फर्क है। कवि छलांग लगाता है, एक क्षण आकाश में उठ जाता है, फिर जमीन का गुरुत्वाकर्षण खींच लेता है, फिर जमीन पर गिर जाता है। अक्सर ऐसा होता है कि ज्यादा ऊंची छलांग लगायी तो हाथ-पैर टूट जाते हैं जमीन पर गिरकर। ज्यादा उचके-कूदे, खाई-खड्ड में गिर जाते हैं। समतल जमीन तक खो जाती है। तो कवि अक्सर ऐसी दशा में होता है-- लंगड़ा-लूला, हाथ-पांव तोड़े, अपंग। उसकी कविताओं में तो हो सकता है परमात्मा की बात हो और उसका मुंह सूंघो तो शराब की बास आये। उसके गीत तो ऐसे हो सकते हैं कि उपनिषदों को मात करें, और उसका जीवन ऐसा फीका हो सकता है जहां कभी कोई फूल खिले, इसका भरोसा ही न आये।

ऋषि और कवि का यही फर्क है। ऋषि जो कहता है, वही उसका जीवन है। सच तो यह है, कवि का जो जीवन नहीं है उससे ज्यादा वह कह देता है। और ऋषि का जो जीवन है, उससे वह हमेशा कम कह पाता है।

उतना नहीं कह पाता। क्योंकि शब्द में उतना अटता नहीं। है उसके पास बहुत, शब्द छोटे पड़ जाते हैं। कवि तो अक्सर अपने जीवन से ज्यादा कह देता है और ऋषि अक्सर अपने जीवन से बहुत कम कह पाता है। जीवन तो सागर है; जो कह पाता है वह बूंद ही रह जाती है।

कविता में मत खोना। ऐसी तुम्हारी जीवन-दशा बने, इसका स्मरण रखना।

सातवां प्रश्न: भीतर कोई अंकुर जन्म ले चुका है, जो बीज के टूटने की प्रतीक्षा कर रहा है। कब वह बीज टूटेगा और धरती में मिलेगा? कब ये कान तुझे सुनने में समर्थ होंगे? भगवान, मुझ पर सदा आपकी विजय हो!

संत अगस्तीन ने अपनी एक प्रार्थना में कहा है कि प्रभु, मैं न जीतूं, इसका तू ध्यान रखना। तू ही जीते, इसका तू ध्यान रखना। और ऐसा भी नहीं है कि मैं जीतने की कोशिश न करूंगा। मैं तो कोशिश करूंगा, लेकिन भूलकर भी मुझे जीतने मत देना। जीते तू ही। मेरी कोशिश अकारथ जाये। और फिर भी मैं तुझसे कहता हूं कि मेरी प्रार्थना तो ठीक, लेकिन मैं कोशिश करूंगा, मैं जीतने की कोशिश करूंगा; मैं तुझसे लडूंगा, मैं तुझे हराने के उपाय करूंगा, लेकिन तू दया मत करना।

ठीक बात कही है। ठीक बात आनंद ने भी कही है--भगवान, मुझ पर सदा आपकी विजय हो! स्वाभाविक है कि तुम जीतना चाहो। गुरु से भी शिष्य जीतना चाहता है। जीत की ऐसी प्रबल आकांक्षा है, अहंकार का ऐसा रस है। लेकिन जीत न पाओ, यही तुम्हारा सौभाग्य है। जीत गये तो हार गये। हार गये तो जीत गये।

काबा जाओ, काशी जाओ
गंगा में डुबकियां लगाओ
दिल का देवालय गंदा तो
फंदा सारा धरम-करम है
इस दिशा से उस दिशा तक
सब जगह है प्यार फैला
सब जगह है एक हलचल
सब जगह है एक मेला
है नहीं कोई न जिसके
शीश हो छाया किसी की
एक मैं ही जो यहां
बिलकुल अपरिचित औ" अकेला
सांस तक अपनी अजानी
लाश तक अपनी बिरानी
तुम गहो यदि बांह तो
सब स्वर्ग बांहों में समाये
तुम मिलो तो जिंदगी फिर
आंख में काजल लगाए

शिष्य होने का अर्थ है, दे दिया अपना हाथ गुरु के हाथ में। शिष्य होने का अर्थ है, दे दिया अपना हाथ गुरु के हाथ में इस भरोसे कि गुरु के हाथ में परमात्मा का हाथ छिपा है। शिष्य का अर्थ है कि परमात्मा तो दिखायी नहीं पड़ता, गुरु दिखायी पड़ता है, उसी के झरोखे से परमात्मा की थोड़ी झलक आती है, समर्पण किया। फिर भी अहंकार लड़ाई लड़ता है, आखिरी दम तक लड़ता है। आखिरी दम तक चेष्टा करता है कि हारूं न। स्मरण रखना इसे। यह प्रार्थना तुम्हारे मन में गूंजती ही रहे।

तुम गहो यदि बांह तो
सब स्वर्ग बांहों में समाए

तुम मिलो तो जिंदगी फिर
आंख में काजल लगाए
काबा जाओ, काशी जाओ
गंगा में डुबकियां लगाओ
दिल का देवालय गंदा तो
फंदा सारा धरम-करम है

और दिल तब तक गंदा रहता है जब तक अहंकार बसा रहता है। हार का अर्थ है, अहंकार का मिट जाना। हार का अर्थ है, तुम्हारा न हो जाना, शून्य हो जाना। उसमें ही तुम्हारी विजय है।

पूछते हो, "भीतर कोई अंकुर जन्म ले चुका है जो बीज के टूटने की प्रतीक्षा कर रहा है। कब वह टूटेगा और धरती में मिलेगा?"

प्रतीक्षा करो और धैर्य से प्रतीक्षा करो। जल्दी मत करना। जल्दी में अक्सर ऐसा हो जाता है कि आदमी कल्पना करने लगता है कि टूट गया बीज, वृक्ष लग गया, फूल भी खिलने लगे। कल्पना मत कर लेना। कल्पना कर ली कि चूक गये। आते-आते चूक गये। घर पहुंचते-पहुंचते चूक गये। कल्पना का जाल फैला लिया, तो फिर असली वृक्ष कभी पैदा न हो सकेगा। कल्पना मत कर लेना। और अधैर्य में आदमी कल्पना करने लगता है।

तुमने देखा? अगर तुम बहुत अधैर्य से किसी की प्रतीक्षा कर रहे हो और रास्ते पर सूखे पत्ते हवा में उड़ जाते, तुम दौड़कर बाहर आ जाते--शायद आ गया! तुम किसी की प्रतीक्षा कर रहे हो, हवा का झोंका द्वार पर दस्तक देता, तुम भागे आ जाते कि शायद आ गया! तुम हजार बार कल्पना को आरोपित कर लेते हो। नहीं, अधैर्य मत करना। बड़ी धैर्यपूर्ण प्रतीक्षा!

अब यह बड़े समझने की बात है, अधैर्य ही होता है प्रतीक्षा में छिपा। या तो प्रतीक्षा नहीं होती, तो अधैर्य नहीं होता। प्रतीक्षा होती है तो अधैर्य होता है, यह झंझट है। और होना ऐसा चाहिए कि प्रतीक्षा हो और अधैर्य न हो। प्रतीक्षा+धैर्य, यही प्रार्थना का अर्थ है। कहना, जब तुझे आना हो आना। जब तुझे आना हो, अनंत काल में आना हो तो आना; क्योंकि जो तू समय चुनेगा वही ठीक होगा। मैं कैसे चुनूं? मैं कौन हूं? मैं कैसे जानूं कि कब ठीक क्षण आ गया? कब ठीक मौसम आ गया? कब ऋतु है खिलने की? तू जब आये, तब आना। मैं कितना ही पुकारूं, बेमौसम मत आना। बिना ऋतु के मत आना। जब तुझे आना हो तभी आना। तेरी मर्जी ही सदा पूरी हो। और मैं प्रतीक्षा करूंगा। थकूंगा नहीं, हारूंगा नहीं, उदास न होऊंगा, आशा-रहित न होऊंगा, निराश न होऊंगा, हताश न होऊंगा, प्रतीक्षा करूंगा। आज जैसी प्रतीक्षा है, वैसी ही कल, वैसी ही परसों, वैसी जन्मों-जन्मों तक होगी। मेरी प्रतीक्षा बासी न पड़ेगी। मैं रोज सुबह उसी उत्साह से उठूंगा और प्रतीक्षा करूंगा।

तो शायद आज ही आगमन हो जाये।

इतनी जहां गहन प्रतीक्षा है, वहां इतनी ही गहन प्रार्थना हो जाती है। उसी प्रार्थना में आगमन है। जहां प्रार्थना पूर्ण हो गई, वहां परमात्मा आ जाता है।

आखिरी प्रश्न: भगवान, अष्टावक्र-गीता पर आपको सुनकर अब तो सभी आधार धराशायी होते जा रहे हैं। बुद्धपुरुष और बुद्धपुरुषों के दिये सूत्र भी एक-एक करके छूटते जा रहे हैं। खोते जा रहे हैं। बड़ी आश्चर्य पूर्ण घड़ियां हैं। अहोभाव, प्रणाम!

नरेंद्र ने पूछा है।

एक तो यह प्रश्न है नहीं, इसलिए जैसा प्रश्न वैसा उत्तर। यह रहा उत्तर--

हो आयी देह-देहरी सुरभीली
ये स्यात कंत आने के लक्षण हैं

उभरी दर्पण पर रेखा सिंदूरी
नूपुर के स्वर बिखरे दालानों में
हो गई देह कस्तूरी कस्तूरी
हो आयीं जूड़े की अलकें ढीली
ये विरह अंत आने के लक्षण हैं
आंगन की धूप हो गई सोनीली
ये तो वसंत आने के लक्षण हैं!

अहोभाव आ गया, तो वसंत आ गया। अहोभाव आ गया, तो हो गई देह कस्तूरी-कस्तूरी। अहोभाव आ गया--

हो गई देह-देहरी सुरभीली
ये स्यात कंत आने के लक्षण हैं

तो प्यारा आता ही होगा। अहोभाव उस प्यारे के आने की पगध्वनि है।

उभरी दर्पण पर रेखा सिंदूरी
नूपुर के स्वर बिखरे दालानों में

अहोभाव--उसके नूपुर। अहोभाव--उसके आने की हवा का झोंका। अहोभाव--उसकी पहली किरणें।

हो गई देह कस्तूरी-कस्तूरी

अहोभाव--उसके आने की सुगंध। जैसे तुम आते हो कभी बगीचे के करीब और हवाएं ठंडी हो जाती हैं और हवाएं सुरभीली हो जाती हैं और हवाओं में सुवास आ जाती है। तुम्हें दिखायी भी नहीं पड़ता अभी बगीचा लेकिन फिर भी तुम जानते हो दिशा ठीक है। अहोभाव ठीक दिशा का लक्षण है।

हो आयीं जूड़े की अलकें ढीली
ये विरह अंत आने के लक्षण हैं

प्यारा बहुत करीब है और विरह का अंत करीब आ रहा है।

आंगन की धूप हो गई सोनीली
ये तो वसंत आने के लक्षण हैं

अहोभाव वसंत है अध्यात्म का।

आज इतना ही।

इकहत्तरवां प्रवचन

निराकार, निरामय साक्षित्व

अष्टावक्र उवाच।

अकर्तृत्वमभोक्तृत्वं वात्मनो मन्यते यदा।
तदा क्षीणा भवंत्येव समस्ताश्चित्तवृत्तयः।। २२७।।
उच्छृंखलाप्यकृतिका थतिर्धीरस्य राजते।
न तु संस्पृहचित्तस्य शांतिर्मूढस्य कृत्रिमा।। २२८।।
विलसन्ति महाभोगेर्विशन्ति गिरिगह्वरान्।
निरस्तकल्पना धीरा अबद्धा मुक्तबुद्धयः।। २२९।।
श्रोत्रियं देवतां तीर्थमंगनां भूपतिं प्रियम्।
दृष्ट्वा सम्पूज्य धीरस्य न कापि हृदि वासना।। २३०।।
भृत्यैः पुत्रैः कलत्रैश्च दौहित्रैश्चापि गोत्रजैः।
विहस्य धिक्कृतो योगी न याति विकृतिं मनाक्।। २३१।।
संतुष्टोऽपि न संतुष्टः खिन्नोऽपि न च खिद्यते।
तस्याश्चर्यदशां तां तां तादृशा व जानन्ते।। २३२।।
कर्तव्यतैव संसारो न तां पश्यन्ति सूरयः।
शून्याकारा निराकारा निर्विकारा निरामयाः।। २३३।।

एक पुरानी चीनी कथा है, जंगल में कोई लकड़हारा लकड़ियां काटता था। अचानक देखा कि उसके पीछे आकर खड़ा हो गया है एक बारहसिंगा--सुंदर, अति सुंदर, अति स्वस्थ। लकड़हारे ने अपनी कुल्हाड़ी उसके सिर पर मार दी। बारहसिंगा मर गया। तब लकड़हारा डरा; कहीं पकड़ा न जाए। क्योंकि वह राजा का सुरक्षित वन था और शिकार की मनाही थी। तो उसने एक गड्ढे में छिपा दिया उस बारहसिंगे को, ऊपर से मिट्टी डाल दी और वृक्ष के नीचे विश्राम करने लगा।

अब लकड़ियां काटने की कोई जरूरत न थी। काफी पैसे मिल जाएंगे बारहसिंगे को बेचकर। सांझ जब सूरज ढल जाएगा और अंधेरा उतर आयेगा तब निकालकर बारहसिंगे को अपने घर ले जाएगा। अभी तो दोपहर थी।

वह वृक्ष के नीचे विश्राम करने लगा और उसकी झपकी लग गई। जब उठा तो सूरज ढल चुका था और अंधेरा फैल रहा था। बहुत खोजा लेकिन वह गड्ढा मिला नहीं, जहां बारहसिंगे को गड़ा दिया था। तब उसे संदेह होने लगा कि हो न हो, मैंने स्वप्न में देखा है। कहीं ऐसे बारहसिंगे पीछे आकर खड़े होते हैं! आदमी को देखकर भाग जाते हैं, मीलों दूर से भाग जाते हैं। जरूर मैंने स्वप्न में देखा है और मैं व्यर्थ ही परेशान हो रहा हूं।

हंसता हुआ, अपने पर ही हंसता हुआ घर की तरफ वापिस लौटने लगा। यह भी खूब मूढ़ता हुई! राह में एक दूसरा आदमी मिला तो उसने अपनी कथा उससे कही कि ऐसा मैंने स्वप्न में देखा। और फिर मैं पागल, उस गड्ढे को खोजने लगा।

उस दूसरे आदमी को हुआ, हो न हो इस आदमी ने वस्तुतः बारहसिंगा मारा है। लकड़हारा तो घर चला गया, वह आदमी जंगल में खोजने गया और उसने बारहसिंगा खोज लिया। चोरी-छिपे वह अपने घर पहुंचा। उसने अपनी पत्नी को सारी कथा कही कि ऐसा लकड़हारे ने मुझे कहा और उसने यह भी कहा कि स्वप्न देखा है।

अब मैं कैसे मानूं कि स्वप्न देखा है? स्वप्न कहीं सच होते हैं? यह बारहसिंगा सामने मौजूद है। तो स्वप्न नहीं देखा होगा, सच में ही हुआ होगा।

लेकिन पत्नी ने कहा, तुम पागल हो। तुम दोपहर को सोये तो नहीं थे जंगल में? उसने कहा, मैं सोया था, झपकी ली थी। तो उसने कहा, तुमने हो न हो लकड़हारे का सपना देखा है। और सपने में लकड़हारा तुम्हें दिखाई पड़ा। तो वह आदमी कहने लगा, अगर लकड़हारा सपने में देखा है तो यह बारहसिंगा तो मौजूद है न!

तो उसकी स्त्री ने कहा, ज्ञानी कहते हैं, सपने में और सत्य में फर्क कहां? सपने भी सच होते हैं और जिसको हम सच कहते हैं, वह भी झूठ होता है। हो गया होगा सपना सच। निश्चिंत हो गया वह आदमी। अपराध का एक भाव था कि लकड़हारे को धोखा दिया, वह भी चला गया।

रात लकड़हारे ने एक सपना देखा कि उस आदमी ने जंगल में जाकर खोज लिया गड्ढा। और वह बारहसिंगे को घर ले गया। वह आधी रात उठकर उसके घर पहुंच गया। दरवाजा खटखटाया। दरवाजा खोला तो बारहसिंगा आंगन में पड़ा था। तो उसने कहा, यह तो बड़ा धोखा दिया तुमने। मैंने सपना देखा, तुम्हें निकालते देखा और बारहसिंगा तुम्हारे द्वार पर पड़ा है। ऐसी बेईमानी तो नहीं करनी थी।

मुकदमा अदालत में गया। मजिस्ट्रेट बड़ा मुश्किल में पड़ा। मजिस्ट्रेट ने कहा, अब यह बड़ी उलझन की बात है। लकड़हारा सोचता है कि उसने सपना देखा था। तुम्हारी पत्नी कहती है कि तुमने सपना देखा कि लकड़हारा देखा था। अब लकड़हारा कहता है कि सपने में उसने देखा कि तुम बारहसिंगा ले आए। जो हो, इस पंचायत में मैं न पड़ूंगा। यह कानून के भीतर आता भी नहीं सपनों का निर्णय। एक बात सच है कि बारहसिंगा है, सो आधा-आधा तुम बांट लो।

यह फाइल राजा के पास पहुंची दस्तखत के लिए, स्वीकृति के लिए। राजा खूब हंसने लगा। उसने कहा, यह भी खूब रही। मालूम होता है इस न्यायाधीश का दिमाग फिर गया है। इसने यह पूरा मुकदमा सपने में देखा है। उसने अपने वजीर को बुलाकर कहा कि इसको सुलझाना पड़ेगा।

वजीर ने कहा, देखिए, ज्ञानी कहते हैं, जिसको हम सच कहते हैं वह सपना है। और अब तक कोई पक्का नहीं कर पाया है कि क्या सपना है और क्या सच है। और जो जानते थे प्राचीन पुरुष--लाओत्सु जैसे, वे अब मौजूद नहीं दुर्भाग्य से, जो तय कर सकें कि क्या सपना और क्या सच। यह हमारी सामर्थ्य के बाहर है। न्यायाधीश ने जो निर्णय दिया, आप चुपचाप स्वीकृति दे दें। इस उलझन में पड़ें मत। क्योंकि केवल ज्ञानी पुरुष ही तय कर सकते हैं कि क्या सच है और क्या सपना है।

मैं तुमसे कहना चाहता हूं, ज्ञानी पुरुष ही तय कर सकते हैं कि क्या सपना है और क्या सच है। लेकिन हम क्यों नहीं तय कर पाते? हम चूकते क्यों चले जाते हैं? हम चूकते चले जाते हैं क्योंकि हम सोचते हैं, जो देखा उसमें ही तय करना है। जो देखा उसमें क्या सच और जो देखा उसमें क्या झूठ।

दिन में देखा वह सच हम कहते हैं, रात जो देखा वह झूठ। जागकर जो देखा वह सच, सोकर जो देखा वह झूठ। आंख खुली रखकर जो देखा वह सच, आंख बंद रखकर देखा जो झूठ। सबके साथ जो देखा सच, अकेले में जो देखा वह झूठ। लेकिन हम एक बात कभी नहीं सोचते कि हम देखे और देखे में ही तौल करते रहते हैं।

ज्ञानी कहते हैं, जिसने देखा वह सच, जो देखा वह सब झूठ--जागकर देखा कि सोकर देखा, अकेले में देखा कि भीड़ में देखा, आंख खुली थी कि आंख बंद थी--जो भी देखा वह सब झूठ। देखा देखा सो झूठ। जिसने देखा, बस वही सच।

द्रष्टा सत्य और दृश्य झूठ।

दो दृश्यों में तय नहीं करना है कि क्या सच और क्या झूठ, द्रष्टा और दृश्य में तय करना है। द्रष्टा का हमें कुछ पता नहीं है।

अष्टावक्र का यह पूरा संदेश द्रष्टा की खोज है। कैसे हम उसे खोज लें जो सबका देखने वाला है।

तुम अगर कभी परमात्मा को भी खोजते हो तो फिर एक दृश्य की भांति खोजने लगते हो। तुम कहते हो, संसार तो देख लिया झूठ, अब परमात्मा के दर्शन करने हैं। मगर दर्शन से तुम छूटते नहीं, दृश्य से तुम छूटते नहीं। धन देख लिया, अब परमात्मा को देखना है। प्रेम देख लिया, संसार देख लिया, संसार का फैलाव देख लिया, अब संसार के बनानेवाले को देखना है; मगर देखना है अब भी। जब तक देखना है तब तक तुम झूठ में ही रहोगे। तुम्हारी दूकानें झूठ हैं। तुम्हारे मंदिर भी झूठ हैं, तुम्हारे खाते-बही झूठ हैं, तुम्हारे शास्त्र भी झूठ।

जहां तक दृश्य पर नजर अटकी है वहां तक झूठ का फैलाव है। जिस दिन तुमने तय किया अब उसे देखें जिसने सब देखा, अब अपने को देखें, उस दिन तुम घर लौटे। उस दिन क्रांति घटी। उस दिन रूपांतरण हुआ। द्रष्टा की तरफ जो यात्रा है वही धर्म है।

ये सारे सूत्र द्रष्टा की तरफ ले जाने वाले सूत्र हैं।

और उस बूढ़े वजीर ने राजा से ठीक ही कहा कि अब वे प्राचीन पुरुष न रहे, वे विरले लोग--चीन की कथा है इसलिए उसने लाओत्सु का नाम लिया, भारत की होती तो अष्टावक्र का नाम लेता। विरले हैं वे लोग और दुर्भाग्य से कभी-कभी होते हैं; मुश्किल से कभी होते हैं, जो जानते हैं कि क्या सत्य है और क्या सपना है। अष्टावक्र ऐसे विरले लोगों में एक हैं। एक-एक सूत्र को स्वर्ण का मानना। एक-एक सूत्र को हृदय में गहरे रखना, सम्हालकर रखना। इससे बहुमूल्य मनुष्य के चैतन्य में कभी घटा नहीं है।

पहला सूत्र:

अकर्तृत्वमभोक्तृत्वं स्वात्मनो मन्यते यदा।
तदा क्षीणा भवंन्येव समस्ताश्चित्तवृत्तयः।।

"जब मनुष्य अपनी आत्मा के अकर्तापन और अभोक्तापन को मानता है तब उसकी संपूर्ण चित्तवृत्तियां निश्चयपूर्वक नाश को प्र्राप्त होती हैं।"

दृश्य में हम उलझे क्यों हैं? दृश्य में हम उलझे हैं क्योंकि दृश्य में ही सुविधा है कर्ता के होने की, भोक्ता के होने की। जब तक हम कर्ता होना चाहते हैं तब तक हम द्रष्टा न हो सकेंगे। क्योंकि जो कर्ता होना चाहता है वह तो द्रष्टा हो ही नहीं सकता। वे आयाम विपरीत हैं। वे आयाम एक साथ नहीं रहते। अंधेरे और प्रकाश की भांति हैं। प्रकाश ले आए, अंधेरा चला गया। ऐसे ही जिस दिन साक्षी आएगा, कर्ता चला जाएगा। या कर्ता चला जाए तो साक्षी आ जाए। दोनों साथ नहीं होते।

और हमारा रस भोक्ता होने में है। दृश्य को हम देखना क्यों चाहते हैं? यह दृश्य की इतनी लीला में हम उलझते क्यों हैं? क्योंकि हमें लगता है, देखने में ही भोग है।

तुम देखो, संसार को देखने से तुम नहीं चुकते तो फिल्म देखने चले जाते हो। जानते हो भलीभांति कि पर्दे पर कुछ भी नहीं है। नाकुछ के लिए तीन घंटे बैठे रहते हो। कुछ भी नहीं है पर्दे पर। भलीभांति जानते हो, फिर भी भूल-भूल जाते हो। रो भी लेते हो, हंस भी लेते हो। रूमाल आंसुओं से गीले हो जाते हैं। तरंगित हो लेते हो, प्रसन्न हो लेते हो, दुखी हो लेते हो। तीन घंटे भूल ही जाते हो।

जहां-जहां टेलीविजन फैल गया है वहां लोग घंटों...अमरीकन आंकड़े मैं पढ़ रहा था, प्रत्येक अमरीकन कम से कम छः घंटे प्रतिदिन टेलीविजन देख रहा है--छः घंटे! छोटे-छोटे से बच्चे से लेकर बड़े-बड़े तक बचकाने हैं। तुम देख क्या रहे हो?

ज्ञानी कहते हैं, संसार झूठ है, तुम झूठ में भी सच देख लेते हो। तुम पर्दे पर जहां कुछ भी नहीं है, धूप-छाया का खेल है, आंदोलित हो जाते हो, सुखी-दुखी हो जाते हो, सब भांति अपने को विस्मरण कर देते हो। फिल्म में जाकर बैठ जाने का सुख क्या है? थोड़ी देर को तुम भूल जाते हो। फिल्म एक तरह की शराब है। दृश्य इतना जकड़ लेता है तुम्हें कि कर्ता बिलकुल संलग्न हो जाता है, भोक्ता संलग्न हो जाता है और साक्षी भूल जाता है। उस विस्मरण में ही शराब है। तीन घंटे बाद जब तुम जागते हो उस विस्मरण से, जो फिल्म तुम्हें सुला देती

है तीन घंटे के लिए अपने साक्षीभाव में, उसी को तुम अच्छी फिल्म कहते हो। जिस फिल्म में तुम्हें अपनी याद बार-बार आ जाती है, तुम कहते हो, कुछ मतलब की नहीं है। जिस उपन्यास में तुम भूल जाते हो अपने को पढ़ते समय, कहते हो, अदभुत कथा है।

अदभुत तुम कहते उसको हो जिसमें शराब झरती है, जहां तुम भूल जाते हो, जहां विस्मरण होता है। जहां स्मरण आता है वहीं तुम कहते हो कथा में कुछ सार नहीं, डुबा नहीं पाती। बार-बार अपनी याद आ जाती है।

"जब मनुष्य अपनी आत्मा के अकर्तापन और अभोक्तापन को मानता है तब उसकी संपूर्ण चित्तवृत्तियां निश्चयपूर्वक नाश को प्राप्त होती हैं।"

जानने योग्य, मानने योग्य, होने योग्य एक ही बात है और वह है, अकर्तापन और अभोक्तापन। अकर्तापन, अभोक्तापन एक ही सिक्के के दो पहलू हैं।

भोक्ता और कर्ता साथ-साथ होते हैं। जो भोक्ता है वही कर्ता बन जाता है। जो कर्ता बनता है वही भोक्ता बन जाता है। एक दूसरे को सम्हालते हैं।

जो इन दोनों से मुक्त हो जाता है उसकी चित्तवृतियां निश्चयपूर्वक नाश को उपलब्ध होती हैं। फिर उसे निरोध नहीं करना पड़ता, चेष्टा नहीं करनी पड़ती। कैसे अपनी चित्तवृत्तियों को त्याग दूं इसके लिए कोई उपाय नहीं करना पड़ता। ऐसा जानकर, ऐसा देखकर, ऐसा समझकर कि मैं केवल साक्षी हूं, चित्तवृत्तियां अपने से ही शांत हो जाती हैं।

साक्षी के साथ मन जीता नहीं। साक्षी के साथ मन की तरंगें खो जाती हैं। और मन की तरंगों का खो जाना ही तो फिर परमात्मा की तरंगों का उठना है। जहां तुम्हारा मन गया वहीं प्रभु आया। इधर तुम विदा हुए, उधर प्रभु का पदार्पण हुआ। तुम करो खाली सिंहासन तो प्रभु आ जाता है।

तुम अकड़कर बैठे हो, कर्ता-भोक्ता बने बैठे हो। तुम किसी तरह अगर छूटते भी हो संसार से तो भी तुम कर्ता-भोक्तापन से नहीं छूटते। फिर तुम कहते हो स्वर्ग चाहिए। वहां भी भोगेंगे। भोग जारी है। अगर तुम संसार से छूटते भी हो तुम कहते हो, तप करेंगे, ध्यान करेंगे; जप करेंगे, पूजा, प्रार्थना, यज्ञ, हवन, करेंगे; लेकिन करेंगे। कर्तापन फिर भी जारी रहा।

समस्त धर्मों का जो अंतिम निचोड़ है वह है, ऐसी घड़ियों को पा लेना जब न तो तुम भोगते और न कुछ करते; जब तुम बस हो। होने में भोक्ता की तरंग उठी कि चूक गए, कर्ता की तरंग उठी कि चूक गए। होने में कोई तरंग न उठी, बहने लगा रस। रसो वै सः! वहीं आनंद की धार, वहीं अमृत की धार उपलब्ध हुई।

इसे समझो। रात तुम सपना देखते हो, तुम भलीभांति जानते हो झूठ है। रात नहीं, सुबह जागकर जानते हो कि झूठ है। रात जान लो तो तुम प्रबुद्ध पुरुष हो जाओ, बुद्ध हो जाओ। रात तो तुम फिर भूल जाते हो। यह तुम्हारी पुरानी आदत है दृश्य में भूल जाने की। फिल्म में भूल जाते हो, टी. वी. पर देखते-देखते भूल जाते हो, किताब पढ़ते-पढ़ते भूल जाते हो। रात सपना देखते हो, अपनी ही कल्पना का जाल, वहां भूल जाते हो। और लगता है सब सच है, सब ठीक है। बिलकुल असंगत बातें भी ठीक लगती हैं। जो जरा भी संभव नहीं है वह भी ठीक लगता है।

एक पत्थर पड़ा है राह के किनारे, पास तुम पहुंचते हो, अचानक पत्थर उचककर खरगोश हो जाता है, फिर भी तुम्हें कोई अड़चन नहीं आती। घोड़ा चला आ रहा है, बदलकर पत्नी हो जाती है, तुम्हें कुछ अड़चन नहीं मालूम होती। तुम यह भी नहीं सोचते एक क्षण को, यह कैसे हो सकता है।

नहीं, तुम दृश्य में इतने लीन हो कि सोचने वाला है कहां? जागकर देखनेवाला है कहां? निर्णय कौन करे? तुम तो हो ही नहीं। तुम तो सिफर, तुम तो नकार हो। तुम्हारी मौजूदगी नहीं है। तुम्हारी मौजूदगी की किरण आ जाए तो सपना अभी टूटने लगे, अभी बिखरने लगे।

गुरजिएफ अपने शिष्यों को साधना के पूर्व तीन महीने के लिए एक ही प्रयोग करवाता था कि किसी भांति सपने में जागना आ जाए। बहुत सी विधियां उसने खोजीं थी। उनमें एक विधि यह थी कि तीन महीने तक चलो, उठो, बैठो, बाजार जाओ, दूकान जाओ, दफ्तर जाओ, मगर एक बात खयाल रखो कि जो भी तुम देख रहे हो झूठ है। इसको स्मरण रखो। इस स्मरण को गहराओ। इस बात का अभ्यास करो कि जो भी देख रहे, सब झूठ है।

बड़ी कठिनाई है। राह पर तुम चल रहे हो, जो लोग चल रहे--झूठ, जो कारें दौड़ रहीं--झूठ, जो बसें चल रही--झूठ; सब झूठ है। पहले तो अड़चन होती है। पहले तो बड़ी अड़चन होती है। बार-बार भूल जाते हो, क्योंकि जन्मों-जन्मों तक इसे सच माना है। लेकिन गुरजिएफ कहता है, चेष्टा करते रहो। कोई महीने भर के प्रयोग के बाद यह बात थमने लगती है। यह भाव बना रहने लगता है कि सब झूठ।

तीन महीने पूरे होते-होते एक दिन तुम अचानक पाओगे कि रात सपने में, अचानक बीच सपने में तुम्हें स्मरण आ जाता है--झूठ! और वहीं सपना टूटकर बिखर जाता है। तीन महीने तुमने अभ्यास किया कि जो दिखाई पड़ रहा है--झूठ, जो दिखाई पड़ रहा है--झूठ, जो दिखाई पड़ रहा है--झूठ। यह अभ्यास गहरे चला गया। इसका तीर प्रवेश कर गया तुम्हारे हृदय की आखिरी सीमा तक। फिर एक दिन वहीं से रात सपना भी दिखाई ही पड़ेगा। यह अभ्यास एक दिन बोलेगा सपने में--"झूठ"।

झूठ कहते ही, यह भाव उठते ही कि यह झूठ है, यह सपना है--सपना बिखर जाता है। सन्नाटा छा जाता है। और जिस क्षण तुम्हें याद आता है कि यह सपना है, इधर सपना टूटा, उधर तुम जागे। दृश्य गया, द्रष्टा उठा।

और जिस दिन तुम सपने में जान लोगे कि यह झूठ है, सपना झूठ है, दृश्य झूठ है, द्रष्टा सच है; उस दिन तुम सुबह जागकर पाओगे, अब अभ्यास की जरूरत न रही। अब तो जो दिखाई पड़ता है वह झूठ है। झूठ का यह अर्थ नहीं है कि नहीं है, झूठ का इतना ही अर्थ है: आभास है। झूठ का इतना ही अर्थ है: शाश्वत नहीं है, क्षणभंगुर है। पानी का बबूला है। पानी पर बबूले उठते हैं, झूठ तो नहीं हैं, हैं तो। लेकिन झूठ इस अर्थ में हैं, टिकेंगे नहीं। अभी उठे, अभी गए। क्षणभंगुर हैं। आई लहर, गई लहर। टिकती नहीं, स्थिर नहीं है, थिरता नहीं है। कल नहीं थी, आज है, कल फिर नहीं हो जाएगी।

इस परिभाषा को याद रखना। पूरब की सत्य की यह परिभाषा है: जो सदा रहे वह सत्य। जो सतत रहे वही सत्य। सतत का निचोड़ ही सत्य। सत्य और सतत एक ही अर्थ रखते हैं। वह जो सातत्य है, वही सत। जो आज है कल नहीं हो जाए, वही असत। जिसका सातत्य न रहे, वही असत।

असत को खयाल रखना। असत का यह मतलब नहीं होता कि नहीं है। पानी का बबूला भी है तो। रात का सपना भी है तो। सपना है, तो भी है तो। पानी पर उठी लहर है, मगर है तो। थोड़ी देर को है, बस इतना ही अर्थ है। और थोड़ी देर को जो है, उसमें जो उलझ गया वह दुख पायेगा। क्योंकि जो थोड़ी देर को है, थोड़ी देर बाद नहीं हो जाएगा।

तुम एक प्रेम में पड़ गए। तुमने एक स्त्री को चाहा, एक पुरुष को चाहा, खूब चाहा। जब भी तुम किसी को चाहते हो, तुम चाहते हो तुम्हारी चाह शाश्वत हो जाए। जिसे तुमने प्रेम किया वह प्रेम शाश्वत हो जाए। यह हो नहीं सकता। यह वस्तुओं का स्वभाव नहीं। तुम भटकोगे। तुम रोओगे। तुम तड़पोगे। तुमने अपने विषाद के बीज बो लिए। तुमने अपनी आकांक्षा में ही अपने जीवन में जहर डाल लिया। यह टिकनेवाला नहीं है। कुछ भी नहीं टिकता यहां। यहां सब बह जाता है। आया और गया।

अब तुमने यह जो आकांक्षा की है कि शाश्वत हो जाए, सदा-सदा के लिए हो जाए; यह प्रेम जो हुआ, कभी न टूटे, अटूट हो; यह शृंखला बनी ही रहे, यह धार कभी क्षीण न हो, यह सरिता बहती ही रहे--बस, अब तुम अड़चन में पड़े। आकांक्षा शाश्वत की और प्रेम क्षणभंगुर का; अब बेचैनी होगी, अब संताप होगा। या तो प्रेम मर जाएगा या प्रेमी मरेगा। कुछ न कुछ होगा। कुछ न कुछ विघ्न पड़ेगा। कुछ न कुछ बाधा आएगी।

ऐसा ही समझो, हवा का एक झोंका आया और तुमने कहा, सदा आता रहे। तुम्हारी आकांक्षा से तो हवा के झोंके नहीं चलते। वसंत में फूल खिले तो तुमने कहा सदा खिलते रहें। तुम्हारी आकांक्षा से तो फूल नहीं खिलते। आकाश में तारे थे, तुमने कहा दिन में भी रहें। तुम्हारी आकांक्षा से तो तारे नहीं संचालित होते। जब दिन में तारे न पाओगे, दुखी हो जाओगे। जब पतझड़ में पत्ते गिरने लगेंगे, और फूलों का कहीं पता न रहेगा, और वृक्ष नग्न खड़े होंगे दिगंबर, तब तुम रोओगे, तब तुम पछताओगे। तब तुम कहोगे, कुछ धोखा दिया, किसी ने धोखा दिया।

किसी ने धोखा नहीं दिया है। जिस दिन तुम्हारा और तुम्हारी प्रेयसी के बीच प्रेम चुक जाएगा, उस दिन तुम यह मत सोचना कि प्रेयसी ने धोखा दिया है; यह मत सोचना कि प्रेमी दगाबाज निकला। नहीं, प्रेम दगाबाज है। न तो प्रेयसी दगाबाज है, न प्रेमी दगाबाज है--प्रेम दगाबाज है।

जिसे तुमने प्रेम जाना था वह क्षणभंगुर था, पानी का बबूला था। अभी-अभी बड़ा होता दिखता था। पानी के बबूले पर पड़ती सूरज की किरणें इंद्रधनुष का जाल बुनती थीं। कैसा रंगीन था! कैसा सतरंगा था! कैसे काव्य की स्फुरणा हो रही थी! और अभी गया। गया तो सब गए इंद्रधनुष! गया तो सब गए सतरंग। गया तो गया सब काव्य! कुछ भी न बचा।

क्षणभंगुर से हमारा जो संबंध हम बना लेते हैं और शाश्वत की आकांक्षा करने लगते हैं उससे दुख पैदा होता है। शाश्वत जरूर कुछ है; नहीं है, ऐसा नहीं। शाश्वत है। तुम्हारा होना शाश्वत है। अस्तित्व शाश्वत है। आकांक्षा कोई भी शाश्वत नहीं है। दृश्य कोई भी शाश्वत नहीं है। लेकिन द्रष्टा शाश्वत है।

देखो, रात तुम सपना देखते हो, सुबह पाते हो सपना झूठ था। फिर दिन भर खुली आंखों जगत का फैलाव देखते हो, हजार-हजार घटनायें देखते हो। रात जब सो जाते हो तब सब भूल जाता है, सब झूठ हो जाता है।

दिन में तुम पति थे, पत्नी थे, मां थे, पिता थे, बेटे थे; रात सो गए, सब खो गया। न पिता रहे, न पत्नी, न बेटे। दिन तुम अमीर थे, गरीब थे; रात सो गए, न अमीर रहे न गरीब। दिन तुम क्या-क्या थे! रात सो गए, सब खो गया। दिन में जवान थे, बूढ़े थे; रात सो गए, न जवान रहे, न बूढ़े। सुंदर थे, असुंदर थे, सब खो गया। सफल-असफल सब खो गया। रात ने दिन को पोंछ दिया।

जैसे सुबह रात को पोंछ देती है, वैस ही रात दिन को पोंछ देती है। जैसे दिन के उगते ही रात सपना हो जाती है, वैसे ही रात के आते ही दिन भी तो सपना हो जाता है। इसे जरा गौर से देखो। दोनों ही तो भूल जाते हैं। दोनों ही तो मिट जाते हैं। लेकिन एक बना रहता है--रात जो सपना देखता है वही जागृति में दिन का फैलाव देखता है। देखनेवाला नहीं मिटता। रात सपने में भी मौजूद होता है।

कभी-कभी सपना भी खो जाता है और इतनी गहरी तंद्रा, इतनी गहरी निद्रा होती है कि स्वप्न नहीं होते, सुषुप्ति होती है स्वप्नशून्य, तब भी द्रष्टा होता है। सुबह तुमने कभी-कभी उठकर कहा है--रात ऐसे गहरे सोये, ऐसे गहरे सोये कि सपने की भी खलल न थी। बड़ा आनंद आया। बड़े ताजे उठे।

तो जरूर कोई बैठा देखता रहा रात भी। कोई जागकर अनुभव करता रहा रात भी। गहरी निद्रा में भी कोई जागा था। कोई किरण मौजूद थी। कोई प्रकाश मौजूद था। कोई होश मौजूद था। कोई देख रहा था। नहीं तो सुबह कहेगा कौन? तुम सुबह ही जागकर अगर जागे होते तो रात की खबर कौन लाता? उस गहरी प्रसुप्ति की कौन खबर लाता? रात भी तुम कहीं जागते थे किसी गहरे तल पर। किसी गहरे अंतश्चेतन में कोई जागा हुआ हिस्सा था, कोई प्रकाश का छोटा सा पुंज था। वही याद रखे है; उसी की स्मृति है सुबह कि रात बड़ी गहरी नींद सोये। अपूर्व थी, आनंदपूर्ण थी।

एक बात तय है, जागो कि सोओ, सपना देखो कि जगत देखो, सब बदलता रहता है, द्रष्टा नहीं बदलता। इसलिए द्रष्टा शाश्वत है। बचपन में भी द्रष्टा था, जवानी में भी द्रष्टा था, बुढ़ापे में भी द्रष्टा था। जवानी गई, बचपन गया, बुढ़ापा भी चला जाएगा, द्रष्टा बचा रहता है। तुम जरा गौर से छानो, तुम्हारे जीवन में तुम एक

ही चीज को शाश्वत पाओगे, वह द्रष्टा है। कभी हारे, कभी जीते; कभी धन था, कभी निर्धन हुए; कभी महलों में वास था, कभी झोपड़ें भी मुश्किल हो गये, लेकिन द्रष्टा सदा साथ था। जंगलों में भटको कि राजमहलों में निवास करो, हार तुम्हें गड्ढों में गिरा दे कि जीत तुम्हें शिखरों पर बिठा दे, सिंहासन पर बैठो कि कौड़ी-कौड़ी को मोहताज हो जाओ, एक सत्य सदा साथ है: द्रष्टा। देखनेवाला सदा साथ है।

और अगर तुम इस देखनेवाले को ठीक-ठीक पहचानने लगो तो जब तुम मरोगे तब भी यह साथ रहेगा। बस यही साथ रहेगा, और सब छूट जायेगा। मृत्यु तो एक घटना है। जैसे जीवन देखा वैसे मृत्यु को भी तुम देखोगे। जैसे दिन देखा--दिन जीवन है; और रात देखी--रात मौत है; ऐसे ही बड़ी रात आएगी मौत की, अमावस आएगी, वह भी तुम देखोगे। मगर द्रष्टा से पहचान बना लो। द्रष्टा से दोस्ती बना लो। द्रष्टा के साथ गठबंधन कर लो।

हालत तो ऐसी है कि तुम अभी दिन में ही बेहोश तो रात में तो बेहोश रहोगे ही। जीवन ही सोये-सोये जा रहा है तो मौत तो और गहरी नींद है, वहां तो तुम जाग न पाओगे। और जिसने एक बार मौत को जागकर देख लिया, उसका फिर जो नया जन्म होगा वह भी जागकर होगा। जब मौत तक को देख लिया, फिर क्या अड़चन रही? तुम जागते हुए जन्मोगे। बस, जागकर एक बार मौत हो जाए तो उसके बाद जो जन्म होगा वह जागा हुआ होगा। तुम देखते हुए जन्मोगे। और उसके बाद फिर कुछ भी नहीं है। फिर आखिरी जीवन आ गया, फिर जो मौत होगी वही मोक्ष है।

कर्ता और भोक्ता दृश्य में उलझाव है, द्रष्टा भीतर की यात्रा है।

"धीर पुरुष को स्वाभाविक उच्छृंखल स्थिति भी शोभती है"--सुनना सूत्र को--"धीर पुरुष को स्वाभाविक उच्छृंखल स्थिति भी शोभती है, लेकिन स्पृहायुक्त चित्तवाले मूढ़ की बनावटी शांति भी नहीं शोभती।"

उच्छृंखलाप्यकृतिका स्थितिर्धीरस्य राजते।
न तु संस्पृहचित्तस्य शांतिर्मूढस्य कृत्रिमा।।

अष्टावक्र कह रहे हैं कि अगर ज्ञान को उपलब्ध, साक्षी में जागा पुरुष हो, धीर पुरुष हो तो उसको अशांति भी शोभती है। उसके जीवन में दुख भी आभूषण हैं। उसे अगर तुम क्रोधयुक्त भी पाओगे तो उसके क्रोध में भी तुम पाओगे एक गरिमा, एक गौरव, एक दिव्यता। अगर वैसा व्यक्ति उच्छृंखल भी होगा तो तुम उसकी उच्छृंखलता के गहरे में शांति की अपूर्व धारा पाओगे।

और इससे विपरीत भी सच है: "स्पृहायुक्त चित्तवाले मूढ़ की बनावटी शांति भी नहीं शोभती।"

"स्पृहायुक्त चित्तवाले...।"

जिसके जीवन में अभीर् ईष्या है, द्वेष है, स्पर्धा है, कॉम्पिटीशन है। खयाल करो, द्रष्टा होने में तो कोई स्पृहा नहीं हो सकती। क्योंकि मैं द्रष्टा हो जाऊं तो तुमसे कुछ छीनता नहीं। तुम द्रष्टा हो जाओ तो मुझसे कुछ छीनते नहीं। लेकिन मैं अगर भोक्ता बनूं तो तुमसे बिना छीने न बन सकूंगा। मुझे अगर बड़ा महल चाहिए तो किन्हीं के मकान गिरेंगे। मुझे अगर बहुत धन चाहिए तो किन्हीं की जेबें कटेंगी। मुझे अगर बहुत यश चाहिए तो किन्हीं के जीवन से यश के दीये बुझेंगे। मुझे अगर पद चाहिए तो जो पद पर हैं उन्हें नीचे गिराना होगा। स्पृहा! भोग में तो स्पृहा है।

अगर मुझे कर्ता होना है तो संघर्ष होगा, कलह होगी। क्योंकि और भी कर्ता बनने निकले हैं, मैं अकेला नहीं। और कर्ता का जो जगत है, वह बाहर है। सभी निकले हैं विजेता होने, सभी सिकंदर बनने निकले हैं। संघर्ष होगा। हिंसा होगी। कष्ट फैलेगा। दुख आएगा। मनुष्य-जाति का पूरा इतिहास स्पृहा से भरे हुए पागलों का इतिहास है। तैमूरलंग, चंगीजखान, सिकंदर, नेपोलियन और सब। लेकिन एक ऐसा जगत भी है जहां दूसरे से कोई स्पृहा नहीं है।

अगर मैं द्रष्टा बनने निकलूं तो किसी से मेरा कोई संघर्ष नहीं। मैं अप्रतियोगी हो गया। मेरी किसी से कोई दुश्मनी न रही। लाख तुम लोगों को समझाओ कि मित्रता रखो, सभी तुम्हारे भाई-बंधु हैं, देखो पिता सबका

एक है, परमात्मा एक है और हम सब उसके बेटे हैं तो हम सब भाई-बंधु हैं, लेकिन यह हल नहीं होता इससे कुछ, कितना ही यह कहो।

स्कूल में तीस बच्चे हैं, एक क्लास में पढ़ते हैं, हम उनको कितना ही कहें कि तुम एक-दूसरे के मित्र हो, यह बात हो नहीं सकती। क्योंकि स्पर्धा तो मौजूद है, प्रथम आने की दौड़ तो मौजूद है। कोई एक प्रथम आएगा उनतीस को हराकर। तो हरेक हरेक का दुश्मन है। लाख समझाओ-बुझाओ। लाख ऊपर से हम रोगन पोतें और कहें कि हम एक-दूसरे के मित्र हैं, यह सब मित्रता दिखावा है, पाखंड है, औपचारिकता है।

शायद यह दिखावा भी जरूरी है उस भीतरी संघर्ष को चलाए रखने के लिए। यह मुखौटा भी जरूरी है, नहीं तो संघर्ष बिलकुल खुलकर हो जाएगा; गर्दनें कट जाएंगी। तो गर्दन काटते भी हैं हम और इस ढंग से काटते हैं कि कहीं कोई पता भी न चले, शोरगुल भी न हो, आवाज भी न हो। हम जेब काटते भी हैं और जेब में हाथ भी नहीं डालते।

एक बड़े राजनेता ने एक बहुत बड़े दर्जी से अपने कपड़े बनवाये। जब वे कपड़े पहनकर उसने देखे तो बड़ा खुश हुआ। पूरी कुशलता दर्जी ने बरती थी। कोट भी सुंदर था, कमीज भी सुंदर थी, पैंट भी सुंदर था। राजनेता बहुत खुश हुआ। तभी उसने खीसे में हाथ डालकर देखा तो खीसा नहीं था। तो उसने दर्जी से पूछा कि इतना सुंदर तुमने वेश तैयार किया, खीसा तो है ही नहीं। यह भूल कैसे हो गई? उसने कहा, मैं तो सोचा कि आप राजनेता हैं; राजनेता अपने खीसे में हाथ तो डालते ही नहीं। तो खीसे की जरूरत क्या? राजनेता तो दूसरे के खीसे में हाथ डालते हैं। इस कुशलता से डालते हैं कि दूसरे को पता भी नहीं चलता। चोर भी चुराते हैं मगर पता चल जाता है। राजनेता भी चुराते हैं लेकिन पता नहीं चलता।

इस जगत में तो सब तरफ संघर्ष है। कोई बहुत सज्जनता से करता है, कोई बड़ी कुशलता से करता है, कोई छीना-झपटी कर देता है। जो छीना-झपटी कर देता है वह अकुशल है, बस। बेईमान तो सब एक जैसे हैं। बेईमानी में तो कुछ भेद नहीं है। इस जगत में ईमानदार होना तो असंभव है। क्योंकि इस जगत की दौड़ ऐसी है कि वहां बेईमान होना ही पड़ेगा। जो कर्ता बनने निकला है उसे लड़ना पड़ेगा। और लड़ना कहीं नैतिक हो सकता है? जो भोक्ता बनने निकला है उसे दूसरे की गर्दन काटनी ही होगी। अब दूसरे की गर्दन भी कहीं धार्मिक ढंग से काटी जा सकती है? मित्रता इत्यादि सब नाम हैं, बातचीत है, बकवास है, ऊपर का पाखंड है, धोखा है। जिसको तुम संस्कृति कहते हो, सभ्यता कहते हो, वह सब बातचीत है। उस बातचीत--सुंदर बातचीत के नीचे एक-दूसरे की जेबें काटी जाती हैं, एक-दूसरे की गर्दन काटी जाती है, एक-दूसरे की जड़ काटी जाती है। यहां दुश्मन तो दुश्मन हैं ही, यहां मित्र भी दुश्मन हैं।

ऑस्कर वाइल्ड ने लिखा है, हे प्रभु, दुश्मनों से तो मैं निपट लूंगा, मित्रों का तू जरा खयाल करना! दुश्मन से निपटना तो बहुत आसान है; कम से कम मामला साफ है। मित्रों से निपटना बहुत मुश्किल है, क्योंकि मामला बिलकुल साफ नहीं है, मित्र होने का दावा है। अंततः मित्र ही बड़े शत्रु सिद्ध होते हैं। क्योंकि वे ही निकट होते हैं और छुरा भोंकना उन्हें ही आसान होता है।

स्पृहा हिंसा है। स्पृहा शत्रुता है। स्पृहा में सारा रोग है, महारोग है। अष्टावक्र कहते हैं:

उच्छृंखलाप्यकृतिका स्थितिर्धीरस्य राजते।

अगर कभी तुम धीर पुरुष को क्रोध में भी देखो, उच्छृंखल भी देखो, नाराज भी देखो, तो भी गौर से देखना, उसकी नाराजगी के पीछे गहन शांति होगी। और तुम अगर स्पृहा से भरे हुए व्यक्ति को शांत बैठा देखो तो उसकी शांति ऊपर-ऊपर होगी और भीतर गहन अशांति का तूफान, अंधड़ चलता होगा।

रोजे के दिन थे और मुल्ला नसरुद्दीन ने अपने तीन मित्रों के साथ एक दिन मौन से बैठने का निर्णय किया; दिन भर मौन रखना है। बैठे ही थे मौन से, आधा घड़ी भी न गुजरी थी कि एक व्यक्ति थोड़ा बेचैन-सा होने लगा और एकदम से बोला कि पता नहीं, मैं घर में ताला लगा पाया कि नहीं। दूसरे ने कहा, नालायक!

बोलकर सब खराब कर दिया। टूट गया व्रत। तीसरे ने कहा, किसको समझा रहे? तुम भी बोल गए। मुल्ला नसरुद्दीन ने कहा कि हमीं भले; अभी तक नहीं बोले।

अशांत आदमी चेष्टा करके बैठ भी जाए तो भी कुछ फर्क तो नहीं पड़ता। अशांत तो अशांत है, ऊपर-ऊपर से थोप भी ले तो कुछ अंतर नहीं आता। सच तो यह है, अगर तुम अशांत हो तो जब तुम शांत बैठोगे तब तुम्हारी अशांति जितनी प्रगट होगी उतनी कभी भी प्रगट नहीं होगी। क्योंकि उस वक्त तो अशांति ही अशांति बचेगी। एक झीनी-सी पर्त तुम ऊपर से ओढ़ लोगे--एक चादर, और भीतर तो अंधड़ चल रहे होंगे। जीवन के कामों में उलझे रहते हो तब उतने अंधड़ चलते भी नहीं। क्योंकि ऊर्जा कामों में उलझी रहती है। शांत होकर बैठ गए तो ऊर्जा का क्या होगा, शक्ति का क्या होगा? जो दूकान में लगी है, लड़ने में लगी है, मरने-मारने में लगी है, वह सब खाली पड़ी है। वह एकदम भीतर घुमड़ने लगेगी। वह सारी भाप तुम्हारे भीतर इकट्ठी होने लगेगी। तुम्हारी केतली शोरगुल करने लगेगी, फूटने का क्षण करीब आने लगेगा।

अक्सर ऐसा होता है, जब लोग ध्यान करने बैठते हैं तब उन्हें अशांति का पता चलता है। मेरे पास लोग आकर कहते हैं कि जब हम ध्यान के लिए नहीं बैठते तब सब ठीक रहता है, जब ध्यान के लिए बैठते हैं, हजार-हजार सवाल उठते हैं, हजारों विचार उठते हैं। न मालूम कहां-कहां के--वर्षों पहले की यादें आती हैं। जिनको हम सोचते हैं भूल ही चुके थे, वे अभी ताजे मालूम पड़ते हैं। जो घाव हम सोचते थे भर चुके हैं, वे फिर खुल जाते हैं। यह क्या ध्यान हुआ? यह कैसा ध्यान है?

लेकिन कारण है। साधारणतः तुम व्यस्त रहते हो। तुम्हें अपने भीतर झांकने का मौका भी नहीं मिलता। अगर तुम घड़ी भर को शांत होकर बैठ जाओ तो भीतर का सारा रोग साक्षात्कार होने लगता है, सामने आ जाता है। सारा ज्वर, सारी मवाद भीतर बहती हुई दिखाई पड़ने लगती है।

"धीर पुरुष को स्वाभाविक उच्छृंखल स्थिति भी शोभती है।"

ख्याल करना इस वचन का--"स्वाभाविक"।

मैंने तुम्हें पीछे कहा, चादविक ने लिखा है कि रमण को कभी उसने नाराज न देखा था। लेकिन एक दिन एक पंडित आया और उनसे ऐसे-ऐसे प्रश्न पूछने लगा; और उन्होंने उसे बहुत समझा- समझाकर कहा, लेकिन वह माने ही नहीं। वह शास्त्रों के उद्धरण दे, और विवाद के लिए बिलकुल तत्पर खड़ा। चादविक ने लिखा है कि हम सब परेशान हो गए कि वह नाहक उन्हें परेशान कर रहा है। और उन्हें जो कहना था, कह दिया। समझ ले ठीक, न समझे, जाये। लेकिन वह वेद, उपनिषद, गीता इनके उद्धरण देने लगा और सिद्ध करने लगा कि मैं सही हूं।

चादविक ने लिखा है, तब एक घटना घटी जो अलौकिक थी। रमण ने उठाया डंडा और उसके पीछे दौड़े। रमण महर्षि किसी के पीछे डंडा उठाकर दौड़ें! सब भक्त भी चौंक गए। और वह आदमी भागा एकदम घबड़ाकर। उसे बाहर खदेड़कर वे हंसते हुए भीतर आए। डंडा रखकर अपनी जगह बैठ गए।

अब यह जो घटा यह बिलकुल स्वाभाविक है। यह आदमी दूसरी भाषा समझता ही न था। कोई उपाय ही न था। यह कुछ क्रोध नहीं है। यह वैसा क्रोध नहीं है जैसा तुम जानते हो। इसमें रमण कहीं भी अपने केंद्र से च्युत नहीं हुए। अपने केंद्र पर थिर हैं। लेकिन यह आदमी दूसरी भाषा समझता ही नहीं। इसको सब तरफ से समझाने की कोशिश कर ली, यह सिर्फ डंडे की भाषा ही समझेगा। ऐसा देखकर--और ऐसा भी किसी निर्णय से नहीं कि ऐसा सोच-विचारकर डंडा उठाया हो, डंडा उठा लिया बालवत, स्वाभाविक। यही मौजूं था इस स्थिति में, यह स्वाभाविक था।

चादविक ने लिखा है, उस दिन जैसी शांति रमण में पहले नहीं देखी थी। शांति, अपूर्व शांति थी। इतनी गहरी शांति थी इसीलिए इतने स्वाभाविक रूप से क्रोध को भी हो जाने दिया। इससे भी कोई बाधा न थी।

अष्टावक्र कहते हैं, स्वाभाविक उच्छृंखल स्थिति भी शोभती है। चादविक ने लिखा है, वह रूप रमण का जो उस दिन देखा, अपूर्व था, बड़ा प्यारा था। यह भी शोभती है।

"लेकिन स्पृहायुक्त चित्तवाले मूढ़ की बनावटी शांति भी नहीं शोभती।"

मूढ़ तो बोले तो मुश्किल में पड़े, न बोले तो मुश्किल में पड़े।

मैंने सुना है, लाला करोड़ीमल की छोटी-सी दूकान थी। एक बार दूकान में से दस रुपये का नोट कम हो गया। तो उन्होंने अपने नौकर ननकू से कहा, आज सुबह से शाम तक दूकान में कोई कौवा भी नहीं आया। दूकान में तुम्हारे और मेरे अलावा कोई भी न था। तुम्हीं कहो, दस रुपये कहां जा सकते हैं? ननकू ने तपाक से अपनी जेब से पांच रुपये निकालकर देते हुए कहा, हुजूर, यह लीजिए मेरा हिस्सा। मैं आपकी इज्जत खराब नहीं करना चाहता।

मूढ़ बोले तो फंसे, न बोले तो फंसे। मूढ़ फंसा ही हुआ है; कुछ भी करे। हर जगह उसकी मूढ़ता का दर्शन हो जाएगा।

इसलिए असली सवाल शांत बैठने, न बैठने का नहीं है, असली सवाल मूढ़ता को तोड़ने का है। असली सवाल जागने का है, अमूर्च्छा को लाने का है। ध्यान, तप, जप काम न आयेंगे। क्योंकि मूढ़ जप भी करेगा तो मूढ़ता ही प्रगट होगी। तप भी करेगा तो मूढ़ता ही प्रगट होगी। तुम्हारे भीतर जो है वही तो प्रगट होगा। तुम कुछ भी करो, इससे कुछ फर्क नहीं पड़ता, जब तक कि भीतर के केंद्र पर ही क्रांति घटित न हो।

इसलिए अष्टावक्र कहते हैं, उपर की व्यर्थ बातों में मत उलझना। सारी शक्ति भीतर लगाओ, जागने में लगाओ।

तुमने गौर से देखा कभी? मूढ़ अगर शांत बैठे तो सिर्फ जड़ मालूम होता है, मुर्दा मालूम होता है, प्रतिभाशून्य मालूम होता है, सोया-सोया मालूम होता है। ज्ञानी अगर शांत बैठे तो उसकी शांति जीवंत होती है। तुम गौर से सुनो तो उसकी शांति का कलकल नाद तुम्हें सुनाई पड़ेगा। ज्ञानी शांत बैठे तो उसकी शांति नाचती होती, उत्सवमग्न होती। मूढ़ की शांति डबरे की भांति है। ज्ञानी की शांति कलरव करती बहती हुई सरिता की भांति है, गत्यात्मक है। मूढ़ की शांति कहीं नहीं जा रही, कब्र की शांति है। ज्ञानी की शांति कब्र की शांति नहीं है, जीवन का अहोभाव है; जीवन का महारास, जीवन का नृत्य, जीवन का संगीत है। मूढ़ की शांति में कोई संगीत नहीं। बस तुम शांति ही पाओगे। ज्ञानी की शांति संगीतपूर्ण है--छंदोबद्ध, स्वच्छंद है।

तो ध्यान रखना, शांति को लक्ष्य मत बना लेना, नहीं तो बहुत जल्दी तुम मूढ़ की शांति में पड़ जाओगे। क्योंकि वह सस्ती है और सुगम है। कुछ भी करना नहीं पड़ता। बैठ गए! इसीलिए तो तुम्हारे बहुत से साधु-संन्यासी बैठ गए हैं। तुम उनके पास जाकर मूढ़ता ही पाओगे। उनकी प्रतिभा निखरी नहीं है, और जंग खा गई। ऐसी शांति का क्या मूल्य है जो निष्क्रिय हो? ऐसी शांति चाहिए जो सृजनात्मक हो। ऐसी शांति चाहिए जो गुनगुनाये। ऐसी शांति चाहिए जिसमें फूल खिलें। ऐसी शांति चाहिए जिसमें जीवन का स्पर्श अनुभव हो, और महाजीवन अनुभव हो; मरघट की नहीं। तुम्हारे मंदिर भी मरघट जैसे हो गए हैं। नहीं, कहीं भूल हो रही है।

अष्टावक्र ठीक कहते हैं, मूढ़ की बनावटी शांति भी शोभा नहीं देती।

ऐसा ही समझो कि कोई कुरूप स्त्री खूब गहने पहन ले। तुमने देखा? स्त्री और कुरूप हो जाती है, अगर कुरूप है और गहने पहन ले। और अक्सर ऐसा होता है, कुरूप स्त्रियों को गहने पहनने का खूब भाव पैदा होता है। कुरूप स्त्रियां सोचती हैं कि शायद जो कुरूपता है वह गहनों में ढांक ली जाए। तो खूब रंग-बिरंगे कपड़े पहनो, खूब गहने ढांक लो, हीरे-जवाहरात लटका लो। लेकिन कुरूपता हीरे-जवाहरातों से नहीं मिटती, और उभरकर दिखाई पड़ने लगती है। कितने ही बहुमूल्य वस्त्र पहन लो, कुरूपता वस्त्रों से नहीं मिटती। इतना आसान नहीं।

और कोई सुंदर हो तो निर्वस्त्र भी, बिना वस्त्रों के भी सुंदर है; साधारण वस्त्रों में भी सुंदर है, बिना गहनों के भी सुंदर है, बिना आभूषणों के भी सुंदर है। हां, अगर सुंदर व्यक्ति के हाथ में आभूषण हों तो आभूषण भी सुंदर हो जाते हैं। कुरूप व्यक्ति के हाथ में पड़े आभूषण भी कुरूप हो जाते हैं।

तुम जैसे हो वही तुम्हारे जीवन पर फैल जाता है--वही रंग। इसलिए असली सवाल आभूषणों का नहीं है, असली सवाल अंतःसौंदर्य को जगाने का है। तुम्हारे भीतर एक सौंदर्य की आभा होनी चाहिए, जो तुम्हारे पोर-पोर से बहे और झलके; तुम्हारे रोयें-रोयें में जिसकी मौजूदगी हो; तुम्हारी श्वास-श्वास में जिसकी महक हो।

"कल्पनारहित, बंधनरहित और मुक्त बुद्धिवाले धीर पुरुष कभी बड़े-बड़े भोगों के साथ क्रीड़ा करते हैं और कभी पहाड़ की कंदराओं में प्रवेश करते हैं।"

विलसन्ति महाभोगैः विशन्ति गिरिगह्वरान्।
निरस्तकल्पना धीरा अबद्धा मुक्तबुद्धयः।।

और अष्टावक्र कहते हैं, मुक्त पुरुष को न तो महल से मोह है, और न झोपड़े से मोह है।

इसे खयाल रखना। जिनका महलों से मोह छूट जाता उनका झोपड़ों से मोह बंध जाता है, लेकिन मोह जारी रहता। जिनका धन से मोह छूट जाता उनका निर्धनता से मोह बंध जाता है, लेकिन मोह जारी रहता।

अष्टावक्र कहते हैं, "कल्पनारहित, बंधनरहित और मुक्त बुद्धिवाले धीर पुरुष कभी बड़े-बड़े भोगों के साथ क्रीड़ा करते हैं।"

जैसा हो, उसमें ही राजी हैं। महल, तो महल में राजी। सुख, तो सुख में राजी। सिंहासन, तो सिंहासन पर राजी। और कभी पहाड़ की कंदरायें, तो वे भी सुंदर हैं।

सच तो यह है, मुक्त पुरुष महल में होता है तो महल प्रकाशित हो जाते हैं। मुक्त पुरुष कंदराओं में होता है, कंदरायें प्रकाशित हो जातीं। मुक्त पुरुष जहां होता वहीं सौंदर्य झरता। मुक्त पुरुष की मौजूदगी सभी चीजों को अपूर्व गरिमा से भर देती है। वह पत्थर छुए तो हीरा हो जाता है। हीरा छुए तो स्वभावतः हीरे में भी सुगंध आ जाती है। सोने में सुगंध।

लेकिन मुक्त पुरुष का किसी चीज से कोई आग्रह नहीं है। ऐसा ही हो, ऐसा ही होगा तो ही मैं सुखी रहूंगा, ऐसा कोई आग्रह नहीं है। जैसा हो, उसमें वह राजी है। उसका राजीपन प्रगाढ़ है, गहरा है, पूर्ण है। समस्तरूपेण उसने स्वीकार कर लिया है। जो दिखाये प्रभु, जहां ले जाए उसके लिए राजी है। न वह महल छोड़ता है, न वह झोपड़े को चुनता है। जीता है सूखे पत्ते की भांति; हवा जहां ले जाए।

"धीर पुरुष के हृदय में पंडित, देवता और तीर्थ का पूजन कर तथा स्त्री, राजा और प्रियजन को देखकर कोई भी वासना नहीं होती।"

श्रोत्रियं देवतां तीर्थमंगनां भूपतिं प्रियम्।
दृष्ट्वा सम्पूज्य धीरस्य न कापि हृदि वासना।।

"धीर पुरुष के हृदय में पंडित, देवता और तीर्थ का पूजन कर...।"

तुम तो पूजन भी करते हो तो वहां भी वासना आ जाती है। तुम्हारा तो पूजन भी कामना से दूषित हो जाता है। तुम्हारे तो पूजन में भी सुगंध नहीं रहती, वासना की दुर्गंध आ जाती है। धीर पुरुष भी पूजन करता है, लेकिन उसके पूजन में और तुम्हारे पूजन में जमीन-आसमान जितना फर्क है। धीर पुरुष भी कभी मंदिर जाता है, कभी मग्न होकर प्रतिमा के सामने नाचता है। कभी गंगा भी नहाता है, कभी तीर्थों की यात्रा भी करता है, लेकिन उसके मन में कोई वासना नहीं है। मंदिर इसलिए नहीं जाता कि कुछ मांगना है; मंदिर भी परमात्मा का है। धीर पुरुष मंदिर भी जा सकता है, मस्जिद भी जा सकता है। गुरुद्वारा भी जा सकता है, गिरजा भी जा सकता है। सभी परमात्मा का है।

धीर पुरुष जहां है, वहीं मंदिर। कोई मंदिर में ही सुख लेगा ऐसा भी नहीं है, लेकिन मंदिर का कोई त्याग भी नहीं है। कभी पूजा भी कर सकता है। क्योंकि पूजन का भी एक मजा है। पूजन का भी एक रस है। पूजन भी एक अहोभाव है। लेकिन यह सब है अहोभाव, एक धन्यवाद। तूने खूब दिया है उसके लिए धन्यवाद। और तुझसे मांगने की कोई चाह नहीं। और की कोई वासना नहीं है।

तुम जाते भी मंदिर, झुकते भी, तो भी तुम्हारे हृदय में कुछ वासना है। कुछ मिल जाए। तुम भिखारी की तरह ही जाते हो। धीर पुरुष हो गया सम्राट; नाचता है। जगत को तो बहुत कुछ देता ही है, परमात्मा को भी देता है, मांगता नहीं। परमात्मा के हाथों में भी स्वयं को उंडेल देता है। वहां भी नाचकर थोड़ा नाच परमात्मा को दे आता है।

"पंडित, देवता और तीर्थ का पूजन कर तथा स्त्री, राजा और प्रियजन को देखकर कोई भी वासना नहीं होती।"

सुंदरतम स्त्री को देख लेता है तो भी वासना नहीं होती। क्या इसका यह अर्थ हुआ कि उसे सुंदर स्त्री में सौंदर्य दिखाई नहीं पड़ता? ऐसा लोग समझाते हैं। ऐसा तुम्हारे पंडित-पुरोहित तुम्हें कहते हैं।

बात गलत है। उसे सौंदर्य तो दिखाई पड़ता है--दिखाई पड़ेगा ही। उसको ही दिखाई पड़ेगा, तुम्हें क्या दिखाई पड़ेगा? तुम तो अंधे हो। जहां सौंदर्य होता, उसे दिखाई पड़ता है। लेकिन वासना पैदा नहीं होती, वहां भी अहोभाव पैदा होता है। सुंदर स्त्री में भी प्रभु का ही दर्शन होता है, सुंदर पुरुष में भी प्रभु का ही दर्शन होता है। अगर कमल में देखकर प्रभु का दर्शन होता है तो मनुष्यों के कमल जहां खिलते हैं उन्हें देखकर क्या घबड़ाहट? घबड़ाहट तो जिन्हें होती है वे खबर दे रहे हैं कि अभी वासना जागती है, जीती है। अभी वासना चुकी नहीं। अभी ईंधन जारी है। अभी घबड़ाहट है। वे आंख फेर लेते हैं, आंख बंद कर लेते हैं।

नहीं, धीर पुरुष सौंदर्य को देखेगा और हर सौंदर्य उसे उस परम सौंदर्य की याद दिलायेगा। हर सौंदर्य उस परम प्रकाश की ही एक किरण है। किसी स्त्री में नाची वह किरण, किसी बच्चे की आंखों में झलकी वह किरण, किसी झरने में गुनगुनायी वह किरण, लेकिन सब तरफ वही है। यह सूरज की ही धूप है सब तरफ। तुम्हें चाहे सूरज दिखाई न भी पड़े, लेकिन जो भी धूप है, यह सब सूरज की है। चाहे सूरज को सीधा देखना संभव भी न हो।

शायद परमात्मा को सीधा देखने में आंखें काम न आएं। शायद परमात्मा को सीधा देखना संभव ही नहीं है, क्योंकि हमारी आंखों की सीमा है। इसलिए हम प्रतिफलन में देखते हैं। किसी स्त्री के चेहरे पर, किसी बच्चे की आंखों में। किसी वीणाकार के स्वर में, पक्षियों के कलरव में, सागर की चट्टानों से टकराती लहरों के शोरगुल में। यह सब प्रतिफलन है। यह सब उसी की गूंज, अनुगूंज है। यह एक ही छाया है। इस अनेक में वही अनेक की तरह उतरा है।

तो स्त्री, राजा और प्रियजन को देखकर कोई भी वासना नहीं होती। सम्राटों को देखकर भी धीर पुरुष आनंदित होता है। क्योंकि सम्राटों में भी उसी का साम्राज्य है। वह जो सम्राट की चाल में गौरव है, गरिमा है, वह जो कुलीनता है, वह जो श्रेष्ठता है, वह जो आभिजात्य है, वह भी उसी का आभिजात्य है। वह जो सम्राट की आंखों में एक चमक है, वह भी उसी की चमक है।

सब चमक उसकी है। इसलिए सम्राट को देखकर भी उसे ऐसा नहीं होता कि वासना पैदा होती हो कि मैं सम्राट हो जाऊं। वह तो सम्राट हो ही गया है। वह तो सम्राटों का सम्राट हो गया है। वह तो राजराजेश्वर है। लेकिन अब किसी सम्राट में भी देखता है तो याद करता है, उसी का छोटा-सा टुकड़ा यहां भी उतरा। धूप थोड़ी-सी यहां भी है; उसी की है।

धूप का यह गुनगुना स्पर्श
चौकड़ी भरते किरन के इंगुरी छोने
फिर लगे तृण-पालकी मृदु ओस की ढोने

पर्त कोहरे की हटा दुर्धर्ष
धूप का खोल वातायन धुआंते कक्ष में झांका
भोर ने फिर सूर्य नीलाकाश में टांका
सुर्ख मूंगे की तरह आकर्ष
धूप का यह गुनगुना स्पर्श

जहां भी धूप है वहां परमात्मा का ही गुनगुना स्पर्श है। प्रियजन को देखकर भी कोई वासना पैदा नहीं होती। जो अपने हैं वे तो अपने हैं ही, जो पराये हैं वे भी अपने हैं। क्योंकि वस्तुतः न तो कोई अपना है, न कोई पराया है। यहां तो एक ही है। अपना कहो तो वही, पराया कहो तो वही। अपना न कहो तो वही, पराया न कहो तो वही। यहां तो एक ही है। यहां तो एक ही स्व का विस्तार है। स्व ही सर्व है; वासना कैसी?

"योगी नौकरों से, पुत्रों से, पत्नियों से, पोतों से और संबंधियों से हंसकर धिक्कारे जाने पर भी जरा भी विकार को प्राप्त नहीं होता है।"

भृत्यैः पुत्रैः कलत्रैश्च दौहित्रैश्चापि गोत्रजैः।
विहस्य धिक्कृतो योगी न याति विकृतिं मनाक्।।

समझना। वह जो ज्ञानी पुरुष है, अगर अपने नौकर भी उसका अपमान कर दें तो भी नाराज नहीं होता। क्यों नौकर को ही विशेष रूप से सूत्र में कहा है? क्योंकि नौकर अंतिम है, जिससे तुम अपेक्षा करते हो कि तुम्हारा अपमान कर देगा। नौकर और तुम्हारा अपमान कर दे? नौकर तो तुम्हारा खरीदा हुआ है, स्तुति के लिए ही है। वह तुम्हारी निंदा कर दे? असंभव। वह हंसकर धिक्कार कर दे। यह असंभव है। तुम और सबका धिक्कार चाहे स्वीकार भी कर लो, अपने नौकर का धिक्कार तो स्वीकार न कर सकोगे। तुम उसे कहोगे, नमकहराम! तुम उसे कहोगे कि जिस दोने में खाया, जिस पत्तल में खाया, उसी में छेद किया। तुम कहोगे, जिसका नमक खाया उसका बजाया नहीं। नमकहराम! तुम बड़े नाराज हो जाओगे।

इसलिए पहला अष्टावक्र कहते हैं, नौकर भी अगर धिक्कार कर दे--और साधारण धिक्कार नहीं, हंसकर धिक्कार कर दे। हंसी और भी जहर हो जाती है धिक्कार में मिल जाए तो; व्यंगात्मक हो जाती है, गहरी चोट करती है। फिर अपने नौकर से? यह तो अंतिम है जिससे तुम अपेक्षा करते हो। हां, तुम्हारा मालिक अगर धिक्कार कर दे तो तुम बर्दाश्त कर लो--करना पड़े। महंगा है न बर्दाश्त करना। मालिक गाली भी दे तो भी तुम्हें धन्यवाद देना पड़ता है।

नौकर प्रशंसा भी करे तो भी तुम कहां धन्यवाद देते हो? तुम अखबार पढ़ रहे हो बैठे अपने कमरे में, नौकर गुजर जाता, तुम इतना भी स्वीकार नहीं करते कि कोई गुजरा। तुम नौकर में व्यक्तित्व ही कहां मानते? नौकर की कहीं कोई आत्मा होती है? कोई दूसरा गुजरता तो तुम उठकर खड़े होते। कोई दूसरा आता तो तुम कहते, आओ, बैठो, विराजो। नौकर गुजर जाए तो तुम्हारे ऊपर कुछ भी भाव नहीं आता। तुम अपना अखबार पढ़ते रहते हो, जैसे कोई भी नहीं गुजरा। नौकर को तुम स्वीकार ही नहीं करते कि वह मनुष्य है। तो नौकर अगर अपमान कर दे, धिक्कार कर दे, तो बड़ी कठिनाई हो जाएगी।

अष्टावक्र कहते हैं, "योगी नौकर से, पुत्रों से...।"

अपने पुत्र से तो कोई धिक्कार की संभावना नहीं मानता। बेटा अपना और हंस दे, धिक्कार कर दे? तुम सबको माफ कर सकते हो लेकिन अपने बेटे को तो न कर सकोगे। क्योंकि बेटा तो तुम्हारा ही विस्तार है। तुम्हारा ही एक रूप, तुम्हीं पर हंस दे? यह तो जैसा अपना ही हाथ अपने को चांटा मारने लगे तो तुम कैसे बर्दाश्त कर सकोगे? यह तो बहुत ज्यादा हो जाएगा।

"पत्नियों से...।"

अष्टावक्र ने जब ये सूत्र कहे तब पत्नी आज जैसी तो नहीं थी, आधुनिक तो नहीं थी। पत्नी तो खरीदी हुई थी। स्त्री धन-संपत्ति थी। ये सूत्र इतने पुराने हैं कि तब अगर कोई अपनी स्त्री को मार भी डालता था तो भी

अपराध नहीं था। अपनी स्त्री मारी। किसी से कुछ प्रश्न ही नहीं है, अदालत का कोई सवाल नहीं है। अपनी थी, मारी। तुम अपनी कुर्सी तोड़ डालो, तुम अपने मकान को गिरा डालो, तुम अपने नोट में आग लगा दो, तुम्हारी मर्जी। तुमने अपनी पत्नी मार डाली, तुम जानो।

मैं एक घर में रहता था रायपुर में, कोई दो-चार ही दिन मुझे वहां हुए थे, कि बगल में एक रात कोई एक बजे मेरी नींद खुली। वह पति अपनी पत्नी को मार रहा है। दोनों मकानों की छतें मिलती थीं तो मैं छत उतरकर उसके मकान में गया। मैंने उस आदमी को रोकने की कोशिश की कि तुम यह क्या पागलपन कर रहे हो? रुको। वह बोला, आप कौन हैं बीच में बोलनेवाले? यह मेरी पत्नी है। मैं चाहे इसे बचाऊं, चाहे मारूं, आप कौन हैं बीच में बोलनेवाले?

वह ठीक बोल रहा है, शास्त्र की भाषा बोल रहा है। मनु महाराज की भाषा बोल रहा है। जैसे पत्नी उसकी कोई चीज है! वह इस बुरी तरह मार रहा है, उसके सिर से खून बह रहा है। और मुझसे कहता है, आप बीच में न पड़ें। आप कौन हैं बीच में बोलनेवाले? यह मेरी पत्नी है।

अष्टावक्र कहते हैं, "अपनी पत्नी से, पोतों से, संबंधियों से हंसकर धिक्कारे जाने पर भी जरा विकार को प्राप्त नहीं होता।"

क्योंकि जिसे ज्ञान घटा, न कोई अपना रहा, न कोई पराया। कौन बेटा, कौन बाप? जिसे ज्ञान घटा, कौन मालिक, कौन नौकर? जिसे ज्ञान घटा, कौन पत्नी, कौन पति? जिसे ज्ञान घटा, एक ही बचा। और जिसे ज्ञान घटा वह तो मिट गया। वह घाव ही न रहा जिस पर चोट लगती है धिक्कार की, अपमान की, असम्मान की, कोई हंस दे इस बात की। वह घाव ही भर गया, वह घाव ही न रहा। अहंकार न रहा तो अपमान जरा भी पीड़ा नहीं देता।

विहस्य धिक्कृतो योगी न याति विकृतिं मनाक्।

जरा भी, किंचित भी अंतर नहीं पड़ता। मैं ही नहीं बचा तो तुम चोट कैसे करोगे? तुम जो चोट कर रहे हो वह व्यर्थ जा रही है, खाली जा रही है। वहां कोई है नहीं जो चोट को पकड़े, जिसमें चोट चुभे।

"धीर पुरुष संतुष्ट होकर भी संतुष्ट नहीं होता है, और दुखी होकर भी दुखी नहीं होता है। उसकी आश्चर्यमय दशा को वैसे ही ज्ञानी जानते हैं।"

यह सूत्र बहुत अनूठा है; इसे समझने की कोशिश करें।

संतुष्टोऽपि न संतुष्टः खिन्नोऽपि न च खिद्यते।
तस्याश्चर्यदशां तां तां तादृशा एव जानन्ते।।

"धीर पुरुष संतुष्ट होकर भी संतुष्ट नहीं होता।"

क्या इसका अर्थ होगा? क्योंकि संतोष और संतोष में भेद है। एक संतोष है, जो वही खट्टे अंगूरवाला संतोष है। नहीं मिला इसलिए किसी तरह अपने को संतुष्ट कर लिया। एक सांत्वना है, एक भुलावा है कि क्या करें, मिलता तो है नहीं, रोने से भी सार क्या है? इसलिए मन मारकर बैठ गये। अब यह भी स्वीकार करने की हिम्मत नहीं होती कि हार गए हैं। हार भी क्या स्वीकार करनी! यह हार का रोना भी क्या रोना! तो अपनी हार को ही सजाकर बैठ गए। अपनी हार को ही गले का हार बनाकर बैठ गए। इसका ही गुणगान करने लगे। कहने लगे कि रखा ही क्या है? संसार में है क्या? संतुष्ट हो गए। कहते हैं, हम तो संतुष्ट हैं।

एक ऐसा संतोष है जो मुर्दा दिलों की सुरक्षा करता है, हारे हुओं की सुरक्षा बनता है। और जो जीवन के संघर्ष में, चुनौती में, विजययात्रा पर, अंतर्यात्रा पर निकलने का साहस नहीं रखते उनको जड़ बना देता है। यह एक तरह की शराब है, जिसको पीकर बैठ गए, कहीं जाने की जरूरत न रही।

मनोवैज्ञानिक कहते हैं, हारे हुए लोग अगर यह भी स्वीकार कर लें कि हम हार गये तो भी गरिमा पैदा होती है। तो भी जीवन में एक गति आती, गत्यात्मकता आती। लेकिन हारे हुए लोग यह स्वीकार नहीं करते कि हम हार गये। वे तो हार को भी लीप-पोतकर जीत जैसा दिखाना चाहते हैं। एक ऐसा संतोष है।

जब अष्टावक्र कहते हैं, संतुष्टोऽपि न संतुष्टः--वह जो धीर पुरुष है, संतुष्ट होकर भी इस अर्थ में संतुष्ट नहीं है। उसका संतोष बड़ा और है। उसका संतोष आनंद से जन्मता है, हार से नहीं। उसका संतोष अंतर-रस से उपजता है। उसका संतोष सांत्वना नहीं है। उसका संतोष उदघोषणा है विजय की। जीवन को जाना, जीया, पहचाना; उस पहचान से आया संतोष। उसका संतोष, आनंद नहीं मिला इसलिए मन मारकर बैठ गये ऐसा नहीं है, आनंद मिला इसलिए संतुष्ट है। उसका संतोष आनंद का पर्यायवाची है--पहली बात।

दूसरी बात: जो पहला संतोष है वह तुम्हें रोक देगा, तुम्हारी गति को मार देगा; वह तुम्हें आगे न बढ़ने देगा। दूसरा जो संतोष है, वह मुक्त है। वह गति को मारता नहीं, वह गति को बढ़ाता है। तुममें और जीवन-ऊर्जा आती है। तुम जितने आनंदित होते हो और उतने ज्यादा आनंदित होने की क्षमता और पात्रता आती है। तुम जितना नाचते हो उतना नाचने की कुशलता बढ़ती है।

इसलिए जीसस ने कहा है, जिनके पास है उनको और भी दिया जायेगा। और जिनके पास नहीं है उनसे वह भी ले लिया जायेगा जो उनके पास है। कितना ही कठोर लगता हो यह वचन, लेकिन यह वचन परम सत्य है। जिनके पास है उन्हें और भी दिया जायेगा। वे ही मालिक हैं। उन्हें और-और मिलेगा, उन्हें मिलता ही रहेगा। उनके मिलने का कोई अंत नहीं आता। उन्हें सदा मिलेगा, शाश्वत तक मिलेगा। कहीं कोई आखिरी घड़ी नहीं आती, जहां उनके मिलने का द्वार बंद हो जाता हो। एक द्वार चुकता है, दूसरा खुलता है। एक पहाड़ पूरा चढ़े, दूसरा उत्तुंग शिखर सामने आ जाता है।

तो एक तो संतोष है कि बैठ गए मारकर मन, कि अब कहां जाना है! हो गए संतुष्ट। नहीं है कुछ सार कहीं। समझा लिया अपने मन को, कि अपने से यह होगा नहीं। अपनी हालत पहचान ली। दबा ली पूंछ और बैठ गए। नहीं, ज्ञानी का संतोष ऐसा संतोष नहीं।

संतुष्टोऽपि न संतुष्टः।

संतुष्ट होकर भी इस अर्थ में संतुष्ट नहीं।

और एक अर्थ: एक तो संतोष है, जो असंतोष के विपरीत है। और एक ऐसा संतोष है जो असंतोष के विपरीत नहीं। एक ऐसा संतोष है, जो असंतोष से विपरीत है इस अर्थ में कि फिर तुम्हें जरा भी असंतुष्ट नहीं होने देता। लेकिन तब तो गति मर जायेगी।

समझो। लोग तुम्हें समझाते हैं, संतुष्ट हो जाओ। जैसे हो, जहां हो, संतुष्ट हो जाओ। यह बात अधूरी है। ज्ञानियों ने कहा है, बाहर से संतुष्ट हो जाओ, भीतर से संतुष्ट मत हो जाना। धन, पद, मर्यादा, इससे हो जाओ संतुष्ट। इसमें कुछ सार भी नहीं है। रुक गए तो कुछ खोया नहीं, क्योंकि चलनेवाले कुछ पाते नहीं। ठहर गए तो कुछ जाता नहीं, क्योंकि जो दौड़ते रहे वे कुछ पाते नहीं। इसमें संतुष्ट हो जाओ। लेकिन भीतर संतुष्ट मत हो जाना। भीतर तो और-और अनंत यात्रा है। शुरू तो है वहां, अंत नहीं है वहां। अनंत है यात्रा। भीतर तो और-और खोजना है।

तो एक दिव्य असंतोष की आग भीतर जलती रहे। राजी मत हो जाना, क्योंकि परमात्मा इतना बड़ा है, तुम छोटा-मोटा टुकड़ा लेकर बैठ मत जाना। तुम तो बढ़ते ही जाना जब तक कि पूरे परमात्मा को न पा लो। और पूरे को कभी कोई पाता है? पाता जाता है, पाता जाता है, पूरे को कोई कभी नहीं पाता। यह मंजिल ऐसी नहीं है कि कभी चुक जाये। और यह सौभाग्य है कि मंजिल चुकती नहीं। नहीं तो फिर क्या करते? मंजिल चुक जाती, पा लिया पूरा परमात्मा, बंद कर दिया तिजोड़ी में, बैठ गए। फिर क्या करते? नहीं, यह चुकती नहीं। जितना तुम पाओगे, उतना ही पाने को शेष मालूम पड़ेगा।

तो जीसस के वचन में एक वचन और जोड़ देना चाहिए। जीसस कहते हैं, जिनके पास है उसे मिलेगा; और मिलेगा। और जिसके पास नहीं है उनसे वह भी छीन लिया जाएगा जो उनके पास है। इसमें एक वचन और जोड़ देना चाहिए कि जिसके पास है उसे और मिलेगा। और जिसे और मिलेगा उसे और खोजना पड़ेगा। जो जितना पायेगा उतना ही पायेगा और पाने को शेष है।

परमात्मा कभी अशेष होता ही नहीं। सदा शेष है; और शेष है, और शेष है। उसका दूसरा कोई किनारा नहीं है। नाव छोड़ दी एक दफा सागर में तो सागर--और सागर--और सागर--विराट होता चला जाता है। जितनी तुम्हारी हिम्मत बढ़ती, जितनी तुम्हारी पात्रता बढ़ती, जितनी तुम्हारी योग्यता अर्जित होती उतना ही सागर बड़ा होता चला जाता।

संतुष्टोऽपि न संतुष्टः--इसलिए ज्ञानी संतुष्ट होकर भी संतुष्ट कहां?

खिन्नोऽपि न च खिद्यते--और खिन्न होकर भी खिन्न नहीं।

कभी-कभी तुम ज्ञानी को खिन्न भी देखोगे, फिर भी वह खिन्न नहीं है। उसकी खिन्नता भी अदभुत है। कभी-कभी तुम उसे उदास भी देखोगे। उसकी उदासी तुम्हारी खुशियों से ज्यादा मूल्यवान है। क्योंकि वह अपने लिए कभी उदास नहीं होता, वह सदा औरों के लिए उदास होता है। इसलिए कहा है, "खिन्नोऽपि न च खिद्यते।"

बुद्ध के पास एक आदमी आया और उसने कहा कि मैं दुनिया की कैसे सेवा करूं, आप मुझे समझा दें। और कहते हैं, बुद्ध ने आंख बंद कर ली और उनकी आंख से एक आंसू टपका। ऐसा बहुत मुश्किल से होता है कि बुद्ध रोयें। वह आदमी भी घबड़ा गया कि मैंने कुछ ऐसी बात तो नहीं कह दी कि उन्हें चोट लगी हो? कि मैंने उनके फूल जैसे कोमल हृदय को कोई आघात तो नहीं पहुंचा दिया? ऐसा मैंने कुछ कहा तो नहीं। वह तो सोचकर ही आया था कि बुद्ध बड़े प्रसन्न होंगे, जब सुनेंगे कि मैं अपना सारा जीवन मनुष्य जाति की सेवा में लगाना चाहता हूं। और यह क्या हुआ कि बुद्ध की आंख से आंसू टपका?

आनंद भी विह्वल हो गया, और भी भिक्षु विह्वल हो गए। उन्होंने कहा, तुमने कहा क्या आखिर? उस आदमी ने कहा, मैंने कुछ ऐसी बात कही नहीं, इतना ही कहा है। बुद्ध से पूछा उन्होंने, कि क्या हुआ? आपकी आंख में आंसू? उन्होंने कहा, मैं इस आदमी के लिए रोया। इसने अभी अपनी ही सेवा नहीं की और यह सारी दुनिया की सेवा करने चला। इसने अभी अपने को भी नहीं जाना। यह आदमी महादुख में है। यह अपने दुख से बचने के लिए दूसरों की सेवा करने में उलझना चाहता है। यह इसका बचाव है। इसलिए मैं रोता हूं। इसकी करुणा वास्तविक करुणा नहीं है, इसकी करुणा आत्मपलायन है। इसलिए मैं रोता हूं।

बुद्ध और रोते?

खिन्नोऽपि न च खिद्यते।

ज्ञानी पुरुष अगर कभी उदास हो, दुखी हो, उसकी आंख में आंसू भी आ जाएं तो जल्दी निष्कर्ष मत लेना। वह अपने लिए नहीं रोता।

समझो। तुम तो जब भी रोते हो, अपने लिए रोते हो। जब तुम बताते हो कि दूसरों के लिए रो रहे हो तब भी तुम अपने लिए ही रोते हो। पति मर गया किसी का और पत्नी रो रही है; लेकिन वह अपने लिए ही रो रही है, पति के लिए नहीं रो रही। यह सहारा था, सुरक्षा थी, अर्थ की व्यवस्था थी। यह पति का सहारा छूट गया। इस पति के कारण हृदय भरा-पूरा था, एक खाली जगह छूट गई। वह अपने लिए रो रही है। वह पति के लिए नहीं रो रही है।

मैंने सुना है, एक पति मरा--स्वभावतः घटना अमरीका की है--इंश्योरेंस कंपनी का आदमी आया, उसने एक लाख डालर का चेक पत्नी को दिया। पति का बीमा था। पत्नी ने कहा, धन्यवाद। अगर मेरा पति मुझे वापिस मिल जाए तो इसमें से आधी राशि मैं अभी भी लौटा सकती हूं--आधी! वह भी पूरी न लौटा सकी। पति वापिस मिलने को है भी नहीं, पति तो मर गया। इसमें से अभी भी आधी राशि वापिस लौटा सकती हूं!

कनफ्यूशियस की बड़ी प्राचीन कथा है कि कनफ्यूशियस एक गांव से गुजरता था और उसने एक स्त्री को एक कब्र पर पंखा करते देखा। बड़ा हैरान हुआ। इसको कहते हैं प्रेम! पति तो मर गया, कब्र को पंखा कर रही है? उसने पूछा कि देवी, सुना है मैंने पुराणों में कि ऐसी देवियां हुई हैं, लेकिन अब होती हैं सोचता नहीं था। लेकिन धन्य! तेरे दर्शन हुए, चरण छू लेने दे। उसने कहा, रुको। पहले पूछ तो लो कि क्यों पंखा हिला रही है? क्यों हिला रही है? कनफ्यूशियस ने पूछा। उसने कहा कि जब मेरा पति मरा तो उसने कहा कि देख, विवाह तो तू करेगी ही, लेकिन जब तक मेरी कब्र न सूख जाये, मत करना। पंखा हिला रही हूं? कब्र को सुखा रही हूं। गीली कब्र। अब पति को वचन दे दिया।

हम अपने लिए ही रोते हैं। जब कोई मर जाता है तब भी हम अपने लिए रोते हैं। जब राह से किसी की अर्थी गुजरती है, और तुम्हारे मन में एक धक्का लगता है। तुम कहते हो कि अरे! कोई मर गया। तब तुम्हें याद आती है अपने मरने की कि मुझे भी मरना होगा। जल्दी करो, जाने का वक्त आता होगा। यह अर्थी इसी की नहीं सजी, मेरी भी सजने के करीब है।

तुम जब भी रोते हो, अपने लिए रोते हो। तुम जब भी खिन्न होते हो, अपने लिए खिन्न होते हो। तुम जब भी क्रोधित होते हो, अपने लिए क्रोधित होते हो। तुम्हारा सारा जीवन अहं-केंद्रित है। ज्ञानी पुरुष अगर कभी खिन्न भी मालूम पड़े तो किसी और के लिए। ज्ञानी पुरुष अगर कभी क्रोधित भी हो जाये तो किसी और के हित के लिए। ज्ञानी पुरुष अगर कभी उदास भी हो तो ख्याल करना, जल्दी निर्णय मत ले लेना। उसकी उदासी उसकी करुणा का हिस्सा होती है।

"धीर पुरुष संतुष्ट होकर भी संतुष्ट नहीं, दुखी होकर भी दुखी नहीं होता।"

तो कितने ही दुख में तुम पाओ बुद्धपुरुष को, वह दुखी नहीं है। उसके भीतर अब दुख का कोई वास नहीं रहा। अहंकार गया, उसी दिन अहंकार की छाया दुख भी गया।

"...उसकी उस आश्चर्यमय दशा को वैसे ही ज्ञानी जान सकते हैं।"

बड़ी कठिन बात है लेकिन, तुम कैसे पहचानोगे? तुम्हारी तो सब पहचान तुमसे ही निकलती है। तुम्हीं तो कसौटी हो तुम्हारे लिए। तुम जब रोते हो तो तुम जैसा सोचते हो, वैसा ही कोई किसी और को भी रोते देखोगे तो वही सोचोगे। तुम जब हंसते हो, जैसा तुम सोचते हो वैसा किसी और को हंसते देखोगे तब भी तुम वैसा ही सोचोगे। तुम अपने ही मापदंड से सोचते हो। तुम्हारा मापदंड तुम्हीं हो। इसलिए ज्ञानी पुरुष को तुम समझ नहीं पाते।

अष्टावक्र ठीक कहते हैं, तस्य आश्चर्यदशां--ऐसे ज्ञानी पुरुष की बड़ी आश्चर्यमय दशा है। और तुम उसे समझ न पाओगे, क्योंकि तुम्हारा वैसी दशा का कोई भी अनुभव नहीं है।

तां तां तादृशा एव जानन्ते।

उसे तो वे ही जान सकते हैं जिन्होंने वैसी दशा का अनुभव किया हो। बुद्ध को बुद्ध जान सकते हैं। जिन को जिन जान सकते हैं। कृष्ण को कृष्ण जान सकते हैं। उस परम दशा को जानने का और कोई उपाय नहीं है, जब तक कि वह परम दशा तुम्हारे भीतर न घट जाये।

मेरे पास लोग आते हैं, वे कहते हैं, हम कैसे सदगुरु को पहचानें? बहुत मुश्किल है। असंभव है। तुम नहीं पहचान सकते। कोई उपाय नहीं है। तुम जो भी उपाय करोगे वह गलत होगा। तुम्हारे पास तो एक ही उपाय है कि जहां तुम्हें लगे--अनुमान ही होगा तुम्हारा, कोई प्रमाण नहीं हो सकता। जहां तुम्हें लगे, जिसके पास तुम्हें लगे कि तुम्हारे जीवन में कुछ रसधार बहती है वहां रुक जाना। अनुभव करना कुछ। अनुभव बढ़ने लगे तो समझना कि ठीक जगह रुक गये। अनुभव न बढ़े तो समझना कि कहीं और चलना पड़ेगा, कहीं और खोजना पड़ेगा। टटोलते रहना; और कोई उपाय नहीं।

तुम चाहो कि तुम्हारे पास कोई पक्की गारंटी हो सके--असंभव। क्योंकि तुम जांचोगे कैसे? जिन अनुभवों का तुम्हारे जीवन में कोई अब तक स्वाद ही नहीं है, तुम कैसे पहचानोगे? तुम जो भी तय कर लोगे वह गलत होगा। तुम अगर किसी ज्ञानी पुरुष को खिलखिलाकर हंसते देखोगे तो तुम सोचोगे, अरे यह कैसा ज्ञानी है? ऐसे तो हमीं हंसते हैं। तुम अगर किसी ज्ञानी पुरुष की आंख में आंसू टपकते देख लोगे, तुम कहोगे यह कैसा ज्ञानी है? ऐसे तो हम रोते हैं।

तुम किसी ज्ञानी पुरुष को किसी भी अवस्था में देखोगे तो वे ही सारी अवस्थाएं अज्ञान में भी होती हैं, इसको खयाल में रखना। ज्ञान में जो होता है वही सब अज्ञान में भी होता है। कारण अलग-अलग होते हैं, कारण में भेद होता है, लेकिन कार्य वही के वही होते हैं। करीब-करीब एक-सी घटनाएं घटती हैं। उन घटनाओं से ही तो तुम तौलोगे। कारण का तो तुम्हें कुछ पता नहीं है। भूल हो जाएगी। इस झंझट में पड़ना ही मत।

इसलिए मैं कहता हूं, तुम तो जहां तुम्हारा मन लग जाए, अनुमान जहां हो--अनुमान ही कहता हूं--जहां तुम्हें लगे कि हां, कुछ यहां हो सकता है, ऐसी तुम्हें थोड़ी-सी छाया प्रतीत हो, मालूम हो, रुक जाना। कोशिश करना। हिम्मत करना। प्रयोग करना।

अगर कुछ है वहां तो धीरे-धीरे तुम्हारा जीवन रूपांतरित होने लगेगा। धीरे-धीरे तुम्हारी नाव किनारे से छूटने लगेगी। बंधन कटने लगेंगे। धीरे-धीरे आनंद की तरंगें उठने लगेंगी। धीरे-धीरे एक नया लोक तुम्हारे भीतर अपने द्वार खोलने लगेगा।

खुलने लगें द्वार तो रुके रह जाना। न खुलें द्वार, कहीं और टटोलना। और जिस दिन तुम किसी सदगुरु को छोड़ो क्योंकि तुम्हारे द्वार नहीं खुल रहे हैं, उस दिन भी तय मत करना कि वह सदगुरु है या नहीं। क्योंकि कई बार यह होता है, तुम्हारे द्वार जहां न खुलें वहां किसी और के खुल जाते हों। कई बार यह होता है, जहां किसी और के द्वार न खुलें तुम्हारे खुल जाते हों। क्योंकि लोग भिन्न हैं। लोग बड़े भिन्न हैं।

और कोई एक गुरु सभी का गुरु नहीं हो सकता। इतने भिन्न लोग हैं। बुद्ध के पास किसी के द्वार खुलते, महावीर के पास किसी के द्वार खुलते हैं। कृष्ण के पास किसी और के द्वार खुलते हैं। इसलिए तुम यह निर्णय ही मत करना। न जाने के पहले निर्णय करना, न छोड़ते वक्त निर्णय करना। तुम तो कहना, कोशिश करके देख लेते हैं। कुछ होने लगे, ठीक; रुक जायेंगे। कुछ न हो, धन्यवाद देकर हट जायेंगे। हटते वक्त भी धन्यवाद से ही भरा हुआ मन हो। हटते वक्त शिकायत से भरा हुआ मन न हो कि इतने दिन खराब गए। क्योंकि कुछ खराब जाता नहीं। वह जो गलत दरवाजों पर हमने दस्तक दी है, वे दस्तकें भी व्यर्थ नहीं जातीं। वे दस्तकें ही हमें ठीक दरवाजे पर ले जाती हैं।

तस्य आश्चर्यदशां तां तां तादृशा एव जानन्ते।

जान तो उन्हीं को वे ही लोग पायेंगे, जो उन्हीं की दशा को उपलब्ध हो जाते हैं।

"कर्तव्य ही संसार है और उस कर्तव्य को शून्याकार, निराकार, निर्विकार और निरामय ज्ञानी नहीं देखते हैं।"

ममेदं कर्तव्यं। शास्त्रों में एक वचन है--मेरे को यह कर्तव्य है। ममेदं कर्तव्यं, ऐसे निश्चय का नाम ही संसार है। जब तक तुम्हें लगता है, ऐसा मेरा कर्तव्य, ऐसा मुझे करना ही पड़ेगा, तब तक तुम संसार में हो। जिस दिन तुम्हें लगा कि मेरा क्या कर्तव्य? जिसने सारे को रचा, उसका ही होगा। मैं तो थोड़ा-सा अपना पार्ट है जो दिया, अदा कर देता हूं। कर्तव्य नहीं, अभिनय। जिस दिन तुम कर्ता न होकर अभिनेता होकर जीने लगे, बस उसी दिन क्रांति घट गई।

कर्तव्यतैव संसारो न तां पश्यन्ति सूरयः।
शून्याकारा निराकारा निर्विकारा निरामयाः।।
कर्तव्यतैव संसारो।

जब तक तुम सोचते, ऐसा मेरा कर्तव्य है, ऐसा मुझे करना है, करना पड़ेगा, ऐसी मेरी जिम्मेवारी है। चार बच्चों का पिता हूं, पत्नी है, कर्तव्य है, पूरा करना है, तब तक तुम संसार में जी रहे हो। पत्नी छोड़कर मत भागो, बच्चे छोड़कर मत भागो। पत्नी और बच्चे में संसार नहीं है। इस सूत्र को समझो।

ममेदं कर्तव्यं--मेरे को यह कर्तव्य है, ऐसे निश्चय का नाम संसार है।

कर्तव्यतैव संसारो।

जब तक कर्तव्य तब तक संसार। कर्तव्य को ही छोड़ दो। पत्नी को रहने दो, बच्चे को रहने दो। दफ्तर भी जाओ, दूकान भी जाओ, काम भी करो। कर्ता परमात्मा को बना दो, तुम कर्ता न रहो। तुम कहो, जो लीला तुझे दिखानी, जो अभिनय तूने दे दिया, जिस नाटक में पात्र बना दिया, पूरा कर देंगे। राम मत बनो। रामलीला के राम ही रहो। मंच पर जो खेल खेलने को कहा गया है उसे पूरा-पूरा कर दो। उसे परिपूर्ण हृदय से पूरा कर दो, लेकिन कर्ता की तरह नहीं।

न तां पश्यन्ति सूरयः।

जो ज्ञानी हैं वे कर्तव्य को देखते ही नहीं। उन्हें कोई कर्तव्य नहीं दिखाई पड़ता। जो परमात्मा करवाता है, वे करते हैं। जो नहीं करवाता, वे नहीं करते। उनकी कोई जिम्मेवारी नहीं। इसलिए तो अष्टावक्र उन्हें कहता है स्वच्छंद।

शून्याकारा निराकारा निर्विकारा निरामयाः।

ऐसी चार उनकी लक्षणा है।

शून्यकारा--वे अपने भीतर शून्य रहते हैं। बाहर हजार-हजार रूप धर लेते हैं, भीतर शून्य बने रहते हैं। क्रोध में उन्हें पाओ, रमण को भागते देखो डंडा लिए, तब भी भीतर शून्याकारा। कि गुरजिएफ को क्रोध से उबलते देखो...।

गुरजिएफ के शिष्यों ने बहुत से संस्मरण लिखे हैं कि जब वह क्रुद्ध होता था तो तूफान-आंधी आ जाए ऐसा क्रुद्ध होता था। ऐसा लगता था, सब मिटा डालेगा। और क्षण भर में जैसे आंधी चली गई। और क्षण भर बाद उसे देखो तो पता ही न चलता कि वह कभी क्रोधित हो सकता है।

और कभी-कभी तो गुरजिएफ गजब कर देता था; बड़ा कुशल अभिनेता था। दो आदमी बैठे हों तो एक आदमी को तो एक आंख से वह क्रोध दिखलाता और दूसरे आदमी को प्रेम दिखलाता। और दोनों जब बाहर मिलते तो उनमें विवाद छिड़ जाता कि यह आदमी अच्छा है कि बुरा। वह एक कहता, बड़ा खतरनाक है। मेरी तरफ ऐसा देख रहा था, जैसे मार डालेगा। और दूसरा कहता, मेरी तरफ उसने इतने प्रेम से देखा, तुम गलत बात कह रहे हो। कोई आदमी एक-एक आंख से अलग-अलग थोड़े ही देख सकता है।

लेकिन इसकी संभावना है, क्योंकि तुम्हारे भीतर दो मस्तिष्क हैं और दोनों का अलग-अलग उपयोग हो सकता है। बायीं आंख अलग मस्तिष्क से चल रही है; दायें मस्तिष्क से चल रही है। दायीं आंख बायें मस्तिष्क से चल रही है। दोनों अलग हैं। दोनों का प्रयोग ठीक से कर लो तो दोनों का उपयोग किया जा सकता है।

अभी पश्चिम में कुछ प्रयोग चलते हैं। अनूठे प्रयोग हैं, भविष्य में काम आयेंगे। अब तक आदमियत ने आधे का ही उपयोग किया है इसलिए हमारा एक हाथ चलता है, और एक हाथ नहीं चलता। अब पश्चिम में वे अभ्यास कर रहे हैं कि दूसरा हाथ भी इतना ही चल सकता है। कोई कारण नहीं है।

तो अब बच्चों को भविष्य में ऐसा सिखाया जाना है कि दोनों हाथ चलें। तो दोहरी शक्ति हाथ में आ जायेगी। और जब दोनों हाथ चलेंगे तो दोनों मस्तिष्क काम करेंगे। आदमी अब तक अधूरा जीया है। आदमी में बड़ी क्षमता प्रगट होगी अगर दोनों मस्तिष्क काम करने लगें।

और अगर तुम्हारी कला-कुशलता बढ़ गई...जो बढ़ जाएगी, क्योंकि आदमी को खयाल आ जाए तो फिर उपाय शुरू हो जाते हैं। तो फिर पारी-पारी बदली जा सकती है। आधा मस्तिष्क काम करता है, इसको छः घंटे काम लेने दो, फिर इसको बदल दो। फिर दूसरे मस्तिष्क को काम करने दो। तो एक का विश्राम चलेगा, दूसरे का काम चलेगा। काम की क्षमता बहुत बढ़ सकती है।

गुरजिएफ इस पर प्रयोग कर रहा था। लेकिन गुरजिएफ का सारा मामला नाटक था। उसके एक शिष्य ने लिखा है कि उसके साथ यात्रा की उसने एक स्टेशन से दूसरे स्टेशन तक। कहा कि फिर कसम खा ली कि जिंदगी में अब कभी इसके साथ यात्रा नहीं करेंगे। क्योंकि उसने ऐसा उपद्रव मचाया!

पहले तो स्टेशन पर ही उसने इतना शोरगुल मचाया कि भीड़ इकट्ठी कर ली। गाड़ी दस मिनट लेट हो गई उसके उपद्रव के कारण। फिर वह किसी तरह अंदर चढ़ा, तो जहां सिगरेट नहीं पीना है वहां सिगरेट पीने लगा बैठकर। जहां शराब नहीं पीनी है वहां शराब पीने लगा; फिर वहां शोरगुल मचा। फिर ड्राइवर और कंडक्टर भागे आये, फिर किसी तरह उसको समझाया। तो वह अनर्गल बकने लगा। और वह शिष्य जानता है कि वह बिलकुल होश में है। वह कुछ गड़बड़ नहीं कर रहा है। वह कितनी ही शराब पीये, बेहोश होता नहीं था।

वह भी एक गहरा अभ्यास है; भारत में अघोरपंथी साधु बहुत दिन से करते रहे। ध्यान की परीक्षा है कि शराब तुम्हारे ध्यान को प्रभावित न करे। कितनी ही शराब पी जाओ और ध्यान अछूता बचा रहे। क्योंकि शराब से अगर ध्यान डूब जाये तो यह कोई ध्यान हुआ! यह तो जरा-सी शराब ने बदल दिया, यह तो जरा-से रसायन ने बदल दिया। यह कोई बहुत गहरा नहीं है।

तो शिष्य जानता है, वह सबको समझाता है कि नाटक है, मगर कौन उसकी माने? क्योंकि यह कैसा नाटक? रात दो बजे तक उसने सारी ट्रेन को परेशान कर रखा। यहां तक हालत आ गई कि जहां नहीं उतरना था वहां ड्राइवर ने गाड़ी खड़ी कर दी और कहा, इस आदमी को उतारना पड़ेगा। यह चलने ही नहीं देता, यात्रियों को परेशान कर रहा है। पूरी गाड़ी जुड़ी है तो वह इस कोने से लेकर उस कोने तक आ-जा रहा है, शोरगुल मचा रहा है, सोये आदमियों को हिलाकर जगा रहा है।

और वह शिष्य परेशान है। और वह शिष्य जानता है, सब उसी के लिए किया जा रहा है। बामुश्किल उस शिष्य ने हाथ-पैर जोड़कर किसी तरह कहा कि अगले स्टेशन पर हमें उतरना ही है, वहां तक तो चले जाने दो। अब जो हो गई भूल, हो गई।

अगले स्टेशन पर उतरकर जब वे कार में बैठे तब वह हंसने लगा। उसने कहा, कहो, कैसी रही? तुम बहुत घबड़ा गए थे। घबड़ा गए थे? वह कहता, मैं कंपता रहा। अब कभी तुम्हारे साथ यात्रा नहीं करूंगा। और मैं जानता था कि सब नाटक है। और तुमने मेरी खूब परीक्षा ली। इतना मैंने कोसा तुम्हें इस पूरे वक्त। क्योंकि तुमको तो लोग समझ रहे थे, तुम बेहोश हो, सब मुसीबत मुझ पर आ रही थी कि तुम किस आदमी को लेकर चढ़ गए ट्रेन में!

वह आदमी प्रसिद्ध आदमी था; एक बड़ा पत्रकार था, लेखक था। उसको लोग जानते भी थे। उसकी खूब बेइज्जती करवाई उसने। लेकिन उस पत्रकार ने लिखा है कि उस दिन के बाद मेरे जीवन में बड़े फर्क भी हुए। दूसरे दिन सुबह मैं बिलकुल हलका उठा, जैसे मेरा पहाड़ उतर गया। वह अहंकार, कि मैं बड़ा प्रसिद्ध फलां-ढिकां...उसने सब मिट्टी करवा दिया। वही मेरा इलाका था जहां लोग मुझे जानते हैं। उसने सब पानी फेर दिया। और दूसरे दिन मैं बिलकुल हलका उठा--निर्भार!

कठिन है कहना, ज्ञानी का व्यवहार कैसा हो?

कर्तव्यतैव संसारो न तां पश्यन्ति सूरयः।

शून्याकारा--वह भीतर तो शून्य बना रहता; बाहर कुछ भी व्यवहार करे।

निराकारा--बाहर कैसा ही अभिनय करे, भीतर निराकार बना रहता है।

निर्विकारा--तुम उसे शराबघर में देखो कि वेश्यालय में, कोई फर्क नहीं पड़ता। वह भीतर निर्विकार बना रहता है।

निरामया--तुम उसे कैसी भी दशा में देखो, वह दुखरहित होता।

गुरजिएफ के जीवन में और भी उल्लेख हैं, जो बड़े महत्वपूर्ण हैं। गुरजिएफ ने आखिरी समय अपनी कार को टकरा लिया एक वृक्ष से। उसे कार चलाने का शौक था और दौड़ाता था सीमा के बाहर। जब उसकी कार

टकराई तो ऐसी कार की हालत हो गई थी कि उसे कार से निकालने में डेढ़ घंटा लगा--गुरजिएफ को बाहर निकालने में। उसका शरीर इस बुरी तरह उलझ गया था कार के भीतर, सब चकनाचूर हो गया था।

लेकिन जो लोग निकाल रहे थे उनको उसने सब बताया कि कैसे निकालो। वह पूरे होश में था। जब उसे बाहर निकाल लिया गया तो उसने बताया कि कहां-कहां पट्टियां बांधो। सारा शरीर चकनाचूर था। और जब छत्तीस घंटे बाद उसे बड़े अस्पताल में लाया गया तो डाक्टरों ने माना ही नहीं कि आदमी जिंदा रह सकता है। यह असंभव है। उसके सारे फेफड़ों में खून भरा था, उसके सारे मस्तिष्क में खून भरा था। न केवल वह जिंदा था, वह परिपूर्ण होश से जिंदा था। वह डाक्टरों से बात करता रहा और डाक्टरों को भरोसा न आया कि आदमी बेहोश नहीं है।

उसके शिष्य जानते थे कि उसने जानकर किया। वह मरने के पहले मृत्यु को स्वेच्छा से देख लेना चाहता था। वह अपने शरीर को आखिरी विकृति में डालकर देख लेना चाहता था कि फिर भी मेरा होश रह सकता है कि नहीं। डाक्टरों ने कहा, यह बच ही नहीं सकता। यह आदमी मर ही जाना चाहिए। ऐसा कोई उल्लेख ही नहीं अब तक कि ऐसा आदमी बच सके। लेकिन वह बच गया। न केवल बच गया, उसने कोई दवा न ली। उसने किसी तरह का इंजेक्शन न लिया। उसने किसी तरह की शामक ट्रैंक्वेलाइजर न ली। उसने कहा कि नहीं, कुछ भी नहीं।

और इतना ही नहीं, वह दूसरे दिन सुबह अपने शिष्यों के बीच बैठा समझा रहा था। उसको लाया गया स्ट्रेचर पर। मगर वह समझा रहा था, जो बातें उसे समझानी थीं। और तीन सप्ताह के भीतर वह बिलकुल चंगा था; फिर चलने लगा, फिर ठीक हो गया।

जब वह मरा--कई साल बाद मरा इस घटना के--जब वह मरा तो उसका एक बहुत प्रसिद्ध अनुयायी बेनेट पहुंच नहीं पाया समय पर। खबर कर दी गई थी, शिष्य आ जायें, क्योंकि उसे बोध था कि वह कब शरीर छोड़ देगा। लेकिन वह नहीं पहुंच पाया। पहुंचने की कोशिश की लेकिन प्लेन देर से आया। जब पहुंचा तो वह मरे कोई बारह घंटे हो चुके थे।

रात, आधी रात बेनेट पहुंचा। जिस चर्च में उसकी लाश रखी थी, वह अंदर गया। वहां कोई भी न था रात में, सब शिष्य जा चुके थे। वह बड़ा हैरान हुआ। उसे ऐसा लगा कि वह जिंदा है। और बेनेट एक बड़ा विचारक है, गणितज्ञ है, वैज्ञानिक है। वह पास गया, उसने हृदय के पास कान रखकर सुनना चाहा। उसे ऐसा लगा कि वह सांस ले रहा है। वह बहुत घबड़ाया। मरे बारह घंटे हो गये और यह आदमी क्या अब भी कोई खेल कर रहा है, मरने के बाद भी?

उसे इतना भय लगा कि वह बाहर आ गया निकलकर, लेकिन फिर भी उसकी आकांक्षा बनी रही कि एक दफा और जाकर देख लूं कि सच में यह बात है कि मैं किसी भ्रम में हूं? वह भीतर गया, उसने सब तरह से--अपनी सांस रोककर बैठा। कहीं मेरी सांस की आवाज ही तो मुझे नहीं सुनाई पड़ रही है? लेकिन तब भी उसे सांस लेने की आवाज सुनाई पड़ती रही।

गुरजिएफ उस समय भी प्रयोग कर रहा था देह के बाहर खड़े होकर। देह के भीतर प्रयोग किए, देह के बाहर प्रयोग किए। गुरजिएफ अब भी, मर जाने के बाद भी उसके शिष्यों को उपलब्ध है--उतना ही जीवित, जितना तब था जब वह जीवित था।

मृत्यु में भी मरता नहीं ज्ञानी। दुख में दुखी नहीं होता--निरामयाः। ज्ञानी को पहचानने के लिए लेकिन तुम्हें ज्ञानी हो जाना पड़े। जैसे को जानना हो, वैसा होना ही उपाय है।

आज इतना ही।

बहत्तरवां प्रवचन

सदगुरुओं के अनूठे ढंग

पहला प्रश्न: कृष्णमूर्ति परम ज्ञानी होकर भी अन्य सदगुरुओं के कार्यों की निंदा, आलोचना क्यों करते हैं?

जब तक परम ज्ञानी न हो जाओ, न समझ सकोगे। अज्ञान के तल से जो निंदा और आलोचना मालूम होती है, ज्ञान के तल से वह केवल करुणा है। तुम भटक न जाओ इसलिए; तुम गलत में न पड़ जाओ इसलिए; जब श्रेष्ठ उपलब्ध हो तो तुम निकृष्ट न चुन लो इसलिए।

फिर खयाल रहे कि सत्य की अनंत अभिव्यक्तियां हैं। और सत्य की प्रत्येक अभिव्यक्ति "मैं सही हूं", इस भाव के साथ ही पैदा होती है। सत्य स्वतः प्रमाण है। इसलिए जब भी सत्य का अनुभव होता है तो जो भी अभिव्यक्ति सत्य को मिलती है, वह इतनी प्रगाढ़ता से मिलती है कि इससे अतिरिक्त सब गलत है, यह भाव उसमें सम्मिलित होता है।

बुद्ध ने आलोचना की है महावीर की। महावीर ने आलोचना की है मखली गोशाल की। कुछ कृष्णमूर्ति नया नहीं करते हैं। लाओत्से ने आलोचना की है कनफ्यूशियस की। और क्राइस्ट ने तो इतनी ज्यादा आलोचना की कि सूली बिना चढ़ाये लोग रह न सके।

लेकिन तुम्हारे तल पर कठिनाई भी मेरे समझ में आती है। तुम आलोचना ही जानते हो, निंदा ही जानते हो। तो जब तुम कृष्णमूर्ति जैसे व्यक्ति को कोई वक्तव्य देते देखते हो तो तुम अपना रंग उस पर चढ़ा देते हो। तुम्हें ऐसा लगता है कि सदगुरु को तो आलोचना नहीं करनी चाहिए। लेकिन कभी कोई सदगुरु हुआ है जिसने आलोचना न की हो?

जिन्होंने नहीं की है वे न तो गुरु थे--सदगुरु तो दूर, वे राजनैतिक नेता रहे होंगे। राजनैतिक नेता हिसाब से चलता है। वह वही कहता है जो तुम सुनना चाहते हो। उसे सत्य से कोई प्रयोजन नहीं है, उसे तुम पर अधिकार करने से प्रयोजन है। तुम जिसके साथ हो, वह उसको भी ठीक कहता है। इसका कोई उसके मन में मूल्य ही नहीं है कि वह जो कह रहा है, वह ठीक है या गलत। राजनेता अक्सर समन्वय की बात करता हुआ मिलेगा। सदगुरु अक्सर प्रगाढ़ रूप से जो कह रहे हैं, उसके लिए प्रमाण जुटाते मिलेंगे और उससे अन्यथा को गलत कहते मिलेंगे।

लेकिन समन्वय का तुम्हारे मन में बड़ा आग्रह पैदा हो गया है। ऐसी भ्रांत धारणा पैदा हो गई है कि जो व्यक्ति आलोचना करता है वह ज्ञानी नहीं। राजनीतिज्ञों ने समन्वय के नाम पर काफी प्रचार किया है। उस प्रचार के कारण जितना अहित हुआ है, किसी और बात से नहीं हुआ।

जैसे महात्मा गांधी हैं; कुरान भी ठीक है और पुराण भी ठीक है, और महावीर भी ठीक हैं और कृष्ण भी ठीक हैं। सबको ठीक कहे चले जाते हैं। न कृष्ण से मतलब है, न मोहम्मद से मतलब है, न महावीर से मतलब है। मतलब है मोहम्मद को मानने वाले से, कृष्ण को मानने वाले से, महावीर को मानने वाले से। सब पीछे चलें, इसकी आकांक्षा है। अगर कृष्ण की आलोचना करेंगे, हिंदू नाराज हो जाता है। अगर मोहम्मद की आलोचना करेंगे, मुसलमान नाराज हो जाता है। अगर महावीर की आलोचना करेंगे तो जैन नाराज हो जाता है। इन सबको राजी रखना है। इन सबको पीछे चलाये रखना है। ये सब किसी तरह से अनुयायी बने रहें। इनके सब गुरुओं की प्रशंसा करनी है। फिर चाहे इनके गुरुओं ने जो कहा है, वह एक-दूसरे से मेल खाता हो, न खाता हो।

अब कृष्ण की गीता में और महावीर के वक्तव्यों में क्या मेल हो सकता है? मैं यह नहीं कह रहा हूं कि कृष्ण के परम अनुभव में और महावीर के अनुभव में मेल नहीं होगा। है मेल, लेकिन कृष्ण ने जो अभिव्यक्ति दी

और महावीर ने जो अभिव्यक्ति दी, उनमें कोई मेल नहीं है; जरा भी मेल नहीं है। उनसे विपरीत अभिव्यक्तियां नहीं हो सकतीं।

महावीर कहते हैं, किसी की शरण मत जाना। उन्होंने सत्य को बिना किसी की शरण जाकर पाया। तो जो पाया वही कहेंगे न! वही कहनी भी चाहिए निष्ठावान व्यक्ति को। जिस मार्ग से चले, जो परिचित है, जो अनुभव में आया उसके अतिरिक्त कोई बात नहीं कहनी चाहिए, अन्यथा सुननेवाला भटकेगा। और कृष्ण कहते हैं, "सर्व धर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।" तू सब छोड़ और मेरी शरण आ। कृष्ण ने वैसे ही जाना। कृष्ण ने शरणागत होकर जाना, समर्पण से जाना।

तो कृष्ण ने जैसे जाना वैसे ही कहेंगे न! महावीर ने जैसा जाना वैसा ही कहेंगे न! फिर अगर कोई महावीर के पास जाकर कहे कि कृष्ण कहते हैं, शरणागति और आप कहते हैं, अशरण भाव; हम क्या चुनें? तो निष्ठावान महावीर कहेंगे, कृष्ण गलत कहते होंगे। यह कहना तुम्हारे प्रति करुणा के कारण है। क्योंकि अगर महावीर कहें कि कृष्ण भी ठीक, मैं भी ठीक, तो तुम वैसे ही उलझे हो, तुम और भी उलझ जाओगे। तुम्हारी उलझन सुलझेगी न, गुत्थी और बिगड़ जायेगी। तब तुम बिलकुल किंकर्तव्यविमूढ़ खड़े रह जाओगे कि अब मैं क्या करूं?

तुम पर दया करके महावीर कहते हैं, कृष्ण गलत। जो मैं कहता हूं उसे समझने की कोशिश करो। किसी की भी शरण मत जाओ तो आत्मशरण घटेगी। किसी की भी शरण गए तो तुम आत्मा से चूक जाओगे, वंचित रह जाओगे। और स्वयं को जान लेना, स्वयं हो जाना पहली शर्त है सत्य को जानने की। जो स्वयं ही न रहा वह सत्य को कैसे जानेगा?

तुम कृष्ण के पास जाओ और कहो कि महावीर कहते हैं, अशरण; किसी की शरण मत जाना। समर्पण भूलकर मत करना। अपने पैर पर खड़े होना। किसी के कंधे पर झुकना मत, क्योंकि सब झुकना गुलामी है। और किसी पर निर्भर अगर हो गये तो बंधन निर्मित होगा। परम स्वतंत्रता, मोक्ष उपलब्ध कैसे होगा? तो कृष्ण कहेंगे, गलत कहते होंगे। निश्चित गलत कहते हैं, क्योंकि मैंने झुककर पाया। मैं झुका और भर गया। और जब तक मैं अकड़ा खड़ा रहा तब तक खाली रहा। मैं तुम्हें अपने अनुभव से कहता हूं कि महावीर गलत कहते होंगे। यह भी कृष्ण तुम्हारे प्रति करुणा से कहते हैं।

इसका परिणाम यह होता है अंततः कि जिनको कृष्ण की बात जंच जाती है, वे कृष्ण के मार्ग पर चल पड़ते हैं; जिनको महावीर की बात जंच जाती है, वे महावीर के मार्ग पर चल पड़ते हैं। अगर दोनों कहते हैं कि वे भी ठीक कहते होंगे, मैं भी ठीक कहता हूं--अगर दोनों ऐसा कहें तो कोई किसी के मार्ग पर न चल पायेगा। लोग डांवांडोल खड़े रह जायेंगे, कहां जायें? और ये इतनी विपरीत बातें-- अशरण-भावना, शरण-भावना। कहां जायें? महावीर कहते हैं, कोई परमात्मा नहीं है, किसकी शरण जाते हो? बस, आत्मा है।

तो महावीर को चुनें कि कृष्ण को चुनें? और महावीर खुद ही कहते हों कि कृष्ण भी ठीक होंगे, मैं भी ठीक हूं। तो तुम्हारी उलझन बढ़ेगी, घटेगी नहीं। महावीर को बहुत साफ होना चाहिए कि नहीं, मैं जो कहता हूं वही ठीक है, कोई और ठीक नहीं।

इसके दो परिणाम होंगे। जिनको बात जंच जायेगी वे निश्चिंतमना महावीर के मार्ग पर चल सकेंगे। जिनको बात नहीं जंचेगी वे निश्चिंतमना कृष्ण के मार्ग पर चल पड़ेंगे। हानि इसमें जरा भी नहीं है। हानि तो महात्मा गांधी जैसे व्यक्तियों से होती है, जो कहते हैं, वह भी ठीक, यह भी ठीक; सब ठीक। सब ठीक में सब गलत हो जाता है। एक साधे सब सधे, सब साधे सब जाये।

लेकिन महावीर और कृष्ण राजनेता नहीं हैं, गांधी राजनेता हैं। लेकिन गांधी की बात तुम्हें भी जंचती है। सबको ठीक कहते हैं। यही संत का भाव होना चाहिए। इसमें करुणा की तुम्हें चिंता ही नहीं है। शायद इसके पीछे भी कारण है। तुम भी चलना नहीं चाहते। यह सदी सत्य की तरफ जाना नहीं चाहती। इसलिए जो लोग भी सत्य की तरफ जाने के मार्ग को ढीला करवाते हैं वे तुम्हें रुचते हैं। गांधी की बात जंचती है कि सब ठीक।

इसका कुल परिणाम यह होता है कि तुम कहीं जाते नहीं। न कुरान, न गीता; न महावीर, न मोहम्मद, कुछ भी नहीं पकड़ते। तुम कहते हो, सभी ठीक हैं। जब सभी ठीक हैं तो पकड़ना क्या है? जाना कहां है? सभी के ठीक का एक ही परिणाम होता है, तुम किसी रास्ते पर नहीं जाते। चौरस्ते पर खड़े हो, और मैं तुमसे कहता हूं, चारों रास्ते ठीक हैं। इसका कुल परिणाम इतना होता है, तुम चौरस्ते पर खड़े रह जाते हो। मुझे कहना चाहिए कि एक रास्ता ठीक है और इससे मैं चला हूं, इससे मैं गया हूं। यह मेरा परिचित है। बाकी तीन मैंने जाने नहीं, मैं गया नहीं। गलत ही होंगे। पहुंचता है आदमी इस रास्ते में। मैं पहुंचकर कह रहा हूं।

फिर चौरस्ते पर लोग बंट जायेंगे। जिसको जिसकी बात जम जायेगी, जो जिसके साथ अपना तालमेल पायेगा, जिसके हृदय में जिसकी वीणा बजने लगेगी, जिसका हृदय जिसके प्रेम में डूब जायेगा, वह उस मार्ग पर चल पड़ेगा निश्चिंतमना। फिर वह लौटकर भी नहीं देखेगा कि बाकी तीन मार्गों का क्या हुआ। पृथ्वी पर तीन सौ धर्म हैं। तुम अगर तीन सौ धर्मों के बीच समन्वय जुटाते रहे, अल्लाह ईश्वर तेरे नाम करते रहे, तुम कभी भी चलोगे नहीं। चौरस्ते पर खड़े-खड़े मरोगे।

इसलिए सदगुरु आलोचना करते हैं। निंदा उसमें जरा भी नहीं है। और करुणा है, गहन करुणा है। तुम चलो, यह प्रयोजन है। तुम कहीं पहुंचो, यह प्रयोजन है।

और अपना वक्तव्य बिलकुल साफ होना चाहिए। उसमें रत्ती भर भी संदेह की सुविधा नहीं होनी चाहिए। कबीर ने आलोचना की है, नानक ने आलोचना की है, अष्टावक्र ने आलोचना की है। तुम एकाध सदगुरु का नाम ले सकते हो, जिसने आलोचना न की हो? वह सदगुरु ही नहीं। क्योंकि आलोचना का अर्थ ही केवल इतना है कि बाकी जो और रास्ते हैं, वह कह रहा है, वे रास्ते नहीं हैं, यह रास्ता है; ताकि तुम चुन सको। तुम वैसे ही उलझे खड़े हो--बीमार, रुग्ण, विक्षिप्त। तुम्हारी विक्षिप्तता और बढ़ानी है? तुम्हारे मस्तिष्क को और विकृतियों से भरना है?

तो सदगुरु आलोचना करता है। निंदा तो जरा भी नहीं है वहां। निंदा का तो कोई प्रश्न नहीं है। निंदा तो व्यक्ति की तरफ होती है, आलोचना सिद्धांत की तरफ होती है। निंदा में दूसरा व्यक्ति बुरा है यह बताने की चेष्टा होती है। आलोचना में उस मार्ग पर मत जाना...।

पूछते हो, "कृष्णमूर्ति परम ज्ञानी होकर भी अन्य सदगुरुओं के कार्यों की निंदा, आलोचना करते हैं...?"

तुम निंदा और आलोचना का ऐसा उपयोग कर रहे हो, जैसे वे पर्यायवाची हैं। निंदा व्यक्ति की तरफ उन्मुख होती है, आलोचना मार्ग की तरफ।

और फिर तुम्हें इसकी चिंता में नहीं पड़ना चाहिए कि कृष्णमूर्ति आलोचना क्यों करते हैं। तुम्हें कृष्णमूर्ति से क्या लेना-देना? तुम्हें बात जंच जाये, चल पड़ो। बात न जंचे, छोड़ दो। दो सदगुरु अगर एक-दूसरे की आलोचना करते हैं तो तुम अपना चुन लो कि तुम्हें किसकी बात जंचती है।

मगर तुम बड़े होशियार हो। तुम यह चुन रहे हो कि ये दोनों आदमी गलत होने चाहिए क्योंकि आलोचना करते हैं। तुमने अपने को चुन लिया इन दोनों को चुनने की बजाय। तुम किसी मार्ग पर न गए। तुमने कहा, ये तो ठीक होने नहीं चाहिए। ये तो एक-दूसरे की आलोचना कर रहे हैं। सदगुरु कहीं आलोचना करते हैं?

तुम एकाध सदगुरु का नाम तो बताओ, जिसने आलोचना न की हो। समय बीत जाता है, लोग भूल जाते हैं। समय बीत जाता है, लोग शास्त्रों को उलटकर भी देखते नहीं। तुम अष्टावक्र को सुन रहे हो अभी, तुम्हें खयाल नहीं आया कि अष्टावक्र से और गहरी आलोचना हो सकती है कोई? इससे ज्यादा प्रगाढ़ और कोई खंडन

हो सकता है--ध्यान का, योग का, समाधि का, त्याग का, तप का, जप का, संन्यास का, स्वर्ग का, मोक्ष का? इतनी प्रगाढ़ आलोचना! ऐसी तलवार की धार! एक-एक को काटे चले जाते हैं।

लेकिन तुम्हारे प्रति करुणा के कारण है। अब तुम यह सोच लो कि अष्टावक्र को ज्ञान न हुआ होगा, नहीं तो यह आलोचना क्यों करते अगर ज्ञान हो जाता? तो तुम चूकोगे। तुम पहले से परिभाषायें मत बनाओ कि सदगुरु आलोचना नहीं करते। यह गलत स्थिति है। तुम सदगुरुओं का जरा प्राचीन समय से लेकर आज तक का उल्लेख देखो और तुम पाओगे, उन सबने आलोचना की है और गहरे रूप से आलोचना की है।

महावीर और बुद्ध साथ-साथ जीये और एक-दूसरे की खूब आलोचना की। रत्ती भर भी संकोच नहीं बरता। क्योंकि रत्ती भर भी संकोच, वह जो पीछे आ रहा है उसको डांवांडोल कर जाता है। उन्हें बहुत स्पष्ट होना चाहिए।

और फिर भी मैं तुमसे कहता हूं, सभी सदगुरु जहां पहुंचते हैं वह एक जगह है। जहां पहुंचना है वह तो एक है, लेकिन जिन मार्गों से पहुंचना है वे अनेक हैं। और जब सदगुरु किसी की आलोचना करता है तो वह मार्ग की आलोचना कर रहा है। तुम इतना ही उसमें से समझने की कोशिश करना कि मुझे क्या ठीक लगता है।

ऐसा हुआ, एक नगर में दो हलवाइयों में झगड़ा हो गया। आमने-सामने दूकान थी। हलवाई तो हलवाई! लड्डू और बर्फी एक-दूसरे पर फेंकने लगे।

लूट मच गई। लोगों की भीड़ इकट्ठी हो गई। लोग लड्डू और बर्फियां बीच में पकड़ने लगे। और लोग बोले कि ऐसी लड़ाई तो रोज हो। मजा आ गया।

दो हलवाई लड़ेंगे, तुम लड्डू-बर्फी पकड़ लेना। तुम इसकी फिक्र छोड़ना कि हलवाई लड़ रहे हैं। वे शायद इसीलिए लड़ रहे हैं कि तुम्हें थोड़े लड्डू और बर्फियां मिल जायें।

फिर सत्य को देखने के इतने कोण हैं...। एक तो सत्य को देखने का परंपरागत कोण है, जैसा शास्त्रों में कहा है, परंपरा में कहा है, संप्रदाय में कहा है। एक कोण है सत्य को देखने का, निजी अनुभव से। दोनों ही तरह के लोग दुनिया में हुए हैं, सदा हुए हैं। महावीर, उनके पहले जो तेईस तीर्थंकरों ने कहा था, उसी परिभाषा के भीतर सत्य को देख रहे हैं। बुद्ध एक नई परंपरा शुरू कर रहे हैं। संघर्ष स्वाभाविक है। बुद्ध एक नई भाषा को जन्म दे रहे हैं। महावीर पुरानी मान्य भाषा के भीतर अपने अनुभव को ढाल रहे हैं। वैसा भी ढाला जा सकता है। कोई जरूरी नहीं है कि तुम्हें जब कोई नया अनुभव हो तो तुम नई भाषा भी बनाओ। भाषा तो पुरानी काम में लायी जा सकती है। अनुभव तो सत्य का सदा नया है। लेकिन कोई परंपरागत भाषा का उपयोग करता है, कोई नई भाषा ढालता है। यह भी निर्भर करता है व्यक्तियों के ऊपर।

बुद्ध ने नई भाषा ढाली। एक नई परंपरा का जन्म हुआ। अब यह तुम सोचो। कोई पुरानी परंपरा में अपने नये सत्य के अनुभव को ढाल देता है। कोई अपने नये सत्य के अनुभव में नई भाषा को निर्मित करता है और एक नई परंपरा को जन्म दे देता है। एक में परंपरा पहले है, दूसरे में परंपरा पीछे है। संयोजन का भेद है। महावीर के पीछे परंपरा है, बुद्ध के आगे; मगर परंपरा कहीं जाती थोड़े ही!

सब क्रांतियां परंपरायें बन जाती हैं। और सब परंपरायें पुनः राख को झाड़ दो तो क्रांतियां बन सकती हैं। परंपरा और क्रांति कोई दो अलग चीजें थोड़े ही हैं; एक ही चीज के दो पहलू हैं।

कृष्णमूर्ति ने चुना है नये ढंग से कहना। ठीक है, सुंदर है। रमण ने चुना पुराने ढंग से कहना। अपना-अपना चुनाव है। और कोई का चुनाव किसी के ऊपर थोपा नहीं जा सकता। रमण ने भी खूब गहराई से कहा; पुराने ढंग से कहा। पुराने शब्दों की राख झाड़ दी, फिर अंगारे प्रगट हो गये! अंगारे मरते थोड़े ही हैं। जहां भी सत्य कभी रहा है, वहां सत्य है। राख जम जाती है समय के कारण। धूल इकट्ठी हो जाती है। धूल झाड़ दो। रमण ने पुराने अंगारों पर से धूल झाड़ दी, कृष्णमूर्ति नया अंगारा पैदा करते हैं। लेकिन नये अंगारे पर भी धूल जमेगी।

चालीस साल से कृष्णमूर्ति बोल रहे हैं, चालीस साल में कृष्णमूर्ति को मानने वाले लोग कृष्णमूर्ति के शब्दों को दोहराने लगे। धूल जमने लगी। संप्रदाय बनने लगा। लाख तुम कहो, कृष्णमूर्ति कितना ही कहें लोगों

को कि तुम मेरे अनुयायी नहीं हो, लेकिन क्या फर्क पड़ता है? इससे कुछ फर्क नहीं पड़ता। लोग इसको भी मानते हैं। लोग ऐसे अनुयायी हैं कि वे कहते हैं, आप ठीक कह रहे हैं। यही तो हम भी मानते हैं।

अनुयायी का मतलब होता है, हम मानते हैं। आप जो कहते हैं उसको मानते हैं। आप कहते हैं, तुम हमारे अनुयायी नहीं? बिलकुल ठीक कहते हैं। हम आपके अनुयायी नहीं। आपको ही मानकर चलते हैं। जैसा आप कहते हैं, ठीक अक्षरशः हम वैसा ही मानते हैं। अनुयायी पैदा हो गया।

जहां सत्य की घोषणा होगी वहां अनुगमन पैदा होगा। जहां धर्म होगा वहां संप्रदाय पैदा होगा। इससे बचा नहीं जा सकता। जहां संप्रदाय है वहां भी धर्म पैदा हो सकता है और जहां धर्म है वहां संप्रदाय पैदा हो जाता है।

अपना-अपना रुझान। रमण को प्रीतिकर हैं पुराने शब्द। पुराने शब्दों में कुछ बुराई नहीं। किसी को प्रीतिकर है नये शब्दों का गढ़ना। इसमें भी कुछ बुराई नहीं है। अपनी मौज।

फिर तुममें से किसी को नये शब्द प्रीतिकर लगते होंगे तो ठीक। कैसे भी चलो, चलो तो! किसी को पुराने शब्द ठीक लगते हों तो भी ठीक। कैसे भी चलो, चलो तो! इस बिबूचन में मत पड़ो, इस विडंबना में मत पड़ो--कौन ठीक? तुम्हें जो ठीक लग जाये, तुम्हें जिसमें रस आ जाये। चल पड़ो, समय मत गंवाओ।

कृष्णमूर्ति का वक्तव्य बगावत का है। लेकिन ऐसा ही तो वक्तव्य किसी दिन अष्टावक्र का था। ऐसा ही वक्तव्य किसी दिन बुद्ध का था। ऐसा ही वक्तव्य किसी दिन कृष्ण का था। फिर उनके पीछे संप्रदाय बन गए। और ऐसे ही तो बुद्ध ने भी चाहा था कि कोई संप्रदाय न बने लेकिन फिर भी संप्रदाय बना। संप्रदाय से बचा नहीं जा सकता। बोले कि संप्रदाय बना। कहा कि संप्रदाय बना। शब्द में बांधा कि शास्त्र निर्मित हुआ।

चुप भी नहीं रहा जा सकता, क्योंकि जो मिला है वह प्रगट होना चाहता है। जो हुआ है, अभिव्यक्त होना चाहता है। मेघ घने हो गए हैं, बरसना चाहते हैं। फूल खिल गया है, गंध लुटना चाहती है। नाच जन्मा है, प्राण थिरकना चाहते हैं। गीत गुनगुनाने की अनिवार्यता आ गई। जब गीत पैदा होता है तो गुनगुनाना ही पड़ता है। और जब तुमने गीत गुनगुनाया तो किसी न किसी का सिर हिलेगा, कोई न कोई प्रेम में पड़ेगा, संप्रदाय निर्मित हो जायेगा। फिर तुम लाख सिर धुनो, इससे कुछ फर्क नहीं पड़ता।

एक तहजीब है दोस्ती की
एक मियार है दुश्मनी का
दोस्तों ने मुरव्वत न सीखी
दुश्मनों को अदावत तो आये

एक स्तर है दोस्ती का, और एक स्तर होता है दुश्मनी का भी। तुम तो दोस्ती भी करते हो तो भी कुछ स्तर नहीं होता। सदगुरु दुश्मनी भी करते हैं तो भी एक स्तर होता है।

एक तहजीब है दोस्ती की
एक मियार है दुश्मनी का

एक दुश्मनी का भी तल है। एक दुश्मनी की भी खूबी है, रहस्य है।

एक तहजीब है दोस्ती की

एक संस्कृति है दोस्ती की, एक संस्कृति है दुश्मनी की भी।

एक मियार है दुश्मनी का
दोस्तों ने मुरव्वत न सीखी
दुश्मनों को अदावत तो आये

तुम तो गलत दोस्त चुन लेते हो, सदगुरु ठीक दुश्मन भी चुनते हैं। लड़ने का बड़ा मजा है। लेकिन खयाल रखना, अदावत की भी एक तहजीब है, एक संस्कृति है। अदावत सिर्फ अदावत ही नहीं है।

महावीर और बुद्ध के बीच जो संघर्ष हुआ उससे सदियां लाभान्वित हुई हैं। अगर महावीर चुप रहे होते, बुद्ध का खंडन न किया होता, बुद्ध अगर चुप रहे होते, महावीर का खंडन न किया होता तो बुद्ध और महावीर के वचनों में जो निखार है, जो पैनापन है वह नहीं हो सकता था। वह धार कहां से आती? संघर्ष धार लाता है।

जैसे तलवार पर धार रखनी हो तो चट्टान पर घिसनी पड़ती है। ऐसा जब बुद्ध और महावीर जैसे दो कगार टकरा जाते हैं तो दोनों में धार आती है। यह अदावत अदावत नहीं, यह किसी लंबे अर्थों में बड़ी गहरी मैत्री है। और यह अदावत किसी के अहित में नहीं। तुम शब्दों में मत पड़ जाना। तुम यह मत सोच लेना कि दोस्ती ही सदा शुभ होती है। तुम्हारी तो दोस्ती भी क्या खाक शुभ होती है! तुम्हारी तो दोस्ती में से भी अशुभ ही निकलता है। तुम्हारी दोस्ती में से भी शत्रुता ही तो निकलती है, और क्या निकलता है? ऐसी भी अदावत होती है कि दोस्ती निकले।

इल्मोत्तहजीब तारीखो-मंतब
लोग सोचेंगे इन मसलों पर
जिंदगी के मुसक्कल कदे में
कोई अहदे-फरागत तो आये

ज्ञान और सभ्यता: इल्म-औत्तहजीब; तारीख-औ-मंतब: इतिहास और दर्शन; लोग सोचेंगे इन मसलों पर। लोग सोचते रहे हैं, सोचते रहेंगे।

जिंदगी के मुसक्कल कदे में
कोई अहदे-फरागत तो आये

यह जो जिंदगी का बंधा हुआ घर है, यह जो कारागृह जैसी हो गई जिंदगी...।

जिंदगी के मुसक्कल कदे में
कोई अहदे-फरागत तो आये

लेकिन कुछ अवकाश मिले इस श्रम से भरी जिंदगी में। कोई खाली रिक्त स्थान आये, जहां थोड़ी देर को हम जिंदगी के ऊपर उठ सकें; जहां थोड़ी देर हम जिंदगी के पार देख सकें। कोई झरोखा खुले।

ये सदगुरु सोच-विचारवाले लोग नहीं हैं। ये तो जिंदगी में थोड़े से झरोखे खोलते हैं। और जब तुम्हें किसी को अपने झरोखे पर बुलाना हो तो सिवाय इसके कोई उपाय नहीं कि वह कहे कि सब झरोखे व्यर्थ हैं। तुम कहां अटके हो? यह खुल गया झरोखा।

और खयाल रखना, यह करना ही पड़ेगा। क्योंकि लोग झरोखों पर अटके हैं। हो सकता है, झरोखे बंद हो चुके हों, समय ने झरोखे बंद कर दिये हों। हो सकता है, झरोखों पर धूल की पर्तें जम गई हों, सदियों ने धूल जमा दी हो, लेकिन लोग वहीं अटके हैं। जब कोई नया झरोखा खोलता है तो खयाल रखना, उसे उन्हीं लोगों में से अपने संगी-साथी खोजने पड़ते हैं, जो किन्हीं झरोखों पर पहले से अटके हैं। इसलिए आलोचना बिलकुल जरूरी हो जाती है।

समझो कि मैंने एक झरोखा खोला। जब मैंने झरोखा खोला तो कोई हिंदू था, कोई मुसलमान था, कोई ईसाई था, कोई जैन था, सब लोग पहले से ही बंटे थे। इनको बुलाओ कैसे? इनको पुकारो कैसे? अगर मैं यह कहूं कि जहां-जहां तुम खड़े हो, बिलकुल ठीक खड़े हो तो मैंने जो झरोखा खोला है--जो अभी ताजा है, कल उस पर भी धूल जम जायेगी। और ये लोग जिन झरोखों पर खड़े हैं, ये भी कभी ताजे थे, अब धूल जम गई है। अब वहां से कुछ भी दिखाई नहीं पड़ता। मगर खड़े हैं; पुरानी आदत के वश खड़े हैं। इनके बाप खड़े रहे, उनके बाप खड़े रहे, बाप के बाप खड़े रहे, ये भी खड़े हैं। क्यू में वहां आ गये हैं। क्यू सरकता-सरकता आ गया है, वे भी उसी में लगे-लगे झरोखे पर आ गये हैं।

कुछ दिखायी नहीं पड़ता तो सोचते हैं, अपनी आंख में खराबी होगी। हमारे पिता को दिखाई पड़ता था, पिता के पिता को दिखाई पड़ता था, पुरखों को दिखाई पड़ता था। हमको नहीं दिखाई पड़ता है, हमारा कोई पाप, कोई कर्म, आंख पर कोई गड़बड़, हम अंधे होंगे, जीवन में कुछ बुराई होगी। चरित्र को सुधारेंगे, नीति को बदलेंगे तब दिखाई पड़ेगा। समय आयेगा, प्रभु की कृपा होगी, तब दिखाई पड़ेगा। ऐसे अपने को समझाते हैं और अंधे की तरह खड़े हैं। और झरोखे पर सदियों की धूल जमी है।

जब मैंने नया झरोखा खोला तो और सारे लोग तो बंटे थे। इनको पुकारने का क्या उपाय था? इनको पुकारने का एक ही उपाय था कि तुम जहां खड़े हो वहां से सत्य का दर्शन नहीं होगा। तुम आ जाओ, जहां मैं खड़ा हूं। नया झरोखा खुला है। नया झरना खोदा है। तुम आओ और पी लो और तृप्त हो जाओ।

और जल्दी ही यहां भी धूल जम जायेगी। तुम जो मेरे पास आये हो, तुमने तो चुनाव किया है। तुम्हारे बच्चे क्यू में लगे आयेंगे। तुम संन्यास ले लेते हो, तुम्हारा छोटा बच्चा भी संन्यास लेने को आतुर हो जाता है--सिर्फ अनुकरण करने के लिए। जब पिता ने ले लिया, मां ने ले लिया तो वह भी गैरिक वस्त्र पहनना चाहता है। वह भी माला डालना चाहता है।

छोटे बच्चे तो अनुकरण करने में बड़े कुशल होते हैं। वे भी क्यू में खड़े हो जाते हैं। तुम तो मेरे आकर्षण से आये हो। तुमने तो चुनाव किया है। तुमने तो साहस किया, हिम्मत जुटाई। तुम तो कोई झरोखा छोड़कर आये हो। तुम हिंदू थे, मुसलमान थे, जैन थे, ईसाई थे, तुम कोई तो थे ही। तुम किसी झरोखे पर खड़े थे, किसी शास्त्र को पकड़े थे। तुमने कुछ त्याग किया है। तुम कुछ छोड़कर आये हो। तुमने कुछ सुविधायें छोड़ी हैं। तुमने असुविधा हाथ में ली है। तुमने सुरक्षा छोड़ी है, असुरक्षा चुनी है। तुमने हिम्मत की है। तुम अज्ञात में उतरने का साहस किये हो। तुमने एक अभियान किया है।

लेकिन तुम्हारा बच्चा तो तुम्हारे पीछे, तुम्हारे अंगरखे को पकड़े चला आया है। जब मैं जा चुका होऊंगा और इस झरोखे पर धूल लगने लगेगी और तुम भी जा चुके होगे और धूल की पर्तें जम जायेगी तब भी तुम्हारा बेटा यहीं खड़ा रहेगा। वह कहेगा, हमारे पिता को दिखाई पड़ता था। अगर मुझे दिखाई नहीं पड़ता तो मेरी कोई भूल होगी। तो अपनी भूल सुधारूं। मेरा संन्यास सच्चा न होगा। मेरा ध्यान पक्का न होगा। तो अपनी भूल सुधारूं। और उसके भी बेटे उसके पीछे रहेंगे। और बेटों के बेटे, और बेटों के बेटे--धीरे-धीरे पर्तें जमती जायेंगी। समय हजार धूलें जमा देगा।

हजार साल बाद किसी की जरूरत होगी कि कोई नया झरोखा खोले और तुम्हें पुकारे कि तुम कहां खड़े हो? वहां कुछ भी नहीं है, दीवाल है। और मैं तुमसे कहता हूं, वह ठीक ही करेगा। उस वक्त जो मेरे झरोखे पर खड़े हुए पुरोहित बन गये होंगे वे नाराज होंगे। वे शोर-गुल मचायेंगे, क्योंकि उनके आदमी हटने लगेंगे। वे कहेंगे, यह निंदा, आलोचना सदगुरु करते ही नहीं। यह कैसी बात?

हम भी ठीक, तुम भी ठीक, ऐसा पुरोहित कहते हैं। क्योंकि पुरोहित राजनीति में है। वह कहता है, तुम्हारे आदमी तुम्हारे पास रहें, हमारे आदमी हमारे पास रहें। हम भी ठीक, तुम भी ठीक। न तुम हमारे आदमी छीनो, न हम तुम्हारे आदमी छीनें। ऐसा समझौता है। ऐसा षडयंत्र है। और जब कोई सदगुरु पैदा होगा तो वह चिल्लाकर कहेगा कि छोड़ो सब झरोखे। नई रोशनी उतरी है, आओ। मैं नया पैगाम ले आया, नया पैगंबर आया हूं, आओ। तब नाराजगी होगी।

इन झरोखों पर खड़े हुए जो पंडित-पुरोहित हैं वे भी सदगुरुओं का दावा करते हैं कि वे भी सदगुरु हैं। वे सिर्फ पुरानी साख पर जी रहे हैं। तुम जाओ, देखो अपने जैन मुनि को, पुरी के शंकराचार्य को, वेटिकन के पोप को। जीसस ने जो साख पैदा की थी उसके आधार पर दो हजार साल बीत गये हैं, पोप उसी आधार पर जी रहा है। पोप के जीवन में जीसस जैसा कुछ भी नहीं है। कोई रोशनी नहीं है। लेकिन अब प्र्रतिष्ठा है। पुरानी दूकान है, दूकान की प्रतिष्ठा है। नाम भी बिकता है न दूकान का! पुरानी दूकान की तख्ती लगा लो तो बिक्री चलती है। साख पैदा हो जाती है, क्रेडिट पैदा होती। दो हजार साल पुराना, तो दो हजार साल की क्रेडिट है। और सबसे पहले जीसस का स्मरण अभी तक ताजा है।

हिंदू खड़े हैं, शंकराचार्य हैं पुरी के। एक हजार साल पुरानी...आदि शंकराचार्य ने जो विरासत पैदा की थी उसका सहारा है।

कृष्णमूर्ति के पास तो कोई सहारा नहीं। मेरे पास तो कोई सहारा नहीं। हम किसी पुरानी दूकान के मालिक नहीं हैं। हमें तो चिल्लाकर कहना होगा कि ये सब गलत हैं। और जब हम चिल्लाकर कहेंगे, ये सब गलत

हैं, तो हिंदू भी नाराज होगा, मुसलमान भी नाराज होगा, ईसाई भी नाराज होगा। स्वभावतः नाराज बहुत लोग हो जायेंगे। क्योंकि सभी पंडे-पुरोहित नाराज होंगे। और उन दूकानों पर बैठे हुए जो लोग सदगुरु होने का धोखा खा रहे हैं और धोखा दे रहे हैं वे भी नाराज होंगे।

और स्वभावतः तुम्हें लगेगा कि जिस आदमी का हिंदू गुरु भी विरोध करते हैं, मुसलमान गुरु भी विरोध करते हैं, ईसाई गुरु भी विरोध करते हैं, यहूदी गुरु भी विरोध करते हैं, जैन गुरु भी विरोध करते हैं, वह ठीक कैसे हो सकता है! लेकिन मैं तुमसे कहता हूं, इसको तुम कसौटी समझना। जब पुरानी सारी दूकानें किसी एक आदमी का विरोध करें तो खयाल रखना, उस आदमी में कुछ होगा। नहीं तो इतने लोग विरोध न करते। कुछ होगा प्रबल आकर्ष्ण। क्योंकि पुराने सायेदार, पुराने सरमायेदार, पुराने ठेकेदार घबड़ा गये हैं, बेचैन हो गये हैं।

कांप उठें कसरेशाही के गुंबद
थरथराये जमीं मोबदों की
कूचागर्दों की वहशत तो जागे
गमजदों को बगावत तो आये
कांप उठें कसरेशाही के गुंबद

राजमहलों की मीनारें कांप जायें। मंदिरों-मस्जिदों की मीनारें कांप जायें।

थरथराये जमीं मोबदों की

और मंदिरों की जमीन, मस्जिदों की जमीन थरथराये।

कूचागर्दों की वहशत तो जागे

और गलियों में जो आवारा घूम रहे हैं, जीवन की गलियों में जो आवारा भटक रहे हैं--

कूचागर्दों की वहशत तो जागे
उनकी नींद तो टूटे किसी तरह।
गमजदों को बगावत तो आये

और ये दुखी लोग किसी तरह विद्रोही बनें। इसलिए आलोचना है; निंदा जरा भी नहीं।

दूसरा प्रश्न भी पहले से संबंधित है:

यदि दो सदगुरु एक-दूसरे की निंदा और आलोचना करें तो शिष्यों को क्या समझना चाहिए?

यदि तुम शिष्य हो तो तुम जो तुम्हारे हृदय से मेल खा जाये उसे चुन लोगे और चल पड़ोगे। तुम इसकी फिर चिंता ही न करोगे कि किसने आलोचना की। तुम फिर जिसने आलोचना की है उसका विरोध भी न करोगे। तुम हो कौन निर्णय करनेवाले! शिष्य और निर्णय करे कि कौन सदगुरु है, कौन सदगुरु नहीं है? बात ही मूढ़ता की है।

यह तो अंधा निर्णय करने लगा कि किसको दिखाई पड़ता और किसको नहीं दिखाई पड़ता। अंधा कैसे निर्णय करेगा, किसको दिखाई पड़ता है, किसको नहीं दिखाई पड़ता? अंधे को इतना ही जानना चाहिए कि मुझे दिखाई नहीं पड़ता। अब मुझे जिससे दोस्ती बन गई हो, उसका हाथ पकड़कर चल जाना चाहिए। और अपने अनुभव से देख लेना चाहिए कि इस आदमी के साथ चलने से गड्ढों में गिरना तो नहीं होता? इस आदमी के साथ चलने से रास्ते पर टकराहट तो नहीं होती? इस आदमी के साथ चलने से हाथ-पैर तो नहीं टूटते?

ऐसा अनुभव में आने लगे तो समझना कि इस आदमी के पास आंखें होंगी, यह तुम्हारा अनुमान ही होगा। लेकिन यह अनुमान धीरे-धीरे तुम्हारे अनुभव से प्रमाणित होता जायेगा। और ऐसे साथ-साथ चलकर एक दिन तुम्हारी अपनी आंख भी खुल जायेगी।

और शिष्य का अर्थ यही होता है कि जिसने अपना हृदय किसी को दे दिया। जिसने हृदय दे दिया है वह तो मजे से सुन लेगा। अगर तुम कृष्णमूर्ति को सुनने जाओ और वे मेरी आलोचना करते मिलें और तुम नाराज हो जाओ तो तुमने मुझे अभी ठीक से चुना नहीं। क्योंकि तुम्हारी नाराजगी सिर्फ इतना ही बताती है कि अभी भी

तुम डांवांडोल हो जाते हो। अगर तुम कृष्णमूर्ति को चुन लिए हो और मेरे पास आओ, मैं उनकी आलोचना करूं और तुम क्रोधित हो जाओ तो तुम्हारा क्रोध इतना ही बताता है कि तुमने हृदयपूर्वक कृष्णमूर्ति को नहीं चुना। तुम्हें अभी डर है कि अगर मेरी बातों को तुमने सुना तो शायद तुम अपना पंथ बदल लो। उसी डर को बचाने के लिए तुम क्रोधित हो जाते हो। अगर तुमने ठीक से चुन लिया है, तुम शांति से और आनंद से मेरी बात सुन लोगे। तुम मेरी बात में से भी कुछ खोज लोगे जिससे तुम्हारे हृदय की बात ही परिपुष्ट होगी।

दिल उसको पहले ही नाजो-अदा से दे बैठे
हमें दिमाग कहां हुस्न के तकाजे का?

पूछने का समय कहां मिलता है, सुविधा कहां है कि तुम सुंदर हो या नहीं।

दिल उसको पहले ही नाजो-अदा से दे बैठे

पहले ही देखने में, पहले ही दर्शन में बात हो गई। गंवा बैठे अपने को। अब चुनाव का कोई उपाय न रहा।

और इसलिए मैं कहता हूं, यह अच्छा ही है कि सदगुरु एक-दूसरे की आलोचना करते हैं। इससे जो कच्चे घड़े हैं वे फूट जाते हैं और उनसे झंझट छूट जाती है। अगर समझो कि कृष्णमूर्ति का कोई कच्चा घड़ा यहां आ जाये तो कृष्णमूर्ति की झंझट छूटी। मेरा कोई कच्चा घड़ा वहां पहुंच जाये, मेरी झंझट छूटी। तो पके घड़े ही बचते हैं, कच्चे यहां-वहां चले जाते हैं। अच्छा ही है। जितने जल्दी चले जायें उतना अच्छा है। सदगुरु का अर्थ क्या होता है?

तुम्हें पहले पहल देखा तो दिल कुछ इस तरह धड़का
कोई भूली हुई सूरत मुझे याद आ गई जैसे

सदगुरु का अर्थ होता है, जिसके पास, जिसको देखकर तुम्हें अपनी भूली स्मृति आ गई। जिसकी आंखों में तुम्हें अपनी आंखें दिखाई पड़ गईं। जिसकी वाणी में तुम्हें अपने भीतर का दूर का संगीत सुनाई पड़ गया। जिसकी मौजूदगी में तुम्हें जैसा होना चाहिए इसकी तुम्हें याद आ गई। तुम जो हो सकते हो, तुम्हारी जो संभावना है वह बीज फूटा और अंकुरित होने लगा।

तुम्हें पहले पहल देखा तो दिल कुछ इस तरह धड़का
कोई भूली हुई सूरत मुझे याद आ गई जैसे

यह कोई दिमाग और बुद्धि का निर्णय नहीं है सदगुरु, यह तो हृदय की बात है। यह तो प्रेम में पड़ जाना है। यह तो एक तरह का मतवालापन है।

एक बार तुम शिष्य बन गये...और जब तुम शिष्य बनते हो तो खयाल रखना, अगर बुद्धि से बने तो तुम टूटोगे; आज नहीं कल छूटोगे। बुद्धि से बने तो कोई भी आलोचना तुम्हें अलग कर देगी। हृदय से बने तो कोई आलोचना तुम्हें अलग न कर पायेगी; हर आलोचना तुम्हें और मजबूत कर जायेगी। हर तूफान और आंधी तुम्हारी जड़ों को और जमा जायेगी। हर चुनौती तुम्हारे हृदय को और भी मजबूत, दृढ़ कर जायेगी। चुनौतियों में ही तो पता चलेगा कि जड़ें भी हैं या नहीं!

सदगुरु का अर्थ होता है कि तुम तो मिटे, अब वही बचा। फिर तो तुम्हारी श्वास-श्वास में वही प्रविष्ट हो जाता है।

रात भर दीदाए-नमनाक में लहराते रहे
सांस की तरह से आप आते रहे जाते रहे

रात है अभी। सोये हो तुम। जागने में समय लगेगा। सदगुरु का अर्थ है, नींद में ही जिसका हाथ पकड़ लिया। अब जो तुम्हारी श्वासों की श्वास हो गया। अब कोई लाख निंदा करे, लाख आलोचना करे, लाख विरोध करे, कुछ अंतर न पड़ेगा। अंतर पड़ जाये तो भी अच्छा। तो तुम किसी और को चुन लेना। शायद तुमने जिसे चुन लिया था उससे हृदय मेल नहीं खाया था।

और असली सवाल तो सत्य पर पहुंचना है। तुम किसको चुनकर पहुंचते हो यह बात गौण है। तुम यात्रा बैलगाड़ी से करते हो, कि रेलगाड़ी से, कि मोटर गाड़ी से, कि हवाई जहाज से, कि पैदल जाते हो, यह बात फिजूल है। तुम पहुंच जाओ सत्य पर।

तो मैं तुमसे कहता हूं, एक सदगुरु की दूसरे सदगुरु की आलोचना बड़ी हितकर है, कल्याणकारी है। जो उसमें डांवांडोल हो जाता है, उसके भी लाभ में है, जो उसमें मजबूती से जम जाता है, उसके भी लाभ में है। वह जो अंधड़ उठता है आलोचना से, उसमें जो उखड़ गया वह इतना ही कहता है कि अभी हमारी यहां जड़ें न थीं, कहीं और जड़ें जमायेंगे। ठीक ही हुआ। जल्दी झंझट मिटी। कहीं और जड़ें जमा लेंगे। कोई और भूमि हमारी भूमि होगी।

जो उस अंधड़ में और जमकर खड़ा हो गया वह बलवान हो गया। उसने कहा, अब अंधड़ भी आयें तो कोई फर्क नहीं पड़ता। अब कोई सदगुरु से मुझे अलग न कर सकेगा। लेकिन तुम हो कमजोर। तुम ऐसे अधूरे-अधूरे, कुनकुने-कुनकुने हो। जरा किसी ने आलोचना कर दी, तुम चारों खाने चित्त! किसी ने कुछ कह दिया तुम्हारे गुरु के खिलाफ, तुम्हें भी बात जंचने लगी। उसी लिए तो तुम नाराज हो जाते हो।

नाराज होने का कारण क्या है? किसी ने कह दिया खिलाफ, तुम्हें भी जंचने लगा कि बात तो ठीक है। अब तुम घबड़ाये। वह जो जड़ें उखड़ने लगी, तो तुम घबड़ाये। तुम उस आदमी को दुश्मन की तरह देखने लगे। यह सुरक्षा कर रहे हो तुम। नहीं, ऐसी सुरक्षा की कोई जरूरत नहीं। जाओ। घूमो। सुनो, समझो। बहुतों को सुनकर ही तुम अगर मेरे पास वापिस लौट आओगे तो ही आये। तुमने किसी को सुना नहीं, आलोचना नहीं सुनी मेरी, मेरा विरोध नहीं सुना और इसलिए तुम यहां बने हो, यह बना होना कुछ बहुत काम का नहीं होगा।

शिष्यों को आलोचना से भी लाभ ही होता है। शिष्य को किसी चीज से हानि होती ही नहीं। जो झुक गया है हृदयपूर्वक, वह हर चीज से लाभान्वित होता है।

तीसरा प्रश्न: कैसा है यह अहंकार! जब-जब मैंने इसे तोड़ने की कोशिश की तबत्तब वह बड़ी बेशर्मी के साथ मुझ पर हावी होकर अट्टहास करता रहा। अब और नहीं लड़ा जाता इससे प्रभु!

तो मैंने तो तुमसे कहा भी नहीं कि तुम लड़ो। यही तो मैं कह रहा हूं कि अहंकार से लड़ना मत, अन्यथा तुम कभी जीतोगे न। क्योंकि तुम सोचते हो, तुम अहंकार से लड़ रहे हो, असल में जो लड़ रहा है वही अहंकार है, इसलिए जीत हो नहीं सकती।

कौन लड़ रहा है यह? यह कौन है जो अहंकार पर विजय पाना चाहता है! यह विजय पाने की आकांक्षा ही तो अहंकार है। पहले तुम संसार पर विजय पाना चाहते थे, अब आत्मविजय पाना चाहते हो। मगर विजय का नशा चढ़ा है। जीतकर रहोगे। पहले दुनिया को हराना चाहते थे, अब अपने को हराने में लगे हो। मगर जीतना है। भीतर तुम्हारे जो जीतने का रोग है वही तो अहंकार है।

अब तुम कहते हो, "कैसा है यह अहंकार! जब-जब मैंने इसे तोड़ने की कोशिश की तबत्तब वह बड़ी बेशर्मी के साथ मुझ पर हावी होकर अट्टहास करता रहा।"

वह जो तोड़ने की कोशिश कर रहा है, वही अहंकार है। इसीलिए तो बेशर्मी के साथ अट्टहास जारी रहा, जारी रहेगा। तुम समझे ही नहीं बात। अहंकार से लड़कर कोई कभी जीता नहीं, अहंकार को समझकर। और तब भी मैं यह नहीं कहता कि तुम जीत जाओगे। क्योंकि अहंकार को समझा तो अहंकार है ही नहीं; जीतने को कुछ बचता नहीं। जरा आंख को गौर से गड़ाओ अहंकार पर। यह हारने-जीतने का पागलपन छोड़ो। पहले समझो कि यह अहंकार है क्या! है भी? पहले पक्का तो कर लो। जिस दुश्मन से लड़ने चले हो वह मौजूद भी है? कहीं ऐसा तो नहीं कि रात के अंधेरे में छायाओं से लड़ना शुरू कर दिया? टंगा है लंगोट रस्सी पर, सोच रहे हैं भूत खड़ा

है। उससे लड़ने लगे। हारोगे। हार निश्चित है। मुश्किल में पड़ जाओगे। पहले रोशनी जलाकर ठीक से देख तो लो, कहीं लंगोट भूत-प्रेत का भ्रम तो नहीं दे रहा?

और जिन्होंने भी रोशनी जलाकर देखा, उन्होंने पाया कि अहंकार नहीं है। अहंकार है ही नहीं, इसीलिए उस पर जीतना मुश्किल है। जो होता तो जीत भी लेते। जो है ही नहीं उसको जीतोगे कैसे? अगर अंधेरे से लड़े तो हारोगे क्योंकि अंधेरा है ही नहीं। प्रकाश से लड़ो तो जीत भी सकते हो क्योंकि प्रकाश है। बुझा सकते हो प्रकाश को। जला सकते हो प्रकाश को। अंधेरे का क्या करोगे? न जला सकते, न बुझा सकते, न हटा सकते।

तुमने देखा? कितने अवश हो जाओगे। छोटी-सी कोठरी में अंधेरा भरा है, तुम धक्के दे-देकर बाहर निकालो। एक दिन हारोगे, थकोगे, अपने आप परेशान हो जाओगे। और तब तुम्हें ऐसा लगेगा कि अंधेरा बड़ा शक्तिशाली है। देखो, मैं कितना लड़ता हूं, फिर भी हार रहा हूं। सचाई उल्टी है; अंधेरा है ही नहीं इसलिए तुम हार रहे हो। अंधेरा होता तो कोई उपाय बन जाता। दंड-बैठक लगा लेते, व्यायाम कर लेते, योगासन करते, और दस-पांच पहलवानों को ले आते, मित्रों की निमंत्रित कर लेते, नौकर-चाकर रख लेते। धक्का देकर निकाल ही देते। तलवारें ले आते, कुछ कर लेते।

लेकिन अंधेरा हो तो तलवार काम करे। तलवार घूम जायेगी, अंधेरा नहीं कटेगा। जो है ही नहीं उसे काटोगे कैसे? अंधेरे के साथ एक ही काम किया जा सकता है: रोशनी जलाकर देखो। रोशनी जलाकर देखा, तुम पाओगे अंधेरा है ही नहीं, न कभी था। रोशनी का अभाव अंधेरा है।

ध्यान का अभाव अहंकार है। इसलिए तुम अहंकार से मत लड़ो, तुम ध्यान को जलाओ। तुम ध्यान को जगाओ। तुम थोड़े शांत बैठकर देखने की क्षमता जुटाओ, दर्शन की पात्रता बनाओ। और तुम एक दिन पाओगे, अहंकार नहीं है। तब तुम हंसोगे। अभी अहंकार अट्टहास कर रहा है, तब तुम हंसोगे कि अच्छा पागल था मैं भी। उससे लड़ता था, जो नहीं है।

चौथा प्रश्न: जिस आकाश का अथक वर्णन आप बार-बार करते हैं उसी आकाश के साथ बार-बार घुल-मिलकर एक होने के बाद भी तृप्ति क्यों नहीं मिलती? बाह्य जगत में तो हर तरह की तृप्ति है, हर बात की तृप्ति, लेकिन अंतस में एक अतृप्ति हर क्षण है कि कुछ छूटा-छूटा है, कुछ और है जो अभी जाना न जा सका। कुछ और आगे...कुछ और आगे की प्यास बढ़ती ही जाती है। जितना ही आपका प्रसाद पाता हूं उतनी ही प्यास बढ़ती जाती है।

जीवन के संक्रांति-क्षण में, जब तुम बाहर से भीतर की तरफ मुड़ते हो तो ऐसी घटना घटती है। वह जो बाहर की अतृप्ति थी वह भीतर संलग्न हो जाती है। पहले धन था, और चाहिए था। पद था, और बड़ा चाहिए था। मकान था, महल बनाना था। तुम्हारी अतृप्ति बाहर लगी थी। अब तुमने बाहर से मन मोड़ा तो बाहर तो तृप्ति हो गई। खयाल करो, पहले भीतर कोई अतृप्ति न थी, भीतर तृप्ति थी, बाहर अतृप्ति थी। अब तुमने संयोजन बदल दिया। तुमने भीतर की तरफ मन मोड़ा। तुमने कहा, भीतर जो है उसे जानना। प्रभु को पहचानना, आत्मा को खोजना, सत्य के दर्शन करने हैं, मोक्ष पाना। तुमने अतृप्ति भीतर की तरफ मोड़ ली तो तृप्ति बाहर चली गई। वे एक ही सिक्के के दो पहलू हैं।

जैसे सिक्के को हाथ में रखा था, ऊपर सिक्के का पहला पहलू था, समझो कि सम्राट की तस्वीर थी, और पीछे दूसरा पहलू था। अब तुमने सिक्का उलट लिया। तस्वीर उस तरफ चली गई सिक्के का उल्टा हिस्सा आंख के सामने आ गया। तृप्ति-अतृप्ति एक सिक्के के दो पहलू हैं।

पहले तुम बाहर अतृप्त थे तो भीतर तृप्ति थी। संसारी आदमी को भीतर कोई अतृप्ति होती ही नहीं। वह कभी सोचता ही नहीं कि आत्मा मिले, कि और आत्मा मिले, कि सत्य मिले कि और सत्य मिले। वह तो जो लोग सत्य इत्यादि की बात करते हैं, वह बड़ा चौंकता है, इनको हो क्या गया?

पश्चिम के एक बहुत बड़े विचारक जान विसडम ने अपने एक वक्तव्य में कहा है कि जो आदमी भी दर्शनशास्त्र और धर्मशास्त्र के प्रश्न उठाये, समझो कि इसका दिमाग खराब हो गया है।

कल मैं उनका वक्तव्य पढ़ रहा था। मजेदार वक्तव्य है। और उनका नाम है जान विसडम! और ऐसा बुद्धिहीन वक्तव्य दिया है। कहा है कि उसका दिमाग खराब हो गया है और उसे समझाने-बुझाने की बजाय मनो-चिकित्सालय में ले जाकर इलाज करना चाहिए।

ऐसा लगता है ठीक ही है। ऐसा अधिक लोगों को लगता है। अब जो आदमी धन के पीछे दौड़ रहा है उसे तुम कहो कि मुझे तो आत्मा पानी है। तो वह कहेगा कि होश ठीक है? कहां के चक्कर में पड़ रहे हो? दिमाग खराब हो गया? यह छोड़ो पागलों के लिए। सुध-बुध में आओ, व्यावहारिक बनो। यह क्या कर रहे हो?

या तुम कहो कि मुझे तो ईश्वर खोजना है तो लोग हंसेंगे। कि मैं तो ईश्वर के दर्शन पाकर रहूंगा। तुम रोने-गाने लगो तो उनको बड़ी चिंता पैदा होगी कि अब क्या करना? इलाज करवाना या क्या करना! अब ईश्वर कैसे मिलता है? सीधी-सीधी बातें करो कि दिल्ली जाना है। चुनाव करीब आ रहे हैं, दिल्ली जाओ। चुनाव लड़ लो, मिनिस्टर बनो, चीफ मिनिस्टर बनो, प्राईम मिनिस्टर बनो, राष्ट्रपति बन जाओ। इतना सब कुछ पड़ा है फैलाव, तुम कहां की ईश्वर की बातें कर रहे हो? किसने देखा? किसने सुना? यह तुम पागलों के लिए छोड़ दो।

तो जब तुम्हारी अतृप्ति बाहर लगी होती है तो भीतर तुम तृप्त होते हो। भीतर की तुम्हें चिंता ही नहीं होती। भीतर कोई उपद्रव ही नहीं होता। फिर तुमने बदला। संक्रांति का क्षण।

संन्यास यानी संक्रांति। संन्यास यानी तुमने सारा रूप बदला। तुमने कहा, अब भीतर चलें। देख लिया बाहर, नहीं कुछ पाया। या जो पाया, व्यर्थ था। जिसको धन समझा, कूड़ा-करकट हुआ; जिसको प्रेम समझा वह सिर्फ मन की कल्पनाओं का जाल था, सपने थे। टूट गये सपने।

तुम बाहर से ऊबे, तुम भीतर आये। लेकिन हुआ क्या, अब जो अतृप्ति बाहर लगी थी वह भीतर लग गई। अब तुम कहते, और ध्यान, और ध्यान...और समाधि। इसके भी आगे--परमात्मा मिले, मोक्ष मिले, निर्वाण मिले। और आगे क्या है? अब तुम दौड़े। अब तुम बड़े मकान भीतर बनाने लगे।

अब भीतर तुम्हें तृप्ति नहीं है। बाहर अब तृप्ति है। तुम कहते हो, बाहर अब तृप्ति है। कल तक बाहर तृप्ति नहीं थी। और बाहर की स्थिति अभी भी पहले जैसी है, संन्यास लेने से थोड़ी बिगड़ भला गई हो, सुधर तो नहीं सकती। बाहर की स्थिति अब भी पहले जैसी है, लेकिन बाहर तृप्ति है।

तुम थोड़ा समझो।

स्थिति से तृप्ति का कोई संबंध नहीं है। क्योंकि बाहर सब वैसे का वैसा है। वही पत्नी है, वही घर है, वही नौकरी है, वही दूकानदारी है--शायद पहले से कुछ अस्तव्यस्त हो गई हो। क्योंकि अब यह नया जो काम शुरू हुआ है, यह भी तो शक्ति लेगा न! तो ग्राहक कम आते हों।

बचपन में मैं अपने पिता की दूकान पर बैठता था। तो मेरे काका हैं, वे कवि हैं, तो मैं बड़ा हैरान होता। मैं उनको देखता रहता। कोई ग्राहक दूकान पर आये तो वे उसको धीरे से इशारा कर देते कि आगे चला जा। और मुझसे कहते, किसी को बताना मत। मैं पूछता, बात क्या है? वे कहते, अभी कोई एक कड़ी उतर रही है। अभी यह ग्राहक कहां बीच में आ रहा है!

धीरे-धीरे सबको पता चल गया कि जब भी वे दूकान पर बैठते हैं तो कोई बिक्री होती ही नहीं। यह बात क्या है? कोई और बैठता है तो बिक्री होती है। फिर ग्राहक भी शिकायत करने लगे आकर कि यह मामला क्या है? किसको दूकान पर बिठाला हुआ है? हम कुछ लेने आते हैं, और इशारा करते हैं कि आगे। जैसे हम कोई

मांगने आये हों। ग्राहक को लोग बुलाते हैं कि आइये, विराजिये, बैठिये। पान-सुपारी देते। ये हाथ से इशारा करते हैं और कहते आवाज भी मत करो, चुपचाप निकल जाओ। यह बात क्या है?

अब जो कवि है उसके लिए दूकान बड़ी अड़चन है। अब यहां कोई कड़ी उतर रही है। अब कड़ियों को कोई पता थोड़े ही है कि अभी ग्राहक आ रहा है! कड़ी जब उतर रही, जब उतर रही। अब उनको कुछ गुनगुनाहट आ रही और ये सज्जन आ गये। अब ये उनको जमीन पर खींच रहे हैं। एक साड़ी खरीदना है, कपड़ा खरीदना है, यह करना है, वह करना है। अब उनको दाम बताओ...इतने में तो सब खो जायेगा।

अब तुम संन्यस्त हो गये तो दूकान पर बैठे-बैठे ध्यान लग जायेगा। काम करते-करते भीतर की तल्लीनता पैदा होने लगेगी। तो बाहर की हालत सुधरेगी, यह तो है ही नहीं; थोड़ी बिगड़ भला जाये। यह तुम भीतर की तरफ मुड़ने लगे तो बाहर तो हालत थोड़ी डांवांडोल होनेवाली है।

मेरे पास लोग आते हैं, वे कहते हैं, अगर ध्यान करेंगे तो सुख-सुविधा बढ़ेगी? कुछ पक्का नहीं है। भीतर तो कुछ होगा लेकिन बाहर का मैं कुछ कह सकता नहीं। बढ़े, घट जाये, न बढ़े, जैसी है वैसी रहे, हजार संभावनायें हैं। कोई वचन देकर मैं तुम्हें आश्वासन नहीं दे सकता। हां, भीतर रस उमगेगा। भीतर खूब वर्षा होगी। बाहर का मैं कुछ कह सकता नहीं।

वे बड़े परेशान होते हैं। वे कहते हैं, महर्षि महेश योगी तो कहते हैं कि जो ध्यान करेगा, खूब सुख-संपत्ति भी बढ़ती है। तो मैंने कहा, तुम्हें सुख-संपत्ति बढ़ानी हो तो तुम कहीं और किसी को खोजो। मैं तुम्हें यह वायदा नहीं कर सकता। क्योंकि यह वायदा बुनियादी रूप से झूठ है।

और अगर कोई ध्यान ऐसा हो जो बाहर की सुख-संपत्ति बढ़ाता हो तो वह ध्यान नहीं है। या तो यह वायदा झूठ है या वह ध्यान ध्यान नहीं है। दो में से कुछ एक ही होगा। क्योंकि जिसका अंतस-जगत की तरफ प्रवाह होना शुरू हो गया, बाहर के जगत में थोड़ी-बहुत अड़चन आयेगी।

तुम कहते हो कि बाहर खूब तृप्ति है, अब हर बात की तृप्ति है। जिसने पूछा है, मैं जानता हूं उनके पास कुछ ज्यादा नहीं, लेकिन अब बाहर तृप्ति है। कल तक भीतर तृप्ति थी, आज बाहर तृप्ति है। भीतर अतृप्ति है।

तुम समझो। अतृप्ति के इस स्वभाव को समझो। जैसे बाहर से इसको छोड़ दिया ऐसे ही भीतर से भी छोड़ दो। इस सिक्के को ही फेंको। यह तृप्ति-अतृप्ति की भाषा ही जाने दो। तुम तो इस क्षण में मगन हो रहो। तृप्ति-अतृप्ति का तो अर्थ ही यह है कि कल...कल और ज्यादा होगा तब।

मैं तुमसे कहता हूं अभी, अभी, कल कभी नहीं। कल कभी आता ही नहीं। या तो अभी, या कभी नहीं। इस क्षण को जीयो।

लेकिन तुम मेरी बातें भी सुनते हो तो भी मेरी बातें तुम्हारे भीतर जाकर नई अतृप्ति का कारण बन जाती हैं। तुम्हें और जोर से दौड़ पैदा होती है, और ज्वर चढ़ता है कि हे प्रभु! जल्दी मिलना हो।

नहीं, मिलना होगा। मिलन अभी हो सकता है, यह "जल्दी" जानी चाहिए। और ज्यादा का भाव जाना चाहिए। जिस दिन तुम्हारा और ज्यादा का भाव चला जायेगा उसी दिन और ज्यादा मिलता है, उसके पहले नहीं।

और तुम मंजिल की बहुत फिक्र मत करो। यात्रा बड़ी सुखद है। नहीं देखते? नहीं अनुभव में आता? यात्रा बड़ी सुखद है। ध्यान अपने में सुखद है, तुम समाधि की चिंता छोड़ो। प्रेम अपने में सुखद है, तुम और क्या चाहते हो?

रहरवे-राहे-मुहब्बत रह न जाना राह में
लज्जते-सहरानवर्दी दूरि-ए-मंजिल में है
हे प्रेममार्ग के पथिक! राह में रह मत जाना।
लज्जते-सहरानवर्दी दूरि-ए-मंजिल में है

वह जो दूर की मंजिल है उसमें थोड़े ही रस है। वह जो दूर की मंजिल की तरफ जानेवाला मार्ग है, वह जो जंगल में घूमना है, उसमें ही आनंद है। लज्जते-सहरानवर्दी--वह जो जंगल में घूमने का आनंद है। दूर की मंजिल तो सिर्फ बहाना है जंगल में घूमने के लिए।

समाधि तो बहाना है ध्यान के लिए। तुम उसको लक्ष्य मत बना लेना। वह तो सिर्फ खूंटी है ध्यान को टांगने के लिए। तुम कहीं ऐसा मत सोचने लगना कि समाधि मिलेगी तब हम आनंदित होंगे। अभी तो ध्यान ही कर रहे हैं। अभी तो ध्यान ही चल रहा है। तो ध्यान में भी रस न आयेगा। और ध्यान में रस न आया तो समाधि कभी पकेगी नहीं। तुम ध्यान को इस तरह लेना, जैसे कहीं जाना नहीं है।

तुम मुझे सुन रहे हो, तुम दो तरह से सुन सकते हो। या तो इस तरह कि मन में नोट कर रहे हो कि काम-काम की बातें नोट कर लें, जिनका अपन उपयोग करेंगे; और जिनके द्वारा जल्दी से जल्दी परमात्मा को पा लेंगे। एक तो इस तरह का सुनना है। यह दूकानदार का सुनना है। यह गणित का सुनना है। और जिंदगी में गणित काम नहीं आते।

मैं अंग्रेजी स्कूल में भर्ती हुआ था और गणित के हमारे शिक्षक थे, वे बड़े पक्के गणित के आदमी थे। गणित ही उनकी दृष्टि थी। मेरी उनसे अक्सर झंझट हो जाती थी। और अक्सर मुझे उनकी कक्षा में तो क्लास के बाहर ही खड़ा रहना पड़ता था। क्योंकि जैसे ही मैं खड़ा होता, वे कहते तुम बाहर जाओ। तुम गड़बड़ न करो। नहीं तो तुम सब समय खराब कर दोगे। तुम बाहर...। तुम जब शांत बैठना हो तो भीतर आ जाना।

वे नाराज मुझसे हुए एक बात से कि उन्होंने कहा कि एक मकान को दस मजदूर तीन महीने में बना पाते हैं तो बीस मजदूर कितने दिन में बना पायेंगे?

मैंने उनको कहा कि इसके पहले कि आप सवाल पूछें, मैं आपसे एक बात पूछना चाहता हूं। सवाल से जाहिर है कि आप सोचते हैं, बीस मजदूर डेढ़ महीने में बना पायेंगे तो चालीस मजदूर और आधे दिन में, अस्सी मजदूर और आधे दिन में, एक सौ साठ मजदूर और आधे दिन में। इसका तो मतलब यह हुआ कि अगर लाख-दो लाख मजदूर हों तो मिनट में बना देंगे।

बस, वे नाराज हो गये। उन्होंने कहा, तुम बाहर निकलो। मैंने उनसे कहा, लाख मजदूर हों तो सालों लग जायेंगे। यह गणित बुनियादी रूप से गलत है। आप पूछ ही गलत बात रहे हैं। बस उन्होंने कहा, तुम बाहर निकलो। और अब दुबारा तुम इस तरह की बात पूछना ही मत...तुमको गणित पता ही नहीं है कि गणित क्या चीज है। मैंने कहा कि सीधी-सीधी बात है कि ऐसे नहीं चलता। जिंदगी ऐसे गणित से नहीं चलती।

लेकिन बहुत लोग हैं जिनका जीवन में ढंग ही गणित का है। वे बैठे हैं यहां आकर तो भी उनके भीतर गणित चल रहा है कि ऐसा-ऐसा करेंगे तो कितनी देर से समाधि आ जायेगी। तो ठीक, यह मिल गई कुंजी, सम्हाकर रख लो। कुछ तो अपनी नोटबुक भी ले आते हैं। जल्दी से उसमें नोट कर लेते हैं कि कहीं भूल न जायें। तो अब कल जाकर प्रयोग करना है। लेकिन कल...।

एक और ढंग भी सुनने का है: कि तुम मुझे सुनो सिर्फ। इस भांति मत सोचो कि जो मैं कह रहा हूं उसका साधन बनाना है; कि कितनी जल्दी मोक्ष मिल जायेगा। यह तुम सोचो ही मत। तुम सिर्फ मुझे सुन लो मन भरकर। ऐसा सुन लो कि जैसे तुम मोक्ष में बैठे हो। अब कहीं और जाना नहीं है। कहां जाओगे, मोक्ष में बैठे हो। जरा देखो तो चारों तरफ। मोक्ष मौजूद है।

और मैं तुम्हें कोई विधियां नहीं बता रहा हूं कहीं जाने की। सिर्फ अपना गीत गा रहा हूं। तुम ऐसे सुनो कि मोक्ष में बैठे हैं और किसी का गीत सुन रहे हैं। तब तुम बड़े चकित हो जाओगे। गणित के हटते ही, यह पाने की दौड़ के हटते ही तुम पाओगे, तृप्ति की वर्षा हो गई। ऐसी वर्षा, जैसी तुमने कभी नहीं जानी थी। रोआं-रोआं पुलकित हो गया। श्वास-श्वास सुवासित हो गई। धड़कन-धड़कन नाच उठी। तुम इसी क्षण किसी और लोक में प्रवेश कर गये।

जो अभी हो सकता है उसे तुम कभी के लिए क्यों टाल रहे हो? स्थगित मत करो। मैं तुमसे कहता हूं, तुम मोक्ष में बैठे हो। और तुम्हें जो होना चाहिए, ठीक वैसा इसी क्षण हो सकता है। लेकिन गणित हटाना पड़े। और यह जो तुम अतृप्ति बाहर की भीतर ले आये हो, इसको भी छोड़ देना पड़े। अतृप्ति ही छोड़ दो।

यह प्रश्न उठा होगा तुम्हारे मन में कल अष्टावक्र के सूत्र को सुनकर कि "ज्ञानी संतुष्ट होकर भी संतुष्ट नहीं होता।" लेकिन यह ज्ञानी का लक्षण है, तुम्हारा नहीं। यह तो परम अवस्था की बात है। अष्टावक्र ने इतना ही कहा है कि ज्ञानी संतुष्ट होकर संतुष्ट नहीं होता। सूत्र अधूरा है। अष्टावक्र कहीं मिल जायें, तो उनसे कह दो इसको और पूरा कर दो, कि ज्ञानी असंतुष्ट होकर असंतुष्ट भी नहीं होता। नहीं तो यह सूत्र अधूरा है। इसमें कई अज्ञानी झंझट में पड़ जायेंगे।

असल में ज्ञानी कुछ भी होकर कुछ भी नहीं होता। न संतुष्ट होकर संतुष्ट होता, न असंतुष्ट होकर असंतुष्ट होता। न दुखी होकर दुखी होता, न क्रोधित होकर क्रोधित होता। न हंसते समय हंसता और न रोते समय रोता। क्योंकि ज्ञानी अभिनेता है। क्योंकि ज्ञानी ने कर्ता-भाव छोड़ दिया है। इसलिए अब कुछ होने का उपाय न रहा। अब तो ज्ञानी के माध्यम से जो भी हो, परमात्मा ही होता है। अब तो ज्ञानी केवल अभिनय कर रहा है। अब तो वह कहता है, जो तेरी मर्जी। जैसा नाच नचाये वैसा ही नाच लेंगे। न नचाये तो नहीं नाचेंगे। अब अपनी तरफ से कुछ करता ही नहीं ज्ञानी।

इसलिए न तो उसके संतोष में उसका संतोष है। उसके संतोष में परमात्मा का ही संतोष है। और उसके असंतोष में भी परमात्मा का ही असंतोष है। ज्ञानी तो वही है जो बीच से हट गया। जो अपने और परमात्मा के बीच से हट गया वही ज्ञानी है।

पांचवां प्रश्न: भगवान, तेरी करुणा हम पाषाणों को न पिघला सकेगी। खाई है हमने कसम न बदलने की। सुनते हैं हम हर रोज तुझे एक नशे के भांति। लेते हैं मजा तेरी अदभुत बातों का, लेकिन हटना नहीं चाहते हैं इंच भर भी। थक जायेगा तू, पर हम न थकेंगे। तेरी करुणा हम पाषाणों को न हिला सकेगी।

इंच भर तो तुम सरक गये। इतना भी समझ में आ गया कि हम न हटेंगे-- हट गये। इतना बोध क्या कम है कि तुम पहचान गये कि तुम पाषाण हो!

जो पहचान गया कि मैं पाषाण हूं, यात्रा शुरू हो गई। पाषाण न रहा। चोट लग गई। तुम्हें ही याद आ गई यह बात, तो काम शुरू हुआ।

और ध्यान रखना, पाषाण जितने पाषाण मालूम होते हैं इतने पाषाण हैं नहीं। देखा कभी? नदी गिरती है पहाड़ से, चट्टानों पर गिरती है। चट्टानें कितनी कठोर और जल कितना कोमल! पर रोज-रोज गिरती रहती है नदी। पहले दिन जब गिरती होगी तब तो पत्थर भी सोचते होंगे कि गिरती रहो, इससे कुछ होनेवाला नहीं। लेकिन रोज-रोज ठीक आठ बजे सुबह गिरती है। गिरती ही चली जाती। पत्थर तो यही सोचते होंगे कि चलो ठीक है, मजा आ रहा है, शीतलता आ रही है। मजा ले लेते हैं तेरे गिरने का। लेकिन एक दिन तुम पाओगे, नदी अब भी गिर रही है और पत्थर रेत के कण होकर सागर में खो गये। पत्थर टूट जाते हैं।

रसरी आवत-जात है सिल पर पड़त निशान।

रस्सी से पत्थर पर निशान पड़ जाता है--रस्सी से! रोज-रोज आती रहती है, जाती रहती है।

तुम बैठे रहो। यही तो तुमसे कहता हूं, बात का मजा लेते रहो। तुम कुछ और ना भी किये अगर, तुम अगर मेरी बात का मजा ही लेते रहे, अगर यह स्वाद ही तुम पर चढ़ता चला गया--नशा ही सही, चलो यही सही। तुम मुझे नशे की तरह ही पीते रहो, तुम बदल जाओगे। पहले दिन तुम्हें लगेगा, तुम पाषाण जैसे हो। एक दिन अचानक तुम पाओगे, खोजोगे और पाषाण न मिलेगा। वह जो नशे की तरह तुमने पीया था वह तुम्हारे भीतर धार की तरह बहने लगेगा।

नहीं, तुम रुक न सकोगे। बदलना ही होगा। बदलाहट शुरू ही हो गई है। और कारण बदलाहट का कि सत्य अगर है तो क्रांति उसके पास घटती ही है, रुक नहीं सकती। यह कुछ तुम्हारे करने न करने की बहुत बात नहीं है।

श्रवणमात्रेण!

अष्टावक्र कहते हैं, मात्र सुनकर भी क्रांति घट जाती है।

श्रवणमात्रेण!

तुम सिर्फ सुनते रहो। तुम सिर्फ मुझे आने दो भीतर। तुम बाधा न डालो। बस तुम्हारे हृदय तक यह धार पहुंचती रहे, तुम्हारे सब पाषाण पिघल जायेंगे और बह जायेंगे। क्योंकि जो मैं कह रहा हूं उसके सत्य को तुम कितने दिन तक झुठलाओगे! जो मैं तुमसे कह रहा हूं, तुम आज सिर्फ मजे की तरह सुन लोगे लेकिन उसके सत्य को कितने दिन तक झुठलाओगे। सुनते-सुनते उसका सत्य तुम्हारी पकड़ में आना शुरू हो जायेगा। शायद तुम्हारे अनजाने में ही सत्य तुम्हारी पहचान में आना शुरू हो जाये।

और फिर जो मैं तुमसे कह रहा हूं उसकी छाया तुम्हें जीवन में भी दिखाई पड़ेगी, जगह-जगह दिखाई पड़ेगी। अगर मैंने तुमसे आज कहा कि मंदिरों में क्या रखा है, और तुमने सुन लिया। तुम भूल भी गये। लेकिन अचानक एक दिन तुम पाओगे, मंदिर के पास से गुजरते हुए तुम्हें याद आती है कि मंदिरों में क्या रखा है। कि आज मैंने तुमसे कहा कि शास्त्रों में तो कोरे शब्द हैं। किसी दिन गीता को उलटते, बाइबिल को पलटते अचानक तुम्हें याद आयेगी कि शास्त्रों में तो केवल शब्द हैं।

और यह याद प्रगाढ़ हो जायेगी। क्योंकि शब्द ही हैं। इस बात की सचाई को तुम ज्यादा दिन तक छोड़ न पाओगे। आज तुमने सुना कि तुम्हारे मंदिर-मस्जिदों में बैठे हुये संन्यासी कोरे हैं। कहीं कुछ हुआ नहीं। किसी दिन अपने मुनि को, अपने स्वामी को सिर झुकाते वक्त तुम्हें उसकी आंखें दिखाई पड़ जायेंगी। उसका खाली चेहरा, उसके आसपास छाई हुई मूढ़ता, मूर्च्छा! तुम बच न सकोगे। सत्य याद आ जायेगा।

श्रवणमात्रेण!

सुनते रहो। और फिर जीवन की हर घटना तुम्हें याद दिलायेगी। अगर मैंने कहा कि यह जो दिखाई पड़ रहा है, सब सपना है। कितने दिन तक तुम इससे बचोगे? यह सपना है। यह तुम्हें बार-बार अनेक-अनेक मौकों पर कांटे की तरह चुभने लगेगा। और मैंने तुमसे कहा, यह जिंदगी तो मौत में जा रही है। यह जिंदगी तो मौत में बदल रही है। यह जिंदगी तो जायेगी। यह जिंदगी तो सिर्फ मरती है और कुछ भी नहीं होता।

तुम कब तक बचोगे? राह पर किसी अर्थी को गुजरते देखकर तुम्हें लगेगा, तुम बंधे अर्थी में चले जा रहे। ये बातें सिर्फ बातें नहीं हैं। ये बातें सत्य की अभिव्यक्तियां हैं। बात को जाने दो भीतर। उसके साथ थोड़ा-सा सत्य भी सरक गया। बात के पीछे-पीछे सरक गया--श्रवणमात्रेण!

और रोज-रोज तुम्हें मौके आयेंगे। प्रतिपल तुम्हें मौके आयेंगे जब इन बातों की सचाई प्रगट होने लगेगी। और प्रमाण जीवन से जुटने लगेंगे। मैं तो जो कह रहा हूं वे तो केवल मौलिक सिद्धांत हैं। प्रमाण तो तुम्हें जीवन में मिलेंगे। तुम्हारा जीवन इनके लिए प्रमाण जुटायेगा।

अब इब्तदाये-इश्क का आलम कहां हफीज
कश्ती मेरी डुबो कर वह साहिल उतर गया

एक न एक दिन जब तुम पाओगे कि वह जवानी, वह प्रेम, वह माया-मोह, वह सब तुम्हारी कश्ती को डुबोकर वह बाढ़ उतर गई और तुम किनारे पर लुटे खड़े रह गये। कारवां गुजर गया गुबार देखते रहे। उस दिन तुम याद न करोगे? उस दिन तुम्हें खयाल न आयेगा? उस दिन तुम चौंककर जागोगे नहीं?

नहीं, तुम बच नहीं सकते क्योंकि इन बातों में सचाई है।

कोई मोती गूंथ सुहागिन तू अपने गलहार में
मगर विदेशी रूप न बंधनेवाला है सिंगार में
एक हवा का झोंका, जीवन दो क्षण का मेहमान है
अरे ठहरना कहां, यहां गिरवी हरेक मकान है

व्यर्थ सुनहली धूप और यह व्यर्थ रुपहली चांदनी
हर प्रकाश के साथ किसी अंधियारे की पहचान है
चमकीली चोली चुनरी पर मत इतरा यूं सांवरी
सबको चादर यहां एक सी मिलती चलती बार में
सुनते रहो।
चमकीली चोली चुनरी पर मत इतरा यूं सांवरी
सबको चादर यहां एक सी मिलती चलती बार में

यहां कितना ही उपाय करो, झूठ सच नहीं हो पाता। तुम्हारी जिंदगी झूठ को सच करने का उपाय है। मैं तुमसे जो कह रहा हूं वह सीधा-सीधा सच है--श्रवणमात्रेण। उसकी चोट पड़ने दो।

आज तुम मजे से सुन रहे हो, मजे से सुनो। इसी मजे-मजे के बहाने उतर जायेगा सत्य गहरे में। पाषाण कटेंगे। क्योंकि तुम्हारा जीवन झूठ है और जो मैं तुमसे कह रहा हूं, सच है। झूठ जीत नहीं सकता। कितनी ही देर हो जाये, झूठ जीत नहीं सकता। सत्यमेव जयते। सत्य ही जीतता है।

आखिरी प्रश्न: निमित्त होना और स्वच्छंद होना क्या मात्र अभिव्यक्ति भेद हैं? कृपा करके समझायें।

ऐसा ही है। अभिव्यक्ति का ही भेद है। दो अलग मार्गों के शब्द हैं। कृष्ण कहते हैं, निमित्त मात्र हो जाओ। अष्टावक्र कहते हैं, स्वच्छंद हो जाओ। जो निमित्त-मात्र हो गया वह स्वच्छंद हो जाता है। जो स्वच्छंद हो गया वह निमित्तमात्र हो जाता है।

समझो। निमित्तमात्र का अर्थ है, तुम कर्ता न रहो, प्रभु को करने दो। तुम करने की भाषा ही भूल जाओ। तुम बांसुरी हो जाओ, पोली बांसुरी। जो गाये प्रभु, बहे तुमसे। तुम बाधा न डालो।

अगर ऐसी तुम पोली बांसुरी हो गये और प्रभु तुम्हारे भीतर से बहा तो अचानक तुम पाओगे कि यह प्रभु जो तुम्हारे भीतर से बह रहा है, यह तुम्हारा ही स्वभाव है। यह प्रभु तुमसे भिन्न नहीं है। तुम्हारे अहंकार से भिन्न है, तुमसे भिन्न नहीं है। तुम्हारे अहंकार को ही छोड़ने की बात थी। वह तुमने छोड़ दिया, निमित्तमात्र हो गये। निमित्तमात्र होने में तुम मिटते थोड़े ही! याद रखना, तुम पहली दफा होते हो। मिटकर होते हो। हारकर जीतते हो। खोकर पाते हो।

जीसस ने कहा है, जो बचायेंगे वे न बचा पायेंगे। जो खो देंगे, वे बचा लेंगे। जीसस के वचन बड़े अदभुत हैं। जो बचायेंगे, न बचा पायेंगे।

तुम बचाओगे तो बचाओगे क्या? तुम वही बचाने की कोशिश करोगे जो नहीं बचाया जा सकता--अहंकार! अकड़! तुम खो दो इसे। इसे खोते ही तुम पाओगे, जो सदा ही बचा हुआ है। जिसे खोने का उपाय ही नहीं कोई। जो आधारभूत है। जो तुम्हारा स्वभाव है।

निमित्तमात्र हो जाओ और तुम स्वच्छंद हो गये। प्रभु के हाथों में सब छोड़कर तुम गुलाम थोड़े ही होते हो, तुम मालिक हो जाते हो।

पश्चिम से लोग आते हैं तो उनको समर्पण में बड़ी अड़चन मालूम होती है। वे कहते हैं, समर्पण कर देंगे तो हम गुलाम हो जायेंगे। समर्पण कर देंगे तो फिर हम कहां रहे? उनको समझने में समय लगता है कि समर्पण का अर्थ इतना ही है कि तुम्हारा जो नहीं है वही छोड़ दो। मैं उनसे कहता हूं, जो तुम्हारे पास नहीं है और तुम सोचते हो है, वह तुम मुझे दे दो, ताकि तुम्हारे पास जो है और तुम सोचते हो नहीं है, वह तुम्हें दिखाई पड़ जाये। मैं तुम्हें वही देता हूं जो तुम्हारे पास है। और तुमसे वही छीन लेता हूं जो तुम्हारे पास था ही नहीं, है भी नहीं, हो भी नहीं सकता, सिर्फ भ्रांति है।

निमित्तमात्र का अर्थ है, इधर अहंकार गया, वहां स्वभाव प्रगट हुआ। निमित्तमात्र का अर्थ है, अहंकार की चट्टान हटी कि झरना स्वभाव का बहा। वही तो स्वच्छंदता है। लेकिन कृष्ण की भाषा में उसका नाम परमात्मा है।

अष्टावक्र की भाषा में निमित्त की बात नहीं है, वह सीधी स्वच्छंदता की बात है। तुम स्वच्छंद हो जाओ। तुम स्वयं के छंद को खोज लो। तुम्हारे भीतर जो गहराई में पड़ा है उसको प्रगट होने दो। परिधि में मत भटको, केंद्र को प्रगट होने दो। ऊपर-ऊपर मत सतह पर भटकते रहो, गहरे...गहरे उतरो। अपनी आखिरी गहराई को छुओ। और उस गहराई को प्रगट होने दो।

इसके प्रगट होते ही तुम पाओगे, तुम निमित्तमात्र हो गये। क्योंकि यह गहराई तुम्हारी ही गहराई नहीं है, यह गहराई परमात्मा की भी गहराई है। असल में गहराई में हम सब एक हैं, सतह पर हम सब अलग हैं। केंद्र हमारा एक है, परिधि हमारी अलग है। जैसे ही हम गहरे उतरते हैं वैसे ही पाते हैं कि हम एक हैं।

ऐसा समझो कि लहरें हैं सागर पर, करोड़ों लहरें हैं। लहर ऊपर से तो अलग मालूम पड़ती है दूसरी लहर से, लेकिन हर लहर गहराई में उतरे अगर तो एक ही सागर में है। जो व्यक्ति अपनी स्वच्छंदता में उतरेगा, स्वयं में उतरेगा, वह पहुंच जायेगा सागर में। वह पहुंच गया परमात्मा में। हो गया निमित्त।

ये भाषा के भेद हैं। तुम चाहे निमित्त बनो, चाहे तुम स्वच्छंद बनो, ऊपर से देखने में विरोध है। यही अड़चन है। ज्ञानियों की भाषा में यही अड़चन है। और ऊपर से देखो तो बड़ा विरोध है। अगर तर्क से सोचो तो बड़ा विरोध है। निमित्त का तो अर्थ हुआ, स्वयं को गंवा दो। तो स्वच्छंद कैसे होओगे? स्वच्छंद का अर्थ तो हुआ कि परमात्मा इत्यादि को सबको इंकार कर दो, अपनी घोषणा करो। ये तो विपरीत हो गये। लेकिन अनुभव में जाओगे तो पाओगे, यह विपरीत नहीं है। ये एक ही बात को कहने के दो ढंग थे।

फिर कुछ लोग हैं जो निमित्त हो सकते हैं; उनको स्वच्छंद होने की झंझट में नहीं पड़ना चाहिए। फिर कुछ लोग हैं जो स्वच्छंद हो सकते हैं; उनको निमित्त होने की झंझट में नहीं पड़ना चाहिए। मार्ग पर तो लोग अलग-अलग होंगे, मंजिल पर एक हो जाते हैं। अंत में हम सब मिल जाते हैं। हिंदू, मुसलमान, ईसाई, बौद्ध, जैन, सब मिल जाते हैं अंत में। लेकिन प्रथम में हमारे मार्ग बड़े अलग-अलग हैं।

और इतने मार्गों की जरूरत है, क्योंकि इतने तरह के लोग हैं। कोई मार्ग व्यर्थ नहीं है। किसी न किसी के काम का है। कोई न कोई है पृथ्वी पर, जो उसी मार्ग से पहुंचेगा। इसलिए पृथ्वी से कोई भी मार्ग विदा नहीं होना चाहिए। अभी तो और कुछ मार्ग पैदा होने चाहिए। अभी कुछ ऐसे लोग हैं जिनके लिए कोई भी मार्ग नहीं है। दुनिया में मार्ग बढ़ते जायेंगे। जैसे-जैसे मनुष्य की चेतना गहरी होती जायेगी, वैसे-वैसे मार्ग बढ़ते जायेंगे।

मुझसे कोई पूछता था दो दिन पहले कि दुनिया में इतने धर्मों की जरूरत क्या है? मैंने उससे कहा, अगर दुनिया में चैतन्य बढ़ेगा तो उतने धर्म होंगे जितने लोग होंगे। एक-एक व्यक्ति का एक-एक धर्म होगा। क्योंकि सच में एक-एक व्यक्ति इतना भिन्न है कि वह किसी दूसरे के मार्ग से कैसे चल सकता है?

तुमने कभी खयाल किया? कभी किसी दूसरे आदमी के जूते पहनकर देखे? तो जरा पहनकर देखना। बाहर जाकर आज ही एक-दूसरे के जूते पहनकर देखना। तुम शायद ही एकाध ऐसा जूता खोज पाओगे, जो तुम्हारे पैर से मेल खा जाये। नंबर भी एक हो तो भी तुम शायद ही कोई ऐसा जूता खोज पाओगे, जो तुम्हारे पैर से मेल खा जाये। क्योंकि नंबर एक होता, फिर भी पैर अलग-अलग होते हैं।

दूकान पर तुम जाओगे तो तुम्हें बारह नंबर का, दस नंबर का जूता लगता, वही दस नंबर का दूसरे को लगता। लेकिन एक दफा एक आदमी ने जूता पहन लिया दस नंबर का, उसका नंबर अलग हो गया। वह आदमी का पैर धीरे-धीरे जूते को बदल देता है। कहीं उसकी अंगुलि, कहीं उसका अंगूठा, कहीं उसकी एड़ी अलग ढांचे

बना देती है। एक दफा दस नंबर का जूता एक आदमी ने पहन लिया, फिर दस नंबर के नंबर वाला दूसरा आदमी उसके जूते को पहने, वह पायेगा, यह नहीं चलेगा। यह पैर में बैठता नहीं। एक-एक पैर अलग है।

तुम दूसरे का जूता तक नहीं पहन सकते तो दूसरे का मार्ग कैसे ओढ़ोगे? न दूसरे के जूते पहने जा सकते, न दूसरे के पदचिह्नों पर चला जा सकता। हरेक को अपना ही मार्ग खोजना पड़ता है। सदगुरु के पास तुम्हें सिर्फ साहस मिलता, हिम्मत मिलती, बढ़ावा मिलता। वह कहता है, बढ़ो। फिक्र न करो। डरो मत। झिझको मत। राह है, और राह के आगे मिल जानेवाली मंजिल भी है। और मैं देखकर आया हूं, तुम चलो। तुम हिम्मत करो।

सदगुरु मार्ग थोड़े ही देता है, अगर ठीक से समझो तो साहस देता, आत्मविश्वास देता। फिर जब तुम्हें वह मार्ग भी देता है तो भी जो मार्ग है वह धीरे-धीरे-धीरे तुम्हारे ढांचे में ढल जाता है।

मैं ध्यान देता हूं अलग-अलग लोगों को। कभी-कभी एक ही ध्यान दो व्यक्तियों को देता हूं लेकिन आखिर में पाता हूं कि परिणाम अलग होने शुरू हो गये। एक ही नंबर के जूते दिये थे लेकिन उन्होंने अलग आकृति और अलग शकल लेनी शुरू कर दी। होगा ही। स्वाभाविक है। जैसे तुम्हारे अंगूठे के चिह्न अलग-अलग हैं, ऐसी तुम्हारी आत्माओं के चिह्न भी अलग-अलग हैं।

तो जिसको निमित्त होना जंच जाये, जिसको सुगमता से, सरलता से, सहजता से निमित्त होना जंच जाये, ठीक। पहुंच जायेगा वहीं, जहां स्वच्छंद होनेवाला पहुंच जाता। जिसको स्वच्छंद होना जंच जाये वह भी पहुंच जायेगा वहीं। घबड़ाहट मत लेना, मंजिल तो एक ही है, क्योंकि सत्य एक ही है। लेकिन बहुत द्वार हैं।

जीसस ने फिर कहा है कि मेरे प्रभु के मंदिर के बहुत द्वार हैं। और मेरे प्रभु के मंदिर में बहुत कक्ष हैं। मंदिर एक ही है, द्वार बहुत, कक्ष बहुत।

निमित्त का अर्थ होता है, जो हो वह प्रभु कर रहा है। तुम स्वीकार कर लो। तथाता!

बाग है यह हर तरह की वायु का इसमें गमन है
एक मलयज की वधू तो एक आंधी की बहन है
यह नहीं मुमकिन कि मधुऋतु देख तू पतझर न देखे
कीमती कितनी ही चादर हो, पड़ी सब पर शिकन है
दो बरन के सूत की माला प्रकृति है किंतु फिर भी
एक कोना है जहां शृंगार सबका है बराबर
फूल पर हंसकर अटक तो शूल को रोकर झटक मत
ओ पथिक, तुझ पर यहां अधिकार सबका है बराबर
कोस मत उस रात को जो पी गई घर का सवेरा
रूठ मत उस स्वप्न से जो हो सका जग में न तेरा
खीझ मत उस वक्त पर, दे दोष मत उन बिजलियों को
जो गिरीं तबत्तब कि जब-जब तू चला करने बसेरा
सृष्टि है शतरंज औ हैं हम सभी मोहरे यहां पर
शाह हो पैदल कि शह पर वार सबका है बराबर
फूल पर हंसकर अटक तो शूल को रोकर झटक मत
ओ पथिक! तुझ पर यहां अधिकार सबका है बराबर

फूल का, शूल का; दिन का, रात का; जीवन का, मृत्यु का; सुख का, दुख का; सबका अधिकार बराबर है।

निमित्त का अर्थ है: दोनों स्वीकार। दोनों समभाव से स्वीकार। जो हो वही हो। जैसा हो रहा है वैसा ही हो। मेरी कोई अन्यथा की मर्जी नहीं है। ऐसा जिसको जंच जाये, फिर उसे स्वच्छंद की बात ही नहीं उठानी चाहिए।

मगर ऐसा न जंचे तो ऐसा नहीं है कि परमात्मा संकीर्ण है और एक ही मार्ग से कोई पहुंचता है। तो ऐसा नहीं है कि एक ही मार्ग है। तो तुम फिर पहुंच ही न पाओगे। ऐसा न जंचे तो? तो परमात्मा की करुणा विराट है। वह कहता है, तो इससे विपरीत जंचता है? यह नहीं जंचता तो इससे विपरीत जंचता है! स्वच्छंदता जंचती

है? विद्रोह जंचता है? जंचता है यह घोषणा कर देना कि बस, मैं मेरे ही ढंग से जीयूंगा? तो वैसे ही जीयो। उसी स्वयं के छंद में अपने को ढाल दो। परिपूर्ण स्वतंत्रता में जीयो। बिलकुल मत बनो निमित्त। मत करो समर्पण। स्वच्छंद जीयो।

जिसको अष्टावक्र स्वच्छंद कहते हैं, उसी को महावीर ने अशरण कहा है। वे एक ही बातें हैं। जिसको कृष्ण ने निमित्तमात्र होना कहा है, उसी को चैतन्य ने, मीरा ने समर्पण कहा है। वे एक ही बातें हैं। अगर इन सारी बातों को ठीक-ठीक निचोड़कर संक्षिप्त में कहा जाये तो एक मार्ग ऐसा है जो स्त्री का है और एक मार्ग ऐसा है जो पुरुष का है। पुरुष के मार्ग का अर्थ होता है, वह समर्पण न कर पायेगा। वह निमित्त न बन पायेगा। पुरुष के मार्ग का अर्थ होता है, वह अपनी उदघोषणा करेगा। स्वच्छंदता का, अशरण का मार्ग उसको जमेगा। स्त्री का अर्थ होता है, वह अपनी घोषणा न करेगी। वह उसके स्वभाव में नहीं है। वह विनम्र होगी। वह झुकेगी, वह समर्पण करेगी। वह निमित्तमात्र बनेगी।

खयाल रखना, जब मैं कहता हूं स्त्री-पुरुष का, तो मेरा मतलब ऐसा नहीं है कि सभी स्त्रियां इस मार्ग से जायेंगी और सभी पुरुष पुरुष के मार्ग से जायेंगे। नहीं, शरीर की बात नहीं है, मन की बात है। बहुत पुरुषों के पास स्त्रैण मन है। बहुत-सी स्त्रियों के पास पुरुष-मन है। इसलिए तुम शरीर पर ध्यान मत देना।

कई बार कोई पुरुष मेरे पास आता है और इतना समर्पण भाववाला कि वैसी स्त्री खोजनी मुश्किल है। कभी कोई स्त्री आती है और ऐसी स्वच्छंद प्रकृति की कि वैसा पुरुष खोजना मुश्किल है। इसलिए यह जो मैं कह रहा हूं स्त्री-पुरुष, यह केवल प्रतीकात्मक शब्द हैं। लेकिन दो ही तरह के मार्ग हैं: स्वच्छंदता की घोषणा या निमित्त हो जाने का समर्पण।

इतना ही खयाल रखना कि जो तुम्हें मौजूं पड़ जाये। थोपना मत। आग्रहपूर्वक, हठपूर्वक आरोपण मत करना। जबरदस्ती दबाना मत। साधो सहज समाधि भली। उसे स्मरण रखना। उतना स्मरण रहे, तुम कभी भटकोगे नहीं। जो तुम्हारे स्वभाव के अनुकूल पड़े वही तुम्हारे लिए सत्य का मार्ग है। स्वभाव, सहजता, इन कसौटियों पर कसते रहना।

अक्सर उलटा होता है। अक्सर जो तुम्हारे अनुकूल नहीं पड़ता उसको तुम थोपते हो। उपवास काम नहीं आता, उपवास करते हो। मरते हो भूखे, मगर उपवास करते हो। दुखवादी हो। खुद को दुख देने में रस लेते हो। जो बात तुम्हारे सहज नहीं मालूम होती, उसमें एक तरह का अहंकार को आकर्षण मालूम होता है। और अहंकार बाधा है।

इसको मैं फिर तुम्हें दोहरा दूं: अहंकार का एक आकर्षण है कि जो अनुकूल न पड़े उसको चुन ले। क्योंकि अनुकूल को चुनने में तो अहंकार बचता नहीं, प्रतिकूल को चुनने में बचता है। जितना बड़ा पहाड़ हो, अहंकार उतना ही उसको चढ़ना चाहता है। जितनी कठिन बात हो, उतना ही करना चाहता है। सरल में अहंकार को कोई रस नहीं। क्योंकि सरल में क्या सार!

मैंने देखा, मुल्ला नसरुद्दीन एक झील के किनारे बैठा मछली मार रहा है। मैंने उससे कहा कि नसरुद्दीन, कुछ पकड़ीं? उसने कहा कि नहीं, आज दिन भर तो हो गया, सूरज ढलने को आ गया, एक भी मछली नहीं पकड़ी। मैंने कहा, तुम्हें पता है, इस झील में मछली है ही नहीं। उसने कहा, मुझे पता है। तो मैंने कहा, पास ही दूसरी झील है, जहां मछलियां ही मछलियां हैं। मुल्ला ने कहा, वहां पकड़ने में क्या सार! वहां तो कोई भी पकड़ ले। बच्चे पकड़ लें। इसीलिए तो यहां बैठा हूं कि यहां कोई भी नहीं पकड़ पाता। यहां पकड़ी तो कुछ पकड़ी। वहां पकड़ी तो क्या पकड़ी!

अहंकार हमेशा असंभव को संभव करना चाहता है और असंभव संभव होता नहीं। अहंकार दो और दो को तीन बनाना चाहता है या पांच बनाना चाहता है और ऐसा कभी होता नहीं।

तो अहंकार के कारण अक्सर लोग उसे चुन लेते हैं जो कठिन है। और कठिन से कभी कोई नहीं पहुंचता। साधो सहज समाधि भली। जो तुम्हारे अनुकूल पड़ जाये, बिलकुल स्वाभाविक हो। इतनी सरलता से हो जाये कि कानोंकान खबर न पता चले। फूल की तरह हो जाये, कांटे की तरह न चुभे। वही मार्ग है।

इतना स्मरण रहे तो तुम भटकोगे नहीं, पहुंच जाओगे। पहुंचना सुनिश्चित है। सहज मार्ग से कभी कोई भटका ही नहीं है।

आज इतना ही।

तिहत्तरवां प्रवचन

मूढ़ कौन, अमूढ़ कौन!

अष्टावक्र उवाच।

अकुर्वन्नपि संक्षोभात् व्यग्रः सर्वत्र मूढधी।
कुर्वन्नपि तु कृत्यानि कुशलो हि निराकुलः।। २३४।।
सुखमास्ते सुखं शेते सुखमायाति याति च।
सुखं वक्ति सुखं भुंक्ते व्यवहारेऽपि शांतधीः।। २३५।।
स्वभावाद्यस्य नैवार्तिर्लोकवदव्यवहारिणः।
महाह्रद इवाक्षोभ्यो गतक्लेशः सुशोभते।। २३६।।
निवृत्तिरपि मूढ़स्य प्रवृत्तिरुपजायते।
प्रवृत्तिरपि धीरस्य निवृत्तिफलभागिनी।। २३७।।
परिग्रहेषु वैराग्यं प्रायो मूढ़स्य दृश्यते।
देहे विगलिताशस्य क्व रागः क्व विरागता।। २३८।।
भावनाभावनासक्ता दृष्टिर्मूढ़स्य सर्वदा।
भाव्यभावनया सा तु स्वस्थयादृष्टिरूपिणी।। २३९।।

अकुर्वन्नपि संक्षोभात् व्यग्रः सर्वत्र मूढधीः।
कुर्वन्नपि तु कृत्यानि कुशलो हि निराकुलः।।

शास्त्रों का सार इतना ही है कि प्रश्न करने का नहीं, जानने का है। समस्त ज्ञानियों को एक छोटे सूत्र में निचोड़ा जा सकता है कि करने से कुछ न होगा, जानने से होगा। अगर जानने की घटना न घटी तो तुम जो भी करोगे, तुम्हारे अज्ञान में ही उसकी जड़ें होंगी। अज्ञान से किया गया शुभ कर्म भी अशुभ हो जाता। ज्ञान से अशुभ जैसा जो दिखाई पड़ता, वह भी शुभ है। इसलिए मौलिक रूपांतरण प्रज्ञा का है, ज्ञान का है, ध्यान का है, आचरण का नहीं।

पहला सूत्र अष्टावक्र का:

"अज्ञानी कर्मों को नहीं करता हुआ भी सर्वत्र संकल्प-विकल्प के कारण व्याकुल होता है--नहीं करता हुआ भी व्याकुल होता है और ज्ञानी सब कर्मों को करता हुआ भी शांत चित्तवाला ही होता है।"

इसलिए प्रश्न कर्म को छोड़कर भाग जाने का नहीं है, कर्म-संन्यास का नहीं है। प्रश्न है, अज्ञान से मुक्त हो जाने का। और अज्ञान से तुम यह मत समझना: सूचनाओं की, जानकारी की कमी। नहीं, अज्ञान से अर्थ है आत्मबोध का अभाव।

तुम कितनी ही सूचनायें इकट्ठी कर लो, कितना ही ज्ञान इकट्ठा कर लो, उससे ज्ञानी न होओगे जब तक कि भीतर का दीया न जले, जब तक कि प्रभा भीतर की प्रगट न हो। तब तक तुम बाहर से कितना ही इकट्ठा करो, उस कचरे से कुछ भी न होगा। पंडित बनोगे, प्रज्ञावान न बनोगे। विद्वान हो जाओगे, लेकिन विद्वान हो जाना धोखा है। विद्वान हो जाना ज्ञानी होने का धोखा है। बुद्धिमानी नहीं है विद्वान हो जाना। दूसरों को तो धोखा दिया ही दिया, अपने को भी धोखा दे लिया।

बुद्ध से कम हुए बिना न चलेगा। जागे मन, हो प्रबुद्ध, तो ही कुछ गति है।

न करते हुए भी अज्ञानी उलझा रहता है। विचार में ही करता रहता है। बैठ जाये गुफा में तो भी सोचेगा बाजार की। ध्यान के लिए बैठे तो भी न मालूम कहां-कहां मन विचरेगा। संकल्प-विकल्प उठेंगे--ऐसा कर लूं, ऐसा न करूं। कल्पना में करने लगेगा। कल्पना में ही हत्या कर देगा, हिंसा कर देगा, चोरी कर लेगा, बेईमानी कर लेगा। हाथ भी नहीं हिला, पलक भी नहीं हिली और भीतर सब हो जायेगा। क्योंकि संसार अज्ञान में फैलता है।

संसार के होने के लिए और कोई चीज जरूरी नहीं है, सिर्फ अज्ञान जरूरी है। जैसे स्वप्न के होने के लिए और कुछ जरूरी नहीं है, केवल निद्रा जरूरी है। सो गये कि सपना शुरू। और कोई साधन-सामग्री नहीं चाहिए, सिर्फ नींद काफी है। नींद एकमात्र जरूरत है। फिर तुम यह नहीं कहते कि कहां है मंच? कहां हैं परदे? कहां है निर्देशक? कहां है अभिनेता? कैसे हो यह खेल सपने का? नहीं, एक चीज के पूरे होने से सब पूरा हो गया--नींद आ गई तो तुम ही बन गये अभिनेता, तुम ही बन गये निर्देशक, तुम्हीं ने लिख ली कथा, तुम्हीं ने लिख लिये गीत, तुम्हीं बन गये मंच, तुम्हीं फैल गये सब चीजों में। तुम्हीं बन गये दर्शक भी। और सारा खेल रच डाला।

एक चीज जरूरी थी--नींद।

ऐसे ही संसार के लिए भी एक चीज जरूरी है--मूर्च्छा, बेहोशी। बस, फिर संसार फैला। फिर किसी की भी आवश्यकता नहीं है।

तो तुम यह मत सोचना कि बाजार को छोड़कर अगर हिमालय चले गये तो संसार छूट जायेगा। क्योंकि संसार के होने के लिए एक ही चीज जरूरी है: मूर्च्छा। गुफा में बैठे-बैठे मूर्च्छा की झपकी आ गई, झोंका आ गया, संसार फैल गया। वहीं तुम विवाह रचा लोगे, वहीं बच्चे पैदा हो जायेंगे।

पुरानी कथा है। एक युवा संन्यासी ने अपने गुरु को पूछा, यह संसार है क्या? गुरु ने कहा, तू ऐसा कर, तू आज गांव में जा, फलां-फलां द्वार पर भिक्षा मांग लेना। लौटकर जब आयेगा तब संसार क्या है, बता दूंगा। युवक तो भागा। ऐसी शुभ घड़ी आ गई कि गुरु ने कहा कि संसार क्या है, बता दूंगा। तू भिक्षा मांग ला।

उसने जाकर द्वार पर दस्तक दी। एक सुंदर युवती ने द्वार खोला। अति सुंदर युवती थी। युवक ने ऐसी सुंदर स्त्री कभी देखी न थी। उसका मन मोह गया। वह यह तो भूल ही गया कि गुरु के लिए भिक्षा मांगने आया था, गुरु भूखे बैठे होंगे। उसने तो युवती से विवाह का आग्रह कर लिया। उन दिनों ब्राह्मण किसी से विवाह का आग्रह करे तो कोई मना कर नहीं सकता था। युवती ने कहा, मेरे पिता आते होंगे। वे खेत पर काम करने गये हैं। हो सकेगा। घर में आओ, विश्राम करो।

वह घर में आ गया। वह विश्राम करने लगा। पिता आ गये, विवाह हो गया। वह गुरु की तो बात ही भूल गया। वह भिक्षा मांगने आया था, यह तो बात ही भूल गया। उसके बच्चे हो गये, तीन बच्चे हो गये। फिर गांव में बाढ़ आई, नदी पूर चढ़ी। सारा गांव डूबने लगा। वह भी अपने तीन बच्चों को और अपनी पत्नी को लेकर भागने की कोशिश कर रहा है। और नदी विकराल है। और नदी किसी को छोड़ेगी नहीं। सब डूब गये हैं, वह किसी तरह बचने की कोशिश कर रहा है। एक बच्चे को बचाने की कोशिश में दो बच्चे बह गये। इधर हाथ छूटा, दो बह गये। पत्नी को बचाने में बच्चा भी बह गया। फिर अपने को बचाने की ही पड़ी तो पत्नी भी बह गई। किसी तरह खुद बच गया, किसी तरह लग गया किनारे, लेकिन इस बुरी तरह थक गया कि गिर पड़ा। बेहोश हो गया।

जब आंख खुली तो गुरु सामने खड़े थे। गुरु ने कहा, देखा संसार क्या होता है? तब उसे याद आया कि वर्षों हो गये, तब मैं भिक्षा मांगने निकला था। गुरु ने कहा, कुछ भी नहीं हुआ है सिर्फ तेरी झपकी लग गई थी। जरा आंख खोलकर देख। वह भिक्षा मांगने भी नहीं गया था। सिर्फ झपकी लग गई थी। वह गुरु के सामने ही बैठा था। कुछ घटना घटी ही न थी। वह जो सुंदर युवती थी, सपना थी। वे जो बच्चे हुए, सपने थे। वह जो बाढ़ आई, सपना थी। वे जो वर्ष पर वर्ष बीते, सब सपना था। वह अभी गुरु के सामने ही बैठा था। झपकी खा गया था। दोपहर रही होगी, झपकी आ गई होगी।

तुम यहां बैठे-बैठे कभी झपकी खा जाते हो। तुम जरा सोचो, तब एक क्षण की झपकी में यह पूरा सपना घट सकता है। क्यों? क्योंकि जागते का समय और सोने का समय एक ही नहीं है। एक क्षण में बड़े से बड़ा सपना घट सकता है। कोई बाधा नहीं है।

तुमने कभी अनुभव भी किया होगा, अपनी टेबल पर बैठे झपकी खा गये। झपकी खाने के पहले ही घड़ी देखी थी दीवाल पर, बारह बजे थे। लंबा सपना देख लिया। सपने में वर्षों बीत गये। कैलेंडर के पन्ने फटते गये, उड़ते गये। आंख खुली, एक मिनट सरका है कांटा घड़ी पर और तुमने वर्षों का सपना देख लिया। अगर तुम अपना पूरा सपना कहना भी चाहो तो घंटों लग जायें। मगर देख लिया।

स्वप्न का समय जागते के समय से अलग है। समय सापेक्ष है। अलबर्ट आइंस्टीन ने तो इस सदी में सिद्ध किया कि समय सापेक्ष है, पूरब में हम सदा से जानते रहे हैं, समय सापेक्ष है। जब तुम सुख में होते हो तो समय जल्दी जाता मालूम पड़ता है। जब तुम दुख में होते हो तो समय धीमे-धीमे जाता मालूम पड़ता है। जब तुम परम आनंद में होते हो तो समय ऐसा निकल जाता है कि जैसे वर्षों क्षण में बीत गये। जब तुम महादुख में होते हो तो वर्षों की तो बात दूर, क्षण भी ऐसा लगता है कि वर्षों लग रहे हैं और बीत नहीं रहा, अटका है। फांसी लगी है।

समय सापेक्ष है। दिन में एक, रात दूसरा। जागते में एक, सोते में दूसरा। और महाज्ञानी कहते हैं कि जब तुम्हारा परम जागरण घटेगा तो समय होता ही नहीं। कालातीत! समय के तुम बाहर हो जाते हो।

सपना देखने के लिए नींद जरूरी है, संसार देखने के लिए अज्ञान जरूरी है। तो अज्ञान एक तरह की निद्रा है, एक तरह की मूर्च्छा है, जिसमें तुम्हें यह पता नहीं चलता कि तुम कौन हो। नींद का और क्या अर्थ होता है? नींद में तुम यही तो भूल जाते हो न कि तुम कौन हो? हिंदू कि मुसलमान, स्त्री कि पुरुष, बाप कि बेटे, गरीब कि अमीर, सुंदर कि कुरूप, पढ़े-लिखे कि गैर-पढ़े लिखे--यही तो भूल जाते हो न नींद में कि तुम कौन हो।

मूर्च्छा में भी और गहरे तल से हम भूल गये हैं कि हम कौन हैं।

कल एक युवती मुझसे पूछती थी कि मैं यहां क्या कर रही हूं? संन्यासिनी है। मैं यहां क्या कर रही हूं यह मेरी समझ में नहीं आता। यह प्रश्न बार-बार उठता है कि मैं यहां कर क्या रही हूं। तो मैंने उससे कहा कि मेरे सिवाय यहां किसी को भी पता नहीं है कि कौन क्या कर रहा है। और यह प्रश्न यहीं उठता है ऐसा नहीं, तू कहीं भी होगी संसार में, वहीं उठेगा। यह उठता ही रहेगा। क्योंकि अभी तो तुझे यह भी पता नहीं कि तू कौन है। तो तू क्या कर रही है यह कैसे पता चलेगा? अभी तो मौलिक प्रश्न का ही उत्तर नहीं मिला, अभी तो आधार ही नहीं रखे गये उत्तर के, तू भवन उठा रही है!

होना पहले है, कर्म तो पीछे है। बिना हुए कर्म तो न कर सकोगे। हां, बिना कर्म किये हो सकते हो; इसलिए होना मौलिक है, आधारभूत है। तो पहले यह जानो कि मैं कौन हूं तो ही समझ पाओगे कि क्या कर रहे हो। मैं कौन हूं, ऐसा जिसने जान लिया उसका संसार मिट जाता है। क्योंकि उस परम जागरण में तंद्रा रह नहीं जाती, निद्रा रह नहीं जाती, मूर्च्छा रह नहीं जाती तो संसार को फैलाने का उपाय नहीं रह जाता। इसलिए तो ज्ञानियों ने कहा है, संसार और सपना एक।

तुम समझो अर्थ। सपना और संसार एक का यही अर्थ है कि दोनों के फैलने की प्रक्रिया एक है। दोनों के होने का ढंग, ढांचा एक है। दोनों के लिए मूर्च्छा जरूरी है--सपने के लिए भी, संसार के लिए भी। और एक बात और तुमसे कह दूं, सपने के लिए गहरी मूर्च्छा जरूरी नहीं है, संसार के लिए गहरी मूर्च्छा जरूरी है। सपना तो जरा-सी झपकी आ जाती है, उसमें भी दिख जाता है। यह संसार की जो झपकी है, यह बड़ी प्राचीन है। जन्मों-जन्मों की है। यह बड़ी गहरी है।

इसीलिए सपना व्यक्तिगत होता है और संसार सामूहिक। तुम सपना देखते हो, तुम मुझे अपने सपने में निमंत्रित नहीं कर सकते। तुम अपने मित्र को नहीं कह सकते कि कल मेरे सपने में आना। इसका कोई उपाय नहीं है।

सपना वैयक्तिक है। इसका अर्थ हुआ कि सपना व्यक्तिगत मूर्च्छा से उठा है।

यह संसार सामूहिक है। ये जो वृक्ष तुम्हें दिखाई पड़ रहे हैं, मुझे भी दिखाई पड़ रहे हैं। सभी को दिखाई पड़ रहे हैं। इसमें हम साझीदार हैं। सपने में मैं जो वृक्ष देखता हूं, मुझे दिखाई पड़ता है, तुम्हें दिखाई नहीं पड़ता। तुम जो देखते हो, तुम्हें दिखाई पड़ता है, मुझे दिखाई नहीं पड़ता। यह वृक्ष मुझे भी दिखाई पड़ता है, तुम्हें भी दिखाई पड़ता है, सबको दिखाई पड़ता है।

इसका केवल इतना ही अर्थ हुआ कि यह मूर्च्छा कुछ इतनी गहरी होगी कि सार्वभौम है। यह सबके भीतर फैली होगी। यह हमारा सामूहिक सपना है: कलेक्टिव ड्रीम। आधुनिक मनोविज्ञान कलेक्टिव अनकांशस की खोज पर पहुंच गया है: सामूहिक अचेतन।

पहले फ्रायड ने जब पहली दफा यह कहा कि चेतन मन के नीचे छिपा हुआ अचेतन मन होता है तो लोग चौंके। क्योंकि पश्चिम में यह कोई धारणा न थी। बस, चेतन मन सब था। फ्रायड अचेतन मन को लाया। लोग बहुत चौंके। वर्षों मेहनत करके वह समझा पाया कि अचेतन मन है। बड़ी कठिनाई थी इसको सिद्ध करने में।

क्यों? मन का तो अर्थ ही लोग समझते हैं, चेतन। तो अचेतन मन, यह तो विरोधाभास मालूम पड़ता है। जिसका हमें पता ही नहीं है वह हमारा मन कैसे हो सकता है? अचेतन का अर्थ, जिसका हमें पता नहीं है। लेकिन फ्रायड ने समझाया। तुम भी समझोगे। कोशिश करोगे तो खयाल में आ जायेगा।

किसी का नाम तुम्हें याद नहीं आ रहा है और तुम कहते हो जबान पर रखा है। और फिर भी तुम कहते हो याद नहीं आ रहा है। अब तुम क्या कह रहे हो? तुम कहते हो, जबान पर रखा है; और तुम कहते हो, याद भी नहीं आ रहा है। और तुम जानते हो कि तुम्हें मालूम है। तो यह कहां सरक गया? यह तुम्हारे अचेतन में सरक गया। तो अचेतन में खड़खड़ भी कर रहा है, लेकिन जब तक चेतन में न आ जाये तब तक तुम पकड़ न पाओगे। फिर तुम जितनी चेष्टा करते हो उतना ही मुश्किल। तुम जितनी चेष्टा करते हो पकड़ लें, उतना ही छिटकता है।

फिर तुम थककर हार जाते हो। तुम कहते हो, भाड़ में जाने दो। तुम अपनी सिगरेट पीने लगे, कि अखबार पढ़ने लगे, कि रेडिओ खोल लिया। अचानक यह आ रहा--एकदम से आ गया। था; तुम्हें एहसास भी होता था कि है, लेकिन तुमने जब बहुत चेष्टा की, तो तुम संकीर्ण हो गये। चेष्टा में आदमी का चित्त संकीर्ण हो जाता है। दरवाजा छोटा हो जाता है, सिकुड़ जाता है। जब तुम बहुत आतुर होकर खोजने लगे तो तुम्हारी आतुरता ने तनाव पैदा कर दिया। तनाव के कारण जो आ सकता था बहकर वह नहीं आ सका। तुम बाधा बन गये।

फिर तुम सिगरेट पीने लगे। तुमने कहा, छोड़ो भी, जाने भी दो। अब नहीं आता तो क्या कर सकते हो? क्योंकि ऐसी घड़ियों में तुम अगर ज्यादा कोशिश करोगे तो लगेगा, पागल हो जाओगे। जबान पर रखा है और आता नहीं। बहुत घबड़ाने लगोगे, पसीना-पसीना होने लगोगे। कहते हो, छोड़ो। शिथिल हुए, विश्राम आया। जो चीज तनाव में न घटी वह विश्राम में तैरकर आ गई। नाम याद आ गया। यह अचेतन में था। याद थी इसकी। यह भी याद थी कि याद है, और फिर भी पकड़ में न आती थी।

फ्रायड को हजारों उपायों से सिद्ध करना पड़ा कि अचेतन है। बात वहीं नहीं रुकी। फ्रायड के शिष्य जुंग ने और एक गहरी खोज की। उसने कहा, यह अचेतन तो व्यक्तिगत है। एक-एक व्यक्ति का अलग-अलग है। इसके और गहराई में छिपा हुआ सामूहिक अचेतन है--कलेक्टिव अनकांशस। वह हम सबका समान है।

यह और भी मुश्किल है सिद्ध करना, क्योंकि यह और गहरी बात हो गई। लेकिन ऐसा भी है। कभी-कभी तुम्हें इसका भी अनुभव होता है। तुम बैठे हो, अचानक तुम्हें अपने मित्र की याद आ गई कि कहीं आता न हो। और तुमने आंख खोली और वह दरवाजे पर खड़ा है। एक क्षण तुम्हें विश्वास ही नहीं आता कि यह कैसे हुआ! तुम कहते हो, संयोग होगा। संयोग के नाम पर तुम न मालूम कितने सत्यों को झुठला देते हो। तुम कहते हो, संयोग होगा।

मेरे एक मित्र हैं। कवि हैं, कवि सम्मेलन में भाग लेने गये थे। बस में बैठे-बैठे बीच रास्ते में उन्हें ऐसा लगने लगा कि लौट जाऊं। घर लौट जाऊं। कोई चीज खींचने लगी, घर लौट जाऊं। मगर कोई कारण नहीं घर लौटने का। घर सब ठीक है। पत्नी ठीक है, पिता ठीक हैं, बच्चे ठीक हैं। घर लौटने का कोई कारण नहीं है, अकारण। कुछ समझ में नहीं आया। वे लौटे भी नहीं, क्योंकि ऐसे लौटने लगे तो मुश्किल हो जायेगी। चले गये।

रात एक होटल में ठहरे। कोई दो बजे, रात किसी ने आवाज दी, दरवाजे पर दस्तक दी, "मुन्नू"। वे बहुत घबड़ाये, क्योंकि मुन्नू सिर्फ उनके पिता ही कहते उनको--बचपन का नाम--और तो कोई मुन्नू कहता नहीं। बड़े कवि हैं, प्रसिद्ध हैं सारे देश में। और कौन उनको मुन्नू कहेगा? बहुत घबड़ा गये। सोचा, मन का ही खेल होगा। और चादर ओढ़कर सो रहे।

लेकिन फिर द्वार पर दस्तक, कि "मुन्नू!" अब की बार तो बहुत बात साफ थी। उठे, घबड़ाहट बढ़ गई। दरवाजा खोला, कोई भी नहीं है। हवा सन्नाती है। दो बजे रात। कोई भी नहीं है, सारा होटल सो गया है। कहीं कोई पक्षी भी पर नहीं मारता।

फिर दरवाजा बंद करके सो रहे कि मन का ही खेल होगा। लेकिन बिस्तर पर गये नहीं कि फिर आवाज आई, "मुन्नू!" अब तो आवाज बहुत जोर से थी। तो गये उठकर, नीचे जाकर उन्होंने फोन लगाने की कोशिश की। वे तो फोन लगा रहे थे तभी फोन आ गया। उनका तो फोन लगा ही नहीं था, लग ही नहीं पाया था कि घर से फोन आ गया कि पिता दस मिनट हुए, चल बसे।

यह सामूहिक अचेतन है। इसका व्यक्तिगत अचेतन से कोई संबंध नहीं है। यह कुछ ऐसी जगह की बात है कि जहां पिता से बेटा जुड़ा है। जहां पिता और बेटे के बीच कोई सेतु है। यह हजारों मील पर जुड़ा होता है। जहां मां बेटे से जुड़ी है, जहां प्रेमी प्रेमी से जुड़ा है, जहां मित्र मित्र से जुड़े हैं। और अगर तुम गहरे उतरते जाओ तो जो मित्र नहीं हैं वे भी जुड़े हैं, जो अपने नहीं हैं वे भी जुड़े हैं। और गहरे उतर जाओ तो आदमी जानवर से जुड़ा है, और गहरे उतर जाओ तो आदमी वृक्षों से जुड़ा है। और गहरे उतर जाओ तो आदमी पत्थरों-पहाड़ों से जुड़ा है। हम जो भी रहे हैं अपने अतीत में, उन सबसे जुड़े हैं। जितने गहरे जाओगे उतना ही पाओगे, हम सामूहिक के करीब आने लगे। यह सामूहिक अचेतन है। मनुष्य ऐसा ऊपर-ऊपर दिखाई पड़ता है वहीं नहीं समाप्त हो गया है।

जब पूरब में यह बात कही गई कि संसार भी सपना है, और सपना तो सपना है ही, तो इतना ही अर्थ था कि सपना तो व्यक्तिगत अचेतन में उठता है और संसार सामूहिक अचेतन में उठता है। इसलिए संसार और संसार की वस्तुओं के लिए हममें झगड़ा नहीं होता। क्योंकि हम सब राजी हो सकते हैं। एक टेबल रखी है, दस आदमी देख सकते हैं, इसलिए कोई झगड़ा नहीं है। हम सब कहते हैं कि टेबल है। क्योंकि सबको दिखाई पड़ रही है, अब और क्या प्रमाण चाहिए?

इसीलिए तो हम गवाही को इतना मूल्य देते हैं अदालत में। दस आदमी कह दें तो बात खतम हो गई। गवाह मिल गये तो मुकदमा जीत गये। गवाह का मतलब यह है कि देखनेवाले चश्मदीद लोग हैं। फिर बात खतम हो गई। अब और क्या करना है? और क्या प्रमाण चाहिए?

संसार ऐसा सपना है जिसके लिए गवाह मिल जाते हैं। तुम्हारा सपना ऐसा संसार है जिसका कोई गवाह नहीं है। बस, इतना ही फर्क है। सपने तो दोनों हैं, तल का भेद है। एक सतह पर है, एक गहराई में है, लेकिन दोनों सपने हैं।

अब अगर संसार से मुक्त होना हो तो क्या करें! कहां जायें? जब तक तुम्हारे अचेतन में रोशनी न पहुंच जाये तब तक तुम संसार से मुक्त न हो सकोगे। तुम भाग जाओ इस बाहर दिखाई पड़नेवाले संसार से, भीतर तो संकल्प-विकल्प उठते रहेंगे। संक्षोभात--वहां तो संक्षोभ होता रहेगा। वह भीतर का अचेतन तो लहरें लेता रहेगा। वहां तो तुम सपने देखते रहोगे। और उन्हीं सपनों में तुम्हारा संसार फैलता रहेगा। तुम शांत न हो सकोगे।

अकुर्वन्नपि संक्षोभात् व्यग्रः सर्वत्र मूढधीः।

वह जो मूढ़ है, वह जो अज्ञान और अंधेरे में डूबा हुआ है--मूढधीः, वह कर्मों को न भी करे तो भी संकल्प-विकल्प के कारण व्याकुल होता है।

तुमने कई दफे पाया होगा, तुम ऐसी चीजों के लिए भी व्याकुल हो जाते हो जो हैं ही नहीं। जरा कभी बैठकर कल्पना करना शुरू करो। तुम ऐसी चीजों के लिए व्याकुल हो जाओगे, जो हैं ही नहीं। तब तुम हंसोगे भी कि यह भी मैंने क्या किया। यह तो है ही नहीं बात।

एक अदालत में मुकदमा था। दो आदमियों ने एक-दूसरे का सिर फोड़ दिया था। जब मजिस्ट्रेट पूछने लगा कारण तो बताओ, तो वे दोनों हंसने लगे। उन्होंने कहा, क्षमा करें, दंड जो देना हो दे दें। अब कारण न पूछें। मजिस्ट्रेट ने कहा, मैं दंड बिना कारण पूछे दे कैसे सकता हूं? और तुम इतने घबड़ाते क्यों हो कारण बताने से? झगड़ा हुआ, कारण होगा।

वे दोनों एक-दूसरे की तरफ देखने लगे। वह कहने लगा, अब तू ही बता दे। वह कहने लगा, अब तू बता दे। कारण ही ऐसा था कि बताने में संकोच लगने लगा। फिर बताना ही पड़ा। जब मजिस्ट्रेट ने जोर-जबर्दस्ती की कि अगर न बताया तो दोनों को सजा दे दूंगा। तो बताना पड़ा। कारण ऐसा था कि बताने जैसा नहीं था।

दोनों नदी के किनारे बैठे थे। दोनों पुराने मित्र। और एक ने कहा कि मैं भैंस खरीदने की सोच रहा हूं। दूसरे ने कहा कि देख, भैंस तू खरीदना ही मत क्योंकि मैं खेत खरीदने की सोच रहा हूं, एक बगीचा खरीद रहा हूं। अब कभी यह भैंस घुस गई मेरे बगीचे में, झगड़ा-झंझट हो जायेगा। पुरानी दोस्ती यह भैंस को खरीदकर दांव पर मत लगा देना। और देख, मैं तेरे को अभी कहे देता हूं कि अगर मेरे बगीचे में भैंस घुस गई तो मुझसे बुरा कोई नहीं।

उस आदमी ने कहा, अरे हद हो गई! तूने समझा क्या है? तेरे बगीचे के पीछे हम भैंस न खरीदें? तू मत खरीद बगीचा, अगर इतनी बगीचे की रक्षा करनी है। भैंस तो खरीदी जायेगी, खरीद ली गई। और कर ले जो तुझे करना हो।

बात इतनी बढ़ गई कि उस आदमी ने वहीं रेत पर एक हाथ से लकीर खींच दी और कहा, यह रहा मेरा बगीचा। और घुसाकर देख भैंस। और दूसरे आदमी ने अपनी उंगली से भैंस घुसाकर बता दी। सिर खुल गये।

उन्होंने कहा, मत पूछें कारण। जो दंड देना हो दे दें। न अभी मैंने बगीचा खरीदा है, न इसने अभी भैंस खरीदी है। और हम पुराने दोस्त हैं। अब जो हो गया सो हो गया। दोनों पकड़कर ले आये गये अदालत में।

तुमने भी कई दफे ऐसे बगीचों के पीछे झंझटें खड़ी कर लीं, जो अभी खरीदे नहीं गये। तुम जरा अपने मन की जांच-पड़ताल करना, तुम्हें हजार उदाहरण मिल जायेंगे। बैठे-बैठे न मालूम क्या-क्या विचार उठ आते हैं! और जब कोई विचार उठता है तो तुम क्षण भर को तो भूल ही जाते हो कि यह विचार है। क्षण भर तो मूर्च्छा छा जाती है, और विचार सच मालूम होने लगता है।

वह जो विचार का सच मालूम होना है, वही संसार है। एक बार विचारों से तुम मुक्त हो गये तो संसार से मुक्त हो गये। निर्विचार होना संन्यास है। और कोई उपाय संन्यासी होने का नहीं है।

कुर्वन्नपि तु कृत्यानि कुशलो हि निराकुलः।

"और ज्ञानी सब कर्मों को करता हुआ भी शांत चित्तवाला होता है।"

कर्म नहीं बाधा डालते। ज्ञानी भी उठता, बैठता, चलता, बोलता, काम करता, लेकिन भीतर उसके कोई संक्षोभ नहीं है। वह एक बात में कुशल हो गया है, उसकी कुशलता आंतरिक है। भीतर विचार नहीं उठते। भीतर वह बिलकुल मौन में है, शून्यवत है। चलता है तो शून्य चलता है। बैठता है तो शून्य बैठता है। करता है, तो शून्य करता है।

और जो व्यक्ति अपने भीतर शून्य हो गया है वही ज्ञान को उपलब्ध हुआ है। उसी को ज्ञानी कहते हैं। जिसने शून्य के साथ अपनी भांवर डाल ली वही ज्ञानी है।

क्योंकि जो शून्य हो गया उसी से पूर्ण प्रगट होने लगता है। जो अपने भीतर अहंकार से खाली हो गया, उसके भीतर से परमात्मा बहने लगता है।

"ज्ञानी व्यवहार में भी सुखपूर्वक बैठता है, सुखपूर्वक आता है और जाता है, सुखपूर्वक बोलता है और सुखपूर्वक भोजन करता है।"

सुखमास्ते सुखं शेते सुखमायाति याति च।
सुखं वक्ति सुखं भुंक्ते व्यवहारेऽपि शांतधीः।।

बुद्ध के जीवन पर जो कथा-सूत्र लिखे गये हैं, हर सूत्र के पहले जो बात आती है, वह पढ़नेवालों को कभी बड़ी हैरान करने लगती है।

एक बौद्ध भिक्षु कुछ दिन मेरे पास रुके। वे मुझसे कहने लगे कि आपका बुद्ध से गहरा लगाव है। और मैं तो बौद्ध भिक्षु हूं, लेकिन एक बात मेरी समझ में नहीं आती, हर सूत्र के पहले यही आता है: "भगवान आये, उनकी चाल बड़ी शांत थी, उनकी श्वासें बड़ी शांत थीं। वे सुखपूर्वक आसन में बैठे। उन्होंने आंख बंद कर ली, क्षण भर को सन्नाटा छा गया। फिर उन्होंने आंख खोली, फिर वे सुखपूर्वक बोले।" तब सूत्र शुरू होता है।

तो उस बौद्ध भिक्षु ने मुझसे पूछा कि हर सूत्र के पहले यह बात दोहराने की क्या जरूरत है?

मैंने उससे कहा, जो सूत्र में कहा है उससे ज्यादा महत्वपूर्ण यह है। सूत्र नंबर दो है--दोयम; यह नंबर प्रथम है। क्योंकि जिससे सूत्र निकला है उसके संबंध में पहले बात होनी चाहिए तो ही सूत्र मूल्यवान है। ये सूत्र तो तुम भी बोल सकते हो। इसमें कुछ बड़ी अड़चन नहीं है। तुम्हें भी पता है। लेकिन बुद्ध की भांति तुम उठ न सकोगे, बैठ न सकोगे। बुद्ध की भांति तुम श्वास न ले सकोगे। ये सूत्र तो तुम भी बोल सकते हो।

एक जापानी बौद्ध भिक्षु की पुस्तक मैं कल रात पढ़ रहा था। वह मनोवैज्ञानिक है और उसने झेन ध्यान के ऊपर एक किताब लिखी है। कैसे झेन ध्यान से चिकित्सा हो सकती है पागलों की, विक्षिप्तों की। और सारी चिकित्सा का मूल जो आधार है वह है श्वास की गति। श्वास जितनी शांत हो उतना ही चित्त शांत हो जाता है।

साधारणतः हम एक मिनट में कोई सोलह से लेकर बीस श्वास लेते हैं। धीरे-धीरे-धीरे-धीरे झेन फकीर अपनी श्वास को शांत करता जाता है। श्वास इतनी शांत और धीमी हो जाती है कि एक मिनट में पांच...चार-पांच श्वास लेता। बस, उसी जगह ध्यान शुरू हो जाता।

तुम अगर ध्यान सीधा न कर सको तो इतना ही अगर तुम करो तो तुम चकित हो जाओगे। श्वास ही अगर एक मिनट में चार-पांच चलने लगे, बिलकुल धीमी हो जाये तो यहां श्वास धीमी हुई, वहां विचार धीमे हो जाते हैं। वे एक साथ जुड़े हैं। इसलिए तो जब तुम्हारे भीतर विचारों का बहुत आंदोलन चलता है तो श्वास ऊबड़-खाबड़ हो जाती है। जब तुम पागल होने लगते हो तो श्वास भी पागल होने लगती है। जब तुम वासना से भरते हो तो श्वास भी आंदोलित हो जाती है। जब तुम क्रोध से भरते हो तो श्वास भी उद्विग्न हो जाती है, उच्छृंखल हो जाती है। उसका सुर टूट जाता है, संगीत छिन्न-भिन्न हो जाता है, छंद नष्ट हो जाता है। उसकी लय खो जाती है।

झेन फकीर श्वास पर बड़ा ध्यान देते हैं। यह जो मनोवैज्ञानिक प्रयोग कर रहा था, यह एक झेन फकीर के मस्तिष्क में यंत्र लगाकर जांच कर रहा था कि कब ध्यान की अवस्था आती है। कब अल्फा तरंगें उठती हैं। बीच में अचानक अल्फा तरंगें खो गईं एक सेकेंड को। और उसने गौर से देखा तो फकीर की श्वास गड़बड़ा गई थी। फिर फकीर सम्हलकर बैठ गया, फिर उसने श्वास व्यवस्थित कर ली। फिर तरंगें ठीक हो गईं। फिर अल्फा तरंगें आनी शुरू हो गईं।

झेन फकीर कहते हैं, श्वास इतनी धीमी होनी चाहिए कि अगर तुम अपनी नाक के पास किसी पक्षी का पंख रखो तो वह कंपे नहीं। इतनी शांत होनी चाहिए श्वास कि दर्पण रखो तो छाप न पड़े। ऐसी घड़ी आती ध्यान में, जब श्वास बिलकुल रुक गई जैसी हो जाती है। कभी-कभी साधक घबड़ा जाता है कि कहीं मर तो न जाऊंगा! यह हो क्या रहा है?

घबड़ाना मत, कभी ऐसी घड़ी आये--आयेगी ही--जो भी ध्यान के मार्ग पर चल रहे हैं, जब श्वास, ऐसा लगेगा चल ही नहीं रही। जब श्वास नहीं चलती तभी मन भी नहीं चलता। वे दोनों साथ-साथ जुड़े हैं।

ऐसा ही पूरा शरीर जुड़ा है। जब तुम शांत होते हो तो तुम्हारा शरीर भी एक अपूर्व शांति में डूबा होता है। तुम्हारे रोयें-रोयें में शांति की झलक होती है। तुम्हारे चलने में भी तुम्हारा ध्यान प्रगट होता है। तुम्हारे बैठने में भी तुम्हारा ध्यान प्रगट होता है। तुम्हारे बोलने में, तुम्हारे सुनने में।

ध्यान कोई ऐसी बात थोड़े ही है कि एक घड़ी बैठ गये और कर लिया। ध्यान तो कुछ ऐसी बात है कि जो तुम्हारे चौबीस घंटे के जीवन पर फैल जाता है। जीवन तो एक अखंड धारा है। घड़ी भर ध्यान और तेईस घड़ी ध्यान नहीं, तो ध्यान होगा ही नहीं। ध्यान जब फैल जायेगा तुम्हारे चौबीस घंटे की जीवन धारा पर...। ध्यानी को तुम सोते भी देखोगे तो फर्क पाओगे। उसकी निद्रा में भी एक परम शांति है।

यही है यह सूत्र:

सुखमास्ते सुखं शेते सुखामायाति याति च।

सुखं वक्ति सुखं भुंक्ते व्यवहारेऽपि शांतधीः।।

वह जो ज्ञानी है, शांतधीः, जिसकी प्रज्ञा शांत हो गई है, वह व्यवहार में भी सुखपूर्वक बैठता है।

तुम तो ध्यान में भी बैठो तो सुखपूर्वक नहीं बैठ पाते। तुम तो प्रार्थना भी करते हो तो व्यग्र और बेचैन होते हो। ज्ञानी व्यवहार में भी सुखपूर्वक बैठता है। उसका सुखासन खोता ही नहीं। यह सुखासन कोई योग का आसन नहीं है, यह उसकी अंतर्दशा है। सुखमास्ते--वह सुख में ही बैठा हुआ है। सुखासन। सुखमास्ते। सुख में ही बैठा हुआ है।

सुखं शेते सुखमायाति याति च।

उसके सारे जीवन का स्वाद सुख है। तुम कहीं से उसे चखो, तुम सुख ही सुख चखोगे।

बुद्ध से किसी ने पूछा कि आपके जीवन का स्वाद क्या? तो बुद्ध ने कहा, जैसे सागर को तुम कहीं से भी चखो तो खारा, ऐसे तुम बुद्धों को कहीं से भी चखो तो आनंद, शांति, प्रकाश। तुम मुझे कहीं से भी चखो।

"सुखपूर्वक बैठता है।"

तुम ही तो बैठोगे न! तुम अगर बेचैन हो तो तुम्हारे बैठने में भी बेचैनी होगी। तुम देखते आदमियों को? बैठे हैं कुर्सी पर तो भी पैर हिला रहे हैं। अब बैठे हो--चल रहे होते, पैर हिलते तो ठीक थे। अब बैठकर कम से कम बैठे हो तो बैठ ही जाओ। सुखमास्ते। मगर उसमें भी पैर हिला रहे हैं।

बुद्ध बड़ा ध्यान रखते थे। एक बार एक आदमी उन्हीं के सामने बैठा सुन रहा था उनका प्रवचन, और अंगूठा हिलाने लगा अपने पैर का। उन्होंने प्रवचन रोक दिया और कहा कि सुन, यह अंगूठा क्यों हिल रहा है? जब उन्होंने कहा तो उस आदमी को ख्याल आया, नहीं तो उसको तो ख्याल ही कहां था? जैसे ही बुद्ध ने कहा यह अंगूठा क्यों हिल रहा है, अंगूठा रुक गया। तो बुद्ध ने कहा, अब यह भी बता कि अंगूठा रुक क्यों गया? तो उसने कहा, मैं इसमें क्या कहूं? मुझे कुछ पता ही नहीं। तो बुद्ध ने कहा, तेरा अंगूठा और तुझे पता नहीं तो क्या मुझे पता? तेरा अंगूठा हिल रहा है और तुझे पता नहीं है, तो तू होश में बैठा है कि बेहोश बैठा है? यह अंगूठा तेरा है या किसी और का है? तुझे कहना ही पड़ेगा कि क्यों हिल रहा था। वह कहने लगा, मुझे आप क्षमा करें! मगर मैं कोई उत्तर देने में असमर्थ हूं। मुझे पता ही नहीं।

जब तुम भीतर से बेचैन हो तो उसका कंपन तुम्हारे जीवन पर प्रगट होता रहता है। अंगूठा ऐसे ही नहीं हिल रहा है। भीतर जो ज्वर भरा है, बेहोशी भरी है। भीतर तुम उबल रहे हो। वह उबलन कहीं न कहीं से निकल रही है। भीतर भाप ही भाप इकट्ठी हो गई है तो केतली का बर्तन ऊपर-नीचे हो रहा है। भाप भरी है तो कहीं न कहीं से तो निकालोगे। कहीं पीठ खुजाओगे, कहीं सिर खुजाओगे, कहीं हाथ हिलाओगे, कहीं जम्हाई लोगे, कहीं अंगूठा हिलाओगे, करवट बदलोगे। कुछ न कुछ करोगे। क्योंकि इस करने में थोड़ी-सी ऊर्जा बाहर जायेगी और थोड़ा हल्कापन लगेगा। तुम ऊर्जा से भरते जा रहे हो।

छोटे बच्चों को देखते? बैठ ही नहीं सकते। ऊर्जा भरी है। बैठेंगे तो भी तुम पाओगे...एक मां अपने बच्चे से कह रही थी कि अब तू बैठ जा। देख, छः दफा मैं तुझसे कह चुकी हूं। अब अगर नहीं बैठा तो यह सातवीं वक्त है। भला नहीं फिर अब तेरा। तब बच्चा समझ गया। बच्चे समझ जाते हैं कि कब आ गया आखिरी मामला। कि अब

मां आखिरी घड़ी में है, अब झंझट खड़ी होगी। जब तक वह देखता है कि अभी चलेगा तब तक चला रहा था। तो उसने कहा, अच्छी बात है, बैठा जाता हूं। लेकिन याद रखना, भीतर से नहीं बैठूंगा। बाहर से ही बैठ सकता हूं। तो बैठा जाता हूं। वह बैठ गया कुर्सी पर हाथ-पैर बिलकुल स्थिर करके। लेकिन उसने कहा, एक बात बता दूं कि भीतर से नहीं बैठा हूं। भीतर से तो कोई ऐसे कैसे बैठ सकता है?

तुम भीतर से बैठ जाओ तो तुम्हारे जीवन में सुख की एक आभा तैरने लगती है। ऐसा नहीं कि तुम्हीं को सुख मालूम होगा, तुम्हारी छाया में भी जो आ जायेंगे उनको भी सुख मालूम होगा। तुम्हारे पास जो आ जायेंगे वे भी तुम्हारी शीतलता से आंदोलित हो जायेंगे।

तुम्हें भी कई बार लगता होगा, किसी व्यक्ति के पास जाने से तुम उद्विग्न हो जाते हो। और किसी व्यक्ति के पास जाने से तुम शांत हो जाते। किसी व्यक्ति के पास जाने का मन बार-बार करता है। और कोई व्यक्ति रास्ते पर मिल जाये तो तुम बचकर निकल जाना चाहते हो। शायद साफ-साफ तुमने कभी सोचा भी न हो कि ऐसा क्या है? कभी तो ऐसा होता है कि व्यक्ति से तुम पहले कभी मिले नहीं थे और पहले ही मिलन में दूर हटना चाहते हो, भागना चाहते हो। और ऐसा भी होता है कि कभी पहले मिलन में किसी पर आंख पड़ती है और उसके हो गये। सदा के लिए उसके हो गये।

क्या हो जाता है? भीतर की तरंगें हैं जो गहरे में छूती हैं। कोई व्यक्ति तुम्हें धक्के मारकर हटाता है। कोई व्यक्ति तुम्हें किसी प्रबल आकर्षण में अपने पास खींच लेता है। किसी के पास सुख का स्वाद मिलता है। किसी के पास होने ही से लगता है कि तुम हलके हो गये; जैसे बोझ उतर गया। और किसी के पास जाने से ऐसा लगता है, सिर भारी हो आया; न आते तो अच्छा था। उदास कर दिया उसकी मौजूदगी ने। उसने अपने दुख, अपनी पीड़ायें, अपनी चिंतायें कुछ तुम पर भी फेंक दीं।

स्वाभाविक है, क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति तरंगित हो रहा है। प्रत्येक व्यक्ति अपनी समस्तता को ब्राडकास्ट कर रहा है। उससे तुम बच नहीं सकते। उसके भीतर का गीत चारों वक्त चारों दिशाओं में आंदोलित हो रहा है। तुम उसके पास गये कि तुम पकड़ोगे उसके गीत को। अगर गीत बेसुरा है तो बेसुरेपन को पकड़ोगे। अगर गीत शास्त्रीय संगीत में बंधा है तो डोलोगे, मस्त हो जाओगे।

हर व्यक्ति का स्वाद है। सत्संग का इसीलिए इतना मूल्य है। किसी ऐसे व्यक्ति के पास बैठ जाना, जो शांत हो गया है। तो उससे कभी तुम्हें झलक मिलेगी अपने भविष्य की कि ऐसा कभी मेरे जीवन में भी हो सकता है। जो एक के जीवन में हुआ, दूसरे के जीवन में क्यों नहीं हो सकता? और स्वाद लेते-लेते ही तो आकांक्षा उठती है, अभीप्सा उठती है।

सुखमास्ते सुखं शेते सुखमायाति याति च।
सुखं वक्ति सुखं भुंक्ते व्यवहारेऽपि शांतधीः।।

ज्ञानी व्यवहार में भी, साधारण व्यवहार में भी तुम उसे पाओगे सदा सुख से आंदोलित, आनंदमग्न, मस्ती से भरा। वह बैठा भी होगा तो तुम पाओगे कि उसके पास कोई अलौकिक ऊर्जा नाच रही है। उसके पास किसी ओंकार का नाद है। उसके आसपास कोई अलौकिक संगीतज्ञ, कोई गंधर्व गीत गा रहे हैं।

और अज्ञानी तो जब तुम्हें सुख में भी बैठा हुआ मालूम पड़े तब भी तुम पाओगे, नये दुखों की तैयारियां कर रहा है। अज्ञानी अपने सुख के समय को भी दुखों के बीज बोने में ही तो व्यतीत करता है। और तो क्या करेगा? जब सुख होता है तो वह दुख के बीज बोता है। वह कहता है, अब बो लो, मौका आया है, फसल बो लो। थोड़ा समय मिला है, कर लो इसका उपयोग। लेकिन उपयोग अज्ञानी अज्ञानी की तरह ही तो करेगा न! ज्ञानी दुख में भी सुख के बीज बोता।

हंसकर दिन काटे सुख के
हंस-खेल काट फिर दुख के दिन भी
मधु का स्वाद लिया है तो
विष का भी स्वाद बताना होगा

खेला है फूलों से वह
शूलों को भी अपनाना होगा
कलियों के रेशमी कपोलों को
तूने चूमा है तो फिर
अंगारों को भी अधरों पर
धरकर रे मुसकाना होगा
जीवन का पथ ही कुछ ऐसा
जिस पर धूप-छांव संग रहती
सुख के मधुर क्षणों के संग ही
बढ़ता है चिर दुख का क्षण भी
हंसकर दिन काटे सुख के
हंस-खेल काट फिर दुख के दिन भी

वह जो ज्ञानी है, वह दुख में भी सुख की ही याद करता। वह कहता है, सुख के दिन सुख से काटे, अब दुख के दिन भी सुख से काट। सुख के दिन नाचकर काटे, अब दुख के दिन भी नाचकर ही काट। सुख के दिन प्रार्थना में काटे, अब दुख के दिन भी प्रार्थना में ही रूपांतरित होने दे।

हंसकर दिन काटे सुख के
हंस-खेल काट फिर दुख के दिन भी

अज्ञानी दुख का अभ्यस्त हो जाता है। जब सुख होता है तब सुख से भी नये दुख पैदा करता है।

मैंने सुना है कि एक बार ऐसा हुआ कि एक गरीब दर्जी को लाटरी मिल गई। हमेशा भरता रहता था लाटरी। हर महीने एक रुपया तो लाटरी में लगाता ही था वह। ऐसा वर्षों से कर रहा था। वह उसकी आदत हो गई थी। उसमें कुछ चिंता की बात भी न थी। हर एक तारीख को एक रुपये की टिकट खरीद लेता था। ऐसा वर्षों से किया था। एक बार संयोग लग गया और मिल गई लाटरी--कोई दस लाख रुपये। जब लाटरी की खबर मिली और आदमी दस लाख रुपये लेकर आया तो उसने कहा, बस अब ठीक। उसने उसी वक्त दूकान में ताला लगाया, चाबी कुएं में फेंक दी। दस लाख रुपये लेकर वह तो कूद पड़ा संसार में। अब कौन दर्जी का काम करे! साल भर में दस लाख तो गये ही, स्वास्थ्य भी गया। पुरानी गरीब की जिंदगी की व्यवस्था, वह भी सब अस्तव्यस्त हो गई। पत्नी से भी संबंध छूट गया, बच्चे भी नाराज हो गये। और उसने तो वेश्यालयों में और शराबघरों में और जुआघरों में...सोचा कि सुख ले रहा है। जब साल भर बाद आखिरी रुपया भी हाथ से चला गया तब उसे पता चला कि इस साल मैं जितना दुखी रहा, इतना तो पहले कभी भी न था। यह भी खूब रहा। ये दस लाख तो जैसे जन्मों-जन्मों के दुख उभारकर दे गये। ये दस लाख तो ऐसे अब दुखस्वप्न हो गया।

किसी तरह जाकर फिर चाबी वगैरह बनवाई। अपनी दूकान खोलकर बैठा। लेकिन पुरानी आदत, तो एक रुपया महीने की लाटरी फिर लगाता रहा। संयोग की बात! एक साल बाद फिर वह लाटरीवाला आदमी खड़ा हो गया। उस दर्जी ने कहा, अरे नहीं, अब नहीं। अब क्षमा करो। क्या फिर मिल गई? उस आदमी ने कहा, चमत्कार तो हम को भी है, हम भी हैरान हैं कि फिर मिल गई। उसने कहा, मारे गये! अब रुक भी नहीं सकता वह, दस लाख फिर मिल गये। लेकिन कहा कि मारे गये। घबड़ा गया कि फिर मिल गई, अब फिर उसी दुख से गुजरना पड़ेगा। अब फिर वेश्यालय, फिर शराबघर, फिर जुआघर, फिर वही परेशानी। अब दिन सुख के कटने लगे थे, फिर से अपनी दूकान चलाने लगा था। अब यह फिर मुसीबत आ गई।

आदमी अगर अज्ञानी हो तो जो भी आये वही मुसीबत है। तुम अक्सर पाओगे कि तुम्हें जब सुख के क्षण आते हैं तो तुम उन सुख के क्षणों को भी दुख में रूपांतरित कर लेने में कुशल हो गये हो। तुम तत्क्षण उनको पकड़ लेते हो और कुछ इस ढंग से उनके साथ व्यवहार करते हो कि सब दुख हो जाता है।

धन में कोई दुख नहीं है। और जिन्होंने तुमसे कहा है, धन में दुख है; वे नासमझ रहे होंगे। दुख तुममें है। दुख तुम्हारी मूढ़ता में है। तुमको धन मिल जाता है तो अवसर मिला। धन न हो तो दुख को भी तो खरीदने के लिए सुविधा चाहिए न! दुखी होने के लिए भी तो अवसर मिलना चाहिए।

मैं तुमसे कहता हूं कि धन में दुख नहीं है, दुख तुम्हारी आदत है। हां, बिना धन के शायद तुम उतने दुखी नहीं हो पाते, क्योंकि धन चाहिए न खरीदने को! दुख भी खरीदने के लिए धन तो चाहिए, अवसर तो चाहिए। तुम वेश्यालय नहीं गये क्योंकि सुविधा नहीं थी। तुम सज्जन थे क्योंकि दुर्जन होने के लिए भी मौका चाहिए। तुमने जुआ नहीं खेला क्योंकि खेलने के लिए भी तो पैसे चाहिए। तुम लड़े-झगड़े नहीं क्योंकि कौन झंझट में पड़े--अदालत, मुकदमा, वकील!

लेकिन तुम्हारे पास पैसे आ जायें तो ये सारी वृत्तियां तुममें भरी पड़ी हैं। और ये सारी वृत्तियां प्रगट होने लगेंगी। ऐसा ही समझो कि वर्षा होती है तो जिस जमीन में फूल के बीज पड़े हैं वहां फूल निकल आते हैं और जहां कांटे के बीज पड़े हैं वहां कांटे निकल आते हैं।

तो जिन्होंने तुमसे कहा है धन में दुख है, जरूर कहीं उनके जीवन में दुख की आदत थी। धन तो वर्षा है। जनक जैसे आदमी के पास धन हो तो कुछ अड़चन नहीं। कृष्ण जैसे आदमी के पास धन हो तो कुछ अड़चन नहीं। जिसको सुख की आदत है वह तो निर्धन अवस्था में भी धनी होता है, तो धनी होकर तो खूब धनी हो जाता है।

तुम इस बात को ठीक से समझ लेना। यह मेरे मौलिक आधारों में से एक है। इसलिए मैं तुमसे नहीं कहता कि धन से भागो। मैं तुमसे कहता हूं, धन तो तुम्हें एक आत्मदर्शन का मौका देता है। लोग कहते हैं, अगर शक्ति हाथ में आ जाये तो शक्ति भ्रष्ट करती है। मैं कहता हूं, गलत कहते हैं। लार्ड बेकन ने कहा है, "पावर करप्ट्स एण्ड करप्ट्स एबसोल्यूटली।" गलत कहा है, बिलकुल गलत कहा है। शक्ति कैसे किसी को व्यभिचारी कर देगी? नहीं, तुम व्यभिचारी हो, शक्ति मौका देती है।

इधर इस देश में हुआ। गांधी के अनुयायी थे, सत्याग्रही थे, समाजसेवक थे। जब सत्ता हाथ में आई तो सब भ्रष्ट हो गये। लोग कहते हैं सत्ता ने भ्रष्ट कर दिया। मैं कहता हूं भ्रष्ट थे, सत्ता ने मौका दिया। सत्ता कैसे भ्रष्ट करेगी? तुम बुद्ध को सिंहासन पर बिठाल दो और बुद्ध भ्रष्ट हो जायें तो इसका मतलब यह हुआ कि बुद्ध छोटे हैं, सिंहासन ज्यादा ताकतवर। यह कोई बात हुई! बुद्ध और सिंहासन से हार गये! नहीं, यह कोई बात जंचती नहीं।

अगर सिंहासन से हार जाता है तुम्हारा बुद्धत्व तो उसका इतना ही अर्थ है, बुद्धत्व थोपा हुआ होगा, जबर्दस्ती आरोपित किया हुआ होगा। जब अवसर आया तो मुश्किल हो गई।

नपुंसक होने में ब्रह्मचारी होना नहीं है। जब तुममें ब्रह्मचर्य की वास्तविक ऊर्जा घटेगी तो वह काम-ऊर्जा की ही प्रगाढ़ता होगी। अगर काम-ऊर्जा ही नष्ट हो गई और फिर तुम ब्रह्मचारी हो गये तो वह कोई ब्रह्मचर्य नहीं है। वह धोखा है। वह आत्मवंचना है।

ज्ञानी तो व्यवहार में भी सुखपूर्वक है, शांत है बाजार में भी, दूकान में भी। व्यवहार यानी बाजार और दूकान। और जो ज्ञानी नहीं है वह तो हर हालत में...कभी तुम उसे मंदिर में भी बैठे देखो तो भी तुम उसे मंदिर में पाओगे नहीं। तुम उसके भीतर झांकोगे तो वह कहीं और है। ज्ञानी दूकान पर बैठा हुआ भी अपने भीतर बैठा है--सुखमास्ते। दूकान भी चल रही है। इन दोनों में कोई विरोध थोड़े ही है! दूकान के चलने में क्या विरोध है?

आत्मवान को कोई विरोध नहीं है। अज्ञानी को विरोध है। अज्ञानी कहता है, दूकान चलती है तो मैं तो अपने को भूल ही जाता हूं। दूकान ही चलती है, मैं तो भूल ही जाता हूं। तो मैं अब ऐसी जगह जाऊंगा जहां दूकान नहीं है, ताकि मैं अपने को याद कर सकूं। लेकिन यह अज्ञानी अज्ञान को तो छोड़कर न जा सकेगा। अज्ञान तो साथ चला जायेगा।

ऐसा ही समझो कि जैसे फिल्म तुम देखने जाते हो तो पर्दे पर फिल्म दिखाई पड़ती है, लेकिन फिल्म पर्दे पर होती नहीं। फिल्म तो प्रोजेक्टर में होती है। वह पीछे छिपा है। जो आदमी संसार से भाग गया वह ऐसा आदमी है, जो पर्दे को छोड़कर प्रोजेक्टर लेकर भाग गया। प्रोजेक्टर साथ ही रखे हैं। अब पर्दा नहीं है तो देख नहीं सकता, यह बात सच है, मगर प्रोजेक्टर साथ है। कभी भी परदा मिल जायेगा, तत्क्षण काम शुरू हो जायेगा।

तुम स्त्रियों से भाग जाओ तो परदे से भाग गये। कामवासना तो साथ है, वह प्रोजेक्टर है। किसी दिन स्त्री सामने आ जायेगी, बस...। और ध्यान रखना, अगर तुम भाग गये हो स्त्री से तो स्त्री इतनी मनमोहक हो जायेगी, जितनी कभी भी न थी। क्योंकि जितने तुम तड़फोगे भीतर-भीतर उतनी ही स्त्री सुंदर होती जायेगी। जितने तुम तड़फोगे उतनी ही साधारण स्त्री अप्सरा बनती जायेगी। जितने तुम तड़फोगे उतना ही सौंदर्य तुम उसमें आरोपित करने लगोगे।

भूखा आदमी रूखी-सूखी रोटी में भी बड़ा स्वाद लेता। भरे पेट सुस्वादु भोजन में भी कोई स्वाद नहीं मालूम होता। इसलिए तुम्हारे साधु-संन्यासी स्त्रियों को गाली देते रहते हैं। दो चीजों को गाली देते रहते हैं: कामिनी और कांचन। दो चीजों से बड़े परेशान हैं: स्त्री और धन। बस उनका एक ही राग है--बचो कामिनी से, बचो कांचन से। और उनका राग यह बता रहा है कि ये दो ही चीजें उनको सता रही हैं। धन सता रहा है और स्त्री सता रही है।

स्त्री और धन क्या सतायेंगे! उनके भीतर वासना पड़ी है, वासना के बीज पड़े हैं। परिस्थिति तो छोड़कर भाग गये, मनस्थिति को कहां छोड़ोगे? मन तो साथ ही चला जाता है।

"जो ज्ञानी स्वभाव से व्यवहार में भी सामान्य जन की तरह नहीं व्यवहार करता और महासरोवर की तरह क्लेशरहित है, वही शोभता है।"

अज्ञानी तो लड़ता ही रहता, उलझता ही रहता। कोई बाहर न हो उलझने को तो भीतर उलझन बना लेता, लेकिन बिना उलझे नहीं रह सकता।

क्या-क्या हुआ है हमसे जुनूं में न पूछिये
उलझे कभी जमीं से कभी आसमां से हम

उलझता ही रहता, झगड़ता ही रहता। झगड़ा उसकी जीवन-शैली है। कोई बाहर न मिले तो वह भीतर निर्मित कर लेता है। कोई दूसरा न मिले लड़ने को तो अपने से लड़ने लगता है। लेकिन झगड़ा उसकी प्रकृति है। और अज्ञानी कहीं भी जाये, कुछ भी करे, कुछ भेद नहीं पड़ता।

मुल्ला नसरुद्दीन अपने गधे पर से गिर पड़ा। सारा गांव चकित हुआ, क्योंकि गधा उसको लेकर अस्पताल पहुंच गया। तो मुल्ला के घर लोग पहुंचे और लोगों ने कहा कि बड़े मियां, अल्लाह का शुक्र, लाख-लाख शुक्र कि आपको ज्यादा चोट नहीं लगी। और एक सज्जन ने कहा कि सच कहें तो विश्वास नहीं होता कि गधा इतना समझदार होता है। क्योंकि कहावत तो यही है कि गधा यानी गधा। मगर हद हो गई! आपका गधा कुछ विशिष्ट गधा है! कितना समझदार जानवर कि आपको लेकर अस्पताल पहुंच गया! भरोसा नहीं आता इसकी समझदारी पर। मुल्ला नसरुद्दीन ने कहा, क्या खाक समझदार है, गधों के अस्पताल ले गया था!

गधा ले जायेगा तो गधों के अस्पताल ले जायेगा। वेटनरी अस्पताल ले गया होगा। गधा समझदारी भी करेगा तो कितनी करेगा? एक सीमा है। अज्ञानी समझदारी भी करेगा तो कितनी करेगा? एक सीमा है। उस सीमा के पार अज्ञान नहीं ले जा सकता।

इससे असली सवाल, असली क्रांति, असली रूपांतरण स्थितियों का नहीं है, बोध का है। अज्ञान से मुक्त होना है, संसार से नहीं। अज्ञान से जो मुक्त हुआ, संसार से मुक्त हुआ। मूर्च्छा टूटी, सब टूटा। सब सपने गये--व्यक्तिगत, सामूहिक, सब सपने गये। अज्ञान बचा, तुम कहीं भी जाओ, कहीं भी जाओ--मक्का कि मदीना, काबा कि कैलाश, कुछ फर्क नहीं पड़ता।

स्वभावात् यस्य नैवार्तिलोकवदव्यवहारिणः।
महाह्रद इवाक्षोभ्यो गतक्लेशः सुशोभते।।

"ज्ञानी स्वभाव से व्यवहार में भी...।"

ध्यान रखना स्वभाव से; योजना से नहीं, आचरण से नहीं, स्वभाव से। चेष्टा से नहीं, प्रयास से नहीं, साधना से नहीं, स्वभाव से--स्वभावात्। जहां समझ आ गई वहां स्वभाव से क्रियायें शुरू होती हैं। एक आदमी

शांत होता है चेष्टा से। गौर से देखोगे, भीतर उबलती अशांति, बाहर-बाहर थोपकर, लीप-पोतकर उसने अपने को सम्हाल लिया। ऊपर का थोपा हुआ ज्यादा काम नहीं आता।

मुल्ला नसरुद्दीन पकड़ा गया। किसी की मुर्गी चुरा ली। वकील ने उसको सब समझा दिया कि क्या-क्या कहना। रटवा दिया कि देख, इससे एक शब्द इधर-उधर मत जाना। वह सब रट लिया, कंठस्थ कर लिया। वकील को कई दफे सुना भी दिया। वकील ने कहा, अब बिलकुल ठीक। अपनी पत्नी को भी सुना दिया। रात गुनगुनाता रहा, सुबह अदालत में भी गया और मुकदमा जीत भी गया, क्योंकि वकील ने ठीक-ठीक पढ़ाया था। उसने वही-वही कहा जो वकील ने पढ़ाया था। मजिस्ट्रेट ने कई तरह से पूछा, विपरीत वकील ने कई तरह से खोज-बीन की, लेकिन वह टस से मस न हुआ। सबको पता है कि मुर्गी उसने चुराई है। मजिस्ट्रेट को भी पता--छोटा गांव। और वह कई औरों की भी मुर्गियां चुरा चुका है तो सभी को, गांव को पता है कि है तो मुर्गी-चोर। लेकिन डटा रहा।

आखिर मजिस्ट्रेट ने कहा कि अब हार मान गये। ठीक है तो तुम्हें मुक्त किया जाता है नसरुद्दीन। तो भी वह खड़ा रहा। मजिस्ट्रेट ने कहा, अब खड़े क्यों हो? तुम्हें मुक्त किया जाता है। तो उसने कहा, इसका क्या मतलब? मुर्गी मैं रख सकता हूं?

वह चोरी भीतर है तो कहां जायेगी? वह सब पढ़ाया-लिखाया व्यर्थ हो गया। आदमी कितना ही ऊपर से आरोपण कर ले, कोई न कोई बात भीतर से फूट ही पड़ती है, खबर दे जाती है।

तुम कितने ही शांत बनो ऊपर से, तुम कितने ही सज्जन बनो, तुम कितने ही सुशील बनो, तुम कितना ही अभिनय करो, कोई न कोई बात कहीं न कहीं से बहकर निकल आयेगी। क्योंकि तुम जो हो उसको ज्यादा देर झुठलाया नहीं जा सकता।

गुरजिएफ कहता था कि मेरे पास कोई आदमी तीन घंटे रह जाये तो मैं जान लेता हूं क्या है उसकी असलियत। क्योंकि तीन घंटे तक भी अपने झूठ को खींचना मुश्किल हो जाता है। इसीलिए तो धोखा होता है।

जिनसे तुम रास्ते पर मिलते हो, जिनसे सिर्फ संबंध "जैरामजी" का है, उनको तुम समझते हो, बड़े सज्जन हैं। रास्ते पर मिले, "जैरामजी" कर लिया, अपने-अपने घर चल गये। उतनी देर के लिए आदमी सम्हाल लेता है। मुस्कुरा दिया, तुम्हें देखकर प्रसन्न हो गया, बाग-बाग हो गया। और तुमने कहा, कैसा भला आदमी है! जरा पास आओगे तब भलाई-बुराई पता चलनी शुरू होगी। निकट आओगे तब कठिन होने लगेगा।

यही तो रोज सारी दुनिया में होता है। किसी स्त्री के प्रेम में पड़ गये, कोई स्त्री तुम्हारे प्रेम में पड़ गई, तब दोनों कितने सुंदर! और दोनों का प्रेम कैसा अदभुत! ऐसा कभी पृथ्वी पर हुआ नहीं और कभी होगा भी नहीं।

फिर विवाह कर लो, फिर धीरे-धीरे जमीन पर उतरोगे। असलियत प्रगट होना शुरू होगी। वह जो ऊपर-ऊपर का आवरण था, वह जो लीपा-पोता आवरण था, वह टूटेगा। क्योंकि कितनी देर उसे खींचोगे? असलियत निकलकर रहेगी। आरोपण थोड़ी-बहुत देर चल सकता है, असलियत प्रगट होकर रहेगी।

तो जो दो व्यक्ति करीब-करीब रहेंगे तो असलियत प्रगट होनी शुरू होती है। दूर-दूर से सभी ढोल सुहावने मालूम होते हैं।

ज्ञानी की यही खूबी है कि वह स्वभावात, स्वभाव से...स्वभाव का अर्थ होता है, जाग्रत होकर जिसने स्वयं को जाना, पहचाना, जिसकी अंतर्प्रज्ञा प्रबुद्ध हुई, जिसके भीतर का दीया जला, जो अब अपने स्वभाव को पहचान लिया। अब इससे अन्यथा होने का उपाय न रहा। अब तुम उसे कैसी भी स्थिति में देखोगे, तुम उसे हमेशा अपने स्वभाव में थिर पाओगे।

"जो ज्ञानी स्वभाव से व्यवहार में भी सामान्य जन की तरह नहीं व्यवहार करता और महासरोवर की तरह क्लेशरहित है वही शोभता है।"

संस्कृत में जो शब्द है वह है, लोकवत। वह "सामान्य जन" से ज्यादा बेहतर है। लोकवत का अर्थ होता है भीड़ की भांति। जो भीड़ की तरह व्यवहार नहीं करता।

भीड़ का व्यवहार क्या है? भीड़ का व्यवहार धोखा है। हैं कुछ, दिखाते कुछ। हैं कुछ, बताते कुछ। कहते कुछ, करते कुछ। दूर-दूर से एक मालूम होते हैं, पास आओ, कुछ और मालूम होते हैं। दूर से तो चमकते सोने की तरह, पास आओ तो पीतल भी संदिग्ध हो जाता है कि पीतल भी हैं या नहीं। हो सकता है, पीतल का भी पालिश ही हो। भीड़ का व्यवहार धोखे का व्यवहार है, प्रवंचना का व्यवहार है। ज्ञानी सहज होता, नग्न होता। जैसा है वैसा ही होता है। रुचे तो ठीक, न रुचे तो ठीक। तुम्हारे कारण ज्ञानी अपने को किन्हीं ढांचों में नहीं ढालता। तुम्हारी अपेक्षाओं के अनुकूल व्यवहार नहीं करता। जैसा है वैसा ही व्यवहार करता है। रुचे ठीक, न रुचे ठीक। ज्ञानी तुम्हें देखकर व्यवहार नहीं करता, अपने स्वभाव से व्यवहार करता है। शायद बहुतों को न भी रुचे। क्योंकि जो झूठ में बहुत पारंगत हो गये हैं उनको यह सचाई न रुचेगी। जो झूठ में बहुत कुशल हो गये हैं उनको इस सच में खतरा मालूम पड़ेगा। उनको उनके झूठ के टूट जाने का भय मालूम पड़ेगा।

इसलिए ज्ञानियों पर भीड़ सदा नाराज रहती है। हां, जब ज्ञानी मर जाते हैं, तब उनकी पूजा करती है। क्योंकि मरे ज्ञानियों में कोई खतरा नहीं है। जीवित ज्ञानी के सदा भीड़ विरोध में रहती है--रहेगी ही। क्योंकि जीवित ज्ञानी की मौजूदगी ही बताती है कि भीड़ झूठ है। और जीवित ज्ञानी के पास आकर तुम्हें अपनी असली तस्वीर दिखाई पड़ने लगती है। जीवित ज्ञानी कसौटी है; उसके पास आते ही पता चल जाता है कि तुम सोना हो कि पीतल।

और कोई मानने को तैयार नहीं होता कि पीतल है। जानते हो, फिर भी मानने को तैयार नहीं होते कि पीतल हो। जानते हो कि पीतल हो लेकिन फिर भी घोषणा करते रहते हो स्वर्ण होने की। जितना पता चलता है पीतल हो, उतने ही जोर से चिल्लाते हो कि स्वर्ण हूं। अपने को बचाना तो होता। अहंकार अपनी सुरक्षा तो करता। इसलिए ज्ञानी से लोग नाराज होते हैं।

महावीर नग्न खड़े हो गये। यह समस्त ज्ञानियों का व्यवहार है--चाहे उन्होंने कपड़े उतारे हों, या न उतारे हों; लेकिन समस्त ज्ञानी नग्न खड़े हो जाते हैं। जैसे हैं वैसे खड़े हो जाते हैं--बालवत, स्वाभाविक।

"जो ज्ञानी स्वभाव से व्यवहार में भी लोकवत व्यवहार नहीं करता...।"

जो साधारण स्थितियों में भी भीड़ का आचरण, अंधानुकरण नहीं करता, जिसके होने में एक निजता है, जिसके होने में अपने स्वभाव की एक धारा है, स्वच्छंदता है, जिसका स्वयं का गीत है, जो तुम्हारे अनुसार अपने को नहीं ढालता।

अब तुम जरा देखो, तुम्हारे मुनि हैं, तुम्हारे महात्मा हैं, वे तुम्हारे अनुसार अपने को ढाले बैठे हैं। इसलिए तुम उनकी पूजा कर रहे हो। तुमने महावीर की पूजा नहीं की, महावीर को पत्थर मारे और जैन मुनि की पूजा कर रहे हो। क्योंकि महावीर ने तुम्हारे अनुसार अपने व्यवहार को नहीं ढाला। महावीर ने तो अपनी उदघोषणा की। जैसे थे वैसी उदघोषणा की। वे तुम्हें न रुचे लेकिन तुम्हारा जैन मुनि तुम्हें रुचता है। क्योंकि वह तुम्हारा अनुयायी है। तुम जैसा कहते हो वैसा व्यवहार करता है। तुम कहते हो मुंह पर पट्टी बांधो तो मुंह पर पट्टी बांधकर बैठ जाता है; चाहे सर्कसी मालूम पड़े लेकिन मुंह पर पट्टी बांधकर बैठ जाता है। तुम जैसा कहते हो वैसा उठता, वैसा बैठता, वैसा चलता। वह बिलकुल आज्ञाकारी है। इतने आज्ञाकारी व्यक्तियों को तुम पूजा न दो तो किसको पूजा दो?

उनका व्यवहार लोकवत है, स्वाभाविक नहीं है। स्वाभाविक होने का तो अर्थ हुआ क्रांतिकारी। स्वभाव तो सदा विद्रोही है। स्वभाव का तो अर्थ हुआ कि जैसी मौज होगी, जैसा भीतर का भाव होगा, जैसी लहर होगी। स्वाभाविक आदमी तो लहरी होता है। उसके ऊपर कोई आचरण के बंधन और मर्यादायें नहीं होतीं।

इसीलिए तो राम को तुम याद करते हो, कृष्ण को हटाकर रखा है। कृष्ण का व्यवहार स्वाभाविक है, राम का व्यवहार मर्यादा का है। राम हैं मर्यादा-पुरुषोत्तम। कृष्ण का व्यवहार बड़ा भिन्न है। कृष्ण का व्यवहार अनूठा है। कोई मर्यादा नहीं है, अमर्याद है। कृष्ण स्वच्छंद हैं। तो राम ज्यादा से ज्यादा सज्जन। संतत्व तो कृष्ण में प्रगट हुआ है। राम ज्यादा से ज्यादा लोकमान्य, क्योंकि लोकवत। कृष्ण लोकमान्य कभी नहीं हो सकते।

जो लोग उन्हें लोकमान्य बनाने की कोशिश करते हैं वे भी उनमें कांट-छांट कर लेते हैं। उतना ही बचा लेते हैं जितना ठीक। जैसे सूरदास हमेशा उनके बचपन के गीत गाते हैं, उनकी जवानी के नहीं। क्योंकि बचपन में ठीक है कि तुमने मटकी फोड़ दी, बचपन में ठीक है कि तुमने शैतानी की। लेकिन सूरदास को भी अड़चन मालूम होती है, जवान कृष्ण ने जो मटकियां फोड़ीं उन पर जरा अड़चन मालूम होती है। कि स्त्रियों के वस्त्र लेकर झाड़ पर बैठ गये, इसमें जरा अड़चन मालूम होती है।

महात्मा गांधी गीता के कृष्ण की बात करते हैं लेकिन भागवत के कृष्ण की बात नहीं करते। क्योंकि भागवत का कृष्ण तो खतरनाक है। गीता के कृष्ण में तो कृष्ण कुछ है ही नहीं, सिर्फ बातचीत है। कृष्ण के आचरण के संबंध में तो कुछ भी नहीं है। कृष्ण का वक्तव्य है गीता, कृष्ण का जीवन नहीं है। कृष्ण का जीवन तो भागवत है। गीता में तो बड़ी आसानी है। लेकिन वहां भी लीपा-पोती करनी पड़ती है। वहां भी गांधी को कहना पड़ता है, युद्ध सच्चा नहीं है, काल्पनिक है। यह जो युद्ध हो रहा है, कौरव-पांडव के बीच नहीं है, बुराई और भलाई के बीच हो रहा है। इतनी उनको कहनी ही पड़ती बात, क्योंकि वे अहिंसक। युद्ध हो रहा है और अगर युद्ध असली है, और कृष्ण अगर असली युद्ध करवा रहे हैं तो पाप हो रहा है।

कृष्ण कोई मर्यादा नहीं मानते। अहिंसा की मर्यादा नहीं, समाज की मर्यादा नहीं, कोई मर्यादा नहीं मानते। जीवन की परम स्वतंत्रता और जीवन जैसा हो वैसा ही होने देने का अपूर्व साहस...।

नहीं, कृष्ण छोटे-मोटे ढांचे में नहीं ढाले जा सकते। अड़चन है। इसलिए राम भाते हैं।

गांधी कहते थे कि गीता मेरी माता है, लेकिन मरते वक्त जो नाम निकला, मुंह से निकला, "हे राम!" कृष्ण कहीं गहरे गये नहीं। मरते वक्त वही निकला जो भीतर गहरे था। राम की याद आई।

इसे खयाल रखना।

"जो ज्ञानी व्यवहार में भी स्वाभाविक है और लोकवत व्यवहार नहीं करता और महासरोवर की तरह क्लेशरहित है वही शोभता है।"

अब यह महासरोवर की तरह क्लेशरहित, इसका मतलब समझो। महासरोवर को कभी तुमने लहरों से शांत देखा? महासरोवर का मतबल होता है सागर। सागर को तुमने कभी शांत देखा? वहां तो लहरें उठती हैं, उत्तुंग लहरें उठती हैं। लहरें ही लहरें उठती हैं। सागर कोई झील थोड़े ही है, कोई स्विमिंग पूल थोड़े ही है। सागर तो सागर है, महासागर है। जितना बड़ा सागर है उतनी बड़ी उत्तुंग लहरें हैं। आकाश छूनेवाली लहरें उठती हैं। अब यह वाक्य बड़ा अदभुत है:

महाह्रद इवाक्षोभ्यः गतक्लेशः सुशोभते।

और जैसा महासागर क्षोभरहित है ऐसा ही ज्ञानी है।

क्या मतलब हुआ इसका? महासागर तो सदा ही लहरों से भरा है। अष्टावक्र यह कह रहे हैं कि लहरों से खाली होकर जो क्षोभरहित हो जाना है वह भी कोई क्षोभरहितता है? लहरें उठ रही हैं और फिर भी शांति अखंडित है। संसार में खड़े हैं और संन्यास अखंडित है। जल में कमलवत। सागर लहरों से भरा है, लेकिन क्षुब्ध थोड़े ही है! जरा भी क्षुब्ध नहीं है, परम अपूर्व शांति में है। तुम्हें शायद लगता हो किनारे पर खड़े होकर कि क्षुब्ध है। वह तुम्हारी गलती है। वह सागर का वक्तव्य नहीं है, वह तुम्हारी व्याख्या है। सागर तो परम शांत है। ये लहरें उसकी शांति की ही लहरें हैं। इन लहरों में भी शांत है। इन लहरों के पीछे भी अपूर्व अखंड गहराई है। ये लहरें उसकी शांति के विपरीत नहीं हैं। इन लहरों का शांति में समन्वय है।

जीवन वहीं गहरा होता है जहां विरोधी को भी आत्मसात कर लेता है। इसे खूब खयाल में रखना। जहां विरोध छूट जाता है वहां जीवन अपंग हो जाता है। जहां विरोध कट जाता है वहां जीवन दुर्बल हो जाता है। जहां विरोध को तुम बिलकुल अलग काटकर फेंक देते हो वहीं तुम दरिद्र और दीन हो जाते हो। जीवन की महत्ता, जीवन का सौरभ, जीवन की समृद्धि विरोध में है। जहां विरोधों की मौजूदगी में संगीत पैदा होता है, बस वहीं।

विपरीत से भागना मत, विपरीत का अतिक्रमण करना। भगोड़े मत बनना।

सागर अगर लहरों से भाग जाये तो क्या होगा? जा सकता है भागकर हिमालय। जम जाये बर्फ की तरह, फिर लहरें नहीं उठतीं। बर्फ की तरह जमा हुआ तुम्हारा संन्यास अब तक रहा है। बर्फ की तरह जमा हुआ, मुर्दा। कोई गति नहीं, कोई तरंग नहीं, कोई संगीत नहीं। ठंडा। कोई ऊष्मा नहीं, कोई प्रेम नहीं। निर्जीव!

होना चाहिए महासागर की तरह तुम्हारा संन्यास। नाचता हुआ! आकाश को छूने की अभीप्सा से भरा। उत्तुंग लहरोंवाला और फिर भी शांत। इसलिए यह अदभुत वचन है।

"मूढ़ पुरुष का वैराग्य विशेष कर परिग्रह में देखा जाता है। लेकिन देह में गलित हो गई है आशा जिसकी, ऐसे ज्ञानी को कहां राग है, कहां वैराग्य!"

यह सूत्र भी बड़ा अनूठा है।

परिग्रहेषु वैराग्यं प्रायो मूढ़स्य दृश्यते।
देहे विगलिताशस्य क्व रागः क्व विरागता।।

अनूठा है सूत्र।

परिग्रहेषु वैराग्यं प्रायो मूढ़स्य दृश्यते।

"मूढ़ का जो वैराग्य है वह परिग्रहकेंद्रित होता है।"

समझो। मूढ़ का जो वैराग्य है वह परिग्रह से ही निकलता है, परिग्रह के विपरीत निकलता है। वह कहता है, धन छोड़ो। पहले धन पकड़ता था, अब कहता है धन छोड़ो। मगर धन पर नजर अटकी है। पहले दीवाना था, कांचन...कांचन...कांचन। सोना...सोना...सोना...सोना। सोने में सोया था। अब कहता है, जाग गया हूं लेकिन अब भी सोने की ही बातें करता है। कहता है सोना छोड़ो, कांचन छोड़ो। यह छोड़ने में भी पकड़ जारी है। अभी छूटी नहीं है बात। यह कहता है सोना मिट्टी। लेकिन अगर मिट्टी ही है तो मिट्टी को क्यों मिट्टी नहीं कहते? सोने को क्यों? बात खतम हो गई।

मैंने सुना है, महाराष्ट्र की बड़ी प्राचीन कथा है रांका-बांका की। रांका ठीक वैसा ही रहा होगा, जिसका संन्यास परिग्रह के विपरीत निकला। तो वह लकड़ियां काटता, बेचता, उससे जो मिल जाता उससे भोजन कर लेता। सांझ जो बचता वह बांट देता, रात घर में न रखता। परम त्यागी। लेकिन एक बार बेमौसम वर्षा हो गई। तीन चार दिन वर्षा होती रही। जंगल न जा सका। भूखे रहना पड़ा। उसकी पत्नी बांका, वे दोनों भूखे रहे। चौथे दिन गये जंगल, लकड़ियां काटकर आता था रांका आगे-आगे लकड़ियां लिये, पीछे पत्नी भी लकड़ियां ढो रही है। देखा, राह के किनारे एक अशर्फियों से भरी थैली पड़ी है। जल्दी से लकड़ियां नीचे पटकीं, थैली को गड्ढे में डाला, ऊपर से मिट्टी डाल दी।

जब वह मिट्टी डाल ही रहा था, डालने को चुक ही रहा था काम पूरा करके कि उसकी पत्नी आ गई। उसने पूछा क्या करते हो? तो कसम तो खाई थी सच बोलने की। झूठ बोल नहीं सकता था। तो उसने कहा, बड़ी मुश्किल हो गई। यह आचरण ऊपर से आरोपित होता तो ऐसी मुश्किल आती। कसम खाई थी सत्य बोलने की तो असत्य तो बोल नहीं सकता। तो कहा कि अब सुन। मैं चलता था तो देखा अशर्फियां पड़ी हैं। किसी राहगीर की गिर गई होंगी। उनको गड्ढे में डालकर मिट्टी डाल रहा था कि कहीं तू है--तू ठहरी स्त्री! कहीं तेरा मन लुभायमान न हो जाये। फिर तीन दिन के भूखे हैं हम। कहीं मन में भाव न आ जाये कि उठा लें। तुझे बचाने के लिए इनको डाल दिया गड्ढे में, मिट्टी ऊपर से फेंक दी।

कहते हैं, बांका हंसने लगी। उसी दिन से उसका नाम बांका हुआ। बांकी औरत रही होगी। हंसने लगी, खूब हंसने लगी। रांका बड़ा हैरान हुआ। उसने कहा, बात क्या है? हंसती क्यों हो?

उसने कहा, मैं इसलिए हंसती हूं कि तुम मिट्टी पर मिट्टी डालते हो। मिट्टी पर मिट्टी डालते तुम्हें शर्म नहीं आती?

अब ये दो दृष्टिकोण हैं। एक है त्यागी। उसका त्याग भी परिग्रहकेंद्रित है। अभी सोना दिखाई पड़ता है। लाख कहे कि सोना मिट्टी है मगर अभी सोना दिखाई पड़ता है। मिट्टी कहता ही इसलिए है ताकि जो दिखाई पड़ता है उसको झुठला दे। अभी सोना पुकारता है। अभी सोना बुलाता है। अभी सोने में निमंत्रण है। मिट्टी कह-कहकर समझाता है अपने को कि मिट्टी है, कहां चले? मत जाओ, बिलकुल मत जाओ, मिट्टी है। मगर सोना अभी सोना है।

यह जो बांका ने कहा, यह परम त्याग है। यह ठीक संन्यास है। मिट्टी पर मिट्टी डालते हुए शर्म नहीं आती? यह बात ही बेहूदी है।

सोना जैसा है वैसा है। इसके पीछे पागल होना तो पागलपन है ही, इसको छोड़कर भागना भी पागलपन है। जागना है। जान लेना है।

"मूढ़ पुरुष का वैराग्य विशेषकर परिग्रह में ही केंद्रित होता है।"

जिन चीजों से मूढ़ पुरुष भागता है उन्हीं से घिरा रहता है।

"लेकिन देह में गलित हो गई है आशा जिसकी, ऐसे ज्ञानी को कहां राग है, कहां वैराग्य?"

ऐसा ज्ञानी वीतराग है। वह विरागी नहीं है। विरागी कोई अच्छा शब्द नहीं है, वह रागी के विपरीत शब्द है। और जो रागी के विपरीत है वह राग से अभी बंधा है। विपरीत सदा बंधा रहता है।

तुमने खयाल किया? मित्र चाहे भूल भी जायें, दुश्मन नहीं भूलता। दुश्मन से एक बंधन बना रहता है। दुश्मन से भी एक लगाव है, एक कड़ी जुड़ी है। जिससे तुम्हारा विरोध हो उससे तुम्हारी कड़ी जुड़ी है।

अष्टावक्र कहते हैं, ज्ञानी को कहां राग कहां वैराग्य! मजा यह है कि संसार से जो भाग जाते हैं उनका संसार समाप्त नहीं होता, नये-नये रूपों में प्रगट होता है। वैराग्य के नाम से प्रगट होता है।

कुम्हलाया देवता तक पहुंचकर भी फूल
रहा अम्लान धूल में गिरकर भी शूल

कभी देखा तुमने? फूल देवता के चरणों में भी चढ़ा दो तो भी कुम्हला जाता है। और शूल, कांटा धूल में भी गिर जाये तो भी नहीं कुम्हलाता।

इस जीवन में हमारी समझदारी फूल जैसी कोमल है। वह देवता के चरणों में भी चढ़ती है तो भी कुम्हला जाती है। और हमारी नासमझी शूल की तरह है। वह धूल में भी गिर जाती है तो भी नहीं कुम्हलाती; तो भी ताजी बनी रहती है। कांटा वृक्ष से टूटकर कुछ कम कांटा नहीं हो जाता, ज्यादा ही कांटा हो जाता है। फूल वृक्ष से टूटकर कुम्हला जाता है, नष्ट हो जाता है।

हमारी समझदारी बड़ी कोमल, बड़ी क्षीण। और हमारी नासमझी बड़ी प्रगाढ़। संसार से भी भाग जाते हैं तो भी नासमझी नहीं छूटती। जारी रहती नये-नये रूपों में, नये-नये ढंग में। नये-नये वेश पहनकर आ जाती है। अंतर नहीं पड़ता।

उसी की नासमझी मिटती है--"हो गई है देह में गलित आशा जिसकी"। जिसने यह जान लिया कि मैं देह नहीं हूं। जिसने जान लिया कि मैं कौन हूं।

देहे विगलिताशस्य क्व रागः क्व विरागता।

जिसने पहचान लिया कि मैं शरीर नहीं हूं। सब राग, सब विराग शरीर के हैं। राग भी शरीर से होता है, विराग भी शरीर से होता है। तुम स्त्रियों के पीछे पागल थे, एक दिन थक गये और तुमने कहा अब तो विराग हो गया।

एक मेरे मित्र हैं, एक दिन आये और कहने लगे, अब तो संन्यास ले लेना है। मैंने कहा हुआ क्या? उन्होंने कहा, दिवाला निकल गया। दिवाला निकल गया इसलिए संन्यास। यह कोई संन्यास होगा जो दिवाला निकलने से आता है? यह एक स्वाद था अब तक जो बेस्वाद हो गया। अब उसके विपरीत चले। अब दिवाला निकल

गया, धन तो बचा नहीं, अब कम से कम विरागी होने का मजा ले लें। अब वैराग्य सही। मगर अंतर नहीं पड़ रहा है।

वीतरागता का अर्थ है, न कोई राग है न कोई वैराग्य है। संतुलित हुए। स्वयं में थिर हुए। ये दोनों दृष्टियां व्यर्थ हैं। अब न संसार में कुछ पकड़ है, न छोड़ने का कोई आग्रह है। रहे संसार, प्रभु-मर्जी। जाये संसार, प्रभु-मर्जी। यह संसार जैसा है वैसा ही रहा आये, ठीक। यह इसी क्षण खो जाये तो भी ठीक।

ज्ञानी अगर अचानक पाये कि सारा संसार खो गया है और वह अकेला ही खड़ा है तो भी चिंता पैदा न होगी कि कहां गया, क्या हुआ? उसके लिए तो वह कभी का जा चुका था। यह संसार और बड़ा हो जाये, हजार गुना हो जाये तो भी उसे कोई अंतर न पड़ेगा। जिसका संबंध टूट चुका देह से, हो गई गलित जिसकी आशा देह में, अब उसके लिए कोई अंतर नहीं पड़ता।

"मूढ़ पुरुष की दृष्टि सदा भावना और अभावना में लगी है लेकिन स्वस्थ पुरुष की दृष्टि भाव्य और अभावन से युक्त होकर भी दृश्य के दर्शन से रहित रूपवाली होती है।"

भावनाभावनासक्ता दृष्टिर्मूढ़स्य सर्वदा।
भाव्यभावनया सा तु स्वस्थयादृष्टिरूपिणी।।

यह सूत्र भी महत्वपूर्ण है।

मूढ़ पुरुष की दृष्टि सदा ऐसा कर लूं, वैसा कर लूं, ऐसा हो, वैसा हो, यह प्रीतिकर है, यह अप्रीतिकर है, इसमें मेरा राग है, इसमें विराग है, ऐसे चुनाव में पड़ी है। इसके मैं पक्ष में हूं, इसके विपक्ष में हूं, ऐसे द्वंद्व में उलझी है। भावना और अभावना में लगी है।

कभी कहता है धन में मेरा भाव है, कभी कहता है, धन से मेरा भाव चुक गया। कभी कहता है धन में आकर्षण है, कभी कहता है धन में मेरा विकर्षण पैदा हो गया है। लेकिन विकर्षण आकर्षण ही है शीर्षासन करता हुआ। कुछ फर्क नहीं हुआ--भावना या अभावना।

"लेकिन स्वस्थ पुरुष की दृष्टि भाव्य और अभावन से युक्त होकर भी दृश्य के दर्शन से रहित रूपवाली होती है।"

वह जो स्वस्थ पुरुष है--और स्वस्थ का अर्थ है, जो स्वयं में स्थित है। जो स्वस्थ पुरुष है, जो अपने घर आ गया, अपने केंद्र पर आ गया, जो अपने स्वयं के सिंहासन पर विराजमान हो गया, स्वभावात् हो गया, स्वभावात्--जो आ गया स्वभाव में, ऐसा पुरुष भाव्य और अभावन से युक्त होकर भी...।

इसका यह मतलब नहीं है कि ऐसे पुरुष के सामने तुम थाली में पत्थर रख दोगे तो वह पत्थर खाने लगेगा, क्योंकि अब उसे कुछ अंतर नहीं रहा। ऐसा पागलपन मत समझ लेना। कुछ लोगों को यह भी भ्रांति चढ़ी हुई है कि परमहंस का यही अर्थ होता है कि उनको कुछ भेद ही न रहा।

इस सूत्र को समझो। कि वह गंदगी भी रख दो उनकी थाली में तो उन्हें कोई अंतर नहीं है। कि उसी थाली में वे भोजन कर रहे हैं, उसी में कुत्ता भी आकर भोजन करने लगे, तो उन्हें कुछ भेद नहीं है। ऐसा लोगों को परमहंस के संबंध में खयाल है। और इस खयाल के कारण कई नासमझ इस तरह के परमहंस भी हो जाते हैं।

जिस चीज को आदर मिलता है, आदमी वही हो जाता है। इसका भी अभ्यास कर लो तो यह भी हो जाता है। इसमें भी कोई अड़चन नहीं है। कोई अड़चन नहीं है। गंदगी की भी आदत डाल लो तो कोई अड़चन नहीं है।

मैंने सुना है, एक गांव में एक पगले रईस को सनक सवार हुई। उसके पास एक मकान में बहुत-सी भेड़ें और बकरियां थीं। वहां इतनी बदबू आती थी भेड़ और बकरियों की कि उसने ऐसे ही मजाक-मजाक में एक दिन अपने मित्रों से गोष्ठी में कह दिया कि जो व्यक्ति रात भर इस कमरे में रुक जाये उसको मैं एक हजार रुपया दूंगा।

कई ने कोशिश की। एक हजार रुपया कौन छोड़ना चाहे? रात भर की बात है। लेकिन घंटे भर से ज्यादा कोई नहीं टिक सका। बास ही ऐसी थी। भेड़ें और बकरियां! और सालों से वहां रह रही थीं, उनकी बास बुरी तरह भर गई थी। और अभी भी भेड़ें और बकरियां वहां अंदर थीं। उनके बीच में आसन लगाकर बैठना...कोई परमहंस ही कर सकता है। इतनी बदबू बढ़ जाये कि सिर भन्नाने लगे और आदमी भागकर बाहर आ जाये। वह कहे कि भाड़ में जायें तुम्हारे हजार रुपये। आखिरी आदमी जो कोशिश कर सका वह एक घंटे तक कर सका।

फिर आया मुल्ला नसरुद्दीन। उसने कहा, एक मौका मुझे भी दिया जाये। वह जैसे ही अंदर जाकर बैठा कि मालिक भी हैरान हुआ कि भेड़ें-बकरियां बाहर निकलने लगीं। घंटे भर में तो पूरा कमरा खाली हो गया। उसने खिड़की से जाकर भी देखा कि यह भगा तो नहीं रहा उनको? बाहर तो नहीं निकाल रहा? लेकिन वह तो अपना पद्मासन जमाये बीच में बैठा था। उसने कुछ गड़बड़ की नहीं थी। उसने हाथ भी नहीं लगाया था। वह बड़ा हैरान हुआ।

कहते हैं, उसने भेड़ों-बकरियों से पूछा कि सुनो भी! कहां भागी जा रही हो? उन्होंने कहा, वह आदमी इतनी भयंकर बदबू फेंक रहा है। कभी जन्मों से नहीं नहाया होगा यह आदमी। अंदर रहना मुश्किल है।

कुछ लोग इसको परमहंस होना समझते हैं। परमहंस होने का यह अर्थ नहीं होता कि पता नहीं चलता कि क्या सही और क्या गलत, क्या सुंदर क्या असुंदर! परमहंस होने का अर्थ अष्टावक्र के इस सूत्र में है।

"लेकिन स्वस्थ पुरुष की दृष्टि भाव्य और अभावन से युक्त होकर भी...।"

वह जानता है--क्या ठीक, क्या गलत; क्या सुंदर, क्या नहीं सुंदर; क्या करने योग्य, क्या नहीं करने योग्य, सब जानता है। लेकिन फिर भी अपने को इनसे भिन्न जानता है। द्रष्टा पर उसका ध्यान होता है, दृश्य पर उसका ध्यान नहीं होता। जानता है क्या भोजन करने योग्य है और क्या भोजन नहीं करने योग्य है, लेकिन इनमें बंधा नहीं होता। इनके पार अपने स्वयं के होने को जानता है कि मैं इनसे भिन्न हूं; दृश्य से सदा भिन्न हूं, ऐसे द्रष्टा में थिर होता है।

भावनाभावनासक्ता दृष्टिर्मूढ़स्य सर्वदा।

मूढ़ पुरुष की दृष्टि तो बस इसी में समाप्त हो जाती। मूढ़ पुरुष तो इसी में समाप्त हो जाता है कि यह अच्छा, यह बुरा। इससे अतिरिक्त उसका अपना कोई होना नहीं है। बस, क्या करूं क्या न करूं, क्या पाऊं क्या गवाऊं, इसी में सब समाप्त हो जाता है। इन दोनों के पार अतिक्रमण करनेवाली कोई चैतन्य की दशा उसके पास नहीं है--कि मैं करने के पार हूं, न करने के पार हूं। सुख के पार हूं, दुख के पार हूं। सुंदर के पार हूं, असुंदर के पार हूं। ऐसी उसके पास कोई दृष्टि नहीं है। पार की दृष्टि नहीं है। पारगामी कोई दृष्टि नहीं है।

भाव्यभावनया सा तु स्वस्थयादृष्टिरूपिणी।

और ज्ञानी जो है, स्वस्थ जो है, उसे भी दिखाई पड़ता है, क्या करने योग्य है, क्या नहीं करने योग्य; क्या चुनने योग्य, क्या नहीं चुनने योग्य। लेकिन साथ ही साथ इससे गहरे तल पर उसे यह भी दिखाई पड़ता रहता है कि मैं द्वंद्व के पार हूं। मैं इन दोनों के पार हूं। मेरा होना बड़ी दूर है। मैं इनसे अछूता हूं, अस्पर्शित हूं। मैं द्रष्टा हूं, दृश्य नहीं। दिखाई तो उसे सब पड़ता है लेकिन उसे द्रष्टा भी दिखाई पड़ता है।

तुम्हें सिर्फ दिखाई पड़ती हैं चीजें, तुम स्वयं नहीं दिखाई पड़ते। तुम सब देख लेते हो, अपने से चूक जाते हो। द्रष्टा को सब दिखाई पड़ता और एक नई चीज और दिखाई पड़ती है: स्वयं का होना दिखाई पड़ता है।

तो ऐसा नहीं है कि परमहंस जो है वह दीवाल में से निकलने की कोशिश करेगा। क्योंकि उसको क्या भेद दीवाल में और क्या दरवाजे में! ऐसा आदमी मूढ़ है, परमहंस नहीं। और ऐसा अक्सर हुआ है कि पूरब में न मालूम कितने मूढ़ पुरुष पूजे जाते रहे हैं इस आशा में कि वे परमहंस हैं।

मैं जानता हूं, मेरे गांव में एक सज्जन थे, उनकी बड़ी दूर तक ख्याति थी। बड़े दूर-दूर से लोग उनका दर्शन करने आते थे। और मैं उन्हें बचपन से जानता था। फिर उन जैसा मूढ़ आदमी मैंने दुबारा देखा ही नहीं। वे बिलकुल मूढ़ थे। जिसको जड़बुद्धि कहते हैं वैसे थे। लेकिन लोग उनको परमहंस मानते थे। दूर-दूर से लोग उनका दर्शन करने आते थे। और लोग बड़े प्रसन्न होते थे उनका दर्शन करके। वे कुछ ठीक से बोल भी नहीं सकते

थे। मूढ़ थे--ईडियट जिसको कहते हैं। अनर्गल कुछ न कुछ उनके मुंह से निकलता था, लोग उसी में से मतलब निकालते थे कि गुरुदेव ने क्या कहा। मैं उनके पास कई दफे बैठकर सुनता रहा। मैं बड़ा हैरान होता कि उन्होंने कुछ कहा ही नहीं। मतलब निकालनेवाले अपना मतलब निकाल लेते। उनको देखकर, उनके सिर हिलाने को देखकर या कुछ उनका हिसाब लगाकर कोई जाकर लाटरी का टिकट खरीद लेता, कोई दांव लगा देता, कोई कुछ कर लेता। और इसमें से कुछ जीत भी जाते, कुछ हार भी जाते। जो हार जाते, वे समझते हमने गलत मतलब लगाया। जो जीत जाते वे कहते, कहो गुरुदेव ने रास्ता बता दिया।

उनकी लार टपकती रहती। मगर लोग कहते वे परमहंस हैं। अरे उन्हें क्या! वे तो बालवत हो गये हैं। उसी लार टपकते में लोग उनको चाय पिलाते रहते, वे चाय पीते रहते। लार टपक जाती, वे दूसरे को वह चाय पकड़ा देते, वह पी लेता। वह अमृत का दान! उनसे ठीक से न बोलते बनता, न कुछ। अगर वे पश्चिम में होते तो पागलखाने में होते। पूरब में थे तो परमहंस थे।

इससे उल्टी हालत पश्चिम में हो रही है। पश्चिम में कुछ परमंहस पागलखानों में पड़े हैं। क्योंकि वहां कोई परमहंस को नहीं मान सकता। वहां परमहंस पागल मालूम होता है, यहां पागल परमहंस बन जाते हैं।

आज इसके बाबत पश्चिम में चिंता पैदा हो रही है। आर. डी. लैंग नाम के बड़े प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक ने बड़ी क्रांतिकारी धारा पैदा की है, कि बहुत पागलखानों में बंद हैं जो पागल नहीं हैं। हां, जो सामान्य नहीं हैं, जिनकी दृष्टि सामान्य के जरा ऊपर चली गई है वे पागलखानों में डाल दिये गये हैं। क्योंकि उनकी दृष्टि कुछ ऐसी असामान्य है कि भीड़ उनको मानने को राजी नहीं है। वे विक्षिप्त नहीं हैं, वे पूजा के योग्य हैं। वे पागलखानों में पड़े हैं।

आर. डी. लैंग मुझे अपनी किताबें भेजते हैं, तो मैं सोचता हूं कभी न कभी वे यहां आयेंगे। आयेंगे तो उनको कहूंगा, इससे उल्टी बात हम यहां कर चुके हैं। यहां हमने पागलों को परमहंस बना दिया है। दोनों खतरनाक बातें हैं। न तो पागल परमहंस हैं, न परमहंस पागल हैं। पागल पागल हैं, परमहंस परमहंस हैं। ये बड़ी अलग बातें हैं।

परमहंस का अर्थ होता है, जिसे दिखाई तो सब पड़ता है लेकिन एक और चीज दिखाई पड़ती है जो तुम्हें नहीं दिखाई पड़ती। उसे दिखाई जिसको पड़ रहा है वह भी दिखाई पड़ता है। उसे द्रष्टा भी दिखाई पड़ता है। वह जीता है द्रष्टा से। दृश्य में उसकी अब कोई राग-विराग की दशा नहीं रही।

इसे स्मरण रखना। एक-एक सूत्र अमूल्य है। अष्टावक्र का एक-एक सूत्र इतना अमूल्य है कि अगर तुम एक सूत्र को भी जीवन में उतार लो तो परमात्मा तुम्हारे जीवन में उतर जायेगा। एक सूत्र तुम्हारे जीवन का द्वार खोल सकता है। और तुम्हें कभी ऊपर-ऊपर से लगेगा कि ये सब सूत्र पुनरुक्ति करते मालूम होते हैं। यह पुनरुक्ति नहीं है, यह सत्य को सभी तरफ से कह देने की चेष्टा है--सब आयामों से, सब दिशाओं से, ताकि कहीं भूल-चूक न रह जाये। तुम सब भांति परिचित हो जाओ। सत्य की ठीक-ठीक धारणा तुम्हारे मन में स्पष्ट हो जाये तो तुम यात्रा पर निकल सकते हो।

जिसे हम खोजने लगते हैं वही मिलता है।

जिसे हम खोजने लगते हैं वही मिल सकता है।

आज इतना ही।

चौहत्तरवां प्रवचन

अवनी पर आकाश गा रहा

पहला प्रश्न: पूर्वीय मनीषा सदगुरुओं को मनोवैज्ञानिक का संबोधन क्यों नहीं देती? क्या सदगुरु मनोवैज्ञानिक से किन्हीं अर्थों में बिलकुल भिन्न है? कृपा करके समझाइये।

मनोवैज्ञानिक मनस्विद नहीं है। मन के संबंध में जानता है, मन को नहीं जानता। मन के संबंध में जानना एक बात है, मन को जानना बिलकुल दूसरी। मन के संबंध में जानना तो मन से ही हो जाता है। मन को जानना मन के पार गये बिना नहीं होता। साक्षी जानता है मन को। मन को जानने के लिए मन से भिन्न होना पड़ेगा, पार होना पड़ेगा। मन से ऊपर उठना पड़ेगा। मन से जो घिरे हैं वे मन को न जान पायेंगे।

जिन्होंने ऐसा जाना कि हम मन ही हैं वे तो मन को कैसे जान पायेंगे? जिसे भी हम जानते हैं उससे थोड़ी दूरी चाहिए, फासला चाहिए, तभी तो परिप्रेक्ष्य पैदा होता है। मैं तुम्हें देख रहा हूं क्योंकि तुम दूर हो। तुम मुझे सुन रहे हो क्योंकि मैं दूर हूं।

मन से जो दूरी पैदा करने के उपाय हैं वे ही ध्यान हैं। मन को भी दृश्य बना लेने की जो प्रक्रियायें हैं वे ही ध्यान हैं। जहां मन भी तुम्हें अपने से अलग दिखाई पड़ने लगता है--देह भी, मन भी, और तुम सबके पार खड़े हो जाते हो।

मनस्विद नहीं है मनोवैज्ञानिक। मन का ज्ञाता नहीं है। मन के संबंध में जानकारी है उसे। जानकारी उधार है। अपने मन के संबंध में उसे कुछ भी पता नहीं है। मन के संबंध में दूसरों ने जो कहा है उसका संग्रह किया है उसने। मन के संबंध में मनुष्य के व्यवहार को जांचकर, परखकर जो अनुमान किये जा सकते हैं, उन अनुमानों पर थिर है वह। मनोवैज्ञानिक तकनीशियन है।

इसलिए यह हो सकता है, अक्सर होता है कि मनोवैज्ञानिक जिन संबंधों में तुम्हें सलाह देता है उन्हीं संबंधों में स्वयं रुग्ण होता है।

तुम जानकर चकित होओगे कि मनोवैज्ञानिक जितने पागल होते हैं उतना कोई और पागल नहीं होता। और मनोवैज्ञानिक का सारा काम यही है कि पागलों को स्वस्थ करे।

मनोवैज्ञानिक के धंधे में पागलपन दोगुना घटता है, साधारण धंधे की बजाय। प्रोफेसर भी पागल होते, इंजीनियर भी पागल होते, डाक्टर भी पागल होते, लेकिन मनोवैज्ञानिक दोगुने पागल होते। ऐसा होना तो नहीं चाहिए। मनोवैज्ञानिक तो बिलकुल पागल नहीं होना चाहिए। जिसने मन को जान लिया वह कैसे पागल होगा?

मन को जाना नहीं, मन के संबंध में जानकारी कर ली है। तो शायद दूसरे को सलाह भी दे देते हैं। लेकिन दूसरों को दी गई सलाह अपने भी काम नहीं पड़ती। यह भी तुम स्मरण रखना कि मनोवैज्ञानिक के धंधे में लोग दोगुनी आत्महत्यायें करते हैं।

ये तथ्य घबड़ानेवाले हैं। फिल्म अभिनेता आत्महत्या करते हैं, राजनेता आत्महत्या करते हैं, कवि, लेखक आत्महत्या करते हैं, दार्शनिक आत्महत्या करते हैं, मनोवैज्ञानिक दोगुनी आत्महत्या करते हैं। मनोवैज्ञानिक को तो आत्महत्या करनी ही नहीं चाहिए। जिसने अपने मन को समझ लिया उसके लिए आत्महत्या जैसी रुग्ण दशा घटेगी? असंभव। पर ऐसा होता नहीं।

एक मनोवैज्ञानिक अपने मरीज से बोला कि तुम, ठीक किया, आ गये। अगर तुम दस मिनट और न आते तो मैं मनोविश्लेषण तुम्हारे बिना ही शुरू करनेवाला था। ऐसे मनोवैज्ञानिक हैं।

एक मनोवैज्ञानिक अपने मरीज की बातें सुन रहा था। मरीज ने कहा कि मुझे ऐसा वहम हो गया है कि मेरे ऊपर कीड़े-मकोड़े चलते रहते हैं। जानता हूं कि यह भ्रम है, लेकिन दिन भर मुझे यह खयाल बना रहता है

कि यह गया, यह चढ़ा, सिर पर जा रहा है, पैर में जा रहा है, कपड़े में घुस गया, और खड़े होकर उसने अपने कपड़े झटकारे। मनोवैज्ञानिक ने कहा, ठहर। इतने जोर से मत झटकार, कहीं मुझ पर न गिर जायें।

जिसे हम मनोवैज्ञानिक कहते हैं, वह वहीं खड़ा है जहां रुग्ण व्यक्ति खड़े हैं। भेद अगर कुछ है तो जानकारी का है। भेद अगर कुछ है, अंतरात्मा का नहीं है। मनोवैज्ञानिक ने मन के संबंध में अध्ययन किया है, मन के संबंध में अभी जागरूक नहीं हुआ।

इसलिए हम सदगुरुओं को मनोवैज्ञानिक नहीं कहते।

और भी कुछ बात खयाल में लेने की है। दूसरी बात: मनोवैज्ञानिक का काम है कि जो असमायोजित हो गये हैं, मैल-एडजेस्टेड हो गये हैं, जो जीवन की धारा में पिछड़ गये हैं, जो किसी तरह रुग्ण हो गये हैं, उन्हें सुसमायोजित करे, एडजेस्ट कर दे। फिर से जीवन की धारा का अंग बना दे। जो लथड़ गये, पिछड़ गये, उन्हें जीवन के साथ चला दे। रुग्ण को सामान्य बना दे।

सदगुरु का काम रुग्ण की तरफ नहीं है। सदगुरु का काम है, स्वस्थ को सहायता देना। मनोवैज्ञानिक का काम है, अस्वस्थ को सहायता देना। वह जो अस्वस्थ है, उसे इस योग्य बना देना कि दफ्तर जा सके, फैक्टरी जा सके, काम कर सके, पत्नी-बच्चों की देखभाल कर सके, बात खतम हो गई।

सदगुरु का काम है, जिसे अपना पता नहीं है उसे अपना पता बता दे। जिसे जीवन के आत्यंतिक स्रोत का कोई अनुभव नहीं है उसे उसका स्वाद लगा दे, परमात्मा से मिला दे। वह जो जीवन का परम सत्य है उससे संबंध जुड़ा दे।

मनोवैज्ञानिक तुम्हें समाज का अंग बनाता है। सदगुरु तुम्हें सत्य का अंग बनाता है।

सोचना; समाज तो खुद ही रुग्ण है। इसके अंग बनकर भी तुम स्वस्थ थोड़े ही हो सकोगे! यह समाज तो बिलकुल रुग्ण है। यह हो सकता है कि जिनको तुम पागल कहते हो उनका रोग थोड़ा ज्यादा है और जिनको तुम पागल नहीं कहते उनका रोग थोड़ा कम है। मात्रा का भेद हो सकता है, परिमाण का अंतर हो सकता है, लेकिन कोई गुणात्मक भेद नहीं है। ऐसा हो सकता है, तुम निन्यानबे डिग्री पागल हो, जिसको तुम पागल कहते हो वह सौ डिग्री के पार चला गया। यह डिग्री की ही बात है। तुम जरा उबल गये। दिवाला निकल गया, पत्नी मर गई, तुम भी एक सौ एक डिग्री पर पहुंच जाओगे। जिनको तुम कहते हो पागल नहीं हैं, वे कभी भी पागल हो सकते हैं। जिनको तुम कहते हो पागल हैं, वे कभी भी फिर सामान्य हो सकते हैं। अंतर गुण का नहीं है, मात्रा का है।

समाज तो खुद ही पागल है। तीन हजार सालों में पांच हजार युद्ध लड़े गये हैं। और पागलपन क्या होगा? सच तो यह है, व्यक्ति इतने पागल कभी होते ही नहीं जितना समाज पागल है। व्यक्तियों ने इतने अपराध कभी किये ही नहीं जितने समाज ने अपराध किये हैं।

इस समाज के साथ व्यक्ति को समायोजित कर देना कोई स्वस्थ होने की बात नहीं है, कोई स्वस्थ होने का मापदंड नहीं है। यह समाज रुग्ण है। इस रुग्ण समाज के साथ किसी को समायोजित करने का अर्थ इतना ही हुआ कि भीड़ के रोग के साथ तुमने तालमेल बिठा दिया।

खलील जिब्रान की प्रसिद्ध कथा है। एक गांव में एक जादूगर आया और उसने गांव के कुएं में मंत्र पढ़कर कुछ दवा फेंक दी और कहा, जो भी इसका पानी पीयेगा, पागल हो जायेगा। अब गांव में दो ही कुएं थे, एक गांव का और एक राजा का। सारा गांव पागल हो गया सिर्फ राजा, उसका वजीर, उसकी रानी, इनको छोड़कर। राजा बड़ा खुश हुआ। उसने कहा, हम बचे। आज अलग कुआं था तो बच गये।

अब लोग प्यासे थे तो पानी तो पीना ही पड़ा। और एक ही कुआं था, तो कोई उपाय भी न था। सारा गांव पागल हो गया। राजा खुश है, परमात्मा को धन्यवाद देता है कि खूब बचाया। लेकिन सांझ होते-होते राजा को पता चला, यह बचना बचना न हुआ। क्योंकि सारे गांव में एक अफवाह जोर पकड़ने लगी कि मालूम होता है, राजा का दिमाग खराब हो गया है।

जब सारा गांव पागल हो जाये और एक आदमी स्वस्थ बचा हो तो सारा गांव सोचेगा ही कि पागल हो गया यह आदमी। भीड़ एक तरफ हो गई, राजा एक तरफ पड़ गया। इस भीड़ में राजा के सिपाही भी थे, सेनापति भी थे। इस भीड़ में राजा के पहरेदार भी थे, अंगरक्षक भी थे। राजा तो घबड़ा गया। सांझ होते-होते तो सारा गांव महल के चारों तरफ इकट्ठा हो गया। और लोगों ने नारे लगाये कि उतरो सिंहासन से। तुम्हारा दिमाग खराब हो गया है। हम किसी स्वस्थ-मन व्यक्ति को राजा बनायेंगे।

राजा ने अपने वजीर से कहा, अब बोलो, क्या करें? यह तो महंगा पड़ गया। यह कुआं आज न होता तो अच्छा था। वजीर ने कहा, कुछ घबड़ाने की बात नहीं। मैं इन्हें रोकता हूं, समझाता हूं, आप भागे जायें, उस कुएं का पानी पी लें। गांव के कुएं का पानी पी लें। आप जल्दी पानी पीयें, अब देर करने की नहीं है।

वह भागा राजा। वजीर तो लोगों को बातों में उलझाये रहा। राजा वहां से पानी पीकर आया तो नंगधड़ंग, नाचता। गांव बड़ा खुश हुआ। उस रात बड़ा उत्सव मनाया गया। लोगों ने ढोल पीटे, बांसुरी बजाई। लोग खूब नाचे। लोगों ने कहा, हमारे राजा का मन स्वस्थ हो गया।

भीड़ पागल हो, समाज पागल हो, इस समाज के साथ किसी को समायोजित कर देने का कोई बड़ा मूल्य थोड़े ही है!

लोग धन के पीछे भागे जा रहे हैं। एक आदमी धन के पीछे भागना बंद कर देता है, हम उसको मनोवैज्ञानिक के पास ले जाते हैं। हम कहते हैं, इसे क्या हो गया? जैसे सब हैं वैसा यह क्यों नहीं है? सब धन कमा रहे हैं, यह कहता है धन में क्या रखा है?

अभी ऐसी घटना घटी न्यूयार्क में। एक आदमी बैंक से दस हजार डालर लेकर निकला। खूब धनी आदमी। और उसे ऐसे मौज आ गई रास्ते पर कि देखें क्या होता है। तो उसने सौ-सौ डालर के नोट लोगों को देने शुरू कर दिये। जो दिखा उसको कहा कि लो। लोगों ने नोट देखा, पहले तो भरोसा न आया कि सौ डालर का नोट कौन दे रहा है ऐसे अचानक? फिर उस आदमी को देखा, सोचे कि पागल है। उसने जो रास्ते पर मिला उसको नोट देने शुरू कर दिये।

थोड़ी देर में खबर फैल गई कि वह आदमी पागल हो गया। थोड़ी देर में पुलिस आ गई, उस आदमी को पकड़ लिया कि तुम्हारा दिमाग खराब हो गया? वह कहने लगा, मेरे रुपये और मैं बांटना चाहूं तो तुम हो कौन? पर उन्होंने कहा, तुम पहले अदालत चलो। पहले तुम्हें प्रमाणपत्र लाना पड़ेगा मनोवैज्ञानिक का कि तुम स्वस्थ हो! क्योंकि ऐसा कोई करता?

यहां लोग पागल हैं धन इकट्ठा करने को। यहां अगर कोई बांटने लगे तो पागल मालूम होता है। बुद्ध लोगों को पागल मालूम हुए जब उन्होंने राजसिंहासन छोड़ा। महावीर भी पागल मालूम हुए जब उन्होंने साम्राज्य छोड़ा। पागल हैं ही।

वह आदमी जाकर अदालत में कहा कि यह भी खूब रही। मेरे रुपये मैं बांटना चाहता हूं। मजिस्ट्रेट ने कहा रुको, मनोवैज्ञानिक का प्रमाणपत्र...। मनोवैज्ञानिक कोई प्रमाणपत्र देने को तैयार नहीं, क्योंकि ऐसा आदमी पागल होना ही चाहिए। दस हजार डालर बांट दिये। और वह कहता है कि अगर तुम मुझे प्रमाणपत्र दे दो तो मैं दस हजार निकालकर और बांट दूं। मेरे पास बहुत हैं। और मुझे बहुत मजा आया। जिंदगी में इतना मजा मुझे कभी आया ही नहीं। इकट्ठे मैंने रुपये किये, खूब किये। यह सुख मैंने कभी पाया नहीं। मुझे बड़ा सुख मिल रहा है। मुझे बांटने दो।

मनोवैज्ञानिक ने कहा, अगर तुम्हें फिर बांटना है तो तुम मुझे भी फंसाओगे। तो मैं तुम्हें प्रमाणपत्र नहीं दे सकता।

जहां भीड़ पागल है धन के लिए वहां कोई आदमी धन को छोड़ दे तो पागल मालूम होता है। जहां लोग हिंसा से भरे हैं वहां कोई प्रेम से भर जाये तो पागल मालूम होता है। जीसस को फांसी ऐसे ही थोड़े दी! पागल मालूम हुआ। क्योंकि लोगों से कहने लगा, कोई तुम्हारे गाल पर थप्पड़ मारे तो दूसरा गाल उसके सामने कर देना। अब यह पागल ही कोई कहेगा। ये होश की बातें हैं? कि जीसस ने लोगों से कहा, कोई तुम्हारा कोट छीन

ले तो कमीज भी दे देना। ये कोई होश की बातें हैं? कभी किसी समझदार ने ऐसा कहा है? कोई कौटिल्य, कोई मेक्यावेली ऐसा कहेगा? बुद्धिमान कभी ऐसा कहे हैं? इस आदमी का दिमाग फिर गया है।

यह कहने लगा कि जो तुम्हें घृणा करें उन्हें प्रेम करना। और जो तुम्हें अभिशाप दें उन्हें वरदान देना। इसको सूली लगानी जरूरी हो गई। सूली पर लटककर भी इसने अपना पागलपन न छोड़ा। सूली से अंतिम बात भी यही कही कि हे प्रभु! इन सबको क्षमा कर देना क्योंकि ये जानते नहीं, ये क्या कर रहे हैं।

लेकिन उन करनेवालों से पूछो, वे भलीभांति जानते हैं कि क्या कर रहे हैं। वे एक पागल से छुटकारा पा रहे हैं। यह कोई बात है? कोई चांटा मारे, तुम दूसरा गाल कर देना।

जीसस से एक शिष्य ने पूछा कि कोई एक बार मारे तो हम माफ कर दें, लेकिन कितनी बार? जीसस ने कहा, सात बार...नहीं-नहीं, सतहत्तर बार। फिर देखा गौर से और कहा कि नहीं-नहीं, सात सौ सतहत्तर बार।

लेकिन तुम खयाल रखना, तुम इसमें से भी तरकीब निकाल लोगे पागलपन की।

मैंने सुना है, एक ईसाई फकीर को एक आदमी ने चांटा मार दिया तो उसने दूसरा गाल सामने कर दिया। जीसस ने कहा है तो करना पड़े। उसने दूसरे गाल पर भी चांटा मार दिया। वह आदमी भी अदभुत रहा होगा मारनेवाला। वह शायद फ्रेडरिक नीत्शे का अनुयायी रहा होगा। क्योंकि फ्रेडरिक नीत्शे ने कहा है कि अगर कोई, तुम चांटा मारो, और एक गाल पर चांटा मारो और दूसरा तुम्हारे सामने कर दे तो और भी जोर से मारना, नहीं तो उसका अपमान होगा। उसने गाल दिखाया और तुमने चांटा भी न मारा?

तो रहा होगा फ्रेडरिक नीत्शे का अनुयायी। उसने और कसकर एक चांटा मारा। सोचता था कि अब यह फिर पुराना गाल करेगा। लेकिन वह फकीर उसकी छाती पर चढ़ बैठा। वह बोला, भाई रुको। यह क्या बात है? तुम्हारे गुरु ने कहा है कि जो एक गाल पर चांटा मारे, दूसरा करना। उसने कहा कि दूसरा गाल बता दिया। तीसरा तो है ही नहीं। और गुरु ने इसके आगे कुछ भी नहीं कहा है। अब मैं मुखत्यार खुद। अब मैं तुझे बताता हूं।

आदमी पागल है। अगर वह नियम का थोड़ा पालन भी करता है तो बस, एक सीमा तक। जहां तक नियम, मुर्दा नियम पालन करना है, कर लेता है। लेकिन उसके बाद असलियत प्रगट होती है।

सदगुरु तुम्हें भीड़ के साथ एक नहीं करता, सदगुरु तुम्हें भीड़ से मुक्त करता है। इसलिए सदगुरु को मनोवैज्ञानिक कैसे कहें? कल तुमने सुना अष्टावक्र का सूत्र? जो ज्ञाता है, ज्ञानी है, वह लोकवत व्यवहार नहीं करता, भीड़ की तरह व्यवहार नहीं करता। उसके जीवन में न भीड़ होती है, न भेड़-चाल होती है। वह न किसी का अनुयायी होता है, न किसी के पीछे चलता है। अनुकरण उसकी व्यवस्था नहीं होती। वह अपने बोध से जीता है, वह स्वतंत्र होता है। अष्टावक्र कहते हैं, स्वच्छंद होता है। उसकी स्वतंत्रता परम है। अगर वह जीता है तो अपने अंतरतम से जीता है। जो उसका अंतरतम कहता है वही करता है, चाहे कोई भी कीमत और कोई भी मूल्य क्यों न चुकाना पड़े।

सुकरात को जब सूली दी जाती थी, जहर पिलाया जाता था, मारने की आज्ञा दी गई थी तो मजिस्ट्रेट को भी उस पर दया आई थी और उसने कहा था, एक अगर तू वचन दे दे तो हम तुझे क्षमा कर दें। इतना तू वचन दे दे कि अब तू, जिसको तू सत्य कहता है उसकी बातचीत बंद कर देगा तो हम तुझे क्षमा कर दें।

सुकरात ने कहा, फिर जीकर क्या करूंगा? जीने का अर्थ ही क्या है जहां सत्य की बात न हो, जहां सत्य की चर्चा न हो? जहां सत्य की सुगंध न हो तो जीने का अर्थ क्या है? इससे बेहतर मर जाना है। तुम मुझे मौत की सजा दे दो। मैं रहूंगा तो मैं सत्य की बातें करूंगा ही। मैं रहूंगा तो और कोई उपाय ही नहीं है, मेरे रहने से सत्य की सुगंध निकलेगी ही।

मजिस्ट्रेट को लगा होगा, सुकरात पागल है। मौत चुन रहा है। तुमने चुनी होती मौत? तुम कहते, छोड़ो सत्य इत्यादि। इसमें रखा क्या है? पाया क्या? उपद्रव में पड़े। अगर सब झूठ बोल रहे हैं और सारा जीवन झूठ

से चल रहा है तो इसी में कुशलता है। इसी में है समझदारी कि तुम भी झूठ बोलो, लोगों के साथ चलो। लोग जैसे हैं वैसे रहो--भेड़चाल।

एक स्कूल में एक शिक्षक ने अपने बच्चों से पूछा कि अगर एक घर के भीतर आंगन में दस भेड़ें बंद हों और एक छलांग लगाकर दीवाल से बाहर निकल जाये तो कितनी भीतर रहेंगी? एक बच्चा जोर से हाथ हिलाने लगा। उसने कभी हाथ हिलाया भी न था। वह बच्चा सबसे ज्यादा कमजोर बच्चा था। शिक्षक बड़ा खुश हुआ; उसने कहा, अच्छा पहले तू उत्तर दे। उसने कहा, एक भी न बचेगी। शिक्षक ने कहा, पागल हुआ है? मैं कह रहा हूं दस भेड़ें भीतर हैं और एक छलांग लगाकर निकल जाये तो भीतर कितनी बचेंगी? तुझे गणित आता है कि नहीं? तुझे गिनती आती है कि नहीं?

उस छोटे लड़के ने कहा, गिनती आती हो या न आती हो, भेड़ें मेरे घर में हैं। मैं भेड़ों को जानता हूं। एक छलांग लगा गई, सब लगा गईं। गणित तुम समझो, भेड़ों को मैं समझता हूं। और भेड़ें गणित को नहीं मानतीं। भेड़ तो अनुकरण से जीती है।

भीड़ भेड़ है। सदगुरु तुम्हें भीड़ से मुक्त कराता है। सदगुरु तुम्हें समाज के पार ले जाता है। सदगुरु तुम्हें शाश्वत के साथ जोड़ता है। समाज तो सामयिक है, क्षणभंगुर है। रोज बदलता रहता है--आज कुछ, कल कुछ। नीति बदलती है इसकी, शैली बदलती है इसकी, ढंग-ढांचा बदलता है इसका, व्यवस्था रोज बदलती रहती है।

सदगुरु तुम्हें उससे जुड़ा देता है जो कभी नहीं बदलता, जो सदा जैसा था वैसा है, वैसा ही रहेगा। सदगुरु तुम्हें परमात्मा से मिलाता है। और परमात्मा ही तुम्हारा आत्यंतिक स्वभाव है। इसलिए हम सदगुरु को मनोवैज्ञानिक नहीं कहते। और मनोवैज्ञानिक सदगुरु नहीं है।

फिर यह भी खयाल रखना, मनोवैज्ञानिक के पास तुम जाते हो, जब तुम रुग्ण होते हो। सदगुरु के पास तुम तब जाते हो जब तुम सब भांति स्वस्थ होते हो और अचानक पाते हो, जीवन में कोई अर्थ नहीं। इस भेद को खयाल रखना।

मेरे पास लोग आ जाते हैं कभी, वे कहते हैं, हमारे सिर में दर्द है। मैं कहता हूं, डाक्टर के पास जाना चाहिए। कोई कहता है कि तबियत खराब रहती है। तो चिकित्सा करवानी चाहिए। मैं इसलिए यहां नहीं हूं कि तुम्हारी तबियत खराब रहती है, उसका मैं इंतजाम करूं। तो डाक्टर किसलिए हैं? जिसका काम वह करे।

तुम मेरे पास तब आओ जब सब ठीक हो और फिर भी तुम पाओ कि कुछ भी ठीक नहीं है। धन है, पद है, प्रतिष्ठा है, और हाथ में राख ही राख। सफलता मिली है और हृदय में कुछ भी नहीं। एक फूल नहीं खिला, एक गीत नहीं उमगा। कंठ सूखा का सूखा रह गया है। बाहर सब हरियाला है और भीतर सब मरुस्थल है। और एक भी मरूद्यान का पता नहीं है। जरा भी छाया नहीं है, धूप ही धूप है, तड़पन ही तड़पन।

जब तुम्हारे पास सब हो और तुम पाओ कि कुछ भी नहीं है तब खोजना सदगुरु को। जब तुम्हारी सफलता असफलता सिद्ध हो जाये तब खोजना सदगुरु को। जब तुम्हारा धन तुम्हारे भीतर की निर्धनता बता जाये तब खोजना सदगुरु को। जब तुम्हारी बुद्धिमानी बुद्धूपन सिद्ध हो जाये तब खोजना सदगुरु को। सदगुरु के पास जाना ही तब, जब यह जीवन व्यर्थ मालूम होने लगे। तो वह किसी और जीवन की तरफ तुम्हें ले चले। किसी नये आयाम की यात्रा कराये।

मनोवैज्ञानिक के पास तुम जाते हो तो तुम्हारा संबंध वही है जो तुम चिकित्सक के पास जाते हो। चिकित्सक तुम्हारा गुरु नहीं है। तुम्हारे पैर में चोट लग गई है, तुम डाक्टर के पास गये, उसने मलहम-पट्टी कर दी। डाक्टर तुम्हारा गुरु नहीं है। गुरु एक प्रेम का संबंध है। अपूर्व प्रेम का संबंध है। गुरु इस जगत में सबसे गहन प्रेम का संबंध है। उसने तुम्हारे पैर पर मलहम-पट्टी कर दी, तुमने उसकी फीस चुका दी, बात खतम हो गई। गुरु से जो नाता है वह हार्दिक है। तुम कुछ भी चुकाकर गुरु-ऋण चुका न पाओगे। जब तक कि तुम उस अवस्था में न आ जाओ, जहां तुम्हारे भीतर छिपा गुरु प्रगट हो जाये तब तक गुरु-ऋण नहीं चुकेगा।

तो गुरु का संबंध कुछ किसी और दिशा से है। तुम्हारे हृदय में एक उमंग उठती है। किसी के पास होकर तुम्हें झलक मिलती है परम सत्य की। कोई तुम्हारे लिए झरोखा बन जाता। किसी के पास रहकर तुम्हें संगीत

सुनाई पड़ता शाश्वत का। तुम्हारे मन में बड़ा शोरगुल है लेकिन फिर भी किसी के पास क्षण भर को तुम्हारा मन ठहर जाता और शाश्वत को जगह मिलती। किसी के पास तुम्हें स्वर सुनाई पड़ने लगते हैं दूर के, पार के, तारों के पार से जो आते हैं। और किसी की मौजूदगी में तुम्हारे भीतर कुछ उठने लगता, कुछ सोया जागने लगता।

सदगुरु केटलिटिक एजेंट है। उसकी मौजूदगी में कुछ घटता है। सदगुरु कुछ करता नहीं है, मनोवैज्ञानिक कुछ करता है। मनोवैज्ञानिक तकनीशियन है। सदगुरु कुछ करता नहीं, उसकी मौजूदगी में कुछ होता है। सदगुरु करता तो है ही नहीं, क्योंकि कर्ता छोड़कर ही तो वह सदगुरु हुआ है। उसने प्रभु को कर्ता बना लिया है, खुद तो शून्य हो गया है, निमित्तमात्र। बांस की पोली बांसुरी हो गया है। अब सदगुरु कुछ करता नहीं लेकिन उसके पास महत घटता है, बहुत कुछ होता है।

सदगुरु को मनोवैज्ञानिक नहीं कहा जा सकता। पहली बात, सदगुरु वैज्ञानिक नहीं है। अगर सदगुरु कुछ है तो शायद शाश्वत का कवि है। शायद तुकबंदी न भी करता हो, शायद छंद में बांधता भी न हो कुछ, शायद शब्दों और व्याकरण का धनी भी न हो, शायद मात्राओं का उसे बोध भी न हो लेकिन फिर भी सदगुरु शाश्वत का कवि है।

इसलिए तो हमने सदगुरुओं को ऋषि कहा है। ऋषि का अर्थ होता है, कवि। उन्होंने जो भी कहा है वह खुद नहीं कहा है, परमात्मा उनसे बोला है। इसलिए तो हमने वेदों को अपौरुषेय कहा है। पुरुष के द्वारा निर्मित नहीं। इसलिए तो कहा है कि कुरान उतरी। मोहम्मद ने रची नहीं, उन पर उतरी; इलहाम हुआ। इसलिए तो जीसस कहते हैं कि मैं नहीं बोलता, मेरे भीतर प्रभु बोलता है। ये वचन मेरे नहीं हैं।

सदगुरु शाश्वत की बांसुरी है। और तुम उसके प्रेम में पड़ जाओ, गहन प्रेम में पड़ जाओ, तर्क इत्यादि छोड़कर उसके प्रेम में पड़ जाओ तो ही कुछ घटेगा।

मनोवैज्ञानिक के पास तुम्हें प्रेम में पड़ने की जरूरत नहीं है। सच तो यह है, तुम चकित होओगे जानकर कि फ्रायड, एडलर, जुंग और उनके पीछे आनेवाले मनोवैज्ञानिकों की लंबी कतार कहती है कि मरीज अगर प्रेम में पड़ने लगे तो मनोवैज्ञानिक उसे रोके। इसे वे कहते हैं ट्रांसफरेंस। अगर मरीज मनोवैज्ञानिक के प्रेम में पड़ने लगे तो मनोवैज्ञानिक इसे रोके। क्योंकि अगर मरीज प्रेम में पड़ गया और मनोवैज्ञानिक भी मरीज के प्रेम में पड़ गया तो कौन किसकी सहायता करेगा? कैसे सहायता करेगा? फिर तो सहायता असंभव हो जायेगी।

देखा कभी? एक बड़ा सर्जन, उसकी पत्नी बीमार पड़ जाये, हजारों आपरेशन किये हों उसने, अपनी पत्नी का आपरेशन नहीं कर पाता। किसी दूसरे सर्जन को बुलाता है; चाहे नंबर दो सर्जन को बुलाये। नंबर एक सर्जन नंबर दो सर्जन को बुलाकर आपरेशन करवाता है, क्योंकि खुद डरता है। प्रेम इतना है कि हाथ कंप जायेंगे, घबड़ाहट होगी, चिंता पकड़ेगी कि सफल हो पाऊंगा कि असफल हो जाऊंगा। पत्नी है, कहीं मर न जाये।

इतनी चिंता से घिरा हुआ निश्चिंत न रहेगा। सर्जन सर्जन कैसे हो पायेगा?

नहीं, दूरी चाहिए। सर्जन चाहिए बिलकुल निरपेक्ष। जिसे कुछ प्रयोजन ही नहीं। तुम जिंदा हो कि मुर्दा इससे भी प्रयोजन नहीं। तुम बचोगे कि नहीं बचोगे इसमें भी कोई आग्रह, लगाव नहीं। मर गये तो मर गये। बचे तो बचे। वह तो सिर्फ अपना शिल्प जानता है, अपनी कला जानता है। वह अपनी कला का उपयोग कर लेगा।

मैंने सुना है, एक सर्जन किसी के पेट का आपरेशन कर रहा था। और उसने अपने सहयोगी को मरीज के सिर के पास खड़ा किया था कि कुछ विशेष घटे तो खबर देना। कोई दस मिनट बाद सिर के पास खड़े हुए आदमी ने कहा, महानुभाव, रुकिये। उसने कहा, बीच में मत टोको। तो वह चुप रहा। फिर उसने कहा कि लेकिन सुनिये तो मैं क्या कहना चाहता हूं। मेरी तरफ का जो हिस्सा है वह मर चुका है। वह सिर की तरफ का जो हिस्सा है, उसके सहयोगी ने कहा, वह मर चुका है। और आपरेशन आप किये ही चले जा रहे हैं। यह आदमी अब जिंदा नहीं है, अब आप बेकार मेहनत कर रहे हैं।

सर्जन को उसका भी पता नहीं होना चाहिए कि जिंदा भी है आदमी कि मुर्दा। वह अपनी कुशलता से अपना काम किये जा रहा है। उसे जरा भी डांवांडोल नहीं होना चाहिए।

तो फ्रायड ने कहा है कि मरीज और मनोचिकित्सक के बीच किसी तरह का रागात्मक संबंध न बने, अन्यथा मुश्किल हो जायेगी। फिर सहयोग देना मुश्किल हो जायेगा। दूरी रहे।

ठीक उल्टी बात सदगुरु के साथ है। अगर रागात्मक संबंध न बने तो इतनी दूरी रहेगी कि कुछ हो ही न पायेगा। रागात्मक संबंध बने तो ही कुछ हो पायेगा। सदगुरु के पीछे तुम पागल होकर प्रेम में पड़े तो ही कुछ हो पायेगा, मतवाले हो जाओ तो ही कुछ हो पायेगा। यह संबंध प्रेम का है। सदगुरु तुम्हारे हृदय में बस जाये तो कुछ हो सकता है।

वह गंध मेरे मन बस गई रे

एक बन जूही एक बन बेला
अगणित गंधों का यह मेला
पाकर मुझको निपट अकेला
इन प्राणों को कस गई रे
वह गंध मेरे मन बस गई रे

एक दिन पश्चिम एक दिन पूरब
भटक रहे हैं गंध पंख सब
रोम-रोम के द्वार खोलकर
वह अंतर में धंस गई रे
वह गंध मेरे मन बस गई रे

नभ में जिसकी डालें अटकीं
थल पर जिसकी कलियां चटकीं
मेरे जीवन के कर्दम में
वह अनजाने फंस गई रे
वह गंध मेरे मन बस गई रे

जब तक सदगुरु की गंध तुम्हारे मन में न बस जाये, जब तक तुम दीवाने न हो जाओ, तब तक कुछ भी न होगा। सदगुरु और शिष्य का संबंध रागात्मक है। वह वैसा ही संबंध है जैसे प्रेमी और प्रेयसी का। निश्चित ही प्रेमी और प्रेयसी के संबंध से बहुत पार। लेकिन उसी से केवल तुलना दी जा सकती है, और कोई तुलना नहीं है। दीवानगी का संबंध है।

रोम-रोम के द्वार खोलकर
वह अंतर में धंस गई रे
वह गंध मेरे मन बस गई रे

तो ही कुछ रूपांतरित होता है। तुम बदलोगे तभी, जब तुम प्रेम में झुकोगे।

मनोवैज्ञानिक के पास झुकना आवश्यक नहीं है। झुकने का कोई सवाल नहीं है, मनोवैज्ञानिक तकनीशियन है। मनोवैज्ञानिक के प्रति समर्पण का कोई प्रश्न नहीं है। मनोवैज्ञानिक कुछ जानता है, उसके जानने के तुम दाम चुका देते हो, बात खतम हो गई। धन्यवाद देने की भी आवश्यकता नहीं है।

सदगुरु कुछ जानता है, ऐसा नहीं, सदगुरु कुछ हो गया है। सदगुरु के आंगन में आकाश उतरा है। सदगुरु के सूने अंतरात्मा के सिंहासन पर प्रभु विराजमान हुआ है। यहां कंजूसी से न चल सकेगा। यहां तो उछलकर डुबकी ले सकोगे तो ही कुछ हो सकेगा।

इसलिए पश्चिम ने तो अब मनोवैज्ञानिक को भी गुरु कहना शुरू कर दिया है। पूरब ने कभी गुरु को मनोवैज्ञानिक नहीं कहा। और पूरब को कभी मनोवैज्ञानिक को जन्म देने की जरूरत नहीं पड़ी। जहां गुरु हो वहां

मनोवैज्ञानिक की कोई खास जरूरत नहीं है। मनोवैज्ञानिक तो एक परिपूरक, सस्ता परिपूरक है। मनोवैज्ञानिक खुद उन उलझनों में उलझा है जिन उलझनों से वह मरीज को मुक्त करवाने की कोशिश कर रहा है। सदगुरु उन उलझनों के पार है। और जो पार है उसका ही सत्संग काम आ सकता है।

सदगुरु व्यक्ति नहीं है। इसलिए पूरब के मनीषी सदगुरु को परमात्मा कहते हैं, उसे ब्रह्मस्वरूप कहते हैं। उसका कारण है। सदगुरु व्यक्ति नहीं है, सदगुरु हो गया अव्यक्ति। उसने अपने को तो पोंछकर मिटा डाला। उसने अपनी अस्मिता हटा दी। उसने अपना अहंकार गिरा दिया। अब उसके भीतर से जो काम कर रहा है वह परमात्मा है। जब सदगुरु तुम्हारा हाथ पकड़ता है तो परमात्मा ने ही तुम्हारा हाथ पकड़ा।

अगर तुम्हें ऐसा दिखाई न पड़े तो सदगुरु से तुम्हारा अभी संबंध नहीं बना। तुम अभी शिष्य नहीं हुए। अभी बात शुरू ही नहीं हुई। अभी बीज बोया नहीं गया, फसल काटने की मत सोचने लगना। बीज ही नहीं बोया गया है।

जब कभी गिरने लगा मन खाइयों में
कौन पीछे से अचानक थाम लेता?

सूखते जब जिंदगी के स्रोत सारे
धार से कटते चले जाते किनारे
कौन दृढ़ विश्वास इन कठिनाइयों में
जिंदगी को हर सुबह हर शाम देता?

जब निगाहों में सिमट आते अंधेरे
जिंदगी बिखरे समय के खा थपेड़े
कौन धुंधलायी हुई परछाइयों में
जिंदगी के कण समेट तमाम लेता?

जो जमाने से विभाजित हो न पाई
रह गई अवशेष वह जीवन इकाई
कौन फिर संयोग बन तनहाइयों में
जिंदगी को नित नये आयाम देता?

जब तुम्हें किसी व्यक्ति में अव्यक्ति का दर्शन हो जाये, जब किसी व्यक्ति में तुम्हें शून्य का आभास हो जाये, जब किसी आकृति में तुम्हें निराकार प्रतीत होने लगे, जब किसी की मौजूदगी तुम्हारे लिए परमात्मा की सघन मौजूदगी बन जाये तो सदगुरु से मिलना हुआ।

सदगुरु को खोजना पड़ता है, मनोवैज्ञानिक को खरीदना पड़ता। मनोवैज्ञानिक धन से मिल जाये, सदगुरु तो मन को चढ़ाने से मिलता है। दोनों अलग बातें हैं।

दूसरा प्रश्न: प्रभु,

मरना चाहता हूं, बस मरना चाहता हूं
इस देह में न अब रहना चाहता हूं
आपके स्नेह को बस भरना चाहता हूं
अब अपने को मैं अमीमय करना चाहता हूं
शून्य भर होना चाहता हूं।

पूछा है बोधिधर्म ने।

समझना होगा। गहरे से समझना होगा। क्योंकि यह भाव अनेकों के मन में उठता है। जब मैं तुम्हें समझाता हूं कि मिट जाओ, समाप्त हो जाओ, ताकि प्रभु हो सके; तुम अपने को पोंछ डालो, जगह खाली करो, ताकि वह उतर सके; तो एक प्रबल आकांक्षा उठती है मिट जाने की। और उसी आकांक्षा में भूल हो जाती है।

जब मैं कहता हूं मिट जाओ तो मैं यही कह रहा हूं कि अब तुम और आकांक्षा न करो। क्योंकि आकांक्षा रहेगी तो तुम बने रहोगे। तुम आकांक्षा के सहारे ही तो बने हो। कभी धन की आकांक्षा, कभी पद की आकांक्षा। आकांक्षा ही तो सघन होकर अहंकार बन जाती है। आकांक्षा ही तो अहंकार है। तो जब तक तुम आकांक्षा से भरे हो, तुम हो। जब तुम निराकांक्षा से भरोगे, कोई आकांक्षा न रहेगी...ध्यान रखना, आकांक्षा से मुक्त हो जाने की आकांक्षा भी जब न रही।

लेकिन तुम मुझे सुनते हो और बात कुछ की कुछ हो जाती है। मैं तुमसे कहता हूं कि मिट जाओ, मैं कहता हूं, आकांक्षा छोड़ो। तुम कहते हो, चलो ठीक, हम यही आकांक्षा करेंगे; मिट जाने की आकांक्षा करेंगे। तो तुम पूछते हो, हे प्रभु, कैसे मिट जायें? अब मिटाओ।

अभी तक कहते थे, कैसे जीयें? कैसे और हो जीवन? और...और। अब कहते हो, कैसे मिटें? कैसे समाप्त हों? मगर बात तो वही की वही रही। कुछ फर्क न हुआ। तुम धन चाहते थे, अब तुम धर्म चाहने लगे। तुम पद चाहते थे, अब तुम परमात्मा चाहने लगे। तुम सुख चाहते थे, अब तुम स्वर्ग चाहने लगे। अब तक तुम वासनाओं के पीछे दौड़ रहे थे, अब तुमने एक नई वासना पैदा कर ली निर्वासना होने की। चूक गये। बात फिर गलत हो गई।

मैंने तुमसे यह नहीं कहा कि तुम मर जाने की आकांक्षा करो। मैंने तुमसे इतना ही कहा है कि अब तुम आकांक्षा न करो तो तुम मर जाओगे। यह जो मर जाना है, यह परिणाम है, कान्सिक्वेन्स है। तुम इसे चाह नहीं सकते। यह तुम्हारी चाहत का फैलाव नहीं हो सकता। अगर तुमने इसको भी चाह बना लिया, फिर चाह बच रही। चाह नये पंख पा गई। चाह नये घोड़े पर सवार हो गई। चाह ने तुम्हारे चित्त को फिर धोखा दे दिया। अब तुम यह चाह करने लगे।

बुद्ध ने कहा है, निर्वाण चाहा तो निर्वाण को कभी उपलब्ध न हो सकोगे।

और अष्टावक्र बार-बार कह रहे हैं कि अगर मोक्ष की भी चाह रह गई तो मुक्ति बहुत दूर। मोक्ष की चाह भी बंधन है। मोक्ष को भी न चाहो। चाहो ही मत। ऐसी कोई घड़ी, जब कोई भी चाह नहीं होती, उसी घड़ी तुम परमात्मा हो गये। चाह से शून्य घड़ी में परमात्मा हो जाते हो। इसलिए समझो, नहीं तो भूल हो जायेगी।

मेरे पास लोग आते हैं, वे कहते हैं कि ध्यान में कैसे उतरें? बड़ी चाह लेकर आये हैं। मैं उनसे कहता हूं, चाह है तो ध्यान में उतर न पाओगे। ध्यान में उतरने की पहली शर्त है कि चाह को बाहर रख आओ। वे कहते, अच्छी बात। फिर तो ध्यान में उतर सकेंगे न?

अब उनका समझ रहे हो मतलब? वे कहते हैं, चलो, अगर चाह रख आकर चाह पूरी होती है तो हम इसके लिए भी राजी हैं, मगर चाह पूरी होगी न? तो तुम रखकर कहां आये? वे दो-चार दिन कोशिश करते हैं फिर आकर कहते हैं, चाह भी नहीं की, फिर भी अभी तक हुआ नहीं।

अगर चाह ही नहीं की तो अब क्या पूछते हो कि फिर भी अभी तक हुआ नहीं। चाह बनी ही रही। चाह भीतर बनी ही रही। चाह ने कहा, चलो, कहा जाता है कि चाह छोड़ने से चाह पूरी होगी, चलो, यह ढोंग भी कर लो। मगर तुम चूक गये। तुम समझ न पाये।

इसीलिए तो निरंतर यह बात कही गई है, सारे शास्त्र कहते हैं कि जो कहा जाता है वही सुना नहीं जाता। जो सदगुरु समझाते हैं वही तुम सुन पाते हो ऐसा पक्का नहीं है। तुम कुछ का कुछ सुनते हो। तुम कुछ का कुछ कर लेते हो।

देख लिया, जीवन में कुछ पाया नहीं, अब तुम कहते हो, कैसे मिट जायें? मगर पाने की धारणा अभी भी बनी है।

अक्सर ऐसा होता है कि कोई व्यक्ति ध्यान करता, अचानक एक दिन किरण उतरती, रोआं-रोआं रस से भर जाता। अभिभूत हो जाता। बस उसी दिन से मुश्किल हो जाती। फिर वह रोज चाह करने लगता है कि ऐसा अब फिर हो, ऐसा अब फिर हो। फिर वह मेरे पास आता, रोता, गिड़गिड़ाता; कहता है कि बड़ी मुश्किल हो गई। घटना घटी भी, और अब क्यों नहीं घट रही?

मैं उससे कहता हूं कि जब घटी तो कोई चाह न थी। तुम्हें पता ही न था तो चाह कैसे करते? चाह तो उसी की हो सकती है जिसका थोड़ा-सा अंदाज हो, अनुमान हो। सुनकर हो, स्वाद से हो, लेकिन जिसका थोड़ा अनुमान हो, चाह तो उसी की हो सकती है न! अब तुम्हें पता चल गया। स्वाद लग गया, किरण उतरी। पंखुड़ियां खिल गईं हृदय की। कमल-कमल खिल गये भीतर। तुम गदगद हो उठे। अब तुम्हें पता चल गया, अब मुश्किल आई। अब बड़ी मुश्किल आई। ऐसी मुश्किल कभी भी न थी। अब तुम जब भी ध्यान में बैठोगे, यह चाह खड़ी रहेगी कि फिर हो; दुबारा हो।

मैंने एक तिब्बती कहानी पढ़ी है। कहते हैं दूर तिब्बत की पहाड़ियों में छिपा हुआ एक सरोवर है। उस सरोवर के किनारे एक वृक्ष है। वृक्ष बड़ा अनूठा है। वृक्ष से भी ज्यादा अनूठा सरोवर है। कहते हैं, उस वृक्ष को जो खोज ले, उस सरोवर को जो खोज ले, और वृक्ष पर से छलांग लगाकर सरोवर में कूद जाये तो रूपांतरित हो जाता है। कभी भूलचूक से कोई पक्षी गिर जाता है सरोवर में तो मनुष्य हो जाता है। कभी कोई मनुष्य खोज लेता है और उस वृक्ष से कूद जाता है तो देवता हो जाता है।

ऐसा एक दिन हुआ, एक बंदर और एक बंदरिया उस वृक्ष पर बैठे थे। उन्हें कुछ पता न था। और एक मनुष्य न मालूम कितने वर्षों की खोज के बाद अंततः वहां पहुंच गया। उस मनुष्य ने वृक्ष पर चढ़कर झंपापात किया। सरोवर में गिरते ही वह दिव्य ज्योतिर्धर देवता हो गया। स्वभावतः बंदर और बंदरिया को बड़ी चाहत जागी। उन्हें पता ही न था। उसी वृक्ष पर वे रहते थे लेकिन कभी वृक्ष पर से झंपापात न किया था। कभी सरोवर में कूदे न थे। फिर तो देर करनी उचित न समझी। दोनों तत्क्षण कूद पड़े। बाहर निकले तो चकित हो गये। दोनों सुंदर मनुष्य हो गये थे। बंदर पुरुष हो गया था, बंदरिया सुंदर, सुंदरतम नारी हो गई थी।

बंदर ने कहा, अब हम एक बार और कूदें। बंदर तो बंदर! उसने कहा, अब अगर हम कूदे तो देवता होकर निकलेंगे। बंदरिया ने कहा कि देखो, दुबारा कूदना या नहीं कूदना, हमें कुछ पता नहीं। स्त्रियां साधारणतः ज्यादा व्यावहारिक होती हैं। सोच-समझकर चलती हैं ज्यादा। देख लेती हैं, हिसाब-किताब बांध लेती हैं, करने योग्य कि नहीं। आदमी तो दुस्साहसी होते हैं।

बंदर ने कहा, तू फिक्र छोड़। तू बैठ, हिसाब कर। अब मैं चूक नहीं सकता। बंदरिया ने फिर कहा, सुना है पुरखे हमारे सदा कहते रहे: "अति सर्वत्र वर्जयेत्"। अति नहीं करनी चाहिए। अति का वर्जन है। अब जितना हो गया इतना क्या कम है? मगर बंदर न माना। मान जाता तो बंदर नहीं था। कूद गया। कूदा तो फिर बंदर हो गया। उस सरोवर का यह गुण था--एक बार कूदो तो रूपांतरण। दुबारा कूदे तो वही के वही।

बंदरिया तो रानी हो गई। एक राजा के मन भा गई। बंदर पकड़ा गया एक मदारी के हाथों में। फिर एक दिन मदारी लेकर राजमहल आया तो बंदर अपनी बंदरिया को सिंहासन पर बैठा देखकर रोने लगा। याद आने लगी। और सोचने लगा, अगर मान ली होती बात दुबारा न कूदा होता! तो बंदरिया ने उससे कहा, अब रोओ मत। आगे के लिए इतना ही स्मरण रखो: अति सर्वत्र वर्जयेत्। अति वर्जित है।

ध्यान ऐसा ही सरोवर है। समाधि ऐसा ही सरोवर है जहां तुम्हारा दिव्य ज्योतिर्धर रूप प्रगट होगा। लेकिन लोभ में मत पड़ना। अति सर्वत्र वर्जयेत्।

यह जो तुम्हारा प्रश्न है, अत्यंत लोभ का है। प्रश्न को जरा गौर से देखो तो तुम्हें खयाल आ जायेगा। "मरना चाहता हूं, भरना चाहता हूं, करना चाहता हूं, शून्य होना चाहता हूं।" चाहता हूं... चाहता हूं...चाहता हूं। चाह ही चाह। प्रत्येक पंक्ति में चाह ही चाह भरी है।

और यही मैं तुम्हें समझा रहा हूं कि चाहे कि संसार पैदा हुआ। चाहत का नाम संसार है। अब तुम एक नया संसार पैदा कर रहे हो। अब यह मरना, निर्वाण, शून्य, समाधि--अब तुम्हें ये पकड़े ले रहे हैं। तुम जाल से कभी छूटोगे, न छूटोगे?

एक और कहानी तुमसे कहता।

कहते हैं कि एक बार शैतान का मन ऊब गया। सभी का ऊब जाता है। शैतान का भी ऊब गया हो तो आश्चर्य नहीं। शैतान का तो ऊब ही जाना चाहिए। कब से शैतानी कर रहा है! तो उसने संन्यास लेने का निश्चय कर लिया। तब उसने अपने गुलामों को बेचना शुरू कर दिया: बुराई, झूठ,र् ईष्या, निरुत्साह, दर्प, हिंसा, परिग्रह आदि-आदि। सब पर तख्तियां लगा दीं। खरीददार तो सदा से मौजूद हैं। शैतान की दूकान पर कब ऐसा हुआ कि भीड़ न रही हो। परमात्मा के मंदिर खाली पड़े रहते हैं। शैतान की दूकान पर तो सदा भीड़ होती है, भारी भीड़ होती। जमघट होता है। क्यू लगे रहते हैं।

और जब यह लोगों को पता चला कि शैतान अपने विश्वस्त गुलामों को भी बेच रहा है तो सभी पहुंच गये। राजनेता पहुंचे, धनपति पहुंचे। सभी तरह के उपद्रवी पहुंच गये। क्योंकि शैतान के सुशिक्षित सेवक मिल जायें तो फिर क्या? फिर तो दुनिया फतह! एक के बाद एक गुलाम बिकने लगे। शैतान के भक्त आते गये और अपनी-अपनी पहचान, अपनी-अपनी पसंद का गुलाम खरीदते गये। पर एक बहुत ही भोंडी और कुरूप औरत खड़ी थी जिसे कोई पहचान ही नहीं पा रहा था कि यह कौन है? और कठिनाई और भी थी कि उसके गले में जो तख्ती लगी थी, सबसे ज्यादा कीमत की थी।

अंततः एक आदमी ने पूछा कि महानुभाव, बड़ा आश्चर्य है, इस स्त्री को हम पहचान नहीं पा रहे हैं। यह कौन है आपकी सेविका? और ऐसी कुरूप और ऐसी भोंडी कि इसे देखकर ही जी मिचलाता। और सबसे ज्यादा कीमत लगा रखी है। बात क्या है? कोई खरीददार गया भी नहीं इसके पास। यह देवी कौन है? इसके संबंध में कुछ बता दें। शैतान से उस ग्राहक ने पूछा।

शैतान ने कहा, ओह, यह? यह मेरी सबसे प्रिय और वफादार गुलाम है। मैं इसके सहारे बड़ी आसानी से लोगों को अपने शिकंजे में कस लेता हूं। क्यों, पहचाना नहीं इसे? बहुत कम लोग इसे पहचानते हैं इसीलिए तो इसके द्वारा धोखा देना आसान होता है। इसे कोई पहचानता नहीं मगर यह मेरा दाहिना हाथ है।

फिर शैतान अट्टहास कर उठा और बोला, महत्वाकांक्षा है यह। महत्वाकांक्षा! एंबीशन! यह सबसे भोंडी और सबसे कुरूप मेरी सेविका है, लेकिन सबसे कुशल।

आदमी जीता महत्वाकांक्षा में। यह पा लूं, यह मिल जाये, और मिल जाये, और ज्यादा मिल जाये। तुम उसी महत्वाकांक्षा को धर्म की दिशा में मत फैलाओ।

संन्यास सत्य को पाने की महत्वाकांक्षा नहीं है, संन्यास महत्वाकांक्षा का त्याग है। संन्यास मोक्ष को पाने की नई चाह नहीं है, संन्यास सारी चाह की व्यर्थता को देख लेने का नाम है। अब तुम और मत चाहो। अब तुम चाह को जाने दो। अब इसे विदा कर दो। जिस दिन तुम चाह को विदा कर दोगे उसी दिन तुम शैतान के शिकंजे के बाहर हो गये हो। और जिस क्षण चाह को तुमने विदा कर दिया उसी क्षण तुम पाओगे, जो तुमने सदा चाहा था वह होने लगा। वह चाह के कारण ही नहीं हो पाता था। नहीं, ऐसी आकांक्षा न करो।

अब न अगले वलवले हैं और न अरमानों की भीड़
एक मिट जाने की हसरत अब दिले-बिस्मिल में है

यह मिट जाने की हसरत भी जाने दो। यह हसरत भी उपद्रव है। जल्दी न करो। मौत की इतनी क्या जल्दी!

मौत है वह राज जो आखिर खुलेगा एक दिन
जिंदगी वह है मुअम्मा कोई जिसका हल नहीं

मौत तो एक दिन खुल ही जायेगी, एक दिन हो ही जायेगी। उसकी क्या जल्दी में पड़े हो। मरने की भी क्या चाहत। जिंदगी को समझ लो। जिंदगी को समझ लिया, जिंदगी खुल गई। और जहां जिंदगी खुल गई वहां

मौत खुल गई। क्योंकि मौत कुछ भी नहीं, जिंदगी का अंतिम शिखर है। मौत कुछ भी नहीं, जिंदगी की चरम अवस्था है। मौत कुछ भी नहीं, जिंदगी का आखिरी गीत है। जिंदगी समझ ली तो मौत समझ में आ जाती है। होना समझ लिया तो न होना समझ में आ जाता है।

इसलिए तो तुमसे कहता हूं, संसार से भागना मत। संसार को समझ लिया तो मोक्ष समझ में आ जाता है। लेकिन तुम जल्दबाजी में पड़ते हो। संसार को बिना समझे तुम मोक्ष को समझने चल पड़ते हो। फिर तुम्हारा मोक्ष भी नया संसार बन जाता है।

तीसरा प्रश्न: नृत्य कब घटित होता है? आप सदा नृत्य की बात करते हैं--किस नृत्य की? और कब घटित होता है यह नृत्य?

निश्चित ही मैं नृत्य की बात करता, क्योंकि मेरे लिए नृत्य ही पूजा है। नृत्य ही ध्यान है। नृत्य से ज्यादा सुगम कोई उपाय नहीं, सहज कोई समाधि नहीं। नृत्य सुगमतम है, सरलतम है। क्योंकि जितनी आसानी से तुम अपने अहंकार को नृत्य में विगलित कर पाते हो उतना किसी और चीज में कभी नहीं कर पाते।

नाच सको अगर दिल भरकर तो मिट जाओगे। नाचने में मिट जाओगे। नाच विस्मरण का अदभुत मार्ग है, अदभुत कीमिया है।

और नाच की और भी खूबी है कि जैसे-जैसे तुम नाचोगे, तुम्हारी जीवन-ऊर्जा प्रवाहित होगी। तुम जड़ हो गये हो। तुम सरिता होने को पैदा हुए थे, गंदे सरोवर हो गये हो। तुम बहने को पैदा हुए थे, तुम बंद हो गये हो। तुम्हारी जीवन-ऊर्जा फिर बहनी चाहिए, फिर झरनी चाहिए। फिर उठनीं चाहिए तरंगें। क्योंकि सरिता तो एक दिन सागर पहुंच जाती है, सरोवर नहीं पहुंच पाता। सरोवर अपने में बंद पड़ा रह जाता। इसलिए तुमसे कहता हूं, नाचो।

नाचने का अर्थ, तुम्हारी ऊर्जा बहे। तुम जमे-जमे मत खड़े रहो, पिघलो। तरंगायित होओ। गत्यात्मक होओ।

दूसरी बात: नाच में अचानक ही तुम प्रसन्न हो जाते हो। उदास आदमी भी नाचना शुरू करे, थोड़ी देर में पायेगा, उदासी से हाथ छूट गया। क्योंकि उदास होना और नाचना साथ-साथ चलते नहीं। रोता आदमी भी नाचना शुरू करे, थोड़ी देर में पायेगा, आंसू धीरे-धीरे मुस्कुराहटों में बदल गये। थका-मांदा आदमी भी नाचना शुरू करे, शीघ्र ही पायेगा कि कोई नई ऊर्जा का प्रवाह भीतर शुरू हो गया। नृत्य दुख जानता ही नहीं। नृत्य आनंद ही जानता है।

इसीलिए तो हिंदुओं ने परमेश्वर के परम रूप को नटराज कहा है, कृष्ण को नाच की मुद्रा में, ओंठ पर बांसुरी रखे, मोर-मुकुट बांधे चित्रित किया है। यह ऐसे ही नहीं, अकारण ही नहीं। यह सारा जीवन नाच रहा है।

जरा वृक्षों को देखो, पक्षियों को देखो। सुनते हो यह पक्षियों का कलरव? फूलों को देखो, चांदत्तारों को देखो। विराट नृत्य चल रहा है। रास चल रहा है। यह अखंड रास! तुम इसमें भागीदार हो जाओ। तुम सिकुड़-सिकुड़कर न बैठो। तुम कंजूस न बनो। तुम बहो।

पूछा है तुमने, "नृत्य कब घटित होता है?"

नृत्य तब घटित होता है जब नर्तक मिट जाता है। नृत्य तब घटित होता है जब नाच तो होता है, तुम नहीं होते। नाचनेवाला नहीं होता। याद ही नहीं रह जाती।

पश्चिम का बहुत बड़ा नर्तक हुआ निजिंस्की। ऐसा नर्तक, कहते हैं मनुष्य जाति के इतिहास में शायद दूसरा नहीं हुआ है। उसकी कुछ अपूर्व बातें थीं। एक अपूर्व बात तो यह थी कि जब वह नृत्य की ठीक-ठीक दशा

में आ जाता था--जिसको मैं नृत्य की दशा कह रहा हूं, जब नर्तक मिट जाता है--तो निजिंस्की ऐसी छलांगें भरता था कि वैज्ञानिक चकित हो जाते थे। क्योंकि गुरुत्वाकर्षण के कारण वैसी छलांगें हो ही नहीं सकतीं। और साधारण अवस्था में निजिंस्की भी वैसी छलांगें नहीं भर सकता था। उसने कई दफे कोशिश करके देख ली थी। अपनी तरफ से भी उसने कोशिश करके देख ली थी, हर बार हार जाता था।

जब उससे किसी ने पूछा कि इसका राज क्या है? उसने कहा, मुझसे मत पूछो। मुझे खुद ही पता नहीं। क्योंकि मैंने भी कई दफे कोशिश करके देख ली। जब यह घटती है तब घटती है। जब नहीं घटती तब मैं लाख उपाय करूं, नहीं घटती। और जब घटती है तो मैं हैरान होता हूं। कुछ क्षण को ऐसा लगता है, गुरुत्वाकर्षण का मेरे ऊपर प्रभाव नहीं रहा। मैं एक पक्षी के पंख की तरह हलका हो जाता हूं। कैसे यह होता है, मुझे पता नहीं। एक बात भर समझ में आती है कि यह उन क्षणों में होता है जब मुझे मेरा पता नहीं होता, जब मैं लापता होता हूं। जब मैं होता ही नहीं तब यह घटता है।

यह तो योग का पुराना सूत्र है। यह तो तंत्र का पुराना आधार है। निजिंस्की को कुछ पता नहीं वह क्या कह रहा है। अगर उसे पूरब के शास्त्रों का पता होता तो वह व्याख्या कर पाता।

विज्ञान कहता है...न्यूटन ने खोजा वृक्ष के नीचे बैठे-बैठे। गिरा फल और न्यूटन को खयाल आया, हर चीज ऊपर से नीचे की तरफ गिरती है। पत्थर भी हम ऊपर की तरफ फेंकें तो नीचे आ जाता है, तो जरूर जमीन में कोई गुरुत्वाकर्षण, कोई कशिश, कोई ग्रेविटेशन होना चाहिए। जमीन खींचती चीजों को अपनी तरफ।

न्यूटन ने एक बात देखी। हमने और भी एक बात देखी, जो न्यूटन ने नहीं देखी। और खयाल रखना, वही दिखाई पड़ता है जो हम देखने को तैयार होते हैं। कृष्ण ने कुछ और देखा, अष्टावक्र ने कुछ और देखा। उन्होंने यह देखा कि ऐसी कुछ घड़ियां हैं जब अहंकार नहीं होता तो आदमी ऊपर की तरफ उठने लगता है; जैसे आकाश की कोई कशिश, कोई आकर्षण है। जैसे वैज्ञानिक कहते हैं ग्रेविटेशन, गुरुत्वाकर्षण, ऐसे अंतरतम के मनीषियों ने कहा है कि प्रभु का आकर्षण। ऊर्ध्व, ऊपर की ओर से उतरती कोई ऊर्जा और खींचने लगती है। लेविटेशन या ग्रेस, प्रसाद कहें।

वही घट रहा था निजिंस्की को। कभी-कभी ऐसा हो जाता था, वह इतना तल्लीन...इतना तल्लीन हो जाता, ऐसा लवलीन हो जाता, ऐसा खो जाता कि फिर नर्तक न रहता, नृत्य ही बचता। कोई आयोजक न रह जाता भीतर, कोई नियंत्रक न रह जाता। कोई नृत्य करने वाला न रह जाता।

वही तो अष्टावक्र तुमसे कह रहे हैं। इसी नृत्य की व्याख्या कर रहे हैं कि कर्ता को जाने दो तो प्रभु तुम्हें सम्हाल ले अभी। तुम्हीं अपने को सम्हाले हो तो प्रभु को सम्हालने का मौका ही नहीं। तुम छोड़ो। तुम कहो, तू सम्हाल। तू जान। तेरी दुनिया। तेरा यह जीवन। तूने दिया जन्म, तू देगा मौत। तू ही सम्हाल। हम तो बीच में आ गये हैं।

सुनी हिकायते-हस्ती तो दर्मियां से सुनी
न इब्तदा की खबर है, न इन्तहा मालूम

हम तो बीच में हैं। न हमें पता है कि जन्म क्यों हुआ, न हमें पता है कि मौत क्यों होगी। न हमें प्रारंभ का कुछ पता है, और न अंत का। हम तो बीच में हैं। जिसको प्रारंभ का पता नहीं, अंत का पता नहीं, वह बीच की भी क्यों फिक्र रखे हुए है? जो पहले सम्हालता है, पीछे सम्हालता है, वह बीच में भी सम्हाल लेगा।

ऐसा जो छोड़ दे उसको ही अष्टावक्र कहते हैं, वही हुआ ज्ञाता। वही हुआ द्रष्टा। वही अब न रहा भोक्ता, न रहा कर्ता। और जहां भोक्ता और कर्ता खो जाते हैं वहीं परमात्मा है।

मैं तुमसे कहता हूं नृत्य की परिभाषा: जब नर्तक मिट जाये। ऐसे नाचो, ऐसे नाचो कि नाच ही बचे। ऊर्जा रह जाये, अहंकार का केंद्र न रहे।

और नृत्य जितनी सुगमता से परमात्मा के निकट ले आयेगा और कोई चीज कभी नहीं ला सकती। और नृत्य बड?ा स्वाभाविक है। आदमी है अकेला, जो भूल गया। सारा संसार नाच रहा है आदमी को छोड़कर। आदमी भी नाचता था। आदिम आदमी अब भी नाच रहे हैं, सिर्फ सभ्य आदमी वंचित हो गया है। सभ्य आदमी नाच भूल गया है। जड़ हो गया है। पत्थर की तरह हो गया है। झरना नहीं है कि बहे। निर्झर नहीं है।

थोड़ा अपने को पिघलाओ। थोड़ा छूने दो प्रभु को तुम्हें।

फागुन ने क्या छू लिया तनिक मन को
कर्पूरी देह अबीर हो गई है
क्या छुए मधुर गीतों ने रसिक अधर
धड़कन-धड़कन मंजीर हो गई है

अंगों पर फैल गई केसर क्यारी
नभ बाहों में भरने की तैयारी
बढ़ गई अचानक चंचलता लट की
सीमा-रेखाएं सिमटीं घूंघट की

सांसों को क्या छू गई मदिर सांसें
गंधायित मलय समीर हो गई है
फागुन ने क्या छू लिया तनिक मन को
कर्पूरी देह अबीर हो गई है

फागुन भी छू ले तो देह अबीर-अबीर हो जाती है। देह कस्तूरी-कस्तूरी हो जाती है। तुम जरा सोचो, परमात्मा छू ले तो तुम नाच उठोगे। तुम नाच उठो तो परमात्मा छू ले।

अब तुम यह मत पूछना कि क्या पहले है? तुम मुर्गी-अंडे के सवाल मत उठाना कि मुर्गी पहले कि अंडा पहले। उस उलझन में उलझोगे तो कभी सुलझ न पाओगे। इतना ही तुमसे कहता हूं, एक वर्तुल है। तुम नाचो तो परमात्मा छू ले। परमात्मा छू ले तो तुम नाच उठो।

अब परमात्मा छू ले यह तो तुम्हारे हाथ में नहीं, एक बात तुम्हारे हाथ में है कि तुम नाचो। तुम नाचो, उसे मौका दो कि तुम्हें छू ले। नाचते में ही छू सकता है तुम्हें। अभी तो तुम अकड़े-अकड़े बैठे हो। अभी तो तुम पानी जैसे जम गया, बरफ हो गये ऐसे हो गये हो। थोड़ा पिघलो। थोड़ा बहो।

तुम इधर बहे कि परमात्मा ने तुम्हें छुआ। उसने छुआ कि तुम और बहे। तुम और बहे कि उसने तुम्हें और छुआ। एक वर्तुल है। धीरे-धीरे तुम ज्यादा-ज्यादा हिम्मत जुटाते जाओगे। नर्तक खोता जायेगा, नृत्य बचेगा।

अवनी पर आकाश गा रहा
विरह मिलन के पास आ रहा
चारों ओर विभोर प्राण
झकझोर घोर में नाचें
निरख घोर घन
मुग्ध मोर मन
जल हिलोर में नाचे
जरा हिलोर बनो।
निरख घोर घन
मुग्ध मोर मन
जल हिलोर में नाचे
चारों ओर विभोर प्राण
झकझोर घोर में नाचें
निछावर इंद्रधनुष तुझ पर
निछावर प्रकृति-पुरुष तुझ पर

मयूरी उन्मन-उन्मन नाच
मयूरी छूम छनाछन नाच
मयूरी नाच, मगन-मन नाच
मयूरी नाच, मगन-मन नाच
गगन में सावन घन छाये
न क्यों सुधि साजन की आये
मयूरी आंगन-आंगन नाच
मयूरी नाच मगन-मन नाच

नाचो। हृदय खोलकर नाचो। सब तरह की कृपणता छोड़कर नाचो। एक दिन तुम पाओगे: अचानक, विस्मयविमुग्ध, चकित-भाव, भरोसा न होगा कि तुम मिट गये हो, नाच चल रहा है। जिस दिन तुम पाओगे कि तुम नहीं हो और नाच चल रहा है, उसी दिन तुम पाओगे सब जो पा लेने जैसा है; सब, जिसको पाये बिना और सब पाना व्यर्थ है।

और तुमने पूछा है कि नाच कब घटित होता है और कब नहीं घटित होता है? जब तुम होते हो तब नहीं घटित होता है। जब तुम सम्हाल-सम्हालकर नाच रहे होते हो तब नहीं घटित होता है। बेसम्हाले नाचो। नियंत्रण तोड़कर नाचो। अराजक होकर नाचो। स्वच्छंद होकर नाचो, तभी होता है।

अगर तुम मालिक रहे और भीतर-भीतर नियंत्रण जारी रखा तो वह मनुष्य का नृत्य है; परमात्मा नहीं नाच पाता। तुमने बागडोर उसके हाथ में दी ही नहीं। तुम बागडोर उसके हाथ में दे दो, फिर होता है नाच। फिर तुम इस विराट नृत्य के एक अंग हो जाते हो।

चौथा प्रश्न: संन्यास में दीक्षा लेने पर आप अपने शिष्यों को सुंदर-सुंदर नाम देते हैं। इन सुंदर नामों का रहस्य और अर्थ समझाने की कृपा करें।

नाम बस नाम है। जब देना ही है तो सुंदर दे देता हूं, असुंदर क्यों दूं? ऐसे तो चाहूं तो कह सकता हूं, स्वामी चूहड़मल फूहड़मल। नाम बस नाम है। और जब देना ही है तो सुंदर दे देता हूं। इसमें कुछ बहुत अर्थ नहीं है।

नाम में अर्थ हो भी क्या सकता है? अर्थ तो होता काम में। तुम नाम के भरोसे मत रुके रह जाना। कुछ करोगे तो कुछ होगा। कुछ होने दोगे तो कुछ होगा। कितना ही सुंदर नाम दे दूं, इससे क्या होगा? काश, नाम बदल देने से जीवन बदलते होते, कितना सरल होता?

सुंदर नाम देकर मैं अपनी आकांक्षा, अपनी अभीप्सा प्रगट कर रहा हूं। सुंदर नाम देकर मैं अपना आशीष तुम्हें दे रहा हूं कि मैंने सुंदरतम तुममें चाहा है! अब तुम कुछ करो। सुंदर नाम देकर मैंने तुम्हें बड़ा उत्तरदायित्व दे दिया। अब तुम्हें पूरा करना है। सुंदर नाम देकर मैंने तुम्हें एक चुनौती दे दी। तुम्हें एक बुलावा दे दिया, एक आमंत्रण दे दिया कि अब यह यात्रा करनी है। अब यह नाम याद रखना। अब यह नाम तुम्हें सतायेगा।

एक पुरानी कथा तुमसे कहूं। बहुत पुरानी कथा है। किसी बालक के मां-बाप ने उसका नाम पापक, पापी रख दिया। लोग भी खूब हैं। किसी का नाम रख देते हैं पोपट, घसीटामल, घासीराम; जैसे नामों की कुछ कमी है। पापक? अब ऐसे ही आदमी पापी है, अब और कम से कम नाम तो न रखो। इतनी तो कृपा करो। लेकिन रख दिया।

मैं माऊंट आबू शिविर लेने जाता था, वहां एक बगीचा है: शैतानसिंह उद्यान।

किसी का नाम शैतानसिंह है। और कोई नाम न सूझा?

तो किसी ने रख दिया होगा पापक। बालक बड़ा हुआ तो उसे यह नाम बहुत बुरा लगने लगा, खटकने लगा। हर कोई कहे, कहो पापी! कहां चले जा रहे हो? ऐसा नहीं कि पापी नहीं था; जैसे सब पापी हैं वैसा पापी था। लेकिन यह नाम एक मुसीबत हो गई।

तो उसने अपने आचार्य से प्रार्थना की, भंते, मेरा नाम बदल दें। अपने गुरु से कहा कि इतना कर दें। यह नाम मेरे पीछे बुरी तरह पड़ा है। यह नाम बड़ा अप्रिय है, अशुभ और अमांगलिक है। लेकिन आचार्य ने कहा, नाम तो केवल प्रज्ञप्ति के लिए है। व्यवहार-जगत में पुकारने के लिए होता है। नाम बदलने से क्या सिद्ध होगा? अरे, पाप ही बदल ले ताकि किसी की हिम्मत पापी कहने की न पड़े। मगर उसने कहा कि महाराज, वह जरा कठिन काम है, यह नाम तो बदल ही दो।

तो गुरु ने कहा, ठीक है, तो तू ऐसा कर कि तू गांव भर में घूम-फिरकर देख ले, कौन-सा नाम तुझे प्रिय लगता है, वह तू आकर मुझे बता दे। वही तेरा रख देंगे। नहीं माना, तो गुरु ने कहा, चलो ठीक, बदल देंगे। जा तू, खोज ला। जब आग्रह ही करता है तो तेरी मर्जी। फिर भी तुझसे कहता हूं, गुरु ने कहा कि अर्थ सिद्ध तो कर्म के करने से होता है, कर्म सुधारने से होता है। पर तू नाम ही सुधारना चाहता है तो जा, गांव में खोज ले।

अब वह निकला गांव में। पहले ही आदमी से टकरा गया तो उसने कहा, अरे, देखते नहीं? उसने कहा, भाई, मैं अंधा हूं। उसने कहा, चलो कोई बात नहीं, तुम्हारा नाम? उन्होंने कहा, नयनसुख। वह जरा चौंका; उसने कहा, हद हो गई! नाम नयनसुख, आंख के अंधे! उसने कहा, होगा, अपने को इससे क्या लेना-देना। मगर नयनसुख नाम रखना ठीक नहीं, उसने कहा। क्योंकि अंधों का नाम नयनसुख!

और आगे चला तो एक अर्थी जा रही थी। उसने पूछा, भाई, कौन मर गया? उन्होंने कहा, जीवक। उसने कहा, और सुनो। जीवक तो वह जो जीये; और ये सज्जन मर गये! यह तो बड़ा बुरा हुआ। जीवक और मृत्यु का शिकार हो गया! बुद्ध के चिकित्सक का नाम जीवक था। राजाओं ने उसे यह नाम दिया था। क्योंकि वह लोगों को...उसकी औषधि में ऐसा बल था कि जैसे मरों को जिला ले। लेकिन जीवक भी मरा। वह औषधि भी काम न आई, नाम भी काम न आया।

तो वह सोचने लगा, जीवक नाम भी ठीक नहीं। तो अर्थी कसी जायेगी। फिर लोग हंसेंगे कि अरे, जीवक मर गये! जिंदगी भर हंसे क्योंकि नाम रहा पापक, मरते वक्त हंसेंगे कि हो गये जीवक! यह नहीं चलेगा।

और आगे बढ़ा तो देखा एक दीन-हीन गरीब दुखियारी स्त्री को मार-पीटकर घर के बाहर निकाला जा रहा था। तो उसने पूछा देवी, तेरा नाम? तो उसने कहा, धनपाली। पापक सोचने लगा, नाम धनपाली और पैसे-पैसे को मोहताज।

और आगे बढ़ा तो एक आदमी को लोगों से रास्ता पूछते पाया। तो उसने पूछा, भाई, रास्ता पीछे पूछ लेना, पहले एक बात बता दो, तुम्हारा नाम? तो उसने कहा, पंथक। पापक फिर सोच में पड़ गया कि अरे, पंथक भी पंथ पूछते हैं, पंथ भूलते हैं?

पापक वापिस लौट आया। गुरु से उसने कहा कि बात खतम हो गई। नामों में क्या धरा! रास्ते पर अंधा मिला; जनम का अंधा, नाम नयनसुख। एक दुखिया मिला; जनम का दुखिया, नाम सदासुख। सब देख आया। यही ठीक है। पाप को ही बदल लूंगा। नाम को बदलने से क्या होगा?

फिर भी जब तुम मुझसे दीक्षा लेते हो तो तुम्हें सुंदर नाम देता हूं। सुंदर से मेरा लगाव है। नाम ही दे रहा हूं तो क्या कंजूसी करूं! दिल खोलकर दे देता हूं। सुंदर से सुंदर नाम जो खयाल में आता है, तुम्हें दे देता हूं।

इससे तुम ध्यान रखना कि तुम्हारे लिए चुनौती है। तुम इससे यह मत समझ लेना कि यह तुम हो गये। यह तुम्हें होना है। नाम अभी सार्थक है नहीं, संभावना है, यह तुम्हें होना है।

किसी को मैं नाम देता हूं, सच्चिदानंद। यह तुम्हें होना है। तुम यह मत समझ लेना कि हो गये! मैंने नाम दे दिया तो बात खतम। अब क्या करना? जो होना था सो हो गये। सच्चिदानंद हो गये। इतना सस्ता नहीं है। आदमी एक संभावना है होने की। आदमी है नहीं, आदमी होने की संभावना है, एक बीज है।

पुरानी कथा है कि परमात्मा ने जब प्रकृति बनाई, सब बनाया और फिर आदमी को बनाया, तो आदमी को उसने मिट्टी से बनाया। जब आदमी बन गया तो परमात्मा ने सारे देवताओं को इकट्ठा करके कहा कि देखो, मेरी श्रेष्ठतम कृति यह मनुष्य है। इससे ऊपर मैंने कुछ भी नहीं बनाया। यह मेरी प्रकृति के सारे विस्तार में सबसे श्रेष्ठ, सबसे गरिमाशाली। लेकिन एक संदेहवादी देवता ने कहा, यह तो ठीक है, लेकिन मिट्टी से क्यों बनाया? निकृष्टतम चीज से बनाई श्रेष्ठतम चीज, यह कुछ समझ में नहीं आती। अरे, सोने से बनाते! कम से कम चांदी से बनाते। न सही चांदी, लोहे से बना देते। मिट्टी! कुछ और न मिला? निकृष्टतम से श्रेष्ठतम को बनाया।

तो परमात्मा हंसने लगा। उसने कहा, जिसे श्रेष्ठतम बनना हो उसे निकृष्टतम से यात्रा करनी होती है। जिसे स्वर्ग जाना हो उसे नर्क में पैर जमाने पड़ते। जिसे ऊपर उठना हो उसे निम्नतम को छूना पड़ता।

और फिर परमात्मा ने कहा, तुमने कभी सोने में से किसी चीज को उगते देखा? चांदी में से कोई चीज उगते देखी? बो दो बीज सोने में, कभी उगेगा नहीं, मर जायेगा। मिट्टी भर में उगता है कुछ। और मनुष्य एक संभावना है, एक आश्वासन है। अभी मनुष्य को होना है, अभी हो नहीं गया। हो सकता है। होने की सब व्यवस्था कर दी है लेकिन होना पड़ेगा। इसलिए मिट्टी से बनाया है, क्योंकि मिट्टी में ही बीज फूटता है, अंकुर निकलते हैं, वृक्ष पैदा होते, फूल लगते, फल लगते, सुंगध फैलती। महोत्सव घटित होता है।

मिट्टी में ही संभावना है। सोने की कोई संभावना नहीं। सोना तो मुर्दा है, चांदी तो मुर्दा है। इसीलिए तो मरे-मरे लोग सोने-चांदी को पूजते हैं। जिंदा लोग मिट्टी को पूजते हैं। जितना मरा आदमी उतना ही सोने का पूजक। जितना जिंदा आदमी उतना उसका मिट्टी से मोह, मिट्टी से लगाव, मिट्टी से प्रेम। मिट्टी जीवन है। ठीक कहा ईश्वर ने कि बीज मिट्टी में फेंक दो तो खिलता, फैलता, बड़ा होता।

मनुष्य एक संभावना है। मनुष्य यात्रा है, अंत नहीं। अभी मनुष्य को होना है, अभी मनुष्य हुआ नहीं। सारी क्षमता पड़ी है छिपी अचेतन में; प्रगट होना है, अभिव्यक्त होना है। गीत तुम लेकर आये हो, अभी गाया नहीं। तुम्हारी वीणा तो है तुम्हारे पास, लेकिन तुम्हारी उंगलियों ने अभी छुआ नहीं।

जब मैं तुम्हें नाम देता हूं तो सिर्फ एक संभावना देता हूं। कहता हूं, सच्चिदानंद हो जाना। इसलिए सच्चिदानंद नाम दे देता हूं। नाम को तुम ऐसा मत समझ लेना कि तुम सच्चिदानंद हो इसलिए मैंने सच्चिदानंद कह दिया है। होते तब तो कहना क्या था! होते तब तो दीक्षा की भी कोई जरूरत न थी। होते तब तो कुछ भी कारण न था। नहीं हो, मगर हो सकते हो। द्वार खुला है, चलना पड़े।

यह जो तुम्हारा नाम है इसे दूर की मंजिल समझना। वह जो दूर तारों के पार सच्चिदानंद-रूप है, वह मैंने तुम्हें नाम दे दिया है। नाम से तुम्हें जोड़ दिया उससे। अब तुमसे कह दिया, अब चलो। लंबी यात्रा है। दुर्गम पथ है। कंटकाकीर्ण मार्ग है। भटक जाने की पूरी संभावना है, पहुंचने की संभावना बहुत कम है। लेकिन यह नाम तुम्हें दे दिया, यह एक दूर के तारे की तरह तुम्हें रोशनी देगा। और जब तुम भटकने लगोगे और जब तुम गिरने लगोगे तब तुम्हें याद दिलायेगा कि सच्चिदानंद, यह क्या कर रहे? यह तुम्हारे जैसा नहीं है।

सच्चिदानंद, यह तुम क्या कर रहे? चोरी कर रहे? यह तुम्हारे नाम से मेल नहीं खाता। सच्चिदानंद, यह किसी की हत्या करने को उतारू हो गये? यह तुम्हारे नाम से मेल नहीं खाता। सच्चिदानंद, उदास बैठे हो? मुर्दा बैठे हो? यह तुम्हारे नाम से मेल नहीं खाता। नाचो।

मयूरी नाच, छनाछन नाच

मयूरी नाच, उन्मन-उन्मन नाच

मयूरी नाच, आंगन-आंगन नाच
तुम्हें याद दिलाने को, स्मरण दिलाने को।

आखिरी प्रश्न: क्या बुद्धपुरुष भी आंसू बहाते हैं?

बुद्धपुरुषों के संबंध में कोई भी बात तय करनी उचित नहीं। बुद्धपुरुष ऐसे विराट, जैसे आकाश। बुद्धपुरुष के संबंध में कोई सीमा-रेखा नहीं खींची जा सकती। एक ही बात कही जा सकती है कि बुद्धपुरुष होने का अर्थ होता है, पूर्ण हो जाना। पूर्ण में सब समाहित है--आंसू भी। जैसे मुस्कुराहटें समाहित हैं वैसे ही आंसू भी।

एक झेन फकीर जापान में मरा। उसका शिष्य रिंझाई बड़ा प्रसिद्ध था। इतना प्रसिद्ध था, गुरु से ज्यादा प्रसिद्ध था। सच तो यह है कि रिंझाई के कारण ही गुरु की प्रसिद्धि हुई थी। लाखों लोग इकट्ठे हुए और रिंझाई रोने लगा। गुरु की लाश पड़ी है और रिंझाई के आंसू झरने लगे। और रिंझाई के आसपास जो लोग थे उन्होंने कहा, यह क्या करते हो? तुम्हें लोग रोता देखेंगे तो क्या सोचेंगे? बुद्धपुरुष कहीं रोते?

तो रिंझाई ने कहा, तो समझ लो कि मैं बुद्धपुरुष नहीं। मगर अब रोना हो रहा है, तो क्या करूं? मेरे गुरु ने एक ही बात मुझे सिखाई थी कि जो स्वाभाविक हो उसे होने देना। अभी तो आंसू आ रहे हैं। पर लोगों ने कहा, तुम्हीं तो समझाते रहे कि आत्मा अमर है। अब रोते क्यों?

रिंझाई ने कहा, मैं आत्मा के लिए रो भी कहां रहा हूं? यह शरीर भी बड़ा प्यारा था। आत्मा तो अमर ही है, उसके लिए कौन रो रहा है? यह गुरु की देह भी बड़ी प्यारी थी। अब दुबारा इसके दर्शन न हो सकेंगे। अब अनंत काल में इसका कभी साक्षात्कार न हो सकेगा। एक अपूर्व घटना का विसर्जन हो रहा है, तुम मुझे रोने भी न दोगे? तुम सम्हालो अपना बुद्धपुरुष और बुद्धपुरुष की परिभाषा। मैं जैसा, वैसा भला। लेकिन मुझे स्वाभाविक होने दो।

और मैं तुमसे कहता हूं, रिंझाई बुद्धपुरुष था इसलिए रो सका। तुम जैसा कोई बुद्धू होता, अगर आंसू भी आ रहे होते तो रोककर बैठ जाता कि यह मौका कोई रोने का है? सारी इज्जत पर पानी फिर जायेगा। अभी रोने का मौका है? रो लेना एकांत में, अकेले में करके दरवाजा बंद। अभी तो न रोओ। भीड?-भाड़ के सामने तो अकड़कर बैठे रहो कि ज्ञान को उपलब्ध हो गये हैं, कैसा रोना? अरे ज्ञानी कहीं रोते हैं? यह तो अज्ञानी रोते हैं।

नहीं, यह निश्चित ही बुद्धपुरुष रहा होगा। तभी तो बुद्धपुरुष होने की बात को भी दो कौड़ी में फेंक दिया। कहा, रख आओ, सम्हालो तुम्हीं। तो फिर मैं बुद्धपुरुष नहीं। बात खतम हुई। मगर जो सहज हो रहा है, होने दो।

बुद्धपुरुष होने का अर्थ होता है, सहजता, समग्रता। जीवन समग्र है। कहना मुश्किल है। बुद्धपुरुषों के संबंध में कोई भविष्यवाणी नहीं हो सकती। बुद्धपुरुष ऐसे मुक्त जैसे आकाश।

ऐसा हुआ, गौतम बुद्ध के जीवन में उल्लेख है कि जब वे बारह वर्ष के बाद अपने घर वापिस लौटे तो स्वभावतः अपने पिता को, अपनी पत्नी को, अपने बेटे को मिलना चाहे। तो आनंद ने कहा कि यह शोभा नहीं देता। बुद्धपुरुष का कौन पिता, कौन बेटा, कौन पत्नी? बात खतम हो गई। आप तो ज्ञान को उपलब्ध हो गये।

बुद्ध ने कहा, मैं तो हो गया लेकिन वे नहीं हैं अभी उपलब्ध। उनका मोह अभी भी मेरे प्रति है। और मैं तो मुक्त हो गया लेकिन मेरा ऋण तो कायम है। उनसे मैंने जन्म लिया। और इस पत्नी को मैं बारह साल पहले छोड़कर अंधेरी रात में भाग गया था, क्षमा तो मांग लेने दो। मेरी यात्रा तो पूरी हो गई, लेकिन वह तो अभी भी जली-भुंजी बैठी है। अभी भी नाराज है। बड़ी मानिनी है यशोधरा। उसने मुझे क्षमा नहीं किया। और जब तक मैं क्षमा न मांगूं वह क्षमा करेगी भी नहीं। अब मुझे उससे क्षमा मांग लेने दो ताकि वह भी मुक्त हो जाये। यह बात गई-गुजरी हो गई। जो हुआ, हुआ।

आनंद जरा कसमसाया। उसको यह बात जंचती नहीं। बुद्धपुरुष को क्या लेना-देना? फिर भी अब नहीं मानते तो ठीक है, गया!

आनंद जब संन्यस्त हुआ था--आनंद बुद्ध का बड़ा भाई था स्वयं, चचेरा बड़ा भाई। जब वह संन्यस्त हुआ था, बुद्ध से दीक्षा ली थी तो दीक्षा के पहले उसने कहा था कि मेरी कुछ शर्तें हैं। दीक्षा के बाद तो मैं शिष्य हो जाऊंगा, फिर तुम मेरी सुनोगे नहीं। मुझे तुम्हारी सुननी पड़ेगी। दीक्षा के पहले बड़े भाई के हैसियत से ये शर्तें तुमसे मांग लेता हूं। उसमें एक शर्त यह भी थी कि सदा तुम्हारे साथ रहूंगा। तुम कभी भी मुझसे यह न कह सकोगे कि आनंद, मुझे छोड़। रात तुम्हारे कमरे में सोऊंगा। तुम्हारी छाया की तरह चलूंगा। तुम मुझे समझा न सकोगे कि आनंद जा, तू दूसरे गांव में शिक्षा दे लोगों को। मैं कहीं जानेवाला नहीं। मैं तुम्हारे पीछे रहूंगा। ऐसी उसने पहले ही शर्त रखी थी और बुद्ध ने शर्त मान ली थी।

जब वे महल में प्रवेश करने लगे तो बुद्ध ने कहा, आनंद, यशोधरा खुल न पायेगी अगर तू मौजूद रहा। कुलीन स्त्री है। वह अपना भाव भी प्रगट न करेगी तेरे सामने। फिर तू मेरा बड़ा भाई है, वह घूंघट कर लेगी। वह रो भी न पायेगी, नाराज भी न हो पायेगी। और तेरे सामने तेरी प्रतिष्ठा को ध्यान में रखकर वह कुछ कहेगी भी नहीं। तू कृपा कर। आज तू जरा पीछे रह जा।

आनंद ने कहा, यह कैसी बात! बुद्धपुरुष को पत्नी क्या, पति क्या! पर बुद्ध ने कहा, तू छोड़ फिक्र बुद्धपुरुषों की। मैं किसी परिभाषा से बंधा नहीं। यही उचित मालूम होता है।

और बात ठीक थी। यशोधरा क्षमा न कर पाती बुद्ध को अगर आनंद मौजूद रहता। जब बुद्ध गये, यशोधरा टूट पड़ी। रोयी, चीखी, चिल्लाई, नाराज हुई। उसने कहा कि तुम मुझे छोड़कर भाग गये। तुमने इतना भी भरोसा न किया कि मुझे जगाकर पूछ लेते? क्या तुम सोचते हो, मैं मना करती? तुमने इतना भी मेरे प्रेम का भरोसा न किया, इतना मेरे प्रेम का समादर न किया। तुम पूछ लेते कि मैं जाता हूं। मैं तुम्हें जाने देती लेकिन तुम पूछ तो लेते। तुम जगाकर कह तो देते। मैं अंतिम क्षण तुम्हारे पैर तो छू लेती। तुमने इतना भी मुझे मौका न दिया? तुमने इतना भी भरोसा न किया? मैं क्षत्राणी हूं, तुम अगर कहते कि तुम्हें अपनी गर्दन भी काटनी है तो मैं तुम्हारे पैर छूकर तुमसे कहती कि ठीक है, तुम मालिक हो। तुम मेरे स्वामी हो। मैं तुम्हारी मालिक नहीं हूं। तुम्हें जो ठीक लगे, करो। लेकिन तुम भाग गये चोर की तरह, वह मन में कसती है बात। कांटे की तरह सलती है बात।

वह खूब नाराज हुई। वह खूब चिल्लाई। वह खूब रोई। इस सब उधेड़बुन में उसे खयाल ही न रहा कि बुद्ध चुपचाप खड़े हैं, एक शब्द भी नहीं बोले हैं। तब उसने अपनी आंखों से आंसू पोंछे और बुद्ध से कहा, आप चुप हैं, बोलते नहीं?

बुद्ध ने कहा, मैं क्या बोलूं? क्योंकि जो गया था वह आया नहीं। जिससे तू लड़ रही है वह अब है नहीं। और जो मैं आया हूं उससे तू बिलकुल अपरिचित है। तू मेरी तरफ देख पागल! जो गया था वह मैं नहीं हूं। देह वैसी लगती होगी तुझे, लेकिन सब बदल गया। आमूल बदल गया हूं। जड़-मूल से बदल गया हूं। यह कोई और ही आया है। यह एक दूसरी ही ज्योति है। मैं तो मिट गया, नया होकर आया हूं। तू मेरी तरफ देख। अब कब तक गुजरे को लेकर बैठी रहेगी? जो हुआ, हुआ। उठ। जो मुझे हुआ है वह तुझे देने आया हूं। मैंने परम आनंद पाया है। तू भी उसकी भागीदार बन।

और यशोधरा संन्यस्त हुई।

जब यशोधरा संन्यस्त हो गई तो यशोधरा से बुद्ध ने कहा, एक बात तू आनंद को समझा दे। वह चिंतित है। अगर मैं आनंद को लेकर आया होता तो तू खुल पाती? वह कहती, कभी नहीं खुल पाती। मैं तुम्हें फिर कभी क्षमा न कर पाती। एक तो चोर की तरह भागकर गये और फिर आये तो भीड़-भाड़ लेकर आये ताकि मैं कुछ कह न सकूं। आनंद की मौजूदगी में मैं चुपचाप रह जाती। मैंने अपने हृदय के छाले तुम्हें न दिखाये होते। बात खतम

हो गई थी। तुमने फिर मेरा भरोसा नहीं किया। तुम फिर किसी को लेकर आ गये आड़ की तरह, बीच में पर्दे की तरह।

बुद्धपुरुष की कोई परिभाषा नहीं।

फिर कोई एक बुद्धपुरुष थोड़े ही हुआ है कि परिभाषा हो जाये! सब बुद्धपुरुष अनूठे होते हैं। कृष्ण अपनी तरह, राम अपनी तरह, बुद्ध अपनी तरह, महावीर अपनी तरह, जीसस अपनी तरह, मोहम्मद अपनी तरह, इतने फूल खिलते हैं इस पृथ्वी पर, इतने भिन्न-भिन्न। जूही है और बेला है और चंपा है और चमेली है; गुलाब और कमल...और सब अलग-अलग।

हर बुद्धपुरुष अनूठा है। इसलिए परिभाषा तो कैसे हो? नहीं, कोई परिभाषा नहीं हो सकती।

तुम पूछते हो, "क्या बुद्धपुरुष भी आंसू बहाते हैं?"

बहा भी सकते हैं न भी बहायें। निर्भर करता है इस पर--किस बुद्धपुरुष के संबंध में बात हो रही है, उसके व्यक्तित्व पर निर्भर करता है।

तुमने देखा! कृष्ण का एक नाम है, रणछोड़दास। बड़ा मजेदार नाम है। भाग खड़े हुए रण छोड़कर। रणछोड़दासजी।

अब तुम कहोगे, बुद्धपुरुष भाग सकता? कृष्ण भागे। बुद्धपुरुष झूठ बोल सकता? कृष्ण के जीवन में बहुत झूठ है। बुद्धपुरुष दिये हुए वचन तोड़ सकता? कृष्ण ने तोड़े। क्या करोगे? बुद्धपुरुष हाथ में तलवार ले सकता है? मोहम्मद ने ली। हालांकि तलवार पर लिखा था, शांति मेरा संदेश है। इस्लाम का अर्थ होता है: शांति। अब तलवार पर ही लिखे हैं, "शांति मेरा संदेश है", और कोई जगह न मिली लिखने को?

कहना मुश्किल है। इधर एक बुद्ध हैं जो कहते हैं, चींटी को भी मारना पाप है। उधर एक मोहम्मद हैं, वे तलवार लेकर आदमियों को काटते रहे। और जरा फिक्र न की। इधर महावीर हैं, वे पानी भी छानकर पीते। उधर कृष्ण हैं, वे अर्जुन से कहते हैं, तू मार। बेफिक्र मार। क्योंकि ये मारे ही जा चुके हैं। तू तो निमित्तमात्र है।

जितने बुद्धपुरुष उतने प्रकार हैं। परिभाषा असंभव है।

महावीर अकेले खड़े हैं। कृष्ण हजार स्त्रियों के बीच नाच रहे हैं। बुद्ध वृक्ष के नीचे बैठे हैं। मीरा गांव-गांव नाच रही है। बुद्ध को तुम नाचता हुआ सोच नहीं सकते। महावीर के ओंठ पर बांसुरी रखोगे बड़ी बेहूदी मालूम होगी। कृष्ण को नंगा खड़ा कर दो दिगंबर, जंचेंगे नहीं।

सब अनूठे हैं। सब अपने-अपने जैसे हैं। एक-एक बुद्धपुरुष एक-एक अनूठी घटना है इसलिए कोई परिभाषा नहीं हो सकती। कुछ कहा नहीं जा सकता।

और अभी सब बुद्धपुरुष हो नहीं गये हैं। जितने हुए हैं उससे बहुत ज्यादा होंगे। इसलिए अभी परिभाषा बंद भी नहीं हो सकती। कल कोई बुद्धपुरुष कैसा होगा, कहना मुश्किल है।

एक बात तय है, बस उसी को तुम समझना मूल आधार: कि बुद्धपुरुष जो भी करता है, जागा हुआ करता है। रोये तो जागा हुआ रोता, नाचे तो जागा हुआ नाचता। अकेला खड़ा रहे तो जागा हुआ खड़ा रहता है।

जागरण बुद्धत्व का स्वाद है। बुद्ध शब्द का अर्थ होता है, जागा हुआ। जो भी करे, जागा हुआ करता है। उसकी जागृति भर एकमात्र परिभाषा है, शेष सब गौण बातें हैं। उसके अंतर का दीया जला होता है।

आज इतना ही।

पचहत्तरवां प्रवचन

मन का निस्तरण

सर्वारंभेषु निष्कामो यश्चरेद्बालवन्मुनिः।
न लेपस्तस्य शुद्धस्य क्रियमाणेऽपि कर्माणि।। २४०।।
स एव धन्य आत्मज्ञः सर्वभावेषु यः समः।
पश्यन् शृण्वन् स्पृशन् जिघ्रन्नश्नन्निस्तर्षमानसः।। २४१।।
क्व संसारः क्व चाभासः क्व साध्यं क्व च साधनम्।
आकाशस्येव धीरस्य निर्विकल्पस्येव सर्वदा।। २४२।।
स जयत्यर्थसंन्यासी पूर्णस्वरसविग्रहः।
अकृत्रिमोऽनवच्छिन्ने समाधिर्यस्य वर्तते।। २४३।।
बहुनात्र किमुक्तेन ज्ञाततत्वो महाशयः।
भोगमोक्षनिराकांक्षी सदा सर्वत्र नीरसः।। २४४।।
महदादि जगद्वैतं नाममात्रविजृम्भितम्।
विहाय शुद्धबोधस्य किं कृत्यमवशिष्यते।। २४५।।

सर्वारंभेषु निष्कामो यः चरेत् बालवन्मुनिः।
न लेपः तस्य शुद्धस्य क्रियमाणेऽपि कर्माणि।।

पहला सूत्र: "जो मुनि सब क्रियाओं में निष्काम है और बालवत व्यवहार करता है, उस शुद्ध के किये हुए कर्म में भी लेप नहीं होता है।"

बहुत-सी बातें इस सूत्र में समझ लेने जैसी हैं।

पहली बात: सर्वारंभेषु। साधारणतः हम किसी कार्य का प्रारंभ करते हैं तो कामना से करते हैं। कुछ पाना है इसलिए करते हैं। कोई महत्वाकांक्षा है, उसे पूरा करना है इसलिए करते हैं।

ज्ञानी किसी कर्म का प्रारंभ किसी कारण से नहीं करता। उसे कुछ भी पाना नहीं है, कुछ भी होना नहीं है। जो होना था हो चुका। जो पाना था पा लिया। फिर भी कर्म तो होते हैं। तो इन कर्मों में कोई प्रारंभ की वासना नहीं है। कोई आरंभ नहीं है। प्रभु जो करवाता वह होता। ज्ञानी अपने तईं कुछ भी नहीं कर रहा है। प्रभु बुलाये तो बोलता। प्रभु मौन रखे तो मौन रहता। प्रभु चलाये तो चलता। प्रभु न चलाये तो रुक रहता।

जिस दिन अहंकार गया उसी दिन कर्मों को प्रारंभ करने की जो आकांक्षा थी वह भी गई। अब कर्मों का प्रारंभ परमात्मा से होता और कर्मों का अंत भी उसी को समर्पित है। ज्ञानी में कर्म प्रगट होता है लेकिन शुरू नहीं होता; शुरू परमात्मा में होता है। लहर परमात्मा से उठती है, ज्ञानी से प्रगट होती है।

इसे समझना। होता तो ऐसा ही अज्ञानी में भी है, लेकिन अज्ञानी सोचता है लहर भी मुझसे उठी। अज्ञानी अपने कर्मों का स्रोत स्वयं को मान लेता। वहीं बंधन पैदा होता है। कर्मों में बंधन नहीं है, कर्मों का स्रोत स्वयं को मान लेने में बंधन है। तुमने कभी कोई कर्म किया है? तुम कभी कोई कर्म कर कैसे सकोगे? न जन्म तुम्हारा न मृत्यु तुम्हारी; तो जीवन तुम्हारा कैसे हो सकता है?

मैंने सुना है, एक महल के पास पत्थरों का एक ढेर लगा था। और एक छोटा बच्चा खेलता आया और उसने एक पत्थर उठाकर महल की खिड़की की तरफ फेंका। पत्थर जब ऊपर उठने लगा तो पत्थर ने अपने नीचे पड़े हुए पत्थरों से कहा, सगे-संबंधियों से कहा, सुनो, जिन पंखों के तुमने सदा स्वप्न देखे, वे मेरे पैदा हो गये हैं। आज मैं आकाश में उड़ने के लिए जा रहा हूं।

स्वप्न तो पत्थर भी देखते हैं उड़ने के। उड़ नहीं पाते। मजबूरी में तड़पते हैं। आज इस पत्थर को अहंकार जगा। फेंका तो किसी ने था लेकिन पत्थर ने घोषणा की, कि देखते हो, सुनते हो? जिन पंखों के तुमने स्वप्न देखे वे मुझमें पैदा हो गये। आज मैं आकाश की यात्रा को जा रहा हूं। भेजा जा रहा था लेकिन उसने कहा, जा रहा हूं। पहल उसके स्वयं के भीतर से न आई थी। प्रारंभ किसी और ने किया था, लेकिन प्रारंभ का मालिक वह स्वयं बन गया।

और फिर जब जाकर कांच की खिड़की से टकराया और कांच चकनाचूर हो गया तो खिलखिला कर अट्टहास करके हंसा। और उसने कहा, सुनते हो? हजार बार मैंने कहा है, हजार बार चेताया है, मेरे मार्ग में कोई न आये अन्यथा चकनाचूर कर दूंगा।

अब जब पत्थर कांच से टकराता है तो कांच चकनाचूर होता है, पत्थर करता नहीं। यह कांच और पत्थर के स्वभाव से घटता है कि कांच चकनाचूर होता है। फर्क समझ लेना होने में और करने में। पत्थर ने कुछ किया नहीं है। करने को क्या है? कांच टूटा है। पत्थर निमित्त है तोड़ने में, कर्ता नहीं है।

लेकिन यह मौका कौन छोड़े? पत्थर यह मौका कैसे छोड़े? जैसे औरों ने घोषणायें की हैं, तुमने की हैं, उसने भी की: मेरे मार्ग में कोई न आये अन्यथा चकनाचूर कर दूंगा। आज मौका मिला है, घोषणा सही हो गई है, सही होती मालूम पड़ती। आज इस अवसर को चूक देना ठीक नहीं है। और कांच के टुकड़े कहें भी क्या? बात तो घट रही है, आंख के सामने घट रही है। पत्थर ने चकनाचूर कर ही दिया है। तो इनकार भी कहां है? प्रमाण भी कहां है इसके विपरीत? लेकिन फिर भी पत्थर ने कांच को चकनाचूर किया नहीं है, कांच चकनाचूर हुआ है। पत्थर जब कांच से टकराता है तो दोनों के स्वभाव से...और स्वभाव का नाम परमात्मा है। यह सहज हो रहा है। न कोई कर रहा है, न कुछ किया जा रहा है।

और जब कांच चकनाचूर हो गया और पत्थर जाकर महल के कालीन पर गिरा तो उसने सुख की सांस ली। उसने कहा, लंबी यात्रा की, थक भी गया हूं, दुश्मन को भी मारा, अब थोड़ा विश्राम कर लूं। गिरा है कालीन पर, लेकिन कहता है, थोड़ा विश्राम कर लूं।

और फिर मन में सोचने लगा, मेरे स्वागत में तैयारी की गई है। कालीन बिछाये गये। कोई मेरी प्रतीक्षा कर रहा है। और तभी महल का नौकर पत्थर और कांच की टकराहट की आवाज और कांच का टूटना और पत्थर का गिरना सुनकर भागा हुआ आया। तो पत्थर ने मन में कहा, मालिक आता है स्वागत के लिए। और जब नौकर ने पत्थर को अपने हाथ में उठाया तो पत्थर ने कहा, धन्यवाद। हालांकि किसी ने सुना नहीं। पत्थर की भाषा अलग, आदमी की भाषा अलग।

नौकर ने तो फेंकने को उठाया है वापिस, लेकिन पत्थर ने कहा धन्यवाद, तुम्हारे स्वागत से मैं प्रसन्न हूं। हो भी क्यों न? मैं कोई साधारण पत्थर नहीं हूं, विशिष्ट हूं। कभी-कभी विरले ऐसे पत्थर होते हैं जिनके पंख निकलते हैं और जो आकाश में उड़ते हैं। पुराणों में सुनी है यह बात, देखने में आज-कल तो आती नहीं।

नौकर ने फेंक दिया पत्थर वापिस। फेंका गया है, लेकिन पत्थर कहने लगा, घर की बहुत याद आती है। यात्रा बहुत लंबी हुई, समय भी बहुत व्यतीत हुआ, घर वापिस चलूं। और जब गिरने लगा पत्थरों की ढेरी में तो उसने कहा, देखो, लौट आया। यद्यपि महलों में मेहमान था, सम्राटों के हाथों का शृंगार बना। कैसे-कैसे स्वागत-समारंभ न हुए! तुम तो समझ भी न पाओगे। तुम तो कभी इस ढेरी से उठे नहीं, उड़े नहीं। आकाश की स्वच्छंदता, चांदत्तारों से मेल--सब जाना, सब देखा, लेकिन फिर भी घर अपना घर है। घर की बहुत याद आती थी। लौट आया हूं। पत्थर वापिस ढेरी में गिर गया।

ऐसी आदमी की भी कथा है। न तो प्रारंभ तुम्हारे हाथ में है और न अंत तुम्हारे हाथ में है। श्वास जब तक चलती है, चलती है; जब न चलेगी तो तुम क्या कर सकोगे? लेकिन तुम तो यह कहते हो, मैं श्वास ले रहा हूं। परमात्मा तुमसे श्वास लेता और तुम कहते हो, मैं श्वास ले रहा हूं। तुम श्वास ले रहे होओगे तो मौत द्वार पर आ

जायेगी तब लेते रहना तो पता चलेगा कि कौन लेनेवाला था! मौत द्वार पर आयेगी तो तुम एक श्वास भी ज्यादा न ले सकोगे। जो श्वास बाहर गई तो बाहर गई; भीतर न लौटेगी। लाख तड़पो और चिल्लाओ। लाख शोरगुल मचाओ, श्वास वापिस न आयेगी। तुम लेना चाहोगे लेकिन ले न सकोगे।

श्वास तुम ले नहीं रहे हो, श्वास चल रही है। परमात्मा ले रहा है। परमात्मा का अर्थ है, यह समग्र। यह समग्र अपने अंश-अंश में तरंगायित है, श्वास ले रहा है। ज्ञानी इसे ऐसा देख लेता है, जैसा है। अज्ञानी वैसा मान लेता है जैसा मानना चाहता है। वैसा नहीं देखता, जैसा है।

सर्वारंभेषु--सब कामों का जो प्रारंभ है, वहीं समझ लेने की बात है।

कृष्ण ने गीता में कहा है, फलाकांक्षा को प्रभु को समर्पित कर दो। यह सूत्र उससे भी गहरा है। क्योंकि यह कहता है, फलारंभ को प्रभु को समर्पित कर दो। फलाकांक्षा तो अंत में होगी, फल तो पीछे मिलेगा। कृष्ण कहते हैं फलाकांक्षा को प्रभु को समर्पित कर दो, अष्टावक्र कहते हैं फलारंभ को। क्योंकि अगर फलारंभ को समर्पित न किया तो तुम फलाकांक्षा को भी समर्पित न कर पाओगे। जो प्रारंभ में ही चूक गया वह बाद में कैसे सम्हलेगा? पहले कदम पर ही गिर गया, अंतिम कदम ठीक कैसे पड़ेगा? गणित तो शुरू से ही गलत हो गया। भूल तो पहले ही हो गई।

इसलिए मैंने कृष्ण की गीता को गीता कहा है और अष्टावक्र की गीता को महागीता कहता हूं। ज्यादा गहरे जाती है। ज्यादा जड़ को, जड़मूल से पकड़ती है। आमूल उखाड़ देने का रूपांतरण संभव है।

प्रारंभ को परमात्मा पर छोड़ दो। और जिसने प्रारंभ छोड़ दिया, अंत तो छूट ही गया। जब प्रारंभ में ही तुम मालिक न रहे तो अब कैसे मालिक हो सकोगे? अब तो कोई जगह न बची। अब तो मालकियत कहीं पैर जमाकर खड़ी न हो सकेगी। तुमने जमीन ही खींच ली।

सर्वारंभेषु--सब कर्मों के प्रारंभ में। वह जो करने की वासना है कि मैं करूं; कि मैं दिखाऊं; कि मैं ऐसा हो जाऊं; कि ऐसा मुझसे घटित हो, वह छोड़ दो। उसे छोड़ते ही कोई ज्ञानी हो जाता है। उसे पकड़े ही आदमी अज्ञानी है।

और अगर तुमने प्रारंभ न छोड़ा तो तुम लाख उपाय करो, तुम अंत भी न छोड़ सकोगे। कैसे छोड़ोगे? ये सब चीजें संयुक्त हैं। अगर तुमने कहा कि जन्म तो मैंने लिया है तो फिर तुम कैसे कहोगे कि मृत्यु घटी? क्योंकि जन्म और मृत्यु एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। एक ही यात्रा के दो पड़ाव हैं। जिसके हाथ में जन्म है उसी के हाथ में मृत्यु है। अगर जन्म तुम्हारे हाथ में है तो मृत्यु भी तुम्हारे हाथ में है। और अगर जन्म तुम्हारे हाथ में नहीं है तो ही यह संभव है कि मृत्यु भी तुम्हारे हाथ में न हो। बीज भी तुम्हारे हाथ में नहीं है, फल भी तुम्हारे हाथ में नहीं।

कृष्ण कहते हैं फल को छोड़ दो, अष्टावक्र कहते हैं बीज को ही छोड़ दो न! सब छूट गया। क्योंकि फिर बीज से ही निकलेगा वृक्ष। फिर वृक्ष में ही लगेंगे फल और फिर लगेंगे बीज। फल तक प्रतीक्षा करोगे, फल तक प्रतीक्षा करने में बीच में जो तुम गलत यात्रा करोगे वह इतनी सघन हो जायेगी, वह आदत इतनी मजबूत हो जायेगी कि तुम छोड़ न पाओगे।

इसलिए एक मजेदार घटना घटती है, कि गीता के भक्त जब फल बुरा हो जाता है तब तो परमात्मा पर छोड़ देते हैं और जब फल अच्छा हो जाता है तो नहीं छोड़ पाते। शुभ को छोड़ना फिर मुश्किल हो जाता है। अशुभ को तो छोड़ देते हैं।

मैंने सुना है, ऐसा एक गीताभक्त एक गांव में रहता था। उसने बड़ी सुंदर बगिया लगाई थी। और वह सबको बताता था अपनी बगिया कि देखो, ऐसे फूल किसी और बगीचे में नहीं खिलते और ऐसी हरियाली किसी और बगीचे में नहीं है। यह मेरी मेहनत का फल है। और रोज गीता पढ़ता था। भगवान ने सोचा कि यह गीता रोज पढ़ता, फलाकांक्षा त्यागो ऐसा चिंतन-मनन करता लेकिन "बगिया मैंने लगाई है।" इसके वृक्षों को हरा मैं

कर रहा हूं लेकिन यह कहता है कि मैंने लगाई है। इसके वृक्षों पर फूल मैं लगा रहा हूं, लेकिन यह कहता है, मेरे फूल बड़े हैं। इसके वृक्षों पर वर्षा मैं करता, सूरज मैं बरसाता और यह कहता है कि मैंने यह सब इतना सुंदर...इतने सुंदर को जन्म दिया है।

तो भगवान आये एक दरिद्र ब्राह्मण के वेश में। पूछा उससे; उसने कहा कि मैंने लगाई है। आओ दिखायें। सब दिखाया। और तभी--भगवान ने व्यवस्था कर रखी थी--एक गाय उसके बगीचे में घुस गई। वह तो बगीचा दिखला रहा था, एक गाय बगीचे में घुस गई। वह तो पागल हो गया। उस गाय ने उसके सुंदरतम पौधे चर डाले; उसके गुलाब चर डाले। वह तो उठाकर एक लट्ठ दौड़ा, गाय को मार दिया। भूल ही गया कि ब्राह्मण हूं। भूल ही गया कि मैं बीच में न आऊं। जिसके फूल हैं उसी की गाय है। इतनी जल्दबाजी न करूं।

और जब गाय को मार दिया लट्ठ और गाय मर गई तो घबड़ाया, क्योंकि गौहत्या तो भारी पाप! और इस आदमी ने भी देख लिया--यह जो भिखारी, जिसको वह घुमा रहा था। और उस भिखारी ने कहा, यह तुमने क्या किया? तो उस ब्राह्मण ने कहा, मैं करनेवाला कौन? अरे सब प्रभु कर रहा है। कहा नहीं गीता में भगवान ने कि हे अर्जुन! जिनको तू देखता है ये जीवित हैं, इनको मैं पहले ही मार चुका हूं। तू तो निमित्तमात्र है। यह गाय मरने को थी महाराज! मैंने मारी नहीं। मुझे तो निमित्त बना लिया है।

और वह भिखारी हंसने लगा। और उसने कहा कि तुझे निमित्त बनाया गाय को मारने में, और फूल खिलाने में तुझे निमित्त नहीं बनाया? वृक्षों को हरा बनाने में तुझे निमित्त नहीं बनाया? ये वृक्ष तूने लगाये हैं और गाय परमात्मा ने मारी?

मीठा-मीठा गप, कडुवा-कडुवा थू; ऐसा मन का तर्क है। अच्छा-अच्छा चुन लूं। अच्छे-अच्छे से अहंकार को सजा लूं, शृंगारित कर दूं, बुरे-बुरे को छोड़ दूं।

अष्टावक्र का सूत्र ज्यादा गहरा जाता है। अष्टावक्र कहते हैं प्रारंभ ही छोड़ दो। बीज से ही चलो। ठीक-ठीक पहले कदम से ही चलो। मूल से ही पकड़ो। यात्रा बदलनी है, अंत को अगर मंदिर तक ले जाना है तो पहले ही क्षण से पूजन, पहले ही क्षण से प्रार्थना, पहले ही क्षण से उतारो आरती, गुनगुनाओ गीत प्रभु का ताकि अंततः मंदिर बन जाये। ऐसे मत चलो कि जीवन भर तो मधुशालाओं में रहोगे, जुआघरों में, आखिरी क्षण में परमात्मा पर पहुंच जाओगे।

लोग बड़े चालाक हैं। वे कहते हैं फल छोड़ देंगे। लेकिन फल तुम न छोड़ सकोगे। जब तक कि तुमने आरंभ न छोड़ दिया, पहल न छोड़ी, तब तक फल भी न छूटेगा।

"जो मुनि सब क्रियाओं में निष्काम है...।"

सर्वारंभेषु निष्कामो।

और जिसने प्रारंभ छोड़ा वही निष्काम है। काम में ही प्रारंभ छिपा है, कामना में। मैं करूं, मुझसे हो, मेरे द्वारा हो। दिखाऊं कि मैं कुछ हूं।

"जो मुनि सब क्रियाओं में निष्काम है...।"

मुनि शब्द को भी समझ लेना जरूरी है। मुनि शब्द बनता मौन से। जो अब अपनी तरफ से बोलता भी नहीं वही मुनि है। अब प्रभु उपयोग करता है तो बोलता है, नहीं उपयोग करता तो चुप रह जाता है।

कूलरिज अंग्रेजी का बड़ा कवि मरा तो उसके घर में हजारों अधूरी कवितायें पड़ी मिलीं। और उसके मित्र उससे बार-बार कहते थे, ये कवितायें तुम पूरी क्यों नहीं कर देते हो? कोई कविता तो करीब-करीब पूरी हो गई है, एक पंक्ति अधूरी है। इसे तुम पूरा कर दो। इतनी सुंदर कविता, यह अधूरी रह जायेगी। कूलरिज कहता, जिसने शुरू की है वही पूरा करे। मैं पूरा करनेवाला कौन?

पहले मैंने कोशिश की थी। सब कोशिश व्यर्थ गई। कभी तीन पंक्तियां उतरती हैं एक चौपाई की, और चौथी नहीं उतरती। तो मैं पहले शुरू-शुरू में जब सिक्खड़ था, जवान था, अहंकारी था, अंधा था तब चौथी को

बना-बनूकर बिठा देता था। तोड़-मोड़कर जमा देता था। लेकिन मैंने बार-बार पाया कि वह चौथी बड़ी साधारण होती थी। वे तीन तो होतीं अपूर्व, और वह चौथी एक गंदे धब्बे की तरह उन तीन की शुभ्रता को नष्ट करती। वे तीन तो होतीं आकाश की और वह चौथी होती जमीन की। उनमें कोई तालमेल न होता। वे तीन तो होतीं परमात्मा की, वह एक होती मेरी। उससे वे तीन भी लंगड़ा जातीं। फिर मैंने तय कर लिया कि वही रचायेगा, वही रचेगा। उतना ही रचूंगा, उतना ही होने दूंगा। अब तो मैं सिर्फ प्रतीक्षा करता। अब तो मैं उसके हाथ का एक उपकरण हूं। जब वह गुनगुनाता है, तो लिख लेता हूं। जितनी गुनगुनाता है उतनी लिख लेता हूं। अगर तीन की उसकी मर्जी है तो तीन ही सही। इन्हें अशुद्ध न करूंगा।

कूलरिज ने केवल सात कवितायें पूरी कीं अपने जीवन में। अनूठी हैं। और कोई चालीस हजार कविताएं अधूरी छोड़कर मरा। वे सब अनूठी हो सकती थीं, लेकिन कूलरिज बड़ा ईमानदार कवि था। उसे ऋषि कहना चाहिए, कवि कहना ठीक नहीं। वह कोई तुकबंद नहीं था, ऋषि था। ठीक उपनिषद के ऋषियों जैसा ऋषि था। जो उतरा, उतर आने दिया। जितना उतर सका उतना ही उतरा। उससे ज्यादा नहीं उतरा, नहीं उतरा। प्रभु-मर्जी!

मुनि का अर्थ होता है, जो अपनी तरफ से बोलता भी नहीं। और तो बात और, जो अपनी तरफ से हां-ना भी नहीं कहता। जब तुम किसी ज्ञानी से कुछ पूछते हो तो ज्ञानी परमात्मा से पूछता है। तुम्हें शायद यह दिखाई भी न पड़े क्योंकि यह अगोचर है। यह दृश्य तो नहीं है। तुम ज्ञानी से पूछते हो, ज्ञानी परमात्मा के चरणों में तुम्हारे प्रश्न को निवेदन कर देता है। फिर जो उत्तर बहता है, बहता है।

यह उत्तर ज्ञानी से आता है लेकिन ज्ञानी का नहीं है। वाणी ज्ञानी से फूटती है लेकिन ज्ञानी की नहीं है।

मुनि का अर्थ होता है, जो अपनी तरफ से तो शून्यवत हो गया। और जब कोई शून्यवत हो जाता है, परम मौन हो जाता है, तभी तो परमात्मा बोल पाता है। जब तक तुम्हारे भीतर शोरगुल है, जब तक तुम्हारी ही तरंगें तुम्हें भरे हुए हैं तब तक उसकी छोटी-छोटी, धीमी-धीमी फुसफुसाहट सुनाई न पड़ेगी। जब तक तुम पागल हो अपने विचारों से तब तक उसके मधुर स्वर तुमसे बह न सकेंगे। तुम उनके लिए मार्ग न बन सकोगे।

सर्वारंभेषु निष्कामो यः चरेत् बालवन्मुनिः।

और बालवत इस शब्द को भी खयाल में ले लेना।

"जो मुनि सब क्रियाओं में निष्काम है और बालवत व्यवहार करता है।"

बालक के क्या लक्षण हैं? एक: कि बालक अज्ञानी है। ज्ञानी भी अज्ञानी है। तुम बहुत चौंकोगे। क्योंकि ज्ञानी और अज्ञानी तो विरोधाभास मालूम पड़ेगा। लेकिन मैं तुम्हें कहता हूं, ज्ञानी अज्ञानी है। ज्ञानी कुछ जानता नहीं। जितना परमात्मा जना देता है, बस ठीक। ज्ञानी अपनी तरफ से नहीं जानता। ज्ञानी पंडित नहीं है। पंडित कभी ज्ञानी नहीं हो पाता। पापी भी पहुंच जायें, पंडित कभी नहीं पहुंचते। पंडित तो भटकते रह जाते हैं। पंडित में तो एक दंभ होता है कि मैं जानता हूं। ज्ञानी को इतना ही बोध होता है कि मैं क्या जानता हूं! मैं हूं ही नहीं, जानूंगा कैसे? जानना कहां संभव है?

ज्ञानी बालवत है। उसने अपने अज्ञान को स्वीकार कर लिया है, कि तुम जनाओगे उतना ही जान लूंगा। तुम जितना दिखाओगे उतना ही देख लूंगा। मेरे पास न तो अपनी आंख है, न अपने कान हैं, न मेरे पास अपनी प्रतिभा है। मेरे पास अपना कुछ भी नहीं। तुम ही मेरे धन हो। मैं तो हूं ही नहीं। मैं तो सिफर, मैं तो एक शून्य। तुम जितने इस शून्य से प्रगट हो जाओगे उतना ही मैं प्रगट होने लगूंगा। लेकिन तुम ही प्रगट हो रहे हो।

सुकरात ने कहा है कि जिस दिन मैंने जाना कि मैं कुछ भी नहीं जानता उसी दिन ज्ञान की पहली किरण उतरी। उपनिषद कहते हैं, जो कहे जानता हूं, जान लेना नहीं जानता। लाओत्सु ने कहा है, जानने का दंभ केवल उन्हीं में होता है जिन्हें अभी कुछ भी पता नहीं चला है। जाननेवालों में जानने का खयाल ही तिरोहित हो जाता है। जाननेवालों को "जानता हूं," ऐसा बोध ही नहीं उठता। यह तो अज्ञान का ही हिस्सा है।

अब तुम्हें खयाल में आ सकती है बात। अज्ञानी को ही यह बोध उठता है कि मैं जानता हूं। क्योंकि मैं अज्ञान में ही सघनीभूत होता है। ज्ञानी को बोध नहीं होता कि मैं जानता हूं। और ज्ञानी ही जानता है, अज्ञानी जानता नहीं।

विरोधाभासी है यह, लेकिन जीवन बड़ा विरोधाभासी है ही। यहां जिनको अकड़ है जानने की उनके पास कुछ भी नहीं। और जिन्हें न जानने का भाव है उनके पास सब कुछ है। यहां जिनको धनी होने का दंभ है वे निर्धन हैं। और जिन्हें अपने निर्धन होने का पता चल गया उन्हें धन मिल गया। यहां जो अकड़े हैं, दो कौड़ी के हैं। यहां जिन्होंने अकड़ छोड़ दी, अमूल्य हो गये। किसी मूल्य से अब कूते नहीं जा सकते। यहां जो हैं, नहीं हैं। और जो नहीं हो गये उनके जीवन में होने की पहली किरण उतरी। धीरे-धीरे सूरज भी उतरेगा। मिटो, अगर चाहो होना।

तो पहली बात बालवत में--अज्ञान। ज्ञानी बच्चों जैसा अज्ञानी है। थोड़ा-सा फर्क है, इसलिए बालवत कहते हैं, बालक नहीं कहते। बालवत का अर्थ हुआ बच्चे जैसा; बच्चा ही नहीं।

जीसस का प्रसिद्ध वचन है। किसी ने पूछा एक बाजार में कि कौन पहुंचेगा प्रभु के राज्य में? तो उन्होंने चारों तरफ नजर डाली; सामने ही भीड़ में गांव का रबाई खड़ा था, पंडित-पुरोहित खड़े थे, धनी-मानी खड़े थे, उन्होंने सोचा शायद हमारी तरफ इशारा करें, शायद हमारी तरफ इशारा करें। लेकिन जीसस ने एक छोटा बच्चा जो भीड़ में खड़ा था उसे कंधे पर उठा लिया और कहा, जो इस बच्चे की भांति होंगे, वे मेरे प्रभु के राज्य में प्रवेश करेंगे।

इस बच्चे की भांति! यह नहीं कहा कि बच्चे प्रभु के राज्य में प्रवेश करेंगे। नहीं तो फिर सभी बच्चे प्रवेश कर जायें। बच्चे की भांति--फर्क खयाल में ले लेना। बच्चे जैसे फिर भी बच्चे जैसे नहीं। कुछ-कुछ बच्चे जैसे, कुछ-कुछ कुछ और। बालवत।

तो क्या फर्क है? बच्चा अज्ञानी है लेकिन उसे अपने अज्ञान का कोई पता नहीं। ज्ञानी भी अज्ञानी है लेकिन ज्ञानी को अपने अज्ञान का पता है। यहीं भेद है। उसी पता में सब पता चल गया। बच्चा अज्ञानी है, सिर्फ अज्ञानी है, अबोध भी है। अज्ञान+अबोध--बच्चा। अज्ञान+बोध--ज्ञानी। फर्क जो है, बोध और अबोध का है। बच्चा सोया हुआ है, ज्ञानी जागा हुआ है। बच्चे को भी कुछ पता नहीं है, ज्ञानी को कुछ पता नहीं है। लेकिन बच्चे को यह भी पता नहीं है कि मुझे कुछ पता नहीं है। इसलिए बच्चा जल्दी ही चक्कर में पड़ेगा। जैसे-जैसे उसे पता चलने लगेगा, वह सोचने लगेगा, अब मैं जानने लगा...अब मैं जानने लगा। अब इतना जान लिया, अब देखो कालेज से लौट आया, अब युनिवर्सिटी से लौट आया।

ऐसे ही उद्दालक का बेटा एक दिन लौटा गुरुकुल से। सब शास्त्र जानकर लौटा, सब वेद कंठस्थ करके लौटा। और बाप ने जब उसे आया हुआ देखा तो बाप बड़ा दुखी हुआ। बाप की आंखों में आंसू आ गये। क्योंकि यह तो अकड़कर चला आ रहा है। ज्ञानी तो अकड़कर कैसे आयेगा? ज्ञानी तो विनम्र हो जाता है। और यह बेटा तो अकड़ा चला आ रहा है।

अकड़कर आने का कारण था। वह सारे गुरुकुल में प्रथम आया था। उसने बड़े पुरस्कार जीते थे। वह सब शास्त्रों में पारंगत होकर आ रहा था। वह सोचता था, बाप मेरी पीठ थपथपायेंगे, लेकिन बाप उदास बैठ गये। जब वह आकर सामने खड़ा हुआ तो उसकी अकड़ ऐसी थी कि अपने बाप के पैर भी न छू सका। अब क्या छुए? उसको ऐसा लगा होगा, यह बाप तो अज्ञानी है, मैं तो ज्ञानी होकर लौटा।

अक्सर ऐसा होता है। जब कालेज-युनिवर्सिटी से लड़के लौटते हैं तो सोचते हैं, यह बाप भी कुछ नहीं जानता। बेपढ़ा-लिखा!

पैर भी नहीं छुए श्वेतकेतु ने। खड़ा हो गया। उद्दालक ने कहा, बेटे, तूने वह जाना जिसको जानने से सब जान लिया जाता है?

उसने कहा, यह कौन-सी बात कही? यह तो कोई पाठयक्रम में था ही नहीं। वह, जिसे जानने से सब जान लिया जाता है? इसकी तो गुरु ने कभी बात नहीं की। वेद जाने, इतिहास जाना, पुराण जाना, व्याकरण, भाषा, गणित, भूगोल--जो-जो था, सब जानकर आ रहा हूं। यह तो बात ही कभी नहीं उठी इतने वर्षों में--उस एक को जाना, जिसे जानने से सब जान लिया जाता है?

तो उद्दालक ने कहा, तो फिर तू वापिस जा बेटे। क्योंकि हमारे घर में नाम के ही ब्राह्मण नहीं होते रहे। हमारे घर में सच के ब्राह्मण होते रहे हैं, नाममात्र के नहीं। ब्रह्म को जानकर हमने ब्राह्मण होने का रस लिया है। ब्राह्मण घर में पैदा होकर हम ब्राह्मण नहीं रहे हैं। हमने ब्रह्म को चखा है। तू जा। तू उस एक की खोज कर।

तो एक तो ज्ञान है, जो बाहर से मिल जाता। तुम उसे इकट्ठा कर लेते हो। जो बाहर से मिलता है, बाहर ही रहेगा। जो बाहर का है, बाहर का है। वह कभी भीतर का न बनेगा। वह कभी तुम्हारे अंतश्चैतन्य को जगायेगा नहीं। वह तुम्हारे अंतर्गृह की ज्योति न बनेगा। उधार है, उधार ही रहेगा। बासा है, बासा ही रहेगा। इकट्ठा कर लिया है उच्छिष्ट, लेकिन तुमने स्वयं नहीं जाना है। यह जो स्वयं को जानना है, एक को जानना है, वह जो एक भीतर छिपा है उसको जानना है। उसके जानने से ही सब जान लिया जाता है।

लेकिन हर बच्चा जायेगा स्कूल, कालेज, युनिवर्सिटी, खूब ज्ञान इकट्ठा करेगा, उपाधियां इकट्ठी करेगा। और सब उपाधियां अंततः उपाधि ही सिद्ध होती हैं, व्याधि ही सिद्ध होती हैं। लेकिन इकट्ठी करेगा। यह तो भटकेगा अभी।

ज्ञानी का बालवत होना किसी और अर्थ में है। वह सब जानकर अब इस नतीजे पर पहुंचा है कि इस जानने से कुछ भी नहीं जाना जाता। जानकर सब उसने ज्ञान को कूड़े-करकट की तरह कचरेघर में फेंक दिया है। अब वह फिर अबोध हो गया, फिर बालवत हो गया। घूम आया सब संसार में, पाया कुछ भी नहीं। हाथ खाली के खाली रहे।

यह जानकर अब उसने जानने में ही रस छोड़ दिया है। अब तो वह कहता है, जानने से क्या होगा? अब तो हम उसी को जान लें जो सबको जानता है। अब तो हम ज्ञाता को जान लें; ज्ञान से क्या होगा? दृश्य में बहुत भटके, अब हम द्रष्टा को जान लें। यह जो भीतर छिपा सबका जाननेवाला है, इसको ही पहचान लें।

बालवत--एक बात।

दूसरी बात: बच्चे में एक खूबी है कि जो भी घटता वह क्षण के पार नहीं जाता। तुमने बच्चे को डांट दिया, वह नाराज हो गया, आंखें उसकी लाल हो गईं, पैर पटकने लगा, क्रोध से भर गया। तुमसे कहा, अब सदा के लिए तुमसे दुश्मनी हो गई। अब कभी तुम्हारा चेहरा न देखेंगे। और घड़ी भर बाद बाहर घूमकर आया, सब भूल-भाल गया, तुम्हारी गोद में बैठ गया।

उसमें जो भी होता वह क्षण के लिए है। रुकता नहीं, बह जाता है। पकड़कर नहीं रह जाता। गांठ नहीं बनती है बच्चे में, तुममें गांठ बंध जाती है। किसी ने अपमान कर दिया, गांठ बंध गई। अब यह हो सकता है, बीस साल पहले अपमान किया था, गांठ अभी भी बंधी है। पचास साल पहले किसी ने गाली दी थी, गांठ अभी भी बंधी है। गाली देनेवाला जा चुका, गांठ रह गई।

और ऐसी गांठ पर गांठ बंधती जाती है। और तुम बड़े गठीले हो जाते हो, बड़े जटिल हो जाते हो। बच्चा सरल है, उस पर गांठ नहीं बंधती। बच्चा पानी की तरह है।

ऐसे समझो तुम पानी पर एक लकीर खींचो, तुम खींच भी नहीं पाते, मिट गई। रेत पर लकीर खींचो, थोड़ी देर टिकती है। हवा का झोंका आयेगा तब मिटेगी। या कोई इस पर चलेगा तब मिटेगी। पत्थर पर लकीर खींचो, फिर हवा के झोंकों से भी न मिटेगी, सदियों तक रहेगी।

छोटा बच्चा पानी जैसा है। पानी जैसा सरल, तरल। खींची लकीर, खिंच भी न पाई कि मिट गई। कुछ बनता नहीं। खाली रह जाता है। आती हैं, जाती हैं लहरें, दाग नहीं छूटते। उसकी निर्दोषता, उसका कुंआरापन कायम रहता है। जिस दिन तुम्हारे मन में गांठ पड़ने लगती है, बस उसी दिन बचपन गया।

लोग मुझसे पूछते हैं, किस दिन बचपन गया? उस दिन बचपन गया जिस दिन गांठ पड़ने लगी। तुम पीछे लौटकर देखो। तुम याद करो कि तुम्हें सबसे आखिरी कौन-सी बात याद आती है अपने बचपन में। तो तुम जा सकोगे चार साल की उम्र तक; या बहुत गये तो तीन साल की उम्र तक। जहां तुम्हें स्मृति की यात्रा में अंतिम पड़ाव आ जाये कि इसके बाद कुछ याद नहीं आती, समझना कि उसी दिन गांठ पड़ी। गांठ की याद आती है और किसी चीज की याद आती ही नहीं। इसलिए तीन-चार साल की उम्र तक याद नहीं बनती। क्योंकि गांठ ही नहीं बनती तो याद कैसे बनेगी?

याद बनती है तब, जब तुम गांठों को सम्हालकर रखने लगे। किसी ने गाली दी और तुमने इसको संपत्ति सम्हालकर रख लिया कि बदला लेकर रहेंगे। अब यह बात कभी मिटेगी नहीं। पानी न रहे तुम, अब तुम जम गये। अब तुम्हारे ऊपर रेखायें खिंचने लगीं। अब तुम्हारा कुंआरापन नष्ट हुआ। अब तुम कुंआरे न रहे। अब तुम्हारी कोमलता गई, तुम्हारी तरलता गई। अब तुम बच्चे न रहे।

ज्ञानी फिर बालवत हो जाता, फिर पानी जैसा हो जाता। तुम गाली दे गये, बात आई-गई, खतम हो गई।

बुद्ध के ऊपर एक आदमी आकर थूक गया। तो उन्होंने अपनी चादर से अपना मुंह पोंछ लिया। और मुंह पोंछकर उस आदमी से कहा, और कुछ कहना है भाई? जैसे उसने कुछ कहा हो! उसने थूका है। आनंद तो बड़ा नाराज हो गया। आनंद है बुद्ध का शिष्य। उसने तो कहा कि प्रभु मुझे आज्ञा दें तो इसकी गर्दन तोड़ दूं। पुराना क्षत्रिय! संन्यासी हुए भी आज उसको बीस वर्ष हो गये लेकिन इससे क्या फर्क पड़ता है, गांठें आसानी से थोड़े ही छूटती हैं। उसकी भुजायें फड़क उठीं। उसने कहा कि हद हो गई। यह आदमी आपके ऊपर थूके और हम बैठे देख रहे हैं। आप जरा आज्ञा दे दें। आपका संकोच हो रहा है, इसकी गर्दन तोड़ दूं।

बुद्ध ने कहा, इस आदमी ने थूका उससे मुझे हैरानी नहीं होती, लेकिन तेरी बात से मुझे बड़ी हैरानी होती है। आनंद, बीस साल तुझे हुए हो गये मेरे पास, तेरी पुरानी आदतें न गईं? और मैं यह कह रहा हूं कि इस आदमी ने कुछ कहना चाहा है। कई बार ऐसा हो जाता है कि कहने को शब्द नहीं मिलते तो इसने थूककर कहा है। यह कुछ कहना चाहता था। भाषा में बहुत कुशल न होगा, गाली-गलौज देना ठीक से आता न होगा या गाली जो आती होंगी उनसे काम न चलता होगा। इसकी मजबूरी तो समझ। यह कुछ कहना चाहता था।

कई बार ऐसा होता है, तुम किसी को गले लगाते हो, क्योंकि तुम कुछ कहना चाहते थे, जो शब्दों में नहीं आता था। तुम किसी का हाथ लेकर दबाते हो; तुम कुछ कहना चाहते थे जो शब्दों में नहीं आता, हाथ दबाकर कहते हो। तुम किसी के गले में फूल की माला डाल देते हो; कुछ कहना चाहते थे, नहीं कहा जा पाता तो फूल से कहते हो। कभी कुछ कहना चाहते हो, आंख आंसुओं से नम हो जाती है। कहना चाहते थे, नहीं कह पाये, आंख आंसुओं से कहती है। यह आदमी कुछ कहना चाहता था। कोई कांटा इसके भीतर गड़ रहा है। थूककर इसने फेंक लिया, चलो यह निर्भार हुआ।

वह आदमी खड़ा ये सब बातें सुन रहा है। वह तो बड़ा मुश्किल में पड़ गया। वह तो वहां से भागा घर। वह तो चादर ओढ़कर सो रहा। उसको तो भारी पश्चात्ताप होने लगा, वह तो रोने लगा। वह दूसरे दिन क्षमा मांगने आया। वह बुद्ध के चरणों पर गिर पड़ा। उसने कहा, मुझे क्षमा कर दें।

बुद्ध ने कहा, पागल! क्षमा कौन करे? जिसको तूने गाली दी थी वह अब है कहां? चौबीस घंटे में गंगा बहुत बह गई। जिस गंगा को तू गाली दे गया था वह गंगा अब है कहां? तूने मुझे गाली दी थी, चौबीस घंटे हो गये। बात आई-गई हो गई। पानी पर खिंची लकीरें टिकती तो नहीं। अब तू क्षमा मांगने किससे आया है? अब मैं तुझे क्षमा कैसे करूं? मैंने कोई गांठ नहीं बांधी। बांधता तो खोलता। अब मैं क्या खोलूं? मैं तुझसे इतना ही कह

सकता हूं, तू भी अब यह गांठ मत बांध। बात आई-गई हो गई। आया हवा का झोंका, चला गया। अब तू पश्चात्ताप भी मत कर।

यह बड़ी महत्वपूर्ण बात है बुद्ध ने कही: अब तू पश्चात्ताप भी मत कर।

मेरे पास लोग आते हैं। कोई कहता है, हम क्रोध करते हैं फिर पश्चात्ताप करते हैं। लेकिन फिर क्रोध हो जाता है, फिर पश्चात्ताप करते हैं, फिर क्रोध हो जाता है। हम क्या करें? मैं उनसे कहता हूं, तुमने क्रोध छोड़ने की जीवन भर कोशिश की। अब कृपा करके इतना करो, पश्चात्ताप छोड़ दो। वे कहते हैं, इससे क्या लाभ होगा? पश्चात्ताप कर-करके क्रोध नहीं छूटा और आप हमें और उल्टी शिक्षा दे रहे हैं--पश्चात्ताप छोड़ दो। मैं उनसे कहता हूं, तुम कुछ तो छोड़ो। पश्चात्ताप छोड़ो; क्रोध तो छूटता नहीं। एक उपाय करके देखो। क्योंकि पश्चात्ताप ही हो सकता है, क्रोध को बनाये रखने में ईंधन का काम कर रहा है।

तुमने किसी को गाली दी, क्रोध हो गया। घर आये, सोचा यह तो बड़ी बुरी बात हो गई। तुम्हारे अहंकार की प्रतिमा खंडित हुई। तुम सोचते हो, तुम बड़े सज्जन, संतपुरुष! तुमसे गाली निकली? यह होना ही नहीं था। अब तुम पश्चात्ताप करके लीपापोती कर रहे हो। वह जो गाली ने तुम्हारी प्रतिमा पर काले दाग फेंक दिये, उनको धो रहे हो पश्चात्ताप करके कि मैं तो भला आदमी हूं। हो गया, मेरे बावजूद हो गया। करना नहीं चाहता था, हो गया। परिस्थिति ऐसी आ गई कि हो गया। चूक हो गई लेकिन चूक करने की कोई मंशा न थी। देखो पश्चात्ताप कर रहा हूं, अब और क्या करूं? पश्चात्ताप करके तुमने फिर पुताई कर ली। फिर तुम उसी जगह पर पहुंच गये जहां तुम क्रोध करने के पहले थे। अब तुम फिर क्रोध करने के लिए तैयार हो गये। अब फिर तुम सज्जन, साधुपुरुष हो गये।

मैं तुमसे कहता हूं, कम से कम पश्चात्ताप न करो। इतनी गांठ क्या बांधनी! हो गया सो हो गया। और तुम चकित होओगे, अगर तुम पश्चात्ताप छोड़ दो तो दुबारा क्रोध न कर सकोगे। क्योंकि पश्चात्ताप अगर छोड़ दो तो तुम दुबारा संत और साधुपुरुष न हो सकोगे। तुम जानोगे मैं बुरा आदमी हूं, क्रोध मुझसे होता है।

यह बड़ा भारी अनुभव होगा। तुम धोखा न दे सकोगे अपने को। तुम जाकर अपने मित्रों को कह दोगे कि भाई, मैं बुरा आदमी हूं, कभी-कभी गाली भी देता हूं--बावजूद नहीं, मुझसे ही होती है; निकलती है। क्षमा क्या मांगूं? आदमी बुरा हूं। तुम सोच-समझकर ही मुझसे संबंध बनाओ। तुम जाकर घोषणा कर दोगे वृहत संसार में कि मैं बुरा आदमी हूं, मुझसे जरा सावधान रहो। दोस्ती मत बनाना, कभी न कभी बुरा करूंगा। काटूंगा। काटना मेरी आदत है।

अगर तुम ऐसी घोषणा कर सको तो देखते हो कैसी क्रांति घटित न हो जाये! तुम्हारा अहंकार तुमने खंडित कर दिया। क्रोध तो अहंकार से उठता है। जितना तुम्हारा अहंकार चला जाये उतना ही क्रोध नहीं उठता। और पश्चात्ताप अहंकार को मजबूत करता है। इसलिए पश्चात्ताप से कभी किसी का क्रोध नहीं जाता।

बुद्ध ने उस आदमी को कहा, तू पश्चात्ताप छोड़। जैसा मैंने छोड़ दिया, तू भी छोड़। न मैंने गांठ बांधी, न तू बांध। जो हुआ, हुआ। अब क्या लेना-देना? अतीत तो जा चुका, अब उसे क्या खींचना! स्नान कर ले! यह धूल-धवांस धो डाल। राह की यह धूल अब ढोनी ठीक नहीं।

अगर तुम समझो तो ध्यान का यही अर्थ होता है: स्नान। रोज-रोज ध्यान कर लो, अर्थात रोज-रोज स्नान कर लो ताकि जो धूल जम गई है वह बह जाये। जैसे शरीर पर जमी धूल स्नान से बह जाती है ऐसे मन पर जमी धूल ध्यान से बह जाती है। तुम फिर ताजे हो गये, फिर बालवत हो गये।

तो बच्चा निर्दोष है। ज्ञानी निर्दोष है।

"जो मुनि सब क्रियाओं में निष्काम और बालवत व्यवहार करता है, उस शुद्ध चित्त के किए हुए कर्म भी उसे लिप्त नहीं करते हैं।"

फिर कर्म भी करता है, लेकिन कर्ता तो रहा नहीं इसलिए किसी कर्म से कोई लेप नहीं लगता। किसी कर्म के कारण लिप्त नहीं होता। यह बात बड़ी महत्वपूर्ण है।

तुमने शब्द सुना है, कर्मबंध। लेकिन अगर ठीक से समझो तो वह शब्द ठीक नहीं है। क्योंकि कर्म से कोई बंध नहीं होता, बंध होता है कामना से। कर्म से बंध नहीं होता। अन्यथा कृष्ण अर्जुन से न कहते कि तू उतर युद्ध में, कर कर्म। नहीं कहते, अगर कर्म से बंध होता। नहीं, काम से बंध होता। तो कहा, फलाकांक्षा छोड़ दे फिर उतर। तूने फलाकांक्षा छोड़ दी तो तू उतरा ही नहीं, परमात्मा ही उतरा।

और वही अष्टावक्र कहते हैं। और भी गहराई से कहते हैं: सर्वारंभेषु निष्कामो। हर काम के प्रारंभ में कामना न हो इतना ध्यान रहे। कर्म चलने दो। कर्म तो जीवन का स्वभाव है। कर्म तो रुकेगा नहीं। कर्म की यात्रा होती रहे। लेकिन तुम? तुम भीतर से शून्य हो जाओ। तुम मत करो, होने दो।

कर्म से कोई नहीं बंधता, कामना में बंधन है। इसलिए कर्मबंध से ज्यादा ठीक शब्द है, कामबंध।

बुद्ध भी कर्म करते हैं ज्ञानी हो जाने के बाद; चालीस वर्ष तक कर्म किया। महावीर भी कर्म करते हैं ज्ञानी हो जाने के बाद, कृष्ण भी करते हैं, मोहम्मद भी करते हैं, जीसस भी करते हैं। कर्म नहीं रुकता। हां, कर्म का गुण बदल जाता है। अब कर्ता नहीं रहा पीछे।

"वही आत्मज्ञानी धन्य है जो मन का निस्तरण कर गया है और जो देखता हुआ, सुनता हुआ, स्पर्श करता हुआ, सूंघता हुआ, खाता हुआ, सब भावों में एकरस है।"

स एव धन्य आत्मज्ञः सर्वभावेषु यः समः।
पश्यन् शृण्वन् स्पृशन् जिघ्रन्नश्नन्निस्तर्षमानसः।।

निस्तर्षमानसः--जो मन के पार हो गया है वही धन्य है। जो निस्तरण कर गया है।

हम तो शरीर से भी पार नहीं होते। भूख लगती है तो हम कहते हैं, मुझे भूख लगी है। तुम भलीभांति जानते हो कि भूख शरीर को लगी है, तुम्हें नहीं लगी। तुम तो जाननेवाले हो, जो जान रहा है कि शरीर को भूख लगी है। सिर में दर्द होता है, तुम कहते हो मुझे पीड़ा हो रही है। तुम भलीभांति जानते हो, पीड़ा तुम्हें हो नहीं सकती। तुम तो जाननेवाले हो, पीड़ा तो शरीर को हो रही है। किसी ने गाली दी, क्षुब्ध हुए। क्षोभ तो मन में होता है, तुम्हें नहीं होता। तुम तो जाननेवाले हो, मन के पीछे खड़े। साक्षी हो; जो देख रहा है कि मन क्षुब्ध हुआ। किसी ने गाली का पत्थर फेंका, मन के सागर में लहरें उठ गईं। मन की झील तरंगित हो गई। तुम तो देख रहे। जैसे किनारे पर बैठा कोई देखता हो कि किसी ने पत्थर फेंका झील में, और झील में लहरें उठ गईं। ऐसा तुम पीछे बैठे किनारे पर देख रहे; किसी ने गाली फेंकी और मन में तरंगें उठ गईं।

तुम मन नहीं हो। न तुम देह, न तुम मन। तुम दोनों के पार हो--कुछ अपरिभाष्य। लेकिन एक बात सुनिश्चित है, तुम जागृति हो, बोध हो, होश हो। इस बोध को पा लेने से ही तो किसी को हम बुद्धपुरुष कहते हैं। इस साक्षीभाव को उपलब्ध हो जाने का ही नाम निस्तरण है।

निस्तर्षमानसः।

"वही आत्मज्ञानी धन्य है जो मन का निस्तरण कर गया।"

जो मन से तैरकर आगे निकल गया या मन के पीछे निकल गया। मन से पार हो गया। मन की धार में जो नहीं खड़ा है वही ज्ञानी धन्य है।

"ऐसा ज्ञानी देखता हुआ, सुनता हुआ, स्पर्श करता हुआ, सूंघता हुआ, खाता हुआ, सब भावों में एकरस है।"

सुख आये, दुख आये, जो मन के पार हो गया है उसे न सुख आता न दुख आता। दोनों मन में घटते हैं। न सुख से सुखी होता, न दुख से दुखी होता। कोई फूल फेंके कि गालियां बरसाये, सफलता मिले कि विफलता, कांटे चुभें कि फूलों की सेज कोई बिछाये, ज्ञानी दोनों अवस्थाओं में समरस।

एक बुलबुल का जला कल आशियाना जब चमन में
फूल मुस्काते रहे छलका न पानी तक नयन में
सब मगन अपने भजन में था किसी को दुख न कोई

सिर्फ कुछ तिनके पड़े सिर धुन रहे थे उस हवन में
हंस पड़ा मैं देख यह तो एक झरता पात बोला
हो मुखर या मूक, हाहाकार सबका है बराबर
फूल पर हंसकर अटक तो शूल को रोकर झटक मत
ओ पथिक, तुझ पर यहां अधिकार सबका है बराबर
है अदा यह फूल की छूकर उंगलियां रूठ जाना
स्नेह है यह शूल का चुभ उम्र छालों की बढ़ाना
मुश्किलें कहते जिन्हें हम राह की आशीष हैं वे
और ठोकर नाम है बेहोश पग को होश आना
एक ही केवल नहीं है, प्यार के रिश्ते हजारों
इसलिए हर अश्रु को उपहार सबका है बराबर
फूल पर हंसकर अटक तो शूल को रोकर झटक मत
ओ पथिक, तुझ पर यहां अधिकार सबका है बराबर

सुख है, दुख है। जीवन है, मृत्यु है। मित्र हैं, शत्रु हैं। दिन है, रात है। सबका अधिकार बराबर। न तुम मांगो सुख, न तुम मांगो कि दुख न हो। तुम मांगो ही मत। जो आ जाये, तुम समरस साक्षी रहो।

धन्य है वही दशा जो सब भावों में एकरस है; जिसे कुछ भी कंपित नहीं करता; जो निष्कंप है; जो अडोल अपने केंद्र पर थिर है।

इस शब्द को याद रखना: निस्तर्षमानसः। मन के पार जाना, उन्मन होना। जिसको झेन फकीर नो माइंड कहते हैं।

एक ऐसी दशा अपने भीतर खोज लेनी है जहां कुछ भी स्पर्श नहीं करता। और वैसी दशा तुम्हारे भीतर छिपी पड़ी है। वही तुम्हारी आत्मा। और जब तक हमने जाना तो हमने उस एक को नहीं जाना, जिसे जानने से सब जान लिया जाता है। उस एक को जानने से फिर द्वंद्व मिट जाता है। फिर दो के बीच चुनाव नहीं रह जाता, अचुनाव पैदा होता है। उस अचुनाव में ही आनंद है, सच्चिदानंद है।

जनक के जीवन में एक उल्लेख है। जनक रहते तो राजमहल में थे, बड़े ठाठ-बाट से। सम्राट थे और साक्षी भी। अनूठा जोड़ था। सोने में सुगंध थी। बुद्ध साक्षी हैं यह कोई बड़ी महत्वपूर्ण बात नहीं। महावीर साक्षी हैं यह कोई बड़ी महत्वपूर्ण बात नहीं, सरल बात है। सब छोड़कर साक्षी हैं। जनक का साक्षी होना बड़ा महत्वपूर्ण है। सब है और साक्षी हैं।

एक गुरु ने अपने शिष्य को कहा कि तू वर्षों से सिर धुन रहा है और तुझे कुछ समझ नहीं आती। अब तू मेरे बस के बाहर है। तू जा, जनक के पास चला जा। उसने कहा कि आप जैसे महाज्ञानी के पास कुछ न हुआ तो यह जनक जैसे अज्ञानी के पास क्या होगा? जो अभी महलों में रहता, वेश्याओं के नृत्य देखता; और मैंने तो सुना है कि शराब इत्यादि भी पीता है। आप मुझे कहां भेजते हैं? लेकिन गुरु ने कहा, तू जा!

गया शिष्य। बेमन से गया। न जाना था तो गया, क्योंकि गुरु की आज्ञा थी तो आज्ञावश गया। था तो पक्का कि वहां क्या मिलेगा। मन में तो उसके निंदा थी। मन में तो वह सोचता था, उससे ज्यादा तो मैं ही जानता हूं। और जब वह पहुंचा तो संयोग की बात, जनक बैठे थे, वेश्यायें नृत्य कर रही थीं, दरबारी शराब ढाल रहे थे। वह तो बड़ा ही नाराज हो गया। उसने जनक को कहा, महाराज, मेरे गुरु ने भेजा है इसलिए आ गया हूं। भूल हो गई है। क्यों उन्होंने भेजा है, किस पाप का मुझे दंड दिया है यह भी मैं नहीं जानता। लेकिन अब आ गया हूं तो आपसे यह पूछना है कि यह अफवाह आपने किस भांति उड़ा दी है कि आप ज्ञान को उपलब्ध हो गये हैं? यह क्या हो रहा है यहां? यह राग-रंग चल रहा है। इतना बड़ा साम्राज्य, यह महल, यह धन-दौलत, यह सारी

व्यवस्था, इस सबके बीच में आप बैठे हैं तो ज्ञान को उपलब्ध कैसे हो सकते हैं? त्यागी ही ज्ञान को उपलब्ध होते हैं।

जनक ने कहा, तुम जरा बेवक्त आ गये। यह कोई सत्संग का समय नहीं है। तुम एक काम करो, मैं अभी उलझा हूं। तुम यह दीया ले लो। पास में रखे एक दीये को दे दिया और कहा कि तुम पूरे महल का चक्कर लगा आओ। एक-एक कमरे में हो आना। मगर एक बात खयाल रखना, इस महल की एक खूबी है; अगर दीया बुझ गया तो फिर लौट न सकोगे, भटक जाओगे। बड़ा विशाल महल था। तो दीया न बुझे इसका खयाल रखना। सब महल को देख आओ। तुम जब तक लौटोगे तब तक मैं फुरसत में हो जाऊंगा, फिर सत्संग के लिए बैठेंगे।

वह गया युवक उस दीये को लेकर। उसकी जान बड़ी मुसीबत में फंसी। महलों में कभी आया भी नहीं था। वैसे ही यह महल बड़ा तिलिस्मी, इसकी खबरें उसने सुनी थीं कि इसमें लोग खो जाते हैं; और एक झंझट। और यह दीया अगर बुझ जाये तो जान पर आ बने। ऐसे ही संसार में भटके हैं, और संसार के भीतर यह और एक झंझट खड़ी हो गई। अभी संसार से ही नहीं छूटे थे और एक और मुसीबत आ गई।

लेकिन अब जनक ने कहा है और गुरु ने भेजा है तो वह दीये को लेकर गया बड़ा डरता-डरता। महल बड़ा सुंदर था; अति सुंदर था। महल में सुंदर चित्र थे, सुंदर मूर्तियां थीं, सुंदर कालीन थे, लेकिन उसे कुछ दिखाई न पड़ता। वह तो एक ही चीज देख रहा है कि दीया न बुझ जाये। वह दीये को सम्हाले हुए है। और सारे महल का चक्कर लगाकर जब आया तब निश्चिंत हुआ। दीया रखकर उसने कहा कि महाराज, बचे। जान बची तो लाखों पाये। बुद्धू लौटकर घर को आये। यह तो एक जान पर ऐसी मुसीबत हो गई, हम फकीर आदमी और यह महल जरूर उपद्रव है, मगर दीये ने बचाया।

सम्राट ने कहा, छोड़ो दीये की बात; तुम यह बताओ, कैसा लगा? उसने कहा, किसको फुरसत थी देखने की? जान पर फंसी थी। जान पर आ गई थी। दीया देखें कि महल देखें? कुछ देखा नहीं। सम्राट ने कहा, ऐसा करो, अब आ गये हो तो रात रुक जाओ। सुबह सत्संग कर लेंगे। तुम भी थके हो और यह महल का चक्कर भी थका दिया है। और मैं भी थक गया हूं।

बड़े सुंदर भवन में बड़ी बहुमूल्य शय्या पर उसे सुलाया। और जाते वक्त सम्राट कह गया कि ऊपर जरा खयाल रखना। ऊपर एक तलवार लटकी है। और पतले धागे में बंधी है--शायद कच्चे धागे में बंधी हो। जरा इसका खयाल रखना कि यह कहीं गिर न जाये। और इस तलवार की यह खूबी है कि तुम्हारी नींद लगी कि यह गिरी।

उसने कहा, क्यों फंसा रहे हो मुझको झंझट में? दिन भर का थका-मांदा जंगल से चलकर आया, यह महल का उपद्रव और अब यह तलवार! सम्राट ने कहा, यह हमारी यहां की व्यवस्था है। मेहमान आता है तो उसका सब तरह का स्वागत करना।

रात भर वह पड़ा रहा और तलवार देखता रहा। एक क्षण को पलक झपकने तक में घबड़ाये। कि कहीं तलवार भ्रांति से भी समझ ले कि सो गया और टपक पड़े तो जान गई। सुबह जब सम्राट ने पूछा तो वह तो आधा हो गया था सूखकर, कि कैसी रही रात? बिस्तर ठीक था?

उसने कहा, कहां की बातें कर रहे हो! कैसा बिस्तर? हम तो अपने झोपड़े में जहां जंगल में पड़े रहते थे वहीं सुखद था। ये तो बड़ी झंझटों की बातें हैं। रात एक दीया पकड़ा दिया कि अगर बुझ जाये तो खो जाओ। अब यह तलवार लटका दी। रात भर सो भी न सके, क्योंकि अगर यह झपकी आ जाये...उठ-उठ कर बैठ जाता था रात में। क्योंकि जरा ही डर लगे कि झपकी आ रही है कि तलवार टूट जाये। कच्चे धागे में लटकी है। गरीब आदमी हूं, कहां मुझे फंसा दिया! मुझे बाहर निकल जाने दो। मुझे कोई सत्संग नहीं करना।

सम्राट ने कहा, अब तुम आ ही गये हो तो भोजन तो करके जाओ। सत्संग भोजन के बाद होगा। लेकिन एक बात तुम्हें और बता दूं, कि तुम्हारे गुरु का संदेश आया है कि अगर सत्संग में तुम्हें सत्य का बोध न हो सके तो जान से हाथ धो बैठोगे। शाम को सूली लगवा देंगे। सत्संग में बोध होना ही चाहिए।

उसने कहा, यह क्या मामला है? अब सत्संग में बोध होना ही चाहिए यह भी कोई मजबूरी है? हो गया तो हो गया, नहीं हुआ तो नहीं हुआ। यह मामला...।

तुम्हें राजाओं-महाराजाओं का हिसाब नहीं मालूम। तुम्हारे गुरु की आज्ञा है। हो गया बोध तो ठीक, नहीं हुआ बोध तो शाम को सूली लग जायेगी।

अब वह भोजन करने बैठा। बड़ा सुस्वादु भोजन है, सब है, मगर कहां स्वाद? अब यह घबड़ाहट कि तीस साल गुरु के पास रहे तब बोध नहीं हुआ, इसके पास एक सत्संग में बोध होगा कैसे? किसी तरह भोजन कर लिया। सम्राट ने पूछा, स्वाद कैसा--भोजन ठीक-ठाक? उसने कहा, आप छोड़ो। किसी तरह यहां से बचकर निकल जायें, बस इतनी ही प्रार्थना है। अब सत्संग हमें करना ही नहीं है।

सम्राट ने कहा, बस इतना ही सत्संग है कि जैसे रात तुम दीया लेकर घूमे और बुझने का डर था, तो महल का सुख न भोग पाये, ऐसा ही मैं जानता हूं कि यह दीया तो बुझेगा, यह जीवन का दीया बुझेगा; यह बुझने ही वाला है। रात दीये के बुझने से तुम भटक जाते। और यह जीवन का दीया तो बुझने ही वाला है। और फिर मौत के अंधकार में भटकन हो जाएगी। इसके पहले कि दीया बुझे, जीवन को समझ लेना जरूरी है। मैं हूं महल में, महल मुझमें नहीं है।

रात देखा, तलवार लटकी थी तो तुम सो न पाये। और तलवार प्रतिपल लटकी है। तुम पर ही लटकी नहीं, हरेक पर लटकी है। मौत हरेक पर लटकी है। और किसी भी दिन, कच्चा धागा है, किसी भी क्षण टूट सकता है। और मौत कभी भी घट सकती है। जहां मौत इतनी सुगमता से घट सकती है वहां कौन उलझेगा राग-रंग में? बैठता हूं राग-रंग में; उलझता नहीं हूं।

अब तुमने इतना सुंदर भोजन किया लेकिन तुम्हें स्वाद भी न आया। ऐसा ही मुझे भी। यह सब चल रहा है, लेकिन इसका कुछ स्वाद नहीं है। मैं अपने भीतर जागा हूं। मैं अपने भीतर के दीये को सम्हाले हूं। मैं मौत की तलवार को लटकी देख रहा हूं। फांसी होने को है। यह जीवन का पाठ अगर न सीखा, अगर इस सत्संग का लाभ न लिया तो मौत तो आने को है। मौत के पहले कुछ ऐसा पा लेना है जिसे मौत न छीन सके। कुछ ऐसा पा लेना है जो अमृत हो। इसलिए यहां हूं सब, लेकिन इससे कुछ भेद नहीं पड़ता।

यह जो जनक ने कहा: महल में हूं महल मुझमें नहीं है; संसार में हूं, संसार मुझमें नहीं है, यह ज्ञानी का परम लक्षण है। वह कर्म करते हुए भी किसी बात में लिप्त नहीं होता। लिप्त न होने की प्रक्रिया है, साक्षी होना। लिप्त न होने की प्रक्रिया है, निस्तर्षमानसः। मन के पार हो जाना।

जैसे ही तुम मन के पार हुए, एकरस हुए। मन में अनेक रस हैं, मन के पार एकरस। क्योंकि मन अनेक है इसलिए अनेक रस हैं।

तुम्हारे भीतर एक मन थोड़े ही है, जैसा तुम सोचते हो। महावीर ने कहा है, मनुष्य बहुचित्तवान है। एक चित्त नहीं है मनुष्य के भीतर, बहुत चित्त हैं। क्षण-क्षण बदल रहे हैं चित्त। सुबह कुछ, दोपहर कुछ, सांझ कुछ। चित्त तो बदलता ही रहता है। इतने चित्त हैं। आधुनिक मनोविज्ञान कहता है, मनुष्य पोलीसाइकिक है। वह ठीक महावीर का शब्द है। पोलीसाइकिक का अर्थ होता है, बहुचित्तवान। बहुत चित्त हैं।

गुरजिएफ कहता था, तुम भीड़ हो, एक नहीं। सुबह बड़े प्रसन्न थे, तब तुम्हारे पास एक चित्त था। फिर जरा-सी बात में खिन्न हो गये और तुम्हारे पास दूसरा चित्त हो गया। फिर कोई पत्र आ गया मित्र का, बड़े खुश हो गये। तीसरा चित्त हो गया। पत्र खोला, मित्र ने कुछ ऐसी बात लिख दी, फिर खिन्न हो गये; फिर दूसरा चित्त हो गया।

चित्त चौबीस घंटे बदल रहा है। तो चित्त के साथ एक रस तो कैसे उपलब्ध होगा? एक रस तो उसी के साथ हो सकता है, जो एक है। और एक तुम्हारे भीतर साक्षी है। उस एक को जानकर ही जीवन में एकरसता पैदा होती है। और एकरस आनंद का दूसरा नाम है।

"सर्वदा आकाशवत निर्विकल्प ज्ञानी को कहां संसार है, कहां आभास है, कहां साध्य है, कहां साधन है?"

क्व संसारः क्व चाभासः क्व साध्यं क्व च साधनम् ।
आकाशस्येव धीरस्य निर्विकल्पस्येव सर्वदा।।

वह जो अपने भीतर आकाश की तरह साक्षीभाव में निर्विकल्प होकर बैठ गया है उसके लिए फिर कोई संसार नहीं है। संसार है मन और चेतना का जोड़। संसार है साक्षी का मन के साथ तादात्म्य। जिसका मन के साथ तादात्म्य टूट गया उसके लिए फिर कोई संसार नहीं। संसार है भ्रांति मन की; मन के महलों में भटक जाना। वह दीया बुझ गया साक्षी का तो फिर मन के महल में तुम भटक जाओगे। दीया जलता रहे तो मन के महल में न भटक पाओगे।

इतनी-सी बात है। बस इतनी-सी ही बात है सार की, समस्त शास्त्रों में। फिर कहां साध्य है, कहां साधन है? जिसको साक्षी मिल गया उसके लिए फिर कोई साध्य नहीं, कोई साधन नहीं। न उसे कुछ विधि साधनी है, न कोई योग, जपत्तप; न उसे कहीं जाना है, कोई मोक्ष, कोई स्वर्ग, कोई परमात्मा। न ही उसे कहीं जाना, न ही उसे कुछ करना। पहुंच गया।

साक्षी में पहुंच गये तो मुक्त हो गये। साक्षी में पहुंच गये तो पा लिया फलों का फल। भीतर ही जाना है। अपने में ही आना है।

मैंने सुना है कि किसी गांव में एक फकीर घूमा करता था। उसकी सफेद लंबी दाढ़ी थी और हाथ में एक मोटा डंडा। चीथड़ों में लिपटा उसका ढीला-ढीला और झुर्रियों से भरा बुढ़ापे का शरीर। अपने साथ एक गठरी लिए रहता था सदा। और गठरी पर बड़े-बड़े अक्षरों में लिख रखा था: "माया"। वह बार-बार उस गठरी को खोलता भी था। उसमें उसने बड़े जतन से रंगीन रद्दी कागज लपेटकर रख छोड़े थे। कहीं मिल जाते रास्ते पर तो कागजों को इकट्ठा कर लेता। अपनी माया की गठरी में रख लेता। जिस गली से निकलता उसमें रंगीन कागज दिखता तो बड़ी सावधानी से उठा लेता। सिकुड़नों पर हाथ फेरता, उनकी गड्डी बनाकर, जैसे कोई नोटों की गड्डी बनाता है, अपनी माया की गठरी में रख लेता।

उसकी गठरी रोज बड़ी होती जाती थी। बूढ़ा हो जा रहा था और गठरी बड़ी होती जाती थी। लोग उसे समझाते कि पागल, यह कचरा क्यों ढोता है? वह हंसता और कहता कि जो खुद पागल हैं वे दूसरों को पागल बता रहे हैं।

कभी-कभी किसी दरवाजे पर बैठ जाता और कागजों को दिखाकर कहता, ये मेरे प्राण हैं। ये खो जायें तो मैं एक क्षण जी न सकूंगा। ये खो जायें तो मेरा दिवाला निकल जाएगा। ये चोरी चले जायें तो मैं आत्महत्या कर लूंगा। कभी कहता ये मेरे रुपये हैं, यह मेरा धन है। इनसे मैं अपने गांव के गिरते हुए किले का पुनः निर्माण कराऊंगा। कभी अपनी सफेद दाढ़ी पर हाथ फेरकर स्वाभिमान से कहता, उस किले पर हमारा झंडा फहरायेगा और मैं राजा बनूंगा। और कभी कहता कि इनको नोट ही मत समझो, इनकी ही मैं नावें बनाऊंगा। इन्हीं नावों में बैठकर उस पार जाऊंगा।

और लोग हंसते। और बच्चे हंसते और बूढ़े भी हंसते। और जब भी कोई जोर से हंसता तो वह कहता, चुप रहो। पागल हो और दूसरों को पागल समझते हो।

तभी गांव में एक ज्ञानी का आगमन हुआ। और उस ज्ञानी ने गांव के लोगों से कहा, इसको पागल मत समझो और इसकी हंसी मत उड़ाओ। इसकी पूजा करो नासमझो! क्योंकि यह जो गठरी ढो रहा है, तुम्हारे लिए ढो रहा है। ऐसे ही कागज की गठरियां तुम ढो रहे हो। यह तुम्हारी मूढ़ता को प्रगट करने के लिए इतना श्रम उठा रहा है। इसकी गठरी पर इसने "माया" लिख रख छोड़ा है। कागज, कूड़ा-कचरा भरा है। तुम क्या लिए घूम रहे हो? तुम भी सोचते हो कि महल बनायेंगे, उस पर झंडा फहरायेंगे। नाव बनायेंगे, उस पार जायेंगे। सिकंदर बनेंगे कि नेपोलियन। सारे संसार को जीत लेंगे। बड़े किले बनायेंगे कि मौत भी प्रवेश न कर सकेगी।

और जब यह फकीर समझाने लगा लोगों को तो वह बूढ़ा भिखमंगा हंसने लगा और उसने कहा कि मत समझाओ। ये खाक समझेंगे! ये कुछ भी न समझेंगे। मैं वर्षों से समझाने की कोशिश कर रहा हूं। ये सुनते नहीं। ये

मेरी गठरी देखते हैं, अपनी गठरी नहीं देखते। ये मेरे रंगीन कागजों को रंगीन कागज समझते हैं और जिन नोटों को इन्होंने तिजोड़ियों में भर रखा है उन्हें असली धन समझते हैं। मुझे कहते हैं पागल, खुद पागल हैं।

यह पृथ्वी बड़ा पागलखाना है। इसमें से जागो। इसमें से जागो, इसमें से न जागे तो बार-बार मौत आयेगी और बार-बार तुम वापिस इसी पागलखाने में फेंक दिये जाओगे। फिर-फिर जन्म! इसीलिए तो पूरब के मनीषी एक ही चिंतना करते रहे हैं सदियों से--आवागमन से कैसे छुटकारा हो? कैसे मिटे जन्म? कैसे मिटे मौत?

मिटने का एक ही उपाय है। तुम्हारे भीतर कुछ ऐसा है जिसका न कभी जन्म हुआ और न कभी मृत्यु होती है। तुम्हारे भीतर अजन्मा और अमृतस्वरूप कुछ पड़ा है। वही तुम्हारा हीरा है; उसे खोज लो। वही तुम्हारा धन।

और बहुत दूर नहीं पड़ा है। जैसे शरीर के पीछे मन है, और ठीक मन के पीछे साक्षी है। इंच भर की दूरी नहीं है। जरा भीतर सरको। जरा-सा भीतर सरको, और तुम उसे पा लोगे जिसे पाने के लिए जन्मों से कोशिश कर रहे हो। लेकिन गलत स्थान पर खोज रहे हो इसलिए उपलब्ध नहीं कर पाते हो।

यह साक्षी आकाशवत है। जैसे आकाश की कोई सीमा नहीं, ऐसे ही साक्षी की कोई सीमा नहीं। और जैसे आकाश पर कभी बादल घिर जाते हैं तो आकाश खो जाता है, ऐसे ही साक्षी पर जब मन घिर जाता है--मन के बादल, विचार के बादल--तो साक्षी खो जाता है। लेकिन वस्तुतः खोता नहीं। जब वर्षा में घने बादल घिरे होते हैं तब भी आकाश खोता थोड़े ही, सिर्फ दिखाई नहीं पड़ता है। ओझल हो जाता है। आंख से ओझल हो जाता है। फिर बादल आते, चले जाते, आकाश फिर प्रगट हो जाता है।

जिसको तुम विचार कहते हो वे तुम्हारे चैतन्य के आकाश पर घिरे बादल हैं। उनसे तुम जरा अपने को अलग कर लो, निस्तरण कर लो अपना और तुम अचानक पाओगे, उसे पा लिया जिसे कभी खोया ही न था। उसे पा लिया जो खोया ही नहीं जा सकता। और वही पाने योग्य है, जो खोया नहीं जा सकता। जो खो जायेगा, जो खो सकता है, उसे पा-पा कर भी क्या करोगे? वह खो ही जायेगा। वह फिर-फिर खो जायेगा।

"वही कर्मफल को त्यागनेवाला पूर्णानंदस्वरूप ज्ञानी जय को प्राप्त होता है जिसकी सहज समाधि अविच्छिन्न रूप में वर्तती है।"

स जयत्यर्थसंन्यासी पूर्णस्वरसविग्रहः।
अकृत्रिमोऽनवच्छिन्ने समाधिर्यस्य वर्तते।।
समझो।
स जयति अर्थसंन्यासी...।

जिसने जीवन में से अर्थ की अपनी खोज छोड़ दी। जो कहता है अर्थ परमात्मा का, मेरा क्या? अंश का क्या कोई अर्थ होता है? अर्थ तो पूर्ण का होता है।

समझो, यह मेरा हाथ उठा तुम्हारे सामने। यह हाथ अगर मुझसे तोड़ लो तो भी हो सकता है इसी मुद्रा में हो, लेकिन तब इसमें कोई अर्थ न होगा। मुर्दा हाथ की कोई मुद्रा होती है? मैं अभी तुम्हें देख रहा हूं, मेरी आंख में झांको। मैं मर जाऊं, मेरे भीतर जो छिपा है वह विदा हो जाये, फिर भी यह आंख तुम्हारी तरफ इसी तरह देखती रहे, लेकिन इसमें फिर कुछ अर्थ न होगा। देखनेवाला न रहा तो आंख में क्या अर्थ होगा? हाथ उठानेवाला न रहा तो उठे हुए हाथ में क्या अर्थ होगा?

अर्थ पूर्ण में होता, अंश में नहीं होता। और हम सब इस विराट अस्तित्व के, पूर्ण परमात्मा के, परात्पर ब्रह्म के अंश हैं। हममें अर्थ नहीं हो सकता, अर्थ तो परमात्मा में है। जब तक तुम अपना अर्थ, निजी अर्न्थ खोज रहे हो तब तक तुम पागल हो।

अंग्रेजी का शब्द इडियट बहुत अच्छा है। वह जिस मूल धातु से आता है उसका अर्थ होता है, जो अपना निजी अर्थ खोज रहा है। जो अपना व्यक्तिगत इडियम खोज रहा है वह इडियट। वही मूढ़ है जो अपना निजी

अर्थ खोज रहा है। जो सोच रहा है कि मेरी कोई नियति है। मुझे कुछ खोजना है। मुझे कुछ सिद्ध करके बताना है।

वही समझदार है जिसने विराट के साथ अपनी नियति जोड़ दी। कोई लहर सागर की अपना लक्ष्य खोजने लगे तो पागल ही हो जायेगी न! लक्ष्य सागर का होगा, लहर का कैसे हो सकता है? फिर सागर का भी कैसे होगा, महासागर का होगा। फिर महासागर का भी कैसे होगा, अस्तित्व का होगा। अंततः तो अर्थ समग्र का होगा। व्यक्ति का कोई अर्थ नहीं होता, समष्टि का अर्थ होता है। अर्थ विराट का होता है।

और यह वचन बड़ा अदभुत है।

स जयत्यर्थसंन्यासी...।

जिसने अर्थ का त्याग कर दिया वही जीत गया। अर्थ के त्यागी को ही संन्यासी कहते हैं। जिसने कहा, अब मैं क्या खोजूं? मेरा क्या लेना-देना! बहूंगा तेरी धार में। ले चलेगा जहां, वहां चलूंगा। डुबा देगा तो डूबूंगा। उबारेगा तो उबरूंगा। अब तू समझ। अब तू जान। तेरी मर्जी हो जैसी। जब कहते हैं कि पत्ते भी उसकी मर्जी के बिना नहीं हिलते तो मैं क्यों हिलूं? हिलाये तो हिलूं, न हिलाये तो न हिलूं। जैसा नाच नचायेगा, नाचूंगा। ऐसा जिसने समग्ररूपेण छोड़ दिया परमात्मा पर, उसका नाम ही संन्यासी। अर्थसंन्यासी।

स जयति अर्थसंन्यासी पूर्णस्वरसविग्रहः।

और जिसने इस तरह छोड़ दिया उसके जीवन में उस विग्रह का पदार्पण होता है, उस प्रसाद का पदार्पण होता है जहां स्वरस जन्मता है; जहां परम रस की धार बहती है।

तुम रोके खड़े हो। तुम बाधा हो। तुम झरने पर पड़े हुए पत्थर हो, हटो तो झरना बहे। तुम्हारे कारण झरना नहीं बह पा रहा है।

"वही कर्मफल को त्यागनेवाला पूर्णानंदस्वरूप ज्ञानी जय को प्राप्त होता, जिसकी सहज समाधि अविच्छिन्न रूप में वर्तती है।"

और ध्यान रखना, समाधि तो तभी अविच्छिन्न रूप में वर्तेगी जब सहज हो। सहज का अर्थ, जब स्वाभाविक हो। स्वाभाविक का अर्थ, जब चेष्टा से निर्मित न हो, आयोजना न की जाये, रोपित न की जाये। वही समाधि, जो किसी प्रयास से उत्पन्न न हो, अनायास हो।

इस फर्क को समझना। यही पतंजलि और अष्टावक्र का भेद है। पतंजलि जिस समाधि की बात कर रहे वह चेष्टा से होगी। यम, नियम, प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा, तब समाधि। ऐसी लंबी यात्रा होगी। बड़ी योजना करनी पड़ेगी। बड़े प्रयास करने पड़ेंगे। सब तरह से अपने को साधना पड़ेगा, तब होगी। वह संकल्प का मार्ग है।

अष्टावक्र कहते हैं, समर्पण। छोड़ो भी। तुम क्या साधोगे यम-नियम? तुम कैसे प्रत्याहार साधोगे? श्वास तो अपनी नहीं, प्राणायाम क्या करोगे? ध्यान-धारणा क्या करोगे? तुम हो कौन? तुम हटो बीच से। यह अहंकार जाने दो। इसी अहंकार पर तुमने अब तक हीरे-जवाहरात लटकाये, अब यम-नियम लटकाना चाहते हो? इसी अहंकार से तुमने संसार जीता, अब इसी अहंकार से तुम परमात्मा को भी जीतना चाहते हो? छोड़ो यह सब। तुम सिर्फ इतना ही करो, एक ही कदम में छलांग लो। तुम कहो, अब जैसी तेरी मर्जी। अब जो विराट करायेगा, होगा।

ऐसे सरल भाव से जो समाधि पैदा होती है वही सहज समाधि। कबीर कहते हैं, साधो सहज समाधि भली। सहज समाधि का अर्थ होता है, तुम्हारी चेष्टा से नहीं, तुम्हारे बोध से जो आती है। जागरण से जो आती है। समझ मात्र से जो आ जाती है। जिसके लिए बड़े-बड़े उपाय, विधि-विधान नहीं करने पड़ते।

"जिसकी सहज समाधि अविच्छिन्न रूप में वर्तती है वही अर्थसंन्यासी है, धन्यभागी है।"

अकृत्रिमोऽनवच्छिन्ने समाधिर्यस्य वर्तते।

अकृत्रिम। कई लोग हैं जो कृत्रिम समाधि साध लेते हैं। बैठ गये, उपवास कर लिया। अगर खूब उपवास किया तो शरीर क्षीण हो जाता है। जब शरीर क्षीण हो जाता तो विचार को ऊर्जा नहीं मिलती, विचार क्षीण हो जाता। उस निस्तेज अवस्था में विचार नहीं उठते। उसको तुम समाधि मत समझ लेना! वह तो एक तरह की आंतरिक दुर्बलता है, समाधि नहीं। धोखा है।

वह तो ऐसे ही समझो कि किसी आदमी को नपुंसक कर दिया और वह कहने लगा कि मैं ब्रह्मचारी हो गया। नपुंसकता ब्रह्मचर्य नहीं है। नपुंसकता तो सिर्फ अभाव है। ब्रह्मचर्य तो बड़ी भावदशा है, भावात्मक है।

समाधि दो तरह की हो सकती है। तुम उपवास करो खूब--इसलिए बहुत से पंथ उपवास करवाते हैं। उपवास करने से शरीर क्षीण होता है! और जब शरीर क्षीण होता तो मन को ऊर्जा नहीं मिलती। जब मन को ऊर्जा नहीं मिलती तो तुम्हें लगता है कि मन से मुक्त हो गये। मन पड़ा रहता है फन पटके। जैसे कि सांप बेहोश पड़ा हो, भूखा पड़ा हो। फिर भोजन करोगे, फिर मन का फन उठेगा। इस तरह से कुछ जबरदस्ती साधने से कुछ हल नहीं है। तुम्हें अगर ब्रह्मचर्य साधना है, लंबे उपवास करो।

अमरीका के एक विश्वविद्यालय में एक प्रयोग किया हार्वर्ड में। तीस विद्यार्थियों को उपवास पर रखा गया। सात दिन के बाद उनके पास प्लेब्वाय जैसी पत्रिकायें पड़ी रहें, वे देखें ही नहीं। नग्न स्त्रियां, सुंदर स्त्रियों के चित्र--वे बिलकुल न देखें। उनका रस ही जाता रहा। जब शरीर ही क्षीण होने लगा तो वासना को ऊर्जा कहां से मिले? दो सप्ताह बीतते-बीतते उनका बिलकुल रस न रहा। तीन सप्ताह बीतते-बीतते तो वे बिलकुल नीरस हो गये। उनसे कितना ही पूछा जाये कि स्त्रियों के संबंध में कुछ विचार? वे कहते, कुछ नहीं।

भोजन दिया चौथे सप्ताह के बाद। बस, भोजन के आते ही सारी ऊर्जा वापिस आ गई। वे जो फन मारकर पड़ गये थे विचार, फिर उठ आये। फिर वासना। फिर स्त्रियों के नग्न चित्रों में रस आने लगा। फिर बातचीत रसपूर्ण होने लगी।

इस प्रयोग ने बड़ी महत्वपूर्ण बात सिद्ध की: शरीर को शक्ति न मिले तो मन को शक्ति नहीं मिलती। शरीर से ही मन को शक्ति मिलती है। शक्तिशून्य हो जाने का नाम मुक्ति नहीं है। मुक्ति तो महाशक्ति में घटती है।

इसलिए सहज समाधि पर मेरा भी जोर है। खाते-पीते, सहज, स्वस्थ समाधि घटे तभी उसका कोई मूल्य है। जबरदस्ती घटा ली, वह कृत्रिम है; वे कागज के फूल हैं, असली फूल नहीं। उन पर भरोसा मत करना। वे काम नहीं आयेंगे।

"इसमें बहुत कहने से क्या प्रयोजन है? तत्वज्ञ महाशय भोग और मोक्ष दोनों में निराकांक्षी सदा और सर्वत्र रागरहित है।"

बहुनात्र किमुक्तेन ज्ञाततत्वो महाशयः।
भोगमोक्षनिराकांक्षी सदा सर्वत्र नीरसः।।

अष्टावक्र इतना कहे और अब कहते हैं कि इसमें बहुत कहने से क्या प्रयोजन? इसका मजा समझो। इतना कहे हैं, कहते जा रहे हैं, और कहते हैं कि इतना बहुत कहने से क्या प्रयोजन।

उसका कारण है। कितना ही कहो, कम ही रहता है। कितना ही कहो, जो कहना था, अनकहा ही रह जाता है। कितना ही गुनगुनाओ, जो गीत गाना था, गाया ही नहीं जा सकता। लाओत्सु ने कहा है, जो कहा जा सके वह सत्य नहीं। जो अनकहा रह जाये वही।

इतने दूर तक महागीता के ये अदभुत वचन कहने के बाद--और ऐसे वचन कभी नहीं कहे गये हैं--अष्टावक्र कहते हैं, इसमें बहुत कहने से क्या प्रयोजन?

बहुनात्र किमुक्तेन।

बात छोटी है, बहुत कहने से क्या सार? संक्षिप्त में कही जा सकती है। इतनी-सी बात है:

ज्ञाततत्वा महाशयः भोगमोक्षनिराकांक्षी सदा सर्वत्र नीरसः।

जो समझ सके: तत्वज्ञ, महाशय; जिसका आशय विराट हो और जो तत्व को समझ सके--तो जरा-सी बात है। भोग और मोक्ष, दोनों में जो निष्कांक्षी हो गया वही पा लिया सब। वही संन्यासी है।

तत्वज्ञ कहते हैं उसे, जो अपने विचारों को एक तरफ रखकर समझने की कोशिश करे। तत्वज्ञ बहुत मुश्किल हैं खोजना और महाशय बहुत मुश्किल हैं।

अब यहां तुम बैठे हो; इसमें महाशय बहुत मुश्किल है खोजना। कोई हिंदू है, वह महाशय न रहा। उसका आशय क्षुद्र हो गया। कोई मुसलमान है, वह महाशय न रहा। उसका आशय क्षुद्र हो गया। आशय पर सीमा बंध गई तो महाशय न रहे, क्षुद्राशय हो गये।

संप्रदाय क्षुद्र बना देता है। किसी शास्त्र में मान्यता है, क्षुद्र हो गये। महाशय का अर्थ है: जिसको न कोई शास्त्र बांधता, न कोई संप्रदाय बांधता, न कोई धारणा बांधती। जो मुक्त है। जो कहता है ये सब किनारे रखकर सुनने को राजी हूं। तब अष्टावक्र कहते हैं, श्रवणमात्रेण। फिर तो सुनने से ही हो जायेगा। कुछ करना न पड़ेगा। अगर तुम महाशय होने की हिम्मत रखो--तुम्हारे पक्षपात, तुम्हारी जड़ हो गई धारणायें, तुम्हारे संस्कार एक तरफ रख दो तो तुम महाशय हो गये; आकाश जैसे हो गये। विचार हटा दिये, बादल हट गये, खुला आकाश प्रगट हो गया।

उस खुले आकाश में किसी सदगुरु की जरा-सी चोट तुम्हें सदा के लिए जगा दे। लेकिन तुम विचारों की पर्तों से घिरे होकर सुनते हो। चोट तुम तक पहुंचती ही नहीं। या पहुंचती है तो कुछ का कुछ अर्थ हो जाता है; अनर्थ हो जाता है। यहां कहा कुछ जाता है, तुम समझ कुछ लेते हो।

मैंने सुना है, महाराष्ट्र के एक अपूर्व संत हुए एकनाथ। एक आदमी उनके पास बार-बार आता था। खोजी था। कहता कि प्रभु, कुछ ज्ञान दें। हजार बार उसे समझा चुके थे मगर वह कुछ उसकी समझ में न आता था। वह फिर आ जाता था कि प्रभु, कुछ ज्ञान दें। जीवन निष्पाप कैसे हो? एक दिन सुबह-सुबह आया, एकनाथ से कहने लगा, आप कुछ तो समझायें कि जीवन निष्पाप कैसे हो? उन्होंने कहा, मैं तुझे रोज समझाता, तेरी समझ में नहीं आता तो मैं क्या करूं? वह आदमी कहने लगा कि आप कैसे निष्पाप हुए यह बता दो, तो उसी रास्ते मैं भी चलूं।

एकनाथ ने कहा कि ठहर, अचानक मेरी नजर तेरे हाथ पर पड़ गई, तेरी उम्र की रेखा कट गई है। यह बात तो पीछे हो लेगी। उसकी तो कुछ जल्दी भी नहीं है। यह तो तू जनम भर से कर रहा है। मगर यह मैं तुझे बता दूं, कहीं भूल न जाऊं, सात दिन में तू मर जायेगा। तेरी उम्र की रेखा कट गई है।

अब जब एकनाथ किसी को कहें कि सात दिन में तू मर जायेगा तो अविश्वास करना तो मुश्किल है। और सब बातों पर चाहे अविश्वास कर लिया हो, मगर इस पर तो कौन अविश्वास करे? एकनाथ जैसा निस्पृह व्यक्ति कहेगा तो ठीक ही कहेगा। वह तो आदमी घबड़ा गया। उसके तो हाथ-पैर कंप गये। वह तो उठकर खड़ा हो गया। एकनाथ ने कहा, अरे कहां चले? बैठो। तुम्हारा प्रश्न तो अभी उत्तर दिया ही नहीं कि मैं कैसे निष्पाप हुआ। उसने कहा, महाराज, अब तुम समझो निष्पाप कैसे हुए। इधर मौत आ रही है, सत्संग की किसको पड़ी है? अब कभी फुरसत मिली तो आयेंगे फिर। एकनाथ ने हाथ पकड़ा कि भागे कहां जाते हो? वह बोला कि छोड़ो भी जी! इधर बाल-बच्चों को देखूं, इंतजाम करूं। सात दिन! कहते हो कि सात दिन में मर जाऊंगा।

वह तो भागा। अभी आया था तो अकड़ से भरा था। उसके पैर की चाल देखने जैसी थी। अब गया तो कंपने लगा। उन्हीं सीढ़ियों से उतरा मंदिर की लेकिन सहारा लेकर उतरा। घर गया तो बिस्तर से लग गया। घर के लोगों ने पूछा, हुआ क्या? समझाया-बुझाया कि ऐसे कहीं कोई मौत आती है? लेकिन उसने कहा कि वह पक्का है। मौत आ रही है। ऐसा इंतजाम कर लो, ऐसा इंतजाम कर लो, सब करके वह अपने बिस्तर पर पड़ा रहा। खाना-पीना छूट गया। मरते आदमी को क्या खाना-पीना! तीन दिन में तो वह बिलकुल निढाल होकर पड़ गया। मौत निश्चित आने लगी। घर भर के लोग भी उदास होकर बैठे उसकी खाट के पास।

सातवें दिन जब सूरज ढलने के करीब था और वह बिलकुल मौत की प्रतीक्षा कर रहा था, मौत तो नहीं, एकनाथ आ पहुंचे अपना। दरवाजा खटखटाया। एकनाथ को देखकर नमस्कार करने तक की आवाज उससे नहीं निकल सकी। हाथ नहीं जोड़ सका, इतना कमजोर हो गया। एकनाथ ने कहा, अरे भाई इतनी क्या बात है? बड़ी मुश्किल से उसने कहा कि अब और क्या? मौत आ रही है। एकनाथ ने कहा, एक प्रश्न पूछने आया हूं। सात दिन में कुछ पाप किया? पाप करने का कोई विचार आया? उसने कहा, हद हो गई मजाक की। मौत सामने खड़ी हो तो पाप करने की सुविधा कहां? मौत सामने खड़ी हो तो पाप का खयाल कैसे उठे?

एकनाथ ने कहा, उठ, तेरी मौत अभी आई नहीं। रेखा तेरी काफी लंबी है। यह तो मैंने तेरे को सिर्फ तेरा उत्तर...तेरे प्रश्न का जवाब दिया है। और तो तू समझता ही नहीं था। तेरे तो सिर पर खूब जोर से डंडा मारें तो ही शायद तेरी समझ आये। अब तेरी समझ में आया कि हम निष्पाप कैसे हैं? मौत सामने खड़ी है।

जहां जीवन क्षण-क्षण बीता जाता हो, जहां समय चुकता जाता हो, वहां कैसा पाप? जहां मौत सब छीन लेगी वहां कैसा इकट्ठा करना? जहां मौत सब पोंछ देगी वहां कैसे सपने संजोने? जहां मौत आकर सब नष्ट कर देगी वहां क्या बनाना? लेकिन एकनाथ ने उससे कहा कि तुझे लाख समझाया, तेरी समझ में न आया। यही समझाता था सब, लेकिन जब तक तुझे जोर से चोट न मारी गई तब तक तेरी बुद्धि में प्रविष्ट न हुआ।

और कहानी का मुझे आगे पता नहीं क्या हुआ। जहां तक मैं समझता हूं, वह आदमी उठकर बैठ गया होगा और उसने कहा होगा, छोड़ो! अगर अभी मरना नहीं है तो महाराज, तुम अपने घर जाओ, हमें अपना संसार देखने दो। कहानी का मुझे आगे पता नहीं, कहानी आगे लिखी नहीं है। शायद इसीलिए नहीं लिखी है। क्योंकि मौत की चोट में अगर थोड़ी-सी उसको समझ भी आई होगी तो मौत की चोट के हटते ही समझ भी हट गई होगी। वह चोट भी तो जबरदस्ती हो गई न! आयोजित हो गई। मौत उसे थोड़े ही दिखाई पड़ी है, मान ली है। मानने में घबड़ा गया। अब जब फिर पता चला होगा कि अभी जिंदगी काफी बची है तो वह कहा होगा कि महाराज, आयेंगे फुरसत से, सत्संग करेंगे, लेकिन अभी और काम हैं। सात दिन के काम भी इकट्ठे हो गये हैं, वे भी निपटाने हैं।

और उस आदमी ने शायद एकनाथ को कभी क्षमा न किया होगा कि इस आदमी ने भी खूब मजाक की। ऐसी भी मजाक की जाती है महाराज? संतपुरुष होकर और ऐसी मजाक करते हैं? शायद उसने एकनाथ का सत्संग भी छोड़ दिया होगा कि फिर यह आदमी कुछ भरोसे का नहीं। फिर किसी दिन कुछ ऐसी उल्टी-सीधी बात कह दे और झंझट खड़ी कर दे।

आगे लिखा नहीं गया है। नहीं लिखे जाने का मतलब साफ है। नहीं तो हिंदुस्तान में जब कहानियां लिखी जाती हैं तो पूरी लिखी जाती हैं। हिंदुस्तानी ढंग कहानी का यह है कि फिर वह आया होगा, महाराज के चरणों में गिर पड़ा, उसने संन्यास ले लिया और उसने कहा कि अब बस मैं बदल गया। मगर यह लिखा नहीं है, तो यह हुआ नहीं है। यहां तो ऐसा है, न भी होता हो तो भी अंत ऐसा ही होता है। सुखांत होती हैं हिंदुस्तान की कहानियां। उसमें दुखांत कभी नहीं होता। सब अंत में सब ठीक हो जाता है। दुर्जन सज्जन बन जाते, संसारी मोक्षगामी हो जाते। सब अंत में ठीक हो जाता है। मरते-मरते तक हम कहानी को ठीक कर लेते हैं।

कहानियां हैं कि मर रहा है कोई, उसके लड़के का नाम नारायण है। उसने कभी जिंदगी भर भगवान का नाम नहीं लिया। मरते वक्त वह बुलाया, "नारायण, नारायण।" अपने बेटे को बुला रहा है, ऊपर के नारायण धोखे में आ गये। वह मर गया नारायण कहते-कहते; उसको मोक्ष मिला।

अब जिन्होंने ये कहानियां गढ़ी हैं, बड़े बेईमान लोग रहे होंगे। तुम ईश्वर को धोखा देते ऐसे? और ईश्वर धोखा खाता! तो ईश्वर तुमसे गया-बीता हो गया। वह अपने बेटे को बुला रहा है, ऊपर के नारायण समझे, मुझे बुला रहा है। सोचा कि चलो बेचारा जिंदगी भर नहीं बुलाया, अब तो बुला लिया। ऐसे आखिर में हमने कहानी ठीक कर दी। जमा दी सब बात, सब ठीक-ठीक हो गया। जिंदगी भर के पाप...दो बार उसने नारायण को बुला

दिया, वह भी अपने बेटे को बुला रहा है। शायद लोग अपने बेटों के नाम इसलिए भगवान के रखते हैं: नारायण, विष्णु, कृष्ण, राम, खुदाबक्श। इस तरह के नाम रख लेते हैं कि चलो, इसी बहाने। मरते वक्त खुदाबक्श को ही बुला रहे हैं, उसी वक्त खुदा ने सुन लिया और मुक्ति हो गई।

ऐसे झूठों से कुछ सार नहीं है। जहां तक मैं समझता हूं, वह आदमी अगर तुम जैसा आदमी रहा होगा तो फिर कभी एकनाथ के पास न गया होगा। फिर उसने कहा, अब झंझट मिट गई। यह आदमी धोखेबाज है। उसने यही समझा होगा कि इसने धोखा किया, झूठ बोला। संतपुरुष कहीं झूठ बोलते हैं? उसने यह समझा होगा।

तत्वज्ञ का अर्थ होता है, वही समझो जो समझाया जा रहा है। वही देखो, जो दिखाई पड़ रहा है। बीच में अपने को मत डालो। इतनी छोटी-सी बात है: मोक्ष और भोग दोनों में निराकांक्षी। सदा और सर्वत्र रोगरहित--इतनी कुंजी है।

"महत्तत्व आदि जो द्वैत जगत है और जो नाममात्र को ही भिन्न है, उसका त्याग कर देने के बाद शुद्ध बोधवाले का क्या कर्तव्य शेष रह जाता है!"

महदादि जगद्वैतं नाममात्रविजृम्भितम्।
विहाय शुद्धबोधस्य किं कृत्यमवशिष्यते।।

यह जो चारों तरफ फैला हुआ जगत है द्वंद्व का, द्वैत का, दुई का, अनेकत्व का; यह जो चारों तरफ अनेक-अनेक रूप फैले हुए हैं, ये नाममात्र को ही भिन्न हैं। जैसे सोने से ही कोई बहुत गहने बना ले, वे नाममात्र को ही भिन्न हैं। सबके भीतर सोना है। ऐसे ही यह जो सारा इतना विराट जगत फैला हुआ है, यह सब नाममात्र को ही भिन्न है, रूपमात्र में ही भिन्न है। नाम-रूप का भेद है, मौलिक रूप से भिन्न नहीं है।

विज्ञान भी इसकी गवाही देता है। विज्ञान कहता है, सारा अस्तित्व बस विद्युतकणों से बना है; एक से ही बना है। अष्टावक्र का सूत्र कह रहा है:

महदादि जगद्वैतं नाममात्र विजृम्भितम्।

बस नाममात्र का भेद है इस जगत की चीजों में, कुछ बहुत भेद नहीं है। सब चीजें एक ही तत्व की विभिन्न-विभिन्न मात्राओं से बनी हैं।

इसलिए ऐसा जानकर, ऐसा समझकर व्यक्ति इन रूपों के और नामों के मोह में नहीं पड़ता है; कल्पना के जाल में नहीं उलझता है। कल्पना का त्याग कर देने से...।

विहाय शुद्धबोधस्य।

इस जगत में तुम्हारी कल्पना जो छिटकी-छिटकी फिर रही है--इस स्त्री को पा लूं कि उस स्त्री को पा लूं, कि इस धन को पा लूं कि उस पद को पा लूं, यह पुरुष मिल जाये। यह जो तुम्हारी कल्पना छिटकी-छिटकी फिर रही है।

विहाय शुद्धबोधस्य।

इस कल्पना के त्याग मात्र से शुद्ध बुद्ध का तुम्हारे भीतर जन्म हो जाता है। शुद्ध बोध पैदा होता है।

किं कृत्यमवशिष्यते।

और फिर न तो कुछ करने को रह जाता, न न करने को रह जाता। फिर कोई कर्तव्य नहीं बचता। फिर तो कर्ता परमात्मा हो गया, तुम्हारा क्या कर्तव्य है? कल्पना के कारण, मात्र कल्पना के कारण तुम उलझे हो। संसार ने तुम्हें नहीं बांधा है, तुम्हारी कल्पना ने बांधा है।

यह मौलिक उपदेश है अष्टावक्र का। संसार ने बांधा हो तो संसार से भाग जाओ, मुक्ति हो जायेगी। ऐसा तुम्हारे तथाकथित महात्मा कर रहे हैं। संसार ने बांधा नहीं है, बांधा कल्पना ने है। कल्पना को गिरा दो।

विहाय शुद्धबोधस्य।

इस कल्पना के गिरते ही शुद्ध बुद्धत्व का जन्म हो जायेगा।

यह जो हमारी कल्पना है, इसे पा लूं, उसे पा लूं, इस कल्पना में हमारी ऊर्जा क्षीण हो रही है। हम पागल होकर दौड़ते हैं। सब दिशाओं में दौड़ रहे हैं। दौड़-दौड़ में थके जा रहे हैं। आपाधापी में मिटे जा रहे हैं। चिंता ही चिंता। जरा भी विश्राम नहीं। यह कल्पना तुम्हारी क्षीण हो जाये--कल्पना ही, और कुछ छोड़ना नहीं है। पत्नी को छोड़कर नहीं जाना है, पत्नी के प्रति जो कल्पना है उसे भर गिर जाने दो; पर्याप्त है। बेटों को छोड़कर नहीं जाना है।

अष्टावक्र ने तुम्हें पलायन नहीं सिखाया है, मैं भी नहीं सिखाता हूं। तुम जहां हो वहीं डटकर रहो। घर में तो घर में, दूकान पर तो दूकान में। कुछ छोड़कर नहीं जाना है। एक बात छोड़ दो, वह जो कल्पना है। यह पत्नी मेरी है, यह कल्पना है। यह बेटा मेरा है, यह कल्पना है। न बेटा तुम्हारा है, न पत्नी तुम्हारी है। न दूकान तुम्हारी है, न मंदिर तुम्हारा है। सब परमात्मा का है। तुम भी उसके, यह सब भी उसका। इस पर तुम व्यक्तिगत दावे छोड़ दो, अधिकार छोड़ दो, परिग्रह छोड़ दो।

इस दावे के छूटते ही तुम्हारा अहंकार विसर्जित हो जायेगा। और तब जो शेष रह जाता है, तब जो विराट आकाश उपलब्ध होता है, तब जो असीम आकाश उपलब्ध होता है, तब जो स्वतंत्रता मिलती है, जो स्वच्छंदता मिलती है, वही है जीवन का असली अर्थ। वही है जीवन का असली स्वाद। वही है प्रभु-रस। उस रसमयता को पाये बिना तुम भिखारी के भिखारी रहोगे। उस रस को पाओ। रसो वै सः। वह परमात्मा रसरूप है।

लेकिन तुम अपनी कल्पना के जाल छोड़ो तो उसकी रसधार बहे। फिर तुमसे कहता--तुम हो पत्थर, चट्टान जिसके कारण झरना रुका है। तुम हटो। यह तुम्हारा अहंकार भी तुम्हारी कल्पना मात्र है; है नहीं कहीं।

बोधिधर्म चीन गया। चीन के सम्राट ने उससे कहा कि आपकी मैं प्रतीक्षा करता वर्षों से। अब आप आ गये, एक काम भर कर दें। यह मेरा अहंकार मुझे बहुत सताता है। इसी अहंकार के कारण मैंने यह साम्राज्य बनाया है, लेकिन फिर भी इसकी कोई तृप्ति नहीं होती। यह भरता ही नहीं। इतना धन है, फिर भी नहीं भरता। अभी भी धन की सोचता है। इतने बड़े महल हैं फिर भी नहीं भरता; अभी बड़े महलों की सोचता है। इस अहंकार से मुझे छुड़ा दें।

बोधिधर्म ने कहा, छुड़ा दूंगा। तू सुबह तीन बजे आ जा। अकेला आना, किसी को साथ लेकर मत आना। और एक बात खयाल रखना, अहंकार को लेकर आना। इसको घर मत छोड़ आना। वह सम्राट डरा। यह क्या बात हुई? उसने बहुत-से ज्ञानियों से कहा था। सबने उपदेश दिया था। किसी ने नहीं कहा था, छुड़ा दूंगा। कोई कैसे छुड़ा देगा किसी को? यह आदमी पागल मालूम होता है। फिर तीन बजे रात की जरूरत? अभी क्या अड़चन है? और अकेले आना! और यह आदमी भयंकर मालूम पड़ता है।

बोधिधर्म बड़ा जंगली ढंग का आदमी था। देख ले जोर से तो तुम्हारे प्राण कंप जायें, घबड़ा जाओ। तलवार की धार की तरह आदमी था। कहते हैं, कभी जोर से चीख देता था तो लोगों के विचार बंद हो जाते थे। उसका हुंकार लोगों को ध्यान लगवा देता था। एक क्षण को विचार-शृंखला टूट जाती थी।

इस आदमी के पास तीन बजे रात आना ठीक है? और फिर यह आदमी दुबारा--यह भी अजीब बात कह रहा है, अहंकार साथ ले आना। और जब वह सीढ़ियां उतरकर जाने लगा सम्राट तो फिर डंडा ठोंककर बोधिधर्म ने कहा, देख भूलना मत। ठीक तीन बजे आ जाना। और अहंकार को साथ ले आना, घर मत रख आना, क्योंकि मैं उसे खतम ही कर दूंगा आज।

वह डरने लगा और रात सो नहीं सका। जाऊं, न जाऊं? यह जाने के जैसी बात है कि नहीं? लेकिन आकर्षण भी पकड़ने लगा। इस आदमी की आंखों में बल भी कुछ था। इस आदमी की मौजूदगी में कुछ आकर्षण भी था। कोई प्रबल आकर्षण था। नहीं रोक सका। बहुत समझाया अपने को कि जाना ठीक नहीं, लेकिन खिंचा चला गया। तीन बजे पहुंच गया।

पहली बात जो बोधिधर्म ने पूछी वह यही, अहंकार ले आया? तो सम्राट ने कहा, आप भी कैसी बातें करते हैं! अहंकार कोई चीज तो नहीं है कि ले आऊं। यह तो मेरे भीतर है। उसने कहा, चलो इतना तो पक्का हुआ, भीतर है; बाहर तो नहीं है! तो आधी दुनिया तो साफ हो गई। आधा काम तो हो चुका। बाहर नहीं है, भीतर है। उसने कहा, भीतर है।

"आंख बंद कर। बैठ जा सामने। और खोज भीतर, कहां है। और मैं डंडा लिये बैठा हूं तेरे सामने। जैसे ही तुझे मिले, इशारा कर देना कि पकड़ लिया। वहीं खतम कर दूंगा।"

वह सम्राट बहुत घबड़ाने लगा। तीन बजे रात अंधेरे उस मठ में। और यह आदमी डंडा लिये बैठा है और पागल मालूम होता है। अब भागने का भी उपाय नहीं है। और खुद ही कह फंसा कि बाहर नहीं, भीतर है। अब इंकार भी नहीं कर सकता। आंख बंद करके भीतर देखने लगा। भीतर जितना खोजा उतना ही पाया कि मिलता नहीं। जितना खोजा उतना ही पाया, मिलता नहीं। सूरज उगने लगा, तीन घंटे बीत गये। और उसके चेहरे पर अपूर्व आभा छा गई।

बोधिधर्म ने उसे हिलाया और उसने कहा कि अब उठ। मुझे दूसरे काम भी करने हैं। मिला कि नहीं? सम्राट वू उसके चरणों में झुक गया और कहा कि आपने मिटा दिया। मैं धन्यभागी कि आपके चरणों में आ गया। बहुत खोजा। खोजने से एक बात समझ में आ गई, न बाहर है न भीतर है; है ही नहीं। सिर्फ भ्रांति है, कल्पना है। मान रखा है।

यह मैं सिर्फ एक मान्यता है। यह मैं ही संसार है। यह मैं का बीज ही फैलकर संसार बनता है। यह मैं गिर जाये, यह कल्पना गिर जाए--विहाय शुद्धबोधस्य; इसके छूट जाते ही शुद्ध बोधि, संबोधि का जन्म हो जाता है। और तब न कुछ करने को बचता, न कुछ न करने को। कर्ता ही नहीं बचता। मैं गया तो कर्ता गया।

और उस कर्ताशून्यता में प्रभु तुम्हारे भीतर बहता। तुम उपकरण हो जाते--निमित्तमात्र। बांस की पोली बांसुरी। वेणु बन जाते।

वेणु बनो। समर्पण करो। कुछ और छोड़ना नहीं है, इस मैं की कल्पना को विसर्जित करो। इसे जाने दो। इसके जाते ही--निस्तर्षमानसः। तुम मन का निस्तरण कर गये। यह मैं मन का संग्रहीभूत रूप है। इसके पार तुम्हारा साक्षी है।

साक्षी रस है।

रसो वै सः।

आज इतना ही।

प्रवचन-क्रम

76. परंपरा और क्रांति 2
77. बुद्धि-पर्यन्त संसार है 25
78. अक्षर से अक्षर की यात्रा 46
79. निःस्वभाव योगी अनिर्वचनीय है 67
80. पूनम बन उतरो 87
81. अध्यात्म का सारसूत्र: समत्व 108
82. परम ज्ञान का अर्थ है परम अज्ञान 130
83. मनुष्य, संसार व परमात्मा का संधिस्थल: हृदयग्रंथि 151
84. मन मूर्च्छा है 172
85. चौथे की तलाश 192
86. स्वानुभव और आचरण एक ही घटना 211
87. पहुंचना हो तो रुको 234
88. परमात्मा अनुमान नहीं, अनुभव है 251
89. सिद्धि के भी पार सिद्धि है 271
90. सरलतम घटना: परमात्मा 293
91. अनुभव ही भरोसा 316

छियत्तरवां प्रवचन

परंपरा और क्रांति

पहला प्रश्न: आप क्रांतिकारी हैं, फिर आप परंपरागत प्राचीन शास्त्रों को क्यों पुनरुज्जीवित करने में लगे हैं?

क्योंकि सभी शास्त्र क्रांतिकारी हैं। शास्त्र परंपरागत होता ही नहीं। शास्त्र हो तो परंपरागत हो ही नहीं सकता। शास्त्र के आसपास परंपरा बन जाये भला, शास्त्र तो सदा परंपरा से मुक्त है। शास्त्र के पास परंपरा बन गई, उसे तोड़ा जा सकता है। शास्त्र को फिर-फिर मुक्त किया जा सकता है। शास्त्र कभी बासा नहीं होता; न पुराना होता है, न प्राचीन होता है। क्योंकि शास्त्र की घटना ही समय के बाहर की घटना है, समय के भीतर की नहीं।

अष्टावक्र आज भी वैसे ही नित नूतन हैं, जैसे कभी रहे होंगे; और सदा नित नूतन रहेंगे। यही तो शास्त्र की महिमा है--शाश्वत, सनातन और फिर भी नित नूतन।

हां, धूल जम जाती है समय की। तो धूल जम जाने के कारण कोई दर्पण को थोड़े ही फेंक देता है! धूल को झाड़ देता है। यही कर रहा हूं। जमी धूल को झाड़ रहा हूं। दर्पण तो वैसा का वैसा है। ये दर्पण ऐसे नहीं जो मिट जायें, जराजीर्ण हो जायें। ये चैतन्य के दर्पण हैं। ये आकाश जैसे निर्विकार दर्पण हैं। बदलियां घिरती हैं, आती हैं, जाती हैं, आकाश तो निर्मल ही बना रहता है।

तो पहली बात: कोई शास्त्र परंपरा नहीं है। शास्त्र के आसपास परंपरा निर्मित होती जरूर। तो परंपरा को तोड़ने का उपाय कर रहा हूं। शास्त्र को बचाना और परंपरा को तोड़ना, यही मेरी चेष्टा है। शास्त्र पर और लोग भी बोलते हैं लेकिन फर्क समझ लेना। वे परंपरा को बचाते हैं और शास्त्र को तोड़ते हैं। मैं शास्त्र को बचाता और परंपरा को तोड़ता हूं।

शास्त्र पर बोलने भर से कुछ नहीं सिद्ध होता कि क्या काम भीतर हो रहा है। कुछ हैं जो धूल को बचाते हैं, दर्पण को तोड़ते हैं। वे भी शास्त्र पर बोलते हैं, मैं भी शास्त्र पर बोल रहा हूं, लेकिन दर्पण को बचा रहा हूं, धूल को तोड़ रहा हूं।

इसलिए तुम ऐसा मत समझ लेना कि पुरी के शंकराचार्य बोलते तो वही मैं बोल रहा हूं। अष्टावक्र की गीता पर पुरी के शंकराचार्य भी बोल सकते हैं, लेकिन मौलिक भेद यहां होगा: शास्त्र को मिटायेंगे और परंपरा को बचायेंगे। परंपरा अष्टावक्र की नहीं, अष्टावक्र के पीछे आये हुए लोगों ने बनाई है। मैं उन सबको पोंछे डाल रहा हूं, जिन्होंने परंपरा बनाई है।

कोई सदगुरु परंपरा नहीं बनाता; पर परंपरा बनती है, वह अनिवार्य है। उस परंपरा को बार-बार तोड़ना भी उतना ही अनिवार्य है। इसलिए समझना:

परंपरा को अंधी लाठी से मत पीटो
उसमें बहुत कुछ है जो जीवन है, जीवनदायक है
जैसे भी हो, ध्वंस से बचा रखने के लायक है
परंपरा में दबा हुआ शाश्वत भी पड़ा है। इस कूड़े-करकट में हीरे भी पड़े हैं।
परंपरा को अंधी लाठी से मत पीटो
उसमें बहुत कुछ है जो जीवन है, जीवनदायक है
जैसे भी हो, ध्वंस से बचा रखने के लायक है

है क्या परंपरा? दो बातों का जोड़: परम ज्ञानी का अनुभव और अज्ञानियों का परम ज्ञानी के आसपास इकट्ठा हो जाना। परम ज्ञानी का शाश्वत को पकड़कर समय में उतारना और अज्ञानियों की समझ। नासमझी है उनकी समझ। उस नासमझी में अज्ञानियों ने जैसा समझा वैसी लकीरों का निर्मित हो जाना।

जैसे रोशनी उतरे और अंधे आदमी की आंखों पर नाचे, अंधा आदमी कुछ धारणा बनाये। उस धारणा से परंपरा बनती है।

वह जो रोशनी उतरी, वही शास्त्र है। और परंपरा में दोनों बातें मिश्रित हैं। आंखवालों की बातें मिश्रित हैं, अंधों की टीकायें, व्याख्यायें मिश्रित हैं। अंधों की व्याख्याओं को अलग करना है।

पानी का छिछला होकर समतल में दौड़ना
एक क्रांति का नाम है
लेकिन घाट बांधकर पानी को गहरा बनाना
यह परंपरा का काम है
परंपरा और क्रांति में संघर्ष चलने दो
आग लगी है तो सूखी टहनियों को जलने दो
मगर जो टहनियां आज भी कच्ची और हरी हैं
उन पर तो तरस खाओ
मेरी एक बात तुम मान जाओ

कुछ टहनियां ऐसी हैं जो सदा हरी हैं; जो कभी सूखती ही नहीं हैं। जो सूख जाये वह आदमी का है; जो कभी न सूखे वही परमात्मा का है। जो कुम्हला जाये, क्षणभंगुर है, सीमा है जिसकी, उसका कोई बड़ा मूल्य नहीं। लेकिन क्षण में भी तो शाश्वत झांकता है। बुलबुले में, पानी के क्षणभंगुर बुलबुले में भी तो अस्तित्व झलक मारता है। बदलियां कितनी ही घिरी हों, बदलियों के पीछे नीला आकाश तो खड़ा है। बदलियों में से उसकी भी छांव तो दिखाई पड़ती है। बदलियों में से उसका भी दर्शन तो होता है।

जैसे ही कोई सदगुरु कुछ कहता है--कहा, शब्द बने। कहा, किसी ने सुना, व्याख्या बनी। कहा, कोई पीछे चला। चलनेवाला अपनी समझ से चलेगा। उसकी समझ मिश्रित हो जायेगी। फिर सदियां बीतती जाती हैं। अब अष्टावक्र को हजारों साल हुए। इन हजारों साल में हजारों लोगों ने अपना-अपना सब जोड़ा। अपनी-अपनी व्याख्यायें, अपने-अपने अर्थ डाले; उस सबसे विकृति हो गई। इस हजारों साल की प्रक्रिया में जो हुआ है उसे हम काट दें तो अष्टावक्र आज, यहीं, इसी क्षण ताजे प्रगट हो जाते हैं।

फिर परंपरा का भी उपयोग है, एकदम व्यर्थ नहीं है। मैं तुमसे कुछ कह रहा हूं; अगर इसकी कोई परंपरा न बचे, इसकी कोई परंपरा न बने तो यह क्रांति बिलकुल खो जायेगी। यही तो जीवन का अदभुत विरोधाभास है। क्रांति को भी टिकने के लिए परंपरा बनना पड़ता है। और परंपरा बनकर क्रांति खो जाती है। लेकिन परंपरा की पर्तों के नीचे कहीं दीया जलता रहता है। और जब भी कोई सजग व्यक्ति ठीक चेष्टा करेगा तो पर्तों को तोड़कर फिर उस दीये को, जलते हुए दीये को फिर प्रगट कर देगा; फिर रोशनी प्रगट हो जायेगी।

परंपरा तो ऐसे है, जैसे बीज के आसपास खोल होती है, मजबूती से बीज को बचाती है, रक्षा करती है। क्योंकि बीज तो कोमल है। अगर खोल न हो बचाने को तो कभी का नष्ट हो जाता। भूमि में पहुंचने के पहले, ठीक ऋतु के आने के पहले, वर्षा के बादल घुमड़ते उसके पहले नष्ट हो गया होता। वह जो खोल है बीज की वह उसे बचाये रखती है। लेकिन कभी-कभी खोल इतनी मजबूत हो सकती है कि जब ठीक मौसम भी आ जाये, और बादल घिर उठें और मोर नाचने लगें, भूमि भी मिल जाये और तब भी खोल कहे, मैंने तुझे बचाया, मैं बचाये ही रहूंगी। अब तुझे मैं छोड़ नहीं सकती। खतरा है। तो जो रक्षक था वह भक्षक हो गया।

परंपरा बचाती है। अगर परंपरा न होती तो अष्टावक्र के ये वचन बचते नहीं। इनको बचाया परंपरा ने। बिगाड़ भी परंपरा रही है, बचाया भी परंपरा ने। इस बात को ठीक से खयाल में लेना। अगर परंपरा न बनती तो अष्टावक्र के वचन खो गये होते। बहुत सदगुरुओं के वचन खो गये हैं।

मखली गोशाल के कोई वचन आज मौजूद नहीं हैं। वह महावीर की हैसियत का ही व्यक्ति रहा होगा। जिसकी आलोचना महावीर को करनी पड़ी, बार-बार करनी पड़ी है, वह आदमी हैसियत का रहा होगा। लेकिन उसके कुछ वचन नहीं बचे, कोई परंपरा नहीं बनी। तो अब उसे आज छुड़ाने का कोई उपाय नहीं है। बन जाती परंपरा तो कारागृह में होता मखली गोशाल, लेकिन दरवाजे तोड़ सकते थे, ताले खोल सकते थे, सींखचे गला सकते थे। उसे मुक्त कर लेते। महावीर को अभी मुक्त किया जा सकता है। जैनों के कारागृह से मुक्त किया जा सकता है। बुद्ध को मुक्त किया जा सकता है। मखली गोशाल को कैसे मुक्त करो? मखली गोशाल के आसपास कारागृह बना ही नहीं। मखली गोशाल खो गया।

ऐसे ही अजित केशकंबली खो गया। ऐसे ही और न मालूम कितने सदगुरु, जिन्होंने जाना, उनके आसपास परंपरा नहीं बनी तो खो गये। अब यह मजे की बात है, जिनके पास परंपरा बनी वे परंपरा में दब गये और जिनके पास परंपरा नहीं बनी वे तो बिलकुल खो गये। तो धन्यभागी हैं वे, जिनके आसपास परंपरा बनी। कुछ तो बचे! कितनी ही पर्तों में दबे हों लेकिन हैं तो! कोई न कोई उन पर्तों को तोड़ सकेगा।

तो परंपरा एकदम व्यर्थ नहीं है। बचाती है, मारती भी है। परंपरा का उपयोग आना चाहिए तो फिर बचाती है। ठीक मौसम में फिर मुक्त कर देती है।

जैसे मुझे लगता है, अष्टावक्र के लिए ठीक मौसम आया। ऋतु आ गई है, बादल घिर गये हैं। इस पृथ्वी पर अब अष्टावक्र को समझने के लिए ज्यादा संभावना है जितनी पहले रही होगी। मनुष्य की प्रतिभा विकसित हुई है। मनुष्य का बोध बढ़ा है। मनुष्य प्रौढ़ हुआ है। इतनी जो अड़चनें दुनिया में दिखाई पड़ती हैं ये प्रौढ़ता के कारण ही दिखाई पड़ती हैं। अब इस प्रौढ़ता के भी ऊपर जाना है। इस प्रौढ़ता से भी पार होना है। अष्टावक्र की बातें उपयोगी हो सकती हैं। परंपरा से छुड़ा लेना होगा।

अब यह तो स्वाभाविक है कि अष्टावक्र जैसे व्यक्ति के पीछे जो परंपरा बनेगी वह शुद्ध नहीं रह सकती, क्योंकि शुद्ध रहने के लिए तो अष्टावक्र जैसे लोग चाहिए। ऐसे लोग तो विरले होते हैं, कभी-कभी होते हैं। इनकी कोई धारा तो नहीं होती। बार-बार शृंखला टूट जाती है।

अष्टावक्र को बचाने के लिए तो बुद्ध, महावीर, कृष्ण जैसे व्यक्ति चाहिए। मगर ये तो कभी-कभी होते हैं। और जब ऐसे व्यक्ति होते हैं तो फिर वही बात खड़ी होती है। उनको भी कोई व्यक्ति नहीं मिलता जो ठीक उनकी ही दशा का हो, उनकी ही स्थिति का हो। फिर बात नीचे हाथों में पड़ जाती है। पड़ेगी ही।

जैसे जल बादल से बरसता है, भूमि पर गिरता है, कीचड़ मच जाती। जब तक भूमि को नहीं छुआ तब तक जल-कण बड़े स्वच्छ होते हैं, स्फटिक-मणि जैसे होते हैं। जैसे ही भूमि को छुआ, कीचड़ मच जाती है। अष्टावक्र बरसेंगे, तुम्हारे मन को छुएंगे, कीचड़ मच जायेगी। मगर सौभाग्य है कि कम से कम कीचड़ तो मचती है। मिट्टी में भी गंदा तो हो जाता है पानी लेकिन मौजूद तो होता। कोई पारखी कभी पैदा होगा तो मिट्टी को अलग कर लेगा, पानी को अलग कर लेगा।

परंपरा की जरूरत है। संघर्ष चलने दो। परंपरा-क्रांति में संघर्ष चलने दो। संघर्ष की भी जरूरत है, बार-बार क्रांति हो इसकी जरूरत है। ताकि बार-बार जो नष्ट हो गया, जो खो गया, पुनः आविष्कृत हो सके। और बार-बार परंपरा बने यह भी जरूरी है ताकि जो नया पुनः आविष्कृत हुआ है वह बचाया जा सके। होगी बार-बार क्रांति। होगी बार-बार परंपरा।

तुम इस बात को ठीक से समझ लेना। पूछा है तुमने कि आप क्रांतिकारी हैं...।

लेकिन मैं साधारण क्रांतिकारी नहीं हूं। मैं परंपरा के विरोध में हूं ऐसा क्रांतिकारी नहीं हूं। मैं परंपरा और क्रांति दोनों से मुक्त हूं, ऐसा क्रांतिकारी हूं। मेरी क्रांति क्रांति से भी गहरी जाती है। क्योंकि मैं देख पाता हूं कि क्रांति और परंपरा तो दिन और रात जैसे हैं। हर दिन के बाद रात, हर रात के बाद दिन। हर क्रांति के पीछे परंपरा, हर परंपरा के पीछे क्रांति। यह अनवरत शृंखला है। मैं तो साक्षी मात्र हूं। जो जैसा है उसे तुमसे वैसा कह रहा हूं। मैं कोई लेनिन और माक्र्स और क्रोपाटीकन जैसा क्रांतिकारी नहीं हूं जो परंपराविरोधी हैं। न मैं परंपरावादी हूं; मनु, याज्ञवल्क्य इन जैसा परंपरावादी भी नहीं हूं, जो क्रांतिविरोधी हैं।

मैं तो देखता हूं कि क्रांति और परंपरा दोनों जरूरी हैं। हो क्रांति बार-बार, आये परंपरा बार-बार। बने परंपरा, मिटे परंपरा, फिर हो क्रांति। और यह सतत हो। न तो ज्यादा देर क्रांति रुके; क्योंकि ज्यादा देर क्रांति रुक जाये तो अराजकता हो जाती है। न ज्यादा देर परंपरा रुके; क्योंकि ज्यादा देर परंपरा रुक जाये तो मरघट हो जाता है। सब समय पर हो, सब अनुपात में हो।

परंपरा क्रांति में संघर्ष चलने दो
आग लगी है तो सूखी टहनियों को जलने दो
मगर जो टहनियां आज भी कच्ची और हरी हैं
उन पर तो तरस खाओ
मेरी एक बात तुम मान जाओ
परंपरा जब लुप्त हो जाती है
लोगों की आस्था के आधार टूट जाते हैं
उखड़े हुए पेड़ों के समान
वे अपनी जड़ों से छूट जाते हैं

तो परंपरा बिलकुल लुप्त नहीं हो जानी चाहिए, नहीं तो लोग जड़हीन हो जाते हैं, बेजड़ हो जाते हैं, उखड़े हुए हो जाते हैं। उनको समझ ही नहीं पड़ता कि अब कहां जायें, क्या करें, कैसे उठें, कैसे बैठें। उनका संतुलन खो जाता है। उनकी दिशा खो जाती है। उनके लिए मार्ग नहीं बचता। वे किंकर्तव्यविमूढ़ हो जाते हैं। जीवन के चौराहे पर पागल की तरह, विक्षिप्त की तरह यहां-वहां दौड़ने लगते हैं। कोई गंतव्य नहीं रह जाता।

तो परंपरा बिलकुल न टूट जाये, नहीं तो जड़ें उखड़ जाती हैं। और परंपरा इतनी मजबूत न हो जाये कि बीज टूट ही न सके, नहीं तो वृक्ष छिपा रह जाता है।

जीवन इन विरोधाभासों के बीच संतुलन का नाम है, समता का नाम है। और जब भी जीवन संतुलन को उपलब्ध होता है, जहां परंपरा अपना काम करती है, और क्रांति अपना काम करती है, और जहां परंपरा और क्रांति हाथ में हाथ डालकर चलती हैं वहां जीवन में छंद पैदा होता है, गीत पैदा होता है। जहां परंपरा और क्रांति साथ-साथ नाच सकती हैं। यही मेरी चेष्टा है।

तो एक तरफ क्रांति की बात करता हूं, दूसरी तरफ शास्त्रों को पुनरुज्जीवित करता हूं। तुम्हें इसमें विरोध दिखेगा, क्योंकि तुम्हें पूरा जीवन दिखाई नहीं पड़ता। मुझे पूरा जीवन दिखाई पड़ता है, मुझे विरोध नहीं दिखाई पड़ता। दोनों परिपूरक हैं।

बिदको नहीं
गुरूर में मुस्कुराओ नहीं
कौन कहता है कि तुम सब कुछ नहीं जानते हो
मगर दो-चार बातें प्राचीनों को भी मालूम थीं
मसलन, वे जानते थे कि पावन पुष्प एकांत में खिलता है
और सबसे बड़ा सुख उसे मिलता है
जो न तो किस्मत से नाराज है
न भाग्य से रुष्ट है
जिसकी जरूरतें थोड़ी और ईमान बड़ा है
संक्षेप में जो अपने आप से संतुष्ट है

तो नाराज मत होओ। हर सदी इस अहंकार में जीती है कि जो हमें पता है वह किसी को पता नहीं था। हर पीढ़ी इस अस्मिता की घोषणा करती है कि जो हमने जान लिया है, बस वह हमने जाना है, और किसी ने नहीं जाना। हमसे पहले तो सब मूढ़ थे।

देखो, क्रांतिकारी कहता है, हमसे पहले जो थे वे सब मूढ़ थे। परंपरावादी कहता है, हमसे बाद जो होंगे वे सब मूढ़ होंगे। ये दोनों बातें मूढ़ता की हैं। परंपरावादी कहता है, पीछे देखो अगर ज्ञान खोजना है। तो ज्ञान हो

चुका। सतयुग हो चुका। स्वर्णयुग बीत चुका। अब आगे तो बस अंधेरा है--और अंधेरा, कलियुग और अंधकार, और नरक। अब आगे तो मूढ़ से मूढ़ लोग होंगे। रोज-रोज प्रतिभा कम होगी। रोज-रोज पाप बढ़ेगा। परंपरावादी कहता है पीछे जा चुके स्वर्ण शिखर। लौटो पीछे, देखो पीछे।

और क्रांतिवादी कहता है, पीछे क्या रखा है? अंधकार के युग थे वे। तमस घिरा था। लोग मूढ़ थे, अंधविश्वासी थे। वहां क्या धरा है! आगे देखो। स्वर्णकलश भविष्य में है। प्रतिभा रोज-रोज पैदा होगी। ज्ञानी आनेवाले हैं, अभी आये नहीं। उनका आगमन हमारे साथ शुरू हुआ है। क्रांतिकारी कहता है, हमारे साथ ज्ञानियों का आगमन शुरू हुआ है। यह पहला पदार्पण है किरण का। अब और किरणें आयेंगी; बच्चों में आयेंगी, भविष्य में आयेंगी।

ये दोनों बातें अधूरी हैं। ये दोनों बातें गलत हैं। अधूरे सत्य झूठ से भी बदतर होते हैं।

बिदको नहीं
गुरूर में मुस्कुराओ नहीं
कौन कहता है कि तुम सब कुछ नहीं जानते हो
मगर दो-चार बातें प्राचीनों को भी मालूम थीं

इतनी दया करो। इतना तो स्वीकार करो कि दो-चार बातें प्राचीनों को भी मालूम थीं। और अगर उन्हें मालूम न होतीं तो तुम्हें भी मालूम नहीं हो सकती थीं, क्योंकि तुम उन्हीं से आते हो। तुम उन्हीं की शृंखला हो। उन्हें मूढ़ मत कहो। क्योंकि अगर वे मूढ़ थे तो तुम भी मूढ़ हो। क्योंकि वे बीज थे, तुम उन्हीं के फल हो। और मूढ़ता के बीजों में ज्ञान के फल नहीं लगते।

उन्हें अंधविश्वासी मत कहो; अन्यथा तुम आते कहां से हो? तुम उन्हीं की शृंखला हो। तुम उन्हीं का सातत्य हो। तो इतना ही हो सकता है कि तुमने शायद अपने अंधविश्वास बदल लिये हों लेकिन अन्यथा तुम हो नहीं सकते। हो सकता है वे धर्म के शास्त्रों में मानते थे, तुम विज्ञान के शास्त्रों में मानते हो। लेकिन अंधविश्वास तुम्हारा कुछ बहुत भिन्न नहीं है। अगर वे अंधविश्वासी थे तो तुम भी अंधविश्वासी हो।

बड़े मजे की बातें हैं। लोग पुराने, प्राचीन शास्त्रों में अंधविश्वास खोजते हैं। कहते हैं, ईश्वर दिखाई नहीं पड़ता। हो तो दिखाओ। दिखाओ तो मान लें। और जब आधुनिक भौतिकी कहती है, आधुनिक भौतिकशास्त्र कहता है कि इलेक्ट्रान है और दिखाई नहीं पड़ता, तब ये संदेह नहीं उठाते। तब ये डा. कोवूर और इस तरह के लोग फिर संदेह नहीं उठाते कि यह बात हम कैसे मान लें? कि तुम कहते हो है, और दिखाई नहीं पड़ता। है तो दिखा दो। किसी वैज्ञानिक की क्षमता नहीं है कि इलेक्ट्रान को दिखा दे। मगर वैज्ञानिक कहता है, है तो। क्योंकि हम उसके परिणाम देखते हैं।

यही तो पुराने शास्त्र कहते हैं कि परमात्मा नहीं दिखाई पड़ता लेकिन परिणाम दिखाई पड़ते हैं। यह देखो, इतनी बड़ी व्यवस्था, यह इतना बड़ा आयोजन! और क्या प्रमाण चाहिए?

तुम जाओ मरुस्थल में और तुम्हें पड़ी हुई एक घड़ी मिल जाये...हाथ की साधारण जेबघड़ी या हाथघड़ी। तुम्हें कोई भी दिखाई न पड़े, दूर-दूर मरुस्थल तक कहीं कोई पदचिह्न न मालूम पड़ें तो भी तुम कहोगे कि कोई मनुष्य आया है जरूर। यह घड़ी कहां से आई? तुम यह तो न मान सकोगे कि सिर्फ संयोगवशात यह घड़ी अपने आप निर्मित हो गई है। टिक-टिक घड़ी अब भी बजा रही है समय को। क्या तुम यह मान सकोगे कि संयोगवशात? अनंत-अनंत काल में संयोग से यह घड़ी निर्मित हो गई है, कोई बनानेवाला नहीं है? तुम न मान सकोगे। एक घड़ी तुम्हें मुश्किल में डाल देगी। तुम लाख मनाने की कोशिश करो, फिर भी घड़ी कहेगी कि कोई बनानेवाला है। फिर भी घड़ी कहेगी, कोई आदमी यहां आ चुका है।

तुम घड़ी को देखकर यह बात नहीं मान पाते कि यह अपने आप बन गई और तुम इस विराट विश्व को देखकर कहते हो कि अपने आप बन गया! ये चांदत्तारे, यह सूरज, यह जीवन, यह इतनी अपूर्व लीला, यह इतना जटिल जाल इतनी सरलता से चल रहा है। नहीं, कोई दिखाई नहीं पड़ता। कोई हाथ साफ मालूम नहीं पड़ते।

पुराने शास्त्र कहते हैं, होंगे जरूर; होने चाहिए। परिणाम दिखाई पड़ता है। वही तो आधुनिक भौतिकशास्त्री कह रहा है कि इलेक्ट्रान होना तो चाहिए क्योंकि उसका परिणाम दिखाई पड़ता है। हिरोशिमा में परिणाम देखा न? अब कौन इंकार करेगा? कैसे इंकार करोगे? भौतिकशास्त्री कहता है कि हमने देखा, अणु का विस्फोट हो सकता है। विस्फोट का परिणाम हुआ कि एक लाख आदमी जलकर राख हो गये। परिणाम साफ है। मौत घट गई, तुम अब इंकार कैसे करते हो?

और यह बात सच है कि इलेक्ट्रान दिखाई नहीं पड़ते। इतने सूक्ष्म हैं, ऊर्जा मात्र हैं। दिखाई नहीं पड़ते। लेकिन कोई इस पर शक नहीं उठाता। कोई बड़ा समझदार होने का दावा करनेवाला आदमी यह नहीं कहता कि यह तो नया अंधविश्वास हो गया। पहले के लोग ईश्वर नाम देते थे, तुम इलेक्ट्रान कहने लगे। फर्क क्या पड़ता है? इससे क्या फर्क पड़ता है? नाम बदल दिये लेकिन धारणा तो वही की वही है कि चीज हो और दिखाई न पड़े, और फिर भी तुम मानते हो।

सोचो, अगर पुराने लोग अंधविश्वासी थे तो तुम अन्यथा नहीं हो सकते। तुम अपने बाप को गालियां देकर प्रशंसित न हो सकोगे, क्योंकि तुम वहीं से आते। गंगा गंगोत्री को गाली देकर गंगा न हो सकेगी। गंगोत्री अगर भ्रष्ट है तो गंगा भ्रष्ट है। क्योंकि जहां से हम आते...स्रोत अगर भ्रष्ट हो गया तो हम भ्रष्ट हो गये।

कौन कहता है कि तुम सब कुछ नहीं जानते हो
मगर दो-चार बातें प्राचीनों को भी मालूम थीं

इतनी तो दया करो, इतना स्वीकार करो कि कुछ वे भी जानते थे। उस कुछ को बचा लेना है।

मसलन, वे जानते थे कि पावन पुष्प एकांत में खिलता है

समस्त पुराने शास्त्र एकांत की महिमा गाते हैं। तुम भीड़ में जी रहे हो। तुम भीड़ की तरह जी रहे हो। तुम्हें खयाल ही भूल गया है कि पावन पुष्प एकांत में खिलता है। तुम भीड़ के हिस्से हो गये हो। भीड़ तुम्हारे बाहर, भीड़ तुम्हारे भीतर, भीड़ ही भीड़ है। तुम्हारे भीतर व्यक्ति तो बिलकुल खो गया है। व्यक्ति तो ध्यान में खिलता है। ध्यान यानी एकांत। व्यक्ति तो अकेले में, परम एकाकीपन में उभरता है, संबंधों में नहीं। संबंधों से मुक्त हो जाने का नाम संन्यास है। संबंधों के पार हो जाने का नाम संन्यास है।

तुमने जाना कि मैं बाप हूं, तुमने जाना कि मैं पति हूं, तुमने जाना कि मैं पत्नी हूं, मैं बेटा हूं, मैं यह, मैं वह, तो तुम गृहस्थ। घर में रहने से तुम गृहस्थ नहीं होते, इस बात को जानने से कि मैं बाप हूं, बेटा हूं, पति हूं, पत्नी हूं, तुम गृहस्थ होते हो। तुम घर में रहे लेकिन तुमने जाना कि मैं कैसे बाप, मैं कैसे बेटा, मैं कैसे पत्नी! मुझे तो अभी यही पता नहीं कि मैं कौन हूं। अभी तो मुझे अपने भीतर झांककर देखना है कि यह कौन है मेरे भीतर जो बैठा है? और जब तुम इसे देखने लगोगे, पहचानने लगोगे, तुम अचानक पाओगे असंबंधित हो तुम; असंग हो तुम। तब संन्यास जन्मा।

मसलन, वे जानते थे कि पावन पुष्प एकांत में खिलता है
और सबसे बड़ा सुख उसे मिलता है
जो न तो किस्मत से नाराज है
न भाग्य से रुष्ट है

समझो, यही तो तथाता का सिद्धांत है, साक्षी का सिद्धांत है।

जो न तो किस्मत से नाराज है
न भाग्य से रुष्ट है

जो यह कहता ही नहीं कि कुछ गलत हो रहा है, उसी को सुख मिलता है। जिसने कहा गलत हो रहा है, वह तो चूका।

मैं एक मुसलमान फकीर का जीवन पढ़ रहा था। एक आदमी मेहमान हुआ। सुबह दोनों नमाज पढ़ने बैठे। वह आदमी नया-नया था, परदेशी था उस गांव में। वह गलत दिशा में मुंह करके बैठ गया। काबा की तरफ मुंह होना चाहिए, मक्का की तरफ मुंह होना चाहिए, वह गलत दिशा में मुंह करके बैठ गया। और जब उस आदमी ने

आंखें खोलीं तो फकीर को दूसरी दिशा में मुंह किये नमाज पढ़ते देखा तो वह बहुत घबड़ाया कि बड़ी भूल हो गई। वह फकीर से पहले नमाज करने बैठ गया था तो देख नहीं पाया कि ठीक दिशा कहां है।

जब फकीर नमाज से उठा तो उसने कहा महानुभाव, आप तो मेरे बाद ध्यान करने बैठे, आपने तो देख लिया होगा कि मैं गलत दिशा में ध्यान कर रहा हूं। मुझे कहा क्यों नहीं? मुझसे यह गलती क्यों हो जाने दी? वह फकीर हंसने लगा। उसने कहा, हमने गलती देखना ही छोड़ दी। अब जो होता है ठीक होता है। हम अपनी गलती नहीं देखते तो तेरी गलती हम क्या देखें! गलती देखना छोड़ दी। जब से गलती देखना छोड़ी तबसे हम बड़े सुखी हैं।

जो न तो किस्मत से नाराज है
न भाग्य से रुष्ट है

जो जीवन में देखता ही नहीं कोई भूल। जो है वैसा ही होना चाहिए। जैसा हुआ वैसा ही होना चाहिए था। जैसा होगा वैसा ही होगा। ऐसा जिसने जान लिया, ऐसा परम स्वीकार जिसके भीतर पैदा हुआ--फिर सुख ही सुख है। फिर रस बहता। फिर तो मगन ही मगन। फिर तो मस्ती ही मस्ती है। फिर तो सब उपद्रव गये। फिर कांटे कहां बचे? फिर तो फूल ही फूल हैं, कमल ही कमल हैं।

जिसकी जरूरतें थोड़ी और ईमान बड़ा है

हमारी जरूरतें बड़ी और ईमान छोटा है। हम ईमान को बेचकर जरूरतें पूरी कर रहे हैं। ईमान को बेचते हैं, वस्तुएं खरीद लाते हैं। हम सोचते हैं, हम बड़े समझदार हैं।

क्षमा करो, मगर दो-चार बातें प्राचीनों को भी मालूम थीं। उन्हें मालूम था कि चाहे जरूरतें कितनी ही कट जायें, कोई चिंता नहीं; ईमान मत बेच देना। ईमान बेचना यानी आत्मा को बेचना है। ईमान बेचना यानी जीवन की मूल भित्ति को बेच देना है। तब तुम कूड़ा-करकट खरीद लोगे, एक दिन पाओगे हाथ तो भरे हैं, प्राण सूने हैं। जाते वक्त हाथ चाहे खाली हों, प्राण भरे हों बस, तो तुम जीवन से जीतकर लौटे, विजेता की तरह लौटे; अन्यथा खाली हाथ लौटे।

जिसकी जरूरतें थोड़ी और ईमान बड़ा है
संक्षेप में जो अपने आप से संतुष्ट है

ऐसे कुछ गहरे सूत्र उन्हें मालूम थे। इन सूत्रों को मुक्त करना है।

जीवन से चिपकना और मृत्यु से घृणा करना
पुराने मर्द ये बातें नहीं जानते थे
अस्ताचल पर न तो वे रोते थे
न उदयाचल पर खुशी मानते थे
जीवन के बारे में उन्हें न तो आसक्ति थी
न दुनिया के बारे में कोई भ्रम था
आने की उन्हें न तो कोई खुशी थी
न जाने का गम था।

आये--उसने भेजा तो आये। चले--उसने बुलाया तो चले। न आने की कोई खुशी थी न जाने का कोई गम था। न सूरज के उगने पर वे उत्सव मनाते थे न डूब जाने पर रोते थे। उनका कोई चुनाव ही न था।

जीवन से चिपकना और मृत्यु से घृणा करना
पुराने मर्द ये बातें नहीं जानते थे

न तो जीवन से चिपकते थे, न मृत्यु से घृणा करते थे। ये दोनों बातें तो एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। जो जीवन से चिपकेगा वह मृत्यु से घबड़ायेगा। जो घबड़ायेगा वह घृणा भी करेगा। और जो जीवन से चिपकेगा और मृत्यु से घबड़ायेगा वह जीवन से वंचित रह जायेगा, क्योंकि वे एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। जो मृत्यु से बचेगा वह जीवन से भी वंचित रह जायेगा।

पुराने मर्द कुछ बातें जानते थे। कुछ बातें उन्होंने बड़ी गहराई से जानी थीं। लाओत्सु, अष्टावक्र, च्वांगत्सु, जरथुस्त्र, बुद्ध, कृष्ण--पुराने मर्द कुछ बातें जानते थे। तुम जल्दी से ऐसे घमंड से मत भर जाना कि सब तुम्हें पता है।

जीवन के बारे में उन्हें न तो आसक्ति थी
न दुनिया के बारे में कोई भ्रम था

वे जानते थे कि क्षणभंगुर है। जो है वह मिटेगा। इसलिए न तो कोई आसक्ति थी, न कोई भ्रम पालते थे।

आने की उन्हें न तो कोई खुशी थी
न जाने का गम था
बीज पहले पौधा बनता है और फिर वृक्ष
और फिर टूटकर वह धरती पर सो जाता है
प्रकृति का नियम कितना सरल है
आदमी भी मरता नहीं, लौटकर अपने घर जाता है।
कौन कहता है कि वह अनस्तित्व में खो जाता है।

उन्हें कुछ मौलिक बातों का बोध था। जिन शास्त्रों पर मैं चर्चा कर रहा हूं इन शास्त्रों में इन मौलिक बातों की कुंजियां छिपी हैं। वे कुंजियां तुम्हें फिर मिल जायें इसलिए इन पर बात है।

परंपरा को नहीं सम्हाल रहा हूं, परंपरा को तो तोड़ रहा हूं। लेकिन कोई शास्त्र परंपरावादी होता ही नहीं। परंपरावादी हो तो शास्त्र नहीं, साधारण किताब है।

शास्त्र तो आग है। शास्त्र तो क्रांति है। शास्त्र तो जलाता है, भस्मीभूत कर देता है। जो जल सकता है, जल जाता है। जो नहीं जल सकता वही बचता है। जो बच जाता है आग से गुजरकर वही कुंदन, शुद्ध स्वर्ण हो जाता है।

इसलिए तुम मुझे किसी कोटि में मत रखो कि मैं क्रांतिकारी हूं कि परंपरावादी हूं। मैं कोई भी नहीं या दोनों साथ-साथ हूं। और तुमसे भी मैं यही चाहता हूं कि तुम चुन मत लेना। चुनाव कर लिया कि तुम चूक गये। आधा ही हाथ लगेगा। और आधा सत्य असत्य से भी बदतर है।

पूरे से कम क्यों लो? जब पूरा मिल सकता हो तो कम पर क्यों राजी होओ? पूरा सत्य यही है कि परंपरा और क्रांति दिन और रात जैसे हैं, जन्म और मृत्यु जैसे हैं, साथ-साथ हैं। दोनों को नाचने दो गलबाहें डालकर। किसी तरफ पलड़ा ज्यादा न झुके--न परंपरा की तरफ, न क्रांति की तरफ, तो तुम समतुल हो जाओगे। तो सम्यकत्व पैदा होता है।

दूसरा प्रश्न: अष्टावक्र अकृत्रिम व सहज समाधि के प्रस्तोता हैं। उनके दर्शन में बोध के अतिरिक्त किसी अनुष्ठान, साधन या प्रयत्न को स्थान नहीं है। तो क्या वहां प्रार्थना भी व्यर्थ है?

प्रार्थना जो की जा सके वह तो व्यर्थ है। अष्टावक्र के मार्ग पर करना व्यर्थ है, क्रिया व्यर्थ है, कर्तव्य व्यर्थ है, कर्ता का भाव व्यर्थ है। तो जो प्रार्थना की जा सके वह तो व्यर्थ है; हां, जो प्रार्थना हो जाये वह व्यर्थ नहीं है; जिस प्रार्थना को करते समय तुम्हारा कर्ता मौजूद न हो। आयोजन से हो जो प्रार्थना वह व्यर्थ है। अनायास जो हो जाये--कभी सूरज को उगते देखकर तुम्हारे हाथ जुड़ जायें; नहीं कि तुमने जोड़े। जोड़े तो जुड़े ही नहीं। जुड़ गये तो ही जुड़े।

अब यह भी क्या बात है कि तुम हिंदू हो इसलिए सूर्य-नमस्कार कर रहे हो। यह बात दो कौड़ी की हो गई। हिंदू होने की वजह से सूर्य-नमस्कार कर रहे हो? सूर्य के उठने होने की वजह से करो। यह सूरज उठ रहा है, मुसलमान के हाथ नहीं जुड़ते, क्योंकि वह मुसलमान है। हिंदू के जुड़ जाते हैं क्योंकि वह हिंदू है। दोनों बातें फिजूल हैं।

इधर सूरज उग रहा है, वहां तुम हिंदू-मुसलमान का हिसाब रख रहे हो? यह परम सौंदर्य तुम्हें दिखाई नहीं पड़ता। अंधे हो तुम? हिंदू होओगे तब नमस्कार करोगे? यह चमत्कार सामने खड़ा है, तुम हिंदू होओगे तब नमस्कार करोगे? यह अपूर्व सूरज फिर उग रहा है। ये फिर छाने लगे प्रकाश के जाल चारों तरफ। फिर खिले फूल, फिर पक्षी बोले, फिर जीवन प्रगट हुआ। सब खो गया था रात के अंधेरे में, सब फिर प्रगट हुआ। तुम्हारे हाथ नहीं जुड़ते, जोड़ना पड़ते हैं? जोड़ो तो व्यर्थ, जुड़ जायें तो सार्थक।

जरा तुम हृदय को संवेदनशील तो करो। जरा आंख खोलकर तो देखो। मेरे देखे तो न हिंदू के जुड़ते न मुसलमान के। क्योंकि हिंदू भी आंख बंद करे हाथ जोड़ लेता है, क्योंकि सूरज है। मैं देखता हूं, कोई बिजली जलाये, हिंदू ऐसा हाथ जोड़ लेता है, नमस्कार कर लेता है। बिजली जल रही है, हाथ जोड़कर नमस्कार कर लिया। यह यंत्रवत है।

एक सज्जन मेरे पास आते थे, उनको यह आदत थी। एक दिन वे आये, सांझ हम देर तक बैठे बात करते रहे। फिर मैंने पास बटन दबाकर, अंधेरा हो रहा था, बिजली जलाई तो उन्होंने हाथ जोड़े। मैंने फिर बुझा दी। वे बोले आपने यह क्या किया? मैंने कहा, तुमने सब खराब कर दिया। मैंने फिर जलाई, उन्होंने फिर हाथ जोड़े। मैंने कहा, जब तक तुम हाथ जोड़ना बंद न करोगे, मैं बुझाता रहूंगा। ऐसा कोई पचास बार मैंने किया। आखिर इक्यानवीं बार वे हार गये। कहने लगे हाथ जोड़े आपके। बात क्या है? आप क्यों यह जला-बुझा रहे हैं?

मैंने कहा, इसलिए कि ये हाथ तुम्हारे तुम जोड़ते हो, जुड?ते नहीं। तुम्हारे जीवन में मैंने प्रार्थना का कोई स्वर ही नहीं देखा है। ये मुर्दा हाथ हैं, यंत्रवत उठ रहे हैं। तुम मशीन हो, आदमी नहीं हो, क्योंकि तुम्हें मैंने कहीं और सौंदर्य को प्रगट होते देखकर हाथ जोड़ते नहीं देखा। बगीचे में सामने गुलाब खिल रहे हैं, मैंने तुम्हें हाथ जोड़ते नहीं देखा। तुम क्या खाक समझोगे! कोयल गीत गाती है, मैंने तुम्हें कभी हाथ जोड़ते नहीं देखा। एक सुंदर स्त्री राह से गुजर जाती है, मैंने तुम्हें कभी हाथ जोड़ते नहीं देखा। तुम कैसे रोशनी के प्रगट होने पर हाथ जोड़ोगे!

रोशनी हजार-हजार रूपों में प्रगट हो रही है। यह सारा जगत रोशनी का ही खेल है। ये जो हरे पत्ते हैं ये भी रोशनी के ही हिस्से हैं। इसमें किरण का जो हरा हिस्सा है वह समा गया। इसे तुमने नमस्कार किया? ये जो लाल गुलाब खिले हैं ये भी रोशनी के ही हिस्से हैं। इसमें किरण का लाल हिस्सा समा गया। यह सारा जगत रोशन है और तुम बस बिजली का बटन दबा तो तुम नमस्कार करते हो? और तुम्हारे चेहरे पर मैं कोई नमस्कार का भाव नहीं देखता। यंत्रवत हाथ उठ जाते हैं।

गुरजिएफ अपने शिष्यों को कहता था कि कोई भी एक क्रिया चुन लो जो यंत्रवत होती हो, और उसी वक्त एक चांटा खींचकर अपने को मारो। वह आदमी अदभुत था। जैसे तुम चर्च के पास से गुजरे और सिर झुका लिया। तो वह कहता, उसी वक्त चांटा मारो अपने को--चाहे बीच बाजार में मारना पड़े। कोई भी एक क्रिया चुन लो, जो तुम यंत्रवत करते हो; या कोई शब्द, तुम जो यंत्रवत बोलते हो, बार-बार बोलते हो और जो यांत्रिक हो गया है।

जैसे कुछ लोग हैं, वे हर किसी को कहे चले जाते हैं: मैं आपको प्रेम करता हूं। वे हर चीज को प्रेम करते हैं। आइसक्रीम से लेकर आत्मा तक हर चीज को प्रेम करते हैं। कि आइसक्रीम से मुझे बड़ा प्रेम है। तुम प्रेम शब्द को भी खराब किये दे रहे हो। आइसक्रीम तो खराब हो ही रही है, तुम प्रेम को भी खराब किये दे रहे हो। कुछ प्रेम का मूल्य है, कुछ शब्द का अर्थ होता। तुम क्या कह रहे हो?

तो गुरजिएफ कहता था, यह जो तुम प्रेम शब्द का उपयोग करते हो, यांत्रिक है। जब-जब दिन में तुम प्रेम शब्द का उपयोग करो, एक चांटा कसकर अपने को मारो। इससे तुम्हें होश आयेगा। और इसके बड़े परिणाम होते हैं। यह प्रक्रिया उपयोगी है। इसके बड़े परिणाम होंगे। क्योंकि जब भी तुम प्रेम कहोगे, एक चांटा मारोगे।

धीरे-धीरे प्रेम कहने के पहले ही तुम्हें खयाल में आ जायेगा कि अब निकला प्रेम, और पड़ा चांटा। और बदनामी हुई और भद्द हुई और लोग हंसे। धीरे-धीरे तुम्हारी यंत्रवत्ता गिरने लगेगी और होश जगेगा।

अष्टावक्र के मार्ग पर जो करना पड़ता है वह व्यर्थ है। जो हो जाता है! और जो हो जाता है उसको अष्टावक्र भी रोकेंगे कैसे? जो किया ही नहीं वह रुकेगा कैसे? जो किया है वही रुक सकता है। अष्टावक्र मीरा को नहीं रोक सकते प्रार्थना करने से, तुम्हें रोक सकते हैं। तुम कर रहे थे।

इधर मैं अष्टावक्र पर बोल रहा हूं तो मेरे पास प्रश्न आ जाते हैं कि अष्टावक्र तो कहते हैं ध्यान इत्यादि करने से कुछ सार नहीं, तो फिर हम जो ध्यान कर रहे हैं उसको बंद कर दें? तुम कर रहे हो इसलिए खयाल उठता है कि बंद कर दें, जब अष्टावक्र कहते हैं बंद कर दो। लेकिन जिसे ध्यान हो रहा है वह कैसे बंद करेगा? जो तुमने शुरू किया, बंद कर सकते हो। जो तुमने शुरू नहीं किया, जो शुरू हुआ, उसे तुम कैसे बंद करोगे? जरा श्वास को तो बंद करके देखो तो पता चल जायेगा कि नहीं होती बंद। तुमने शुरू भी नहीं की है, शुरू हुई है। बंद भी होगी कभी, अपने से होगी। तुम बीच में कर्ता नहीं बन सकते।

तो खयाल रखना, एक तो प्रार्थना है जो की जाती है। और एक प्रार्थना है, जो हो जाती है। जो हो जाये वही सच है। जो हो जाये वह परम सौभाग्य की है।

और कहीं भी हो सकती है। मंदिर, मस्जिद और गुरुद्वारे का सवाल नहीं है। कहीं भी हो सकती है, क्योंकि परमात्मा सब जगह है। जहां से भी उसकी झलक मिल जायेगी वहीं हृदय डांवांडोल हो जायेगा। वहीं मस्ती छा जायेगी। वहीं आंखों में नशा आ जायेगा। वहीं तुम डोलने लगोगे। वहीं तुम झुक जाओगे।

तुम जरा इस बात को खयाल में रखना। जरा सोचो, किसी गुलाब के फूल को देखकर अगर तुम झुक गये और वहीं घुटने टेके; हो गई नमाज। काबा की तरफ मुंह कर रहे हो, मुर्दा पत्थर की तरफ? इधर जीवित परमात्मा फूल से पुकार रहा है। कि तुम शब्दों के जाल को दोहरा रहे हो--गायत्री मंत्र, नमोकार। यहां फूल में नमोकार जीवित है, गायत्री प्रगट हो रही है, तुम मुर्दा शब्दों के साथ खेल कर रहे हो। झुक जाओ यहां। डूब जाओ इस फूल में। और तुम जानोगे प्रार्थना का स्वाद।

तुम्हारे कारण प्रार्थना भी खराब हो गई है। जिस प्रार्थना में तुम मौजूद हो, वह प्रार्थना नहीं। जिस प्रार्थना में तुम बिलकुल लीन हो गये वही प्रार्थना है।

फिर तुम्हारी प्रार्थनाएं तो भिखमंगे की प्रार्थनाएं हैं। तुम कुछ न कुछ मांग रहे हो। दीन हो। नहीं, प्रार्थना दीन भाव से नहीं उठती। प्रार्थना अर्पण है, समर्पण है। तुम अपने को अर्पित करते हो, मांगते नहीं।

जो प्रार्थना दीन भाव से उठती है, कुछ मांगने के लिए उठती है, जिस प्रार्थना में तुम प्रार्थी हो जाते हो, चूक गये। फिर अष्टावक्र की प्रार्थना नहीं है वह। होगी किसी और की लेकिन अष्टावक्र के शास्त्र में, अष्टावक्र के मार्ग पर उसके लिए कोई जगह नहीं है।

घोर तम छाया चारों ओर
घटायें घिर आईं घनघोर
वेग मारुत का है प्रतिकूल
हिले जाते हैं पर्वत-मूल
गरजता सागर बारंबार
कौन पहुंचा देगा उस पार?

तरंगें उठतीं पर्वताकार
भयंकर करतीं हाहाकार
अरे उनके फेनिल उच्छवास
तरी का करते हैं उपहास
हाथ से गई छूट पतवार

कौन पहुंचा देगा उस पार?

ग्रास करने नौका स्वच्छंद
घूमते फिरते जलचरवृंद
देखकर काला सिंधु अनंत
हो गया है साहस का अंत
तरंगें हैं उत्ताल अपार
कौन पहुंचा देगा उस पार?

यह सच है कि हम असहाय हैं। तो प्रार्थना के दो रूप हो सकते हैं। या तो हम अपनी असहाय अवस्था में मांगें उससे कि कुछ दे ताकि हम आलंबन पा जायें। या हम अपनी असहाय अवस्था में सिर्फ झुक जायें, कुछ मांगें न। असहाय अवस्था में झुक जायें।

घोर तम छाया चारों ओर
घटायें घिर आईं घनघोर
वेग मारुत का है प्रतिकूल
हिले जाते हैं पर्वत-मूल
गरजता सागर बारंबार
कौन पहुंचा देगा उस पार?

कुछ मांगा नहीं जा रहा है। कुछ कहा जा रहा है जरूर। अपनी असहाय अवस्था प्रगट की जा रही है। मांगा कुछ भी नहीं जा रहा। मांग कुछ भी नहीं है। अपना बेसहारापन प्रगट किया जा रहा है, कोई सहारा नहीं मांगा जा रहा है।

तरंगें उठतीं पर्वताकार
भयंकर करतीं हाहाकार
अरे उनके फेनिल उच्छवास
तरी का करते हैं उपहास
हाथ से गई छूट पतवार
कौन पहुंचा देगा उस पार?
सुनते हो?
कौन पहुंचा देगा उस पार?

न ही कोई मांग है, न ही किसी हाथ की तलाश है, न ही कोई भिखमंगे की प्रार्थना है, सिर्फ निवेदन है। सिर्फ अपनी स्थिति का निवेदन है।

ग्रास करने नौका स्वच्छंद
घूमते फिरते जलचरवृंद
देखकर काला सिंधु अनंत
हो गया है साहस का अंत
तरंगें हैं उत्ताल अपार
कौन पहुंचा देगा उस पार?

और जब ऐसी भावदशा में तुम झुकोगे तो तुम अचानक पाओगे, पहुंच गये उस पार। उस झुकने में ही मिल जाता किनारा। क्योंकि उस झुकने में ही खो जाता अहंकार। यह जो हाहाकार है, ये जो उत्ताल तरंगें हैं, यह जो सब तरह गहन अंधकार है, यह तुम्हारा अहंकार है और कुछ भी नहीं।

अब फर्क समझना। अहंकारी आदमी झुकता है परमात्मा के सामने ताकि अहंकार के लिए कुछ और सहारे मिल जायें कि हे प्रभु, कुछ दो। इधर अहंकार टूटा जा रहा है, स्तंभ हिले जाते हैं, जड़ें उखड़ी जाती हैं, कुछ दो। मुझे मजबूत करो। तो प्रार्थना चूक गई। प्रार्थना प्रार्थना न हुई।

नहीं, तुमने कहा सिर्फ, ये जड़ें उखड़ी जाती हैं। यह गहन अंधकार है। ये उत्ताल तरंगें हैं। यह सब उखड़ा जा रहा है।

कौन पहुंचा देगा उस पार?

तुमने बस निवेदन कर दिया और तुम चुप रहे। तुम्हारा निवेदन, और निवेदन के बाद गहरी चुप्पी और मौन।

कौन पहुंचा देगा उस पार?

एक प्रश्न मात्र है। तुमने कुछ मांगा नहीं है। तुमने कुछ चाहा नहीं है।

ऐसे निवेदन के लिए अष्टावक्र के मार्ग पर कोई इंकार नहीं है। लेकिन तुम्हारी जो प्रार्थनायें हैं उनके लिए तो इंकार है। तुम्हारी प्रार्थनायें तो अभीप्सा के ही हिस्से हैं। आकांक्षा का नया-नया रूप। तुम कुछ पाने चले हो--संसार, स्वर्ग, मोक्ष। तुम अपने को ही भरने में लगे हो। वास्तविक प्रार्थना वहीं उठती है जहां तुम खाली हो, शून्य हो।

कौन पहुंचा देगा उस पार?

तीसरा प्रश्न: सदगुरु की छाया में होने का अर्थ कृपा करके हमें समझाइये।

अर्थ नहीं समझाया जा सकता, अनुभव करना पड़े। कैसे समझाओगे? यात्री थका-मांदा है मार्ग पर। धूप, धूल-धंवास, लंबी यात्रा की थकान! कोई छाया नहीं मिली कभी। और पूछता है, किसी वृक्ष की छाया के तले विश्राम का क्या अर्थ है?

कैसे समझाओगे उसे? क्या करोगे उपाय? कौन-सी विधि काम आयेगी समझाने में? नहीं, अर्थ समझाया नहीं जा सकता। उसे कहना पड़ेगा कि वृक्ष हैं, छाया भी है, तू विश्राम कर। जानकर ही जानेगा तू। अनुभव कर ही जानेगा तू। और कोई उपाय नहीं है।

सदगुरु के पास होने का इतना ही अर्थ है कि तुमने अपने अहंकार पर भरोसा खो दिया। अब तुम कहते हो, इस अहंकार की मानकर बहुत चल लिये, कहीं पहुंचे नहीं। सिर्फ दुख पाया, पीड़ा पाई। इसने भटकाया, उलझाया, भरमाया, अब इसकी और न सुनेंगे। बजाय अपने अहंकार की सुनने के, अब तुमने किसी प्रज्ञा-पुरुष की वाणी पर भरोसा किया। यह जो वाणी है किसी प्रज्ञा-पुरुष की, किसी दूसरे की वाणी नहीं, तुम्हारे ही अंतरतम की वाणी है।

सदगुरु वही है जो तुम्हारे भीतर छिपे अंतरतम की वाणी बोलता है। जो तुम अपने भीतर नहीं खोज पाते वह बाहर से तुम्हें सुनाता है। जिस दिन तुम भीतर भी खोजने में समर्थ हो जाओगे, उस दिन पाओगे यह वृक्ष बाहर नहीं था, यह तुम्हारे भीतर ही फैल रहा था। यह छाया तुम्हारे भीतर से ही आ रही थी। गुरु ने तो सिर्फ इशारा किया, इंगित किया।

सदगुरु की छाया में होने का अर्थ है, एक परम प्रेम में पड़ जाना। एक ऐसे प्रेम में, जिसका कोई निर्वचन नहीं हो सकता, जिसकी कोई व्याख्या नहीं हो सकती।

दुनिया में तीन तरह के प्रेम हैं। एक तो प्रेम है, किसी के शरीर के साथ प्रेम में पड़ जाना। वह क्षुद्रतम है। वह जल्दी ही आता और चला जाता। वह शरीर की वासना है। उसको ही काम कहो, सेक्स कहो।

एक दूसरा प्रेम है, जो किसी के मन के साथ प्रेम में पड़ जाना। साधारणतः हम उसे ही प्रेम कहते हैं--दूसरे प्रेम को। वह पहले से श्रेष्ठतर है। थोड़ा गहरा है। ज्यादा देर टिकेगा। शरीर के थोड़ा पार है। थोड़ी इसमें सुगंध है काव्य की। थोड़े पंख हैं उसके पास, थोड़ा उड़ सकता है।

फिर एक तीसरा प्रेम है, किसी के साथ आत्मा में, आत्मा के साथ आत्मा का प्रेम हो जाना। फिर पूरा खुला आकाश है; विराट आकाश है। इसे हम प्रार्थना कहते हैं।

पहला काम, दूसरा प्रेम, तीसरी प्रार्थना।

सदगुरु के पास होने का अर्थ है, प्रार्थनापूर्ण होकर बैठना। किसी की आत्मा के साथ प्रेम में पड़ गये। किसी की आत्मा ने मन को डुबा लिया, मोह लिया। किसी के रंग में रंग गये।

यह तुम्हें जो मैंने गैरिक रंग दिया है यह तो केवल प्रतीक है। यह तो इस बात की खबर है कि तुम मेरे रंग में रंगने को राजी हुए। यह तो सिर्फ ऊपर की बात है। यह तो केवल शुरुआत है। यह तो ऐसा है जैसे छोटे बच्चों को हम समझाते हैं कि आ आम का। आम से आ का क्या लेना-देना? आ तो और हजार चीजों का भी है। लेकिन शुरुआत तो कहीं से करनी पड़ती है।

परसों ही कोई मुझसे पूछता था कि संन्यास अगर भीतर का ही लें तो ठीक नहीं? तो मैंने कहा, भीतर का ले सको तब तो जरूरत ही नहीं है लेने की। भीतर का नहीं ले सकते इसीलिए तो बाहर से शुरू करना पड़ता है। भीतर का ही लेने की क्षमता हो तब तो लेने की भी जरूरत खतम हो गई। अभी लेने की जरूरत है तो उसका अर्थ ही इतना हुआ कि अभी भीतर का कुछ पता नहीं।

और तुम बाहर खड़े हो। भीतर जाओगे भी तो भी बाहर से ही भीतर जाओगे। अब जो आदमी अपने घर के बाहर खड़ा है सड़क पर, उससे हम कहें कि चलो, सीढ़ियां चढ़ो। वह कहे कि हम सीधे भीतर ही पहुंच जायें तो हर्ज है? हम कहेंगे, अगर तुम भीतर ही खड़े हो तब तो पहुंचने की कोई जरूरत ही नहीं है। लेकिन अगर बाहर सड़क पर खड़े हो तो फिर बाहर से यात्रा करनी पड़ेगी।

अब जो पूछता था, भयभीत है कपड़ों से। बाहर-भीतर के तो बड़े ऊंचे शब्द उपयोग कर रहा है। डरा हुआ है बाहर से। फिर जल्दी ही बात निकल आई कि--परिवार, प्रियजन, गांव, बस्ती, वहां इन वस्त्रों में जाऊंगा, लोग हंसेंगे। तो मैंने कहा, वे तो बाहर हंस रहे हैं, तुम्हारा क्या बिगाड़ते हैं? तुम तो भीतर की बातें कर रहे हो। वह प्रियजन, गांव, बस्ती, वह सब तो बाहर है, तुम्हारे भीतर तो नहीं। कहा, आप ठीक कहते हैं मगर मुश्किल पड़ेगी। मुश्किल तो बाहर से आ रही है। और तुम तो भीतर खड़े हो।

लेकिन आदमी बड़ा बेईमान है। बड़े ऊंचे तर्क खोजता है बड़ी छोटी बातें छिपाने को। तो मैंने कहा, सीधा-सीधा क्यों नहीं कहते कि बाहर कर डर है? उसने कहा, अब आप नहीं मानते तो मान लेता हूं कि बाहर का डर है। तो उस बाहर के डर को तो बाहर से ही मिटाना पड़ेगा। यह भीतर से नहीं मिट सकता।

ये गैरिक वस्त्र तो सिर्फ इस बात की खबर हैं कि तुम राजी रंगने को। सदगुरु के पास होने का अर्थ है कि तुम उसके रंग में रंगने को राजी। सदगुरु तो रंगरेज है। वह तो तुम्हारी ओढ़नी को रंग देता है। पर तुम्हारा सहयोग जरूरी है। वृक्ष घनी छाया से भरा है। लेकिन तुम उसके नीचे विश्राम न करो तो वृक्ष कुछ भी न कर पायेगा। वृक्ष तुम्हारे पीछे दौड़ नहीं सकता। तुम्हें वृक्ष के साथ सहयोग करना होगा।

सदगुरु जीवन में क्रांति ला सकता है। आमूल रूपांतरण हो सकता है। लेकिन तुम्हारे सहयोग के बिना न होगा। और तुम्हारा सहयोग तभी संभव है जब सदगुरु की मौजूदगी तुम्हें अपने जीवन से भी ज्यादा मूल्यवान मालूम होने लगे। तभी तुम रंगने को राजी होओगे, नहीं तो नहीं।

मौत अच्छी है जो दम निकले तुम्हारे सामने
आंख से ओझल हो तुम तो जिंदगी अच्छी नहीं

--ऐसा जब लगने लगे।

मेरे दिल की नैरंगी पूछते हो क्या मुझसे
तुम नहीं तो वीराना तुम रहो तो बस्ती है

--जब ऐसा लगने लगे।

कहां हम कहां वस्ले-जाना की हसरत
बहुत है उन्हें एक नजर देख लेना

--जब ऐसा लगने लगे। एक नजर भी जब परम तृप्ति देने लगे तो फिर सदगुरु की छाया में होने का अर्थ समझ में आयेगा।

ये कोई हिसाब-किताब की बातें नहीं हैं, ये तो पागलों की बातें हैं। बेहिसाब-किताब हैं। दीवानों की बातें हैं।

गो न समझूं उसकी बातें, गो न पाऊं उसका भेद

पर यह क्या कम है कि मुझसे वह परीपैकर खुला

सदगुरु की बातें तुम्हें समझ में थोड़े ही आयेंगी! एकदम से तो कैसे समझ में आयेंगी?

गो न समझूं उसकी बातें, गो न पाऊं उसका भेद

न उसकी बात समझ में आये, न उसके भेद का कुछ पता चले, न राज का पता चले। बिलकुल ठीक ही है। लेकिन फिर भी प्रेम का दीवाना खिंचा चला जाता है।

पर यह क्या कम है कि मुझसे वह परीपैकर खुला

वह दिव्यदेही मुझसे बोला यही क्या कम है? नहीं समझे उसकी बात, नहीं समझे उसका भेद। छोड़ो। समझ लेंगे कभी। जल्दी भी क्या है? लेकिन उसने कहा, उसने कहने योग्य समझा, उसने इतना पात्र समझा कि अपने को उंड़ेला यही क्या कम है?

ऐसा जब तुम्हारे भीतर भाव बने तो सदगुरु की छाया में होने का अर्थ पता चलेगा--अनुभव से; और कोई उपाय नहीं है।

चौथा प्रश्न:

तू ही राजदां है मेरा, तुझको मेरी शरम है

तू ही वायसे-मसर्रत, तू ही दर्द, तू ही गम है

जिसे चाहे तू बना दे, जिसे चाहे तू मिटा दे

वह भी तेरा करम है, यह भी तेरा करम है

एक बात तुझसे पूछूं, सच-सच अगर बता दे

तुझे याद करके रोना, क्या यह बंदगी से कम है?

कम-ज्यादा की तो बात ही नहीं, रोना ही बंदगी है। और जिस बंदगी में रोना नहीं है, सूखी-सूखी है; बंदगी पूरी नहीं है। जिस बंदगी में रोना नहीं है, मरुस्थल है। आंसुओं से ही तो मरूद्यान शुरू होता है, हरियाली आती है। जो बंदगी आंसुओं से रिक्त है, तुम झुके तो लेकिन झुके नहीं। अगर आंखें आंसुओं से न भरीं तो क्या खाक झुके! तो शरीर झुक गया, हृदय न झुका। तो देह झुक गई, भावना न झुकी। जब तुम झुकोगे देह से तो वह तो कवायद है केवल। लेकिन जब तुम हृदय से झुकोगे तो आंखों से आंसुओं की धार बहेगी।

आंसुओं की धार दुख में ही थोड़े ही बहती है, परम सुख में भी बहती है, आनंद में भी बहती है। जब भी कोई चीज इतनी ज्यादा हो जाती है जिसे तुम सम्हाल नहीं पाते, तभी आंसुओं का सहारा लेकर बहती है।

अब तुम परमात्मा के सामने झुके या सदगुरु के सामने झुके या जगत के सौंदर्य के सामने झुके, यह झुकने की घटना इतनी...इतनी गहरी है कि अगर इससे आंखों में आंसू न आयें और तुम भीतर गदगद न हुए तो झुकना रूखा-रूखा रह गया। यह तो ऐसा ही है जैसे प्यास लगी और किसी ने खाली गिलास पी लिया। खाली गिलास से कहीं प्यास बुझेगी? गिलास भरा होना चाहिए।

आंसू तो खबर लायेंगे कि तुम्हारा झुकना प्रामाणिक है। तुम औपचारिक रूप से नहीं झुके, तुम सच में ही झुके।

तो मैं तो रोने को ही बंदगी कहता हूं। तुम्हें अगर सूरज को उगते देखकर, आकाश में चांद को तिरते देखकर, सफेद बदलियों को आकाश में भटकते देखकर आंसू आ जायें तो बंदगी हो गई। किसी बच्चे को हंसते देखकर तुम्हारी आंखों में आंसू भर आयें तो बंदगी हो गई। इन पक्षियों के कलरव से तुम्हारी आंखें अगर गीली हो आयें तो बंदगी हो गई। भाव है बंदगी।

और ऐसी बंदगी फिर जाती नहीं। ऐसा नहीं है कि हो गई और समाप्त हो गई। ऐसी बंदगी फिर जाती नहीं। सूखी बंदगी कर भी ली और खतम भी हो जाती है। होती भी नहीं और खतम भी हो जाती है। गीली बंदगी, भावपूर्ण बंदगी हुई तो हुई। डूबे तो डूबे। फिर चलती ही रहती है, सरकती ही रहती है तुम्हारे रोएं-रोएं में, श्वास-श्वास में।

याद एक जख्म बन गई है वरना
भूल जाने का कुछ खयाल तो था

लेकिन फिर प्रभु का स्मरण भी ऐसा हो जाता है जैसे जख्म हो गया। एक दर्द, मीठा दर्द, जो भीतर सदा बना रहता है, जाता नहीं।

याद एक जख्म बन गई है वरना
भूल जाने का कुछ खयाल तो था

अब तो भूलने के उपाय से भी भूलना नहीं होता। खयाल भी हो कि भूल जायें तो भी भूलना नहीं हो सकता है। बहुत बार जिसकी जिंदगी में बंदगी आई है वह सोचता है, कहां झंझट में पड़े! छूट जायें इससे। घबड़ाहट लगती है कि यह किस तरह चल पड़े! यह कौन-सी रौ में बहने लगे! यह कौन सी धारा ने पकड़ लिया। सब अस्तव्यस्त होने लगी जिंदगी पुरानी। पुराना ढांचा पिघलने लगा, बिखरने लगा। जो अब तक बनाया था, अर्थहीन मालूम होने लगा। यह किस मार्ग पर चले? किस अनजान राह पर चले? बहुत बार मन होता है कि लौट जायें वापिस। वह जो अनजाना है उससे डर लगता है। जो जाना-माना है उसी में थिर हो जायें। फिर लौट जायें। लेकिन यह हो नहीं सकता।

याद एक जख्म बन गई है वरना
भूल जाने का कुछ खयाल तो था

फिर भूल नहीं सकते। अभी तुम कहते हो, परमात्मा को कैसे याद करें? और एक ऐसी भी घड़ी आती है कि फिर तुम पूछोगे कि अब परमात्मा को कैसे भूलें? जब वह घड़ी आ गई तो समझो कि बंदगी हो गई; तो समझो कि प्रार्थना हुई; तो बात उतर गई तीर की तरह हृदय में।

तब तुम कहोगे--
कुछ वक्त कट गया जो तेरी याद के बगैर
हम पर तमाम उम्र वो लमहे गिरां रहे

फिर तुम कहोगे, कि वह जो तेरी याद के बिना जो थोड़ा-सा वक्त कट गया जिंदगी का, वह बोझ की तरह ढोना पड़ रहा है। वही दुख हो जायेगा जो तेरे बिना वक्त कट गया। जो तुझे याद किये बिना दिन गुजर गये वही बोझ की तरह छाती पर पत्थर की तरह बैठे हैं! क्यों ऐसा न हुआ कि तब भी तुझे याद किया? क्यों ऐसा न हुआ कि तब भी तुझे पुकारा? क्यों कटे वे दिन तेरी बिना याद के?

कुछ वक्त कट गया जो तेरी याद के बगैर
हम पर तमाम उम्र वो लमहे गिरां रहे

भक्त को तो हर घड़ी उसकी याद आने लगती है। हर तरफ से उसकी याद आने लगती है; फूलों-पक्षियों के गीत से ही नहीं, इंद्रधनुषों के रंग, किरणों के जाल से ही नहीं, हर तरफ से।

बैठे-बैठे मुझे आया गुनाहों का खयाल
आज शायद तेरी रहमत ने किया याद मुझे

सुनते हो? भक्त यह कह रहा है, आज बैठे-बैठे मैंने जो अब तक गुनाह किये, पाप किये उनकी याद आ गई। जरूर तेरी करुणा ने मुझे याद किया। ऐसा लगता है तेरा दिल मुझे क्षमा कर देने का हो रहा है, तभी तो

तूने गुनाहों की याद दिलाई। तू रहीम है, रहमान है। तू करुणावान है। जरूर तू मुझे क्षमा करना चाहता है अन्यथा इन गुनाहों की याद किसलिए दिलाता!

तो गुनाहों तक से भक्त को परमात्मा की ही याद आती है।

बैठे-बैठे मुझे आया गुनाहों का खयाल
आज शायद तेरी रहमत ने किया याद मुझे

फिर तो हर चीज उसी तरफ इशारा करने लगती है। फिर हर रास्ता उसी तरफ जाने लगता है। फिर हर मील का पत्थर उसी तरफ तीर को बनाये हुए दिखाने लगता है। सब तरफ से--सुख हो कि दुख, अच्छा हो कि बुरा, शुभ हो कि अशुभ, सफलता हो कि असफलता, सब तरफ से आदमी परमात्मा की याद की तरफ जाने लगता है। सफलता हो तो वह धन्यवाद देता है। दुख हो तो धन्यवाद देता है।

सूफी फकीर बायजीद ने कहा है कि प्रभु, कुछ न कुछ दुख बनाये रखना। क्योंकि जब दुख होता है तो मुझे तेरी याद ज्यादा आती है। सुख में कहीं भूल न जाऊं। तू थोड़ा दुख बनाये रखना। तू थोड़े कांटे चुभाये रखना। कहीं फूलों में भटक न जाऊं। कांटा चुभता है तो तेरी तत्क्षण याद आती है। दुख में याद आती है न! तो बायजीद कहता है, दुख बनाये रखना। ज्यादा सुख मत दे देना। कहीं ऐसा न हो कि सुख में मैं खो जाऊं। मुझे मेरा भरोसा नहीं है, तेरा ही भरोसा है।

पांचवां प्रश्न: आप बोलते क्यों हैं?

यह भी खूब रही! बोलने भी न दोगे? अगर मैं चुप रहूं तो तुम पूछोगे, आप चुप क्यों हैं? और अगर मैं न बोलूं तो तुम यह प्रश्न किससे पूछते?

बोलता हूं क्योंकि तुम्हारे पास प्रश्न हैं और मेरे पास उत्तर है। बोलता हूं इसलिए कि न बोलूं तो अपराध होगा। जो मिला है उसे बांटना जरूरी है। जो मिला है उसके मिलने में ही यह शर्त है कि बांटना जरूरी है। मिल जाये और न बांटो तो कंजूसी होगी। और सब कंजूसियां माफ हो सकती हैं लेकिन परम सत्य मिल जाये और न बांटो तो यह अक्षम्य अपराध है। यह कभी भी क्षमा नहीं किया जा सकता।

हर सुमन का सुरभि से यह अनलिखा अनुबंध
अनिल को सौंपे बिना यदि मैं झरूं, सौगंध!

हर सुमन का, हर फूल का सुरभि से यह अनलिखा अनुबंध। यह बिना लिखा कांट्रेक्ट है, अनुबंध है।

हर सुमन का सुरभि से यह अनलिखा अनुबंध
अनिल को सौंपे बिना...
हवाओं को सुगंध को सौंपे बिना।
यदि मैं झरूं, सौगंध!

तो कसम है, झरना मत जब तक कि सुगंध हवाओं को सौंप न दी जाये। यह अनलिखा अनुबंध है। कहीं लिखा नहीं है। किसी कानून की किताब में नहीं है।

लेकिन ऐसा कभी हुआ भी नहीं है। कभी किसी ने चाहा भी करना तो नहीं कर पाया। बुद्ध ने चाहा था। सात दिन तक चुप बैठे रहे थे ज्ञान हो जाने के बाद। सोचा, क्या कहूं? कौन समझेगा? फिर जो समझ सकते हैं वे मेरे बिना भी समझ लेंगे--सौ में कोई एकाध। निन्यानबे तो ऐसे हैं कि मैं कहूंगा, कहूंगा, कहता रहूंगा और वे न समझेंगे। क्या सार? वे सात दिन चुप बैठे रहे।

कथा मीठी है। ब्रह्मा सारे देवताओं को लेकर बुद्ध के चरणों में आये और कहा, आप बोलें। ऐसा कभी नहीं हुआ कि कोई बुद्ध हुआ हो और न बोला हो। अनलिखा अनुबंध! सौगंध है आपको, कसम है आपको। बोलें, क्योंकि बहुत लोग हैं जो प्रतीक्षातुर हैं। बुद्ध ने फिर वही तर्क दोहराया। कहा, मैंने भी सोचा था। लेकिन मैं

सोचता हूं जो नहीं समझेंगे, नहीं समझेंगे। और जो समझने योग्य हैं वे मेरे बिना भी खोज लेंगे। दिन-दो दिन की देर होगी। और क्या फर्क पड़ेगा? आ ही जायेंगे।

बात तो जंची थी ब्रह्मा को भी। वह भी सोच-विचार में पड़ गया कि बात तो ठीक है। सौ में कोई एक समझेगा। और जो समझने योग्य है वह बुद्ध के बिना भी खोज ही लेगा, थोड़ा टटोलेगा, थोड़ी देर-अबेर होगी, मगर पहुंच जायेगा। इसमें कुछ हर्जा नहीं होता। और जो निन्यानबे हैं वे सुनकर भी समझने वाले नहीं हैं। अब क्या करें?

तो देवताओं ने विचार-विमर्श किया होगा। और वे फिर एक तर्क लेकर बुद्ध के पास आये। उन्होंने कहा, आप ठीक कहते हैं। कुछ ऐसे हैं जो सुनकर भी न समझेंगे। और कुछ ऐसे हैं जो आपको बिना सुने भी समझ लेंगे। मगर इन दोनों के बीच में भी कोई एकाध है; बीच में भी कड़ी है एक, जो आप बोलेंगे तो समझेगा। आप न बोलेंगे तो न समझेगा। किनारे पर खड़ा है। कोई धक्का दे देगा तो गिर पड़ेगा सागर में। किसी ने धक्का न दिया तो खड़ा रह जायेगा।

कुछ तो बहुत दूर हैं सागर से। आप कितना ही धक्का दो, वे न गिरेंगे। गिरेंगे भी तो जमीन पर गिरेंगे। उठकर खड़े हो जायेंगे और गाली देंगे कि क्यों धक्का दिया? हम भले-चंगे जा रहे थे और तुम्हें धक्का देने की सूझी! और कुछ हैं जो छलांग लगाने को तैयार ही हैं। उनको धक्के की जरूरत भी नहीं है। वे छलांग लगा ही रहे हैं। उन्होंने तैयारी कर ही ली है। बस, वे एक-दोत्तीन की प्रतीक्षा कर रहे हैं कि कूद जायेंगे। वे आपके बिना भी कूद जायेंगे। लेकिन कुछ हैं जो किनारे पर खड़े हैं। पहुंच गये हैं सागर के किनारे और छलांग का साहस नहीं जुटा पा रहे हैं। जरा-सा आपका इशारा, जरा-सा आपके द्वारा दिया गया साहस--वे कूद जायेंगे।

बुद्ध को यह तर्क स्वीकार कर लेना पड़ा।

और मेरे खयाल में यह कथा बड़ी बहुमूल्य है, क्योंकि यह सभी बुद्धपुरुषों के सामने ऐसी घटना घटती है। जब मिलता है सत्य तो एक मन होता है, चुप रह जाओ। कबीर ने कहा है, "हीरा पायो गांठ गठियायो, अब वाको बार-बार क्यों खोले।" मिल गया हीरा, जल्दी से गांठ गठियाया, अपने रास्ता चले। बार-बार खोलने का और बताना और दिखाने का क्या प्रयोजन? वह सभी के मन में उठता होगा। हीरा पायो और गांठ गठियायो। अब कौन फिजूल पंचायत में पड़े!

और यहां ऐसे लोग हैं कि हीरा भी दिखाओ तो वे कहते हैं, कहां है हीरा? दिखाई नहीं पड़ता। हीरा भी दिखाओ तो वे कहते हैं, पता नहीं हीरा होगा कि नहीं होगा। उन्होंने कभी हीरे तो देखे नहीं। वे कहते हैं, होगा कंकड़, रंगीन पत्थर होगा। और कौन जाने यह आदमी धोखा दे रहा है कि लूटने आया है कि क्या मामला है। कि कहेंगे चलो भी, बहुत हीरे देख लिये, हीरे होते नहीं हैं सिर्फ सपने हैं! ईश्वर, आत्मा, निर्वाण, मोक्ष होते थो°? ही, बातचीत है। किसी और को उलझाना। हम बहुत समझदार हैं, हमें न उलझा सकोगे।

तो क्या फायदा! कबीर कहते हैं, हीरा पायो गांठ गठियायो। अपने रास्ते पर चले, बात खतम हो गई। अपनी बात खतम हुई। लेकिन कबीर भी चुप न रह पाये। गांठ को खोल-खोलकर दिखाना पड़ा। कभी-कभी ग्राहक आ जाते हैं। कभी-कभी ऐसे लोग आ जाते हैं जिन्हें हीरा दिखाना ही पड़ेगा। न दिखाओगे तो तुम भीतर ही भीतर खुद अपराध-भाव से गड़े जाओगे। इसलिए बोलता हूं।

जाओ, ओ मेरे शब्दों के मुक्तिसैनिको, जाओ
जिन-जिन के मन का देश तक है गुलाम
जो एकछत्र सम्राट स्वार्थ के शासन में
पिस रहे अभी हैं सुबह शाम
घेरे हैं जिनको रूढ़िग्रस्त चिंतन की ऊंची दीवारें
जो बीते युग के संसारों की सरमायेदारी का शोषण
सहते हैं बेरोकथाम
उन सब तक नई रोशनी का पैगाम आज पहुंचाओ

जाकर उनको इस क्रूर दमन की कारा से छुड़वाओ

जाओ, ओ मेरे शब्दों के मुक्तिसैनिको, जाओ

बोलता हूं कि तुम मुक्त हो सको। बोलता हूं कि तुम बंधे हो न मालूम कितने प्रश्नों की जंजीरों से। बोलता हूं कि वे जंजीरें टूट सकें। किसी उत्तर की तुम्हें झलक भी दिखाई पड़ जाये। तुम्हारी आंख जरा आकाश की तरफ उठ जाये। तुम जमीन पर गड़ाये चल रहे हो जन्मों-जन्मों से। तुम भूल ही गये हो कि आकाश भी है।

बोलता हूं कि तुम्हें याद आ जाये कि तुम्हारे पास पंख हैं जिनका तुमने उपयोग ही नहीं किया। तुम उड़ सकते थे और नहीं उड़े। तुम उड़ने को ही बने थे और तुम नहीं उड़े। उड़कर ही तुम्हारी नियति पूरी हो सकती थी। और तुम जमीन पर घसिट रहे हो। तुम घसिटने के लिए बने नहीं हो, आकाश ही तुम्हारा गंतव्य है, लक्ष्य है, इसलिए बोलता हूं।

अक्षर से क्षर तक की यात्रा यंत्र

क्षर से अक्षर तक की यात्रा मंत्र

अक्षर से अक्षर तक की यात्रा तंत्र

जो बोल रहा हूं उसमें कुछ यंत्र है, जो बोल रहा हूं उसमें कुछ मंत्र है, और जो बोल रहा हूं उसमें कुछ तंत्र है। उसमें तीनों हैं। फिर से सुनो:

अक्षर से क्षर तक की यात्रा यंत्र

वह जो अक्षर है, जो दिखाई भी नहीं पड़ता, जिसकी कोई सीमा नहीं है, जो शाश्वत-सनातन है, उसको जब हम सीमा में उतारते हैं, शब्द में बांधते हैं, तो यंत्र पैदा होता है। विज्ञान वही है।

मैं तुमसे जो बोल रहा हूं उसमें कुछ विज्ञान है; उसमें कुछ विधियां हैं। उन विधियों को तुम पकड़ लो--अक्षर से क्षर तक की यात्रा यंत्र। अगर तुम उन विधियों को पकड़ लो, उन सीढ़ियों को पकड़ लो तो फिर तुम क्षर के सहारे चढ़कर पुनः अक्षर तक पहुंच सकते हो। उसमें कुछ विधियां हैं।

क्षर से अक्षर तक की यात्रा मंत्र

और जब क्षर में अक्षर तक जाना होता है तो जिनसे सहारा मिलता है उन्हीं का नाम मंत्र है। जो मैं बोल रहा हूं उसमें कुछ मंत्र हैं। इन मंत्रों को अगर तुम समझ लो तो तुम वापिस वहां पहुंच जाओगे जहां से आये हो। मूल स्रोत तक पहुंच जाओगे। और मैं जो बोल रहा हूं उसमें कुछ तंत्र है।

अक्षर से अक्षर तक की यात्रा तंत्र

यह सबसे ज्यादा कठिन बात है तंत्र। यंत्र भी समझ में आता--ऊपर से नीचे उतरना यंत्र। नीचे से ऊपर जाना मंत्र। ऊपर से ऊपर जाना तंत्र। पृथ्वी से आकाश की तरफ जाना मंत्र, आकाश से पृथ्वी की तरफ आना तंत्र। आकाश से और बड़े आकाशों की तरफ जाना, पूर्णता से और बड़ी पूर्णताओं की तरफ जाना, शून्य से और महाशून्यों की तरफ जाना तंत्र। तीनों हैं।

किन्हीं के काम के लिए यंत्र है अभी, विधि जरूरी है। उनके लिए विधि दे रहा हूं। किन्हीं के लिए मंत्र जरूरी है। उनके लिए विधि आवश्यक नहीं, प्रार्थना काफी है; भाव काफी है। फिर कुछ ऐसे भी हैं जिन्हें न प्रार्थना की जरूरत है, न ध्यान की विधियों की जरूरत है। उनके लिए अष्टावक्र के सूत्र दे रहा हूं; यह तंत्र है। अक्षर से अक्षर तक की यात्रा तंत्र। श्रवणमात्रेण। न कोई विधि, न कोई मंत्र। मात्र सुन लिया, हो गया।

तीनों तरह के लोग यहां हैं। कुछ तांत्रिक, कुछ यांत्रिक, कुछ मांत्रिक। तीनों तरह के लोग यहां हैं। तीनों के लिए बोल रहा हूं। जब भक्ति पर बोलता हूं तो मंत्र पर बोलता हूं। जब पतंजलि और योग पर बोला तो यंत्र पर बोला। अष्टावक्र पर बोल रहा हूं या लाओत्सु पर बोला तो तंत्र पर बोला।

बोलना जरूरी है क्योंकि तुमने अभी सुना नहीं। तुम सुन लो तो मेरा काम पूरा हो जाये।

लेकिन जिसने पूछा है वह शायद मेरे बोलने से परेशान होता होगा। उसे कुछ अड़चन होगी। दूसरे भी हैं जिन्हें बोलने में रस आ रहा है, जो सुनने में रसमग्न हैं, वे कहते हैं और बोलूं। जिसने पूछा है उसे कुछ बेचैनी होगी। शायद मेरे शब्द उसकी सुरक्षाओं को तोड़ते होंगे। शायद मेरे शब्द उसके सिद्धांतों को डांवांडोल करते होंगे। शायद मेरे शब्दों के कारण उसकी रात की नींद खराब होती होगी। शायद मेरे शब्दों के कारण उसकी जो मान्यतायें हैं वे उखड़ रही होंगी। उसे कुछ अड़चन है।

तुम अपनी अड़चन समझो। बजाय यह पूछने के कि मैं क्यों बोलता हूं, तुम यह समझो कि मेरे बोलने से तुम बेचैन क्यों हो? क्योंकि वही तुम्हारा...तुम्हारी सीमा है। वही तुम्हारी समस्या है। मेरे बोलने का क्या संबंध है? तुम्हें नहीं सुनना है, मत सुनो। मैं तुम्हारे घर आकर नहीं बोलता हूं। तुम यहां आकर मुझे सुनते हो। तुम मत आओ। तुम्हें सुनने में कुछ अड़चन होती है, कुछ पीड़ा होती है, कोई कांटा चुभता है, मत आओ। लेकिन यही मुसीबत है। आना भी पड़ता है। सुनना भी पड़ता है। सुनने से मुसीबत भी खड़ी होती है। क्योंकि सुनने से क्रांति निर्मित होती है। पुराने को छोड़ना पड़ेगा। सुन लिया तो तुम मुश्किल में पड़े। अब तुम बिना सुने भी नहीं रह सकते हो और आगे सुनने में भी डरते हो। तो तुम मुझसे ही प्रार्थना कर रहे हो कि आप ही कृपा करके बोलना बंद कर दें।

नहीं, मैं तुम्हारी न सुनूंगा। जब तुम मेरी नहीं सुन रहे तो मैं तुम्हारी सुनूं? तुम मेरी सुन लो तो मैं भी तुम्हारी सुन लूं। तुम अगर सुन लो जो मैं कह रहा हूं तो मुझे बोलने की जरूरत न रह जाये। फिर बिना बोले भी काम हो जाये। फिर शून्य से भी बात हो जाये। फिर अक्षर से अक्षर, शून्य से शून्य, मौन से मौन का भी मिलन हो जाये। सुन लो तुम तो। वे भी हैं जो सुनते रहना चाहते हैं। वे भी हैं जो मैं चला जाऊंगा तो पछतायेंगे। वे भी हैं जो मैं चुप हो जाऊंगा तो रोयेंगे।

वे तुम्हारे बोल, वे अनमोल मोती
वे रजत क्षण, वे तुम्हारे आंसुओं के बिंदु
वे लोने सरोवर, बिंदुओं में प्रेम के भगवान का
संगीत भर-भर बोलते थे तुम, अमर रस घोलते थे
तुम हठीले पर हृदय-पट तार
हो पाये कभी मेरे न गीले
न, अजी मैंने सुने तक भी नहीं प्यारे
तुम्हारे बोल
बोल से बढ़कर बजा मेरे हृदय में
सुख-क्षणों का ढोल
वे तुम्हारे बोल

वे भी हैं; उनके लिए ही बोल रहा हूं। जिनको सुनने में अड़चन है वे न सुनें। सुविधा है उनके लिए, न सुनें। अगर नहीं सुनने से कठिनाई है, सुनना ही पड़ेगा, तो फिर हृदय खोलकर सुन लें। फिर कंजूसी से न सुनें। मैं तो बोल रहा हूं उनके लिए, जिनके हृदय में कुछ अमृत घुलता है।

वे तुम्हारे बोल, वे अनमोल मोती
वे रजत क्षण,
बिंदुओं में प्रेम के भगवान का संगीत भर-भर
बोलते थे तुम, अमर रस घोलते थे
पर हृदय-पट तार
हो पाये कभी मेरे न गीले

उनके लिए बोलता हूं जिनके हृदय-पट के तार अभी भी गीले नहीं हो पाये, लेकिन जो गीले करने को तत्पर हैं। जो रंगे जाने को तत्पर हैं। जिनकी तैयारी है। अड़चनें हैं अनंत कालों की, जन्मों-जन्मों की, बाधायें हैं संस्कारों की। लेकिन जो तैयार हैं, आज नहीं कल जो रंगे जायेंगे। बोलता हूं उनके लिए।

और उनके हृदय की स्थिति ऐसी है कि जो वे सुन रहे हैं, उसे चाहे न भी सुन पाते हों तो भी उनके हृदय में सुख का एक ढोल बजता है।

न, अजी मैंने सुने तक भी नहीं प्यारे तुम्हारे बोल
बोल से बढ़कर बजा मेरे हृदय में

सुख-क्षणों का ढोल
वे तुम्हारे बोल

और वह ढोल बजने लगे तो चाहे तुमने सुना नहीं सुना, कोई अंतर नहीं पड़ता। क्योंकि उसी परम सुख की तरफ यात्रा है। ढोल बजने लगा सुख का तो बात हो गई। ये शब्द शब्द नहीं हैं, यह तुम्हारे भीतर पड़ी हुई बांसुरी को बजाने का उपाय है। ये शब्द शब्द नहीं हैं, यह तुम्हारे भीतर पड़ी वीणा को छेड़ने का उपाय है। तुम एक संगीत लेकर आये हो, उसको बिना बजाये मत चले जाना। तुम एक गीत लेकर आये हो, उसे बिना गाये मत चले जाना।

हर सुमन का सुरभि से यह अनलिखा अनुबंध
अनिल को सौंपे बिना यदि मैं झरूं, सौगंध!

तुम्हें भी सौगंध है, बिना अपनी सुगंध को हवाओं को सौंपे बिना चले मत जाना।

सुनना हो, सुनो। न सुनना हो, न सुनो। लेकिन सदा याद रखो, समस्या तुम्हारी है। यह समस्या मेरी नहीं है कि मैं क्यों बोलता हूं। मैं बोलता हूं क्योंकि पक्षी क्यों बोलते हैं! मैं बोलता हूं क्योंकि फूल क्यों बोलते हैं! मैं बोलता हूं क्योंकि सूरज की किरणें क्यों बोलती हैं! मैं बोलता हूं क्योंकि परमात्मा चारों तरफ बोल रहा है।

छठा प्रश्न: कल रात मैंने एक स्वप्न देखा कि रजनीश और उनके संन्यासियों तथा सत्य साईंबाबा और उनके अनुयायियों के बीच युद्ध हो रहा है। और अंत में साईंबाबा स्वीकार करते हैं कि रजनीश बड़े भगवान हैं। इस स्वप्न का कारण और अर्थ बताने की कृपा करें।

न तो कुछ अर्थ है, न कोई बड़ा कारण है। या जो भी है वह बिलकुल साफ है; वह सीधा-सीधा है कि तुम रजनीश के अनुयायी हो। सत्य साईंबाबा के होते तो निष्कर्ष उल्टा होता।

यह तुम्हारा अहंकार है। तुम मेरे अनुयायी हो इसलिए मेरी जीत होनी चाहिए, क्योंकि मेरी जीत में ही तुम्हारी जीत छिपी है। तुम मेरे अनुयायी हो तो मैं बड़ा महात्मा होना चाहिए, क्योंकि बड़े महात्मा के ही तुम शिष्य हो सकते हो, छोटे के तो नहीं। तुम जैसा शिष्य और छोटे महात्माओं का हो?

अपने अहंकार के खेलों को समझने की कोशिश करो। न तुम्हें रजनीश से कोई मतलब है, न तुम्हें सत्य साईंबाबा से कुछ मतलब है। यह तुम्हारा ही अहंकार है। तुम सोच रहे हो, कोई बहुत बड़ा तात्विक सपना देख लिया, कि कोई बहुत आध्यात्मिक घटना देख ली; कि भविष्यवाणी तुम्हारे सपने में आ गई।

इस पागलपन में मत पड़ना। न कुछ अर्थ है, न कोई बड़ा कारण है। सिर्फ तुम्हारे अहंकार के रोग हैं। वे नये-नये ढंग लेते हैं। वे गुरु के पीछे भी खड़े हो जाते हैं। तुम्हें क्या प्रयोजन है? मैं हारूं कि जीतूं, तुम्हें क्या लेना-देना है? हां, अगर तुम मेरे अनुयायी हो तो अड़चन है। तो मैं हारा तो तुम हारे। मैं जीता तो तुम जीते। तुम्हें फिक्र तुम्हारी जीत की है। मेरी हार-जीत की थोड़े ही फिक्र है!

और मेरी हार-जीत होनी भी नहीं है। हो चुकी। जो होना था हो चुका। अब कुछ होने को नहीं है। यात्रा पूरी हो गई। मैं अपने घर वापिस लौट आया हूं। अब कोई युद्ध नहीं चल रहा है। तुम्हारी यात्रा अभी अधूरी है।

और तुम्हारा अहंकार नये-नये रूप लेगा। और ऐसे रूप लेगा कि तुम्हें शक भी नहीं होगा कि यह अहंकार है। इसीलिए तो तुमने इतने बड़े मजे से यह प्रश्न पूछा। तुमने सोचा कि मैं तुम्हारी पीठ बहुत थपथपाऊंगा। कहूंगा कि खूब, कि मुझे भी जिता दिया! बड़ी कृपा!

इस भूल में मत पड़ना। मैं तुम्हारी पीठ थपथपाऊंगा नहीं, क्योंकि यह तो तुम्हारे अहंकार को ही थपथपाना होगा।

पेरिस के विश्वविद्यालय में एक दर्शनशास्त्र का प्रोफेसर था। वह रोज कहा करता था कि मुझसे बड़ा आदमी संसार में दूसरा नहीं है। आखिर उसके शिष्यों को भी बेचैनी होने लगी। एक शिष्य ने कहा कि आप दर्शन के प्रोफेसर हैं, तर्कशास्त्र के ज्ञाता हैं, और आप ऐसी बात कहते हैं। करोड़ों- करोड़ों लोग हैं, इनमें आप सबसे बड़े हो कैसे सकते हैं? और फिर अगर आप कहते हैं इसको तो सिद्ध कर दें।

तो उसने कहा, सिद्ध कर देता हूं। उसने सारी दुनिया का नक्शा टांग दिया लाकर। और कहा, तुम मुझे यह बताओ, इस सारी दुनिया में सबसे श्रेष्ठ देश कौन-सा है? वे सभी फ्रांसीसी थे, फ्रेंच थे। उन्होंने कहा, निश्चित ही फ्रांस से बड़ा देश कोई भी नहीं है।

सभी देशों को यही पागलपन है। भारतीयों से पूछो तो वे कहते हैं, यह तो धर्मगुरु। यह देश, यह तो पुण्यभूमि है। यहीं भगवान अवतार लेते रहे, और तो कहीं लिये ही नहीं। और तो बाकी सब ठीक है, असली चीज तो यहीं है। पर यह सभी को खयाल है। यह कोई तुम्हारा ही खयाल नहीं है। चीनियों से पूछो, रूसियों से पूछो, अमरीकनों से पूछो, अंग्रेजों से पूछो।

तो सभी फ्रेंच थे, उन्होंने कहा कि फ्रांस से बड़ा कोई देश नहीं है। तो उसने कहा कि ठीक है, बाकी दुनिया तो खतम हुई, रहा फ्रांस। उसमें अगर मैंने सिद्ध कर दिया कि मैं सबसे बड़ा आदमी हूं, फिर तो मानोगे? उन्होंने कहा, मानेंगे। उसके बाद उसने पूछा कि तुम मुझे यह बताओ कि फ्रांस में सबसे श्रेष्ठ नगर कौन-सा? सब पेरिस के रहने वाले। उन्होंने कहा कि साफ है बात कि पेरिस सबसे...। तब तो वे भी थोड़े घबड़ाने लगे विद्यार्थी, कि यह आदमी तो धीरे-धीरे रास्ते पर ला रहा है। पेरिस सबसे बड़ा, सबसे श्रेष्ठ नगर। इसमें कोई शक-शुबहा, इसमें कोई दो मंतव्य हो भी नहीं सकते।

और तब उस प्रोफेसर ने कहा, फिर मैं तुमसे यह पूछता हूं कि पेरिस में सबसे श्रेष्ठ स्थान? निश्चित ही विश्वविद्यालय से श्रेष्ठ और क्या हो सकता है! विद्यापीठ, सरस्वती का मंदिर। मगर अब तो विद्यार्थियों को जंचने लगा कि मामला यह उलझाये दे रहा है। तो उन्होंने कहा, विश्वविद्यालय। और उसने कहा, मुझे तुम यह बताओ कि विश्वविद्यालय में सबसे श्रेष्ठ विभाग? अब वे सब फिलासफी के विद्यार्थी। और ऐसे भी फिलासफी, दर्शनशास्त्र, शास्त्रों का शास्त्र! उसके पार कौन है? तो उन्होंने कहा, दर्शनशास्त्र। उसने कहा, तुम यह बताओ कि दर्शनशास्त्र का हेड आफ द डिपार्टमेंट कौन है? मैं! और मैं तुमसे कहता हूं कि मैं दुनिया का सबसे श्रेष्ठ आदमी हूं।

ऐसा आदमी चलता है। उसके सब तर्क मैं पर आ जाते हैं। तुम जब कहते हो कि भारतभूमि धन्य, तो तुम यह नहीं कह रहे हो कि भारतभूमि धन्य, तुम यह कह रहे हो कि हम यहां पैदा हुए धन्य। तुम्हारे पैदा होने से यह भारतभूमि धन्य। तुम अगर रूस में पैदा होते तो रूस की भूमि धन्य होती। पक्का मानो! क्योंकि एक भी रूसी नहीं कहता कि भारतभूमि धन्य। तुम चीनी होते तो चीन। तुम जहां होते, तुम उसी को धन्य कहते।

तो खयाल रखना, यह भारत, यह हिंदू धर्म श्रेष्ठतम धर्म, यह तुम्हारी वजह से है। और वेद सबसे महान शास्त्र, यह तुम्हारी वजह से है--या कुरान, या बाइबल। और जब तुम घोषणा करते हो कि महावीर महान तीर्थंकर, तो तुम खयाल कर लेना, कोई आदमी जो जैन नहीं है ऐसा नहीं कहेगा। हिंदू कहेगा, कहां की बातें उठा रहे हो? महावीर? कृष्ण की कहो। मुसलमान हंसेगा, वह कहेगा महावीर? अरे मोहम्मद की बात करो!

प्रत्येक अपने की घोषणा कर रहा है, क्योंकि अपने के माध्यम से अपनी घोषणा है। कहावत है न, कौन अपनी मां को असुंदर कहता? लेकिन घोषणा अपनी ही चल रही है।

यह तुम्हारा स्वप्न तुम्हारे अहंकार का विस्तार है। इससे सावधान होना। स्वप्न ने बड़ी कृपा की कि तुम्हें चेताने की चेष्टा की है। जो स्वप्न में प्रगट हुआ है वह जाग्रत में भी तुम्हारे मन में होगा, तभी तो प्रगट हुआ है। न तो कोई युद्ध चल रहा है किसी के साथ--कम से कम मेरा नहीं चल रहा है किसी के साथ कोई युद्ध। तुम्हारा शायद चल रहा हो। तुम मुझे बचाना। मैं तुम्हारे पीछे नहीं आ रहा हूं। मेरा किसी से कोई युद्ध नहीं चल रहा है। न कोई हार है, न कोई जीत है। लेकिन तुम्हारी अस्मितायें तुम्हें बहुत तरह की प्रवंचनाओं में डालेंगी। उनसे सावधान रहना जरूरी है।

आखिरी प्रश्न: तीन साल की छोटी-सी अवधि में ही यह आश्रम अस्तित्व में आया, जहां से पूरी पृथ्वी पर धर्म की ज्योति फैल रही है। अभी धरती पर यह अपने ढंग का अकेला और अप्रतिम धर्मधाम है। और आप ही

उसके सब कुछ हैं--जन्मदाता, निर्माता और संचालक। मुझे अक्सर आश्चर्य होता है कि निर्माण और व्यवस्था का यह विशाल कार्य कामना को बीच में लाये बिना ही कैसे संभव हुआ?

न तो मैं जन्मदाता हूं, न निर्माता और न संचालक। तुम जानते हो, तेईस घंटे तो मैं अपने कमरे में रहता। बाहर जाता भी नहीं। कमरे के बाहर नहीं जाता। ऐसे कहीं संचालन होता है? ऐसे कहीं निर्माण होता है? पूरे आश्रम से भी मैं परिचित नहीं हूं। कहां क्या हो रहा है इसका भी मुझे पता नहीं है। आश्रम के सब मकान भी मैंने नहीं देखे हैं।

ऐसे कहीं निर्माण होता है? नहीं, मैं निर्माता नहीं हूं, न जन्मदाता हूं और न संचालक हूं। मैं हूं ही नहीं। ज्यादा से ज्यादा बहाना। और इसे स्मरण रखना कि यह मेरा आश्रम नहीं है। और ऐसा मैं चाहता हूं कि यह आश्रम किसी का भी न हो। यह परमात्मा का ही हो; वही चलाये। मेरा उपयोग कर ले, तुम्हारा उपयोग कर ले, लेकिन हम निमित्त से ज्यादा न हों।

और जब वही चला रहा हो तो हम बीच-बीच में न आयें। बीच में हमारे आने की कोई जरूरत भी नहीं। इसलिए अपने कमरे में बैठा रहता हूं। उससे कहता हूं, तू चला। जिनके सिर पर सवार होना हो उनके सिर पर सवार हो जा और चला।

मैं कोई कर्ता नहीं हूं। और इसीलिए बिना किसी कामना को बीच में लाये काम होता रहता। यह और भी विशाल होगा। यह और भी विराट होगा। क्योंकि विशाल के हाथ इसके पीछे हैं। हमारे हाथ तो बड़े छोटे हैं। इन हाथों से छोटी चीजें ही बनती हैं, बड़ी चीजें नहीं बन सकतीं। लेकिन जब परमात्मा का हाथ कहीं होता है तब बात बदल जाती है। तब चीजें विराट होने लगती हैं। तब चीजें सब सीमाओं को तोड़कर बढ़ने लगती हैं।

मैं तो अपने कमरे में बैठा हूं, सारी दुनिया से लोग चले आ रहे हैं। कैसे नाम सुन लेते हैं, कैसे उन तक खबर पहुंचती है, वे जानें। जरूर कोई उनके कान में कह जाता होगा। जरूर कोई उन्हें यहां भेजे दे रहा है।

मोहम्मद के जीवन में एक बड़ा प्यारा उल्लेख है। दुश्मन उनका पीछा कर रहे थे। हजारों की भीड़ उनके पीछे लगी थी। और वे अपने केवल एकमात्र साथी अबू बकर को लेकर मक्का से रवाना हुए। और दुश्मन पीछे हैं। और ऐसी घड़ी आ गई कि दुश्मन कभी भी आकर उनको खत्म कर देंगे। तो वे एक गुफा में छिप रहे। गुफा के चारों तरफ हजारों लोग चक्कर काट रहे हैं और पता लगाने की कोशिश कर रहे हैं, वह कहां छिपे हैं। गुफा के सामने भी लोग खड़े हैं।

और अबू बकर कंप रहा है। और वह मोहम्मद का हाथ हिलाकर कहता है कि अब क्या होगा हजरत? हम दो हैं और दुश्मन हजार हैं। आज मौत निश्चित है। और मोहम्मद हंसते हैं। और मोहम्मद कहते हैं, तू गिनती ठीक से कर। हम दो नहीं हैं, तीन हैं। तो अबू बकर अपनी चारों तरफ देखता है, वह कहता है, क्या कह रहे हैं? आपका दिमाग तो खराब नहीं हो गया घबड़ाहट में? तीन नहीं, दो हैं। मैं हूं और आप हैं। मोहम्मद कहते हैं, फिर तूने गलती की। हम दो का तो कुछ होना न होना बराबर है। तीसरे को देख, परमात्मा साथ है। हम तीन हैं।

और मोहम्मद ठीक कह रहे हैं। वे हजारों दुश्मन चारों तरफ घूमते रहे। वे द्वार के सामने भी खड़े रहे गुफा के और उनको मोहम्मद दिखाई न पड़े। और वे धीरे-धीरे घंटों भर मेहनत करके चले भी गये। वह जो तीसरा है वही महत्वपूर्ण है।

नहीं, मैं नहीं चला रहा हूं, वही चला रहा है। जब तक उसकी मर्जी, चलाये। जैसे उसकी मर्जी, चलाये। जैसा मेरा उपयोग करना हो, कर ले।

इसलिए निश्चिंत हूं। इसलिए जो होता, ठीक; जो नहीं होता वह भी ठीक। उसका कोई हिसाब भी नहीं रखता हूं।

तुम्हीं बयार बन पाल भरो
तुम्हीं पहुंचे फड़फड़ाओ
लटों में छन-छन अंग-अंग सहरो

तुम्हीं धार पर संतार दो

मैंने तो प्रभु से कह दिया, अब तुम्हीं बयार बन पाल भरो। तुम्हीं पहुंचे फड़फड़ाओ। और लटों में छन-छन अंग-अंग सहरो। और तुम्हीं धार पर संतार दो। और मुझे क्षमा करो। जो करना हो करो। मेरा जो उपयोग करना हो करो।

निमित्त मात्र! इससे ज्यादा आदमी न रहे। इससे ज्यादा आदमी न रहे तो बहुत होता है, बिना किये होता है। और जहां तुम करने वाले हुए वहां कितना ही करो, कुछ भी नहीं होता। सब क्षुद्र रह जाता है। मनुष्य के हस्ताक्षर कभी भी विराट नहीं हो पाते, छोटे ही रह जाते हैं। उनकी सीमा है।

और जिस दिन से मैंने ऐसा जाना कि तुम अपने को छोड़ सकते हो, प्रभु सब करता है, उस दिन से जीवन में एक अलग ही रस आ गया।

फूल की रेशमी-रेशमी छांहें
आज हैं केसर रंग रंगे वन

उसी दिन से दिखाई पड़ने लगा कि सब तरफ छाया है।

फूल की रेशमी-रेशमी छांहें।

कोई धूप नहीं, कोई पीड़ा नहीं, कोई श्रम नहीं।

आज हैं केसर रंग रंगे वन

उसी दिन से सारा जगत केसर में रंग गया। उसी दिन से तो तुम्हें केसरिया रंग में रंगना शुरू कर दिया।

आज हैं केसर रंग रंगे वन

नहीं, मैं कुछ भी नहीं कर रहा हूं। जो हो रहा है, हो रहा है। जैसे तुम देख रहे हो वैसे ही मैं भी देख रहा हूं। मेरा तो उसूल छोटा-सा है--

बांस के कुंज में बैठो और चाय पीयो
जैसे चीन के पुराने संत जीते थे वैसे निश्चिंत जीयो

देवता की राह हिंसा नहीं है, अहिंसा की राह है

वे इंद्रियों से लड़ते नहीं, पुचकारकर उन्हें पास बुलाते हैं

देवता के पास पीपल की छाया होती है
वे छांह में इंद्रियों को प्रेम से सुलाते हैं

लेकिन प्रेत कहता है, जीवन से युद्ध करो

मारो, मारो, इंद्रियों को मारो और अपने को शुद्ध करो

मैं कहता हूं, बांस के कुंज में बैठो और चाय पीयो
जैसे चीन के पुराने संत जीते थे वैसे निश्चिंत जीयो।

हिंसा नहीं। आक्रमण नहीं। कुछ करने की योजना में हिंसा है, आक्रमण है। अब आक्रमण छोड़ो। अनाक्रमक। कुछ करने का भाव ही छोड़ो। अहंकार के लिए कुछ करने को नहीं है। जहां अहंकार आया, हिंसा आई। न तो संसार से लड़ो न अपने से लड़ो।

बांस के कुंज में बैठो और चाय पीयो
जैसे चीन के पुराने संत जीते थे वैसे निश्चिंत जीयो।

आज इतना ही।

सतत्तरवां प्रवचन

बुद्धि-पर्यन्त संसार है

अष्टावक्र उवाच।

भ्रमभूतमिदं सर्वं किंचिन्नास्तीति निश्चयी।
अलक्ष्यस्फुरणः शुद्धः स्वभावेनैव शाम्यति।। २४६।।
शुद्धस्फुरणरूपस्य दृश्यभावमपश्यतः।
क्व विधिः क्व च वैराग्यं क्व त्यागः क्व शमोऽपि वा।। २४७।।
स्फुरतोऽनन्तरूपेण प्रकृतिं च न पश्यतः।
क्व बंधः क्व च वा मोक्षः क्व हर्षः क्व विषादिता।। २४८।।
बुद्धिपर्यन्तसंसारे मायामात्रं विवर्तते।
निर्ममो निरहंकारो निष्कामः शोभते बुधः।। २४९।।
अक्षयं गतसंतापमात्मानं पश्यतो मुनेः।
क्व विद्या च क्व वा विश्वं क्व देहोऽहं ममेति वा।। २५०।।

भ्रमभूतमिदं सर्वं किंचिन्नास्तीति निश्चयी।
अलक्ष्यस्फुरणः शुद्धः स्वभावेनैव शाम्यति।।

"यह सब प्रपंच कुछ भी नहीं है ऐसा जानकर, ऐसा निश्चयपूर्वक जानकर अलक्ष्य स्फुरणवाला शुद्ध पुरुष स्वभाव से ही शांत होता है।"

एक-एक शब्द को ठीक से समझना। जैसा अष्टावक्र कहें वैसा ही समझना। अपने अर्थ मत डालना। पहला शब्द है, प्रपंच।

भ्रमभूतमिदं सर्वं...।

यह सब जो दिखाई पड़ता, सच नहीं है। जैसा दिखाई पड़ता वैसा नहीं है। हम वैसा ही देख लेते हैं जैसा देखना चाहते हैं। हम अपनी कामना आरोपित कर लेते हैं। जैसा है वैसा तो तभी दिखाई पड़ेगा जब हमारे मन में कोई भी विचार न रह जायें; जब हमारी आंखें बिलकुल खाली हों, शून्य हों; जब हमारी आंख पर कोई भी बादल न हों पक्षपात के, वासना के, कामना के। तो ही जो जैसा है वैसा दिखाई पड़ेगा।

प्रपंच का अर्थ होता है, जैसा नहीं है वैसा देख लेना।

मैंने सुना है, मुल्ला नसरुद्दीन अमरीका की यात्रा पर गया। न्यूयार्क की एक बड़ी सड़क पर राह के किनारे उसने एक बोर्ड लगा देखा, जिस पर लिखा था कि उन्नीस सौ अस्सी में अमरीका में कारों की संख्या पचास करोड़ हो जायेगी। ऐसा पढ़ते ही वह एकदम भागा सड़क पर। खतरनाक था वैसा भागना। और एक पुलिसवाले ने उसे पकड?ा और कहा कि कहां भागे जाते हो? क्या इतनी जल्दी है? देखते नहीं, रास्ते पर इतना ट्रैफिक है? नसरुद्दीन ने कहा, छोड़ो भी! उन्नीस सौ अस्सी में कारों की संख्या पचास करोड़ हो जायेगी। अगर रास्ता पार करना है तो अभी ही कर लेना चाहिए।

आदमी अपनी कामना को प्रक्षेपित कर लेता है। तुम हंसते हो क्योंकि उन्नीस सौ अस्सी तो दूर मालूम पड़ता। इतनी जल्दी क्या है? लेकिन तुमने न केवल मृत्यु तक की योजनायें बना रखी हैं, तुमने मृत्यु के बाद की भी योजनायें बना रखी हैं। तुमने यहां तो इंतजाम किया ही है, तुम स्वर्ग में भी इंतजाम कर रहे हो। यहां धन

इकट्ठा कर रहे, वहां पुण्य इकट्ठा कर रहे। यहां चोरी से धन मिलता है तो चोरी से कर रहे, वहां दान देने से पुण्य के सिक्के इकट्ठे होते हैं तो दान भी कर रहे। चोर भी हो, दानी भी हो; साथ-साथ हो।

मैंने सुना है, एक सम्राट ने एक बहुत बड़े चोर को फांसी की सजा दी। उस राज्य का नियम था कि जिसे फांसी की सजा हो उससे अंतिम समय सम्राट पूछता था, तेरी कोई आखिरी इच्छा तो नहीं? तो सम्राट ने पूछा उस महाचोर को, तेरी कोई आखिरी इच्छा तो नहीं? उसने कहा मेरी आखिरी इच्छा है, छोटी-सी इच्छा है, वह पूरी हो जाये तो मैं तृप्त मरूं।

मेरे पास कुछ मोती हैं। और मेरे गुरु ने कहा था कि इन्हें बो देना तो एक-एक मोती से लाखों मोती पैदा होंगे। तो मैं इन्हें बो देना चाहता हूं। मैं तो मर जाऊंगा लेकिन कोई यह फसल काटेगा। किसी को तो यह लाभ होगा, नहीं तो ये मोती मेरे साथ ही चले जायेंगे।

सम्राट भी लोभ से भरा। और उसने कहा, ठीक है तुम राजमहल के बगीचे में ही बो दो। उस आदमी ने जमीन साफ की। उस आदमी ने जमीन पर हल-बखर चलाये। और फिर वह आदमी अचानक खड़ा हो गया। उसने सम्राट से कहा, आप कृपा करके यहां आ जायें क्योंकि मेरे गुरु ने कहा था, जो चोर न हो वही इन मोतियों को बोये। मैं तो चोर हूं, मैं इनको नहीं बो सकूंगा। और बोऊंगा तो ये व्यर्थ चले जायेंगे। इन मोतियों की यह खूबी है, ये उगेंगे तभी जब कोई ऐसा आदमी बोये जो अचोर है।

सम्राट अपने वजीरों की तरफ देखने लगा, वजीर पुरोहित की तरफ देखने लगे, पुरोहित सेनापति की तरफ देखने लगा और सेनापति सम्राट की तरफ देखने लगा और तब सम्राट ने कहा, क्षमा करो। ये बीज न बोये जा सकेंगे। हम सब चोर हैं। ऐसा तो कोई आदमी नहीं है, जो चोर न हो। और सम्राट ने कहा, मैं समझ गया तुम्हारी बात। तुम्हारी फांसी की सजा रद्द की जाती है। तुम भी चोर हो, हम भी चोर हैं। तुम छोटे चोर हो, हम बड़े चोर हैं; लेकिन चोर हम सब हैं।

और वह सम्राट बड़ा दानी था। और वह चोर कहने लगा, महाराज, आप और चोर कैसे हो सकते हैं? आप तो महादानी! वह सम्राट कहने लगा, महादानी कैसे हो सकता हूं बिना चोर हुए? पहले तो चोरी करनी पड़े, फिर दान करना पड़ता है। लाख आदमी चुरा लेता है, दो-चार हजार दान कर देता है। ऐसे चोरी के ऊपर साधु हो जाता है। चोरी करके यहां धन इकट्ठा कर लेता है, साधु होकर पुण्य करके वहां स्वर्ग में भी सिक्के इकट्ठे कर लेता है।

तुम तो योजना बनाते मृत्यु तक की, मृत्यु के पार तक की--अपने लिए, अपने बच्चों के लिए, अपने बच्चों के बच्चों के लिए, नाती-पोतों के लिए। समय के लंबे विस्तार पर तुम्हारी कामना फैल जाती है। फिर उस कामना की धुंध में से तुम देखना चाहते हो यथार्थ को, नहीं दिखाई पड़ेगा। राम को देखना चाहते काम की धुंध से, नहीं दिखाई पड़ेगा। काम की धुंध जाये तो राम दिखाई पड़े। सत्य तो मौजूद है, आंख के सामने मौजूद है, लेकिन आंखें धुंधली हो गई हैं। आंखों पर चश्मे पर चश्मे चढ़े हैं। और मजा ऐसा है कि चश्मे भी तुम्हारे नहीं हैं, चश्मे भी दूसरों के हैं।

कभी देखा? किसी दूसरे का चश्मा लगाकर देखा, कैसी हालत हो जाती है? कुछ का कुछ दिखाई पड़ने लगता है। और तुम्हारी आंख पर एकाध चश्मा नहीं है दूसरों का, न मालूम कितने चश्मे हैं। बुद्ध के, महावीर के, कृष्ण के, मोहम्मद के, जरथुस्त्र के, चश्मे पर चश्मे तुमने हर जगह से इकट्ठे कर लिए हैं। सदियों-सदियों के चश्मे हैं; वे सब तुम लगाए बैठे हो। और उनके माध्यम से तुम देखना चाहते हो, जो है उसे। नहीं, प्रपंच हो जाता है सब। सब झूठ हो जाता है। सब विकृत, कुरूप।

प्रपंच का अर्थ होता है, आंख शुद्ध न थी और देखा। और आंख ही शुद्ध न हो तो फिर तुम जो भी देखोगे वह गलत हो गया। यही माया का अर्थ है। माया का ऐसा अर्थ नहीं है कि जो चारों तरफ है वह झूठ है। जैसा

तुमने देखा वैसा नहीं है। जैसा तुमने देखा वैसा झूठ है। ये पत्थर-पहाड़, ये सूरज, चांदत्तारे, ये झूठ नहीं हैं, लेकिन तुमने जैसा देखा वैसा झूठ है।

कभी देखा? रात चांद निकला हो, पूर्णिमा का चांद हो, शरद का चांद हो और अगर तुम दुखी हो तो चांद भी लगता है रो रहा है। चांद क्या खाक रोयेगा! लेकिन तुम रो रहे हो। तुम्हारी आंखें आंसुओं से भरी हैं। तुम्हारी प्रेयसी खो गई कि तुम्हारा प्रेमी खो गया कि तुम्हारा बेटा मर गया, तुम चांद की तरफ देखते, लगता है चांद से आंसू टपक रहे हैं। तुम्हारे आंसू चांद पर आरोपित हो जाते हैं। और हो सकता है तुम्हारे ही पड़ोस में किसी को उसकी प्रेयसी मिल गई हो, उसका मित्र घर आया हो, वह आनंदमगन हो रहा हो। वह चांद को देखेगा तो देखेगा, चांद मुस्कुरा रहा, नाच रहा, गीत गुनगुना रहा। एक ही चांद को देखते हो तुम दोनों लेकिन दोनों की आंखें अलग हैं। दोनों की भावदशा अलग है। भावदशा आरोपित हो जाती है। फिर चांद नहीं दिखाई पड़ता, वही दिखाई पड़ता है जो तुम्हारे भीतर है।

जब तक हमारे भीतर प्रक्षेपण, प्रोजेक्टर मौजूद है तब तक हम जो भी देखेंगे वह झूठ हो जायेगा।

भ्रमभूतमिदं सर्वम्।

और यह जो सब तुम्हें अब तक दिखाई पड़ा है, यह सब बिलकुल असत्य है। समझ लेना ठीक से, इसका यह मतलब नहीं है कि यह नहीं है। कि तुम जाओगे तो दीवाल से निकलना चाहोगे तो निकल जाओगे। सिर टूट जायेगा। दीवाल है। इस भ्रांति में मत पड़ना।

लेकिन जैसा तुम देखते हो वैसा नहीं है। तुम्हारे देखने में भूल है, सत्य के होने में जरा भी भूल नहीं है। जिस दिन तुम्हारी आंखें निर्मल हो जायेंगी, ध्यान-पूरित हो जायेंगी, जिस दिन तुम्हारी आंखों पर दूसरों के चश्मे न रह जायेंगे, पक्षपात के, शास्त्र के, सिद्धांत के, हिंदू-मुसलमान, ईसाई, बौद्ध, जैन के; जिस दिन तुम्हारी आंख पर कोई चश्मे न होंगे, तुम्हारी आंख खुली और नग्न होगी और तुम मुक्त आंख से देखोगे और आंख के पीछे छिपी हुई वासना का कोई प्रोजेक्टर, कोई प्रक्षेपण-यंत्र न होगा, उस दिन जो दिखाई पड़ेगा वही परमात्मा है। उस दिन सत्य को जाना। उस दिन भ्रम छूटा।

"यह सब प्रपंच है, यह कुछ भी नहीं है, ऐसा निश्चयपूर्वक जानकर...।"

किंचिन्नास्तीति निश्चयी।

किंचिन्नास्ति--यह बिलकुल भी ऐसा नहीं है, ऐसा निश्चयपूर्वक जानकर।

इति निश्चयी।

निश्चयपूर्वक जानने को खयाल में ले लो। सुना तो तुमने भी है बहुत बार कि यह सब माया। यह तो सदियों से इस देश में दोहराया जा रहा है कि सब माया। लेकिन सुनने से निश्चय नहीं होता। विश्वास भी कर लो तो भी निश्चय नहीं होता। विश्वास के भीतर भी अविश्वास का कीड़ा सरकता रहता है। तुमने लाख मान लिया कि सब माया है लेकिन भीतर? भीतर गहरे तो तुम जानते हो कि है तो सच। शास्त्र कहते हैं सो मान लिया। हिंदू घर में पैदा हुए सो मान लिया। बौद्ध घर में पैदा हुए तो मान लिया। लेकिन यह मानना है, यह निश्चय नहीं है। और जब तक यह निश्चय न हो तब तक काम न पड़ेगा।

मैं एक छोटे बच्चे से पूछ रहा था--किसी के घर में मेहमान था। और वह बच्चा बड़ा तेजस्वी है। वह मुझसे कहने लगा कि मेरा भी विश्वास ईश्वर में है। मैंने उससे पूछा, विश्वास का तू अर्थ क्या करता है? तो वह थोड़ा सोचने लगा और बोला, विश्वास का अर्थ होता है, ऐसी शक्ति कि जिसके द्वारा जैसा नहीं है वैसा मानने की हिम्मत आ जाये। जैसा नहीं है वैसा मानने की हिम्मत आ जाये, उसका नाम विश्वास है।

उसकी परिभाषा मुझे जंची। मालूम तो है कि नहीं है ईश्वर, लेकिन फिर भी मान लेने की जो शक्ति है उसका नाम विश्वास है। बड़े-बड़े शास्त्रों ने विश्वास की परिभाषा की है लेकिन इतनी सुंदर नहीं।

तुम भी कहां मानते हो कि ईश्वर है? कहते हो। जीभ पर है, प्राण में नहीं है। ओठों पर है, हृदय में नहीं है। ऊपर-ऊपर है, भीतर-भीतर बिलकुल नहीं है। यह विश्वास निश्चय नहीं है।

मैंने सुना है, एक आदमी किसी गुरु के पास बहुत वर्षों तक रहा। उसने एक दिन देखा कि गुरु पानी पर चल रहा है। वह बड़ा चमत्कृत हुआ। जब गुरु लौटकर आया तो उसने पैर पकड़ लिये। चमत्कार से तो लोग बड़े चकित होते हैं। उसने कहा कि यह सूत्र तुम मुझे भी बता दो। यह तरकीब तो अब मैं छोड़ूंगा न, जानकर रहूंगा। यह रहस्य मुझे भी समझाओ, कैसे पानी पर चलें?

गुरु ने कहा, इसमें कुछ रहस्य नहीं। प्रभु पर भरोसा हो तो सब हो जाता है--इति निश्चयी! श्रद्धा हो, सब हो जाता है।

तो उसने कहा, कैसे करूं श्रद्धा? तो उन्होंने कहा, प्रभु का स्मरण काफी है। राम-नाम। तो उस आदमी ने दूसरे ही सुबह नदी पर जाकर कोशिश की। एकदम दोहराने लगा "राम-राम-राम-राम।" चलने की कोशिश की, तत्क्षण डुबकी खा गया। मुंह में पानी भर गया। बामुश्किल बाहर निकलकर आया। बड़ा क्रोधित हुआ।

गुरु के पास गया और कहा कि आप धोखा दिये। मैं तो राम-राम, राम-राम कहता ही गया फिर भी डुबकी खा गया। और राम-राम कहने की वजह से मुंह में भी पानी चला गया। वैसे मैं तैरना जानता हूं। मगर मैं राम-राम कहने में लगा था। और मैं इस खयाल में था कि डुबकी तो होनी नहीं है तो मैंने कुछ व्यवस्था नहीं की थी। सब कपड़े भी खराब हो गये, डुबकी भी खा गया। यह बात जंचती नहीं। आपने कुछ धोखा दे दिया है।

गुरु ने पूछा, कितनी बार राम कहा था? उसने कहा, कितनी बार? अनगिनत बार कहा था। पहले तो किनारे पर खड़े होकर खूब कहता रहा ताकि बल पैदा हो जाये। फिर जब देखा कि हां, अब आ गई गर्मी, तो चला और डुबकी खा गया। और कह रहा था तब भी, जब डुबकी खा रहा था तब भी मैं राम-राम ही कह रहा था।

गुरु ने कहा, इतनी बार कहा इसीलिए डूब गये। श्रद्धा होती तो एक ही बार कहना काफी था। यह तो अश्रद्धा की वजह से इतनी बार कहा। श्रद्धा होती तो एक बार काफी था, फिर दुबारा क्या कहना? राम कह दिया, बात खतम हो गई।

सच तो यह है, अगर श्रद्धा हो तो शब्द में कहना ही नहीं पड़ता। हृदय में उसकी पुलक, उसकी लहर काफी है। इतने शब्द भी नहीं बनाने पड़ते। हवा के एक झोंके की तरह से हृदय में कोई चीज गूंज जाती है, तुम्हें गुंजानी भी नहीं पड़ती। इसलिए तो नानक ने उसके जाप को अजपा कहा है। जप करना पड़े तो सच्चा नहीं। थोड़ा झूठ हो गया। जप का मतलब यह हो गया, तुम कर रहे हो, अजपा का अर्थ होता है, जो अपने से हो।

तुम बैठे हो, अचानक तुम पाओ भीतर कि गूंज रही बात; खिल रहे फूल। तुम द्रष्टा बन जाओ उस समय, कर्ता नहीं। अजपा का अर्थ होता है, जो तुमने जपा नहीं था फिर भी जपा गया। जो अपने आप हुआ। आगे हम सूत्रों में समझेंगे अजपा का अर्थ।

"जो स्फुरण मात्र है...।"

जो तुम्हारे करने से नहीं हुआ है, जिसकी स्फुरणा हुई है। वृक्षों में फूल खिले हैं; वृक्षों ने खिलाये नहीं, खिले हैं। इसलिए बड़ी गहरी सचाई है उनमें और बड़ी सुगंध। और उनके रंग अदभुत हैं। और प्रभु की उनमें झलक है। ये पक्षी गुनगुना रहे हैं। ये चेष्टा नहीं कर रहे हैं, यह गीत इनसे फूट रहा है। जैसे झरने बह रहे हैं ऐसे पक्षी गीत गुनगुना रहे हैं। जैसे हवा बहती है और सूरज निकलता है। और सूरज की किरणें बरसती हैं। ऐसे पक्षी गा रहे हैं। यह स्फुरण मात्र है।

तुम जब बैठकर राम-राम करते हो तब चेष्टा होती है। चेष्टा यानी झूठ। तुम्हारा किया सब प्रपंच है। तुम्हारे किये तुम कहीं भी न पहुंच पाओगे। तुमने किया कि तुम भटके। तुम ऐसी दशा में आ जाओ जहां तुम न करो, जो होता है उसे होने दो। लेकिन बिना किये तुम नहीं रह सकते।

एक मछुआ एक नदी के किनारे मछलियां मार रहा था। उसने दो बालटियां रख छोड़ी थीं। मछलियां पकड़ता, एक बालटी में डाल देता और कुछ केंकड़े पकड़ लेता तो उनको दूसरी बालटी में डाल देता। मछलियां

जिस बालटी में डालता उसके ऊपर तो उसने ढक्कन ढांक रखा था। और केंकड़े जिसमें डालता, बिना ढक्कन के छोड़ दिया था। और पच्चीसों केंकड़े उसमें बिलबिला रहे थे। और निकलने की कोशिश कर रहे थे, चढ़ रहे थे।

गांव के एक राजनेता--नेताजी घूमने निकले थे। उन्होंने खड़े होकर देखा। उनको कुछ बात जंची नहीं। उन्होंने कहा, भाई तू कैसा पागल है! इतनी मेहनत कर रहा है और ये केंकड़े सब निकल जायेंगे। इसको ढांकता क्यों नहीं? जैसा मछलियों को ढांका, ऐसा इसको क्यों नहीं ढांकता?

उसने कहा, आप बेफिक्र रहो। ये केंकड़े बड़े बुद्धिमान हैं। ये करीब-करीब राजनीतिज्ञ हैं। यह राजनीति ही समझो। आपकी राजनीति जैसी हालत है इनकी। एक केंकड़ा चढ़ता है, दूसरा नीचे खींच लेता है। ये निकल न पायेंगे। इनकी वही हालत है, जो दिल्ली में है। पच्चीस केंकड़े हैं, एक भी निकल नहीं सकता। ये तो मैं सुबह से पकड़ रहा हूं, एक भी नहीं निकला। मैं भी देख रहा हूं कि हद राजनीति चल रही है। एक चढ़ता है, दो खींच लेते हैं उसको। इनको ढांकने की कोई जरूरत नहीं है। ये अपने ही करने से फंसे हुए हैं। इनका कृत्य ही इन्हें फंसा रखने को काफी है।

तुम जो फंसे हो, तुम्हारे ही कृत्य से फंसे हो। तुम जो खींच रहे हो, दूसरा भी तुम्हें नहीं खींच रहा है, तुम खुद ही अपने को खींच-खींचकर गिरा लेते हो। तुम्हारे जीवन में क्रांति घट सकती है। अगर तुम कृत्य को और कर्ताभाव को छोड़ दो और स्फुरणा से जीयो।

भ्रमभूतमिदं सर्वम्...।

यह सब जैसा तुमने देखा, असत्य है; जैसा है वैसा तुमने अभी देखा नहीं।

संसार और परमात्मा की यही परिभाषा है। तुमने अक्सर सोचा होगा कि संसार और परमात्मा दो अलग-अलग बातें हैं। गलत सोचा है। परमात्मा को गलत ढंग से देखा तो संसार। संसार को ठीक ढंग से देख लिया तो परमात्मा। ये दो बातें नहीं हैं। यहां द्वैत नहीं है, एक ही है। जैसा है वैसा ही देख लिया तो परमात्मा दिखाई पड़ जाता है, और जैसा नहीं है वैसा देख लिया तो संसार। ठीक-ठीक देख लिया तो परमात्मा, चूक गये तो संसार। परमात्मा को देखने में जो चूक हो जाती है उसी से संसार दिखाई पड़ता है। परमात्मा को देखने में जो चूक हो जाती है उसी से पदार्थ दिखाई पड़ता है; अन्यथा पदार्थ नहीं है। पदार्थ तुम्हारी भ्रांति है। परमात्मा सत्य है।

अब लोग हैं जो पूछते हैं, परमात्मा कहां है? कहते हैं, परमात्मा को देखना है। कभी-कभी कोई नास्तिक मेरे पास आ जाता है। वह कहता है, जब तक हम देखेंगे नहीं, मानेंगे नहीं। मैं उससे कहता हूं, पहले तू अपनी आंख की तो फिक्र कर ले। देखेगा यह तो ठीक है। देखने की आकांक्षा भी ठीक है। लेकिन तेरी आंख खुली है? तेरी आंख साफ-सुथरी है? इसकी तुझे चिंता नहीं है। दर्शन की चिंता है, दृष्टि की चिंता ही नहीं है।

अंधा है और रोशनी देखना चाहता है। बहरा है और संगीत सुनना चाहता है। और कहता है जब तक सुनूंगा नहीं, मानूंगा नहीं। बात तो ठीक कह रहा है। सुनोगे नहीं तो मानने का सार भी क्या है? लेकिन अगर सुनाई नहीं पड़ रहा है तो पहली बात बुद्धिमान आदमी यही सोचेगा कि कहीं मेरे सुनने के यंत्र में कोई खराबी तो नहीं है? सदियों-सदियों में सत्पुरुषों ने कहा है, है। एक देश में नहीं, अनंत-अनंत कालों में, अनंत-अनंत देशों में, अनंत-अनंत परिस्थितियों में, सत्पुरुषों ने निरपवाद रूप से कहा है, है। तो कहीं मेरी आंख के यंत्र में कुछ खराबी तो नहीं है? यह बुद्धिमान आदमी पहली बात उठायेगा। बुद्धू कहता है, हो तो मैं देखूं। देखूं तो मैं मानूं। और इसकी फिक्र ही नहीं करता कि मेरे पास देखने की क्षमता है, पात्रता है?

इति निश्चयी का अर्थ होता है, जिसने देख लिया और देखकर जो निश्चय को उपलब्ध हो गया। निश्चय एक ही तरह से आता है--दर्शन से, अनुभव से, प्रतीति से।

अलक्ष्यस्फुरणः शुद्धः स्वभावेनैव शाम्यति।

"और अलक्ष्य स्फुरणवाला शुद्ध पुरुष स्वभाव से शांत होता है।"

यह शब्द बड़ा अदभुत है: अलक्ष्य स्फुरणवाला। इसे समझ लिया तो अष्टावक्र का सब सारभूत समझ लिया।

हम तो जीते हैं अपनी चेष्टा से। हम तो जीते हैं अपनी योजना से। हम तो जीते हैं प्रयास से। जीने की यह जो हमारी चेष्टा है, यह जो प्रयास है, यही हमें तनाव से भर देता है, संताप और चिंता से भर देता है। इतना विराट अस्तित्व चल रहा है, तुम देखते हो फिर भी अंधे हो। इतना विराट अस्तित्व चल रहा है, इतनी व्यवस्था से चल रहा है, इतना संगीतपूर्ण, इतना लयबद्ध चल रहा है, लेकिन तुम सोचते हो तुम्हें अपना जीवन खुद चलाना पड़ेगा।

कहा है मलूक ने:

अजगर करे न चाकरी पंछी करे न काम

दास मलूका कह गये सबके दाता राम

बड़ा अदभुत वचन है। यद्यपि गलत लोगों के हाथ में पड़ गया! लोगों ने इसका अर्थ निकाल लिया कि पड़े रहो आलसी होकर।

दास मलूका कह गये सबके दाता राम

तो अब करना क्या है? कुछ मत करो। यह मतलब नहीं है।

अजगर करे न चाकरी पंछी करे न काम

लेकिन देखा पंछी कितने काम में लगे हैं! ला रहे घास-पात, बना रहे घोंसले, बीन रहे गेहूं, चावल, दाल, इकट्ठा कर रहे भोजन, बच्चों को खिला रहे, खुद खा रहे, काम तो बहुत चल रहा है। अजगर भी सरक रहा है। अजगर भी काम में लगा है। लेकिन मलूक का कुछ अर्थ और है।

मलूक यह कह रहे हैं कि पंछी इतना काम कर रहे हैं फिर भी खुद नहीं कर रहे हैं; जो हो रहा है, हो रहा है। इसमें योजना नहीं है। इसमें अहंकार नहीं है। इसमें कर्तृत्व का भाव नहीं है। लेकिन लोग तो अपने ही ढंग से समझते हैं। लोग अपनी बुद्धि से समझते हैं। लोगों ने समझा कि यह तो आलस्य का पाठ है तो ओ?ढ़कर चादर सो रहो। लेकिन तुम अगर चादर भी ओढ़कर सोये तो तुम्हीं कर्ता हो।

परमात्मा को करने दो, तुम मत करो; यह अर्थ होता है अलक्ष्यस्फुरण। अज्ञात स्फुरण। जो हाथ दिखाई नहीं पड़ते उनमें अपने को छोड़ दो। जिसने सब सम्हाला है, तुम्हें भी सम्हाल लेगा। छोटी-सी जिंदगी है तुम्हारी। एक दिन मरे, दूसरे दिन गये। दो दिन की जिंदगी है। इतना विराट सम्हला हुआ है, तुम अपनी इस दो दिन की जिंदगी को छोड़ नहीं सकते इस विराट पर? और न छोड़कर भी क्या सार है! मरोगे। न तुमने जन्म लिया है स्वयं, न मौत तुम ले सकोगे। जन्म भी हुआ, मौत भी घटेगी, बीच में ये थोड़े-से दिन हैं, तुम नाहक उत्पात कर रहे।

अष्टावक्र कहते हैं, छोड़ दो स्फुरण पर। जीयो सहज स्फुरण से। मत करो योजना। मत बनाओ बड़े किले। मत खड़े करो बड़े स्वप्न। लेकिन लोग समझते हैं कि यह आलस्य की शिक्षा है। यह आलस्य की शिक्षा नहीं है। यह अकर्मण्यता की शिक्षा नहीं है। यह इतनी ही शिक्षा है कि कर्ता तुम न रहो, कर्ता परमात्मा हो। लेकिन लोग अपने ही ढंग से समझते हैं।

मैंने सुना है, मुल्ला नसरुद्दीन एक स्त्री के प्रेम में था। वह स्त्री जरा चिंतित थी, संदिग्ध थी। एक दिन उसने पूछा--जब शादी बिलकुल करीब ही आने लगी और दिन बहुत निकट आने लगा तो उस स्त्री ने पूछा कि नसरुद्दीन, क्या तुम शादी के बाद भी मुझे इतना ही प्यार करोगे? ऐसा ही प्रेम करोगे जैसा अभी करते हो? नसरुद्दीन ने कहा, क्यों नहीं! तुम तो जानती ही हो कि मुझे शादीशुदा औरतें ज्यादा पसंद हैं।

आदमी की समझ! अपनी समझ से ही देखेगा। अपनी ही समझ से व्याख्या करेगा। अपनी समझ के बाहर हम नहीं निकल पाते। इसलिए परमात्मा की समझ हमारे हाथों में नहीं उतर पाती। हम थोड़ी अपनी समझ को एक तरफ रखें।

अलक्ष्यस्फुरणा का अर्थ होता है, तुम स्वभाव पर छोड़कर देखो, क्षण-क्षण जीयो। जो अष्टावक्र अलक्ष्यस्फुरणा से कह रहे हैं वही बुद्ध ने कहा है क्षणवाद से। क्षण-क्षण जीयो। आगे के क्षण का विचार मत करो।

इस क्षण जो हो, होने दो। आगे का क्षण जब आयेगा तब आयेगा। जीसस ने कहा है, आगे का क्षण अपनी फिक्र स्वयं कर लेगा। जीसस ने कहा है, देखो खेतों में उगे हुए लिली के फूल। कितने सुंदर हैं! न इन्हें कल की चिंता है, न बीते कल की कोई याद। न ये श्रम करते हैं, न ये रंग जुटाते, न सुगंध जुटाते। सब किसी अलक्ष्यस्फुरणा से हो रहा है। और जीसस ने कहा है अपने शिष्यों से कि मैं तुमसे कहता हूं कि सम्राट सोलोमन भी अपने बहुमूल्य वस्त्रों में इतना सुंदर न था, जितने कि ये लिली के फूल।

अलक्ष्यस्फुरणा का अर्थ है, जैसे फूल हैं, पक्षी हैं, यह सारी प्रकृति का विराट खेल चल रहा है, इस खेल में तुम भी भागीदार हो जाओ। कर्ता न रहो। जो परमात्मा कराये, होने दो।

झेन फकीर कहते हैं जब भूख लगे, भोजन कर लो; जब नींद आये तब सो जाओ। जैसा होता हो उसके साथ बहे चलो। तैरो भी मत। नदी की धार में बहो। तुमने कभी एक मजेदार बात देखी है? जिंदा आदमी डूब जाता नदी में और मुर्दा आदमी तैरने लगता है। मुर्दा नदी के ऊपर आ जाता है और जिंदा आदमी डुबकी खा जाता है। मुर्दा आदमी को जरूर कोई राज मालूम है जो जिंदा को मालूम नहीं। मुर्दा को एक राज मालूम है कि वह कोई चेष्टा नहीं करता। चेष्टा कर ही नहीं सकता; मुर्दा है। जब चेष्टा नहीं करता तो नदी भी उसे अपने हाथों में ले लेती है। तुम चेष्टा करते हो उसी में डूब जाते हो।

तैरने की कला का कुल इतना ही राज है कि जिस दिन तुम्हें पता चल गया कि नदी नहीं डुबाती, तुम अपनी चेष्टा से डूबते हो। तुम धीरे-धीरे छोड़ते गये। तब तो तुम नदी की छाती पर तैर सकते हो। पड़े रहो! नदी नहीं डुबाती। नदी ने कभी किसी को नहीं डुबाया है। लोग अपनी ही मेहनत से डूब गये हैं।

यह विराट किसी को डुबाने में उत्सुक नहीं है। लोग अपनी मेहनत से डूब जाते हैं। लोग अपने गले में अपनी फांसी खुद लगा लेते हैं। यहां कोई तुम्हें फांसी देने को उत्सुक नहीं है। यह अस्तित्व अपूर्व रस से भरा है। और यह अस्तित्व अपूर्व उत्सव से भरा है। तुम नाच सकते हो। तुम्हारे पैर में जंजीरें नहीं हैं। अस्तित्व ने तुम्हारे पैर में घूंघर डाले हैं, लेकिन तुम जंजीरें बना बैठे हो। तुम यह बात भूल ही गये हो कि अस्तित्व के साथ एकरस हुआ जा सकता है।

संन्यास का ठीक-ठीक यही अर्थ है: जो व्यक्ति स्वस्फुरणा से जीने लगा। जो अपने भीतर से जीने लगा। जो अब बुद्धि से योजना नहीं करता। जो होता है, होने देता है। जैसा होता है वैसा होने देता है। अकर्मण्य नहीं हो गया है, कर्म विराट होता है अब भी, लेकिन अब कर्म के ऊपर अपनी कोई मालकियत नहीं रही। अब अपने कर्म पर कोई दावा नहीं रहा। जो गैरदावेदार हो गया है वही संन्यासी है।

अलक्ष्यस्फुरणः शुद्धः स्वभावेनैव शाम्यति।

और ऐसा व्यक्ति शुद्ध हो जाता, स्वभाव से ही शांत हो जाता है। ऐसे व्यक्ति को शांत होने के लिए कोई भी योग, जपत्तप नहीं करना पड़ता और ऐसे व्यक्ति को शुद्ध होने के लिए कोई भी आयोजना नहीं करनी पड़ती।

तो प्रपंच का अर्थ हुआ: स्वप्नजाल, मन का खेल, विचार-प्रक्षेपण, कामना-आरोपण, जैसा नहीं है वैसा देख लेना, जैसी इच्छा है वैसा देख लेना। और प्रपंच से बाहर होने का मार्ग हुआ:

अलक्ष्यस्फुरणः शुद्धः।

जैसा है उसके साथ राजी हो जाना, उसके साथ बहना। नदी की धार से लड़ना नहीं। नदी की धार के विपरीत न जाना। नदी की धार के साथ जाना। यह जो अस्तित्व की विराट धार जा रही है, इसके साथ जाना--अलक्ष्यस्फुरणा।

हमें पक्का पता भी नहीं है कि नदी कहां जा रही है। हमें पक्का पता भी नहीं कि इसका अंत कहां होगा। अंत होगा भी या नहीं, यह भी पता नहीं। इस विराट की नियति क्या है इसका भी हमें कोई पता नहीं। यह सब बड़ा रहस्यपूर्ण है। लेकिन इसका पता लगाने की चेष्टा व्यर्थ है। हम पता लगा भी न पायेंगे। यह तो ऐसे ही समझो कि बूंद सागर को समझने चली। यह नहीं हो पायेगा। यह असंभव है। बूंद सागर तो बन सकती है लेकिन सागर को समझ नहीं सकती। मनुष्य परमात्मा बन सकता है लेकिन परमात्मा को समझ नहीं सकता। बूंद अगर सागर में

गिर जाये और राजी हो जाये और छोड़ दे अपनी सीमा तो सागर हो जाये। सागर होकर ही जान पायेगी, और कोई उपाय नहीं। हम उसी को जान सकते हैं जो हम हो जाते हैं।

प्रपंच से बाहर होने का अर्थ है, जो स्फुरणा से हो वही करना, महत्वाकांक्षा से मत करना। कुछ पाने, कुछ होने की आकांक्षा से मत करना। जो परमात्मा बनाये, जैसा रखे--सुख में तो सुख में, दुख में तो दुख में। अगर ऐसा तुम कर सके तो तुम्हारे जीवन में कभी पश्चात्ताप न होगा। अगर ऐसा न कर सके तो प्रपंच का फल पश्चात्ताप है। एक दिन तुम बहुत रोओगे। और तब कुछ भी न कर सकोगे। क्योंकि जो समय बीत गया, बीत गया।

रंगों के मनहर मेले, चले गये छोड़ अकेले

एक दिन बहुत रोओगे। एक दिन बहुत पछताओगे। एक दिन आंखों में सिर्फ टूटे इंद्रधनुष, बिखरे सपने, आंसुओं के अतिरिक्त कुछ भी न रह जायेगा।

रंगों के मनहर मेले, चले गये छोड़ अकेले
टूटे अनुबंधों जैसे, रूठे संबंधों जैसे
बिखर रहे पल-अणुपल हम, फूटे तट-बंधों जैसे
झरे-गिरे पीत पात से, भरे-भरे गीत गात से
पीड़ाओं में घुले-मिले, आंसू से जी भर खेले
शापित वरदान सरीखे, बुझकर भी जलते दीखे
अर्थहीन जीवन जीना, जग आकर हमसे सीखे
अपनों के तेवर बदले, सपनों के जेवर बदले
प्रज्वलित पलाश-से नयन, जैसे गेरू के ढेले
सांसें घनसार हो गईं, आशायें क्षार हो गईं
अधरों पर चिपकीं बेबस मुसकानें भार हो गईं
रोम-रोम जलती होली, भाल लगी उलझन रोली
एक भाव से तटस्थ हो, फाग आग दोनों झेले
रंगों के मनहर मेले, चले गये छोड़ अकेले

एक दिन बहुत पछताओगे। यह जो आज मेला जैसा मालूम पड़ता है, यह जो रंगों का जमघट है, यह ज्यादा देर न टिकेगा। यह सपना है। यह तुमने ही मान रखा है। यह कहीं है नहीं। जल्दी ही जीवन-ऊर्जा क्षीण होने लगेगी। और जैसे-जैसे जीवन ऊर्जा क्षीण होगी वैसे-वैसे सपनों के भीतर छिपी सचाई प्रगट होगी। एक दिन तुम पाओगे, जहां तुमने बहुत कुछ देखा था वहां कुछ भी नहीं है। एक दिन हर आदमी पाता है कि हाथ खाली रह गये। जीवन चला गया, हाथ खाली रह गये। फिर रिक्तता बहुत सालती है। फिर रिक्तता बहुत दुख देती, बहुत पीड़ा देती। फिर रिक्तता बहुत विषाद से भर देती।

नर्क का कोई और अर्थ नहीं है। मरने के बाद तुम नर्क जाते हो ऐसा मत सोचना। या मरने के बाद स्वर्ग जाते हो ऐसा मत सोचना। जिसने जीवन को परमात्मा की स्फुरणा से जीया वह यहीं स्वर्ग में जीता है। और जिसने जीवन को अपनी अहंकार की योजना से जीया वह यहीं नर्क में जीता है। जो यहां स्वर्ग में है वही मृत्यु के बाद भी स्वर्ग में होगा और जो यहां नर्क में है वही मृत्यु के बाद भी नर्क में होगा। क्योंकि मृत्यु के बाद उसी का सिलसिला जारी रहेगा जो मृत्यु के पहले तुमने निर्मित किया था। अन्यथा नहीं हो जायेगा। अचानक कुछ बदलाहट नहीं हो जायेगी।

जीवन को रत्ती-रत्ती जीयोगे, एक-एक सीढ़ी चढ़ोगे तो तुम पाओगे कि शिखर उपलब्ध हुआ।

"दृश्यभाव को नहीं देखते हुए शुद्ध स्फुरणवाले को कहां विधि है, कहां वैराग्य है, कहां त्याग, कहां शमन!"

शुद्धस्फुरणरूपस्य दृश्यभावमपश्यतः।
क्व विधिः क्व च वैराग्यं क्व त्यागः क्व शमोऽपि वा।।

जो व्यक्ति अपनी अंतर्स्फुरणा से भर गया है--स्वस्फुरणवाले को, शुद्ध स्फुरणवाले को। स्फुरण का अर्थ होता है, स्पान्टेनिटी। स्फुरण का अर्थ होता है, जो अपने आप होता है, तुम्हारे किए नहीं होता। स्फुरण का अर्थ होता है, जिसको तुम्हें करना नहीं पड़ता। अचानक तुम पाते हो कि हो रहा है।

जैसे तुम यहां बैठे हो; मुझे सुनते-सुनते किसी की तारी लग जायेगी। सुनते-सुनते किसी की लय मुझसे बंध जायेगी। ऐसा नहीं कि तुमने किया। तुम करोगे तो यह कभी भी न हो पायेगा। तुम करोगे तो तुम बीच में अड़े रहोगे। तुम करोगे तो तुम अटकाते रहोगे, उपद्रव मचाते रहोगे। तुमने अगर चेष्टा की कि बंध जाये लय, फिर न बंधेगी। तुम भूलो, तुम सिर्फ सुनो। सुनते-सुनते अनायास एक स्फुरणा होती है, भीतर कोई द्वार खुल जाता, कोई रोशनी झांकती। भीतर कोई स्वर प्रविष्ट हो जाता। तुम मुझसे एकतान हो गये, एकरस हो गये। जुड़ गये हृदय से हृदय।

उस क्षण कुछ घटता है। उस क्षण आंसू बह सकते हैं, उस क्षण तरंग उठ सकती है। उस क्षण रोमांच हो सकता। उस क्षण रोआं-रोआं पुलकित हो सकता। उस क्षण एक दर्शन मिल सकता है--क्षण भर को ही सही, लेकिन जैसा है उसका एक क्षण को आभास हो सकता है। जैसे कोई बिजली कौंध गई और अंधेरी रात में रोशनी हो गई और सब दिखाई पड़ गया क्षण भर को। यद्यपि क्षण भर को दिखाई पड़ेगा लेकिन पूरे जीवन का स्वाद बदल सकता है। क्योंकि जो दिखाई पड़ गया, फिर पीछा करेगा। फिर बार-बार उस दिशा में जाने का रस जागेगा, स्वाद जागेगा, आकांक्षा होगी, अभीप्सा होगी, प्रतीक्षा होगा, पुकार होगी, प्रार्थना होगी। जो एक बार अनुभव में हुआ, फिर उसे छोड़ा नहीं जा सकता। फिर बार-बार तुम खिंचे किसी अदृश्य जादू में उसी केंद्र की तरफ चलने लगोगे। लेकिन यह होगा स्फुरणा से; यह चेष्टा से नहीं होगा।

तुम देखो, जीवन में जब भी आनंद घटता है, स्फुरणा से घटता है। और जीवन में जब भी आनंद घटता है तो तुम सीधी चेष्टा करो तो कभी नहीं घटता।

कोई आदमी तैरने जाता है और बड़ा सुख अनुभव करता है। तुम उससे पूछो, तैरने में सुख आता है, मैं भी आऊं? मैं भी तैरूं? मुझे भी सुख मिलेगा? मुश्किल। शायद तुम्हें नहीं मिलेगा। क्योंकि तुम पहले से योजना बनाकर जाओगे कि सुख मिले। तुम तैरोगे कम, बार-बार कनखियों से देखोगे कि अभी तक सुख मिला नहीं। बीच-बीच सोचने लगोगे, अभी तक नहीं मिला, कब मिलेगा? तो तुम चूक जाओगे। वह जो आदमी तैरने जाता है उसे सुख इसलिए मिलता है कि वह सुख की तलाश में गया ही नहीं। वह तो तैरने गया है। उसकी नजर तो तैरने में लगी है। वह तो तैरने में डूब जाता है। जब तैरने में डुबकी लग जाती है, जब तैरने में पूरा खो जाता है, भावविभोर हो जाता है, बस सुख का झरोखा खुल जाता है। वह स्फुरणा से होता है।

इसलिए अक्सर ऐसा होगा, मुझे सुननेवाला किसी मित्र को कभी ले आयेगा कि तुम आओ। तुम एक दफा तो आओ। वह सोचता है, जो मुझे हो रहा है वही मित्र को भी हो जायेगा। जरूरी नहीं। आवश्यक नहीं। क्योंकि मित्र आयेगा कि चलो देखें क्या होता है। शायद तुम्हारी भावदशा को देखकर लोभ से भर आये कि जो तुम्हें होता है वही मुझे भी हो जाये। नहीं होगा।

एक मित्र ध्यान करने आये। किसी विश्वविद्यालय में प्रोफेसर हैं, होशियार आदमी हैं। इस दुनिया में होशियार बुरी तरह चूकते हैं। कभी-कभी पागल पा लेते हैं और होशियार चूक जाते हैं। यह दुनिया बड़ी अनूठी है। उन्होंने तीन दिन ध्यान किया, चौथे दिन मुझे आकर कहा कि लोगों को तो होता है। कुछ हो रहा है। इसको मैं देख सकता हूं। मुझे कुछ भी नहीं हो रहा है। और मैं बड़ी आकांक्षा से आया हूं कि कुछ हो। महीनों से प्रतीक्षा की थी इन दिनों की। अब छुट्टी मिली है तो आया हूं। और कुछ हो नहीं रहा है। और मैं यह भी मानता हूं कि कुछ हो रहा है, लोगों को कुछ हो रहा है। किसी को मैं रोते देखता हूं तो मेरे प्राण कंप जाते हैं कि मुझे कब होगा? किसी को आनंद से नाचते देखता हूं तो मैं भी सोचता हूं कि कब भाग्य के द्वार खुलेंगे, मैं भी नाचूंगा? मगर मेरे

पैरों में कोई पुलक ही नहीं आती। मैं बीच-बीच में दूसरों को भी देख लेता हूं कि देखो हो रहा है किसी को नहीं! लेकिन हो रहा है। और मुझे नहीं हो रहा। बात क्या है? कोई मेरे पाप आड़े पड़ रहे हैं? कोई मैंने बुरे कर्म किये हैं?

आदमी कोई न कोई तर्क खोजता है अपने को समझाने को। मैं तुमसे कहता हूं, न तो कोई पाप आड़े आते हैं, न कोई कर्म आड़े आते हैं। एक ही बात आड़े आती है, वह बात है कि तुम बहुत आतुरता से अगर लोभ से भर गये और तुमने योजना बना ली कि सुख लेकर रहेंगे--बस मुश्किल हो गई।

मैंने उनसे कहा, तुम ऐसा करो, यह सुख का भाव छोड़ दो। यह समाधि का भाव छोड़ दो। तुम मेरी मानो। इतनी मेरी मानो कि तुम यह भाव मत रखो। तुम नाचो, गाओ, ध्यान करो। तुम थोड़े दिन के लिए सुख का विचार ही छोड़ दो; मिले न मिले। अगर छोड़ सको सुख का भाव तो मिलेगा।

सीधे-सीधे सुख को पाने की कोई व्यवस्था नहीं है इस जगत में। सुख आता पीछे के दरवाजे से, चुपचाप। पगध्वनि भी नहीं होती। तुम जब मस्त होते हो किसी और बात में तब आता है।

कोई चित्रकार अपना चित्र बना रहा है--मुग्ध, डूबा, सारी दुनिया को भूला। उन क्षणों में अस्तित्व नहीं रहा, उन क्षणों में स्वयं भी नहीं रहा। उन क्षणों में तो बस चित्र बन रहा है। सच पूछो तो उन क्षणों में परमात्मा चित्र बना रहा है, चित्रकार तो मिट गया। अलक्ष्यस्फुरणा काम करने लगी। तब चित्र अनूठा बनेगा। और तब कभी ऐसा भी होगा कि चित्रकार खड़ा होकर देखेगा मंत्रमुग्ध। अपनी ही कृति पर भरोसा न कर पायेगा। कहेगा, कैसे बनी? किसने बनाई?

पिकासो ने कहा है कि कई बार कोई चित्र बन गया, फिर मैंने दुबारा उसे बनाने की कोशिश की और नहीं बना पाया। बहुत कोशिश की और नहीं बना पाया। फिर वैसी बात नहीं बनी। फिर किसी दिन बन गया। और जब फिर मैंने चेष्टा की तो फिर चूका, फिर हारा। अहंकार जीतता ही नहीं।

रवींद्रनाथ ने कहा है कि जब-जब मैंने चेष्टा की तबत्तब गीत नहीं बने। जब बने तभी बने। तो कभी-कभी ऐसा हो जाता था कि रवींद्रनाथ बैठे हैं, किसी से बात कर रहे हैं और अचानक भाव-रूपांतरण हो जाता। अचानक उनके चेहरे पर कोई और आभा आ जाती। कोई एक दीवानापन, एक मस्ती, जैसे कि शराब में डूब गये। तो उनके पास रहनेवाले लोग, उनके शिष्य, उनके मित्र, उनके प्रियजन धीरे-धीरे जानने लगे थे कि उस समय चुपचाप हट जाना चाहिए।

गुरुदयाल मलिक उनके एक पुराने साथी थे। वे कभी-कभी मुझे सुनने आते थे। एक बार उन्होंने मुझे आकर कहा कि आपसे एक बात कहनी है। मैं रवींद्रनाथ के पास जब पहली दफा गया तो मुझे भी कहा गया था कि अगर बीच में और लोग हटें तो तुम भी हट जाना। क्योंकि कब उन पर परमात्मा आविष्ट हो जाता है, कुछ कहा नहीं जा सकता। उस वक्त बाधा नहीं देनी है।

तो कोई आठ-दस मित्र रवींद्रनाथ को मिलने गये थे। गुरुदयाल पहली दफा गये थे। और रवींद्रनाथ ने अपने हाथ से चाय बनाई और सबको वे चाय दे रहे थे। और अचानक चाय देते समय उनके हाथ से प्याला छूट गया, आंखें बंद हो गईं और वे डोलने लगे। एक-एक आदमी उठ गया। वे सब तो परिचित थे। और उन्होंने गुरुदयाल को भी इशारा किया कि उठ आओ। लेकिन गुरुदयाल ने मुझे कहा कि मैं उठ न सका। उन्होंने बहुत इशारा किया तो मैं उठ भी गया, तो भी मैं दरवाजे के बाहर खड़ा हो गया। यह जो अपूर्व घट रहा था, मैं इसके दर्शन करना चाहता था।

यह क्या हो रहा था? मैंने अपनी आंख के सामने देखा कि अभी एक क्षण पहले जो आदमी था रवींद्रनाथ, अब वही नहीं है। कोई नई आभा! जैसे कोई और आत्मा प्रविष्ट हो गई। एक आलोकमंडित व्यक्तित्व! जैसे भीतर कोई बुझा था दीया, जल गया। जैसे रोशनी बाहर आने लगी। और एक अपूर्व शांति छा गई।

और मैं मंत्रमुग्ध खड़ा रहा। मन में अपराध भी लग रहा था कि खड़ा नहीं होना चाहिए क्योंकि सबने कहा हट जाओ। और लोग चले भी गये, मैं चोरी से खड़ा हूं। लेकिन हट भी न सका। कुछ ऐसा जादू घट रहा था कि हट भी नहीं सका।

और वे खड़े देखते रहे। फिर रवींद्रनाथ धीरे-धीरे डोलने लगे, खड़े होकर नाचने लगे और फिर गुनगुनाने लगे। गुरुदयाल ने मुझे कहा कि मैंने अपनी आंख के सामने कविता को जन्म लेते देखा। वह सौभाग्य का क्षण था। वैसा अपूर्व क्षण फिर कभी नहीं मिला। मैंने अपने सामने कविता को जन्म लेते देखा। फिर रवींद्रनाथ ने कागज उठा लिया, जो गुनगुनाया था वह लिखने लगे। और धीरे-धीरे गुरुदयाल वहां से हटकर चुपचाप अपने कमरे में चले गये।

तीन दिन तक रवींद्रनाथ बंद ही रहे अपने कमरे में, बाहर न निकले। जब कविता उतरती तो वे भोजन भी बंद कर देते। जब कविता उतरती तो वे स्नान भी न करते। जब कविता उतरती तो वे किसी से मिलते-जुलते भी नहीं। जब कविता उतरती तो कैसा सोना, कैसा जगना! सब अस्तव्यस्त हो जाता। जब कविता उतरती तो कोई और ही उन्हें चलाता; कोई और ही उनकी बागडोर थाम लेता।

इस बात का नाम ही है शुद्ध स्फुरणा।

देखा तुमने? यह प्रतीक है कि कृष्ण अर्जुन के सारथी बने। यह अलक्ष्यस्फुरणा का प्रतीक है। भगवान तुम्हारा सारथी बने, उसके हाथ में तुम्हारे रथ की बागडोर हो। वही चलाये। तुम बैठो भीतर निश्चिंतमन। वह जहां ले जाये, जाओ। भगवान सारथी बने, तुम रथ में चुपचाप बैठो।

वही सारथी है। तुम नाहक बीच-बीच में आ जाते। तुम्हारे बीच में आने से अड़चन पड़ती। तुम्हारे जीवन में अगर दुख है तो तुम्हारे कारण। अगर कभी सुख होगा तो उसके कारण है।

शुद्धस्फुरणरूपस्य दृश्यभावमपश्यतः।

और जिस व्यक्ति के जीवन में शुद्ध स्फुरणा का जन्म हुआ उसको फिर दृश्य दिखाई भी पड़ते हैं और एक अर्थ में नहीं भी दिखाई पड़ते, क्योंकि अब तो द्रष्टा दिखाई पड़ता है। इसे समझो।

तुम जब देखते हो तो तुम स्वयं को नहीं देखते, पर को ही देखते हो। तुम्हारा बोध का तीर दूसरे पर लगा होता है। तुम स्वयं को नहीं देखते। तुम देखने वाले को नहीं देखते। जो मूल है उसे चूक जाते हो। तुम परिधि पर भटकते रहते हो। जिस व्यक्ति ने अपना हाथ परमात्मा के हाथ में दे दिया और कहा, अब तू सम्हाल...।

अब एक बड़ी मजेदार घटना घटती है। वह तुम्हें तो देखता है लेकिन तुमसे पहले वह जो भीतर छिपा है वह दिखाई पड़ता है। वह वृक्ष को देखता है लेकिन वृक्ष के पहले वृक्ष को देखनेवाला दिखाई पड़ता है। वृक्ष गौण हो जाता है। दृश्य गौण हो जाता है, द्रष्टा प्रमुख हो जाता है, आधारभूत हो जाता है। तब संसार गौण हो जाता है और सत्य आधारभूत हो जाता है।

"दृश्यभाव को नहीं देखते हुए शुद्ध स्फुरणवाले को कहां विधि है!"

फिर उसके मन में दृश्य के कोई भाव नहीं उठते--कि ऐसा देखूं, ऐसा देखूं, वैसा देखूं। ये कोई भाव नहीं उठते। जो दिखाई पड़ जाता है ठीक, जो नहीं दिखाई पड़ जाता, ठीक। वह हर हाल राजी है। ऐसी जो दशा है इसमें न तो त्याग की कोई जरूरत है, न वैराग्य की कोई जरूरत है, न विधि की कोई जरूरत है, न दमन और शमन की कोई जरूरत है।

अष्टावक्र के सूत्र सिद्ध के सूत्र हैं, साधक के नहीं। अष्टावक्र कहते हैं, सीधे सिद्ध ही हो जाओ। यह साधक होने के चक्कर में क्या पड़े हो? साधन में मत उलझो। साधना में मत उलझो। सीधे सिद्ध हो जाओ। क्योंकि परमात्मा तुम्हारे भीतर बैठा है। तुम कहां जपत्तप में लगे! किसकी पूजा-प्रार्थना कर रहे? जिसकी पूजा-प्रार्थना कर रहे वह तुम्हारे भीतर विराजमान है। तुम कहां खोज रहे हो काबा-कैलाश! तुम कहां जा रहे? जिसे तुम खोज रहे, तुम्हारे भीतर बैठा। तुम भी जरा शांत होकर बैठ जाओ और उसकी स्फुरणा से जीयो। छोड़ दो सब उस पर बेशर्त।

हिम्मत की जरूरत है, दुस्साहस की जरूरत है। क्योंकि मन कहेगा ऐसे छोड़ें, कहीं कोई हानि हो जाये। ऐसा छोड़ा, कहीं कोई नुकसान हो जाये। ऐसा छोड़ा और कहीं भटक गये! और मजा यह है कि तुम मन के साथ चलकर सिवाय भटके, और क्या हुआ है? भटकने के सिवाय क्या हुआ है? कहां पहुंचे?

मेरे पास लोग आते हैं, वे कहते हैं, संन्यास तो ले लें लेकिन समर्पण करने में डर लगता है। मैं उनसे पूछता हूं, तुम्हारे पास समर्पण करने को है क्या? क्या है जो तुम समर्पण करोगे? तब वे जरा चौंकते, झिझकते, कंधे बिचकाते। कहते, ऐसे तो कुछ भी नहीं है। तो फिर मैंने कहा, डर क्या है? तुम्हारे पास छोड़ने को क्या है? जो भी तुम्हें लगता है छोड़ने जैसा, वह छुड़ा ही लिया जायेगा। मौत छुड़ा लेगी। उस वक्त तुमसे यह भी नहीं पूछेगी, समर्पण करते हो? जब मौत सब छुड़ा ही लेगी तो देने का मजा क्यों नहीं ले लेते? जब मौत छीन ही लेगी तो तुम खुद ही क्यों नहीं छोड़ देते? आज नहीं कल मौत छीन लेगी तो तुम एक मौका खोये दे रहे हो। तुम खुद ही परमात्मा को कह दो कि मैं खुद ही अपने को छोड़ता हूं तेरे हाथों में।

और जो आदमी परमात्मा के हाथों में अपने को छोड़ देगा, मौत फिर उसकी नहीं होती। मौत उसी के पास आती है जो परमात्मा को अपने पास नहीं आने देता। इसे समझना।

तुम इकट्ठा करते--अपने कर्तृत्व, अपना अहंकार, धन, पद, प्रतिष्ठा। तुम सोचते हो, मैंने यह किया, मैंने यह कमाया, अर्जन किया, यह मेरी प्रतिष्ठा, यह मेरा पद। फिर एक दिन मौत आती है और सब बिखेर देती है--सब तुम्हारा पद, प्रतिष्ठा। जैसे किसी ने ताश के पत्तों का महल बनाया, हवा का एक झोंका आया और सब गिर गया। जिंदगी भर मेहनत की और मिट्टी में मिल गई। तुम खुद ही मिट्टी में मिल जाओगे तो तुम्हारी मेहनत कहां जायेगी? वह भी मिट्टी में मिल जायेगी।

संन्यासी बड़ा कुशल है। संन्यासी बड़ा समझदार है। वह कहता है जो मौत छीन लेगी वह हम स्वयं दे देते हैं। ऐसे भी छिन जाना है, वैसे भी छिन जाना है। तो देने का मजा क्यों न ले लें? इतना सुख क्यों न उठा लें कि दे दिया।

और तब एक क्रांति घटती है। तुमने छोड़ा कि फिर तुम्हें मिलना शुरू हुआ। जीसस ने कहा है, जो बचायेगा वह चूक जायेगा। और जो गंवा देगा वह पा लेगा। जो खोने को राजी है वह पाने का हकदार हो गया।

फिर कहां विधि, कहां त्याग, कहां शमन! नहीं कुछ करना पड़ता। एक बात कर लेने जैसी है कि तुम सब परमात्मा के ऊपर छोड़ दो। वह जैसा करवाये वैसा करो। वह जैसा उठाये वैसा उठो। वह जैसा बैठाये वैसा बैठो। और जब मैं यह कह रहा हूं तो फिर दोहरा दूं--बेशर्त। इसमें कोई शर्त बंधी नहीं है कि तू अच्छा करायेगा तो करेंगे, बुरा करायेगा तो न करेंगे।

वही तो अर्जुन के सामने सवाल था। वह कृष्ण से इसीलिए तो कहने लगा कि यह युद्ध मैं न करूंगा। इसमें तो पाप लगेगा। इसमें तो हिंसा होगी। इसमें तो प्रियजनों को मार डालूंगा। इस राज्य को लेकर भी क्या करूंगा? इतने सब अपने प्रियजनों को मारकर अगर यह राज्य मिला भी तो मरघट पर सिंहासन रखकर बैठना हो जायेगा। आदमी तो अपनों के लिए ही युद्ध करता। अपने होते तो ही तो सुख होता सिंहासन पर बैठने का। अपने ही न हुए तो क्या सुख? किसको दिखाऊंगा? मुझे जाने दो, अर्जुन कहने लगा, चला जाऊंगा दूर जंगल में। संन्यस्त हो जाऊंगा।

कृष्ण की सारी गीता एक बात समझाती है कि परमात्मा जो कराये, बेशर्त। युद्ध कराये तो युद्ध। अच्छा तो अच्छा, बुरा तो बुरा। तुम बीच में न आओ। तुम्हारा निमित्त होना परिपूर्ण हो। तुम चुनो न। तुम्हारा होना चुनावरहित हो। तभी तुम तुम्हारा समर्पण किये अन्यथा तुमने समर्पण न किया।

जहां समर्पण है वहां स्फुरणा है। समर्पण, स्फुरणा साथ-साथ है। बाहर समर्पण, भीतर स्फुरणा। जिसने समर्पण नहीं किया वह कभी स्फुरणा को उपलब्ध न हो सकेगा।

और इसको कहा है अलक्ष्यस्फुरणा।

शुद्धस्फुरणरूपस्य...।

अलक्ष्य का अर्थ होता है अकारण। परमात्मा का कोई कारण नहीं है, परमात्मा सबका कारण है। सब उसने बनाया, उसे किसी ने नहीं बनाया। सबके पीछे वह है, उसके पीछे कुछ भी नहीं है। वह कारणों का कारण है। अकारण है। वह मूलभूत है। उससे मूलभूत फिर कुछ भी नहीं है। वह जड़ है; उसके पार फिर कुछ भी नहीं है। न उसके नीचे कुछ है न उसके ऊपर कुछ है। सब उसके भीतर है।

तो जो परमात्मा से होता है वह अकारण होता है। तुम हो, किस कारण हो? मन में सवाल उठते हैं, किसलिए हूं मैं? क्या कारण है मेरे होने का? सिर्फ इस देश में उसका ठीक-ठीक उत्तर दिया गया है। सारी दुनिया में उत्तर देने की कोशिश की गई है। ईसाई कहते हैं कुछ, मुसलमान कहते हैं कुछ, यहूदी कहते हैं कुछ। लेकिन सिर्फ इस देश में ठीक-ठीक उत्तर दिया गया है। इस देश का उत्तर बड़ा अनूठा है। अनूठा है--लीला के कारण। लीला का मतलब होता है, अकारण। खेल है। उसकी मौज है। इसमें कुछ कारण नहीं है। क्योंकि जो भी कारण तुम बताओगे वह बड़ा मूढ़तापूर्ण मालूम पड़ेगा।

कोई कहता है, परमात्मा ने इसलिए संसार बनाया कि तुम मुक्त हो सको। यह बात बड़ी मूढ़तापूर्ण है। क्योंकि पहले संसार बनाया तो तुम बंधे। न बनाता तो बंधन ही नहीं था, मोक्ष होने की जरूरत क्या थी? यह तो बड़ी उल्टी बात हुई कि पहले किसी को जंजीरों में बांध दिया और फिर वह पूछने लगा, जंजीरों में क्यों बांधा? तो उसको जबाब दिया कि तुम्हें मुक्त होने के लिए। जंजीरों में ही काहे को बांधा जब मुक्त ही करना था?

परमात्मा ने संसार को बनाया आदमी को मुक्त करने के लिए? यह तो बात उचित नहीं है, अर्थपूर्ण नहीं है; बेमानी है। कि परमात्मा ने संसार को बनाया कि आदमी ज्ञान को उपलब्ध हो जाये? यह भी बात बेमानी है। इतना बड़ा संसार बनाया तो ज्ञान ही सीधा दे देता। इतने चक्कर की क्या जरूरत थी? कि परमात्मा ने बुराई बनाई कि आदमी बुराई से बचे। ये कोई बातें हैं! ये कोई उत्तर है! बुराई से बचाना था तो बुराई बनाता ही नहीं। प्रयोजन ही क्या है? यह तो कुछ अजीब सी बात हुई कि जहर रख दिया ताकि तुम जहर न पीयो। तलवार दे दी ताकि तुम मारो मत। कांटे बिछा दिये ताकि तुम सम्हलकर चलो।

पर जरूरत क्या थी? ठीक इस देश में उत्तर दिया गया है। उत्तर है--लीलावत। यह जो इतना विस्तार है, यह किसी कारण नहीं है। इसके पीछे कोई प्रयोजन नहीं है। इसके पीछे कोई व्यवसाय नहीं है। इसके पीछे कोई लक्ष्य नहीं है, यह अलक्ष्य है। फिर क्यों है?

जैसे छोटे बच्चे खेल खेलते हैं, ऐसा परमात्मा अपनी ऊर्जा का स्फुरण कर रहा है। ऊर्जा है तो स्फुरण होगा। जैसे झरनों में झर-झर नाद हो रहा है, जैसे सागरों में उत्तुंग लहरें उठ रही हैं। यह सारा जगत एक महाऊर्जा का सागर है। यह ऊर्जा अपने से ही खेल रही है, अपनी ही लहरों से खेल रही है। खेल शब्द ठीक शब्द है। लीला शब्द ठीक शब्द है। यह कोई काम नहीं है जो परमात्मा कर रहा है। लीलाधर! यह उसकी मौज है। यह उसका उत्सव है।

इस भांति देखोगे तो तुम्हें समझ में आयेगा, अलक्ष्यस्फुरण का क्या अर्थ हुआ। अलक्ष्यस्फुरण का अर्थ हुआ, इसके पीछे कोई भी कारण नहीं है।

पूछते हो, फूल क्यों खिलता है? पूछते हो, वृक्ष क्यों हरे हैं? पूछते हो, नदी क्यों सागर की तरफ बहती है? पूछते हो, क्यों आदमी आदमी से प्रेम करता? कभी पूछा, जब तुम किसी के प्रेम में पड़ जाते किसी स्त्री, किसी पुरुष के; तुमने पूछा, क्यों? कोई क्यों नहीं है। कोई उत्तर नहीं है। पूछने जाओगे, उत्तर न पाओगे। या जो भी तुम उत्तर पाओगे, सब बनावटी होंगे, झूठे होंगे।

तुम कहते हो, मैं इस स्त्री के प्रेम में पड़ गया क्योंकि यह सुंदर है। बात तुम उल्टी कह रहे। यह तुम्हें सुंदर दिखाई पड़ती है क्योंकि तुम प्रेम में पड़ गये। यह दूसरों को सुंदर नहीं दिखाई पड़ती।

लैला सिर्फ मजनूं को सुंदर दिखाई पड़ती थी, किसी को सुंदर नहीं दिखाई पड़ती थी। गांव के सम्राट ने मजनूं को बुलाकर कहा कि मुझे तुझ पर दया आती है पागल! यह लैला बिलकुल साधारण है और तू नाहक दीवाना हुआ जा रहा है। यह देख--एक दर्जन स्त्रियां उसने खड़ी कर दीं महल से। इनमें से तू कोई भी चुन ले। तुझे रास्ते पर रोते देखकर मैं भी दुखी हो जाता हूं। और दुख और भी ज्यादा हो जाता है कि किस लैला के पीछे पड़ा है? काली-कलूटी है, बिलकुल साधारण है। ये देख इतनी सुंदर स्त्रियां।

मजनूं ने गौर से देखा, कहने लगा, क्षमा करें। इनमें लैला कोई भी नहीं है।

फिर वही बात, सम्राट ने कहा, लैला में कुछ भी नहीं रखा है।

मजनूं कहने लगा, आप समझे नहीं। लैला को देखना हो तो मजनूं की आंख चाहिए। मेरी आंख के बिना आप देख न सकेंगे। लैला होती ही मजनूं की आंख में है।

तो तुम जिस स्त्री के प्रेम में पड़ गये हो, तुमसे कोई पूछे क्यों पड़ गये? तो तुम कहते हो, सुंदर है। तुम कहते हो, उसकी वाणी मधुर है। तुम कहते हो, उसकी चाल में प्रसाद है। मगर ये सब बातें झूठ हैं। तुम प्रेम में पड़ गये हो इसलिए चाल में प्रसाद मालूम पड़ता, वाणी मधुर मालूम पड़ती, चेहरा सुंदर मालूम पड़ता। कल जब तुम्हारा सपना टूट जायेगा, यही चाल बेढब लगने लगेगी और यही वाणी कर्कश हो जायेगी और यही चेहरा अति साधारण हो जायेगा। यह एक सपना है जो तुमने प्रेम के कारण देखा। प्रेम अकारण है।

अगर तुम अपने जीवन को भी समझने चलो तो तुम यही पाओगे कि यहां जो भी है, सब अकारण है। एक बार यह खयाल में आ जाये कि सब अकारण है तो जीवन से चिंता हट जाये। जहां कोई कारण नहीं वहां चिंता का कोई उपाय नहीं।

"और अनंत रूप से प्रकाशित स्फुरित प्रकृति को नहीं देखते हुए ज्ञानी को कहां बंध है और कहां मोक्ष है? कहां हर्ष, कहां विषाद?"

स्फुरतोऽनन्तरूपेण प्रकृतिं च न पश्यतः।
क्व बंधः क्व च वा मोक्षः क्व हर्षः क्व विषादिता।।

और यह जो प्रकृति चारों तरफ स्फुरित हो रही है--स्फुरतोऽनन्तरूपेण। यह जो अनंत-अनंत रूपों में चारों तरफ प्रकृति का खेल चल रहा है, लीला चल रही है और इस प्रकृति के पीछे परमात्मा का खेल चल रहा है, इस अनंत खेल को भी ज्ञानी देखता नहीं। ज्ञानी का इसमें बहुत रस नहीं है। वह इससे भी बड़े खेल में उतर गया। वह इस खेल के खेलनेवाले को देखने लगा।

अब क्या देखना छोटी बातें! माना, वृक्ष बहुत सुंदर है और चांद भी बहुत सुंदर है और सूरज जब सुबह उगता है तो अपूर्व है। लेकिन भीतर के सूरज के मुकाबले कुछ भी नहीं है। कबीर ने कहा, जब भीतर का सूरज उगा तो जाना कि असली सूरज क्या है। हजार-हजार सूरज जैसे एक साथ उग गये। फिर भी बात पूरी नहीं होती, क्योंकि जो अंतर है वह परिमाण का नहीं है, मात्रा का नहीं है, गुण का है। भीतर एक प्रकाश है जो अपूर्व है। बाहर का तो प्रकाश सब एक न एक दिन बुझ जायेगा। यह सूरज भी बुझ जायेगा।

वैज्ञानिक कहते हैं, चार हजार साल के भीतर यह सूरज बुझ जायेगा क्योंकि इसकी ऊर्जा रोज चुकती जाती, इसका ईंधन कम होता जाता। तुम्हारे घर में जो तुम दीया जलाते हो सांझ वह ही सुबह नहीं बुझता, यह सूरज भी बुझेगा। इसका तेल भी चुक रहा है। माना कि इसकी रात बड़ी लंबी है--करोड़ों-करोड़ों, अरबों वर्ष, लेकिन इससे क्या फर्क पड़ता है? अनंत काल में अरबों वर्ष भी ऐसे ही हैं जैसे एक रात। सांझ तुमने दीया जलाया, सुबह तेल चुक गया, दीया बुझ गया।

भीतर एक ऐसा प्रकाश है जो कभी बुझता ही नहीं--बिन बाती बिन तेल। न तो वहां बाती है और न तेल है। ऐसा एक प्रकाश है। उस प्रकाश को जिसने देख लिया, फिर ये सब प्रकाश फीके मालूम होंगे।

श्री अरविंद ने कहा है, जब तक भीतर के प्रकाश को न देखा था तब तक सोचता था, बाहर का प्रकाश ही प्रकाश है। जब भीतर के प्रकाश को देखा तो जिसे अब तक बाहर का प्रकाश माना था, वह अंधकार जैसा दिखाई पड़ने लगा। और जब असली जीवन को देखा तो जिसे जीवन समझा था वह मौत मालूम होने लगी। और जब असली अमृत का स्वाद चखा तो जिसे अब तक अमृत समझा था वह विष हो गया, जहर हो गया।

ज्ञानी मूल को देख लेता है। लीला की गहराई में छिपे लीलाधर को पकड़ लेता। नृत्य के भीतर नाचते नटराज को पकड़ लेता। बात खतम हो गई। जब नटराज से संबंध जुड़ गया, नृत्य दिखता भी, दिखता भी नहीं।

स्फुरतोऽनन्तरूपेण प्रकृतिं च न पश्यतः।

फिर यह खेल चलता रहता है बाहर, लेकिन ज्ञानी में इसकी तरफ कोई लगाव, कोई रुचि, कोई दौड़ नहीं रह जाती। और जब ऐसी दौड़ ही न रह जाये तो फिर कहां बंध, कहां मोक्ष! यह बाहर का खेल ही बांधता है। जब यह बांध लेता है तो फिर मुक्त होने की कोशिश करनी पड़ती है। और जिसको भीतर का रहस्यधर दिखाई पड़ गया उसे तो बाहर का खेल बांधता ही नहीं; इसलिए मोक्ष का भी कोई कारण नहीं।

दृष्टि तंद्रिल, श्रवण सोये
अश्रु पंकिल, नयन खोये
मन कहां है? क्या हुआ है?

लग रहे कुछ भग्न-से हो
भ्रमशिला संलग्न-से हो
कर रहे हो ध्यान किसका?
क्यों स्वयं में मग्न-से हो?
लग रहे हो समय-बाधित
आप अपने से पराजित
हाय यह कैसी विवशता!
किस बुरे ग्रह ने छुआ है?

क्यों हुए उद्विग्न इतने?
पथ-प्रताड़ित विघ्न जितने
सोचकर देखो तनिक तो
श्वास हैं निर्विघ्न कितने
क्या चरण कोई कहीं हैं
काल-कवलित जो नहीं हैं
हर तरफ तम की विरासत
धुंध है कडुवा धुआं है!

तंतु-प्रेरित गात्र हो तुम
एक पुतले मात्र हो तुम
इस जगत की नाटिका के
क्षणिक भंगुर पात्र हो तुम
इसलिए हर भूमिका में
रंग भरो तुम भूमि जामे
बन सको निरपेक्ष तो फिर
क्या दुआ, क्या बद्दुआ है
मन कहां है? क्या हुआ है?

दृष्टि तंद्रिल, श्रवण सोये
अश्रु पंकिल, नयन खोये
मन कहां है? क्या हुआ है?

हम इतनी बुरी तरह जो भटके हैं, मन कहीं बाहर है इसलिए भटके हैं।

मन कहां है? क्या हुआ है?

और यह जो मन बाहर भटका है, कहीं-कहीं भटका है, अनंत-अनंत संसारों में भटका है, न मालूम कितनी वासना-कामनाओं में भटका है, इसकी वजह से हम घर नहीं लौट पाते। यह हमें खींचे लिये जाता। यह हमें दौड़ाये चला जाता। इसकी वजह से हम अपने को नहीं देख पाते। यह सब दिखा देता और अपने से वंचित कर देता।

मन कहां है? क्या हुआ है?
तंतु-प्रेरित गात्र हो तुम
एक पुतले मात्र हो तुम
इस जगत की नाटिका के
क्षणिक भंगुर पात्र हो तुम
इसलिए हर भूमिका में
रंग भरो तुम भूमि जामे
बन सको निरपेक्ष तो फिर
क्या दुआ, क्या बद्दुआ है
मन कहां है? क्या हुआ है?

जैसे ही ज्ञानी अपने द्रष्टा में ठहरता, दृश्य से हटता और द्रष्टा में ठहरता--इसको मैं कहता हूं एक सौ अस्सी डिग्रीवाला रूपांतरण। पूरा वर्तुल घूम गया, पूरा चाक घूम गया। हम बाहर देखते, ज्ञानी भीतर देखता। हम आंख खोलकर देखते, ज्ञानी आंख बंद करके देखता। हम विचार से देखते, ज्ञानी निर्विचार से देखता। हम मन से देखते, ज्ञानी अमन से देखता।

उल्टी हो गई बात सब। हमारी ऊर्जा बहिर्मुखी, ज्ञानी की ऊर्जा अंतर्मुखी। हम बाहर जाते, ज्ञानी भीतर आता। बस, आंख बंद करके जो दिखाई पड़ता है, वही सत्य है। एक बार आंख बंद करके तुम्हें भीतर का सत्य दिखाई पड़ जाये, फिर तुम आंख खोलना। फिर बाहर तुम्हें परमात्मा दिखाई पड़ेगा, प्रपंच नहीं। और फिर कैसा बंधन? परमात्मा ही है! कैसा बंधन और फिर कैसा मोक्ष? उससे मुक्त होने का प्रश्न भी कहां है? हम उसके साथ एक हैं। वह हमारा स्वभाव है। वही हमारा रस है।

"बुद्धिपर्यन्त संसार में जहां माया ही माया भासती है, ममतारहित, अहंकाररहित और कामनारहित ज्ञानी ही शोभता है।"

बुद्धिपर्यन्तसंसारे मायामात्रं विवर्तते।
इस सूत्र को खूब ध्यान से समझना।
निर्ममो निरहंकारो निष्कामः शोभते बुधः।।

दो शब्दों का भेद पहले समझ लो--बुद्धि और बुद्धत्व। अज्ञानी के पास बुद्धि है, ज्ञानी के पास बुद्धत्व। बुद्धि का अर्थ होता है, विचार की क्षमता। और बुद्धत्व का अर्थ होता है, निर्विचार की क्षमता। बुद्धि का अर्थ होता है, ऐसा आकाश जो बादलों से घिरा है। बुद्धत्व का अर्थ होता है, ऐसा आकाश जो अब बादलों से नहीं घिरा है। बुद्धि ही जब परम शुद्ध हो जाती है तो बुद्धत्व बन जाती है।

ऊर्जा वही है। बुद्धि ऐसी ऊर्जा है, जैसे सोना मिट्टी में पड़ा है--धूलि-धूसरित, कंकड़-पत्थर मिला। बुद्धत्व ऐसा सोना है जो आग से गुजर गया। कचरा-कूड़ा जल गया, परिशुद्ध हुआ। चौबीस कैरेट। सोना जब परिशुद्ध हो जाता है तो बुद्धत्व। और सोना जब कंकड़-पत्थर, मिट्टी-कचरे से मिला रहता है तो बुद्धि। बुद्धि को शुद्ध करते-करते ही बुद्धत्व का जन्म होता है।

समझो इस सूत्र को--
बुद्धिपर्यन्तसंसारे मायामात्रं विवर्तते।
बुद्धिपर्यन्त संसार है। बुद्धि ही संसार है।

बुद्धिपर्यन्तसंसारे...।

यह जो तुम्हारे भीतर विचारों का जाल है, ताना-बाना है यही संसार है। धीरे-धीरे विचारों को त्यागते जाओ, छोड़ते जाओ, क्षीण करते जाओ। तुम्हारे भीतर कभी-कभी ऐसे अंतराल आने लगेंगे जब क्षण भर को कोई विचार न होगा। एक विचार गया और दूसरा आया नहीं। थोड़ी देर को खाली जगह छूट गई। उसी खाली जगह में से तुम्हें अपना दर्शन होगा। उस अंतराल का नाम ही ध्यान की झलक है। वहां से तुम्हें पहले स्वाद मिलने शुरू होंगे।

जैसे किसी ने द्वार खोला और सूरज दिखाई पड़ा। बहुत दूर है सूरज अभी। लेकिन द्वार खोलने से दिखाई पड़ता। ऐसे ही एक विचार भी गिर जाये और थोड़ी-सी खाली जगह आ जाये तो उसी खाली जगह में से अपने से संबंध जुड़ता; क्षण भर को जुड़ता लेकिन वह क्षण भी शाश्वत हो जाता। वह क्षण भी रूपांतरित कर जाता। वह क्षण भी बड़ी गहरी कीमिया है।

बुद्धिपर्यन्तसंसारे मायामात्रं विवर्तते।

और जब तक बुद्धि है, विचारों से भरा हुआ जाल है तुम्हारे भीतर तब तक संसार है। और तब तक माया ही माया है। इसको ख्याल में लें। संसार बाहर नहीं है, बुद्धि की विचारणा में है। संसार ध्यान का अभाव है।

निर्ममो निरहंकारो निष्कामः शोभते बुधः।

और वह जो बुद्धत्व को प्राप्त हो गया उसके भीतर कौन-सी क्रांति घटती? न तो उसके भीतर ममता रह जाती, न अहंकार रह जाता, न कामना रह जाती। विचार के जाते ही ये तीन चीजें चली जाती हैं। कामना चली जाती। बिना विचार के कामना चल नहीं सकती। कामना को चलने के लिये विचार के अश्व चाहिए। विचार के घोड़ों पर बैठकर ही कामना चलती है। अगर तुम्हारे भीतर विचार नहीं तो तुम कामना को फैलाओगे कैसे? किन घोड़ों पर सवार करोगे कामना को? निर्विचार चित्त में तो कामना की तरंग उठ ही नहीं सकती। इसलिए कामना मर जाती है विचार के साथ।

ममता मर जाती। किसको कहोगे मेरा? किसको कहोगे अपना? किसको कहोगे पराया? मेरा और तेरा विचार का ही संबंध है। जहां विचार नहीं वहां कोई मेरा नहीं, कोई तेरा नहीं। जहां विचार नहीं है वहां सब संबंध विसर्जित हो गये। सब संबंध विचार के हैं।

और तीसरी चीज अहंकार। जहां विचार नहीं वहां मैं भी नहीं बचता। क्योंकि मैं सभी विचारों के जोड़ का नाम है। सभी विचारों की इकट्ठी गठरी का नाम मैं।

ये तीन चीजें हट जाती हैं जैसे ही विचार हटता। इसलिए मेरा सर्वाधिक जोर ध्यान पर है। ध्यान का इतना ही अर्थ होता है, तुम धीरे-धीरे निर्विचार में रमने लगो। बैठे हैं, कुछ सोच नहीं रहे। चल रहे हैं और कुछ सोच नहीं रहे। सोच ठहरा हुआ है। इस ठहरेपन में ही तुम अपने में डुबकी लगाओगे। इस ठहरेपन में ही स्फुरणा होगी, समाधि जगेगी।

बुद्धिपर्यन्तसंसारे मायामात्रं विवर्तते।
निर्ममो निरहंकारो निष्कामः शोभते बुधः।।
अक्षयं गतसंतापमात्मानं पश्यतो मुनेः।
क्व विद्या च क्व वा विश्वं क्व देहोऽहं ममेति वा।।

"अविनाशी और संतापरहित आत्मा को देखनेवाले मुनि को कहां विद्या, कहां विश्व, कहां देह और कहां अहंता-ममता है?"

"अविनाशी और संतापरिहत आत्मा को देखनेवाला--अक्षयं।"

मन क्षणभंगुर है। देखा तुमने? विचार ज्यादा देर नहीं टिकता। एक विचार आया...आया, गया। तुम रोकना भी चाहो तो भी ज्यादा देर नहीं टिकता। तुम एक विचार को थोड़ी देर रोककर देखो, तुम पाओगे नहीं टिकता। तुम लाख कोशिश करो, वह जाता। आता, जाता। विचार में गति है। विचार भागा-भागा है। विचार पागल है; ठहरता नहीं, रुकता नहीं, थिर नहीं होता। विचार क्षणभंगुर है, इसलिए विचार में क्षय है।

जहां निर्विचार है वहां अक्षयम्। वहां अक्षय की शुरुआत हुई। वहां तुम क्षण के पार गये, शाश्वत में उतरे। विचार समय की धारा है। और विचार के बाहर हुए कि कालातीत हुए। इसलिए समस्त ज्ञानियों ने ध्यान को कालातीत कहा है: समय के पार। समय के भीतर जो है, संसार है। और समय के पार जो है वही सत्य है।

अक्षयं गतसंतापमात्मानं पश्यतो मुनेः।

और जो व्यक्ति इस भीतर की अविनाशी धारा को अनुभव कर लेता है उसके सब संताप समाप्त हो जाते हैं।

फिर समझो, जितने भी जीवन के दुख हैं, सब विचार के दुख हैं। जितना भी जीवन का संताप है, सब विचार का संताप है। किसी ने गाली दी और तुम्हारे भीतर विचारों की एक तरंग उठ गई कि मेरा अपमान हो गया। अपमान हो गया, इस विचार से दुख होता है।

खलिल जिब्रान की बड़ी मीठी कथा है। एक आदमी परदेस गया--ऐसे देश, जहां उसकी भाषा कोई समझता नहीं। एक होटल के सामने खड़ा है, लोग भीतर-बाहर आ-जा रहे हैं। वह सोचने लगा, क्या है यहां? जाकर मैं भी देखूं, इतने लोग आते-जाते। बड़ा महल जैसा मालूम होता। गरीब आदमी, गरीब देश से आता। वह भीतर चला गया। वहां अनेक लोग टेबल-कुर्सियों पर बैठे हैं तो वह भी बैठ गया। वह बड़ा प्रसन्न है। बड़ा शीतल है। सब सुंदर है, सुवासित है।

और तभी वेटर आया। तो उसने समझा कि मेरे स्वागत में मालिक ने अपने आदमी भेजे। वेटर ने उसे समझने की कोशिश की, कुछ समझ न सका तो जो भी सामान्य भोजन था वह ले आया। उसने भोजन किया, बहुत प्रसन्न हुआ। झुक-झुककर धन्यवाद देने लगा। वेटर उसको पैसे मांगे, वह धन्यवाद दे। क्योंकि भाषा तो समझ में नहीं आती। वह समझ रहा है कि मेरा स्वागत किया गया।

अंततः वेटर उसे मैनेजर के पास ले गया। मैनेजर भी नाराज होने लगा लेकिन वह समझ रहा है कि मुझ परदेसी का इतना सम्मान किया जा रहा है। फिर उसे भेजा गया अदालत में। वह यही समझा कि सम्राट के पास भेजा जा रहा है।

अदालत बड़ी थी और सम्राट जैसा ही लगता था मजिस्ट्रेट। तो वह बड़ा झुक रहा। मजिस्ट्रेट उससे बहुत पूछता है कि तूने भोजन लिया तो पैसे क्यों नहीं चुकाये? मगर उसकी कुछ समझ में आता नहीं। वह भाषा समझता नहीं। वह जो कहता है, मजिस्ट्रेट नहीं समझ पाता।

आखिर मजिस्ट्रेरट ने कहा कि या तो यह आदमी पक्का धूर्त है, कि समझना नहीं चाहता; और या फिर महामूर्ख है। जो भी हो, इसको सजा दी जाये। इसके गले में एक तख्ती लटका दी जाये कि यह आदमी धूर्त है। और गधे पर बिठालकर इसकी सवारी गांव में घुमा दी जाये ताकि लोग जान लें कि इस तरह का काम कोई दुबारा न करे।

मगर वह तो बड़ा प्रसन्न है। जब उसके गले में तख्ती लटकाई तो उसने कहा, हद हो गई! मुझ गरीब आदमी का कैसा स्वागत हो रहा है। और जब गधे पर उसे बिठाला गया तब तो उसकी मगनता का अंत न रहा। उसने कहा, ये लोग भी आश्चर्य-जनक हैं--क्योंकि वह गरीब आदमी, घर पर गधे पर ही बैठता था। तो उसने सोचा हद है, इन लोगों ने पता भी कैसे लगा लिया कि मैं गधे पर ही बैठता हूं? और अब मेरी शोभायात्रा निकल रही। और बच्चे शोरगुल मचाते, और लोग हंसते और पीछे चलते और बड़ा जुलूस चला। और वह बड़ी अकड़ से बैठा।

सिर्फ एक बात मन में उसके खटकने लगी कि जब मैं लौटकर अपने गांव में कहूंगा तो कोई मानेगा नहीं कि ऐसा-ऐसा स्वागत हुआ। आज अगर कोई एक भी आदमी मेरा गांववाला होता तो मजा आ जाता। अब यह हो भी रहा है स्वागत तो बेकार है। यहां कोई मुझे जानता नहीं। और जहां लोग मुझे जानते हैं वहां कोई मानेगा नहीं।

तभी उसने देखा कि भीड़ में एक आदमी उसके देश का खड़ा है। वह आदमी कोई दस-बीस साल पहले आ गया था। तो वह बड़ा खुश हुआ। उसने कहा, देखते हो भाई, कैसा मेरा स्वागत हो रहा है। वह आदमी तो उसकी भाषा समझता है। वह जल्दी से भीड़ में सरक गया। वह इसलिए भीड़ में सरक गया कि यह मूढ़ समझ रहा है

कि स्वागत हो रहा है। वह इस देश की भाषा भी समझने लगा है। और कोई यह न पहचान ले कि मैं भी इसी आदमी के देश का रहनेवाला हूं, कोई मुझे भी ऐसा न समझे कि मैं भी धूर्त हूं। तो वह भीड़ में चुपचाप सरक गया।

और यह गधे पर बैठा आदमी सोचा, हद हो गईर् ईष्या की भी! मेरा स्वागत देखकर जलन पैदा हो रही है इसको। इसका कभी स्वागत नहीं हुआ मालूम होता, बीस साल हो गये आये हुए।

तुम्हें कोई गाली देता, गाली तुम्हारे भीतर विचारों का एक जाल पैदा करती है। अगर तुम गाली को शांतभाव से सुन सको और तुम्हारे भीतर विचार का कोई जाल पैदा न हो...गाली में नहीं है दंश। क्योंकि गाली अगर तुम्हारी समझ में न आये तो कोई अड़चन नहीं है। इसलिए गाली में दंश नहीं है। दंश तो तुम्हारे विचार की प्रक्रिया में है। जब भीतर विचार चलने लगे तो तुम पीड़ित हुए। किसी ने सम्मान किया तो तुम प्रफुल्लित होते हो। सम्मान में नहीं है प्रफुल्लता। तुम्हारे भीतर विचारों की जो तरंगें उठने लगती हैं, उनमें है।

ज्ञानी सुख और दुख में, सम्मान-अपमान में निर्विचार बना रहता है। जो होता उसे देख लेता लेकिन उसको कोई बहुत मूल्य नहीं देता। तटस्थ बना रहता है। संताप से मुक्त हो जाता है।

संताप हम पैदा करते हैं सोच-सोचकर। हम संताप के लिए बड़ी मेहनत करते हैं तब पैदा होता है। हम ऐसे दीवाने हैं कि बीस साल पहले किसी ने गाली दी थी, अब भी उसको सम्हालकर रखे हैं धरोहर की तरह, जैसे कोई हीरा-जवाहरात हो। अभी भी दिल में चोट आ जाती है। अभी भी याद कर लो उस बात को तो नथने फड़फड़ाने लगते हैं, हाथ-पैर गरम हो जाते हैं। मरने-मारने की जिद आ जाती है।

बीस साल पहले किसी ने गाली दी थी। एक हवा का झोंका आया और कब का गया, लेकिन तुम उसे पकड़े बैठे हो। एक स्मृति को पकड़े बैठे हो। तुम घाव को भरने नहीं देते। तुम घाव को कुरेदते रहते हो ताकि घाव हरा बना रहे।

लोग बड़े दुखवादी हैं। जो मनुष्य इस जगत में आनंदित होना चाहे उसे कोई रोक नहीं सकता। और अगर तुम दुखी हो तो तुम्हारे कारण दुखी हो। कोई तुम्हें दुखी कर नहीं रहा।

यह जो...जिस ढंग से हम जी रहे हैं, इस जीने में कहीं बुनियादी भूल हो रही है। अंधेरा बहुत बड़ा है--मन का अंधेरा, विचार का अंधेरा। और जरा-सी समझ है। बड़ी छोटी समझ है। जरा चोट पड़ती है कि समझ बिखर जाती, अंधेरा पूरा हो जाता। जरा चोट पड़ी कि तुम्हारी समझदारी गई। बड़े से बड़ा समझदार आदमी जरा-सी चोट में विचलित हो जाता है और समाप्त हो जाता है।

आंगन भर धूप में
मुट्ठी भर छांव की क्या बिसात, हो न हो!

अंतर की पीर कसे, अधरों पर हास हंसे
उलझन के झुरमुट में किरनों के हिरन फंसे
शहरों की भीड़ में
नन्हे-से गांव की क्या बिसात, हो न हो!

ढहते प्रण हाथ गहे, तट ने आघात सहे
भावी के सुख-सपने लहरों के साथ बहे
तूफानी ज्वार में
कागदीया नाव की क्या बिसात, हो न हो!

भेदभरे राज खुले, सुख-दुख जब मिले-जुले
बांवरिया दृष्टि धुली, आंसू के तुहिन घुले

कालजयी राह पर
क्षणजीवी पांव की क्या बिसात, हो न हो!

हमारी समझ बड़ी क्षणजीवी है। हमारे पैर बड़े कमजोर। हमारी बुद्धि तो ऐसी है जैसे बड़े गहन अंधकार में जरा-सी रोशनी है। बस जरा झिलमिलाती रोशनी है--अब मरी, तब मरी।

ढहते प्रण हाथ गहे, तट ने आघात सहे
भावी के सुख-सपने लहरों के साथ बहे
तूफानी ज्वार में
कागदीया नाव की क्या बिसात, हो न हो!

हमारी नाव तो कागज की है और तूफानी सागर है। इस कागज की नाव में पार करने का तय किया है। डूबना सुनिश्चित है। कुछ और नाव बनाओ। कुछ ऐसी नाव बनाओ, जो कागज की न हो। कुछ ऐसी नाव बनाओ जो वस्तुतः उस पार ले जाये।

यह मन की नाव तो कागज की नाव है, ध्यान की नाव बनाओ। यह दृश्य में उलझे-उलझे तो बस--

आंगन भर धूप में
मुट्ठीभर छांव की क्या बिसात, हो न हो!

यह जो तुम्हारी अभी विचारों के द्वारा जो तुमने थोड़ी-सी समझ का भ्रम पाल रखा है, यह बहुत काम नहीं आता।

आंगन भर धूप में
मुट्ठीभर छांव की क्या बिसात, हो न हो!

यह जरा-जरा में खो जाती है। यह कभी काम नहीं आती। जब जरूरत नहीं होती तब तो मालूम होती है, जब जरूरत होती तब खो जाती है। जब तुम घर में बैठे हो, किसी ने कोई अपमान नहीं किया तब तुम बड़े शांत मालूम पड़ते हो। किसी ने जरा-सा अपमान कर दिया, सब शांति खो गई। जब फिर शांत हो जाओगे तो फिर सोचोगे कैसी भूल हो गई। न करते तो अच्छा था।

अब यह बड़े मजे की बात है, तुम्हारी समझ तभी आती है जब काम नहीं होता। और जब काम होता है तभी खो जाती है। यह तो ऐसे ही है कि जब जरूरत पड़े, खीसे में हाथ डालो, पैसे नदारद। और जब जरूरत न रहे, हाथ डालो, पैसे खनखनाने लगे। यह तो बड़ी मुश्किल हो जाये। जब जरूरत हो तब गरीब; तब बैंक देने को तैयार नहीं। और जब जरूरत न हो, तब बैंक कहती है, आओ; आपका ही है सब--मगर जब जरूरत न हो।

तुमने ख्याल किया? तुम्हारी समझ तभी काम आती जब काम की नहीं होती। कोई जरूरत ही नहीं होती। हां, शास्त्र पढ़ रहे हैं तो तुम बड़े बुद्धिमान होते। बाजार में, दूकान में, जीवन के संघर्ष में सब बुद्धि खो जाती है।

भेदभरे राज खुले, सुख-दुख जब मिले-जुले
बांवरिया दृष्टि धुली, आंसू के तुहिन घुले
कालजयी राह पर
क्षणजीवी पांव की क्या बिसात, हो न हो!

यह हमारा जो पांव है, बड़ा क्षणजीवी है। ये जो विचार के चरण हैं इनसे तुम अनंत के द्वार तक न पहुंच पाओगे। कोई और पैर चाहिए। कोई और ज्योति चाहिए, जो इतने जल्दी-जल्दी बुझ न जाती हो। ऐसी ज्योति चाहिए जो बुझती ही न हो। कालजयी ज्योति चाहिए। ऐसा कुछ चाहिए जिसे मृत्यु भी मिटा न सके।

अभी तो किसी ने गाली दी, और मिट जाता सब। अभी तो किसी ने सम्मान किया कि तुम डांवाडोल हो गये। अभी तो दो पैसे हाथ लग गये तो तुम फूले नहीं समाते। दो पैसे गिर गये तो आत्महत्या का विचार उठने

लगता है। अभी तो बात बड़ी छोटी है। मौत आयेगी तो तुम कैसे सम्हलोगे? और मौत आनेवाली है। इसीलिए तो लोग मौत से इतने डरते हैं। बुद्धि से काम न चलेगा, बुद्धत्व चाहिए।

अक्षयं गतसंतापमात्मानं पश्यतो मुनेः।

वही हो पाता है संताप से मुक्त, जो अविनाशी के साथ अपना संबंध जोड़ लेता। अविनाशी के साथ, अकाल के साथ, जो कभी अंत नहीं होगा उसके साथ जो संबंध जोड़ लेता, वही संताप के पार हो जाता।

"और ऐसी आत्मा को देखने वाले मुनि को कहां विद्या?"

फिर उसको शास्त्रों में नहीं खोजता पड़ता, शब्दों में नहीं खोजना पड़ता। विद्या की कोई जरूरत न रही। उसके भीतर ही द्वार खुल गया ज्ञान का। मंदिर के पट अपने भीतर ही खुले। अब उसे किसी शास्त्र में नहीं जाना पड़ता। स्वयं का शास्त्र उपलब्ध हो गया। जहां से सब शास्त्र जन्मे हैं, सब वेद, कुरान, गुरुग्रंथ जहां से जन्मे हैं वही स्रोत उपलब्ध हो गया। उस मूल स्रोत से संबंध जुड़ गया। अब बासे सिद्धांत और बासी धारणाओं की कोई भी जरूरत न रही।

ऐसी आत्मप्रतीति में ही--इति निश्चयी--व्यक्ति निश्चय को, श्रद्धा को उपलब्ध होता है।

विश्वास काम नहीं आते, श्रद्धा काम आती है। विश्वास बचकाना है, संस्कार मात्र है; श्रद्धा अनुभव है। और श्रद्धा जिसे पाना हो उसे ध्यान की नाव में सवार होना पड़े। जल्दी करो। समय बीत जायेगा। समय बीत ही रहा है। जल्दी करो कि ध्यान की नाव बन जाये। इसके पहले कि मौत तुम्हारे द्वार पर दस्तक दे, तुम्हारी ध्यान की नाव तैयार हो जानी चाहिए।

तो फिर मृत्यु समाधि बन जाती है। फिर मृत्यु में तुम्हें परमात्मा के ही दर्शन होते हैं। फिर मृत्यु में उसी से आलिंगन होता है। अभी तो जीवन में भी तुम परमात्मा से चूके हो, तब फिर मृत्यु में भी मिलना होता है! और जब कोई मृत्यु में भी उसको ही पाता है तभी समझना कि जीवन में भी पाया है।

और उसे पाये बिना हमारा सब पाया हुआ व्यर्थ है। उसे पाये बिना तुम और कुछ भी पा लो, एक दिन पछताओगे। बुरी तरह पछताओगे। बहुत रोओगे। और फिर रोने से भी कुछ न होगा। क्योंकि गया समय हाथ लौटता नहीं। जो जा चुका, जा चुका। समय रहते जाग जाना चाहिए।

जागो!

आज इतना ही।

अठत्तरवां प्रवचन

अक्षर से अक्षर की यात्रा

पहला प्रश्न: आपने एक कथा कही है, "स्वर्ग के रेस्टारेंट में एक बार जब लाओत्से, कन्फ्यूशियस और बुद्ध आये तो कालसुंदरी स्वर्णपात्र में लबालब जीवनरस भरकर लाई, पर बुद्ध ने जीवन दुख है कहकर जीवनरस से मुंह मोड़ लिया। कन्फ्यूशियस ने कहा कि जीवनरस ले ही आई हो तो लाओ, जरा चख लूं। और लाओत्से ने कहा कि जीवनरस को चखना क्या, पूरा पात्र ही ले आ, सभी पी लूं।" अब इस रेस्टारेंट में अष्टावक्र भी आ गये हैं। वे कालसुंदरी से जीवनरस स्वीकार करेंगे या नहीं? कृपा करके कहिये।

अष्टावक्र की न पूछो! जीवनरस तो स्वीकार करेंगे ही, उसे तो पी ही लेंगे, कालसुंदरी को भी पी जायेंगे।

अष्टावक्र का स्वीकार बेशर्त और पूरा है। यहां जो भी है, एक ही है। इसलिए द्वंद्व का, निषेध का उपाय नहीं है। विष भी अमृत है। अष्टावक्र जिस परम प्रज्ञा की बात कर रहे हैं वहां संसार ही निर्वाण है। वहां पदार्थ ही परमात्मा है। वहां बांटने का उपाय नहीं है। वहां निषेध की संभावना नहीं है, विरोध की संभावना नहीं है।

इसलिए तो पतंजलि जहां निषेध, योग, तप-जप की बात करते हैं वहां अष्टावक्र कहते हैं न त्याग, न जप, न तप, न विधि, न विधान। वैराग्य की जरूरत ही नहीं है। वैराग्य तो राग से बचने की चेष्टा है। राग और वैराग्य दोनों ही द्वंद्व हैं। अष्टावक्र की वीतरागता चरम है।

तो मैं तुमसे कहता हूं, अगर अष्टावक्र आ गये हों तो वे जीवनरस की पूरी सुराही तो पी जायेंगे, वे कालसुंदरी को भी पी जायेंगे।

और कालसुंदरी का अर्थ समझते हो? कालसुंदरी का अर्थ होता है, समय। यह जो छोटी-सी कहानी है चीन की, बड़ी महत्वपूर्ण है। कालसुंदरी का अर्थ होता है, समय की देवी जीवन का रस लेकर उपस्थित हुई।

और जिस व्यक्ति ने समय को ही पीना न सीखा वह जीवन के रस को पी ही न पायेगा। जीवन का रस समय की प्याली में ही भरा है। यह चारों तरफ जो भी तुम्हें रस भरा दिखाई पड़ रहा है, यह समय की प्याली में ही भरा है। यह सारा संसार समय की प्याली में भरा है।

और अष्टावक्र इसे पीने में संकोच न करेंगे; जरा भी संकोच न करेंगे। क्योंकि अष्टावक्र ने उसे जान लिया जो समयातीत है, कालातीत है। कालातीत जानता वही है जो काल को पी जाये; जो कालजयी हो जाये। जो समय को जीत ले वही शाश्वत को जानता है।

और जीतने का कोई उपाय लड़ना नहीं है। जिससे तुम लड़े उसे तुम कभी भी जीत न पाओगे। जिससे तुम लड़े वह तुम्हारे विरोध में बना ही रहेगा। उसे तुम कभी आत्मसात न कर पाओगे। और अगर एक ही है जगत में तो तुम जिससे भी लड़े, अपने ही अंग से लड़े। अपने ही अंग को काट दिया, अपंग रहोगे।

इसलिए मैं कहता हूं, अष्टावक्र अगर आ गये हों तो मधु-प्याली, मधु की सुराही, वह जो काल की देवी है उसके सहित उसे पी जायेंगे। ध्यान की प्रक्रिया समय को पी जाने की प्रक्रिया है। इसलिए समस्त ध्यान की परिभाषाओं में एक बात निश्चितरूपेण आयेगी--कालातीतता; समय के पार हो जाना। चाहे जैन व्याख्या करें, चाहे बौद्ध, चाहे हिंदू, चाहे ईसाई।

जीसस से उनके एक शिष्य ने पूछा है अंतिम क्षणों में--जब वे विदा होने लगे, जब उन्हें दुश्मन पकड़ने लगे--तो उसने पूछा, आपने बहुत बार समझाया है ईश्वर के राज्य के संबंध में, एक बार और पूछते हैं, कोई एक ऐसा सूत्र बता दें कि हम पहचान लें, भूल न हो। पहुंचें तो पहचान लें कि यह प्रभु का राज्य आ गया। तो जीसस ने कहा, एक बात खयाल रखना--देयर शैल बी टाइम नो लांगर। वहां समय नहीं होगा। बस जहां तुम्हें ऐसी

घड़ी आ जाये कि पाओ कि अब समय नहीं है, समझ लेना आ गया प्रभु का राज्य। जहां काल को पी जाओ; जहां अकाल हो जाओ।

सिक्खों का मंत्र है: "सत श्री अकाल।" उसका अर्थ होता है, सच वहीं है जहां काल मर गया, जहां अकाल, कालातीतता आ गई। वह ध्यान का सूत्र है, समाधि का सूत्र है। उस सूत्र में सारा ध्यान भरा है। लेकिन सिक्ख जिस ढंग से उसको उच्चारण करते हैं उससे लगता है कि वे मरने-मारने को उतारू हैं। "सत श्री अकाल!" तब वे अपनी तलवार निकाल लेते हैं। जैसे यह कोई युद्ध का नारा हो।

यह युद्ध का नारा नहीं है, यह अंतर्यात्रा का नारा है। यह तलवार में हाथ रखने का नारा नहीं है। यह कोई राजनैतिक नारा नहीं है, यह तो धर्म का मूल सार है। और जब नानक ने इसे चुना होगा तो क्या सोचकर चुना होगा? यही सोचकर चुना था कि यह याद दिलाता रहेगा कि समय के भीतर मन है, समय के पार हम हैं।

समय को पी जाओ।

दूसरा प्रश्न:

हर कोई ढूंढता है, एक मुट्ठी आसमान
हर कोई चाहता है, एक मुट्ठी आसमान
जो सीने से लगा ले हो ऐसा एक जहान
हर कोई ढूंढता है, एक मुट्ठी आसमान।

हर कोई प्रेम और सुरक्षा के लिए दौड़ रहा है लेकिन वे दोनों चीजें मृगमरीचिका बनी रहती हैं। आखिर सुरक्षा है कहां? आप कहते हैं कि स्वयं को अस्तित्व के हाथों में छोड़ दो। लेकिन वह स्थिति तो और भी असुरक्षित दिखती है। प्रेम और सुरक्षा को कैसे उपलब्ध होवें?

ठीक पूछा है। आदमी दो ही चीजें खोज रहा है: प्रेम मिल जाये और सुरक्षा मिल जाये। सुरक्षा के लिए धन इकट्ठा करता है, प्रेम के लिए संबंध बनाता है। सुरक्षा के लिए मकान बनाता है, किले की दीवालें उठाता है, तिजोड़ियां खड़ी करता है। प्रेम के लिए पत्नी, पति, बेटे, बेटियां, मित्र, प्रियजन, परिवार इनका निर्माण करता है।

सुरक्षा और प्रेम की खोज से ही तो सारा संसार निर्मित होता है। जिसको तुम संसार कहते हो वह है क्या? सुरक्षा और प्रेम को पाने की प्रबल आकांक्षा। और मिलती नहीं। दौड़ जारी रहती है।

कितना ही धन हो तो भी सुरक्षा नहीं आती हाथ। सच तो यह है, पहले तुम अपने लिए डरे थे कि कैसे अपनी सुरक्षा करें; अब इस धन की भी सुरक्षा करनी पड़ती है। असुरक्षा दुगुनी हो गई। पहले अपने को बचाते थे अब यह धन भी है, इसको भी बचाना है।

कहानियां कहती हैं न! कि आदमी मर भी जाता है तो मरकर सांप होकर अपने धन की तिजोड़ी के पास फन मारकर बैठ जाता है। जिंदा भर भी फन मारे बैठा रहता है, मरकर भी फन मारकर बैठ जाता है। जिनको तुम धन के मालिक कहते हो, धन के चौकीदार कहो। मालिक तो कभी-कभार कोई होता है। मालिक तो वह, जो देना जानता है। मालिक तो वह, जो देने में समर्थ है।

गुरजिएफ ने कहा है, जो मैंने बचाया, पाया कि खो गया। और जो मैंने दिया, आखिर में पाया कि बच रहा है।

दिया हुआ ही बचता है। देनेवाला ही मालिक है। लेकिन जो धन में सुरक्षा खोज रहा है वह देगा कैसे? वह तो एक-एक पैसे को पकड़े हुए है, जकड़े हुए है। सुरक्षा है। और फिर इस धन की भी सुरक्षा करनी पड़ती है। फिर ऐसे एक पर एक सुरक्षा की दौड़ बड़ी होती जाती है।

प्रेम को तुम पाने की दौड़ में कितने संबंध बना लेते हो! संबंध तो बन जाते हैं, प्रेम कहां मिलता? तुमने यह मजा देखा? जिस स्त्री से तुम दूर हो उसके प्रति प्रेम मालूम पड़ता है। जैसे ही तुम्हारे कब्जे में आई, प्रेम छलांग लगाकर किसी और स्त्री पर सवार होने लगता है।

प्रेम छलांग लगाता है। जो मिल गया उससे हट जाता है। किसी और पर खोज शुरू हो जाती है। क्योंकि जो मिल गया, पता चलता है, कहां प्रेम है? हड्डी, मांस, मज्जा मिल गई। एक स्त्री मिल गई, एक पुरुष मिल गया। प्रेम कहां है! फिर आकांक्षा पर मारने लगती है। फिर सपने फैलने लगते हैं। फिर खोज जारी है। मिला नहीं कोई कि खोज जारी नहीं हुई। हर मिलन फिर नई खोज पर निकल जाना हो जाता है। हर द्वार और नये द्वार खोल देता है। यात्रा बंद नहीं होती।

मृग-मरीचिका का यही अर्थ होता है। तुमने ठीक पूछा कि प्रेम को खोजते हैं, सुरक्षा को खोजते हैं और दोनों मृग-मरीचिका बनी रहती हैं। और आप कहते हैं कि अपने को अस्तित्व के हाथों में छोड़ दो। उसमें तो और असुरक्षा मालूम होती है।

निश्चित ही। क्योंकि असुरक्षा ही सुरक्षित हो जाने का उपाय है। जिसने बचाया उसने खोया। जिसने खोया उसने बचा लिया।

तुम किस चीज की सुरक्षा कर रहे हो? जिस चीज की तुम सुरक्षा कर रहे हो वह बचनेवाली नहीं है। शरीर को बचाओगे? यह जाकर रहेगा। धन को बचाओगे? यह जाकर रहेगा। घर को बचाओगे? तुम नहीं थे तब भी था, तुम नहीं होओगे तब भी होगा। इस घर को तुमसे कुछ लेना-देना नहीं है। किसको बचाओगे? न देह बचती, न धन बचता। सब खो जाते। और मौत तो एक दिन आकर सब मटियामेट कर देती। तुम्हारे बनाये हुए घरघूले, रेत के घर सब गिरा देती है। क्या बचाओगे? जहां मौत है वहां सुरक्षा हो कैसे सकती है? जहां मौत है वहां सुरक्षा हो ही नहीं सकती।

तो फिर क्या सुरक्षा का कोई उपाय नहीं? सुरक्षा की खोज में ही भ्रांति है। तुम असुरक्षित हो जाओ। तुम असुरक्षित होने को स्वीकार कर लो। यही है, जब मैं कहता हूं कि अस्तित्व के हाथों में छोड़ दो। असुरक्षा जीवन का स्वभाव है। इसे बदला नहीं जा सकता।

बच्चे थे एक दिन तुम, बचपन गया; रोक सके? क्या करते? कैसे रोकते? जवान थे तुम, जवानी गई; रोक सके? बुढ़ापा भी चला जायेगा। देह थी, देह भी चली जायेगी। जो भी है सब बह रहा है। यहां कुछ रुकेगा नहीं। यहां कुछ रुकता ही नहीं। सब जल की धार है। इस जल की धार में तुमने रोकना चाहा तो दुखी होओगे, बस। और तुमने जान लिया कि यह धार का स्वभाव है कि यहां कुछ रुकता नहीं--उसी क्षण दुख गया। अब दुख होने का कोई कारण न रहा। तुमने माना कि रुकता है, तो अड़चन आई।

बुद्ध के जीवन में उल्लेख है। किसा गौतमी नाम की एक सुंदरी युवती का इकलौता बेटा मर गया। उसे बहुत चाहती थी। वही उसका सब कुछ था। वह उसकी लाश को लेकर गांव में घूमने लगी। वह द्वार-द्वार दस्तक देने लगी कि कोई औषधि हो, कोई तंत्र-मंत्र, किसी का आशीष।

लोग रोते, उस पर दया करते। सारा गांव उसे प्रेम करता था। वह प्यारी महिला थी। उसका पति भी मर गया था। इसी बेटे के सहारे जीती थी। और यह बेटा भी चल बसा। वह बिलकुल अकेली हो गई। उसने किसी तरह जहर का घूंट पीकर पति के मर जाने को स्वीकार कर लिया था। लेकिन अब यह बहुत ज्यादा हो गया। अब उसका आखिरी सहारा भी गया। उसका आखिरी भविष्य भी छिन गया। अब सब तरफ अंधेरा था।

किसी ने उसको कहा कि पागल, हमारे द्वारों पर दस्तक देने से क्या होगा? हम खुद दुखी हैं। तू ऐसा कर, बुद्ध आये हुए हैं, तू उनके पास जा। बुद्ध गांव के बाहर ठहरे हैं। शायद उन महात्मा के आशीष से कुछ हो जाये। तो वह अपने बेटे की लाश को लेकर गई। बुद्ध के चरणों में लाश रख दी और कहा, आप आये हैं, यह देखें, मैं अभी जवान हूं, मेरा पति चला गया। यह मेरा बेटा भी गया। आप कुछ करें। मेरे दुख को देखें। और वह जार-जार रो रही है। बुद्ध ने कहा, ठहर, कुछ करूंगा। कुछ करना ही पड़ेगा। उसकी हिम्मत लौट आई। उसके आंसू सूख गये। उसने कहा, कितनी देर लगेगी? बुद्ध ने कहा, थोड़ी ही देर लगेगी। तेरे गांव में तू जा। किसी भी घर

से...किसी भी घर से चार दाने चावल के मांग ला। लेकिन ऐसे घर से मांगना, जहां कोई मौत कभी घटित न हुई हो।

वह भागी। वह तो भूल ही गई कि यह क्या बात बुद्ध ने कही है। यह कहीं होनेवाली है! लेकिन जब आदमी अपने दुख में डूबा होता है तो कौन गणित लगाता? शायद कोई घर हो, जहां मौत कभी न हुई हो। और जब बुद्ध कहते हैं तो जरूर कोई घर होगा। वह घर-घर द्वार-द्वार मांगने लगी कि चार दाने चावल के मुझे दे दो। लोग बोरियां खोल दिये। उन्होंने कहा, पूरी बोरी की बोरी ले जा। हम सारा खलिहान तेरे घर पर उड़ेल दें लेकिन क्षमा कर, हमारे दाने काम न आयेंगे। हमारे घर में तो बहुत मौतें हो चुकीं। जिंदा तो बहुत कम हैं, मरे बहुत हैं। हमारे बाप मरे, बाप के बाप मरे, मां मरी, मां की मां मरी, हमारे भाई मरे, किसी की पत्नी मरी, किसी के पति मरे, किसी के बेटे, किसी की बेटी। मुर्दों की संख्या ज्यादा है, वे लोग कहने लगे, जिंदा तो बहुत कम हैं, दो-चार बचे हैं। लाखों मरे हैं।

घर-घर घूमते-घूमते लेकिन एक बात उसकी समझ में साफ होने लगी कि मौत तो घटती ही है। हर घर में घटती है। हर आदमी को घटती है। मेरे साथ अपवाद नहीं हो सकता। पूरे गांव में मांगते-मांगते किसा गौतमी समाधि को उपलब्ध हो गई। जब वह लौटकर आई तो परम शांत थी।

भिक्षु द्वार पर खड़े थे, इस रहस्यपूर्ण लीला को देख रहे थे कि बुद्ध ने क्या किया। अब क्या होगा? क्या इसे चावल मिल जायेंगे? क्या बेटा जी उठेगा? और किसा गौतमी जब शांत, परम मौन में, बड़े प्रसाद से भरी आने लगी तो वे समझे कि मिल गये दाने। चमत्कार होकर रहेगा।

दौड़े। बुद्ध को उन्होंने कहा कि किसा गौतमी आ रही है, बिलकुल शांत है। आंसू बिलकुल जा चुके हैं। जरा भी बेचैनी, दुख की कोई छाया नहीं है। लगता है, वे चावल जो आपने कहे थे, मिल गये। बुद्ध ने कहा, पागलो, ठहरो; रुको, उसे आने दो। उसे चावलों से बड़ी कोई चीज मिल गई है। उसे जीवन का अर्थ मिल गया है। वह समझ कर आ रही है। उसके भीतर किरण उतरी है। उसका अंधेरा कट गया है।

और जब किसा गौतमी आकर उनके चरणों में गिरी और उसने कहा, मुझे दीक्षा दें। और उसने आंख भी उठाकर न देखी उस बेटे की लाश की तरफ। उसने लोगों से कहा, ले जाओ। मरघट पर जला दो। क्योंकि एक बात साफ हो गई कि यहां मौत तो घटती ही है। सभी की घटती है; देर-अबेर, अभी-कभी, इससे क्या फर्क पड़ता है? आज कि कल, दो दिन पहले कि दो दिन बाद, मौत तो यहां सुनिश्चित है। जो सुनिश्चित है उससे लड़ना व्यर्थ है। मैंने मौत को स्वीकार कर लिया। और मौत को स्वीकार करते ही मेरे भीतर एक ऐसी किरण उतरी है जो अमृत की है; जिसकी कोई मृत्यु नहीं होगी।

ऐसा जीवन का विरोधाभास से भरा हुआ स्वर्ण नियम है। तुम सुरक्षा खोजो, तुम असुरक्षित होते जाओगे। तुम प्रेम खोजो, और तुम विषाद से भरते जाओगे। फिर क्या करें? मैं कहता हूं, असुरक्षा है। जीवन का सत्य है। सत्य को झुठलाया नहीं जा सकता। तुम्हारी वांछाओं से थोड़े ही सत्य चलता है; जैसा है वैसा रहेगा। तुम लाख कहो कि ये वृक्ष के पत्ते पीले हो जायें, हरे न हों, सफेद हो जायें, काले हो जायें। कौन सुनने वाला है? ये वृक्ष के पत्ते हरे हैं। तुम ये सारे पत्ते काट डालो, फिर नये पत्ते निकलेंगे, फिर हरे निकलेंगे। क्योंकि वृक्ष के पत्ते तुम्हारी आकांक्षाओं से संचालित नहीं होते। वृक्ष के पत्ते किसी महानियम को मानकर चलते हैं, जहां से वे सदा हरे निकलते हैं।

जो पैदा हुआ वह मरेगा। जो जवान है वह कल बूढ़ा होगा। जो आज अकड़ा है, कल टूटेगा। जो आज आकाश छू रहा है, कल कब्र में गिरेगा। यह होनेवाला है। इसे बदलने का कोई उपाय नहीं है। तुम असंभव को मांगो मत।

बस, जैसे ही तुमने इसे स्वीकार कर लिया, फिर मैं तुमसे पूछता हूं, कहां है असुरक्षा? अब यह बड़े मजे की बात है। सुरक्षा को खोजो, असुरक्षा निर्मित होती है। क्योंकि जितनी तुम सुरक्षा की मांग करते हो उतनी

घबड़ाहट बढ़ती है। और उतना ही तुम्हें दिखाई पड़ता है कि सुरक्षा होनेवाली नहीं, असुरक्षा हो रही है। तो असुरक्षा बड़ी होती चली जाती है। तुम्हारी सुरक्षा के अनुपात में ही, तुम्हारी सुरक्षा की आकांक्षा का जो अनुपात है उसी अनुपात में असुरक्षा बड़ी होकर दिखाई पड़ने लगती है। तुम्हें अपनी हार दिखाई पड़ने लगती है। तुम्हें लगता है कि जीत न पायेंगे, हार निश्चित है।

मैं तुमसे कह रहा हूं, तुम जान लो कि असुरक्षा तो है ही जीवन का स्वभाव; और सुरक्षा की चेष्टा छोड़ दो। जब सुरक्षा की कोई आकांक्षा ही न रही तो फिर कैसी असुरक्षा? असुरक्षा को कैसे तौलोगे? सुरक्षा की मांग अड़चन डालती है। जिस आदमी के जीवन में धन की वासना न रही वह क्या गरीब हो सकता है? कैसे होगा? धन की वासना के बिना गरीब होने का कोई उपाय ही न रहा। वह सम्राट हो गया। स्वामी राम ने कहा है, एक घर छोड़ा तो सारे घर मेरे हो गये। एक आंगन क्या छोड़ा, सारा आकाश मेरा आंगन हो गया। जब तक कुछ मेरे पास था, मैं दरिद्र था। अब कुछ भी मेरे पास नहीं है और मैं सम्राट हूं।

ऐसी ही है बात। जिनके पास कुछ है वे दरिद्र हैं। "कुछ" में तो दरिद्रता है ही। फिर वह कुछ किसी के पास थोड़ा है, किसी के पास ज्यादा है। किसी के पास दो गज जमीन है, किसी के पास हजार गज जमीन है, किसी के पास हजारों मील की जमीन है, लेकिन कुछ तो कुछ ही है। थोड़ा हो कि बड़ा हो, दरिद्रता तो दरिद्रता है। मात्रा के भेद से क्या फर्क पड़ेगा? तुम्हारे सम्राट भी तो दीन-हीन भिखारी हैं, जैसे तुम हो। अंतर कुछ बहुत नहीं है। उनके भिक्षापात्र बड़े होंगे, तुम्हारे भिक्षापात्र छोटे हैं, बस इतना ही फर्क है। भिक्षापात्र के बड़े होने से कोई सम्राट होता है?

नहीं, सम्राट तो वही है जिसने भिक्षापात्र ही हटा दिया। जिसने कहा कि जीवन जैसा है उससे अन्यथा की हमारी कोई मांग नहीं। हम सुरक्षा मांगते नहीं। असुरक्षा है तो असुरक्षा स्वीकार। असुरक्षा है तो असुरक्षा से हम राजी हैं। मौत आयेगी, तैयार हैं। बुढ़ापा आयेगा, उत्सुकता से प्रतीक्षा करेंगे।

जिनके जीवन में विरोध न रहा सत्य का, तथ्य का, उनके जीवन में असुरक्षा अपने आप खो गई। यह तुम्हें हैरानी की लगेगी बात, मैं फिर दोहरा दूं: सुरक्षा मांगी, असुरक्षा पैदा होती है। असुरक्षा है नहीं, तुम्हारी सुरक्षा की मांग से पैदा हो रही है। सुरक्षा की मांग गई, असुरक्षा भी गई। और तब जो शेष रह जाता है वही वास्तविक सुरक्षा है।

तुम पूछते हो, "आप कहते हैं, अस्तित्व के हाथों में छोड़ दें, इससे तो स्थिति और भी असुरक्षित हो जायेगी।"

तुम बिना छोड़े ही पूछ रहे हो। छोड़कर देखो। इधर मैंने छोड़कर देखा और मैं तुमसे कहता हूं, सब असुरक्षा खो जाती है। मैं कोई पंडित नहीं हूं। मैं किसी शास्त्र के सिद्धांत को समझाने नहीं बैठा हूं। यह मैं तुमसे अपने अनुभव से कहता हूं। यह मैं जानकर कहता हूं कि जिस दिन सुरक्षा छोड़ी, उसी दिन असुरक्षा भी गई। असुरक्षा सुरक्षा की ही छाया है। मूल ही चला गया तो अब पत्ते कहां लगेंगे? जड़ ही न रही तो अब अंकुर कहां फूटेगा?

नहीं, तुम सोच-सोचकर कह रहे हो। तुम कह रहे हो कि हम तो वैसे ही परेशान हैं। सुरक्षा खोज-खोजकर तो मिल नहीं रही, और आप मिल गये महाजन! आप कहते हैं, खोज भी छोड़ दो। खोज-खोजकर तो मिलती नहीं और आप कहते हैं, खोज भी छोड़ दो। खोज-खोजकर तो मिलती नहीं और आप कहते हैं इस अस्तित्व के हाथों में छोड़ दो। और असुरक्षित हो जायेंगे। फिर तो गये! मारे गये! फिर बचाव का कोई उपाय न रहा। बच-बचकर नहीं बच पा रहे हैं और आप कहते हैं, बचाओ ही मत। छोड़ो यह ढाल, छोड़ो यह तलवार। छोड़ ही दो।

तुम्हारी बात भी मेरी समझ में आती है। अगर तुम तर्क से ही सोचोगे तो ऐसा लगेगा; सुनिश्चित लगेगा। लेकिन यह अनुभव की बात है, तर्क की बात नहीं।

तुम थोड़ा स्वाद लेकर देखो। छोड़कर ही देखो। और ऐसा मत छोड़ना शर्त के साथ कि जरा देखें छोड़कर, क्या होता है। तो तुमने छोड़ा ही नहीं।

यह अनुभव वस्तुतः हो तो तुम अचानक पाओगे, न कोई असुरक्षा है, न सुरक्षा की कोई जरूरत है। तुम परमात्मा हो। तुम परमपद पर विराजमान हो। जो मिटता है वह तुम नहीं हो। जो आता-जाता है वह तुम नहीं हो। जो सदा है वही तुम हो। तत्वमसि। वही एक, जो न कभी आया, न कभी गया। जो शाश्वत, सनातन; चिर पुरातन, चिर नूतन; सदा से है और सदा रहेगा। यद्यपि बहुत-से रूप बनते और बिगड़ते हैं; लेकिन रूप के भीतर जो रूपायित है, वह अखंड, अविच्छिन्न बहता रहता है।

और दूसरी बात, पूछा है: प्रेम। तो असुरक्षा को मिटाने का तो उपाय है, सुरक्षा की वासना छोड़ दो। और प्रेम को पाने का उपाय है कि प्रेम को पाने मत जाओ, देने जाओ। तुम जब भी प्रेम को पाने जाते हो तभी चूक जाते हो। तुम कहते हो मिल जाये यहां से, मिल जाये वहां से।

प्रेम कोई दे थोड़े ही सकता तुम्हें! प्रेम कोई ऐसी चीज थोड़े ही है कि बाहर रखी है कि जाकर कब्जा कर लिया, कि भर लीं तिजोड़ियां। प्रेम कोई वस्तु नहीं है। प्रेम तो एक चैतन्य की दशा है। प्रेम कोई संबंध नहीं है, जो तुम्हारे और तुम्हारी पत्नी के बीच होता; या तुम्हारे और तुम्हारे बेटे के बीच होता है। प्रेम तो एक चैतन्य की दशा है। जब तुम परम आनंदित होते हो, तुमसे प्रेम झरता है। जैसे फूल जब खिलते हैं तो सुगंध झरती। सूरज निकलता है तो रोशनी झरती। ऐसे तुम जब परम शांति को उपलब्ध होते हो तो तुमसे प्रेम झरता है।

और तुम बाहर भटक रहे हो। तुम कहां खोजने चले हो? किससे मांगने जा रहे हो? जो तुम्हारे भीतर की संपदा है, किसी और से नहीं मिलेगी। किसी और से मांगने गये तो चूकते ही रहोगे, चूकते ही चले जाओगे। एक से न मिलेगी तो दूसरे के पास, दूसरे से नहीं तो तीसरे के पास। जन्मों-जन्मों में ऐसे ही तो तुमने आवागमन किया है। कितने घरों के द्वार पर तुमने भीख नहीं मांगी! भिक्षापात्र तो देखो, खाली का खाली है।

अब जरा उनकी भी सुनो, जो कहते हैं, मांगने की जरूरत ही नहीं है। जिस हीरे को तुम खोजने चले हो वह तुम्हारे ही अंतरतम में पड़ा है। प्रेम तुम्हारी संपदा है। प्रेम मिला बुद्ध को, प्रेम मिला महावीर को, प्रेम मिला जीसस को, प्रेम मिला मोहम्मद को। और उन्होंने किसी में जाकर प्रेम खोजा नहीं, प्रेम के संबंध नहीं बनाये। भीतर झांका, अंतर में झांका और प्रेम के झरने फूटे।

प्रेम एक चित्त की आखिरी दशा है; खिला हुआ फूल, जिसको हम सहस्रार कहते हैं। वह हजार पंखुरियों वाला कमल जब तुम्हारे भीतर खुलता है, उससे जो सुगंध बहने लगती है वही सुगंध प्रेम है। प्रेम संबंध नहीं, प्रेम स्वभाव है। इसलिए तुम चूक रहे हो। अगर तुम भीतर झांको तो तुम नाच उठो जैसे मोर नाच उठते हैं, जब आषाढ़ के पहले मेघ घिरते हैं।

अभी तो तुम्हारी हालत ऐसी है कि जैसे कौवे का पंख रखे हो और मोर का पंख मान बैठे हो। समझाते-बुझाते बहुत अपने को कि नहीं, है मोर का ही, लेकिन जानते तो हो कि है कौवे का। फिर गौर से देखते हो, फिर कौवे का पंख दिखाई पड़ जाता है। मोर का पंख कौवे के पंख को लीप-पोतकर नहीं बनाया जा सकता, रंग-रोगन करके नहीं बनाया जा सकता। जिस दिन तुम भीतर झांकोगे उस दिन तुम्हारा मोर नाच उठेगा। मन-मयूर नाचे। मयूरी नाच!

आषाढ़ के मेघ बादल में जैसे घिर जायें, जैसे पहली-पहली वर्षा गिरती है। और सूखे पत्ते हरे होने लगते हैं और सूख गये वृक्षों के प्राण फिर संजीवना से भर जाते हैं, भूखी धरती, प्यासी धरती तृप्त हो जाती है और सब तरफ एक हरियाली, एक संतोष, एक परितोष छा जाता।

हरी चूनर पहनकर आ गई वर्षा सुहागन फिर
कहीं वन-बीच फूलों में पड़ी थी स्वप्न में सोई
उलझते बादलों की लट पिया छलका गया कोई

तिमिर ने राह कर दी, राह कच्ची धूप की धोई
पवन की रागिनी मोती भरे आकाश में खोई
पहन धानी लहरिया आ गई वर्षा सुहागन फिर

मयूरी नाच! और ये बादल बाहर के आकाश में नहीं घिरते, और यह वर्षा बाहर के बादलों की वर्षा नहीं है। यह तुम्हारे भीतर की घटना है--अंतरतम की। प्रेम तुम्हारे अंतर्गृह का देवता है। इसे तुम कहां खोज रहे हो?

अब यह सोचो, जिनके पास भीतर प्रेम नहीं है वे दूसरों के पास प्रेम खोज रहे हैं। और जो तुम्हारे प्रेम में पड़ता है वह भी इसलिए प्रेम में पड़ा है कि शायद तुम्हारे पास प्रेम मिल जाये। देखते इस बात का मजा?

तुम एक स्त्री के प्रेम में पड़ गये, स्त्री तुम्हारे प्रेम में पड़ गई। न तुम्हारे पास प्रेम है, न उसके पास प्रेम है। होता ही तो तुम भटकते क्यों? मांगते क्यों? दो भिखमंगे एक दूसरे के सामने भिक्षापात्र लेकर खड़े हैं कि कुछ मिल जाये। दोनों इस आशा में हैं कि दूसरे पर होगा। दोनों में नहीं है। थोड़ी देर में भिक्षापात्र खड़खड़ाने लगते हैं, झगड़ा शुरू हो जाता है। जल्दी ही झगड़ा शुरू हो जाता है! प्रेमी जल्दी ही लड़ने लगते हैं। क्योंकि कितनी देर धोखा खाओगे? जल्दी ही लगने लगता है कि अरे, तो दूसरा धोखा दे रहा है! कुछ मिल नहीं रहा। और दूसरे को भी लगता है, तुम भी कुछ दे नहीं रहे। तो यह व्यर्थ गई बात। यह मिलन फिर बेकार गया। फिर कहीं और खोजें, कोई और द्वार खटखटायें। ऐसे ही चलता।

नहीं, इस तरह प्रेम नहीं मिलेगा। प्रेम को जगाना हो, प्रेम की ज्योति को आविर्भूत करना हो तो भीतर जाना पड़े। प्रेम है तुम्हारे अंतरतम की पहचान। जब तुमने अपने जीवन का मूलस्रोत पा लिया, झरना पा लिया तो वहां से जो धार बहती है, वही प्रेम है।

फिर तुम जहां भी बैठोगे वहीं तुम प्रेम को पाओगे। तुम्हारा प्रेम तुम्हारे साथ है। हर आदमी अपना स्वर्ग और अपना नर्क अपने भीतर लेकर चलता है। तुम लिये तो नर्क हो और स्वर्ग की तलाश कर रहे हो, यहीं भूल हो रही है। लिये तो दुख के बीज हो और सुख की तलाश कर रहे हो, यहीं भूल हो रही है। तुम फसल दुख की काटोगे क्योंकि बीज जो हैं वही तो उगेंगे। कितना ही तुम मांगो सुख, काटोगे फसल दुख की। प्रेम के नाम पर तुम घृणा को ही पाओगे, क्रोध को ही पाओगे। और-और नई-नई पीड़ाएं, नये-नये घाव बना लोगे। और नासूर पैदा होंगे।

नहीं, यह कोई उपाय नहीं है। प्रेम के नाम पर मवाद ही पैदा होगी, कुछ भी और पैदा न होगा।

इसलिए तुमसे कहता हूं...तुम कहते हो--

"हर कोई ढूंढता है एक मुट्ठी आसमान
हर कोई चाहता है एक मुट्ठी आसमान
जो सीने से लगा ले हो ऐसा एक जहान
हर कोई ढूंढता है एक मुट्ठी आसमान"

मुट्ठी आसमान? तुम्हारे भीतर पूरा आसमान मौजूद है, पूरा आकाश। मुट्ठियों की बातें छोड़ो। ये दीन-दरिद्रों की बातें छोड़ो। मुट्ठियों से कहीं आकाश नापे गये? मुट्ठियों से कहीं आकाश मांगे गये? मुट्ठी जोर से बांध ली तो आकाश बाहर निकल जाता है। मुट्ठी खुली हो तो आकाश पूरा हाथ में है, मुट्ठी बांधी कि गया।

और जो आकाश बाहर दिखाई पड़ता है यही थोड़े ही पूरा आकाश है! असली आकाश भीतर है। भीतर चलो। भीतर के इस शून्य से थोड़ा संबंध बनाओ। जिस व्यक्ति ने भीतर के शून्य के साथ भांवर डाल ली, उसके जीवन में प्रेम खिलता। खूब खिलता। न केवल उसे मिलता, उसके आसपास जो आकर बैठ जायें वे भी अनायास धन्यभागी हो जाते हैं। उन पर भी आशीष की वर्षा हो जाती है।

तीसरा प्रश्न: तंत्र को आपने कहा, आकाश से आकाश में उड़ान। क्या यही तंत्र का मूल स्वर है? इसमें जीवन का परम स्वीकार किस भांति समाहित है? कृपा करके समझायें।

मैं ने कहा, अक्षर से क्षर की यात्रा यंत्र

क्षर से अक्षर की यात्रा मंत्र

अक्षर से अक्षर की यात्रा तंत्र

देह है यंत्र। दो देहों के बीच जो संबंध होता है वह है यांत्रिक। सेक्स यांत्रिक है। कामवासना यांत्रिक है। दो मशीनों के बीच घटना घट रही है।

मन है मंत्र। मंत्र शब्द मन से ही बना है। जो मन का है वही मंत्र। जिससे मन में उतरा जाता है वही मंत्र। जो मन का मौलिक सूत्र है वही मंत्र। मन और मंत्र की मूल धातु एक ही है।

तो देह है यंत्र। देह से देह की यात्रा यांत्रिक--कामवासना, सेक्स।

मन है मंत्र। मन से मन की यात्रा मांत्रिक। जिसको तुम साधारणतः प्रेम कहते हो--दो मनों के बीच मिल जाना। दो मनों का मिलन। दो मनों के बीच एक संगीत की थिरकन। दो मनों के बीच एक नृत्य। देह से ऊपर है। देह है भौतिक, मंत्र है मानसिक, मनोवैज्ञानिक, सायकॉलॉजिकल।

और आत्मा है तंत्र। दो आकाशों का मिलन। अक्षर से अक्षर की यात्रा। जब दो आत्मायें मिलती हैं तो तंत्र--न देह, न मन। तंत्र ऊंचे से ऊंची घटना है। तंत्र परम घटना है।

तो इससे ऐसा समझो:

देह--यंत्र, सेक्सुअल, शारीरिक।

मन--मंत्र, सायकॉलॉजिकल, मानसिक।

आत्मा--तंत्र, कॉस्मिक, आध्यात्मिक।

ये तीन तल हैं तुम्हारे जीवन के। यंत्र का तल, मंत्र का तल, तंत्र का तल। इन तीनों को ठीक से पहचानो। और तुम्हारे हर काम तीन में बंटे हैं।

कोई व्यक्ति भोजन करता यंत्रवत। न उसे स्वाद का पता है, न वह भोजन करते वक्त भोजन कर रहा है; डाल रहा है किसी तरह। हिसाब लगा रहा है दूकान का, ग्राहकों से बात कर रहा है, हिसाब-किताब, बही-खाते कर रहा है भीतर, इधर भोजन डाले जा रहा है। यह भोजन हुआ यांत्रिक। तो भोजन भी यंत्रवत हो गया।

फिर कोई व्यक्ति बड़े मनोभाव से...किसी ने बड़े प्रेम से भोजन बनाया है। तुम्हारी मां ने बड़े प्रेम से भोजन बनाया है, कि तुम्हारी पत्नी दिन भर तुम्हारी प्रतीक्षा की है, ऐसा अपमान तो न करो उसका! इतने भाव से बनाये गये भोजन का ऐसा तिरस्कार तो न करो कि तुम खाते-बही कर रहे हो, कि तुम भीतर-भीतर गणित बिठा रहे हो, कि तुम यहां हो ही नहीं।

कोई मन से भोजन करता है तो भोजन भी मांत्रिक हो जाता है। तब सब हटा दिया। कहीं और नहीं, यहीं है। बड़े मनोभावपूर्वक, बड़ी तल्लीनता से, बड़े ध्यानपूर्वक, बड़ी अभिरुचि से, स्वाद से, सम्मान से।

और कोई ऐसा भी भोजन करता जो आध्यात्मिक। उपनिषद कहते हैं, अन्नं ब्रह्म--अन्न ब्रह्म है। यह ऋषियों ने भोजन भी आध्यात्मिक ढंग से किया होगा--तांत्रिक। क्योंकि भोजन भी वही है। हम उसी को तो पचाते हैं। हम भोजन में उसी का तो स्वाद लेते हैं। भोजन में वही तो हमारे भीतर जाकर जीवन का नवसंचार करता, नये रस से भरता, पुनरुज्जीवित करता। जो मुर्दा कोष्ठ हैं उन्हें बाहर फेंक देता, नये जीवित कोष्ठ निर्मित कर देता। तो परमात्मा भोजन से भीतर आता है--तांत्रिक।

ऐसे तुम समझो प्रत्येक क्रिया तीन तल पर है। कोई आदमी रास्ते पर घूमने गया और हजार-हजार विचारों में उलझा--यांत्रिक। कोई रास्ते पर घूम रहा, विचारों में उलझा हुआ नहीं। सुबह की हवा उसे छूती, संवेदनशील, सुबह का सूरज अपनी किरणें बरसाता, पक्षी गुनगुनाते। वह इन सबको सुन रहा मंत्रमुग्ध। मस्ती में जा रहा--मांत्रिक। और फिर कोई ऐसे भी जा सकता है कि हर हवा का झोंका परमात्मा का झोंका मालूम

पड़े। और हर किरण उसकी ही किरण मालूम पड़े। और हर पक्षी की गुनगुनाहट उसके ही वेदों का उच्चार, उसके ही कुरान का अवतरण--तो तांत्रिक।

तुम अपने जीवन की प्रत्येक क्रिया को तीन में बांट सकते हो। ध्यान रखना, यंत्र में ही मत मर जाना। अधिक लोग यंत्र की तरह ही जीते, यंत्र की तरह ही मर जाते। बहुत थोड़े-से धन्यभागी मांत्रिक हो पाते हैं--कवि, संगीतज्ञ, नर्तक। बहुत थोड़े-से लोग! और वे भी बहुत थोड़े-से क्षणों में, चौबीस घंटे नहीं। चौबीस घंटे तो वे भी यांत्रिक होते हैं। कभी-कभी किसी क्षण में, किसी पुलक में, जरा-सा द्वार खुलता, जरा-सा झरोखा खुलता और उस तरफ का जगत झांकता; उस आयाम का प्रवेश होता। क्षण भर को एक कविता लहर जाती, फिर द्वार बंद हो जाते हैं।

फिर बहुत विरले लोग हैं--कृष्ण और बुद्ध और अष्टावक्र--बहुत विरले लोग हैं, करोड़ों में कभी एक होता, जो तांत्रिक रूप से जीता। जिसका प्रतिपल दो आकाशों का मिलन है--प्रतिपल! सोते, जागते, उठते, बैठते जो भी उसके जीवन में हो रहा है, उसमें अंतर और बाहर मिल रहे हैं, परमात्मा और प्रकृति मिल रही है, संसार और निर्वाण मिल रहा है। परम मिलन घट रहा है। परम उत्सव हो रहा है। रसो वै सः। वैसी ही अवस्था में किसी ने कहा है, परमात्मा रसरूप है। महोत्सव हो रहा है।

तो तुम अपनी प्रत्येक क्रिया को यांत्रिक से तांत्रिक तक पहुंचाना। मंत्र बीच का द्वार है। इसलिए मंत्रों का इतना उपयोग धर्मों में हुआ है। वह तो प्रतीकात्मक है। अगर तुम पूरी बात को समझो तो मंत्र सेतु है। मंत्र का मतलब केवल इतना ही नहीं होता कि तुम बैठे राम-राम-राम दोहरा रहे हो तो मंत्र हो गया। वह बड़ा छोटा अर्थ है, बड़ा एक आंशिक अर्थ है। जो मैं तुमसे कह रहा हूं, यह अर्थ है मांत्रिक का कि तुम मन से जीने लगे। तुम्हारा जीवन मनःपूर्वक हो गया। तुम्हारे जीवन में मनन उतरा तो तुम मांत्रिक।

यह राम-राम दोहराने से कुछ न होगा। क्योंकि फिर फर्क समझ लेना; एक आदमी बैठा-बैठा राम-राम दोहरा सकता हो और यांत्रिक हो, मांत्रिक बिलकुल न हो। दोहरा रहा है तोते की तरह। तोते को तुम रटवा दो राम-राम-राम-राम, तोता दोहराता रहता है। अनेक इसी तरह के तोते रामनाम की चदरिया ओढ़े बैठे हैं। अभी तुम जाओ तो कुंभ में मिल जायेंगे तुमको सब तोते इस मुल्क के। वे बैठे दोहरा रहे हैं, राम-राम-राम-राम। कुछ मतलब नहीं है, लेकिन इतने दिन से दोहरा रहे हैं कि अब यह दोहराना उनकी आदत हो गई है। इस दोहराने से कुछ फर्क नहीं पड़ता। भीतर और सब विचार चल रहे हैं और ये ऊपर-ऊपर राम-राम-राम-राम दोहरा रहे हैं। और भीतर सब चल रहा है। पूरा व्यवसाय चल रहा है, पूरी दूकान चल रही है, पूरा बाजार चल रहा है, सब चल रहा है।

बचपन में मेरे घर के सामने एक मिठाईवाले की दूकान थी। मिठाईवाला था, जैसे मिठाईवाले होने चाहिए वैसा था। काफी बड़ा पेट! उठ भी नहीं सकता था ज्यादा, तो ज्यादा काम का भी नहीं था। वह अपना मंच पर ही बैठा रहता, वहीं से मिठाई तौलता रहता। खाली वक्त में जब कुछ न होता, तो वह माला फेरता रहता: "राम-राम-राम-राम।"

मैं बड़ा हैरान होता था। बचपन से ही उसको मैं देखता रहता सामने ही। ऐसा राम-राम भी करता रहता, ग्राहक आता तो उसको इशारे भी कर देता, पांच उंगली बता देता। जो नौकर काम कर रहा है दूकान पर उसको बता देता कि जोर से चला, आग बुझी जा रही है। और इधर राम-राम चल रहा है। इसमें कोई फर्क ही नहीं पड़ रहा है।

वह राम-राम तो बिलकुल यंत्रवत है। उससे कुछ लेना-देना नहीं है।

फिर एक मांत्रिक होती अवस्था, जब तुम बड़े भाव से...राम कोई ऐसा शब्द थोड़े ही है कि उच्चार दिया, कि हर कहीं कह दिया, कि हर किसी से कह दिया, कि हर किसी ढंग से कह दिया! किसी बड़े विशिष्ट क्षण में, पवित्र क्षण में, ठीक आयोजनपूर्वक, धूप-दीप बालकर, स्नान करके-- शरीर का ही नहीं, मन का भी थोड़ी देर के

लिए स्नान करके तुम बैठे। उस पूत क्षण में, उस पावन क्षण में तुमने प्रभु-स्मरण किया। चाहे राम-राम कहा या नहीं कहा, यह कोई सवाल नहीं है। प्रभु का स्मरण किया, उसकी याद से भरे मनःपूर्वक तो मंत्र हुआ।

लेकिन यह भी कोई आखिरी बात नहीं है। क्योंकि मन ही आखिरी बात नहीं तो मंत्र कैसे आखिरी बात होगी? फिर तंत्र है। वह आखिरी उड़ान है। वहां तुम डूब गये, अलग भी न रहे अब। याद भी कौन करे? याद किसकी करे? उसी घड़ी में तो मंसूर ने कहा, अनलहक! मैं स्वयं परमात्मा हूं। मुसलमान न समझ सके, नाराज हो गये।

मंसूर के जीवन में बड़ी मजेदार घटना है। मंसूर पहले एक सूफी फकीर के पास था। और जब मंसूर की यह तांत्रिक घटना घटी--मंत्र तक तो ठीक थी, क्योंकि मंत्र तक तो सभी धर्म आज्ञा देते हैं कि ठीक है। तंत्र की मुश्किल खड़ी हो जाती है, क्योंकि तंत्र की घोषणा बड़ी अनूठी है।

जब तक मंसूर मंत्र साध रहा था तब तक तो गुरु राजी था। लेकिन जब अनलहक-सी ये घोषणायें उठने लगीं--मैं ईश्वर हूं, मैं सत्य हूं, तो गुरु ने कहा सुन, तू झंझट में पड़ेगा, हमको भी झंझट में डालेगा--गुरु कुछ बड़ा गहरा गुरु न रहा होगा--तू यहां से जा, या बंद कर। इस तरह के वचन बोलना बंद कर। लेकिन मंसूर ने कहा, मैं बोलता हूं तो बंद कर दूं। यह जो बोल रहा है, वह जाने। मैं तो, जब भी भीतर मेरे तार जुड़ जाते हैं तो बस, फिर मैं नहीं जानता क्या हो रहा है। फिर तुम मुझसे कहो ही मत। अपनी तरफ से कोशिश करूंगा, लेकिन मेरी कोशिश मंत्र तक जाती है। जब तक मैं दोहराता हूं कुछ, तब तक ठीक है। लेकिन एक ऐसी घड़ी आती है कि मैं तो होता ही नहीं, फिर कौन मेरे भीतर बोलता है उसके लिए मैं कैसे जिम्मेवार?

तो गुरु ने कहा, तू यहां से जा, नहीं तो हम फंसेंगे। क्योंकि यह बात मुसलमान देशों में तो बड़ी कुफ्र की है कि कोई आदमी कह दे, "मैं ईश्वर।" वे तो बरदाश्त नहीं कर सकते। यह तो बात ही गलत हो गई। इस्लाम धर्म मंत्र के ऊपर नहीं बढ़ सका। मंसूर जैसे लोग उसे ले जाते तंत्र तक लेकिन नहीं ले जाने दिया। सूफी छिप-छिप कर करने लगे अपनी साधनायें क्योंकि प्रगट होकर फांसी लगने लगी।

तो मंसूर दूसरे गुरु के पास गया। कुछ दिन रहा, फिर उस गुरु ने भी कहा कि भाई तू जा, क्योंकि सिलसिला बिगड़ रहा है। खलीफा तब खबर पहुंच गई है। और पुरोहित तेरे खिलाफ फतवा देनेवाला है। और तेरे साथ हम भी फंसेंगे।

तो मंसूर ने कहा, कोई जगह भी होगी ऐसी कि नहीं? कि मैं सभी जगह भटकाया जाऊंगा? किसी ने कहा कि तू ऐसा कर, एक बहुत बड़े फकीर हैं--पहुंचे हुए औलिया, पीर, उनके पास चला जा। तो वह वहां चला गया। लेकिन वहां भी अड़चन आनी शुरू हो गई। गुरु ने बहुत समझाया; बड़े प्रेम से समझाया कि मत बोल। इसको रखना हो तो भीतर रख, मगर इसको बोल मत, क्योंकि चारों तरफ दुश्मन हैं। उलझ जायेंगे।

उसने कहा कि मैं कोशिश करता हूं लेकिन एक ऐसी घड़ी आती है कि मैं तो होता ही नहीं, फिर कोशिश कौन करे? ऐसा बहुत बार गुरु ने समझाया लेकिन एक दिन नहीं माना मंसूर। और गुरु के सामने ही बैठा था, आंख बंद की और जोर से बोला, अनलहक! तो गुरु ने कहा, अब बहुत हो गया। तू मुझे झंझट में डाल देगा। जल्दी ही तेरे खिलाफ फतवा आयेगा। और गुरु ने कहा, देख मैं यह भविष्यवाणी करता हूं कि जल्दी ही लकड़ी का एक टुकड़ा तेरे खून से रंगा जायेगा, तेरी फांसी लगेगी।

तो मंसूर ने कहा, फिर मैं भी एक भविष्यवाणी करता हूं कि जिस दिन खून से मेरे लकड़ी का टुकड़ा रंगा जायेगा उस दिन तुम्हें यह सूफी का वेश उतारकर मुल्ला का वेश पहनना पड़ेगा।

लोगों ने समझा ऐसे ही मजाक में वह कह रहा है। उसका कोई भरोसा भी नहीं करता था। वह आदमी ही कुछ अजीब था। लेकिन दोनों की भविष्यवाणियां पूरी हुईं।

छह बार खलीफा के पास यह खबर पहुंचाई गई। बार-बार, छह बार खबर पहुंचाई गई कि मंसूर को फांसी दे दी जाये क्योंकि यह कुफ्र की बातें कह रहा है। यह इस्लाम के खिलाफ है। लेकिन खलीफा ने कहा, अगर ऐसा हो तो उसके गुरु का दस्तखत चाहिए। अगर गुरु भी कह दे कि इस्लाम के खिलाफ है, तो ठीक।

तो गुरु के पास छह बार दस्तावेज लाई गई और गुरु ने कहा कि नहीं, मैं दस्तखत नहीं करूंगा। सातवीं बार खबर आई कि अगर अब गुरु दस्तखत न करे तो तब गुरु भी जिम्मेवार है। फिर वह भी हिस्सेदार है। तो गुरु को भी शर्म लगी कि अब सूफी का वेश पहने कैसे दस्तखत करूं? यह तो सूफी के वेश की भी बदनामी हो जायेगी। तो वह भूल गया भविष्यवाणी मंसूर की। उसने कहा, अगर इस पर मुझे दस्तखत करने हैं तो मैं मौलवी के कपड़े पहनकर ही दस्तखत कर सकता हूं। यह मौलवी को ही शोभा देता है इस तरह की मूढ़तापूर्ण बातें, सूफियों को नहीं शोभा देता। तो उसने कपड़ा अपना फेंक दिया, मौलवी के कपड़े पहने और दस्तखत किये।

और जब मंसूर को खबर मिली तो वह हंसा। उसने कहा, मैंने कहा था न! अब रंगा जायेगा खून से मेरे। अब तक नहीं रंगा जा सकता था। लेकिन यह कैसी बुरी दुनिया आ गई कि सूफी भी मौलवी के कपड़े पहनने लगे!

तांत्रिक स्वर का अर्थ होता है, तुम्हारे भीतर परमात्मा की उदघोषणा। शरीर तक तो तुम्हारा ही स्वर नहीं है। मंत्र में तुम्हारा स्वर है, तंत्र में परमात्मा का स्वर है। अक्षर से अक्षर तक की यात्रा।

शरीर में यंत्रवत--तुम भी नहीं बोले अभी, परमात्मा की तो बोलने की बात ही दूर, तुम ही नहीं बोले। अभी तो बोल ही नहीं फूटा। पहले तो तुम बोल का अभ्यास करो। पहले तो तुम सितार के तार बिठाओ, ठोंका-ठाकी करो, सब व्यवस्था कर लो, तब परमात्मा बोलता है। पहले तुम बोलो तो परमात्मा बोलता है।

अभी तुम्हीं नहीं बोले। अभी तुम्हीं मुर्दा की तरह जी रहे हो; मिट्टी के ढेर हो एक, तो परमात्मा कैसे बोले?

मंत्र में तुम बोले। तुम्हारा बोल उठा। तुम्हारी वाणी खिली। तुम्हारा फूल खिला। तुम तैयार हुए। मंत्र से तुम तैयार होओगे। मंत्र सचेष्ट, जागरूक चेष्टा है। मैं मंत्र के खिलाफ नहीं हूं। मैं यांत्रिक मंत्र के खिलाफ हूं। इसलिए कई बार तुम्हें हैरानी होती है कि मैं मंत्रों के खिलाफ बोल देता हूं। इसीलिए बोल देता हूं कि तुम्हारे मंत्र भी तुम जैसे हैं। जैसे तुम दूकान करते, भोजन करते, वैसे तुम राम-राम जपते या अल्लाह-अल्लाह जपते; इससे कुछ फर्क नहीं पड़ता। जागरूकता से अगर तुम जप सको, अगर जब तुम राम-राम जप रहे हो या अल्लाह-अल्लाह जप रहे हो तब तुम्हारे भीतर जागरूकता भी बनी रहे; इधर यह वाणी चलती रहे और उधर तुम होशपूर्वक, समग्र रूप से जागे ध्यानपूर्वक इस वाणी को सुनते रहो; तुम बोलो भी, सुनो भी; और दूसरी कोई प्रक्रिया न होती हो तो फिर मांत्रिक।

और जब ऐसा हो जाये तो एक दिन तुम पाओगे तुम तो जागे रह गये, वाणी धीरे-धीरे क्षीण हुई...क्षीण हुई, सो गई। तुम जागे रह गये। तुम जागे रह गये और वाणी सो गई, तभी तुम्हारे भीतर जो इलहाम होता है, जो तुम्हारे भीतर उदघोष होता है, वह परमात्मा का उदघोष है; वह तांत्रिक।

ये तीन तल हैं।

और तुमने पूछा है कि इसमें जीवन का परम स्वीकार किस भांति समाहित है?

इस भांति समाहित है:

देह, यंत्र में तो सिर्फ दैहिक है।

मन, मंत्र में सिर्फ मांत्रिक नहीं है, दैहिक भी समाहित है। क्योंकि मंत्र तुम्हें बोलना हो तो देह के सहारे की जरूरत है। दैहिक में तो केवल दैहिक है। मांत्रिक में देह और मन दोनों हैं। खयाल रखना, क्षुद्र में विराट नहीं समाता, विराट में क्षुद्र समा जाता है। मन देह से बड़ा है। देह उसमें समा गई। मांत्रिक का अर्थ है--देह+मन।

दोनों उसमें हैं। और देह और सुंदर होकर आ गई, क्योंकि अब उसकी यंत्रवत्ता चली गई। अब देह में भी प्रसाद आया। अब देह भी जीवंत हुई।

और तांत्रिक में, आत्मा में--आत्मा का अर्थ इतना ही नहीं होता कि तुम सिर्फ आत्मा हो। वह तो फिर तुम भूत-प्रेत हो गये। आत्मा का अर्थ होता है, उसमें मन समाहित है, उसमें देह भी समाहित है। त्रिवेणी पूरी हो गई।

मन पर गंगा और यमुना तो हैं, सरस्वती नहीं है। सरस्वती अभी दिखाई नहीं पड़ रही है।

जब तुम आत्मा पर पहुंचे, तंत्र पर पहुंचे तो सरस्वती भी प्रगट हुई। अदृश्य भी दृश्य हुआ। अगोचर गोचर हुआ।

आत्मा का अर्थ होता है, मन और शरीर दोनों समाहित हो गये, और भी श्रेष्ठतर पैदा हो गया।

इसलिए मैं कहता हूं कि तंत्र में सब समाहित है। तंत्र में सर्व स्वीकार है--मन का भी, देह का भी। जैसे मांत्रिकता देह को शुद्ध कर देती है, वैसे तांत्रिकता मन को भी शुद्ध कर देती है, और शुद्धि की एक वर्षा हो जाती है। एक परम निर्मलता, एक परम निर्दोष भाव उत्पन्न होता है। सब शुद्ध हो जाता है।

ऐसी साधना क्या, जो सिर्फ आत्मा को ही शुद्ध करे? साधना तो वही, जो सर्व को शुद्ध कर जाये; जो क्षुद्र को भी विराट कर जाये; जहां पत्थर भी, पाषाण भी परमात्मा हो जाये, वही साधना।

चौथा प्रश्न: भगवान क्या हैं? और अगर हैं तो कहां है? और अगर नहीं हैं तो हम किसके पीछे भाग रहे हैं?

भगवान कोई वस्तु नहीं है, जो तुम्हें कोई दिखा दे अंगुलि के इशारे से कि ये रहे। भगवान तुम्हारे ही भीतर छिपी हुई, तुम्हारी ही आखिरी परम शुद्धि की अवस्था है। तुम्हारे ही भीतर प्रेम का प्रगट हो जाना परमात्मा का प्रगट होना है। इसलिए तुम अगर बाहर कहीं खोज रहे हो तो कभी न खोज पाओगे। खोजो मंदिर-मस्जिद में, काबा-कैलाश में, तुम न खोज पाओगे। तुम गलत खोज रहे हो। वहां परमात्मा नहीं है। तुम अगर सोच रहे हो कि परमात्मा कहीं आकाश में बैठा है तो तुम मूढ़तापूर्ण बातें सोच रहे हो। तुम्हारे परमात्मा की धारणा बहुत बचकानी है।

तुम पूछते हो, भगवान क्या हैं?

"क्या" का प्रश्न नहीं है। तुम्हारे भीतर जिसने यह प्रश्न पूछा है, तुम्हारे भीतर से जो मुझे सुन रहा है, तुम्हारे भीतर से जो मुझे देख रहा है, उसको ही पहचान लो और भगवान से पहचान हो जायेगी। अपने ही चैतन्य के साथ थोड़ी दोस्ती बनाओ, मैत्री बनाओ।

यह कौन तुम्हारे भीतर चैतन्य है? बस इसी को तुम खोज लो। यह एक किरण जो तुम्हारे भीतर चेतना की है, होश की है, इस एक किरण का सहारा पकड़ लो, फिर तुम परमात्मा तक पहुंच जाओगे।

मैंने सुना है, एक सम्राट अपने वजीर से नाराज हो गया। और उसने वजीर को एक बहुत ऊंचे मीनार पर कैद करवा दिया। उस मीनार से कूदने के सिवाय और कोई बचने का उपाय न था। लेकिन कूदना मरना था। मीनार बड़ी ऊंची थी। उससे कूदे तो मरे। कोई हथकड़ियां नहीं डाली थीं। वजीर को हथकड़ियां डालने की जरूरत न थी। वह मीनार के ऊपर कैद था। सीढ़ियों पर सख्त पहरा था। सीढ़ियों से आ नहीं सकता था। हर सीढ़ी पर सैनिक था। द्वारों पर कई द्वार थे, द्वारों पर ताले पड़े थे। मगर उसे खुला छोड़ दिया था मीनार पर।

जब सब रो रहे थे, प्रियजन उसे विदा दे रहे थे, उसकी पत्नी ने कहा, हम इतने रो रहे हैं और तुम इतने शांत हो। बात क्या है? उसने कहा, फिक्र न कर। अगर तू एक रेशम का पतला धागा भी मुझ तक पहुंचा देगी तो बस, मैं निकल आऊंगा।

वह तो चला गया वजीर, कैद हो गया। पत्नी और मुश्किल में पड़ गई कि रेशम का धागा...! पहले तो पहुंचाना कैसे? सैकड़ों फीट ऊंची मीनार थी, उस पर रेशम का धागा पहुंचाना कैसे? और फिर यह भी सोच-सोच परेशान थी कि रेशम का धागा पहुंच भी जाये समझो किसी तरह, तो रेशम के धागे से कोई भागा है?

बहुत सोच-विचार में पड़ गई, कुछ उपाय न सूझा तो वह गांव में बूढ़े बुद्धिमानों की खोज करने लगी। एक फकीर ने कहा कि इसमें कुछ खास मामला नहीं है। भृंग नाम का एक कीड़ा होता है, उसको तू पकड़ ला। उसकी मूंछ पर शहद लगा दे। और भृंग की पूंछ में पतला धागा बांध दे रेशम का। उसने कहा, फिर क्या होगा? उसने कहा, भृंग को मीनार पर छोड़ दे। अपनी मूंछ पर शहद की गंध पाकर वह आगे बढ़ता जायेगा। वह मिलनेवाली तो है नहीं गंध, वह मिलती रहेगी। शहद मिलेगा तो नहीं, उसकी मूंछ पर है। तो वह हटता जायेगा...हटता जायेगा। और भृंग सीधा जाता है। वह रुकता नहीं जब तक वह खोज न ले, जहां से सुगंध आ रही है। जब तक वह खोज न ले, रुकता नहीं। तू फिक्र मत कर। वह ऊपर पहुंच जायेगा। और तेरे पति को पता है। जब एक दफा रेशम का पतला धागा पहुंच जाये तो फिर पतले धागे में थोड़ा मोटा धागा बांधना, फिर उसमें और थोड़ा मोटा बांधना। फिर पति तेरा खींचने लगेगा। फिर रस्सी बांध देना, फिर मोटे रस्से बांध देना, फिर रास्ता खुल गया।

पत्नी को बात समझ में आ गई। यह गणित बहुत सीधा है। भृंग कीड़े को पकड़ लिया, उसकी मूंछ पर मधु लगा दिया, पूंछ में पतले से पतला धागा बांध दिया। क्योंकि इतने दूर तक भृंग को जाना है, इतना लंबा धागा खींचना है तो पतले से पतला धागा था। और भृंग चल पड़ा एकदम। उसको तो गंध मिलने लगी मधु की तो वह तो पागल होकर भागने लगा। वह रुका ही नहीं। वह ऊपर पहुंच गया। और जब पति ने देखा कि भृंग कीड़ा चढ़कर आ गया है ऊपर और उसकी मूंछों पर लगे हैं मधु के बिंदु, खुश हो गया। धागे को पकड़ लिया, बस। थोड़ी ही देर में धागे से मोटी रस्सी, मोटी से और मोटी रस्सी, और मोटी रस्सी, रस्सा...निकल भागा।

यही सूत्र है परमात्मा तक जाने का। तुम्हारे भीतर जो अभी छोटा-सा रेशम का धागा जैसा है, बड़ा महीन है, पकड़ में भी नहीं आता, वह जो तुम्हारे भीतर होश है, बस उस होश को पकड़ लो। वह जो तुम्हारे भीतर चैतन्य है उसको पकड़ लो। ध्यान कुछ और नहीं, इस होश के धागे को पकड़ लेने का नाम है। फिर इसको पकड़कर तुम चल पड़ो। जिस दशा से यह आ रहा है उसी दिशा में मुक्ति है। उसी दिशा में परमात्मा है।

और यह भीतर से आ रहा है। तो तुम्हें भीतर की तरफ जाना पड़ेगा। और जैसे-जैसे तुम भीतर जाओगे, तुम अचानक पाओगे यह धारा प्रकाश की गहरी होने लगी, बड़ी होने लगी...बड़ी होने लगी। छोटे में बड?ा धागा, बड़े में और बड़ा धागा, और एक दिन तुम पाओगे, आ गये प्रकाश के स्रोत पर। वही है ईश्वर। ईश्वर शब्द मात्र है, यह परम चैतन्य का दूसरा नाम है। यह तुम्हारे भीतर है। तुम पूछते हो कहां है? जो पूछ रहा है उसी में छिपा है। अन्यथा खोजा तो कभी न पा सकोगे।

और अब पूछते हो कि अगर नहीं है तो हम किसके पीछे भाग रहे हैं?

परमात्मा तो है। वही तो भाग रहा है। वही तो खोज रहा है; खोजनेवाले में छिपा है। हां, अभी तुम जिसके पीछे भाग रहे हो वह परमात्मा नहीं है। अभी तो तुम अपनी धारणाओं के पीछे भाग रहे हो। कोई मंदिर जा रहा है, कोई शंकर जी की पूजा कर रहा है, कोई रामचंद्र जी की पूजा कर रहा है, कोई गुरुद्वारा जा रहा है, कोई मस्जिद जा रहा, कोई चर्च जा रहा। यह तुम अपनी धारणाओं के पीछे भाग रहे हो। अपने भीतर चलो, वहीं असली मस्जिद, वहीं असली मंदिर है। अपने भीतर चलो। ये मंदिरों के घंटे इत्यादि बहुत बजा चुके, इनसे कुछ सार नहीं है। बजाते रहो जितना बजाना हो! बहरे हो जाओगे बजाते-बजाते, कुछ भी न पाओगे। भीतर चलो।

शब्दों, शास्त्रों, सिद्धांतों में नहीं, स्वयं में।

अभी तो तुम जिनके पीछे भाग रहे हो, ये पंडित हैं। ज्ञानी वही है जो तुम्हें तुम्हारे ही भीतर पहुंचने का मार्ग बता दे। पंडित तुम्हें ऐसे मार्ग बताते हैं कि चले जाओ काशी, कि चले जाओ काबा, कि गिरनार, कि जेरुसलेम, वहां मिल जायेगा।

लाख चले जाओ काशी, नहीं मिलेगा। काशी में जो रह रहे हैं उनको नहीं मिला तो तुम्हें क्या मिलेगा? भीतर जाओ। सदगुरु का अर्थ है, जो तुम्हें तुम्हारे भीतर पहुंचा दे।

और तब तुम पाओगे कि जैसे-जैसे तुम भीतर जाने लगे, तुम तो भीतर जाते हो, परमात्मा पास आता है। तुम जितने भीतर जाते हो उतना परमात्मा पास आता है। एक दिन तुम अपने केंद्र पर खड़े हो जाते हो, उसकी वर्षा हो जाती है।

जलते-जलते फट गया हिया घरती का पर
सावन जब आया अपनी मर्जी से आया
बादल जब बरसा अपनी मर्जी से बरसा
नभ ने जब गाया तब अपनी मर्जी से गाया
इच्छा का ही चल रहा रहट हर पनघट पर
पर सबकी प्यास नहीं बुझती है इस तट पर
तू क्यों आवाज लगाता है हर गगरी को?
आनेवाला तो बिना बुलाये आता है।

परमात्मा भीतर छिपा है और राह देखता है। तुम जरा बुलाना तो बंद करो। तुम हर गगरी को चिल्लाये जा रहे हो। तुम हर तरह के पानी से प्यास बुझाने को उत्सुक हो। चातक बनो। चकोर बनो। स्वाति की प्रतीक्षा करो। हर जल से काम नहीं होगा। और हर गगरी तृप्त न कर पायेगी। और प्रतीक्षा करो उस महत क्षण की। क्योंकि तुम्हारी मर्जी से कुछ होनेवाला नहीं है।

तुम दूकान चलाते, तुम धन कमाते, तुम पद पर जाते, इसी तरह तुम सोचते हो एक दिन परमात्मा को भी पकड़ लें। तुम्हारी मर्जी से कुछ होने वाला नहीं। तुम्हारी मर्जी से ही तो सब उपद्रव मचा हुआ है। तुम मर्जी छोड़ो।

जलते-जलते फट गया हिया घरती का पर
सावन जब आया अपनी मर्जी से आया

तो प्रतीक्षा सीखो। भागदौड़ छोड़ो, बैठो, प्रतीक्षा करो। जो प्रतीक्षा करने में कुशल हो जाता वह परमात्मा को पा लेता। प्रतीक्षा में ही आ जाता है।

बादल जब बरसा अपनी मर्जी से बरसा
नभ ने जब गाया अपनी मर्जी से गाया
इच्छा का ही चल रहा रहट हर पनघट पर

और तुम अपनी इच्छा के रहट को ही चलाये जा रहे हो। बूढ़ी के चरखे के जैसे घुमाये चले जाते।

इच्छा का ही चल रहा रहट हर पनघट पर
पर सबकी प्यास नहीं बुझती है इस तट पर
तू क्यों आवाज लगाता है हर गगरी को?
आनेवाला तो बिना बुलाये आता है!
हर घट से अपनी प्यास बुझा मत ओ प्यासे!
प्याला बदले तो मधु ही विष बन जाता है!

हर गगरी को मत चिल्लाओ। हर इच्छा के पीछे मत दौड़ो। और परमात्मा को भी एक बाहर की खोज मत बनाओ। परमात्मा बाहर की खोज नहीं है, बाहर की सारी खोज जब विफल हो जाती है और तुम लौट अपने घर आते हो; और तुम कहते, हो चुका। बहुत हो चुका अब नहीं खोजना। अब कुछ भी नहीं खोजना। अब मोक्ष भी नहीं खोजना।

यही तो अष्टावक्र कह रहे हैं बार-बार। मोक्ष भी नहीं खोजता है ज्ञानी। परमात्मा को भी नहीं खोजता है ज्ञानी। खोजता ही नहीं है। जहां सब खोज समाप्त हो गई, वहीं मिलन है। क्योंकि खोजनेवाले में ही वह छिपा है जिसे तुम खोज रहे हो।

और जिस दिन यह मिलन होता है उस दिन सारे जीवन पर अमृत की छाप लग जाती है। अभी तो मृत्यु ही मृत्यु के दाग हैं। कितनी बार नहीं तुम जन्मे और कितनी बार नहीं तुम मरे! अभी तो तुम मरघट हो। अभी तो तुम न मालूम कितनी अर्थियों का जोड़ हो! तुम्हारे पीछे अर्थियों की कतार लगी है और तुम्हारे आगे अर्थियों की कतार लगी है। तुम तो अभी जीवित भी नहीं। कबीर कहते हैं, "ई मुर्दन के गांव।" ये मुर्दे रह रहे हैं इन गांवों में। ये बस्तियां थोड़े ही हैं, मरघट हैं।

तुम अपने को ही देखो। तुम्हारे हाथ में आखिर मौत ही लगती है। लेकिन जिसने रुककर अपने भीतर के सत्य का जरा-सा भी स्वाद ले लिया उसके जीवन में एक नई कथा का प्रारंभ होता है।

दूर कहीं पर अमराई में कोयल बोली
परत लगी चढ़ने झिंगुर की शहनाई पर
वृद्ध वनस्पतियों की टूटी शाखाओं में
पोर-पोर टहनी-टहनी का लगा दहकने
टूसे निकले, मुकुलों के गुच्छे गदराये
अलसी के नीले फूलों पर नभ मुसकाया
मुखर हुई बांसुरी उंगलियां लगीं थिरकने
टूट पड़े भौंरे रसाल की मंजरियों पर
पहली अषाढ़ की संध्या में नीलांजन बादल बरस गये
फट गया गगन में नीलमेघ पय की गगरी ज्यों फूट गई
बौछार ज्योति की बरस गई, झर गई बेल से किरन जूही
मधुमयी चांदनी फैल गई, किरनों के सागर बिखर गये
एक बार तुम अपने में आ जाओ, ज्योति ही ज्योति! रस ही रस! आनंद ही आनंद!
पहली अषाढ़ की संध्या में नीलांजन बादल बरस गये

उस प्रभु के नीले बादल फिर तुम्हारे अंतराकाश में बरस जाते हैं।

फट गया गगन में नीलमेघ पय की गगरी ज्यों फूट गई
बौछार ज्योति की बरस गई, झर गई बेल से किरन जूही
मधुमयी चांदनी फैल गई, किरनों के सागर बिखर गये

तुम परमात्मा को जड़ शब्दों में मत पकड़ो, जड़ सिद्धांतों में मत पकड़ो। यह तुम्हारे ही भीतर की छिपी संभावना है। ऐसे प्रश्न मत पूछो। यह पूछने की बात ही नहीं है। इस तरह पूछने में ही भूल है। इसी तरह पूछने के कारण तुम्हें गलत उत्तर मिले हैं। कोई मिल गया, जिसने कहा कि वहां है।

पहले हिमालय पर हुआ करता था परमात्मा, क्योंकि हिमालय पर चढ़ना मुश्किल था। फिर आदमी वहां चढ़ गया। फिर उसको वहां से हटाना पड़ा। फिर चांद पर बिठा दिया। अब आदमी वहां चढ़ गया, अब वहां से हटाना पड़ा। जहां आदमी पहुंच जाये वहीं से हटाना पड़ता है। यह झूठी बकवास है। परमात्मा बाहर नहीं है।

और एक तो हैं जो कहते हैं वहां है। और फिर जब वहां नहीं पाते तो दूसरा वर्ग है जो कहता है, कहां है बोलो! पहले ही कहा था कि नहीं है। ऐसे आस्तिक और नास्तिक लड़ते हैं।

जब यूरी गागरिन पहली दफा लौटा चांद का चक्कर लगाकर तो जो बात उसने पहली रूस के टेलीविजन पर कही वह यह, कि मैं देख आया चक्कर लगाकर; वहां कोई ईश्वर नहीं है। और उन्होंने एक बड़ा म्युजियम बनाया है मास्को में, जिसमें सारी अंतरिक्ष की यात्रा की चीजें इकट्ठी की हैं--साधन, यंत्र; उस पर यह वचन म्युजियम के प्रथम द्वार पर लिखकर टांगा है यूरी गागरिन का, कि मैं देख आया आकाश में, घूम आया चांद तक, वहां कोई ईश्वर नहीं है। इससे सिद्ध होता है कि ईश्वर नहीं है।

एक तो मूढ़ आस्तिक हैं जो कहते हैं, वहां। फिर मूढ़ नास्तिक हैं जो कहते हैं, वहां नहीं। वे दोनों एक जैसे हैं। मैं तुमसे कहता हूं, वह न तो बाहर है, न बाहर नहीं है, वह तुम्हारे भीतर बैठा है। यूरी गागरिन को जानना हो तो चांदत्तारों पर चक्कर लगाने की जरूरत नहीं, अपने अंतराकाश में उतरने की जरूरत है।

वहां नहीं खोजता आदमी और सब जगह खोजता है। लेकिन उसको भी मैं कसूर नहीं दूंगा। क्योंकि जो करोड़ आदमी कुंभ मेला में इकट्ठे हुए हैं ये यूरी गागरिन से भिन्न थोड़े ही हैं! ये भी बाहर खोज रहे हैं। वे जो करोड़ों यात्री हज की यात्रा पर जाते हैं मक्का-मदीना, वे भी बाहर खोज रहे हैं। यूरी गागरिन से भिन्न थोड़े ही इनका तर्क है! वे जो गिरनार जाते हैं, शिखरजी जाते हैं, इनका तर्क कोई भिन्न थोड़े ही है! ये भी बाहर खोज रहे हैं।

तुम जो पूछते हो, ईश्वर कहां है? तुमने गलत प्रश्न पूछ लिया। इस प्रश्न के दो गलत उत्तर हैं: एक कि कहीं भी नहीं है, और एक कि वहां रहा। ये दोनों गलत उत्तर हैं। मैं तुमसे कहता हूं, खोजनेवाले में छिपा है। मत पूछो कि ईश्वर क्या है? इतना ही पूछो कि मैं कौन हूं। जिस दिन तुम जान लोगे कि मैं कौन हूं, उसी दिन तुमने परमात्मा को भी जान लिया है। उसके पहले किसी ने कभी नहीं जाना है।

पांचवां प्रश्न: संत कबीर आर्थिक रूप से बहुत संपन्न न थे लेकिन जब अनेक लोग प्रतिदिन उनके घर सत्संग व भजन के लिए इकट्ठे होते थे तो वे उन्हें भोजन का आमंत्रण अवश्य देते थे। पत्नी व बेटे कमाल की बड़ी कठिनाई थी। आखिर एक दिन कमाल ने उन्हें चेताया; कहा, अब तो चोरी करने के अलावा कोई चारा नहीं। कबीर बड़े प्रसन्न हुए। कहा, अरे! यह सुझाव तूने इतने दिन तक क्यों न दिया? फिर कबीर और कमाल चोरी करने भी गये। सेंध मारी, गेहूं के बोरे खिसकाये। कबीर ने कहा, कमाल, घर के लोगों को जगाकर खबर कर दे कि हम गेहूं ले जा रहे हैं।

इस प्रकार यह कथा आगे चलती है। कबीर के लिए अपने-पराये का भेद न रह गया था, सब परमात्मा का था। भगवान, कृपया बतायें कि कबीर के स्थान पर आप होते तो क्या करते?

इतनी ही तरमीम करता, इतना ही

फर्क करता कि कमाल को कहता, आहिस्ता-आहिस्ता निकलना, घर के लोग जाग न जायें। क्योंकि एक तो उनका गेहूं ले चले और बेचारों की नींद भी खराब करो! शांति से सो रहे हैं, कम से कम सोने तो दो!

इतना फर्क; और कुछ ज्यादा फर्क न करता।

छठवां प्रश्न: संसार की चिंता मुझे सताती है। लोग अति दुखी हैं। मैं उनके लिए क्या कर सकता हूं? शास्त्रों में भी बहुत खोजता हूं पर कहीं कोई मार्ग नहीं सूझता।

शास्त्रों में किसको कब मार्ग मिला? खोना हो मिला-मिलाया मार्ग तो शास्त्रों में खोजो। तुम जीवन को ही नहीं समझ पाते, शास्त्र को क्या समझोगे? जीवन इतनी खुली हुई किताब सामने पड़ी है--इतनी प्रगट, इतनी स्पष्ट, परमात्मा के हाथों लिखी सामने पड़ी है, वही समझ में नहीं आती तो शब्दों में संजोये शास्त्र तो तुम्हारी समझ में न आ सकेंगे।

तुम इसी को चूक जाते हो। गुलाब खिलता है, उसमें तुम्हें परमात्मा नहीं दिखता। तुम्हारे भीतर चैतन्य की धारा बह रही है, उसमें परमात्मा नहीं दिखता। तुम मुर्दा किताबों में, कागज पर स्याही के धब्बों में क्या खोज लोगे? वहां तो भटक जाओगे। वहां से तुम न खोज पाओगे। हां, जिसे जीवन में दिखने लगता है उसे शास्त्र में भी मिल जाता है। और जिसको जीवन में ही नहीं दिखता ऐसे अंधे को शास्त्र में क्या मिलेगा?

तुमने कहानी सुनी है न? पांच अंधे गये हाथी को देखने। जिंदा हाथी सामने खड़ा। उन्होंने टटोलकर भी देखा, फिर भी गड़बड़ हो गई। कोई कहने लगा, खंभे की तरह है, जिसने पैर छुआ। कोई कहने लगा, सूप की तरह है, जिसने कान छुआ--और इसी तरह।

अब तुम समझो कि इन अंधों को तुम शास्त्र दे दो, जिसमें हाथी के संबंध में चित्र बना हुआ है। जो असली हाथी के साथ चूक गये, कागज पर बनी हाथी की तस्वीर पर हाथ फेरकर कुछ समझ पायेंगे? बहुत मुश्किल है। बहुत असंभव है।

तो पहली तो बात: शास्त्रों में मत खोओ समय, स्वयं में लगाओ। हां, स्वयं का शास्त्र खुल जायेगा तो सब शास्त्र समझ में आ जायेंगे।

और दूसरी बात: संसार की चिंता अभी न करो। अभी तो तुम अपनी कर लो। अभी तो तुम अपनी ही कर लो तो बहुत। अभी तो तुम्हारी ही हालत बड़ी गड़बड़ है। अपनी ही नाव डूबी जा रही है, तुम किसकी नाव बचाने जा रहे? तुम्हें ही तैरना नहीं आता, किसी और दूसरे को बचाने मत चले जाना, नहीं और उसको डुबकी लगवा दोगे; नहीं डूबता होगा तो डुबा दोगे।

चिंता तुम्हें होती है लोगों की? कभी अपनी हालत देखी भीतर? कहीं ऐसा तो नहीं है कि लोगों की चिंता सिर्फ अपने से बचने की एक तरकीब, पलायन का एक उपाय हो? अक्सर ऐसा है।

मेरे पास समाजसेवक आ जाते हैं। वे कहते हैं, हम समाजसेवा में लगे हैं। मैं उनसे पूछता हूं, तुमने अपनी सेवा पूरी कर ली? वे कहते हैं, फुरसत कहां? वे कहते हैं, ध्यान इत्यादि की हमें फुरसत नहीं। पहले हम समाज की सेवा कर लें।

तुमने ध्यान ही नहीं किया तो तुम्हारी सेवा झूठी होगी। इसके पीछे कुछ और प्रयोजन होगा। यह सेवा भी सच्ची नहीं हो सकती। यह सेवा भी एक तरह की शराब है, जिसमें तुम अपने को भुलाये रखते हो, डुबाये रखते हो।

पहले अपने को तो जान लो। थोड़ी अपने से पहचान कर लो, फिर तुम्हारे भीतर से जो प्रेम उठे, करुणा उठे वह बहेगा। जरूर बहेगा। मैं उसको रोकने को नहीं कहता, मगर हो तब न! अभी तो तुम जबरदस्ती बहा रहे हो। अभी इस बहाने में कुछ सार नहीं है।

क्षितिजों तक मत जा रे ऐ नासमझ, समझ
बिन समझे-बूझे यूं व्यर्थ मत उलझ
रे हठी तुनकमिजाज, शोर मत मचा
कुछ तुक की बातें कर, पागल मत बन
ओ मेरे मन!
मिल-जुलकर बैठ तनिक, रार मत बढ़ा
चढ़ती दुपहरी को और मत चढ़ा
अपने को देखभाल, दुनिया को छोड़
इतना कुछ पढ़-लिखकर पागल मत बन
ओ मेरे मन!

पहले अपने को जरा देखभाल कर लो। तुम अगर रुग्ण हो तो तुम एक रुग्ण मनुष्यता के निर्माता हो। तुम अगर दुखी हो तो तुम इस जगत में दुख को पैदा करने का कारण हो। तुम अगर आनंदित नहीं हो तो तुम पापी हो। अगर तुम मुझसे पूछो तो मेरे लिए एक ही पाप है और वह है, आनंदित न होना। अगर तुम आनंदित हो तो तुम पुण्यात्मा हो। फिर तुम्हें सब क्षम्य है। फिर तुम जो करो, ठीक। एक दफे तुम आनंदित हो जाओ। आनंद ने कभी कुछ गलत किया नहीं; कर नहीं सकता। और दुख ने कभी कुछ ठीक किया नहीं; कर नहीं सकता। दुख से जो होगा, गलत होगा। नाम कितने ही अच्छे हों। मुखौटे कैसे ही पहनो। दुख से कभी कुछ अच्छा नहीं हुआ है।

तो अक्सर ऐसा होगा कि तुम जिसकी सेवा करने जाओगे उसको भी हानि पहुंचाओगे। अभी तुम जहर से भरे हो। अभी तुम दूसरे में हाथ डालोगे तो जहर ही फैलाओगे। पहले अमृत से तो भर लो। फिर तुम्हें जाना भी न पड़े। शायद तुम बैठे-बैठे भी रहो तो भी इस जगत में तुमसे तरंगें उठें, जो लोगों को सत्य की तरफ, सच्चिदानंद की तरफ ले जायें।

लोग दुखी हैं उसका कुल कारण इतना है कि लोग ध्यानी नहीं हैं; और कोई कारण नहीं है। और अभी तुम्हीं ध्यानी नहीं हो। और इस जगत को सुखी करने का एक ही उपाय है कि किसी तरह ध्यान...ध्यान फैलता जाये। लोग शांत हों, स्वस्थ, स्वयं में केंद्रित हों तो जीवन से दुख मिट जाये। दुख हम पैदा करते हैं, कोई और पैदा नहीं कर रहा है।

आखिरी प्रश्न: यदि संसार लीला है, खेल है तो इसमें इतना दुख क्यों है? तपेदिक और कैंसर, महामारी और मृत्यु भी क्या लीला के अंग हैं?

निश्चित ही, सभी कुछ लीला का अंग है। अब थोड़ा सोचना पड़े।

कहते हैं, एक सूफी फकीर को हृदय में एक घाव हो गया था और उसमें कीड़े पड़ गये। और जब वह नमाज पढ़ने झुकता था तो कीड़े गिर जाते। उसने नमाज पढ़नी बंद कर दी। और लोगों ने उससे कहा कि क्या अब आखिरी वक्त, मरते वक्त नास्तिक हो गये? धर्म छोड़ रहे? जिंदगी भर नमाज पढ़ी, मस्जिद आये, अब तुम आते क्यों नहीं? उसने कहा, कैसे आऊं? जब झुकता हूं तो ये कीड़े गिर जाते हैं। इन कीड़ों का भी जीवन है।

एक तरफ से देखने पर यह नासूर है और आदमी दुखी है। दूसरी तरफ से देखने पर यह आदमी नासूर के कीड़ों के लिए जीवन है। कीड़े बड़े सुखी हैं।

तुम सोचते हो कि तुम जब वृक्षों से फल तोड़ते हो तो वृक्ष बहुत प्रसन्न होते हैं! तुम उनके लिए रोग हो। आदमी को आते देखकर वृक्ष कहते हैं, यह आया रोग। जैसे कीड़े तुम्हारे ऊपर पलते हैं और तुम परेशान होते हो, वैसे ही तो तुम वृक्षों पर पल रहे हो--पैरासाइट! शोषक! तुम पूरी प्रकृति को नष्ट कर रहे हो। पहाड़ खोदकर मिटा रहे हो, झीलें भर रहे हो, अब तुम चांदत्तारों पर भी जाने लगे, वहां भी तुम उपद्रव पहुंचाओगे। यह आदमी नाम की बीमारी बढ़ती चली जाती है। तुमने कितने पशु मार डाले! तुम कहते हो अपने जीवन के लिए, अपने भोजन के लिए। जो तुम्हारा भोजन है वह पशु का तो भोजन नहीं हो रहा, वह तो कोई बड़ा प्रसन्न नहीं हो रहा है। वह तो मर रहा है।

अब यह बड़े मजे की बात है, तुम अगर जंगल जाओ और किसी शेर को मार लो तो लोग फूलमाला पहनाते हैं कि गजब बहादुर आदमी! शेर को मारकर चला आ रहा है। राजासाहब ने शेर मारा। और शेर राजासाहब को मार ले तो कोई फूल नहीं पहनाता शेर को कि गजब! कि शेर ने राजासाहब मारा। मगर शेर पहनाते होंगे कि गजब! ठीक किया। एक दुश्मन मिटाया, एक सफाई की।

तुम एक ही तरफ से देखते हो--आदमी के पहलू से, तो अड़चन होती है।

मैंने सुना है, एक आदमी के खून में दो क्षयरोग के कीटाणु चौराहे पर मिले खून की धारा में दौड़ते-दौड़ते। नमस्कार इत्यादि होने के बाद एक ने कहा, लेकिन तुम्हारा चेहरा बड़ा उदास है और पीले-पीले मालूम पड़ते हो। बात क्या है, पेनिसिलिन लग गई क्या?

क्षयरोग के कीड़ों को पेनिसिलिन बीमारी है। तुम यह मत समझना कि औषधि है! तुम्हारे लिए होगी। यह जीवन विराट है! इस जीवन को सब पहलुओं से देखो। अपने को आदमी के पहलू से मुक्त करो। क्योंकि वह सिर्फ एक कोण है, वह सिर्फ एक दृष्टिकोण है।

लीला का अर्थ होता है, तुम जीवन को समस्त दृष्टिकोणों से देखो। तब यहां कुछ भी गलत नहीं है। तब सब हो रहा है। एक विराट खेल है। कोई हारता, कोई जीतता। जीत होगी कैसे बिना हार के? तुम कहते हो,

क्या हार भी खेल का हिस्सा है? तो ऐसा कोई खेल बना सकते हो जिसमें जीत ही जीत हो, हार हो ही नहीं। तो खेल कैसे होगा।

तुम कहते हो, दुख भी क्या जीत का हिस्सा है? क्या दुख के बिना सुख हो सकता है? क्या असफलता के बिना सफलता हो सकती है? क्या मृत्यु के बिना जीवन हो सकता है? क्या बुढ़ापे के बिना जवानी हो सकती है? कोई उपाय नहीं है।

खेल तो द्वंद्व से ही होता है, दो में टूटकर ही होता है। खेल तो विरोधों में ही होता है। अगर एकरस रह जाये स्थिति तो खेल बंद हो गया। उसी एकरसता को तो हम निर्वाण कहते हैं। संसार खेल है और निर्वाण खेल के बाहर हो जाना। जो समझ गया राज, और जिसने देख लिये सब पहलू, और उसने कहा, इसमें कुछ नहीं है, इसमें हार-जीत सब बराबर है। कोई हारता, कोई जीतता, लेकिन अंततः हिसाब में सब बराबर है। न कोई जीतता, न कोई हारता। कोई जागता, कोई सोता। कोई पैदा होता, कोई मरता। लेकिन अंततः खेल सब बराबर है। आखिर में न कोई मरता, न कोई जीता; न कोई जागता, न कोई सोता।

अंतिम रूप में एक ही बचता है, दो नहीं। जिसने ऐसा देख लिया वह खेल के बाहर हो गया। या हो सकता है परमात्मा उसको खेल के बाहर कर देता है कि बाहर निकलो। अब तुम बड़े हो गये। अब तुम खेलने के लायक नहीं रहे। अब तुम बुद्धपुरुष हो गये। अब तुम हटो। बच्चों को खेलने दो, बीच-बीच में न आओ। तो उनको हटा लेता है। मगर है तो खेल ही।

हो न फरियाद भी सैयाद की मर्जी यह है
जुल्म पर जुल्म सहें मुंह से कुछ भी न बोलें

वह जो खिला रहा है, उसकी मर्जी यह है कि तुम दुख को भी पी जाओ ऐसे, जैसे सुख है। जहर को भी पी जाओ ऐसे, जैसे अमृत है।

हो न फरियाद भी सैयाद की मर्जी यह है
जुल्म पर जुल्म सहें मुंह से कुछ भी न बोलें

शिकायत चली जाये। लीला मानने का अर्थ है, अब हमारी कोई शिकायत नहीं है। खेल ही है न! तो गंभीरता से लेने की कोई जरूरत नहीं। हारे-जीते सब बराबर है। हारे तो हम हारे, जीते तो हम हारे। जीते तो हम जीते, हारे तो हम जीते। यहां कोई दूसरा है ही नहीं। यहां एक ही अपने को दो में बांटकर खेल खेल रहा है! यह जो छिया-छी हो रही है, एक के ही बीच हो रही है। परमात्मा ही भाग रहा है, छिप रहा है। परमात्मा ही भाग रहा, खोज रहा। यहां खोजनेवाला और खोजा जानेवाला दो नहीं हैं।

सुख के दिवस दिये थे जिसने
देन उसी की ये दुख के भी दिन
जिस घट से छलकी थी मदिरा
शेष उसी घट के ये विषकण
यह अचरज की बात न कोई
सीधा-सादा खेल प्रकृति का
मधु ऋतु से विक्रय पतझर का
सदा किया करता है मधुबन
यह क्रम निश्चित इसे न कोई
बदल सका है, बदल सकेगा
इससे ही तो कहता हूं, हैं
व्यर्थ अश्रु और व्यर्थ रुदन भी
हंस कर दिन काटे सुख के
हंस-खेल काट फिर दुख के दिन भी

दुख को भी स्वीकार कर लो वैसा, जैसा सुख को स्वीकार किया। स्वीकार परम हो जाये तो खेल शांत हो जाता है।

और कोई उपाय भी नहीं है। दो ही मार्ग हैं: या तो लड़ो। लड़ो तो बंट जाते हो। लड़ो तो कभी हार होती है, कभी जीत होती है। कभी सुख, कभी दुख। कभी पराजय, कभी विजय। कभी सेहरा बंधता, कभी धूल में चारों खाने चित पड़ जाते। या तो लड़ो--एक उपाय। लड़ो तो द्वंद्व है।

या मत लड़ो और साक्षी हो जाओ। तो फिर न कोई हार है, न कोई जीत है। साक्षी का अर्थ है, खेल के बाहर हो गये। कर्ता का अर्थ है, खेल के हिस्से। भोक्ता का अर्थ है, खेल के हिस्से। साक्षी का अर्थ है, खेल के बाहर हो गये। दूर बैठकर दर्शक की तरह देखने लगे। रहे यहां खड़े भी तो भी दर्शक मात्र की तरह ही रह गये। और यहां तो सब बदल रहा है, सिर्फ एक ही नहीं बदल रहा है: साक्षी।

कल जिस ठौर खड़ी थी दुनिया आज नहीं उस ठांव है
जिस आंगन थी धूप सुबह उस आंगन में अब छांव है
प्रतिपल नूतन जन्म यहां पर प्रतिपल नूतन मृत्यु है
देख आंख मलते-मलते ही बदल गया सब गांव है
रूप नदीत्तट तू क्या अपना मुखड़ा मल-मल धो रही
है न दूसरी बार नहाना संभव बहती धार में
कोई मोती गूंथ सुहागन तू अपने गलहार में
मगर विदेशी रूप न बंधनेवाला है सिंगार में

यहां रूप बन ही नहीं पाता। बनते-बनते बिगड़ जाता है।

कोई मोती गूंथ सुहागन तू अपने गलहार में
मगर विदेशी रूप न बंधनेवाला है सिंगार में

यहां कुछ ठहरता ही नहीं तो सिंगार बने कैसे! यहां कुछ ठहरता ही नहीं तो जीत अंतिम कैसे हो? यहां जीत हार में बदल जाती है, हार जीत में बदल जाती है। यहां किसी भी चीज को उसकी अंतिम सीमा तक खींचकर ले जाओ, वह अपने से विपरीत में बदल जाती है। जीते चले जाओ, आखिर में मौत आ जाती है।

कल जिस ठौर खड़ी थी दुनिया आज नहीं उस ठांव है

प्रतिपल सब भागा जा रहा है, बदला जा रहा है।

जिस आंगन थी धूप सुबह उस आंगन में अब छांव है

जहां सफलता थी वहां असफलता के आंसू। जहां मरण का रुदन था, वहां अब उत्सव है, विवाह हो रहा है, मंडप सजे हैं।

प्रतिपल नूतन जन्म यहां पर प्रतिपल नूतन मृत्यु है

यहां तो प्रतिपल मौत घट रही है, प्रतिपल जीवन घट रहा है। बड़ी भागदौड़ है। घूप-छांव का बड़ा खेल है।

देख आंख मलते-मलते ही, बदल गया सब गांव है

तुम जरा देखो तो, आंख मलते ही मलते सब बदला जा रहा है।

इस बदलाहट को, इस रूपांतरण को हम कहते हैं लीला, खेल। इसे गंभीरता से लिया तो उलझे। इसे गंभीरता से लिया तो फंसे। गंभीरता से लिया तो गलफांस हो जाती है। और गंभीरता से न लिया, खेल-खेल में लिया, हंस-हंसकर लिया, बात बदल गई। तुम बाहर हो गये।

रूप नदीत्तट तू क्या अपना मुखड़ा मल-मल धो रही
है न दूसरी बार नहाना संभव बहती धार में

हेराक्लतु ने कहा न? दुबारा एक ही नदी में नहीं उतरा जा सकता। यहां कोई भी चीज दुबारा नहीं मिलती। जो गया सो गया, फिर नहीं लौटता। जो आया वह भी जाने की तैयारी कर रहा है। फूल खिल भी नहीं पाता कि कुम्हलाना शुरू हो जाता है। यहां तुम सुख-दुख के हिसाब मत लगाओ। एक ही सिक्के के दो पहलू हैं।

कोई मोती गूंथ सुहागन तू अपने गलहार में
मगर विदेशी रूप न बंधनेवाला है सिंगार में

यहां कुछ भी बंध नहीं पाता। कुछ भी थिर नहीं हो पाता। इस अथिर लहरों के जाल को हमने लीला कहा है। लीला का इतना ही अर्थ है, गंभीरता से न लेना। खेल है।

अगर लीला समझो तो द्रष्टा हो सकोगे। अगर गंभीरता से लिया तो कर्ता हो जाओगे। कर्ता हुए कि दुख में पड़े, सुख में पड़े, भोक्ता हुए। कर्ता हुए कि अहंकार की खोज ने तुम्हें घेरा। जाल शुरू हुआ। फंसे। कर्ता न रहे, सिर्फ देखा, सिर्फ देखते रहे...देखते रहे; कुछ भी भाव न जोड़ा अच्छे बुरे का, शुभ का, अशुभ का, पक्ष-विपक्ष का, ऐसा हो, ऐसा न हो--ऐसा कुछ भी भाव मन में संगृहीत न किया, बस देखते रहे, जैसे अपना कुछ लेना-देना नहीं। निरपेक्ष! तटस्थ! वहीं से सूत्र मिल जाता।

वहीं से तुम भृंग कीड़े के पीछे बंधे हुए रेशम के धागे को पकड़ लेते हो। और वहीं से तुम एक दिन उस परम ज्योति के द्वार तक पहुंच जाते जिसका नाम परमात्मा है।

आज इतना ही।

उन्यासीवां प्रवचन

निःस्वभाव योगी अनिर्वचनीय है

अष्टावक्र उवाच।

निरोधादीनि कर्माणि जहाति जडधीर्यदि।
मनोरथान् प्रलापांश्च कर्तुमाप्नोत्यतत्क्षणात्।। २५१।।
मंदः श्रुत्वापि तद्वस्तु न जहाति विमूढताम्।
निर्विकल्पो बहिर्यत्नादन्तर्विषयलालसः।। २५२।।
ज्ञानादूलितकर्मा यो लोकदृष्टयापि कर्मकृत्।
नाप्नोत्यवसरं कर्तुं वक्तुमेव न किंचन।। २५३।।
क्व तमः क्व प्रकाशो वा हानं क्व च न किंचन।
निर्विकारस्य धीरस्य निरातंकस्य सर्वदा।। २५४।।
क्व धैर्यं क्व विवेकित्वं क्व निरातंकतापि वा।
अनिर्वाच्यस्वभावस्य निःस्वभावस्य योगिनः।। २५५।।
न स्वर्गो नैव नरको जीवन्मुक्तिर्न चैव हि।
बहुनात्र किमुक्तेन योगदृष्टया न किंचन।। २५६।।
नैव प्रार्थयते लाभं नालाभेनानुशोचति।
धीरस्य शीतलं चित्तममृतेनैव पूरितम्।। २५७।।

गौतम बुद्ध ने साम्राज्य छोड़ा, धन- वैभव छोड़ा। एक अति से दूसरी अति पर चले गये। सब त्यागा। शरीर को जितने कष्ट दिये जा सकते थे, दिये। शरीर सूखकर कांटे जैसा हो गया। इतने दुर्बल हो गये कि उठना-बैठना मुश्किल हो गया। निरंजना नदी को पार कर रहे थे कि पार न कर सके। धारा प्रबल थी और शक्ति नहीं थी पार करने की। एक वृक्ष की जड़ों को पकड़कर लटक रहे।

खयाल आया मन में, सब मेरे पास था तब मुझे कुछ न मिला। सब मैंने गंवा दिया तो भी मुझे कुछ न मिला। कहीं कुछ चूक हो रही है। कहीं कुछ निश्चित भूल हो रही है। भोग से त्याग की तरफ चला गया, न भोग से मिला न त्याग से मिला। कहीं और भी कुछ मौलिक बात है जो मेरी दृष्टि में नहीं पड़ रही है।

ऐसे जड़ों को पकड़कर लटके थे कि पास से कुछ ग्र्रामीण स्त्रियां गांव का गीत गुनगुनाती निकलती थीं। उनके गीत के स्वर थे:

सितार के तारों को ढीला मत छोड़ दो
स्वर ठीक नहीं निकलता
पर उन्हें इतना कसो भी मत कि टूट जायें

जो सदगुरुओं के पास नहीं हो सका था वह उन गंवार स्त्रियों के गीत को सुनकर हो गया। एक किरण फूटी। जड़ से लटके-लटके निरंजना में बुद्ध को बोध हुआ कि मैं अतियों के बीच तो चला गया, मध्य में नहीं रुका। शायद मार्ग मध्य है। उसी रात, जैसे एक दिन राज्य छोड़ दिया था, उन्होंने त्याग भी छोड़ दिया। जैसे एक दिन धन छोड़ दिया था वैसे ही उन्होंने ध्यान भी छोड़ दिया। जैसे एक दिन संसार छोड़ दिया था वैसे ही निर्वाण की कामना भी छोड़ दी। और उसी रात घटना घटी। सुबह गौतम बुद्ध हो गये। मन प्रबुद्ध हुआ, गौतम बुद्ध हुआ।

एक जागरण! जागरण घटा मध्य में।

जिन्होंने भी सत्य को जाना है उन सभी ने अति को वर्जित किया है। अति सर्वत्र वर्जयेत। और मन अति के प्रति बड़ा आतुर है। एक अति से दूसरी अति पर जाना मन के लिए बड़ा सुगम है। इससे ज्यादा और कोई सुगम

बात नहीं। घड़ी के पेंडुलम की तरह है--बायें से दायें, दायें से बायें डोलता रहता। लेकिन जब मध्य में रुक जाता तो घड़ी रुक जाती। घड़ी रुक गई, समय रुक गया। कालातीत हुए। वहीं है समाधि। वहीं है समाधान।

इन सूत्रों को समझें। पहला सूत्र है:

निरोधादीनि कर्माणि जहाति जडधीर्यदि।

मनोरथान् प्रलापांश्यच कर्तुमाप्नोत्यतत्क्षणात्।।

"यदि अज्ञानी चित्तनिरोधादि कर्मों को छोड़ता भी है तो वह तत्क्षण मनोरथों और प्रलापों को पूरा करने में प्रवृत्त हो जाता है।"

ऐसा हमारा मन है। किसी तरह अगर भोग छोड़ते हैं तो योग में प्रवृत्त हो जाते हैं। फिर अगर कोई ज्ञानी मिल जाये, सत्पुरुष मिल जाये और कहे कि क्या पागलपन में पड़े हो? त्याग से कहीं होगा? तो हम तत्क्षण त्याग भी छोड़ देते हैं। फिर हम भोग में लौट जाते हैं।

अष्टावक्र तुम्हें सावधान कर रहे हैं इस सूत्र से कि मेरी बातों को सुनकर तुम यह मत समझ लेना कि मैं तुम्हारे भोग का समर्थन कर रहा हूं; मैं तो तुम्हारे त्याग का भी समर्थन नहीं कर रहा हूं, तुम्हारे भोग के समर्थन की तो बात ही नहीं है। अष्टावक्र तुम्हारा समर्थन कर ही नहीं सकते।

और यही अज्ञानी की जड़ता है। वह हर चीज को अपने समर्थन में लेता है। वह सोचता है कि चलो, धन से नहीं मिला तो ध्यान से, धर्म से, दान से। पद से नहीं मिला तो त्याग से। सुख-सुविधा से नहीं मिला, कांटों की शय्या पर लेटकर पायेंगे, लेकिन पाकर रहेंगे। लेकिन मैं पाकर रहूंगा। सब छोड़ता-पकड़ता है, एक मैं को नहीं छोड़ता।

बड़ा प्रसिद्ध वचन है राबिया-अल-अदाबिया का। एक गुमराह आदमी ने राबिया से कहा कि यदि मैं धर्म के मार्ग पर लग जाऊं तो क्या ईश्वर मेरी तरफ झुकेगा, उन्मुख होगा? "व्हेदर गाड वुड इनक्लाइन टुवर्ड्स मी इफ आय गेट कनवर्टेड?" राबिया ने कहा, नहीं कभी नहीं। "नो, इट इज जस्ट द अपोजिट। इफ ही शुड इनक्लाइन टुवर्ड्स यू देन यू कैन बी कनवर्टेड।" इससे ठीक उलटी बात है। प्रभु तुम्हारी तरफ झुके तो तुम धर्ममार्ग में संलग्न होओगे।

तुम्हारे झुकने से नहीं, तुम्हारे धर्ममार्ग में प्रवृत्त होने से नहीं; तुम्हारे किये तो कुछ भी न होगा। तुम ही तो तुम्हारा सब अनकिया हो। तुम्हारा यह अहंकार ही तो तुम्हारे जीवन का कारागृह है।

तो पहले तुम धन इकट्ठा करते हो, फिर त्याग इकट्ठा करने लगते। संसार जोड़ते हो, फिर मोक्ष जोड़ने लगते, मगर तुम बने रहते। तुम बने ही रहते। यह जो तुम्हारा अहंकार है यह केवल मध्य में जाता है; जब न इस तरफ, न उस तरफ। उन सबको सावधान करने के लिए।

ये तो अब अंतिम सूत्र आ रहे हैं अष्टावक्र के। तो उन्हें जो कहना था, धीरे-धीरे सब कह चुके हैं। अब आखिरी चेतावनियां हैं। पहली चेतावनी--

"यदि अज्ञानी चित्तनिरोधादि कर्मों को छोड़ता भी है...।"

पहले तो अज्ञानी भोग ही नहीं छोड़ता। किसी तरह भोग छोड़ दे तो जिस पागलपन से भोग में लगा था उसी पागलपन से योग में लग जाता है। वही धुन! विषय तो बदल जाता है, वृत्ति नहीं बदलती। सिक्के इकट्ठे करता था तो अब पुण्य इकट्ठा करता है, मगर इकट्ठा करता है। इस जगत में सुख चाहता था, अब परलोक में सुख चाहता है; मगर सुख चाहता है। इस जगत में भयभीत होता था कि कोई मेरा सुख न छीन ले, अब परलोक में भयभीत होता है, कोई मेरा सुख न छीन ले।

भय कायम है। लोभ कायम है। पहले प्रार्थनायें करता था, प्रभु और दे--बड़ा साम्राज्य, और धन, और पद, और प्रतिष्ठा। अब कहता है, प्रभु, यह सब कुछ नहीं चाहिए। अब तो स्वर्ग में बुला ले। अब तो स्वर्ग का ही सुख चाहिए; मगर चाहिए अभी भी। पहले भी प्रभु का उपयोग करना चाहता था, अब भी करना चाहता है। नहीं,

राबिया ठीक कहती है। अगर प्रभु तुम्हारी तरफ झुके तो तुम धार्मिक हो सकोगे। तुम्हारे धार्मिक होने से प्रभु तुम्हारी तरफ नहीं झुकेगा।

पुराना वचन है इजिप्त के फकीरों का कि जब तुम गुरु को चुनते हो तो भूलकर ऐसा मत कहना कि मैंने तुझे चुना; क्योंकि वहीं भूल हो गई। जब तुम गुरु को चुनते हो तो यही कहना कि धन्यवाद, कि आपने मुझे चुना।

इजिप्त के पुराने सूत्रों में एक और सूत्र है कि जब भी कोई शिष्य गुरु को चुनता है तो उसके पहले ही गुरु ने उसे चुन लिया है, अन्यथा वह गुरु की तरफ आ ही न सकता था।

मौलिक आधारभूत बात यह है कि किसी तरह से तुम्हारा अहंकार निर्मित न हो।

अल-हिल्लाज मंसूर को सूली पर लटका दिया। उसके हाथ-पैर काट डाले, उसे मार डाला। क्योंकि उसने एक ऐसी उदघोषणा की अनलहक की--कि मैं ईश्वर हूं; कि मुसलमान बरदाश्त न कर सके।

एक मुसलमान फकीर अस सिमनानी ने एक गीत लिखा है। उस गीत में उसने लिखा है कि जिस दिन अल-हिल्लाज मंसूर को सूली लगी, उस रात उस गांव के एक साधु आदमी ने स्वप्न देखा। स्वप्न में उसने देखा कि अल-हिल्लाज स्वर्ग ले जाया जा रहा है। यह उसे भरोसा न आया। यह भी उस भीड़ में मौजूद था, जिसने पत्थर फेंके थे; जिसने अल-हिल्लाज को सूली देने के लिए नारे लगाये थे। इसे तो भरोसा न आया, अल-हिल्लाज और स्वर्ग ले जाया जा रहा है! तो उसने परमात्मा से पूछा--सिमनानी की कविता ऐसी है--उसने परमात्मा से कहा:

O God! why was a pharoh condemned to the flames
for crying out: "I am god!"
and Hallaj is wrept away to heaven
for crying out the same words:
"I am god!"
Then he heard a voice speaking:
When pharoh spoke those words
he thought only of himself
he had forgotten me.
When Hallaj uttered those words–the same words
he had forgotten himself.
He thought only of me.
Therefore the "I am" in pharoh"s mouth
was a curse to him
and in Hallaj"s the "I am"
is the effect of my grace.

एक आदमी ने स्वप्न देखा, जिस रात मंसूर को सूली लगी, कि मंसूर स्वर्ग ले जाया जा रहा है। वह बेचैन हुआ। उसने चिल्लाकर परमात्मा से पूछा, कि फेरोह ने भी कहा था--फेरोह, इजिप्त के सम्राट--उन्होंने भी दावा किया था कि हम ईश्वर हैं। फेरोह ने भी कहा था, मैं ईश्वर हूं। लेकिन हमने तो सुना है कि फेरोह को नर्क की अग्नि में डाला गया। और फेरोह को बड़ा दंड दिया गया और बड़ा कष्ट दिया गया। और तू बड़ा नाराज हुआ था। और फेरोह निंदित हुआ। और हिल्लाज ने भी वही शब्द कहे हैं कि मैं ईश्वर हूं। फिर इस हिल्लाज को क्यों स्वर्ग की तरफ ले जाया जा रहा है?

तो ईश्वर ने कहा: "जब फेरोह ने कहा था, मैं ईश्वर हूं तो मुझे बिलकुल भूल गया था। मैं अनुपस्थित था उसकी आवाज में, वही मौजूद था। वह अहंकार की घोषणा थी। और जब हिल्लाज ने कहा तो बात बिलकुल उल्टी थी। शब्द वही थे, बात बिलकुल उल्टी थी। मैं मौजूद था, हिल्लाज बिलकुल मिट गया था। शब्द वही थे। फेरोह के शब्दों में फेरोह था, मैं नहीं था। हिल्लाज के शब्दों में मैं था, हिल्लाज नहीं था। मेरी गैर-मौजूदगी फेरोह के लिए अभिशाप बन गई और मेरी मौजूदगी मंसूर के लिए आशीष बन गई।"

सब निर्भर करता है एक छोटी-सी बात पर। एक छोटी-सी बात पर सब दारोमदार है: तुम जो करते हो उससे मैं न भरे। तो बिना किये भी आदमी परमात्मा तक पहुंच जाता है। और तुम करते हो, लाख करो जपत्तप, यज्ञ-याग, कुछ भी न होगा। अगर तुम करनेवाले मौजूद हो, तो तुम अकड़ते जाओगे। तुम जितने वजनी होते हो, परमात्मा उतना दूर हो जाता है। तुम जितने मौजूद होते हो उतना परमात्मा गैर-मौजूद हो जाता है।

जब मेरे पास कोई आकर कहता है कि ईश्वर कहां है, हम देखना चाहते हैं! तो बड़ी कठिनाई होती है उन्हें यह बात समझाने में कि ईश्वर को तुम तब तक न देख सकोगे, जब तक तुम हो। तुम्हारी मौजूदगी परदा है। ईश्वर पर कोई परदा नहीं है, ईश्वर उघड़ा खड़ा है, नग्न खड़ा है। परदा तुम्हारी आंख पर है और परदा तुम्हारा है।

अष्टावक्र कहते हैं, खयाल रखना:

निरोधादीनि कर्माणि जहाति जडधीर्यदि।

लोग ऐसे जड़बुद्धि हैं कि एक तो बहुत मुश्किल है कि वे भोग से बाहर निकलें। फिर कभी निकल आयें किसी सौभाग्य के क्षण में तो उसी अंधेपन से योग में पड़ जाते है। चित्त के निरोध में लग जाते हैं। पहले चित्त का भोग, फिर चित्त का निरोध। पहले चित्त के गुलाम बनकर चलते, अब चित्त की छाती पर चढ़कर जबरदस्ती चित्त को शांत करना चाहते हैं।

और अगर ये मूढधी, ये जड़बुद्धि लोग राजी भी हो जायें, समझ में इनके आ जाये तो भी ये गलत समझ लेते हैं। कहा कुछ, सुन कुछ लेते हैं।

अष्टावक्र के सूत्रों को पढ़कर बहुत बार तुम्हारे मन में भी उठा होगा, अरे! तो फिर ध्यान इत्यादि की कोई जरूरत नहीं है? तो फिर मजा करें। तो फिर जैसे हैं वैसे बिलकुल ठीक हैं।

अष्टावक्र यही नहीं कह रहे हैं। अष्टावक्र ध्यान से नीचे गिरने को नहीं कह रहे हैं, ध्यान से ऊपर जाने को कह रहे हैं। दोनों हालत में ध्यान छूट जाता है, लेकिन नीचे गिरकर मत छोड़ देना, ऊपर उठकर छोड़ना।

अल-हिल्लाज और फेरोह के शब्द एक जैसे हैं। फेरोह नीचे गिरकर बोला, हिल्लाज अपने से ऊपर उठकर बोला। ध्यान के पार भी लोग गये हैं। जो गये हैं वही पहुंचे हैं। लेकिन ध्यान से नीचे गिरकर तो तुम भोग में गिर जाओगे।

"यदि अज्ञानी चित्त-निरोधादि कर्मों को छोड़ता भी है तो वह तत्क्षण मनोरथों और प्रलापों को पूरा करने में प्रवृत्त हो जाता है।"

वह फिर वापिस लौट गया। वही पुराने मनोरथ, वही दबी-बुझी कामनायें। वही पीछे राख में जो छिप गये थे अंगारे, फिर प्रगट हो जाते हैं; फिर आग धू-धूकर जलने लगती है। फिर पुराना धुआं उठता है। फिर पुराना प्रलाप, वह पुराना पागलपन फिर वापिस आ गया। वह कहीं गया तो नहीं था। निरोध से कभी जाता भी नहीं है। जबरदस्ती किसी तरह रोककर बैठे थे। किसी भांति बांध-बूंधकर अपने को तैयार कर लिया था। यह कोई संतत्व नहीं है, सैनिक हो गये थे। कवायद सीख ली थी। अभ्यास कर लिया था। सैनिक भी कैसे शांत मूर्तिवत खड़े हुए मालूम पड़ते हैं वर्षों के अभ्यास से। लेकिन तुम उनको बुद्ध मत समझ लेना। वे कोई संत नहीं हैं। भीतर आग जल रही है। खड़े हैं, भीतर ज्वालामुखी सुलग रहा है।

तुम्हारे तथाकथित साधु-मुनि, तुम्हारे महात्मा, सैनिक हैं, संत नहीं। अपने से लड़-लड़कर, किसी तरह उन्होंने सुखा-सुखाकर, अपने भीतर की वासनाओं को दबा-दबाकर एक आयोजन कर लिया है, एक अनुशासन बिठा लिया है। बुरे नहीं हैं, यह बात सच है। अपराधी नहीं हैं, यह बात सच है। अगर उन्होंने कोई अपराध भी किया होगा तो अपने खिलाफ किया है, किसी और के खिलाफ नहीं किया है। लेकिन मुक्त भी नहीं हैं। संत नहीं हैं, ज्यादा से ज्यादा सज्जन हैं। दुर्जन नहीं हैं यह बात सच है। किसी के घर चोरी करने नहीं गये और किसी की हत्या नहीं की, लेकिन हत्यारा भीतर छिपा बैठा है। और चोर भी मौजूद है। और किसी भी दिन ठीक अवसर पर वर्षा हो जाये तो प्रगट हो सकता है।

तुमने यह खयाल किया? राह से तुम जा रहे हो, एक रुपया किनारे पर पड़ा है; तुम नहीं उठाते। तुम कहते, मैं कोई चोर थोड़े ही! फिर सोचो कि एक हजार रुपये पड़े हैं तो थोड़ा-सा ललचाते हो। पर फिर भी हिम्मत बांध लेते हो कि मैं कोई चोर थोड़े ही! लेकिन एक-दो दफे लौटकर देखते। फिर दस हजार पड़े हैं, तब हाथ में उठा लेते हो। उठाते हो, रखते हो। कि यह मैं क्या कर रहा हूं? मैं कोई चोर थोड़े ही हूं! जाने की हिम्मत नहीं होती। अब छोड़कर जाने की हिम्मत नहीं होती। आसपास देखते हो, कोई देख भी तो नहीं रहा, उठा क्यों न लूं? लेकिन अगर दस लाख पड़े हैं तो फिर झिझक भी नहीं होती।

मैंने सुना है, मुल्ला नसरुद्दीन एक स्त्री से बोला--दोनों चढ़ रहे थे लिफ्ट में किसी मकान की--एकांत पाकर उसने कहा कि क्या विचार है? अगर एक रात मेरे साथ रुक जाये तो हजार रुपये दूंगा। उस स्त्री ने कहा, तुमने मुझे समझा क्या है? तो उसने कहा, अच्छा दो हजार ले लेना। स्त्री थोड़ी नरम पड़ी पर फिर भी नाराज थी। मुल्ला ने कहा, अच्छा तो पांच हजार ले लेना। तब बिलकुल नरम हो गई। मुल्ला ने कहा, पांच रुपये के संबंध में क्या खयाल है? वह स्त्री तो भनभना गई। उसने कहा, तुमने मुझे समझा क्या है? मुल्ला ने कहा, वह तो हम समझ गये कि तू कौन है। तेरी कीमत तो तूने बता दी। तू कौन है यह तो पता चल गया, अब तो मोल-भाव करना है। पांच हजार में तो तू राजी थी तो तू कौन है यह तो पता चल गया, अब मोल-भाव...! अब पांच से शुरू करते हैं।

तुम्हारी जीवन की जो सज्जनता है उसकी सीमायें हैं। संत की सज्जनता की कोई सीमा नहीं है। तुम्हारी सज्जनता सशर्त है। कुछ शर्तें बदल जायें, तुम्हारी सज्जनता बदल जाती है। संत की सज्जनता बेशर्त है। तुम्हारे बीज हैं, ठीक भूमि मिल जाये और वर्षा हो तो तुम अंकुरित हो जाओगे।

इसलिए पतंजलि ने संत को कहा है: दग्धबीज। उसका बीज जल गया है। अब चाहे वर्षा हो, चाहे ठीक भूमि मिले, चाहे न मिले। चाहे माली मिले कुशल से कुशल और लाख उपाय करे तो भी दग्धबीज से अब अंकुर पैदा होने को नहीं है।

तो अष्टावक्र की बातों को सुनकर तुम्हारे भीतर वे जो छुपे हुए प्रलाप हैं वे कहेंगे, अरे, हम भी कहां परेशान हो रहे थे! कहां पतंजलियों के चक्कर में पड़ गये थे! छोड़ो भी! अष्टावक्र ने ठीक कहा। तो अपना लौट चलें। वही पागलपन, वही पुराना जीवन, वही ठीक है।

अष्टावक्र यह नहीं कह रहे हैं। ऐसी भूल में मत पड़ जाना। अष्टावक्र भोग के पक्ष में नहीं हैं। अष्टावक्र तो योग तक के पक्ष में नहीं हैं। क्योंकि अष्टावक्र कहते हैं, भोग से भी अहंकार ही भरता। भोग में भी कर्ता--भोक्ता, और योग में भी कर्ता--योगी। दोनों से अहंकार भरता।

और उसी घड़ी परमात्मा उतरता, जहां अहंकार नहीं है।

"मंदमति उस तत्व को सुनकर भी मूढ़ता को नहीं छोड़ता है। वह बाह्य व्यापार में संकल्परहित हुआ विषय की लालसावाला होता है।"

मंदः श्रुत्वापि तद्वस्तुं न जहाति विमूढताम्।
निर्विकल्पो बहिर्यत्नात् अंतर्विषयलालसः।।

मंदमति का अर्थ...मंदमति का अर्थ मूढ़ नहीं होता, जैसा हम मूढ़ का उपयोग करते हैं। मूढ़ का तो अर्थ होता है, मूर्ख; जो सुनकर समझ ही न पाये। जो यह भी न समझ पाये कि क्या कहा गया। मंदमति का अर्थ होता है, जो समझता तो है लेकिन समय निकल जाने पर समझता है; जरा देर से समझता है। सुस्तमति! जब समझना चाहिए तब नहीं समझता। जब समय निकल जाता है तब समझता है।

जैसे, वासना व्यर्थ है यह अगर बुढ़ापे में समझा तो मंदमति; जवानी में समझा तो तेजस्वी। बुढ़ापे में तो समय निकल गया। अब पछताये होत का, चिड़िया चुग गई खेत! बुढ़ापे में तो सभी समझदार हो जाते हैं, क्योंकि नाासमझ होने का उपाय ही नहीं रह जाता। बूढ़े होते-होते तो वासनायें स्वयं ही क्षीण हो जाती हैं तो फिर वासनामुक्त होने का मजा अहंकार लेने लगता है। बूढ़े जवानों पर हंसते हैं और समझते हैं, मूढ़ हैं। और ठीक यही मूढ़तायें उन्होंने अपनी जवानी में की हैं और उनके बूढ़े उन पर हंस रहे थे। और उन बूढ़ों के साथ भी पहले यही हो चुका है।

जो बूढ़े होने की वजह से बुद्धिमान हो गये हैं उनकी बुद्धिमानी दो कौड़ी की है। क्योंकि बुढ़ापे से बुद्धिमानी के पैदा होने का कोई भी संबंध नहीं है। बुढ़ापे से तो एक ही बात होती है कि अब तुम कुछ बातें करने में विवश हो गये, अब नहीं कर सकते। अवश हो गये हो। अब इस अवशता को तुम सुंदर शब्दों में ढांककर त्यागत्तपश्चर्या बनाते हो।

काफ्का की एक बड़ी प्रसिद्ध कहानी है कि एक सर्कस में एक आदमी था जो उपवास करने में बड़ा कुशल था। लेकिन सर्कस बहुत बड़ा था और एक राजधानी में बहुत महीनों तक रुका। और उपवास करने की वजह से उसकी तरफ कोई ज्यादा ध्यान भी नहीं देता था। उसको न भोजन की जरूरत थी, न कोई चिंता थी। वह तो अपने घास का एक बिस्तर बना लिया था, उसमें पड़ा रहता था।

कुछ ऐसा हुआ कि सर्कस के शोरगुल में लोग भूल ही गये। मैनेजर उसका खयाल ही भूल गया। बड़ा उपद्रव था, भारी राजधानी थी, बड़ी भीड़-भाड़ थी। कोई दस-पंद्रह दिन बीत गये तब एक दिन मैनेजर को खयाल आया कि उस उपवास करनेवाले का क्या हुआ? और उसका था भी तंबू आखिर में। तो वह भागा हुआ गया। वह आखिरी सांसें गिन रहा था उपवास करनेवाला। पंद्रह दिन न तो कोई देखने आया, न किसी ने फिक्र ली।

मैनेजर तो हैरान हुआ, उसने कहा, पागल! तूने भोजन क्यों नहीं कर लिया? न कोई देखने आया, न तेरी कोई फिक्र की। तू जाकर भोजन कर लेता।

तो उसने कहा, आज एक राज की बात तुमसे कहें। उसकी आवाज बहुत धीमी हो गई थी; वह मरणासन्न था। मैनेजर को पास बुलाकर उसने कान में कहा कि असल बात यह है कि भोजन करने में मुझे रस ही नहीं है। कोई उपवास थोड़े ही कर रहा हूं! मैं किसी एक महाबीमारी से ग्रसित हूं कि मेरा स्वाद मर गया है। भोजन मैं कर ही नहीं सकता। यह उपवास तो अब इस मजबूरी को भी जीवन को चलाने का आयोजन बनाने में काम ला रहा हूं। यह उपवास तो सिर्फ बहाना है। लोग आते थे, देखते थे, तो मैं प्रसन्न रहता था। इन पंद्रह दिन में कोई भी नहीं आया तो मैं बिलकुल सिकुड़ गया हूं। वही मेरा मजा था। वह जो अहंकार की तृप्ति होती थी कि लोग आ रहे हैं, वही मेरा भोजन था। भोजन तो मैं कर ही नहीं सकता। भोजन करना संभव नहीं है। यह उपवास मेरा कोई तप नहीं था। यह मेरी एक दुर्बलता थी।

तुम्हारे बहुत-से साधु-संन्यासी अनेक तरह की दुर्बलताओं से ग्रसित हैं। इन दुर्ब्बलताओं को उन्होंने नये-नये आभूषण पहना रखे हैं।

अब मैं तुमसे कहूं, अगर बुद्ध जैसा कोई व्यक्ति कहे कि सत्य को तर्क से नहीं पाया जाता, समझ में आता है। महावीर जैसा कोई व्यक्ति कहे कि सत्य को तर्क से नहीं पाया जा सकता, समझ में आता है। अष्टावक्र कहें, सत्य को तर्क से नहीं पाया जा सकता, समझ में आता है। लेकिन कोई बुद्धू, जिसको तर्क का अ ब स नहीं आता वह कहे कि सत्य को तर्क से नहीं पाया जा सकता तो यह बात सिर्फ दुर्बलता को छिपाने की है। इसका कोई मूल्य नहीं है।

ये बातें एक जैसी लगती हैं। इसलिए अनेक मूढ़ों को भी यह सुविधा है कि वे भी कह दें, तर्क में क्या रखा है? तर्क तो करना आता नहीं। तर्क करना कोई साधारण बात तो नहीं है। प्रखर बुद्धि चाहिए, तलवार की तरह धार चाहिए, मेधा चाहिए।

तो तर्क में कोई सार नहीं है यह कोई भी कह सकता है। दस में नौ मौकों पर यह झूठ होता है। तर्क में कोई सार नहीं है यह उसी को कहने का हक है जिसने तर्क किया हो और पाया हो कि सार नहीं है।

कमजोरियों को मत छिपाना। बुढ़ापे में अक्सर हो जाता है; वीर्य-ऊर्जा समाप्त हुई, लोग ब्रह्मचर्य की बातें करने लगते हैं। जवानों को मूढ़ कहने लगते हैं। अब जो स्वयं नहीं कर सकते उसको कम से कम गाली तो देने का मजा ले सकते हैं। एक गहरीर् ईष्या पकड़ जाती है। इसर् ईष्या के कारण जो मंतव्य दिये जाते हैं उनका कोई भी मूल्य नहीं है।

मंदबुद्धि का अर्थ होता है, मंदमति का अर्थ होता है, अवसर बीत जाता है तब अकल आती है। जब वर्षा बीत गई तब उन्हें खयाल आता है कि अरे, वर्षा बीत गई, फसल बो देनी थी। लेकिन अब फसल नहीं बोयी जा सकती, अब समय जा चुका।

मंदबुद्धि का एक ही अर्थ होता है, जब क्षण मौजूद हो वहां तुम मौजूद नहीं। प्रखर बुद्धि का एक ही अर्थ होता है, जब चुनौती मौजूद हो तब तुम मौजूद हो। उस चुनौती को अंगीकार करने को, उस चुनौती के लिए प्रति-उत्तर देने को तुम्हारा प्राण तत्पर है। तुम पूरे-पूरे मौजूद हो। बुद्धिमानी एक तरह की उपस्थिति है--प्रेजेन्स आफ माइंड। चैतन्य की एक उपस्थिति है।

"मंदमति उस तत्व को सुनकर भी मूढ़ता को नहीं छोड़ता है।"

तो मंदमति सुनता हुआ मालूम पड़ता है। ऐसा लगता है, सुन भी लिया उसने। यह भी हो सकता है, तोते की तरह रट भी ले, लेकिन फिर भी क्रांति नहीं घटती है। और जब तक क्रांति न घटे तब तक जानना, सुना हुआ सुना हुआ नहीं है। सुने हुए का कोई मूल्य नहीं है। तुम लाख सुनते रहो, क्या होगा? कानों में थोड़ी-सी आवाज के गूंजने से थोड़े ही कोई क्रांति होती है! फिर आवाज किसकी थी इससे भी फर्क नहीं पड़ता।

बुद्धपुरुषों को तुमने सुना है और कुछ भी नहीं हुआ। जिनों के पास से तुम गुजरे हो और कुछ भी नहीं हुआ। परमहंसों की हवा में तुम उठे-बैठे हो और कुछ भी नहीं हुआ। तुम्हें कुछ छूता ही नहीं। क्योंकि जहां से छू सकता है वहां तो तुम मौजूद नहीं हो। वहां तो बुद्धि बहुत मंद है। वहां तो तुम इतने शिथिल हो, जिसका हिसाब नहीं।

इसके परिणाम होते हैं। इसका एक परिणाम यह होता है कि जब क्राइस्ट मौजूद होते हैं तो लोग सुनते नहीं, जब मर जाते हैं तब पूजा करते हैं--यह मंदबुद्धि। जब बुद्ध होते हैं तब गालियां देते हैं, जब बुद्ध चले जाते हैं तब मूर्तियां बनाते हैं। इनको बड़ी देर से अकल आती है। अब बुद्ध की मूर्ति के सामने सिर पटकने से कुछ भी न होगा। और ये वे ही लोग हैं, जिन्होंने पत्थर फेंके बुद्ध पर। अब ये बुद्ध की मूर्ति बनाते हैं। अब इनको बड़ा पश्चात्ताप हो रहा है कि हमने यह क्या कर लिया! और अगर बुद्ध फिर आ जायें, ये फिर पत्थर फेंकेंगे। क्योंकि जो है उससे तो इनका तालमेल नहीं बैठता। जो जा चुका, जो मर चुका...।

इसीलिए तो लोग परंपरापूजक हो जाते हैं। जितना पुराना उतना ही ज्यादा पूजा करते हैं। उतना ही उनकी अकल में आता है। उनकी अकल इतनी पिछड़ी हुई है, समसामयिक नहीं है। जैसे कोई आदमी वेद लिए बैठा है और वेद दोहरा रहा है। और इसकी फिक्र ही नहीं कर रहा है कि कहीं न कहीं पृथ्वी पर अब भी वेद फिर-फिर जन्म ले रहा है। इसकी फिक्र नहीं कर रहा है, वेद दोहरा रहा है। यह पांच-छह हजार या दस हजार वर्ष पुरानी बुद्धि है इसके पास। इनको दस हजार साल में चेतना आई कि अरे! कुछ ऋषि हो गये। ये दस हजार साल पीछे चल रहे हैं समय से। इनके बीच और समय में दस हजार साल का फासला है। ये मुझे भी सुनेंगे दस हजार साल बाद। तब ये उठाकर देखेंगे कि अरे! कुछ हो गया, हमें पता ही न चला।

मंदबुद्धि का अर्थ होता है, जो पीछे-पीछे घिसटता है समय के। उपस्थित होना चाहिए समय के साथ तो प्रतिभा; और जो समय के भी थोड़ा आगे होता है तो बुद्धत्व।

इन तीनों बातों को समझ लो। मंदबुद्धि समय से पीछे घिसट रहा है। यह तो कुछ कर ही नहीं सकता। यह जो भी करेगा, चूक जायेगा। इसका तीर कभी निशाने पर नहीं लगेगा; लग ही नहीं सकता। इसका तीर कहीं चलता है, निशाना कहीं और है। इनमें कभी तालमेल नहीं होता।

फिर जो समय के साथ खड़ा है ठीक शुद्ध वर्तमान में, वह प्रतिभावान। इसकी संभावना ज्यादा है। इसका तीर लग जायेगा। इसका तीर और निशाना एक ही दिशा में है।

फिर ऐसा भी चैतन्य का आखिरी चरण है जो समय के आगे है। इसलिए बुद्धपुरुषों की वाणी हमेशा समय के आगे होती है। तुम्हें उन्हें समझने में हजारों वर्ष लग जाते हैं। उसका कुल कारण इतना है कि वे जो कहते हैं वह उनके सामने जो लोग मौजूद हैं, उनसे बहुत आगे की बात होती है। हजारों वर्ष पहले जैसे कोई बात कह दी गई। लोग अभी तैयार ही न थे।

बुद्धत्व का अर्थ है: जो होनेवाला है उसे देख लेना।

समझो इसको। किसी ने गाली दी, बुद्धू वह है जो अभी न पकड़ पायेगा। जब उसे कोई कहेगा, अरे, इस आदमी ने गाली दी, क्या बैठे सुन रहे हो? तब उसे अकल आयेगी। बुद्धिमान वह है जो अभी पकड़ेगा। अभी दी, यहीं पकड़ेगा। जो कुछ करना उचित होगा, अभी कर लेगा।

बुद्ध वह है कि गाली दी भी नहीं गई और पकड़ ली। उठ ही रही थी कि पकड़ ली। यह तो बाहर की बात।

भीतर की भी बात--तुम्हें किसी ने गाली दी, दफ्तर में गाली दी, घर आकर क्रोधित हुए। इतनी देर लग गई तुम्हें संवेदित होने में। जब तुम क्रोधित हो गये तब भी तुम्हें पता नहीं चलता। जब तुमने अपने बेटे की पिटाई ही कर दी तब तुमको खयाल आया कि अरे, तुम किसको मार रहे हो! तुम्हें मारना किसी और को था, यह बेटे को मार रहे हो। यह क्रोध गलत जगह आरोपित हो गया। तुम्हें क्रोध का भी पता तब चलता है जब कृत्य बन जाता है।

क्रोध की तीन अवस्थायें हैं। एक तो क्रोध के आने की पहली अवस्था; जैसे सूरज अभी उगा नहीं, प्राची सिर्फ लाल हुई। उगने के करीब है--ब्रह्ममुहूर्त। ऐसा क्रोध का ब्रह्ममुहूर्त। अभी क्रोध हुआ नहीं, होगा; होने ही वाला है। फिर सूरज निकल आया, क्रोध हो गया। फिर सूरज सिर पर चढ़ आया, क्रोध कृत्य बन गया; जलाने लगा, झुलसाने लगा।

तो एक तो क्रोध है, कृत्य बन जाता है तभी लोगों को पता चलता है; वे मंदबुद्धि। जब तुमने किस को मार डाला तब तुम्हें अकल आई कि यह मैंने क्या कर दिया? यह तो मैं चाहता भी नहीं था और यह हो गया। अब मैं क्या करूं? यह मेरे बावजूद हो गया। फिर तुमसे बेहतर वह आदमी है, जब क्रोध उठ रहा होता है तब जानता है। तब कुछ किया जा सकता है; ज्यादा नहीं किया जा सकता, क्योंकि जो उठ आया, उठ आया। फिर भी थोड़ा किया जा सकता है। कम से कम कृत्य बनने से रोका जा सकता है। विचार तो बन गया। तुम तो विकृत हो गये। तुम्हारे भीतर तो जहर फैल गया। इतना तुम कर सकते हो कि दूसरे तक जहर फैलने से रोक लो।

फिर तीसरा वह प्रतिभावान बुद्धत्व को उपलब्ध व्यक्ति है कि क्रोध अभी उठा भी नहीं और जानता है। वह अपने को भी विषाक्त होने से बचा लेता है। जिसने बीज को पकड़ लिया वह वृक्ष से बच जाता है।

"मंदमति उस तत्व को सुनकर भी मूढ़ता को नहीं छोड़ता है।"

कितनी बार तुमने सुना नहीं! मगर कुछ बात है कि छूटती नहीं, गले में अटकी ही रहती है। सुनते-सुनते-सुनते शब्द याद हो जाते हैं, अर्थ पकड़ में नहीं आता। सुनते-सुनते पंडित हो जाते हो, प्रज्ञा का जन्म नहीं होता।

"...वह बाह्य व्यापार में संकल्परहित हुआ विषय की लालसावाला होता है।"

और तब कभी-कभी ऐसा भी हो जाता है कि सुनते-सुनते, साधु-संतों का सत्संग करते-करते तुम्हें भी लगता है कि कुछ सार नहीं है संसार में, भोग में कुछ पड़ा नहीं है। ऐसा ऊपर-ऊपर लगने लगता है, खोपड़ी में लगने लगता है। तुम्हें भीतर अभी ऐसा कुछ हुआ नहीं है। तो तुम बाहर के संसार को छोड़ देते हो, जंगल भाग जाते हो। बैठ जाते गुफा में। सोचते संसार की, बैठे गुफा में हो। हाथ में माला लिये गिनती मनकों की करते,

भीतर गिनती रुपयों की चलती। बाहर कुछ, भीतर कुछ हो जाता है। और जो व्यक्ति बाहर कुछ, भीतर कुछ हो गया, वह रुग्ण हो गया; बुरी तरह रुग्ण हो गया। वह विक्षिप्त हो गया क्योंकि खंडित हो गया। अखंड में है स्वास्थ्य, खंडित में है विक्षिप्तता। फिर जितने तुम्हारे भीतर खंड हो जायें उतने ही तुम रुग्ण होते चले जाते हो।

मैंने पंद्रह-बीस वर्षों में न मालूम कितने साधु-संतों को करीब से देखा। उनमें से निन्यानबे प्रतिशत लोग रुग्ण हैं। उनको इलाज की आवश्यकता है। वे महात्मा तो हैं ही नहीं, विमुक्त तो हैं ही नहीं, विक्षिप्त अवस्था है। लेकिन उनकी विक्षिप्त अवस्था की भी पूजा चल रही है। और जब पूजा चलती है तो वह आदमी भीतर-भीतर अपने को किसी तरह सम्हाले रहता है...सम्हाले रहता है। अब यह पूजा भी छोड?ते नहीं बनती। यह अहंकार के लिए मजा आना शुरू हो गया। प्रतिष्ठा मिलती, पद मिलता, आदर मिलता। उपवास भी करता, जपत्तप भी करता, सब किये चला जाता और भीतर एक ज्वालामुखी धधकता है।

निर्विकल्पो बहिर्यत्नात्...।

बाहर के व्यापार में ऐसा लगता है, अब इसको कोई रस नहीं।

अंतर्विषयलालसः।

लेकिन भीतर लालसा ही लालसा की लपटें उठती रहती हैं।

इसलिए असली पहचान तुम अपने लिए पकड़ लेना, कसौटी बना लेना: असली सवाल भीतर है, बाहर नहीं है। अगर भीतर लालसा उठती हो तो संसार ही बेहतर है, कहीं भागना मत। कम से कम धोखे से तो बचोगे। किसी को धोखा तो न दोगे। सच्चे तो रहोगे। संसारी होकर ही सच्चे रहना, संन्यासी होकर झूठे मत हो जाना। कम से कम सचाई है तो किसी दिन संन्यास भी आयेगा; सचाई के पीछे आयेगा। झूठ के पीछे तो संन्यास कभी आ नहीं सकता।

इसलिए मैंने अपने संन्यासियों को छोड़कर जाने को नहीं कहा है। उनसे कहा है, जहां हो वहीं डटकर रहना; भागना मत। भगोड़ापन कायर का लक्षण है। वह भयभीत आदमी की धारणा है। भागना मत; जहां हो वहीं डटकर खड़े रहना। इतना ही खयाल रखना कि भीतर की लालसा समझ में आने लगे। छोड़ने की भी नहीं कह रहा हूं। और अष्टावक्र भी नहीं कह रहे हैं कि तुम कुछ छोड़ दो; समझो।

"ज्ञान से नष्ट हुआ है कर्म जिसका ऐसा ज्ञानी लोकदृष्टि में कर्म करनेवाला भी है लेकिन सच में वह न कुछ करने का अवसर पाता है, न कुछ कहने का ही।"

"ज्ञान से नष्ट हुआ है कर्म जिसका...।"

दो तरह से कर्म नष्ट हो सकता है: जबरदस्ती से, कर्म से ही कर्म नष्ट कर दिया तो धोखे में पड़ोगे। समझो; थोड़ी बारीक बात है।

तुम्हारे भीतर क्रोध उठा; इस क्रोध को तुम दो तरह से नष्ट कर सकते हो--एक तो कर्म से, कि तुम चढ़ बैठो इस क्रोध के ऊपर। इसकी छाती पर बैठ जाओ, इसको हिलने-डुलने न दो, जाने न दो बाहर। सम्हाल लो अपने को, नियंत्रण कर लो अपने को। सब तरफ से अवरुद्ध कर लो। कहो कि नहीं करेंगे, चाहे कुछ भी हो जाये!

कर सकते हो ऐसा; लेकिन तुमने कर्म से क्रोध को रोका तो कितनी देर तक तुम कर्म करते रहोगे? शिथिल होओगे न! सुस्ताओगे या नहीं सुस्ताओगे? रात सोओगे तो? तब तो नियंत्रण ढीला हो जायेगा। फिर सपने में तुम किसी की हत्या कर दोगे। वह क्रोध वहां निकलेगा। या फिर क्रोध इस ढंग से निकलने लगेगा, तुम्हें पता भी न चलेगा। तुम दरवाजा खोलोगे और क्रोध से खोलोगे। और तुम्हें पता भी नहीं चलेगा। क्योंकि दरवाजे से तो कोई क्रोध है नहीं, क्रोध तो पत्नी से था। पत्नी के प्रति तो तुमने अपने को रोक लिया, अब तुम दरवाजा जोर से खोलते हो।

तुमने देखा? स्त्री तुम पर नाराज हो, उस दिन ज्यादा कप-बशी टूट जाती हैं। तुम पर सीधा तो कुछ कह नहीं सकती। मन तो था तुम्हारा सिर तोड़ दे, लेकिन यह तो पति परमात्मा हैं और इनका सिर तो तोड़ा नहीं

जा सकता। कुछ तो तोड़ना ही होगा। ऐसा कुछ सोचकर करती है ऐसा नहीं कह रहा हूं। ऐसा कुछ हिसाब लगाती है ऐसा नहीं कह रहा हूं। ये अचेतन प्रक्रियायें हैं। हाथ से बशी छूटने लगती है। ज्यादा छूटती है उस दिन; चाहे ऊपर से कुछ भी न कहे।

तुमने देखा? जिस दिन पत्नी नाराज है, शायद एक शब्द न कहे, लेकिन चाय इस ढंग से ढालेगी कि तुम पहचान सकते हो कि क्रोधित है। चाय के ढालने में हो जायेगा। सब्जी में नमक ज्यादा पड़ जायेगा--नहीं कि उसने डाला। इतना होश कहां है कि होश से डाले, डल जाएगा। क्रोध यहां-वहां छिटकने लगेगा। जिसे तुमने बीज से पकड़कर रोक लिया है वह कोई कोने-कांतर से रास्ते खोजने लगेगा। कहीं से तो बहेगा!

कोई झरना बहता है, तुम एक चट्टान उस पर लगा दो तो अब शायद मूल धारा टूट जाये लेकिन छोटे-छोटे झरने फूटने लगेंगे। आसपास से चट्टान के छोटी-छोटी धारायें निकलने लगेंगी। निकलेगा तो क्रोध कहीं से।

कर्म से क्रोध नहीं रुकता। क्योंकि कर्म से क्रोध के रुकने का कोई संबंध ही नहीं है। और कभी-कभी ऐसा हो जाता है कि जो आदमी बहुत क्रोधी होता है वही आदमी कर्म से क्रोध को रोकने में समर्थ हो जाता है; क्योंकि रोकने के लिए भी क्रोध चाहिए--क्रोध पर क्रोध।

अष्टावक्र कहते हैं, "ज्ञान से नष्ट हुआ है कर्म जिसका।"

नहीं, कर्म से कर्म को विजय कर लिया तो कुछ विजय न हुई। क्योंकि अंततः तो कर्म ही रहा, कर्ता ही रहे।

"ज्ञान से नष्ट हुआ है कर्म जिसका...।"

जिसने जानकर, पहचानकर, बोध को जगाकर, क्रोध को देखकर, क्रोध का स्वभाव समझकर, बिना किसी चेष्टा के, बिना किसी आयोजन के, बिना किसी यत्न के, प्रयास के, क्रोध को भर नजर से देखकर जिसको यह समझ आ गई कि क्रोध व्यर्थ है।

और किसको समझ न आयेगी? एक दफा भर नजर देखो भर। क्रोध को एक बार ठीक से देखोगे तो कैसे करोगे? रोकने का तो प्रश्न ही नहीं है, करोगे कैसे? फर्क समझ लेना। कर्म से रोकनेवाला क्रोध को रोकता है बिना समझे। और ज्ञान से जागनेवाला क्रोध को रोकता ही नहीं, क्रोध रुकता है अपने आप। क्योंकि क्रोध उठता था अज्ञान से, मूढ़ता से, मूर्च्छा से। वह मूर्च्छा टूट गई। क्रोध का मूल आधार छिन्न-भिन्न हो गया। यह सूत्र समझो।

ज्ञानाद्गलितकर्मा यो लोकदृष्टयापि कर्मकृत्।
नाप्नोत्यवसरं कर्तुं वक्तुमेव न किंचन।।
ज्ञानाद्गलितकर्मा...।

जिसका कर्म ज्ञान से गलित हुआ है; कर्म से नहीं, किसी आयोजना से नहीं, सिर्फ बोध से, समझ से। जिसने दबा नहीं लिया है, जो भी भीतर है उसे ठीक-ठीक देखा है और देखने में ही कोई क्रांति घटित हुई। देखने से ही क्रांति घटित हुई। देखने से क्रांति घटती है।

आधुनिक भौतिकविद एक बड़ी अनूठी खोज पर पहुंचे हैं। और वह खोज यह है कि जब तुम किसी चीज को देखते हो तो तुम्हारे देखने के कारण ही उस चीज में गुणधर्म रूपांतरित होता है--चीज में भी!

तुम एक वृक्ष को देख रहे हो गौर से, यह अशोक का वृक्ष खड़ा है पास, इसे तुम गौर से देखोगे तो तुम सोचते हो, हम देख रहे हैं, वृक्ष को क्या मतलब? वृक्ष को क्या होगा इससे? वृक्ष थोड़े ही बदल जायेगा। लेकिन अब उपाय हैं इस बात को जानने के कि वृक्ष बदल जाता है। जब इतने लोग इसे प्रेम से देखते हैं तो वृक्ष एक और तरंग में होता है। इतने लोग अगर क्रोध से देखें तो वृक्ष और अवस्था में होता है। कुल्हाड़ी लेकर आ जाये इस वृक्ष को काटने के लिए कोई--तो अभी काटा नहीं, अभी कुल्हाड़ी लानेवाला ला ही रहा है, लेकिन कुल्हाड़ीवाले के मन में जो विचार उठ रहे हैं इसको काटने के, उनकी तरंगें उस तक कुल्हाड़ी से पहले पहुंच जाती हैं। और वृक्ष भयभीत हो जाता है, कंपने लगता है, दुखी हो जाता है।

जब माली आता है वृक्ष के पास, जो रोज पानी देता है, तो दूर से ही माली को आते देखकर वृक्ष तृप्त होने लगता है। अब इस पर वैज्ञानिक परीक्षण हो गये हैं। और वैज्ञानिक परीक्षणों ने तय कर दिया है कि वृक्ष भी अनुभव करते हैं। और देखने मात्र से रूपांतरण हो जाता है।

तुमने खयाल किया अपने जीवन में? अगर चार लोग तुम्हें प्रेम से देखें तो तुम बदलते हो या नहीं? और चार लोग तुम्हें क्रोध से देखें तो तुम बदलते हो या नहीं? क्या तुम वही रहते हो जब चार लोग तुम्हें क्रोध से देखते हैं, घृणा से देखते हैं, अपमान से देखते हैं? या चार व्यक्ति तुम्हें परिपूर्ण प्रेम और आदर और सम्मान से देखते हैं? तुम्हारे भीतर रूपांतरण होते हैं। तुम्हारे भीतर सूक्ष्म भेद पड़ते हैं।

और ये तो बाहर की नजरें हैं। भीतर की नजर का तो कहना क्या! भीतर तो नजरों की नजर है। भीतर तो आंखों की आंख है। उस आंख को ही तो हमने तीसरी आंख कहा है। वहां तो शिवनेत्र है। अगर तुमने भीतर सब बाहर की आंख बंद करके उस तीसरे नेत्र से, उस भीतर की आंख से, उस भीतर की दृष्टि से अपनी किसी भी चित्त की दशा को देखा तो तुम पाओगे, रूपांतरण हो गया।

ज्ञानियों ने यही कहा है--ज्ञानादूलितकर्मा--तुम वासना को देखोगे और वासना गई। तुम क्रोध को देखोगे और क्रोध गया। तुम लोभ को देखोगे और लोभ गया। तब तो तुम्हारे हाथ में कुंजी लग गई--कुंजियों की कुंजी कि तुम जिसको देखोगे वही गया।

फिर एक और मजे की बात है, सभी देखने से नहीं चला जाता। कुछ चीजें हैं जो देखने से विकसित होती हैं और कुछ चीजें हैं जो चली जाती हैं। अगर तुम अध्यात्म का आधार समझना चाहो तो जो तुम्हारी दृष्टि के सामने न टिक सके और चला जाये, वही पाप। और जो तुम्हारी दृष्टि में न केवल टिके बल्कि फलने-फूलने लगे, वही पुण्य। यह पुण्य और पाप की परिभाषा।

तुमने बहुत परिभाषायें सुनी होंगी, वे सब कचरा हैं। पुण्य और पाप की एक ही परिभाषा है: तुम्हारे अवलोकन में जो बढ़ने लगे और तुम्हारे अवलोकन में जो क्षीण होने लगे--बस, समझ लेना।

अगर तुमने गौर से प्रेम को देखा तो प्रेम बढ़ता है, जाता नहीं। यही तो मजा है। और क्रोध को देखा तो क्रोध चला जाता है; बढ़ता नहीं, घटता है। जिस मात्रा में बोध बढ़ता है उसी मात्रा में क्रोध घटता है। जिस मात्रा में बोध कम होता है, क्रोध ज्यादा होता है। बोध एक प्रतिशत, क्रोध निन्यानबे प्रतिशत। बोध पचास प्रतिशत, क्रोध पचास प्रतिशत। बोध साठ प्रतिशत, क्रोध चालीस प्रतिशत। बोध निन्यानबे प्रतिशत, क्रोध एक प्रतिशत। बोध सौ प्रतिशत, क्रोध शून्य।

मगर ऐसी बात प्रेम के साथ नहीं है। प्रेम के साथ और ही अनुभव होता है। करुणा के साथ और ही अनुभव होता है। शांति के साथ और ही अनुभव होता है। ध्यान के साथ और ही अनुभव होता है। जैसे-जैसे तुम्हारा बोध बढ़ता है वैसे-वैसे शांति बढ़ती है। जैसे-जैसे तुम्हारा बोध बढ़ता है...बोध सौ प्रतिशत तो सौ प्रतिशत प्रेम। बोध एक प्रतिशत तो एक प्रतिशत प्रेम। बोध शून्य तो प्रेम शून्य।

जो बोध के साथ बढ़े वही पुण्य। जो बोध के साथ न बढ़े, घटने लगे, वही पाप। जो बोध के साथ न बढ़े न घटे, उससे तुम्हारा कोई संबंध नहीं। उसकी तुम चिंता ही छोड़ देना। उससे कुछ लेना-देना ही नहीं है। जो बोध के साथ न घटे न बढ़े, उससे कुछ लेना-देना नहीं है। न उसे घटाना है, न बढ़ाना है; उससे तुम्हारे जीवन का कोई लेना-देना नहीं है। उस संबंध में तुम तटस्थ हो जाना।

जैसे अगर तुम अपने शरीर को देखोगे तो न तो घटेगा, न बढ़ेगा। जैसा है वैसा रहेगा। तो शरीर से कुछ लेना-देना नहीं है। अपने आप है, अपने आप रहेगा, अपने आप चला जायेगा। तुम्हारे बोध से कुछ लेना-देना नहीं है। तुम बोधपूर्वक देखोगे सूरज को तो न घटेगा, न बढ़ेगा। जैसा है वैसा रहेगा। तथ्य है; न पुण्य है, न पाप है।

पुण्य बढ़ता, पाप घटता। और जो ऊर्जा पाप के घटने से मुक्त होती है, पाप में संलग्न थी, मुक्त हुई, वही ऊर्जा पुण्य में संलग्न हो जाती है। इधर घृणा घटती है, क्रोध घटता है, तो उधर करुणा और प्रेम बढ़ने लगता है।

ऊर्जा तुम्हारे पास उतनी ही है उसे चाहो जहां नियोजित कर दो। गलत जगह लगा ली तो ठीक जगह लगाने को नहीं बचती है।

ज्ञानादूलितकर्मा।

ज्ञान से तुम्हारे कर्म गलित हों इस पर ध्यान रखना। कर्म से गलित करने की कोशिश मत करना। अन्यथा क्या होगा, जबरदस्ती क्रोध को रोक लिया तो क्रोध नष्ट तो नहीं होता, भीतर दबकर बैठ जाता है। और मजा यह कि पहले जितनी शक्ति क्रोध करने में लगती थी, अब उससे ज्यादा लगेगी। जितनी क्रोध में लगी थी वह तो क्रोध में लगी ही है, और अब उसको दबाने में जो लग रही है वह भी क्रोध में लग गई।

इसलिए ऐसा आदमी हानि में पड़ता है। ऐसे आदमी का आध्यात्मिक विकास तो नहीं होता है, ह्रास होता है। इससे तो बेहतर है, नैसर्गिक; जब हो क्रोध, कर लेना। तुमने फर्क देखा? जो आदमी जब क्रोध होता है कर लेता है, वह आदमी तुम भला पाओगे; अच्छा आदमी पाओगे। और जो आदमी हमेशा क्रोध को रोके रखता है, उस आदमी को तुम खतरनाक पाओगे। वह किसी दिन फूटेगा। विस्फोट होगा तो छोटा-मोटा उपद्रव नहीं करेगा, कोई बड़ा उपद्रव करेगा। जो रोज-रोज छोटी-मोटी बातों में नाराज हो जाते हैं, फिर ठीक हो जाते हैं, ऐसे लोग बड़े अपराध नहीं करते; हत्यायें नहीं करते, न आत्महत्यायें करते हैं। ये सीधे-सादे लोग हैं। ये सामान्य नैसर्गिक लोग हैं। ये कोई आध्यात्मिक लोग नहीं हैं, मगर कम से कम स्वस्थ हैं।

तुम जरा अपने महात्माओं की आंखों में गौर से देखना, बजाय शांति के तुम एक तरह की मुर्दगी पाओगे। मरघट की शांति पाओगे; फूलों की, उपवन की शांति नहीं, मरघट की। क्यों? क्योंकि कुछ तो शक्ति क्रोध में लगी थी, कुछ क्रोध को दबाने में लग गई। कुछ घृणा में लगी थी, कुछ घृणा को दबाने में लग गई। कुछ लोभ में लगी थी, कुछ लोभ को दबाने में लग गई।

सांसारिक आदमी को भी तुम थोड़ा प्रफुल्ल पाओगे; उतना भी तुम अपने महात्मा को न पाओगे। यह और मुश्किल में पड़ गया है। होना तो उल्टा चाहिए था। और जो शक्ति क्रोध में लग गई, क्रोध को दबाने में, लोभ में, लोभ को दबाने में, मोह में, मोह को दबाने में, काम में, काम को दबाने में सारी शक्ति नियोजित हो गई। इसके पास प्रेम के लिए जगह नहीं बचती। तुम्हारे महात्माओं के जीवन में तुम प्रेम न पाओगे। तुम्हारे महात्माओं के जीवन में तुम करुणा न पाओगे। तुम्हारे महात्माओं के जीवन में तुम कोई सृजनात्मकता न पाओगे। उनसे कुछ निर्मित नहीं होता। न एक सुंदर गीत रचा जाता है, न एक मूर्ति बनती है, न एक चित्र बनता है। उनसे कुछ रचा नहीं जाता। बस वे मुर्दे की तरह बैठे हैं। उनका कुल काम इतना है कि वे दबाकर बैठे हैं, क्रोध को, लोभ को, मोह को। मगर यह जीवन अकारथ है उनका। इसमें कुछ भी सौंदर्य नहीं है। इसमें कोई भी गरिमा और प्रसाद नहीं है।

क्रांति का नाम तभी दिया जा सकता है तुम्हारे जीवन-रूपांतरण को, जब गलत में नियोजित शक्ति अपने आप शुभ की ओर प्रवाहित होने लगे। जो तुमने शैतान के चरणों में चढ़ाये थे फूल, वे परमात्मा के चरणों में गिरने लगें।

ज्ञानादूलितकर्मा यो लोकदृष्टयापि कर्मकृत्।

फिर ऐसा ज्ञानी चाहे औरों की दृष्टि में संसार में खड़ा हुआ ही क्यों न दिखाई पड़े, इससे कुछ फर्क नहीं पड़ता। अपनी तरफ से वह संसार के बाहर हो गया; वही असली बात है। लोकदृष्टि में वह सामान्य ही दिखाई पड़ेगा।

नाप्नोत्यवसरं कर्तुं वक्तुमेव न किंचन।

ऐसे व्यक्ति को करने का मौका ही नहीं बचा। और न यह कहने का मौका बचा कि मैंने यह किया, मैंने यह किया। अवसर ही नहीं है। ऐसे व्यक्ति को तो एक बात समझ में आ गई कि बोध से अपने आप चीजें होती हैं, करनेवाला कौन है?

इसको अगर तुम भक्त की भाषा में कहो तो कहो, भगवान के द्वारा अपने आप होती हैं। भगवान का कोई और अर्थ है भी नहीं; इस संपूर्ण जगत की जो इकट्ठी प्रज्ञा है, इस संपूर्ण जगत का जो इकट्ठा बुद्धत्व है, इस संपूर्ण जगत का जो इकट्ठा बोध है, उसी का नाम तो भगवान है। भगवान का कोई और अर्थ नहीं है।

भगवान से होता, भक्त कहता। ज्ञानी कहता, बोध से होता। मैं कर्ता नहीं। एक बात में दोनों राजी हैं--मैं करनेवाला नहीं!

अब अगर तुम कहो, मैंने तप किया, तो चूक गये। तो उसका अर्थ हुआ कि अभी ज्ञान के द्वारा कर्म गलित नहीं हुआ। कर्म के द्वारा ही कर्म की छाती पर चढ़कर बैठ गये। कर्ता तुम अभी भी हो।

एक आदमी अकड़ता है, मेरे पास लाखों हैं; और एक आदमी अकड़ता है, मैंने लाखों को लात मार दी। दोनों की अकड़ बराबर है। जरा भी भेद नहीं है। और दूसरे की शायद पहले से ज्यादा खतरनाक है। क्योंकि पहले की अकड़ तो सीधी-सादी है, दूसरे की बड़ी जटिल है। पहले की अकड़ तो सांसारिक है, दूसरे की आध्यात्मिक का रंग लिये हुए है। यह और जहरीली है!

इसे खयाल में ले लेना: प्रयत्न से नहीं, जो भी हो, बोध से हो तो शुभ; प्रयत्न से हो तो अशुभ।

"सर्वदा निर्भय और निर्विकार ज्ञानी को कहां अंधकार है, कहां प्रकाश है, और कहां त्याग है? कुछ भी नहीं है!"

क्व तमः क्व प्रकाशो वा हानं क्व च न किंचन।
निर्विकारस्य धीरस्य निरातंकस्य सर्वदा।।

सदा तुमने सुना है कि परमात्मा प्रकाश है। कभी-कभी कुछ थोड़े-से रहस्यवादियों ने ऐसा भी कहा है, परमात्मा अंधकार है; पर बहुत थोड़े। अष्टावक्र कहते हैं, वह परम सत्य न तो प्रकाश जैसा है न अंधकार जैसा है। वहां कहां अंधकार, कहां प्रकाश! द्वंद्व वहां नहीं है। तो जहां दो नहीं हैं वहां सब दो गिर गये। तुमने जितने भी अब तक जाने थे जोड़े, वे सब गिर गये--जीवन-मृत्यु, अंधकार- प्रकाश, लाभ-हानि, सफलता-असफलता, सुख-दुख, अपना-पराया। सब गिर गये। वहां दो के सब जोड़े गिर गये। वहां तो दोनों मिल गये एक में।

अब जरा सोचो, अगर प्रकाश और अंधकार मिल जायें तो क्या होगा? कहने का कोई उपाय नहीं है, क्या होगा। एक बात तय है कि वह तो न प्रकाश जैसा होगा, न अंधकार जैसा होगा। कुछ होगा बिलकुल अनूठा, अपूर्व, रहस्यमय, अनिर्वचनीय; जिसको कहा न जा सके।

हम तो जो भी कहेंगे वह दो में बंट जायेगा। किसी को कहा सुंदर, तत्क्षण कुरूपता भीतर आ गई। किसी को कहा ऐसा, तो उससे विपरीत समाविष्ट हो गया। हम तो विपरीत से बच ही नहीं सकते। बोले कि विपरीत से फंसे। भाषा तो विपरीत में उलझी है। भाषा तो द्वंद्व की है। इसलिए तो मौन का इतना...इतना बहुमूल्य आदर किया गया है।

मौन का अर्थ है, भाषा के बाहर होना। ऐसी जगह पहुंचना भीतर, जहां शब्द न हों। जहां शब्द नहीं वहीं ब्रह्म है। जहां शब्द खो गया वहीं ब्रह्म है। वहां एक बचा। वहां कहने का कोई उपाय नहीं। कोई कोटि नहीं बनती, कोई गणित नहीं बैठता।

"सर्वदा निर्भय और निर्विकार ज्ञानी को कहां अंधकार है, कहां प्रकाश है, कहां त्याग है? कुछ भी नहीं है।"

न किंचन!

क्योंकि जो कुछ भी हम कहेंगे उसमें द्वंद्व और द्वैत आ जायेगा। ज्ञानी को कुछ भी नहीं है।

न किंचन।

और यह भी हम समझें कि सौ में निन्यानबे शास्त्रों ने परमात्मा को प्रकाश कहा है। उसका कारण शास्त्र में नहीं है, उसका कारण मनुष्य के भय में है। आदमी बहुत डरा हुआ है अंधकार से। अंधकार में घबड़ाहट होती है। प्रकाश हो जाता है तो थोड़ा भरोसा आता है। कुछ दिखाई तो पड़ता है। अंधकार में तो उसी को घबड़ाहट नहीं होती जिसको अपने भीतर दिखाई पड़ता है। जिसको सिर्फ बाहर ही देखने का पता है और जिसके भीतर तो

कुछ भी प्रकाश नहीं है वह अंधकार में बहुत घबड़ा जाता है। क्योंकि अंधकार हुआ तो अंधे हुए। अब कुछ दिखाई नहीं पड़ता। सारा संसार खो गया, जो दिखाई पड़ता था। दृश्य खो गया। अंधकार में दृश्य खो जाता है। अंधकार में तो सिद्ध ही राजी हो सकता है। क्योंकि अंधकार हो कि प्रकाश हो, दृश्य में सिद्ध को कोई रुचि नहीं है। वह तो द्रष्टा में लीन है। वह तो देखनेवाले में है।

तुमने कभी ख्याल किया, कितना ही गहन अंधकार हो, तुम तो होते हो न! तुम तो नहीं खो जाते!

सूफियों की एक पुरानी कहानी है। एक गुरु के पास दो युवक आये और उन्होंने दीक्षित होने की प्रार्थना की। गुरु ने कहा, इसके पहले कि तुम्हें दीक्षित करूं, एक परीक्षा। यह लो--एक कबूतर तू ले, एक कबूतर तू ले--और दोनों जाओ और ऐसी जगह मारकर कबूतर को आ जाओ, जहां कोई देखनेवाला न हो।

एक युवक तो भागा, जल्दी बाहर गया, बगल की गली में पहुंचा, वहां कोई भी नहीं था। उसने जल्दी से गरदन मरोड़ दी, लौटकर आ गया। उसने कहा, लो गुरुदेव। दीक्षा दो। गुरु ने कहा कि रुक।

दूसरा युवक कोई तीन महीने तक न लौटा। और पहला युवक बड़ा परेशान होने लगा कि हद हो गई। अभी तक इसको ऐसी जगह न मिली जहां यह मार लेता, जहां कोई देखनेवाला न हो! और बगल की गली काफी है। मैं उसमें मारकर आया हूं। गुरु कहता, तू चुप रह। तू बैठ! और जब तक दूसरा न लौट आयेगा तब तक मैं तुझे कुछ उत्तर न दूंगा। उसको आने दे।

अब तो दूसरा आता ही नहीं। पहला घबड़ाने लगा। उसने कहा, मुझे तो दीक्षा दे दें।

तीन महीने बाद दूसरा युवक लौटा कबूतर को साथ लेकर। हाल बेहाल था। शरीर सूख गया था लेकिन आंखों में एक अपूर्व ज्योति थी। गुरु के चरणों में सिर रखकर उसने कबूतर लौटा दिया कि यह हो नहीं सकता। आपने भी कहां की उलझन दे दी! तीन महीने परेशान हो गया। सब जगह खोजा। ऐसी कोई जगह न मिली जहां कोई देखने वाला न हो।

फिर मैं एक अंधेरे तलघरे में चला गया। वहां कोई भी न था। ताला लगा दिया। रोशनी की एक किरण न पहुंचती थी, देखने का कोई सवाल ही नहीं था। लेकिन यह कबूतर देख रहा था। इसकी टुकुर-टुकुर आंखें, इसके हृदय की धड़कन! मैंने कहा, यह तो मौजूद है। तो फिर मैंने इसे ऐसा बंद किया डब्बों में कि इसकी धड़कन न सुनाई पड़े, न इसकी आंख दिखाई पड़ें। फिर इसे लेकर मैं गया, लेकिन तब भी हार हो गई क्योंकि मैं मौजूद था। आपने कहा था, कोई भी मौजूद न हो। यह भी क्या शर्त लगा दी? मेरी मौजूदगी तो रहेगी ही, अब मैं इसको कहीं भी ले जाऊं। मैं हार गया। अब मैं ले आया। आप चाहे दीक्षा दें, चाहे न दें! लेकिन इस परीक्षा में ही मुझे बहुत कुछ मिल गया है। एक बात मेरी समझ में आ गई कि एकमात्र ऐसी मौजूदगी है जो कभी भी नहीं खोयेगी, वह मेरी है। मुझे आत्मा का थोड़ा स्वाद आपने दे दिया।

गुरु ने कहा, तू दीक्षित कर लिया गया। पहले से कहा, तू भाग जा। अब दुबारा इस तरफ मत देखना। तुझे कोई अकल ही नहीं। तू बिलकुल मंदबुद्धि है। तू बगल की गली में मार लाया?

तुम गहरे से गहरे अंधकार में भी बैठोगे तो तुम हो। एक चीज अंधकार में भी अनुभव होती रहती है, वह है मेरा होना--वह अंधकार के पार है। उसे जानने के लिए प्रकाश की कोई जरूरत नहीं। उसका अपना निजी प्रकाश है। वह स्वयं-प्रकाशी है। उसके लिए किसी प्रमाण की कोई जरूरत नहीं। वह स्वतः प्रमाण है।

आंख बंद करके जिसे उस भीतर के प्रकाश का बोध होने लगा वही अंधकार में नहीं घबड़ायेगा। लोग अंधकार से घबड़ाते हैं इसलिए परमात्मा को प्रकाश कहा।

या जिन्होंने भीतर के सत्य को जानकर भी परमात्मा को प्रकाश कहा है उन्होंने भी इसी अर्थ में कहा है कि जब तुम बाहर से भीतर आते...बाहर एक तरह का प्रकाश है, फिर एक तरह का प्रकाश भीतर है। और भीतर का प्रकाश बाहर के प्रकाश से ज्यादा गहरा है। लेकिन यह भी अंतिम बात नहीं है, यह भी यात्रा की ही बात है।

पहला अनुभव--बाहर प्रकाश है, संसारी का अनुभव है, बहिर्मुखी का। दूसरा अनुभव--भीतर प्रकाश है, अंतर्मुखी का अनुभव है। लेकिन अष्टावक्र तो परम वाक्यों में भरोसा रखते हैं। वे कहते हैं, जहां अंतर और बाहर भी मिट गये, बहिर्मुखी-अंतर्मुखी भी मिट गये; वह भी द्वंद्व गया, फिर वहां कैसा अंधकार, कैसा प्रकाश!

तो भीतर से भी भीतर एक जगह है। पहले बाहर से भीतर आना है, फिर भीतर से भी भीतर जाना है। बाहर से तो मुक्त होना ही है, भीतर से भी मुक्त होना है। एक ऐसी भी घड़ी है जब न तो तुम बाहर रहोगे, न भीतर रहोगे। उस घड़ी ही परम क्रांति घटती है। वहां न प्रकाश है, न अंधकार है।

"अनिर्वचनीय स्वभाववाले और स्वभावरहित योगी को कहां धीरता है, कहां विवेकिता है अथवा कहां निर्भयता है!"

यह सूत्र बहुत अनूठा है।

"अनिर्वचनीय स्वभाववाले और स्वभावरहित...।"

एक ही साथ दो बातें कही हैं: अनिर्वचनीय स्वभाववाले और स्वभावरहित। समझना।

क्व धैर्यं क्व विवेकित्वं क्व निरातंकतापि वा।
अनिर्वाच्यस्वभावस्य निःस्वभावस्य योगिनः।।

योग की परम व्याख्या, योगी की परम व्याख्या। जो अनिर्वचनीय स्वभाव को उपलब्ध हो गया है और साथ ही साथ स्वभाव से मुक्त हो गया है। जो अपने से एक अर्थ में मुक्त हो गया है और एक अर्थ में अपने को जिसने पा लिया है। यह बड़ी विरोधाभासी बात है। वही पाता है जो अपने को खोता है। स्वयं को खोये बिना कोई स्वयं को पाता नहीं। जब हम स्वयं को पूरी तरह खो देते हैं, डुबा देते हैं, तब जो मिलता है वही स्वयं है।

"अनिर्वचनीय स्वभाववाले और स्वभावरहित...।"

एक ऐसी घड़ी आती है जहां तुम यह भी नहीं कह सकते कि मैं हूं। जब तक तुम कह सकते हो मैं हूं, तब तक अभी तुम भटके हो। अभी तुम दूर हो। अभी घर नहीं लौटे। क्योंकि सब मैं तू की अपेक्षा रखते हैं। मैं भी द्वंद्व है तू का।

मनोवैज्ञानिक एक खोज किये हैं कि जब बच्चा पैदा होता है तो उसे जो पहला अनुभव होता है वह मैं का नहीं है, पहला अनुभव तू का है। उसकी नजर पहले तो मां पर पड़ती है। अपने को तो बच्चा देख ही नहीं सकता। वह तो दर्पण देखेगा तब पता चलेगा। बच्चे को अपना चेहरा तो पता नहीं चलता। बच्चे को अनुभव पहले मां का होता है, तू का होता है। डाक्टर को देखता होगा, नर्स को देखता होगा, मां को देखता होगा, दीवाल, मकान को देखता होगा, रंग-बिरंगे लटके खिलौनों को देखता होगा, लेकिन तू। मैं का तो अभी पता नहीं चलता।

तुमने छोटे बच्चे को देखा कभी? बड़े दर्पण के सामने रख दो तो वे उसको भी ऐसे देखते हैं जैसे कोई दूसरा बच्चा। टटोलते हैं, थोड़े चिंतित भी होते हैं, थोड़े डरते भी हैं, क्योंकि अभी यह भरोसा तो हो ही नहीं सकता कि मैं हूं। क्योंकि मैं का तो कोई पता ही नहीं है। आईने के पीछे जाकर देखते हैं सरककर कि कोई बैठा? किसी को न पाकर बड़े किंकर्तव्यविमूढ़ हो जाते हैं।

छोटे बच्चे अपना ही अंगूठा पीते हैं, तुमने देखा? पैर का ही अंगूठा पकड़कर चूसने लगते हैं, हाथ का अंगूठा चूसने लगते हैं। तुम्हें पता है कारण? कारण यह है कि उनको ये भी चीजें मालूम पड़ती हैं। कि यह कोई चीज पड़ी है, उठा लो। जैसे वे और चीजें उठाकर मुंह में डाल लेते हैं वैसा अपना अंगूठा उठाकर मुंह में डाल लिया। अभी अपना तो पता नहीं है। यह अंगूठा अपना है इसका बोध तो थोड़ी देर से होगा। यह तो एक चीज है जो यहां दिखाई पड़ती है आसपास हमेशा। इसको उठा ली, मुंह में डाल ली।

बच्चा हर चीज मुंह में डालता है। क्योंकि उसके पास अभी एक ही अनुभव का स्रोत है, मुंह। तुमने खिलौना दिया, वह जल्दी से मुंह में डालता है। क्योंकि उसकी अभी एक ही इंद्रिय सक्रिय हुई है--स्वाद। वह चखकर देखता है कि है क्या! क्योंकि बच्चे की पहली इंद्रिय मुंह है, जो सक्रिय होती है। उसे दूध पीना पड़ता है। वह उसका पहला अनुभव है। उसी अनुभव से वह सारी चीजों की तलाश करता है। वह अपने ही हाथ का अंगूठा

अपने मुंह में डालकर चूसने लगता है, इस खयाल में कि कोई चीज है जिसको चूस रहा है। यह तो धीरे-धीरे उसे समझ में आना शुरू होता है कि यह अपना हाथ है। अपना हाथ तो तब पता चलता है जब अपना पता चलता है। यह तो नंबर दो है अपना हाथ।

और अपना पता चलता है तब, जब तू का धीरे-धीरे साफ पता होने लगता है कि कौन-कौन तू है। इन तू के मुकाबले वह सोचने लगता है, मैं कुछ भिन्न हूं। क्योंकि मां कभी होती है, कभी चली जाती है। वह मां को जाते देखता, आते देखता। फिर धीरे-धीरे अहसास होता है कि मैं तो यहीं रहता हूं। जब मां नहीं होती तब भी रहता हूं, इतना कुछ ऐसे विचारों में और शब्दों में सोचता है ऐसा नहीं, ऐसा धीरे-धीरे अनुभव परिपक्व होता है।

अब तुम ध्यान रखना, जैसे पहले तू आता है और मैं पीछे आता है ऐसे ही आध्यात्मिक प्रक्रिया में पुनः जब फिर से नया जन्म होगा तो तू पहले जायेगा, फिर मैं जायेगा। जब तू चला गया तो मैं ज्यादा देर नहीं टिक सकता। यह मैं तो तू की छाया की तरह ही आया था और यह तू की छाया की तरह चला जायेगा। इसलिए अगर कोई ज्ञानी कहता हो "मैं", तो समझना अभी तू गया नहीं है। अभी तू कहीं आसपास ही खड़ा होगा। उसकी छाया पड़ रही है। मैं तू की छाया है। और तू ज्यादा मौलिक है मैं से। क्योंकि मैं पीछे आता, तू पहले आता। तू के चले जाने पर मैं चला जाता है।

इस घड़ी में स्वभावरहित हो जाता है योगी। वह यह नहीं कह सकता कि यह मैं हूं। यह बड़े विरोध की और बड़े मजे की बात है। जो है वही नहीं कह सकता कि मैं हूं और जो बिलकुल नहीं है वह घोषणा किये चला जाता है कि मैं हूं। मेरे होने की घोषणा उनसे उठती है जो नहीं हैं। और जो हैं उनका मैं बिलकुल शून्य हो जाता है।

तब बड़ी अनिर्वचनीय दशा पैदा होती है, अब इसे क्या कहें? न तू कह सकते हैं न मैं; न अंधेरा न प्रकाश; न जीवन न मृत्यु; न पदार्थ न परमात्मा। कुछ भी नहीं कह सकते। सब कहना व्यर्थ मालूम होने लगता है। और जो भी कहें, गलत हो जाता है।

लाओत्से ने कहा, सत्य को कहा कि झूठ हो जाता है। बोले कि चूके। तो ऐसी स्थिति का नाम है अनिर्वचनीय। अब इसका निर्वचन नहीं हो सकता।

अनिर्वाच्य स्वभावस्य।

आ तो गये अपने घर में, लेकिन ऐसा है कुछ यह घर कि वहां कोई निर्वचन काम नहीं आता। कोई व्याख्या, कोई परिभाषा काम नहीं पड़ती।

निःस्वभावस्य योगिनः।

और योगी स्वभाव से मुक्त होकर अनिर्वचनीय स्वभाव को उपलब्ध हो जाता है। एक छोटे क्षुद्र स्वभाव से मुक्त हो जाता है और विराट के स्वभाव को उपलब्ध हो जाता है।

यही है अर्थ जीसस का, जब जीसस बार-बार कहते हैं, "ब्लेसेड आर द मीक।" वे जो नहीं हैं, धन्यभागी हैं। निर्बल के बल राम। वह जो इतना निर्बल हो गया कि अब मैं हूं इतना भी नहीं कह सकता। इतनी भी दावेदारी न रही। उसी को मिलते प्रभु। हारे को हरिनाम। वह जो इस तरह हार गया, और सब तो गया ही गया, खुद भी अपने को हार गया। दांव पर सब लगा चुका।

पांडवों ने तो द्रोपदी को दांव पर लगाया था। वह सिर्फ तू को दांव पर लगाया। जरा चूक गये। आखिरी करीब-करीब आ गये थे। यह जो दांव है, यह जीवन के वास्तविक युद्ध का, यहां मैं को भी दांव पर लगा देना है।

मैं अकिंचन बन गया हूं द्वार पर आकर तुम्हारे
दर्द की सरिता उफनती ढह रहे मन के कगारे
मैं जिधर भी देखता हूं बेबसी आंचल पसारे
आज निष्फल हो रहे हैं धैर्य के परितोष सारे
धार का तृण बन गया हूं द्वार पर आकर तुम्हारे
आंसुओं के पालने में पीर ने मुझको झुलाया

याद के गीले करों ने थपकियां देकर सुलाया
लोरियों के संग जगते दूध-मुंहें सपने बिचारे
धूल का कण बन गया हूं द्वार पर आकर तुम्हारे
मैं अकिंचन बन गया हूं द्वार पर आकर तुम्हारे

जैसे-जैसे द्वार प्रभु का करीब आता वैसे ही वैसे व्यक्ति अकिंचन, नाकुछ। जिसको अष्टावक्र कहते हैं, "न किंचन।" जो जरा भी नहीं है, ऐसा व्यक्ति अकिंचन। किंचन का अर्थ होता है, जो थोड़ा-सा है; किंचित्। अकिंचन का अर्थ है, जो थो°?ा-सा भी नहीं है। रेखमात्र भी न बची। शून्यवत।

मैं अकिंचन बन गया हूं द्वार पर आकर तुम्हारे
धार का तृण बन गया हूं द्वार पर आकर तुम्हारे
धूल का कण बन गया हूं द्वार पर आकर तुम्हारे

जैसे धार में एक तिनका बहा जाता है। जैसे हवा के बवंडर में धूल का एक कण उड़ा जाता है।

अष्टावक्र ने कहा, जिस दिन कोई सूखे पत्ते की भांति हो जाता है, हवा जहां ले जाये। ऐसी अकिंचनता में धन्यभाग। ऐसी अकिंचनता में, जहां सब कुछ खो गया वहीं सब कुछ मिलता है। समस्त धनों का धन!

"योगी को न स्वर्ग है, न नर्क है, और न जीवनमुक्ति ही है। इसमें बहुत कहने से क्या प्रयोजन है? योगी को योगदृष्टि से कुछ भी नहीं है।"

न स्वर्गो नैव नरको जीवन्मुक्तिर्न चैव हि।
बहुनात्र किमुक्तेन योगदृष्टया न किंचन।।

दो शब्द हैं: स्वर्ग और नर्क। ईसाइयत, यहूदी धर्म, इस्लाम इन दो शब्दों के आसपास बना है। भारत ने एक तीसरा शब्द खोजा, मोक्ष। मोक्ष के लिए पश्चिम की भाषाओं में कोई शब्द नहीं है। क्योंकि वह धारणा ही कभी पैदा नहीं हुई।

इसलिए पश्चिम के धर्म प्राथमिक सीढ़ियों जैसे हैं। आखिरी शिखर तो पूरब में छुआ गया: मोक्ष। नर्क का तो अर्थ है दुख का ही विस्तार; वह हमारे अनुभव के भीतर है। और स्वर्ग का अर्थ है हमारे सुख का विस्तार; वह भी हमारे अनुभव के भीतर है। जीवन में हमने सब जाने हैं सुख-दुख। सुख एक तरफ छांट लिये, दुख एक तरफ छांट लिये, दोनों की राशियां लगा दीं, बन गये स्वर्ग-नर्क। स्वर्ग में हमने वह-वह बचा लिया है, जो हम चाहते हैं; और नर्क में वह-वह डाल दिया है, जो हम नहीं चाहते। इस संसार को हमने दो हिस्सों में बांट दिया--सुख और दुख में, तो स्वर्ग और नर्क बन गये। स्वर्ग और नर्क कोई पारलौकिक बात नहीं है, इसी संसार के अनुभव हैं।

इसीलिए तो तुम नर्क में क्या पाओगे? नर्क में पाओगे कि लोग आग की लपटों में जलाये जा रहे हैं। यह हमारे जीवन का जो ताप है, लपटें हैं, उनकी ही धारणा है। स्वर्ग में क्या पाओगे? कि लोग शराब के चश्मों के पास बैठे शराब पी रहे हैं। सदा हरे रहने वाले वृक्षों के नीचे बैठे मौज कर रहे हैं, अप्सरायें नाच रही हैं। मगर यह तो यहीं का सब मामला है। यह कुछ बहुत नया नहीं है। जो यहां चलता है छोटे-मोटे परिमाण में उसको ही बड़े परिमाण में तुम वहां चला रहे हो। इसमें कुछ भेद नहीं है। यह संसार के पार बात न गई।

तो पूरब ने एक नया शब्द खोजा, मोक्ष। मोक्ष का अर्थ है, सुख-दुख दोनों के पार। मोक्ष का अर्थ है, स्वर्ग-नर्क दोनों के पार।

लेकिन अष्टावक्र ने हद कर दी। अष्टावक्र कहते हैं, परम अवस्था में स्वर्ग-नर्क तो होते ही नहीं, मोक्ष भी नहीं होता। उन्होंने मोक्ष के पार की भी एक बात कही है। इससे पार कभी किसी ने और कुछ भी नहीं कहा है। इसीलिए तो अष्टावक्र के इन वक्तव्यों को मैंने महागीता कहा है। कृष्ण मोक्ष तक ले जाकर छोड़ देते हैं बात को। मोहम्मद स्वर्ग तक ले जाकर छोड़ देते हैं बात को। ऐसा ही जीसस भी। अष्टावक्र मोक्ष के भी पार ले जाते हैं।

अष्टावक्र कहते हैं, स्वर्ग और नर्क नहीं हैं यह तो बात ठीक। ये तो चित्त की दशायें हैं। फिर मोक्ष जो है, वह जब हम चित्त की दशाओं से मुक्त होते हैं उसका अनुभव है। लेकिन वह अनुभव तो क्षणभंगुर है।

समझो, एक आदमी जेल में बंद था बीस वर्ष, तुमने उसे मुक्त किया। जेल की दीवारों के बाहर लाये, हथकड़ियां खोल दीं, उसको उसके कपड़े वापिस लौटा दिये। वह राह पर आकर खड़ा हो गया। तो निश्चित ही राह पर आकर खड़े होकर वह परम स्वतंत्रता का अनुभव करेगा। लेकिन कितने दिन तक? घड़ी-दो घड़ी, दिन-दो दिन। बीस वर्ष के कारागृह के कारण ही सड़क पर खड़ा होकर वह अनुभव कर रहा है। जो लोग सड़क पर चल ही रहे हैं और कभी जेल में नहीं गये हैं उनको कुछ भी पता नहीं चल रहा है स्वतंत्रता का।

अगर वह आदमी एकदम नाचने लगेगा तो लोग कहेंगे, तू पागल है। वह कहेगा, मैं मुक्त हो गया। यह खुला आकाश, यह सूरज, ये चांदत्तारे! अहा! तो लोग कहेंगे, तेरा दिमाग खराब है? ये सूरज चांदत्तारे सब ठीक हैं, यह खुला आकाश भी ठीक है, हम सदा से यहीं हैं। ऐसा कुछ नाचने की बात नहीं है।

इस आदमी को जो अनुभव हो रहा है स्वतंत्रता का वह बीस वर्ष के कारागृह की पृष्ठभूमि में हो रहा है। यह क्षण भर की बात है। दस-पांच दिन बाद जब तुम इसे मिलोगे तो तुम नाचता न पाओगे। बात खतम हो गई।

जब कारागृह ही खतम हो गया तो स्वतंत्रता भी खतम हो गई। स्वतंत्रता क्षणभंगुर है।

अष्टावक्र कहते हैं, जब कोई व्यक्ति संसार के अनंत जाल से मुक्त होता है, जन्मों-जन्मों के जाल से, तो अहोभाव से, धन्यभाव से नाच उठता है कि अहा! स्वतंत्र हो गया। मुक्त हो गया।

लेकिन यह भी क्षणभंगुर बात है। यह संसार के ही पृष्ठभूमि में वक्तव्य है। थोड़े दिन बाद यह बात खतम हो गई।

अगर तुम को अब बुद्ध-महावीर मिल जायें कहीं, तो तुम उनको नाचते थोड़े ही पाओगे! अगर अब भी नाच रहे हों तो दिमाग खराब है। ठीक था जब इस कारागृह से छूटे थे। जन्मों-जन्मों पुराना कारागृह! अपूर्व आनंद हुआ होगा। पग घुंघरू बांध मीरा नाची। निश्चित हुआ होगा। कबीर कहते हैं, "अब हम घर चले अविनाशी।" बड़ा आनंद हुआ होगा।

लेकिन यह तो क्षण की ही बात है। और ठीक से समझना, तो संसार की ही अपेक्षा में है। यह संसार से मुक्त होकर भी अभी संसार से बंधी बात है। यह आदमी जेल से बाहर निकल आया, यद्यपि बाहर निकल आया लेकिन अभी बीस साल जो जेल में रहा है, वह छाया इसके सिर में घूम रही है। उसी छाया के कारण यह बाहर का आकाश इतना मुक्त मालूम हो रहा है। वह सींखचों के भीतर से देखा गया आकाश अभी भी छूट नहीं गया है। सींखचों के बाहर आ गया है, आंखों पर सींखचे जड़े रह गये हैं, अटके रह गये हैं। और जब यह देखता है खुला आकाश--और कोई रोकने वाला नहीं, हाथ में जंजीरें नहीं। हाथ में झकझोर कर देखता है, पुराना बोझ छूट गया है लेकिन अभी कहीं पुराने बोझ की छाया मौजूद है; उसी की तुलना में। संसार की तुलना में ही मोक्ष। लेकिन यह तुलना ज्यादा देर तो नहीं टिक सकती। संसार ही चला गया तो संसार से उत्पन्न होनेवाली जो धारणा है, वह भी चली जायेगी।

इसलिए अष्टावक्र कहते हैं, "योगी को न स्वर्ग है और न नर्क, और न जीवन्मुक्ति ही है। इसमें बहुत कहने से क्या प्रयोजन है? योगी को योग की दृष्टि से कुछ भी नहीं है।"

बहुनात्र किमुक्तेन योगदृष्टया न किंचन।

बड़ी अपूर्व बात है। अष्टावक्र कहते हैं, योग की दृष्टि से योगी को कुछ भी नहीं है। न स्वर्ग है न नर्क है; मोक्ष भी नहीं है। न सुख है न दुख; आनंद भी नहीं है। योग की दृष्टि से योगी को कुछ भी नहीं है।

योगदृष्टया न किंचन।

योगी ही नहीं बचा, अब और क्या बचेगा? बुद्ध ने इसे महाशून्य कहा है, निर्वाण कहा है। बुझ गया दीया अहंकार का। हो गया दीये का निर्वाण। अब कुछ भी न बचा। जहां कुछ भी न बचा वहीं सब बचा। सीमा न रही, असीम हुआ। स्वयं मिटे, अनिर्वचनीय का जन्म हुआ।

"धीर पुरुष का चित्त अमृत से पूरित हुआ शीतल है।"

समझना; क्योंकि अष्टावक्र के एक-एक शब्द बड़े बहुमूल्य हैं।

"धीर पुरुष का चित अमृत से पूरित हुआ शीतल है। इसलिए न वह लाभ के लिए प्रार्थना करता और न हानि होने की कभी चिंता करता है।"

नैव प्रार्थयते लाभं नालाभेनानुशोचति।
धीरस्य शीतलं चित्तममृतेनैव पूरितम्।।

"धीर पुरुष का चित्त अमृत से पूरित शीतल है।"

शीतल शब्द बड़ा बहुमूल्य है। जब अमृत से पहली दफा संबंध होता है, जब शाश्वत से पहली दफा मिलन होता है, तब तो अपूर्व हर्षोन्माद होता है। एक्स्टेसी घटती है। आदमी समाधिस्थ हो उठता है। आदमी नाचने लगता है। हजार-हजार सूरज, कबीर ने कहा है, एक साथ निकल आये हैं। हजार-हजार कमल, कबीर ने कहा है, एक साथ खिल गये हैं। सुगंध ही सुगंध है। अनंत तक सौंदर्य ही सौंदर्य है। एक अपूर्व दृश्य उपस्थित होता है।

उत्तप्त हो जाता होगा योगी, जब ऐसा अमृत बरसता है। एक क्षण को जब बूंद में सागर उतरता है तो बूंद नाचेगी नहीं? नाच उठती होगी।

जीवन की लगी आग दिग-दहंत दहके

पवन आंदोलित हुलास छल-छल छलके विलास
सौरभ के मेले हैं ठौर-ठौर आसपास
पुष्प को मिला सुहाग मधु महंत महके
दिग-दहंत दहके

कनबतियां कलियों की बरजोरी अलियों की
मौसम के अधरों पर गजलें रंगरलियों की
जयजयवंती बिहाग रागवंत चहके
दिग-दहंत दहके

सब खिला उठा। सब तरफ दिग-दिगंत दहक उठे। एक अपूर्व ऊर्जा का विस्फोट हुआ। गया सब धूल-धवांस भरा। गया सब जराजीर्ण। नित नूतन से मिलन हुआ। गई मृत्यु। गया वह जीवन, जिसमें मृत्यु घटती थी। गये जन्म और मृत्यु के चक्कर। अमृत उपलब्ध हुआ। अब नहीं कभी मिटना है। अब न कहीं जाना है, अब न कहीं आना है।

तो पहले क्षण में तो घूंघर बज उठती होगी। पायल बज उठती होगी। नृत्य जागता होगा। हर्षोन्माद शब्द ठीक है। हर्ष में उन्मत्त हो उठता होगा कोई। पागल हो उठता होगा।

उड़ते स्वर के फाहे गीत बने चरवाहे
घूम रहे गलियों में गूंज रहे चौराहे
अंतस पर थाप पड़ी गमकी मंजीर लड़ी
फिर आया है मौसम अपनापन खोने का
भीगने-भिगोने का
कलियों के तन चिटके परिमल के कण छिटके
मलयानिल ने रह-रह सुरभित आंचल झिटके
जाग उठे बन सोये किरणों ने मुंह धोये
फिर आया है मौसम वल्लरी पिरोने का
भीगने-भिगोने का

अमृत की वर्षा होने लगी। फिर आया है मौसम भीगने-भिगोने का। डूबने लगे। रोआं-रोआं आनंद में डूबने लगा। मगर यह कोई स्थिर बात तो नहीं है। यह भी शीतल हो जायेगी। इसलिए शीतल शब्द का उपयोग किया है।

यह तो बड़ी उत्तप्त है। हर्षोन्माद! यह तो बड़ा उत्तप्त है। इसमें तो बड़ा नाच है, बड़ा रंग है। बड़ी गजल। बड़ी रंगरलियां। पहली दफा जीवन के उत्सव ने अपने द्वार खोले हैं। पहली बार, जिसकी सदा-सदा से तलाश थी उससे मिलन हुआ है। प्रियतम के हाथ में हाथ पड़ा है।

कबीर ने कहा है, हम राम की दुल्हनिया। भांवर पड़ गई। अब तो हम राम के साथ चल पड़े। अब तो राम के साथ हम जुड़ गये, एक हो गये।

कोई कैसे नहीं नाचेगा? कोई कैसे नहीं गुनगुनायेगा? कैसे नहीं संगीत का जन्म होगा? नाद जगेगा, वादन होगा, कीर्तन होगा। लेकिन यह ज्यादा देर नहीं, इसलिए शीतल।

"धीर पुरुष का चित्त अमृत से पूरित हुआ शीतल है।"

अंतिम अवस्था में थोड़ी ही देर में यह सब शांत हो जायेगा। सब शीतल हो जायेगा। सब शून्य हो जायेगा।

"इसलिए न वह लाभ के लिए प्रार्थना करता है, न हानि होने से कभी चिंता करता है।"

अब न अपनी उसकी कोई प्रार्थना है लाभ के लिए, न हानि की कोई चिंता है। अब न कुछ खोने को है, न कुछ पाने को है। अब न कहीं जाने को है। यात्रा समाप्त हुई। गंतव्य आ गया। अब कोई गति नहीं है। अब कोई गतिवान नहीं। अब सब ठहरा। अब सब परम अवस्था में ठहरा। इसे ही कहें समाधि।

पतंजलि ने समाधि के दो रूप कहे हैं। एक को कहा, सविकल्प समाधि। एक को कहा, निर्विकल्प समाधि। सविकल्प समाधि में हर्षोन्माद होगा। निर्विकल्प समाधि में कोई हर्ष न रह जायेगा, कोई उन्माद न रह जायेगा। निर्विकल्प समाधि शीतल होगी। कोई विकल्प न बचा।

यह परम शून्यता लक्ष्य है। और जिसने इसे पा लिया उसने पूर्ण को पा लिया है। शून्य के द्वार से आता है पूर्ण। तुम मिटो तो प्रभु हो सकता है।

आज इतना ही।

अस्सीवां प्रवचन

पूनम बन उतरो

पहला प्रश्न: एक ही प्रश्न उठ रहा है हृदय में और वह भी पहली बार कि कौन है तू, क्या है, कहां पर है? अपने से पूरी-पूरी पहचान हो जाये ताकि एक जान हो जायें। तू तू न रहे, मैं मैं न रहूं। एक दूजे में खो जायें। और जब तक पहचान नहीं होती तब तक एक कैसे हो जायें? और उचित भी यही है कि तभी मैं आपके दरबार में आऊं। आने का मजा भी तभी रहेगा।

ऐसे अपने मन को धोखे मत देना। निरंतर आदमी बचने की नई-नई तरकीबें खोज लेता है। परमात्मा के द्वार में भी तुम तब जाओगे जब अपने को जान लोगे तो परमात्मा के द्वार में जाने की जरूरत क्या रह जायेगी? और यह अकड़ छोड़ो कि अपने को जानकर पहुंचेंगे, कुछ पात्रता लेकर पहुंचेंगे, कुछ योग्य बनकर पहुंचेंगे।

यह तुम्हारी योग्यता और तुम्हारी पात्रता का रोग ही तो तुम्हें भटका रहा है। कुछ होकर पहुंचेंगे। ऐसे कैसे चले जायें नंग-धड़ंग? कुछ साज-सामान से पहुंचेंगे। परमात्मा के दरबार में भी तुम जैसे हो वैसे ही नहीं जाओगे? आयोजन करोगे? पहले और तरह के आयोजन थे सिंहासनों के, अब यह नया सिंहासन खोजा--आत्मज्ञानी होकर पहुंचेंगे।

"तभी तो मजा रहेगा।"

तुम परमात्मा के सामने भी निरीह, अकिंचन बनकर खड़े न हो सकोगे? तुम परमात्मा के सामने भी अज्ञानी बनकर खड़े न हो सकोगे? वहां भी अहंकार को ले जाओगे? अपने को जानकर जाओगे?

बात बड़ी ऊंची तुमने कही ऐसा लगता, लेकिन ऊंची बातों में हम बड़ी नीची बातें छिपा लेते हैं। आदमी की कुशलता अपार है। वह रोगों के ऊपर बड़ी सुगंधियां छिड़क लेता है। भ्रांतियों को भी अच्छे-अच्छे नाम दे देता है। यह आत्मज्ञान भी अहंकार की ही सूक्ष्म घोषणा है।

वहां तो तुम ऐसे ही चले जाओ, जैसे हो। तैयार मत होओ। सजो मत। मजा इसमें ही है कि तुम जैसे हो ऐसे ही चले जाओ। तुम जैसे हो ऐसे ही वहां स्वीकार हो। जरा भी अन्यथा होने की जरूरत नहीं है। परमात्मा की कोई भी शर्त नहीं है तुम पर कि तुम ऐसे होओ, तब आ सकोगे। अगर किन्हीं ने शर्तें लगाई हैं तो परमात्मा ने नहीं, तुम्हारे महात्माओं ने लगाई हैं। कि पहले साधु बनो, पहले तपस्वी बनो, त्यागी बनो, आचरण, पुण्य--और इतनी शर्तें लगा दी हैं कि तुम जन्मों-जन्मों तक भी बनोगे तो बन न पाओगे।

मैं तुमसे कहता हूं, तुम जैसे हो ऐसे ही--सब घावों से भरे, धूलि-धूसरित, गंदे, कुरूप, अज्ञानी, ऐसे ही पुकार उठो। ऐसे ही चल पड़ो। तुम अंगीकार हो। उसने तुम्हें अंगीकार किया ही है। तुम चोर हो तो भी अंगीकार हो। तुम बेईमान हो तो भी अंगीकार हो। क्योंकि तुम कैसे हो यह कोई शर्त ही नहीं है, तुम हो इतना काफी है। सच तो यह है, अगर उसने तुम्हें अंगीकार न किया होता तो तुम हो ही न सकते थे। उसके बिना सहारे के तुम कुछ भी न हो सकते। चोर भी न हो सकते।

मैं तुमसे कहता हूं, जब तुम चोरी करने जा रहे हो तब भी वही तुम्हारे भीतर श्वास ले रहा है। जब तुम पाप करने गये हो तब भी उसके ही सहारे गये हो। अपने सहारे तो तुम कहीं भी नहीं जा सकते। तुम अपंग हो। तुम सदा उसके ही धनुष पर तीर बनकर चढ़े हो। तुमने कोई भी लक्ष्य भेदे हों, सभी लक्ष्यों में उसकी ही ऊर्जा है।

ऐसा जिस दिन जानोगे, उस दिन फिर ये बातें न करोगे। फिर आदमी का तर्क! आदमी सोचता है, पहले कुछ इंतजाम तो कर लूं। व्यवस्था जुटा लूं। सब भांति योग्य हो जाऊं। इसलिए तो तुम दरबार कह रहे हो। यह

दरबार नहीं है परमात्मा का। दरबार! तो तुम फिर राजाओं की, सम्राटों की बातें भीतर ले आये। वहां तैयारी चाहिए। वहां तुम्हें स्थान नहीं मिलता, तैयारी को स्थान मिलता है।

मिर्जा गालिब के जीवन में उल्लेख है। बहादुरशाह ने निमंत्रण दिया है। और भी नगर के प्रतिष्ठित लोग आमंत्रित हुए हैं। गालिब को भी निमंत्रित किया है। लेकिन गरीब है गालिब। उधारी में दबा है। कपड़े-लत्ते पास नहीं। बड़ा संकोच से भरा है। फिर सोचने लगा मन ही मन कि मुझे निमंत्रण दिया है तो अब जैसा हूं वैसा जाऊंगा। मित्रों ने कहा कि नहीं, ऐसे मत जाओ। मित्र कोट-कमीज मांग लाये, जूते मांग लाये, सब सामान इकट्ठा कर दिया कि यह पहनकर चले जाओ। गालिब का मन सोच में पड़ गया, ये कपड़े पहनूं न पहनूं? अपने कपड़े अपने हैं, दूसरे के दूसरे के हैं। कितने ही सुंदर हों, उधार हैं। यह झूठ क्यों आरोपण करूं?

हिम्मत करके अपने ही मैले-कुचैले पुराने कपड़े पहने चला गया। पर वही हुआ जो मित्रों ने कहा था। द्वारपाल ने भीतर प्रविष्ट ही न होने दिया। उसने कहा, भाग यहां से। द्वारपाल तो उसके हाथ में जो निमंत्रण-पत्र था वह भी छुड़ाने लगा। उसने कहा, तू किसी का चुरा लाया होगा। ऐसे आदमियों को सम्राट का कहीं निमंत्रण मिलता है? तू किसका निमंत्रण चुरा लाया? भाग यहां से। दुबारा लौटकर यहां मत आना।

गालिब तो बहुत परेशान और अपमानित हुआ, लेकिन समझ भी खूब आई। खूब हंसा भी मन ही मन। घर गया, वह जो उधार कपड़े थे, पहनकर टीम-टाम करके वापिस आ गया। वही द्वारपाल झुक-झुककर नमस्कार किया। कहा, मीर साहब, आइये। वह बड़ा हैरान हुआ कि क्या यह आदमी इतना भी नहीं देख सकता कि मैं वही हूं। लेकिन आदमी तो मुखौटे देखते हैं। आदमी आत्मायें थोड़े ही देखते हैं। आदमी तो पशुओं से भी गये-बीते हैं।

ईसप की कहानी है एक, कि एक लोमड़ी को एक मुखौटा मिल गया। किसी नाटक कंपनी के पास घूम रही होगी, एक मुखौटा मिल गया। तो उसने उल्टा-पलटा, खूब उल्टा-पलटा। उसको कुछ समझ में न आये कि पीछे तो कोई है ही नहीं। उल्टती-पलटती गई, आखिर उसने कहा, हद हो गई। इतना बड़ा चेहरा और भेजा बिलकुल नहीं! भीतर कुछ है ही नहीं? यह जो ईसप की लोमड़ी है, यह भी ज्यादा समझदार रही होगी उस बहादुरशाह के द्वारपाल से।

और जब गालिब गया तो बहादुरशाह ने उसे बड़े सम्मान से अपने पास ही बिठाया। और भी मेहमान थे। बहादुरशाह के मन में बड़ी कद्र थी कविता की। खुद भी कवि था। कोई बहुत बड़ा कवि तो नहीं लेकिन फिर भी कवि था। और कविता का बड़ा आदर था मन में। लेकिन बड़ा हैरान हुआ, जब भोजन परोसा गया और गालिब उठा-उठाकर मालपुए, बर्फियां अपने कोट को छुलाने लगा, पगड़ी को छुलाने लगा तो वह जरा चौंका। ऐसे तो कवि झक्की होते हैं मगर यह क्या कर रहा है? और न केवल इतना, गालिब कहने लगा, ले कोट, खा। ले पगड़ी, खा। खूब मन भरकर खा।

बहादुरशाह ने कहा, आप क्या कह रहे हैं? ज्यादा तो नहीं पी गये हैं? पियक्कड़ तो था। सोचा, ज्यादा पी गया हो। वह यह क्या कर रहा है? गालिब ने कहा, नहीं, पीया बिलकुल नहीं हूं, लेकिन मैं आया ही नहीं हूं। ये कपड़े ही आये हैं। ये ही भोजन करें। निमंत्रण आपने भला मुझे भेजा हो, द्वारपाल ने मुझे प्रविष्ट नहीं होने दिया है। ये कपड़े ही भीतर आये हैं। मैं तो आया ही नहीं। मैं तो अपमानित बाहर से घर लौटा दिया गया हूं।

ये आदमियों के दरबार हैं। तुम ईश्वर के दरबार को भी आदमियों का दरबार समझते हो? वहां तुम जैसे भी जाओगे वैसे ही स्वीकार हो जाओगे। यह अकड़ छोड़ो। यह बात ही व्यर्थ है कि पहले मैं अपने को जान लूं, फिर मजा रहेगा।

और दूसरी बात खयाल रखो कि तुम बिना उससे मिले अपने को जान न पाओगे। अब और थोड़ी अड़चन है। क्योंकि उससे मिलने का अर्थ क्या है? उससे मिलने का अर्थ ही यही है, स्वयं की आत्यंतिक सत्ता से मिलना। परमात्मा कुछ अलग थोड़े ही बैठा है। कि कहीं बैठा है, तुम चले गये; द्वार पर दस्तक दे दी, भीतर बुला लिये

गये। परमात्मा भीतर बैठा है। जब तुम स्वयं में जाओगे तभी उसमें जाओगे। वहीं उसका दरबार है--तुम्हारे स्वभाव में।

तो तुम स्वयं को जान लो और फिर परमात्मा के पास जाओ, यह तो बात हो ही नहीं सकती। स्वयं को जाना कि परमात्मा को जान लिया। परमात्मा को जान लिया कि स्वयं को जान लिया। स्वयं को जान लेना और परमात्मा को जान लेना दो बातें नहीं हैं, एक ही घटना है। एक ही घटना को कहने के दो ढंग हैं।

तो यह तो तुम बांधना ही मत खयाल अपने मन में कि पहले स्वयं को जान लेंगे, फिर जायेंगे। तो तुम स्वयं को भी न जान सकोगे और अभी तुमने स्वयं को जो समझा है कि यह मैं हूं, वह तो तुम हो ही नहीं। किसी ने समझा है मैं देह हूं, किसी ने समझा है मैं मन हूं, किसी ने समझा है कि हिंदू, मुसलमान, ईसाई, जैन, बौद्ध। किसी ने समझा कि ब्राह्मण, शूद्र; किसी ने समझा गोरा, काला; किसी ने समझा जवान, बूढ़ा। यह तुम कुछ भी नहीं हो। यह तो मन और शरीर का ही सब जोड़ है। इनके पार तुम हो; साक्षी तुम हो। उस साक्षी में प्रवेश ही परमात्मा में प्रवेश है।

फिर एक बात और--इस जगत में जैसे नियम हैं, ठीक उससे विपरीत नियम हैं अंतर्जगत के। यहां अगर तुम्हें कुछ पाना हो--धन, पद, प्रतिष्ठा, तो लड़ना पड़े, जूझना पड़े, छीन-झपट मचानी पड़े। गलाघोंट प्रतियोगिता है। और भी छीन रहे हैं; तुम्हें भी छीनना पड़े। क्योंकि बाहर की दुनिया में जो धन है उसे तुमने पा लिया तो दूसरा वंचित रह जायेगा। दूसरे ने पा लिया तो तुम वंचित रह जाओगे। यहां तो दो ही उपाय हैं, या तुम छीन लो या दूसरे को छीन लेने दो।

भीतर की दुनिया के नियम बिलकुल ही भिन्न हैं। वहां तुम ज्ञानी बन जाओ तो दूसरे को अज्ञानी नहीं बनना पड़ता। दूसरा ज्ञानी बन जाये तो तुम्हारा कुछ छिनता नहीं। वहां कोई प्रतिस्पर्धा नहीं है। वहां तो जो छीन-झपट करेगा, चूक जायेगा। वहां तो बिना छीन-झपट मिलता है। वहां तो बिना प्रयास मिलता है। बाहर जो बैठा रहा, चूकेगा। भीतर जो चलता रहा, चूकेगा। बाहर जो चलता रहा, पायेगा। भीतर जो बैठ गया, पायेगा।

ध्यान क्या है? बैठ जाना। ऐसी बैठक मार लेनी भीतर--यही तो आसन शब्द का अर्थ है। आसन का अर्थ है, ऐसी बैठक मार ली कि हिलते ही नहीं। चलना-जाना तो दूर रहा, कंपन भी नहीं होता। अकंप होकर भीतर बैठ गये, बस वहीं मिलना है।

बाहर की तो कोई भी मंजिल...तुम्हें दिल्ली जाना तो यात्रा करनी पड़े। और तुम्हें स्वयं में आना तो सब यात्रा छोड़नी पड़े। बाहर खोजना, आंख खोलनी पड़े। भीतर खोजना, आंख बिलकुल बंद कर लेनी पड़े। बाहर कुछ करना है, शरीर का माध्यम लेना पड़ेगा। भीतर कुछ करना है, शरीर का माध्यम छोड़ देना पड़ेगा। उतरो घोड़े से। बाहर जाना है तो घोड़े की सवारी है। शरीर पर चढ़कर ही जाओगे और कोई उपाय नहीं है। भीतर जाना है तो शरीर की कोई आवश्यकता ही नहीं है। इस घोड़े को भीतर मत लिये चले जाना, नहीं तो भीतर जा न पाओगे। बाहर जाना है तो सोच-विचार। भीतर जाना है तो निर्विचार। ये बड़ी विपरीत बातें हैं।

इसका एक सूत्र मैं तुमसे निवेदन कर दूं। बाहर विज्ञान कहता है, कारण-कार्य का नियम; काज-इफेक्ट। पहले कारण फिर कार्य। पहले मां फिर बेटा। पहले बीज फिर वृक्ष। कारण पहले, कार्य पीछे। इससे अन्यथा बाहर नहीं होता।

भीतर की दुनिया में मामला उल्टा है। यहां कार्य पहले, कारण पीछे। पहले बेटा फिर मां। इसीलिए तो कबीर ने उलटबांसियां लिखी हैं।

पानी लग गई आगी मछली चढ़ गई रूख

अब मछलियों को तुमने कभी झाड़ पर चढ़ते देखा? मछली चढ़ गई रूख? पानी में कभी आग लगती देखी? पानी तो आग बुझाता है। पानी लग गई आगी?

कबीर यह कह रहे हैं, यह उलटबांसी है। ये भीतर के सूत्र हैं। बाहर जैसा होता है इससे उल्टा भीतर होता है। इसलिए बाहर के गणित को भीतर मत फैलाना। बाहर तो ऐसा ही लगेगा कि जब अपने को ही नहीं जानते तो परमात्मा को कैसे जानेंगे? बिलकुल तर्कयुक्त है बात। अभी अपना ही पता नहीं कि हम कौन हैं तो परमात्मा को क्या खाक खोजें! कहां खोजें? अभी अपने को ही नहीं पा सके तो और को क्या पा सकेंगे? अपनी ही तो सुध नहीं है और परमात्मा की यात्रा पर चले! पहले होश में तो आ जाओ।

जैसे कोई शराबी आदमी डांवांडोल होता चल रहा है और किसी से पूछता है कि परमात्मा को खोजना है, कहां है? तो तुम क्या कहोगे? कि बड़े मियां! पहले जरा होश तो लाओ। हाथ-पैर तो कहां के कहां पड़ रहे हैं। कहीं रखते हो, कहीं जा रहे हैं। और परमात्मा को खोजने निकले इस हालत में? अच्छी-भली हालत में नहीं मिलता, इस हालत में मिलेगा? पहले होश तो सम्हालो थोड़ा। जरा अपने होश में तो आओ, फिर खोजना परमात्मा को।

बाहर की दुनिया में यह जवाब बिलकुल ठीक है, लेकिन भीतर की दुनिया में वे ही पहुंचते हैं जो लड़खड़ाते हैं, शराबी की तरह चलते हैं। पानी लग गई आगी!

एक पांव इधर रखते हैं, दूसरा उधर पड़ता है। जाते उत्तर हैं, पहुंच पूरब जाते हैं। ऐसे लोग पहुंचते हैं। मतवाले पहुंचते हैं, दीवाने पहुंचते हैं, पागल पहुंचते हैं, मस्त पहुंचते हैं।

मैंने सुना है, एक आदमी रोज-रोज नदी के किनारे जाकर घूमने के लिए जाता था सुबह-सुबह ब्रह्ममुहूर्त में। रोज-रोज आता देखकर जो मछलियों की रानी थी वह उसे पहचानने लगी थी। लेकिन मछली तो पानी में थी, आदमी नदी के किनारे टहलता था। पानी में तो उल्टी छाया बनती है, प्रतिबिंब तो उल्टा बनता है।

तुम जब दर्पण में खड़े होते हो तब तुम्हें याद नहीं रहती लेकिन प्रतिबिंब उल्टा बन रहा है। तुम वैसे ही थोड़े दिखाई पड़ रहे हो, जैसे हो; उससे उल्टे बन रहे हो। नहीं हो तो किताब का पन्ना सामने रखकर दर्पण के देखना तब तुमको समझ में आ जायेगा। सब अक्षर उल्टे हो गये। वह तो तुम रोज खड़े होते हो तो आदत हो गई है, तो तुमको खयाल में नहीं आता कि बायां दायां दिख रहा है, दायां बायां दिख रहा है। रोज की आदत है। किताब का पन्ना सामने करना दर्पण के, तत्काल समझ में आ जायेगा कि सब उल्टा हो जाता है।

तो मछली तो पानी में से देखती थी प्रतिफलन। तो उसको दिखाई पड़ता था आदमी का सिर नीचे, पैर ऊपर। स्वभावतः मछली की अकल, और मछली का अनुभव भी यही था। पानी के ऊपर तो उसने कभी आकर देखा नहीं था। इस आदमी के डर के मारे आती भी नहीं थी; और नीचे सरक जाती थी। मानती थी कि यही आदमी के होने का ढंग है कि सिर नीचे, पैर ऊपर। और ऐसा ही उसने शास्त्रों में भी पढ़ा था। मछलियों के लिखे शास्त्र! उन्होंने भी ऐसा ही आदमी देखा था।

लेकिन एक दिन इस आदमी को योग का शौक चढ़ा और यह शीर्षासन करने लगा वहीं नदी के किनारे। जब इसने शीर्षासन किया तो मछली बड़ी चिंतित हुई कि इस आदमी को क्या हो गया? क्योंकि नीचे उसने पानी में देखा कि सिर ऊपर और पैर नीचे। यह तो बात गड़बड़ हो गई। क्या यह आदमी शीर्षासन कर रहा है? आज पहली दफा उसे आदमी वैसा दिखाई पड़ा था जैसा वस्तुतः आदमी होता है। मगर उनके हिसाब से तो गड़बड़ हो रही थी सब बात। कि आदमी को हो क्या गया है? दिमाग खराब हो गया है? सदा सिर नीचे होता था, पैर ऊपर होते थे, आज पैर नीचे और सिर ऊपर?

उत्सुकतावश मछली पानी के ऊपर आई। और जब उसने देखा तो वह बड़ी मुश्किल में पड़ गई। तबसे मछलियों में खबर है कि आदमियों का कुछ भरोसा नहीं। इनके स्वभाव के संबंध में कुछ निश्चित नहीं किया जा सकता। होते कुछ, दिखाते कुछ। असलियत कुछ, खबर कुछ फैलाते।

हमने अभी जो भी जगत देखा है वह हमने आदमी के दृष्टिकोण से देखा है। आदमी का दृष्टिकोण मछलियों जैसा बंधा दृष्टिकोण है। अभी हमने परमात्मा को सीधा-सीधा नहीं देखा, प्रतिफलन देखा है। प्रतिफलन की

खोज ही विज्ञान है। इसलिए विज्ञान में कारण पहले, कार्य पीछे। और धर्म प्रतिफलन की खोज नहीं, सत्य की खोज है। वहां कार्य पहले, कारण पीछे। पानी लग गई आगी! यह उलटबांसी का अर्थ है। उलटबांसी का अर्थ ही यह होता है, कुछ बात जैसी तुम्हें दिखाई पड़ती है इससे उल्टी है।

तुम कहते हो, तर्कयुक्त कहते हो कि पहले अपने को जान लूं, फिर परमात्मा को जानने जाऊं। मैं तुमसे कहता हूं, तुम परमात्मा को ही जानकर स्वयं को जान पाओगे। तुम कहते हो, लक्ष्य मिल जाये तो स्रोत मिल जायेगा। मैं तुमसे कहता हूं, स्रोत मिल जाये तो लक्ष्य मिल जाये। तुम तो परमात्मा को भी खोजने जाते हो तो बाहर जाते हो। आदमी की सारी पकड़ बाहर है।

और अब तुम एक ऐसी झंझट खड़ी कर ले रहे हो अपने मन के लिए कि जब तक अपने को न जान लेंगे...यह एक ऐसी शर्त है जो तुम पूरी न कर सकोगे। न होगी शर्त पूरी, न तुम कभी परमात्मा की खोज को जाओगे। यह तो तुमने ऐसा किया, न रहा बांस न बजी बांसुरी। तुमने तो प्रश्न की जड़ ही तोड़ दी। तुम्हारी खोज अवरुद्ध हो जायेगी।

मैं तुमसे कहता हूं, तुम इन बातों में मत पड़ो। तुम परमात्मा को खोज लो। परमात्मा को खोजने से ही तुम स्वयं को जान पाओगे। यहां स्वयं को जानना पहले नहीं होगा, पीछे होगा; छाया की तरह आयेगा। क्यों? क्योंकि परमात्मा तुम्हारा वास्तविक होना है। तुम्हारा होना तो छाया मात्र है। तुम्हारा होना तो भ्रम मात्र है, परमात्मा का होना वास्तविक है, शाश्वत है। तुम्हारा होना तो क्षणभंगुर है।

सदा स्मरण रखो, किन्हीं होशियार तरकीबों से अपनी यात्रा को खराब मत कर लेना, अपने पैरों को लंगड़े मत कर लेना। चलो, जैसे हो। इसलिए तो जीसस कहते हैं, वे ही पहुंच पायेंगे मेरे प्रभु के राज्य में जो छोटे बच्चों की भांति हैं। नंग-धड़ंग, जैसे थे वैसे ही पहुंच गये। साज-संवार की फिक्र ही न की। शृंगार ही न किया।

उससे भी क्या छिपाना! शृंगार करके भी क्या छिपेगा! जिसने तुम्हें बनाया उससे क्या छिपाना! जिससे तुम आये उससे क्या छिपाना! पाप है तो पाप। बुरा है तो बुरा, भला है तो भला। जैसे हो ऐसे ही चल पड़ो तो ही पहुंच पाओगे। और पहुंच गये तो क्रांति है। पहुंचने के पहले क्रांति की आशा मत रखना। पहुंच गये तो क्रांति है। जो पहुंचे वे बदले। जो बदलने की राह देखते रहे वे बदले तो कभी नहीं, पहुंचे भी नहीं। पहुंचने से भी चूके।

दूसरा प्रश्न: भवसागर से पार उतरकर परम आत्मा में लीन होने के लिए जड़भक्ति, मूढ़भक्ति एवं अंधभक्ति में से किसका सहारा लिया जाये?

प्र्श्न ही भक्त का नहीं मालूम होता। भक्ति को गालियां दे रहे हो। कहते हो--जड़भक्ति, मूढ़भक्ति, अंधभक्ति। प्रश्न ही भक्त का नहीं है।

प्रश्न तो ज्ञानी का मालूम पड़ता है।

भक्त तो एक ही भक्ति जानता है। भक्ति के विश्लेषण भी ज्ञानियों ने किये हैं, भक्तों ने नहीं किये हैं। कितने प्रकार की भक्ति है यह भी विश्लेषण ज्ञानियों का है, भक्तों का नहीं। भक्त को क्या पता! भक्त तो विभक्ति जानता ही नहीं, विभाजन जानता ही नहीं। भक्त तो कोटियां जानता ही नहीं। भक्त तो एक को ही जानता है, दो को नहीं जानता। भक्त का हिसाब एक से आगे जाता ही नहीं।

कहते हैं, जीसस को स्कूल में पढ़ने बिठाया गया। ईसाइयों में तो यह कहानी खो गई है लेकिन सूफियों ने बचा रखी है। कुछ कहानियां सूफियों के पास हैं जीसस की, जो ईसाइयों के पास खो गई हैं। और बड़ी अदभुत कहानियां हैं। उनमें एक कहानी यह है कि जीसस को स्कूल पढ़ने भेजा गया। संख्या सिखाने की कोशिश की शिक्षक ने और वे एक पर अटक रहे। और उन्होंने कहा, जब तक तुम एक को न समझा दो तब तक दो पर क्या जाना!

और शिक्षक एक को न समझा सका। अब एक को समझाने के लिए तो कोई बुद्ध, कोई कृष्ण हो तो समझा सके। एक को समझाना तो बड़ी कठिन बात है। दो बिलकुल सरल, तीन और सरल, चार और सरल। जैसी संख्या बड़ी होती जाती है वैसे समझाना आसान होता जाता है। मगर एक को कैसे समझाओ?

तुमने देखा, इस जगत में सरल चीजों को समझाना सबसे ज्यादा कठिन है। अगर कोई पूछे, दो क्या? तो तुम कह दो, एक और एक दो। एक और एक मिलकर दो। एक+एक = दो। कुछ तो उत्तर हो सकता है। लेकिन एक क्या? विभाजन नहीं होता तो उत्तर नहीं होता।

कोई तुमसे पूछे, पीला रंग क्या? तो तुम क्या कहोगे? तुम कहोगे, पीला रंग यानी पीला रंग। अब इसमें और क्या है बताने को? तुमसे कोई पूछे, इंद्रधनुष क्या? तो तुम कहोगे सात रंग। तुम सातों रंगों का नाम ले दो, सिलसिला बता दो, क्रमवार गिनती करवा दो। मगर कोई पूछे पीला रंग? अब पीला रंग बड़ा सरल मामला है। सरल इस जगत में सर्वाधिक कठिन सिद्ध होता है। कठिन का तो विश्लेषण हो सकता है क्योंकि कठिन काम्प्लेक्स होता है। कठिन में तो कई चीजें मिली होती हैं तो कुछ उपाय होता है। कुछ कह सकते हो।

जीसस अटक रहे। जीसस ने कहा, एक को तो समझाओ फिर दो पर चलें। क्योंकि तुम कहते हो, दो का मतलब होता है एक+एक; और अभी एक समझे ही नहीं। कहते हैं, शिक्षक बहुत नाराज हो गया। मां-बाप से उसने शिकायत की कि इस बच्चे को अलग करो। यह खुद तो पढ़ेगा नहीं, दूसरों को भी पढ़ने नहीं देगा। यह कहां की फिजूल बकवास लगाता है कि एक का मतलब क्या? अब किसको पता है कि एक का मतलब क्या? जितना पता है वह कामचलाऊ है।

शिक्षक बेचारा शिक्षक! जीसस ने एक ऐसी बात पूछ ली, जो कि आखिरी है। पहले दिन पूछ ली स्कूल में। यह तो विश्वविद्यालय चुक जाते हैं तब भी नहीं चुकती। यह तो जीवन के अंतिम चरण में ही रहस्य खुलता है कि एक यानी क्या!

भक्त का अर्थ होता है, जो एक में जीने लगा। उसके पास तो दो नहीं हैं। उसने तो एक को पहचान लिया।

तो इस प्रश्न में थोड़ी-सी ज्ञान की झलक है। और ज्ञान भक्ति में बाधा है। क्योंकि भक्ति का अर्थ है, प्रेम। इसलिए ज्ञानी भक्त को कहते हैं अंधा। क्योंकि उनको लगता है कि प्रेम तो अंधा होता है। प्रेम अंधा है भी--ज्ञानी के हिसाब से। मगर ज्ञानी है कौन प्रेम के संबंध में हिसाब लगानेवाला? जो प्रेम को जानते हों वही कुछ कहें। उन्हीं की बात सुनूं।

ज्ञानी को कोई हक भी नहीं है प्रेम के संबंध में कुछ कहने का। जानते ही नहीं प्रेम को, प्रेम के संबंध में कहोगे क्या? ज्ञान के संबंध में कुछ कहो, ठीक। लेकिन ज्ञानी हर चीज के संबंध में कुछ न कुछ कहता है। वह हर चीज को ज्ञान का विषय बना लेता है, विश्लेषण कर देता है। तो ज्ञानियों ने विश्लेषण कर दिया है कि भक्ति कितने प्रकार की, प्रेम कितने प्रकार का; ऐसी भक्ति, वैसी भक्ति और भक्ति का उन्हें कुछ पता नहीं। भक्ति तो बस एक प्रकार की--एकरस। उसमें दूसरा रस ही नहीं है। उसमें दूजा नहीं है, दूसरा रस कैसे होगा? प्रेमगली अति सांकरी ता में दो न समाय।

तो तुम यह फिक्र छोड़ो कि जड़भक्ति कि मूढ़भक्ति कि अंधभक्ति कि विक्षिप्त भक्ति, यह छोड़ो तुम फिक्र; भक्ति काफी है। और उस भक्ति में ये सब चीजें अपने आप आ जायेंगी। तुम एक दफा भक्त तो हो जाओ, अंधे अपने आप हो जाओगे। सारी दुनिया तुमको अंधा कहेगी, तुम नहीं अंधे हो जाओगे। तुम्हें तो आंखें मिल जायेंगी। तुम्हें तो वह दिखाई पड़ने लगेगा जो साधारण आंखों से दिखाई ही नहीं पड़ता। अदृश्य तुम्हारे लिए दृश्य बनने लगेगा। अगोचर गोचर हो जायेगा। जिसे कभी किसी ने नहीं छुआ उसका स्पर्श अनुभव होने लगेगा। लेकिन दुनिया तुम्हें अंधा कहेगी। दुनिया न मान सकेगी। क्योंकि दुनिया अंधी है। और दुनिया तुम्हें अंधा कहेगी।

एच.जी.वेल्स की एक कहानी है, कहीं मेक्सिको में एक घाटी है जहां बच्चे पैदा होकर तीन महीने के भीतर अंधे हो जाते हैं। कहानी तथ्य पर आधारित है। उस घाटी की जलवायु, भोजन कुछ ऐसा है कि आंख

खराब हो जाती है। तो वहां एक कबीले में एक आंखवाला आदमी पहुंच गया बाहर की दुनिया से। दूर पहाड़ों में बसी हुई छोटी-सी बस्तियां हैं अंधों की। और कभी कोई आंखवाला वहां हुआ नहीं। सभी अंधे हैं। अब तीन महीने का बच्चा तो कुछ कह नहीं सकता। तीन महीने तक आंख ठीक रहती है फिर धीरे-धीरे खराब हो जाती है। जब तक बच्चा बोलने की उम्र में आता है तब तक तो आंख जा चुकी होती है। इसलिए कभी किसी ने यह कहा ही नहीं, आंख है।

यह आंखवाला आदमी बाहर की दुनिया से यात्रा करता हुआ किसी तरह उन पहाड़ों, दुर्गम पहाड़ों को पार करके पहुंच गया। वे उस कबीले के लोग इसकी बात ही न मानें। इस पर हंसें। तुम्हारा दिमाग तो खराब नहीं हो गया? कभी सुना? कैसी बातें कर रहे हो? किसको धोखा दे रहे हो? आंख होती ही नहीं।

और इस आदमी को प्रमाण जुटाना मुश्किल हो गया क्योंकि वहां सब अंधे थे। भीड़ तो उनकी थी। और गांव भर हंसता और कहता, कहां है वह अंधा? इस आदमी के बाबत--वे अंधा मानते इसको। इसका नाम अंधा रख लिया।

उस गांव की एक लड़की इसके प्रेम में पड़ गई। लेकिन गांव ने एक शर्त लगा दी। उन्होंने कहा कि अगर इस लड़की से प्रेम करना है तो एक शर्त है। क्योंकि हमारे यहां कभी भी...तुम कहते हो, तुम्हारे पास आंखें हैं। हमें पक्का पता नहीं, हैं या नहीं। लेकिन एक बात पक्की है कि हमारे इस देश में, हमारे इस समाज में कभी आंखवाले से हमारी किसी लड़की ने शादी नहीं की है। तो इसका शास्त्रों में कोई उल्लेख नहीं है, न परंपरा में कोई उल्लेख है। यह हमारी धारणा के विपरीत है। अगर तुम कहते हो, तुम्हारी आंखें हैं, तो तुम्हें आपरेशन के लिए राजी होना पड़े। हम तुम्हारी आंखें निकाल लेते हैं। तुम अंधे हो जाओ तो ही शादी कर सकते हो।

ठीक है। जब कोई ब्राह्मण से शादी करे तो वह कहता है, ब्राह्मण हो कि नहीं? कोई हिंदू से शादी करे तो वह कहता है, तुम हिंदू हो कि नहीं? कोई ईसाई से शादी करे तो वह कहता है, पहले ईसाई हो जाओ फिर हम शादी कर लेंगे।

उन्होंने भी ठीक कहा। अंधे हो जाओ। हमारे जैसे हो जाओ। हम नहीं मानते कि तुम अंधे हो कि आंखवाले हो, मगर हम जैसे हो जाओ तो ही हमारी लड़की से शादी कर सकते हो।

वह आदमी बड़ी मुश्किल में पड़ गया। और उसने कहा, रात भर का मुझे मौका दो! इधर प्रेम खींचे, उधर आंखों का आग्रह। लेकिन सुबह होते-होते वह भाग खड़ा हुआ। उसने कहा कि प्रेम तो फिर कहीं हो जायेगा। ये आंखें एक बार गईं तो गईं। और फिर उसे सूरज समझ में आने लगा और रंग और रूप और सारे जगत का यह सौंदर्य, यह सब खो दूं? वह भाग खड़ा हुआ। उसने कहा कि ये लोग कहीं पकड़कर जबर्दस्ती आपरेशन कर ही न दें।

तुम जब भक्त बनोगे तो लोग तुम्हें अंधा कहेंगे यह बात सच है। क्योंकि लोग अंधे हैं। उनके पास भक्ति की आंखें नहीं हैं।

प्रेम की एक आंख है। कुछ चीजें हैं जो प्रेम ही देखता है, और कोई नहीं देखता। इसलिए कहता हूं कि प्रेम की एक अपनी आंख है। अपना देखने का ढंग, अपनी तर्ज, अपनी शैली है। अपना एक अलग ही मार्ग है प्रेम का। कुछ चीजें केवल प्रेम ही देख पाता है और कोई नहीं देख पाता। कुछ चीजों के लिए तर्क बिलकुल अंधा है।

परमात्मा को देखना है? तर्क अंधा है। प्रेम से ही देखा जा सकता है। सौंदर्य को देखना है? तर्क अंधा है। प्रेम से ही देखा जा सकता है। जीवन में जो भी सत्यं-शिवं-सुंदरम् है वह सभी प्रेम से देखा जाता है, तर्क से नहीं देखा जाता। तर्क तो तीनों की गरदन दबाकर मार डालता है।

तुम्हें अगर भक्ति में थोड़ा भी रस है--होगा जरूर, पूछा है--लेकिन तुम्हारे मन में तथाकथित ज्ञानियों ने बहुत जहर भर दिया है, उस जहर को अलग करो। उससे छुटकारा करो अपना। भक्ति तो एक ही तरह की है। भक्ति में कहां दो तरह के प्रकार का प्रश्न? भक्ति में दो की जगह ही नहीं है।

और फिर तुम पूछते हो, "भवसागर से पार उतरकर...।"

यह भी भक्त का सवाल नहीं है। भवसागर से पार उतरना भी ज्ञानियों का ही सवाल है। भवसागर! वह शब्द भी ज्ञानियों का है। भक्त तो कहता है, हे प्रभु! हजार-हजार बंधनों में मुझे बांधे रखना। वह भवसागर वगैरह से पार उतरने की बात ही नहीं करता। वह कहता है, तेरा...तेरा ही संसार है, पार क्या उतरना! तेरा ही रूप, तेरा सौंदर्य, तेरा ही रंग, तेरा ही रास। जाना कहां है? भक्त तो कहता है, खूब-खूब मुझे उलझाये रखना; जाने मत देना।

भक्त की भाषा तुम्हारे पास नहीं है--जिसने भी प्रश्न पूछा है। भवसागर का तो अर्थ है, कैसे छुटकारा हो? और अगर तुम इस संसार से छुटकारा चाहते हो तो संसार बनानेवाले से तुम्हारा लगाव बहुत गहरा नहीं हो सकता है।

तुमने कभी देखा? तुम कवि को तो प्रेम करते हो, उसकी कविता को घृणा करते हो; यह संभव है? तुम एक चित्रकार को तो प्रेम करते हो लेकिन कहते हो तुम्हारे...चित्रकार होने में तो ठीक हो, सब अच्छा है, लेकिन तुम्हारे चित्रों में आग लगा देने का मन होता है। तुम अगर पिकासो से कहोगे कि तुम तो भले हो, तुमसे तो हमारा बड़ा लगाव है, लेकिन तुम्हारी ये सब जितनी पेंटिंग हैं, इनमें आग लगा देने का मन होता है। तो क्या अर्थ हुआ इसका? अगर सब चित्रों में आग लगा देने का मन होता है तो तुमने चित्रकार को मार ही डाला। क्योंकि चित्रकार अपने चित्रों में है। चित्र जल गये तो चित्रकार एक साधारण आदमी है, चित्रकार नहीं है। अगर गीतकार के गीत तुमने नष्ट कर दिये तो गीतकार न रहा। अगर नर्तक का नर्तन छीन लिया तो साधारण हो गया, नृत्यकार न रहा।

तुम परमात्मा से उसकी सृष्टि छीन लो, परमात्मा परमात्मा थोड़े ही रह जाता है। तुमने बड़ा गहरा अपमान कर दिया। भक्त ऐसी भाषा नहीं बोलता। भक्त तो कहता है कि इस योग्य बनूं कि तू मुझे बार-बार बंधनों में बांधे, बार-बार छिपे और छिया-छी का खेल हो। बार-बार मुझे पुकारे और मैं तुझे खोजूं और तू न मिले। दूर-दूर तेरी छाया दिखाई पड़े, दौड़ूं और फिर तुझे न पाऊं, और फिर दौड़ूं और फिर तुझे न पाऊं। और यह खेल अनंत काल तक चलता रहे।

भक्त की भाषा अलग है। भक्त की भाषा में मोक्ष के लिए जगह नहीं है। भक्त के लिए तो यही मोक्ष है। यही तो भक्त की क्रांतिकारी दृष्टि है। इसको मैं उसकी आंख कहता हूं। ज्ञानी का मोक्ष कहीं और है। वह कहता है इस भवसागर से छुटकारा हो, तब मोक्ष। उसका मोक्ष जीवनविरोधी है। वह कहता है, जीवन कैसे विनष्ट हो? आवागमन कैसे समाप्त हो? तब मोक्ष।

ज्ञानी का मोक्ष थोड़ा कमजोर है; वह इस संसार को नहीं झेल पाता। भक्त का मोक्ष बड़ा शक्तिशाली है। वह कहता है, रहे, यह संसार रहे, और हजार संसार रहें, मेरी मुक्ति में कोई बाधा नहीं पड़ती। मेरी मुक्ति ऐसी है कुछ कि बंधनों में भी जीवित रहती है।

और स्वतंत्रता तभी समग्र है, जब कारागृह में भी कोई तुम्हें डाल दे और तुम्हारी स्वतंत्रता नष्ट न हो। हाथों में जंजीरें हों और फिर भी तुम्हारी स्वतंत्रता नष्ट न हो। तुम्हारे प्राण स्वतंत्रता के सौरभ से भरे रहें। विपरीत परिस्थितियों में भी जब स्वतंत्रता बनी रहे तभी तुम स्वतंत्र हो। अगर अनुकूल परिस्थितियों में स्वतंत्र रहे, यह कोई स्वतंत्रता नहीं। समझो इसे।

जब जीवन में सब सुख है तब तुम प्रसन्न दिखाई पड़ते हो, इस प्रसन्नता का कोई बड़ा मूल्य नहीं। जब जीवन में सब दुख हों और तुम्हारे ओठों पर मुस्कुराहट हो तो मुस्कुराहट का कुछ मूल्य है। जब पैरों में कांटे चुभे हों और ओठों पर मुस्कुराहट रहे, गले में फांसी लगी हो और ओठों पर मुस्कुराहट रहे तब...तब तुम्हारी मुस्कुराहट तुम्हारी है। अन्यथा सुख-सुविधा में कौन नहीं मुस्कुराने लगता है? उस मुस्कुराहट का कोई मूल्य नहीं है। जीवन में अगर तुम नाचो, यह क्या नाच! मौत आये और तब भी तुम नाचते हुए विदा होओ तो तुमने नाच सीखा, तो तुमने नाच जाना। अनुकूल में राजी हो जाना तो बिलकुल ही स्वाभाविक है, प्रतिकूल में राजी हो जाना क्रांति है। और सबसे बड़ी प्रतिकूलता जो हो सकती है वह संसार है। हिमालय पर बैठकर मन शांत हो

जाये, कोई बड़ी गुणवत्ता नहीं है। बाजार में बैठे-बैठे, दूकान पर बैठे-बैठे, हाथ में तराजू लिये-लिये मन शांत हो जाये।

शास्त्रों में कथा आती है तुलाधर वैश्य की। एक ज्ञानी बहुत दिन तक ध्यान करता रहा पहाड़ों में। इतना ध्यान किया, इतना तप किया, ऐसा खड़ा रहा पत्थर की मूर्ति बनकर कि उसके बालों में घोंसले बना लिये पक्षियों ने। जटाजूट थे, घोंसले रख लिये, बच्चे दे दिये। वह ज्ञानी बड़ा प्रसन्न हुआ। उसकी दूर-दूर तक ख्याति पहुंच गई। लोगों से वह कहने लगा, मैं वही हूं जिसके सिर में जटाजूट में घोंसले बना लिये, ऐसा मेरा ध्यान है।

लेकिन कोई परिव्राजक उसके पास से गुजरता था। उसने कहा, लेकिन वे पक्षी कहां हैं? उसने कहा, वे तो मैं जरा हिला कि उड़ गये।

"तो उन पक्षियों को बुलाओ।"

उसने कहा कि वे मेरे बुलाये नहीं आते। मैं तो उनके पास भी जाता हूं--वे यहीं रहते हैं, आसपास बैठे रहते हैं--मैं उनके पास जाता हूं तो एकदम भाग जाते हैं।

तो उन्होंने कहा, यह कोई बात न हुई। तुम तुलाधर वैश्य के पास जाओ। उसने कहा, यह कौन है? एक तो वैश्य शब्द से ही उसको बड़ी हैरानी हुई। वह ब्राह्मण था। विप्र! और बड़ा ज्ञानी था और तपस्वी था और कोई बनिया, वैश्य! तुलाधर! और कहां का नाम? क्या करता है यह? उन्होंने कहा वह कुछ नहीं करता, वह तराजू ही तौलता रहता है। इसीलिए तुलाधर नाम है उसका। दूकान पर बैठा तराजू तौलता रहता है। मगर अगर तुम्हें जानना है असली शांति तो उसके पास जाओ। और जो पक्षी तुम्हारे बुलाये नहीं आते, तुलाधर के इशारे पर चले आयेंगे। हजारों मील से।

"कहां रहता है तुलाधर?"

तो उसने कहा, "वह काशी में रहता है।"

तो इस बेचारे ने यात्रा की, काशी पहुंचा। बड़ा हैरान हुआ। भीड़म-भक्क! काशी की गलियां! निकलना मुश्किल, चलना मुश्किल, जगह-जगह नाराजगी होने लगी। कोई धक्का मार दे, किसी का पैर पैर पर पड़ जाये। संकरी गलियां और भीड़-भाड़। और यह कहने लगा यह कोई जगह है, जहां कोई ज्ञान को उपलब्ध हो? यहां तो अगर ज्ञानी भी आये तो अज्ञानी हो जाये। इधर मुझे तक क्रोध आ रहा है। यह तुलाधर वैश्य यहां कहां ज्ञान को उपलब्ध हो गया? लेकिन ठीक, आ गया तो उसका दर्शन कर लूं।

गया तो वहां तो बड़े ग्राहक खड़े थे। और वह बड़ा हैरान हुआ। तुलाधर के कंधे पर वही पक्षी बैठा था, जो उसके सिर से उड़ गया था क्योंकि वह हिल गया था। उसने कहा, यह बड़ा चमत्कार है। बात कुछ होनी चाहिए इस आदमी में। उसने तुलाधर से पूछा कि तेरा राज क्या?

उसने कहा, मेरा कुछ ज्यादा राज नहीं। मैं कोई पंडित नहीं, कोई ज्ञानी नहीं। यहां तराजू को तौलतेत्तौलते भीतर भी तौलना सीख गया। इधर तराजू तुलता, उधर भीतर मैं तुलता हूं। इधर जब दोनों पलड़े बराबर हो जाते हैं, कांटा ठीक बीच में आ जाता है तब मैं भी अपने कांटे को बीच में ले आता हूं। दोनों पलड़े बराबर कर लेता हूं। सुख-दुख बराबर। सफलता-असफलता बराबर। संसार- मोक्ष बराबर। शांति-अशांति बराबर। मिलना न मिलना बराबर। मिलन-बिछोह बराबर। सब द्वंद्व को तौल लेता हूं। बस तराजू का कांटा बीच में है, जैसा बना रहता है, इसी को देखते-देखते...मैं बनिया हूं। और तो मैं कुछ ज्यादा जानता नहीं। ध्यान इत्यादि मैंने किया नहीं। आप महातपस्वी हैं। आप कैसे आये? आपके चरण लगूं।

तब उस ज्ञानी की आंख खुली। जंगल में खड़े होकर शांत हो जाने में कोई बड़ी शांति नहीं है। जंगल में जो शांत न हो जाये वही थोड़ा विशिष्ट पुरुष है। जंगल में तो कोई भी शांत हो जायेगा। हिमालय पर गये कभी? हिमालय की शीतलता भीतर प्रवेश करने लगती है, छूने लगती है। सब शांत होने लगता है। लेकिन उस शांति

में तुम्हारा क्या है? उतरोगे पहाड़ से, जैसे-जैसे तुम उतरोगे वैसे-वैसे शांति उतर जायेगी। वह पहाड़ के साथ ही पीछे छूट जायेगी। शांति तो वहां, जहां शांति का कोई उपाय नहीं है।

भक्त कहता है, यह संसार तेरा है। तेरे हाथ की इसमें छाप है। तेरे हाथ की छाप से मेरा कोई विरोध नहीं। बस तेरे हाथ की छाप में ही तेरे को खोजूंगा। और जहां तेरे हाथ की छाप है, कहीं तू भी छिपा होगा। कहीं तुझे पकड़ ही लूंगा, खोज ही लूंगा। और फिर जल्दी भी नहीं है। क्योंकि खोज भी इतनी रसपूर्ण है।

भक्त की भाषा अलग है। भवसागर जैसा गंदा शब्द वह उपयोग करता ही नहीं। भवसागर तो विरोधी का शब्द है। उसमें तो छिपा ही है निंदा का भाव। कैसे छुटकारा हो? भवसागर, जाल-जंजाल कैसे मिटे? प्रपंच कैसे छूटे?

"भवसागर से पार उतरकर परम आत्मा में लीन होने के लिए...।"

अब यह परम आत्मा में लीन होना भी भक्त की भाषा नहीं है। भक्त परमात्मा में लीन होना चाहता है, आत्मा में नहीं। आत्मा तो अपनी है--परमात्मा, वह जो विराट है। भक्त तो अपनी बूंद को इस सिंधु में डुबाना चाहता है। भक्त की ऐसी क्षुद्र तलाश नहीं है। वह यह नहीं कहता है कि मैं कौन हूं। वह इतना ही कहता है कि मुझे डुबा ले। बस तुझमें हो जाऊं, काफी है।

तो तुमने पूछ तो लिया है प्रश्न लेकिन तुम्हारे मन में ज्ञानियों ने बहुत कचरा भर दिया है। मैं तुमसे यह भी नहीं कह रहा हूं कि तुम भक्त हो जाओ। तुमने पूछा है इसलिए उत्तर दे रहा हूं। अगर भक्त होना है तो यह ज्ञानियों के कचरे को अलग कर दो। अगर यह ज्ञानियों के कचरे में तुम्हें मूल्य मालूम पड़ता है तो भक्ति का भाव छोड़ दो।

मैं यह भी नहीं कह रहा हूं कि ज्ञान के मार्ग से पहुंचना नहीं होता है। ज्ञान के मार्ग से भी पहुंचना होता है। लेकिन तब भक्ति की बात ही भूल जाओ। दो नावों पर सवार मत होओ, अन्यथा डूबोगे; कहीं भी न पहुंचोगे। एक नाव काफी है।

और जब मैं कहता हूं कि ज्ञानी के मार्ग से भी पहुंचना होता है तो खयाल रखना कि मेरे ज्ञानी में और तुम्हारे ज्ञानी में बड़ा फर्क है। तुम ज्ञानी उसको कहते हो, जो शास्त्र का ज्ञाता है। तुम ज्ञानी उसको कहते हो, जो पंडित है, सिद्धांत में कुशल है। तुम ज्ञानी उसको कहते हो जिसके पास बहुत जानकारी है। मैं ज्ञानी उसे कहता हूं जिसने सब जानकारी फेंकी, सब शास्त्र हटाये। जिसने धीरे-धीरे जानकारी से अपनी दृष्टि हटाई और जानने के सूत्र पर लगाई। जो जागने लगा वही ज्ञानी है।

ज्ञान में ज्ञान नहीं है, ध्यान में ज्ञान है।

तो दो मार्ग हैं: ध्यान और प्रेम। प्रेम है भक्ति का मार्ग, ध्यान है ज्ञान का मार्ग। यह मैं तुम्हें स्पष्ट कर दूं। क्योंकि ज्ञानी से तुम कहीं यह मत समझ लेना कि कोई पंडित वेद को जाननेवाला है और ज्ञानी हो जाता है। जानकारी से कोई ज्ञान नहीं होता। जानकारी में अज्ञान दब जाता है, मिटता नहीं। और दबा हुआ अज्ञान बना रहता है। सदा बना रहेगा। छिपा रहेगा भीतर। उससे छुटकारा न होगा।

तो बजाय ज्ञानी के ध्यानी कहना ज्यादा अच्छा है। तो ध्यानी और प्रेमी--दो मार्ग हैं। फर्क थोड़ा-सा है। ध्यानी आत्मा की खोज करता: मैं कौन हूं? इस एक सतत प्रश्न में उतरता है। प्रेमी इसकी फिक्र नहीं करता। वह कहता है, जो भी मैं हूं--अ, ब, स, जो भी मैं हूं प्रभु, तेरे चरणों में ले ले। जो भी मैं हूं, अपने में डुबा ले। बुरा-भला जैसा हूं। गंदा नाला सही! अपने सागर में ले ले। तू तो सागर है, गंदा नाला भी उतरेगा तो स्वच्छ हो जायेगा। तू तो सागर है, गंदा नाला भी उतरेगा तो तेरे रूप में डूब जायेगा। मैं क्षुद्र तेरे विराट को तो अपवित्र न कर पाऊंगा, तेरा विराट मेरी क्षुद्रता को पवित्र कर देगा। इसलिए अब मैं कहां पवित्र होने को बैठा रहूं? और मेरे किये क्या होगा?

भक्त कहता, मैं तुझमें डुबकी लगाना चाहता। ज्ञानी कहता है, मैं अपने में डुबकी लगाना चाहता। दोनों ही एक ही जगह पहुंच जाते हैं। क्योंकि अंतिम अर्थों में जो तुम्हारा आंतरिक केंद्र है वही परमात्मा है। भाषा का भेद है और विधि का भेद है। यात्रा की दिशा अलग-अलग होती है, मंजिल एक है।

तो दो में से तुम कुछ एक काम कर लो। या तो भक्त बनना है तो भक्त बन जाओ, फिर ज्ञानियों की बकवास छोड़ दो। फिर ज्ञानी जो कहते हैं, सब बकवास है। और अगर ज्ञानी के ही मार्ग से चलना हो तो फिर भक्ति की बातों में मत पड़ना, नहीं तो तुम बड़ी उलझन में पड़ जाओगे। ज्ञानी कहता है मोक्ष और भक्त कहता है, प्रभु, तेरे बंधन बड़े प्यारे हैं। ज्ञानी कहता है मुक्त होना है और भक्त कहता है तुझसे बंधना है!

इन फर्कों को समझ लेना। ज्ञानी तो एक तरह का तलाक दे रहा है अस्तित्व को, और भक्त एक तरह का विवाह रचा रहा है। हम ब्याह चले अविनाशी! वह तो भक्त जो कहता है कि यह तो विवाह की तैयारी हो गई। अब हम विवाह बना रहे हैं। भक्त कहता है:

मैं तुम्हारे मन-सुमन में प्रीति बन महकूं
चू पड़ूं अंजलि-सरों में लाजकलित मधुकरों में
आज अपनापन डुबो दूं सुरभिचर्चित निर्झरों में
मैं तुम्हारे दृग्गगन में स्वप्न बन महकूं
प्रीति बन महकूं
गुनगुनाऊं सप्त स्वर में रागरंजित मीड़ कर में
कभी आरोह में गमकूं कभी अवरोह के स्वर में
मैं तुम्हारे छंद-वन में गीत बन चहकूं
प्रीति बन महकूं
वचन तोडूं संवरण के, मौन के अंतःकरण के
स्पर्श के संकेत से ही बज उठे नूपुर चरण के
मैं तुम्हारे प्रणयप्रण में प्राण बन दहकूं
प्रीति बन महकूं
मैं तुम्हारे मन-सुमन में प्रीति बन महकूं

भक्त तो कहता है, प्रभु में डूब जाऊं! तुम्हारी आंखों में सपना बनकर तैरूं। मुक्ति की यहां कोई बात नहीं है। मुक्ति भक्त की भाषा नहीं है। हजार-हजार नित नूतन बंधन तुम बांधो। तुम मुझे बांधते रहो। मुझे उपेक्षित छोड़ मत देना एक किनारे। भूल मत जाना। विस्मरण मत कर देना। तुम राग के नये-नये जाल मुझ पर फैलाते रहो। तुम प्रीति के नये-नये उन्मेष मुझमें उठाते रहो। ऐसा न हो कि राह के किनारे मुझे भूल जाओ। तुम्हारे लिए बहुत हैं, मेरे लिए तुम एक अकेले हो। मैं तुम्हारे इस आनंद-उत्सव में सम्मिलित रहूं, भागीदार रहूं।

यह संसार भक्त के लिए शत्रु नहीं है और जीवन विरोध नहीं है। जीवन के साथ भक्त का अविरोध है, तादात्म्य है। जीवन प्रभु का है। जो उसका है, सब शुभ है, सब सुंदर है। उसने बनाया, उसके हस्ताक्षर हैं, ठीक ही होगा। उसे फिर कोई शिकायत नहीं है।

भक्त की तो नये-नये गीतों के, नये-नये नृत्यों के जन्म में आकांक्षा है। नये विवाह रचाना है।

आओ, फिर से ध्यायें चंद्रमुखी संध्यायें,
ओ सूर्यमुख सबेरे!

गोपन व्यापारों को कहा नहीं जाता है
किंतु कहे बिन भी तो रहा नहीं जाता है
आओ, पुनः रचायें संकेत की ऋचायें
ओ सप्तपदी फेरे, ओ सूर्यमुख सबेरे!

रागरंगी चितवन में ओर-छोर बंध जायें
पर्वत-से मनसूबे बिन साधे सध जायें
आओ फिर पिघलायें अलगाव की शिलायें
ओ अजनबी अंधेरे, ओ सप्तपदी फेरे!

आलिंगित श्वासों में फिर आदिम गंध भरें
दुष्यन्ती रागों में शाकुंतल छंद भरें
आओ पुनः जगायें सोयी स्वर बलगायें
ओ गीत बन घनेरे, ओ सप्तपदी फेरे!

फिर से डालें सात फेरे। फिर से जगायें सोयी ऊर्जा को। फिर से मृत प्राणों में संजीवनी फूंकें। फिर नाचें। फिर-फिर नाचें। फिर-फिर हो आना। फिर-फिर हो खोज। भक्त थकता नहीं। प्रेमी कभी नहीं थकता। ज्ञानी पहले से ही थका हुआ है। वह कहता है, कब छुटकारा मिले। अब बैठ जाने दो। अब बहुत चल चुके।

तुम साफ कर लेना अपने मन में। अपने भाव को ठीक से पहचानो। अगर तुममें हृदय प्रबल है तो भक्ति तुम्हारा मार्ग है। अगर हृदय सो गया है या जागा ही नहीं कभी और हृदय में कोई स्वर नहीं उठते तो ध्यान तुम्हारा मार्ग है। या तो निर्विचार बनो या प्रार्थनापूर्ण। मगर दोनों को एक साथ सम्हालने की चेष्टा में संलग्न मत हो जाना। अन्यथा बहुत भटकाव है फिर। और तुम बहुत उपाय करोगे और कुछ परिणाम न होगा। एक हाथ से बनाओगे, एक हाथ से मिटेगा।

इसलिए पहली बात यात्री के लिए, इस अंतर की खोज के लिए पहली बात स्मरण रखने की यही है कि मैं ठीक-ठीक से अपने को पहचान लूं। भावपूर्ण हूं मैं? या भाव से मेरा कोई संबंध नहीं जुड़ता?

तीसरा प्रश्न: कामना के मूल में नैसर्गिक काम है, ऐसा कहा जाता है। क्या निसर्ग के अनुकूल बहना जागरण में सहयोगी नहीं है? कृपा करके समझायें।

निसर्ग और निसर्ग का भेद समझो। वृक्ष हैं, पशु-पक्षी हैं, निसर्ग में हैं लेकिन मूर्च्छित हैं। बुद्ध हैं, कृष्ण हैं, अष्टावक्र हैं, मीरा-कबीर हैं, वे भी निसर्ग में हैं लेकिन अमूर्च्छित हैं, जागे हुए हैं। पक्षी जो गीत गुनगुना रहे हैं, वह बिलकुल सोया-सोया है। उसका उन्हें कुछ भी पता नहीं। मीरा जो नाची है, जागकर नाची है। फूल खिल रहे वृक्षों में, वे मूर्च्छित हैं। बुद्ध में जो कमल खिला है वह होश में खिला है।

तो एक तो निसर्ग है आदमी से नीचे। और एक निसर्ग है आदमी से ऊपर। दोनों एक ही निसर्ग हैं लेकिन एक बात का फर्क है--मूर्च्छा-अमूर्च्छा, बेहोशी-होश। और आदमी दोनों के बीच में है। एक तरफ पशु-पक्षियों का संसार है, पौधों-पत्थरों का, पहाड़ों का, चांदत्तारों का; वहां भी बड़ी शांति है। निसर्ग है, प्रकृति है। जैसा होना चाहिए वैसा ही हो रहा है। अन्यथा कुछ हो ही नहीं सकता। अन्यथा करने की स्वतंत्रता भी नहीं है। अगर कोई पक्षी प्रकृति के प्रतिकूल भी जाना चाहें तो जा नहीं सकते, क्योंकि प्रतिकूल जाने के लिए बोध चाहिए। इसलिए यह कहना कि प्रकृति के अनुकूल हैं, भी बिलकुल ठीक नहीं है। अनुकूल हैं मजबूरी में क्योंकि प्रतिकूल हो नहीं सकते। कोई उपाय ही नहीं है। उन्हें याद भी नहीं है, पता भी नहीं है, होश भी नहीं है। जो हो रहा है, हो रहा है।

जैसे एक आदमी को हम स्ट्रेचर पर रखकर ले आयें--क्लोरोफाम दिया हुआ आदमी, बेहोश पड़ा है--उसको एक बगीचे में से घुमा दें। जब वह इस बगीचे में से घूमेगा तो फूलों की गंध भी उसके नासापुटों को छुएगी। सूरज की किरणें भी उसके चेहरे पर खेलेंगी। हवाओं के शीतल झोंके भी उसको स्पर्श करेंगे। शायद कुछ लाभ भी होगा--अचेतन जो भी लाभ हो सकता है प्रकृति के पास होने का। शायद जब होश में आयेगा तो कहेगा

कि बड़ा सुंदर सपना देखा। बड़ा अच्छा लग रहा था। पता नहीं क्या था। कुछ साफ-साफ नहीं है, धुंधला-धुंधला है।

लेकिन फिर इसी आदमी को हम होश से भरकर इस बगीचे में लायें, तब बगीचा वही है, आदमी वही है। जरा-सा फर्क पड़ा है। अब होश में है, तब बेहोश था। अब यही फूल, यही वृक्ष, यही सूरज की किरणें एक अपूर्व आनंद को जन्म देंगी।

पशु-पक्षी इस संसार में क्लोरोफाम की अवस्था में हैं, बुद्धपुरुष जाग्रत अवस्था में और हम आदमी बीच में--न तो ठीक से जागे हैं, न ठीक से सोये हैं। इसलिए मनुष्य बड़ी चिंता में है। चिंता का एक ही अर्थ होता है, तनाव। एक खिंचाव पीछे की तरफ, एक खिंचाव आगे की तरफ। पीछे पशु-पक्षी पुकार रहे हैं कि लौट आओ। छोड़ दिया घर अपना, बड़ा सुख था यहां। फिर सो जाओ। इसलिए तो आदमी शराब पीता है कि फिर सो जाये।

शराब का आकर्षण इसीलिए है कि शराब एकमात्र उपाय है आदमी के पास कि फिर पशु-पक्षी हो जाये। और तो कोई उपाय नहीं है। कैसे बेहोश हो जायें! इसलिए हम बेहोश होने की कई तरकीबें खोजते हैं। शराब हो, सेक्स हो, सिनेमा हो, जहां भी हम अपने को भूल पाते हैं थोड़ी देर को, हम वहां जाकर बड़ा मनोरंजन अनुभव करते हैं--विस्मरण में। लेकिन सब एक तरह की शराब है।

तो पीछे प्रकृति खींच रही है कि तुम क्यों परेशान हो गये? आदमी, तू व्यर्थ परेशान है, लौट आ। यहां सब सुंदर है। इसीलिए तो तुम कभी जब समुद्र किनारे जाते हो, सुंदर लगता। हिमालय की शुभ्र चोटियों को देखते बर्फ से ढंका हुआ, सुंदर लगता है। वृक्षों की हरियाली भी बड़ी निकट खींचती मालूम पड़ती है। पशु-पक्षियों का जीवन गहन आकर्षण रखता। लेकिन जा भी नहीं सकते पीछे। शराब पीकर भी कितनी देर भूलोगे? फिर-फिर होश आ जाता है। होश आ चुका है।

फिर एक और आकर्षण है, बुद्धपुरुष आ जाते हैं। महावीर, कृष्ण, कबीर, क्राइस्ट तुम्हारे बीच से गुजर जाते हैं। उनकी मौजूदगी एक और अपूर्व प्यास को जगाती कि ऐसे ही हम कब हो जायें? यह बड़ी दूसरी पुकार है। है प्रकृति की ही पुकार, लेकिन अब मूर्च्छा की तरफ से नहीं, अमूर्च्छा की तरफ से।

और जब तक आदमी बीच में है तब तक संकट में है। तब तक त्रिशंकु की तरह है--न जमीन पर न आकाश में, अटका बीच में। दोनों तरफ खींचा जा रहा, तोड़ा-मरोड़ा जा रहा, खंड-खंड हो रहा, विक्षिप्त हुआ जा रहा, विभक्त। या तो पीछे गिर जाये, जो हो नहीं सकता; या आगे उठ जाये, जो हो सकता है। लेकिन आगे उठना कठिन है। असंभव नहीं, कठिन है। पीछे गिरना सरल है, लेकिन असंभव है। फर्क समझ लेना। फिर से पशु बन जाना सरल है लेकिन असंभव है। सरल इसलिए कि हम पशु रहे हैं पहले, वह हमारी आदतों का हिस्सा है। हमारे अचेतन में वे आदतें अब भी पड़ी हैं।

जब तुम क्रोध में आगबबूला हो जाते हो तो पशु बन जाते हो। सरल है क्रोध करना, लेकिन कितनी देर रहोगे? फिर क्रोध के बाहर तो आना ही पड़ेगा। कोई सतत तो क्रोध में नहीं रह सकता। कामवासना में उतर जाना सरल तो है लेकिन कामवासना में जो विस्मरण आता है क्षण भर को, वह कितनी देर का रहेगा? वह क्षणभंगुर है। बबूले की तरह आया, गया, फूटा। फिर तुम वापिस अपने जगह खड़े हो पहले से भी जीर्ण-जर्जर, पहले से भी टूटे-फूटे, पहले से भी ज्यादा विषादग्रस्त। ऐसा कौन आदमी होगा जिसको कामसंभोग के बाद पश्चात्ताप नहीं होता है? ऐसा कौन आदमी होगा जिसको क्रोध करने के बाद पश्चात्ताप नहीं होता है कि यह मैंने क्या किया! ऐसा कौन आदमी होगा जो क्रोध करके भी यह समझाने की लोगों को कोशिश नहीं करता है कि मैंने क्रोध नहीं किया।

क्यों? यह कोशिश क्यों है समझाने की? क्योंकि क्रोध का मतलब है कि तुम पशु हुए। यह बात अहंकार को चोट देती है कि मैं और पशु जैसा व्यवहार किया? तो हम लीपापोती करते हैं, समझाने की कोशिश करते हैं कि क्रोध नहीं किया। यह तो ऐसे ही दिखावा था; कि ऐसे ही खेल-खेल में कर लिया; कि यह तो उसके ही हित

के लिए किया था। वह मेरा बेटा है, अगर उसको न मारता चांटा तो वह बिगड़ जाता। तुम्हारे बाप भी तुमको मारे, न तुम बचे बिगड़ने से, न तुम्हारा बेटा बचनेवाला है, न तुम्हारे बाप बचे थे। कोई भी नहीं बचता।

मुल्ला नसरुद्दीन ने अपने बेटे को बड़े जोर से चांटा मारा। बेटा खड़ा रहा, उसने कहा, "एक बात पूछनी है पिताजी"--उसकी आंख से आंसू बह रहे हैं--"कि आपके पिता भी आपको इसी तरह मारते थे?" उसने कहा, "हां, मारते थे।" "और उनके पिता भी उनको इसी तरह मारते थे?" उसने कहा, "हां, उनको भी मारते थे।" "और उनके पिता?" तो मुल्ला नसरुद्दीन ने कहा, "मुझे पता तो नहीं लेकिन मारते रहे होंगे।"

"और उनके पिता?"

तो उसने कहा, "मतलब क्या है तेरा? अरे सभी पिता मारते रहे हैं।"

तो उस बेटे ने कहा, "पिताजी, इतनी सदियों से यह क्रूर व्यवहार चल रहा है, अब समय हो गया कि बंद किया जाये। और इससे सार क्या हुआ? सदियों-सदियों से आप कहते हैं कि पिता मारते रहे, मारते रहे, बेटे पिटते रहे और बेटे फिर बेटों को पीटते रहे, यह चलता रहा और कुछ फर्क तो हुआ नहीं। सब वैसा का वैसा है। तो अब समय आ गया कि जो सदा से चली आई धारा है, अब तोड़ो।"

बात तो ठीक कह रहा है बेटा। न तुम्हारे पिता तुम्हें रोक सके, न तुम अपने बेटे को रोक सकोगे। न तुम्हारे पिता तुम्हें रोकने के लिए मार रहे थे, न तुम रोकने के लिए मार रहे हो। रोकने के लिए मार रहे हो यह तो व्याख्या है एक पाशविक व्यवहार की, जिसको तुम करने से नहीं रुक पा रहे हो। उस पशुता को छिपाने के लिए यह आवरण है, मुखौटा है। तुम एक सुंदर बात कह रहे हो एक असुंदर बात को छिपा लेने के लिए। तुम कांटों के ऊपर फूल रख रहे ताकि कांटे दिखाई न पड़ें। यह मलहम-पट्टी है। यह कोई बहुत सार्थक नहीं है।

लेकिन क्रोध हरेक को पछतावे से भरता है। कुछ न कुछ करना पड़ता है क्रोध के बाद। कामवासना भी पछतावे से भरती है। शराबी भी रोज-रोज तो शराब पीकर फिर-फिर कसम खाता है, अब न पीयूंगा। पीनी पड़ती है यह दूसरी बात है लेकिन कसम तो खाता है बार-बार। निर्णय तो बहुत बार करता है; बार-बार टूट जाता है यह दूसरी बात है, लेकिन निर्णय नहीं करता ऐसा मत सोचना। बुरे से बुरा आदमी भी निर्णय करता है बाहर आ जाने के।

क्यों? क्योंकि यह पीछे गिरना किसी को भी शोभा नहीं देता। यह अहंकार को कष्टपूर्ण है। सरल तो है लेकिन असंभव है। क्षण भर को हम भुलावा डाल सकते हैं लेकिन फिर भुलावा टूट जाता है। इस स्थिति में हम सदा के लिए वापिस नहीं लौट सकते।

इसलिए मैं कहता हूं, एक प्रकृति तुम्हारे पीछे रह गई है, एक प्रकृति तुम्हारे आगे है, तुम मध्य में अटके हो। जो आगे है वह कठिन है लेकिन संभव है। बुद्ध होना कठिन है; दुर्गम है मार्ग, है खड्ग की धार, कृपाण पर चलना, लेकिन संभव है। बुद्ध को हुआ, महावीर को हुआ, कृष्ण, क्राइस्ट को हुआ। मोहम्मद, मूसा को हुआ, तुम्हें हो सकता है। फिर तुम प्रकृति में प्रवेश कर जाओगे। फिर निसर्ग में प्रवेश कर जाओगे।

मनुष्य अकेला एक प्राणी है जो निसर्ग में नहीं है, मध्य में है, अटका है, आधा-आधा है, अधूरा है। तुमने किसी कुत्ते को सोचा, अगर तुम कहो कि यह कुत्ता अधूरा है तो क्या यह बात सार्थक मालूम होगी! सब कुत्ते पूरे हैं। तुम किसी कुत्ते को नहीं कह सकते कि तुम अधूरे हो। सब कुत्ते पूरे कुत्ते हैं। लेकिन किसी आदमी को तो तुम कह देते हो कि तुम बहुत अधूरे आदमी हो। और यह बात सार्थक है। सब कुत्ते पूरे, सब बिल्लियां पूरी, सब शेर, सिंह पूरे, आदमी अधूरा है। आदमी को पूरा होना है। बुद्ध को हम कहते पूर्ण, कृष्ण को कहते पूर्ण, अष्टावक्र को कहते पूर्ण। आदमी को पूर्ण होना है। आदमी को जैसा होना है, अभी है नहीं।

तुम्हारा प्रश्न है कि "कामना के मूल में नैसर्गिक काम है।"

सच है बात। कामना के मूल में नैसर्गिक काम है लेकिन नैसर्गिक काम पशुओं में भी है। और नैसर्गिक काम ही बुद्धपुरुषों में राम हो गया है। उसने एक नया रूप लिया है, एक नई भाव-भंगिमा ली है। वही ऊर्जा रूपांतरित हो गई है, एक कीमिया से गुजर गई है।

एक तो हीरा है पड़ा हुआ कचरे-पत्थर में, कूड़े में, मिट्टी से भरा; और एक हीरा है फिर किसी जौहरी के द्वारा तराशा गया, सब गलत अलग किया गया। कोहिनूर जब पाया गया था तो आज जितना उसका वजन है उससे तीन गुना वजन था। मगर तब वह एक बदशकल पत्थर था। हजार चूकें थीं उसमें। काटते-काटते, छांटते-छांटते, निखारते-निखारते अब केवल एक बटा तीन बचा है, लेकिन अब उसकी बात कुछ और। अब कुछ बात है। अब उसकी एक भाव-भंगिमा है, जो अनूठी है। अब वह पूर्ण हीरा है। अब जो-जो गलत था, जो-जो व्यर्थ था, जो-जो नहीं होना था, वह सब काट दिया गया है, अलग कर दिया है। आज अगर तुम्हारे सामने वह पुराना पत्थर पड़ा हो और यह कोहिनूर रखा हो तो तुम पहचान ही न सकोगे कि इन दोनों के बीच कोई संबंध भी हो सकता है।

तुम अभी एक अनगढ़ पत्थर हो; इस पर निखार आ जाये। यही ऊर्जा काम की अगर पारखी के हाथ में पड़ जाये, जौहरी के हाथ में पड़ जाये, तो यही ऊर्जा ऐसे अदभुत रूप और सौंदर्य को प्रगट करती है, ऐसी महिमा को प्रगट करती है। इसी महिमा को तो हम बुद्धत्व कहते हैं। कोई मनुष्य आ गया, पूर्ण हुआ। इसी महिमा को तो हम भगवत्ता कहते हैं।

भगवत्ता का इतना ही अर्थ है कि तुम्हारे भीतर जो मूर्च्छित निसर्ग था वह अमूर्च्छित निसर्ग हो गया। जो प्रकृति सोयी पड़ी थी, जागकर खड़ी हो गई। राम जब सोये पड़े होते हैं तो काम है। और जब काम जागकर खड़ा हो जाता है तो राम। बस इतना ही फर्क है।

तुमने देखा, रात जब तुम सोते हो तो जमीन पर सो जाते हो। जब तुम सुबह खड़े होते हो तो तुम्हारा कोण बिलकुल बदल जाता है। तुम जमीन से नब्बे का कोण बनाने लगते जब तुम सुबह खड़े होते हो। रात जब तुम सोते हो, तुम जमीन के समानांतर हो जाते हो। तुम्हीं हो रात सोये हुए, तुम्हीं हो सुबह खड़े हुए लेकिन कितना फर्क है! मूर्च्छा में तो तुम बिलकुल पत्थर-मिट्टी हो जाते हो। सुबह जब जागकर खड़े होते हो तो तुम जीवंत होते हो।

और भी एक बड़ी जाग है अभी होने को। अभी तो जाग की तुमने पहली किरणें ही जानी हैं। अभी जाग का पूरा सूरज कहां उगा? अभी तो प्राची लाल ही हुई है। जब पूरा सूरज उगता है और जब बुद्धत्व का प्रकाश भीतर होता है तब तुम जानोगे वस्तुतः निसर्ग क्या है!

पशु-पक्षी नैसर्गिक हैं, उन्हें होश नहीं। बुद्धपुरुष भी नैसर्गिक हैं, उन्हें होश है। आदमी दोनों के बीच में उलझा है; न इस तरफ न उस तरफ। इसलिए आदमी बड़ा बेचैन है। जब तक तुम आदमी हो, बेचैनी रहेगी। बेचैनी आदमी का भाग्य है--दुर्भाग्य कहो। इससे पार होना पड़ेगा। पीछे गिरना सरल है लेकिन असंभव। आगे जाना कठिन है लेकिन संभव; इसलिए आगे को चुनो।

जिसे तुमने अब तक जीवन समझा है वह तो क्षणभंगुर है। जिसे तुमने अब तक कामवासना का खेल समझा है वह तो बिलकुल स्वप्नवत है। झूठ में और उसमें बहुत फर्क नहीं है, आभास मात्र है।

क्षणभंगुर जीवन के चार सुमन जीवन के।

आंगन में सूर्य घोल चंदा से बोल-बोल
मोल लिये नटखट ने स्वर के व्यंजन अमोल
चुटकी में बीत गये महंगे क्षण बचपन के
चार सुमन जीवन के।

अर्पित हो मन्मथ में तरुणाई के रथ में

गलबांही डाल चले प्रीत प्यार जनपथ में
झूम-झूम चूम लिये मादक प्रण यौवन के
चार सुमन जीवन के।

अंजुलि भर बीते पल नैनों में गंगाजल
लपटों की बाहों में पिघल गये स्वप्नमहल
माटी में घुले-मिले मेघ सुवन कंचन के
चार सुमन जीवन के।

क्षणभंगुर जीवन के चार सुमन जीवन के।

यह तो जिसे तुम अभी काम कह रहे हो, वासना कह रहे हो, यह कर लूं, यह पा लूं, ऐसा हो जाऊं, यह भोग लूं, यह न चूक जाये, ये सब तो चार फूल हैं, जो सुबह खिले और सांझ होते-होते मुरझा जायेंगे। कुछ ऐसे भी फूल हैं जो मुरझाते नहीं। उन फूलों को ही पा लेना जीवन का लक्ष्य है।

वे फूल केवल अमूर्च्छा में ही उपलब्ध हो सकते हैं। मूर्च्छित आदमी को तो क्षण भर जो सुख मिल जाता है यह भी चमत्कार है। यह भी मिलना नहीं चाहिए। यह भी मिल जाता है, चमत्कार है! क्षण भर को भ्रांति हो जाती है सुख की, यह भी रहस्यपूर्ण है। इतना भी होना नहीं चाहिए।

जाग्रत पुरुष को क्षण भर को भी दुख नहीं होता। मूर्च्छित व्यक्ति को क्षण भर को सुख होता मालूम होता है; होता कहां है! हुआ नहीं, हुआ नहीं कि गया नहीं। इधर आ भी नहीं पाया कि उधर गया। हाथ बंध कहां पाते हैं? मुट्ठी में आ कहां पाता है? कभी किसी सुख के क्षण पर मुट्ठी बांध पाये हो? कभी थोड़ी देर को भी हाथ में रखकर देख पाये हो? आया नहीं कि गया नहीं। इधर पता चलते-चलते कि आया, कि जा चुका हो जाता है।

पानी पर खींची लकीर जैसे ये सुख के क्षण! इन पर बहुत भरोसा मत कर लेना। क्योंकि इन पर बहुत भरोसा कर लिया तो जीवन की जो ऊर्जा अमूर्च्छा बन सकती थी, जागृति, ध्यान बन सकती थी, समाधि बन सकती थी, वही ऊर्जा इन्हीं क्षणों में व्यतीत हो जायेगी। और जब मौत करीब आयेगी तो तुम खेल-खिलौने अपने आसपास पाओगे, और कुछ भी नहीं। सब टूटे-फूटे खेल-खिलौने, जिन्हें छोड़कर जाना पड़ेगा। आंखों में तुम्हारे आंसू भरे होंगे।

अंजुलि भर बीते पल नैनों में गंगाजल
लपटों की बांहों में पिघल गये स्वप्न-महल
और चिता पर सिर्फ लपटों में ही बांहें होंगी और सब स्वप्न-महल पिघल जायेंगे।
माटी में घुले-मिले मेघ सुवन कंचन के
जिनको सोचा था स्वर्ण जैसा वे सब मिट्टी में घुल-मिल गये।
क्षणभंगुर जीवन के चार सुमन जीवन के

जागो! ताकि जो हो सकता है, हो जाये। जगाओ अपने को। और ऊर्जा को ऐसा व्यर्थ मत खोते फिरो। जो क्षण गया, गया; फिर लौट न सकेगा। जो ऊर्जा हाथ से खो गई, खो गई; फिर तुम उसे वापिस न पा सकोगे। थोड़े बुद्धिमान बनो। बहुत जी लिये मंदबुद्धि की तरह, अब थोड़ी प्रतिभा से जीयो, मेधा से जीयो। थोड़ा-थोड़ा होश सम्हालो। सम्हालते-सम्हालते एक दिन सम्हल जाता है।

चौथा प्रश्न: राबिया ने कहा है कि ईश्वर यदि तुम्हारी ओर उन्मुख हो तो ही तुम धर्म में परिवर्तित यानी धार्मिक हो सकते हो। तो क्या आदमी के हाथ में पहल करना भी नहीं है? क्या पहल भी परमात्मा ही करता है?

आदमी के हाथ ही आदमी के हाथ में कहां हैं? आदमी के हाथ भी परमात्मा के हाथ में हैं। आदमी कुछ अलग-थलग थोड़े ही है! तुम एक क्षण भी तो अलग होकर नहीं हो सकते। यह श्वास बाहर गई, भीतर आई तो

तुम हो। यह सूरज की किरण तुम्हारी देह पर पड़ी और इसने उत्तप्त किया तो तुम हो। यह भोजन आज लिया और शरीर में ऊर्जा बनी तो तुम हो।

एक क्षण को तुम बाहर से लेन-देन बंद कर सकते? एक क्षण को तुम तोड़ सकते यह सेतु, जो हजार-हजार तरह से फैले हुए हैं? एक क्षण को तुम अलग-थलग हो सकते हो? एक क्षण को कह सकते कि बिलकुल मैं अलग-थलग, टूटा समस्त से खड़ा हूं। एक क्षण को भी नहीं हो सकते।

तुम्हारे हाथ भी तुम्हारे हाथ में कहां हैं? तुम्हारे हाथ भी परमात्मा के हाथ में हैं। जिन्होंने जाना है उन्होंने एक बात जानी कि हम थे ही नहीं और नाहक उछलकूद मचा रहे थे। थे जरा भी नहीं और बड़ा शोरगुल मचा रहे थे। जैसे लहरें सागर पर बड़ा शोरगुल मचाती हैं और जरा भी हैं नहीं। है तो सागर; लहर कहां है? लहर का कोई होना होना है? तुम लहर को सागर से अलग कर सकोगे? जब अलग नहीं कर सकते तो है ही नहीं।

हम अलग होकर नहीं हो सकते तो हमारा होना नहीं है। जाननेवालों को एक प्रतीति गहन होती जाती है रोज-रोज कि मैं नहीं हूं, परमात्मा है। एक दिन ऐसी घड़ी आती है कि मैं बिलकुल शून्य हो जाता है। वही तो अष्टावक्र ने कहा: "अनिर्वचनीय स्वभाव और स्वभाव से बिलकुल शून्य।" जिसका निर्वचन न हो सके ऐसे स्वभाव का अनुभव होता है और साथ ही यह भी अनुभव होता है कि मैं तो अब रहा ही नहीं।

होश से तुम इसे छोड़ दो अगर परमात्मा के हाथों में तो चमत्कार घटने शुरू हो जाते हैं। तुमने अगर अपने को ही अपने हाथों में पकड़े रखा तो तुम क्षुद्र रह जाओगे। अपने ही कारण व्यर्थ ही छोटे रह गये। जब कि परमात्मा के पूरे हाथ तुम्हारे हाथ हो सकते थे, तब तुमने अपने छोटे-छोटे हाथों पर भरोसा किया। जब तुम निमित्त हो सकते थे, तुम कर्ता बनकर बैठ गये और वहीं तुम सिकुड़ गये।

यों तो मेरा तन माटी है, तुम चाहो कंचन हो जाये

तृषित अधर कितने प्यासे हैं तृष्णा प्रतिपल बढ़ती जाती
छाया भी तो छूट रही है विरह दुपहरी चढ़ती जाती
रोम-रोम से निकल रही है जलती आहों की चिनगारी
यों तो मेरा मन पावक है, तुम चाहो चंदन हो जाये

मेरे जीवन की डाली को भायी कटु शूलों की माया
आज अचानक अरमानों पर सारे जग का पतझड़ छाया
असमय वायु चली कुछ ऐसी पीत हुई चाहों की कलियां
यों तो सूखी मन की बगिया, तुम चाहो नंदन हो जाये

अब तो सांसों का सरगम भी खोया-खोया-सा लगता है
अनगिन यत्न किये मैंने पर राग न कोई भी जगता है
साध मीड़ में खिंचने पर भी स्वरसंधान नहीं हो पाता
यों तो टूटी-सी मनवीणा, तुम चाहो कंपन हो जाये

मेरा क्या है इस धरती पर सिर्फ तुम्हारी ही छाया है
चांद-सितारे तृण तरु-पल्लव सिर्फ तुम्हारी ही माया है
शब्द तुम्हारे, अर्थ तुम्हारे, वाणी पर अधिकार तुम्हारा
यों तो हर अक्षर क्षर मेरा, तुम चाहो वंदन हो जाये

प्रभु के स्पर्श से सब स्वर्ण हो जाता है--मिट्टी भी। सोयी वीणा जाग उठती है। संगीत का आविर्भाव हो जाता है। जहां सब ताप ही ताप था वहां सब चंदन हो जाता है। लेकिन तुम छोड़ो उसके हाथ में।

मनुष्य अपने ही कारण परेशान है। कोई तुम्हें परेशान किये नहीं। तुम व्यर्थ ही सारा बोझ अपने सिर पर लेकर चल रहे हो। जो बोझ उसके सिर पर है वह भी तुम अपने सिर पर लेकर चल रहे हो। उस कारण तुम कितने टूट-फूट गये हो! कितने जराजीर्ण कितने थके-मांदे! पैर उठाये नहीं उठते इतने थक गये हो। फिर भी मगर बोझ को तुम ढोये चले जाते हो।

रखो। बोझ को उतारो। बोझ भी उसका है, तुम भी उसके हो। समग्र से व्यक्ति अलग नहीं है, समष्टि का अंग है। ऐसी प्रतीति गहन होती जाये, यही संन्यास है। ऐसा भाव रोज-रोज प्रगाढ़ होता जाये।

यों तो मेरा तन माटी है, तुम चाहो कंचन हो जाये
यों तो मेरा मन पावक है, तुम चाहो चंदन हो जाये
यों तो सूखी मन की बगिया, तुम चाहो नंदन हो जाये
साध मीड़ में खिंचने पर भी स्वरसंधान नहीं हो पाता
खींच-खींचकर चेष्टा कर-करके भी कहां स्वरसंधान हो पाता है?
यों तो टूटी-सी मनवीणा, तुम चाहो कंपन हो जाये
शब्द तुम्हारे, अर्थ तुम्हारे, वाणी पर अधिकार तुम्हारा
यों तो हर अक्षर क्षर मेरा, तुम चाहो वंदन हो जाये

तुम शून्य से बोलो तो वेदों का जन्म होता है। तुम अहंकार से बोलो तो वेद भी पढ़ो, तोता-रटंत हो जाते हैं। तुम उसे बोलने दो तो तुम्हारा हर शब्द उपनिषद है। और यों फिर तुम उपनिषद कंठस्थ कर लो, "तुम" कंठस्थ कर लो तो उपनिषद भी दो कौड़ी के हो गये।

सारा दारोमदार एक बात पर है--तुम हो या वह है! तुम हटो बीच से। राह दो उसे। खाली करो सिंहासन ताकि वह विराजमान हो सके।

यही अर्थ है राबिया का।

किसी ने राबिया को कहा, मैं अगर अपने जीवन को बदल लूं, पाप को पुण्य में बदल दूं, अधर्म को धर्म में बदल दूं, दुश्चरित्रता को चरित्र बना लूं, अगर मैं मुस्लिम हो जाऊं, ईमान को पकड़ लूं तो क्या परमात्मा मेरी तरफ झुकेगा? तो राबिया ने कहा, नहीं, बात इससे बिलकुल उल्टी है। अगर परमात्मा तुम्हारी तरफ झुके तो तुम मुस्लिम हो सकते हो; तो तुम ईमान ला सकते हो। उसके बिना तुम्हारी तरफ झुके कुछ भी न होगा। तुम्हारे झुकने से कुछ भी न होगा, वही झुके तो ही कुछ होता है। जो होता है, उससे ही होता है।

राबिया का अर्थ यह है, कर्ता तुम नहीं हो, कर्ता वही है। इसलिए जब कोई व्यक्ति वस्तुतः धर्म के जीवन में प्रवेश करता है तो वह ऐसा नहीं कहता कि देखो, मैं धार्मिक हो रहा हूं। वह यह कहता है, तेरी मर्जी प्रभु कि तूने मुझे धार्मिक बना लिया। मेरे किये तो कुछ न होता। मेरे किये तो जो होता, गलत ही होता। मैंने तो कर-करके देख लिया, मेरा सब किया अनकिया हो गया। तूने पुकारा। तेरी मर्जी। तूने प्यास जगाई। तूने खींच लिया।

इसलिए जब कोई प्रभु को उपलब्ध भी होता है तो वह यह नहीं कहता, अपनी पीठ नहीं ठोंकने लगता खुद कि शाबाश! कर दिखाया। जब कोई प्रभु को उपलब्ध होता, उसके चरणों में झुककर धन्यवाद देता है कि मेरे बावजूद भी तूने मुझे खींच लिया। धन्यवाद! "मेरे बावजूद भी"--इसे स्मरण रखना।

भक्त तो, प्रेमी तो, खोजी तो सिर्फ पुकार सकता है, प्रार्थना कर सकता है और प्रतीक्षा कर सकता है, और उसके हाथ में कुछ भी नहीं है। इसलिए तो अष्टावक्र इतना जोर देकर कहते हैं कि कर्तव्य, यही चिंता का मूल आधार है। तुमने सोचा कि मुझे कुछ करना है, करना पड़ेगा, मेरे किये न होगा कि तुम चिंतित हुए। चिंतित हुए, उद्विग्न हुए। उद्विग्न हुए, ज्वरग्रस्त हुए। ज्वरग्रस्त हुए, विक्षिप्त हुए, भटके। दूर से दूर निकल गये। इसलिए मूल बात अष्टावक्र कहते हैं, एक बात छूट जाये कि मैं कर्ता हूं। निमित्तमात्र हूं, साक्षी हूं।

पूनम बन उतरो।

भावों की कोमल पाटी पर
शाश्वत रंग भरो।
पूनम बन उतरो।

आतप से झुलसा तन सरवर
झरते ज्वालों के निर्झर
अधरों पर परितोष अधर धर
युग की तृषा हरो।
पूनम बन उतरो।
मुक्त प्राण निष्प्राण नियमऱ्यम
गंध विधुर प्राणों का संभ्रम
निष्फल हों शूलों के श्रम क्रम
साधक सिद्ध करो।
पूनम बन उतरो।

विकसित हों साधों के सब दल
मुकलित परिमल के पाटल दल
जीवन हो सितप्रभ प्रण उज्वल
ज्योतिर्मय विचरो।
पूनम बन उतरो।

पुकारता है खोजी: पूनम बन उतरो। प्यास है, तुम बरसो। ज्यादा से ज्यादा मेरे बस में इतना है कि मैं तुम्हें रोकूं न; कि मैं द्वार खुले रखूं; कि तुम आओ तो इंकार न करूं; कि तुम आओ तो स्वीकार करूं; कि तुम आओ तो मैं द्वार पर प्रतीक्षा करता हुआ मिलूं। बस, इतना मेरे बस में है।

पूनम बन उतरो।
लेकिन तुम आओ। तुम्हारे बिना आये न हो सकेगा।

यहूदियों में एक बहुत महत्वपूर्ण विचार है हसीद फकीरों का, कि आदमी के खोजे थोड़े ही परमात्मा मिल सकता है। परमात्मा जब आदमी को खोजता है तभी मिलन होता है। यह बात महत्वपूर्ण है। आदमी के खोजे भी क्या होगा? एक बूंद सागर को खोजने चले, राह में खो जायेगी कहीं। धूल-धवांस में दब जायेगी कहीं।

और बूंद भी शायद सागर तक पहुंच जाये क्योंकि बूंद और सागर के बीच का फासला बहुत छोटा है। लेकिन आदमी परमात्मा को खोजने चले--कहां खोजेगा? किस दिशा में, कहां जायेगा? किन चांदत्तारों पर? और बूंद और सागर के बीच जो अनुपात है, बूंद बहुत छोटी है सागर से लेकिन इतनी छोटी नहीं जितना आदमी छोटा है इस विराट से। यह अनुपात...बहुत दूर है परमात्मा, बहुत बड़ा है। और हम तो बहुत छोटे हैं। कहां खोज पायेंगे? कैसे खोज पायेंगे?

खलील जिब्रान की एक कहानी है कि एक आदमी सोया है और तीन चींटियां उसके चेहरे पर चल रही हैं। एक चींटी ने दूसरी से कहा कि अजीब पहाड़ी पर आ गये हैं हम भी। न घास-पात ऊगता--होगा कोई क्लीन शेव!--न घास-पात ऊगता, न कोई वृक्ष दृष्टिगोचर होते, न कोई झील- झरने। किस पहाड़ पर आ गये हैं! बिलकुल सूखा। और देखते यह चोटी गौरीशंकर की?--नाक होगी--उठती चली गई है, आकाश को छूती मालूम होती है।

ऐसा वे एक-दूसरे से बात करने लगीं और बड़ी धन्यभागी होने लगीं कि हम चढ़ आये पहाड़ पर। और तीनों धीरे-धीरे नाक पर चढ़ गईं। और इसके पहले कि जैसा हिलेरी ने झंडा गाड़ा, वे गाड़तीं कि उस आदमी को नींद में थोड़ी-सी भनक पड़ी। उसने अपना हाथ फेरा, वे तीनों चींटियां उसकी नाक पर दबकर मर गईं।

जिब्रान की यह कहानी बड़ी महत्वपूर्ण है। ऐसा ही आदमी है। शायद आदमी इससे भी छोटा। चींटी और आदमी के बीच फासला है जरूर, लेकिन आदमी और विराट के बीच का फासला तो सोचो! बहुत विराट है फासला। हम कैसे खोज पायेंगे? ये हमारे छोटे-छोटे पैर नहीं पहुंच पायेंगे। यह तो मंदिर ही चलकर आ जाये तो ही हम प्रवेश कर पायेंगे। और मंदिर चलकर आता है। तुम पुकारो भर। तुम्हारे पुकार के ही कच्चे धागों में बंधा आता है। कच्चे धागे में चले आयेंगे सरकार बंधे।

पूनम बन उतरो।
भावों की कोमल पाटी पर
शाश्वत रंग भरो।
पूनम बन उतरो।

तुम पुकारते रहो। तुम प्यास जाहिर करते रहो। तुम रोओ। तुम गाओ। तुम नाचो। तुम जाहिर कर दो अपनी बात कि हम तेरी प्रतीक्षा में आतुर हैं। कि हम यहां तुझे बुला रहे हैं। तुम्हारी सारी भाव-भंगिमा, तुम्हारी सारी मुद्रायें पुकार और प्यास की खबर देने लगें। जिस दिन तुम्हारी पुकार और प्यास सौ डिग्री पर आती, उसी क्षण...।

कोई भी नहीं कह सकता कि सौ डिग्री कब आती। और हर आदमी की डिग्री अलग-अलग आती। इसलिए तुम पुकारे जाओ। तुम अथक पुकारे जाओ। तुम्हारी पुकार ऐसी हो कि पुकार ही रह जाये, तुम मिट जाओ। प्रश्न ही बचे, प्रश्नकर्ता खो जाये। प्यास ही बचे। कोई भीतर प्यासा अलग न रह जाये। प्यास में ही डूब जाये और लीन हो जाये। उसी क्षण द्वार खुल जाते हैं। द्वार दूर नहीं हैं, द्वार तुम्हारे भीतर हैं। लेकिन उन्हीं के लिए खुलते हैं जो प्राण-पण से पुकारते हैं।

नहीं, पहल भी वस्तुतः उसी के हाथ में है। लेकिन इससे तुम यह मत समझ लेना--जैसी कि बहुत संभावना है--कि फिर हमें कुछ भी नहीं करना। अब यह बड़े मजे की बात है कि आदमी ऐसा धोखेबाज है, चालाक है। अगर उससे कहो कि तुम्हें कुछ करना है तो तुम परमात्मा को पा सकोगे तो वह कर्ता बन जाता है। कर्ता के कारण अहंकार सघन हो जाता है, यात्रा बंद हो जाती है। अगर उससे कहो, तुम्हें कुछ नहीं करना है तो वह आलसी बन जाता है। वह फिर पुकारता भी नहीं। वह कहता है, पुकार भी वही पुकारेगा तब होगी। अब हम कर भी क्या सकते हैं? अब कुछ भी नहीं करना है। तो वह अपनी चादर ओढ़कर सो जाता है।

जब कि दोनों के बीच में कहीं मार्ग है। तुम्हें करना भी है और कर्ता नहीं बनना है। तुम्हें पुकारना भी है और ध्यान रखना है कि तुम्हारी पुकार में उसने ही पुकारा है। तुम्हें झुकना भी है और जानना है कि उसने ही झुकाया होगा; अन्यथा हम झुकते? हम जैसे पत्थर झुकते? हम जैसे पहाड़ झुकते? तुम रोओ तो जानना कि वही तुम्हारे आंसुओं में आया। नहीं तो हम जैसे पाषाणों से आंसू बहते?

खयाल रखना, करना है और कर्ता नहीं बनना है। पहल लेनी है और स्मरण रखना है कि पहल भी वही लेता है। जाना है उसकी तरफ, खोजना है उसे और सदा याद रखना है कि वह तुम्हें खोज रहा है। वह खोजता तुम्हारे पास आ रहा है। तुम्हारी खोज में भी उसी ने ही अपने हाथ फैलाये हैं। उसी ने ही अपनी अभीप्सा फैलाई है। तुम्हारी प्रार्थना भी जब उसी के द्वारा की गई प्रार्थना बन जाती है तभी...।

और ये दोनों बातों में--ध्यान रखना, नहीं तो दोनों तरफ खाई-खड्ड हैं और बीच में मार्ग है। या तो तुम कर्ता होने को तैयार हो। तुम कहते हो, फिर हम सब कर लेंगे। कर्ता-धर्ता सब हम। तो तुम अहंकारी हो जाते हो। या तुम कहते हो, हम कुछ भी न करेंगे। अब वह पुकारता भी रहे तो तुम उसकी पुकार में भी स्वर का साथ न दोगे। तुम कहोगे, अब तू पुकार ही रहा है तो हम और बीच में क्यों बाधा डालें? अब तुम पुकारो। अब तुमको गाना ही है तो गाओ। हम अपनी बांसुरी भी तुम्हारे ओंठ पर क्यों रखें? जब गाना ही तुम्हारा है, बांसुरी का तो है नहीं कुछ, पोली है; हमारी क्या जरूरत?

मगर मैं तुमसे कहता हूं तुम्हारी पोली बांसुरी और उसके ओंठ, दोनों के मिलन से घटना घटती है। तुम्हारा निमित्त-भाव और उसका कर्तृत्व, दोनों के मिलन से घटना घटती है।

आज इतना ही।

इक्कासीवां प्रवचन

अध्यात्म का सारसूत्र: समत्व

अष्टावक्र उवाच।

न शांतं स्तौति निष्कामो न दुष्टमपि निंदति।
समदुःखसुखस्तृप्तः किंचित् कृत्यं न पश्यति।। २५८।।
धीरो न द्वेष्टि संसारमात्मानं न दिदृक्षति।
हर्षामर्षविनिर्मुक्तो न मृतो न च जीवति।। २५९।।
निःस्नेहः पुत्रदारादौ निष्कामो विषयेषु च।
निश्चिंत स्वशरीरेऽपि निराशः शोभते बुधः।। २६०।।
तुष्टिः सर्वत्र धीरस्य यथापतितवर्तिनः।
स्वच्छंदं चरतो देशान्यत्रास्तमितशायिनः।। २६१।।
पततूदेतु वा देहो नास्य चिंता महात्मनः।
स्वभावभूमिविश्रांतिविस्मृताशेषसंसृतेः।। २६२।।
अकिंचनः कामचारो निर्द्वंद्वश्छिन्नसंशयः।
असक्तः सर्वभावेषु केवलो रमते बुधः।। २६३।।

देख मत तू यह कि तेरे
कौन दायें कौन बायें
तू चला चल बस, कि सब
पर प्यार की करता हवाएं
दूसरा कोई नहीं, विश्राम
है दुश्मन डगर पर
इसलिए जो गालियां भी दे
उसे तू दे दुआएं
बोल कड़वे भी उठा ले
गीत मैले भी घुला ले
क्योंकि बगिया के लिए
गुंजार सबका है बराबर
फूल पर हंसकर अटक तो
शूल को रोकर झटक मत
ओ पथिक! तुझ पर यहां
अधिकार सबका है बराबर

चैतन्य का जो अंतिम शिखर है, वहां सब स्वीकार है। जैसा है वैसा ही स्वीकार है। अन्यथा की कोई मांग नहीं है।

जब तक अन्यथा की मांग है, संसार शेष है। जब तक ऐसा लगे कि ऐसा होता तो अच्छा होता, ऐसा न होता तो अच्छा होता, तब तक मन कायम है। तब तक संसार जारी है।

जब ऐसा लगे कि जैसा है वैसा ही शुभ है, जैसा है ऐसा ही हो सकता था, जैसा है ऐसा ही होना था, जैसा है ऐसा ही होना चाहिए था; जो है, उसके साथ जब तुम्हारे स्वर संपूर्ण रूप से तालमेल खा जाते हैं, तो समर्पण, तो संन्यास, तो संसार समाप्त हुआ, तो तुम हुए जीवनमुक्त।

जहां तथाता परिपूर्ण है; जहां जरा-सी भी, इंच भर भी रूपांतरण की कामना नहीं--न बाहर, न भीतर; जहां इस क्षण के साथ पूरी समरसता है, वहीं शांति है। वहीं सम्यकत्व है।

पहला सूत्र--

न शांतं स्तौति निष्कामो न दुष्टमपि निंदति।

समदुःखसुखस्तृप्तः किंचित् कृत्यं न पश्यति।।

"निष्काम पुरुष को न तो शांत पुरुष के प्रति कोई स्तुति का भाव पैदा होता"...महात्मा को देखकर भी निष्काम पुरुष के मन में कोई स्तुति का भाव पैदा नहीं होता..."और दुष्ट को देखकर निंदा का भाव पैदा नहीं होता।"

तुम महात्मा की स्तुति करते हो, क्योंकि तुम महात्मा होना चाहते हो। स्तुति हम किसकी करते हैं? स्तुति हम उसी की करते हैं, जैसे हम होना चाहते। निंदा हम किसकी करते हैं? निंदा हम उसी की करते हैं जैसे हम नहीं होना नहीं चाहते। निंदा हम उसी की करते हैं जैसे हम चाहते हैं कि न हों और पाते हैं कि हैं। और स्तुति हम उसी की करते हैं जैसे हम चाहते हैं कि हों, सोचते भी हैं कि हैं और अभी हैं नहीं। स्तुति है अपने भविष्य की, निंदा है अपने अतीत की।

ईसाई फकीरों में बड़ा प्रसिद्ध वचन है: "हर संत का अतीत है और हर पापी का भविष्य है।" जो आज संत है, कल अतीत में पापी था। इसलिए हर संत का अतीत है। और अतीत संतत्व से भरा हुआ नहीं हो सकता। और हर पापी का भविष्य है। आज जो पापी है, वह कल संत हो जाएगा, हो सकता है। तो जब तुम किसी की स्तुति करते हो, तब तुम क्या कर रहे हो, तुमने कभी सोचा? राजनेता गांव में आया, तुम चले! तुम सोचते हो तुम महान नेता के दर्शन करने को जा रहे हो, तुम गलती में हो। तुम्हारे मन में भी राजपद का मोह है। तुम भी चाहते हो पद हो, प्रतिष्ठा हो...जो तुम्हें नहीं हो सका है और किसी और को हो गया है, चलो कम-से-कम उसके दर्शन कर आएं!

एक होटल में एक आदमी भीतर प्रविष्ट हुआ। बड़ा मजबूत आदमी, ऊंचात्तगड़ा। उसने एक गिलास शराब पी ली और जोर से चिल्लाकर कहा, है किसी की ताकत कि जरा आजमाइश कर ले? लोग सिकुड़कर और डरकर बैठ गये। फिर उसने चिल्लाकर कहा कि कोई दमदार नहीं, कोई मर्द नहीं, सब नामर्द बैठे हैं? एक छोटा-सा आदमी उठा। लोग तो चकित हुए कि यह छोटा आदमी किसलिए उठ रहा है! यह तो इसको चकनाचूर कर देगा!!

लेकिन वह छोटा आदमी "कराते" का जानकार था। उसने जाकर दो-चार हाथ मारे, वह जो बड़ा तगड़ा आदमी था, क्षण भर में जमीन पर चारों खाने चित हो गया। और वह छोटा आदमी उसकी छाती पर बैठ गया और बोला, बोलो क्या इरादा है! देखा मर्द? वह बड़ा आदमी, मजबूत आदमी बड़ा हैरान हो गया। उसने कहा, आखिर भाई तू है कौन? तो उसने कहा मैं वही हूं, जो तुम सोचते थे कि तुम हो जब तुम होटल में भीतर आए थे। मैं वही हूं जो तुम सोचते थे कि तुम हो, जब तुम होटल में भीतर आए थे। जो शराब पीकर तुमने सोचा कि तुम हो, मैं वही हूं। कुछ कहना है?

हम जब स्तुति करते किसी की, तो किसी बहुत गहरे तल पर अचेतन मन के हम अपने ही भविष्य की तलाश कर रहे हैं, जैसा हम होना चाहते हैं। इसलिए जो आदमी राजनेता के दर्शन को जाता है वह संत के दर्शन को नहीं जाएगा। या अगर संत के भी दर्शन को जा रहा हो, तो इस आदमी के मन में राजनीति और धर्म का कोई भेद ही नहीं है। जिसकी भी प्रतिष्ठा है! यह प्रतिष्ठित होना चाहता है, कैसे प्रतिष्ठा मिलेगी इसकी इसे कोई चिंता नहीं है। यह अपने अहंकार की पूजा चाहता है। चाहे राजनेता होकर मिल जाए, चाहे महात्मा होकर मिल जाए, इसे अहंकार पर आभूषण चाहिए।

तुम जब स्तुति करते हो किसी की, तो तुमने अपनी मांग जाहिर की, तुमने अपनी वासना प्रगट की--ऐसा मैं होना चाहता हूं। नहीं हो पाया, मजबूरी है; लेकिन उसे तो देख आऊं जो हो गया है! उसके चरण में तो श्रद्धा के फूल चढ़ा आऊं कि मैं तो हार गया लेकिन तुम हो गये, चलो, कोई तो हो गया! मगर यह घटना घट सकती है, इसके लिए आंख भर कर देख तो आऊं! जब तुम बुद्ध के पास जाते हो और बुद्ध के चरणों में सिर झुकाते हो, तब भी तुम यही कह रहे हो। मैं तो न हो सका, मैं तो खो गया मार्गों में, अनंत थे मार्ग, राह न मिली, मैं तो कांटों में उलझ गया, आप पहुंच गये! आपके दर्शन ही कर लूं, आंख इतने से ही भर लूं! इतना तो भरोसा आ जाए कि भला मैं भटक गया, लेकिन भटकाव अनिवार्य नहीं है। पहुंचना हो सकता था--कोई पहुंच गया है।

या तुम जब किसी की निंदा करते हो। बट्रर्ड रसॅल ने लिखा है कि अक्सर ऐसा होता है कि जब कोई आदमी किसी बात की बहुत निंदा करता हो, तो जरा उस आदमी को गौर से देखना। समझो कि यहां किसी की जेब कट जाए, और एक आदमी जोर से चिल्लाने लगे, पकड़ो, मारो, कौन है चोर, ठिकाने लगा देंगे! उस आदमी को पहले पकड़ लेना। बहुत संभावना तो यह है कि यह आदमी चोर है, इसी ने जेब काटी है। चोर बहुत जोर से चिल्लाता है। जोर से चिल्लाने के कारण दूसरों को भरोसा आ जाता है कि कम-से-कम यह तो चोर नहीं हो सकता। चोर होता तो यह चिल्लाता! चोर होता तो यह चोरी के इतने खिलाफ कैसे होता! इसलिए जो होशियार चोर है, वह चोरी के खिलाफ चिल्लाता है, शोरगुल मचाता है, और इसी तरह बच जाता है। कोई सीधा-सा आदमी डर के मारे अगर चुपचाप सिकुड़ा खड़ा रह जाए कि कहीं ऐसा न हो कि कोई हम पर शक कर ले, वह पकड़ लिया जाएगा। जो शोरगुल कर रहा है, उसे तो कौन पकड़ेगा!

बट्रर्ड रसॅल ने लिखा है कि जो आदमी जिस बात की जितनी निंदा करे, समझना कि भीतर गहरे में उसका कोई न्यस्त स्वार्थ है। या तो वह पाता है कि मैं ऐसा हूं, या तो वह डरा हुआ है कि कहीं जाहिर न हो जाए...तुम्हारे तथाकथित साधु-संन्यासी कामवासना की इतनी निंदा करते हैं उसका कुल कारण इतना है, कामवासना उनके भीतर बड़ी लहरें व तरंगें ले रही है। वे स्त्री से पीड़ित व परेशान हैं। इसलिए तुम्हारे शास्त्र स्त्रियों को गाली दिये जाते हैं। वे जो शास्त्र लिखनेवाले हैं, जरूर कहीं न कहीं स्त्री से बहुत पीड़ित रहे होंगे। उनके सपने में स्त्री उनको सता रही होगी। स्त्री उनका पीछा कर रही है। वे स्त्री से भाग गये हैं। जिससे कोई भाग जाता है, उससे कभी भाग नहीं पाता। जिससे भागे, उससे उलझे रह जाओगे। वे जो तुम्हारे शास्त्रकार तुमसे कहते हैं, धन से बचो, धन में पाप है, समझ लेना उनका लोभ अभी भी धन में लगा है। अन्यथा, इतनी निंदा का कोई कारण न था।

असल में तो निंदा का कोई कारण ही नहीं है। परमज्ञानी को न तो कोई स्तुति है, न कोई निंदा है। न तो वह महात्मा के चरणों में फूल चढ़ाने जाता और न निंदक के सिर पर अंगारे रखने जाता, जूते मारने जाता। बुरे को जूते नहीं मारता, भले का सम्मान नहीं करता। अगर कोई भला है, तो भला; अगर कोई बुरा है, तो बुरा। जैसा है, वैसा है।

इस बात को थोड़ा समझना। यह परम दशा की व्याख्या है। जैसा है, वैसा है। राम राम हैं, रावण रावण है। जैसा है, वैसा है। नीम कड़वी है और आम मीठा है। क्या तो नीम की निंदा और क्या आम की प्रशंसा! क्या सार है? कांटा कांटा है, फूल फूल है। जो जैसा, वैसा। इसमें रत्ती भर आकांक्षा नहीं है, आकांक्षा का कोई संबंध नहीं है।

न शांतं स्तौति निष्कामो।

जो स्वयं निष्काम हो गया है, वह शांत व्यक्ति की भी स्तुति नहीं करता। जब निष्काम ही हो गया, तो अब तो शांति की भी कामना नहीं है। तो स्तुति का क्या प्रयोजन!

न दुष्टमपि निंदति।

और न दुष्ट की निंदा करता। निंदा में भी दुष्टता है। तुम जब किसी की निंदा करते हो तब भी उसमें दुष्टता ही छिपी हुई है। निंदा में भी तुम चोट पहुंचाने की चेष्टा कर रहे हो। निंदा करके तुम स्वयं ही निंदित हो गये। न

तो स्तुति का कुछ अर्थ है, न निंदा का कुछ अर्थ है। निष्काम व्यक्ति न पक्ष में है, न विपक्ष में। निष्काम व्यक्ति का कोई आग्रह नहीं है। निष्काम व्यक्ति अनाग्रही है।

"वह दुख और सुख में समान है। सब स्थितियों में तृप्त। और उसको करने को कुछ भी नहीं बचा है।"

समदुःखसुखस्तृप्तः।

दोनों में समभाव आ गया है। इस समभाव की ही सारी खोज है इस देश में। जैन इसे कहते हैं, सम्यकत्व। लेकिन बात सम की है। बुद्ध कहते हैं, संतुलन, सम्यक। बात सम की है। हिंदू कहते हैं, समाधि--सम, आधि। बात सम की है। अगर एक छोटा-सा शब्द चुनना हो जिसमें पूरे पूरब की मनीषा समा जाती हो तो वह, सम। सम का अर्थ है, जिसके मन में न अब इधर डोलना रहा, न उधर डोलना रहा। न जो बायें झुकता, न दायें झुकता। क्योंकि इधर झुके तो खाई, उधर झुके तो कुआं। झुके कि भटके। जो झुकता ही नहीं। जो मध्य में खड़ा हो गया है। जो थिर हो गया, अकंप। समता, सम्यकत्व, समाधि।

अंग्रेजी में भी, यूनानी-लैटिन में भी संस्कृत का यह सम शब्द बच रहा है। इसने अनेक थोड़े फर्क रूप ले लिये हैं, लेकिन बच रहा है। अंग्रेजी के शब्दों में "सिन्थेसिस" में जो सिन है, वह सम का ही रूप है। "सिम्फोनी" में। "सिनाप्सिस" में। जहां-जहां सिन प्रत्यय है, वह सम का ही रूप है।

सम चित्त की एक आंतरिक दशा है। ऐसी दशा, जहां कोई कंपन नहीं है। अकंप दशा। अगर तुम्हारे मन में शुभ की प्रशंसा है, अशुभ की निंदा है, तो तुम कंप गये। समझो तुम बैठे हो और एक दुष्ट आदमी निकल गया रास्ते से, तो तुम्हारे मन में कंपन पैदा हो जाएगा कि अरे! यह दुष्ट जा रहा है, इसे नरक में डाला जाए। या तुम्हारे मन में दया आ गयी और तुमने कहा इस दुष्ट को बचाना चाहिए, साधु बनाना चाहिए, तो भी तुम कंप गये। तुम जो बैठे थे अकंप, उसमें कंपन हो गया। तुम अब वही न रहे जो इस आदमी के निकलने के पहले थे। निकला कोई साधुपुरुष, कि महात्मा, कि तुम्हारे मन में हुआ--अहो! धन्यभाग इस आदमी के! ऐसा सौभाग्य मेरा कब होगा? कंप गये। विचार उठ गया, समता खो गयी।

सम स्थिति तब है, जब बुरा निकले कि भला, तुम वैसे ही रहे। तुम वैसे के वैसे रहे--जस के तस। जरा भी हिले-डुले न। सुख आया तो, दुख आया तो; सम्मान मिला तो, अपमान मिला तो, तुम वैसे के वैसे रहे, जरा भी न हिले। ऐसी समता की दशा को जो उपलब्ध हो जाए, उसे ही जानना कि निष्काम है।

समदुःखसुखस्तृप्तः।

और उसकी ही तृप्ति है। जो सुख-दुख में समानता को उपलब्ध हो गया है वही तृप्त है। अन्यथा दुखी तो तृप्त हैं ही नहीं, सुखी भी तृप्त नहीं हैं।

तुमने खयाल किया? जब दुख होता है, तो दुख से छूटने की आकांक्षा प्रबल होती है कैसे छूट जाएं, वही तकलीफ होती है, तृप्त कैसे होंगे। दुख से कोई तृप्त होता है! दुख से छूटना चाहता है, हटना चाहता है, मुक्त होना चाहता है। लेकिन जब सुख होता है, तब भी तुम तृप्त होते हो? जब सुख होता है तब यह डर लगता है कि कहीं सुख छिन न जाए!

कल एक युवा संन्यासी ने मुझे कहा कि अब मैं वापिस लौट रहा हूं अपने घर। जितने दिन यहां था, बड़े सुख में बीते, बड़ी शांति में बीते। अभी भी चित्त बड़ा आनंदित और शांत है। अब एक डर लग रहा है कि कहीं घर जाकर यह खो तो नहीं जाएगी शांति! अभी खोयी नहीं है, लेकिन डर, कि कहीं खो तो न जाएगी! बेचैनी शुरू हो गयी। अभी चित्त शांत है और अशांति शुरू हो गयी। अभी सुख बरस रहा है, लेकिन भय समा गया कि कहीं खो तो न जाएगा! जब भी तुम सुखी होते हो, तभी भीतर से भय भी आ जाता है कि कहीं खो तो न जाएगा। जैसे दुख के साथ यह भाव आता है--कैसे छुटकारा हो, वैसे सुख के साथ यह भाव आता है--कहीं

छुटकारा हो न जाए! दोनों ही हालत में तुम डोल गये। दोनों ही हालत में तृप्ति नष्ट हो गयी, अतृप्त हो गये, असंतोष पैदा हो गया।

तो दुखी तो दुखी हैं ही, यहां सुखी भी दुखी हैं। जिनके पास धन नहीं है, वे परेशान हैं कि धन कैसे हो? जिनके पास धन है, वे परेशान हैं कि कहीं खो न जाए! कहीं चोर न चुरा लें! कहीं सरकार न छीन ले! कहीं कम्यूनिज़म न आ जाए! कहीं ऐसा न हो जाए! कहीं वैसा न हो जाए! क्या भरोसा! तो जिसके पास धन नहीं है, वह तो शायद रात ठीक से सो भी जाता है, जिसके पास है, वह सो ही नहीं पाता। वह और भयभीत है। उसके ऊपर निन्यानबे का फेर है। वह चिंता चिंता में ही लगा रहता है। कैसे बचाऊं! पहले लोग सोचते हैं, धन होगा तो बड़ी सुरक्षा होगी, फिर चिंता पैदा होती है कि अब धन की सुरक्षा कैसे करें? जिनको तुम धनी कहते हो, उनको तुम्हें धनी कहना नहीं चाहिए, ज्यादा से ज्यादा रखवाले, पहरेदार! धन की मालकियत कहां संभव है! बस कोई पहरा देता रहता है। पहरेदारी में ही तुम समझते हो कि तुम मालिक हो गये।

तृप्त तो वही है जो सुख और दुख में समभावी है। दुख आता है तो कहता नहीं कि जाओ। सुख आता है तो कहता नहीं कि रुको। जैसी मर्जी। अपनी मर्जी से आए, रुकना हो रुको, जाना हो जाओ। सुख और दुख दोनों के साथ उसकी अंतर्दशा एक-सी रहती है।

और यह बाहर की ही बात नहीं है, भीतर भी ध्यान का यही सूत्र है। एक बुरा विचार मन में आया--चोरी कर लें, हत्या कर दें, तुम इसकी भी निंदा मत करो। तुम इसे भी देखते रहो। इससे भी कुछ लेना-देना नहीं है। यह विचार तुम नहीं हो। तुम इसके साक्षी हो। एक अच्छा विचार आया कि सब दान कर दें, एक बड़ा मंदिर बना दें, अस्पताल खोल दें, यह भी एक विचार है। तुम इससे छाती न फुला लो। अकड़ मत जाओ कि कितना शुभ विचार मेरे भीतर आ रहा है। और अशुभ विचार से तुम परेशान न हो जाओ, माथे पर बल न ले आओ, पसीने-पसीने मत हो जाओ, घबड़ाओ मत कि कैसा अशुभ विचार आ गया! कि मैं कैसा अशुभ हो गया। न अशुभ विचार तुम हो, न शुभ विचार तुम हो, तुम तो साक्षी हो।

तो जहां शुभ और अशुभ, भला और बुरा, रात और दिन, सुख और दुख, जीवन और मृत्यु, दोनों के प्रति एक समदृष्टि उत्पन्न हो जाती है, वहीं जीवन का परम द्वार खुलता है। और ऐसे व्यक्ति को पता चलता है कि उसको कुछ करने को शेष नहीं रहा है।

किंचित् कृत्यं न पश्यति।

जिसने ऐसा समभाव जान लिया, अब इसे करने को कुछ भी नहीं बचा। न कोई साधना, न कोई सिद्धि। न कोई जपत्तप, न कोई योग-त्याग। न इसे मोक्ष पाना है, न इसे संसार छोड़ना है। इसी क्षण सब हो गया। सम्यकत्व के क्षण में सब हो जाता है। समता के क्षण में सब हो जाता है। समाधि के क्षण में सब हो जाता है। अब कुछ करने को शेष नहीं रहा है।

किंचित् कृत्यं न पश्यति।

अब इसे कुछ भी दिखायी नहीं पड़ता कि करने को कुछ बचा।

साक्षी तुम हुए कि अकर्ता हुए। या कि अकर्ता हो जाओ, तो साक्षी हो गये। अब तो सिर्फ आनंद ही आनंद है, करने को कुछ भी न बचा। खयाल करो, जब तक करने को बचा है, तब तक चिंता रहेगी, योजना रहेगी, भय रहेगा। करोगे तो लेकिन सफल होओगे या नहीं? सफल भी हो गये, तो जिस दिशा में चल पड़े थे वह ठीक थी या नहीं थी? सफल होकर भी सफलता मिलेगी? धन पाकर भी सुख होगा, शांति होगी? पद पाकर भी तृप्ति होगी? जहां तक कृत्य है, वहां तक चिंता का जाल है। जहां तक करना है, वहां तक असफलता का डर बना ही रहेगा। और यह भी डर बना रहेगा कि सफल होकर भी कहां सफलता पक्की है! क्योंकि सिकंदर होते, नेपोलियन होते, जीत लेते दुनिया और खाली हाथ जाते! धूल में पड़ी हैं उनकी अर्थियां, जो सिंहासन पर बैठे। तो सिंहासन पर भी बैठकर गिरना तो कब्र में ही पड़ता है। सिंहासन से भी तो आदमी कब्र में ही गिरता है। चाहे सिंहासन

पर बैठो, चाहे सड़क की पटरी पर भिखमंगे की तरह बैठो, जब गिरोगे कब्र में तो एक-से गिरोगे। उमर खैयाम ने कहा है: धूल मिल जाती धूल में। डस्ट अनटू डस्ट। फिर धूल तुम्हारी सम्राट कहलाती थी कि भिखमंगा, इससे क्या फर्क पड़ता है! अंतिम चरण में सब एक हो जाता है।

ज्ञानी यह देखकर कि मृत्यु तो सब लीप-पोत देती है, स्वयं ही लीप-पोत देता है। वह कहता है जब मृत्यु सबको मिटाकर एक-सा कर देगी, तो मैं अपनी ही तरफ से एक-सा हुआ जाता हूं। इस भांति ज्ञानी स्वेच्छा से मर जाता है। उसके लिए करने को कुछ नहीं बचता, इससे यह भ्रांति मत ले लेना मन में कि वह कुछ करता नहीं है। करने को कुछ नहीं बचता, कृत्य उससे जारी रहते हैं। जो स्वाभाविक है, जो नैसर्गिक है। भूख लगती, तो भोजन करता है, प्यास लगती तो पानी पीता है। जो स्वाभाविक निसर्ग से होता है। जिसे करना नहीं पड़ता, अपने से होता है।

जैसे समझो, एक ज्ञानी बैठा है और कोई आदमी किसी को मार रहा है। तो ज्ञानी यह सोचकर नहीं उठता कि मैं इसे बचाऊं, कि मुझे बचाना चाहिए; कि मैं यहां बैठा हूं और यह आदमी मेरे सामने पिट रहा है, तो इस पाप में मैं भागीदार हो रहा हूं, ऐसा चिंतन नहीं करता। अगर पुलक आ गयी सहज, तो उठ आता है, बचा लेता है। पुलक न आयी, तो बैठा रहता है। हुआ, तो हो जाने देता है। न हुआ, तो कोई उपाय नहीं है।

इसका यह अर्थ नहीं है कि ज्ञानी नहीं बचाएगा। इसका यह भी अर्थ नहीं है कि ज्ञानी बचाएगा ही। ज्ञानी के संबंध में कोई भविष्यवाणी नहीं हो सकती। ज्ञानी सहज पुलक से जीता है। यही तो अष्टावक्र बार-बार कहते हैं, ज्ञानी स्व-स्फूर्ति से जीता है। आएगी स्फूर्ति, तो हो जाएगा। नहीं आएगी स्फूर्ति, तो नहीं होगा। अब स्फूर्ति का जिम्मा ज्ञानी पर नहीं है, उस परम विराट पर है जिसके चरणों में ज्ञानी ने अपने को छोड़ दिया। अब वह जो चाहे। बना ले निमित्त, ठीक। न बनाना चाहे निमित्त, ठीक। ज्ञानी तो खूंटी हो गया, भगवान चाहें अपना कपड़ा टांग लें, अंगरखा टांग दें, न चाहें न टांगें। खूंटी को कुछ प्रयोजन नहीं है, टंगे अंगरखा तो ठीक, न टंगे तो ठीक। खूंटी-खूंटी है, निमित्त मात्र।

बहुत कुछ ज्ञानी से होगा। कभी होगा, कभी नहीं भी होगा। किसी ज्ञानी से होगा और किसी ज्ञानी से नहीं भी होगा। कुछ कहा नहीं जा सकता। इसलिए तुम कोई व्याख्या बांधकर मत बैठ जाना। ज्ञानी हुए, जो बोले। ज्ञानी हुए, जो मौन रहे। ज्ञानी हुए, जिन्होंने गहरे कर्म के जगत में भाग लिया, हाथ बंटाया। ज्ञानी हुए, जो बैठ गये अपनी गुफाओं में और संसार को बिलकुल भूल ही गये। दोनों ही ठीक हैं। क्योंकि दोनों के भीतर जो मौलिक बात घट रही है वह एक ही है। वह है स्व-स्फुरणा। जो हो रहा है स्फुरणा से, हो रहा है; जो नहीं हो रहा, नहीं हो रहा। न तो ज्ञानी कुछ अपनी चेष्टा से करता है और न अपनी चेष्टा से रोकता है। ज्ञानी बीच से बिलकुल हट गया है। उसने दरवाजा परमात्मा को दे दिया है।

किंचित्त् कृत्यं न पश्यति।

"धीरपुरुष न संसार के प्रति द्वेष करता है और न आत्मा को देखने की इच्छा करता है। हर्ष और शोक से मुक्त वह न मरा हुआ है और न जीवित ही है।"

धीरो न द्वेष्टि संसारमात्मानं न दिदृक्षति।
हर्षामर्षविनिर्मुक्तो न मृतो न च जीवति।।
धीरो न द्वेष्टि संसारं...।

यह तो समझ में आता है कि ज्ञानी को संसार नहीं दिखता। और संसार के प्रति देखने की आकांक्षा भी नहीं है। न संसार के प्रति कोई द्वेष है। जो है ही नहीं उसके प्रति द्वेष कैसा!

समझो।

राह पर रस्सी पड़ी है और तुमने अंधेरे में सांप समझ लिया। तो तुम भागे, घबड़ाए। फिर कोई दीया ले आया और रस्सी दिखायी पड़ गयी कि रस्सी है, सांप नहीं, फिर भी क्या तुम घबड़ाओगे? फिर भी क्या तुम डरोगे? फिर भी क्या रस्सी के पास से निकलने में भयभीत होओगे? फिर भी भागोगे? फिर भी क्या अपने बच्चों

को जाकर कहोगे कि बचकर निकलना उस रास्ते से? वहां एक रस्सी पड़ी है जो सांप जैसी मालूम पड़ती है। क्या तुम अपने बच्चों को सावधान करोगे कि उस रास्ते से जाना मत, वहां एक झूठा सांप पड़ा है। अगर तुम ऐसी बातें कहो तो बच्चे भी हंसेंगे। वे कहेंगे अगर झूठा ही है, तो आप चौंका क्यों रहे हैं हमें? सावधान क्यों कर रहे हैं? आपने देख लिया कि झूठा है, तो बात खतम हो गयी।

अब तुम्हारे तथाकथित महात्मा हैं जो समझा रहे हैं तुम्हें, संसार से बचो। और साथ-साथ कह रहे हैं संसार माया है। तुमने उनकी जरा मूढ़तापूर्ण बात देखी? कहते हैं, संसार माया है और बचो! जो माया है उससे बचना कैसा! माया का तो अर्थ हुआ जो है ही नहीं। रस्सी में दिख गया सांप, इससे भागना कैसा! और न केवल तुमसे कह रहे हैं भागो, खुद भी भाग रहे हैं। और साथ-साथ यह भी चिल्लाते जा रहे हैं कि रस्सी है, सांप नहीं है--मगर भागो! और सावधान रहना कामिनी-कांचन से!

इस विकृति को देखते हो? इस असंगति को देखते हो? एक तरफ चिल्लाए चले जाते हैं कि संसार असत्य है, और दूसरी तरफ चिल्लाए चले जाते हैं छोड़ो संसार को, संसार का त्याग करो, मुक्त हो जाओ संसार से। जो असत्य है, उससे मुक्त होने का उपाय नहीं। जो असत्य है, उससे तो तुम मुक्त हो ही गये यह जानते ही कि असत्य है।

तो इतना ही कहेगा ज्ञानी कि संसार को गौर से देख लो, देखने में ही मुक्ति है। द्वेष का तो सवाल ही नहीं है।

धीरो न द्वेष्टि संसारं...।

ज्ञानी को, धीरपुरुष को संसार से कोई द्वेष नहीं है, क्योंकि संसार है नहीं। द्वेष के लिए होना तो जरूरी है! फिर जिससे द्वेष होता है, उससे राग भी हो सकता है। द्वेष तो राग का ही दूसरा पहलू है। तुम्हारी किसी से दुश्मनी हो जाती है, तो दोस्ती भी हो सकती है। जिससे भी दुश्मनी हो सकती है, उससे दोस्ती भी हो सकती है। जिससे दोस्ती हो सकती है, उससे दुश्मनी भी हो सकती है। दोनों के द्वार एक-साथ खुलते हैं। जिसको तुमने दोस्त बनाया, उससे किसी भी दिन दुश्मनी बन सकती है। और जो तुम्हारा आज दुश्मन है, कल दोस्त भी हो सकता है।

मैक्यावेली ने अपनी किताब "दि प्रिंस" में कहा है, राजाओं के लिए सलाह दी है, उसमें एक सलाह यह भी है कि अपने दोस्तों से भी तुम वह बात मत कहना जो तुम अपने दुश्मनों से भी नहीं कहना चाहते। क्योंकि जो आज दोस्त है, कल दुश्मन हो सकता है। और यह भी सलाह दी है कि अपने दुश्मन के खिलाफ भी ऐसी बात मत कहना कि कल अगर उससे दोस्ती हो जाए तो फिर तुम्हें अड़चन हो लौटाने में, वह बात लौटाने में अड़चन हो। क्योंकि जो आज दुश्मन है, वह कल दोस्त हो सकता है। यह बात मैक्यावेली ने ठीक ही कही है। यह बात सच है। जिससे द्वेष है, उससे राग हो सकता है। क्योंकि द्वेष राग का ही शीर्षासन करता हुआ रूप है। जिससे राग है, उससे द्वेष हो सकता है।

ज्ञानी को न राग है, न द्वेष है। ज्ञानी को तो यह बोध हुआ, ज्ञानी ने तो जागकर यह देखा, अपने परम चैतन्य में यह अनुभव किया कि यहां कुछ राग-द्वेष करने को है ही नहीं। तुम छायाओं से उलझ रहे हो। न इनसे दोस्ती हो सकती है, न दुश्मनी हो सकती है। तुम छायाओं को अपने आलिंगन में बांध रहे हो। तुम किनके हाथ लेकर चल रहे हो? ये हाथ हैं नहीं, तुम्हारी कल्पनाएं हैं। तुमने यह जो इकट्ठा कर रखा है धन, दौलत, यह कुछ भी नहीं है। सिर्फ खयाल है।

खयाल है, ऐसा खयाल पैदा होते ही मुक्ति हो गयी।

धीरो न द्वेष्टि संसारं...।

इतना तो ठीक है, लेकिन बड़ी अदभुत बात अष्टावक्र कहते हैं कि वह जो धीर है, उसे संसार में तो द्वेष दिखायी पड़ता ही नहीं, उसे आत्मा को देखने का राग भी पैदा नहीं होता। यह और भी गहरी बात है। जब जान

लिया कि संसार व्यर्थ है, जब जान लिया कि संसार सार्थक नहीं, जब जान लिया कि संसार है ही नहीं, मात्र भासता है--रज्जु में सर्पवत्; मृगमरीचिका है; खयालों का जमाव है; सपनों की भीड़ है; ऐसा जब जान लिया, तो सब वासनाएं व्यर्थ हो गयीं। क्योंकि जो नहीं है, उसको पाने की आकांक्षा का अब कोई मूल्य न रहा। इस संसार में पद पाने का तभी तक मूल्य है जब तक लगता है कि इस संसार में प्रतिष्ठा का कोई मूल्य है। इस संसार में कुछ अहंकार अर्जित करने का तभी तक मजा मालूम होता है जब तक लगता है कि अहंकार अर्जित हो सकता है। लेकिन अगर सब धोखा है, सब झूठ है, तो बात व्यर्थ हो गयी। जड़ से कट गयी बात।

यहां तक तो समझ में आता है। लेकिन अष्टावक्र कहते हैं कि जिस दिन यह समझ में आ गया कि संसार व्यर्थ है, यह बाहर जो दिखायी पड़ रहा है यह केवल एक सपना है, उस दिन आत्मा को पाने की, खोजने की बात भी समाप्त हो गयी। पाना ही व्यर्थ हो गया, तो आत्मा को पाने की बात भी व्यर्थ हो गयी। असल में पाना जिस दिन व्यर्थ हो गया, उस दिन आत्मा पा ही ली। इसलिए अब आत्मा को पाने का सवाल नहीं उठता।

थोड़ा जटिल है। थोड़ा सूक्ष्म है। लेकिन खयाल करोगे तो समझ में आ जाएगा।

अगर तुम्हें संसार सौ प्रतिशत दिखायी पड़ रहा है, तो तुम शून्य प्रतिशत होते हो। जिस मात्रा में आत्मा का विस्मरण होता है, उसी मात्रा में संसार वास्तविक मालूम होता है। यह गणित है। जब संसार नब्बे प्रतिशत सत्य रहा, तो आत्मा दस प्रतिशत सत्य हो जाती है। जब संसार पचास प्रतिशत सत्य रहा, तो आत्मा पचास प्रतिशत सत्य हो गयी। जिस मात्रा में संसार से ऊर्जा तुम्हारी मुक्त होने लगी, संसार में नियोजन न रहा, उसी मात्रा में तुम्हारी ऊर्जा आत्मा में पड़ने लगी। तुम आत्मवान होने लगे। इधर वासना क्षीण हुई, उधर आत्मा प्रबल हुई। इधर काम हारा, उधर राम जीते। एक ऐसी घड़ी आती है कि निन्यानबे प्रतिशत संसार व्यर्थ हो गया, उसी क्षण निन्यानबे प्रतिशत आत्मा तुमने जीत ली। जिस दिन सौ प्रतिशत संसार व्यर्थ मालूम हो गया, उस दिन सौ प्रतिशत आत्मा के तुम मालिक हो गये। तुम जिन हो गये। तुमने जीत लिया अपने को।

महावीर को मानने से कोई जैन नहीं होता, संसार सौ प्रतिशत शून्य हो जाए और आत्मा सौ प्रतिशत पूर्ण हो जाए, तब कोई जिन होता है। ये किसी के शास्त्र में मानने न मानने की बातें नहीं हैं, ये किसी के पीछे न चलने चलने की बातें नहीं हैं, यह तो एक भीतर का गणित है। जो ऊर्जा संसार में उंडेली जा रही थी यह सोचकर कि संसार सच है, अब संसार तो झूठ हो गया, वह ऊर्जा अब उंडेली नहीं जाती, वह ऊर्जा अब स्वयं में थिर होने लगती है। यह स्वयं में जो थिरता है, यही आत्मवान होना है। तो जिसको दिखायी पड़ गया कि संसार में अब कुछ भी नहीं, द्वेष करने योग्य भी नहीं--राग करने योग्य तो है ही नहीं, द्वेष करने योग्य भी नहीं है।

तुम देखो, तुम्हें दुनिया में दो तरह के लोग दिखायी पड़ेंगे। एक तो जिनको तुम संसारी कहते हो, उनका संसार से राग है। और एक जिनको तुम विरागी कहते हो, उनका संसार से द्वेष है। मगर दोनों एक ही चीज से बंधे हैं। दोनों मानते हैं कि संसार बड़ा बलशाली है। रागी कहता है कि इसके बिना मैं सुखी न हो सकूंगा। विरागी कहता है, इसके रहते मैं सुखी न हो सकूंगा। लेकिन दोनों का सुख इसी पर निर्भर है। एक का सुख इस बात पर निर्भर है कि संसार को जीतूं तो सुखी होऊंगा। एक का सुख इस बात पर निर्भर है कि संसार को छोड़ूं, त्यागूं, तो सुखी होऊंगा। लेकिन दोनों के सुख संसार पर निर्भर हैं।

ज्ञानी न तो भोगी है, न त्यागी है। न रागी, न विरागी। ज्ञानी है वीतराग दशा। देख लेता है, यहां न तो कुछ राग को है, न विराग को है। न पकड़ने को, न छोड़ने को। इस घटना में ही आत्मवान हो जाता है। और जो आत्मवान हो गया, उसको फिर आत्मा को देखने का भी सवाल कहां! और आत्मा को देखा भी कहां जा सकता है!

यह शब्द, आत्मदर्शन शब्द ठीक नहीं है। क्योंकि जो भी हम देख सकते हैं, वह हमसे पराया होगा। हम "पर" को ही देख सकते हैं। दर्शन तो दूसरे का ही हो सकता है। स्वयं का तो दर्शन कैसे होगा! तुमने इस पर कभी

विचार किया? देखने में तो दो मौजूद हो गये--देखनेवाला और दिखाई पड़नेवाला। द्रष्टा और दृश्य। आत्मा तो द्रष्टा है। इसलिए आत्मा कभी भी दृश्य नहीं हो सकती। जो भी दृश्य है, सब संसार है।

इसलिए मेरे पास तुम जब आकर कहने लगते हो कि कुंडलिनी जगने लगी, तो मैं कहता हूं, देखते रहो, मगर ज्यादा उलझना मत। क्योंकि जो भी दृश्य है, वह संसार है। तुम कहते हो, भीतर बड़ी रोशनी मालूम होने लगी; मैं कहता हूं, देखते रहो। तुम ध्यान रखो उस पर जो देखनेवाला है, रोशनी में बहुत ज्यादा मत उलझ जाना। अंधेरा तो डुबाता ही है, रोशनी भी डुबा लेती है। अंधेरा तो खतरनाक है ही, रोशनी भी बड़ी खतरनाक है। तुम तो उसका खयाल रखो, बस उसी एक सूत्र को पकड़े रहो कि मैं देखनेवाला, मैं देखनेवाला। तुम दृश्य में उलझना ही मत। नहीं तो मन के बड़े जाल हैं। पहले वह बाहर के दृश्य दिखलाता है--वह देखो दूर दिल्ली, चलो, दिल्ली चलो। अगर तुम वहां से छूटे, तो वह भीतर के दृश्य दिखलाता है कि देखो कुंडलिनी जगने लगी, कैसी ऊर्जा उठ रही है। कैसा आनंद मालूम हो रहा है! कैसा मस्तिष्क में प्रकाश-ही-प्रकाश फैल रहा है! अब यह उसने नयी दिल्लियां बसानी शुरू कर दीं। तुम तो इतना ही खयाल रखो कि मैं द्रष्टा हूं। जो भी दिखायी पड़ता है, वह मैं नहीं हूं। जो भी अनुभव में आता है, वह मैं नहीं हूं। मैं तो सभी अनुभवों के पार खड़ा साक्षी हूं।

इसलिए तुमसे मैं एक बात कहना चाहता हूं कि कोई अनुभव धार्मिक नहीं है। सब अनुभव सांसारिक हैं। अनुभव मात्र सांसारिक हैं। जिसको अनुभव हो रहा है, वही धार्मिक है।

तो उस घड़ी में पहुंचना है जहां सब अनुभव से छुटकारा हो जाए। कोई अनुभव न बचे। तुम शून्य में विराजमान। कोई अनुभव नहीं होता। शून्य का भी अनुभव होता रहे, तो अभी अनुभव बाकी है। और मन थोड़ा-सा अभी भी बाकी है। जब शून्य का भी अनुभव न हो, जब कुछ भी अनुभव न हो, जब अनुभव मात्र तिरोहित हो जाएं, धुएं की रेखाओं की तरह खो जाएं, बस तुम रह जाओ चैतन्यमात्र, चिन्मात्र, बोधमात्र, बुद्धत्व फलित हुआ। उसी को अष्टावक्र कहते हैं--धीरपुरुष।

हर्षामर्षविनिर्मुक्तो।

और ऐसा व्यक्ति हर्ष और शोक से मुक्त है। अब न तो कुछ खोने को बचा है, न पाने को बचा है। न कुछ दृश्य है, न कुछ अदृश्य है। न संसार है, न मोक्ष है। न बाहर का कुछ पाना है, न भीतर का कुछ पाना है। न संसार की खोज है, न आत्मा की खोज है। जब सारी खोज समाप्त हो गयी, फिर कैसा हर्ष, फिर कैसा शोक! और ऐसी दशा में एक अपूर्व घटना घटती है--

"वह न मरा हुआ है, न जीवित ही है।"

इस सूत्र को खूब खयाल में लेना।

ज्ञानी पुरुष एक अर्थ में मरा हुआ है। उस अर्थ में मरा हुआ है, जिस अर्थ में तुम जीवित हो। तुम्हारी तरह जीवित नहीं है। तुम्हारे जीवन का क्या अर्थ है? दौड़-धाप, आपाधापी, धन-पद-प्रतिष्ठा, महत्वाकांक्षा। तुम्हारा जीवन क्या है? एक ज्वरग्रस्त विक्षिप्तता। इस अर्थ में ज्ञानी जीवित नहीं है। न तो कोई ज्वर है, न कोई महत्वाकांक्षा है, न दौड़ रहा है। न कोई आपाधापी है। इस अर्थ में तो ज्ञानी मुर्दा है। लेकिन एक अर्थ में जीवित है, जिस अर्थ में तुम जीवित नहीं हो। वस्तुतः अर्थों में जीवित है। तुम तो झूठे-झूठे जीवित हो। तुम तो मरोगे। यह तुम्हारी आपाधापी, तुम्हारी महत्वाकांक्षा मौत से टकराकर टूट जाएगी सब। ज्ञानी कुछ ऐसे तल पर पहुंच गया है जिस तल पर मौत घटती ही नहीं। जिस तल पर मौत एक असत्य है। होती ही नहीं। ज्ञानी अमृत को उपलब्ध हो गया है।

इसलिए ज्ञानी जीवित है एक अर्थ में और मृत है एक अर्थ में। तो न तो हम उसे मरा हुआ कह सकते और न जीवित कह सकते। क्योंकि हम कुछ भी कहेंगे तो गलती हो जाएगी। शायद वह जीवन-मरण के पार है।

न मृतो न च जीवति।

न तो मृत है और न जीवित। ज्ञानी की बड़ी अनूठी दशा है। इस बात को प्रगट करने के लिए बड़े विरोधाभासों का सहारा लेना पड़ता है। झेन फकीर कहते, जब ज्ञानी नदी पार करता, तो पानी तो उसके पैरों

को छूता है, लेकिन ज्ञानी के पैर पानी को नहीं छूते। अब यह बात जरा बेबूझ है। जब पानी पैरों को छूता है, तो फिर ज्ञानी के पैर पानी को क्यों न छुएंगे? छुएंगे ही। लेकिन फिर भी वे ठीक कहते हैं। यह उलटबांसी है।

यह इसलिए कही जा रही है कि ज्ञानी हमारे संसार में रहता हुआ भी हमारे संसार का हिस्सा नहीं होता। हमारे जैसा श्वास लेता हुआ भी हमारे जैसा श्वास नहीं लेता। हमारे जैसा भोजन करता हुआ भी हमारे जैसा भोजन नहीं करता। ज्ञानी भोजन करते हुए भी उपवासा है। और तुम उपवास भी करो तो भी भोजन ही करते हो। तुमने कभी उपवास किया होगा तो तुम्हें पता होगा। उपवास करके देखना, तो तुम दिन भर भोजन करोगे, बार-बार भोजन करोगे। ऐसे तो दो बार करते हो कि तीन बार, उस दिन दिन भर करोगे। जब भी बैठोगे खाली, उलझन से बचोगे, फिर भोजन की याद आ जाएगी।

पर्यूषण में जैन उपवास करते हैं तो ज्यादा देर मंदिर में ही बैठते हैं, फिर घर नहीं आते, क्योंकि घर आओ तो भोजन-भोजन की ही याद आती है। मंदिर में बैठे रहो तो लगे रहो, भजन-कीर्तन चल रहा है, अब पाठ चल रहा है, शास्त्र पढ़ा जा रहा है, उलझे रहो। और फिर वहां यह भी भरोसा रहता है कि हम अकेले ही थोड़े फंसे हैं इस मुसीबत में, और न-मालूम कितने नासमझ फंसे हैं। देख-देख कर चित्त प्रसन्न रहता है कि हम अकेले ही थोड़े भूखे मर रहे हैं, ये सब मर रहे हैं। और एक-दूसरे से काम्पेटीशन और प्रतिस्पद्र्धा कि देखें कौन किसको हराता है, तो रस लगा रहता है। घर अकेले बैठकर फिर याद आती है कि हम अकेले कहां फंस गये, किस चक्कर में पड़ गये, पता नहीं ये कब खतम होंगे पर्यूषण। और जब खतम होंगे तब की योजनाएं बनाते हैं लोग। क्या-क्या खाना, क्या-क्या नहीं खाना। क्या-क्या बाजार से खरीद लाएंगे।

तुम जाकर पूछ सकते हो बाजार में, जैसे ही पर्यूषण खतम होते हैं, बिक्री एकदम बढ़ जाती है। मिठाई वालों की, सब्जी वालों की, फल वालों की एकदम बिक्री बढ़ जाती है। लोग एकदम टूट पड़ते हैं। दस दिन इकट्ठा करते रहे विचार, योजनाएं बनाते रहे। उपवास कर लिया दिन में तो रात सपने में भी भोजन ही करोगे। भोजन ही भोजन चलने लगेगा।

तो तुम समझ सकते हो, तुम उपवास करो तो भोजन हो जाता है। बौद्धिक रूप से भी ख्याल में आ सकता है। तो इससे विपरीत दशा भी हो सकती है कि कोई भोजन करते हुए भी उपवासा हो। उस विपरीत दशा का नाम ही वीतरागता है। अपूर्व दशा है वह। वहां तुम जल में चलो, पानी तो पैर को छूता है लेकिन तुम्हारे पैर पानी को नहीं छूते।

ज्ञानी मृत भी, जीवित भी। या, न मृत न जीवित। ज्ञानी को कोटि में रखना मुश्किल है। इतना ही सूचन ले लेना, ज्ञानी को किसी भी कोटि में रखो, गड़बड़ हो जाती है। क्योंकि सब कोटियां संसार की हैं। ज्ञानी कोटि के बाहर है। वह न मरा हुआ है, न जीवित ही है।

"पुत्र और पत्नी आदि के प्रति स्नेहरहित और विषयों के प्रति कामनारहित और अपने शरीर के प्रति निश्र्चिंत बुद्धपुरुष ही शोभते हैं।"

निःस्नेहः पुत्रदारादौ निष्कामो विषयेषु च।
निश्र्चिंत स्वशरीरेऽपि निराशः शोभते बुधः।।

महत्वपूर्ण सूत्र है। और जिस तरह से अब तक इस सूत्र की व्याख्या की गयी है, वह ठीक नहीं है। जैसा हिंदी में अनुवाद है, वह भी बहुत ठीक नहीं है। इसलिए गौर से समझना।

निःस्नेहः पुत्रदारादौ निष्कामो विषयेषु च।

पुत्र और पत्नी आदि के प्रति स्नेह रहित। इससे ऐसा अर्थ समझ में आता है--टीकाकार ऐसा ही अर्थ करते रहे हैं--कि ज्ञानी पुरुष में स्नेह नहीं होता। यह बात गलत है। ज्ञानी पुरुष में ही स्नेह होता है। अज्ञानी में क्या खाक स्नेह होगा! तो फिर इस सूत्र का क्या अर्थ होगा? इस सूत्र का अर्थ होता है कि ज्ञानी में स्नेह होता है,

लेकिन अपने हैं इसलिए नहीं होता; पराये हैं इसलिए नहीं होता। मेरा बेटा है, इसलिए नहीं; मेरी पत्नी है, इसलिए नहीं।

फर्क समझना। तुम किसी को स्नेह करते हो तो कहते हो, मेरी मां है, इसलिए प्रेम करता हूं। तुम्हारे प्रेम में "इसलिए" है। मेरी पत्नी है इसलिए प्रेम करता हूं। तुम्हारे प्रेम में "इसलिए" है। मेरा बेटा है। थोड़ा समझो। तुम आज तक अपने बेटे के लिए अपनी जान देने को तैयार थे। तुम्हारा बेटा है। पढ़ाते थे, लिखाते थे, श्रम करते थे, मेहनत करते थे, बड़ी आकांक्षा करते थे, बड़ा हो, यशस्वी हो, सफल हो। और आज तुम्हें अचानक एक पत्र हाथ में लग गया पुरानी संदूक टटोलते हुए, जिससे पता चला कि बेटा तुम्हारा नहीं है, तुम्हारी पत्नी किसी के प्रेम में थी, उसका है। इसी क्षण तुम्हारा प्रेम समाप्त हो जाएगा। और यह भी हो सकता है कि पत्र झूठा हो, बेटा तुम्हारा ही हो। लेकिन तुम्हारा प्रेम इसी क्षण जैसे कपूर उड़ जाए, ऐसे उड़ जाएगा। प्रेम की तो बात दूर रही, अब तुम इस बेटे को घृणा करने लगोगे, तुम चाहोगे यह मर ही जाए तो अच्छा। यह तो एक कलंक है। अभी क्षण भर पहले यह बेटा तुम्हारा था, तो प्रेम था। अब तुम्हारा नहीं है तो प्रेम नहीं रहा। तुम्हारा प्रेम बड़ा सशर्त है। मेरा है तो प्रेम, मेरा नहीं तो प्रेम नहीं।

यह प्रेम बेटे से नहीं है, अहंकार से है। ये तुम्हारे अपने ही अहंकार की घोषणाएं हैं। मेरा है, तो प्रेम। मेरा नहीं है, तो बात गयी। यह बेटा अब तक सुंदर मालूम पड़ता था, आज एक क्षण की घटना में यह तुम्हें कुरूप मालूम पड़ने लगेगा, इसमें तुम सब तरह की बुराइयां देखने लगोगे।

सूफी फकीर बायजीद ने लिखा है कि एक आदमी की कुल्हाड़ी चोरी चली गयी। वह लकड़ियां काट रहा था और फिर घर के भीतर गया, कुल्हाड़ी बाहर ही छोड़ गया। कुल्हाड़ी चोरी चली गयी। जब वह बाहर आया, कुल्हाड़ी नदारद थी। उसने एक लड़के को जाते देखा, पड़ोसी के लड़के को। उसने कहा, हो न हो यही शैतान चुरा ले गया। मगर अब कह भी नहीं सकता था, क्योंकि देखा तो था नहीं। उस दिन से वह उस लड़के को गौर से देखने लगा, उसमें सब तरह की शैतानियां उसे दिखायी पड़ने लगीं। चालाक मालूम पड़े, उसकी आंख में बदमाशी मालूम पड़े, उसके ढंग-चाल में शरारत मालूम पड़े। और तीसरे दिन उसको कुल्हाड़ी अपनी लकड़ियों में ही मिल गयी। लकड़ियों में दब गयी थी। जिस दिन उसको कुल्हाड़ी मिली, वह लड़का फिर बाहर से निकला, आज उसे उसमें कोई शरारत दिखायी न पड़ी, न कोई शैतानी दिखायी पड़ी। आज वह लड़का बड़ा प्यारा मालूम होने लगा--भला, सज्जन। और उसे पश्चात्ताप होने लगा कि इस सज्जन लड़के के प्रति मैंने कैसे बुरे खयाल बना लिये!

तुमने भी खयाल किये होंगे ऐसे अनुभव! तुम्हारी भावनाएं तुम आरोपित करते हो। मेरा बेटा! तुम्हें बेटे से कुछ लेना-देना नहीं है, यह मेरे का फैलाव है, यह अहंकार का फैलाव है। मेरी पत्नी! यह मेरे अहंकार का विस्तार है। "मेरे" का अर्थ होता है--"मैं" का विस्तार।

मैं इस सूत्र का अर्थ करता हूं--पुत्र और पत्नी आदि के प्रति स्नेहरहित, ऐसा नहीं; स्नेहरहित, ऐसा नहीं, क्योंकि यह तो बात ही गलत है। यह तो मैं जानकर कहता हूं, अनुभव से कहता हूं कि यह बात गलत है। इसके लिए मुझे कुछ किसी शास्त्र में जाने की जरूरत नहीं है। यह मैं अपनी प्रतीति से कहता हूं कि यह बात गलत है। ज्ञान में ही प्रेम घटता है। ज्ञान के पहले प्रेम कहां! प्रेम तो ज्ञान का ही प्रकाश है। ज्ञान के पहले प्रेम कहां है! ज्ञान का फूल खिलता है तभी प्रेम की गंध और प्रेम की सुगंध फैलती है। उसके पहले तुमने जिसे प्रेम समझा है वह प्रेम नहीं है, वह अहंकार का ही रोग है। वह अहंकार की ही दुर्गंध है। लेकिन पुरानी आदत के कारण सुगंध मालूम पड़ती है।

एक मछलियां बेचनेवाली औरत शहर मछलियां बेचने आती थी। एक दिन अचानक गांव लौटते वक्त शहर के बड़े रास्ते पर किसी पुरानी परिचित महिला से मुलाकात हो गयी--दोनों बचपन में साथ पढ़ी थीं। उस महिला ने कहा आज रात हमारे घर रुक जाओ। वह मालिन थी। उसके पास बड़ा सुंदर बगीचा था। और जब

रात वह मछुआरिन उसके घर सोयी, तो उसने बहुत से बेले के फूल लाकर उसके पास रख दिये। वह मछुआरिन करवटें बदले, उसको नींद न आए। तो मालिन ने पूछा बात क्या है बहन, तू सोती नहीं, नींद नहीं आ रही, कुछ अड़चन है, कुछ चिंता है? उसने कहा और कुछ नहीं, ये फूल यहां से हटा दें। मुझे तो मेरी टोकरी दे दें जिसमें मैं मछलियां बेचने लायी थी। उस में थोड़ा पानी सींच दें और मेरे पास रख दें। क्योंकि मछलियों की सुगंध जब तक मुझे न आए मुझे नींद न आ सकेगी। मछलियों की सुगंध! आदत हो जाए तो मछलियों की सुगंध के बिना भी नींद न आएगी। फूल भी बेचैन कर सकते हैं अगर आदत न हो। गंदगी के कीड़े गंदगी को गंदगी नहीं जानते। जानते तो छोड़ ही देते न! कौन रोकता था?

तुम जिसे प्रेम कहते हो वह प्रेम नहीं है, वह अहंकार की दुर्गंध है। ज्ञानी में वैसी अहंकार की दुर्गंध तो चली जाती है, तुम जिसे प्रेम कहते हो वह तो नहीं बचता, क्योंकि तुममें तो प्रेम है ही नहीं, "मेरा"-"तेरा" है। "मैं"-"तू" का उपद्रव और कलह है, उसको तुम प्रेम कहते हो। और तुम्हारे प्रेम का परिणाम क्या है? एक-दूसरे की गर्दन को फांस लेते हो। तुम्हारा प्रेम तो एक तरह की फांसी है, जो फंस गया वह पछताता है।

ज्ञानी परिपूर्ण ज्ञान से भरा है, उसी तरह परिपूर्ण प्रेम से भी भरा है। लेकिन उसका प्रेम अब "मेरे" से बंधा नहीं है, बेशर्त है। अब किसी से बंधा नहीं है, ज्ञानी के प्रेम पर किसी का पता नहीं लिखा है कि इसके लिए है। ज्ञानी प्रेम है। वह उसकी अवस्था है, संबंध नहीं।

निःस्नेहः पुत्रदारादौ निष्कामो विषयेषु च।

इसलिए मैं इसकी व्याख्या करता हूं कि ज्ञानी वह जो "मेरे"-"तेरे" वाला प्रेम है, उससे मुक्त हो गया होता है। और उससे मुक्त होकर ही वह उस प्रेम को उपलब्ध होता है जिसको जीसस ने परमात्मा कहा है। परमात्मा प्रेम है। जिसको बुद्ध ने करुणा कहा है। वह बुद्ध का शब्द है प्रेम के लिए। जिसको महावीर ने अहिंसा कहा है। वह महावीर का शब्द है प्रेम के लिए। हमारा तो प्रेम हिंसा है।

तुमने खयाल किया? जिसको तुम प्रेम करते हो उसी के साथ तुम हिंसा करते हो। उसी के चारों तरफ दीवालें खड़ी कर देते हो। किसी स्त्री के प्रेम में पड़ गये, दीवालें बांधीं। सब तरफ से उसके पास सींखचे खड़े कर दिये, उसे पींजड़े में बंद कर दिया, उसके पंख काट दिये।

तुम इस स्त्री को प्रेम करते होते तो इसे स्वतंत्रता देते, न कि बांधते। तुम इसे मुक्त आकाश में छोड़ते न कि पींजड़े में बंद करते। यह तुम्हारा प्रेम बड़ा खतरनाक है। और अगर यह स्त्री किसी की तरफ देखकर मुस्कुरा भी दे, तो जहर फैल जाता है तुम्हारी छाती में। तुम इसकी गर्दन काट डालोगे। तुम कहते हो कि मैं चाहता हूं कि तू खुश हो। यह कैसी खुशी है जो तुम चाहते हो! यह किसीको देखकर मुस्कुराती थी, या किसी के पास बैठकर आनंदित थी, तुम्हें प्रसन्न होना था अगर तुम प्रेम करते थे। तुम्हारा प्रियपात्र प्रसन्न हो, यह तुम्हारी प्रसन्नता होती। लेकिन नहीं, यह प्रेम इत्यादि तो बातें हैं। बकवास है। भीतर तो कुछ और है। भीतर तो मालकियत है, कब्जा है। तो पुरुष स्त्रियों को स्त्री-धन कहते हैं। स्त्री धन है। उस पर तुमने कब्जा कर लिया है। वह तुम्हारी है।

पति अपने को मालिक कहता है, स्वामी। और स्त्रियां भी अपने को दासी कहती हैं; हालांकि भीतर से कोई दासी अपने को मानती नहीं। कहती हैं, कहना पड़ता है। और बड़ी छुपी तरकीब से वे भी अपनी मालकियत कायम रखती हैं। तुम्हारा प्रेम सिर्फर् ईष्या के ही हजार-हजार लपटों को जन्माता है और कुछ भी नहीं। तुम्हारे प्रेम में जो पड़ जाता है, वह मरता है, पछताता है, और कुछ भी नहीं।

ऐसा प्रेम ज्ञानी में नहीं है। यह सच। लेकिन इसके न होने की वजह से ही ज्ञानी में एक अपूर्व प्रेम का जन्म होता है। लेकिन उस अपूर्व प्रेम को वे ही समझ पाएंगे, जो थोड़े ऊंचे उड़े हैं। जमीन से थोड़े ऊपर उठे हैं। अगर तुम्हारी प्रेम की परिभाषा बड़ी क्षुद्र है, तो तुम बुद्ध और महावीर के प्रेम को न समझ पाओगे। इसलिए बुद्ध को नया शब्द खोजना पड़ा, प्रेम न कहकर करुणा कहा। क्योंकि लगा कि अगर प्रेम कहूंगा तो लोग समझेंगे वही प्रेम जो वे करते हैं। महावीर को और भी ज्यादा निषेधात्मक शब्द खोजना पड़ा, कहा--अहिंसा। क्योंकि तुम्हारा प्रेम

हिंसा है, इसलिए महावीर को परिभाषा करनी पड़ी अपने प्रेम की--अहिंसा। तुम्हारा प्रेम तो मारता है, जिलाता कहां है! तोड़ता है, मिटाता है, खंडित करता है, विध्वंसक है।

मां कहती है अपने बेटे को, मैं तुझे प्रेम करती हूं, और उसको सब तरफ से ऐसा कस लेती है कि बेटा मर जाएगा। कौन अपने बेटों को जीने देना चाहता है स्वतंत्रता से! तुम उन्हें जीने देना चाहते हो उसी आधार पर, जैसा तुम चाहो। तुम्हारी आकांक्षा से। तुम चाहते हो तुम्हारे बेटे तुम्हारे प्रतिनिधि हों। तुम चाहते हो तुम्हारे बेटे बस तुम्हारी शक्लों को फिर-फिर दोहराते रहें। तुम चाहते हो तुम्हारे बेटे तुम्हारी अनुकृतियां हों, कार्बन कॉपी। तुम उन्हें थोड़े ही चाहते हो! तुम मर जाओगे यह तुम्हें पता है। तुम बेटों की शकल में अपने को फिर जिंदा रखना चाहते हो, बस। इसलिए इस देश में तो कहा जाता है कि जिसको बेटा पैदा न हो, उसका जीवन अकारथ। बेटा होना ही चाहिए। अगर अपना न हो तो चलो किसी दूसरे का गोदी ले लेना, लेकिन बेटा होना ही चाहिए।

क्यों होना चाहिए बेटा? क्योंकि बेटे के कंधे पर चढ़कर तुम्हारा अहंकार चलता रहेगा। तुम तो चले जाओगे, लेकिन कोई तो रहेगा, नाम लेवा! कोई तो होगा, तुम्हारी साख को चलाएगा। तुम्हारी दुकान तो चलती रहेगी।

यह तो अहंकार का ही विस्तार है। इसलिए महावीर ने कहा अपने प्रेम को अहिंसा। वास्तविक प्रेम अहिंसा है। वास्तविक प्रेम हिंसा कर ही नहीं सकता। वास्तविक प्रेम में निषेध और नकार है ही नहीं। वास्तविक प्रेम पूरी स्वतंत्रता देता है।

बुद्ध ने कहा, करुणा। जिससे तुम्हें प्रेम है, उसके प्रति तुम्हें करुणा होगी। दया होगी। तुम उसे सब तरह से सहयोग व सहारा देना चाहोगे। तुम चाहोगे कि वह मुक्त हो, स्वतंत्र हो, स्वच्छंद हो। तुम चाहोगे कि वह जैसा होने को पैदा हुआ है, वैसा हो, मेरी आकांक्षाएं उस पर थुप न जाएं। मैं उसका कारागृह न बनूं, मैं उसके पंख बनूं। मैं उसे जमीन पर अटका न लूं, मैं उसे आकाश में जाने का सहारा दूं। वह मुझसे दूर भी जाए--अगर यही उसकी नियति है तो दूर जाए। वह मुझसे विपरीत भी जाए--अगर यही उसकी नियति है तो विपरीत जाए। लेकिन वह जो होने को पैदा हुआ है वही होकर रहे। उसे मैं मार्ग से च्युत न करूं। ऐसी करुणा।

निःस्नेहः पुत्रदारादौ निष्कामो विषयेषु च।
उसकी विषयों में अब कोई कामना नहीं।
निश्चिंत स्वशरीरेऽपि निराशः शोभते बुधः।
यह सूत्र बड़ा बहुमूल्य है।
निश्चिंत स्वशरीरेऽपि...।

अपने शरीर के प्रति बुद्धपुरुष निश्चिंत है। निश्चिंत है इसलिए कि शरीर तो मरेगा। शरीर तो मरा ही हुआ है। शरीर तो मरणधर्मा है। जाएगा--आज नहीं कल, कल नहीं परसों, देर-अबेर। जाएगा। जिस दिन से पैदा हुआ है उसी दिन से जाना शुरू हो गया है, मर ही रहा है। तो मर कर रहेगा। इसलिए चिंता क्या? इस जीवन में एक ही चीज तो बिलकुल निश्चित है, वह मौत है। और उसी की तुम चिंता करते हो! जो बिलकुल निश्चित है, उसकी क्या चिंता करनी? वह तो होकर ही रहने वाली है।

जो बात होकर ही रहनेवाली है, जिससे अन्यथा कभी हुआ ही नहीं, उसकी तो चिंता छोड़ दो। उसकी चिंता का कोई प्रयोजन ही नहीं है। आज तक कोई मौत से बच सका? कितने उपाय नहीं किये गये हैं! मौत से कभी कोई बच नहीं सका।

तो मौत तो नियति है, होकर ही रहेगी, शरीर में छिपी है। ऐसा थोड़े ही है कि तुम सत्तर साल के बाद एक दिन अचानक मर जाते हो। सत्तर साल तक मौत तुम्हारे शरीर के भीतर फैलती है, बड़ी होती है, विकसित होती है, एक दिन तुम्हें पूरा घेर लेती है, ग्रस लेती है। मौत शरीर का हिस्सा है। मौत शरीर का धर्म है, होकर

रहेगा। जब जन्म हो गया, तो अब मौत से नहीं बचा जा सकता। जब जन्म हो गया, तो मौत हो गयी। जन्म एक हिस्सा है, मौत दूसरा हिस्सा, एक ही ऊर्जा के।

तो ज्ञानी जानता है, मौत तो निश्चित है, फिर चिंता क्या? निश्चित जानकर मृत्यु को ज्ञानी निश्चिंत हो जाता है। और तुम उल्टी हालत कर लेते हो। तुम निश्चित जानकर और बड़ी चिंता से भर जाते हो। तुम मौत की बात ही नहीं उठाना चाहते। तुम तो यह मानकर रहते हो कि मौत दूसरों की होती है, मेरी थोड़े ही कभी होती है। दूसरे मरते हैं सदा, अर्थी किसी और की निकलती है, अपनी तो निकलती नहीं। बात सच भी है। तुम्हारी तो निकलेगी तो तुम थोड़े ही देखोगे, दूसरे देखेंगे! तुम जब भी किसी की अर्थी देखते हो, वह किसी और की है। तो एक भाव बना रहता है कि यह मरना हमेशा दूसरे लोग करते हैं, मैं थोड़े ही करता! तुमने कभी अपने को मरते तो देखा नहीं। मरे तुम भी बहुत बार हो, लेकिन तुम इतने बेहोश हो कि तुम जीवन में ही होश नहीं संभाल पाते, तो मरते वक्त तो तुम्हारा होश बिलकुल खो जाता है। मरने के पहले तुम मूर्च्छित हो जाते हो। मौत घटी है बहुत बार, अनेक-अनेक शरीरों में तुम रहे हो और अनेक-अनेक शरीर तुमने छोड़े हैं, पर जब भी शरीर छूटा तब तुम बेहोश थे। और जब भी तुमने नया गर्भ धारण किया तब भी तुम बेहोश थे। मरे भी बेहोशी में, जन्म भी लिया बेहोशी में, इसलिए तुम्हें जीवन के रहस्यों का कोई पता नहीं है।

ज्ञानी जानकर कि मौत निश्चित है, निश्चिंत हो गया।

बुद्ध को भूल से एक आदमी ने ऐसी सब्जी खिला दी जो विषाक्त थी। गरीब आदमी था। बुद्ध गांव में आए, उसने निमंत्रण कर लिया। अब वह निमंत्रण दे गया तो बुद्ध उसके घर भोजन करने गये। वह इतना गरीब था कि उसके पास सब्जियां भी नहीं थीं।

तो बिहार में लोग कुकुरमुत्ते को इकट्ठा कर लेते हैं वर्षा के दिनों में, सुखाकर रख लेते हैं, फिर उसको साल भर खाते रहते हैं। कुकुरमुत्ता कभी-कभी जहरीला होता है। वह जो कुकुरमुत्ता उसने बनाया था, वह बिलकुल निपट जहर था। कड़वा था।

उसने बुद्ध को जब परोसा और जब बुद्ध उसे खाने लगे, तो बुद्ध को लगा तो कि यह जहर है। लेकिन बुद्ध ने इतना भी न कहा उससे कि पागल, यह तूने क्या बना लिया! क्योंकि वह इतने भावविभोर होकर सामने बैठा पंखा कर रहा था, उसकी आंख से आंसू बह रहे थे--उसने कभी भरोसा न किया था कि बुद्ध उसके घर भोजन करेंगे! यह संभव भी नहीं मालूम होता था। बुद्ध उसके द्वार आएंगे यह भी कभी भरोसा नहीं था। वे स्वीकार कर लिये, आ भी गये, उसे आंखों पर भरोसा नहीं आ रहा था। उसकी आंखें आंसुओं से भरी थीं, गीली, वह पंखा कर रहा था। उसके घर में कुछ था भी नहीं। रूखी-सूखी रोटियां थी और कुकुरमुत्ते की सब्जी थी। वह रो रहा है, वह बड़ा गदगद है।

अब बुद्ध को यह भी कहने का मन न हुआ कि ये जहरीले हैं। इसके मन को चोट पहुंचेगी, यह बेचारा सदा के लिए पछताता रहेगा। इस पर ऐसा आघात पड़ेगा कि उसको शायद यह झेल भी न पाए--कि बुद्ध को घर लाया और जहरीले कुकुरमुत्ते खिलाए।

तो वे और मांग लिये, जितने थे सब ले लिये, सब खा गये! कि कहीं वह बाद में चखे और पाए कि कड़वे हैं, तो पछताए। तो उन्होंने कहा इतने अच्छे हैं कि तू और ले आ! सब्जियां मैंने जीवन में बहुत खायीं, बहुत सम्राटों के घर मेहमान हुआ, लेकिन तेरी सब्जी की बात ही और है। तो वह गरीब बड़ा प्रसन्न हुआ, उसने सब कुकुरमुत्ते दे दिये।

वह खाकर जब घर आए, तो नशा शरीर में फैलने लगा--जहर। तो उन्होंने अपने चिकित्सक जीवक को कहा कि मुझे लगता है कि अब मेरे दिन करीब आ गये हैं, यह जहर से मैं बच न सकूंगा। तो जीवक ने कहा, आप कैसे पागल हैं, आपने कहा क्यों नहीं, रोका क्यों नहीं, यह क्या पागलपन है! बुद्ध ने कहा, मौत तो होने ही वाली है; जो होने ही वाली है, उससे क्या फर्क पड़ता है! यह मैं रोक सकता था होने से कि वह आदमी दुखी न

हो। यह मेरे हाथ में था। मौत तो मेरे हाथ में नहीं, वह तो होगी। आज रोक लूंगा, कल होगी; कल नहीं तो परसों होगी, क्या फर्क पड़ता है।

मरते वक्त बुद्ध ने अपने शिष्यों को कहा कि सुनो, गांव भर में खबर कर दो कि जिस आदमी के हाथ से बुद्ध अंतिम भोजन ग्रहण करते हैं, वह बहुत धन्यभागी है! दो व्यक्ति धन्यभागी हैं। एक वह मां, जो बुद्ध को पहली दफा स्तनपान कराती है, जन्म के समय। और एक वह व्यक्ति जो उन्हें अंतिम भोजन कराता है। और लोग कहने लगे यह आप क्या कह रहे हैं, किसलिए यह कह रहे हैं? उन्होंने कहा, इसलिए मैं कहता हूं, अन्यथा मेरे मरने के बाद उस गरीब को लोग मार डालेंगे। वह बच न सकेगा। जाकर गांव में घोषणा कर दो कि दो व्यक्ति अत्यंत धन्यभागी होते हैं।

ऐसा प्रेम! और मृत्यु के संबंध में ऐसी निश्चिंतता!!

निश्चिंत स्वशरीरेऽपि निराशः शोभते बुधः।

और एक बड़ी अनूठी बात कह रहे हैं--

निराशः शोभते बुधः।

बुद्धपुरुषों को निराशा भी शोभायमान होती है। तुम तो आशा से भरे भी शोभायमान नहीं होते। तुम्हारी आंखों में तो कितने आशा के दीप जलते--ऐसा होगा, ऐसा होगा, ऐसा हो जाएगा! कितनी कामनाएं अंधड़ की भांति तुम्हारे चित्त में बहती हैं! भविष्य के कितने सुंदर सपने! कितनी आशाओं को संजोए तुम चलते हो। फिर भी तुम शोभायमान नहीं हो। तुम्हारी आशाएं भी तुम्हारी आंखों में दीये जलाती नहीं मालूम होतीं। तुम्हारी आशाएं भी तुम्हें रुग्ण करती मालूम होती हैं। लेकिन बुद्धपुरुष निराश होकर भी...बुद्धपुरुष का अर्थ ही है, जो परिपूर्णरूप से निराश हो गया। जिसने जान लिया कि जगत में कोई आशा पूरी हो ही नहीं सकती। जिसकी निराशा समग्र है। आत्यंतिक है। जिसकी निराशा परिपूर्ण हो गयी, जिसमें रत्ती भर शंका नहीं रही है उसे। इस जगत में कोई आशा पूरी होती ही नहीं, जिसने ऐसा सघन रूप से जान लिया।

मगर फिर भी इस परमनिराशा में बुद्धपुरुष सिंहासन पर विराजमान होते हैं। उनकी शोभा अदभुत है। इस निराशा में ही उनके जीवन का फूल खिलता है। जब बाहर कुछ पाने को नहीं, तो ऊर्जा सब भीतर लौट आती है। जब बाहर कोई दौड़ न रही, तो भीतर वे विराजमान हो जाते हैं अपने केंद्र पर। स्वस्थ हो जाते हैं। स्वयं में स्थित हो जाते हैं। इस स्थिति में ही असली सिंहासन है। परमपद है।

निराशः शोभते बुधः।

तुम्हारे रूप के अनुरूप संज्ञाएं चयन कर लूं
तुम्हारी ज्योति-किरणें देखने लायक नयन कर लूं
अभी अच्छी तरह आखर अढ़ाई पढ़ नहीं पाया
प्रेम की व्याकरण का और गहरा अध्ययन कर लूं
निकल पाया नहीं बाहर अहम् के इस अहाते से
जरा ये बांह धरती और ये आंखें गगन कर लूं
तुम्हारे रूप के अनुरूप संज्ञाएं चयन कर लूं
तुम्हारी ज्योति-किरणें देखने लायक नयन कर लूं

परम सत्य तो पास है। पास कहना ठीक नहीं, क्योंकि पास में भी दूरी मालूम होती है। परम सत्य तो भीतर विराजमान ही है। सिर्फ आंख चाहिए।

तुम्हारे रूप के अनुरूप संज्ञाएं चयन कर लूं
तुम्हारी ज्योति-किरणें देखने लायक नयन कर लूं
अभी अच्छी तरह आखर अढ़ाई पढ़ नहीं पाया
प्रेम की व्याकरण का और गहरा अध्ययन कर लूं

तुम जिसे प्रेम कहते हो, वह तो प्रेम नहीं है। वह तो तुम प्रेम के ढाई आखर अभी पढ़ ही नहीं पाए। कुछ-का-कुछ पढ़ रहे हो।

मुल्ला नसरुद्दीन एक दिन ट्रेन में बैठा है, अखबार पढ़ रहा है। लेकिन अखबार उल्टा रखे है। पढ़ना-लिखना तो आता नहीं। मगर यह भी नहीं चाहता कि लोग जानें कि पढ़ना-लिखना नहीं आता, इसलिए अखबार खरीद लिया है। और जब पास के आदमी ने कहा कि बड़े मियां, इससे और भद्द खुली जा रही है! न पढ़ते तो कम-से-कम पता तो नहीं चलता कि पढ़ना-लिखना नहीं आता। अखबार उल्टा क्यों पकड़े हो? लेकिन आदमी तो बड़े तर्कजाल खोजता है। मुल्ला ने कहा, क्या तुम समझते हो! अरे, सीधा-सीधा पढ़ना-लिखना तो बहुतों को आता है, वह कोई खास बात नहीं, हमें उल्टा पढ़ना आता है!

आदमी अपने अहंकार को तो बचाता है, सब तरह से बचाता है। कभी-कभी बेहूदे ढंग से भी बचाना पड़ता है तो भी बचाता है।

अभी अच्छी तरह आखर अढ़ाई पढ़ नहीं पाया
प्रेम की व्याकरण का और गहरा अध्ययन कर लूं

तुम्हारे तथाकथित शास्त्रकार तुमसे यही कहे चले जाते हैं कि प्रेम छोड़ो, प्रेम पाप है! मैं तुमसे कहता हूं, जो तुम प्रेम की तरह जाने हो वह प्रेम ही नहीं है। अखबार उल्टा पढ़ रहे हो! अभी तो तुमने प्रेम के ढाई अक्षर पढ़े ही नहीं--

प्रेम की व्याकरण का और गहरा अध्ययन कर लूं
निकल पाया नहीं बाहर अहम् के इस अहाते से
जरा ये बांह धरती और ये आंखें गगन कर लूं

अभी तो तुम अहंकार के भीतर ही जी रहे हो। ऐसे समझो कि जैसे अभी कोई पक्षी अपने अंडे के भीतर बंद है, और सोचता है आकाश मिल गया। अहंकार के अंडे के भीतर बंद हो तुम, प्रेम का आकाश अभी कहां है! तोड़ो यह अंडा, निकलो इसके बाहर। यह अहंकार तो तुम्हें बांधे है। यह तुम्हें मुक्त नहीं होने देता।

निकल पाया नहीं बाहर अहम् के इस अहाते से
जरा ये बांह धरती और ये आंखें गगन कर लूं

जब तुम्हारी आंखें गगन जैसी विस्तीर्ण होंगी, तब तुम्हारे पास वे नयन होंगे जो उसे देख पाते हैं जो तुम्हारे भीतर छिपा है। अंतर्दृष्टि अहंकार के हट जाने पर ही उपलब्ध होती है। अहंकार की बदलियां जब आंखों में नहीं रह जातीं तो अंतर्दृष्टि का नीलाकाश उपलब्ध होता है।

"यथाप्राप्त से जीविका चलानेवाला, देशों में स्वच्छंदता से विचरण करनेवाला तथा जहां सूर्यास्त हो वहां शयन करनेवाला धीरपुरुष सर्वत्र ही संतुष्ट है।"

तुष्टिः सर्वत्र धीरस्य यथापतितवर्तिनः।
स्वच्छंदं चरतो देशान्यत्रास्तमितशायिनः।।

यह सूत्र थोड़ा उलझा हुआ है। उलझा हुआ इसलिए है कि यह सूत्र प्रतीकात्मक है। और अब तक इसकी जितनी व्याख्याएं की गयी हैं वे शाब्दिक हैं। शाब्दिक व्याख्या सीधी-साफ है।

पहले शाब्दिक व्याख्या समझ लें, फिर प्रतीक-व्याख्या में उतरें। शाब्दिक व्याख्या अड़चन से भरी हुई नहीं है।

"यथाप्राप्त से जीविका चलानेवाला...।"

जो मिल गया उससे ही अपना काम चला लेने वाला, यही संन्यासी की पुरानी व्याख्या है, परिव्राजक की। जो मिल गया, जैसा मिल गया, जहां मिल गया।

"यथाप्राप्त से जीविका चलानेवाला। देशों में स्वच्छंदता से विचरण करनेवाला।"

और कहीं रुकनेवाला नहीं। एक जगह से दूसरी जगह। जो कभी पोखर नहीं बनता। सरिता की तरह गतिमान है।

"देशों में स्वच्छंदता से विचरण करनेवाला तथा जहां सूर्यास्त हो वहां शयन करनेवाला।"

जो पहले से तय भी नहीं करता कि कहां रात रुकूंगा। इतनी योजना भी नहीं बनाता। जहां सूरज ठहर जाता, वहीं वह भी ठहर जाता। जो किसी तरह की भविष्य की योजना नहीं बनाता।

"जहां सूर्यास्त हो वहां शयन करनेवाला धीरपुरुष सर्वत्र ही संतुष्ट है।"

यह तो शाब्दिक व्याख्या है। इससे बात पूरी नहीं होती। और यह शाब्दिक व्याख्या अष्टावक्र के विपरीत भी जाती है। इसलिए इस व्याख्या से मैं राजी नहीं हूं। क्योंकि अष्टावक्र संसार के विरोध में नहीं हैं। और वे यह तो कह ही नहीं रहे हैं कि तुम सब छोड़-छाड़कर परिव्राजक हो जाओ और गांव-गांव भटको। और कोई बहुत बड़ा बुद्धिमान पुरुष ऐसा कह भी नहीं सकता। क्योंकि अगर सारे लोग गांव-गांव भटकने लगें, तो यथाप्राप्त भी कुछ न होगा! किससे मांगोगे?

तुम्हारा संन्यासी तो गृहस्थ पर निर्भर है। और जिस पर तुम निर्भर हो, उससे ऊपर तुम नहीं हो सकते। इसको स्मरण रखना। जिस पर निर्भर हो, उससे नीचे होओगे। इसलिए श्रावक भले साधु के पैर छूता हो, लेकिन गहरे तल पर साधु श्रावक से बंधा है। वह श्रावक से मुक्त नहीं है। और श्रावक के इशारे पर चलता है। तो साधु की जो स्वतंत्रता है वह झूठी है। बिलकुल असत्य है। असली मालिक श्रावक है। जहां से तुम रोटी पाते हो वहां तुम बंध जाते हो। मगर करोड़ों के मुल्क में अगर दो-चार हजार, लाख-दो लाख संन्यासी हों, चलेगा। लेकिन अगर करोड़ों लोग संन्यासी हो जाएं, फिर!

थाईलैंड की सरकार को कानून बनाना पड़ा है। क्योंकि चार करोड़ की आबादी में कोई बीस लाख भिक्षु हैं। चार करोड़ की आबादी में बीस लाख भिक्षु जरा जरूरत से ज्यादा हो गये हैं। और उनको संभालना मुश्किल होता जा रहा है। देश गरीब है, भीड़ बढ़ती जा रही है, और ये बीस लाख भिक्षु! ये छाती पर बैठे हैं। तो थाईलैंड की सरकार को कानून बनाना पड़ा है कि इनको श्रम करना पड़ेगा। अब ये बौद्ध भिक्षु की बड़ी मुश्किल हो गयी है; बात उसके शास्त्र के विपरीत है कि वह श्रम करे। हल-बक्खर उठाए। मेहनत करे, यह तो उसके विपरीत है।

मैं तुम्हें याद दिलाना चाहता हूं कि यह घटना सारी दुनिया में घटनेवाली है। इस देश में भी घटेगी, आज नहीं कल। इसलिए मैं एक नये संन्यास का सूत्रपात कर रहा हूं, जो किसी पर निर्भर नहीं है। जो भिखारी का संन्यास नहीं है। तुम जहां हो, घर में, जैसे हो, वैसे ही संन्यस्त हो। तुम्हारे संन्यास को कोई सरकार छीन न सकेगी। पुराना संन्यास तो गया, उसके दिन लद चुके! अब वह कहीं बच नहीं सकता। क्योंकि पुराना संन्यासी तो अब शोषक मालूम होने लगा। है भी शोषक। दूसरों के श्रम पर जीता है। अपना श्रम करो! तुम्हें ध्यान करना है, तुम्हें समाधि लगानी है, तो श्रम कोई दूसरा करे, तुम समाधि लगाओ! यह बेईमानी ठीक नहीं। कोई कंकड़-पत्थर तोड़े और तुम बैठकर मंदिर में पूजा करो! यह बात ठीक नहीं। तुम्हें मंदिर में पूजा करनी है, कंकड़-पत्थर तोड़ लो, समय बचाओ, पूजा कर लो। पूजा का समय खरीदो। श्रम से खरीदो। मुफ्त मत मांगो। अब नहीं मुफ्त के दिन चलेंगे। और मुफ्त के कारण बहुत से मुफ्तखोर संन्यासी हो गये थे। सौ में निन्यानबे बेईमान संन्यासी हो गये थे। जिनको कुछ नहीं करना था, जो किसी तरह झंझट से बचना चाहते थे, या योग्य भी नहीं थे कुछ करने के, वे संन्यासी हो गये थे।

इसलिए एक नये संन्यास की अत्यंत जरूरत है जगत में। जिसका संन्यास संसार के विरोध में है, वह ज्यादा दिन टिकेगा नहीं। अब एक ऐसा संन्यास ही टिकेगा जो संसार में है और संसार के बाहर भी। अब ऐसा संन्यासी, जो जीवित भी है और मृत भी। जो पानी में चलता भी है और पानी जिसके कदमों को छूता भी नहीं। संसार में होकर भी जो संसार के बाहर है, वही बचेगा।

तो मैं अष्टावक्र के इस सूत्र का ऐसा अर्थ कर भी नहीं सकता, क्योंकि अष्टावक्र की पूरी धारणा से इसकी संगति नहीं है। अष्टावक्र संसार-त्याग के पक्षपाती नहीं हैं, संसार का बोध चाहिए। ज्ञान के पक्षपाती हैं। कर्मत्याग के नहीं। मेरी व्याख्या कुछ और है।

तुष्टिः सर्वत्र धीरस्य यथापतितवर्तिनः।

"यथाप्राप्त से संतुष्ट।"

जो मिले परमात्मा से, उससे ज्यादा न मांगे। जितना मिले, उससे रत्ती भर ज्यादा न मांगे। जितना मिले, उसके लिए धन्यभाग! आभार स्वीकार करे। ऐसे व्यक्तियों को मैं कहता हूं--यथाप्राप्त से संतुष्ट।

"देशों में स्वच्छंदता से विचरण करनेवाला।"

और मैं बाहर के देश की बात नहीं करता, अष्टावक्र भी बाहर के देशों की बात नहीं कर रहे हैं। यह कोई भूगोल थोड़े ही है, जो हम अध्ययन कर रहे हैं। यह अध्यात्म है। यहां हिंदुस्तान से पाकिस्तान में गये और पाकिस्तान से चीन में गये, इसकी बात नहीं हो रही है। यहां तो तुम्हारे भीतर इतने अंतर देश हैं, एक देश से भीतर दूसरे देश में जाना है। तुम्हारे पूरे अंतर-आकाश का अनुभव लेना है।

तुम कुछ छोटे थोड़े ही हो भीतर, भीतर तुम बड़े विराट हो। यह पृथ्वी बड़ी छोटी है। तुम उतने ही विराट हो जितना यह विश्व है। तुम्हारे भीतर इतना ही बड़ा आकाश है जितना बड़ा आकाश तुम्हारे बाहर है। ये बाहर और भीतर दोनों संतुलित हैं। ये समान हैं। इनका अनुपात एक है। इन भीतर के आकाशों में प्रवेश करना है। इन भीतर के देशों में प्रवेश करना है। यहां भीतर नर्क हैं, यहां भीतर स्वर्ग हैं, यहां भीतर मोक्ष भी है। यहां भीतर क्रोध का देश है, यहां भीतर घृणा का देश है, यहां भीतर प्रेम का, करुणा का देश भी है। यहां भीतर मोह है, लोभ है, त्याग है, वैराग्य है, वीतरागता है। यहां भीतर बड़ी-बड़ी भूगोल है--अंतर की भूगोल है। यहां स्वच्छंदता से विचरण करना है, ताकि तुम अपने पूरे अंतःप्रदेशों से परिचित हो जाओ। तो मैं कहता हूं, अंतर्देशों में स्वच्छंदता से विचरण करनेवाला।

अभी पश्चिम में स्पेस शब्द का ठीक ऐसा ही अर्थ होने लगा है जैसा मैं अर्थ कर रहा हूं--अंतर्देश। मेरे पास लोग आते हैं, वे कहते हैं, हम भीतर की एक ऐसी स्पेस में पड़ गये हैं--एक भीतर के ऐसे अंतर्देश में आ गये हैं--जहां बड़ी शांति है। या बड़ा दुख है, कि बड़ी उदासी है। जैसा आज पश्चिम में स्पेस शब्द का अर्थ हो रहा है, वैसा ही कभी इस देश में अंतर्देश शब्द का उपयोग होता था। वह आध्यात्मिक शब्द है।

और वहां स्वच्छंदता चाहिए। क्योंकि अगर बंधे-बंधे चले, तो तुम अपने अंतर्जीवन से पूरे परिचित न हो पाओगे। सब जानना है। क्रोध को भी जानना है भीतर, तो ही क्रोध से मुक्त हो सकोगे। जो जान लिया, उससे मुक्त हो गये। जिसे पहचान लिया, उससे छुटकारा हो गया। सब जानना है। भीतर के नर्क भी जानने हैं, तो ही तुम नर्क से छूट सकोगे। भीतर के स्वर्ग भी जानने हैं, तो तुम स्वर्ग से भी छूट सकोगे। और जो व्यक्ति अपने भीतर के समस्त लोकों को जानकर सबके पार हो गया--लोकातीत--वही वीतराग है। वही धीरपुरुष है। स्थिर-धी। कहें बुद्धपुरुष, जिन, जो भी नाम देना चाहें।

"जो अपने अंतर्देशों में स्वच्छंदता से विचरण करने वाला।"

स्वच्छंदं चरतो देशान्।

ये भीतर के देश और इनमें स्वच्छंदता का विचरण।

"और जहां सूर्यास्त हो, वहीं शयन करने वाला।"

फिर भीतर सूर्यास्त का क्या अर्थ होगा? और वहीं शयन करने का क्या अर्थ होगा? समझें।

जैसे बाहर दिन और रात है, ऐसे ही भीतर भी दिन और रात है। जैसे बाहर सूरज ऊगता और डूबता है, ऐसे ही भीतर बोध का उदय होता है और बोध का अस्त होता है। दो तरह से हम इस विभाजन को समझ सकते हैं।

एक, आत्मा--साक्षी--और शरीर। और इन दोनों के बीच जोड़नेवाला मन। आत्मा तो है प्रकाश, ज्योति, बोध, सूर्य। शरीर है अंधकार, तमस, अमावस। एक तरफ शरीर है--मृत्यु और एक तरफ आत्मा है--अमृत। और दोनों जुड़े हैं मन से। तो मन आधा-आधा प्रभावित है। आधा प्रभावित है शरीर से और आधा प्रभावित है आत्मा से। तो मन के आधे हिस्से में तो दिन होता है, और मन के आधे हिस्से में रात होती है। ज्ञानी व्यक्ति बस वहीं तक आता है जहां तक दिन होता है। मन के उस हिस्से तक आता है जहां तक रोशनी होती है। जहां रोशनी समाप्त होती है, वहीं रुक जाता है, वहीं शयन करता है। उसके आगे नहीं जाता। अंधकारपूर्ण हिस्सों में प्रवेश नहीं करता। अंधकार में यात्रा नहीं करता। रुक जाता है।

अज्ञानी अंधकार में ही चलता है। उसे पता ही नहीं कि उसके भीतर भी कोई सूर्योदय होते हैं। अज्ञानी को बाहर की रोशनी का पता है, बाहर के अंधेरे का पता है। भीतर की रोशनी, अंधेरे, दोनों अपरिचित हैं।

या, एक दूसरा विभाजन भी है। सात चक्र हैं शरीर के। तीन चक्र नीचे हैं, तीन चक्र ऊपर हैं, एक चक्र मध्य में है जो जोड़ता है। जो जोड़नेवाला चक्र है, उसका नाम अनाहत। हृदय-चक्र। उसके नीचे तीन चक्र हैं और ऊपर तीन चक्र हैं। जो नीचे के तीन चक्र हैं उनसे संसार निर्मित होता है, जो ऊपर के तीन चक्र हैं उनसे मुक्ति निर्मित होती। और दोनों के बीच में है हृदय का चक्र। हृदय दोनों को जोड़ता है।

तो नीचे के चक्रों का भी संबंध हृदय से है। इसलिए नीचे के चक्रों में जीनेवाला आदमी भी प्रेम करता है। लेकिन उसका प्रेम निम्नता में दबा होता है। ऊपर के चक्रों में जीनेवाला आदमी भी प्रेम करता है, लेकिन उसका प्रेम विराट आकाश की तरह उन्मुक्त होता है। प्रेम में दोनों भागीदार हैं--अज्ञानी और ज्ञानी। क्योंकि हृदय में दोनों भागीदार हैं--अज्ञानी और ज्ञानी। आधा हृदय अंधेरे से भरा है। उसी को काम कहो, वासना कहो, हिंसा कहो। और आधा हृदय प्रार्थना से भरा है। उपासना कहो, पूजा कहो, आराधना कहो, अर्चना कहो--जो भी नाम देना चाहो।

ज्ञानी हृदय के उस आधे बिंदु तक आता है जहां तक रोशनी है। वहीं विश्राम करता है, उससे आगे नहीं जाता। अज्ञानी अंधेरे-अंधेरे में चलता है, जहां रोशनी का क्षण आता है वहीं सो जाता है। ज्ञानी जहां अंधेरा आता है वहां प्रवेश नहीं करता। अज्ञानी जहां रोशनी आती है वहां प्रवेश नहीं करता। कृष्ण ने गीता में कहा है: "या निशा सर्वभूतानाम् तस्यां जागर्ति संयमी।" जो सबके लिए रात है, वह संयमी के लिए दिन है। और जो संयमी के लिए दिन है, वह सबके लिए रात है। जहां संयमी का दिन है, जहां उसकी कर्मठता है, वहां तो तुम सोए हुए हो। जहां तुम जागे हो, वहां संयमी सोया हुआ है। जहां तुम्हारा सूर्योदय है, वहां सूर्यास्त है संयमी का। और जहां तुम्हारा सूर्यास्त हो जाता है वहां संयमी का सूर्योदय होता है।

तुम आधे-आधे में बंटे हो। तुमने निम्न तल को चुन लिया अपने लिए। अंधेरी रात को। यह तुम्हारा चुनाव है। इसलिए इस चुनाव के बाहर जाने का एक ही उपाय है कि तुम थोड़े-थोड़े जागने लगो और थोड़े-थोड़े प्रेमपूर्ण होने लगो। या तो जागो, तो ऊपर उठो; या प्रेमपूर्ण हो जाओ तो ऊपर उठो। तो दो मार्ग हैं--ध्यान और प्रेम।

स्वच्छंदं चरतो देशान्यत्रास्तमितशायिनः।

और ज्ञानी का आचरण परममुक्त है। वह हवा की तरह मुक्त है।

हवा हूं,
हवा में वसंती हवा हूं
वही,
हां वही जो
धरा का वसंती सुसंगीत मीठा
गुंजाती फिरी हूं,
वही,
हां वही जो
सभी प्राणियों को
पिला प्रेम-आसव जिलाए हुए हूं,
कसम रूप की है
कसम प्रेम की है
कसम इस हृदय की
सुनो बात मेरी,
बड़ी बावली हूं
अनोखी हवा हूं

बड़ी मस्तमौला, नहीं कुछ फिकर है
बड़ी ही निडर हूं
जिधर चाहती हूं
उधर घूमती हूं
मुसाफिर अजब हूं
न घर-बार मेरा
न उद्देश्य मेरा
न इच्छा किसी की
न आशा किसी की
न प्रेमी
न दुश्मन
जिधर चाहती हूं उधर घूमती हूं,
हवा हूं,
हवा में वसंती हवा हूं
जहां से चली मैं
जहां को गयी मैं
शहर, गांव, बस्ती
नदी, रेत, निर्जन
हरे खेत, पोखर
झुलाती चली मैं,
झुमाती चली मैं,
हंसी जोर से मैं
हंसीं सब दिशाएं
हंसे लहलहाते
हरे खेत सारे
हंसी चमचमाती
भरी धूप प्यारी
वसंती हवा में
हंसी सृष्टि सारी
हवा हूं,
हवा में
वसंती हवा हूं।

स्वच्छंद है हवा की भांति ज्ञानी। वसंत की स्वच्छंद हवा की भांति। उस पर न कोई रीति है, न कोई नियम, न कोई अनुशासन। आगे के सूत्र में बात साफ होगी--

"जो निज स्वभाव रूपी भूमि में विश्राम करता है और जिसे संसार विस्मृत हो गया है, उस महात्मा को इस बात की चिंता नहीं है कि देह रहे या जाए।"

पततूदेतु वा देहो नास्य चिंता महात्मनः।
स्वभावभूमिविश्रांतिविस्मृताशेषसंसृतेः।।

"जो निज स्वभाव रूपी भूमि में विश्राम करता है।"

अभी जिसकी मैं बात कर रहा था। जो अपने साक्षी में विश्राम करता है, जो अपने चैतन्य में विश्राम करता है, जो अपने प्रकाश में विश्राम करता है, जो अपने स्वभाव से जरा भी विपरीत नहीं होता, जो अपने

स्वभाव से बाहर नहीं जाता, जो अपने स्वभाव से अन्यथा नहीं करता, जो व्यर्थ के तनाव नहीं लेता सिर पर, जो सहज है।

"जो निज स्वभाव रूपी भूमि में विश्राम करता है, और जिसे शेष संसार विस्मृत हो गया है।"

हो ही जाएगा। जिसे आत्मा का स्मरण होता है, उसे संसार का विस्मरण हो जाता है। और जिसे संसार का बहुत स्मरण हो जाता है, उसे आत्मा का विस्मरण हो जाता है। तुम दोनों को एक-साथ न बचा सकोगे। रस्सी में सांप दिखा, जब तक सांप दिखेगा, रस्सी न दिखेगी। जब रस्सी दिखने लगेगी, सांप न दिखेगा। तुम ऐसा न कर सकोगे कि दोनों को एक-साथ देख लो। यह असंभव है।

जब तक संसार में स्मरण उलझा है, तब तक आत्मा का स्मरण नहीं होता। जब आत्मा का स्मरण होता है, संसार का स्मरण खो जाता है।

"जो निज स्वभाव रूपी भूमि में विश्राम करता और जिसे शेष संसार विस्मृत हो गया है, उस महात्मा को इस बात की चिंता नहीं है कि देह रहे या जाए।"

क्योंकि उस महात्मा को पता है--देह संसार का हिस्सा है। देह मेरा हिस्सा नहीं। मैं देह नहीं हूं।

"अकिंचन, स्वच्छंद विचरण करनेवाला, द्वंद्वरहित, संशयरहित, आसक्तिरहित और अकेला बुद्धपुरुष ही सब भावों में रमण करता है।"

अकिंचनः कामचारो निर्द्वंद्वश्छिन्नसंशयः।
असक्तः सर्वभावेषु केवलो रमते बुधः।।

जो अकिंचन है। जिसको यह पता चल गया कि अहंकार झूठी घोषणा है। मैं कुछ हूं, ऐसा जिसका दावा ही न रहा। जो दावेदार न रहा, जिसने सब दावे छोड़ दिये। जो कहने लगा, मैं तो ना-कुछ हूं, शून्यवत।

"अकिंचन, स्वच्छंद विचरण करनेवाला...।"

जो संस्कृत शब्द है, वह बहुत अदभुत है--कामचारो। जो आचरण से मुक्त हो गया है। जिसके जीवन में अब आचरण-अनाचरण की कोई व्याख्या नहीं रही।

मैं निरंतर तुमसे कहता हूं कि परमज्ञान आचरणरहित होता है--करेक्टरलेस। कामचारो का वही अर्थ है। स्वच्छंद। रीति-नियम से मुक्त। स्वभाव से जीता है जो। स्फूर्ति से जीता है जो। न कोई अनुशासन है उसके ऊपर कि ऐसा करना चाहिए। वही करता है जो होता है। जो होता है उसे होने देता है। जो परिणाम हैं, उन्हें स्वीकार कर लेता है। न परिणामों से बचने की कोई चिंता है, न जो हो रहा है उसे रोकने का कोई आग्रह है। न अन्यथा करने का कोई उपाय है।

"आसक्तिरहित, संशयरहित, द्वंद्वरहित और अकेला बुद्धपुरुष ही सब भावों में रमण करता है।"

और तब मुक्त हो जाता है व्यक्ति अपने भीतर के सब प्रदेशों में रमण करने को।

"सब भावों में रमण करता है।"

तब सारे रमण उपलब्ध हो जाते हैं। तब उसे अपनी पूरी अंतःभूमि का पासपोर्ट मिल जाता है। रुकावट नहीं है फिर उसे। वह जहां जाना चाहे भीतर जाता है, जो देखना चाहे देखता है। अचेतन से अचेतन गर्तों में उतरता है और परम चेतन की आखिरी ऊंचाइयां छूता है। पूरी सीढ़ी का मालिक हो जाता है। आखिरी सीढ़ी रुकी है नर्क में और ऊपर की सीढ़ी रुकी है मोक्ष में। सीढ़ी के सब सोपानों पर चढ़ता है। स्वच्छंद भाव से अपनी पूरी चेतना का अनुभव करता है। इस अनुभव में ही सारे विराट के दर्शन हो जाते हैं।

कहते हैं शास्त्र कि मनुष्य पिंडरूप है। इसी ब्रह्मांड का छोटा-सा पिंड है। मनुष्य के भीतर सब छिपा है जो विराट में है। अगर भीतर हम मनुष्य को पूरा देख लें तो हमने पूरे विराट को देख लिया। मनुष्य को समझ लिया तो सब समझ लिया।

इस सूत्र में एक शृंखला है। अकिंचन, जो ना-कुछ है, वही स्वच्छंद हो सकता है। अकिंचन, स्वच्छंद। जो ना-कुछ है, वही स्वच्छंद हो सकता है; जिसको कुछ होना है वह स्वच्छंद नहीं हो सकता। उसको तो नियम बनाकर चलना पड़ेगा। उसको तो मर्यादा बांधनी पड़ेगी। जो प्रतिष्ठा चाहता है, समादर चाहता है, पुण्य चाहता

है, स्वर्ग चाहता है, उसे तो मर्यादा बांधकर चलनी पड़ेगी। जो ना-कुछ है और ना-कुछ होने से राजी है, वही स्वच्छंद हो सकता है। शून्य ही स्वच्छंद हो सकता है। फिर द्वंद्वरहित। और जो स्वच्छंद है, वही द्वंद्वरहित हो सकता है। जब तक तुम्हारे मन में ऐसा हो जाये और ऐसा न हो, इस तरह का विभाजन रहेगा, द्वंद्व भी रहेगा। जैसा होता है, वैसा ही ठीक है, फिर कोई द्वंद्व न रहा। और जो द्वंद्वरहित हो गया, वही संशयरहित है। जब द्वंद्व ही न रहा, तो संशय क्या! जीवन के प्रति तब परम स्वीकार है, परम श्रद्धा है। और जो संशयरहित है, वही आसक्तिरहित हो पाता है। जब आस्था जीवन के प्रति परम हो गयी, तो हम आसक्ति नहीं बांधते। हम यह नहीं कहते जो मेरे पास है उसे रोक लूं, पता नहीं कल हो या न हो। जब अस्तित्व पर परमश्रद्धा है, तो जिसने आज दिया, कल भी देगा, परसों भी देगा। और नहीं देगा, तो शायद नहीं देना ही उचित होगा। तो नहीं देगा। और जो आसक्तिरहित है, वही अकेला है। वही केवल, एकांत का अनुभव कर पाता है। और जो अकेला है, वही है बुद्धत्व को उपलब्ध।

इसमें शृंखला है। स्वच्छंद, अकिंचन, द्वंद्वरहित, संशयरहित, आसक्तिरहित, एकाकी, बुद्धपुरुष, इसमें एक शृंखला है। एक क्रम है। सीढ़ी के सोपान हैं।

और वही सब भावों में रमण करता है। समस्तता उसकी है, पूरा आकाश उसका है। उसके लिए कोई सीमा नहीं है। कोई बंधन नहीं है। असीम उसका है, अनंत उसका है, शाश्वत उसका है। लेकिन पहले इस असीम की घोषणा स्वयं के भीतर करनी जरूरी है।

इन सूत्रों पर खूब मनन करना। मनन ही नहीं, ध्यान करना। इनका थोड़ा स्वाद लेने की कोशिश करना। क्योंकि ये शब्द ही नहीं हैं कि तुमने समझ लिये, बात पूरी हो गयी, इनके भीतर बहुत कुछ छिपा है। शब्द तो राख जैसा है। उसे झाड़ना तो भीतर अंगारा मिलेगा। वही अंगारे में अर्थ है, उसी अंगारे में अर्थ है।

एक-एक सूत्र ऐसा बहुमूल्य है कि सारे संसार की संपदा भी एक-एक सूत्र को पाने के लिए देनी पड़े तो भी हमने मूल्य चुकाया, ऐसा नहीं कहा जा सकता है। अमूल्य है।

आज इतना ही।

बयासीवां प्रवचन

परम ज्ञान का अर्थ है परम अज्ञान

पहला प्रश्न: मेरे नैना सावन-भादौं,
फिर भी मेरा मन प्यासा...

मन जब तक है तब तक प्यासा ही रहेगा। मन का होना ही प्यास है। अतृप्ति मन का स्वभाव है। मन कभी तृप्त हुआ, ऐसा सुना नहीं। मन कभी तृप्त होगा, ऐसा संभव नहीं। मन तृप्त नहीं हो सकता है। इसीलिए तो संसार में कोई तृप्ति नहीं है, क्योंकि संसार मन का फैलाव है। मन का विस्तार है।

संसार यानी मन। संसार यानी मन के माध्यम से तृप्ति की खोज। जो नहीं हो सकता, उसे करने की चेष्टा। असंभव के लिए प्रयास। जो अस्तित्व के गणित में ही नहीं है, उसकी खोज। इसलिए जन्मों-जन्मों तक भी खोजो, लाख रोओ-धोओ, अंतर न पड़ेगा। मन का स्वभाव प्यास है। जैसे आग गरम, ऐसा मन प्यासा है।

मन को प्यासा देखकर लगता है कि शायद मन तृप्त हो सके। भाषा के कारण भूल पैदा होती है--हम कहते हैं, मन प्यासा। तो लगता है, मन तृप्त भी हो सकेगा। जब प्यासा है तो तृप्त भी हो सकेगा। ठीक-ठीक होगा कहना, अगर हम कहें कि मन प्यास। मन प्यासा, ऐसा नहीं; मन ही प्यास है। प्यास और मन एक ही बात के दो नाम हैं। तब चीजें ज्यादा साफ होंगी।

तो प्यास तो कभी भी तृप्त नहीं हो सकती। प्यास का तो स्वभाव ही प्यास है। जब तृप्ति होगी तो प्यास न रहेगी। ऐसा थोड़े ही कहोगे--प्यास तृप्त हो गयी। ऐसा ही कहोगे, अब प्यास न रही। प्यास की तृप्ति का अर्थ होता है, प्यास का न हो जाना। और मन भी वहीं तृप्त होता है जहां नहीं हो जाता है। जहां मन मिटा, वहां तृप्ति। जब तक मन है, तब तक मन की आग जलती रहेगी। और हम इस मन की आग में खूब-खूब घृत डालते हैं। नयी-नयी आकांक्षाओं के, नयी-नयी वासनाओं के, नयी-नयी योजनाओं के। हम ईंधन को और भी प्रज्वलित करते रहते हैं।

"मेरे नैना सावन-भादौं,
फिर भी मेरा मन प्यासा।"

आंखों के रोने से मन के तृप्त होने का कोई संबंध ही नहीं है। आंखों के आंसुओं से थोड़े ही मन की तृप्ति का कुछ लेना-देना है, कि तुम कितने रोए, उस मात्रा में तृप्ति हो जाएगी। रोना-धोना बंद करो। रो तो बहुत लिये। इस रोने से तो मन की ही गति बढ़ती है। क्योंकि रो-रोकर तुम यही कहते हो कि अब तक नहीं मिला, कब मिलेगा? अब तक नहीं आयी मंजिल पास, कब आएगी? रो-रोकर तुम कहते क्या हो? रो-रोकर तुम समझाने की कोशिश कर रहे हो अस्तित्व को कि देखो मैं कितना रो रहा हूं, अब तो कृपा करो। लेकिन तुम जो मांग रहे हो, वह हो नहीं सकता। अस्तित्व के पास भी कोई उपाय नहीं है।

कंठ से मृदुगान आकर ओंठ तक
एक सिसकी प्राय होकर रह गये
दर्द से असहाय होकर रह गये
हम बड़े निरुपाय होकर रह गये
फिर वही नासूर उभरे वक्त के
एक बेबस हाय होकर रह गये
हाट खुशियों की लगायी थी यहां
अश्रु के व्यवसाय होकर रह गये

पग पहुंचते ही प्रणय-सोपान पर
स्वप्न सब कृशकाय होकर रह गये

इस जीवन में योजनाएं तो हम बनाते हैं, लेकिन कौन-सी योजना पूरी होती है? कब कौन सिकंदर जीत पाता है? कब कौन पहुंच पाता है? सपने हम सब संजोते हैं--

हाट खुशियों की लगायी थी यहां
अश्रु के व्यवसाय होकर रह गये

करते कुछ हैं, होता कुछ है। तुमने तो मांगी तृप्ति थी, आंखें आंसुएं बन गयीं। ठीक है, यही होगा। क्योंकि जिस दिशा में तुम मांग रहे हो, उस दिशा में मिलन नहीं है। भीतर चलो।

मन का अर्थ होता है, बाहर की यात्रा। बहिर्यात्रा। मन का अर्थ होता है, कहीं और खोज रहे हैं। अ-मन का अर्थ होता है, अब कहीं और नहीं खोज रहे, अपने भीतर झांक रहे हैं। अब वहीं बैठे हैं जहां अस्तित्व स्वयं का है। अब स्वयं के केंद्र पर ठहरे हैं, अकंप। जब तक ऐसा न होगा, तब तक कंठ से जो गान उठेंगे वे भी ओंठ तक आते-आते सिसकियां हो जाएंगे--

कंठ से मृदुगान आकर ओंठ तक
एक सिसकी प्राय होकर रह गये
दर्द से असहाय होकर रह गये
हम बड़े निरुपाय होकर रह गये
फिर वही नासूर उभरे वक्त के
एक बेबस हाय होकर रह गये

प्रश्न तुम्हारा समझता हूं। लेकिन तुम मेरे उत्तर को भी समझने की कोशिश करो। जब भी तुम रोए हो, तो दो तरह के उत्तर दिये गये हैं। एक तो उत्तर है सांत्वना का। जिनको तुम साधारणतः साधु-संत कहते हो, वे तुम्हें सांत्वना बंधाते हैं। वे तुम्हारे आंसू पोंछ देते हैं, पीठ थपथपा देते हैं, लोरी गा देते हैं। वे कहते हैं, सब ठीक हो जाएगा, बच्चा। प्रभु-कृपा से सब ठीक होगा। घबड़ा मत। यह ले मंत्र, इसका जाप कर। यह ले माला, इसे फेर। सब ठीक हो जाएगा। ये जो सांत्वना देने वाले लोग हैं, यही तुम्हें भटकाए हुए हैं। ये तुम्हें जगने भी नहीं देते।

तुम्हारा विषाद इतना है कि तुम्हारा विषाद जगा सकता था। लेकिन लोरी गानेवाले भी बहुत हैं, थपकियां देकर सुलानेवाले भी बहुत हैं, जो कहते हैं, अब तक ठीक नहीं हुआ, कोई फिकिर नहीं, कल ठीक हो जाएगा। भरोसा रख भाग्य पर, भगवान पर। पूजा कर, पाठ कर, हवन कर, यज्ञ कर। अब तक तूने अपनी ही तरफ से चेष्टा की थी पाने की, अब भगवान का भी साथ लेकर पाने की चेष्टा कर। अब तक तूने कोशिश तो की, लेकिन कोशिश पूरी-पूरी न थी। अब समग्र मन-प्राण से चेष्टा कर। और गहरा उपाय, और योग लगा, और विधि जुटा, और एकजुट होकर जूझ जा, जीत तेरी है। ऐसे लोग लोगों को कहते हैं, असंभव कुछ भी नहीं है।

मेरे एक शिक्षक थे। उन्हें तो कुछ अंदाज न था। मैट्रिक में मुझे पढ़ाते थे। तो उन्होंने सिकंदर का प्रसिद्ध वचन उद्धृत किया: असंभव कुछ भी नहीं है। संसार में असंभव कुछ भी नहीं है। और जब उन्होंने यह वचन उद्धृत किया तो वे इसको समझाने भी लगे कि संसार में असंभव कुछ भी नहीं है। और उन्होंने बड़ी ओजस्वी वक्तृता दी। मैंने उनसे खड़े होकर कहा कि आप जो कह रहे हैं, कितने ही अच्छे शब्दों में कहें और कितनी ही लफ्फाजी करें, यह बात सच नहीं है। क्योंकि सिकंदर की खुद की जीवन की हार कह रही है! सिकंदर के वक्तव्य से क्या होगा कि असंभव कुछ भी नहीं है! और मैंने कहा इस तख्ते पर लिखें दो और दो, और जोड़कर तीन कर दें। आप कहते हैं, असंभव कुछ भी नहीं, छोटी-सी बात है, तख्ता पास है, चाक रखी है हाथ में आपके, दो और दो को जोड़कर तीन कर दें। अगर दो और दो जुड़कर तीन हो जाएं तो मैं मान लूंगा कि असंभव कुछ भी नहीं है।

यह छोटी-सी बात भी नहीं हो सकती। लेकिन लोग अपने आंसू पोंछने में उत्सुक हैं। मेरे पास आ जाते हैं, लोग मुझसे कहते हैं कि हमारा आत्मविश्वास कैसे मजबूत हो? कोई उपाय बताएं। वे सोचते हैं, बड़ी

आध्यात्मिक खोज कर रहे हैं। आत्मविश्वास कैसे मजबूत हो! इसी तथाकथित आत्मविश्वास की वजह से तो तुम जन्मों-जन्मों भटके हो। अब तक टूटने नहीं दिया, अब तक टूटा नहीं। तुम्हारा आत्मविश्वास टूट जाए तो तुम समर्पित हो जाओ, तो तुम अर्पित हो जाओ प्रभु को। मगर ये अकड़। कोई कहता है, मेरा संकल्प, विल पावर कैसे मजबूत हो? क्या करोगे विल पावर मजबूत करके? संकल्प मजबूत करके करना क्या है? किसी को धन कमाना है, किसी को पद, किसी को प्रतिष्ठा; साम्राज्य बनाने हैं यश के, गौरव के। लेकिन कब कौन बना पाया?

तो एक तो हैं सांत्वना देने वाले संत। जो कि झूठे संत हैं। वे तुम्हारे मन की ही सेवा कर रहे हैं। हालांकि वे तुम्हें प्रीतिकर लगेंगे। क्योंकि जो भी तुम्हारे आंसू पोंछ देगा, वही प्रीतिकर लगेगा! और जो भी तुम्हें थपकी देकर सुला देगा और कहेगा कि राजा बेटा, सो जाओ, वही अच्छा लगेगा! कि कितना प्यारा संत है!

मैं उनमें से नहीं हूं। मैं तुम्हें वही कहना चाहता हूं, जैसा है। चाहे कितनी ही कड़वी हो दवा, चाहे पीने में तुम कितना ही ना-नुच करो, चाहे तुम भागो, चाहे तुम नाराज होओ, लेकिन जो है, मैं तुमसे वही कहना चाहता हूं। मैं तुम्हें सांत्वना देने में उत्सुक नहीं हूं। जगा सकूं तो ठीक, तुम्हें सुलाने में मेरी कोई उत्सुकता नहीं है।

मन जब तक है, तब तक दुख है। मन जब तक है, तब तक नर्क है। तुम मन के पार उठो। मन से बहुत झांककर देख लिया, अब जरा मन को सोने दो--तुम जागो। अब मन की खिड़की से हटो। यही तो अर्थ है ध्यान का। मन की खिड़की से हट जाना। जब कोई विचार न हो तुम्हारे भीतर--कोई विचार न हो, कोई विचार की तरंग न हो, तब प्यास बचती है? कभी एकाध क्षण ऐसा पाया जब कोई विचार नहीं है, तुम बैठे हो निर्विचार, निस्तरंग? उस क्षण कोई प्यास उठती है? उस क्षण अनुभव होता है कि मैं प्यासा हूं? उस क्षण तृप्ति ही तृप्ति बरस जाती है। उस क्षण कोई अतृप्ति नहीं होती। तो यह तो बहुत छोटा-सा गणित है--जहां तक विचार है, वहां तक प्यास; जहां से निर्विचार शुरू हुआ, वहां से तृप्ति।

तो एक ही काम करो--एक ही काम करने जैसा है। और सब करना न करने जैसा है। और सब किया एक दिन अनकिया हो जाएगा, एक ही काम करने जैसा है जो कभी अनकिया न होगा। और तुमने जो किया, मौत छीन लेगी। एक ही काम ऐसा है जो मौत नहीं छीन पाएगी, अगर तुम कर पाए। उस काम का नाम ध्यान है। थोड़ी-थोड़ी घड़ियां निकालने लगो, बैठने लगो। विचार चलते रहें, चलने दो। देखते रहो शांति से। न जाओ उनके साथ, न करो उनका विरोध। न निंदा, न स्तुति। न कहो कि यह विचार कितना सुंदर आया, न कहो कि यह कहां का दुर्विचार मेरे भीतर प्रविष्ट हुआ! नहीं कोई निर्णय लो, न्यायाधीश न बनो, साक्षी बने बैठे रहो। चलने दो यह ट्रैफिक विचार का, यह राह चलने दो, तुम बैठे रहो। काले, गोरे, सब तरह के विचार निकलेंगे; बुरे, भले, सब तरह के विचार निकलेंगे। यह राह है। इससे तुम इतना भी संबंध मत रखो कि यह मेरा मन है। तुम्हारा क्या लेना-देना है! तुम मन नहीं हो, तुम देह नहीं हो, तुम जरा भीतर से बैठकर इसे देखते रहो। देखते-देखते, देखते-देखते एक दिन ऐसी घड़ी आएगी...पहले तो बड़ी कठिनाई होगी, विचारों पर विचार आते जाएंगे, जैसे सागर में तरंगों पर तरंगें आती हैं, कोई अंत ही न मालूम होगा; बड़ा अंधेरा मालूम होगा, लेकिन घबड़ाना मत।

पनपने दे जरा आदत निगाहों को अंधेरों की
अंधेरे में अंधेरा रोशनी के काम आएगा
न जाने दर्द को दिल अब कहां आराम आएगा
जहां यह उम्र सिर रख दे कहां वह धाम आएगा
अभी कुछ और बढ़ने दे पलक पर इस समुंदर को
तभी तो मोतियों का और ज्यादा दाम आएगा

घबड़ाना मत, अगर पहले अंधेरा भी मालूम पड़े तो देखते ही चले जाना। जैसे भरी दोपहरी में कोई आता है घर, धूप से भरी आंखें, घर में प्रवेश करता है तो अंधेरा-ही-अंधेरा मालूम होता है। आंखों की थोड़ी आदत तो

बनने दो। बैठ जाता, सुस्ता लेता घड़ी भर। जैसे-जैसे सुस्ताता है, आंखें राजी होती जाती हैं। पहले घर में आकर अंधेरा मालूम हुआ था, अब अंधेरा नहीं मालूम होता। अब बड़ी शीतल रोशनी मालूम होती है।

पनपने दे जरा आदत निगाहों को अंधेरों की
अंधेरे में अंधेरा रोशनी के काम आएगा

एक बार देखने की आदत बन जाए अंधेरे को, तो अंधेरे को देखते-देखते ही रोशनी पैदा होनी शुरू हो जाती है। पहले तो बड़ा अंधकार मालूम होगा--विचार, विचार, विक्षिप्तता मालूम होगी। देखते रहना।

पनपने दे जरा आदत निगाहों को अंधेरों की

बस जरा आदत पनपने की बात है। और विचारों की इन धाराओं को देखकर बहुत बार ऐसा प्रश्न उठने लगेगा कि इसका कोई अंत होगा! यह कभी समाप्त होनेवाला है! कहते हैं बुद्धपुरुष कि समाप्त हो जाता है, लेकिन भरोसा न आएगा। बहुत बार नाव डगमगा जाएगी। बहुत बार चित्त कहेगा लौट चलो, पहले ही ठीक थे। यह किस झंझट में पड़े, समय क्यों गंवाते हो? जब भी ध्यान को बैठोगे, मन कहेगा, क्यों समय गंवाते हो, यह होनेवाला है! हुआ होगा किसी को, कम-से-कम तुम्हें तो नहीं होने वाला है। और जो तुम्हें नहीं हो सकता, वह किसी और को भी कैसे हुआ होगा! झूठी हैं सब बातें। ये ध्यान और समाधि, ये कल्पना के जाल हैं। ऐसा मन समझाएगा।

न जाने दर्द को दिल अब कहां आराम आएगा
जहां यह उम्र सिर रख दे कहां वह धाम आएगा

विचार और विचारों के तूफान और अंधड़ों में बहुत बार लगने लगेगा, है कोई ऐसी जगह जहां सिर रखकर आराम आ जाए?

जहां यह उम्र सिर रख दे कहां वह धाम आएगा

नहीं, लगेगा कि नहीं ऐसा कोई धाम है, ऐसा कोई तीर्थ नहीं है जहां सिर रखने का उपाय हो। यह विक्षिप्तता शाश्वत, अनंत मालूम होती है। यह सदा से है, सदा रहेगी। पर फिर भी मैं तुमसे कहता हूं, अगर थोड़ा धीरज रखा, तो वह धाम आ जाता है। और जितनी देर से आता है, उतना ही बहुमूल्य है।

अभी कुछ और बढ़ने दे पलक पर इस समुंदर को
तभी तो मोतियों का और ज्यादा दाम आएगा

अगर तुमने थोड़ा साहस रखा, धैर्य रखा और देखते ही चले गये, देखते ही चले गये, तो तुम धीरे-धीरे पाओगे, छोटे-छोटे झरोखे आने लगे। कभी-कभी विचार नहीं होता। एक क्षण को सपाट शून्य हो जाता है। और उसी शून्य में झरता है अमृत। उसी शून्य में तृप्ति है। उसी शून्य में प्यास नहीं होती, तुम परम तृप्त होते हो। संतुष्ट। एक गहन परितोष, आनंद, एक अपूर्व रस की धार बहने लगती है।

ऐसा पहले तो शुरू-शुरू होगा, बूंद-बूंद आएगी रस की धार, बिंदु-बिंदु परमात्मा उतरेगा। फिर एक दिन सिंधु की भांति भी उतरता है। तुम जैसे-जैसे राजी होने लगे, पात्र जैसे-जैसे तैयार होने लगा, वैसे-वैसे ज्यादा-ज्यादा रस की धार बहने लगती है।

मन से तो कोई कभी तृप्त नहीं हुआ है। जो हुए हैं तृप्त, मन के पार जाकर हुए हैं। ध्यान से तृप्ति है, मन से अतृप्ति है। ऐसा कहो, मन यानी अतृप्ति, प्यास, असंतोष। ध्यान यानी तृप्ति, संतृप्ति, परितोष।

दूसरा प्रश्न: आपने कहा कि आप न भाषाशास्त्री हैं, न अर्थशास्त्री हैं, न व्यवस्था- शास्त्री हैं। संभवतः आप कहना चाहेंगे कि आप विधिशास्त्री, समाजशास्त्री और राजनीति-शास्त्री भी नहीं हैं। तो क्या ये सब विषय परम ज्ञान में समाहित नहीं हैं? मुझे तो लगता है आप सब कुछ हैं।

परम ज्ञान का अर्थ होता है, परम अज्ञान। परम ज्ञान में कुछ भी समाहित नहीं है। सब छूट गया। सब जाना हुआ व्यर्थ मालूम होने लगा। सिर्फ जाननेवाला बचा। परम ज्ञान का अर्थ होता है, सिर्फ जाननेवाला बचा। जानी गयी बातें सब गयीं। विषय गये। सिर्फ साक्षी बचा। परम ज्ञान का संबंध ज्ञेय से नहीं है, ज्ञाता से है।

तो परमज्ञान में राजनीति तो है ही नहीं, समाजशास्त्र और विधिशास्त्र तो हैं ही नहीं। परम ज्ञान में तो धर्मशास्त्र भी नहीं है। परम ज्ञान में तो अध्यात्मशास्त्र भी नहीं है। परम ज्ञान में तो दर्शनशास्त्र भी नहीं है। परम ज्ञान में तो कुछ भी नहीं है। परम ज्ञान तो महाशून्य का नाम है। परम ज्ञान यानी परम अज्ञान। उस घड़ी तुम कुछ भी नहीं जानते। बस जाननेवाला ही शेष रह गया अपनी परमशुद्धि में। क्योंकि जो भी तुम जानते हो, वह तुम्हारे जाननेवाले को अशुद्ध करता है। विकृति होती है। मिलावट हो जाती है।

चेतना के स्वभाव को समझो।

चेतना का स्वभाव है, चेतना जो भी जानती है उसी का रूप ले लेती है। उसी का आकार ले लेती है। तदाकार हो जाती है। जैसे, जब तुमने गुलाब का फूल देखा, तो तुम्हारी चेतना गुलाब का फूल बन जाती है, उसका रूप ले लेती है। नहीं तो तुम देख कैसे पाओगे गुलाब के फूल को? गुलाब का फूल तो बाहर है, भीतर तो है नहीं; आंख से गुलाब के फूल की तस्वीर जाती। तस्वीर भी नहीं जाती, अगर तुम वैज्ञानिक से पूछो, आंख के जानकार से पूछो, तो तस्वीर भी नहीं जाती। क्योंकि आंख पर तस्वीर बनती है जरूर, पर आंख के पीछे तो सिर्फ स्नायुओं का जाल है, उनसे तस्वीर जा नहीं सकती। स्नायुओं से तो कुछ रासायनिक प्रक्रियाएं जाती हैं। रासायनिक प्रक्रियाएं जाकर तुम्हारी चेतना में पुनः किसी चीज को जन्म देती हैं। वहां तुम गुलाब का फूल देखते हो। तो तुम्हारी चेतना ही गुलाब के फूल का आकार लेती। इसलिए तो गुलाब के फूल को देखते-देखते तुम ऐसे मग्न हो जाते हो, ऐसी सुवास से भर जाते हो। तुम गुलाब के फूल हो गये। कृष्णमूर्ति बार-बार कहते हैं, "द आब्जर्वर इज द आबर्जव्ड।" वह जो अवलोकन कर रहा है, वह अवलोकित है।

जब तुम गुलाब के फूल को देखते हो, तो गुलाब का फूल तो बाहर है, उसे तो तुम देख ही नहीं सकते, तुम बाहर गये कहां? तुम भीतर हो, गुलाब का फूल बाहर है। लेकिन तुम्हारे भीतर एक गुलाब का फूल आकृति लेता है।

इसलिए सुंदर को देखो, तो तुम सुंदर हो जाते हो; असुंदर को देखो तो तुम असुंदर हो जाते हो। बुरे को देखो तो बुरे हो जाते हो, शुभ को देखो तो शुभ हो जाते हो। इसलिए संत के पास अगर तुम बैठे, तो तुम्हारे भीतर भी संतत्व आकार लेता है। दुष्ट के पास बैठे तो दुष्टत्व आकार लेता है। हत्यारे के पास बैठे, तो तुम्हारे भीतर हत्या के विचार उठने लगेंगे। तुम्हें बहुत बार इसका पता भी चलता है, लेकिन तुम कभी बहुत ठीक-ठीक विमर्श नहीं कर पाते। किसी आदमी के पास जाते हो और बड़े बुरे विचार उठते हैं। और किसी आदमी के पास जाते हो, बड़े शुभ विचारों का जन्म उठता है। किसी के पास बैठकर परमशांति का अनुभव होता है, और किसी के पास बैठकर बड़ी अशांति अनुभव होने लगती है। किसी से बचने का मन होता है, किसी को आलिंगन करने का मन होता है।

क्यों? तुम्हारे भीतर, जो भी तुम बाहर देखते हो उसके अनुकूल आकृति निर्मित होती है। तुम जो भी देखते हो, उसी के रूप में तुम ढल जाते हो। यही उपाय है देखने का, और कोई उपाय ही नहीं है। तब इसका अर्थ यह हुआ कि परम ज्ञान का तो एक ही अर्थ हो सकता है कि अब तुम किसी के आकार में नहीं ढलते। न गोबर का ढेर और न गुलाब का फूल। तुम दोनों से मुक्त हुए। शुभ-अशुभ, सुंदर-असुंदर, सबसे मुक्त हुए। अब तुम अपने रूप में हो, स्वाकार। परम ज्ञान का अर्थ होता है, अब तुम स्व-भाव में, स्व-आकार में, स्वच्छंद, स्वयं के गीत को उपलब्ध। अब किसी चीज का आकार नहीं ले रहे हो। गुलाब का आकार था, वह भी उधार था। चट्टान का आकार था, वह भी उधार था। जो भी देखा था अब तक, वह सब उधार था। एक चीज तुम पर आरोपित हो गयी थी। अब तुम किसी भी चीज से आरोपित नहीं हो रहे हो। अब तुम निराकार हो, अब कोई आकार नहीं है।

ध्यान रखना, जब मैं कह रहा हूं कोई आकार नहीं, तो इसमें तुमने बुद्ध की धारणा बनायी कि कृष्ण की धारणा बनायी, वे भी आकार सम्मिलित हैं। इसलिए झेन फकीर कहते हैं, अगर ध्यान के मार्ग पर बुद्ध मिल जाएं, तो उठाकर तलवार दो टुकड़े कर देना। ध्यान के मार्ग पर अगर बुद्ध मिल जाएं, तो उठाकर तलवार दो टुकड़े कर देना! फिर जरा भी सोच-संकोच मत करना। क्योंकि ध्यान के मार्ग पर अगर बुद्ध का आकार उठ आया, तो फिर तुम विकृत हो गये। बुद्ध का आकार भी विकृत कर देगा।

अगर ध्यान के मार्ग पर कृष्ण बांसुरी बजाने लगें, तो धक्का मार बाहर निकाल देना, कि जाओ अभी, यहां बीच में न आओ। ये कहां तुम बांसुरी लिए चले आ रहे! क्योंकि ध्यान में तो वह भी विघ्न है। चाहे क्राइस्ट दिखाई पड़ें, चाहे कृष्ण, चाहे बुद्ध, चाहे महावीर, उनको नमस्कार कर लेना! उनसे बचकर निकल जाना। अपना पल्ला छुड़ा लेना उनसे। वे तुम्हारे ही मन के विचार हैं। अंतिम विचार मन उठा रहा है। मन कहता है अब संसार से तुम छूट रहे हो, चलो, मैं तुम्हें मोक्ष दे दूं। तुम कहते हो धन में तुम्हारी उत्सुकता नहीं, मैं तुम्हें बुद्ध दे दूं। मन आखिरी प्रलोभन दे रहा है। मन कह रहा है तुम्हें जिन खिलौनों में रुचि हो, वही देने को मैं राजी हूं। कृष्ण को खड़ा कर दूं। मन कल्पनाएं कर रहा है। और सभी कल्पनाएं तुम्हें विकृत कर जाती हैं।

परम ज्ञान की अवस्था, इसलिए मैं कहता हूं, परम अज्ञान की अवस्था है। क्योंकि परम ज्ञान की अवस्था परम निर्दोषता की अवस्था है। प्राइमल इनोसेंस। वह जो मौलिक निर्दोषता है, क्वांरापन है, उसकी अवस्था है। जहां अभी ज्ञान ने ज्ञाता को विकृत नहीं किया। ज्ञान उठा, विकृति उठी। ज्ञान उठा, मन उठा। ज्ञान उठा, उपद्रव शुरू हुआ। जहां तुमने जाना, वहीं से संकीर्ण हुए। जानना मात्र संकीर्ण कर देता है। इसलिए तो उपनिषद कहते हैं कि जो कहें कि जानते हैं, जान लेना कि नहीं जानते। जो कहे कि नहीं जानता हूं, जानना कि वही जानता है। इसीलिए तो बुद्ध चुप रह गये। जब किसी ने पूछा ईश्वर को जानते हैं, तो चुप रह गये। इसका उत्तर देने में गलती हो जाएगी। उत्तर देना ही गलत होगा। जो भी उत्तर दिया जाएगा, गलत होगा। उत्तर मात्र गलत होगा। कहो कि जानता हूं, तो भूल हो गयी। कहो कि नहीं जानता हूं तो भूल हो गयी, क्योंकि जानता तो हूं। यह कहना कि नहीं जानता हूं, असत्य होगा। और यह कहना कि जानता हूं, विकृति होगी। इसलिए चुप रह जाने के सिवाय उपाय नहीं।

तो परम उत्तर तो मौन ही है। निःशब्द, शून्य ही है। परम ज्ञान में कुछ भी समाहित नहीं है। परम ज्ञान सभी चीजों से मुक्त हो जाने की परम दशा है। सबका अतिक्रमण।

लेकिन तुम कहते हो कि मुझे लगता है कि आप सब कुछ हैं। तुम्हारा लगना तुम्हारे मोह, तुम्हारी प्रीति का लक्षण है। तुम्हें मुझसे मोह है, तो तुम्हें लगता है, सब कुछ हूं। मुझे मुझसे बिलकुल मोह नहीं है, इसलिए मैं तुमसे कहता हूं, कुछ भी नहीं हूं।

तुम्हारे मोह को मैं समझता हूं। तुम्हारे मोह के कारण तुम्हें लगता होगा कि मैं सब जानता हूं। लेकिन मैं तुम्हें यह बात कह देता हूं, इसे गांठ में बांध कर रख लो कि मैं कुछ भी नहीं जानता हूं। जानना जहां तक है, वहां तक तो जाना ही कहां! वहां तक तो उपद्रव जारी है। जहां जानने से छूटे, वहीं छूटे। वहीं मुक्ति है। वहीं परम ज्ञान है। जहां जानने से छूटे, वहां परम ज्ञान है। इसका अर्थ हुआ, जहां ज्ञान से छूटे वहां परम ज्ञान है।

तो परम ज्ञान शब्द ठीक नहीं है। ज्यादा अच्छा होगा, हम कहें--परम अज्ञान।

तीसरा प्रश्न: कृपापूर्वक समझाएं कि बुद्धपुरुषों की पहचान क्या है?

न समझा सकूंगा। इस संबंध में कृपा करने का भी कोई उपाय नहीं। यह बात कही ही नहीं जा सकती। बुद्धपुरुषों की कोई पहचान नहीं। और जितनी पहचानें तुम बना लोगे, उनसे भूल-चूक करोगे। क्योंकि जब भी बुद्धत्व प्रगट होता है, तब इतना अनूठा होता है, इतना अद्वितीय, इतना बेजोड़ कि वैसा पहले कभी हुआ ही

नहीं था और वैसा पीछे फिर कभी नहीं होगा। पुनरुक्ति तो होती नहीं। तो तुम जो भी पहचान बना लोगे वह अड़चन हो जाएगी।

अगर तुमने गौतम बुद्ध को देखकर पहचान बना ली, तो तुम महावीर को न पहचान पाओगे। अगर महावीर को देखकर पहचान बना ली तो तुम कृष्ण को न पहचान पाओगे। अगर कृष्ण को देखकर पहचान बना ली, तो तुम मुहम्मद को न पहचान पाओगे। तुमने जिसको देखकर पहचान बना ली, तुम उसी से बंध जाओगे और बाकी अनंत-अनंत बुद्ध तुम्हारी आंख से ओझल हो जाएंगे।

तो पहचान से तुम चूकोगे, पहुंचोगे नहीं। क्योंकि सब पहचान संकीर्ण होगी। पहचान का मतलब होगा--एक बुद्ध की होगी, बुद्धत्व की तो कोई पहचान नहीं होती। बुद्धत्व तो बड़ी विराट घटना है। जितने बुद्ध हुए हैं, सब; जितने आज हैं, सब; और जितने भविष्य में होंगे, सब; समस्त बुद्धों में कुछ है जो एक-सा है। और कुछ है, जो बिलकुल एक-जैसा नहीं है। वह जो कुछ एक-सा है, वह आंतरिक है। वह दिखायी नहीं पड़ता, उसकी बाहर से पहचान नहीं हो सकती। और जो दिखायी पड़ता है, जो समझ में आता है, वह बिलकुल अलग-अलग है।

महावीर नग्न खड़े हैं, कृष्ण पीतांबर वस्त्रों में, सुंदर रेशमी वस्त्रों में। मोर-मुकुट बांधे हैं। बांसुरी लिए खड़े हैं। जीसस सूली पर लटके हैं। जीसस को तुम पाओगे यहूदियों के मंदिर में कोड़ा लिए, लोगों को खदेड़ते। बड़े सक्रिय हैं। इधर बुद्ध हैं, मूर्ति की भांति बोधिवृक्ष के नीचे बैठे हैं। जैसे कभी ये हिलेंगे ही नहीं, डुलेंगे ही नहीं। इधर लाओत्सु है, जो बिलकुल साधारण-से-साधारण मनुष्य की तरह जी रहा है। कि तुम्हें राह पर मिल जाएगा तो तुम पहचान न सकोगे भीड़ में। सबसे साधारण वही है। और इधर मोजिज हैं, जरथुस्त्र हैं, बड़े विशिष्ट! लाखों की भीड़ में होओगे तो भी तुम जरथुस्त्र को पहचान लोगे, वे अलग दिखाई पड़ेंगे। और फिर भी इन सबके भीतर एक ही घटना घटी है बुद्धत्व की। ये सब जाग गये हैं।

ऐसा समझो कि तुम हजार तरह के लैंप बना लो, हजार तरह की लालटेन, कंदील बना लो--किसी में लाल रंग का कांच लगा दो, किसी में पीले रंग का, किसी में हरे रंग का; किसी में बहुत मोटा कांच लगा दो, किसी में बहुत पतला कांच लगा दो; किसी में सफेद, बहुत पारदर्शी; और सब कंदील अलग-अलग ढांचे, ढंग, रूप-रंग के हों और तुम सबको जला दो, तो सभी के भीतर रोशनी एक होगी। और सभी के बाहर अलग-अलग रूप प्रगट होगा। नीले कांच से नीला रंग झरता हुआ मालूम होगा और रोशनी नीली नहीं है। रोशनी तो एक ही है भीतर। लेकिन यह जो कांच की पर्त है, यह उसे नीला कर रही है। लाल से लाल रंग झरता मालूम होगा, पीले से पीला रंग झरता मालूम होगा। कोई कंदील सतरंगी हो सकती है। उससे पूरा इंद्रधनुष निकलता मालूम होगा।

कृष्ण ऐसी ही कंदील हैं। इंद्रधनुषी। सात रंग, मोरपंख। लाओत्सु ऐसी कंदील है, इतना पारदर्शी कि तुम्हें पता ही नहीं चलेगा कि कंदील है भी, कि कांच है भी! इतना पारदर्शी! कि जब तक तुम जाकर छू ही न लोगे, तुम्हें पता ही न चलेगा। बहुत पारदर्शी कांच को दूर से तुम देख नहीं सकते। टकरा जाओगे तभी पता चलेगा कि अरे, कोई है! अलग-अलग। बुद्ध हैं, महावीर हैं। महावीर बिना कांच के, सिर्फ रोशनी जल रही है, नग्न खड़े हैं। कोई रंग-रूप नहीं है।

लेकिन रोशनी एक है। अब इस रोशनी के लिए क्या कहें? और यह रोशनी बाहर की नहीं है, यह रोशनी भीतर की, चैतन्य की, बुद्धत्व यानी चैतन्य जागरूकता की है।

मैं तुमसे यह कह भी दूं तो कुछ हल तो न होगा। मैं तुमसे कहूं कि बुद्धत्व की एक ही पहचान है, परम जागरूकता--इससे क्या हल होगा? इससे कुछ तुम्हें सहायता तो न मिलेगी। परम जागरूकता! तुम कहोगे, परम जागरूकता यानी क्या? प्रश्न वहीं-का-वहीं खड़ा रहेगा। तुम सोए हुए हो। तुमने सिर्फ सोने का स्वाद जाना है, जागरण का तो तुम्हें कुछ भी पता नहीं। जागरण शब्द तुम्हें मालूम है, जागरण का कोई अनुभव नहीं। जब तक तुम जागो न, तब तक तुम जान न सकोगे। बुद्ध हुए बिना बुद्धत्व को जानने का कोई उपाय नहीं। अनुभव काम आएगा, परिभाषा काम न आएगी।

लेकिन कुछ इशारे किये जा सकते हैं। इसको परिभाषा मत समझना, सिर्फ इशारे। इशारे और परिभाषा में फर्क समझ लेना। परिभाषा का अर्थ होता है, बात कह दी पूरी-पूरी। इशारे का अर्थ होता है, सिर्फ इंगित है। समझो तो बहुत है, न समझो तो कुछ भी नहीं है। परिभाषा का अर्थ है, यह लो परिभाषा, जो था जानने योग्य इसमें रख दिया है। इशारे का अर्थ है, ये सिर्फ इंगित है, इसे बहुत जोर से मत पकड़ लेना, नहीं तो चूक जाओगे। जैसे कोई आदमी चांद की तरफ उंगली से इशारा करे और तुम उसकी उंगली पकड़ लो कि चलो, यह चांद है। अंगुली चांद नहीं है। अंगुली चांद की परिभाषा भी नहीं है। अंगुली में कहां चांद की परिभाषा! अंगुली से चांद का क्या लेना-देना! अंगुली गोरी हो, काली हो, कुरूप हो, सुंदर हो, अपंग हो, क्या फर्क पड़ता है! बूढ़ी हो, जवान हो, स्त्री की हो, पुरुष की हो, बच्चे की हो, क्या फर्क पड़ता है! अंगुली असली न हो, लकड़ी की हो, तो भी कोई फर्क नहीं पड़ता है। अंगुली से कोई चांद का लेना-देना नहीं है। जब कोई अंगुली बताता है, तो तुम अंगुली मत पकड़ लेना। इशारे का मतलब होता है, अंगुली छोड़ो, चांद को देखो। उस तरफ देखो जिस तरफ इशारा है। ये इंगित हैं, परिभाषाएं नहीं।

पत्थर गड़े हुए हैं अक्षर मिटे हुए
अज्ञात दूरियों का अंदाज कौन दे
हर ओंठ पर जड़ी है गीतों की बेकसी
फिर पांव को थिरकने का राज कौन दे

जिस व्यक्ति के पास तुम्हें अज्ञात दूरियों का अंदाज मिले--एक इशारा, जिसके पास ज्ञात पर ही तुम समाप्त न होते होओ, जिसके पास जाकर अज्ञात की थोड़ी झलक मिले, तुम्हारे भीतर अज्ञात थोड़े पर फड़फड़ाने लगे, तुम्हारे भीतर भी जो नहीं जाना है उसे जानने की अदम्य आकांक्षा, अभीप्सा पैदा हो जाए, तुम्हारे भीतर एक नयी प्यास का जन्म हो जिससे तुम कभी परिचित ही न थे--धन की प्यास थी, पद की प्यास थी--एक नयी प्यास, सत्य की प्यास उठे।

पत्थर गड़े हुए हैं अक्षर मिटे हुए
अज्ञात दूरियों का अंदाज कौन दे

इस संसार में तो ऐसी हालत है जैसे मील का पत्थर हो और उसके अक्षर मिट गये हों। ऐसी हालत है लोगों की। लोग पथरीले हो गये हैं। और उनकी आत्मा के सब अक्षर मिट गये हैं। प्रत्येक व्यक्ति की आत्मा का तीर अनंत की और अज्ञात की ओर है, लेकिन मिट गया है, धुंधला हो गया है। समय ने, रेत ने, समय की धूल ने सब ढांप दिया है। तुम मील के पत्थर नहीं हो अब। तुम्हारे भीतर कोई इशारा नहीं है जो तुमसे पार जाता हो। तुम अपने ही पर समाप्त हो गये हो। ऐसा समझो कि जैसे मील के पत्थर को किसी ने हनुमान जी समझकर पूजा शुरू कर दी। लाल रंग से रंगे बैठे हैं और अक्षर भी मिट गये हैं, तो किसी ने फूल चढ़ा दिये। और हनुमान जी की पूजा शुरू हो गयी। अब इससे कोई इशारा आगे की तरफ नहीं जाता, ये अपने पर ही बात खतम हो गयी।

पत्थर गड़े हुए हैं अक्षर मिटे हुए
अज्ञात दूरियों का अंदाज कौन दे

इस संसार में जब कभी तुम्हें कोई ऐसा व्यक्ति मिल जाए, जिससे तुम्हारे भीतर अज्ञात की सुगबुगाहट पैदा होने लगे, तुम्हारे भीतर एक नयी खोज पैदा हो, अनजानी, अपरिचित, कभी न जानी, कभी न पहचानी; जिसके पास से तुम्हें यात्रा का एक नया द्वार खुले, एक नया आयाम, समझना कि वहां कुछ है। कोई किरण फूटी, कोई सूरज वहां ऊगा।

हर ओंठ पर जड़ी है गीतों की बेकसी
फिर पांव को थिरकने का राज कौन दे

यहां संसार में तो सब ओंठ सीए हुए हैं। गीत की तो छोड़ो, मुश्किल से गालियां निकलती हैं। गीत तो निकलते ही नहीं। यहां तो ओंठ जड़े हुए, सिले हुए पड़े हैं। लोग तो भूल ही गये हैं। उनके प्राणों का गीत पैदा ही

नहीं हुआ है। जो गीत लेकर आए थे, गाया नहीं। जो बीज लेकर आए थे, बीज की तरह पड़ा है, अंकुरित नहीं हुआ, फूला-फला नहीं।

फिर पांव को थिरकने का राज कौन दे

यहां तो नाच लोग भूल ही गये हैं, नृत्य भूल ही गये हैं, उत्सव भूल ही गये हैं। जिस किसी व्यक्ति के पास तुम्हारे पांव में थिरक आने लगे, जिस किसी व्यक्ति के पास तुम्हें नृत्य की नयी भाव-भंगिमाएं प्रगट होने लगें, तुम्हारे भीतर एक नर्तन शुरू हो, समझना कि वहां कुछ हुआ है। ये इशारे हैं, परिभाषाएं नहीं।

रात है,
सो गयी दुनिया थकन से चूर
नींद में भरपूर
कुछ क्षणों को जिंदगी की विषमता
कटुता हुई है दूर
एक-सी आंखें सभी की
एक-सी है रैन
जागती आंखें उसी की
है न जिसको चैन
मैं नहीं यह चाहता सोता रहे जग
हो सदा ही रैन,
चाहता हूं किंतु,
कर्मठ-दिवस में भी नींद-सा हो चैन
सुनो फिर से--
मैं नहीं यह चाहता सोता रहे जग
हो सदा ही रैन,
चाहता हूं किंतु,
कर्मठ-दिवस में भी नींद-सा हो चैन

जिस व्यक्ति के कर्म में भी तुम्हें नींद-जैसे चैन की प्रतीति हो; जो चले और फिर भी अनचला मालूम पड़े; जो बोले और फिर भी अनबोला मालूम पड़े; जो उठे-बैठे और फिर भी जिसके भीतर कुछ उठता-बैठता न हो; जो सोए भी और तुम देखो भी कि सोया है, और फिर भी तुम जानो कि उसके भीतर कुछ जागा है; जो सोए-सोए जागा हुआ हो; जो जागा-जागा भी ऐसा शांत हो जैसे सोया है--

चाहता हूं किंतु,
कर्मठ-दिवस में भी नींद-सा हो चैन

तो जानना बुद्धत्व की किरण वहां पैदा हुई है। जहां अपूर्व शांति का राज्य हो, जिसकी मौजूदगी में, जिसकी उपस्थिति में तुम भी शांत होने लगो, तुम्हारा भागा-भागा मन भी घर लौटने लगे, जिसके पास बैठकर तुम अपने भीतर एक खिंचाव अनुभव करो कि तुम अपने भीतर खींचे जा रहे हो, जो तुम्हें तुम्हारे भीतर पहुंचाने लगे, सिर्फ मौजूदगी से, सिर्फ उपस्थिति से--यही सत्संग का अर्थ है--तो जानना बुद्धत्व घटित हुआ है।

मगर, फिर मैं दोहरा दूं--ये इशारे हैं। इनको परिभाषाएं मत समझ लेना।

सिमटकर आज बांहों में चलो आकाश तो आया
उतरकर एक टुकड़ा चांदनी का पास तो आया
ठहरते थे जहां पर आंसुओं के काफिले आकर
अचानक उन किवाड़ों के किनारे हास तो आया
अभी तक पतझरों से ही हुआ था उम्र का परिचय
चलो वातायनों से फिर मलय-वातास तो आया

जिसके पास तुम्हें ऐसा लगे कि खुल गया आकाश; जिसकी मौजूदगी दीवाल न बने, जिसकी मौजूदगी द्वार बने; जिसके पास से विराट और तुम्हारे बीच कुछ कानाफूसी होने लगे--कानाफूसी कह रहा हूं, इसलिए कह रहा हूं कानाफूसी कि ये इशारे हैं--जिसके पास कुछ झलकें, आहटें, पदचाप सुनायी पड़ें...धुंधले-धुंधले होंगे, साफ तो हो नहीं सकते क्योंकि तुम सोए हुए हो। सोए हुए आदमी के पास कोई नाच भी रहा हो, तो भी उसे पक्का तो पता नहीं चलेगा, नींद में कभी-कभी घूंघर बज जाएंगे, कभी पैरों की ताल मालूम पड़ जाएगी, कभी बजती ढोलक का कोई एक स्वर भीतर प्रविष्ट हो जाएगा, कभी करवट लेते वक्त थोड़ा गहरी नींद न होगी, हल्की नींद होगी तो कोई धुन भीतर प्रवेश कर जाएगी, बस ऐसा। तुम सोए हो। तो तुम बुद्धत्व को पूरा-पूरा आंख खोलकर तो नहीं देख सकते, सीधा-सीधा तो नहीं देख सकते, इसलिए कानाफूसी, पदचाप। वे भी नींद में और दूर से सुने गये।

कभी तुमने देखा, सुबह-सुबह जागने के करीब हो, नींद टूट रही है, नहीं भी टूटी है; जागे भी, नहीं भी जागे; आधे-आधे, बीच में हो; दूधवाला दस्तक देने लगा द्वार पर, राह चलने लगी, बच्चे स्कूल जाने की तैयारी करने लगे, किचन में पत्नी काम-धाम करने लगी, ऐसी टूटी-फूटी आवाजें सुनायी पड़ रही हैं, तुम जागे भी नहीं हो, तुम सोए भी नहीं हो। तुम इतने भी नहीं सोए हो कि कुछ सुनायी भी न पड़े, तुम इतने जागे भी नहीं हो कि साफ-साफ सुनायी पड़ जाए, ऐसी तुम्हारी दशा है। ऐसी दशा में बुद्धत्व की पहचान और परिभाषा पूरी-पूरी तुम्हारे हाथ में नहीं हो सकती। इसलिए कहता हूं, इशारा।

सिमटकर आज बांहों में चलो आकाश तो आया
उतरकर एक टुकड़ा चांदनी का पास तो आया

और तुम पूरे बुद्धत्व की परिभाषा की फिकिर छोड़ो। तुम्हारे पास तो उतरकर चांदनी का एक छोटा सा टुकड़ा भी आ जाए तो तुम समझना बहुत है। तुम्हें तो थोड़े-बहुत लक्षण मालूम हो जाएं तो बहुत है। तुम इस पागलपन में मत बैठना कि तुम जब पूरा-पूरा पक्का पता लगा लोगे कि यह आदमी बुद्ध है, जब पक्की पहचान हो जाएगी और सरकारी सर्टिफिकेट मिल जाएगा, तब तुम झुकोगे। तो तुम कभी न झुकोगे।

एक बात खयाल रखना कि बुद्ध कभी भी सरकारी संत नहीं रहे हैं। अब तक तो नहीं रहे हैं। बुद्ध कोई विनोबा भावे नहीं हैं, कोई सरकारी संत नहीं हैं। बुद्धत्व तो मौलिक रूप से क्रांति है, विद्रोह है, बगावत है। आमूल। आचूल। कौन प्रमाणपत्र देगा? कोई काशी की पंडितों की सभा प्रमाणपत्र थोड़े ही देगी बुद्ध को! वह तो जिनको दे, समझ लेना कि वह बुद्ध नहीं है। क्योंकि काशी के पंडित और बुद्धों को, वह संभव नहीं है! उनके प्रमाणपत्र तो इसी बात की खबर हैं कि कम-से-कम इतना तय हो गया कि यह आदमी बुद्ध नहीं है, चलो, इससे झंझट मिटी। बुद्धपुरुष तुम्हें पोप की पदवियों पर नहीं मिलेंगे और न शंकराचार्यों की पदवियों पर मिलेंगे। क्योंकि ये तो परंपराएं हैं। और परंपरा में जो आदमी सफल होता है, वह मुर्दा हो तो ही सफल हो पाता है। परंपरा के द्वारा पद पाना सिर्फ मुर्दों के भाग्य में है, जीवंत लोगों के भाग्य में नहीं। यह सौभाग्य है जीवितों का और मुर्दों का दुर्भाग्य!

इसलिए तुम कैसे पहचानोगे? और पूरी पहचान का तुम विचार ही मत करना। क्योंकि तुम, तुम पूरा पहचानोगे! तो तुम बुद्ध हो जाओगे। तुम बुद्ध होते तो पहचानने की जरूरत न थी। क्या प्रयोजन था! तुम नहीं हो, इसीलिए तो पहचानने चले हो। इसलिए पूरे-पूरे का खयाल मत करना।

सिमटकर आज बांहों में चलो आकाश तो आया
उतरकर एक टुकड़ा चांदनी का पास तो आया

छोटा-सा टुकड़ा चांदनी का तैर आए तुम्हारे पास, तो बहुत धन्यभाग! अहोभाग! तुम उतने पर ही भरोसा करना। उसी चांदनी के टुकड़े को पकड़कर अगर बढ़ते रहे, चलते रहे, तो किसी दिन पूरे चांद के भी मालिक हो जाओगे। किसी दिन पूरा आकाश भी तुम्हारा हो जाएगा। तुम्हारा है; लेकिन अभी तुम्हें पहुंचना नहीं

आया, चलना नहीं आया। अभी तुम घुटने के बल चलते हुए छोटे बच्चे की भांति हो। अभी तुम्हें चलने का अभ्यास करना है।

ठहरते थे जहां पर आंसुओं के काफिले आकर
अचानक उन किवाड़ों के किनारे हास तो आया
किसी व्यक्ति के पास तुम्हें जीवन के परमहास का थोड़ा-सा भी स्वाद आ जाए।

तो संत उदास नहीं होंगे। बुद्धपुरुष उदास नहीं होंगे। जिनको तुम देखते हो मंदिरों-मस्जिदों में बैठे गुरु-गंभीर लोग, लंबे चेहरों वाले लोग, बुद्धपुरुष वैसे नहीं होंगे। बुद्धपुरुष तो उत्सव है। बुद्धपुरुष तो ऐसा है जिसमें अस्तित्व के कमल खिल गये। कहां उदासी! कहां लंबे चेहरे! बुद्धपुरुष गंभीर नहीं। बुद्धपुरुष के पास तो तुम्हें एक मृदुहास मिलेगा। हलकी-हलकी हंसी। एक मुस्कुराहट। एक स्मित। एक उत्सव। एक आनंदभाव।

ठहरते थे जहां पर आंसुओं के काफिले आकर
अचानक उन किवाड़ों के किनारे हास तो आया

तो तुम्हारी आंसुओं से भरी आंखों और तुम्हारे कारागृह में दबे हुए चित्त के पास अगर तुम्हें कभी कोई एक स्मित, एक हास, एक उत्सव की झलक भी आ जाए, तो छोड़ना मत उन चरणों को। उन्हीं चरणों के सहारे तुम परममुक्ति और स्वातंत्र्य के आकाश तक पहुंच जाओगे।

अभी तक पतझरों से ही हुआ था उम्र का परिचय
चलो वातायनों से फिर मलय-वातास तो आया

अभी तक तो तुम्हारी पहचान पतझड़ से ही थी। पतझड़...और पतझड़...और पतझड़...ऐसा ही तुमने जाना था। तुम्हारे जीवन का राग आंसुओं और रुदन से भरा था। तुमने जीवन का कोई और अहोभाव का क्षण तो जाना नहीं था। नर्क ही नर्क जाना था। जिस किसी क्षण में किसी व्यक्ति के पास तुम्हें लगे--चलो वातायनों से फिर मलय-वातास तो आया। और तुम्हें ऐसा लगे कि हवा का एक झोंका आया--मलय-वातास--शुभ्र, स्वच्छ, ताजा, सुबह का, मलयाचल से चलकर, ताजात्ताजा पहाड़ों से उतरकर, ऊंचाइयों से उतरकर, तुम्हारी नीचाइयों पर, तुम्हारी घाटियों में, तुम्हारे अंधेरे में। एक हवा का झोंका जिसके पास अनुभव में हो जाए, समझना कि बुद्धत्व करीब है। कुछ घटा है।

फिर दोहरा दूं, ये इशारे हैं। इशारों को बहुत जोर से मत पकड़ना अन्यथा उनके प्राण निकल जाते हैं। इशारों को ऐसा मत पकड़ना कि उनकी फांसी लग जाए। ये परिभाषाएं नहीं हैं। परिभाषा तो हो नहीं सकती--सिर्फ इंगित हैं।

इंगित को बड़ी सहानुभूति, प्रेम से अपने भीतर डूब जाने देना। तो फिर बुद्धपुरुष कितने ही भिन्न-भिन्न हों--बुद्ध हों कि महावीर हों कि कृष्ण हों कि राम हों कि जरथुस्त्र कि मुहम्मद, कुछ फर्क न पड़ेगा। कुछ बातें--अनंत का अनुभव उनके पास, शांति की प्रतीति उनके पास, ताजी हवा का झोंका उनके पास, चांदनी का एक टुकड़ा उनके पास, ये इशारे भी मैंने कविता से दिये हैं। क्योंकि कविता को हृदय तक जाने की ज्यादा सुगमता है। जहां गद्य नहीं पहुंच पाता, वहां पद्य प्रवेश कर जाता है। गद्य के साथ तो तुम तर्क करने लगते हो, पद्य के साथ तुम तर्क नहीं करते, उसे तुम पी लेते हो, ज्यादा आसानी से पी लेते हो, वह गले से ज्यादा जल्दी उतर जाता है।

पद्य में ये टुकड़े मैंने तुमसे कहे। इन्हें याद रखने की भी बहुत जरूरत नहीं है। बस इनका स्वाद तुम्हें लग जाए। तो भूल-चूक होगी नहीं। बुद्धत्व इतनी बड़ी घटना है कि पहचान में न आए यह तो हो ही नहीं सकता। बुद्धत्व इतनी बड़ी घटना है कि अगर तुम जरा खुले मन के हुए और गये बुद्ध के पास, तो तुम पहचान ही लोगे। परिभाषा के बिना पहचान लोगे। खतरा यही है कि लोग जाते ही नहीं। लोग इतने डरते हैं कि अगर गये तो कहीं फंस ही न जाएं, इसलिए जाते ही नहीं। दूर ही रहते हैं। ऐसी झंझट में नहीं पड़ते हैं।

अगर तुम पास गये किसी बुद्धपुरुष के, तो तुम पहचान ही लोगे; ये हो कैसे सकता है कि तुम न पहचानो! यह भी हो सकता है कि अंधे को सूरज दिखायी न पड़ता हो लेकिन सुबह जब सूरज की धूप फैलती है तो अंधे को उसका स्पर्श तो होगा। ऊष्मा तो अनुभव होगी। उत्ताप तो अनुभव होगा। यह तो अंधे को भी पता चलेगा कि रात गयी। पक्षी गीत गाने लगे। प्रभात की प्रभाती शुरू हो गयी। यह तो अंधे को भी पता चलेगा कि अभी

सब सन्नाटा था, सब सोया था, सब मुर्दा पड़ा था, अब फिर पुनरुज्जीवित हो गया, फिर गुनगुनाहट है। सूरज चाहे दिखायी न पड़े, लेकिन सूरज का ताप, ऊष्मा तो प्रतीत होगी। वह तो अनुभव में आएगा। अंधे को भी सूरज की प्रतीति तो होती है। अंधा भी जानता है कब रात हो गयी, कब दिन हो गया।

माना कि तुम अभी भीतर की आंख वाले नहीं, लेकिन बुद्धपुरुष के पास जाओगे तो यह मलयाचल से आती हवा का टुकड़ा तुम्हें स्पर्श करेगा। तुम इसमें नहा जाओगे। तुम ताजे हो जाओगे। यह चांदनी का टुकड़ा तुम पर बरस जाएगा। तुम अपूर्व रस में विमुग्ध हो जाओगे। यह काव्य बुद्ध के अस्तित्व का तुम्हारे भीतर कोई धुन बजाने लगेगा। यह बुद्ध की वीणा तुम्हारे भीतर कानाफूसी करेगी। तुम परिभाषाओं की फिकिर छोड़ो, पास जाने की हिम्मत जुटाओ। परिभाषाएं पंडितों के लिए छोड़ दो। खोजियों के लिए परिभाषाओं से काम नहीं चलता। खोजी को अनुभव चाहिए। और अनुभव सामीप्य से मिलता है। सत्संग से मिलता है।

हर पत्ते पर है बूंद नयी
हर बूंद लिये प्रतिबिंब नया
प्रतिबिंब तुम्हारे अंतर का
अंकुर के उर में उतर गया
भर गयी स्नेह की मधुगगरी
गगरी के बादल बिखर गये

जब तुम आओगे किसी बुद्धपुरुष के निकट, झुकोगे, तो तुम पाओगे सब नया हो गया। अब तक सब पुराना था, जराजीर्ण, खंडहर जैसा, सड़ा-गला, बदबू से भरा, कूड़ा-करकट, कचरे का ढेर।

हर पत्ते पर है बूंद नयी
बुद्धत्व का संस्पर्श सब नया कर जाएगा।
हर पत्ते पर है बूंद नयी
हर बूंद लिये प्रतिबिंब नया
प्रतिबिंब तुम्हारे अंतर का
अंकुर के उर में उतर गया
भर गयी स्नेह की मधुगगरी
गगरी के बादल बिखर गये

और तुम एक अपूर्व घटना अनुभव करोगे। तुम जो सदा प्रेम से रिक्त थे, तुम्हारे स्नेह की गगरी भी भर गयी। न केवल भर गयी, बह गयी। फूट पड़ी। लुटने लगी। न केवल तुम प्रेम से भर गये, बल्कि तुमसे प्रेम की धाराएं औरों की तरफ भी विस्तीर्ण होनी शुरू हो गयीं। जिस व्यक्ति के संस्पर्श में तुम्हारे भीतर प्रेम जग जाए, जानना कि बुद्धत्व घटा है। जिस व्यक्ति के संस्पर्श में तुम्हारे भीतर इतना प्रेम जग जाए कि न केवल तुम उसे सम्हाल ही न पाओ, तुम लुटाने लगो, तो समझना कि बुद्धत्व की महाक्रांति घटित हुई है। बुद्धत्व का सूर्य ऊगा है।

चौथा प्रश्न: प्रथम और अंतिम स्वतंत्रता के बीजरूप को कृपा करके हमें कहिए।

फिर बीजरूप में ही कहता हूं।

स्वतंत्रता का प्रथम और अंतिम सूत्र छोटा-सा है। इतना-सा ही है कि तुम स्वतंत्र हो, कुछ करना नहीं है। कि तुम स्वतंत्र हो, होना नहीं है। प्रयास, चेष्टा, साधना, कुछ भी नहीं। स्वतंत्रता तुम्हारा स्वभाव है। स्वतंत्रता है ही। तुम जीना शुरू करो। तुम ऐसे जीना शुरू करो जैसे स्वतंत्र हो। और तुम रोज-रोज पाओगे स्वतंत्रता बढ़ती जाती है। और एक दिन तुम पाओगे, खूब पागल थे हम भी, नाहक गुलाम होने का ढोंग कर रहे थे। स्वतंत्र हम थे। सिर्फ तुम्हारा अभ्यास है गुलामी का, स्वतंत्रता तुम्हारा स्वभाव है। तुम उसकी उदघोषणा करो। स्वतंत्रता पानी नहीं है, स्वतंत्रता है ही। सिर्फ प्रगट करनी है। जैसे बीज में छिपा है वृक्ष, ऐसे ही स्वतंत्रता तुममें छिपी है।

तो इतना ही सूत्र है प्रथम और अंतिम स्वतंत्रता का कि तुम्हें स्वतंत्र होना नहीं है, तुम स्वतंत्र हो। इस बात को हृदयंगम करो, इस बात को अपने में उतर जाने दो कि तुम्हारे हृदय के अंतरतम में विराजमान हो जाए।

अष्टावक्र की पूरी महागीता का स्वर इतना-सा है कि तुम सिद्ध हो, तुम्हें साधक नहीं होना है।

पांचवां प्रश्न: आप हमें अनेक-अनेक बहानों से, अनेक-अनेक आयामों से जीवन-बोध दे रहे हैं, पर वह रोज-रोज और-और अबूझ, रहस्यमय, आश्चर्यजनक होता जा रहा है। क्या जीवन के विराट होने, जीवन के अनंत होने, जीवन के नितनूतन होने का अभिप्राय यही है? कृपा करके हमें कहें।

जीवन रहस्य है। तो जितना-जितना तुम जानोगे, उतना-उतना रहस्यपूर्ण हो जाएगा। तुम इस खयाल में मत रहना कि जीवन को जान लोगे तो रहस्य समाप्त हो जाएगा। ऐसा मत मान लेना। साधारणतः लोगों को यही खयाल है कि जिस बात को जान लिया, उसमें रहस्य समाप्त हो जाता है। विज्ञान की यही धारणा है कि जिस बात को जान लिया, उसमें फिर कोई रहस्य नहीं। विज्ञान रहस्यघातक है। और बड़ा खतरनाक है। विज्ञान के कारण ही संसार से आश्चर्य-भाव खो गया है। लोग किसी चीज से आश्चर्यचकित नहीं हैं।

जर्मन कवि गेटे ने लिखा है कि यहां एक-एक चीज आश्चर्यजनक है, पर हम न मालूम कैसे जड़ हैं कि हमें किसी बात में कोई आश्चर्य नहीं मालूम होता!

एक अंकुर फूटता है बीज से, तुम इससे बड़ा और आश्चर्य खोज सकोगे? एक वृक्ष पर नया पल्लव आता, नयी पत्ती फूटती, तुम इससे बड़ा कोई आश्चर्य खोज सकोगे? किसी स्त्री के गर्भ में एक नये बच्चे का आविर्भाव होता है, तुम उससे बड़ा और आश्चर्य खोज सकोगे?

तुम जरा सोचो, रोज रात आकाश तारों से भर जाता, अगर ऐसा एक हजार साल में एक ही बार होता होता, तो लोग नाचते उस रात। कोई सोता नहीं। एक हजार साल में अगर एक बार ऐसा होता कि रात तारों से भर जाती, तो सारी पृथ्वी जागी रहती--लोग नाचते, उत्सव मनाते, धूमधाम करते, गीत गाते और चकित होते लोग कि कैसा अदभुत! और रात रोज तारों से भरती है, कोई नहीं नाचता। रोज के कारण, परिचित होने के कारण तुम आश्चर्य को अनुभव नहीं करते हो। तुम अगर गौर से देखोगे तो जीवन सब तरफ आश्चर्य ही आश्चर्य है, रहस्य ही रहस्य है। लेकिन विज्ञान बड़ा रहस्यघाती है। वह रहस्य का दुश्मन है। और विज्ञान ने लोगों के जीवन को बड़े दुख से भर दिया है। क्योंकि जहां रहस्य समाप्त हो गया, वहां जीवन का काव्य नष्ट हो जाता है। जहां जीवन का काव्य नष्ट हुआ, वहां जीवन का धर्म नष्ट हो जाता है। जहां जीवन से धर्म नष्ट हुआ, वहां जीवन में कुछ अर्थ नहीं बचता। एक व्यर्थ कथा, किसी मूर्ख के द्वारा कही हुई। शोरगुल बहुत, अर्थ कुछ भी नहीं।

रहस्य ही प्रभु का पदचाप है। यहां जो मैं कह रहा हूं, यह कोई रहस्य को नष्ट करने के लिए नहीं। यहां तो जो कहा जा रहा है उससे तुम रहस्य के प्रति जागो, खूब जागो। जागते ही चले जाओ और रहस्य बड़ा होता चला जाए। यही धर्म और विज्ञान का फर्क है।

धर्म का जानना ऐसा जानना है जिससे रहस्य समाप्त नहीं होता, और रहस्यपूर्ण, और रसमय हो जाता है। तुम्हारा अहोभाव बढ़ता जाता है। विज्ञान रहस्य को नष्ट कर देता है, धर्म रहस्य पर पड़ी हुई धूल को झाड़ता है और रहस्य को पुनः-पुनः ताजा करता है।

तो यह जो यहां कह रहा हूं तुमसे, रहस्य बढ़ाने को। तुम्हें रहस्यवादी बनाने को। तुम्हें बनाना है रहस्य के जगत में डूबे हुए अपूर्व जन। जिनका रोआं-रोआं रहस्य से भरा है, रोमांचित है।

बात इतनी सी कहानी हो गयी
एक चूनर और धानी हो गयी

गंध ले जाती बिना मांगे हवा
देह जब से रातरानी हो गयी
उम्र अचानक हीर हो गयी
निर्धन नजर अमीर हो गयी
एक दस्तूर किया तुमने
प्यार मशहूर किया तुमने
कांच का रूप तराश दिया
एक कोहनूर किया तुमने
सेहरा को सागर
सूखी नदी को पूर किया तुमने
पिलाकर प्राणों को मदिरा
नशे में चूर किया तुमने
बात इतनी सी कहानी हो गयी
एक चूनर और धानी हो गयी

यहां तो काम जो है, वह रंगरेज का है। यहां तो चूनर रंगनी है--और धानी। यहां तो काम मधु पिलाने का है, यह तो मधुशाला है। आश्रम शब्द से तुम धोखे में मत पड़ना। यह शब्द तो सिर्फ लोगों को धोखा देने के लिए है। यहां तो एक मधुशाला है।

पिला कर प्राणों को मदिरा
नशे में चूर किया तुमने
बात इतनी सी कहानी हो गयी
एक चूनर और धानी हो गयी

रंगना है तुम्हारी चूनर को रहस्य के अनंत-अनंत रंगों में। रंगना है तुम्हारे प्राणों को रस के नये-नये आयामों में। नयी-नयी भाव-भंगिमाएं तुममें उदित हों। नये-नये मंदिरों के शिखर तुममें उठें। नये गीतों का जन्म हो। नये नृत्य तुम नाचो। नयी वीणाएं तुम बजाओ, नितनूतन। तुम खोजो, और जितना खोजो, उतना ही पाओ कि और खोजने को हो गया मौजूद। जितना खोजो, उतना खोज बढ़ती जाए। खोज कभी अंत पर न आए। यात्रा सिखाता हूं मैं, मंजिल तो बहाने हैं। मंजिल की बात करता हूं ताकि तुम दौड़ो; ताकि तुम चलो। मजा तो यात्रा का ही है, यात्रा ही मंजिल है।

बात इतनी सी कहानी हो गयी
एक चूनर और धानी हो गयी
गंध ले जाती बिना मांगे हवा
देह जब से रातरानी हो गयी

तुम्हारे जीवन में खिलें फूल, तुम्हारा अंतर्कमल खिले। यह कमल तुम्हें ज्ञानी नहीं बना जाएगा, यह कमल तुम्हें परम अज्ञानी बना जाएगा, तुम निर्दोष बालक की भांति हो जाओगे। छोटे बच्चे की भांति, जो सागर के तट पर शंख बीनता, सीप बीनता, रंगीन पत्थर बीनता और हर रंगीन पत्थर को ऐसे सम्हालकर रखता जैसे कोहनूर हीरा हो। बड़े-बूढ़े समझाते हैं कि फेंक, पत्थर कहां ढो रहा है? यह बोझ क्यों लिये चल रहा है? यह कचरा क्यों इकट्ठा कर रहा है? छोटे बच्चे को समझ में नहीं आता कि तुम किस चीज को कचरा कह रहे हो? इन रंगीन पत्थरों को! इन अपूर्व पत्थरों को! इन सीप-शंखों को!

जब तुम्हारे भीतर का कमल खिलेगा, फिर तुम दुबारा बच्चे हो जाओगे। और अबकी बार ऐसे बच्चे होओगे जो फिर कभी बूढ़ा नहीं होता। यह अंतर का जन्म होगा।

गंध ले जाती बिना मांगे हवा
देह जब से रातरानी हो गयी
उम्र अचानक हीर हो गयी
निर्धन नजर अमीर हो गयी

एक दस्तूर किया तुमने
प्यार मशहूर किया तुमने
कांच का रूप तराश दिया
एक कोहनूर किया तुमने
सेहरा को सागर
सूखी नदी को पूर किया तुमने
पिलाकर प्राणों को मदिरा
नशे में चूर किया तुमने

आकांक्षा यही है यहां कि तुम नाच सको। और यह नाच कृत्रिम न हो। यह नाच हार्दिक हो। स्वस्फूर्त हो। यह नाच ऐसा न हो जैसा कि नर्तक का होता है। यह नाच ऐसा हो जैसे मीरा का था, चैतन्य का था। यह नाच कोई अभ्यास न हो, यह तुम्हारी सहज तरंग हो। तुम तरंगी बनो, लहरी बनो, तुम मदमस्त बनो, तुम पर एक मस्ती का आलम छा जाए, इसकी चेष्टा चल रही है।

इसलिए रहस्य घटेगा नहीं। रहस्य को घटाना नहीं है, रहस्य को महारहस्य बनाना है। महारहस्य को परम आत्यंतिक रहस्य बनाना है, जो कभी हल होता ही नहीं। जो हल हो जाए, वह बात धर्म की नहीं। जिसका अंत आ जाए, वह बात सत्य की नहीं। जो चुक जाए, वह अस्तित्व नहीं। यह अस्तित्व तो चुकता नहीं।

यहां एक शिखर तुम चढ़े और सोचते थे कि बस अब आ गयी मंजिल, कि जब तुम शिखर चढ़ जाते हो, पाते हो और बड़ा शिखर सामने प्रतीक्षा कर रहा है। सोचते हो, चलो और थोड़ी यात्रा है, इसे और गुजार लो, लेकिन जब तुम नये शिखर पर पहुंचते हो तो और बड़ा शिखर नयी चुनौती बनकर खड़ा है। शिखर पर शिखर हैं और द्वार पर द्वार। और रहस्य पर रहस्य हैं। इनका अंत नहीं है। परमात्मा इन्हीं अर्थों में तो अनंत है।

धरणी पर छायी हरियाली
सजी कली-कुसुमों से डाली
मयूरी, मधुबन-मधुबन नाच
मयूरी नाच, मगन मन नाच
समीरण सौरभ सरसाता
घुमड़ घन मधुकण बरसाता
मयूरी नाच, मदिर मन नाच
मयूरी नाच, मगन मन नाच

तुम नाच सको मयूर जैसे। और प्रभु के मेघ तो सदा ही घिरे हैं। अषाढ़ तो सदा ही मौजूद है। तुम फुदक सको, तुम पुलकित हो सको, इसकी चेष्टा चल रही है। यहां मैं तुम्हें धार्मिक बनाने में उत्सुक नहीं हूं, यहां मैं तुम्हें जीवंत बनाने में उत्सुक हूं। और मेरे लिए जीवंतता ही धर्म है। मैं यहां तुम्हें किन्हीं सिद्धांतों और शास्त्रों की मान्यता में रूपांतरित करने के लिए आतुर नहीं हूं। तुम्हें हिंदू, मुसलमान, ईसाई, जैन बनाने में मेरी जरा उत्सुकता नहीं है। तुम्हारा यही तो दुर्भाग्य है कि तुम कुछ बनकर बैठ गये हो। तुम्हारी सारी धारणाएं छीन लेने में उत्सुकता है। क्योंकि तुम्हारी धारणाओं के कारण ही तुम इतने बोझिल हो गये हो कि नाच नहीं पाते। मयूर के पैरों में पत्थर बंधे हैं, गले में शास्त्र बंधे हैं, पंडित-पुरोहित मयूर के ऊपर बैठे हैं, मयूर नाचे तो खाक नाचे! तुम्हारी सब धारणाएं, तुम्हारे सब सिद्धांत, विश्वास, सब हटा लेने हैं। ताकि केवल जीवन की श्रद्धामात्र तुम्हारी एकमात्र श्रद्धा रहे। और जीवन का मंदिर तुम्हारा एकमात्र मंदिर हो।

रहस्य तो बढ़ेगा। बढ़ता जाए तो ही समझना कि तुम मेरे साथ हो। जहां रहस्य रुकने लगे, अटकने लगे, समझना कि तुमने मेरा साथ छोड़ दिया। तुमने कुछ सिद्धांत बना लिए। तुम रुक गये। तुम राह के नीचे उतरकर किनारे पर तंबू गाड़ लिये और तुमने घर बना लिया। मेरे साथ पड़ाव तो बहुत आएंगे, मंजिल कभी नहीं। और हर मंजिल पड़ाव से ज्यादा नहीं है, क्योंकि और आगे है और आगे है यात्रा। बुद्ध ने कहा है, चरैवेति, चरैवेति। चले चलो, चले चलो। अंत कहीं भी नहीं है। सत्य की कोई सीमा नहीं है।

नये का स्वागत करते चलो। रोज-रोज नया सूरज ऊगेगा। रोज-रोज नये भावों के स्वाद तुम्हें दूंगा। उसका स्वागत करते चलो।

जिसके स्वागत में नभ ने
बरसा दी हैं जोहनियां सभी
और बड़ ने छांव बिछा डाली है
वह तू ऊषा
मेरी आंखों पर तेरा स्वागत है
पत्तों की श्यामता के
द्वीप डुबोते हुए
हस्न-हिना की गंध ज्वार सी
हरित श्वेत जो उदय हुई है
वह तू ऊषा
मेरी आंखों पर तेरा स्वागत है

वेद में ऊषा के बड़े स्तुतिगान हैं। सुबह के बड़े गीत हैं। वे नये के स्वागत में गाये गये गीत हैं। ऊषा की प्रशंसा में जो कहा गया है, वह जो नितनूतन है, उसकी प्रशंसा में कहा गया है। ऊषा तो प्रतीक है। सुबह तो प्रतीक है। नये का। नयी कोंपल का। नये वसंत का। नये रहस्य का।

तुम रोज-रोज सूरज को, नये सूरज को ऊगते देखकर पुनः-पुनः उसका स्वागत कर सको और पुनः-पुनः नये-नये आविष्कार कर सको रहस्य के; जहां कल चूक गये थे वहां आज न चूको, जहां आज चूक गये थे वहां फिर कल न चूको। और इतना है रहस्य कि तुम उघाड़ते जाओ, उघाड़ते जाओ, उघाड़ते जाओ, तुम कभी उघाड़ तो नहीं पाओगे। परमात्मा को जानने का यही अर्थ होता है, उतर गये उसमें, डुबकी लगा ली उसमें। एक किनारा छूट जाता है, दूसरा किनारा कभी मिलता नहीं। मझधार में ही नौका रहती सदा। इसीलिए गति है, गत्यात्मकता है, गंतव्य कोई भी नहीं है।

मैं तुम्हारी तकलीफ भी जानता हूं। तुम गंतव्य में उत्सुक हो, मैं गति में उत्सुक हूं। मेरी और तुम्हारी बड़ी...तालमेल है नहीं। तुम उत्सुक हो कि जल्दी पहुंच जाएं, अब और कितनी देर लगेगी! मैं उत्सुक हूं कि तुम चलने में मजा लेने लगो और पहुंचने का रस छोड़ दो। तुम्हारी उत्सुकता है कि कब आ जाए मंजिल कि गिर पड़ें और सो जाएं, मेरी उत्सुकता है कि मंजिल कभी न आए ताकि तुम अब कभी सो न पाओ, सदा जागे रहो, सदा चलते रहो--चरैवेति, चरैवेति--और ऊषा का सदा स्वागत करते रहो।

प्रभु तो रोज-रोज आता, बहुत रूपों में आता। कभी किसी पक्षी के स्वर से; कभी हवा का झोंका गुजरता वृक्षों से, उसमें; कभी किसी बादल के टुकड़े में तैर आता; कभी सूरज की किरणों में; कभी सागर की लहर में; कभी किसी स्त्री की आंखों में; कभी किसी बच्चे की मुस्कुराहट में; कभी किसी पुरुष के रूप में; कभी किसी की शांति में, और कभी किसी के क्रोध में भी; कभी किसी की उदासी में भी। अनंत-अनंत रूपों में गीत गाता है। तुम एक दफा आश्चर्यमुग्ध हो जाओ, तुम्हारी आंख पर आश्चर्य का रंग चढ़ जाए, तो तुम्हें हर जगह दिखायी पड़ने लगेगा। तुम हर जगह उसे उघाड़ लोगे। वह किसी भी रूप में आए, तुम उसे पहचान लोगे।

आए घनश्याम,
श्लथ हरित कंचुकी
वसुधा व्रजबालिका
उर्मिल जलधि
स्रस्त कांची-रणित
सुरभित समीर
श्वास पुकल कदंब मल्लिका
वनवृंद वृंदाधाम

आए घनश्याम,
चकित तड़ित
पीत पट
मंद रव
वेणु बरसता सरस स्वर
मंद-मंद विंदु
सस्मित राका ज्यों
खलपूर्ण इंदु
आप
गत ताप
प्रमुदित चित्त धेणु
जल तल सकल अभिराम
आए घनश्याम

वह जो तापरहित परमात्मा है--आप गत ताप--जो शीतल परमात्मा है, जो शांत परमात्मा है; प्रमुदित चित्त धेणु--जो इंद्रधनुषों की तरह है, उत्सवपूर्ण है; प्रमुदित चित्त धेणु--जो चेतना का इंद्रधनुष है, प्रमोद से भरा, आनंद-उत्सव से भरा; जल तल सकल अभिराम--जो सब रूपों में छाया है, सब तरफ वही विस्तीर्ण है; आए घनश्याम। प्रभु आता, रोज-रोज आता, तुम्हारी आंख जब तक आश्चर्य से न भरी हो, तब तक तुम्हारा मिलन नहीं हो पाता है।

मैं सफल हो गया, अगर मैंने तुममें आश्चर्यभाव पैदा कर दिया। अगर मैंने तुम्हें फिर चकित कर दिया, फिर से तुम विस्मित होने लगे, लौट आया तुम्हारा बचपन फिर, फिर से तुम चौंककर देखने लगे चारों तरफ, फिर संवेदनशील हो गये, अगर मैं इतने में सफल हो गया कि तुम चकित हो गये, कि तुम चौंक गये, कि तुम विस्मय-विमुग्ध हो गये, कि आश्चर्य का अंकुर फिर तुममें फूटा, तो बस बात हो गयी। तो तुम बालवत हो गये।

अष्टावक्र बालक की बहुत बात करते हैं महागीता में, कि ज्ञानी बालवत। अगर बालक में कोई भी बात सबसे ज्यादा महत्वपूर्ण है, तो वह उसका आश्चर्यभाव। उसकी रहस्य के प्रति जिज्ञासा। वह हर छोटी-छोटी चीजों में रहस्य देख लेता है। जहां तुम्हें कुछ भी रहस्य नहीं दिखायी पड़ता वहां भी रहस्य देख लेता है। तुम नाराज भी होते, तुम उससे कहते भी कि बकवास बंद कर, कुछ भी नहीं रखा है वहां। तुम्हें पता नहीं कि तुम एक अनूठी क्षमता को नष्ट कर रहे हो। हर बच्चा रहस्य की क्षमता लेकर पैदा होता, लेकिन समाज, परिवार, स्कूल, शिक्षा उसके रहस्य को मार डालते। जवान होते-होते उसके रहस्य के प्राण निकल गये होते। और फिर लोग सोचते हैं कि लोग धार्मिक हो जाएं! बिना रहस्य के भाव के कोई धार्मिक हो कैसे सकता है! धर्म का कोई संबंध गंभीरता से नहीं है। जानकारी से नहीं है। इस दंभ से नहीं है कि मैं जानता हूं।

रहस्य और ज्ञान में बड़ा विपरीत भाव है। ज्ञान का अर्थ है, मैं जानता हूं। रहस्य का अर्थ है, मैं कुछ भी नहीं जानता--और इतना अपूर्व भरा है जानने को और मैं कुछ भी नहीं जानता। ज्ञान में दबा हुआ आदमी मुर्दा हो जाता है। कब्र में समा गया। रहस्य से भरा हुआ आदमी--चकित, चौंका हुआ, विस्मय-विमुग्ध! सब तरफ रहस्य-ही-रहस्य, काव्य-ही-काव्य, सौंदर्य-ही-सौंदर्य; खोलता पर्दे-पर-पर्दे, उठाता घूंघट-पर-घूंघट और हर घूंघट के पार और घूंघट हैं, और सुंदर घूंघट हैं।

छठवां प्रश्न: आपने कहा कि बुद्धपुरुष सर्वशः तथाता में जीते हैं। यानी जगत जैसा है वैसा ही उन्हें स्वीकार है। वे उससे रत्तीभर भी अन्यथा नहीं चाहते। यदि ऐसा है, तो वे हम लोगों को उपदेश क्यों करते हैं? हमें दिन-रात समझाते क्यों हैं? वे हमारे तथाता के अस्वीकार को स्वीकार में क्यों बदलना चाहते हैं? और उनकी यह चेष्टा उन्हें अत्तथाता में नहीं ले जाती?

प्रश्न महत्वपूर्ण है, समझने जैसा है।

पहली बात, बुद्धपुरुष उपदेश देते हैं, ऐसा तुमने समझा तो गलत समझा। बुद्धपुरुष से उपदेश होता है। देते हैं, ऐसा सोचा तो गलत सोच लिया। फिर भूल हो गयी। देते हों अगर, तब तो फिर तथाता के बाहर हो गये वे, अत्तथाता शुरू हो गयी। उपदेश देने का तो मतलब यह हुआ कि उनका आग्रह है कुछ कि ऐसा होना चाहिए। उपदेश देने का तो अर्थ यह हुआ कि अगर तुमने न माना तो वे दुखी होंगे और तुमने माना तो सुखी होंगे। नहीं, उपदेश उनसे होता है।

बुद्धपुरुषों ने कभी भी उपदेश नहीं दिया। हुआ है। महावीर के संबंध में जैनों ने बड़ी ठीक बात कही है: उनसे वाणी झरी। यह ठीक बात है। कही नहीं गयी, झरी। जैसे वृक्ष से फूल झरते हैं। या फूल से सुगंध झरती है। या दीये से रोशनी झरती है। या बादल से जल झरता है। ऐसी झरी। जो भीतर सघन हो गया है, वह अभिव्यक्त होगा। उपदेश देते, तो तुम चूक गये। उपदेश हुआ।

उपदेश देते हैं उपदेष्टा, उपदेश होता है बुद्धपुरुषों से। बुद्धपुरुष उपदेश देते नहीं। अगर बुद्धपुरुष उपदेश को रोकें, तो तथाता के बाहर होंगे। अगर वे चेष्टा करके न दें, तो चूक होगी। इसलिए जो होता है, होता है। उपदेश होता है तो उपदेश होता है। अगर नहीं होगा तो नहीं होगा। कभी-कभी ऐसा भी हुआ कि बुद्धपुरुष चुप रह गये। मेहर बाबा पूरे जीवन चुप रहे। चुप्पी आयी तो चुप्पी। बोलना हुआ तो बोलना। जो हुआ, उसे होने देना है। पहली बात।

दूसरी बात, तुम जैसे हो वैसे ही बुद्धपुरुषों को या बुद्ध को स्वीकार हो। तुम जैसे हो वैसे ही स्वीकार हो। तुम्हें बदलने की कोई चेष्टा भी नहीं है। जो उनके भीतर हुआ है, वह प्रगट हो रहा है। उस प्रगटीकरण में अगर तुम बदल जाओ, तुम्हारी मर्जी। न बदलो, तुम्हारी मर्जी। तुम बदले तो ठीक, तुम न बदले तो ठीक। बुद्धपुरुष को इससे कुछ भी लेना-देना नहीं है कि तुम बदलो ही। ऐसा कोई आग्रह नहीं है।

तुम्हारी कठिनाई भी मैं समझता हूं। तुमने पूछा है कि हमें दिन-रात क्यों समझाते हैं? वे हमारे तथाता के अस्वीकार को स्वीकार में क्यों बदलना चाहते हैं?

कुछ भी बदलने का भाव नहीं है। इसलिए एक फर्क खयाल रखना, जब कोई साधु, कोई संत तुम्हें बदलने में बहुत उत्सुक हो, तो समझ लेना अभी बुद्धत्व का जन्म नहीं हुआ। जिस संत और साधु के पास बदलाहट होने लगे और उसकी कोई उत्सुकता ही न हो तुम्हें बदलने की, तो समझना कि बुद्धत्व मौजूद है। जिसकी मौजूदगी में बदलाहट हो।

समझो। सूरज निकला; तो सूरज आकर एक-एक फूल को कहता थोड़े ही कि खिलो, मैं आ गया, सुबह हो गयी। एक-एक फूल की पंखुड़ी पकड़-पकड़कर खोलता थोड़े ही। और कोई फूल न खिले तो सूरज कोई दुखी होकर उदास थोड़े ही बैठ जाता, अपनी किरणों को थोड़े ही सिकोड़ लेता। सूरज तो फैलता, उसकी मौजूदगी में फूल खिलते, सूरज किसी को खिलाता थोड़े ही। और कोई फूल न खिले, तो सूरज कोई हिसाब थोड़े ही रखता कि आज इतने फूल नहीं खिले, क्या मामला है! इनकी कोई शिकायत थोड़े ही करता कहीं। खिल गये, ठीक; नहीं खिले, नहीं ठीक। सच तो यह है, सूरज को इससे कुछ हिसाब नहीं है। लेकिन सूरज की मौजूदगी में फूल खिलते हैं, यह बात सच है। बिना सूरज के खिलाए खिलते हैं, यह बात सच है। सूरज की मौजूदगी के बिना नहीं खिलते, यह भी बात सच है। सूरज की मौजूदगी में ही खिलते हैं, यह भी बात सच है। फिर भी सूरज खिलाता नहीं। केटलिटिक है, उसकी मौजूदगी से खिल जाते हैं।

अगर बुद्धपुरुष की मौजूदगी में तुम रूपांतरित हो गये, हो गये। नहीं हुए, नहीं हुए। लेकिन बुद्धपुरुषों को इससे कुछ प्रयोजन नहीं है। और जब वे कुछ कह रहे हैं, चाहे तुम्हें ऐसा लगता हो कि तुम्हें बदलने के लिए कह

रहे हैं--क्योंकि तुम बदलने में उत्सुक हो--वे तुम्हें बदलने के लिए नहीं कह रहे हैं। वे तो वही कह रहे हैं जो उनके भीतर घटा है। जो उनके भीतर हुआ है वह झर रहा है।

कठिन है थोड़ा। क्योंकि तुम तो कभी कोई ऐसी बात नहीं कहते जो बिना प्रयोजन के हो। तुम तो जब किसी को बदलना चाहते हो तब कुछ कहते हो। किसी को सलाह देते, तो तुम चाहते हो कि वह मान ले। अगर न माने तो तुम नाराज हो जाते हो। मान ले तो तुम्हारे अहंकार को तृप्ति मिलती है, न माने तो तुम्हारे अहंकार को चोट लगती है--कि मेरी सलाह नहीं मानी, तो अब देख लूंगा। मेरी और सलाह नहीं मानी! यह तुम्हारे अहंकार को बड़ा कठिन हो जाता है। बुद्धपुरुषों को इससे कुछ प्रयोजन नहीं है। जो होता है, होता है। तुम बदल गये तो भी मजा है, तुम न बदले तो भी मजा है। इसमें कहीं भी कोई सचेष्ट, आग्रहपूर्वक कोई हठ नहीं है।

"हमारे तथाता के अस्वीकार को स्वीकार में क्यों बदलना चाहते हैं?"

तुम्हारी तरफ से जो दिखायी पड़ रहा है, उसे तुम बुद्धपुरुषों की तरफ से मत थोपना। तुम्हारी तरफ से जो दिखायी पड़ रहा है, वह तुम्हारी दृष्टि है।

झेन फकीरों में कहावत है कि बुद्ध कभी नहीं बोले। बुद्ध चालीस साल बोले, निरंतर बोले और झेन फकीरों में कहावत है कि बुद्ध कभी नहीं बोले। रिंझाई से किसी ने पूछा कि यह बात बड़ी अजीब है। ये शास्त्र रखे हैं इसी मंदिर में बुद्ध के वचनों के--इतना बोले--और यहीं इन्हीं शास्त्रों को पढ़ते हैं आप, इन्हीं शास्त्रों को नमस्कार भी करते हैं और रोज सुबह आप यह भी कहते हैं कि बुद्ध कभी नहीं बोले। और रिंझाई ने कहा कि दोनों बातें सच हैं। बोले भी और नहीं भी बोले। जहां तक हमारा संबंध है, बोले; जहां तक उनका संबंध है, नहीं बोले। हमने तो सुना, इसलिए हमने शास्त्र इकट्ठे किये। इसीलिए तो बुद्धपुरुषों ने कुछ लिखा नहीं। फूल सुगंध के संबंध में कुछ लिखते थोड़े ही हैं, सुगंध झरती है, तो झरती है। बुद्धपुरुष बोले। तुम्हारी मौजूदगी में कुछ उनसे झरा। तुम्हारी प्यास ने कुछ उनके भीतर से खींच लिया। तुम्हारी आतुरता ने कुछ उनसे बुलवा लिया। बोले ऐसा नहीं, बुलवा लिया। सहजस्फूर्त हुआ। अपनी तरफ से तो बोले ही नहीं।

मैं तुमसे रोज बोल रहा हूं और मैं तुमसे कहे देता हूं, भूलकर भी यह मत सोचना कि मैं कभी बोला। तुमने सुना, यह सच। मैं नहीं बोला। इसलिए मेरी कोई आतुरता तो नहीं कि तुम बदल जाओ। मेरे पास लोग आते हैं--क्योंकि इस देश में तो साधु-संतों की बड़ी आतुरता रहती है, महात्मा का मतलब ही यह कि वह सभी के पीछे लगा है कि बदलो। ऐसा खाओ, ऐसा पीओ, यह मत पीओ, यह मत खाओ; इतने बजे सोओ, इतने बजे उठो। महात्मा का तो मतलब ही यह है, जो लाठी लगाकर लोगों के पीछे पड़ा है। और बदल कर रहेगा। महात्मा का तो मतलब ही यह है कि जो तुम्हें चैन से न रहने दे। तुम चाय पीओ तो चाय न पीने दे। काफी पीओ तो काफी न पीने दे। कुछ भी न करने दे। तुम्हें इस तरह बांध दे कि तुम्हारा जीवन दूभर हो जाए। और अगर तुम जीना चाहो तो पाप अनुभव मालूम हो और अगर तुम उनकी मानो, तो जीवन खोने लगे। अगर पुण्य करना हो तो मरो, और अगर जीना हो तो पाप हो जाए, ऐसी हालत जो कर दे खड़ी, उसको महात्मा कहते हैं।

तो मेरे पास भी आ जाते हैं भूल से इस तरह के लोग, वे कहते हैं, आप का क्या मामला है? आप लोगों को कुछ कहते ही नहीं! क्या खाना, क्या पीना, कैसा आचरण? मैं उनसे कहता कि ये लोग जानें। लोगों का आचरण, लोगों की चिंता, वे समझें। मुझे जो हुआ है, वह मुझसे झर रहा है। उससे कोई सीख ले, सीख ले। समझ ले। न समझे, न समझे। मैं दोनों हालत में राजी हूं। मेरे मन में जरा भी निंदा नहीं है और जरा भी स्तुति नहीं है। उनको बहुत कठिनाई होती है। क्योंकि वे चाहेंगे, मैं भी लोगों के पीछे पड़ जाऊं, उनको सताऊं, उनको अपराधी सिद्ध करूं। लोगों को लोगों को कष्ट देने में बड़ा रस आता है। तुम्हारे महात्मा बड़े दुखवादी, सैडिस्ट। सताओ लोगों को! जरा भी कहीं रस ले रहे हों, जरा भी हंस रहे हों तो रोक लगा दो। कोई हंस न सके, कोई प्रसन्न न हो सके, सारे जीवन की खुशी छीन लो।

नहीं, यहां मुझे कोई भी प्रयोजन नहीं। मैं अपूर्व आनंदित हुआ हूं, उस आनंद से जो झर रहा है, तुम अपनी झोली में भर लो, तुम्हारी मौज; न भरो, तुम्हारी मौज। बदल जाओ, तुम्हारी मौज; न बदलो, तुम्हारी मौज। ये सब तुम्हारे निर्णय हैं, इनसे मेरा कुछ लेना-देना नहीं है।

आखिरी प्रश्न: कब होगा छुटकारा भवबंधन से? और कब तक प्रतीक्षा?

तुम्हारी जल्दी ही अड़चन डाल रही है। तुम जितनी जल्दी करोगे, उतनी ही देर लग जाएगी। भवबंधन से छुटकारा तो तुम चाहते हो लेकिन अभी भवबंधन को समझा भी नहीं, अन्यथा छुटकारा हो जाता। कोई तुम्हें बांधे थोड़े ही है, तुम बंधे हो।

यह बड़े मजे की बात है। एक आदमी खंभे को पकड़े खड़ा है और वह कहता है, हे प्रभु, इस खंभे से कब छुटकारा? और कब तक प्रतीक्षा? किससे कह रहे हो? कोई तुम्हें बांधे हुए नहीं है, खंभे को तुम पकड़े खड़े हो। खंभे ने तुम्हें बांधा नहीं है, खंभे को तुम में जरा भी रस नहीं। इसी खंभे में तुम्हारे जैसे और मूढ़ भी पहले पकड़े खड़े रहे हैं--इसी खंभे को। और तुम्हारे चले जाने के बाद दूसरे इसी खंभे को पकड़े रहेंगे।

तुम तिजोड़ी को पकड़े हो, तुमसे पहले यह किसी और की तिजोड़ी थी। तुमने धन पकड़ा है, तुमसे पहले कोई और पकड़े था। जो नोट तुम्हारे हाथ में है, वह हजारों हाथों में आया है और हजारों हाथों में चलकर आया है। इसलिए तो अंग्रेजी में ठीक शब्द उसका नाम है, करेंसी। करेंसी का मतलब जो चलता रहता। करेंट। इधर से उधर, इधर से उधर। रुकता ही नहीं। एक हाथ से दूसरे, दूसरे हाथ से तीसरे हाथ में जाता रहता। हजार हाथों की छाप है उस पर। करेंसी नोट से गंदी चीज तुम दुनिया में कोई खोज ही नहीं सकते। मगर तुम भी उसको पकड़े हो। और जोर से पकड़े हो। और दूसरे जिनके हाथ में था वे भी जोर से पकड़े थे। और सबको खयाल यह है कि धन तुम्हें पकड़े हुए है। हे प्रभु, भवबंधन से कैसे छुटकारा होगा? कब छुटकारा होगा? तुम भवबंधन को जिस दिन समझ लोगे उसी क्षण छुटकारा हो गया। जिस क्षण समझ लिया कि खंभे को मैं पकड़े हूं, अब पकड़ना हो तो पकड़ो, न पकड़ना हो तो न पकड़ो, बात खतम हो गयी।

दुनिया के इस मोह जलधि में
किसके लिए उठूं उभरूं अब?

बिखर गयी धीरज की पूंजी
सुख-सपने नीलाम हो गये
शीशा बिका, किंतु रतन के
मंसूबे नाकाम हो गये
ऊपर की इस चमक-दमक में
किसके लिए दहूं निखरूं अब?

हाट-बाट की भीड़ छट गयी
मिला न कोई मेरा गाहक
मैं अनचाहा खड़ा रह गया
व्यर्थ गयी सब मेहनत नाहक
बीत गयी सज-धज की बेला
किसके लिए बनूं संवरूं अब?

प्रात गया दोपहरी के संग
आगे दिखती रीती संध्या
कातर प्रेत खड़े आंसू के
ज्योति हो गयी जैसे बंध्या
चला-चली की इस बेला में
किसके लिए रहूं ठहरूं अब?

तुम्हें अगर दिखायी पड़ने लगे, यह जो तुम अब तक करते रहे हो व्यर्थ था, रेत से तेल निचोड़ रहे थे, झूठ को सच बनाने में लगे थे, सपनों को यथार्थ माना था, जिस दिन तुम्हें दिख जाएगा, उसी दिन हाथ ढीले हो जाएंगे। किसी और ने तुम्हें पकड़ा नहीं। संसार ने तुम्हें पकड़ा नहीं। तुमने ही संसार को पकड़ा है।

तो जल्दी का अर्थ ही यह होता है कि अभी तुमने देखा नहीं, अभी दृष्टि पैदा नहीं हुई। अब एक आदमी जहर की प्याली लिए बैठा है, कहता है, हे प्रभु, कैसे इसको न पीयूं? कौन तुमको कहता है कि पीओ? पीना हो, पी लो; न पीना हो, न पीओ। मगर इस तरह की बातें तो न करो कि हे प्रभु, इसको कैसे न पीयूं? अगर जहर दिख गया है तो कैसे पीओगे, मैं पूछता हूं? और अगर जहर नहीं दिखा है, तो कैसे रुकोगे? अगर अमृत दिख रहा है तो कहते रहें लाख दूसरे लोग कि जहर है, इससे कुछ भी न होगा। तुम्हें दिखना चाहिए।

बिखर गयी धीरज की पूंजी
सुख-सपने नीलाम हो गये
शीशा बिका, किंतु रतन के
मंसूबे नाकाम हो गये
ऊपर की इस चमक-दमक में
किसके लिए दहूं निखरूं अब?
दुनिया के इस मोह जलधि में
किसके लिए उठूं उभरूं अब?

हाट-बाट की भीड़ छट गयी
मिला न कोई मेरा गाहक
मैं अनचाहा खड़ा रह गया
व्यर्थ गयी सब मेहनत नाहक
बीत गयी सज-धज की बेला
किसके लिए बनूं संवरूं अब?

देखो, खोलकर आंख देखो। जिसे तुम जीवन कहते हो, बिलकुल व्यर्थ है। जिसे तुम जीवन कहते हो, वहां जरा-भी सच नहीं। आंख भरके देखो; छूटने-छाटने की बातें न करो। पागलपन की बातें न करो। होश संभालो, देखो गौर से। जिसने गौर से देखा, व्यर्थ से छूट जाता है। और जिसने गौर से नहीं देखा और वैसे ही छाती पीटता रहा कि हे प्रभु, कब छूटूंगा, कब तक प्रतीक्षा, वह छाती ही पीटता रहता है।

तुम यही जन्मों-जन्मों से कर रहे हो। और अब कब तक करते रहोगे? तुम मुझसे पूछते हो, कब तक प्रतीक्षा? मैं तुमसे पूछता हूं, कब तक प्रतीक्षा?

आज इतना ही।

तिरासीवां प्रवचन

मनुष्य, संसार व परमात्मा का संधिस्थल: हृदयग्रंथि

निर्ममः शोभते धीरः समलोष्टाश्मकांचनः।
सुभिन्नहृदयग्रंथिर्विनिर्धूतरजस्तमः।। २६४।।
सर्वत्रानवधानस्य न किंचिद्वासना हृदि।
मुक्तात्मनो विस्तृप्तस्य तुलना केन जायते।। २६५।।
जानन्नपि न जानाति पश्यन्नपि न पश्यति।
ब्रूवन्नपि न च ब्रूते कोऽन्यो निर्वासनादृते।। २६६।।
भिक्षुर्वा भूपतिर्वापि यो निष्कामः स शोभते।
भावेषु गलिता यस्य शोभनाशोभना मतिः।। २६७।।
क्व स्वाच्छंद्य क्व संकोचः क्व वा तत्त्वविनिश्चयः।
निर्व्याजार्जवभूतस्य चरितार्थस्य योगिनः।। २६८।।
आत्मविश्रांतितृप्तेन निराशेन गतार्तिना।
अंतर्यदनुभूयेत तत्कथं कस्य कथ्यते।। २६९।।

निर्ममः शोभते धीरः समलोष्टाश्मकांचनः।
सुभिन्नहृदयग्रंथिर्विनिर्धूतरजस्तमः।।

"जो ममतारहित है, जिसके लिए मिट्टी, पत्थर और सोना समान है, जिसके हृदय की ग्रंथि टूट गयी और जिसका रज, तम धुल गया, वह धीरपुरुष ही शोभता है।"

बहुत-सी बातें इस सूत्र में समझने जैसी हैं।

पहली बात, "जिसकी हृदयग्रंथि टूट गयी है...।"

हृदय है गांठ, जहां राम और काम बंधे हैं। और जब तक हृदय की गांठ न टूट जाए, राम और काम की मुक्ति नहीं होती। हृदय है गांठ, जहां संसार और निर्वाण बंधे हैं। जब तक वहां गांठ न टूट जाए, तब तक संसार और निर्वाण पृथक नहीं होते।

हृदय सबसे महत्वपूर्ण गांठ है। और ग्रंथि शब्द का अर्थ गांठ है। मनोवैज्ञानिक जिसे कांप्लेक्स कहते हैं। जहां चीजें उलझ गयी हैं। जहां सुलझाना पड़ेगा।

मनुष्य के शरीर में दोनों का मिलन हो रहा है, काम और राम का। दोनों का मिलन हो रहा है, ब्रह्म और माया का। मनुष्य के शरीर में क्षुद्र विराट से मिल रहा है। निम्न श्रेष्ठ से मिल रहा है। अंधेरा और प्रकाश एक-दूसरे से हाथ मिला रहे हैं। प्रकृति और परमात्मा साथ-साथ खड़े हैं। मनुष्य एक अपूर्व संगम है। और इस संगम की जो सबसे आधारभूत कड़ी है, वह हृदय है। हृदय की ग्रंथि जब तक न टूट जाए, सुभिन्नहृदयग्रंथिः, जब तक भलीभांति हृदय की ग्रंथि छिन्न-भिन्न न हो जाए, तब तक कोई मुक्ति नहीं है। तब तक कोई बुद्धत्व नहीं है।

हृदयग्रंथि का यौगिक नाम है, अनाहत चक्र। तीन चक्र नीचे हैं अनाहत के और तीन चक्र ऊपर हैं। अनाहत चक्र पर ठीक तराजू के दो पलड़े अलग-अलग बंट जाते हैं। अनाहत चक्र पर तराजू का कांटा है। नीचे जाओ तो अंततः अंत में मिलता है मूलाधार। कामवासना का गहन अंधकार। मूर्च्छा, गहरी बेहोशी। जहां चैतन्य सब तरह से डूब जाता है। जहां होश जरा भी नहीं रह जाता। इसलिए कामवासना का इतना प्रभाव है। जब भी आदमी अपने को भुलाना चाहता है, तो कामवासना उसके भीतर निर्मित होनेवाली शराब है। उसे पीकर भूल जाता है। थोड़ी देर को ही भूल पाता है स्वभावतः, क्षण भर को ही भूल पाता है, क्योंकि उतने नीचे तल पर

सदा बना रहना संभव नहीं है। उस नीचे तल को छू तो सकता है, जैसे कोई आदमी पानी में डुबकी लगाए और चला जाए नीचे तलहटी को छू ले, लेकिन कितनी देर रुकेगा? क्षणभर बाद भाग-दौड़ मच जाती है, लौटता है वापिस, सतह पर आना पड़ता है।

तो कामवासना में डुबकी तो लगती है क्षण भर को, भूल भी जाता है अपने को, भूल जाता है संसार, विस्मरण हो जाता है चिंताओं का; न कोई उलझन रह जाती, न कोई समस्या रह जाती, न कोई विषाद-संताप रह जाता, क्षण भर को सब कुछ भूल जाता है। लेकिन बस क्षण भर को। लौटकर फिर सब वैसा का वैसा खड़ा है। शायद पहले से भी ज्यादा विकृत होकर खड़ा है। क्योंकि इतना समय और गंवाया और इतनी ऊर्जा भी खोयी। स्थिति बदलेगी नहीं।

विस्मरण से कुछ रूपांतरण नहीं होता है।

तो नीचे है मूलाधार। मूलाधार में गिरकर आदमी पशुवत हो जाता है। इसलिए पुराने शास्त्र कहते हैं, अगर कामवासना ही तुम्हारे जीवन का लक्ष्य है तो तुममें और पशु में फिर कोई भेद नहीं। पशु शब्द बड़ा बहुमूल्य है। इसका अर्थ होता है, जो कामवासना की जंजीर में बंधा, पाश में बंधा, वह पशु। जिसके गले में कामवासना की जंजीर बंधी है, जो नीचे की तरफ खींचा जा रहा है पाश से, वह पशु। पाश से जो मुक्त हो जाए, वही पशुता से मुक्त हुआ।

हृदयग्रंथि के नीचे पशु का संसार है। अंधेरा। यद्यपि अंधेरे की अपनी एक तरह की विश्रांति है। विस्मरण से भरा। यद्यपि विस्मरण में एक तरह का सुख है। कम-से-कम सुख का आभास तो है ही। दुख भूल जाता है इतना तो निश्चित है, न मिटता हो! थके-हारे आदमी को उतना विस्मरण भी काफी है।

हृदयग्रंथि के ऊपर, अनाहत के ऊपर यात्रा करो, तो अंत में मिलता है सहस्रार। जैसे निम्नतम है मूलाधार, वैसे श्रेष्ठतम है सहस्रार। सहस्रार का अर्थ होता है, सहस्रदलों वाला कमल। वह मनुष्य के चैतन्य का आखिरी प्रस्फुटन है, जहां फूल खिला मनुष्य की आत्मा का। वहां पहुंचकर मनुष्य मनुष्य नहीं रह जाता, परमात्मा हो जाता है। मूलधार पर गिरकर मनुष्य मनुष्य नहीं रह जाता, पशु हो जाता है; सहस्रार पर उठकर मनुष्य फिर मनुष्य नहीं रह जाता, परमात्मा हो जाता है। मनुष्य तो एक उलझन है, एक गांठ है। मनुष्य तो मनुष्य रहता है, क्योंकि हृदय की ग्रंथि बंधी है। हृदय की ग्रंथि में ही मनुष्यता है। मनुष्यता में एक अनिवार्य विषाद और संताप है।

मनुष्य होकर कोई सुखी हो ही नहीं सकता। या तो पशु सुखी हैं, क्योंकि उन्हें दुख का पता नहीं हो सकता। बोध ही नहीं है। या परमात्मा सुखी है, क्योंकि इतना बोध है कि उस बोध में दुख संभव नहीं है। इतना प्रकाश है कि उस प्रकाश में अंधेरा टिक नहीं सकता। पशु को दिखायी नहीं पड़ता अंधेरा, क्योंकि पशुता अंधी है। और जब दिखायी नहीं पड़ता तो पशु सोचता है, नहीं होगा। परमात्मा की दशा में, परमात्म-दशा में--बुद्धत्व कहो, जिनत्व कहो, अरिहंत की अवस्था कहो, जो भी नाम तुम्हें पसंद हों--लेकिन वे सब एक ही बात कहते हैं कि उस दशा में फिर दुख नहीं है। क्योंकि इतना प्रबल चैतन्य का प्रवाह आता, ऐसा ज्वार आता प्रकाश का, हजार-हजार सूरज एक साथ ऊग गये, कहां अंधेरा टिकेगा! अंधेरे को टिकने की जगह नहीं होती। और जहां अंधेरा नहीं टिक सकता, वहां दुख नहीं टिक सकता--दुख एक तरह का अंधेरा है। वहां परम आनंद है।

दोनों स्थितियों में मनुष्य समाप्त हो जाता है।

तो मनुष्य कहां है? मनुष्य हृदय की ग्रंथि में है। मनुष्य के नीचे की जो दुनिया है, वह भी हृदय से ही नीचे है और मनुष्य से ऊपर की जो दुनिया है वह भी हृदय के ऊपर है। और तुम जहां हो, वह जगह हृदय है और वहीं गांठ उलझी है। हृदय चौराहा है, जहां से या तो नीचे जाओ या ऊपर जाओ। तो हृदय से ही आदमी ऊपर उठता है और हृदय से ही नीचे गिरता है। इस बात को समझ लेना।

जब हृदय ऐसे प्रेम से भरता है जो वासनापूर्ण है, तो नीचे की यात्रा शुरू हो जाती है। जब हृदय ऐसे प्रेम से भरता है जो प्रार्थनापूर्ण है, जो ऊपर की यात्रा शुरू हो जाती है। लेकिन हृदय से ही नीचे और हृदय से ही ऊपर। हृदय ही साथी है और हृदय ही शत्रु है। होगा भी ऐसा ही। क्योंकि हृदय सीढ़ी है। तुम सीढ़ी से नीचे जाओ तो भी वही सीढ़ी काम आती है, ऊपर जाओ तो भी वही सीढ़ी काम आती है। ऊपर के लिए कोई अलग सीढ़ी थोड़े ही होती है, नीचे के लिए कोई अलग सीढ़ी थोड़े ही होती है! सीढ़ी एक ही होती है, सिर्फ तुम्हारी दिशा बदल जाती है।

प्रार्थना का अर्थ है, आंखें ऊपर की तरफ लगी हैं। इसीलिए तो आदमी आकाश की तरफ हाथ उठा कर प्रार्थना करता है। वासना का अर्थ है, आंखें नीचे गड़ गयी हैं। इसीलिए तो जब भी तुम वासना से भरते हो, तुम शर्म से आंखें नहीं उठा पाते, आंखें नीचे झुक जाती हैं। जहां वासना है, वहां आंखें नीचे झुक गयीं। वहां तुम जमीन में गड़ गये। जहां प्रार्थना है, आंखें ऊपर उठ गयीं। वहां तुम आकाश में उड़ने लगे। ठीक ऐसी ही घटना भीतर घटती है। जब तुम वासना में होते हो, तुम्हारी दिशा नीचे की तरफ होगी। चले पशु की तरफ! जहां से आए थे, उसी पुरानी परिपाटी पर फिर वापिस दौड़ने लगे। वह जाना-माना मार्ग है। इसलिए सुगम मालूम होता है। परिचित है जन्मों-जन्मों का, हम वहां से होकर आए हैं, इसलिए उस रास्ते पर जाने में अड़चन नहीं मालूम होती। आगे, जब तुम भीतर आंखें उठाते हो और सहस्रार की तरफ देखते हो, तब अड़चन हो जाती है। तब नया रास्ता है, अपरिचित है, पता नहीं कहां ले जाए, क्या परिणाम हो, शुभ हो कि अशुभ हो, भय लगता है।

फिर नीचे के रास्ते पर सारी भीड़ तुम्हारे साथ है। वहां तुम अकेले नहीं हो। जब तुम वासना में डूबते हो, सारा संसार तुम्हारे साथ है। जब तुम प्रार्थना में जाते हो, तुम अकेले। वह एकाकी पथ है। प्रार्थना में कौन किसका साथी हो सकता है!

इसे तुमने खयाल किया? कामवासना में कम-से-कम एक व्यक्ति तो साथी हो ही सकता है। जिस स्त्री के तुम प्रेम में, जिस पुरुष के प्रेम में, वह तो साथी हो ही सकता है। कामवासना में साथ संभव है। लेकिन प्रार्थना तो बिलकुल निपट अकेली है। वहां तो दूसरा साथ नहीं हो सकता। वहां तो तुम अकेले रह गये, आत्यंतिक रूप से अकेले रह गये। भय लगता, घबड़ाहट होती।

फिर ऊपर जाने में गिरने का भी डर है। नीचे जाने में गिरने का कोई डर ही नहीं है, नीचे तो जा ही रहे हैं, गिरने का सवाल ही कहां है? घाटियों में जो जीते हैं, वे गिरेंगे कैसे! शिखरों पर जो जीते हैं, वे गिर सकते हैं। इसलिए तुमने कभी भोगभ्रष्ट शब्द नहीं सुना होगा, योगभ्रष्ट शब्द सुना होगा। भोगी तो भ्रष्ट हो ही नहीं सकता। अब और क्या भ्रष्ट होना है! अब भ्रष्ट होने को जगह कहां बची है? योगी भ्रष्ट होता है--हो सकता है। क्योंकि योग एक शिखर है। ऊंचाई पर जो उड़ते हैं, वे खतरा मोल लेते हैं। जितनी बड़ी ऊंचाई, उतना ही बड़ा खतरा।

पहाड़ों पर चढ़े हो कभी? जैसे-जैसे ऊंचाइयों पर चढ़ने लगते हो वैसे-वैसे खतरा बढ़ने लगता है। जैसे ऊंचाई बढ़ने लगती है, जैसे गौरीशंकर करीब आने लगेगा, वैसे-वैसे खतरा तुम मोल ले रहे हो, चुनौती तुम मोल ले रहे हो। जरा-सी चूक और मौत हो जाएगी। ऐसी चूक अगर घाटी में होती तो कुछ भी नहीं होने वाला था। चूक यही होती, ज्यादा-से-ज्यादा पैर में मोच लग जाती और क्या होता? कि गिर-पड़ कर थोड़ा घुटना छिल जाता और क्या होता? लेकिन अगर यही चूक गौरीशंकर पर हुई, तो प्राणांत होगा। जितनी ऊंचाई, उतना ही महंगा सौदा है। इसलिए सिर्फ दुस्साहसी ही धर्म के जगत में प्रवेश कर पाते हैं। अपूर्व साहस चाहिए।

कायर वासना में ही जीते हैं, वासना में ही समाप्त हो जाते हैं। महावीरों की ही क्षमता है कि ऊपर की यात्रा पर उड़ें। वहां पंख फैलाएं जहां सूना आकाश है। जहां बिलकुल अकेला रह जाता है प्राणों का पक्षी। जहां कोई संगी-साथी नहीं, कोई समाज नहीं; कोई संप्रदाय नहीं। उस एकांत में ही खिलता है कमल सहस्रार का।

तुमने देखा होगा, जब कोई व्यक्ति ध्यान की गहराई में जाता है, तो उसकी आंखें ऊपर खिंच जाती हैं। अगर तुम ध्यानी की पलक खोलकर देखो तो तुम चकित होओगे, उसकी आंखें ऊपर खिंची हुई हैं, ऊपर चढ़ी हुई हैं। ध्यान की गहराई में आंखें सहस्रार की तरफ खिंच जाती हैं, दिशा ऊपर की तरफ हो गयी। इसे तुम भीतर अनुभव करना, जब कामवासना तुम्हारे भीतर उठेगी और तुम्हारे कामयंत्र में स्फुरण होगा, तो तुम्हारी आंखें भीतर नीचे झुक जाएंगी। भीतर। चाहे बाहर से तुम न भी झुकाओ, लेकिन भीतर से तुम जानते हो, ऊर्जा नीचे की तरफ बहने लगी। आंखों का प्रवाह नीचे की तरफ हो गया। इसे तौलते रहना।

गांठ है हृदय की। वहीं से नीचे गिरता आदमी, वहीं से ऊपर उठता। प्रेम ही उठाता है और प्रेम ही गिराता है। इसलिए प्रेम बड़ा खतरनाक शब्द है। और जरा भी उसको गलत समझा तो चूके।

मैं निरंतर प्रेम की बात करता हूं। प्रेम शब्द का उपयोग करना अंगार से खेलने जैसा है। मैं जिस प्रेम की बात करता हूं, बहुत संभावना है तुम वही नहीं समझोगे। तुम वही प्रेम समझ लोगे जो तुम समझ सकते हो। मैं जब प्रेम की बात करता हूं, तब प्रार्थना की बात कर रहा हूं। तुम जब प्रेम शब्द सुनोगे, तत्क्षण तुम कामना की और वासना की बात समझ लोगे। तुम अपना प्रेम समझ लोगे। अगर तुम्हारे प्रेम से ही मोक्ष हो सकता था, तब तो फिर मेरे पास आने की कोई जरूरत नहीं थी। वैसा प्रेम तुम कर ही रहे हो। उससे मोक्ष नहीं हुआ है, उससे संसार ही निर्मित हुआ है। उससे तुम जरा भी ऊपर नहीं गये हो, उससे तुम नीचे गिरे हो। उससे तुम भटके हो; वही तो तुम्हारा भटकाव है। लेकिन मेरी बात सुनकर हो सकता है तुम अपने पुराने ढांचे के लिए सहारा खोज लो और तुम सोचो, मैं तुम्हारे प्रेम की बात कर रहा हूं।

तुम एक बात सदा ही स्मरण रखना, मेरे शब्दों को तुम कभी अपनी भाषा में अनुवादित मत करना, अन्यथा चूक हो जाएगी। तुम अपने को जरा अलग ही रखना। और जब भी मैं उन शब्दों का उपयोग करूं जिनके उपयोग करने के तुम भी आदी हो, तो बहुत सावधानी से सुनना, क्योंकि भूल होने की बहुत संभावना है। तुम वही अर्थ डाल दोगे जो तुम्हारा अर्थ है। और वहीं चूक हो जाएगी। तुम कुछ सुन लोगे जो नहीं कहा गया था। तुम कुछ समझ लोगे जो प्रयोजन नहीं था। कुछ का कुछ हो जाएगा। अनर्थ होगा, अर्थ नहीं होगा।

हृदय की ग्रंथि के नीचे भी एक प्रेम है--पाशविक प्रेम, अंधा प्रेम, वासना, देह का प्रेम; प्रेम नाममात्र को है। प्रेम कहना भी नहीं चाहिए। शोषण है एक-दूसरे की देहों का। अपने को भुलाने के उपाय हैं। मूर्च्छा है, मदिरा है। एक प्रेम है, जो हृदय की ग्रंथि के ऊपर है। वहां प्रेम अति कोमल है। वहां प्रेम पराग जैसा है। वहां प्रेम पदार्थ नहीं है, सुगंध जैसा है। सुवास जैसा है। मुट्ठी बांधोगे तो पकड़ में नहीं आएगा। मुट्ठी बांधी तो चूक जाओगे। वहां प्रेम किसी और आयाम में प्रवेश करता है। वहां तुम देह को नहीं चाहते। वहां देह से कुछ प्रयोजन न रहा। वहां मन की चाहत पैदा होती है। और धीरे-धीरे मन की चाहत से भी पार हो जाते हो। प्राणों का प्राणों से मिलन होता है।

शरीर तो अलग-अलग हैं। मन इतने अलग नहीं। और आत्मा तो बिलकुल अलग नहीं है। मैं जिस प्रेम की बात कर रहा हूं वह ऐसा प्रेम है, जहां तुम्हें इस सारे अस्तित्व में एक ही प्राण का स्पंदन अनुभव होता है। जहां पत्ते-पत्ते में, जहां कंकड़-कंकड़ में एक ही प्रेम, एक ही ऊर्जा तुम्हें प्रवाहित मालूम होती है और तुम बूंद की तरह इस विराट सागर में डूबने को आतुर हो जाते हो। प्रार्थना का यही अर्थ है।

ग्रंथि तोड़नी है हृदय पर, इसलिए यह पहला सूत्र समझो--

"जो ममतारहित है, जिसके लिए मिट्टी, पत्थर और सोना समान है।"

यह भी खयाल में लेना। इस सूत्र की जो व्याख्याएं की जाती रही हैं, वे बड़ी भ्रांत हैं। जिसके लिए मिट्टी, पत्थर और सोना समान है, इसका तुम यह अर्थ मत समझ लेना कि अगर ज्ञानी के सामने तुम सोना रखो तो उसे सोना दिखायी नहीं पड़ेगा और मिट्टी दिखायी पड़ेगी। ऐसा मत समझ लेना अर्थ। सोना सोना दिखायी पड़ेगा, मिट्टी मिट्टी दिखायी पड़ेगी, पत्थर पत्थर दिखायी पड़ेगा, पर तीनों के मूल्य में कोई भेद नहीं है। अगर किसी ज्ञानी को सोना सोना न दिखायी पड़े और मिट्टी दिखायी पड़े तो यह तो भ्रांति हुई। यह कोई जागरण न

हुआ। जागरण में तो भेद और स्पष्ट हो जाएंगे। सोना सोना दिखायी पड़ेगा, मिट्टी मिट्टी दिखायी पड़ेगी; लेकिन मूल्य-भेद समाप्त हो जाएगा। कि मिट्टी का कोई मूल्य नहीं है और सोने का मूल्य है, ऐसा भेद समाप्त हो जाएगा। मूल्य मनुष्य-आरोपित है।

तुम ऐसा सोचो कि कोई मनुष्य पृथ्वी पर न रहा, मिट्टी का ढेर लगा है और सोने का ढेर लगा है, सोने का ढेर मूल्यवान होगा? सोना फिर भी सोना होगा, मिट्टी फिर भी मिट्टी होगी, लेकिन अब सोना मूल्यवान नहीं होगा। अब आदमी ही न रहा जो मूल्य देता था, अब आदमी ही न रहा जिसके मन में मूल्य था, तो अब सोने का क्या मूल्य है! मूल्य निर्मूल्य हो गया, मूल्य शून्य हो गया। मिट्टी मिट्टी है, सोना सोना है। आदमी के हटने से न तो मिट्टी सोना हो जाएगी, न सोना मिट्टी हो जाएगा; लेकिन अब मिट्टी और सोने में मूल्य का भेद न रहने से कोई भेद नहीं रह गया।

इस बात को खयाल में रखना। नहीं तो पागलों को लोग परमहंस समझ लेते हैं। जिनको कोई भेद नहीं, ऐसा समझ लेते हैं। पागलपन और परमहंस में बड़ा बुनियादी अंतर है। परमहंसत्व का तो अर्थ है, मूल्य-भेद नहीं रहा। मूल्य समान हो गये। लेकिन वस्तुओं के गुणधर्म तो भिन्न-भिन्न हैं सो भिन्न-भिन्न रहेंगे।

जब अष्टावक्र कहते हैं, जिसके लिए मिट्टी, पत्थर और सोना समान हैं तो इसका अर्थ है, सम-मूल्यवान हैं। समान हैं, इसका अर्थ है, आत्यंतिक अर्थों में समान हैं। व्यावहारिक अर्थों में समान नहीं हैं। नहीं तो परमहंस को भूख लगे तो मिट्टी खा ले। ऐसे पागल हैं, जो मिट्टी खा लेते हैं और लोग समझते हैं कि परमहंस हैं। बुद्धों ने ऐसा तो नहीं किया! महावीर के संबंध में ऐसा तो उल्लेख नहीं है! न कृष्ण के संबंध में उल्लेख है कि तुम मिट्टी परोस दो और वे खा लें। तो मिट्टी मिट्टी है, भोजन भोजन है। व्यावहारिक अर्थों में तो भेद है; लेकिन आत्यंतिक अर्थों में भेद नहीं है। क्योंकि आखिर जिसको तुम भोजन कहते हो वह मिट्टी से ही पैदा होता है। जिसको तुम आज भोजन कह रहे हो, वह कल फिर मिट्टी हो जाएगा। फिर मिट्टी से पैदा होगा, फिर मिट्टी में मिलता रहेगा। इसलिए आत्यंतिक अर्थों में तो कोई भेद नहीं है, लेकिन व्यावहारिक अर्थों में तो भेद है।

तुमने बीज बोया, मिट्टी में बोया। मिट्टी से बीज फूटा, अंकुरित हुआ और हजार बीज लगे। तुमने फसल काटी। जिसको तुम गेहूं कहते हो, यह मिट्टी का ही रूपांतरण है। जिसको तुम गेहूं का पौधा कहते हो, इस पौधे ने तुम्हारे लिए एक अदभुत काम कर दिया जो तुम नहीं कर सकते थे। अगर तुम मिट्टी को सीधा खा लो तो खून नहीं बनेगी। लेकिन अब तुम गेहूं को चबाओगे और गेहूं को पचाओगे तो खून बनेगी। इस गेहूं के पौधे ने एक चमत्कार कर दिया। इसने मिट्टी में से वे-वे हिस्से छांट दिये, जिनके कारण खून बनने में बाधा पड़ सकती थी। और वे-वे हिस्से चुन लिए, जिनके खून बनने में अब कोई बाधा नहीं है। गेहूं के पौधे का धन्यवाद मानो। उसने मिट्टी को तुम्हारे शरीर में पचने योग्य बना दिया। उसने योग्य बना दिया, ताकि अब तुम उसको पचा सको।

इसीलिए तो मैं कहता हूं कि सारी प्रकृति जुड़ी है, संयुक्त है। अगर गेहूं के पौधे न हों, तुम जीवित न रह जाओ। तो गेहूं के पौधों का आभार तो होना चाहिए। गेहूं के पौधे तुम्हारे लिए बड़ा काम कर रहे हैं।

ऐसा ही समझो कि सागर का पानी है, तुम पी लो--दिखता तो पानी है लेकिन पी लो तो मर जाओगे। प्यास तो नहीं बुझेगी, प्राण ही चले जाएंगे। सागर का पानी पानी जैसा दिखता है, लेकिन पीया नहीं जा सकता। फिर यही सागर का पानी हजारों मील मिट्टी में से छन-छन कर तुम्हारे कुएं में आ रहा है। तब तुम पी लेते हो, तब कोई हर्जा नहीं है, तब तुम्हारी प्यास बुझ जाती है। वह जो हजारों मील की मिट्टी की परतें हैं, उन्होंने सागर के उन सारे लवण रासायनिक-द्रव्यों को छांट लिया, छान दिया, जिनके कारण मौत घट सकती थी। पानी अब भी पानी है। लेकिन इस मिट्टी ने बड़ा काम कर दिया। इसने सब नमक रोक लिये। जो-जो चीजें तुम्हारे शरीर में घातक हो सकती थीं, वे अलग कर दीं। पानी छन-छन कर, छन-छन कर, शुद्ध हो-होकर तुम्हारे कुएं में आ गया। है सागर का ही पानी, लेकिन अब तुम पी सकते हो।

जो काम कुएं ने किया, वही काम गेहूं के पौधे ने भी किया। उसने मिट्टी को छान-छानकर गेहूं बना दिया। वही काम नाशपाती और नींबू के वृक्ष कर रहे हैं, छान-छानकर। मिट्टी एक है, उसी से नींबू पैदा होता, उसी से नाशपाती पैदा होती, उसी से आम पैदा होता। मिट्टी एक है, लेकिन अलग-अलग पौधे अलग-अलग ढंग से छानते हैं। इसलिए अलग-अलग फल पैदा हो जाते हैं। ये फल हैं तो मिट्टी ही, लेकिन फिर भी मैं तुमसे यह न कहूंगा कि मिट्टी खा लो। और न अष्टावक्र तुमसे कहेंगे। मिट्टी खायी होती अष्टावक्र ने, तो यह महागीता कभी पैदा न होती। कभी के मिट्टी में मिल गये होते, ये वचन बोलने के पहले।

नहीं, लेकिन आत्यंतिक अर्थों में तो तुम मिट्टी ही खा रहे हो। चाहे गेहूं, चाहे चावल, चाहे नाशपाती, चाहे अंगूर, चाहे संतरे, तुम जो भी खा रहे हो, आत्यंतिक अर्थों में तो मिट्टी ही खा रहे हो। क्योंकि है तो यह सब मिट्टी का ही खेल। और मजा तो यह है कि मिट्टी का खेल तुम भी हो। एक दिन तुम गिरोगे और मिट्टी में खो जाओगे। मिट्टी से ही पैदा हुए, मिट्टी में ही विसर्जित हो जाओगे। इसलिए सब आत्यंतिक अर्थों में मिट्टी है।

जिसको तुम सोना कहते हो, वह भी मिट्टी का ही एक रूप है। जिसको चांदी कहते हो, वह भी मिट्टी का ही एक रूप है। तुम्हें जानकर हैरानी होगी, जिसे तुम हीरा कहते हो, वह कोयले का एक रूप है। कोयला ही लाखों वर्ष जमीन में पड़ा-पड़ा हीरा बन जाता है। अब कोयले को तो कोई छाती में लटका कर नहीं चलेगा कि कोहनूर है। कितना ही बड़ा कोयला लटका लो, कोई तुमको न कहेगा कि आप बड़े बुद्धिमान हैं। लोग कहेंगे, पागल हो गये हो? माना कि विज्ञान की किताबें कहती हैं कि कोयले और कोहनूर में कोई फर्क नहीं है, सिर्फ समय का फर्क है--लाखों वर्ष तक मिट्टी में दबा रह-रह कर, मिट्टी के दबाव से, रासायनिक प्रक्रियाओं से कोयला ही हीरा बन जाता है--लेकिन फिर भी हीरा हीरा है, कोयला कोयला है। तुम कोयले को तो लटका कर न घूमोगे। हीरा मिल जाए तो लटकाओगे। माना कि भेद व्यावहारिक है, लेकिन आत्यंतिक अर्थों में, अल्टीमेट अर्थों में कोई भेद नहीं है। इसको स्मरण रखना। जहां-जहां शास्त्रों में ऐसे वचन आते हैं कि सोना, मिट्टी, पत्थर सब एक, इसका मतलब है--आत्यंतिक अर्थों में एक। व्यावहारिक अर्थों में एक जरा भी नहीं।

"जो ममतारहित है, जिसके लिए मिट्टी, पत्थर और सोना समान है, जिसके हृदय की ग्रंथि टूट गयी है और जिसका रजत्तम धुल गया है, वह धीरपुरुष ही शोभता है।"

इन सूत्रों में बार-बार अष्टावक्र उसकी प्रशंसा कर रहे हैं, उस तत्व की जिसकी शोभा है। उस सिंहासन की, जिस पर विराजमान हुए बिना तृप्ति नहीं होगी। वे कहते हैं, आत्यंतिक शोभा किसकी है? गरिमा किसकी है? गौरव किसका है? उसका है, जो ममता से मुक्त हो गया। ममता नीचे ले जाती प्रेम को। जो ममता से मुक्त हो गया, उसका प्रेम ऊपर को जाने लगता। ममता जैसे प्रेम के गले में बंधे हुए पत्थर-चट्टानें हैं। ममता का अर्थ होता है, मेरे हो इसलिए प्रेम करता हूं। मेरे बेटे हो, इसलिए प्रेम करता हूं। कि मेरे पति हो, इसलिए प्रेम; कि मेरी पत्नी हो, इसलिए। मेरे हो, इसलिए। जहां मेरे से प्रेम मुक्त हो गया, वहां फिर तुम यह नहीं कहते कि इसलिए प्रेम करता हूं। तुम कहते हो, प्रेम मेरे भीतर बह रहा है, तुम मौजूद हो, तुम्हें मिल रहा है, कोई और मौजूद होता तो उसे मिलता। कोई न मौजूद होता तो शून्य में बिखरता। जैसे कहीं दूर एकांत में पहाड़ पर कोई फूल खिले, तो गंध तो बिखरेगी। एकांत में बिखरेगी, कोई राहगीर भी न निकलता होगा तो भी बिखरेगी। ऐसे ही जब तुम्हारा प्रेम ऊपर की तरफ जाना शुरू होता है तो तुम्हारे जीवन में एक सुगंध उठती है, जो बिखरती है। जो भी आ जाए उसको मिल जाती है, कोई न आए तो वह शून्य में बिखरती है। प्रेम तब एक स्थिति है चैतन्य की।

ममता का अर्थ है, प्रेम एक संबंध है। मेरे हो, इसलिए। मेरा होना ज्यादा महत्वपूर्ण है, प्रेम का मूल्य कुछ भी नहीं है। अगर मेरे न रहे तो मैं ही हत्या करने को तैयार हो जाऊंगा। जिस पत्नी के लिए तुम जान दे रहे हो, उसी की जान लेने को कल तैयार हो सकते हो, अगर यह पक्का हो जाए कि मेरी नहीं, किसी और की हो रही है।

जिस पति के लिए मर जाते, उसी पति को जहर पिला सकते हो अगर पक्का पता चल जाए कि वह अब किसी और का हो गया। तो यह जो मेरे का फैलाव है, यह तो अहंकार का ही रोग है। यह तो घूम-फिरकर अपने को ही प्रेम करना है, यह दूसरे को प्रेम करना थोड़े ही है! इसलिए उपनिषद कहते हैं, कहां पति पत्नी को प्रेम करता है, पत्नी के बहाने अपने को ही प्रेम करता है! कहां बाप बेटे को प्रेम करता है, बेटे के बहाने अपने को ही प्रेम करता है!

ऐसा समझो कि जैसे तुम दर्पण रखकर अपनी तस्वीर देखते हो। दर्पण थोड़े ही देखते हो। दर्पण कौन देखता है! लोग कहते हैं कि दर्पण देख रहे थे, कहना नहीं चाहिए। तुम अगर दर्पण में देख रहे हो और कोई पूछे क्या कर रहे हो, तो तुम कहते हो, दर्पण देख रहे थे। बात गलत कह रहे हो। दर्पण को कौन देखता है! दर्पण में तुम अपने को देख रहे थे, दर्पण तो बहाना था। देख तो अपने को रहे थे, दर्पण तो बहाना था। दर्पण को कौन देखता है! किसको पड़ी दर्पण देखने की! दर्पण में अपने को देखते हैं लोग। दर्पण में अपनी छाया दिखायी पड़ती है, अपना प्रतिबिंब।

जिनको तुम कहते हो, मेरे हैं इसलिए प्रेम करता हूं, उनसे तुम्हारा कोई प्रेम नहीं है। तुम उनकी आंखों में अपने को देख रहे हो। जब तुम्हारी पत्नी तुमसे कहती है, तुमसे सुंदर कोई पुरुष नहीं, तुमसे बलशाली कोई पुरुष नहीं, तब तुम बड़े प्रसन्न होते हो। तुम इस स्त्री को प्रेम करते हो इस बात के कहने के कारण। क्योंकि इसकी आंखों में वह प्रतिबिंब बना, जो तुम चाहते थे बने। जब कोई किसी स्त्री से यह कहता है कि तू इस जगत की सबसे सुंदर स्त्री है, मैं सोच ही नहीं सकता कि इससे सुंदर भी कोई स्त्री हो सकती है, तब वह प्रफुल्लित होती है। वह कहती है, तुम्हारे प्रेम ने मुझे बड़ा आनंदित किया। तुम्हारे प्रेम से कुछ लेना-देना नहीं है, अपना गुणगान सुनने को अहंकार उत्सुक था।

मैंने सुना है कि मुल्ला नसरुद्दीन एक औरत के प्रेम में था और एक रात उसने उससे कहा कि तुझसे ज्यादा सुंदर स्त्री पृथ्वी पर कोई दूसरी नहीं। न कभी हुई, न कभी होगी। सभी प्रेमी कहते हैं। वह स्त्री बहुत आनंदित हो गयी, उसने कहा, सच नसरुद्दीन! तो नसरुद्दीन थोड़ा डरा, ईमानदार आदमी, उसने कहा क्षमा कर, यह बात मैं और स्त्रियों से भी पहले कह चुका हूं। और आगे भी औरों से नहीं कहूंगा, इसका वायदा नहीं कर सकता हूं। मगर तभी वह स्त्री उदास हो गयी। औरों से भी कह चुके हो! और आगे भी किसी से कहोगे इसका पक्का नहीं है, कहोगे कि नहीं कहोगे, बात समाप्त हो गयी। बात व्यर्थ हो गयी। अब इसमें कोई मूल्य नहीं रहा।

हम एक-दूसरे की आंखों में अपनी ही तस्वीरें देखते हैं। जो भी हमारी तस्वीर को खूब रंगीन बनाकर बता देता है, उसी को हम कहते हैं प्रेम। जिससे भी तुम्हारे अहंकार की पुष्टि होती है, उसी को तुम कहते हो प्रेम। ममता, अहंकार की सेवा में संलग्न प्रेम। ममता का अर्थ है, मेरा, मम। मैं की छाया। जिन-जिन में दिखायी पड़ती है मेरे मैं की छाया और जिन-जिन के सहारे मेरा मैं खड़ा हो पाता है, जिन-जिन की बैसाखियों से मेरे लंगड़े मैं को चलाने में सुविधा हो जाती है, उन सबसे मेरा प्रेम है। लेकिन यह प्रेम झूठा।

शोभा तो उसकी है, अष्टावक्र कहते हैं, जिसका प्रेम ममता से मुक्त हुआ, और जिसकी हृदयग्रंथि का भेदन हो गया। टूट ही गयी वह ग्रंथि जहां से राम और काम जुड़ते हैं। काम नीचे गिर गया, राम ऊपर आकाश में उड़ गया। टूट गयी वह ग्रंथि, जहां संभोग और समाधि जुड़ते हैं।

"ऐसा व्यक्ति जिसका रजत्तम धुल गया है।"

यह बात भी समझना। रज का अर्थ होता है, कर्म का पागलपन। तम का अर्थ होता है, आलस्य, सुस्ती। तम का अर्थ होता है, अकर्म में आसक्ति और रज का अर्थ होता है, कर्म में आसक्ति। कुछ लोग हैं जो बिना किये नहीं बैठ सकते, कुछ-न-कुछ चाहिए, कुछ-न-कुछ खटर-पटर करते ही रहेंगे--बैठ नहीं सकते। यह जो उनके भीतर रज की प्रवृत्ति है, यह उन्हें कभी शांत न होने देगी। यह एक तरह का रोग है। इस तरह अपने को उलझाए

रखते हैं, कुछ-न-कुछ करते रहते हैं। छुट्टी के दिन भी तुम उनको घर में शांत बैठे नहीं पाओगे, कुछ-न-कुछ करेंगे। ऐसे छः दिन रास्ता देखेंगे कि कब छुट्टी का दिन आए और आराम करें, और छुट्टी के दिन तुम देखोगे वह सबसे ज्यादा काम करेंगे, जितना वह कभी दफ्तर में नहीं करते। दफ्तर में तो लोग सोते हैं। विश्राम करते हैं। और रास्ता देखते हैं कि सातवें दिन जब छुट्टी होगी तब घर जाकर विश्राम करेंगे। लेकिन विश्राम बड़ा कठिन मालूम होता है। विश्राम करने की कला बहुत कम लोगों को आती है। और जिनको तुम विश्राम करते देखते हो, उनको भी विश्राम की कला नहीं आती, वे आलसी हैं। या तो लोग पागल की तरह कर्मठ हैं, या पागल की तरह आलसी हैं। कुछ हैं जो बैठ नहीं सकते और कुछ हैं जो उठ नहीं सकते। ये दोनों अपाहिज हैं, दोनों अपंग हैं।

जो सत्व को उपलब्ध व्यक्ति है, जब जरूरत होती तब काम करता है, जब जरूरत नहीं होती, तब विश्राम करता है। उसके लिए दोनों आयाम मुक्त हैं। वह किसी आयाम से बंधा नहीं है। कोई मजबूरी नहीं है। ऐसा नहीं है कि जब कोई काम नहीं है तब भी उसे करना पड़ेगा, क्योंकि वह बिना काम के बैठ नहीं सकता। और ऐसा भी नहीं है कि जब काम है तब वह पड़ा रहेगा, क्योंकि वह आलसी है और उठ नहीं सकता। सत्व को उपलब्ध व्यक्ति संयम को उपलब्ध व्यक्ति है। उसके जीवन से अतियां चली गयीं। संतुलन आया है। उसकी तुला मध्य में ठहर गयी। उसके दोनों बाजू, दोनों पलड़े बराबर हो गये। जब काम, तब वह काम करता है, जब आराम, तब आराम करता है। जब श्रम की जरूरत हो, तब अपने को पूरा श्रम में डुबा देता है; जब विश्राम की जरूरत हो तब अपने को पूरा विश्राम में डुबा देता है। ऐसा आदमी ही शोभायमान है।

तुम्हें ये दो तरह के आदमी जगह-जगह मिल जाएंगे। कुछ लोग हैं जो रात नींद में भी काम जारी रखते हैं। तुम उनको सोते देखो तो तुमको समझ में आ जाएगा। सोना भी, बड़ा काम करते हैं, हाथ-पैर फटकते हैं, पैर चलाते हैं, बोलते हैं, बड़बड़ाते हैं, चादर खींचते हैं, कई काम करते हैं।

मैं कुछ दिन पहले एक चिकित्साशास्त्र की किताब पढ़ रहा था, तो मैं चकित हुआ, जितनी कैलोरीज आदमी दिन में खर्च करता है--काम करने में, उससे आधी कैलोरीज रात में खर्च करता है--सोते में भी! आधी कैलोरीज! दिन भर मेहनत करके जितना श्रम होता है उससे आधा वह सोने में भी कर रहा है।

और सपने भी देखते हैं वह ऐसे ही। लोगों के सपने तो देखो! तो मार-धाड़, वही सब योजनाएं जो उनकी जिंदगी में हैं, उनके सपनों में जारी रहती हैं। जो महल यहां नहीं बना पाए, वह सपनों में बनाते हैं। जो गड्ढे यहां नहीं खोद पाए, वहां खोदते हैं। मगर कुछ-न-कुछ जारी रखते हैं। तुम्हारे सपने चाहे अलग-अलग हों, लेकिन बहुत गौर से देखोगे तो तुम दो तरह के सपने पाओगे। या तो रज से भरे, या तम से भरे। और एक का सपना दूसरे की समझ में नहीं आएगा।

मैंने सुना है, एक बिल्ली एक वृक्ष पर बैठी सुबह-सुबह--सर्दी के दिन--और धूप ले रही थी। और नीचे एक कुत्ता भी बैठा था। कुत्ता झपकी खा रहा था--सुबह की धूप! बिल्ली ने पूछा क्या कर रहे हो? तो उसने आंख खोली, उसने कहा, एक बड़ा अदभुत सपना आया। कि बड़ी वर्षा हुई! और वर्षा में पानी नहीं गिरा, हड्डियां गिरीं। हड्डियां ही हड्डियां। कुत्ते का सपना कुत्ते का ही होगा न! बिल्ली ने कहा, हद्द हो गयी। कभी सुना नहीं। न शास्त्रों में लिखा है। शास्त्रों में तो ऐसा लिखा है कि कभी-कभी ऐसा होता है कि जब वर्षा होती है तो पानी नहीं गिरता, चूहे गिरते हैं। ये हड्डियां कभी सुनी नहीं! और न शास्त्रों में लिखी हैं। बिल्ली के सपनों में तो चूहे ही गिरते हैं। और बिल्ली के शास्त्रों में भी चूहे ही लिखे होंगे। कुत्ते के शास्त्रों में हड्डियां लिखी हैं। कुत्ता हंसने लगा, उसने कहा, छोड़ भी, मुझे समझाने चली है। मैं पढ़ा-लिखा कुत्ता हूं, मैंने भी शास्त्र पढ़े हैं। मगर कुत्तों ने कुत्तों के शास्त्र पढ़े हैं। हड्डियों का ही वर्णन है, चूहों का कहीं वर्णन आया ही नहीं।

तुम हंसते हो, क्योंकि न तुम कुत्ता हो, न तुम बिल्ली हो, तुम आदमी हो, इसलिए तुम हंस रहे हो। क्योंकि तुम्हारे शास्त्रों में कुछ और ही लिखा है। तुम हंस रहे हो कि यह पागल कुत्ता और पागल बिल्ली! हमसे पूछो कि सपनों में क्या आता है!

तुम्हारे सपने अलग हैं, मगर बहुत मौलिक रूप से अलग नहीं है। अगर तुम दो हिस्सों में तोड़ दो मनुष्य-जाति को, तो रज और तम। या तो राजसी सपने हैं--जो कर्म तुम दिन में नहीं कर पाए उसको करने की आकांक्षा है; या जो सुस्ती और आलस्य तुम दिन में बिताना चाहते थे, नहीं बिताए, उसके सपने हैं। मगर बस दो ही हैं। या तो बहिर्मुखी का सपना या अंतर्मुखी का सपना। या तो पुरुष का सपना या स्त्री का सपना। निष्क्रिय या सक्रिय। बस दो ही तरह के सपने हैं। और दो ही तरह के लोग हैं। और ये दो ही तरह के असंतुलन हैं और दो ही तरह की विक्षिप्तताएं हैं।

यह सूत्र कहता है: जो व्यक्ति हृदय की ग्रंथि से मुक्त हो गया, टूट गयी जिसके हृदय की ग्रंथि और जिसका रजत्तम धुल गया है। दोनों धुल गये हैं। न अब रज बचा, न तम बचा। न जो पुरुष रहा और न स्त्री। न जो सक्रिय और न निष्क्रिय। न जो बहिर्मुखी, न अंतर्मुखी। जो बीच में ठहर गया। जिसके जीवन में संयम का वह परम-बिंदु आ गया। जो जरूरी है, करेगा। जब करेगा, तो जरा भी ना-नुच नहीं है। जब जरूरी नहीं है, तो नहीं करेगा।

गुरजिएफ ने अपने शिष्यों को कहा है--कुछ सूत्र दिये हैं, उनमें एक सूत्र यह भी है कि जो गैरजरूरी हो, वह मत करना। ऑस्पेंस्की गुरजिएफ से पूछने लगा कि जो गैरजरूरी है, वह हम करेंगे ही क्यों! यह सूत्र आप क्यों देते हैं? इसको इतना मूल्य क्यों देते हैं? गुरजिएफ ने कहा कि मैं लोगों को देखता हूं, सौ में निन्यानबे गैरजरूरी बातें लोग कर रहे हैं। उन्हीं में जीवन व्यतीत हो रहा है उनका। जरूरी बातें तो बहुत थोड़ी हैं, गैरजरूरी बातें बहुत हैं।

तुम जरा खयाल करना। चौबीस घंटे तुम जितनी बातें बोलते हो, उसमें विचार करना कितनी जरूरी थीं? कितनी न बोलते तो चल जाता?

सच तो यह है कि अगर तुम बहुत गौर से देखोगे तो बड़ी थोड़ी-सी बातें रह जाएंगी जो जरूरी थीं। तुम्हारी वाणी टेलीग्रैफिक हो जाएगी। चुन-चुनकर। और तुम्हारी वाणी का मूल्य भी बढ़ जाएगा। तुम्हारी वाणी में वजन भी आ जाएगा! तुम्हारी वाणी में एक चमक आ जाएगी। धार आ जाएगी। क्योंकि जो थोड़े-से शब्द तुम बोलोगे, उनमें विचार होगा, विवेक होगा, ध्यान होगा, प्रेम होगा, अनिवार्यता होगी। और एक चमत्कार तुम पाओगे कि जो गैरजरूरी बातें तुम बोल रहे थे, उनके कारण हजार झंझटें पैदा हो रही थीं। वह हजार झंझटों से तुम बच जाओगे। जो गैरजरूरी बातें तुम बोल देते थे, उनके कारण हजार काम भी तुम्हें करने पड़ते थे। बोलकर ही थोड़े छुटकारा है। बोले कि फंसे। वह हजार काम से भी तुम बच गये। तुम्हारे जीवन में एक शांति प्रविष्ट होने लगेगी, एक प्रसाद उतरने लगेगा। तुम सौम्य हो जाओगे। वहीं शोभा है जहां सौम्यता है, जहां प्रसाद है; जहां संतुलन का संगीत है, जहां सौदर्य है। अब तुम मुझसे पूछो तो मैं इसी को सौंदर्य कहता हूं, संतुलन को।

जब तुम्हें किसी चेहरे में भी सौंदर्य दिखायी पड़ता है तो उसका कारण यही होता है कि चेहरे में एक संतुलन होता है। अनुपात होता है। जब तुम किसी देह में भी सौंदर्य देखते हो तो उसका कारण क्या है? एक अनुपात होता है। सब अंग अनुपात में होते हैं। जैसे होने चाहिए वैसे होते हैं। गैर- अनुपाती नहीं होते कि एक हाथ लंबा, एक हाथ छोटा; एक आंख बड़ी, एक छोटी; नाक एक तरफ एक ढंग की, दूसरे तरफ दूसरे ढंग की। जब ऐसा होता है तो तुम कहते हो, आदमी कुरूप। क्या अर्थ हुआ कुरूप का? कुरूप का अर्थ हुआ, अनुपात नहीं है। संतुलन नहीं है। संगीत नहीं है। तुला के पलड़े अलग-अलग हैं--एक बहुत झुका है, एक बिलकुल नहीं झुका है; बेढंगापन है। बेडौल है।

सौंदर्य का अर्थ होता है, संतुलन। यह तो शरीर की बात हुई, ठीक ऐसा ही मन का सौंदर्य भी है। जब मन भी तुला होता है। तुम्हारे जीवन में जब मन का सौंदर्य आता है तो तुम्हारे देह के भीतर से एक आभा प्रगट होने लगती है। जैसे कोई दीया जल गया भीतर और उसकी रोशनी तुम्हारी देह को भी पार करके झलकने लगती है। फिर एक और अंतिम सौंदर्य है, आत्मा का सौंदर्य, जहां सब सम्यकत्व को उपलब्ध हो गया, सब सम हो गया--समाधि घट गयी।

सम यानी समाधि। विषमता यानी उपद्रव। विषमता यानी संसार, समता यानी समाधि, निर्वाण, मोक्ष। जहां इतनी समता आ गयी कि तुम्हारे जीवन में एक रत्ती भर भी व्यर्थ नहीं बचा, सब सार्थक ही बचा। जो करना है, वही तुम करते हो, उससे इंच भर ज्यादा नहीं। जितना करना है, बस उतना ही करते हो, उससे रत्ती भर ज्यादा नहीं। और जो नहीं करना है, वह तुम नहीं करते। जितना श्रम चाहिए उतना श्रम; जितना विश्राम चाहिए उतना विश्राम। तुम्हारे दिन और रात बराबर हो गये। तुम्हारी स्त्री और पुरुष तुल गये। तुम्हारा रज और तम, दोनों तुल गये। अब जो बच रहा वही सत्व है। अब जो बच रहा वही संतत्व है। अब जो बच रहा वही परम शुद्धि, साधुता--या जो नाम तुम्हें प्रीतिकर हो।

थे यहां मधुकलश सारे विष भरे
असलियत मालूम हुई जब पी लिये
देह पर तो लग गये टांके मगर
रह गये सब घाव मन के अनसिये

जहां-जहां तुम्हें दिखायी पड़ रहे हैं मधुकलश, पी लोगे तब मालूम पड़ेगा जहर था। फिर देह पर लगी चोटें तो जल्दी भर जाती हैं, मन पर पड़ी चोटें बहुत मुश्किल हो जाती हैं। घाव पर तो टांके लग जाते हैं शरीर पर, लेकिन मन पर टांके भी नहीं लग पाते।

देह पर तो लग गये टांके मगर
रह गये सब घाव मन के अनसिये
थे यहां मधुकलश सारे विष भरे
असलियत मालूम हुई जब पी लिये

तब बहुत देर हो जाती है। लेकिन और कोई उपाय नहीं है, क्योंकि पीकर ही तो अनुभव आता है। तुम सब जहर पीए बैठे हो। तुम सब नीलकंठ हो। सब के कंठों में जहर है। आकंठ जहर से भरे हो। मगर अभी तक होश नहीं आया। इतना कठिन जीवन जीते हो, फिर भी होश नहीं आता, चमत्कार है! इतने दुख में जीते हो, फिर भी होश नहीं आता। इतनी पीड़ा भोगते हो, कांटे-ही-कांटे, फिर भी न-मालूम किन सपनों के फूलों की आशा में जीए चले जाते हो! वे फूल कभी खिलते नहीं, मिलते नहीं; मिलते सदा कांटे हैं, आशा सदा फूलों की लगाए रखते हो। दौड़-धाप में, आपा-धापी में होश ही नहीं आता, खयाल ही नहीं आता हम क्या कर रहे हैं! थोड़ा बैठकर थोड़ा विमर्श करो। थोड़ा अपनी स्थिति पर विचार करो। उसमें जो-जो व्यर्थ हो, काट दो। जो-जो सार्थक हो, बचने दो। तुम धीरे-धीरे पाओगे, जैसे-जैसे व्यर्थ कटने लगा, तो व्यर्थ आलस्य भी कट जाएगा और व्यर्थ कर्मठता भी कट जाएगी। धीरे-धीरे तुम्हारे भीतर एक नाद बजने लगेगा। एक अपूर्व नाद! ऐसा नाद तुमने कभी सुना नहीं, वह तुम्हारे भीतर मौजूद है, वही सत्व का नाद है। उस नाद को जो उपलब्ध हो गया, उसी को संत कहो। संतुलन की परमदशा का नाम संतत्व है।

"जो सर्वत्र उदासीन है और जिसके हृदय में कुछ भी वासना नहीं है, ऐसे तृप्त हुए मुक्तात्मा की किसके साथ तुलना हो सकती है!"

सर्वत्रानवधानस्य न किंचिद्वासना हृदि।
मुक्तात्मनो विस्तृप्तस्य तुलना केन जायते।।

"जो सर्वत्र उदासीन है और जिसके हृदय में कुछ भी वासना शेष नहीं है, ऐसे तृप्त हुए मुक्तात्मा की किसके साथ तुलना हो सकती है!"

अष्टावक्र कहते हैं, वही है परम सिंहासन पर विराजमान। अतुलनीय, अद्वितीय, अपूर्व, बेजोड़। उसकी तुलना ही नहीं हो सकती किसी से। तुम्हारे सिकंदर और तुम्हारे नेपोलियन और तुम्हारे सम्राट भी उसके लिए कोई तुलना का कारण नहीं बनते। यह तो ऐसा होगा जैसे कोई चुल्लू भर पानी से सागरों की तुलना देने लगे। नहीं, कोई तुलना नहीं बनती, अतुलनीय है। इस सूत्र को समझो--

"जो सर्वत्र उदासीन है।"

उदासीन बड़ा अदभुत शब्द है। लेकिन बुरी तरह विकृत हो गया। शब्दों के साथ भी कभी-कभी समय बड़ा दर्ुव्यवहार करता है। अच्छे-अच्छे शब्द भी कभी धूल-धूसरित हो जाते हैं। और कभी पददलित शब्द भी सिंहासनों पर बैठ जाते हैं। संयोग की बातें हैं। दुर्घटनाएं घटती हैं। उदासीन बड़ा अदभुत शब्द है, बड़ा अर्थपूर्ण। लेकिन दुर्गति हो गयी इसकी। कुसंगति में पड़ गया। अब तो उदासीन का अर्थ होता है, जो उदास है। निराश है, हताश है, विरक्त है, ऐसा अर्थ होता है। लेकिन यह उदासीन का केवल नकारात्मक पहलू है, यह असली बात नहीं है।

उदासीन का अर्थ होता है, उद आसीन। जो अपने भीतर बैठ गया। जो भीतर विराज गया। वह उसका विधायक अर्थ है। जो उपवास का अर्थ है, वही उदासीन का अर्थ है। उपवास का अर्थ है, जो भीतर निवास करने लगा। उप वास। उससे भी ज्यादा महत्वपूर्ण है उदासीन। क्योंकि उपवास का अर्थ है, जो अपने निकट आया; उदासीन का अर्थ है, जो अपने में प्रतिष्ठित हो गया। उपवास उदासीन की तरफ जाने की सीढ़ी है। अपने पास बैठ रहा तो उपवास और अपने में ही बैठ रहा, तो उदासीन। आसन जिसने लगा लिया अपने भीतर। जो अपनी चेतना के केंद्र में विराजमान हो गया। स्वस्थ का जो अर्थ है, स्वः स्थित जो हो गया, वही अर्थ उदासीन का है।

लेकिन जो अपने में स्थित हो जाता है, वह बाहर की हजार चीजों के प्रति उदास हो जाता है। इससे भूल हो गयी। समझना इस बात को, क्योंकि यह इसी संबंध में नहीं हुई है, यह भूल बहुत-बहुत आयामों में हुई है। जब कोई व्यक्ति अपने भीतर विराजमान हो जाता है, तो इस जगत की बहुत-सी बातों में जिनमें कल उसे रस था, अब रस नहीं रह जाता। लोगों को उसके भीतर का सिंहासन तो दिखायी नहीं पड़ता, उनको तो इतना ही दिखायी पड़ता है, अरे, यह आदमी विरस हो गया! अब इसको कोई रस नहीं। कल देखो कैसा नाच-रंग में रस लेता था, अब जाता ही नहीं! कल कैसा उचका-उचका फिरता था, कूदा-कूदा फिरता था, अब कहीं जाने की इसकी कोई उत्सुकता नहीं रही। कल कैसा धन कमाने में आतुर था, अब जरा भी आतुर नहीं। कल पद के लिए कितना श्रम करता था, कैसा गिड़गिड़ाता फिरता था द्वार-द्वार कि चुनाव आ गया अब, मत दो, वोट दो, अब इसका कोई रस नहीं रहा। अब इसको तुम जाकर भी कहो कि चुनाव में खड़े हो जाओ, तो यह कहता है, क्षमा करो, हमने कोई पाप थोड़े ही किये पिछले जन्म में! हमें किन कर्मों की सजा देने आए हो! हमें छोड़ो, बख्शो! और पागल बहुत हैं, किसी को पकड़ लो। तो लोग कहेंगे, उदासीन हो गया, बेचारा! लोग दयाभाव से कहते हैं कि बेचारा उदासीन हो गया। हार गया जिंदगी से!

लेकिन बात कुछ और घटी है। बाहर से इसने जो छोड़ा है, यह गौण है। भीतर जो इसे मिला है, वही प्रमुख है। और भीतर इसे इतना रस मिल रहा है, वह तुम्हें दिखायी नहीं पड़ रहा है। यह रसलीन है। रसलीन होने के कारण बाहर की व्यर्थ बातें अब रसपूर्ण नहीं मालूम पड़तीं। इसे बड़ा रस उपलब्ध हुआ है। अब जिसको हीरे-जवाहरात मिल गये हों, वह अगर कंकड़-पत्थरों पर मुट्ठी छोड़ दे, तो तुम उदासीन कहोगे! इसमें क्या उदासीन की बात है! कंकड़-पत्थर नहीं छोड़ेगा तो हीरे-जवाहरात किन मुट्ठियों में भरेगा? और हीरे-जवाहरात मिल गये हैं तो कंकड़-पत्थर तो छूट ही जाएंगे। जिसे भीतर की रसधार में डुबकी लग गयी, अब वह बाहर की व्यर्थ बातों में नहीं जाता--वहां रस था भी नहीं। भीतर रस नहीं था, इसलिए बाहर दौड़ता फिरता था। अपना घर नहीं मिला था, इसलिए दूसरे घरों के सामने भीख मांगता फिरता था। अब अपना घर मिल गया, अब क्यों जाए? अब कहां जाना बचा? उदासीन का अर्थ है--विधायक अर्थ--अपने रस में तल्लीन। अपने परम रस में लीन। इसलिए अब बाहर नहीं जाता। इस फर्क को खयाल में लेना।

यही उपवास के साथ उपद्रव हुआ। महावीर ने उपवास किये, जैन मुनि अनशन करते, उपवास नहीं। महावीर के उपवास का अर्थ है, वे ध्यान में ऐसे डूब जाते कि कभी दिन-दिन बीत जाते और उन्हें भोजन की

याद न आती। यह एक बात है। यह बड़ी और बात है। भोजन की याद न आए। अपने भीतर इतने डूब गये कि शरीर ही भूल गया कि शरीर को भूख भी लगती है, यह भी भूल गया। यह तो बड़ी अनूठी घटना है। इसका गौरव है। इसको अष्टावक्र कहेंगे, इसकी शोभा है।

फिर एक दूसरा आदमी है जो अनशन किये बैठा है। भोजन नहीं करेगा, क्योंकि आज उपवास है--पर्यूषण आ गये--व्रत करना है। वह व्रत कर रहा है। व्रत! तो वह रोक रहा है अपने को भोजन नहीं करने से। मन तो होता है, चौके में पहुंच जाए, जाता मंदिर है। मन तो होता है किसी रेस्तरां में घुस जाए, लेकिन कैसे घुसे, और जैनियों की दुकानें आसपास हैं, वे देख रहे हैं--क्योंकि वे सब भी अनशन कर रहे हैं--कोई छूट न जाए इसमें से। हम कष्ट भोग रहे हैं, तुम कैसे निकल जाओगे! सब एक-दूसरे पर नजर रखे हैं। जाता मंदिर है, जाना होटल है! बैठा मंदिर में है, मन कहीं भोजनालय में संलग्न है, सपने देख रहा है। यह भोजन तो इसने नहीं किया, लेकिन इसका आत्मा के पास वास कहां हो रहा है! भोजन न करने से इसका वास तो चौके के पास हो रहा है। यह तो भोजनालयों के आसपास भटक रहा है। यह तो वैसे अच्छा था, कम-से-कम दो बार भोजन कर लेता था फिर भूल तो जाता था! अब तो भूलता ही नहीं। अब तो चौबीस घंटे रात भी उसे वही खयाल बना रहता है। वही सपना चलता है। राजमहल में निमंत्रण मिल जाता है रात के सपने में। खूब भोजन हो रहा है, सब तरह के व्यंजन तैयार हुए हैं। यह तो भोजन के पास हो गया और इससे तो पहले ही कहीं ज्यादा दूरी थी। यह उपवास नहीं है। यह उपवास का धोखा है। यह अनशन है।

ऐसे ही तुम्हें उदासीन भी मिल जाएंगे, जिन्होंने देखा कि सत्पुरुष हुए जिनका बाहर में कोई रस न रहा, तो वे सोचते हैं, हम भी अगर बाहर में रस छोड़ दें तो हम भी उसी संतत्व को उपलब्ध हो जाएंगे। खयाल लेना, बाहर रस छोड़ने से कोई भीतर रस को उपलब्ध नहीं होता, भीतर रस को उपलब्ध हो जाए तो बाहर रस छूटता है। छूटता ही है। छोड़ना नहीं पड़ता, छूटता है। पर संस्कृत में जो शब्द है, वह और भी अदभुत है। जिसका उदासीन अनुवाद किया है, यह शब्द तो अदभुत है ही, लेकिन संस्कृत में जो शब्द है वह तो और भी अदभुत है। शायद हिंदी अनुवाद करनेवालों को डर लगा होगा कि उस शब्द को वैसा का वैसा रखेंगे तो कहीं भूल-चूक तो न हो जाएगी। शब्द है: सर्वत्र अनवधानस्य। अनवधान का अर्थ होता है, ध्यान से मुक्त हो जाना। अवधान का अर्थ होता है, ध्यान। अनवधान का अर्थ होता है, ध्यान से मुक्ति। जो सर्वत्र ध्यान से मुक्त हो गया है, यह है संस्कृत का मूल शब्द। इससे डर लगा होगा अनुवाद करनेवाले को कि अगर ऐसा कहें कि जो सर्वत्र ध्यान से मुक्त हो गया, तो यह तो बड़ी गड़बड़ हो जाएगी। इसलिए उसको उदासीन कर दिया।

समझो।

मगर बात संस्कृत शब्द में और भी गहरी है। उदासीन होना उसका एक अंगमात्र है। ध्यान का अर्थ ही क्या होता है? ध्यान से अर्थ, एकाग्रता। ध्यान से अर्थ कनसंट्रेशन है यहां। तुम ध्यान कब देते हो? तुम ध्यान तभी देते हो जब वासना से चित्त भरा होता है। एक स्त्री जा रही है, सुंदर है स्त्री और तुम एकदम ध्यानमग्न हो गये। अनवधान मुश्किल है, अवधान हो गया। अब तुम लाख उपाय करो मन यहां-वहां नहीं जाता, एकदम बंध गया। जा रहे थे कहीं और, चल पड़े स्त्री के पीछे। वह जिस दुकान में सामान खरीदने गयी वहां तुम भी पहुंच गये--नहीं खरीदना था तो भी कुछ खरीदने लगे। यह तुम्हारा अवधान है।

तुमने खयाल किया, अगर क्रोध मन में हो तो बड़ा अवधान लग जाता है। सब भूल जाता है संसार, कैसे मार डालें इस आदमी को, कैसे खतम कर दें, इस पर ऐसा ध्यान लग जाता है कि जिसका हिसाब नहीं। महावीर ने तो इसलिए ध्यान के चार रूप बताए, उसमें दो रूप हैं--आर्त, रौद्र ध्यान। महावीर ने कहा, कुछ लोग हैं, जो दुख में ही ध्यान को उपलब्ध होते हैं--आर्त ध्यान। कोई मर गया, तब वे रो रहे हैं छाती पीट कर। तो अब सारी दुनिया भूल जाती है उनको, बड़े ध्यानमग्न हो जाते हैं, वह एक ही काम में--रो रहे हैं छाती पीटकर। या किसी ने गाली दे दी। तब वह रौद्ररूप प्रगट होता है उनका। खींच ली तलवार। उस वक्त संसार भूल गया। एक चीज पर एकाग्र हो गये।

खयाल करना, जहां वासना होती है वहीं एकाग्रता होती है। इसीलिए तो तुम भगवान पर ध्यान करने बैठते हो लेकिन ध्यान नहीं लगता। बैठते भगवान पर ध्यान करने, ध्यान दुकान पर जाता। जाएगा वहां जहां वासना है। ध्यान तो वासना का अनुगामी है।

फरीद से किसी ने पूछा कि मैं प्रभु को कैसे पाऊं? तुमने कैसे पाया? तो फरीद ने कहा, तू आ, ये नदी स्नान करने जा रहा हूं, तुझे वहीं बता दूंगा। स्नान करने में बता दूंगा। वह आदमी थोड़ा डरा भी कि यह आदमी थोड़ा झक्की है या पागल! हम पूछते हैं कि परमात्मा कैसे पाना और यह कह रहा है कि स्नान करने में। स्नान से इसका क्या लेना-देना! पर होगा कुछ मतलब, रहस्यवादी है, चलो। वह चल पड़ा, उसे पता नहीं। जब वह दोनों स्नान करने बैठे तो फरीद एकदम झपटा और उसको पानी के भीतर दबा लिया। फरीद था तगड़ा फकीर। वह आदमी किलबिलाने लगा, मगर वह उसको छोड़े नहीं, वह उसको दबाए नीचे पानी में! आदमी तो दुबला-पतला था, लेकिन जब ऐसी हालत आ जाए तो दुबले-पतले में भी बल आ जाता है। आखिर उसने एक हुंकार मारी, एक धक्का देकर वह उठ आया और उसने कहा कि तुम, हम तो सोचते थे कि संत आदमी हो, तुम क्या जान लोगे मेरी! फरीद ने कहा, उत्तर दिया है। एक बात पूछनी है, जब मैं तुझे पानी के नीचे दबाए था तो कितने विचार तेरे मन में थे? उसने कहा, खाक विचार, एक ही विचार था कि कैसे छूटें? कैसे श्वास मिले? और यह भी थोड़ी दूर तक ही विचार रहा, फिर तो यह भी विचार नहीं रहा, यह तो प्राण-प्राण की प्यास हो गयी, सब विचार खो गये, बस छूटने का एक उपक्रम रहा। एकदम ध्यान लग गया।

फरीद ने कहा, बस ऐसा जिस दिन परमात्मा को पाने में ध्यान लगेगा, उस दिन परमात्मा मिल जाएगा। और देखा तूने ध्यान से कैसी ताकत आती है! मैं तुझसे दुगुना वजनी, मुझे उठाकर तूने फेंक दिया!

एक कुत्ता अपने पड़ोसी कुत्तों में बड़ी डींग मारा करता था--जैसे कि सभी मारा करते हैं--कि मुझसे ज्यादा तेज दौड़ने वाला कोई कुत्ता है ही नहीं दुनिया में। ये ओलंपिक वगैरह कुछ भी नहीं। वह तो कुत्तों को देते नहीं प्रतियोगिता में मौका नहीं तो सबको हराकर रख दूं। जानते थे पड़ोस के कुत्ते भी कि है तो वह मजबूत, दौड़ता भी तेज है। लेकिन एक दिन ऐसा हुआ, एक खरगोश निकल गया और उन्होंने कहा देखो, चूको मत मौका। और वह तो मजबूत कुत्ता जो था वह भागा उस खरगोश के पीछे। लेकिन खरगोश ने भी गजब की दौड़ मारी। एक छलांग में, एक हवा में, एक तेज बिजली की कौंध की तरह खरगोश निकल गया और कुत्ता खड़ा रह गया। बाकी कुत्तों ने कहा, कहो महाराज, तुम तो ओलंपिक में भर्ती होने की सोचते थे! उसने कहा भई, यह भी तो विचारो, वह अपने प्राणों के लिए दौड़ रहा था, मैं केवल नाश्ते के लिए! फर्क भी तो सोचो! मेरी आकांक्षा तो कुल नाश्ते की थी, उसके प्राणों का सवाल था। तो दौड़ तो बराबर नहीं थी। मिल जाता तो ठीक, नहीं मिला तो कोई बात नहीं। उसके लिए तो मामला इतना आसान नहीं था।

वैसी हालत फरीद के नीचे हुई होगी उस दिन उस आदमी की, दुबले-पतले आदमी की। फरीद तो ऐसा उत्तर ही दे रहे थे, कोई बड़ा भारी मामला नहीं था, उनके लिए कोई प्राणों पर बन नहीं आयी थी, लेकिन उस आदमी के तो प्राणों पर संकट था। उसने दुगुने मजबूत आदमी को फेंक दिया।

फरीद ने कहा, देखी ध्यान की ताकत? एकाग्रता में बड़ी शक्ति है। और अभी तो तुम्हारी एकाग्रता का सारा उपयोग वासना कर रही है। अभी तो तुम्हारा ध्यान वहीं लग जाता है जहां तुम्हारी वासना का तीर होता है।

इस सूत्र को समझो अब--

सर्वत्रानवधानस्य।

जिस व्यक्ति ने अपनी सारी वासनाओं से मुक्ति पा ली, अब उसका ध्यान कहां लगे? अब तो ध्यान लगने की कोई जगह न रही। अब तो पाने को ही कुछ न रहा, तो ध्यान कहां जाए! अब उसकी कोई एकाग्रता नहीं, कोई कनसन्ट्रेशन नहीं, क्योंकि सब एकाग्रता वासना की छाया है। खयाल रखना, अष्टावक्र कहते हैं, परमात्मा

को पाने की वासना भी वासना है और मोक्ष को पाने की वासना भी वासना है। जब तक वासना है तब तक ध्यान है, जब वासना ही नहीं तब ध्यान कैसा!

तो दो शब्द हैं अंग्रेजी में: कनसन्ट्रेशन और सेंटरिंग। कनसन्ट्रेशन--एकाग्रता। और सेंटरिंग का अर्थ होता है, केंद्रण। जब तुम किसी चीज पर एकाग्रता करते हो तो जिस चीज पर एकाग्रता करते हो, वह तुमसे बाहर होती है। तो सब एकाग्रता बहिर्गामी है, सांसारिक है। और जब तुम्हारे चित्त का कहीं भी कोई आवागमन नहीं होता, कहीं जा ही नहीं रहे, बहिर्गमन रुक गया और अपने केंद्र पर बैठ गये--सेंटरिंग, केंद्रण। केंद्रण की अवस्था असली अवस्था है। एकाग्रता असली बात नहीं है। केंद्रण है असली बात। अब कहीं चित्त जाता ही नहीं। इसका ही एक उपांग उदासीनता है। जब चित्त कहीं नहीं जाता तो अब बाहर से उदासीनता हो गयी।

यह संस्कृत शब्द "अनवधानस्य"--सर्वत्रानवधानस्य न किंचिद्वासना हृदि--जिसके हृदय में किंचित् भी वासना न रही, उसका सब तरह के अवधान से छुटकारा हो गया। अब उसकी आंखें कहीं भी नहीं लगी हैं।

मुक्तात्मनो वितृप्तस्य तुलना केन जायते।

और ऐसी दशा ही मुक्त ही दशा है। इसकी तुलना किससे करें? कैसे करें? यह अतुलनीय दशा है।

हम निजी घर में किरायेदार से रहते रहे
दर्द दिल का बस दरो-दीवार से कहते रहे
दूर तक फैला हुआ एक रेत का सैलाब-सा
जिस तरफ सागर समझ जलधार से बहते रहे

यह जिसको तुम संसार कह रहे हो और बहे जा रहे हो--यह पाना, वह पाना, मिलता कभी किसी को कुछ यहां! सब मृगमरीचिका है।

दूर तक फैला हुआ एक रेत का सैलाब सा
जिस तरफ सागर समझ जलधार से बहते रहे

और इस सागर में, रेत के सागर में तुम छोटी सी जलधार की तरह अपने ध्यान को बहाए जा रहे हो कि यहां कहीं सागर होगा, मिल जाएगा, तृप्ति होगी, मिलन होगा। खो जाओगे इस मरुस्थल में! यहां कोई मरूद्यान भी नहीं है।

हम निजी घर में किरायेदार से रहते रहे
दर्द दिल का बस दरो-दीवार से कहते रहे

और तुम अपने ही घर में ऐसे रह रहे हो जैसे किरायेदार! तुम अपने मालिक हो, यह तुम्हारा मंदिर है, मगर उस तरफ ध्यान नहीं जाता। ध्यान तो बाहर भटक रहा है। यह ध्यान का पंछी तो सब जगह जा रहा है, सिर्फ भीतर नहीं आता। अनवधान का अर्थ हुआ, अब ध्यान का पंछी कहीं नहीं जाता, अपने भीतर आ गया, तुमने पहचान लिया कि हम इस घर के मालिक हैं, गुलाम नहीं। मन भटकाता है, मन हमें गुलाम बनाता है, हम मन के पार हैं। जैसे ही तुमने यह उदघोषणा की, तुम्हारी सारी बाहर की दौड़ समाप्त हो जाएगी। और ऐसी दशा ही मुक्त की दशा है।

"वासनारहित पुरुष के अतिरिक्त दूसरा कौन है जो जानता हुआ भी नहीं जानता है, देखता हुआ भी नहीं देखता है और बोलता हुआ भी नहीं बोलता है!"

जानन्नपि न जानाति पश्यन्नपि न पश्यति।
ब्रूवन्नपि न च ब्रूते कोऽन्यो निर्वासनादृते।।

ऐसा पुरुष जिसकी अब कोई वासना नहीं, जिसे पाने को कुछ शेष नहीं, जिसने भविष्य को त्याग दिया, अब जिसका कोई भविष्य नहीं, जो यहां और अभी परितृप्त, परितुष्ट, इस क्षण जिसका मोक्ष है, ऐसा जो वासनारहित पुरुष है, उसके अतिरिक्त दूसरा कौन है जो जानता हुआ भी नहीं जानता! और ऐसा पुरुष देखता भी है और फिर भी देखता नहीं, क्योंकि अब देखने की कोई वासना नहीं रही। सुनता है और सुनता नहीं। अब सुनने की कोई वासना नहीं रही। छूता है और छूता नहीं, क्योंकि छूने की अब वासना नहीं रही। एक सुंदर स्त्री

बुद्ध के सामने से निकलेगी तो ऐसा थोड़े ही कि उन्हें दिखायी नहीं पड़ेगी! दिखायी पड़ती और नहीं दिखायी पड़ती।

बात को समझ लेना।

तुम तो कई दफे ऐसा करते हो कि सुंदर स्त्री जाती है तो तुम देखते ही नहीं उसकी तरफ। लेकिन तुम्हारे न देखने में भी वह दिखायी पड़ती है। तुम ऐसा आंख चुराते हो कि कोई देख न ले कि इसे देख रहे थे। या तुम अपने से बचना चाहते हो कि यह झंझट में न पड़ें, इसे न देखें; तुम इधर-उधर आंख करते हो, लेकिन इससे क्या फर्क पड़ता है, तुम्हारी इधर-उधर होती आंख से भी तुम देखते तो उसी को हो। तुमने देख तो लिया, तुम देख तो रहे ही हो।

बुद्धपुरुष के सामने से कोई स्त्री निकलेगी तो देखते हैं--आंख भी नहीं छिपाते, क्योंकि आंख छिपाने का तो कोई प्रश्न नहीं, क्या चुराने का क्या सवाल है--जो आंख के सामने आ जाता है, दिखायी पड़ता है, और फिर भी नहीं देखते क्योंकि देखने की कोई वासना नहीं है।

बुद्धपुरुष लौटकर नहीं देखते। तुम लौट-लौटकर देखते हो। तुम देखने में बड़े आतुर हो। बुद्धपुरुष की आंखें शून्यवत होती हैं। दर्पण की तरह होती हैं, कोई सामने आया तो तस्वीर बन जाती है, कोई चला गया तो तस्वीर मिट जाती है। फिर दर्पण सूना हो गया। कोई पकड़ नहीं है।

"वासनारहित पुरुष के अतिरिक्त दूसरा कौन है जो जानता हुआ भी नहीं जानता है, देखता हुआ भी नहीं देखता है और बोलता हुआ भी नहीं बोलता है!"

ब्रूवन्नपि न च बूरते।

इसीलिए तो कल मैंने तुमसे कहा कि बुद्ध बोले चालीस साल, फिर भी नहीं बोले।

महावीर के संबंध में दिगंबर जैनों की धारणा बड़ी अदभुत है। पर समझ नहीं पाए दिगंबर जैन भी। दिगंबर जैनों की धारणा है कि महावीर बोले नहीं, बोले ही नहीं। इसलिए दिगंबर जैनों के पास कोई शास्त्र नहीं है। जो शास्त्र हैं वे श्वेतांबर जैनों के पास हैं। और दिगंबर जैनों का उन शास्त्रों में कोई भरोसा नहीं। क्योंकि वे तो महावीर तो कभी बोले ही नहीं! ये शास्त्र तुमने बना लिये। ये सब बनाए हुए शास्त्र हैं, महावीर तो चुप रहे। बात तो बड़ी सच है कि महावीर कभी नहीं बोले। और फिर भी मैं तुमसे कहता हूं कि श्वेतांबरों के जो ग्रंथ हैं, वे झूठ नहीं हैं।

दिगंबर बात तो बिलकुल ठीक कह रहे हैं कि कभी नहीं बोले, लेकिन बस इसको उन्होंने जड़ता से पकड़ लिया कि कभी नहीं बोले। वे समझे नहीं, उन्हें अष्टावक्र का यह सूत्र समझना चाहिए। इसमें पूरे महावीर के जीवन की व्याख्या है।

बूरवन्नपि न च ब्रूते।

बोलकर भी नहीं बोलता है। नहीं बोलने की बात तो सच है, मगर इसको जड़ता से मत पकड़ लेना कि मौन रहता है। फिर तुम चूक गये। फिर तुम फिर पुरानी दुनिया में वापस आ गये--बोलने का मतलब बोलना और न बोलने का मतलब न बोलना। ऐसी परमदशा में विपरीत मिल जाते हैं। और विपरीत विपरीत नहीं रह जाते। बोलकर भी नहीं बोलता है। और कभी-कभी नहीं बोलकर भी बोलता है। कभी-कभी मौन से भी बोलता है। और कभी-कभी शब्द का उपयोग करके भी मौन रहता है। इस परम मुक्तावस्था में जो-जो विपरीत है जगत में, जहां-जहां द्वंद्व है, वह सब समाहित हो जाता है, शांत हो जाता है।

"जिसकी सब भावों में शोभन, अशोभन बुद्धि गलित हो गयी है और जो निष्काम है, वही शोभायमान है चाहे वह भिखारी हो या भूपति।"

भिक्षुर्वा भूपतिर्वापि यो निष्कामः स शोभते।
भावेषु गलिता यस्य शोभनाशोभना मतिः।।

न तो अब ऐसी दशा में कुछ शोभन है, और न कुछ अशोभन। न तो कुछ शिष्ट है और न कुछ अशिष्ट है। न शुभ, न अशुभ। न करने योग्य, न ना करने योग्य। गये द्वंद्व, गये द्वैत, गये वे भेद पुराने कि यह बुरा और यह भला, सब गये भेद, अब तो अभेद ही बचा। और ध्यान करना, अभेद से जो जन्मे वही शोभायुक्त है। अब यह

बड़ी विचारणीय बात है। साधारणतः तुम उसको शोभायुक्त कहते हो जो अशोभन के विपरीत है। तुम कहते हो, कैसा शोभन व्यक्ति है, क्योंकि अशोभन इसमें कुछ भी नहीं। लेकिन जिसमें अशोभन नहीं है, उसके लिए शोभायुक्त बने रहने में चेष्टा करनी पड़ेगी। चेष्टा का अर्थ हुआ, भीतर अभी मौजूद है, अभी दबाना पड़ रहा है।

तुमने देखा, स्त्रियों के सामने पुरुष बात करते हैं तो ज्यादा शोभन ढंग से करते हैं। वे कहते हैं, अभी स्त्रियां मौजूद हैं। स्त्रियों के हटते ही अशोभन शुरू हो जाता है। अशोभन तो भीतर पड़ा है। बेटे के सामने बाप बड़े शोभन ढंग से व्यवहार करता है। अपने मित्रों के साथ तो वैसा शोभन व्यवहार नहीं करता। मित्रों में तो जब तक गाली-गलौज न हो, तब तक मित्रता ही कहां! गाली-गलौज से ही पता चलता है कितनी गहरी मित्रता है।

मुल्ला नसरुद्दीन ने राह पर चलते एक आदमी की पीठ पर जोर से धौल जमायी और कहा, कहो चंदूलाल, कैसे हो? वह आदमी गिर पड़ा एकदम! उस आदमी ने उठकर कहा कि बड़े मियां, मैं चंदूलाल नहीं हूं! और अगर होऊं भी, तो क्या इस तरह धक्का मारा जाता है! तो नसरुद्दीन ने कहा कि तुम कौन हो रोकनेवाले, चंदूलाल को मैं कितने ही जोर से धक्का मारूं! तुम बीच में बोलनेवाले कौन हो? अब वह आदमी चंदूलाल है भी नहीं; धक्का भी खा गया, मगर वह उसका, मुल्ला नसरुद्दीन का कहना भी ठीक है कि चंदूलाल को मैं कितने ही जोर से धक्का मारूं, पुराने दोस्त हैं, तुम बीच में बोलनेवाले कौन होते हो?

दोस्ती का पता ही तब चलता है, जब कुछ अशोभन भी चले। दोस्ती कैसी जहां गाली-गलौज न हो। तो हम तो शोभन का अर्थ अशोभन के विपरीत करते हैं। हम कहते हैं, फलां आदमी कितना शोभायुक्त है।

लेकिन अष्टावक्र कहते हैं, अगर अशोभन पीछे पड़ा है, दबा है, प्रगट हो सकता है किसी अवसर पर, दबाया गया है, चेष्टा से रोका गया है, तो मिट नहीं गया है, उसकी छाया पड़ती ही रहेगी। यह परम शोभा की दशा नहीं है। परम शोभा की दशा तो वह है, अब याद ही नहीं आता है कि क्या अशोभन है, क्या शोभन है। सहज दशा ही परम शोभा की दशा है। निसर्ग की दशा। स्वस्फूर्त स्वच्छंदता की दशा।

इसे खयाल में लेना, सारी दुनिया में--भारत को छोड़कर--जीवन की व्यवस्था को द्वंद्व में ही बांटा गया है, स्वर्ग-नर्क। भारत एक और नया शब्द रखता है, मोक्ष। सुख-दुख, भारत एक तीसरा शब्द लाता है, आनंद। दुर्जन-सज्जन, भारत एक नया शब्द लाता है, जीवनमुक्त। साधु-असाधु, भारत एक नया शब्द लाता है, संत। इनका फर्क समझ लेना। साधु का अर्थ संत नहीं होता। साधु का अर्थ है, जो असाधु के विपरीत। और संत का अर्थ होता है, जहां साधु-असाधु दोनों के पार हो गया। स्वर्ग का अर्थ होता है, नर्क के विपरीत, मगर नर्क से बंधा। स्वर्ग से नर्क में गिरने की सुविधा है। गिरेगा ही, कोई भी। इसलिए पुराने शास्त्र भी यही कहते हैं जब स्वर्ग में पुण्य चुक जाता है तो आदमी को गिरना पड़ता है। अप्रतिष्ठा हो जाती है स्वर्ग से।

स्वर्ग और नर्क अलग-अलग नहीं हैं। विपरीत हैं, जुड़े हैं। मोक्ष, वहां से फिर गिरने का कोई उपाय नहीं। वहां से फिर अप्रतिष्ठा नहीं होती। और जहां से अप्रतिष्ठा हो ही न सकती हो, वहीं शोभा है। जहां से अप्रतिष्ठा हो सकती हो, वहां कैसी शोभा! जहां से गिरना हो सकता हो, वहां पहुंचने का क्या अर्थ!

इसलिए सारी दुनिया के धर्म द्वंद्व के पार नहीं गये हैं। ईसाइयत, इस्लाम, यहूदी धर्म स्वर्ग और नर्क की बात करते हैं, लेकिन मोक्ष की कोई धारणा नहीं है। पदार्थ और परमात्मा की बात करते हैं, लेकिन ब्रह्म की कोई धारणा नहीं है। भारत की खोज अनूठी है। जहां-जहां द्वंद्व है, भारत वहां एक तीसरी बात का भी उपयोग करता है। क्योंकि भारत कहता है, द्वंद्व के पार एक तीसरी दशा है। जहां न आदमी सज्जन है, न दुर्जन, वहां संतत्व, वहां जीवनमुक्ति। जहां न बुरा, न भला, वहां जीवनमुक्ति। बुरे और भले तो एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। जहां पूरा सिक्का ही छोड़ दिया, वहीं सरलता।

"निष्कपट, सरल और कृतार्थ योगी को कहां स्वच्छंदता है, कहां संकोच है और कहां तत्व का निश्चय है।"

क्व स्वाच्छंद्य क्व संकोचः क्व वा तत्त्वविनिश्चयः।

निर्व्याजार्जवभूतस्य चरितार्थस्य योगिनः।।

ऐसी दशा है योगी की अंतिम दशा जहां इतनी निष्कपटता हो गयी कि अब बुरे-भले में भी भेद नहीं होता। शुभ-अशुभ भी अब भिन्न नहीं मालूम होते। अब आंखें इतनी स्वच्छ हो गयीं कि काले बादल तो उठते ही नहीं आंखों के आकाश में, सफेद बादल भी नहीं उठते, शुभ्र बादल भी नहीं उठते। अब हाथ में जंजीरें लोहे की तो रहीं ही नहीं, सोने की जंजीरें भी नहीं रहीं। मुक्ति परम हुई।

"निष्कपट, सरल और कृतार्थ योगी को कहां स्वच्छंदता!"

अब एक और अदभुत बात कहते हैं आखिर-आखिर में। अब ये सूत्र अंतिम चरण ले रहे हैं और अष्टावक्र आखिरी ऊंचाई भर रहे हैं! अब तक उन्होंने स्वच्छंदता का ही गीत गया, अब कहते हैं, स्वच्छंदता भी कहां! स्वच्छंदता भी तो तभी तक है जब तक हमें दूसरे का और अपने का भेद है, फासला है! मैं और तू का भेद है, तो परतंत्रता और स्वतंत्रता। पर के अधिकार में रहे तो परतंत्रता, स्व के अधिकार में रहे तो स्वतंत्रता। दूसरे का छंद गाया तो परछंद और अपना छंद गुनगुनाया तो स्वच्छंद। लेकिन अब अपना-पराया भी कहां!

"निष्कपट, सरल और कृतार्थ योगी को कहां स्वच्छंदता!"

अब उन्होंने अब तक की धारणा को भी खंडित किया। यही भारत की अनूठी खोज है, नेति-नेति। यह भी नहीं, यह भी नहीं, यह भी नहीं। अंततः सबको निषेध कर देना है, ताकि वही बच रहे जिसका निषेध न हो सके। वही है परम, वही है सत्य।

"कहां स्वच्छंदता, कहां संकोच और कहां तत्व का निश्चय!"

अब तक इसका कितना गीत गाया। "इतितत्व निस्चैः", "इति निस्चैः"। अब तक कितना गीत गाया इसका कि ऐसा जिसको निश्चय हो गया तत्व का, वही ज्ञानी। और अब कहते हैं--

क्व वा तत्वनिश्चयः।

अब तो वह बात भी गयी। जब अनिश्चय गया, निश्चय भी गया। अब तो तत्व का निश्चय, यह कहना भी ठीक नहीं, इसमें भी संदेह मालूम पड़ता है। जब कोई कहता है मैं बिलकुल निश्चित हूं, तो तुम जानना कि थोड़ा संदेह मौजूद होगा। जब कोई कहता है कि मैं बिलकुल दृढ़ हूं, तो उसका मतलब है थोड़ा कंपा हुआ है, नहीं तो क्यों कहेगा! जब तुमसे कोई कहता है, मुझे तुमसे बहुत-बहुत प्रेम है, तो समझना कि कुछ कम होगा नहीं तो बहुत-बहुत क्यों कहता! मुझे प्रेम है, इतने से बात पूरी हो जाती है। बहुत-बहुत से कुछ जुड़ता थोड़े ही, कुछ घटता है। और जब कोई आदमी बार-बार कहने लगे कि मैं तुमसे निश्चित प्रेम करता हूं, बिलकुल निश्चित प्रेम करता हूं, तो संदेह उठना स्वाभाविक है कि यह आदमी इतनी बार क्यों कहता है? एक बार कह दिया, ठीक है; सच तो यह है, हो तो कहना ही नहीं पड़ता। हो तो सारे जीवन से उसकी सुवास उठती है, कहना थोड़े ही पड़ता है। कहना तो वही पड़ता है जो हम जीवन से नहीं कह पाते।

अब तत्व का निश्चय कहां! अनिश्चय गया, निश्चय गया। सब जा रहा है, खयाल रखना। जैसे कोई गौरीशंकर की यात्रा पर चला है और बोझ को कम करना पड़ रहा है। पहले बहुत सामान लेकर चले थे कि यह भी रख लें--ट्रांजिस्टर रेडिओ भी रख लें, पोर्टबॅल टेलीविजन भी रख लें और थर्मस भी और भोजन भी और सब सामान लेकर चले थे और कैमरा और यह, अब बोझ बढ़ने लगा। पहाड़ की ऊंचाई उठने लगी, अब धीरे-धीरे छोड़ना पड़ेगा। एक-एक चीज छोड़नी पड़ेगी। अब छोड़ो यह टेलीविजन, अब नहीं ढोया जा सकता। अब छोड़ो यह ट्रांजिस्टर रेडियो, अब छोड़ो यह कैमरा भी, ऐसे-ऐसे, ऐसे-ऐसे, शायद अंत तक थर्मस को बचाना पड़े। लेकिन आखिरी क्षण में थर्मस भी छोड़ देनी पड़ेगी। अब इसकी भी क्या जरूरत, घर आ गया! अब थर्मस भी छोड़ो।

जब तुम बिलकुल निपट सरल अकेले, नग्न बचे, निर्वस्त्र, कुछ भी न हाथ में रहा, शून्य बचे, वहीं, वहीं है मिलन।

निर्व्याजार्जवभूतस्य।

अब जिसके मन में कोई कपट, कोई द्वंद्व, कोई चाल, कोई हिसाब, कोई गणित न रहा-- निर्व्याज, आर्जव--जो सीधी रेखा जैसा सरल हो गया। इरछा-तिरछापन न रहा।

चरितार्थस्ययोगिनः।

और जिसके जीवन में अंतस आचरण बन गया।

चरितार्थस्ययोगिनः।

जैसा भीतर, वैसा बाहर; जैसा बाहर, वैसा भीतर; यह बाहर-भीतर की बात भी गयी, अब न कुछ बाहर, न कुछ भीतर, अब एक ही बचा।

मैंने सुना है, एक जैन साधु ने स्वप्न देखा। देखा स्वप्न में कि अपने हाथ में दो ऊंचे डंडे लेकर मोक्ष-महल की ऊपरी मंजिल पर चढ़ने का प्रयास कर रहा है। लेकिन हार-हार जाता है, गिर-गिर जाता है। बार-बार अपनी जगह पर लौट आता है। कुछ समझ नहीं आता कि अड़चन कहां हो रही है, उठ क्यों नहीं पाता ऊपर? तब पास खड़े एक बुजुर्ग की तरफ देखा, जो खड़े हंस रहे हैं। वे बुजुर्ग और जोर से हंसने लगे और उन्होंने कहा कि तुम यह कर क्या रहे हो! तो उस जैन-साधु ने कहा, मेरे पास सम्यक-ज्ञान और सम्यक-दर्शन के दो डंडे हैं, मैं इनके सहारे मोक्ष-महल की ऊपरी मंजिल पर पहुंचना चाहता हूं। लेकिन न-मालूम क्या अड़चन हो रही है, मैं फिसल-फिसल आ रहा हूं। डंडे मेरे पास हैं, चढ़ाई नहीं हो पा रही है। आप खड़े हंसते हैं! कुछ मार्गदर्शन दें।

बुजुर्ग ने कहा, सम्यक-ज्ञान और सम्यक-दर्शन के सहारे तुम अपने लक्ष्य तक न पहुंच सकोगे। डंडों के सहारे कोई इतनी ऊंची चढ़ाई होती है! ये तुम्हें चढ़ने का धोखा तो दे सकते हैं, लेकिन लक्ष्य दिलाना इनकी सामर्थ्य के बाहर है। तो वह साधु बोला, फिर मैं क्या करूं? इन्हें मैंने बड़ी मेहनत से प्राप्त किया है। जन्मों-जन्मों की खोज से। और ये बेकार हैं, तुम कहते हो! मेरा सारा श्रम व्यर्थ गया?

उस बुजुर्ग ने कहा, नहीं, तुम्हारा श्रम व्यर्थ नहीं गया, न व्यर्थ जाएगा, लेकिन सम्यक-ज्ञान और सम्यक-दर्शन के इन दो खड़े डंडों में सम्यक-चारित्र्य की आड़ी सीढ़ियां लगा सको तो बात हो! अभी तुमने जाना, सुना, समझा, लेकिन जीया नहीं। और बिना जीये कोई सीढ़ी थोड़े ही बनती है। विचार से थोड़े ही कोई यात्रा होती है। मात्र विचार से थोड़े ही कोई यात्रा होती है, अस्तित्व होना चाहिए। अस्तित्ववान होना चाहिए। जो अंतस में है, वह आचरण में। जो बाहर है वह भीतर, जो भीतर है वह बाहर। काश, तुम सम्यक-चारित्र्य की आड़ी डंडियां इन दो डंडों के बीच में लगा सको तो सीढ़ी बन जाए! सम्यक-ज्ञान और सम्यक-दर्शन के दो खड़े डंडों में सम्यक-चारित्र्य की आड़ी सीढ़ियां लगाने से नसैनी तैयार हो सकती है। और फिर एक-एक कदम उठाकर तुम उस परम मंजिल को भी पा सकते हो।

चरितार्थस्ययोगिनः।

जिसके जीवन में, जिसके अस्तित्व में सरलता समाविष्ट हो गयी है। फर्क समझना।

तुम ऊपर से आरोपित करके भी सज्जन बन सकते हो। ऐसे ही तो तुम्हारे सब सज्जन हैं। इनके अस्तित्व में सरलता नहीं, अस्तित्व में तो बड़ी जटिलता है। बड़ी चालबाजी है। अस्तित्व में तो बड?ा गणित है, हिसाब है। अस्तित्व इनका निष्कपट नहीं है, आर्जव नहीं है इनके अस्तित्व में।

मैं एक यात्रा में था और एक बड़े स्टेशन पर एक साधु को लोग छोड़ने आए। वह साधु ने केवल टाट लपेटा हुआ था। और कुछ भी न था, और एक टोकरी थी। टोकरी में फल इत्यादि रख गये थे लोग। बड़ी भीड़ आयी थी उन्हें भेजने। जिस कंपार्टमेंट में मैं था, उसी में उनको भी बिठा गये थे, हम दोनों ही थे।

जब ट्रेन चली और मैं आंख बंद करके लेट रहा तो उन साधु ने जल्दी से अपनी टोकरी देखी, फल गिने। मैं देखता रहा उनको थोड़ी-थोड़ी खोल आंख कि क्या कर रहे हैं? जल्दी से फल गिने। और फलों के नीचे नोट छिपाए हुए थे, वे नोट भी गिने। जब वह नोट गिन रहे थे तो आंख खोलकर मैं बैठ गया, उन्होंने जल्दी से नोट

छिपा लिए, मैं फिर लेट गया। जब मैं फिर लेट गया, उन्होंने समझा कि मैं फिर सो गया, तब उन्होंने फिर अपने नोट गिनने शुरू किये। मैं फिर उठकर बैठ गया, मैंने कहा, आप बेफिक्री से गिनो, क्योंकि नोट गिनने में कोई पाप ही नहीं है। और फिर आपके ही गिन रहे हो, कोई मेरे तो आप गिन भी नहीं रहे हो, इसमें इतनी बेचैनी क्या है? इसको छिपा क्यों रहे हैं? वह बड़े बेचैन हो गये, पसीना-पसीना हो गये। टाट ओढ़े हुए हैं!

फिर उनसे मेरी बातचीत हुई। भोपाल जाते थे वह। मुझसे पूछा कि यह ट्रेन भोपाल कब पहुंचेगी, मैंने कहा यह छः बजे पहुंचेगी, आप बिलकुल निश्चिंत सोएं। बीच-बीच में आप चिंता मत करना, क्योंकि यह डिब्बा वहीं कट जाएगा। मैं भी भोपाल चल रहा हूं, तो आप घबड़ाएं नहीं। मगर बारह बजे मैंने देखा कि वह खिड़की से खोलकर, कोई स्टेशन आयी है, पूछ रहे हैं कि भोपाल कितनी दूर? उन्हें मुझ पर भरोसा नहीं आया कि यह आदमी कुछ अजीब-सा मालूम पड़ता है। जब मैं नोट गिनता हूं, एकदम बैठ जाता है! और मुझे नोट नहीं गिनने देता। पता नहीं, मजाक कर रहा हो, कि झूठ कह रहा हो, कि सच कह रहा हो, यह डिब्बा कटे कि न कटे! जब उन्हें मैंने तीन बजे फिर एक स्टेशन पर...तो मैंने कहा देखो, न तुम खुद सोते हो न मुझे सोने देते हो। तुम साधु आदमी, तुम इतनी-सी बात का भरोसा नहीं कर सकते! और तुम दो दफे पूछ भी चुके और लोगों ने तुम्हें बता दिया छः बजे; और यह डिब्बा वहीं कटेगा, तुम बाहर जाकर देख सकते हो, इस पर लिखा है कि यह डिब्बा वहीं कटेगा, फिर भी तुम्हें भरोसा नहीं आता!

फिर पांच बजे से उन्होंने तैयारी शुरू कर दी। तैयारी देखकर मैं बड़ा हैरान हुआ। क्योंकि कोई और कोई तैयारी करे, समझ में आता है। अब इनके पास तैयारी करने को कुछ था भी नहीं। एक टाट लपेटे थे, एक टाट टोकरी में रखा हुआ था। मगर उनको मैंने देखा कि वह आईने के सामने खड़े होकर टाट जमा रहे हैं, बार-बार उसको देख रहे हैं कि ठीक आ गया कि नहीं।

क्या फर्क हुआ? टाट बांधने से तो सरलता नहीं हो जाएगी! टाट बांधने में भी जटिलता है। दरिद्र हो जाने से तो सरलता नहीं हो जाएगी! दरिद्रता में भी लोभ तो छिपा है। साधु होने से सरलता तो नहीं हो जाएगी! क्योंकि इतना भी भरोसा नहीं है कि इतने लोग कह रहे हैं कि छः बजे पहुंचेगी, तो पहुंचेगी। इतनी क्या घबड़ाहट! और साधु इधर-उधर चला भी गया आगे-पीछे तो क्या फर्क पड़ता है। है भी क्या, न पहुंचे भोपाल तो क्या बिगड़ता है! इतनी क्या घबड़ाहट है! नहीं लेकिन, हिसाब-किताब है। और वह जो सरलता भी है, टाट बांध जो रखा है, उसमें भी आयोजन है।

अब तुम फर्क समझना।

एक स्त्री अपने साथ बैग रखे होती है, आईना रखे होती है, पाउडर रखे होती है, समझ में आती है बात। लेकिन इस वेनिटी बैग में और इन सज्जन के टाट को संभालने में क्या भेद है? ऊपर से भेद बड़ा दिखता है! संभालने को मखमल नहीं है, लेकिन टाट भी संभाला जा सकता है। टाट का भी शृंगार हो सकता है। टाट के पीछे भी विशिष्ट होने की आकांक्षा हो सकती है। तो सब व्यर्थ हो गया।

"निष्कपट, सरल और कृतार्थ योगी...।"

सरलता साधी नहीं जा सकती, चेष्टित नहीं हो सकती, सरलता तो समझ से आए तो ही। इसलिए अष्टावक्र का पूरा जोर है बोध पर, होश पर। समझो, जागकर जीवन को देखो और सरलता अपने-आप आती है। तुम उसे आयोजित मत करना। आयोजित सरलता सरलता नहीं रह जाती।

"आत्मा में विश्राम कर तृप्त हुए और निस्पृह और शोकरहित पुरुष के अंतस में जो अनुभव होता है, उसे किसको और कैसे कहा जाए!"

बड़ा अनूठा वचन है।

आत्मविश्रांतितृप्तेन निराशेन गतार्तिना।
अंतर्यदनुभूयेत तत्कथं कस्य कथ्यते।।

जो अपनी आत्मा में विश्राम को उपलब्ध हो गया, जो पहुंच गया अपने भीतर, जो चैतन्य के क्षीरसागर में हो गया, विष्णु बनकर लेट गया अंतस के क्षीरसागर में, जो विश्राम को उपलब्ध हो गया है...।

आत्मविश्रांतितृप्तेन।

और वहीं है तृप्ति--उसी विश्रांति में, उसी विराम में; उसी विराम में है आनंद, परितोष।

निराशेन गतार्तिना।

और जो अब बाहर की सब स्पृहा से, सब आशाओं से मुक्त हो गया।

निराशेन गतार्तिना अंतर्यदभूयेत।

अब उसके भीतर ऐसे-ऐसे अनुभव होंगे, ऐसे-ऐसे अनुभव के द्वार खुलेंगे, ऐसा गीत बजेगा, ऐसा नाद उठेगा...।

तत्कथं कस्य कथ्यते।

कि अब उसे किससे कहें और कैसे कहें! अब न तो कोई पात्र मिलेगा उसे जिससे कह सके। क्योंकि जो भी पात्र हो, उसको कहने की जरूरत न होगी; जो भी पात्र होगा, वह तभी पात्र होगा जब उसने भी उस नाद को सुन लिया हो, उसको क्या कहना, वह तो पुनरुक्ति होगी। और जिसने अभी उस नाद को नहीं सुना वह अपात्र है, उससे क्या कहना, वह तो समझेगा नहीं। उसे किसको और कैसे कहा जाए!

तत्कथं कस्य कथ्यते।

कहो तो कैसे! और कहो तो किससे कहो! कोई पात्र नहीं मिलता।

दो बुद्धपुरुष मिलें तो बोलने को कुछ नहीं। क्योंकि दोनों का अनुभव एक है, अब बोलना क्या! दो बुद्धपुरुष तो ऐसे होंगे जैसे तुमने दो शुद्ध दर्पण, शुद्धतम दर्पण एक-दूसरे के सामने रख दिये। कोई प्रतिबिंब न बनेगा। दर्पण में दर्पण झलकेगा, क्या प्रतिबिंब बनेगा! कुछ भी प्रतिबिंब न बनेगा। दो स्वच्छतम दर्पण अगर एक-दूसरे के सामने रखे हों तो कुछ प्रतिबिंब नहीं बनेगा। दर्पण में दर्पण, दर्पण में दर्पण झलकता रहेगा, लेकिन प्रतिबिंब कुछ भी न बनेगा, आकृति कुछ भी न उठेगी। दो बुद्धपुरुष अगर मिलें, तो कह सकते हैं, लेकिन कहने में कोई सार नहीं।

और अगर बुद्धपुरुष को अज्ञानी से मिलन हो जाए, तो कहने में सार है, लेकिन कह नहीं सकते। सार तो है! क्योंकि यह अज्ञानी अभी जानता नहीं, इसे अगर जनाया जा सके तो शायद इसके जीवन में अंकुरण हो, यात्रा शुरू हो, प्यास जगे, मगर कैसे इसे जनाओ! क्योंकि जो अनुभव हुआ है वह शब्दातीत है। जो भीतर, भीतर, भीतर जाकर जाना है, वह कुछ ऐसा है कि अब किसी इंगित में बंधता नहीं, किसी शब्द में समाता नहीं, किसी ढंग से उसे कहा नहीं जा सकता। अकथ्य है।

अंतर्यदनुभूयेत।

जो भीतर जाना है उसे बाहर लाने का उपाय नहीं। वह भीतर का है और भीतर ही है और बाहर नहीं आता। बाहर लाओ कि गड़बड़ हो जाती है।

ऐसा समझो कि सागर के भीतर कितनी शांति है, एक भी लहर नहीं उठती। अब उस शांति को तुम बाहर ले आओ सतह पर तो लहर ही लहर हो जाती है। यह शांति बाहर नहीं लायी जा सकती, वह तो तुम जाओ सागर की गहराई में तो ही जानोगे। लहरों के जगत में सागर की गहराई को कैसे लाएं? वह भी लहर हो जाएगी, वह भी बाहर बन कर बिखर जाएगी। शब्द के तल पर उसे कैसे लाएं जो शून्य में जाना गया है? जो मिटकर जाना गया है, जो न होकर जाना गया है। जहां सब नेति-नेति करते-करते जो बोध हुआ है, अब उसे फिर कैसे भाषा और द्वंद्व के जगत में प्रगट करें!

तो अष्टावक्र कहते हैं, आत्मविश्रांतितृप्तेन।

हो जाता है तृप्त आत्मा में विश्रांति को पाकर।

निराशेन गतार्तिना।

सब संसार की आशा से मुक्त, स्पृहा से मुक्त, शोक से रहित, पर बड़ी अड़चन होती है। एक अड़चन होती है ज्ञानी को भी, एक अड़चन ही होती है बस कि अब जो मिला है इसे कैसे बांटे? अब जो पा लिया, उसे कैसे फैलाएं? कैसे निवेदन करें? जो अंधेरे में भटक रहे हैं, उन्हें यह प्रकाश की खबर कैसे पहुंचाएं?

अंतर्यदनुभूयेत।

इतने भीतर का अनुभव कैसे बाहर लाएं।

तत्कथं कस्य कथ्यते।

किससे कहें? वे कान कहां जो सुनेंगे। वे आंखें कहां जो देखेंगी? वे प्राण कहां जो समझेंगे? किससे कहें? और अगर कभी कोई जानने-समझने वाला मिल जाए, तो कहने का कोई अर्थ नहीं। ऐसी दुविधा है परमबुद्धों की।

बस एक ही दुविधा रह जाती है बुद्धत्व में और वह दुविधा है, जो मिला है उसे कैसे बांटे? वह दुविधा भी करुणा की दुविधा है।

आज इतना ही।

चौरासीवां प्रवचन

मन मूर्च्छा है

पहला प्रश्न: मैं साक्षीभाव को जगाने के लिए आत्मविश्लेषण, "इंट्रॉस्पेक्शन" करता हूं। क्या यह पहले कदम के रूप में सही है? कृपापूर्वक समझाएं।

आत्मविश्लेषण तो विचार की प्रक्रिया है, और साक्षी है निर्विचार की दशा। विचार से निर्विचार के लिए कोई मार्ग नहीं जाता। विचार को छोड़ने से निर्विचार का अवतरण होता है।

तो आत्मविश्लेषण तो कतई सही मार्ग नहीं है, अगर साक्षी बनना है।

विश्लेषण का तो अर्थ हुआ, सोचना। साक्षी का अर्थ होता है, बिना सोचे देखना। मात्र जागकर देखना। एक विचार उठा मन में, विश्लेषण तो तत्क्षण निर्णय लेता है--अच्छा है विचार, बुरा है विचार, करने योग्य है, न करने योग्य है! इस विचार में पड़ूं, न पड़ूं? इसे हटाऊं, या सजाऊं, संवारूं, सिंहासन पर बिठाऊं? एक तो विचार उठा, उतना ही काफी था तुम्हें भटकाने के लिए, अब और विचार पर विचार उठे। तुमने और जाल बढ़ा लिया। तुम और जंजाल में पड़े। ये सीढ़ी साक्षी की ओर जाने की न हुई, साक्षी से दूर जाने की हुई। तुमने विपरीत दिशा पकड़ ली। अब तुम क्या करोगे? ये जो विचार उठे विचार के प्रति, अगर इनका भी तुम विश्लेषण करो तो और विचार उठेंगे।

तो विश्लेषण अगर ठीक-ठीक आत्यंतिक रूप से किया जाए तो तुम विक्षिप्त हो जाओगे। क्योंकि विश्लेषण का तो कोई अंत नहीं है। एक विचार को विश्लेषण करने के लिए और विचार चाहिए, उन विचारों को विश्लेषण करने के लिए फिर और विचार चाहिए, फिर विचार के पीछे विचार, फिर तो तुम एक जंगल खड़ा कर लोगे विचारों का। और तुम कहां उसमें खो जाओगे, पता भी न चलेगा। एक ही विचार डुबाने को काफी है, चुल्लू भर पानी डुबाने को काफी है, तुमने सागर खड़ा कर लिया। तुम भटक ही जाओगे।

आत्मविश्लेषण साक्षी का मार्ग नहीं है। इसलिए पश्चिम साक्षी की धारणा को उपलब्ध नहीं कर पाया। आत्मविश्लेषण तो पश्चिम ने बहुत किया है। पश्चिम की सारी विधियां आत्मविश्लेषण की हैं। और आत्मविश्लेषण और साक्षी में मौलिक भेद है। साक्षी का अर्थ है, अब हम कुछ न करेंगे, सिर्फ देखेंगे, मात्र देखेंगे। आंख भर होकर रह जाएंगे। आंख में जरा-सा भी हलन-चलन न होने देंगे। बुरा है विचार कि भला है, इतनी भी रेखा न खींचेंगे। शुभ और अशुभ का भी चिंतन न करेंगे, विश्लेषण तो बहुत दूर। उठेगा विचार तो देखते रहेंगे, कोई निर्णय न लेंगे। हो, न हो; उठे, न उठे; ऐसा पक्षपात भी न करेंगे। साक्षी का क्या पक्षपात! चोरी का विचार उठा तो साक्षी में ऐसे ही तुम जागकर देखते रहोगे जैसे मोक्ष का विचार उठा, कोई भेद नहीं है। इसलिए तो अष्टावक्र बार-बार कहते हैं, शुभ और अशुभ के पार, शोभन-अशोभन के पार, साधु-असाधुता के पार, संसार और मोक्ष के पार, भोग और योग के पार।

वह जो अतिक्रमण करनेवाली चेतना की दशा है, उसमें कोई विश्लेषण नहीं। क्योंकि विश्लेषण तो मन से होता है। विश्लेषण की प्रक्रिया तो मन की ही प्रक्रिया है। यह तो मन का ही खेल है। यह तो तुम मन में और बुरी तरह उतरते जाओगे। यह तो चूकना है, पहुंचना नहीं।

मैकदा है यह समझबूझ के पीना ऐ रिंद
कोई गिरते हुए पकड़ेगा न बाजू तेरा
मैकदा है यह...

ये विचार तो शराब की तरह भुला लेने वाले हैं। शराबघर है। मन मूर्च्छा है, बेहोशी है।

मैकदा है यह समझबूझ के पीना ऐ रिंद

विचार को जब पीने चलो तो बहुत सोच-समझ कर। ओंठ से लगाया कि खतरा है। क्योंकि एक विचार के पीछे दूसरा आ रहा है। एक शृंखला है। ऐसी शृंखला, जिसका कोई अंत नहीं।

मैकदा है यह समझबूझ के पीना ऐ रिंद
कोई गिरते हुए पकड़ेगा न बाजू तेरा

और अगर विचारों में गिरे, तो फिर कोई पकड़ने वाला नहीं है। क्योंकि जो पकड़ सकता था, वही गिर गया। जो संभल सकता था, वही गिर गया।

साक्षी है निर्विचार दशा। विश्लेषण नहीं, संश्लेषण नहीं, चिंतन नहीं, मनन नहीं, मात्र जागरण। बोध मात्र।

कभी-कभी तुम प्रयोग करो। कभी-कभी आंख बंद कर लो और अपने मन को कहो कि तू जो चाहे कर। तुझे जो विचार उठाने हैं, वह उठा। संकोच न कर, बुरे-भले की भी फिक्र मत कर, अब तक दबा-दबा रहा--यह उठा, यह न उठा--अब तू उठा जो तुझे उठाना है। सब लहरें उठा। हम तो तट पर बैठ गये, तटस्थ हो गये। हम तो कूटस्थ हो गये। हम तो बैठकर देखेंगे तेरी लीला। तू नाच। हम देखेंगे। मन से कह दो कि तू नाच और भरपूर नाच और जैसा नाचना है वैसा नाच--सुंदर, असुंदर; श्लील, अश्लील, जैसा भी, हम देखेंगे। और तुम बड़े चकित हो जाओगे।

जैसे ही तुम यह कहकर बैठोगे देखने को, तुम पाओगे मन चलता ही नहीं, सरकता ही नहीं। एक विचारत्तरंग नहीं उठती। कुछ क्षणों को तो मन एकदम स्तब्ध रह जाएगा। तुम करके देखना जो मैं कह रहा हूं। आज ही करके देखना। कुछ क्षण को तो मन बिलकुल स्तब्ध रह जाएगा। क्योंकि उस घड़ी में साक्षी बहुत सघन होगा, ताजात्ताजा होगा। साक्षी के सामने मन कभी खड़ा हो पाया? साक्षी की गैरमौजूदगी मन है। जब साक्षी प्रगाढ़ होता है, तो मन शून्य होता है। जब साक्षी सोया होता है, तब मन खूब खुलकर खेलता है।

देखते नहीं, सुबह जब नींद टूटती है, सपना तत्क्षण बंद हो जाता है। ऐसा थोड़े ही है कि नींद टूट गयी, फिर सपने को पकड़-पकड़ कर बंद करना पड़ता है। कि अब नींद टूट गयी, अब सपने को कहना पड़ता है कि अब तू बंद हो जा। सुबह नींद टूटी, इधर नींद टूटी उधर सपना तिरोहित होने लगा। धुएं की रेखा की तरह खो जाता है। क्या होता है? तुम जागे। तो नींद के कारण जो बन रहा था वह खो गया।

ठीक ऐसी ही घटना अंतर्जागरण में होती है। जैसे ही तुम जागकर बैठे, तुमने कहा मैं बैठूंगा, देखूंगा, साक्षी बनता हूं, वैसे ही तुम पाओगे मन गया। मन मूर्च्छा है। एक तरह का सपना है। इसीलिए तो अष्टावक्र कहते हैं, सारा संसार सपना है। और इस संसार का मूल आधार तुम्हारे मन में है। तुम्हारे मन में सपने का मूल आधार है। सोए-सोए तुमने जो देखा है, वही संसार है। जागकर देखोगे तो परमात्मा के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है।

तो बैठकर क्षण भर को, सब ऊर्जा इकट्ठी करके, संगृहीत करके, संगठित करके, एक प्रगाढ़ चैतन्य बनकर--थोड़ी ही देर रह पाओगे तुम उतनी प्रगाढ़ता में, क्षण, दो क्षण--मगर उन दो क्षण में भी स्वाद आ जाएगा। ज्यादा देर न टिकेगी यह प्रगाढ़ता, क्योंकि तुम्हें इसका अभ्यास नहीं है, तुम्हें अभ्यास तो सोने का है; दो क्षण, तीन क्षण और तुम फिर झपकी खाने लगोगे। इधर तुमने झपकी खायी, उधर मन उठा, विचार चले। जैसे ही विचार चले, समझ जाना कि झपकी खा गये, यह सपना उठ आया। यह सपना प्रतीक है कि तुम झपकी खा गये, साक्षी खो गया। तब फिर एक झटका अपने को देना और कहना कि ठीक, अब मैं फिर बैठता हूं, अब तू फिर चल। जब-जब तुम संभलकर बैठोगे तबत्तब तुम पाओगे मन बंद हो जाता है। और जब-जब तुम होश खो दोगे तबत्तब तुम पाओगे मन फिर शुरू हो जाता है।

विश्लेषण किसका करोगे? साक्षी के सामने तो मन होता ही नहीं, विश्लेषण किसका करेगा? टेबल पर मरीज ही नहीं रहता, एकदम नदारद हो जाता है। जैसे ही साक्षी खोया, वैसे ही मरीज।

इसे ऐसा समझो, तुम जब सोए हुए हो, तो तुम्हारे उस सोएपन का नाम मन है। तुम जब जागे हुए हो, तब तुम्हारे जागेपन का नाम साक्षी है। ऐसा समझो कि जब तुम जागे हो, तब तुम सर्जन और जब तुम सोए हो, तुम मरीज। मरीज की तरह तुम्हीं लेटते टेबल पर आपरेशन की प्रतीक्षा करते, लेकिन तब सर्जन नहीं रहता। यहां दो तो हैं नहीं। तो बैठा है मरीज, लेटा है और रास्ता देखता है, सर्जन नहीं है। जब विचार होता है, तो द्रष्टा नहीं होता। और जब सर्जन मौजूद होता है, द्रष्टा होता है तो मरीज नहीं होता, विचार नहीं होता। विश्लेषण करोगे किसका? विश्लेषण तो तब हो सकता है जब द्रष्टा और विचार दोनों साथ हों। आपरेशन करोगे किसका? कैसे करोगे? ये दो तो नहीं हैं। एक ही है। तो या तो मन होता है, या साक्षी होता है।

विश्लेषण शब्द बड़ा खतरनाक है। इसका मतलब यह होता है कि तुम हो और मन भी है, दोनों साथ-साथ खड़े हैं। ऐसा कभी हुआ नहीं। यह तो ऐसा हुआ जैसे कि घर में अंधेरा था, बड़ा अंधेरा था और मालिक ने अपने नौकर मुल्ला नसरुद्दीन को कहा कि जरा भीतर जाकर देखकर आ, अंधेरा है या नहीं? उसने कहा मालिक, जरा लालटेन जला लूं! तो उस मालिक ने कहा कि अंधेरे को देखने के लिए लालटेन की क्या जरूरत है? कंजूस आदमी, उसने कहा, नाहक तेल खराब करेगा, देखकर आ! पर उसने कहा, बिना लालटेन के देखूंगा कैसे? लालटेन जला लूं। लालटेन जला ली, नहीं माना, लालटेन जलाकर गया देखने--अब लालटेन जलाकर जाओगे तो अंधेरा कहां मिलेगा! लौटकर आ गया। बोला, मालिक, अंधेरा बिलकुल नहीं है। मैं बिलकुल देख आया, कोने-कोने में देख आया; लालटेन जलाकर देख आया, चूक हो नहीं सकती।

लालटेन जलाकर देखने जाओगे तो अंधेरा मिल नहीं सकता। इसीलिए तो ध्यानी को विचार कभी मिला नहीं। जब ध्यान हुआ, ज्योति जली, विचार नहीं। विचार तो अंधेरे की तरह हैं। जब ध्यान न रहा, ज्योति न रही, तब खूब घना अंधेरा है। विचार ही विचार हैं।

तो विश्लेषण में तुम यह मत सोचना कि साक्षी पैदा हो रहा है। विश्लेषण में तो एक विचार दूसरे विचार की टांग खींच रहा है। वह दूसरा विचार भी विचार ही है। विश्लेषण किसका कर रहे हो? विचार ही विचार को कतरनी की तरह काट रहा है। तुम तो मौजूद नहीं हो। तुम मौजूद हो जाओ तो विश्लेषण करने को कुछ बचता ही नहीं।

पूरब और पश्चिम का यही फर्क है। पश्चिम में ध्यान के नाम से जो चलता रहा है, वह कंटेम्प्लेशन है। चिंतन, मनन। पश्चिम से लोग आते हैं और उनको कहो कि ध्यान करो तो वे कहते हैं, किस पर ध्यान करें? स्वभावतः, ध्यान का मतलब ही उनके लिए होता है--किस पर। कोई विषय चाहिए। उनको यह बात एक कदम से समझने में बड़ी कठिन होती है कि ध्यान का मतलब ही होता है, निर्विषय। किस पर, यह बात ही गलत है। जब तक कुछ मौजूद है तब तक ध्यान नहीं। जब कुछ भी मौजूद नहीं है, शून्याकार वृत्ति, तब ध्यान।

तो बजाय तुम विचार में उलझने के, जागो। मन बड़ा चालाक है। वह कहता है, चलो, विश्लेषण करें; लेकिन विश्लेषण भी किस चीज का करेगा?

मुल्ला नसरुद्दीन ने अपने बेटे से कहा, फिल्म देखने मत जाना, बड़ी गंदी फिल्म लगी है। और गया तो ठीक न होगा। अब यह तो उकसावा हो गया। बेटे को खयाल भी नहीं था फिल्म में जाने का, यह बाप ने और उकसावा दे दिया। तो वह पहुंच गया। और जब निकल रहा था बाहर तो पता है आपको क्या मिला उसको, क्या देखने मिला? मुल्ला नसरुद्दीन भी निकल रहा था बाहर। तो उस बेटे ने कहा, अरे पिताजी, आप!

नसरुद्दीन एक क्षण तो ठिठका, फिर उसने कहा, इसीलिए देखने आया था कि यह बच्चों के देखने लायक है या नहीं? अगर हो देखने लायक तो तुझसे कह दूंगा कि देख आ।

तुम अगर विश्लेषण भी करोगे तो विश्लेषण के नाम पर भी तुम करोगे क्या? वही तस्वीरें देखोगे जो तस्वीरें पहले और किसी नाम से देखी थीं। अब इस बहाने देखोगे कि विश्लेषण कर रहे हैं। वही उठेगी

कामवासना। अब तुम कामवासना की प्रक्रिया में उतरकर करोगे क्या? होगा क्या? वही उठेगा क्रोध, वही होगा लोभ, अब नये नाम से विश्लेषण! तुम डूबोगे उन्हीं गंदगियों में फिर। यह धोखा तुम किसको दे रहे हो? कामवासना का विश्लेषण करते-करते तुम कामवासना से ही भर जाओगे। क्योंकि जिस बात का तुम बहुत विचार करोगे, वही बात तुम्हारे भीतर प्रविष्ट होती चली जाती है। जिसका तुम बहुत देर साथ-संग करोगे, उसका परिणाम होगा, उसका प्रभाव होगा, उसमें तुम रंग जाओगे। और जितने रंगोगे, उतने सोचोगे और विश्लेषण करूं, और विश्लेषण करूं; यह विश्लेषण ऐसा ही है जैसे कोई खाज को खुजलाए। खुजलाने से खाज मिटती नहीं और बढ़ती है। बढ़ती है तो और खुजलाना पड़ता है, और खुजलाना पड़ता है तो और बढ़ती है, और बढ़ती है तो और खुजलाना पड़ता है, दुष्ट-चक्र पैदा हो जाता है। यह तो ऐसा ही है जैसे कोई घाव को बार-बार कुरेद कर देखे कि अभी तक भरा या नहीं? अब तुम कुरेद कर देखोगे तो भरेगा कैसे!

छोड़ो, विचार का कोई मूल्य ही नहीं है, दो कौड़ी का है। इसका विश्लेषण भी क्या करना। कचरे का विश्लेषण भी क्या करना! व्यर्थ का विश्लेषण भी क्या करना! यह कोई बड़ी बहुमूल्य वस्तु थोड़े ही है, जिसका विश्लेषण करो, बैठकर हिसाब-किताब लगाओ! इसे इकट्ठा फेंक देने जैसा है।

ध्यान का अर्थ होता है, जान लिया इस बात को कि विचार से कुछ मिलता नहीं। अब और विश्लेषण करने की कोई जरूरत नहीं है।

आत्मविश्लेषण कौन करेगा? अभी आत्मा है कहां? अभी तो एक विचार दूसरे विचार को तोड़ेगा। विचार से विचार लड़ा दोगे तुम। इससे बड़ा कोलाहल मचेगा। तुम और भी अशांत हो जाओगे।

नहीं, इस झंझट में मत पड़ना। बहुत बार तो यह आत्मविश्लेषण तुम्हें पागल बना दे सकता है।

पूरब कुछ और बात खोजा है, जागो! तुम चकित होओगे, जापान में झेन आश्रमों में पागलों के इलाज के लिए सदियों से एक काम उपयोग में लाया जाता रहा है। अब तो पश्चिम से भी मनस्विद पहुंचते हैं अध्ययन करने, क्योंकि उनको भरोसा नहीं होता कि यह हो कैसे सकता है! पश्चिम में तो पागल आदमी का मनोविश्लेषण वर्षों तक करके भी कुछ खास लाभ नहीं होता। छोटे-मोटे फर्क होते हैं। कोई मौलिक फर्क नहीं पड़ता।

एक आदमी का मनोविश्लेषण तीन साल तक हुआ। और तीन साल के बाद जब किसी ने उससे पूछा कि कहो, मनोविश्लेषण से कितना लाभ हुआ? उसने कहा, काफी लाभ हुआ। तो पूछने वाले ने पूछा कि क्या शराब पीने की जो तुम्हारी विक्षिप्त आदत थी, वह छूट गयी? उसने कहा, आदत तो नहीं छूटी, लेकिन अब पहले जो अपराध-भाव मालूम होता था, वह मालूम नहीं होता। वह अपराध- भाव छूट गया। वह जो गिल्ट मालूम होती थी कि कुछ बुरा कर रहे हैं, वह बात छूट गयी। और फिर, एक बात में और फर्क पड़ा कि पहले मैं शराबघर पहुंच जाता था, जब शराबघर बंद होता तब भी पहुंच जाता था, अब तभी पहुंचता हूं जब खुला होता है। पहले तो ऐसा होता था, रविवार को बंद है तब भी मैं पहुंच जाता था। वह पागलपन अब छूट गया। अब तो जब खुला होता है तभी जाता हूं।

ये कोई फर्क हुए! छोटे-मोटे सुधार कहो। किसी बड़े मूल्य के नहीं।

झेन आश्रमों में पागल आदमी को कोई विश्लेषण नहीं करते। उसे दूर आश्रम के कोने में एक कमरे में रख देते हैं, एक झोपड़े में रख देते हैं। उससे कोई बोलता भी नहीं। उस पर कोई ज्यादा ध्यान भी नहीं देते। क्योंकि झेन फकीर कहते हैं, पागल पर ज्यादा ध्यान देने से उसके पागलपन को भोजन मिलता है। उसको मजा आता है कि इतने लोग ध्यान दे रहे हैं! उसको ध्यान देने की जरूरत नहीं, क्योंकि ध्यान बड़ा सूक्ष्म भोजन है। हो सकता है वह पागलपन इसीलिए दिखला रहा है कि ध्यान पाने का यही एक उपाय है उसके पास, और कोई उपाय नहीं। कोई राजनेता बनकर ध्यान पा लेता है, कोई पागल बनकर ध्यान पा लेता है, हैं सब पागलपन की बातें। कोई धन इकट्ठा करके ध्यान पा लेता है, कोई आदमी नंगा खड़ा होकर, फकीर होकर ध्यान पा लेता है, लेकिन हैं सब पागलपन की बातें।

दूसरे से जब तक तुम ध्यान पाने की आकांक्षा कर रहे हो, तब तक तुम होश में नहीं हो। होश वाला आदमी दूसरे से ध्यान की आकांक्षा नहीं करता, अपने भीतर ध्यान को जगाता है।

फर्क समझ लेना। आमतौर से तुम दूसरे से ध्यान पाने की आकांक्षा करते हो। इसीलिए तो स्त्रियां खड़ी हैं दर्पण के सामने घंटों।

मुल्ला नसरुद्दीन एक दिन मक्खियां मार रहा था, एकदम चिल्लाया कि दो मादा मक्खियां मार डालीं और दो नर! पत्नी ने कहा, हद हो गयी, तुमने जाना कैसे कि दो मक्खियां मादा थीं और दो नर थीं? उसने कहा कि जो नर थे वे अखबार पर बैठे थे और जो मादाएं थीं वे दर्पण पर बैठी थीं। इससे साफ है। घंटे भर से देख रहा हूं कि दो मक्खियां बस दर्पण पर ही बैठी हैं। मादा होनी चाहिए।

स्त्रियां दर्पण के सामने सज रही हैं, संवर रही हैं, किसलिए? किसी का ध्यान आकर्षित हो जाए। अब ये बड़ी उल्टी बातें हैं। खूब सज-संवर कर निकलेंगी, आकांक्षा भीतर यही है अचेतन की कि किसी का ध्यान आकर्षित हो। फिर कोई धक्का दे देगा तो नाराज भी होती हैं। अब यह बड़ी बेहूदी बात है। धक्के कोई न दे, कोई देखे न, तो दुख। कोई देख ले और धक्का दे दे, कोई पीछे लग जाए, तो दुख। आदमी बड़ा बेबूझ है। लोग ढंग-ढंग की व्यवस्थाएं जुटाते हैं, कैसे ध्यान आकर्षित हो जाए।

रॉबर्ट रिप्ले अमरीका का एक बहुत प्रसिद्ध आदमी हुआ। उसको प्रसिद्ध होना था तो उसने आधे सिर के बाल घोट डाले--आधे सिर के। तीन दिन के भीतर पूरे अमरीका में उसका नाम हो गया। क्योंकि सारे अखबारों में फोटो छप गया, अखबार के लोग आने लगे उससे पूछने कि यह आपने क्यों किया? क्या बात है? इसके पीछे राज क्या है? उसने एक सर्कस से हाथी खरीद लिया और हाथी पर बैठकर न्यूयॉर्क में घूम गया--आधा सिर घुटा और हाथी पर बैठा। और हाथी पर बड़े-बड़े अक्षरों में लिखा है--रॉबर्ट रिप्ले। बच्चा-बच्चा जान गया, घर-घर से लोग निकलकर आ गये देखने कि मामला क्या है। और उससे पूछा, तो उसने कहा, कुछ नहीं, मैं प्रसिद्ध होना चाहता था। और वह प्रसिद्ध हो गया। अब तुम देखते हो, मुझे भी उसका नाम मालूम है। नहीं तो रॉबर्ट रिप्ले का नाम मालूम होने का मुझे कोई कारण नहीं है। उसने कुछ और किया ही नहीं सिवाय इसके।

मगर फिर उसने ऐसी कई बातें कीं, जब उसको एक दफा तरकीब हाथ लग गयी। तो कई बातें कीं। उसने एक बड़ा दर्पण अपने सामने बांध लिया और उल्टा चलकर पूरे अमरीका की यात्रा की। दर्पण सामने, दर्पण में देखे पीछे का रास्ता और चले उल्टा। वह बड़ा प्रसिद्ध हो गया। जब वह मरने के करीब था, तो उसने अपने प्रेस एजेंट को कहा--अब तो उसकी बड़ी ख्याति हो गयी थी, उसके पास प्रेस एजेंट और सब व्यवस्था थी और कुल काम उसका इसी तरह का था, कुछ उल्टा-सीधा करना--उसने अपने प्रेस एजेंट को कहा कि खबर कर दो, रिप्ले मर गया। पर उसने कहा कि अभी तुम जिंदा हो। उसने कहा मैं अपनी अखबार में खबर पढ़ना चाहता हूं मरने की। मर तो मैं जाऊंगा, डॉक्टर कहते हैं चौबीस घंटे से ज्यादा जी नहीं सकता। तो मैं आखिरी काम यह करना चाहता हूं कि मैं देखना चाहता हूं, अखबार मेरे मरने के बाद मेरे संबंध में क्या लिखेंगे। प्रशंसा करेंगे, निंदा करेंगे, एडीटोरियल लिखे जाएंगे कि नहीं, कौन क्या कहेगा? राजनेता बोलते कि नहीं, क्या होता है? वह मैं देखना चाहता हूं। और मैं आखिरी खबर भी दुनिया में पैदा करना चाहता हूं, वह मैं तुम्हें पीछे बताऊंगा, तुम अभी तो सूचना कर दो।

अखबारों को खबर दे दी गयी, सब अखबार छप गये, फोटो छप गये कि रिप्ले मर गया। और शाम को उसने अखबार पढ़े, अखबार बढ़ते हुए फोटे उतरवायी--अपने मरने की खबर पढ़ते हुए रॉबर्ट रिप्ले। और उसने दूसरी खबर दी कि अब दूसरी खबर दे दो कि रॉबर्ट रिप्ले मनुष्य जाति का पहला आदमी जिसने अपने मरने की खबर खुद पढ़ी। पढ़ेगा भी कोई कैसे! तब मरा। यह आखिरी खबर दुनिया में छपवाकर मरा।

जब बर्नार्ड शॉ को नोबल प्राइज मिली तो उसने इनकार कर दिया। पहले तो नोबल प्राइज मिली, इसकी खबर छपी, सारे दुनिया के अखबारों में। फिर उसने इनकार कर दिया, इसकी खबर छपी। वह दुनिया का पहला

आदमी था जिसने नोबल प्राइज इनकार किया। और बड़ी खबर छपी। कि ऐसा तो कभी हुआ नहीं। कोई नोबल प्राइज इनकार करता है! और उसने जो वक्तव्य दिया, उसमें कहा कि अब मैं बूढ़ा हो गया, जब मैं जवान था तब मिलती तो मुझे कुछ सुख होता। अब तो किन्हीं बच्चों को दो! अब तो मैं उस जगह के पार आ गया, जहां नोबल प्राइज का कोई मतलब नहीं होता। यह शान बतायी उसने! यह छपी। यह तो सम्राट का अपमान है, स्वीडन के सम्राट का। उसकी तरफ से सम्मान मिलता है नोबल प्राइज का, कभी किसी ने इनकार किया नहीं था, यह पहला ही उपद्रव खड़ा हुआ। सारी दुनिया से दबाव डाला गया, इंग्लैंड के राजा ने दबाव डाला और बड़े-बड़े राजनेताओं ने दबाव डाला कि स्वीकार करो, यह तो अपमान है। चाहे स्वीकार करके फिर तुम दान कर देना यह धनराशि।

तो इस बड़े दबाव में, बड़ी मजबूरी में उसने स्वीकार किया, अब अखबारों में खबर छपी कि वह राजी हो गया, उसने स्वीकार कर लिया। स्वीकार करके उसने तत्क्षण--एक हाथ से दस्तखत किया स्वीकार का और दूसरे हाथ से दान कर दिया, पूरी धनराशि, कोई दस लाख रुपये की धनराशि दान कर दी। वह अखबारों में खबर छपी कि बड़ा दानी। और आखिरी खबर यह छपी कि वह दान जिसको किया है, वह संस्था कुछ और नहीं उसकी ही संस्था है, वह खुद ही एक मेंबर हैं उसके। ऐसे इस हाथ से देकर अपने को ही ले ली। और जब उससे पूछा गया, यह सब जाल क्यों किया? तो उसने कहा कि नोबल प्राइज मिलती, एक दफे छपकर बात खतम हो जाती, मैंने सात दफे छपवा ली। सात दिन तक दुनिया भर की आंखें अटकाए रखा।

आदमी उत्सुक है कि ध्यान कोई दे। पागलपन करने को तैयार है।

तो झेन फकीर कहते हैं, पागल को तो ध्यान देना ही मत। उसको रख देते हैं दूर एक झोपड़े में। खाना पहुंचा देते हैं, उसकी तीमारदारी कर देते हैं, लेकिन उससे कोई बोलता भी नहीं। उससे कहते हैं, तीन सप्ताह तू शांत बैठकर देख जो भी होता है तेरे भीतर। अक्सर ऐसा होता है कि तीन सप्ताह पूरे होते-होते वह आदमी ढंग पर आ जाता है, रास्ते पर आ जाता है। कुछ किया नहीं जाता, सिर्फ उसको छोड़ दिया जाता है उस पर ही। कोई ध्यान नहीं देता, कोई उत्सुकता नहीं लेता।

तुम चकित होओगे जानकर यह बात कि अक्सर हम जब ध्यान देते हैं लोगों पर तो हम उनकी गलत आदतें मजबूत करते हैं। बच्चा बीमार है तो बाप उसके पास बैठता है आकर, मां सिर दबाती। बच्चा स्वस्थ है तो न बाप उसके पास बैठता, न मां उसकी कोई फिकिर लेती। तुम गलत काम कर रहे हो। तुम बीमारी के साथ बच्चे का रस जोड़ रहे हो। तुम कह रहे हो कि जब भी तुझे ध्यान की जरूरत हो, बीमार पड़ जाना। तुमने एक ऐसा रस पैदा कर दिया बीमारी में कि बच्चा जब भी अनुभव करेगा कि मेरी तरफ कोई ध्यान नहीं दे रहा, तब वह बीमार हो जाएगा, रुग्ण हो जाएगा। सौ में नब्बे प्रतिशत बीमारियां ध्यान के लिए पैदा की जाती हैं।

इसलिए तुम देखते, पत्नी मजे से बैठी है, रेडियो सुन रही है, अपना स्वेटर बुन रही है और जैसे ही हार्न नीचे बजा कि पति आ गये कि एकदम लेट गयी, सिर में दर्द हो गया। और तुम ऐसा मत सोचना कि वह बनकर ही लेटी है। हो ही जाता है। तुमसे मैं यह नहीं कह रहा हूं कि वह धोखे दे रही है। यह उसकी अब आदत हो गयी है, पति का जो हार्न बजना है यह काफी है सिरदर्द के लिए। संयोग हो गया, दोनों का जोड़ बैठ गया। जिसको मनोवैज्ञानिक एसोसिएशन कहते हैं। इसका संयोग हो गया। ऐसा मत सोचना कि मैं यह कह रहा हूं कि वह धोखा दे रही है। शायद कभी शुरू-शुरू में दिया होगा, अब तो वह बहुत गये दिनों की बात हो गयी। अब तो यह आदत का हिस्सा हो गयी। पति के आते ही सिर में दर्द उठता है। क्योंकि जब सिर में दर्द होता है तभी पति सिर पर हाथ रखता है। नहीं कौन अपनी पत्नी के सिर पर हाथ रखता है! कोई दूसरे की पत्नी के सिर पर हाथ भला रख दे, अपनी पत्नी के सिर पर कौन हाथ रखता है! पत्नी जब परेशान होती है, तब पति थोड़ी सहानुभूति दिखाता है। प्रेम तो खो गया है, अब सहानुभूति से ही काम चलाता है। पत्नी को भी अब प्रेम तो मिलता नहीं,

लेकिन सहानुभूति की भिक्षा। तो कभी बीमार, तो कभी सिरदर्द, तो कभी कमर में दर्द, कभी यह, कभी वह, वह कुछ-न-कुछ लगाए रखती है।

तुम इसे खयाल रखना। मैं यह नहीं कह रहा हूं, जब बच्चा बीमार हो तो ध्यान मत देना। मैं यह कह रहा हूं, इस भांति ध्यान देना कि बच्चे को एक बात साफ हो जाए कि सम्मान स्वास्थ्य का है, बीमारी का नहीं। उसकी तीमारदारी कर लेना, उसकी हिफाजत कर लेना, लेकिन यह भूलकर भी उसके मन में भाव पैदा मत होने देना कि तुम बीमारी को प्रेम देते हो। प्रेम तो बच्चे को तब देना जब वह हंसता हो, मुस्कुराता हो, आनंदित होता हो। तब उसे गले लगाना। और जब बीमार हो, तब दवा देना, भोजन देना, लेकिन ज्यादा उत्सुकता मत लेना। तुम उसके जीवन में स्वास्थ्य, आनंद, खुशी, उत्सव को बढ़ावा देना। तुम पाओगे उसके जीवन में कम-से-कम बीमारियां होंगी और ज्यादा-से-ज्यादा स्वास्थ्य होगा। तुम अपनी पत्नी को तब प्रेम देना जब वह प्रसन्न है, हंस रही है, आनंदित है, नाच रही है, तब प्रेम देना। जब वह उदास पड़ी है तब दवा दे देना, लेकिन उसमें बहुत उत्सुकता मत लेना। बीमारी में रस लेना ही मत, अन्यथा बीमारी बढ़ती है। बीमारी में रस तोड़ ही देना।

और हजारों साल का झेन फकीरों का अनुभव है कि वह पागलों को भी ठीक कर लेते हैं, सिर्फ ध्यान हटाकर। ध्यान नहीं देते। सिर्फ पागल को छोड़ देते हैं उसके भाग्य पर, थोड़ी देर में वह खुद ही समझ जाता है, क्या सार है इस सबमें? अब तुम थोड़ी देर को तुम समझो, यह रॉबर्ट रिप्ले सिर घुटा कर निकला, अगर किसी ने इस पर ध्यान न दिया होता तो दुबारा यह झंझट न करता। इसकी जिंदगी खराब कर दी जिन्होंने ध्यान दिया। जो बाहर निकल आए अपनी दूकान छोड़कर देखने कि क्या मामला है, उन्होंने इसकी जिंदगी खराब कर दी। फिर यह जिंदगी भर इसी तरह के काम करता रहा। यही इसकी जिंदगी हो गयी। यह भी कोई काम है! हाथी पर बैठकर निकल गये, यह कोई काम है। आईना बांधकर पूरे मुल्क की पूरी उल्टी यात्रा कर ली, यह कोई काम है। यह कोई सृजनात्मकता है। इससे जीवन का कोई अहोभाव हो सकता है। नहीं, आदमी को चुका दिया। जिन्होंने चुकाया उन्हें पता भी नहीं है।

तुम जब भी अपने विचारों के प्रति बहुत ध्यान देने लगो, तो तुम विचारों को प्राण देते हो, विचारों को बल देते हो। पूरब कहता है, शांत, तटस्थ होकर बैठ जाओ, रस ही मत लो, विरस होकर बैठ जाओ, वीतराग होकर बैठ जाओ। कह दो मन को कर तुझे जो करना है, तू अपनी उधेड़बुन कर जैसा तुझे करना है। तुमने देखा कभी घर में बच्चे शांत बैठे अपना काम कर रहे हैं, और कोई मेहमान आने को हैं और तुम उनसे कह दो भई, मेहमान आते हैं जरा शांत रहना, फिर वे शांत नहीं रहते। मेहमान घर में आएं कि बच्चे बहुत उपद्रव करने लगते हैं। बीच-बीच में आ जाते हैं, अपनी मांग खड़ी करने लगते हैं, कि भूख लगी है मम्मी, कि ऐसा हो रहा है, कि वैसा हो रहा है, कि सिर में दर्द हो रहा है। और तुम चकित होते हो कि ये बच्चे जब मेहमान आते हैं तब क्यों इतना शोरगुल मचाते हैं! बच्चों को एक बात अखरती है कि मेहमानों पर ज्यादा ध्यान दिया जा रहा है और उन पर ध्यान नहीं दिया जा रहा है। तो वे बीच-बीच में आकर ध्यान मांग रहे हैं। वे कहते हैं, ध्यान हमें दो।

जिस चीज को तुम ध्यान दोगे वह बलशाली हो जाती है। ध्यान हट जाए, निर्बल हो जाती है, टूट जाती है।

तो मैं तो तुम्हें आत्मविश्लेषण को नहीं कहता। मैं तो आत्मजागरण को कहता हूं। विचारों को ध्यान ही मत दो। अगर तुमने कामवासना को बहुत-बहुत विचार किया, तुम पाओगे कि तुम और कामुक हो गये। तुमने अगर क्रोध पर बहुत विचार किया कि कैसे इससे छुटकरा हो, कैसे इससे मुक्ति मिले, क्या उपाय करूं, इसका विश्लेषण करूं, क्या इसकी जड़ है, कहां यह पड़ा है, तुम धीरे-धीरे पाओगे तुम इसी में उलझ गये।

नहीं, तुम्हारा ध्यान इन क्षुद्र बातों में लगाने का नहीं। क्षुद्र को होने दो, तुम अपने ध्यान को विदा कर लो। तुम ध्यान का सेतु तोड़ दो। तुम बहुत जल्दी पाओगे कि मन अपने-आप--थोड़ी देर उधेड़बुन करेगा और फिर पाएगा कि कोई ध्यान नहीं देता, क्या फायदा है।

सांख्य-सूत्रों में अदभुत बात कही है कि यह प्रकृति की नटी तब तक नाचती है जब तक तुम ध्यान देते हो। जब ध्यान देने वाला कोई नहीं, देखनेवाला कोई नहीं रहता तो नर्तकी सोचती है, अब क्या सार! दर्शक जा चुके, अब क्या अर्थ!

एक सभा में एक राजनेता बहुत देर तक बोलता चला गया। धीरे-धीरे लोग हटते गये, उठते गये। आखिर में सिर्फ एक आदमी मुल्ला नसरुद्दीन बैठा रह गया। फिर भी राजनेता ने पीछा न छोड़ा, उसे जो कहना था वह कहता ही रहा। अंत करके उसने नसरुद्दीन को कहा कि धन्यवाद नसरुद्दीन, मैंने तो कभी नहीं सोचा था कि तुम्हारा मुझमें इतना लगाव है, कि तुम और इतने प्रेम से मुझे सुनोगे। मैं तुम्हारा आभारी हूं। वर्षों हो गये इस गांव में रहते, मैंने तुम्हारी तरफ कभी ध्यान ही नहीं दिया। एक तुम अकेले बचे और सब चले गये। नसरुद्दीन ने कहा फिजूल की बातों में न पड़ो, मैं आपके बाद का बोलने वाला हूं, इसलिए बैठा हूं। अब बैठो और सुनो मुझे। सुननेवाले तो जा चुके, मुझे बोलना है। मैं वक्ता को धन्यवाद देने के लिए बोलनेवाला हूं, अब तुम बैठो और सुनो। सुनने को मैं भी यहां बैठा नहीं हूं।

अगर नर्तकी देखे कि सारे दर्शक जा चुके हैं तो नर्तन का क्या अर्थ रह जाएगा! बंद हो जाएगा। यह मन का जो नर्तन चल रहा है, तुम इसके जब तक रसविभोर होकर, उत्सुक होकर, विश्लेषक बने हो, तब तक गड़बड़ है, तब तक जारी रहेगा। तुम मुंह मोड़ लो, तुम पीठ कर लो, तुम मन से विमुख हो जाओ। जो मन से विमुख हुआ, वह आत्मा के सन्मुख हो जाता है। जो मन की तरफ उन्मुख रहा, उसकी पीठ आत्मा की तरफ रहती है। तुम पीठ मन की तरफ करो--मन को कहो कि तुझे जो करना है, कर। तेरे करने, न-करने में कुछ फर्क नहीं पड़ता। अप्रासंगिक है तेरा करना, न-करना। तू कर तो हमें कुछ प्रयोजन नहीं, तू न कर तो हमें प्रयोजन नहीं। तेरा अच्छा-बुरा सब व्यर्थ है। समग्ररूपेण तू व्यर्थ है। हम पीठ फेरते हैं। इस घड़ी में क्रांति घटती है।

दूसरा प्रश्न: मैं ब्राह्मण हूं, और शायद यही भाव समर्पण में बाधा बन रहा है। झुकने की आदत नहीं है और अब चाहता हूं तो भी पुरानी आदत बाधा बन रही है। आप कुछ सहायता करें।

मौत इस बात की चिंता न करेगी कि तुम ब्राह्मण हो कि शूद्र हो। कि हिंदू हो कि मुसलमान हो। कि दरिद्र हो कि धनी हो। मौत इस बात की चिंता न करेगी कि तुम कौन हो। मौत के सामने सब बराबर हैं। मौत को ध्यान में रखो तो तुम भूल जाओगे कि तुम ब्राह्मण हो। मौत को भूल गये तो ये अकड़ें याद रहती हैं। मौत को याद रखो तो तुम भूल जाओगे कि तुम धनी हो कि गरीब हो। हां, मौत को भूल गये तो ये अकड़ें बनी रहती हैं।

किसीके मुंह से न निकला यह मेरे दफन के वक्त
कि इन पे खाक न डालो ये हैं नहाए हुए

नहाए हुओं पर भी खाक पड़ जाती है। पड़ती ही है। स्वच्छ से स्वच्छ देह भी कब्र में दबती है, दबती ही है। यह स्वच्छता और ब्राह्मण और श्रेष्ठता और ऐसा और वैसा, यह सब अहंकार के आयोजन हैं। स्वभावतः अगर इनमें तुम बहुत ग्रसित रहे, तो संन्यस्त न हो सकोगे।

भारत की तुमने एक अनूठी बात देखी? कि संन्यासी को हमने वर्ण-व्यवस्था के बाहर रखा है। संन्यस्त होते से ही कोई व्यक्ति न तो ब्राह्मण रह जाता है न शूद्र, न क्षत्रिय न वैश्य। संन्यास वर्ण-व्यवस्था के बाहर है। चाहे ब्राह्मण संन्यासी हो, चाहे शूद्र संन्यासी हो, संन्यासी होते से ही वर्ण के बाहर हो गया, वर्णातीत हो गया।

वर्ण का अर्थ होता है, रंग। रंगों में उलझे हो? रूपों में उलझे हो? नाम में उलझे हो? तो तुम संन्यस्त न हो सकोगे। ब्राह्मण तो संन्यस्त नहीं हो सकता। ब्राह्मण छोड़कर कोई संन्यस्त होता है।

और इस अकड़ से मिला क्या है, जो इसको खींचे जा रहे हो? पाया क्या है? ब्राह्मण होने से होगा भी क्या? ब्रह्म होने का मौका चूक रहे ब्राह्मण होने के पीछे!

उद्दालक ने अपने बेटे श्वेतकेतु को कहा है कि बेटे तू सिर्फ जन्म से ही ब्राह्मण होकर मत रह जाना, क्योंकि हमारे घर में ऐसा कभी नहीं हुआ। ऐसा दुर्भाग्य कभी नहीं हुआ। हमारे घर में लोग ब्रह्म को जानकर ब्राह्मण होते रहे। इस परंपरा को खयाल रखना। ब्राह्मण पैदा होकर ही अपने को ब्राह्मण मत मान लेना। यह बड़ा सस्ता ब्राह्मणपन है। इसमें क्या रखा है! संयोग की बात है। अगर ब्राह्मण के घर में पैदा हुए और उसी वक्त उठाकर रख दिया होता शूद्र के घर में तो तुम समझते कि तुम शूद्र हो। शूद्र के घर में शायद पैदा हुए हो और रख दिये गये ब्राह्मण के घर में तो तुम समझ रहे हो कि तुम ब्राह्मण हो। संयोग की बात है। संस्कार की बात है--क्या तुम्हें सिखा दिया दूसरों ने। दूसरों के सिखाए कहीं कोई ब्राह्मण हुआ है!

बड़ी पुरानी और बड़ी प्यारी कथा है।

विश्वामित्र अपने को ब्रह्म-ऋषि घोषित करना चाहते थे। क्षत्रिय थे। और जब तक वशिष्ठ उन्हें ब्रह्म-ऋषि स्वीकार न करें तब तक कोई उनको स्वीकार करने को राजी न था। और वशिष्ठ उन्हें हमेशा राज-ऋषि कहते थे, कभी ब्रह्म-ऋषि नहीं कहते थे।

बात बिगड़ती चली गयी। फिर तो बात यहां तक बन गयी--थे तो क्षत्रिय, और इसीलिए तो वशिष्ठ उन्हें ब्रह्म-ऋषि नहीं कहते थे--एक दिन तलवार लेकर, पूर्णिमा के चांद की रात है, पहुंच गये वशिष्ठ के आश्रम कि आज फैसला ही कर लेंगे। या तो मुझे ब्रह्म-ऋषि कहे या गर्दन अलग कर दूंगा। क्षत्रिय तो क्षत्रिय, बुद्धि तो वही थी तलवार वाली। वह लेकर पहुंच गये। वहां वशिष्ठ अपने शिष्यों को लेकर--पूर्णिमा की रात है--ब्रह्मचर्चा हो रही है।

वह छिपे बैठे हैं एक झाड़ी में कि जब मौका मिले तो निकलकर इसका फैसला ही कर दें। किसी ने पूछा वशिष्ठ को कि विश्वामित्र इतनी चेष्टा कर रहे हैं और इतने साधुपुरुष, आप उनको ब्रह्म-ऋषि कह क्यों नहीं देते? क्यों उन्हें दुख दे रहे हैं? वशिष्ठ ने कहा कि विश्वामित्र अपूर्व व्यक्ति है, अनूठा व्यक्ति है, अद्वितीय व्यक्ति है और इसीलिए रुका हूं, क्योंकि मुझे आशा है वह ब्रह्म-ऋषि हो जाएगा। हो जाए, तभी कहूं; अभी कह दूंगा तो रुक जाएगी बात। थोड़ी अकड़ क्षत्रिय की अभी उसमें शेष रह गयी है। अभी तलवार उसके हाथ से छूटी नहीं है। तलवार छूट जाए तो जरूर कहूंगा। है योग्य। और होकर रहेगा यह भी पक्का है। लेकिन प्रतीक्षा कर रहा हूं ठीक समय की। अभी कह दूंगा तो बात अटक जाएगी, फिर कभी होने का उपाय न रहेगा। मैं उसका दुश्मन नहीं हूं।

यह बात सुनी छिपे हुए झाड़ी में विश्वामित्र ने। भरोसा न आया कि वशिष्ठ और मेरे प्रेम में इतनी बात कह रहे हैं। फेंक दी तलवार वहीं। दौड़ कर वशिष्ठ के पैर पर गिर पड़े। वशिष्ठ ने उठाया तो कहा, उठो ब्रह्मर्षि! आंख से आंसू बहने लगे। विश्वामित्र ने कहा, अब आप कहते ब्रह्मर्षि! अब किसलिए कहते हैं! मत कहें, मैं इस योग्य नहीं हूं, आपको पता नहीं है मैं क्या करने आया था। वशिष्ठ ने कहा, उसकी फिक्र छोड़ो तुम क्या करने आए थे। तुमने जो किया, कि तुम चरण में झुक गये, यह झुक जाने की कला ही तो ब्राह्मण होने की कला है। अब यह बड़ी मुश्किल बात। इसीलिए तो रोका था अब तक कि कब तुम झुको कि तुम्हें कह दूं। तुम्हारी अकड़ गयी, अब क्षत्रिय न रहा। अब तुम सच में ब्राह्मण हुए।

लेकिन साधारणतः हालत उल्टी। ब्राह्मण किसी के चरणों में नहीं झुकता। यह कथा उल्टी है। ब्राह्मण किसी के चरणों में झुकता नहीं, वह तो सबको चरणों में झुकाता है। वह तो अकड़ा खड़ा रहता है। ब्राह्मण की अकड़ तुमने देखी? ब्राह्मण से ज्यादा अहंकारी आदमी खोजना मुश्किल है। क्योंकि वह अपने को सबसे श्रेष्ठ माने बैठा है। जिसने अपने को श्रेष्ठ मान लिया है, उसके श्रेष्ठ होने के द्वार बंद हो गये। जिसने अपने को श्रेष्ठ मान लिया, अवरुद्ध हो गयी यात्रा।

जीसस ने कहा है, धन्य हैं वे जो अंत में खड़े हैं, क्योंकि वे ही मेरे प्रभु के राज्य में प्रथम हो जाएंगे। जो अंतिम हैं वे प्रथम हो जाएंगे और जो प्रथम हैं वे अंतिम हो जाएंगे।

तुम कहते हो, मैं ब्राह्मण हूं। अगर तुम सच में ही ब्राह्मण हो--जन्म से ही, जाति से ही नहीं-- तब तो कोई हर्जा नहीं है। लेकिन तब झुकना तुम्हें बिलकुल सरल होगा। तब समर्पण तुम्हारा स्वभाव होगा। तब अकड़ तुममें

होगी ही नहीं। अगर अकड़ है, तो तुम ब्राह्मण नहीं हो सिर्फ जाति से ब्राह्मण हो। और जाति के ब्राह्मणत्व का क्या मूल्य है! जीवन का ब्राह्मणत्व चाहिए। प्राणों में उठे ऊर्जा।

यह तो जातिवाली बात तो छिन जाएगी। यह तो मौत छीन लेगी। तुम अपने हाथ से छोड़ दो तो सौभाग्य है। नहीं तो मौत छीन लेगी। कब्र में जब पड़ोगे, चिता में जब जलोगे, तो चिता की आग यह फर्क न करेगी कि ब्राह्मण हो कि शूद्र। मौत कोई फर्क नहीं करती। मौत तो सिर्फ एक फर्क जानती है, अगर तुम सच में ही ब्राह्मण हो गये, ब्रह्म को जान लिया, तो फिर मौत तुम्हारी कभी नहीं होती। शरीर मरता है, मन मरता है, तुम नहीं मरते। तुम भीतर अपने अमृत में थिर होते हो।

संन्यास का इतना ही अर्थ है, जो मौत करेगी, वह तुम स्वेच्छा से कर दो। जो मौत छीन लेगी, वह तुम छोड़ दो। संन्यासी प्रतिभाशाली व्यक्ति है, देख लेता है कि मौत तो यह करेगी ही, तो छीन-झपट से क्या सार, खुद ही दे देते हैं। जो बात जानी ही है, उसे छोड़ने का मजा क्यों न ले लें। जो देनी ही पड़ेगी, उसे दान क्यों न कर दें। संन्यासी बहुत कुशल है। बोधपूर्वक एक बात को समझ लेता है कि जो मौत नहीं छीनेगी, वही बचाने योग्य है।

इसको तुम सूत्र समझो। हमेशा मौत को कसौटी बना लेना, कस लेना, यह बात मौत छीन लेगी? अगर छीन लेगी तो तुम्हीं छोड़ दो। अगर मौत इसे नहीं छीनेगी, फिर बचाओ; फिर यह बचाने योग्य है। जिसको तुम मौत के पार भी ले जा सकोगे अपने साथ, वही बचाने योग्य है, क्योंकि वही संपदा है।

ये ब्राह्मण और शूद्र, और हिंदू और मुसलमान, और जैन और ईसाई, ये मौत के साथ जाने वाले नहीं, ये सब जलकर राख हो जाएंगे। ये तुम्हारी खोपड़ी की बीमारियां हैं। ये कोई स्वस्थ होने के लक्षण नहीं हैं।

पुराने शास्त्र एक अदभुत बात कहते हैं कि पैदा तो सभी शूद्र होते हैं--यह बात मेरी समझ में आती है--पैदा तो सभी शूद्र होते हैं, कोई कभी-कभार ब्राह्मण बन पाता है। ब्राह्मण भी शूद्र ही पैदा होते हैं। पैदा तो सभी शूद्र होते हैं। जन्म से कोई ब्राह्मण होता है! जीवन से कोई ब्राह्मण होता है।

संन्यास ब्राह्मण होने का अवसर है। क्योंकि ब्रह्म को जानने का अवसर है।

अजीजो सादा ही रहने दो लोह-एत्तुर्बत को
हमीं नहीं तो ये नक्श और निगार क्या होगा

अब कब्र को खोद रहे हैं, नक्श कर रहे हैं, सुंदर बना रहे हैं, हीरे-जवाहरातों से जड़ रहे हैं।

हमीं नहीं तो ये नक्श और निगार क्या होगा
अजीजो सादा ही रहने दो लोह-एत्तुर्बत को

मिट्टी में खुद ही मिल गये, तो अब संगमरमर की भी मजार हो तो क्या सार है! खुद ही न बचे, तो अब और कुछ बचने का अर्थ भी क्या होता है!

तुम मौत को सदा कसौटी समझो। जो मौत तुमसे न छीन सके, वही बचाने योग्य है। जो मौत छीन ले, वह छोड़ देने योग्य है। मौत को तुम ऐसे उपयोग करो जैसा तुमने देखा हो, सराफ सोने को कसने को एक पत्थर रखे रहता है। उस पत्थर पर सोने को कसकर देख लेता है--सोना है या नहीं? कसौटी। मौत कसौटी है। तो मौत के पत्थर पर हर चीज कसकर देखते रहो। तुम पाओगे कि सिवाय संन्यास के, ध्यान के, साक्षी के और कुछ मौत की परीक्षा पर उतरता नहीं। वही सिर्फ खरा सोना सिद्ध होता है। और तब मौत एक नया अनुभव बनती है। तब मौत मोक्ष बन जाती है।

हिचकी का तार टूट चुका रूह अब कहां
जंजीर खुलके गिर पड़ी दीवाना छूट गया

अगर तुमने अपने को शरीर के साथ एक समझा, मन के साथ एक समझा, तो तुम भी, लगेगा तुम्हें कि मर गये। अगर तुमने समझा कि तुम शरीर और मन के पार हो, साक्षी हो, तो तुम पाओगे: सांस की जंजीर टूट गयी और दीवाना मुक्त हो गया। वह जो भीतर छिपा था, वह मौत से नष्ट नहीं हुआ, मुक्त हुआ। मौत तब मोक्ष बनकर आती है।

लेकिन मौत को समझने की कीमिया संन्यास है। उसको समझने का रसायन संन्यास है। संन्यास का इतना ही अर्थ होता है--सम्यक न्यास। ठीक-ठीक त्याग। किस बात को ठीक-ठीक त्याग कहते हैं? जो मौत छीन लेगी, उसके त्याग को ठीक त्याग कहते हैं। जो मौत नहीं छीनेगी, उसके भोग को ठीक भोग कहते हैं। संन्यास का अर्थ होता है, ठीक-ठीक का त्याग, ठीक-ठीक का भोग। और मौत कसौटी है। और तब--

अहबाब के कांधे से लहद में उतर आए
किस चैन से सोए हुए हम अपने घर आए
और तब मौत दुश्मन नहीं मालूम होती है।
किस चैन से सोए हुए हम अपने घर आए

तब मौत तो घर आना है। अपने परम विश्राम की अवस्था में आना है। पर उसके पहले संन्यास की अपूर्व घटना से गुजरना जरूरी है।

संन्यास का अर्थ होता है, स्वेच्छा से वरण की गयी मृत्यु। इसलिए पुराने दिनों में जब संन्यास देते थे, तो आदमी का सिर घोंट देते थे जैसे मुर्दे का घोंट देते हैं। नहा-धोकर उसके कपड़े बदल देते थे, जैसे मुर्दे के बदल देते हैं। उसका नाम बदल देते थे, क्योंकि वह पुराना आदमी तो मर गया। और प्रतीकरूप में उसे चिता पर चढ़ाते थे। चिता सजा देते थे, उस पर उसे लिटा देते थे, चिता जला देते थे और उसको घोषणा कर देते थे कि पुराना मर चुका, अब तू नया होकर उठ आ। और वह आदमी उठता। फिर वह लौटकर पुराने दिनों की बात नहीं करता था। न पुराने नाम का उपयोग करता था। न पुराने संबंधों की बात करता था। पुराना तो मर गया। वह बात समाप्त हो गयी। यह नये का आविर्भाव है। संन्यास का अर्थ है, सूली और पुनरुज्जीवन। पुराने को मिटा देना, नये को जन्माना।

तुम कहते हो, "मैं ब्राह्मण हूं और शायद यही भाव समर्पण में बाधा बन रहा है।"

शायद नहीं, निश्चित यही भाव। एक तो ब्राह्मण को यह खयाल होता है कि मैं जानता ही हूं, क्योंकि वह शास्त्र का ज्ञाता होता है।

एक मित्र मुझे पत्र लिखते थे, त्रिवेदी हैं। मैं भूल से--कुछ चूक हो गयी होगी--उनको पत्र लिखा तो द्विवेदी लिख दिया। वह बड़े नाराज हो गये। पत्र आ गया उनका कि आपने यह क्या किया! मैं त्रिवेदी हूं, तीन वेदों के ज्ञाता को आपने एक क्षण में दो वेदों का ज्ञाता बना दिया! तो मैंने उन्हें पत्र लिखा, उसमें चतुर्वेदी लिख दिया। अब और क्या करूं! फिर उनका पत्र आया कि आप बात क्या है, आप भूल क्यों करते हैं? मैंने कहा, भूल नहीं कर रहा, जुर्माना भर रहा हूं। एक वेद छीन लिया था, एक जोड़ दिया, लेन-देन बराबर हो गया।

ब्राह्मण को तो बोध है कि मैं जानता हूं। और ज्ञान से बड़ी अकड़ कहीं कोई दूसरी होती है! ज्ञान की अकड़ के कारण आदमी अज्ञानी रह जाता है। जानना ज्ञान नहीं है, ज्ञान के त्याग से जानना घटित होता है। जब छूट जाते हैं शास्त्र और शब्द और रह जाता है मौन, निर्विचार, निःशब्द; शास्त्र विदा हो जाते हैं, कुरान, वेद, बाइबिल, गीता, सब विदा हो जाते हैं, बचते तुम अपने शुद्धतम चैतन्य में, निर्धूम जलती तुम्हारी चेतना की शिखा, वहां ज्ञान है। जहां सब जानकारी से मुक्ति हो जाती है वहां ज्ञान है। लेकिन तुम अगर वेद कंठस्थ करे बैठे हो, तो अड़चन होगी। तुम पहले से ही मान बैठे कि मुझे पता है। बिना जाने मान बैठे कि पता है। तो फिर रुकावट होगी।

शायद नहीं, निश्चित इसी के कारण समर्पण में बाधा पड़ रही है। मेरे पास जो लोग आते हैं, जिनको ज्ञानी होने का दंभ है, उनको सबसे ज्यादा अड़चन होती है।

पश्चिम का बहुत बड़ा संगीतज्ञ हुआ, मोजॅर्ट। उसके पास कोई संगीत सीखने आता तो वह पहले ही पूछ लेता, तुम जानते तो नहीं, पहले कुछ सीखा तो नहीं? अगर वह कहता कि पहले सीखा है, काफी सीखा है, तो वह कहता दुगुनी फीस लूंगा। और अगर कोई कहता कि मैं बिलकुल नया हूं, कुछ भी नहीं जानता, तो वह

कहता आधी फीस ले लूंगा। लोग सुनते तो चकित होते। सीखनेवाला कहता हम सीखकर आए हैं, दस वर्ष का अभ्यास है, हमसे फीस कम लो। हमसे ज्यादा लेते हो? मोजॅर्ट कहता, तुम्हारे साथ ज्यादा मेहनत होगी। तुम पहले जो जानते हो वह मुझे मिटाना पड़ेगा। तुम्हारी स्लेट पर काफी लिखा जा चुका है, उसे साफ करना पड़ेगा, वह मेहनत अलग। उस मेहनत की भी फीस लगेगी। और जो कोरा आया है, उस पर तो मेहनत नहीं है। उस पर तो सीधा लिखा जा सकता है।

अक्सर मेरे अनुभव में यह आया है, जो लोग कोरे आते हैं, वे बड़ी शीघ्रता से गति करते हैं ध्यान में। जो भरे-भराए आते हैं, उनको बड़ी अड़चन होती है। उनके सिद्धांत, उनकी धारणाएं, उनके शास्त्र बीच में खड़े हो जाते हैं। वे मुझे सुनते ही नहीं। मैं कुछ कहता हूं, वे कुछ अर्थ करते हैं। उनके अनुवादों में बड़ी भूल हो जाती है।

कुछ दिन पहले मैं एक बूढ़े क्रांतिकारी राजा महेंद्र प्रताप के संस्मरण पढ़ रहा था। नब्बे साल के हो गये, झक्की किस्म के आदमी हैं। मगर सुंदर आदमी हैं। लंबे संस्मरण हैं उनके--नब्बे साल, और वे भारत के बाहर चक्कर लगाते रहे, भारत की आजादी के लिए कोई तीस साल एक-एक देश छान डाला। तो सबसे उनके संबंध रहे। लेनिन से, स्टेलिन से, ट्राटस्की से, माओ से, होची मिन्ह से, सबसे उनके संबंध रहे। सब तरह के क्रांतिकारियों से, हिटलर से। सब तरह के लोगों से उनके संबंध रहे।

उनके संस्मरण में एक बात मुझे बड़ी प्रीतिकर लगी। उन्होंने लिखा है कि जब मैं रूस गया और लेनिन से मिला और एक सभा को मैंने संबोधन किया, तो जो आदमी रूसी में मेरा अनुवाद करता था। वह बड़े ढंग से अनुवाद कर रहा था और मैं बड़ा चकित हो रहा था कि जहां-जहां मैं कहूं कि धर्म के बिना मनुष्य नहीं जी सकता, धर्म मनुष्य के लिए अनिवार्य है, तो लोग खूब ताली बजाएं। तो मैं बहुत हैरान हो रहा था, क्योंकि सुना तो मैंने यह था कि ये कम्यूनिस्ट, रूसी, धर्म के विपरीत हैं, और ये तो एकदम ताली बजाते हैं! वह बड़े बेचैन हो गये। क्योंकि जब भी वह धर्म का नाम लें, एकदम ताली बजे।

तो उन्होंने बाद में पूछा उस अनुवादक को कि भई, बात क्या थी! उसने कहा, अब आप पूछते हैं तो बता देता हूं। असल में आज्ञा हमें ऐसी है कि जब भी कोई धर्म शब्द कहे तो उसका अनुवाद हम करते हैं--कम्यूनिज्म। अनुवाद कम्यूनिज्म करते हैं, तुम धर्म कहो इससे कुछ फर्क नहीं पड़ता। अनुवाद में तो हम कहते हैं कि कम्यूनिज्म। तो जब तुमने कहा कि धर्म मनुष्य की अनिवार्यता है, तो हमने कहा, कम्यूनिज्म मनुष्य की अनिवार्यता है, लोगों ने ताली बजायी। और फिर है भी ठीक यही अनुवाद, क्योंकि हमारा तो धर्म कम्यूनिज्म ही है। तो और मैंने कोई फर्क नहीं किया, आपके व्याख्यान में और सब मैंने वैसा का ही वैसा रखा है, सिर्फ धर्म शब्द को जब-जब आपने कहा तबत्तब मैंने कम्यूनिज्म कर दिया, इतना आप क्षमा करना, इतनी मजबूरी है, इसकी हमें आज्ञा है कि ऐसे ही करना।

मगर यह तो सब बात गड़बड़ हो गयी। तुम्हारा मन जब अनुवाद करता है--अनुवाद तुम करते हो, जब मुझे सुन रहे हो तो तुम पूरे वक्त अनुवाद कर रहे हो। तुम सीधा थोड़े ही सुन रहे हो, बीच में तुम्हारा मन बैठा है, वह अनुवाद करता जाता है कि देखो यह कहा, अच्छा तो ठीक, यह वेद में लिखा कि नहीं लिखा? लिखा है तो ठीक, नहीं लिखा है तो ठीक नहीं। अपने कुरान से मेल खाता? खाता है तो ठीक, नहीं खाता है तो बात गलत है। कुरान तो गलत हो ही नहीं सकती! तुम्हें कुरान का भी पता नहीं है कि कुरान क्या है? जैसा तुम कुरान को मानते हो वैसी कुरान गलत तो हो ही नहीं सकती--तुम कहीं गलत हो सकते हो!

अहंकार पकड़ कर बैठा है कि मैं ठीक हूं, मैं तो ठीक हूं ही। अब अगर तुमसे मेरी बात मेल खा जाती है तो तुम सिर हिलाते हो, तुम कहते हो, बिलकुल ठीक। मगर तुम मेरी बात के लिए सिर नहीं हिला रहे हो, तुम यह कह रहे हो कि आप ठीक ही कह रहे होओगे, क्योंकि ठीक वही कह रहे हो जो मैं कहता हूं। ठीक मुझसे मेल खा रही है।

फर्क समझना।

रस्किन ने कहा है, दुनिया में दो तरह के लोग हैं। एक वे जो सत्य के साथ खड़े होने को तैयार हैं। दूसरे वे, जो सदा सत्य को अपने साथ खड़ा कर लेते हैं। पहले लोग ही सत्य को खोज पाते हैं, दूसरे लोग कभी नहीं।

सत्य को तुम अपने साथ खड़ा मत करना। क्योंकि अगर सत्य तुम्हें पता ही होता तब तो खोजने की कोई जरूरत ही न थी। सत्य तुम्हें पता नहीं है, इसीलिए तो खोज है। तो जहां सत्य हो, वहां तुम जाना।

अगर तुम्हें मेरी बात सुननी है, तो तुम्हें अपने मन को एक तरफ रखकर सुनना होगा। स्वभावतः ब्राह्मण के पास काफी बड़ा मन है। शूद्र से ज्यादा बड़ा मन है। शूद्र का मन तो ब्राह्मण ने बनने ही नहीं दिया, उसको वेद पढ़ने ही नहीं दिया, रामायण पढ़ने नहीं दी, गीता पढ़ने नहीं दी, उसको वंचित कर दिया। तो शूद्र का मन तो बनने ही नहीं दिया। ब्राह्मण के पास बड़ा मन। ब्रह्म तो बिलकुल नहीं, मन बहुत बड़ा। और वह बहुत बड़ा मन ही बाधा।

निश्चित ही ब्राह्मण होना बाधा बन रहा होगा। लेकिन जरूरी नहीं है कि तुम उसको बाधा बनाओ। जो बाधा है, उसको तुम सीढ़ी भी बना सकते हो। राह पर एक बड़ा पत्थर पड़ा है, उसको तुम रुकावट भी समझ सकते हो और रुक जाओ, ठहर जाओ कि अब कहां जाएं, पत्थर आ गया! और तुम पत्थर पर चढ़ भी सकते हो। चढ़ जाओ, तो शायद तुम्हें और दूर के दृश्य दिखायी पड़ने लगें। तुम पर निर्भर है, पत्थर सीढ़ियां बन सकते हैं, सीढ़ियां पत्थर बन सकती हैं। अवरोध सहयोगी हो सकते हैं, सहयोग अवरोध हो सकते हैं।

मैं तुमसे कहूंगा, ब्राह्मण घर में पैदा हुए हो, इस अवरोध को भी, इस बाधा को भी सीढ़ी बना लो। अब तुम्हारे सामने एक चुनौती है कि ब्राह्मण घर में तो पैदा हो ही गये, अब वस्तुतः ब्राह्मण हो जाओ। अभी जो जाति से है, संस्कार से है, उसे जीवंत अनुभव क्यों न बना लो। एक सौभाग्य है तुम्हारा कि तुम ब्राह्मण हो, अब उस सौभाग्य को और महासौभाग्य में क्यों न परिणित कर लो। बाधा क्यों बनाते हो? सीढ़ी बनाओ। हर चीज को सीढ़ी बनाया जा सकता है। हर चीज को सीढ़ी बनाया जा सकता है। जहर अमृत हो जाता है, समझदार का हाथ होना चाहिए। नहीं तो अमृत भी जहर हो जाता है। देखते हैं, चिकित्सक जहर को भी औषधि बना लेता है।

तो ब्राह्मण होना तो कुछ बुराई नहीं है। सौभाग्य है, धन्यभागी, अच्छे घर में पैदा हुए, जहां हवा थी, ईश्वर की चर्चा थी, शब्द में ही सही, लेकिन ईश्वर की कुछ भनक तो थी। दूर की ही आवाज सही, लेकिन थी तो आवाज ईश्वर की ही। जहां ऋषियों के वेद और उपनिषदों का गुंजार था। बहुत पुराना हो गया, बहुत पुराना हो गया, बहुत धूल जम गयी, लेकिन फिर भी पीछे तो सत्य छिपा ही पड़ा है। अंगार कितना ही दब गया हो राख में, बुझ तो नहीं गया है। राख की ही पूजा चल रही हो, फिर भी अगर थोड़ा राख को हटाओगे तो अंगार मिल जाएगा। सौभाग्य समझो इसे।

मैं जब तुमसे कह रहा हूं कि सौभाग्य समझो तो मेरी बात को गलत मत समझ लेना। यह मत समझ लेना कि मैं यह कह रहा हूं कि जो शूद्र के घर में पैदा हुआ उसका सौभाग्य नहीं। उससे भी मैं कहता हूं, तेरा भी सौभाग्य है। तेरा सौभाग्य यह कि बचा उपद्रव से पंडितों के। कि बचा जाल से सिद्धांतों-शास्त्रों के। कोरा-का-कोरा है, तेरा बड़ा सौभाग्य है। तू इसका फायदा उठा ले। जब मैं कह रहा हूं सौभाग्य, तो मैं तुलनात्मक रूप से नहीं कह रहा हूं, मैं तो हर एक आदमी को सौभाग्यशाली मानता हूं। जो जहां है, जैसा है। किसी ने गाली दी तो सौभाग्य, क्योंकि उसने एक अवसर दिया, अगर तुम क्रोध न करो तो तुम्हारे जीवन में बड़ी गरिमा आ जाए। जिसने स्वागत किया तुम्हारा, स्वागत हुआ तो सौभाग्य। क्योंकि स्वागत में अगर तुम अहंकारी न बनो तो तुम्हारे जीवन में वास्तविक गौरव का जन्म हो जाए।

तिब्बत में एक बहुत अदभुत संत अतीसा के सूत्र हैं। उसमें एक सूत्र है कि हर जहर को अमृत बनाया जा सकता है। और हर बुराई, हर कांटा फूल बन सकती है। दृष्टि पर निर्भर है।

तो ब्राह्मण होना कुछ ऐसा बुरा तो नहीं। इससे उलझन मत खड़ी करो। लिखते हो कि "झुकने की आदत नहीं है और अब चाहता हूं कि जो भी आदत बाधा बन रही है, इससे कैसे छुटकारा हो? आप कुछ प्रकाश डालें।"

झुकने की आदत नहीं है, तो धीरे-धीरे झुकना शुरू करो। तैरने की आदत नहीं तो आदमी क्या करता है? धीरे-धीरे तैरना शुरू करता है। पहले उथले पानी में तैरता, फिर थोड़े और गहरे में जाता, फिर और थोड़े गहरे में जाता, फिर अतल में चला जाता, फिर कोई डर नहीं। फिर कितनी ही गहराई हो। आदत नहीं है झुकने की तो धीरे-धीरे अभ्यास करो। जहां से बन सके वहां से झुको।

इस देश में हमने ऐसी व्यवस्था की थी कि झुकने की आदत बनी रहे। तो कुछ हमने नियम बना दिये थे। हर बेटा बाप के चरण छुए। वह झुकने की आदत थी। हर बाप चरण छूने योग्य होता नहीं। वह तो सिर्फ उथले पानी में अभ्यास करवा रहे हैं कि चल, कुछ नहीं बनता, इतना तो बन सकता है, यही कर। हर बेटा मां के चरण छुए। गुरु के चरण छुए। जो औपचारिक गुरु हैं उनके भी चरण छुए--गणित जिन्होंने सिखाया, भूगोल सिखायी, उनके भी चरण छुए। कोई मतलब नहीं है इसमें, लेकिन मतलब है। मतलब इतना ही है कि अभ्यास बना रहे। तो किसी दिन अगर किन्हीं ऐसे चरणों के करीब आने का भाग्य आ जाए जहां झुकने में अर्थ हो, तो ऐसा न हो कि तुम अकड़े ही खड़े रह जाओ आदत के न होने से। झुकने की आदत...।

तो झुको। जहां से बन सके वहां झुको, जैसे बन सके वैसे झुको। अगर आदमियों के सामने झुकने में अड़चन हो तो हमने उसकी भी व्यवस्था की थी। पीपल का झाड़ है, उसी के सामने झुको--देवता। गंगा नदी है, उसी के सामने झुको। पहाड़, उसी के सामने झुको। कहीं भी झुको, अभ्यास करो। तुम्हारी रीढ़ थोड़ा झुकना सीख जाए।

और अभ्यास का परिणाम क्या होता है? जब तुम झुकोगे, तब किसी दिन झुके में तुम पाओगे कि जो मिला, वह अकड़ कर कभी नहीं मिला। उससे रस बढ़ेगा। कभी तुम देखो, जाकर किसी वृक्ष के पास ही झुक कर सिर रखकर बैठ जाओ, तुम बड़े हैरान हो जाओगे, अपूर्व शांति का अनुभव होगा। जितने अकड़े हो, उतनी अशांति है। उसी अनुपात में अशांति है। जितने झुकोगे उतने शांति का अनुभव होगा। किसी के चरणों में कभी सिर रखकर देखा? चाहे चरण इस काबिल न भी रहे हों, इसकी फिकिर ही मत करो।

मुझसे कभी-कभी लोग पूछते हैं कि यह हम कैसे जानें कि किसके चरण लगें? कैसे पक्का हो कि सदगुरु है, कि कुगुरु है, कि फलां-ढिकां? मैंने कहा कि तुम इसकी फिकिर छोड़ो, तुम्हें लेना-देना इससे क्या? कोई भी हो, तुम झुकने का मजा ले लो। झुकने में असली बात है, किसके सामने झुके यह उतनी मूल्यवान बात नहीं है। इसलिए हमने पत्थर की मूर्तियां तक मंदिरों में बनाकर रखीं। उन्हीं के सामने झुक जाओ। मुसलमानों ने मूर्तियां हटा दी हैं, लेकिन झुकना तो नहीं हटाया है, नमाज में झुकते तो हैं। झुकना नहीं हटाया जा सकता है, मूर्ति हटायी जा सकती है। मूर्ति तो गौण थी। झुकना नहीं हटाया जा सकता है। कहीं भी झुको। चलो, काबा की तरफ सिर करके झुको।

तुम मेरी बात खयाल में ले लेना। जिस विषय के प्रति तुम झुकते हो, उसका कोई मूल्य नहीं है, मूल्य तुम्हारे झुकने का है। तुम झुके, इसमें मूल्य है। क्योंकि झुक कर तुम किसी दिन पाओगे कि अपूर्व शांति की वर्षा हो गयी। तुम झुके थे और कुछ बह गया। कुछ रसधार आ गयी। कुछ उमंग, जिससे मन हलका हो गया, निर्बोझ हो गया। फिर तुम और-और झुकोगे। फिर तो झुकने का स्वाद लग जाएगा। फिर तो तुम जब खड़े हो, तब भी भीतर तुम झुके ही रहोगे। तुम्हारा झुकना तब सहज स्वभाव हो जाएगा।

लेकिन मेरे देखे, असली सवाल समर्पण, संन्यास और झुकने का नहीं है। और भी असली सवाल यह है कि शायद तुम अभी संसार से ऊबे नहीं, हारे नहीं। असली बात वहां अटकी होगी। लोग संन्यस्त होना चाहते, लेकिन अभी संसार में रस अटका है। ध्यान करना चाहते, लेकिन अभी लगता विचार में भी कुछ बल है, विचार से भी बहुत कुछ मिलता है। श्रद्धा जगाना चाहते, लेकिन तर्क को अभी संभाले रखते कि शायद काम पड़ जाए। जब तक तर्क पर पूरी अश्रद्धा न हो जाए तब तक श्रद्धा पर श्रद्धा न होगी। और जब तक ऐसा साफ न दिखायी पड़ जाए कि संसार असार है, तब तक तुम संन्यास की तरफ जा न सकोगे।

तो तुम तो कहते हो, ब्राह्मण होने का भाव शायद बाधा बन रहा है, मेरे देखे उससे भी ज्यादा महत्वपूर्ण बात यह है कि अभी संसार से तुम चुके नहीं, अभी फल पका नहीं, अभी कच्चे हो।

ऐसे कुछ बदल गये हम
बेमानी अब हर मौसम

रंग बरसे या झड़ी लगे
वासंती ज्वार ज्वर जगे
किंतु नहीं सरसेंगे अब
सपने पतझार के सगे
सुमनों की हार हो गयी
बदशकल बहार हो गयी
ऐसे कुछ छाया भ्रमत्तम
धुंधलाया दिनकर का क्रम
ऐसे कुछ बदल गये हम
बेमानी अब हर मौसम

मन जब उन्मन बेहाल हो
कैसे जीवन निहाल हो
सांसों का काफिला लुटा
क्या अबीर क्या गुलाल हो
टेसू के फूल जल रहे
आग में पलास ढल रहे
ऐसे कुछ आंख हुई नम
दृष्टि-दृष्टि लगती पुरनम
ऐसे कुछ बदल गये हम
बेमानी अब हर मौसम

फागुनी धमार क्या करें
गूंजता खुमार क्या करें
तारत्तार अश्रु से कसा
तान बेशुमार क्या करें
मींड़ों में भरा क्लेश है
केवल अवरोह शेष है
ऐसे कुछ राग गये थम
मौन हुआ असमय सरगम
ऐसे कुछ बदल गये हम
बेमानी अब हर मौसम

असली बात है कि तुम्हें दिखलायी पड़ जाए कि जीवन के सब मौसम अर्थहीन, व्यर्थ। तब संन्यास सहज ही घटित होता है। तब उपाय नहीं करना पड़ता। तब झगड़ना नहीं पड़ता, संघर्ष नहीं करना पड़ता। तब समर्पण अनायास आता है। और जो अनायास आ जाए, वही सुंदर है। जो चेष्टा से लाया जाए वह सुंदर नहीं है।

तो मैं तुमसे कहूंगा, जल्दी न करो, चेष्टा न करो, लोभ न करो। अभी संसार में शायद थोड़ा राग-रंग बाकी है, उसे भी देख लो। और उसमें उतर जाओ, और थोड़े दिन सही। समय बहुत पड़ा है। इस देश में हमने समय की कमी नहीं मानी है। पश्चिम में समय कम है। क्योंकि एक ही जीवन है। जन्म और मृत्यु, सत्तर साल,

सब समाप्त। फिर कुछ नहीं। कर लो तो कर लो, गये तो गये। इस देश में इतनी कंजूसी नहीं है, हमने खूब लंबा समय माना है--जनम-जनम। अनंतकाल तक। कोई जल्दी नहीं है। इसीलिए तो हड़बड़ाहट नहीं है पूरब में। इसीलिए तो घड़ी पर इतना आग्रह नहीं है।

घड़ी पूरब में पैदा ही नहीं हो सकती थी, वह पश्चिम की पैदाइश है। घड़ी को पैदा करने के लिए ईसाई चाहिए, हिंदू पैदा नहीं कर सकते घड़ी। इसलिए हिंदू का कोई भरोसा नहीं है। कहता है आ जाएंगे पांच बजे, पता नहीं आए न आए, पांच बजे आए कि सात बजे आए, कि कल आए, कि आज आए, कि परसों आए, कुछ पक्का नहीं। और तुम यह मत समझना कि वह तुम्हें धोखा देता है, उसे समय का बोध नहीं। उसकी धारा नहीं समय की। वह कहता है, क्या फर्क पड़ता है?

मेरे एक मित्र हैं, बड़े राजनेता हैं। ट्रेन जाते हैं पकड़ने तो एक घंटा पहले पहुंच जाते हैं। एक दफे मैं उनके घर मेहमान और मेरे साथ उनको भी यात्रा करनी, तो वह मुझे भी घसीटने लगे। मैंने उनसे पूछा कि भई, दो मिनट का फासला है यहां से स्टेशन का, अभी तो घंटे भर वहां बैठकर क्या करेंगे? और मैंने कहा कोई ट्रेन पहले तो आने वाली नहीं, देर से भले आए! मगर वे बोले कि नहीं, मेरी तो आदत ही यही है। इसमें निश्चिंतता रहती है। मालूम है कि ट्रेन तीन बजे आएगी, वह दो बजे मुझे जाकर स्टेशन पर बिठा दिये। बैठे हैं! मगर अब वह प्रसन्न हैं।

उनके घर मैं एक दफे मेहमान था। रात मुझे कोई चार बजे सुबह ट्रेन पकड़नी थी। तो उन्होंने अपने एक ड्राइवर को कह दिया कि तू यहीं सो जाना। अपने तांगेवाले को कह दिया कि तू भी यहीं सो जाना। और पड़ोस के एक रिक्शेवाले को भी बुलवाकर कह दिया। और अपने एक आदमी को भी कह दिया कि अगर कोई न आए तो तू सामान लेकर स्टेशन पहुंचा देना, चाहे पैदल ही जाना पड़े, क्योंकि उनको जाना जरूरी है। मैंने उनसे पूछा कि मैं अकेला आदमी और चार इंतजाम! उन्होंने कहा, चार में से एक भी आ जाए मौके पर तो बहुत! किसी का कोई पक्का भरोसा थोड़े ही है यहां! यहां चार इंतजाम करो तो शायद एक, वह भी शायद।

और यही हुआ। एक भी नहीं हुआ। जब चार बजे मैं उठा तो कोई नहीं। उनको जाकर मैंने उठाया तब वह भागे, दौड़-धाप की। ड्राइवर शराब पी गया। वह आया ही नहीं। वे खुद ही मुझे लेकर स्टेशन पहुंचे। उन्होंने मुझसे कहा, देखा? इधर कुछ भरोसा नहीं। और इसीलिए मैं एक घंटा पहले पहुंच जाता हूं ट्रेन पर। इधर कुछ भरोसा ही नहीं। किसी बात का कोई भरोसा नहीं।

कारण है! समय का बोध नहीं। समय की कोई जल्दी नहीं। आज हो गया तो ठीक, कल हो गया तो ठीक, परसों हो गया तो भी ठीक और नहीं हुआ, तो भी कुछ हर्जा नहीं।

तुम जल्दी मत करो। तुम जीवन में जहां हो, उसे ठीक से समझ लो और जी लो। उसका स्वाद कड़वा है, देर-अबेर समझ में आ जाएगा। जिस दिन जीवन पर तुम्हारी पकड़ छूटेगी उस दिन संन्यास का जन्म होता है। फिर मैं तुम्हें जीवन से छोड़कर भाग जाने को तो कहता नहीं--संन्यास के बाद भी नहीं कहता। क्रांति तो अंतर में है, भीतर की है। रहोगे वहीं, जहां हो। और ढंग से रहोगे। बोधपूर्वक रहोगे। जागकर रहोगे। लेकिन जल्दी मत करो। अगर कहीं कुछ थोड़ा-बहुत रस उलझा रह गया है, उसका भी निपटारा कर लो। उसका भी चुकतारा कर लो।

आखिरी प्रश्न: मैं सदा से आपका विरोधी था। लेकिन जबसे आपके निकट आया हूं, पता नहीं क्या हो गया है? आप कुछ नशे जैसे हैं। क्या पिला दिया है? नशा उतरता नहीं। और ऐसा डर भी लगता है कि कहीं पागल तो नहीं हो जाऊंगा।

सच कहा था तूने जाहिद
जहर-ए-कातिल है शराब

हम भी कहते थे यही
जब तक बहार आयी न थी

दूर से विरोधी होना बड़ा आसान है। स्वाद के बाद विरोधी होना बड़ा कठिन है। इसीलिए अक्सर विरोधी पास आते ही नहीं, दूर ही बने रहते हैं। दूर में विरोध बड़ा सुगम है। न जाना, न देखा, अड़चन नहीं कुछ। जो सुन लिया, मान लिया; जो सुन लिया, अपने हिसाब से बढ़ा लिया, घटा लिया, रंग-रूप दे दिया। दूर रहकर बड़ी सुगमता है--विरोध की।

पास रहकर विरोध कठिन है। क्योंकि कितने ही तुम बेहोश होओ, इतने बेहोश तो नहीं कि कुछ भी समझ में न आए। और कितने ही तुम सोए होओ, इतने तो सोए नहीं कि जो पुकार मैं दे रहा हूं वह बिलकुल भी सुनायी न पड़े। थोड़ा-बहुत स्वर तो पहुंचेगा।

सच कहा था तूने जाहिद जहर-ए-कातिल है शराब
हम भी कहते थे यही जब तक बहार आयी न थी

स्वाद लेने के बाद ही कुछ कहना चाहिए। बुद्धिमान आदमी दूर से कोई वक्तव्य न देगा, न पक्ष में, न विपक्ष में। बुद्धिमान आदमी सुनी-सुनायी बातों पर निर्णय न लेगा। बुद्धिमान आदमी स्वयं देखेगा। देखेगा ही नहीं, स्वयं अनुभव करेगा। अनुभव के बाद ही वक्तव्य देगा--पक्ष में, या विपक्ष में। और तभी किसी वक्तव्य का कोई मूल्य है।

पूछिए मयकशों से लुत्फ-ए-शराब
यह मजा पाकबाज क्या जानें
वे जो पीएंगे शराब वे ही जानेंगे मजा।
यह मजा पाकबाज क्या जानें

जिन्होंने कभी शराब पी ही नहीं, वे तो क्या मजा जानेंगे! पूछना हो तो उन्हीं से पूछना चाहिए जिन्होंने पीया है। सच तो यह है, उनसे भी पूछना क्या चाहिए, उनके साथ पीकर देखना चाहिए। जैसा मैं निरंतर कहता हूं, यहां तो कोशिश यही चल रही है कि तुम किसी तरह डूबो परमात्मा में। तुम पीओ परमात्मा की शराब। यहां कोई सिद्धांत नहीं समझाए जा रहे हैं, यहां तो सत्य की शराब ढाली जा रही है। इसलिए हिम्मतवरों के लिए ही निमंत्रण है। कमजोर और कायरों की यहां कोई जगह नहीं है। जिन्हें धर्म एक औपचारिकता है, उनके लिए यहां कोई स्थान नहीं। जिनके लिए धर्म एक जीवंत निमंत्रण है, चुनौती है, बस उनके लिए।

अच्छा हुआ कि तुम आ गये। अच्छा हुआ कि इस झंझट में पड़ गये। अच्छा हुआ कि यह पागलपन तुम्हारे सिर पर चढ़ा जा रहा है। अच्छा हुआ कि यह खुमारी तुम्हें आने लगी।

तुझको बरबाद तो होना था बहरहाल खुमार
नाज कर नाज कि उसने तुझे बरबाद किया

आदमी को बरबाद तो होना ही है। चाहे धन के पीछे हो, पद के पीछे हो, बरबाद तो होना ही है। अगर परमात्मा के पीछे हो लिए, तो अच्छा!

नाज कर नाज कि उसने तुझे बरबाद किया
तुझको बरबाद तो होना था बहरहाल खुमार

यहां मौत तो आने को है, जाने को तो सब है ही, बचेगा तो कुछ भी नहीं, अगर परमात्मा के चरणों में सब छोड़ा, अगर यह प्रभु का नशा लग जाए, अगर मंदिर तुम्हारी मधुशाला बन जाए, तो इससे बड़ा और कोई सौभाग्य नहीं। एक दिन तुम कहोगे--

इसका रोना नहीं है क्यों तुमने किया दिल बरबाद
इसका गम है कि बहुत देर में बरबाद किया

एक दिन जरूर तुम कहोगे कि क्यों इतनी देर हो गयी, क्यों इतनी देर तक न आया! कैसे इतनी देर अटका रहा!

और सब तरह का प्रेम एक तरह का पागलपन है। और परमात्मा का प्रेम तो सबसे बड़ा पागलपन है। और सब तो छोटे-छोटे पागल हैं। धन के पागल की क्या बिसात! लेकिन जो मोक्ष के लिए पागल हुआ है, उसका पागलपन तो अनंत है। उतना ही अनंत जितना मोक्ष है। धन पानेवाला तो शायद किसी दिन धन पा भी लेगा और पागलपन से छुटकारा हो जाएगा, लेकिन परमात्मा को जो पाने चला है यह तो पा-पा कर भी चूकता रहेगा। यह तो पा-पा कर भी फिर पाएगा कि और पाने को शेष है। यह पागलपन तो छूट जानेवाला नहीं है। यह पागलपन तो अनंत है।

हमसे पहले भी मुहब्बत का यही अंजाम था
कैस भी नाशाद था फरहाद भी नाकाम था

और प्रेम तो सदा से उलझन में रहा है। समझदार जिनको तुम कहते हो, तथाकथित समझदार, वे प्रेम में नहीं पड़ते। परमात्मा के तो प्रेम की बात छोड़ो, वे सांसारिक प्रेम तक में नहीं पड़ते। वे किसी स्त्री के प्रेम में नहीं पड़ते, किसी पुरुष के प्रेम में नहीं पड़ते, किसी मित्र के प्रेम में नहीं पड़ते। क्योंकि वे जानते हैं, प्रेम में झंझट है। वे तो प्रेम से अपना दामन बचाकर चलते हैं। प्रेम की जगह विवाह कर लेते हैं। प्रेम में नहीं पड़ते। क्योंकि प्रेम में खतरा है। खतरा इस बात का है कि प्रेम को नियंत्रण नहीं किया जा सकता। और फिर परमात्मा का प्रेम तो बहुत खतरनाक है। तुमने अनंत के हाथों में छोड़ दिया अपने को। बागडोर उसके हाथों में दे दी, अब वही हुआ सारथी तुम्हारा।

तो यहां तो जो भी मैं तुमसे कह रहा हूं, वह बहुत थोड़ा-सा है। वह इतना ही है कि तुम अपने हाथ परमात्मा के हाथ में दे दो। तुम बागडोर उसके हाथ में छोड़ दो, तुम कर्ता न रहो।

हमसे पहले भी मुहब्बत का यही अंजाम था
कैस भी नाशाद था फरहाद भी नाकाम था

प्रेमी तो सदा से उपद्रव में, अड़चन में, झंझट में रहे। लेकिन उन्होंने ही कुछ पाया भी। जिन्होंने अपने को गंवाया है, उन्होंने ही कुछ पाया है। जो डूबे, वही उबरे। जो मझधार में खो गये, उन्हीं को किनारा मिला।

आखिरी जाम में थी बात क्या ऐसी साकी
हो गया पी के जो खामोश वह खामोश रहा

अब आ गये हो तो घबड़ाओ मत। अब यह पागलपन तुम पर छा रहा है तो डरो मत, हिम्मत करो, छा जाने दो। इसमें बाधा मत डालना। क्योंकि बहुत हैं जो पास आकर भाग जाते हैं। भाग जाते हैं डर के कारण। लगता है कि खिंचे जा रहे हैं। लगता है कि जल्दी ही अपने बस में न रह जाएंगे। इसके पहले कि बस खो जाए, भाग जाते हैं। फिर स्वभावतः जो मुझसे भाग जाते, उनको मुझसे भागने के लिए कई तर्क खोजने पड़ते, कारण खोजने पड़ते, कि क्यों छोड़ आए, क्यों भाग आए। अपने को भी धोखा देने के लिए उन्हें कई इंतजाम मानसिक करने पड़ते हैं--बौद्धिक--कि क्यों भाग आए।

लेकिन मैं जानता हूं, बड़े-से-बड़ा भय तुम्हें पैदा होगा वह यह कि कहीं ऐसा न हो कि तुम इसमें इतने उलझ जाओ कि फिर इसके बाहर न जा सको।

आखिरी जाम में क्या बात थी ऐसी साकी
हो गया पी के जो खामोश वह खामोश रहा

यहां पहले तो पागलपन पैदा होगा--प्रेम पैदा होगा--और अगर हिम्मत रखी और डूबते गये, तो खामोशी पैदा होगी। पागलपन चला जाएगा, सब तूफान चले जाएंगे--और तूफानों के बाद ही जो शांति आती है, वही शांति है। पहले तूफान आएगा, फिर शांति आएगी। अगर तूफान में ही घबड़ाकर भाग गये, तो शांति से वंचित रह जाओगे। अगर तूफान में टिक गये और तूफान को गुजर जाने दिया तो तुम्हारी धूल झड़ जाएगी। तुम्हारी सदियों की धूल झड़ जाएगी। तुम्हारा दर्पण फिर निखर आएगा। उस निखरे दर्पण का नाम ही ध्यान है। उस निखरे दर्पण में ही जो अस्तित्व की छवि बनती है, उसी का नाम परमात्मा है। और उस छवि तक जाने का जो उपाय है, वही संन्यास है।

हिम्मत करो। इतनी हिम्मत की पास आने की तो विरोध छूट गया। अब और थोड़े पास आओ कि भय भी छूट जाए। भय लगता है। पुराने शास्त्र कहते हैं, गुरु तो मृत्यु है। आचार्यो मृत्युः। क्योंकि गुरु के पास आकर तुम्हारी मृत्यु घटित होती है। तुम जैसे थे, वैसे तो मर जाओगे। और तुम्हें जैसे होना चाहिए वैसे तुम पैदा होओगे। तुम्हारी स्वतंत्रता की उदघोषणा होगी। तुम पहली बार आत्मवान बनोगे।

एक जन्म तो तुम्हारी मां ने दिया है। वह शरीर का जन्म है। एक जन्म गुरु देता है, वह आत्मा का जन्म है। मां से पैदा होते वक्त भी बड़ी पीड़ा होती है। बड़ा कष्ट होता है। गुरु से फिर पैदा होते और भी बड़ी पीड़ा होती है, और भी बड़ा कष्ट होता है।

लेकिन खयाल रखना, अधिकतर बच्चे जब पैदा होते हैं तो उनका सिर नीचे की तरफ होता है। और अगर कोई संभालनेवाली दाई पास न हो तो बच्चा जमीन पर गिरेगा सिर के बल और शायद सदा के लिए सिर खराब हो जाएगा, विकृत हो जाएगा। कभी-कभी ऐसा होता है कि कोई बच्चा सिर के बल पैदा नहीं होता, पैर के बल पैदा होता है, पैर पहले आते हैं, पर बहुत--हजार में कभी एकाध। ठीक ऐसा ही कभी-कभी हजार में एकाध ऐसा भी होता है जो गुरु के बिना पैदा हो जाता है। जिसको गुरु की कोई जरूरत नहीं होती है। लेकिन हजार में नौ सौ निन्यानबे तो सिर के बल पैदा होते हैं। गुरु तो दाई है, "मिडवाइफ"। सुकरात ने यही कहा है कि मैं मिडवाइफ हूं, दाई हूं। और जब तुम पैदा होओगे, तब सिर के बल पर न गिर जाओ कहीं, अन्यथा खतरा है।

अक्सर ऐसा होता है कि बहुत से लोग गुरु से बचने के लिए किताबों से विधियां पढ़-पढ़कर काम में लग जाते हैं और उसका परिणाम भयानक होता है। जब कभी किताबों से पढ़-पढ़कर अगर कहीं पैदा हो गये और किताबें पास में रहीं, तो किताबें दाइयां नहीं हैं। और किताबें कुछ भी न कर सकेंगी। अगर चोट लगी कोई गहरी, तो किताब कुछ भी न कर सकेगी। तो जो लोग गुरु के बिना इस यात्रा में निकलते हैं, उनका सच में ही बड़ा खतरा है। वे वस्तुतः पागल हो सकते हैं।

तुम्हें इस देश में कई लोग मिल जाएंगे, जिनको लोग "मस्त" कहते हैं। "मस्त" इत्यादि कुछ भी नहीं हैं, उनकी हालत बड़ी खराब है। वे पागलों से भी बुरी हालत में हैं। क्योंकि पागलों का तो मनोवैज्ञानिक इलाज भी कर सकता है, इन मस्तों का मनोवैज्ञानिक इलाज भी नहीं कर सकता। ये सामान्य भी न रहे और असामान्य भी न हो पाए। यह संसार छूट गया और वह दूसरा संसार इनके हाथ में आने से रह गया। ये बीच में अटक गये, ये त्रिशंकु हो गये। इससे तो बेहतर है, संसार में ही सोए रहना। कहीं ऐसा न हो कि नींद भी टूट जाए और जागरण भी न आए। तब तुम बड़ी बेचैनी में पड़ जाओगे।

तो अगर मेरे पास आ गये हो तो अब दूर मत बने रहना। और ऐसा कोशिश मत करना कि जो-जो मिले आसपास से बीन लें, इकट्ठा कर लें और अपने-आप काम में लग जाएं। तो खतरा तुम मोल लेते हो। तुम्हारी मर्जी! अगर कुछ वस्तुतः करना हो तो पास आने की पूरी हिम्मत रखना। मेरे हाथ में हाथ देने की हिम्मत रखना, ताकि जब तुम्हारा जन्म हो, तो तुम्हें कोई ऐसी चोट न लग जाये जो संघातक हो। तुम बचाए जा सको। अब आ ही गये हो तो आ ही जाओ। यह भय इत्यादि छोड़ो। जैसा विरोध चला गया वैसा ही भय भी चला जाएगा। तूफान आएगा, और उसके बाद ही शांति है।

दूर से आए थे साकी सुनके मयखाने को हम
पर तरसते ही चले अफसोस पैमाने को हम
अगर पास न आए तो ऐसा ही होगा।
दूर से आए थे साकी सुनके मयखाने को हम
बड़े दूर से खबर सुनी थी मधुशाला की और आए थे।
पर तरसते ही चले अफसोस पैमाने को हम

लेकिन बिना पीए जा रहे हैं। लेकिन तुम्हारे अतिरिक्त कोई और जिम्मेवार नहीं है। तुम उत्तरदायित्व मुझ पर न सौंप सकोगे। मैं तो रोज ढाले जा रहा हूं। मैं तो सुराही लिए खड़ा हूं। पैमानों का हिसाब कहां है, चुल्लू से पीओ, भरके पीओ। अगर तुम खाली हाथ गये तो तुम्हारे अतिरिक्त कोई और जिम्मेवार नहीं है।

और इस जिंदगी में है भी क्या, जिसको खोने से तुम इतने डर रहे हो! है क्या तुम्हारे पास, जिसे बचाने को इतने आतुर हो!

खोजतीं भौतिक क्षितिज आंखें यहां
कब्र से ज्यादा न कीमत ताज की
प्यार के पुख्ता धरातल पर बनाये थे महल
पर बिना आधार की मीनार से ढहते रहे
कहीं घर है न कहीं द्वार जिंदगी तेरा
करें किस ठौर इंतजार जिंदगी तेरा
मौत के पास तलक हाथ खींचकर लायी
मगर मरता न एतबार जिंदगी तेरा

जिस जिंदगी में सिवाय मौत के कुछ नहीं घटता, उस पर भी भरोसा किये चले जाते हो! और जिस समर्पण से मृत्यु के माध्यम से भी महाजीवन घटता है, वहां भी डरते हो, भयभीत होते हो, संकोच करते हो!

जिंदगी है अपने कब्जे में न अपने वश में मौत
आदमी मजबूर है और किस कदर मजबूर है

न जन्म तुम्हारे हाथ में है, न मौत तुम्हारे हाथ में है। सिर्फ एक चीज तुम्हारे हाथ में है, वह है समर्पण। जन्म हो गया, मौत होकर रहेगी। समर्पण तुम चाहो तो हो सकता है, तुम चाहो तो नहीं होगा। सिर्फ एक बात के तुम मालिक हो, वह है संन्यास।

जिंदगी है अपने कब्जे में न अपने वश में मौत
आदमी मजबूर है और किस कदर मजबूर है

नहीं, एक स्वतंत्रता भी है। एक बात है जहां मजबूरी नहीं है। वही स्वतंत्रता संन्यास है।

आज इतना ही।

पचासीवां प्रवचन

चौथे की तलाश

सुप्तोऽपि न सुषुप्तौ च स्वप्नेऽपि शयितो न च।
जागरेऽपि न जागर्ति धीरस्तृप्तः पदे पदे।। २७०।।
ज्ञः सचिन्तोऽपि निश्चिन्तः सेन्द्रियोऽपि निरिन्द्रियः।
सुबुद्धिरपि निर्बुद्धिः साहंकारोऽनहंकृतिः।। २७१।।
न सुखी न च वा दुःखी न विरक्तो न संगवान्।
न मुमुक्षुर्न वा मुक्तो न किंचिन्न च किंचन।। २७२।।
विक्षेपेऽपि न विक्षिप्तः समाधौ न समाधिमान्।
जाडयेऽपि न जडो धन्यः पांडित्येऽपि न पंडितः।। २७३।।
मुक्तो यथास्थितिस्वस्थः कृतकर्तव्यनिर्वृतः।
समः सर्वत्र वैतृष्णयान्न स्मरत्यकृतं कृतम्।। २७४।।
न प्रीयते वंद्यमानो निंद्यमानो न कुप्यति।
नैवोद्विजति मरणे जीवने नाभिनंदति।। २७५।।
न धावति जनाकीर्णं नारण्यमुपशांतधीः।
यथातथा यत्रतत्र सम एवावतिष्ठते।। २७६।।

इस अपूर्व संवाद का अंतिम चरण करीब आने लगा। अष्टावक्र के आज के सूत्र आखिरी सूत्र होंगे। बाद में थोड़े सूत्र और हैं, वे सूत्र जनक के हैं। गुरु ने सब कह दिया जो कहा जा सकता था और जो नहीं कहा जा सकता था। जिसे बताया जा सकता था और जिसे बताने का कोई उपाय नहीं था। उस तरफ भी इशारा कर दिया जिस तरफ इशारे हो सकते थे और उस तरफ भी इशारा कर दिया जिस तरफ कोई इशारा न कभी हुआ है, न हो सकता है।

आज चरमशिखर है अष्टावक्र के वचनों का, आखिरी बात। और यह अष्टावक्र की ही आखिरी बात नहीं, यह समस्त ज्ञानियों की आखिरी बात है। इसके पार बात नहीं जाती। इसके पार शब्द और नहीं उड़ पाते हैं। यह उनकी सीमा आ गयी। इसके पार भी आकाश है, इसके पार भी अनंत है--वस्तुतः इसी के बाद ही असली शुरू होता है--लेकिन यहां तक शब्द भी ले आते हैं। यहां तक शब्द की सवारी हो सकती है, शब्द के रथों पर बैठकर यात्रा हो सकती है।

इन सूत्रों को बहुत ध्यानपूर्वक सुनना, क्योंकि इनसे ऊंचाई के सूत्र कभी नहीं कहे गये हैं। फिर बाद में जो थोड़े सूत्र हैं, वे तो जनक की ओर से हैं। गुरु ने इतना दिया, इतना दिया, वे धन्यवाद-स्वरूप हैं। वे आभार-स्वरूप हैं। और इसलिए भी हैं कि जनक कह सकें कि मैं समझ पाया या नहीं। तो जो कहा है अष्टावक्र ने, उसी को बहुत संक्षिप्त में, सूत्र में, जनक ने फिर दोहरा दिया है। उस दोहराने से केवल इतना बताया है कि जो तुमने दिखाया, वह देख लिया गया है। तुम्हारा श्रम व्यर्थ नहीं गया। तुमने जो मेहनत की थी, वे बीज अंकुरित हुए हैं। फूल खिल गये हैं। आज के बाद के सूत्र तो निष्पत्तियां हैं, सारे अष्टावक्र के वचनों का जो सार-निचोड़ है। लेकिन आज के सूत्र शिखर हैं, ये गौरीशंकर हैं।

पहला सूत्र--

सुप्तोऽपि न सुषुप्तौ च स्वप्नेऽपि शयितो न च।
जागरेऽपि न जागर्ति धीरस्तृप्तः पदे पदे।।

"जो सुषुप्ति में भी नहीं सुप्त है और जो स्वप्न में भी नहीं स्वप्नाया; और जो जाग्रत में भी नहीं जागा हुआ है, वह धीरपुरुष क्षण-क्षण तृप्त है।"

इसे समझने के पहले बुद्धपुरुषों के मनोविज्ञान के चार खंड समझ लेने चाहिए।

पश्चिम में तो अभी दो सौ वर्ष पहले तक जो भी मनोविज्ञान विचार करता था, उसकी सीमा जागृति थी। सुबह जब आंख खुलती है और रात तुम सो जाते हो, इसके बीच ही जो घटता था, मनोविज्ञान उसी का अध्ययन करता था। किसी को यह भी ख्याल न उठा था कि रात भी, सोते भी तो मनुष्य का मन ही काम कर रहा है। वह भी तो मनोविज्ञान है। और जब आदमी आंख खोलकर देखता है, तब भी मन का व्यवहार है और जब आंख बंद करके स्वप्न देखता है, तब भी मन का व्यवहार है।

सिग्मंड फ्रायड ने पश्चिम में क्रांति ला दी। बात पश्चिम में बड़ी क्रांतिकारी लगी, क्योंकि पूरब के ज्ञान से पश्चिम अपरिचित था; अन्यथा सिग्मंड फ्रायड ने जो कहा, उसका कोई भी बड़ा मूल्य नहीं है। पूरब तो सदा से यही कहता रहा। सिग्मंड फ्रायड ने क्रांति खड़ी कर दी जब उसने कहा कि मनुष्य के मन की असली खोज तो स्वप्न में होगी, निद्रा में होगी। क्योंकि जागरण में तो बड़ा धोखा है। जाग्रत में तो तुम जो दिखलाते हो, उसके सच होने की बहुत कम संभावना है। तुम जो चेहरे ओढ़ लेते हो, वे अक्सर झूठे हैं। तो जागृति से तो तुम्हारे मन का ठीक-ठीक पता चलेगा नहीं, जागृति तो धोखा पैदा करती है। इससे तो जो पता चलता है, इतना ही पता चलता है कि ऐसे तुम नहीं हो। आदमी मुस्कुरा रहा, मित्रता दिखला रहा, और हो सकता है भीतर छुरे पर धार रख रहा है तुम्हारे लिए। जितनी छुरे पर धार रख रहा है, उतना ही मुस्कुरा रहा है, ताकि तुम्हें कहीं छुरे की धार दिखायी न पड़ जाए। वह मुस्कुराहट आवरण है। मित्रता दरसा रहा है, क्योंकि गला काटना है। उतनी ही ज्यादा मित्रता दिखला रहा है, उतना ही हमजोलीपन दिखला रहा है। चेहरे तो बड़े झूठे हैं!

तो फ्रायड ने जब यह कहा कि अगर आदमी की असलियत जाननी हो तो उसके सपनों में झांकना पड़ेगा, क्योंकि वहां मन निखालिस है, वहां धोखाधड़ी नहीं है। इतने कुशल बहुत कम लोग हैं कि सपने में धोखा दे दें। हैं कुछ लोग। और कभी-कभी तुम भी इतने कुशल हो जाते हो धोखा देने में कि सपने में भी धोखा दे सकते हो, लेकिन बहुत कम लोग हैं। सपने तक धोखा देना मुश्किल हो जाता है।

तो फ्रायड ने एक नया अध्याय खोला कि मनुष्य के मन का विश्लेषण मनुष्य के स्वप्न का विश्लेषण होगा। जब फ्रायड ने पहली दफे यह बात कही तो लोगों ने भरोसा न किया। उन्होंने कहा, हमें जानना है तो हमसे पूछो, सपने में क्या देखना है? सपने में क्या धरा है! सपने में हो क्या सकता है? तुम भी सपने को कोई बहुत मूल्य तो देते नहीं। रात अगर तुमने किसी की हत्या कर दी तो सुबह उठकर तुम चिंतित थोड़े ही होते हो कि रात हत्या कर दी। लेकिन तुमने हत्या की है, रात की कि दिन की, क्या फर्क पड़ता है। तुम हत्या करने के भाव से भरे हो, इतना तो सिद्ध होता है। आज रात में की है, कल दिन में भी कर सकते हो। विचार तो मौजूद है। बीज तो मौजूद है। बीज अगर मौजूद है तो कभी भी वृक्ष हो सकता है। कृत्य बन सकता है विचार, क्योंकि विचार ही तो कृत्य बनते हैं। जो आज कृत्य हो गया है, वह कल विचार था। जो आज विचार है, कल कृत्य हो सकता है।

इसलिए इसके पहले कि तुम अपने जीवन के ढांचे को बदलो, तुम्हारे ये स्वप्न के ढांचे भी बदलने चाहिए। क्योंकि स्वप्न तुम्हारे जीवन को निर्मित कर रहे हैं। स्वप्नों में नक्शे हैं तुम्हारे जीवन के। क्या तुम होने वाले हो, इसकी खबरें हैं। तुम रात किसी की पत्नी को लेकर भाग गये सपने में, सुबह उठकर तुम परेशान नहीं होते। तुम कहते हो, सपना था। लेकिन भागे तुम, भागना तुम चाहते हो। दूसरे की पत्नी में तुम उत्सुक हो। रस है तुम्हें। शायद दिन में तुम्हें यह दिखायी भी नहीं पड़ता। दिन में तो तुम राम-राम जपते रहते हो, माला फेरते रहते हो। दिन में तो यह विचार उठेगा तो तुम हंसोगे कि कैसा गलत विचार उठ रहा है। दिन में तो तुम ऐसा दिखलाते हो दूसरों को और अपने को भी कि यह विचार गलत है। लेकिन है तुम्हारा! रात सपने में जब उठेगा, तब तुम कर गुजरोगे। जो आज सपने में किया है, वह मजबूत होता जाएगा। उसकी लीक पड़ेगी।

सिर्फ एक छोटा-सा आदिम कबीला है फिलिपाइन्स में, जहां उन्होंने सपनों को बड़ा मूल्य दिया है। और पहली बात उस कबीले में जो होती है, वह सुबह उठकर सपनों की चर्चा होती है। जब उस कबीले का अध्ययन किया गया तो लोग बड़े चकित हुए, वह अनूठा कबीला है। छोटा-सा कबीला है, आदिम लोगों का है, जंगली है। मगर उन जैसे सभ्य आदमी कहीं पाए नहीं गये अब तक। और उनकी सभ्यता का सारा राज यह है कि उन्होंने अपने सपनों में बड़ी गति पायी है। छुटपन से, बच्चे पैदा हुए और जैसे ही बच्चा बोलने लगा, तो जो पहली बात बच्चे से पूछी जाती है वह यह कि तूने रात सपना क्या देखा? और घर के बड़े-बूढ़े उसका विश्लेषण करते हैं कि इसके सपने का अर्थ क्या है। धीरे-धीरे उसको सपने के माध्यम से वे बताने लगते हैं कि तुझे यह करना चाहिए, तेरा सपना यह कह रहा है।

एक छोटे बच्चे ने सपना देखा कि पड़ोस के लड़के को एक चांटा मार दिया। तुम तो इसको मूल्य भी न दोगे। तुम तो हत्या करने को भी मूल्य नहीं देते। लेकिन इस आदिम कबीले के लोग उस बच्चे को कहेंगे, जाकर उस बच्चे से क्षमा मांगो कि भूल हो गयी। सपने में चांटा मारा! तो चांटा मारना तुम चाहते हो, इतना सिद्ध हुआ। जाकर क्षमा मांगो। क्षमा मांगने से ही नहीं चलेगा, क्योंकि चांटा तो लग गया, चोट तो हो गयी, कुछ भेंट भी ले जाओ। कुछ खिलौना ले जाओ, मिठाई ले जाओ, उसे देना और माफी मांगना और कहना कि बड़ी भूल हो गयी, सपने में चांटा मार दिया। छोटे बच्चे! छोटे बच्चों को तो सपने और जागरण में बहुत फर्क भी नहीं होता। छोटा बच्चा तो रात सपने में खिलौना खो जाता है तो सुबह रोता है, पूछता है, मेरा खिलौना कहां है? तुम समझाते हो कि सपना था, पागल! अभी बच्चे को सपने और सत्य में बहुत फासला नहीं है।

इस बात को खयाल में लेना कि बच्चे को सपने और सत्य में बहुत फर्क नहीं है। संत को भी सपने और सत्य में बहुत फर्क नहीं रह जाता। इसीलिए तो संतों ने जगत को माया कहा है। जगत को सपना कहा है। जिसको तुम यथार्थ कहते हो उसको संत सपना कहते हैं। और बच्चा सपने को भी सच मान लेता है। संत और बच्चे में थोड़ा-सा फर्क है, जरा-सा फर्क है। बच्चा सपने को सच मान लेता है। संत सपने को तो सच मानता ही नहीं, सच को भी सपना जान लेता है। मगर दोनों में कुछ तालमेल है। इसलिए जीसस ठीक कहते हैं, मेरे प्रभु के राज्य में वे ही प्रवेश करेंगे जो छोटे बच्चों की भांति सरल हैं। इसलिए अष्टावक्र बार-बार दोहराते हैं, बालवत जो हो गया, वही परमज्ञानी है। ये दूसरे छोर से बालवत हो जाना है। सपना तो सपना हो ही गया, यह जिसको तुम जाग्रत फैलाव कहते यथार्थ का, वस्तु-जगत, यह भी स्वप्नवत हो गया।

इस छोटे कबीले में बच्चों को बचपन से ही एक बात सिखायी जाती है कि सपने में भी भूल हो गयी तो भूल हो गयी। अब तुम सोचो, जो सपने में भी भूल करने में धीरे-धीरे जागने लगते हैं, उनसे जागरण में तो कैसे भूल होगी? इसलिए यह कबीला इस पृथ्वी का सबसे ज्यादा सभ्य कबीला है। इस कबीले में आज तब कोई हत्या नहीं हुई। न कोई चोरी हुई। न कोई आत्महत्या हुई। और इस कबीले के इतिहास में कोई आदमी कभी पागल नहीं हुआ। और यह कबीला कभी युद्ध में नहीं उतरा। अपूर्व है घटना! आदमी और युद्ध न करे! आदमी और चोरी न करे! आदमी और हत्या न करे! आदमी और पागल न हो! तो फिर आदमी करेगा क्या? यही तो सारे काम हैं। सौ में निन्यानबे तो यही काम हैं हमारे जीवन के। कुछ थोड़ा-बहुत बच जाता है, उसमें हम और तरह से जीते हैं, अन्यथा यही हमारा जीवन है, लड़ो, मारो।

इस कबीले की सभ्यता बड़ी अनूठी है। और इस कबीले को न तो किसी ने अहिंसा की शिक्षा दी--न बुद्ध हुए, न महावीर हुए--न किसी ने सत्य की शिक्षा दी, न किसी ने धर्म सिखाया। यह कबीला कोई बहुत बड़ा धार्मिक कबीला नहीं है, लेकिन इस कबीले के लोग बड़े धार्मिक हैं। फर्क समझ लेना, जब मैं कहता हूं धार्मिक नहीं हैं तो मेरा मतलब, न तो पंडित, न पुरोहित, न मंदिर, इस सबकी बहुत चिंता नहीं है। लेकिन एक बड़ी कीमिया पकड़ ली उन्होंने, कुंजी पकड़ ली कि स्वप्न में रूपांतरण करना है। जब स्वप्न बदल जाता है, जब विचार बदल जाते हैं, तो कृत्य बदल जाते हैं। उन्होंने बहुत आधारभूत बात पकड़ ली।

फ्रायड ने इस सदी को यही आधारभूत बात पश्चिम में दी। जब पश्चिम में फ्रायड ने दी तो लोग चकित हुए। मनोविज्ञान इतना ही कर रहा है, मनोविश्लेषण इतना ही कर रहा है, पागल आदमी के सपनों की खोज करता है। और सपनों की खोज से पागल आदमी को सत्य का दर्शन कराता है। जैसे-जैसे पागल आदमी को अपने सपने का बोध स्पष्ट होने लगता है, वैसे-वैसे उसके जीवन- व्यवहार में रूपांतरण हो जाता है। यह बात क्रांतिकारी थी पश्चिम में, लेकिन पूरब में नहीं। पूरब तो सदियों से यह कह रहा है।

यह अष्टावक्र का सूत्र अपूर्व है। अष्टावक्र यह कह रहे हैं कि ऐसी भी गहरी समझ है जहां स्वप्न ही नहीं समझ लिये जाते, सुषुप्ति भी समझ ली जाती है।

सुषुप्ति और गहरी है। पहले जागृति--दिन का व्यवसाय, आचरण, व्यवहार; फिर स्वप्न का व्यवसाय, आचरण, व्यवहार; फिर इसके नीचे सुषुप्ति है, जहां स्वप्न भी नहीं रहा। न बाहर की दुनिया रही न भीतर की दुनिया रही, तुम अपने में बिलकुल बंद हो गये। द्वार-दरवाजे बंद करके तुम बीज की तरह हो गये। कोई अंकुरण न उठा--कोई विचार नहीं, कोई तरंग नहीं। यह सुषुप्ति। और इससे भी एक गहरी दशा है जिसको तुरीय कहा है। जहां तुम इस भीतर की अपूर्व शांत, एकांत दशा में जाग्रत हो गये। सोए-सोए जग गये, सोए में जग गये। शरीर सोया रहा, मन सोया रहा और चैतन्य जग गया। इसको चौथी अवस्था कहा।

पश्चिम का मनोविज्ञान अभी दो में उलझा है--पहले एक में ही, जागृति में उलझा था। फ्रायड के अनुदान से स्वप्न में भी लग गया है। अभी-अभी दस वर्षों में सुषुप्ति पर भी खोज शुरू हुई है। अमरीका में दस प्रयोगशालाएं काम कर रही हैं आदमी की नींद की खोज के लिए कि आदमी की नींद में क्या घटता है। लेकिन चौथे की अभी कोई भी खबर नहीं है। और उसी चौथे पर पूरब का सारा मनोविज्ञान खड़ा है। चौथे तक भी आना पड़ेगा पश्चिम को। पहले स्वप्नों को नहीं मानते थे, क्या रखा है स्वप्न में, फिर स्वप्न पर बड़ा मूल्य हुआ। फिर सुषुप्ति की कोई चिंता नहीं थी, फ्रायड ने कोई फिकर नहीं की नींद की, सिर्फ स्वप्न तक रुका रहा, लेकिन अब मनोवैज्ञानिक नींद में जा रहे हैं। और इससे चौथी, तुरीय का अर्थ होता है--चौथी। उसको नाम नहीं दिया, क्योंकि वह अब आखिरी है, उसको क्या नाम देना। वह तो नाम के बाहर है। इन तीन के जो पार है वह चौथी। उस चौथी को समझ लें तो यह सूत्र समझ में आएगा।

तुरीय का अर्थ होता है, इतने शांत जैसे गहरी नींद में होते हैं; और इतने जाग्रत, जैसे भरे जागरण में होते हैं। यह विरोध का मिलन। ऐसे जाग्रत जैसे भर जागृति में होते हैं--कभी-कभी होता है। कोई आदमी तुम्हारी छाती पर एकदम छुरा लेकर आ गया, उस क्षण में क्षण भर को तुम जागते हो। प्रचंड जागरण होता है। एक क्षण को सब तंद्रा टूट जाती है। चले जा रहे थे रास्ते पर अपने विचार में खोए कि यह धंधा कर लें, कि वह धंधा कर लें, कि इतनी कमाई हो जाएगी, कि ऐसा मकान बना लेंगे, कि इस लड़की से शादी कर लेंगे, ऐसा कुछ चले जा रहे थे मन में अपना गणित बिठाते, शेखचिल्ली बने, एक आदमी एकदम छुरा लेकर आ गया। अब छुरा ऐसी बात है कि तीर की तरह तोड़ देगा सब सपने के जाल को। मौत सामने खड़ी है, अब कहां फुरसत किससे शादी करें, कौन-सी दुकान करें, कौन-सा धंधा चलाएं, कैसे पैसा कमाएं, इधर मौत आ गयी, ये सब बातें एकदम बेमानी हो गयीं। और छुरा इतना प्रत्यक्ष सामने खड़ा है कि तुम एक क्षण को तो जागरूक हो ही जाओगे। इसलिए कभी-कभी खतरे में जागरण आता है। और इसीलिए खतरे में रस है।

जो लोग पहाड़ पर चढ़ने जाते हैं हिमालय, उनका रस तुम जानते हो क्या है? रस यही है कि किसी समय रस्सी से झूलते हुए खाई-खंदक के ऊपर प्राणों पर संकट होता है। जरा-सी चूक और गये। जरा-सा पैर चूका कि सदा के लिए खो गये। एक-एक सांस आखिरी मालूम होती है। उसी कारण एक बड़ा प्रकांड जागरण पैदा होता है। एक रस। वह समाधि का रस है, वह तुरीय का रस है। थोड़ा-सा, झलक मात्र। इसीलिए युद्ध के मैदान पर लोग ताजे हो जाते हैं। जहां मौत चारों तरफ बरसती हो। इसीलिए लोग कार तेजी से चलाते हैं, एक ऐसी सीमा आ जाती है--सौ मील प्रति घंटे जा रहे हैं, एक सौ दस मील, एक सौ बीस मील, अब ऐसी घड़ी आ

गयी है जहां एक-एक क्षण खतरनाक है। जरा-सी चूक और गये। उस समय एक पुलक से प्राण भर जाता है, विचार सब बंद हो जाते हैं। इतने खतरे में विचार करने की सुविधा किसे हो सकती है? इसीलिए लोग खतरनाक खेल खेलते हैं। इसीलिए लोग जुए पर दांव लगाते हैं। सब लगा दिया दांव।

एक जापानी अभिनेता ने करोड़ों डालर कमाए और जिंदगी के अंत में सारे रुपये ले जाकर इकट्ठे, एक बार फ्रांस में जुए पर दांव पर लगा दिये। जरा उसकी सोचो हालत! सब इकट्ठा। या इस पार, या उस पार। बात ऐसी थी कि दूसरे दिन अखबारों में खबर छपी--क्योंकि वह हार गया--कि उसने आत्महत्या कर ली। किसी दूसरे जापानी ने आत्महत्या कर ली थी एक होटल के ऊपर से कूदकर। अखबारों ने तो मान ही लिया कि यह वही आदमी हो सकता है, और कौन कूदेगा? जिंदगी भर की कमाई सब दांव पर लगा दी। मगर वह आदमी मजे से सो रहा था। जब उस होटल के मैनेजर ने उसको जगाया और पूछा, आप अभी जिंदा, अखबारों में तो खबर छप गयी कि आप मर गये! तो उसने कहा मैं किस लिए मरूं? सच तो यह है कि दांव पर लगाकर सब कुछ पहली दफे मैंने जिंदगी का रस जाना। ऐसा प्रगाढ़ रूप से मैं कभी होश से भरा हुआ नहीं था। जब सब दांव पर लगाया--सारी जिंदगी दांव पर लगा दी--तो सोच-विचार का मौका न रहा। एक-एक पल ऐसा सरकने लगा, जैसा कभी नहीं सरका था। अपनी ही सांस की धड़कन सुनायी पड़ने लगी। इधर या उधर! या तो सब गया, या सब दुगुना हो जाएगा। सोचने-विचारने की फुरसत न रही। ठगा खड़ा रह गया। और फिर हार भी गया। अब जब सब हार ही गया तो अब क्या! इसलिए शांति से सो गया, अब तो कुछ बचा ही नहीं, बात ही खतम हो गयी, अब सुबह देखेंगे, जो होगा होगा।

चिंता तो तब होती है जब कुछ हो। दो अवस्थाओं में चिंता मिटती है--या तो सब कुछ हो, या कुछ न हो। तो सब कुछ तो सिर्फ परमात्मा को होता है और कुछ न संन्यासी को होता है। बस दो ही हालत में चिंता मिटती है। क्योंकि दोनों ही हालत में पूर्णता होती है। या तो सब हो, फिर क्या चिंता! इसलिए परमात्मा निश्चिंत है। या कुछ भी न हो, फिर क्या चिंता! चिंता करने को भी कुछ तो चाहिए। अब कुछ ही नहीं है तो चिंता कैसी! तो संन्यासी निश्चिंत है। और संन्यासी और परमात्मा का किसी बड़े भीतरी द्वार पर मिलन हो जाता है। क्योंकि पूर्ण और शून्य मिलते हैं।

खतरे का इसीलिए इतना आकर्षण है, क्योंकि खतरे में थोड़े जागरण का स्वाद आता है।

ये तीन अवस्थाएं हैं। जिसको तुम जागरण कहते, इसको ज्ञानी जागरण नहीं कहते--यह कोई जागना है! यह तो तुम सोए-सोए चल रहे हो। तुम सोए-सोए काम करने में कुशल हो गये हो। आंख खुली है तुम्हारी लेकिन जागे तुम कहां? क्योंकि आंख तो खुली है और भीतर हजार-हजार स्वप्न चल रहे हैं। और सपने तुम्हारे नहीं हैं। तुम सपनों के नहीं हो। सपने सब उधार हैं। सपने सब औरों के हैं। सपने सब किसी ने दे दिये हैं। सपने तुम आसपास से पकड़ रहे हो। तुम्हें इस सत्य का पता नहीं है कि सभी विचार जो तुम्हारे भीतर चलते हैं, तुम्हारे नहीं हैं। तुम तो निर्विचार हो, विचार तो तुम इधर-उधर से पकड़ लेते हो। ऐसा भी नहीं है कि कोई कहे तब तुम पकड़ते हो। तुम्हारे पास एक आदमी आकर बैठ गया, उसकी विचार की तरंगें तुम्हारी खोपड़ी में प्रविष्ट होने लगती हैं।

कभी-कभी किसी आदमी के पास बैठकर बड़े बुरे विचार आने लगते हैं। कभी किसी आदमी के पास बैठकर बड़े अच्छे विचार आने लगते हैं। इसीलिए तो लोग सत्संग में जाने लगे। सदियों पहले यह बात समझ में आ गयी कि किसी के पास बैठकर शुभ विचार आने लगते हैं, किसी के पास बैठकर अशुभ विचार आने लगते हैं। और किसी के पास ऐसी भी घटना घटती है कि विचार नहीं आते। जिस के पास बुरे विचार आएं, वह असाधु। जिसके पास अच्छे विचार आएं, वह साधु। और जिसके पास निर्विचार की थोड़ी-सी झलक आने लगे, वह संत, परमहंस, बुद्ध, जिन। हमने कैसे पहचाना?

लोग पूछते हैं कि हमने कैसे पहचाना कि कोई आदमी जिनत्व को उपलब्ध हो गया है? कि बुद्धत्व को उपलब्ध हो गया है? एक ही उपाय है पहचानने का, उसके पास रहने लगो, बसो उसके पास, रुको उसके पास।

अगर तुम्हें किसी दिन शांति के तैरते हुए बादल तुम्हारे भीतर आ जाएं और अचानक तुम पाओ कि सब विचार खो गये हैं, वे जो अनवरत चलते थे, दिन-रात चलते थे, वह जो तुम्हारे भीतर कोलाहल मचा ही रहता था, अचानक जैसे कोई ले गया सब कोलाहल; आया एक बादल और वर्षा हो गयी और तुम शीतल हो गये; आया एक हवा का झोंका और सब धूल उड़ गयी और तुम ताजे और नये हो गये; जैसे कुछ अनहोना घटा और तुम सकते में आ गये, कोई विचार न रहा, तुम निर्विचार हो गये; जिसके पास निर्विचार घट जाए, जानना कि वहां बुद्धत्व घटा है। और तो कोई उपाय नहीं है। जानना कि वहां जिनत्व घटा है।

हम प्रतिपल दूसरे के विचारों से प्रभावित होते हैं। ऐसा समझो कि जो श्वास मैंने ली अभी, मेरे भीतर है अभी, थोड़ी देर बाद तुम्हारी श्वास हो जाएगी। और अभी जो श्वास तुम्हारे भीतर है, थोड़ी देर बाद मेरी श्वास हो जाएगी। हम एक-दूसरे की श्वासें ले रहे न! ठीक ऐसे ही हम एक-दूसरे के विचार भी पी रहे हैं। दिखायी नहीं पड़ता कि दूसरे की श्वास तुम्हारी श्वास में गयी। तुमने कभी शायद ऐसा सोचा भी न हो, नहीं तो घबड़ाने भी लगो कि अरे, यह दुष्ट बैठा है, इसकी श्वास भीतर जा रही है मेरे, भागो यहां से, कहीं इसकी श्वास...कहां का गंदा आदमी बिना नहाए-धोए बैठा है, इसकी श्वास मेरे भीतर जा रही है! मैं ब्राह्मण, यह शूद्र; मैं नहाया-धोया, पवित्र, पुण्यात्मा, यह पापी! मगर श्वास आ-जा रही है। जैसे श्वास आ-जा रही अदृश्य, उससे भी ज्यादा अदृश्य विचार आ-जा रहे।

प्रत्येक व्यक्ति एक ब्राडकास्टिंग है। पूर वक्त फेंक रहा अपने चारों तरफ तरंगें, सूक्ष्म तरंगें, और सब आसपास उन्हें लोग पकड़ रहे। तुम तभी तरंगें पकड़ना बंद करते हो, जब तुम समाधि को उपलब्ध होते हो। तब तुम किसी के भी पास बैठे रहो, तुम सुरक्षित। तुम्हारे छिद्र में कुछ प्रवेश नहीं करता। और जिस दिन तुम इस शोग्य हो जाते हो कि तुम्हारे भीतर दूसरे की तरंगें प्रवेश नहीं करतीं, उस दिन तुम्हारा शून्य दूसरों में प्रवेश करने लगता है।

शिष्य और गुरु का इतना ही अर्थ है। जिसकी तरफ से शून्य बहने लगा, वह गुरु; और जो उस शून्य को लेने को राजी हो गया झोली फैलाकर, अंजुली पसारकर, वह शिष्य। शून्य का आदान-प्रदान जिनके बीच होता है, वे ही शिष्य और गुरु।

ये जो स्वप्न तुम्हारे भीतर चलते हैं, इन्हें तुम अपने मत मान लेना।
और निद्रा में
अमित अव्यक्त भावों के
सहस्रों स्वप्न चलते हैं

ये सहस्रों स्वप्न जो अपने नहीं हैं, ये भी सब उधार हैं। जरा देखो तो अपनी गरीबी! सपने भी अपने नहीं। जरा देखो तो दीनता! धन तो अपना है ही नहीं, पद तो अपना है ही नहीं, सपना तक अपना नहीं! वह भी दूसरे पैदा कर देते।

तुम इसके चाहो छोटे-मोटे प्रयोग कर सकते हो। तुम्हारी पत्नी सो रही हो, चले जाना उसके पास, एक बरफ का टुकड़ा धीरे-धीरे उसके पैर में छुलाना और फिर बाद में उससे जब वह जागे तो पूछना कि तूने क्या सपना देखा? वह सपना देखेगी कि पहाड़ गयी है, बरफ पर चल रही है। इस तरह का सपना पैदा हो जाएगा। या जरा आंच दे देना उसके पैर को तो सपना देखेगी कि चली गयी मरुस्थल में, कि सहारा में पहुंच गयी, कि धूप पड़ रही भयंकर, कि पैर जल रहे भयंकर! यह तो तुमने बड़ा स्थूल काम किया। या तकिया रख देना उसकी छाती पर। वह सोचेगी कि आ गया कोई दैत्य, दानव, छाती पर बैठा है। घबड़ाने लगेगी। परेशान होने लगेगी। तकिया तो दूर, उसके ही हाथ दोनों उसकी छाती पर रख देना, तो घबड़ाने का सपना देखने लगेगी। यह तो मैं तुमसे स्थूल कह रहा हूं, यह तो स्थूल है बात। सूक्ष्म बात भी कर सकते हो।

कोई आदमी सोया हो, उसके पास बैठ जाना और कोई एक विचार बहुत प्रगाढ़ता से सोचने लगना। अगर कोई व्यक्ति सोनेवाला तुमसे संबंधित हो--इसलिए मैंने कहा पत्नी, या पति, या बेटा, जिनसे तुम्हारा गहरा संबंध हो--वे ज्यादा शीघ्रता से ग्रहण करते हैं। प्रेम के सहारे सब तरह की बीमारियां एक-दूसरे में आती-जाती हैं। द्वार खुला रहता है। बैठ जाना अपनी पत्नी के पास आंख बंद करके और एक ही विचार सोचना--कोई भी एक विचार, जैसे एक नंगी तलवार लटकी है। खूब प्रगाढ़ता से सोचना कि नंगी तलवार तुम्हें बिलकुल स्पष्ट दिखायी पड़ने लगे। और तुम सोचना कि यह नंगी तलवार मेरी पत्नी को भी दिखायी पड़ रही है, दिखायी पड़ रही है। सोचते ही जाना, सोचते ही जाना, घूम-घूम कर बार-बार इसी पर आ जाना, बार-बार सोचना। तुम चकित हो जाओगे, दो-चार दफे प्रयास करने के बाद तुम सफल हो जाओगे। पत्नी जागकर कहेगी कि आज एक अजीब सपना आया कि एक नंगी तलवार लटकते देखी। इस पर बहुत प्रयोग हुए हैं। और अब तो एक वैज्ञानिक आधार पर यह बात कही जा सकती है कि सपने भी एक-दूसरे में प्रवेश करते हैं, विचार भी एक-दूसरे में प्रवेश करते हैं। एक छोटा-सा प्रयोग तुम कर सकते हो। चले जा रहे हो तुम किसी के पीछे, उसकी चेंथी पर आंख गड़ा लेना और जोर से भीतर सोचना कि लौट, लौटकर देख। दोत्तीन मिनिट में वह एकदम लौटकर देखेगा, एकदम घबड़ाकर कि क्या मामला है! और तुम देखोगे उसके चेहरे पर कि बड़ी बेचैनी है, बात क्या है? क्योंकि ठीक चेंथी के पास वह केंद्र है, जहां से ग्रहण किए जाते हैं विचार। मस्तिष्क में जहां से प्रवेश होता है; जहां से बड़ी सुगमता से प्रवेश होता है। सपने भी अपने नहीं हैं। और तुम्हारी जिंदगी सिवाय सपनों के और कुछ भी नहीं है। और सपने भी अपने नहीं हैं।

बचे हैं खंडहर अब तो महज दो-चार सपनों के
न सोचा इस तरह हमको करेगा बेदखल कोई

जिंदगी के आखिर में पाओगे कि कुछ भी नहीं बचा--असली खंडहर भी नहीं बचते।

बचे हैं खंडहर अब तो महज दो-चार सपनों के
न सोचा इस तरह हमको करेगा बेदखल कोई

लेकिन कोई बेदखल करता भी नहीं, तुम खुद ही सपनों से उलझे हुए अपने हाथ से बेदखल हो जाते हो। और जीवन भर हम जो भी चाहते हैं, करते हैं, सब सपनों का जाल है। ऐसे हो जाएं, ऐसे बन जाएं, यह पा लें, लोग ऐसा जानें कि हम ऐसे हैं, इन्हीं सब में खोए-खोए एक दिन खो जाते हो। ऐसा डोलते, डांवाडोल होते, इन्हीं तरंगों में डूबे-डूबे, धक्के-मुक्के खाते कब्र में गिर जाते हो।

श्यामल यमुना से केशों में गंगा करती वास है
भोगी अंचल की छाया में सिसक रहा संन्यास है
मेंहावर-मेंहदी, काजल-कंघी गर्व तुझे जिन पर बड़ा
मुट्ठी भर मिट्टी ही केवल इन सबका इतिहास है
नटखट लटका नाग जिसे तुम भाल बिठाए घूमती
अरी, एक दिन तुझको ही डस लेगा भरे बाजार में
कोई मोती गूंथ सुहागिन तू अपने गलहार में
मगर विदेशी रूप न बंधनेवाला है शृंगार में

कितने ही सपने देखो, कितनी ही योजनाएं बिठाओ, कितनी ही परिकल्पनाएं दौड़ाओ, कितना ही श्रम करो, सपनों में कोई सुंदर नहीं हो पाता और सपनों में कोई सत्य नहीं हो पाता।

एक तो जागृति है तुम्हारी वह भी सपनों से ही भरी है। सपने तो सपने से भरे ही हैं। और फिर एक दशा है जिसका तुम्हें थोड़ा-थोड़ा एहसास है--सुषुप्ति। जहां तुम बिलकुल खो जाते। इन तीन में आदमी डोलता रहता है। और चौथी आदमी की असलियत है। इन तीन में ही भटकता रहता है। इन तीन के पीछे ही धक्के खाते रहता है--यहां से वहां। जाग गये, फिर सो गये, फिर सपना देखा, फिर जाग गये, फिर सो गये, फिर सपना देखा, फिर जाग गये, ऐसा इन त्रिकोण में घूमता रहता है। और आदमी चौथा है--तुरीय। "दि फोर्थ"।

चौथे का अर्थ है, साक्षी। चौथे का अर्थ है, जो देखता सपनों को, जो सपना नहीं है। सुबह उठकर तुम कहते हो, रात एक सपना देखा। तो निश्चित देखने वाला अलग रहा, अन्यथा कैसे देखते--सुबह कैसे कहते कि सपना देखा, कौन कहता? और किसी दिन सुबह तुम कहते हो कि रात बड़ी गहरी नींद सोए, ऐसी गहरी नींद, ऐसी अमृतमयी नींद कभी नहीं सोए थे। सब ताजात्ताजा हो गया है, स्वच्छ हो गया है। नये हो गये। तो निश्चित गहरी नींद में भी कोई देखता था कि बड़ी गहरी नींद है। किसको यह अनुभव हुआ? जिसको यह सारे अनुभव होते हैं, वही तुम हो। द्रष्टा तुम हो, साक्षी तुम हो। भोक्ता बन गये, कर्ता बन गये, तो खो गये सपनों में। फिर तुम इसे जागरण कहो, आंख खोलकर देखा हुआ सपना कहो कि आंख बंद करके देखा हुआ सपना कहो, मगर तुम जहां भोक्ता बन गये, कर्ता बन गये, वहीं तुम च्युत हो गये। वहीं तुम स्वस्थ न रहे। वहां अपने केंद्र पर न रहे।

अब इस सूत्र को समझो--

"जो सुषुप्ति में भी नहीं सुप्त है।"

तुरीय को जो उपलब्ध हो गया, चौथी अवस्था जिसने पा ली, जिसने अपनी असली अवस्था पा ली, स्वभाव पा लिया, ऐसा व्यक्ति सुषुप्ति में भी सुप्त नहीं है। वह सोया भी है और जागा भी है। बाहर से देखोगे तो सोया है। उसके भीतर से देखो तो पाओगे जागा है। इसीलिए तो कृष्ण कहते हैं: "या निशा सर्वभूतानाम् तस्याम् जागर्ति संयमी।" सब जहां सोए, सबके लिए तो निशा है, अंधेरी रात है, वहां भी संयमी जागा हुआ है। वहां भी जागा है। जागरण अखंड है, अविच्छिन्न है। संयमी सोता ही नहीं। उसके भीतर एक दिया जलता रहता है, गहरी से गहरी अंधेरी अमावस में भी उसके भीतर दिया जलता ही रहता है। उसका घर रोशनी से कभी खाली नहीं होता।

है तो हालत तुम्हारी भी यही। दीया तो तुम्हारा भी जल रहा है, लेकिन तुम्हें स्मरण नहीं। तुम भी दीये हो, वैसे ही दीये जैसे कृष्ण, वैसे ही दीये जैसे बुद्ध, वैसे ही दीये जैसे अष्टावक्र, रत्तीभर कम नहीं--कोई तुमसे रत्तीभर ज्यादा नहीं था--लेकिन तुम लौटकर देखते ही नहीं। बाहर उलझे हो।

ऐसा समझो कि कोई आदमी खिड़की पर खड़ा, खड़ा, खड़ा बाहर के दृश्य में इस तरह भूल गया है, रास्ते पर चलते सब लोगों को देखता है, सिर्फ एक की याद नहीं आती, जो खिड़की पर खड़ा होकर देख रहा है। उसकी भर याद भूल गयी है। और सब याद में है, अपनी भर सुध खो गयी है।

जागृति का अर्थ है, वस्तु जगत पर ध्यान। ये वृक्ष, ये पर्वत, ये पहाड़, ये चांद-सूरज, ये लोग, इन पर ध्यान। जाग्रत--अपने पर ध्यान नहीं, वस्तुओं पर ध्यान। स्वप्न--शब्दों पर ध्यान, विचारों पर ध्यान। प्रतीकों, बिंबों पर ध्यान। कल्पनाओं पर ध्यान। अपने पर ध्यान नहीं। सुषुप्ति--न तो वस्तुएं हैं अब, न विचार हैं, लेकिन फिर भी अपने पर ध्यान नहीं। तुरीय--अपने पर ध्यान।

जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति, तीनों में एक बात समान है--अपने पर ध्यान नहीं। जाग्रत में वस्तुओं पर, स्वप्न में कल्पनाओं पर, सुषुप्ति में किसी पर नहीं, अपने पर भी नहीं; गैर-ध्यान की अवस्था। तुरीय में अपने पर ध्यान। और जैसे ही तुरीय में अपने पर ध्यान आया, फिर तुम सब क्रियाओं में होकर भी कर्ता नहीं रहोगे। फिर तुम सब दृश्यों को देखकर भी द्रष्टा ही बने रहोगे। एक क्षण को आत्म-विस्मृति न होगी।

"जो सुषुप्ति में भी नहीं सुप्त है और जो स्वप्न में भी नहीं स्वप्नाया है, जाग्रत में भी नहीं जागा हुआ है, वह धीरपुरुष क्षण-क्षण तृप्त है।"

अब न तो सोने में सोना है, न सपने में सपना है, न जागने में जागना है, क्योंकि अब तो एक नया स्वर उसके भीतर उठ गया है--तुरीय का, चौथे का। अब तो हर हालत में वह चौथा है। बाहर कुछ भी होता रहे, भीतर वह चौथा है।

ऐसा हुआ। कबीर के जीवन में एक अनूठा उल्लेख है। कबीर की ख्याति फैलने लगी--फैलनी ही चाहिए थी, ऐसे कमल कभी-कभी खिलते हैं। अपूर्व कमल खिला था। सुगंध पहुंचने लगी लोगों तक। लेकिन अड़चन थी।

कबीर का अस्तित्व परंपरागत तो नहीं था--कभी किसी ज्ञानी का नहीं रहा। परंपरा मुर्दों की होती है, जिंदा आदमियों की नहीं होती। तो यह भी पक्का नहीं था--कबीर हिंदू हैं कि मुसलमान हैं। मेरे संबंध में पक्का है? कि हिंदू हूं कि मुसलमान हूं? पक्का हो ही नहीं सकता।

असल में ऐसा व्यक्ति न तो हिंदू होता है, न मुसलमान होता है। फिर जुलाहे का काम करते थे। और ब्राह्मणों को बड़ी बेचैनी थी काशी के। क्योंकि लोग इस जुलाहे की तरफ जाने लगे। ब्राह्मणों के दरबार खाली होने लगे और लोग इस जुलाहे की तरफ जाने लगे। और यह बात तो बड़ी बेचैनी की थी। परंपरागत धंधा, प्रतिष्ठा, मान-मर्यादा, न्यस्त स्वार्थ! तो ब्राह्मणों ने तरकीब सोची, कुछ उपाय करना पड़ेगा। और जब भी ब्राह्मणों को कोई तरकीब सूझती है तो दो ही तरह की सूझ सकती है। क्योंकि दो ही तरह से परंपरा बंधी है। या तो कबीर के आचरण पर कुछ धब्बा पड़ जाए, तो एक उपाय है। आचरण पर धब्बा डालने की दो ही व्यवस्थाएं हैं--या तो किसी स्त्री को उलझा दो और या धन-पैसे में उलझा दो। बस दो चीजों में से कुछ हो जाए तो काम हो जाए।

लेकिन धन-पैसे से भी उतनी कठिनाई पैदा नहीं होती, जितनी इस देश में स्त्री से हो सकती है। क्योंकि इस देश का पूरा मन काम-दमन से भरा हुआ है। इस देश का मन स्त्री के प्रति स्वस्थ नहीं है। अत्यंत अस्वस्थ, रुग्ण और बीमार है। तो एक वेश्या को पैसे देकर तैयार कर लिया कि जब कबीर सांझ को बेचने आएं अपना कपड़ा बाजार में तो तू हाथ पकड़ लेना।

वेश्या को तो पैसे मिले थे, कोई अड़चन न थी, उसको तो पैसे से प्रयोजन था; जब कबीर सांझ को अपने कपड़े बेचकर लौटने लगे तो उसने भरे बाजार में काशी के उनका हाथ पकड़ लिया। और उनसे लिपटकर रोने लगी और कहने लगी, क्यों बगुला भगत, मुझे अकेली छोड़कर तुम कहां चले आए? मेरे पास न तो पेट भरने को अन्न है न तन ढंकने को वस्त्र और तुम्हारे जैसे ढोंगी की सर्वत्र पूजा हो रही है। और वह तो धाड़ मार-मार कर रोने लगी। और भीड़ इकट्ठी हो गयी। भीड़ तो तैयार ही थी--वह ब्राह्मण तो तैयार ही थे। पत्थर फेंकने लगे, कबीर को गालियां दी जाने लगीं।

लेकिन वेश्या भी बहुत चौंकी और ब्राह्मण भी बहुत चौंके, कबीर ने कहा तो अच्छा किया, तू आ गयी, इतनी देर क्यों राह देखी? अरे पागल, जब मैं जिंदा हूं? तब तो वह जरा वेश्या घबड़ायी कि यह आदमी क्या कह रहा है? क्योंकि वह तो सब बना-बनाया था। यह तो बात ऐसे ही करने की थी और कबीर ने तो हाथ पकड़ लिया उसका कि अब आ ही गयी है तो अब साथ ही रहेंगे। अब वह घबड़ायी कि इस बूढ़े से और कहां झंझट हो गयी! अब वह इधर-उधर देखने लगी।

तो ब्राह्मणों ने जिन्होंने उसे जमाया था, वे भी भीड़ में सरक गये कि यह, यह सोचा ही नहीं था, यह बात भी हो सकती है! और कबीर ने कहा, अब आ ही गयी तो घर चल! भाड़ में जाए यह पूजा-प्रतिष्ठा, अरे तुझे छोड़कर ऐसी पूजा-प्रतिष्ठा में क्या रखा है! तू इतने दिन कहां रही! वह औरत तो सोचने लगी अब करना क्या है? इसके चंगुल से कैसे निकलना है? और वह तो उसका हाथ पकड़कर ले चले। अब वह इंकार भी न कर सके।

वह तो ले गये उसे घर अपने झोपड़े पर, उसके पैर दबाने लगे। उसने कहा कि महाराज, क्या कर रहे? अब मुझे और लज्जित मत करो। मुझे क्षमा करो, मुझे जाने दो। मैं कहां चक्कर में पड़ गयी! उन्होंने कहा, अब किसी कारण से चक्कर में पड़ी, लेकिन तू मुसीबत में तो रही ही होगी, नहीं तो चार पैसे के लिए कोई ऐसी झंझट करता है! अब तू फिकिर छोड़। खाना बना कर उसको खिलाने बैठ गये! वह खा रही और रो रही। वह उनके पैरों पर गिर पड़ी कि मुझे क्षमा कर दो, मुझसे बड़ी भूल हो गयी, मुझसे भूल ऐसी हो गयी कि अब आत्महत्या करूं तो भी शायद यह न धुलेगी। अब यह जिंदगी भर मेरी छाती में कांटे की तरह गड़ी रहेगी। चार पैसे के लिए मैंने क्या किया!

मगर ब्राह्मण चुप नहीं बैठे। उन्होंने देखा कि यह घर ले गया इसको, वेश्या को, तो वे तो राजा के पास भागे चले गये। उन्होंने जाकर काशी-नरेश को कहा कि हद हो गयी, आप भी जाते हैं इस ढोंगी के पास, वह एक

वेश्या को घर लेकर बैठ गया है। बुलावा भेजा। कबीर अकेले नहीं आए, उसको साथ ही लेकर आए। वह कहे भी कि मुझे जाने दें, मुझे कहीं जाना नहीं है, अब वह और घबड़ाए कि अब यह सम्राट के सामने ले चला। तो कबीर ने कहा, तू फिकर क्यों करती है। जनम-जनम के बिछड़े मिल गये। वह अपनी ही लगाए जा रहे।

सम्राट के दरबार में भी उसको अंदर ले गये। वहां तो वह स्त्री घबड़ा गयी। और जब सम्राट ने देखा कि वह वेश्या का हाथ पकड़े चले आ रहे हैं, तो वह भी थोड़ा घबड़ाए। उसने कहा कि आप यह क्या कर रहे हैं और किस तरह अपनी प्रतिष्ठा और यश को नष्ट कर रहे हैं! उन्होंने कहा, खाक करें प्रतिष्ठा-यश! इसके पहले कि वह कुछ बोलें, वह स्त्री चिल्लायी कि क्षमा करना, पहले मुझे बोलने दो। मेरी कुछ समझ में ही नहीं आ रहा है, मैं सिर्फ पैसे के पीछे यह उपद्रव किये हूं और पैर पर कबीर के गिर पड़ी और सम्राट से उसने कहा कि मुझे किसी तरह छुटकारा दिला दो। मुझे ब्राह्मणों ने उलझा दिया है।

सम्राट कबीर से पूछे कि तुम कैसे पागल हो! कबीर ने कहा, अब और क्या करने का इसमें उपाय था! और मुझे तो कुछ फर्क नहीं पड़ता। मैं तो कर्ता नहीं हूं। तो यह खेल भी देखा। द्रष्टा तो द्रष्टा ही रहेगा। भोक्ता होने का कोई उपाय नहीं। यह तो मौका था मेरी परीक्षा का कि क्या मैं चौथे में रह सकता हूं? और मैं चौथे में ही रहा। और रत्ती भर चौथे से नहीं डिगा। यह एक स्वप्न है, इस तल पर मेरा होना नहीं है। यह जो चौथा तल है, उस चौथे तल के लिए अष्टावक्र कहते हैं--

सुप्तोऽपि न सुषुप्तौ।

सोए तो भी ज्ञानी सोया नहीं, एक दीया जलता, एक दीया अहर्निश जलता, अखंड जलता।

स्वप्नेऽपि शयितो न च।

देखे स्वप्न, तो भी जानता कि मैं देखनेवाला हूं, देखा गया नहीं।

जागरेऽपि न जागर्ति।

जागकर भी जागा हुआ नहीं होता, क्योंकि वह तो महारूप से जागा हुआ है। महाजागृति को उपलब्ध है, इस क्षुद्र जागृति से अब कुछ लेना-देना नहीं है। यह धोखा तो अंधों के लिए है। यह धोखा तो उनके लिए है जो जागे हुए नहीं हैं, उनको लगता है यह जागृति है। जो जाग गये उनको किसी इतने बड़े शब्द का पता चलता कि यह जागृति तो नींद ही मालूम होती है।

धीरस्तृप्तः पदे पदे।

और ऐसी जो चित्त की, चैतन्य की दशा है, वह पद-पद पर परमतृप्ति से भरी है। क्षण-क्षण।

इसे समझना। ऐसा धीरपुरुष क्षण-क्षण तृप्त है। क्यों? अब अतृप्ति का कोई उपाय ही न रहा। अतृप्ति आती है तादात्म्य से। या तो बंध जाओ जागृति से, या बंध जाओ स्वप्न से, या बंध जाओ सुषुप्ति से। जहां बंधे, वहां संकट है। जहां बंधे, वहां गांठ पड़ी। जहां गांठ पड़ी, वहां पीड़ा है। जहां पीड़ा, वहां संताप, चिंता और सारा नर्क पीछे चला आता है। गांठ ही नहीं पड़ती ऐसे आदमी को। वह हर जगह से अछूता निकल जाता है।

इसीलिए तो कबीर ने कहा है, ज्यों की त्यों धरि दीन्ही चदरिया। खूब जतन कर ओढ़ी चदरिया, ज्यों की त्यों धरि दीन्ही। खूब जतन कर। जतन शब्द बड़ा महत्वपूर्ण है, उसका मतलब होता है, अवेयरनेस; उसका अर्थ होता है, जागृति; होश रहे। खूब जतन से, जरा भूल-चूक न की, जरा नींद न ली, जरा झपकी न खाई, जागे-जागे। खूब जतन से ओढ़ी रे चदरिया। और जीवन की चादर को इतने जतन से ओढ़ा कि जरा दाग न लगा। और ज्यों की त्यों धरि दीन्ही चदरिया। जैसी पायी थी जन्म के साथ, स्वच्छ, निर्मल, क्वांरी, वैसी ही मृत्यु के समय वापस दे दी, निर्मल, क्वांरी, स्वच्छ। जैसे उपयोग ही न की गयी। भोक्ता न बने, कर्ता न बने, तो जीवन की चादर पर दाग नहीं पड़ते हैं। एक ही जतन है, साक्षी बने रहना।

तुम मंद चलो!
ध्वनि के खतरों बिखरे मग में
तुम मंद चलो!
सूझों का पहन कलेवर-सा

बिकलाई का कल जेवर-सा
घुल-घुल आंखों के पानी में
फिर छलक-छलक बन छंद चलो
पर मंद चलो!

ज्ञानी धीमे-धीमे चलता। क्योंकि होशपूर्वक चलता। ज्ञानी दौड़ता नहीं। ज्ञानी के जीवन में कोई आपाधापी नहीं है। कहीं पहुंचना थोड़े ही है कि दौड़ करे। वहां तो है ही जहां पहुंचना है। वहीं तो है, जहां पहुंचना है। इसलिए मंद-मंद चलता, इसीलिए तो उसे धीर कहते हैं। परम धैर्य है उसके जीवन में।

तुम मंद चलो!
ध्वनि के खतरों बिखरे मग में
तुम मंद चलो!

कहीं दौड़धाप में, कहीं आपाधापी में उलझ मत जाना। कर्ता मत बन जाना। यहां बड़े खतरे हैं। खतरे दो ही हैं, कर्ता और भोक्ता बन जाने के। सुरक्षा एक ही है--साक्षी की।

तुम मंद चलो!
सूझों का पहन कलेवर-सा
सूझ, होश, समझ।
सूझों का पहन कलेवर-सा

अपने चारों तरफ जागृति की एक चादर ओढ़ लो। रोशनी को जगा लो। अपने चारों तरफ विवेक, होश, चैतन्य को संभाल लो।

सूझों का पहन कलेवर-सा
बिकलाई का कल जेवर-सा
घुल-घुल आंखों के पानी में
फिर छलक-छलक बन छंद चलो
पर मंद चलो!

और तब तुम्हारे जीवन से एक छंद छलकेगा, जब तुम मंद चलोगे।

सूझों का पहन कलेवर-सा

जब तुम जतन से जिओगे, होशपूर्वक, साक्षी बने, तुरीय में, तो तुम्हारे जीवन में एक छंद का अवतरण होगा। उस छंद को ही अष्टावक्र ने स्वच्छंदता कहा है। तुम्हारे जीवन में एक गीत उमगेगा। तुम्हारे जीवन में कोई वीणा अनायास बज उठेगी। बिना बजाए बजने लगेगी। इसीलिए उसे अनाहत नाद कहा है, क्योंकि बिना बजाए बजती है, तुम्हें बजाना भी नहीं पड़ता। बज ही रही है। लेकिन तुम बाहर की आवाजों में उलझे, इसलिए भीतर की आवाज सुनायी नहीं पड़ती।

"ज्ञानी चिंतासहित भी चिंतारहित है, इंद्रियसहित भी इंद्रियरहित है, बुद्धिसहित भी बुद्धिरहित है और अहंकारसहित भी निरहंकारी है।"

ज्ञः सचिंतोऽपि निश्चिंतः सेन्द्रियोऽपि निरिन्द्रियः।
सुबुद्धिरपि निर्बुद्धिः साहंकारोऽनहंकृतिः।।

किसी ने नेपाल के एक बहुत अनूठे संत शिवपुरी बाबा से पूछा, आप कभी दुखी होते हैं? उन्होंने कहा: दुख होता है। पर उस आदमी ने पूछा, मैं यह नहीं पूछता हूं कि दुख होता है, मैं पूछता हूं, आप कभी दुखी होते हैं? उन्होंने कहा: दुख होता है, मैं दुखी नहीं होता।

इस फर्क को समझना। दुख होता है, मैं दुखी नहीं होता। दुख होना एक बात है। पैर में कांटा गड़ेगा--बुद्ध को गड़े कि बुद्धू को, इससे क्या फर्क पड़ता है--पैर में कांटा गड़ेगा तो पीड़ा होगी। लेकिन बुद्धू पीड़ा में बुरी तरह खो जाएगा। वह पीड़ा ही हो जाएगा। वह पीड़ा के साथ तादात्म्य कर लेगा। वह चीखने-चिल्लाने लगेगा।

बुद्ध को भी पीड़ा होगी, लेकिन वे पीड़ा के बाहर खड़े रहेंगे। वे पीड़ा के साक्षी मात्र रहेंगे। कांटे को बुद्ध भी निकालेंगे, लेकिन बाहर-बाहर।

तुम्हारे घर में आग लग जाएगी तो तुम्हें लगता है तुममें आग लग गयी, क्योंकि तुमने घर के साथ बड़ा राग बांध रखा था। ज्ञानी के घर में आग लग जाएगी तो घर में आग लगी। तुम जब मरोगे, तो तुम्हें लगेगा, मैं मर रहा हूं। ज्ञानी भी मरता है, मृत्यु उसको भी आती, लेकिन मरते क्षण में भी जानता है, देह जा रही, और देह तो मैं कभी भी नहीं था। इतना फासला है। इतना भीतरी भेद है।

"ज्ञानी चिंतासहित भी चिंतारहित है।"

कभी अगर चिंता करने का कारण आ जाए, तो चिंता करता है, लेकिन फिर भी किसी गहरे तल में चिंता के पार खड?ा रहता है। तुम अगर उसे सवाल दे दो हल करने को तो वह हल करने की कोशिश करेगा, लेकिन उस कोशिश में डूब नहीं जाता, भूल नहीं जाता, भटक नहीं जाता, स्मृति नहीं खोती। अगर एक ज्ञानी जंगल में भटक जाए, तो रास्ता तो खोजेगा न! चिंता तो करेगा कि बाएं जाऊं, कि दाएं जाऊं? यहां जाने से निकल पाऊंगा बाहर कि यहां जाने से निकल पाऊंगा? लेकिन फिर भी निश्चिंत होगा, चिंता में भी निश्चिंत होगा। चिंता चलती रहेगी और भीतर कोई भी डांवाडोल न होगा। अकंप।

"इंद्रियसहित भी इंद्रियरहित है।"

आखिर ज्ञानी की भी इंद्रियां हैं। आंख है। लेकिन ज्ञानी यह जानता है कि आंख देखती नहीं, देखता कोई और है। कान हैं। लेकिन ज्ञानी जानता है कान सुनता नहीं, सुनता कोई और है। कान तो खिड़की है, जिस पर भीतर का सुननेवाला बैठा है। आंख तो खिड़की है, जिस पर भीतर झांकने वाला बैठा है। तब सारी इंद्रियां द्वार हो जाती हैं। द्वार की तरह इंद्रियां सुंदर हैं। लेकिन जब भीतर का मालिक इंद्रियों में खो जाता है और जो द्वार होने चाहिए, वे दीवार हो जाती हैं, और जिन्हें गुलाम होना चाहिए वे सिंहासन पर विराजमान हो जाती हैं, तब भूल-चूक हो जाती है। ज्ञानी प्रत्येक चीज को उसके स्थान पर रख देता है। जो जहां है, वहां है। आंख आंख की जगह है, कान कान की जगह है। न तो कान मालिक है, न आंख मालिक है। मालिक भीतर बैठा है। भीतर, बहुत गहरे भीतर बैठा है, जहां इंद्रियों की कोई पहुंच नहीं है। जहां तुम आंख से देखना चाहो तो देख न सकोगे, क्योंकि इंद्रियों के पीछे बैठा है मालिक। इंद्रियां बाहर देखती हैं, मालिक भीतर है।

"इंद्रियसहित भी इंद्रियरहित है, बुद्धिसहित भी बुद्धिरहित है।"

ज्ञानी कोई बुद्धू नहीं है। कोई मूढ़ नहीं है। जब जरूरत होती है, बुद्धि का उपयोग करता है, जैसे जरूरत होती है तो पैर का उपयोग करता है। जब जरूरत होती है, तर्क का उपयोग करता है। जब जरूरत होती है तो ज्ञानी विवाद कर सकता है। वस्तुतः ज्ञानी ही विवाद कर सकता है। क्योंकि बुद्धि एक उपकरण मात्र है। और वह मालिक की तरह बुद्धि को अपने हाथ में खेल की तरह, खिलौने की तरह उपयोग कर लेता है। बुद्धि एक कंप्यूटर है। लेकिन ज्ञानी बुद्धि के साथ अपने को तादात्म्य नहीं किये है।

"बुद्धिसहित भी बुद्धिरहित है और अहंकारसहित भी निर-अहंकारी।"

ज्ञानी भी तो मैं शब्द का उपयोग करता है। शायद अज्ञानी से ज्यादा बलपूर्वक करता है। अज्ञानी क्या खाक करेंगे! अज्ञानी तो डरते-डरते करते हैं, घबड़ाए-घबड़ाए करते हैं। मैं कहते हैं तो कंपते- कंपते कहते हैं। कृष्ण को सुनो: "सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।" कहा अर्जुन से, छोड़-छाड़ सब बकवास, धर्म इत्यादि, मेरी शरण आ। यह कोई ज्ञानी ही कह सकता है। मेरी शरण आ? मामेकं शरणं व्रज। मुझे एक की शरण आ। तुम साधारणतः सोचते हो कि ज्ञानी तो कहेगा मैं आपके पैर की धूल, मैं तो कुछ भी नहीं। लेकिन जरा ज्ञानियों को सुनो। अलहिल्लाज मंसूर कहता है, अनलहक। मैं खुदा। मैं भगवान। सूली चढ़ गया, तो भी यही कह रहा था। सूली पर चढ़ते वक्त किसी ने पूछा कि मंसूर, अब तो छोड़ दे यह पागलपन की बात। मंसूर हंसने लगा और मंसूर

ने कहा, मैं बोल रहा होता तो छोड़ भी देता, वही बोलता है, मैं क्या करूं? यह वही कहता है: अनलहक। यह शब्द मेरे नहीं हैं, यह शब्द उसी के हैं। मैं तो उसको समर्पित, वह जो बोले वही बोलूंगा।

एक बड़ी अनूठी झेन कथा है। एक झेन फकीर जंगल से गुजर रहा था। पाई चान उसका नाम था। एक लोमड़ी बीच रास्ते पर आ गयी और उसने कहा कि रुकें महाराज! फकीर बड़ा हैरान हुआ, लोमड़ी बोली! लोमड़ी ने कहा, ऐसा हुआ, कोई पांच सौ साल हो गये मैं भी एक धार्मिक पुरोहित था। एक मंदिर में बड़ा पुजारी था। और एक आदमी ने मुझसे सवाल पूछा कि जो लोग बुद्धत्व को उपलब्ध हो जाते हैं, उन पर कार्य-कारण का नियम काम करता है या नहीं? और मैंने कहा, नहीं। और उसकी वजह से मैं यह फल भोग रहा हूं। पांच सौ साल से लोमड़ी बना हूं। मेरा पतन हो गया। और मुझे यह सजा मिली है कि जब तक मैं ठीक उत्तर न खोज लूं, तब तक मैं इस पशुभाव से मुक्त न हो सकूंगा। आप महाज्ञानी हैं, मुझे ठीक उत्तर बता दें।

पाई चान ने कहा, तू बोल, तू पूछ, फिर से पूछ। क्या प्रश्न है? तो उस बूढ़े पुरोहित ने जो पांच सौ साल से लोमड़ी बना बैठा है, उसने कहा कि प्रश्न यह है कि बुद्धपुरुष, जो बुद्धत्व को उपलब्ध हो गये, क्या कार्य-कारण के नियम के बाहर हो जाते हैं? तो पाई चान ने कहा, कार्य-कारण के नियम में वे अवरोध नहीं बनते।

समझना, बड़ी अनूठी बात कही। कार्य-कारण के नियम में वे अवरोध नहीं बनते। जो होता है, उसे होने देते हैं। न तो बाधा डालते, न सहयोग देते; जो होता है, होने देते हैं। और कथा कहती है कि लोमड़ी का सदभाग्य हुआ, ज्योति की किरण उस पर उतरी, वह फिर मनुष्य हो गयी।

इस कहानी को तथ्य की तरह मत पकड़ लेना, यह तो एक बोधकथा है। लोमड़ी और आदमी का सवाल नहीं है, पशुभाव और मनुष्यभाव का सवाल है। जो व्यक्ति गलती में जी रहा है, वह पशुभाव में जीता है। जो समझ में जीने लगा, उसका मनुष्यभाव पैदा हो गया। अब तुम हो, न मालूम कितने जन्मों से लोमड़ी बने हो। अभी पशुभाव से छुटकारा नहीं हुआ।

और यह जो वचन पाई चान ने कहा कि कार्य-कारण के नियमों में बाधा नहीं बनता, यही घटना जीसस के जीवन में घटती है, मंसूर के जीवन में घटती है। इसलिए मंसूर की बात करते हुए मुझे पाई चान की याद आ गयी। मंसूर ने कहा, मैं क्या करूं, वह बोलता है तो बोलने देता हूं। न मैं रोक सकता...मैं हूं कौन रोकने वाला?

मंसूर को कई मंदिरों से निकाला गया, कई मस्जिदों से निकाला गया, कई गुरुगृहों से निकाला गया, कई गुरुकुलों से निकाला गया। क्योंकि वह जहां भी जाता वहीं बैठकर जब मस्ती आती तो वह कहता: अनलहक, अनलहक। और वह इतनी मस्ती में कहता! उसका रोआं-रोआं पुलकित होकर कहता, वह हर्षोन्माद से भर जाता! लोग कहते, भई, यह खतरनाक आदमी है, इसको यहां से जाने दो। अगर पता चल जाए, तो झंझट होगी। यह तो झंझट में पड़ेगा ही--क्योंकि मुसलमान देशों में यह घोषणा करना कि मैं भगवान हूं, बड़ी कठिन बात है। यह तो बर्दाश्त के बाहर है। उसे जगह-जगह समझाया गया, लोग उसे प्रेम करते थे। वह अनेक गुरुओं के पास रहा--गुरु उसे प्रेम करते थे--वे कहते थे, पागल, हमें भी पता है कि यह बात ठीक है, मगर कहने की नहीं। तो मंसूर कहता, फिर तुम्हें पता नहीं है। जब पता है कि यह बात ठीक है तो रोकोगे कैसे?

यही तो जीसस ने सूली पर कहा, कि हे प्रभु, तेरी मर्जी पूरी हो!

बुद्धपुरुष कार्य-कारण के नियमों में बाधा नहीं बनते। अनवरोध। जो होता है, होने देता है।

तो किसी क्षण में अगर जरूरत हो, तो ज्ञानी अहंकार का भी उपयोग करता है। और किसी क्षण में जरूरत हो तो विनम्रता का भी उपयोग करता है। लेकिन हर हाल, जो भी ज्ञानी से होता है, ज्ञानी उसके बाहर बना रहता है। चाहे नींद हो, चाहे चिंता हो, चाहे इंद्रियां हों, चाहे बुद्धि-विचार हो और चाहे अहंकार हो। ज्ञानी किसी भी कृत्य में नहीं समाता।

इस बात को याद रखना। और इसलिए ज्ञानियों को कृत्यों के आधार से तौलना मत, क्योंकि ज्ञानी कृत्य में नहीं समाता। तुमने अगर कृत्य से देखा तो तुम ज्ञानी को देख ही न पाओगे। ज्ञानी कृत्य में समाता नहीं, ज्ञानी कृत्य के पार है। कृत्य का कोई मूल्य नहीं है। इसलिए कभी ज्ञानी के हाथ में तलवार मिल सकती है।

मेरे पास जैन आते हैं, वे कहते हैं, आप महावीर के साथ मुहम्मद का नाम ले देते हैं और मुहम्मद तलवार लिये हैं! मेरी एक किताब को किसी ने जाकर कांजीस्वामी को भेंट किया। उन्होंने किताब उलट-पुलटकर देखी। उन्होंने कहा, और तो सब ठीक है, लेकिन इसमें यह मुसलमान, फरीद का नाम आया, हटाओ यहां से। और तो सब ठीक है, लेकिन यह इसमें मुसलमान का नाम कैसे? मांसाहारी का नाम कैसे? जैन कहते हैं, आप कम-से-कम महावीर के साथ मुहम्मद का नाम तो न लें। तलवार हाथ में!

कृत्य से जांचते हो तुम? तुम फिर नहीं पहचान पाओगे। मुहम्मद के हृदय को देखो। तुम महावीर जैसी ही करुणा पाओगे। असल में उसी करुणा के कारण तलवार हाथ में है। समय अलग है, स्थिति अलग है, लोग अलग हैं, इसलिए अभिव्यक्ति अलग है। लेकिन भीतर का सत्य तो एक ही है। जैसे महावीर को तुम उनके कृत्यों के बाहर पाओगे, वैसे ही मुहम्मद को भी उनके कृत्यों के बाहर पाओगे। करने से ज्ञानी को सोचना ही मत। क्योंकि ज्ञानी जीता जानने में, करने में नहीं। इसलिए करने से सोचना ही मत। नहीं तो तुम ज्ञानियों में बड़ी मुश्किल में पड़ जाओगे। महावीर ने कपड़े फेंक दिये। अब तुम किसी दूसरे को पूछो--मुसलमान को पूछो, ईसाई को पूछो! वह कहेगा, यह जरा अशिष्टता है। लेकिन कृत्य में मत खोजना।

कृष्ण तो युद्ध में उतर गये, इतना बड़ा युद्ध करवा दिया। कृत्य से मत सोचना। कृत्य का कोई मूल्य ही नहीं है, क्योंकि ज्ञानी कृत्य के बाहर है। असल में जिसने ऐसा जाना कि मैं कर्ता नहीं हूं, वही तो ज्ञानी है।

"ज्ञानी न सुखी है और न दुखी; न विरक्त है और न संगवान है; न मुमुक्षु है, न मुक्त है; न कुछ है और न ना-कुछ है; न यह है और न वह है।"

न सुखी न च वा दुःखी न विरक्तो न संगवान्।
न मुमुक्षुर्न वा मुक्तो न किंचिन्न च किंचन।।

"न कुछ है और न ना-कुछ है।"

न तो तुम ऐसा कह सकते--ऐसा है और न ऐसा कह सकते कि ऐसा नहीं है। यह तो कृत्यों का विभाजन होगा। ज्ञानी न सुखी, न दुखी। क्योंकि सुख-दुख भी भोक्ता बनने से होते हैं। तुमने किसी अनुभव से अपने को जो॰? लिया--लगाव से जोड़ लिया तो सुख, न जुड़ना चाहा था और जोड़ना पड़ा तो दुख--लेकिन जोड़ हर हालत में घटता है। ज्ञानी अपने को तोड़ लिया है। जो होता, होता; जो नहीं होता, नहीं होता।

"न विरक्त है, न संगवान है।"

ज्ञानी न तो किसी के साथ है और न अलग है। ज्ञानी भीड़ में भी अकेला है। और अकेले में भी सारा अस्तित्व उसमें समाया हुआ है।

"न मुमुक्षु है, न मुक्त है।"

न तो खोज रहा है, न यह कह सकता कि खोज लिया। क्योंकि जब तुम जानोगे तब तुम पाओगे, जो तुमने पाया उसे कभी खोया ही नहीं था। इसलिए खोज लिया, यह बात फिजूल है। न तो ज्ञानी खोज रहा है और न यह कह सकता है कि मैंने खोज लिया। ज्ञानी तो इतना ही कह सकता है कि जो था, है। जो था, सदा था। मैं भूल गया था कभी, फिर कभी मैं जाग गया और मैंने देख लिया, मगर खोया कभी भी नहीं था।

"न कुछ है, न यह, न वह।"

ज्ञानी के लिए कोई परिभाषा में बांधना संभव नहीं है।

"धन्यपुरुष विक्षेप में भी विक्षिप्त नहीं हैं, समाधि में भी समाधिमान नहीं हैं, जड़ता में भी जड़ नहीं हैं और पांडित्य में भी पंडित नहीं हैं।"

विक्षेपेऽपि न विक्षिप्तः समाधौ न समाधिमान्।
जाडयेऽपि न जडो धन्यः पांडित्येऽपि न पंडितः।।

इसलिए कभी अगर तुम्हें ज्ञानी पंडित जैसा मालूम पड़े तो पंडित मत सोच लेना। क्योंकि ज्ञानी कभी पंडित नहीं है। पांडित्य का उपयोग कर सकता, लेकिन पंडित नहीं होता। और कभी तुम्हें ज्ञानी जड़भरत की तरह मिल जाए, तो भी तुम जड़ मत समझ लेना। जड़ता भी घट रही तो घट रही। लेकिन ज्ञानी पीछे पार खड़ा है। एक सूत्र मौलिक याद रखना, ज्ञानी हर स्थिति में बाहर है।

अंग्रेजी में समाधि के लिए जो शब्द है वह बड़ा प्यारा है, वह है इक्सटैसी। इक्सटैसी शब्द का अर्थ होता है, जो बाहर खड़ा है। यह बड़ा अदभुत शब्द है। जिन्होंने गढ़ा होगा, बड़े सोचकर गढ़ा होगा। यह समाधि से भी ज्यादा सुंदर शब्द है। इसका अर्थ है, जो बाहर खड़ा है। जो किसी भी चीज में कभी भीतर नहीं है। तुम जहां उसे पाओ, सदा बाहर पाओगे। वह हर चीज के बाहर हो जाता है। कोई चीज उसे बांध नहीं पाती। और कोई चीज उसकी सीमा नहीं बन पाती। और कोई चीज उसकी परिभाषा नहीं है।

"मुक्तपुरुष सब स्थिति में स्वस्थ है, किये हुए और करने योग्य कर्म में संतोषवान है, सर्वत्र समान है, और तृष्णा के अभाव में किये और अनकिये कर्म को स्मरण नहीं करता है।"

मुक्तो यथास्थितिस्वस्थः कृतकर्तव्यनिर्वृतः।
समः सर्वत्र वैतृष्णयान्न स्मरत्यकृतं कृतम्।।
मुक्तो यथास्थितिस्वस्थः...।

जैसी स्थिति है, जो है, जैसा है, वैसा ही प्रसन्न है। रत्ती भर अन्यथा की मांग नहीं है। और किसी तरह हो, ऐसा कोई विचार ही नहीं है। जहां विचार उठा अन्यथा का, वहीं वासना जगी, तृष्णा उठी, चिंता उठी, फिर तुम भटके।

यथास्थिति स्वस्थः।

अमीरी तो अमीरी, गरीबी तो गरीबी। महल तो महल, झोपड़ा तो झोपड़ा। सुख तो सुख, दुख तो दुख। सम्मान तो सम्मान, अपमान तो अपमान। जैसा है।

एक बौद्ध कथा है। एक बौद्ध भिक्षु रोज भिक्षा मांगने आता वैशाली में, राजधानी में। एक घर जो बड़े अभिजात्य का घर था, बड़े कुलीन परिवार का घर था, उसके द्वार पर भिक्षा मांगने गया। द्वार पर दस्तक दी, अति सुंदर हीरे-जवाहरातों से लदी एक स्त्री ने द्वार खोला। वह परिवार बुद्ध का विरोधी था। तो वह स्त्री नाराज हो गयी, उसने कहा, दुबारा कभी यहां मत आना। भिक्षु ने कहा, तो भिक्षापात्र खाली जाए। तो वह क्रोध में आ गयी, तो उसने उठाकर एक कचरे की टोकरी उसके भिक्षापात्र में और भिक्षु के ऊपर फेंक दी। सारा कचरा उसके ऊपर गिर गया, भिक्षापात्र कचरे से भर गया। जैसा बुद्ध की आज्ञा थी कि जब कोई तुम्हें कुछ भी भेंट दे तो धन्यवाद देकर आगे बढ़ जाना। तो उसने झुककर धन्यवाद दिया।

राहगीर एक खड़ा यह सब देख रहा था। उसने भिक्षु से पूछा कि यह क्या पागलपन है? तुम किस बात के लिए सिर झुकाए, और किस बात के लिए धन्यवाद दिया? तो भिक्षु ने कहा, उसने कुछ तो दिया। कम-से-कम देना तो आया। कचरा सही, मगर उठाना कचरे की टोकरी को, डालना, इतना श्रम किया। धन्यवाद! कुछ तो दिया। अपमान सही, मगर देने की कृपा तो की।

यथास्थितिस्वस्थः।

जो हो, उसमें स्वस्थ, प्रसन्न। ऐसे व्यक्ति के जीवन में अशांति कैसे होगी? और फिर ऐसे व्यक्ति को जो किया, नहीं किया, जो हुआ, नहीं हुआ, उसकी याद नहीं आती; जो होना चाहिए, जो करना चाहिए, उसकी योजना नहीं बनती; न कोई अतीत, न कोई भविष्य, ऐसा व्यक्ति वर्तमान में जीता, तथाता में। यह क्षण पर्याप्त है। यह क्षण काफी से ज्यादा है।

"मुक्तपुरुष न स्तुति किये जाने पर प्रसन्न होता है और न निंदित होने पर क्रुद्ध होता है। वह न मृत्यु में उद्विग्न होता है, न जीवन में हर्षित होता है।"

न प्रीयते वंद्यमानो निंद्यमानो न कुप्यति।
नैवोद्विजति मरणे जीवने नाभिनंदति।।

नहीं मृत्यु में उसे कोई विरोध है, न जीवन में कोई आग्रह। हर चीज के बाहर खड़ा देखता। जीवन में जीवन के बाहर, मृत्यु में मृत्यु के बाहर। स्तुति जब की जाती, तब सुन लेता। निंदा जब की जाती, तब सुन लेता। निंदा भी तुम करते तुम जानो, स्तुति भी तुम करते तुम जानो। न निंदा उसे डंवा पाती, डुला पाती, कुपित कर पाती न स्तुति उसे प्रफुल्लित कर पाती। उद्विग्नता उसकी चली गयी, जो बाहर खड़ा होने का राज सीख गया।

खयाल करना, हर्ष भी एक तरह की उद्विग्नता है और विषाद भी एक तरह की उद्विग्नता है। एक तरह का ज्वर। तुम हर्ष में भी तो बहुत ज्यादा कंपित हो जाते हो। लाटरी मिल गयी, हृदय इतने जोर से धड़कने लगता है, कितनों का तो हार्टफेल इसीलिए हो जाता है। एकदम सफलता मिल गयी। सफलता बड़ी चिंता ले आती है। अमरीका में चिकित्सक कहते हैं कि जो आदमी चालीस साल की उम्र तक हार्ट अटैक से बीमार न हो, वह आदमी समझो कि असफल हो गया। सफल आदमी तो हो ही जाता है, चालीस-पैंतालीस के बीच कहीं न कहीं हार्ट अटैक के चक्कर में आ ही जाता है। सफल आदमी को आना ही पड़ेगा। सफल आदमी और करेगा क्या? जब सफलता मिलेगी तो धक्के तो लगेंगे हृदय को। प्रफुल्लता तो डांवाडोल करेगी।

सफल आदमी को अगर अल्सर न हों पेट में तो समझना, क्या खाक सफलता? तो बेकार ही जीवन गंवाया! अल्सर की गिनती से तो पता चलता है कि कितनी सफलता? अल्सर से तुम बैंक बैलेंस का पता लगा सकते हो। अल्सर से पता चल जाता है कि डिप्टी मिनिस्टर, कि मिनिस्टर, कि केबिनेट में हो, यहां कि दिल्ली में, कहां? अल्सर से पता चल जाता है। उद्विग्नता। एक तरह का ज्वर। झंझावात। दुख भी लाते हैं झंझावात, सुख भी लाते हैं। और बड़ी हैरानी की बात है, दुख इतने झंझावात नहीं लाते हैं जितने सुख लाते हैं। तुम दुखी आदमी को कभी भी इतना परेशान न पाओगे। सुखी आदमी तुम्हें ज्यादा परेशान मिलेंगे। इसलिए अमरीका में जितनी परेशानी, दुनिया में कहीं भी नहीं। और अमरीकन जब भारत आते हैं तो बड़े प्रभावित होते हैं इस बात से कि कुछ भी नहीं है लोगों के पास, झोपड़े के सामने बैठे हैं और ऐसे प्रसन्न हैं!

देवेश की मां इंग्लैंड से आयी। जब उसने--बूढ़ी महिला--जब एअरपोर्ट से उतरकर और उसने देखे बंबई के झोपड़पट्टे और गंदगी, तो वह भरोसा ही नहीं कर सकी कि यह बीसवीं सदी है। और भी चमत्कार तो तब हुआ जब नंग-धड़ंग बैठे बच्चे उसने प्रसन्न देखे। और जब उसने एक बिलकुल गंदी धोती पहने हुए, चीथड़ा धोती पहने हुए एक स्त्री को एक झोपड़पट्टे से बाहर आते हुए देखा और उसकी चाल ऐसे जैसे कोई रानी चल रही है। तो वह भरोसा न कर सकी।

पश्चिम से समृद्ध लोग जब पूरब आते हैं और दरिद्र लोगों को देखते हैं और फिर भी देखते हैं एक तरह की तृप्ति, तो उनको भरोसा नहीं आता कि मामला क्या है! इतनी दरिद्रता में तृप्ति हो कैसे सकती है? लेकिन इसके पीछे मनोवैज्ञानिक कारण हैं। दुखी आदमी हार्ट अटैक से परेशान होता ही नहीं। दुखी आदमी को अल्सर होते ही नहीं। दुख में इतनी उत्तेजना नहीं है जितनी सुख में है। तुम जितने सुख में डांवाडोल हो जाते हो, उतने दुख में थोड़े ही डांवाडोल होते हो। सुखी ही डांवाडोल होता है, दुखी डांवाडोल नहीं होता। सुखी ही चिंतित होता है।

तुमने पुराण पढ़े हैं? तुमने सदा पढ़ा होगा कि जब भी कोई ऋषि-मुनि अपनी तपश्चर्या की ऊंचाई पर आने लगता है, तो इंद्र का सिंहासन डोलने लगता है। लेकिन तुमने कभी ऐसा सुना है कि नरक में जो बैठे हैं यमदेवता, उनका सिंहासन किसी भी कहानी में डोला? वह डोलता ही नहीं। वह बैठे अपने भैंसे पर आराम कर रहे हैं। ये ऋषि-मुनि लाख करें, कुछ जो करना है करते रहो, उनका क्या बिगाड़ लोगे! वह अपने मजे से बैठे हैं। मगर इंद्र का सिंहासन डोलने लगता है। या इंदिरा का, मगर डोलता है। इससे कुछ फर्क नहीं पड़ता। चले ऋषि-

मुनि, कोई जयप्रकाश, लेकर अपना त्रिशूल इत्यादि, उपद्रव खड़ाकर दें! सिंहासन डोलने लगता है। लेकिन सिंहासन ही डोलता है। गरीब का है ही क्या? डुलाओगे क्या? बिना ही सिंहासन के जमीन पर बैठे हैं, क्या खाक डुलाओगे? छीन क्या लोगे? झोपड़पट्टे वाले से तुम क्या छीन सकते हो?

मैं पढ़ रहा था एक अफ्रीकी कहानी कि एक गरीब औरत, उसका छोटा बच्चा, सर्दी के दिन और उसके पास कपड़े उढ़ाने को नहीं तो उसने कुछ भी, लकड़ी के टुकड़े, चिंदियां, कागज, अखबार, इन सबका खूब पूर बना लिया और उसको उसमें ढांप देती थी। वह बेटा मस्त सो जाता। एक रात उस बेटे ने कहा, मां, जरा उन गरीबों की तो सोचो जिनके पास लकड़ी के ये टुकड़े, अखबार और ये चिंदियां नहीं होंगी, वे बेचारे कैसे सोते होंगे! वह मजे से रात नींद लेता है। वह सोच रहा है यह बड़ी अमीरी है। जरा उनकी तो सोचो, वह कहने लगा, जिनके पास लड़की के टुकड़े और ये चीजें नहीं होंगी, वे कैसे सोते होंगे!

दुख इतना नहीं डांवाडोल करता जितना सुख कर जाता है। इसीलिए समस्त साधकों ने दुख को तो वरण कर लिया है, सुख को छोड़ दिया है। क्योंकि उन्होंने देखा कि दुख इतना दुखी नहीं करता। अंततः दुख सुख से आता है। तप का इतना ही अर्थ है, तपश्चर्या का इतना ही अर्थ है कि सुख में से तो कुछ तुम पा सकते हो, इसकी आशा ही मत रखना, हां, दुख में से कुछ पाया जा सकता है। दुख में से कुछ पाया जा सकता है, यही तप का अर्थ है। सुख में से कुछ भी नहीं पाया जा सकता, सुख बिलकुल बांझ है। लेकिन परमज्ञान की अवस्था तो वही है जहां न सुख सुखी करता है, न दुख दुखी करता है। कोई चीज डुलाती नहीं, आदमी अपने स्वयं में थिर है।

"शांत बुद्धिवाला पुरुष न लोगों से भरे नगर की ओर भागता है और न वन की ओर ही। वह सभी स्थिति और सभी स्थान में समभाव से ही स्थित रहता है।"

न धावति जनाकीर्णं नारण्यमुपशांतधीः।
यथातथा यत्रतत्र सम एवावतिष्ठते।।
न धावति जनाकीर्णं...।

जो व्यक्ति ज्ञान को उपलब्ध हुआ, साक्षी को उपलब्ध हुआ, तुरीय का जिसने स्वाद लिया, अब वह भीड़ की तरफ नहीं भागता। भीड़ में क्या रस! दूसरे में तो तभी तक रस मालूम होता है जब तक अपना रस नहीं चखा। इसे याद रखना। दूसरे में तो तभी तक स्वाद मालूम होता है जब तक स्वयं का स्वाद नहीं लिया। दूसरे में तो हम अपने को डुबाते ही इसीलिए हैं कि अपने में डुबाना आता नहीं। अकेले बैठने में हमें कुछ रस ही नहीं आता। अकेला आदमी बैठा है तो कहता है, बड़ी ऊब लगती है। चलें, कहीं जाएं, किसी से मिलें-जुलें। जिनसे तुम मिलने जा रहे हो उनको भी अकेले में ऊब लग रही है। वे भी उत्सुक हैं कि कोई उनको मिले। अब दो उबानेवाले आदमी मिल गये एक-दूसरे को। अब ये सोचते हैं, बड़ा सुख होगा! ये हो कैसे सकता है, गणित तो थोड़ा समझो।

एक उबा रहा था अपने को, दूसरा उबा रहा था अपने को, अब एक-दूसरे को उबाएंगे। गुणनफल हो जाएगा। दुगुना नहीं, कई गुना हो जाएगा मामला। मगर लोग चले! क्योंकि लोग एकांत में रस नहीं ले पाते। अपना स्वाद ही नहीं जानते। अपना छंद ही अपरिचित है। भीतर की वीणा में कोई स्वर नहीं उठता मालूम होता। भीतर सब खाली-खाली, रिक्त-रिक्त मरुस्थल जैसा। चले, कहीं से रस मिले, कहीं रसधार बहे, थोड़े प्रसन्न हों। तो क्लब बनाते, समूह बनाते, नाचघर जाते, सिनेमा में बैठ जाते, रेडियो खोल लेते, अखबार पढ़ते, लेकिन कहीं अपने को भुलाओ! किसी में अपने को डुबाओ! अकेलेपन में बड़ी बेचैनी है।

ख्याल रखना, जो जहां है, जैसा है, अगर वहीं सुखी नहीं है तो फिर कहीं भी सुखी नहीं हो सकता। और जो जहां है, जैसा है, वहीं सुखी है, वह कहीं भी सुखी हो सकता है।

इसका मतलब यह भी मत समझ लेना कि ज्ञानी भीड़ से भागता है। इसलिए अष्टावक्र कहते, "शांत बुद्धिवाला पुरुष न लोगों से भरे नगर की ओर भागता है और न वन की ओर ही।"

क्योंकि वह भी फिर दूसरा उपद्रव हो गया। कुछ लोग हैं जो कहते हैं, भीड़ में नहीं जाएंगे, भीड़ में अच्छा नहीं लगता, हम तो जंगल चले! हम तो एकांत के वासी हैं। मगर यह बात भी बंधन हो गयी। अब तुम्हें दूसरे की मौजूदगी में अशांति होने लगी। पहले दूसरे की मौजूदगी में आनंद होता था, अब दुख होने लगा। मगर हर हालत में नजर दूसरे पर रही। पहले दूसरे की तरफ भागते थे, अब दूसरे से भागने लगे, मगर नजर दूसरे पर रही। अब भी अपने पर आना नहीं हुआ। अपने पर वही आदमी आता है, जो न दूसरे की तरफ भागता है, न दूसरे से भागता है। न तो भागो स्त्री की तरफ, न स्त्री से भागो। न भागो धन की तरफ, न धन को छोड़कर भागो। न भागो पुरुषों की तरफ, न पुरुषों को भागो छोड़कर। भागो ही मत। जहां हो, जैसे हो, वहीं परमात्मा पूरा का पूरा उपलब्ध है। भाग कर कहां जा रहे! क्या तुम सोचते हो परमात्मा कहीं और थोड़ा ज्यादा है? तुम सोचते हो पूना में कम और प्रयाग में थोड़ा ज्यादा है? तो तुम पागल हो।

तुमको अगर हिंदुस्तान के सब पागल देखने हों, तो अभी तुम्हें कुंभ के मेले में मिल जाएंगे। करीब-करीब पचास परसेंट पागल वहां मौजूद हैं। तीर्थ की तरफ जा रहे हो? तीर्थ का अर्थ ही इतना होता है, जो जहां है वहीं जिसे रस आ गया। जैसा है वैसे में रस आ गया। वही व्यक्ति तीर्थ हो गया। तीर्थ स्थानों में थोड़े ही होते हैं, व्यक्तियों की आत्माओं में होते हैं। तीर्थ आंतरिक घटना है। और जो व्यक्ति तीर्थ बन गया, वही तीर्थंकर है।

"वह सभी स्थिति और सभी स्थान में समभाव से ही स्थित रहता है।"

रिंद जो जर्फ उठा लें वही कूजा बन जाए
जिस जगह बैठ के पी लें वहीं मयखाना बने

पीनेवाले तो वही हैं कि जो प्याली उठा लें वही मधु बन जाए। जो प्याली उठा लें, उनके छूने से सुरा बन जाए। जहां बैठकर पी लें, वहीं मयखाना बने।

रिंद जो जर्फ उठा लें वही कूजा बन जाए
जिस जगह बैठ के पी लें वहीं मयखाना बने

जो जहां है, जैसा है, उसमें ही रस आ जाए, तो मुक्ति आयी, मोक्ष आया। अन्यथा को छोड़ो। अन्य होने की दौड़ छोड़ो। किसी और जगह कहीं स्वर्ग है, ऐसी भ्रांति छोड़ो। इसी भ्रांति के कारण तुम्हें दिखायी नहीं पड़ रहा है। क्योंकि तुम कहीं और देख रहे हो, दूर तुम्हारी आंखें उलझी हैं तारों पर, चांदत्तारों पर और परमात्मा बहुत पास है। परमात्मा वहीं बैठा है जहां तुम। परमात्मा उसी जगह मौजूद है जहां तुम। तुममें और परमात्मा में रत्ती भर फासला नहीं है। इसलिए यात्रा तो करनी ही नहीं है। तीर्थयात्रा सब यात्राओं से मुक्त हो जाने का नाम है।

कहते हैं, फकीर बायजीद को धर्म से बाहर निकाल दिया गया था, क्योंकि उसने एक कुफ्र की बात की। बैठा था एक वृक्ष के नीचे और कुछ लोग हज की यात्रा को जा रहे थे और उसने कहा कि पागलो, कहां जा रहे हो, हज यहां बैठा है? और उनमें से कुछ लोग रुक गये। और उन्होंने देखा बात तो सच थी। ऐसा सौंदर्य, ऐसा प्रसाद, ऐसा माधुर्य उन्होंने कभी देखा न था। वे ठगे खड़े रह गये। तो बायजीद ने कहा, अब खड़े क्या हो, परिक्रमा करो। तो उन्होंने उसकी परिक्रमा की। उसके हाथ चूमे, जैसा लोग काबा का पत्थर चूमते हैं।

अब उसने कहा, अब घर लौट जाओ। और दुबारा अगर फिर हज करना हो, तो मेरे पास भी आने की जरूरत नहीं, अपनी ही परिक्रमा कर लेना। यह तो मैंने तुम्हें एक पाठ पढ़ाया। इस पाठ को मत पकड़ लेना जोर से, नहीं तो मैं मर जाऊंगा तो तुम इस झाड़ के चक्कर लगाओगे। ऐसे ही तो लोग उपद्रव कर रहे हैं। अभी तक काबा के पत्थर का चक्कर लगाया जा रहा है। परिक्रमाएं कर रहे हैं। चले काशी, चले गिरनार, चले जेरूसलम। कहीं जाना है! सदा मन में एक भ्रांति है कि सुख कहीं और बरस रहा है, बस तुम्हें छोड़कर बरस रहा है। जैसे तुम पर कोई भगवान विशेष इंतजाम किया है कि तुम पर भर न बरसे। और कहीं बरसे। और जेरूसलम में जो

रहते हैं उनका तुम्हें पता है, काशी में जो रहते हैं उनका तुम्हें पता है, उन्हें कुछ मिला? वहां भी नहीं बरस रहा है। अगर आंख नहीं खुली है तो कहीं भी नहीं बरस रहा है और अगर आंख खुली है तो कहीं भी बरस रहा है।

रिंद जो जर्फ़ उठा लें वहीं कूजा बन जाए
जिस जगह बैठ के पी लें वहीं मयखाना बने

ऐसे पियक्कड़ बनो। ऐसे पीनेवाले बनो। मधुशालाएं खोजना बंद करो। जहां बैठ जाओ वहीं मधुशाला बने। साधारण जल भी पी लो तो अमृत हो जाए, ऐसे बनो। और ऐसे बनने की कला साक्षी होने की कला है।

आज इतना ही।

छियासीवां प्रवचन

स्वानुभव और आचरण एक ही घटना

पहला प्रश्न: "अब मैं नाच्यो बहुत गोपाल", भक्त ऐसा गाता है। क्या भक्त की भांति ज्ञानी भी गाता है?

गीत अनिवार्य है। नृत्य अनिवार्य है। क्योंकि अंतिम परिणति में उत्सव होगा ही। अगर अंतिम परिणति में उत्सव न हो तो फिर उत्सव कब होगा? गीत और नृत्य तो केवल उत्सव के सूचक हैं। जब वसंत आएगा और वृक्ष अपने पूरे उभार पर होगा, तो फूल खिलेंगे। गंध भी बिखरेगी। और जब दीप जलेगा तो ज्योति भी झरेगी।

गीत तो अनिवार्य है। यह दूसरी बात है कि कौन कैसा गाए, कैसे गाए? भक्त अपने ढंग से गाता, ज्ञानी अपने ढंग से गाता। भक्त का गीत प्रगट है, ज्ञानी का गीत अप्रगट है। भक्त परिधि पर नाचता, ज्ञानी केंद्र पर। भक्त का गीत और उत्सव ऐसे है जैसे मुक्त हास; कोई खिलखिला कर हंस पड़ा, जुहू के फूल झर गये। ज्ञानी का गीत ऐसा है--मंद-मंद मुस्कान। बहुत गौर से देखोगे तो पहचान पाओगे। ऐसी मोटी-मोटी नजर से देखा तो चूक जाओगे। बारीक, सूक्ष्म कारण हैं भेद के।

भक्त भी पहुंचता है उसी मंजिल पर जहां ज्ञानी पहुंचता है। लेकिन अलग-अलग हैं उनके मार्ग। भक्त परमात्मा से अपने को जोड़ता, इतना जोड़ता, इतना जोड़ता कि भक्त बचता नहीं। भक्त अपने मैं को तू के चरणों में समर्पित करता। भक्त की आंख तू पर लगी है, भक्त की आंख बाहर लगी है। भक्त बाहर देख रहा है। भक्त को भीतर देखने की चिंता नहीं है। भीतर का देखना घटेगा, लेकिन बाहर देखने की अंतिम फलश्रुति में। इसलिए भक्त वृक्षों को देखता, चांदत्तारों को देखता, नदी-पहाड़ों को देखता, क्योंकि सभी में उसी परमात्मा की झलक है। इसलिए भक्त पत्थर को भी पूज लेता। क्योंकि सारा अस्तित्व उसका है। भक्त अपने मैं को डुबाता और तू को बड़ा करता। एक ऐसी घड़ी आती, जब मैं शून्य हो जाता है और तू ही बचता है। तब भक्त नाचता है। लेकिन उसी घड़ी में एक क्रांतिकारी घटना और घटती है जो कि परम घटना है। जब मैं बिलकुल शून्य हो जाता है तो तू भी बचेगा नहीं, बच नहीं सकता। तू को बचने के लिए भी मैं की थोड़ी न बहुत मौजूदगी आवश्यक है। मैं के बिना कैसा तू? भक्त के बिना कैसा भगवान!

बायजीद ने कहा है, मुझे तुम्हारी जरूरत है, सच। तुम्हें भी मेरी जरूरत है। इकहार्ट ने कहा है, न मैं तुम्हारे बिना हो सकता, न तुम मेरे बिना हो सकते। ठीक कहा है, क्योंकि मैं के बिना तू नहीं हो सकता। और तू के बिना भी मैं नहीं हो सकता। तो भक्त मैं को डुबाता है। एक ऐसी घड़ी आती है, भक्त सौ प्रतिशत था, घटते-घटते, घटते-घटते शून्य प्रतिशत हो जाता है। रोज-रोज परमात्मा बढ़ने लगता है--एक प्रतिशत, पचास प्रतिशत, सत्तर प्रतिशत, नब्बे, निन्यानबे प्रतिशत--निन्यानबे प्रतिशत परमात्मा होता है, भक्त एक प्रतिशत, तब तक दोनों होते हैं। जैसे ही भक्त शून्य हुआ और परमात्मा पूर्ण हुआ, भक्त भी गया भगवान भी गया। प्रेम गली अति सांकरी तामें दो न समाए! यह तो सच है। कबीर ठीक कहते हैं कि प्रेम की गली अति संकरी है, उसमें दो नहीं समाते।

मैं तुमसे कहता हूं, प्रेम की गली इतनी संकरी है कि उसमें एक भी नहीं समाता। क्योंकि जहां एक समा गया, वहां दो भी समा सकते हैं। एक भी नहीं समाए तो ही दो नहीं समाते। एक का भी क्या अर्थ होगा अगर दो न बचें। दो के बिना एक नहीं हो सकता है। दो हों तो ही एक में कुछ अर्थ है। द्वैत हो तो अद्वैत में अर्थ है।

लेकिन भक्त की आंख बहिर्मुखी है। भक्त जो है बहिर्मुखी है। इसलिए पूजा करता, अर्चन करता, दीप जलाता, नाचता, गीत गाता, मूर्ति सजाता। बाहर है उसका भगवान। और स्वयं को डुबाते जाना है। इसलिए

भक्त के जीवन में जब महोत्सव घटता है तो वह नाचता। पद घुंघरू बांध मीरा नाची रे। वह मगन होकर नाचता। सब विस्मरण करके नाचता। मदमस्त होकर नाचता।

ज्ञानी के जीवन में घटना घटती है यही, शून्य की, या पूर्ण की, लेकिन दूसरे ढंग से घटती है। ज्ञानी तू से अपने को मुक्त करता है। इसीलिए तो महावीर कहते हैं, कैसा परमात्मा! कोई परमात्मा नहीं है। अप्पा सो परमप्पा। आत्मा ही परमात्मा है। और कैसा परमात्मा! मैं ही अपने परिपूर्ण शुद्धता में परमात्मा हूं। इसलिए ज्ञानी कहता है: अहं ब्रह्मास्मि। अनलहक। मुझसे अलग और कौन? तो ज्ञानी तू को घटाता जाता है, घटाता जाता है, घटाता जाता है, एक ऐसी घड़ी आती है कि तू बिलकुल शून्य हो जाता है, मैं ही बचता। लेकिन तब मैं न बच सकेगा। मैं को बचाने के लिए तू थोड़ा चाहिए। जिस दिन मैं अकेला बचा और तू शून्य हो गया, उसी क्षण मैं भी तिरोहित हो जाता है। वे दोनों साथ ही चलते हैं। और जब मैं तिरोहित होता है तो एक अपूर्व उत्सव का जन्म होता है। लेकिन ज्ञानी नाचेगा नहीं। यह उत्सव इतने भीतर घटता है और ज्ञानी अंतर्मुखी है।

ये दो ही तो प्रकार हैं मनुष्य की चेतना के। बहिर्मुखता, अंतर्मुखता। या तो भीतर चलो या बाहर जाओ। किसी भी दिशा में इतने चले जाओ कि बचो न, पहुंच जाओगे। अगर चलते ही गये बाहर और अपने को खोते चले गये, तो भी पहुंच जाओगे। चलते ही गये भीतर और एक ऐसी घड़ी आ गयी कि अपने को खो दिया, तो भी पहुंच जाओगे। किस दिशा में चले, भेद नहीं पड़ता, क्योंकि सभी दिशाओं में परमात्मा है। बाहर भी वही है, भीतर भी वही है। बाहर और भीतर कामचलाऊ शब्द हैं। वही है। बाहर भी उसमें है, भीतर भी उसमें है, ऐसा कहना ज्यादा उचित है। बाहर-भीतर उसके ही दो पहलू हैं।

भक्त का नृत्य तो परिधि पर घटता है, ज्ञानी का नृत्य केंद्र पर। इसलिए ज्ञानी के नृत्य को शायद तुम देख न पाओ। बुद्ध बैठे हैं बोधिवृक्ष के नीचे, किसी ने देखा नहीं नाचते, मैं तुमसे कहता हूं, नाच रहे हैं। भरोसा करो, नाच रहे। क्योंकि नृत्य तो अनिवार्य है। गा रहे। यद्यपि यह गीत ऐसा है कि जब तक तुमने भी इस तरह न गाया हो, तुम पहचान न सकोगे, यह भाषा अनेरी है। हां, मीरा नाचेगी तो तुम भी देख लोगे, हालांकि तुम मीरा की भांति नाचे नहीं हो। लेकिन मीरा का नृत्य देह पर हो रहा है। देह की भाषा तुम जानते हो। यद्यपि मीरा का नृत्य भी तुम न समझोगे, मीरा के परिवार के लोग भी न समझे। परिवार के लोगों ने कहा, यह क्या लोक-लाज खो दी! यह कोई ढंग है! वेश्याएं नाचती हैं ऐसा, आवारा औरतें नाचती हैं ऐसा, राजघर की कुलीन रानी और ऐसे सड़कों पर नाचे! वे भी न समझे। लेकिन इतना समझ गये कि मीरा नाच रही है।

नाच का अर्थ तो न समझे, नाच दिखायी पड़ा। नाच का अर्थ उन्होंने अपनी ही दृष्टि से लिया, जैसा नाच वे देखते रहे थे। ये मीरा के घर के लोग राजघराने के लोग थे, वेश्याओं को नचाते रहे होंगे दरबारों में, उस बात को समझते थे। उन्होंने कहा, यह क्या हुआ, मीरा वेश्या जैसी नाचे! जहर भेजा। नाच दिखायी पड़ गया, नाच का अर्थ चूक गया। पर नाच दिखायी पड़ गया।

ज्ञानी का न तो नाच दिखायी पड़ेगा, अर्थ की तो बात ही कहां है! अर्थ तो भक्त का भी दिखायी नहीं पड़ता।

तो बुद्ध तुम्हें बैठे दिखायी पड़ते हैं। जिस दिन तुम परम शांत होओगे, ध्यान में डूबोगे, उस दिन तुम्हें बुद्ध की गुनगुनाहट भी सुनायी पड़ेगी। अनाहत नाद वहां हो रहा है। ऐसा नाद हो रहा है जिसे करने के लिए कोई उपाय नहीं करने होते, अपने से हो रहा है। ओंकार गूंज रहा है। झेन फकीर कहते हैं, एक हाथ की ताली बज रही है। कम-से-कम ताली बजाने को दो हाथों की जरूरत होती है, झेन फकीर कहते हैं, अब एक हाथ की ताली बज रही है। अब ऐसी ताली बज रही है जो बजानी नहीं पड़ती, अपने से बज रही है। हो ही रहा है। इसे ऐसा कहें तो ज्यादा अच्छा होगा, अस्तित्व नृत्य है, अस्तित्व गीत है, अस्तित्व उत्सव है। उत्सव हो ही रहा है, तुम सिर्फ अंधे हो। तुम्हारी आंख पर पट्टी बंधी है। तुम्हें दिखायी नहीं पड़ रहा है। इससे तुम चूके जा रहे हो।

भक्त प्रेम की आंखें खोल लेता है, ज्ञानी ध्यान की आंखें खोल लेता है। ये दो शब्द अलग-अलग मालूम पड़ते हैं, क्योंकि अलग-अलग मार्गों के हैं, लेकिन अंतिम परिणाम सदा एक है।

मिट्टी भी हंसती है, ऐसा
सुनकर मैं हंसता था पहले
फूलों का परिवार देखकर
अब विश्वास हुआ है मुझको
कितनी कलियों की आंखों में
गूंज रही खुशबू की गीता
कितने फूलों के ओंठों पर
लिखी हुई रंगों की कविता
खुशबू के हस्ताक्षर करती
डोल रहीं तितली-बालाएं
सोन जुही के कानों में कुछ
कहती भंवरों की मालाएं
वासंती घूंघट के भीतर
छिपे हुए हैं मधु के प्याले
मानो रेशम की बस्ती में
खुली पड़ी हों मधुशालाएं
मिट्टी भी हंसती है, ऐसा
सुनकर मैं हंसता था पहले
फूलों का परिवार देखकर
अब विश्वास हुआ है मुझको

तुम जरा देखो, उत्सव ही हो रहा है। अस्तित्व बड़े गहरे रास में संलग्न है। रसो वै सः। परमात्मा रस ही रस है। अस्तित्व में पीड़ा कहीं है नहीं। पीड़ा आदमी का सृजन है। पीड़ा आदमी की चूक है। अस्तित्व में मृत्यु होती ही नहीं। यहां जीवन का विराट विस्तार है। अस्तित्व में मृत्यु कभी घटती ही नहीं। मृत्यु आदमी का आविष्कार है। आदमी ने अहंकार आविष्कार कर लिया, अब अहंकारी की मृत्यु होती है, क्योंकि आदमी जो भी आविष्कार करेगा, वह मिटेगा। आदमी की बनायी चीज अमर कैसे हो सकती है! आदमी की बनायी चीज मरणधर्मा होगी। जो भी बनाया जाता है, वह मिटेगा। जो अनबना है, वही नहीं मिटेगा। जो कभी नहीं जन्मा है, उसी की मृत्यु नहीं होगी। जिसका जन्म होगा, उसकी तो मृत्यु होगी।

देखो, मकान बनाते हो, मकान गिरेगा। कितना मजबूत बनाओ, फर्क नहीं पड़ता। दो दिन बाद गिरेगा, चार दिन बाद गिरेगा, कि हजार साल बाद गिरेगा। लेकिन देखते हो, रेत के एक छोटे-से कण को मिटाने का कोई उपाय नहीं है। वैज्ञानिक कहते हैं, नहीं मिटाया जा सकता। लाख उपाय करो, एक छोटे-से रेत के कण को मिटा नहीं सकते। मामला क्या है? हम महल बनाते हैं, मिट जाते हैं। रेत का कण भी नहीं मिटता! क्योंकि रेत का कण बनाया नहीं गया है। जो चीज बनायी गयी है, वह मिटेगी। जो है सदा से, वही सदा होगी। निर्मित नष्ट होता है। अजन्मा शाश्वत है।

आदमी कुछ चीजें बना लेता है, तो मिट जाती हैं। मिटती हैं तो घबड़ाहट होती है। मिटने की आशंका से मन बहुत चिंतातुर हो जाता है। जो भी निर्मित है, जाएगा। बुद्ध ने कहा है, सब संघात बिखरेंगे। लेकिन अस्तित्व तो कभी नहीं मिटता।

तो अपने भीतर उसको खोज लो जो कभी नहीं मिटता, तो तुम ध्यानी हो गये, ज्ञानी हो गये। बाहर उसे खोज लो जो कभी नहीं मिटता तो तुम भक्त हो गये। और तुम्हारी जैसी मौज हो। दोनों रास्तों से लोग पहुंच गये हैं। मीरा भी और महावीर भी। इसमें तुम चिंता में मत पड़ना बहुत कि किस रास्ते जाएं। कहीं ऐसा न हो कि तुम खड़े-खड़े यही चिंता करते रहो किस रास्ते जाएं और किसी रास्ते पर न जाओ। चलो, जो रास्ता तुम्हें रुचिकर लगे उस पर चल जाओ।

और एक बात खयाल रखना, जब एक रास्ते पर चल जाओ तो दूसरे की भाषा बिलकुल भूल जाना। नहीं तो तुम बड़े अस्त-व्यस्त हो जाओगे। क्योंकि दोनों की भाषा बड़ी अलग है। बड़ी विपरीत है। और अगर तुम दोनों की भाषाओं को एक साथ याद रखे, तो तुम दिग्भ्रम में पड़ोगे। तुम्हारे भीतर बड़ी घटाएं घिर जाएंगी। खुला आकाश समाप्त हो जाएगा। पहुंचने की जगह तुम विक्षिप्त हो जाओगे। विमुक्त तो नहीं, विक्षिप्त हो जाओगे। ऐसी भूल मत करना।

अगर तुम्हें भक्त की बात प्रीतिकर लगती हो, नारद के सूत्र डूब जाते हों हृदय में, गदगद कर जाते हों, तो बात खतम हो गयी। छोड़ो ज्ञानियों को, जाने दो उन्हें जहां जाना है। तुम चल पड़ो, नारद की नाव में बैठ जाओ।

अगर यह बात तुम्हें न जंचती हो, बुद्ध, महावीर और पतंजलि, अष्टावक्र, उनकी बात तुम्हें डुला जाती हो, भीतर अहोभाव से भर देती हो, एकदम जैसे कोई खिड़की खुल जाती हो भीतर, हवा का एक झोंका आ जाता हो, कि आ गयीं सूरज की किरणें और तुम्हें एक स्पर्श होता हो कि हां, यही है ठीक, यही बात, खा जाती हो मेल, धड़क जाता हो हृदय, तो छोड़ो नारद को, मीरा को, तुम चल पड़ो अष्टावक्र के साथ।

चलने से कोई पहुंचता है, सोचने से कोई नहीं पहुंचता है। बहुत सोचते मत रहो, चलो।

दूसरा प्रश्न: आपने कहा कि आत्मज्ञानी है भी नहीं और नहीं भी नहीं है। आपके वक्तव्य में तो यह बंध गयी बात, लेकिन मेरी समझ में नहीं बंधती। कृपाकर कुछ और समझाएं।

बात तो सीधी-सरल है। लेकिन चूंकि विरोधाभासी है, इसलिए बुद्धि की पकड़ में नहीं आती। बुद्धि की पकड़ में विरोधाभास नहीं आता। क्योंकि बुद्धि ने एक नियम स्वीकार कर लिया है कि जहां विरोध हो, वहां सत्य नहीं हो सकता। यह अरस्तू का न्यायशास्त्र है। यह समस्त जगत का तर्कशास्त्र है। विरोध सत्य नहीं हो सकता। स्वभावतः जैसे कोई कहे कि कमरे में कुर्सी है भी और नहीं भी है। तो तुम कहोगे, यह बात तो कुछ गड़बड़ है। या तो कुर्सी है, या नहीं है। दोनों बातें कैसे साथ हो सकती हैं। यह बात तो विरोधाभासी है, स्व-विरोधी है।

तो तर्कशास्त्र का एक मौलिक आधार है कि जहां स्व-विरोध हो, वहां सत्य नहीं हो सकता। अब या तो कोई आदमी जवान है या बूढ़ा है। या तो कोई आदमी जिंदा है या मुर्दा है। अब तुम कहो कि यह आदमी जिंदा भी है और मुर्दा भी है! तो तर्क कहेगा कि कहीं कुछ भूल हो रही है। कोई एक बात गलत होगी। दोनों तो साथ-साथ सही नहीं हो सकतीं। युगपत, एक साथ कैसे सही हो सकती हैं। कि तुम कहो, एक आदमी चोर भी है और संत भी। यह कैसे होगा! इसलिए तर्क का एक नियम है, कि जहां स्व-विरोध, वहां बात गलत है।

एक मुकदमा अदालत में चलता था और जो मजिस्ट्रेट था, वह अभी-अभी कानून पढ़कर आया था, नया-नया, कानून और तर्क में निष्णात था। हत्या हो गयी थी। और एक गवाह ने जो वक्तव्य दिया उसमें उसने कहा कि हत्या जब हुई तो घर के भीतर हुई। दीवालों के भीतर हुई। और दूसरे गवाही ने उसी क्षण खड़े होकर कहा कि नहीं, हत्या खुले आकाश के नीचे हुई। मजिस्ट्रेट ने कहा, तुम दोनों सही नहीं हो सकते, तुममें कोई एक जरूर झूठ बोल रहा है। लेकिन एक तीसरे आदमी ने खड़े होकर कहा कि नहीं, कोई झूठ नहीं बोल रहा है, मकान के भीतर हत्या हुई और खुले आकाश के नीचे हुई, क्योंकि छप्पर अभी पड़ा नहीं था। नया-नया मकान बन रहा था। दीवालें भर उठी थीं।

ऊपर से जो विरोधाभासी दिखायी पड़ता है, उसकी भी संभावना हो सकती है। जीवन तर्क से बड़ा है। जैसे, यह अष्टावक्र का सूत्र कि आत्मज्ञानी है भी नहीं और नहीं भी नहीं है।

समझो।

आत्मज्ञानी नहीं है, क्योंकि परमात्मा है, आत्मज्ञानी ने तो अपने को शून्य कर लिया। अस्तित्व है, अपनी मैं की धारणा तो उसने गिरा दी, इस अर्थ में आत्मज्ञानी नहीं है। उसकी कोई मैं की धारणा तो बची नहीं, अब वह घोषणा नहीं कर सकता कि मैं हूं; परमात्मा है। तुम ध्यान रखना, जैसे कि उपनिषदों का वचन: "अहं ब्रह्मास्मि", जब तुम इसका अनुवाद करते हो और तुम इसका अर्थ करते हो, तो जरा-सा फर्क हो जाता है। लेकिन फर्क बड़ा है। इतना बड़ा फर्क कि जमीन और आसमान अलग हो जाते हैं। तुम जब इसको पढ़ते हो कि मैं ब्रह्म हूं तो तुम समझते हो, मैं ब्रह्म हूं। तुम्हारा जोर मैं पर होता है। ब्रह्म तुम्हारी छाया बन जाता है। ब्रह्म तुम्हारी लंगोटी। तुम सज-बनकर खड़े हो जाते हो। जब आत्मज्ञानी कहता है, मैं ब्रह्म हूं, तो वह यह कह रहा है--ब्रह्म है, मैं कहां? मैं नहीं हूं, ब्रह्म ही है। और चूंकि वही है, इसलिए मैं भी ब्रह्म हूं। मैं वह पीछे रख रहा है, ब्रह्म को आगे रख रहा है।

जब अष्टावक्र कहते हैं, आत्मज्ञानी नहीं है, तो उसका अर्थ यह--उसके पास कोई अस्मिता, कोई अहंकार नहीं है। लेकिन यह आधा वक्तव्य है। आधा उन्होंने तत्क्षण जोड़ दिया क्योंकि खतरा है। आदमी बड़ा खतरनाक प्राणी है। समझ के मामले में उससे नासमझी होने की ज्यादा आशा है। अगर तुम कहो कि आत्मज्ञानी नहीं है, इतना विनम्र है, इतना निरहंकारी है, तो हमारे अहंकार इतने बड़े हैं कि हम कहेंगे, अच्छा, तो हम भी आत्मज्ञानी हो गये--हम भी कहते हैं कि मैं भी नहीं हूं। तुम कह सकते हो कि मैं भी नहीं हूं और तुम्हारी आंख में होने का दावा हो सकता है। जब तुम कहते हो, मैं कुछ भी नहीं हूं, तब भी तुम दावा कर रहे हो कि मैं कुछ हूं, देखो, बिलकुल ना-कुछ हो गया! तुम जब कहते हो, मैं नहीं हूं, तब भी तुम कहते हो, मैं हूं। तुमने एक नयी तरकीब खोज ली।

झेन फकीर बोकोजू का एक शिष्य ध्यान कर रहा है। वह रोज ध्यान करता है, रोज सुबह गुरु के पास आकर निवेदन करता है, क्या अनुभव हुआ। और गुरु उसे भगा देता है उसी वक्त, वह कहता है कि ये छोड़ो, फालतू बातें मत लाओ यहां। कभी लाता है कि कुंडलिनी जग गयी और गुरु कहता है, भाग यहां से! फिजूल की बातें न ला यहां, जब तक शून्य न घटे तब तक फिजूल की बातें न ला। मगर वह फिर आता है, फिर आता है कि आज हृदयकमल खुल गया और वह गुरु तो डंडा उठा लेता है। कभी वह कहता है कि सहस्रार खुल गया और गुरु उसको धक्के देकर बाहर निकाल देता है और कहता है, जब तक शून्य न खुले, तब तक तू आ ही मत। फिर महीनों बीत गये। फिर एक दिन वह आया है, अब बड़ा आनंदित है, चरणों में पड़ गया, उसने कहा कि आज वह ले आया हूं जिसकी आप इतने दिन से मुझसे अपेक्षा करते थे, आशा करते थे। आज आप निश्चित प्रसन्न होंगे। आज मैं शून्य होकर आ गया हूं। गुरु ने तो डंडा उठाकर उसके सिर पर मार दिया, उसने कहा, शून्य को बाहर फेंककर आ। वह कहने लगा, अब तो मैं शून्य होकर आ गया, अब भी हटाते हैं! तो उन्होंने कहा, अभी जब तू दावा करता है कि मैं शून्य हो गया, तो दावेदार कौन है? यह नया दावा है, अहंकार की नयी शक्ल है। यह नया मुखौटा है। शून्य तो कोई तभी होता है जब शून्य भी फेंक आता है। तब कहने को कुछ भी नहीं बचता। परम शून्य तो वही है जो यह भी नहीं कह सकता कि मैं शून्य हूं। कहने की कहां गुंजाइश है! कहा कि गलत हुआ। कहा कि दावा हुआ।

यही अर्थ है अष्टावक्र के इस वचन का--आत्मज्ञानी है भी नहीं। अहंकार तो गया, इसलिए यह कहना तो ठीक नहीं कि आत्मज्ञानी है। नहीं है। और नहीं भी नहीं है। क्योंकि आत्मज्ञानी यह भी नहीं कह सकता कि मैं शून्य हो गया, निर-अहंकारी हो गया। आत्मज्ञानी कुछ भी नहीं कह सकता। क्योंकि कहने में तो फिर हो जाएगा। उदघोषणाएं तो सभी अहंकार की हैं। विनम्रता की उदघोषणा भी। शून्य होने की उदघोषणा भी।

इसलिए बात तो बहुत सीधी-सरल है--आत्मज्ञानी न तो है, न नहीं है। नहीं है, ऐसी घोषणा भी नहीं कर सकता है, इसलिए नहीं है भी नहीं है। यह सीधे व्यावहारिक तर्क में विरोध मालूम पड़ता है, लेकिन जीवन के परमतर्क में कहीं कोई विरोध नहीं है।

तीसरा प्रश्न: मैं लौट-लौटकर अतीत की ओर देखता रहता हूं। यह व्यर्थ है, फिर भी आदत छूटती नहीं। इसका क्या कारण हो सकता है?

पहली तो बात, व्यर्थ होता तो आदत छूट जाती। तुम्हारे लिए व्यर्थ नहीं है। जिनके लिए व्यर्थ है उनकी तो आदत छूट गयी। तुम ऐसा समझो कि कचड़े को संभालकर तिजोड़ी में रख रहे हो और मैं तुम्हें पकड़ लूं और कहूं कि यह क्या कर रहे हो? तो तुम कहो, मालूम तो है कि यह कचड़ा है, लेकिन आदत नहीं छूटती। ऐसा होगा? जानते हुए कचड़ा तिजोरी में रखोगे संभाल कर? कचड़ा है जानते हुए रखोगे संभाल कर? थोड़ी भूल हो रही है।

बुद्धपुरुष कहते हैं, कचड़ा है। तुमने उनकी बात सुन ली, संकोचवश उनकी बात इंकार भी नहीं करते। बुद्धपुरुष कहते हैं, ठीक ही कहते होंगे; सब शास्त्र कहते हैं, तो ठीक ही कहते होंगे; कचड़ा है। लेकिन तुम जानते हो कि बात ठीक है नहीं, है तो हीरा, जवाहरात! अब तुम्हारे भीतर एक द्वंद्व पैदा हुआ। एक तुम्हारा जानना है और एक बुद्धपुरुषों से सुनी हुई बात है। स्वभावतः अंतिम परिणाम में तुम जीतोगे, बुद्धपुरुष नहीं जीतेंगे। क्योंकि तुम्हारे भीतर तुम्हीं गहरे में हो, बुद्धपुरुष तो ऊपर-ऊपर हैं। ऊपर-ऊपर से कहते हो, सब कचड़ा है। और भीतर-भीतर जानते हो कि कहां ये बुद्धपुरुष, बुद्धुओं की बातों में मत पड़ जाना। दे मत बैठना कहीं! संभाल कर रख लो।

तुम्हारी दुविधा यह है कि न तुम बुद्धपुरुषों को इंकार कर पाते--इतना भी साहस नहीं, इतनी भी हिम्मत नहीं। शायद किसी गहरे तल पर तुम्हें यह भी समझ में आता है कि वे ठीक ही कह रहे हैं, क्योंकि ठीक तो वे कह ही रहे हैं। इसलिए तुम कितने ही अंधेरे में दबे हो लेकिन फिर भी कहीं भनक पड़ती है कि कुछ बात तो ठीक मालूम पड़ती है। फिर चाहे बात ठीक न भी मालूम पड़ती हो, वासनाओं में चित्त डूबा है। तो भी बुद्धपुरुषों की शांति, उनका आनंद, उनका रस देखकर तुम्हें लगता है, अगर ये गलत कहते होते तो इनके जीवन में गलत का परिणाम होना चाहिए था। परिणाम तो सही के दिखायी पड़ रहे हैं। और वृक्ष तो फल से जाना जाता न! तो बुद्धपुरुषों में जब तुम आनंद के फल लगे देखते हो, सच्चिदानंद के झरने बहते देखते हो, तो तुम्हें लगता है, ठीक तो वही कहते होंगे। हम कैसे ठीक हो सकते हैं? क्योंकि सिवाय जहर के कुछ हाथ लगता नहीं। सिवाय नर्क के कहीं पहुंचना होता नहीं। हीरे-जवाहरात अगर हमारे सच होते तो हम स्वर्ग में होते, हैं तो हम नर्क में। यह ठीक ही कहते होंगे। यह बात भी कुछ जंचती लगती है। और फिर भी तुम्हारा अपना जो अनुभव नहीं है--यह बुद्धपुरुषों का अनुभव तुम्हारी अपनी प्रतीति तो नहीं है--तुम इसे मान कैसे लो! तुम विश्वास कर लेते हो। बस विश्वास से अड़चन खड़ी होती है। यह अनुभव बनना चाहिए।

तुम मानने की जल्दी मत करो। तुम्हें जो कचड़ा नहीं दिखायी पड़ता, तुम कहो, अभी मुझे दिखायी नहीं पड़ता। आप कहते हैं, ठीक ही कहते होंगे, कोई कारण नहीं कि आपको गलत कहूं, क्योंकि आप जो जानते हैं मैं नहीं जानता; आप कहते हैं, ठीक ही कहते होंगे, लेकिन जहां तक मेरी समझ अभी काम करती है वहां तक मुझे ये हीरे-जवाहरात मालूम पड़ते हैं। इतनी ईमानदारी अगर तुम बरतो तो जल्दी ही तुम्हारे जीवन में क्रांति हो जाएगी। उधार ज्ञान को अपना मत समझो। बासी बातों को अपना मत समझो।

अब तुम कहते हो, मैं लौट-लौटकर अतीत की ओर देखता रहता हूं। यह व्यर्थ है, फिर भी आदती छूटती नहीं।

व्यर्थ होता तो छूट ही जाती। मैं कहता हूं व्यर्थ है, यह बात ठीक है। मेरी छूट गयी। व्यर्थ का बोध और आदत का छूटना साथ-साथ घटते हैं। व्यर्थ का बोध हो जाए, आदत न छूटे, ऐसा कभी हुआ ही नहीं। यह तो ऐसे ही हुआ कि मैं तुमसे कहूं यह दरवाजा है, इससे निकल जाओ, तुम कहो कि मालूम है दरवाजा यह है, लेकिन निकलूंगा तो मैं दीवाल से, पुरानी आदत! हालांकि सिर टकराता है, सिर में दर्द होता है, सिर खुल जाता है,

गिर पड़ता हूं पछाड़ खाकर, लेकिन क्या करूं! मालूम है कि यह दीवाल है और यह भी मालूम है कि इससे टकराने से पीड़ा होगी, निकलना हो नहीं सकता, लेकिन पुरानी आदत! क्या तुम ऐसा कहोगे? अगर तुम ऐसा कहो, तो दो में से कुछ एक ही बात सच हो सकती है। या तो तुम्हें दरवाजा दिखायी नहीं पड़ता कहां है, या तुम्हें दीवाल में ही दरवाजा दिखायी पड़ता है। लाख बुद्ध-महावीर, कृष्ण-क्राइस्ट चिल्लाते रहें कि दरवाजा यहां है, तुम लगाए क्यू खड़े दीवाल के सामने! तुम वहीं से निकलोगे। वहां सारी भीड़ भी खड़ी है। दरवाजे पर तो कभी कोई इक्का-दुक्का आदमी निकलता दिखायी पड़ता है, लोग तो दीवालों से टकरा रहे हैं।

तो पहली बात तो स्मरण करो कि यह तुम्हारी समझ नहीं है। और दूसरे की समझ से जीने की कोशिश करोगे तो बहुत मुश्किल में पड़ोगे। यह ऐसा ही है जैसे कोई दूसरे की आंख से देखने की कोशिश करे।

एक आदमी अंधा हो गया। चिकित्सकों ने बहुत कहा, इलाज करवा लो, आंख अभी ठीक हो सकती है। लेकिन उसने कहा, मैं अस्सी साल का हो गया और अब आंख का इलाज करवा कर भी क्या करना! साल-दो साल की बात है। आज गया, कल गया और फिर आंखों की कोई कमी है मेरे घर में! मेरी पत्नी की आंखें, मेरे आठ बेटे हैं उनकी सोलह आंखें, मेरी आठ बहुएं हैं उनकी सोलह आंखें, ऐसा सोलह-सोलह बत्तीस और दो चौंतीस आंखें मेरे घर में हैं। न हुईं दो आंखें तो क्या फर्क पड़ता है! बात तो बड़े अर्थ की कह रहा था बुड्ढा, लेकिन उसी रात झंझट हो गयी। घर में आग लग गयी। वे चौंतीस आंखें एकदम बाहर निकल गयीं। और वे दो आंखें जो अंधी थीं, बुड्ढा भीतर रह गया। तब उसे याद आया कि अपनी ही आंख हो तो समय पर काम पड़ती है।

बाहर पहुंच कर जरूर पत्नी चिल्लाने लगी, बचाओ मेरा पति भीतर रह गया, लेकिन जब लपटें उठ रही थीं तब तो वे भाग खड़ी हुईं। तब तो अपनी ही याद रही। इतने संकट में कहां पति, कहां पत्नी! इतने संकट में आदमी अपने को बचा ले, वही बहुत। बहुएं भी रोने लगीं, बेटे भी चिल्लाने लगे, बाहर भीड़ इकट्ठी हो गयी, लेकिन कोई भीतर आने की हिम्मत न करे और बूढ़ा द्वार-दरवाजों से टकरा-टकराकर जलने लगा। निकलने की कोशिश करते-करते मर गया।

आंख अपनी हो तो ही काम आती है। मेरी आंख तुम्हारे काम न आएगी। हां, अगर बातचीत करनी हो, सोच-विचार करना हो तो काम आ जाएगी। लेकिन जब जिंदगी में आग लगेगी, जब जरूरत पड़ेगी, तब तुम अचानक पाओगे वे काम नहीं आतीं। अपनी ही आंख ठीक करनी जरूरी है। बुद्ध ने आखिरी वचन अपने विदा के समय में कहा, "अप्प दीपो भव।" अपने दीये खुद बनो। क्योंकि जब बुद्ध मरने लगे और शिष्य रोने लगे तो बुद्ध ने कहा, तुम क्यों रोते हो? तो उन्होंने कहा, आप चले अब हमारा क्या होगा? बुद्ध ने कहा, मेरे होने से तुम्हारा क्या हुआ था? मैं था तो क्या हुआ? मैं जा रहा हूं तो क्या खो रहा है! अब इतनी ही बात खयाल रखो, जो मैंने जिंदगी भर तुमसे कही कि अपनी आंखें खोज लो। अब तक तो तुमने नहीं सुनी, अब सुन लो! क्योंकि अब मैं जा रहा हूं, अब कहनेवाला भी जा रहा है। अब मैं तुमसे लौट-लौटकर नहीं कहूंगा, अपनी आंखें खोज लो। अब तुम्हें पक्का पता चलेगा। अगर अभी तुम मेरे पीछे सरक-सरक कर चलते रहे, तुम्हें यह भ्रांति रही कि जैसे तुम्हारे पास आंखें हैं, अब मेरे जाने पर तुम्हें असलियत पता चल जाएगी। जिंदगी की दीवालें जगह-जगह तुम्हें रुकावट डालेंगी। जगह-जगह तुम गड्ढों में गिरोगे। अब तो अपनी आंख खोज लो।

तो पहली बात, तुमने शास्त्र पढ़ लिये हैं, शास्ताओं को सुन लिया, सुंदर वचन कंठस्थ कर लिये, लेकिन यह तुम्हारा अनुभव नहीं है।

दूसरी बात, आदमी अतीत की ओर देखता है, उसके पीछे महत्वपूर्ण कारण हैं। बच्चे भविष्य की ओर देखते हैं, जवान वर्तमान की ओर देखते हैं, बूढ़े अतीत की ओर देखते हैं। जिस दिन तुम अतीत की ओर देखने लगो, समझना कि बूढ़े होने लगे। बच्चों का लक्षण है, भविष्य की ओर देखना। बच्चों का कोई अतीत तो होता ही नहीं, देखेंगे भी तो क्या खाक देखेंगे। पीछे तो कुछ है नहीं। जो कुछ है, आगे है। अभी जिंदगी होनी है। अभी हुई तो नहीं। अभी कोई कहानी तो नहीं, बच्चे से कहो कि तुम्हारी आत्मकथा लिखो तो क्या खाक लिखेगा! वह कहेगा,

आत्मकथा यानी क्या? अभी कुछ हुआ ही नहीं तो कथा कहां से! अभी कोई घटना ही कहां घटी! जवान आदमी वर्तमान में देखता। जवानी ऐसा मदमस्त करती है कि कहीं और कहां देखे! अभी तो भोग लो, कल बचा न बचा। बूढ़ा आदमी पीछे की तरफ देखने लगता है, क्योंकि अब आगे तो मौत है और कुछ भी नहीं, अंधेरा। पीछे बहुत कुछ हुआ है, आत्मकथा है, बड़ी घटनाएं घटी हैं--राग-रंग भी थे, सुख-दुख थे, लंबी यात्रा है। वह पीछे का मार्ग लौट-लौट कर देखने लगता है।

तो पहली बात तुमसे कहना चाहता हूं, अगर लौट-लौट कर अतीत की ओर देखने लगे हो तो तुम बूढ़े हो रहे हो। यह वार्द्धक्य का अनिवार्य लक्षण है। बूढ़ा आदमी शरीर से नहीं होता, बूढ़ा आदमी चित्त से होता है। और चित्त का यह लक्षण है, जब आदमी बूढ़ा होने लगता है तो पीछे देखता है। बूढ़े बैठे-बैठे पीछे की स्मृतियों में डूबे रहते हैं। जो-जो उन्होंने किया, जो-जो हुआ। और जो-जो किया उसको खूब बढ़ा-बढ़ाकर देखते हैं, ऐसा भी नहीं कि कुछ उतना ही देखते हैं जितना हुआ। अब जब देख ही रहे हैं और अकेले ही देख रहे हैं और अपनी ही फिल्म है और अपना ही पर्दा है और अपने ही दर्शक हैं, फिर क्या कंजूसी करनी! खूब बढ़ा-बढ़ाकर देखते हैं। और उसमें डूबते हैं।

मौत करीब आने लगी, अब तुम्हारे पास जिंदगी के नाम पर सिर्फ पुरानी स्मृतियों का ढेर रह गया है। और तुम्हारे पास अब एक ही उपाय मालूम होता है जिंदा बने रहने का कि इसको पकड़ लो, जो चला गया इसको पकड़े रहो।

प्राणहीन पादप से
लिपट गयी लता
अतीत से कितनी
आगत को ममता

सूखे वृक्ष से भी लता लिपटी रहती है। सहारा! अब और कोई सहारा तो दिखायी नहीं पड़ता। आगे तो सिर्फ अंधकार है। भीतर अंधकार है। अब तो एक ही रोशन बात मालूम पड़ती है, यह अतीत की लकीर जिस पर तुम गुजर आए, यह रास्ता जो बीत चुका, जो अब कभी होगा नहीं, जो हो चुका। अब इन्हीं संजोयी स्मृतियों के फूलों को, सूखे फूलों को सजाकर बैठे हो। इन्हीं को पकड़े हो।

प्राणहीन पादप से
लिपट गयी लता
अतीत से कितनी
आगत को ममता

मुर्दा है यह सब, लाश है यह सब। कभी-कभी ऐसा हो जाता है, बंदरिया अपने बच्चे को लेकर घूमती रहती है, छाती से लगाए। बच्चा मर जाता है तो भी घूमती रहती है। कुछ दिन लग जाते हैं, जब बच्चा सड़ जाता है और बास उठने लगती है, तब छोड़ती है घबड़ाकर। नहीं तो मुर्दा ही को लटकाए रखती है! पुरानी आदत।

अतीत तो मुर्दा है, जा चुका। हो चुका। धूल है। राख है, अंगारा तो बुझ चुका। अब इस राख को मत सेजे रहो, मत सजाए रहो। इस राख में उलझे रहे, तो आगे देखने के लिए जो आंख चाहिए, जो कि बड़ी जरूरी है, क्योंकि मौत सामने आ रही है, देखने का मौका आ रहा है। यह बड़ा अंधेरा उतरनेवाला है, बड़ी आंखों की जरूरत पड़ेगी। अब यह समय मत खोओ पुरानी स्मृतियों में। अब तो जरा आगे--अभी आगे देखने का कुछ अर्थ है। बच्चे तो आगे देखते हैं, वह स्वाभाविक है, उसका कोई मूल्य नहीं है। जवान वर्तमान में देखते हैं, वह स्वाभाविक, उसका भी कोई मूल्य नहीं है। बूढ़े पीछे देखते हैं, वह स्वभाविक, उसका भी कोई मूल्य नहीं है।

अब तुम समझो। अगर कोई बच्चा पीछे देखने लगे तो क्रांति घट जाती है। इसलिए कथा कहती है कि लाओत्सू बूढ़ा पैदा हुआ। क्योंकि वह पीछे देखता हुआ पैदा हुआ। कुछ बच्चे पैदा होते हैं जो पीछे देखते पैदा होते हैं। ऐसे ही बच्चों ने तो दुनिया को यह खयाल दिया कि अनेक-अनेक जन्म हैं पीछे। जो बच्चे पीछे देखते पैदा होते हैं, वही तो खबर लाते हैं इस दुनिया में कि पहले और भी जन्म हुए हैं। हम नये नहीं हैं, आगंतुक नहीं हैं, बहुत

पुराने हैं, प्राचीन। जिनको पिछले जन्मों की स्मृति रह जाती है, वे बच्चे पीछे देखते पैदा होते हैं। जो बच्चा पीछे देखता पैदा होता है, अनूठा है। जो जवान आगे-पीछे देखने में समर्थ होता है, वह अनूठा है। क्योंकि जवान तो सिर्फ क्षण को देखता है। जो है अभी। कर लो, गुजर लो, जो होगा होगा, देखा जाएगा। जवान तो वर्तमान में अंधा होता है। जो जवान आगे-पीछे देखने लगे, उसके जीवन में विवेक का जन्म होता है। और जो बूढ़ा आगे देखने लगे, वह मृत्यु के पार हो जाता है, अमृत को पा लेता है।

देखने की क्षमता तो वही है, दिशा बदलो। बुढ़ापे में बच्चे जैसे हो जाओ। यही तो जीसस कहते हैं कि जो बच्चों जैसे हैं वे उपलब्ध हो जाएंगे प्रभु को। यही तो अष्टावक्र कहते हैं, बालवत हो जाओ। क्या मतलब है? यह बालवत शब्द के इतने मतलब हैं कि जिसका हिसाब नहीं। उन बहुत मतलबों में एक मतलब यह भी है--अलग-अलग बार मैं अलग-अलग मतलब तुमसे कहता हूं, क्योंकि वह सब मतलब इस छोटे से शब्द में समाए हैं। यह भी मतलब है--बच्चे जैसे हो जाओ। अगर कोई बूढ़ा बच्चे जैसा हो जाए तो उसका अर्थ हुआ, बूढ़ा आगे देखने लगा। पीछा तो गया, गया सो गया। बिसरा सो बिसरा, अब उसको क्या समेटना? अब वह आगे देखने लगा। अगर कोई बूढ़ा बच्चे-जैसा आगे देखने लगे तो मौत के पार देख लेगा, अमृत को उपलब्ध हो जाएगा। अगर कोई बच्चा बूढ़े-जैसा पीछे देखने लगे तो वह जन्म के पार देख लेगा। और अतीत जन्मों की स्मृति को उपलब्ध हो जाएगा। अगर कोई जवान आगे-पीछे देख ले तो वासना-मुक्त हो जाएगा, संन्यस्त हो जाएगा। आगे-पीछे देख ले तो पाएगा, क्या रखा है? न पीछे कुछ था--जब तुम छोटे बच्चे थे तो वासना का क्या मूल्य था? महत्वाकांक्षा का क्या मूल्य था? धन का क्या मूल्य था? पद-प्रतिष्ठा का क्या मूल्य था? अगर जवान पीछे देख ले और आगे देख ले--एक दिन फिर कुछ मूल्य न रह जाएगा, फिर मौत आएगी सब पोंछ जाएगी--न पहले कुछ मूल्य था, न आगे कुछ मूल्य है, तो अभी मूल्य कैसे हो सकता है! तो धोखा हो रहा है।

क्रांति घटती है जब तुम सामान्य से हटकर कुछ करने में सफल हो जाते हो।

रूप ढला
रस बहा
संग लगा
रंग रहा

सब ढल जाता है, सब नष्ट हो जाता है, लेकिन रंग लगा रह जाता है। जैसे बगीचे से गुजरे, बगीचा तो गुजर गया लेकिन वस्त्रों में थोड़ी बगीचे की सुगंध अटकी रह जाती है। ऐसी स्मृतियां हैं।

खिलौने टूटते हैं, मरते नहीं
मां ने कहा,
पर बालक रोता रहा

बच्चे का तो खिलौना भी टूट जाए तो वह रोता है। जैसे कोई मृत्यु घट गयी। बच्चे का खिलौना टूट जाए तो रोता है, और ज्ञानी वस्तुतः मौत घट जाए, खुद भी मर जाए तो भी नहीं रोता है, आंख पर आंसू नहीं आते हैं। बच्चे को खिलौने में भी लगता है मौत घट गयी और ज्ञानी को वास्तविक मौत में भी लगता है--मौत कैसे घट सकती है!

रति
भोगी की मति
योगी की गति

वही है ऊर्जा, अलग-अलग तो नहीं। रति--यह जो काम है, मन की वासना है। भोगी की मति--इसी कामना में भोगी का मन डूबता रहता है। डुबकियां लगाता रहता है। अब जो तुम कर भी नहीं सकते, उसकी कल्पना में डूबे हो। जो हो भी नहीं सकता, उसकी योजना बना रहे हो। शेखचिल्लीपन छोड़ो।

रति
भोगी की मति

योगी की गति

और योगी यह समझकर कि जो हुआ वह भी व्यर्थ था, सपने जैसा आया और गया, अब उसमें क्या रखा! जब था तब भी सपना था, समझदार को। और नासमझ को, जब नहीं है तब भी सच मालूम हो रहा है। तो जिस रति में भोगी डूब जाता, बंध जाता, उसी रति को समझकर योगी गतिमान हो जाता।

रति विरति बने
यही काम्य,
आवृत्ति बने,
यह कामना

और फिर-फिर वही कर लूं जो किया, ऐसी आवृत्ति की आकांक्षा का नाम ही कामना है। जो एक बार कर लिया, ठीक से कर लिया, देख लिया, समझ लिया, उससे सदा के लिए मुक्ति हो जानी चाहिए। लेकिन फिर-फिर करूं, इसका मतलब है कि ठीक से किया नहीं।

तो मैं तुमसे कहता हूं, बूढ़े तुम हो गये होओगे लेकिन तुम ठीक से जवान न रहे। तुमने जो किया वह ठीक से न किया। अधूरा-अधूरा किया। अटका-अटका रह गया। अपूर्ण रह गया। मन उसे पूरा करने के लिए आतुर है। इसलिए अब कल्पना में पूरा कर रहा है। जिसे तुम कर रहे हो उसे ठीक से कर लो। यह मेरी बुनियादी धारणाओं में एक धारणा है कि तुम जो कर रहे हो उसे ठीक से कर लो, जल्दबाजी कुछ भी नहीं है, फल पकेगा तो गिरेगा। तुम कच्चे गिराने की चेष्टा मत करो।

अब ऐसा लगता है कि जिन्होंने पूछा है, धार्मिक आदमी मालूम होते हैं। तो जब जवान रहे तो जो भूल-चूकें करनी थीं--क्योंकि करने से ही कोई उनसे पार होता है--वह नहीं कर पाए। जवानी में शास्त्र पढ़ते रहे होंगे, मंदिर में बैठे रहे होंगे। अब बुढ़ापे में जब ऊर्जा चली गयी, जीवन क्षीण होने लगा और घबड़ाहट पकड़ने लगी कि मौत के पदचाप सुनायी पड़ने लगे, तो अब बार-बार खयाल आ रहा होगा कि जो नहीं कर पाए, वह कर ही लेते। पता नहीं मौत के बाद बचते कि नहीं बचते। अब कल्पना में हिसाब चल रहा है।

आदमी रोता ही रहता। करता है तब रोता है, फिर जब करने के दिन चले जाते हैं तब रोता है। मनोवैज्ञानिक कहते हैं कि लोग किस-किस भांति अपने को धोखा देते हैं, आश्चर्य होता है देखकर। तुमने खयाल किया, सभी लोग कहते हैं कि बचपन बड़ा सुंदर था। वे बचपन के दिन! मगर बचपन सुंदर? बच्चों से पूछो, तो बच्चे बहुत जल्दी बड़े होने में उत्सुक हैं। बच्चे चाहते हैं, कैसे बड़े हो जाएं। कब छुटकारा मिले इस बचपन से। क्योंकि बच्चों को अनुभव होता है कि बचपन सिवाय दमन के, परतंत्रता के और क्या है? छोटा बच्चा मां से कहता है, जरा बाहर हो आऊं? मां कहती है, नहीं बाहर मत जाना। कोई बड़ी बात नहीं पूछी थी, बाहर धूप निकली है, सूरज निकला है, तितलियां उड़ रही हैं, बच्चे खेल रहे, वह बाहर जाना चाहता है, मां कहती है नहीं। इतनी भी स्वतंत्रता नहीं! बच्चा सोना नहीं चाहता अभी और मां कहती है, सो जाओ क्योंकि घर में मेहमान आए हुए हैं। अब नींद आ नहीं रही है, उसको जबरदस्ती बिस्तर में दबा दिया गया है। सुबह जब वह उठना नहीं चाहता और नींद आ रही है, तब उसे खींचा जा रहा है। स्कूल कौन बच्चा जाना चाहता है! उसे भेजा जा रहा है। और तुम इसको कहते हो कि बचपन के दिन बड़े सुंदर थे! बच्चों से पूछो! बच्चे जल्दी बड़े होना चाहते हैं, कैसे बड़े हो जाएं!

एक छोटे बच्चे को उसकी मां पालक की सब्जी खिला रही है। और वह बच्चा रो रहा है और उसकी आंख में आंसू बह रहे हैं और वह कह रहा है कि भगवान ने पालक में ही क्यों सब विटामिन रखे! आइसक्रीम में रखता तो क्या कोई खराबी थी? जब विटामिन ही रखने थे तो आइसक्रीम में रख देता। मगर उसकी मां कह रही है, बेटा, खा तो तू मजबूत हो जाएगा। तो वह कह रहा है, ठीक है, खा लेता हूं, इसीलिए खा रहा हूं कि मजबूत हो

जाऊं ताकि कोई मुझे फिर पालक न खिला सके। इतना मजबूत होना है कि पालक कोई फिर न खिला सके दुबारा।

बच्चे तो किसी तरह छुटकारा पाना चाहते हैं, कैसे छुटकारा हो इस कारागृह से। लेकिन बड़े होकर यही बच्चे कहने लगते हैं कि बचपन के दिन बड़े सुंदर थे। हो क्या जाता है? आदमी अपने को धोखा देता है। जो है, वह तो सुंदर नहीं है। तो कहीं सांत्वना तो चाहिए।

तो दो ही तरह की सांत्वनाएं हैं आदमी को--या तो पीछे कहो कि सुंदर था, या कहो आगे सुंदर हो जाएगा। आज तो सदा असुंदर है। अभी तो दुख ही दुख है। तो कहीं तो सुख चाहिए। झूठा ही सही, मगर कुछ तो ख्याल रहे कि हमने भी सुख पाया। तो पीछे सुख था, बचपन में सुख था, आगे सुख है। दुनिया में दो ही तरह के लोग हैं। और दो ही तरह के धर्म हैं। और दो ही तरह की समाज-विचार की परंपराएं हैं। हिंदू, जैन, बौद्ध, वे सब कहते हैं कि स्वर्णयुग बीत चुका, सतयुग बीत चुका, पहले हो चुका, अब नहीं होनेवाला, अब तो दुख ही दुख है। कम्यूनिजम, फासिजम, इस तरह की धारणाएं कहती हैं, सतयुग आने वाला है, होनेवाला है, अभी हुआ नहीं। हिंदू कहते हैं, रामराज्य हो चुका। कम्यूनिस्ट कहते हैं, रामराज्य होने वाला है। अच्छी दुनिया आनेवाली है, उटोपिया अभी होगा। बस यह दो ही तरह की धारणाएं हैं।

हिंदू, जैन, बौद्ध बूढ़े हैं। बड़ी पुरानी धारणाएं हैं, ये बूढ़ी हो गयीं, ये पीछे देखती हैं। कम्यूनिजम अभी बच्चा है, अभी भविष्य में देख रहा है। मगर दोनों एक से भ्रांत हैं। क्योंकि कहीं भी तुम अपने सुख को रख लो--अतीत में या भविष्य में--तुम धोखा दे रहे हो। जीवन में जो कड़वाहट है, उससे बचो मत, उसे भोगो, उसके प्रति जागो। जो आज है, उसे भर नजर देखो। न तो पीछे अपने मन को भरमाओ, न आगे अपने मन को भरमाओ। मन को भरमाओ ही मत। सांत्वनाएं मत खोजो। सत्य को देखो। क्योंकि सत्य से ही सुख जन्म सकता है, सांत्वनाओं से नहीं।

बीत गये
प्यारे रतनारे दिन बीत गये
रीत गये
आंखों के खारे छिन रीत गये
अरुणाए अधरों के
मखमल से चुंबन ने
मोड़ दिया पाल
काजल की डोरी से
बंधी-बंधी मछली ने
छोड़ दिया ताल
द्वारे पर
बहरे हरकारे बिन गीत गये
बीत गये
प्यारे रतनारे दिन बीत गये
रीत गये
आंखों के खारे छिन रीत गये

लोग रो रहे हैं। सब बीत गया। सुख बीता, शांति बीती, सौंदर्य बीता, स्वास्थ्य बीता, सब बीता। मत इसमें पड़े रहो। तुम कहते हो, यह व्यर्थ है; मैं तुमसे कहता हूं, जानो यह व्यर्थ है। यह शक्ति मत खोओ। यही शक्ति ध्यान बन सकती है। यही ऊर्जा जो तुम आंख बंद करके अतीत के सपनों में लगा रहे हो, यही शक्ति निर्विचार बन सकती है। यही शक्ति प्रार्थना-पूजा बन सकती है। या तो इसे प्रार्थना बनाओ, या इसे ध्यान बनाओ। क्योंकि प्रार्थना और ध्यान से ही तुम उसे पाओगे जो सुख है, जो महासुख है। और किसी तरह किसी आदमी ने कभी सुख न पाया है, न पा सकता है। लेकिन कुछ भी तुम करो, ऊर्जा तो व्यय होती है, शक्ति तो नष्ट

होती है। और यह बड़ी व्यर्थ की बात है। बैठे हैं, सोच रहे हैं। यह व्यर्थ की बात है, लेकिन तुम्हें अभी दिखायी नहीं पड़ी इसलिए आदत छूटती नहीं है। मेरे कहने से मत मान लेना कि व्यर्थ की है, तुम खुद की सोचो, खुद ही ध्यान करो, खुद ही विमर्श करो। यह व्यर्थ तो है ही, इससे सार क्या है? जो कभी हुआ था, उसको लेकर क्यों बैठे हो? उसकी क्यों राशि लगा रहे हो? अब तो दोहर भी नहीं सकता, फिर तो हो भी नहीं सकता, जो गया गया। इस जगत में कुछ भी पुनरुक्त नहीं होता। समय लौटकर आता नहीं। अब क्यों बैठे हो? अब यह हिसाब-किताब बंद करो, यह बही-खाते जलाओ।

ठीक-ठीक व्यक्ति अगर जीए तो रोज-रोज अपने अतीत से मुक्त होता जाता है। अतीत की धूल को चित्त के दर्पण पर जमने मत दो, नहीं तो दर्पण में दर्पणपन न रह जाएगा। धूल ही धूल जम जाएगी। धूल को झाड़ दो, ताकि दर्पण स्वच्छ हो जाए। उसी स्वच्छ दर्पण में तो सत्य का प्रतिबिंब मिलने वाला है।

आदत टूटती नहीं, तुम कहते हो। आदत को समझो बजाय तोड़ने की चेष्टा के। कोई आदत तोड़ने से नहीं टूटती है, समझने से टूटती है। कोई सिगरेट पीता है, वह कहता है, आदत छोड़नी है। आदत छोड़ने का सवाल नहीं है, यह समझो कि यह व्यर्थ है। इसे पहचानो। इस पर ध्यान करो।

मेरे पास कोई आता है सिगरेट पीने वाला, वह कहता है, छोड़नी है, बहुत कोशिश कर चुका, बीस साल हो गये, कई दफे छोड़ी भी, एकाध दिन, दो दिन बहुत खींच पाता हूं, फिर नहीं होता। और वह दो दिन इतने कष्ट में बीतते हैं कि फिर ऐसा लगता है कि इतने कष्ट में जीने का तो कोई सार ही नहीं है। इससे तो पी ही लो। चलो ठीक है, टी.बी. होगी, कैंसर होगा, जब होगा होगा, अभी तो कोई हुआ नहीं जा रहा है।

तो मैं उनसे कहता हूं, तुम छोड़ने की चेष्टा मत करो, कोई आदत छोड़ने से नहीं छूटती, तुम आदत को समझो। मैं उनसे कहता हूं, जब तुम सिगरेट पीओ तो बड़े ध्यानपूर्वक पीओ। जल्दबाजी न करो, बहुत आहिस्ता से पैकेट से निकालो, एक दफे ठोंकते हो तो सात दफे ठोंको उसे माचिस की डिब्बी पर, और बड़े धीरे-धीरे ठोंको, बड़े रस लेकर ठोंको, इसे पूजा का कृत्य समझो, इसे जल्दी मत करो। फिर आहिस्ता से मुंह पर लगाओ, आईना रखकर बैठो, उसमें देखो क्या कर रहे हो, फिर माचिस जलाओ, फिर धीरे-धीरे धुआं खींचो, फिर देखो भीतर कि क्या हो रहा है--धुआं भीतर ले गये, आनंद आ रहा है कि नहीं आ रहा है, सच्चिदानंद की बरसा हो रही है कि नहीं हो रही है। इसको पहचानने की कोशिश करो। आदत छोड़ने का क्या सवाल है! कहां मजा आ रहा है, किस वक्त मजा आता है, धुआं कहां होता है तब कुंडलिनी जागती है, कब सहस्त्रदल कमल खिलते हैं, कब, कहां हृदय के द्वार में गुदगुदी होती है, जरा देखते रहो। फिर धुएं को बाहर निकालो, दर्पण में देखो और सोचो। दिन में तीन दफे पीते हो, छः दफे पीओ। और छः दफे यह पूरा का पूरा उपक्रम करो।

तुम धीरे-धीरे पाओगे कि तुम्हें अपनी मूढ़ता दिखायी पड़ने लगी। तुम बहुत जड़बुद्धि मालूम पड़ोगे। यह तुम कर क्या रहे हो? और तुम यह भी बड़े चकित होकर हैरान होओगे कि आनंद कहीं भी मिलता नहीं, किसी स्थिति में नहीं मिलता। न ओंठ पर लगाने से, न धुएं को भीतर लेने से। कभी-कभी खांसी जरूर आती है, कभी-कभी आंख में आंसू भी आ जाते हैं, कभी-कभी कफ और बलगम पैदा होता है और तो कुछ होता नहीं। इसे तुम देखो।

तुम्हारी गड़बड़ क्या है? तुम इसे छोड़ना चाहते हो! क्योंकि कोई कहता है टी.बी. हो जाएगी, क्योंकि कोई कहता है कैंसर हो जाएगा। कैंसर और टी.बी. होने के डर से तुम नहीं छोड़ने वाले हो। अमरीका में उन्होंने पैकेट पर लिखना शुरू कर दिया कि सरकार ने तय किया है कि सिगरेट पीना स्वास्थ्य के लिए हानिकर है। पहले तो लोगों ने सोचा कि इसको डिब्बे पर लिखेंगे सिगरेट के तो सिगरेट की बिक्री बंद हो जाएगी। तीन-चार सप्ताह बिक्री कम भी हुई। फिर बिक्री वैसी की वैसी हो गयी। अब लोग उससे भी आदी हो गये। ठीक है। तुम बिलकुल लिख दो कि सिगरेट से मरना भी हो जाएगा तो भी कोई खास फर्क नहीं पड़ेगा। बल्कि शायद कई लोग जो कि मरने को उत्सुक हों और ज्यादा पीने लगें कि चलो ठीक है। जीने में रस ही किसको है! जीने में मिल क्या रहा है! जीने में ऐसा कौन-सा उत्सव घट रहा है कि तुम मरने से किसी को डरा सको!

मुल्ला नसरुद्दीन शराब पीता है। एक डाक्टर ने उससे कहा कि अब तुम बंद कर दो बड़े मियां, अन्यथा मरोगे! तो उसने कहा कि आप मुझे पक्का कह सकते हैं कि अगर मैं शराब पीना बंद कर दूं तो कभी न मरूंगा? यह तो हम भी नहीं कह सकते! तो उसने कहा, जब शराब पीने वाले भी मरते हैं, न पीने वाले भी मरते हैं, तो फर्क क्या है? और फिर मैं तुमसे एक बात कहता हूं, कि मैंने ज्यादा बूढ़े शराबी देखे हैं बजाय बूढ़े डाक्टरों के। यह बात भी सच है। तुम जाकर खोज कर लो। तुम्हें बूढ़े डाक्टर शायद ही मिलें कि सौ साल बूढ़े डाक्टर। सौ साल बूढ़ा शराबी मिल सकता है। तो नसरुद्दीन ने कहा फिर ऐसे जब मरना ही है, तो पी-पीकर मरेंगे, फिर सार क्या है, जब सभी मर जाएंगे, अच्छे और बुरे भी।

नहीं, यह बातों से कोई छोड़ता नहीं। आदतें ऐसे नहीं बदलतीं। ये सब झूठी बातें हैं। तुम तो आदत को देखो। दुनिया की मत सुनो कौन क्या कहता है, आदत को ही देखो। आदत में ही उतरकर देखो कि मैं क्यों पी रहा हूं? अगर तुम कोई भी कारण न पाओगे तो तुम्हें अपनी मूढ़ता दिखायी पड़नी शुरू हो जाएगी।

एक युवक सिगरेट पीता है। उसने मुझसे पूछा। तो मैंने कहा, तू ऐसा ध्यान कर। और मुझे आकर बता कि तू इस सारे ध्यान के बाद क्या नतीजा लेता है, यह क्यों तेरे भीतर है? उसने बहुत--कोई पांच-छः सप्ताह--जैसा मैंने कहा, वैसा ही किया, फिर तो वह घबड़ाने भी लगा। क्योंकि यह तो बिलकुल पागलपन है! तुम बिना जाने किये जाते हो, बिना ध्यान किये जाते हो, सब चलता है! लेकिन जब तुम होशपूर्वक करते हो...।

तो उसने मुझे कहा कि मुझे ऐसा लगता है कि यह आदत मेरी बचपन से पड़ गयी, क्योंकि मैं अंगूठा पीता था। और देर तक अंगूठा पीता रहा और जबरदस्ती करके मुझसे अंगूठा छुड़वाया गया। और कुछ-न-कुछ मुझे मुंह में डालना चाहिए, वह अंगूठे की ही मुझे याद आती है बार-बार जब मैं ध्यान करता हूं। आप कहते हैं ध्यान करो, तो मैं कर रहा हूं आईना रखकर, मुझे यह बात खयाल में आनी शुरू हुई, अचेतन से यह बात मेरे उठी कि अंगूठा पीने की वजह से।

तो मैंने कहा बस, अब तुझे सूत्र मिल गया, अब तू आज से अंगूठा पी। उसने कहा, आप क्या कहते हैं, लोग क्या कहेंगे! लोगों की फिकिर छोड़। लोगों के कहने से लेना-देना क्या है! निर्णय तेरे और परमात्मा के बीच होना है, लोगों और तेरे बीच नहीं। उसने कहा, क्या उससे सिगरेट छूट जाएगी? मैंने कहा, मैं कुछ कहता नहीं; पहले तू अंगूठा पीना शुरू कर।

लेकिन उसने एक सप्ताह अंगूठा पीआ और सिगरेट छूट गयी। अब उसने कहा, यह एक और झंझट अब आपने पकड़ा दी, अब यह अंगूठा! सिगरेट तो कम-से-कम ऐसी थी थोड़ी सामान्य थी, अब यह अंगूठा अगर मैं कहीं वक्त-बेवक्त पीने लगूं किसी के सामने, तो इस उम्र में जंचेगा नहीं।

सिगरेट परिपूरक है, अधिक लोगों को अंगूठा पीने की आदत थी। या, मां का स्तन जल्दी छुड़ा लिया गया है। जब वह छोड़ना नहीं चाहते थे। और सिगरेट में थोड़ा मां के स्तन का संबंध बड़ा गहरा है। सिगरेट का जो धुआं है, गर्म धुआं, वह मां के गर्म दूध की स्मृति को जगाता है। और कुछ भी नहीं है सिगरेट में। वह जो गर्म धुआं है, वह गर्म दूध की धार की बड़ी दूर की ध्वनि है। और सिगरेट को मुंह में रख लिया तो जैसे स्तन को मुंह में रख लिया। बचपन में स्तन जल्दी छुड़ा दिया गया है, या अंगूठा पीना जल्दी छुड़ा दिया गया है। अंगूठा भी स्तन का परिपूरक है। बच्चा क्या करे, जब वह स्तन मुंह में चाहता है, मां देने को राजी नहीं तो अंगूठा दे लेता है। कोई परिपूरक तो खोजना ही पड़ेगा। कोई सब्स्टीटयूट तो करना ही पड़ता है।

अब जब यह व्यक्ति सिगरेट की आदत पर ध्यान करना शुरू किया, तब इसे यह सब बात दिखायी पड़नी शुरू हुई। मैंने कहा, तू फिकर छोड़, तू अंगूठे को पी ही ले दिल भरकर। और अब तू अंगूठे पर ध्यान करना शुरू कर। सिगरेट छोड़ना कठिन था, क्योंकि सिगरेट से निकोटिन खून में जाता है और निकोटिन शरीर की आदत बन जाती है। अंगूठा छोड़ना सरल हुआ। एक दफा सिगरेट गयी, उसकी जगह अंगूठा आया--अंगूठे में कोई जहर

नहीं है, कोई निकोटिन नहीं है। सच तो यह है, कोई अंगूठा पीए तो उसको कभी अनादर मत करना। सिगरेट की अप्रतिष्ठा होनी चाहिए, अंगूठा तो बिलकुल ही निर्दोष है। और अपना ही अंगूठा पी रहे हैं, किसी दूसरे का भी नहीं पी रहे हैं। इतनी स्वतंत्रता तो मनुष्य को होनी ही चाहिए।

वह गया, अंगूठा पीना गया, क्योंकि उसमें तो कोई जड़ता है ही नहीं। वह तो बात खतम हो गयी, एक दफा बोध हो गया, बात खतम हो गयी।

तुम आदत छोड़ने में उतनी उत्सुकता मत लो जितनी आदत को समझने में। क्योंकि समझ से ही आदत छूटती है।

चौथा प्रश्न: मन और विचार में क्या फर्क है? कल आपने कहा कि विचार से ही कृत्य बनते हैं और आप यह भी कहते हैं कि सब कुछ घटित होता है। तो इस होने और वैचारिक कृत्य में--विचार से घटित होनेवाले कृत्य में--क्या अंतर है? समझाने की अनुकंपा करें।

मन और विचार में क्या फर्क है? विचार तरंग है, मन सारे तरंगों का जोड़। विचार घटक है, मन सारे विचारों का संग्रहीत प्रवाह। ऐसा ही, जैसे कोई पूछे कि जंगल और वृक्ष में क्या भेद है? तो हम कहेंगे, सारे वृक्षों का जोड़ जंगल है। अगर तुम एक-एक वृक्ष को अलग करते जाओ तो ऐसा नहीं है कि जब तुम सब वृक्ष अलग कर लोगे तो पीछे जंगल बचेगा। कुछ भी नहीं बचेगा।

बड़ी पुरानी बौद्ध कथा है। मिलिंद नाम के यूनानी सेनापति ने बौद्ध भिक्षु नागसेन का निमंत्रण किया है, राजदरबार में। और वह बड़ी उत्सुकता से प्रतीक्षा कर रहा है कि नागसेन आए। और नागसेन आया। उसे रथ भेजा था, वह रथ पर बैठकर आया। और जब नागसेन उतरा--तो नागसेन की देशनाओं में सबसे बड़ी देशना थी वह यही थी कि मनुष्य है नहीं, केवल जोड़ है--उतरते से ही, नागसेन जब उतरा और मिलिंद ने उसका स्वागत किया तो मिलिंद ने कहा, भिक्षु नागसेन, हम आपका स्वागत करते हैं, आप राजमहल में पधारें। तो नागसेन ने कहा, मैं आ तो गया हूं, लेकिन यह निवेदन कर दूं कि मैं हूं नहीं। नागसेन सिर्फ एक नाम मात्र है, जैसे जंगल। कुछ चीजों का जोड़। शरीर, विचार, आदतें, संस्कार, इन सबका जोड़। मैं हूं नहीं।

मिलिंद तो यूनानी था--मीनांडर उसका यूनानी नाम है, मिलिंद भारतीय नाम। सिकंदर जिन सेनापतियों को भारत छोड़ गया था, उसमें से एक सेनापति। यूनानी तो अरस्तू के अनुयायी हैं, तर्क पर उनका बड़ा भरोसा है। उसने कहा, यह क्या फिजूल की बात करते हैं कि आप आ गये और हैं भी नहीं। हैं भी नहीं तो आए कैसे? हैं भी नहीं तो आया कौन? मगर नागसेन तो बड़ा अदभुत व्यक्ति था। उसने कहा कि ऐसा करें, भीतर हम पीछे जाएंगे, यह निर्णय पहले हो ले। यह रथ है? मिलिंद ने कहा, रथ है। तो उसने कहा, नौकरों को आज्ञा दें घोड़े अलग कर लें। घोड़े अलग कर लिये गये। उसने पूछा, अब भी रथ है? मिलिंद ने कहा, अब भी रथ है। उसने कहा, अब चक्के भी अलग कर लें। चक्के भी अलग हुए। तब मिलिंद थोड़ा चिंतित हुआ। उसने पूछा, अब भी रथ है? उसने कहा, अब है तो मगर अब हालत खराब हुई जा रही है रथ की! अब यह नाम को ही रथ है। अब और चीजें निकाल लीं तो सब गड़बड़ हो जाएगा। तो उसने कहा, मैं जब सब चीजें निकाल लूंगा तो पीछे रथ बचेगा? मिलिंद को बात समझ में आयी। रथ तो केवल जोड़ है। और नागसेन ने कहा, तू बोल, रथ आया कि नहीं। और रथ है या नहीं? मैं तुझसे कहता हूं, रथ आया भी और रथ है भी नहीं। रथ केवल जोड़ है। संज्ञा मात्र।

मन केवल जोड़ मात्र है। मन कुछ है नहीं--रथ--पहिये अलग कर लो, घोड़े अलग कर लो, धुरी अलग कर लो, अस्थिपंजर तोड़कर अलग-अलग कर लो, तो पीछे कुछ बचता नहीं।

तुम पूछते हो, मन और विचार में क्या फर्क है?

बस वही फर्क है जो जंगल और वृक्ष में। वृक्षों जैसे हैं विचार। और वृक्षों का जो संग्रहीत जमघट है, उसका नाम मन है। इसीलिए तो हम कहते हैं, जो व्यक्ति धीरे-धीरे विचारों का त्याग करता जाए, निर्विचार होता जाए, अंतिम घड़ी में अ-मन की दशा को उपलब्ध हो जाता है, नो माइंड।

"और कल आपने कहा कि विचार से ही कृत्य बनते हैं।"

निश्चित ही। विचार बीज है। विचार आधा कृत्य है। तुम्हारे भीतर एक विचार उठा, करने की भावना ही तो विचार है। तुमने सोचा कि एक बड़ा मकान बनाएं। अभी यह विचार है, लेकिन यह विचार के पीछे अगर तुम पड़ जाओ, तो बड़ा मकान बनेगा। तुमने अभी सोचा कि इस आदमी को मार डालें, यह अभी विचार है, लेकिन अगर यह बार-बार पुनरुक्त होता रहे और तुम्हारे भीतर जड़ीभूत होता जाए, तो एक न एक दिन इसमें अंकुर निकलेंगे। तुम इस आदमी को मार डालोगे।

दॉस्तॉवस्की की प्रसिद्ध कहानी है: क्राइम एंड पनिशमेंट। उसमें एक युवक है, जो एक बूढ़ी औरत के घर के सामने रहता है। वह बूढ़ी औरत बहुत बूढ़ी है। और गांव की सबसे बड़ी धनी है। और गांव में सारे लोगों को चूस रखा है। गिरवी रखने का काम करती है। उसे दिखायी भी नहीं पड़ता, अस्सी साल की हो गयी है। वह युवक सामने ही रहता है, वह कई दफे ऐसे ही बैठे-बैठे सोचता है कि यह बूढ़ी मर क्यों नहीं जाती है! इसके होने से जरूरत भी क्या है! अब इसके होने से सार भी क्या है! न इसके कोई आगे, न कोई पीछे। यह क्यों गांव भर की जान लिये ले रही है! और गांव भर उससे परेशान है। इसलिए यह विचार बिलकुल स्वाभाविक है। कई दफे उसके मन में विचार उठता है, कि विद्यार्थी भूखे मर रहे हैं, फीस चुकाने के पैसे नहीं हैं और यह बूढ़ी धन इकट्ठा करती जा रही है, किसके लिए? यह सारा गांव संपन्न हो सकता है अगर यह मर जाए। इसको कोई मार क्यों नहीं डालता! यह सब विचार हैं।

फिर परीक्षा के दिन करीब आते हैं और उसको फीस भरनी है और पैसे उसके पास नहीं हैं, तो उसे अपनी घड़ी रखने गिरवी इस बूढ़ी के पास जाना पड़ता है। ऐसा वह कोई दो साल से बार-बार सोचता था कि इसको कोई मार क्यों नहीं डालता! कभी ऐसा नहीं था कि उसने सोचा था कि मैं मार डालूं। ऐसा कभी नहीं सोचा था। लेकिन दो साल का अनवरत क्रम--रसरी आवत जात है सिल पर पड़त निशान--वह सोचता ही रहा, सोचता ही रहा। यह विचार मजबूत होता चला गया। वह गया, इस बूढ़ी को--सांझ का समय है--उसने घड़ी जाकर दी। तो वह बूढ़ी बहुत बूढ़ी है, बड़ी मुश्किल से खड़ी हो सकी, खिड़की के पास जाकर--आंखें कमजोर हैं--रोशनी में वह घड़ी देखने लगी कि है भी रखने योग्य कि नहीं? और तभी न-मालूम क्या हुआ इस युवक को--रोसकोलिनि को, उसका नाम है--उसने अचानक झपटकर पीछे से उसकी गर्दन दबा दी। जब उसने गर्दन दबायी तब उसे समझ में खुद भी नहीं आया कि मैं यह क्या कर रहा हूं, बस यह हो गया। और वह औरत तो मरी ही थी ही--काफी बूढ़ी थी--उसके दबाते ही मर गयी, उसने एक चीख भी न निकाली। अब वह घबड़ाया। वह गिर पड़ी। वह इतना घबड़ा गया, यह उसने कभी चाहा नहीं था। वह मारना चाहता भी नहीं था। पर विचार अगर बहुत दिन पीछे पड़ा रहे, तो धीरे-धीरे तुम्हारी देह में प्रविष्ट हो जाता है। यह विचार ने यांत्रिक रूप से स्त्री को मार डाला।

पर चीख भी नहीं निकली, वह चुपचाप उतरकर अपने कमरे में चला गया, अपने घर। किसी को पता भी नहीं चला रात भर, सुबह पता चला लोगों को कि बुढ़िया मर गयी। तब पुलिस ने खोजबीन करनी शुरू की। कोई उपाय भी नहीं था, कोई सोच भी नहीं सकता था इस युवक को कि यह मारेगा। यह तो एक सीधा-सादा विद्यार्थी था, इस पर तो कोई सवाल भी नहीं था। मगर यह घबड़ाने लगा।

अब इसको दूसरी घबड़ाहट पकड़नी शुरू हुई कि मैं पकड़ा जाऊंगा। अब मुझे सजा होगी। अब मैं जेल में डाला जाऊंगा, अब मेरी जिंदगी बरबाद हुई। महीना बीता, दो महीना बीता, बस वह अपने कमरे में पड़ा-पड़ा यही सोचता है। रास्ते पर कोई निकलता है, पुलिस के जूते की चरमराहट और वह समझा कि आ गये! किसी ने दरवाजे पर दस्तक दी--पोस्टमैन है--और वह समझा कि आ गये, बस, वह तैयार हो जाता है कि अब गये! तीन

महीने बीत गये और कुछ भी नहीं हुआ। लेकिन यह विचार अब उसके भीतर घूम रहा है कि पकड़े गए, पकड़े गये, पकड़े गये।

एक दिन अचानक--यह हालत इतनी विकृत हो गयी उसकी--कि जाकर उसने, पुलिस स्टेशन जाकर समर्पण कर दिया कि मैंने हत्या की है, मुझे पकड़ते क्यों नहीं? अब मैं कब तक इसको बर्दाश्त करूं? मैं पागल हुआ जा रहा हूं!

पुलिस इंस्पेक्टर उसे समझाने लगा कि तेरा दिमाग खराब हो गया है, तू क्यों हत्या करेगा? तुझे हम जानते हैं। भाग जा, तेरा दिमाग खराब हो गया है! पढ़ाई-लिखाई ज्यादा कर ली, ज्यादा जग गया रात में, तेरी आंखें कुछ...सोया नहीं ठीक से, ठीक से सो! वह उसको भेज देता है घर वापिस, मगर वह लौट-लौट कर आ जाता है। वह कहता है कि मैंने मारा है, आप मानते क्यों नहीं? अब तो उसे बड़ी बेचैनी होने लगी कि किसी तरह उसे सजा मिल जाए तो अपराध से छुटकारा हो। ऐसा आदमी उलझता है। विचार कृत्य बन जाते हैं।

इसलिए महावीर, बुद्ध जैसे चिंतकों ने यह कहा है कि अगर विचार में भी कोई बुरा कर्म करो, तो सोच-समझ लेना! यह मत सोचना कि सिर्फ विचार है। सिर्फ विचार जैसी कोई चीज ही नहीं है। क्योंकि हर विचार एक लकीर छोड़ जाता है। फिर जो विचार आज किया, वह कल भी होगा, परसों भी होगा। धीरे-धीरे और सहजता से होने लगेगा। एक दिन अचानक तुम पाओगे कि कृत्य बन गया। विचार की रेखा ही गहरी होते-होते कृत्य बन जाती है, कर्म बन जाती है।

इसलिए जिसे कृत्य के जगत से मुक्त होना हो, उसे विचार के जगत से ही मुक्त होना होता है। सिर्फ निर्विचार व्यक्ति ही कर्म के जाल से मुक्त होता है। इसीलिए तो हमने निर्विचारता को कर्म के जाल से मुक्त होने का आधार माना। तुम कर्म से मुक्त न हो सकोगे, जब तक तुम ध्यान में इतने गहरे न हो जाओ कि विचार उठने बंद हो जाएं।

कृष्ण ने गीता में कहा कि अगर तुम भीतर शून्य हो और कर्म करो तो कोई पाप नहीं लगता। और तुम कर्म न भी करो और भीतर विचार जलते रहें, तो पाप हो गया।

कृत्य का उतना मूल्य नहीं है, जितना विचार का। क्योंकि कृत्य तो विचार के पीछे आता है। गौण है, छाया है, परिणाम है।

"आप यह भी कहते हैं कि सब कुछ घटित होता है, तो इस होने और वैचारिक कृत्य में--विचार से घटित होनेवाले कृत्य में--क्या अंतर है?"

इतना ही अंतर है कि जब तक तुम विचार करके घटित करते हो कुछ, तब तुम कर्ता बनते हो। मैंने किया। जिस दिन तुम विचार नहीं करते, तुम विचार छोड़ ही देते हो, शून्य हो जाते हो, बांस की पोंगरी हो जाते हो, उस दिन जो होता है वह अस्तित्व कर रहा है, तुम नहीं कर रहे हो। फिर तुम्हारा कृत्य तो होता है, लेकिन तुम्हारे कारण नहीं होता। तुम निमित्तमात्र, उपकरणमात्र।

यह जो उपकरणमात्र होने की दशा है, यही जीवनमुक्त की दशा है। अष्टावक्र कहते हैं, ज्ञानी भी कर्म करता और कर्म करते हुए भी नहीं करता। देखता और नहीं देखता। बोलता और नहीं बोलता। क्या मतलब हुआ? इतना ही मतलब हुआ कि ज्ञानी अपनी तरफ से कुछ चेष्टा नहीं करता, जो अस्तित्व चाहता है, हो जाने देता है। ज्ञानी अस्तित्व के मार्ग में अवरोध नहीं बनता, बस। उसका समर्पण समग्र है। न वह अपनी तरफ से करता है और न अपनी तरफ से रोकता है। जो होता है, होने देता है। प्रभु-मर्जी। अगर भक्त हुआ तो कहेगा, प्रभु-मर्जी। अगर ध्यानी हुआ, तो कहेगा, समस्त का प्रवाह, ताओ, तथाता। ये नाम के ही भेद हैं।

पांचवां प्रश्न: मैं बूढ़ा हुआ जा रहा हूं, फिर भी संन्यास का साहस नहीं जुटा पाता हूं, अब क्या करूं?

मन में खोजो। बुढ़ापा शरीर पर आ गया होगा, मन अभी भी राग-रंग में उलझा होगा। शरीर जराजीर्ण हो गया होगा, मन अभी भी नहीं जागा है। मन अभी भी सोया है।

अभावतुल्य
ओ, प्यार की तिलिस्म उपलब्धियो
यहां हूं मैं
यहां फिर मुझे खोजो
मेरे गाते हुए इरादों में।
मनाओ
मेरी आशाओं को मनाओ
कि अभी न रूठें
अभी बहुत कुछ है
जिंदगी के वादों में।

आखिर तक आदमी सोचता चला जाता है, अभी कुछ और भोग लें, अभी कुछ और भोग लें।

अभी बहुत कुछ है
जिंदगी के वादों में।

अभी उदास होने की क्या जरूरत? अभी निराश होने की क्या जरूरत। अभी तो मरे नहीं! अभी तो जिंदा हैं। तो जिंदा हैं तो और थोड़ा भोग लें। अभी भोग अर्थ रखता है। अभी भोग से रस जुड़ा है। इसलिए तुम कहते हो, मैं बूढ़ा हुआ जा रहा हूं, फिर भी संन्यास का साहस नहीं जुटा पाता हूं।

यह प्रश्न साहस का नहीं। तुम शरीर से बूढ़े हुए जा रहे हो, मन, मन अभी बूढ़ा नहीं।

मुल्ला नसरुद्दीन एक राह से जा रहा है और एक सुंदर युवती को देखकर अपना मार्ग मोड़ दिया, उसी के पीछे चलने लगा। भीड़-भाड़ देखकर उसे धक्का मार दिया। उस स्त्री ने कहा कि थोड़ा खयाल तो करो, सब बाल सफेद हो गये! मुल्ला ने कहा, बाल भले सफेद हो गये हों, दिल अभी भी काला है।

बूढ़े होने से, शरीर के तल पर, कुछ भी नहीं होता। ये तो धूप में पक गये बाल, इनमें कोई अनुभव की संपदा नहीं है। जब अनुभव की संपदा होती है, तो आदमी वृद्ध होता है। सिर्फ बूढ़ा होने से कुछ फायदा नहीं, वृद्ध! इसलिए पूरब में हम बूढ़े को बड़ा समादर देते थे। वह हर बूढ़े को नहीं है, बुजुर्ग को। बुजुर्ग शब्द ही आदर का हो गया। वृद्ध पूज्य हो गया। कारण? देख ली जिंदगी उसने और देखकर पाया कि वहां कुछ भी नहीं है। देखकर व्यर्थ पाया, जिंदगी का सपना उसका टूट गया। अब आंखों में उसके कोई सपना नहीं है। अब जिंदगी से उसके कोई संबंध नहीं रह गये। अब वह जानता है, सब व्यर्थ है।

तुम बूढ़े हुए जा रहे हो, फिर भी संन्यास का साहस नहीं जुटा पाते, क्योंकि भीतर अभी भी संसार बसा है। जिंदगी हाथ से छूटी जा रही है, लेकिन तुम छोड़ने को अभी उत्सुक नहीं हो, तुम अभी पकड़ना चाहते हो। मौत आकर छीन लेगी, लेकिन तुम अपने हाथ से छोड़ने को राजी नहीं हो।

संन्यास का क्या अर्थ है? संन्यास का अर्थ है, मौत को पहचान लेना। संन्यास का अर्थ है, मौत की परख हो जाना। संन्यास का सिर्फ इतना ही अर्थ है कि जो मौत मुझसे छीन लेगी, यह काम मौत को क्यों करने दूं, मैं ही कर दूं। यह मैं ही छोड़ देता हूं। मौत छीनेगी, यह छीना-झपटी क्यों करवानी? यह अशोभन कृत्य क्यों करवाना? इसे प्रसादपूर्ण ढंग से क्यों न कर दें, हमीं दे देते हैं। संन्यास का इतना ही अर्थ है कि तुम उस सबको छोड़ देते हो जो मौत तुमसे छीन लेती है, सिर्फ उसको बचा लेते हो जो मौत नहीं छीन सकेगी। तब मौत तुम्हारे सामने दीन-हीन खड़ी हो जाती है। तब मौत तुमसे कुछ भी नहीं ले सकती।

इसलिए संन्यासी मरता नहीं, सिर्फ संसारी मरता है। संन्यासी तो इस क्षुद्र जीवन से और विराट जीवन में प्रवेश करता है। सिर्फ संसारी मरता है, संन्यासी नहीं मरता। इसलिए हम इस देश में संन्यासी की कब्र को

समाधि कहते हैं, कब्र नहीं कहते। साधारण आदमी की कब्र को समाधि नहीं कहते। वह तो अभी संसार चला रहा होगा--कहीं और चला रहा होगा। यहां मरा तो कहीं और पैदा हुआ। संन्यासी की मृत्यु समाधि है। क्योंकि वह स्वेच्छा से मर गया, उसने सब छोड़ दिया। और जब मैं तुमसे कहता हूं छोड़ दो, तो मेरा मतलब यह नहीं है कि तुम भाग जाओ। मेरा मतलब है, भीतर से पकड़ छूट जाए। रहो जहां हो, जैसे हो, बस भीतर कोई पकड़ न रह जाए।

मैं नहीं पिछली अभी झंकार भूला
मैं नहीं पहले दिनों का प्यार भूला
गोद में ले मोद से मुझको लसो तो
आज मन-वीणा प्रिये फिर से कसो तो

मन भूलता ही नहीं। फिर-फिर जवान होता रहता है। फिर-फिर लौटकर तरंगें उठती रहती हैं। फिर-फिर पुराने राग-रंग देख लेने का मन होने लगता है।

अभी तक ढूंढ़ती है उर्वरा सुरगंध फूलों में
सहमकर टूटकर बीती अधूरी बात कानों की
अभी तक है चुराती आंख जैसे चांदनी भू से
अभी तक आड़ ज्यों की त्यों सितारों के मचानों से
नहीं बासे हुए हैं रूप के पगचिह्न कुंजों में
हवाओं पर खिंचे हैं मुग्ध पलकों के झुके साये
समय के गाल पर सूखी नहीं विश्वास की बूंदें
अभी तक शून्यता का वक्ष सांसों से धड़क जाए

लौट-लौटकर फिर हृदय धड़क जाता है वासना से। फिर रस में रस मालूम होने लगता है। फिर सपने सजीव हो जाते हैं। तुम बूढ़े हो गये हो, सपने अभी बूढ़े नहीं हुए। तुम बूढ़े हो गये हो, शरीर का पतझर आ गया, लेकिन मन अभी भी वसंत मना रहा है। मन अभी भी वहीं अटका है। शरीर की मौत करीब आने लगी--बुढ़ापे का क्या अर्थ होता है? शरीर की मौत करीब आने लगी। संन्यास का क्या अर्थ होता है? मन की भी मौत करीब बुला ली। शरीर की मौत अपने-आप आती है, मन की मौत अपने-आप नहीं आती। संन्यास ठीक-ठीक अर्थों में आत्महत्या है। तुम जब कहते हो किसी आदमी ने आत्महत्या कर ली, तब तुम ठीक नहीं कहते हो, क्योंकि वह शरीर को ही मारता है, आत्मा को क्या मारेगा! संन्यासी आत्मघात करता है। आत्मघात का अर्थ है, मैं को मार डालता है। मैं के भाव को मार डालता है। मन को ही मार डालता है। यह जो मन की मौत है, वही संन्यास है।

और साहस तो जरूरी है। अपनी स्वयं की मृत्यु की तरफ जाने के लिए, बिना साहस के कैसे जा सकोगे? लेकिन साहस सहज आ जाता है। एक बार यह दिखायी पड़ जाए कि यहां कुछ भी नहीं है।

इब्राहिम एक सम्राट हुआ। एक रात उसने देखा कि उसके छप्पर पर कोई चल रहा है, तो उसने जोर से आवाज दी कि कौन है? तो उस आदमी ने कहा, सोओ शांति से, गड़बड़ न करो, मेरा ऊंट खो गया है, उसे खोजता हूं। वह तो समझा कि कोई पागल आदमी छप्पर पर चढ़ गया है--ऊंट खोजने, छप्पर पर! ऊंट कहीं छप्परों पर खोते हैं! वह उठा, उसने अपने सैनिक दौड़ाए, लेकिन वह आदमी भाग चुका था। लेकिन उसकी बात उसके मन में गूंजती रही।

सुबह उठा, फिर भी बार-बार याद आता रहा, यह आदमी कैसा है! ऊंट, राजमहल की छप्पर पर खोजने चढ़ गया। और ऊंट! मगर उसकी आवाज में कुछ शालीनता थी। और उसकी आवाज में कुछ बल था। उसकी आवाज में कुछ था जो पागल की आवाज में नहीं होता। जो कभी-कभी किसी पहुंचे पुरुष की आवाज में होता है। तो रस भी मालूम हुआ, उत्सुकता भी जगी। सोचने भी लगा कि इस आदमी का पता लगा ले, लेकिन पता नहीं लगा।

पर दूसरे दिन जब दरबार लगा तो कोई आदमी आकर द्वारपाल से लड़ने लगा। आवाज सुनायी पड़ी तो पहचान गया, वही आवाज। इब्राहिम भागा आया बाहर और उसने कहा, इस आदमी को भीतर आने दो। जद्दो-

जहद इस बात की हो रही थी कि वह आदमी--एक भिखारी, फकीर, पर बड़ा अलमस्त--वह कह रहा था कि इस सराय में मुझे ठहर जाने दो। और पहरेदार कह रहा था, यह सराय नहीं है, राजा का महल, राजा का निवास-स्थान है, तुम पागल तो नहीं हो गये हो! और वह कह रहा था कि मैं तुमसे कहता हूं, यह सराय है, मुझे ठहर जाने दो, यह फिजूल की बातें छोड़ो, कौन राजा, किसका महल! दो दिन का वास है, आज आए, कल गये, यह सब सराय हैं, मुझे ठहर जाने दो। यह तो उसकी आवाज इब्राहिम ने सुनी तो वही आवाज थी! तो वह भागा आया। उसने कहा, इस आदमी को भीतर आने दो, इसकी मैं तलाश कर रहा हूं।

और इब्राहिम ने कहा कि तुम मुझे बोलो, तुम यह क्या कह रहे हो! इसको तुम सराय कहते हो। यह सम्राट का अपमान है। यह मेरा महल है। वह आदमी हंसने लगा। उसने कहा, मैं पहले भी आया था, तब एक दूसरा आदमी कहता था कि यह उसका महल है। उसने कहा, वह मेरे पिता जी थे। पर मैं उसके पहले भी आया था, वह फकीर बोला, और तब एक तीसरा आदमी था और वह कहता था कि यह मेरा महल है। और मैं हमेशा से कह रहा हूं, यह एक सराय है। इब्राहिम ने कहा, वह मेरे पिता के पिता थे। तो उसने कहा, अब तो समझो। एक आदमी दावा करता था, मेरा महल, वह गया। दूसरा दावा करने लगा, मेरा महल, वह गया। अब तुम आ गये। कितनी देर तुम रहोगे? मैं फिर आऊंगा, और किसी चौथे को पाऊंगा, यह झंझट कब तक चलेगी? इसलिए मैं कहता हूं, यह सराय है, यहां लोग ठहरते और चले जाते, रातभर का बसेरा है, सुबह पक्षी उड़ जाते, मुझे भी ठहर जाने दो। तुम भी ठहरे हो, क्यों मालिक बनते हो?

कहते हैं, इब्राहिम को ऐसा बोध हुआ, इस आदमी की आवाज, इस आदमी का बल, इस आदमी की चोट से कि उसने उस आदमी को कहा कि तुम ठहरो, मैं जाता हूं। जब यह सराय ही है तो तुम ठहरो मजे से, लेकिन मैं चला। और इब्राहिम ने महल छोड़ दिया! और जब भी कोई इब्राहिम से पूछता बाद में कि तुमने यह किया क्या? उसने कहा, बात समझ में आ गयी। है तो बात सच। कितने लोग इस महल में ठहर चुके, आ चुके, जा चुके, मैं भी चला जाऊंगा। जब जाना ही है तो क्या दावा! छोड़ दिया। और इब्राहिम कहता कि जिस दिन से मैंने वह सराय छोड़ी, मुझे मेरा घर मिल गया। मैंने जान लिया, अपना असली निवास स्थान पा लिया।

संन्यास साहस तो है। लेकिन इतना कठिन नहीं जैसा तुम सोचते हो। समझ में आ जाए तो बड़ा सरल। इतना ही तुमसे कह रहा हूं, यह संसार सराय है। और मैं तो तुमसे यह भी नहीं कहता कि तुम इसको छोड़कर चले जाओ। अष्टावक्र भी नहीं कहते। अगर मैं होता उस फकीर की जगह, या अष्टावक्र होते, तो इब्राहिम से कहते कि बस, अब कहां जाता है? जब सराय ही है तो जाना भी क्या! अरे, मजे से रह, सिर्फ सराय जान, बात खत्म हो गयी। जाना कहां है! जो तेरा नहीं है, उसे छोड़ कर कैसे जा सकता है! छोड़कर जाने में भी तो मेरे का भाव है। बात खतम हो गयी। इतनी-सी बात समझ में आ गयी कि अपना घर नहीं है, सराय है, संन्यास हो गया। अपनी पत्नी नहीं है, अपना बेटा नहीं है। किसी से कहने की भी जरूरत नहीं है, कुछ बैंड-बाजे बजाने की जरूरत भी नहीं है, कोई शोभायात्रा निकालने की भी जरूरत नहीं है कि दीक्षा ले रहे हैं। हो गयी बात, समझ में आ गयी।

इसीलिए तो मैं संन्यास इतनी सरलता से दे देता हूं। यह भी नहीं पूछता कि संभाल सकोगे? संभालना क्या है? यहां संभालने योग्य कुछ है ही नहीं। यह भी नहीं पूछता कि अनुशासन रख सकोगे? क्या खाक अनुशासन! यह सपने की दुनिया में कैसा अनुशासन? यह भी नहीं कहता कि पत्नी-बच्चों का क्या करोगे? इतना ही कि तुम्हें बोध हो जाए कि यहां मेरा-तेरा कुछ भी नहीं है। जिसका है, उसका है। उसके हम भी, उसका सब। इतनी-सी बात हो जाए, संन्यास हो गया।

और अगर तुम मेरा संन्यास भी लेने की हिम्मत नहीं जुटा पाते तो तुम और किसी तरह का संन्यास तो कैसे ले पाओगे। वह तो बड़े उपद्रव के हैं। यह तो बड़ी सुगम और सहज बात है। पर मैं तुमसे कहता हूं कि लोग

पुराने ढंग का संन्यास लेने की हिम्मत आसानी से जुटा लेते हैं, क्योंकि उसमें अहंकार को प्रतिष्ठा है, सुविधा है। संन्यासी हो गये, जैन-मुनि हो गये, रथ निकला, जुलूस निकला, दीक्षा हुई, लोग चरण छून लगे, उसमें अहंकार को मजा है, कर्तृव्य का भाव है। यहां तो कुछ भी नहीं है। यहां तो लोग समझेंगे पागल हो गये। लोग हंसेंगे। लोग कहेंगे, तुम्हारा दिमाग भी खराब हो गया। तुम भी बातों में पड़ गये। अरे, तुम्हारा नहीं सोचते थे कि तुम जैसा बुद्धिमान आदमी और ऐसी बातों में पड़ जाए। अगर तुम पुराने ढंग का संन्यास लोगे, तो बुद्धू हो तो बुद्धिमान समझे जाओगे। अगर मेरा संन्यास लिया, बुद्धिमान हुए तो बुद्धू समझे जाओगे। इसलिए अड़चन होती है। बात तो मेरी बिलकुल सरल है।

साहस क्या चाहिए? कोई बड़ा काम करने को कह भी तो नहीं रहा। कोई हिमालय थोड़े ही चढ़ना है। कोई चांदत्तारों पर थोड़े ही जाना है। जरा-सा बोध, जरा-सी बोध की चाबी, जरा-सी घूमती है कि ताला खुल जाता है। यह ताले पर कोई हथौड़े थोड़े ही पटकने हैं--पुराने संन्यासी हथौड़े पटक रहे हैं। मैं कहता हूं जरा-सी चाबी है इसकी, हथौड़े पटकने की कोई जरूरत नहीं है।

और जल्दी करो, क्योंकि कल का क्या भरोसा! इस क्षण के बाद का क्षण आएगा, नहीं आएगा, कौन कह सकता है!

बीत चली संध्या की बेला।
धुंधली प्रतिपल पड़ने वाली
एक रेख में सिमटी लाली
कहती है समाप्त होता है
सतरंगे बादल का मेला।
बीत चली संध्या की बेला।

अंतरिक्ष में आकुल, आतुर
कभी इधर उड़, कभी उधर उड़
पंथ नीड़ का खोज रहा है
पिछड़ा पंछी एक अकेला।
बीत चली संध्या की बेला।

कहती है समाप्त होता है
सतरंगे बादल का मेला।
पंथ नीड़ का खोज रहा है
पिछड़ा पंछी एक अकेला।
बीत चली संध्या की बेला।

एक-एक पल सांझ करीब आती जाती है, सूरज डूबता जाता है। जितनी देर करोगे, उतनी कठिनाई हो जाएगी, उतना अंधेरा हो जाएगा। नीड़ का पथ खोजना कठिन हो जाएगा। थोड़ी रोशनी शेष है, तब उपाय कर लो। थोड़ा बल शेष है, तब उपाय कर लो। थोड़ा जीवन शेष है, तब खोज लो मंदिर। तब थोड़ी पूजा, तब थोड़ा ध्यान कर लो।

और न जुटा पाओ साहस तो मैं तुमसे कहता हूं, बिना साहस जुटाए उतर जाओ। क्योंकि कहीं वह भी एक बहाना न हो कि जब साहस जुटेगा, तब। कि जब पूरा साहस जुटेगा, तब। उतर ही जाओ। सब भयों के बावजूद। सब तरह के डर हैं, ठीक, उतर ही जाओ। जिंदगी में हजार काम तुमने किये हैं बिना साहस जुटाए। विवाह किया था तब साहस जुटाया था? उतर गये, कि ठीक है, जो होगा देखेंगे। और जो देखा, अब दुबारा साहस न

कर सकोगे। किस बात के लिए तुम साहस जुटा पाए? यहां सब तो अनजाना है, सब तो अपरिचित है। अपरिचित में ही उतरना पड़ता है। जाना-माना तो कुछ भी नहीं है। नक्शे कहां हैं? मार्गदर्शक कहां हैं?

जिंदगी कोई पिटी-पिटायी लकीरें थोड़े ही है। यहां प्रतिपल जाना पड़ता अज्ञात में, अपरिचित में। ऐसे ही संन्यास में भी चले जाओ। जन्म लिया था तब सोचा था कि उतरें कि न उतरें? मरोगे, तब कोई तुमसे पूछेगा भी तो नहीं कि मरना है कि नहीं? जन्म हो गया, मृत्यु हो गयी, प्रेम हो गया, विवाह हो गया, हारे, जीते, सफल-असफल हुए, सब कर लिया, साहस कहां है?

जैसे यह सब हो गया, ऐसे ही ध्यान और प्रार्थना को भी हो जाने दो। ऐसे ही संन्यास को भी हो जाने दो। कहीं ऐसा न हो कि साहस की बात उठाकर तुम सिर्फ अपने लिए एक अड़चन खड़ी कर रहे हो कि जब साहस होगा, तब।

परसों एक युवती ने संन्यास लिया। महीने भर से आकर रुकी है, बार-बार आकर कहती है कि मुझे लेना है, लेकिन पूरा मन नहीं हो पा रहा है। तो मैंने कहा कि यह पूरा मन तो कभी किसी का नहीं हुआ। पूरा मन तो तब होगा, जब तू पूरी जागेगी। अभी तो पूरा मन हो नहीं सकता। अभी तो इक्यावन प्रतिशत भी हो रहा हो और उनचास प्रतिशत न हो रहा हो, तो ले ले। इतना ही फर्क हो अगर, एक-दो प्रतिशत का। इक्यावन प्रतिशत मन कहता है, लेना; और उनचास प्रतिशत मन कहता है, नहीं लेना, तो ले ले। क्योंकि नहीं लिया तो उनचास प्रतिशत मन का साथ दिया। निर्णय तो कुछ करना ही पड़ेगा।

तुम थोड़ा सोचो!

जब तुम कहते हो, संन्यास अभी कैसे लें, पूरा निर्णय नहीं है, तो संन्यास न लेने का निर्णय कर रहे हो। निर्णय तो कर ही रहे हो। न लेने का निर्णय पूरा है? तो ज्यादा-से-ज्यादा बात प्रतिशत की हो सकती है। अगर आधे मन से ज्यादा लेने के लिए तैयार हो, तो ले लो। अगर आधे मन से कम तैयार हो, तो छोड़ो, यह फिकर छोड़ो। मगर दो में से कुछ निपटारा कर लो। ऐसे बीच में मत अटके रहो। न घर के न घाट के। इससे तुम्हारा न तो चित्त संसार में लगेगा और न चित्त संन्यास में लगेगा। संसार में रहोगे, संन्यास की सोचोगे; संन्यास में उतर नहीं पाते, तो सब दुविधा बनी रहेगी। डांवाडोल रहोगे।

एक-चित्त हो जाओ। या तो तय कर लो कि नहीं लेना है। मगर वह भी होशपूर्वक तय कर लो। फिर बात ही छोड़ दो। या तय कर लो कि लेना है। साहस इत्यादि का बहुत विचार मत करो। एक किनारे रखो साहस, भय, सुरक्षा, असुरक्षा की सब धारणाएं।

और खयाल रखो कि कुछ चीजें हैं जो लेकर ही अनुभव होती हैं, बिना लिये अनुभव नहीं होतीं। उस युवती को जब मैंने कहा कि अगर तुझे तैरना सीखना है तो पानी में उतरना ही पड़ेगा, क्योंकि तैरना सीखने का कोई और उपाय नहीं। गद्देत्तकिये लगाकर तू तैरना नहीं सीख सकेगी। हां, यह बात सच है कि थोड़े उथले पानी में उतरो पहले, फिर और थोड़े गहरे में, फिर और थोड़े गहरे में।

संन्यास की जो धारणा मैंने तुम्हें दी है, इससे ज्यादा और किनारे की धारणा क्या हो सकती है! इससे और उथला पानी क्या हो सकता है! बस, गले-गले पानी में उतरो। वहां हाथ-पैर चलाना सीख लो। एक दफा हाथ-पैर चलाना आ गया तो और गहरे में, और गहरे में। उस युवती ने एक क्षण सोचा और फिर उसने कहा कि ठीक! लेती हूं, डर है, डर के बावजूद लेती हूं।

ऐसे ही घटता है। और यह बुद्धि का ही लक्षण है। सिर्फ जो जड़बुद्धि हैं, वे चिंता इत्यादि नहीं करते। जड़बुद्धि को कहा संन्यास लेना है, वे कहते हैं, अच्छी बात है। मगर ये वे ही लोग हैं, जिनके जीवन में किसी तरह का चैतन्य नहीं है। यह कोई बहुत गुणवत्ता की बात नहीं है। इनसे कोई कहेगा, छोड़ना है, तो ये कहेंगे,

अच्छी बात है। न इनको लेने का कुछ मतलब है, न छोड़ने का कुछ मतलब है। इनके जीवन में कोई मूल्य नहीं है जिसका ये निर्धारण करते हों। इनका जीवन मूल्यहीन है।

तो इसे कोई चिंता भी मत समझो कि बड़े विचार उठते हैं, संदेह उठते हैं; स्वाभाविक है। बुद्धिमान आदमी को उठते ही हैं। लेकिन बुद्धिमान आदमी इन सबके बावजूद भी यात्रा पर निकलता है।

आखिरी प्रश्न: आपसे मिलकर लगता है कि जिसकी सदा से खोज थी, वह मिल गया है। क्या हमारा और आपका पिछले जन्मों का कुछ संबंध है? और अब कुछ करने को भी नहीं सूझता है। फिर बुद्धि में तरहत्तरह के भय भी सिर उठाते हैं कि कहीं आप चले तो न जाएंगे, बिछुड़ तो न जाएंगे?

अब सिद्धांतों में सिर मत मारो कि पहले कभी मिलना हुआ था कि नहीं हुआ था। अगर अभी मिलना हो गया है, तो इस मिलन का पूरा स्वाद ले लो। अब इन गुत्थियों को मत सुलझाओ कि पहले मिलना हुआ था कि नहीं हुआ था? इसमें समय भी खराब मत करो। पहले का क्या मूल्य है? मगर मन ऐसा ही सोचता है: पहले मिलना हुआ था कि नहीं? और यह भी सोचता है कि आगे कहीं बिछुड़ना तो नहीं हो जाएगा? भविष्य और अतीत में ही डोलता रहता है। अभी मैं यहां, तुम यहां, थोड़ी देर को हम उस मस्ती में डूब जाएं जो अस्तित्व की मस्ती है, जो मैं तुम्हें देना चाहता हूं। थोड़ी देर को अतीत और भविष्य भूलो। थोड़ी देर को इसी क्षण को सब कुछ हो जाने दो।

जुनूं के मशरबे-रंगीं को इख्तियार करो
खिरद के जामा-ए-कोहना को तारत्तार करो
मिले हैं रूठे हुए दोस्त गर्मजोशी से
सलोनी रुत के लिए शुक्रे-कर्दगार करो
जुनूं के मशरबे-रंगीं को इख्तियार करो
जिंदगी का जो मदमाता, मस्त उन्माद, रंगों से भरा हुआ तौरत्तरीका है...।
जुनूं के मशरबे-रंगीं को इख्तियार करो

यह जो फूलों, पक्षियों की गुनगुनाहट का, झरनों के शोर का, समुद्र की लहरों का, आकाश के चांदत्तारों का जो उन्मत्त उत्सव है, जीवन का यह जो ढंग है, इसे इख्तियार करो।

जुनूं के मशरबे-रंगीं को इख्तियार करो
खिरद के जामा-ए-कोहना को तारत्तार करो

यह बुद्धि की बकवास को तोड़ो, तारत्तार उखाड़ कर अलग कर दो।

खिरद के जामा-ए-कोहना को तारत्तार करो
मिले हैं रूठे हुए दोस्त गर्मजोशी से

जैसे बिछड़े हुए दो दोस्त मिल जाते हैं। तो फिर थोड़े ही फिक्र करते अतीत की या भविष्य की।

मिले हैं रूठे हुए दोस्त गर्मजोशी से
सलोनी रुत के लिए शुक्रे-कर्दगार करो

तो इस अदभुत ऋतु के लिए, इस क्षण के लिए परमात्मा का धन्यवाद करो।

छोड़ो यह फिकर। बहुत बार प्रश्न आते हैं तुम्हारे कि क्या हम पहले भी साथ थे? अभी साथ नहीं हो पा रहे, और पहले भी साथ थे इसकी चिंता में पड़े हो! थे भी साथ तो क्या सार? नहीं थे साथ तो क्या फर्क? अभी साथ हो लो, यह जो दो क्षण हमारे हाथ में हैं, साथ-साथ चल लो। इस क्षण एकात्म सध जाने दो।

जुनूं के मशरबे-रंगीं को इख्तियार करो
खिरद के जामा-ए-कोहना को तारत्तार करो
मत लाओ बुद्धि की इन बातों को बीच में।
मस्ती ही में पाये दिल हस्ती का इर्फान

ख्वाब में जैसे जाए मिल अनदेखा भगवान

जहां मस्ती है, वहां मंदिर है। और मस्ती तो सदा अभी और यहां होती है, अतीत और भविष्य में नहीं।

मस्ती ही में पाये दिल हस्ती का इर्फान

और जहां तुम डूब जाते किसी मस्ती में, वहीं अस्तित्व के संदेश मिलने शुरू होते हैं।

ख्वाब में जैसे जाए मिल अनदेखा भगवान

और मस्ती में ही पहली दफा अनदेखा दिखायी पड़ता, अदृश्य दृश्य होता है।

बस गयी मन में तेरे मस्तमिलन की खुशबू
मेरे एहसास पे छाया रहा तेरा जादू
झूमता फिरता रहा तेरी मधुर यादों में
मुझ पे एक नशे का आलम रहा बेजामो-सुबू

अगर तुम जरा मौका दो मुझे, उतरने दो तुम्हारे हृदय में, तो बिना पीए तुम पर शराब हावी हो जाए।

झूमता फिरता रहा तेरी मधुर यादों में
मुझ पे एक नशे का आलम रहा बेजामो-सुबू
बिना पीए एक शराब तुम पर हावी हो जाए।
बस गयी मन में तेरे मस्तमिलन की खुशबू
मेरे एहसास पे छाया रहा तेरा जादू

मत सोच-विचार में पड़ो, मत सिद्धांत बीच में लाओ, मेरे और तुम्हारे बीच सिद्धांत न हों, शास्त्र न हों; मेरे और तुम्हारे बीच कोई धारणा, कोई तर्क न हों; मेरे और तुम्हारे बीच कुछ भी न हो, एक शून्य का सेतु बन जाए, तो छंद उठे, तो गीत जगे। और उसी मस्ती में शायद तुम्हें पहली दफे अनुभव हो जीवन के परम सत्य का।

जीवन उत्सव है और उत्सव में ही हम जान पाते हैं कि जीवन क्या है।

आज इतना ही।

सतासीवां प्रवचन

पहुंचना हो तो रुको

जनक उवाच।

तत्त्वविज्ञानसंदंशमादाय हृदयोदरात्।
नानाविधपरामर्शशल्योद्धारः कृतो मया।। २७७।।
क्व धर्मः क्व च वा कामः क्व चार्थः क्व विवेकिता।
क्व द्वैतं क्व च वाऽद्वैतं स्वमहिम्नि स्थितस्य मे।। २७८।।
क्व भूतं क्व भविष्यद्वा वर्तमानमपि क्व वा।
क्व देशः क्व च वा नित्य स्वमहिम्नि स्थितस्य मे।। २७९।।
क्व चात्मा क्व च वानात्मा क्व शुभं क्वाशुभं तथा।
क्व चिंता क्व च वाचिंता स्वमहिम्नि स्थितस्य मे।। २८०।।
क्व स्वप्नः क्व सुषुप्तिर्वा क्व च जागरणं तथा।
क्व तुरीयं भयं वापि स्वमहिम्नि स्थितस्य मे।। २८१।।
क्व दूरं क्व समीपं वा बाह्यं क्वाभ्यंतरं क्व वा।
क्व स्थूलं क्व च वा सूक्ष्मं स्वमहिम्नि स्थितस्य मे।। २८२।।
क्व मृत्युर्जीवितं वा क्व लोकाः क्वास्य क्व लौकिकम्।
क्व लयः क्व समाधिर्वा स्वमहिम्नि स्थितस्य मे।। २८३।
अलं त्रिवर्गकथया योगस्य कथयाप्यलम्।
अलं विज्ञानकथया विश्रांतस्य ममात्मनि।। २८४।।

जिंदगी दुल्हन है एक रात की
कोई नहीं मंजिल है जिसके अहिवात की

मांग भरी शाम को बहारों ने
सेज सजी रात चांदत्तारों ने
भोर हुई मेंहदी छुटी हाथ की
जिंदगी दुल्हन है एक रात की

नैहर है दूर, पता पिया का न गांव
कहीं न पड़ाव कोई कहीं नहीं छांव
जाए किधर डोली बारात की
जिंदगी दुल्हन है एक रात की

बिना तेल बाती जले उम्र का दिया
बीच धार छोड़ गया निर्दयी पिया
आंख बनी बदली बरसात की
जिंदगी दुल्हन है एक रात की

पर इस एक रात के लिए हम बड़ा जंजाल फैला लेते हैं। इस एक रात के लिए हम बड़ा संसार निर्मित कर लेते हैं। जो क्षणभंगुर है, उसके लिए हम शाश्वत को गंवा देते हैं। जो असार है, उसके लिए सार को खो देते हैं। इधर कंकड़-पत्थर बीनते रहते हैं, वहां जीवन के हीरे रिक्त होते चले जाते हैं। जोड़ लेते हैं कूड़ा-करकट मरते-

मरते तक, लेकिन जीवन गंवा देते हैं। कहा है जीसस ने, तू सारी पृथ्वी भी जीत ले और अगर अपने को गंवा दिया, तो इस पाने का सार क्या है?

अष्टावक्र ने जो सूत्र जनक को दिये, वे जागरण के अपूर्व सूत्र हैं। कोई समझ ले तो बस जाग गया। जनक जैसा शिष्य पाना भी बहुत मुश्किल है, दुर्लभ है। अष्टावक्र जैसा गुरु तो दुर्लभ होता ही है, जनक जैसा शिष्य भी बहुत दुर्लभ है। और अष्टावक्र और जनक जैसे गुरु-शिष्य का मिलन पहले कभी हुआ, उल्लेख नहीं। बाद में भी कभी हुआ, ऐसा उल्लेख नहीं। शायद दुबारा यह बात घटी ही नहीं। करीब-करीब असंभव लगता है दुबारा घटना। जैसा गुरु, वैसा शिष्य। ठीक दो स्वच्छ दर्पण एक-दूसरे के सामने रखे हैं।

अष्टावक्र ने अपनी सारी बात कह दी। उंडेल दिया अपने पूरे हृदय को। जो कहा जा सकता था, कह दिया। जो नहीं कहा जा सकता था, उसे भी कहने की कोशिश की। जनक इस पूरी अपूर्व वर्षा के बाद धन्यवाद दे रहे हैं। गुरु को धन्यवाद कैसे दिया जाए? एक ही धन्यवाद हो सकता है कि गुरु ने जो कहा, वह व्यर्थ नहीं गया, समझ लिया गया। गुरु से उऋण होने का कोई और तो उपाय नहीं है। एक ही मार्ग है धन्यवाद का, आभार का कि जो वर्षा हुई, व्यर्थ नहीं गयी, मेरे हृदय की झील में भर गयी है। तुमने जो श्रम किया, वह नाहक नहीं हुआ। तुमने जो मोती बिखेरे, वह मूढ़ों के सामने नहीं फेंके। वे परख लिये गये हैं। संभाल लिये गये हैं। उन्हें मैंने अपने हृदय में संजो लिया है। वे मेरे प्राणों के अंग हो गये हैं। इस बात के सूचन के लिए जनक अंतिम संवाद का समारोप करते हैं।

ठीक भी है, इस संवाद का प्रारंभ भी जनक से हुआ था, और अंत भी जनक पर हो। जिज्ञासा जनक ने की थी कि हे प्रभु, मुझे जीवन का सार क्या है, सत्य क्या है, वह बताएं। अंत भी जनक पर ही होना चाहिए। जो पूछा था, मिल गया। जितना पूछा था, उससे ज्यादा मिल गया। जो जानना चाहा था, वह जना दिया गया है। और जिसका स्वप्न में भी जनक को स्मरण न होगा, सुषुप्ति में भी जिसकी तरंग कभी न उठी होगी, वह सब भी उंडेल दिया गया। क्योंकि गुरु जब देता है, तो हिसाब से नहीं देता। शिष्य के मांगने की सीमा होगी, गुरु के देने की क्या सीमा है! शिष्य के प्रश्न की सीमा होगी, गुरु का उत्तर असीम है। और जब तक असीम उत्तर न मिले, तब तक सीमित प्रश्नों के भी हल नहीं होते हैं। सीमित प्रश्न भी असीम उत्तर से हल होता है।

थोड़ा-सा पूछा था जनक ने, अष्टावक्र ने खूब दिया है। दो बूंद से तृप्ति हो जाती जनक की, ऐसा उसका प्रश्न था, अष्टावक्र ने सागर उंडेल दिया है।

इस बात को भी समझ लेना कि यह जीवन का एक परम आधारभूत नियम है कि परमात्मा के इस जगत में कंजूसी नहीं है, कृपणता नहीं है। जहां एक बीज से काम चल जाए, वहां देखते हैं, वृक्ष पर करोड़ बीज लगते हैं। जहां एक फूल से काम चल जाए, वहां करोड़ फूल खिलते हैं। जहां एक तारा काफी हो, वहां अरबों-खरबों तारे हैं। जीवन का एक आधारभूत नियम है, कंजूसी नहीं है। वैभव है, महिमा है। इसीलिए तो हम परमात्मा को ईश्वर कहते हैं। ईश्वर का अर्थ होता है, ऐश्वर्यवान। जरूरत पर समाप्त नहीं है, जरूरत से ज्यादा है, तो ऐश्वर्य। जब हम कहते हैं किसी व्यक्ति के पास ऐश्वर्य है, तो इसका मतलब यह होता है कि आवश्यकता से ज्यादा है। आवश्यकता पूरी हो जाये तो कोई ऐश्वर्य नहीं होता। इतना हो कि तुम्हारी समझ में न पड़े कि अब क्या करें, आवश्यकताएं सब कभी की पूरी हो गयीं, अब यह जो पास में है इसका क्या उपयोग हो, तब ऐश्वर्य है। इस अर्थ में तो शायद कोई आदमी कभी ईश्वर नहीं होता है। ईश्वर ही बस ईश्वर है। परम ऐश्वर्य है। कहीं जरा भी कृपणता नहीं। और जब किसी आत्मा का इस परम ऐश्वर्य से मेल हो जाता है, तो इस परम ऐश्वर्य की ध्वनि उस आत्मा में भी झलकती है।

अष्टावक्र ने उंडेल दिया। तुम्हें कई बार लगा होगा, इतना अष्टावक्र क्यों कह रहे हैं, यह तो बात जरा में हो सकती थी। लेकिन जो जरा में हो सकता है, उसको भी परमात्मा बहुत रूपों में करता है। जो संक्षिप्त में हो

सकता है, उसको भी विराट करता है। विस्तार देता है। ब्रह्म शब्द का अर्थ होता है, विस्तार। जो विस्तीर्ण होता चला जाता है। ब्रह्मचर्चा भी ब्रह्म जैसी है। पत्ते पर पत्ते निकलते आते हैं। शाखाओं में प्रशाखाएं निकलती आती हैं। प्रश्न तो बीज जैसा था, उत्तर वृक्ष जैसा है। होना भी ऐसा ही चाहिए।

अब इस परम सौभाग्य के लिए जनक धन्यवाद कर रहे हैं। धन्यवाद शब्द ठीक नहीं। धन्यवाद शब्द से काम न चलेगा। धन्यवाद शब्द बहुत औपचारिक होगा। इसलिए कैसे धन्यवाद दें! तो एक ही उपाय है कि गुरु के सामने यह निवेदन कर दें कि जो तुमने कहा, वह व्यर्थ नहीं गया। तुम्हारा श्रम सार्थक हुआ है। तुम्हारा श्रम सृजनात्मक हुआ है। मैं भर गया हूं। यह सुगंध उठे जनक से कि अष्टावक्र के नासापुट सुगंध से भर जाएं। वह जो ध्वनि, जो गीत उन्होंने भेजा था, लौटकर आ जाए। और वे समझें कि जनक का हृदय भी गूंज गया है, प्रतिध्वनित हो उठा है। इसलिए यह अंतिम चरण में जनक निवेदन करते हैं। जनक निवेदन करते हैं कुछ ऐसी बातें भी, जो अष्टावक्र ने छोड़ दीं।

यह भी समझ लेने जैसा है इसके पहले कि हम सूत्र में जाएं।

कोई भी सदगुरु शिष्य की परीक्षा के लिए एक ही उपाय रखता है--वह सब कह देता है, लेकिन कहीं कुछ एकाध-दो मुद्दे की बातें छोड़ जाता है। अगर शिष्य उन्हें पूरा कर दे, तो समझो कि समझा। अगर उतना ही दोहरा दे जितना गुरु ने कहा, तो समझो कि तोतारटंत है। समझ आयी नहीं। वह जो खाली जगह है, वह परीक्षा है। इतना सब कहा, लेकिन एकाध-दो बिंदु पर थोड़ी-सी जगह खाली छोड़ दी। अगर समझ में आ जाएगा शिष्य को, तो वह उन खाली जगहों को भर देगा। जो गुरु ने नहीं कहा था, सिर्फ इशारा करके छोड़ दिया था, शुरुआत की थी, पूर्णता नहीं की थी, वक्तव्य की सिर्फ झलक दी थी, लेकिन वक्तव्य पूरा का पूरा ठोस नहीं था। अगर शिष्य समझ गया है तो जो ठोस नहीं था वह ठोस हो जाएगा। जो अधूरा था वह पूरा कर दिया जाएगा। शिष्य अगर गुरु के खाली छोड़े गये रिक्त स्थानों को भर दे, तो ही समझो कि समझा। अगर उतना ही दोहरा दे जितना गुरु ने कहा, तो यह तो तोते भी कर सकते हैं, यह तो यांत्रिक होगा।

इसलिए एकाध-दो बातें अष्टावक्र छोड़ गये हैं। बुद्ध ने भी वह किया है। समस्त गुरुओं ने वही किया है, एकाध दो बात छोड़ देंगे। जो नहीं समझा है, वह उनको तो पूरा कर ही नहीं सकता। असंभव है। इसका कोई उपाय ही नहीं कि वह उन्हें पूरा कर सके। इसको किसी भी चालबाजी से पूरा नहीं किया जा सकता, किसी भी बौद्धिक व्यवस्था से पूरा नहीं किया जा सकता। अनुभव ही भर सकता है उन रिक्त स्थानों को। और जनक ने उनको भर दिया। वही धन्यवाद है।

एक और बात, अष्टावक्र के इन सारे सूत्रों का सार-निचोड़ है--श्रवणमात्रेण। जनक ने कुछ किया नहीं है, सिर्फ सुना है। न तो कोई साधना की, न कोई योग साधा, न कोई जपत्तप किया, न यज्ञ-हवन, न पूजा-पाठ, न तंत्र, न मंत्र, न यंत्र, कुछ भी नहीं किया है। सिर्फ सुना है। सिर्फ सुनकर ही जाग गये। सिर्फ सुनकर ही हो गया--श्रवणमात्रेण।

अष्टावक्र कहते हैं कि अगर तुमने ठीक से सुन लिया तो कुछ और करना जरूरी नहीं। करना पड़ता है, क्योंकि तुम ठीक से नहीं सुनते। तुम कुछ का कुछ सुन लेते हो। कुछ छोड़ देते हो, कुछ जोड़ लेते हो; कुछ सुनते हो कुछ अर्थ निकाल लेते हो, अनर्थ कर देते हो। इसलिए फिर कुछ करना पड़ता है। कृत्य जो है, वह श्रवण की कमी के कारण होता है, नहीं तो सुनना काफी है। जितनी प्रगाढ़ता से सुनोगे, उतनी ही त्वरा से घटना घट जाएगी। देरी अगर होती है, तो समझना कि सुनने में कुछ कमी हो रही है। ऐसा मत सोचना कि सुन तो लिया, समझ तो लिया, अब करेंगे तो फल होगा। वहीं बेईमानी कर रहे हो तुम। वहां तुम अपने को फिर धोखा दे रहे हो। अब तुम कह रहे हो कि अब करने की बात है, सुनने की बात तो हो गयी।

मेरे पास एक सर्वोदयी नेता आते हैं। बूढ़े हैं, जिंदगी भर सेवा की है, भले आदमी हैं। एक-दो शिविरों में आए। फिर मुझे मिलने आए। मैंने पूछा कि अब दिखायी नहीं पड़ते? तो उन्होंने कहा, अब क्या करूं आकर?

आपको सुना, समझा, अब जब तक उसको कर न लूं, तब तक आने से क्या? अब करने में लगा हूं, जब हो जाएगा...तो मैंने उनसे कहा, फिर सुना ही नहीं, समझा ही नहीं। सुन लिया, समझ लिया, करने को नहीं बचना चाहिए। करने की बात ही गड़बड़ है। मैंने तुमसे कहा, यह दीवाल है, यह दरवाजा है, तुमने सुन लिया, समझ लिया, अब करने को क्या है? जब निकलना हो, दरवाजे से निकल जाना, दीवाल से मत निकलना। अब तुम कहते हो, अभ्यास करेंगे। अभ्यास करेंगे कि यह दीवाल है, अभ्यास करेंगे कि यह दरवाजा है, जब अभ्यास खूब हो जाएगा तब निकलेंगे।

अभ्यास धोखा है। यह सारसूत्र है अष्टावक्र का। अष्टावक्र अभ्यास-विरोधी हैं। वे कहते हैं, अभ्यासमात्र, साधनामात्र धोखा है। तुमने करने की बात उठायी तो एक बात पक्की हो गयी कि तुमने सुना नहीं और अब तुम तरकीबें निकाल रहे हो। अब तुम अपने अहंकार को समझा रहे हो, कि सुन तो मैंने लिया। धोखा तुम दे रहे हो, सुना तुमने नहीं। सुन तो लिया, तुम कह रहे हो, अब करेंगे। करने से ही होगा न! सुनने से क्या होता है?

लेकिन सत्य की महिमा यही है कि सुन लिया तो हो गया। सत्य कोई साधारण घटना थोड़े ही है। तुम्हारे कृत्य पर थोड़े ही निर्भर है सत्य। तुम्हारे करने से सत्य थोड़े ही पैदा होता है। सत्य तो है, तुम्हारी आंख के सामने खड़ा है, तुम्हारे हृदय में धड़क रहा है, करना क्या है? एक हुंकार में, एक उदघोष में स्मरण आ सकता है। श्रवणमात्रेण।

लेकिन आदमी बड़ी तरकीबें निकालता है। वह सोचता है बड़ी दूर है मंजिल, परमात्मा तो बहुत दूर है, चलेंगे, खोजेंगे, भटकेंगे, जनम-जनम लगेंगे, अच्छे कर्म करेंगे, बुरे कर्मों को छोड़ेंगे, बुरे किये हुओं को अच्छों से काटेंगे, ऐसा धीरे-धीरे सम्हालते-सम्हालते पुण्य की संपदा, एक दिन पहुंचेंगे। नहीं, तुम फिर न पहुंच सकोगे। तुम खुद उसे दूर किये दे रहे हो जो पास है।

मैंने तो सोचा था अपनी
सारी उमर तुझे दे दूंगा
इतनी दूर मगर थी मंजिल
चलते-चलते शाम हो गयी
निकला तो मैं था गुदड़ी में
लाल छिपाए बरन-बरन के
कुछ संग खेले थे बचपन के
कुछ संग सोये थे यौवन के
कुछ पर रीझ गयी थीं कलियां
कुछ पर झूम गयी थीं गलियां
कुछ थे रत्न अमोल हृदय के
कुछ थे नौलख हार नयन के
किंतु ठगौरी डाल गयी कुछ
ऐसी पथ की भूलभुलैया
जनम-जनम की जमा खो गयी
जुग-जुग नींद हराम हो गयी
मैंने तो सोचा था अपनी
सारी उमर तुझे दे दूंगा
इतनी दूर मगर थी मंजिल
चलते-चलते शाम हो गयी

मंजिल दूर नहीं है। मंजिल तुम्हारे समाने है।

चलते-चलते शाम हो गयी

चले तो चूके। चलने का मतलब ही यह है कि तुमने मंजिल दूर मान ली। चलकर तो हम दूरी पर पहुंचते हैं। जो निकट से भी निकटतम है...मुहम्मद ने कहा कि जो तुम्हारी गर्दन में धड़कती हुई फड़कती प्राण की नस

है, उससे भी जो ज्यादा करीब है। उपनिषद कहते हैं, पास से भी जो ज्यादा पास है। जो तुम्हारे में विराजमान है। तुममें और जिसमें इंच भर की दूरी नहीं है।

चलते-चलते शाम हो गयी

तुम चले, तो भटके। तुम चले, तो चूके। पहुंचना हो तो रुको। पहुंचना हो तो चलना मत, हिलना भी मत। पहुंचना हो तो जहां खड़े हो वहीं मूर्तिवत हो जाना। गति से नहीं पहुंचता कोई सत्य तक, क्योंकि सत्य कोई गंतव्य नहीं है। सत्य की कोई यात्रा नहीं होती, क्योंकि सत्य दूर नहीं है। सत्य तुम हो। सत्य तुम्हारी सत्ता का नाम है। सत्य तुम्हारा अस्तित्व है। इसलिए अष्टावक्र कहते हैं, श्रवणमात्रेण।

अगर जनक अब कहे कि प्रभु, सुन ली आपकी बात, अब करूंगा, तो अष्टावक्र अपना सिर ठोंक लेते। लेकिन जनक ने यह बात ही नहीं कही। जनक ने तो धन्यवाद दिया, अपना वक्तव्य दिया। जनक ने क्या कहा? जनक ने कहा--

तत्त्वविज्ञान संदंशमादाय हृदयोदरात्।
नानाविधपरामर्शशल्योद्धारः कृतो मया।।

"मैंने आपके तत्त्वज्ञान रूपी संसी को लेकर हृदय और उदर से अनेक तरह के विचार रूपी वाण को निकाल दिया है।"

बात खतम ही कर दी। जनक ने कहा कि शल्यक्रिया हो गयी। शल्योद्धारः। चिकित्सा हो चुकी। आपने जो शब्द कहे, वे शस्त्र बन गये। और शास्त्र जब तक शस्त्र न बन जाएं तब तक व्यर्थ हैं। आपने जो शब्द कहे वे शस्त्र बन गये और उन्होंने मेरे पेट और मेरे हृदय में जो-जो रुग्ण विचार पड़े थे, उन सबको निकालकर बाहर फेंक दिया। बात खतम हो गयी।

तत्त्वविज्ञानाय।

वह जो आपने सत्य की निर्दर्शना की, वह जो तत्त्व का इशारा किया, वह तो संसी बन गयी, उसने तो मेरे भीतर से सब खींच लिया जहर, उसने तो सब कांटे निकाल लिये।

यह बात खयाल रखना कि दो शब्दों का उपयोग करते हैं जनक--हृदयोदरात्। हृदय और पेट से। उदर और हृदय से। यह बात बड़ी महत्वपूर्ण है। यह पांच हजार साल पुरानी बात है। अब कहीं जाकर पश्चिम में मनोविज्ञान इस बात को समझ पा रहा है कि मनुष्य जो भी दमन करता है, विचारों का, वासनाओं का, वृत्तियों का, वह सब दमित वृत्तियां पेट में इकट्ठी हो जाती हैं। यह तो अभी नवीनतम खोज है, इधर पिछले बीस वर्षों में हुई है। लेकिन यह सूत्र पांच हजार साल पुराना है। उदर? तुम भी थोड़े चौंके होओगे कि अगर कहते कि मेरे मस्तिष्क से सारे विचार निकाल लिये हैं, तो बात ज्यादा तर्कसंगत मालूम पड़ती। लेकिन कहते हैं जनक, मेरे उदर से, मेरे पेट से। यह बात ही जरा बेहूदी लगती है कि पेट से! पेट में क्या विचार रखे हैं? लेकिन आधुनिक मनोविज्ञान भी इससे सहमत है। अंग्रेजी में तो जो शब्दावली है, लोग कहते हैं न कि इस बात को पेट में न ले सकूंगा, "आइ विल नाट बी एबल टू स्टमक इट।" इसको उदरस्थ न कर सकूंगा।

यह बात महत्वपूर्ण है। हम जो भी दबाते हैं वह पेट में चला जाता है। इसीलिए चिंतित आदमी के पेट में अल्सर हो जाते हैं। चिंता के वाण अल्सर बन जाते हैं। सिर में नहीं होते अल्सर, मस्तिष्क में नहीं होते अल्सर, तुमने देखा? होने चाहिए मस्तिष्क में लेकिन होते पेट में। कृपण आदमी कब्जियत से भर जाता है। वह जो कंजूसी है, वह पेट में उतर जाती है। कंजूस आदमी और कब्जियत का शिकार न हो, बड़ा मुश्किल है। क्योंकि वह जो हर चीज को कंजूसी से देखने की आदत है, वह धीरे-धीरे उदरस्थ हो जाती है। फिर पेट मल को भी पकड़ने लगता है, उसको भी छोड़ता नहीं। सब चीजें पकड़नी हैं तो मल को भी पकड़ना है।

हमारे चित्त के जितने रोग हैं, सब अंततः गिरते जाते हैं, पेट में इकट्ठे होते जाते हैं। असल में पेट ही एकमात्र खाली जगह है जहां चीजें इकट्ठी हो सकती हैं। इसलिए उदर जनक कहते हैं। कि जितने- जितने उपद्रव

मैंने अपने पेट में इकट्ठे कर रखे थे, आपके तत्वविज्ञान की संसी से खींच ही लिये आपने। खींचने को कुछ बचा नहीं है। मेरा पेट हल्का हो गया है। मेरा पेट निर्भार हो गया है। एक बात।

दूसरी बात कही कि और हृदय से। मस्तिष्क की तो बात ही नहीं उठायी है। इसका कारण है। तीन तल हैं हमारे जीवन के। एक है शरीर का तल, एक मन का तल और एक है आत्मा का तल। पूर्वीय अनुसंधानकर्ताओं ने अनुभव किया कि शरीर के तल पर जो भी दबाया जाता, वह पेट में चला जाता है। चित्त के तल पर, मन के तल पर जो भी दबाया जाता है, वह हृदय में अवरुद्ध हो जाता है। और आत्मा के तल पर तो दमन हो ही नहीं सकता। और आत्मा का स्थान है मस्तिष्क के अंतस्तल में--सहस्रार। तो यह तीन स्थान हैं। पेट में शरीर का जोड़ है। हृदय में मन का जोड़ है। और सहस्रार में आत्मा का जोड़ है।

अगर शरीर और मन की गांठ खुल जाए, कुछ भी दबा हुआ न रह जाए, तो जो ऊर्जा पेट में अटकी है, जो ऊर्जा हृदय में उलझी है, वह मुक्त हो जाती है। वह मुक्त हुई ऊर्जा वह जो कमल का फूल तुम्हारे मस्तिष्क में प्रतीक्षा कर रहा है जन्मों-जन्मों से, उसे ऊर्जा मिल जाए तो वह खिल जाए। ऊर्जा के मिलते ही वह खिल जाता है। वहां मुक्ति है।

अगर बंधन कहीं है तो पेट और हृदय में है। अगर तुमने कुछ भी दबाया है, तो या तो वह पेट में पड़ गया होगा या हृदय में पड़ गया होगा। अधिकतर तो पेट में पड़ता, क्योंकि चित्त का दबाने योग्य लोगों के पास कुछ होता ही नहीं। जैसे समझो, तुमने अगर कामवासना दबायी तो पेट में पड़ जाएगी। तुमने क्रोध दबाया, तो पेट में पड़ जाएगा। तुमनेर् ईष्या, घृणा, हिंसा दबायी, तो पेट में पड़ जाएगी। यह सब शरीर के तल की घटनाएं हैं, बड़ी छुद्र। पहले तल की घटनाएं हैं।

किस आदमी ने अगर प्रेम दबाया, तो हृदय में पड़ेगा। गीत दबाया तो हृदय में पड़ेगा। संगीत दबाया तो हृदय में पड़ेगा। करुणा दबायी--फर्क समझ लेना, क्रोध दबाया तो पेट में पड़ता है, करुणा दबायी तो हृदय में पड़ती है। उठी थी करुणा, देने का मन हो गया था कि दे दें और दबा ली, तो हृदय अवरुद्ध हो जाएगा। उठा था क्रोध और दबा लिया है, तो पेट अवरुद्ध हो जाएगा। क्रोध नीचे तल की बात है, करुणा जरा ऊंचे तल की बात है। हम तो अधिकतर सौ में नब्बे मौके पर बिलकुल नीचे तल पर जीते हैं। इसलिए हमारा उपद्रव सब पेट में होता है। और फिर पेट की विकृतियां हजार तरह की बाधाएं, व्याधियां पैदा करती हैं। शरीर के तल पर जो बीमारियां पैदा होती हैं, उनमें भी सत्तर प्रतिशत तो पेट में दबाए गये मानसिक विकारों का ही हाथ होता है।

योग में बड़ी प्रक्रियाएं हैं पेट को शुद्ध करने की। लेकिन वे तो लंबी प्रक्रियाएं हैं। और फिर भी किसी योगी का कोई छुटकारा होता दिखता है, ऐसा बहुत कठिन होता है। लंबी यात्रा है। जन्मों-जन्मों तक योग के द्वारा कोई पेट का शोधन करता रहता है, तब कहीं कुछ हल हो पाता है।

लेकिन जनक कहते हैं कि आपने तो अपने शब्दों के वाणों से मेरे भीतर चुभे वाणों को निकाल लिया। मैं खाली हो गया। मैं रिक्त हो गया। मैं हल्का हो गया। मैं स्वस्थ हो गया हूं।

"हृदय और उदर से अनेक तरह के विचार रूपी वाण को निकाल दिया है।"

नानाविध परामर्श।

यह भी शब्द समझने जैसा है। तुम्हारी जिंदगी में इतनी सलाहें दी हैं लोगों ने तुम्हें, उन्हीं सलाहों के कारण तुम झंझट में पड़े हो।

नानाविध परामर्श।

जो देखो वही सलाह दे रहा है, जिसको कुछ पता नहीं वह भी सलाह दे रहा है। सलाह देने में लोग बड़े बेजोड़ हैं। तुम किसी से भी सलाह मांगो, वह यह तो कहेगा ही नहीं कि भई, इसका मुझे अनुभव नहीं है। यह तो कभी कहेगा ही नहीं कि इस संबंध में मैं कुछ नहीं कह सकता। तुम क्रोधी से क्रोधी आदमी से सलाह मांगो कि क्रोध के संबंध में क्या करूं, तो तुम्हें सलाह देगा कि क्या करो। शराबी भी तुम्हें सलाह देगा कि शराब कैसे छोड़ो। चोर तुम्हें चोरी के विपरीत सलाह दे सकता है। शायद देगा ही। क्योंकि उसी सलाह देने के आधार से वह

तुम्हारे मन में एक प्रतिमा पैदा करेगा कि कम से कम यह आदमी चोर तो नहीं हो सकता, जो चोरी के खिलाफ सलाह दे रहा है। बेईमान ईमानदारी की बातें करेगा। जिनको कुछ भी पता नहीं है, वे परम सत्य की बातें करेंगे। किताबों से उधार ले लिया होगा। शब्दजाल सीख लिया होगा। उसी को दूसरों पर फेंके जाते हैं। बुद्ध ने कहा है, अगर दुनिया में इतनी भी निष्ठा आ जाए कि आदमी वही कहे जितना जानता है, तो दुनिया में से आधा अंधकार दूर हो जाए। लेकिन लोग जो नहीं जानते वह भी कहे चले जाते हैं।

एक जैन-मुनि के साथ मुझे एक दफे बोलने का मौका आया। उन्होंने आत्मज्ञान पर एक घंटा व्याख्यान दिया। सुनकर तो मुझे लगा कि उनको कुछ भी पता नहीं है। वह जो भी कह रहे हैं, सब उधार है, सब बासा है। जब मैंने यह कहा तो वह बड़े बेचैन हो गये। मगर आदमी भले थे। चुप रहे, उन्होंने कुछ विवाद खड़ा न किया। सांझ एक आदमी को मेरे पास भेजा कि मैंने दिन भर सोचा आपने जो कहा और मुझे लगता है कि ठीक है, मुझे पता नहीं है। मैं चाहता हूं, आपसे मिलूं। तो मैंने कहा, मैं आऊंगा। इतना भला आदमी चाहे, तो उसे यहां मेरे पास आने की जरूरत नहीं, मैं आ जाऊंगा।

तो मैं गया, वहां दस-बीस लोग इकट्ठे हो गये थे। लोगों को खबर मिल गयी। तो जैन-मुनि ने कहा कि मैं एकांत में बात करना चाहता हूं। मैंने कहा, अब इतनी हिम्मत तो करो! ईमानदारी है, तो इतनी हिम्मत और। इनके ही सामने करो। घबड़ाना क्या है? यही न, इन लोगों को पता चल जाएगा आप अभी आत्मज्ञानी नहीं हैं। चल जाने दो पता। यह भी आत्मज्ञान की यात्रा पर पहला कदम होगा। सत्तर साल आपकी उम्र हुई, मैंने उनसे कहा, आप कहते हैं कोई पचास साल हो गये आपको संन्यास लिये, बीस साल के जवान थे तब संन्यास लिया, आपकी बड़ी खयाति है, हजारों आपके शिष्य हैं, जो आप कह रहे हैं उसमें से कुछ भी आपको पता नहीं है, क्यों कह रहे हैं?

उन्होंने कभी सोचा ही नहीं था। उन्होंने कहा, मैंने कभी इस तरह सोचा ही नहीं। आज आप पूछते हैं तो बड़ा किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो गया हूं। यह मैंने कभी सोचा ही नहीं कि क्यों कह रहा हूं। कह रहा हूं, यह बेहोशी में चलता रहा है। संन्यस्त हुआ था, शास्त्र पढ़ने शुरू किये, शास्त्र पढ़ने से प्रवचन शुरू हुआ; लोग पूछने आने लगे, मैं सलाह देने लगा, यह तो भूल ही गये कि ये पचास साल कैसे बीत गये इसी सलाह में। और जो सलाहें मैंने दी हैं, उनका मुझे कुछ पता नहीं।

दुनिया में इतना परामर्श है, इतनी सलाहें दी जा रही हैं, उनकी वजह से बड़ी कीचड़ तुम्हारे पेट में मची हुई है।

नानाविधपरामर्श।

यह जो न मालूम कितने-कितने तरह के परामर्श, मत-मतांतर, सिद्धांत, शास्त्र लोगों ने समझा दिये हैं, उन सबको आपने खींच लिया। आपने मेरी शल्य-चिकित्सा कर दी, सर्जरी कर दी, जनक ने कहा। मैं मुक्त हुआ। आपने काट लिया।

"अपनी महिमा में स्थित हुए मुझको कहां धर्म है, कहां काम है, कहां अर्थ; कहां द्वैत और कहां अद्वैत?"

और अब, अब जब जागकर मैं अपने को देखता हूं तो पाता हूं--

क्व धर्मः क्व च वा कामः क्व चार्थः क्व विवेकिता।
क्व द्वैतं क्व च वाऽद्वैतं स्वमहिम्नि स्थितस्य मे।।

अब जब जागकर देखता हूं तो एक ही बात दिखायी पड़ती है--अपनी महिमा के सिंहासन पर विराजमान हूं। कुछ करने को नहीं है। अपने गौरव में प्रतिष्ठित हो गया हूं। स्वमहिमा को उपलब्ध कर दिया आपने मुझे। सिर्फ कहकर, सिर्फ हिलाकर, सिर्फ आवाज देकर।

जीसस के जीवन में उल्लेख है कि उनका एक भक्त लजारस मर गया। वह बाहर थे गांव के। लजारस की बहनों ने खबर भेजी कि लजारस मर गया, आप जल्दी आएं। वे आये तो भी चार दिन लग गये। तब तक तो

लाश को संभालकर रखा उन्होंने--एक कब्र में रख दिया था। एक गुफा में छिपा दी थी लाश। जब जीसस आए तो वे दोनों बहनें मेरी और मार्था रोने लगीं और उन्होंने कहा कि अब तो क्या हो सकेगा! अब तो बदबू भी आने लगी। जीसस ने कहा, तुम फिकिर छोड़ो। अगर मैं पुकारूंगा तो लजारस सुनेगा।

किसी को भरोसा न था। पर भीड़ इकट्ठी हो गयी। जब वे गये उस गुफा के द्वार पर और उन्होंने जोर से आवाज दी कि लजारस बाहर आ! तो कहते हैं, लजारस अपनी अर्थी से उठा, चलकर बाहर आ गया। और जब बाहर आ गया तो लोग घबड़ा गये, लोग भागने लगे। जीसस ने कहा, भागो मत। मैंने तुमसे कहा था न, अगर मैं पुकारूंगा तो वह सुनेगा! क्योंकि वह मुझे सुन ही चुका है। और जब उसने जिंदा रहते हुए मेरी आवाज सुन ली, तो कोई कारण नहीं है कि मुर्दा रहते मेरी आवाज क्यों न सुनेगा! तुम न मुझे जिंदा रहकर सुने हो, न तुम मुझे मुर्दा रहकर सुन पाओगे--तुम जिंदा में भी नहीं सुन पाए तो तुम मुर्दा में कैसे सुनोगे?

ऐसी घटना घटी हो, न घटी हो, ये घटनाएं प्रतीक घटनाएं हैं। लेकिन बात तो सच है, गुरु जब पुकारता है शिष्य को कि लजारस उठ, बाहर आ, तो लजारस उठकर बाहर आ जाता है। श्रवणमात्रेण। फिर ना-नुच नहीं करता है। फिर यह नहीं कहता है कि अभी कैसे आऊं, अभी तो अंधेरा है, अभी तो रात बहुत है, अभी थोड़ी देर और सो लेने दें, कि मैं तो मरा पड़ा हूं--लजारस ने यह भी न कहा कि यह कोई वक्त की बात है, मैं इधर मरा पड़ा हूं, इधर कब्र में रखने की मेरी तैयारी चल रही है--जब लजारस बाहर आया तो उसके ऊपर कफन बंधा था--उसने यह भी न कहा कि अब कफन में बंधे से तो मत उठाओ, लोग क्या कहेंगे! कुछ तो औपचारिकता बरतो। नियम बिलकुल तो मत तोड़ो, मर्यादा तो रखो। मैं इधर मरा पड़ा हूं, अर्थी पर कसा पड़ा हूं, तुम बुलाते हो? नहीं, आ गया। सुनना आ जाए!

तो अगर तुम गौर से देखो तो तुम भी अर्थी पर रखे हो। यह शरीर जिसको तुम अपना कह रहे हो, अर्थी से ज्यादा नहीं है। और जिनको तुम वस्त्र कह रहे हो, यह कफनी से ज्यादा नहीं हैं। इसीलिए तो फकीर के वस्त्र को कफनी कहते हैं। कफन से बनाया कफनी। है तो कफनी ही। कफन कहो, कफनी कहो, क्या फर्क पड़ता है? इस शरीर पर जो भी वस्त्र पड़े हैं, सभी कफनी हैं। और यह शरीर खुद तो तुम्हारी अर्थी है। इसी पर चढ़े-चढ़े तो तुम मौत की तरफ जा रहे हो। यही शरीर तो तुम्हें एक दिन ले जाएगा चिता पर। इस मुर्दा शरीर के भीतर तुम जीवित पड़े हो, मगर तुम्हें सुनना नहीं आया।

जनक ने आवाज सुन ली। उसने कहा कि धन्य है! मैं किन शब्दों में धन्यवाद दूं?

"अपनी महिमा में स्थित हुए मुझको।"

एक क्षण में तुमने मुझे मेरी महिमा में स्थित कर दिया। ऐसा नहीं कि तुमने मुझे रास्ता बताया कि कैसे महिमा में स्थित हो जाऊं। तुमने रास्ता नहीं दिया, तुमने मार्ग नहीं दिया, तुमने मंजिल दे दी। अब कैसा धर्म? अब कैसा अर्थ? अब कैसा काम? कहां द्वैत है? कहां अद्वैत है? चकितभाव से--यह चकितभाव के उदघोषण हैं--इसलिए बार-बार यह शब्द आएगा।

क्व धर्मः।

कहां है धर्म?

क्व च वा कामः?

कहां गयी वासनाएं? कहां गयीं महत्वाकांक्षाएं?

क्व चार्थः?

कहां गयी अर्थ की प्रबल दौड़? आपाधापी, इतना कमा लूं, ऐसा कमा लूं, यह हो जाऊं, इस पद पर बैठ जाऊं। इतना ही नहीं...

क्व विवेकिता?

जिस विवेक को बहुत मूल्य देता था, विचार को, समझ को, वह समझ भी अब किसी काम की न रही। वह समझ भी अंधे के हाथ की लकड़ी थी। आंख खुल गयी, लकड़ी की क्या जरूरत रही।

हिंदू शास्त्र कहते हैं, "उत्तीर्णे तु यते पारे नौकाया किं प्रयोजनम्।" जब पार हो गये नदी, तब फिर नौका की क्या जरूरत? अंधा आदमी लकड़ी का सहारा लेकर टटोल-टटोलकर चलता है। लंगड़ा आदमी बैसाखी के सहारे चलता है।

जीसस के जीवन में एक उल्लेख है, एक लंगड़ा आया जो बैसाखी पर चलता आया। और कहते हैं, जीसस ने उसे छुआ और लंगड़ा स्वस्थ हो गया। जब वह जाने लगा तो भी वह अपनी बैसाखी साथ ले जाने लगा, तो जीसस ने कहा, अरे पागल, बैसाखी तो छोड़! अब यह बैसाखी कहां ले जा रहा है? लोग हंसेंगे।

पुरानी आदत। न-मालूम कितने वर्षों से बैसाखी लेकर चलता था, आज ठीक भी हो गया तो भी बैसाखी लिये जा रहा है।

जनक कहने लगे--कहां बैसाखियां! ये सब जो "क्व धर्मः?" धर्म की क्या जरूरत है दुनिया में? लाओत्सु ने कहा है, एक समय ऐसा था जब लोग धार्मिक थे, इतने धार्मिक थे कि धर्म का किसी को पता ही न था। जब अधर्म होता है, तब धर्म का पता होता है। लाओत्सु कहता है, जब लोग अधार्मिक हो गये, तब धर्म पैदा हुआ। तब धर्मगुरु आए।

एक हिंदू संन्यासी मेरे घर मेहमान थे और मुझसे कहने लगे, यह भारत-भूमि बड़ी धार्मिक है! मैंने कहा, कुछ शर्म करो, संकोच खाओ। वह कहने लगे, क्या मतलब आपका? संकोच, शर्म? सब तीर्थंकर, सब अवतार, सब बुद्धपुरुष यहीं पैदा हुए हैं। मैंने कहा कि फिर भी मैं तुमसे कहता हूं कि संकोच खाओ। डूब मरो चुल्लू भर पानी में। उन्होंने कहा, आपका मतलब क्या है? मेरी कुछ समझ में नहीं आता। यह तो महिमा की बात है।

मैंने कहा, महिमा की बात नहीं है। तुमसे ज्यादा अधार्मिक कोई नहीं होगा, तब तो इतने धर्मगुरु, अवतार, तीर्थंकर, इनको पैदा होना पड़ा। जिस घर में रोज डाक्टर आएं, उसका मतलब कोई बड़ी महिमा की बात है! कि सब बड़े-बड़े डाक्टर रोज हमारे यहां आते हैं, देखो कारें खड़ी रहती हैं डाक्टरों की! ऐसा कोई दिन नहीं जाता जिस दिन डाक्टर न आते हों। हमारे घर की महिमा! लोग कहेंगे, यह महिमा की बात नहीं, तुम बीमार हो। घर तो वह महिमावान है जहां डाक्टरों की कोई जरूरत नहीं। जहां डाक्टर आते ही नहीं। जहां दवा की बोतल आयी ही नहीं।

लाओत्सु यही कहता है। लाओत्सु कहता है, धन्य वे लोग थे जब धर्म का किसी को पता ही नहीं था कि धर्म क्या होता है! धर्म का पता तो तभी होता है जब अधर्म हो जाता है। अधर्म के इलाज के लिए धर्म की बोतल लानी पड़ती है, दवा लानी पड़ती है। अधर्म फैल जाता है तो धर्मगुरु होता है। दुनिया में अगर फिर कभी धर्म होगा तो धर्मगुरु पहली चीज होगी जो विदा हो जाएगी। धर्मगुरु की क्या जरूरत! स्वास्थ्य हो तो चिकित्सक की क्या जरूरत? लोग ईमानदार हों तो सिखाना थोड़े ही पड़े कि ईमानदारी से जीओ। और तुम लाख सिखाओ, क्या होता है!

एक ईसाई फकीर रविवार को चर्च में बोलता था और उसने कहा, अगले रविवार को सत्य के ऊपर मैं व्याख्यान दूंगा, लेकिन सबसे मेरी प्रार्थना है कि ल्यूक का अड़सठवां अध्याय पढ़कर आना। और जब वह बोलने खड़ा हुआ दूसरे रविवार को तो उसने खड़े होकर कहा कि भाइयो, जिन लोगों ने ल्यूक का अड़सठवां अध्याय पढ़ लिया हो, वे सब हाथ उठा दें। एक को छोड़कर सब लोगों ने हाथ उठा दिये। उस फकीर की आंखों से आंसू गिरने लगे। उसने कहा, अब सत्य पर बोलने से क्या सार है? क्योंकि ल्यूक का अड़सठवां अध्याय है ही नहीं, तुम पढ़ोगे कैसे! किसी ने बाइबिल थोड़े ही उठायी, किसी ने खोली थोड़े ही। कौन इन पंचायतों में पड़ता है! अब सत्य पर, उसने कहा, क्या खाक बोलूं? अब असत्य पर ही बोलना ठीक है। मगर फिर भी धन्यभाग कि कम से

कम एक आदमी तो हाथ नहीं उठाया। वह आदमी खड़ा हुआ, उसने कहा कि मैं जरा कम सुनता हूं, आपने क्या पूछा? आप उस अड़सठवें अध्याय के संबंध में तो नहीं पूछ रहे हैं? वह तो मैं पढ़ा हूं।

सत्य की चर्चा चलती है, जो असत्य में निष्णात हैं उनको समझाया जाता है। अहिंसा की बात उठती है, क्योंकि लोग हिंसा में डूबे हैं। लोग बेईमान हैं, ईमानदारी समझानी पड़ती है। लोग पापी हैं, इसलिए पुण्य का गुणगान गाना पड़ता है। अन्यथा इनकी क्या जरूरत!

यह परम अवस्था है स्वमहिमा की। कहने लगे जनक--

स्वमहिम्नि स्थितस्य मे।

यह अपनी महिमा में मुझे विराजमान कर दिया। एक चुटकी बजा दी और मुझे मेरी महिमा में विराजमान कर दिया। अब मैं चौंककर देखता हूं कि अब धर्म की कहां जरूरत है! धर्म क्या है यही मेरी समझ में अब न आएगा। धर्म की तो तब जरूरत होती है जब अधर्म होता है। और काम की क्या जरूरत? क्योंकि कामवासना तो तभी पैदा होती है जब तक तुम्हें अपनी महिमा का स्वाद नहीं मिला है, तब तक तुम दूसरे के पीछे जा रहे हो। काम का अर्थ, किसी और से मिल जाएगा सुख। पकड़े किसी का आंचल चले जा रहे। किसी का पल्लू पकड़े हो कि शायद इससे सुख मिल जाए, शायद उससे सुख मिल जाए। काम का अर्थ है, भिखारीपन। कोई दे देगा सुख, कोई स्त्री, कोई पुरुष। कोई प्रियजन सुख दे देगा--बेटा, बेटी, पति, पत्नी, कोई सुख दे देगा। दूसरे से काश सुख मिलता होता तो सभी को मिल गया होता। सुख मिलता स्वयं से। स्वयं की महिमा में विराजमान होने से।

जनक ने कहा कि धन्य है, मुझे बिठा दिया मेरे सिंहासन पर। अब मेरी समझ में यह नहीं आता कि लोग कामवासना से भरते क्यों हैं? जिनको स्वयं का स्वाद आ गया, जिसने भीतर की रति जान ली--आत्मरति, जिसने अंतर्संभोग जान लिया, जो अपने से ही मिल गया, अब उसको और कोई रति, और कोई रस, किसी और के आगे भिक्षापात्र फैलाने की जरूरत न रही। अब तो उसे भरोसा भी न आएगा कि लोग कैसे पागल हैं, जो तुम्हारे भीतर है तुम उसके लिए बाहर हाथ फैलाए खड़े हो! जिसके झरने तुम्हारे भीतर बह रहे हैं, तुम उसके लिए भिक्षापात्र लिये दर-दर घूम रहे हो, द्वार-द्वार धक्के खा रहे हो और जगह-जगह कहा जा रहा है, आगे बढ़ो। क्योंकि तुम जिनके पास सोचते हो है, उनके पास भी कहां है! वह किसी दूसरे के सामने हाथ फैलाए खड़े हैं।

एक भिखमंगा एक मारवाड़ी की दूकान के सामने भीख मांग रहा था। उसने जोर से कहा कि मालिक कुछ मिल जाए। उस मारवाड़ी ने कहा, घर में कोई भी नहीं है। वह भिखमंगा भी जिद्दी था, उसने कहा कि हम किसी को थोड़े ही मांग रहे हैं। कि तुम्हारी पत्नी को मांग रहे हैं कि तुम्हारे बेटे को मांग रहे हैं, अरे भीख मांग रहे हैं! कोई न हो न हो! कुछ मिल जाए। मारवाड़ी भी कोई ऐसे भिखमंगों से हार जाएं तो कभी के खत्म ही हो जाते। मारवाड़ी ने कहा कि न कोई घर में है, न कुछ देने को घर में है, अपना रास्ता लो, आगे बढ़ो। तो भिखमंगा भी हद्द था, उसने कहा, तो फिर भीतर बैठे तुम क्या कर रहे हो? तुम भी मेरे साथ हो लो। जो मिलेगा, आधा-आधा बांट कर खा लेंगे। अरे, जब कुछ है ही नहीं, तो भीतर क्या कर रहे हो?

मगर हालत यही है, जिनके सामने तुम मांगने गये हो उनके पास भी कुछ नहीं है। किसके पास कुछ है? सब तरफ तुम्हें उदास, मुर्दा चेहरे दिखायी पड़ेंगे। बुझी आंखें, बुझे हृदय, बुझे प्राण। राख ही राख! कोई फूल खिलते दिखायी नहीं पड़ते। न कोई वीणा बजती है, न कोई पायल। कोई नृत्य नहीं, कोई गीत नहीं। बिना गीत और नृत्य के जन्मे तुम कैसे जान पाओगे कि परमात्मा है? परमात्मा कोई तर्क थोड़े ही है, कोई सिद्धांत थोड़े ही है। परमात्मा तो उनकी समझ में आता है, जिनके भीतर गीत जन्मता है। स्वयं की महिमा में जो प्रतिष्ठित हो जाते हैं। जो मस्त हो जाते हैं, जो अपनी ही शराब में डोल जाते हैं। वही कह पाते हैं कि परमात्मा है। जो जान पाते हैं कि मैं हूं, वही कह पाते हैं कि परमात्मा है। जिन्होंने स्वयं को भी नहीं जाना, वे क्या परमात्मा को जानेंगे। और जिन्होंने स्वयं की महिमा को नहीं जाना, वे परमात्मा की इस विराट महिमा से कैसे परिचित होंगे।

थोड़ा इस छोटे-से भीतर के दीये से परिचित हो लो, तो तुम महासूर्यों के राज से परिचित हो गये। क्योंकि प्रकाश छोटा हो कि बड़ा, उसका नियम एक है। छोटे-से दीये में भी जो प्रकाश जलता है, वह महासूर्यों के प्रकाश से भिन्न नहीं है। बिलकुल एक है, वही है। पर दीये से तो थोड़ी दोस्ती बना लो। फिर सूर्यों से दोस्ती बना लेना। अभी तो घर में दीया रखा है और तुम अंधेरे में टटोल रहे हो, दूसरों के घर के सामने धक्के खा रहे हो।

"कहां काम है? कहां अर्थ है? कहां द्वैत, कहां अद्वैत?"

इसे थोड़ा समझना। आदमी में काम की वासना पैदा होती, क्योंकि उसे स्व-रस नहीं मिला। इसलिए पर-रस का भाव पैदा होता है। और आदमी में अर्थ की वासना पैदा होती है, कि धन हो, पद हो, प्रतिष्ठा हो, क्योंकि भीतर उसे हीनता को बोध होता है। मनस्विद उससे राजी हैं।

मनोवैज्ञानिक कहते हैं कि जो लोग हीनता की ग्रंथि, इनफीरिआरिटी कांप्लेक्स से पीड़ित हैं, वही लोग धन के पीछे, पद के पीछे दीवाने होते हैं। ऐसा तो राजनीतिज्ञ तुम पा ही नहीं सकते जो हीनता की ग्रंथि से पीड़ित न हो। नहीं तो कौन चिंता करेगा कुर्सियों पर चढ़ने की! और इतनी मार-कुटौवल के बाद! सौ-सौ जूते खाएं तमाशा घुसकर देखें। कुछ भी हो जाए, कितने ही जूते पड़ें, तमाशा उन्हें घुसकर ही देखना है। चाहे तमाशा वहां कुछ हो भी नहीं। चाहे तमाशा यही हो जो उनको जूते पड़ रहे हैं, इसकी ही भीड़ लगी हो। मगर कहीं न कहीं पद पर होना है। धन की ढेरी पर बैठना है। क्यों? भीतर तो कोई जरा-सा भी महिमा का बोध नहीं होता। शायद बाहर से थोड़ी अकड़ जुटा लें, धन के सहारे थोड़ी घोषणा कर सकें कि मैं भी कुछ हूं।

महावीर और बुद्ध अगर राजसिंहासनों से उतर गये तो तुम गलत मत समझ लेना। अक्सर गलत समझा गया है। अक्सर यही समझा गया है कि वे राजसिंहासन से उतर गये। मैं तुमसे एक और बात कहना चाहता हूं--वे असली सिंहासन पर चढ़ गये, इसलिए झूठे सिंहासन से उतरना पड़ा है। पहले लकड़ी-पत्थरों के सिंहासनों पर बैठे थे, अब उन्हें हीरे-जवाहरातों के सिंहासन मिल गये, वे क्यों बैठें? हालांकि तुम्हें नहीं दिखायी पड़े हीरे-जवाहरात के सिंहासन, क्योंकि तुम अंधे हो और तुम्हारी आंखों को हीरे-जवाहरात दिखायी पड़ने बंद हो गये हैं। तुम कंकड़-पत्थरों के सौदागर हो। तुम्हें व्यर्थ की चीजें दिखायी पड़ती हैं, सार्थक चूक जाता है। महावीर और बुद्ध असली सिंहासन पर बैठ गये, इसलिए फिर नकली सिंहासन से उतरना ही पड़ा, दो-दो पर तो बैठा नहीं जा सकता। दो सिंहासन पर तो कोई भी नहीं बैठ सकता।

एक राजनेता मुल्ला नसरुद्दीन को मिलने आया। तो मुल्ला नसरुद्दीन अपनी कुर्सी पर बैठा है, उसने कहा, कहिए, कैसे आए? राजनेता को बड़ा बुरा लगा, क्योंकि मुल्ला ने यह भी नहीं कहा कि बैठिये। उसने कहा, तुम जानते नहीं हो मैं कौन हूं? पार्लियामेंट का मेंबर हूं। संसद-सदस्य हूं। तो मुल्ला ने कहा, अच्छी बात है, तो कुर्सी पर बैठिये। उसने कहा, तुम्हें यह भी पता नहीं है कि जल्दी ही मैं मिनिस्टर हो जानेवाला हूं। तो मुल्ला ने कहा, तो फिर ऐसा करिये दो कुर्सी पर बैठ जाइये--अब और क्या करें! मगर दो कुर्सियों पर कोई बैठ कैसे सकता है!

नहीं, दो सिंहासन पर बैठने का कोई उपाय नहीं है। इसलिए एक सिंहासन खाली कर दिया। तुमने यही देखा है, जैन-शास्त्रों में बस इसी का वर्णन है; जो सिंहासन छोड़ दिया उसका वर्णन है, इसलिए ये शास्त्र अंधों ने लिखे होंगे। त्याग का वर्णन है, जो परमभोग उपलब्ध हुआ उसकी कोई बात ही नहीं हो रही है। तो ऐसा लगता है, ऐसी भ्रांति पैदा होती है कि महावीर त्यागी थे। मैं तुमसे कहता हूं, परमभोगी थे। त्याग? समझदार त्याग करेगा? त्याग का अर्थ ही क्या होता है? अगर कौड़ियां छोड़ दीं और हीरे संभाल लिये तो इसको त्याग कहोगे! व्यर्थ छोड़ दिया, सार्थक को पकड़ लिया, इसको त्याग कहोगे? असली साम्राज्य स्थापित हो गया, नकली साम्राज्य छोड़ दिया, इसको त्याग कहोगे?

नहीं, यह त्याग नहीं, त्यागी तुम हो। असली छोड़े, नकली पकड़े बैठे हो, त्यागी तुम हो। तुम्हारे महात्याग की जितनी प्रशंसा हो उतनी कम है। तुम कुछ ऐसे त्यागी हो कि जिसका हिसाब नहीं। अगर सोना और मिट्टी

रखी हो, तुम तत्काल मिट्टी पकड़ लेते हो, तुम छोड़ते ही नहीं मिट्टी। तुम्हें मिट्टी ही सोना दिखायी पड़ती है, और सोना मिट्टी दिखायी पड़ता है। और तुमने ही महावीर और बुद्ध की कथाएं लिखी हैं। तुमने सब गड़बड़ किया। तुमने इस तरह सिद्ध करने की कोशिश की तो जैन-शास्त्रों में लिखा है, इतने घोड़े छोड़े, इतने हाथी छोड़े, इतने रथ--संख्या बड़ी करते चले जाते हैं। न इतने घोड़े थे, न इतने रथ थे। हो भी नहीं सकते, क्योंकि महावीर का राज्य बड़ा छोटा था। एक तहसील से ज्यादा बड़ा नहीं था। तहसीलदार की हैसियत से ज्यादा बड़ी हैसियत हो नहीं सकती। जब महावीर ने राज्य छोड़ा तब इस देश में कोई दो हजार राज्य थे। टुकड़ों-टुकड़ों में बंटा था। छोटे-छोटे राज्य थे। जैसे अभी भी थे। दस-बीस गांव किसी के पास हैं, वह राजा। इतने घोड़े-हाथी जिसने लिखे हैं जैन-शास्त्रों में, इनको तो खड़े करने की भी जगह नहीं थी उनके राज्य में।

मगर आदतें हमारी खराब हैं। कुरुक्षेत्र में युद्ध हुआ, अट्ठारह अक्षौहिणी सेना! वह जगह इतनी नहीं है। वहां अगर अट्ठारह अक्षौहिणी सेना खड़ी करो तो खड़ी ही नहीं हो सकती है, लड़ने की तो बात ही और है। लड़ने के लिए थोड़ी-बहुत जगह तो चाहिए। बिलकुल घसमकश खड़ा कर दो उनको--तो भी खड़े नहीं हो सकते--मगर फिर हाथ भी नहीं हिलेगा; रथ वगैरह चलाना और घोड़े वगैरह दौड़ाना, यह असंभव है। मगर संख्या बड़ी करने का एक मोह होता है। वह हम पागल हैं, हम संख्या पर भरोसा करते हैं। हमारी आदतें ऐसी हैं। तुम्हारी जेब में पांच रुपये पड़े हों, तो तुम इस तरह दिखलाने की कोशिश करते हो, पचास पड़े हैं। क्योंकि हमारे मन में एक ही मूल्य है--धन का।

तो महावीर ने त्याग किया--छोटा-मोटा धन त्याग किया तो छोटा-मोटा त्याग हो जाएगा। हम जानते एक ही उपाय हैं, त्याग को भी तौलना हो तो धन के तराजू पर ही तौलते हैं। तो खूब त्याग दिखाते हैं--इतना-इतना था, वह सब छोड़ा! देखो, कितना महान त्याग! लेकिन मैं तुमसे कहता हूं, असली बात तुम चूके जा रहे हो। जो पाया, उसकी बात करो। क्योंकि पाने के लिए छोड़ा। सच तो यह है, पाकर छोड़ा। इधर मिल गया, अब उधर कचरे को कौन संभालता है!

कहने लगे जनक, "अपनी महिमा में स्थित हुए मुझको कहां धर्म, कहां काम, कहां अर्थ? और कहां द्वैत, कहां अद्वैत?"

नहीं, अब न तो यह कह सकता हूं एक है, न यह कह सकता हूं दो है। सिद्धांतों की सब बात बकवास हो गयी। आपने सब सिद्धांत मुझसे निकाल लिये। अब तो मुझे सत्य में छोड़ दिया। सत्य तो बस है। उसके संबंध में ज्यादा नहीं कहा जा सकता। जैसा है, है। एक है, दो है; छोटा है, बड़ा है; लाल है, पीला है; हरा-काला है, कुछ भी नहीं कहा जा सकता। कोई व्याख्या, कोई परिभाषा, कोई निर्वचन नहीं हो सकता। न तो कह सकते दो है और न कह सकते एक है। बस इतना कह सकते हैं, है। और खूब है, भरपूर है। होना मात्र कहा जा सकता है।

"नित्य अपनी महिमा में स्थित हुए मुझको कहां भूत है, कहां भविष्य है, अथवा कहां वर्तमान भी है, अथवा कहां देश भी है?"

क्व भूतं क्व भविष्यद्वा वर्तमानमपि क्व वा।
क्व देशः क्व च वा नित्यं स्वमहिम्नि स्थितस्य मे।।

समझना।

"नित्य अपनी महिमा में स्थित हुए...।"

नित्य को समझो। नित्यता, इटर्निटी, इसे समझो। साधारणतः हम जीते हैं समय में। और जो समाधिस्थ हुआ, वह जीता है नित्यता में। समय में नहीं। फर्क क्या है? समय बदलता है, नित्यता नित्य है, बदलती नहीं। इसीलिए तो नित्य नाम दिया है। समय अनित्य है। आया, गया। आ भी नहीं पाया कि गया। अभी सुबह हुई, अभी दोपहर होने लगी, अभी दोपहर हो ही रही थी कि सांझ आ गयी, कि रात आ गयी, कि फिर सुबह हो गयी--आया और गया। आना और जाना, आवागमन है समय। प्रवाह। लहरों की तरह।

मन तो जीता है समय में। और अगर तुम्हें स्वयं को जानना है तो समय के पार हटना पड़े। समय का विभाजन है: भूत--जो जा चुका, कभी था, अब नहीं है। भविष्य--जो कभी होगा, अभी हुआ नहीं है। और दोनों के बीच में वर्तमान का छोटा-सा क्षण। वह भी बड़ा कंपता हुआ क्षण है। वर्तमान का अर्थ हुआ, भविष्य भूत हो रहा है। वर्तमान का क्या अर्थ होता है? इतना ही अर्थ होता है कि जो नहीं था, फिर नहीं हो रहा है। एक नहीं से दूसरी नहीं में जाते हुए जो थोड़ी-सी देर लगती है क्षण भर को, उसको हम वर्तमान कहते हैं। अभी नौ बजकर पांच मिनट हुए हैं, यह जो सेकेंड है, मैं बोल भी नहीं पाया और गया। सेकेंड कहने में जितनी देर लगती है, वह ज्यादा है, सेकेंड उससे जल्दी बीत गया है। आ भी नहीं पाता, एक क्षण पहले भविष्य में था--तब भी नहीं था; और एक क्षण बाद फिर अतीत में हो गया--फिर नहीं हो गया; एक नहीं से दूसरी नहीं में चला गया, और जरा-सी देर को झलक मारा, पलक मारा, इसीलिए तो पल कहते हैं। पल इसीलिए कहते हैं उसे कि पलक मारा, बस गया। एक झलक दी और गया।

यह समय की तीन स्थितियां हैं--भूत तो है ही नहीं, भविष्य तो है ही नहीं और वर्तमान भी क्या खाक है? जरा-सा है। न होने के बराबर है। इन तीनों के पार जो है, उसका नाम नित्य।

"नित्य अपनी महिमा में स्थित हुए मुझको कहां भूत है, कहां भविष्य है और कहां वर्तमान भी है?"

अब तुम थोड़ा सोचना, साधारणतः कहा जाता है, वर्तमान में जीओ। मैं भी तुमसे कहता हूं कि वर्तमान में जीओ। क्योंकि इससे पार की बात तो तुम्हारी अभी समझ में न आ सकेगी। कृष्णमूर्ति भी तुमसे कहते हैं, वर्तमान में जीओ। लेकिन वर्तमान में कैसे जीओगे? भविष्य है, काफी बड़ा है, अभी हुआ नहीं है, मगर विस्तार है भविष्य का। अगर हाथ-पैर मारना चाहो तो मार सकते हो, थोड़ा जी सकते हो।

इसीलिए तो लोग भविष्य में जीते हैं, वर्तमान में नहीं जीते। क्योंकि थोड़ी सुविधा तो चाहिए चलने-फिरने की। या अतीत में जीते हैं, क्योंकि अतीत भी लंबा है। जो हो गया, उसकी भी धारा है। वर्तमान में कैसे जीओ, यह तो एक क्षण आया और गया। लेकिन कहते हैं तुमसे हम वर्तमान में जीने को, क्योंकि यह पहला कदम है नित्य में उतरने का। वर्तमान के क्षण में नित्य और समय का मिलन होता है। जर-सी देर को नित्यता समय में झांकती है, उतनी देर को समय सत्य हो जाता है।

इसको ठीक से समझना।

समय तो झूठ है। एक झूठ भविष्य, दूसरा झूठ अतीत। और दोनों के बीच में जो थोड़ा-सा सच मालूम होता है, वह भी समय के कारण सच नहीं है, वह नित्य उसमें झलक मारता है। वर्तमान का अर्थ हुआ, जहां समय और शाश्वत का थोड़ी देर को मिलन होता है। शाश्वत के प्रकाश में वर्तमान का क्षण चमक उठता है, एक क्षण को, फिर भागा, गया। इस शाश्वतता में उतरने के लिए वर्तमान में जीने की बात कही जाती है, लेकिन वह सिर्फ कामचलाऊ है। जब तुम उतरने लगोगे वर्तमान में तो तुम बहुत जल्दी पा जाओगे कि वर्तमान में उतरने का असली मतलब यह है कि वर्तमान के भी पार उतर जाना, समय के पार उतर जाना। न रह जाए अतीत, न भविष्य, न वर्तमान। यह काल की धारा न रह जाए। इसके पीछे छिपा है अ-काल।

वह जो पीछे छिपा है इस धारा के और जिसकी रोशनी के कारण, जिसकी पुलक के कारण, जिसके प्राण के कारण थोड़ी देर को वर्तमान जीवित हो जाता है, उस जीवंत में उतर जाना, उसका नाम है नित्य, इटर्निटी।

अब ऐसा समझो कि ये मेरी तीन अंगुलियां तुम्हारे सामने हैं। एक का नाम भविष्य, एक का नाम वर्तमान, एक का नाम अतीत। लेकिन तीन अंगुलियों के बीच में तुम्हें दो खाली जगह भी दिखायी पड़ रही हैं। वर्तमान, अतीत, भविष्य, इनके बीच में जो दो खाली जगह हैं, उन्हीं खाली जगहों में उतरकर नित्यता का अनुभव होता है। समय के दो क्षण के बीच में जो अ-क्षण होता है, जो नो मोमेंट होता है, वही नित्यता का है।

एक क्षण गया, दूसरा आ रहा है, इन दोनों के बीच में जो थोड़ा-सा अंतराल है, इंटरवल है, रिक्त जगह है, शून्य है, उसी में शाश्वत का निवास है।

"नित्य अपनी महिमा में स्थित हुए मुझको कहां भूत, कहां भविष्य, कहां वर्तमान और कहां देश?"

आइंस्टीन ने तो अभी इस सदी में जाकर यह पता लगाया कि समय और देश एक ही घटना के पहलू हैं। समय और देश, टाइम और स्पेस अलग-अलग चीजें नहीं हैं, दोनों जुड़े हैं। यह अष्टावक्र की गीता में, जनक के इस वचन में जोड़ है। यह आकस्मिक नहीं है कि एक साथ कहा--

क्व देशः...।

क्व भूतं क्व भविष्यद्वा वर्तमानमपि क्व वा क्व देशः।

न भूत, न भविष्य, न वर्तमान, और कोई देश भी नहीं, कोई "स्पेस" भी नहीं।

यह दोनों एक सूत्र में कहे, बात जाहिर है कि दोनों का संबंध स्मरण में होगा। दोनों का संबंध अनुभव में होगा। देश और काल एक ही घटना के दो पहलू हैं। आइंस्टीन ने तो एक अलग ही शब्द बना लिया, स्पेसियोटाइम; अलग-अलग जिसमें न कहना पड़े। क्योंकि दोनों इकट्ठे हैं। समय को आइंस्टीन ने कहा, स्पेस का ही चौथा आयाम। समय और देश एक-साथ हैं। जैसे ही समय गया, वैसे ही देश चला जाता है। कठिन होगा समझना, क्योंकि बुद्धि तो समय और देश में जीती है। बुद्धि के पार एक ऐसी जगह है, जहां जगह भी मिट जाती है।

इसलिए तुम अगर मुझसे पूछो कि आत्मा किस जगह है, तो मैं उत्तर न दे सकूंगा। किसी ने कभी उत्तर नहीं दिया, क्योंकि आत्मा जगह के बाहर है। शरीर किस जगह है, बताया जा सकता है। पूना में है, कि कलकत्ता में है, कि न्यूयार्क में है। अक्षांश-देशांश पर कहां है, तो नक्शे पर बताया जा सकता है कि इतने अक्षांश, इतने देशांश पर है। अभी तुम यहां बैठे हो, कौन कहां बैठा है, बताया जा सकता है। लेकिन आत्मा कहां है, उत्तर नहीं दिया जा सकता। लोग पूछते हैं, आत्मा कहां है, हृदय में है, नाभि में है, मस्तिष्क में है, कहां है? तुम जब प्रश्न पूछते हो, तुम्हें पता नहीं है कि तुम एक गलत प्रश्न पूछ रहे हो जिसका कोई उत्तर नहीं हो सकता है। आत्मा स्थान के बाहर है। तुम पूछो, आत्मा कब है? सुबह छः बजे है, कि दोपहर बारह बजे है, कि शाम तीन बजे है, आत्मा कब है? भविष्य में, वर्तमान में, अतीत में? नहीं, आत्मा के लिए फिर भी उत्तर नहीं दिया जा सकता है, आत्मा समय और स्थान के बाहर है। समय और स्थान आत्मा में हैं, आत्मा समय और स्थान में नहीं है। आत्मा ने सबको घेरा है। उस आत्मा में सब शून्य हो जाता है।

जनक ने कहा, आपकी कृपा से मैं वहां हूं जहां मेरे मन में ये प्रश्न उठ रहे हैं, जिज्ञासा उठ रही है कि कहां गया समय, कहां गया वर्तमान, कहां गया अतीत, कहां गया भविष्य? और देश भी खो गया है। मैं शून्य में खड़ा हूं। और परम महिमा में विराजमान हूं।

नित्यं स्वमहिम्नि स्थितस्य में।

और शाश्वत रूप से स्थिर हो गया हूं। इसमें कुछ बदलाहट भी नहीं हो रही है, कुछ आ नहीं रहा है, कुछ जा नहीं रहा है। जो है, जैसा है, वैसा ही ठहरा है। अकंप, निष्कंप। यह जीवन की परम अनुभूति है।

"अपनी महिमा में स्थित हुए मुझको कहां आत्मा है और कहां अनात्मा है? अथवा कहां अचिंता है, कहां चिंता है?"

अब और एक अपूर्व सूत्र वे जोड़ते हैं। हिंदू, जैन कहते हैं, आत्मा--उस परम सत्य का नाम। बौद्ध उस परम सत्य को नाम देते हैं, अनात्मा। अष्टावक्र दोनों के पार चले जाते हैं। अष्टावक्र का शिष्य जनक घोषणा करता है, अब न कोई आत्मा है, न कोई अनात्मा। न तो कोई मैं, न कोई पर। अब तो यह भी नहीं कह सकता कि मैं हूं। और यह भी नहीं कह सकता कि मैं नहीं हूं। कुछ ऐसी नयी घटना घट रही है कि किसी शब्द में नहीं बंधती है। कोई अभिव्यक्ति अब सार्थक नहीं है।

क्व च आत्मा क्व च वानात्मा क्व शुभं क्वाशुभं तथा।
क्व चिंता क्व च वाचिंता स्वमहिम्नि स्थितस्य मे।।

अपनी महिमा में बैठा, न कोई चिंता पकड़ती है, और ऐसा भी नहीं कह सकता कि अचिंता की अवस्था है। ऐसा भी नहीं कह सकता कि चिंता मौजूद नहीं है। न तो चिंता मौजूद है, न गैर-मौजूद है। चिंता और अचिंता दोनों एक-साथ तिरोहित हो गयी हैं। न यह कह सकता हूं कि मैं आत्मा हूं, न यह कह सकता हूं कि मैं अनात्मा हूं। दोनों शब्द अधूरे हैं, पूरे-पूरे नहीं। और घटना इतनी बड़ी है कि और कोई शब्द इसे कह नहीं पाता। अब न कुछ शुभ है और न कुछ अशुभ। न कोई पुण्य, न कोई पाप। न कोई स्वर्ग, न कोई नर्क। न कोई सुख, न दुख। गये सब द्वंद्व, गये सब द्वैत।

"अपनी महिमा में स्थित हुए मुझको कहां स्वप्न, कहां सुषुप्ति, कहां जाग्रत"--और सुनना-- "कहां तुरीय?"

यह सूत्र छोड़ दिया था अष्टावक्र ने। कहा था, न स्वप्न, न जागृति, न सुषुप्ति। इन तीनों के पार जो है, तुरीय। लेकिन जनक कहते हैं, अब तुरीय भी कहां! चौथे को तो हम तभी गिन सकते हैं जब तीन हों। तीन के बाद ही चौथा अर्थवान हो सकता है। जब तीन ही गये तो अपने साथ चौथे को भी ले गये, तुरीय को भी ले गये। संख्या ही गयी। संख्यातीत में प्रवेश हुआ।

यह मैंने कहा कि थोड़ी-सी बात जैसे छोड़ दी थी अष्टावक्र ने, उसको जनक पूरा कर देते हैं। वे योग्य उतरते हैं कसौटी पर। वे अपने गुरु को कह रहे हैं कि आप मुझे धोखा मत दो। जब तीन चले गये तो चौथा कैसे बचेगा? मैं तुमसे कहता हूं, चौथा भी गया। गणना मात्र गयी।

क्व स्वप्नः क्व सुषुप्तिर्वा क्व च जागरणं तथा।
क्व तुरीयं भयं वापि स्वमहिम्नि स्थितस्य मे।।

और बड़ी अनूठी बात कहते हैं। स्वप्न गया, जागरण गया, निद्रा गयी, तुरीय भी गयी। और सब भय गया। अचानक भय को क्यों जोड़ देते हैं? भय से इसका क्या लेना-देना है?

गहरा संबंध है। ये सब तरंगें भय की ही हैं। ये सोना और जागना और स्वप्न और तुरीय, ये सब भय की तरंगें हैं। गहरे विश्लेषण पर पाया जाता है कि भय ही मन है। जब तक तुम भयभीत हो, तब तक मन है। जब भय गया, मन गया। जहां भय न रहा, मन न रहा। और जहां मन न रहा, वहां सब गणना गयी। यह गणना करनेवाला हिसाब-किताब लगानेवाला मन है। तुमने देखा कभी? जितने तुम भयभीत होते हो उतना ही हिसाब-किताब लगाते हो।

मेरे गांव में मेरे सामने एक सुनार रहता है। उसकी बड़ी मुसीबत है। वह ताला लगाएगा, फिर देखेगा हिलाकर, फिर दो कदम चला जाएगा, फिर लौटकर आएगा, फिर ताला हिलाएगा और गांव भर उसको सताता। रास्ते पर मिल गया, कोई कह देता है, अरे, ताला ठीक से देख लिया है कि नहीं? तो पहले तो वह कहता है, देख लिया है, मुझे परेशान करने की जरूरत नहीं है। लेकिन दो कदम जाकर उसको शंका पैदा हो जाती है कि पता नहीं यह आदमी ठीक कह रहा हो! तो वह फिर लौटकर, आधे बाजार से लौटकर चला आएगा, फिर ताला हिलाकर देखेगा।

मैं उसे बैठा देखता रहता था, मैंने उससे कहा कि मामला क्या है? उसने कहा, यह पता नहीं मुझे क्यों आदत पड़ गयी है? मैंने कहा, यह ताले का सवाल नहीं है, तेरे भीतर कहीं भय होगा। ताले में क्या रखा है, तेरे भीतर कहीं भय होगा। कुछ भय है। तूने कुछ छिपा रखा है घर में कि कोई चोरी चला जाए, या क्या हो जाए! इस गांव में इतने पैसेवाले लोग हैं, कोई ताला नहीं हिलाता, एक तू है--तेरी कोई हालत भी अच्छी नहीं है, दिन भर बमुश्किल मेहनत करके रुपये-दो रुपये कमा पाता है--तू छिपाए क्या है? वह थोड़ा घबड़ाया। वह कहने लगा, आपको पता कैसे चला? मैंने कहा, पता का सवाल ही नहीं है, इसमें पता चलने की क्या बात है, तेरा भय बता रहा है कि कुछ छिपा बैठा है। और तेरा यह ताला नहीं छूटेगा, क्योंकि तुझे लोग इतना सताते हैं। वह नदी

में नहा रहा है, और बीच में कह दो जरा कि अरे, सोनी जी! ताला! अब वह, पहले तो वह गाली देगा, नाराज होगा कि नहाने भी नहीं देते फुरसत से, मगर वह एक मिनट से ज्यादा नहीं रुक सकता है पानी में, वह निकला, भागा, वह ताला! उसको लाख लोग समझा चुके हैं कि तू ताला हिलाना छोड़, इसमें कुछ सार नहीं है, एक दफे देख लिया, हिला लिया, बहुत हो गया।

और जब मैंने उसको कहा कि ताला असली सवाल नहीं है, तू सोचता है कि ताले से तेरी उलझन है, यह बात गलत है, कुछ और मामला है। भय है कुछ। उस दिन से उसने ताला हिलाना छोड़ दिया। मैंने उससे पूछा कि मामला क्या है? गांव बड़ा चकित हुआ। क्योंकि लोग उससे कहें, सोनी जी, ताला! वह कहे कि तुम्हीं हिला लेना। जा रहे हो उसी तरफ, जरा हिला लेना। लोग बड़े चौंके कि हुआ क्या? मामला क्या है? मामला कुछ भी न था। बड़ी छोटी-सी बात थी। एक भय था उसके मन में, कुछ पैसे उसने गड़ा रखे थे। वह उन्हीं में उलझा हुआ था। मैंने उससे कहा, तू पैसे निकाल ले, बैंक में जमा कर आ। कुछ ज्यादा पैसे भी नहीं थे--ज्यादा-कम का कहां हिसाब है, आदमी एक पैसे को लेकर भयभीत हो सकता है। भय हो, तो हजार कंपन उठते हैं। कहीं ऐसा तो नहीं हो जाएगा, कहीं वैसा तो नहीं हो जाएगा। कहीं कोई निकाल तो नहीं लेगा। भय हो तो मन कंपता है। कंपता है तो इंतजाम करना पड़ता है कंपने से रुकने का। लेकिन जहां भय गया, वहां सब कंपन चला जाता है।

भय क्या है? भय एक है कि मौत होगी। और तो कोई खास भय नहीं है। मरना पड़ेगा, यह भय है। जब तक तुम्हें लगता है कि मरना पड़ेगा, मरना होगा, मौत आएगी, तब तक तुम कंपते रहोगे। कंपन से फिर सब पैदा होता है, लहरों पर लहरें उठती हैं--जागने की, सोने की, सपने की, नींद की, तुरीय की। लेकिन जिस दिन तुमने यह स्वीकार कर लिया कि जो है, वह कैसे मरेगा। और जो नहीं है, वह बचने से भी कैसे बचेगा। मैं तो मरूंगा, अहंकार की तरह--मरूंगा ही, क्योंकि अहंकार शाश्वत नहीं हो सकता, बनावटी है। लेकिन मैं रहूंगा शाश्वत में शाश्वत की तरह। वह मुझसे भी पहले था, वह मेरे बाद भी रहेगा। जो मेरे जन्म के पहले था, वह मेरे जन्म के बाद भी रहेगा। जो जन्म के कारण निर्मित हुआ है, मौत के साथ समाप्त हो जाएगा। जैसे ही तुम्हें बोध होना शुरू होता है कि तुम अहंकार नहीं हो, तुम्हारा मैं-भाव गिरता है, वैसे ही मृत्यु-भाव गिर जाता है। मृत्यु-भाव जहां गिरा, वहां सब गिरा। भय गिरा, मन गिरा। मन गिरा कि तुम जगे। और उस जागरण में जनक कहते हैं कि न तो स्वप्न है, न सुषुप्ति, न जागरण। इतना तो क्या, तुरीय भी कहां है? इसका भी मुझे पता नहीं चलता है।

इस आखिरी वक्तव्य से कि तुरीय भी नहीं है, जनक ने कह दिया, साक्षीभाव परिपूर्ण हो गया। पूर्ण हो गया।

"अपनी महिमा में स्थित हुए मुझको कहां दूर और कहां समीप? कहां बाह्य और कहां अंतस है? कहां स्थूल, कहां सूक्ष्म है?"

क्व दूरं क्व समीपं वा बाह्यं क्वाभ्यंतरं क्व वा।
क्व स्थूलं क्व च वा सूक्ष्मं स्वमहिम्नि स्थितस्य मे।।

अपने में आ गया, अपने घर आ गया, अपने केंद्र पर बैठ गया। अब कौन दूर, कौन पास! दूर और पास का तो मतलब ही होता है, अन्य है। अब तो मैं बैठ गया अपने में और पाया कि मैं सर्व में बैठा हूं। स्व में बैठकर पाया कि सर्व हो गया हूं। अब कोई दूर नहीं, कोई पास नहीं, क्योंकि कोई दूसरा है ही नहीं। अनन्यभाव पैदा हुआ है। मैं ही हूं।

"अपनी महिमा में स्थित हुए मुझको कहां मृत्यु है अथवा कहां जीवन? कहां लोक, कहां लौकिक व्यवहार? कहां लय और कहां समाधि?"

क्व मृत्युर्जीवितं वा क्व लोकाः क्वास्य क्व लौकिकम्।

क्व लयः क्व समाधिर्वा स्वमहिम्नि स्थितस्य मे।।

अपने में विराजमान होकर अब न तो किसी में लय होना है, न कहीं समाधि लगानी है। क्योंकि कोई है ही नहीं जिसमें लय होना हो। कोई है ही नहीं जिसमें समाधिस्थ होना हो। न तो कुछ लोक है, न कुछ परलोक है। ये सारे द्वंद्व गये। ये सारे विभाजन गये। सब विभाजन भय के हैं। मृत्यु के कारण सब विभाजन हैं। अब तो जीवन भी नहीं है, मृत्यु भी नहीं है।

और अंतिम सूत्र आज का--

"आत्मा में विश्रांत हुए मुझको धर्म, अर्थ और काम की कथा अलम् है, योग की कथा अलम् है और विज्ञान की कथा भी अलम् है।"

अलं त्रिवर्गकथया योगस्य कथयाप्यलम्।
अलं विज्ञानकथया विश्रांतस्य ममात्मनि।।

अलम् शब्द का अर्थ होता है, हो गयी बात, पूर्ण हो गयी। आ गया पूर्ण विराम। "दि एंड"। अलम् का अर्थ होता है, आखिरी बात आ गयी, आत्यंतिक। यहां कहानी पूरी होती है, अलम् का अर्थ होता है। इत्यलम्--दि एंड।

आत्मा में विश्रांत हुए मुझको अब न तो धर्म की कथा में कोई रुचि है, न अर्थ की कथा में कुछ रुचि है, न काम की कथा में कुछ रुचि है। जो आदमी काम की कथा में रुचि लेता है, वह बताता है कि उसका शरीर अभी कामातुर है। जो आदमी धन की कथा में रुचि लेता है, वह बताता है कि उसका मन अभी धनातुर है। और जो आदमी धर्म की कथा में रुचि लेता है, उसका मन बताता कि उसके प्राण मोक्ष पाने के लिए, परमात्मा पाने के लिए उत्सुक हैं, जिज्ञासु हैं।

जनक कहते हैं, मैंने पा लिया। तुमने कहा और मैंने पा लिया। तुमने पुकारा और मैंने सुन लिया। तुमने चुनौती दी और मैं जाग गया।

अलं त्रिवर्गकथया...।

अर्थ, काम, मोक्ष, धर्म इत्यादि की सब कथाएं समाप्त हो गयीं। मैं पूर्ण हुआ।

अलं विज्ञानकथया विश्रांतस्य ममात्मनि।

योग की कथा भी अब व्यर्थ है और विज्ञान की भी। विज्ञान का अर्थ होता है, बाहर का योग। योग का अर्थ होता है, भीतर का विज्ञान। अब तो बाहर-भीतर का भेद नहीं रहा, इसलिए सब बातें व्यर्थ हो गयीं। अब शब्द का कोई प्रयोजन नहीं है। शब्द का काम पूरा हो गया। एक कांटा लग जाता है पैर में, तुम दूसरे कांटे से उस कांटे को निकाल लेते। अब तो दोनों कांटे बेकार हो गये। अब तुम दोनों को फेंक देते हो।

जनक यह कह रहे हैं कि मैंने शब्दों के बहुत-बहुत कांटे जन्मों-जन्मों में लगा रखे थे, सदगुरु की कृपा से, तुम्हारे शब्दों से तुमने मेरे कांटे निकाल लिये, अब तो तुम्हारे शब्दों की भी कोई जरूरत नहीं है। अब तो बात ही खतम हो गयी। अलम्। आ गया अंत।

वह मौजे-हवादिस का थपेड़ा न रहा
कश्ती वह हुई गर्क तो बेड़ा न रहा
सारे झगड़े थे जिंदगानी के "अनीस"
जब हम न रहे तो कुछ बखेड़ा न रहा

अलम्। हरि ॐ तत्सत्।

आज इतना ही।

अठासीवां प्रवचन

परमात्मा अनुमान नहीं, अनुभव है

पहला प्रश्न: मैं कभी जीवन के शिखर पर अनुभव करता हूं। ऐसा लगता है कि सब कुछ, जीवन का सब रहस्य पाया हुआ ही है। लेकिन फिर किन्हीं क्षणों में बहुत घनी उदासी और असहायता भी अनुभव करता हूं--मेरी वास्तविक समस्या क्या है, यह मेरी पकड़ में नहीं आता है।

शिखर जब तक है, तब तक घाटियां भी होंगी। शिखर की आकांक्षा जब तक है, तब तक घाटियों का विषाद भी झेलना होगा। सुख को जिसने मांगा, उसने दुख को भी साथ में ही मांग लिया। और सुख जब आया तो उसकी छाया की तरह दुख भी भीतर आ गया।

हम सुख के नाम तो बदल लेते हैं, लेकिन सुख से हमारी मुक्ति नहीं हो पाती। और जो सुख से मुक्त नहीं, वह दुख से मुक्त नहीं होगा। अष्टावक्र की पूरी उपदेशना एक ही बात की है: द्वंद्व से मुक्त हो जाओ। जो निर्द्वंद्व हुआ, वही पहुंचा। जिस शिखर को तुम सोचते हो पहुंच गये, वह पहुंचने की भ्रांति है। क्योंकि पहुंचने का कोई शिखर नहीं होता। पहुंचना तो बड़ी समभूमि है। न ऊंचाई है वहां, न नीचाई है वहां। पहुंचना तो ऐसे ही है जैसे तराजू तुल गया। दोनों पलड़े ठीक समतुल हो गये। बीच का कांटा ठहर गया। या जैसे घड़ी का पेंडुलम बाएं गया, दाएं गया, तो चलता रहेगा। लेकिन बीच में रुक गया, न बाएं, न दाएं, ठीक मध्य में, तो घड़ी रुक गयी।

जहां न सुख है, न दुख, दोनों के बीच में ठहर गये, वहीं छुटकारा है, वहीं मुक्ति है। अन्यथा मन नये-नये खेल रच लेता है। धन पाना, ध्यान पाना, संसार में सफलता पानी, कि धर्म में सफलता पानी। लेकिन जब तक सफलता का मन है और जब तक सुख की खोज है तब तक तुम दुख पाते ही रहोगे। क्योंकि हर दिन में रात सम्मिलित है। और फूलों के साथ कांटे उग आते हैं। फूल कांटों से अलग नहीं और रात दिन से अलग नहीं।

छोड़ना हो तो दोनों छोड़ना। एक को तुम न छोड़ पाओगे। एक को हम सब छोड़ने की कोशिश कर रहे हैं। हमारी सब की चेष्टा यही है कि रात समाप्त हो जाए, दिन ही दिन हो। ऐसा नहीं होगा। संसार द्वंद्व से बना है। हां, अगर तुम द्वंद्व के बाहर सरक जाओ, अतिक्रमण हो जाए, तुम दोनों के साक्षी हो जाओ। अब समझो फर्क।

तुम कहते हो, "कभी-कभी शिखर पर होता हूं।"

जब तुम शिखर पर होते हो, कुछ शांति मिलती है, कुछ आनंद मिलता, कुछ पुलक समाती, कुछ उत्सव होता भीतर, तब तुम उस उत्सव के साथ तादात्म्य कर लेते हो। तब तुम सोचते हो, मैं उत्सव। तब तुम सोचते हो, मैं आनंद। बस वहीं चूक हो गयी। साक्षी बने रहो। होने दो शिखर, उठने दो शिखर, गौरीशंकर बनने दो, उत्तुंग ऊंचाई आ जाए, लेकिन तुम देखते रहो दूर खड़े, जुड़ मत जाओ, यह मत कहो कि मैं आनंद। इतना ही कहो, आनंद को देख रहा हूं, आनंद हो रहा है, मैं देखनेवाला, मैं आनंद नहीं। फिर थोड़ी देर में तुम पाओगे कि शिखर गया और घाटी आयी। दिन गया, रात आयी। तब भी जानते रहो कि मैं विषाद नहीं। देखता हूं विषाद है, दुख है, पीड़ा है, मैं दूर खड़ा द्रष्टामात्र। सुख को भी देखो, दुख को भी देखो। जब तुम देखनेवाले हो जाओगे तो कैसा शिखर, कैसी घाटी! फिर कैसी विजय और कैसी हार!

नहीं तो मन नयी-नयी चालें चलता है।

नाशाद किसे कहते हैं और शाद किसे
मजबूर किसे कहते हैं आजाद किसे
एक दिल है कि सौ भेष बदलता है "फिराक"
बरबाद किसे कहते हैं आबाद किसे

एक दिल है कि सौ भेष बदलता है "फिराक"--एक ही मन है, नयी-नयी भंगिमाओं में प्रगट होता है। कभी शिखर पर, कभी घाटी में। जो शिखर पर, वही घाटी में। वह कुछ भिन्न नहीं है। तुम जब शिखर पर अपने को अनुभव करते हो तब बड़े प्रभावित हो जाते हो कि अहा, पहुंच गये! बस जहां तुमने कहा अहा, पहुंच गये, वहीं से उतार शुरू हो गया, गिनती शुरू हो गयी। कहो ही मत कि अहा, पहुंच गये। तो फिर तुम कभी चूक न सकोगे। पकड़ो मत, तो कुछ छुड़ाया न जाएगा। दूर खड़े तटस्थ देखते रहो।

अब दुबारा जब सुख की यह घड़ी आए--और ध्यान रखना, शुरू करना सुख की घड़ी से। दुख की घड़ी से शुरू मत करना। दुख की घड़ी से तो तुम शुरू करना चाहोगे। तुम कहोगे, तो फिर ठीक, अब जब घाटी आएगी और विषाद घेरेगा और अंधेरी रात पकड़ लेगी, तब मैं कहूंगा--मैं द्रष्टा। मैं दूर खड़ा। दुख में तो सभी दूर खड़े होना चाहते हैं, वह कोई बड़ी कुशलता की बात नहीं। दुख में कौन जुड़ना चाहता है! दुख में तो तुम्हारा मन ही तुमसे कहता है कि हट जाओ। नहीं, दुख से शुरू मत करना। दुख में तो शुरू किया तो कोई सार न होगा। जब सुख की घड़ी आए और सब तरफ कमल खिल जाएं और चांद ऊपर खिला हो और सब तरफ रस ही रस बहता हो, तब एक छलांग लगाकर बाहर हो जाना--कहना, मैं सुख नहीं, मैं सिर्फ द्रष्टा हूं।

अगर तुम सुख में जीते, तो दुख में भी जीत जाओगे। अगर तुमने दुख से कोशिश शुरू की, तो तुम कभी न जीतोगे। क्योंकि दुख से तो सहज ही मन अलग होना चाहता है। उसमें कुछ साधना नहीं है। उसमें कुछ जतन नहीं है। कोई गुणवत्ता नहीं है। कांटे से कौन नहीं छूटना चाहता! कांटा चुभ जाता है तो सभी कांटे को फेंकना चाहते हैं। मजा तो तब है जब तुम फूल को फेंक दो। और जिसने फूल को फेंक दिया, उसके जीवन से कांटे समाप्त हो जाते हैं।

नहीं तो तुम उलझे ही रहोगे। जब घाटी में रहोगे, तब शिखर की आकांक्षा सताएगी। जब शिखर पर रहोगे, तब घाटी का भय पकड़ेगा कि फिर आती होगी घाटी, फिर होगी रात। यह सूरज ऊगा, यह दोपहरी हो गयी, यह सांझ होने लगी, रात आती ही होगी। न तुम शिखर पर शांत हो सकते हो, क्योंकि शिखर पर तुम्हें याद आती ही रहेगी घाटी की। सफल आदमी कहां आनंदित हो पाता है! डरा रहता है--अब विफलता लगी, अब विफलता लगी, कितनी देर और सफल रह पाऊंगा? डरा रहता है, कहीं खो तो न जाएगा। और जिसका भय है कि खो तो न जाएगा, उसका सुख कैसे हो सकता है? वह सुख धोखा-धोखा है।

हिर्स और हवसे-हयाते-फानी न गयी
इस दिल से हवाए-कामरानी न गयी
है संगे-मजार पर तिरा नाम रवां
मरकर भी उमीद-ए-जिंदगानी न गयी
नश्वर जीवन की लालसा नहीं गयी--
हिर्स और हवसे-हयाते-फानी न गयी

जो छिन जाता है क्षण भर में, फिर हम उसे मांगने लगते हैं। कभी यह नहीं सोचते कि जो क्षण में छिन गया, फिर भी मिल जाएगा तो फिर क्षण में छिन जाएगा। उसका होना ही क्षणभंगुर है।

हिर्स और हवसे-हयाते-फानी न गयी
इस दिल से हवाए-कामरानी न गयी

और कितनी हारें तुमने उठायीं, फिर भी विजय की आकांक्षा नहीं जाती। विजय की उत्कंठा मन को पकड़े ही हुए है। फिर जीत लें। न जीत पाए संसार में, तो परमात्मा के जगत में जीत लें। नहीं बना पाए यहां स्वर्ग, तो वहां स्वर्ग मिल जाए। धन नहीं जुड़ा, पुण्य जुड़ा लें। धन नहीं जुड़ा, ध्यान जुड़ा लें। मगर जीत कर दिखला दें।

इस दिल से हवाए-कामरानी न गयी

यह उत्कंठा विजय की, यह मरते दम तक नहीं छोड़ती है।

है संगे-मजार पर तेरा नाम रवां

अब तो कब्र पर नाम भी लिख गया। कब्र में दब गये।

मरकर भी उमीद-ए-जिंदगानी न गयी

लेकिन कब्र में दबे-दबे भी तुम फिर जिंदगी की उम्मीद करते रहोगे, फिर मिले जीवन, फिर हो जन्म। मरे तो जीवन की आकांक्षा, और जीए तुम कब ठीक से। जीए तो मौत का डर तो पकड़े ही रहा। कदम-कदम पर मौत घबड़ाती रही कि अब होगी, कि तब होगी। कि जरूर होनेवाली है, यह आज एक मर गया, कल दूसरा मर गया, क्यू में खड़े हैं, क्यू छोटा होता जाता, हम आगे सरकते जाते, रोज मौत करीब आती जाती। जिंदा हैं, तो मरने का भय। मर गये, तो फिर जीवन की आकांक्षा। ऐसा यह द्वंद्व का चक्कर है। इसको इस देश के लोगों ने संसार-चक्र कहा है। संसार-चक्र का अर्थ होता है, जो है उससे विपरीत पकड़े रहता है। तुम जो है उसे देखने लगो, तो धीरे-धीरे वह भी छूटेगा, विपरीत भी छूट जाता है।

अब दुबारा जब तुम्हें सुख का क्षण आए, हिम्मत करना--बड़ी हिम्मत की जरूरत है। सुख के क्षण में जागने के लिए बड़ी हिम्मत की जरूरत है। क्योंकि सुख के क्षण में तो आदमी सोना चाहता है। सुख के क्षण में तो सोचता है, बमुश्किल से तो सुख मिला और अब यहां साक्षी बनकर और नष्ट करना! किसी तरह मिला, भोग लो। पुरानी आदत, पुराना संस्कार तादात्म्य कर लेने का फिर तुम्हें पकड़ेगा, हिम्मत रखना।

रक्खा है किसी की आस रहने ही में क्या
रक्खा है किसी के पास रहने ही में क्या
आदत-सी पड़ गयी है शायद वरना
रक्खा है "फिराक" उदास रहने ही में क्या

एक आदत, एक संस्कार, अन्यथा रक्खा क्या है उदास रहने में! और रक्खा क्या है प्रफुल्ल होने में! न उदासी में कुछ है, न प्रफुल्लता में कुछ है। दोनों ही स्थिति में तुम अपने को गंवाते हो। और दोनों ही स्थिति में तुम रिक्त होते, चुकते। हर घड़ी, चाहे सुख हो चाहे दुख, एक ही चीज पाने योग्य है और वह है साक्षीभाव। जागो और देखो। जोड़ो मत अपने को। अगर तुमने बाहर की चीजों से अपने को न जोड़ा, तो तुम भीतर के जगत में जुड जाओगे, उसी का नाम योग है। बाहर से जोड़ा, भीतर से टूट जाओगे, उसी का नाम विरह है। अपने से टूट गये, विरह; अपने से जुड़ गये, योग।

दूसरा प्रश्न: परमात्मा की परिभाषा क्या है? परमात्मा की प्रतिमा कैसी है?

परिभाषा जिसकी हो सके, वह परमात्मा नहीं। इसे तुम परमात्मा की परिभाषा समझो। जिसकी परिभाषा हो सके, डेफिनिशन हो सके, वह परमात्मा नहीं। क्योंकि परिभाषा का अर्थ ही होता है, जिसके चारों तरफ हमने रेखा खींच दी। तो परिभाषा सीमित की हो सकती है, परिभाषा असीम की नहीं हो सकती। तो जो भी हम कहेंगे, छोटा होगा। जो भी हम कहेंगे, झूठ होगा।

इसलिए लाओत्सू ने कहा है, सत्य के संबंध में कुछ कहा कि सत्य असत्य हो जाता है। कहते से ही असत्य हो जाता है। क्योंकि शब्द बड़े सीमित हैं, सत्य बड़ा विराट है। जैसे मुट्ठी में कोई आकाश बांधने को कहे। मुट्ठी में भी आकाश हो सकता है, मुट्ठी अगर खुली हो। मुट्ठी अगर बंद हो तो आकाश खो जाता है।

परिभाषा तो बंद मुट्ठी है। इसलिए परिभाषा तो नहीं हो सकती, इशारे हो सकते हैं। इशारा खुली मुट्ठी है। कुछ बंधा हुआ नहीं है, सिर्फ इशारा है। इंगित हो सकते हैं, परिभाषा नहीं हो सकती।

और परमात्मा की प्रतिमा पूछते हो कैसी है? सब प्रतिमाएं उसकी हैं। जो भी तुमने देखा है, उसी की प्रतिमा है। उसके अतिरिक्त कोई और है नहीं। अनंत-अनंत उसकी प्रतिमाएं हैं। फिर भी किसी प्रतिमा में वह चुक नहीं गया है। सब रूप उसके हैं। और सब रूप उसके इसीलिए हो सकते हैं कि वह स्वयं अरूप है। अरूप के

ही सब रूप हो सकते हैं। कितनी लहरें सागर में उठती हैं। सभी लहरें सागर की हैं। छोटी लहर, बड़ी लहर, झागवाली लहर, गैरझागवाली लहर, प्रचंड तूफान की तरह आती हुई लहर कि डुबा दे नौकाओं को, सभी लहरें उसकी हैं, सभी रूप उसके हैं, एक ही सागर के। लेकिन सागर अरूप है।

जिसने पूछा है, वह भी परमात्मा का एक रूप है, वह भी एक प्रतिमा है। जब तुम दर्पण के सामने सुबह खड़े होकर दर्पण देखते हो, तो जिसको तुम देखते हो वह भी परमात्मा है। मंदिर में रखी मूर्तियां ही परमात्मा नहीं हैं, राह के किनारे अनगढ़ जो पत्थर पड़े हैं, वे भी परमात्मा हैं। क्योंकि परमात्मा के सिवा कुछ और है नहीं। परमात्मा शब्द का एक ही अर्थ होता है, अस्तित्व। परमात्मा शब्द के कारण धोखे में मत पड़ जाना, इसका मतलब व्यक्ति नहीं होता। इसका मतलब होता है, यह जो विराट ऊर्जा है जगत की, यह जो अस्तित्ववान ऊर्जा है, यही।

सोचता हूं जब कभी संसार यह आया कहां से
चकित मेरी बुद्धि कुछ भी न कह पाती
और तब कहता हृदय अनुमान तो होता यही है
घट अगर है तो कहीं घटकार भी होगा

लेकिन जिसने भी यह पंक्तियां लिखीं उसे परमात्मा का कोई पता नहीं है। परमात्मा का अनुमान नहीं होता, परमात्मा कोई इनफरेंस नहीं है। अधिकतर तुमने यही बातें सुनी होंगी, ये बातें बचकानी हैं। लोग कहते हैं:

और तब कहता हृदय अनुमान तो होता यही है
घट अगर है तो कहीं घटकार भी होगा

अगर घड़ा है, तो घड़े को बनानेवाला भी कोई होगा। लेकिन तब तो बड़ी झंझट खड़ी होगी। फिर घटकार है, तो घटकार को बनानेवाला कौन होगा! यह बात कुछ ज्यादा दूर न जाएगी। दूर जाती नहीं। अनुमान से परमात्मा का कोई संबंध नहीं है। अनुभव से। अनुमान तो सब कल्पित है। अनुमान तो हमारी मजबूरी है, क्योंकि हमें लगता है, इतना बड़ा विराट है तो कोई चलानेवाला होगा! मगर यह हमारी बुद्धि का अनुमान है। और बुद्धि का अनुमान क्या! क्या खबर लाएगा परमात्मा की। यह तो ऐसा है जैसे कोई चम्मच से सागर को उलीचने चला।

परमात्मा अनुमान नहीं है, तर्क नहीं है, सिद्धांत नहीं है, अनुभव है। अनुभव का अर्थ होता है, जो अपने को पिघलाएगा। और तब ऐसा पता नहीं चलेगा कि घट है तो घटकार भी होगा, तब तो तुम जानोगे कि घट और घटकार दो नहीं हैं, एक ही हैं। परमात्मा और उसकी कृति दो नहीं हैं। स्रष्टा और सृष्टि दो नहीं हैं।

तुम्हारे मन में परमात्मा के संबंध में जो धारणा बना दी गयी है वह ऐसी है कि दूर कहीं आकाश में कोई बैठा स्वर्ग के सिंहासन पर। इसलिए तुम पास नहीं देखते, तुम दूर देखते हो। तुम इन पास खड़े वृक्षों में नहीं देखते, चट्टानों में नहीं देखते, तुम दूर खोजते हो चांदत्तारों के पार। और परमात्मा पास है। पास से भी पास है।

तुम अपनी पत्नी में नहीं देखते, तुम अपने पति में नहीं देखते, न अपने बेटे में देखते हो। तुम देखते हो राम में, कृष्ण में, बुद्ध में, महावीर में--बड़े दूर। वेद में, कुरान में, गीता में, बाइबिल में। तुम अपने हस्ताक्षरों में नहीं देखते। तुम्हारी पत्नी ने तुम्हें जो प्रेम-पत्र लिखा है उसमें नहीं देखते, वेद में। तुम्हारे बेटे ने तुतलाकर तुमसे जो कहा है, उसमें नहीं, कृष्ण के वचनों में। तुम दूर देखते हो, इसलिए चूकते हो। और परमात्मा पास है। परमात्मा तुम्हारे बेटे में तुतला रहा है। तुम्हारे बेटे में चलने की कोशिश कर रहा है। वृक्षों में हरा है, पक्षियों में गुनगुना रहा है। हवा के झोंकों में अदृश्य है। जो तुम्हारे चारों तरफ घिरा हुआ है, वह परमात्मा के अतिरिक्त और कोई भी नहीं है। तुम कहीं भी झुको, उसी के चरणों पर तुम्हारे हाथ पड़ते हैं। तुम कहीं भी आंख उठाओ, उसी का दर्शन।

इसलिए तुम इस तरह मत पूछो, अन्यथा तुम्हारी जिंदगी ऐसे ही गुजर जाएगी। कहीं प्रश्न में भूल है।

अफसोस हमारी उम्र रोते गुजरी
नित दिल से गुबारे-गम ही धोते गुजरी
देखा न कभी ख्वाब में अपना यूसुफ
हर चंद तमाम उम्र सोते गुजरी

अगर तुमने पास नहीं देखा तो तुम सोते-सोते ही जिंदगी गुजार दोगे, यूसुफ तुम्हें दिखायी न पड़ेगा, वह प्यारा तुम्हें दिखायी न पड़ेगा। वह प्यारा तुम्हें छू रहा है। जब तुम श्वास भीतर लेते हो तब वही प्यारा तुम्हारे भीतर गया। जब तुमने पानी पीया तो वही प्यारा तुम्हारे कंठ में गया। और तुम्हारे कंठ में जो तृप्ति का भाव जगा, वह भी उसी प्यारे के कंठ में जग रहा है। उसके अतिरिक्त कोई भी नहीं है। परिभाषा मत पूछो, इशारे पूछो। ऐसा मत कहो कि मैं बता दूं कहां है परमात्मा, क्या है उसकी प्रतिमा? मस्जिद में है कि मंदिर में कि गुरुद्वारे में? सब जगह है।

और जिसने देखने की कोशिश की एक ही जगह, वह चूक गया। जिसने कहा मंदिर में ही है, वह आदमी नास्तिक। जिसने कहा मस्जिद में ही है, वह आदमी नास्तिक। और जिसने कहा चर्च में ही है, वह आदमी नास्तिक। जिसने कहा जीसस के सिवाय किसी में नहीं, वह आदमी नास्तिक। और जिसने कहा कृष्ण के सिवाय किसी में नहीं, वह आदमी भी नास्तिक। जिसने भी परमात्मा को सीमा दी, वह परमात्मा का दुश्मन। जिसने परमात्मा को मुक्ति दी...तुम मुक्त होना चाहते हो, कम से कम परमात्मा को तो मुक्त करो। तुम तो मुक्त हो ही नहीं; परमात्मा तक को बंधनों में डाला है।

जाना जाता है परमात्मा निकट में और निकट को पहचानने का मार्ग प्रेम है। अनुमान नहीं, तर्क नहीं। जब तुम्हारा हृदय गीत गुनगुनाता है, जब तुम्हारा हृदय गदगद होता है प्रेम के भाव में, तब तुम परमात्मा का अनुभव करते हो। परमात्मा अनुमान नहीं, प्रेम की प्रतीति है।

टेर रही प्रिया--
तुम कहां?
किसकी यह छांह
और किसके ये गीत रे
सिहर रहा जिया--
तुम कहां?
किसके ये कांटे हैं
किसके ये पात रे
बिहर रहा हिया--
तुम कहां?
बिरम गये पिया
तुम कहां?

जब तुम प्रेमी की तरह पुकारोगे। परिभाषा, परमात्मा की! परिभाषाएं गणित में होती हैं। यूक्लिड से पूछो तो ज्यामिती की सब परिभाषाएं बता देता है। परिभाषाएं आदमी की बनायी हुई हैं। तुम्हारे भीतर कुछ ऐसा है जो तुम्हारा बनाया हुआ नहीं, उससे ही परमात्मा को खोजो। तुम्हारे भीतर प्रेम है जो तुम्हारा बनाया हुआ नहीं।

तुमने एक बात देखी? आदमी सब बना ले, प्रेम नहीं बना पाता। मंदिर बना लो, मस्जिद बना लो, बड़े मंदिर बनाओ, बड़ी मस्जिद बनाओ, लेकिन अगर कोई तुमसे कहे कि प्रेम बनाओ, तो तुम कहते हो, बड़ी

मुश्किल, हो तो हो, नहीं हो तो नहीं हो। लाख कोई कहे कि इसी आदमी से प्रेम करो, तुम कहोगे, मगर करें कैसे! हो तो हो, न हो तो न हो। होता है तो होता है, नहीं होता तो नहीं होता। आदमी के हाथ में कहां?

जो आदमी के हाथ में नहीं है, उसी पर सवारी करो, तो परमात्मा तक पहुंच जाओगे।

मंदिर तुमने बना लिये, वह आदमी के हाथ में है। सुंदर मंदिर बना लिये। प्रतिमाएं तुमने बना लीं, वह आदमी के हाथ में हैं। सुंदर प्रतिमाएं बना लीं। लेकिन जो भी आदमी के द्वारा निर्मित है उससे परमात्मा की कोई पहचान न हो सकेगी। तुम अपने भीतर उसको खोजो जो तुम्हारे बनाने में नहीं आता। उसी सूत्र को पकड़ो।

देखो, तर्क सिखाया जा सकता है, प्रेम सिखाया नहीं जा सकता। तर्क के स्कूल हैं, कालेज हैं, विश्वविद्यालय हैं, तुम जाकर तर्क पढ़ सकते हो। तर्क न आता हो तो अभ्यास कर सकते हो। लेकिन प्रेम का कोई विद्यालय नहीं है, कोई विद्यापीठ नहीं है। प्रेम को कोई सिखा नहीं सकता।

एक आदमी ने रामानुज से जाकर कहा कि मुझे परमात्मा का मार्ग बता दें। बस मेरे जीवन में एक ही चीज पाने की है, वह परमात्मा पाना है, सब कुछ दांव पर लगाने को तैयार हूं। रामानुज ने कहा, मेरे भाई, एक बात पूछता हूं, तुमने कभी किसी को प्रेम किया? उस आदमी ने कहा, इस झंझट में मैं कभी पड़ा ही नहीं, मैं धार्मिक आदमी हूं, मैं बचपन से ही धार्मिक हूं। मुझे पहले ही से परमात्मा को पाना है। प्रेम इत्यादि के चक्कर में मैं पड़ा नहीं। रामानुज बहुत उदास हो गये। और रामानुज ने कहा कि फिर भी तुम खोजो, शायद किसी मित्र से किया हो। किसी से तो किया होगा! मां से किया हो, पिता से किया हो, भाई-बहन से किया हो, कभी तुम्हारे जीवन में प्रेम की पुलक उठी कि नहीं? वह आदमी बड़ा नाराज हो गया। उसने कहा, मैं परमात्मा की पूछता हूं, तुम प्रेम की बातें उठाते हो। मैं परमात्मा का खोजी हूं, प्रेम से क्या लेना-देना! प्रेम का चक्कर ही तो परमात्मा तक नहीं जाने देता।

तो रामानुज की आंखों में, कहते हैं, आंसू आ गये। और उन्होंने कहा, फिर मैं तुम्हारा कुछ भी सहयोग न कर पाऊंगा। फिर मैं असमर्थ हूं। वह आदमी कहने लगा, लेकिन तुम्हारी असमर्थता क्या है? इतने तुम्हारे शिष्य हैं, इतने लोग तुम्हारे द्वारा प्रभु की तरफ जा रहे हैं, मुझे ही क्यों तुम छोड़ते हो? मुझमें ऐसी कौन-सी अपात्रता है। मैं ब्रह्मचर्य का पालन किया हूं, सात्विक भोजन करता हूं, किसी तरह की सांसारिक झंझट में नहीं पड़ा हूं, तुम मुझे छोड़ क्यों रहे हो, मेरी अपात्रता कहां है, बताओ। रामानुज ने कहा, तुमने सब किया होगा, उससे पात्रता नहीं बनती, वह तुम्हारा किया हुआ है। सिर्फ एक चीज से पात्रता बनती है, प्रेम। और तुम कहते हो तुमने प्रेम जाना ही नहीं, अब जिसने प्रेम नहीं जाना उसको मैं मार्ग कैसे बताऊं? क्योंकि प्रेम ही मार्ग है। तुमने थोड़ा-सा जाना होता, तो रास्ता खुलता था। चाहे किसी के, स्त्री के प्रेम में पड़ गये होते, कोई हर्जा नहीं, है तो भनक उसी बड़े प्रेम की। छुद्र में उठी है, लेकिन है तो विराट की ही।

जब तुम किसी स्त्री को सच में ही प्रेम करते हो, तो स्त्री स्त्री नहीं रह जाती। उसके भीतर कुछ दिव्यता का आविर्भाव हो जाता है। जब तुम किसी पुरुष को प्रेम करते हो तो वह पुरुष पुरुषोत्तम हो जाता है। कम से कम तुम्हारे प्रेम के क्षणों में तो पुरुषोत्तम हो जाता है। उन क्षणों में तो तुम उसे साधारण व्यक्ति नहीं मानते, वह असाधारण हो जाता है। देदीप्यमान। उसके भीतर एक प्रभा प्रगट हो जाती है। माना कि यह परमात्मा को पाने का बड़े दूर का रास्ता हुआ, लेकिन बस यही रास्ता है। यह प्रेम अभी प्रार्थना नहीं है, लेकिन संभावना है। हीरा हो तो निखारा जा सकता है, तराशा जा सकता है। हीरा हो ही नहीं तो क्या तराशिएगा? क्या निखारिएगा? सोना हो, कितना ही मिट्टी में दबा हो, कितना ही कूड़े-करकट से मिला हो, शुद्ध किया जा सकता है। जब तुम्हारा अशुद्ध प्रेम शुद्ध हो जाता है तो प्रार्थना बन जाता है। प्रार्थना में ही परिभाषा है।

तेरे जमाल की तस्वीर खींच दूं लेकिन
जबां में आंख नहीं आंख में जबां नहीं
होता है राजे-इश्क-ओ-मुहब्बत इन्हीं से फाश

आंखें जबां नहीं हैं मगर बेजबां नहीं
समझो--
तेरे जमाल की तस्वीर खींच दूं लेकिन
जबां में आंख नहीं आंख में जबां नहीं

तेरी प्रतिमा तो बना दूं, तेरी आकृति तो निर्मित कर दूं, तेरी परिभाषा तो कर दूं, लेकिन विराट है तेरा यह रूप। आंख से देख लेता हूं, जबान से कहना चाहता हूं, बस मुश्किल हो जाती है--आंख में जबान नहीं। आंख से देख लेता हूं तुझे, लेकिन आंख के पास कहने की जबान नहीं है। जबान से कहना चाहता हूं--जबां में आंख नहीं--और जबान ने देखा नहीं है। आंख ने देखा है और जबान कहना चाहती है, मुश्किल हो जाती है। कैसे कहूं?

इसलिए तुम मुझसे पूछते हो, परिभाषा? मैं कहता हूं, मेरी आंख में देख लेना। आंख ने देखा है उसे, जबान ने उसे देखा नहीं। जबान कह सकती है, लेकिन जो भी कहेगी वह अनुमान होगा।

होता है राजे-इश्क-ओ-मुहब्बत इन्हीं से फाश

आंख के द्वारा ही प्रेम के रहस्य का पर्दा उठता है। अगर तुम्हें प्रेमी को पहचानना है, जरा उसकी आंख में झांकना। उसकी आंख में तुम्हें एक खुमार मिलेगा। उसकी आंख में एक मस्ती मिलेगी। उस मस्ती से ही तुम्हें उसके प्रेम का दर्शन होगा।

होता है राजे-इश्क-ओ-मुहब्बत इन्हीं से फाश
आंखें जबां नहीं हैं मगर बेजबां नहीं

बड़ी मधुर बात है। आंखों के पास जबान तो नहीं है, यह बात सच है, लेकिन यह कहना भी ठीक नहीं कि आंखें बेजबां हैं। अगर कोई देखनेवाला हो तो आंखों से संदेश मिल जाता है।

परिभाषा शाब्दिक होगी। कितनी तो परिभाषाएं की गयी हैं परमात्मा की, तुम उन्हें कंठस्थ कर ले सकते हो, पर कुछ हल न होगा। जाना पड़े, अनुभव में जाना पड़े। और जिस दिन तुम अनुभव में जाना शुरू करोगे, उस दिन तुम पाओगे कि उसके अतिरिक्त और कोई मिलता ही नहीं।

गुलशन में फिरूं कि सैर सहरा देखूं
या मादनो-कोहो-दस्तो-दरिया देखूं
हर जां तेरी कुदरत के हैं लाखों जल्वे
हैरां हूं कि दो आंखों से क्या-क्या देखूं

जिस दिन थोड़ा अनुभव होगा उस दिन तुम पाओगे, हर तरफ उसी के हजारों-हजार उत्सव हो रहे हैं।

हर जां तेरी कुदरत के हैं लाखों जल्वे
हैरां हूं कि दो आंखों से क्या-क्या देखूं

तब तो हजार आंखें भी हों तो भी तृप्ति न होगी। क्योंकि परमात्मा इतना विराट है। सब तरफ उसी का नृत्य चल रहा है। और तुम पूछते हो, परमात्मा की परिभाषा क्या है? और परमात्मा ही है सब तरफ। और तुम पूछते हो, परमात्मा की प्रतिमा क्या है? और उसके अतिरिक्त और किसी की प्रतिमा नहीं है। एक का ही खेल है।

लेकिन तुम्हारे प्रश्न को मैं समझा। तुम्हारा प्रश्न न तो परमात्मा की परिभाषा से संबंधित है, न परमात्मा की प्रतिमा से। तुम्हारा प्रश्न असल में यह कह रहा है कि तुम्हारे पास आंखें नहीं हैं, तुम अंधे हो, तुम्हारी आंखें बंद हैं, या तुम सोए हो। अगर कोई आदमी पूछने लगे कि सूरज की परिभाषा क्या है, तो क्या समझोगे? और कोई आदमी पूछने लगे कि सूरज कहां है? और सूरज निकला है, चारों तरफ उसकी रोशनी बरसती है! और कोई आदमी धूप में खड़ा है और पूछने लगे कि सूरज की परिभाषा, सूरज कहां है, कोई मुझे परिभाषा दे दे, तो हम क्या समझेंगे? हम समझेंगे, या तो इस आदमी की आंखें बंद हैं, या अंधा है। सूरज अनुभव है, परिभाषा तो नहीं। प्रकाश की कोई परिभाषा नहीं है, जाना हो तो जाना, नहीं जाना तो नहीं जाना।

तो अभी एक बात जानना कि परमात्मा अभी जाना नहीं है। और परिभाषाओं को पकड़कर मत सोच लेना कि जान लिया, या जानना हो गया। जानना हो तो प्रेम में चलना पड़े। परिभाषा मत पूछो, प्रेम का पता

पूछो। परिभाषा पंडित बना देगी और सदा-सदा के लिए भटक जाओगे। मैं तुमसे फिर-फिर कहता हूं, पापी भी पहुंच जाते हैं लेकिन पंडित नहीं पहुंचते।

इससे संबंधित एक प्रश्न और है--

आप प्रेम को प्रार्थना कहते हैं, प्रेम को ही परमात्मा कहते हैं, क्यों?

ऐसा है, इसलिए। क्यों का सवाल नहीं। ऐसा है। ऐसी सचाई है। तुम्हारे जीवन में जो थोड़ी-बहुत सुगंध कभी प्रेम की उठी हो, तो जानना वहीं से द्वार मंदिर का खुलेगा। उस दरवाजे को बंद मत कर देना, तुम्हारे साधु-संत चाहे तुमसे कुछ भी कहें। उस दरवाजे को बंद कर दिया तो तुम फिर भटकोगे। भटकते रहोगे। और तुम्हें परमात्मा की कोई खबर न मिलेगी।

परमात्मा की जो पहली पुलक है, उसका नाम ही प्रेम है। परमात्मा का जो पहला अनुभव है--परमात्मा शब्द भी उस अनुभव में नहीं आता--उसी का नाम प्रेम है। फिर प्रेम ही पवित्र होकर प्रार्थना बनता है, फिर प्रार्थना पवित्र होकर परमात्मा बन जाती है। ये प्रेम के ही चरण हैं। यह प्रेम की ही सीढ़ी है। काम इस सीढ़ी का सबसे नीचे का सोपान है और राम इस सीढ़ी का सबसे ऊपर का सोपान है। मगर सीढ़ी एक है--काम से राम। काम उसी का है--धूल-धूसरित। राम भी वही है--सब धूल पोंछ दी गयी, झाड़ दी गयी--स्वच्छ, ताजा।

धर लिये प्यासे अधर पर आह के सागर
प्यास पूरी इस मरुस्थल की नहीं होती
पी लिया इस उम्र ने वह प्रेम-गंगाजल
अब इसे इच्छा किसी जल की नहीं होती

तुम जो प्रेम के मार्ग से खोज रहे हो, वह परमात्मा को ही खोज रहे हो, नाम तुमने कुछ भी दिया हो। इसीलिए तो साधारणतः प्रेम तृप्त नहीं करता, और अतृप्त कर जाता है। कौन पति किस पत्नी से तृप्त हुआ है! या कौन पत्नी किस पति से तृप्त हुई है! या कौन मां किस बेटे से तृप्त हुई है! कौन मित्र किस मित्र से तृप्त है! कारण पूछो। क्या कारण है? संसार में सभी लोग प्रेम करते हैं और अतृप्ति का ही अनुभव होता है। कहीं तृप्ति नहीं होती। क्योंकि प्रेम की जो खोज है, वह परमात्मा से ही तृप्त हो सकती है।

तुमने किसी को प्रेम किया, प्रेम करते ही तुम्हारी जो आकांक्षा होती है गहरे में वह यह होती है कि यह व्यक्ति परमात्मा जैसा हो। वह सिद्ध नहीं होता परमात्मा जैसा, इसलिए अतृप्ति रह जाती है। बेस्वाद हो जाता है मन, तिक्त हो जाता है। तुम जब किसी व्यक्ति को प्रेम करते हो तो तुमने देखा कि तुम्हारी आकांक्षा होती है, इससे सुंदर और कोई न हो, इससे श्रेष्ठ कोई और न हो, इससे सत्यतर कोई और न हो। तुमने परमात्मा की मांग कर ली। तुमने सत्यम् शिवम् सौंदर्यम् को मांग लिया।

और निश्चित ही कोई व्यक्ति इस कसौटी पर खरा नहीं उतरता, तो धीरे-धीरे प्रेमी हताश हो जाता है। वह कहता है कि नहीं, गलत जगह मांग लिया। अमृत पीने गये थे और जो पीआ तो पता चलता है कि अमृत तो कुछ भी नहीं है, जहर सिद्ध होता है। फिर मन उचाट हो जाता है। फिर भागा-भागा, फिर कहीं और, किसी और जगह, किसी और प्रेम में पड़ जाए, वहां खोज ले--ऐसा जन्मों-जन्मों तक मन का पक्षी उड़ता है। नये-नये स्थानों पर बैठता है।

एक सूफी फकीर को एक सम्राट मिलने आया। सम्राट बहुत दिन से उत्सुक था मिलने को इस फकीर से। और कई बार संदेशा भी भेजा था कि तुम आओ। लेकिन फकीर कहता है कि मिलने को अगर तुम उत्सुक हो तो तुम्हीं आओ। मेरे आने से चूक हो जाएगी। आने को मैं आ सकता हूं लेकिन सार न होगा। क्योंकि जिज्ञासु जब आता है तो उसके आने में ही जिज्ञासा सघन होती है, प्रगट होती है। तुम इतना तो मूल्य चुकाओ। तो अंततः सम्राट को आना पड़ा।

वह जब आया तो फकीर की झोपड़ी पर फकीर नहीं था, उसकी पत्नी थी। उसने कहा, आप बैठें, आप विराजें, मैं उन्हें बुला लाती हूं, वे पीछे खेत पर काम करने गये हैं। तो सम्राट ने कहा कि ठीक है, तुम बुला

लाओ; सम्राट वहीं टहलने लगा। उसकी पत्नी ने फिर कहा कि आप आए, हमारे धन्यभाग! पर बैठें तो। उसने एक फटी-पुरानी दरी बिछा दी कि आप विराजें! लेकिन सम्राट ने कहा कि मैं टहलूंगा, तू बुला ला पति को।

वह बड़ी दुखी होकर पति के पास गयी, उसने पति को रास्ते पर कहा कि सम्राट कुछ अजीब है, मैंने बार-बार कहा कि बैठें, विराजें, दरी भी बिछा दी, मगर वह बैठता नहीं। फकीर हंसने लगा। उसने कहा कि वह दरी उसके बैठने योग्य नहीं। उसके बैठने योग्य जगह होगी तभी बैठेगा।

तुमने बहुत जगह मन के पंछी को बिठाने की कोशिश की, वह बैठ नहीं पाया। प्रेम का पक्षी बहुत स्थानों पर बैठा, बैठ नहीं पाया, उठ-उठ आता है। उसके योग्य जगह नहीं मिलती। उसके योग्य जगह तो परमात्मा ही है। जब भी तुम प्रेम में पड़े तुम परमात्मा के ही प्रेम में पड़े, लेकिन शायद तुमने ज्यादा की मांग कर ली बहुत थोड़े से। अब किसी स्त्री से या किसी पुरुष से तुम परम सौंदर्य की मांग करो तो भूल हो जाएगी। या परम सत्य की, या परम श्रेयस की। परम की मांग तो परमात्मा से ही हो सकती है। तुमने इधर-उधर मांग की तो मांग पूरी न होगी तो तुम अतृप्त हो जाओगे। तो बेस्वाद हो जाएगा मन, कड़वा हो जाएगा, तिक्त हो जाएगा। फिर तुम प्रेमपात्र बदलते रहोगे। हम इसीलिए तो कभी प्रेम में तृप्त नहीं हो पाते।

प्रेम तृप्त होता है। प्रेम भी बैठता है सिंहासन पर। पर अपने सिंहासन पर।

धर लिये प्यासे अधर पर आह के सागर

सागर भी तुम पी जाओ--प्यास लगी हो और आदमी सागर में हो, तो जल जैसा ही तो लगता है सागर का जल, लेकिन उसके पीने से प्यास बुझती नहीं, प्यास बढ़ती है। भूलकर सागर का पानी मत पी लेना। सागर का पानी पीने से प्यास बुझती नहीं, बढ़ती है। और सागर के पानी के बिना आदमी जिंदा रह सकता है, सागर का पानी पीआ तो मरेगा, निश्चित मौत हो जाएगी। और सागर का पानी पानी जैसा लगता है। सिर्फ दिखायी पड़ता है पानी जैसा, पानी नहीं है। सागर का पानी भी पानी बन सकता है लेकिन बहुत तरह की शुद्धियों से गुजरेगा तब। अभी जैसा है, अभी तो बहुत खतरनाक है।

धर लिये प्यासे अधर पर आह के सागर
प्यास पूरी इस मरुस्थल की नहीं होती
पी लिया इस उम्र ने वह प्रेम-गंगाजल
अब इसे इच्छा किसी जल की नहीं होती

और एक बार तुम्हें प्रेम का वास्तविक अर्थ समझ में आ जाए, अनुभव में आ जाए, एक बार प्रार्थना का स्वाद आ जाए--

पी लिया इस उम्र ने वह प्रेम-गंगाजल
फिर तुम्हें किसी और पानी की जरूरत न रह जाएगी।

जीसस के जीवन में उल्लेख है, वे एक कुएं के पास गये। थके-मांदे हैं, राह से यात्रा करके आ रहे हैं, दूर से यात्रा करके आ रहे हैं। कुएं पर पानी भरती एक स्त्री को उन्होंने कहा कि मुझे पानी पिला दे। लेकिन उस स्त्री ने कहा कि मैं थोड़ी ओछी जाति की हूं, शायद आप पीछे पछताएं कि मेरा पानी पी लिया। जीसस ने कहा, तू फिकर छोड़, तू मुझे पानी पिला दे। और फिर मैं तुझे ऐसा पानी पिला सकता हूं--मेरा पानी--कि तेरी प्यास सदा-सदा के लिए बुझ जाए। तेरे पानी से तो क्षण भर को मेरी प्यास बुझेगी, लेकिन मेरे पानी से तेरी प्यास सदा को बुझ सकती है।

जीसस जिस पानी की बात कर रहे हैं उसी को मैं प्रेम कहता हूं।

प्राण का यह दीप जलने के लिए है
प्यार से अंतर पिघलने के लिए है
बन अकिंचन पांवड़े पलकें बिछाए
कान अपना ध्यान आहट पर लगाए
पुलकमय हर अंग होने को समर्पण
आप मनभावन करो पावन वचन-मन

जैसे ही तुम थोड़े-से प्रेम की सीढ़ियां उतरे, प्रेम का पाठ पढ़े, ढाई आखर प्रेम का पढ़े, थोड़े से प्रेम में रसलीन हुए, थोड़े-थोड़े प्रार्थनापूर्ण कदमों से अस्तित्व की तरफ बढ़े, थो°? प्रार्थनापूर्ण हृदय से अस्तित्व के मंदिर की सांकल खटखटायी, तो तुम पाओगे कि अब तक तुमने जो नहीं पाया था और बहुत द्वार खटखटाए थे, वह मिलने लगा।

यह संसार प्रेम को सीखने का ही एक विद्यालय है। यहां तुम और कुछ भी सीख लो, काम न आएगा। अगर तुमने प्रेम सीख लिया तो बस।

प्रेम से मेरा क्या अर्थ है? प्रेम के तीन रूप समझने चाहिए। एक तो प्रेम का रूप है, काम। काम प्रेम का निम्नतम रूप है। देह से देह की आकांक्षा। शरीर से शरीर का मिलन। है तो मिलन, मगर अत्यंत स्थूल का स्थूल से। पदार्थ का पदार्थ से। इसमें कोई बहुत विराट नहीं घट सकता। फिर प्रेम का दूसरा रूप है, जिसे हम प्रेम कहते हैं। मन से मन का मिलन। ऊपर थोड़ा हुआ। विचार की तरंगों का जिससे मेल खा जाए। तुम्हारी अनुभूति और जिसकी अनुभूति साथ-साथ, संग-संग चलने लगे। दो व्यक्तियों का हृदय साथ-साथ धड़कने लगे। देहें दो हों, हृदय एक हो जाए, तो प्रेम। वह भी अभी अंतिम रूप नहीं है। अंतिम रूप को मैं नाम देता प्रार्थना। वह है आत्मा का आत्मा से मिलन। शरीर से शरीर--काम, मन से मन--प्रेम, आत्मा से आत्मा--प्रार्थना।

काम के तल पर शोषण चलता। तुम दूसरे का शोषण करते, दूसरा तुम्हारा शोषण करता है। काम के तल पर तुम दूसरे का उपयोग साधन की तरह करते। प्रेम के तल पर तुम दूसरे के लिए साधन बन जाते। काम के तल पर तुम दूसरे का उपयोग साधन की तरह करते हो। पति पत्नी का उपयोग कर रहा है एक साधन की तरह। बेटा बाप का उपयोग कर रहा है एक साधन की तरह। तुम्हारे हित में है, इसलिए तुम प्रेम करते हो। प्रेम जैसे रिश्वत है, शोषण की व्यवस्था है। मन के तल पर तुम साधन बन जाते। तुम जिससे प्रेम करते, तुम उसके लिए साधन बन जाते, वह साध्य बन जाता। आत्मा के तल पर न तुम साधन रह जाते, न दूसरा साधन रह जाता। दूरी ही मिट जाती, कौन साधन, कौन साध्य! निश्चित रूप से एक हो जाते।

ऐसा समझो कि दो दीयों को हम करीब रख दें, तो काम। दोनों दीयों के तेल को मिला दें, तो प्रेम। और दोनों दीयों की ज्योति, प्रकाश एक-दूसरे में लीन हो जाए, तो प्रार्थना। दो दीयों को कितना ही पास रखो, दूरी रहेगी। सटाकर रख दो फिर भी दूरी रहेगी। उससे एकात्म नहीं हो सकता। लेकिन तुमने देखा, दो दीयों का प्रकाश टकराता भी नहीं--अगर तुम एक कमरे में दो दीये जला दो, तो खटरपटर भी नहीं होती। तुम दो दीयों का तेल एक-दूसरे में मिलाओगे तो थोड़ी आवाज होगी, थोड?ा शोरगुल मचेगा। लेकिन दो दीयों का प्रकाश जब एक-दूसरे में लीन हो जाता है तो कुछ पता नहीं चलता। दीये दो होंगे लेकिन उनकी रोशनी तो बिलकुल एक हो जाती है। बिलकुल एक हो जाती है।

मैंने सुना है, एक सम्राट के तीन बेटे थे और वह चाहता था कि अपने किसी बेटे को चुन ले जो उसके राज्य का मालिक हो। सम्राट बूढ़ा हो गया था। तो उसने एक फकीर से सलाह ली। फकीर ने कहा, इनको हजार-हजार रुपये दे दो...तीनों बेटों के तीन महल थे...उसने कहा, यह हजार-हजार रुपये लो और इस तरह से कुछ चीज खरीदो कि तुम्हारा पूरा महल भर जाए। मगर हजार रुपये से ज्यादा खर्च नहीं करना। इससे तुम्हारी कुशलता का पता चलेगा। जो जीत जाएगा, वही इस राज्य का मालिक होगा।

पहले बेटे ने बहुत सोचा कि हजार रुपये में इतना बड़ा महल! सिवाय कूड़ा-करकट के और तो कुछ मिल ही नहीं सकता। हजार रुपया तो ढोने में ही लग जाएगा कूड़ा-करकट जब पूरा महल भरना है। तो वह तो गया, तो उसने जाकर जहां म्युनिसिपलटी कचरा फेंकती होगी गांव भर का, वहां से सब बैलगाड़ियों में भरवा-भरवा कर महल में पूरा कचरा भर दिया। क्योंकि इससे और तो सस्ती कोई चीज हो नहीं सकती थी--मुफ्त था--सिर्फ ढोने का खर्च था। ढोने में ही हजार रुपये खर्च हो गये। महल भर दिया उसने। भयंकर बदबू उठने लगी। राह से

लोगों ने चलना बंद कर दिया। उसके महल के आसपास लोग न जाते। वह भी अपने बाप से प्रार्थना करने लगा कि अब जल्दी ही वह परीक्षा हो जाए, क्योंकि मैं भी मरा जा रहा हूं। तुमने कहां का उपद्रव करवा दिया है!

दूसरे बेटे न बहुत सोचा। उसने कहा कि कूड़ा-करकट से घर को भरना तो अपात्रता का लक्षण होगा। तो क्या करना? कैसे घर को भरें। घर तो भरना चाहिए फूलों से, कूड़े से तो नहीं। तो उसने फूल खरीदे। लेकिन हजार में कितने खरीद सकता था! महल बड़ा था। भरने की तो बात दूर रही, ऐसे छिटका दिये सारे महल में फूल।

तीसरे बेटे ने कुछ भी उपाय न किया। जिस दिन बाप आया तब तक उसने कुछ भी न किया था। और गांव भर में चिंता फैलने लगी कि यह तीसरा बेटा हार जाएगा, कुछ कर क्यों नहीं रहा है? बैठा क्यों है? तीसरे दिन उसने तो दीये जलाए, घी के दीये जलाए सारे महल में।

बाप फकीर को लेकर आया। फकीर ने पहले बेटे को कहा कि इसने बात तो पूरी कर दी, घर तो भर दिया, लेकिन जिस चीज से भर दिया उससे सिर्फ अयोग्यता सिद्ध होती है। इसने गणित तो पूरा कर दिया, लेकिन समझ इसके पास नहीं है। तर्क तो इसने पूरा कर दिया कि घर भर दिया, लेकिन जिस चीज से भरा है इसका इसने कोई विचार न किया। इस व्यक्ति के जीवन में गणित तो है, गुण नहीं है। तर्क तो है, बोध नहीं है। यंत्रवत है इसकी बुद्धि। इसको राज्य देना ठीक नहीं।

वे दूसरे व्यक्ति के पास पहुंचे। उसने महल में फूल रखे थे, लेकिन फूल सब मुरझा गये थे। कई दिन हो गये थे, सड़ने लगे थे। उनसे दुर्गंध उठने लगी थी। और महल भरा भी नहीं था। तो फकीर ने कहा, यह पहले से बेहतर है, इसके पास थोड़ी गुण-बुद्धि है। फूल लाया, लेकिन इसके पास दूरदृष्टि नहीं है कि ये फूल सड़ जाएंगे। फूल तो तभी सुंदर जब ताजे। सच तो यह, फूल तो वृक्ष पर ही सुंदर होते हैं, तोड़े कि मरे, कि उनका सड़ना शुरू हुआ। इसने सोच-विचार तो थोड़ा किया, लेकिन गणित इसका कमजोर है। दूरदृष्टि नहीं है और गणित भी कमजोर है--मकान पूरा भरा भी नहीं है। पहले का गणित मजबूत है, गुण का कोई बोध नहीं है। इसे गुण का बोध है, गणित कमजोर है और दूरदृष्टि बिलकुल नहीं है। यह खतरनाक है, इसको भविष्य का पता नहीं रहेगा। यह राज्य को खतरे में डाल सकता है।

वे तीसरे बेटे के पास गये। राजा तो थोड़ा चिंतित होने लगा कि अगर ऐसा मामला हुआ, तीनों बेटे कहीं अयोग्य सिद्ध कर दिये इस फकीर ने तो फिर मैं क्या करूंगा! तीसरे बेटे के महल में जाकर राजा तो खड़ा हो गया, उसकी तो समझ में न आया, महल पूरा खाली था, उसने कहा, यह क्या मामला है? तुमने प्रतियोगिता में भाग नहीं लिया? बेटे ने कहा, मैंने भाग लिया, जरा गौर से देखें। फकीर बोला कि मैं देख लिया हूं, राजा, तुम्हारी समझ में न आएगा। इसने महल भर दिया--रोशनी से भर दिया है। एक-एक कोने-कांतर में रोशनी है। कोई जगह खाली नहीं है। महल तो भर ही दिया है, महल के बाहर तक रोशनी पहुंच रही है। बगीचा भी भरा है, राह भी भरी है। इस बेटे के पास गणित भी है, गुणबोध भी है, भविष्य-दृष्टि भी है। इसने पहले से कुछ नहीं किया। अभी हम आए--अभी हम आ ही रहे थे रास्ते पर कि तब इसने दीये जलवा दिये। इसके पास समय की भी समझ है।

हजारों दीये जलाए थे उसने--हजार रुपये में खूब दीये जल गये थे। और घी के जलाए थे। दीये तो बहुत थे, लेकिन रोशनी एक थी। और उस फकीर ने कहा, इस बेटे में थोड़ा अद्वैत का बोध भी है। इतने दीये, लेकिन रोशनी एक। इसने एक से ही भर दिया है पूरे महल को। यह बेटा योग्य है।

काम है दो शरीरों का मिलना। और अंत में कचरा ही सिद्ध होता है, दुर्गंध पैदा होती है। काम से कब सुगंध उठी! काम से विषाद होता है। पश्चात्ताप होता है। काम आज नहीं कल सड़ांध देने लगता है।

प्रेम काम से बेहतर है। थोड़े फूल हैं प्रेम में, कूड़ा-कचरा नहीं है। लेकिन मन के फूल कितनी देर जीएंगे? मन स्वयं क्षणभंगुर है। मन कोई टिकने वाला तो नहीं। शाश्वत और नित्य से मन का कोई संबंध नहीं है। तो आज फूल, कल मुरझा जाते हैं।

तुमने देखा, पश्चिम में जहां लोग प्रेम को बहुत मूल्य देते हैं--पूरब से ज्यादा मूल्य देते हैं--वहां बड़ी अड़चन है। विवाह मुरझा-मुरझा जाता है। तलाक हो़ हो जाते हैं। पूरब में लोग विवाह को मूल्य देते हैं, प्रेम को मूल्य नहीं देते, तो विवाह स्थायी होता है। विवाह पहले तल पर है, वह दो शरीरों का मिलन है। न तो पुरुष से पूछा जाता है, न स्त्री ने पूछा जाता है, मां-बाप तय करते हैं। पंडित, पुरोहित, ज्योतिषी तय करते हैं। धन-पैसा है या नहीं, कुलीन परिवार है या नहीं, स्वास्थ्य ठीक है या नहीं, पढ़ाई-लिखाई ठीक हुई या नहीं, प्रतिष्ठा कैसी है, दुकान कैसी चलती है, सब बातें सोचकर तय करते हैं। प्रेम भर के बाबत नहीं सोचते। ग्रह-नक्षत्र भी सोचते हैं--बड़ी दूर की सोचते हैं, पास की बिलकुल नहीं सोचते। प्रेम के संबंध में कोई मामला, बात ही नहीं उठाते कि इस लड़के को लड़की से प्रेम है? लड़के को लड़की से कि लड़की को लड़के से, किसी से प्रेम है? प्रेम की बात ही नहीं उठाते। क्योंकि पूरब एक बात समझ गया, प्रेम का मामला बड़ा खतरनाक है। क्योंकि फिर विवाह थिर नहीं हो पाता।

प्रेम है मन की बात, मन अथिर है। शरीर कम से कम थोड़ा थिर है, टिकता है--सत्तर साल तो टिकता है! थोड़े-बहुत फर्क होते रहते हैं, लेकिन ऐसे टिकता है। मन तो घड़ी भर में बदल जाता है। अभी जिस स्त्री के लिए जान देने को तैयार थे, क्षण भर बाद बात खतम हो गयी। इसलिए पश्चिम में विवाह अस्तव्यस्त हो गया, परिवार डांवाडोल हो गया। लोगों ने प्रेम को मूल्य दिया है। लोग कहते हैं, प्रेम होगा तो साथ।

पूरब में लोग कहते हैं, अपनी पत्नी के सिवाय किसी स्त्री से कोई संबंध बनाया, तो पाप। पश्चिम में लोग कहने लगे हैं, जिससे प्रेम नहीं उसके साथ कोई संबंध बनाया तो पाप--फिर चाहे वह तुम्हारी पत्नी ही क्यों न हो। अगर उससे प्रेम नहीं है तो उसके साथ सोना पाप है। और जिससे प्रेम है, वह चाहे तुम्हारी पत्नी न भी हो, उसके साथ सोना पुण्य है। यह बड़ी दूसरी नीति है। पूरब की नीति शरीर के तल पर खड़ी है, पश्चिम की नीति मन के तल पर, लेकिन पूरब की नीति ज्यादा चिरस्थायी है।

वह जो पहला आदमी था, जिसने कचरे से भर लिया था महल को, उसका कचरा बहुत चिरस्थायी है। दूसरे ने फूल से भरा था, वे बड़े क्षणभंगुर हैं। असल में जितनी सुंदर चीज हो, उतनी जल्दी कुम्हला जाती है। पत्थर तो वहीं पड़े रहेंगे, फूल सुबह खिले सांझ गिर जाएंगे। विवाह पत्थर जैसा है। प्रेम-विवाह फूल जैसा है। लेकिन खतरा भी है, थिर नहीं हो पाएगा। इसलिए पश्चिम की पूरी व्यवस्था डांवाडोल हो गयी है। पूरब थिर है। सदियां बीत गयीं, मनु महाराज से लेकर अब तक सब थिरता है। पश्चिम में कुछ भी थिर नहीं है, सब डांवाडोल है। जितने लोग विवाह करते हैं, उनमें से आधे लोग तीन साल के भीतर तलाक दे देंगे। अब ऐसा आदमी तो खोजना ही मुश्किल है जो एक ही पत्नी के साथ टिक रहा है। पत्नियां न मालूम कितने पतियों के पास गयी हैं, पति न मालूम कितनी पत्नियों के पास गये हैं, बच्चों की भीड़ बढ़ती जाती है, तय भी करना मुश्किल हो जाता है, कौन किसका बच्चा है?

मैंने सुना, एक पत्नी अपने पति से कह रही थी कि देखो, रुकावट डालो, तुम्हारे बच्चे और मेरे बच्चे मिलकर हमारे बच्चों को पीट रहे हैं।

कुछ बच्चे पति के हैं जो वह दूसरी पत्नियों से लाया है। कुछ पत्नी के हैं जो वह किन्हीं दूसरे पतियों से लायी है। कुछ इन दोनों के बीच में। तो वह कह रही है, तुम्हारे बच्चे मेरे बच्चों से मिलकर हमारे बच्चों को पीट रहे हैं, इनको रोको। रुकावट डालो।

पश्चिम में सब अस्तव्यस्त हुआ है।

फिर और एक ऊपर की बात है: आत्मा के मिलन की। वहां प्रार्थना पैदा होती है। वैसा प्रेम मीरा ने जाना, कि चैतन्य ने, कि राधा ने। वैसा प्रेम भक्तों ने जाना। उठना चाहिए उसी तक प्रेम, जहां दो प्रकाश की तरह मिलन हो जाए, कोई संघर्षण न हो। मिलन शांत, सहज हो। और जब तुम किसी एक व्यक्ति से भी आत्मा के तल

पर मिल जाओगे, तो तुम्हें पता चलेगा--जब एक से मिलने में इतना आनंद है, तो फिर सर्व से मिल जाने में कितना आनंद न होगा! फिर तो तुम गणित को स्वयं ही फैला लोगे। तुम कहोगे, जब एक व्यक्ति के प्राणों से प्राण मिला लेने में इतने सुख का सौरभ, इतना स्वर्ग, तो फिर क्या कंजूसी करनी है! फिर क्यों न वृक्षों से, चांदत्तारों से, पहाड़-पत्थरों से, नदी-नालों से, सबसे क्यों न मिला लें अपने प्राण को?

तो एक व्यक्ति से भी प्रेम अगर ठीक से हो जाए, तो झरोखा परमात्मा का खुलता है। फिर वहीं से छलांग लग जाती है।

यह किसका तबस्सुम है फिजां में साकी
यह किसकी जवानी है घटा में साकी
यह कौन बजा रहा है शीरीं बरबत
भीगी हुई बारिश की हवा में साकी

फिर प्रेम से भरे हुए आदमी को हर जगह उसकी ही पगध्वनि सुनायी पड़ती है। घटाओं में, बिजलियों में, सब जगह उसके ही घूंघर बजते मालूम होते हैं।

यह किसका तबस्सुम है फिजां में साकी

फिर हवा का झोंका भी आए तो उसी की खबर आती है। उसी के संदेश, उसी की पाती।

यह किसकी जवानी है घटा में साकी

फिर घटा घुमड़कर उठे तो भी वही उठता। सब अंगड़ाइयां उसकी। सब फूल उसके, सब पत्ते उसके।

यह कौन बजा रहा है शीरीं बरबत

फिर जो भी संगीत गूंज रहा है इस अस्तित्व में, उसी का है। वही बजा रहा है। यह बांसुरी उसकी, यह वेणु उसकी।

भीगी हुई बारिश की हवा में साकी

और फिर भीगी हुई हवा है बारिश की तो भी उसके ही स्पर्श का पता चलता, उसके ही होने की गंध आती। पृथ्वी से और आकाश से उसके ही होने की खबर आती। हर घड़ी में, सोते-जागते, उठते-बैठते वही घेरे रहता है।

लेकिन परिभाषा इस तत्व की नहीं हो सकती। प्रेम में अनुभव हो सकता है। परिभाषा मत मांगो, प्रेम मांगो। परिभाषा के कूड़ा-करकट को लेकर क्या करोगे? बोझ बढ़ जाएगा बुद्धि का, निर्भार न हो सकोगे। प्रेम मांगो कि पंख बनें, प्रेम मांगो कि उड़ सको।

मेरे साकी शराबे-साफी देना
हो जिससे गुनाह की तलाफी देना
उतरे न खुमार जिंदगी भर जिसका
ऐसी देना और इतनी काफी देना

मांगो, प्रेम की शराब।

उतरे न खुमार जिंदगी भर जिसका

ऐसा नशा मांगो जो फिर उतरे न। चढ़े तो चढ़े, उतरे न।

ऐसी देना और इतनी काफी देना

मांगो प्रेम, मत मांगो परिभाषा। और जिस दिन तुम्हारे पास प्रेम है, उस दिन तुम्हारे पास सब है। जब तक तुम्हारे पास प्रेम नहीं, सब भी हो तो कुछ भी नहीं है।

चाहे बरसे जेठ अंगारे
या पतझर हर फूल उतारे
अगर हवा में प्यार घुला है
हर मौसम सुख का मौसम है

जिसके पास शब्द हैं जितने
उतना उससे अर्थ दूर है
पट घूंघट का नहीं, रूप तो
आत्मा का जलता कपूर है

दुनिया क्या है एक वहम है
शबनम में मोती होने का
और जिंदगानी है जैसे
पीतल पर पानी सोने का

किंतु प्यार यदि साथ सफर में
तो सचमुच इस मृत्यु-नगर में
शाम सुबह की एक कसम है
मरण मनुज का नया जनम है

चाहे बरसे जेठ अंगारे
या पतझर हर फूल उतारे
अगर हवा में प्यार घुला है
हर मौसम सुख का मौसम है

इधर प्यार की वीणा का बजना शुरू हो जाए, फिर वसंत ही वसंत है। उसी वसंत में उस प्रभु की पहचान आती है।

जिसके पास शब्द हैं जितने

इसलिए परिभाषा मत मांगो, सिद्धांत-शास्त्र मत मांगो!

जिसके पास शब्द हैं जितने
उतना उससे अर्थ दूर है

शब्दों का बहुत समूह संग्रह मत कर लो। उससे पांडित्य तो बनेगा, प्रतिभा न जगेगी।

पट घूंघट का नहीं, रूप तो
आत्मा का जलता कपूर है
दुनिया क्या है एक वहम है
शबनम में मोती होने का

यही तो मैं तुमसे कह रहा इतनी देर से कि जहां-जहां तुमने अभी प्रेम देखा है, वहां शबनम में मोती देख लिया है। खोज तो परमात्मा की ही चल रही है। खोज तो मोती की ही चल रही है। लेकिन सुबह की धूप में कभी देखा? घास पर फैली हुई ओस की बूंदें मोतियों जैसी मालूम पड़ती हैं। सुबह की धूप में मोतियों को भी झेंपा दें, मोतियों को भी शर्मा दें। दूर से ही लेकिन। पास गये तो ओस की बूंद ओस की बूंद है, मोती नहीं है।

दुनिया क्या है एक वहम है
शबनम में मोती होने का
और जिंदगानी है जैसे
पीतल पर पानी सोने का

जिंदगी को थोड़ा गौर से देखो। तो यह ऊपर-ऊपर जो पीतल के ऊपर चढ़ा हुआ सोने का पानी है, यह उतर जाए। जरा पास आओ। जिंदगी को जरा होश से देखो, तो जो बूंदें शबनम की हैं, वे मोती न मालूम हों। तो तुम्हारी खोज धीरे-धीरे सब तरफ से परमात्मा की तरफ जाने लगेगी। उसकी ही खोज है जो शाश्वत है। उसकी ही खोज है जो सनातन है। उसकी ही खोज है जो अमृत है।

तो परमात्मा क्या है? परमात्मा अमृत की प्यास है। परमात्मा क्या है? परमात्मा तुम्हारे भीतर सनातन की खोज है। शाश्वत की खोज है। परमात्मा की प्रतिमा क्या है? यह जो गवेषणा में आतुर, जिज्ञासा और मुमुक्षा से भरा हुआ खोजी है, इसी में परमात्मा की प्रतिमा है। कहीं और नहीं, पत्थरों में नहीं, मंदिर की मूर्तियों में नहीं। इस पुजारी में, जो परमात्मा की पूजा में लगा है। खोज रहा है जगह-जगह, अर्चना अपनी चढ़ा रहा है। हर जगह से जिसकी चेष्टा चल रही है कि परमात्मा को पहचान लूं। इसमें ही उसकी प्रतिमा है।

कबीर ने कहा है, भक्त में भगवान है। महवीर ने कहा है, अप्पा सो परमप्पा। वह जो आत्मा है, उसी में परमात्मा है।

परमात्मा कोई वस्तु नहीं है जिसे तुम किसी दिन देख लोगे। तुम्हारे ही भीतर जिस दिन प्रेम की ऐसी घटा उठेगी कि बेशर्त तुम इस सारे अस्तित्व को प्रेम कर पाओगे, इस अस्तित्व से तुम्हारे चित्त का कोई विरोध, कोई संघर्ष न रह जाएगा, इस अस्तित्व से जिस दिन तुम्हारा सहयोग परिपूर्णता से सध जाएगा, जिस दिन एक संवाद होगा तुम्हारे और अस्तित्व के बीच, उसी दिन तुम जानोगे परमात्मा क्या है। तुम भी परमात्मा हो और शेष सब भी परमात्मा है।

इस नशे की तरफ चलो। इस प्रेम के सागर में डुबकी लगाओ।

यारो खता मुआफ मेरी मैं नशे में हूं
सागर में मय है मय में नशा मैं नशे में हूं

भक्त तो एक नशे में जीता है। परमात्मा नशा है। पंडित के लिए परमात्मा एक सिद्धांत है, बकवास--कोरी बकवास। आस्तिक और नास्तिक के चक्कर में मत पड़ना कि परमात्मा है या नहीं। यह व्यर्थ के लोगों को छोड़ दो, जिनके पास कुछ और करने को नहीं। वे होने न होने का विवाद करते रहें, अनुमान लगाते रहें। अगर तुम्हारे जीवन का ठीक-ठीक सदुपयोग तुम्हें कर लेना है, तो तुम प्रेम में उतरो। अगर तुम पाओ कि प्रेम में उतरना कठिन है, तो ध्यान में उतरो। ध्यान भी एक दूसरा मार्ग है उसी तरफ आने का। जो प्रेम करने में अपने को असमर्थ पाते हैं, उनके लिए ध्यान मार्ग है। जो प्रेम में अपने को समर्थ पाएं, उन्हें फिर किसी चिंता में पड़ने की कोई जरूरत नहीं है।

चौथा प्रश्न: मृत्यु का बड़ा भय है। क्या इससे छूटने का कोई उपाय है?

मृत्यु तो उसी दिन हो गयी जिस दिन तुम जन्मे। अब छूटने का कोई उपाय नहीं। जिस दिन पैदा हुए उसी दिन मरना शुरू हो गया। अब एक कदम उठा लिया, अब दूसरा तो उठाना ही पड़ेगा। जैसे कि प्रत्यंचा से तीर निकल गया तो अब लौटाने का क्या उपाय है! जन्म हो गया, तो अब मौत से बचने का कोई उपाय नहीं।

जिस दिन तुम्हारी यह बात समझ में आ जाएगी कि मौत तो होनी ही है, सुनिश्चित होनी है--और सब अनिश्चित है, मौत ही निश्चित है--उसी दिन भय समाप्त हो जाएगा। जो होना ही है, उसका क्या भय! जो होकर ही रहनी है, उसका क्या भय! जिसको टाला ही नहीं जा सकता, उसका क्या भय! जिसको अन्यथा किया ही नहीं जा सकता, उसका क्या भय!

आशंका है तुम्हें
जिस दुर्घटना की
घट चुकी है वह
पहले ही भीतर
केवल आएगा तैरकर
गत आगत की सतह पर

हो चुका है पहले ही काम। मर गये तुम उसी दिन जिस दिन तुम जन्मे। जिस दिन तुमने सांस ली, उसी दिन सांस छूटने का उपाय हो गया। अब सांस किसी भी दिन छूटेगी। तुम सदा न रह सकोगे। इसलिए इस भय को समझने की कोशिश करो, बचने की आशा मत करो। बचने को तो कोई नहीं बच पाया। कितने लोगों ने कितने उपाय किये बचने के।

नादिरशाह इतना बड़ा लड़ाका था, खूंख्वार, हजारों लोगों की हत्याएं कीं, मगर खुद की मौत से डरता था। भारी डर था उसे। दूसरे की मौत तो कोई बात ही न थी। कहते हैं, एक रात एक वेश्या उसके शिविर में नाच करने आयी और जब लौटने लगी तो रात देर हो गयी, दो बज गये और वह डरने लगी। उसने कहा, रास्ते में अंधेरा है और मेरा गांव दूर है, मैं कैसे जाऊं? तो नादिरशाह ने कहा कि तू फिक्र मत कर, तू कोई साधारण व्यक्ति के दरबार में नाचने आई है? उसने अपने सैनिकों को कहा कि रास्ते में जितने गांव हैं, सब में आग लगा दो, ताकि यह वेश्या अपने गांव तक रोशनी में जा सके। पांच-सात गांवों में आग लगवा दी, गांवों के सोते लोग जल गये। लेकिन रास्ते पर रोशनी करवा दी।

दूसरे की मौत तो जैसे खिलवाड़ थी, लेकिन खुद की मौत की बड़ी घबड़ाहट थी। इतना घबड़ाया रहता था मौत से कि रात भी ठीक से सो नहीं सकता था। और इसी घबड़ाहट में मौत हुई। जब हिंदुस्तान से वापिस लौट रहा था और एक रात एक शिविर में तंबू के भीतर सोया था, तो रात में एक डाकू घुस गया अंदर। वह किसी की जान लेने को उत्सुक न था, वह तो कुछ सामान चुराने को उत्सुक था। लेकिन उसकी मौजूदगी और घबड़ाहट में घोड़े हिनहिनाने लगे और सैनिक भागने लगे। कुछ घबड़ाहट ऐसी फैल गयी अंधेरी रात में कि लोग समझे कि बहुत दुश्मन हैं, कि नादिरशाह घबड़ाकर बाहर भागा। तंबू की रस्सी से पैर फंस गया, तो वह समझा कि किसी ने पैर पकड़ लिया। और उसी घबड़ाहट में उसकी हृदय की धड़कन बंद हो गयी, वह गिर पड़ा। कोई ने पकड़ा नहीं, किसी ने मारा नहीं, किसी ने कुछ किया नहीं, सिर्फ पैर फंस गया तंबू की रस्सी में, वह समझा कि गये जान से! उसी घबड़ाहट में मरा।

आदमी बचने के कितने उपाय करे!

मनोवैज्ञानिक कहते हैं कि दूसरों को मारने की उत्सुकता उन्हीं लोगों में होती है, जो अपने को बचाने के लिए बड़े आतुर होते हैं। जिनको यह खयाल होता है कि हम जिंदगी तो नहीं बना सकते, लेकिन कम-से-कम लोगों को मार तो सकते हैं। मृत्यु तो कर सकते हैं दूसरों की। दूसरों को मारने से ऐसा लगता है कि हम शायद मृत्यु के मालिक हो गये। देखो, कितने लोग मार डाले। मृत्यु हमारे कब्जे में है। इससे एक भ्रांति पैदा होती है कि शायद मृत्यु हमें क्षमा कर देगी। नहीं, न धन से जाती है, न पद से जाती है, न शक्ति से जाती है, कोई उपाय मृत्यु से बचने का नहीं है।

तुम पूछते हो, मृत्यु का बड़ा भय है, क्या इससे छूटने का कोई उपाय है?

छूटने का उपाय करते रहोगे, भय बढ़ता जाएगा। तुम छूटने का उपाय करोगे, मौत रोज करीब आ रही है। क्योंकि बुढ़ापा रोज करीब आ रहा है। तुम जितने ही उपाय करोगे उतने ही घबड़ाते जाओगे। मुझसे तुमने पूछा है अगर और मेरी बात अगर समझ सको तो मैं तुमसे कहूंगा: मौत को स्वीकार कर लो, छूटने की बात ही छोड़ो। जो होना है, होना है। उसे तुम स्वीकार कर लो। उसे तुम इतने अंतरतम से स्वीकार कर लो कि उसके प्रति विरोध न रह जाए। वहीं भय समाप्त हो जाएगा।

मृत्यु से तो नहीं छूटा जा सकता, लेकिन मृत्यु के भय से छुटकारा हो सकता है। मृत्यु तो होगी, लेकिन भय आवश्यक नहीं है। भय तुमने पैदा किया है। वृक्ष तो भयभीत नहीं हैं, मौत उनकी भी होगी। क्योंकि उनके पास सोच-विचार की बुद्धि नहीं है। पशु तो चिंता में नहीं बैठे हैं, उदास नहीं बैठे हैं कि मौत हो जाएगी, मौत उनकी भी होगी।

मौत तो स्वाभाविक है। वृक्ष, पशु, पक्षी, आदमी, सभी मरेंगे। लेकिन सिर्फ आदमी भयभीत है। क्योंकि आदमी सोचता कि किसी तरह बचने का उपाय हो जाए। कोई रास्ता निकल आए।

तुम जब तक बचना चाहोगे तब तक भयभीत रहोगे। तुम्हारे बचने की आकांक्षा से ही भय पैदा हो रहा है। स्वीकार कर लो! मौत है, होनी है। तो जब होनी है हो जाएगी। और हर्जा क्या है? जन्म के पहले तुम नहीं थे, कोई तकलीफ थी? कभी इस तरह सोचो, जन्म के पहले तो तुम नहीं थे, कोई तकलीफ थी? मौत के बाद तुम फिर नहीं हो जाओगे, तकलीफ क्या होनी! जैसे जन्म के पहले थे, वैसे ही मौत के बाद फिर हो जाओगे। जो जन्म के पहले हालत थी, वही मौत के बाद हालत हो जाएगी। जब तक तुमने पहली सांस न ली थी, तब तक का तुम्हें कुछ याद है? कोई परेशानी है? कोई झंझट! ऐसे ही जब आखिरी सांस छूट जाएगी, उसके बाद भी क्या झंझट, क्या परेशानी!

सुकरात मरता था, किसी ने पूछा कि घबड़ा नहीं रहे आप? सुकरात ने कहा, घबड़ाना क्या है? या तो जैसा आस्तिक कहते हैं, आत्मा अमर है, तो घबड़ाने की कोई जरूरत ही नहीं! आत्मा अमर है तो क्या घबड़ाना! या जैसा कि नास्तिक कहते हैं, कि आत्मा मर जाती है, तो भी बात खतम हो गयी। जब खतम ही हो गये तो घबड़ाना किसका! घबड़ाएगा कौन? बचे ही नहीं, तो न रहा बांस न बजेगी बांसुरी। तो सुकरात ने कहा दोनों हालत में--दोनों में से कोई ठीक होगा, और तो कोई उपाय नहीं है, या तो आस्तिक ठीक, या नास्तिक ठीक। आस्तिक ठीक, तो अमर हैं, बात खतम हुई, चिंता क्या करनी? नास्तिक ठीक तो बात खतम ही हो जानी है, चिंता किसको करनी है, किसकी करनी है? सुकरात ने कहा, इसलिए हम निश्चिंत हैं। जो भी होगा, ठीक है।

तुम बचने की कोशिश न करो। मौत तो होगी। लेकिन तुमसे मैं कहना चाहता हूं, मौत तुम्हारी नहीं होगी। तुम्हारा जन्म ही नहीं हुआ तो तुम्हारी मौत कैसे होगी? शरीर का जन्म हुआ है, शरीर की मौत होगी। तुम्हारा चैतन्य अजन्मा है और अमृतधर्मा है।

तुम्हारी उलझन सारी यह है कि तुमने शरीर को अपना होना समझ लिया है। मौत असली सवाल नहीं है। असली सवाल है कि शरीर को समझ लिया है, यह मैं हूं।

नीरव की अर्चा रव से
जीवन की चर्चा शव से
जैसे कोई शोरगुल से आशा कर रहा है शांति की। ऐसे कोई शव से बातें कर रहा है जीवन की।
नीरव की अर्चा रव से
जीवन की चर्चा शव से

इस मुर्दे को तुम जीवित समझे हो, इसीलिए अड़चन हो रही है। मुर्दा तो मुर्दा है। अभी भी मरा हुआ है। रोज मर रहा है। तुम्हें खयाल नहीं है, क्योंकि तुम खयाल देना नहीं चाहते, तुम डरते हो। ये तुम्हारे सिर में बाल ऊगते, दाढ़ी में बाल ऊगते, यह कभी तुमने खयाल किया, इनको तुम काटते हो, दर्द नहीं होता। यह तुम्हारे शरीर का मुर्दा हिस्सा है जो शरीर बाहर फेंक रहा है। नाखून काटते हो, दर्द नहीं होता। यह जिंदा हिस्सा नहीं है। मल-मूत्र रोज बाहर जा रहा है, यह सब मरा हुआ हिस्सा है। शरीर में से रोज मर रहा है कुछ, तुम रोज भोजन लेकर नया जीवन थोड़ा-सा डालते हो। थोड़ी देर जीवन सरकता है। फिर रोज मुर्दा कुछ हिस्सा निकल जाता है।

वैज्ञानिक कहते हैं, सात साल में आदमी का पूरा शरीर मर जाता है, फिर दूसरा शरीर। सत्तर साल की उम्र में दस बार शरीर मर जाता है। पूरा-का-पूरा बदल जाता है, एक-एक कण बदल जाता है। कुछ नहीं बचता पुराना, सब नया होता रहता है।

शरीर तो रोज मर रहा है। शरीर की तो प्रक्रिया मृत्यु है। इस शरीर के पार एक चैतन्य की दशा है, मगर उसका तुम्हें कुछ पता नहीं। तुम वही हो और तुम्हें उसका पता नहीं। तुम्हें आत्मस्मरण नहीं।

यह मत पूछो कि मौत के लिए हम क्या करें? इतना ही पूछो कि हमारे भीतर शरीर के पार जो है, उसे जानने के लिए क्या करें? मृत्यु से बचने की मत पूछो, ध्यान में जागने की पूछो। अगर तुम्हें इतना पता चल

जाए कि मैं भीतर चैतन्य हूं, तो फिर शरीर ठीक है, तुम्हारा आवास है। घर को अपना होना मत समझ लो। और जैसे ही तुम्हें यह बात समझ में आनी शुरू हो जाएगी, तुम्हारे भीतर अपूर्व क्रांति घटित होगी।

नर! बन नारायण
स्वर! बन रामायण

और तब तुम अचानक पाओगे, तुम्हारे भीतर जो तुमने नर की तरह जाना था, वह नारायण है। और जो तुमने स्वर की तरह जाना था, वह रामायण है।

शरीर तो मिट्टी है। मिट्टी से बना है, मिट्टी में विदा हो जाएगा।

मिट्टी नीरव
मिट्टी कलरव
मिट्टी कट भव
मिट्टी चिर नव

मिट्टी से बनता है, मिट्टी में गिरता है, फिर उठता है, फिर गिरता है। यह सब सृजन मिट्टी का है। यह सब खेल मिट्टी का है। तुम इस मिट्टी के दीये को अपना होना मत समझ लो। इस मिट्टी के दीये में जो तेल भरा है, वह तुम्हारा मन है। उसे भी तुम अपना होना मत समझ लो। उस तेल में जो बाती पड़ी है, बाती पर जो ज्योति जल रही है, वही ज्योति तुम हो। माना कि दीये और तेल के बिना ज्योति तिरोहित हो जाती है, लेकिन दीया और तेल ही ज्योति नहीं है। ज्योति प्रगट होने के लिए दीये और तेल की जरूरत होती है। तुम्हारे प्रगट होने के लिए शरीर और मन की जरूरत होती है। ये आवश्यक हैं तुम्हारी अभिव्यक्ति के लिए, तुम्हारे अस्तित्व के लिए आवश्यक नहीं हैं। तुम्हारा अस्तित्व इनसे पार है। उस पार का तुम्हें बोध होने लगे, तो मृत्यु से कोई भय न रह जाएगा। तब तुम जानोगे, मृत्यु होती ही नहीं।

शरीर के तल पर मृत्यु सुनिश्चित है, आत्मा के तल पर मृत्यु न कभी हुई है, न हो सकती है। इतना ही तुम पहचान लो कि तुम आत्मा हो।

तिफ्ली देखी शबाब देखा हमने
हस्ती को हवा बेआब देखा हमने
जब आंख हुई बंद तो उकदा यह खुला
जो कुछ भी देखा सो ख्वाब देखा हमने

अभी तुम जिसे जिंदगी समझ रहे हो वह सपने से ज्यादा नहीं।

जब आंख हुई बंद तो उकदा यह खुला

मरते वक्त तुम जानोगे, जब आंख सच में बंद होगी तब यह राज खुलेगा--

जो कुछ भी देखा सो ख्वाब देखा हमने

जिंदगी जिसको समझते थे, वह सपना सिद्ध हुई। और इस जिंदगी के भीतर जो सत्य छिपा था, सपने में इतने उलझे रहे कि सत्य को कभी देखा नहीं।

कुछ पंद और नसीहत ने भी तामीर न की
दुनिया के किसी काम में ताखीर न की
दिन रात यहीं के साज और सामां में रहे
जाना है कहां कुछ इसकी तदबीर न की

फिर भटकोगे। मौत से मत घबड़ाओ, अगर तुम्हारे जीवन में सच में ही समझने की कोई आकांक्षा है तो इतनी बात समझ लो कि यह जिसे तुम जिंदगी समझ रहे हो--

दिन रात यहीं के साज और सामां में रहे

यह भ्रांति है, मौत इसी को छीन लेगी। धन छीन लेगी, पद छीन लेगी, नाम छीन लेगी, यश छीन लेगी। अगर तुमने नाम, पद, यश, धन को ही समझा कि मेरा होना है, तो तुम मरे, तो घबड़ाना तुम्हारा स्वाभाविक

है। इसके पार भी तुम हो। पद के पार, प्रतिष्ठा के पार, नाम-यश के पार, धन-दौलत के पार तुम्हारा कुछ होना है। उसे थोड़ा पहचान लो, उसका थोड़ा अनुभव कर लो, मौत उसे नष्ट न कर पाएगी।

जिसने स्वयं को जाना, मौत उसके सामने हार जाती है। और मौत जल्दी आ रही है। तुम कह रहे हो, इससे बचने का कोई उपाय है? मैं तो सारी चेष्टा यह कर रहा हूं कि तुम्हें समझ में आ जाए कि मौत जल्दी-जल्दी कदम बढ़ाए तुम्हारी तरफ चली आ रही है। तुम कह रहे हो कि मुझे रास्ता बता दें कि मौत से बचने का कोई उपाय। तुम सोचते हो, मैं कोई तुम्हें ताबीज-गंडा दे दूं कि तुम बच जाओ मौत से।

जब तक कुछ अपनी कहूं सुनूं जग के मन की
तब तक ले डोली द्वार विदा-क्षण आ पहुंचा
फूटे भी तो थे बोल न स्वांस क्वांरी के
गीतों वाला इकतारा गिरकर टूट गया
हो भी न सका था परिचय दृग का दर्पण से
काजल आंसू बनकर छलका और छूट गया
इतनी जल्दी सब हो जाएगा। ज्यादा देर नहीं लगेगी।
जब तक कुछ अपनी कहूं सुनूं जग के मन की
तब तक ले डोली द्वार विदा-क्षण आ पहुंचा

कह भी न पाओगे अपने मन की, सुन भी न पाओगे अपने मन की और पाओगे कि आ गयी डोली। अर्थी उठने लगी, बंधने लगी।

फूटे भी तो थे बोल न स्वांस क्वांरी के
गीतों वाला इकतारा गिरकर टूट गया

इकतारा बज भी कहां पाता और टूट जाता है। कहां कौन कह पाता है जो कहना था! कहां कौन हो पाता है जो होना था!

हो भी न सका था परिचय दृग का दर्पण से
आंख अभी दर्पण से मिल भी न पायी थी...
काजल आंसू बनकर छलका और छूट गया

मौत तो जल्दी बढ़ी आती है। और किसी भी क्षण द्वार पर दस्तक दे देगी। क्षण भर पहले भी खबर न देगी कि आती हूं। मौत तो अतिथि है। तारीख, तिथि बता कर न आएगी, बस आ जाएगी। एक क्षण फुरसत न देगी। तुम कहोगे, साज-सामान बांध लूं, मित्र-प्रियजनों से क्षमा मांग लूं, मिल लूं जुल लूं, इतना मौका भी न देगी। जल्दी करो, इसके पहले कि मौत आ जाए, तुम अपने भीतर के अमृत को पहचान लो।

तो मैं तो चाहता हूं कि तुम्हें मौत के प्रति और सजग करूं, मैं तो चाहता हूं कि तुम्हें और कंपा दूं--तुम्हारी जड़ें हिल जाएं--तुम चाहते हो कि मैं तुम्हें नींद में सुला दूं, कोई रास्ता बता दूं, कोई तरकीब दे दूं कि जिससे मौत से बचाव हो जाए। मौत से बचकर करोगे भी क्या? अभी कर क्या रहे हो जिंदा रहकर, यही करोगे न बचकर! इसको कितने दिन तक करते रहने का मन है? सत्तर साल से मन नहीं चुकता? सात सौ साल करोगे, यही? हद हो गयी बात!

मैंने सुना है कि सिकंदर अपनी यात्राओं में एक ऐसी जगह पहुंचा जहां उसे पता चला कि एक झरने के पास एक ऐसा जलधार है कि अगर उसका कोई पानी पी ले तो अमर हो जाता है। तो वह गया, उस जलधार की खोज किया। जब वह पहुंचा जलधार के पास, बड़ा आनंदित हो गया। ऐसा स्फटिक स्वच्छ जल उसने कभी देखा न था। और चुल्लू भरने को ही था कि एक कौवा बैठा था वहां एक शाख पर, उसने कहा, रुक सिकंदर! पीछे पछताएगा। पहले मेरी बात सुन ले। सिकंदर बहुत हैरान हुआ, एक तो यह चमत्कार कि इस पानी को पीकर आदमी अमर हो जाता है। और यह एक चमत्कार कि यह कौवा बोलता है। उसने पूछा कि क्या कहना है तुझे? कौवे ने कहा, कहना मुझे यह है कि मैंने भी यह पानी पीआ--मैं कोई छोटा-मोटा कौवा नहीं हूं, जैसा तू

सिकंदर है आदमियों में, ऐसा मैं भी एक सिकंदर हूं कौवों में--इसी की खोज मैंने सारे जीवन लगायी और मैंने यह झरना पा लिया और मैं यह पानी पी चुका। अब मैं तड़फ रहा हूं। हजारों साल से जिंदा हूं, मरता नहीं। अब मर सकता नहीं। पहाड़ से गिरता हूं, पत्थर पर सिर पटकता हूं, जहर पीता हूं, मरता नहीं। और अब जिंदगी में कुछ सार नहीं है--वही-वही कब तक दोहराए चला जाऊं? अब देख लिया सब। इसलिए तुझसे कहता हूं, पहले सोच ले। फिर मर न सकेगा। फिर तेरी मर्जी! मैं इसीलिए यहां बैठा हूं कि अब और दूसरे कोई नासमझ यह गलती न कर लें जो मैंने की। और कहते हैं, सिकंदर थोड़ी देर सोचा और फिर चुपचाप सरक आया। उसने फिर उस झरने का पानी पीआ नहीं।

यह कहानी तो कहानी है। लेकिन बात बड़ी सच है। तुम पी सकोगे? अगर उस झरने के पास पहुंच जाओ! यह बात तुम्हें खयाल में न आएगी कि फिर पीकर करोगे क्या? फिर मरना असंभव हो जाएगा।

नहीं, इस जिंदगी का सारा खेल मौत में समाया है। इस जिंदगी का सारा रस ही मौत के कारण है। और मौत जरूरी है। तुम मौत से बचो मत। तुम मौत को झुठलाओ मत, तुम अपने मन को बहलाओ मत, तुम मौत को स्वीकार करो।

आगे पीछे एक दिवस
आना ही होगा तेरे द्वारे
इसीलिए जीवन भर मैंने
नहीं गेह पर दिये किवाड़े
लेकर कोई कर्ज सीस
तेरे गोकुल जाना न उचित था
यही सोच सौ-सौ हाथों से
बांटे जग को चांद-सितारे
लेकिन इस संन्यासीपन का
फल यह सिर्फ मिला दुनिया से
आंसू तक सब रेहन हो गये
अर्थी तक नीलाम हो गयी
मैंने तो सोचा था अपनी
सारी उमर तुझे दे दूंगा
इतनी दूर मगर थी मंजिल
चलते-चलते शाम हो गयी
यहां तो सब लुट जाएगा।
आंसू तक सब रेहन हो गये
अर्थी तक नीलाम हो गयी
यहां तो सब चुक जाएगा। यहां तो सब छूट जाएगा।
अर्थी तक नीलाम हो गयी

यहां तो कुछ बचेगा नहीं। इसलिए मैं तुम्हें सांत्वना नहीं देता। मैं तुम्हें झकझोरना चाहता हूं। मैं तो तुम्हारी सांत्वनाएं छीन लेना चाहता हूं। मैं तो तुमसे कहता हूं, मौत निश्चित है। मौत होनेवाली है। मौत कल होगी। आने वाले क्षण में हो सकती है। बचो मत, स्वीकार करो। और जितनी देर क्षण बचे हैं, इनको तुम जीवन की तलाश में लगा दो। अंतस-जीवन की तलाश में। वहां है किरण अमृत की, शाश्वत की। और वह तुम्हारी किरण है। मिल सकती, तुम उसके मालिक हो। तुमने दावा नहीं किया है। दावा करो! घोषणा करो। शरीर से अपने को थोड़ा हटाओ, चैतन्य में थोड़े जगो।

हरि ॐ तत्सत्।

आज इतना ही।

नवासीवां प्रवचन

सिद्धि के भी पार सिद्धि है

क्व भूतानि क्व देहो वा क्वेंद्रियाणि क्व वा मनः।
क्व शून्यं क्व च नैराश्यं मतस्वरूपे निरंजने।। २८५।।
क्व शास्त्रं क्वात्मविज्ञानं क्व वा निर्विषयं मनः।
क्व तृप्तिः क्व वितृष्णत्वं गतद्वंद्वस्य मे सदा।। २८६।।
क्व विद्या क्व च वाऽविद्या क्वाहं क्वेदं मम क्व वा।
क्व बंधः क्व च वा मोक्षः स्वरूपस्य क्व रूपिता।। २८७।।
क्व प्रारब्धानि कर्माणि जीवनमुक्तिरपि क्व वा।
क्व तद्विदेहकैवल्यं निर्विशेषस्य सर्वदा।। २८८।।
क्व कर्ता क्व च वा भोक्ता निष्क्रियं स्फुरणं क्व वा।
क्वापरोक्षं फलं वा क्व निःस्वभावस्य मे सदा।। २८९।।
क्व लोकः क्व मुमुक्षुर्वा क्व योगी ज्ञानवान् क्व वा।
क्व बद्धः क्व च वा मुक्तः स्वस्वरूपेऽहमद्वये।। २९०।।
क्व सृष्टिः क्व च संहारः क्व साध्यं क्व च साधनम्।
क्व साधकः क्व सिद्धिर्वा स्वस्वरूपेऽहमद्वये।। २९१।।

अश्रु से मेरी नहीं पहचान थी कुछ
दर्द से परिचय तुम्हीं ने तो कराया
छू दिया तुमने हृदय की धड़कनों को
गीत का अंकुर तुम्हीं ने तो उगाया
मूक मन को स्वर दिये हैं बस तुम्हीं ने
उम्र भर एहसान भूलूंगा नहीं मैं

मैं न पाता सीख यह भाषा नयन की
तुम न मिलते उम्र मेरी व्यर्थ होती
सांस ढोती शव विवश अपना स्वयं ही
और मेरी जिंदगी किस अर्थ होती
प्राण को विश्वास सौंपा बस तुम्हीं ने
उम्र भर एहसान भूलूंगा नहीं मैं

तुम मिले हो क्या मुझे साथी सफर में
राह से कुछ मोह जैसा हो गया है
एक सूनापन कि जो मन को डसे था
राह में गिरकर कहीं वह खो गया है
शोक को उत्सव किया है बस तुम्हीं ने
उम्र भर एहसान भूलूंगा नहीं मैं

यह हृदय पाहन बना रहता सदा ही
सच कहूं यदि जिंदगी में तुम न मिलते
यूं न फिर मधुमास मेरा मित्र होता
और अधरों पर न यह फिर फूल खिलते

भग्न मंदिर फिर बनाया बस तुम्हीं ने
उम्र भर एहसान भूलूंगा नहीं मैं
तीर्थ सा मन कर दिया है बस तुम्हीं ने
उम्र भर एहसान भूलूंगा नहीं मैं

शिष्य की बड़ी असमर्थता है धन्यवाद देने में। किन शब्दों में बांधे धन्यवाद? क्योंकि शब्द भी गुरु के ही दिये हुए हैं। मूक ही निवेदन हो सकता है। लेकिन फिर भी कहने का कुछ मन होता है। बिन कहे भी रहा नहीं जाता।

तो एक ही उपाय है कि गुरु की प्रतिध्वनि गूंजे। जो गुरु ने कहा है, शिष्य उसे अपने प्राणों में गुंजाए। जो गुरु ने बजाया है, शिष्य की प्राण-वीणा पर भी बजे। यही धन्यवाद होगा, यही आभार होगा।

गुरु से उऋण होने का कोई उपाय नहीं है। बुद्ध से उनके शिष्यों ने पूछा है कि इतना आपने दिया है, हम कभी उऋण होना चाहें तो कैसे? हम चुका कैसे पाएंगे? हम कृतज्ञता कैसे ज्ञापन करें? तो बुद्ध ने कहा, एक ही काम है, एक ही संभावना है कि जो मैंने तुम्हें दिया है, जाओ और दूसरों को दो। बांटो। यही एक उपाय है--जो सुगंध गुरु से मिली है, वह बांट दी जाए।

इन अंतिम सूत्रों में जनक उसी अपूर्व भावदशा को अभिव्यक्त कर रहे हैं। और इस अभिव्यक्ति में सारा संवाद संक्षिप्त होकर आ गया है। यह सार-निचोड़ है। अगर ये अंतिम सूत्र बच जाएं और पूरी महागीता खो जाए, तो कुछ हानि न होगी। जनक ने ठीक-ठीक संक्षिप्त कर दिया है। जैसे बीज से वृक्ष होता और फिर वृक्ष में बीज लग जाते हैं, ऐसी एक छोटी-सी जिज्ञासा जनक ने उठायी थी-- बीज की तरह थी जिज्ञासा--अष्टावक्र ने उसका वृक्ष किया, अब जनक फिर उसे बीज किये दे रहे हैं। फिर संक्षिप्त किये दे रहे हैं। फिर सूत्र में बांधे दे रहे हैं। उनकी अड़चन समझी जा सकती है। उनकी बेचैनी भी समझी जा सकती है। कुछ भी देकर धन्यवाद हो नहीं सकता।

जीव भर का सुबरन
देकर भी करता मन
दे दूं कुछ और अभी

तन अंगीकार करो
मन-धन स्वीकार करो
लोभ-मोह-भ्रम लेकर
प्राण निर्विकार करो
प्रति पल प्रति याम दूं
सवेरे दूं शाम दूं
जब तक पूजा-प्रसमन
देकर भी करता मन
दे दूं कुछ और अभी
भक्ति-भाव अर्जन लो
शक्ति साध सर्जन लो
अर्पित है अंतर्तम
अहं का विसर्जन लो
जन्म लो मरण ले लो
स्वप्न-जागरण ले लो
चिर संचित श्रम साधन
देकर भी करता मन
दे दूं कुछ और अभी

यह नाम तुम्हारा हो
धन-धाम तुम्हारा हो
मात्र कर्म मेरे हों
परिणाम तुम्हारा हो
उंगलियां सुमरनी हों
सांसें अनुसरणी हों
शाश्वत स्वर आत्म-सुमन
देकर भी करता मन
दे दूं कुछ और अभी

इस पीड़ा को समझना। तो ही इन सूत्रों में प्रवेश हो सकेगा। और ऐसा मत सोचना कि ये सूत्र मात्र पुनरुक्ति हैं। पुनरुक्ति दिखायी पड़ते हैं, क्योंकि जो अष्टावक्र ने कहा है, एक अर्थ में वही जनक कह रहे हैं, लेकिन पुनरुक्ति नहीं हैं। क्योंकि अष्टावक्र ने जो कहा था, जनक उसे सिर्फ तोते की भांति अगर दोहराते तो पुनरुक्ति है। वह जनक के जीवन का अंतःप्रकाश बन गया है। अब वह जो कह रहे हैं, अपने प्राणों का ही बोल है।

शिष्य जब गुरु की वाणी को अपना जीवंत अनुभव बना लेता है, तब पुनरुक्ति नहीं है। यद्यपि शब्द वही होंगे, पुनरुक्ति नहीं होगी। इन शब्दों को फिर से जीवित होने का अवसर मिल गया। शिष्य में जाकर ये पुनरुज्जीवित हुए हैं। वही हैं, फिर भी वही नहीं हैं।

ऐसा उल्लेख है एक झेन फकीर के जीवन में कि वह अपने गुरु के पास था और गुरु ने उसे कोई ध्यान के लिए एक समस्या दी थी, कोआन दिया था। वह उस पर विचार करता है, मनन करता है, चिंतन करता है। कोआन था कि एक हाथ की ताली कैसे बजती है?

एक हाथ की ताली बजती नहीं। जितनी ध्वनियां हम जानते हैं, उनमें से कोई भी एक हाथ की ताली है नहीं। दो का संघर्षण हो तो ही आवाज होती है। ध्वनि हमारी जानकारी में जितनी हैं, सब संघर्षण से होती हैं। और जो ध्वनि संघर्षण से होती है, वह संघर्ष ही है। हिंसात्मक है। और जो ध्वनि संघर्ष से पैदा होती है, शाश्वत नहीं हो सकती। जो कभी पैदा हुई, कभी नष्ट हो जाएगी।

झेन फकीरों का यह ध्यान का सूत्र कि एक हाथ की ताली खोजो, इसका अर्थ होता है, एक ऐसी ध्वनि को खोज लो जो बज ही रही है, सनातन से, प्रारंभ से, अंत तक, सदा बजती रहेगी। जो न कभी मिटती है, न कभी पैदा होती है। जिसको भारतीय रहस्यवादी अनाहत नाद कहते हैं। आहत नाद का अर्थ होता है, टक्कर से; अनाहत नाद का अर्थ होता है, बिना टक्कर के।

तो शिष्य खोजता है, ध्यान करता है, रोज-रोज उत्तर लाता है। महीनों बीत जाते हैं, थक जाता है, फिर किसी अनुभवी दूसरे साधक से पूछता है कि मैं क्या करूं, महीने बीत गये, वर्ष बीत जा रहे, मैं गुरु को कैसे उत्तर दूं?

तो उस अनुभवी शिष्य ने कहा कि वर्षों मुझे भी लगे थे और जब-जब मैं उत्तर ले गया, तबत्तब मैं गलत पाया गया। फिर एक दिन मुझे अनुभव हुआ कि इसका कोई उत्तर नहीं हो सकता। मुझे स्वयं ही एक हाथ की ताली बनकर जाना पड़ेगा, वही उत्तर होगा। तब मैं परिपूर्ण शांत और शून्य होकर, निर्विचार होकर--मेरे भीतर कोई आवाज न रही, कोई तरंग न रही--गुरु के चरणों में जाकर झुका और उन्होंने कहा कि अब ठीक है, तू ले आया उत्तर! जब मैं कोई उत्तर न ले गया था और सिर्फ शून्य भाव से उनके चरणों में झुका था तब उन्होंने कहा, ले आया उत्तर! तो तेरी साधना पूरी हुई। तो उस युवक ने कहा, ऐसा मुझे पहले क्यों न कहा, यह मैं कर लेता।

वह दूसरे दिन सुबह पहुंच गया स्नान-ध्यान करके। चुप जाकर चरणों में गुरु के झुक गया। लेकिन गुरु यह देखकर हंसने लगा। और गुरु ने कहा, पागल, उधारी से काम नहीं चलता। उसने कहा, लेकिन मैं ठीक वैसा ही झुक रहा हूं, बिलकुल चुप, एक शब्द भी नहीं बोला हूं। गुरु ने कहा, फिर भी उधारी से काम नहीं चलता। वह

जब आया था, शून्य था, तू सिर्फ शून्य का आभास लेकर आया है। तू चेष्टा करके, ऊपर से मौन होकर आया है, भीतर तो लाख-लाख शब्दों के जाल बुने जा रहे हैं। भीतर तो विचारों की तरंगों पर तरंगें चल रही हैं। अभी जब तू झुका, तब भी तेरे मन में यह विचार चल रहा था कि देखें, अब गुरु स्वीकार करते हैं कि नहीं?

फिर महीनों तक शिष्य विदा हो गया। जब सच में ही शून्य हो गया तो फिर आया। अब भी सब वैसा ही था--बाहर तो कुछ भेद न था--फिर झुका। और गुरु की चरणसेवा में जो एक शिष्य रहता था, उसने वह घटना भी देखी थी जब यह झुका था, यह घटना भी देखी। और गुरु ने कहा, ठीक, अब ठीक! तो ले आया, उत्तर तुझे मिल गया! वह जो चरणसेवा में रत था, उसने पूछा कि मैं कोई फर्क नहीं देखता हूं, तब भी यह ऐसे ही झुका था, अब भी वैसे ही झुक रहा है; तब भी ऐसा ही शांत था, अब भी ऐसा ही शांत है; तब आपने कहा कि उधार, बासा उत्तर काम न आएगा; अब कहते हैं, ले आया! मैं कुछ फर्क नहीं देखता हूं। गुरु ने कहा, फर्क बाहर नहीं है, फर्क भीतर है।

जनक जो कह रहे हैं, ऊपर से समझोगे तो लगेगा वही दोहरा रहे हैं जो अष्टावक्र ने कहा, जरूरत क्या है? अब सब उसको पुनरुक्त करने का क्या प्रयोजन हो सकता है? लेकिन अगर भीतर देखोगे तो पाओगे, अष्टावक्र ने जो कहा था, वह फिर से जीवित हुआ है। जनक ने अपनी आत्मा उसमें डाल दी। अब ये जनक के ही स्वर हैं। इनको अब अष्टावक्र के मत मानना। अब ये जनक की अपनी निजवाणी है। ऐसा नहीं है कि अष्टावक्र को सोच-सोचकर जनक दोहरा रहे हैं। जो जनक की समझ पैदा हुई है, उस समझ का ही सार-निचोड़ इन सूत्रों में है।

पहला सूत्र--

क्व भूतानि क्व देहो वा क्वेंद्रियाणि क्व वा मनः।
क्व शून्यं क्व च नैराश्यं मत्स्वरूपे निरंजने।।

"मेरे निरंजन स्वरूप में कहां पंचभूत हैं, कहां देह है, कहां इंद्रियां हैं, अथवा कहां मन है? कहां शून्य है और कहां आकाश का अभाव है?"

चकित भाव से--जो कहा है अष्टावक्र ने उसकी चोट ऐसी प्रगाढ़ पड़ी है कि जैसे कोई नींद से जाग गया हो, या जैसे अंधेरे में अचानक बिजली कौंध गयी हो, या अंधे को अचानक आंख मिल गयी हो, या बहरे को कान मिल गये हों, या मुर्दा जी उठा हो, इतनी आकस्मिक घटना घटी है--चकित, विभोर। ये सारे वचन अत्यंत आश्चर्य से भरे हुए हैं।

"मेरे निरंजन स्वरूप में...।"

मत्स्वरूपे निरंजने।

निरंजन शब्द बड़ा बहुमूल्य है। निरंजन का अर्थ होता है, जिस पर कोई अंजन न चढ़ सके, जिस पर कोई लेप न चढ़ सके। कमल का पत्ता, कहते हैं, निरंजन है। पानी में होता है, पानी की बूंद भी पड़ी होती है तो भी पानी कमल के पत्ते को छूता नहीं। पत्ते पर पड़ी बूंद भी अलग ही होती है। पत्ता अलग होता है। छूना नहीं होता, स्पर्श नहीं होता। कितने ही पास रहे, पत्ता निरंजन है।

मत्स्वरूपे निरंजने।

जनक ने कहा, आज देख रहा हूं कि मैं शरीर के पास तो हूं लेकिन शरीर कभी नहीं हुआ।

मत्स्वरूपे निरंजने।

मन के पास तो हूं--इतने पास खड़ा हूं, सटा-सटाया खड़ा हूं--लेकिन कभी मन नहीं हुआ। कर्म हुए, मैं पास ही खड़ा था और कभी कर्ता नहीं हुआ। भोग चले, मैं पास ही खड़ा था और कभी भोक्ता नहीं हुआ। भोग की छाया भी बनती रही, जैसे दर्पण पर छाया बनती है, तुम दर्पण के सामने आए तो चेहरा बनता है। लेकिन दर्पण पर कोई लेप नहीं चढ़ता, तुम चले गये, छाया भी गयी।

यही तो फर्क है दर्पण में और कैमरे की प्लेट में। कैमरे की प्लेट में भी चित्र बनता है लेकिन लेपन होता है। तुम तो चले गये, लेकिन चित्र अटका रह गया। दर्पण पर लेपन नहीं होता, चित्र बनता है और बह जाता है।

साक्षीभाव दर्पण की तरह है, कैमरे की प्लेट की तरह नहीं। अज्ञानी कैमरे की प्लेट की तरह है। जो देख लिया, उससे पकड़ जाता है। किसी ने बीस साल पहले गाली दी थी, अब भी तुम्हारे मन में गूंजी चली जा रही है। अब भी तुम उसे दोहरा रहे। अब भी तुम उसे कुरेद-कुरेद कर देख लेते हो, बार-बार पीड़ा को फिर अनुभव करने लगते हो। शायद पचास साल पहले किसी ने सम्मान किया था, वह दिन आज भी भूले-भूले नहीं भूलता। लेपन हो गया। सारा अतीत तुम्हारे मन की प्लेट पर चढ़ बैठा है। खरोंचें-ही-खरोंचें लग गयी हैं। सब तरह से तुम लिप्त हो गये हो।

जनक ने कहा--मत्स्वरूपे निरंजने--मेरे इस निरंजन रूप को देखकर चकित अहोभाव से मैं खड़ा हूं। भरोसा नहीं आता! इतना किया और मुझसे कुछ भी नहीं हुआ। इतने दुख-सुख झेले और मैं अछूता रहा हूं। धन रहा, दौलत रही, गरीबी रही; बचपन था, जवानी थी, बुढ़ापा था; न-मालूम कितनी देहों में गया--कभी पशु था, कभी पक्षी था, कभी आदमी हुआ; कभी पत्थर था--कितनी देहों से गुजरा, कितने रूप धरे, लेकिन फिर भी मैं निरंजन का निरंजन रहा।

"मेरे निरंजन स्वरूप में कहां पंचभूत हैं!"

यह जो पांच भूतों का बड़ा विराट खेल चल रहा है, यह मुझसे बाहर है, यह मुझसे अलग है। इसका मुझमें कहीं भी प्रवेश नहीं है। प्रवेश हो ही नहीं सकता, मेरा स्वरूप ऐसा है। तुम जल को जल में मिलाओ तो मिल जाता है। तुम जल को तेल में मिलाओ तो नहीं मिलता है। तुमने अगर तेल भरी कटोरी में जल डाल दिया तो पास-पास हो जाएगा, जल और तेल बहुत पास-पास हो जाएगा, दोनों की सीमाएं करीब-करीब एक होती हुई मालूम पड़ेंगी, फिर भी जल और तेल अलग-अलग बने रहते हैं। ऐसा ही चैतन्य पदार्थ से अलग-अलग बना रहता। कितना ही मेल हो जाए, लेप नहीं होता।

मत्स्वरूपे निरंजने।

"कहां देह है और कहां इंद्रियां हैं?"

जनक कह रहे हैं, खड़ा हूं आंख के पीछे, लेकिन मैं आंख नहीं। देखनेवाली आंख नहीं है, आंख तो केवल झरोखा है, खिड़की है, वातायन है, जिस पर खड़े होकर कोई देख रहा है। सुननेवाला कान नहीं है, कान तो झरोखा है, जिसके पास खड़े होकर कोई सुन रहा है। जब मैं अपने हाथ से तुम्हें छूऊं, तो हाथ असली छूनेवाला नहीं है। नहीं तो मुर्दा हाथ भी छू सकता था। मुर्दा आंख भी तुम्हारी तरफ देख सकती है, लेकिन फिर भी देख नहीं पाएगी, क्योंकि पीछे जो खड़ा था वह विदा हो गया है। असली ऊर्जा जा चुकी। वह जो असली ऊर्जा है, वह निरंजन है।

"और अब कहां इंद्रियां, कहां मन, कहां शून्य?"

और अपूर्व बात कहते हैं कि मन तो मैं हूं ही नहीं, समाधि में जो शून्य का अनुभव होता है, वह भी मैं नहीं हूं। क्योंकि कोई अनुभव मैं नहीं हूं।

इसे थोड़ा समझना, थोड़ा बारीक है। जो भी तुम्हें अनुभव में आ जाता है, उससे तुम अलग हो गये। इसे सूत्र समझो। इसे अंतर्जीवन का गणित समझो। जो तुम्हारे अनुभव में आ गया, वह तुम न रहे। जो तुमने देख लिया, तुम उससे अलग हो गये। जो दृश्य बन गया, वह द्रष्टा न रहा। तो तुमने अगर देखा कि भीतर खूब प्रकाश हो रहा है, तो उस प्रकाश से तुम अलग हो गये, तुम देखनेवाले हो। तुमने भीतर देखा कि खूब अमृत की धार बह रही है, तुम इस अमृत से भी अलग हो गये। तुम देखनेवाले हो। तुमने भीतर देखा, सब शून्य हो गया--न कोई विचार, न कोई तरंग, न कोई भाव, अनंत शांति विराजमान हो गयी, तो तुम इस शांति से भी अलग हो गये। तुम तो इस शांति को जानने वाले हो। इसलिए न तो मैं मन हूं, न शून्य हूं; सभी चीजें जो जानी जाती हैं, उनसे मैं अलग हो गया।

"मैं आकाश भी नहीं हूं और आकाश का अभाव भी नहीं हूं।"

मत्स्वरूपे निरंजने।

मैं तो निरंजन हूं।

"सदा द्वंद्वरहित मुझको कहां शास्त्र, कहां आत्म-विज्ञान है, कहां विषयरहित मन है, कहां तृप्ति है और कहां तृष्णा का अभाव है?"

क्व शास्त्रं क्वात्मविज्ञानं क्व वा निर्विषयं मनः।
क्व तृप्तिः क्व वितृष्णत्वं गतद्वंद्वस्य मे सदा।।
गतद्वंद्वस्य मे सदा।

मैं सभी द्वंद्व के पार। जहां-जहां दो हैं, वहां-वहां मैं नहीं। इसे समझना। हमारे जीवन में जो भी अनुभव हैं, सब दो के। इसलिए जहां-जहां दो हों, वहां समझ लेना कि तुम नहीं हो, वह तुम्हारा स्वरूप नहीं।

मत्स्वरूपे निरंजने।

वह तुम्हारा वास्तविक स्वरूप नहीं। जैसे, जहां-जहां दुख है, वहां-वहां सुख है। जहां-जहां दिन, वहां-वहां रात। जहां-जहां जीवन, वहां-वहां मौत। जहां-जहां पुरुष, वहां-वहां स्त्री। जहां-जहां स्त्री, वहां-वहां पुरुष। जहां शांति, वहां अशांति। जहां बचपन, वहां बुढ़ापा। जहां बनना, वहां मिटना। जहां सृजन, वहां विध्वंस। तो जहां-जहां दो हो जाएं, वहां-वहां तुम्हारा निरंजन स्वरूप नहीं है। इन दो में से तुम एक को चुन लेते हो। जैसे कोई कहता है, मैं पुरुष हूं, इसने एक चुन लिया। कोई कहता है, मैं स्त्री हूं, उसने भी एक चुन लिया।

बुद्ध से किसी ने पूछा है कि बुद्धत्व के बाद आप पुरुष हैं या स्त्री? बुद्ध ने कहा, अब मैं चुनाव नहीं करता हूं। बस इतना कहा कि अब मैं चुनाव के बाहर हूं। अब न मैं स्त्री हूं, न पुरुष हूं। अब मैं बस हूं। वे चुनाव भी तादात्म्य थे। उन चुनावों के माध्यम से भी लेप हो जाता था।

तुम जवान हो या बूढ़े? अगर चुन लिया, तो गिरे। अगर अचुनाव में खड़े रहे, चुना ही नहीं...तुम कभी जरा इस पर सोचो। यह तुम्हारे कितने करीब है बात लेकिन फिर भी तुम चूकते हो। कभी आंख बंद करके तुमने सोचा कि मैं जवान हूं या बूढ़ा? हो सकता है तुम जवान हो, हो सकता है तुम बूढ़े हो, कभी आंख बंद करके सोचा कि मैं जवान हूं या बूढ़ा? तुम भीतर बड़े उसमें पड़ जाओगे कि मैं जवान या बूढ़ा! देह चाहे बूढ़ी हो गयी हो, तो भी भीतर बूढ़ेपन का कभी अनुभव होता है? देह चाहे जवान हो, इससे क्या फर्क पड़ता है? तुम जब बच्चे थे तब भी तुम भीतर ऐसा ही अनुभव करते थे जैसा जवानी में अनुभव करते हो, जैसा बुढ़ापे में अनुभव करोगे। भीतर कोई अंतर नहीं पड़ता।

सब रूपांतरण बाहर होते रहते हैं। देह बदलती रहती है, भीतर तो अरूप है। भीतर तो शाश्वत है। भीतर तो नित्य है। तुम बाहर से सोचते, मैं पुरुष, मैं स्त्री; कभी भीतर भी झांक कर देखा कि वहां मैं कौन हूं? स्त्री-पुरुष का भेद तो शरीर पर है, शारीरिक है। चैतन्य तो स्त्री-पुरुष नहीं हो सकता। चैतन्य पर तो कोई स्त्री-पुरुष के भेद के लक्षण नहीं हो सकते। साक्षी तो बस साक्षी है। न पुरुष, न स्त्री।

एक वृद्ध जैन ने मुझसे पूछा--क्योंकि जैन मानते हैं, स्त्री का मोक्ष नहीं हो सकता, स्त्री-पर्याय से मोक्ष नहीं हो सकता, पुरुष तो होना ही पड़ेगा। पुरुषों ने शास्त्र रचे, तो पुरुषों ने सभी जगह स्त्रियों को नीचे रखा। स्त्रियों को ऊपर रखने की हिम्मत, अपने साथ रखने की हिम्मत पुरुष नहीं कर पाए। तो उस जैन ने पूछा कि आप क्या कहते हैं? स्त्री का मोक्ष हो सकता है या नहीं?

मैंने कहा, जहां मोक्ष होता है वहां न कोई स्त्री होती है न कोई पुरुष होता है। जब तक कोई स्त्री है और जब तक कोई पुरुष है, तब तक मोक्ष नहीं। तो न तो स्त्री का मोक्ष होता है, न पुरुष का मोक्ष होता है। यह बात गलत ही तुम कहते हो कि पुरुष का मोक्ष होता है। मोक्ष तो अचुनाव में होता है। मोक्ष तो साक्षीभाव में होता है।

मत्स्वरूपे निरंजने।

जहां कोई अंजन नहीं रह जाता है, कोई लेप नहीं रह जाता है। जहां तुमने भीतर की उस अंतर्वस्तु को पहचान लिया जो न स्त्री, न पुरुष; न जवान, न बूढ़ी; न गोरी, न काली; न हिंदू, न मुसलमान।

"सदा द्वंद्वरहित मुझमें कहां शास्त्र हैं?"

सारे शास्त्र मन में हैं, बुद्धि में हैं। क्योंकि सारे शब्द बुद्धि में हैं। तो शास्त्र कहां हो सकते हैं! मुझमें कोई शास्त्र नहीं। कुरान मानते हो कि पुरान मानते हो, वेद मानते हो कि बाइबिल मानते हो, सब मन का ही खेल है। जहां तक शब्द जाते हैं, वहां तक मन है। जहां शब्द नहीं जाते, केवल निःशब्दता जाती है, वहीं से तुम शुरू हुए। जहां तक शब्द हैं, वहां तक लेप, वहां तक तुम निरंजन नहीं। शब्दों ने कैसा पकड़ा है!

किसी से पूछो, आप कौन हैं? वह कहते हैं, मैं मुसलमान हूं, मैं हिंदू हूं, मैं जैन, मैं बौद्ध, मैं ईसाई। शब्दों ने कैसा पकड़ा है! कौन ईसाई है, कौन हिंदू है, कौन मुसलमान है! बच्चा जब पैदा होता है तो न हिंदू होता है, न मुसलमान होता है, न ईसाई होता है। हम उसे सिखाते, संस्कारित करते, उसे सब भांति पिलाते घोंट-घोंट कर। जिस दिन से हम उसको अपने हाथ में पाते हैं, उसी दिन से हिंदू या मुसलमान बनाने में लग जाते हैं। निश्चित ही निरंतर के संस्कार से एक दिन वह भी दोहराने लगता है, मैं हिंदू। मानने लगता है, मैं हिंदू। तुमने उस व्यक्ति को बड़ा संकीर्ण कर दिया। आत्मा कहां हिंदू, कहां मुसलमान! मंदिर-मस्जिद सब सीमाएं हैं, आत्मा असीम। आत्मा का कोई शास्त्र नहीं। आत्मा के पास कोई शब्द नहीं। आत्मा निःशब्द है, निर्विचार है, निर्विकार है।

मत्स्वरूपे निरंजने, गतद्वंद्वस्य मे सदा।

जहां तक शब्द जाते हैं, वहां तक द्वंद्व है। तुम ऐसा कोई शब्द नहीं खोज सकते जिसका विपरीत शब्द न हो। शब्द तो द्वंद्व से ही भरा है। तुमने कहा किसी को सुंदर, तो तुम्हें किसी को असुंदर कहना ही पड़ेगा। तुम यह तो न कर सकोगे कि तुम कहो कि मुझे सभी सुंदर दिखायी पड़ते हैं। अगर सभी सुंदर दिखायी पड़ते हैं तो सुंदर शब्द का कोई अर्थ नहीं रहा, अर्थहीन हो गया। तुम्हें असुंदर दिखायी पड़ता हो, तो ही सुंदर दिखायी पड़ सकता है। कुरूप को बिना स्वीकार किये सुंदर का कोई बोध नहीं हो सकता। तुमने कहा, यह आदमी महात्मा है, तुम चक्कर में पड़ गये। क्योंकि महात्मा कहने का मतलब ही यह हुआ कि तुम किसी को हीन-आत्मा कहोगे। बिना हीन-आत्मा कहे तुम किसी को महात्मा नहीं कह सकते। महात्मा का तो मतलब ही हुआ कि तुमने श्रेष्ठ कहा किसी को। तो तुमने किसी को अश्रेष्ठ कह दिया। भेद पैदा हो गया। अच्छा कहा, बुरा हो गया। अच्छे में बुरा समाया है। ये एक ही सिक्के के दो पहलू हैं।

सभी शब्द द्वंद्वग्रस्त हैं। शब्द के भीतर द्वंद्व से पार होने का कोई उपाय नहीं। तुम यह न कह सकोगे कि मुझे तो सभी में भगवान दिखायी पड़ता है। अगर सभी में भगवान दिखायी पड़ता है तो कोई बात ही कहने की न रही। जब तक तुम्हें किन्हीं में शैतान दिखायी पड़ता है तभी तक किसी में भगवान दिखायी पड़ सकता है। नहीं तो कोई अर्थ ही नहीं रहा, बात ही व्यर्थ हो गयी। अगर तुम कहते हो, मैं तो हर स्थिति में सुखी हूं, तो इस बात के कहने में कोई भी अर्थ न रहा। यह व्यर्थ हो गयी। तुम किन्हीं स्थितियों में जरूर दुखी होते होओगे, तभी कहते हो हर स्थिति में सुखी हूं।

गतद्वंद्वस्य मे सदा।

जनक कहते हैं, मैं द्वंद्व के बाहर हूं--गतद्वंद्वस्य--पार। जहां तक द्वंद्व है, वहां तक मैं नहीं। जहां द्वंद्व नहीं, वहां मैं हूं। फिर वहां न कोई शास्त्र है, न आत्म-विज्ञान है। न विषय रहित मन है। वहां तृप्ति भी कहां, क्योंकि वहां तृष्णा भी नहीं है। जब तक तृष्णा है तब तक तृप्ति है। जब कोई आदमी कहता है कि मैं तो बड़ा संतुष्ट हूं, मेरे मन में असंतोष रहा ही नहीं, तो समझना कि असंतोष कहीं-न-कहीं होगा। नहीं तो तृप्ति का अनुभव कैसे होता? प्यास न हो तो तृप्ति का अनुभव नहीं होगा। भूख न हो तो तृप्ति का अनुभव न होगा। सारे अनुभव अपने विपरीत को अपने साथ ही खींच लाते हैं। इसलिए मैंने कल तुमसे कहा कि अगर तुम्हारे जीवन में सुख के शिखर अनुभव होते हैं, तो ध्यान रखना, दुख की घाटियां भी पास ही हैं। तुम उनमें गिरोगे, बच न सकोगे।

कृष्णमूर्ति की देशना में एक शब्द बड़ा बहुमूल्य है: च्वाइसलेसनेस, विकल्परहितता, चुनाव- रहितता। चुनना ही नहीं। अगर तुम इतना ही कर लो कि खड़े देखते रहो और चुनाव न करो--न कहो सुंदर, न कहो असुंदर; न कहो अपना, न कहो पराया; न कहो प्रीतिकर, न अप्रीतिकर; न पास रखना चाहो, न दूर हटाना चाहो--तो उसी चुनावरहितता में तुम मुक्त हो गये।

"स्वरूप को कहां रूपिता है, कहां विद्या है, कहां अविद्या है, कहां मैं है, अथवा कहां यह, कहां मेरा है; कहां बंध है, कहां मोक्ष है?"

क्व विद्या क्व च वाऽविद्या क्वाहं क्वेदं मम क्व वा।
क्व बंधः क्व च वा मोक्षः स्वरूपस्य क्व रूपिता।।
स्वरूपस्य क्व रूपिता।
"स्वरूप को कहां रूपिता है?"

शब्द का उपयोग तो करना पड़ रहा है, निःशब्द को बताने के लिए। इसलिए शब्द की सीमा को ध्यान रखना। इसलिए जितना बहुमूल्य वचन होगा, उतना विरोधाभासी होगा। जैसे, स्वरूप को कहां रूपिता? स्व-रूप, और फिर कहते हैं कहां रूपिता? स्वरूप को कहां रूप? स्वरूप शब्द में ही रूप है। लेकिन मजबूरी है। आदमी के पास जितने शब्द हैं, सभी द्वंद्व में भरे हैं। इसलिए गतद्वंद्व के लिए एक ही उपाय है प्रगट करने का कि हम विपरीत शब्दों का साथ-साथ उपयोग करें।

उपनिषद कहते हैं, परमात्मा दूर से भी दूर और पास से भी पास। बात ठीक नहीं मालूम पड़ती, तर्कयुक्त नहीं है। या तो दूर है तो दूर है, या पास है तो पास है। यह क्या बात हुई कि दूर से भी दूर, पास से भी पास! लेकिन मजबूरी है।

मजबूरी यह है--दूर कहें तो चूक हो जाती है, पास कहें तो चूक हो जाती है। क्योंकि जिसको पास कहा, पास कहने में ही दूर हो गया। पास में ही दूरी छिपी है। जिसको तुम पास कहते हो, यह भी दूरी को ही नापने का एक ढंग है। कोई मेरे पास बैठा है चार फीट दूरी पर, कोई छः फीट दूरी पर, कोई दस फीट दूरी पर, कोई दस मील दूरी पर और कोई दस प्रकाश-वर्ष दूरी पर। ये सिर्फ दूरियां ही हैं सब। जो चार फीट पास बैठा है, वह भी तो चार फीट दूर बैठा है। चाहे चार फीट पास कहो, चाहे चार फीट दूर कहो, क्या फर्क पड़ता है, दोनों में एक ही मतलब है। हर पास में दूरी छिपी है। हर दूरी में पास छिपा है। भाषा में बड़ी कठिनाई है।

भाषा तो सापेक्ष है। तुम कहते हो, पानी ठंडा। या कहते हो, पानी गर्म। कहते वक्त ऐसा लगता है कि तुम कोई बड़े बहुमूल्य तथ्य कह रहे हो। यह तथ्य नहीं है। क्योंकि किस पानी को तुम ठंडा कहते हो? किस पानी को तुम गर्म्म कहते हो?

मैं एक यात्री का जीवन पढ़ रहा था। वह साइबेरिया की यात्रा को गया था। और ऐसा हुआ कि रास्ता भटक गया। चारों तरफ सफेद ही सफेद बर्फ। और रास्ता भूल गया। और जिस डेरे पर लौटना था उस पर न लौट सका। और सांझ हो गयी और रात होने लगी और भयंकर सर्दी। खून जमने लगा। वह घबड़ाया। बच न सकेगा अगर यह रात नहीं पहुंच पाया डेरे पर। भाग-दौड़ की, यहां भागा, वहां भागा। एक दूसरे किसी गांव में पहुंच गया, जहां दो-चार-छः ईगलू थे--साइबेरियन एस्किमो के मकान। वह तो बर्फ के ही बने होते हैं। बर्फ को ही जमाकर ईगलू बना लेते हैं। वह कंप रहा है। और वह डर रहा है कि मौत पक्की। मगर यह ईगलू मिल गया तो चलो ठीक, कुछ सहारा मिल जाएगा। वह भीतर पहुंचा, ईगलू के मालिक ने कहा कि घबड़ाओ मत, बैठो, विश्राम करो। लेकिन वह ईगलू का मालिक बिलकुल उघाड़ा बैठा है! उसको कोई सर्दी-वर्दी का पता नहीं है। और ये कंपा जा रहा है और दांत खटखटा रहे हैं और बोल भी नहीं सकता ठीक से। जब ईगलू का मालिक सोने जाने लगा तो उसने एक पतला-सा कंबल इसको लाकर दिया कि शायद रात थोड़ी सर्दी पड़े, तो तुम ओढ़ लेना। शायद! रात में अगर सर्दी पड़े! कभी-कभी रात सर्द हो जाती है।

तो क्या सर्दी है और क्या गर्मी है? सापेक्ष है। जो चीज तुम्हें गर्म मालूम पड़ती है, किसी को सर्द मालूम पड़ सकती है। किसी को सर्द मालूम पड़ती है, तुम्हें गर्म मालूम पड़ती है। और कभी-कभी तो ऐसा हो सकता है कि तुम एक बाल्टी में पानी भर कर रख लो, एक हाथ को बर्फ की शिला पर रख लो, एक हाथ को स्टोव पर गरम करते रहो और फिर दोनों हाथों को उस पानी की बाल्टी में डुबा दो, एक हाथ कहेगा पानी गर्म है और एक हाथ कहेगा पानी ठंडा है। तुम्हें दोनों अनुभव एक साथ होंगे कि पानी ठंडा, पानी गरम। सापेक्ष है। जो हाथ तुमने बर्फ पर रखा है, वह हाथ कहेगा, पानी गर्म। क्योंकि पानी उस हाथ से ज्यादा गर्म है। जो हाथ तुमने स्टोव पर गरमा लिया है, वह हाथ कहेगा, पानी बहुत ठंडा। क्योंकि पानी उस हाथ से ठंडा है। तुम्हारे दोनों हाथ...पानी बिलकुल एक ही है, सामने एक ही बाल्टी में भरा है।

क्या पास है, क्या दूर है!

शब्द का उपयोग ध्यानपूर्वक करना। इसलिए सारे धर्मशास्त्र और सारे धर्मशास्ताओं ने शब्द का विपरीत उपयोग किया है--एक ही साथ विपरीत--सिर्फ इतना बताने को कि तुम ध्यान रखना, शब्द के द्वंद्व में न उलझ जाना। इसलिए हम दोनों को लड़ा देते हैं। दोनों को लड़ाकर दोनों मर जाते हैं, दोनों गिर जाते हैं। जो शेष रह जाए वही सच है।

"स्वरूप में कहां रूपिता?"

अब यह बड़ा बेबूझ वचन हो गया। उलटबांसी हो गयी।

"स्वरूप में कहां रूपिता?"

स्वरूप का मतलब ही यह होता है कि स्वयं का रूप, और उसमें जोड़ दिया--"कहां रूपिता?" स्वरूप में कहां रूप, कैसा रूप, बात पूरी हो गयी। इतना ही कह रहे हैं जनक कि तुम्हारा जो अंतरतम है, वहां कोई रूप नहीं है, वहां कोई आकार नहीं, वहां कोई आकृति नहीं। असल में यह भी कहना कि जो तुम्हारा अंतरतम है, ठीक नहीं है, क्योंकि जो तुम्हारा अंतरतम है, वहां बाहर और भीतर भी कुछ नहीं। जो तुम्हारी वास्तविक सत्ता है, वही तो सबकी भी है। वहां तो सब एक हैं। वहां अलग- अलग कोई भी नहीं है।

स्वरूपस्य क्व रूपिता।

और ऐसी परम अरूप दशा में कैसी तो विद्या और कैसी अविद्या? विद्या का अर्थ है, जो हम सीखते हैं। सब सिखावन मन में रह जाती है, इससे भीतर नहीं जाती। इसलिए तुम्हारे मन को अगर चोट लग जाए, तो तुम्हारी सिखावन भूल जाएगी।

मेरे एक मित्र डाक्टर हैं। ट्रेन से गिर पड़े। चोट खा गये। चोट कुछ ऐसी लगी सिर में, ऊपर तो कोई घाव नहीं बना लेकिन भीतर उनकी स्मृति नष्ट हो गयी। बचपन से मेरे साथ, बचपन से मेरे साथ पढ़े, खेले-कूदे। जब मुझे खबर मिली और मैं गया गांव उनको देखने तो वे मुझे पहचान भी नहीं सके। वे मुझे ऐसे देखते रहे। उनकी आंखों में कोई प्रत्यभिज्ञा न हुई। कोई पहचान न बनी। मैंने उनके पिता से पूछा, उनके पिता रोने लगे। वे कहने लगे कि किसी को नहीं पहचानता, न पिता को, न मां को, न पत्नी को, न अपने बेटे को। किसी को नहीं पहचानता।

गरीब परिवार है। बड़ी मुश्किल से उनको पढ़ा-लिखाकर डाक्टर बनाया था, वह सब डाक्टरी धुल गयी। आदमियों को नहीं पहचानते! तो वह जो जानते थे, जो सीखा था, जो विद्या अध्ययन की थी--होशियार डाक्टर थे--वह सब समाप्त हो गयी। कुछ याद ही नहीं आता उन्हें कि कभी उन्होंने कुछ पढ़ा कि लिखा। तीन साल तो ऐसी ही हालत रही। फिर धीरे-धीरे जैसे छोटा बच्चा सीखता है, पुनः उन्होंने सब सीखा। अब किसी तरह कामचलाऊ हो गये हैं। लेकिन इलाज करवाने तो उनके पास कोई नहीं आता। कौन उनसे इलाज करवाए, लोग संदिग्ध हो गये हैं। इनका अब कुछ भरोसा नहीं रहा। कुछ-कुछ स्मृति लौट आयी है, लेकिन सब टूटी-फूटी है।

जिसको हम विद्या कहते हैं, वह तो सीखी हुई बात है। वह तो छीनी जा सकती है। अब तो ब्रेन-वाश के बहुत उपाय दुनिया में चलते हैं। रूस में अब वह अगर कोई आदमी कम्यूनिज्म-विरोधी है तो उसकी हत्या नहीं करते। हत्या करना बहुत पुराना, प्राथमिक, बहुत आदिम उपाय हो गया। अब तो वह सिर्फ उसके मस्तिष्क में विद्युत की धाराएं दौड़ा देते हैं। इतने जोर से विद्युत की धाराएं दौड़ा देते हैं कि उसकी स्मृति सब नष्ट हो जाती है। जब उसकी स्मृति नष्ट हो जाती है, तो कहां का विरोध! कैसा कम्यूनिज्म, कैसा कम्यूनिज्म का विरोध! वह आदमी बिलकुल फिर खाली हो गया, उसकी स्लेट पोंछ दी। फिर उसको जो सिखाना हो, सिखाओ। अब उसको कम्यूनिज्म सिखाना हो, कम्यूनिज्म सिखा दो।

खतरनाक औजार आदमी के हाथ लग गये हैं। सरकारों के हाथ में बड़ी खतरनाक शक्तियां आ गयी हैं। विरोधी को मारने की भी जरूरत न रही, यह तो और भी मारने से भी बुरा मारना हुआ। मार डालते तो आदमी कम-से-कम गौरव से तो मरता। उसका मस्तिष्क पोंछ दिया।

इस मस्तिष्क पोंछने की स्थिति से सिर्फ एक आदमी बच सकता है, वही, जो ध्यान को उपलब्ध हो गया हो। तुम उसका मस्तिष्क पोंछ डालो, कुछ फर्क न पड़ेगा, क्योंकि वह पहले से ही जान रहा है कि मैं मस्तिष्क नहीं हूं। अगर अष्टावक्र का मस्तिष्क पोंछो, तो नहीं पुछेगा। तुम मस्तिष्क पोंछ डालोगे, कुछ फर्क न पड़ेगा। अष्टावक्र की गरिमा जरा भी खंडित न होगी।

इसलिए मैं कहता हूं कि ध्यान के सूत्र जितने जल्दी सारी दुनिया में फैलाए जा सकें, फैला दिये जाने चाहिए, क्योंकि सरकारों के हाथ में खतरनाक औजार लग गये हैं। आदमी की स्वतंत्रता इतने खतरे में कभी भी नहीं थी जितनी अब है। किसी भी आदमी का मस्तिष्क बड़ी आसानी से पोंछ डाला जा सकता है। अगर तुम्हारे पास ध्यान का सूत्र हो और तुम साक्षी बन सको, तो तुम्हें कोई सरकार नष्ट न कर सकेगी। मगर साक्षी तो बहुत कम हैं, लोग तो कर्ता और भोक्ता बने हैं। लोगों ने तो अपने मन को ही सब समझ लिया है।

"स्वरूप को कहां रूपिता है, कहां विद्या है?"

एक ऐसा तल अपने भीतर पाओ जहां तुम अपनी जानकारियों से ज्यादा पार, ऊपर, बड़े हो। जहां तुम जानकारी ही नहीं हो, जानने वाले हो। तुमसे कोई पूछता है, आप कौन? कहते हैं, इंजीनियर। कहते, डाक्टर। मगर यह तो तुम्हारा होना नहीं है, यह तो तुम्हारी विद्या है, यह तुम्हारा जानना है। इंजीनियर होना तुम्हारा अस्तित्व नहीं है। और न डाक्टर होना तुम्हारा अस्तित्व है। यह तो तुमने विद्या के साथ अपना तादात्म्य कर लिया, आइडेंटिटी कर ली। यह तो तुमने बड़ा गलत जोड़ बांध लिया। यह तो गांठ बुरी है और महंगी पड़ सकती है। साक्षी हो।

"कैसी विद्या और कैसी अविद्या?"

इसलिए एक बात खयाल रखना, साक्षी होने के लिए कोई बहुत बड़ा विद्वान और पंडित होना आवश्यक नहीं है। तुम जहां हो, वहीं से साक्षी हो सकते हो। लोग मुझसे कभी पूछते हैं आकर कि बिना शास्त्र पढ़े, बिना शास्त्र को समझे, बिना निष्णात हुए विद्या में कोई कैसे ध्यान को उपलब्ध हो जाएगा? यह तो बड़ी कठिन बात है।

इसकी कोई कठिनाई जैसी बात ही नहीं है। तुम बड़े बुद्धिमान हो, बहुत शास्त्रों के ज्ञाता हो, इससे कुछ फर्क नहीं पड़ता। या तुम बिलकुल नहीं शास्त्र के ज्ञाता हो, तुम्हें भाषा भी नहीं आती, तो भी फर्क नहीं पड़ता। साक्षी होने का मतलब है, तुम जो भी करते हो, उसमें अपने को जोड़ो मत।

समझो। एक आदमी खेती-बाड़ी करता है। वह खेती-बाड़ी करते-करते साक्षी हो सकता है। सिर्फ इतना ही ध्यान रखे कि यह जो हल-बक्खर चला रहा है, यह मैं नहीं हूं, यह मैं देखनेवाला मात्र। शरीर से हल-बक्खर चल रहा है, मन से योजना बनायी जा रही है, मैं देखनेवाला हूं। या कि तुम वेद पढ़ रहे हो, एक ही बात है। या कि जूते बना रहे हो, चमार हो; या कि मूर्ति गढ़ रहे हो, मूर्तिकार हो, कोई फर्क नहीं पड़ता। तुम क्या कर रहे

हो, इससे कोई संबंध नहीं है। तुम जो भी कर रहे हो उसके प्रति जागकर अगर साक्षी हो जाओ, तो तुम साक्षी के परम जगत में प्रवेश कर जाओगे। इसलिए गोरा कुम्हार भी ज्ञान को उपलब्ध हो गया, काशी के पंडित राजी नहीं होते। क्योंकि काशी के पंडित कहते हैं कि गोरा कुम्हार, घड़े बनाते-बनाते और ज्ञान को उपलब्ध हो गया! कबीर, कपड़े बुनते-बुनते! यह कबीर जुलाहा और ज्ञान को उपलब्ध हो गया! काशी के पंडित राजी नहीं होते। कि रैदास चमार, जूते बनाते-बनाते और ज्ञान को उपलब्ध हो गया! नहीं यह बात जंचती नहीं।

काशी का पंडित सोचता है कि जब तक कोई पांडित्य को उपलब्ध न हो, बड़ी-बड़ी उपाधियां न हों, तब तक कोई ज्ञान को कैसे उपलब्ध होगा?

स्वामी रामतीर्थ अमरीका से भारत वापस लौटे। अमरीका में तो उन्हें बड़ी ख्याति मिली। इस लिहाज से अमरीका सरल है। अमरीका शायद अकेला मुल्क है मनुष्य जाति के इतिहास में जहां पंडित का कोई बहुत मूल्य नहीं है। व्यावहारिक आदमी का मूल्य है। पंडित का इतना कोई मूल्य नहीं है। अमरीका में तुम्हें ऐसे प्रोफेसर मिल जाएंगे जिनके पास कोई डिग्री नहीं है और यूनिवर्सिटी में पढ़ाते हैं। यह बड़ा कठिन मामला है। भारत में तुमको कोई ऐसा प्रोफेसर नहीं मिल सकता जिसके पास डिग्री न हो और यूनिवर्सिटी में पढ़ाता हो। डिग्री तो होनी चाहिये चाहे गधा डिग्रीधारी हो वह यूनिवर्सिटी में प्रोफेसर हो जाएगा।

तुम चकित होओगे, कबीरदासजी को पढ़ानेवाले प्रोफेसर हैं, कबीरदासजी अगर आ जाएं तो उनको प्रोफेसरी नहीं मिल सकती। कबीरदास को यूनिवर्सिटी में पढ़ाते हैं, कबीरदास पर थीसिस लिखी जाती है; कबीरदास पर थीसिस लिखनेवाले डाक्टर हो जाते, प्रोफेसर हो जाते, कबीरदासजी अगर आ जाएं तो यूनिवर्सिटी कमीशन उनसे पूछेगा कि डिग्री कहां है? सिर्फ अमरीका में कबीरदास को भी प्रोफेसरी मिल सकती है। अमरीका की पकड़ व्यावहारिक है। अमरीका में ऐसे बहुत से कवि प्रोफेसर हैं, जिनके पास कोई डिग्री नहीं है। लेकिन डिग्री क्या करोगे? जो आदमी कविता को जन्म दे सका है, जिसकी कविता पढ़ाने को सैकड़ों वर्ष प्रोफेसर संलग्न रहेंगे, तुम उसको प्रोफेसरी नहीं दे सकते? उसको अपनी कविता समझाने का मौका नहीं दे सकते?

अमरीका में ऐसे लोग इंजीनियर हैं, जिनके पास कोई डिग्री नहीं। लेकिन अनुभव है, अमरीका अनूठा है इस लिहाज से। अमरीका की पकड़ बहुत व्यावहारिक है। क्योंकि अमरीका व्यवसायी देश है। व्यवसायी की पकड़ व्यावहारिक होती है, प्रैक्टिकल। व्यवसायी हमेशा व्यावहारिक होता है। उसकी नजर इस पर होती है कि परिणाम किससे आते हैं?

रामतीर्थ अमरीका में रहे तो लोगों ने खूब उन्हें आदर दिया। क्योंकि बात इतनी प्रत्यक्ष थी! अब यह पूछने की जरूरत थोड़े ही थी रामतीर्थ से कि तुमने कितने शास्त्र पढ़े हैं? तुम वेद जानते कि नहीं? यह रामतीर्थ की मौजूदगी वेद की मौजूदगी थी। यह वाणी वेद की वाणी थी। इन आंखों में सागर लहरा रहा था। यह रामतीर्थ की मस्ती काफी थी प्रमाण।

लेकिन यह बात काशी में नहीं चलेगी। जब रामतीर्थ वापस लौटे तो वे काशी गये। और काशी में बड़ी उन्हें हैरानी हुई। क्योंकि जब वे काशी में बोले तो एक आदमी बीच में खड़ा हो गया एक पंडित और उसने कहा, रुकिये! संस्कृत आती है? रामतीर्थ को संस्कृत आती नहीं थी, वे तो फारसी के विद्वान थे। लाहौर में पढ़े, लाहौर के पास ही पैदा हुए, उर्दू जानते थे, फारसी जानते थे। और गणित के प्रोफेसर थे। संस्कृत से तो कुछ लेना ही देना नहीं था। चौंककर रामतीर्थ रह गये। और उस आदमी ने कहा, महाराज, पहले संस्कृत तो पढ़ो! वेद का कुछ पता नहीं है और ब्रह्मज्ञान बखान रहे हो! यह ब्रह्मज्ञान किसी काम का नहीं है। यह सब बातचीत है, जब तक शास्त्र का समर्थन नहीं है।

रामतीर्थ दिखायी नहीं पड़ते! रामतीर्थ सामने बैठे हैं। इससे ज्यादा मस्त आदमी इन सौ वर्षों में भारत में दूसरा नहीं हुआ। इससे ज्यादा सूफियाना, इससे ज्यादा मौलिक, इससे ज्यादा परमात्मा के निकट मुश्किल से

कोई आदमी होता है। मगर नहीं, पंडितों को यह बात न दिखी। सभा उखड़ गयी, लोग उठ गये, लोगों ने कहा कि छोड़ो, जाने दो, क्या रखा है! संस्कृत तक तो आती नहीं! एक पर्दा पड़ गया आंख पर।

कोई प्रयोजन नहीं है संस्कृत के जानने से। मुसलमान होने के लिए अरबी जानना आवश्यक नहीं है। न हिंदुत्व के सार को समझने के लिए संस्कृत जानना जरूरी है। और न यहूदी होने के लिए हिब्रू जानना जरूरी है। सत्य को जानना जरूरी है। और सत्य तो भीतर पड़ा है। तो सिर्फ जागना जरूरी है। जो भीतर पड़ा है उसे आंख खोलकर देख लेना आवश्यक है, बस।

"कहां विद्या, कहां अविद्या, कहां मैं है, अथवा कहां यह, कहां मेरा; कहां बंध है, और कहां मोक्ष?"

बंधन और मोक्ष भी द्वंद्व के ही जगत के हिस्से हैं।

स्वरूपस्य क्व रूपिता?

यहां तो कोई बंधन, कोई मोक्ष, कोई रूप नहीं बनता, कोई आकृति नहीं बनती। मुक्तपुरुष इतना भी नहीं कहेगा कि मैं मुक्त हूं। क्योंकि न तो मैं बचा, न मुक्ति बची।

ऐसा ही समझो कि एक आदमी जेलखाने से छूटता है। बीस साल कारागृह में रहा, हथकड़ियों में जकड़ा रहा। छूटा आज, तो छूटते ही से मुक्ति लगती है। तुम्हें तो मुक्ति नहीं लगती! तुम सड़क पर चले जा रहे हो, उसी सड़क पर जहां वह कारागृह से छूटता है एक आदमी--जेल के दरवाजे पर लाकर जेलर उसे विदा करता है और कहता है, धन्यभागी कि तुम जीवित निकल आए, बीस साल लंबा वक्त था, प्रभु तुम्हारी रक्षा करे, दुबारा मत आ जाना। वह आदमी चौंककर अपने को खड़ा खुली हवा में देखता है, सूरज की रोशनी, पक्षी उड़ते हुए, लोग जाते हुए--बीस साल कारागृह में बंद था, अंधेरी कोठरियां, सींकचे, सिर्फ संतरियों के पैरों के जूतों की आवाज के सिवाय कोई और संगीत नहीं सुना, आज अचानक फिर से बीस साल के बाद जीवन का रूप-रंग, यह सतरंगा जीवन, ये फूल, ये पक्षी, चौंककर खड़ा रह जाता है। परममुक्ति का अनुभव होता है। लेकिन तुम भी वहीं जा रहे रास्ते पर, तुम्हें कुछ अनुभव नहीं होता।

मुक्ति के अनुभव का अर्थ इतना ही है कि वह जंजीरों का ही अनुभव है। जंजीर बंधी रही तो मुक्ति का अनुभव होता है। तो जब कोई व्यक्ति पहले पहले मुक्त होता होगा, तो शायद क्षण भर को मुक्ति का अनुभव होता हो, लेकिन फिर तो पता चलता है--कैसी मुक्ति, कैसा बंधन? दोनों गये। बंधन के साथ मुक्ति भी गयी। जानी ही चाहिए। दुख के साथ सुख भी गया। जाना ही चाहिए। अशांति के साथ शांति भी गयी। जाना ही चाहिए। अब तो जो बचा--गंतद्वंद्वस्य मे सदा--अब तो वही बचा जो द्वंद्व के अतीत है।

"धर्माधर्मरहित मुझको कहां प्रारब्धकर्म हैं, अथवा कहां जीवनमुक्ति है और कहां वह विदेह कैवल्य ही है!"

क्व प्रारब्धानि कर्माणि जीवनमुक्तिरपि क्व वा।
क्व तद्विदेह कैवल्यं निर्विशेषस्य सर्वदा।।

"मैं तो निर्विशेष हूं...।"

निर्विशेषस्य सर्वदा!

जनक कहते हैं, मेरे ऊपर अब कोई विशेषण नहीं लगता।

निर्विशेषस्य सर्वदा।

न तो हिंदू, न मुसलमान, न ईसाई; न ब्राह्मण, न शूद्र; न स्त्री, न पुरुष; न ज्ञानी, न अज्ञानी; न बंद, न मुक्त, मुझ पर कोई विशेषण नहीं लगता। अब तो मैं बस हूं। होना शुद्ध है, सीमा के पार है। होना परिभाषा के बाहर है। अब मुझ पर कोई परिभाषा नहीं लगती।

निर्विशेषस्य सर्वदा।

इस निर्विशेष शब्द को समझना, इसके दो अर्थ हैं। एक तो विशेषणरहित, कि अब कोई भी विशेषण सार्थक नहीं रहा। ज्यादा क्या कहें--जनक कहते हैं--इतना ही कहना काफी है कि कोई विशेषण अब मुझ पर नहीं लगता। न छोटा, न बड़ा; न धनी, न गरीब; न त्यागी, न भोगी; न कर्ता, न अकर्ता, कोई विशेषण नहीं

लगता, एक बात। और निर्विशेषस्य का एक और अर्थ है कि अब मैं जरा भी विशिष्ट नहीं। वह बात भी खयाल में लेना। अब मैं कोई खास आदमी नहीं हूं। अब मैं जरा भी विशिष्ट नहीं।

विशिष्ट होने का मोह तो अहंकार का ही मोह है। हमारे सबके मन की इच्छा एक ही रहती है कि मैं विशिष्ट, मैं कुछ खास। हम हजार तरह से जीवन में एक ही तो उपाय करते हैं कि किसी तरह सिद्ध हो जाए कि मैं कुछ विशिष्ट, मैं कोई साधारण आदमी नहीं हूं, मैं असाधारण हूं। कोई धन कमाकर सिद्ध करता है कि मैं असाधारण हूं--कोई रॉकफेलर, कोई मार्गन, कोई एन्ड्रू कारनेगी सिद्ध करता है कि मैं विशिष्ट हूं, देखो कितना मेरे पास धन है, तुम्हारे पास क्या है? कोई सिद्ध करता है बड़ा पंडित होकर कि मैं चारों वेदों का ज्ञाता, देखो। तुम्हारे पास क्या है? कोई सिद्ध करता बड़ा त्यागी होकर कि देखो, मैंने धन-दौलत छोड़ दी, मकान छोड़ दिया, पत्नी-बच्चे छोड़ दिये, देखो नग्न खड़ा हूं, रास्ते पर--सर्वत्यागी--तुमने क्या छोड़ा!

यह हमारी सब विशिष्टता की दौड़ें हैं। और विशिष्टता की दौड़ का एक ही अर्थ है कि हमें अभी अपना कुछ भी पता नहीं चला। अभी हम विशेषण तलाश रहे हैं। अभी हम चेष्टा कर रहे हैं दुनिया को दिखाने की कि हम कौन हैं। जिसने स्वयं को जान लिया, उसकी सब चेष्टा समाप्त हो जाती है कि मैं कौन हूं। जिसने स्वयं को जान लिया, उसने तो जान लिया कि सारा अस्तित्व ही विशिष्ट है, यहां विशिष्ट होने की दौड़ पागलपन है। यहां सभी कुछ असामान्य है, क्योंकि सभी कुछ प्रभु से परिपूरित है।

जनक कहते हैं, "और कहां वह विदेह कैवल्य ही?"

जनक के संबंध में एक विशेषण उपयोग किया जाता है कि वह विदेह कैवल्य को उपलब्ध हो गये थे। कहते हैं न, राजा जनक विदेह थे। विदेह का मतलब कि देह में रहते-रहते देह के जो पार था उसे उन्होंने जान लिया था। विदेह का अर्थ, संसार में रहते-रहते वे मोक्ष को उपलब्ध हो गये थे।

लेकिन जनक कहते हैं, "और कहां वह विदेह कैवल्य ही!"

जिसकी लोग चर्चा करते हैं कि जनक को मिल गया, विदेह कैवल्य, वह भी कहां है! अब कुछ भी नहीं है। महाशून्य है। शून्य भी जब न रह जाए तो उसका नाम है महाशून्य।

"सदा स्वभावरहित मुझको कहां कर्तापन है और कहां भोक्तापन है? अथवा कहां निष्क्रियता है और कहां स्फुरण है? अथवा कहां प्रत्यक्ष ज्ञान है और कहां उसका फल है?"

क्व कर्ता क्व च वा भोक्ता निष्क्रियं स्फुरणं क्व वा।
क्वापरोक्षं फलं वा क्व निःस्वभावस्य मे सदा।।

समझें।

"सदा स्वभावरहित मुझको कहां कर्तापन है?"

क्व निःस्वभावस्य मे सदा।

फिर विरोधाभास है। स्वभाव और उसमें और एक निषेध लगा दिया--निःस्वभाव। जब तुम स्वयं को जानोगे तो एक अनूठी बात जानोगे कि वहां स्व जैसा कुछ भी नहीं है। स्वयं को जानकर पाओगे कि स्व तो गया। वह स्व भी पर के साथ ही जुड़ा था। जब तुम बिलकुल अकेले रह जाओगे तो अकेले भी न रहोगे, क्योंकि अकेलापन भी भीड़ की तुलना में था।

समझो। जब तुम बाजार में हो, भीड़ में हो। फिर तुम चले हिमालय के एक शिखर पर बैठ गये। तुम कहते हो, बड़ा आनंद, अकेले बैठे, कोई भीड़-भाड़ नहीं। लेकिन तुम्हारे अकेलेपन की परिभाषा भीड़-भाड़ से आती है।

मैं कुछ मित्रों को लेकर कश्मीर में था। जिस बजरे पर हम रुके थे। उस बजरे का जो मालिक था, वह धीरे-धीरे मेरे प्रेम में पड़ गया। जब हम आने लगे, वह रोने लगा। तो मैंने उससे पूछा कि बात क्या है? तो उसने कहा, बाबा, बस एक दफे बंबई दिखला दो। तू बंबई देखकर क्या करेगा, यह बंबई के सब लोग मेरे साथ यहां हैं। ये बंबई से छूटना चाहते हैं। उसने कहा कि नहीं बाबा, हो गयी जिंदगी इसी डल झील पर मरते-मरते, एक दफा बंबई दिखा दो। उसे डल झील पर लग रहा है कि इससे ज्यादा और व्यर्थ काम क्या होगा? उसे यह भी

समझ में नहीं आ रहा है कि डल झील में उसकी नौका पर जो मेहमान होते हैं अधिकतर बंबई के ही होते हैं। बंबई से घबड़ाया हुआ आदमी कश्मीर भागता है। कश्मीर से घबड़ाया हुआ आदमी बंबई आना चाहता है। तुम्हें डल झील पर शांति मालूम पड़ती है। डल झील पर जो रह रहा है उसे सूनापन मालूम पड़ता है।

फर्क समझ लेना। तुम्हारी शांति की परिभाषा तुम्हारी बंबई की भीड़ से आती है। जब बंबई का आदमी जाकर झील पर बैठ जाता है तो कहता है, अहा हा! मगर यह है अभी भी बंबई में ही, क्योंकि यह जो अहा हा रहा है, यह बंबई की ही तुलना में आ रहा है, नहीं तो अहा जैसा कुछ भी नहीं है। वह बगल में इसके वहीं बैठा हुआ माझी मछली मार रहा है, कि नौका खे रहा है, उसको कुछ अहा हा नहीं हो रहा है। उसके मन में कोई भाव नहीं उठता। वह किसी तरह चला रहा है, मक्खियां मार रहा है। वह कहता है, क्या करो कहीं और जाने का उपाय नहीं, बंबई अपने भाग्य में नहीं, यहीं गुजार देंगे! मक्खियां मार रहे हैं! उसे डल झील पर मक्खियां मारने जैसा लगता है।

तुम जब भीड़ से भागते हो तो अकेलेपन का अनुभव होता है। अकेलापन भीड़ की ही प्रतीति है। जिस दिन तुम सच में ही अकेले हो जाओगे, उस दिन न तो भीड़ रहेगी, न अकेलापन रहेगा। कैसा अकेलापन, कैसी भीड़, दोनों गये। वह तो एक ही सिक्के के दो पहलू थे, पूरा सिक्का चला गया। जिस दिन तुम स्वयं पर आओगे, स्वयं को भी न पाओगे। न स्व, न पर।

"सदा स्वभावरहित मुझको--निःस्वभावस्य मे सदा--कहां कर्तापन है, कहां भोक्तापन है, कहां निष्क्रियता, कहां स्फुरण है?"

फिर एक सूत्र जो मैंने तुम्हें पीछे कहा कि कुछ बिंदु अष्टावक्र ने छोड़ दिये हैं, उनको पूरा करने के लिए रखा है। जनक उनको पूरा करे, तो ही समझो कि जनक समझा है। एक सूत्र था--तुरीय। अष्टावक्र ने कहीं भी यह नहीं कहा कि तुरीय के भी पार हो जाओगे। जनक ने कहा कि तुरीय के भी पार हो गया। अगर सिर्फ दोहराता होता तो उतना ही कहता जितना अष्टावक्र ने कहा था। एक कदम अष्टावक्र ने छोड़ दिया था। अगर अनुभव होगा तो वह कदम भी उसको दिखायी पड़ जाएगा।

यह दूसरा सूत्र--स्फुरण। अष्टावक्र का सूत्र था: स्वस्फुरण, स्वच्छंद--अपने स्वयं की स्फुरणा से जो जीए। वही सत्य को पा गया है। जो दूसरे के उधार से नहीं जीता, जो दूसरे के आदेश से नहीं जीता, जो दूसरे का अंधानुकरण नहीं करता, जो स्वयं से ही स्फूर्ति लेता है, स्पांटेनिटी से जीता है, वही। जनक कहते हैं, "कहां स्फुरण?"

क्व कर्ता क्व च वा भोक्ता निष्क्रियं स्फुरणं क्व वा।

कहां का स्फुरण, कैसी बातें लगाए हैं! यहां कोई स्फुरण नहीं हो रहा है। जब सारी वासना चली गयी, सारी तृष्णा चली गयी, आकांक्षाएं चली गयीं, स्फुरण कैसा? जब सारी क्रिया चली गयी, स्फुरण कैसा? जब परतंत्रता चली गयी तो स्वच्छंदता कैसी? दोनों गये, दोनों साथ-साथ गये

गतद्वंद्वस्य मे सदा।

मैं तो द्वंद्व के पार विराजमान हूं। यह स्फुरण भी गया।

अष्टावक्र अपूर्व आनंद को उपलब्ध हुए होंगे, जब उनका शिष्य कहने लगा, स्फुरण भी गया, स्वच्छंदता भी गयी, स्वतंत्रता भी गयी। ये भी सब परतंत्रता की ही भाषाएं हैं।

"अथवा कहां प्रत्यक्ष ज्ञान है?"

अष्टावक्र ने जोर दिया है, अपना ही ज्ञान होना चाहिए। शास्त्र का ज्ञान तो परोक्ष है। बुद्ध को हुआ था, पता नहीं, ठीक हुआ, गलत हुआ, धोखा दिया, कि कल्पना कर ली, कि खुद धोखा खा गये, कौन जाने! तुम्हें तो नहीं हुआ। मैं कुछ कहता हूं मुझे हुआ। हुआ या नहीं हुआ, तुम कैसे तय करोगे? अंधेरे में टटोलना होगा। जब तक

तुम्हें प्रत्यक्ष ज्ञान न हो जाए, तुम जब तक न जान लो, तब तक कोई जानने में अर्थ नहीं है। ऐसा अष्टावक्र ने कहा। ऐसा सभी सदगुरु कहते रहे हैं कि प्रत्यक्ष जानो, अपनी आंख से जानो, अपना ही अनुभव हो।

जनक कहने लगे, कहां का प्रत्यक्ष ज्ञान और कहां उसका फल! कुछ भी नहीं।

अष्टावक्र खूब आनंदित हुए होंगे। यही बात सच है। जहां परोक्ष गया, वहां प्रत्यक्ष भी गया। यह सब द्वंद्व ही हैं, एक ही साथ बंधे हैं। ये अलग-अलग नहीं होते हैं।

"अपने स्वरूप में अद्वय मुझको कहां लोक है, कहां मुमुक्षु है अथवा कहां योगी है, कहां ज्ञानवान है अथवा कहां बद्ध है और कहां मुक्त है?"

क्व लोकः क्व मुमुक्षुर्वा क्व योगी ज्ञानवान क्व वा।
क्व बद्धः क्व च वा मुक्तः स्वस्वरूपेऽहमद्वये।।
"अपने स्वरूप में अद्वय मुझको।"

ख्याल रखना, निरंतर इस देश के सिद्धों ने, संतों ने अद्वय का उपयोग किया है, एक का नहीं। जब वे एक कहना चाहते हैं तो अद्वय शब्द का उपयोग करते हैं, बहुत सोचकर। अद्वय का अर्थ होता है, दो नहीं। सीधी-सीधी बात कह देते, कान को इतना उल्टा लंबा चक्कर लगाकर क्यों पकड़ना, कह देते: एक, मुझ एक को। लेकिन नहीं, ऐसा भारत के संतपुरुष नहीं कहते: मुझे एक को। क्योंकि एक के साथ दो का बोध आ जाता है। एक तो बनता ही तब है जब दो हों।

पश्चिम में बहुत से गणितज्ञों ने बहुत तरह की चेष्टाएं की हैं। सामान्य रूप से तो गणित में दस अंक होते हैं--एक से लेकर दस तक। और फिर इन दस ही के आधार पर सारा गणित का विस्तार होता है। फिर तो पुनरुक्ति है। फिर ग्यारह, बारह, तेरह और फिर करोड़ों तक, अरबों-खरबों, शंख-महाशंख तक उसी की पुनरुक्ति है, लेकिन मूल आंकड़े तो दस हैं। यह दस का जन्म बड़ा अवैज्ञानिक है। यह दस पैदा हुए आदमी की दस अंगुलियों के कारण, क्योंकि आदमी ने गिनती सबसे पहले अंगुलियों पर शुरू की। तब कोई गणित तो न था--अब भी गांव का ग्रामीण अंगुलियों पर गिनता है। चूंकि दस अंगुलियां, सारी दुनिया में सभी आदमियों की दस अंगुलियां हैं, इसलिए सारी दुनिया में जितने गणित पैदा हुए सबका मूल अंक दस है।

लेकिन यह कोई बड़ी गणित की तो बात न थी, यह तो संयोग की बात थी कि आदमी की दस अंगुलियां हैं। इस पर कोई दस आंकड़े होना जरूरी नहीं। तो फिर गणितज्ञों ने बहुत कोशिश की कि इतने आंकड़ों से कम से काम चल सके। तो लीवनिस बड़ा दार्शनिक और गणितज्ञ हुआ, उसने तीन आंकड़े लिये--एक, दो, तीन। फिर तीन के बाद चार नहीं आता, तीन के बाद दस आता है। तीन मूल आंकड़े, उसने कहा तीन से काम चल जाएगा। उसको तीन का ख्याल आया ईसाई "ट्रिनिटी" से कि जीसस कहते हैं, मूलरूप से तीन हैं। वैसा हिंदू भी कहते हैं--त्रिमूर्ति। मूल रूप से तीन हैं। और वैसा वैज्ञानिक भी कहते हैं--इलेक्ट्रान, प्रोटान, न्यूट्रान। पदार्थ का तीन खंड है मूल। तो उसने सोचा कि तीन पर्याप्त होना चाहिए। जब तीन का ही सारा जगत विस्तार है तो तीन से ही गणित का भी विस्तार हो जाना चाहिए। तो एक, दो, तीन। तीन के बाद आता है दस; फिर ग्यारह, बारह, तेरह, फिर तेरह के बाद आता है बीस। इस तरह संख्या चलती है। उसने काम चला लिया तीन आंकड़ों से। और विज्ञान तो हमेशा सोचता है, जितने से कम से काम चल जाए उतना अच्छा।

फिर आइंस्टीन ने सोचा कि तीन की इतनी कोई जरूरत नहीं मालूम पड़ती। दो से काम चल सकता है। क्योंकि सारा जगत द्वंद्व है--डुआलिटी। अंधेरा और उजेला, सुबह और शाम, जन्म और मृत्यु, सारा जगत द्वंद्व है। स्त्री-पुरुष, ऋण-धन, सारा जगत द्वंद्व है। तो दो से काम चल जाना चाहिए, तो उसने दो से ही काम चलाया। एक और दो। फिर आ जाती है पुनरुक्ति एक, दो की। तीन नहीं आता। एक और दो के बाद आ जाता है दस। आइंस्टीन ने दो से काम चला लिया। फिर बहुतों ने कोशिश की है कि इससे भी कम हो सके, लेकिन इससे कैसे

कम हो, इससे कम नहीं हो सकता। एक से अकेले काम नहीं चल सकता। एक से गणित नहीं बनता। दो तो अनिवार्य हैं।

भारतीय संतों को यह बात सदा से खयाल में रही कि जहां तुमने एक कहा, वह दो तो आ ही जाएगा, एक तो बन ही नहीं सकता; एक अकेला हो ही नहीं सकता, उसके लिए होने के लिए दूसरे का होना बिलकुल जरूरी है। इसलिए वे कभी नहीं कहते कि मुझे एक को, वे कहते हैं, मुझ अद्वय को। वे कहते हैं, मेरी जो सत्ता है वहां दो नहीं हैं, अब तुम समझ लेना इशारा। मगर वह इशारा है। स्पष्ट नहीं कहते कि वहां एक है। इतना ही कहते हैं कि दो नहीं है। द्वंद्व वहां समाप्त हो गया है। द्वंद्व के वहां हम पार चले गये हैं। दो के अतीत हो गये हैं, दुई मिट गयी है।

स्वस्वरूपेऽहमद्वये।

"अपने स्वरूप में, अपने अद्वय स्वरूप में न मुझे कोई लोक है, न कोई मुमुक्षा है, न कोई योग है, न कोई ज्ञान है; कहां बद्ध, कहां मुक्त?"

न मैं बद्ध हूं, न मैं मुक्त हूं, न मैं अमुक्त; न ज्ञानी, न अज्ञानी। सब विशेषण खो गये हैं। यह निवेदन कर रहे हैं जनक अपने गुरु के सामने कि तुमने मुझे जगाया है। तुमने जो जाग मुझे दी, उससे मुझे ऐसा हुआ है। यह शिष्य अपने हृदय को खोलकर रख रहा है जो उसे हुआ है। और श्रवणमात्रेण हुआ है। जनक को सिर्फ अष्टावक्र को सुन-सुनकर ऐसा हुआ है। जनक अप्रतिम पात्र हैं। इससे श्रेष्ठ कोई पात्र नहीं होता, जिसे सुनकर ही सत्य का अनुभव हो जाए। और ऐसा अनुभव कि जो-जो कमियां गुरु ने छोड़ दी थीं--जानकर छोड़ दी थीं--उनको वह पूरा कर सका। उनको पूरा भर लाया।

पश्चिम में एक बहुत बड़ा चित्रकार हुआ है--दोरेक। उसके पास सैकड़ों शिष्य चित्रकला सीखने आते थे। उसकी परीक्षा का ढंग बड़ा अनूठा था। ऐसे ही रहा होगा जैसा अष्टावक्र का। दोरेक अपने शिष्यों की परीक्षा ऐसे लेता था कि वह खुद एक चित्र बनाता और उसमें कहीं कोई ऐसी बारीक कमी छोड़ देता, जिसको उसकी हैसियत का चित्रकार ही पहचान सकता है। बाकी को तो कमी दिखायी पड़ ही नहीं सकती। और वह अपने शिष्यों को कहता कि अगर इसमें तुम्हें कोई कमी दिखती हो तो उसे पूरा कर दो। जो शिष्य पूरा कर देता उसे--कभी-कभी तो ऐसा होता कि ब्रुश की जरा-सी एक लकीर, और उसने छोड़ दी है, कि जरा-सा एक चिह्न, और देखने पर किसी को भी समझ में नहीं आएगा कि कोई कमी छूट गयी है, कोई कमी छूट गयी है। उसके चित्र सर्वांग सुंदर चित्र होते थे, वह अनूठा कलाकार था। जिंदगी में हजारों लोगों ने उससे सीखा चित्र बनाना, लेकिन दो-चार ही उत्तीर्ण हुए। क्योंकि पहले तो जो देखता वह कह देता कि इसमें कोई कमी नहीं है, घंटों देखता और कहता इसमें कमी है ही नहीं। इसमें कोई कमी नहीं है। कभी-कभी कोई यह सोचकर कि गुरु कहते हैं, कमी होनी चाहिए, तो खोजबीन कर कुछ कमी खोज लेता जो कमी थी ही नहीं। तो वह कुछ उपाय करता तो चित्र और बिगड़ जाता। कभी-कभी ऐसा होता कि कोई शिष्य पहचान पाता कहां कमी है। जो उस कमी को पहचान लेता उसको दोरेक उत्तीर्ण कर देता।

मुझे लगता है, परीक्षा का ठीक उपाय उसने खोजा था। वह कमी, दोरेक की चित्तदशा ही जिस शिष्य में आ गयी हो, उसी को दिखायी पड़ सकती थी। और किसी को नहीं दिखायी पड़ सकती थी। जो दोरेक के साथ इतना आत्मलीन हो गया है, जो अब शिष्य नहीं रहा है, वस्तुतः गुरु ही हो गया है। तुम अगले सूत्र में पाओगे। अगले सूत्र में जनक कहते हैं, और अब कैसा गुरु, कैसा शिष्य! वह अंतिम सूत्र है। और जनक उसकी पात्रता घोषित कर रहे हैं। उन्होंने भर दिये छिद्र जो-जो छोड़ दिये थे। छिद्र बड़े बारीक थे। अगर कोई नकल कर रहा होता तो डरता कि गुरु के खिलाफ बोले कि झंझट हो जाएगी। स्फुरण भी नहीं, प्रत्यक्ष ज्ञान भी नहीं, ज्ञान का कोई फल भी नहीं, न कोई मुक्ति है, न कोई मोक्ष है, न कोई बद्ध है, न कोई बंधन है। न संसार, न निर्वाण।

"अपने स्वरूप में अद्वय मुझको कहां सृष्टि है और कहां संहार है, कहां साध्य है, कहां साधन है अथवा कहां साधक है और कहां सिद्धि है?"

क्व सृष्टिः क्व च संहारः क्व साध्यं क्व च साधनम्।
क्व साधकः क्व सिद्धिर्वा स्वस्वरूपेऽहमद्वये।।

मैं अपने अद्वय रूप में खड़े होकर देख रहा हूं। निवेदन करता हूं, जनक कहने लगे, मुझे क्षमा करें लेकिन मेरा निवेदन यह है कि यहां, इस अद्वय दशा में न तो मुझे कोई सृष्टि दिखायी पड़ती है और न कोई प्रलय। न तो कभी कुछ बनाया गया है और न कभी कुछ मिटाया जाता है, जो है, है। जो नहीं है, नहीं है। न कोई बनाने वाला है, क्योंकि कोई चीज बनायी ही नहीं गयी है कभी--स्रष्टा कैसा, सृष्टि ही कभी नहीं हुई। और न कोई संहारकर्ता है। ये तुम्हारे ब्रह्मा, विष्णु, महेश संभालकर रखो, मुझे धोखा मत दो। न सृष्टि है, न स्रष्टा, तो ब्रह्मा कैसे? सृष्टि नहीं तो संभालनेवाला कौन? और संहार नहीं होता तो कौन शिव है? कोई नहीं है। जो है, अद्वय, एक। उस जगह मैं खड़ा होकर कह रहा हूं कि यहां कुछ भी नहीं है, सब सपना है, और तब तक दिखायी पड़ता है जब तक तुमने अपने को जगाया नहीं। सब नींद में देखी गयी बातें हैं। सब स्वप्न में देखे गये ख्याल हैं।

"कौन साध्य है और कहां साधन, अथवा कहां साधक है और कहां सिद्धि?"

यह आखिरी बात मालूम होती है--कहां सिद्धि? अब तुम समझो, सिद्धि का लक्षण ही यही है। सिद्ध होने का अर्थ ही है कि जहां सिद्धि भी व्यर्थ हो जाए। जो सिद्धि में उलझ गया, वह सिद्ध होते-होते चूक गया। पतंजलि ने पूरा एक अध्याय लिखा है योगसूत्रों में--सिद्धियों का। सिर्फ यह बताने को कि जागरूक रहना, ऐसी-ऐसी घटनाएं घटेंगी, उलझ मत जाना। नहीं तो संसार से बचे, तो फिर स्वर्ग में उलझ गये। बाहर से बचे तो भीतर उलझ गये। बाहर का उपद्रव किसी तरह गया तो भीतर के उपद्रव में लीन हो गये। बाहर का जादू टूटा तो भीतर का जादू पकड़ लिया, लेकिन जादू जारी रहा, नींद न खुली। सिद्ध वही है जिसके भीतर अब कोई सिद्धि भी नहीं रही। जो इतना सरल हो गया है। यह परमसिद्धि की अवस्था है। ऐसा व्यक्ति तो हवा का झोंका है। जल की धार है। पानी की लहर है। इतना ही सरल है। सरलता सिद्धि है। शून्यता सिद्धि है। सिद्धि के भी पार हो जाना सिद्धि है।

कल किसी का प्रश्न था। उत्तर मैंने नहीं दिया, आज के लिए छोड़ रखा था। पूछा है, सिद्ध कौन?

जो असंग
वह अभंग

जो अकेला है, जो इतना अकेला है कि अब अकेलापन भी न बचा, उसी को कहते असंग। और जो असंग है, वह अभंग है। उसका अब खंडन नहीं हो सकता है। उसके अब टुकड़े नहीं हो सकते हैं। मैं, तू, यह, वह, सब टुकड़े समाप्त हो गये।

जो असंग
वह अभंग
और ऐसी अभंग दशा को सिद्ध कहा है।

महाराष्ट्र में सिद्धों के वचन, बहुत से वचन अभंग कहलाते हैं। वे इसीलिए अभंग कहलाते हैं। वे एक ऐसी चित्त की दशा से पैदा हुए हैं जहां कोई विभाजन नहीं रहा। अंग्रेजी में जो शब्द है इनडिवीजुअल, वह ठीक शब्द है अभंग के लिए। इनडिवीजुअल का अर्थ होता है, जिसके विभाजन न हो सकें। अविभाज्य जो है, खंड न हो सकें। जिसके खंड हो जाएं, वह भीड़, वह अभी व्यक्ति नहीं। सिद्धि की जो परमदशा है, वह अभंग होने की दशा है। अद्वय, दो नहीं बचे, इतना भी खंड नहीं रहा कि दो बचें। अनेक की तो बात ही छोड़ दो, दो भी नहीं बचे।

अपना
अपने में बो
अंतः जग
बाहर सो
सिद्ध की यह दशा है।
अपना

अपने में बो
अब कोई दूसरा तो है नहीं।
अपना
अपने में बो

खुद ही बीज है, खुद ही खेत है, खुद ही किसान है, खुद ही फसल है, खुद ही काटेगा। बस अपना ही अपना बचा।

अपना
अपने में बो
अंतः जग
बाहर सो

और जो भीतर है, वही अब बाहर है। जो बाहर है, वही भीतर है। बाहर भीतर भी गया। अभंग। अब न कुछ बाहर है, न भीतर है।

नियति निरपेक्ष है
भ्रम है विरोधाभास
तम-विभा द्वय से
मुक्त है महाकाश
नियति निरपेक्ष है

तो जब तक सापेक्ष हो--ठंडा और गरम, सुख और दुख ये सब सापेक्ष बातें हैं। जो तुम्हें सुख है, दूसरे को दुख हो सकता है।

ऐसा एक बार हुआ कि मैं एक राजमहल में मेहमान हुआ। मेरे साथ एक मित्र भी वहां मेहमान हुए। मित्र फक्कड़ फकीर हैं। और राजमहल में होने का उन्हें कभी मौका आया नहीं था। जिस राजा के हम मेहमान थे, उसने जो श्रेष्ठतम उनके घर में सुविधा थी वह हमारे लिए जुटायी थी। सुंदरतम जो कक्ष था, उसमें हमें ठहराया था। लेकिन रात मैंने देखा कि मित्र करवट बदलते हैं, उन्हें नींद नहीं आती। मैंने उनसे पूछा कि बात क्या है? तुम इतनी करवट बदलते हो! तो उन्होंने कहा कि मुझे नींद नहीं आती, अगर आप आज्ञा दें तो मैं फर्श पर सो जाऊं। तो मैंने कहा, तुम्हें बिस्तर पर कोई तकलीफ है? बोले, बहुत तकलीफ हो रही है, क्योंकि यह इतना सुखद है, इतना गुदगुदा और इतना मुलायम, ऐसे बिस्तर पर मैं कभी सोया नहीं, मुझे बड़ा दुख हो रहा है, मुझे नीचे सो जाने दें।

वह नीचे सो गये। पांच मिनट बाद मैंने देखा वो घर्राटे ले रहे हैं। सुबह मैंने अपने मेजबान को कहा कि आपने इनको बड़ा दुख दिया। कहने लगे, दुख? आप कैसी बात करते हैं! मुझसे क्या भूल हुई है, क्या दुख हुआ, आप बताएं। मैंने कहा, दुख यह हुआ कि आपने इनको इतना इंतजाम कर दिया, इतना सुंदर बिस्तर दे दिया कि यह बिचारे रात आधी रात तक तो करवट बदलते रहे, अगर मैं न पूछता तो शायद यह रात भर ऐसे ही पड़े रहते। इनको ऐसा भी लगा कि नीचे सोऊं तो अशोभन मालूम होगा। लोग सोचेंगे, कैसा अशिष्ट, इसको सोना भी नहीं आता। और उन्होंने किया भी यही। जैसे ही सुबह मैं उठा, उन्होंने जल्दी से उठकर, वापिस बिस्तर पर बैठ गये वे। मैंने कहा, क्यों? उन्होंने कहा, ऐसे कोई देख ले और कहे कि नीचे सोए! तो क्या समझेंगे कि इस आदमी को बिस्तर पर सोने की भी तमीज नहीं। लेकिन उन्होंने कहा, मैं भी क्या करूं, जमीन पर ही सोने की आदत है।

तो जो किसी को सुख हो, किसी को दुख हो सकता है। सापेक्ष। जो ठंडा, वह किसी को गरम लग सकता है। जो किसी को सुंदर लगता है वह किसी को असुंदर लग सकता है। जो तुम्हें आज सुंदर लगता है, कल असुंदर लग सकता है। रोज तो तुम्हें यह अनुभव होता है। एक स्त्री के प्रेम में पड़ गये, वह बिलकुल सुंदर लगती थी,

देवी लगती थी। आज प्रेम समाप्त हो गया, वह नशा उतर गया, वह खुमारी चली गयी, अब वह कुरूप लगती है, बेढब लगती है। आज तुम्हें भरोसा नहीं आता कि कभी इस स्त्री में मैंने सौंदर्य कैसे देख लिया था! सापेक्ष।

नियति निरपेक्ष है

लेकिन जो सत्य है, वह निरपेक्ष है। जितना सापेक्ष है, वह सत्य नहीं। जहां तक सापेक्ष है, वहां तक सत्य नहीं, वहां तक मनुष्य के मत हैं, सत्य नहीं। मान्यताएं, धारणाएं।

भ्रम है विरोधाभास

और जहां-जहां तुम्हें विरोध दिखायी पड़ता है, जानना वहां-वहां भ्रम है। क्योंकि यहां सब विरोध जुड़े हैं, अलग नहीं हैं। तुम्हें लगता है कि सुख और दुख विरोधी। गलती बात है। दोनों जुड़े हैं। पार्टनर हैं, साझेदार हैं। एक ही उनकी दुकान है। जरा भी अलग नहीं हैं। एक मर जाए, दूसरा मर जाता है। जीवन-मृत्यु, तुम्हें लगते हैं विरोधाभास, विरोधी नहीं। मृत्यु के कारण जीवन है, जीवन के कारण मृत्यु है, दोनों जुड़े हैं।

भ्रम है विरोधाभास
नियति निरपेक्ष है
तम-विभा द्वय से
और अंधेरे और प्रकाश के द्वंद्व से--
मुक्त है महाकाश

वह जो सिद्ध का महाकाश है, वह द्वंद्व से मुक्त है।

स्वस्वरूपेऽहमद्वये--वहां कोई दो नहीं है।

जो दे व्यर्थ को अर्थ
वही सिद्ध वही समर्थ

तुम तो अभी अर्थ को भी व्यर्थ किये दे रहे हो। अर्थ का भी अनर्थ किये दे रहे हो। इतना बहुमूल्य जीवन मिला है और ऐसा गंवा रहे हो। ऐसा बहुमूल्य रतन-सा जीवन मिला है, कौड़ियों में लुटा रहे हो। तुम तो अभी अर्थ का अनर्थ किये दे रहे हो।

जो दे व्यर्थ को अर्थ
वही सिद्ध वही समर्थ

जो जीवन की व्यर्थता में से भी सार्थक को खोज ले, जो इस कूड़े-करकट में हीरे को पहचान ले, जो इस लहरों के जाल में सागर में डुबकी लगा ले, जो सपनों में न खोए और सत्य को पकड़ ले।

लहर निगोड़ी
दिन भर दौड़ी
मांगा मोती
लायी कौड़ी
तुम्हारा जीवन ऐसा है--
लहर निगोड़ी
दिन भर दौड़ी
मांगा मोती
लायी कौड़ी

दौड़ते तो जिंदगी भर हो, दिन बीत जाता है दौड़ते-दौड़ते, लाते क्या हो? सांझ घर क्या लाते हो? कौड़ियां लिये चले आते हो। उदास, थके, आंसुओं के सिवाय तुम्हारे जीवन की कोई फलश्रुति नहीं है। सिद्ध वही जो इसी क्षण, यहीं हीरा ले आया। इसी क्षण डुबकी लगायी और मोती ले आया। अभी और यहीं जिसने अपने सुख, परम, महासुख को उदघोषित कर दिया।

लेकिन तुम्हें कठिनाई होती है, तुम तो इस आनंद की खबर को सुनकर भी बेचैन होने लगते हो। क्यों?

मैं नियति के व्यंग्य से घायल हुआ हूं
और तुमको गीत गाने की लगी है!

तुम तो सिद्धों से नाराज हुए हो। तुम तो बुद्धों से नाराज हुए हो। तुमने तो उनसे जा-जाकर बार-बार कहा है--

मैं नियति के व्यंग्य से घायल हुआ हूं
और तुमको गीत गाने की लगी है!

इस तरह की चोट कुछ मन पर हुई है
घाव गहरा, खून पर बहता नहीं है
मन बहुत समझा रहा, आघात सह जा
किंतु तन कमजोर यह सहता नहीं है
बिजलियों ने वक्ष मेरा छू लिया है
और तुमको मुस्कुराने की लगी है!
कर्म की पूजा अधूरी ही पड़ी है
और तुमको रस बहाने की लगी है!
द्वार की सांकल बजाए जा रहा दुख
और तुमको मधु पिलाने की लगी है!

लेकिन, मैं तुमसे कहना चाहता हूं, तुम्हारे दुख कल्पित हैं। तुम्हारे दुख तुम्हारे ही मन-निर्मित हैं। न-मालूम कितने हजारों लोगों के दुख-सुख मैं सुनता हूं, और मैं चकित होता हूं कि लोग कितने गहरे न सो रहे होंगे! उन्हें यह भी नहीं दिखायी पड़ता कि दुख उनका बिलकुल कल्पित है। बिलकुल झूठा है। अब तक मैंने ऐसा आदमी नहीं पाया जिसका कोई दुख वास्तविक हो। जो सच में दया का पात्र हो। हंसी के पात्र हैं, दया के पात्र नहीं हैं। यद्यपि मैं भी हंसता नहीं, क्योंकि तुम्हें और चोट लगेगी। मैं गंभीरता से तुम्हारी बातें सुनता हूं। तुम्हारे दुख में ऐसा दिखाता हूं कि मैं भी सम्मिलित हूं, सहानुभूति दिखाता हूं, तुम्हारी पीठ थपथपाता हूं। क्योंकि तुम अभी न समझ सकोगे। अभी तुम दुख में ऐसे डूबे हो कि तुम्हें लग रहा है कि यही सचाई है। तुम्हारे सब दुख झूठे हैं।

इसलिए बुद्धपुरुषों पर तुम नाराज हुए तो कुछ आश्चर्य नहीं है। स्वाभाविक है। क्योंकि वे एक ऐसी जगत की बात कर रहे हैं जिससे तुम्हारी कोई भी पहचान नहीं।

दिवस उनींदे उन्मन बीते
रात जागरण के प्रण जीते

क्यों आगमन गमन बन जाता
क्यों संहार सृजन बन जाता
मरण जनम या जनम मरण है
कहीं न कोई निराकरण है
ज्ञान गुमान शेष हो जाते
आदि अंत को सीते-सीते

पल में धूप बनी क्यों छाया
माया रूप रूपरत माया
जल में उपल उपल में जल है
जीव-जीव में जगत समाया
सरि में लहर लहर में धारा
धार-धार में जीवन सारा
बूंद-बूंद में भरने वाले
भरे-पुरे सागर क्यों रीते

कुशल-क्षेम ही कहते सुनते
चले गये सब क्यूं सिर धुनते
ब्रह्म सत्य तो जग मिथ्या क्यों
रविकर क्यों स्वप्नांबर बुनते
तम में किरण किरण तम कारा
जीत जीत क्यों जीवन हारा
हीरा जनम गंवाया यों ही
रोते - गाते, खाते - पीते
ज्ञान गुमान शेष हो जाते
आदि अंत को सीते-सीते

कहीं कोई निराकरण नहीं दिखायी पड़ता। जीवन की चादर के आदि-अंत सीते-सीते ही सारा जीवन बीत जाता है। धन, पद, ज्ञान के सब गुमान व्यर्थ हो जाते।

हीरा जनम गंवाया यों ही

और यह हीरे-सा जन्म ऐसे ही खो जाता है।

तो तुम्हें बड़ी हैरानी होती है जब तुम अमृत, अद्वैत, आनंद, सच्चिदानंद के गीत सुनते हो, तो तुम्हें लगता है कहां की बातें हो रही हैं! हम यहां दुख में पड़े--दुख सांकल बजा रहा है--तुम्हें रस बहाने की पड़ी है! तुम्हें मधु पिलाने की पड़ी है! तुम्हें गीत गाने की पड़ी है! लेकिन फिर भी मैं तुमसे कहता हूं, अगर तुम सुन सको और तुम थोड़ा अपने दुख की इस गठरी को उतारकर थोड़ा-सा भी, एक क्षण को भी इस महोत्सव में सम्मिलित हो सको, जिसका निमंत्रण सिद्धपुरुषों ने तुम्हें दिया है तो तुम भी हंसोगे। यह गठरी उतारते से ही तुम्हें दिखायी पड़ जाएगी कि झूठ थी, अपनी ही बनायी थी।

तुम भी आंचल गीला कर लो
अब रूठे रहो न फागुन में
चंगों पर थाप पड़ी गहरी, सब
फड़क उठे ढप-ढप ढोलक
खड़के मृदंग झमकीं झांझें
पग थिरक उठे नैना अपलक
लो होड़ लगी देखो-देखो
घुंघरू पायल की रुनझुन में
कुमकुम अबीर के मेघ उड़े
खिलता पलाश फागुन गाओ
ऐसे में मन मारे न रहो
कुछ रस में डूबो, उतर आओ
आओ, शामिल हो जाओ
मौसम के पूजन-अर्चन में
तुम भी आंचल गीला कर लो
अब रूठे रहो न फागुन में

यह जो अष्टावक्र और जनक का संवाद मैंने तुमसे कहना चाहा है, इसी आशा में कि तुम भी थोड़े इस फागुन के रस में डूब सको। एक बूंद भी तुम्हारे हाथ लग जाए तो सागर दूर नहीं। एक किरण भी हाथ लग जाए तो सूरज दूर नहीं।

तुम भी आंचल गीला कर लो
अब रूठे रहो न फागुन में
चंगों पर थाप पड़ी गहरी, सब

फड़क उठे ढप-ढप ढोलक
खड़के मृदंग झमकीं झांझें
पग थिरक उठे नैना अपलक
लो होड़ लगी देखो-देखो
घुंघरू पायल की रुनझुन में
कुमकुम अबीर के मेघ उड़े
खिलता पलाश फागुन गाओ
ऐसे में मन मारे न रहो
कुछ रस में डूबो, उतर आओ
आओ, शामिल हो जाओ
मौसम के पूजन-अर्चन में
तुम भी आंचल गीला कर लो
अब रूठे रहो न फागुन में

यह जो महा अमृत का संदेश है, इसे थोड़ा चखो। चखते ही अर्थ खुलेगा। तुम पूछते हो--सिद्ध कौन? सिद्ध हुए बिना पता न चलेगा। और सिद्ध तुम इसी क्षण हो सकते हो। क्योंकि सिद्ध होने के लिए न किसी साधन की जरूरत है, न किसी साध्य की। सिद्ध होना तुम्हारा स्वभाव है। तुम स्वरूप से सिद्ध हो। तुम्हारा मोक्ष तुम्हारे भीतर है। तुम सम्राट हो। न मालूम किस अपशगुन में तुमने अपने को भिखारी मान लिया है। न मालूम किस पागलपन में तुम भीख मांगे चले जा रहे हो। छोड़ो इस सपने को, थोड़े जागो और सिद्ध का अर्थ तुम्हें पता चलेगा। सिद्ध का अर्थ है, ऐसी चैतन्य की दशा जहां अब पाने को कुछ भी न रहा। जो पाना था, पा लिया। जो होना था, हो लिये। तृप्ति की ऐसी परमदशा जहां तृष्णा तो है ही नहीं, तृप्ति भी नहीं है। हरि ॐ तत्सत्!

आज इतना ही।

नब्बेवां प्रवचन

सरलतम घटना: परमात्मा

पहला प्रश्न: महागीता की इस अंतिम प्रश्नोत्तरी में कृपा करके श्रवणमात्र से होने वाली तत्काल-संबोधि, सडन एनलाइटेनमेंट का राज फिर से कह दें। इस महाघटना के लिए पूर्वभूमिका के रूप में क्या तैयारी जरूरी है? क्या बिना किसी भी प्रकार की प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष तैयारी के तत्काल-संबोधि घटना संभव है?

फिर से पूछते हो। एक ही बात रोज कही जा रही है। एक ही बात को अनंत बार दोहराया जा रहा है। फिर पूछने से न सुन पाओगे। इतने बार दोहराकर समझ में नहीं आता। एक ही बार कहे जाने से समझ में आ सकती है। बात इतनी सरल है। इसलिए प्रश्न बात के दोहराने का नहीं है, प्रश्न तुम्हारी मूर्च्छा का है। तुम इतने सोए हो, कितनी ही बार दोहराओ, कोई अंतर न पड़ेगा। शायद बहुत बार दोहराने से तुम समझो कि कोई लोरी गा रहा है और तुम और गहरी नींद में सो जाओ। अनेक बार दोहराने का परिणाम जागरण नहीं होता।

फिर पूछते हो कि श्रवणमात्र से होने वाली तत्काल-संबोधि का राज क्या है?

राज होता तो श्रवणमात्र से कभी संबोधि उपलब्ध नहीं हो सकती थी। अगर कोई राज होता, कोई सीक्रेट होता, अगर कोई बात छुपी होती, तो खोजनी पड़ती। चेष्टा करनी पड़ती। श्रवणमात्र से जो संबोधि घटित होती है, उसका अर्थ ही इतना है कि राज कुछ भी नहीं है। परमात्मा प्रगट है, छिपा नहीं। परमात्मा मौजूद है, पर्दों में नहीं। परमात्मा आंख के सामने खड़ा है, परमात्मा आंख के पीछे खड़ा है। परमात्मा ने ही तुम्हें सब ओर से घेरा है। परमात्मा के अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं। राज कहां है? जिन्होंने समझा कि परमात्मा राज है, वे चूके। फिर वे परमात्मा को खोजने में लगेंगे। और जो इतना मौजूद है कि उसके अतिरिक्त कुछ मौजूद नहीं, उसे तुमने खोजा कि चूके। खोजने में ही चूक हो गयी। जैसे कि भर दोपहरी में कोई रोशनी खोजने लगे, तो तुम क्या कहोगे, इसको मिलेगी रोशनी? चारों तरफ धूप बरस रही है, यह धूप में ही खड़ा है और कहता है, मैं रोशनी को खोजना चाहता हूं। रोशनी कहां है, इस बात का राज क्या है? इसके पूछने में ही भ्रांति है। इसके पूछने में ही चूक हुई जा रही है।

राज तो पंडितों ने खड़े किये हैं, परमात्मा बहुत प्रगट है। पंडितों का सारा व्यवसाय इस बात पर निर्भर करता है कि उलझा दें। नहीं तो बात सुलझेगी कैसे फिर? उलझी हो बात तो पंडित की जरूरत है। सुलझी ही हो, तो पंडित की कोई जरूरत नहीं है।

श्रवणमात्र से उपलब्ध हो सकता है सत्य, इसका मतलब यही हुआ कि किसी को बीच में लेने की जरूरत नहीं है। किसी का हाथ पकड़ने तक की भी जरूरत नहीं है। किसी का अनुसरण करने की भी जरूरत नहीं है। क्योंकि कहीं जाना नहीं है, तुम सत्य में हो। सिर्फ जागना है। आंख खोलकर देखना है, भरी दोपहरी है और सूरज सब तरफ बरस रहा है। तुम आंख बंद किये खड़े हो, पूछते हो, सूरज के होने का राज क्या? रोशनी को कहां खोजें? इसकी कुंजी कहां है? अब बंद आदमी के हाथ में अगर कुंजी भी हो सूरज को पाने की, तो भी क्या होगा? असली बात ही चूक गये।

तुम पूछते हो, राज क्या?

राज होता, तो सुननेमात्र से सत्य उपलब्ध नहीं हो सकता। अष्टावक्र की पूरी देशना यही है कि सिर्फ सुननेमात्र से। क्यों ऐसा कहा है? इसलिए ऐसा कहा है कि तुमने सत्य को खोया नहीं है। ऐसा समझो कि कोई सम्राट है और सो गया और सोते में सपना देखता है कि भिखारी हो गया हूं। और कोई उन्हें जगाकर उठा देता है

और कहता है, जागने भर से बात समाप्त हो जाएगी। सम्राट तो तुम हो, भिखारी का सपना देख रहे हो। तो घड़ी का अलार्म काफी है। श्रवणमात्रेण। हां, अगर तुम भिखारी ही हो, तो फिर सम्राट नहीं हो सकते सुनने मात्र से। लाख कोई दोहराए कि तुम सम्राट हो, तुम तो जानते हो, तुम भिखारी हो।

तो तुम बार-बार पूछते हो कि कोई राज होगा सम्राट होने का! अष्टावक्र कह रहे हैं, सम्राट तुम हो। भिखारी कैसे हो गये हो, यह चमत्कार है। संपत्ति तुम्हारे पास है, एक क्षण को भी उससे तुम्हारा संबंध नहीं छूटा है, छूट जाता तो तुम हो ही नहीं सकते थे। ऐसा ही समझो कि जैसे वृक्ष खड़ा है। अगर जड़ों से संबंध टूट जाए तो वृक्ष हो ही नहीं सकता। भला वृक्ष को जड़ें दिखायी न पड़ती हों। जड़ें तो छिपी हैं पृथ्वी के गहन अंधकार में। वृक्ष तो अगर झांककर भी नीचे देखे तो जड़ें दिखायी नहीं पड़ेंगी। और वृक्ष अगर पूछने लगे कि मेरी जड़ों को मैं कैसे खोजूं, कैसे पहचानूं कि मेरे पास जड़ें हैं, तो तुम क्या कहोगे कि जड़ें तो हैं ही, नहीं तो तू हो ही नहीं सकता था।

तुम बोलते हो तो परमात्मा बोलता, तुम श्वास लेते तो परमात्मा श्वास लेता, तुम चलते हो तो परमात्मा चलता है। तुमने प्रश्न पूछा, यह परमात्मा ने ही पूछा। यह प्रश्न परमात्मा की ही गहनता से आ रहा है। यह जागने के ही मार्ग पर एक इशारा है। परमात्मा तुम्हारे भीतर जागना चाहता है। तुम तरकीब खोज रहे हो, तरकीब खोजकर तुम टालोगे कल पर कि तरकीब तो कहीं आज हल नहीं होती। अगर बात छिपी है तो समय लगेगा खोजने में, समय व्यतीत होगा, कल होगी, परसों होगी, अगले जन्म में होगी। अष्टावक्र कहते हैं, अभी हो सकती है, यहीं हो सकती है, इसी क्षण हो सकती है, एक क्षण भी गंवाने की जरूरत नहीं। राज बिलकुल नहीं है।

अष्टावक्र की वाणी में कोई भी राज नहीं है। कोई भी इजोटेरिक, कोई गुप्त छिपाव नहीं है। सीधी-सीधी बात है। बात इतनी है कि तुम परमात्मा हो। तुम परमात्मा होकर ही हो सकते हो। इसलिए सुननेमात्र से घटना घट जाएगी।

फिर तुम पूछते हो कि इस महाघटना के लिए पूर्वभूमिका के रूप में क्या तैयारी जरूरी है?

तुम मानोगे नहीं? बिना भूमिका तैयार किये तुम मानोगे नहीं? और भूमिका की तैयारी ही तो कर रहे हो जन्मों-जन्मों से। भूमिका तैयार कहां हो पाती है? भूमिका अनावश्यक है। भूमिका को तैयार करने में ही तुम खोए जा रहे हो। तुम उस बात की तैयारी कर रहे हो जो मौजूद ही है। तुम उस बात को लाने की कोशिश कर रहे हो, जो आयी ही हुई है। जिसको जीना शुरू करना है, उसे तुम खोज रहे हो। जो थाली सामने रखी है और भोजन शुरू करना है, उसके लिए तुम बाजारों-बाजारों में भटक रहे हो। पाकशास्त्रों में खोज कर रहे हो। भोजन तैयार है, भोजन सामने रखा है, कुछ भी नहीं करना है, लेकिन तुम्हारा मन मानने को राजी नहीं होता।

कारण क्या है? ऐसा प्रश्न क्यूं उठता है? पूछा है स्वामी योग चिन्मय ने। ऐसा प्रश्न क्यूं उठता है? ऐसा प्रश्न इसलिए उठता है कि तुमको श्रवणमात्र से सत्य का बोध नहीं होता। तो तुम सोचते हो मन में कि जरूर कहीं कोई राज होगा। कहीं कोई पूर्वभूमिका होगी जो मुझसे नहीं हो पा रही है। नहीं तो मुझे सुननेमात्र से क्यों नहीं हुआ? तो अब अपने अहंकार को बचाने के लिए तुम तरकीबें खोजते हो। तुम सोचते हो, कोई पूर्वभूमिका होनी चाहिए, कोई छिपी बात होनी चाहिए। जनक ने कुछ तैयारी की होगी पहले और मैंने नहीं की, इतना ही फर्क है। फर्क तैयारी का नहीं है, फर्क होश का है। जनक ने होशपूर्वक सुना, तुम बेहोशी में सुन रहे हो। जनक ने आंख खोलकर देखा, तुम आंख बंद करके देखने की कोशिश कर रहे हो। फर्क तैयारी का नहीं है, आंख तुम्हारे पास उतनी ही है जितनी जनक के पास। पलक उठाओ, तैयारी की बात मत पूछो। तैयारी की बात पूछी तो तुम फिर प्रयास में चले गये। फिर अनायास संबोधि न घट सकेगी।

"इस महाघटना के...।"

तुम इसको महाघटना क्यों कहते हो? इससे ज्यादा सीधी-साधी घटना क्या होगी? जो है, उसको जानने से सीधा-साधा क्या होगा? इसको महाघटना क्यों कहते हो? महाघटना कहने के पीछे कारण है। महाघटना

कहकर तुम कहोगे, अगर अभी नहीं घट रही तो हमारा कोई कसूर थोड़े ही है, घटना इतनी महान है! होते-होते होगी। करते-करते घटेगी। श्रम करेंगे, जनम-जनम दौड़ेंगे-चलेंगे, तब मंजिल आएगी। घटना ही इतनी महान है!! इससे तुम्हें दोहरे लाभ हैं, महाघटना कहने से। एक तो आज नहीं होती, तो तुम्हें पीड़ा नहीं होती। तुम कहते हो, आज हो ही नहीं सकती। तो कल तक सोने की सुविधा मिल जाती है। कल होगी तब देखेंगे। कल भी तुम इसको महाघटना कहोगे, परसों पर टाल दोगे। महाघटना कोई ऐसे थोड़े ही घटती है! जनम-जनम श्रम करते हैं तब घटती है। जन्मों-जन्मों के श्रम का फल होती है। ऐसे थोड़े ही घटती है!

महाघटना कहकर तुमने एक तरकीब खोज ली--ऊपर से तो ऐसा लगता है कि महाघटना कहकर तुमने बड़ी प्रशंसा की। लेकिन यह बात नहीं है, प्रशंसा नहीं है यह, यह तो इस घटना का अपमान हो गया। पूरा अष्टावक्र का सारसूत्र इतना है कि यह घटना बड़ी सहज, स्वाभाविक, अति साधारण है। परमात्मा से साधारण इस संसार में और कुछ भी नहीं है। क्योंकि परमात्मा सारे अस्तित्व की श्वास है। और क्या इससे साधारण होगा? झरने में झरना है, वृक्ष में वृक्ष है, पक्षी में पक्षी है, मनुष्य में मनुष्य है--स्त्री में स्त्री, पुरुष में पुरुष, बच्चे में बच्चा, बूढ़े में बूढ़ा--परमात्मा तो सब पर फैला हुआ स्वाद है। पापी में परमात्मा पापी है और पुण्यात्मा में परमात्मा पुण्यात्मा है। नर्क में परमात्मा नारकीय और स्वर्ग में स्वर्गीय है। और क्या साधारण बात होगी? छुद्रतम में वही विराजमान है और विराटतम में वही विराजमान है। अणु से अणु में भी वही और अनंत से अनंत में भी वही। परमात्मा से ज्यादा साधारण और क्या बात होगी, क्योंकि परमात्मा सार्वभौम है। निर्विशेष है। यही तो अष्टावक्र ने कल कहा--निर्विशेष, कोई विशेषण नहीं है। कोई विशिष्टता नहीं है।

लेकिन हम परमात्मा को ऊपर रखना चाहते हैं--सबसे ऊंची चीज। उसी दुनिया की शृंखला में जहां धन, पद, प्रतिष्ठा, इन सबके बाद, सबके ऊपर परमात्मा है। इस तरह हम सोचते हैं हम परमात्मा का बड़ा आदर कर रहे हैं। हम परमात्मा के साथ धोखा कर रहे हैं।

महाघटना मत कहो! यह घटना बड़ी साधारण है। और यह घटना ऐसी है कि घटने वाली नहीं है, घट चुकी है। तुम चाहे जागो और चाहे तुम न जागो, परमात्मा तुम्हारे भीतर विराजमान है। तुम चाहे मानो, चाहे न मानो; अंगीकार करो, न अंगीकार करो, परमात्मा तुम्हारे भीतर मौजूद है। तुम्हारी मौजूदगी उसकी ही मौजूदगी की छाया है। परछाईं। वही है, तुम तो केवल परछाईं हो। जैसे आदमी धूप में चलता है तो छाया बनती। ऐसे परमात्मा के चलने से अनेक-अनेक रूप बनते। रूप तो परछाईं है। अरूप की परछाईं है रूप। निराकार की परछाईं है आकार। शून्य की परछाईं है शब्द। शांति की परछाईं है संगीत। मूल दिखायी नहीं पड़ रहा है, तुम छाया में उलझ गये हो। जरा जागकर, चौंककर, हिलकर देखो, तुम पाओगे तुम मूल हो।

तो महाघटना तो कहो मत। महाघटना कहने में ही तुमने तरकीब बना ली--फिर तैयारी करनी पड़ेगी, महाघटना कोई ऐसे थोड़े ही घट जाएगी। यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार और हजार-हजार तरह के व्यायाम, फिर धारणा, ध्यान, फिर समाधि, ऐसा अष्टांग योग साधते-साधते जनम-जनम बीतेंगे। यही तो फर्क है पतंजलि और अष्टावक्र का। पतंजलि में क्रम है--साधो, धीरे-धीरे। इसलिए तो पतंजलि का खूब प्रभाव पड़ा। सभी को बात जंची। अष्टावक्र का कोई बहुत प्रभाव नहीं पड़ा। बात इतनी सरल थी कि अहंकारियों को नहीं जंच सकती थी। समझना।

अष्टावक्र की बात अहंकारी को नहीं जंच सकती। क्योंकि अहंकारी कहता है, सरल है! तो सरल में तो उसका रस ही नहीं होता। गौरीशंकर पर चढ़ने में उसको रस होता है। अब कोई पूना की टेकरी पर चढ़ने में क्या रस है! तुम पूना की टेकरी पर पढ़ जाओ और झंडा लगा आओ और कहो अखबार वालों से कि छापो मेरी खबर, पूना की टेकरी पर मैं चढ़ गया और झंडा भी मैं लगा आया, हिलेरी चढ़ गया गौरीशंकर पर तो क्यों खबर छापी, मैंने भी वही किया! तो लोग हंसेंगे, लोग कहेंगे, इस टेकरी पर कोई भी चढ़ जाता, टेकरी पर चढ़ने में

कुछ रखा नहीं! गौरीशंकर पर चढ़ो तो कुछ बात है। वह महाघटना है। यह तो कोई घटना ही नहीं है। यह तो बच्चे चढ़ जाते हैं। इसमें क्या सार है?

तो आदमी नयी-नयी तरकीबें खोजता है। हिलेरी जिस रास्ते से चढ़ा था, उस रास्ते से भी कोई कभी पहुंचा नहीं था गौरीशंकर तक, वह पहुंच गया; जिस दिन वह पहुंच गया, उसी दिन से पहाड़ चढ़नेवालों ने दूसरा रास्ता खोजना शुरू कर दिया, जो उससे भी कठिन है। अब उन्होंने चढ़ाई कर ली। अब वे पहुंच गये कठिन रास्ते से, जिससे हिलेरी भी नहीं पहुंचा था। पहुंचे वहीं, लेकिन अब उनकी बड़ी प्रशंसा हो रही है। क्योंकि उन्होंने और भी कठिन मार्ग चुना जिससे कोई कभी नहीं पहुंचा--हिलेरी भी नहीं पहुंचा। जल्दी ही कोई और तीसरा मार्ग खोज लेगा। फिर हिलेरी चढ़-चढ़कर पहुंचा था, कोई पागल हो सकता है घसिट-घसिट कर गौरीशंकर पर चढ़ जाए। क्योंकि घसिट कर कोई भी नहीं चढ़ा। या हो सकता है कोई योगी शीर्षासन कर ले और चढ़ने लगे सिर के बल। अहंकार को हमेशा कठिन में रस है। जितना कठिन हो, उतना रस है।

परमात्मा सरल है, तो अहंकारियों को तो रस ही न रह जाएगा। परमात्मा कठिन है, तो अहंकारी उत्सुक है। कठिन में बड़ा आकर्षण है, चुंबक है। इसलिए मैं तुमसे कहता हूं कि तुम मंदिर-मस्जिदों में, गुरुद्वारों में, तीर्थों में जिन साधु-संन्यासियों को पाओगे, जरा गौर से देखना, उनमें सौ में से तुम निन्यानबे को महाअहंकारी पाओगे। क्योंकि वे परमात्मा को खोजने चले हैं। तुम्हारी तरफ वे देखते हैं कि तुम कीड़े-मकोड़े। क्या कर रहे हो? दुकानदारी कर रहे हो, नौकरी कर रहे दफ्तर में, खेती-बाड़ी कर रहे--कीड़े-मकोड़े! परमात्मा को खोजो, देखो हमारी तरफ, हम कुछ कर रहे हैं! तुम क्या कर रहे हो? तुम तो पशु हो, तुम तो मनुष्य भी नहीं। क्यों? क्योंकि तुम सरल को खोज रहे हो। वे कठिन को खोज रहे हैं। और मैं तुमसे कहता हूं, सरल को खोजने में जो लग गया, वही संन्यासी है। जिसने कठिन को खोजने का मोह छोड़ दिया। यही त्याग है। कठिन का त्याग त्याग है, क्योंकि कठिन के त्याग के साथ ही अहंकार गिर जाता है। उसकी लाश हो जाती है। बिना कठिन के अहंकार जी ही नहीं सकता। कठिन की बैसाखी लेकर ही अहंकार चलता है।

सरल के साथ अहंकार की कोई गति नहीं है। इतना सरल है परमात्मा कि कुछ करने का उपाय नहीं; हुआ ही हुआ है। इसीलिए तो अष्टावक्र कहते हैं, कर्ता होने से नहीं पाओगे। सिर्फ साक्षी होने से। मौजूद है, तुम जरा बैठकर, शांत भाव से, आंख खोलकर देख तो लो। कहां दौड़े चले जाते हो? किस आपा-धापी में लगे हो?

महाघटना मत कहो। महाघटना कहकर तुमने पूर्वभूमिका बना ली, पूर्वभूमिकाओं के लिए।

"इस महाघटना के लिए पूर्वभूमिका के रूप में क्या तैयारी जरूरी है?"

अगर तैयारी जरूरी है, तो अष्टावक्र गलत हो गये। अगर पूर्वभूमिका जरूरी है, तो अष्टावक्र गलत हो गये। भूमिका की कोई आवश्यकता ही नहीं है। तुम वहीं खड़े हो, सीढ़ी लगानी नहीं है। तुम वहीं खड़े हो। तुम जहां खड़े हो, वहीं परमात्मा है। यह इतना क्रांतिकारी उदघोष है कि परमात्मा सरल है, सुगम है, मिला ही हुआ है।

मगर तुम्हारी अड़चन भी मैं समझता। जब तुम यह बात सुनते हो तो तुम कहते हो कि होगा, मगर हमें मिल क्यों नहीं रहा है? हमें नहीं मिल रहा है तो जरूर कोई तरकीब होगी जो छिपायी जा रही है, बतायी नहीं जा रही। कोई तरकीब होगी, कोई कुंजी होगी, कोई सीढ़ी होगी जो हम नहीं लगा रहे हैं, नहीं तो हमको मिल क्यों नहीं रहा।

तुम एक बात नहीं देखना चाहते कि तुम आंख बंद किये बैठे हो। तुम अंधे बने बैठे हो। तुम सोए हो। तुम मूर्च्छित हो। यह बात तुम स्वीकार नहीं करना चाहते। तुम यह बात स्वीकार करो कि मैं मूर्च्छित हूं, तो अहंकार को पीड़ा होती है। कोई सीढ़ी होगी, जो मुझे नहीं मिली है, होगी कहीं, खोज लूंगा--मुझमें कोई कमी नहीं है, सीढ़ी की कमी है। मैं तो ठीक ही हूं। कुछ लोगों को सीढ़ी मिल गयी, मुझे नहीं मिली है, बस इतना ही फर्क है। जनक में और तुममें सीढ़ी का फर्क है, तुम सोचते हो। सीढ़ी तो बाहर की बात हुई। परिस्थिति का फर्क है, तुम सोचते हो।

तुम अगर गरीब के घर में पैदा हुए हो और अगर अमीर के घर में कोई पैदा होकर ज्ञानवान हो जाए तो तुम कहोगे, क्या करें, हम गरीब के घर में पैदा हुए, इसलिए ज्ञानवान होने की सुविधा नहीं मिली; वैसे तो हम भी ज्ञानवान हो सकते थे, मगर यह सुविधा नहीं मिली। तुमने सुविधा पर बात टाल दी। तुमने सीधी बात न ली कि मुझमें कोई कमी हो सकती है। सभी धनियों के घर में तो ज्ञानवान पैदा नहीं होते! और सभी गरीब भी ज्ञानहीन नहीं रह जाते। लेकिन तुमने बात टाल दी। तुमने देखा, जब भी कोई आदमी सफल हो जाता है, तुम कोई-न-कोई बहाने खोजते हो कि सफल क्यों हो गया। तुम पता लगाते हो कि रिश्वत दे दी होगी। कि रिश्तेदार मिनिस्ट्री में होंगे। जब तुम सफल होते हो, तब तुम कभी यह बात नहीं पता लगाते कि मैंने किसको रिश्वत दी और कौन मेरा रिश्तेदार मिनिस्ट्री में है! जब तुम सफल होते हो तब तुम सफल होते हो। जब दूसरा सफल होता है, तो सब भाई-भतीजा वाद है। जब दूसरा सफल होता है, तो रिश्वत खिला दी।

एक महिला मेरे पास आयी, उसका बेटा तीसरी बार फेल हो गया परीक्षा में। तो वह कहने लगी कि आप कुछ करिये। क्या करना है? कहने लगी कि ये सब शिक्षक इसके पीछे पड़े हैं। शिक्षक इसके पीछे पड़े हैं! वे इसको पास ही नहीं होने देते। और भाई-भतीजावाद चल रहा है। अपने अपनों को पास कर रहे हैं। और रिश्वतखोरी चल रही है और हमारे पास तो देने को कुछ है नहीं। वह स्त्री मुझसे कहने लगी कि प्रतिभा का तो कोई मूल्य ही नहीं है। वह बेटा मैं जानता हूं कि उनकी प्रतिभा कैसी है!

मगर तीन-चार साल धक्के खाते-खाते आखिर वह भी मैट्रिक पास हो गया। जब वह पास हो गया, तो मैंने उससे पूछा, कहो, किसको रिश्वत खिलायी? कौन भाई-भतीजावाद का माननेवाला मिल गया? उसने कहा, कैसी बातें कर रहे आप, वह लड़का तो प्रतिभाशाली है ही, चार-पांच साल उसको भटकाया इन लोगों ने। वह तो कभी का पास हो जाता। अब नहीं कोई भाई-भतीजावाद है! अब कोई शिक्षक किसी तरह की रिश्वत नहीं ले रहा है!

तुम खयाल करना। जनक को हो गया सुनकर, तुम्हें नहीं हो रहा सुनकर, तो एक ही बात हो सकती है, जरूर कोई तरकीब होगी। या तो जनक ने पहले कुछ तैयारी की है, कुछ इंतजाम कर लिया है कि सुनते से ही जाग गये। हममें और जनक में फर्क क्या है? हम क्यों नहीं जाग रहे? फर्क इतना ही है कि तुम सुन ही नहीं रहे। जनक ने सुना और जाग गये। तुम सुन ही नहीं रहे। शायद कारण यह होगा कि तुम जागने के लिए इतने उत्सुक हो कि तुम सुन ही नहीं रहे। जब मैं तुमसे बोल रहा हूं, तब भी तुम अपना गणित बिठाते रहते हो--इसमें क्या-क्या करने जैसा है? तुम सोचते रहते भीतर-भीतर कि हां, यह बात ठीक है, नोट कर लो, याद करके रख लो, इसको करके देखेंगे। तुम जब सुन रहे हो तब सुन नहीं रहे, तब भी तुम गणित बिठा रहे हो। तभी तुम चूकते चले जा रहे हो।

जनक ने सिर्फ सुना। उसने कोई गणित न बिठाया। उसने ऐसे सुना जैसे कोई पक्षियों के गीत को सुनता है। उसने ऐसे सुना जैसे कोई संगीत को सुनता है। तुम जब संगीत को सुनते हो तब तुम क्या सुनते हो? न तो कोई अर्थ लगाते, न व्याख्या करते; न कहते कि हां, इससे मैं राजी हूं, इससे मैं राजी नहीं हूं; यह मेरे मन के अनुकूल, यह मेरे मन के अनुकूल नहीं; यह मेरे शास्त्र के अनुसार, यह मेरे शास्त्र के अनुसार नहीं; संगीत सुनते वक्त तुम लवलीन हो जाते हो। तुम यह सोचते नहीं। संगीत कोई सिद्धांत तो नहीं है। संगीत तो एक तरंग है, एक रस की धार है।

जनक ने ऐसे सुना जैसे कोई संगीत को सुनता है। तुम ऐसे सुनते हो जैसे कोई विज्ञान को सुन रहा हो। तो हिसाब लगाते रहते हो। तुम्हारे सुनने में भर भूल है। कोई पूर्वभूमिका की तैयारी नहीं है। न कोई जरूरत है। तुम्हारे सुनने में भूल है, तुम सुन नहीं रहे। सुनते वक्त तुम्हारे मन में हजार-हजार विचार चल रहे हैं, योजनाएं चल रही हैं। तुम कहीं पहुंचने को आतुर हो। तुम कुछ होने के लिए उत्सुक हो। तो जो आदमी भी कुछ बनने के लिए, होने के लिए आतुर है, वह अष्टावक्र की बात न सुन पाएगा। क्योंकि अष्टावक्र कह रहे हैं, कुछ होने को

नहीं है, कुछ जाने को नहीं है, कहीं पहुंचना नहीं है। कोई मंजिल नहीं है। तुम जहां हो, बस यही जगह है। कहीं और कोई जगह नहीं है। इसी क्षण में शांत, मौन जाग जाओ, तृप्ति बरस उठेगी।

"क्या बिना किसी भी प्रकार की प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष तैयारी के तत्काल-संबोधि घटना संभव है?"

तुम्हारा मन कैसे-कैसे गणित बिठाए चला जाता है।

"क्या बिना किसी भी प्रकार की...?"

कोई-न-कोई तो तरकीब होगी, जो तुमसे छिपायी जा रही है। जिसके कारण तुम ज्ञान को उपलब्ध नहीं हो रहे हो।

"क्या बिना किसी भी प्रकार की...?"

इन्हीं बातों के कारण तुम्हें उन लोगों की बातें ठीक लगती हैं जो तुम्हें तैयारी बताते हैं। वह कहते हैं, देखो, पहले आचरण सुधारो। बात जंचती है कि आचरण न सुधारेंगे तो भगवान कैसे मिलेगा? जैसे भगवान के मिलने से आचरण के सुधारने का कोई भी संबंध हो सकता है! यह तो ऐसे ही हुआ कि तुम संगीत सुनने जाओ और तुम्हें संगीत में रस न आए तो कोई कहे, पहले आचरण सुधारो। पहले जाकर आचरण ठीक करके आओ, तब संगीत समझ में आएगा। जैसे कि आचरण से संगीत के समझने का कोई भी संबंध हो, कोई भी लेन-देन हो!

यह बात जरूर सच है कि परमात्मा को जानने से आचरण सुधर जाता है, लेकिन आचरण सुधरने से परमात्मा के मिलने का कोई संबंध नहीं है। यह बात जरूर सच है कि अगर कोई व्यक्ति संगीत में रसपूर्ण हो जाए, तो उसके जीवन में क्रांति घटित होती है, सब बदलता है, क्योंकि संगीत इतनी बड़ी महाक्रांति है। अगर तुम संगीत को सुनने-समझने में समर्थ हो गये, तो तुम्हारे जीवन में रूपांतरण होने शुरू होंगे। तुम्हारा क्रोध तिरोहित होने लगेगा। क्योंकि जो संगीत में डूबा, अब क्रोध में न डूब सकेगा, क्योंकि क्रोध तो विसंगीत है। जो संगीत में डूबा, अब धन में इसे बहुत रस न आएगा। क्योंकि धन तो शोरगुल की दुनिया की चीज है। जो संगीत में डूबा, अब इसे शांति में रस आएगा। क्योंकि संगीत करता ही क्या है? जब तुम संगीत को सुनते हो तब तुम्हारी विचार की तरंगें सो जाती हैं और भीतर एक शांत आकाश--जरा भी मेघाच्छन्न नहीं, सब मेघ, सब बादल चले गये--एक शून्य नीलाकाश फैल जाता है।

जब तुम्हें शांति का रस संगीत से मिलेगा, तो तुम धीरे-धीरे पाओगे कि शांति और संगीत में एक अनिवार्य संबंध है। जब तुम शांत हो जाओगे, तभी संगीत बहने लगेगा। फिर तो जरूरत भी नहीं है कि किसी वीणावादक को खोजो। जहां शांत हुए, वहीं वीणा भीतर की बजने लगेगी। सच तो यही है कि बाहर की वीणा में असली संगीत नहीं है, बाहर की वीणा सुनते-सुनते तुम्हें भीतर की वीणा सुनायी पड़ जाती है, संगीत वहीं है। बाहर की वीणा तो केवल निमित्तमात्र है।

"क्या बिना किसी प्रकार की...?"

फिर मन वकालत करता है, न होगा प्रत्यक्ष, तो कोई अप्रत्यक्ष तैयारी होगी। सीधी-सीधी ऊपर से न दिखायी पड़ती होगी तो छिपी-छिपी कोई तैयारी होगी। मगर कोई प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष तैयारी के बिना क्या तत्काल-संबोधि घटना संभव है? वही तो अष्टावक्र का पूरा-का-पूरा उपदेश है। संभव नहीं है, बस वही केवल संभव है। और किसी तरह संबोधि घटती ही नहीं। जो हजारों तरह के उपाय करने के बाद भी किसी दिन संबोधि को पहुंचते हैं, उस दिन पाते हैं कि यह तो कभी भी घट सकती थी अगर सुन लिया होता। सुना नहीं, तो नहीं घटी।

मैंने तुम्हें बार-बार कहा है कि बुद्ध कहते हैं, एक तो ऐसा घोड़ा होता है कि मारो-मारो तो मुश्किल से चलता है। दूसरा ऐसा घोड़ा होता है कि कोड़ा फटकारो--मारने की जरूरत नहीं पड़ती--और चलता है। और तीसरा ऐसा घोड़ा होता है कि कोड़ा फटकारने की भी जरूरत नहीं होती, सिर्फ कोड़े की मौजूदगी हो तो चलता

है। और चौथा ऐसा भी घोड़ा होता है कि मौजूदगी भी उसके लिए अपमानजनक हो जाएगी, कोड़े की छाया काफी है। संभावना काफी है।

मैं एक पागल के संबंध में पढ़ रहा था। वह आदमी एक लेखक था। बड़ा लेखक था और पागल हो गया। पागलखाने में बंद रहा, कोई तीन साल इलाज चला, लेकिन कोई आसार न दिखायी पड़ते थे। तीन साल के बाद अचानक उसने कहा कि कागज-कलम लाओ, मेरे मन में लिखने का भाव हो रहा है। तो उसके चिकित्सक बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने सोचा कि कुछ होश इसे वापिस आ रहा है। यह लौट रहा है। अब इसको अगर इतना भी खयाल आ गया कि मैं लेखक हूं और मुझे कुछ लिखना है, तो अब इसके स्वस्थ होने की संभावना है। वह तो लेकर कागज-कलम बैठ गया। चिकित्सक तो बड़े प्रसन्न हुए क्योंकि अब उसने सब जो पागलपन था सब छोड़ दिया। शोरगुल मचाता था, नाचता-कूदता था, चीखता-चिल्लाता था, सब बंद हो गया। वह तो बस सुबह से उठे तो अपने कागज-कमल लेकर लिखने में लग जाए। उसने पांच सौ पेज लिख डाले। और इन दिनों में--महीनों तक यह काम जारी रहा--वह बिलकुल शांत हो गया। चिकित्सकों ने तो समझा कि यह आदमी अब ठीक हो गया, इसका कोई पागलपन शेष नहीं रहा।

जब किताब पूरी हो गयी तो उस पागल ने अपने प्रमुख चिकित्सक को कहा कि आप मेरा उपन्यास पढ़ना चाहेंगे? जरूर, उसने कहा। वह देखना भी चाहता था कि क्या लिखा है। शुरू किया उसने पढ़ना। पहली लकीर थी कि एक सेनापति छलांग लगाकर अपने घोड़े पर चढ़ा और बोला--चल बेटा, चल बेटा, चल बेटा! और फिर पांच सौ पेज तक यही था--चल बेटा, चल बेटा! वह तो घबड़ा गया, पन्ने उल्टे, मगर चल बेटा! पांच सौ पेज! वह भागा हुआ आया, उसने कहा कि यह मामला क्या है, यह किस प्रकार का उपन्यास है? उसने कहा, क्या कहो, घोड़ा जिद्दी, करो क्या! घोड़ा चले ही नहीं। सेनापति कहता रहा--चल बेटा। आखिर मैं भी थक गया तो मैंने फिर उपन्यास समाप्त कर दिया।

तो कुछ ऐसे घोड़े भी हैं कि पांच सौ पेज तक भी अगर तुम चल बेटा, चल बेटा कहो, न चलें।

न तो कोई प्रत्यक्ष तैयारी की जरूरत है, न कोई अप्रत्यक्ष तैयारी की जरूरत है। सिर्फ बोध, सिर्फ समझ मात्र काफी है। और जिन्होंने बहुत श्रम से पाया है, उन्होंने भी पाने के बाद पाया कि यह तो बिना श्रम के मिल सकता था, हमने श्रम व्यर्थ ही किया। इसका कोई संबंध श्रम से है ही नहीं।

बुद्ध को जब मिला और जब लोगों ने पूछा कि आपको कैसे मिला, तो बुद्ध ने कहा, मत पूछो। क्योंकि जो मैंने किया, उससे मिला ही नहीं। यह तो मुझे बिना किये भी मिल सकता था। लेकिन चूक होती रही, क्योंकि मैं खोजता रहा। खोजने की वजह से चूकता रहा। जिस दिन मैंने खोज छोड़ दी और बोधि तले, बोधिवृक्ष के नीचे बैठ गया, सब खोज छोड़कर, उसी क्षण हो गया।

जब बुद्ध वापिस अपने घर आए बारह वर्ष के बाद तो उनकी पत्नी ने पूछा कि मैं एक ही प्रश्न पूछना चाहती हूं और आप सचाई से जवाब दे देना। जो आपको महल के बाहर जाकर मिला जंगल में, क्या यहीं नहीं मिल सकता था अगर आप यहीं रहे होते तो? अगर घर में ही बने रहते तो मिल सकता था या नहीं? बुद्ध ने कहा, मिल सकता था।

यह समझने की बात है कि बुद्ध ने कहा, यहां भी मिल सकता था। जाना अनिवार्य नहीं था। गया, यह दूसरी बात है। गया, वह मेरी भूल थी। क्योंकि परमात्मा अगर कहीं मिल सकता है तो यहां भी मिल सकता है। कोई खास वटवृक्ष के नीचे ही थोड़े परमात्मा बसता है। झोपड? में ही थोड़े बसता है, जंगल में ही थोड़े बसता है। ऐसी कोई जगह कहां है जहां परमात्मा न हो? ऐसी कोई जगह है, जहां परमात्मा न हो? तो फिर सभी जगह मिल सकता है। ऐसा समझो कि मिला ही हुआ है।

अष्टावक्र का सार यही है कि परमात्मा तुम्हारा स्वभाव है। तुम्हारे स्वयं का छंद, तुम्हारे भीतर उठने वाला गीत, तुम्हारी सुगंध।

सूफियों में एक कहानी है, एक फकीर ने स्वप्न में देखा कि परमात्मा उसके सामने खड़ा है और उससे कह रहा है कि तेरी प्रार्थनाएं पहुंच गयीं, तेरी अर्चनाएं पहुंच गयीं, तेरी उपासनाएं पहुंच गयीं, तू मांग ले क्या मांगना है। ले यह तलवार लेता है? उस फकीर ने कहा, तलवार का मैं क्या करूंगा प्रभु? पर परमात्मा ने कहा, यह तलवार ऐसी तलवार है कि तू सारे संसार को जीत सकता है। इस तलवार का गुण यह है कि जीत सुनिश्चित है। सोच ले। वह फकीर कहने लगा, मेरे पास ज्यादा नहीं है, थोड़ा है, लेकिन वह काफी तकलीफ दे रहा है, आप क्यों मेरे पीछे पड़े हैं? ऐसे ही परेशान हूं, और सारी दुनिया का उपद्रव मैं क्यों लूं? तलवार आप अपनी खुद ही रखो, मुझे नहीं चाहिए। तो परमात्मा ने अपनी अंगूठी उसे निकाल कर दी और कहा कि देख, यह हीरा देखता है, यह संसार का सबसे बड़ा हीरा है, यह तेरे पास होगा तो तू सबसे बड़ा धनी हो जाएगा, यह ले ले। उसने कहा, यह मैं क्या करूंगा? हीरे को खाऊंगा कि पीयूंगा कि पहनूंगा, कि क्या करूंगा? पत्थर देकर मुझे आप उलझाएं मत। किसको धोखा देने चले हैं? मैं कोई बच्चा नहीं हूं। उमर ऐसे ही नहीं गंवायी है, यह बाल ऐसे ही धूप में सफेद नहीं हुए हैं, किसको धोखा देने चले हैं?

तो परमात्मा ने कहा, क्या तुझे फिर चाहिए? यह मेरे पीछे अप्सरा खड़ी है, स्वर्ण की इसकी देह है और यह सदा युवा रहेगी, कभी बूढ़ी न होगी, इसे ले ले। उसने कहा, जिनकी देह स्वर्ण की नहीं है और जो आज नहीं कल बूढ़ी हो जाएंगी और मर जाएंगी, जो क्षणभंगुर हैं, उनसे ही काफी पीड़ा मिलती है, यह सदा के लिए उपद्रव हो जाएगा। क्षणभंगुर से तो छुटकारा भी हो जाता है कि चलो, कभी तो अंत आ जाएगा, इसका तो अंत ही न आएगा। आप कहते हैं, मेरी प्रार्थनाएं पहुंच गयीं, आप मुझ पर नाराज हैं या क्या बात है, मुझे क्यों झंझट में डालना चाहते हैं? मुझ गरीब आदमी को छोड़ो। इससे तो बेहतर कि अगर यही प्रार्थनाओं का फल होता हो तो मैं प्रार्थनाएं करना बंद कर दूं।

तो परमात्मा ने कहा, फिर तू क्या चाहता है? कुछ भी मांग ले, क्योंकि बिना मांगे तो तुझे न जाने दूंगा। तो परमात्मा के पास एक छोटा-सा पौधा गुलाब का रखा था, उसने कहा, यह मुझे दे दें। तो परमात्मा ने कहा, इसे तू क्या करेगा? यह फूल सुबह खिलेगा, सांझ मुरझा जाएगा। तो उसने कहा, इससे मुझे जीवन की खबर मिलती रहेगी, कि सुबह खिला, सांझ मुरझा गया। और इसकी सुगंध मुझे याद दिलाती रहेगी कि ऐसी ही सुगंध मैं भी अपने भीतर छिपाए हूं, हे प्रभु, कब प्रगट होगी? इसके सौंदर्य से मुझे एक खयाल आता रहेगा कि जब फूल इतना सुंदर है, तो मनुष्य की आत्मा कितनी सुंदर न होगी! कब मुझे उसका दर्शन होगा?

परमात्मा तुम्हारी सुगंध है, जैसे गुलाब की सुगंध। परमात्मा कोई वस्तु नहीं है जिसे तुम खोजने जाते हो, परमात्मा तुम्हारी सुगंध है। जब तुम शांत होकर अपने नासापुटों को उसकी तरफ उन्मुख करते हो, जब तुम अपनी आंखें भीतर मोड़ते हो, जब तुम अपने हाथ भीतर फैलाते हो, तब तुम अचानक पाते हो कि मिल गया, मिल गया। और तब तुम ऐसा नहीं पाते कि तुम्हें जो मिला है उससे तुम अलग हो, तब तुम ऐसा ही पाते हो कि अपने से मिलन हो गया--आत्म-मिलन।

नहीं, कोई तैयारी नहीं है। न प्रत्यक्ष, न अप्रत्यक्ष।

दूसरा प्रश्न: अष्टावक्र की पूरी संहिता में कहीं भी प्रेम का जिक्र नहीं है। लेकिन आपकी महागीता में साक्षी के साथ सदा प्रेम की धारा बहती मिलेगी। ऐसा क्यों? क्या साक्षी और प्रेम के बीच कोई आंतरिक संबंध है?

निश्चित ही। प्रेम है साक्षी का संगीत। प्रेम है साक्षी की सुवास। जब कोई साक्षी हो जाता है तो ही प्रेम झरता है। निश्चित ही अष्टावक्र ने इस प्रेम की कोई बात नहीं की-- जानकर। यह जानकर कि तुम जिसे प्रेम कहते हो, कहीं तुम भूल से उसी को न समझ लो।

इसलिए अष्टावक्र ने साक्षी की बात कही, प्रेम की बात छोड़ दी। बीज की बात कही, वृक्ष की बात कही, फल की बात छोड़ दी--फल तो आएगा। तुम बीज बोओ, वृक्ष संभालो, पानी दो, बागवानी करते रहो, फल तो आएगा। जब आएगा तब आ जाएगा, उसकी क्या बात करनी है।

इसलिए जानकर अष्टावक्र ने प्रेम की बात छोड़ दी। क्योंकि प्रेम की बात करने का एक खतरा सदा से है और वह खतरा यह है कि तुम भी प्रेम करते हो, ऐसा तुम मानते हो। तुमने भी एक तरह का प्रेम जाना है, प्रेम शब्द से कहीं तुम यह न समझ लो कि तुम्हारा प्रेम और अष्टावक्र का प्रेम एक ही है। इस खतरे से बचने के लिए अष्टावक्र ने प्रेम की बात नहीं की। जानकर छोड़ दी।

मैं जानकर नहीं छोड़ रहा हूं। क्यों? क्योंकि एक दूसरा खतरा हो गया है। वह खतरा यह हुआ कि चूंकि अष्टावक्र ने प्रेम की बात नहीं की, न मालूम कितने लोग खड़े हो गये जिन्होंने समझा कि प्रेम पाप है। न-मालूम कितने लोग खड़े हो गये जिन्होंने कहा कि जिसको साक्षी होना है, उसको तो प्रेम को जड़मूल से काट डालना होगा। यह दूसरी भ्रांति हो गयी।

अष्टावक्र ने एक भ्रांति बचायी थी कि कहीं तुम तुम्हारे कामवासना से भरे हुए प्रेम को प्रेम न समझ लो, तो दूसरी भ्रांति हो गयी। आदमी कुछ ऐसा है कि कुएं से बचाओ तो खाई में गिरेगा। मगर गिरेगा। बिना गिरे न रहेगा। एक भ्रांति से बचाओ दूसरी भ्रांति बना लेगा। क्योंकि बिना भ्रांति के आदमी रहना ही नहीं चाहता। भ्रांति में उसे सुख है। तो संसारी कहीं भटक न जाए, वह यह न समझ ले कि मेरा प्रेम ही वह प्रेम है जिसकी अष्टावक्र बात कर रहे हैं, ऐसी भ्रांति न हो, अष्टावक्र प्रेम के संबंध में नहीं बोले। लेकिन अष्टावक्र को यह खयाल न रहा कि इस संसार में संन्यासी भी हैं, जो अनुकरण करने में लगे हैं। जो नकलची हैं, कार्बन कापी हैं। उन्होंने देखा कि साक्षी में तो प्रेम की बात ही नहीं, तो प्र्रेम को जड़मूल से काट दो। प्रेमशून्य हो जाओ तब साक्षी हो सकोगे। यह और भी खतरनाक भ्रांति है, इसलिए मैं जानकर प्रेम को जोड़ रहा हूं।

मेरे देखे पहला खतरा इतना बुरा नहीं है। क्योंकि तुम जिसे प्रेम कहते हो, माना कि वह पूरा-पूरा प्रेम नहीं है, लेकिन कुछ झलक उसमें उस प्रेम की भी है जिसकी साक्षी की स्थिति में अंतिम रूप से प्रस्फुटना होती है। जो विकसित होता है आखिरी क्षण में उसकी कुछ झलक तुम्हारे प्रेम में भी है। माना कि मिट्टी और कमल में क्या जोड़ है, लेकिन जब कमल खिलता है तो मिट्टी के रस से ही खिलता है। ऐसे कमल और मिट्टी को, दोनों को रखकर देखो तो कुछ भी समझ में नहीं आता कि इनमें क्या संबंध हो सकता है! लेकिन सब कमल मिट्टी से ही खिलते हैं, बिना मिट्टी के न खिल सकेंगे। फिर भी मिट्टी कमल नहीं है। और ध्यान रहे कि मिट्टी में कमल छिपा पड़ा है। प्रच्छन्न है। गुप्त है। प्रगट होगा। तुम जिसे कामवासना कहते हो, उसमें परमात्मा का कमल छिपा पड़ा है। मिट्टी है, कीचड़ है तुम्हारी कामवासना, बिलकुल कीचड़ है, बदबू उठ रही उससे, लेकिन मैं जानता हूं कि उसी से कमल भी खिलेगा।

तो अष्टावक्र ने एक भूल से बचाना चाहा कि कहीं तुम कीचड़ को ही कमल न समझ कर पूजा करने लगो--बड़ी उनकी अनुकंपा थी--लेकिन तब कुछ लोग पैदा हुए, उन्होंने कहा कि कीचड़ तो कमल है ही नहीं इसलिए कीचड़ से छुटकारा कर लो। कीचड़ से छुटकारा कर लिया, कमल नहीं खिला, क्योंकि कीचड़ के बिना कमल खिलता नहीं। वह दूसरी गलती हो गयी जो बड़ी गलती है। पहली गलती से ज्यादा बड़ी गलती है। क्योंकि पहली गलती वाला तो शायद कभी न कभी कमल तक पहुंच जाता--कीचड़ तो थी, संभावना तो थी, कीचड़ में छिपा हुआ कमल का रूप तो था; प्रगट नहीं था, अप्रगट था, धुंधला-धुंधला था, था तो; खोज लेता, टटोल लेता--लेकिन जिस व्यक्ति ने प्रेम की धारा सुखा दी, कीचड़ से छुटकारा पा लिया, उसके जीवन में तो कमल की कोई संभावना न रही। पहले के जीवन में संभावना थी, दूसरे के जीवन में संभावना न रही।

साक्षी का फल प्रेम है। मैं तुम्हें दोनों को साथ-साथ देना चाहता हूं। मैं तुम्हें याद दिलाना चाहता हूं कि तुम्हारा प्रेम, प्रेम नहीं है, और अभी प्रेम को यात्रा लेनी है। तुम्हारे प्रेम को अभी और विकास लेना है, तुम्हारे

प्रेम से अभी और-और फूल खिलने हैं, तुम अपने प्रेम पर रुक मत जाना। लेकिन तुमसे मैं यह भी कहना चाहता हूं कि तुम्हारे प्रेम को काट भी मत डालना, क्योंकि वह जो होनेवाला है, इसमें ही छिपा है। वह वृक्ष इसी बीज में छिपा है।

बीज में वृक्ष के दर्शन किसको होते हैं? तुम्हें भी नहीं होते अपने प्रेम में परमात्मा के दर्शन। लेकिन जब तुम्हें परमात्मा के दर्शन होंगे, तब तुम पहचान लोगे कि अरे, जिसको मैं प्रेम कहता था उसमें भी धुंधली-धुंधली छाया यही थी। जब तुमने अपनी पत्नी को प्रेम किया है, या अपने बेटे को, या अपने पति को, या अपने मित्र को, तब तुमने एक धुंधली छाया परमात्मा की देखी। बड़ी धुंधली है छाया, बहुत धुआं है और बीच की ज्योति दिखायी नहीं पड़ती, खोयी-खोयी सी है। लेकिन कितना ही धुआं हो--लेकिन पुराने तर्कशास्त्र के ग्रंथ कहते हैं, जहां-जहां धुआं वहां-वहां आग--तो कितना ही धुआं हो, धुएं से एक तो पक्की बात होती है सबूत कि आग होगी। बिना आग के धुआं तो नहीं हो सकता। यह तुमने खयाल किया, आग हो सकती है बिना धुएं के--इतना प्रज्वलित अंगारा हो सकता है कि धुआं न हो--आग हो सकती है बिना धुएं के, धुआं नहीं हो सकता बिना आग के। तो जहां-जहां धुआं वहां-वहां आग। जहां-जहां काम वहां-वहां राम।

तुम्हारे जीवन में बड़ा धुआं है, माना। लेकिन इसी धुएं में कहीं आग छिपी पड़ी है। इस धुएं को इशारा समझो। इस धुएं को इंगित समझो। इस धुएं का सहारा पकड़कर आग को खोज लो। इसलिए मैं साक्षी की बात करता हूं और प्रेम की। मैं दोनों की साथ-साथ बात करता हूं। तुम्हें दोनों ही बातों के प्रति सजग रहना है--साक्षी को जगाना है और प्रेम को बचाना है। अगर प्रेम को खोकर साक्षी बचा लिया तो तुम रूखे-सूखे मुर्दा हो जाओगे। तुम्हारी शांति मरघट की होगी, जीवंत न होगी। और तुम्हारा जीवन का सत्य बड़ा मुर्दा, सूखा-साखा होगा। उसमें रसधार न बहेगी। तुम्हारा जीवन का सत्य मरुस्थल जैसा होगा। उसमें कोई फूल न खिलेंगे। तुम्हारी वीणा टूट जाएगी। भला तुम शांत हो जाओ, लेकिन तुम्हारी शांति में कोई संगीत का अवतरण न होगा। यह पाना न हुआ, चूकना हो गया। संसार में चूके, अब संन्यास में चूके। तुम चूकते ही रहे।

इसलिए मैं कहता हूं, तुम दोनों को संभाल लेना। प्रेम को खोना मत और साक्षी को संभालना। साक्षी और प्रेम साथ-साथ संतुलित होते चले जाएं तो तुम्हारे जीवन में समाधि फलेगी और ऐसी समाधि जो मरुस्थल की न होगी, जिसमें हजारों कमल खिलेंगे। ऐसी शांति जो मरघट की न होगी, जीवंत, पुलकित, आनंदित। एक ऐसा शून्य जो पूर्ण से भरा होगा।

फिर चाहे तुम साक्षी के मार्ग से चलो--साक्षी का मार्ग यानी ध्यानी का मार्ग, प्रेम का मार्ग यानी भक्ति का मार्ग--चाहे तुम किसी भी मार्ग से चलो, दूसरे को बिलकुल छोड़ मत देना, भूल मत जाना। प्रेम के मार्ग पर साक्षी को छाया की तरह मौजूद रहने देना। ध्यान के मार्ग पर प्रेम को छाया की तरह मौजूद रहने देना।

मसलक जो अलग-अलग नजर आते हैं
यह देखकर राहगीर घबराते हैं
रास्ते का फकत फेर है राहरौ आखिर
मंजिल पे पहुंचते हैं तो मिल जाते हैं

रास्ते के ही फर्क हैं। जब यात्री मंजिल पर पहुंचते हैं तो सब रास्ते मिल जाते हैं।

रास्ते का फकत फेर है राहरौ आखिर
मंजिल पे पहुंचते हैं तो मिल जाते हैं
मसलक जो अलग-अलग नजर आते हैं
यह देखकर राहगीर घबराते हैं

तुम घबड़ाओ मत। अब तक ऐसा ही हुआ है। जिन्होंने भक्ति की बात की, उन्होंने ध्यान की बात न की। वे डरे कि कहीं ध्यान के कारण भक्ति में बाधा न पड़ जाए। जिन्होंने ध्यान की बात की उन्होंने भक्ति की बात न की, वे डरे कि कहीं भक्ति के कारण ध्यान में बाधा न पड़ जाए। मैं तुमसे जो कह रहा हूं इससे ज्यादा साहसपूर्ण वक्तव्य पहले नहीं दिया गया है। सभी वक्तव्य अधूरे थे। मैं तुम्हें पूरी-पूरी बात कह रहा हूं। निश्चित पूरी बात

कहने का मतलब होता है, दोनों विरोधी बातों को साथ-साथ कहना होगा। किसी ने दिन की बात की थी, किसी ने रात की बात की थी, मैं दिन और रात की इकट्ठी बात कर रहा हूं। क्योंकि मेरे लिए दोनों संयुक्त हैं। किसी ने नाचने की बात की थी, किसी ने शांत बैठ जाने की बात की थी, मैं कहता हूं, तुम्हारा नाच ही क्या अगर उसमें शांति न हो और तुम्हारी शांति क्या खाक अगर नाच न सके। किसी ने संसार की बात की, किसी ने संन्यास की, मैं तुमसे कहता हूं, संसार में रहते संन्यासी हो जाना और संन्यासी होकर घबड़ाना मत, संन्यासी क्या डरेगा संसार से! संसार में रहना और संसार में रहना भी मत, यही मेरी संन्यासी की परिभाषा है। मैं सारे विरोधों को जोड़ देना चाहता हूं।

फिर, तुम्हारे जीवन की जो असली ऊर्जा है, वह ऊर्जा प्रेम की है। जैसे कोई दीये को जलाता है, तो ज्योति। ज्योति तो साक्षी की है। लेकिन तेल भरते हैं न, तेल को इसीलिए हम स्नेह कहते हैं--स्नेह यानी प्रेम। कहते हैं, दीया जलता है, लेकिन दीये को कभी जलता देखा है? जलता प्रेम है, जलता तेल है, जलता स्नेह है। कहते तो हो दीया जलता है, लेकिन दीया कभी जलता है! जलता तो प्रेम है। प्रेम ही जलकर ज्योति बनता है। प्रेम की ऊर्जा ही साक्षी बनती है। प्रेम ही जब प्रज्वलित हो जाता है तो साक्षी की तरह प्रगट होता है।

दीप नहीं, स्नेह सदा जलता है
मिट्टी के सीस साज
सौरभ आलोक छत्र
गूंथ हृदय हार मध्य
किरन कुसुम ज्योति पत्र
वृक्ष नहीं, बीज फलता है
दीप नहीं, स्नेह सदा जलता है
जन्म-मरण दो डग धर
नाप सकल भुवन लोक
पथ का पाथेय लिये
नयन द्वय हर्ष-शोक
रूप नहीं, रे अरूप चलता है
दीप नहीं, स्नेह सदा जलता है

प्रेम की इतनी बात कहता हूं, क्योंकि प्रेम ही वह ऊर्जा है जो साक्षी बनेगी। साक्षी की इतनी बात करता हूं, क्योंकि साक्षी की ज्योति तुम्हारे जीवन को आलोकित करेगी। तुम्हारा जीवन उस दिन परिपूर्ण होगा, समग्र होगा, जिस दिन भीतर साक्षी का दीया जलता होगा और जीवन से रस की, प्रेम की धार बहती होगी। तुम टूट न जाओ अन्यों से, प्रेम तुम्हें बांधे रहे हजार-हजार संबंधों में, और तुम इतने संबंधों में न खो जाओ कि अपने से टूट जाओ, साक्षी तुम्हें जगाए रहे स्वयं की ज्योति में--साक्षी तुम्हें स्वयं बनाए रखे और प्रेम तुम्हें दूसरों से जोड़े रखे, तो तुमने जीवन का संतुलन पा लिया। तो तुमने संयम पा लिया। संयम मेरे लिए अर्थ रखता है संतुलन का।

भोगी को मैं संयमी नहीं कहता और त्यागी को भी संयमी नहीं कहता। भोगी एक तरह का असंयम कर रहा है--भोग की तरफ अतिशय झुक गया है। और त्यागी दूसरे तरह का असंयम कर रहा है--त्याग की तरफ अतिशय से झुक गया है। त्याग और भोग के मध्य में, जहां विरोधों का मिलन होता है, जहां दिवस-रात्रि मिलते हैं, वहीं संयम है।

निश्चित ही जब मैं प्रेम की बात करता हूं तो तुम्हारे प्रेम की बात नहीं कर रहा हूं, मेरे प्रेम की बात कर रहा हूं। उसे याद रखना, वह भूल न जाए। तुम्हारे प्रेम में तो सिवाय कांटों के तुमने कुछ भी पाया नहीं है।र् ईष्या, जलन और घृणा और द्वेष, स्पर्धा, संघर्ष, कलह। तुम्हारे प्रेम का स्वाद तो बड़ा कड़वा है। तुम्हारे प्रेम की

बात नहीं कर रहा हूं। और तुम्हारे प्रेम में तो एक अनिवार्य बात है कि मूर्च्छा। तुम्हारा प्रेम तो बिना मूर्च्छित हुए हो ही नहीं सकता।

मेरे पास लोग आते हैं, वे कहते हैं कि अब हम क्या करें? अगर हम ध्यान में बहुत डूबते हैं, तो हमारा प्रेम टूटता है। जो प्रेम ध्यान में डूबने से टूट जाता हो, वह प्रेम नहीं है, वह मूर्च्छा थी। जो प्रेम ध्यान में डूबने से बढ़ता हो, वही प्रेम है। वह प्रेम की कसौटी है--जो ध्यान की कसौटी पर कस जाए। ध्यान जिसे तोड़ न पाए, वही प्रेम है, बढ़ाए, वही प्रेम है।

क्या कभी तुम जान पाए जीत क्या है हार क्या है
इस जरा-सी जिंदगी में जिंदगी का सार क्या है

मिल गये जीवन डगर पर मनचले अनजान साथी
दे दिया अंतर उन्हीं को बन गये वे पूज्य पाथी
प्रीति कर ली पर न जाना प्रीति का आधार क्या है
क्या कभी तुम जान पाए जीत क्या है हार क्या है

भूल निज मंजिल गये तुम पग उन्हीं के संग बढ़ाए
और उनकी अर्चना में रात-दिन तूने लगाए
स्नेह की सौगात सारी उन सभी ने लूट खायी
प्यार का देकर भुलावा राह भी तेरी भुलायी
स्वप्न तक में यह न सोचा शांति का आगार क्या है

क्या कभी तुम जान पाए जीत क्या है हार क्या है
प्रीति कर ली पर न जाना प्रीति का आधार क्या है

प्रीति का आधार है, होश। बिना होश के प्रीति हो तो भटकाएगी। बंधन बन जाएगी। होश के साथ प्रीति हो तो मुक्ति बन जाएगी। पहुंचाएगी। लेकिन साधारणतः तुम पाओगे, जब होश साधोगे तो प्रीति टूटी, प्रीति साधोगे तो होश टूटा। तो न तो तुम्हारा होश सच्चा है, न तुम्हारी प्रीति सच्ची। प्रीति सच्ची हो, तो होश के विपरीत नहीं होती। प्रीति सच्ची हो तो होश को बढ़ाती है। होश सच्चा हो तो प्रीति से कैसे टूट सकता है? मजबूत होता है, सघन होता है।

लेकिन हम बड़े कच्चे घड़े हैं। जरा-सी वर्षा होती है, मिट्टी बह जाती है। होश की वर्षा हो गयी, प्रीति का घड़ा टूट गया। प्रीति की वर्षा हो गयी, होश का घड़ा टूट गया। हम बड़े कच्चे हैं। इस कच्चेपन का आधार एक ही बात है--सोया-सोयापन। कर तो रहे हैं बहुत कुछ, लेकिन पक्का कुछ साफ नहीं क्यों। कर तो रहे हैं, यह भी पक्का पता नहीं कि भीतर कौन करने वाला, करने के पीछे कौन बैठा है? कर तो बहुत रहे हैं, हो तो रहा बहुत व्यवसाय, जीवन में जाल चल रहा है, लेकिन कभी क्षणभर रुक कर भी नहीं सोचा, क्यों? किसलिए? अभी अपने से कोई पहचान नहीं हुई। अपने से पहचान हो जाए तो तुम पाओगे कि प्रेम और साक्षी, ध्यान और प्रेम, भक्ति और ज्ञान एक ही ऊर्जा के दो पहलू हैं। एक-साथ दोनों आते हैं। अगर तुम प्रेम को साधो, तो यह समझना कि प्रेम अगर पक्का और असली हो तो साक्षी अपने-आप आएगा। आना ही पड़ेगा। अगर तुम साक्षी को साधो और तुम्हारा होश असली हो तो प्रेम आएगा। आना ही पड़ेगा।

तो इसे ऐसा समझो--साक्षी की साधना करते समय अगर प्रेम न आता हो तो समझना कि कहीं भूल हो रही है साक्षी की साधना में। नहीं तो प्रेम आना ही चाहिए, वह परिणाम है। यह भी क्या हुआ, फसल तो बोयी और फल आए ही नहीं! फल तो आने ही चाहिए। और अगर तुम प्रेम करो और साक्षी न आए, तो समझ लेना कि कहीं फिर चूक हो रही है। इन दोनों को ख्याल में रखना। और दोनों का अगर धीरे-धीरे संयम संतुलित हो जाए

तो तुम्हारे जीवन में वह अपूर्व घटना घटेगी, जिसको मोक्ष कहो, निर्वाण कहो, तुरीय कहो, या जो भी नाम तुम्हें प्रीतिकर लगता हो वही दे दो।

तीसरा प्रश्न: संन्यास जब से लिया है, भीतर शांति है पर बाहर बड़ी उथल-पुथल मच गयी है। मैं तो चैन में हूं, पर दूसरे बड़े बेचैन हो रहे हैं। मैं क्या करूं?

ऐसा स्वाभाविक है। जब एक व्यक्ति संन्यास लेता है, तो उससे जुड़े हुए जो सैकड़ों व्यक्ति थे, उनके जीवन में उथल-पुथल मचेगी। तुम्हारे संन्यास का अर्थ यह हुआ कि तुम बदले। तो उन सब ने तुमसे अब तक जो संबंध बनाए थे, वह सभी संबंध उन्हें बदलने पड़ेंगे। और कोई झंझट नहीं लेना चाहता बदलने की।

एक महिला ने मुझसे आकर पूछा कि अगर मैं ध्यान करने लगूं तो मेरे और मेरे पति के बीच कोई झंझट तो नहीं होगी? इसके पहले कि मैं कोई उत्तर दूं, उसने खुद ही कहा कि यह प्रश्न बड़ा मूढ़तापूर्ण है, क्योंकि ध्यान से क्यों कोई झंझट होगी?

मैंने उससे कहा, तू गलत है, तेरा प्रश्न तो ठीक है, तेरा जो दूसरा जो तूने खुद उत्तर दे दिया है, वह गलत है। ध्यान से झंझट होगी। वह कहने लगी, कैसे? आखिर ध्यान से तो मैं और शांत हो जाऊंगी, तो झंझट कैसे होगी। मैंने कहा, सवाल शांत और अशांत होने का नहीं है। तेरे पति तेरे साथ बीस वर्ष से रह रहे हैं, एक ढंग से दोनों के बीच एक तरह का समझौता हो गया है--बीस साल में हो चुके सब कलह, उपद्रव, झगड़े-झांसे, क्रोध इत्यादि, एक तरह का सामंजस्य बैठ गया। एक समझौता हो गया। अब तू ध्यान करेगी, इसका मतलब हुआ कि तेरे भीतर अब परिवर्तन होंगे, इसका मतलब हुआ कि पति को फिर से अ, ब, स से शुरू करना पड़ेगा। इसका तो ठीक-ठीक मतलब यह हुआ कि जैसे पति ने फिर से दुबारा शादी की और दूसरी औरत से काम-संबंध बनाया। अब तो ये सब फिर बदलना पड़ेगा। फिर भी उसकी समझ में नहीं आया।

मैंने उससे कहा, ऐसा समझ, तू एक सात दिन के लिए प्रयोग कर ले। यह झूठा ही रहेगा प्रयोग, लेकिन तुझे अकल आ जाएगी। उसने कहा, मैं क्या करूं? मैंने उससे कहा, पति नाराज हों तो तू मुस्कुराते रहना। झूठ ही होगा यह मुस्कुराना अभी, क्योंकि भीतर से वह तेरे मुस्कुराहट न आएगी, लेकिन ध्यानी को तो आती। अभी झूठ ही होगा, लेकिन प्रयोग करके देख ले। सात दिन बाद उसने कहा कि आप ठीक कहते हैं, पति तो एकदम पागल हुए जा रहे हैं। वे नाराज होते हैं, मैं मुस्कुराती हूं तो वे कहते हैं, तुझे हो क्या गया है, तेरा दिमाग ठीक है? वह कहते हैं, इससे बेहतर था कि तू कलह करती थी।

तुम्हारी पत्नी जब तुम गाली दो और हंसे, तो तुम्हें ज्यादा चोट लगेगी। हां, गाली दे दे तो क्या चोट लगती है? पत्नियां गाली देती हैं। हंसे, तो उसका मतलब हुआ कि तुम बड़े छुद्र हो गये। गाली दे तो तुम्हारे समतुल है। तुमने गाली दी उसने गाली दी, निपटारा हो गया, दोनों संगी-साथी हैं। हंसे, तो वह तो ऊपर बैठ गयी, कहीं आकाश में, और तुम नीचे कीड़े-मकोड़े की तरह सरकने लगे। यह बर्दाश्त के बाहर है। पति परमात्मा है और यह देखे, नहीं हो सकता!

तो ध्यान, मैंने उससे कहा, अब तू सोच ले, ध्यान--अभी तो यह झूठी मुस्कुराहट थी--ध्यान के बाद कोई नाराज होगा तो असली मुस्कुराहट आएगी, यह देखकर कि यह व्यर्थ की बात, यह बचकानापन! लेकिन पति यह बर्दाश्त न कर सकेंगे कि तू उनसे ज्यादा प्रौढ़ हो जाए। आज तो तू कामातुर होती है, प्रेम बढ़ेगा जरूर ध्यान के बाद, लेकिन काम कम होगा--अभी प्रेम तो बिलकुल नहीं है, काम है--सारा संतुलन टूटेगा। ध्यान के बाद प्रेम तो बढ़ेगा लेकिन काम कम होगा, और पति नाराज होंगे। क्योंकि पति तुझे पत्नी बनाए ही इसीलिए थे कि तू उनकी काम की तृप्ति करते रहना। अचानक सब संतुलन बिगड़ जाएगा। पति की कामवासना तुझे व्यर्थ मालूम

होने लगेगी और उनको यह देखकर कि अब तू उनकी कामवासना में बहुत सहयोगी नहीं है, अत्यंत क्रोध आने लगेगा। तू सोच ले।

संन्यास तुम सोचते हो तुमने लिया। लेकिन तुम जुड़े हो बहुत लोगों से, उन सब को बदलाहट करनी पड़ेगी। उस बदलाहट में उनको परेशानी होगी--संन्यास तो तुमने लिया और बदलाहट उनको करना पड़े! यह झंझट! अगर इतनी हिम्मत उनमें होती तो वे ही संन्यास न ले लेते? बदलने की ही तो हिम्मत नहीं है लोगों में, नहीं तो खुद ही संन्यास ले लेते। तुम्हारे लिए क्यों बैठे रहते कि तुम संन्यास लो! वे तुमसे पहले ले लेते। बदलना नहीं चाहते। बदलने में अड़चन है। आदमी ने एक ढांचा बना लिया होता है, उस ढांचे में गाड़ी चलती है, एक लीक होती है, चलता रहता है--लकीर का फकीर। सब व्यवस्थित हो गया, एक तरह की चैन मालूम होती है।

तुम चकित होओगे यह जानकर कि आदमी अपने दुखों से भी धीरे-धीरे समझौता कर लेता है। उनको भी बदलना नहीं चाहता। उनको बदलने से भी झंझट आती है। क्योंकि जब भी बदलाहट करो, तो फिर से सब जीवन की संरचना करनी होती है। इतनी हिम्मत बहुत कम लोगों में होती है। अब कौन फिर से अ, ब, स से शुरू करे!

इसीलिए तो जैसे-जैसे उम्र बढ़ती जाती है, लोगों की सीखने की क्षमता कम होती जाती है। छोटे बच्चे बड़ी जल्दी सीखते हैं। अभी उन्होंने कुछ व्यवस्था जमायी नहीं है, सीखने में कुछ हर्जा नहीं। छोटे बच्चे किसी भी नयी भाषा को जल्दी सीख लेते हैं। लेकिन जैसे तुमने एक भाषा सीख ली, फिर दूसरी भाषा सीखना बहुत मुश्किल हो जाता है। क्योंकि वह पहली सीखी हुई भाषा बीच-बीच में बाधा डालती है। जब तुमने एक काम सीख लिया तो फिर दूसरा काम सीखने की हिम्मत नहीं रह जाती। फिर ऐसा लगता है कि पता नहीं दूसरे काम में सफल हुए, न हुए।

तो तुमने संन्यास लिया, तुम्हारे भीतर शांति आयी, बाहर उथल-पुथल हो रही है, यह बिलकुल स्वाभाविक है। लेकिन इसमें तुम चिंतित मत होओ। यह उनकी समस्या है। यह तुम्हारी समस्या नहीं है। अब अगर तुम यह सोचो कि तुम तभी संन्यास लोगे जब किसी के जीवन में तुम्हारे कारण कोई उथल-पुथल न आएगी, तो तुम कभी संन्यास न लोगे। तब तो तुम कभी बदल ही न सकोगे। तब तो तुम ऐसे ही सड़ते रहोगे। यह उनकी समस्या है, इसमें तुम चिंता न लो। तुम तो देखकर और चकित होओ, हैरान होओ कि आश्चर्य, संन्यास मैंने लिया है, परेशान दूसरे लोग हो रहे हैं। उनके भी तुमने तार झनझना दिये।

फिर और भी कारण हैं।

समझौता ही नहीं टूटता, समस्या नयी व्यवस्था के कारण ही नहीं आती, तुम्हारे संन्यास के कारण चोट भी लगती है। उनके अहंकार को भी चोट लगती है कि अरे, हम पीछे रह गये, तुम आगे निकल गये! यह तुमने हिम्मत कैसे की? तुमने अपने-आपको समझा क्या है? वे सिद्ध करना चाहते हैं कि तुम अज्ञानी हो, पागल हो--इसलिए नहीं कि तुम पागल हो, बल्कि इसलिए कि इसी तरह वे अपने को बचा सकते हैं। यह सुरक्षा का उपाय है। सिद्ध अगर हो जाए कि तुम पागल हो गये, तो उनका मन तृप्त हो जाएगा कि हम पागल नहीं हैं, यह आदमी पागल हो गया। और स्वभावतः वे सिद्ध कर सकते हैं, क्योंकि भीड़ उनकी है, तुम अकेले हो। तुम ज्यादा नहीं हो, वे ज्यादा हैं। और इस दुनिया में तो जो ज्यादा है, वही सच है। सचाई का और तो यहां कोई उपाय नहीं है। भीड़ जो कह दे, वही सच है। और भीड़ को सच से क्या लेना-देना है! भीड़ को ही सच पता होता तो फिर बुद्ध को, महावीर को जंगल नहीं भागना पड़ता।

तुम जरा सोचना, बुद्ध और महावीर जंगल क्यों भागे? अधिकतर लोग सोचते हैं, जंगल की शांति के लिए भागे। गलत, भीड़ के उपद्रव के कारण भागे। तुम सोचते हो, जंगल की शांति के लिए भागे, तो तुम बिलकुल गलत सोचते हो। भागे भीड़ की अशांति के कारण, उपद्रव के कारण। क्योंकि इन्हीं के बीच रहकर और बदलना, ये ज्यादा झंझटें खड़ी करेंगे। इससे जंगल बेहतर है, कोई झंझट तो नहीं डालेगा।

मैंने अपने संन्यासी को ज्यादा चुनौती का उपाय दिया है। मैं कहता हूं, जंगल मत भागो। यह बड़ी सस्ती बात हुई, जंगल भाग गये। यहीं घटने दो घटना। सारी मुसीबतें यहीं झेलो। ये सारी चुनौतियों को यहीं स्वीकार करो।

फिर, तुम मेरे प्रेम में पड़ गये, यही संन्यास है। निश्चित तुम्हारी पत्नी इससे प्रसन्न नहीं होगी, तुम्हारे पति इससे प्रसन्न नहीं होंगे।

एक महिला मेरे पास आती है, वह कहती है कि मैं संन्यास लेना चाहती हूं, लेकिन मेरे पति कहते हैं, आत्महत्या कर लेंगे अगर उसने संन्यास लिया। आत्महत्या! मैंने कहा, क्यों? वह कहती है कि मेरे पति कहते हैं, मैं तेरा पति हूं, तो तुझे जो भी पूछना है मुझसे पूछ। कौन-सी चीज है जो मैं नहीं जानता हूं? और वह पत्नी कहती है कि अब यह बड़े मजे की बात है! वह मेरी किताब नहीं रखने देते घर में, किताब फेंक देते हैं। वह कहते हैं, जो भी पूछना है...मैं तेरा पति हूं कि कोई और तेरा पति है? तो संन्यास, तो वह कहते हैं, मैं आत्महत्या कर लूंगा, वह तो मेरा बड़ा अपमान हो जाएगा कि मेरी पत्नी और किसी और से दीक्षा ले! जैसे कि पति से दीक्षा लेने का कोई नियम हो, कोई शास्त्रीय नियम हो! लेकिन पति सब तरह की मालकियत चाहता है।

पत्नी नाराज हो जाती है। पत्नियां मेरे पास आती हैं कि जब से आप हमारे पति के जीवन में आए, बड़ी खलल हो गयी। हम तो बातें कर रहे हैं, वह आपका टेप लगाये सुन रहे हैं। ऐसा जी होता है कि टेप तोड़कर फेंक दें। हम तो कुछ कहना चाहते हैं, सुख-दुख रोना चाहते हैं, वह किताब पढ़ रहे हैं! ये किताबें शत्रु मालूम पड़ने लगेंगी।

तुमने देखा होगा न, पत्नियां किताबें छीन लेती हैं--अखबार छीन लेती हैं, किताबों की तो छोड़ो। तुम अखबार पढ़ रहे हो बैठे और पत्नी आकर झपट्टा मार देती है अखबार पर। क्योंकि अखबार से भीर् ईष्या होने लगती है कि मैं मौजूद और मेरे रहते तुम अखबार देख रहे, मुझको देखो। जरा-जरा सी, छोटी-छोटी चीजों में प्रतिस्पर्धा औरर् ईष्या का जन्म होने लगता है।

तो यह बड़ी घटना है, तुमने सब दांव पर लगा दिया, मेरे साथ हो लिये। निश्चित ही तुम्हारे घर में थोड़ी अड़चनें आएगी, पत्नी नाराज होगी, पति नाराज होगा। बेटे चिंतित होंगे कि डैडी को क्या हो गया? बच्चे स्कूल में जाएंगे, दूसरे बच्चे उन्हें पूछेंगे, तुम्हारे डैडी को क्या हो गया? दिमाग खराब हो गया? गेरुवे कपड़े क्यों पहन लिये, यह माला क्यों लटका ली? इलाज क्यों नहीं करवाते? मनोचिकित्सक को क्यों नहीं दिखलाते? यह होगा। यह बिलकुल स्वाभाविक है।

जबसे तुमसे प्यार हुआ है
दुश्मन सब संसार हुआ है

गली-गली देती है गाली
हर वातायन व्यंग्य सुनाता
हर कोई अब पथ पर चलते
अंगुली से मुझको दिखलाता
मुझको अपराधी ठहराया
प्रीति-रतन का चोर बताया
मेरे अपनों का भी मुझसे
बदला-सा व्यवहार हुआ है
जबसे तुमसे प्यार हुआ है
दुश्मन सब संसार हुआ है

ऐसी खबर सुनी है जबसे

सारा मधुबन रूठ गया है
मुंह बोले का नाता था कुछ
अब तो वह भी टूट गया है
डाली-डाली मुझे चिढ़ाती
क्यारी-क्यारी धूल उड़ाती
कली-कली कांटा बन बैठी
फूल-फूल अंगार हुआ है
मेरे अपनों का भी मुझसे
बदला-सा व्यवहार हुआ है
जबसे तुमसे प्यार हुआ है
दुश्मन सब संसार हुआ है

ऐसा होगा। ऐसा स्वाभाविक है। इसे स्वीकार करो। यह साधना के मार्ग की अनिवार्य कड़ी है। ऐसा न हो तो आश्चर्य है! ऐसा होता है तो क्या आश्चर्य? ठीक ही हो रहा है। तुम इससे उद्विग्न मत होना, न परेशान होना, न इसके कारण किसी तरह की चिंता लेना और न उपाय करना कि इन सब लोगों का मन शांत हो जाए। उपाय ही मत करना, अन्यथा वे और अशांत होते जाएंगे। तुम जितना उपाय करोगे, वे उतनी चेष्टा करेंगे तुम्हारे उपाय तोड़ देने के। तुम तो उपेक्षा रखना। ज्यादा देर न चलेगा यह उपद्रव। जल्दी ही लोग तुम्हें भूल जाएंगे। वे कहेंगे, ठीक है, अब कोई गया तो गया। आदमी मर जाता है तो उसे भूल जाते हैं। तुम तो सिर्फ संन्यासी हुए हो। लोग भूल जाएंगे, वे कहेंगे कि ठीक है...।

मेरे बचपन में मुझे कोई रस न था कि बाजार जाऊं, कि किसी के घर जाऊं, कि किसी के भोज में जाऊं, कि किसी के घर शादी में जाऊं। मेरे घर के लोग स्वभावतः परेशान होते थे। वे मुझे ले जाना चाहते। वे मुझे घसीटते। मैं कहता, ठीक है, घसीटते हो तो चलता हूं। लेकिन वहां जाकर खड़ा हो जाता। लोग पूछने लगते, क्या बात है? फिर घर के लोग मेरे समझ गये कि इसको ले जाना ठीक नहीं, और उल्टी झंझट खड़ी होती है। यह वहां खड़ा हो जाता है, या बैठ जाता है, तो लोग पूछने लगते हैं, इसको क्या हो गया है, क्या गड़बड़ है? वे मुझे ले जाना छोड़ दिये। पहले मुझे भेजते थे इसी ख्याल से, दयावश, कि बाजार जाए, कुछ सब्जी खरीद लाए, कुछ सामान चाहिए तो ले आए, नहीं तो यह जिंदगी सीखेगा कब और कैसे?

मेरी मुसीबत थी कि मैं अगर बाजार जाऊं और उन्होंने कहा मुझसे कि जाओ, अजवाइन खरीद लाना, तो मुझे अजवाइन भूल जाए। भेजा अजवाइन खरीदने, खरीद कर ले आऊं इलायची। वे लोग सिर ठोंक लें! याद करते हुए जाऊं रास्ते भर कि अजवाइन, अजवाइन, अजवाइन...अब कोई आदमी रास्ते में मिल गया, उन्होंने कहा, कहां जा रहे हो, उतने में वह अजवाइन गड़बड़ हो जाए! फिर घर लौटकर आना पड़े। धीरे-धीरे उन्होंने मुझे भेजना बंद कर दिया।

या मुझे लेने सामान भेजें--तो मुझे कोई रस ही नहीं था उस बात में, मैं उस झंझट में पड़ना भी नहीं चाहता था। जैसे वे मुझे भेजें, जाओ केले खरीद लाओ। तो मैं जाऊं, केले के दूकानदार से पूछूं--सबसे कीमती और अच्छे केले कौन-से हैं? अब वे दूकानदार सब जानते थे मुझे कि यह...वे रद्दी से रद्दी सड़े-गले केले मुझे पकड़ा दें कि ये सबसे ज्यादा कीमती, मैं कहूं, बस ठीक है। मैं एक दफा केले खरीदकर घर लाया, मेरी बुआ ने मुझे भेजा था कि केले खरीद लाओ। तो केले खरीद लाया, उससे मैंने पूछा कि सबसे अच्छे जो हों और सबसे ज्यादा दामवाले, तो उसने बिलकुल सड़े-गले केले और सबसे ज्यादा दामवाले दे दिये। मैं घर लाया तो मेरी बुआ ने सिर पर हाथ मार लिया और कहा कि इनको जाकर पड़ोस में एक भिखारिन है उसको दे आओ। ठीक है, मैं गया भिखारिन को, भिखारिन मुझसे बोली--फेंक दो कूड़े में। इधर कभी इस तरह की चीज मत लाना। मैंने कहा, ठीक है। मैं कूड़े में फेंक आया। धीरे-धीरे घर के लोग समझ गये कि यह...और मुझे पहले ही से पक्का पता

था कि आखिर में मुझे क्या करना है--कुछ नहीं करना है--तो अभ्यास भी क्यों करना? न-करने ही का अभ्यास कर रहा था।

फिर तो ऐसी बात आ गयी कि मैं घर में बैठा रहता--मेरी मां मेरे सामने बैठी है और वह कहे, यहां कोई दिखायी नहीं पड़ता, किसी को सब्जी लेने भेजना है। और मैं सामने बैठा हूं! वह कहें--यहां कोई दिखायी नहीं पड़ता। मैं कहूं, दिखायी तो मुझे भी कोई नहीं पड़ रहा है। घर में कुत्ता घुस जाए, मैं बैठा हूं, और मेरी मां कहे कि घर में कोई है ही नहीं, वो कुत्ता घुस गया है। और मैं सामने बैठा हूं!

धीरे-धीरे लोग स्वीकार कर लिये। क्या करेंगे? एक सीमा होती है, थोड़े दिन तक खींचातानी की। इधर ले गये, उधर ले गये, भेजा, एक सीमा होती है।

तुम संन्यस्त हो गये, अब तुम अपने भाव में रमो। लोग ऐसा कहेंगे, वैसा कहेंगे, यहां खींचेंगे, वहां खींचेंगे, कोई झगड़ा-झांसा भी मत खड़ा करना और उन्हें समझाने की कोई चेष्टा भी मत करना। तुम्हारे समझाने से वे समझेंगे भी नहीं। जो तुम्हारे भीतर हुआ है, तुम उस रस में डूबो। तुम अपनी मस्ती में मस्त रहो। जल्दी ही तुम पाओगे कि जो व्यंग कसते थे, वे तुममें उत्सुक होने लगे हैं। जो कल हंसते थे, वे भी तुम्हारे पास आकर बैठने लगे हैं। जो कल कहते थे तुम्हारा दिमाग खराब हो गया, वे भी तुमसे सलाह लेने लगेंगे। वे कहेंगे कि तुम बड़े शांत हो गये। कैसे हुए? क्या हुआ? पुरानी तरह की चिंताएं तुम्हारे चेहरे पर नहीं दिखायी पड़तीं। आंखों में बड़ी शांति की झलक आ गयी, एक प्रसाद पैदा हुआ, क्या हुआ? लेकिन तुम समझाने की कोशिश मत करना। तुम अपनी मस्ती में जीओ। अब अगर उनको चिंता लेनी है तुम्हारी मस्ती से, तो यह उनका निर्णय है। कोई किसी को चिंता लेने से नहीं रोक सकता।

हां, अगर तुम उनकी चिंता के कारण चिंतित हो गये, तो तुम्हें वे नुकसान पहुंचा देंगे। अगर उन्हें ऐसा लगा कि तुम उनको राजी करने में उत्सुक हो--कि नहीं, तुमने जो किया वह ठीक है और वे गलत हैं--तो तुम व्यर्थ के विवाद में पड़ोगे। और ध्यान रखना, कुछ बातें ऐसी हैं जो विवाद से सिद्ध नहीं होतीं। संन्यास ऐसी ही बात है। तुम तो यही कह देना कि यही समझो कि मैं पागल हो गया हूं। इसे स्वीकार ही कर लेना। उनको कहने के लिए भी क्यों छोड़ते हो, खुद ही कह देना कि मेरा सब गया, पागल हो गया हूं। लेकिन मस्त हूं अपनी मस्ती में और पागलपन मुझे रास आ रहा है और मुझे सुख मिल रहा है, मुझे क्षमा कर दो। तुम अपनी समझदारी में ठीक, मैं अपनी नासमझदारी में ठीक। धीरे-धीरे वे तुमसे राजी हो जाएंगे। और धीरे-धीरे तुम पाओगे, तुम्हारी शांति का, तुम्हारे मौन का, तुम्हारी मस्ती का परिणाम होने लगा है। उनमें उलझो मत।

अगर अकेला होता मैं तो
शायद कुछ पहले आ जाता
लेकिन पीछे लगा हुआ था
संबंधों का लंबा तांता
कुछ तो थी जंजीर पांव की
कुछ थी कठिन चढ़ाई मग की
कुछ रोके था तन का रिश्ता
कुछ टोके था मन का नाता
इसीलिए हो गयी देर
कर देना माफ विवशता मेरी
धरती सारी मर जाएगी
अगर क्षमा निष्काम हो गयी
मैंने तो सोचा था अपनी
सारी उमर तुझे दे दूंगा
इतनी दूर मगर थी मंजिल

चलते चलते शाम हो गयी

ऐसा न हो कि परमात्मा के सामने तुम्हें करुणा की भीख मांगनी पड़े। ऐसा न हो कि तुम्हें कहना पड़े कि रुक गया, क्योंकि इतने रिश्तेदार थे; रुक गया, क्योंकि पत्नी-बच्चे थे; रुक गया, क्योंकि इतनी उलझनें थीं। ऐसा न हो कि कहना पड़े कि क्षमा करो, करुणा बरसाओ।

नहीं, परमात्मा के द्वार पर करुणा की भीख मांगते मत जाना। आनंद-उल्लास से जाना, उत्सव से जाना। क्षमा-याचना मांगते मत जाना, धन्यवाद देते जाना। और इसका एक ही उपाय है कि इस जगत में इतने जो संबंधों का नाता है, इस सब संबंधों के नाते को जो-जो कर्तव्य है पूरा करो; पत्नी है, कर्तव्य है, पूरा करो; बेटे हैं, उनका कर्तव्य पूरा करो; नाता-रिश्ता है, उनका कर्तव्य है, पूरा करो; बस कर्तव्य भर पूरा कर दो--इसमें ज्यादा उलझो मत। जितना जरूरी है उतना कर दो और बाहर रहे आओ। जरूरत से ज्यादा अपने को उद्विग्न मत कर लो। रहो बाजार में और रहो बाजार के बाहर। रहो भीड़ में और रहो भीड़ के बाहर। धीरे-धीरे तुम पाओगे, जिस भीड़ ने तुम्हारा अपमान किया, वही भीड़ तुम्हारा सम्मान करने लगी।

मगर मैं इसलिए नहीं कह रहा हूं यह कि भीड़ तुम्हारा सम्मान करे, ऐसी तुम्हारे मन की चाह होनी चाहिए। नहीं, तब तो चूक हो गयी। भीड़ से क्या लेना-देना, अपमान करे कि सम्मान करे, सब बराबर है। दूसरे से क्या लेना-देना! अपनी खोज पर जिसे जाना है, उसे दूसरे से थोड़ा तो शिथिल होना ही पड़ेगा। अपनी खोज पर जिसे जाना है, उसे बाहर से थोड़ी आंख तो मोड़नी ही पड़ेगी। भीतर जिसे चलना है, उसे बाहर के रास्तों की भाग-दौड़ तो क्षीण करनी ही पड़ेगी। क्योंकि वही ऊर्जा तो भीतर जाएगी जो बाहर दौड़ रही थी। जब मैं कहता हूं कि जो तुम्हारा अपमान करते हैं, एक दिन सम्मान करेंगे, तो मैं यह सिर्फ तथ्य की बात कह रहा हूं, ऐसा होता है। यह नहीं कह रहा हूं कि तुम इसीलिए कुछ करो ताकि लोग तुम्हारा सम्मान करें। तब तो तुम कभी उस अवस्था में न पहुंचोगे जहां सम्मान सहज घटता है।

जिसने तुम्हारा अपमान किया है, वह उसकी मौज है। उसे जो ठीक लगा, उसने किया। जिसने तुम्हारा सम्मान किया है, उसकी मौज। उसे जो ठीक लगा उसने किया। जो उसके पास था, उसने दिया। तुम अपमान और सम्मान दोनों को एक ही धन्यवाद के भाव से स्वीकार कर लेना, दोनों का आभार प्रगट कर देना और आंख मूंदकर भीतर डुबकी लगा लेना।

आखिरी प्रश्न: दुख ही दुख है, सुख के स्वप्न में भी दर्शन नहीं, फिर भी जाग नहीं आती है, जागरण का कोई अनुभव नहीं होता है।

दुख ही दुख है, ऐसा तुम्हारा अनुभव है, या तुमने किसी की बात सुनकर पकड़ ली? जरा भी सुख नहीं है, ऐसा तुम्हारा अनुभव है, या तुमने बुद्धपुरुषों के वचन कंठस्थ कर लिये? मुझे लगता है, तुमने बुद्धपुरुषों के वचन कंठस्थ कर लिये हैं। क्योंकि तुम्हारा ही अनुभव हो तो जागरण आना ही चाहिए। अनिवार्य है। अगर पैर में कांटा गड़ा है, तो पीड़ा होगी ही। अगर दुख है ऐसा तुम्हारा अनुभव है, तो जागरण आएगा ही। दुख जगाता है, दुख मांजता है, निखारता है। दुख का मूल्य ही यही है।

लोग मुझसे पूछते हैं, संसार में परमात्मा ने इतना दुख क्यों दिया है? मैं उनसे कहता हूं, थोड़ा सोचो, इतना दुख है फिर भी तुम नहीं जागते, अगर दुख न होता तब तो फिर कोई आशा ही नहीं थी। इतने दुख के बावजूद नहीं जागते!

दुख जगाने का उपाय है। इतनी पीड़ा है फिर भी तुम सोए चले जाते हो। सुख की आशा नहीं टूटती। ऐसा लगता है आज नहीं है सुख, कल होगा। अभी नहीं हुआ, अभी होगा। आज तक हारे, सदा थोड़े ही हारते रहेंगे। और मन तो कहे चला जाता है, और, थोड़ा और रुक जाओ, थोड़ा और देख लो, कौन जाने करीब ही आती हो

खदान सुख की। अब तक खोदा और कहीं दो-चार कुदाली और चलाने की देर थी कि पहुंच जाते खदान पर, थोड़ा और खोद लो। और, और, मन कहे चला जाता है। "और" है मंत्र मन का।

भौंहों पर खिंचने दो रतनारे बान
अभी और अभी और!

सुर-धन को सरसा ओ आंचल के देश
सपनों को बरसा ओ नभ के परिवेश
संयम से मत बांधो दर्शन के प्राण
अभी चलने दो दौर!
अभी और अभी और!

कन-कन को महका ओ माटी के गीत
जीवन को दहका ओ सुमनों के मीत
अधरों को करने दो छक कर मधुपान
कहीं सौरभ के ठौर!
अभी और अभी और!
तन-मन को पुकार ओ रागों के छोर
प्रीति कलश ढुलका ओ वंशी के पोर
कुंजों में छिड़ने दो भ्रमरों की तान
धरो स्वर के सिर मौर!
अभी और अभी और!
भौंहों पर खिंचने दो रतनारे बान
अभी और अभी और!

मन कहे चला जाता--अभी और, जरा और। एक प्याली और पी लें, एक आलिंगन और कर लें, एक चुंबन और, थोड़ा समय है, कौन जाने जो अब तक नहीं मिला मिल जाए। ऐसे आशा के सहारे आदमी खिंचता चला जाता है।

उमर खैयाम का एक गीत है, जिसमें वह कहता है: मैंने पंडितों से पूछा, मौलवियों से पूछा, ज्ञानियों से पूछा, बड़े-बड़े आचार्यों से पूछा कि आदमी इतने दुख के बावजूद भी जीए कैसे जाता है? लेकिन उनमें से किसी ने कोई उत्तर न दिया। और मैं जिस द्वार से भीतर गया, उसी द्वार से बाहर आया--खाली का खाली, वैसा का वैसा। फिर घबड़ाकर मैंने एक दिन आकाश से पूछा कि हे आकाश! तूने तो सब देखा, अरबों-अरबों लोगों का जीवन, अरबों-अरबों लोगों की आशाएं, सपने, उनका टूटना, उनका कब्रों में गिरना; इच्छाओं के इंद्रधनुष, उनका टूटना, धूल में रुंध जाना, तूने तो सब देखा, तू तो सब देख रहा है अनंतकाल से, तू मुझे कह दे--इतना दुख है, आदमी जीए कैसे जाता है? और आकाश ने कहा: आशा के सहारे। आशा! मनुष्य के जीवन की सारी मूर्च्छा का सूत्र है, आशा। अभी और, थोड़ा और, जरा और।

तुम कहते हो कि जीवन में दुख है। तुम्हें नहीं दिखायी पड़ा। और तुम कहते हो, यह सुख तो कभी मिला नहीं सपने में भी। माना। किसको मिला! किसी को भी नहीं मिला, लेकिन अभी भी तुम सपना देख रहे हो कि शायद कल मिले। सपने में भी सुख नहीं मिलता, लेकिन सुख का सपना हम देखे चले जाते हैं। जब तुम्हारा सुख का भ्रम टूट जाएगा--सुख मिल ही नहीं सकता, सुख का कोई संबंध ही नहीं है बाहर के जगत से, सुख मिलता है उन्हें जो भीतर जाते हैं, सुख मिलता है उन्हें जो स्वयं में आते हैं, सुख मिलता है उन्हें जो साक्षी हो जाते हैं--तो उसी क्षण घटना घट जाएगी।

तुम पूछते हो, जागरण क्यों नहीं आता? क्योंकि तुमने दुख के वाण को ठीक से छिदने नहीं दिया। तुमने बहुत तरकीबें बना ली हैं दुख के वाण को झेलने के लिए। कोई आदमी दुखी होता है, वह कहता है, पिछले जन्मों के कर्मों के कारण दुखी हो रहा हूं--खूब तरकीब निकाल ली सांत्वना की। पिछले जन्मों के कारण दुखी हो रहा हूं। अब कुछ किया नहीं जा सकता, बात खतम हो गयी, अब तो होना ही पड़ेगा। तुमने एक तरकीब निकाल ली। कोई आदमी कहता है, इसलिए दुखी हो रहा हूं कि अभी मेरे पास धन नहीं है, जब होगा तब सुखी हो जाऊंगा। कोई कहता है, अभी इसलिए सुखी नहीं हूं कि सुंदर पत्नी नहीं है, होगी तो हो जाऊंगा। कि बेटा नहीं है, होगा तो सुखी हो जाऊंगा। तुम देखते नहीं कि हजारों लोगों के पास बेटे हैं और वे सुखी नहीं हैं! तुम कैसे भ्रम पालते हो? हजारों लोगों के पास धन है और वे सुखी नहीं और तुम कहते हो, मेरे पास होगा तो मैं हो जाऊंगा। हजारों लोग पद पर हैं और सुखी नहीं, फिर भी तुम देखते नहीं। तुम कहते हो, मैं होऊंगा तो सुखी हो जाऊंगा, हमें हजारों से क्या लेना-देना! मेरा तो होना पक्का है। मैं अपवाद हूं, ऐसी तुम्हारी भ्रांति है।

नहीं कोई अपवाद है। जीवन में बाहर से सुख मिला नहीं किसी को, दुख ही मिला है। बाहर जो भी मिलता है दुख है। बाहर से जो मिलता है, उसी का नाम दुख है। और भीतर से जो बहता है, उसी का नाम सुख है।

इसलिए जाग नहीं हो रही। तुम दुखों को समझाए जाते हो और तुम सुख की आशा बांधे चले जाते हो। तुम कहते हो, होगा। कभी न कभी होगा। किसी न किसी तरह उपाय कर लेंगे। छीना-झपटी, चोरी करनी पड़ेगी चोरी कर लेंगे, लेकिन कर लेंगे, होगा। तुम रेत से तेल निचोड़ने की चेष्टा में लगे हो। तुम यह देख ही नहीं रहे कि आज तक संसार में कोई भी रेत से तेल नहीं निचो°? पाया है। आज तक संसार में कोई भी बाहर से सुखी नहीं हो पाया--सिकंदर हों, कि नेपोलियन हों, कि बड़े धनपति हों, सब खाली हाथ आते और खाली हाथ जाते।

हां, कुछ लोग जीवन में महाआनंद को उपलब्ध हुए हैं--कोई अष्टावक्र, कोई बुद्ध, कोई कृष्ण, कोई क्राइस्ट, कोई मुहम्मद। कुछ थोड़े-से इने-गिने लोग, जरा उनकी तरफ देखो। उन सबका एक ही कारण है सुख का कि वे सब भीतर की तरफ मुड़ गये।

सुख चाहते हो? कुछ बुरी बात नहीं चाहते। गलत दिशा में चाह रहे हो, इसीलिए भटक रहे हो। दुख मिल रहा है? नियम से मिल रहा है। दीवाल से निकलना चाहोगे, सिर टकराएगा, खोपड़ी फूटेगी, दुख मिलेगा। दरवाजे से निकलो। और दरवाजा भीतर की तरफ है, दीवाल बाहर की तरफ।

मैंने सुना है, यूनान में एक बहुत अदभुत संन्यासी हुआ डायोजनीज। वह नंगा ही रहता था, और बड़ा मस्त आदमी था। सिकंदर को भी उससेर् ईष्या हो गयी थी। सिकंदर उससे मिलने भी गया था। और जब उसने डायोजनीज को देखा था तो उसका दिल धड़ककर रह गया था। उसने डायोजनीज से कहा था, अगर दुबारा मुझे जन्म लेना पड़ा तो परमात्मा से कहूंगा, अब की बार सिकंदर मत बनाओ, डायोजनीज बना दो। आश्चर्य, तुम्हारे पास कुछ भी नहीं है, तुम इतने मस्त! डायोजनीज ने कहा, इसीलिए कि कुछ नहीं है, इसीलिए मस्त। चिंता नहीं, फिकिर नहीं। एक चीज थी मेरे पास, तब तक थोड़ी चिंता थी। सिकंदर ने पूछा, वह क्या चीज थी? उसने कहा कि मैं सब तो छोड़ दिया था, कपड़े-लत्ते भी छोड़ दिये, नंगा हो गया था, लेकिन एक पात्र अपने हाथ में रखता था जल इत्यादि पीने को। फिर एक दिन मैं नदी पर गया पानी पीने को, मुझसे पीछे एक कुत्ता पहुंचा भागा हुआ और मुझसे पहले पानी पीकर चल पड़ा। मैंने कहा, हद्द हो गयी! मैं अपना वह पात्र ही घिसता रहा। पात्र सफाई करूं, फिर पानी भरूं, फिर पीऊं। मैंने कहा, भाड़ में जाए यह पात्र, यह कुत्ता मुझसे बड़ा संन्यासी है। मैंने वह पात्र भी छोड़ दिया और कुत्ते को गुरु बना लिया। अगर तुम उस कुत्ते से मिलना चाहो, डायोजनीज ने कहा, वह पास ही रहता है। दोनों साथ ही रहते थे। एक कचराघर जहां लोग कचरा फेंकते हैं, उसका टीन का पोंगरा जिसमें कचरा फेंकते हैं, उसको उठा लाया था वह, उस पोंगरे को नदी के किनारे रख लिया था, उसी में

कुत्ता रहता, उसी में वह भी रहता। वह कहता, मेरा गुरु है। क्योंकि इसने ही मुझे सिखाया कि अरे, यह पात्र काहे के लिए ढो रहा हूं।

सिकंदर से उसने कहा, एक चीज थी, उसकी वजह से मुझे चिंता होती थी, कभी-कभी रात में भी हाथ से टटोलकर देख लेता कि पात्र कोई ले तो नहीं गया। जब से वह गया, सब चिंता गयी। तब से तो मैं सम्राट हो गया हूं। तब से मस्त ही मस्त हूं!

सिकंदर ने उससे कहा, मैं खुश हुआ मिलकर। मैं तुम्हारे लिए कुछ कर सकूं, मुझे कहो तो मुझे खुशी होगी। उसने कहा, आप जरा हटकर खड़े हो जाएं, क्योंकि धूप रोक रहे हैं--सुबह का वक्त और वह धूप ले रहा था--बस इतना, और तो आपसे क्या चाहिए! और आपके पास है क्या जो तुम मुझे दे सकते हो? और याद रखना, किसी की धूप रोककर खड़े मत होना। अगर इतना ही तुम कर सको तो काफी है। तुमसे खतरा है, तुम कई लोगों की धूप छीन लोगे। यह फौज-फांटा लेकर जा कहां रहे हो? किसकी धूप छीनने का इरादा है? मुझ गरीब की धूप, मैं मजा कर रहा था अपना यहां, नदी के किनारे रेत में लेटा था, सुबह की धूप ले रहा था, तुम आकर खड़े हो गये। और मुझसे कह रहे, क्या चाहिए!

सिकंदर ने कहा कि जा रहा हूं विश्व की विजय के लिए। लेकिन अंतिम लक्ष्य मेरा भी यही है जो तुम्हारा है--शांत होना, विश्राम करना। डायोजनीज खूब खिलखिलाकर हंसने लगा। उसने कहा, तो फिर इतनी यात्रा की क्या जरूरत है, मुझे देखते नहीं? शांत हूं और विश्राम कर रहा हूं। तुम भी करो विश्राम, यह नदी का किनारा काफी बड़ा है, हम दोनों के लिए काफी है। और भी कोई लोग आएं, उनके लिए भी काफी है। यहां कुछ अड़चन नहीं है। सिकंदर ने कहा, अभी न कर सकूंगा। तो डायोजनीज ने कहा, फिर कभी न कर सकोगे, जो अभी कर सकता है वही कर सकता है।

इसलिए मैं तुमसे कहता हूं, कि जो हो सकता है अभी हो सकता है--श्रवणमात्रेण--कल पर छोड़ा, छूटा। न करना हो मत करो, मगर यह तो मत कहो कि कल करेंगे। न करना हो तो यही कहो कि नहीं करना है। नहीं करना है, नहीं करने की इच्छा है, तो कम से कम ईमानदारी तो होगी। यह बेईमानी मत करो कि कल करेंगे, क्योंकि कल कौन कर पाया? न करने की यह तरकीब है--कल करेंगे, कल करेंगे। कल पर टालना न करने की व्यवस्था है। जो होना है, आज हो सकता है, अभी हो सकता है, यहीं हो सकता है। तुम जैसे हो, जहां हो, वहीं वैसे ही अपने भीतर डुबकी ले लो। उस डुबकी में ही परमात्मा का मिलन है।

कूल बैठ
नद समीप
बटोर मत
शंख-सीप
तुमने खूब शंख-सीप बटोर लिये हैं। अब जरा बैठो।
कूल बैठ
अब किनारे बैठ जाओ।
नद समीप
यह जो संसार की बहती हुई धारा है, इसके किनारे बैठ रहो।
बटोर मत
शंख-सीप
अब बहुत बटोर लिए शंख-सीप, अब जरा किनारे बैठ रहो--कूटस्थ हो जाओ। साक्षी बनो।
योग
आत्म-संभोग
भोग
देह-संयोग

बहुत देह के संयोग देखे, कुछ पाया नहीं।

योग

आत्म-संभोग

अब थोड़ा अपना भोग करो। अब थोड़ा अपना स्वाद लो। दूसरों का स्वाद लेते खूब भटके, तिक्त हुआ मुंह, कड़ुवाहट से भर गया जीवन। अब थोड़ी रसधार बहने दो, अपने प्राणों के गीत को गूंजने दो, उठने दो यह स्वयं का छंद। थोड़ा-सा अगर तुम भीतर की तरह चल पड़ो, एक किरण पकड़ लो होश की तो सूरज तक पहुंच जाओ।

माटी
बीज उगाती
परिपाटी दोहराती
माटी
बीज बनाती
प्रभु का पद पा जाती

बस दो ही तरह के लोग हैं दुनिया में। एक, परिपाटी दोहरानेवाले--

माटी
बीज उगाती
परिपाटी दोहराती
माटी
बीज बनाती
प्रभु का पद पा जाती

तुम कब तक दोहराते रहोगे यह जड़ यंत्रवत जीवन? कुछ बनाओ, कुछ सृजन करो। और एक ही चीज सबसे पहले सृजन करने की है और वह है स्वयं के सृजन की। और वहां सृजन जैसा भी क्या है, पर्दा हटाना।

आत्म-सृजन का अर्थ इतना ही होता है--आत्म-आविष्कार। अपने को उघाड़ लेना है।

और तुम थोड़े भीतर चलो तो तुम अचानक पाओगे कि परमात्मा हजार-हजार कदमों से तुम्हारी तरफ चल पड़ा। तुम एक कदम उठाओ, वह हजार कदम उठाता है। तुम्हीं थोड़े उसे खोज रहे हो, वह भी तुम्हें खोज रहा है।

मेरा तो जीवन मरुथल है
जब तुम आओ तो सावन हो
ऐसा रूठा मधुमास कि फिर
आने का नाम नहीं लेता
ऐसा भटका है प्यासा मन
क्षण भर विश्राम नहीं लेता
मेरा तो लक्ष्य अदेखा है
तुम साथ चलो तो दर्शन हो

अब तुम न तुम्हारी आहट कुछ
शकुनों की घड़ियां बीत चलीं
त्यौहार प्रणय का सूना है
फुलझड़ियां हैं सब रीत चली
मेरा तो यज्ञ अधूरा है
तुम साथ रहो तो पूजन हो

उलझी अलकें भीगी पलकें
हो बैठा है परिचय मेरा
शंका से देख रहा है जग

क्षण-क्षण जीवन अभिनय मेरा
मेरी तो साधें शापित हैं
जब तुम छू दो तो पावन हो

जब तुम वीणा के तार कसो
यह गायक मन गंधर्व बने
तुम ही यदि साथ रहो तो फिर
हर पल जीवन का पर्व बने
हर आह मधुरतम गायन हो
हर आंसू फिर मधु का कण हो

दो हाथ में हाथ परमात्मा के, वह तुम्हारे भीतर तैयार है। अपनी वीणा उसको सौंप दो। यही अष्टावक्र का समग्र संदेश है। साक्षी बन रहो, कर्ता नहीं, भोक्ता नहीं। और जो परमात्मा करना चाहता है, तुम निमित्तमात्र हो जाओ। होने दो, तुम हवा के झोंके हो जाओ, कि सूखे पत्ते, जहां ले जाए, चल पड़ो।

जब तुम वीणा के तार कसो
यह गायक मन गंधर्व बने
तुम ही यदि साथ रहो तो फिर
हर पल जीवन का पर्व बने
हर आह मधुरतम गायन हो
हर आंसू फिर मधु का कण हो
मेरी तो साधें शापित हैं
जब तुम छू दो तो पावन हो
मेरा तो यज्ञ अधूरा है
तुम साथ रहो तो पूजन हो
मेरा तो लक्ष्य अदेखा है
तुम साथ चलो तो दर्शन हो
मेरा तो जीवन मरुथल है
जब तुम आओ तो सावन हो

यह हो सकता है। यह अभी हो सकता है। श्रवणमात्रेण। हरि ॐ तत्सत्!

आज इतना ही।

इन्कानवेवां प्रवचन

अनुभव ही भरोसा

क्व प्रमाता प्रमाणं वा क्व प्रमेयं क्व च प्रमा।
क्व किंचित् क्व न किंचिद्वा सर्वदा विमलस्य मे।। २९२।।
क्व विक्षेपः क्व चैकाग्र्यं क्व निर्बोधः क्व मूढता।
क्व हर्षः क्व विषादो वा सर्वदा निष्क्रियस्य मे।। २९३।।
क्व चैष व्यवहारो वा क्व च सा परमार्थता।
क्व सुखं क्व च वा दुःखं निर्विमर्शस्य मे सदा।। २९४।।
क्व माया क्व च संसारः क्व प्रीतिर्विरतिः क्व च वा।
क्व जीवः क्व च तद्ब्रह्म सर्वदा विमलस्य मे।। २९५।।
क्व प्रवृत्तिर्निवृत्तिर्वा क्व मुक्तिः क्व च बंधनम्।
कूटस्थनिर्विभागस्य स्वस्थस्य मम सर्वदा।। २९६।।
क्वोपदेशः क्व वा शास्त्र क्व शिष्यः क्व च वा गुरुः।
क्व चास्ति पुरुषार्थो वा निरुपाधेः शिवस्य मे।। २९७।।
क्व चास्ति क्व च वा नास्ति क्वास्ति चैकं क्व च द्वयम्।
बहुनात्र किमुक्तेन किंचिन्नोतिष्ठते मम।। २९८।।

वही है मरकजे-काबा
वही है राहे-बुतखाना
जहां दीवाने दो मिलकर
सनम की बात करते हैं

अष्टावक्र और जनक, दो दीवानों की बात हमने सुनी। उनकी चर्चा ने एक अपूर्व तीर्थ का निर्माण किया। उसमें हमने बहुत डुबकियां लगायीं। अगर धुल गये, अगर स्वच्छ हो गये, तो सारा गुण गंगा का है। अगर न धुले, अस्वच्छ के अस्वच्छ रह गये, तो सारा दोष अपना है। अगर ऐसे सुना जैसे बहरा आदमी सुने और ऐसे देखा जैसे अंधा आदमी देखे, तो तुम गंगा के किनारे आकर भी अस्वच्छ रह जाओगे। तीर्थ पर पहुंचकर भी तीर्थ तक पहुंचना न हो पाएगा।

यह एक अपूर्व यात्रा थी। एक दृष्टि से बहुत लंबी--महीनों-महीनों तक इसमें हमने डुबकियां लगायीं। एक दृष्टि से बड़ी छोटी--श्रवणमात्रेण। एक शब्द भी कान में पड़ गया हो तो जगाने के लिए पर्याप्त। इतने-इतने ढंग से अष्टावक्र और जनक ने वही-वही बात कही, शायद एक बार चूको तो दूसरी बार हो जाए, दूसरी बार चूको तो तीसरी बार हो जाए। नयी-नयी बातें नहीं कही हैं, नये-नये ढंग से भले कही हों। मौलिक बात एक थी कि किसी भांति द्वंद्व के पार हो जाओ, द्वंद्वातीत हो जाओ, तो महासुख की वर्षा हो जाए। महासुख की वर्षा हो ही रही है, तुम द्वंद्व के कारण उससे वंचित रह जाते हो। सुख बरस रहा है, तुम्हारी गगरी फूटी है। तो तुम भर नहीं पाते। तुम कहते हो, सुख क्षणभंगुर है। गगरी फूटी हो तो पानी क्षण भर ही टिकता है। दोष पानी का नहीं है, दोष गगरी का है। गगरी न फूटी हो, तो पानी सदा के लिए टिक जाए। अमृत बरस रहा है, एक क्षण को भी उसकी रसधार रुकती नहीं, अखंड है उसकी रसधार, लेकिन हम द्वंद्व में उलझे हैं तो चूक जाते हैं।

एक तरफ दर्दीला मातम एक तरफ त्यौहार है
विधना के बस इसी खेल में यह मिट्टी लाचार है

एक तरफ वीरान सिसकता एक तरफ अमराइयां

एक तरफ अर्थी उठती है एक तरफ शहनाइयां
एक तरफ कंगन झड़ते हैं एक तरफ सिंगार है
विधना के बस इसी खेल में यह मिट्टी लाचार है

लुटता कभी पराग पवन में कहीं चिता की राख है
किरण जादुई खड़ी कहीं पर कहीं वितप्त सलाख है
एक तरफ है फूल सेज पर एक तरफ अंगार है
विधना के बस इसी खेल में यह मिट्टी लाचार है

ऋण पर है अस्तित्व हमारा उम्र सूद में जा रही
जब सब हिसाब देना होगा घड़ी निकट वह आ रही
हाय हमारी देह सांस क्या सब का सभी उधार है
विधना के बस इसी खेल में यह मिट्टी लाचार है

दुख ही दुख ज्यादा है जग में सुख के क्षण तो अल्प हैं
सौ आंसू पर एक हंसी यह विधना का संकल्प है
उस अनजान खिलाड़ी का तो बहुत निठुर खिलवार है
विधना के बस इसी खेल में यह मिट्टी लाचार है

यह जो दो में बंटा होना है, इसको तुम विधि पर मत टालो। तुम्हारे गायक, तुम्हारे विचारक, तुम्हें सांत्वना देने वाले लोग इसे टालते हैं कि यह विधि का खेल है। यह विधि का खेल नहीं। समझो! यह तुम्हारा ही बनाया हुआ जाल है। कोई तुम्हें बांट नहीं रहा है, तुमने बंटने का निर्णय कर लिया है। तुम ही उत्तरदायी हो, कोई और नहीं। इसीलिए तो अष्टावक्र कहते हैं कि श्रवणमात्रेण।

समझो।

अगर किसी और ने तुम्हारे जीवन को खंड-खंड किया हो, तो तुम अखंड न कर सकोगे। जब कोई और खंड-खंड करता है तो तब ही होगा अखंड जब वही अखंड करेगा, तुम्हारे किये क्या होगा? किसी ने तुम्हें गाली दी और तुम कहते हो कि मैं इसलिए दुखी हो रहा हूं कि उसने गाली दी। तब तो तुम अपने दुख के मालिक न रहे। जब वह गाली देना बंद करेगा तो शायद तुम दुखी न होओ। लेकिन वह गाली देना बंद करेगा, यह तुम्हारे हाथ में नहीं। लेकिन किसी ने गाली दी और तुम दुखी न हुए, या दुखी हुए तो भी तुमने जाना कि यह दुखी होना मेरा ही निर्णय है--गाली आए और जाए और मैं बिना दुखी हुए भी रह सकता हूं, अस्पर्शित--तो तुम मालिक हो गये। अब दूसरे के हाथ में कुंजी न रही तुम्हारे जीवन की।

नहीं, विधि पर मत टालो। बात तो सच है कि जीवन दो में बंटा है, लेकिन तुमने बांटा है, किसी भाग्य ने नहीं। बांटने की तरकीब को पहचान लो तो तुम अनबंटे हो जाओ। और तुम अनबंटे हो जाओ तो वही तो सारे योग का लक्ष्य है। सारे अध्यात्म की आकांक्षा। एक हो जाओ, अद्वय हो जाओ, दो न रह जाएं, रात और दिन दो न रहें, जीवन और मृत्यु दो न रहें, सुख और दुख दो न रहें, इन दोनों में तुम्हें समभाव आ जाए, तुम इन दोनों में एक को ही देखने में समर्थ हो जाओ।

यह हो सकता है। थोड़े साक्षी बनने की बात है। सुख को भी देखो और देखते क्षण में सिर्फ देखनेवाले रहो, उलझ मत जाओ, तादात्म्य मत कर लो, ऐसा मत कहो कि मैं सुखी हूं, इतना ही कहो कि सुख होता है और मैं देख रहा हूं, और मैं देख रहा हूं, और मैं देख रहा हूं। तुम्हारा देखना अछूता खड़ा रहे, कर्ता न बने, भोक्ता न बने। दुख आए, तब भी देखो--दुख है, देख रहा हूं। कांटे चुभें कि फूल मिलें, देखते रहो। धीरे-धीरे अपने को द्रष्टा में थिर कर लो। धीरे-धीरे अपने केंद्र पर खड़े हो जाओ। कोई भी आए तुम्हारी अंतर्शिखा कंपित न हो, तुम अकंप

हो जाओ। उस अकंपता में जो अनुभव होगा, वही सत्य है। उसे कोई ब्रह्म कहता है, कोई निर्वाण, कोई मोक्ष। लेकिन उस अकंप दशा में जो जाना जाता है, वही जानने योग्य है, वही सच्चिदानंद है।

इस लंबी तीर्थयात्रा में जनक की जिज्ञासा के कारण, मुमुक्षा के कारण, अष्टावक्र की अनुकंपा, करुणा के कारण खूब रस बहा। एक ने दूसरे पर रस उलीचा। तुम अगर थोड़े भी सजग हो तो कुछ बूंदें तुम्हारे हाथ जरूर पड़ गयी होंगी।

कल किसी ने एक प्रश्न पूछा था कि अष्टावक्र की बात सुनने मात्र से जनक को ज्ञान हो गया और अब तो अष्टावक्र की महागीता पूरी होने आ रही, यहां कितने लोगों को ज्ञान हुआ?

एक बात पक्की है कि जिसने पूछा, उसको नहीं हुआ। और उसे होना मुश्किल है, क्योंकि उसकी नजर दूसरों पर लगी है। अगर तुम मुझसे पूछते हो कि कितनों को ज्ञान हुआ, अगर तुम मेरी तरफ से पूछते हो, तो मैं तो यही कहूंगा कि यहां कोई अज्ञानी है ही नहीं--कभी कोई अज्ञानी हुआ ही नहीं। यही तो अष्टावक्र का मूल संदेश है। अज्ञानी तुमने माना है, तुम हो नहीं। तो ज्ञानी होने की चेष्टा में ही तुम्हारा अज्ञान ही बचा रहता है। ज्ञानी होने की चेष्टा नहीं करनी है, सिर्फ यह सत्य जानना है कि ज्ञान तुम्हारा स्वभाव है, चैतन्य तुम्हारा स्वभाव है। तुम ज्ञानी हो। अज्ञानी होने का न कोई उपाय है, न कोई विधि है। अज्ञानी होना संभव नहीं है, लाख उपाय करो तो भी तुम अज्ञानी नहीं हो सकते। तुम्हारे भीतर ज्ञान का अंगारा दग्ध जलता ही रहता है। कितनी ही राख में ढंक जाए, बुझता नहीं। और राख में रखा क्या है? एक फूंक मारो कि उड़ जाए! श्रवणमात्रेण।

सदगुरु का इतना ही तो काम है कि एक फूंक मारे, तुम्हारी राख हट जाए। लेकिन अगर तुमने जिद ही कर रखी हो कि तुम अंगारे को स्वीकार ही न करोगे, तो तुम्हारी मर्जी! तुम्हारी मर्जी के खिलाफ तुम्हें कोई जगा नहीं सकता। और तुम जागना चाहो तो गहरी से गहरी नींद से भी तुम जाग सकते हो।

मनोवैज्ञानिक कहते हैं कि नींद में भी तुम निर्णय लेते हो कि कब जागना और कब नहीं जागना। तुम चकित होओगे यह बात जानकर, नींद में भी तुम्हारा निर्णय काम करता है। देखा तुमने, एक मां, उसका छोटा बच्चा उसके पास सोया हो, छोटे बच्चे की सांस में जरा घरघराहट हो जाए, जरा-सी, उसकी नींद खुल जाती है। और आकाश में बादल गड़गड़ाते रहें और उसकी नींद नहीं खुलती। मामला क्या है? शायद क्या सुनना और क्या नहीं सुनना, इसकी भी नींद में व्यवस्था है। तुम इसका भीतर निर्णय कर रहे हो--क्या सुनना, क्या नहीं सुनना।

यहां इतने लोग बैठे हो, तुम सब यहां सो जाओ आज रात और कोई आकर जोर से पुकारे: राम! राम कहां है? तो सब सोए रहेंगे, किसी को सुनायी न पड़ेगा, लेकिन जिसका नाम राम है उसे सुनायी पड़ जाएगा। वह कहेगा, कौन भाई आधी रात जगाने आ गया?

सब सोए थे, किसी को सुनायी नहीं पड़ना चाहिए--या सभी को सुनायी पड़ना चाहिए--लेकिन राम को सुनायी पड़ गया। राम ने निर्णय रखा है अपने भीतर कि अगर कोई "राम" नाम ले, यह मेरा नाम है, तो मैं सुनूंगा। किसी और का नाम ले तो मैं नहीं सुनूंगा। किसी के और के नाम से मुझे क्या लेना-देना! नींद में भी कोई निर्णय कर रहा है कि जागूं या न जागूं? जागने योग्य बात है, या जागने योग्य बात नहीं है?

तो तुम्हारे निर्णय के खिलाफ तो तुम्हें कोई भी नहीं जगा सकता। तुम अगर मन में तो चाहते हो कि सुबह पांच बजे उठना नहीं है, बड़ी सर्दी है; लेकिन पत्नी पीछे पड़ी है कि चलना है मंदिर, जल्दी चलना है, तो तुम अलार्म भर देते हो बेमन से--भरते वक्त भी तुम जानते हो कि उठने की इच्छा तो नहीं है--तुम सुबह अलार्म सुनोगे नहीं। अलार्म बजेगा, तुम सुनोगे कि मंदिर में घंटियां बज रही हैं और तुम मंदिर में पहुंच गये, सपना देखोगे। तुम अलार्म की घंटी को मंदिर की घंटी बना लोगे और एक सपने में डूब जाओगे और तुम कहोगे अच्छा हुआ आ गये, चलो मंदिर आ गये, पत्नी की बड़ी इच्छा थी, बात भी पूरी हो गयी। और तुम सोए भी रहे। ऐसा भी हो जाता है कि नींद में ही आदमी हाथ उठाकर अलार्म घड़ी बंद कर देता है और सुबह कहता है कि हुआ क्या! मुझे उठना था, घड़ी बजी क्यों नहीं?

नींद में भी तुम्हारा निर्णय ही काम करता है। जिसे तुम अपना जीवन कह रहे हो, यह ज्ञानियों की दृष्टि से एक आध्यात्मिक निद्रा है। तुम जागना चाहो, तो कोई भी बहाना काफी है। एक सूखे पत्ते का गिरना वृक्ष से काफी है। उससे तुम्हें अपनी मौत की याद आ जाएगी। याद आ जाएगी कि एक दिन अपने को भी गिर जाना होगा। उतना जगाने के लिए काफी है। और अगर तुमने निर्णय किया है न जागने का, तो अष्टावक्र तुम्हारे द्वार पर दुदुंभी पीटते रहें, कुछ भी न होगा। तुम सुनोगे और अनसुना कर दोगे।

जिन मित्र ने पूछा है कि यह तो यात्रा का अंतिम दिन आ गया, कितने लोग यहां ज्ञान को उपलब्ध हुए? पहली तो बात दूसरे के संबंध में पूछना ही अज्ञान का सबूत है। फिर, कोई उपाय नहीं है कि दूसरा ज्ञान को उपलब्ध हुआ या नहीं, इसे तुम कैसे जानो।

पूछनेवाले ने यह भी कहा है कि अगर हमें पता चल जाए कितने लोग उपलब्ध हुए, तो इससे हमें भरोसा आएगा।

अष्टावक्र ज्ञान को उपलब्ध हुए, इससे तुम्हें भरोसा नहीं आया; कृष्ण ज्ञान को उपलब्ध हुए, इससे तुम्हें भरोसा नहीं आया; बुद्ध ज्ञान को उपलब्ध हुए, इससे तुम्हें भरोसा नहीं आया; राम, कबीर, नानक, मुहम्मद, फरीद, इनसे तुम्हें भरोसा नहीं आया और चूहड़मल-फूहड़मल ज्ञान को उपलब्ध हो जाएंगे तो तुम्हें भरोसा आ जाएगा?

तुम कृष्ण से भी पूछते रहे, बुद्ध से भी पूछते रहे कि कैसे हम मानें कि आपको हो गया है? और मैं यह भी नहीं कहता कि तुम्हारा पूछना अकारण है। असल में दूसरे का ज्ञान दिखेगा कैसे? अंधे आदमी को कैसे समझ में आएगा कि दूसरे की आंख ठीक हो गयी है? मुझे कहो। अंधा आदमी कहेगा, जब तक मुझे दिखायी नहीं पड़ता, यह भी दिखायी कैसे पड़ेगा कि दूसरे की आंख ठीक हो गयी है? बहरे को कैसे पता चलेगा कि दूसरे को सुनायी पड़ने लगा है? यह तो सुनायी पड़े तो ही सुनायी पड़ेगा, दिखायी पड़े तो ही दिखायी पड़ेगा।

यह तुम फिकर मत करो कि दूसरों को ज्ञान उपलब्ध हो जाएगा तो तुम्हें भरोसा आ जाएगा। भरोसा तो तुम्हें तभी आएगा जब तुम्हें उपलब्ध होगा। इसलिए मैं तुमसे कहता हूं, तुम भरोसे की प्रतीक्षा मत करो कि पहले भरोसा आएगा तब हम ज्ञान की तरफ जाएंगे। तब तो तुम कभी भी न जाओगे। क्योंकि ज्ञान में जो गया, उसे भरोसा आता है, अनुभव से भरोसा आता है, और तो कोई उपाय नहीं है। और जिसको तुम भरोसा कहते हो, वह धोखा है, थोथा है। विश्वास है, भरोसा नहीं। आस्था नहीं, श्रद्धा नहीं। मान लेते हो कि हुआ होगा! मान लेते हो कि कौन झंझट करे। मान लेते हो कि कौन विवाद में पड़े। या कि मान लेते हो क्योंकि भीतर वासना है कि कभी हमको भी हो, इसलिए मान लेते हैं कि औरों को भी हुआ होगा या होता होगा। मगर भरोसा आ नहीं सकता। कैसे आएगा? जिस आदमी ने मधु का स्वाद नहीं लिया, लाख लोग कहते रहें कि बहुत मीठा है, बड़ा स्वादिष्ट है, उसे कैसे भरोसा आएगा? और जो आदमी मधु को लेने गया था और उल्टा, मधु तो मिला नहीं, मधुमक्खियों ने चीथ डाला, उसको तुम भरोसा दिलवाओगे कि मधु बड़ा मीठा है? वह कहेगा, क्षमा करो, अब और न उलझाओ, एक दफा झंझट में पड़ गया तो सारा शरीर सूज गया था, दिनों तक घर बिस्तर में पड़ा रहा, मुझे तो एक ही अनुभव आता है कि बड़ा कड़वा है। मधु का स्वाद तो मधुमक्खी के डंक का स्वाद ही उसे मालूम होगा।

लाख कोई तुमसे कहे कि मुझे परमात्मा का दर्शन हो रहा है, तुम कहोगे, हमें तो कंकड़-पत्थर, वृक्ष इत्यादि दिखायी पड़ते हैं, परमात्मा दिखायी नहीं पड़ता। तुम्हें वही दिखायी पड़ेगा जितना तुम देख सकते हो। दूसरे की तो चिंता ही मत करो। अपनी चिंता करो, तुम्हें हुआ या नहीं? शायद बात कुछ और है, तुम कह कुछ और रहे हो। तुम्हारे भीतर यह बात खल रही है कि मुझे हुआ नहीं, अगर यह पक्का हो जाए कि किसी को भी नहीं हुआ, तो निश्चिंतता हो। कि कोई हम ही अकेले नहीं खो रहे हैं, सभी खो रहे हैं।

मुल्ला नसरुद्दीन के घर में आग लग गयी। सारा पड़ोस जल गया। मैंने उससे पूछा कि नसरुद्दीन, बड़ा बुरा हुआ। उसने कहा, कुछ खास बुरा नहीं हुआ। मैंने कहा, मामला क्या है? उसने कहा, अपना क्या जला, पड़ोसियों का देखो! अपने पास था ही क्या? झोपड़ा था, जल गया। पड़ोसियों के महल जल गये! आज ही तो मजा आया कि अपने पास झोपड़ा था, अच्छा हुआ। सदा तो यह पीड़ा रहती थी कि इनके पास महल है और अपने पास झोपड़ा है, आज सुख मिला कि अपने पास झोपड?ा और इनके पास महल! जला तब पता चला, कि बड़ा मजा आया! प्रभु की बड़ी कृपा है।

आदमी दूसरे से सोचता है। तुम्हें पता चल जाए कि किसी को नहीं हो रहा है, तुम निश्चिंत हो गये। रोज तुम अखबार पढ़ लेते हो, देखते हो कितनी जगह डाके पड़े, कितने लोग मारे गये, कितना युद्ध हुआ, कितनी चोरियां हुईं, कितने लोग बेईमानी कर रहे हैं, कितने लोग पत्नियों को ले भागे किसी की, तुम कहते हो--हम ही भले। करते हैं थोड़ा-बहुत, मगर इतना थोड़े ही! चित्त में बड़ी शांति मिलती है, सांत्वना होती है।

तुम कह तो यह रहे हो कि पता चल जाए कि दूसरों को हुआ तो आस्था आए, भरोसा आए। नहीं, तुम यह जानना चाहते हो कि किसी को न हुआ हो; कहीं भूल-चूक से किसी को हो न गया हो। किसी को भी नहीं हुआ है तो निश्चिंत होकर फिर चादर ओढ़ कर सो जाएं कि कोई हम ही नहीं भटक रहे हैं, सारी दुनिया भटक रही है। कुछ अड़चन नहीं है।

तुम अगर मुझसे पूछते हो तो मैं कहता हूं कि सबको हो गया है--सबको था ही--और सबसे मेरा मतलब यह नहीं है कि जो यहां हैं--कहीं भी जो हैं। परमात्मा सबको मिली हुई संपदा है। तुम पहचानो या न पहचानो; तुम उपयोग करो न उपयोग करो, तुम पर निर्भर है। तुम्हारे भीतर हीरा पड़ा है, टटोलो, न टटोलो--बहुत जन्मों तक न टटोला तो शायद भूल भी जाओ--मगर इससे भी कुछ फर्क नहीं पड़ता।

मैं तुमसे एक छोटी-सी कहानी कहना चाहता:

एक बादशाह ने अपने दरबारी मसखरे को खुश होकर पुरस्कार में एक घोड़ा दिया। घोड़ा बड़ा मरियल और कमजोर था। चल भी सकेगा, यह भी संदिग्ध था। मसखरा तो मसखरा ठहरा, उसने सम्राट से तो कुछ न कहा, छलांग मारकर घोड़े पर सवार हो गया और एक ओर चलने की कोशिश करने लगा या घोड़े को चलाने की कोशिश करने लगा। बादशाह ने आवाज देकर पूछा, बड़े मियां, कहां चल दिये? उसने कहा, हुजूर, जुम्मे की नमाज पढ़ने जा रहा हूं। पर सम्राट ने कहा, आज तो सोमवार है। उसने कहा, यह घोड़ा जुम्मे तक भी पहुंच जाए मस्जिद तो बहुत है! अभी से चले तो ही पहुंच पाएंगे। और मस्जिद दो कदम पर है। घोड़ों घोड़ों की बात है।

कौन पहुंचा, नहीं पहुंचा, इसकी फिकिर छोड़ो। घोड़ों घोड़ों की बात है। मस्जिद दो कदम पर थी, मैं तुमसे कहता हूं, दो कदम पर भी नहीं है। अष्टावक्र कह रहे हैं कि तुम्हारे भीतर है। और कल पहुंचोगे ऐसा भी नहीं है, घड़ी भर बाद पहुंचोगे ऐसा भी नहीं है, तत्क्षण, इसी क्षण, जैसे बिजली कौंध जाए ऐसे क्रांति होती है। आंख बंद करके तुम अगर भीतर देखो तो अभी पहुंच गये, इसी क्षण पहुंच गये। कल पर टालने का प्रश्न ही नहीं है। जनक को हुआ, तुम्हें हो सकता है, क्योंकि जनक से रत्ती भर भी तुममें कमी नहीं है। मुझे हुआ, तुम्हें हो सकता है, क्योंकि मुझसे रत्ती भर भी तुममें कमी नहीं है। और अगर नहीं हो रहा है, तो याद रखना, तुमने कहीं गहरे में निर्णय कर रखा है कि अभी होने नहीं देना है। शायद न होने में तुम्हारा कुछ न्यस्त स्वार्थ है। शायद न होने में तुम अभी सोचते हो, थोड़ा और रस ले लें; थोड़ा और टटोल लें, शायद संसार में कुछ हो, यह तो फिर कभी भी कर लेंगे।

लोग मेरे पास आते हैं; कहते हैं, अभी तो जिंदगी पड़ी है। ध्यान करना जरूर है, लेकिन आखिर में कर लेंगे। अभी बूढ़े थोड़े ही हो गये, जब बूढ़े हो जाएंगे तब कर लेंगे। और बूढ़ा आदमी कभी बूढ़ा नहीं होता। बूढ़े-से-बूढ़े को पूछो, तो वह भी अभी सोच रहा है कि अभी तो दिन पड़े हैं। मरते दम तक आदमी सोचता है, अभी तो

दिन हैं, अभी कर लेंगे। परमात्मा को टालता जाता है, और सब कर लेता है। जो न करने जैसा है, कर लेता है, जो करने जैसा है, उसे टालता जाता है। यह तुम्हारा निर्णय है। तुम मालिक हो। पाना चाहो तो अभी पा सकते हो, न पाना चाहो तो तुम्हें कोई देनेवाला नहीं है।

जनक पा सका, क्योंकि कोई अड़चन न डाली। सीधा उपलब्ध हो गया। अष्टावक्र ने कहा और उसने सुन लिया। सुनने में और अष्टावक्र के कहने में जनक ने कोई व्याख्या न की। उसने ऐसा नहीं सोचा, कल करेंगे; उसने ऐसा नहीं सोचा कि पता नहीं ठीक हो या न हो; उसने ऐसा भी नहीं सोचा कि यह हो भी सकता है! यह संभव भी है! अनूठा प्रेम रहा होगा जनक को। उसके भीतर अष्टावक्र के प्रति अपूर्व भाव का जन्म हुआ होगा। अष्टावक्र की मौजूदगी पर्याप्त प्रमाण रही होगी। और उसने कोई प्रमाण न मांगा। यही तो अर्थ है शिष्य होने का। गुरु की मौजूदगी प्रमाण हो, और कोई प्रमाण न मांगा जाए। अगर तुमने और कोई प्रमाण मांगा, तो तुम शिष्य नहीं हो, विद्यार्थी हो सकते हो। शिष्य का इतना ही अर्थ है कि तुम प्रमाण हो। तुम्हारी मौजूदगी प्रमाण है। तुम्हें हो गया, आ गया। तुमने कहा, बात हो गयी। हम पूरी तरह सुन लेते, हम रत्ती भर इसमें इधर-उधर डांवाडोल न होंगे।

लेकिन कुछ कहा जाता है, कुछ तुम सुन लेते हो। तुम जो सुनना चाहते हो, वही सुन लेते हो।

ऐसा हुआ। सड़क-दुर्घटना में चंदूलाल को घातक चोटें आयीं। एक कार वाले ने उन्हें अपनी कार में डाला और पास ही के एक निर्जन से स्थान पर छोड़कर आगे बढ़ गया। एक तो चोटें खाया हुआ आदमी, जब इस कार वाले ने उन्हें अपनी कार में डाला, तो वह थोड़ी हिम्मत बढ़ी उसकी और जब एकांत स्थान में इन्हें छोड़ कर आगे बढ़ गया तो चंदूलाल भी बहुत चकित हुआ कि मामला क्या है! बोलने तक की हिम्मत न थी, जीवन-ऊर्जा बिलकुल क्षीण हो गयी, खून बहुत बह गया। छानबीन के दौरान अदालत में उस आदमी को भी बुलाया गया, वह आदमी था मुल्ला नसरुद्दीन। मजिस्ट्रेट ने उससे पूछा कि बड़े मियां, जब तुम्हारे पास इतना समय नहीं था कि घायल को अस्पताल तक ले जा सकते, तो उसे एक निर्जन स्थान तक लाकर छोड़ने का क्या आशय था? मुल्ला नसरुद्दीन ने कहा, हुजूर, वजह यह थी कि घटनास्थल के सामने लगे बोर्ड पर मेरी नजर पड़ी तो उस पर लिखा था, मौत को सड़क से दूर रखिये। तो मैंने कहा, जो मुझसे बन सके वह करना चाहिए। यह आदमी मरने को था और सड़क पर मौत होती, यह सोचकर मैंने मौत को सड़क से दूर रख दिया। एकांत स्थान पर छोड़कर मैं अपने घर गया। घंटा भर लगा हुजूर! सड़कों पर ऐसे-ऐसे बोर्ड लगे हैं!

आदमी वही पढ़ लेता है जो पढ़ना चाहता है। आदमी अपने को पढ़ लेता है, आदमी अपने को सुन लेता है, आदमी अपनी व्याख्या निकाल लेता है। तुम जब सुन रहे हो, सुन कहां रहे हो! और हजार काम कर रहे हो। मन में न-मालूम कितने विचार चल रहे हैं। उन विचारों की तरंगों को पार करके मैं तुमसे जो कह रहा हूं वह पहुंच पाएगा? तुम पहुंचने नहीं देते। तुम हजार-हजार बीच में पर्दे खड़े किये हो, उनसे छन-छन कर जब किसी तरह बात पहुंचती है तो इतनी बदल जाती है कि किसी काम की नहीं रह जाती। उससे कोई क्रांति नहीं घटती। दवा इतने जल में मिल जाती है कि उसका सारा असर खो जाता है। सुनने का अर्थ है--जब अष्टावक्र कहते हैं, श्रवणमात्रेण, तो उनका अर्थ है--ऐसे सुनो जैसे तुम्हारे भीतर एक भी पर्दा नहीं है, हृदय को खोलकर सुनो। जैसा प्यासा पानी को पीता है ऐसा गुरु को पी जाओ। तो घटना घटती है। और तब जनक जैसी घटना घट जाती है।

आज जनक का अंतिम सूत्र है। इस अंतिम सूत्र में जनक आखिरी ऊंचाई लेते हैं। शिष्य जिस आखिरी ऊंचाई तक पहुंच सकता है, जहां पहुंचकर शिष्य शिष्य नहीं रह जाता और गुरु में लीन हो जाता है। जो भी वह कह रहे हैं, वह वही है जो अष्टावक्र ने कहा था, फिर भी पुनरुक्ति नहीं है। कह तो वही रहे हैं जो अष्टावक्र ने कहा था, लेकिन अपने प्राणों में उसे पुनरुज्जीवन दिया है। उन शब्दों में अपने प्राण डाल दिये हैं। वह जो गुरु का है, वह गुरु को ही दे रहे हैं, कुछ नया नहीं है, लेकिन मुर्दा नहीं दे रहे हैं, उसे जीवंत करके दे रहे हैं।

ऐसा ही समझो कि एक प्रेमी अपनी प्रेयसी को गर्भिष्ट कर देता है। तो प्रेमी से नवजीवन का अंकुर प्रेयसी में जाता है। फिर प्रेयसी नौ महीने के बाद उसी अंकुर को नये-नये जीवन, नयी-नयी महिमा से भरकर वापिस

लौटाती है। प्रेमी पहचान भी न सकेगा, यह वही बीज है जो प्रेमी ने दिया था। वह बीज तो बड़ा छोटा था। और वह बीज तो कोई बहुत जीवंत न था। अपने-आप रहता तो घड़ी-दो-घड़ी में मर जाता। दो घंटे से ज्यादा नहीं जी सकता था। वीर्य-अणु दो घंटे से ज्यादा नहीं जी सकता। बड़ी छोटी-सी उसकी जीवन-लीला है। और बड़ी धीमी-सी ऊर्जा है, जरा-सी ऊर्जा है। जरा-सी ऊर्जा दी थी, प्रेयसी ने उसे संभाला, वह जरा-सी ऊर्जा विराट ऊर्जा बनी। एक नये बच्चे, एक नये अतिथि का आगमन हो गया। और जब प्रेमी अपने बच्चे को देखता है तो भरोसा भी नहीं कर सकता कि यह बच्चा किसी दिन मेरे ही भीतर से एक बीज के रूप में गया था। वही है, और फिर भी वही नहीं है। वही है, बहुत होकर वही है। वही है, और विराट होकर वही है। प्रेयसी ने वही का वही नहीं लौटा दिया है।

एक सम्राट अपने बेटों में तय करना चाहता था, किसको राज्य का मालिक बनाऊं। तो उसने अपने बेटों को एक-एक बोरे फूलों के बीज दिये और कहा, तुम संभाल कर रखना, मैं तीर्थयात्रा को जा रहा हूं, वर्ष लगें, दो वर्ष लगें, जब लौटूंगा तब ये बीज मैं तुमसे वापिस चाहता हूं। संभाल कर रखना, इस पर तुम्हारा भाग्य निर्भर है। क्योंकि जो व्यक्ति इन बीजों को ठीक से, सम्यकरूपेण लौटा देगा, वही मेरे राज्य का मालिक होगा।

तीनों बेटे बड़े विचार किये, बड़े हिसाब लगाये। एक बेटे ने सोचा कि कहीं खो जाएं, कहीं गुम जाएं, चोरी चले जाएं, कुछ हो जाएं, झंझट हो जाए, तो राज्य गंवा बैठूंगा। तो उसने तिजोड़ी में बीज बंद करके खूब बड़े ताले लगाकर कुंजियां संभालकर रख लीं। होशियारी तो दिखायी, लेकिन कई दफा होशियारी बड़ी मूर्खतापूर्ण हो जाती है। अब बीज तिजोड़ियों में बंद नहीं किये जाते। बीज सड़ गये जब तक बाप आया। जब निकाला तो वहां से बदबू निकली। बीज तो निकले नहीं, राख का ढेर निकला। और सड़ांध और बास। जो फूल बन सकते थे वह दुर्गंध बन गये, जो सुगंध बन सकते थे वह दुर्गंध बन गये। एक अर्थ में लड़के ने बचाया, लेकिन अकल न थी, समझ न थी।

दूसरे लड़के ने सोचा कि यह झंझट का काम है बीजों को घर में रखना, पता नहीं कब लौटे कब न लौटे, इनको बाजार में बेच दो, पैसा संभालकर रख लो। जब बाप आएगा, बाजार से फिर बीज खरीदकर दे देंगे। यह दूसरे से थोड़ी ज्यादा बुद्धिमानी थी, लेकिन फिर भी बहुत बुद्धिमानी न थी। बीज तो उसने बेच दिये, पैसे संभालकर रख लिए। पैसे संभालकर रखना सदा आसान है। इसलिए तो लोग पैसे को इतना संभालकर रखते हैं। और सब बेच देते हैं, पैसे को संभालकर रख लेते हैं। क्योंकि पैसे में सभी कुछ संचित है। जब मौका होगा, खरीद लेंगे, फिर खरीद लेंगे।

तुम्हारी जेब में एक रुपया पड़ा है, बहुत-सी चीजें पड़ी हैं। अभी चाहो तो एक आदमी आकर सिर पर मालिश करे, वह भी तुम्हारी जेब में पड़ा है। अभी चाहो तो एक गिलास दूध आ जाए, वह भी तुम्हारी जेब में पड़ा है। हजार काम हो सकते हैं एक रुपये से। सब विकल्प मौजूद हैं। अब इतनी चीजें अगर तुम जेब में रखकर चलो तो बड़ी मुश्किल होगी--कि एक चंपीवाले को भी जेब में रखे हैं, दूध की बोतल भी इधर ही, बहुत मुश्किल हो जाएगी। चल न पाओगे, जिंदगी दूभर हो जाएगी। एक रुपया पड़ा है, उसमें कई चीजें पड़ी हैं, जब जैसी जरूरत हुई, उपयोग कर लिया। चौपाटी पहुंच गये, चंपी करवा ली। कि दूध पी लिया। कि गरीब को दान दे दिया। कुछ भी हो सकता है। रुपये में हजार विकल्प की संभावना है। रुपये में बड़ी स्वतंत्रता है।

तो उसने सोचा कि बीज कभी भी खरीद लेंगे, बीज की क्या दिक्कत है! रुपये संभालकर रख लिए। लेकिन बाप जब आया तो वह भागा बाजार। बाप ने कहा कि नहीं, जो मैंने दिये थे वही वापिस चाहिए। यह तो शर्त ही थी कि जो दिये थे वही वापिस। यह तो बात ही न थी कि तू इनको बेचेगा, खरीदेगा। यह तो तूने मेरी अमानत को सुरक्षित न रखा।

तीसरे बेटे ने सोचा कि बीज कोई वस्तु थोड़े ही है, बीज तो संभावना है।

समझो। बीज कोई वस्तु नहीं है, बीज तो एक प्रक्रिया है। बीज तो एक संभावना है, फूल होने की एक यात्रा है। बीज तो एक तीर्थयात्रा है, एक प्रॉसेस। बीज कोई चीज नहीं है। कंकड़ एक चीज है, क्योंकि कंकड़ न बढ़ता, न बड़ा होता, न कुछ हो सकता, जो होना था हो चुका है। कंकड़ मुर्दा है, बीज जीवंत है। जीवन की प्रक्रिया है। उसने सोचा, जीवन की प्रक्रियाओं को तिजोड़ियों में बंद नहीं किया जाता, अन्यथा वे मर जाती हैं। और जीवनों को बेचा नहीं जाता। बेचने में तो बड़ी निर्दयता है। तो क्या किया जाए?

तो उसने जाकर बगीचे में बीज बो दिये। जब बाप तीन साल बाद लौटा, तो एक बोरे की बात, हजारों बोरे बीज थे! और जब बाप को ले जाकर उसने दिखाया और उसने कहा कि ये रहे आपके बीज, तो बाप ने कहा, मैं खुश हूं। क्योंकि अगर बीज दिये जाएं तो उसका अर्थ ही यह है कि उनको बढ़ाकर लौटाना। बीज का अर्थ ही यह है कि बड़ा करके लौटाना। तू मेरे राज्य का मालिक है। तेरे हाथ में राज्य दूंगा तो बढ़ेगा, फैलेगा। पहले के हाथ में तिजोड़ी में बंद होगा, मर जाएगा। दूसरे के हाथ में बिक जाएगा। तेरे हाथ में बढ़ेगा, समृद्ध होगा, विस्तीर्ण होगा, बड़ा होगा। तू मालिक। तू प्रक्रिया को समझा।

अष्टावक्र ने जो बीज दिये हैं जनक को, जनक ने उनको जन्म दे दिया। बीज अनूठे थे और अनूठा उनसे जन्म हुआ।

खयाल करना, तुम बड़े अजीब हो, तुम कभी व्यर्थ के बीजों को तो खूब संभाल लेते हो और सार्थक बीजों को छोड़ते चले जाते हो। एक आदमी राह से जा रहा है और गाली दे देता है, तुम गाली को संभाल कर रख लेते हो, जैसे कोई महामंत्र है। इसको तुम वर्षों संभालकर रखोगे। इसको बीस साल बीत जाएंगे तो भी तुम ताजा रखोगे। हरी रहेगी यह बात। बीस साल के बाद भी यह आदमी दिखेगा तो गाली फिर जिंदा हो जाएगी। फिर मरने-मारने का मन होने लगेगा। घाव को तुम भरने न दोगे, उधेड़ते रहोगे। घाव में मवाद पड़ती ही रहेगी। घाव सड़ता रहेगा। नासूर बनता रहेगा।

गाली को तो ऐसा संभालकर रख लेते हो, लेकिन अगर अष्टावक्र जैसा कोई वचन देने वाला मिले, पहले तो तुम सुनते ही नहीं, सुन भी लो तो भूल जाते हो। बीस साल की बात पूछ रहे हो, दो घंटे बाद तुम वही न कह सकोगे जो कहा गया है। हां, गाली तुम बीस साल बाद भी वैसी की वैसी दोहरा दोगे, उसमें तुम्हारी कुशलता बड़ी है। फिर तुम जो संभालते हो, उसी से तुम्हारा जन्म होता है, वही तुम बनते हो। तो अगर जीवन के अंत में तुम कुरूप हो जाते हो, जीवन के अंत में अगर तुम बेढंगे हो जाते हो, व्यर्थ हो जाते हो, तो कुछ आश्चर्य तो नहीं है।

मैंने सुना है कि मुल्ला नसरुद्दीन ने शादी की। तो उसको बच्चा नहीं होता था। तो डाक्टरों ने कहा कि आपरेशन करवा लें और बंदर की ग्रंथि लगानी पड़ेगी। तो मुल्ला ने कहा, कुछ भी हो, बच्चा होना चाहिए। बंदर की ग्रंथि लगवा ली। फिर बड़ा खुश हुआ और बड़ी मिठाइयां बांटीं, क्योंकि पत्नी गर्भवती हो गयी। और बड़े बैंडबाजे बजवाए। फिर नौ महीने भी पूरे हो गये। फिर पत्नी अस्पताल में भर्ती हुई। मुल्ला दरवाजे पर खड़ा आतुरता से प्रतीक्षा कर रहा है, उसका दिल धड़क रहा है। डाक्टर बाहर आया, तो उसने पूछा कि डाक्टर साहब, लड़का हुआ कि लड़की? उसने कहा, भई, ठहरो जरा! जो भी हुआ है छलांग मार कर सीलिंग फैन पर चढ़ गया है। उतरे तो पता लगाएं कि लड़का है कि लड़की। अब बंदर की ग्रंथि लगवाओगे, तो तुम और ज्यादा आशा कर भी नहीं सकते!

तुम्हारे जीवन में अगर सिर्फ रोग ही रोग हाथ में आता है और तुम्हारे जीवन में अगर दुर्गंध ही दुर्गंध मिलती है और दुख ही दुख मिलता है तो कुछ आश्चर्य नहीं है, सीधा-साधा गणित है। तुम गलत बीजों को इकट्ठा करते हो। तुम घास-पात तो इकट्ठा कर लेते हो, फूलों को नष्ट कर देते हो। जनक ने फूलों को संभाल लिया। बड़ी अपूर्व सुगंध पैदा हुई। उसी सुगंध के आज अंतिम सूत्र हैं।

पहला सूत्र--

क्व प्रमाता प्रमाणं वा क्व प्रमेयं क्व च प्रमा।
क्व किंचित् क्व न किंचिद्वा सर्वदा विमलस्य मे।।

"सर्वदा विमलरूप मुझको कहां प्रमाता है और कहां प्रमाण है? कहां प्रमेय है और कहां प्रमा है? कहां किंचित है और कहां अकिंचित है?"

प्रमाता का अर्थ होता है--ज्ञाता; प्रमाण का अर्थ होता है--ज्ञान के साधन, जिनसे ज्ञान उत्पन्न होता; प्रमेय का अर्थ होता है--जो जाना जाए, ज्ञेय; प्रमा का अर्थ होता है--ज्ञान। जनक कह रहे हैं कि अब न तो मुझे कुछ ज्ञान जैसा है, न मेरे भीतर ज्ञाता जैसा कुछ बचा, न कुछ ज्ञेय शेष रहा, न ज्ञान के कुछ साधन बचे। ये सारे भेद तो अज्ञान के हैं।

अब तुम समझना, यह बड़ी क्रांतिकारी बात है।

अगर तुम पंडितों से पूछो तो वे कहेंगे, ये भेद ज्ञान के हैं। प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय, प्रमा। प्रमा का अर्थ होता है--ज्ञान। प्रामाणिक ज्ञान का नाम प्रमा। जिससे प्रमा सिद्ध हो, वह प्रमाण। जिसके ऊपर सिद्ध हो, वह प्रमाता। जिसके संबंध में सिद्ध हो, वह प्रमेय। यह तो ज्ञान का विभाजन है, इसको तो पूरा-पूरा इपेस्टोमोलाजी, ज्ञानमीमांसा कहते हैं। और जनक कह रहे हैं, अब यह कुछ भी नहीं बचे। न कोई जानने वाला है, न कुछ जाना जानेवाला। दो तो गये, तो अब कैसा सब्जेक्ट, कैसा आब्जेक्ट! अब कैसा ज्ञाता और कैसा ज्ञेय। अब कौन द्रष्टा और कैसा दर्शन! दो तो रहे नहीं। यह तो दो हों तो ये बातें घट सकती हैं। जब एक ही बचा तो कौन जाने, किसको जाने, कैसे जाने, क्या जाने। ज्ञान की अंतिम घड़ी में ज्ञान भी समाप्त हो जाता है, यह इस सूत्र का मूल है।

इसलिए तो सुकरात ने अंतिम क्षणों में कहा, मैं कुछ भी नहीं जानता हूं। उपनिषद कहते हैं: जो कहे मैं जानता हूं, जान लेना कि नहीं जानता। और जो कहे कि मैं नहीं जानता हूं, पकड़ लेना उसका पीछा, वहां कुछ है। उसे कुछ मिला है। लाओत्सु ने कहा है, सत्य को मैं न कहूंगा, क्योंकि कहा कि चूक हो जाएगी। सत्य कहते ही झूठ हो जाता है। क्योंकि कहने में दावा हो जाता है, कहने वाला आ जाता है। तो मैं सत्य को न कहूंगा, मैं चुप ही रहूंगा। मैं मौन ही रहूंगा। तुम मेरे मौन से ही समझ लो तो ठीक।

परम सदगुरु हुआ, रिंझाई। उससे एक सम्राट ने पूछा है कि मुझे कुछ मार्ग बता दें। कैसे पहुंचूं सत्य तक? तो रिंझाई चुप बैठा रहा, देखता रहा, देखता रहा सम्राट को, सम्राट जरा बेचैन हो गया। उसने कहा, महानुभाव, क्या आपने सुना नहीं मैंने क्या पूछा? मैंने पूछा कि सत्य को पाने का कोई मार्ग बता दें। फिर भी रिंझाई चुप रहा। सम्राट ने अपने वजीर से कहा कि यह सज्जन सुनते हैं कि नहीं? कान वगैरह खराब तो नहीं हैं। वजीर ने कहा कि नहीं, कोई कान खराब नहीं है, वह बराबर सुन रहे हैं, उत्तर भी दे रहे हैं। सम्राट ने कहा, यह कैसा उत्तर हुआ? रिंझाई ने कहा कि तुमने बात ही ऐसी पूछी है कि उसका उत्तर चुप रहकर ही हो सकता है। सम्राट ने कहा, मैं न समझूंगा, यह बात मैं न समझूंगा। चुप रही सूचना मेरे पकड़ में न आएगी, तुम कुछ बोलो।

तो रिंझाई ने, रेत पर बैठा था, सामने ही लकड़ी उठाकर लिख दिया, ध्यान। सम्राट ने कहा कि कुछ और थोड़ा विस्तार करो। ध्यान, बस इतना कह दिया काम हो जाएगा? तो रिंझाई ने दुबारा लिख दिया और बड़े अक्षरों में--ध्यान। सम्राट ने कहा कि आपका दिमाग ठीक है? मैं पूछता हूं, थोड़ा विस्तार करो। तो रिंझाई ने बहुत बड़े-बड़े अक्षरों में लिख दिया--ध्यान। और जब सम्राट ने कहा कि नहीं, मेरी समझ में इतने से न आएगा। तो रिंझाई ने कहा--तुम क्या मेरी बदनामी करवाकर रहोगे? अब मैं ज्यादा बोला तो फंस जाऊंगा। इतना ही काफी हो गया फंसने के लिए। चुप था, तब तक सत्य के बिलकुल निकट था; जो कह रहा था चुप से, वह बिलकुल सत्य था। फिर जब ध्यान लिखा तो कुछ तो असत्य हो गया। जब और बड़ा लिखा तो और असत्य हो

गया। जब और बड़े में लिखना पड़ा तो और असत्य हो गया। अब अगर मैं बोला, और विस्तार किया, तो मुश्किल हो जाएगी।

बुद्ध बोले हैं, अष्टावक्र बोले हैं, लेकिन ध्यान रखना--उनके बोलने की सारी चेष्टा ऐसे ही है जैसे पैर में एक कांटा लगा हो तो दूसरे कांटे से निकाल देना। दूसरे कांटे का कोई मूल्य नहीं है, बस पहला कांटा निकल गया कि दूसरा भी पहले ही जैसा व्यर्थ है। दोनों को फेंक देना है। ऐसा नहीं है कि दूसरे को संभालकर रख लेंगे छाती में, मंदिर बनाएंगे दूसरे के लिए, पूजा करेंगे कि यह कांटा बड़ा अदभुत है, इसने कांटे से बचाया। दूसरा भी कांटा है।

शब्द से शब्द को निकाल लेना है, ताकि पीछे निःशब्द रह जाए।

जनक कहते हैं, अब न कोई जाननेवाला, न कुछ जाना जानेवाला, न कोई प्रमाण, न कोई प्रमा। ज्ञान गया। जब ज्ञान चला जाए, तभी ज्ञान है।

अब समझो।

साधारण हालत तो ऐसी है कि ज्ञान तो बिलकुल नहीं, लेकिन दावा हर एक को है कि हम जानते हैं। तुम्हें ऐसा आदमी मिलेगा जो कहे कि मैं नहीं जानता? मूढ़ से मूढ़ भी यही कहेगा, मैं जानता हूं। जानने का दावा कौन छोड़ता है! तुम जब नहीं भी जानते तब भी तुम जानने का दावा करते हो। कोई तुमसे पूछता है, ईश्वर है? तुम्हें जरा-सा भी पता नहीं है, तुम्हें जरा भी खबर नहीं है, तुम कहते हो--हां, है। तुम मरने-मारने को तैयार हो जाते हो, उस पर जिसका तुम्हें कुछ भी पता नहीं है। तुमने कभी सोचा तुम क्या कह रहे हो?

मेरे गांव में एक वैद्यराज थे। उनका मेरे घर से लगाव था बहुत, और अक्सर मैं उनके वहां जाता। उनको रस था उपनिषद, वेद पढ़ने में। और वे सदा शिक्षा देते रहते कि सच बोलो, सच बोलो। मैंने उनसे पूछा एक दिन, ईश्वर है? मैं उनसे दादा कहता, मैंने कहा--दादा, ईश्वर है? उन्होंने कहा, है। मैंने कहा, सच बोल रहे हैं? वे थोड़े घबड़ाए। ईमानदार आदमी थे। छोटे बच्चे को भी धोखा नहीं दे सके। उन्होंने कहा, तो फिर मैं जरा सोचूंगा। मैंने कहा, सोचना क्या है? या तो आपको पता है, या आपको पता नहीं है। इसमें सोचना क्या है? पता हो तो कह दें कि पता है, मैं मान लूंगा। पता न हो तो कह दें कि पता नहीं है। तो उन्होंने कहा, झूठ तुझसे नहीं बोल सकूंगा, मुझे पता तो नहीं है। तो फिर मैंने कहा, अब दो में से कुछ एक तय कर लें, या तो यह सच बोलना चाहिए यह बात आप बंद कर दें। आप निरंतर उपदेश दे रहे हैं कि सच बोलना चाहिए। और या फिर सच बोलना शुरू करें।

जब मैं चलने लगा, उन्होंने कहा, सुन! जो मैंने तुझसे कहा, किसी और को मत बताना। क्योंकि उनकी सारी प्रतिष्ठा इस पर थी। गांव भर उनको मानता, आदर देता कि वे ज्ञानी हैं। किसी और से मत कहना! मैंने कहा, यह किस प्रकार का सच हुआ? अगर आपको पता नहीं, तो कह दें, कम-से-कम सच ही के तो पीछे चलें। सच के पीछे चलनेवाला शायद कभी परमात्मा तक पहुंच जाए। लेकिन झूठ परमात्मा के संबंध में जो बोल रहा है, वह तो कैसे कहीं पहुंचेगा! कम-से-कम इतनी सचाई तो हो।

लेकिन बहुत कठिन है। अगर तुमसे कोई पूछे, तो उत्तर दिये बिना नहीं रहा जाता। एक बड़ी उत्तेजना उठती है कि उत्तर देना ही है, क्योंकि नहीं तो लोग समझेंगे कि तुम जानते ही नहीं हो। और ध्यान रखना, अज्ञानी दावा करता है ज्ञान का और ज्ञानी कोई दावा नहीं करता। अज्ञानी ही दावा करता है। ज्ञानी का दावा नहीं है, ज्ञानी दावेदार नहीं है।

इसलिए बुद्ध चुप रह गये। जब लोगों ने पूछा, ईश्वर है? तो बुद्ध चुप रह गये। हिंदुस्तान के पंडितों ने यह घोषणा की कि बुद्ध को पता नहीं है, इसलिए चुप हैं। हिंदुस्तान के पंडितों ने बुद्ध के धर्म को उखाड़कर फेंक दिया, ब्राह्मणों ने टिकने न दिया। क्योंकि उनके लिए एक बड़ी सहूलियत की बात मिल गयी। लेकिन उनको पढ़ना चाहिए अष्टावक्र को, सुनना चाहिए जनक के वचन। उन्हें अपने उपनिषदों में ही खोज करनी चाहिए।

बुद्ध जो व्यवहार कर रहे थे चुप रहकर, वह शुद्धतम उपनिषद का व्यवहार है। उन्होंने नहीं उत्तर दिया, क्योंकि बुद्ध ने जाना, जो भी उत्तर दिया जाएगा, गलत होगा। उत्तर मात्र में यह दावा आ जाएगा कि मैं जानता हूं--हां कहूं, या न कहूं। मैं कहां? जानना कहां? जानने को शेष क्या? ऐसी परम शून्यता की जो दशा है। और तब जनक कहते हैं, कहां किंचित और कहां अकिंचित! अब ऐसा भी नहीं है कि थोड़ा जानता हूं और थोड़ा नहीं जानता--कहां किंचित, कहां अकिंचित?

इस बात को भी समझना।

तुम कई दफा किसी से कहते हो कि मुझे तुमसे बहुत प्रेम है। तुमने शायद कभी विचार नहीं किया। प्रेम भी बहुत और थोड़ा हो सकता है? प्रेम होता है या नहीं होता, यह बात समझ में आती है, लेकिन थोड़ा और ज्यादा कैसे होता है? प्रेम थोड़ा और ज्यादा कैसे हो सकता है? शायद तुमने बहुत सोच-विचार कर नहीं बात कही। शायद तुमने बहुत होशपूर्वक नहीं कही। यह तो ऐसे ही हुआ कि कोई आदमी एक लकीर खींच दे और कहे कि यह आधा वर्तुल है। आधा वर्तुल नहीं होता, वर्तुल तो तब होता है, तब पूरा ही होता है। अगर आधा है वर्तुल तो वर्तुल नहीं है, लकीर ही है। कुछ और होगा, वर्तुल नहीं है। शून्य आधा थोड़े ही होता है। कम-ज्यादा थोड़े ही होता है। पूर्ण भी कम-ज्यादा थोड़े ही होता है, पूर्ण ही होता है। जीवन में जो परम मूल्य हैं, उनके खंड नहीं होते।

इसलिए जनक कहते हैं, कहां किंचित और कहां अकिंचित? अब न तो मैं यह कह सकता हूं कि मैंने थोड़ा पाया, न मैं यह कह सकता हूं कि मैंने ज्यादा पाया। तुलना, सापेक्षताएं, मात्राएं, सब खो गयीं। एक गुणात्मक रूपांतरण हुआ, एक क्रांति हुई। पुराना सब गया, उससे जरा भी संबंध नहीं रहा। और जो नया हुआ है, वह इतना नया है कि उसको पुरानी भाषा में ढाला नहीं जा सकता। पुराने और नये में सारे संबंध विच्छिन्न हो गये हैं। सातत्य टूट गया है।

एक ही बच रहता है। इसलिए ज्ञान के, द्वैत के सब संबंध विलीन हो जाते हैं।

झुका हर माथ है तब तक
तुम्हारा साथ है जब तक

सिद्धि हो तुम शक्ति भी हो
त्याग भी आसक्ति भी हो
वंदना हो वंद्य भी हो
गीत हो तुम गद्य भी हो
अभय हूं, सीस पर मेरे
तुम्हारा हाथ है जब तक

गान हो तुम गेय भी हो
प्राण हो तुम प्रेय भी हो
सिद्धि हो तुम साधना भी
ज्ञान हो तुम ज्ञेय भी हो
राग हो तुम रागिनी भी
दिवस हो तुम यामिनी भी
क्यों डरूं मैं घन तिमिर से
कृपा का प्रात है जब तक

ध्यान हो ध्यातव्य भी हो
कर्म हो कर्तव्य भी हो

तुम्हीं में सब समाहित है
चरण हो गंतव्य भी हो
दान हो तुम याचना भी
तृप्ति हो तुम कामना भी
अमर बन कर रहूंगा मैं
तुम्हारा गात है जब तक

एक ही बच रहता। भक्त उस एक को कहता है, भगवान। प्रेमी उस एक को कहता है, परमात्मा। ज्ञानी उस एक को कहता है, शून्य, पूर्ण, सत्य। जनक की भाषा ज्ञानी की भाषा है, यह जो मैंने गीत कहा यह भक्त की भाषा है। भक्त अपने को डुबा देता, परमात्मा को बचा लेता। ज्ञानी स्वरूप को बचा लेता और सब डुबा देता। इसलिए इन वचनों से घबड़ाना मत, क्योंकि ये ज्ञानी के वचन हैं। इनमें धीरे-धीरे परमात्मा भी खो जाएगा। और अंतिम घड़ी में गुरु भी खो जाएगा। रह जाएगा शुद्ध चिन्मात्र। मगर यह वही दशा है जिसको भक्त भगवान की अवस्था कहता है, भगवत्ता कहता है।

"सर्वदा क्रियारहित मुझको कहीं न विक्षेप है और कहीं न एकाग्रता है। कहां बोध है और कहां मूढता है; कहां हर्ष और कहां विषाद।"

क्व विक्षेपः क्व चैकाग्र्यं क्व निर्बोधः क्व मूढता।
क्व हर्षः क्व विषादो वा सर्वदा निष्क्रियस्य मे।।

मैं सदा क्रियारहित हूं, मुझ क्रियारहित में अब कोई भी क्रिया नहीं है--एकाग्रता तक की क्रिया नहीं है--तो ज्ञान कैसे हो? मुझ निष्क्रिय में अब कोई विक्षेप नहीं है, कोई विचार नहीं है, कोई तरंग नहीं है, तो बोध कैसे हो? मगर ध्यान रखना, जनक कह रहे हैं कि न तो मैं ज्ञानी हूं और न मैं मूढ़ हूं। क्योंकि मूढ़ और ज्ञानी होना एक साथ चलते हैं। अज्ञानी होना और ज्ञानी होना एक साथ चलते हैं। इसलिए जहां सुकरात ने कहा है कि मैं अज्ञानी हूं, वहां जनक का वचन एक कदम और ऊपर जाता है। पहले सुकरात मानता था, मैं ज्ञानी हूं, फिर उसने माना कि मैं अज्ञानी हूं, यह पहले से तो ऊपर गयी बात, लेकिन जनक एक कदम और ऊपर जाते हैं। वह कहते हैं, मैं अज्ञानी हूं यह भी कैसे कहूं? जानने को कुछ नहीं बचा तो न जानने को भी कुछ नहीं बचा। ज्ञान और अज्ञान एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। इसलिए न तो मैं कह सकता हूं कि मैं बोध को उपलब्ध हुआ हूं, न मैं कह सकता हूं, मैं मूढ़ हूं। दोनों गये, दो गये। जो बचा है वह निर्विशेष है, विशेषणशून्य है, निराकार है। अब उसके ऊपर कोई भी नाम नहीं थोपा जा सकता। अब उसे कोई रूप नहीं दिया जा सकता। अब उसका कोई भी क्लासीफिकेशन, किसी भी कोटि में उसे रखने का उपाय नहीं है।

"सर्वदा निर्विचार रूप मुझको कहां यह व्यवहार है और कहां वह परमार्थता है, अथवा कहां सुख है, कहां दुख है?"

क्व चैष व्यवहारो वा क्व च सा परमार्थता।
क्व सुखं क्व च वा दुःखं निर्विमर्शस्य मे यदा।।
"मुझ निर्विचार रूप में...।"
निर्विमर्शस्य मे सदा।

जहां कोई विचार और विमर्श नहीं उठता, जहां सब शून्य और शांत हुआ है, जहां झील पर एक भी तरंग नहीं रही--झील बिलकुल विश्रांत हो गयी, शांत हो गयी--अपने में लीन बैठा हूं, ऐसी इस शून्य की दशा में--जिसको झेन फकीर नो-मांइड कहते हैं, चित्तमुक्ति की दशा; जिसको कबीर ने अ-मनी दशा कहा है, नानक ने उन्मनी दशा कहा है, मन से मुक्त हो गयी जो दशा। जब तक मन है तब तक तरंग है। मन एक तरह की तरंगायित अवस्था है। मन का अर्थ है, झील पर बहुत लहरें उठ रही हैं। न-मन का अर्थ है, सब लहरें शांत हो

गयीं, झील बिलकुल दर्पण की तरह मौन हो गयी, जरा भी तरंग नहीं होती। सतह कंपती ही नहीं। अकंप हो गई। ऐसी जो मेरी निर्विचार रूप दशा है, इसमें कहां व्यवहार और कहां परमार्थ?

समझना।

व्यवहार और परमार्थ शब्द दार्शनिकों के शब्द हैं, पारिभाषिक शब्द हैं। दार्शनिक कहते हैं, जगत व्यवहार रूप से सत्य है और परमार्थ रूप से असत्य है। परमात्मा परमार्थ रूप से सत्य है और व्यवहार रूप से असत्य है। यह दार्शनिक तरकीब है, जिससे दो विपरीत को मिलाने की चेष्टा की जाती है। जैसे पश्चिम में एक विचारक हुआ, बर्कले। उसने घोषणा की--ठीक शंकर जैसी घोषणा की--कि जगत माया है। वस्तुओं का कोई अस्तित्व नहीं है। विचार ही का अस्तित्व है, वस्तु का कोई अस्तित्व नहीं है। वह डाक्टर जानसन के साथ घूमने गया था, रास्ते पर उसने उनसे कहा कि मैं एक किताब प्रकाशित कर रहा हूं, उसमें मैंने सिद्ध किया है कि वस्तुओं का कोई अस्तित्व नहीं है, केवल विचार का अस्तित्व है। डाक्टर जानसन जिद्दी किस्म का आदमी था, उसने एक पत्थर उठाकर और बर्कले के पैर पर दे मारा। लहूलुहान हो गया पैर, खून बहने लगा और बर्कले उसे पकड़कर बैठ गया। जानसन हंसने लगा, उसने कहा, वस्तुओं का कोई अस्तित्व नहीं है, तो इस पत्थर के कारण चोट कैसे लगी? खून कैसे बहा? बर्कले कोई उत्तर न दे सका।

बर्कले ने पश्चिम में नयी-नयी यह बात कही थी, उसे पूरब का कुछ पता नहीं था, पूरब में यह बहुत पुरानी बात है, इसके उत्तर बहुत खोज लिए गये हैं। बौद्ध भी ऐसा ही कहते हैं कि जगत सत्य नहीं है जैसा शंकर कहते हैं। वस्तुतः शंकर जो कहते हैं, वह प्रच्छन्न रूप से बौद्धों की ही बात है, उसमें कुछ नया नहीं है।

ऐसा कहा जाता है कि एक बौद्ध भिक्षु को एक सम्राट ने पकड़ लिया और उसने कहा कि मैंने सुना है कि तुम कहते हो जगत असत्य है, सिद्ध करना होगा। उसने कहा कि सिद्ध कर देता हूं। उसने बड़े तर्क दिये। और जगत को असत्य सिद्ध किया जा सकता है। समझो कि तुम यहां मेरे सामने बैठे हो, कैसे सिद्ध करें कि तुम असत्य हो! उस दार्शनिक ने कहा कि रात सपने में भी मैं देखता हूं कि लोग सामने बैठे हैं। सुबह जागकर पाता हूं कि नहीं हैं। तो अभी भी क्या पक्का है कि लोग बैठे ही हों? अभी भी क्या पक्का है कि सुबह जागकर मैं नहीं पाऊंगा कि असत्य नहीं है!

च्वांग्त्सू ने कहा है, रात मैंने सपना देखा कि मैं तितली हो गया। फिर सुबह उठकर मैं बड़ा चिंतन करने लगा, विचार करने लगा कि यह तो बड़ी उलझन हो गयी! अगर च्वांग्त्सू रात में तितली हो सकता है तो तितली सो गयी हो और सपना देखती हो कि च्वांग्त्सू हो गयी है! यह भी हो सकता है।

फिर कोई कभी अपने से बाहर तो गया नहीं--मैं अपने भीतर बैठा हूं, तुम अपने भीतर बैठे हो। तुम्हें तो मैंने कभी देखा नहीं, मेरे भीतर मस्तिष्क में कुछ प्रतिबिंब बनते हैं उन्हीं को देखता हूं। वे प्रतिबिंब सच भी हो सकते हैं, झूठ भी हो सकते हैं। सपने में भी बन जाते हैं। थ्री-डायमेंशनल फिल्म देखते हो? जब पहली दफा थ्री डायमेंशनल फिल्म लंदन में चली, तो एक घुड़सवार आता है दौड़ता हुआ और एक भाला फेंकता है। वह पहली थ्री डायमेंशनल फिल्म थी, लोग एकदम झुक गये--वह जो हाल में बैठे हुए लोग थे, भाले को निकलने के लिए उन्होंने जगह दे दी, एकदम दोनों तरफ झुक गये। क्योंकि भाला कहीं छिद जाए! तब उनको खयाल आया कि अरे, हम फिल्म देख रहे हैं, झुकने की क्या जरूरत थी? लेकिन चूक हो गयी। वह भाला जो नहीं था, बिलकुल लग गया कि जैसे है।

उस दार्शनिक ने बड़े तर्क दिये और सम्राट ने कहा, सब ठीक है, लेकिन सम्राट भी डाक्टर जानसन जैसा रहा होगा, उसने कहा, अपना पागल हाथी ले आओ। उसके पास एक पागल हाथी था, वह पागल हाथी ले आया गया। उसने पागल हाथी छुड़वा दिया इस दार्शनिक के पीछे, भिक्षु के पीछे। भिक्षु भागा, चिल्लाए और वह पागल हाथी उसके पीछे चिंघाड़े और भागे। और बड़ा शोरगुल मच गया। और राजा के महल के आंगन में हजारों की भीड़ इकट्ठी हो गयी और राजा छत पर खड़े होकर देख रहा है और हंस रहा है। और वह उससे कहने

लगा, अब बोलो, अगर सब असत्य है, तो यह हाथी भी असत्य है, इतने रो-चिल्ला क्यों रहे हो? वह कहने लगा, मुझे बचाओ, फिर पीछे बात करेंगे, पहले तो इस हाथी से बचाओ। हाथी ने उसे अपनी सूंड में लपेट लिया, बमुश्किल उसे छुड़ाया गया। वह कंप रहा है, रो रहा है।

छुड़ाकर जब उसे लाया गया और सम्राट ने कहा, अब बोलो! उसने कहा, महाराज! मेरा रोना, मेरा चिल्लाना, सब असत्य है। माया मात्र। आपका मुझ पर दया करना, मुझे बचा लेना, हाथी का मुझे पकड़ना, फिर महावत का मुझे छुड़ा देना, सब असत्य है।

बर्कले को यह पता नहीं था, क्योंकि वहां नयी-नयी बात वह कह रहा था, भारत में तो बहुत पुराने दिन से लोग कह रहे हैं।

लेकिन जो असत्य कहा जाता है, माया कही जाती है, वह भी है तो। किसी तरह है, सपने ही सही, सपने जैसे ही सही, मगर सपना भी तो है। तो इस सपने को कहते हैं--व्यावहारिक सत्य। आभास होता है, वस्तुतः नहीं है। और परमात्मा को कहते हैं, आभास भी नहीं होता उसका और वस्तुतः है।

जब कोई समाधि में जागेगा तब परमात्मा को जानेगा और संसार खो जाएगा। जैसे रोज तो होता है--रोज रात तुम सोते हो, ये पहाड़-पत्थर, वृक्ष, पशु-पक्षी, पति, पत्नी, बेटे, सब खो जाते हैं। इनका कोई अस्तित्व नहीं रह जाता। और सपने में नये बेटे और नयी पत्नियां और नये मकान और नये काम शुरू हो जाते हैं। उनका अस्तित्व हो जाता है। सुबह जागकर फिर उनका अस्तित्व खो जाता है। फिर पुरानी पत्नी, मकान, द्वार-दरवाजा, सब आ जाता है।

ध्यानी कहते हैं कि ऐसा ही एक जागरण समाधि में घटित होता है जब सब विचार शांत हो जाते हैं--परम जागरण। उस जागरण में यह जगत जो अभी दिखायी पड़ रहा है, असत्य मालूम होने लगता है--आभास मात्र, प्रतीति मात्र, स्वप्नवत। और परमात्मा सत्य मालूम होने लगता है, जिसका कि पहले आभास भी नहीं होता था।

लेकिन जनक की बात इससे भी ऊपर जाती है। वह कहते हैं, क्या व्यवहार और क्या परमार्थ! न संसार बचा है, न मोक्ष बचा है। असत्य तो गया ही गया, उसके साथ-साथ सत्य भी जा चुका है। सत्य और असत्य एक ही तराजू के दो पलड़े थे। वे भिन्न-भिन्न नहीं थे। जब झूठ ही गया तो सच कैसे बचेगा? इसे कभी तुमने सोचा? रावण को हटा दो, तो रामायण खराब हो जाएगी, बच नहीं सकती। अकेले राम से नहीं चलेगी। कि तुम चला लोगे? रावण को काट दो बिलकुल रामायण से, फिर बनाओ रामायण! या कभी रामलीला करो, रावण को हटा दो, बस बिना ही रावण के चलने दो रामलीला, तुम पाओगे, चलती ही नहीं। थोड़े राम उछलेंगे-कूदेंगे, करेंगे क्या? इधर-उधर जाएंगे, करेंगे क्या? रावण के बिना नहीं चलती है। और राम को हटा लो तो रावण भी व्यर्थ हो जाता है। साथ-साथ उनकी सार्थकता है। शुभ और अशुभ साथ-साथ जुड़े हैं। सच और झूठ साथ-साथ जुड़े हैं। सुंदर-असुंदर साथ-साथ जुड़े हैं। एक ही साथ उनकी सार्थकता है।

लाओत्सू ने कहा है, जब तक दुनिया में साधु हैं तब तक असाधु भी रहेंगे। बात ठीक कही है। जिस दिन असाधु मिटेंगे, उस दिन साधुओं को भी मिट जाना होगा। होनी चाहिए एक ऐसी दुनिया जहां न साधु हों न असाधु हों। वहां जीवन सरल होगा। वहां जीवन परम निसर्ग को उपलब्ध होगा। वहां जीवन में तथाता होगी, ऋत होगा। न कोई साधु न कोई असाधु। न कोई राम, न कोई रावण।

इसको खयाल करो। तुम्हारे साधु असाधुओं को मिटाने में लगे रहते हैं कि जो भी असाधु आए उसको साधु बनाओ। पर उनको पता नहीं कि असाधु अगर मिट जाएं तो साधु भी न बचेंगे। वह आत्महत्या में लगे हैं। बुरे आदमी के सहारे ही भला आदमी जी रहा है। दुर्जन के सहारे ही सज्जन की इज्जत है। वे जो लोग कारागृह में बंद हैं उनके कारण तुम कारागृह के बाहर हो। नहीं तो तुम बाहर कहां? वे जो लोग पागल हैं, उनके कारण तुम

स्वस्थ हो। जो बूढ़े हैं, उनके कारण तुम जवान हो। अन्यथा तुम न रहोगे। द्वैत जब जाता है तो पूरा चला जाता है।

तो जनक की बात बड़ी महत्वपूर्ण है। जनक कहते हैं, ऐसा नहीं है कि जब व्यवहार-सत्य चला जाएगा तो परमार्थ-सत्य होगा। व्यवहार गया तो परमार्थ भी गया, संसार गया तो सत्य भी गया। फिर जो शेष रह जाता है, उसके लिए कोई शब्द नहीं है।

"सर्वदा विमल रूप मुझको कहां माया है और कहां संसार है; कहां प्रीति है, कहां विरति है; कहां जीव है, कहां ब्रह्म है?"

सुनते हैं यह अपूर्व घोषणा कि न आत्मा, न ब्रह्म, कहां जीवन, कहां ब्रह्म?

क्व माया क्व च संसारः क्व प्रीतिर्विरतिः क्व च वा।
क्व जीवः क्व च तद्ब्रह्म सर्वदा विमलस्य मे।।

"मुझ सर्वांगशुद्ध निर्मल हो गये में अब कहां आत्मा है, कहां परमात्मा है, कहां जीव, कहां ब्रह्म?"

इस संबंध में एक बात और खयाल में ले लेना। गुरु-शिष्य के निषेध के पहले जनक परमात्मा और आत्मा का निषेध कर देते हैं। अभी गुरु-शिष्य का निषेध नहीं किया, वह आगे के सूत्र में--करीब-करीब अंतिम चरण में--गुरु-शिष्य का निषेध होता है।

तुमने कबीर का वचन सुना है, मैंने बहुत बार उसकी बात की है--गुरु गोविंद दोई खड़े काके लागूं पायं, बलिहारी गुरु आपने गोविंद दियो बताय। गुरु-गोविंद दोनों खड़े हैं अब, किसके चरण छुऊं? और कबीर कहते हैं कि गुरु, तुम्हारी बलिहारी कि तुमने इशारा कर दिया गोविंद की तरफ। बहुतों ने सोचा है कि इसका अर्थ यह हुआ कि कबीर ने गोविंद के पैर छुए--बलिहारी गुरु आपने गोविंद दियो बताय। बहुतों ने इसका यही अर्थ किया है कि गुरु ने कह दिया कि मेरे नहीं, गोविंद के पैर छुओ।

मैं तुमसे कहता हूं, यहां तक तो बात ठीक है कि गुरु ने कहा, मेरे नहीं गोविंद के पैर छुओ। मगर छुए कबीर ने गुरु के ही पैर, क्योंकि बलिहारी शब्द पर ध्यान दो। वे यह कह रहे हैं कि अब तो कैसे गोविंद के पैर छुओ। अब तो तुम्हारे पैर छुऊंगा। क्योंकि--बलिहारी गुरु आपने गोविंद दियो बताय। तुमने गोविंद की तरफ इशारा कर दिया, इसलिए धन्यवाद तुम्हीं को देना होगा। तुमने गोविंद की तरफ हाथ उठा दिया, इसलिए धन्यवाद तुम्हीं को देना पड़ेगा। तुमने गोविंद तक पहुंचा दिया, इसलिए धन्यवाद तुम्हीं को देना होगा।

मेरी दृष्टि में कबीर ने गुरु के पैर छुए। इसलिए गुरु के पैर छुए कि गुरु ने गोविंद को बता दिया। बलिहारी! इस सूत्र के साथ आज तुम यह भी समझ लो कि जनक निषेध करते चल रहे हैं। सारी चीजें निषिद्ध होती चली जा रही हैं। परम अद्वैत की घोषणा हो रही है। जहां एक और एक और बिलकुल एक बचेगा--एकरसता बचेगी--वहां इसके पहले कि वह गुरु-शिष्य का निषेध करें, वह आत्मा और परमात्मा का निषेध कर देते हैं। साधारणतः तर्कयुक्त यह होता कि पहले गुरु-शिष्य का निषेध हो, अंतिम घड़ी में परमात्मा और आत्मा का निषेध हो। नहीं, जनक पहले कहते हैं--

क्व जीवः क्व च तद्ब्रह्म सर्वदा विमलस्य मे।

मुझ निर्मल हो गये में, मुझ शुद्ध-शांत हो गये में, मुझ शून्य हो गये में न कोई आत्मा है, न परमात्मा। इसके बाद अंतिम चरण में, आखिरी सूत्र में जाकर वह कहेंगे कि अब कोई शिष्य नहीं, कोई गुरु नहीं।

जिसके जीवन में परमात्मा और आत्मा का भेद गिर गया, उसी के जीवन में गुरु-शिष्य का भेद गिरता है, उसके पहले नहीं। अहंकार तो बहुत दफे चाहता है कि गुरु-शिष्य का भेद जल्दी गिरा दें। अहंकार तो पहले बनाना ही नहीं चाहता भेद। अहंकार तो कहता है, शिष्य बनने की जरूरत क्या है? असल में अहंकार तो गुरु बनना चाहता है, शिष्य बनना ही नहीं चाहता। अगर शिष्य भी बनता है तो इसी आशा में बनता है कि चलो, शायद यही रास्ता है गुरु बनने का। फिर जल्दी होती है कि किस तरह यह बात खतम हो जाए, क्योंकि यह पीड़ा देती है। लेकिन यह बात तब खतम होती है जब तुम्हारे जीवन में वह परम घड़ी आ जाती है जहां

परमात्मा और आत्मा का भेद भी गिर जाता है। उसके बाद ही। गुरु और शिष्य के संबंध से यात्रा शुरू होती है सत्य की और गुरु-शिष्य के संबंध के समाप्त होने पर यात्रा भी समाप्त होती है सत्य की। जो प्रारंभ है, वही अंत है। जहां स्रोत है, वहीं गंतव्य है।

"कहां प्रीति, कहां विरति?"

अपना कुछ है ही नहीं, किसको अपना कहें, किसको पराया कहें? किसको पकड़ें, किसे छोड़ें? किसका भोग करें, किसका त्याग करें? अपने से अतिरिक्त यहां कुछ है ही नहीं।

न घर मेरा न घर तेरा
दुनिया तो बस रैन बसेरा

कभी एक सी दशा न रहती
पुरवा बनकर पछुवा बहती
ऋतुएं आती जाती रहतीं
देह मेह शीतातप सहती
कहीं धूप तो कहीं छांह है
श्वास पथिक की कठिन राह है
मंजिल सिर्फ उसे ही मिलती
जो तिर जाता अगम अंधेरा
न घर मेरा न घर तेरा
दुनिया तो बस रैन बसेरा

हानि-लाभ सुख-दुख परिमित है
विजय-पराजय भी सीमित है
यश-अपयश विधि के हाथों में
जीवन-मरण सभी निश्चित है
वही बनाता वही मिटाता
वही बढ़ाता वही घटाता
रीती रेखा में गति भरता
बड़ा कुशल है सृष्टि चितेरा
मंजिल सिर्फ उसे ही मिलती
जो तिर जाता अगम अंधेरा
न घर मेरा न घर तेरा
दुनिया तो बस रैन बसेरा

यहां कुछ न अपना, न कुछ औरों का। सब उसका। सब एक का। यह मैंत्तू का भेद कल्पित, आरोपित। जहां मैं और तू का भेद गिर जाता और उसका अनुभव होता जो मैं में भी मौजूद है, तू में भी मौजूद है, फिर न कुछ प्रीति है, न कुछ विरति है, फिर न ही कोई जीव है, न कोई ब्रह्म है। क्योंकि जीव और ब्रह्म का संबंध भी दो का संबंध है। और जब तक दो है तब तक अज्ञान है। तुम ऐसा समझ लेना, द्वैत यानी अंधकार, अद्वैत यानी प्रकाश।

"सर्वदा स्वस्थ, कूटस्थ और अखंड रूप मुझको कहां प्रवृत्ति है और कहां निवृत्ति है; कहां मुक्ति है, कहां बंध है?"

क्व प्रवृत्तिर्निवृत्तिर्वा क्व मुक्तिः क्व च बंधनम्।
कूटस्थनिर्विभागस्य स्वस्थस्य मम सर्वदा।।

मैं सदा स्वयं में स्थित, कूटस्थ, मैं सदा निर्विभागस्य--कोई विभाजन मैं नहीं, कोई खंड मैं नहीं--न प्रवृत्ति है कोई, न निवृत्ति है; न किसी से लगाव, न दुराव; गये सब द्वंद्व के जाल। इतना भी कि न कुछ बंधन, न कुछ मुक्ति--तभी मुक्ति।

इसे तुम समझना। यह अपूर्व घोषणा है। इसका अर्थ है कि अगर तुम ठीक से समझो तो गलती कभी हुई ही नहीं है। गलती हो ही नहीं सकती। गलती होने का उपाय ही नहीं है। अगर तुम ठीक से समझो तो पाप कभी हुआ नहीं, पाप हो ही नहीं सकता। पाप होने का उपाय नहीं है। और न पुण्य हो सकता है। और न पुण्य कभी किया गया है। पाप हो कि पुण्य, भूल हो कि ठीक, दोनों में कर्ताभाव है। और तुमने कभी कुछ नहीं किया है। तुम सदा एकरस, अकर्ता, साक्षी हो। सिर्फ देखनेवाले हो। कभी तुमने देखा कि चोरी हो रही है और कभी तुमने देखा कि दान दे रहे हो, मगर दोनों हालत में तुम द्रष्टा हो। न तुमने चोरी की है, न तुमने दान दिया है। दान भी हुआ है, चोरी भी हुई है, सच! पर तुमने न दान दिया है, न चोरी की है।

इसको खयाल में ले लेना। साधारणतः धार्मिक गुरु लोगों को समझाते हैं--चोरी छोड़ो, दान करो। वह साधारण धर्म है। यह असाधारण धर्म है। यह धर्म की आत्यंतिक घोषणा है। तुम चोरी भी छोड़ो, तुम दान भी छोड़ो, तुम कर्ता होना छोड़ो। न तुम पापी बनो, न पुण्यात्मा। तुम कर्ता न रहो, तुम साक्षी हो जाओ।

अब तुम समझना। अगर कोई पापी पुण्यात्मा बनना चाहे तो बड़ी कठिनाई है। पहले तो पाप इतनी आसानी से छूटता नहीं, इतनी आसानी से कोई आदत नहीं जाती। जन्मों-जन्मों में बनायी है, लाख-लाख उपाय करो, नहीं जाती। तुम जरा सोचो, छोटी-मोटी आदतें नहीं छूटतीं। किसी आदमी को पान चबाने की आदत है, वही नहीं छूटती और क्या तुम खाक छोड़ोगे! किसी को तमाखू...।

एक सज्जन मेरे पास आते थे, बंगाली सज्जन। यूनिवर्सिटी में प्रोफेसर थे। वह मुझसे पूछते कि यह पाप कैसे छूटे, वह पाप कैसे छूटे, और जब भी वह आते तो "नास" अपनी नाक में भरते रहते। बैठे रहते, थोड़ी-थोड़ी देर में "नास"! मैंने उनसे कहा कि पाप इत्यादि की तो छोड़ो, पहले तुम यह "नास" तो छोड़ो। उन्होंने कहा, यह न छूटेगी। यह बहुत मुश्किल है, इसके बिना तो मैं जी ही नहीं सकता। मैंने कहा, मैं जी रहा हूं, सारी दुनिया जी रही है इसके बिना। तुम "नास" के बिना न जी सकोगे! उन्होंने कहा, नहीं जी सकता। इससे ही तो मुझे ताकत बनी रहती है, नहीं तो सब ढीला-ढाला हो जाता है, सब सुस्त हो जाता है। ले ली डटकर "नास", आ गयी अच्छी छींक, ताजे हो गये। तो जीवन में ताजगी मालूम पड़ती है। यह नहीं छूटेगी, यह तो बात ही मत उठाना। मैंने कहा कि अगर यह नहीं छूटना, तो क्या छूटना है! आदतें नहीं छूटतीं साधारण, तो जन्मों-जन्मों की आदतें कैसे छूटेंगी? पाप नहीं छूट सकता।

और अगर कोई पापी किसी तरह पाप को छोड़ने का उपाय भी करे, तो पाप पीछे के दरवाजों से प्रवेश कर जाता है। ऐसा भी हो सकता है कि तुम, चलो दान करें, पुण्य करें, मगर तुम पुण्य करोगे कहां से? तुम और चोरी करने लगोगे।

देखते नहीं रोज? जो दान देते हैं वह दान देते ही तब हैं, जब वह दस हजार देते हैं अगर वह दस लाख का इंतजाम कर लेते हैं, तब दस हजार देते हैं। देते ही तब हैं जब निकालने का इंतजाम हो जाता है। जब वह देख लेते हैं कि कोई हर्जा नहीं, सौदा करने जैसा है। तो अभी चुनाव आ रहा है तो वह पार्टियों को दान देंगे। देश के हित में दान देते हैं। कोई लोकतंत्र के हित में दान देगा, कोई समाजवाद के हित में दान देगा। सच तो यह है कि जो होशियार हैं वे दोनों को दान देंगे। समाजवादियों को भी और लोकतंत्रियों को भी, क्योंकि पता नहीं कौन आ जाए! होशियार तो दोनों नाव पर सवार रहता है। कि इंदिरा हों कि मोरारजी, दोनों को दान देगा। जो आ जाए।

मेरे एक मित्र हैं, ज्योतिषी हैं। ज्योतिष उनका चलता-करता नहीं। आदमी भले हैं और झूठ भी नहीं बोल पाते हैं, इसलिए। ज्योतिष तो धंधा ही झूठ का है। उसमें अगर सच इत्यादि बोले तो वह चलेगा ही नहीं। वह तो झूठ का ही मामला है। वह तो सारा काम ही पूरा बेईमानी का है। तो वह मुझसे कहने लगे कि क्या करूं, कुछ सर्टिफिकेट भी नहीं है मेरे पास कि किसी...तो मैंने कहा, तुम एक काम करो। राष्ट्रपति का चुनाव हो रहा था। मैंने कहा, तुम चले जाओ और दो आदमी खड़े हैं, तुम दोनों को जाकर कह आओ कि आपकी जीत बिलकुल निश्चित है, लिखकर दे सकता हूं। तुम लिखकर ही दे आना। उन्होंने कहा, फिर पीछे फंसेंगे! मैंने कहा, तुम फिक्र छोड़ो। एक ही जीतेगा, दोनों तो जीतनेवाले नहीं हैं। जो हारा उसकी तुम फिकर ही छोड़ देना। और वह कोई तुम्हारे पीछे मुकदमे थोड़े ही चलाएगा--कौन फिक्र करता है!

यही हुआ। वह दोनों राष्ट्रपतियों को जाकर दे आए। एक जीत गया। जो जीत गया, उसके पास वह पहुंच गये बाद में। वह बड़ा प्रसन्न, उसने फोटो भी साथ उतरवाए, फिर सर्टिफिकेट भी लिखकर दिया। तबसे उनका ज्योतिष बहुत चल रहा है। जब राष्ट्रपति तक की घोषणा कर दी!

तो होशियार दोनों नाव पर सवार हो जाते हैं। वह दोनों को दान दे देंगे। जो भी आएगा कल ताकत में, दस हजार दिया तो दस लाख निकल लेंगे। लाइसेंस है और हजार उपाय हैं। चोर अगर दे, तो भी चोरी का इंतजाम पहले कर लेता है। अहंकारी अगर विनम्र भी बने, तो विनम्रता में भी अहंकार को ही पोषित कर लेता है। भागने का इतना सुगम उपाय नहीं है। पाप से पुण्य में जाने का कोई उपाय नहीं है। पापी और पुण्यात्मा एक ही खेल के हिस्सेदार हैं, साझीदार हैं।

परम धर्म कहता है, अकर्ता भाव--न पुण्य, न पाप। दोनों मैंने नहीं किये। और अगर दोनों हुए, तो परमात्मा जाने। वह परम ऊर्जा जाने। यही तो कृष्ण से निकला अर्जुन के लिए गीता में कि तू निमित्तमात्र हो जा। उपकरणमात्र। जो हो, होने दे। जैसा हो, वैसा ही होने दे। तू अपने को बीच में मत ला। वही अष्टावक्र का सूत्र है--कहां प्रीति, कहां विरति; कहां जीव, कहां ब्रह्म? सर्वदा स्वस्थ, कूटस्थ, अखंड रूप मुझको कहां प्रवृत्ति है, कहां निवृत्ति है; कहां मुक्ति है, कहां बंध है?

"उपाधिरहित शिवरूप मुझको कहां उपदेश है अथवा कहां शास्त्र है? कहां शिष्य है और कहां गुरु है और कहां पुरुषार्थ है?"

यह शिखर के बिलकुल करीब आने लगे।

क्वोपदेशः क्व वा शास्त्रं क्व शिष्यः क्व च वा गुरुः।
क्व चास्ति पुरुषार्थो वा निरुपाधेः शिवस्य मे।।

मैं निरुपाधि में ठहर गया। न ऐसा हूं, न वैसा हूं। मैं नेति-नेति में पहुंच गया। न साधु, न असाधु; न पापी, न पुण्यात्मा; न बुरा, न भला; न आत्मा, न ब्रह्म; मैं ऐसी उपाधिरहित दशा में आ गया हूं। अब यहां मेरे ऊपर कोई भी वक्तव्य लागू नहीं होता।

"उपाधिरहित शिवरूप मुझको कहां उपदेश?"

अब किससे तो मैं उपदेश लूं और किसको मैं उपदेश दूं? उपदेश में तो स्वीकार कर ली गयी बात कि दो होने चाहिए। गुरु-शिष्य तभी तो बन सकते हैं न, जब दो हों। कोई कहे, कोई सुने; कोई दे, कोई ले। जनक कहते हैं, अब कैसा उपदेश? न तो मैं ले सकता उपदेश, क्योंकि दूसरा कोई है नहीं जिससे ले लूं और न मैं दे सकता, क्योंकि दूसरा कोई है नहीं जिसको मैं दे दूं। यह परम घड़ी आ रही, यह परम सौभाग्य का क्षण है जब कोई व्यक्ति ऐसी दशा में आता है जहां उपदेश देना-लेना भी संभव नहीं।

"मुझको कहां उपदेश है अथवा कहां शास्त्र है?"

और जब उपदेश ही न हो तो शास्त्र नहीं बनता। शास्त्र तो उपदेश का ही संग्रहीत रूप है। फिर कोई वेद, कुरान, बाइबिल, गीता कुछ अर्थ नहीं रखते।

"फिर कहां शिष्य, कहां गुरु?"

जब उपदेश ही नहीं हो सकता तो कौन होगा गुरु और कौन होगा शिष्य?

"और कहां पुरुषार्थ है?"

फिर न कुछ पाने को बचा तो पुरुषार्थ का भी कोई सवाल नहीं है। समझो।

जनक बोल तो रहे हैं। यह वचन तो बोल ही रहे हैं। अष्टावक्र ने इतना लंबा उपदेश भी दिया है और जनक भी कुछ कंजूसी नहीं कर रहे हैं बोलने में। फिर भी वह कहते हैं, कहां उपदेश? तो बात कुछ समझ लेनी चाहिए।

बुद्धपुरुष बोलते हैं, ऐसा कहना ठीक नहीं, बुद्धपुरुषों से बोला जाता है, ऐसा कहना ठीक है। फूल खिलते हैं जैसे, सुगंध झरती है जैसे, बादल उमड़-घुमड़ कर आते हैं जैसे, और वर्षा होती है जैसे, दीया जलता है तो प्रकाश झरता है जैसे, ऐसे बुद्धत्व से रोशनी झरती है, सुगंध झरती है। मगर उपदेश देने की आकांक्षा नहीं है।

इसलिए बुद्ध ने चालीस साल बोलने के बाद कहा है कि मैं कभी भी नहीं बोला। मैं बोला ही नहीं। कठिन हो जाती है बात। क्योंकि बुद्ध के वचन इतने हैं, सैकड़ों शास्त्र निर्मित हुए। जितने वचन बुद्ध के हैं उतने किसी के भी नहीं हैं। बाइबिल और कुरान सब बहुत छोटी-छोटी किताबें रह जाती हैं। बुद्ध के अगर सारे वचन संग्रहीत होते हैं तो पूरा एक पुस्तकालय निर्मित होता है, एक पूरा एनसाइक्लोपीडिया--इतना बोले हैं--और आखिर में कहते हैं कि मैं बोला नहीं। बात फिर भी ठीक कहते हैं। बोले नहीं, क्योंकि बोलना किससे, दूसरा कोई है नहीं।

लेकिन कभी-कभी तुमने ऐसी घड़ी जानी है, जब तुम अकेले बैठे हो और गीत गुनगुनाते हो? तब तुम किसी को कह नहीं रहे, अपनी मौज में कह रहे हो। बुद्ध से वचन निकले हैं, झरे हैं, जैसे झरनों से जल बह रहा है, जैसे वृक्षों से फूल निकल रहे हैं, ठीक ऐसे। जैसे पक्षी गीत गुनगुना रहे हैं, ठीक ऐसे। इसमें कुछ चेष्टा नहीं है, प्रयोजन नहीं है। यह बिलकुल स्वाभाविक है। दीया जल जाएगा तो रोशनी निकलेगी। और फूल खिलेगा तो गंध भी उड़ेगी। ऐसे ही बुद्ध से वचन उड़े हैं।

ठीक वही जनक कह रहे हैं, कहां उपदेश, कहां शास्त्र? कहां शिष्य, कहां गुरु? कैसा पुरुषार्थ?

और अंतिम सूत्र--

क्व चास्ति क्व च व नास्ति क्वास्ति चैकं क्व च द्वयम्।
बहुनात्र किमुक्तेन किंचिन्नोत्तिष्ठते मम।।

"कहां अस्ति है, कहां नास्ति है, अथवा कहां एक है और कहां दो हैं? इसमें बहुत कहने से क्या प्रयोजन, मुझको तो कुछ भी नहीं प्रकाश करता है।"

यह आखिरी बात।

गुरु-शिष्य के गिर जाने के बाद कुछ बचा नहीं गिरने को। सिर्फ एक छोटा-सा वक्तव्य:

बहुनात्र किमुक्तेन।

अब क्या कहूं? अब कहने को कुछ भी नहीं है। न तो कुछ है और न कुछ नहीं है। न आस्तिकता का कुछ अर्थ है, न नास्तिकता का। न अस्ति का कोई अर्थ है, न नास्ति का।

क्व चास्ति क्व च व नास्ति क्वास्ति चैकं क्व च द्वयम्।

अब तक कहा कि एक है, एक है, अद्वय है, अद्वैत है, अब कहा कि अब एक भी कहना व्यर्थ और दो भी कहना व्यर्थ। गयीं सब वे बातें, गया सब वह गणित। और अब कुछ कहने जैसा नहीं है।

किंचिन्नोत्तिष्ठते मम।

यह वचन बड़ा अदभुत है। इसका अर्थ होता है--कुछ भी नहीं उठता अब मुझमें।

किंचिन्नोत्तिष्ठते मम।

कोई लहर नहीं उठती। कोई तरंग नहीं उठती, सब शून्य हुआ, या सब पूर्ण हुआ। अधूरे में उठाव है। पूरे में कैसा उठाव! अधूरे में गति है, पूरे में कैसी गति! आधी गागर आवाज करती है, अधभरी गागर आवाज करती है।

पूरी भरी गागर आवाज नहीं करती या पूरी खाली गागर आवाज नहीं करती। जहां पूर्णता है, वहां आवाज नहीं, वहां शून्य है। वहां शून्य का परम संगीत है। जहां अधूरापन है, वहां आवाज है।

किंचिन्नोत्तिष्ठते मम।

अब मुझमें कुछ भी नहीं उठ रहा है। सब परम विश्रांति को उपलब्ध हो गया है।

ऐसी घड़ी तुम्हारे जीवन में भी आ सकती है। तुम्हारे सहयोग की जरूरत है। ऐसा परम भाव तुम्हारा भी हो सकता है, तुम पर ही निर्भर है। एक छोटी-सी कहानी कहूंगा:

एक संत था, बहुत वृद्ध और बहुत प्रसिद्ध। दूर-दूर से लोग जिज्ञासा लेकर आते, लेकिन वह सदा चुप ही रहता। हां, कभी-कभी अपने डंडे से वह रेत पर जरूर कुछ लिख देता था। कोई बहुत पूछता, कोई बहुत ही जिज्ञासा उठाता, तो लिख देता--संतोषी सुखी; भागो मत, जागो; सोच मत, खो; मिट और पा; इस तरह के छोटे-छोटे वचन। जिज्ञासुओं को इससे तृप्ति न होती, और प्यास बढ़ जाती। वे शास्त्रीय निर्वचन चाहते थे। वे विस्तारपूर्ण उत्तर चाहते थे। और उनकी समझ में न आता था कि यह परम संत बुद्धत्व को उपलब्ध होकर भी उनके प्रश्नों का उत्तर सीधे-सीधे क्यों नहीं देता। यह भी क्या बात है कि रेत पर डंडे से उलटबासियां लिखना! हम पूछते हैं, सीधा-सीधा समझा दो। वे चाहते थे कि जैसे और महात्मा जपत्तप, यज्ञ-याज्ञ, मंत्रत्तंत्र, विधि-विधान देते थे, वह भी दे। लेकिन वह मुस्काता, चुप रहता, ज्यादा से ज्यादा फिर कोई उसे खोदता-बिदीरता तो वह फिर लिख देता--संतोषी सदा सुखी; भागो मत, जागो; बस उसके बंधे-बंधाये शब्द थे। बड़े-बड़े पंडित आए और थक गये और हार गये और उदास होकर चले गये, कोई उसे बोलने को राजी न कर सका। कोई उसे ज्यादा विस्तार में जाने को भी राजी न कर सका।

लेकिन एक बात थी कि उसके पास कुछ था, ऐसी प्रतीति सभी को होती। उसके पास एक दैदीप्य प्रतिभा थी। उसके चारों तरफ एक प्रकाश था, एक अपूर्व शांति थी। उसके पास एक ठंडी, शीतल लहर थी, जो छूती। पंडितों तक को एहसास होता, क्योंकि पंडित तो सबसे अंधे लोग हैं इस पृथ्वी पर। उनको भी लगता कि कुछ है, कोई चुंबक। दूर-दूर काशी से आते, पर फिर उदास लौटते, क्योंकि वह ज्यादा कुछ बोलता न।

लेकिन एक दिन ऐसा हुआ, एक युवक आया और बजाय इसके कि वह कुछ पूछे, उसने बूढ़े के हाथ से डंडा छीन लिया। उसकी आंखों में कुतूहल भी नहीं था, उसके चेहरे पर जिज्ञासा भी नहीं थी, उसके सिर पर पांडित्य का बोझ भी नहीं था, वह बड़ा भोला-भाला युवक था, बड़ा शांत। एक गहरी मुमुक्षा थी। जीवन को दांव पर लगाने की आकांक्षा थी। खोजी था।

उसने डंडा हाथ में ले लिया और उसने भी मौन का व्रत लिया था, वह मौन ही रहता था, उसने डंडे से रेत पर लिखा--आपकी ज्योति मेरे अंधेरे को कैसे दूर करेगी? उसने रेत पर लिखा। संत ने उत्तर में रेत पर लिखा--कैसा अंधेरा, अंधेरा है कहां? क्या तुम अंधेरे में खोए हो? यह पहला मौका था कि संत ने इतनी बात लिखी। भीड़ इकट्ठी हो गयी, गांव भर में खबर पहुंच गयी कि कोई आदमी आया है जिसने सोए संत को जगा लिया मालूम होता है। उसने कुछ लिखा है जैसा कभी नहीं लिखा था। उसने लिखा है, कैसा अंधेरा? अंधेरा है कहां? क्या तुम अंधेरे में खोए हो? वह युवक थोड़ा ठिठका और उसने फिर लिखा--क्या खो जाना वस्तुतः खो जाना है? क्या खो जाना मार्ग से वस्तुतः च्युत हो जाना है? संत ने युवक की आंखों में झांका, अनंत प्रेम और करुणा और आशीष से और फिर रेत पर लिखा--नहीं, खो जाना भी खो जाना नहीं, बस विस्मृतिमात्र। याद भर खो गयी है और कुछ खो नहीं गया है। खो जाना भी खो जाना नहीं है, बस विस्मृति।

अब तक तो दर्शकों की बड़ी भीड़ इकट्ठी हो गयी थी। यह उत्तर पढ़ कर भीड़ में हंसी का फव्वारा फूट पड़ा। और संत ने जो लिखा था उसे तत्क्षण पोंछ डाला और पुनः लिखा--कौन सी इच्छा तुम्हें यहां ले आयी है, युवक? डंडा सतत हाथ बदलता रहा। युवक ने लिखा--इच्छा? इच्छाएं? नहीं मेरी कोई इच्छा शेष नहीं है। ऐसा सुनते ही संत उठकर खड़ा हो गया, दायां पैर उठाकर भूमि पर तीन बार थाप दी, फिर आंखें बंद करके

सांस को रोककर मूर्तिवत खड़ा हो गया। सन्नाटा छा गया। भीड़ भी मूर्तिवत हो गयी, युवक भी कुछ समझा नहीं, इस पर युवक भूल गया कि उसने मौन का व्रत लिया है और बोल उठा: यह आपने क्या किया और क्यों किया? संत हंसा और उसने पुनः रेत पर लिखा--कुतूहल इच्छा का ही एक रूप है। इस पर युवक चीख उठा: मैंने सुना है कि एक ऐसा महामंत्र है जिसके उच्चार मात्र से व्यक्ति विश्व के साथ एक हो जाता है, ब्रह्म के साथ एक हो जाता है, मैं उसी मंत्र की खोज में आया हूं। ज्यादा मुझे कहना नहीं। और मुझे पता है कि वह मंत्र आपके पास है--मैं देख रहा हूं, उसकी ध्वनि मुझे सुनायी पड़ रही है।

संत ने शीघ्रता से लिखा--तत्वमसि। वह तू ही है। वह मंत्र तू ही है। और क्या तू एक क्षण को भी ब्रह्म से भिन्न हुआ है? और तब उस बूढ़े संत ने अचानक डंडा उठाया और उस युवक के सिर पर दे मारा। युवक की आंखों के सामने तारे घूम गये। लेकिन वह किसी अनिर्वचनीय समाधि में भी डूब गया। उसकी आंखों से अविरल आनंद के आंसू बहने लगे। पल पर पल बीते, घड़ियां बीतीं, दिन बीता, दिन बीते, वह युवक अपूर्व आनंद में डूबा रहा तो डूबा ही रहा।

और तब तीसरे दिन बूढ़े संत ने न-मालूम किस अनिर्वचनीय क्षण में भूल गया कि मौन का व्रत लिया है, मौन टूट गया बूढ़े संत का और उसने कहा: सो अंततः तुम घर वापिस आ ही गये! सो अंततः तुम घर वापिस आ ही गये? पर युवक बोला नहीं और बिना बोले ही अनंत कृतज्ञता से बूढ़े की आंखों में देखता रहा और तब उसने डंडा उठाकर रेत पर लिखा--केवल स्मृति लौट आयी; कौन गया था, कौन लौटा? सिर्फ स्मृति लौट आयी।

बस इतना ही सारसूत्र है अष्टावक्र और जनक के इस परम संवाद का, इतना ही--स्मृति लौट आयी।

वही है मरकजे-काबा वही है राहे-बुतखाना
जहां दीवाने दो मिलकर सनम की बात करते हैं

इन दो दीवानों की बात तुमने सुनी। प्रभु करे तुम्हें भी दीवाना बनाये, तुम्हारे जीवन में भी वह अपूर्व अमृत बरसे। और देर जरा भी नहीं है, बस स्मृति की बात है।

हरि ॐ तत्सत्।

आज इतना ही।